❋ श्रीसीताराम ❋

मानस-पीयूष

खण्ड-४

द्वितीय सोपान (अयोध्याकाण्ड)

सर्वसिद्धान्तसमन्वित तिलक

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायणपर काशीके सुप्रसिद्ध रामायणी पं० श्रीरामकुमारजी, पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज (व्यास), श्रीरामायणी रामबालकदासजी एवं श्रीमानसी बंदन पाठकजी आदि साकेतवासी महानुभावोंकी अप्राप्य और अप्रकाशित टिप्पणियाँ एवं कथाओंके भाव; बाबा श्रीरामचरणदासजी (श्रीकरुणासिन्धुजी महाराज), श्रीसंतसिंहजी पंजाबी ज्ञानी, श्रीकाष्ठजिह्व श्रीदेवतीर्थ स्वामीजी, बाबा हरिहरप्रसादजी (सीतारामीय), बाबा श्रीहरिदासजी, श्रीपांडे रामबख्शजी, (मुं० रोशनलालकृत टीका), पं० श्रीशिवलालजी पाठक, श्रीबैजनाथजी, संत उन्मनी श्रीगुरुसहायलालजी आदि पूर्वमानसाचार्यों, टीकाकारोंके भाव, मानसराजहंस पं० विजयानन्दजी त्रिपाठीकी अप्रकाशित एवं प्रकाशित टिप्पणियाँ, श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजीकी टिप्पणियाँ; आजकलके प्राय: समस्त टीकाकारोंके विशद एवं सुसंगत भाव तथा प्रो० श्रीरामदासजी गौड़ एम्० एस्-सी०, प्रो० लाला भगवानदीनजी, प्रो० पं० रामचन्द्रजी शुक्ल, पं० यादवशंकरजी जामदार रिटायर्ड सबजज, श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी, श्रीनागाबाबा परमहंसजी (बाबा श्रीअवधबिहारीदासजी) और बाबा जयरामदासजी 'दीन' आदि स्वर्गीय तथा वेदान्तभूषण, साहित्यरत्न पं० रामकुमारदासजी आदि आधुनिक मानसविज्ञोंकी आलोचनात्मक व्याख्याओंका सुन्दर संग्रह।

सम्पादक

श्रीअंजनीनन्दनशरण

॥ श्रीहरि: ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

मानस-पीयूषका चौथा खण्ड सहृदय पाठकों एवं साधकोंके हाथोंमें समर्पित करते हुए हमें हर्ष है। यह प्रभुकी कृपा ही है कि इस पुनीत कार्यमें निमित्त बननेका अवसर मिला। पहले तीन खण्डोंमें बालकाण्ड समाप्त हुआ और रामविवाह सम्पन्न होकर बारात अयोध्या लौट आयी और समस्त अवधवासी आनन्दमग्न हो गये।

यहींसे रामचरितमानसका दूसरा सोपान प्रारम्भ होता है जिसे तुलसीकी भाषामें तो नहीं किन्तु सामान्यत: अयोध्याकाण्ड कहा जाता है। आदि कविने काण्डोंके नामकरणमें घटनास्थलको प्रधानता दी थी। सो अयोध्याकाण्डमें घटित घटनाएँ ही वर्णित हैं जिन्होंने अयोध्याकी जीवनधारा ही मोड़ दी। नाटकीयताकी दृष्टिसे ***'लिखत सुधाकर गा लिखि राहू'*** हो गया। सारी अयोध्या शोकमग्न हो गयी। यदि कोई उस शोकसे असंपृक्त था तो वह जिसके लिये सब शोकमग्न थे। उसकी मुखश्री मलिन नहीं हो पायी और वह अवधको ***'मगवासके रूख ज्यों'*** और ***'बाप को राज बटाउ कीं नाईं'*** छोड़कर चल दिया।

समूचा अयोध्याकाण्ड हर दृष्टिसे और हर स्तरके पाठकोंके लिये मानसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काण्ड है। यही वह काण्ड है जहाँ पार्थिवता ऊपर उठकर विभुताको अंकमाल देती है और विभुता लपक कर नरताको अपना लेती है। अयोध्याकाण्डकी वेदीपर ही भूभारहरणका यज्ञ संपन्न हुआ।

तदनुसार और तदनुरूप ही पीयूषकार स्व० श्रीअंजनीनन्दनशरणजीका भक्तिपक्ष और ज्ञानपक्ष—दोनों ही पूर्णरूपसे मुखरित हुए हैं। आराध्य रामकी छोटी-बड़ी हर चेष्टाका रहस्योद्घाटन करनेका कोई अवसर तिलककार चूके नहीं हैं।

सहृदय पाठक अन्य खण्डोंकी भाँति इसका भी हार्दिक स्वागत करेंगे—इस विश्वासके साथ पुस्तक प्रभुके श्रीचरणोंमें समर्पित है।

—प्रकाशक

(प्रथम संस्करण)

पीयूष-परिचय

८ जनवरी १९२२ ई० से इस दीनको कारणरहित परमकृपालु श्रीसीतारामजीकी कृपासे श्रीअवधवासका सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसके दो-तीन वर्ष पूर्वसे ही श्रीरामचरितमानसके पठन-पाठनका कुछ शौक हृदयमें होने लगा था; परन्तु अपनी मातृभाषासे अनभिज्ञ होनेके कारण उसे समझनेमें बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ा। टीकाएँ जो उत्तम समझी जाती हैं वे सब प्राचीन हिन्दी (ब्रज या अवधी आदि प्रान्तिक) भाषामें हैं। उनका पढ़ना-समझना और भी कठिन था, विशेषत: इस कारण कि दीन उनमें अधिक समय न लगा सकता था। दूसरे, टीकाओंमें बहुत मतभेद दिखायी पड़ा। शब्दोंके अर्थ मनमाने किये गये हैं। कोशोंमें उन अर्थोंका पता नहीं और स्वयं गोस्वामीजीने उन्हीं शब्दोंको जिस-जिस अर्थमें अन्य स्थलोंपर प्रयुक्त किया है उससे कुछ-का-कुछ अर्थ किया गया है। यही नहीं किंतु जहाँ अर्थ समझमें न आया वहाँ प्राचीन पाठ ही बदल दिये गये हैं। इन सब कठिनाइयोंसे जी बहुत घबड़ा उठा और यही लालसा होती गयी कि कोई इस मानसके अच्छे विज्ञ पण्डित मिल जाते तो उनसे एक बार समग्र रामायणका आलोचनात्मक अध्ययन (Critical study) जैसी उसके विद्वान् (Scholars) करते हैं, कर लेता तो अति उत्तम होता।

यही लालसा श्रीअवधमें आकर उन्हीं परम कृपालुकी कृपासे बहुत कुछ पूरी हुई। यहाँ उस समय आचार्यवर श्री १०८ स्वामी पं० रामबल्लभाशरणजी (श्रीजानकी-घाट-निवासी) सन्तों-महात्माओंको श्रीमणिरामजीकी छावनीमें इस ग्रन्थपर पीयूष-वर्षा कर रहे थे। यह दीन प्रतिदिन वहाँ जाकर पीयूषका पान करता और स्मरण रखनेके लिये कथामें ही कुछ टिप्पण (notes) लिख लेता था। तत्पश्चात् बाबा रघुनाथदासजीकी छावनीमें संवत् १९८१—३* में आदिसे अन्ततक इसी ग्रन्थको श्री ६ रामायणी रामबालकदासजीके मुखारविन्दसे सुना और यहाँ भी टिप्पण करता गया।

मेरा स्वप्नमें भी यह विचार कभी न था कि यह टिप्पण सरकार आगे कुछ सेवा लेनेके लिये प्रेरणा करके लिखा रहे हैं। सर्वान्तर्यामी प्रभु जानते ही हैं कि दीनने टिप्पण (notes) केवल इसलिये लिखे कि—

'मोरे मन प्रबोध जेहि होई'

वैष्णवरत्न गुरुवर परम कृपालु श्री १०८ सीतारामशरण भगवानप्रसादजी (रूपकला) की परम गरीयसी आज्ञा एवं शुभाशीष होनेके कारण संवत् १९८१* कार्त्तिक मास अक्षय नवमीको नाम-वन्दना-प्रकरणकी टीका छपकर तैयार हुई। यह दीनका हिन्दी भाषा लिखनेका प्रथम प्रयास (attempt) था। जिन्होंने उस संस्करणको देखा है वे स्वयं समझ सकते हैं कि दीन इस भाषासे अनभिज्ञ था।

प्रेमियोंकी रुचि और आग्रह देख श्रीरामजयन्ती १९८२ से श्रीरामचरितमानसका तिलक आदिसे ही मासिक पत्ररूपमें प्रकाशित होने लगा और श्रीकृपासे बालकाण्डका तिलक श्रावण शुक्ल ७ संवत् १९८५ को समाप्त हुआ।

हर्षकी बात है कि प्रथम २७ दोहोंका तिलक जो ४३४ पृष्ठोंमें छपा था, उसके दो संस्करण बालकाण्डकी समाप्तिके पहले ही हो गये। इस तिलकका नामकरण-संस्कार उपर्युक्त श्री १०८ पं० रामवल्लभाशरणजीद्वारा हुआ।

'मानस-पीयूष' का उद्देश्य यह रहा है कि आजतक जितनी टीकाएँ, टिप्पणियाँ, तिलक, शंकावलियाँ आदि छप चुकी हैं उन सबका संग्रह एक ही जगह हो जाय। जहाँ जिस किसीमें कोई नवीन भाव मिले उनका संग्रह इसमें रहे, जिसमें एक ही पुस्तक-वाटिकामें सब प्रकारके फूलोंके रस और सुगन्धका आस्वादन मिल जाय।

---

* संवत् १९८१ यहाँ और आगे अशुद्ध है। वह १९८० है। यह भूल मुझे कापीराइटके मुकदमेमें ज्ञात हुई। वह भूल ही भगवत्कृपा सिद्ध हुई।

दूसरे जो कुछ कथाओं और हस्तलिखित टिप्पणियोंसे प्राप्त हुआ है वह भी न छिपाया जाय, ज्यों-का-त्यों दे दिया जावे।

'जस कछु संतन्ह सन सुनेउँ तुम्हहिं सुनावउँ सोइ'

कथा आदिके भावोंसे श्रीरामभक्तों और रामायणी व्यासोंके कामका तो मानस-पीयूष अवश्य हुआ। पर, साहित्य-प्रेमियों और अपने धर्ममें बिलकुल कोरे आजकलके अंग्रेजी-शिक्षा पाये हुए एवं रामायणके विद्यार्थी (Students of the Ramayana) होनेके इच्छुकोंके लिये वह विशेष कामका न था—यह एक बड़ी भारी कमी थी। इसकी पूर्ति इस तरह की गयी कि साहित्यविज्ञोंके पास जा-जाकर उनसे सत्संग करके उनके (Notes) लेने लगा (अब भी लेता हूँ) और उन लेखों-समालोचनाओंको भी देखने लगा, जो माधुरी, तुलसीपत्र, नागरीप्रचारिणी सभाकी ग्रन्थावली इत्यादिमें निकली थीं। इस प्रकार मानस-पीयूषमें प्रोफेसर श्रीरामदासजी गौड़ (M. Sc) प्रोफेसर श्रीलालाभगवानदीन (दीनजी), प्रोफे० पं० श्रीरामचन्द्रशुक्ल, श्रीसुधाकर द्विवेदीजी, साहित्योपाध्याय पं० श्रीसूर्यप्रसाद मिश्र इत्यादि महानुभावोंके विचारोंका समावेश किया गया है।

पं० रामकुमारजी प्रसिद्ध रामायणी श्रीकाशीजीके नामसे जो टिप्पणियाँ इसमें दी जाती हैं, उनके लिये जनताको रामायणी बाबा रामदासजी (श्रीअयोध्याजी)—की जिन्होंने श्रीपण्डितजीकी कथा सुन-सुनकर टिप्पणी लिख ली थी—का और उनसे भी अधिक श्री ६ महाराज रामसुन्दरदासजी रामायणी—व्यास (मणिरामजीकी छावनी) के कृतज्ञ होना चाहिये कि जिन्होंने कृपा करके टिप्पणी उतारकर, छपाकर लोकको उसका आनन्द-लाभ देना स्वीकार किया। कितने ही लोग अब भी टिप्पणी अति गोप्य वस्तुकी तरह छिपाते हैं, देते नहीं, उसके छपनेमें समझते हैं कि उनका मान्य घट जायगा।*

'मानस-पीयूष' के प्रारम्भमें नागरीप्रचारिणी सभाकी प्रति—प्रथम संस्करणका ही पाठ रखनेका विचार किया गया था। पर, यह विचार पीछे छोड़ दिया गया। जो पाठ प्राचीन और उत्तम (शुद्ध) समझा जाता है वही दिया जाता है और पाठान्तरोंपर विचार प्रकट किया जाता है, पर प्राचीनतापर अवश्य ध्यान रहता है, चाहे वह हमारी समझमें अभी ठीक न जँचता हो। समझके मुताबिक कोई पाठ रखकर प्राचीनताकी हत्या नहीं की गयी है। इसमें श्रीगौड़जी, श्रीदीनजी, पण्डित श्रीरामबल्लभाशरणजी, श्रीरामबालकदासजी इत्यादि महानुभावोंसे बहुत सहायता ली गयी है। उन विचारोंको पढ़कर पाठक स्वयं भी विचारकर देख सकते हैं कि कौन पाठ उत्तम है। प्रातःस्मरणीय गोसाईं तुलसीदासजीने इस ग्रन्थमें अनेक देश-देशान्तरोंकी भाषाओंका प्रयोग किया है। बहुत-से शब्द स्वयं उन्हींने गढ़े हैं, बहुत-से शब्दोंको अपने कामके लिये तोड़-मड़ोर भी डाला है जिससे उनका शुद्ध रूप जाता रहा,......इन शब्दोंकी व्युत्पत्ति आदि भी इसमें दिखायी गयी है।

गोस्वामीजीने (प्राचीन देवनागरी लिपिके अथवा हिंदीभाषाके लेखकोंकी शैलीके अनुसार) ख,ण,श, क्ष, व, य, ऋ......के बदले क्रमसे ष, न, स, छ, ब, ज, री इन वर्णोंका प्रयोग किया है। मानस-पीयूषमें भी वैसा ही रखा है—केवल 'ष' की जगह 'ख' ही दिया है क्योंकि उच्चारणमें भेद नहीं पड़ता। मानस मन्त्ररूप माना जाता है। इसकी चौपाइयोंका पाठ जब अनेक अनुष्ठानों और मनोरथोंकी सिद्धियोंके लिये किया जाता है, मन्त्र अशुद्ध उच्चारणसे फलप्रद नहीं होते। अतः जहाँ उच्चारणमें भेदका भय है वहाँ अक्षरोंको बदलकर शुद्ध बनाना न ग्रन्थकारको अभिप्रेत था (वे स्वयं संस्कृतके पण्डित थे) और न दीन ही उसे उचित समझता है।

जितनी सम्भव शंकाएँ लोगोंने की हैं वे उचित स्थानोंपर दी गयी हैं और उनके समाधान भक्ति और साहित्यिक दृष्टिसे भी किये गये हैं।

---

* वस्तुतः पीयूषपरिचय जो बालकाण्डके लिये छपाया गया था, वही कई काण्डोंमें लगा दिया गया था। अयोध्याकाण्डमें पं० रामकुमारजीके हस्तलिखित खर्रेसे ही टिप्पण दिये गये थे, बाबा रामदासके टिप्पण अयोध्याकाण्डपर नहींके बराबर हैं।

द्वितीय संस्करणके सम्बन्धमें दो शब्द

मानसप्रेमियोंकी सेवामें द्वितीय सोपान पूर्वार्ध (श्रीअयोध्याकाण्ड) के 'मानस-पीयूष' तिलकका परिवर्धित, संशोधित तथा परिमार्जित द्वितीय संस्करण आज मैं भेंट कर रहा हूँ।

इस काण्डके इस संस्करणको मैं अपनी इच्छानुसार नहीं लिख सका हूँ। कारण कि प्रेमी जनता सातों काण्डोंके तिलकको शीघ्र चाह रही है। जो नोट्स मैंने कर रखे थे उनके मूल ग्रन्थ इधर-उधरसे उपलब्ध करने और खोजकर उन प्रसंगोंको लिखनेका अवकाश नहीं। दिनभर नित्य प्रेसके लिये पाण्डुलिपि लिखकर तैयार करना, प्रूफ देखना, पत्रव्यवहार करना इत्यादि सब कार्य अकेले इस शरीरको करना पड़ता है; क्योंकि इतनेपर भी छपाईके लिये रुपया पूरा नहीं पड़ता। शरीर अस्वस्थ, दृष्टि भी बहुत कम होते हुए भी यह कार्य एकमात्र श्रीसरकारकी कृपासे उनकी दी हुई शक्तिसे सम्पादित हो रहा है। ***'स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदर दियो।'***

इस संस्करणमें पहले संस्करणके सब भाव तो हैं ही, साथ ही मानसराजहंस पं० श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी (काशी) और प०प० प्र० स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती (उरुण इसलामपुर) के अप्रकाशित टिप्पण जो उन्होंने मेरी प्रार्थनापर लिखकर भेजे हैं तथा वेदान्तभूषण पं० रामकुमारदासजी (मणिपर्वत, श्रीअयोध्याजी) के प्रकाशित एवं अप्रकाशित टिप्पण विशेष रूपसे आपको मिलेंगे। मानस-पीयूषका प्रथम संस्करण पढ़कर इन महात्माओंने जहाँ-जहाँ आवश्यकता समझी वहीं-वहीं टिप्पण लिखे हैं जिसमें पुनरुक्ति न हो। श्रीनंगे परमहंसजी (बाँधगुफा प्रयाग, साकेतवासी) के टिप्पण उनकी छपी हुई पुस्तकोंसे दिये गये हैं। उन्होंने मानस-पीयूषसे जहाँ-जहाँ मतभेद प्रकट किया है, वह सब भी दिया गया है। इसके अतिरिक्त महात्मा श्रीजानकीशरण (स्नेहलता) जीके अभिप्राय-दीपकचक्षुसे भी मानसमयंकके भाव स्पष्ट करनेमें सहायता ली गयी है।

इसके अतिरिक्त प्रेसकापी तैयार करते समय जो कुछ अनायास सूझा वह भी लिख दिया गया है। पं० रामकुमारजीके अयोध्याकाण्डके हस्तलिखित टिप्पण मुझको उस समय प्राप्त हुए जब कुछ पृष्ठ छप चुके थे। अत: प्रथम २४ दोहोंके वे टिप्पण भी इस बार 'टिप्पणी' या 'पं० रा० कु०' के नामसे दिये गये हैं।

इस तरह इसका कलेवर पहले संस्करणसे डेवढ़ा हो गया है। अवकाश न होनेसे आलोचना नहीं की जा सकी।

श्रीरणबहादुर सिंहजीकी टीकामें श्लोक अस्सी प्रतिशत पण्डितोंने गढ़कर रखे हैं, यह अनुभव मुझको लंकाकाण्डके छपाते समय हुआ। अत: उन श्लोकोंको इस संस्करणसे निकाल दिया गया है।

प्रोफेसर श्रीबदरीनारायण श्रीवास्तवको धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने मेरी प्रार्थनापर दो-तीन दिनमें भूमिका लिखकर मेरे पास भेज दी थी।

उपासकोंको यह बात अवश्य खटकती है कि आजकलके पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त साहित्यिक अपने यहाँके महापुरुषोंके नामके साथ 'श्री' तक नहीं लगाते हैं। पर उनका ऐसा स्वभाव है, उनकी ऐसी शैली ही है, यह समझकर पाठक उसपर ध्यान न देकर उनके गुणको लें।

श्रीबजरंगबली गुप्त 'विशारदजी' को भी धन्यवाद देता हूँ कि वे छपनेके पहले फिर भी प्रूफ देखकर तब छपने देते हैं।

श्रीसीतारामपदानुरागका भिक्षुक—**श्रीअंजनीनन्दनशरण**

कार्तिक शु० १५ संवत् २०१० वि०

अयोध्याकाण्डका संक्षिप्त मूल्यांकन

कथावस्तु

अयोध्याकाण्डकी कथावस्तुका रामचरितमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। विद्वान् भावुक एवं संतोंका मत है कि बालकाण्डके आदि, उत्तरकाण्डके अन्त तथा अयोध्याकाण्डके मध्यस्थलका तात्त्विक रहस्य सज्जन एवं भक्त ही जान सकते हैं। बालकाण्डके प्रारम्भमें कविने जिस व्यापक भूमिकाकी आयोजना की है, वह देखते ही बनती है। उत्तरकाण्डके अन्तमें अध्यात्मवादका जो सूक्ष्म एवं सर्वग्राह्य विवेचन प्रस्तुत किया गया है, वह अपने ढंगका अकेला ही है। इसी प्रकार जीवनकी समस्त व्यावहारिक जटिलताओंका वर्णन कविकी लेखनीको अयोध्याकाण्डमें करना पड़ा है। यहाँ जीवनकी व्यावहारिक कुरूपता जहाँ एक ओर अपनी समस्त विभीषिकाके साथ उपस्थित होती है, वहीं आदर्शकी उज्ज्वलता अपनी सम्पूर्ण कान्तिके साथ आत्म-प्रकाश भी करती है। दोनोंमें यही संघर्ष प्रारम्भ होता है और अन्तमें आदर्शकी विजय होती है। यों तो रामचरितमात्रका उद्देश्य ही आदर्शकी यथार्थपर विजय दिखाना है और इसीलिये जहाँ कहीं दोनोंमें संघर्ष होता है, वहीं यथार्थकी रक्षा करते हुए आदर्शकी प्रतिष्ठा की गयी है, फिर भी अयोध्याकाण्डमें आदर्शको यथार्थसे जितना अधिक संघर्ष करना पड़ा है उतना अन्यत्र नहीं। इसके लिये तुलसीदासको न केवल चली आती हुई रामकथामें ही संशोधन एवं परिवर्द्धन करना पड़ा है, वरन् विभिन्न पात्रोंके चरित्रगत उज्ज्वल पक्षको भी उन्हें उभारना पड़ा है। कहीं-कहीं तो कविने कंकालको मांसल एवं सुष्ठ-सा बना दिया है और कहीं अपनी तूलिकासे हलका-गाढ़ा रंग भरकर निष्प्राण रेखाओंमें भी प्राण-प्रतिष्ठा कर दी है। यही कारण है कि रामचरितमानसका यह सोपान एक साथ ही कवि, भावुक, चित्रकार, भक्त-अभक्त, विद्वान्-सहृदय, आदर्शवादी एवं यथार्थदर्शी सभीको अपनी ओर आकर्षित करता है और अधिक अंशतक उनकी अन्तर्वृत्तियोंको संतोष प्रदान करता है, मनकी विविध भाव-भूमियोंके हमें यहीं एक स्थलपर दर्शन हो जाते हैं; चेतनाके विभिन्न स्तरोंका यहीं एक स्थलपर ज्ञान हो जाता है। जीवनकी भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें मानव-जाति किस प्रकारका व्यवहार करती चली आयी है; यदि इसे देखना हो तो अयोध्याकाण्डसे बढ़कर उपयुक्त स्थल कहीं नहीं मिलेगा।

अयोध्याकाण्डका प्रारम्भ ही भगवान् शंकरकी स्तुतिसे होता है, जिन्होंने 'भूधरसुता', 'देवापगा', 'बालविधु', 'गरल', 'व्यालराट्' आदि विभिन्न-प्रकृतिके सत्त्वोंका अपनेमें अद्‌भुत समन्वय कर लिया है। शिवभगवान्‌की इस समन्वय योजनाको कवि कदाचित् जीवनके लिये अत्यावश्यक मानता है। इसीसे उसने अपने आदर्श मानव रामकी उस मुखश्रीका भी आगे स्मरण किया है, जो न तो अभिषेककी सूचना पाकर प्रसन्न हुई और न वनवासके दु:खसे म्लान ही हुई। कविको इस मुखश्रीसे विशेष अनुराग है और पूरे रामचरितमानसमें कविकी साधनाका आधार यही समन्वय-भावना है। इसीसे कवि जहाँ एक ओर सीतासे युक्त श्रीरामके **'नीलाम्बुज-श्यामल-कोमल'** अंगोंकी वन्दना करता है वहीं दूसरी ओर अपने आराध्य (रघुवंशनाथ) के करकमलोंमें 'महासायक' और 'चाप' की भी स्मृति कर लेता है और इस प्रकार अपने मनको विभिन्न जीवन-परिस्थितियोंके अनुकूल दृढ़ता प्रदान कर कवि पाठकको राम-कथाके अत्यन्त करुण-प्रसंगकी ओर उन्मुख करता है। राम सीताको ब्याहकर साकेत आ गये हैं। वैभव-सम्पन्न अवध ***'रिधि सिधि संपति'*** की जलप्रवाहपूर्ण नदियोंको 'अंबुधि' की भाँति अपना रहा है। लोगोंका सुकृत सुखकी वर्षा कर रहा है। नगरकी 'विभूति' का निर्माण मानो ब्रह्माने अपनी समस्त शक्ति लगाकर कर दिया है। रामके ***'गुन सील सुभाऊ'*** ने समस्त पुरवासियों, माताओं एवं राजा दशरथतकको सुखी बना दिया है। उनकी 'मनोरथबेलि' मानो फलसम्पन्ना हो गयी हो। फिर इस सुख-उल्लासके वातावरणमें यह कामना होनी स्वाभाविक

ही है कि रामको युवराज-पद मिल जाय। जिसकी कृपाकी आकांक्षा लोकपालतक करते हैं, तीनों लोक तथा तीनों कालोंमें जिसके यशकी समता करनेवाला कोई अन्य सत्त्व नहीं है, उस दशरथके मनमें भी रामको युवराज-पद दे देनेकी कामना जग जाती है और होती भी क्यों न? राम तो राजा दशरथके *'अरि मित्र उदासी'* सभीको प्रिय जो हो गये थे! फिर क्या था? मित्रों एवं मन्त्रियोंके सत्परामर्शसे प्रेरित होकर राजा दशरथ वसिष्ठकी आज्ञा प्राप्त करनेके विचारसे उनकी सेवामें प्रस्तुत हो गये और उनकी यह अभिलाषा देख मुनिने बड़ी ही गम्भीर वाणीमें दशरथको समझा दिया कि राम साधारण व्यक्ति नहीं हैं। वस्तुत: वे जगत्‌के स्वामी हैं, उनसे विमुख होकर केवल पश्चात्ताप ही हाथ लगता है और बिना उनके भजनके जीकी 'जरनि' नहीं मिट सकती। ऐसे राम जिस दिन 'युवराज-पद' पर अभिषिक्त कर दिये जायँ वही दिन 'सुदिन' और उसी घड़ीसे 'सुमंगल' का प्रारम्भ हो जायगा। अत: इस पुनीत कार्यकी आयोजना शीघ्र ही प्रारम्भ हो जानी चाहिये। मुनिकी इस आदेशात्मक वाणीको सुनकर राजा दशरथके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। मन्त्रियोंसे परामर्शकर उन्होंने अभिषेककी तैयारी प्रारम्भ कर दी। समस्त तीर्थोंका पानी, नाना प्रकारकी ओषधियाँ, मूल, फल, फूल, चामर, चर्म, वसन, अगणित जातियोंके रोमपाट, मंगलकी अनेक वस्तुएँ, सभी प्रकारके रसाल, पूगीफल, केला आदि एकत्र करनेकी आज्ञा राजा दशरथने दे दी। वेद-विधिके अनुकूल अभिषेकसे सम्बन्धित अन्य आवश्यक पदार्थोंके संग्रहके लिये विभिन्न व्यक्तियोंको नियोजित कर दिया गया। राम-अभिषेकका समाचार सुनकर अवधमें 'गहागह' बधावा बजने लगा। इधर राम और सीताके मंगल-सूचक अंग फड़कने लगे और सरलहृदय दम्पतिने विचार किया कि शीघ्र ही प्रिय भरतसे उनकी भेंट होगी और भरतको पा जाना ही तो रामके सगुण रूपमें अवतरित होनेका फल था। उधर रनवासमें आनन्द-मोदकी धारा-सी बह चली। सुमित्रा, कौशल्या आदि रानियोंने इस सुखद समाचारके वाहकोंको मुँहमाँगा दान दिया।

इस प्रकार अभिषेककी प्रसन्नतामें सारा साकेत मग्न था। कहीं राम भावी अधिकार-सुखकी कल्पनासे चंचल न हो उठें, यह सोचकर राजा दशरथने ऋषि वसिष्ठको बुलाकर रामको उपदेश देनेकी प्रार्थना की। द्वारतक दौड़कर आगत ऋषिकी सीता-रामने अर्चना की और सम्मानपूर्वक उन्हें भीतर लाकर आसनस्थ किया। रामकी विनम्रताकी गुरुने भूरि-भूरि प्रशंसा की और उनके *'गुन सील सुभाऊ'* का वर्णन करके उन्होंने रामको समझाया कि यदि कार्य कुशलसे बीत गया तो उन्हें इस अवसरपर विशेष संयमसे रहना होगा। गुरु यह सीख देकर तो चले गये, पर रामके मनमें बार-बार यह भाव उठने लगा कि सूर्यवंशमें यह नियम बड़ा ही कठोर है कि राज्यका अधिकारी केवल राजाका बड़ा पुत्र ही हो। कवि कहता है, रामका यह 'पछताना' भक्तोंके मनकी 'कुटिलाई' को दूर करे। इसी अवसरपर लक्ष्मण भी रामके पास आ जाते हैं। फिर सभी भरतके आ जानेकी कामना करने लगते हैं। पुरका जनसमाज तो राम-सीताको सिंहासनस्थ देखनेको उत्सुक है ही।

पर, रामका जन्म जिस कार्यके लिये हुआ था वह राजभोगसे नहीं पूरा हो सकता था। देवताओंको इसका आभास पहले ही मिल गया और *'बिषमय हरष रहित'* रामचन्द्रकी दुहाई देकर उन्होंने शारदाको इस बातके लिये बाध्य किया कि वे अवध जाकर रामराज्याभिषेकमें विघ्न उपस्थित करें। ऊँचे निवासमें रहनेवाले कुचाली देवोंको कोसती हुई सरस्वतीने अवधपुर आकर कैकेयीकी दासी मन्थराको अपयशकी पिटारी बनाकर उसकी मति फेर दी। और मन्थरा दासीने जो कुछ किया राम-कथाका सारा करुण-प्रसंग उसके लिये कार्य बन गया है। इस एक कारणने वह सब सम्भव कर दिया, जिसके लिये राम-कथाको भारतके मानव-मनने इतना अधिक महत्त्व दिया है। नगरके उत्साहको देखकर मन्थरा पहले उत्सुक होकर उसका कारण पूछती है और जब लोगोंसे राम-तिलककी बात सुनती है तब उसके उरमें दाह होता है। फिर तो वह इस सुख-समाजको विनष्ट करनेका उसी प्रकार उपाय करने लगती है, जिस प्रकार किराती मधु-मक्खीके छत्तेको देखकर उसकी 'ताक' में लग जाती है। मन्थरा विलखती हुई कैकेयीके समीप जाती है और नारीचरित करती हुई आँसू ढारने लगती है। कैकेयीके

पुनः-पुनः पूछनेपर भी वह अपने रोनेका कारण नहीं बताती और समय पाकर उसे यह सूचित करते देर नहीं लगती कि राम-माताके अतिरिक्त इस समय किसीका भी कुशल नहीं है। फिर राजाकी कायरताका भी संकेत करती हुई भरतके विदेश जानेको भी सकारण घटना मानती है। कैकेयी यह सुनकर पहले तो बहुत ही क्षुब्ध हो जाती है और उस 'घरफोरी' को शान्त हो जानेका आदेश देती हुई मुसकराने लगती है। उसे विश्वास नहीं होता कि मन्थरा इस प्रकारकी बात किसी कुटिलतावश कर रही है और उसे यह विश्वास दिलाती है कि यदि रामका तिलक कल हो रहा हो तो वह मन्थराको मनमाना दान कर देगी। रामके गम्भीर व्यक्तित्वसे वह परिचित-सी लगती है और स्पष्ट शब्दोंमें कहती है कि राम उसपर उतना ही स्नेह रखते हैं जितना कौशल्या या सुमित्रापर। अपने इसी विश्वासके कारण वह मन्थरासे इस प्रकार दु:खी होनेका कारण पूछती है। मन्थरा इस परिस्थितिसे भी विचलित नहीं होती। अपनेको कोसती हुई वह अपने 'गूढ़ कपट प्रिय वचन' कहकर कैकेयीको व्यामोहित कर डालती है। राम-राज्याभिषेकके पीछे वह एक कूटनीतिक जालकी कल्पना करती है और उसकी कुरूपताका चित्रण बड़ी ही प्रभावपूर्ण भाषामें कैकेयीके समक्ष करती है। दशरथ और कौशल्याको वह सरासर कपटी सिद्ध करती है और कैकेयीको राजाके प्रेमकी वंशीसे मुग्ध हो जानेवाली भोली हरिणी। सौतकी कुटिलताकी शताधिक कहानियाँ उसने कैकेयीको सुनायीं और भावीवश रानीके मनमें उसकी 'प्रतीति' भी आ गयी। मन्थराने उससे स्पष्ट कह दिया कि रामके तिलक हो जानेपर 'दूधकी माखी' के समान हो जायेगी और 'सुतसहित' यदि वह सेवा नहीं करती तो घरमें नहीं रहने पायेगी। भरतको बंदी कर लिया जायगा तथा कद्रूने जिस प्रकार विनताको दु:ख दिया था, उसी प्रकार कौशल्या कैकेयीको दु:ख एवं यातनाएँ देंगी। मन्थराकी इस बातका कैकेयीको विश्वास हो जाता है। उसकी दाहिनी आँख बहुत दिनोंसे फड़कती रही है और वह संकोचवश किसीसे कहती नहीं थी। इसपर रानीको ढाढ़स बँधाती हुई मन्थरा उसे यह विश्वास दिलाती है कि 'गुनियों'-ने यह स्पष्ट कहा है कि भरतको राज्य मिलेगा। आगे वह कैकेयीको कोपभवन जानेका परामर्श भी देती है और राजासे दो वर—भरतको तिलक और रामको वनवास—माँगनेको कहती है। फिर तो कैकेयी मन्थराको अपना मनोरथ पूर्ण हो जानेपर ***'चष पूतरि'*** बनानेका प्रण करती हुई कोप-भवनको चली जाती है। सायंकाल राजा दशरथ कोपभवनका नाम सुनते ही सभीत हो जाते हैं। ***'सूल कुलिस असि'*** का अभ्यस्त राजा ***'रतिनाथ सुमन सर'*** से सिद्ध हो जानेके कारण ***'तियरिस'*** सुनकर ही सुखा गया। प्रियाके कुवेषको देखकर उसे मृदु वाणीसे उसने मनानेकी भी चेष्टा की और केवल उसे प्रसन्नभर करनेके लिये वह किसी रंकको राजा बनाने तथा किसी राजाको देश-निकाला देनेको भी प्रस्तुत हो जाता है। कामवश राजा दशरथने रामकी शपथ खाकर कहा कि कैकेयी जो कुछ माँगे वह उसे तत्काल दे देगा। नीतिनिपुण राजा भी नारीचरितके सागरमें डूब गया। राजाको अपने पूरे विश्वासमें लेकर कैकेयी उनसे दोनों वरों—'राम-वन-गमन तथा भरत-राज्याभिषेक'—की याचना कर रही है। इस अप्रत्याशित याचनाको सुनकर राजा दशरथ सूख-से गये। कैकेयी राजाकी इस अवस्थाको समझ जाती है। वह तो राजासे स्पष्ट ही कह देती है कि यह तो निश्चित था कि वह वर माँगनेका अवसर पाकर 'चबेना' तो माँग नहीं लेगी। अत: राजा या तो वर देकर शिबि, दधीचि और बलिकी श्रेणीमें जाकर बैठ जायँ अथवा वर न देकर अपयशके भागी बन जायँ। कौशल्याकी सरलता एवं निष्कपटताका प्रतिपादन करते हुए उत्तरमें राजा दशरथ भी स्पष्ट कर देते हैं कि वे तो केवल नृपनीतिका पालन कर रहे थे, वैसे भरत तो उनके बड़े ही स्नेह-भाजन हैं। अत: भरतको युवराज बनानेमें राजाको कोई आपत्ति नहीं है, किंतु उनकी प्रार्थना है कि राम वन न भेजे जायँ, क्योंकि उनका जीवन ही ***'राम दरस आधीना'*** है। फिर रामको वन भेज देनेसे कैकेयीको जो 'कलंक' और राजाको जो पश्चात्ताप मिलेगा, वह उनकी मृत्यु हो जानेपर भी नहीं मिटेगा और ये दोनों बातें जैसे सत्य होनेके ही लिये विचारपथमें आयी हों।

दूसरे ही दिन राम, सीता और लक्ष्मण पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य मानकर वन-पथपर चल पड़ते हैं। कविने यहाँ पुरवासियोंके विषादका बड़ा ही मार्मिक एवं हृदय-द्रावक चित्रण किया है। जिन लोगोंने कैकेयीकी 'कुचालि' की बात सुनी उनमें कुछने भरतको भी दोष देना चाहा, किन्तु उनके शील-स्वभावको समझ-बूझकर कुछ प्रकट कहा नहीं। कुछ भरतको तिलक तो दिलाना चाहते थे, किन्तु रामको वन न भेजकर गुरुगृहमें ही रखना चाहते थे। दूसरे इस घटनामात्रके प्रति उदासभाव प्रकट करने लगे। पुरकी कुछ स्त्रियोंने व्यर्थ ही कैकेयीको समझानेका प्रयास किया। उधर प्रिय पुत्र रामसे वनगमनका समाचार सुनकर कौसल्या पहले तो सहमकर सूख गयीं, नेत्र सजल हो गये और तन थर-थर काँपने लगा और इस प्रकार व्यथित एवं विक्षिप्त हो गयीं जैसे माँजा खाकर मीन। फिर माता (कैकेयी) की इच्छा समझकर उन्होंने रामको वनगमनकी अनुमति दे ही दी। अब सीताकी बारी आयी। *'चन्द्र-किरन-रस-रसिक-चकोरी', 'रबि रुख'* नयन जोड़ना चाहती है, 'चित्र-लिखित' कपिको देखकर डर जानेवाली सीता वनमें किस भाँति बसेगी! किन्तु सीताको वनकी एक-एक वस्तु अमित सुखको देनेवाली होगी, यदि वह पतिके साथ वहाँ निवास करे। वनके पहाड़ अवधके सैकड़ों सौधके समान होंगे। सीताके लिये तो जहाँ राम रहें, वहीं सुख-ही-सुख है। पं० रामचन्द्र शुक्लके शब्दोंमें 'दु:खकी परिस्थितिमें सुखकी इस कल्पनाके भीतर हम जीवन-यात्रामें श्रान्त पथिकके लिये प्रेमकी शीतल-सुखद छाया देखते हैं। यह प्रेममार्ग निराला नहीं है। जीवन-यात्राके मार्गसे अलग होकर जानेवाला नहीं है, यह प्रेम कर्मक्षेत्रसे अलग नहीं करता, उसमें बिखरे हुए काँटोंपर फूल बिछाता है।' रामसे दूर रहकर सीताजी जी नहीं सकेंगी, अवधि (वनवासकी अवधि) के भीतर ही प्राणत्याग कर देंगी। रामको उन्हें अपने साथ चलनेकी अनुमति देनी ही पड़ी। सासने भी करुणार्द्र नेत्रोंसे स्वीकृति दे दी और जब राम तथा सीता वन जानेके लिये प्रस्तुत हो रहे हों, तब भला लक्ष्मण कैसे चुप रह सकते थे। जो मन, वचन और कर्मसे रामके चरणोंमें रत हो, उसे राम छोड़ भी कैसे सकते थे? माता सुमित्राने भी लक्ष्मणको पिता (तुल्य) राम और माता (तुल्य) सीताके चरणोंमें समर्पित कर दिया। माता कैकेयीके आदेशसे वल्कल-वस्त्र धारण कर मुनिवेष बनाकर सीता और लक्ष्मणके साथ जनक-जननीको प्रणामकर राम सौधसे बाहर आ गये। फिर गुरुको सारा राज्य सौंपकर सबसे विदा माँग वनपथकी ओर चल पड़े। राम-बिना अयोध्याकी व्यथाका वर्णन कविने बड़ी ही मर्मस्पर्शी शैलीमें किया है।

वन-यात्राका पहला दिन तमसाके तटपर बीता। भावुक प्रजाको सोती हुई छोड़कर रामको सुमन्त्रके साथ रथपर चढ़कर आगे बढ़ जाना पड़ा। आगे शृंगवेरपुरमें निषादराज गुहसे भेंट हो जाती है। इसके स्नेहपूर्ण व्यवहारका आभार स्वीकार करके रामने किसी शिंशिपातरुके नीचे सोकर रात काट दी। सौधमें सोनेवाली सीताको भूमि-शय्यापर सोती देख कवि दो आँसू बहाकर आगे बढ़ जाता है। इस विषादपूर्ण वातावरणमें कवि लक्ष्मणद्वारा निषादको तत्त्वज्ञान दिलवाकर हमारा परितोष करता है। फिर प्रभात होनेपर सुमन्त्रको भी राम समझा-बुझाकर लौटा देते हैं। इसके अनन्तर केवटको अपना चरणामृत देकर गंगा पारकर राम उसे भी साथ ले लेते हैं। फिर प्रयाण प्रयागकी ओर होता है। किसी भाग्यशील वटतर रात काटकर फिर सभी प्रयागके समीप आ जाते हैं। तीर्थराजमें संगमपर स्नानकर वनयात्री भरद्वाज मुनिके पुनीत आश्रममें प्रविष्ट हुए। भरद्वाजने जी खोलकर रामका स्वागत किया और याचना की कि उनके कमलचरणोंमें उनका *'सहज सनेह'* बना रहे। प्रयागके *'बटु तापस उदासी'* सभी रामके रूपका दर्शन करने आश्रमपर आये। दूसरे दिन मुनिके चार मार्गदर्शक वटुओंको लेकर वाल्मीकिके आश्रमकी ओर राजकुमार बढ़े। यमुनाके तटपर पहुँचकर पुरवासियोंके आग्रहपर अपनी कहानी सुनाते हुए पथिकोंने न जाने कितने ही नेत्रोंको तृप्त किया।

रामने यहाँ गुहको समझा-बुझाकर बिदा दे दी, किंतु मार्गके दूसरे पथिक तो मनानेसे भी नहीं मानते। वनकी भयंकरताका स्मरण कर किशोर यात्रियोंको केवल नेत्र-लाभके लिये वे अकेले छोड़ना नहीं चाहते। रामको उन्हें लौटानेके लिये बड़ी ही प्रियवाणीका प्रयोग करना पड़ता है। जिस ग्राम-पुर अथवा मार्गसे दोनों वीर निकल जाते हैं, वहाँके सभी बाल-वृद्ध, नर-नारी अपने सभी गृहकाज

छोड़कर उनके दर्शन कर अपना जीवन सफल बनाते हैं। कुछ तो नेत्रोंके मग छबिको उरमें लाकर तन-मन-वाणीसे शिथिल हो जाते हैं। प्रेमकी प्याससे थके समस्त नर-नारी सौन्दर्यका पान कर छक-से जाते हैं। ग्राम-वधूटियाँ बड़ी ही चतुरतासे सीताजीसे राम और लक्ष्मणका परिचय पूछती हैं और कटाक्षोंद्वारा जिस प्रकार सीताजी उनका उत्तर देती हैं, वैसा कल्पनाविलास भारतीय साहित्यमें अन्यत्र कठिनतासे ही मिल सकता है। लक्ष्मणका नाम तो सीताने बड़ी ही स्वाभाविकतासे ले लिया, किंतु रामका परिचय अत्यन्त कलात्मक एवं स्त्री-सुलभ पथका अवलम्बन कर दिया गया। अंचलसे ***'वदनु विधु'*** को ढँककर, पियकी ओर देखकर भौंहोंको टेढ़ीकर, खंजन नेत्रोंको तिरछेकर सीताने ग्राम-वधूटियोंको बतला दिया कि राम उनके पति हैं। इस प्रकार मार्गके नर-नारियोंको सुख देते हुए तीनों पथिक आगे बढ़ जाते हैं। पीछे जनसमाज विधिको दोष दे-देकर पछताता और दो बूँद आँसूके गिरा-गिराकर अपने मनके उद्वेगको शान्त करता है।

अनेक वनों, सरोवरों एवं शैलोंको पारकर तीनों पथिक वाल्मीकि-आश्रममें प्रवेश करते हैं। मुनिके बार-बार पूछनेपर रामने अपने वन-प्रवासकी समस्त कथा संक्षेपमें कह सुनायी और मुनिसे कोई उपयुक्त स्थल पूछा जहाँ पर्णशाला बनायी जा सके। रामके ब्रह्मत्वको जानते हुए भी मुनिने उन चौदह स्थानोंको बताया जहाँ वे नित्य ही निवास करते हैं। फिर भी नरतनु धारण करनेके कारण किसी-न-किसी स्थान-विशेषपर उन्हें रहना ही होगा, अतः इस दृष्टिसे चित्रकूट सबसे उपयुक्त स्थल है। मन्दाकिनीके पार्श्वमें अनेक वन, शैल, मृग, विहंगोंसे घिरा हुआ चित्रकूट अत्रि आदि मुनिवरोंकी तपस्या-भूमि है। रामके मनमें वह भूमि बस गयी और वाल्मीकिसे बिदा लेकर वे चित्रकूट आ गये। देवताओंने कोल-किरातका रूप धारण कर उनकी पर्णशालाका निर्माण किया। विभिन्न आश्रमोंसे मुनियोंका समूह आता है। राम उन्हें साष्टांग प्रणाम करते हैं और यथायोग्य उनका सम्मान कर उनके ***'जप जाग तप'*** का मार्ग निष्कण्टक कर देते हैं। उनके आगमनमात्रसे ऋषि-मुनि निर्भय हो गये। कोल-किरातोंका झुण्ड उनके शक्ति-सौन्दर्यसे आकर्षित होकर उन राजकुमारोंकी सेवामें जुट जाता है। सारी प्रकृतिमें उत्सव छा जाता है। पुष्प बिना ऋतुके ही खिल उठते हैं, पक्षी कलरव करने लगते हैं और अपना सहज वैर भूलकर वनपशु इतस्ततः विचरने लगते हैं। मन्दाकिनीके भी भाग जग जाते हैं। सरस्वती, गंगा, यमुना, गोदावरी आदि उसके भाग्यकी भूरि-भूरि सराहना करती हैं। चित्रकूट भी आज धन्यभाग हो गया है। प्रियतम राम, पर्णकुटी, कुरंग-विहंग आदि परिवार तथा सास-श्वशुर-जैसे मुनिवरोंके बीच सीताको वन सैकड़ों अवधसे बढ़कर हो गया है। पारस्परिक प्रेमकी रक्षा करते हुए यह लघु परिवार मर्यादित जीवन व्यतीत करता है। सभी एक-दूसरेके भावोंकी रक्षा करते हुए अपने कर्तव्यकी रक्षा करते हैं। तुलसीदास इसी बहाने पारिवारिक आदर्शका स्वरूप भी बतलाते चलते हैं।

चित्रकूटतक रामको पहुँचाकर तुलसीदास पुनः अवधकी ओर लौटते हैं। रामको पहुँचाकर निषाद लौटता है। घर आनेपर उसे पृथ्वीपर पड़े हुए व्याकुल सुमन्त्र मिल जाते हैं, घोड़ोंने भी तृण चरना छोड़ दिया है। दिन-रात उनके नेत्रोंसे अजस्र अश्रुवर्षा होती रहती है। निषादके बार-बार समझानेपर सुमन्त्र रथकी डोर सँभालते हैं। 'अवध पहुँचनेपर लोग रामके विषयमें पूछेंगे तो मैं क्या उत्तर दूँगा' यही सोच-सोचकर सुमन्त्र परम व्याकुल हो उठते हैं। कविने बड़ी ही पहुँचके साथ सुमन्त्रकी मर्म-व्यथाका चित्रण किया है। दिन रहते अवध आनेका सुमन्त्रको साहसतक नहीं होता। साँझके समय वे अवध-प्रवेश करते हैं। जिन-जिन लोगोंको उनके आनेका समाचार मिल जाता है वे व्याकुल होकर दौड़ पड़ते हैं और उसी प्रकार विक्षिप्त हो जाते हैं जैसे नीर घट जानेपर मीन। राजाके समक्ष श्लथ-चरणों सुमन्त्र पहुँच तो गये, किंतु उनके बार-बार पूछनेपर भी सहसा कुछ न कह सके। फिर कुछ धैर्य धारणकर उन्होंने सारी कथा संक्षेपमें सुना दी। रामके निश्चितरूपसे वन जानेका समाचार सुनकर सारा परिवार शोकग्रस्त हो गया। तुलसीदास कहते हैं कि यह परिस्थिति दुःखको भी दुःख देनेवाली थी। राजा तो कण्ठगतप्राण

हो गये। उनकी मरणवेला देख कौशल्याने धैर्य धारणकर कुछ संतोष देनेकी चेष्टा की, किन्तु बिना रामके वे जीवन धारण भला किस अवलम्बपर करते? पुत्र-वियोगमें राम-राम जपते-जपते उन्होंने इस नश्वर कायाका परित्याग कर दिया। इस व्यथाका चित्र कविने बड़ी ही करुण वाणीमें खींचा है। अयोध्याकाण्डकी करुणा विश्व-साहित्यमें बेजोड़ है। करुणाके इस प्रवाहमें सारा अवध डूब-सा रहा था, तभी वसिष्ठजीने आकर अपनी ज्ञान-विज्ञानमयी वाणीसे सभीको प्रबोध दिया। राजाका शव तेलसे भरी नावमें रख दिया गया और भरतको शीघ्र बुलानेके लिये दूत भेज दिये गये।

जबसे अवधमें अनर्थका आरम्भ हो गया था, तबसे भरतको भी अपशकुन होने लगे थे। उनके समाधानके लिये दानादि विविध उपायोंका उन्होंने अवलम्ब भी ले लिया था। इसी बीच उन्हें बुलानेके लिये दूत पहुँच गये। साकेत पहुँचते ही उन्हें सभी कुछ 'श्रीहत'-सा लगा। चुपचाप प्रणाम कर लोग उनका मार्ग छोड़ देते थे। केवल कैकेयीने आरती सजाकर उनका विशेष सत्कार किया। फिर घरका कुशल पूछनेपर उसने सारी कहानी भी संक्षेपमें कह सुनायी। सारे अनर्थका कारण अपनेको जानकर भरतकी ग्लानिकी सीमा नहीं रही। कैकेयीको उन्होंने बहुत कुछ खरी-खोटी सुनायी। उसी समय आयी हुई कुबरीकी शत्रुघ्नने तो कूबर ही तोड़ दी। पुनः दोनों भाई माता कौशल्याके पास गये। कृश एवं मलिनवदना कौशल्याके सामने भरतने अपना हृदय खोलकर रख दिया और माँको तो विश्वास था ही कि भरतका इस षड्यन्त्रमें कोई हाथ नहीं है। दुःखी भरतको माता कौशल्याने बड़ी सान्त्वना दी और अपनी छातीपर वज्र रखकर कहानी कह डाली। इतनी दर्दनाक कहानी सुनकर कवि कहता है, सारा रनिवास रो उठा। बार-बार भरतके अपनी सफाई देनेपर माताने उन्हें निष्कलंक ही घोषित किया।

वसिष्ठ आदिने आकर फिर भरतसे दशरथका दाह-संस्कार कराया। इसके पश्चात् अनेक स्मृति-पुराण-सम्मत उपदेश देकर भरतको राज-काज सँभालनेका आदेश ऋषिवरोंने दिया। किंतु बड़ी ही विनम्रतासे भरतने भरी सभामें यह स्पष्ट कह दिया कि मेरी भलाई केवल 'सीतापति' की 'सेवकाई' में ही है और फिर सब लोगोंने भरतके साथ ही दूसरे दिन वनमें 'सीता-राम' से भेंट करनेका निश्चय कर लिया। दूसरे दिन वसिष्ठ मुनि, ऋषि-ब्राह्मणगण, तीनों रानियाँ, पुरवासीगण तथा भरत-शत्रुघ्न आदि वनकी ओर चल पड़े। प्रेमभक्तिसे भरे भरत नंगे पाँव ही वनपथपर चलना चाहते हैं; किंतु कौशल्या माताके आग्रहपर अन्य लोगोंको कष्ट न देनेके लिये रथपर बैठ जाते हैं। प्रथम दिवस तमसाके तटपर निवासकर सारा समाज गोमती और सईके तटपर विश्राम करता हुआ शृंगवेरपुर पहुँच गया। ससैन्य भरतको आते देख पहले गुहको उनकी नीतिपर संदेह हुआ। किंतु भरतसे मिलनेपर दोनों ओरसे ही प्रेमका प्रवाह उमड़ पड़ा। गुहने सारे समाजके रहनेका सुन्दर प्रबन्ध कर दिया। गंगा-स्नानकर सभी अपने-अपने 'डेरों' में विश्राम करने चले गये। भरतने माता कौशल्याकी परिचर्या कर निषादराजके साथ शिंशपातरुको देखा और वहीं उससे रामकी वनयात्राका समाचार पूछा। गुहसे यह जानकर कि राम बार-बार उनका स्मरण करते रहे। भरतके हृदयमें अपार सन्तोष हुआ।

दूसरे दिन नित्यक्रिया करके सारा समाज प्रयागकी ओर चला। भरत-शत्रुघ्न निषादराजके साथ नंगे पाँव ही चले। भरतके प्रेमकी सराहना पशु-पक्षी सभी करते हैं। त्रिवेणीने तो गम्भीर गिरासे उनके अगाध 'रामचरण-अनुराग' की प्रशंसा की और यह कह दिया कि उनका मनोरथ निश्चय ही पूरा होगा। भरद्वाज मुनिने भी उनकी प्रेम-प्रशंसा की और यह निश्चय दिलाया कि रामको भरतके समान प्रिय कोई नहीं है। मुनिने तो यहाँतक कहा—'सभी साधनोंका फल यह है कि राम-सीता और लक्ष्मणका दर्शन हो जाय; किंतु इस दर्शनका भी फल भरतका दर्शन है। प्रयागके साथ ही हमारा भी यह परम सौभाग्य ही है जो हमने आज यह फल पा लिया।' मुनिके आग्रहपर ऋद्धि-सिद्धिने भरतका परम सत्कार किया। प्रातः जन-समाज नित्यक्रिया करके चित्रकूटकी ओर चल पड़ा। भरत जहाँ कहीं रामके निवासका स्थान देखते हैं, वहीं उनका अनुराग रोके नहीं रुकता। उनकी यह दशा देखकर सुरगण पुष्पवृष्टि करने लगे, पृथ्वी

कोमल हो गयी, घनोंने शीतल छाया ऊपर कर दी और सुखद वायुका मन्द संचरण होने लगा। कवि कहता है, ऐसा सुख रामको भी नहीं मिला था। मार्गमें भरतको जहाँ कहीं श्याम वर्णकी कोई वस्तु मिल जाती है, वहीं वे रामके समान उससे प्रेम करने लगते हैं। यमुनाको देखकर तो उनका विरह अत्यन्त तीव्र हो जाता है। भरतके त्यागकी प्रशंसा तो मार्गकी ग्राम-वधुएँतक करती हैं, जिन्हें भरतकी सेना देखकर भी सन्देह नहीं होता।

कुछ दूर जाकर निषादने चित्रकूट गिरिकी ओर संकेत किया, जहाँ अवधके दो वीर सीताके साथ निवास करते थे। भरतके साथ सभीने उस गिरिको दण्डवत्-प्रणाम किया। भरतका प्रेम तो अगाध था ही, कवि उसका वर्णन नहीं कर सकता। दो कोस चलकर मार्गमें रात बिताकर दूसरे दिन सभी चित्रकूटके समीप आ गये। उधर रामने भी भरतके आनेका स्वप्न देखा था। प्रात:काल स्नानादि कर ऋषियोंके साथ वे बैठे ही थे तभी आकाशमें उड़ती हुई धूलि दृष्टिगत हुई। एक किरातने आकर सूचना भी दी कि भरत चतुरंगिणी सेनाके साथ आ रहे हैं। राम तो संकोचमें पड़ गये, क्योंकि वे भरतके स्वभावसे पूर्णतया अवगत थे, किंतु लक्ष्मणको उनके इस आचरणपर पूर्ण सन्देह हो गया। भरतके ससैन्य आनेका उद्देश्य ही क्या हो सकता था? राज्य और प्रभुता पाकर किसे राज्यमद नहीं हो गया? नहुष और वेन तो इसके प्रत्यक्ष ही प्रमाण हैं। कहीं भरतको भी न ऐसा ही राजमद हो गया हो? यदि यह बात सत्य ही हो तो क्या लक्ष्मणके पास भरतके लिये कम उपचार है? भरत और उनकी सेनाका वे वैसे ही रणखेतमें निपात कर देंगे जिस प्रकार मृगराज करि-निकरको और बाज लवाको। और जब लक्ष्मण बड़े रोषसे प्रलाप करने लगे तब आकाशवाणी हुई कि उन्हें भरतपर इस प्रकार सन्देह नहीं करना चाहिये। सहसा करके जो पीछे पछताते हैं, उन्हें पण्डित बुद्धिमान् नहीं कहा करते। फिर रामने भी लक्ष्मणको समझाया कि ***'बिधि हरिहर पद'*** को भी पाकर भरतको राजमद नहीं हो सकता। क्या थोड़ी-सी खटाईसे क्षीरसमुद्र बिगड़ सकता है? यहाँ मन्दाकिनीमें स्नान करके वहीं समस्त समाजको छोड़कर भरतजी भी गुहके साथ चित्रकूट चल पड़े। मार्गमें माताकी करतूत याद-यादकर मनमें संकोच हो जाता था। किंतु उन्हें विश्वास था कि राम चाहे उन्हें मलिन जानकर छोड़ दें, अथवा सेवक जानकर सम्मान दें, उनके लिये तो राम स्वामी ही हैं। मार्गमें भरतकी प्रीति देखकर सारी प्रकृति उमंगित हो रही है। पशु-पक्षी कलरव करने लगते हैं और बेलि-विटप नये-नये पल्लव-पुष्पसे संकलित हो रहे हैं। देवता उनके भाग्यकी सराहना करते हैं। भरत रामके समीप पहुँचकर लकुटकी भाँति भूतलपर गिर पड़े। लक्ष्मणने प्रीति पहचान ली और तुरन्त ही रामसे निवेदन किया। बड़े भाईने दौड़कर छोटे भाईको गलेसे लगा लिया। इस मिलन-प्रीतिका वर्णन कवियोंका समूह भी मिलकर नहीं कर सकता। बिना कुछ कहे और बिना किसीसे कुछ पूछे प्रेमभरे सभी एक-दूसरेसे मिल रहे हैं। मन संकल्प-विकल्पसे हीन हो गया है। बड़े धैर्यसे केवटने रामको अवधवासियों, माताओं एवं ऋषि-मुनियोंके आगमनका समाचार दिया। शत्रुघ्नको सीताके समीप छोड़कर राम तुरन्त ही गुरुजनोंकी ओर दौड़ पड़े। कविने बड़ी मार्मिकतासे रामके इस मिलनका चित्रण किया है। प्रथम गुरुसे मिलकर फिर एक साथ ही राम एक क्षणमें सब पुरवासियोंसे भी मिले। सबकी भावरक्षा करते हुए पुन: माताके पास गये। सबसे प्रथम कैकेयीसे भेंट की और तत्पश्चात् वे सभी माताओंसे मिले। यथायोग्य सबके रहनेकी व्यवस्था कर ब्राह्मण, मन्त्री, माता, गुरु तथा कुछ चुने लोगोंके साथ तीनों भाई पवित्र आश्रमकी ओर आये, यहाँ सीताने अपने पूज्यजनोंके पद छूकर आशीर्वाद लाभ किया।

चित्रकूटके इस मिलनमें बड़ी करुणा है। दशरथकी मृत्युका समाचार पाकर परम धैर्यवान् रामके हृदयसे भी करुणाकी धारा फूट चली। सारा रनिवास, सीता, लक्ष्मण, भरत आदि तथा पुरजन तो आँसुओंकी बरसातमें डूब ही गये। चित्रकूटकी सामान्य घटनाओंके बीच सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वहाँकी विराट् सभा है।

चित्रकूटकी सभाका सूत्र वसिष्ठके हाथमें है। राम कुछ कहना नहीं चाहते। वे चुपचाप ऋषिवरकी बात मान लेना चाहते हैं। उन्हें भरतकी भी बात मान्य होगी। इसका भी वचन वे दे देते हैं। भरतको तो पहले अपनी सफाई देनी पड़ती है, फिर अपनी स्नेहभरी वाणीमें वे तीन प्रस्ताव रखते हैं। (१) या तो रामके साथ वे वनको चले जायँ और सीता-राम तथा लक्ष्मण साकेत लौट जायँ (२) अथवा लक्ष्मण और शत्रुघ्न घरको चले जायँ। वनमें भरत रामका साथ दें (३) अथवा सीता-राम अयोध्या लौट जायँ और वनको तीनों भाई चले जायँ। भरतके इस प्रस्तावपर पूरा विचार न हो सका था तभी जनकजीके आनेकी सूचना मिली। सभा यहीं समाप्त हुई। कुछ दिनोंतक जनकजीसे लोग भेंट करते रहे, अपनी रोते रहे और उनकी सुनकर पछताते रहे।

कुछ समयके उपरान्त पुन: दूसरी सभा बैठी। भरतने बड़ी ही मधुर वाणीमें अपना पक्ष सबके समक्ष रखा। उधर रामने उनकी प्रीतिकी रक्षा करते हुए रघुकुलकी सत्यताके लिये प्राणत्याग कर देनेवाली नीतिकी दुहाई दी। जिस पिता दशरथने अपने सत्यकी रक्षाके लिये तुच्छ प्राणोंको तृणवत् त्याग दिया, क्या उसका उल्लंघन 'सत्यसंध' रामको स्वयं करना होगा? भरतमें भी यह साहस नहीं कि वे सत्यव्रत पिताकी बात टाल दें। अत: सभी इस बातपर तैयार हो जाते हैं कि रामके अभिषेकके लिये लाया हुआ तीर्थोंका जल चित्रकूटमें कहीं सुरक्षितरूपसे रख दिया जाय। साथ ही उस सभामें यह भी निर्णय होता है कि भरत अवधिभर अवधकी रक्षा करें। उनका मार्ग वसिष्ठ और जनक आदि गुरु, ऋषिगण बहुत ही सुलभ कर देंगे। रामकी पाँवरी भरतकी इस तपस्याकी साक्षी होगी। इसके उपरान्त वहाँकी सभा समाप्त हुई। विदाकी बेला आ गयी। भर-भर भुजाएँ लोगोंने भेंट की। भरत-रामके मिलनका वर्णन कवि कर ही क्या सकता है? जनक और वसिष्ठ भी उनकी सराहना करते नहीं थके। राम और भरत एक-दूसरेसे विदा लेकर भारीहृदय अपने-अपने पथकी ओर चल पड़ते हैं। भरत, कौशल्यादि माताएँ, अवधके पुरजन यहाँतक कि ऋषि वसिष्ठ और योगिराज जनक सबका जी भरा हुआ है। थोड़े शिथिल-से चले जा रहे हैं। सीता-रामका वियोग सभीको अखर रहा है। उधर वटछायातर बैठकर राम-सीता भी 'प्रिय परिजन' के वियोगमें दु:खी हो रहे हैं।

साकेत पहुँचकर गुरुकी आज्ञासे भरतने प्रभुकी पादुकाको सिंहासनस्थ कर दिया। स्वयं भरतने नन्दिग्राममें अपना निवास-स्थान बनाया। ऋषिधर्मका पालन करते हुए भरत रामके न्यासकी रक्षा करने लगे। कवि भरतकी रहनिका वर्णन करते हुए स्वयं कहता है—

भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति सुभ बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥

भरत प्रभुकी 'पाँवरी' की नित्य पूजा करते हैं और उसकी आज्ञा माँग-माँगकर राज-काज चला रहे हैं। कवि कहता है—

लखन राम सिय कानन बसहीं। भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥

सचमुच भरतका चरित्र परम आदर्शमय है। उनके इस चरित्रका गान करके लोग 'भवरस' से 'विरति' प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार अयोध्याकाण्डकी कथावस्तु समाप्त होती है।

कथाकी प्रमुख विशेषताएँ

कथावस्तुका संगठन

अयोध्याकाण्डमें चित्रकूटके पुण्य प्रदेशतकका वर्णन कविने कर दिया है। जिस प्रदेशविशेषको अयोध्या कहा जाता है, जिसके उत्तर सरयू अनादि कालसे बह रही है—और स्वयं मानसकारने जिसे ***'राम धामदा पुरी सुहावनि'*** कहा है, उस साकेतका विस्तार कविने चित्रकूटतक कैसे कर दिया—यह प्रश्न यहाँ उठ सकता है। उत्तर सहज एवं स्पष्ट है। जहाँ राम रहें, वही अवध-निवासका फल मिलता है; फिर जहाँ रामके साथ साकेतके समस्त पुरवासी, कौशल्यादि रामकी माताएँ, भरतादि भाई तथा वसिष्ठ आदि कुल-गुरु स्वयं आकर कुछ कालतक जीवन-यापन करें, वह पुण्यस्थली साकेतधामसे किसी भी अंशमें कम नहीं! वह तो स्वयं साकेतके समकक्ष हो जाती है। श्रीमैथिलीशरण गुप्तजीने इसीसे अपने राममहाकाव्यका नाम 'साकेत' ही रखा है। फिर चित्रकूटतक रामका निवास अवध-निवासके ही समान था। यहाँसे रामको लौटा लानेकी भी आशा लेकर भरत आ सकते थे। इसके आगे दक्षिणकी ओर और बढ़ जानेपर रामका एक तो लौटना असम्भव था, दूसरे समस्त अवधवासी वहाँतक जा भी नहीं सकते थे। चित्रकूटकी सभाने जो-जो निर्णय किये उसके अनुसारी बनकर रामको अब निश्चितरूपसे दक्षिणकी ओर बढ़ जाना होगा—एक तो अरण्यका आरम्भ यहींसे हो जाता है। दूसरे, राम-कथाके उद्देश्य (रावणको मारकर वेद-ब्राह्मणकी रक्षा करना) की प्राप्ति यहाँसे आगे जानेपर ही होती है।

अयोध्यासे लेकर चित्रकूटतक विस्तृत कथावस्तुका संगठन कविने बड़ी कुशलतासे किया है। यदि हर दृश्य और हर घटनाका उसने विस्तृत वर्णन किया होता तो यह काण्ड बहुत ही विस्तृत हो सकता था। अत: महाकाव्यकी कथाके अनुरूप ही कविने कुछ स्थलविशेषको ही चुन लिया है और उनका जमकर वर्णन किया है। एक घटनाके उपरान्त दूसरी घटना स्वयं सिद्धियोंकी भाँति चली आती है। घटना-सूत्र मिलानेके लिये हमें कहीं रुकना नहीं पड़ता। सारी कथाको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है। (१) रामकी कथा (२) भरतकी कथा। रामकी कथाके प्रमुख अंग ये हैं—(१) रामराज्याभिषेककी तैयारी, (२) कैकेयीद्वारा इस आमोदमें विघ्न उपस्थित किया जाना, (३) राम-सीता और लक्ष्मणका वनगमन, (४) वनपथपर रामका चित्रकूटतक जाना। भरतकी कथाके प्रमुख अंग ये हैं। (१) दशरथका मरण, (२) भरतका ननिहालसे आगमन, (३) भरतका रामके पास जाकर उन्हें मनानेका निर्णय, (४) भरतका पुरवासियोंके साथ वनगमन, (५) चित्रकूटमें राम-भरत-मिलन, (६) चित्रकूटसे लौटकर भरतका नन्दिग्राममें निवास-स्थान। इस प्रकार अयोध्याकाण्डकी कथा कुछ भी जटिल नहीं कही जा सकती। राज्याभिषेक-प्रकरणके द्वारा एक ओर यह कथा बालकाण्डसे सहजरूपसे जुट जाती है और दूसरी ओर चित्रकूटकी सभाके उपरान्त राम चित्रकूटमें कुछ दिन और निवासकर अरण्यकी ओर प्रस्थान करते हैं।

अयोध्याकाण्डकी घटनाओंमें कार्य-कारण-सम्बन्धका अभाव नहीं कहा जा सकता, यद्यपि कविने दो स्थानोंपर अतिप्राकृत शक्तिका हस्तक्षेप कराकर इस कार्य-कारणकी परम्पराको कुछ शिथिल-सा कर दिया है। राज्याभिषेककी सारी तैयारी हो चुकती है। बड़ी उत्सुकतासे सारी प्रजा प्रभातकी प्रतीक्षामें थी। तभी मन्थरा नामकी कैकेयीकी दासी अपनी स्वामिनीकी मति फेर देती है। मन्थरा और कैकेयीने जो कुछ किया वह बड़े-बड़े राजकुलोंमें सदैवसे होता आया है। बड़े-बड़े राज्य रानियोंके भ्रूविलासपर बनते-बिगड़ते रहे हैं। इस बहु-विवाहकी प्रथाने अकेले जितनी हानि भारतवर्षकी की है उतनी किसी अन्य प्रथाने नहीं। अत: यदि मन्थरा और कैकेयीद्वारा ही रसभंग कराया गया होता तो भी भावुक पाठकपर प्रभाव पड़े बिना न रहता। वैसे तुलसीदासने मन्थराकी वाक्चातुरीका खुलकर बड़ी ही पैठके साथ वर्णन किया है। कैकेयी क्या कोई भी रानी इस प्रकारकी वाक्चातुरीसे प्रभावित हुए बिना न रह सकती। किंतु तुलसीदासने इस यथार्थकी बलि दे दी है अपने आदर्शके सामने। देवताओं और सरस्वतीको बीचमें खड़ा करके वे कथावस्तुके सौन्दर्यको खो बैठते।

इसी प्रकार चित्रकूटमें राम-भरत-मिलनके अवसरपर देवताओंका पुन: हस्तक्षेप कराया गया है। भरतकी मतिको भी फिरवानेकी चेष्टा की गयी है। यह स्वाभाविक ही था कि राम-भरत अपनी कुल-मर्यादाका

पालन कर पिताके वचनकी पूर्ण रक्षा करें। यह भी स्वाभाविक था कि सारा अवध-समाज चित्रकूटमें बहुत अधिक दिनोंतक नहीं रह सकता था, चाहे रामसे उसका प्रेम कितना ही अधिक उत्कट क्यों न हो? यदि यह स्वाभाविक न होता तो अवधसमाज रामके ही साथ वन जाता। यहाँ भी तुलसीके आदर्शने यथार्थकी बलि दी है।

बीच-बीचमें आध्यात्मिक पुट आता गया है। जीवनकी विषम समस्याओंके बीच भी तुलसीकी भावुकता उन्हें रामको मानव-स्तरपर नहीं लाने देती। वसिष्ठ, भरद्वाज, वाल्मीकि, चित्रकूटके मुनिवर बार-बार रामको अप्राकृत देहधारी ही मानते हैं। जीवनकी विषमताका डटकर सामना करनेवाला राजकुमार भगवान् बनकर आत्मगौरव (मानवके गौरव) को खो बैठता है।

कविकी वर्णन-शैली

कथावस्तुमें विस्तार-संकोच यथासम्भव प्रभावान्वितको देखकर ही किया गया है। प्राय: आवश्यकताको देखकर ही कथासूत्रोंको जोड़नेवाले स्थलोंपर आयोजन किया गया है। इसी कारण कविने प्राय: उन्हीं स्थलोंका जमकर वर्णन किया है, जहाँ किये बिना भावुकताकी रक्षा नहीं हो सकती थी। अयोध्याकाण्डमें जिन स्थलोंका कविने जमकर पूरी भावुकतासे वर्णन किया है उनमेंसे कुछ ये हैं। (१) राजरस-भंग-प्रकरण—मन्थरा-कैकेयी-संवाद, कैकेयी-दशरथ-संवाद, राम-वन-गमन, (२) राम-निषाद-मिलन, (३) वन-पथपर अवधके राजकुमार, (४) दशरथकी मृत्यु, भरतका आगमन, उनकी आत्मग्लानि, (५) भरतका रामको मनाने जाना, (६) चित्रकूटमें राम-भरत-मिलन।

राज-रसभंग-प्रकरण—इस प्रकरणका सांगोंपांग वर्णन करनेके पूर्व कविने एक भूमिका-सी बाँधी है। राम व्याहकर अवध आ गये हैं। उनके शील, सौन्दर्य और शक्तिको देखकर अवधवासी फूले नहीं समाते। महाराज दशरथके प्रतापसे चारों ओर सुख और समृद्धिकी वर्षा हो रही है। अत: सबकी इच्छा होती है, वृद्ध राजा दशरथ रामको युवराज-पदपर अभिषिक्त कर निश्चिन्त हो जायँ। गुरु वसिष्ठसे भी दशरथको आज्ञा मिल जाती है। दूसरे ही दिन नगरमें इस अवसरके लिये तैयारी प्रारम्भ हो जाती है। इसी समय मन्थरा लोगोंसे उत्साहका कारण पूछती है और रामतिलक सुनकर जल उठती है—

पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। राम तिलक सुनि भा उर दाहू॥
करइ बिचार कुबुद्धि कुजाती। होइ अकाजु कवन बिधि राती॥

कवि मन्थराके रूपमें उसकी जातिका चित्रण करता है। मन्थरा कैकेयीके पास जाती है विलखती हुई; और हँसकर रानीके पूछनेपर भी अपने इस अनमनेपनका कारण नहीं बताती। बदलेमें दीर्घ श्वास लेती है और नेत्रोंसे बड़े-बड़े आँसू ढारती है। कैकेयी समझती है, लक्ष्मणने उसे डाँटा होगा। किंतु मन्थरा कुछ भी नहीं बोलती। अत: कैकेयीको सन्देह होता है कि कहीं कोई अघटित घटना न घट गयी हो। वह पूछती है, सब कुशल तो है। दासी मन्थरा इसी अवसरकी ताकमें थी। वह चट कह उठती है—

कत सिख देइ हमहिं कोउ माई। गाल करब केहि कर बलु पाई॥
रामहिं छाँड़ि कुसल केहि आजू। जिन्हहिं जनेसु देइ जुबराजू॥

इस प्रकार मन्थरा अपने क्षोभका कारण स्पष्ट करती हुई कैकेयीके चुप होकर बैठनेपर भी व्यंग करती है—

पूत बिदेस न सोच तुम्हारे। जानति हहु बस नाह हमारे॥

रानी उसकी इस कुटिलतापर क्रुद्ध हो जाती है और उससे दूर हट जानेको कहती है। कैकेयीका पूरा विश्वास है कि कौशल्याके समान ही राम सबको मानते हैं और यदि विधि मानव-योनिमें जन्म दे तो राम-जैसा पुत्र और सीता-जैसी 'पतोहू' ही मिले। किन्तु मन्थरा इसपर भी हार नहीं मानती। अब वह अपनेको ही दोष देने लगती है। उसका सिर फोड़ डालने लायक है; क्योंकि उसके भला कहनेपर भी कैकेयीको बुरा लगा। अब वह भी 'ठकुरसुहाती' ही कहेगी, नहीं तो दिन-रात मौन ही रहा करेगी। धीरे-धीरे कैकेयीको उसकी बातपर विश्वास हो चला। फिर तो मन्थराकी बन पड़ी। उसने रामके राज्याभिषेकके पीछे एक बहुत बड़ा षड्यन्त्र देखा—

तुम्हहिं न सोच सोहागबल निज बस जानहु राउ।
मन मलीन मुँह मीठु नृपु राउर सरल सुभाउ॥
चतुर गँभीर राम महतारी। बीचु पाइ निज बात सँवारी॥
पठए भरत भूप ननिअउरे। राम मातु मत जानब रउरे॥

इस प्रकार मन्थराने सौतकी अनेक चालोंका वर्णन किया—***'कहेसि कथा सत सवति कै जेहि बिधि बाढ़ बिरोध॥'*** इस बातको और अधिक बल देकर वह कहती है—

रामहिं तिलक काल जौं भयऊ। तुम्ह कहुँ बिपति बीज बिधि बयऊ॥
रेख खँचाइ कहउँ बल भाखी। भामिनि भइहु दूध कै माखी॥
जौ सुत सहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥

अपनी इस बातकी पुष्टिमें वह कद्रू-विनताका उदाहरण भी देती है। कैकेयी अपनी भावीकी इस कल्पना-मात्रसे सिहर उठी—

तनु पसेउ कदली जिमि काँपी। कुबरी दसन जीभ तब चाँपी॥

मन्थराने उसे अनेक कथाएँ कहकर प्रबोध दिया। कैकेयीने मन्थराके सन्देहपर पुष्टिकी मुहर लगायी। उसकी दाहिनी आँख इधर बहुत दिनोंसे फड़कती रही है। अच्छा हुआ मन्थराने उस अनर्थकी सूचना उसे पहले ही दे दी। यही नहीं, इस अनर्थका उपाय भी उसने रानीको बताया। मुनियोंसे वह जान चुकी है कि भरतको राज्य मिलेगा। अत: यदि रातमें रानी दशरथसे भरतका राज्याभिषेक और राम-वनवासका वर माँग ले, रामका राज्याभिषेक अगले दिन रुक जाय तो सारा अनर्थ टल जायगा। कैकेयीको यह प्रस्ताव बड़ा प्रिय लगता है। यदि उसका मनोरथ पूरा हो गया तो मन्थराको वह चषपूतरि बना लेगी। इस प्रकार ***'बहु बिधि चेरिहि आदर देई। कोप भवन गवनी कैकेई॥'*** मन्थरा अपने उद्देश्यमें बहुत अंशतक यहीं सफल हो जाती है।

कैकेयी-दशरथ-संवाद

साँझ समय दशरथ कैकेयीके पास जाते हैं। कोप-भवनका नाम सुनकर भयसे उनका शरीर सिहर जाता है, पैर आगे नहीं पड़ते। देवराज इन्द्र भी जिसका मुँह जोहा करते हैं, वही दशरथ स्त्रीके रूठ जानेकी बात सुनकर सूख जाते हैं। कवि कहता है—

सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥

राजा कैकेयीके पास जाते हैं। भूमिपर पड़ी कैकेयीका बड़ा सजीव चित्र कविने खींचा है—

भूमि सयन पट मोट पुराना। दिए डारि तन भूषन नाना॥
कुमतिहि कसि कुबेषता फाबी। अन अहिवात सूच जनु भाबी॥

फिर स्वाभाविक रूपसे ही दशरथ इस कोपका कारण उससे पूछते हैं। कौन ऐसा व्यक्ति है जो उसका अनहित कर सके? यहाँ कविने दशरथकी स्त्रैणताका खुलकर वर्णन किया है, दशरथ कैकेयीसे कहते हैं—

अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा॥
कहु केहि रंकहि करहुँ नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासउँ देसू॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी। काह कीट बपुरे नर नारी॥

फिर रामकी शपथ खाकर कहते हैं कि 'आज तुम मनमाना वर माँगो और शीघ्र ही शरीरको वस्त्रा-भूषणसे अलंकृत कर लो। इसी प्रसंगमें राजाने राम-राज्याभिषेककी भी चर्चा की। कैकेयीका कठोर हृदय यह सुनकर दलक उठा और बड़ी कपट-चतुरतासे वह राजाको अपने वशमें करके उनसे दो वर—१४ वर्षके लिये राम-वनगमन और भरत-राज्याभिषेक—माँग लेती है। राजा पहले तो इसे हँसी समझते हैं, पर जब कैकेयी अपनी माँगको दृढ़तासे सामने रखती है तब—

बिबरन भएउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहु तरु तालू॥

उनकी शोक-मुद्राका कविने बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है—

माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन । तनु धरि सोच लाग जनु सोचन॥

फिर राजाने अनेक प्रकारसे उसे समझाना भी चाहा, किंतु कैकेयीपर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। उलटे वह राजासे स्पष्ट कह देती है कि यदि कहकर भी वे वर नहीं देंगे तो संसारमें अपयशके ही भागी होंगे। शिबि-दधीचिने वचनकी रक्षाके लिये ही तन-धनका त्याग कर दिया था। यद्यपि दशरथ यह स्पष्ट कह देते हैं कि उनका जीवन-मरण 'राम-दरस' अधीन ही है, किंतु कैकेयी इसे माया समझती है। यह स्पष्ट कह देती है, यदि प्रभात होते ही मुनिवेष धारणकर राम वन नहीं चले जाते तो निश्चितरूपसे कैकेयी अपना प्राण त्याग देगी और दशरथको अपयश मिलकर रहेगा। इस प्रकार इस पूरे प्रसंगमें दशरथकी ओरसे अनुनय, विनय और समझानेका प्रयास किया जाता है, किंतु कैकेयी प्रारम्भसे अन्ततक अपनी माँगपर दृढ़ रहती है। उसे मनानेका सारा प्रयास व्यर्थ हो जाता है। कविने दशरथकी स्त्रैण-प्रवृत्तिका यहाँ बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। असमर्थ राजा कितने असहाय शब्द अपने मुखसे निकालता है—

राम राम रटि बिकल भुआलू । जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू॥

हृदय मनाव भोरु जनि होई । रामहिं जाइ कहइ जनि कोई॥

उदउ करहु जनि रबि रघुकुल गुर । अवध बिलोकि सूल होइहि उर॥

इस प्रकार सत्यव्रतकी रक्षाके लिये राजा कैकेयीके समक्ष इतना अधिक दीन हो जाता है।

राम-वन-गमन

सूर्योदय हो जानेपर भी राजा दशरथ बाहर नहीं निकले। प्रजा-परिजन चिन्तित हो उठे। सुमन्त्रने समीप जाकर सारी परिस्थितिका निरीक्षण किया। राजाको विवर्ण एवं भूमिशायी देखकर वे ठिठक-से गये। फिर उनकी समझमें आ गया कि रानीने कुछ कुचाल की है। राजाका रुख पाकर रामको बुलाया गया। रामने समीप जाकर देखा—

जाइ दीख रघुबंस मनि नरपति निपट कुसाजु।

सहमि परेउ लखि सिंघिनिहिं मनहुँ बृद्ध गजराजु॥

सूखइ अधर जरइ सब अंगू । मनहुँ दीन मनिहीन भुअंगू॥

सरुष समीप दीखि कैकेई । मानहुँ मीचु घरी गनि लेई॥

कैकेयीने रामको सारी कथा सुना दी। रामको उसकी इच्छाके विरुद्ध कुछ कहना-सुनना नहीं था। पिताको उन्होंने ढाढस देकर माता कौशल्यासे विदा माँगनेके लिये प्रस्थान कर दिया। राजासे शोकवश उत्तर नहीं देते बना। नगरवासियोंमें यह समाचार तुरन्त ही फैल गया—***'छुअत चढ़ी जनु सब तनु बीछी।'*** यहाँ भी गोस्वामीजीने शोकके अनुभावोंका बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है—

मुख सुखाहिं लोचन स्त्रवहिं सोकु न हृदय समाइ।

मनहुँ करुन रस कटकई उतरी अवध बजाइ॥

इसी सम्बन्धमें कवि नारीजातिमात्रको ***'सब बिधि अगहु अगाध दुराऊ'*** तक कह डालता है। कौन किसको दोष दे। राजाने तो सूर्यकुलकी नीतिका ही पालन किया, एक भरतको दोष देते हैं। दूसरे इन सबसे उदासीन रहते हैं। कुछ लोग विधिको ही दोष देते हैं, क्योंकि उनका निश्चित मत है कि संसारमें असम्भव घटनाएँ घट सकती हैं, किंतु भरत रामके प्रतिकूल नहीं हो सकते। पुरकी मान्य स्त्रियाँ भी कैकेयीको आ-आकर समझाने लगीं, भरतका राज्याभिषेक हो, इसमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं, किंतु रामका वनवास वे सह न सकेंगी। फिर भी उनके समझानेका कैकेयीपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

इधर रामको वन-गमनका आदेश वैसे ही प्रिय लगा जैसे बन्धनसे छूट जानेपर हाथीको आनन्द मिलता है। माँ कितने प्यारसे उन्हें अपने अंकमें लेती है, कितने प्रेमसे उन्हें भोजन कर लेनेको कहती है, किंतु रामने बड़ी ही नम्र वाणीमें उनसे अपने पिताकी आज्ञा कह सुनायी। माँ तुरंत कह उठती हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना । तौ कानन सत अवध समाना॥

किंतु थोड़ी ही देरमें माताको मालूम हो जाता है कि 'माता तो पहले ही वन जानेकी आज्ञा दे चुकी हैं। पिताने तो केवल मौन रहकर स्वीकृतिमात्र दी है।' अब निरुपाय माताको रामके वन भेज देनेके सिवा कोई चारा नहीं।

इसी बीच सीताको रामके वन जानेका समाचार मिलता है। अकुलाकर वे सासके चरणोंमें झुककर पतिका साथ देनेकी आज्ञा माँगती हैं। पति-पत्नीका सम्बन्ध प्राण-शरीरका सम्बन्ध है। अत: रामके वन चले जानेपर सीता घर कैसे रह सकती थीं? सीता सासके सामने खड़ी हैं—

चारु चरन नख लेखति धरनी । नूपुर मुखर मधुर कबि बरनी॥

मनहु प्रेमबस बिनती करहीं । हमहिं सीयपद जनि परिहरहीं॥

सास बहुत समझाती हैं। सीता वनमें कैसे रहेगी, सास यह समझ नहीं पातीं।

चंदकिरन रस रसिक चकोरी । रबिरुख नयन सकइ किमि जोरी॥

जिस सीताको माताने ***'दीपबाति'*** तक टारनेको नहीं कहा, वह सिंह, कोल आदि वनचरोंके बीच कैसे रहेंगी? यह सीता तो चित्रलिखित कपिको भी देखकर डर जाती थी, स्वच्छ सरोवरोंमें चलनेवाली हंसकुमारी भला गँदले जलमें कैसे रहेगी! किंतु मानसकी कथामें अनेक असम्भव घटनाओंको सम्भव होना ही था। फिर सीता ही क्यों न वन जातीं। माँके समझानेपर वनकी कठिनाइयोंका रामने भी वर्णन किया, पर सीतादेवीको पतिरहित होकर रहना वनके दु:खोंसे कहीं अधिक बढ़कर था। सीताके लिये तो—

जिअ बिनु देह नदी बिनु बारी । तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे । सरद बिमल बिधु बदन निहारे॥

पतिव्रतका जो आदर्श कविने यहाँ उपस्थित किया है, उसकी समताके लिये कोई अन्य चित्रण भारतीय साहित्यमें नहीं मिलता। वनके सारे दु:खोंको सीता अपने सुखमें परिवर्तित कर लेगी, उसका यह विश्वास है। इस विश्वासके सामने रामको झुकना पड़ता है। अन्तमें उन्हें सीताको अपने साथ चलनेकी अनुमति देनी ही पड़ती है। इसी प्रकार लक्ष्मणकी व्याकुलताका भी कविने बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। उनके लिये तो—

जहँ लगि जगत सनेह सगाई । प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥

मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी । दीनबंधु उर अंतरजामी॥

अत: राम उन्हें भी साथ लिवा चलनेको तैयार हो जाते हैं। सुमित्रा भी सहर्ष अपनी स्वीकृति दे देती हैं। दशरथ इन तीनोंको वनके लिये प्रस्तुत देख विकल किंतु मौन हो जाते हैं। कठोर कैकेयी 'मुनि-पट-भूषन-भाजन' लाकर रामके सामने रख देती है। कविने इन सबका चित्रण बड़ी ही मार्मिकतासे किया है। मुनिवेषधारी राजकुमार बाहर आकर वसिष्ठको राज्य सौंपकर वनपथपर चल पड़ते हैं। यह दृश्य बड़ा ही करुणाजनक है। राम सुमन्त्रके रथपर चढ़कर चले हैं, पुरजनोंको—

कृपासिंधु बहुबिधि समुझावहिं । फिरहिं प्रेमबस पुनि फिरि आवहिं॥

लागति अवध भयावनि भारी । मानहुँ काल राति अँधियारी॥

घोर जंतु सम पुरनरनारी । डरपहिं एकहि एक निहारी॥

घर मसान परिजन जनु भूता । सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥

बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं । सरित सरोवर देखि न जाहीं॥

हय गय कोटिन्ह केलिमृग पुरपसु चातक मोर । पिक रथांग सुक सारिका सारस हंस चकोर॥

राम बियोग बिकल सब ठाढ़े । जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढ़े॥

यह सब कैकेयीके कारण हुआ—

बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही । जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्ही॥

सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥

कुछ तो इन पौरजनोंमें रामके साथ ही हो चले। रामने बहुत समझाया, पर सब फिरे नहीं। तमसा-तटपर प्रभु सभीको सोते ही छोड़कर आगे बढ़ गये। अनेक विलाप-प्रलाप करता हुआ यह जनसमूह अवध लौटा।

राम-निषाद-मिलन

इस प्रसंगमें सबसे अधिक मार्मिक स्थल वह है, जहाँ राम केवटसे गंगापार करानेको कहते हैं। प्रात: होते ही रामने वनवासियोंके अनुरूप अपना वेष बना लिया। वटक्षीर मँगाकर अपनी और लक्ष्मणकी जटा भी सँवार ली। फिर व्याकुल सुमन्त्रको प्रबोध देकर विदा किया। इसके अनन्तर केवटसे नाव माँगी, पर वह यों ही नहीं नावपर बैठा सकता था। बिना चरण-रज लिये उसे सन्तोष क्यों होता? अत: वह कहता है—

चरन कमल रज कहुँ सब कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरिनिउँ मुनि घरनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई॥
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

सुनि केवटके बैन प्रेम लपेटे अटपटे। बिहँसे करुना ऐन चितइ जानकी लषन तन॥ और रामकी आज्ञा पानेपर—

केवट राम रजायसु पावा। पानि कठवता भरि लेइ आवा॥
अति आनंद उमगि अनुरागा। चरन सरोज पखारन लागा॥

फिर उसके भाग्यपर देवता भी क्यों न ईर्ष्या करते—

बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहि सम पुन्य पुंज कोउ नाहीं॥

प्रभु पार तो उतर गये, पर संकोच था, केवटको कुछ नहीं दिया। सीता इसे समझ लेती हैं—

पिय-हियकी सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥
कहेउ कृपालु लेहु उतराई। केवट चरन गहे अकुलाई॥
नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा।

केवट तो परम पुण्य फल पा गया था, अब उसे चाहिये ही क्या था? अत: उसे अपनी विमल भक्ति ही रामने दे दी।

सुमन्त्रका रामको पहुँचाकर लौटना

इस प्रसंगमें बड़ी ही करुणा है। पहले तो सुमन्त्रका ही मन बहुत भारी हो गया था। फिर रथके घोड़े भी बार-बार रामको देख-देखकर हिहिनाते हैं।

रथ हाँकेउ हय राम तन हेरि हेरि हिहिनाहिं।
देखि निषाद बिषाद बस सिर धुनि धुनि पछिताहिं॥

सुमन्त्रको भी रामसे हीन होकर लौटना ठीक नहीं लगता। इसके दो कारण हैं—(१) एक ओर तो वे यह सोचते हैं कि अवध पहुँचकर मैं लोगोंके सामने कैसे मुँह दिखाऊँगा और (२) दूसरी ओर उन्हें स्वयं रामका वियोग खल रहा है। उनके शोकका वर्णन कवि करता है।

बिप्र बिबेकी बेद बिद संमत साधु सुजाति। जिमि धोखे मद पान कर सचिव सोच तेहि भाँति॥

इस प्रकार सोचते-सोचते सचिव नगरमें पैठते हैं, किंतु—

पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारेसि गुरु बाँभन गाई॥

इसीलिये साँझ-समय अवसर पाकर ये अवध-प्रवेश करते हैं। फिर भी इनके आनेका समाचार लोगोंको लग ही जाता है। भीड़ रामभवनके सामने जुट जाती है। सारा रनिवास रो-रोकर विकल हो जाता है। कविने बड़ी

ही मर्मस्पर्शी वाणीमें इस शोकमय वातावरणका चित्रण किया है। आगे बढ़कर सुमन्त्र राजाके समीप जाते हैं।

जाइ सुमंत्र दीख कस राजा। अमिय रहित जनु चंद बिराजा॥
आसन सयन बिभूषन हीना। परेउ भूमितल निपट मलीना॥
लेइ उसासु सोच एहि भाँती। सुरपुर ते जनु खसेउ जजाती॥
लेत सोच भरि छिनु छिनु छाती। जनु जरि पंख परेउ संपाती॥
राम राम कह राम सनेही। पुनि कह राम लषन बैदेही॥

सुमन्त्रको देखकर मृतप्राय राजाके शरीरमें प्राण-संचार हो जाता है। राजा बार-बार रामका समाचार पूछते हैं और सुमन्त्र भी छातीपर पत्थर रखकर सारी कथा सुना डालते हैं। राजाको जब यह निश्चित रूपसे ज्ञात हो जाता है कि राम अब वन चले ही गये तब—

प्रान कंठ गत भएउ भुआलू। मनिबिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू॥
राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम। तनु परिहरि रघुबर बिरह राउ गएउ सुरधाम॥

और इस सूर्यकुलके भानुके अस्त हो जानेपर अवधमें जो शोक छा जाता है, उसका कहीं क्या अन्त है?

राम-वन-पथपर

जिस मार्गसे अवधके राजकुमार निकल जाते हैं, वहाँके नर-नारी साश्चर्य पूछते हैं कि वे माता-पिता कैसे हैं, जिन्होंने ऐसे सुन्दर बालकोंको वनमें भेज दिया है। जिन्हें इस वनयात्राका कारण मालूम हो जाता है उनमें कुछ राजा और रानी दोनोंको दोष देते हैं। कुछ केवल रानीको ही। इस प्रसंगमें कवि ने बड़ी ही भावुकताके साथ रामके शक्ति-शील-सौन्दर्यका चित्रण किया है। उनके सौन्दर्यका पान करनेके लिये सभी दौड़कर अपना-अपना काम छोड़कर उनके पास आ जाते हैं। कुछ ग्रामवधुएँ सीतासे राम-लक्ष्मणका परिचय भी पूछती हैं। कविने बड़ी ही व्यंग्यात्मक शैलीका अनुसरण करते हुए सीताजीसे यह उत्तर दिलवाया है।

ग्रामवधुएँ पूछती हैं—**कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को अहहिं तुम्हारे॥**
उत्तर मिलता है—**सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी॥**
तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनीं। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनीं॥
सकुचि सप्रेम बालमृग नयनी। बोली मधुर बचन पिक बयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लषनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥

इसपर—***'मुदित भईं सब ग्रामबधूटी। रंकन्ह रायरासि जनु लूटी॥'*** कविकी यह कल्पना बेजोड़ है। वधुएँ तो कहती हैं। यदि इन्हें वनवास मिलना था तो भोग-विलास किसलिये है? यदि इन्हें ही बिना पनहीके चलना था तो वाहनोंका अधिकारी कौन होगा? यदि इन्हें ही कुस-कासपर सोना है तो सुभग सेजकी सृष्टि ही विधाताने क्यों की? इस प्रकार अनेक कल्पनाएँ करती हुई स्त्रियाँ यहाँतक कह डालती हैं—

जौं जगदीस इन्हहिं बन दीन्हा। कस न सुमनमय मारग कीन्हा॥

रामकी वनयात्राका प्रसंग बड़ी ही भावुकताके साथ कविद्वारा वर्णित है। ग्रामीण जीवनकी झाँकी यहाँ पूरी तरह मिल जाती है। उनके सरल भावोंकी इससे अच्छी अभिव्यक्ति अन्यत्र नहीं हुई है।

दशरथकी मृत्यु, भरतका आगमन

दशरथकी मृत्यु हो जानेपर भरतको ननिहालसे बुलाया जाता है। जिस दिनसे अवधमें अनर्थका आरम्भ हुआ था, उसी दिनसे भरतको अपशकुन होने लगे थे। अवध पहुँचकर उन्होंने दूरसे ही जान लिया कि अवधके सूनेपनका कारण निश्चय ही किसी बड़ी घटनाका घट जाना है। थोड़ी देरमें उन्हें सारी कथा ज्ञात हो जाती है। सरलहृदय भरतको यह जानकर कि यह सब अनर्थ उन्हींके कारण हुआ है, बड़ा क्षोभ होता है—

भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत रामबन गौनु। हेतु अपनपउ जानि जिअ थकित रहे धरि मौनु॥

प्रतिक्रियास्वरूप भरत सबसे पहले कैकेयीको ही भला-बुरा कहते हैं।

जौं पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारेसि मोही॥
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥
भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्हीं। मरनकाल बिधि मति हरि लीन्हीं॥

और अन्तमें यहाँतक कह डालते हैं—

राम बिरोधी हृदय तें प्रगट कीन्ह बिधि मोहिं।
मो समान को पातकी बादि कहौं कछु तोहिं॥

भरतकी आत्मग्लानिका अवसर कौशल्याके समक्ष जानेपर पुन: आता है—वहाँ भी वे कह डालते हैं—

मातु तात कहँ देहि देखाई। कहँ सियराम लषनु दोउ भाई॥
कैकइ कत जनमी जग माँझा। जौं जनमि त भइ काहे न बाँझा॥
कुल कलंकु जेहि जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रियजन द्रोही॥
को तिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥
पितु सुरपुर बन रघुबर केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू॥

माँ भरतकी इस बातको सुनकर उन्हें हृदयसे लगा लेती है, मानो उसे फिरसे राम मिल गये हों। यह राममाताके योग्य ही बात थी। फिर भी भरतका मन स्थिर नहीं रहता। उन्हें भय है कि कहीं लोग यह न समझ लें कि रामको वन भेजनेमें मेरा भी मत था। वे माता कौसल्यासे फिर कहते हैं—

जे अघ मातु पिता सुत मारे। गाइ गोठ महि सुरपुर जारे॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हें॥
ते पातक मोहि होहु बिधाता। जौं एहु होइ मोर मत माता॥

भरतकी यह आत्मग्लानि निश्चय ही उनके चरित्रकी उज्ज्वलताके कारण है। इसी आत्मग्लानिवश वे राज्यके सभी लोगोंको लेकर चित्रकूटकी ओर चल पड़ते हैं। रामपर उनका पूरा भरोसा है और रामको उनपर। इस प्रकार यह पूरा-का-पूरा प्रसंग भरतके चरित्रको उभारनेवाला है। कुटिल कैकेयी भरतकी इस उज्ज्वलताके कारण किसी दिन 'ग्लानि' में गल गयी थी।

रामको मनानेके लिये भरतका प्रस्थान

आत्मग्लानिसे पीड़ित भरत रामको मनानेके लिये जा रहे हैं। राम-लक्ष्मण और सीता पैदल ही वन गये थे, अत: भरत-शत्रुघ्न दोनों भाई भी पैदल ही चल पड़ते हैं। यह देख सभी लोग पैदल चलने लगते हैं। अत: दोनों भाइयोंको कौशल्याके आग्रहसे फिर रथपर चढ़ना पड़ता है। मार्गमें निषादराजसे उसी प्रीतिसे मिलते हैं जिस प्रेमसे स्वयं राम मिले थे। भला जो रामका नाम लेते हैं, जब वे भी पापरहित हो जाते हैं, तब तो गुहका क्या कहना? रामने तो उसे गलेसे लगाया ही था। रामका कुशल बार-बार भरत निषादसे पूछते हैं और उसीके साथ उस शिंशपातरुको जाकर प्रणाम करते हैं, जिसे रामने अपने विश्रामका स्थल बनाया था। जहाँ सीताजीके दो-चार कनकविन्दु मिल जाते हैं, उसे वे सीताके समान ही सम्मान देते हैं। जब-जब उन्हें सीतारामका स्मरण आता है, उनकी छाती बिहर-बिहर पड़ती है। सारे मार्गभर वे निषादराजसे राम-सीता तथा लक्ष्मणकी प्रशंसा करते चलते हैं। जब भी उन्हें माता कैकेयीकी चालका स्मरण आता है उनका मन ग्लानिसे भर जाता है। भरतको वस्तुत: सेवक-धर्मका ज्ञान है। वे रामके अनुरूप सेवक न हो सके, इसका उन्हें बहुत दु:ख है। भरतकी अन्ततक यही इच्छा रहती है—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

बीच-बीचमें देवता भरतके इस प्रेमकी प्रशंसा करते चलते हैं। सचमुच भरतके भ्रातृ-प्रेमने संसारमें एक मर्यादा-सी स्थापित कर दी है। सभी उन्हें ***'धरे देह जनु राम सनेहू'*** ही कहा करते हैं। उनके यशकी भी प्रशंसा इन शब्दोंमें भरद्वाजने की है—

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा । रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अथइहि कबहूँ ना । घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥
.. । ग्रसिहि न कैकइ करतब राहू॥
पूरन राम सुप्रेम पियूषा । गुर अपमान दोष नहिं दूषा॥
सब साधन कर सुफल सुहावा । लषन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरसु तुम्हारा । सहित प्रयाग सुभाग हमारा॥

इस प्रकार वनयात्रामें जहाँ एक ओर भरतके चरित्रकी उज्ज्वलताका कविने वर्णन किया है, वहीं उनकी ***'भायप भगति'*** का भी चित्रण किया है। वस्तुतः यह पूरा-का-पूरा प्रसंग 'मानस' से ही पढ़कर समझा जा सकता है।

'चित्रकूटमें राम-भरत-मिलन'

चित्रकूटकी पुण्यस्थलीमें भरत और रामके चरित्रका स्वर्ण परीक्षित होकर निखर उठता है। ससैन्य भरतका आगमन सुनकर लक्ष्मणके मनमें कुछ रोष-सा उत्पन्न हो जाता है, किंतु राम भरतको जानते हैं। उन्हें यह विश्वास है कि ***'बिधि हरि हर पद'*** को भी पाकर भरतको 'राजमद' नहीं हो सकता। इसी विश्वासपर वे लक्ष्मणको बरजते हैं। उधर निषादके रामशैलपर विराजित मुनि-मण्डलीपरिवृत्त रामको दिखलानेपर भरतकी जो गति होती है उसे कविने यों कहा है—

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं । भूतल परे लकुट की नाईं॥

इस प्रीतिको लक्ष्मण पहचान भी गये, किंतु एक ओर उन्हें ***'बन्धु सनेह'*** खींच रहा था, दूसरी ओर ***'साहिब'*** की सेवा। ***'मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई। सुकबि लषन मन की गति भनई॥'***

राम-भरत-मिलनका भी एक चित्र यहाँ देख लेना अनुचित नहीं होगा—

उठे राम सुनि पेम अधीरा । कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥
बरबस लिये उठाइ उर लाए कृपा निधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहिं अपान॥
परम प्रेम पूरन दोउ भाई । मनु बुधि चित अहमिति अधिकाई॥
कहहु सुपेम प्रगट को करई । केहि छाया कबि मति अनुसरई॥
अगम सनेह भरत रघुबर को । जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥

चित्रकूटकी वनस्थलीमें राम-लक्ष्मण-सीता और अवधसे आगत सम्बन्धियोंके पारस्परिक मिलनके अनेक भावुक चित्र कविने खींचे हैं। यहाँ विस्तारभयसे उनके उदाहरण नहीं दिये जा सकते। जनकके आ जानेपर तो इस मिलनकी मार्मिकता और बढ़ जाती है। विदेहको भी देहके सम्बन्धोंका मोह हो जाता है। इसी प्रसंगमें गोस्वामीजीने वनके कोल-किरातोंकी भी प्रकृतिका सुन्दर चित्रण किया है। रामके प्रभावसे उनकी कुटिलता छूट गयी है। वे अवधवासियोंका जमकर स्वागत करते हैं और यह कहते भी जाते हैं—

इहइ हमार बहुत सेवकाई । लेहिं न बासन बसन चुराई॥

चित्रकूटके मिलन-प्रसंगमें कविने कैकेयीको नहीं भुलाया है। उसे भी यहाँ आकर ग्लानि होती है और वह भी भीतर-ही-भीतर घुल-घुलकर गल जाती है। रामने जिस स्नेहसे सर्वप्रथम उससे भेंट की उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। फिर चित्रकूटकी प्रकृति अपने समस्त वैभवके साथ यहाँ लोगोंके मनपर एकाधिकार स्थापित करनेके लिये खड़ी ही है। इस प्राकृतिक वातावरणने भी लोगोंके स्वभावमें मृदुलता भर दी थी।

चित्रकूटकी सभामें भावुक भरत रामको झुकाना चाहते हैं, किंतु विवेक एवं शीलके समुद्र रामको

कर्तव्यच्युत करनेकी बात वे सोच भी नहीं सकते। यही एक स्थल ऐसा है जिसके सामने सभी झुक जाते हैं। इस सभामें दोनों ही पक्षमें भावुक वार्तालाप होता है, योगी-यती भी भावुकताके आवेशमें बह जाते हैं, किंतु राम रघुकुल-रीति, दशरथके प्राण-त्याग आदिका स्मरण कराकर लोगोंको नीतिपथ-विमुख होनेसे बचा लेते हैं। अन्तमें निर्णय होता है कि राम चौदह वर्ष वन रहकर पिताकी आज्ञा मानें और भरत साकेतमें ही रामकी चरणपादुका पूजकर राज्यभार सँभालें। फिर तो सभी इस पक्षका समर्थन ही करते हैं।

विदाकी बेला भी बड़ी ही करुण है। कविने पूरी भावुकतासे भिन्न-भिन्न श्रेणियोंके व्यक्तियोंका मनश्चित्रण किया है। यह पूरा-का-पूरा प्रसंग मानसकारके ही शब्दोंमें अनुभूत करने योग्य है।

पात्रोंका स्वभाव-निरूपण

अयोध्याकाण्डके पात्रोंको दो वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) आदर्शवादी पात्र, (२) यथार्थवादी पात्र। आदर्शवादी पात्रोंमें राजा दशरथ, भरत, कौशल्या और राम प्रमुख पात्र हैं। यथार्थवादी पात्रोंमें मन्थरा, कैकेयी और लक्ष्मण हैं। आदर्शवादी पात्रोंमें भरत, राम और कौसल्या विशुद्ध सात्त्विक वृत्तिके पात्र हैं और राजा दशरथ तामसयुक्त सात्त्विक वृत्तिके पात्र हैं। यथार्थवादी पात्रोंमें लक्ष्मण राजस लिये हुए सात्त्विक और कैकेयी तथा मन्थरा तामसिक वृत्तिके पात्र हैं। मानसकी कथाके मूल आधार ये ही पात्र हैं। इन्हींके कारण मानसकी कथामें संघर्षका समावेश होता है और अन्तमें इन्हींमें आमूल परिवर्तन उपस्थित कर देना इस कथाका उद्देश्य हो जाता है। यहाँ आदर्श और यथार्थमें संघर्ष प्रारम्भ होकर रहता है, किन्तु आदर्शकी विजय भी निश्चितरूपसे होती है। कुछ प्रमुख पात्रोंकी चरित्रगत विशेषताओंकी ओर ही यहाँ पाठकवर्गका ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

अयोध्याकाण्डके प्रमुख पात्रोंमें राजा दशरथका नाम सबसे पहले आता है। राजा दशरथ असाधारण नृपतिके रूपमें सर्वप्रथम आते हैं। उनके राज्यमें विभूति-ही-विभूति दृष्टिगत होती है मानो ब्रह्माकी इतनी ही 'करतूति' हो। 'सुकृत मेघ' वहाँ 'सुखवारि' की वृष्टि करते हैं। सभी पुर-नर-नारी परम सन्तुष्ट हैं। देश-विदेशके राजा दशरथकी कृपाके अभिलाषी रहते हैं, लोकपाल उनके स्नेहकी कामना करते हैं और तीन लोक, तीन कालमें उनके भाग्य-जैसा और किसीका भाग्य नहीं है। स्वयं कैकेयीके कोपको देखकर वे कह उठते हैं—

कहु केहि रंकहिं करउँ नरेसू। कहु केहि नृपहिं निकारउँ देसू॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी। काह कीट बपुरे नर नारी॥

इतना प्रतापी राजा मन्त्रियोंके परामर्शसे ही राज्य करता है। गुरु वसिष्ठसे छोटी-छोटी बातमें भी अनुमति माँगता है।

राजा दशरथको अपनी कुल-मर्यादाका पूरा ध्यान है और उन्हें बार-बार यह कथन स्मरण हो आता है—***'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाइ बरु बचन न जाई॥'*** और इसी सत्यव्रतपर स्थिर रहकर वे अन्तमें अपना प्राण-परित्याग भी करते हैं।

दशरथका पुत्र-प्रेम भी अद्वितीय है। वे रामको प्राणोंसे भी अधिक मानते हैं। उनके लिये शरीरको तृणवत् त्याग भी सकते हैं; किन्तु यह प्रेम कहीं भी अमर्यादित नहीं होने पाया है। दशरथ कैकेयीके वर देनेके पूर्व भी भरतपर अपना अनुराग प्रकट करते हैं; किंतु वे यह स्पष्ट कह देते हैं कि रामराज्याभिषेक तो केवल रघुकुलकी नीतिके अनुसार ही किया जा रहा है। इस राम-प्रेमके बहावमें वे सत्यसे नहीं डिगते। बदलेमें प्राण त्यागकर इस प्रेमकी रक्षा करते हैं।

इतना होते हुए भी दशरथमें कुछ स्त्रैणता अधिक है। कविने इस प्रतापी राजाके लिये भी कह ही दिया—***'ते रतिनाथ सुमन सर मारे।'*** राजाका कैकेयीसे जो प्रेम है वह उसके सौन्दर्यसे आकर्षित ही होकर। वृद्ध राजा यह सह नहीं सकता कि कैकेयी एक क्षणके लिये भी उससे मान कर विमुख हो जाय। मानवती कैकेयीके परितोषके लिये वे इन्द्रतकको मारनेको प्रस्तुत हो सकते हैं। फिर तो कैकेयीको अच्छा अवसर मिल जाता है। उसने छाती कठोर करके दो वर माँग ही लिये। भरतके

'राज्याभिषेक' तक तो राजा स्वयं झुक जाते हैं। वे जानते हैं रामसे उन्हें कोई विरोध नहीं मिलेगा, किंतु दूसरे वरके माँगनेका वे कोई कारण नहीं देखते। एक बार तो वे कैकेयीको इस वरके न माँगनेके लिये बाध्य-से करते प्रतीत होते हैं, पर कैकेयीकी दृढ़ता देख झुक-से जाते हैं और देवी-देवताओंसे कुछ प्रार्थनाएँ-सी करने लगते हैं। एक प्रतापी राजाके लिये यह अशोभन-सा प्रतीत होता है। उनके इस पलायनने अवधमें जो अनर्थ कर दिया, उसे हम सभी जानते हैं। स्वयं राजाने इस रानी कैकेयीके सामने झुककर जिस स्त्रैण मनोवृत्तिका परिचय दिया था, उसीका परिष्कार मर्यादापुरुषोत्तम रामने 'एकपत्नीव्रत' पालकर किया।

भरत

अयोध्याकाण्डके प्रमुख स्थलोंका विवेचन करते समय हमने भरतके चरित्रपर प्रकाश भी डाला है। यहाँ उनकी प्रमुख चरित्रगत विशेषताओंको ही देख लेना है। कैकेयीने राजा दशरथसे दो वर माँगकर पुरवासियोंकी भावनाको ठेस दी है। अतः उनका यह सोचना स्वाभाविक ही था कि कदाचित् भरतके ही कारण कैकेयीका इतना बड़ा साहस हुआ हो। इस बातका यद्यपि कोई प्रमाण उन्हें नहीं मिलता, फिर भी धीरे-धीरे यह बात उनके मनमें जम जाती है और जब भरत ननिहालसे लौटते हैं तो लोग उन्हें चुपचाप प्रणामकर उनका मार्ग छोड़ देते हैं। एक तो अवध पहलेसे ही भरतको श्रीहत लग रहा था। दूसरे लोगोंके इस व्यवहारको देखकर उनके मनमें कुछ शंकाओंका उठ जाना स्वाभाविक था। जब माता कैकेयीसे वे सारी कथा सुन लेते हैं तब यह शंका तुरंत ही दृढ़ हो जाती है। अपनेको सारे अनर्थका मूल समझकर वे उसी क्षण माता कैकेयीको फटकारने लगते हैं। आवेशमें आकर अपशब्दतकका प्रयोग कर डालते हैं। वहीं शत्रुघ्न भी कूबरीको भली सीख दे देते हैं। माता कौसल्याके समक्ष जानेपर भरत और भी कड़ी शपथके साथ अपनी सफाई देते हैं। इस आत्मग्लानिके भावसे प्रेरित होकर वे रामको मनानेके लिये चित्रकूटकी ओर चल देते हैं। भरतका चरित्र परम उज्ज्वल हो गया है। सचमुच ही भरत यदि न उत्पन्न हुए होते तो 'धर्म' की ध्वजाको कौन धारण करता। देवता, मनुष्य, ऋषि-मुनि सभी भरतके चरित्रकी उज्ज्वलताका साक्षी देते चलते हैं। स्वयं राम भी उनकी जी-खोलकर प्रशंसा करते हैं। रामको तो उनपर यहाँतक विश्वास है—

भरतहिं होइ न राजमद बिधि हरि हर पद पाइ।

किंतु यह आत्मग्लानि ही क्यों हुई? रामके प्रति भरतका अविचल अनुराग ही इसका प्रमुख कारण है।

भरत साक्षात् रामके प्रेमस्वरूप हैं। ऋषि भरद्वाज भी उनकी प्रशंसा करते हुए स्पष्ट ही कहते हैं—***'तुम्ह तो भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥'***

सचमुच, जिस ***'भायप भगति'*** से भरे हुए भरत भाई रामको मनाने जाते हैं, वह अनुराग अपने ढंगका अद्वितीय है। इसी अनुरागके कारण वे रामको घर लौटानेका भी प्रस्ताव रखते हैं, किंतु रामके चरित्रकी दृढ़ताके सामने इस अनुरागको झुक जाना पड़ता है। दोनों भाई अन्तमें यही निश्चय करते हैं कि पिताने जिस सत्यकी रक्षाके लिये अपना प्राणतक त्याग दिया, उस सत्यकी रक्षा उन्हें भी करनी चाहिये। वस्तुतः भरतमें जो कुछ भी सरलता, निष्कपटता, सौहार्द, भ्रातृप्रेम आदि गुण हैं वे इसी काण्डमें निखर-से आते हैं। भरतने माता कैकेयीके चारित्रिक कलंकको बहुत कुछ अपनी तपस्या एवं ***'भायप भगति'*** द्वारा मिटा दिया है। रामकथामें भरतका चरित्र बड़ा ही आदर्शमय है।

राम

अयोध्याकाण्डमें रामका व्यक्तित्व दो रूपोंमें आया है। एक तो आध्यात्मिक रामके रूपमें, दूसरे मानव रामके रूपमें। राजा दशरथ जब रामके अभिषेककी अनुमति लेने वसिष्ठ मुनिके पास जाते हैं तभी वसिष्ठ उनसे कह देते हैं—

सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥
भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। रामु पुनीत प्रेम अनुगामी॥

भरद्वाज मुनिने भी रामके प्रयाग जानेपर कहा है—

आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥
सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू॥

इसी प्रकार वाल्मीकि आदि ऋषियोंने रामके आध्यात्मिक स्वरूप (ब्रह्मत्व) की ओर संकेत किया है। वाल्मीकिने तो रामके १४ निवासस्थलको भी बतलाया है।

लौकिक दृष्टिसे राम असाधारण सुन्दर, धीर, युवा, सौम्य, प्रतापी, वीर एवं त्यागी हैं। उनका त्याग अपूर्व है। अयोध्याकाण्डकी कथा उनके त्यागकी कथा है। कैकेयीकी अभिलाषाको पूर्ण करनेके लिये वे राज्यको तृणवत् त्यागकर वनपथपर चल पड़ते हैं। उनके मनमें ग्लानिकी छायातक नहीं पड़ी। इसी निष्कपट हृदयसे वे भरतका स्वागत करते हैं और इसी उदार हृदयसे वे माताओंमें सर्वप्रथम कैकेयीसे ही भेंट करते हैं। प्रत्युत उन्हें राज-सुखभोगकी अपेक्षा वनवास अधिक प्रिय लगता है। जिस राक्षसराजके विनाशके लिये उनका अवतार हुआ था, उसे सपरिवार एवं सबान्धव (विभीषणको छोड़कर) विनष्ट कर देना सहज-सम्भव नहीं था। तपस्यासे ही यह सम्भव हो सकता था। अत: वनवास रामके अपने उद्‌देश्यकी पूर्तिमें सहायक ही था।

तुलसीदासने रामके अपूर्व सौन्दर्यकी झाँकी इस काण्डमें बार-बार दी है। उनके इस सौन्दर्यका वर्णन करते समय उनकी वाणी बड़ी ही स्निग्ध एवं मधुर हो गयी है। ग्रामवधुएँ सीतासे रामका परिचय इन शब्दोंमें पूछती हैं—***'कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥'*** मानव तो मानव ही है, पशु-पक्षी, कीट-पतंगतक उनके अलौकिक सौन्दर्यपर मुग्ध हैं। मार्ग उनके लिये सुमनमय हो जाता है, बादल उनके ऊपर सदा छाया ही किये रहते हैं। मार्गकी साँपिन, बिच्छूतक उन्हें देखकर अपना विष छोड़ देते हैं—***'जिन्हहिं निरखि मग साँपिन बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी॥'*** ऐसे उदाहरणोंसे अयोध्याकाण्ड भरा पड़ा है। रामके सौन्दर्यमें जो असाधारणता है उससे उनके शत्रु भी अप्रभावित नहीं रहते। राम दूसरोंके हृदयकी धड़कनको पहचानते हैं। भरत और रामके पारस्परिक स्नेह-सम्बन्धसे तो इनकी पुष्टि होती ही है, रामके सम्पर्कमें आनेवाले अन्य व्यक्ति भी इस स्नेहको पाकर धन्य हो जाते हैं। यही तो भक्तोंका एकमात्र सहारा है—

प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत मन कै कुटिलाई॥

इसके अतिरिक्त रामके स्वभावमें सहज गाम्भीर्य है। शीघ्र ही वे उत्तेजित नहीं हो जाते। उन्हें अपने जनोंपर अतुल विश्वास है। इसी कारण भरतकेससैन्य आगमनपर लक्ष्मण कुछ परुष वचन बोलने लगते हैं, किंतु राम मर्यादित रहकर ही उन्हें समझाते हैं। इस प्रकार कविने अयोध्याकाण्डमें रामके शक्ति-शील-सौन्दर्यका बड़ा ही सुन्दर स्वरूप उपस्थित किया है। रामका चरित्र यहाँ अपनी सम्पूर्ण उज्ज्वलताके साथ आया है। वे आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श मानवके रूपमें चित्रित किये गये हैं।

कौसल्या

माता कौशल्या यहाँ अपने स्त्री-वैभवकी सम्पूर्णताके साथ आती हैं। राम उनके प्रिय पुत्र हैं अवश्य, किंतु भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि भी उनके स्नेहके भाजन हैं। अयोध्याकाण्डमें कौसल्याने भरतको विशेषरूपसे अपनी कृपाका भाजन बनाया है। इसके अनेक कारण भी हैं। यों तो कौसल्याका स्वाभाविक स्नेह सभीपर था, किंतु यहाँ भरतकी परिस्थिति विशेषरूपसे दयनीय हो गयी है। रामको वन पिता और माता दोनोंने ही दिया था। अगर केवल पिताने वन दिया होता तो कौसल्या रामको बाहर न जाने देतीं, क्योंकि माताका पद पितासे कहीं ऊँचा है। वे रामसे कहती हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥

किंतु यदि माता-पिता दोनोंने ही वन जानेकी आज्ञा दी हो तब—

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

कौसल्या रामको वन भेज देती हैं—माता कैकेयी और पिता दशरथकी आज्ञाका पालन करनेके लिये। भरतको न तो माँने वन दिया है और न पिताने। उनकी आत्मग्लानिने ही वस्तुत: उन्हें रामदर्शनके

लिये प्रेरित किया था। इस उज्ज्वलताको पहचाननेके लिये जिस हृदयकी आवश्यकता थी, वह कौसल्याके पास था। कौसल्याने भरतके हृदयको भरपूर पहचान लिया था, स्वयं कैकेयीने नहीं। इसीलिये कौसल्या भरतका पहले स्वागत करती हैं, उनके वन जानेकी इच्छाका समर्थन करती हैं। मार्गमें भरत जब भी भाईके स्नेहके आवेशमें पैदल चलते हैं तब उन्हें कौसल्या ही मनाती हैं और चित्रकूटमें भरतके स्नेहवश ही वे जनककी रानियोंसे, जनकसे समझानेको कहती हैं कि राम और भरत वन चले जायँ तथा लक्ष्मण-शत्रुघ्न लौट चलें। कौसल्याके इस प्रस्तावमें कोई छल-प्रपंच नहीं, केवल उनका भरतके प्रति प्रेम ही यहाँ छलछला रहा है। वे जानती हैं कि यदि भरत-राममें वियोग रहा तो भरतकी दशा चिन्त्य हो जायगी। अन्तमें हुआ भी ऐसा ही, राम तो वन चले ही गये; किंतु भरतने नन्दिग्राममें ही रहकर शरीरको वन्य जीवनका अनुरागी बना लिया। कौसल्याके वात्सल्य-प्रपूर्ण हृदयने इसका आभास पहलेसे ही पा लिया था।

मन्थरा

यथार्थवादी पात्रोंमें मन्थराका नाम सर्वप्रथम आता है। वह अपनी जाति (दासियों—सामान्य स्त्रियों) की प्रतीक भी है। रामके राज्याभिषेकका समाचार पाकर वह कुढ़ जाती है और प्रयास यही करती है कि किसी प्रकार रातभरमें वह इस आयोजनको विफल बना दे। कैकेयीद्वारा ही यह सम्भव हो सकता था। मन्थरा आकर बड़ी ही चतुरतासे कैकेयीको राजासे दो वर माँगनेको उकसा देती है और कैकेयी उसकी बातमें आ भी जाती है। फिर करुण घटनाओंकी एक परम्परा-सी लग जाती है। रामचरितमें मन्थरा एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व रखती है। राम-कथा चाहे जिस रूपमें भी प्राप्त हो, मन्थरा-जैसा कोई-न-कोई पात्र उसमें अवश्य ही वर्तमान होगा। राम-कथाका उद्देश्य ही बिना मन्थराके पूरा नहीं होता। इसमें जो कुछ भी सौन्दर्य है, करुणा है तथा महत्त्व है यह मन्थराके ही कारण। गोस्वामीजीने मन्थराके बहाने नारीजातिकी कुरूपताका दिग्दर्शन कराया है। मन्थरा निश्चितरूपसे एक तामसिक स्वभावका पात्र है।

कैकेयी

अयोध्याकाण्डमें सर्वप्रथम कैकेयी एक सती-साध्वीके रूपमें हमारे सम्मुख आती है। राजा दशरथकी वह सर्वप्रिय रानी है। इसका कारण उसका अपूर्व रूप-लावण्य है। दशरथ उसके लिये कुछ भी करनेको तैयार हैं। फिर भी कैकेयी राजा दशरथके इस स्नेह-पक्षपातका अनुचित लाभ नहीं उठाती। वह उनकी आशाओं-आकांक्षाओंमें बाधक बनकर नहीं रहती। रामको वह अपने पुत्रके समान ही मानती है और कौसल्यादि रानियोंसे इसका व्यवहार बहुत कुछ स्नेहमय ही है। कैकेयीके जीवनमें मन्थराके प्रवेशने एक विशेष उथल-पुथल मचा दी। मन्थरा राम-राज्याभिषेकसे चिन्तित होकर कैकेयीके समक्ष जब पहली बार आती है तब बड़ी चतुराईसे वह रामके विपरीत वातावरण बनाना प्रारम्भ कर देती है। वह वातावरण इस कारण और भी अधिक प्रभावपूर्ण बन जाता है, क्योंकि मन्थराने अपनी आयोजनामें सपत्नीभावका पूर्ण उपयोग किया था। पहले वह ***'रामहिं छाँड़ि कुसल केहि आजू॥'*** कहकर काम निकालना चाहती है, पर कैकेयी इसपर कुढ़ जाती है। अत: मन्थरा दूसरे पथका अवलम्ब लेती है वह तुरन्त कह उठती है—***'भयउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन'।*** कैकेयी ***'घरफोरी'*** मन्थराको पहले बुरा-भला कहती है, किंतु आगे चलकर मन्थराकी वाक्-चातुरीसे प्रभावित होकर जिस पथका अवलम्बन करती है, उसने राम-कथामें कड़ी ही करुणा भर दी है।

कैकेयीके इस आचरणका कारण स्पष्ट है। जब पारिवारिक जीवनकी बीभत्सता उसके सम्मुख आ जाती है और जब एक बार उसे यह आभासित हो जाता है कि रामराज्याभिषेकके उपरान्त घरमें कौसल्या और उसकी स्थितिमें क्या अन्तर हो जायगा तब उसका अहंभाव जाग उठता है। वह यह सोच ही नहीं सकती कि रामके राजा हो जानेपर राजा दशरथ उसके साथ पूर्ववत् व्यवहार कैसे रख सकेंगे? उसे यह भी अच्छी प्रकार ज्ञात है कि सौतें राजरानी हो जानेपर अपनी अन्य सपत्नियोंके साथ किस प्रकारका व्यवहार करती हैं? इसीसे वह कहती है—

'नैहर जनमु भरबि बरु जाई। जियत न करबि सवति सेवकाई॥'

मन्थरा इसपर उसे विश्वास दिलाती है कि 'रानी घबड़ानेकी बात नहीं, पूछनेपर गुणियोंने रेखा खींचकर बतलाया है कि भरत निश्चितरूपसे राजा होंगे। अत: उपायस्वरूप दो वरदान—भरतको राज्य और राम-वन-गमन राजासे माँगकर अपनी छाती जुड़ा लो।' मन्थरा यह जानती थी कि राजा दशरथ ये वरदान तभी देंगे जब वे रामकी शपथ खा लेंगे। कैकेयीके मनमें यह बात धँस जाती है। फिर तो कैकेयीकी कुमतिरूपी भूमिपर चेरी वर्षा-ऋतुकी भाँति विपत्तिकी बिजली चमकाती हुई कपटके जल बरसाती है। फिर इससे जो अंकुर उगता है उसका फल दु:खके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता। कैकेयी फिर तो भरतको राज्य दिलानेके लिये सन्नद्ध होकर कोपभवन जाती है और स्त्रैण राजाको बाध्य करके उससे दो वर माँगती है। राजा कुछ बोल भी नहीं पाते। सरल राम माँ कैकेयीकी बात मानकर वन-पथपर चले जाते हैं। कठोर कैकेयी उन्हें अपने हाथों वल्कल-वसन पहनाती है।

इस प्रकार अयोध्याकाण्डमें कैकेयी अपने उग्रतम रूपमें आती है। उसीके कारण रामकथाको गति भी मिली है। सचमुच कैकेयीकी यह सारी उद्दण्डता भरतको न पहचान सकनेके कारण थी। यदि वह भरत-रामके प्रेमको समझ पाती तो कदाचित् इतना अधिक उग्र न होती। इसी कारण भरत जब ननिहालसे लौटकर उसे फटकारने लगते हैं तब वह मौन हो जाती है। उससे फिर तो कुछ कहते ही नहीं बनता। वह अपनी स्थितिको ठीक ढंगसे समझ जाती है और जब चित्रकूटमें राम उसके समक्ष आते हैं तब वही कैकेयी 'ग्लानि' में गल जाती है। तुलसीदासने स्वयं इस कैकेयीको 'कुटिल' आदि शब्दोंसे सम्बोधित किया है। फिर भी क्योंकि कैकेयी रामके पक्षकी थी, इसलिये वे उसके चरित्रमें कलंकका पूर्णांश नहीं लगाते। देवताओंकी प्रेरणासे ही मन्थराकी मति मारी गयी थी और कैकेयीके स्वभावमें उन्हींके ही कारण यह परिवर्तन आ गया था। कैकेयीके जीवनमें आगे और पीछे प्रकाश है, किंतु बीचमें अन्धकार—घोर अन्धकार है। सचमुच भरतके अनुरूप माँ वह नहीं ही थी। अयोध्याकाण्डके पात्रोंमें कैकेयीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

लक्ष्मण

लक्ष्मण मन-वचन-कर्मसे राम-चरणानुरागी हैं। संसारमें जितने भी नाते-स्नेह-सम्बन्ध हैं वे सभी रामसे ही हैं, लक्ष्मणका ऐसा दृढ़ विश्वास है। इसी कारण राम-वन-गमनका समाचार पाकर वे तुरंत ही बड़े भाईके साथ वन जानेको प्रस्तुत हो जाते हैं। वनमें भी राम-सीताकी वे उसी प्रकार सेवा करते हैं जिस प्रकार अविवेकी पुरुष शरीरकी सेवा करता है। रातमें सीता-रामके सो जानेपर लक्ष्मण वीरासनसे बैठकर निषादको विषाद-मग्न देख शृंगवेरपुरमें तत्त्वज्ञान देते हैं।

किंतु लक्ष्मणके स्वभावमें एक बहुत बड़ी कमी है। वह यह कि वे किसी भी कामको बिना सोचे-समझे सहसा कर डालते हैं। उनमें उद्वेग अधिक है। आकाशवाणीको भी उन्हें चित्रकूटपर भरतके ससैन्य जानेके अवसरपर समझाना पड़ा है—***'सहसा करि पाछें पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥'*** लक्ष्मणका रोष गम्भीर नहीं है। प्राय: वह सीमाका अतिक्रमण कर जाता है और बहुधा बल-चापल्यसे भरा ही प्रतीत होता है।

लक्ष्मणको रामका पूरक भी नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: उनके उग्र स्वभावसे कभी-कभी तो अनर्थ होता हुआ-सा दीख पड़ता है। राम यदि ऐसे अवसरोंपर अपनी गम्भीरतासे उन्हें दबा न दें तो सचमुच ही अनर्थ हो जाय। फिर भी इतना मानना ही पड़ेगा कि लक्ष्मणका रामके प्रति वास्तविक अनुराग ही इस प्रकारकी गर्वोक्तियोंका प्रमुख कारण है। लक्ष्मणकी इन उक्तियोंमें कितना मिथ्यागर्व है—

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसेहिं भरतहिं सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥
जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥

इसकी तुलना रामकी निम्नलिखित उक्तियोंसे की जा सकती है—

तिमिर तरुन तरनिहिं मकु गिलई। गगनु मगन मकु मेघहिं मिलई॥
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी। सहज क्षमा बरु छाड़इ छोनी॥

मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृप मदु भरतहिं भाई॥

दोनोंमें कितनी शक्ति है। एकमें उद्वेग, दूसरेमें विश्वासमय आस्थाका प्राधान्य है। यही लक्ष्मण और रामके चरित्रमें अन्तर है। इस प्रकार लक्ष्मणका यथार्थवादी दृष्टिकोण राम-भक्तिसे भरपूर है।

अयोध्याकाण्डके अन्य चरित्र

अयोध्याकाण्डके अन्य प्रमुख चरित्रोंमें सीता, सुमित्रा और गुह निषादराज आदि आते हैं। कविने सीतामें पति-प्राणा सती-साध्वी भारतीय नारीके दर्शन किये हैं, जो पतिको ही एकमात्र सब कुछ समझती है और धूप-छाँह दोनोंमें ही उसके साथ समभावसे रहनेको सदैव प्रस्तुत रहती है। उनके जीवनका आदर्श इन दो चौपाइयोंमें पूर्णतया व्यक्त हुआ है।

जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥

सभी सासोंपर सीताका समान सेवा-भाव है और सभी देवरोंको ये समान स्नेह-दृष्टिसे देखती हैं। पशु-पक्षी भी उनके स्नेहके भाजन बनते हैं। उनके कोमल करोंका जल-सेवन पाकर वृक्ष फूले नहीं अघाते। कविने सीताको बड़ा ही उदार-हृदय दिया है।

सुमित्रा भी रामके प्रति विशेष अनुराग रखती हैं। उनकी भी धारणा यही है—

रामु प्रान प्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिअहिं राम के नाते॥
अस जिय जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू॥

इसीलिये सुमित्रा लक्ष्मणको रामके साथ वन चले जानेका ही परामर्श देती हैं। रामके वन जानेसे लक्ष्मणको भी पूज्य भाईकी सेवाका अवसर मिल जाता है। कौसल्याकी भाँति ही सुमित्रा भी जहाँ कहीं राम रहें वहीं अवध-निवास मानती हैं। उनके चरित्रका यही महत्त्व है।

निषादराज

निषादराज राम-प्रेमके साक्षात् अवतार हैं। रामके महत्त्वसे वे पूर्णतया परिचित हैं। गुह यह जानता है कि राम असाधारण मानवमात्र नहीं, साक्षात् ब्रह्मके अवतार हैं। पहले तो मुनिवेषमें राम-सीता और लक्ष्मणको देखकर वह कैकेयी तथा दशरथको दोष देता है, फिर उनके अलौकिक स्वरूप तथा उनकी मायाका स्मरणकर उनके चरणोंमें गिर पड़ता है। निषादराजकी भक्ति अपूर्व है। भगवान्के चरणरजको धोकर पिये बिना उसे चैन कहाँ? बड़ी कुशलतासे वह रामको अपनी चरण-रज धो लेनेको बाध्य कर लेता है। नावसे गंगा पार कराकर वह प्रयागके आगेतक रामको पहुँचाता है। निषाद रामका बहुत प्रिय भक्त है।

भक्तिके आवेशमें पहले निषाद भरतको समझ नहीं पाता और उनसे युद्धकी तैयारी कर देता है, किंतु एक वृद्धकी सलाहपर वह भरतसे मिलता है, उसकी सारी शंकाएँ दूर हो जाती हैं। भरतको रामका अनन्य प्रेमी जानकर वह दिल खोलकर उनसे मिलता है और अपूर्व सत्कारके साथ उन्हें गंगा पार कराता है। फिर चित्रकूटतक वह उनका साथ देता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि निषादराज भक्ति-भक्त-भगवन्तका अनन्य प्रेमी है।

अयोध्याकाण्डमें चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी सामान्य विशेषताएँ

अयोध्याकाण्डमें जिन पात्रोंका समावेश महाकविने किया है, उनमें प्राय: सभी रामके ही पक्षके हैं। इस कारण कविने कहीं-कहीं उनके दोषका परिहार भी कर दिया है। मन्थराको इसीलिये कवि दोषी नहीं ठहराता। वह तो देवताओंद्वारा प्रेरित सरस्वतीसे प्रभावित थी। कैकेयी रामको भरतसे अधिक चाहती थी। वह तो केवल देव-मायासे प्रेरित होकर रामको सुरकाजके लिये वन भेज देती है। शेष पात्र तो निश्चितरूपसे रामके प्रेम-पथके पथिक हैं।

फिर भी 'मानसके' पात्रोंमें अपनी विशिष्टता—अपना अपनत्व है। मन्थराको छोड़कर—जो नारीजातिकी कमजोरियोंका प्रतीक है—शेष पात्रोंमें अपनी अलगकी भावनाएँ, कल्पनाएँ एवं अपना अलग आचरण है। पात्रोंमें आत्म-संस्कारकी क्षमता विद्यमान है। कुटिल कैकेयी 'अघाकर पछताती' है, मन्थरा तो शत्रुघ्नके पैरोंसे ठोकर खाकर ठीक हो जाती है। भरतकी ग्लानि तो उन्हें देवत्व ही प्रदान कर देती है। लक्ष्मणका भरतके विरुद्ध रोष रामके समझानेपर अपूर्व स्नेहमें परिणत हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काण्ड (सोपान) में कविने जितने भी पात्रोंका समावेश किया है वे सभी अपना-अपना सुधार कर लेते हैं।

मानसके इस सोपानमें देवतासे लेकर कोल-भीलोंतकका चित्रण कविने किया है। उसकी पैनी दृष्टिने देवताओंकी 'कुचालको' देखा है और साथ ही कोल-भीलोंकी प्रवृत्तियोंका भी सूक्ष्म अध्ययन किया है। कविने नारी, पुरुष, पति-पत्नी, भाई, माता, पिता, गुरु, परिजन, पौरजन, निषाद, ऋषि-मुनि, देवता, दानव सभीको तो यहाँ ला उपस्थित किया है। उनके स्वभावका सम्यक् निरूपण करना ही कविकी सफलताका मूल मन्त्र है। इस दृष्टिसे तुलसीदासजीकी कला बेजोड़ है।

अयोध्याकाण्डका काव्य-वैभव

भाषा

समूचा 'रामचरितमानस' अवधी भाषाका एक सुन्दर महाकाव्य है। तुलसीदासकी अवधीमें अवध प्रदेशकी आत्मीयता कूट-कूटकर भरी हुई है। पं० रामचन्द्र शुक्लने अपने 'हिन्दी-साहित्यका इतिहास' में यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि तुलसीदासकी भाषामें गोंडा, बहराइच तथा अयोध्याके निकट बोले जानेवाले ग्रामीण किंतु अपनत्वपूर्ण शब्दोंका पर्याप्त मात्रामें प्रयोग हुआ है। अवधमें बोले जानेवाले कुछ शब्दोंकी सूची शुक्लजीने इस प्रकार दी है—माहुर (विष); सरौं (कसरत); फहराना या फाहराना (प्रफुल्लचित्त होना); फुर (सच); अनभल ताकना (बुरा मानना); राउर, रउरेहि (आपको); रमा लहीं (रमाने पाया); कूटि (दिल्लगी)। इसी प्रकार तुलसीदासने चित्रकूटके समीपके जन-समूहमें बोले जानेवाले कुछ शब्दोंका भी प्रयोग किया है। कुराय (करेलमें बरसातके कारण पड़ जानेवाले गड्ढे); सुआर (रसोइया) आदि चित्रकूटके समीपके ही शब्द हैं। फिर भी तुलसीदासकी अवधी ठेठ अवधी नहीं हो पायी। उसमें संस्कृत भाषाके शब्दोंका प्रचुरतासे प्रयोग किया गया है। जायसीकी अवधी अवध प्रदेशकी ठेठ भाषा है। '**नाना-पुराण-निगमागम-सम्मत**' महाकाव्यकी रचना करनेवाला कवि संस्कृत परम्पराको एकदम छोड़ भी नहीं सकता था। इसीलिये तुलसीदासने संस्कृत भाषामें भी श्लोकोंकी रचना की है।

व्रजभाषापर भी तुलसीका समान अधिकार था। तुलसीके अधिक काव्य-ग्रन्थ व्रजभाषामें ही लिखे गये हैं। किंतु अयोध्याकाण्डमें ग्रामीण अवधीका जो गौरव पाया जाता है, वह अन्यत्र नहीं। इस सोपानमें न तो विदेशी शब्दोंकी प्रचुरता है और न संस्कृत प्राकृत शब्दोंका आधिक्य ही। ग्रामीण अवधीके कोमल-कठोर शब्द यहाँ प्रसंगानुकूल प्रयुक्त होकर काव्यको गौरव-मण्डित करते हैं। ऐसे कुछ शब्दोंमें अछत, उछाहू, गहागह, अरगानी, अवसेरी, घरफोरी, कढ़ावउँ, टेई, महतारी, उपचार, भिनुसार, गुदारा आदि छिट-फुट ढंगसे भी ले लिये जा सकते हैं।

तुलसीदासकी भाषाकी दूसरी प्रमुख शक्ति है उसका ग्रामीण लोकोक्तियों एवं मुहावरोंसे समृद्ध होना। कुछ उदाहरण—

(१) **रामहिं बंधुसोच दिनराती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती॥**

(२) **चोरहिं चाँदनि राति न भावा॥**

(३) **देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गँव तकइ लेउँ केहि भाँती॥**

(४) **हमहुँ कहब अब ठकुरसुहाती। नाहिं त मौन रहब दिनराती॥**

(५) **कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी॥**

(६) **कुबरी करि कबुली कैकेई। कपट छुरी उर पाहन टेई॥**

(७) **करउँ तोहि चषपूतरि आली।**

(८) **को न कुसंगति पाइ नसाई॥**

इस प्रकारके अनेक उदाहरण केवल हलके ढंगसे देखनेपर भी एकत्रित कर लिये जा सकते हैं। मानस-पाठकोंको यह विदित ही है कि जहाँ एक ओर तुलसीदासने जनतासे मुहावरों और लोकोक्तियोंको लेकर भाषामें उनका प्रयोग किया है, वहीं उन्होंने अनेक पंक्तियोंकी रचना की है जो सूक्तियों एवं मुहावरोंकी भाँति आजतक जनतामें प्रयुक्त होती चली आ रही हैं। इस प्रकार तुलसीके काव्यमें प्रेषणीयता पर्याप्त मात्रातक आ गयी है।

गुण—तुलसीदासकी भाषामें प्रसाद-गुणका प्राधान्य है। इसके लिये कविने सरल, सुष्ठु शब्दोंका प्रयोग किया है और यथासम्भव उसे विदेशी अथवा प्राचीन संस्कृतकी पदावलीके अनुचित प्रयोगसे बचाया है। तुलसीदासकी सरल भाषाका यही एक उदाहरणमात्र दे देना पर्याप्त होगा—

कुबरी करि कुबली कैकेई। कपट छुरी उर पाहन टेई॥
लखइ न रानि निकट दुख कैसे। चरइ हरित तृन बलि पसु जैसे॥
सुनत बात मृदु अंत कठोरी। देति मनहुँ मधु माहुर घोरी॥

तुलसीदासकी इस भाषाको ग्रामीण-जन-समूह भी खूब अच्छी तरह समझ जाता है। तुलसीकी लोक-प्रियताका एक प्रमुख कारण उनकी भाषाका प्रसाद-गुण-सम्पन्न होना है।

फिर भी उनकी भाषा माधुर्य और ओज-गुणोंसे रहित नहीं कही जा सकती। माधुर्यका एक उदाहरण—

चारु चरन नख लेखति धरनी। नूपुर मुखर मधुर कबि बरनी॥
मनहुँ प्रेमबस बिनती करहीं। हमहिं सीयपद जनि परिहरहीं॥

ओजका एक उदाहरण—अयोध्याकाण्डमें यद्यपि करुणरस ही प्रधान है पर लक्ष्मणकी उक्तिमें ओज-गुण पर्याप्त मात्रामें आ गया है। भरतको ससैन्य आते देख वे कहते हैं—

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसेहिं भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥
जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥

इस प्रकार तुलसीकी भाषा यहाँ बड़ी ही समृद्ध एवं प्रभावपूर्ण हो गयी है।

छन्दयोजना—'मानस' की रचना प्रमुखतया दोहा, चौपाई, छन्दोंमें ही की गयी है। यह परम्परा अवधीकी अपनी परम्परा है और तुलसीके पूर्व भी जायसी आदि सूफी कवियोंकी वाणीमें इसे स्थान मिल चुका है। बीच-बीचमें हरिगीतिका छन्दका भी कविने उपयोग किया है। तुलसीदासकी चौपाइयोंमें भाव-वहन करनेकी अपूर्व क्षमता है। इतने छोटेसे छन्दमें कथा-प्रसंगोंकी मार्मिकताका पूर्णरूपेण निरूपण करना तुलसीदास-जैसे समर्थ कविद्वारा ही सम्भव हो सकता था। हरिगीतिकाका भी प्रयोग कविने बड़ी ही कुशलतासे किया है। फिर भी यह कहना ही पड़ता है कि तुलसीके लिये छन्दोंकी साधना प्रधान नहीं थी। उनके लिये तो भाव-साधना ही सब कुछ थी। इसी कारण वे अपने भावोंको जिस छन्दमें चाहते हैं ढाल देते हैं।

तुलसीदासकी अलंकार-योजना

अलंकारोंका प्रयोग कविने रीतिकालीन कवियोंकी भाँति भाषाको व्यर्थ-भारसे लादनेके लिये नहीं किया है। भावोंकी अभिव्यक्तिका माध्यम जिस प्रकार भाषा है, उसी प्रकार सबल रीतिसे अपनी बातको कहनेके लिये कवि लोग अलंकारों एवं भिन्न-भिन्न शब्द-शक्तियोंका प्रयोग करते आये हैं। पं० रामचन्द्रशुक्लने बड़ी ही छान-बीनके साथ यह निर्णय किया है कि तुलसीदासने अलंकारोंका प्रयोग पात्रोंके स्वरूप, गुण, क्रिया-व्यापार तथा भावके अनुभवको तीव्र करनेके लिये ही किया है। इन्हीं अलंकारोंके माध्यमसे तुलसीदास

सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावोंकी भी अभिव्यक्ति कर देते हैं और जटिल-से-जटिल कार्य-व्यापारको भी मूर्त कर देते हैं। इन अलंकारोंका कुछ उदाहरण देना ही यहाँ पर्याप्त होगा—

(१) भावोंकी उत्कर्ष-वृद्धिमें सहायक अलंकार—ऐसे अलंकारोंमें निश्चयालंकार, पर्यायोक्ति, रूपक, व्याजनिन्दा आदि प्रमुख अलंकार हैं—

पर्यायोक्ति— **सीता हरन तात जनि कहेहु पिता सन जाइ।**
जौ मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥

रूपक— **तृषित तुम्हरे दरस कारन चतुर चातक दास।**
बपुष बारिद बरसि छबि-जल हरहु लोचन प्यास॥

(२) रूपका अनुभव तीव्र करनेमें सहायक अलंकार—ऐसे प्रसंगोंमें तुलसीदासने उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, अपह्नुति, अतिशयोक्ति आदि अलंकारोंका प्रयोग किया है। नीचे उत्प्रेक्षा और रूपकातिशयोक्तिके एक-एक उदाहरण दिये जाते हैं—

उत्प्रेक्षा—**लताभवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।**
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद-पटल बिलगाइ॥

रूपकातिशयोक्ति— **खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥**
कुंदकली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी॥
बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥

(३) क्रियाका अनुभव तीव्र करनेमें सहायक अलंकार—इन अलंकारोंमें ललितोपमा, रूपक, तुल्ययोगिता तथा अप्रस्तुतप्रशंसा आदिका तुलसीदासने विशेष प्रयोग किया है—

ललितोपमा—‘**मारुतनंदन मारुत को, मन को खगराज को बेग लजायो।**’

तुल्ययोगिता—**सब कर संसय अरु अग्यानू। मंद महीपन कर अभिमानू॥**
भृगुपति केर गर्ब गरुआई। सुर मुनिबरन्ह केरि कदराई॥
सिय कर सोच जनक पछितावा। रानिन्ह कर दारुन दुख दावा॥
संभुचाप बड़ बोहित पाई। चढ़े जाइ सब संग बनाई॥

(४) गुणका अनुभव तीव्र करनेमें सहायक अलंकारोंमें व्यतिरेक, भ्रम आदिका गोस्वामीजीने विशेष प्रयोग किया है।

व्यतिरेक— **संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह पै कहइ न जाना॥**
निज परिताप द्रवै नवनीता। पर दुख द्रवहि सुसंत पुनीता॥

भ्रम—**जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गह्यो।**
(मुद्रिकाको अशोक-अंगार जानकर हाथमें लिया)

अयोध्याकाण्डमें रूपक और उत्प्रेक्षाकी भरमार है। कविने सांगरूपकका विशेष प्रयोग यहाँ किया है। कुछ सुन्दर रूपकोंके उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

भुवन चारि दस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी॥
रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमगि अवध अंबुधि कहुँ आई॥
मनिगन पुरनरनारि सुजाती। सुचि अमोल सुंदर सब भाँती॥

× × ×

बिपति बीजु बरषारितु चेरी। भुइँ भइ कुमति कैकई केरी॥
पाइ कपट जलु अंकुर जामा। बर दोउ दल दुख फल परिनामा॥
कोप समाजु साजि सब सोई। राजु करत निज कुमति बिगोई॥

× × ×

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहु रोष तरंगिनि बाढ़ी॥
पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई॥
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी बचन प्रचारा॥
ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला॥

× × ×

नवबिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥
कोक तिलोक प्रीति अति करिहीं। प्रभु प्रताप रबि छबिहि न हरिहीं॥
निसिदिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ करतब राहू॥
पूरन राम सुप्रेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहिं दूषा॥
राम भगत अब अमिय अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू॥

× × ×

सगुन षीरु अवगुन जल ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥
भरतु हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उजियारी॥

× × ×

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुरसाधुहित कृपासिंधु रघुबीर॥

× × ×

आश्रम सागर सांतरस पूरन पावन पाथु।
सेन मनहुँ करुना सरित लिये जाहिं रघुनाथु॥
बोरति ग्यान बिराग करारें। बचन ससोक मिलत नद नारें॥
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट तरुवर कर भंगा॥
बिषम बिषाद तोरावति धारा। भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा॥
केवट बुध बिद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा॥
बनचर कोल किरात बिचारे। थके बिलोकि पथिक हिय हारे॥
आश्रम उदधि मिली जब जाई। मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई॥

इस प्रकार विस्तृत सांगरूपकोंके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। होमरकी उपमाओंकी (Homeric Simile) भाँति इन रूपकोंका अपना अलग महत्त्व है। तुलसीदासके प्रयुक्त अन्य अलंकारोंमें उत्प्रेक्षाका दूसरा स्थान है। कविने इन उत्प्रेक्षाओंका प्रयोग भी भाव, कार्य-व्यापार, स्वभाव अथवा परिस्थितिके चित्रणके लिये किया है। इस सम्बन्धमें भी यह कह देना आवश्यक है कि कविकी उत्प्रेक्षाओंमें बड़ी ही अद्‌भुत व्यंजकता भरी पड़ी है। वे प्रसंगके उपयुक्त वातावरण उपस्थित कर देनेमें पूर्णतया समर्थ हैं। दो-एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा—

अति कटु बचन कहत कैकेई। मानहु लोन जरे पर देई॥

× × ×

आगे दीखि जरत रिस भारी। मनहु रोष तरवारि उघारी॥

कविने उत्प्रेक्षाओंके माध्यमसे सौन्दर्यके अनेक सुन्दर-सुन्दर चित्र भी उपस्थित किये हैं—

राम लखन सिय सुंदरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई॥

थके नारि नर प्रेम पियासे। मनहुँ मृगी मृग देखि दिआसे॥

इसी प्रकार तुलसीदासने प्रायः सभी प्रमुख अलंकारोंका प्रयोग इस काण्डमें किया है। इस सम्बन्धमें जिन्हें विशेष ज्ञानकी रुचि हो वे वीरकवि तथा लाला भगवानदीनजीके ग्रन्थोंका अवलोकन कर सकते हैं। 'मानस-पीयूष' में भी इस प्रकारका सफल प्रयास महात्मा अंजनीनन्दनशरणजीने किया है। फिर भी 'मानस' का अध्येता यह बार-बार अनुभव करता है कि एकाध स्थलको छोड़कर मानसकारने अलंकारोंका सप्रयास प्रयोग नहीं किया है।

पं० रामचन्द्र शुक्लने गोस्वामीजीके अलंकारोंकी निम्नलिखित सामान्य विशेषताएँ बतलायी हैं—

(१) अलंकारोंकी अधिकता होनेपर भी गोस्वामीजीका कोई पद ऐसा नहीं है जिसका अर्थ बिना अलंकार जाने न खुले। बिहारीमें यह बात नहीं है।

(२) गोस्वामीजी श्लेष, यमक, मुद्राके खिलवाड़ोंमें नहीं पड़े हैं। उनके अलंकार स्वाभाविक हैं। अनुप्रासोंके तो वे राजा हैं, पर शब्द भरतीके नहीं रखे गये हैं। जैसे—

जग जाँचिए कोउ न, जाँचिए जौं, जिय जाँचिए जानकीजानहिं रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाय जो जारति जोर जहानहि रे॥

× × ×

खल परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा॥

(३) श्लेष, परिसंख्या जैसे कृत्रिमता लानेवाले अलंकारोंका गोस्वामीजीने कम प्रयोग किया है। शब्द श्लेषके कुछ उदाहरण—

(१) **साधु चरित सुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥**

× × ×

(२) **बहुरि सक्र सम बिनवौं तेही। संतत सुरानीक हित जेही॥**
(३) **रावन सिर सरोज बन चारी। चलि रघुबीर सिलीमुख धारी॥**

फिर भी यह कहना ही पड़ेगा कि तुलसीदासजीने परम्परानुगत उपमानोंका ही ग्रहण किया है, जायसीने जीवनके सुन्दर पक्षको उपमानके रूपमें चुना है। गोस्वामीजी बहुश्रुत एवं बहुविद् कवि थे, अतः परम्परा उनका संस्कार बन गयी थी। इसी कारण उनके अलंकारोंमें भी साहित्यिकता वर्तमान है। सूरके उपमान तुलसीकी अपेक्षा अधिक साहित्यिक एवं रूढ़ हैं।

भाव-रस-निरूपण

अयोध्याकाण्डका प्रमुख भाव है शोक और रसोंमें, इसीलिये करुणरस प्रधान है। रामको विवाहित देखकर प्रजा अपने आनन्दका भरपूर उपभोग भी नहीं कर पायी थी, तभी 'कुटिल' मन्थराके षड्यन्त्रसे रानी कैकेयी इस आमोद-प्रमोदपर पानी फेर देती है। अभी सुखकी कली खिल भी नहीं पायी थी, तभी तुषारपात हो गया। शोकके आश्रय बन जाते हैं राजा दशरथ, अयोध्याकी प्रजा और भरत; अवलम्बन राम, उद्दीपन कैकेयीकी वरदान-याचना; अनुभाव-स्वरूप लोगोंका रोना-पीटना, विलाप-प्रलाप करना, मुखका विवर्ण हो जाना, अधरोंका सूखना, शरीरका निश्चेष्ट हो जाना और संचारी भावोंमें पश्चात्ताप, चिन्ता, आत्म-ग्लानि, उद्वेग आदि आते हैं। भावोंके साधक कुशल कविकी भाँति तुलसीदास बिना शास्त्रकी चिन्ता किये इस प्रकार आवेशमें आगे बढ़ जाते हैं कि शास्त्रको उनके पीछे-पीछे दौड़ पड़नेके अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं रहता। दशरथके शोकका क्रमिक विकास कविने इस प्रकार दिखाया है—कैकेयीकी वर-याचनापर राजाकी परिस्थिति यों हो जाती है—

सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू। ससिकर छुअत बिकल जिमि कोकू॥
गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा॥
बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू॥

माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन॥
मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥
अवध उजारि कीन्हि कैकेई। दीन्हेसि अचल बिपति कै नेई॥

कवने अवसर का भयउ गयउँ नारि बिस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अबिद्या नास॥

किंतु इतनेपर भी कैकेयी कठोर शब्दोंका प्रयोग करती रहती है। राजाकी व्यथा बढ़ती ही जाती है। शोकमें अब तीक्ष्णता आ गयी है—

धरम धुरंधर धीर धरि नयन उघारे राय।
सिरु धुनि लीन्हि उसास असि मारेसि मोहि कुठाय॥

आगे दीखि जरत रिस भारी। मनहु रोष तरवारि उघारी॥
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई।
लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवनु लेइहि मोरा॥

राजा पुनः रानीको समझाना चाहते हैं और पूछते हैं कि वह इस परिहासको छोड़ क्यों नहीं देती? कैकेयीको विश्वास भी दिलाते हैं। ***'जीवनु मोर राम बिनु नाहीं।'*** अथवा ***'जीवन राम दरस आधीना।'*** किंतु कैकेयी फिर भी अपनी माँगपर स्थिर रहती है। वह भी स्पष्ट कहती है। ***'देहु कि लेहु अजसु करि नाहीं। मोहिं न बहुत प्रपंच सोहाहीं॥'*** राजाने अब जान लिया कि कैकेयी अपने पथसे डिग नहीं सकती। तब—

देखी ब्याधि असाधि नृपु परेउ धरनि धुनि माथ।
कहत परम आरत बचन राम राम रघुनाथ॥

राजा दशरथके शोकका कितना सुन्दर चित्रण निम्न पंक्तियोंमें हुआ है—

ब्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहु निपाता।
कंठु सूख मुख आव न बानी। तनु पाठीनु दीनु बिनु पानी॥
पुनि कह कटु कठोर कैकेई। मनहुँ धाय महुँ माहुर देई॥

इतनेपर भी कैकेयी चुभती वाणीका प्रयोग करती रहती है। फिर तो राजाकी जो दशा होती है उसे व्यक्त करनेके लिये तुलसीदासकी वाणी ही समर्थ है—

राम राम रट बिकल भुआलू। जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू॥
हृदय मनाव भोरु जनि होई। रामहिं जाइ कहइ जनि कोई॥
उदउ करहु जनि रबि रघुकुलगुर। अवध बिलोकि सूल होइहि उर॥
बिलपत नृपहि भएउ भिनुसारा। ....
पढ़हि भाट गुन गावहिं गायक। सुनत नृपहिं जनु लागहिं सायक॥
मंगल सकल सोहाहि न कैसे। सहगामिनिहि बिभूषन जैसे॥

दशरथके इंगितपर जब सुमन्त्र रामको बुलाते हैं तब उन्होंने राजाको जिस परिस्थितिमें देखा, कविने उसका बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण किया है—

जाइ दीख रघुबंसमनि नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि मनहुँ बृद्ध गजराजु॥

सूखहिं अधर जरइ सब अंगू। मनहुँ दीन मनिहीन भुअंगू॥

राजा दशरथके शोकका चरम परिणति तब होती है जब सुमन्त्र रामको वनतक पहुँचाकर लौट आते हैं और राजासे सारी कथा कह सुनाते हैं। सचिव सन्देश कहते-कहते चुप हो जाते हैं—

सूत बचन सुनतहि नरनाहू । परेउ धरनि उर दारुन दाहू॥
तलफत बिषम मोह मन मापा । माँजा मनहुँ मीन कहुँ ब्यापा॥

× × ×

प्रान कंठ गत भएउ भुआलू । मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू।
इंद्री सकल बिकल भइँ भारी । जनु सर सरसिज बन बिनु बारी॥

× × ×

धरि धीरजु उठि बैठ भुआलू । कहु सुमंत्र कहँ राम कृपालू॥
कहाँ लषनु कहँ राम सनेही । कहँ प्रिय पुत्र बधू बैदेही॥
बिलपत राउ बिकल बहु भाँती । भइ जुग सरिस सिराति न राती॥

बीचमें ***'तापस अंध साप सुधि'*** भी आ जाती है। फिर तो दशरथको अपना अन्त एकदम निकट आ गया प्रतीत होने लगता है। कथा भी बढ़ जाती है। कवि उनकी मृत्युका बड़ा ही करुणचित्र उपस्थित करता है।

राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरह राउ गएउ सुरधाम॥

तुलसीदासको दशरथके शोकका चित्रण करनेमें पूर्ण सफलता मिलती है। करुणरसकी निष्पत्ति जितनी 'रामचरितमानस' के इस काण्डमें हुई है उतनी अन्यत्र नहीं। कविने राम-वन-गमनके सम्बन्धमें रामसे सम्बन्धित प्रत्येक जातिके प्राणीके विषादका सूक्ष्म चित्रण किया है। कौशल्यादि माताएँ, पुरवासी, वनके मार्गमें पड़नेवाले ग्रामोंके नर-नारी, पशु-पक्षी, कोल-भील सभी रामके विरहमें निश्चेष्ट हो जाते हैं। उनका तन सूख जाता है, उनके चेहरेपर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, नेत्रोंसे अजस्र अश्रुधारा बहने लगती है, अंग शिथिल हो जाते हैं, श्वास तीव्र गतिसे चलने लगता है—सारा वातावरण क्षुब्ध हो उठता है। भरतको ननिहालसे लौटनेपर सारी अयोध्या ही 'श्रीहत' दिखलायी पड़ती थी। कविने इस विरहको इतनी अधिक यथार्थवादी वाणी दे रखी है कि यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि इस विरह-वर्णनके पीछे आध्यात्मिक विरहकी ओर भी कविने संकेत किया है। जो हो, तुलसीदासको 'करुण-रस' के चित्रणमें पर्याप्त सफलता मिली है।

अयोध्याकाण्डमें किसी और रसका परिपाक न हो सका। माँके प्रेमको लेकर वात्सल्य-रसके परिपाककी चर्चा की जा सकती है। बहुत अंशतक यह बात ठीक भी है। माताओंका रामपर अपूर्व स्नेह था। रामके सौशील्य, गाम्भीर्य आदिसे वे सभी उन्हें प्राणप्रिय मानती थीं। दशरथ तो उनके ही कारण इस नश्वर शरीरको भी छोड़ गये फिर भी इतना कहना ही पड़ता है कि इस वात्सल्यरसमें करुणा-ही-करुणा दिखलायी पड़ती है। रामके साथ रहनेसे माताओंको जो सुख मिलता, उसके चित्रणका कविको अवसर ही कम मिला है। राज्याभिषेकके पूर्व कौशल्या-रामके स्नेह-सम्बन्धका कविने जो चित्रण किया है, वह वस्तुत: वात्सल्यरससे लबालब भरा पड़ा है। कौशल्या ग्रामदेवियोंकी पूजा करती हैं और यह वरदान माँगती हैं—

जेहिं बिधि होइ राम कल्यानू । देहु दया करि सो बरदानू॥

फिर जब राम वनगमनकी आज्ञा कैकेयीसे पाकर माँसे मिलने जाते हैं तब भी कौशल्या बड़े प्यारसे कहती हैं—

तात जाऊँ बलि बेगि नहाहू । जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥
पितु समीप तब जायेहु भैआ । भइ बड़ि बार जाइ बलि मैआ॥

किंतु बड़ी ही मृदुल वाणीमें,सहज गम्भीरताके साथ, राम माताको सारी परिस्थितिसे अवगत करा देते हैं। यह जानकर कि माता-पिता दोनोंकी अनुमतिसे राम वन जा रहे हैं। माँ कौशल्या फिर तो सहर्ष प्रिय पुत्रको वन भेज देती हैं। प्रिय पुत्री (वधू) सीताको अवश्य ही वे वन नहीं जाने देना चाहतीं,

किंतु उसके आग्रहको भी वे टाल नहीं पाती। कविने कौशल्याको बड़ा ही उदार हृदय दिया है। उनके स्नेहभाजन केवल राम और सीता ही नहीं हैं। वे लक्ष्मणको रामके समान ही मानती हैं और भरतको रामसे भी अधिक चाहती हैं। भरतकी आत्मग्लानिने कौशल्याके उनके प्रति स्नेहको और भी अधिक तीव्र कर दिया है। वे इतना अधिक सात्त्विकस्नेह-संवलिता हैं कि चित्रकूटमें जनककी रानियोंसे यह भी प्रस्ताव करती हैं कि भरतको ही वन जाने दिया जाय। कौशल्याके इस प्रस्तावमें कपटकी छायातक नहीं है। भरतपर उनका विश्वास है और इस विश्वासकी भूमिका भरतने स्वयं तैयार कर दी थी।

चित्रकूटमें सभी माताएँ रामसे जिस प्रकार हहाकर मिलीं उसका वर्णन कविने बड़ी सहृदयतासे किया है। इस मिलनमें जहाँ उल्लास है, वहीं विषादकी गम्भीर धारा भी वर्तमान है। कहना तो यह चाहिये कि रामविरहके शोकमें सारे भाव डूब-से जाते हैं। सीता-रामका पारस्परिक स्नेह, ग्रामवधुओंद्वारा राम-लक्ष्मणका परिचय पूछे जानेपर सीताका सलज्ज होकर उत्तर देना, केवटद्वारा भरतके ससैन्य आगमनकी सूचना पाकर उत्तेजित (युद्धकी प्रेरक) वाणीका प्रयोग किया जाना, इसी प्रकार लक्ष्मणद्वारा भी सरोष वाणीका प्रयोग कराया जाना आदि सब कुछ इस शोकपूर्ण वातावरणमें जैसे खो-सा गया है। इसी स्थलपर भवभूतिकी वह उक्ति चरितार्थ-सी प्रतीत होती है—

एको रसः करुण एवं निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तात्।
आवर्त्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्नम्भो यथा सलिलमेतु हि तत्समस्तम्॥

अयोध्याकाण्डमें अनेक संचारी भावोंका भी चित्रण कविने किया है। उसमें असूया, चकपकाहट, चिन्ता, स्थित, दैन्य आदि प्रमुख हैं। इन सबका विस्तृत विवेचन मानस-पीयूष-जैसी प्रसिद्ध एवं प्रमुख टीकाओंमें देखा जा सकता है।

अयोध्याकाण्डका आध्यात्मिक वातावरण

'रामचरितमानस' का अध्ययन करते समय उसके आध्यात्मिक वातावरणको भुलाया नहीं जा सकता। अबतक हमने इसके—अयोध्याकाण्डके काव्यवैभवका ही विवेचन किया है, आगे इसके तात्त्विक पक्षके भी समझ लेनेका प्रयास किया गया है।

राम—रामचरितका मुख्य उद्देश्य मानव रामको ईश्वरत्व प्रदान करना है, किंतु अयोध्याकाण्डमें निश्चितरूपसे ईश्वरको नरचरित प्रदान किया गया है। इस सम्बन्धमें थोड़ा-बहुत विवेचन ऊपर हो चुका है। यहाँ तो इस नरचरितमें ही रामके महत्त्वकी झाँकीमात्र ली जायगी।

अयोध्याकाण्डके राम साधारण नरमात्र नहीं—दशरथके पुत्र तो वे हैं ही—वे साक्षात् ब्रह्म हैं। सबसे पहले वसिष्ठ ही इसका संकेत कर देते हैं। दशरथसे वे कहते हैं—

सुनु नृपु जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥
भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। राम पुनीत प्रेम अनुगामी॥

शृंगवेरपुरमें निषादराज गुहको रामके महत्त्वका परिचय कराते हुए लक्ष्मण उन्हें ब्रह्म, परमार्थस्वरूप, अविगत, अलख, अनादि, अनूप, विकारहीन, भेदरहित आदि बतलाते हैं—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥

लक्ष्मणके मतसे ऐसा ब्रह्म—***'भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर'*** की रक्षाके लिये ही संसारमें अवतरित होता है, और उसके चरितका श्रवण कर मनुष्य संसारके जालसे मुक्त हो जाता है—

भगत भूमि भुसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जगजाल॥

रामके अलौकिक स्वरूपसे निषाद कदाचित् पहलेसे भी परिचित था। नावपर बैठानेके पूर्व वह उनके

चरणोंको अवश्य पखारकर चरणामृत ले लेगा, नहीं तो पत्थरकी शिलाकी भाँति उसकी नाव भी किसी मुनिकी घरनी हो जायगी।

चरन-कमल-रज कहुँ सब कहई। मानुष-करनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउँ मुनि-घरनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई॥

भला, जिसके नाम-मात्रका स्मरण कर लोक संसार-सागरको पार कर जाता है, वह गंगाको पार करनेके लिये, केवटकी कृपाकी आकांक्षा रखे, यह केवटके प्रेमके कारण ही सम्भव था।

जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥
सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहि जगु किए तिहुँ पगहुँ ते थोरा॥

वास्तवमें रामने ही तो वामनके रूपमें तीन डगमें ही सभी पृथ्वीको नाप लिया है। वे ही राम देवसरिको पार कर रहे हैं, गंगा बढ़कर उनके चरण-नखका स्पर्श कर लेती हैं—

पद नख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभु बचन मोह मति करषी॥

केवट प्रभुके पदनखको पखारकर जल पी गया और साथ ही अपने पूर्वजोंको भी तार गया, देवता उसके भाग्यकी सराहना क्यों न करें?

पद पखारि जलपान करि आपु सहित परिवार। पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

ऋषि भरद्वाज भी ऐसे रामके दर्शन कर ब्रह्मानन्द-राशिको मानो लूट-से लेते हैं। जप, योग और विरागका भी फल तो रामका दर्शन ही है। भरद्वाज कहते हैं—

आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥
सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू॥
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरें दरस आस सब पूजी॥

इसीसे भरद्वाज उनसे ***'निज पद सरसिज सहज सनेहू'*** का वर माँग लेते हैं। वन-पथपर जिस-जिस मार्गसे राम चले जाते हैं, सचमुच वहाँके लोगोंने पूर्वजन्ममें कोई-न-कोई बड़ा पुण्यकर्म किया था—

जहँ जहँ रामचरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं॥
पुन्यपुंज मग निकट निवासी। तिन्हहिं सराहहिं सुर पुरबासी॥
जे भरि नयन बिलोकहिं रामहिं। सीता लषन सहित घनस्यामहिं॥
जे सरसरित राम अवगाहहिं। तिन्हहिं देव सर सरित सराहहिं॥
जेहि तरुतर प्रभु बैठहिं जाई। करहिं कलपतरु तासु बड़ाई॥
परसि राम पद पदुम परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा॥
छाँह करहिं घन बिबुधगन बरषहिं सुमन सिहाहिं।
देखत गिरि बन बिहग मृग रामु चले मगु जाहिं॥

पथपर आगे-आगे राम, बीचमें सीता और पीछे लक्ष्मण हैं। कवि कहता है मानो ब्रह्म-जीवके बीचमें माया सुशोभित हो—

आगे रामु लषन बनें पाछें। तापस बेष बिराजत काछें॥
उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥

इनका सौन्दर्य अपार है। कवि उसका वर्णन नहीं कर सकता। वाल्मीकि तो स्पष्ट ही रामको ***'श्रुति सेतु पालक'*** अगोचर, बुद्धिपर, अविगत, अकथ, अपार, नेति आदि शब्दोंसे सम्बोधित करते हैं—

राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर। अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥

राम वास्तविक द्रष्टा हैं, विधि-हरि-शम्भुको नचानेवाले हैं और उनके द्वारा भी बोधगम्य नहीं हैं। रामको जाननेका प्रयास करता हुआ प्राणी राममय ही हो जाता है। केवल भक्त उनके स्वरूपको समझ पाते हैं—

जगु पेषन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहिं को जाननिहारा॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

रामका शरीर चिदानन्दमय है, वे विकारहीन हैं, किंतु देवताओंके कार्यके लिये नर-शरीर धारण करते हैं तथा प्राकृत राजा-जैसा आचरण करते हैं। उनके इस चरितको देखकर जड़ तो मुग्ध हो जाते हैं किंतु विद्वान् सुखी होते हैं—

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥
नर तनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥
तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा। जस काछिअ तस चाहिअ नाचा॥

मुनिने पुनः उन चौदह स्थानों (रामकथाप्रेमी, रामदर्शनाभिलाषी, रामगुणगायक, सब कुछ रामको अर्पण करनेवाला, राममन्त्रजापक, मान-मोहविगत, रामको सब कुछ समझनेवाला, गुणग्राही, रामभक्त-प्रेमी, जाति-पाँति-धन-धर्मके गर्वका परिहर्ता, समानद्रष्टा, रामसे स्नेह करनेवाला) का निर्देश किया है, जहाँ राम नित्य निवास करते हैं। वस्तुतः राम वेदविदित और करुणा-अयन हैं, फिर भी वनमें वे किरातोंके वचनोंको स्नेहसे सुनते हैं—

बेद बचन मुनिमन अगम ते प्रभु करुना अयन। बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बयन॥

कवि कहता है कि रामको केवल प्रेम ही प्यारा है, सबको यह जान लेना चाहिये—

रामहि केवल प्रेमु पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

भरतको पूरा विश्वास है कि राम *'सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन… ॥'* हैं। वे शत्रुका भी बुरा कभी नहीं कर सकते। भरद्वाजने भी उन्हें प्रयागमें बतला दिया था कि राम केवल दशरथके प्रेमवश ही नर-शरीरमें अवतरित हुए हैं।

राम मायापति हैं, उनसे माया करनेका प्रयास करनेवाला इन्द्र देवगुरुद्वारा वर्जित किया जाता है। राम सर्वज्ञ हैं, भगवान् हैं, फिर भी लौकिक रीतिका पालन करते हैं। उनसे विमुख होकर मनुष्य *'थलु नरक न लहहीं।'* वसिष्ठ रामके इस महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्वकी चर्चा चित्रकूटमें पुनः करते हैं—

धरम धुरीन भानुकुल भानू। राजा राम स्वबस भगवानू॥
सत्य संध पालक श्रुति सेतू। राम जनम जगमंगल हेतू॥
गुर पितु मातु बचन अनुसारी। खल दलु दलन देव हितकारी॥
नीति प्रीति परमारथु स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥
बिधि हरि हरु रबि ससि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥
करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबहीके॥

भला, फिर शील-संकोच-सौन्दर्यके निधान रामको देखकर कुटिल जीव अपनी कुटिलता क्यों न छोड़ दें—

जिन्हहिं निरखि मग साँपिन बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी॥

फिर राम तो प्राणोंके प्राण, जीवोंके जीव और सुखके सुख हैं—

प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।

सीता

जानकी रामकी माया हैं। उनका दर्शनमात्र करनेवाले 'लोकप' हो जाते हैं। वे संसारका सृजन,पालन और संहार करती हैं। वाल्मीकिने कहा ही है—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।

जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥

यह सीता चित्रकूटमें अनेकरूप बनाकर सासोंकी सेवा करती हैं—

सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सास सेवकाई॥

लखा न मरमु राम बिनु काहू। माया सब सिअ माया माहू॥

लक्ष्मण—लक्ष्मणको कविने शेषनागका अवतार कहा है। वाल्मीकि कहते हैं—

जो सहस-सीसु अहीसु महिधरु लषनु सचराचर धनी।

सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी॥

तुलसीदासने इस काण्डमें जीव एवं जगत्‌के सम्बन्धमें कोई व्याख्या नहीं उपस्थित की है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि वे ब्रह्म जीव एवं मायाकी सत्ता मानते हैं। राम-लक्ष्मण-सीताकी समता वे ब्रह्म, जीव और मायासे करते हैं। संसार उनके मतसे माया-मोहात्मक एवं अविद्याजन्य है। इस संसारसे मुक्तिका उपाय कविने भी भक्तिको कहा है।

मोक्षका उपाय

लक्ष्मणने गुहको समझाते हुए कहा है कि जीवको तभी जागा हुआ समझना चाहिये, जब वह विषयोंसे विरक्त हो जाय। उसका भ्रम मिट जाय और रामके चरणोंमें उसका दृढ़ अनुराग हो जाय—

येहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥

होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥

सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन रामपद नेहू॥

सचमुच जबतक जीव मन, कर्म एवं वचनसे छल छोड़कर रामके चरणोंका अनुरागी नहीं बन जाता तबतक उसे सुख नहीं ही मिलता।

करम बचन मन छाड़ि छलु जब लगि जनु न तुम्हार।

तब लगि सुखु सपनेहुँ नहीं किएँ कोटि उपचार॥

वाल्मीकिने भक्तके चौदह लक्षण बतलाये हैं, क्रम यों है—

(१)कथाप्रेम— **जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥**

भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥

(२) रामदर्शनाभिलाषा—**लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥**

(३) राम-गुणगान—

जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु। मुकुताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हिय तासु॥

(४) सब कुछ रामको समर्पण करना—नासा तुम्हारा (रामका) ही बास पावे, भोजन तुम्हें निवेदित करके किया जाय, सुर-गुरु-द्विजके सामने सिर नम्र हो जाय, हृदयमें रामभरोस हो, चरण रामतीर्थ चले जायँ—

चरन रामतीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥

(५) राम-मन्त्रका जाप—

मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा॥

(६) काम, क्रोध, मद, मोहसे विगत होना—

काम कोहमद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥

जिन्ह के कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया॥

(७) रामके अतिरिक्त किसीका भरोसा न करना—

तुम्हहि छाड़ि गति दूसर नाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं॥

(८) रामको प्रेमका पात्र बना लेना—

जिन्हहिं राम तुम्ह प्रान पिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥

(९) सभी 'नाते' केवल रामसे ही मानना—

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्हके सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥

(१०) गुणग्राही होना—

अवगुन तजि सब के गुन कहहीं। बिप्र धेनु हित संकट सहहीं॥
नीति निपुन जिन्ह कै जग लीका। घर तुम्हार तिन्ह कर मन नीका॥

(११) राममें गुण और अपने दोष देखना—

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा।
राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥

(१२) राममें अनन्यरति—

जाति पाँति धनु धामु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहिं रहइ लउ लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई॥

(१३) समानद्रष्टा होना—

सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा॥

(१४) किसी वस्तुकी आकांक्षा न करना—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु। बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

वैसे तुलसीदास रामके साथ सभी सम्बन्धोंसे भक्ति करना चाहते हैं, फिर भी उन्हें दास्यभाव ही सबसे अधिक प्रिय है—भरत कहते ही हैं—

सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब ते सेवक धरम कठोरा॥

सेवककी स्थिति भरत-जैसी ही होनी चाहिये। भरत कहते हैं—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति रामपद येहु बरदान न आन॥

× × ×

जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जल पवि पाहन डारउ॥
चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़े प्रेमु सब भाँति भलाई॥

तभी भारद्वाज कहते हैं—

तुम्ह तो भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥

भक्तके साथ माया करनेवाला भी पतित होकर रहता है। भरतके प्रति माया करनेवाले इन्द्रराजको सुरगुरु समझाते हैं—

मायापति सेवक सन माया। करिअ त उलटि परइ सुरराया॥
जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥

भक्तिके बिना ज्ञान भी सूना है—

सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥

वसिष्ठ भी कहते हैं—

सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न रामपद पंकज भाऊ॥
जोगु कुजोगु ज्ञानु अज्ञानू। जहँ नहि राम प्रेम परधानू॥

इस प्रकार तात्त्विक दृष्टिसे भी अयोध्याकाण्डको रीता नहीं कहा जा सकता। लक्ष्मणगीता और वाल्मीकि-राम-वार्तालापके तुलसीके तत्त्व-सम्बन्धी विचार-धारापर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

परिशिष्ट

१ अयोध्याकाण्डमें प्रकृति-चित्रण

मित्रवर श्रीकृष्णचन्द्र वर्माने 'अयोध्याकाण्डकी भूमिका' नामक ग्रन्थमें तुलसीदासके प्रकृति-चित्रणपर भी प्रकाश डाला है। किंतु मुझे तुलसीदासका यह प्रिय विषय नहीं प्रतीत होता, इसीलिये मुख्य-मुख्य अंगोंका विवेचन उपस्थित करते समय, इसपर मैं प्रकाश न डाल सका। कृष्णचन्द्रजीने प्रकृति-चित्रणकी पाँच शैलियोंके यहाँ दर्शन किये हैं।

(१) प्रकृतिका यथार्थवादी चित्रण—रामद्वारा सीतासे वनकी भयंकरताका वर्णन किया जाना।

(२) प्रकृतिकी भव्यताकी गोस्वामीजीने उपेक्षा भी की है—प्रयागके वर्णनमें।

(३) आनन्दमयी प्रकृतिका चित्रण—खुलकर चित्रकूट वर्णनमें।

(४) मानवकी सहायिकाके रूपमें प्रकृति—बादलोंका रामपर छाया करना, भूमिका कोमल हो जाना, आदि।

(५) मनुष्यके सुख-दुःखसे अनुरंजित प्रकृति—राम-वियोगमें अवध।

मुझे ऐसा लगता है कि गोस्वामीजीने प्रकृतिको आध्यात्मिक दृष्टिसे विशेष रूपसे देखा है। प्रकृति रामकी अनुचरणी है। राम और उनके भक्तोंके अनुरूप ही वह अपना स्वरूप बदलती रहती है। रामके आगमनमात्रसे चित्रकूटमें 'छहों ऋतुओंका प्रकट हो जाना संस्कृत-काव्योंकी प्रकृति-वर्णन शैलीके अनुसरणपर नहीं है, कविकी रामकी अलौकिक शक्तिमें आस्थाके फलस्वरूप है। इस कारण प्रकृतिका अपना व्यक्तित्व, अपना सौन्दर्य और अपनी महत्ता कुछ नहीं रह जाती। फिर, इस प्रकृति-वर्णनमें संश्लिष्ट योजनापर ध्यान करा दिया गया है। वस्तुपरिगणन प्रणालीका अवलम्बन अधिक लिया गया है। तुलसीदासका ध्यान विशुद्ध रीतिसे अध्यात्मपर था। लौकिक रूप, सौन्दर्य, महिमासे उनका कोई अनुराग नहीं था। अत: मेरी दृष्टिसे तुलसीदासको लौकिक कविकी भाँति नहीं देखना चाहिये। वे स्वयं कह चुके हैं—*'कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥'*

अन्तमें मुझे इस मूल्यांकनके सम्बन्धमें दो शब्द कहने हैं। परम पूज्य महात्मा अंजनीनन्दनशरणजीके आदेशसे उनके 'मानस-पीयूष' के अयोध्याकाण्डकी भूमिकाके रूपमें मैं इसे प्रस्तुत कर रहा हूँ। भूमिका शीघ्रतामें लिखी गयी है और विषयके साथ पूर्ण न्याय मैं नहीं कर सका हूँ। अनेक विषयोंपर(विशेषकर तुलसीदासकी कला) मुझे इच्छा रहते हुए भी सांकेतिक भाषा एवं सूत्र-शैलीका सहारा लेना पड़ा है। यदि कभी अवसर मिला तो इस भूमिकाका संशोधित एवं परिवर्धित रूपमय स्वतन्त्ररूपसे प्रकाशित करते समय इसे सर्वांगीण बनानेकी भरसक चेष्टा करूँगा।

महात्मा अंजनीनन्दनशरणकी मुझपर अनन्य कृपा है। मैं उनका आभार किन शब्दोंमें स्वीकार करूँ? मित्रवर कृष्णचन्द्र वर्माके ग्रन्थ 'अयोध्याकाण्डकी भूमिका' ने मुझे पर्याप्त मार्ग दिखलाया है। इसके अतिरिक्त मैं उन सभी सन्तों, कवियों एवं लेखकोंका अनुगृहीत हूँ जिनसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीतिसे मुझे इस भूमिकाके लिखनेमें सहायता मिली है। परमश्रद्धेय गुरुवर डॉ० धीरेन्द्रजी वर्मा एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस) से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीतिसे मुझे लिखनेकी सदैव प्रेरणा मिलती रहती है। मैं उनके चरणोंमें श्रद्धा-विनत हूँ। मेरी तो सदा यही कामना है—

'अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहहुँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद येहु बरदान न आन॥'

भदेवली (बनारस)
मंगलवार, १९ मई, ५३ ई०

बदरीनारायण श्रीवास्तव

॥ श्रीहरिः ॥

अयोध्याकाण्डमें आये हुए प्रकरणोंकी सूची

॥ श्रीहरिः ॥

अयोध्याकाण्डके कुछ शब्दों और विषयों आदिकी तालिका

विषय	दोहा-चौपाई आदि

विषय	दोहा-चौपाई आदि

विषय	दोहा-चौपाई आदि

विषय	दोहा-चौपाई आदि

॥ श्रीहरि: ॥

आवश्यक निवेदन

'मानस-पीयूष' तिलकमें रुपयेमें लगभग बारह आना सामग्री अप्रकाशित टिप्पणियाँ हैं। साकेतवासी पं० रामकुमारजी, प्रो० श्रीरामदास गौड़जी, प्रो० श्रीलाला भगवानदीन ('दीन' जी), पं० रामचरण मिश्र (भयस्मरी; हमीरपुर), श्री पं० रामवल्लभाशरणजी, मानसी श्रीवन्दनपाठकजी आदिके नामसे जो भाव इसमें दिये गये हैं वे प्राय: सब अप्रकाशित टिप्पण हैं। श्रीरामशंकरशरणजी, श्री पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी, श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी, श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजी, वे० भू० पं० रामकुमारदासजी (श्रीअयोध्याजी) ने जो भाव मानस-पीयूषमें छपनेके लिये लिख भेजे थे, वे भी उनके नामसे इसमें छपे हैं। इसके अतिरिक्त जो उनकी टिप्पणियाँ पत्रिकाओंसे ली गयी हैं, उनमें प्राय: पत्रिकाओंका नाम दे दिया गया है। प्राचीन प्राप्य और अप्राप्य टीकाओंके भाव हमने अपने शब्दोंमें लिखा है।

'मानस-पीयूष' में जो कुछ भी आया है उसका सर्वाधिकार 'मानस-पीयूष' को प्राप्त है। जिनकी वे टिप्पणियाँ हैं उनके अतिरिक्त किसीको भी इसमेंसे कुछ भी लेनेका अधिकार नहीं है।— यह लिखनेकी आवश्यकता इसलिये पड़ी कि पुस्तक-भण्डार (लहेरियासराय व पटना)-के व्यवस्थापक रायबहादुर रामलोचनशरणने पं० श्रीकान्तशरणसे (विशिष्टाद्वैत) 'सिद्धान्त-तिलक' लिखवाकर प्रकाशित किया था, वह 'मानस-पीयूष' के प्रथम संस्करणके ही आधारपर था। पटना उच्च न्यायालयके एक निर्णयसे उसका छपाना तथा विक्रय करना दण्डनीय निश्चित किया गया है। लेखकों एवं विद्वानोंको इस कारण इस सम्बन्धमें सतर्क होनेकी आवश्यकता है।

यह संस्करण पूरा छपकर समाप्त भी नहीं होने पाया कि हमें बालकाण्डके तृतीय संस्करणकी आवश्यकता पड़ गयी। इसका कारण हरि-इच्छा ही कहना चाहिये। लगभग ३५० पुस्तकें नष्ट हो गयीं।

स्थायी ग्राहकोंको मैं बारम्बार धन्यवाद देता हूँ। श्रीरामकृपासे उन्हींकी तथा कुछ अन्य सज्जनोंकी सहायतासे यह संस्करण जनताकी सेवामें पहुँच सका है।

—अंजनीनंदनशरण

केवटके भाग्य
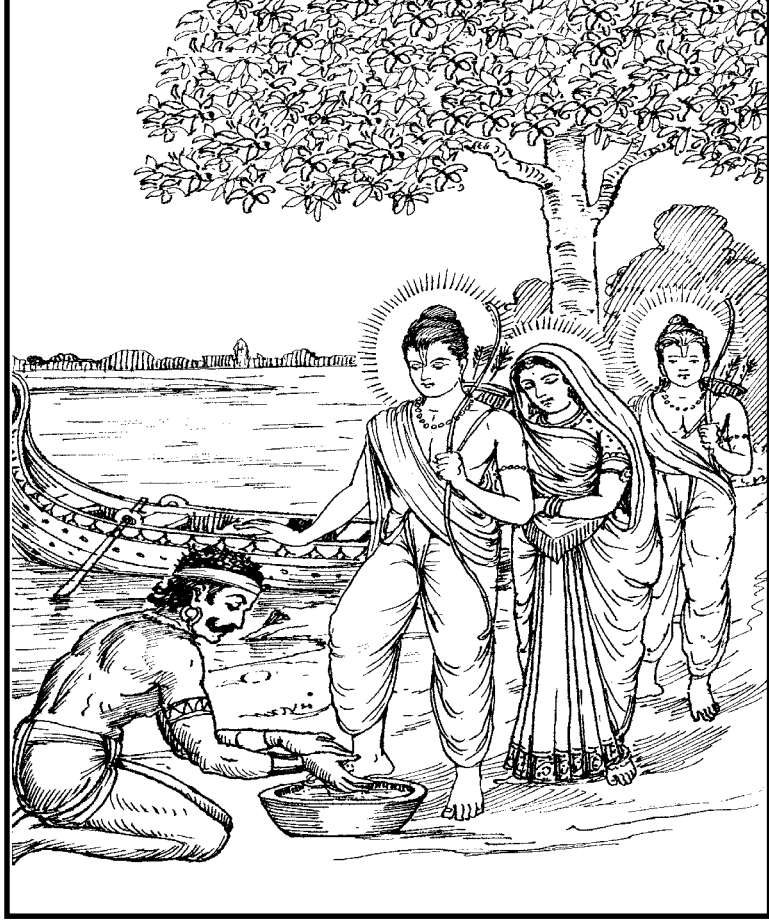
अति आनंद उमगि अनुरागा। चरन सरोज पखारन लागा॥

॥ श्रीः॥

ॐ नमो भगवते श्रीमते रामानन्दाचार्याय।

श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्राय नमः।

ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्यायै श्रीरूपकलादेव्यै।

श्रीसन्तगुरुभगवच्चरणकमलेभ्यो नमः।

ॐ नमो भगवते मंगलमूर्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय शरणागतवत्सलाय श्रीसीतारामपदप्रेमपराभक्तिप्रदाय सर्वसंकटनिवारणाय श्रीहनुमते।

ॐ साम्बशिवाय नमः। श्रीगणेशाय नमः। श्रीसरस्वत्यै नमः।

परमाचार्याय श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः।

श्रीरामचरितमानसाखिलटीकाकर्तृभ्यो नमः।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावसूचकमहात्मभ्यो नमः।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावाधारग्रन्थकर्तृभ्यो नमः।

सुप्रसिद्धमानसपण्डितवर्यश्रीसाकेतवासिश्रीरामकुमारचरणकमलेभ्यो नमः।

श्रीरामाय नमः, श्रीभरताय नमः, श्रीलक्ष्मणाय नमः, श्रीशत्रुघ्नाय नमः।

भरतं श्यामलं शान्तं रामसेवापरायणम्।
धनुर्बाणधरं वीरं कैकेयीतनयं भजे॥

मानस-पीयूष

श्रीगणेशाय नमः

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

श्रीरामचरितमानस

द्वितीय सोपान

[अयोध्याकाण्ड[१]—राज्याभिषेक-प्रकरण]

श्लोक

यस्याङ्के[२] च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट्।

---

१. श्रीमद्गोस्वामीजीके मूल ग्रन्थमें काण्ड और उनके नाम बाल, अयोध्या आदि नहीं हैं। उन्होंने सप्तकाण्डोंको सप्त सोपान कहा है—'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना', 'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना'। और, इसीके अनुसार उन्होंने 'प्रथम सोपान' 'द्वितीय सोपान' आदि नाम लिखे हैं। जहाँ अन्य रामायणोंमें 'बालकाण्ड', 'अयोध्याकाण्ड' आदि नाम शीर्षकमें दिये गये हैं। रामचरितमानसके बहुत-से प्रकाशकोंने इस काण्डका नाम अयोध्या वा अवधकाण्ड लिखा है और रामचरितमानसकी जगह तुलसीकृत रामायण नाम दिया है।

२. (क) राजापुरकी पोथी और काशिराजकी रामायणपरिचर्यामें 'यस्याङ्के' पाठ है। यही सबसे प्राचीन पाठ माना जाता है। पं० रामगुलाम द्विवेदीजीकी संवत् १९४५ की छपी हुई प्रति, भागवतदासजी और काशी नागरी-प्रचारिणीसभाकी प्रतिमें 'वामाङ्के' पाठ लिया गया है। सम्भव है कि पुनरुक्तिके विचारसे 'यस्याङ्के' से 'वामाङ्के' पाठको उत्तम मानकर यह पाठ रखा गया हो, पर इसमें पुनरुक्तिका दोष नहीं है।

(ख) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि दूसरे चरणमें 'यस्य' फिर आया है। दो बार एक ही शब्दका कोई प्रयोजन

सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा
शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशंकरः पातु माम्॥ १॥

शब्दार्थ—**यस्य**=जिसके। **वाम**=बाएँ, बाईं। **अङ्क**=गोद, अँकवार, अंग, देहका भाग। **च**=और। **विभाति**=भलीभाँति शोभित वा दीप्तिमान् है, सुशोभित है, विराजमान है। **भूधर**=पृथ्वीको धारण करनेवाला, पर्वत। **भूधरसुता**=हिमाचलपर्वतकी कन्या, पार्वती। **देवापगा**=देव+आपगा=देवनदी, सुरसरि, गंगाजी। **बालविधुः**=अमावस्याके पीछेका नया चन्द्रमा, शुक्लपक्षकी द्वितीयाका चन्द्रमा। **गरल**=विष। **यस्योरसि**=(**यस्य+उरसि**) जिसके वक्षःस्थल वा छातीपर। **व्यालराट्**=व्याल+राट्=सर्पराज, शेषजी। **सोऽयम्**=(**सोऽयम्, सः+अयम्**) वही ये, ऐसे वे। **भूति**=विभूति, भस्म-राख। **भूतिविभूषणः**=भस्म ही जिनका आभूषण (गहना) है, भस्मसे विभूषित अर्थात् जिनके शरीरपर श्मशानकी भस्म लगी हुई शोभा पा और दे रही है। **सर्वाधिपः**=सबके राजा वा स्वामी अर्थात् पालनकर्ता। **सर्वदा**=सदैव, सर्वकालमें। **सर्वदा सर्वाधिपः**=तीनों कालोंमें, चराचरके अधिरक्षक। **शर्वः इति**—शब्दकल्पद्रुममें इसका अर्थ यों लिखा है—'**शर्वः—पुं० (शृणाति सर्वाः प्रजाः संहरति प्रलये संहारयति वा भक्तानां पापानि। 'शॄ कॄ + गॄ शॄ दॄ भ्यो वः' उणादिकोशे १। १५५ इति वः)**।' अर्थात् जो प्रलयमें सब प्रजाओंका संहार करता है अथवा भक्तोंके पापोंका संहार करता है। इसका प्रयोग दन्त 'स' से भी होता है। विष्णुसहस्रनाममें '**शर्वः सर्वः**' दोनों आये हैं और शब्दकल्पद्रुमकार इसका प्रयोग दन्त्य 'स' से भी मानते हैं। पुनः, **सर्वः**=सब चराचरमात्र आपका ही रूप है।—(बैजनाथजी)=सब कुछ आप ही हैं। (पं० रा० कु०) **सर्वगतः**=सर्वव्यापक, सबके अन्तर्यामी, सब कुछ जिसके अन्दर समाया हुआ है। **शिवः**=कल्याण-स्वरूप। **शशिनिभः**=(शशि+निभः=कान्ति, प्रकाश, चमक-दमक, प्रभा, आभा)=चन्द्रमाके सदृश गौरवर्ण; चन्द्रमें तेजःस्वरूप, यथा—'**यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ**

नहीं है। पार्वतीजी वामांगमें विराजती हैं ही, यथा—'बामभाग आसन हर दीन्हा' अतः 'वामाङ्के' पाठ उत्तम है।

(ग) विनायकी टीकाकारने 'वामाङ्के' पाठ लिया है और लिखते हैं कि—'वामाङ्के' पाठान्तर 'वामाङ्गे' का अर्थ बाएँ अंगमें ऐसा होता है सो भी समीचीन है, कारण शिवजीने पार्वतीजीको अपना आधा अंग ही बना लिया है, अतएव उनको 'अर्धनारीश्वर' कहते हैं, अर्थात् शिवजीका वह स्वरूप जिसमें आधा (दाहिना) अंग शिवजीका और आधा (वाम) अंग पार्वतीजीका है। इस आशयको बालकाण्डमें तुलसीदासजी यों लिख आये हैं—'हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तियभूषन ती को॥' अर्थात् महादेवजी पार्वतीजीके हृदयका आशय समझ ऐसे प्रसन्न हुए कि वे पतिव्रताओंमें शिरोमणि पार्वतीजीको अपने शरीरमें धारणकर 'अर्धनारीश्वर' बन बैठे। रसमंजरीमें और भी कहा है [यह नायिका-भेदका अनूठा ग्रन्थ है। इसके रचयिताने मंगलाचरणहीमें अनुकूल नायक श्रीशंकर गिरिजारमणका ऐसे माधुर्यभावमें वर्णन किया है जिसका आस्वादनकर रसिक-शिरोमणि कवीन्द्रगण अति चकित होंगे—महात्मा गोस्वामीजीने इसी विचित्र चित्रको रामायण भित्तिपर उतारकर सारे संसारको अपनी चित्रकारीका नगीना नमूना दर्शन कराया है—(रणबहादुरसिंह)]

'आत्मीयं चरणं दधाति पुरतो निम्नोन्नतायां भुवि
स्वीयेनैव करेण कर्षति तरोः पुष्पं श्रमाशंकया।
तल्पे किञ्च मृगत्वचा विरचिते निद्राति भागैर्निजै-
रित्थं प्रेमभरालसां प्रियतमामङ्गे दधानो हरः॥ (रत्नावली नाटक)

अर्थात् भूमिके ऊँच-नीच होनेके भयसे अर्धनारीनटेश्वर श्रीशिवजी अपने पुरुष-स्वरूपका पाँव (दाहिना) पहले आगे रखते हैं तथा पार्वतीरूपी अपने बाएँ अंगको श्रम न हो इस हेतु अपने ही हाथसे (दाहिने हाथसे) वृक्षके फूल तोड़ते हैं और मृगछालाके विस्तरपर अपने ही अंगके बल (दाहिने करवट) सोते हैं, इस भाँति परिपूर्ण प्रेमसे शिथिल अपनी प्राणप्यारी पार्वतीको पुरारिने अपने अंगहीमें धारण कर लिया।

तत्तेजो विद्धि मामकम्॥' (गीता १५। १२)। निभ विशेषणका अर्थ तुल्य, समान, सदृश होता है और संज्ञाका अर्थ वह है जो प्रथम ही दिया गया। **पातु माम्**=मेरी रक्षा कीजिये।

अन्वय—**यस्याङ्के भूधरसुता विभाति, यस्य मस्तके देवापगा (शोभते), यस्य भाले बालविधुः (राजते), यस्य गले गरलं च, यस्योरसि व्यालराट् च, सः, अयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वदा सर्वाधिपः शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्करः सर्वदा मां पातु।**

अर्थ—जिनके (बाएँ) अंग वा गोदमें हिमाचलनन्दिनी श्रीपार्वतीजी, मस्तकपर गंगाजी, ललाटपर द्वितीयाका चन्द्रमा, कण्ठमें हालाहल विष और वक्षःस्थलपर सर्पराज सुशोभित हैं, ऐसे वे भस्मसे विभूषित देवताओंमें श्रेष्ठ सबके सर्वकालमें स्वामी, सबके संहारकर्ता और भक्तोंके पापोंके हर्ता, सर्वगत, कल्याणस्वरूप, चन्द्रमाके सदृश कान्तिवाले श्रीशंकरजी सदा मेरी रक्षा करें॥ १॥

नोट—१-मानसके आचार्य जान ग्रन्थकारने यहाँ ग्रन्थकी 'निर्विघ्न-परिसमाप्तिहेतु स्वविषयक आशीर्वादात्मक मंगलाचरण किया है।'— (रा० प्र०) किसी महानुभावने लिखा है कि अयोध्या और अरण्यकाण्डोंके भी प्रारम्भ करनेवाले पहले ही श्लोक शिवजीकी वन्दनामें कहे गये हैं। इस विशेषतामें यह स्पष्ट व्यंजना दिखायी पड़ती है कि शिवजीको गुरु माननेके कारण ही कदाचित् आप-से-आप उनकी वन्दना इन काण्डोंमें श्रीरामजीकी वन्दनासे भी पूर्व हो गयी हो। भारतीय भक्तोंने अपने सामने सदा यही सिद्धान्त रखा है—***'भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।'*** इसी सिद्धान्तके अनुसार एक स्तोत्रमें वे शिवजीको न केवल ***'निर्गुणं निर्विकारं'*** कहते है, वरं '**विष्णुविधिवन्द्यचरणारविन्दम्**' भी कहते हैं। दूसरेमें उनको 'रामरूपीरुद्र' कहा है और एक अन्य स्तोत्रमें हरि और शिवकी एकत्र स्तुति की है और उसका नाम 'हरि-संकरी-मन्त्रावली' रखा है।

जिन विशेषणोंसे श्रीशंकरजीकी वन्दना की गयी है वे सब सहेतुक हैं—नोट २ देखिये। इन विशेषणोंको देकर कवि श्रीशिवजीका विघ्ननिवारणमें सामर्थ्यवान् होना दर्शित करते हैं। कैसे समर्थ हैं कि अनेक सम-विषम, सुख-दुःखकारी, भले-बुरे, परस्पर-विरोधी इत्यादि पदार्थोंको अंगमें सदैव धारण करते हुए भी आप सदैव सावधान हैं, किसीका वेग आपमें व्याप्त नहीं होने पाता।

इस काण्डमें बहुत-सी सम-विषम बातें और सुख-दुःखके प्रसंग ठौर-ठौरपर आवेंगे जो चित्तको एकदम दहला देनेवाले हैं—जैसे राज्याभिषेककी तैयारी और हुआ वनवास, केकयीकी कठोरता और वरदान इत्यादि। उनके वेगके वशीभूत हो जानेसे कथाकी निर्विघ्न-समाप्ति असम्भव-सी जान पड़ती है। अतः इन विघ्नोंसे अपने चित्तकी रक्षा करानेके लिये, विघ्नोंके उपस्थित रहते हुए भी उनके वशमें न होनेवाले और सदा सबका कल्याण करनेवाले श्रीशिवजीकी वन्दना इन विशेषणोंसे की है।

टिप्पणी—१ (पं० रा० कु०)—१ '**यस्याङ्के**......' इति। (क) सदा स्थिर सूचित करनेके लिये ***'भूधरसुता'*** नाम दिया। शुद्धता दिखानेके लिये ***'देवापगा'*** (देवताओंकी नदी अतएव दिव्य) कहा! इस प्रकार यहाँ गोस्वामीजीने दोनों शक्तियोंसहित श्रीशिवजीका मंगलाचरण किया। (गंगाजी भी शिवजीकी शक्ति हैं, यथा—***'देहि रघुबीरपद प्रीतिनिर्भर मातु, दास तुलसी त्रासहरनि भवभामिनी।'*** (वि० १८) कोई-कोई महानुभाव यहाँ '**यस्याङ्के**' और '**श्री-शङ्कर**' शब्दोंसे श्रीशिव और श्रीपार्वतीजी इन दोकी वन्दना मानते हैं।) (ख) '**भाले बालविधुः**' चन्द्रमा द्विजराज है अथवा अमृतस्रावी है, इससे उसे मस्तकका तिलक बनाया। (इससे दीन, हीन, क्षीणजनोंको आश्रय देनेवाला जनाया। स्कन्दपु०, माहेश्वर केदारखण्डमें लिखा है कि राहुका सिर कटनेपर वह चन्द्रमाको निगलनेको दौड़ा तब चन्द्रमा भागकर शंकरजीकी शरणमें गया। उन्होंने यह कहते हुए कि 'डरो मत' उसे जटाजूटमें रख लिया। तबसे चन्द्रमा उनके मस्तकपर शोभित है।) (ग) '**गले च गरलम्**'—विषको कण्ठमें रखा; क्योंकि उदरमें जाय तो ताप उत्पन्न करे, उसे ऊपर (बाहर) धारण करें तो सबकी मृत्यु करे, अतएव इस अवगुणीको कण्ठमें छिपा रखा है। (इससे जनाया कि बड़े परोपकारी हैं, सदा प्रजा और प्रजापतियोंके हितमें तत्पर रहते हैं,

उनका दुःख टालनेके लिये स्वयं दुःख झेला करते हैं। पुनः हृदयमें इससे न रखा कि उसमें श्रीसीतारामजी विराजमान हैं, यथा—'**हर हृदि मानस बालमरालं।**' (३।११।८) वहाँ रखनेसे अपने इष्टदेवको कष्ट पहुँचेगा। कण्ठमें रखनेसे सब बातें बन गयीं।) (घ) '**भूतिविभूषणः**' कहकर पतितपावन जनाया; क्योंकि ***'भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी'*** है।

टिप्पणी २—(क) इस श्लोकमें शिवजीके सगुण और निर्गुण दोनों स्वरूपोंका वर्णन है। '**यस्याङ्के**······ **भूतिविभूषणः सुरवरः**' सगुणरूप है। '**सर्वाधिपः सर्वदा शर्वः सर्वगतः**······' निर्गुणरूप है। पुनः, (ख) आधे श्लोकमें शिवजीके आश्रितोंकी शोभा कही और आधेमें श्रीशिवजीकी। [यह गुप्त भाव साधारणतया देख नहीं पड़ता। पर है ऐसा ही, आधेमें '**भूधरसुता विभाति**', '**देवापगा विभाति**', '**भाले बालविधुर्विभाति**', '**गले गरलं विभाति**', '**उरसि व्यालराड् विभाति**' है। श्रीपार्वतीजी, गंगाजी, बालविधु, गरल और व्यालराट् सब आपके आश्रित हैं। इस तरह अर्धश्लोकमें इनका ही वर्णन है। शेष अर्धमें केवल शिवजीकी शोभा है] ऐसा करके सूचित करते हैं कि इस काण्डमें आधेमें श्रीरामचरित है और आधेमें भक्तशिरोमणि श्रीभरतजीका चरित कहा गया है। दोहा १५६ तक श्रीरामचरित है और दोहा १७० के आगे दोहा ३२६ तक १५६ दोहोंमें श्रीभरतचरित है। बीचके १४ दोहे १५६ के आगे १७० तक भरतागमन और पितृक्रियासे सम्बन्ध रखते हैं। [ये १४ दोहे श्लोकके '**सः शङ्करोऽयं सर्वदा मां पातु**' में आ गये। (बाबा रामदास)]

नोट २—विशेषणोंके और भाव—(क) बैजनाथजी—'पर्वत जड़ है, उसकी पुत्री बाएँ अंगमें और देवता चेतन हैं उनकी नदी शीशपर शोभित है। यह सम-विषम है, इनको स्वाभाविक लिये हैं। वा दो स्त्रियोंका संग महा उत्पातका कारण है सो दोनोंको धारण किये हुए भी सावधान हैं। चन्द्रकी शीतलता और गरलकी उष्णता नहीं व्यापती। भस्मसे त्याग, सुरवरसे ऐश्वर्य और सर्वाधिपसे पालक, तीनों होते हुए सावधान हैं। '**सर्वगतः**' से अगुणत्व और '**शशिनिभः**' से सगुणत्व इत्यादि सम-विषमसहित हैं।'

(ख) पंजाबीजी—पृथ्वी परोपकारिणी और क्षमारूपा है, वैसे ही पर्वत भी यथा—***'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥'*** ये पर्वतराजकी कन्या हैं, अतः अवश्य परोपकारिणी होंगी, इन्हींके द्वारा रामचरित प्रकट हुआ। गंगाजी भगवान्‌के नखसे निकलीं, अतः शीशपर धारण किया—ऐसे उपासक। अल्पकलावाले चन्द्रको प्रतिष्ठा देनेके विचारसे माथेपर स्थान दिया—ऐसे दीनदयाल अथवा इस विचारसे कि अग्निनेत्रके तेजसे उपासकोंको कष्ट न पहुँचे, वहीं चन्द्रमाको स्थान दिया। कण्ठमें विष धरकर संसारभरका उपकार किया। हृदयपर सर्पराजको धारणकर भजन-निष्ठता दिखायी कि सर्पराजको निरन्तर हरियश-गानमें तत्पर जान सदा हृदयसे लगाये रहते हैं। पुनः, विष और सर्पसे सामर्थ्य जनाया। '**श्रीशङ्करः**' अर्थात् श्री और शं (कल्याण)-के करनेवाले हैं।

(ग) विनायकी टीका—महात्माओंके समीप भले और बुरे दोनोंका निर्वाह हो जाता है। जैसे श्रीशिवजीके समीप पार्वतीजी और गंगाजी (दो सौतों), चन्द्रमा और सर्प किंवा विष, भस्म और ऐश्वर्य, संहार और कल्याण इत्यादि सदा बने रहते हैं। (इसी भावका एक दोहा दीनजीका है—***'धनुष बान धारे लखत दीनहिं होत उछाह। टेढ़े सूधे सबन्ह को है हरि हाथ निबाह॥'***)

(घ) शिवजीके इन सब विशेषणोंके भाव बालकाण्डमें कई बार आ चुके हैं, इससे यहाँ नहीं लिखे जाते।

नोट—३- यह श्लोक 'शार्दूलविक्रीडित वृत्त' का है। इस छन्दमें मंगल करके जनाते हैं कि समस्त विघ्नोंके उद्वेगसे रक्षा करनेमें आपका पराक्रम शार्दूल-(सिंह वा एक पक्षी जो हाथीतकको पंजेसे दबा लेता है)-के समान है। आप मेरी रक्षा करें। पुनः श्रीरामजीका मंगलाचरण बालकाण्डमें और यहाँ श्रीशिवजीका मंगलाचरण शार्दूलविक्रीडित छन्दमें करके यह भी जनाया है कि आप दोनों ही समस्त विघ्नोंसे मेरी रक्षा करनेको एक समान समर्थ हैं। इस छन्दके लक्षण बा० मं० श्लोक ६ में देखिये।

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले* वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदाऽस्तु सा मञ्जुलमंगलप्रदा॥ २॥

शब्दार्थ—**प्रसन्नताम्**=प्रसन्नताको। **या**=जो। **गताभिषेकतस्तथा**=(**गता अभिषेकतः तथा**) प्राप्त हुई अभिषेकसे और। **अभिषेक**=विधिपूर्वक मन्त्र पढ़कर कुश और दूबसे जल छिड़ककर अधिकार प्रदान, राज्यपदपर निर्वाचन, राजतिलक। **श्री**=शोभा, दीप्ति, कान्ति। **मे**=मुझको। **सदाऽस्तु**=**सदा**+**अस्तु**=सदा होवे। **सा**=वह। **प्रदा**=देनेवाली। **मञ्जुल**=सुन्दर, अर्थात् सांसारिक नहीं, किन्तु जो भगवत्-सम्बन्धी परमार्थकी ओर ले जानेवाली है।

अन्वय—**या अभिषेकतः प्रसन्नतां न गता तथा वनवासदुःखतो न मम्ले, सा रघुनन्दनस्य मुखाम्बुजश्री मे सदा मञ्जुलमंगलप्रदा अस्तु।**

अर्थ—रघुकुलको आनन्द देनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके मुखारविन्दकी जो 'श्री' राज्याभिषेक-(की खबर-) से न तो प्रसन्नताको प्राप्त हुई और न वनवासके दुःखसे मलिन ही हुई, वही (मुखकमलकी कान्ति) मुझको सदा सुन्दर मंगलोंको देनेवाली हो।

नोट—१- मानसके आचार्यकी वन्दना करके ग्रन्थके प्रतिपाद्य श्रीरघुनाथजीका मंगलाचरण करते हैं। यह मंगलाचरण वस्तु-निर्देशात्मक है। यह श्लोक 'वंशस्थवृत्त' का है। इसके चारों चरणोंमें १२-१२ अक्षर होते हैं। इसके प्रत्येक चरणमें वर्णोंका क्रम यों रहता है—जगण (।ऽ।), तगण (ऽऽ।), जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ) यथा—'**यस्यां त्रिषट् सप्तममक्षरं स्याद्ध्रस्वं सुजङ्घे नवमं च तद्वत्। गत्या विलज्जीकृतहंसकान्ते तामिन्द्रवज्रां ब्रुवते कवीन्द्राः। उपेन्द्रवज्रा चरणेषु सन्ति चेदुपान्त्यवर्णा लघवः कृता यदा। मदोल्लसद्भ्रूजितकामकार्मुके वदन्ति वंशस्थमिदं बुधास्तदा॥**' (श्रुत-बोध) अर्थात् जिसमें तीसरा, छठा और सातवाँ तथा नवाँ अक्षर ह्रस्व हो उसे इन्द्रवज्रा छन्द कहते हैं। यदि इस छन्दके चारों चरणोंमें ग्यारहवें और प्रथम चरणका पहला अक्षर लघु हो तो यही छन्द वंशस्थवृत्त कहा जायगा। अगला मंगलाचरण 'नीलाम्बुज—' इन्द्रवज्रावृत्तका है।

---

* 'मम्ले' पाठ राजापुरकी पोथीमें है और भागवतदासजी, द्विवेदीजी आदिने इसीको प्राचीन माना है। काशिराजकी रामायण-परिचर्यामें 'मम्लौ' पाठ है। 'म्लै' धातुका प्रयोग प्रायः परस्मैपदमें ही होता है। इसीसे 'मम्ले' की ठौर 'मम्लौ' पाठ किया गया है। परंतु यह वस्तुतः वाल्मीकिजीकी (तुलसीदासजीके रूपमें) रचना है और आर्षप्रयोग है। यह कोई बात नहीं कि कोई ऋषि एक परस्मैपदका प्रयोग आत्मनेपदीके रूपमें न कर सके। इस बातको सभी मान रहे हैं कि इस समय गोस्वामीजीकी रामायण वेदवाक्यके सदृश प्रमाण मानी जाती है। बिलायतमें भी देखिये शैक्सपियरके पठन-पाठनके लिये एक पृथक् व्याकरण ही बनायी गयी। फिर ऐसे बड़े ऋषिको हम व्याकरणके भीतर कैद करें तो हमारी भूल नहीं तो क्या है? मानसहंसकार इस (व्याकरणसे बहुत ही विभक्त होनेके दोष)-का समाधान यह करते हैं कि 'उस विभक्तताकी त्रुटि ईश-भक्तिसे प्रपूरित हो जानेके कारण 'एको हि दोषः' इस कालिदासकी उक्तिके अनुसार वह दोष, दोष ही नहीं समझा जा सकता'। पुनः वे लिखते हैं कि—'जान-बूझकर गोसाईंजीने यह दोष क्यों रहने दिया होगा, इसका ठीक-ठीक कारण बतलाना कठिन है। हमारा अनुमान है कि बिलकुल नीचेके दर्जेके समाजमें भी लोकशिक्षा त्वरित और सुगम होनेके उद्देश्यसे प्रेरित होकर गोसाईंजीने जान-बूझकर इस दोषकी ओर बिलकुल ही आँख मीच ली'।

बाबू शिवनन्दनसिंहजी त्रुटियोंके बारेमें लिखते हैं—'लेखकोंकी भूलका संदेह हो सकता है········दूसरे ऐसी-ऐसी तुच्छ बातें ध्यान देनेयोग्य नहीं। गोसाईंजी लेखनीका चाक घुमाकर अपनी धुनमें लगे हुए छन्दों और पदोंकी नाना प्रकारकी वस्तुएँ बनाते गये हैं; यदि उनमें किसीका आकारादि कुछ टेढ़ा-मेढ़ा हो गया हो तो इसके लिये आपत्ति क्या? आकारादिमें किंचित् कसर ही सही, कविताका चटक रंग चढ़ाकर आपने उन्हें चटकदार तो बना दिया है न? उसके चमक-दमकके सामने किसीकी दृष्टि ही भला उधर कब जा सकती है और इनपर दृष्टि करना ही अल्पज्ञता है। और किसी सुन्दर सोहावनी पुष्पवाटिकामें किसी पेड़-पौधेकी कोई शाखा वा पत्ती, स्वभावतः या किसीकी असावधानीसे टेढ़ी, कुबड़ी या कहीं कुछ भंग होनेपर भी, यदि सुन्दर फूलोंसे लहलहा रही हो तो क्या कोई उस आमोदप्रद छटासे आनन्दित न होकर उसकी शाखा और पत्तीको निहारने लगेगा?········'

नोट—२-इस काण्डमें राज्याभिषेक और वनवास दोनोंका वर्णन है। अतः दोनोंके अनुकूल यह ध्यान गोसाईंजी लिख रहे हैं। 'राज्याभिषेक और वनकी प्राप्तिमें 'श्री' एक-सी रही तो हमारे राज्याभिषेक और वनयात्रा-वर्णनकी निर्विघ्न-समाप्ति एकरस क्यों न करायेगी? अर्थात् जो सदा एकरस आनन्दस्वरूप हैं, जिनको सुख-दुःख एक समान हैं, उनकी कृपा होनेसे इस काण्डकी पूर्ति निर्विघ्न होगी, हमारा चित्त मलिन न होने पायेगा—ऐसा दृढ़ विश्वास कर कवि श्रीरघुनन्दनजीकी उसी छविका ध्यान कर इस कथाके वर्णनमें सामर्थ्यकी प्रार्थना कर रहे हैं। (रा० प्र०) आप सदा एकरस हैं और सदा हैं, अतः दूसरोंको भी सदा मंगल देंगे। (पं० रा० कु०)

नोट—३-बैजनाथजी—वनगमनके वियोगसे सभी पुरवासी दुःखमें डूब गये हैं, परन्तु श्रीरघुनाथजीका मुखारविन्द प्रफुल्लित ही रहा। अतः उस प्रसन्न मुखका अवलोकन बराबर होते रहनेसे मेरे मनमें भी दृढ़ता और उत्साह बना रहेगा और लीलावर्णनमें उदासीनता न आने पावेगी। इस विचारसे इस ध्यानका मंगलाचरण करते हैं।

नोट ४— यहाँ दो बातें कही गयीं। राज्याभिषेकसे प्रसन्नता और वनवाससे म्लान न होना। दो गुण कहकर चाहते हैं कि हमारा चित्त भी दोनों प्रसंगोंके वर्णनमें एक-सा उत्साहित रहे।

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम्।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम्॥ ३॥

शब्दार्थ—**अम्बुज**=कमल। **समारोपित**=(**सम्+आरोपित**) स्थापित, सुशोभित, विराजमान। **भागम्**=भागमें। भाग=दिशा, ओर। **पाणौ**=दोनों हाथोंमें। **पाणि**=हाथ। **सायक**=बाण। **महा**=सर्वश्रेष्ठ, बहुत बड़ा। महासायक अर्थात् अमोघ अक्षय बाण, यथा—*'जिमि अमोघ रघुपति के बाना'* (सुं०) **चारु**=सुन्दर, दीप्तिमान्। '**चारु चाप**' अर्थात् शार्ङ्गधनुष जो श्रीरामचन्द्रजीका मुख्य आयुध है। इसीसे उनको शार्ङ्गधर भी कहते हैं। **नमामि**=नमस्कार वा प्रणाम करता हूँ।

अर्थ—नील कमलके समान श्याम (साँवले) और कोमल जिनके अंग हैं, श्रीसीताजी जिनकी बायीं ओर सुशोभित हैं और जिनके दोनों हाथोंमें क्रमशः अमोघ बाण और सुन्दर शार्ङ्गधनुष हैं, उन रघुकुलके स्वामी श्रीरामचन्द्रजीको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ३॥

टिप्पणी—इस श्लोकमें घर और वन दोनोंके चरित्र वर्णन किये गये हैं। ('**सीतासमारोपितवामभागम्**'—पूर्वार्ध घरका चरित्र है। '**पाणौ महासायकचारुचापम्**' वनचरित्र है) वैसे ही इस काण्डमें श्रीरामचन्द्रजीके घर और वन दोनों चरित्रोंका वर्णन है। पुनः इसमें सातों काण्डोंका क्रम है।

नोट—१ इस श्लोकमें सशक्ति श्रीरघुनाथजीकी वन्दना की गयी है। यह श्लोक 'इन्द्रवज्रा-वृत्त' का है। इसके चारों चरणोंमें ११-११ अक्षर होते हैं। वर्णोंका क्रम यह है—तगण (ऽऽ।), तगण, जगण (।ऽ।), गुरु, गुरु। इस श्लोकके तीन चरणोंका क्रम यही है, चौथा चरण उपेन्द्रवज्राका है, क्योंकि उसका प्रथम वर्ण लघु है। इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्राके मिलावटसे १४ वा १६ वृत्त उत्पन्न होते हैं उन्हें 'उपजाति' कहते हैं। यह श्लोक शाला और हंसीसे मिला वृत्त है।

नोट—२ पूज्यपाद गोस्वामीजीने इस श्लोकके एक-एक चरणमें संक्षिप्तरूपसे एक-एक लीला सूचित करते हुए चार चरणोंमें समग्र रामचरितकी झलक दिखाते हुए श्रीरघुनाथजीकी वन्दना की है। इसमें श्रीरामचन्द्रजीके बाल, विवाहित, वनवासी और राज्यप्राप्त-स्वरूपोंकी क्रमशः वन्दना की गयी है। समग्र रामायण इन चारों चरणोंमें कह दी है—

(१)—'**नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गम्**'—यह प्रथम चरण है। इस पदसे बालरूप रामचन्द्रजीकी वन्दना की। इस पदमें जन्म और बाल-लीला सूचित कर दी। क्योंकि कोमल अंग जन्मपर और बाल्यावस्थाहीमें होते हैं।

(२)—'**सीतासमारोपितवामभागम्**'—यह दूसरा चरण है। इसमें श्रीसीताजीको वामभागमें विराजमान कहकर विवाह-लीला और विवाहितदूलहरूप रामचन्द्रजीकी वन्दना की गयी। यहाँतक पूर्वार्द्ध श्लोकमें बालकाण्डका चरित्र समाप्त किया।

(३)—'**पाणौ महासायकचारुचापम्**'—यह तीसरा चरण है। इसमें श्रीराम रघुवीरके वीररूपकी वन्दना है। इस चरणमें वनवासी श्रीरामरूपकी वन्दना हुई। इसमें रण-लीला अर्थात् अयोध्याकाण्डसे लेकर लंकाकाण्डतकका चरित आ गया।

(४)—'**नमामि रामं रघुवंशनाथम्**'—यह चतुर्थ चरण है इसमें राज्यासीन राजा श्रीरामकी वन्दना है। रावणवधके पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी राज्यपर बैठे। यह 'रघुवंशनाथ' से जनाया। इस पदसे उत्तरकाण्डका चरित सूचित कर दिया।

नोट-३—बैजनाथजी लिखते हैं कि इस श्लोकमें तुरीयादिक चारों अवस्थाओं और चारों प्रकारके भक्तोंके ध्यान दिखाये हैं और यह श्लोक 'तीन बीज रामनाम गर्भित मन्त्रमयी श्लोक है'। '**श्यामलकोमलांगम्**' कहकर बाल-लीलारूप वा बाल-स्वरूप वर्णन किया जो तुरीयावस्थामें रहनेवाले विज्ञानधाम प्रभुका ध्यान है। यह ध्यान ज्ञानी भक्तोंका है। यथा—***'बंदउँ बालरूप सोइ रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू॥', 'इष्टदेव मम बालक रामा',*** '**त्वमेकमद्भुतं प्रभुं निरीहमीश्वरं विभुम्। जगद्गुरुं च शाश्वतं तुरीयमेव केवलम्।**' (३-४) पुनः मार्कण्डेय ऋषिको इसी बालमुकुन्दस्वरूपका दर्शन हुआ था। यथा—'**करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्। वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥**' इति। यह ध्यान ऋग्वेदका सिद्धान्त है। और यह चरण '**ओमिति**' प्रणव-गर्भित चरण है।

(२)—'**सीतासमारोपितवामभागम्**' में ब्याह-लीला-धाम-वर्णन सुषुप्ति अवस्थाका स्वरूप जिज्ञासु भक्तोंका ध्यान है। यह 'सामवेद' का सिद्धान्त है। यह चरण '**रामिति**' बीज-गर्भित है।

(३)—'**पाणौ महासायकचारुचापम्**' में रावणवध आदि लीला-वर्णन नरनाट्यादि स्वप्नावस्था है। यह वीररूप अल्पकालके लिये हुआ, अतः स्वप्नावस्थाके सदृश है। वीररूप आर्तभक्तोंका ध्यान यजुर्वेदका सिद्धान्त है—***'राजिवनयन धरे धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥'*** यह चरण '**सोऽहमिति**' गर्भित है।

(४)—'**नमामि रामं रघुवंशनाथम्**' में 'रघुवंशनाथ' पद देकर राजसिंहासनासीन उदाररूप जाग्रत्-अवस्थाका ध्यान अर्थार्थी भक्तोंका कहा। यह अथर्ववेदका सिद्धान्त है।

नोट—४ बालकाण्डका मंगलाचरण ७ श्लोकोंमें किया गया। उसका भाव वहाँ दिया जा चुका है। इस काण्डमें तीन श्लोक दिये गये। इसका कारण यह कहा जाता है कि अवधसे श्रीसीतारामलक्ष्मणजी ये तीन वनको गये और तीनों साथ रहे। आगे अरण्यकाण्डमें सीताहरण होनेपर केवल राम-लक्ष्मण दो ही मूर्ति रह गये, इससे अरण्य और किष्किन्धामें दो ही श्लोकोंमें मंगलाचरण है। सुन्दरकाण्डमें श्रीसीताजीका पता लग गया अतः वहाँसे फिर तीन-तीन श्लोकोंमें मंगलाचरण किया गया। यह क्रम गोस्वामीजीकी गुह्य उपासनाका अनूठा और गूढ़ रहस्य प्रदर्शित कर रहा है।

दो०—श्रीगुरु चरन सरोज रज निज मन मुकुर सुधारि।
बरनउँ रघुबर बिमल जसु जो दायक फल चारि॥

शब्दार्थ—**सरोज**=कमल। **रज**=धूलि, पराग। **मुकुर**=दर्पण, शीशा। **बिमल**=निर्मल, स्वच्छ, उज्ज्वल, बेदाग। **दायक**=देनेवाला।

अर्थ—श्रीगुरुजीके चरणकमलोंकी रजसे अपने मनरूपी दर्पणको साफ करके मैं 'रघुवर' का निर्मल यश वर्णन करता हूँ जो (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन) चारों फलोंका देनेवाला है।

टिप्पणी—१ ***'श्रीगुरु चरन सरोज रज······'*** [(क) श्रीगोस्वामीजीने गुरुवन्दनाप्रसंगमें ***'श्री'*** विशेषण प्रायः बराबर दिया है, वैसे ही यहाँ भी उन्होंने ***'श्री'*** विशेषण दिया है। पुनः भाव कि] रघुवरचरित श्रीमान्

हैं जो चारों पदार्थोंके दाता हैं, इसीसे गुरुचरणमें 'श्री' विशेषण दिया क्योंकि गुरुचरणरज भी श्रीमान् हैं 'श्री' एवं 'सर्वश्रेय' के देनेवाले हैं, यथा—*'जे गुरुचरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥'* (२। ३। ५) श्रीमान् गुरुचरणरजसे मनको निर्मल करते हैं जिसमें श्रीमान् (श्रीके देनेवाले) रघुवरचरित मनमें आवें। (ख) *'सरोज'* विशेषण दिया क्योंकि कमलमें 'श्री' का निवास है। 'श्री' के सम्बन्धसे *'सरोज'* भी कहा। (ग) *'श्रीगुरु चरन सरोज रज'* अर्थात् गुरुचरणरज जो शोभा और ऐश्वर्यसे युक्त है। अर्थात् गुरुपदरजमें पुण्य है (उनके द्वारा अपने मनको सुधारकर)। (घ) *'मन मुकुर सुधारि'*—अर्थात् अज्ञान वा विषयरूपी मैलको दूर करके। विषय ही मनका मैल है, यथा—*'काई बिषय मुकुर मन लागी।'* (ङ) बालकाण्डमें श्रीरामयश कहने लगे तब श्रीगुरुपदरजसे विवेक-नेत्र निर्मल किये थे। यथा—*'गुरुपदरज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन॥ तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनौं रामचरित भवमोचन॥'* (१-२) इस काण्डमें भक्तके चरितको कहना प्रारम्भ करने जाते हैं, इसीसे पुनः गुरुचरणरजका सेवन करते हैं। वहाँ विवेक-नेत्रको निर्मल किया और यहाँ मनको। रघुवरयश निर्मल है अतः उसका वर्णन करनेके लिये मनको उसके वर्णनके योग्य बनाया। मनको विषयसे रहित किया जिसमें रघुवरके सब चरित मनमें आवें। निर्मल यशके गानके लिये मनका निर्मल होना आवश्यक है। (चिकनाहट रजसे मलनेसे शीघ्र दूर होती है, अतः रजसे शुद्ध करना कहा।)

इस काण्डके प्रारम्भ करते ही ग्रन्थकारका चित्त रह-रहकर गोते खाने लगता है। मंगलाचरणसे उनके हृदयकी खलबलीकी थाह मिलती है। वे अपनेको इस काण्डके चरित लिखनेमें बारम्बार असमर्थ पा रहे हैं। अतः बारम्बार उससे पार पानेका प्रयत्न कर रहे हैं। श्रीरामराज्याभिषेकमें विघ्न हुआ देख उनका अति कोमल हृदय शोकमें मग्न हो जाता है—*'का सुनाइ बिधि काह दिखावा।'* कैसे पार लगेगा? अतएव समर्थ श्रीशंकरजीसे रक्षाकी प्रार्थना करके उन्होंने फिर श्रीरघुनन्दनजूके मुखाम्बुजश्रीका आश्रय लिया। इतनेपर भी सन्तोष न हुआ तब श्रीगुरुपदरजकी शरण ली और कथा प्रारम्भ की।

'गुरुपदरज-वन्दना'—इति।

गुरुपदरजकी वन्दना बालकाण्डमें की गयी है अब पुनः इस काण्डमें की गयी, आगे फिर किसी काण्डमें नहीं पायी जाती। इसका क्या हेतु है? एक हेतु तो ऊपर लिखा गया, दूसरा इस दोहेके *'बरनउँ रघुबर बिमल जसु'* इस पदसे यह जान पड़ता है कि यहाँ श्रीभरतजीका निर्मल यश वर्णन करना है, यथा—*'नवबिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥ उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥'''''* (२०९। १-२) ऐसे निर्मल यशका उल्लेख करना है। भागवतचरित अगम है और भरतजी तो भक्तशिरोमणि हैं, यथा—*'भगतसिरोमनि भरत तें जनि डरपहु सुरपाल।'* इनके चरित शारदा, शेष, गणेश, गुरु वसिष्ठ और जनकमहाराज-ऐसे विज्ञानियोंको भी अगम है। यथा—*'धरम राज नय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥ सो मति मोरि भरत महिमाही। कहइ काह छल छुअत न छाहीं॥ बिधि गनपति अहिपति सिव सारद। कबि-कोबिद बुध बुद्धि बिसारद॥ भरतचरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥'* (२८८। ४—७) *अगम सबहिं बरनत बर बरनी। जिमि जलहीन मीन गमु धरनी॥ भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहि बखानी॥'* (२८९। १-२) *'भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥ बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। शेष गनेस गिरा गमु नाहीं॥'* (३२५। ७-८)

अतः कविने दुबारा गुरुपदरजका आश्रय लिया। स्मरण रहे कि अपने गुरुमहाराजसे गोस्वामीजीने यह रामचरितमानस पाया है—*'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।'* (१। ३०) *'तदपि कही गुरु बारहिं बारा।'* और उनके चरणकमलोंका आपको बहुत बड़ा भरोसा है, यह बात गुरु-वन्दना-प्रकरण और यहाँ इस काण्डके आदिमें मंगल करनेसे सिद्ध ही है।

दूसरा प्रश्न यहाँ महानुभावोंने यह किया है कि 'गुरुपदरजसे तो मनको एक बार निर्मल कर चुके थे,

यथा—*'तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनौं रामचरित भवमोचन॥'* (१। २। २) अब उसमें क्या मल लग गया जिससे फिर साफ करना पड़ा?'

महानुभावोंने इन दोनों प्रश्नोंके उत्तर जो दिये हैं वे ये हैं—

(१) गौड़जी—बालकाण्डमें मानसकारने देववाणीमें शंकररूप गुरु और प्राकृतमें नरहरिरूप गुरुकी वन्दना मनकी मलिनता और कुटिलताको दूर करनेके लिये ही की है। उसी तरह मनके मुकुरको सुधारनेके लिये और भगवत्-चरितसे भी अधिक महत्त्वशाली और दुर्गम भागवत-चरितके यत्किंचित् वर्णनका सामर्थ्य मिले इसलिये रामचरितमानसके प्रथमाचार्य भगवान् शंकरकी और द्वितीयाचार्य स्वामी नरहरिदासजीकी वन्दना की है। श्रीबेनीमाधवदासजीके प्रमाणसे भगवान् शंकरने महात्मा नरहरिदासजीको रामचरितमानसकी कथा सुनाकर बालक 'रामबोला' को अपने पास लाकर पालन-पोषण और रामचरितमानस पढ़ाने-सुनानेकी आज्ञा दी। इस तरह रामचरितमानसकी गुरु-परम्परा यों हुई—भगवान् शंकरके शिष्य नरहरिदास और नरहरिदासके शिष्य तुलसीदास। तुलसीदासजीने यहाँ इस तरह देववाणीमें प्रथमाचार्य शंकरकी और प्राकृतमें द्वितीयाचार्य नरहरिदासजीकी वन्दना की है।

(२) गुरु शंकररूप ही हैं, यथा—'**वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।**' अतः शंकरवन्दनाका सम्पुट दे उनसे इस काण्डकी कथाका वर्णन सुरक्षित किया है।

(३) वन्दन पाठकजी—श्रीभरतचरितको अगम जानकर कविने अपने मन-मुकुरको फिरसे सँवारा। अर्थात् निर्मलसे भी निर्मल किया।

(४) रामायणी रामदासजी—पूर्व (बालकाण्डमें रामयश-वर्णनके लिये) विवेक-विलोचन निर्मल किये थे, मनका निर्मल करना वहाँ नहीं कहा, यद्यपि यह गुण उसमें वहीं बता आये हैं, यथा—*'जन मन मंजु मुकुर मल हरनी।'* अब यहाँ मनको भी निर्मल करते हैं। दोनोंके निर्मल करनेकी जरूरत है। नेत्रसे वाह्य पदार्थ देख पड़ते हैं। विवेकनेत्र तो निर्मल हैं ही, अब मन भी निर्मल हुआ, इससे अपने हृदयमें सम्पूर्ण चरित देख पड़ेगा और श्रीरामस्वरूप भी देख पड़ेगा; क्योंकि *'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥'* वह रामस्वरूप अयोध्याकाण्डमें भरतजीके पास है।

(५) बाबा हरिहरप्रसादजी—षट्शरणागतिमेंसे एक कार्पण्य शरणागति भी है। इसमें जीव अपनेको सदा दोषी मानता है, यथा—*'जद्यपि जन्म कुमातु तें मैं सठ सदा सदोस। आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस॥', जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भइ मोहि कारन सकल उपाधी॥', 'बंचक भगत कहाइ रामके'* इत्यादि। गोस्वामीजीने यहाँ *'मन मुकुर सुधारि'* पदसे अपना कार्पण्य दर्शित किया है। देखिये देवर्षि परम भागवत नारदजी स्तुति करते हुए कहते हैं—'**पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः। त्राहि मां पापिनं घोरं सर्वपापहरो हरिः॥**' न नारदजीमें पापका लेश और न गोस्वामीजीके मन-मुकुरमें मैल।

नोट—१ *'रघुबर बिमल जस'* इति। बालकाण्डमें श्रीरामयश कहा गया, यथा—*'निज गिरा पावनि करन कारन रामजसु तुलसी कह्यो।'* (३६१) और इस काण्डमें श्रीरामयश और श्रीभरतयश दोनों कहा गया है, पर श्रीभरतयशको ही प्रधानता दी गयी है। कविने आदिमें *'रघुबर'* और अन्तमें *'भरत चरित करि नेम······।'* (३२६) शब्द देकर श्रीभरतजीको ही इस काण्डका प्रधान नायक सूचित किया है। किसी-किसी महानुभावका मत है कि इस काण्डमें केवल भरतचरित है, इसीसे फलश्रुतिमें *'भरतचरित करि नेम'* कहा गया है। पर बहुमत इस ओर है कि इसमें राम और भरत दोनोंके चरित और यशका वर्णन है। जितने दोहोंमें रामयश है, उतनेहीमें भरतयश।

'रघुबर' शब्द यहाँ सहेतुक है। यहाँ किसीका नाम न देकर एक व्यापक शब्द देनेका दोमेंसे कोई एक कारण हो सकता है। एक तो यह कि कविने जान-बूझकर यह पद यहाँ दिया। दूसरे यह कि कवि काण्डके प्रारम्भसमय असमंजसमें थे कि इसका नायक किसको बनावें, वे अभी निश्चय न कर सके थे कि भरतजी ही इसके नायक होंगे।

(१) *'रघुबर'* में श्रीराम, भरत दोनों आ जाते हैं। इतना ही नहीं; किंतु चारों भाइयोंको *'रघुबर'* कह सकते हैं और कविने अन्यत्र और भाइयोंके लिये इसका प्रयोग भी किया है, यथा—'**मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ**' (कि० मं०)। *'नाम करन रघुबरनिके नृप सुदिन सोधाये'* (गी० १। ६) इसीसे *'रघुबर'* पद दिया। और यों भी कह सकते हैं कि इसमें चारों भाइयोंके चरित हैं, शत्रुघ्नजीका चरित इसी काण्डमें आया है। पर लक्ष्मणजीका यश रामयशके साथ है—*'रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयो जस जाका॥'* और शत्रुघ्नजी भरतजीके अनुगामी हैं, उनका यश भरतयशके साथ है। इस प्रकार मुख्य यश दोहीका है, केवल भरतसे तात्पर्य होता तो इस व्यापक पदको न देते।

(२) आदिमें द्विविधाके कारण यह शब्द दिया। अन्तमें जब संदेह न रह गया तब इस पदका अर्थ स्पष्ट कर दिया। इस विषयपर 'मानस-हंस' के सम्पादक श्रीमन्त यादवशंकर जामदारका लेख पाठकोंके लिये उद्धृत किया जाता है—'मानस-हंस' पृष्ठ ७७।

इस दोहेका *'रघुबर'* शब्द बहुत ही समर्थ दिखता है। उसमें रामजी तथा भरतजी, इन दोनोंका एक समान अन्तर्भाव होता है। अनुमान होता है कि इस शब्दका प्रयोग दोहेमें सहेतुक किया गया है; क्योंकि इस काण्डके पूर्वार्धमें जितना रामजीका उत्कर्ष दिखलाया है उतना ही उत्तरार्धमें भरतजीका है।

वाल्मीकिजीने अपने रामायणमें भरतजीके प्रेमका यथार्थ स्वरूप नहीं दर्शाया था, इस कारण उनका हृदय तड़पता होगा। इसीलिये स्वभावतः आये हुए प्रसंगका लाभ उठाकर उन्होंने (तुलसीरूपमें) भरतजीके वर्णनमें सुधार करनेका निश्चय किया। परंतु यह काम उन्हें बहुत ही कठिन जान पड़ा होगा। ऐसा न होता तो उन्होंने प्रारम्भमें ही गुरुजीका मंगलाचरण न किया होता। काव्यारम्भमें जैसी मंगलकामना होती है वैसे ही यह हुई है। फिर ध्यान देनेकी बात है कि उनके अन्य काण्डोंमेंसे एकमें भी ऐसे मंगलकी योजना दिखायी नहीं देती। अयोध्याकाण्ड पढ़कर कोई भी सहज ही कह सकेगा कि गुरुप्रसादके बिना वाणीमें ऐसा प्रसादगुण आ नहीं सकता।

इस काण्डकी फलश्रुति ऐसी दी हुई है—***'भरत चरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयराम पद प्रेम अवसि होइ भवरस बिरति॥'***

एक तो ***'भवरस बिरति'*** की फलश्रुति ही किसी और काण्डकी नहीं है और फिर दूसरे, *'अवसि'* कहकर दिखलाया हुआ आत्मविश्वास और किसी भी फलश्रुतिमें नहीं दर्शाया गया है। एक प्रकारसे कहा जा सकता है कि प्रारम्भमें किये हुए गुरुजीके मंगलकी रामभक्ति और वैराग्य ही समर्पक फलश्रुति है।

एक विशेष बात यह भी है कि और दूसरे काण्डोंकी फलश्रुतिमें किसी-न-किसी प्रकारसे रामजीका माहात्म्य प्रमुखतासे दर्शाया गया है। परंतु यहाँ वैसा नहीं किया गया है। इस ऊपर निर्दिष्ट बातसे प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस काण्डका नायक कौन है, रामजी अथवा भरतजी? सोरठेकी शब्द-रचनासे ऐसा जान पड़ता है कि हमारे समान ही गोसाईंजीके सामने भी यह प्रश्न था, यदि ऐसा न होता तो वे ***'भरत चरित'*** यह पद खास तौरपर यहीं क्यों डालते? अपनी मामूली रीतिके अनुसार उन्होंने ***'राम चरित'*** पद ही डाला होता। परंतु ***'भरत चरित'*** पद डाल देनेसे इस काण्डके उत्तरार्धके नायक उन्होंने भरतजी ही निश्चित किये और पूर्वार्धके श्रीरामजी।

टिप्पणी—२ *'रघुबर बिमल जस'* इति। (क) रघुबर बिमल यश वर्णन करता हूँ। यह यहाँ कहते हैं। और अरण्यकाण्डमें कहते हैं कि *'पुर नर भरत प्रीति मैं गाई।'* (३। १। १) *'मैं गाई'* से सिद्ध होता है कि गोस्वामीजीने इस (अयोध्याकाण्ड) को सबसे पृथक् करके स्वयं गाया है। इसमें किसीका संवाद नहीं रखा। मानसकी दस हजार चौपाईका चौथाई ढाई हजार चौपाईका यह काण्ड गोस्वामीजीके हिस्सेका है। यह दैन्यघाट है। अन्य सब काण्डोंसे इसमें अधिक विलक्षणता है (ये विलक्षणताएँ आगेकी प्रथम अर्धालीमें दिखायी गयी हैं)। (ख) ***'बिमल जस'***—यशकी निर्मलता इसीसे सिद्ध है कि वक्ता-श्रोता दोनोंको चारों पदार्थोंका देनेवाला है। (ग) ***'जो दायक फल चारि'***—अर्थात् बिना किसी अन्य साधनके केवल श्रवण-कीर्तनसे।

वन्दन पाठकजी—फल काण्डके अन्तमें होना चाहिये, परंतु कविने *'रघुबर बिमल जस'* का फल इस काण्डमें प्रथम ही दे दिया। इसका क्या कारण? उत्तर—यहाँ केवल भरत-चरितका वर्णन है। इसीसे फल प्रथम ही दिखाया गया। भरतजी भगवद्भक्त हैं। भागवत-यश तुरत फल देता है, यथा—*'देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ'* अतएव तत्काल फलदातृत्व गाया।

जब तें राम ब्याहि घर आये। नित नव मंगल मोद बधाये॥ १॥

शब्दार्थ—**ब्याहि**=ब्याह करके, विवाहित होकर। **नित**=(नित्य) प्रतिदिन। **मोद**=मानसिक आनन्द। **मंगल**=उत्सव, बाह्य आनन्द। **बधाये**=बधाइयाँ, मंगल अवसरका गाना-बजाना, मंगलाचार, मंगलगान, उत्सव, चहल-पहल।

अर्थ—जबसे रामचन्द्रजी ब्याह करके घर आये, तबसे नित्य नये-नये मंगल-आनन्द-उत्सव हो रहे हैं॥ १॥

टिप्पणी—१(क) अब विवाहान्तर प्रथम सोपानकी कथा है, जिसका मिलानपूर्वक उपोद्घात करते हैं। (ख) *'नित नव मंगल·····'* मंगल हो रहे हैं, उनसे तज्जनित मोद हुआ और तज्जनित बधाई होने लगी। विवाहके पश्चात् उत्साह है, जैसे कि देवीपूजन, कंकणमोचन, गंगापूजन, श्रीरंगदेवपूजन इत्यादि, वे सब हो रहे हैं। ये सब मंगल हैं, यथा—*'सुदिन सोधि कल कंकन छोरे। मंगल मोद बिनोद न थोरे॥'* (१। ३६०। १) *'नित नव सुख·······।'* नित्य नवीन मंगलोत्सव होनेसे नित्य नवीन मोद होता है, नित्य नवीन बधाइयाँ बजती हैं, क्योंकि माताओंने जिन-जिन देव-पितृकी मानता (मन्नत) मानी थीं (कि इनके अनुकूल दुलहिनें मिलें तो हम यह-यह पूजा चढ़ावेंगी।) यह मनोरथ सिद्ध हो गया, यथा—*'देव पितर पूजे बिधि नीकीं। पूजी सकल कामना जी कीं।'* (१। ३५१) अब उन-उन देवताओंकी पूजा बड़े उत्साहसे नित्य होती है।

नोट—१-बालकाण्डमें गोस्वामीजीने जो मानसका रूपक बाँधा है उनसे ग्रन्थके सप्त काण्डोंको मानससरके सप्त सोपान (सीढ़ियाँ) कहे हैं, यथा—*'सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना।'* (१। ३७) घाटमें जब सीढ़ियाँ बनायी जाती हैं तो नीचेकी सीढ़ीको कुछ दबाकर तब दूसरी सीढ़ी बनायी जाती है। इस ग्रन्थमें प्रथम सोपानका सम्बन्ध दूसरेसे इस अर्द्धालीको देखकर मिलाना ही एक सीढ़ीपर दूसरीका जोड़ना है। बालकाण्डके ३६० दोहेके बाद *'आए ब्याहि रामु घर जब तें'* कहा है, उन्हीं शब्दोंको यहाँ पुनः दोहराया है—*'जब तें राम ब्याहि घर आये'* इस प्रकार अयोध्याकाण्डका जोड़ (सम्बन्ध) बालकाण्डसे मिलाया। विशेष *'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना'* (१। ३७। १) में देखिये।

टिप्पणी— २-अयोध्याकाण्डमें विवाहकी बात लिखनेका भाव यह है कि जनकपुरकी जिन कन्याओंका विवाह जनकपुरमें न हुआ था उनके विवाह बारातके लौटनेपर अवधमें हुए, यह बात किसी रामायणमें लिखी है। उसीको यहाँ सूचित कर रहे हैं।

नोट—२- सातों काण्डोंसे इस काण्डकी रचना अति विचित्र और अनूठी है। इसकी कविता आद्योपान्त एक-सी मधुर, मनोहर है और कवित्व शक्तिकी पराकाष्ठा इसमें झलक रही है। इसमें प्रायः आठ-ही-आठ अर्धालियोंपर एक दोहा दिया गया है और २४-२४ दोहोंके पश्चात् प्रत्येक पचीसवें दोहेके स्थानपर एक हरिगीतिका छन्द और एक सोरठा दिया गया है। जिनमेंसे, केवल एक छन्दको छोड़कर अन्य सब छन्दोंमें कविने अपना नाम भी दिया है। (अर्थात् प्रत्येक छन्दमें 'तुलसी' का भोग है।) हरिगीतिका और सोरठाका नियम केवल एक ही जगह भंग किया गया है अर्थात् दोहा १२५ के स्थानपर छन्द-सोरठा न देकर दोहा १२६ के स्थानपर छन्द और सोरठा दिया गया है। यह क्रम-भंग भी जान-बूझकर ही साभिप्राय किया गया है। दोहा १२५ और छन्द जिसमें कविने नाम नहीं दिया है वह यह है—*'तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ। मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सब मम पुन्य प्रभाउ॥'* और *'श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।'* (दो० १२६ छन्द) इसमें अपना नाम न देकर अपना स्वरूप लक्षित किया है। यह छन्द वाल्मीकिजीका वचन है। इसमें अपना नाम न देकर अपनेको उनका अवतार

सूचित किया है। दोहेमें श्रीरामजीके वचन मुनिप्रति हैं। दोनों सम्मुख हैं, तब नाम देनेकी आवश्यकता अब कहाँ रही?

प्राय: सब चौपाइयाँ एक जातिकी अर्थात् सोलह मात्राओंकी, दोहे सब १३-११ मात्राके, सब जगह एक-ही-एक छन्द है; दो कहीं नहीं हैं, इसी तरह छन्दके नीचे एक-ही-एक सोरठा है दो कहीं नहीं। इस काण्डमें 'इति' नहीं है और न किसीका संवाद है।

इस काण्डमें आद्योपान्त बहुत-से रूपक आये हैं। काण्डका प्रारम्भ रूपकालंकारसे किया गया है और समाप्ति भी रूपकहीपर। गोस्वामीजी रूपकालंकारमें बड़े ही निपुण दीखते हैं। आपके-से बड़े-बड़े रूपक शायद ही कहीं और किसी कविकी रचनाओंमें देखनेमें आते हैं। आपने इनके द्वारा विविध वस्तुओंके सुन्दर-सुन्दर चित्र हमारे सामने खींचकर रख दिये हैं, सब काण्डोंसे इसमें अधिक रूपक हैं।

नोट ३-श्रीरामचरितमानसकी अनेक चौपाइयाँ, दोहे इत्यादि मूल-मन्त्र ही माने गये हैं और ग्रन्थकी प्राय: प्रत्येक चौपाईमें रकार-मकार किसी-न-किसी रूपमें अवश्य आये हैं। मानस-अभिराममें इस ग्रन्थकी चौपाइयोंका प्रयोग अनेक मनोरथोंकी सिद्धिके लिये बताया गया है। इस चौपाईका जप आनन्द-मंगलका देनेवाला है।

नोट—४ ***'जब तें'*** इति। यहाँ लोग शंका करते हैं कि क्या विवाह करके घर आनेके पहले यहाँ मोद-मंगल न थे? इसका उत्तर (३६१। ५) में लिखा जा चुका है। (ख) ***'राम ब्याहि घर आये'*** इति। यहाँ श्रीरामचन्द्रजीके पुरुषार्थसे विवाह हुआ। शुल्कस्वयंवरमें उन्होंने धनुषको तोड़कर अपने पराक्रमसे ब्याह किया। अत: ***'राम ब्याहि घर आये'*** कहा। राजपुत्रोंका ब्याह करके घर आये ऐसा नहीं कहा। पुन: ***'ब्याहि'*** का भाव कि अपना ब्याह किया और भाइयोंका भी विवाह कराके घर आये। क्योंकि तीनों भाइयोंका विवाह शुल्क-स्वयंवरमें श्रीरामजीके धनुष तोड़नेके कारण ही जनकपुरमें हुआ। यथा—***'बिश्व बिजय जसु जानकि पाई। आए भवन ब्याहि सब भाई॥'*** (१। ३५७) (ग) ***'नित नव'*** का भाव यह कि आज कहीं, कल कहीं, प्रतिदिन बढ़-चढ़कर ***'जहँ तहँ राम ब्याहु सब गावा।'*** (१। ३६१। ४) ***'मंगल मोद उछाह नित जाहिं दिवस एहि भाँति। उमगी अवध अनंद भरि अधिक अधिक अधिकाति।'***(१। ३५९) में जो भी भाव है उसका भी इसमें समावेश हो गया। लाला भगवानदीनजीका इस शंकासमाधानपर एक दोहा है ***'पहिले केवल फल रहे अवधपुरी के माँहि। अब भे चारिउ क्रियनयुत जब तें आये ब्याहि॥'*** (घ)—ब्याहका सुख अयोध्याहीमें नहीं हुआ; किन्तु चौदहों भुवनोंमें हुआ, यथा—***'भुवन चारि दस भएउ उछाहू। जनकसुता रघुबीर बिबाहू॥'*** यही बात आगे कहते हैं। (पं० रा० कु०)

नोट—५ श्रीपार्वतीजीने जो प्रश्न बालकाण्ड दोहा ११० में किये हैं उनमेंसे ***'राज तजा सो दूषन काही'*** इस प्रश्नके उत्तरमें सम्पूर्ण अयोध्याकाण्डका चरित कहा गया और सूक्ष्मरीतिसे एक चौपाईमें सूत्ररूपसे भी इसका उत्तर दिया गया।

श्रीभुशुण्डिजीसे जो मूलरामायण ग्रन्थकारने उत्तरकाण्ड दोहा (६४—६८) में कहलायी है उसमें इस काण्डके प्रकरण ये हैं—

'बहुरि राम अभिषेक प्रसंगा। पुनि नृप बचन राजरस भंगा॥ पुरबासिन्ह कर बिरह बिषादा। कहेसि राम लछिमन संबादा॥ बिपिन गवन केवट अनुरागा। सुरसरि उतरि निवास प्रयागा॥ बालमीक प्रभु मिलन बखाना। चित्रकूट जिमि बस भगवाना॥ सचिवागवन नगर नृप मरना। भरतागवन प्रेम बहु बरना॥ करि नृप क्रिया संग पुरबासी। भरत गये जहँ प्रभु सुखरासी॥ पुनि रघुपति बहु बिधि समुझाये। लेइ पादुका अवधपुर आये॥' कौन प्रसंग कहाँ-से-कहाँतक है यह उचित स्थानपर दिया जावेगा।

भुवन चारि दस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख-बारी॥ २॥
रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमगि अवध-अंबुधि कहुँ आई॥ ३॥
मनिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुंदर सब भाँती॥ ४॥

शब्दार्थ—**भुवन**=लोक। **चारि दस**=चौदह। पुराणानुसार लोक १४ हैं—भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य—ये सात 'सर्ग' लोक हैं और अतल, वितल, रसातल, सुतल, गभस्तिमत् (तलातल), महीतल और पाताल—ये सात पाताल हैं। **सुकृत**=पुण्य। **रिधि**=ऋद्धि=समृद्धि, बढ़ती। पुनः, **ऋद्धिः कुबेरपत्नी स्यात्** अर्थात् कुबेरकी पत्नी, सकुटुम्ब कुबेर ही—(सू० मिश्र) 'सिद्धि'—योग या तपके द्वारा प्राप्त अलौकिक शक्ति या सम्पन्नताको 'सिद्धि' कहते हैं। भगवत्-सम्बन्धी ८ सिद्धियाँ प्रसिद्ध हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व, सुख-समृद्धि। विशेष बा० मं० सो० १ और (१। २२। ४) में देखिये। '**ऋद्धि सिद्धि**'=समृद्धि और सफलता—यह मुहावरा है। '**संपति**'=विभूति, ऐश्वर्य, निधि। **उमगि**=उमड़कर। बढ़कर ऊपर उठती हुई चलना 'उमगना' है। **अंबुधि**=(अम्बु=जल+धि=धारण करना) जलका अधिष्ठान समुद्र। '**सुजाति**'=अच्छी जातिके, उत्तम आचरणवाले, पुण्यात्मा। '**सुचि**' (शुचि)=पवित्र। '**अमोल**'=अमूल्य, जिसका मोल न हो सके।

अर्थ—चौदहों लोक भारी पर्वत हैं। (जिनपर) पुण्यरूपी मेघ सुखरूपी जल बरसाते हैं॥ २॥ ऋद्धि-सिद्धि और सम्पत्तिरूपी सुन्दर नदियाँ उमड़कर अवधरूपी समुद्रको आयीं (अर्थात् इसमें आ मिलीं)॥ ३॥ नगरके पुण्यात्मा स्त्री-पुरुष (इस समुद्रके) अच्छी जातिके मणिसमूह हैं जो सब प्रकारसे पवित्र, अमूल्य और सुन्दर हैं॥ ४॥

नोट—१ इन चौपाइयोंका भाव यह है कि श्रीदशरथजी महाराज तथा रानियों आदिके सुकृतोंके फलसे चौदहों लोक इस समय सुख पा रहे हैं—सभी ऋद्धि, सिद्धि और समस्त सम्पदाओंसे भरे-पूरे हैं और अवध तो मानो इनका अधिष्ठान ही है, इसके सुख-सम्पत्ति, ऋद्धि-सिद्धिकी तो थाह ही नहीं। यहाँके पुरवासी उत्तमाचरण, पवित्र और सुन्दर हैं। इसीका चित्र सांगरूपकद्वारा खींचकर दिखाया है, जो टिप्पणीसे भलीभाँति समझमें आ जावेगा।

टिप्पणी—१ *'भुवन चारि दस'* इति। (क) जल मेघसे उत्पन्न होता है। पहाड़ोंपरकी वर्षासे नदियोंकी उत्पत्ति है। पहाड़ोंसे नदियाँ निकलती हैं। यथा—***'बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे।'*** ***'स्त्रवहिं सयल जनु निर्झर भारी। सोनित सरि कादर भयकारी॥'*** (६। ८६। १०) ***'पाप पहार प्रगट भै सोई।'*** तथा यहाँ ***'भुवन चारि……'।*** पहाड़ोंपर वर्षा होनेसे वह जल नदियोंद्वारा समुद्रमें जा प्राप्त होता है। समुद्रसे अनेक रत्न पैदा होते हैं। उसीका यहाँ सांगरूपक बाँधा गया है। (ख) ***'भूधर भारी'***—भुवन भारी हैं, इसीसे उन्हें 'भारी' भूधरोंसे उपमा दी। भारी पर्वतोंसे भारी नदियाँ निकलती हैं (जो समुद्रतक पहुँच जाती हैं)। (ग) ***'सुकृत मेघ बरषहिं'***—राजा, रानी, परिजन और प्रजा सभी सुकृती हैं। यथा—***'नृप रानी परिजन सुकृत मधुकर बारि बिहंग।'***(१। ४०) ***'सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं॥'*** (१। २९४) ***'तुम्ह गुरु बिप्र धेनु सुर सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी॥'*** (१। २९४) इत्यादि। पर्वतपर मेघोंकी भारी वर्षा होती है। यहाँ राजा-रानी आदिके सुकृतरूपी मेघ चौदहों लोकोंमें सुखरूपी जलकी भारी वर्षा करते हैं। ऐसा कहकर उनके सुकृतोंको भी भारी सूचित किया। (घ) ***'बरषहिं सुख-बारी'***—सुकृतसे सुख होता है, यथा—***'सब दुख बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुन्दर नर नारी॥'***, ***'तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाए। धरमसील पहिं जाहिं सुभाए।'***(१। २९४), ***'बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग॥'*** (७। २०) ***'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता।'***(७। १०२) मेघसे जल मिलता है वैसे ही सुकृतसे सुख। सुख सुकृतोंद्वारा हुआ, इसीसे वह सुहावनी ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्तिरूपी नदियोंद्वारा श्रीअवधरूपी समुद्रमें आ प्राप्त हुआ। (ङ) प्रारम्भमें ***'जब तें राम ब्याहि घर आए। तब तें……'*** कहकर जनाया कि ब्याहमें तो पुण्य हुआ ही था, घर आनेपर भी भारी पुण्य हुए, उसी सुकृतसे सब भुवन सुखसे भर गये। (च) नदीकी उत्पत्ति पर्वतसे है। पर उमग मेघोंकी वर्षासे ही होती है, इसीसे पर्वत और मेघ दोनों कहे। (बाबा हरिदासजी)

टिप्पणी—२ ***'रिधि……आई'*** इति। (क) जैसे समुद्रके ही जलसे मेघ बनते हैं और वर्षा होनेपर वही

जल नदियोंके द्वारा फिर समुद्रमें आ प्राप्त होता है, वैसे ही यहाँ समझिये। श्रीअयोध्याजीके सुकृतोंसे चौदहों भुवनोंमें सुखकी वृष्टि हुई। फिर वही सुख ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्तिके द्वारा अवधमें आकर प्राप्त हुआ है। क्योंकि जहाँ सुकृत होता है वहीं सुख दौड़कर आ जाता है। ऋद्धि-सिद्धि और निधियाँ चौदहों भुवनोंका सुख लेकर अवधमें साक्षात् आयीं। यथा—***'सिधि सब सिय आयसु अकनि गईं जहाँ जनवास। लिये संपदा सकल सुख सुरपुर भोग बिलास॥'*** (१। ३०६) (तबसे वे साथ हैं और अब तो उनकी स्वामिनी भी यहीं हैं) ***'रमानाथ जहँ राजा......अनिमादिक सुख संपदा रहीं अवध सब छाइ॥'*** (७। २९) (ख) ऋद्धि-सिद्धि आदिके आनेका हेतु यह है कि सबको विवाहोत्सव देखनेकी लालसा है, यहाँ—***'मंगल सगुन मनोहरताई। रिधि सिधि सुख संपदा सुहाई॥ जनु उछाह सब सहज सुहाए। तनु धरि धरि दसरथ गृह आए॥ देखन हेतु राम बैदेही। कहहु लालसा होहि न केही॥'*** (१। ३४५) (ग) ***'नदी सुहाई'***—ऋद्धि-सिद्धि और सम्पत्ति चल हैं, चलायमान हैं स्थिर रहनेवाली नहीं हैं। आज कहीं हैं तो कल कहीं। इसीसे इनसे नदीका रूपक बाँधा गया। यथा—***'राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥ सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गए पुनि तबहिं सुखाहीं॥'*** (५। २३) अयोध्याजीकी सम्पत्ति अचल है अतः उसे समुद्रसे रूपक दिया। नदियाँ समुद्रमें मिलनेसे अचल हो जाती हैं, अन्यत्र वे चल (अस्थिर) हैं। अवधरूपी समुद्रमें संगम होनेसे सब ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्ति यहीं छा गयीं अर्थात् अचल होकर रह गयीं। यथा—***'अनिमादिक सुख संपदा रही अवध सब छाइ।'*** समुद्रके भीतर मणिगण अचल हैं वैसे ही अवधवासी अयोध्यापुरीको छोड़नेकी इच्छा नहीं करते, अवध त्याग करनेके विषयमें जड़ हैं। (घ) ***'सुहाई'*** का भाव कि अवध-वासियोंकी सम्पत्ति सुकृतसे प्राप्त हुई है। अधर्ममय सम्पत्ति सुहाई नहीं होती। रावणकी सम्पत्ति लूटमारकी थी। लूटमारकर, सताकर, जीवोंको दुखाकर उसने सम्पत्ति बटोरी थी, इसीसे उसके सम्बन्धमें कहा है कि ***'रावन सो राजा रजतेजको निधान भो। तुलसी तिलोक की समृधि सौंज संपदा सकेलि चाकि राखो रासि, जाँगर जहान भो।'*** (क० सुं०३२) ***'जागर'*** पीटनेसे होता है। रावणने; पीटकर (सताकर) सम्पत्ति प्राप्त की थी। अयोध्यावासियोंके यहाँ संपत्ति अपनेसे आयी। अथवा, नदीकी बाढ़ भयानक होती है, यथा—***'पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई॥'*** (४३। १) ***'स्रवहिं सैल जनु निर्झर भारी। सोनित सरि कादर भयकारी॥'*** पर यह नदी भयानक नहीं है, ***'सुहाई'*** है, क्योंकि ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्ति सबको सुन्दर लगती है। [जी दुखाकर बटोरी हुई सम्पत्ति ***'असुहावनी'*** होती है। ऐसी सम्पत्ति-नदी भयावनी होती है। क्योंकि वह पापरूपी पर्वतसे निकलती है, यथा—***'पाप पहार प्रगट भइ सोई।'*** सम्पत्तिसे नवनिधि समझिये। यह सबको सुहाती ही है। अतः सुहाई कहा। (प्र० सं०)]

नोट—२ मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि ***'जब तें राम ब्याहि घर आए। नित नव मंगल......'*** से बालकाण्ड-का सम्बन्ध मिलाकर आगे ***'भुवन चारि दस......'*** में ***'नित नव मंगल'*** का रूपक बाँधते हैं। जैसे इन नदियोंका जल नित्य नया समुद्रमें प्रवेश करता है वैसे ही नित्य नये मंगल-मोद-बधावे अवधमें होते हैं। २—***'संपत्ति'*** और ***'नदी सुहाई'*** का साम्य इसलिये है कि नदी कुटिलगामिनी है, यथा—***'गति कूर कविता सरितकी'***, **'नद्यः कुटिलगामित्वात्'**। (विश्वनाथ कवि) (सू० प्र० मिश्र)

टिप्पणी—३ ***'उमगि अवध अंबुधि......'*** इति। (क) अवधको अम्बुधि कहनेका भाव कि (१) समुद्र स्वयं पूर्ण है, वह नदियोंके जलकी अपेक्षा नहीं करता। वैसे ही अयोध्या सब सम्पत्तिसे भरी है, उसे ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्तिकी किंचित् भी अपेक्षा नहीं, यथा—***'जिमि सरिता सागर महँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥ तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाये। धरमसील पहिं जाहिं सुभाये॥'*** (१। २९४) समुद्र जलकी अवधि (सीमा एवं अधिष्ठान) है, वैसे ही अवध सुखकी सीमा है, अधिष्ठान है। चौदहों भुवनोंका सुख सिमिटकर अवधमें भर गया। (२) चौदहों भुवनोंमें मेघोंकी वर्षाकी-सी सम्पदा है और अवधमें समुद्रकी-सी सम्पदा है। सब भुवनोंमें बूँद-बूँद मात्रकी आमदनी (आय) है और अयोध्यामें सहस्रों नदियोंके संगमकी-सी आमदनी है। [सुखरूपी जलकी वृष्टि तो सब लोकोंमें हुई, पर सब लोकोंका सुख बूँदमात्र ही हुआ, क्योंकि वहाँ

केवल बूँद बरसे और जल तो सब अवधरूपी समुद्रमें ही उमड़कर आ गिरा है। (प्र०सं०)] (३) अयोध्याके समान अयोध्या ही है जैसे समुद्रके समान समुद्र ही है। (४) जैसे समुद्र एकरस अचल है, कभी घटता नहीं; वैसे ही अयोध्याकी सम्पत्ति अचल है। (ख) *'आई'* का भाव कि अपनेसे आ गयी। अवधवासियोंको उसकी चाह नहीं है। यहाँतक समुद्रके बाहरकी सम्पदा (जो उसमें बाहरसे आयी) कही, आगे उसके भीतरकी सम्पत्ति कहते हैं।

टिप्पणी—४ *'मनिगन पुर नर······'* इति। (क) पुर-नरनारिको मणिगण कहनेसे पाया गया कि अयोध्याका रूपक रत्नाकर समुद्रसे बाँधा है। जैसे समुद्रके समान समुद्र, वैसे ही अयोध्याके समान अयोध्या और यहाँके पुरवासियोंके समान यहीं हैं, अन्यत्र चौदहों भुवनोंमें न तो ऐसे सुन्दर पुरवासी हैं और न किसीके ऐसे सुकृत हैं जो मेघोंके समान समस्त भुवनोंमें सुख बरसावें। (ख) जैसे समुद्रके बाहरकी सम्पदा ऋद्धि-सिद्धि कही और *'सुहाई'* शब्दसे उसकी शोभा कही, वैसे ही बाहरकी सम्पदा मणिगण-पुरनरनारि कहकर *'सुचि अमोल सुंदर सब भाँती'* से उसकी शोभा कही। (ग) ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्तिसे अवधवासी श्रेष्ठ हैं क्योंकि वह नदी है और ये मणिगण हैं। नदीसे मणिगण विशेष (श्रेष्ठ) हैं। मणिकी जाति, पवित्रता, मूल्य और सुन्दरता देखी जाती है। इसीसे यहाँ भी चारोंको कहा। कोई मणि स्त्रीवाचक है, कोई पुरुषवाचक, इसीसे *'नरनारि'* कहा। शुचि, सुजाति, अमूल्य और सुन्दर ये सब मणिगणके विशेषण हैं, क्योंकि सब पुरवासी सब प्रकार सुन्दर, शुचि आदि हैं। (घ) इस सुखके भोक्ता श्रीदशरथजी हैं। पुरवासी रत्न हैं। रत्नोंका लाभ राजाको होता है।

टिप्पणी—५ जलका वर्णन करके अवधवासियोंको जलचर कहना चाहिये था अर्थात् कहना था कि उस सुखरूपी जलमें विहार करनेवाले जलचर हैं, पर ऐसा न कहा, क्योंकि यहाँ अयोध्याकी विभूति कहते हैं, यथा—*'कहि न जाइ कछु नगर बिभूती।'* जलचरकी गणना विभूतिमें नहीं है, इसीसे मणिगणकी उपमा दी। अथवा, अवधवासी सुखके विहारी हैं, वे तो श्रीरामस्वरूप सुखके विहारी हैं, इससे जलचरकी उपमा न दी।

टिप्पणी—६-*'मनिगन पुर नर नारि·········'* इति। (क) वर्षाका जल नदियोंद्वारा उमड़कर समुद्रमें जाता है, उससे वहाँ सुजाति, अमूल्य और सुन्दर मणिगण होते हैं, यह अवर्ण्य (उपमान) है। वैसे ही चौदहों भुवनोंमें सुकृतजनित सुखकी वृद्धि हुई, जो ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्तिद्वारा उमगकर अवधमें आ प्राप्त हो गया जिससे यहाँके स्त्री-पुरुष सुजाति और शुचि गुणयुक्त भी हुए एवं अन्य सब प्रकारसे सुन्दर हुए, यह अभिधेय (प्रतिपाद्य विषय) है। अतएव उससे यावत् सुकृतोंके फलकी परिसमाप्ति और उसके फलभूत गुणगणयुक्त नर-नारि हुए, यह व्यंग है। (पं० रा० कु०) पुनः, (ख) भाव कि समुद्रमें रत्न होते हैं; पर ये रत्न सभी तरहके होते हैं, इनमें भी वर्णभेद होता है, इनमें बहुत-से कुजाति अर्थात् दूषित भी होते हैं, बहुतोंका कुछ-न-कुछ मूल्य भी होता है और कितने ही देखनेमें सुन्दर भी नहीं होते। और अवधवासी सभी स्त्री-पुरुष सुजाति मणिगण हैं। अर्थात् सुकृत-परायण, उत्तमाचरणवाले, पवित्र, अमूल्य (प्रतिष्ठित) और सभी प्रकारसे सुन्दर हैं [वाल्मी० १। ६ में लिखा है कि अयोध्याजीके सभी स्त्री-पुरुष धर्मात्मा, संयमी, शीलवान्, चरित्रवान्, महर्षियोंके समान शुद्ध, आत्मवान्, अग्निहोत्री, यज्ञ करनेवाले, बहुश्रुत, वेदांगोंके ज्ञाता, रूपवान्, राजभक्त, दानी, कृतज्ञ, सत्यके अनुयायी, पराक्रमी, धनधान्यसे पूर्ण और दीर्घजीवी थे। यथा—**'सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयुताः। मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः'** (९) '**······कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रमसंयुताः**' (१७) '**दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः**' (१८) ये सब भाव 'सुजाति', शुचि, अमोलसे सूचित कर दिये हैं। सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि और लोकोंमें पाप-पुण्य दोनोंकी व्यवस्था रहती है, परंतु श्रीअवधमें इन बातोंका नाम निशान भी नहीं, विषमताका नाम ही वहाँसे निकाल दिया गया है, समता-ही-समता रह गयी है। इसीलिये 'सुजाति' विशेषण ठीक घटता है।] (ग)—'सब भाँति' अर्थात् और भी जिस प्रकारकी सुन्दरता कोई होती हो वह सब भी इनमें है।

नोट—३ पुरनरनारियोंके विषयमें जो यहाँ कहा है उसका मिलान उत्तरकाण्ड दोहा २१ से कीजिये। यथा—*'राम भगतिरत नर अरु नारी। सकल परमगति के अधिकारी॥ अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब*

सुंदर सब बिरुज सरीरा॥ नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥ सब निर्दंभ धरमरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥'

कहि न जाइ कछु नगर बिभूती। जनु एतनिअ बिरंचि करतूती॥५॥

शब्दार्थ—**बिभूती** (विभूति)=ऐश्वर्य, सुख-समृद्धि, ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्ति। **एतनिअ**=बस इतनी ही। **बिरंचि**=रचना करनेमें विशेष निपुण, ब्रह्माजी। **करतूती** (कर्तृत्व)=कारीगरी, कौशल, करामात।

अर्थ—नगरका ऐश्वर्य कुछ कहा नहीं जाता। ऐसा जान पड़ता है, मानो ब्रह्माकी करतूत बस इतनी ही है॥५॥

टिप्पणी—१ (क) नगरकी विभूतिका वर्णन करनेके लिये समुद्रका रूपक बाँधा। भाव कि नगर समुद्रके समान सुखसे भरा है। (ख) *'कहि न जाइ'* यथा—*'अवधपुरी बासिन्ह कर सुख संपदा समाज। सहस सेष नहिं कहि सकहिं……॥'* (७। २६) इससे जनाया कि उस विभूतिको ऐसा ही जानिये जैसा रूपकमें *'जब तें राम ब्याहि घर आये'* से *'रामचंद मुखचंदु निहारी'* तक कहा गया। (क) *'जनु एतनिअ बिरंचि करतूती'* इति। ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्ति विधिकी रची हुई है। नगर साक्षात् साकेत है। विधिनिर्मित नहीं है। इसीसे विधिकी करनी नगरमें नहीं कही गयी। 'बिरंचि की करतूती' को विभूतिके साथ लगाना चाहिये। अयोध्या विभूतिकी अवधि (सीमा) है, सुखकी अवधि है और उसका ऐश्वर्य ब्रह्माकी करतूतिकी अवधि है। (घ) उपर्युक्त नगरकी ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्ति, स्त्री-पुरुष, सभी 'विभूति' पदसे जना रहे हैं। यह सब विभूति उत्प्रेक्षाका विषय है। कविने यहाँ ब्रह्माजीके सृष्टि-रचना-कौशलपर इतिश्री लगाकर (कि मानो ब्रह्माकी इतनी ही करामात है। इससे अधिक नहीं, इससे बढ़िया रचना अब वे नहीं कर सकते, उनकी कारीगरीकी इतिश्री हो गयी, सब यहीं खर्च हो गयी) नगरके ऐश्वर्यको अकथनीय सूचित किया। नगरकी विभूतिमें इतिश्री नहीं लगायी।—(पं० रामकुमार) यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। [सू० प्र० मिश्र—*'जनु एतनिअ……'* का भाव यह है कि ब्रह्माकी करतूति लोकोंके भीतर ही रह गयी, कहीं बाहर नहीं छिटकी। जब यहाँ उनकी मति ही न पहुँची तब ब्रह्माकी सृष्टिसे उत्पन्न सांसारिक या पारलौकिक लोगोंकी गति क्या चलेगी?]

पं० रामकुमारजी—हिंदूशास्त्रोंके अनुसार अयोध्याजी यद्यपि सृष्टिमें हैं तथापि अलग भी हैं। गीतावली उत्तरकाण्डसे मिलान कीजिये—*'देखत अवधको आनंद। हरषि बरसत सुमन निसिदिन देवतनि को बृंद॥ नगर रचना सिखन को विधि तकत बहु बिधि बृंद। निपट लागत अगम ज्यों जलचरहि गमन सुछंद॥ मुदित पुरलोगनि सराहत निरखि सुखमाकन्द। जिन्हके सुअलि-चष पियत राममुखारविंद मकरंद॥ मध्य व्योम विलंबि चलत दिनेस उडुगनचंद। रामपुरी बिलोकि तुलसी मिटत सब दुख द्वंद्व॥'* (पद २३। १—४) (विशेष १। १६। १ *'बंदौ अवधपुरी अति पावनि'* में देखिये।) यहाँतक नगरकी विभूति कही, आगे पुरवासियोंका हाल कहते हैं।

सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद मुखचंदु निहारी॥६॥
मुदित मातु सब सखी सहेली। फलित* बिलोकि मनोरथ बेली॥७॥
रामरूप गुन सील सुभाऊ। प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ॥८॥

---

* 'फुलित' पाठ पं० शिवलालपाठककी प्रतिमें है और दीनजी उसको शुद्ध मानते हैं। वे कहते हैं कि बेलोंकी शोभा साहित्यमें फूलनेहीमें मानी गयी है। दूसरे फलित तब कह सकते जब उनके संतान पैदा होती, सो उसका जिक्र इस काण्डमें है नहीं। वृक्ष या विटपके वास्ते 'फलित' लिखना और लताओंके लिये 'फुलित' लिखना ही उचित है।

अन्य सब प्रतियोंमें 'फलित' पाठ है, भागवतदासजी और राजापुरका यही पाठ है। इस पाठके पक्षमें गौड़जी कहते हैं कि—मानसकारने यहाँ पाठ 'फलित' रखा है, फुलित नहीं। उसके कई हेतु हैं—(१) फुलित शब्द रामचरितमानसभरमें और कहीं नहीं आया। फलित शब्द अर्द्ध तत्सम है, फुलित खींचातानीसे तद्भव हो सकता है। तुलसीदासजीने प्राकृतके व्याकरणका पूरा ध्यान रखा है। इससे अनुमान होता है कि यहाँ 'फुलित' नहीं 'फलित'

शब्दार्थ—**सुखारी**=सुखी। **चंद, चंदु** (चन्द्र)=चन्द्रमा। **निहारी**=देखकर। **मुदित**=आनन्दित, आनन्दमें भरा। सखी-सहेली—ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। दोनों एक ही अर्थमें एक साथ बोलनेका मुहावरा है। तो भी इनके यहाँ साथ प्रयुक्त किये जानेसे लोग इनके भिन्न-भिन्न अर्थ भी लगाते हैं। शब्दसागरमें लिखते हैं कि—'**सखी**'=सहचरी, संगिनी। साहित्य-ग्रन्थोंके अनुसार वह स्त्री जो नायिकाके साथ रहती हो और जिससे वह अपनी कोई बात न छिपावे। सखीका चार प्रकारका कार्य होता है—मंडन, शिक्षा, उपालम्भ और परिहास। विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'सखी' (स=बराबर+ख्या=कहलाना)=बराबरीवाली संगिनी। रघुवंशमें कहा है—'**समानशीलव्यसनेषु सख्यम्**' अर्थात् एक-से स्वभाव झुकाववाली आपसमें सखी कहलाती हैं। सहेली [सह + एली (प्रत्यय)]=साथमें रहनेवाली, संगिनी, अनुचरी, परिचारिका।—(श० सा०) बैजनाथजी और वीरकविजी कहते हैं कि 'सखी' पूज्य मित्राणी है और 'सहेली' उससे न्यून है, इसमें सेवकिनीका भाव होता है। **फलित**=फली हुई, फलती हुई, सम्पन्न, पूर्ण। **बेली**=बेल, लता। वनस्पति-शास्त्रके अनुसार वे छोटे कोमल पौधे जिनमें काण्ड या मोटे तने नहीं होते और जो अपने बलपर ऊपरकी ओर उठकर नहीं बढ़ सकते। **मनोरथ**=अभिलाषा, इच्छा। **सील** (शील)=हृदयकी वह स्थायी स्थिति है जो सदाचारकी प्रेरणा आप-से-आप करती है। इसका आचरण आनन्द और हर्षपूर्वक होता है। मुरव्वत, सद्वृत्ति, उत्तम आचरण, चाल-व्यवहार, संकोची स्वभाव, दूसरेका जी न दु:खे यह भाव, शिष्टाचार। शील कहीं दस, कहीं पाँच कहे गये हैं। **प्रमुदित**=बहुत ही आनन्दित।

अर्थ—सब पुरवासी श्रीरामचन्द्रजीका चन्द्ररूपी मुख देखकर सब प्रकारसे सुखी हैं॥ ६॥ सब माताएँ और उनकी सखी-सहेलियाँ मनोरथरूपी बेलिको फली हुई देखकर आनन्दित हैं॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रके रूप, गुण, शील और स्वभावको देख-सुनकर राजा अत्यन्त आनन्दित होते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'सब बिधि सब पुरलोग'*****......' इति। (क) यहाँ पुरके लोगोंका सुखी होना कहा। 'लोगाइयों' (स्त्रियों) को नहीं कहा। कारण कि स्त्रियाँ बिना अवसरके अपने-अपने घरोंसे निकलकर श्रीरामजीका मुख नहीं देख सकतीं और यहाँ मुखचन्द्र देखकर सुखी होनेका प्रसंग कह रहे हैं, इसीसे स्त्रियोंको न कहा। अथवा, 'लोग' में स्त्री-पुरुष दोनों आ गये।

टिप्पणी—२ ***'रामचन्द मुखचंदु निहारी'*** इति। (क) मुखचन्द्रको देखकर सुखी होना कहकर जनाया कि पुरवासी नगरकी विभूति-(ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्ति आदि-) से सुखी नहीं हैं, वे तो श्रीरामचन्द्रजीके मुखचन्द्रको ही देखकर सुखी होते हैं। (इनके दर्शनके आगे वे ऋद्धि-सिद्धि एवं नवनिधियोंको तुच्छ मानते हैं, वे सब तो दर्शनपर निछावर कर डालनेकी वस्तुएँ हैं।) (ख) इससे यह भी जनाया कि श्रीरामजीका नित्यप्रति दर्शन करना यह पुरवासियोंका नित्यका नियम है और मुखचन्द्रदर्शनका सुख समस्त सुखोंसे बढ़कर है, यथा—***'मुख छबि कहि न जाइ मोहिं पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥'*** (ग) उपर्युक्त भाव (कि

है। (२)—फुलित माननेवाले यह समझते हैं कि माताओं और उनकी सखियों-सहेलियोंका मनोरथ संतानके हो जानेमें फलित होगा परंतु वह इस बातको भूल जाते हैं कि त्रेतायुगमें कलियुगकी तरह ब्याह होते ही सन्तान नहीं हो जाती थी। साठ हजार वर्षपर राजा दशरथके और दस हजार वर्षपर स्वयं चारों भाइयोंके सन्तति हुई। यह साधारण नियम था। सन्तानका शीघ्र होना अपवाद है। ऐसे दीर्घकालके बाद होनेवाली घटनाके लिये मनोरथकी कथा अस्वाभाविक दीखती है। यदि कहा जाय कि मनोरथका अन्तिम फल राज्य-प्राप्ति था तो राज्य-प्राप्ति विवाहसे वह सम्बन्ध नहीं रखता जो सम्बन्ध लता, फूल और फलमें है। (३)—विश्वामित्रने 'इन्ह कहँ अति कल्यान' यह कहकर जो आशा दिलायी थी उस आशा-लतामें फूल तब लगे जब धनुषभंगके समाचार राजा आदिको मिले। उन फूलोंमें फल तब प्राप्त हुए जब माताओं और सखियोंने बहुओंके मुख देखे। जैसे स्त्रियोंकी आशा-लता फली वैसे ही राजा दशरथके मनोरथका वृक्ष भी उस समय फला जब कि उन्होंने पहले-पहल जनकपुरमें बहुओंका मुख देखा। यहाँ मनोरथके साथ बेलिका प्रयोग करके संगतिकी रीतिको भंग करते हुए भी सुकविने राजाके मनोरथ और रानियोंकी आशाके फलित होनेकी सुसंगति दिखायी है।

श्रीरामदर्शनसे ही सुख मानते हैं नगरविभूतिसे नहीं) पाठके व्यतिक्रमके कारण कहा गया है। ***'कहि न जाइ कछु नगर बिभूती'*** कहकर तुरंत यह कहनेसे कि ***'सब बिधि सब पुरलोग सुखारी'*** यह समझा जाना स्वाभाविक है कि सब पुरवासी इस विभूतिके कारण सुखी हैं, इसीसे उसका निराकरण करनेके लिये अगले चरणमें कहते हैं कि 'रामचन्द्रजीके मुखचन्द्रको देखकर वे सुखी हैं।' बीचमें ***'सुखारी'*** शब्द देनेसे यह भी भाव है कि 'ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्ति' का लौकिक सब सुख होनेपर भी वे श्रीरामदर्शनसे ही सुखी होते हैं।

टिप्पणी—३ (क) सब पुरवासियोंको नगरकी विभूतिमें गिना आये, यथा—***'मनिगन पुरनरनारि सुजाती।'*** श्रीरामजीको 'नगरविभूति' नहीं कहा, क्योंकि ये उसकी विभूति नहीं हैं, किंतु उसके तथा उसकी विभूतिके पति (स्वामी) हैं। यहाँतक अवधवासियोंको स्वार्थ और परमार्थ दोनोंकी प्राप्ति दिखायी। विरंचिकी करतूतिकी सीमा ऐसी विभूति पुरवासियोंको प्राप्त है, यह स्वार्थकी प्राप्ति है और ***'रामचंद मुखचंदु निहारी'*** यह परमार्थकी प्राप्ति है, यथा—***'राम ब्रह्म परमारथ रूपा॥'*** (९३। ७) प्रथम स्वार्थकी अवधि कही थी, अब परमार्थकी कही। अवधवासियोंके निकट (समक्ष) सामान्य है, परमार्थ विशेष है यह बात वनयात्राके समय स्पष्ट देख पड़ी है। (ग) विभूतिके भोगसे ताप होना चाहिये, यथा '**भोगे रोगभयं सुखे दुःखभयम्।**' अर्थमें चौदह अनर्थ कहे गये हैं। वे अवधवासियोंको नहीं होते। उनका भय इनको नहीं है, क्योंकि रामचन्द्रजीके दर्शनसे त्रिताप रह ही नहीं सकता, यथा—***'बदन मयंक ताप त्रय मोचन॥'*** (१। २१९) (इनको तो ताप दर्शन न मिलनेसे ही होता है।)

नोट—१ यहाँ प्रसंगसे ध्वनित है कि श्रीरघुनाथजीके विश्वामित्रजीके संग चले जानेपर पुरवासियोंको सब तरहका दुःख था जो अब मिट गया है। आगे पुरवासियोंको वियोगकातर सरकारके रथके पीछे-पीछे नगर छोड़ एक मंजिलतक जाना, फिर भरतजीके साथ मनाने जाना और अन्तमें उस वियोग-दुःखसे उनके शुभागमनसे छुटकारा पाना सबकी संगति है। (गौड़जी)

टिप्पणी—४ ***'पुरलोग सुखारी रामचंद मुखचंदु……'*** इति। (क) चन्द्रमाको देखकर समुद्र अपने परिकर-(तरंगमाल-) द्वारा अपना हर्ष जनाता है; वैसे ही श्रीरामचन्द्रजीका मुखचन्द्र देखकर अवध (अयोध्यापुरी) पुरवासियोंद्वारा अपना हर्ष जना रहा है। यह उपर्युक्त (पूर्व चौपाईकी टिप्पणीमें कहा हुआ) रूपकाभिधान है; फल व्यंजित किया। [(ख)—मुखपर चन्द्रमाका आरोपण करके उसका आह्लादकारक होना सूचित किया। मुखचन्द्र देखकर सुखी रहते हैं—इस कथनसे यह संदेह होता है कि मुखमात्रमें आह्लाद है, शेष अंग आह्लादकारक नहीं हैं। अतएव यहाँ '*राम*' के साथ भी ***'चंद'*** पद देकर जनाया कि सभी अंग आह्लादकारक हैं। श्रीरामचन्द्रजीका मुखचन्द्र देख सुखी होना कहकर इनको सर्व-दूषण-रहित जनाया। (ग) समुद्र पूर्णचन्द्रको देखकर विशेष तरंगित होता है। समस्त नदियोंका जल पाकर भी वह वैसा तरंगित नहीं होता। यहाँ नगरभरका आह्लादित होना कहा। इसकी व्याख्या उत्तरकाण्डके ***'राकाससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान। बढ़ेउ कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान॥'*** (दो० ३) में है (बाबा रामदासजी)। पुनः (घ) ***'सब बिधि सब पुर लोग सुखारी।'*** का भाव कि इनको सदा सुखोंकी उमंग रहती है, यह रामचन्द्रजीके मुखचन्द्रको देखकर सदा आह्लादित रहते हैं; समुद्रको सदा यह अवसर प्राप्त नहीं वह केवल पूर्णचन्द्रको देख आह्लादित होता है। (मुं० रोशनलाल)]

नोट—२ यहाँ यह शंका होती है कि ***'पुर नरनारि'*** की तो मणिगणसे उपमा दी थी न कि समुद्रसे। तब यहाँ मणियोंका सुखी होना चन्द्रको देखकर—यह कैसा? इसका समाधान यह है कि पहला सांगरूपक अर्धाली ४ पर पूरा हो गया। यहाँ उल्लास अलंकार है। रामचन्द्रजीके मुखपर पूर्णचन्द्रका आरोप किया गया। अतः उसके सम्बन्धसे ***'पुरलोग'*** समुद्र हुए; क्योंकि चन्द्रमा समुद्रके ही उल्लासका हेतु है।

टिप्पणी—५ ***'मुदित मातु सब सखी सहेली।……'*** इति। (क) बाहरका हाल कहकर अब अन्तःपुरका हाल कहते हैं। प्रथम पुरवासियोंका आनन्द कहकर अब माताओं-(रानियों-)का सुख कहते हैं, फिर पिता-(राजा-)का सुख कहेंगे। (ख) मातासे नीची उनकी सखी हैं और सखीसे नीचे सहेली हैं,

अत: उसी क्रमसे कहते हैं। (सखी-सहेलीके भेद शब्दार्थमें देखिये।) (ग) ***'फलित बिलोकि मनोरथ बेली'*** मनोरथ सफल हुए यह देखकर मुदित हैं। अर्थात् जितनी भी कामनाएँ थीं वे सब पूर्ण हुईं। मनोरथ ये थे कि पुत्रोंका विवाह हो जाय, उनके अनुरूप योग्य दुलहिनें मिलें, कुल अच्छा मिले। ये सब पूरी हुईं, अत: मुदित हैं। यथा—***'पूजी सकल कामना जीकी', 'उमगि उमगि आनंद बिलोकति बधुन्ह सहित सुत चारी।'*** (गी० १। १०९) ***'राम सीय छबि देखि जुवति जन करहिं परस्पर बाता। अब जान्यो साँचहूँ सुनहु सखि कोबिद बड़ो बिधाता॥'*** (गी० १। ११०) ***'एहि सुख ते सतकोटि गुन पावहिं मातु अनंदु। भाइन्ह सहित बिआहि घर आए रघुकुलचन्दु॥'***(१।३५०)—इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि पुत्रवधुओंकी प्राप्ति ही मनोरथका फलयुक्त होना है। (***'फलित'*** पाठका समर्थन पाठान्तरकी पाद-टिप्पणीमें किया गया है। विशेष भाव वहीं देखिये।) १। ३५१। १ देखिये।

नोट—३ पाँड़ेजी, बैजनाथजी और विनायकी टीकाकार 'पुत्र बधू' को मनोरथकी बेल और उनका अपने अनुकूल आचरण होना, उनकी सेवा सुलक्षणासे प्रसन्न होना 'फलित' होना कहते हैं। पर विवाह-प्रकरणसे भी बहुओंसहित पुत्रोंका देखना ही फल लगना सिद्ध होता है। वहाँ राजाके मुदित होनेका प्रसंग है, वैसे ही यहाँ रानियोंके मुदित होनेका। वहाँ भी 'फल' पद प्रयुक्त हुआ और यहाँ भी। मिलान कीजिये, यथा—***'बैठे बरासन रामु जानकि मुदित मन दसरथु भए। तन पुलक पुनि पुनि देखि अपने सुकृत सुरतरु फल नए॥ मुदित अवधपति सकल सुत बधुन्ह समेत निहारि। जनु पाए महिपालमनि क्रियन्ह सहित फल चारि॥'*** (१। ३२५) राजाको तो यह आनन्द जनकपुरमें ही प्राप्त हो चुका था, रानियोंको वह सुख अब मिला ***'जब तें राम ब्याहि घर आये'*** वहाँ राजाको 'मुदित' कहा और यहाँ रानियोंके प्रति वही 'मुदित' शब्द दिया गया।

टिप्पणी—६ (क) ***'मनोरथ बेली'***—मनोरथको बेलि कहा, क्योंकि मनोरथ माताओं (स्त्रियों) आदिका है तथा स्त्रियों-(बहुओं-)की प्राप्तिका है। राजा पुरुष हैं और उनका मनोरथ पुरुषवाचक युवराज-पद देनेका है, इसीसे उनके मनोरथको पुरुषवाचक पुँल्लिँग शब्दसे रूपक देंगे; यथा—***'मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥'*** (२९। ७) (पु० रा० कु०) पुन: बेलि दूसरेके आश्रयसे बढ़ती, फूलती, फलती है। इसी तरह इनके मनोरथ देव-देवताओंकी मान-मान्यता मन्नतोंके आश्रित होकर फली। इन्होंने मनोरथकी पूर्तिके लिये बहुत-सी मन्नतें मानी थीं, यथा—***'देव पितर पूजे बिधि नीकी। पूजी सकल बासना जीकी॥'*** (१। ३५१। १) अत: मनोरथको बेलि कहा। (श्रीरामदासजी प्र० सं०)

टिप्पणी ७—(क) ***'रामरूप गुन सील सुभाऊ'*** इति। ये सब बातें चारों भाइयोंमें हैं पर श्रीरामजीका रूप, गुण और शील सबसे अधिक है, यथा—***'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥'*** (१। १९८।६) इसीसे इनके रूप-गुणादिको देखकर विशेष प्रसन्नताका होना कहा। वाल्मीकीयमें जो रूप-गुणादिका विस्तृत वर्णन सर्ग १ व २ में है वह सब इतनेसे यहाँ जना दिया है। स्वभावके सम्बन्धमें भुशुण्डीजी कहते हैं कि ***'सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मो पर कृपा परम मृदुलाई॥ अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥'*** (७। १२४) (इनमेंसे कुछ गुणोंका उल्लेख आगे ***'भए राम सब बिधि सब लायक॥'*** (३। १) में किया गया है।) (ख) प्रथम रूप है, रूपमें गुण, शील-स्वभाव होते हैं। इसीसे 'रूप' को प्रथम कहा।

टिप्पणी ८— ***'प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ'*** इति। [(क) रूपादि देखकर सभी प्रसन्न होते हैं, यथा—***'भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता।'*** (१। २१५)—***'प्रभु सोभा सुख जानहिं नयना। कहि किमि सकहिं तिन्हहि नहिं बयना॥'***(७। ८८) ***'सुमिरि रामके गुनगन नाना। पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना॥'*** (७। १२४) ***'सुनि सीतापति सील सुभाउ' 'मोद न मन तन पुलक नैन जल सो नर खेहर खाउ।'*** (वि० १००) (इस पदमें शील स्वभावका सुन्दर वर्णन है और अयोध्याकाण्डमें इन सब गुणोंका ठौर-ठौरपर वर्णन मिलेगा।) फिर ये तो राजाके पुत्र ही हैं इनका विशेष प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है।] (ख) प्रमुदितका भाव कि देखकर

मुदित हैं और (दूसरोंसे श्रीरामरूप-गुणादिकी प्रशंसा) सुननेपर प्रमुदित (विशेष आनन्दित) होते हैं। अथवा, माता आदिके सुखसे इनको अधिक सुख होता है, यह जनानेके लिये ***'प्रमुदित'*** शब्द दिया। माता आदि ***'मुदित'*** हैं, राजा ***'प्रमुदित'*** होते हैं। इसीसे यहाँ **'प्र'** उपसर्ग अधिक दिया। [रानियोंका एक ही मनोरथ था, अतः वे रूप देखकर प्रसन्न होती हैं और राजा रूप तो देखते ही हैं, साथ ही उनके गुण-शील-स्वभाव भी देखते-सुनते हैं। वे केवल दुलहिनोंको देखकर मुदित होती हैं और वे श्रीरामरूप-गुणादिसे प्रसन्न होते हैं। अतः रानियोंको ***'मुदित'*** और राजाको ***'प्रमुदित'*** कहा (प्र० सं०) पुनः भाव कि श्रीभरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्नजीके रूपगुणादि देख-सुनकर ***'मुदित'*** होते हैं और श्रीरामजीके रूपादि देख-सुनकर ***'प्रमुदित'*** होते हैं। (प्र० सं०) अथवा गुणशील आदि देख-सुनकर सोचते हैं कि ये इन सबोंसे सुशोभित हैं, अब इनको राज्य मिलना चाहिये। हृदयमें बारंबार यह विचार उठनेसे ***'प्रमुदित'*** हो रहे हैं। (मानसमयंक) यथा—'**एषा ह्यस्य परा प्रीतिर्हृदि संपरिवर्तते। कदा नाम सुतं द्रक्ष्याम्यभिषिक्तमहं प्रियम्॥**' (वाल्मी० २। १। ३७) आगे ***'राम सुजस सुनि अतिहि उछाहू।'*** से भी यह भाव पुष्ट होता है।

नोट—५ ***'देखि सुनि'*** इति। राजा नित्य इनके रूप, गुण, शील आदिको देखते थे। यथा—'**एतैस्तु बहुभिर्युक्तं गुणैरनुपमैः सुतम्। दृष्ट्वा दशरथो राजा चक्रे चिन्तां परंतपः॥**' (२। १। ३५) अर्थात् शत्रुसंतापी राजा दशरथने इस प्रकारके अनेक सुन्दर गुणोंसे पुत्रको विभूषित देखकर मनमें विचार किया। क्या गुण देखे, इनका वर्णन श्लोक ६ से ३४ तक है। आगे श्लोक ३८ से ४१ तकमें राजाका मनमें गुणोंको गुनना पाया जाता है। नारदादिसे, वेदार्थविज्ञ बड़े-बूढ़ोसे, मन्त्रियोंसे, पुरवासियोंसे तथा बाहरसे आये हुए राजाओं आदिसे सुना है, वे श्रीरामजीकी प्रशंसा बारंबार किया करते थे। यथा—'**भगवन् राममखिलाः प्रशंसन्ति मुहुर्मुहुः। पौराश्च निगमा वृद्धा मन्त्रिणश्च विशेषतः॥**' (अ०रा० २। २। २) (यह राजाने स्वयं वसिष्ठजीसे कहा है।) नागरिक और राज्यके प्रजाप्रतिनिधियोंकी ओरसे सामन्त राजाओंने श्रीदशरथजीसे श्रीरामजीके गुणोंका वर्णन वाल्मी० २। २ (श्लोक २७ से ५४ तक) में किया है; जिसे सुनकर राजा प्रसन्न हुए; पर ये गुण उस समय कहे गये हैं जब राजाने अपना मत उनसे प्रकट किया था कि हम रामका राज्याभिषेक करना चाहते हैं।

टिप्पणी—९ (क) पुरवासियोंको दर्शनसे सुख, यथा ***'सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद मुखचंदु निहारी॥'*** माताओंको विवाहसे सुख, यथा—***फलित बिलोकि मनोरथ बेली'*** क्योंकि माताओंको पुत्रके विवाहकी इच्छा रहती है और राजाको पुत्रके रूप, गुण, शील, स्वभावकी इच्छा रहती है। माताका सुख कहा—***'मुदित मातु'*** वैसे ही यहाँ पिताका सुख कहना था। पर पिता न कहकर राजाका सुख कहा—***'देखि सुनि राऊ।'*** क्योंकि राजाको सदा योग्य उत्तराधिकारीकी चाह रहती है, वे इनमें राज्यशासनके समस्त गुण देख-सुनकर प्रसन्न हो रहे हैं। पुत्रमें गुण जानकर मुदित हैं और ये राज्यशासनके योग्य हैं यह जानकर प्रमुदित हैं। (ख) यहाँ उत्तरोत्तर एकसे दूसरेका सुख अधिक दिखाया है। पुरलोग 'सुखारी' हैं, माताएँ मुदित और राजा 'प्रमुदित'। 'सुखारी' से 'मुदित' और 'मुदित' से 'प्रमुदित' विशेष हैं।

दो०—सबके उर अभिलाषु अस कहहिं मनाइ महेसु।
आपु अछत जुवराजपद रामहिं देउ नरेसु॥ १॥

शब्दार्थ—**अभिलाषु**=इच्छा। **मनाइ**=मनाकर, मन्नत मानकर, विनती करके। **आपु**=अपने। **अछत**=[अकर्मक क्रिया 'अछना' का कृदन्तरूप जिसका प्रयोग क्रियाविशेषणकी तरह होता है। सं० **अस् अस्ति**। प्राकृत अच्छ=होना] रहते हुए, उपस्थितिमें, सामने। (श० सा०) वा, अच्छत=(अक्षत=नहीं टूटा हुआ) जीते-जी—(वि०टी०)। **देउ**=दे दें। '**जुवराजपद**'—युवराज शब्दका अर्थ होता है 'युव' (जवान) राजा, पर इसका प्रयोग इस अर्थमें होता है—राजाका वह राजकुमार वा सबसे बड़ा लड़का जिसे आगे चलकर राज्य मिलनेवाला हो, चाहे वह जवान हो चाहे बुड्ढा। युवराजपद=युवराज्य, युवराजत्व, युवराजकी पदवी, राज्याधिकार।

अर्थ—सबके मनमें यह अभिलाषा है और सब महादेवजीको मनाकर प्रार्थना करते हैं कि राजा अपने जीते-जी ही रामजीको युवराज्य दे दें॥ १॥

नोट—१ ऊपर सबके आनन्दको पृथक्-पृथक् कहा, अब यहाँ सबको एकत्र करते हैं, क्योंकि सबके चित्तमें अब यही एक अभिलाषा सर्वोपरि है। इसमें सब एकमत हैं।

टिप्पणी—१ (क) ***'सबके उर अभिलाषु'***— राजाने वसिष्ठजीसे कहा है—***'सबहिं राम प्रिय जेहि बिधि मोहीं॥'*** (३। ३) इसीसे जैसे राजाको अभिलाषा है वैसे ही सबके हृदयमें अभिलाषा है। हृदयमें रखे हैं, प्रकट कह नहीं सकते; क्योंकि यह बात प्रकट कहनेयोग्य नहीं है, विरुद्ध है; क्योंकि राजा प्रतिज्ञापत्र लिख चुके हैं जिसके अनुसार भरतजीको युवराज होना चाहिये (विशेष नोट ३ में देखिये)। इसीसे मनाते हैं कि राजा स्वयं प्रसन्न होकर श्रीरामजीको युवराज कर दें, यही इच्छा है, उनसे यह बात कही कैसे जाय। (ख) ***'कहहिं मनाइ महेसु'***—मनाकर कहते हैं, क्योंकि वर माँगनेसे मिलता है। देवता अन्तर्यामी होते हैं तो भी वर माँगनेको कहते हैं। (*यथा—**'प्रभु सर्वज्ञ दास निज जानी।\.....मागुँ मागुँ बरु भै नभ बानी।'*** (१-१४५) ***'माँगहु बर जोइ भाव मन\..... ।'*** (१-१४८) ***'सकुचि बिहाइ माँगु नृप मोही।'*** (१-१४९) इत्यादि)। ***'मनाइ महेसु'*** का भाव कि ये महान् ईश हैं, श्रीरामजीको युवराज्यपद देना महान् कार्य है, यह वे ही कर सकते हैं। क्योंकि ये सबके उरप्रेरक हैं, महान् दाता हैं, अवढरदानी हैं, थोड़ेहीमें और शीघ्र प्रसन्न होते हैं, यथा—***'सुमिरि महेसहिं कहइ निहोरी। आसुतोष तुम्ह अवढर दानी\.....तुम्ह प्रेरक सबके हृदय\..... ।'*** (२-४४) (ग) ***'आपु अछत\.... '*** कहनेका भाव कि युवराज्यपद राजा ही दे सकता है, यथा— ***'जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।'*** (पुनः ***'आपु अछत'*** का भाव कि यद्यपि राजा धर्मपूर्वक पृथिवीका पालन कर रहे हैं और अभी आगे भी उसी तरह पालन करनेको समर्थ हैं तो भी श्रीरामको यह भार दे दें।)

नोट—२ सब चाहते हैं कि इनको युवराज्य मिले क्योंकि ये सबको प्राणप्रिय हैं, यथा—***'प्रानहु तें प्रिय लागत सब कहुँ रामकृपाल।'*** (१। २०४) दूसरे, इससे कि कुल-रीति भी है कि ***'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥'*** (१५-३) तीसरे, सबको विश्वास है कि इनके राजा होनेसे हम सबका कल्याण है, अतः चाहते हैं कि ये युवराज हों। यथा—'**तं देवदेवोपममात्मजं ते सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम्। हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि॥**' (वाल्मी० २। २। ५४) पुरवासियोंने श्रीरामजीके गुणोंका वर्णन करके यह बात राजासे कही कि लोकहितमें लगे हुए देवदेव विष्णुके तुल्य अपने पुत्र श्रीरामजीका जिनके गुण उदार हैं, हम सबोंके कल्याणके लिये राज्याभिषेक शीघ्र कर दीजिये। उनमें लोकोत्तर कल्याणकारी गुण हैं, लोकमें उनके समान दूसरा सत्पुरुष कोई नहीं है। वे श्रीरामजीके गुणोंपर इतने मुग्ध हैं कि वे राजाके जीते-जी इनको युवराज देखना चाहते हैं। अथवा युवराजके लिये मनाते हैं; क्योंकि युवराज हो जानेसे फिर ये ही राजा होंगे इसमें सन्देह नहीं।

नोट ३—वे राजासे प्रत्यक्ष क्यों नहीं कहते? इसका एक कारण तो यह है कि प्रजा डरती है कि हमारे कहनेसे राजा कहीं यह न समझें कि प्रजा हमसे दुःखी है, इसीसे दूसरेको राजा बनाना चाहती है। वाल्मीकीयके—'**कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति। भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं महाबलम्॥**' (२-२५) अर्थात् मैं तो धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन कर ही रहा हूँ फिर महाबलवान् एक युवराज देखनेकी इच्छा आप लोग क्यों करते हैं। इन वाक्योंसे यह संदेह होना निर्मूल नहीं जान पड़ता, यद्यपि ये वचन राजाने अनजान-से बनकर उन लोगोंका अभिप्राय जाननेके लिये कहे थे। यथा—'**इति तद्वचनं श्रुत्वा राजा तेषां मनःप्रियम्। अजानन्निव जिज्ञासुरिदं वचनमब्रवीत्॥**' (वाल्मी० २-२३)

दूसरा कारण सत्योपाख्यान और गर्गसंहिताके आधारपर यह कहा जाता है कि श्रीदशरथमहाराज केकयराजसे प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके थे कि कैकेयीका पुत्र राज्यका अधिकारी होगा। प्रजा डरती है कि हमारे कहनेसे राजा हमको एकरारके प्रतिकूल और भरतके विरोधी जान अधर्मी समझेंगे (बैजनाथ, मा० म०,

पं० रा० कु०।) सत्योपाख्यानके अनुसार एकरार होना ठीक है। परन्तु इस ग्रन्थसे इस बातका ठीक पता नहीं लगता। कैकेयी उस एकरार-पत्रका कहीं नाम भी नहीं लेती और न मंथरा ही उसका आश्रय लेती है। थातीरूप दो वरदानोंपर ही वह अपना बल जता रही हैं। कैकेयीजी स्वयं श्रीरामको युवराज बनानेको कई बार कह चुकी हैं। दूसरे प्रतिज्ञापत्रका हाल प्रजाको मालूम नहीं था।

नोट ४—ध्यान रहे कि गोस्वामीजीने अवधी भाषाका प्रयोग बहुत किया है। इस भाषामें पुँल्लिंग शब्द जिनके अन्तमें अकार होते हैं उकारान्त बोले जाते हैं। जैसे चंदु, मातु, अभिलाषु, रामु इत्यादि। संज्ञाहीके विषयमें यह नियम नहीं है वरन् कभी-कभी विशेषण और सर्वनाममें भी यही नियम प्रचलित है। जैसे, एकु, आपु, यहु, इत्यादि। [गीताप्रेसने एक 'मानस-व्याकरण' निकाली है उसे पाठक देखें तो उनको लिपिके सम्बन्धकी बहुतेरी शंकाओंका समाधान वहाँ मिलेगा। अकारान्त पुँल्लिग शब्दोंके प्रथमा और कहीं-कहीं (जहाँ विभक्तिचिह्न नहीं दिया गया है) द्वितीया विभक्तिके एकवचनमें पदान्तके 'अ' को 'उ' आदेश हो जाता है। पसकामें आज भी उकारका प्रयोग बहुत पाया जाता है।]

आजकलकी हिन्दी भाषामें ये शब्द अकारान्त ही लिखे जाते हैं। पाठकगण जहाँ-जहाँ ऐसे पाठ हैं वहाँ इस बातपर ध्यान रखेंगे।

एक समय सब सहित समाजा। राजसभा[1] रघुराज बिराजा॥ १॥
सकल[2] सुकृत मूरति नरनाहू। राम सुजसु सुनि अतिहि उछाहू॥ २॥

शब्दार्थ—**राजसभा**=राजदरबार, राजाओंकी सभा। **बिराजा**=विराजमान थे, बैठे थे। **मूरति**= (मूर्ति), स्वरूप, विग्रह। **नरनाहू**=(नरनाथ), मनुष्योंके स्वामी, राजा। **उछाहू**=(उत्साह) आनन्द।

अर्थ—एक समय रघुकुलके राजा श्रीदशरथजी अपने सब समाज (वा, राजकीय सामग्री)सहित राजसभामें विराजमान थे॥ १॥ राजा समस्त पुण्योंकी मूर्ति हैं। श्रीरामचन्द्रजीका सुन्दर यश सुनकर उन्हें अत्यन्त ही आनन्द होता है॥ २॥

नोट—१ ***'एक समय······'*** इति। (क) ***'एक समय'*** अर्थात् एक बार जिसका निश्चय नहीं करते कि कब। अ०रा० में भी ऐसा ही कहा है, यथा—'**अथ राजा दशरथः कदाचिद्रहसि स्थितः॥**' (२। २। १) वाल्मीकीयके अनुसार विवाहके बारह वर्षोंके पश्चात् तेरहवें वर्षके प्रारम्भकी यह बात है। यथा—'**उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने। तत्र त्रयोदशे वर्षे राजामन्त्रयत प्रभुः॥ अभिषेचयितुं रामं समेतो राजमन्त्रिभिः।**' (३। ४७। ४-५) (श्रीसीताजी यती रावणसे कह रही हैं कि राजाने विवाहके तेरहवें वर्षके प्रारम्भमें मन्त्रियोंकी सलाहसे श्रीरामचन्द्रजीका अभिषेक निश्चित किया।) चैत्रमास था और उस दिन पुनर्वसुका चन्द्रमा था, उसके दूसरे दिन पुष्यनक्षत्रमें अभिषेकका निश्चय राजाने किया था—यह उनके वचनोंसे स्पष्ट है, यथा—'**चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः।**' (वाल्मी० २। ३। ४) (यह श्रीवसिष्ठादिसे कहा है), '**श्व एव पुष्यो भविता श्वोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः।**' (२। ४। २) (यह राजाने निश्चय किया कि कल पुष्ययोग है, उसीमें मेरे पुत्रका अभिषेक हो। यह निश्चय करके उन्होंने श्रीरामजीसे कहा है कि), '**अद्य चन्द्रोऽभ्युपगमत्पुष्यात्पूर्वं पुनर्वसुम्। श्वः पुष्ययोगं नियतं वक्ष्यन्ते दैवचिन्तकाः॥**' (२। ४। २१-२२), '**तत्र पुष्येऽभिषिञ्चस्व मनस्त्वरयतीव माम्।**' (२२) अर्थात् आज पुष्यके पूर्ववर्ती पुनर्वसुमें चन्द्रमा आया है, अतः कल पुष्ययोग होना निश्चित है यह ज्योतिषी लोग कहते हैं, उसी योगमें अभिषेक करो ऐसा मेरा मन शीघ्रता कर रहा है। ☞ दिन और तिथिका निश्चय न होनेसे ***'एक समय'*** ऐसा कहा गया। ऐसा भी

---

१. राजसभाँ—गी० प्रे०।

२. यह अर्धाली (दोनों चरण) राजापुरकी प्रतिमें नहीं है। अन्य सब प्रतियोंमें है। इसके बिना वर्णनकी शृंखला तथा प्रवाह टूटा-सा जान पड़ता है।

कहीं पढ़ा या सुना था कि श्रीरामजन्म, अभिषेक, परधामयात्रा सभी चैत्र शु० ९ को हुए। (ख) श्रीदीनजी कहते हैं कि तुलसीदासजीका स्वभाव है कि जहाँ कहीं '*एक*' शब्दका प्रयोग वे करते हैं, वहाँ उनका भाव यह रहता है कि पुनः वैसी बात हुई या है ही नहीं।

टिप्पणी—१ ***'एक समय·········'*** इति। (क) यहाँसे लेकर आठ चरणोंमें राजाकी बड़ाईका वर्णन है। भाव यह कि जो कुछ सुख इनको मिलना था वह सब मिल चुका; अब उस सुखकी इति लगाते हैं। आगे ***'राय सुभाय मुकुरु कर लीन्हा'*** से दूसरे प्रसंगका बीज कहते हैं। (ख) ***'एक समय'***—भाव कि और सब समय राजाने राजसभामें दर्पण नहीं देखा, एक ही समय ऐसा संयोग हुआ। (ग) ***'राजसभा········'***— राजाको जरठपन उपदेश देगा कि श्रीरामजीको युवराज्य दो, ऐसा उपदेश राजसभामें ही होना चाहिये (क्योंकि यह बात राज्यसम्बन्धी है) इसीसे राजसभामें विराजमान होना कहा। इसी तरह श्रीभरतजीको युवराज्यपद ग्रहण करनेका उपदेश वसिष्ठजीने राजसभामें किया। यथा—***'बैठे राजसभा सब जाई। पठए बोलि भरत दोउ भाई॥'*** (१७१। ३) राज्यसम्बन्धी कार्य राजसभामें ही होना चाहिये, इसीसे राजसभामें ही मुकुर देखनेसे उपदेश हुआ, नहीं तो पूजाके समय अथवा शृंगारके समय मुकुर देखनेसे उपदेश होता, राज्यसिंहासनपर बैठकर दर्पण देखनेका कौन मौका था? यही बात आगे ***'सुभाय······'*** शब्दसे कहते हैं। (घ) सभासहित यहाँ राजाकी शोभा कहकर जनाया कि जैसे राजा धर्मात्मा और बुद्धिमान् हैं वैसे ही सब सभा है। (ङ) ***'रघुराज'*** पद देकर जनाया कि इस सभामें रघुवंशी ही रघुवंशी थे। ***'बिराजा'*** का भाव यह कि सभा '*राजती है*' (शोभित है), उसमें राजा ***'विराजत'*** अर्थात् विशेष सुशोभित हैं। (यह रघुवंशियोंकी अन्तिम सभा है, आगे राजाके जीते-जी अब नहीं होनेकी।)

टिप्पणी—२—***'सकल सुकृत मूरति·····'*** इति। (क) सुकृतकी मूर्ति कहकर समस्त धर्मोंके ज्ञाता और कर्ता जनाया सुकृतकी मूर्ति हैं इसीसे इनके सुकृतोंसे चौदहों भुवन सुखी हैं, इनके द्वारा समस्त धर्मोंका स्वरूप देख पड़ता है। [अथवा, रामप्रेम होना समस्त सुकृतोंका फल है, यथा—***'सकल सुकृत फल रामसनेहू।'*** (१। २७। २) यदि कोई सब धर्म-कर्म करे पर उसमें रामप्रेम न हो तो वे सब धर्म-कर्म व्यर्थ हैं।] (ख) ***'नरनाहू'*** कहकर राजधर्मकी भी मूर्ति जनाया। (***'सुकृत मूरति········'*** में द्वितीय निदर्शना अलंकार है।) (ग)—***'राम सुजसु सुनि अतिहि उछाहू'*** इति। रामसुयश श्रवण करना यह दूसरी भक्ति है, जिसे 'श्रवण भक्ति' कहते हैं। जब धर्मसमूह किये जाते हैं तब भक्ति मिलती है, यथा—***'जप जोग धर्म समूह तें नर भगति अनुपम पावई।'*** (३। ६) अतएव पहले सकल सुकृतकी मूर्ति होना कहकर—तब रामसुयश सुनना कहा। 'सुकृतमूर्ति' से धर्मात्मा और 'रामसुयश सुनि' से रामप्रेमी बताया। प्रथम धर्मात्मा कहकर तब श्रीरामजीमें प्रेम कहा, क्योंकि रामप्रेम बिना धर्मकी शोभा नहीं, यथा—***'सो सब धरम करम जरि जाऊ। जहँ न रामपद पंकज भाऊ॥'*** ***'अतिहि उछाहू'*** का भाव कि सुकृत करनेमें 'उछाह' है और रामसुयशश्रवण' में 'अति उछाह' है। अथवा, रामसुयशश्रवणसे सभा आदि सभीको आनन्द होता है और राजाको अति आनन्द। [पुनः भाव कि राजा सुकृतमूर्ति होनेसे आनंदित रहते ही थे, उसपर भी रामसुयश सुनते हैं इससे उन्हें अति आनंद होता था—(दीनजी)] अथवा, सुकृतसे रामसुयश सुनकर '*उछाह*' होता है और राजा तो समस्त सुकृतोंकी मूर्ति हैं इसीसे उनको 'अति उछाह' है। वा, यशसे '*उछाह*' और सुयशसे 'अति उछाह'। पुनः, पूर्व कहा था कि ***'रामरूप गुन सील स्वभाव'*** देखकर राजा 'प्रमुदित' होते हैं। वहाँ 'प्र' उपसर्ग दिया, इसीसे यहाँ भी 'अति' उपसर्ग देते हैं। इसीसे तो वसिष्ठजीने कहा है कि ***'सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयो न है कोउ होनेउ नाहीं॥'*** (घ) इससे जनाया कि जिसको श्रीरामसुयश सुननेमें उत्साह और आनन्द होता हो वही सुकृतकी मूर्ति है और जो सुकृतकी मूर्ति है उसीको सुयश श्रवणसे 'अति उछाह' होगा। (ङ) रामसुयश सुननेसे 'अति उछाह' है, इस कथनसे सिद्ध होता है कि सभामें किसीने सुयश सुनाया था।

नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषे। लोकप करहिं* प्रीति रुख राखे॥ ३॥
तिभुवन तीनि काल जग माहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं॥ ४॥
मंगलमूल राम सुत जासू। जो कछु कहिय थोर सबु तासू॥ ५॥

शब्दार्थ—'**नृप**' (नृ=मनुष्य+पा=पालन करना)=राजा। '**लोकप**'=लोकपाल; ये ८ हैं, यथा—***'रवि, ससि, पवन, वरुन, धनधारी। अगिनि, काल, जम सब अधिकारी॥'*** (१-१८१) रवि नैर्ऋती (दक्षिण-पश्चिम कोण) के, शशि ऐशानी (उत्तर-पूर्वके मध्य)-के, पवन बायवी (उत्तर-पश्चिमके मध्य)-के, वरुण पश्चिमके, धनद कुबेर उत्तरके, अग्निदेव (वह्नि) आग्नेयी (पूर्व-दक्षिणके मध्य)-के, काल पूर्वके और यम दक्षिण दिशाके अधिकारी हैं। गोस्वामीजीकी चौ० के अनुसार '*काल*' पूर्वदिशाके पालक हैं और पुराणोंके अनुसार इन्द्र पूर्वके दिक्पाल हैं। '**रुख राखे**'—'रुख रखना' मुहावरा है, प्रीतिकी इच्छा रखनी, राजी रखना, अनुकूल रहकर। '**तिभुवन**'=त्रिभुवन, त्रैलोक्य, तीनों लोक—स्वर्ग, मर्त्य (पृथ्वी), पाताल। '**भूरि**'=समूह, बहुत बड़ा। '**भूरिभाग**'=बड़भागी, अत्यन्त भाग्यवान्। **जासू**=जिसके। '**तासू**'=उसके लिये।

अर्थ—सब राजा उनकी कृपाके अभिलाषी (इच्छुक) रहते हैं। लोकपाल उनका रुख रखते हुए प्रीति करते हैं (क्योंकि जानते हैं कि इनकी सन्तानद्वारा हमारी रक्षा होगी)॥ ३॥ त्रैलोक्यमें और भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालमें जगत्‌भरमें श्रीदशरथजीके समान अत्यन्त भाग्यवान् (कोई दूसरा) नहीं है॥ ४॥ मंगलोंके मूल श्रीरामचन्द्रजी जिनके पुत्र हैं उनके लिये जो कुछ कहा जाय सब थोड़ा ही है॥ ५॥

नोट—१ ***नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषे।*****·····'** इति। इस चौपाईसे राजाका प्रभाव लोकपालोंपर प्रकट किया गया है। भाव यह कि लोकपाल भी वही काम करते हैं जिससे राजा दशरथ अप्रसन्न न हों। अर्थात् अपने-अपने लोकोंमें स्वतन्त्र अधिकारी होनेपर भी राजा दशरथसे दबते रहते हैं। ***'रहहिं प्रीति०'*** पाठमें फर्क केवल इतना रहता है कि इसमें इच्छा ही रखना प्रकट होता है और उसमें करना भी पाया जाता है। (दीनजी)

टिप्पणी—१ ***'नृप सब रहहिं······।'*** इति। (क) सब अर्थात् पृथ्वीभरके राजा। कृपाकी अभिलाषा करते हैं अर्थात् किंकर (मैं क्या करूँ? क्या आज्ञा है?)-की तरह सब नृप सेवक हैं, दशरथमहाराज सार्वभौम सम्राट् राजा हैं। (ख) ***'लोकप करहिं प्रीति रुख राखे'*** इति। प्रीति बराबरवालोंमें होती है; यथा—***'प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति अस आहि'*** इससे जनाया कि लोकपाल बराबरके हैं यथा—***'ससुर चक्कवइ कोसलराऊ। भुवनचारिदस प्रगट प्रभाऊ॥ आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अर्धसिंघासन आसन देई॥'*** और रुख रखे रहते हैं यह कहकर जनाया कि राजा उनकी रक्षा करते हैं; यथा—***'सुरपति बसइ बाँहबल जाके।'*** (२५। २) [प्रीति मित्रवर्ग (बराबरवालों)-में होती है, इसीसे 'रुख रखकर' प्रीति करना कहा, क्योंकि आगे लोकपालोंका राजाके बाहुबलसे बसना भी कहा है।···रुख रखकर प्रीति स्वामीमें की जाती है। (प्र०सं०)] पुनः कृपाकी अभिलाषा बड़ेसे की जाती है और प्रीति बराबरवालेसे। लोकपालोंके समान हैं। राजा अष्टलोकपालोंका शरीर कहा गया है, यथा—'**अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः॥**' (मनु० ५।९६) (विशेष १। २८। ८ ***'ईस अंस भव परम कृपाला'*** में देखिये) ***'करहिं प्रीति रुख राखे'*** से यह भी जनाया कि राजा यद्यपि उनकी सहायता करते हैं तथापि उनसे प्रत्युपकारकी इच्छा नहीं रखते। यही कारण है कि राजाकी ओर प्रीति करना और रुख रखना नहीं लिखते। राजा नरलोकमें हैं, इसीसे प्रथम नरलोकके राजाओंको कहा, पीछे लोकपालोंको। (ग) इन दो चरणोंसे जनाया कि सब नरराज और सब देवराज राजा दशरथके अधीन हैं। यह स्वार्थकी सीमा कही। आगे परमार्थकी सीमा कहते हैं। (घ) ***'नृप सब'*** से मर्त्यलोकके और ***'लोकप'*** से स्वर्गलोकके समस्त राजाओं और अधिकारियोंको कहा। पातालवासियों और राक्षसोंको नहीं कहा; क्योंकि दैत्य, दानव, राक्षस प्रीति नहीं करते और न राजाकी कृपा

* यह पाठ भागवतदास, काशी, राजापुर और पं० रामगुलामकी प्रतियोंमें है। 'रहहिं' पाठान्तर है।

चाहते हैं; क्योंकि वे अभिमानी हैं। वे तामसी स्वभावके होते हैं। वे न तो कृपाके योग्य हैं और न प्रीतिके ही अधिकारी हैं। (ङ) प्रथम राजाको सुकृतोंकी मूर्ति कहकर तब *'नृप सब रहहिं……'* कहनेका भाव कि राजा दशरथ बड़े धर्मात्मा हैं, सब राजा उनकी कृपाकी दृष्टिकी चाहसे धर्ममें परायण रहते हैं, धर्मसे प्रजाका पालन करते हैं, क्योंकि इससे राजा प्रसन्न होते हैं। प्रजाका पालन राजाओंका मुख्य धर्म है, यथा—*'सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥'*(१७२। ४), *'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥'* (७१। ६) इसीसे यहाँ *'नृप'* शब्द दिया। **'नॄन् पातीति नृपः'** जो मनुष्योंका पालन करे वही 'नृप' है। (च) यहाँ 'अतिशयोक्ति अलंकार है। क्योंकि इन चरणोंसे राजाकी अतिशय बड़ाई सूचित होती है।

नोट—२ शंका—बालकाण्डमें कहा है कि—*'भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र। मंडलीक मनि रावन राज करै निज मंत्र॥'*(१। १८२) फिर यहाँ राजा दशरथसे राजाओं और लोकपालोंका यह बर्ताव कैसा, जब कि *'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख बसबर्ती नर नारी॥'*(१। १८२)

समाधान—रावणने अपने बाहुबलसे प्रायः सारे विश्वको जीत रखा था; परन्तु किसीके हृदयपर उसने विजय नहीं पायी थी। राजा उससे काँपते थे, परंतु वह भी राजा दशरथकी प्रीतिका खयाल करके अपना काम करते थे। हेतु यह था कि रावण जिन लोगोंको जीत नहीं सकता था उनमेंसे एक रघुवंश भी था और रघुवंश रघुके समयसे ही चक्रवर्ती माने जाते थे। इसलिये राजाओंका इनकी कृपाका अभिलाषी होना स्वभाविक ही था और लोकपाल तो इस हेतुके अतिरिक्त इसलिये भी प्रीतिरुख रखे रहते थे कि इस कुलके द्वारा रावणका विनाश भी होगा। और वह समय भी अत्यन्त निकट था। (गौड़जी)

टिप्पणी—३-*'तिभुवन तीनि काल जगमाहीं।……'* इति। (क) यहाँ 'त्रिभुवन' कहकर फिर *'जग'* भी कहा। दोनोंका अर्थ एक ही होता है। फिर ये दोनों शब्द यहाँ किस भावसे आये? इसका समाधान महानुभावोंने यों किया है—

(१) दीनजी—*'जग'* शब्दका अर्थ है 'चलायमान'। गोस्वामीजी यहाँ यह भाव प्रकट करना चाहते हैं कि वे त्रिभुवन जो नाशवान् हैं उनमें जो व्यक्ति राजा दशरथके समान भाग्यवान् नहीं है। यदि कोई स्थायी भुवन हो तो उसकी बात हम नहीं कहते। हमारी पहुँच जहाँतक है वहींतककी हम कह सकते हैं। यहाँ 'जग' शब्द *'तिभुवन'* का विशेषण है, अर्थात् वे त्रिभुवन जो जग हैं। पुनः, *'जगमाहीं'*=जंगममें, चैतन्य जीवोंमें।

(२) गौड़जी—इसका अर्थ यह है—उस जगत्में (जिसमें चतुर्दश भुवन; और देशकालातीत सृष्टि भी अन्तर्गत है) तीन भुवन (अर्थात् भू मर्त्यलोक, भुवर् पितृलोक, स्वर् देवलोक) और तीन कालके समान कोई बड़भागी नहीं है।

(३) बाबा रामदासजी—अर्थात् इस जगत्में जैसे बड़भागी दशरथ हैं वैसा भाग्यवान् त्रिलोकमें कोई नहीं, यथा—*'अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं।'* (२०९। ८)

(४) किसीका मत है कि प्रथम त्रिभुवन कहा फिर सोचे कि विश्वमात्रमें, चौदहों भुवनोंमें ऐसा बड़भागी कोई नहीं है। अतः 'त्रिभुवन' कहकर फिर 'जग' भी कहा।

टिप्पणी—२ *'तिभुवन तीनिकाल……'* इति। (क) बिना तीन कालके कहे *'भूरिभाग दसरथ सम नाहीं'* यह बचन न सिद्ध होता। केवल एक (वर्तमान) कालके कहनेसे दूसरे (भूत और भविष्य) कालोंमें इनकी समता पायी जाती। तीनों कालोंमें तीनों लोकोंसे इनका भाग्य अधिक उत्कृष्ट होनेसे *'भूरिभाग……'* कहा। (ख) स्वार्थ और परमार्थ दोनोंसे परिपूर्ण भाग्य जनानेके लिये *'तिभुवन तीनि काल……'* यह अर्धाली बीचमें लिखी। पूर्व *'नृप सब रहहिं……राखे'* में स्वार्थसे पूर्ण कहा और आगे *'मंगलमूल……'* परमार्थसे पूर्ण कहते हैं। भाव यह कि जिन चक्रवर्ती महाराजके सब राजा सेवक हैं और जिनका दिक्पाल रुख रखते हैं उनके यहाँ चतुर्व्यूह अवतार हुआ, उनके समान स्वार्थ-परमार्थसे पूर्ण भाग्यवान् कौन हो सकता है?

(ग) त्रिभुवन कहकर जनाया कि देवताओं, मनुष्यों और असुरोंमें कहीं भी ऐसा भाग्यवान् कोई नहीं है। और जितने चक्रवर्ती हुए या होंगे उनके यहाँ भगवान्‌का अवतार नहीं हुआ और न होगा। और जिन-जिनके यहाँ अवतार हुआ वे चक्रवर्ती न थे। राजा दशरथमें दोनों बातें हैं। ये चक्रवर्ती भी हैं और इनके यहाँ ब्रह्मका अवतार भी हुआ। (घ) *'जग माहीं'*—'त्रिभुवन कहकर जगत्‌को पृथक् कहते हैं', यथा—*'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥'* (शूर्पणखोक्ति) (ङ) *'भूरिभाग दसरथ सम नाहीं'*—अर्थात् जब इनके समान ही कोई नहीं है तब अधिक किसको कहें? यथा—*'दशरथ गुनगन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं॥'* (२०९। ८) श्रीदशरथजीके सुकृतोंका फल उत्तरोत्तर यहाँतक लिखते आये। उत्तरोत्तर अधिक उत्कर्ष दिखाते आ रहे हैं। *'नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषे'* पृथ्वीके सब नृप वशवर्ती हैं यह प्रथम कहा। *'लोकप करहिं प्रीति रुख राखे'* अर्थात् लोकपाल भी अधीन हैं, यह फल प्रथमसे उत्कृष्ट है। (*'तिभुवन तीनि……'* अर्थात् वर्तमान कालके नृपालों और लोकपालोंकी कौन कहे, तीनों कालोंके नृपों और सुरपतियोंमें किसीका भाग्य ऐसा नहीं, यह पूर्वोक्त दोनोंसे अधिक है) और *'मंगलमूल……'* यह उससे भी उत्कृष्ट है।

टिप्पणी ३—*'मंगलमूल राम सुत जासू।…'* इति। (क) श्रीरामजी समस्त मंगलोंके मूल हैं। जब वे स्वयं आकर पुत्र हुए तब समस्त मंगल स्वयं ही आकर प्राप्त हो गये। यथा—*'मंगल सगुन सुगम सब ताकें। सगुन ब्रह्म सुंदर सुत जाकें॥'* (३०४। १) (ख) राजा सुकृतोंकी मूर्ति हैं और श्रीरामजी मंगलके मूल हैं यह कहकर जनाया कि सुकृतसे मंगल होते हैं, इसीसे दशरथजीसे श्रीरामजी हुए। यथा—*'दसरथ सुकृत राम धरे देही।'* (ग) बालकाण्डमें श्रीरामजीको *'मंगलभवन'* कहा था, यथा—*'मंगलभवन अमंगलहारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी॥'* (१। ११२। ४) और यहाँ *'मंगलमूल'* कहते हैं। तात्पर्य कि श्रीरामजी मंगलके निवासस्थान हैं और मंगलकी उत्पत्ति भी करते हैं, दोनों गुण कहे। [मंगलमूल अर्थात् मंगलोंके कारण हैं, दूसरे भी इनके द्वारा मंगलभवन हो जाते हैं। मंगलमूल कहकर इनको ब्रह्मका अवतार सूचित किया।…(प्र०सं०)] (घ) *'जो कछु कहिअ थोर सब तासू'* इति। राजाको सुकृतोंकी मूर्ति कहकर फिर जो उनके फल कहते हुए अन्तमें कहा कि त्रिकालमें तीनों लोकोंमें उनके समान भाग्यवान् नहीं, यह अत्यन्त बड़ाई है। यह कहकर जब श्रीरामजीका इनके पुत्र होना कहा, तब सिवाय इसके और क्या कहा जा सकता है, इससे हद है, यह बड़ाईकी अन्तिम सीमा है, जो कुछ भी बड़ाई कही जाय वह सब थोड़ी ही है, कुछ नहींके बराबर ही होगी। त्रिलोकीके पदार्थ श्रीरामजीसे थोड़े (लघु, तुच्छ) हैं, (और जो कुछ कहा जायगा वह त्रिलोकीमेंसे ही कहा जायगा) अतएव जो कुछ भी कहा जाय सब थोड़ा होगा। भाव यह कि श्रीरामजी इनके पुत्र हुए, इससे इनकी बड़ाई कोई नहीं कर सकता। यथा—*'कहहु तात केहि भाँति कोउ करिहि बड़ाई तासु। राम लषन तुम्ह सत्रुहन सरिस सुअन सुचि जासु॥'* (१७३) ब्रह्म एक इन्हींके प्रेमवश होकर इनका पुत्र हुआ, इतना ही नहीं इनको वात्सल्यसुख भी दिया जो किसी अन्य अवतारमें किसीको नसीब न हुआ। ऐसा भाग्य किसका हुआ। —*'जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ। जे हर हिय नयननि कबहुँ निरखे नहीं अघाइ॥'* (२०९) इससे अधिक बड़ाई नहीं है। इसीसे यहाँ बड़ाई (वर्णन) की समाप्ति की।

नोट—उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्णनमें 'सार अलंकार' है। *'जो कछु कहिअ……'* में 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है।

राय सुभाय मुकुरु कर लीन्हा। बदनु बिलोकि मुकुट सम कीन्हा॥ ६॥
श्रवन समीप भए सित केसा। मनहुँ जरठपनु अस उपदेसा॥ ७॥
नृप जुबराजु राम कहुँ देहू। जीवन जनम लाहु किन लेहू॥ ८॥

शब्दार्थ—**राय**=राजा। **सुभाय**=स्वभावसे, स्वाभाविक, सहज ही। **मुकुरु**=दर्पण, शीशा, आइना। **कर**=हाथ।

बदनु=मुख, मुँह। **सम**=सीधा। **श्रवन**=कान। **सित**=श्वेत, सफेद। **केसा** (केश)=बाल। **जरठपन**=वृद्धावस्था, बुढ़ापा। **उपदेसा**=उपदेश किया। **जुबराज**=युवराजपद। **कहुँ**=को। **लाहु**=लाभ। **किन**=क्यों नहीं।

अर्थ—राजाने सहज ही हाथमें शीशा ले लिया, उसमें अपना मुख देखकर मुकुटको सीधा किया॥ ६॥ (देखा कि) कानोंके पास बाल सफेद हो गये। मानो बुढ़ापा ऐसा उपदेश कर रहा है॥ ७॥—'राजन्! श्रीरामजीको यौवराज्य दे दीजिये। अपने जीवन और जन्मका लाभ क्यों नहीं ले लेते?'॥ ८॥

टिप्पणी—१—*'राय सुभाय'''* 'इति। (क) *'सुभाय'* का अन्वय सबके साथ है। स्वभावसे ही मुकुर हाथमें लिया, स्वभावसे ही बदनका अवलोकन किया। नहीं तो यदि दर्पण देखनेकी इच्छा रही होती तो सेवक दिखाते। (ख) इन चौपाइयोंका सम्बन्ध ***'एक समय सब सहित समाजा''''*** से है। बीचमें राजाका ऐश्वर्य वर्णन करने लगे थे। अब फिर वहींसे प्रसंगको उठाते हैं। (ग) बिना अपनी ओर निगाह किये (उपदेशक उपदेश नहीं देता) उपदेश नहीं होता। राजाने अपना रूप देखा तब उपदेश हुआ।

प्र० सं०—***'सुभाय'*** अर्थात् बिना किसी खयाल या प्रेरणाके स्वभावसे ही, जैसे शीशा सामने पड़ा या रखा होनेसे मनुष्य स्वभावसे ही उसे उठाकर देखने लगता है। ऐसा भी हो सकता है कि किसीने दर्पण आगे लाकर रख दिया हो। प्राय: रईसों, राजाओंको दर्पण दिखानेवाले भी हुआ करते हैं। और यह भी सम्भव हो सकता है कि उनमेंसे किसीने मुकुट टेढ़ा बँधा हुआ देख ऐसा किया हो। अस्तु जो हो। राजाने उसे स्वभावसे ही हाथमें ले लिया। उन्होंने कुछ जान-बूझकर श्वेत केश देखनेके लिये शीशा नहीं लिया था। उन्हें इसका शान-गुमान भी न था कि बाल पक गये। (पंजाबीजी) पं० रामकुमारजी कहते हैं कि राजसभामें दर्पण लेकर मुँह देखनेका कोई प्रयोजन नहीं, यह समय तो सभाके कार्यका है। इससे जान पड़ता है कि यह केवल प्रभुकी इच्छासे हुआ। अत: ***'सुभाय'*** शब्द दिया गया। अ०दी० कारका मत है कि मुकुट बायीं ओर झुक गया था, इस तरह मानो वह कहता था कि मैं अब तुमसे विमुख हूँ। इसपर भी राजाने उसे दक्षिण ओर फेरकर सीधा किया। जब उनकी दृष्टि श्वेत केशपर पड़ी तब वे मुकुटके बाम ओर झुकनेका भाव समझे कि वह सूचित करता है कि मैं अब आपके सिरपर नहीं रहना चाहता, पुत्रको यह मुकुट दीजिये।

टिप्पणी— २— ***'श्रवन समीप भए''*** ' इति। (क) श्रवणके समीपके केश श्वेत हुए अर्थात् और सब केश श्याम हैं। भाग्यवान् पुरुषोंको स्वाभाविक ही उपदेश होता है। दुष्कृती पापी अभागीको तो समझानेसे भी ज्ञान नहीं होता। (ख) ***'मनहुँ जरठपनु'''''*** ' इति। ***'मनहुँ'*** का भाव कि जरठपनने उपदेश नहीं किया, श्वेत केश देखकर राजाने स्वयं ही विचार किया कि श्रीरामजीको हम युवराज्य दें। श्वेत केश देखनेपर उनको यह ज्ञान हुआ कि हम वृद्ध हो गये, इसीसे कहा कि मानो जरठपनने उपदेश किया है। पुरवासी शिवजीको मनाते थे, इसीसे शिवजीने प्रेरणा की, जरठपनने उपदेश किया। वृद्धको वृद्ध ही उपदेश करते हैं। यथा—***'जाना जरठ जटायू एहा'''''।'*** ,***'कह सुनु रावन मोर सिखावा।'*** (३। २९। १४। १५) ***'माल्यवंत अति जरठ निसाचर। रावन मातु पिता मंत्री बर॥ बोला बचन नीति अति पावन। सुनहु तात कछु मोर सिखावन॥'*** (६।४७) राजा वृद्ध (साठ हजार वर्षके) हो गये हैं इसीसे वृद्ध (जरठपन)-ने उनको उपदेश किया। यद्यपि अभिलाषा सबके हृदयमें थी तथापि और कोई भी उनको उपदेश न कर सका। (ग) गुप्त बात कानके पास कही जाती है। नीतिमें लिखा है कि जो कार्य भारी हो उसे गुप्त रखे, सबके सामने न प्रकट करे। इसीसे जरठपनने श्रवणके समीप आकर कहा। [मन्त्रोपदेश कानमें ही किया जाता है, यथा—***'कह लंकेस मंत्र लगि काना।'*** (६। ११) अत: 'श्रवण समीप' कहा गया।]

नोट—१ ***'श्रवन समीप भए सित'''''*** ' इति। श्वेत केश वृद्धावस्थाका चिह्न कहा जाता है। प्रथम कानकी जड़में बाल सफेद होते हैं, यथा—**'कृतान्तस्य दूती जरा कर्णमूले समागत्य वक्तीति लोका: शृणुध्वम्।'** इससे मिलता-जुलता रघुवंशमें यह श्लोक है—'**तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति। कैकेयीशंकयेवाह**

पलितच्छद्मना जरा॥' अर्थात् मानो बुढ़ापा कैकेयीके डरसे श्वेत केशोंका छलरूप धारण करके राजाके कानके पास आकर कहता है कि अपना राज्य श्रीरामचन्द्रजीको दे डालिये।

इन श्लोकोंके शब्दोंसे गोस्वामीजीके शब्दोंका मिलान कीजिये तब ***'जरठपनु'*** शब्दका चमत्कार और पूज्य कविकी बुद्धिकी उत्कृष्टता समझमें आवेगी। देखिये श्लोकोंमें ***'जरा'*** पद आया है। ***'जरा'*** स्त्रीलिंग है, 'नृप' और 'राय' पुँल्लिंग हैं। स्त्रीसे पुरुषको, फिर ऐसे बड़े चक्रवर्ती महाराजको और वह भी सभाके बीच उपदेश कराना कहाँतक योग्य होगा, इसपर पाठक स्वयं विचार कर लें। जान पड़ता है कि इसी विचारसे ***'जरठपनु'*** पुँल्लिंग शब्द आपकी लेखनीसे निकला है।

नोट २—बुढ़ापेमें बालोंका पकना सिद्ध आधार है, किन्तु बाल मुखवाले जीव नहीं हैं जो शिक्षा दे सकते हों इस अहेतुमें हेतुकी कल्पना करना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है। (वीर)

टिप्पणी—३—***'जुबराज राम कहँ देहू।.....'*** इति। भाव कि श्रीरामजीको युवराज्य देना जन्मका लाभ है, यथा—***'कहहु तात जननी बलिहारी। कबहिं लगन मुद मंगलकारी॥....जनम लाभ कइ अवधि अघाई।'*** (५२। ७। ८) जीवनका लाभ क्यों नहीं लेते; भाव कि अब मृत्युका समय आ गया। जरा मृत्युकी दूती है, मृत्यु हो जायगी तो पछताओगे। यथा—***'पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाछे पछिताऊ॥'*** राजाने विलम्ब किया इसीसे कहा कि विलम्ब क्यों करते हो। वृद्धको परमार्थका उपदेश करना चाहिये इसीसे जरठपनने श्रीरामको युवराज्य देनेका उपदेश किया [***'देहू'*** और ***'लेहू'*** से जनाया कि आप ही ढील किये हैं। विलम्बका अवसर नहीं है। जीवनका लाभ उठाना हो तो तुरत युवराज बनाइये। ***'किन लेहू'*** अर्थात् जीवन और जन्म सफल करना आपके हाथ है, यह लाभ अपनेको प्राप्त ही समझिये, पर आप ही उसे नहीं लेते] जब यह विचार आया तब दर्पण देखना बंद कर दिया।

दोहा—यह बिचारु[1] उर आनि नृप सुदिन[2] सुअवसरु पाइ।
प्रेम पुलकि तनु मुदित मन गुरहि सुनाएउ जाइ॥ २॥

शब्दार्थ—**उर आनि**=हृदयमें लाकर, मनमें निश्चित करके। पुलक=प्रेम, हर्ष आदिके उद्वेगसे रोमकूपों वा रोमका खड़ा होना, रोमांच। **पुलकि**=रोमांचित होकर।

अर्थ—यह विचार मनमें निश्चित करके राजाने अच्छा दिन और अच्छा मौका पाकर पुलकितशरीर हो, प्रसन्न मनसे गुरुजीके पास जाकर उनको सुनाया॥ २॥

टिप्पणी—१ ***'यह बिचारु उर आनि....'*** इति। (क) इससे जनाया कि जरठपनने गुप्त उपदेश किया। उसे राजाहीने जाना और किसीने नहीं। इसीसे राजाने भी गुप्त रखा, विचारको अभी सभामें नहीं प्रकट किया। [विचार सहसा प्रकट न करना चाहिये, हृदयमें रखना चाहिये। अतः ***'बिचारु उर आनि'*** कहा। ऐसा ही पुरवासियोंके सम्बन्धमें पूर्व कहा है, यथा—***'सबके उर अभिलाषु अस....'*** (प्र० सं०)] (ख) ***'यह बिचारु'*** अर्थात् हम वृद्ध हुए, श्रीरामजीको युवराज्य देकर जीवन और जन्मका लाभ क्यों न लें, इस विचारको (जरठपनके उपदेशको)। वाल्मी० २। १ में भी ऐसा ही विचार राजाके मनमें प्रथम उठा, यथा—'**महीमहमिमां कृत्स्नामधितिष्ठन्तमात्मजम्। अनेन वयसा दृष्ट्वा यथा स्वर्गमवाप्नुयाम्॥**' (४०) अर्थात् इस समय पृथ्वीपर अपने पुत्रको शासन करते इस वृद्धावस्थामें देखकर मैं अपने कर्मोंके अनुसार स्वर्ग पाऊँ। इसके पश्चात् उन्होंने औरोंसे कहा है।

टिप्पणी—२—***'सुदिन सुअवसरु पाइ'*** इति। (क) इससे राजाकी गम्भीरता दिखायी, सहसा जाकर नहीं कहा। जब राज्याभिषेकके लिये उत्तम दिन और मुहूर्त मिल गया और 'सुअवसर' देखा तब गुरुजीके पास गये। ***'सुअवसरु'*** यह कि गुरुको अवकाश है, एकान्त है, गुरुजी प्रसन्न बैठे हुए हैं। अच्छे मौकेसे

१. बिचारि—को० रा०। २. सुदिनु—ना०प्र०।

बात न कहनेसे बात व्यर्थ हो जाती है। [शुभ घड़ी, सुन्दर अवसरमें कार्य करनेसे उसकी सिद्धिकी सम्भावना रहती। दूसरे प्रथमसे ही *'सुदिन'* शुभ मुहूर्त शोधवा लिया जिसमें गुरुजीको यह कहनेका मौका न मिले कि अभी दिन अच्छे नहीं हैं। दोनों भाव इसमें आ जाते हैं। *'सुअवसरु'* कार्यसिद्धिके लिये गुरुजीके पास जानेके लिये, *'सुदिन'* अभिषेकके लिये। वाल्मी० रा० में राजाका प्रथमसे ही शुभ मुहूर्तका निश्चय कर लेना स्पष्ट है। यथा—'**चैत्रः श्रीमानयं मासः।**' (२। ३। ४) (प्र०सं०)] (ख) *'प्रेम पुलकि तनु·······'*— बात अच्छी उरमें आयी, दिन अच्छा मिला और अवसर भी उत्तम प्राप्त हुआ इसीसे प्रेमके मारे तन पुलकित हो गया, मनमें प्रसन्नता हुई और गुरुजीसे जा सुनाया। तन, मन, वचन तीनोंसे कार्यमें राजाकी तत्परता दिखायी। (ग) *'जाइ'* से पाया गया कि गुरुजी सभामें न थे। सभामें होते तो उनके सामने मुकुरमें मुँह न देखते।

नोट—स्मरण रहे कि प्रत्येक मंगलकार्यके आरम्भमें मानसकारने कार्यारम्भ करनेवालेकी मनकी वृत्ति हर्ष और उत्साहसे भरी हुई दिखलायी है। जहाँ कहीं कार्यारम्भ दिखाया है वहाँ *'हरषि', 'हरषे', 'मुदित', 'पुलकि'* इस तरहके शब्दोंका बराबर प्रयोग किया है। उत्साह वीररसका स्थायी भाव है और हर्ष, आनन्द, मोद, प्रमोद सभी उत्साहके सहगामी हैं। पाठकगण इस एक ही टिप्पणीको ध्यानमें रखकर कार्यारम्भसूचक प्रत्येक स्थलपर स्वयं विचार देखें।

कोई नया विचार उदय होनेपर पहले गुरुसे उसके विषयमें परामर्श करना इस कुलकी समीचीन रीति है।

कहइ भुआल सुनिअ मुनि नायक। भए राम सब बिधि सब लायक॥ १॥
सेवक सचिव सकल पुरबासी। जे हमरे* अरि मित्र उदासी॥ २॥
सबहि राम प्रिय जेहि बिधि मोही। प्रभु असीस जनु तनु धरि सोही॥ ३॥
बिप्र सहित परिवार गोसाईं। करहिं छोह सब रौरिहि नाईं॥ ४॥

शब्दार्थ—**भुआल**=(भू+पाल) राजा। **सचिव**=मन्त्री। **नायक**=स्वामी, अधिपति, अगुआ। **उदासी**=(उद्=ऊपर, **आसीन**=बैठा हुआ) विरक्त, शत्रु-मित्र=रहित, जिसका मन संसारसे हट गया हो। **सोही**=सुशोभित हुई है, सोह रही है। **छोह**=कृपा, दया, प्रेम। **रौरिहि**=(रावरेहि) आपहीके। **नाईं**=सदृश, समान, तरह। **जेहि बिधि**=जिस प्रकार, जैसे।

अर्थ—राजा कहते हैं—हे मुनिराज! सुनिये। राम सब प्रकारसे सब योग्य हो गये॥ १॥ सेवक, मन्त्री (आदि) सभी पुरवासी, और जो (भी) हमारे शत्रु, मित्र या उदासीन हैं॥ २॥ सभीको राम वैसे ही प्रिय हैं जैसे मुझको। मानो आपका आशीर्वाद ही शरीर धारण करके शोभित हो रहा है॥ ३॥ हे गोसाईं! सब ब्राह्मण सपरिवार आपके ही समान उनपर प्रेम करते हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'कहइ भुआल··'* इति। राजाने अपने हृदयकी बात, अपना विचार गुरुको जाकर सुना दिया। यह बात दोहेमें समाप्त होती थी और राजा विस्तारसे कहना चाहते हैं, इसीसे पुनः राजाका कहना लिखते हैं।

नोट—१ 'गोस्वामीजीका यह ग्रन्थ नाटकके समान है। न केवल अमुक-अमुकके विषयमें कुछ-न-कुछ लिखा है पर वे कहते, करते और सोच-विचार भी करते हुए मानो हमारे सामने ही उपस्थित किये जाते हैं। हम मानो तुलसीदासकी नहीं किंतु उन्हीं (पात्रों) की बातें सुनते और उन्हींको देखते हैं। श्रीदशरथजी, कैकेयीजी, मंथरा, श्रीरामजी इत्यादि अन्य पुरुष नहीं किंतु उत्तम पुरुष होकर और नेपथ्यसे निकलकर रंगभूमिमें आते और वार्तालाप करते हैं'—रेवरेण्ड ग्रीब्जके इन वचनोंसे मैं पूरा सहमत हूँ। मेरी समझमें ठीक वैसा ही प्रसंग यहाँ है। कविने प्रथम दोहेमें यह कहा कि राजाने गुरुके पास जाकर अपना विचार

* हमारे—राजापुर। हमार-वीरकवि। हमरे—का०, भा०दा०, वि०त्रि०।

सुनाया। अब वे (राजा) हमारे सामने गुरुसे अपने विचारोंको अपने शब्दोमें कहते हुए उपस्थित किये जाते हैं। कवि बताते हैं कि उन्होंने क्या कहा, क्या सुनाया।

टिप्पणी—२ (पृथ्वीके पालनके सम्बन्धकी बात कहते हैं अतः *'भुआल'* शब्द दिया।) दोहेमें कहा था कि *'गुरहिं सुनायउ',* वही सुनाना यहाँ लिखते हैं।—*'कहइ भुआल सुनिअ।'* बड़ाई करके प्रार्थना करनी चाहिये, अतः बड़प्पनका सम्बोधन *'मुनिनायक'* कहकर प्रार्थना की। (इसी तरह पार्वतीजीने *'बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी......।'* (१।१०७) इत्यादि बड़ाई करके भरद्वाजजीने *'करि पूजा मुनि सुजसु बखानी।...करगत बेदतत्व सब तोरे।'* (१।४५) कहकर तब प्रार्थना की है, इत्यादि।)

नोट—२ *'मुनिनायक'* अर्थात् मुनिश्रेष्ठ, मुनियोंमें अग्रगण्य। 'वसिष्ठजी ब्रह्माजीके पुत्र हैं और बड़े भारी मुनि तो हैं ही। (वे ऐसे श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि हैं कि विश्वामित्रजी चाहते थे कि वे हमको ब्रह्मर्षि मानें तब हम जानें कि हम ब्रह्मर्षि हो गये। यथा—'**ब्रह्मपुत्रो वसिष्ठो मामेवं वदतु देवताः।**' (वाल्मी० १।६५।२४) यह उन्होंने ब्रह्मादि देवताओंसे कहा है), तो भी यहाँ राजा अपने मनोवांछित सिद्धिके लिये गये हैं, अतः इन शब्दोंसे प्रथम गुरुकी प्रशंसा करके तब मनोरथ प्रकट करना उचित ही है।

नोट—३ (क) *'भये'* भूतकाल क्रियासे जनाया कि सब तरहसे योग्य हुए बहुत दिन हो गये। इससे जनाते हैं कि योग्यता तो ताड़कावध, यज्ञ-रक्षा, अहल्योद्धार, धनुष-भंग, परशुराम-गर्व-भंग इत्यादिसे सर्वलोकोंमें विदित है। पुनः, परशुरामसे साम, ताड़काको निजपद अभयदान, मिथिलापुरके सखाओंसे भेद और मारीचादिको दण्ड इति सब विधि राजनीतिके अनुसार योग्यता प्रकट है, और अब विवाहको हुए बहुत काल बीत गया।

(ख) *'सब लायक'* अर्थात् जो गुण राजामें चाहिये और जो मुझमें हैं उनसे भी कहीं अधिक श्रेष्ठ गुण इनमें हैं। ये क्षमामें पृथ्वी, बुद्धिमें बृहस्पति, पराक्रममें इन्द्र और यम, धर्मपूर्वक दण्डकी व्यवस्थामें धर्मराज और धैर्यमें पर्वतसे भी श्रेष्ठ हैं। लोकमें ये ही एक सत्पुरुष हैं, सत्यप्रतिज्ञ, सुशील, कृतज्ञ, मधुर, सत्य और प्रियभाषी, निरहंकार, इन्द्रियजित्, समरविजयी, शरणपाल, लोकप्रिय, त्रैलोक्यकी रक्षामें समर्थ, विनम्र, राजनीति एवं समस्त विद्याओं और कलाओंमें निपुण, देव-विप्र-गुरु-सेवी, करुणामय...इत्यादि-इत्यादि हैं। यथा—'**सम्मतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणैः। बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये चापि शचीपतेः॥**' (वाल्मी० २।१।३२)..................**यमशक्रसमो वीर्ये बृहस्पतिसमो मतौ। महीधरसमो धृत्या मत्तश्च गुणवत्तरः॥**' (३९) इत्यादि सर्ग १ देखिये।

टिप्पणी—३—*'भए राम सब बिधि...'* इति। (क) *'भए'* से पाया गया कि विवाह हो जानेके बहुत दिनोंके पश्चात् राजाके हृदयमें युवराज्य देनेकी अभिलाषा हुई। (ख) *'सब बिधि'* अर्थात् इस वंशके योग्य, विद्या, अवस्था, पुरुषार्थ इत्यादि यावत् गुणगण जो अपेक्षित हैं उन सबोंसे युक्त। *'सब लायक'* अर्थात् राज्य और प्रजापालन करनेके योग्य अपने गुणोंसे सब प्रकार *'लायक'* (योग्य) हुए। राज्य तभी देना चाहिये जब राजकुमार सब तरहसे उसकी योग्यता प्राप्त कर ले। यथा—*'देखा बिधि बिचारि सब लायक। दच्छहि कीन्ह प्रजापति नायक॥'* (१।६०) अतएव *'सब लायक'* कहकर जनाया कि उनको राज्य देना चाहिये। विवाहके समय अवस्था बहुत कम थी (चौदह-पंद्रह वर्षकी थी) इसीसे तब सब लायक न थे (एक कमी थी)। अब अवस्थासे भी राज्यके *'लायक'* हो गये।—यह सब राजाने अपनी ओरसे कहा। आगे प्रजाकी ओरसे भी सब प्रकार योग्य होना कहते हैं, क्योंकि जिससे प्रजा प्रसन्न हो उसीको राजा बनाना चाहिये। श्रीरामजीसे सब प्रसन्न हैं यह आगे कहते हैं। (ख) *'सेवक सचिव सकल पुरबासी...'* इति। सेवक अपनेसे छोटे, अरि-मित्र बराबरके, विप्र अपनेसे बड़े। अर्थात् छोटे, बड़े और बराबरके सभी श्रीरामजीपर प्रेम करते हैं। *'सकल'* का अन्वय सबके साथ है। पुनः, सेवक, सचिव और पुरवासी ये सब एक कोटिके हैं। दो कोटि लिखनेका भाव कि सेवक-सचिव-पुरवासी तनके व्यवहारसे हैं और अरि, मित्र, उदासी मनके व्यवहारसे हैं, यथा—*'सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरिआई।'* (इति विनये) (ग) *'जे हमरे अरि......'*—श्रीरामजी अभी लड़के हैं, उनके कोई अरि, मित्र और उदासी नहीं हैं, इसीसे अपने *'अरि'* कहते हैं, रामजीके नहीं। (घ) *'सबहिं रामप्रिय.....'* रामजीके कोई शत्रु नहीं हैं,

उनसे तो सभी प्रेम करते हैं। यथा—*'ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।'* (१-२१६) यहाँ 'चतुर्थ तुल्ययोगिता अलंकार' है। शत्रुको भी प्रिय हैं, यथा—*'जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला।'* (३२। ८) *'बैरिउ राम बड़ाई करहीं'* इत्यादि*। (घ) *'जेहि बिधि मोहीं'*—अर्थात् जैसे मुझको प्राणप्रिय हैं, वैसे ही सबको प्राण-प्रिय हैं। यथा—*'कोसलपुरबासी नर नारि बृद्ध अरु बाल। प्रानहुँ ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल॥'* (१। २०४) पुनः भाव कि पुत्रके समान सबको प्रिय हैं, सबका वात्सल्य प्रेम है। इस कथनमें अभिप्रायसे जनाया कि इनको युवराज्य देनेसे सभी प्रसन्न होंगे। (ङ) *'प्रभु असीस जनु तनु धरि सोही।'* यह तो कहा कि सबको मेरी तरह प्रिय हैं, पर यह न कहा कि किस तरह प्रिय हैं। इसीको उत्प्रेक्षाद्वारा कहते हैं कि ऐसा जान पड़ता है मानो आपका आशीर्वाद स्वयं फलरूप होकर परमात्मा (राम) का तन धरकर मूर्तिमान् होकर सुशोभित हो रहा है। श्रीरामजीको वसिष्ठजीके आशीर्वादकी मूर्ति कहा, क्योंकि उन्हींके आशीर्वादसे ये हुए हैं। पुत्रेष्टियज्ञके पूर्व राजाको उन्होंने यह आशीर्वाद दिया था, यथा—*'धरहु धीर होइहहिं सुत चारी। त्रिभुवन बिदित भगत भयहारी॥'* पुनः भाव कि जैसे आपका आशीर्वाद सबको प्रिय है, वैसे ही श्रीरामजी सबको प्रिय हैं। (पुनः भाव कि हमारे भाग्य ऐसे कहाँ थे कि ऐसे पुत्र होते, ये तो आपके आशीर्वाद ही हैं। इस चरणमें 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।) (च) *'सोही'* का भाव कि श्रीरामजीका प्रकट होना उनके आशीर्वादकी शोभा है। शोभा यह कि मुनिके आशीर्वादसे ब्रह्म (तक) प्रकट होते हैं। पुनः भाव कि जितनी शोभा रामजीकी है, उतनी ही शोभा वसिष्ठजीके आसिषकी है, कारण कि मुनिके आसिषका तन (मूर्ति) रामजी हैं।

टिप्पणी ४ *'बिप्र सहित परिवार'*...... ' इति। (क) शत्रु-मित्र-उदासीको अपने समान प्रिय होना कहा और विप्रोंका वसिष्ठसमान छोह करना कहा। भेदमें भाव यह है कि शत्रु-मित्र-उदासीन यह मायिक सम्बन्ध है, अतएव उन्हें अपने समान कहा। गुरु ईश्वर हैं, यथा—*'भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।'* (भक्तमाल) राजा ब्राह्मणोंको ईश्वर मानते हैं। अतएव उनको अरि-मित्र-उदासीनसे पृथक् गुरुके समान छोह करना कहा। अथवा, ब्राह्मण और गुरुका छोह सबसे अधिक कल्याणका देनेवाला है, इससे इन्हें सबसे पृथक् कहा। [सेवक, सचिव, पुरवासी, शत्रु, मित्र और उदासी छः गिनाये। गुरु और विप्रको इनसे पृथक् कहा, क्योंकि ये रामरूप ही हैं, यथा—*'मम मूरति महिदेव मई है।'* (वि०१३९) आप सब प्रेम करते हैं ऐसा कहकर रामजीकी अत्यन्त बड़ाई सूचित की, प्रत्यक्ष न कहा। (प्र० सं०) इस अर्धालीमें उपमा और उदाहरणका संदेहसंकर है। (वीर)] (ख) सेवकसे लेकर राजातक (शत्रु, मित्र और उदासीन जो राजा हैं) कहा। सेवकसे छोटा और राजासे बड़ा कोई नहीं है। ब्राह्मणोंसे लेकर वसिष्ठतक कहा क्योंकि वसिष्ठसे बढ़कर कोई नहीं यथा—*'बड़ बसिष्ठ सम को जगमाहीं।'* (ग) *'परिवार सहित'* कहकर छोटे-बड़े सबका छोह करना कहा।

जे गुर चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥ ५॥
मोहि सम यहु अनुभयउ न दूजे। सब पायउँ रज पावनि पूजे॥ ६॥
अब अभिलाषु एक मन मोरे। पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे॥ ७॥
मुनि प्रसन्न लखि सहज सनेहू। कहेउ नरेसु रजायसु देहू॥ ८॥

शब्दार्थ—**रेनु** (रेणु)= धूल, रज। **धरहीं**=धारण करते हैं, लगाते हैं। **जनु**=जन, प्राणी, लोग। **जनु**=मानो। **बिभव**=ऐश्वर्य, सम्पत्ति, शक्ति। **अनुभयउ**=अनुभव किया। **पूजिहि**=पूर्ण होगी। **दूजे**=दूसरेने। **पूजे**=पूजने या सेवन करनेसे। **अनुग्रह**=(अनु=साथ+ग्रह=लेना) कृपा। **सहज**=स्वाभाविक, बनावटी नहीं, पैदाइशी। **रजायसु** [**राजा**+**आयसु**=राजाज्ञा। यहाँ '**देहू**' शब्द आगे होनेसे यही व्युत्पत्ति ठीक जान पड़ती है]=आज्ञा।

---

* प्र० सं०-राक्षस शत्रु हैं। इन्द्रादि सब देवता मित्र हैं। सन्त उदासीन हैं। श्रीरामजीकी उदारता और कृपालुता आदिकी प्रशंसा शत्रुओंमें भी है। उन्होंने घोर पापिनी ताड़काको निज पद दिया।

अर्थ—जो लोग गुरु-पद-रजको मस्तकपर धारण करते हैं वे मानो सभी ऐश्वर्योंको (अपने) वशमें कर लेते हैं॥ ५॥ इसका अनुभव मेरे समान किसी औरने नहीं किया। (जो कुछ भी मैंने पाया है यह) सब मैंने आपकी पवित्र चरण-रजके पूजनसे ही पाया है॥ ६॥ अब मेरे मनमें एक ही अभिलाषा और है सो भी, हे नाथ! आपकी ही कृपासे पूरी होगी॥ ७॥ राजाका सहज स्नेह देख मुनि प्रसन्न होकर बोले कि हे नरेश! आज्ञा दीजिये। अर्थात् कहिये, क्या अभिलाषा है?॥ ८॥

नोट—१ पूर्व कहा कि महिसुर ईश्वरके रूप हैं; सो भी रामपर आपकी तरह छोह करते हैं। इस महत् बड़ाईका क्या कारण है, यह अब कहते हैं।

टिप्पणी—१ *'जे गुर चरन रेनु······'* इति। (क) *'जे'*=जो कोई भी। यहाँ साधारणतया सभीके लिये कहते हैं। *'जे'* यह दूसरोंके लिये कहा। (ख) *'रेनु सिर धरहीं···'*—(श्रीगुरुपदरजवन्दनाप्रसंगमें रजसेवनकी अनेक विधियाँ बतायी हैं जैसे कि तिलक करना आदि। शिरोधार्य करना, मस्तकमें लगाना आदर है, यथा—*'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा।'*) *'सकल बिभव बस करहीं'*—इससे जनाया कि रजमें सम्पूर्ण विभव बसते हैं, उसमें वशीकरणशक्ति है, यथा—*'किये तिलक गुनगन बस करनी।'* (१। १। ४) *'सकल बिभव'* कहनेका भाव कि अन्य सब साधन एक ओर और केवल यह साधन एक ओर अन्य सब साधन मिलकर भी इसकी (रजसेवनकी) बराबरी नहीं कर सकते। *'बस करहीं'* का भाव कि अन्य धर्मोंके करनेसे विभव प्राप्त होता है पर गुरुपदरज शिरोधार्य करनेसे समस्त विभव वशमें हो जाते हैं। भाव कि ऐश्वर्य तो अन्य साधनोंसे भी प्राप्त हो जाता है पर वह नष्ट हो जाता है और गुरुचरणरजसे जो ऐश्वर्य प्राप्त होता है वह अक्षय है। (प्र० सं०) (ग) ☞ यहाँ वैभव-कथनका प्रकरण है (विभवका प्रयोजन है) इसीसे यहाँ 'विभव' का वश करना कहा गया। बालकाण्डमें कविताका प्रकरण है इससे वहाँ *'किये तिलक गुनगन बस करनी।'* (१। १। ४) कहा था। अर्थात् वहाँ कहा कि रजको मस्तकपर लगानेसे कविताके गुणगण वशमें होते हैं, क्योंकि वहाँ इन्हींकी आवश्यकता थी।

टिप्पणी २—*'मोहि सम यहु अनुभयउ न दूजे।···'* इति। (क) अब अपने विषयमें कहते हैं। (अपनेहीको प्रमाणमें देते हैं) कि गुरुचरण-रजको शिरोधार्य करनेसे सकल विभव वशमें होते हैं इस बातको मैंने अच्छी तरह समझा है, इसीसे मुझे सबसे अधिक वैभव प्राप्त है। (जैसा अनुभव मुझे हुआ वैसा किसी दूसरेको नहीं। इस कथनमें 'आत्मतुष्टि प्रमाण अलंकार' है।) यही बात राजा आगे कहते हैं—*'सब पायउँ····'* और कविने भी पूर्व कहा है कि *'तिभुवन तीनि काल जग माहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं॥'* (ख) यहाँ राजाने रजके सम्बन्धसे अपनी बड़ाई की। इसी प्रकार सब अपनी बड़ाई करते हैं। यथा—*'होहिं सहसदस सारद सेषा। करहिं कलप कोटिक भरि लेखा॥ मोर भाग राउर गुनगाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥'* (१। ३४२) (इति जनक) पुनः यथा—*'हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥'* (४। १६) (इति जाम्बवान्) (ग) *'सब पायउँ'* अर्थात् इस लोकमें समस्त पृथ्वीका राज्य, (परमोत्तम देवदुर्लभ ऐश्वर्य), श्रीराम-ऐसे पुत्र (और उनके अनुरूप बहुएँ, उत्तम समधियाना इत्यादि) सभी कुछ प्राप्त हो गया। भाव कि आपकी रजका प्रभाव भारी है, इसीसे मैंने सबसे अधिक वैभव पाया। रज *'सकल बिभव बस करनी'* है अतः *'सब पायउँ'* [गुप्त रीतिसे यह भी जनाया कि आप-सरीखा गुरु भी नहीं और न मुझ-सरीखा कृपापात्र गुरुभक्त। (प्र०सं०)] (घ) *'रज पावनि'*—पावनी विशेषण देकर रजकी बड़ाई की। पावनी है अतएव उसने मुझे पवित्र कर दिया और विभवसे पूर्ण है, अतएव उसने सब वैभव दिया।

टिप्पणी—३ *'अब अभिलाषु एकु·········'* इति। (क) *'अब'*—अर्थात् यह अभिलाषा पूर्व न उठी थी, जरठपनके उपदेशसे अब हुई है। (ख) *'अभिलाषु एकु'*—अर्थात् पूर्व बहुत-सी अभिलाषाएँ हुई थीं वे सब पूरी हो गयीं, अब केवल यही एक रह गयी है। इसीके लिये कष्ट देने आया हूँ। [*'एकु'* से मनोरथकी प्रधानता जना दी। इससे बढ़कर और कोई अभिलाषा नहीं है। देखिए, इसी अभिलाषाके करनेसे सारे संसारका

काम हुआ। (दीनजी) यह अन्तिम अभिलाषा है। जीवनमें अब दूसरी अभिलाषा नहीं होनेकी।] (ग) *'मोरे' 'तोरे'*—यहाँ राजाकी दीनता दर्शित करनेके लिये *'मोरे'* शब्द दिया और उसके अनुप्रासके लिये *'तोरे'* कहा, नहीं तो जब-जब राजाने गुरुसे प्रार्थना की तब कभी *'तोरे'* नहीं कहा। [(घ) *'पूजिहि'* शब्दसे गुरुके अनुग्रहमें अपना दृढ विश्वास दिखाया।] (ङ) राजाने 'अभिलाषा' शब्द मात्र सुनाया, खोलकर न कहा कि क्या अभिलाषा है। कारण कि वे गुरुजीका रुख देख रहे हैं। गुरुकी आज्ञा हो तब सुनावें। (प्रसन्न हों तब कहा जाय नहीं तो नहीं, यह भाव *'सब बिधि गुरु प्रसन्न जिय जानी। ....'* से सिद्ध होता है।)

नोट—१ ☞ वाल्मी० २। ४ में श्रीदशरथजी महाराजने जो श्रीरामजीसे कहा है कि 'मैं वृद्ध हो गया, मैंने बड़ी दीर्घायु पायी, मनमाने भोग भोगे हैं। अन्न प्रचुर तथा पूरी दक्षिणवाले सैकड़ों यज्ञ किये हैं, दान किये हैं, अध्ययन किया है। समस्त वांछित सुख पाये हैं। देवता, ऋषि, पितर, ब्राह्मण तथा अपनेसे भी मैं उऋण हो चुका हूँ। संसारमें जिसके समान दूसरा नहीं वैसे वांछित पुत्र तुम उत्पन्न हुए—'**जातमिष्टमपत्यं मे त्वमद्यानुपमं भुवि।**....' (१३) तुम्हारे अभिषेकको छोड़कर मुझे अब और कुछ भी बाकी नहीं है। यथा—'**न किञ्चिन्मम कर्तव्यं तवान्यत्राभिषेचनात्।**' (श्लोक १२—१५)।—ये सब भाव *'सब पायउँ,' 'अब अभिलाषु एकु मन मोरे'* और आगेके *'यह लालसा एक मन माहीं।'* (४। ४) से सूचित कर दिये गये। यहाँ ये वचन गुरुसे कहे जानेसे कितने भक्तिभावगर्भित और गौरवके हो गये हैं।

टिप्पणी—४ *'मुनि प्रसन्न लखि सहज सनेहू।...'* इति। (क) *'लखि'*—प्रेम देखकर प्रसन्न हुए (यह कैसे लखा?) इस तरह कि राजाके तन, मन, वचन तीनोंमें प्रेम देख पड़ा। यथा—*'प्रेम पुलकि तन मुदित मन गुरहि सुनायउ जाइ।'* (२) प्रेमसे तन पुलकित है, मन आनन्दमोदसे भरा है, मग्न हैं, प्रेमरसमय वचन कहे हैं।

(ख) *'सहज सनेहू।'* देखकर सभी प्रसन्न होते हैं, यथा—*'सहज सनेह बिबस रघुराई।'* (ग) *'कहेउ नरेस रजायसु देहू'*—अर्थात् राजन्! जो कहिये वह हम करें। नरेश हैं, इसीसे आज्ञा देना कहा। राजाकी आज्ञा रजायसु कहलाती है।

नोट—२ *'रजायसु देहू'* इति। श्रीकरुणासिन्धुजी और पं० रामकुमारजीने 'राजाज्ञा' 'आज्ञा' अर्थ किया है। गीताप्रेसने भी इसीको ग्रहण किया है। प्राय: अन्य टीकाकार महानुभावोंने *'नरेस'* को *'कहेउ'* का कर्ता माना है। पंजाबीजी लिखते हैं कि *'अब अभिलाषु एकु....'* यहाँतक राजाके विनम्र वचनोंको सुनकर मुनि प्रसन्न हुए। मुनिकी प्रसन्नता और उनका अपने ऊपर प्रेम लखकर (चेष्टासे) राजाने कहा कि आज्ञा हो तो मैं मनोरथ निवेदन करूँ। बाबा हरिहरप्रसादजीने दोनों भावोंको दिया है पर मुख्य इसीको रखा है।

'गुरुका राजासे कहना कि क्या आज्ञा है, अनुचित जान पड़ता है', यह शंका *'कहेउ'* को *'मुनि'* की क्रिया माननेमें की जाती है। पर इसका समाधान बाबा रामप्रतापदासजी (बेंदीवाले) यों करते हैं कि चक्रवर्तीका भाव रखनेके विचारसे रजायसु पद दिया गया है। ऐसा क्यों न कहें? वे तो इनका महत्त्व जानते ही हैं कि साक्षात् ब्रह्म इनके पुत्र हुए।

दीनजी पं० रामकुमारजीके मतका समर्थन करते हुए कहते हैं कि *'रजायसु'* शब्द यह बात प्रकट करता है कि बात राजाको कहनी चाहिये। मुनिकी आज्ञाको रजायसु नहीं कह सकते। *'नरेसु'* शब्द सम्बोधनमें लिया जायगा। *'मुनि कहेउ*—हे नरेसु! रजायसु देहु'। यह उसका अन्वय है। इसी वास्ते *'नरेसु'* शब्द रखा है कि नर तो वसिष्ठजी भी हैं, वे नरकी हैसियतसे राजा दशरथको राजा मानकर आज्ञा माँगते हैं कि हमारे योग्य जो कार्य हो उसकी आज्ञा दीजिए, हम करें।

दो०—राजन राउर नाम जसु सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिपमनि मन अभिलाष तुम्हार॥ ३॥

शब्दार्थ—**राजन**=(सम्बोधन) हे राजा। **राउर**=(रावरो) आपका। **अभिमत**=मनचाही वस्तु, इष्ट, वांछित। **दातार**=देनेवाला। **अनुगामी**=पीछे-पीछे चलनेवाला।

अर्थ—हे राजन्! आपका नाम और यश ही सब (वा, सब-के-सभी) मनोरथोंको देनेवाला है। हे महीपमणि! आपके मनकी अभिलाषा (तो) फलकी अनुगामिनी है॥ ३॥ (दीनजी, गौड़जी)

नोट—१ उत्तरार्द्धके अर्थ और तरहसे भी किये गये हैं—(२) पं० रामकुमारजीका अर्थ टिप्पणी १ में देखिये। (३) मा० म० और रा० प्र० का अर्थ—'आपके मनकी अभिलाषा महिपमणि अर्थात् चक्रवर्ती राजा है, फल उसका अनुचर है। सेवक स्वामीके पीछे चलता है अतः ***'अभिलाष'*** को राजा और फलको अनुगामी कहा है।' (४) श्रीनंगेपरमहंसजीका अर्थ—'आपकी अभिलाषाका फल आपका अनुगामी है।' (भाव कि) 'तब आपके मनकी अभिलाषा कैसे बाकी रहेगी। अर्थात् आपकी (मनुशरीरमें) अभिलाषा हुई कि परम प्रभुका दर्शन हो (तब आपको उन्होंने दर्शन दे दिया और) जब आपने उनको देखा तब (आपने कहा कि) ***'चाहौं तुम्हहि समान सुत।'*** (वे आपके पुत्र हुए अतः) जब आपकी अभिलाषाका फल श्रीरामजी हैं जो सब अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले हैं और (जब) वे ही आपके अनुगामी हुए हैं तब मनकी अभिलाषा कैसे बाकी रहेगी। यदि कहिये कि राज्याभिषेककी अभिलाषा क्यों नहीं पूरी हुई तो समाधान यह है कि क्रमशः पूरी होगी। पहले राजाके वरदानको पूरा करके यह अभिलाषा पूरी करेंगे।' (अभिलाषा है ***'मोहि अछत यहु होइ उछाहू।'*** कोष्टक सम्पादकीय है।)

नोट—२ ***'फल अनुगामी महिपमनि मन अभिलाषु तुम्हार'*** इति। इसके प्रथम अर्थसे प्रोफे० दीनजी और गौड़जी दोनों सहमत हैं। इसका भाव यह है कि आप जो अभिलाषा करते हैं उसका फल पहले ही उत्पन्न हो जाता है, अभिलाषा पीछेसे होती है। दीनजी कहते हैं कि यहाँ 'अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार' है ***('जहाँ हेतु तें प्रथमही प्रगट होत है काज')***। अनुगामी ***'अभिलाषु'*** का विशेषण है। जिन-जिन टीकाकारोंने उक्त 'अत्यन्तातिशयोक्ति' के बिना समझे इस दोहेका अर्थ किया है वे चूक गये हैं। गी० प्रे० ने भी यही अर्थ ग्रहण किया है।

गौड़जी—एक सीधा अन्वय इस दोहेके उत्तरार्द्धका यह भी होता है—'हे महिपमणि! तुम्हार मन कै अभिलाष फल अनुगामी अहई' अर्थात् हे राजन्! तुम्हारे मनमें अभिलाषा उठनेवाली होती है कि फल तुरंत प्राप्त हो जाता है, कारणके उपस्थित होनेके पहले ही कार्य हो जाता है क्योंकि आपका नाम और यश सभी अभीष्टोंके देनेवाले पहलेहीसे सर्वत्र फैले हुए हैं और तुम्हारे मनमें अभिलाषा तो पीछे होती है। इस चमत्कारका भाव यह है कि जब अन्धतापसने यह शाप दिया कि तुम भी पुत्रवियोगमें प्राण त्याग करोगे तो इस शापको राजा दशरथने आशीर्वाद माना; क्योंकि तबतक कोई सन्तान न थी। यह अभिलाषा हुई कि पुत्र होगा तो उसके वियोगमें प्राण-त्याग करनेकी नौबत आवेगी। [सन्तानकी अभिलाषा और सन्तान हुईं साठ हजार वर्षकी आयु होनेपर, अन्धतापसशाप हुआ था युवावस्थामें जब शब्दवेधी बाण चलाने और 'राजकुमार शब्दवेधी हैं' यह प्रसिद्धि पानेका शौक था। (वाल्मी० २।६३।११)] ***'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना॥'*** यह सारस्वत वाक्य वरदानके रूपमें अवधभुआलको फलस्वरूप अन्धशापके पहले ही प्राप्त हो चुका था।

नोट—३ यहाँ कुछ महानुभावोंने यह शंका उठाकर कि 'वसिष्ठजीका यह वचन तो सत्य नहीं ही हुआ; क्योंकि राजाका मनोरथ छूछा पड़ा' इस दोहेका सरस्वतीकृत अर्थ भी कहा है जो यह है—(क) आपकी अभिलाषाका फल रामचन्द्रजीको राज्यप्राप्ति है सो 'अनु' अर्थात् पीछे होगा, राज्य अभी न होगा। इस अभिलाषा-वश आपका नाम और यश सब अभिमतोंका देनेवाला होगा। (मा०म०) (ख) आपका नाम और यश सबकी इच्छा पूर्ण करता है तो रामचन्द्रकी इच्छा भी पूरी करेगा कि प्रथम रावणवध कर दिग्विजय प्राप्त कर लें, तब राज्य करें। (मा० म०) (ग) ***'राजन'*** (राज न) अर्थात् तुम्हारा राज्य न रहेगा और तुम भी न रहोगे कि जिनका नाम और यश सबके अभिमतका देनेवाला है। (रा०प्र०) (घ) ***'राजन'*** 'राज्य नहीं' अर्थात् न राम-राज्याभिषेक अभी होगा और न आपका ही राज्य रहेगा। हाँ, आपका नाम और यश रह जायगा जो सब मनोरथोंका दाता होगा। आपकी इच्छा हुई इसका फल पीछे होगा, आपके मरनेपर,

आपके अक्षत नहीं। (ङ) अ० दी० कार कहते हैं कि 'फल पीछे होगा। क्योंकि केकयराजसे प्रतिज्ञाबद्ध होनेसे आपको भरतको राज्य देना उचित था, वे न लेते तब इनको देते। भरतकी अनुपस्थितिमें अभिषेक कर रहे हैं इससे यह अभी न होगा।' मुनि त्रिकालज्ञ हैं अत: ऐसे शब्द कहे।

टिप्पणी—१ *'फल अनुगामी·······'* इति। (क) फल आपके मनकी अभिलाषाके अनुगामी हैं। अर्थात् मनमें अभिलाषा होते ही चारों फल प्राप्त हैं। अभिलाषाके पीछे (पीछे) फल लगे रहते हैं। राजाने कहा था कि *'अब अभिलाषु एकु मन मोरें'*, इसीके उत्तरमें गुरुजीने यह कहा कि *'फल अनुगामी····।'* अर्थात् जब तुम्हारा नाम और यश ही सबकी अभिलाषाओंको पूर्ण करते हैं तब तुम्हारे अभिलाषाकी बात ही क्या, उसके तो चारों फल अनुगामी हैं। यहाँ राजाके नाम, यश और रूप तीनोंका माहात्म्य कहा। यह दोहा मुनिकी उक्ति है।

बाबा रघुनाथदासजी—तात्पर्य यह है कि तुम्हारे सब फल मनके अधीन हैं और लोगोंकी अभिलाषा फलोंके पीछे दौड़ती फिरती है तो भी फल उनके हाथ लगे न लगे। और आपकी तो अभिलाषा करनेकी देर है फल तो आप ही दौड़ा चला आता है। भाव यह है कि आप बड़े सुकृती हैं। महत्पुरुषों, धर्मात्माओंके विचार जो उठते हैं, वे सिद्ध होते ही हैं, यह साधारण रीति है। (मा० दी०, वि० टी०)

पंजाबीजी—(क) भाव यह है कि जिसपर आपकी कृपादृष्टि हो जाय, उसे चारों फल प्राप्त हो जायँ फिर भला आपकी क्या बात है। (ख)—गुरुने इन वचनोंमें नीतिका पालन किया कि राजाकी प्रशंसा की। राजाकी प्रशंसा करके तब बात कहे, यह राजनीति है। परंतु राजाने इसे गुरु-अनुग्रह समझा और यह जाना कि हमारे 'वांछित-सिद्धि-हेतु' हमें मनोरथके कहनेका यह सुअवसर जना रहे हैं।

सब बिधि गुरु प्रसन्न जिय जानी। बोलेउ राउ रहसि मृदु बानी॥ १॥
नाथ रामु करिअहिं जुवराजू। कहिअ कृपा करि करिअ समाजू॥ २॥
मोहि अछत यह होइ उछाहू। लहहिं लोग सब लोचन लाहू॥ ३॥

शब्दार्थ—**रहसि**=हरसि=हर्षित होकर। (विशेष नोट २ में देखिये)। **जिय जानी**= हृदयमें जानकर, समझकर (अर्थात् मनमें यह निश्चय कर लिया कि प्रसन्न हैं।) **करिअहिं**=(अवश्य) कीजिये। **समाजू**=साज-सामान, सामग्री, तैयारी। **लहहिं**=प्राप्त करें, पावें। **उछाह**=उत्सव।

अर्थ—अपने जीमें गुरुजीको सब प्रकार प्रसन्न समझकर राजा हर्षित होकर कोमल वाणीसे बोले॥ १॥ हे स्वामिन्! रामको युवराज बनाइये। कृपा करके कहिये (आज्ञा दीजिये) कि तैयारी करो॥ २॥ मेरे जीते-जी यह उत्सव हो जाय (जिससे) सब लोग नेत्रोंका लाभ उठावें॥ ३॥

नोट—१ गोस्वामीजीके समयमें क्रियाओंमें 'य' की ठौर 'अ', खासकर अन्तमें लिखनेकी प्रणाली थी। ऐसा जान पड़ता है। ग्रन्थमें—*'करिय'* का *'करिअ'*, *'करियहिं'* का *'करिअहिं'* रूप मिलता है।

टिप्पणी—१ *'सब बिधि गुरु प्रसन्न·······'* इति। (क) सब प्रकार अर्थात् मन, कर्म, वचन तीनोंसे राजाका स्नेह देखकर गुरु प्रसन्न हुए, *'मुनि प्रसन्न लखि सहज सनेहू'* यह मनकी प्रसन्नता है। अभिलाषाको पूर्ण करनेपर उद्यत हैं, उसे पूछ रहे हैं। यथा—*'कहेउ नरेसु रजायसु देहू',* यह कर्मसे प्रसन्नता दरसाई और राजाकी प्रशंसा की, यथा—*'राजन राउर नाम जसु सब अभिमत दातार····',* यह वचनकी प्रसन्नता है। (ख) *'जिय जानी'*—अर्थात् अच्छी तरह हृदयमें समझ लिया कि गुरुजी प्रसन्न हैं तब अभिलाषा सुनायी, जिसमें गुरुजी युवराज्य देनेकी आज्ञा दे दें, मनोरथ सफल हो। (ग) *'रहसि मृदुबानी'*—मृदु वाणी हर्षित होकर बोले। क्योंकि रामराज्य हर्षका हेतु है। रामराज्यकी बात हृदयमें आते ही हर्ष हुआ। वाणी तो स्वाभाविक ही कोमल है अथवा, उसे और भी कोमल करके बोले जिसमें गुरुको अच्छी लगे, वे प्रसन्न हों।

नोट—२ *'रहसि'* इति। संस्कृत भाषामें दो शब्द मिलते हैं—रहस् और रभस्। रहस् शब्दका अर्थ है—आनन्द, सुख, क्रीड़ा, गुप्त भेद, एकान्त स्थान। 'रहसना' हिन्दी भाषामें अकर्मक क्रिया बनाया गया,

जिसका अर्थ है—आनन्दित होना, प्रसन्न होना। यथा—*'एहि बिधि रहसत बिलसत दंपति हेतु हिय नहिं थोरे'*—(सूर) *'बर दुलहिनन्हि बिलोकि सकल मन रहसहिं'*—(तुलसी)। पुनः, *रहसि*=गुप्त स्थान, एकान्त स्थान। यथा—*'सुनि बल मोहन बैठ रहसिमें कीन्हों कछू बिचार'* (सूरशब्दसागर)।

शब्दकल्पद्रुममें 'रभस्' का अर्थ वेग, हर्ष और प्रेमोत्साह है और 'रहस्' का अर्थ केवल 'एकान्त' और 'रति' दिया हुआ है। गौड़जीकी राय है कि जहाँ 'रहसि' शब्दका अर्थ है—प्रेमोत्साहसे, हर्षसे, वहाँ उसका मूल रूप संस्कृतमें 'रभसः' है और जहाँ एकान्तके अर्थमें आया है वहाँ मूलरूप 'रहस्' ही है।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'हरषि' को उलटकर अर्थात् वर्णविपर्ययद्वारा 'रहसि शब्द बना है। इसका अर्थ भी 'हर्षपूर्वक' 'हर्षित होकर' है। यहाँ वर्णविपर्ययद्वारा बने हुए शब्दका प्रयोग सहेतुक है। इस काण्डमें यह शब्द इस रूपमें कई स्थलोंमें प्रयुक्त किया गया है और जहाँ-जहाँ इसका प्रयोग हुआ है, प्रायः उन सब स्थलोंपर परिणाम हर्षका उलटा ही हुआ है, मनोरथ ही छूछा पड़ा, उसकी सिद्धि नहीं ही हुई, यथा— *'एहि अवसर मंगल परम सुनि रहसेउ रनिवास।'* (२। ७), *'रहसी चेरि घात जनु फाबी।'* (१७। २), *'रहसी रानि राम रुख पाई।'* (४३। १) इत्यादि।

दीनजी, हरिहरप्रसादजी इत्यादि भी 'हरषि' का वर्णविपर्ययसे 'रहसि' होना लिखते हैं। विनायकी टीकाकारने यहाँ पाठ ही बदल दिया है—*'बिहँसि'* पाठ दिया है। पर यह पाठ अशुद्ध है।

टिप्पणी—२ *'नाथ राम करिअहि जुवराजू।……'* इति। (क) *'नाथ'* का भाव कि आप स्वामी हैं, मैं तो सेवक हूँ, आपके ही देनेसे उनको युवराज्य मिलेगा और मेरा काम तो आपकी आज्ञाका पालन करना है। कृपा करके आप मुझे आज्ञा दें तब मैं करूँ। अतः, कहा कि *'कहिअ कृपा करि करिय समाजू।'* *'कृपा करि'* क्योंकि जो कार्य सिद्ध हुए हैं वे आपकी कृपासे ही, रही सही यह भी आपकी कृपासे ही पूरी होगी। यथा—*'पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे।'* [*'करिअ समाजू'*—प्रसंगानुकूल यहाँ 'समाज' का अर्थ है—सामग्री, सामान, न कि पुरुषोंका समाज। यथा—*'कहेहु लेहु सब तिलक समाजू। बनहिं देब मुनि रामहिं राजू॥'* (१८७। ३) *'साजिअ सबुइ समाजु।'* (२। ४) यह गुरुमहाराजने स्वयं ही कहा है]।

टिप्पणी—३ *'मोहि अछत यह होइ……'* इति। (क) पूर्व जो कहा था कि मेरे मनमें एक अभिलाषा है उसे यहाँ स्पष्ट करके कहते हैं—*'मोहि अछत'* से *'न होइ पाछे पछिताऊ'* तक। (ख) *'मोहि अछत'* मेरे रहते यह उछाह हो। भाव कि वृद्धा अवस्था है, जीवनका ठिकाना नहीं, शरीरके रहनेमें सन्देह है। यही बात आगे स्पष्ट कहते हैं, यथा—*'पुनि न सोच तन रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाछे पछिताऊ॥'* राज्य देनेवाले गुरुजी हैं, राजा नहीं। (*'यह होइ'* इन वचनोंसे *'नाथ रामु करिअहि जुवराजू'* का अर्थ स्पष्ट हुआ। अर्थात् इससे गुरुका राज्य देना पुष्ट करते हैं) नहीं तो कहते कि जीते-जी मैं उन्हें युवराज बना दूँ, यह उत्सव कर लूँ। यह उत्सव हो जाय, नेत्रभर इसे भी मैं देख लूँ, (अर्थात् अपनी बेबसी) न कहते। (यही बात वाल्मीकीयमें राजाके, **'सोऽहं विश्राममिच्छामि पुत्रं कृत्वा प्रजाहिते। संनिकृष्टानिमान्सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान्॥'** (२। २। १०) अर्थात् प्रजाके कल्याणके लिये मैं अपने पुत्रको अपने स्थानपर नियुक्त कर विश्राम चाहता हूँ, पर यह मैं तब चाहता हूँ जब समीप बैठे हुए आप सब सभासद् और हमारे अन्तरंग सब श्रेष्ठ ब्राह्मण आज्ञा दें, इन वाक्योंसे सिद्ध होती है। जनपदका कैसा मान था!) [(ग) इस चौपाईसे ग्रन्थकारने पूर्वकथित पुरवासियोंकी अभिलाषाका सम्बन्ध मिलाया। *'सबके उर अभिलाषु अस……आपु अछत जुवराज पद रामहिं देउ नरेसु।'* यह पुरवासियोंकी अभिलाषा कही थी। उसकी सिद्धि यहाँ *'मोहि अछत यह होइ उछाहू। लहहिं लोग सब लोचन लाहू॥'* इस अर्धालीमें दिखायी। *'लोग सब'* में गुरुजी भी आ गये।]

नोट—३—वाल्मीकिजी लिखते हैं कि 'राजाको इस समय बहुत अशकुन और बुरे स्वप्न हो रहे थे; अतएव वे शीघ्रता कर रहे हैं, यथा—'**दिव्यन्तरिक्षे भूमौ च घोरमुत्पातजं भयम्। संचचक्षेऽथ मेधावी शरीरे**

चात्मनो जराम्॥' (२। १। ४३) अर्थात् स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथ्वीमें भयंकर उत्पात, भय तथा अपने शरीरमें वृद्धावस्थाका आगमन बुद्धिमान् राजाने मन्त्रियोंको बतलाया। पुनश्च तथा—'**अपि चाद्याशुभान्राम स्वप्नान्पश्यामि राघव। सनिर्घाता दिवोल्काश्च पतन्ति हि महास्वनाः॥**' (२। ४। १७) अर्थात् राम! मैं आज अशुभ स्वप्न देख रहा हूँ। वज्रपातके साथ बड़े शब्दसे आकाशसे उल्कापात होते मैंने देखा है। पुनः वे रामजीसे कहते हैं—'**अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणग्रहैः। आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्यांगारकराहुभिः॥ प्रायेण च निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे। राजा हि मृत्युमाप्नोति घोरां चापदमृच्छति॥** (४। १८-१९) अर्थात् मेरा जन्म-नक्षत्र सूर्य, मंगल और राहु इन दारुण ग्रहोंसे आक्रान्त हुआ है, ज्योतिषियोंने यह बताया है। प्रायः ऐसे निमित्तोंके उत्पन्न होनेपर या तो राजाकी मृत्यु होती है या और कोई बड़ी विपत्ति आती है। इससे यह सम्भव है कि राजाने इसी कारण विचार आते ही तुरंत दूसरे ही दिन तिलकका हो जाना निश्चित किया; यह बात उनके '**तद्यावदेव मे चेतो न विमुह्यति राघव। तावदेवाभिषिंचस्व चला हि प्राणिनां मतिः॥**' (२। ४। २०) (अर्थात् जबतक मेरा चित्त तुम्हारे राज्याभिषेकके सम्बन्धमें स्थिर बना रहे, मेरे होश-हवाश ठिकाने रहें तबतक तुम अपना अभिषेक करा लो, क्योंकि मनुष्योंकी बुद्धि चंचल हुआ करती है।) इन वाक्योंसे भी सिद्ध होती है। वे डर रहे हैं कि कहीं मेरा शरीर छूट न जाय जो यह लालसा मनके मनमें रह जाय, यह उत्सव मैं न देख सकूँ।

नोट—४—राजा जानते हैं कि सबके हृदयमें यह लालसा है, अतः कहते हैं कि ***'लहहिं लोग सब……।'*** नेत्रभर सब इस उत्सवको देख लें, नेत्र सफल कर लें। भाव कि युवराज्यपदपर श्रीरामजीको देख लेनेसे बढ़कर लाभ नहीं है।

प्रभु प्रसाद सिव सबुइ निबाहीं। यह लालसा एक मन माहीं॥ ४॥
पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाछे पछिताऊ॥ ५॥

शब्दार्थ—**निबाहीं**=निर्वाह किया, पूरी कर दी। **प्रसाद**=प्रसन्नता, कृपा। **लालसा** (लस=चाहना)=उत्कृष्ट इच्छा, अभिलाषा। **तनु**=शरीर, देह। **रहउ**=रहे। **पछिताऊ**=पछितावा, पश्चात्ताप।

अर्थ—आपकी कृपासे शिवजीने (पुनः, आपके प्रसाद और शिवजीने—दीनजी) सभी कुछ निबाह दिया, मात्र यही एक लालसा मनमें रह गयी है॥ ४॥ फिर मुझे सोच नहीं, शरीर रहे चाहे जाय, जिससे मुझे पीछे पछतावा न हो॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) ***'प्रभु प्रसाद'***—क्योंकि बिना गुरुकी कृपाके ईश्वरकी प्रसन्नता नहीं होती। यथा—***'मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी॥'*** (१। ३५७) अतः ***'प्रभु प्रसाद'*** कहकर 'सिव' का निबाहना कहा। (ख) ***'यह लालसा एक मन माहीं'***— सब लालसाएँ पूरी हुईं, यह लालसा अभी मनमें है, सो भी पूर्ण होगी। पूर्व कह चुके हैं कि ***'पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे',*** अतः यहाँ दुबारा न कहा कि आपकी कृपासे पूरी होगी, पूर्वार्द्धसे ही जना दिया। ***'एक'*** अर्थात् इससे बढ़कर दूसरी नहीं और बस यही एक रह गयी है।

टिप्पणी २—***'पुनि न सोच तनु रहउ…'*** इति। (क) अर्थात् 'तिलक हो जाय तो मुझे इस शरीरका फल मिल चुका। फिर वह रहे चाहे जाय। बिना रामराज्य हुए पीछे पछतावा ही रह जायगा।' रामराज्याभिषेक न होनेसे राजाको पछतावा हुआ ही, यथा—***'तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुयेहु न मिटिहि न जाइहि काऊ॥'*** (३६। ५) (ख) यहाँ ***'सोच'*** और ***'पछिताऊ'*** दो बातें कहीं और ***'तनु रहउ कि जाऊ'*** कहते हैं [अर्थात् यहाँ चार बातें कहीं—तन रहे, तन जाय, सोच और पछतावा। (प्र०सं०) इसका भाव यह है कि श्रीरामजीको युवराज्य देनेपर यदि 'तन' (मेरा शरीर) बना (भी) रहे तो शोच न रहेगा और यदि तन छूट गया तो पीछे पछतावा भी नहीं होगा। (ग) सरस्वती इन शब्दोंसे राजाका होनहार 'न रहना, मृत्यु' सूचित कर रही है।

नोट—गीतावलीमें भी राजाके वचन इसी प्रकारके हैं, यथा—***'तुम्हरी कृपा असीस नाथ मेरी सबै महेस***

निबाही। राम होहिं जुवराज जियत मेरे यह लालच मनमाहीं। बहुरि मोहि जियबे मरिबे की चित चिंता कछु नाहीं॥' (२। १)।

सुनि मुनि दसरथ बचन सुहाये। मंगल मोद मूल मन भाये॥ ६॥
सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥ ७॥
भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। रामु पुनीत प्रेम अनुगामी॥ ८॥
दो०—बेगि बिलंबु न करिअ नृप साजिअ सबुइ समाजु।
सुदिन सुमंगल तबहिं जब रामु होहिं जुवराजु॥ ४॥

शब्दार्थ—**भाये**=अच्छे लगे। **बिमुख**=विरोधी, जो उनसे मुँह फेरे हो, प्रेम न रखता हो। **भजन**=सेवा, भक्ति। **जरनि**=जलन। **तनय**=पुत्र। **बेगि**=शीघ्र ही। **साजिअ**=सजाइये, एकत्र कीजिये।

अर्थ—श्रीदशरथजीके सुन्दर मंगल और आनन्दके मूल वचन सुनकर मुनिके मनको अच्छे लगे। (अर्थात् मुनि प्रसन्न हुए॥ ६॥ और बोले—) हे राजन्! सुनिये जिनसे विमुख होनेसे लोग पछताते हैं और जिनके भजन बिना जीकी जलन नहीं जाती, वही स्वामी श्रीराम आपके पुत्र हुए हैं। श्रीरामचन्द्रजी पवित्र प्रेमके अनुगामी हैं॥ ७-८॥ हे राजन्! देर न कीजिये, शीघ्र ही सभी साज-सामान सजाइये। सुदिन और सुमंगल तभी है जब श्रीरामचन्द्रजी युवराज हो जायँ॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'सुनि मुनि दसरथ बचन सुहाये……'* इति। श्रीरामराज्याभिषेक होना मंगल है, आनन्द है और राजाके वचनमें अभिषेककी बात है, अतएव राजाके वचन मंगल मोदके मूल हैं, इसीसे मुनिके मनमें अच्छे लगे। [अथवा, रामराज्याभिषेक सुनकर मुनिके मनमें आनन्द भर गया, अतः वचनको मंगल मोदका मूलक (उत्पन्न करनेवाला) कहा। वचन मृदु हैं, यथा—*'बोलेउ राउ रहसि मृदु बानी।'* अतः *'सुहाये'*। (प्र०सं०)]

टिप्पणी—२ *'सुनु नृप जासु बिमुख''* इति। (क) यह राजाके *'पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ'* का उत्तर है। (विमुख होनेसे पछताना पड़ता है) यथा—*'मन पछितैहै अवसरु बीते। दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु करम बचन अरु ही ते॥'* (विनय०११८) (ख) *'जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं'*—भाव कि रामभजन करनेसे ही जीकी जलन दूर होती है, यथा—*'राम नाम के जपे जाइ जियकी जरनि।'* (विनय० १८४)

टिप्पणी ३—*'भयउ तुम्हार तनय……'* इति। (क) भाव कि तुम्हारे पवित्र प्रेमसे तुम्हारे पुत्र हुए। 'प्रेम' भजन है, यथा—*'पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।'* (यह दोहा प्रक्षिप्त माना जाता है।) अतः भाव यह हुआ कि जिसके भजन बिना जलन नहीं जाती वह तुम्हारे भजनसे तुम्हारे पुत्र हुए। पुनीत अर्थात् कपट-छल-छिद्र-रहित क्योंकि श्रीमुखवचन है कि *'मोहि कपट छल छिद्र न भावा।'* (स्वार्थके लिये जो प्रेम किया जाता है वह पवित्र नहीं है।) पुनः भाव कि और पुत्र तो सुकृतसे होते हैं पर श्रीरामजी पवित्र प्रेमसे ही पुत्र होते हैं, सुकृतोंसे नहीं। *'सोइ स्वामी'* कहनेका भाव कि वह राम जो सबके स्वामी हैं, सबके पिता हैं, जब वे ही तुम्हारे पुत्र हुए तब तुमको पछतावा और जलन क्यों होगी। [(ख) भाव कि वे सबके तो स्वामी ही हैं पर तुम्हारे पुत्र हुए, क्योंकि वे प्रेमके अधीन हैं, यथा—*'तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे।'* (१। ३४२) और आपका सच्चा पवित्र प्रेम है इसीसे उनको आपका पुत्र होना पड़ा, यथा—*'जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ।'* (२। २०९) (यह भरद्वाजजीका वाक्य है) इससे जनाया कि निश्छल प्रेम ही सबसे बढ़कर भजन है। [राम पुनीत प्रेमके अनुगामी हैं जो तुम्हारे पुत्र हुए हैं। इस सामान्य वाक्यका *'जासु बिमुख……'* से समर्थन करना 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है। (वीर)]

नोट—१ *'राम पुनीत प्रेम अनुगामी'* इति। मयंककार ऐसा अर्थ करते हैं कि 'जिसके भजन बिना जरनि नहीं जाती उस (भरत)-के स्वामी राम तुम्हारे पुत्र हुए, जो पुनीत प्रेमके अनुगामी हैं। परंतु दशरथजीका

प्रेम पुनीत नहीं। क्योंकि राज्य देना भरतजीको उचित है। राजा भक्तशिरोमणि भरतसे विमुख हैं (रामजीके सम्मुख हैं) अत: उन्हें पछताना पड़ेगा। भरतजीहीकी विमुखता यहाँ सिद्ध होती है क्योंकि राजाको पछताना पड़ा।' रामभजनमें तो राजा तत्पर ही थे तो फिर जरनि क्यों हुई? इससे भरत-भजन ही सिद्ध अर्थ है। भरतजी रामप्रेमके पात्र हैं और रामचन्द्रजी उस प्रेमके अनुगामी हैं। राजा भरतसे विमुख हुए, अत: रामचन्द्रजी उनसे रूठ गये।

प्रोफे० दीनजी लगभग इसी भावार्थका समर्थन करते हैं। वे लिखते हैं कि 'इस चौपाईका गूढ संदर्भ यह कि तुम्हारा विचार रामभक्त भरतके विरुद्ध है। तुम्हारे पूर्व वचनोंके अनुसार भरत ही राज्यके अधिकारी हैं सो उनका हक मारकर रामको देना चाहते हो, यह अच्छा नहीं करते। रामजी तो पुनीत प्रेमके अनुगामी हैं और तुम्हारा यह प्रेम अधर्ममूलक है, अत: रामजी राज्य नहीं ग्रहण करेंगे। इन चौपाइयोंको कुछ लोग रामपक्षमें लगाते हैं, पर हमें भरतपक्षका ही अर्थ अधिक सुसंगत जान पड़ता है, क्योंकि दशरथजी रामचन्द्रके विमुख नहीं हुए, उनका भजन भी नहीं त्याग किया, फिर भी उन्हें पछताना पड़ा है। यथा—***'तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुयेहु न मिटिहि न जाइहि काऊ॥', 'अजहूँ हृदउ जरत तेहि आँचा। रिस परिहास कि साँचहु साँचा॥'*** दीनजी ***'तनय'*** से भरतजीका अर्थ लेते हैं।

मेरी समझमें ***'जासु'*** श्रीरामजीके लिये ही है न कि भरतके लिये। कैकेयी और मन्थरा रामविमुखी थीं, अयोध्याभरमें कोई और रामविमुख न था। इसीसे कैकेयीको पछताना पड़ा और मन्थराकी भी दुर्दशा हुई। यथा—***'लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥'*** (२५२।५) ***'...राम बिमुख थलु नरक न लहहीं।' 'गरइ गलानि कुटिल कैकेई॥'*** (२७३।१) ***'आह दइअ मैं काह नसावा।'*** (१६३।४—७) दशरथजीका पछतावा त्रियाचरित्रमें फँस जानेका है जिससे वे रामराज्याभिषेक न कर सके।

''सुदिन सुमंगल तबहिं जब राम होहिं जुवराज''

वशिष्ठजी त्रिकालदर्शी हैं उन्होंने राजासे स्पष्ट क्यों न कह दिया कि इस समय युवराज्य न होगा? उन्होंने यथार्थ क्यों न कह दिया कि ऐसा आगे होगा?

१-पं० रामकुमारजी कहते हैं कि यदि सब कह देते तो राजा सावधान हो जाते, रामजीकी वन-लीलामें बाधा पड़ती। वसिष्ठजीका तो सिद्धान्त है कि रामरुख रखते हुए कार्य किया जाय यथा—***'राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।'*** (२५४) वे स्वामित्व भाव लिये हुए हैं, और राजा वात्सल्यमें पगे हैं। वे राजाका रुख कदापि नहीं रख सकते। इसीसे यहाँ कहा भी है ***'भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी'*** अर्थात् वे तो सबके स्वामी हैं, सबके मनकी करेंगे। ***'बेगि बिलंबु न करिय...'*** जो गुरुने यहाँ कहा वह सब राजाके खातिरसे। ये बचन राजाके ***'कहिय कृपा करि करिय समाजू'*** के उत्तरमें कहे गये। वसिष्ठजीने न तो राजाको सुदिन (मुहूर्त) बताया और न युवराज्यका होना ही निश्चित किया, केवल यही कहा कि ***'जब जुवराज होहिं'*** इन शब्दोंसे सूचित होता है कि वे होनहार जानते हैं, उन्हें श्रीरामजीकी खातिर (प्रसन्नता) मंजूर है, उन्होंने श्रीरामजीका रुख रखा। ***'नाथ रामु करिअहिं जुवराजू'*** का उत्तर दोहेके उत्तरार्धमें है कि जब श्रीरामजी युवराज हों (होना चाहें) तब हम उनको युवराज्य दे सकते हैं। ***'तबहिं जब'*** से जनाया कि यह सुमंगल कालाभिमानी देवताकी कृपा-सापेक्ष (कृपापर निर्भर) नहीं है। श्रीरामजी स्वतन्त्र हैं। राज्याभिषेक उन्हींके अधीन है।

२-श्रीरामप्रतापदासजी कहते हैं कि प्रभुकी माया बड़ी प्रबल है। वह बड़े-बड़े विज्ञानियोंको मोहित कर लेती है। उनकी इच्छासे इस समय वसिष्ठजी भी माधुर्य और वात्सल्यमें भूल गये। न भूलते तो उनको उचित था कि राजाको सावधान कर देते। क्यों न करते? क्या उनके मनमें राम-राज्याभिषेककी अभिलाषा न थी? अवश्य थी। रावण-वध पीछे हो जाता।

३-गौड़जी—वसिष्ठजी त्रिकालज्ञ हैं और भविष्यकी घटनाओंको भी जानते हैं फिर भी जीव हैं। उनकी त्रिकालज्ञता सापेक्ष्य है, परम नहीं और विशुद्ध ज्ञानीकी दृष्टिसे मानवशरीरकी मर्यादाके भीतर काम करना

उनका परम कर्तव्य है। साधारणतया पुरोहित त्रिकालज्ञ नहीं होते। ज्योतिषकी गणनासे शुभमुहूर्त निकालकर यजमानको बताते हैं। उद्योग भरसक यही रहता है कि यजमानका अभीष्ट सिद्ध हो। वैसे अनेक अदृष्ट कारणोंसे जो शुभकालोचित फलप्राप्तिमें बाधक होते हैं, अनेक अनिष्ट घटनाएँ घट ही जाती हैं। यद्यपि वसिष्ठजी जानते हैं कि रामराज्याभिषेक अभी न होगा तो भी वह राजाकी अभिलाषाके मार्गमें व्यर्थ ही क्यों रोड़े अटकावें। विशुद्ध ज्ञानीकी दृष्टिसे वसिष्ठजीने यही किया जो उनका कर्तव्य था, फिर इसमें भी सन्देह नहीं कि उनकी वाग्देवताकी मर्मपूर्ण शब्दावलीको मनोरथविमोहित राजा दशरथने समझ न पाये।

४—बाबू जंगबहादुरसिंह—जो जीव सर्वज्ञ हैं, वे और सब विषयोंमें सर्वज्ञ हैं न कि ईश्वरके विषयमें। नारदजी भी तो सर्वज्ञ थे फिर शीलनिधिकी कन्यासे विवाह करनेके हेतु ईश्वरको क्यों भूल गये और दुर्वचन कह बैठे। श्रीलक्ष्मणजीने माया सीताका मर्म न जाना। इसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये। (मानस-शंकामोचन)

५—पंजाबीजी कहते हैं कि गुरुने यहाँ श्लिष्ट शब्दोंमें राजाकी रुचि भी रखी और सत्य भी कहा, क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं, जानते थे कि विघ्न होगा। उनके वचन हैं ***'सुदिन सुमंगल तबहिं जब राम होहिं जुवराज'*** अर्थात् दिन मुहूर्तका शोधन ही क्या? उसका सोचना देखना क्या? वही दिन शुभ और मांगलिक है जिस दिन उनको युवराज प्राप्त हो यहाँ कोई सुदिन नहीं निश्चय करते, न यही कहते हैं कि युवराज बनाओ।

६—***'राम होहिं'*** पद देते हैं। ऐसा कहकर जनाते हैं कि वे अभी युवराज न होंगे, जिस दिन वे युवराज बनें वही सुदिन है। गीतावलीमें वसिष्ठजीके जो वचन हैं उनसे मिलान कीजिये—***'महाराज भलो काज बिचार्‌यो, बेगि बिलंबु न कीजै। बिधि दाहिनो होइ तौ सब मिलि जनम लाहु लुटि लीजै॥'*** (२। १) यदि यह कहें कि राजा तो सुदिन विचार कर गये थे और उन्होंने गुरुसे कहा भी तो भी यही गुप्त अभिप्राय निकलता है कि उन्हें तो युवराज होना ही नहीं, तुमने सुदिन विचरवाया है, पर सुदिन नहीं है, सुदिन तो वही होगा जब वे राजा हो जायँगे।

७—मयंककार कहते हैं कि भाव यह है कि तुम अपने इच्छानुकूल तैयारी करो, अपना कर्तव्य करो, परन्तु वे तो ४१वर्षकी अवस्थामें राज्य ग्रहण करेंगे यह समझकर कहते हैं कि जब वे युवराज हो जायँ तभी मंगल जानना।

श्लिष्टपदद्वारा गूढ़ अर्थका प्रकट होना 'विवृतोक्ति' अलंकार है।

मुदित महीपति मंदिर आये। सेवक सचिव सुमंत्र बोलाये॥ १॥
कहि जय जीव सीस तिन्ह नाये। भूप सुमंगल वचन सुनाये॥ २॥
[१] **[प्रमुदित मोहि कहेउ गुरु आजू। रामहिं राय देहु जुवराजू]॥ ३॥**
जौ पाँचहिं[२] मत लागइ नीका। करहु हरषि हिय रामहिं टीका॥ ४॥

शब्दार्थ—**मंदिर**=घर, महल, वासस्थान। **महीपति**=पृथ्वीका स्वामी, राजा। **'जय जीव'**—यह शब्द केवल

---

१. यह अर्धाली छक्कनलालजीकी प्रतिमें नहीं है और न राजापुरवालीमें। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि इसके न होनेसे भी कोई त्रुटि नहीं जान पड़ती; वरं च इससे एक शंका भी उत्पन्न होती है कि गुरुने तो ऐसा कहा ही नहीं था, यद्यपि इसका समाधान भी हो जाता है। गुरुकी आज्ञा सुनायी जिसमें मन्त्री भी प्रसन्न होकर सम्मति दे दें। श्रीपोद्दारजी लिखते हैं कि 'गुरु वसिष्ठने राजाको यह आज्ञा दी भी नहीं कि रामको युवराज बना दो, उन्होंने तो राजाके प्रस्तावका अनुमोदनभर किया था । ऐसी दशामें सत्यसन्ध महाराज दशरथने मन्त्रियोंसे ऐसी बात कही हो यह युक्तिसंगत नहीं मालूम होता और इस अर्धालीके न रहनेसे अर्थकी संगति न बैठती हो सो बात भी नहीं है। 'सुमंगल बचन' से श्रीरामजीको युवराज बनानेकी बात आ ही जाती है। गुरुकी आज्ञा सुनायी जिसमें मन्त्री भी प्रसन्न होकर सम्मति दे दें।'

२. 'पंचहि जौ'—(बाबा रघुनाथदास) 'पंचहि' काशीमें और 'पाँचहि' राजापुर और भागवतदास एवं रामगुलाम-द्विवेदीजीका पाठ है।

पद्यमें प्रयुक्त होता है। यह एक प्रकारका अभिवादन है जिसका अर्थ है 'जय हो और जियो।' इसका प्रयोग प्रणाम आदिके समान होता था। (श० सा०) विशेष बा०३३२ (८) में देखिये। गौड़जी कहते हैं कि यह 'जयतु, जीवतु' का लघुरूप है। अर्थात् सदा विजयी हो और चिरंजीवी हो। ***'पाँचहिं'***—पाँचोंको, पाँचको। 'पाँच, पंच'—पाँच ओर पाँचसे अधिक मनुष्योंका समुदाय जो कि मामला निबटानेको एकत्र हों उन्हें प्रायः 'पंच' कहते हैं। इसमें पाँचसे कम न होते थे, इसीसे 'पंच' नाम पड़ा। परन्तु अब तो एक भी हो सकता है। इस शब्दसे जहाँ-तहाँ 'सर्व साधारण, लोक, समाज, मुखिया लोग' का भाव वा अर्थ लिया जाता है, यथा—***'पंच कहे सिव सती बिवाही', 'मोरि बात सब बिधिहि बनाई। प्रजा पाँच कत करहु सहाई॥', 'साँचे परे पावों पान पाँचमें परै प्रमान'*** (इति विनय०) जिनकी सलाहसे राजकाज किया जाता है उन्हें पंच कहते हैं। ***'मत'***=सलाह, विचार, मन्त्रणा। ***'टीका'***=तिलक, राज्याभिषेक। उँगलीमें गीला चन्दन, रोरी, केसर आदि पोतकर मस्तकके मध्यमें शुभ अवसरोंपर लगाया जाता है। राजसिंहासन या गद्दीपर बैठनेपर भी तिलक (टीका) होता है; यथा—***'प्रथम तिलक बसिष्ठ मुनि कीन्हा। पुनि सब बिप्रन्ह आयसु दीन्हा॥'*** (७। १२)

अर्थ—राजा आनन्दमें भरे हुए घर (राजभवनमें) आये। सेवकोंसे* सुमन्त आदि मन्त्रियोंको (वा, सेवक, मन्त्री और सुमन्तको) बुलवा भेजा॥ १॥ उन्होंने 'जयजीव' कहकर सिर नवाया। (राजाको प्रणाम किया।) तब राजाने सुन्दर मंगल-वचन (समाचार) सुनाये॥ २॥ गुरुजीने आज बहुत प्रसन्न होकर मुझसे कहा है कि 'राजन्! रामको युवराज्य दो'॥ ३॥ जो यह मत आप सब पंचोंको अच्छा लगे तो हृदयमें हर्षित होकर रामचन्द्रजीका तिलक कीजिये॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'मुदित महीपति⋯'*** इति। (क) गुरुजीसे राजाने कहा था कि ***'कहिय कृपा करि करिअ समाजू।'*** सो उनकी आज्ञा हो गयी कि ***'साजिअ सबुइ समाजु।'*** गुरुके यहाँ अभिलाषा पूर्ण हुई। उनके वचनोंका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। अतएव हमारा मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा। मनोरथकी सिद्धि समझकर राजा ***'मुदित'*** हैं। इसीसे हर्षसे आनन्द भरे हुए घर आये। (ख) ***'सेवक सचिव सुमंत्र बोलाए'*** इति। सुमन्त्रजी प्रधानमन्त्री हैं, इसीसे उनका पृथक् नाम लिया। गुरुकी आज्ञा है कि ***'बेगि बिलंबु न करिअ',*** इसीसे घर आते ही तुरंत सेवकोंको, मन्त्रियोंको बुलाया, मन्त्रियोंको सम्मति लेनेके लिये और सेवकोंको काम करनेके लिये। इन्हीं सेवकोंके विषयमें कहा है कि ***'जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहि काजु प्रथम जनु कीन्हा॥'***

टिप्पणी २—***'कहि जय जीव⋯'*** इति। (क) ***'जय जीव'*** आप सब जीवोंसे उत्कर्ष बर्तें ऐसा कहकर प्रणाम करनेकी मन्त्रियोंकी रीति है। राजाको मन्त्रियोंने ***'जय जीव'*** यह मंगल वचन सुनाये और राजाने उनको 'सुमंगल' वचन सुनाये (वे मंगल वचन थे और ये अत्यन्त सुन्दर मंगल वचन हैं।) गुरुजीने जो कहा था कि ***'सुदिन सुमंगल तबहिं जब राम होहिं जुवराज',*** यही सुमंगल वचन है जो सुनाये, यही आगे स्पष्ट करते हैं। श्रीरामजीको युवराज बनानेका समाचार ही 'सुमंगल वचन' है।

नोट—१ ***'प्रमुदित मोहि कहेउ गुरु आजू।⋯'*** इति। पूर्व कहा है कि ***'सब बिधि गुरु प्रसन्न जिय जानी'*** इसीसे यहाँ ***'प्रमुदित कहेउ'*** पद दिया। यहाँ राजा गुरुकी ओट लेकर मंगल समाचार कह रहे हैं। उनका प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा देना कहते हैं। यद्यपि गुरुने स्पष्ट यह नहीं कहा कि रामचन्द्रजीको युवराजपद दो, तथापि राजा तो उनकी प्रसन्नता और उनके ***'बेगि', 'बिलंबु न करिअ', 'साजिअ सबुइ समाज'*** इन शब्दोंसे सत्य ही वही अर्थ समझ रहे हैं जैसा कि वे कह रहे हैं। गुरुकी प्रसन्नता और आज्ञा बताकर सूचित करते हैं कि उनकी

---

* यहाँ मन्त्रियोंसे सलाह ले रहे हैं। सेवक पंच नहीं कहे जा सकते। इससे अर्थ यही सुसंगत जान पड़ता है कि राजाने सेवकोंसे सुमन्त आदि मन्त्रियोंको बुला भेजा। इस अर्थसे दीनजी सहमत हैं। अन्य टीकाकारोंने कोष्ठकमें दिया हुआ अर्थ किया है। पं० रामकुमारजी सेवकोंको बुलाना भी कहते हैं, वह इसलिये कि गुरुजीकी आज्ञा पालन करनेको उनसे कहना है।

आज्ञा है, इससे विशेष सोचने-विचारनेकी आवश्यकता नहीं; गुरु-आज्ञा अमिट है, इसके पालनमें ढील करना उचित नहीं। पं० शिवलाल पाठकजी कहते हैं कि वसिष्ठजीने तो अपनी तरफसे श्रीरामजीको युवराज्य देनेको कहा नहीं था, स्वयं चक्रवर्तीजीने श्रीरामजीको युवराज्य देनेकी प्रार्थना की थी। वसिष्ठजीने उनके प्रस्तावका अनुमोदनभर किया था। तब राजाने ऐसा क्यों कहा?' और उसका उत्तर देते हैं कि कैकेयीके विवाहके समय राजाने उसके पुत्रको राज्य देना स्वीकार किया था, अतएव गुरुके मतसे कहते हैं। अपने मतसे कहते सकुचते हैं कि लोग अधर्मी समझेंगे। गुरु-आज्ञा समझ मन्त्री उसमें मीनमेष न करेंगे।

पंजाबीजीका मत है कि गुरुका नाम लिया; क्योंकि उत्तम कार्यमें अहंता न चाहिये वह अयोग्य है। किंवा इससे कि मन्त्री यह न समझें कि राजाने हमारी सम्मति लिये बिना ही कार्य निश्चय कर लिया।

टिप्पणी—३ ***'जौ पाँचहि मत'*** इति। (क) ***'मत'*** अर्थात् गुरुजीकी जो आज्ञा है, वह मत यदि आप सबको अच्छा लगे। राज्य श्रीभरतको लिख चुके हैं पर श्रीरामजीको ज्येष्ठ पुत्र समझकर कुलरीतिके अनुसार उन्हींको युवराज्य देना चाहते हैं, इसीसे ***'जौ'*** शब्द दिया। रामराज्य तो सबको अच्छा लगता ही है, यथा—***'सब के उर अभिलाषु अस', 'लागइ नीका'*** उसके लिये नहीं कहा गया वरंच गुरुकी आज्ञारूपी मतके विषयमें कहा गया है। जैसे राजा मन्त्रियोंसे कह रहे हैं कि गुरुका मत यह है, वैसे ही राजाने गुरुसे कहा था कि सेवक सचिवादि सभीको राम उसी तरह प्रिय हैं जैसे मुझको, अर्थात् रामराज्य होना सबको प्रिय है, यह मत सबको प्रिय लगता है। (ख) ***'करहु हरषि हिय रामहि टीका'***—भाव कि जैसे गुरुजीने हर्षपूर्वक आज्ञा दी वैसे ही आप भी हर्षित होकर तिलक करें?

नोट—२ यहाँ राजाकी राजनीतिमें निपुणता दिखाते हैं। राजनीति है कि जो मनोरथ हो उसे अपने हृदयमें स्वयं विचारे, जब विचारमें निश्चय ठहरे तब मुख्य मन्त्रीसे विचार करे, उसकी भी सम्मति हो तब और मन्त्रियोंसे भी पूछे। जब सबका सम्मत हो तब सभामें प्रकाशित करे। यहाँ राजा तीन बातें कर चुके। १-***'यह बिचार उर आनि'***, २-***'गुरुहि सुनायउ जाइ'***, ३-***'सेवक सचिव सुमंत्र बोलाये।'*** रही चौथी, सो आगे सभामें कहते हैं कि ***'रामराज अभिषेक हित बेगि करहु सोइ सोइ।'*** दोहावलीमें कहा है—***'रीझि आपनी बूझि पर खीझि बिचार बिहीन। ते उपदेस न मानहीं मोह महोदधि मीन॥'*** (४८५) (मुं० रोशनलाल) वाल्मीकीयमें भी तीन बार विचार करना कहा है। प्रथम अपने मनमें विचार किया। फिर अपने विचारको सामन्त राजाओं आदिकी सभामें परामर्शके लिये प्रकट किया। (सर्ग २ व ३)। फिर सर्ग ४ में मन्त्रियोंके साथ पुनः विचार किया है, यथा—**'गतेष्वथ नृपो भूयः पौरेषु सह मन्त्रिभिः। मन्त्रयित्वा ततश्चक्रे निश्चयज्ञः स निश्चयम्॥'** (१)

'जौं पाँचहि मत लागै नीका' इति। ऐसा ही वाल्मीकीय० में कहा है, यथा—**'यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्। भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम्॥ यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम्। अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया॥'** (२। २। १५-१६) अर्थात् मैंने जो विचार आपके सामने रखा है वह यदि विचार पूर्ण हो और इससे सबोंका हित हो तो आप इसे स्वीकार करें। यदि इन दोनों बातोंमेंसे कोई न हो, अथवा एक हो, एक न हो, तो आप मुझे बतायें कि मैं क्या करूँ। रामचन्द्रको मैं युवराज बनाना चाहता हूँ, यह मुझे प्रिय है, पर अपने और राज्यके हितकी बात आप लोग सोचें, क्योंकि मेरा विचार एक पक्षका है। मध्यस्थका विचार दूसरा है। वह उत्तर-प्रत्युत्तरसे मँजा होनेके कारण अधिक उज्ज्वल होता है।—ये सब भाव इस चरणमें आ जाते हैं।

गुरुकी आज्ञा होनेपर भी मन्त्रियों आदिके सामने प्रस्ताव रखनेसे सिद्ध होता है कि उस समय जनपदकी सम्मतिका कितना गौरव था और राजा दशरथ कितने नीतिज्ञ थे। अ० दी० कारका मत है कि एकरारपत्रपर वामदेवादिके हस्ताक्षर थे, इसीसे राजाने यद्यपि गुरु-आज्ञा-गरीयसीके ऊपर भार रखा तथापि पंचोंकी सम्मति लेकर आप निर्दोष होना चाहते हैं। (सत्योपाख्यानमें प्रतिज्ञापत्रकी चर्चा है। पर मानसमें भूलसे भी कहीं इसकी चर्चा नहीं है और न वाल्मीकीयमें।)

नोट ३—*'मुदित', 'हर्षित'* इति। मोद, आनन्द और सुखको कुछ लोग हर्षका पर्यायवाची समझकर अर्थ किया करते हैं पर दोनोंमें अन्तर है। कोई उत्तम समाचार सुनने अथवा कोई उत्तम पदार्थ प्राप्त करनेपर मनमें सहसा जो वृत्ति उत्पन्न होती है वह 'हर्ष' है; परन्तु सुख इस प्रकार आकस्मिक नहीं होता। हर्षकी अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। अनेक प्रकारकी चिन्ताओं आदिसे बचे रहनेपर और अनेक प्रकारकी वासनाओं आदिकी तृप्ति होनेपर मनमें जैसी प्रिय अनुभूति होती है वह सुख है। (श०सा०)

मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी। अभिमत बिरव परेउ जनु पानी॥ ५॥
बिनती सचिव करहिं कर जोरी। जिअहु जगतपति बरिस करोरी॥ ६॥
जगमंगल भल काज बिचारा। बेगिअ* नाथ न लाइअ बारा॥ ७॥

शब्दार्थ—'**बिरव**'[सं० बिरुह, वीरुध। इस शब्दका प्रयोग प्रान्तिक है] पौधा, छोटा वृक्ष। '**बरिस**'=वर्ष। '**बेगिय**'—'वेग' से हिन्दीमें क्रिया बनायी गयी। '**बेगि**'=शीघ्र, जल्दीसे। इसका प्रयोग प्रान्तिक है और पद्यहीमें पाया जाता है। '**बेगिय**'=शीघ्रतापूर्वक कीजिये। वा, बेगिय=जल्दी ही। '**बारा**' (सं० वार)=अतिकाल, बेर, विलम्ब। यथा—*'बड़ी बार लगि रहे निहारी', 'न लाइय बारा'*=देर न लगाइये; देर न कीजिये (यह मुहावरा है)।

अर्थ—इस प्रिय वाणीको सुनते ही मन्त्री आनन्दित हुए। मानो अभिमत (मनोरथ) रूपी बिरवेमें पानी पड़ गया॥ ५॥ मन्त्री हाथ जोड़कर विनय करने लगे—हे जगत्पति! आप करोड़ों वर्ष जियें॥ ६॥ आपने जगत्‌भरका मंगल करनेवाला काम सोचा है। हे नाथ! शीघ्र ही कीजिये, देर न लगाइये॥ ७॥

नोट—१ *'मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी।.....'* इति। (क) रामराज्य (श्रीरामजीका तिलक करो) प्रियवाणी है। (रामराज्य सुनाया अतः हर्षित हुए। हर्षित हुए, इसीसे शीघ्रता करनेके लिये हाथ जोड़कर विनय करते हैं। (पं० रा० कु०) (ख)—ऊपर कहा है कि *'सेवक सचिव सुमंत्र बोलाए।'* पर हर्ष यहाँ केवल मन्त्रीका कहा। इससे यह न समझें कि औरोंको हर्ष नहीं हुआ। अन्तिम पद देकर उसके पूर्वकथित लोगोंको भी सूचित कर दिया अथवा, मन्त्री प्रधान हैं, उनको कहकर सबका हर्ष जना दिया (पं० रा० कु०) अथवा, इससे जनाया कि यह सभा मन्त्रियोंकी ही थी। मन्त्रियोंसे ही बात कही गयी, अतः उनका हर्षित होना कहा गया। (ग) ऐसा ही वाल्मी० २। २। १७ में कहा है, यथा—'**इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन्नृपा नृपम्। वृष्टिमन्तं महामेघं नर्दन्त इव बर्हिणः॥**' अर्थात् सभामें उपस्थित सब राजा लोग *'मुदित'* हुए; राजाके आनन्दके साथ उन्होंने अपना आनन्द प्रकाशित किया। जैसे बरसनेवाले मेघोंका गर्जन सुनकर मयूर उस गर्जन-ध्वनिका अनुकरण अपने शब्दोंद्वारा करते हैं।—वाल्मी० के *'मुदित'* शब्दको यहाँ देकर वहाँका भाव भी यहाँ दरसा दिया है।

नोट २—*'अभिमत बिरव परेउ जनु पानी'* इति। सबके हृदयमें यह अभिलाषा थी ही—*'सबके उर अभिलाष अस कहहिं मनाइ महेस.....।'* वह मनोरथरूपी बिरवा उनके हृदयस्थलपर पूर्वहीसे रोपा हुआ था, पर सूख रहा था। राजाके अनुकूल वचनरूपी जल पड़नेसे वह पौधा लहलहा उठा, उसकी पूर्तिकी आशा हुई। पौधेको हरा-भरा देख सब आनन्दमें मग्न हो गये और राजाको धन्यवाद—आशीर्वाद देने लगे। (ख) पं० रामकुमारजी कहते हैं कि जैसे गुरुवाक्यसे राजा मुदित हुए वैसे ही वे भी हुए। जैसे बीज पृथ्वीमें गुप्त रहता है, जल पड़नेसे वह प्रकट होता है वैसे ही इनके हृदयमें मनोरथ गुप्त था सो राजाके वाक्यरूपी जलको पाकर प्रकट हो गया। (ग) *'अभिमत बिरव परेउ जनु पानी'* यहाँ 'पानी' शब्दका चमत्कार देखिये। 'पानी पड़ जाना' मनोरथके भंग होनेके लिये मुहावरा है। सच ही इनके मनोरथपर पानी पड़ गया। न राज्याभिषेकको चर्चा होती न विघ्न होता। इसीके द्वारा तो आगेकी लीला चलेगी। (घ) *'अभिमत बिरव'* में रूपक है। *'अभिमत बिरव परेउ जनु पानी'* में 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है।

---

* बेगिहि—रा० बा०दा०।

नोट—३ *'बिनती करहिं सचिव कर जोरी'* इति। *'बिनती'* शब्द भी भावगर्भित है। आशीर्वादादि तो *'बिनती'* नहीं है। यहाँ *'बिनती'* और *'करजोरी'* शब्द देकर कविने वाल्मीकीयकी इस प्रसंगकी पूरी कथा गुप्त रूपसे जना दी है। वहाँ भी सब लोग राजाकी बात सुनकर प्रसन्न हुए और एकमत्य होकर सबने कहा कि हम सब चाहते हैं कि वे राजा हों। तब राजाने ऊपरसे रुष्ट होकर कहा कि हमें संदेह होता है कि आप लोगोंने मेरा अभिप्राय होनेके कारण अपनी स्वीकृति दी है या आप लोगोंका यथार्थ मत भी यही है, क्योंकि आप लोगोंने तुरत हामी भर ली, सभी एक साथ सहमत हो गये। मैं तो धर्मपूर्वक राज्य करता ही था, फिर आप एक युवराज देखनेकी इच्छा क्यों कर रहे हैं? यह सुनकर वे सब राजासे विनती करने लगे कि श्रीरामजीमें लोकोत्तर गुण हैं जिसके कारण हम सबोंने तुरत अपनी स्वीकृति दे दी। आप वे सब गुण सुनें, हम कहते हैं, ये गुण सबको प्रिय और आनन्द देनेवाले हैं। यथा—'**प्रियानानन्दनान्कृत्स्नान्प्रवक्ष्यामोऽद्य ताञ्छृणु।**' (२। २। २७) हम कहते हैं आप सुनें, यह 'विनती' ही है। इसके आगे सर्गके अन्ततक श्रीरामजीके गुणोंका वर्णन करके अन्तमें उन्होंने कहा कि 'लोककल्याणमें लगे हुए भगवान् देवदेव विष्णुके समान, उदार गुणोंवाले श्रीरामका, हम लोगोंके कल्याणके लिये, शीघ्र आपको राज्याभिषेक करना चाहिये।'—यह विनय उन्होंने हाथ जोड़े हुए की है। यथा—'**तेषामञ्जलिपद्मानि**……।' (२।३।१)

नोट—४ *'जियहु जगतपति……'* इति। (क) राजाके इस कार्यसे जगत्भरका पालन, रक्षण और कल्याण होगा, अतः *'जगतपति'* सम्बोधन दिया। यथा—*'जगमंगल भल काज बिचारा'* *'जगतपति'* का सम्बन्ध आगेके इस वचनसे है। पंजाबीजीका मत है कि *'जगतपति'* से जनाया कि तुम्हारे पुत्रका राज्य भी तुम्हारा ही राज्य है। अथवा, भाव कि करोड़ वर्ष जियो जिसमें करोड़ वर्ष जगत्की 'पति' अर्थात् रक्षा करो। पा रक्षणे धातु है। (पं० रामकुमारजी) (ख) *'बरिस करोरी'* इति।—प्रसन्नतामें इस प्रकार आशीर्वाद मुँहसे स्वतः निकल पड़ता है। इससे जनाते हैं कि इस कार्यसे आपने हम लोगोंपर बड़ा अनुग्रह किया, आपकी कृपासे हम लोग श्रीरामजीको राज्यपर अभिषिक्त देखेंगे, आप चिरजीवी हों। यथा—'**सर्वे ह्यनुगृहीताः स्म यन्नो रामो महीपतिः।……चिरं जीवतु धर्मात्मा राजा दशरथोऽनघः। यत्प्रसादेनाभिषिक्तं रामं द्रक्ष्यामहे वयम्॥**' (वाल्मी०२। ६। २२। २४) (ये पुरवासियोंके वचन हैं।) ☞ 'करोड़ों वर्ष जियो' यह मुहावरा है, आशीर्वादकी एक रीति है जिसका भाव है कि दीर्घायु, दीर्घजीवी हो। यथा—*'जियहु सुखी सय लाख बरीषा।'* (१८६। ५) इस आशीर्वादका तात्पर्य यह नहीं है कि इस शरीरसे इतनी आयु हो वरन् यह भाव है कि बहुत आयु हो और मरनेपर भी तुम्हारा यश युग-युग जागता रहे। कीर्तिसे मनुष्य जीता है, अपकीर्तिसे जीते भी मरा हुआ ही है यथा—'**अकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।**' (गीता २। ३४) *'अति दरिद्र अजसी जीवत सव सम……।'* (६। ३०)

बैजनाथजी कहते हैं कि मन्त्रियोंका आन्तरिक हर्ष राजाके वचनोंद्वारा प्रकट हो गया। आनन्दमें आकर वे अपनी सहानुभूति प्रकट करते तो हैं और इतना ही नहीं किन्तु शीघ्रतापूर्वक कार्य कर डालनेकी सलाह देनेको हैं, परन्तु वे संकुचित हो जाते हैं कि कहीं राजाको यह सन्देह न हो कि हमको राज्यके योग्य नहीं समझते, हमारे प्रजापालनमें अवश्य त्रुटि देखते होंगे तभी तो तुरत ही हाँ-में-हाँ मिला दी। इस सन्देहके निवारणार्थ वे पहले यह कहते हैं कि *'जियहु……'*।

(ग) मन्त्रियोंका मन, वचन, कर्म तीनों दिखायें। मनसे मुदित, तनसे हाथ जोड़े और वचनसे विनय किया (पं०रा०कु०)

टिप्पणी—१ *'जगमंगल भल काज बिचारा।……'* इति। (क) ऊपर *'जगतपति'* सम्बोधन दिया। जगत्पति हैं, अतएव जगन्मात्रका जिसमें मंगल है आपने वही कार्य करनेका विचार किया है। राजाने जो कहा था कि *'जौं पाँचहि मत लागइ नीका'* उसके उत्तरमें मन्त्री कहते हैं कि आपने यह भला काम विचारा अर्थात् यह विचार बड़ा उत्तम है; हम पंचोंकी कौन कहे यह तो जगत्भरको अच्छा लगता है, इससे तो जगन्मात्रका कल्याण है। (ख) राजाका पूर्व विचार करना कहा है, यथा—*'यह बिचारु उर आनि नृप'*।

मन्त्री वही बात यहाँ कहते हैं—*'भल काज बिचारा'* पुनः, गुरुने शीघ्रता करनेकी आज्ञा दी थी—*'बेगि बिलंबु न',* वही बात मन्त्री कहते हैं—*'बेगिअ न लाइअ बारा।'* यह सब बातें उन्होंने अनुमानसे जानीं। (*'बिचारा'* शब्दसे यह ज्ञात होता है कि मन्त्री समझ गये कि यह विचार राजाका ही है, अपना विचार गुरुसे कहनेपर उन्होंने उसका अनुमोदन किया है)। (ग) *'बेगिअ—'* अर्थात् उत्तम कार्य शीघ्रातिशीघ्र कर लेना चाहिये, विलम्ब करनेसे विघ्न होता है, यह नीति है। [*'बेगिअ नाथ'*—जैसे वसिष्ठजीने कहा था *'बेगि बिलंबु न करिअ नृप'* वैसे ही सब मन्त्री कहते हैं *'बेगिअ'*। गुरु होनेसे वहाँ 'नृप' और मन्त्री होनेसे यहाँ 'नाथ' सम्बोधन है। सभीको लालसा है कि हम श्रीरामजीको शीघ्र युवराज्यपदपर देखें, यथा—*'सबके उर अभिलाषु अस......।'* (२। १) *'कालि लगन भलि केतिक बारा। पूजिहि बिधि अभिलाष हमारा॥ कनक सिंघासन सीय समेता। बैठहिं रामु होइ चित चेता॥'* (११। ४-५) इसीसे सबके मुखसे *'बेगि'* शब्द निकल रहा है। वाल्मी० २। २। ५४ में भी '**हिताय नः क्षिप्रम्**' शब्द हैं।]

नृपहि मोद सुनि सचिव सुभाषा। बढ़त बौंड़ जनु लही सुसाखा॥ ८॥

दो०—कहेउ भूप मुनिराज कर जोइ जोइ आयसु होइ।
राम काज अभिषेक हित बेगि करहु सोइ सोइ॥ ५॥

शब्दार्थ—'**सुभाषा**'—सुन्दर भाषा, सुन्दर वचन। '**सुसाखा**'-सुन्दर शाखा (डाली)। '**बौंड़**'-(सं० बोराट-वृंत, टहनी) टहनी जो दूरतक डोरीके रूपमें गयी हो, लता, बेल।

अर्थ—मन्त्रियोंकी सुन्दर वाणी सुनकर राजाको इस प्रकारका आनन्द हुआ मानो बढ़ते समय लता सुन्दर डाल (का सहारा) पा गयी॥ ८॥ राजाने कहा कि मुनिराज (वसिष्ठजी)-की जो-जो आज्ञा हो, रामराज्याभिषेकके लिये, वही-वही सब शीघ्र करो॥ ५॥

नोट—१ *'नृपहि मोद—'* इति। (क) वाल्मीकीयमें भी वचन सुनकर राजा आनन्दित हुए हैं, यथा—'**अहोऽस्मि परमप्रीतः।**' (२। ३। २) (ख) *'जियहु....'* आदि आशीर्वचनके साथ *'जगमंगल...बेगिअ'* आदि वचन कहे गये हैं जो परम रुचिकर हैं। अतः इन्हें *'सुभाषा'* कहा।

टिप्पणी—१ *'नृपहि मोद सुनि—* इति। (क) राजाका कार्य मन्त्रियोंके अधीन रहता है। वे ही राजाके हाथ-पैर हैं। वे जिस कार्यके करनेकी सम्मति न दें वह कार्य नहीं हो सकता, इसीपर आगे *'बढ़त बौंड़....'* की उपमा देते हैं। अतएव राजाको आनन्द हुआ। (ख) मन्त्रियोंने राजाकी प्रशंसा की, यथा—*'जग मंगल भल काज बिचारा'* और तिलककी शीघ्रता की, अतएव उनकी वाणीको *'सुभाषा'* कहा। (ख) *'बढ़त बौंड़ जनु लही सुसाखा'* इति। भाव यह कि गुरुजीके वचन सुनकर मोद हुआ, तथा—*'मुदित महीपति मंदिर आए।'* यही मोद बौंड़ है। सुभाषाके सम्बन्धसे सुशाखा कहा। मन्त्रियोंके वचन (अनुमोदन) रूपी सुन्दर शाखा पाकर वह मोदरूपी बौंड़ अधिक बढ़ गयी। सीधी शाखा सुशाखा है, वैसे ही मन्त्रियोंके सीधे वचन हैं।

नोट—२—*'बढ़त बौंड़ जनु लही सुसाखा'* इति। (क) मन्त्रियोंका सुन्दर वचन सुन्दर शाखा है। राजाका मनोरथ लता है। जैसे बेल वृक्षकी डालका सहारा पाकर खूब ऊपरको बढ़ती फैलती है, वैसे ही मन्त्रियोंके वचन सुनकर उन्हें मनोरथ पूर्तिकी अधिक आशा हो गयी। गुरुके वचनसे यह लता बढ़ ही रही थी, अब पूरा आधार मिल गया। अतः 'मोद' बढ़ा।* (ख) मन्त्रियोंके आनन्दको 'बिरव' से रूपक दिया और राजाके आनन्दको 'बौंड़' कहा। इससे यह जनाया कि बिरवा और लता चौमासेभर रहते हैं वैसे ही यह भी आनन्द थोड़े ही दिन रहेगा। (रा० प्र०) (ग) यहाँ 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

नोट—३—*'मुनिराज कर—'* इति। (क) वसिष्ठजी इक्ष्वाकुमहाराजके समयसे इस कुलके पुरोहित हैं।

* बाबा रामप्रतापदासजी अर्थ करते हैं कि 'सुन्दर बढ़ती हुई शाखा फूलसे सम्पन्न हुई। बौंड़-मौर, मोजर, फूल।'

समस्त रघुवंशी-राजाओंका अभिषेक इन्हींके द्वारा हुआ। समस्त कार्य इन्हींकी आज्ञासे होते हैं, यथा—**'विदितं ते महाराज इक्ष्वाकुकुलदैवतम्॥ वक्ता सर्वेषु कृत्येषु वसिष्ठो भगवानृषिः।'** (वाल्मी० १। ७०। १६-१७) (ये वचन राजाने जनकजीसे कहे हैं कि भगवान् ऋषि वसिष्ठ हमारे कुलके देवता हैं, समस्त कार्योंके करने-करानेका अधिकार इन्हींको है।) अतः उनकी आज्ञा लेनेको कहा। ये कुलकी सब रीति भी जानते हैं और वेदोंकी रीति तो जानते ही हैं। वाल्मी० सर्ग ४ में भी इन्हींसे सामग्री पूछी गयी है, यथा—**'अभिषेकाय रामस्य यत्कर्म सपरिच्छदम्॥६॥ तदद्य भगवन्सर्वमाज्ञापयितुमर्हति।'** (मुनि बहुतसे हैं जैसे कि वामदेव आदि। अतः मुनिराज शब्द देकर वसिष्ठजीको सूचित किया। पं० रा० कु०)

टिप्पणी—२ ***'कहेउ भूप·····'*** इति। (क) राजा भरतजीको युवराज्य देनेकी प्रतिज्ञा केकयराजसे कर चुके हैं और अब श्रीरामजीको राज्य देना चाहते हैं। इससे विघ्नका भय है। अतएव शीघ्रता करनेको कहते हैं। [पर मेरी समझमें मानसकल्पवाली कथाका यह मत नहीं है। शीघ्रताका कारण हम पूर्व लिख आये हैं कि राजाको मृत्यु आदि सूचक अपशकुन हो रहे हैं, जन्मकुण्डलीके अनुसार इस समय नक्षत्र भी दूषित हैं। जन्मनक्षत्र (सूर्य, मंगल और राहु इन) दारुण ग्रहोंसे आक्रान्त हुआ है, यथा—**'अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणग्रहैः।'** (वाल्मी० २। ४। १८) इस अनिष्टका उनको भय है और जिस दिन यह विचार और अपशकुन हुए, उसीके दूसरे ही दिन राज्याभिषेकके लिये शुभ मुहूर्त मिलता था। अतएव राजाने शीघ्रता की। शीघ्रताहीके कारण वे केकयराज और जनकमहाराजको भी न बुला सके, उन्होंने सोचा कि इस प्रिय उत्सवकी समाप्तिपर संवाद भेज दिया जायगा। (वाल्मी० २। १। ४८) सत्योपाख्यान और वाल्मीकीयके, **'विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः। तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम॥'** (२। ४। २५) अर्थात् जबतक भरतजी विदेशमें हैं तबतक तुम्हारा अभिषेक हो जाना उचित जान पड़ता है, इन वचनोंसे प्रतिज्ञाकी आशंका अवश्य समझी जा सकती है, पर मानसकारका मत यह नहीं है] रामराज्यके लिये सब बातोंमें शीघ्रता है। (गुरु वसिष्ठके वचनोंसे ***'बेगि'*** की परम्परा चली आ रही है) प्रथम गुरुकी आज्ञा हुई—***'बेगि बिलंबु न करिअ',*** फिर मन्त्रियोंका सम्मत कि ***'बेगिअ नाथ न लाइअ बारा'*** और अब नृपाज्ञा कि ***'अभिषेक हित बेगि करहु सोइ सोइ'***। आगे गुरुकी आज्ञा कार्य करनेवालोंको और करनेवालोंके काममें भी शीघ्रता कहते हैं। यथा—***'कहहु बनावन बेगि बजारू', 'जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहि काजु प्रथम जनु कीन्हा॥'*** (***'बेगि'*** शब्द गुरुके यहाँसे निकलकर मन्त्री, राजा, सेवक सभीके हृदयमें भर गया। सभीको शीघ्रता है। हरि इच्छा! क्योंकि 'कल ही तिलक हो जाय' यह निश्चित किया है।) (ख) मुहुर्त निकट है और गुरुकी आज्ञा भी है, अतएव ***'बेगि करहु'*** कहा। ☞ गुरुने राजाको और राजाने मन्त्रियों और सेवकोंको आज्ञा दी। गुरुने आज्ञा दी थी कि ***'साजिअ सबुइ समाज',*** वही आज्ञा राजाने इनको दी—***'जोइ जोइ···करहु सोइ सोइ।'*** (ग) अ० रा० में सुमन्त्रजीको ऐसी ही आज्ञा दी गयी है। यथा—**'आज्ञापयति यद्यत्त्वां मुनिस्तत्तत्समानय। यौवराज्येऽभिषेक्ष्यामि श्वोभूते रघुनन्दनम्॥'** (२। २। ७) वाल्मीकीयमें भृत्योंको आज्ञा दी है। (२।३।८)

नोट—४ ***'बेगि'*** इति। अ० रा० में लिखा है कि ब्रह्माजीने देवर्षि नारदद्वारा श्रीरामजीके पास सन्देसा भेजा था कि आपका अवतार रावणवधके लिये हुआ है किन्तु आपके पिता आपको राज्यशासनके लिये अभिषिक्त करनेवाले हैं। आपने जो प्रतिज्ञा की उसे आप सत्य करें। (२। १। ३२—३५)। इसपर श्रीरामजीने हँसकर उत्तर दिया कि मैं सब जानता हूँ, मैं कल ही वनको जाऊँगा···(श्लोक ३५—३९)। करूणासिन्धुजी कहते हैं कि इसीसे (हरि इच्छासे) यह शीघ्रता सबके वचनों और कामोंमें आकस्मिक स्वतः भरी हुई है।

हरषि मुनीस कहेउ मृदु बानी। आनहु सकल सुतीरथ पानी॥ १॥
औषध मूल फूल फल पाना। कहे नाम गनि मंगल नाना॥ २॥

चामर चरम* बसन बहु भाँती। रोम पाट पट अगनित जाती॥ ३॥
मनिगन मंगल बस्तु अनेका। जो जग जोग भूप अभिषेका॥ ४॥

शब्दार्थ—'**औषध**'—नवग्रहोंकी पूजाके लिये जैसे—अर्क, पलाश, खैर, अपामार्ग, पीपल, गूलर, शमी, दूब, काँस। अथवा आस्पदी आदि शतौषधी। अथवा सर्वौषधि अर्थात् जटामासी, वच, कूट, शिलाजीत, दोनों प्रकारकी हलदी शटीं (कचूर), चम्पा और मोथा। यथा—'**मुरा मांसी वचा कुष्टं शैलेयं रजनीद्वयम्। शटीचम्पकमुस्तञ्च सर्वौषधिगणः स्मृतः॥**' (पुरोहितदर्पण। सि०ति०) '**मूल**', जैसे—मोथी, मुरेठी, शतावर। '**फूल**' (समयानुकूल बदलते रहते हैं)= कुन्द, गुलाब, चमेली, चम्पा इत्यादि। (बैजनाथजी) '**पाना**' (पर्ण) =पान, पत्र, पत्ते; जैसे आम, केला, तुलसी इत्यादिके।—(दीनजी) '**चामर**'=चँवर या मुरछल, सुरा गायकी पूँछके बालों और चन्दनकी लकड़ीसे बनता है। '**चरम**' (चर्म)=मृगछाला, बाघाम्बर इत्यादि। **रोमपाटपट**=रोमपट, पाटपट और पट; अर्थात् ऊनी, रेशमी और सूती कपड़े। '**जाति**'=किस्म, प्रकार।

अर्थ—मुनिराजने प्रसन्न होकर कोमल (मीठी) वाणीसे कहा—समस्त श्रेष्ठ तीर्थोंका जल ले आओ॥ १॥ (बहुत तरहके) सर्वौषध, मूल, फूल, फल, पान एवं पत्र आदि अनेक मंगल पदार्थोंके नाम गिनाकर बताये॥ २॥ चँवर, मृगादिके चर्म, बहुत तरहके वस्त्र, बहुत जातिके ऊनी, रेशमी और सूती कपड़े, अनेक मांगलिक रत्न और भी अनेक मांगलिक पदार्थ (बताये) जो संसारमें राज्याभिषेकके योग्य (समझे जाते हैं)॥ ३-४॥

टिप्पणी—**१** *'हरषि मुनीस·····'* इति। (क) मंगल वस्तुओंके बतलानेमें हर्ष होना भी मंगल है। राजाने कहा था कि कृपा करके सामग्री जुटानेको कहिये, यथा—***'कहिय कृपा करि करिय समाजू।'*** गुरुजी सामग्रीके नाम गिनानेके समय सब सामग्री हर्षित होकर बता रहे हैं, यह हर्ष कृपाका द्योतक है। (***'मृदुबानी'***—यह स्वभाव है। या रामराज्याभिषेकमें इनकी भी हार्दिक प्रीति है और राजापर अनुग्रह है और हर्ष है, अतः वचन भी मृदु निकले)। (ख) ***'सकल सुतीरथ पानी'—'कहे नाम गनि'*** का अन्वय सबके साथ है। समस्त तीर्थोंके नाम बताये। ['सुतीर्थ' अर्थात् विशेष(श्रेष्ठ महत्त्ववाले) तीर्थ जो संसारमें प्रसिद्ध हैं। इससे जनाया कि गंगा-यमुना-संगमका जल; जो पवित्र नदियाँ पूर्वकी ओर बहती हैं, उत्तर-दक्षिणकी ओर बहती हैं, उनका जल; समुद्रोंका जल तथा पवित्र कुण्डों, तालाबों और कूपोंका जल लाया जावे यथा—'**गंगायमुनयोः पुण्यात्संगमादाहृतं जलम्॥ याश्चान्याः सरितः पुण्या ह्रदाः कूपाः सरांसि च। प्राग्वाहाश्चोर्ध्ववाहाश्च तिर्यग्वाहाश्च क्षीरिणः॥ ताभ्याश्चेवाहृतं तोयं समुद्रेभ्यश्च सर्वशः॥**' (वाल्मी०२। १५। ५—७) (ग) यहाँ ***'सुतीरथ जल'*** क्यों न कहा? जल शब्द श्रेष्ठ है, पानी शब्द हलका है। सुतीर्थके सम्बन्धसे 'जल' शब्द देना चाहिये था। यहाँ 'पानी' हलका शब्द रखा, क्योंकि यह जल राज्याभिषेकके कालमें नहीं आयेगा, पानी ही (कूप) में डाला जायगा। (पं० रामगुलाम द्विवेदी)] (घ) औषधादिके पहले 'पानी' शब्द दिया क्योंकि पानी ही औषधादिको उत्पन्न करता है। (ङ) ***'औषधमूल···नाना'*** का अन्वय सबमें है, इसीसे उसे अन्तमें कहा। इससे जनाया कि सबकी संख्या भी बतायी कि अमुक-अमुक पदार्थ इतने-इतने चाहिये। औषधादिके नाम बताये। [औषधादिकी गणना यहाँ नहीं दी, क्योंकि संख्यामें मतभेद है। 'औषधसे 'सर्वौषधि' का अर्थ ग्रहण होता है, यथा—'**सर्वौषधीरपि**' (वाल्मी० २। ३। ८) [(च) ***'चामर चरम·····'*** इति। दो चँवर सिरपर डुलानेके लिये होते हैं। चर्म व्याघ्रके। वाल्मीकीयमें भी व्याघ्रचर्म कहा है। अभिषेकमें तीन नवीन व्याघ्रचर्मोंका काम पड़ता है, यथा—'**नववैयाघ्रचर्माणि त्रीणि चानय**।' (अ० रा० २। २। ११) जिस रथपर सवारी निकाली जाती है उसपर भी व्याघ्रचर्म बिछाया जाता है, यथा—'**रथश्च सम्यगास्तीर्णो भास्वता व्याघ्रचर्मणा।**' (वाल्मी० २।१५।५) व्याघ्रचर्म समूचा होना चाहिये। यथा—'**समग्रं व्याघ्रचर्म च।**' (वाल्मी० २।३।११) चर्मपर सप्तद्वीपोंका नक्शा बनाया जाता है, फिर उसे सिंहासनपर रखकर उसपर राजाको बिठाकर राज्याभिषेक किया जाता है] ***'बस्त्र बहु भाँती'***—बहुत प्रकारके ऊनी और रेशमी दिव्य वस्त्र पहननेके लिये। ऊनी और रेशमी

* चमर—बाबा रघुनाथदासजी, मा०दी०।

दोनों प्रकारके वस्त्र अभिषेकमें पहने जाते हैं, इसीसे दोनोंको लिखा। (छ) *'मनिगन मंगल बस्तु…'* मंगल देहलीदीपक है। मणिगण भी मांगलिक हैं] मांगलिक मणिगण यथा—***'सोहत मौरु मनोहर माथें। मंगलमय मुकता मुनि गाथें॥'***(१।३२७।१०) में देखिये।

(ज) यहाँ सुतीर्थ जल, औषधादि जो पदार्थ गिनाये गये वे सब उसी क्रमसे वर्णन किये गये हैं जिस क्रमसे वे काममें लाये जाते हैं। प्रथम स्नानके लिये तीर्थोंका जल कहकर तब औषधादिको कहा, क्योंकि प्रथम तीर्थोंके जलसे स्नान होकर फिर ओषधि-स्नान होता है। तत्पश्चात् वस्त्र पहनाकर सिंहासनपर व्याघ्रचर्मपर बिठाया जाता है, तब चँवर डुलाया जाता है। वस्त्र पहन चुकनेपर आभूषण धारण किये जाते हैं, अतएव कहा कि ***'मनिगन मंगल बस्तु अनेका'*** बताये जो अभिषेकके समय काम आते हैं।

बेद बिदित कहि सकल बिधाना। कहेउ रचहु पुर बिबिध बिताना॥ ५॥
सफल रसाल पूँगफल केरा। रोपहु बीथिन्ह पुर चहुँ फेरा॥ ६॥
रचहु मंजु मनि चौकें चारू। कहहु बनावन बेगि बजारू॥ ७॥
पूजहु गनपति गुरु कुलदेवा। सब बिधि करहु भूमिसुर सेवा॥ ८॥

दो०—ध्वज पताक तोरन कलस सजहु तुरग रथ नाग।
सिर धरि मुनिबर बचन सबु निज निज काजहिं लाग॥ ६॥

शब्दार्थ—'**बिदित**'=प्रकट, प्रसिद्ध,विहित। '**बिधाना**' (विधान)=रीति, विधि। '**रचहु**'=तानो, क्योंकि वितान ताने जाते हैं, यथा—***'बिबिध बितान दिये जनु तानी';*** रचना करो, चित्र-विचित्र बनाओ। '**बितान**'=मण्डप, चँदोए। '**रसाल**'=आम। '**पूँगफल**'=सुपारी। '**केरा**'=केला। '**सफल**'=फलयुक्त, फल लगे हुए। '**रोपहु**' (आरोपण)=लगाओ। '**बीथि**'=गली, मार्ग, रास्ता। '**चहुँ फेरा**'=चारों ओर। '**मंजु**'=सुन्दर। '**चारु**'=सुन्दर। '**बनावन**'=सँवारने, सजानेको। '**बजारू**'=बाजार, हाट। यह फारसी शब्द है। '**गनपति**'=गणोंके स्वामी, गणेशजी। '**भूमिसुर**'=महिसुर, भूदेव, ब्राह्मण। '**ध्वजा**'=ऊँचे झण्डे। '**पताका**'=छोटी झण्डियाँ। विशेष (१। २९६। ७), (१। ३४४। ६)में देखिये। 'तोरण'—इसके दो अर्थ हैं, १-वन्दनवार; २-फाटक। 'फाटक' यहाँ अधिक सुसंगत अर्थ जान पड़ता है क्योंकि वन्दनवारका सजाना कुछ अधिक संगत नहीं जान पड़ता। 'फाटक' आज भी बनाकर सजाये जाते हैं। बैजनाथजी और दीनजीने भी यही अर्थ किया है। ये वे फाटक हैं जो राज्याभिषेकके समय राजाकी सवारी जानेके मार्गमें थोड़ी-थोड़ी दूरपर बनाये जाते हैं। अथवा, दोनों अर्थ यहाँ ले लें। '**तुरग**'=तुरंग, घोड़ा। '**नाग**'=हाथी।

अर्थ—श्रीवसिष्ठजीने वेदोंमें कहा हुआ सब विधान कहकर तब कहा कि नगरको अनेक प्रकारके चँदोओं, मण्डपोंसे सजाओ अर्थात् चित्र-विचित्र चँदोए ताने जायँ॥ ५॥ आम, सुपारी और केलेके वृक्ष नगरमें (भीतर-बाहर) चारों ओर गलियोंमें लगाओ॥ ६॥ सुन्दर मणियोंसे सुन्दर चौकें पूरो। बाजार शीघ्र ही सजानेको कह दो॥ ७॥ गणेश, गुरु और कुलदेवताकी पूजा करो। ब्राह्मणोंकी सब प्रकारसे सेवा करो॥ ८॥ ध्वजा, पताका, तोरण, कलश, घोड़े, रथ और हाथी सजाओ। मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीके 'सब' वचनोंको शिरोधार्यकर (अर्थात् माथा नवाकर मानना जताकर) सब लोग अपने-अपने काममें लगे॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'बेद बिदित कहि…'* इति। (क) अर्थात् लोक और वेद दोनों रीति बरतना है इससे दोनों विधि कहना है। वेद-विधि ऊपर कह चुके, अब यहाँसे लोक-विधि बताते हैं। मानस-सरयू-रूपकमें कहा है कि *'लोक बेद मत मंजुल कूला'* उसीका निर्वाह ग्रन्थभरमें है। (ख) *'रचहु पुर'* से प्रथम पुर रचनेको कहा, फिर साथ ही रचनेकी विधि बतायी कि विविध बितान बनाओ, सफल रसालादि रोपो, इत्यादि। (ग) *'सफल रसाल पूँगफल केरा।'* ये फलसंयुक्त लगाये जाते हैं। मंगल-अवसरोंपर मनोरथकी सफलताप्राप्तिके विचारसे ऐसा करनेकी रीति है, यथा—***'सफल पूँगफल कदलि रसाला। रोपे बकुल कदंब***

तमाला॥' (१। ३४४) (घ) ***'बीथिन्ह चहुँ फेरा'*** कहकर जनाया कि पुरके भीतर गलियोंमें और पुरके बाहर चारों तरफ सफल वृक्ष लगाये जावें।

टिप्पणी २ (क) ***'रचहु मंजु मनि चौकें····'*** इति। मंजु मणि=सुन्दर मणि। इससे गजमुक्ता सूचित किया, यथा—***'बीथी सकल सुगंध सिंचाई। गजमनि रचि बहु चौक पुराई॥'*** (७। ९) (विविध प्रकारकी मणियोंसे भी चौकें पूरी जाती हैं। रंग-बिरंगके मणियोंके चूर्णसे रची जाती हैं।) बहुत चौकें पूरनेको कहीं, इसीसे चौकें बहुवचन पद दिया। पुरमें गली-गली, द्वार-द्वारपर, बाजारमें सर्वत्र मंगल-अवसरोंपर चौकें पूरी जाती हैं, यथा—***'सींची सुगंध रचीं चौकें पुर आँगन गलीं बजार।'*** (गी०) अत: ***'चौकें'*** शब्द दिया। ***'चारु'*** और ***'रचहु'*** से सूचित किया कि चौकें अनेक प्रकारकी और अत्यन्त सुन्दर पूरी जायँ, यथा—***'चौकें चारु सुमित्रा पूरीं। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरीं॥'***(८। ३) (ख) ***'कहहु बनावन बेगि बजारू'***—भाव कि बाजार बड़ा है और समय कम है, इसीसे कहा कि उसे ***'बेगि'*** शीघ्र ही सजानेका प्रबन्ध करो, विलम्ब न होने पावे (इससे अनुमान होता है कि उनका आशय यह हो कि बाजार पंचायती है, अपने-अपने द्वारपर सब बाजारवाले सजावट कर लें, वहाँ सबका काम है। (प्र०सं०)

टिप्पणी—३ ***'पूजहु गनपति गुरु कुल देवा।····'*** इति (क) गणेशजी प्रथम पूज्य हैं, अत: उन्हें प्रथम कहा। चौकें रचनेको कहकर तब गणेशका पूजन करनेको कहा। भाव कि प्रत्येक चौकपर गणेशजीका कलश स्थापित करके उनका पूजन करो। [चौकपर वा उसके समीप कलश रहता है, वहीं गणेशजीका पूजन होता है। यही विघ्नकारक गणोंके अधिपति हैं, विघ्नविनाशक हैं, इसीसे प्रथम कहा जिसमें विघ्न न होने दें। गुरु श्रीवसिष्ठजी हैं। ***'कुलदेवा'***—श्रीरंगजी इस कुलके इष्टदेव हैं, यथा—***'निजकुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना॥'*** (१। २०१) (विशेष १। २०१। २ में देखिये)। गुरु वसिष्ठ कुलदेवके समान पूज्य हैं, यह पूर्व बताया जा चुका है, यथा—***'गुरु बसिष्ठ कुलपूज्य हमारे।'*** (७। ८) इससे उनको कुलदेवके साथ कहा]। (ख)—***'सब बिधि करहु भूमिसुर सेवा'*** इति। ***'सब बिधि'***—अर्थात् चरण प्रक्षालन करो, पादोदकसे घरोंको पवित्र करो, चरणोदक लो, भोजन कराओ, द्रव्य दो, वस्त्र और आभूषण पहनाओ, चरण-सेवा करके विनती करो (तात्पर्य कि उनको दान-मान-सम्मानसे सन्तुष्ट करो)—यह सब भाव दरसानेके लिये ***'करहु भूमिसुर सेवा'*** कहा। 'सेवा' शब्द इनके साथ दिया, देवताओंके साथ नहीं, उनका 'पूजन' करनेको कहा। ***'सब बिधि'*** से जनाया कि ब्राह्मणोंका सम्मान सबसे श्रेष्ठ है। [गणेशादि देवताओंका पूजन कहा। क्योंकि वे परोक्ष हैं और विप्रोंकी शुश्रूषा कही, क्योंकि ये प्रकट हैं, प्रत्यक्ष हैं। (पं०) इनको दान-मानसे सन्तुष्ट करनेको कहा; क्योंकि इनकी प्रसन्नतासे मंगल होता है, यथा—***'मंगलमूल बिप्र परितोषू।'*** (१२६। ४) (प्र० स०)] ***'भूमिसुर'*** की सेवा करनेको कहा, क्योंकि श्रीरामजीको 'भूमिपति' करना चाहते हैं।

टिप्पणी-४—***'ध्वज पताक तोरन····'*** इति। (क) ***'बेगि'*** और ***'सजहु'*** का अन्वय ध्वज, पताक, तोरण, कलश, तुरग, रथ और नाग सबके साथ है। [***'तुरग रथ नाग'***—रथको बीचमें देकर घोड़े, हाथियों और घोड़े जुते रथ तथा गजरथ इन सबोंको सजानेको कहा। चार घोड़ेवाला रथ भी काममें आता है, यथा—**'चतुरश्वो रथ:।'** (वाल्मी० २। १४। ३६) सुन्दर लक्षणोंवाला मत्त हाथी भी चाहिये, यथा—**'गजं च शुभलक्षणम्।'** (वाल्मी० २। ३। १०) **'मत्तश्च वरवारण:।'** (२। १४। ३६) ***'तोरण'*** अर्थात् फाटक सजाये जावें। पुन:, तोरण अर्थात् बन्दनवार द्वारोंपर लगाये जायँ। ध्वजाएँ और पताकाएँ ऊँची अटारियों, देवमन्दिरों, गलियों, मार्गों, बाजारों, गृहस्थोंके भवनों, सभाओं, वृक्षों आदिमें फहरानेको कहा। यथा—**'सिताभ्रशिखराभेषु देवतायतनेषु च। चतुष्पथेषु रथ्यासु चैत्येष्वट्टालकेषु च॥'''''''''''''''** (वाल्मी० २।६। ११—१३] (ख)—***'सिर धरि मुनिबर बचन'*** वचनोंको शिरोधार्यकर अर्थात् उनकी आज्ञाका पालन परम धर्म समझकर। यथा—***'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥'*** (१। ७७। २) देखिये। (ग) ***'सब निज निज काजहि लाग'—'सब'*** और ***'निज निज'*** से सूचित किया कि बहुत-से लोगोंको आज्ञा दी गयी। यथा—**'आदिदेशाग्रतो राज्ञ: स्थितान्युक्तान्कृताञ्जलीन्।'** (वाल्मी० २। ३। ८) अर्थात् हाथ जोड़कर आगे

आये हुए राजाके भृत्योंको आज्ञा दी। सबको उनके-उनके अधिकारयोग्य पृथक्-पृथक् कार्यकी आज्ञा दी गयी, यह बात आगे और भी स्पष्ट कर दी गयी है। यथा—*'जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहि काजु प्रथम जनु कीन्हा॥'* (घ) *'काजहि लाग'* से जनाया कि तुरत काम करने लगे, किंचित् विलम्ब न किया।

☞ अभिषेकका मुहूर्त बहुत निकट है, इसीलिये सामग्री जुटानेके लिये शीघ्रता करनेकी आज्ञा दी। इसी प्रकार उत्तरकाण्डमें भी तिलकका मुहूर्त बहुत निकट था, इसीसे वहाँ भी सामग्री तुरत जुटायी गयी। यथा—*'गुरु बसिष्ठ द्विज लिए बोलाई। आज सुघरी सुदिन समुदाई॥''अब मुनिबर बिलंब नहिं कीजै। महाराज कहँ तिलक करीजै॥'* (७। १०) *'रथ अनेक बहु बाजि गज तुरत सँवारे जाइ।'* (७। १०), *'सासुन्ह सादर जानकिहि मज्जन तुरत कराइ।'* (७।११), *'प्रभु बिलोकि मुनि मन अनुरागा। तुरत दिब्य सिंघासन माँगा॥'* (७। १२)

जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहि काज प्रथम जनु कीन्हा॥ १॥
बिप्र साधु सुर पूजत राजा। करत रामहित मंगल काजा॥ २॥
सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥ ३॥

शब्दार्थ—**हित**=लिये, प्रेमके कारण। **मंगल**=कल्याण करनेवाले। **सुहावा**=प्रिय लगनेवाला, सुहावना, आनन्द-मंगलका देनेवाला, सुन्दर। **गहगह**=(गहा=गहरा। गहगहे, गहागह गहगह क्रियाविशेषण है। गह-गहाना=प्रफुल्लित होना, प्रसन्न होना,) घमाघम, धमाधम, बहुत अच्छी तरह, बहुत जोरसे, बड़ी प्रफुल्लताके साथ। **बधावा** (सं० वर्द्धन, हिं० बढ़ती, बढ़ाई, बधाई) जन्म, विवाह आदि शुभ अवसरों, मंगल-कार्योंके उपलक्षमें जो गाना-बजाना, मुबारकवाद इत्यादि लोगोंकी तरफसे होता है उसे 'बधावा' कहते हैं। इसके साथ प्रायः कुछ मांगलिक भेंट मिठाई, फल, आभूषण इत्यादि भी लोग बाजा बजवाते हुए ले जाते हैं इसीसे *'बधाई बजना'* मुहावरा हो गया।

अर्थ—मुनीश्वर श्रीवसिष्ठजीने जिसको जो आज्ञा दी, उसने वह काम (इतनी शीघ्रतासे कर डाला) मानो पहलेसे ही कर रखा था॥ १॥ राजा ब्राह्मण, साधु और देवताओंको पूज रहे हैं। श्रीरामचन्द्रजीके लिये ये सब मंगलकार्य कर रहे हैं॥ २॥ श्रीरामचन्द्रजीके आनन्दप्रद राजतिलककी खबर सुनते ही अवधमें बधाइयाँ धमाधम बजने लगीं॥ ३॥

नोट—१ *'प्रथम जनु कीन्हा'*— मानो पहले ही कर रखा था। यह मुहावरा है; बहुत शीघ्र कर लेनेके भावमें प्रयुक्त होता है। दूसरे सबके हृदयमें प्रथमसे ही उत्साह भरा हुआ है, उत्साहमें कार्य शीघ्र होता ही है। पुनः, एक तो राजाकी आज्ञा और फिर गुरुकी भी आज्ञा कि *'बेगि'* करो। उस आज्ञाको कैसे शिरोधार्य और पालन किया, इससे सेवकोंकी श्रद्धा और सावधानता सूचित होती है। वाल्मीकीयमें भी मुनिका भृत्योंको आज्ञा देना कहकर दूसरे ही श्लोकमें कहा गया है कि उन्होंने राजाके पास आकर उनसे कहा कि सब काम कर लिया गया—'**कृतमित्येव चाब्रूतामभिगम्य जगत्पतिम्।**' (२।३।२१) (ख) देखिये, यहाँ पूज्य कविने भी कैसी शीघ्रता लेखनीसे दरसाई है। एक ही अर्धालीमें वे मुनिकी आज्ञा एक चरणमें कहकर दूसरे ही चरणमें आज्ञाका पालन कह दिया। उसके विस्तृत वर्णनमें वे भी समय नहीं लगाते। *'प्रथम जनु कीन्हा'* से सब कह दिया और चले। (ग) आज्ञाका झटपट पालन करना उत्प्रेक्षाका विषय है, राजा और गुरुजनोंके आज्ञानुसार कार्य करना 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है। आज्ञाके पहले ही काम कर रखा हो, इस कथनमें 'अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार' है।

नोट २—कार्यसम्पादनमें बड़ी फुर्ती है, क्योंकि दूसरे ही दिन दशमी पुष्यको अभिषेक होनेवाला था। अतः आठों मन्त्रियोंने अपने-अपने कार्यमें बड़ी शीघ्रता कीं। मालूम होने लगा कि ये सब कार्य पहलेसे ही सम्पादित हैं। पन्द्रहइयोंमें होनेवाले कार्योंको कुछ घंटोंमें कर दिखाया। इसीसे मन्थराको यह कहनेका अवसर मिला कि *'भयउ पाख दिन सजत समाजू।'* (पं० वि० त्रि०)।

टिप्पणी—१ *'जो मुनीस……'* इति। (क) सेवकोंने राजाकी *'बेगि करहु सोइ सोइ'* इस आज्ञाका प्रतिपालन किया, यह *'जो मुनीस जेहि……कीन्हा'* से सूचित कर दिया। (ख) गुरुकी भी आज्ञा है कि शीघ्र करो, अतएव इन्होंने बहुत शीघ्र सब काम कर दिया। (ग) *'बिप्र साधु सुर पूजत राजा……'* इससे जनाया कि यह आज्ञा राजाके लिये हुई थी जो कहा था कि *'पूजहु गनपति……'* उस आज्ञाका पालन राजाने किया। विप्र, साधु और सुरका पूजन मंगल-कार्य है। यह सब श्रीरामजीके लिये करते हैं जिसमें उनका मंगल हो, यथा—***'मंगलमूल बिप्र परितोषू।'*** (१२६। ४) ***'मुदमंगलमय संत समाजू।'*** (१। २) (घ) राजाने दूसरोंको आज्ञा दी थी कि ***'रामराज-अभिषेक हित बेगि करहु सोइ सोइ',*** उसका प्रतिपालन राजा अपने कर्तव्यसे भी दिखा रहे हैं। इस अर्धालीका सम्बन्ध ***'रामराज-अभिषेक हित'*** से है।

टिप्पणी—२ ***'सुनत राम अभिषेक……'*** इति। (क) रामराज्य सबको सुन्दर लगता है, यह स्वयं सुन्दर है, सबको इसके होनेकी लालसा थी, वे महेशको मनाते ही थे, वह अभिलाषा पूरी हुई, यह समझकर ***'बाज गहागह अवध……'।*** ***'अवध'*** से जनाया कि समस्त अयोध्यामें घर-घर बधाई बज रही है। (ख) प्रथम पुरकी रचना हुई, इससे पुरवासियोंका हर्ष प्रथम कहा। (यहाँतक नगरमें बाहरका वर्णन हुआ।) आगे राजमहलका हाल लिखते हैं।

रामसीय तनु सगुन जनाए। फरकहिं मंगल अंग सुहाए॥ ४॥
पुलकि सप्रेम परसपर कहहीं। भरत आगमनु सूचक अहहीं॥ ५॥
भए बहुत दिन अति अवसेरी। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी॥ ६॥

शब्दार्थ—**जनाए**= (जनाना सकर्मक क्रिया है। जनाना=जताना, सूचना देना) बताया कह रहे हैं—***'फरकि बाम अंग जनु कहि देहीं।'*** (५। ३५। ६) **परसपर** (परस्पर)—आपसमें, एक-दूसरेसे। **सूचक**=सूचना या खबर देनेवाले। **अवसेरी**=अवसेरु शब्द संस्कृतका है, यह कई अर्थोंमें प्रयुक्त होता है—(१) देर, विलम्ब, उलझन, अटकाव यथा—***'महरि पुकारत कुँअर कन्हाई। माखन धरेउ तिहारे कारन आजु कहाँ अवसेर लगाई', 'भयो मो मन माधव को अवसेर। मौन धरे मुख चितवत ठाढी ज्वाब न आवै फेर। तब अकुलाइ चली उठि बनको बोले सुनत न टेर……'*** (सूर)। (२) चिन्ता, व्यग्रता, उचाट, यथा—***'आजु कौन धौं कहाँ चरावत गाय कहाँ भई अबेर। बैठे कहाँ सुधि लेहु कौन बिधि ग्वारि करत अवसेर', 'दूती मन अवसेर करै। श्याम मनावन मोहिं पठायउ यह कतहूँ चितवै न टरै', 'अब ते नयन गये मोहिं त्यागि। इन्द्री गई गयो तन ते मन उनहुँ बिना अवसेरी लागि'***—सूर। (३) हैरानी, दु:ख, बेचैनी यथा—***'दिन दस गये चलहु गोपाल। गाइनके अवसेर मिटावहु लेहु आपने ग्वाल।……'*** सूर। (श०सा०) (४) प्रतीक्षा, इन्तजार। यहाँ 'विलम्ब, चिन्ता, बेचैनी और प्रतीक्षा'—ये सभी अर्थ प्रसंगके अनुकूल हैं। **प्रतीति**=विश्वास। **केरी**=की।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी और श्रीसीताजीके शरीर शकुनकी सूचना देते हैं (शरीरमें शकुन हो रहे हैं)। उनके सुन्दर शुभ अंग फड़क रहे हैं*॥ ४॥ पुलकित होकर वे दोनों प्रेमसहित एक-दूसरेसे कहते हैं कि ये समस्त सगुन भरतके आगमनके सूचक हैं (आनेकी खबर दे रहे हैं)॥ ५॥ बहुत दिन होनेसे बड़ी चिन्ता थी। सगुन प्यारेके मिलनेका दृढ़ विश्वास दिलाते हैं॥ ६॥

---

* 'देवदत्त: ओदनं पचति' अर्थात् देवदत्त चावल पकाता है। 'देवदत्त: किं ओदनं पचति' 'ओदनं तु स्वयमेव पच्यते' अर्थात् देवदत्त क्या चावल पकावेगा, चावल स्वयं पकता है। इसी तरह 'सगुन जनाये' अर्थात् सगुन स्वयं जना अर्थात् प्रकट हो रहे हैं वा सगुन स्वयं जनाये अर्थात् प्रकट हुए।

दीनजी—(भावार्थ)—राम और सीताजीके शरीरमें सगुन बतलाकर (कोई अच्छा कार्य होनेवाला है) शुभ अंग फड़कते हैं (यह फड़कना दम्पतिको) अच्छा लगा।

टिप्पणी—१ *'रामसीय तनु सगुन जनाए।…'* इति। (क) शकुनने जनाया कि आपके मनकी बात होना ही चाहती है। मनकी बात यह है कि वनका राज्य मिले जहाँ हमको बड़ा भारी कार्य करना है, जिसके लिये अवतार लिया है। यथा—***'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥'*** (५३। ६) (ख) ***'सगुन जनाए'*** कहकर दूसरे चरणमें बताते हैं कि शकुन क्या बता रहे हैं। वे बताते हैं कि आपके मंगल अंग फड़क रहे हैं। आपका मनोरथ पूर्ण होगा, आप राज्यको त्यागकर वनको जायँगे और देवकार्य करेंगे। (ग) ***'तनु सगुन जनाए'*** इति। तनमें शकुन प्रकट होनेका भाव कि जब अवधसे बारात जनकपुरको चली थी तब जो शकुन हुए थे, यदि वे ही होवें तो सबकी दृष्टि उनपर पड़ेगी और नियम है कि जिस-जिसकी दृष्टि शकुनपर पड़े उसका मनोरथ सफल हो, पर अवधवासियोंका मनोरथ सफल नहीं होनेको है; अतएव इस समय उस प्रकारसे शकुन प्रकट न हुए। श्रीराम-जानकीजीको शरीरके शकुन हुए, बाहरके शकुन न हुए। (घ) ***'मंगल अंग'***— श्रीरामजीका मंगल अंग दाहिना अंग है और श्रीसीताजीका मंगल अंग बायाँ अंग है। यथा—***'फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता।'***(१। २३१। ४) ***'मंजुल मंगल मूल बाम अंग फरकन लगे।'*** (१। २३६)

टिप्पणी—२ ***'पुलकि सप्रेम परसपर कहहीं।…'*** इति। (क) भक्तके मिलापका स्मरण होनेसे तन, मन, वचन— तीनोंसे सुखी हुए। पुलक तनका, प्रेम मनका और ***'परसपर बचन कहहीं'*** से वचनका सुखी होना कहा। **'परस्पर'**—अर्थात् श्रीरामजी श्रीजानकीजीसे कहते हैं कि हमारे दक्षिण अंग फड़क रहे हैं और श्रीसीताजी श्रीरामजीसे कहती हैं कि हमारे वाम अंग फड़क रहे हैं। (ख) ***'भए बहुत दिन…'*** इति। अर्थात् वे कभी इतना बाहर नहीं रहते थे, किस कारणसे नहीं आये। बारह वर्ष हो गये। [वाल्मीकीयमें लिखा है कि विवाहके बाद जनकपुरमें अश्वपति केकयराजके पुत्र युधाजित् पिताकी आज्ञासे भरतजीको ले जानेके लिये आये थे। शत्रुघ्नजीका भरतजीमें प्रेम होनेके कारण भरतजी उनको भी अपने साथ ले गये थे। मामा युधाजित्के उत्तम सत्कारोंसे सत्कृत होनेसे तथा उनके द्वारा पुत्रस्नेहसे लालित होकर इतने वर्ष वहाँ रह गये। यथा—**'स तत्र न्यवसद् भ्रात्रा सह सत्कारसत्कृतः। मातुलेनाश्वपतिना पुत्रस्नेहेन लालितः…।'** (वाल्मी० २। १। २-३)(ग) ***'सगुन प्रतीति भेंट प्रिय'***—शकुनसे प्रियके भेंटकी प्रतीति होती है, यथा—***'सगुन बिचारि धरी उर (मन) धीरा। अब मिलिहहिं कृपाल रघुबीरा॥'*** (६। ६। १००) ***'मोरे जिय भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥'***(७। १। ८) सगुन भेंटका विश्वास दिलाते हैं।

नोट—१ प्रेम ऐसी ही वस्तु है। साधारण ही देखा जाता है कि शुद्ध प्रेम होनेसे लोग प्रियतमका हाल जान लेते हैं, यह तो प्राकृत मनुष्योंमें ही देखा जाता है फिर भला इनका तो कहना ही क्या? भरतजीसे अब अवश्य भेंट होगी। इसी प्रकार उत्तरकाण्डमें प्रिय भरतजीके दक्षिण अंग बारम्बार फड़ककर शकुन जना रहे हैं और उनको प्रतीति होती है कि श्रीरामचन्द्रजी अवश्य मिलेंगे।

इस ग्रन्थमें जहाँ-तहाँ कई स्थलोंपर शुभ अंगोंका फड़कना वर्णित हुआ है, यथा—पुष्पवाटिकामें श्रीसीताजीके आगमनपर रामचन्द्रजीने कहा है, ***'फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता।'*** (१। २३१) पुनः गौरि अशीष पानेपर श्रीसीताजीके ***'मंजुल मंगल मूल बाम अंग फरकन लगे'*** और उत्तरकाण्डमें ***'भरत नयन भुज दच्छिन फरकत बारहिं बार'*** एवं सुन्दरकाण्डमें लंकाको जाते समय—***'प्रभु पयान जाना बैदेहीं। फरकि बाम अंग जनु कहि देहीं॥'*** (५। ३५) इन स्थलोंपर शुभांगोंके फड़कनेका शुभ फल प्रिय-मिलाप हुआ। तथा यहाँ भी श्रीसीतारामजीके शुभांगोंका फल वही दिखाया गया। इससे यह जान पड़ता है कि शुभांगोंके फड़कनेका प्रायः यही फल होता है।

नोट २—पंजाबीजी लिखते हैं कि शुभ अंगोंके फड़कनेका फल वनवास हुआ। इसे शुभ शकुन इससे कहा कि जिस कामका परिणाम शुभ हो वह श्रेष्ठ कहलाता है। सो अवधिमात्रके लिये राज्य-त्याग और वनवास मिष रावणको सकुटुम्ब मारकर रघुनाथजीको त्रैलोक्याधिपति होना है, इससे भी यह फल शुभ है। और, जो मूलमें इसका फल प्यारेका मिलाप कहा सो भी शुभ ही सगुन है क्योंकि संत भगवान्को प्यारे हैं। वनमें अनेक संत मिलेंगे ही।

भरत सरिस प्रिय को जग माहीं?। इहइ सगुन फल दूसर नाहीं॥ ७॥
रामहिं बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदउ* जेहि भाँती॥ ८॥

शब्दार्थ—'**सरिस**'=सदृश, समान। '**इहइ**'=बस यही। '**कमठ**'=कछुआ। '**हृदउ**'=हृदयमें।

अर्थ—भरतके समान हमें संसारमें कौन प्रिय है? सगुनका फल बस यही है और कुछ नहीं॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजीको रात-दिन भाईकी चिन्ता रहती है, जैसे कछुवेके हृदयमें अपने अण्डोंकी॥ ८॥

नोट—१ ***'सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी'*** के प्रिय शब्दमें अतिव्याप्ति है, बहुत-से लोग प्रिय हैं, न जाने किससे भेंट होगी। इस अतिव्याप्तिको मिटानेके लिये फिर कहते हैं कि ***'भरत सरिस को प्रिय'*** भरत सरिस प्रिय और दूसरा कौन है? यही कौसल्याजी, वसिष्ठजी, निषादराज, भरद्वाजजी आदिका भी मत है। यथा—***'मातु....।' कहति रामप्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन काय॥'*** (१६८) ***'राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥ १॥ 'तात भरत अस काहे न कहहू। प्रान समान राम प्रिय अहहू॥'*** (१८४। ५) (ये माता, मन्त्री, गुरु आदि सभीने कहा है), ***'तेहि राति पुनि पुनि करहिं सादर सरहना रावरी॥ तुलसी न तुम्ह सो राम प्रीतमु कहत हौं सौहैं किए॥'*** (२०१) ***'सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। प्रेमपात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं॥'*** (३) ***'.....निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती॥'*** (४) ***'तुम्ह पर अस सनेह रघुबर कें। सुख जीवन जग जस जड़ नर कें॥'*** (६) (दो० २०८) ***'भरत सरिस को राम सनेही। जग जपु राम राम जप जेही॥'*** (२१८। ७)

नोट—२ ***'इहइ सगुन फल दूसर नाहीं'*** इति (क) श्रीरामजी इस शकुनका फल यही निश्चय करते हैं। इसीसे राज्याभिषेक न हुआ, भरतसे भेंट हुई। (पण्डित रामकुमारजी) पंजाबीजीका मत है कि इन शब्दोंसे सर्वज्ञता सूचित की कि अभी राज्य न होगा, भरतजीसे मिलाप होगा। श्रीनंगे परमहंसजी कहते हैं कि 'वस्तुत: जिस कार्यके लिये अवतार लिया उसकी सिद्धिकी सूचना शकुनसे हो रही है।' परन्तु श्रीरघुनाथजीने माधुर्यमें इसका भाव 'भरतागमन' लगाया। मयंककार कहते हैं कि 'राजा तिलकका साज सज रहे हैं और सर्वत्र उत्सव हो रहा है; अतएव यह शकुन राज्य-प्राप्ति-सूचक होना चाहिये था, श्रीरामजी इसका फल भरतागमन निश्चित करते हैं, क्योंकि केकयराजसे प्रतिज्ञाबद्ध होनेसे युवराज्य श्रीभरतको मिलना चाहिये, राजा अन्याय कर रहे हैं, यह जानकर श्रीरामजीने राजाका त्याग किया और इसीसे राज्याभिषेकको भी त्याग दिया; अतएव इस शकुनका फल भरतमिलाप ही निश्चित किया।'

टिप्पणी—१ ***'रामहिं बंधु सोच दिन राती....'*** इति। (क) अतिप्रियके वियोगमें रात-दिन सभीको सोच रहता ही है। श्रीभरतजी रामजीको अतिप्रिय हैं, जगन्मात्रमें इनके समान प्रिय कोई नहीं।' (यथा—***'प्रेम पात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं'***)। अतएव श्रीरामजीको उनका सोच दिन-रात बना रहता है। (नोट १ में रात-रातभर उनके स्मरणके उदाहरण दिये गये हैं) (ख)—***'अंडन्हि कमठ'*** का दृष्टान्त देकर जनाया कि जैसे कछुवेके अण्डेका अवलम्ब कछुवेकी सुधपर है, यदि कमठको उसकी सुरति बिसर जाय तो अण्डा मर जाय, वैसे ही भरतजीको श्रीरामकृपाका ही अवलम्ब है (यथा—***'आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस॥'***) (१८३)। यदि श्रीरामजी क्षणभर कृपा भुला दें तो भरतजी जीवित ही न रहें, उनका मरण हो जाय। इसीसे रात-दिन उनका स्मरण रहता है। ☞ इससे श्रीभरतजीकी विलक्षण शरणागति सूचित की। (प्रथम साधारण बात कहकर फिर विशेषसे समता दिखानेसे यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है।)

नोट—३ ***'अंडन्हि कमठ हृदय.......'*** इति। यह बड़ा अपूर्व दृष्टान्त है, समझते ही बनता है। कछुवा अपने अण्डे पानीसे बाहर रेतमें रखता है और सुरतिसे उनका सेवन करता है, वैसे ही यहाँ सूचित करते हैं कि लवमात्र भी भरतजीकी सुरति इनको नहीं भूलती। यद्यपि वे ननिहाल-(केकय देश-) में हैं और ये अवधमें, कहाँ काश्मीर या काकेशस और कहाँ अवध। केवल रामकृपा ही भरतजीका पालक है। प्राय:

* 'हृदउ'—राजापुर और पं० रामगुलाम द्विवेदी; भागवतदासजी, काशी, रा० प०। 'हृदय' (ना०प्र० सभा)।

दो प्रकारकी प्रीति और कही गयी है, एक मर्कटकी, दूसरे मार्जार-(बिल्ली-) की। ज्ञानियोंके लिये मर्कटकी उपमा और भक्तोंके लिये मार्जार-न्यायकी प्रीति कही जाती है। इन दोनोंसे बिल्लीकी प्रीति उत्तम है, पर, कमठका दृष्टान्त इन दोनोंसे उत्तमतर अधिक श्रेष्ठ है। क्योंकि बिल्ली भी अपने पेटके लिये जब बाहर जाती है तब बच्चोंको भूल जाती है। यह दृष्टान्त विनयमें भी आया है। यथा—***'कुटिल कर्म लै जाइ मोहि जहँ जहँ अपनी बरियाई। तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़िए कमठ अंडकी नाईं॥'*** (१०३)

विज्ञानानुसार रेतमें दबे हुए अण्डे सूर्यकी गर्मीसे पक्व हो जाते हैं और बच्चे पुष्ट होकर स्वयं जलमें प्रवेश कर जाते हैं।

दो०—एहि अवसर मंगल परम सुनि रहसेउ रनवास। सोभत लखि बिधु बढ़त जनु बारिधि बीचि बिलास॥ ७॥

शब्दार्थ—**परम मंगल**=बहुत बड़ा मंगल कार्य, परम मंगलोत्सव। **रहसेउ**=प्रेमोत्साहसे भर गया, हर्षित हुआ। दो० ४ (१) में देखिये। **रनिवास** (रनवास=रानी+आवास)=राजमहल। **'बारिधि'**=समुद्र। **बीचि**=तरंग, लहर। **बिलास**=खेल, उठान, अठखेलियाँ।

अर्थ—इस अवसरपर यह परममंगल (होनेवाला है यह समाचार) सुनकर रनवास प्रेमोत्साहसे भर गया अर्थात् रनवास बहुत हर्षित हुआ।) मानो चन्द्रमाको बढ़ते हुए देखकर समुद्रमें लहरोंका विलास शोभा दे रहा है। वा चन्द्रमाको सुशोभित देखकर समुद्रकी लहरोंका विलास (उठना) बढ़ता है॥ ७॥

नोट—१ उत्तरार्द्धका अर्थ दो तरहसे किया गया है। पहला अर्थ श्रीशुकदेवलालजी, प्रोफे० लाला भगवानदीन और विनायकी टीकाकार इत्यादिका है। पं० रामकुमारजी, बैजनाथजी, रा० प्र० का और प्रोफे० रामदास गौड़जी इत्यादि दूसरेको उत्तम कहते हैं।

टिप्पणी—१ (क) रामराज्याभिषेक ही 'परम मंगल है'। (यथा—***'भूप सुमंगल बचन सुनाए।'.................. करहु हरषि हिय रामहि टीका।', 'जगमंगल भल काजु बिचारा')*** इसे सुनकर रनवास हर्षित हुआ। (मुख्य तात्पर्य इतना ही है पर इसके भावको हृदयंगम करनेके लिये कवि अपनी कल्पनासे बलपूर्वक पाठकोंका ध्यान समुद्रकी उस तरंगमालाकी ओर खींचकर लिये जाते हैं, जो पूर्णचन्द्रको देखकर उसमें लहराती हुई उठती है। इस उत्प्रेक्षामें रामराज्याभिषेकका होना चन्द्रमाका सुशोभित होना (अर्थात् पूर्ण होना) है। रनवास और वारिधि, प्रेम और जल, हर्षसे पुलकावलीका होना और वीचिविलास (अर्थात् समुद्रका बढ़ना) श्रीरामराज्याभिषेकका समाचार सुनना और पूर्णचन्द्रका देखना परस्पर उपमेय-उपमान हैं। इसी प्रकार बालकाण्डमें एक रूपक आया है। यथा—***'कौसिक रूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाह सुहावन॥ राम रूप राकेस निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥'*** (१। २६२) ***'बढ़त बारिधि बीचि बिलास'***= समुद्र बढ़ता है, तरंगोंकी शोभा भी हो रही है।

नोट—२ दोहेके उत्तरार्धके प्रथम अर्थके पक्षवाले कहते हैं कि इस दोहेमें एक बड़ा विलक्षण चमत्कार दिखाया गया है, जो सम्भवतः ग्रन्थभरमें और कहीं न पाया जायगा। वह यह है कि यहाँ रामचन्द्रको पूर्णचन्द्र नहीं कहते। ***'बढ़त'*** को विधुका विशेषण मानकर अर्थ करनेसे यहाँका गुप्त आशय समझमें आवेगा। ***'बिधु बढ़त'*** से जनाते हैं कि चन्द्रमा अभी बढ़ रहा है; अभी पूर्ण तो राज्याभिषेकपर होगा, जब रावणवध करके रामचन्द्रजी लौटेंगे। यथा—***'राकाससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान। बढ़ेउ कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान॥'*** (उ० ३) इस दोहेमें उनको पूर्णचन्द्र कहा और यहाँ इस समय तो केवल इस मंगलोत्सवकी खबर ही मिली है।

विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि ***'बढ़त बिधु'***=बढ़ता हुआ चन्द्रमा। यहाँ ***'बढ़त'*** शब्दको चन्द्रका विशेषण इस हेतु माना है कि रामतिलककी केवल तैयारी ही सुनायी दी है। इसे पूर्णचन्द्र कैसे मानें। कदाचित् कहो कि पूर्णचन्द्रके बिना समुद्रकी लहरें कैसे बढ़ीं तो उसका समाधान यह है कि अमावसके

अनन्तर परिवाद्वीजतक भी समुद्रकी लहरें ऊँची उठती हैं और इसी आशयको कविशिरोमणि कालिदासजी 'कुमारसम्भव' में यों लिखते हैं। यथा—**'वेलासमीपं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः।'** सारांश कि जिस प्रकार प्रतिपद चन्द्रके कारण समुद्रकी फेनयुक्त ऊँची लहरें किनारेकी ओर आकर्षित होती हैं।

नोट—३ ☞ दूसरे अर्थके पक्षवाले कहते हैं कि यह चमत्कार अपूर्व है, जो चक्करदार अन्वय करनेसे स्पष्ट होता है। परन्तु प्राकृतिक नियमोंसे यह सिद्ध है कि समुद्रमें पूर्णिमा और अमावस्याको तरंगमालाएँ बढ़ती हैं, सबसे अधिक पूर्णिमामें ही उत्तुंग तरंगोंका दृश्य देखनेमें आता है। अतः बढ़ते हुए चन्द्रमाको अर्थात् शुक्लपक्षकी परिवा, द्वितीया आदिके चन्द्रमाको देखकर समुद्रकी तरंगावली बढ़ती है, यह कहना स्वभावानुकूल नहीं जँचता। शुक्लपक्षकी सप्तमी-अष्टमीको जब चन्द्रमा बढ़ता रहता है, तरंगमालाओंकी विलासता बहुत घट जाती है। फिर तो यह कहना होगा कि बढ़ते हुए चन्द्रमाको देखकर वीचि-विलास घट भी जाती है। अस्तु, तर्ककी कसौटीपर यह चमत्कारिक अर्थ युक्तियुक्त नहीं जँचता।

नोट ४—बैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ रघुनाथजी चन्द्रमा हैं। जन्मसे लेकर विवाहतक उत्सवरूप कला बढ़ती गयी। राज्याभिषेकको पूर्ण (सोलहों) कलाका जानकर रनवास अवधरूपी समुद्रमें तरंगवत् उमगा। पीछे कैकेयी-(कर्तव्य-) रूपी राहुने उसे ग्रस लिया, वनवास देना ग्रास करना है। तत्पश्चात् वनयात्रारूपी कृष्णपक्ष आयेगा।

नोट ५—समुद्रका जल प्रतिदिन दो बार चढ़ता और दो बार उतरता है। इस चढ़ाव-उतारको ज्वार-भाटा कहते हैं। चन्द्रमा और सूर्यका आकर्षण ही इसका कारण है। सूर्यकी आकर्षण-शक्ति कभी-कभी चन्द्रमाकी शक्तिके प्रतिकूल होती है, पर अमावस्या और पूर्णिमाको दोनोंकी शक्तियाँ परस्पर अनुकूल कार्य करती हैं, इसीसे उन दिनों ज्वार अधिक उठता है। पूर्णिमाको सूर्य और चन्द्रमा पृथ्वीके आमने-सामने रहते हैं, इससे उस दिन आकर्षण-शक्ति विशेष होती है। सप्तमी और अष्टमीको, दोनों शक्तियाँ एक-दूसरेके प्रतिकूल होनेसे, बहुत कम ज्वार उठता है।

अलंकार—यहाँ सब रनवासका एक साथ प्रेमोत्साह बढ़ जाना उत्प्रेक्षाका विषय है। यहाँ 'उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा' है।

प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाए। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाए॥ १॥
प्रेम पुलकि तन मन अनुरागीं। मंगल कलस* सजन सब लागीं॥ २॥
चौकँइ[१] चारु सुमित्रा पूरी। मनिमय बिबिध भाँति अतिरूरी॥ ३॥

शब्दार्थ—'**भूषन**'=आभूषण, गहने, अलंकार। '**अनुरागीं**=अनुरक्त हुईं। '**अतिरूरी**'=परम रम्य, बड़ी सुन्दर, मनोहर।

अर्थ—सबसे पहले जिन-जिन लोगोंने जाकर यह खबर सुनायी उन्होंने बहुत-से आभूषण और वस्त्र पाये॥ १॥ रानियोंका शरीर प्रेमसे पुलकित हो रहा है, मनमें अनुराग भरा है। सब मंगल कलश सजने लगीं॥ २॥ सुमित्राजीने सुन्दर चौकें पूरीं जो बहुत प्रकारके मणियोंकी, बहुत तरहकी और बड़ी रम्य थीं॥ ३॥

टिप्पणी—१ ***'प्रथम जाइ जिन्ह……'*** इति। (क) ***'प्रथम'*** शब्दसे जनाया कि मंगल-समाचार सुनाने बहुत लोग गये थे, उनमेंसे जो लोग सर्वप्रथम पहुँचे उनका हाल कहते हैं। (***'जिन्ह', 'सुनाये'*** और ***'तिन्ह'***

---

* 'साज' (शुकदेवलाल, वि० टी०, दीनजी)। 'कलस'—राजापुर, काशी, भागवतदास इत्यादि। 'साज' पाठसे अर्थ होगा कि—सब मंगलकी सामग्री सजाने लगीं अर्थात् उत्सवकी तैयारी करने लगीं। 'साज' का अर्थ 'मंगल' में ही आ जाता है। मंगल=मंगल सामग्री। यथा—'मंगल मुदित सुमित्रा साजे।', 'मंगल सकल सजहिं सब रानी', 'कनक थार भरि मंगलन्हि' (१।३४६)

१-चौकें—गी० प्रे०।

बहुवचन शब्दोंसे जनाया कि प्रथम सुनानेवाले भी बहुत थे। ये एक साथ ही पहुँचे, एक साथ ही सबने कहा था। इन्हींका हाल यहाँ कहते हैं। सुनाया तो औरोंने भी, पर पीछे। उनका हाल नहीं कहते।) (ख) प्रथम सुनना और सुननेवालोंका हाल ऊपर कहा, यथा—*'सुनि रहसेउ रनिवास'* और अब सुनानेवालोंका हाल कहते हैं कि *'भूषन⋯।'* (ग) *'भूरि तिन्ह पाए'* से सूचित किया कि जिस-जिसने जब भी सुनाया तब उसे भी भूषण-वस्त्र मिले, पर जिन्होंने प्रथम सुनाया उन्हें तो बहुत-बहुत भूषण-वस्त्र मिले। (घ) जैसे पूर्णचन्द्रको देखकर जब समुद्र बढ़ता है तब वह अपनी तरंगोंद्वारा मुक्ता, मणि आदि अनेक रत्नोंको निकालकर बाहर तटपर डाल देता है। (यथा—*'सागर निज मर्यादा रहहीं। डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं॥'* (७। २३) यह रामराज्यके समय हुआ ही था। ऊपर रनवासको समुद्र कह आये हैं।) जो तटपर प्रथम पहुँचता है वह सबसे अधिक पाता ही है। इसी तरह रनवासरूपी समुद्र प्रेमानन्दमें मग्न होकर सुनानेवालोंको भूषण-वस्त्र लुटा रहा है। (ङ) 'भूषण-वस्त्र' कहकर जनाया कि रनवासरूपी समुद्र रत्नाकर समुद्रसे अधिक देता है। रत्नाकर भूषण-वस्त्र नहीं देता [(च) 'भूरि' से यह भी जनाया कि सभी रानियोंने दिया। सुनने और सुनानेवाले दोनोंका उत्साह और प्रसन्नता भी इससे प्रकट कर दी। किसने सुनाया? श्रीरामचन्द्रजीके प्रिय करनेवाले उनके मित्रोंने यह सूचना दी। यथा—'**तच्छ्रुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिणः॥ त्वरिताः शीघ्रमागत्य कौसल्यायै न्यवेदयन्। सा हिरण्यं च गाश्चैव रत्नानि विविधानि च**॥ (वाल्मी० २। ३। ४६-४७)

टिप्पणी २—*प्रेम पुलकि तन⋯'* इति। प्रेमके कारण शरीरसे पुलकित होकर और मनमें अनुरागको प्राप्त होकर मंगल पदार्थ और मंगलकलश सजाने लगीं। ('मंगल'=मंगल वस्तुएँ। यथा—*'मंगल मुदित सुमित्रा साजे॥ हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगलमूला॥ अच्छत अंकुर लोचन लाजा। मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा॥ छुहे पुरट घट सहज सुहाए।⋯सगुन सुगंध न जाहिं बखानी। मंगल सकल सजहिं सब रानी⋯'* (१।३४६।३—८) यह 'परम मंगल' का अवसर है, यथा—*'एहि अवसर मंगल परम⋯॥'* (७) अवसर भी थोड़ा है, कल ही अभिषेकका मुहूर्त है, अत्यन्त शीघ्रताका काम है, सामग्री भी बहुत है और सभीको अत्यन्त उत्साह है। अतः सभी मंगल और कलश सजानेमें लग गयीं।)

टिप्पणी—३ *चौकँई⋯'* इति। (क) *'चौकँई'* बहुवचन है। अर्थात् अनेक चौकें। रानियाँ बहुत हैं। पर चौक पूरना सबसे अच्छा इन्हींको आता है। (श्रीसुमित्राजी मंगल-रचनाकी आचार्या हैं। यथा—*'मंगल मुदित सुमित्रा साजे।'* (१। ३४६। ३) चौक पूरनेमें इनसे अधिक निपुण (कुशल) कोई नहीं है। इसीसे इन्हींका चौक पूरना कहा गया।* (ख) *'चारु' 'मनिमय बिबिध भाँति'* चौकें अबीर, गुलाल, आटा आदिकी भी पूरी जाती हैं पर गुरुकी आज्ञा है कि *'रचहु मंजु मनि चौकें चारू',* उस आज्ञाकी यहाँ पूर्ति दिखायी। (अवध, मिथिलामें प्रायः मणिमय चौकें ही पूरी जाती रही हैं। गुरुने *'चौकें चारू'* कहा था, उसीके अनुकूल यहाँ *'अतिरूरी'* है। बहुत ही सुन्दर और विचित्र हैं)। *'बिबिध'* से सूचित किया कि अनेक चौकें श्रीसुमित्राजीने पूरीं, जितनी हैं उतने ही प्रकारकी हैं। (यह भी जनाया गया कि गजमुक्ता आदि सुन्दर मांगलिक मणियोंसे चौकें पूरी गयीं, बीच-बीचमें पीत, लाल, हरित, श्याम आदि रंग-बिरंगकी मणियाँ लगायी गयीं। अथवा, कोई किसी मणिकी बनी, कोई किसीकी, कोई कई एक मणियोंसे रची गयीं इत्यादि।) *'अतिरूरी'* से बनावटकी सुन्दरता कही।

---

* बैजनाथजी लिखते हैं कि मैंने रामरक्षाके तिलकमें एक पौराणिक इतिहास पढ़ा है कि लग्न, फलदान, तिलक और तैलादि चढ़ानेके पश्चात् रावण कौसल्याजीको हर ले गया। ब्याहके दिन जब दशरथजी पहुँचे, तब राजाने अपनी छोटी कन्या सुमित्राका ब्याह उनके साथ कर दिया! पीछे गरुड़जी राघवमत्स्यके यहाँसे (जिसके पास रावण कौसल्याजीको रख आया था) कौसल्याजीको ले आये, तब उनके साथ विवाह हुआ। श्रीसुमित्राजीका पाणिग्रहण प्रथम होनेसे देवपूजनादिका अधिकार उन्हींको मिला। इसीसे चौकें उन्होंने पूरीं। (बालकाण्डमें हवि बाँटनेके प्रसंगमें जो कथाएँ हमने दी हैं, उनसे तीनों रानियाँ तीन पृथक्-पृथक् राजाओंकी कन्याएँ सिद्ध होती हैं और कौसल्याजीका विवाह प्रथम होना पाया जाता है)।

शंका—गुरुजीकी आज्ञाका क्रम यह है, यथा—*'रचहु मंजु मनि चौकें चारू।''' ध्वज पताक तोरन कलस सजहु''' ॥'* (६) अर्थात् उन्होंने प्रथम चौकें पूरनेकी बात कही, पीछे कलश सजनेकी। पर यहाँ प्रथम मंगलकलशका सजना कहकर तब सुमित्राजीका चौकें पूरना कहा, यह क्यों?

समाधान—श्रीसुमित्राजी मंगलरचनाओंकी आचार्या हैं; जैसा बालकाण्ड दोहा ३४६ में *'मंगल मुदित सुमित्रा साजे॥'* (३) प्रथम कहकर तब *'मंगल सकल सजहिं सब रानी॥'* (४) लिखकर सूचित किया गया है। प्रथम श्रीसुमित्राजीने सजाना प्रारम्भ किया तब और भी सब उसमें लगीं। यहाँ गुरुकी आज्ञा है *'मंजु मणिमय चारु'* चौकें पूरी जायँ, इससे सब चौकें इन्होंने पूरीं, क्योंकि इतनी सुन्दर दूसरी कोई रानी न पूर सकती। चौकें बहुत हैं अतएव कलश भी बहुत हैं जो उनपर रखे जायँगे। कलश सजानेमें देर लगेगी, इससे श्रीसुमित्राजीने प्रथम मंगलकलशोंका रचना प्रारम्भ करके सबके साथ प्रथम कलश सजा लिये, फिर स्वयं चौकें पूरने लगीं। चौक पूरनेमें इनको अधिक समय नहीं लगता, क्योंकि ये उस कलामें परम कुशल हैं। यदि प्रथम चौकें पूरनेमें लगतीं तो कलश-रचनाके कार्यमें विलम्ब हो जाता।

नोट—स्मरण रहे कि व्रजभाषा और अवधीभाषामें 'श', 'ण', 'ख', 'व' का प्रयोग उच्चारणमें जिह्वाको कष्ट होनेके कारण शुभ नहीं माना जाता। इनके बदले 'स', 'न', 'ष', 'ब' सर्वत्र लिखे गये हैं। मैंने 'ष' की जगह जहाँ-तहाँ 'ख' ही रखा है; क्योंकि दोनोंका उच्चारण एक-सा होता है।

आनँद मगन राम महतारी। दिए दान बहु बिप्र हँकारी॥ ४॥
पूजी ग्रामदेबि[1] सुर नागा। कहेउ बहोरि देन बलि भागा॥ ५॥
जेहि बिधि होइ राम कल्यानू। देहु दया करि सो बरदानू॥ ६॥
गावहिं मंगल कोकिल बयनीं। बिधुबदनीं मृग सावक नयनीं॥ ७॥

शब्दार्थ—**हँकारी**=बुलवाकर। 'ग्रामदेवि'—वह देवी-देवता जो ग्रामके बसानेके समय उसकी रक्षाके लिये ग्रामके बाहर प्राय: पश्चिम ओर स्थापित किये जाते हैं। श्रीअयोध्याजीमें इसी तरहका एक 'चुटकी देवी' का स्थान कहा जाता है। **सुर**=(सुरा पीनेवाले) देवता। ये स्वर्गके देवता हैं।[2] नाग—१। ७, १। ६१। १ *'किंनर नाग सिद्ध गंधर्बा', 'देव दनुज नर नाग मुनि''''।'* (१। ६८) में देखिये। शिवसंहिता और रामतापिनीयोपनिषद्‌में इनका वर्णन है। इनका कुल अष्टकुल कहलाता है। तापिनीमें १२ कहे गये हैं। ये श्रीहरि-मन्दिरके द्वारपाल कहे जाते हैं। इनका पूजन यज्ञादि शुभ कार्योंमें अवश्य होता है। भक्तमालमें नाभाजीने भी इनकी वन्दना की है। ये मांगलिक समझे जाते हैं। वे ये हैं—एलापत्रजी, अनन्तजी (शेष), पद्मजी, शंकुजी (शंख), अशुकम्बलजी, वासुकिजी, करकोटकजी और तक्षकजी। कोई-कोई 'नाग' से शेषनागका अर्थ लेते हैं, पर मेरी समझमें नागसे 'अष्टकुल नाग देवों' का बोध होता है; इसमें शेषजी भी आ जाते हैं और मंगलकार्योंमें जो पूजनका विधान है उसको भी हानि नहीं पहुँचती, किंतु उसकी भी पूर्ति हो जाती है। इसीसे यह व्यापक शब्द गोस्वामीजीने रखा है। **बहोरि**=फिर, दूसरी बार भी, पुन:। '**बलि भागा**'= देवताओंका यज्ञका भाग। जैसे अधिकारी देवता होते हैं, वैसा ही यज्ञका भाग उनको मिलता है। हव्य देवताओंके भागके लिये और कव्य पितृगणके भागके लिये प्रयुक्त होता है। पूजा; भेंटकी वस्तु; उपहार; पूजाकी सामग्री वा

---

१. ग्रामदेवि—राजापुर, का०, रा० गु० द्वि०, भा० दा०, ना० प्र०। ग्रामदेव—वै०, शुकदेवलाल, दीनजी।

२. बैजनाथजी तथा दीनजी 'सुरनागा' को एक शब्द मानकर निम्न अर्थ करते हैं। (१) नाग=हाथी। नागसुर=मत्तहस्तीका रूप धारण किये हुए यक्षेशजी जो पुरीकी रक्षा करते हैं, यथा—'मत्तनागेन्द्र रूपं तं यक्षराजं प्रणम्य च' (शिवसं०)। पुरकी ईशान दिशामें मत्तगयन्द कोतवाल प्रसिद्ध हैं, ये ही ग्रामदेव नागसुर हैं (वै०)। (२) सुरनागा= नागेश्वर महादेव; ये ही प्रधान ग्रामदेव थे। (दीनजी)। प्राचीन पाठ 'देवि' है। ऐसी हालतमें मत्तगयन्द या नागेश्वरनाथ महादेव 'ग्रामदेवि' नहीं हो सकते। 'सुर' व्यापक शब्द है, उसमें सभी देवता आ सकते हैं और 'देवि' से देवियोंकी भी पूजा हो गयी।

उपकरण; देवताका भाग; भक्ष्य अन्न या खानेकी वस्तु, यथा—*बैनतेय बलि जिमि चह कागू। जिमि ससु चहै नाग अरि भागू॥'* (१।२६७।१) ***'रामहि राखहु कोउ जाई। जब लौं भरत अयोध्या आवैं कहत कौसल्या माई॥ आए भरत दीन ह्वै बोले कहा कियौ कैकयि माई। हम सेवक वा त्रिभुवनपतिके सिंहको बलि कौआ खाई?'***—सूर।=नैवेद्य, चढ़ौती, भोग, यथा—***'बलि पूजा चाहत नहीं चाहत एक प्रीति। सुमिरत ही मानै भलो पावन सब रीति।*** (विनय० १०७)। (श०सा०)। १-२६७ (१) देखिये। पुनः, बलि उस पशुको भी कहते हैं, जो किसी अवैष्णवी देवस्थानपर वा किसी देवताके उद्देश्यसे मारा जाय॥७॥

अर्थ—रामचन्द्रजीकी माँ कौसल्याजी आनन्दमें मग्न हैं। उन्होंने बहुत-से ब्राह्मणोंको बुलवाकर बहुत दान दिये॥४॥ उन्होंने ग्राम-देवी, देवताओं और नागोंकी पूजा की और पुनः बलिभाग देनेको कहा (अर्थात् कार्य सफल होनेपर फिरसे पूजाकी मनौती मानी)॥५॥ (पूजा करके वर माँगती हैं कि) जिस प्रकार रामचन्द्रजीका कल्याण हो वही वरदान दया करके दीजिये॥६॥ कोकिलकी-सी रसीली मीठी वाणीवाली, चन्द्रमुखी और हिरनके बच्चोंकी-सी आँखोंवाली स्त्रियाँ मंगल गान कर रही हैं॥७॥

टिप्पणी—१ ***'आनँद मगन'''*** इति (क) सब रानियोंका आनन्द कहकर सबसे पृथक् अब कौसल्याजीका आनन्द कहते हैं। परममंगल सुनकर सब रानियोंको हर्ष हुआ—***'सुनि रहसेउ रनवास।'*** (७) और कौसल्याजी तो श्रीरामजीकी निज माता हैं, अतएव ये तो आनन्दमें डूब ही गयीं। इनको सबसे अधिक आनन्द हुआ। (इससे इन्हें दान देना, देवी, देवता और नागोंका पूजन ही रुच रहा है।) सब रानियाँ मंगल सजाने लगीं, सुमित्राजी चौकें पूरने लगीं, पर कौसल्याजीने बहुत-से ब्राह्मणोंको बुलाया और दान देने लगीं। (अन्य रानियोंने केवल मंगल समाचार सुनानेवालोंको बखशीश दी थीं।)

टिप्पणी—२ सब रनवासको समाचार मिला, सब हर्षित हुईं, मंगल सजाने लगीं। कौसल्याजीको सबसे अधिक आनन्द हुआ। पर कैकेयीजीको खबर न हुई। किसीने उनसे समाचार न कहा—यही विघ्नके प्रवेशका दरवाजा है, यही बात मन्थरा आगे कैकेयीजीसे कहेगी। यथा—***'भयउ पाख दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू॥'*** (१९।३)

नोट—१ इसीको हरि-इच्छा कहेंगे। नहीं तो उन्हें खबर होती, तो वे भी मंगल कार्यमें सबसे आगे सम्मिलित होतीं, उनको तो राम प्राणसे भी प्यारे थे। पर लीला कैसे बनती? सखी, सहेलियाँ और नगरकी स्त्रियाँ रनवासमें बधाई देने आती हैं, निछावरें पा रही हैं, परंतु कैकेयीके महलमें यह स्त्रियाँ जान-बूझकर नहीं जातीं; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजीको कैकेयी कितनी ही चाहती हो, राज्यके मामलेमें उनका किसीको विश्वास नहीं है और यह भी पता चलता है कि राजा दशरथने कैकेयीसे विवाहके समयमें की हुई शर्तोंको कितना ही गुप्त रखा हो, भगवान् रामचन्द्रजीपर प्राण देनेवाली प्रजाको उसका पता जरूर लग गया था और जैसे कैकेयीसे राजा और राजपुरुषोंने छिपाया वैसे ही सारी प्रजा कैकेयीसे छिपानेमें एकमत थी। अन्यथा इतने बड़े समारोहकी चर्चा पहले पहल कुटिला और मन्थरासे सुननेमें न आती। (गौड़जी)

टिप्पणी—३ ***'ग्रामदेवि सुर नागा''''*** इति। (क) तीन नाम देकर तीनों लोकोंके देवताओंकी पूजा सूचित की। ग्रामदेवी मर्त्यलोककी, सुर स्वर्गलोकके और नाग पातालके। (ख) ***'कहेउ बहोरि देन बलि भागा'***— स्त्रियोंमें मानता माननेकी रीति है, यथा—***'पति देवर सँग कुसल बहोरी। आइ करौं जेहि पूजा तोरी॥'*** (१०३। ३) वैसे ही कौसल्याजी कहती हैं कि कार्य सिद्ध होनेपर तुम्हें पूजा दूँगी। बलि=पूजा, यथा—'**बलिः पूजोपहारकः।**' भाग शब्दसे जनाया कि पृथक्-पृथक् सबकी पूजा दूँगी। देवताओंको बलि-भाग बहुत प्रिय है; अतः कहती हैं कि हम दूसरी बार फिर पूजा देंगी, जिसमें उसकी लालचसे वे कार्य सिद्ध कर दें। (ग) स्त्रियाँ ग्रामदेवी, ग्रामदेवता और नागकी बाँबीकी पूजा किया करती हैं, इसीसे रानियोंका इनको पूजना लिखा। पुरुष साधु, ब्राह्मण और यज्ञके देवताओंकी पूजा किया करते हैं, अतएव राजाका विप्र-साधु-सुरकी पूजा करना कहा। (राजाको विप्र, साधु, सुरकी पूजा योग्य है और स्त्रियोंको ग्रामदेविकी)। पुनः (घ) यहाँ तीन प्रकारके देवताओंकी पूजा की गयी। विप्र

और साधु सतोगुणी हैं, सुर रजोगुणी हैं और ग्रामदेवी, ग्रामदेव तमोगुणी हैं, इनकी पूजामें अनेक जीवोंका बलि प्रदान होता है।

नोट २—वाल्मीकिजी लिखते हैं कि राज्याभिषेकका प्रिय संवाद पानेपर कौसल्याजी आनन्दमें मग्न हो गयीं, देवभवनमें बैठी देवाराधन करने लगीं, प्राणायामद्वारा जनार्दन पुरुषका ध्यान कर रही हैं। आँख खुलनेपर उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा कि 'पुण्डरीकाक्षभगवान्‌की मेरी आराधना सफल हुई'। यथा—'**वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम्॥' ''''''श्रुत्वा पुष्ये च पुत्रस्य यौवराज्येऽभिषेचनम्। प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम्॥ ''''अमोघं बत मे क्षान्तं पुरुषे पुष्करेक्षणे।**' (सर्ग ४। ३०, ३३, ४१)

अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि श्रीरामजीके अर्थ-सिद्धि-निमित्त कौसल्याजीने लक्ष्मीजीकी पूजा की और विघ्ननिवारणहेतु दुर्गाकी पूजा की। यथा—'**लक्ष्मीं पर्यचरद्देवीं रामस्यार्थप्रसिद्धये। ''''इति व्याकुलचित्ता सा दुर्गां देवीमपूजयत्॥**' (२। २। ४२-४३)

वे० भूषणजी—'**बलिः पूजोपहारे च**' प्रसिद्ध धातु है और बलिका अर्थ विश्वकोषमें इस तरह लिखा है—'**बल्यते दीयते इति बल्-दाने सर्गधातुभ्यो इन् उण्।**' (४। १। १३) **इतीन्।** १ राजकर। २ उपहार भेंट। ३ पूजाकी सामग्री, वह सामग्री जिससे देवताओंको पूजा जाता है। किसी देवताकी प्रधान पूजनयोग्य सामग्री, जैसे सूर्यको गुणभेदन, चन्द्रमाको घृत-दुग्ध, मंगलको पावक (जाउरि), बुधको क्षीरान्न, बृहस्पतिको दध्योदन, शुक्रको घृतोदन, शनिको खिचड़ी, शिवको अक्षत, इन्द्रको अपूप (मालपुआ) और विष्णुको हविष्यान्न इत्यादि।

रहस्य ग्रन्थोंमें अयोध्याके ग्रामदेव विष्णु बतलाये गये हैं, यथा—'**तस्मात्पश्चिमदिग्भागे नाम्ना विष्णुर्हरिः स्मृतः। देवो दृष्टप्रभावोऽसौ प्राधान्येन वसत्यपि॥**' (रुद्रयामल अ० मा० १४। ७४) अत: उनके लिये हविष्यान्नका ही ग्रहण हो सकता है। यथा—'**यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।**' (यजु: ३१। १४) '**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥**' (यजु: ३१। १४) धानकी खील और दुग्ध नागपूजाकी सामग्री है। अयोध्याकी ग्रामदेवी लक्ष्मीजी हैं, जिनकी पूजन-सामग्री प्रधानतया रोरी, कमलपुष्प, तिल और गुड़ आदि हैं। श्रीगोस्वामीजी तथा श्रीसूरदासजीने उपर्युक्त अर्थोंमें ही *'बलि'* शब्दका प्रयोग किया है।

टिप्पणी—४ *'जेहि बिधि होइ''''''सो बरदानू'* इति। (क) जब श्रीरामजी ब्याह करके घर आये, तब रानीने वरदान माँगा था, यथा—*'देव पितर पूजे बिधि नीकी। ''''सबहि बंदि माँगहिं बरदाना। भाइन्ह सहित राम कल्याना॥'* (१। ३५१। १-२) उस समय देवताओंने आशीर्वाद भी दिया था, यथा—*'अंतरहित सुर आसिष देहीं। मुदित मातु अंचल भरि लेहीं॥'* (१। ३५१। ३) और यहाँ विशेष उत्कण्ठा और दीनतापूर्वक वरदान माँगनेपर भी कि *'जेहि बिधि होइ राम कल्यानू। देहु दया करि सो बरदानू॥'* देवता वर नहीं दे रहे हैं, क्योंकि यह कार्य (राज्याभिषेक-उत्सव) उनके प्रतिकूल है, इससे वे सब प्रतिकूल हो रहे हैं, यथा—*'सकल कहहिं कब होइहि काली। बिघन मनावहिं देव कुचाली॥ तिन्हहि सोहाइ न अवध बधावा।'* (११। ६-७) पुन: [(ख) *'राम कल्यानू'*—कौसल्यामाता राज्याभिषेकको ही कल्याण समझ रही हैं, इसीसे वे ऐसा वर माँगती हैं। राज्याभिषेक हो ऐसा वे नहीं कहतीं। यह भी हरि-इच्छासे] श्रीरामजीका कल्याण तो पृथ्वीका भार उतारनेसे ही है, अत: देवता कैसे कहें कि इस समय श्रीरामजीका राज्याभिषेक हो इसी कारण राजाको विप्र, साधु और सुर आशीर्वाद नहीं देते और न रानीको ग्रामदेवी आशीर्वाद दें। (ग) रानियोंका प्रसंग *'मंगल कलस सजन सब लागीं।'* (८। २) पर छोड़कर श्रीकौसल्याजी और श्रीसुमित्राजी-का कृत्य वर्णन करने लगे थे, अब पुन: उसी प्रसंगसे उठाते हैं, मंगल सजाती हैं, मंगल गाती हैं। (घ) *'गावहिं मंगल कोकिल बयनीं। '''''* इति। स्त्रियाँ जब देवीपूजन करने जाती हैं तब देवीके गीत गाती हैं। यहाँ रानी ग्रामदेवीकी पूजा करती हैं, इसीसे स्त्रियोंका गाना लिखा। *'गावहिं मंगल'* से गानकी शोभा, *'कोकिल बयनीं'* से स्वरकी शोभा और *'बिधुबदनीं मृग सावक नयनीं'* से रूपकी शोभा कही। देवीके मन्दिरमें सब मुँह खोले बैठ गान कर रही हैं, इसीसे सर्वांगको छोड़कर केवल मुख और नेत्रका वर्णन किया।

(बालकाण्डमें *'मंगल मुदित सुमित्रा साजे।'* (३४६। ३) से लेकर *'मंगल सकल सजहिं सब रानी। रचीं आरती बहुत बिधाना।'* (३४६। ८) तक मंगल साजका सजना कहकर वहाँ भी मंगल गान करना कहा है—*'मुदित करहिं कल मंगल गाना।'* पर वहाँ स्त्रियोंको *'बिधुबदनीं' 'मृग सावक नयनीं'* विशेषण नहीं दिये गये हैं। इससे जनाया कि वहाँ उनका स्वर सुनायी देता था, मुँह और नेत्र दिखायी नहीं देते थे, घूँघटसे ढके हुए थे।)

दो०—राम राज अभिषेक सुनि हिय हरषे नर नारि।
लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि॥ ८॥

शब्दार्थ—**अनुकूल**=म्वाफिक, दहिने, सहायक, प्रसन्न।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीका राज्याभिषेक सुनकर (नगरके) स्त्री-पुरुष हृदयमें हर्षित हुए। विधाताको अपने अनुकूल समझकर सब-के-सब सुन्दर मंगल सजाने लगे॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम रनवासमें खबर पहुँची, इसीसे पहले रनवासका मंगल वर्णन किया। पीछे नगरमें समाचार पहुँचा तब पुर-नर-नारी मंगल सजने लगे। रामराज्याभिषेककी तैयारीमें किसीको कोई शकुन नहीं हो रहे हैं और न देवता ही पुष्पोंकी वृष्टि करते हैं; क्योंकि यह कार्य सिद्ध होनेवाला नहीं है। राजा और रानियोंका कृत्य ऊपर कह चुके। राजाका कृत्य, यथा—*'बिप्र साधु सुर पूजत राजा। करत रामहित मंगल काजा॥'* (इसे कहकर अवधभरमें बधावोंका बजाना लिखा था। फिर श्रीसीतारामजीको मंगल शकुनका होना कहा, तत्पश्चात् रनवासका मंगल सजना कहा।) *'प्रेम पुलकि तन मन अनुरागीं। मंगल कलस सजन सब लागीं॥'*····' रानियोंका कृत्य है। अब पुरवासियोंका कृत्य कहते हैं—*'लगे सुमंगल सजन सब'*····'। *'सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥'* (७। ३) उपक्रम है और *'राम राज अभिषेक सुनि'*·····' उपसंहार है। [प्र० सं० में हमने लिखा था कि *'सुनत राम अभिषेक सुहावा।*···' पर जो प्रसंग छोड़ा था, उसे यहाँ इस दोहेपर मिलाते हैं। (ख) पुरवासियोंने क्या सुमंगल सजाये? जो बालकाण्ड *'निज निज सुंदर सदन सँवारे।'* (३४४। ४) से *'बिबिध भाँति मंगल कलस गृह गृह रचे सँवारि।'* (३४४) तक कहा गया है, वही सब सुमंगल यहाँ समझना चाहिये।]

नोट—१ *'बिधि अनुकूल बिचारि'* इति। विधाता तो प्रतिकूल हो रहे हैं, पर इन सबके हृदयमें अभिषेककी पूर्णाभिलाषा तो थी ही और उसीकी खबर अब सुनी कि मुहूर्त भी निश्चित हो गया कि कल होगा, इससे उनका ऐसा अनुमान करना उचित ही था कि महेशजीको हम मनाते थे, उन्होंने हमारी सुन ली और राजाको इस कार्यकी प्रेरणा की, इससे विधाता अवश्य अनुकूल जान पड़ते हैं। यहाँ 'अनुमान प्रमाण अलंकार' है।

तब नरनाह बसिष्ठ बोलाये। रामधाम सिख देन पठाये॥ १॥
गुर आगमनु सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायेउ माथा॥ २॥
सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥ ३॥

शब्दार्थ—**अरघ**—(सं० अर्घ, अर्घ्य) जल, दूध, दही, कुशाग्र, सरसों, तंदुल और जलको मिलाकर देव, गुरु आदि पूज्य व्यक्तियोंको अर्पण करना यह षोडशोपचार पूजनमें एक विधि है। आजकल देवताओंके सामने जो जल गिरानेकी रीति है वह इसीकी बिगड़ी हुई रीति है। (१। ३१९। ८, १। ३२०। ८) देखिये।

अर्थ—तब राजाने वसिष्ठजीको बुलवाया और श्रीरामचन्द्रजीके महलमें शिक्षा देनेको भेजा॥ १॥ गुरुजीका आना सुनते ही श्रीरघुनाथजीने दरवाजेपर आकर गुरुके चरणोंमें मस्तक नवाया अर्थात् प्रणाम किया॥ २॥ आदर-पूर्वक अर्घ्य देकर उनको घरमें लाये और सोलहों प्रकारसे उनका पूजन कर उनका सत्कार किया॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'तब नरनाह'*·····' इति। (क) 'तब अर्थात् जब विप्र-साधु-सुर-पूजारूपी मंगल कार्य कर चुके।' *'नरनाह'* गुरुको बुलवाना और अपने कामके लिये भेजना अनुचित है, अतएव *'नरनाह'* शब्द देकर

इस अनौचित्यका समाधान किया। अर्थात् चक्रवर्ती महाराज हैं, सब मनुष्योंके स्वामी वा राजा हैं, अत: उनके लिये अनुचित नहीं। भक्तिसे एक बार गुरुजीके यहाँ हो आये ही हैं। [(ख) वसिष्ठजी इस कुलके इक्ष्वाकु महाराजके समयसे ही गुरु, मन्त्री और पुरोहित हैं। मन्त्रीका काम पड़ता है तब बुलाये जाते ही हैं, क्योंकि मन्त्रियोंसे राजसभामें ही सम्मति ली जाती है। मन्त्रीकी हैसियतसे बुलाना अयोग्य नहीं। ये पुरोहित भी हैं, यह स्वयं वसिष्ठजीने कहा है, यथा—*'उपरोहित्य कर्म अति मंदा। जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही। कहा लाभ आगे सुत तोही॥'* (७। ४८) पुरोहितका काम आये दिन पड़ा ही करता है, बिना बुलाये काम कैसे चल सकता है? पुरोहितकी हैसियतसे उनको बुलाना अयोग्य नहीं है। इसीसे वाल्मीकिजीने इस प्रसंगमें वसिष्ठजीको 'पुरोहित' विशेषण दिया है। यथा—'**पुरोहितं समाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत्।**' (२। ५। १) अर्थात् राजाने पुरोहित वसिष्ठको बुलाकर उनसे कहा। और गोस्वामीजीने तो *'गुरु'* विशेषण देकर भी इनका बुलाया जाना लिखा है, यथा—*'गुर बसिष्ठ कहँ गएउ हँकारा। आए द्विजन्ह सहित नृपद्वारा॥'* (१। १९३। ७) (यह रामजन्म-समयकी बात है। इस समय नान्दीमुख श्राद्धादि संस्कार कराना है जो पुरोहितका काम है।) इसी तरह नामकरणके समय भी बुला भेजना लिखा है, यथा—*'नामकरन कर अवसरु जानी। भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी॥'* (१। १९७। २)—यह भी पुरोहितका काम है। उसी हैसियतसे यहाँ बुलाया। अथवा, यह समझ लें कि राजाके पास धावन पहुँचा कि गुरु महाराज आ रहे हैं, यह सुनकर राजाने तुरत लानेको प्रतिष्ठित लोगोंको भेजा। पर यह भाव मेरी समझमें किसी ग्रन्थसे प्रमाणित नहीं है। पंजाबीजी लिखते हैं कि अत्यन्त सुहृदताके कारण बुलानेमें दोष नहीं है और बाबा हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि अहंकारपूर्वक बुला भेजनेमें दोष है। ☞ स्मरण रहे कि वसिष्ठजी इस कुलके सर्वेसर्वा हैं, उन्हींकी आज्ञासे सब कार्य होते हैं। यथा—'**वक्ता सर्वेषु कृत्येषु वसिष्ठो भगवानृषिः।**' (वाल्मी० १। ७०। १७) तब उनको बुलवा भेजना क्योंकर अनुचित है?]

नोट—१ *'रामधाम…'* इति। (क) *'राम धाम'* कनक-भवन है। वस्तुत: यह कैकेयीजीका महल था; जो उन्होंने श्रीसीताजीको मुँह-दिखायीकी रस्ममें दिया था। इस महलके बाहर तीन पौरियाँ वा परकोटे थे, चौथेमें यह भवन था। इसके भीतर अनेकों सतमहले भवन बने हुए थे। कैलासके समान आभायुक्त, स्वच्छ और ऊँचा था। इन्द्र और कुबेरके भवनोंके समान मनोहर, दीप्तिमान्, समृद्धिमान् और प्रखर तेजसे युक्त था। इसका वर्णन (वाल्मी० २। १५। ३०—४५) में है। (ख) *'सिख देन पठाये'*—गुरु वसिष्ठजीको ही भेजा; क्योंकि ये बड़े विनयशील, तपोधन, वेदज्ञोंमें श्रेष्ठ, मन्त्रवेत्ता तथा व्रतधारी हैं। और श्रीरामजीसे श्रीजानकीजीसहित मन्त्रपूर्वक उपवासका संकल्प कराना और संयमका उनको उपदेश देना तथा विधि बतलाना है। यह भाव (वाल्मी० २। ५। २—४) में इस प्रसंगमें आये हुए विशेषणोंसे निकलता है, यथा—'**गच्छोपवासं काकुत्स्थं कारयाद्य तपोधन।……' '।……वेदविदां वरः।……उपवासयितुं वीरं मन्त्रविन्मन्त्रकोविदम्।……' '।…… इत्युक्त्वा स तदा राममुपवासं यतव्रतः। मन्त्रवत्कारयामास वैदेह्या सहितं शुचिः॥**' (११) अतएव वसिष्ठजीको भेजा। ये गुरु और पुरोहित तो हैं ही। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीका मत है कि 'वसिष्ठजीको 'सिख' देनेके लिये भेजनेका आशय यही था कि कहीं श्रीरामजीकी ओरसे कोइ आपत्ति न खड़ी हो। चक्रवर्तीजी जानते थे कि *'लोभ न रामहिं राजकर बहुत भरतपर प्रीति॥'* (३१) (ग) *'सिख'*—विधिपूर्वक उपवास और शुद्धता तथा इन्द्रियजयपूर्वक पृथ्वीपर शयनका उपदेश, यथा—'**अद्य त्वं सीतया सार्धमुपवासं यथाविधि॥ कृत्वा शुचिर्भूमिशायी भव राम जितेन्द्रियः।**' (अ० रा० २।२। ३४-३५) श्रीरामचन्द्रजीने पत्नीसहित स्नान कर हविका पात्र लेकर घीकी आहुति दे-देकर हवन किया। बचे हुए हविषका भोजन किया और मनोरथसिद्धिकी प्रार्थना की। मौनी और पवित्र-चित्त होकर वे यज्ञमण्डपमें श्रीजानकीजीके साथ सोये। पहर रात रहे उठे। प्रात: संध्या करके मधुसूदनकी स्तुति की और ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया। (वाल्मी० २। ६। १—७) में दिये हुए इस नियमसे अनुमान होता है कि यही शिक्षा दी गयी, यही संयमकी विधि बतानेके लिये गुरुजी भेजे गये थे।

टिप्पणी—२ *'गुर आगमनु सुनत…'* इति। (क) *'सुनत'* से सूचित हुआ कि किसी द्वारपालादिने पूर्व ही आकर सूचना दी कि श्रीगुरुजी आ रहे हैं। (ख) *'रघुनाथा द्वार आइ'* से जनाया कि श्रीरामजी अकेले ही अगवानीके लिये आये हैं। सीताजी रानी हैं, अतः वे द्वारपर न जा सकीं, वे महलके भीतर ही प्रणाम करेंगी। (ग) 'रघुनाथ' का भाव कि रघुकुल (सभी रघुवंशी) धर्मात्मा हैं और ये तो उन सबोंके नाथ हैं इसीसे इन्होंने गुरुका बड़ा आदर किया। गुरुको आगे जाकर मिले और प्रणाम किया, यही आदर है। [ये रघुकुलके नाथ हैं, इनका अवतार ही धर्मरक्षाहेतु हुआ है, तब ये क्यों न धर्मका पालन करेंगे। अतः द्वारपर आकर प्रणाम किया, इससे उनका शील-स्वभाव भी दिखाया। (प्र०सं०)] यथा—*'सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा। धरम धुरंधर रघुकुल नाथा॥', 'सील सिंधु सुनि गुरु आगवनू। सिय समीप राखे रिपुदवनू॥ चले सबेग रामु तेहि काला। धीर धरम धुर दीनदयाला॥ गुरहि देखि सानुज अनुरागे। दंड प्रनाम करन प्रभु लागे॥'* (२४३। १—३) तथा यहाँ *'द्वार…'*।

नोट—२ *'सादर अरघ देइ घर आने।…'* इति। (क) *'सादर'* से 'पाद्य' भी सूचित कर दिया अर्थात् पाँवड़े देते हुए। पुनः जो वाल्मीकिजीने लिखा है कि हाथ-से-हाथ धरकर स्वयं उन्हें रथसे उतारा वह भी 'सादर' में गृहीत है। यथा—**'अभ्येत्य त्वरमाणोऽथ रथाभ्याशं मनीषिणः। ततोऽवतारयामास परिगृह्य रथात्स्वयम्॥'** (२। ५। ७) (ख) गुरु साक्षात् भगवान् हैं,अतएव जैसे भगवान्‌का षोडशोपचार पूजन होता है वैसे ही गुरुजीकी पूजा उन्होंने की। षोडशोपचार, यथा—**'आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्। मधुपर्काचमनस्नानं वस्त्रं चाभरणानि च। सुगन्धं सुमनो धूपं दीपं नैवेद्यवन्दनम्॥'** (विशेष १। ४५। ६ *'करि पूजा मुनि सुजस बखानी'* में देखिये)। अर्थात् १६ अंग ये हैं—स्वागत (आवाहन), अर्घ्य, पाद्य, आसन, आचमन, मधुपर्क, स्नान, वस्त्राभरण, यज्ञोपवीत, गन्ध, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, परिक्रमा और वन्दना।

टिप्पणी—३ (क) गुरुजीकी आज्ञा हुई थी कि *'पूजहु गनपति गुर कुलदेवा।'* (६—८) इनमेंसे साधु और सुरकी पूजा राजाने की और ग्रामदेवी, देवता और नागोंकी पूजा रानीने की। रही गुरुजीकी पूजा, सो उसकी पूर्ति अब श्रीरामजीने कर दी। (ख) जब गुरुजी महलके भीतर आये, तब श्रीसीताजीको चाहिये था कि गुरुजीको प्रणाम करतीं, किंतु उनका प्रणाम करना यहाँ नहीं पाया जाता। इससे ज्ञात होता है कि श्रीरामजी गुरुजीको अर्घ्य देकर घर ले आते ही उनका षोडशोपचार पूजन करने लगे, इससे उनको प्रणाम करनेका मौका ही न मिला, कारण कि पूजनके बीचमें प्रणाम करनेकी विधि नहीं है। पूजाके अन्तमें ही प्रणामकी विधि है, अतएव अन्तमें जब श्रीरामजीने उनको प्रणाम किया तब साथ ही, सीताजीने भी किया, जैसा आगे कहते हैं—*'गहे चरन सिय सहित बहोरी'*।

नोट ३— यह भी हो सकता है कि वे पूजा-सामग्रीमें लगी रहीं; उससे खाली हुईं तब प्रणाम किया। पुनः *'बहोरी'* पदसे यह भी भाव निकलता है कि सीताजी प्रथम ही एक बार रामसहित प्रणाम कर चुकी थीं, अब फिर किया। पंजाबीजी लिखते हैं कि सीतासहित पूजा की और अन्तमें दोनोंने साथ-साथ चरणस्पर्श किये।

गहे चरन सिय सहित बहोरी। बोले रामु कमलकर जोरी॥ ४॥
सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगलमूल अमंगल दमनू॥ ५॥
तदपि उचित जन बोलि सप्रीती। पठइअ काज नाथ असि नीती॥ ६॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयउ पुनीत आजु यह गेहू॥ ७॥
आयसु होइ सो करौं गोसाईं। सेवकु लहइ स्वामि सेवकाईं॥ ८॥

शब्दार्थ—**बहोरी**=तत्पश्चात्, उसके बाद, पुनः। **सदन**=घर। **अमंगल**=अनिष्ट, अकल्याण। **दमनू**=दमन अर्थात् दबाने, नष्ट वा दूर करनेवाला। **तदपि**=तो भी, तथापि। **जन**=दास, सेवक। **गेह**=घर।

अर्थ—फिर श्रीसीतासहित श्रीरामचन्द्रजीने उनके चरण पकड़े अर्थात् उनको प्रणाम किया और कमल-समान दोनों हाथोंको जोड़कर बोले॥ ४॥ (यद्यपि) सेवकके घर स्वामीका आना मंगलोंका मूल और अमंगलोंका नाश करनेवाला है तो भी, हे नाथ! उचित था कि प्रेमपूर्वक दासको कार्यके लिये बुला भेजते। ऐसी ही नीति है॥ ५-६॥ हे प्रभो! आपने अपनी प्रभुता छोड़कर मेरे ऊपर प्रेम किया। (दिखलाया) आज यह घर पवित्र हो गया॥ ७॥ हे गुसाईं! जो आज्ञा हो मैं उसे करूँ। स्वामीकी सेवासे ही सेवककी शोभा है (यह सेवा इस सेवकको मिले)॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) ***'गहे चरन सिय सहित बहोरी।'*** इति ***'बहोरी'*** अर्थात् षोडशोपचारके अन्तमें। पुनः बहोरी अर्थात् दूसरी बार फिर; क्योंकि एक बार द्वारपर प्रणाम कर चुके हैं, यथा—***'द्वार आइ पद नायउ माथा'*** अब पूजाके अन्तमें प्रणाम किया (क्योंकि यह षोडशोपचार पूजनका अंग है)। (ख) ***'कमल कर जोरी'*** अर्थात् विनय-प्रार्थनापूर्वक। (ग) ***'सेवक सदन…'*** इति। स्वामीका आगमन मंगलका मूल है, अर्थात् स्वामीके साथ ही पीछे-पीछे समस्त मंगल भी सेवकके सदनमें आ जाते हैं, यथा—***'सो सुख सुजस सुलभ मोहि स्वामी। सब बिधि तव दरसन अनुगामी॥'*** (१। ३४। ३। ५) (श्रीजनकवचन विश्वामित्रप्रति)। महात्माके पीछे-पीछे सब मंगल चलते हैं। प्रथम तो स्वामीको सेवकपर स्नेह हुआ। जब उन्होंने स्नेह किया तब सेवकके घर आये। जब वे घर आये तब (घर) मंगलका मूल हुआ। मंगलका मूल होनेसे अमंगलका नाश हुआ। यहाँ 'कारणमाला अलंकार' है।

टिप्पणी—२ ***'तदपि उचित जन…'*** इति। (क) ***'उचित'*** का भाव कि यह अनुचित है कि कार्यके लिये आज्ञा देनेको स्वामी सेवकके घर जाय, सेवकको बुलाकर आज्ञा देना उचित है। सेवकका मंगल तो दोनों प्रकार है चाहे स्वामी उचित करें वा अनुचित। (ख) सप्रेम बुला भेजनेका भाव यह है कि शिष्यपर गुरुका अधिकार है कि डाँटकर बुलावे, परंतु जब गुरु प्रीतिसे बुलाते हैं तब तो गुरुकी प्रसन्नता और कृपामें कोई कसर नहीं समझी जा सकती। शिष्यके लिये इतना ही बहुत है (गौड़जी)। (ग) ***'बोलि पठइअ काज'***—भाव कि स्वामीको सेवकके घर उसे आज्ञा देनेके लिये न जाना चाहिये, किंतु उसे बुलवाकर आज्ञा देनी चाहिये। (घ) ***'नाथ असि नीती'*** इति। ऐसी नीति है। भाव कि मैं सेवक हूँ, आप स्वामी हैं। सेवकको स्वामीके घर जाना चाहिये। पर आपने मुझपर स्नेह या उस स्नेहके कारण आपने नीतिकी मर्यादा त्याग दी, यह बड़ी कृपा की है।

टिप्पणी—३ ***'प्रभुता तजि…'*** इति। (क) अपना बड़प्पन त्यागकर सेवकपर स्नेह किया। भाव कि प्रभुता स्वामीको सेवकके घर जानेसे रोकती है, मनमें यह विचार होता है कि हम स्वामी होकर सेवकके घर कैसे जायँ, उस खयालको छोड़कर आपने मुझपर कृपा की (अर्थात् यह विचार न करके कि राम आपका शिष्य है, आपने वात्सल्य भावको प्रधान रखा और शिष्यके घर पधारकर उसको पवित्र किया। 'प्रभुता—वसिष्ठजीकी प्रभुताका क्या कहना! क्योंकि वे अखिलेश्वरके भी गुरु हैं और इक्ष्वाकुकुलके तो आदिसे गुरु हैं ही। उनके सम्बन्धमें देवताओंके वचन हैं कि ***'बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं।'*** (२४३।८) और श्रीभरतजीने भी कहा है ***'सो गोसाइँ बिधि गति जेहिं छेकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी॥'*** (२५५। ८) [(ख)—यहाँपर वसिष्ठजीकी निषादराजसे भेंटका मिलान कीजिये। यथा—***'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥ रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥ रघुपति भगति सुमंगलमूला। नभ सराहिं सुर बरषहिं फूला॥ एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥'*** (२४३। ४। ८) यही प्रभुताका भाव है अर्थात् कहाँ आप ऐसे बड़े और कहाँ हमलोग। इसी प्रकार भरत-निषाद-मिलनपर सुरगण प्रेमकी प्रीतिकी प्रशंसा करते थे, यथा—***'लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती।'*** (१९४।१) स्नेह प्रेममें मर्यादा, प्रभुत्व इत्यादिका उल्लंघन तो अवश्य ही होता है, बिना इसके मनमें प्रेम कहाँ?]। (ग)—***'भयउ पुनीत आजु…'*** आज यह घर पवित्र हुआ। इससे सूचित हुआ कि गुरु वसिष्ठजी इसके पूर्व इस घरमें नहीं आये थे, आज ही प्रथम-प्रथम आये हैं। यह श्रीरामजानकीजीका एकान्त स्थान

है यह समझकर न आते थे (आज राजाके भेजनेसे आये और श्रीरामजी जब महलमें ले गये तभी गये)। *'यह गेहू'*—भाव कि आपने और-और घरोंको जा-जाकर पवित्र किया, आज यह घर भी पवित्र हुआ।

४—*'आयसु होइ सो करौं'''* इति। भाव यह कि मैं सेवक हूँ और आप स्वामी हैं, आपकी सेवा मुझे मिलनी चाहिये। आज्ञाके समान दूसरी सेवा नहीं है, अतः कहा कि *'आयसु होइ सो करौं'*। स्वामीकी आज्ञा सेवकके लिये प्रसाद है, इसीसे सेवा माँगते हैं, यथा—*'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावै देवा॥'* (३०१।४) प्रथम *'गोसाईं'* सम्बोधन देकर फिर *'स्वामी'* कहा, इससे दोनों शब्दोंको पर्याय जनाया। (*'लहना'* शब्दके दो अर्थ होते हैं 'पाना, प्राप्त करना और शोभा पाना'। यहाँ दोनों अर्थोंमें इसका प्रयोग हुआ है। आज्ञा दीजिये, मैं तुरत उसका पालन करूँ, इसी बहाने आज सेवा मिले। सेवासे ही सेवककी शोभा है। स्वामीकी सेवा करनेसे सेवक शोभाको प्राप्त होता है, उसे यश और धर्मादि फलोंकी प्राप्ति होती है)।

नोट—मयंककार कहते हैं कि 'ये वचन बड़े गूढ़ हैं। (१)—इनका तात्पर्य है कि आपका मेरे भवनमें आना मंगलमूल और अमंगलनाशक है तथापि हे नाथ! मेरे लिये यही उचित है कि आप बुलाकर प्रीतिपूर्वक जो कार्य है उसके लिये मुझे भेजिये। इसमें यह ध्वनि निकलती है कि अन्यत्र भेजिये। वसिष्ठजीका आगमन वन-गमनका कारण है जो पृथ्वी, विप्र और देवतादि सबके लिये मंगलप्रद है, वह मंगल इनके आनेसे हुआ और राज्याभिषेकरूपी अमंगलका नाश हुआ। वह राजाके लिये अमंगल था; क्योंकि राज्य देनेसे राजाका धर्म जाता। पुनः, यदि रामजी राजशासनमें लग जाते तो भूमि-भार न उतरता। यह अमंगलनाश हुआ। पुनः *'काजको पठाइये'* इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रीरामचन्द्रजी वन जानेको कहते हैं, जो महान् कार्य है। अन्य अर्थ ठीक नहीं; क्योंकि अन्यथा गुरुका आगमन मंगल-मूल तो होता नहीं।' (२) *'आयसु होइ''''* में यह ध्वनि है कि पृथ्वीपर भार है, भरत भी नहीं हैं और राज छोटा है, मैं वन जाकर रावणको मारकर सुग्रीव-विभीषणको राजा बनाकर तब अपने राजपर विराजूँ। यही आज्ञा दीजिये जिससे मैं सेवकाईको प्राप्त होऊँ।......*'जौं बिधि निबाहइ''''* से भी यह भाव पुष्ट होता है। गुरु कहते हैं कि कार्यमें संदेह है; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजीने गुरुको वन-गमन सूचित कर दिया था।

अ० दी० कार कहते हैं कि गूढ़ आशय यह है कि आज तो यह भवन पवित्र हुआ; किंतु कल सबेरे ही यह भयानक हो जायगा अर्थात् वनयात्रा होगी। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने गुरुजीको अपनी वनयात्रा जनायी, यह ऐश्वर्य है। (अ० दी० च०)

टिप्पणी—५ इस चौपाईमें परस्पर अन्योन्य प्रेम दिखाया। *'प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू'* यह गुरुकी प्रीति सेवकपर और *'सेवक लहइ स्वामि सेवकाई'* यह सेवककी प्रीति गुरुमें दिखायी।

दो०—सुनि सनेह साने बचन मुनि रघुबरहि प्रसंस।
राम कस न तुम्ह कहहु अस हंस बंस अवतंस॥ ९॥

बरनि राम गुन सील सुभाऊ। बोले प्रेम पुलकि मुनिराऊ॥ १॥

शब्दार्थ—**प्रसंस**=प्रशंसा करने लगे। **हंस**=सूर्य। **अवतंस**=भूषण। **साने**=युक्त, मय, पूर्ण।

अर्थ—प्रेममें सने हुए वचनोंको सुनकर वसिष्ठमुनि रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीकी बड़ाई करने लगे—'हे राम, तुम ऐसा क्यों न कहो! तुम तो सूर्यवंशके भूषण हो॥ ९॥ रामजीके गुण, शील और स्वभावका वर्णनकर मुनिराज प्रेमसे प्रफुल्लित हो बोले॥ १॥

टिप्पणी—१ *'सुनि सनेह साने बचन''''* इति। (क) श्रीरामजीके सब वचन स्नेहयुक्त हैं, अतः *'सनेह साने'* कहा। (स्नेहको पाग वा जल जनाया जिसमें साने गये)। वचन सुनकर वसिष्ठजीने प्रशंसा की, जैसे परशुरामजीने की थी, यथा—*'जयति बचन रचना अति नागर।'* [(ख) *'कस न तुम्ह कहहु अस'*—अर्थात् ये वचन आपके योग्य ही हैं। इन शब्दोंमें अ० रा० के '**इदानीं भाषसे यत्त्वं लोकानामुपदेशकृत्**।' (२।२।२३) (अर्थात् गुरुके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, संसारको यह उपदेश करनेके लिये ही आपने ऐसे

वचन कहे हैं) का भाव भी सूचित कर दिया।] (ग) *'हंस बंस अवतंस'*—भाव कि सूर्यवंश धर्मात्मा है, आप उसके भूषण हैं। [भाव कि उत्तम कुलवाले उत्तमाचरणके होते ही हैं। आप सूर्यवंशमें अवतरित हुए जो धर्म, सत्य, शील, विनय आदि गुणोंसे युक्त हैं। इसमें इक्ष्वाकु, रघु आदि महात्मा राजा हुए और आप तो उन सबोंके भूषण हैं, अत: ऐसा प्रेमयुक्त विनम्र भाषण आपके योग्य ही है। कारणके समान कार्यका वर्णन 'दूसरा सम अलंकार' है। (प्र० सं०)]

टिप्पणी—२ *'बरनि राम गुन सील······'* इति। (क) प्रथम श्रीरामजीका स्नेह कहा, अब शील कहते हैं। दोनोंको कहनेका भाव कि श्रीरामजी शील और स्नेह दोनोंको निबाहते हैं, यथा—***'को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनहारा॥'*** गुरुको आगे चलकर मिले और प्रणाम किया, यह शील है, यथा—***'सील सिंधु सुनि गुरु आगवनू।······चले सबेग राम तेहि काला॥'*** (२४३। १-२) स्नेह तो सभी वचनोंमें भरा हुआ है। स्वभावका वर्णन, यथा—***'सील सकुचि सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥'*** (१८३। ५), ***'करुनामय मृदु राम सुभाऊ॥'*** (४०। ३) इत्यादि। (ख) *'बोले प्रेम पुलकि····'* इति। रामराज्यकी वार्ता करनेमें मुनिको हर्ष होता है, यथा—***'सुनि मुनि दसरथ बचन सुहाये। मंगल मोद मूल मन भाये॥ हरषि मुनीस कहेउ मृदु बानी। आनहु सकल सुतीरथ पानी॥'*** (२। ४। ६, २। ६। १) तथा यहाँ [***'प्रेम पुलकि'*** से विरह सूचित किया। (खर्रा)]

भूप सजेउ अभिषेक समाजू। चाहत देन तुम्हहि जुबराजू॥ २॥
राम करहु सब संजम आजू। जौं बिधि कुसल निबाहै काजू॥ ३॥

शब्दार्थ—**संजम**=(संयम—सम्=अच्छी तरह+यम्=रोकना) ब्रह्मचर्य, नेम, व्रत इत्यादिका पालन जो ऐसे अवसरपर नीतिमें कर्तव्य कहे गये हैं। संयम दस माने गये हैं, यथा—**'अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्। क्षमा धृतिर्मिताहारः शुचिश्च संयमा दश।'**—विशेष (१। ३७। १४) में देखिये। **जौं**=जो, यदि, जिसमें।

अर्थ—राजाने तिलकका सामान सजाया (किया) है, तुमको युवराज्य देना चाहते हैं॥ २॥ राम! आज सब प्रकारका संयम करो जिससे [वा यदि] विधाता कुशलसे कार्य निबाह दे॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'भूप सजेउ···'* इससे सूचित किया कि इसमें हमारा सम्मत नहीं है। हमसे उन्होंने सामग्री जुटानेकी आज्ञा माँगी, वह हमने दी। [राजाने मुझसे अपनी रुचि कही, मैंने उसका अनुमोदन मात्र किया]। ***'सब संजम'*** से जनाया कि संयम बहुत हैं। (क्या संयम श्रीरामजीने किये यह पूर्व ***'राम धाम सिख देन पठाए।'*** (९। १) में लिखा गया है। वहीं देखिये)। (ख) राजा राज्य देना चाहते हैं, इसमें दिनका नियम न हुआ कि कब देना चाहते हैं, अत: ***'करहु सब संजम आजू'*** से दिन निश्चित कर दिया। अर्थात् आज संयम करो, कल सबेरे युवराज्य देना चाहते हैं। कल मुहूर्त है। (ग) गुरुजीने राजाकी अभिलाषा सुना दी, अपनी आज्ञा न कही, प्रत्युत ***'जौं'*** शब्द देकर राजाकी अभिलाषाकी सिद्धिमें संदेह जनाया। वसिष्ठजी भावी लीलाको जानते हैं, इसीसे उन्होंने ऐसा कहा। [(घ) ***'जौं बिधि···'*** में उक्ताक्षेपकी ध्वनि है। संदिग्ध गुणीभूत व्यंग है कि संयम कीजिये, कदाचित् कार्य पूरा होगा कि नहीं। (वीर) कोई-कोई ***'जौं'*** का अर्थ 'जिससे' करते हैं। अ० रा० में मुनिने कहा है कि मैं जानता हूँ कि आपने देवकार्य सिद्ध करने, भक्तोंकी भक्ति सफल करने और रावणवधार्थ अवतार लिया है। तथापि देवकार्य सिद्धिके लिये मैं इस गुप्त रहस्यको प्रकट नहीं करता, 'तुम शिष्य हो मैं गुरु हूँ' इसी सम्बन्धके अनुकूल मैं व्यवहार करता हूँ। (२। २। २४-२५)। ***'जौं'*** में ध्वनिसे यह सब आ जाता है।]

गुरु सिख देइ राय पहिं गयऊ। राम हृदय अस बिसमउ भयऊ॥ ४॥
जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥ ५॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भयउ* उछाहा॥ ६॥
बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥ ७॥

* 'भये' (भागवतदास, काशीजी)। भए—गी० प्रे०।

शब्दार्थ—**बिसमउ**=आश्चर्य—इस शब्दमें शंका, भय और आश्चर्य तीनों मिले होते हैं। **केलि**=खेल। **सयन**=शयन, सोना। **लरिकाई**=लड़कपनके कृत्य। **करनबेध** (कर्णवेध)=कनछेदन संस्कार। **उपबीत**=जनेऊ, यज्ञोपवीत।

अर्थ—(उधर तो) शिक्षा देकर गुरुके पास गये। (इधर) श्रीरामचन्द्रजीके मनमें ऐसा विस्मय हुआ— ॥ ४॥ 'हम सब भाई एक साथ पैदा हुए। खाना, सोना और लड़कपनके खेल, कनछेदन, यज्ञोपवीत, ब्याह सभी उत्सव साथ-साथ हुए॥ ५-६॥ परन्तु इस निर्मल (रघु) वंशमें यही एक बड़ी अनुचित बात हो रही है कि अन्य भाइयोंको छोड़कर बड़ेहीका तिलक होता है॥ ७॥

☞ 'य' और 'व' के स्थानपर 'उ' का प्रयोग जहाँ-तहाँ बहुत किया गया है। जैसे—'हृदउ', 'बिसमउ'; प्रभाउ (प्रभाव), सुभाउ, राउ इत्यादि। इसी प्रकार क्रियाओंमें उकारान्त पाया जाता है जो विधि-क्रियाका रूप है पर उससे इंगितबोधक क्रियाका अर्थ लिया जाता है। जैसे—'देउ'=देवें! 'हरउ'=हरें!

टिप्पणी—१ (क) *'गुरु सिख देइ······'* इति। राजाके पास गये, यह कहनेको कि हम श्रीरामजीको संयम करनेका उपदेश कर आये। (यथा—'**वसिष्ठोऽपि नृपं गत्वा कृतं सर्वं न्यवेदयत्।**' (अ० रा० २। २। ३९) (ख) *'जनमे एक संग······उछाहा'* इति। जन्मसे लेकर विवाहतक सब भाइयोंके सब काम एक साथ हुए। शरीरके व्यवहार और संस्कार दो पृथक्-पृथक् बातें हैं, इसीसे इनको पृथक्-पृथक् वर्णन किया। जन्म, भोजन, शयन, केलि, लरिकाई—ये शरीरके व्यवहार हैं; अत: इनको एक पंक्तिमें रखा। कर्णवेध, उपवीत और विवाह संस्कार हैं, अत: इनको दूसरी पंक्तिमें रखा। *'सब भए उछाहा'*—'सब' में चूड़ाकरण आदि जो-जो कहनेसे बच गये उनका ग्रहण भी हो गया। (ग) *'जनमे एक संग'* अर्थात् अवस्थामें भी बहुत तारतम्य नहीं और न व्यवहारमें ही; भोजन, शयन, केलि यावत् लड़कपन बीता तथा सभी उत्सवादि संग-संग हुए (बाबा हरिहरप्रसादजी शंका उठाकर कि 'जन्मकी तिथि और वार तो भिन्न-भिन्न हैं तब एक संग कैसे कहा?' उसका समाधान यह करते हैं कि पायसके विभाग राजाने एक साथ किये थे इसीसे एक संग कहा। हम बालकाण्डमें बता आये हैं कि तिथि और वारमें मतभेद है। मानसके मतसे एक ही दिन जन्म होना पाया जाता है)।

टिप्पणी—२ *'बिमल बंस यह अनुचित एकू।····'* इति। (क) *'बिमल'* का भाव कि इस वंशके सभी कार्य उचित हैं, इससे इसका यश निर्मल है। आजतक जो कुछ भी हुआ वह उचित ही हुआ। *'एकू'* का भाव कि अबतक कोई भी अयोग्य कार्य वंशमें नहीं हुए, यही एक अनुचित कार्य हो रहा हैं। यह वंशको कलंकित करनेवाला है, यह कार्य निर्मल यशमें धब्बा लगा देगा, उसे मलिन वा दूषित कर देगा (ख) ***'बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू'***—बन्धुको छोड़कर बड़ेका अभिषेक हो यही अनुचित है। भाव कि हम बड़े हैं, यह बात हमारे लिये भी अनुचित है कि बड़े होनेसे हम ही राज्य ले लें और वंशके लिये भी अनुचित है, ऐसी बात वंशमें नहीं हुई। (ग) वसिष्ठजीने कहा था कि आप 'हंस-वंश-अवतंस' हैं, तब आप ऐसा क्यों न कहें। सूर्यवंशके भूषण हैं, अतएव निर्मल वंशमें अनुचित न तो स्वयं करेंगे और न होने ही देंगे। (प्रभु सोचते हैं कि भरतजी और शत्रुघ्नजी नहीं हैं, उनको खबर भी नहीं दी गयी, उनके बिना हमें राज्य लेना उचित नहीं, इसमें कुलकी निन्दा होगी।) क्योंकि भरतजीको खबरतक नहीं दी गयी।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि रामचन्द्रजीके कथनका भाव यह है कि यद्यपि वंशरीति है कि बड़ेको राज्य मिले तो भी भाइयोंसहित होना चाहिये अर्थात् भरतको नायबत, लक्ष्मणका कोषाध्यक्ष और शत्रुघ्नको जंडैली (सेनाकी सरदारी) इत्यादि संग ही होती तो वंशकी रीति सुहावनी रहती। दो भाई नहीं हैं, उनके सूनेमें हम राज्य न ग्रहण करेंगे।

नोट—२ श्रीपार्वतीजीके *'राज तजा सो दूषन काही'* इस प्रश्नका यहाँ सूक्ष्म रीतिसे उत्तर है। इसीसे राज्य स्वीकार न किया गया। देवमाया और उनका विघ्न सबका मूल यही अर्धाली है—***'बिमल बंस यह अनुचित एकू····।'*** इसी दूषणसे राज्यका त्याग किया।

शंका—*'बिमल बंस'* कहकर वंशको निष्कलंक बताना और फिर उसमें 'एक अनुचित' भी कहना, दोनों बातोंका क्या समन्वय है? यदि ज्येष्ठ पुत्रको राज्याभिषेककी यह कुलपरम्परा अनुचित थी तो स्वयं मर्यादापुरुषोत्तमने ही इसे क्यों स्वीकार किया?

समाधान—भगवान् सूर्यके पुत्र श्राद्धदेव वैवस्वत मनु संसारके सभी क्षत्रियोंके आदिपुरुष हैं। उन्होंने धर्मशास्त्रका भी प्रवचन किया है जो मानव-धर्मशास्त्रके नामसे प्रख्यात है। उनका सर्वप्रथम वंश सूर्यवंशके नामसे लोकविश्रुत है। आगे चलकर सुद्युम्न-(इला-) के द्वारा इसी सूर्यवंशसे चन्द्रवंशकी नींव पड़ी। सूर्यवंशमें इक्ष्वाकु, मान्धाता, सगर, ककुत्स्थ, रघु आदि परम प्रतापी अयोध्यानरेशोंके कारण अयोध्यावाली परम्पराका सर्वोच्च स्थान रहा है। वहाँके सभी व्यावहारिक कार्य यद्यपि ब्राह्मणधर्मशास्त्रकारोंके आज्ञानुसार ही होते थे, तथापि राजनीतिमें अपने पूर्वपुरुषकी ही निर्धारित नीतिकी प्रधानता रहती थी। मनुने पैतृक सम्पत्तिके सम्बन्धमें बड़े पुत्रको ही स्वत्वाधिकारी होनेका निर्देश किया है और वही नीति-रीति सूर्यवंशमें सदैवसे प्रचलित भी थी। महाराज दशरथने भी अपनी सफाई देते हुए कहा था कि *'मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति।'* कैकेयीजीने भी देवमायाभिभूत होनेके पूर्व यही कहा था—*'जेठ स्वामि सेवक लघुभाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥'* और देवमायाभिभूत होते हुए भी मन्थराने कहा है—*'यह कुल उचित राम कहुँ टीका।'* (१८। ७) अतः यह मानव-धर्मशास्त्रकारकी ही प्रचलित की हुई सूर्यवंशकी कुलपरम्परागत रीति-नीति मर्यादा कि *'अनुज बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू।'* अतः मनुके मन्तव्यानुसार बड़ेको अभिषेक होना अनुचित नहीं है।

गौतम, याज्ञवल्क्य और शंख आदि ब्राह्मण धर्मशास्त्रकारोंका निर्देश है कि सम्पत्तिमें सब भाइयोंको बराबर-बराबर भाग मिलना चाहिये। इन शास्त्रकारोंकी आज्ञाके समक्ष परम ब्रह्मण्य श्रीरामजीने कुलरीतिको *'एक बड़ अनुचित'* कहा है। परंतु ऐसा कहते हुए भी उसके अनुचित न होनेसे पारस्परिक मर्यादाके कार्यक्रमको पालन करनेके कारण श्रीरामजीका मर्यादापुरुषोत्तमत्व अक्षुण्ण ही बना रहा। (वे० भू० पं० रामकुमारदास)।

प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत मन कै कुटिलाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**पछितानि**=पश्चात्ताप, पछतानेका भाव, पछतावा। **कुटिलाई**=कुटिलता, टेढ़ापन।

अर्थ—प्रभुका प्रेमपूर्ण यह सुन्दर पछतावा भक्तोंके मनकी कुटिलताको हरण करे॥ ८॥

नोट—१ (क) यहाँ ग्रन्थकार प्रभुके इस पश्चात्तापकी प्रशंसा कर रहे हैं। आपका प्रेम भाईपर है। कुलका धर्म रक्षित करना आपका धर्म है और तनसे पछतावा हो रहा है। कुटिलता राज्य ग्रहण करनेमें है। (ख) *'हरउ'* क्रियाका अर्थ 'हरण करे' है। पर इससे भूत और भविष्यमें भी हरण करना जनाते हैं। (ग) स्वार्थसाधन कुटिलता है, यथा—*'स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट व्यवहार।'* (१। १३६) भक्तोंके मनमें कदाचित् अपने भाई-बन्धु आदिके धन-हरण करनेकी कुटिलता आ जावे तो प्रभुके इन वचनोंके स्मरणसे वह दूर हो जावेगी; अतः *'पछितानि'* को *'सुहाई'* कहा। (बाबा रामप्रतापदास)

टिप्पणी—१ *'सप्रेम पछितानि'* का भाव कि केवल वंशके अनौचित्यका पछतावा नहीं है; किन्तु उनका यह पछतावा प्रेमयुक्त है। उनका श्रीभरतजीपर (छोटे भाइयोंपर) प्रेम है, इसीसे वे सोचते हैं कि उनको छोड़कर हम राज्य कैसे ग्रहण करें, यह उनका सप्रेम पछिताना है। यह *'पछितानि'* सप्रेम है और भक्तोंके मनकी कुटिलताको हरण करनेवाली है; अतएव *'सुहाई'* है। *'सुहाई'* देहली-दीपक है।

भक्तके मनकी कुटिलता क्या है? यह कि भक्त श्रीरामजीको छोड़कर कुछ भी अंगीकार नहीं करते और श्रीरामजीने भरतजीको छोड़कर राज्यको अंगीकार कर लिया, ऐसा करना स्वामीको उचित नहीं, भक्तके मनकी इस कुटिलताको हरण करता है। [पुनः, भक्तोंके मनकी कुटिलता यह है कि वह दूसरोंकी आशा कभी-कभी करने लग जाता है। इस कुटिलताको यह *'सप्रेम पछितानि'* हरे। कैसे हरेगी? इस तरह कि श्रीरामजीने अपने भक्त भरतके बिना राज्य स्वीकार न किया, भक्तपर ऐसा छोह करनेवाले स्वामीको छोड़कर दूसरेका आशा-भरोसा न करना चाहिये। (खर्रा)]

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥'* सरकारके दिव्य कर्म हैं, यथा—**'जन्म कर्म च मे दिव्यम्।'** (गीता ४। ९) नरलीला करनेमें पछताना भी पड़ता है। सरकारके पछतानेमें भी दिव्यता है। संसार चूक करके पछताता है, पर उनसे चूक नहीं होती। नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थमें जब सामंजस्य बिठानेमें स्वभावके विरुद्ध चलना पड़ता है, तब पछताते हैं। प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं, ब्राह्मणोंमें उनकी अगाध भक्ति है। जब अहल्याको तारनेमें उसे पैरसे छूना पड़ा तब पछताये, यथा—*'दई सुगति सो न हेरि हरष हिय चरन छुए को पछिताउ'* (विनय०)। इसी भाँति यहाँ पिताकी इच्छा और गुरुकी शिक्षासे अभिषेक स्वीकार किया, पर अकेले अपने ही अभिषेकपर पछताते हैं। अत: यह पछतावा भी सुन्दर है, दिव्य है। कवि कहते हैं कि इस पछतावेसे रामोपासकोंको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। प्रभुकी सरलताका अनुमान सेवकका धर्म है। प्रभुके सभी उपासकोंमें भाई-भाईका नाता है। अपना उत्कर्ष होनेपर औरोंके लिये दु:खी न होना भी भक्तोंके लिये कुटिलता है। अत: कवि प्रार्थना करते हैं कि प्रभुका इस प्रकारका पछतावा भक्तके मनकी कुटिलताको हरण करे।

श्रीनंगे परमहंसजी—'भक्तोंके मनमें केकयीके सम्बन्धमें यह कुटिलता आती है कि उसने श्रीरामजीका राज्य भरतको दे दिया, यह अच्छा न किया। पर जब श्रीरामजी ही राज्यको पसंद नहीं करते, भरत आदिको भी चाहते हैं तब भक्तोंके मनमें राज्य लेनेकी कुटिलता नहीं आ सकती।' (नं० प० जीने *'हरेउ'* पाठ दिया है)।

विनायकी टीकाकार—भक्त किंवा उसका अपभ्रंश भगतका एक अर्थ 'हिस्सा बाँट' करना है सो रामचन्द्रजीने इस बातपर पछतावा किया कि छोटे भाइयोंको छोड़ जो केवल मुझहीको राजतिलककी तैयारी है यह अनुचित जँचती है। इस पश्चात्तापको सुनकर उन भाइयोंको शिक्षा लेनी चाहिये जो अपने भाइयोंको धोखा दे धन-सम्पत्तिका भाग बँटवारेमें आप ही अधिक ले लेना चाहते हैं।

वीरकविजी—*'हरउ……'* में लक्षणामूलक गूढ़ ध्वनि है कि जिन भक्तोंके हृदयमें अन्य देवी, देवता और स्वामियोंके प्रति आशारूपी पिशाचिनी वर्तमान है, वे इस टेढ़ाईको त्याग देंगे। राज्य पानेका समाचार सुनकर प्रसन्न नहीं हुए वरन् भाइयोंके लिये पछताने लगे। अपने भक्तोंपर इतनी बड़ी कृपा रखते हैं, ऐसा उदार और दयालु स्वामी तीनों लोकोंमें कोई नहीं है। इस स्वभावको समझकर भक्तजन श्रीचरणोंके सिवा भूलकर अन्यत्र प्रेम न करेंगे।'

पंजाबीजी—यह गोस्वामीजीका एक प्रकारसे भक्तोंको आशीर्वाद है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल—कोई आदमी कुटिल है; सरल कैसे हो? गोस्वामीजी कहते हैं कि रामजीकी सरलताके अनुभवसे। रामके अभिषेककी तैयारी हो रही है। इसपर राम सोचते हैं—***'जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥ बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥'***

भक्तशिरोमणि तुलसीदासजी याचना करते हैं कि रामका यह प्रेमपूर्वक पछताना भक्तोंके मनकी कुटिलता दूर करे—***'प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत मन कै कुटिलाई॥'***

रामकी ओर प्रेमकी दृष्टि पड़ते ही मनुष्य पापोंसे विमुख होने लगता है। जो धर्मके स्वरूपपर मुग्ध हो जायगा, वह अधर्मकी ओर फिर भरसक नहीं ताकने जायगा। भगवान् कहते हैं—***'सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जनम कोटि अघ नासौं तबहीं॥ पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥'***

☞ '……तू रामके मनोहर रूप, गुण, शक्ति और शीलको बार-बार अपने अन्त:करणके सामने रख; बस राम तुझे अच्छे लगने लगेंगे। शीलको शक्ति और सौन्दर्यके योगमें यदि तू बार-बार देखेगा तो शीलकी ओर भी क्रमश: आप-से-आप आकर्षित होगा। यह मार्ग कैसा सुगम है?……।'

मानसमयंक—भाव यह कि 'भक्तके लिये श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार पछता रहे हैं, यह समझनेसे भक्तोंकी कुटिलता दूर हो जायगी। भरत बिना राजाको देखकर श्रीरामचन्द्रने देवताओंके लिये शारदाको प्रेरितकर राज्यको त्याग दिया। पुन: भक्तके बिना राज्यके सुखको क्षणभंगुर समझकर त्याग दिया और ऐसे शोचरत हो गये मानो विपत्तिके घरमें पड़ गये।

नोट—२ ये वचन बड़े गूढ़ हैं। राजा केकयराजसे केकयीके पुत्रको राज्य देनेके लिये प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके थे। यह बात राजा और वसिष्ठजीहीके बीचमें थी, वसिष्ठजीहीने सम्मति दी थी कि प्रतिज्ञा कर लो, जब पुत्र होगा, देखा जायगा, वह पुत्र बड़ा धर्मज्ञ होगा। यह भी प्रधान कारण है कि वसिष्ठजी राजासे न यही कह सके कि तिलक करना उचित नहीं और न यही कि अवश्य उनको युवराज बनाओ। दोनोंमें वे पकड़े जाते थे। इसीसे श्लिष्ट वचनोंका प्रयोग उनकी आज्ञामें हुआ है। रामजी सर्वज्ञ हैं, अत: वे भी इस प्रतिज्ञाको जानते हैं, जैसे—*'अनुज बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू'* से प्रमाणित होता है। *'बिहाइ'* शब्द बड़ा विलक्षण है। इससे भरतजीका इस उत्सवके समय बाहर कर दिया जाना भी व्यंजित हो सकता है। ऐसी दशामें रामजी राज्यको ग्रहण करना अत्यन्त अनुचित समझते हैं।

इधर राजाने मनुस्मृतिके '**विनीतमौरसं ज्येष्ठं यौवराज्येऽभिषेचयेत्**' अर्थात् 'राजा सुशील विनम्र जेठे पुत्रको युवराज बनावे' इस वाक्यानुसार रामजीको युवराज बनाना चाहते हैं। साधारणत: राज्यका उत्तराधिकारी जेठा पुत्र ही होता था, यह स्वयं केकयीजीने कही है—*'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई । यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥'* और राजा इस नीतिका पालन भी करना चाहते थे, यथा—*'लोभ न रामहिं राज कर बहुत भरत पर प्रीति। मैं बड़ छोट बिचार करि करत रहेउँ नृपनीति॥'* साथ-ही-साथ राजा यह भी जानते हैं कि युवराज बनानेमें प्रजाका भी पूर्ण अधिकार है। इसीसे उन्होंने राज्याधिकार वंशपरम्परागत होते हुए भी सभा जोड़ी और सर्वसम्मतिसे तिलकका निश्चय किया। क्यों? राजा वही हो जिसमें सब प्रजाका विश्वास हो कि इससे हमारा रंजन होगा, यह हमारे दु:ख-सुखको अपना ही दु:ख-सुख समझेगा। सभी इनसे खुश हैं। सभी प्रजा इनको अपना राजा चाहती है। यह तो ग्रन्थहीसे स्पष्ट है। राजा खूब समझते हैं कि भरतजीसे प्रजारंजन उतना नहीं हो सकता। अतएव इन विचारोंसे राज्याभिषेककी सूचना नगरभरको दे दी गयी। उस कालकी आदर्श राजनीतिकी और उसकी उत्कृष्टताका चित्र यहाँ इस चरितमें झलक रहा है। अब राजा दो सत्य वाक्योंके बन्धनमें पड़े हैं। रामजीके *'बिमल बंस'*····· 'इन वचनोंसे सूचित होता है कि वे पिताकी इस कार्यवाहीको अनुचित समझते हैं, उनके विचारमें राजाको प्रतिज्ञाका उल्लंघन करना उचित नहीं, सत्यपर आरूढ़ रहना चाहिये; ऐसा न होनेसे धार्मिक शासन सुदृढ़ नहीं रह सकता, जिससे राजनैतिक शासनमें भी हानि पहुँचेगी। पर राजा क्या करें? इस उलझनसे श्रीरामचन्द्रजीहीने उनको बचाया। लोकशिक्षाकी दृष्टिसे *'प्राण जाइ बरु बचन न जाई'* इसका उन्होंने महाराजसे पालन कराकर विमल वंशको कलंकसे भी बचाया, प्रजाको धर्मशिक्षा भी दी, पुत्र-धर्मका भी पालन किया। ऐसा न होनेसे ही तो भाई-भाईमें शत्रुताका बीज पड़ जाता है।

श्रीरामचन्द्रजी धर्मशास्त्र कह रहे हैं—छोटे भाईको भी साथमें रहना चाहिये जैसे हम चारोंके और सब संस्कार साथ हुए वैसे ही यह भी होना चाहिये।

कुछ महानुभाव कहते हैं कि *'हरउ भगत मन की कुटिलाई'* में गूढ़ व्यंग है कि दशरथजी कुटिलता कर रहे हैं। वह इससे हरण होगी। पर मेरी समझमें राजापर कुटिलताका आरोप करना ठीक नहीं। अपने विचार मैं पूर्व प्रकट कर चुका हूँ।

दो०—तेहि अवसर आए लखन मगन प्रेम आनंद।
सनमाने प्रिय बचन कहि रघुकुल कैरव चंद॥ १०॥

बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना। पुर प्रमोद नहिं जाइ बखाना॥ १॥

शब्दार्थ—**सनमाने**=सम्मान किया, आदर किया। **कैरव**=कुमुद, कोई, कोकाबेली। **रघुकुल कैरव चंद**=रघुकुलरूपी कैरवको खिलाने अर्थात् आनन्द देनेके लिये चन्द्ररूप श्रीरामचन्द्रजी। कोई चन्द्रमाको देखकर खिल उठती है, वैसे ही रघुकुलके लोग श्रीरामचन्द्रजीको देखकर प्रफुल्लित होते हैं। '**बाजन**'=बाजे।

अर्थ—प्रेम और आनन्दमें मग्न श्रीलक्ष्मणजी उसी समय आये। रघुकुल-कैरवचन्द्र श्रीरामजीने प्रिय

वचन कहकर उनका आदर-सत्कार किया॥ १०॥ अनेक प्रकारके बाजे अनेक भाँतिसे बज रहे हैं। नगरका अत्यन्त आनन्द वर्णन नहीं किया जा सकता॥ १॥

टिप्पणी—१ ***'तेहि अवसर…'*** इति। (क) ***'तेहि अवसर'*** अर्थात् जब गुरुजी संयमका उपदेश देकर राजाके पास चले गये (तथा श्रीरामजीके मनके विचार समाप्त हुए) तब। (ख) ***'आए लखन मगन प्रेम आनंद।'— 'आए'*** कहकर उसका कारण बताया कि 'प्रेम और आनन्दमें मग्न हैं', अर्थात् राज्याभिषेक सुनकर वे प्रेमानन्दमें मग्न हो गये, इसीसे आये। यथा—***'बालसखा सुनि हिय हरषाहीं। मिलि दस पाँच रामपहँ जाहीं॥ पूछहिं कुसल खेम मृदु बानी।'*** (२४। १-२)

नोट—१ (क) वाल्मीकीय और अ० रा० में ***'राम हृदय अस बिसमय भयऊ।…प्रेम आनंद।'*** यह प्रसंग नहीं है। अ० रा० में गुरुजीके चले जानेके बाद लक्ष्मणजीको देखकर प्रिय वचन कहना लिखा है। इससे उसी समय आगमन अनुमानित होता है। (ख)***'सनमाने प्रिय बचन कहि'***—अर्थात् कहा कि 'हे सुमित्रानन्दन! कल मेरा युवराज-पदपर अभिषेक होगा, सो मैं तो केवल निमित्तमात्र ही होऊँगा, उसके कर्ता-भोक्ता तो तुम ही हो, क्योंकि मेरे बाह्यप्राण तो तुम्हीं हो। मेरे साथ तुम इस पृथ्वीका शासन करो, तुम मेरे दूसरे अन्तरात्मा हो, यह लक्ष्मी तुम्हें प्राप्त हुई है। लक्ष्मण! वांछित भोग और राज्यफल भोगो। मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे लिये है।' यथा—'**सौमित्रे यौवराज्ये मे श्वोऽभिषेको भविष्यति। निमित्तमात्रमेवाहं कर्ता भोक्ता त्वमेव हि॥ मम त्वं हि बहिःप्राणो नात्र कार्या विचारणा।**' (अ० रा० २। २। ३७-३८) '**लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुन्धराम्। द्वितीयं मेऽन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरुपस्थिता॥ सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च। जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये॥' (** वाल्मी० २। ४। ४३-४४) प्रिय वचन कहे और मुसकराते हुए कहे, यही सम्मान है यथा—'**रामो भ्रातरमब्रवीत्……स्मयन्निव।**' (वाल्मी० २। ४। ४२) प्रेमसे आये हैं, अतः सम्मान किया, यथा—***'प्रभु आदरहिं प्रेम पहिचानी।'*** (२४। २) (ग) ***'रघुकुल कैरवचंद'*** इति। ☞ जहाँ रघुकुलकी मर्यादा तथा कुल-व्यवहारको लिये हुए किसीका सत्कार करते हैं वहाँ प्रायः कुल-सम्बन्धयुक्त विशेषण देते हैं, यथा—***'राम कस न तुम्ह कहहु अस हंस बंस अवतंस॥'*** (९)***'सनमाने सब रघुकुल दीपा।'*** (२९६। २) तथा यहाँ ***'सनमाने……रघुकुल कैरवचंद।'*** (प्रथम उदाहरणमें वसिष्ठजीका सम्मान करनेपर उन्होंने ***'हंस बंस अवतंस'*** कहा। दूसरेमें श्रीजनकमहाराज आदिका और यहाँ लक्ष्मणजीका सम्मान करनेपर कविने कुल-सम्बन्धी विशेषण दिये (प्र० सं०)।

टिप्पणी—२ ***'रघुकुल कैरव चंद'*** इति। भाव कि जो बड़े हैं वे सबका सम्मान करते हैं, यथा—***'पुनि भानुकुलभूषन सकल सनमाननिधि समधी किये।'*** (१। ३२६) ***'सहित सभा संभ्रम उठेउ रबिकुल कमल दिनेस॥'*** (२७४) (राजा भानुकुलभूषण हैं, अतः उन्होंने उस कुलके योग्य अत्यन्त सम्मान किया। इसी तरह श्रीरामजी 'रविकुलकमलके सूर्य हैं, रघुकुलकैरव चन्द हैं' अतः इन्होंने भी कुलके अनुकूल सम्मान किया। रा० प्र० कारका मत है कि 'चन्द्र कुमुद और चकोर दोनोंको सुख देता है। हनुमदादि चकोर प्रभुकी राह जोह रहे हैं, ***'हरि मारग चितवहिं मतिधीरा।'*** (१। १८८) प्रभु उनको भी सुखी किया चाहते हैं।' 'रघुकुलको कैरव कहा, इसीसे श्रीरामजीपर चन्द्रमाका आरोपण किया, क्योंकि चन्द्रमा कैरवको विकसित करता है, श्रीरामजीके इन गुणोंको देखकर कुल प्रफुल्लित होता है, उसकी कीर्तिकी वृद्धि होती है। अतः यहाँ 'परम्परितरूपक' है)।

नोट—२ ***'बाजहिं बाजन……पुर प्रमोद……'*** इति। (क) पुरप्रमोदका प्रसंग ***'राम राज अभिषेक सुनि हिय हरषे नर नारि।*** (दो० ८) पर छोड़ा था। बीचमें वसिष्ठजीका श्रीरामजीके यहाँ भेजा जाना, श्रीरामजीको संयमका उपदेश, श्रीरामजीके मनके विचार, लक्ष्मणजीका श्रीरामजीके पास जाना और सम्मान कहा। अब पूर्वसे प्रसंग मिलाते हैं—***'बाजहिं…पुर प्रमोद……'*** (ख) ***'बिबिध बिधाना'*** अर्थात् अनेक प्रकारके बाजे, जैसे कि शंख, ढोल, डिमडिमी, वीणा, निशान, शहनाई इत्यादि बज रहे हैं, यथा—***'हने निसान पनव बर बाजे। भेरि शंख धुनि…।' 'झाँझि बीन डिंडिमी सुहाई। सरस राग बाजहिं सहनाई॥'*** (१। ३४४) तथा अनेक राग-रागिनियोंके साथ

बज रहे हैं, यथा—*'बिबिध बिधान बाजने बाजे।'* (१। ३४६) *'सरस राग बाजहिं···· ।'* (१। ३४४) (ग) *'न जाइ बखाना'*— वाल्मीकिजीने लिखा है कि जब वसिष्ठजी श्रीरामभवनसे निकले तो देखा कि अयोध्याकी सभी सड़कें पुरुषोंसे अत्यन्त भरी हुई हैं, उनपर चलना कठिन हो गया था। जनसमूहकी भीड़ और हर्षध्वनिसे सड़कें गूँज रही थीं, वहाँसे समुद्रके समान ध्वनि निकलती थी। सभी स्त्री-पुरुष अभिषेकके लिये उत्सुक, व्याकुल थे, चाहते थे कि शीघ्र सूर्योदय हो और हम राज्याभिषेक देखें। इत्यादि। (सर्ग ५ श्लोक १५ से २० तक) यह सब *'न जाइ बखाना'* से जना दिया, और भी उनका उत्साह सर्ग ६ श्लोक १० से २८ तक जो प्रात:समयका कहा गया, वह भी इसमें ले सकते हैं।

भरत आगमनु सकल मनावहिं। आवहु बेगि नयन फल पावहिं॥ २॥
हाट बाट घर गली अथाई। कहहिं परसपर लोग लोगाई॥ ३॥
कालि लगन भलि केतिक बारा। पूजिहि बिधि अभिलाषु हमारा॥ ४॥
कनकसिंघासन सीय समेता। बैठहिं रामु होइ चित चेता॥ ५॥

शब्दार्थ—**हाट** (हट्ट)=बाजार। **बाट**=रास्ता, मार्ग। '**गली**'=सँकड़ी या तंग रास्ता। **लोगाई**=स्त्रियाँ। **अथाई**=वह चबूतरा या बैठक, जहाँ बैठकर तहसील-वसूल की जाती थी। बुन्देलखण्डके महोबा आदिमें अबतक इस नामसे कई स्थान बोले जाते हैं। यह ठेठ बुन्देलखण्डी शब्द है। '**केतिक बारा**'=किस बेला, किस समय, कितनी देर है। **चित चेता**=चित्तमें विचारी हुई बात, मनभायी बात।

अर्थ—सभी भरतका आगमन मना रहे हैं। (मनाते हैं कि) शीघ्र आवें और नेत्रोंका फल पावें॥ २॥ बाजार, रास्ते, घर, गली, अथाई सभीमें स्त्री-पुरुष एक-दूसरेसे (यही) कह रहे हैं॥ ३॥ सुन्दर लग्न कल किस समय है? उसको कितनी देर है?[1] कि जब विधाता हमारी इच्छा पूरी करेगा। जब सोनेके सिंहासनपर श्रीसीतारामचन्द्रजी बैठेंगे और हमारा चित-चेता होगा—(यह कल कब होगा?[2] सभी ऐसा कह रहे हैं)॥ ५॥

नोट—१ *'भरत आगमनु सकल मनावहिं।···· '* इति। (क) सब मनाते हैं, इससे सबोंका भरतजीपर अत्यन्त प्रेम दर्शित किया। *'मनावहिं'* अर्थात् देवताओंको मनाते हैं, मानता मानते हैं; क्योंकि समय थोड़ा होनेसे राजा उनको न बुला सके, केकयराज और जनक महाराजको इसीसे निमन्त्रण न भेज सके। यथा—'**न तु केकयराजानं जनकं वा नराधिपः। त्वरया चानयामास····॥**' (वाल्मी० २। १। ४८) और अपनेसे उनके आनेका कोई योग नहीं है। अतएव देवताओंको मनाते हैं कि वे कुछ ऐसा योग कर दें कि वे इस अवसरपर आ जायँ। नहीं तो केकयदेश बहुत दूर है, वे रातभरमें आ भी नहीं सकते। देवता प्रसन्न हों तो क्षणभरमें उन्हें यहाँ पहुँचा दें। (पर देवता कब सुनने लगे, भरत आ जायँ तो राज्याभिषेक ही हो जायगा। यह उनको कैसे सुहावे। वे तो विघ्नपर उतारू हैं)। (ख) *'आवहु बेगि'*—बेगि अर्थात् रातभरमें आ जायँ, क्योंकि सबेरे ही अभिषेक होनेको है। ***आवहु***=आ जावें। (रा० प्र० कारका मत है कि सब पुरवासी विरहरसमें मग्न हैं इससे परोक्षको प्रत्यक्ष-सम कह रहे हैं। भरतजी यहाँ हैं नहीं, उनको *'आवहु'* कह रहे हैं अर्थात् आओ)। (ग) *'नयन फल पावहिं'*—श्रीरामराज्याभिषेकका देखना नेत्रोंके होनेका फल है, यथा—*'मोहि अछत यहु होइ उछाहू। लहहिं लोग सब लोचन लाहू॥'* (२। ४। ३)

नोट २—*'हाट बाट घर गली अथाई।···· '* इति। इन चौपाइयोंसे मिलते हुए श्लोक अ० रा० में हैं। यथा—'**स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च रात्रौ निद्रां न लेभिरे। कदा द्रक्ष्यामहे रामं पीतकौशेयवाससम्॥ सर्वाभरणसम्पन्नं किरीटकटकोज्ज्वलम्। कौस्तुभाभरणं श्यामं कन्दर्पशतसुन्दरम्॥अभिषिक्तं समायातं गजारूढं स्मिताननम्।**

---

१. दीनजी इसका अर्थ यह करते हैं—'सब परस्पर यही कहते हैं कि अब क्या देर है। अर्थात् कुछ देर नहीं, कल ही विधाता हमारी इच्छा पूर्ण कर देंगे।'

२. पं० रामकुमारजीने एक खर्रेमें यह अर्थ किया है—'स्वर्णसिंहासनपर चित्तमें प्रसन्न होकर श्रीरामजी बैठें, यही हमने चितमें चेत किया है'—यह पुरवासियोंने अपनी अभिलाषाका विवरण दिया।

श्वेतच्छत्रधरं तत्र लक्ष्मणं लक्षणान्वितम्॥ रामं कदा वा द्रक्ष्यामः प्रभातं वा कदा भवेत्। इत्युत्सुकधियः सर्वे बभूवुः पुरवासिनः॥' (सर्ग ३। ३८—४१) अर्थात् उस रात्रिमें स्त्री, बालक और वृद्ध किसीको भी नींद नहीं आयी। सबको चटपटी लगी रही कि हम पीताम्बर धारण किये हुए श्रीरामजीको कब देखेंगे? जो समस्त आभूषणोंसे सुसज्जित उज्ज्वल किरीट और कटक पहने हुए हैं, कौस्तुभमणिसे विभूषित और सैकड़ों कामदेवोंके समान सुन्दर श्यामवर्ण हैं एवं सर्वसुलक्षण-सम्पन्न श्रीलक्ष्मणजीने जिनके ऊपर श्वेत छत्र लगा रखा है, ऐसे श्रीरामको राज्याभिषेकके अनन्तर मन्द मुसकानके सहित हाथीपर चढ़कर आते हुए हम कब देखेंगे? वह मंगल-प्रभात कब होगा? इस प्रकार सभी पुरवासियोंका चित्त उत्कण्ठित हो रहा था (मुख्य भेद मानस और अ० रा० में यह है कि मानसमें यह बात इस स्थानपर कही गयी है जहाँ राजा-रानी आदि सभीका मंगल-मोद कहा गया है और उचित भी है कि सबकी लालसा यहीं कही जाय, किंतु अ० रा० में यह बात सबेरा होनेपर कही गयी है। भरतागमनका मनाना वहाँ नहीं है)।

नोट ३—(क) ***'कालि लगन भलि'''*** ' से पुरवासियोंकी अत्यन्त उत्कण्ठा दिखायी। यथा—'**इत्युत्सुकधियः सर्वे''''**' (उपर्युक्त)। ***'कालि लगन भलि केतिक बारा'*** यहाँतक धैर्य धारण किये हुए वचन कहे, आगेसे ***'पूजिहि बिधि अभिलाषु हमारा'*** इन वचनोंसे प्रकट होता है कि अधीर होकर ऐसा कह रहे हैं। इससे उनका श्रीरामजीपर अत्यन्त स्नेह प्रकट होता है। इससे जनाया कि लग्नका समय पुरवासी भी नहीं जानते। कौसल्याजी भी नहीं जानती थीं, यथा—***'कहहु तात जननी बलिहारी। कबहिं लगन मुद मंगलकारी॥'*** (५२। ७) (पु० रा० कु०) इससे ज्ञात होता है कि सबको इतना ही समाचार दिया गया था कि कल युवराज होंगे, लग्न केवल गुरु और मन्त्रियोंको मालूम थी जिनसे अभिषेकके सम्बन्धमें सम्मत लिया गया था और जिनको यह कृत्य कराना था। (ख) ***'कनकसिंघासन सीय समेता।''''*** ' इति। इसमें अ० रा० के उपर्युक्त उद्धरण श्लोक ३९, ४० के भाव आ गये। गोस्वामीजीने शोभाका वर्णन यहाँ उचित न समझा; क्योंकि वह शोभा कल देखनेमें न आवेगी, जब अभिषेक होगा तब शोभा भी कहेंगे, यथा—***'सिंघासन पर त्रिभुअन साईं।'''' भरतादि अनुज''' । गहे छत्र चामर ब्यजन''''*** ' इत्यादि। (ग) ***'कनकसिंघासन'*** राजा या देवताके बैठानेका आसन या चौकी। यह प्रायः काठ, सोने, चाँदी, पीतल आदिका बना होता है। इसके हत्थोंपर सिंहका आकार बना होता है।— (श० सा०) मणिजटित राजासनको नृपासन या भद्रासन कहते हैं, यदि यह नृपासन स्वर्णका हो तो उसे सिंहासन कहते हैं। साधारणतया सिंहासन भाषामें सोने-चाँदी सभी प्रकारके राज-आसनके लिये प्रयुक्त होता है; अतएव यहाँ ***'कनकसिंहासन'*** पद दिया, नहीं तो 'कनक' विशेषणकी आवश्यकता न थी। (घ)—सिंहासनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया; क्योंकि इस समय राज्याभिषेक तो होना नहीं है। उत्तरकाण्डमें इसका वर्णन करेंगे। सिंहासनकी शोभा तभी थी जब राज्याभिषेक होता और श्रीसीतारामजी उसपर बैठते। जब वे अभी बैठेंगे ही नहीं तब उसकी शोभा कहना भी अयोग्य और व्यर्थ है। केवल रत्न आदिकी शोभा कोई शोभा नहीं है जब वह काममें न आया। (ङ) ***'सीय समेता'***— राज्याभिषेकके समय स्त्रीसहित सिंहासनपर बैठा जाता है, यथा—***'राम बाम दिसि सोभति रमा रूप गुन खानि।'*** (७। ११) ***'''''जनकसुता समेत रघुराई। पेखि प्रहर्षे मुनि समुदाई॥''' श्रीसहित दिनकरबंस भूषन काम बहु छबि सोहई।''''*** ' अतः ***'सीय समेता'*** कहा। (च) ***'चित चेता'*** यथा—***'सब के उर अभिलाषु अस''' आपु अछत जुबराज पद रामहिं देउ नरेसु।'*** (१) उसी अभिलाषाकी यहाँ व्याख्या है।

श्रीरामराज्याभिषेक प्रसंग यहाँ समाप्त हुआ।

'नृप-वचन-राज-रस-भंग' प्रकरण

सकल कहहिं कब होइहि काली। बिघन मनावहिं देव कुचाली॥ ६॥
तिन्हहिं सुहाइ न अवध बधावा। चोरहि चंदिनि राति न भावा॥ ७॥
सारद बोलि बिनय सुर करहीं। बारहिं बार पाँय लै परहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—**काली**= कल सबेरा। **बिघन** (विघ्न)=बाधा, रुकावट, खलल। **कुचाली**=बुरे चाल वा स्वभाववाले, दुष्ट, बुरे आचरणवाले। **चंदिनि**=चाँदनी, उजेली।

अर्थ—सभी (परस्पर) कह रहे हैं कि (वह) कल कब होगा! (और उधर) कुचाली देवता विघ्न मनाते हैं॥ ६॥ उन्हें अयोध्याजीकी बधाइयाँ (उत्सव) अच्छी नहीं लगतीं। जैसे चोरको चाँदनी रात नहीं भाती॥ ७॥ सरस्वतीको बुलाकर (अर्थात् उनका आवाहन करके) देवता विनय कर रहे हैं, बारम्बार उनके पैरों पड़ते हैं॥ ८॥

नोट—१ ***'कालि लगन भलि केतिक बारा'*** और ***'कब होइहि काली'*** से दिखा रहे हैं कि पुरवासी रामराज्याभिषेकके लिये कितने उत्सुक हैं। इतना विलम्ब भी उनको असह्य हो रहा है मानो चाहते हैं कि अभी सूर्योदय हो जाय। यथा—'**रामं कदा वा द्रक्ष्यामः प्रभातं वा कदा भवेत्। इत्युत्सुकधियः सर्वे॥**' (अ० रा० २। ३। ४१) '**तदा ह्ययोध्यानिलयः सस्त्रीबालाकुलो जनः। रामाभिषेकमाकाङ्क्षन्नकाङ्क्षन्नुदयं रवेः।**' (वाल्मी० २। ५। १९)

नोट २—***'बिघन मनावहिं देव कुचाली'*** इति। (क) अर्थात् सब तो मना रहे हैं कि सबेरा हो और देवता मनाते हैं कि ***'कल'*** न आने पावे, आज रातहीमें विघ्न हो जाय, यही कुचाल है। स्वार्थसिद्धिके निमित्त पराया काज नष्ट करना चाहते हैं। ऐसे मंगलकार्यमें अमंगल चाहते हैं; अतः ***'कुचाली'*** कहा और जो बिना कारण ही पराये कार्यकी हानि करें उन्हें 'अहि-मूषक' की उपमा दी जाती है। (ख) ***'बिघन मनावहिं'*** से सूचित किया कि देवताओंके अपने किये विघ्न न हो सका, इसीसे वे सरस्वतीको मनाते हैं। (पु० रा० कु०) (ग) ***'न सोहाइ अवध बधावा'—'अवध बधावा',*** यथा—***'सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥'*** जो पूर्व कह आये हैं, यह उनको अच्छा नहीं लगता।

टिप्पणी—१ ***'चोरहि चंदिनि राति न भावा।'*** इति। यहाँ चन्द्रमा, चोर और चाँदनी क्या हैं? श्रीरामजीको चन्द्रमा कह आये हैं, यथा—***'सनमाने प्रिय बचन कहि रघुकुल कैरव चंद।'*** (१०) वे चन्द्रमा हैं, इसीसे (उनके अभिषेकके सम्बन्धकी) बधाईको चाँदनी रात्रिसे उपमित किया। राज्याभिषेक (उत्सव) चाँदनी रात है जो सबको भाती है। देवता चोर हैं, वे चोरीसे अपना काम करना चाहते हैं, चोरको चाँदनी रात नहीं भाती, इनको बधावा नहीं सुहाता। [भाव यह कि चाँदनी रात सबको प्रिय लगती है पर चोरोंको नहीं, क्योंकि चाँदनीमें उनके पहचाने और पकड़े तथा बन्दीगृहमें भेजे जानेका भय रहता है; वैसे ही यह उत्सव सबको भाता है, पर देवताओंको नहीं; क्योंकि राज्याभिषेक हो जानेसे श्रीरामचन्द्रजी राज्यकार्यमें फँसे रह जायँगे, रावणवध न होगा। यथा—***'यदि राज्याभिसंसक्तो रावणं न हनिष्यसि। प्रतिज्ञा ते कृता राम भूभारहरणाय वै।'*** (अ० रा० २। १। ३४) (यह नारदजीने ब्रह्माका संदेशा कहा है कि यदि राज्याभिषेक आप करा लेंगे तो राज्यमें आसक्त होकर आप रावणको न मारेंगे, तब भूभारहरणवाली आपकी प्रतिज्ञाका क्या होगा?) और रावणवध न होनेसे देवता नित्य साँसति सहेंगे, बंदीगृहमें पड़े सड़ेंगे, उसके हाथोंसे छुटकारा नहीं मिलेगा। यथा—***'दिगपालन्ह मैं नीर भरावा।'*** (६। २८) ***'कंपहिं लोकप जाकी त्रासा।'*** (५। ३७) ***'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता।'*** (५। २०) ***'सभय दिसिप नित नावहिं माथा।'*** (६। १०३) ***'रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बंदीखाना॥'*** (६। ८९) रावणवध शीघ्र होनेमें ही उनका भला है। यथा—***'यह दुष्ट मारेउ नाथ। भए देव सकल सनाथ॥'*** (६। ११२) इन्द्रने रावणवध होनेपर यह कहा है।]

अलंकार—यहाँ पूर्वार्द्ध वाक्य उपमेय रूप और उत्तरार्द्ध उपमान रूप है। दोनोंका एक धर्म है पर जो *'सोहात न'* और *'न भावा'* इन समानार्थवाची शब्दोंद्वारा अलग-अलग कहा गया। अतः यहाँ 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार है। पुनः, बिना वाचकके दोनों वाक्योंमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव झलक रहा है इससे 'दृष्टान्त' भी है।

नोट—३ *'सारद बोलि बिनय सुर करहीं।……'* इति। (क) जब अपना कोई उपाय न चलता देखा तब सरस्वतीको बुला भेजा। *'सारद बोलि'* अर्थात् उसका आवाहन किया, वह आ गयी। 'विनय' करते हैं उसको प्रसन्न करनेके लिये। *'पाँय लै परहीं'* पाँव पड़ना अर्थात् पैरोंपर गिरना, साष्टांग दण्डवत् करना। यह मुहावरा है अत्यन्त दीनतासे विनय करनेका। *'पाँय लै परहीं'* पैर पकड़कर पड़ जाते हैं। (ख) *'लै'* का अर्थ 'तक, पर्यन्त' भी होता है। अर्थात् पैरोंपर सिर रख देते हैं इसमें अत्यन्त विनीत होनेका भाव है। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि गहोरा देश (बुन्देलखण्ड) में 'पाँव पड़ने' को 'पाँव लै पड़ना' कहते हैं। देवताओंने प्रथम तो विनय की जिसमें देवी सरस्वती प्रसन्न हो जाय; पर जब उन्होंने देखा कि इतनेसे काम नहीं चलेगा तब वे उसे संकोचमें डालकर अपना कार्य साधना चाहते हैं। इसीसे वे बारंबार पैरों पड़ते हैं। इसीसे वे सफल होंगे, वह संकोचमें पड़ जायगी। यथा—*'बार बार गहि चरन सकोची।'* (१२।५)—यह स्वार्थसाधकोंकी रीति दिखायी। (खर्रा) (ग) पुराणोंमें सरस्वती ब्रह्माकी पुत्री और स्त्री दोनों कही गयी हैं और उसका वाहन हंस बताया गया है। महाभारतमें एक स्थानपर सरस्वतीको दक्ष प्रजापतिकी कन्या लिखा है। यह वाग्देवी मानी जाती हैं। विशेष बालकाण्ड मं० श्लोक १ में देखिये।

नोट ४— *'सारद बोलि……'* इस चौपाईसे दोहा १३ *'सभय रानि……'* के अन्ततक अध्यात्मरामायणके **'एतस्मिन्नन्तरे देवा देवीं वाणीमचोदयन्। गच्छ देवि भुवो लोकमयोध्यायां प्रयत्नतः॥'** (२।२।४४) इस श्लोकका विस्तार गोसाईंजीने बड़ी खूबीसे किया है जिसका अर्थ है—इसी बीचमें देवताओंने देवी वाणीको प्रेरणा की—हे देवि! भूलोकमें जाइये विशेष करके अयोध्याजीमें।

दो०—बिपति हमार बिलोकि बड़ि मातु करिअ सोइ आजु।
रामु जाहिं बन राज तजि होइ सकल सुरकाजु॥ ११॥

शब्दार्थ—**बिपति**=विपत्ति, दुःख, दर्द, कष्ट।

अर्थ—हे माता! हमारी भारी विपत्ति देखकर आज यही कीजिये जिससे रामचन्द्रजी राज्य त्यागकर वनको चले जायँ, सब देवताओंका काम बने॥ ११॥

नोट—१ सरस्वती संकोचमें पड़ी है। इस दोहेसे जनाते हैं कि वह नगरभरको इनके स्वार्थके लिये विपत्तिमें डालनेको राजी नहीं होती थी, इसीसे वे उसकी दृष्टि अपनी विपत्तिकी ओर डलवाते हुए कहते हैं कि उनको विपत्ति होगी और हम उनसे भारी विपत्ति झेल रहे हैं, राम-वनवाससे अवधवासियोंको विपत्ति पड़ेगी, पर वे अपने घर तो रहेंगे और हम तो घर-बारसे निकाले हुए फिरते हैं, यथा—*'सुरपुर नितहि परावन होई'* (१।१८०) *'रावन आवत सुनेउ सकोहा।……देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥ दिगपालन्ह के लोक सुहाए। सूने सकल दसानन पाए॥'* (१।१८२) यही बात कवितावलीसे भी सिद्ध होती है। यथा—*'नाग नर किन्नर बिरंचि हरि हर हेरि पुलक सरीर हिये हेतु हरषतु हैं।……आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सबै तुलसी निहाल कै कै दिये सरखतु हैं॥'* (लं० कां० ५८) बड़ी विपत्तिके आगे छोटीका खयाल न करना चाहिये। फिर अवधवासी तो थोड़े ही हैं और हम तैंतीस करोड़ हैं, इस प्रकार भी हमारी विपत्ति बड़ी है, अधिक संख्याको सुख देनेमें थोड़ेहीको कष्ट हो तो थोड़ोंके दुःखका विचार नहीं किया जाता। यह भाव आगेके *'सकल सुर'* से निकलता है।

नोट २ (क) *'बिलोकि'*—अर्थात् तुम अपनी आँखों हमारी नित्यकी विपत्ति देख रही हो, कि *'सुरपुर नितहि परावन होई।'* (१।१८०) उनको विपत्ति होगी या नहीं इसे तो कोई जानता भी नहीं। (ख) **'मातु'**—ब्रह्माजी जगन्मात्रके पितामह हैं; क्योंकि सारी सृष्टिके रचयिता ये ही हैं। सरस्वती उनकी

शक्ति है। (ब्रह्माके पिता श्रीमन्नारायणकी भी पत्नी इनको कहा गया है, इसीसे भगवान्‌का एक नाम वागीश है। इस तरह भी जगज्जननी हैं। सरस्वती अपनेको कुमारी कहती हैं, ब्रह्माकी कन्या हैं और पिताके अधीन हैं—बालकाण्ड मं० श्लोक १ देखिये। इस तरह पितामहकी कन्या होनेसे भी माता सम्बोधन ठीक ही है और इस समय तो उससे काम लेना है)। अत: *'मातु'* कहा। पुन: भाव कि 'आप माता हैं, हम आपके बालक हैं, पुत्र हैं। माताका पुत्रपर वात्सल्य होता ही है, वह अपने पुत्रोंको सदा सुखमें देखना चाहती है, तब आप हमारी विपत्ति छुड़ाकर हमें सुखी क्यों नहीं करतीं। तू माता है, हम तेरे बच्चे हैं, तेरे बारंबार चरण पकड़कर विनती करते हैं, अत: तुझे हमारा मनोरथ पूर्ण करना ही पड़ेगा।' (ग) *'करिअ सोइ आजु'*— भाव कि सबेरा हुआ नहीं कि राज्याभिषेक हो जायगा, तिलक हो जानेपर फिर कुछ भी उपाय काम न देगा; अतएव आज ही रातभरमें ही कार्यकी सफलताका उपाय कर देना चाहिये। (घ) *'रामु जाहिं बन राज तजि'*—यहाँ दो बातोंके लिये प्रार्थना करते हैं। एक तो वह उपाय करें कि वे राज्य स्वीकार न करें, राज्यका त्याग करें; दूसरे, वनको जायँ। ऐसा न हो कि राज्य न लें पर घरमें या अन्यत्र कहीं बने रहें। (दशरथजीने कैकेयीसे कहा ही है—*'राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती।'* (३४। ८) कैकेयीकी प्रिय विप्रवधुओं आदिने भी कहा कि *'भरतहि अवसि देहु जुबराजू। कानन काह राम कर काजू॥ गुर गृह बसहुँ राम तजि गेहू। नृप सन अस बर दूसर लेहू॥'* (५०। २—४)— यही बात सोचकर देवता वन जानेका भी उपाय करनेको कहते हैं। बिना वनको गये देवकार्य न होगा। *'जाहिं बन'* को प्रथम कहा, क्योंकि मुख्य कार्य यही है।

सुनि सुर बिनय ठाढ़ि पछताती। भइउँ सरोज बिपिन हिमराती॥ १॥
देखि देव पुनि कहहिं निहोरी। मातु तोहि नहिं थोरिउ खोरी॥ २॥
बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ[1]॥ ३॥
जीव करम बस सुख दुख भागी। जाइय अवध देवहित लागी॥ ४॥

शब्दार्थ—**ठाढ़ि**=खड़ी हुई। **भइउँ**=(मैं) हुई। **सरोज**=कमल। **बिपिन**=वन। **हिम**=हिम-ऋतु, हेमन्त-ऋतु अर्थात् अगहन-पौष-मास, पाला। **निहोरी**=विनय करके—इस शब्दमें कृतज्ञता (एहसान) का भी भाव रहता है। अर्थात् आपका बड़ा उपकार या एहसान मानेंगे। **खोरी**=दोष। **बिसमय** (विस्मय)=विषाद, दु:ख, खेद, हृदयकी वह दशा जो अलौकिक या किसी विलक्षण कार्य या घटनासे उत्पन्न होती है। **भागी**=भाग या हिस्सा पानेवाला, हिस्सेदार, भोगनेवाला। **लागी**=लिये। **प्रभाऊ** (प्रभाव)=महिमा, महत्त्व।

अर्थ—(सरस्वती) देवताओंकी विनती सुनकर खड़ी पछता रही है (कि हाय!) कमलवनके लिये मैं हेमन्त-ऋतु वा पालाकी रात हुई॥ १॥ यह देख देवता फिर विनती करके कहने लगे—हे माता! आपको इसमें किंचित् भी दोष न लगेगा॥ २॥ श्रीरामचन्द्रजी तो दु:ख-सुखरहित हैं। तुम तो स्वयं रामचन्द्रजीकी यह सब महिमा जानती हो[2]॥ ३॥ जीव अपने कर्मवश सुख-दु:ख भोगता है। अत: आप देवताओंके हितके लिये अयोध्याको जाइये॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुनि सुर बिनय'* अर्थात् राज्यभंग और वनगमन करानेका आग्रह सुनकर। (ख)

---

१. राजापुर, काशीराज, भा० दा०, ना० प्र० इत्यादिसे प्राचीन पाठ यही सिद्ध होता है। कुछ छपी पुस्तकोंमें 'रघुवीर सुभाऊ' पाठ है।

२. कुछ लोग यह अर्थ करते हैं—(१) 'यह सब तुम रामजीके प्रभावसे जानती हो।' यथा—'तुम्हरेहि भजन प्रभाव अघारी। जानौं महिमा कछुक तुम्हारी॥' अथवा, (२) 'तुम जानती हो कि (यह) सब (सारा ब्रह्माण्ड) श्रीरामजीके प्रभावसे (स्थित) है, अत: श्रीरामजी तो हर्ष-विषादरहित हैं। श्रीरामजीका सब प्रभाव तो कोई जान ही नहीं सकता। वीरकविजी अर्थ करते हैं कि 'तुम सब तरह रघुनाथजीका प्रभाव जानती हो।'

'ठाढ़ि पछताती'—भाव कि देवताओंके आवाहनसे मैं यहाँ क्यों आ गयी? मैं व्यर्थ ही यहाँ आयी। अब न तो देवकार्य करते बने और न नहीं करते लौटते ही बने। (***'ठाढ़ि'*** शब्दसे ज्ञात होता है कि देवता स्वार्थवश ऐसे आर्त और आतुर हैं कि उन्होंने सरस्वतीको बुलाकर आसन भी न दिया, जैसे ही वह आयी ये अपना दुखड़ा सुनाने लगे)—***'रहइ न आरतके चित चेतू', 'आरत काह न करइ कुकरमू'*** यहाँ चरितार्थ हुआ। क्या पछताती है यह आगे कहते हैं। (ग) ***'भइउँ सरोज बिपिन हिमराती'*** इति। कमलवनको मैं पालाकी रात हुई। अर्थात् अवधवासी कमलके समान प्रफुल्लित हैं, रामराज्य भंग करनेसे सब सूख जायँगे। यहाँ अयोध्या तालाब है, पुरवासी कमल हैं। पुरवासी बहुत हैं अतः उन्हें सरोजवन कहा। कमल सूर्यका स्नेही है, वैसे ही समस्त पुरवासी श्रीरामजीके स्नेही हैं। श्रीरामजी सूर्य हैं। कमल सूर्यके प्रकाशसे, सूर्योदय देखकर खिलते हैं, वैसे ही पुरवासी इस समय श्रीरामराज्याभिषेक सुनकर विकसित हुए हैं। (श्रीरामराज्याभिषेकका भंग करना रात्रि करना है और रामवनगमन कराना पाला डालना है। हिम-ऋतुमें बहुत शीत पड़ती है जिससे कमल सूख जाते हैं और उसमें भी यदि पाला पड़ा तो कमल बिलकुल झुलस जाते हैं। यही दशा पुरवासियोंकी हो जायगी) यह अपराध मुझे ही करना पड़ेगा इसीका पछतावा है। (यहाँ विघ्न डालनेका पश्चात्ताप प्रस्तुत वृत्तान्त है, उसे न कहकर यह कहना कि मैं हिमरात्रि हुई अर्थात् उसका प्रतिबिम्ब मात्र कहना 'ललित अलंकार' है।)

टिप्पणी—२ ***'देखि देव......'*** इति। (क) ***'देखि'*** से ज्ञात होता है कि देवताओंने उसका पछताना देखा। उसकी दशा देखकर (उसको पश्चात्ताप करते हुए देख या समझकर) वे जान गये कि यह नहीं करना ही चाहती है अतः वे घबड़ा गये कि यह कहीं चल न दे, लौट न जाय। इसीसे वे ***'पुनि कहहिं निहोरी।'*** (ख) ***'पुनि'***—एक बार प्रथम ही विनती करके कह चुके हैं, अब दुबारा करते हैं अतः 'पुनि' शब्द दिया। (***'निहोरी'*** शब्दमें कृतज्ञता, एहसान—उपकार जनाते हुए विनयका अभिप्राय रहता है। अतः ***'कहहिं निहोरी'*** का भाव यह है कि हम जन्मभर आपका उपकार मानेंगे, आप हमारे लिये अयोध्यामें जायँ)। (ग) ***'मातु तोहि नहिं थोरिउ खोरी'***—इससे जान पड़ता है कि देवताओंने अनुमान किया कि वह अपनेको दोष लगनेको पछताती है (इस कार्यमें वह अपना अपराधजनित दोष समझ रही है)। अतएव वे उसका समाधान करते हैं कि ***'मातु तोहि....'***, आपको कुछ भी दोष न लगेगा (सत्य ही है। दोष तो लगा कैकेयीको। सब दोष उन्हींके मत्थे मढ़ा गया)।

टिप्पणी ३—***'बिसमय हरष रहित......'*** इति। (क) विस्मय (विषाद) और हर्ष जीवके धर्म हैं, यथा—***'हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥'*** (१। ११६) और श्रीरामजी हर्ष-विषाद रहित हैं (क्योंकि वे ब्रह्म हैं, जीव नहीं हैं)। (ख) ***'तुम्ह जानहु सब......'***—तुम सब रामजीका प्रभाव जानती हो कि वे समस्त ब्रह्माण्डोंके स्वामी हैं, उनको अयोध्याका राज्य पानेका न तो हर्ष है और न राज्यके छूटनेका विषाद। यथा—***'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥'*** (१। ११६), ***'की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥'*** (४। १), ***'भुवन अनेक रोम प्रति जासू। यह प्रभुता कछु बहुत न तासू॥'*** (७। २२), **'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।'** (मं० श्लो०) इस तरह श्रीरामजीकी ओरसे सफाई देते हैं, उनकी तरफसे उसे विश्वास दिलाते हैं कि उनको दुःख न होगा, तुम अवधमें जाकर उनके वनगमनका प्रयत्न करो। यह कहकर आगे अवधवासियोंके विषयमें सफाई देते हैं—***'जीव करम बस............'***।

नोट—एक महानुभावने यहाँ शंका करके कि 'यदि शारदा श्रीरामजीका सब प्रभाव जानती होती तो ब्रह्मा यह कैसे कह सकते थे कि ***'सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहिं जाना।'*** (१।१८६) तथा यह कैसे कहा गया कि ***'तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥'*** (७। ९१), ***'सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥'*** (१। १२) इत्यादि?' ***'तुम्ह जानहु सब.....'*** इस चरणका अर्थ दूसरी प्रकार किया है जो पूर्व पाद-टिप्पणीमें दिया गया है।

पर हमारी समझमें यहाँ शंकाकी कोई बात नहीं है। देवता स्वार्थसे अंधे होकर अपना काम बनानेके लिये सरस्वतीकी प्रशंसा कर रहे हैं, जिसमें वह प्रसन्न हो जाय। यह झूठी प्रशंसा है।

टिप्पणी—४ *'जीव करम बस'''' '* इति। (क) श्रीरामजी हर्षविषादरहित हैं, उनको दु:ख न होगा, यह ठीक है, पर समस्त अवधवासियोंपर तो घनी विपत्ति पड़ जायगी? इसपर कहते हैं कि जीव अपने कर्मोंके अधीन है, कर्मके वश होकर दु:ख-सुखका भागी होता है। यथा—***'करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥'*** (२१९।४) कोई किसीको दु:ख-सुख नहीं देता, यथा—***'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥'*** (९२।४) (जब जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है, इसमें किसी दूसरेका किंचित् भी दोष नहीं, तब तुम्हें दोष कैसे लग सकता है और उनको तुम दु:ख पहुँचानेवाली कैसे हो सकती हो? स्मरण रहे कि जीव ***'चेतन अमल सहज सुखरासी'*** है। मायाके वश हो जानेसे वह कर्माभिमानी हो गया, अपनेको कर्मोंका कर्ता मानने लगा। कर्तृत्वाभिमानी होनेसे ही वह बन्धनमें पड़ा, यथा— ***'सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मर्कट की नाईं॥''''तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥'*** (७।११७) अतएव मनुष्यको चाहिये कि कर्माभिमानी होकर कर्म न करे, जो कुछ करे वह कर्तव्य समझकर करे, किसी फलकी कामनासे न करे। निष्काम कर्म न हो सके तो कर्मोंको भगवान्‌को समर्पण कर दिया करे। इससे वह उसके परिणाम दु:ख, सुख, भवबन्धनसे बच जायगा)। (ख) ***'जाइय अवध देवहित लागी'***— भाव कि परहित करना परम धर्म है, यथा—***'परहित सरिस धर्म नहिं भाई।'*** आपको इस कार्यसे परम धर्मका लाभ होगा। (पुन: भाव कि हम सब देवता हैं और आप भी देवी हैं। सजातीयताके सम्बन्धसे भी हमारे साथ उपकार करना आपका कर्तव्य है, अवधवासी विजातीय हैं)।

बार बार गहि चरन सकोची। चली बिचारि बिबुध* मति पोची॥ ५॥
ऊँच निवासु नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥ ६॥
आगिल काजु बिचारि बहोरी। करिहहिं चाह कुसल कबि मोरी॥ ७॥
हरषि हृदय दसरथपुर आई। जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**सकोची**=संकोचमें डाल दिया, मुरव्वत, मुलाहजामें डाला। **निवास**=बैठनेका स्थान, रहन। **पोचि**=नीच, ओछी। **करतूती**= कर्तृत्व, कर्म, करनी। **पराइ**=दूसरेकी। **आगिल**=आगेका। **चाह**=इच्छा। **कुसल**=(कुशल) चतुर, प्रवीण। **दुसह**=जो कठिनतासे सही जा सके। **दशा**= फलित ज्योतिषके अनुसार मनुष्यके जीवनमें प्रत्येक ग्रहका नियत भोगकाल। दशा जन्मकालके नक्षत्रके अनुसार मानी जाती है। जैसे यदि जन्म कृत्तिका, रोहिणी वा मृगशिरा नक्षत्रमें होगा तो सूर्यकी दशा होगी। इत्यादि। प्रत्येक ग्रहकी दशाका फल अलग-अलग निश्चित है। जैसे, सूर्यकी दशामें चित्तका उद्वेग, धनहानि, क्लेश, विदेशगमन, बन्धन, राजपीड़ा इत्यादि। प्रत्येक ग्रहके नियत, भोगकाल वा दशाके अन्तर्गत भी एक-एक ग्रहका भोगकाल नियत है। जिसे अन्तर्दशा कहते हैं''''''। योगिनी, वार्षिका, लाग्निकी इत्यादि और भी अनेक दशाएँ हैं—(श० सा०)। ग्रहदशा अर्थात् रवि, शनि, मंगल, राहु इत्यादि ग्रह जन्मके, पिंगला, भ्रामरी, उलका, संकटादि दशा, वा क्रूर ग्रहकी दशा विंशोत्तरी इत्यादि ग्रहदशा।—(बैजनाथजी)।

अर्थ—देवताओंने बारंबार चरण पकड़-पकड़कर उसे संकोचमें डाल दिया। तब वह यह विचारकर चली कि देवताओंकी बुद्धि ओछी है॥ ५॥ इनका निवास तो उच्च है, पर करनी नीच है, वे दूसरेका ऐश्वर्य नहीं देख सकते॥ ६॥ किन्तु आगेका कार्य विचारकर कि चतुर कवि मेरी चाह (मेरा स्मरण) करेंगे॥ ७॥ ऐसा सोच करके वह प्रसन्न हृदयसे दशरथजीके नगरमें आयी, मानो दु:सह दु:ख देनेवाली ग्रह-दशा आयी हो॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'बार बार गहि'''' '* इति। (क) देवताओंने प्रथम ही बार-बार चरणोंपर पड़कर विनय की

* बिबिध—राजापुर।

थी, यथा—*'बारहिं बार पाय लै परहीं।'* (११। ८) जब वह न बोली, समय अधिक बीता, चित्तमें अत्यन्त सन्देह और घबराहट हुई कि हमारी इतनी विनय, निहोरा और पैरों पड़नेपर भी इसके मनमें दया न आयी, तब बार-बार चरण पकड़-पकड़कर उसे संकोचवश करने लगे। [चरण पकड़ना अत्यन्त दीनता प्रकट करता है। भाव कि हम जाने न देंगे, जबतक हमारा कार्य करनेको उद्यत न होगी। हम सब तुम्हारी शरण हैं, शरणकी लज्जा रखिये। देखिये, *'शरणागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि। ते नर पामर पापमय तिन्हहिं बिलोकत हानि॥'* (५। ४३) बारंबार ऐसा करनेसे वह संकोचमें पड़ ही गयी। (ख) *'चली बिचारि'*—अर्थात् देवकार्य करना स्वीकार कर लिया और उसकी पूर्तिके लिये चली] (ग) *'बिचारि बिबुध मति पोची'*— भाव कि मैं देवताओंकी स्वामिनी हूँ, मुझे संकोचमें डालकर अपना हित करते हैं अतः ये ओछी बुद्धिके हैं; यथा—*'जो सेवक साहिबहिं सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥'* (२६८। ३) अथवा, दूसरेका काम बिगाड़कर अपना हित करते हैं। अतएव *'मति पोची'* कहा। (पुनः भाव कि कहनेको तो ये विबुध अर्थात् विशेष बुद्धिमान् कहे जाते हैं, पर इनकी बुद्धि है बहुत ही नीच। पंजाबीजीका मत है कि 'विबुध' से जनाया कि सचमुच ये विगत-बुद्धि हैं। ये स्वयं तो नीच हैं ही, दूसरेको भी कलंकित करते हैं जो इनका कहा करे)। *'बिचारि'* शब्द देकर जनाया कि उसने मुँहसे कुछ न कहा, मनमें ऐसा विचार करती चली। [अ० रा० की सरस्वतीने तो स्पष्ट हामी भर ली थी । यथा—*'तथेत्युक्त्वा……।'* (२। २। ४६) वहाँ देवताओंने उससे इसे (विघ्न डालनेको) ब्रह्माकी आज्ञा बताया है। पाठक स्वयं विचार कर लें।]

टिप्पणी २—*'ऊँच निवासु नीच करतूती……।'* इति। (क) निवास ऊँचा है, स्वर्गमें रहते हैं और काम करते हैं नीच अर्थात् नरकवासियोंका । स्वर्गमें बैठकर नरकमें जानेका काम करते हैं। *'देखि न सकहिं पराइ बिभूती'*—अर्थात् दूसरेकी विभूतिका नाश चाहते हैं। यह मत्सर है। इससे जनाया कि इनमें मत्सर दोष बहुत रहता है। यथा—*'स्वर्गहु मिटत नसावत'* (विनय०) *'मति पोची'* से अन्तःकरणके और *'नीच करतूती'* से कर्मके मलिन अर्थात् भीतर-बाहर दोनोंसे मलिन जनाया। (*'ऊँच निवासु नीच करतूती'* में प्रथम 'विषम अलंकार' है)।

नोट—१ विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि 'इस सम्पूर्ण दोषारोपणको श्रीगोसाईंजीने देवताओंके ऊपर रखनेके बहानेसे मनुष्यकी चित्त-वृत्तियोंका प्राकृतिक घटनाओंद्वारा उद्वेग सूचित करनेके साथ अनन्त परमात्माकी निश्चेष्ट अवस्थाका पूर्ण प्रतिपादन बड़ी सुन्दरतासे किया है।'

नोट—२ *'आगिल काजु बिचारि बहोरी……'* इति। अब हर्ष क्यों? देवताओंने स्वार्थ-साधनहेतु इसकी खुशामद की थी, अयोध्यावासियोंपर इस मंगल अवसर पर विपत्ति डालनेसे, उसे भय था कि हमारी पूजा-प्रतिष्ठा उठ जायगी, बनी-बनायी मर्यादा जाती रहेगी, अतः देवताओंको *'ऊँच निवासु नीच करतूती'* कहा। अब देवकार्य करनेमें हर्ष है, स्वविचार इसका हेतु है। चली तब यह विचार जीमें स्फुरित हुआ कि राम-वनवास होनेसे लीला प्रारम्भ होगी, इस रघुपतिलीलाको कवि लिखना चाहेंगे तब वे हमारा आराधन और आवाहन किया करेंगे, मैं उनकी जिह्वा और हृदयपर विराजमान होकर रामचरित कहूँगी—इससे जगत्में मेरा यश होगा; अतः वह प्रसन्नतापूर्वक नगरको आयी। पंजाबीजी लिखते हैं कि अब तो कार्यका बीड़ा ही उठाया। इससे हर्षपूर्वक करना ही चाहिये। पुनः यहाँ मन्थरा कार्यके योग्य पात्र मिल गयी, इससे प्रसन्न हुई।

टिप्पणी—३ (क) *'आगिल काजु बिचारि……'* इति। *'आगिल काजु'* अर्थात् श्रीरामवनगमनसे पृथ्वीका भार उतरेगा, सब जीव सुखी होंगे इत्यादि विचार आनेसे हर्ष हुआ। *'करिहहिं चाह कुसल कबि मोरी'* इस कथनसे पाया गया कि प्रथम सरस्वतीको शंका हुई थी कि रामराज्य भंग करनेसे कवि मेरा स्मरण न करेंगे, पर पुनः विचार करनेपर उसने निश्चय किया कि आगेका कार्य समझकर कवि मेरी चाह करेंगे, वे सोचेंगे कि सरस्वतीने बहुत अच्छा काम किया है, रामवनगमनसे समस्त विश्वका कल्याण हुआ। (ख) *'दशरथपुर'*—भाव कि इस पुरके पति दशरथ महाराज हैं उनके ऊपर दुःसह दुःखदायी दशा आयी, पीछे पुरपर आयी।

[यह दशा श्रीदशरथजी और उनके पुर दोनोंपर आयी। दशरथ-पुर=दशरथ और दशरथपुर। प्रथम दशरथपर आयी अत: प्रथम उनका नाम दिया। 'रामपुर' न कहा क्योंकि उसमें तो अनर्थ हो ही नहीं सकता (प्र० सं०)]

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'हरषि हृदय दशरथपुर····'* इति। *'सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद्र मुखचंदु निहारी॥'* अत: सरकारकी ग्रहदशा ही सबकी ग्रहदशा है। सो बुधकी महादशामें केतुके साथ शुक्रकी अन्तर्दशाके रूपमें आयी। श्रीरामजीका जन्म बृहस्पतिकी महादशामें हुआ, चार वर्षतक वही रही। तत्पश्चात् शनैश्चरकी महादशा उन्नीस वर्षके लिये आयी। चौबीसवें वर्षमें बुधकी महादशा लगी। सत्ताईसवेंमें शुक्रकी अन्तर्दशा आ गयी। शुक्र केतुके साथ थे। इसलिये यह दु:सह दु:खदायी दशा थी। इसने पदच्युत करके ही माना।

नोट ३—सरस्वती मंगलरूपा है अत: सरस्वतीरूपसे अमंगल कहते नहीं बनता, क्योंकि वह दु:खद होती नहीं। अतएव ग्रहदशारूपसे अमंगल कहते हैं। इसीसे उसकी उत्प्रेक्षा ग्रहदशाकी की गयी। 'ग्रहदशा' से साधारणतया सब या कोई भी क्रूर (बुरे) ग्रहकी दशाका अर्थ होता है; पर यहाँ 'ग्रह' से शनिकी दशा गृहीत होगी जो साढ़े सात वर्षकी होती है, इसमें विशेष दु:ख होता है। यह भाव 'दु:सह दुखदाई' से निकलता है। और आगे भी कहा है—*'अवध साढ़साती तब बोली।'* यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दो०—नामु मंथरा मंदमति चेरी कैकइ केरि।
अजस पेटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि॥ १२॥

शब्दार्थ—**चेरी**=दासी। **अजस**=अयश, अपयश। **पेटारी** (पिटारी, पेटिक)=संदूकची, टेपारी। ये प्राय: बाँसकी खँपाचियोंके बने संदूकनुमा ढक्कनदार डब्बे होते हैं। **गिरा**=वाणी, सरस्वती। **फेरि**=पलटकर, उलटकर।

अर्थ—मन्थरा नामवाली मन्दबुद्धि जो कैकेयीकी दासी थी उसे अपयशकी पिटारी बनाकर सरस्वती उसकी बुद्धि फेरकर चली गयी॥ १२॥

नोट—१(क) *'नामु मंथरा मंद····'*—भाव कि इसका नाम और मति दोनों मन्द हैं। इसका नाम मन्थरा पड़ा, क्योंकि यह पूरी मन्थर अर्थात् मट्ठर, मन्द वा सुस्त, टेढी एवं नीच है। ये सब अर्थ 'मंथर' शब्दके हैं। यह तीन जगहसे टेढ़ी थी और मन्दबुद्धि थी। यह सत्योपाख्यानमें बताया गया है। पंजाबीजी कहते हैं कि *'मंथ'* विलोडने धातु है। विलोडन=इष्टका प्रतिघात। मन्थरा=इष्टका प्रतिघात करनेवाली, यह नाम ही दुष्ट है। विलोडन बिलोनेको भी कहते हैं। अर्थात् मथना, चारों ओरसे खूब हिलाना, उथल-पुथल, अस्त-व्यस्त करना। ये अवगुण जिसमें हों वह 'मंथर' है। (ख) *'मंथरा···चेरी कैकइ केरि'*—मन्थराकी कथा सत्योपाख्यान पूर्वार्ध (अ० १०। १५) में और कैकेयीके विवाह तथा मन्थरा दासीका उनके साथ अयोध्यामें आनेकी कथा (अ० ५ से ८) में है। इन कथाओंसे ज्ञात होगा कि मन्थरा कौन थी, उसको ही विघ्न डालनेके लिये क्यों चुना गया?

'मन्थरा'—श्रीराम-वनवासके पश्चात् लोमशऋषि अवध आये। तब लोगोंने उनसे प्रश्न किया कि राम-चन्द्रजीमें योगी और मुनि रमण करते हैं, उनके राज्यमें मन्थराने क्यों विघ्न डाला? उत्तरमें उन्होंने उसकी पूर्वजन्मकी कथा सुनायी जो यों है। १—यह प्रह्लादके पुत्र विरोचनकी कन्या थी। जब विरोचनने देवताओंको जीत लिया तब देवताओंने विप्ररूप धरकर उससे दानमें उसकी शेष आयु माँग ली। दैत्य बिना सरदारके हो गये। तब मन्थराने दैत्योंकी सहायता की, देवता हारकर इन्द्रके पास गये, उन्होंने स्त्रीका वध करनेसे इनकार किया। तब वे भगवान् विष्णुकी शरण गये। वे शस्त्र धारण किये हुए समरभूमिमें आये और इन्द्रको उसके मारनेकी आज्ञा देते हुए कहा कि पापिनी आततायिनीका वध उचित है। आज्ञा पाकर इन्द्रने वज्र चलाया। वह चिल्लाती हुई पृथ्वीपर आ गिरी, कूबड़ निकल आया। घरपर सबने उलटे उसीको बुरा-भला कहा।

मंथरा पीड़ासे व्यथित क्रोधमें भरी रोती बरबराती हुई, कि विष्णु पापात्मा हैं हमको इन्द्रसे मरवाया,

पहले भृगुकी स्त्रीको मारा, फिर वृन्दाको छला, नृसिंह हो प्रह्लादके पिताको छला; इसी तरह सदैव कपट व्यवहार करके देव-कष्टको दूर किया करते हैं, उसी दशामें मर गयी। मरते समय विष्णुभगवान्‌से और असुरोंसे (क्योंकि इन्होंने समरमें इसका साथ छोड़ दिया था और उनकी स्त्रियोंने उलटे इसीको चार बातें सुनायी थीं) बदला लेनेकी वासना रही; इससे वह दूसरे जन्ममें कैकेयीकी दासी हुई। उस पुराने वैरको निकालनेके लिये उसका जन्म हुआ, क्योंकि उसने मनाया था कि भगवान् ऐसी जगह जन्म दें कि उनके समीप रहकर उनके कार्यमें विघ्न डालूँ। मंथरा नाम पड़ा क्योंकि यह पूरी मंथर है, तीन जगहसे टेढ़ी है और मन्दबुद्धि है।

'चेरी कैकइ केरि'—एक बार नारदजी चक्रवर्ती महाराजके पास आये और उनसे राजा केकय (वर्तमान काकेशिया वा काकेशस और किसी-किसीके मतसे काश्मीर)-की लड़की कैकेयीकी सुन्दरताकी प्रशंसा करते हुए बोले कि उसकी हस्तरेखाओंसे सिद्ध होता है कि वह एक बड़े तपस्वी धर्मात्मा पुत्रकी माता होगी, इससे विवाह कीजिये, पुत्र होगा। अब राजाको चिन्ता हुई कि उससे ब्याह क्योंकर हो। धात्री योगिनीने इसका बीड़ा उठाया। योगिनीने केकयदेशमें आ, कैकेयीका अपने ऊपर विश्वास जमा, उससे दशरथ महाराजके रूप, तेज, बल, ऐश्वर्यकी प्रशंसा कर, उसको रिझा लिया।······होते-होते राजा केकयको खबर हुई। उन्होंने सभामें गर्गाचार्य इत्यादिसे सम्मति ली, गर्गजीने रावणके वधकी भविष्य कथा उनको सुनायी। तब केकयराजने गर्गजीके द्वारा चक्रवर्ती महाराजके पास यह सन्देश (समाचार) भेजा कि यदि आप यह प्रतिज्ञा करें कि केकयीका पुत्र राज्यका उत्तराधिकारी होगा तो फलदान कर दिया जाय, राजा यह समाचार सुन सोचमें पड़ गये, वशिष्ठ आदिको बुलाकर सम्मति ली। वशिष्ठजीने सलाह ब्याह कर लेनेका दी, यह कहते हुए कि अभी उसकी चिन्ता क्या करना; पुत्र धर्मज्ञ होगा; इससे वह कोई अड़चन न डालेगा। अतएव ब्याह हुआ, मंथरा दासी कैकेयीके साथ अवध आयी।

पं० रामकुमारजी इसका पूर्व नाम दीर्घजिह्वा और विनायकीटीकाकार दुन्दुभी लिखते हैं।

टिप्पणी—१ ***'नामु मन्थरा मंद······'*** इति। भाव कि अयोध्याजीमें रामविमुख श्रीरामजीसे विरोध रखनेवाली एक यही थी, दूसरा कोई न था। फिर यह मन्दबुद्धि है। मन्दबुद्धिकी मति शीघ्र फिरती है, दिव्य बुद्धि जल्दी नहीं फिरती। यथा—***'बिधि हरि हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी॥ सो मति मोहि कहत करु भोरी। चंदिनि कर कि चंडकर चोरी॥'*** (२९५। ५-६) उसपर भी यह 'चेरी' (दासी) है अर्थात् नीच है। इससे उसकी ही मति फेरी, उत्तम स्त्री-पुरुषोंको अपयश देनेका साहस न पड़ सका। पुनः भाव कि सरस्वती जानती है कि राजा केकयीके वशमें हैं, उन्होंने उसे दो वरदान देनेको कहे हैं। मन्थरा केकयीकी चेरी है और प्रिय है, यदि मैं चेरीकी मति फेर दूँ तो वह केकयीकी मति फेर देगी, बस काम बन जायगा। अतः चेरीकी मति फेरी।

नोट—२ ***'चेरी कैकइ केरि···'*** वाल्मीकीय रामायण (२—३५) में सुमन्तजीने केकयीको चुभनेवाले ये शब्द कहे थे—

'जब तूने अपने पतिकी यह दशा कर डाली तो अब तू और क्या करेगी? तेरी माता तो ऐसी ही थी तब तू क्यों वैसी न होती? केकयराजको वरदान था कि पक्षियोंकी बोली समझ लें। एक बार जिरम्भ नामक पक्षीकी बोली समझकर वे हँसे। इसपर रानीने हँसनेका कारण पूछा। वे बोले कि हमें बतानेकी आज्ञा नहीं, बतानेसे हमारी मृत्यु हो जायगी। रानीने न माना और क्रुद्ध होकर कहा कि चाहे मरो या जियो, जो हो, पर हमको बता दो। राजा असमंजसमें पड़ गये, उस समय वही साधु आये जिसका इन्हें वरदान था और इनसे कहा कि स्त्री चाहे मरे, चाहे नष्ट हो जाय, पर बात कदापि न बताना। तब राजाने उसको निकाल दिया। तू भी वैसी ही निकली। (श्लोक १७—२६) तूने भी दुर्जनोंके मार्गपर पैर दिया है, राजाको मोहित कर उनके द्वारा निन्दित काम करा रही है। यह लोकोक्ति मुझे बिलकुल ठीक मालूम पड़ती है, कि पुत्र पिताके समान होते हैं और लड़कियाँ माताके समान। यथा—'**पितॄन्समनुजायन्ते नरा मातरमंगनाः।**' (२। ३५। २८) इस कथाके आधारपर भाव यह निकलता है कि जैसे केकयराजकी स्त्रीको अपने हठके आगे अपने पतिके मरनेकी परवा न थी, वह दुर्जनोंके मार्गपर

चली थी वैसी ही उसकी कन्या भी हुआ ही चाहे। जब केकयी ऐसी है तो उसकी दासी भी वैसी ही होगी, इसमें सन्देह नहीं।

वाल्मीकिजी लिखते हैं कि मन्थरा केकयीके मातृकुलकी दासी थी, उसके जन्म आदिका पता न था। वह केकयीके ही साथ रहती थी। यथा—**'ज्ञातिदासी यतो जाता कैकेय्या तु सहोषिता।'** (२। ७। १) इस प्रकारकी दासीका व्यवहार घरके और लोगोंके साथ कैसा रहता है, यह हिंदू गृहस्थमात्र जानते हैं। कैकेयीके मातृकुलकी नीच दासी होनेसे इसे कौसल्याजीसे चिढ़ होना स्वाभाविक है। अतः मन्थराको छोड़ इससे अधिक योग्य पात्र सरस्वतीको और कौन मिल सकता? (विशेष आगे टिप्पणी २ में देखिये)।

टिप्पणी—२ ***'अजस पेटारी ताहि करि⋯'*** इति। भाव कि सारा अपयश इसी पिटारीमें भरा रहेगा। जो कोई इसे रखेगा और जो खोलेगा उसे भी अपयश मिलेगा। इसको रखने, (इसका संग करने) और इसको खोलनेवाली कैकेयी हैं। इसीसे ***'चेरी कैकइ केरि'*** कहा। पिटारीके नीचे भागमें वस्तु रहती और ऊपरका भाग (पीठ) ऊँचा होता है वैसे ही मन्थराके पेटमें अपयश भरा है और पीठ ऊँची है, कूबड़ उठा हुआ है।

नोट—३ (क) इसीको अपयशकी पिटारी बनाया। क्योंकि बुद्धिके योग्य ही देवमाया लगती है। यथा—***'भरत जनक मुनिजन सचिव साधु सचेत बिहाइ। लागि देवमाया सबहि जथा जोगु जनु पाइ॥'*** (३०२) अवधभरमें एक यही मन्थरा कुबुद्धि, कुजाति और विदेशकी थी, अवगुणखानि भी दूसरी ऐसी न थी। कैकेयीजीने स्वयं कहा है ***'काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि। तिय बिसेषि पुनि चेरि⋯⋯।'*** (१४) इससे इसीको अपयशकी पिटारी बनाया। (ख) ***'गई गिरा'***—बुद्धि फेरकर चली गयी, जिसमें यह अनर्थ देखनेमें न आवे। अवधपर विपत्ति देखनेको समर्थ न हुई। (रा० प्र०) ***'गई'*** से जनाया कि मन्थराकी जिह्वा वा मुखमें नहीं बैठी, बुद्धि फेरकर चली गयी। (पं० रा० कु०)। (ग)☞ अ० रा० में देवताओंने ही युक्ति भी बतायी है कि प्रथम तुम मन्थरामें प्रवेश करना और फिर कैकेयीमें। तब सरस्वतीने 'बहुत अच्छा' कहकर वैसा ही किया। यथा—**'मन्थरां प्रविशस्वादौ कैकेयीं च ततः परम्।'** (२। २। ४५) **'⋯प्रविवेशाथ मंथराम्॥'** (४६)

नोट—४ कैकेयी क्यों अपयशकी पात्र बनायी गयी, उनको तो रामचन्द्रजी परम प्रिय थे? इस विषयमें पुराणान्तर्गत कई कथाएँ हैं। सत्योपाख्यानके अ० २७ में यह कथा है कि एक बार गन्धर्वोंका राजा विश्वावसु अप्सराओंसहित अवधमें आया, इसके गानसे सब मोहित हो गये। श्रीराम-लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नजी उसकी गोदमें जा बैठे, नहीं उतरते थे; पर वह बिना इन्द्रकी आज्ञाके रुकना न चाहता था। कैकेयीजी इस बातपर रुष्ट हुईं और उन्होंने इन्द्रको जाबेजा कहा। इन्द्रको समाचार मिला तो उसने प्रतिज्ञा की कि हम इसका बदला लेंगे। राज्यरस-भंगका सारा दोष इसीके सिर पड़ेगा। गोस्वामीजीने अपयशका कारण ***'को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई॥'*** बताया है।

श्रीरणबहादुरसिंहजी लिखते हैं कि एक बार कैकेयीजीके पिताने शिकार करते समय एक मृगका वध किया तब उसकी मृगी रोती हुई अपनी माताके पास गयी। उसने सब वृत्तान्त सुन राजाके निकट आकर कहा कि यह मेरा जामाता है, तुम इसे छोड़ दो मैं इसे जीवित कर लूँगी कारण कि मैं यक्षिणी हूँ मेरे भयसे यह निर्भय फिरता है। राजाने यह वचन सुन उसको तलवार मारी। तब उसने मरते समय कहा कि राजन्! जैसे तुमने मेरा प्राण लिया इसी प्रकार मैं तुम्हारे जामाताका प्राण लूँगी। वही मृगी यह मन्थरा हुई।⋯ [यह कथा कहाँसे ली यह नहीं लिखा है। (मा० सं०)]

दीख* मंथरा नगरु बनावा। मंगल मंजुल बाजु बधावा॥ १॥
पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। राम तिलक सुनि भा उर दाहू॥ २॥
करइ बिचारु कुबुद्धि कुजाती। होइ अकाजु कवनि बिधि राती॥ ३॥
देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिम गँव तकइ लेउँ केहि भाँती॥ ४॥

* देखि—लाला सीताराम। दीख—गी० प्रे०, को० रा०, रा० प०।

शब्दार्थ—**बनावा**=बनाव, शृंगार, सजावट, सजाया हुआ। **बाजु**=बज रहे हैं। **काह**=क्या। **दाह**=जलन। **अकाज**=विघ्न। **कवनि**=कौन, किस। **मधु**=शहद, शहदका छत्ता। **किराती**=भीलनी। **गँव**=घात, दाँव, अवसर।

अर्थ—मन्थराने देखा कि नगर सजाया हुआ है, सुन्दर मांगलिक बधावे बज रहे हैं वा सुन्दर मंगल-रचना है, सुन्दर मंगल हो रहे हैं और बधावे बज रहे हैं॥ १॥ उसने लोगोंसे पूछा कि क्या उत्सव है? (उत्तरमें) 'रामतिलक' सुनकर उसके हृदयमें दाह हुआ॥ २॥ वह दुर्बुद्धि नीच जातिवाली दासी विचार करने लगी कि किस प्रकारसे आज रात्रिहीमें काम बिगड़े (विघ्न हो)॥ ३॥ जैसे कोई कुटिल किरातिनी शहदका छत्ता लगा हुआ देखकर घात लगाये कि इसे किस प्रकार लूँ॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'दीख मंथरा·····'* इति। (क) सरस्वतीने मन्थराकी बुद्धि फेर दी, तब उसके हृदयमें नगर देखनेकी इच्छा हुई। वह अटारीपर चढ़ी और वहाँसे नगरकी सजावट देखी। यथा—'**सापि कुब्जा त्रिवक्रा तु प्रासादाग्रमथारुहत्। नगरं परितो दृष्ट्वा सर्वतः समलङ्कृतम्॥**' (अ० रा० २। २। ४७) वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि वह अपनी इच्छासे ही बिना किसी कारणके महलके कोठेपर चढ़ी, यथा—'**प्रासादं चन्द्रसंकाशमारुरोह यदृच्छया।**' (२। ७। १) श्लोक २ से ६ तक बनावका वर्णन है। सड़कें चन्दन, अरगजा आदिके जलसे सींची हुई हैं, कमलके पुष्प बिछाये गये हैं। नगरी चारों दिशाओंमें वेदघोषसे मुखरित हो रही है, इत्यादि। (ख) ***'नगरु बनावा'***, यथा—***'सफल रसाल पूगफल केरा। रोपहु बीथिन्ह पुर चहुँ फेरा॥ रचहु मंजु मनि चौकें चारू। कहहु बनावन बेगि बजारू॥ ध्वज पताक तोरन कलस सजहु तुरग रथ नाग॥'*** (दो० ६) जो गुरुजीकी आज्ञामें कह आये हैं। (ग) ***'मंजुल मंगल'***—सुन्दर मंगल साजे गये हैं, यथा—***'लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि॥'*** (८) (घ) ***'बाजु बधावा'*** यथा—***'सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥'*** (७। ३)

टिप्पणी—२ ***'पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू।·····'*** इति। (क) लोगोंसे पूछा, क्योंकि स्त्रियाँ अभी बाहर नहीं निकली हैं। तिलकके समय मंगल लेकर निकलेंगी। ['क्योंकि लोग रचना कर रहे हैं अतः उनसे पूछा। स्त्रियाँ घरके भीतर हैं, इससे उनसे पूछना न कहा।' (प्र० सं०) वाल्मी० रा० और अ० रा० में श्रीरामजीकी धायसे पूछा है। यथा—'**अविदूरे स्थितां दृष्ट्वा धात्रीं पप्रच्छ मन्थरा।**' (वाल्मी० २। ७। ७) मानसमें ***'लोगन्ह'*** बहुवचन शब्दसे सूचित होता है कि बाहर निकलकर लोगोंसे पूछा। '**पूछेसि**' से सूचित किया कि वह बनाव देखकर विस्मित हुई तब कोठेसे उतरकर उसने पूछा। यथा—'**अयोध्यां मन्थरा दृष्ट्वा परं विस्मयमागता।**' (वाल्मी० २। ७। ६) '**सर्वोत्सवसमायुक्तं विस्मिता पुनरागमत्।**' (अ० रा० २। २। ४८) (ख) ***'काह उछाहू'***—अर्थात् नगर क्यों सजाया गया? राममाता लोगोंको बहुत दान क्यों कर रही हैं? सब लोग क्यों बहुत प्रसन्न हैं? राजा क्या कुछ करनेवाले हैं? इत्यादि जो वाल्मीकीय आदिमें है वह सब भी इसमें आ गया।] (ग) ***'राम तिलक सुनि भाउर दाहू'***—भाव कि नगरभरको तो रामतिलक सुनकर हर्ष हुआ था, यथा—***'राम राज अभिषेक सुनि हिय हरषे नर नारि।'*** पर मन्थराकी मतिको सरस्वती फेर गयी थी, इससे उसके हृदयमें दाह हुआ। (पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि अग्निपुराणकी कथा है कि बचपनमें श्रीरामजीने मन्थराका पैर पकड़कर घसीटा था, तबसे वह बुरा मानती थी। अतः सबको तो रामतिलक सुनकर आनन्द हुआ, पर इसके हृदयमें दाह हुआ। रामविरोधके कुछ कारण पूर्व लिखे जा चुके हैं। यहाँ 'तृतीय उल्लास अलंकार' है)।

टिप्पणी—३ ***'करइ बिचारु कुबुद्धि·····'*** इति। (क) ***'कुबुद्धि'*** से भीतरकी और ***'कुजाति'*** से बाहरकी मलिन जनाया। अथवा, (एक तो वह स्वयं मन्द थी, उसपर भी) सरस्वतीने उसकी बुद्धि फेर दी (उसे मन्दतर कर दिया) अतः कुबुद्धि कहा। 'कुजाती' का भाव कि सब अवधपुरवासी सुजाति हैं, यथा—***'मनिगन पुर नर नारि सुजाती'***, पर ***'मन्थरा'*** कुजाति है। यदि इसे कुजाति न कहते तो यह भी सुजाति ही ठहरती। (ख) ***'होइ अकाजु कवनि बिधि राती।'*** इससे ज्ञात होता है कि किसीसे सुना है कि कल सबेरे तिलक है; इसीसे रातभरमें काम बिगाड़नेका विचार कर रही है।

पं० वि० त्रिपाठीजी—सबेरा होते ही अभिषेकोत्सव प्रारम्भ हो जायगा, फिर कौन किसकी सुनता

है? अत: कोई विधि ऐसी होनी चाहिये, जिसमें रातमें ही काम बिगड़ जाय। वह विधि ठीक करके भरतजीकी माताके पास गयी। यह समय वही है जब सब माताओंको अभिषेकका समाचार लगा (मिला)। परंतु यहाँसे दूसरी कथा प्रारम्भ होती है; अत: कवि भरतकी माताके पास समाचार पहुँचनेकी बात पीछे लिख रहे हैं।

टिप्पणी—४ *'देखि लागि मधु·····'* इति। (क) जैसे कुटिल किराती मधु-(का छत्ता) लगा देखकर गँव ताकता है कि किस भाँतिसे मधु लूँ, वैसे ही मन्थरा गँव ताक रही है कि किस प्रकार रात्रिभरमें काम बिगड़े। 'कुटिल' देहली-दीपक है, मधु और किराती दोनोंके साथ है। मधुको कुटिल कहनेका भाव कि बड़ी मक्खीका मधु कठिन होता है, उसे कोई जल्दी ले नहीं सकता। ['कुटिलमधु' से सारंग मक्खीका मधु समझना चाहिये। यह मक्खी कोसोंतक पीछा करती है, पानीमें भी जाकर काटती है। मन्थरा रात्रिभरमें ही विघ्न डाल देना चाहती है और सारंग मधु भी रातमें ही निकाला जाता है। *'कुटिल किराती'* कहनेका भाव कि अवधमें दोहीको किराती वा किरातिनी कहा है—एक तो मन्थराको (यहाँ), दूसरे कैकेयीको, यथा—*'बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही।'* (८४। ३) कैकेयी सीधी किरातिनी है, और मन्थरा कुबड़ी है, कुजाति है; इसीसे कैकेयी को केवल 'किरातिनी' कहा और इसको कुटिल किराती अथवा, शिकारी अंग टेढ़ा करके तथा टेढ़ी तिरछी दृष्टिसे शिकार अच्छी तरह देखते हैं, इससे तीन जगहसे टेढ़े अंगवाली होनेसे मन्थराको कुटिल किराती कहा। (रा० प्र०, प्र०सं०)] (ख) यहाँ अयोध्यापुरी वन है, राजमहल छत्ता है, रामराज्याभिषेक रस (मधु) है, (यह रस राजा, रानी तथा पुरवासियोंके सुकृतरूपी फूलोंका है। रा० प्र० यथा—*'कबहिं लगन मुद मंगलकारी॥ सुकृत सील सुखसींव सुहाई ।'* (५२।७।८) अवधवासी मधुमक्खी हैं; यथा—*'कहहिं परस्पर पुर नर नारी।··· बिकल मनहु माखी मधु छीने।'* (७६।३-४) मन्थरा कुटिल किराती है।

नोट १—किराती गँव ताकती है कि किस विधिसे मधु मिल जाय, मक्खियाँ पीछा न करें, अत: रात्रिमें कम्बल ओढ़कर इत्यादि विधिसे मधु प्राप्त कर लेती है। वैसे ही कूबरी मन्थरा रात्रिमें ही गुरु-मन्त्री-नगरनिवासियों आदिकी आँख बचाकर कैकेयीरूप कम्बलकी ओट लेकर रामराज्याभिषेकरूपी मधु स्वयं ही निकालकर भरतजीको देनेका प्रयत्न विचारती है। (प्र० सं०, वै०, वि० टी०) गँव यह ताका कि श्रीभरतजी नानाके यहाँ केकयदेशमें हैं, इस समय यह कहनेका अच्छा मौका है कि भरतको बाहर भेजवाकर कौसल्या अपने पुत्रको राज्य दिलाती हैं (प्र० स०), कैकेयीको अभी उत्सवका समाचार नहीं मिला है, मैं ही जाकर उनसे कहूँ और यह कहूँ कि पंद्रह दिनसे उत्सव हो रहा है और तुमसे छिपाया गया है। इत्यादि वचनोंसे उन्हें अपने वशमें करके दो थाती वरदानोंद्वारा राज्यभंग करा दूँ।—यह सब गँव है। विशेष प्रकृतिचित्रणमें देखिये।

टिप्पणी—५ *'जिमि गँव तकइ'* इति। किरातिनी यदि गँवसे मधु न ले तो मक्खियोंसे मधु न ले सके, मक्खियाँ उसे मार ही डालें, वैसे ही मन्थरा यदि गँवसे अर्थात् अवसर देख करके राज्यभंग न करे, तो अवधवासियोंसे राज्यभंग न करने पावे, वे उसे मार ही डालें। इसीसे गँव ताकती है। (वि० टी० कार लिखते हैं कि गोस्वामीजी अयोध्याके राज्यकी मधुके छत्तेसे तुलना इसलिये करते हैं कि राज्यका पाना विघ्नादिसे बचाकर, सावधान रक्षकोंसे छुड़ाकर, बड़ी कठिनाईसे होता है, प्राप्त होनेपर फल सुखदायी होता है) यहाँ 'उदाहरण' अलंकार है।

नोट २— कैकेयीको किरातिनी कहा, सो ठीक है। किंतु मन्थराको 'किराती' कहनेका क्या कारण है? सम्भवत: इससे कि अपने पुरुषार्थसे कैकेयीको वशमें करके अपना मनोरथ सिद्ध करेगी।

मानस-मयंककार—जैसे किरातिनी, वृक्षपर मधुके छत्तेको लगा हुआ देखकर, लग्गी लगाकर रस निकाल लेती है और मक्खियाँ व्याकुल हो जाती हैं, वैसे ही मन्थरा किरातिनीने राजारूपी तरुपर राजतिलक समाजरूपी छत्तेको कैकेयीरूपी लग्गीसे खोदकर शहदरूपी राजसुखको ले लिया और मधुमक्खी-समान अवधवासी

व्याकुल हो गये, यथा—*'तन कृस मन दुख बदन मलीने। बिकल मनहुँ माखी मधु छीने॥'* (मानसतत्त्व-बोधमें इसीको यों कहा है—*'भूप वृक्ष अरु राज मधु चेरि किराितिनि जानि। बाँस केकयी करि हरी प्रजन मँवर दुख मानि॥'*)

प्रकृति-चित्रण

प्रोफे० पं० रामचन्द्र शुक्ल (काशी हिंदू विश्वविद्यालय)—स्त्रियोंकी प्रकृतिकी जैसी तद्रूप छाया इस काण्डमें हम देखते हैं, वैसी छायाके प्रदर्शनका प्रयत्नतक हम और किसी हिंदी कविमें नहीं पाते। नीची श्रेणीकी स्त्रियोंके सामने बहुत कम प्रकारके विषय आते हैं। पर मनुष्यका मन ऐसी वस्तु है कि अपनी प्रवृत्तिके अनुसार लगे रहनेके लिये उसे कुछ-न-कुछ चाहिये। वह खाली नहीं रह सकता। इससे वे अपने राग-द्वेषके अनेक आधार यों ही बिना कारण ढूँढ़कर खड़ा करती रहती हैं। यदि वे चार आदमियोंके बीच रख दी जायँ, तो हम बहुत थोड़े दिनोंमें देखेंगे कि कुछ तो उनके अनुरागके पात्र हो गये हैं और कुछ द्वेषके। मूर्ख स्त्रियोंकी यह विशेषता ध्यान देने योग्य है। अपने लिये राग और द्वेषका पात्र चुन लेनेपर वे अपने वाग्विलास और भाव-परिपाकके लिये सहयोगी ढूँढ़ती हैं? मन्थराका इसी अवस्थामें हम पहले-पहल दर्शन पाते हैं। न जाने उसे क्यों कौशल्या अच्छी नहीं लगती, कैकेयी लगती हैं। गोस्वामीजीने कारणका संकेत न देकर उसकी प्रवृत्तिको मूर्ख स्त्रियोंकी सामान्य प्रवृत्ति नारीचरितके अन्तर्गत रखा है। रामके अभिषेककी तैयारी देखकर वह कुढ़ जाती है और मुँह लटकाये कैकेयीके पास खड़ी होती है। कैकेयीको उसके अनुरागका पता चाहे रहा हो, पर अभीतक द्वेषका पता बिलकुल नहीं है। वह मुँह लटकानेका कारण पूछती है। तब—*'उतरु देइ नहिं''''छाँड़इ स्वास कारि जनु साँपिनि।'* उसकी इस मुद्रासे प्रकट होता है कि उसने अपने द्वेषका आभास इसके पहले कैकेयीको नहीं दिया था; यदि दिया भी रहा होगा, तो बहुत जल्दी उत्तर न देनेसे यह सूचित होता है कि जो बात वह कहना चाहती है, वह कैकेयीके लिये बिलकुल नयी है, अतः उसे सहसा नहीं कह सकती। किस ढंगसे कहे, यह सोचनेमें उसे कुछ काल लग जाता है। इसके अतिरिक्त किसीके सामने अबतक न प्रकट किये गये दुःखके वेगका भार भी दबाये हुए है। इतनेमें *'गाल बड़ तोरे'* इस वाक्यसे जीकी बात धीरे-धीरे बाहर करनेका एक रास्ता निकलता है। वह अपनी मुद्रा कायम रखती हुई कहती है—*'कत सिख देइ''''''* ' 'किसका बल पाकर गाल करूँगी?' इसका मतलब यही है कि मुझे एक तुम्हारा ही बल ठहरा—मैं तुम्हें चाहती हूँ और तुम मुझे चाहती हो—सो मैं देखती हूँ कि तुम्हारी यहाँ कोई गिनती ही नहीं है। क्रोध, द्वेष आदिके उद्‌गारके इस प्रकार क्रम- क्रमसे निकालनेकी पटुता स्त्रियोंमें स्वाभाविक होती है; क्योंकि पुरुषोंके दबावमें रहनेके कारण तथा अधिक लज्जा, संकोचके कारण ऐसे भावोंके वेगको एकबारगी निकालनेका अवसर उन्हें कम मिलता है।

रानी पूछती है कि 'सब लोग कुशलसे तो हैं?' इसका उत्तर फिर उसी प्रणालीका अनुसरण करती हुई वह देती है—*'रामहिं छाँड़ि''''''देखत गरब रहत उर नाहिंन।'*

किसीको क्रमशः अपनी भाव-पद्धतिपर लाना, थोड़ा-बहुत जिसे कुछ भी बात करना आता है, उसे भी आता है। जिस प्रकार अपनी विचारपद्धतिपर लानेके लिये क्रमशः प्रमाणपर प्रमाण देते जानेकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार क्रमशः किसीके हृदयको किसी भावपद्धतिपर लानेके लिये उसके अनुकूल मनोविकार उत्पन्न करते चलनेकी आवश्यकता होती है। रामके प्रति द्वेषभाव उत्पन्न करनेके लिये मन्थरा सपत्नीको सामने रखती है जिसके गर्व और अभिमानको न सह सकना स्त्रियोंमें स्वाभाविक होता है। सपत्नीके घमंडकी बात जीमें आनेपर कहाँतक ईर्ष्या न होगी? इस ईर्ष्याके साथ भरतके प्रति वात्सल्य भाव भी तो कुछ जगाना चाहिये। इस विचारसे फिर मन्थरा कहती है—*'पूत बिदेस'''' ।'* इतना होनेपर भी राजाकी कुटिलताके निश्चयद्वारा जबतक राजाके प्रति कुछ क्रोध न उत्पन्न होगा, तबतक कैकेयीमें आवश्यक कठोरता और दृढ़ता कहाँसे आवेगी? कैकेयीके मनमें यह बात जम जानी चाहिये कि भरत जान-बूझकर हटा दिये गये हैं। इसके लिये ये वचन हैं—*'नीद बहुत''''''* '।

इसपर कैकेयी जब कुछ फटकारती है और बार-बार उसके खेदका कारण पूछती है, तब वह ऐसा खेद प्रकट करती है जैसा उसको होता है जो किसीसे उसके परमहितकी बात कहना चाहता है, पर वह उसे केवल तुच्छ या छोटा समझकर ध्यान ही नहीं देता। उसके वचन ठीक वे ही हैं जो ऐसे अवसरपर स्त्रियोंके मुखसे निकलते हैं—*'एकहि बार आस सब पूजी। बवा सो लुनिय लहिय जो दीन्हा।'*

मन्थरा अब अपने उस भाग्यको दोष दे रही है जिसके कारण वह ऐसी कुरूप हुई······। विश्वास न करने-वालेके सामने कुछ तटस्थ होकर अपने भाग्यको दोष देने लगना विश्वास उत्पन्न करनेका एक ऐसा ढंग है जिसे कुछ लोग विशेषत: स्त्रियाँ, स्वभावत: काममें लाती हैं। इससे श्रोताका ध्यान उसके खेदकी सचाईपर चला जाता है और फिर क्रमश: उसकी बातोंकी ओर आकर्षित होने लगता है। इस खेदकी व्यंजना प्राय: उदासीनताके द्वारा की जाती है; जैसे 'हमें क्या करना है? हमने आपके भलेके लिये कहा था। कुछ स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है कि किसीका अहित देखा नहीं जाता।' मन्थराके कहे हुए खेद-व्यंजक उदासीनताके ये शब्द सुनते ही झगड़ा लगानेवाली स्त्रीका रूप सामने खड़ा हो जाता है—*'कोउ नृप होइ·····।'*

अब तो कैकेयीको विश्वास हो रहा है, यह देखते ही वह रामके अभिषेकसे होनेवाली कैकेयीकी दुर्दशाका चित्र खींचती है और यह भी कहती जाती है कि रामका तिलक होना मुझे अच्छा लगता है, रामसे मुझे कोई द्वेष नहीं है, पर आगे तुम्हारी क्या दशा होगी यही सोचकर मुझे व्याकुलता होती है; *'रामहिं तिलक कालि जो भयऊ·····तौ घर रहहु न आन उपाई।'*

इस भावी दृश्यकी कल्पनासे भला कौन स्त्री न क्षुब्ध होगी? किसी बातपर विश्वास करने या न करनेकी भी मनुष्यको रुचि नहीं होती है। जिस बातपर विश्वास करनेकी मनुष्यको रुचि नहीं होती, उसके प्रमाण आदि वह सुनता ही नहीं, सुनता भी है तो ग्रहण नहीं करता। मन्थराने पहले अपनी बातपर विश्वास करनेकी रुचि भिन्न-भिन्न मनोविकारोंके उद्दीपनद्वारा कैकेयीमें उत्पन्न की। जब यह रुचि उत्पन्न हो गयी, तब स्वभावत: कैकेयीका अन्त:करण भी उसके समर्थनमें तत्पर हुआ—*'सुनु मंथरा बात फुर तोरी·······।'*

इस प्रकार जो भावी दृश्यमनमें जम जाता है, उससे कैकेयीके हृदयमें घोर नैराश्य उत्पन्न होता है। वह कहती है—*'नैहर जनम भरब बरु जाई·····।'*

इस दशामें मन्थरा उसे सँभालती है और कार्यमें तत्पर करनेके लिये आशा बँधाती हुई उत्साह उत्पन्न करती है—*'जेइ राउर·····।'*

इस प्रसंगके चित्रणको देख यह समझा जा सकता है कि गोस्वामीजीने मानव-अन्त:करणके कैसे-कैसे रहस्योंका उद्‌घाटन किया है। ऐसी गूढ़ उद्‌भावना बिना सूक्ष्म अन्तर्दृष्टिके नहीं हो सकती।

भरत मातु पहिं गइ बिलखानी। का अनमनि हसि कह हँसि रानी॥ ५॥
ऊतरु देइ न* लेइ उसासू। नारि चरित करि ढारइ आँसू॥ ६॥
हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे। दीन्ह लषन सिख अस मन मोरे॥ ७॥
तबहुँ न बोलि चेरि बड़ि पापिनि। छाड़इ स्वास कारि जनु साँपिनि॥ ८॥

शब्दार्थ—**बिलखानी**=मुँह लटकाये हुए, उदास। **अनमनि**=अन्यमनस्क=मनका कुछ औरका और हो जाना, उदास, सुस्त, उचटे हुए चित्तका मुँह बनाये हुए। **'हँसि'**=है (तू)। **'उसासू'**=(उत्+श्वास) लम्बी साँस, ऊपरको चढ़ती हुई साँस, दु:ख वा शोकसूचक श्वास, ऊर्ध्व श्वास। **ढारइ**=गिराती है। **गाल**=मुँहजोरी, बड़बड़ानेका स्वभाव, बकवाद करनेकी लत।—(श० सा०)। **'गाल बड़ तोरे'**—गाल बड़े होना मुहावरा है अर्थात् गर्व हो गया है।

---

* उतरु देइ नहिं—ना०प्र०।

अर्थ—वह भरतजीकी माँके पास उदास होकर गयी। रानीने हँसकर पूछा—क्यों उदास है (मुँह बनाये है)?॥५॥ वह कुछ उत्तर नहीं देती, लम्बी साँसें ले रही है और त्रियाचरित्र करके आँसू बहा रही है॥६॥ रानीने हँसकर कहा कि तेरे बड़े गाल हैं, मेरे मनमें ऐसा आता है कि लक्ष्मणने तुझे शिक्षा दी है (दण्ड दिया है)॥७॥ इतनेपर भी चेरी न बोली, बड़ी पापिनी है। ऐसा साँस छोड़ रही है मानो काली नागिन हो॥८॥

टिप्पणी—१ ***'भरत मातु पहिं……'*** इति। (क) पहले विचार करती रही, यथा—***'करइ बिचारु कुबुद्धि कुजाती॥'*** जब विचार मनमें आ गया कि कैकेयीके पास जाऊँ, उसका पुत्र घरमें नहीं है, उससे जाकर कहूँ कि कौसल्या अपने पुत्रको राज्य दिलाये देती है, जिसमें वह अपने पुत्रके लिये राज्य माँग ले और रामको वन भेज दे।—यह भाव 'भरत-मातु' का है। [अथवा, ***'भरत मातु'*** कहा क्योंकि अभी कैकेयीका हृदय निर्मल है। (पं०)] (ख)—***'बिलखानी'*** कहकर आगे ***'का अनमनि हसि'*** से उसका अर्थ 'अनमनि' स्पष्ट कर दिया।

टिप्पणी २—***'ऊतरु देइ न……'*** इति। (क) अर्थात् वचनसे अपना दुःख नहीं कहती, चेष्टासे दुःख सूचित करती है। (ख) ***'नारि चरित करि……'***— अर्थात् ये आँसू दुःखके नहीं हैं। वह यह स्त्री-चरित कर रही है। अनमनी हुई, लम्बी साँसें ले रही है, उत्तर नहीं देती है—यही स्त्री-चरित्र है। ***ढारइ आँसू***—अर्थात् बड़े-बड़े और बहुत आँसू बहाती है, रोती है, अश्रुप्रवाह जोरोंसे चल रहा है। (ग) मन्थरा अपना दुःख तन, मन, वचनसे सूचित कर रही है। आँसू गिराना यह तनका दुःख है, लम्बी साँस लेती है, यह मनका दुःख है और मारे दुःखके वचनसे उत्तर नहीं देती यह वचनद्वारा दुःख जनाया। [उत्तर न देनेसे सूचित होता है कि जो बात वह कहना चाहती है, वह कैकेयीके लिये बिलकुल नयी है, अतः उसे सहसा नहीं कह सकती। कैसे कहे यह सोचनेमें कुछ समय लग जाता है। इसके अतिरिक्त किसीके सामने न प्रकट किये गये दुःखके वेगका भार भी दबाये हुए है। (शुक्लजी)]

टिप्पणी ३—***'हँसि कह रानि गाल…'*** इति। (क) भाव कि रानी मन्थरापर हँसीं कि तू बहुत बोलती है, इसीसे मारी गयी है। (ख) ***'दीन्ह लखन सिख'***—इससे जान पड़ता है कि जो अनीतिपर चलता है, बेमर्यादा बोलता है, उसे लक्ष्मणजी दण्ड देते हैं। (आगे नोट भी देखिये)। ***'अस मन मोरे'***—अर्थात् अनमनी होनेका और कुछ कारण नहीं है, लक्ष्मणजीने मारा है बस यही बात है।

नोट—***'दीन्ह लषन सिख'*** इति। इस समय भरत-शत्रुघ्नजी तो हैं ही नहीं, भरतजी बहुत ही सुशील हैं और रामचन्द्रजीने तो कभी किसी शत्रुका भी अनभल नहीं किया। रहे लक्ष्मणजी सो इनका स्वभाव विलक्षण है। ये अन्याय और विशेषतः रामजीके प्रतिकूल किंचित् भी कोई बात नहीं सह सकते। जनकजी और परशुरामजीके प्रसंगमें यह बात कही जा चुकी है। और इस काण्डमें भी इनके क्रोधीस्वभावका परिचय मिलता है; अतः अनुमान किया कि इसने कुछ अंड-बंड बका होगा, उसीपर उन्होंने कुछ दण्ड दिया होगा।

'शिक्षा देना' मुहावरा है। दण्ड देना, पीटने इत्यादिके अर्थमें आता है।

टिप्पणी—४ ***'तबहुँ न बोलि……'*** इति। (क) 'न बोलने' का भाव कि जैसे सर्पिणी प्रथम मर्म स्थान देखती है तब काटती है, क्योंकि मर्मस्थानपर डसनेसे मनुष्य जीता नहीं रहता। वैसे ही मन्थरा केकयीका मर्मस्थान देखती है। वह विचार करती है कि अभी बोल देनेसे यह मेरा वचन न मानेगी, अभी तो वह हँस-हँसकर बोल रही है, यथा—***'का अनमनि हसि कह हँसि रानी,' 'हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे॥'*** जब हमारी दशा देखकर रानीके हृदयमें भय उत्पन्न हो, वह भयभीत हो जाय, तब बोलनेसे काम होगा, अतः अभी न बोलूँगी। (ख) ***'चेरि बड़ि पापिनि।'***—मन्थराको रानीका अपयश न कराना चाहिये कि जो मरणके समान है, यथा—***'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम……।'*** (९५। ७) किसीका भी अपकार करना पाप है और अपने ही स्वामीका अपकार करना तो बड़ा भारी पाप है। अतएव उसे

'बड़ि पापिनि' कहा। [पराया कार्य बिगाड़े सो पापी और जो अपने अन्नदाता स्वामीका काम बिगाड़े वह 'बड़ा पापी' है। (प्र० सं०)] (ग) *'छाड़इ स्वास'''''*—पापका रंग और स्वरूप काला है, इसीसे पापिनी मन्थराको काली नागिनकी उपमा दी। [मन्थरा सर्पिणी राजा और केकयीको डसेगी। केकयीका अपयश होना यही उसका डसा जाना और मरना है। सर्पोंमें काले नाग अधिक विषैले होते हैं और नागसे नागिनका विष अधिक तीक्ष्ण होता है। पुनः, मन्थरा स्त्री है इससे नागिनकी उपमा दी। (घ) नागिनकी फुफकारसे घरवाले भयभीत हो जाते हैं वैसे ही केकयी भयभीत हो गयी, यथा—*'सभय रानि कह कहसि'''''।'* (ङ) 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षालंकार' है]।

दो०—सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु।
लषनु भरत रिपुदमनु सुनि भा कुबरी उर सालु॥ १३॥

शब्दार्थ= **सालु**=शूल, दुःख, पीड़ा, कसक। **रिपुदमनु**=शत्रुघ्न। **कुबरी**=जिसके कूबड़ निकला है, कुबरी, मन्थरा।

अर्थ—रानी डरकर कहने लगीं—अरी बोलती क्यों नहीं? (अपने दुःखका कारण क्यों नहीं कहती?) राम, राजा, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न कुशलसे तो हैं? कुशल क्यों नहीं कहती? यह सुनकर कुबड़ीके हृदयमें बड़ी ही पीड़ा हुई॥ १३॥

टिप्पणी—१ (क) *'सभय रानि'*—मन्थराको काली नागिनकी उत्प्रेक्षा की। काली नागिनकी फुफकारसे भय उत्पन्न होता ही है अतः रानीका सभीत होना कहा (उसके मौनसे रानी डर गयीं कि कहीं कोई विशेष दुर्घटना तो नहीं हो गयी)। (ख)—*'कुसल रामु'''''* इति। केकयीजीको श्रीरामजी बहुत प्रिय हैं, अतः उन्होंने उनकी कुशल प्रथम पूछी। इसीसे कुबड़ीके हृदयमें शाल हुआ (वह तो श्रीरामचन्द्रजीसे और केकयीसे अनबन कराना चाहती है और केकयीजी इन्हींका नाम प्रथम लेकर कुशल पूछ रही हैं। फिर मन्थरा तो दशरथ महाराजके प्रतिकूल होकर आयी है, उनके विरुद्ध भी वह केकयीको उभाड़ना चाहती है और रानी रामके पश्चात् प्रथम उन्हींका कुशल पूछती है। दोनोंसे इसको वैर बेसाहना है और यह उन्हीं दोनोंका नाम प्रथम ले रही है। अतः उसको शाल हुआ। (ग) यहाँ दूसरा 'समुच्चय अलंकार' है)।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—रानीने प्रथम रामजीका ही कुशल पूछा, चक्रवर्तीजीका उसके बाद। तत्पश्चात् लक्ष्मणजीका, तब भरतका। इससे उसे रानीके हृदयका पता चल गया कि इनका सर्वाधिक स्नेह श्रीरामजीपर है। कार्य-सिद्धि अति कठिन समझकर उसके हृदयमें शाल हुआ। ऊपरका श्वास ऊपर ही रह गया।

कत सिख देइ हमहिं कोउ माई। गाल करब केहि कर बलु पाई॥ १॥
रामहि छाड़ि कुसल केहि आजू। जेहि* जनेसु देइ जुबराजू॥ २॥
भयउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन। देखत गरब रहत उर नाहिन॥ ३॥

शब्दार्थ—**कत**=क्यों, किसलिये। **सिख देइ**=शिक्षा (दण्ड) देगा। **गाल करना**=मुँहजोरी करना, बोलनेमें शंका-संकोच न करना, अण्ड-बण्ड बकना, गर्व करना। **जनेसु** (जन+ईश)=राजा। **दाहिन भयउ**=सीधा वा अनुकूल हुआ है, दाहिना होना मुहावरा है अर्थात् उनके दिन अच्छे हैं। **गरब**=गर्व, घमण्ड।

अर्थ—(मन्थरा बोली) हे माई। हमें कोई क्यों शिक्षा देगा? मैं किसका बल पाकर गाल करूँगी?॥ १॥ रामको छोड़ आज और किसकी कुशल है कि जिन्हें राजा युवराजपद दे रहे हैं॥ २॥ (अब तो) कौसल्याजीको विधाता अत्यन्त दाहिने हुए हैं, देखकर गर्व उनके हृदयमें नहीं समाता अथवा, उन्हें देखकर किसीके हृदयमें गर्व नहीं रह जाता ॥ ३॥

नोट— १ *'कत सिख देइ'''''* इति। (क) कैकेयीजीके *'गाल बड़ तोरे'* इस वाक्यसे जीकी बात धीरे-

---

* 'जेहि'—(राजापुर)। जिनहि-का० रा०, ना० प्र०, वीर। 'जे' का दीर्घ उच्चारण करनेसे पाठ ठीक बैठ जाता है। छन्दोभंग है नहीं। छन्दोभंगके विचारसे सम्भवतः 'जेहि' की जगह 'जिनहिं' कर दिया गया हो।

धीरे बाहर करनेका रास्ता मिला। वह अपनी मुद्रा कायम रखती हुई कहती है—*'कत·····।'* (ख) कोई हमें दण्ड क्यों देगा? अर्थात् मैं किसीसे 'गाल' कर ही नहीं सकती, तब मारी क्यों जाने लगी। 'गाल न करने' का कारण आगे कहती है—*'गाल करब केहि कर बलु पाई।'* ☞ क्रोध, द्वेष आदिके उद्‌गार इसी प्रकार क्रम-क्रमसे निकाले जाते हैं। (ग) *'माई'* का भाव कि तुम माताकी तरह मेरा पालन-पोषण-रक्षण करती थीं, मेरा पक्ष लेती थीं; अतः तुम्हारे बलपर चाहे मैं कभी किसीको कुछ कह भी डालती थी और किसीका क्या मैं कुछ खाती-पीती थी? (घ) *'गाल करब केहि कर बल पाई'*— किसके बलपर मुँहजोरी अथवा किसीसे बातें करूँगी? इसमें ध्वनि यह है कि अबतक तुम्हारा बल था, सो तुम तो अब किसी गिनतीमें नहीं हो, तुम तो स्वयं मेरी तरह दासी हुआ ही चाहती हो। मन्थरा अभी स्पष्ट नहीं कहती, क्योंकि अभी वह रानीका रुख अपने अनुकूल नहीं देखती। (ङ) अब *'कत सिख·····'* का भाव यह निकला कि जब हमें किसीका बल ही नहीं है तब हम न तो किसीसे बातें ही करेंगी; न मारी ही जायँगी; तब हमें लक्ष्मणजी क्यों शिक्षा देने लगे? [जब किसीको जानती-समझती कि यह मेरा पक्ष लेगा तब कुछ कह सकूँगी, तभी गाल करूँ। (पु० रा० कु०) इन वाक्यों- से मन्थरा रानीमें ईर्ष्या उत्पन्न करना चाहती है। (रा० प्र०) यह *'दीन्ह लषन सिख'* का उत्तर है।]

नोट २—*'रामहिं छाड़ि कुसल केहि आजू·····'* इति। यह *'कहसि किन कुसल राम महिपाल'* का उत्तर है। कैसा जलाभुना हुआ उत्तर है। वचनोंमें व्यंगसे भरतका अकुशल जनाती है। इसे आगे स्पष्ट कहेगी, यथा—*'भरत बंदि गृह·····।'* इन वचनोंमें आर्थी व्यंग है; क्योंकि मन्थरा इनसे राज्याभिषेकमें विघ्न करनेकी क्रियाको छिपा रही है। (ख) *'जेहि जनेसु देइ·····'*—भाव कि राजाके देनेसे युवराज्य मिलता है, यथा—*'बेद बिदित संमत सब ही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥'* (१७५। ३) तथा जिसे जन-समुदाय चाहे उसीको राज्य मिलता है, यथा—*'जौं पाँचहि मत लागै नीका। करहु हरषि हिय रामहिं टीका॥'*

टिप्पणी—१ *'भयउ कौसिलहि·····'* इति। (क) *'अति दाहिन'* का भाव कि विधाता कौसल्याजीको दाहिने तो पूर्व ही थे कि प्रथम तो उन्हें ज्येष्ठ पटरानी बनाया, फिर उन्हें राम ऐसा पुत्र दिया, इतना ही नहीं किंतु रामको ही सब पुत्रोंमें ज्येष्ठ पुत्र बनाया और अब उनके पुत्रको युवराज्य दे रहे हैं, यही उनका 'अति दाहिने' होना है। कौसल्याजीको *'अति दाहिन'* कहकर कैकेयीपर विधाताकी वामता (प्रतिकूल होनेका भाव) जनाती है। आगे स्पष्ट कहेगी, यथा—*'रामहि तिलक कालि जौं भयऊ। तुम्ह कहुँ बिपति बीजु बिधि बयऊ॥'* (१९। ६) (ख) *'देखत गरब रहत उर नाहिंन'*—अर्थात् कौसल्याजीको देखते ही दूसरेके हृदयमें गर्व नहीं रह जाता। पुनः भाव कि कैकेयीके उरमें बड़ा गर्व था, यथा—*'गरबित भरतमातु बल पीके।'* (१८। ३) उसीपर लक्ष्य करके सूचित करती है कि कौसल्याको देखते ही तुम्हारा गर्व न रह जायगा। [(प्र० सं०)— कौसल्याको विधाता *'अति दाहिन'* हैं अतः अब कौसल्याजीका क्या कहना? उनके मनमें घमण्ड नहीं अमाता। जैसे अभीतक तुम्हें गर्व था, यथा—*'गरबित भरतमातु बल पीके',* वैसे ही अब उनको गर्व है। उनका गर्व इतना अधिक है कि प्रत्यक्ष देख पड़ता है। *'देखत'*—अर्थात् विधाताको ऐसा अनुकूल देखकर; भाव कि राज्याभिषेककी तैयारी देखकर अथवा, कौसल्याको देखते ही किसीके हृदयमें विधिकी दाहिनता (अनुकूलता) का अहंकार नहीं रहने पाता। (रा० प्र०, प्र० सं०)]

नोट ३—स्त्रियोंका सहज स्वभाव है कि वे अपनी सवत (सपत्नी) का गर्व, उत्कृष्टता वा अभिमान नहीं सह सकतीं। अतः कैकेयीको अपने ढंगपर लानेके लिये और रामके प्रति द्वेषभाव उत्पन्न करनेके लिये मन्थरा 'सवत' को सामने रखकर अपना घात लगाना चाहती है और इसीसे सफल भी होगी। सपत्नीके घमण्डकी बात जीमें आनेपर कहाँतक ईर्ष्या न होगी।

देखहु कस न जाइ सब सोभा। जो अवलोकि मोर मनु छोभा॥ ४॥
पूत बिदेस न सोच तुम्हारे। जानति हहु बस नाह हमारे॥ ५॥
नींद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप कपट चतुराई॥ ६॥

शब्दार्थ—**छोभा**=क्षुब्ध हुआ, दु:खित हुआ। **बिदेस**=दूसरे देशमें, परदेश, बाहर। **सेज**=(शय्या), पलँग। **तुराई**= (तूल=रूई+आई) रूईभरी वस्तु, तोशक, रजाई, दुलाई। **'लखना'**— यह शब्द प्रान्तिक है, पद्यहीमें प्रयुक्त होता है। यह सं० लक्षका अपभ्रंश है। इसका भावार्थ है 'ताड़ जाना, भाँप लेना, लक्षणसे अनुमान करना।'

अर्थ—(नगर आदिकी) सब शोभा क्यों नहीं जाकर देख लेतीं, जिसे देखकर मेरा मन क्षुब्ध हो गया॥ ४॥ (तुम्हारा) पुत्र तो परदेशमें है, तुम्हें कुछ सोच नहीं, जानती हो कि राजा (पति) हमारे वशमें हैं॥ ५॥ तुम्हें तो पलँग और तोशकपर सोना बहुत प्रिय है। राजाकी कपटपूर्ण चतुराईको नहीं भाँप पातीं॥ ६॥

टिप्पणी—१ ***'देखहु कस न जाइ·····'*** इति। (क) अर्थात् मेरी बातका विश्वास नहीं मानतीं तो स्वयं जाकर क्यों नहीं देख लेतीं? तिलककी तैयारी देखकर मेरा मन क्षुब्ध हो गया, तुम देख लोगी तो तुम्हारा भी मन क्षुब्ध हो जायगा। फिर विशेष कुछ समझानेकी आवश्यकता न पड़ेगी। पुन: भाव कि अभीतक मुझे तुम्हारी शोभाके आगे किसीकी शोभा कुछ न देख पड़ती थी, इससे पूर्व मुझे दु:ख न हुआ था, पर आज देखकर दु:ख हुआ। आशय यह है कि आज उनकी शोभा तुम्हारी शोभासे अधिक है। (ख) ***'सब सोभा'***—अर्थात् कौसल्याजीकी शोभा, तिलकसामग्रीकी शोभा और नगरकी शोभा; इत्यादि। (ग) ***'मन छोभा',*** यथा—***'पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। रामतिलक सुनि भा उर दाहू॥'*** (१३। २), **'रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति॥ सास्म्यगाधे भये मग्ना दु:खशोकसमन्विता॥'** (वाल्मी० २। ७। २०-२१) (घ) स्त्रीको पुत्र और पति दोनोंका आधार है अत: दोनोंका निराकरण करती है कि ***'पूत बिदेस'*** और ***'जानति हहु बस नाह हमारे।'***

नोट—१ ***'पूत बिदेस·····'*** इति। (क) ईर्ष्या उत्पन्न करनेके लिये सपत्नीको सामने रखा। पर कैकेयीका प्रेम राम और राजापर है, यह ***'कुसल राम महिपाल'*** से स्पष्ट समझ गयी है, अत: भरतके प्रति वात्सल्यभाव भी तो कुछ जगाना और राजाकी कुटिलताका निश्चय कराना चाहिये। अत: कहती है—***'पूत बिदेस·····।'*** (शुक्लजी) (ख) ***'पूत बिदेस न सोच तुम्हारे'***—भाव कि बेटा परदेशमें है, उसका सोच महाराजको नहीं है, पर तुमको तो होना चाहिये। तुम तो माँ हो और वही तुम्हारा इकलौता बेटा है। सो तुम अपने सुखसे सुखी हो। समझती हो कि राजा मेरे वशमें हैं। भाव कि यहाँ क्या षड्यन्त्र चल रहा है, इसका तुम्हें पता नहीं है, राजाका प्रेम तुमपर दिखावामात्र है और तुम इसे लख नहीं रही हो। (वि० त्रि०) ***'पूत बिदेस·····'*** कहकर ***'जानति हहु······'*** कहनेका भाव कि राजा तुम्हारे वशमें नहीं हैं, कौसल्याके वशमें हैं और उन्हींकी सलाहसे पुत्र परदेशमें भेजा गया है। यही आगे कहेगी। यथा—***'राम मातु मत जानब रउरें।'*** (१८। २) ***'रचि प्रपंच भूपहि अपनाई।'*** (१८। ६) (प० रा० कु०) (ग) ***'न सोच तुम्हारे'*** का कारण कहती है कि ***'जानति हहु बस नाह हमारे',*** आगे भी कहेगी कि ***'तुम्हहि न सोचु सुहाग बल निज बस जानहु राउ॥'*** (१७) (पु० रा० कु०) ***'जानति हहु·····'***—भाव कि तुम अपने मनमें ऐसा समझती भर हो, पर वास्तवमें ऐसी बात है नहीं। वे तो कौसल्याके वशमें हैं तभी तो कौसल्याने ***'भूपहि अपनाई। राम तिलक हित लगन धराई॥'*** (१८। ६) यह भी भाव है कि तुम्हें जो पतिप्रिया होनेका गर्व है वह झूठा ही है।

नोट २—सवतिके गर्वकी बात सुनकर ईर्ष्या तो अवश्य उपजेगी, पर यह रामजीको अवधसे निकालनेके लिये पर्याप्त न होगी जबतक राजामें कैकेयीकी ओरसे कपट न सिद्ध करेगी। अत: ***'पूत बिदेस न सोच तुम्हारे·····।'*** कहकर वह रानीके जीमें यह दृढ़ निश्चय कराना चाहती है कि राजाने तुम्हारी सपत्नीसे सलाह करके तुम्हारे पुत्रको जान-बूझकर यहाँसे हटा दिया है, न वह होंगे न कोई झगड़ा-बखेड़ा खड़ा होगा। इन वचनोंसे दशरथ-कौसल्याके प्रति क्रोध और ईर्ष्या उत्पन्न करनेके साथ ही पुत्रमें वात्सल्यभाव भी जगा रही है। इससे ईर्ष्या और क्रोधमें दृढ़ता आवेगी।

टिप्पणी—२ ***'नींद बहुत·····'*** इति। (क) प्रथम कहा कि तुम्हें सोच नहीं है; कि पुत्र विदेशमें है इसीसे

अब कहती है कि तुमको नींद बहुत आती है। भाव कि सोचमें नींद नहीं आती, तुम्हें सोच होता तो नींद न पड़ती। 'नींद बहुत' कहकर प्रमाद सूचित किया। अर्थात् तुम्हारी सपत्नी (सवत) तो तुम्हारी जड़ उखाड़ना चाहती है और तुम्हें खबर भी नहीं, तुम पड़े-पड़े सोया ही करती हो। ऐसा ही शूर्पणखाने रावणसे कहा है, यथा—*'करसि पान सोवसि दिन राती। सुधि नहिं तव सिर पर आराती॥'* (३। २१) (ख) नींद बहुत आती है, इसका एक कारण सोच न होना कहकर अब दूसरा कारण कहती है कि सेज तुराई बहुत प्रिय है। कोमल बिछौना, तोशक, तकिया सेजमें नींद बहुत आती ही है। 'बहुत' देहली-दीपक है'? (ग) *'लखहु न भूप कपट चतुराई'*— इसीको आगे खोलकर कहेगी। यथा—*'मन मलीन मुँह मीठ नृपु राउर सरल सुभाउ।'* (१७) भाव कि सीधी-सादी भोली-भाली हो। राजा मनके कपटी हैं, ऊपरसे तुम्हें अपनी मीठी-मीठी मुँह-चुपड़ी बातेंमें लुभाये रखते हैं और वशमें तो कौसल्याजीके ही हैं।

नोट—३ *'नींद बहुत प्रिय सेज······'* से यह भी सूचित होता है कि जब मन्थरा कैकेयीजीके पास गयी उस समय या तो वह सो रही थी या पलंगपर लेटी थी। वाल्मीकीयमें सोती हुई और अ० रा० में पलंगपर बैठी हुइ कैकेयीको सम्बोधित किया है। यथा—'**शयानामेव कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत्।**' (वाल्मी० २।७।१३) '**उत्तिष्ठ मूढे किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते······।**' '**पर्यंकस्थां विशालाक्षीमेकान्ते पर्यवस्थिताम्। किं शेषे दुर्भगे मूढे महद्भयमुपस्थितम्॥**' (अ० रा० २। २। ५२)

नोट—४ मन्थरा कैकेयीको अपनी राहपर लानेके लिये यह झूठ बना-बनाकर कह रही है। विवाहके एक दिन पूर्व ही भरतजीके मामा युधाजित्‌जी उनको लेनेके लिये जनकपुर आये थे। विवाहके पश्चात् चक्रवर्ती महाराजसे उनको साथ भेजनेके लिये बड़ा आग्रह करनेपर राजाने भेजा था। यह वाल्मी० १।७३।१—६, १।७७। १६—१९ से स्पष्ट है। सब माताओंसे आज्ञा लेकर भरतजी गये थे। इसमें कैकेयीकी भी सम्मति थी, यह मन्थराके वचनोंसे प्रकट है जो वाल्मीकिजीने लिखा है—'**बाल एव तु मातुल्यं भरतो नायितस्त्वया।**' (२। ८। २८) अर्थात् बाल्यावस्थामें ही तुमने भरतको मामाके घर भेज दिया, यह बुरा किया। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि राजाका भरतजीपर इतना स्नेह था कि राम-लक्ष्मणके रहते हुए भी वे भरतजीकी याद बहुत करते थे। यथा—'**राजापि तौ महातेजाः सस्मार प्रोषितौ सुतौ। उभौ भरतशत्रुघ्नौ महेन्द्रवरुणोपमौ॥**' (२। १। ४)

सुनि प्रिय बचन मलिन मन जानी। झुकी रानि अब रहु अरगानी॥ ७॥
पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी॥ ८॥
दो०—काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि भरतमातु मुसुकानि॥ १४॥

शब्दार्थ—**झुकी**-किसीकी बातपर क्रोध आनेपर प्रायः देखा जाता है कि उसे डाँटने या चुप करनेके वचन कहते हुए क्रोध करनेवाला उसकी ओर बढ़ता, झुकता या अँगुलीसे इशारा करके कहता है कि बस चुप रह, दूर हो, यही भाव इसमें है। अतः झुक पड़ना=क्रुद्ध होना। झुकना=रुजू वा मुखातिब होना, उतारू होना, डाँटना—(पं० रामगुलामजी द्विवेदी) **अरगानी**=चुप, दूर, अलग। यथा—*'अस कहि राम रहे अरगाईं', 'तहँ राखइ जननी अरगाईं'।* **घरफोरी**=घरमें फूट डालने अर्थात् बिगाड़ करानेवाली, घर फोड़नेवाली। **कढ़ावउँ**=खिंचवा लूँगी। काना=एक आँख जिसकी न हो। 'खोरा' (सं० खोर)= दोषयुक्त—(रा० कु०)। **जानि**=जानना चाहिये, जाने माने गये हैं, जानो।

अर्थ—मंथराके प्रिय वचन सुनकर उसको मनकी मलिन जानकर रानी उसे डाँटने लगी कि बस अब चुप रह (खबरदार फिर ऐसा न कहना)॥ ७॥ अरी घरफोड़नी! फिर कभी ऐसा कहा तो तेरी जीभ पकड़कर निकलवा लूँगी॥ ८॥ काने, लँगड़े और कुबड़े कुटिल और कुचाली जाने गये हैं, उनमें भी खासकर स्त्री और फिर दासी! इतना कह भरतकी माता मुसकरा दीं॥ १४॥

नोट—१ 'प्रिय' यहाँ 'वचन' का विशेषण है। रामराज्याभिषेकके वचन हैं इससे प्रिय कहा; क्योंकि कैकेयीजी राजासे इसके लिये कई बार कह चुकी थीं। यथा—*'भामिनि भएउ तोर मन भावा।'* वाल्मीकीय और अध्यात्मसे भी 'प्रिय' वचनका ही विशेषण सिद्ध होता है। '**इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यातं परमं प्रियम्। एतन्मे प्रियमाख्यातं किं वा भूयः करोमि ते॥**......' (वाल्मी० २।७।३४), अर्थात् हे मन्थरे! तूने मुझे परमप्रिय संवाद सुनाया, इस प्रिय संवादके बदलेमें मैं तेरा क्या उपकार करूँ? इस संवादसे बढ़कर मुझे कुछ और प्रिय नहीं, ऐसे अमृतसमान वचन सभी नहीं सुना सकते। यथा—'**न मे परं किंचिदितो वरं पुनः प्रियं प्रियार्हं सुवचं वचोऽमृतम्।**' (वाल्मी० २।७।३६), आगे भी कहा है—*'प्रियबादिनि सिख दीन्हिउँ तोहीं' 'राम तिलक जो साँचेहु काली'.....'देउँ माँगु॥'*

टिप्पणी—१ *'सुनि प्रिय बचन'.....* 'इति। (क) *'जेहि जनेसु देइ जुबराजू'* यह प्रिय वचन है। *'जो अवलोकि मोर मन छोभा'* इससे *'मलिन मन'* जाना। ☞ इस दोहेभरमें मन्थराके वचन ऊपरसे प्रिय हैं। आपाततः उनमें कैकेयीके हितकी बात दीखती है; किंतु वस्तुतः हितकी है नहीं, केवल हित सूझ पड़नेवाले वचन हैं। इन वचनोंके अभिप्रायसे वह कौशल्याका वैर, राजाका कपट और रामराज्यसे कैकेयीका अनहित दर्शित करती है। इस अभिप्रायको समझकर रानीने मन्थराको मलिन-मन जाना। मन्थराने स्पष्ट नहीं कहा किंतु इस तरह कहा कि उसके वचनोंमें उसका अभिप्राय झलक आवे। कारण कि वह रानीका रुख देख रही है, रुख पावे तो खोलकर कह दे। आगे रुख पानेपर खोलकर कहेगी। (मन्थराके वचन घरमें फूट डालनेवाले हैं, अतः *'मलिनमन'* जाना) (ख)—*'झुकी'* अर्थात् कोपकी चेष्टा करके बोली।

टिप्पणी-२—*'पुनि अस कबहुँ कहसि'....* 'इति। (क) 'घरफोरी' सम्बोधन है। तभी तो मन्थराने कहा है कि *'धरेउ मोर घरफोरी नाऊँ।'* (१७।३) सम्बोधन होनेसे ही नाम रखना निश्चित हुआ। *'पुनि'* का भाव कि इस बार तो घर फोड़नेवाली बात कहनेपर मैं क्षमा किये देती हूँ, अब कभी न कहना। यदि फिर कही तो दण्ड मिलेगा। (ख) *'तब धरि जीभ'....* '— जो घर फोड़नेवाली बात करे, बिगाड़ करानेमें लगा रहे, उसकी जिह्वा काट लेनी चाहिये और 'तू तो रामजीके अहितकी बात कहती है अतएव तुझे तो कभी भी क्षमा न करना चाहिये, तेरी तो जीभ उखाड़ लेनी चाहिये।' सत्योपाख्यानमें मन्थरासे कैकेयीजीने ऐसा ही कहा है यथा—'**यदि रामस्य राज्यं च यौवने च भविष्यति। तदा वयं निरुत्साहाश्चेदिकास्ते भवेमहि। निशम्य वाक्यं कुब्जायाः कैकेयी च स्मितानना॥.....कर्मणा त्वां च जानामि दैत्यकन्यां च मन्थरे। ईदृशी यदि रामे च बुद्धिस्तव समागता। जिह्वायाश्छेदनं चैव कर्त्तव्यं तव पापिनी॥ नेत्रयोः पातनं चैव नासिकाया विशेषतः। अयं पापसमूहस्ते वक्ररूपेण वर्तते॥**' (पू० अ० ८। २८—३२) अर्थात् कुब्जाने कहा कि रामराज्याभिषेक हो गया तो आप ही हम सब दासियाँ निरुत्साह हो जायँगी। यह सुनकर कैकेयी हँसकर बोली कि तेरे इन कार्मोंसे जान पड़ता है कि तू किसी दैत्यकी कन्या है। रामके विषयमें तेरी ऐसी बुद्धि है तब तो तेरी जिह्वा ही निकाल लेनी चाहिये और ऐसी स्त्रीकी नाक भी काट लेनी चाहिये। जान पड़ता है कि तेरा कूबड़ नहीं है यह पापका भण्डारघर है। पुनश्च यथा—*'काटिय तासु जीभ जो बसाई।'* (१।६४) व्यवहारमें यदि कोई घर फोड़नेवाली बात कहे तो उसकी जीभ निकाल ले, यह दण्ड मिताक्षरामें कहा है।

श्रीमन्त शंकरयादवजी—इस संवादकी मन्थरा ठीक वैसी ही कुटिल स्त्री है जिसका वर्णन '**मुखं पद्मदलाकारं वाचश्चामृतशीतलाः। हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम्॥**' इस श्लोकमें किया गया है। अध्यात्म अथवा वाल्मीकिकी मन्थरामें इतनी मार्मिकता नहीं है। गोसाईंजीको एक 'घरफोरी' यानी दूसरेके घरको चकनाचूर कर डालनेवाली मन्थरा दिखलानी थी और इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने उसे ठीक वैसा ही दिखलाया भी है। उसकी मुद्रा, भाषणशैली, तर्क आदि सभी उत्तरोत्तर कैसे बढ़ते गये, यह देखनेयोग्य है। केवल एक कैकेयीको गोस्वामीजीने बिलकुल अध्यात्मरामायणके अनुसार रखा है।

इन वर्णनोंसे कहना ही पड़ता है कि गोसाईंजीकी चरित्रांकनकी शैली अपूर्व है। ऐसी अपूर्वता आनेका कारण विशेषतः उनकी तीक्ष्णस्वभाव-निरीक्षण-शक्ति ही है। (मा० हं०)

टिप्पणी ३—*'काने खोरे·····'* इति। (क) ***काने*** (एक आँखके), ***खोरे*** अर्थात् जो तीन दोष शरीरमें कहे गये हैं उनसे युक्त, कुबड़े, कुटिल अर्थात् देहसे टेढ़े—ये सब कुचाली होते हैं। ***'तिय बिसेषि'*** अर्थात् स्त्री विशेष कुचाली होती है। ***'पुनि चेरि'*** अर्थात यदि चेरी (दासी) में ये दोष हों तो वह सबसे अधिक कुचाली होती है, ऐसा हृदयमें जानकर और मुखसे कहकर कैकेयी मुसकरा दीं। (ख)—कठोर वचन कहकर पीछे हँस देना अपने क्रोधकी शिथिलता प्रकट करता है, इससे जनाया कि मैंने तुमपर क्रोध नहीं किया है, इससे क्रोध न समझ लेना। पुन:, मुसकाकर जनाया कि ये सब दोष तुझमें हैं तब तू कुचाली कैसे न हो। कुटिल अन्त:करणकी और कुचाली बाहर (आचरण) की। [***'तिय बिसेषि पुनि चेरि'—*** भाव यह कि पुरुषोंमें ये दोष हों तो वे कुटिल कुचाली होते हैं। पर, यदि ये दोष स्त्रीमें हुए तो उसमें ये दोनों अवगुण और भी अधिक होते हैं और यदि वह दासी भी हुई तो फिर उसकी कुटिलता और कुचालका तो कहना ही क्या? श्रीरामजीके प्रतिकूल वचन कहनेवालीको अनेक दोष लगाकर लज्जित करती है। अत: ***'भरतमातु'*** शब्द दिया। अभी उसका हृदय सुहृद् है। (प्र० सं०)

मानसहंस—'मय-सभामें दुर्योधनकी फजीहत देखकर द्रौपदी हँस पड़ी थीं। इस हँस पड़नेका परिणाम भारतीययुद्ध और कौरवोंका नाश हुआ। अर्थात् द्रौपदीके हँसनेपर सारा महाभारत निर्माण हुआ। यही कल्पना लेकर गोसाईंजीने कैकेयीको हँसाया और उसपर सारी रामायणका निर्माण किया। '**योजकस्तत्र दुर्लभ:**' कहा है सो व्यर्थ नहीं।'

नोट २— ***'हँसा सो फँसा'*** यह कहावत है। इसका हँसना ही दासीके जालमें फँसनेका श्रीगणेश हुआ।

अलंकार—कोई एक भी कारण पर्याप्त होते हुए भी कई हेतु यहाँ कहे गये। अत: यहाँ दूसरा 'समुच्चय अलंकार' है।

प्रियबादिनि सिख दीन्हिउँ तोही। सपनेहु तो पर कोप न मोही॥ १॥
सुदिन सुमंगल दायकु सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई॥ २॥
जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥ ३॥
राम तिलकु जौं साँचेहु काली। देउँ माँगु मन भावत आली॥ ४॥

शब्दार्थ—**बादिनि**=बोलनेवाली। **कोप**=क्रोध। **दायकु**=देनेवाला। **कहा**=कथन, कहा हुआ, वचन। **फुर**=(सं० स्फुरण)=सच, सत्य। **जेठ**=ज्येष्ठ, जेठा, बड़ा। **दिनकर**=सूर्य। **लघु**=छोटा। **आली**=सखी। **साँचेहु**=सत्य ही, सचमुच।

अर्थ—हे प्रियवादिनि मन्थरे! मैंने तुझे शिक्षा दी है (जिसमें फिर कभी ऐसा न कहे) तेरे ऊपर (तो) मुझे स्वप्नमें भी क्रोध नहीं है(भाव कि मैंने ऊपरसे तुझे कठोर वचन कहे हैं, अन्त:करणमें क्रोध नहीं है)॥ १॥ वही दिन सुदिन और सुन्दर मंगलोंका देनेवाला है कि जिस दिन तेरा वचन *(रामहिं जनेसु देइ जुबराजू)* सत्य होगा॥ २॥ सूर्यवंशीकी यह सुन्दर रीति है। बड़ा भाई स्वामी और छोटा सेवक होता है॥ ३॥ कल ही सचमुच यदि रामजीका तिलक है तो, हे सखी! मनभाया पदार्थ माँग ले, मैं दे दूँगी॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'प्रियबादिनि···'*** इति (क) 'प्रियवादिनी' कहा; क्योंकि रामराज्याभिषेकरूपी प्रिय वचन सुनाये, यथा—***'सुनि प्रिय बचन·····'।*** (ख) ***'सिख दीन्हिउँ'***—शिक्षा कई प्रकारसे दी जाती है। केकयीजीने मन्थराको (क्रोधका) भाव दिखाकर शिक्षा दी। मन्थराके कथनपर रानीको विश्वास नहीं हुआ। 'यदि रामराज्यकी तैयारी होती तो क्या हमारे यहाँ खबर न आती' ऐसा समझकर ही उन्होंने कहा कि ***'तोर कहा फुर जेहि दिन होई'।*** (ग) ***'सपनेहु तो पर कोप न मोही'***—भाव कि तूने प्रिय वचन सुनाये, इससे तू मुझे प्रिय है और प्रियपर क्रोध नहीं होता। (अत: मैं तुझपर कुपित नहीं हूँ। इस बातको वह अपनी 'मुसकान' रूपी कर्म और 'प्रियवादिनी' सम्बोधनसे दृढ़ कर रही है। यहाँ 'उक्ताक्षेप अलंकार' है)।

टिप्पणी २ (क) ***'सुदिन सुमंगल दायक—'*** इति। सब मंगलोंसे रामराज्य विशेष है, अत: उसे

'सुमंगल' कहा। ऐसा सुमंगल जिस दिन हो वही दिन 'सुन्दर दिन' है। यथा—*'सुदिन सुमंगल तबहि जब रामु होहिं जुबराज॥ ४॥'* (ये गुरुजीके वाक्य हैं)। (ख) *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई—'* इति। भाव कि भरतका राजा होना अनुचित है। छोटा भाई राजा हो और बड़ा भाई उसकी सेवा करे, यह रीति अच्छी नहीं है। बड़ा भाई राजा हो और छोटा उसकी सेवा करे यह रीति सुन्दर है। यह भाव *'रीति सुहाई'* का हुआ। *'दिनकर कुल रीति····'* भाव कि सूर्यकुल निर्मल है। उसमें अनुचित होना अशोभित है, उचित होनेसे ही उसकी शोभा है। *'दिनकर'* का भाव कि जैसे सूर्यसे अन्धकार आदिका नाश होता है, वैसे ही दिनकरकुलसे अनौचित्य आदिका नाश होता है। [धर्मशास्त्र भी कहता है कि जेठे पुत्रको ही राज्य मिलना चाहिये। यथा—'**ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः। शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा॥**' (मनु० ९। १०५)।' अर्थात् पिताके समस्त धनका मालिक बड़ा पुत्र हो और मँझले तथा छोटे सब भाई बड़ेके अधीन रहें। *'सुहाई'* से इस कुलरीतिको दोषरहित जनाया।]

टिप्पणी ३ *'राम तिलकु जौं साँचेहु काली।····'* इति। (क) ऊपरके *'तोर कहा फुर जेहि दिन होई'* और यहाँके *'जौं साँचेहु'* से स्पष्ट है कि कैकेयीजीको विश्वास नहीं होता कि कल ही राज्याभिषेक है; क्योंकि उनको विश्वास है कि यदि ऐसा होता तो सबसे प्रथम हमको ही शुभ समाचार मिलता। समाचार न मिलना, यह विघ्नका द्वार हो गया। (ख) *'काली'*— मन्थराने यह नहीं कहा कि कल राज्याभिषेक होगा। उसके वचन हैं—*'जेहि जनेसु देइ जुबराजू'।* पर कैकेयीजीके वचनोंसे सूचित होता है कि मन्थराने यह भी कहा है; क्योंकि यदि मन्थराने न कहा होता तो कैकेयी क्योंकर जानती?

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—भाव यह है कि श्रीरामजीके तिलकके लिये मैं कई बार महाराजसे कह चुकी हूँ, यथा—*'भामिनि भयउ तोर मन भावा। घर घर उत्सव बाज बधावा'।* पर कल ही तिलक है, यह मैं नहीं जानती। महाराजने कोई चर्चा भी नहीं की। अतः मुझे सहसा विश्वास नहीं होता। यदि सचमुच कल तिलक है, तो इससे बढ़कर आनन्दका समाचार कौन है? तूने पहले-पहल यह समाचार सुनाया है, अतएव जो तेरी इच्छा हो वह मुझसे माँग ले। अन्य रानियोंने समाचार सुनानेवालोंको भूषण-वस्त्र दिये। रानी कैकेयी मुँहमाँगा देनेको प्रस्तुत हैं।

टिप्पणी—४ *'देउँ माँगु मन भावत आली'* इति। सब रानियोंने समाचार सुनानेवालोंको बहुत-बहुत पदार्थ दानमें दिये, यथा—*'प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाए। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाए॥'* (८। १) कैकेयीजी ने मन्थरासे ही प्रथम-प्रथम सुना, अतः कहती हैं कि *'देउँ माँगु····'।* इन शब्दोंसे स्पष्ट है कि श्रीरामजी अन्य समस्त रानियोंसे अधिक श्रीकैकेयीजीको प्रिय हैं। देखिये, औरोंके सम्बन्धमें इतनामात्र कहा गया कि *'भूषन बसन भूरि तिन्ह पाये',* पर यहाँ *'मन भावत आली'* शब्द हैं। समाचार देनेवाली *'चेरी'* को *'आली'* (सखी तो पहले ही बना दिया और साथ ही उसको *'मन भावत'* मन माँगा देनेको कहती है, औरोंने मुँहमाँगा नहीं दिया है।)

दीनजी—आनन्दके उन्मेषमें दासीको सखी कह दिया। मन्थराने ही कैकेयीको जन्मसे पाला था इसलिये बड़ी होनेसे मान्या थी।

हरिहरप्रसादजी—*'आली'* कहनेका भाव यह कि किसी भी रीतिसे इसने रामराज-तिलक सुनाया तो अब इसे चेरी न कहना चाहिये। वा, अब प्रथम-प्रथम देवमायाकी छाया इनपर पड़ी। अब क्रमशः यहाँसे मन्थराके बहकानेका असर (प्रभाव) इनपर पड़ता जायगा।—(पंजाबीजी)

कौसल्या सम सब महतारी। रामहिं सहज सुभाय पियारी॥ ५॥
मोपर करहिं सनेहु बिसेषी। मैं करि प्रीति परीछा देखी॥ ६॥
जौ बिधि जनमु देइ करि छोहू। होहुँ राम सिय पूत पतोहू॥ ७॥
प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरे। तिन्हकें तिलक छोभ कस तोरे॥ ८॥

शब्दार्थ—**परीछा**=परीक्षा, जाँच। **परीछा करि देखी**=आजमा देखा है, जाँच करके निश्चय किया है। **पतोहू**=पुत्रवधू, बहू, पुत्रकी स्त्री। **सहज**=बनावटी नहीं, जन्मसे, स्वाभाविक। **होहुँ**=होवें।

अर्थ—रामको सब माताएँ कौसल्याके ही समान सहज स्वभावसे ही प्यारी हैं॥५॥ और मुझपर (तो वे) विशेष प्रेम करते हैं—मैंने उनकी प्रीतिकी परीक्षा करके देख ली है॥६॥ यदि विधाता कृपा करके जन्म दें तो कृपाकर यह भी दें कि राम मेरे पुत्र और सीता बहू हों॥७॥ राम मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं। उनके तिलकसे तुझे दु:ख कैसा?॥८॥

टिप्पणी—१ (क) ***'कौसल्या सम सब महतारी***·····***'*** इति। भाव कि तू कहती है कि ***'भयउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन',*** सो बात नहीं है, विधाता सब माताओंपर 'दाहिन' हुए हैं, कुछ एक कौसल्यापर ही नहीं। राम सबपर कौसल्याके समान प्रेम करते हैं और मुझपर कौसल्याजीसे भी अधिक प्रेम करते हैं। (ख) ***'सहज सुभाय पियारी'*** अर्थात् सब माताओंसे एक-सा प्रेम करना चाहिये, यह धर्म है, अत: हमें भी इस धर्मका पालन करना चाहिये। श्रीरामजी ऐसा (धर्म) समझकर प्रेम नहीं करते; किंतु सब माताएँ उनको स्वाभाविक ही, जन्मसे ही प्रिय हैं, (धर्म समझकर कर्म करना तो सयाने होनेपर ही हो सकता है, जब उसको धर्मकी शिक्षा मिलती है। शिक्षावाला कर्म छूट भी सकता है, पर स्वभाव अमिट है, वह आजीवन नहीं छूट सकता)। (ग)—भरतजी श्रीरामजीको अति प्रिय हैं, यथा— ***'भरत सरिस प्रिय को जग माहीं।*** (२।७।७)***', 'भरत सरिस को राम सनेही। जग जप राम रामु जप जेही॥', 'भरत अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सींव समता की।*** (१८९।६) और कैकेयीजी उनकी माता हैं; अतएव कैकेयीजी सब माताओंसे अधिक प्रिय हैं। (ख) ***'मैं करि प्रीति परीछा देखी'***— भाव कि मैंने कई बार उनके प्रेमकी परीक्षा की है। देख लिया कि सबसे अधिक उनका मुझमें प्रेम है; अतएव तुझे उनके तिलकमें दु:ख न मानना चाहिये। (स्वामीका जिसपर प्रेम हो, उसपर सेवकका भी प्रेम होना चाहिये। मुझे राज्याभिषेक सुनकर प्रसन्नता हुई, तुझे भी प्रसन्न होना चाहिये)। यह ***'भयउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन'*** का उत्तर है।

नोट १— ***'सनेहु बिसेषी',*** यथा—***'मानी राम अधिक जननी ते जननिहु गँस न गही'***— (गी० ७। ३७), ***'सिथिल सनेह कहै कौसिला सुमित्रा जू सों, मैं न लखी सौति सखी भगिनी ज्यों सेई है। कहैं मोहिं मैया, कहौं मैं न, मैया भरतकी, बलैया लैहौं भैया तेरी मैया कैकेई है। तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी, काय मन बानी हूँ, न जानी कै मतेई है।***······***'***(क० अ० कवित्त ३) सत्योपाख्यान आदि रामायणोंमें इसके उदाहरण मिलते हैं कि बालपनेमें जब ये रोते, रूठते इत्यादि तो कोई इन्हें न मना पाता; पर कैकेयी ज्यों ही आकर इन्हें गोदमें ले लेतीं वे चुप और प्रसन्न हो जाते। सबेरे सब माताएँ मक्खन-मिश्री लिये उनकी प्रतीक्षा करतीं, पर वे इन्हींके महलमें जाकर भोजन कर आते थे। इत्यादि। (प्र० सं०)।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—माँ-बापको बच्चोंकी प्रीतिकी परीक्षाके लिये सदा अवसर प्राप्त रहता है। व्यवहारसे ही प्रीतिकी परीक्षा होती रहती है। प्रीति छिपाये नहीं छिपती। यथा—***'बैर प्रीति नहि दुरहिं दुराए'।*** इसके लिये किसी घटना विशेषकी कल्पना व्यर्थ है।

टिप्पणी—२ ***'जौं बिधि जनमु देइ***·····***'*** इति। (क) ***'जौ'***—भाव कि शरीरका जन्म कर्माधीन है और कर्मका फल ब्रह्मा देते हैं; यथा—***'जनम हेतु सब कहँ पितु माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता॥'*** (२५५।६) अत: ***'जौ'*** सन्दिग्ध वचन दिया। (ख) ***'जनमु देइ करि छोहू'***—अर्थात् जैसे इस बार कृपा करके जन्म दिया और श्रीराम-सीता पूत-पतोहू हुए, वैसे ही जब वे कृपा करके जन्म दें तभी राम-सीता पूत-पतोहू हों। (***'करि छोहू'*** दीपकदेहलीन्यायसे दोनों ओर है।) ***'करि छोहू'***—भाव कि ब्रह्मा ऐसी कृपा करके जन्म नहीं देते कि श्रीरामजी पूत-पतोहू हों (अत: प्रार्थना करती हैं कि जब-जब हमें जन्म दें तब-तब ऐसी ही कृपा किया करें कि राम हमारे पुत्र हों और सीता पतोहू हों)। (ग) ***'होहुँ राम सिय पूत पतोहू'***—इससे जनाया कि जैसे श्रीरामजी कैकेयीसे विशेष प्रेम रखते हैं वैसे ही श्रीसीताजी भी विशेष प्रेम करती हैं। (श्रीरामजीकी अधिक प्रीतिका परिचय तो परीक्षा करके पा लिया, सीताजीके सम्बन्धमें परीक्षा लेना नहीं

कहा। पर उनका भी नाम यहाँ देती हैं, यह क्यों? उनका स्वभाव कैसे जाना?) यहाँ सीताजीका भी नाम दिया, क्योंकि पतिव्रताका धर्म है कि जिसपर पति प्रसन्न हो उसपर वह भी प्रसन्न रहती है, जैसा पति करता है वैसा ही पतिव्रता करती है [उनके पातिव्रत्यधर्म पालनसे यह बात जान ली। यथा—*'लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥'* (२५२।५) (प्र० सं०), पुनः यथा—*'पति अनुकूल सदा रह सीता। ...जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ॥'* (७। २४), *'मानी राम अधिक जननी तें जननिहु गँस न गही। सीय लखन रिपुदवन रामरुख लखि सबकी निबही॥'* (गी० ७। ३७), (घ)— *'जौं बिधि...पतोहू'* का भाव यह है कि प्रथम तो इनका संग ही न छुड़ावें और यदि कर्मवश फिर जन्म हो तो यह कृपा करके हमें माँगा दें कि राम मेरे पुत्र हों और सीता पतोहू अर्थात् इनका वियोग कभी न हो, जन्म-जन्म इनका सुख बना रहे। (रा० प्र०)]

टिप्पणी—३—*'प्रान तें अधिक रामु प्रिय...'* इति। (क) भाव कि श्रीरामजी कौशल्याजीसे अधिक मुझे प्यार करते हैं, अतएव वे मुझे प्राणोंसे अधिक प्रिय हैं। (ख) *'छोभकस तोरे'*— यह *'जो अवलोकि मोर मन छोभा'* का उत्तर है। प्राणसे अधिक कहनेका भाव कि प्राणसे अधिक प्रिय कोई वस्तु नहीं है, पर श्रीरामजी उससे भी अधिक प्रिय हैं। *'छोभ कस तोरे'* का भाव कि तू मेरी दासी है। राम मुझे प्राणप्रिय हैं, तो तुझे प्राणप्रिय होने चाहिये, तुझे भी तिलक सुनकर हर्ष होना चाहिये था, सो न होकर तुझे उलटे क्षोभ हुआ। यह उलटी बात कैसी?

नोट-२ ☞ *'छोभ कस तोरें।'* बस, यहीं रानी धोखा खा गयीं। अब इन्हीं शब्दोंके निकलनेपर कुबड़ी मन्थरा-को फिर बोलने और अपना दाँव गाँठनेका मौका मिल गया; नहीं तो उसे उत्तर देनेकी कोई बात ही न थी।

दो०—भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ।
हरष समय बिसमउ करसि कारन मोहि सुनाउ॥ १५॥

शब्दार्थ—**सपथ**=(शपथ) सौगन्ध, कसम। **परिहरि**=छोड़कर। **दुराउ**=(दुराव) छिपाव, गुप्त रखनेका भाव। यह ठेठ अवधी है। (दीनजी)। **कपट**=छल, अभिप्राय साधनके लिये हृदयकी बातको छिपानेकी वृत्ति। *'दुराव'* में भय या अविश्वासके कारण छिपाव किया जाता है और कपटमें स्वार्थ साधनके लिये।

अर्थ—तुझे भरतकी कसम है, छल-कपट छोड़कर तू सच-सच कह। तू हर्षके समय खेद कर रही है, मुझे इसका कारण सुना॥ १५॥

नोट—१— दासीको भरत प्रिय हैं, वह उनका पक्ष ले रही है, यथा—*'पूत बिदेस न सोच तुम्हारे'।* इससे भरतकी कसम दिलाती है। पुनः, वह भरतके ननिहालकी है, इससे भी भरतमें उसे अपनपौ है, अतएव 'भरत-शपथ' दी।

टिप्पणी—१(क) हृदयमें कुछ होना और ऊपर कुछ होना 'कपट' है। मुँहसे न कहना, छिपाये रखना 'दुराव' है। कपटमें असत्य रहता है इसीसे कपट छोड़कर सत्य कहनेको कहती है। मन्थराने सब बातें छिपी मुँदी कही हैं। रामराज्य होनेमें और कौसल्याजीके हर्षमें अपनेको क्षोभ होनेका कारण खोलकर नहीं कहा है। पूत विदेशमें है, तुम्हें शोच नहीं है इस (कथन) का कारण नहीं कहा। भूपकी कपट-चतुरता नहीं लक्ष्य कर पाती हो, इसे भी उसने नहीं बताया (कि क्या 'कपट-चतुराई' राजाने की)। यह दुराव है अतएव दुराव छोड़कर स्पष्ट कहनेको कहती है। [(ख) *'हरष समय'*— राज्याभिषेकोत्सव सुमंगल है। इसे जिस-जिसने सुना वह हर्षित हुआ, यह पूर्व दिखा आये हैं। कैकेयीको भी सुनकर हर्ष हुआ। यह हर्षका समय है (ग) *'बिसमउ करसि'*—अर्थात् रोती है, ऊर्ध्व श्वास लेती है, इत्यादि; यथा—*'ऊतरु देइ न लेइ उसासू। नारिचरित करि ढारइ आँसू॥ छाँड़इ साँस कारि जनु साँपिनि॥'* (१३। ६। ८)

नोट—२— अ० रा० में दोहेके उत्तरार्धसे मिलता हुआ श्लोक ५५ का उत्तरार्ध यह है—'**हर्षस्थाने किमिति मे कथ्यते भयमागतम्।** (सर्ग २)

नोट—३—यहाँ अब देवमायाका अंकुर जमा, जिसे पुष्ट करनेके लिये मन्थराके वचन जलरूप हैं। (पं०)

एकहि बार आस सब पूजी । अब कछु कहब जीभ करि दूजी॥ १॥
फोरै जोगु कपारु अभागा । भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा॥ २॥
कहहिं झूठि फुरि बात बनाई । ते प्रिय तुम्हहि करुइ मैं माई॥ ३॥
हमहुँ कहबि अब ठकुरसोहाती । नाहिं त मौन रहब दिन-राती॥ ४॥

शब्दार्थ—**आज पूजी**=आशा पूरी हो गयी। **दूजी**=दूसरी। **फोरै जोगु**=फोड़ने योग्य। **कपारु** (कपाल)=सिर, मस्तक, खोपड़ी। **रउरेहि**=आपको, तुमको,। **मौन**=चुप।

अर्थ—(मन्थरा बोली) सब आशा तो एक ही बार बोलनेमें अर्थात् पहली ही बार पूर्ण हो गयी, अब तो दूसरी जीभ बना वा लगाकर कुछ कह सकूँगी॥ १॥ मेरा अभागा सिर फोड़ने ही योग्य है, जो हितकी (बात) भी कहते आपको दु:ख हुआ॥ २॥ जो झूठी सच्ची बात बनाकर कहते हैं, हे माई! वे ही तुम्हें प्रिय हैं और मैं कडुवी हूँ॥ ३॥ मैं भी अब ठकुर-सुहाती कहूँगी, नहीं तो दिन-रात मौन रहूँगी॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क)*'एकहि बार'*— अर्थात् एक बार विस्मयका हाल कहा, उसीमें सब आशा पूर्ण हो गयी। अर्थात् आशा तो यह थी कि इस बातके कहनेसे कुछ उत्तम पारितोषिक मिलेगा सो तुमने जीभ ही निकाल लेनेको कहा। अतएव सब मेरी आशाएँ पूर्ण हो गयीं, अब कुछ इच्छा न रह गयी। (ख) *'अब कछु कहब जीभ·····'*— अर्थात् एक बार विस्मयका कारण कहने (एक बार बोलने) का फल यह मिला कि तुमने मेरी जीभ निकलवा लेनेको कहा। अब फिर वही बात पूछती हो (तो पुन: बोलनेमें एक जीभ तो उसीमें चली जायगी। अत:) जब दूसरी जीभ बना लूँ तब कहनेका साहस करूँ (जिसमें एक जाय तो एक तो रह जाय। न दूसरी जीभ होगी न बोलूँगी। इससे यह भी जनाती है कि मुझे वही अथवा वैसी ही बात फिर कहनी होगी। पं० रामगुलाम द्विवेदीजी कहते हैं कि *'दूजी जीभ'* का भाव यह है कि दो जिह्वाएँ सर्पके होती हैं; मन्थरा भी द्विजिह्व बनकर कैकेयीको डसेगी)।

नोट—१—इसमें यह भी भाव है कि मैं तुम्हारे हितके लिये तुम्हारे पास आयी, पर तुम मेरी बात सुनती ही नहीं, तुम तो सौतकी बढ़ती सुनकर मुझे वरदान देना चाहती हो—*'माँगु देउँ मन भावत आली'* यथा—'**साहं त्वदर्थे संप्राप्ता त्वं तु मां नावबुद्ध्यसे। सपत्निवृद्धौ या मे त्वं प्रदेयं दातुमर्हसि॥**' (वाल्मी० २। ८। २६)। भला शत्रु सौतका बेटा राज पा रहा है तो इस संवादसे किस बुद्धिवाली स्त्रीको प्रसन्नता होगी, यह तो मरणके समान भयदायक है, और तुम मुझे इस संवादपर मनभावता वर देनेको तत्पर हो। यथा—'**अरेः सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम्।**' (वाल्मी० २। ८। ४) ये सब भाव *'एकहि बार आस सब पूजी'* में आ गये।

टिप्पणी—२ *'फोरै जोगु कपारु अभागा·····'* इति। [(क) अर्थात् मैं तो तुम्हारे हितकी बात कहती हूँ, पर वह तुम्हें अच्छी नहीं लगती। इसमें भी आपका दोष क्या? मेरा ही अभाग्य है] अभाग्य तो वस्तुत: उसका होता है जिसको उसके भलेकी बात कहनेसे बुरा लगता है, किंतु कैकेयीके डरसे वही उन्हें अभागिनी न कहकर अपनेको ही अभागिनी कहती है। (ख) मेरा कपाल फोड़ने योग्य है। अर्थात् मेरे कपालमें अभाग्य लिखा है इसीसे वह फोड़ डालने योग्य है (यह आगे फोड़ा ही जायगा। यथा—*'कूबर टूटेउ फूट कपारू।'* (१६३। ५)। *'भलेउ कहत·····'*— भाव कि अहित कहनेमें बुरा लगे तो ठीक है पर हित कहनेमें बुरा लगना अनुचित है, यह नाशका चिह्न है, यथा— *'हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे ॥'* (६। १०। ४)

नोट—२— यहाँ मन्थरा-समान स्त्रियोंका प्रकृत-चित्रण कितना सुन्दर है। वाल्मीकीय और अध्यात्मकी मन्थरा तो पहलेसे ही लट्ठमार चलती है। वह तो कैकेयीके सामने जाते ही उन्हे मूढ़, दुर्भगे आदि कहकर फटकारने लगती है। यथा—'**किं शेषे दुर्भगे मूढे महद्भयमुपस्थितम्।**' (अ० रा० २। २। ५२), '**उत्तिष्ठ मूढे किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते।**' (वाल्मी० २। ७। १४),

नोट ३— अभागा कपाल फोड़ने योग्य है अर्थात् अभाग्य तो मेरा तभी हो गया जब मैंने रामराज्य-तिलक सुना और अब मैं तुम्हें भी नहीं सुहाती इससे अभागी खोपड़ी फोड़ने योग्य है, इसे रखकर क्या करूँगी, अब मेरे समान अभागिनी कौन होगी? स्त्रियोंका यह स्वभाव है कि वे दोनों हाथ सिरपर पटककर इस तरह कहा करती हैं वैसा ही मन्थराने किया।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—'***फोरै जोगु*****……**' का भाव कि जो आपने कहा कि '***तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी***', सो मेरी जीभ कढ़ाने योग्य नहीं है, क्योंकि वह तो भली बात कह रही है। हाँ! मेरा कपाल फोड़ने योग्य है कि मैं कहूँ आपके भलेकी बात और आपको बुरा लगे। यह दोष मेरे भाग्यका है। मेरे कपालमें ब्रह्मदेवने लिखा है कि यह अच्छी बात कहेगी, पर सुननेवाला इससे रुष्ट ही हो जायगा। (विशेष दोहा १६ में इस दोहेभरके भाव देखिये।)

टिप्पणी—३ '***कहहिं झूठि फुरि बात बनाई।*****……**' इति। (क) जो झूठको सच बनाकर और सचको झूठा करके कहे वह तुमको प्रिय है। अर्थात् मैंने सत्य कहा, झूठ नहीं कहा, इसीसे मैं प्रिय नहीं हूँ, कड़वी हूँ। (झूठ-फुर=झूठी-सच्ची। यह मुहावरा है)। सत्यवक्ता कड़वे होते हैं। यथा—'***प्रिय बानी जे सुनहिं जे कहहीं। ऐसे नर निकाय जग अहहीं॥ बचन परमहित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे॥***' (६। ९। ८-९) '**सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः। अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥**' (वाल्मी० ३। ३७। २), मारीचने रावणसे कहा कि हे राजन्! प्रिय बोलनेवाले मनुष्य सदा मिला करते हैं, पर अप्रिय हितकारी वचन बोलनेवाला और सुननेवाला दुर्लभ है। मनुस्मृतिमें भी ऐसा ही कहा है। '***हमहुँ कहब अब ठकुर सोहाती।*****……**' इति।—

१—ठकुरसुहाती—ठाकुर अर्थात् स्वामीको रुचनेवाली; दूसरेको पसन्द आनेवाली बात; लल्लोचप्पो; खुशामद; मुँहदेखी। भाव यह कि या तो तुम्हारी-सी कहूँगी या चुप रहूँगी।

२—पं० रामकुमारजी—भाव कि जिस ठकुरसुहातीसे तुम्हारा भला होगा वह कहा करूँगी और जिससे अनभल होगा वह न कहूँगी, उससे मौन रहूँगी; क्योंकि '***अनभल देखि न जाइ तुम्हारा***'। ***दिन-राती***=सदैव, आठो पहर, हमेशा। — यह मुहावरा है। मन्थरा कैकेयीके साथ ही सदा रहती है। अतएव '***दिन-राती***' कहकर जनाती है कि रहना तो सदैव साथ ही है, इससे तुम्हारे मनकी कहूँगी नहीं तो मौन रहूँगी। (मौन ही धारण कर लूँगी यदि ठकुरसुहाती तुम्हारे हितकी न होगी।)

३—हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि यहाँ '***दिन-राती***' में एक सरस्वतीकृत गूढ़ भाव यह है कि 'एक दिन' अर्थात् आजका दिन और रात मौन रहूँगी, कल दूसरे दिन तो रामराज्य हो जानेपर तुम्हारी ठकुराई ही न रहेगी तो हमें ठकुरसुहाती कहनेका अवसर ही क्यों पड़ेगा।

नोट—४ मन्थरा अपने इन वाक्योंसे अपनेको सत्यवादिनी प्रमाणित कर रही है। '***कहहिं झूठि फुरि बात बनाई।……राती***' ये कैकेयीके '***सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ***' इन वचनोंके उत्तर हैं। अ० रा० २। २। ५७ के '**तच्छ्रुत्वा विषसादाथ कुब्जाऽकारणवैरिणी**' इस समास-कथनको गोस्वामीजीने यहाँ किस खूबीसे व्याससे वर्णन किया है। विश्वास उत्पन्न करानेमें यह चरित, इस प्रकारका विषाद, अपना अभाग्य कथन इत्यादि कैसे प्रभावशाली होते हैं, यह स्वभाव-निरीक्षक नित्य ही भलीभाँति देखते-जानते हैं। यही चरित मन्थरा कर रही है।

करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिअ लहिअ जो दीन्हा॥ ५॥

कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी॥ ६॥

जारै जोगु सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा॥ ७॥
तातें कछुक बात अनुसारी। छमिअ देबि बड़ि चूक हमारी॥ ८॥

शब्दार्थ—**कुरूप**=बदसूरत, बदशक्ल, जिसका रूप बुरा हो। **बवा**=बोया। **लुनिअ**=(लूणन) काटती हूँ। **अनभल**=अहित, बुरा। **देबि!**=हे देवी!, **अनुसारी**=की चलायी, छेड़ी, कही। 'अनुसारना' सकर्मक क्रिया है। (सं० अनुसरण) कविलोग यौगिक क्रिया बनानेमें प्रायः किसी भी संज्ञा शब्दके साथ इस क्रियाको जोड़ देते हैं। यथा—*'तब ब्रह्मा बिनती अनुसारी'* (सूर), *'सादर सिंहासन बैठारी। तिलक सारि बिनती अनुसारी॥'* (तुलसी) इत्यादि। (श० सा०) छमिअ=क्षमा कीजिये, मुआफ करो। **चूक**=गलती, भूल, अपराध।

अर्थ—विधाताने कुरूप बनाकर मुझे परवश किया। जो बोया सो काटा, जो दिया सो पाया॥ ५॥ कोई भी राजा हो हमारी क्या हानि है? हे रानी! चेरी छोड़कर अब मैं और क्या होऊँगी?॥ ६॥ हमारा स्वभाव तो जलानेके ही योग्य है। तुम्हारा अहित मुझसे देखा नहीं जाता॥ ७॥ इसीसे कुछ चर्चा चलायी। हे देवि! हमारी बड़ी भूल हुई, क्षमा कीजिये॥ ८॥

नोट—१ रानीके *'खोरे कूबरे····तिय बिसेषि पुनि चेरि'* इन वचनोंका उत्तर *'करि कुरूप·····'* है। और *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥'* का उत्तर *'कोउ नृप होउ······'* यह है।

नोट २—*'करि कुरूप·····'* इति। अर्थात् एक तो लँगड़ी और कुबड़ी बनायी उसपर भी स्त्री और दासी करके तुम्हारी-ऐसी स्वामिनीके वशमें किया कि जो हित कहनेपर भी कटु वचन सुनावे। परवश होनेसे सब सुनना-सहना पड़ता ही है। *'बोवे सो काटे, देवे सो पावे'* यह कहावत है अर्थात् पूर्व जैसे कर्म किये वैसे फल मिला। कर्माधीन तुम्हारी चेरी हुई।

टिप्पणी—१ (क) *'काने खोरे कूबरे·····'* का उत्तर *'करि कुरूप'* यह देकर फिर कुरूप और परवश होनेका कारण कहती है कि *'बवा सो लुनिअ'।* अर्थात् मैंने पाप बोया था अतएव पापका फल मुझे मिलना चाहिये। ब्रह्माजीने कुरूप किया यह पापका फल दिया। चेरी होनेके योग्य कुरूपता दी, अतः मैं चेरी हुई। कुरूप करके परवश किया अर्थात् *'काने खोरे·····'* ऐसी-ऐसी बातें सहनी पड़ती हैं। (ख) *'बवा सो लुनिअ······'*—अर्थात् इसमें कहनेवालेका कोई दोष नहीं, हमारे कर्मोंका दोष है। यथा—*'हौंहूँ रहौं मौन ही बयो सो जानि लूनिये'* (ह० बाहुक)। (ग) *'हमहि का हानी'*— मेरी क्या हानि है? अर्थात् मैं तो केवल तुम्हारी हानि देखकर कहती थी। मेरी न तो कुछ हानि है न लाभ। रानी होती तो लाभ होता, सो तो होना नहीं है।

पं०विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'कोउ नृप होउ···'* इति। भाव कि आप इतना भी नहीं समझतीं कि जो मैं कह रही हूँ इसमें मेरा स्वार्थ क्या है? मैं तो चेरी हूँ और चेरी ही रहूँगी। मेरी हानि कुछ नहीं है। हानि उसकी है जो रानी रहकर चेरी बनने जाती है।

नोट—३ *'चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी'* इति। इसके दो प्रकारसे अर्थ किये गये हैं। एकमें—'हे रानी! चेरी छोड़ अब हम और क्या हो सकती हैं? अर्थात् चेरीसे नीची पदवी अब और कौन है जिसके पानेका हमें डर हो सकता हो। यदि राम राजा हुए तो भी चेरीसे और गिरी दशा कोई हो ही नहीं सकती। इससे वही राजा हों तो भी हमारी हानि नहीं।' *'हमहिं का हानी?'* इन शब्दोंके विचारसे यहाँ हानि दिखा रही है। (कि मेरी कोई हानि नहीं) इस विचारसे यह अर्थ जो हरिहरप्रसादजीने किया है विशेष संगत जान पड़ता है। इस वाक्यमें ध्वनि यह है कि हमारी कोई हानि नहीं, पर तुम्हारी हानि है, यदि राम राजा हुए तो मैं चेरी-की-चेरी ही बनी रहूँगी, पर तुम रानी-की-रानी ही न रह जाओगी; किंतु तुम चेरी बनोगी। यथा—*'जौं सुत सहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥'* (१९। ८) रानीसे चेरी होगी, यह तुम्हारी हानि है, दीनजी भी इसी अर्थको ठीक मानते हैं।

दूसरा अर्थ यह किया गया है कि 'क्या अब मैं चेर छोड़ रानी होऊँगी' अर्थात् नहीं। अर्थात् भरतजी अगर राज्य पावें तो भी हम चेरी ही रहेंगी, कुछ रानी न हो जायँगी और तुम जैसी रानी अब, वैसी तब भी

रहोगी और यदि रामराज्य हुआ तो भी मैं चेरी ही रहूँगी—ऐसा अर्थ बैजनाथजी, पंजाबीजी, पं० रामकुमारजी और विनायकी टीकाकार आदि महानुभावोंने किया है। पर 'चेरीसे रानी न बन जाऊँगी' इसमें 'रानी बनना' हानिके संग कुछ जोड़ नहीं खाता।

टिप्पणी २—*'जारै जोग सुभाउ·····'* इति। (क) भाव कि भलाईकी बात कहनेसे तुम्हें बुरा लगता है तो उसे (भलाईकी बातको) न कहना चाहिये, पर मैंने स्वभाववश कह दिया। [जिसका अनभल हो रहा है और वह उसमें भला मानता है, तब दूसरा क्यों जलता है? यह जानते हुए भी मुझे जलन होती है। (रा० प्र०)] अतएव मेरा स्वभाव जलाने योग्य है। आशय यह है कि इतना होनेपर भी मुझसे तुम्हारा अनभल देखा नहीं जाता। (ख) इस कथनसे मन्थरा सूचित करती है कि मैं स्वाभाविक तुम्हारा हित करती हूँ, (दासीको स्वामिनीका सदा हित करना ही चाहिये। मेरा तुमपर अत्यन्त प्रेम है अत: स्वभावसे ही मैं तुम्हारी हितैषिणी हूँ, तुम्हारे हितके लिये कहा था), तुम्हारा अहित होनेवाला है। स्वभावको जलाने और कपालको फोड़ने योग्य कहा।

टिप्पणी ३—*'ताते कछुक बात·····'* इति। (क) ताते अर्थात् तुम्हारा अनभल नहीं देख सकती, इस स्वभावके वश होकर। *'कछुक'* से जनाया कि अनभलकी बात तो बहुत है, मैंने उसमेंसे कुछ थोड़ी-सी कही है। (इतनेहीमें आप बिगड़ पड़ीं। इन वचनोंसे भारी संकटका भयदर्शन करा रही है) (ख) *'छमिअ देबि बड़ि चूक हमारी'* इति। क्षमा कीजिये, ऐसा कहा जिसमें वह पुन: पूछे। बातको 'कछुक' और चूकको बड़ी कहनेका भाव कि इतनी बात भी न कहनी चाहिये थी। (देवि! अर्थात् आप दिव्य हैं, सत्त्वगुणयुक्त हैं; अत: चूकको क्षमा करें। क्षमाकी प्रार्थना करके जनाती है कि बस अब कुछ न कहूँगी और आप भी अब मत पूछिये। इस प्रकार मन्थराने कैकेयीपर अपनी प्रतीति जमानेकी नींव यहाँपर डाल दी।)

दो०—गूढ़ कपट प्रिय बचन सुनि तीय अधरबुधि रानि।
सुरमाया बस बैरिनिहि सुहृद जानि पतिआनि॥ १६॥

शब्दार्थ—**बैरिनि**=स्त्री शत्रु। **सुहृद**=हृदयकी अच्छी, मित्र, हितैषिणी। **पतिआनि**=(सं० प्रत्ययन) विश्वास कर लिया।

अर्थ— 'स्त्री', 'अधरबुधि', ओर देवमायावश होनेके कारण गूढ़ कपट भरे हुए प्रिय वचनोंको सुनकर रानीने मन्थरा वैरिनिको सुहृद् जानकर उस पर विश्वास कर लिया॥ १६॥

नोट—१ *'अधरबुधि'* इति। 'अधर' का अर्थ ओष्ठ भी है। इस विचारसे बैजनाथजी, हरिहरप्रसादजी, विनायकी टीकाकार आदि महानुभावोंने अर्थ किया है—ओष्ठपर बुद्धिवाली अर्थात् क्षुद्र, क्षणमात्र रहनेवाली या वचनमात्र। शब्दसागरमें 'अधर' के अर्थ ये दिये हैं—(अ=नहीं, धृ=धारण करना)= १—बिना आधारका स्थान, शून्य स्थान। २— जो पकड़में न आवे, चंचल। ३—नीच, बुरा। इस अन्तिम अर्थपर उदाहरण इसी दोहेका दिया है। बाबा हरिहरप्रसादने भी 'नीच' अर्थ किया है। दीनजी 'अधर' का अर्थ करते हैं— न इधर और न उधर, बीचमें, दुविधायुक्त। वीरकविजी लिखते हैं कि कोई-कोई इस प्रकार अर्थ करते हैं कि —'स्त्रियोंकी बुद्धि ओठोंपर होती है अर्थात् कहासुनीसे चलविचल हो जाती है। प्रथम तो ओठ बुद्धिके रहनेका स्थान नहीं है, इसलिये बलात् उसे ओठमें स्थापन करना युक्तियुक्त नहीं। दूसरे यहाँ तात्पर्य चंचलतासे है जो एक समान स्थिर न रहे।' पोद्दारजी लिखते हैं कि धरा कहते हैं जमीन, आधार, टिकावको। अत: 'अधर' का अर्थ हुआ बिना धरा (आधार) की (अस्थिर)!

टिप्पणी—१ *'गूढ़ कपट प्रिय बचन सुनि·····'* इति। (क) कैकेयीने मन्थरासे कहा था कि कपट छोड़कर सत्य कह, यथा—*'भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ।'* (१५), इसीसे मन्थराने कपटको गुप्त किया। *'प्रिय बचन'*— कपट छिपानेके लिये कपटी लोग प्रिय वचन बोलते हैं, वैसे ही इसने कपट छिपानेके

लिये प्रिय वचन कहे। (उसके सभी वचनोंमें कपट छिपा हुआ है। *'प्रिय बचन'*—मन्थराके वचन प्रिय हैं, क्योंकि इनसे झलकता है कि रानीकी बड़ी हितैषिणी है, अपमान होनेपर भी वह स्वामिनीका भला ही चाहती है। उसके सब वचनोंसे यह प्रतीत होता है कि वह जो कुछ कहनेको है वह सब रानीके हितके लिये है।) (ख)—*'तीय अधरबुधि·····'*— (मन्थरापर विश्वास कर लेनेका कारण बताते हैं कि) एक तो रानी स्त्री है। स्त्री स्वाभाविक अज्ञानी होती है, यथा—*'कीन्ह कपट मैं संभु सन नारि सहज जड़ अज्ञ।'* (१।५७), *'यदपि सहज जड़ नारि अयानी'।* (१। १२०) दूसरे वह अधर अर्थात् नीचबुद्धि है; इसीसे वह मन्थराके कपटको न जान पायी। यथा—*'रहइ न नीच मते चतुराई।'* (२४।८) पुनः, *'तीय अधरबुधि'* का भाव कि उत्कृष्ट बुद्धिवालेके पास देवमाया नहीं जाती, यथा—*'सो मति मोहि कहत करु भोरी। चंदिनि कर कि चंड कर चोरी।* (२९५।६)*'*, *'भरत जनक मुनिजन सचिव साधु सचेत बिहाइ। लागि देवमाया सबहि जथाजोग जनु पाइ॥'* (३०२) रानीकी बुद्धि उत्कृष्ट नहीं है, इसीसे उसे देवमाया लगी। (ग) सरस्वतीने मन्थराकी मति फेरी थी न कि रानीकी। तब यहाँ *'सुरमाया बस'* कैसे कहा? समाधान—*'सुरमाया बस'* कहनेसे पाया गया कि जब सरस्वती मन्थराकी मति फेरकर चली गयी, तब देवताओंने अपने कार्यके अनुकूल माया रची और कैकेयीकी मतिको फेरा! देवता जहाँ-तहाँ ऐसी ही माया किया करते हैं। यथा—*'लोग सोग श्रम बस गए सोई। कछुक देवमाया मति मोई।'* (८५।६), *'सुरमाया बस लोग बिमोहे। राम प्रेम अतिसय न बिछोहे॥'* इत्यादि। [देवता अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये रह-रहकर बीच-बीचमें माया करते रहते हैं। जब रानीने कहा कि *'प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे।·····'* तब उसकी बुद्धि दिव्य जानकर वे डरे कि कहीं ऐसा न हो कि यह मन्थराके बहकानेमें न आवे, तब तो हमारा काम ही बिगड़ जायगा, उन्होंने रानीपर माया डाली। अ० रा० में कैकेयी और मन्थरा दोनोंपर सरस्वतीका माया डालना लिखा है। देवताओंने उससे कहा है, पहले तुम मन्थरामें प्रवेश करना, फिर कैकेयीमें। सरस्वतीने 'बहुत अच्छा' कहकर वैसा ही किया और प्रथम मन्थरामें प्रवेश किया। यथा—**'मन्थरां प्रविशस्वादौ कैकेयीं च ततः परम्।'** (२। २। ४५)। **'·····तथेत्युक्त्वा तथा चक्रे प्रविवेशाथ मन्थराम्॥'** (४६) जैसे अध्यात्ममें मन्थरामें प्रवेश करना तो लिखा गया किंतु रानीमें प्रवेश करना केवल **'तथेत्युक्त्वा'** और **'अथ'** शब्दोंमें आशयसे जनाया गया है। वैसे ही मानसमें कविने यहाँ *'सुरमाया बस'* से पीछे रानीपर भी देवमायाका डाला जाना जना दिया है। इसकी पुष्टि भरद्वाजजीके *'तात कैकइहि दोसु नहिं गई गिरा मति धूति।'*(२०६) इस वाक्यसे होती है। सरस्वती ब्रह्माकी शक्ति है। इस तरह, **सुरमाया**=सुर (ब्रह्माकी) माया (शक्ति) सरस्वती। अथवा, देवताओंके कहनेसे सरस्वतीने मति फेरी, इससे देवमायावश कहा। सरस्वती देवी है ही, इसके द्वारा बुद्धि फेरी जाया करती है। अतः 'सुरमाया' से सरस्वतीका अर्थ ले सकते हैं। इससे भरद्वाज-वाक्य और अ० रा० से संगति बैठ जाती है] (घ) *'बैरिनिहि सुहृद जानि·····'* यह सुरमायाका कार्य (प्रभाव) कहा कि वैरिनिको सुहृद् जाना और उसपर विश्वास किया। भाव यह कि शत्रुका विश्वास न करना चाहिये, पर रानीकी बुद्धि ही विपरीत हो गयी, उसने विश्वास कर लिया। यहाँ 'दूसरा समुच्चय' और 'भ्रान्ति' अलंकार है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—मन्थरा वस्तुतः वैरिन थी। अपनी प्रतिहिंसा-वृत्ति तथा राजसुखको करतलगत करनेकी सिद्धिके लिये रानीका सर्वनाश करनेपर तुली हुई थी। यथा—*'कुबरी करि कबुली कैकेई। कपट छुरी उर पाहन टेई॥'* रानी यद्यपि बड़ी बुद्धिमानीकी बात बोली, पर थी भोली-भाली और इस समय देवमायाके वश हो रही थी, प्रिय वचन सुनकर उसे सुहृद् समझ लिया और विश्वास कर बैठी। 'केवल मुझे छोड़कर संसारमें कोई तुम्हारा हित नहीं है, स्वयं महाराज भी कपट-चतुर हैं, मीठी बातें बनाकर तुम्हें ठगा करते हैं' इत्यादि बातें विश्वास करनेयोग्य नहीं थीं, पर सुरमायावश होनेसे रानीको विश्वास हो गया।

मन्थराको सरस्वतीने कपटकी पेटारी बनाया था। पेटारीमें क्या है, बाहरसे पता नहीं चलता। रानीको

पता नहीं चला कि उसके प्रिय वचनके भीतर कितना कपट भरा हुआ है। *'एकहि बार आस सब पूजी''''भलेउ कहत दुख रौरे लागा'* कहकर पतिनिन्दातक सुननेके लिये रानीको तैयार कर रही है। *'कहहिं झूठ फुरि बात बनाई''''नाहिं त मौन रहब दिन-राती'* कहकर स्वयं हितचिन्तक बनती है, और सबको झूठी बात बतलानेवाला बता रही है, जिसमें बात आगे बढ़नेपर रानी किसीपर विश्वास न करे।

'करुइ मैं माई'। यहाँ *'मैं'* पर जोर है। भाव यह कि मैं तो नैहरसे तुम्हारे साथ आयी हूँ, दूसरा तुम्हारा यहाँ है कौन?

'करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा''''लहिय जो दीन्हा' कहकर अपनी पाप-प्रवृत्ति छिपाती है। प्राक्तन कर्मसे कुरूप हुई, चेरी हुई। यह बात जानकर अब मैं ऐसी बात नहीं कर सकती, जिससे मेरा परलोक नष्ट हो, अतः मेरा कहना सदुपदेश है। *'कोउ नृप होइ हमहिं का हानी'* कहकर अपनी रामजीके प्रति प्रतिहिंसा-वृत्ति *(रामतिलक सुनि भा उर दाहू)* छिपाती है, और *'चेरि छाड़ि अब होब कि रानी'* कहकर भरतके राजा होनेपर उनके और कैकेयीके आँखोंकी पुतली बननेके हौसलेको छिपाती है *('देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गँव तकै लेहुँ केहि भाँती')।*

'जारै जोग सुभाव हमारा''''बड़ि चूक हमारी' कहकर अपना स्वार्थ छिपाते हुए कैकेयीपर स्वाभाविकी प्रीति दिखलाती है कि मेरी जिन्दगी तो तुम्हारे साथ कटी, अतः तुम्हारा अनभल मुझसे देखा नहीं जाता। और लोगोंको क्या पड़ी है कि तुम्हारे अनभलके रोकनेके लिये अपने प्राणोंको खतरेमें डालें।

नोट २—यहाँतक मन्थराने कैकेयीजीके सब वचनोंका उत्तर दिया।

कैकेयी-वचन	उत्तर
१. सभय रानि कह कहसि किन कुसल राम	*रामहिं छाँड़ि कुसल केहि आजू।* इत्यादि
२. हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे''''	*गाल करब केहि कर बल पाई।*
३. दीन्ह लषन सिख अस मन मोरे''''	*कत सिख देइ हमहिं कोउ माई*
४. झुकी रानि अब रहु अरगानी''''	*नाहिं त मौन रहब दिन राती*
५. पुनि अस कबहुँ कहसि''जीभ कढ़ावउँ	*अब कछु कहब जीभ करि दूजी*
६. सुदिन सुमंगल''रामतिलक जौं साँचेहु''''	*कोउ नृप होउ हमहिं का हानी।''*
७. देउँ माँगु मन भावत आली	*एकहि बार आस सब पूजी*
८. भरत सपथ तोहि सत्य कहु	*कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहि करुइ मैं माई॥*
९. परिहरि कपट दुराउ	*गूढ़ कपट।* (मन्थराने कपटको गुप्त किया)

सादर पुनि पुनि पूछति ओही। सबरी गान मृगी जनु मोही॥ १॥
तसि मति फिरी अहइ जसि भाबी। रहसी चेरी घात जनु फाबी॥ २॥

शब्दार्थ—**ओही**=उससे। **सबरी**=शबरजातिकी स्त्री, भीलनी। **मोही**=मोहित हो गयी, मुग्ध हो गयी, लुभा गयी। **अहइ**=है। **भाबी**=होनहार, हरि इच्छा, भवितव्यता। **फाबी**=लग गयी।

अर्थ—(रानी) बारंबार उससे आदरपूर्वक पूछ रही है। मानो शबरीके गानपर हरिणी मोहित हो गयी हो॥ १॥ जैसी भावी है वैसी ही बुद्धि भी फिर गयी। चेरी खुश हुई मानो घात लग गया॥ २॥

टिप्पणी—१ *'सादर पुनि-पुनि पूछति'''''* इति। (क) देखिये प्रथम इसका निरादर किया था, यथा—*'झुकी रानि अब रहु अरगानी।'* अर्थात् कहाँ तो यह कि खबरदार, अब चुप रह! और कहाँ अब बार-बार उससे आदरपूर्वक पूछती है—यही पतियाने, दासीके काबूमें जानेके लक्षण हैं। (ख)—*'पुनि-पुनि पूछति'* से सूचित हुआ कि रानी उससे पूछती हैं पर वह कहती नहीं; क्योंकि वह चुकी है कि *'एकहि बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी॥'* इसीसे रानी बार-बार पूछती है। (ग) *'सबरी गान'''''*— शबरी-गान मधुर है, उसमें फाँसी (फंदा) गुप्त है; वैसे ही चेरीका वचन प्रिय है, कपटरूपी फाँसी (फंदा) गुप्त है।

वि० त्रि०—रानीने पहले उसका बड़ा अनादर किया, जबान बंद कर लेनेकी आज्ञा दे डाली। वह चुप तो हो गयी, पर चुप होनेके पहले, उसने ऐसी-ऐसी बातें कहीं कि रानीको सुननेकी बड़ी उत्सुकता हो गयी। अब उससे आदरके साथ पूछती हैं तो वह बोलती नहीं। उसे बहुत बातें कहना है, पर विषयके उपोद्घातमें ही रानी नाराज हो गयी। अतः उनकी उत्कण्ठा बढ़ानेके लिये, और इस बातकी सूचनाके लिये कि मुझे जो कुछ कहना है वे ऐसी ही बातें है कि जिन्हें तुम घर फोड़नेवाली समझती हो, चुप है। महारानीको अब उसका चुप रहना सह्य नहीं है, अतः बार-बार पूछती है।

'सबरी गान मृगी जनु मोही'। रानीकी उपमा उस मृगीसे दे रहे हैं, जो शबरीके गानपर मोहित हो जाती है। शबरी संगीतशास्त्रानभिज्ञा, भला गाना क्या जाने, पर उसके दोषयुक्त गानपर मृगी मोहित हो जाती है, अपना सुध-बुध खो बैठती है, चाहती है कि वह और भी विस्तारसे गान करे। इसी भाँति रानी मन्थराके दोषयुक्त प्रिय वचनपर मोहित हो गयी है, अपनी विवेकशक्ति खो बैठी है, चाहती है कि मन्थराने जिस विषयका उपोद्घात किया है उसका पूरा वर्णन करे।

नोट—१ बारंबार आग्रहपूर्वक सादर पूछना उत्प्रेक्षाका विषय है। जैसे शबरी फंदा गुप्त रखती है, घात पाकर फाँस लेती है; वैसे ही मन्थरा कपटको गुप्त किये है। जब भिल्लिनी मीठे सुरीले राग अलापती है तब हिरन रागसे मोहित हो आसपास खड़े हो जाते हैं। उन्हें तन-बदनकी सुध नहीं रह जाती, न यह ध्यान रह जाता है कि यह हमें फाँस लेगी और मार डालेगी। उसी तरह रानी मन्थराके गूढ़ कपट-सने हुए ऊपरसे मीठे प्रिय वचन सुनकर मोहित हो गयी है, बारंबार पूछती है उसे यह विचार नहीं है कि इन मीठे वचनोंसे मुझे दुःख उठाना पड़ेगा। मुझे वैधव्य भोगना पड़ेगा और पति और पुत्र दोनों मुझे त्याग देंगे। संसारमें अपयश होगा जो मरणके समान है। इस उत्प्रेक्षाका यह भाव वाल्मी० २। १२। ७७ में श्रीदशरथ महाराजके कैकेयी-प्रति कहे हुए वाक्योंसे स्पष्ट हो जाता है। यथा—**'अनृतैर्बत मां सान्त्वैः सान्त्वयन्ती स्व भाषसे। गीतशब्देन संरुद्ध्य लुब्धो मृगमिवावधीः॥'** अर्थात् झूठे प्रलोभनके वचनोंसे मुझे भुलावा देनेके लिये तुम बातें किया करती थीं जैसे व्याधा मधुर गीतके द्वारा मृगाको लुभाकर मार डालता है वैसे ही तुमने मुझे मारा। (व्याध लोग हिरनके सींगको घिसकर उसीमें छेद करके उसे बजाते और उससे सुरीले राग अलापते हैं। हिरन रागका बड़ा प्रेमी है।) यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' अलंकार है।

टिप्पणी—२ (क) ***'तसि मति फिरी अहइ जसि भाबी'*** इति। मन्थराकी मति तो सरस्वतीके फेरनेसे फिरी और कैकेयीकी मति भावीके अनुकूल फिरी। इस कथनका आशय यह है कि सरस्वती मन्थराकी मति फेरकर लौट गयी। यथा—***'गई गिरा मति फेरि।'*** जैसे वह अवधमें मन्थराकी मति फेरनेके लिये आयी थी, वैसे ही फिर उसका कैकेयीकी मति फेरनेके लिये आना ग्रन्थमें नहीं लिखा है। यदि कहें कि एक ही साथ दोनोंकी मति फेरी तो यह निश्चय नहीं होता, क्योंकि जब मन्थराकी मति फिरी तब कैकेयीकी मति अच्छी बनी रही। यह बात प्रसंगसे स्पष्ट है। इसीसे भावीका मतिको फेरना लिखते हैं। भावी यह है कि जिस बातपर जीभ निकलवा लेनेको कहा था उसी बातको फिर-फिर सादर पूछती है। [पहले निरादर किया अब क्यों फिर उसी बातको पूछती है, इसका कारण बताते हैं कि ***'तसि मति फिरी·······'*** अर्थात् भावी जैसी होती है वैसी ही बुद्धि हो जाती है। भावी यथा ***'हरि इच्छा भावी बलवाना।'*** (प्र० सं०)] (ख)—***'रहसी चेरि···'*** इति। 'जनु' शब्द देकर उत्प्रेक्षा करनेका भाव यह है कि मन्थरा तो यह समझी कि मेरी घात फबी, मेरे वचनोंका यह प्रभाव हुआ, मेरे कथनसे रानीकी मति फिरी है, इसीसे वह हर्षित हुई; किंतु ऐसी बात है नहीं, उसकी घात नहीं फबी, रानीकी मति उसके फेरनेसे नहीं फिरी है, प्रत्युत भावीवश फिरी है।

तुम्ह पूछहु मैं कहत डेराऊँ। धरेहु मोर घरफोरी नाऊँ॥ ३॥
सजि प्रतीति बहु बिधि गढ़ि छोली। अवध साढ़साती तब बोली॥ ४॥

शब्दार्थ—**नाऊँ**=नाम। **डेराऊँ**=डरती हूँ। **सजि**=सजाकर, अच्छी तरह जमाकर। **प्रतीति**=विश्वास।

अर्थ—तुम पूछती हो और मैं कहते डरतीं हूँ। क्योंकि तुमने मेरा नाम 'घरफोरी' रखा है॥ ३॥ बहुत तरहसे अपने अनुकूल बनाकर पाकर अपने ऊपर विश्वास जमाकर, तब अवधके लिये 'साढ़ेसाती' दशारूपिणी मन्थरा बोली॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'तुम्ह पूछहु······'*** इति। ***'सादर पुनि-पुनि पूछति ओही'*** इसीसे कहती है कि ***'तुम्ह पूछहु'।*** बार-बार प्रेमसे पूछनेपर भी कहती क्यों नहीं? इसके उत्तरमें कहती है—***'मैं कहत डेराऊँ'। 'कहत डेराऊँ'***—भाव कि जो बात मुझे कहनी है वह घर फोड़नेवाली ही बात है और तुमने कहा है कि अब यदि घर फोड़नेवाली बात कहेगी तो जीभ निकलवा लेंगी, यथा—***'पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तब धरि जीभ कढावउँ तोरी॥'*** (१४।८) डरती हूँ कि जीभ न निकलवा लो। दूसरे, तुमने मेरा नाम 'घरफोरी' रखा है। मुझे इस कुनाम (कुत्सित नाम) का डर है। क्योंकि जो भी सुनेगा वह मेरी निन्दा करेगा। यह ***'धरेहु मोर······'*** का भाव हुआ।

टिप्पणी—२ ***'सजि प्रतीति······'*** इति। (क) कैकेयीके हृदयमें प्रतीति कराके अपनी सुहृदता दिखाकर विश्वास कराकर; यथा—***'सुरमाया बस बैरिनिहि सुहृद जानि पतिआनि।'*** (१६) (ख) ***'गढ़ि छोली'*** अर्थात् बात बना चिकनाकर। प्रतीतिकी बात चिकनाकर बोली, आगे इसे चरितार्थ कर दिखाया है। (ग) 'सजकर, गढ़-छोलकर' कहनेका भाव कि मन्थरा जो बुराईकी बाते कहना चाहती है, उनमें कैकेयीजीको प्रतीति न होती; इसीसे उसने बातें खूब बनाकर चिकनाकर कहीं।

नोट—१ ***'सजि प्रतीति बहु बिधि·······'*** इति (क) 'सजना=सँवारना, दुरुस्त करके ठीक बना लेना। ***'प्रतीति सजना'***=अपने ऊपर विश्वास जमाना, विश्वास दृढ़ कराना। किसी लकड़ी-पत्थर इत्यादि सामग्रीको काट-छाँट या ठोंक-ठाँककर कोई कामकी वस्तु बना लेने, वा छील-छालकर दुरुस्त करके, सुडौल बना लेनेको 'गढ़ना' कहते हैं। गढ़कर टेढ़ाई दूर की जाती है, गाँठ आदि निकाली जाती और अपने कामके योग्य लकड़ी इत्यादि बनायी जाती है। लकड़ी आदिको छीलना, खुरचना 'छोलना' कहलाता है। 'गढ़-छोलकर' अर्थात् अपने अनुकूल बनाकर। (ख)—यहाँ प्रतीति सजना, गढ़ना और छोलना तीन बातें कहीं। 'प्रतीति सजना' अपने प्रति है। अर्थात् विश्वासको दृढ़ किया, यथा—***'सुहृद जानि पतिआनि'।*** श्रीरामचन्द्रजी, राजा और कौसल्याजी इन तीनोंके प्रतिकूल रानीको बहकाना है, तीनोंमें उसके प्रति शत्रुभाव दर्शित कराना है; इससे ***'गढ़ना-छोलना'*** इनके विषयमें कहा। ***'गढ़ि छोली'*** अर्थात् इन सबोंमें जो रानीकी प्रीति थी, उसे छील-छालकर गढ़कर अलग कर दिया। भाव यह कि कपटभरी बातें गढ़-गढ़कर कहीं जिससे विश्वास हो गया कि दासी मेरी सुहृद् है।

नोट—२— मयंककार कहते हैं कि—***'प्रियवादिनि मो सज गई, भरत सपथ मो छोलि। सादर पूछति गढ़ि गई, रही न प्रीती पोलि॥'*** कैकेयीने ***'प्रियवादिनि'*** कहा; इससे मन्थराने अपने विश्वासको सजा दृढ़ किया अर्थात् जान गयी कि मेरी बातें रानीको कुछ अच्छी लगती हैं। पुनः, कैकेयीने भरतकी शपथ देकर पूछा, इससे उसने विश्वासको छीलकर स्वच्छ कर लिया। अर्थात् समझ गयी कि रानी मेरे ऊपर अब कुछ विश्वास करने लगी। पुनः, वह बार-बार सादर पूछने लगी इससे उसका विश्वास गढ़ गया। अर्थात् तैयार हो गया, वह समझ गयी कि बस, अब रानीको मेरा विश्वास हुआ और अब मेरी बातोंमें उसे पोलरहित निष्कपट प्रीति भी हो गयी।

नोट—३ बैजनाथजी लिखते हैं कि मन्थराने वचनोंकी प्रतीति कैकेयीके उरमें सज दी। प्रथम प्रतीति कुडौल थी। तभी तो उसने डाँटा-फटकारा था ***'अब रहु अरगानी॥ पुनि अस कबहुँ कहसि······।'*** उसे बुद्धिरूप बसूलासे तथा ***'भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा॥······कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी॥'*** अर्थात् भला कहनेपर तुमको दुःख हुआ, कोई राजा हो मैं रानी न कहाऊँगी इत्यादि वचनरूपी छेनीसे छोल-गढ़कर सुडौल किया। पुनः, ***'अनभल देखि न जाइ तुम्हारा'*** तुम्हारा अनभल नहीं देखा जाता इत्यादि वचनरूप खरादद्वारा साफ करके प्रतीति सज ली। अब प्रतीति सुडौल हो गयी है तभी तो वह ***'सादर पुनि पुनि पूछति ओही'।***

टिप्पणी—३ *'अवध साढ़साती……'* इति। जो पूर्व कहा था कि *'हरषि हृदय दसरथ पुर आई। जनु ग्रहदसा दुसह दुखदाई॥'* (१२। ८)। उस 'ग्रह-दशा' को यहाँ स्पष्ट किया कि यह साढ़ेसाती शनिश्चरकी ग्रहदशा है। यह भी सरस्वतीकी छाया है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'तुम्ह पूछहु मैं कहत डेराऊँ। धरेउ मोर घरफोरी नाऊँ॥'* इत्यादि बातें बनाकर पहले रानीके मनपर अपना विश्वास जमाया, और तब कुछ बातें नयी गढ़ लीं, और कुछमें काट-छाँट किया, और बोली। *'रचि प्रपंच भूपहिं अपनाई। रामतिलक हित लगन धराई॥'* इत्यादि बिलकुल नयी गढ़ी हुई बातें हैं। *'रामहि तुम्ह प्रिय यह फुरि बानी॥ रहा प्रथम अब ते दिन बीतें'* इत्यादि छोली हुई (काट-छाँट की हुई) वाणी है। पहले सरस्वतीकी उपमा दुसह दुःखदायी ग्रहदशासे दे आये हैं वह ग्रह-दशा बुधकी महादशा है, जो सत्रह वर्षतक रहती है। उसमेंसे तीन वर्ष बीत गये हैं, चौदह वर्ष शेष हैं, जो वनवासमें बीतेंगे। यहाँपर मन्थराकी उपमा साढ़ेसातीसे दी गयी। मन्थराकी त्रिभंगी मूर्ति है और साढ़ेसाती भी तीन अढ़ैयाकी होती है; अतः मन्थराको साढ़ेसाती कहा।

नोट—४ **'साढ़ेसाती'**=[साढ़े+सात+ई (प्रत्यय)।] शनिग्रहकी ७$\frac{1}{2}$ मास या ७$\frac{1}{2}$ दिन आदिकी दशाको, फलित ज्योतिषके अनुसार जिसका फल बहुत बुरा होता है, 'साढ़ेसाती' कहते हैं। इसीसे साढ़ेसाती आना मुहावरा है 'दुर्दशा—या विपत्तिके दिन आनेका'। राशिसे जब शनि बारहवें पड़ते हैं तब महादशा आती है और जबतक शनि राशिसे तीसरे नहीं होते तबतक यह दशा रहती है।

बैजनाथजी लिखते हैं कि—मानो अवधको उजाड़नेके लिये साढ़ेसाती शनिश्चरकी दशा है। शनिश्चर चढ़ाव-उतारमें छः मास शान्त रहता है और सात वर्ष दुःखद है। यहाँ स्वपुत्रको राज्य और सवतिपुत्रको वन, दो वचनोंसे १४ वर्ष हुए।

मानस-तत्त्वप्रकाशमें गणपति उपाध्यायजी 'साढ़ेसाती' का भाव यह लिखते हैं कि *'बाहर बोले मंथरा अन्तर सारद जान। साढ़े सात दिवस लगि रहे अवधपति प्रान॥'* अर्थात् साढ़ेसाती कहनेका भाव यह है कि आजसे ७$\frac{1}{2}$ दिनपर राजाकी मृत्यु हो जावेगी।

अलंकार—*'अवध साढ़साती……'* में सम अभेदरूपक है।

प्रिय सियरामु कहा तुम्ह रानी। रामहिं तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी॥ ५॥
रहा प्रथम अब ते दिन बीते। समउ फिरे रिपु होहिं पिरीते॥ ६॥
भानु कमल कुल पोषनि हारा। बिनु जर* जारि करइ सोइ छारा॥ ७॥
जरि तुम्हारि चह सवति उखारी। रूँधहु करि उपाउ बर बारी॥ ८॥

शब्दार्थ—**फिरे**=पलटने, बदलने, प्रतिकूल या बुरे होनेपर। **पिरीते**=प्रिय प्यारे मित्र। **पोषनिहारा**=पालने पुष्ट करनेवाला। **छारा**=राख, भस्म। **सवति**=(सं० पत्नी) सौत, सपत्नी।

अर्थ—रानी! तुमने जो कहा कि सीता और राम तुम्हें प्रिय हैं और रामको तुम प्रिय हो, सो सत्य है॥ ५॥ (पर ऐसा) पहले था। वे दिन अब गये। समय फिर जानेपर प्यारे मित्र भी शत्रु हो जाते हैं॥ ६॥ (देखिये) सूर्य कमलके कुलका पोषण करनेवाला है, परन्तु बिना जलके वह उसी कमलको जलाकर राख कर देता है॥ ७॥ सौत कौसल्या तुम्हारी जड़ उखाड़ना चाहती है। उपायरूपी अच्छी बारी लगाकर उसे रूँधो (उसकी रक्षा करो)॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'प्रिय सियरामु कहा तुम्ह……'* इति। यथा—*'प्रान तें अधिक राम प्रिय मोरे'* और *'मोपर करहिं सनेहु बिसेखी। मैं करि प्रीति परीक्षा देखी॥'* ये वचन रानीके हैं। कैकेयीका श्रीरामजीपर और श्रीरामजीका

---

* जल—१७६२, जर—राजापुर, छ०, १७०४, को० रा०। (यहाँ र, ल सवर्गीय होनेसे 'ल' की जगह 'र' रखा है। आगे 'जरि' के साहचर्यसे सम्भवतः यहाँ 'र' रखा है। पर अर्थ 'जल' ही करना होगा। रा० प्र० में 'जड़' अर्थ किया है। पर 'जड़' अर्थ संगत नहीं है।

कैकेयीमें जो प्रेम है, उसे झूठा कहते नहीं बनता, क्योंकि वह सत्य है और फिर उसपर भी कैकेयीजीने कहा है कि *'मैं करि प्रीति परीक्षा देखी'* इनको एकबारगी कैसे झूठा कहे। इससे युक्तिसे काम ले रही है। [पहले उनके वचनोंका समर्थन करके तब उनका 'परन्तु, किंतु इत्यादि' से युक्तिपूर्वक खण्डन करती है। जूलियससीजरमें ऐंटनीने जब प्रजाको ब्रूटसके प्रतिकूल करना चाहा तब इसी रीतिसे किया था। विरोधीको राहपर लानेका यही ढंग है। एकदम खण्डनसे उपदेश भी बहुत कम लगता है। गोस्वामीजी स्वभाव-निरीक्षणमें कैसे प्रवीण थे!]

टिप्पणी—२—*'रहा प्रथम अब ते दिन बीते।·····'* इति। (क) *'रहा प्रथम'* अर्थात् बाल्यावस्थामें प्रीति करते थे, अब वे प्रिय रहनेवाले लड़कपनके दिन गये। लड़कपनमें वात्सल्य रहता ही है। अब तो राजा हो रहे हैं। अब राज्य लेनेका समय है। राज्यके लिये राजालोग राज्यके जितने कण्टक हैं, उन सबोंका वध करते हैं। यथा—*'तेऊ आजु राजपदु पाई।·····आए करन अकंटक राजू।'* (२२८। ३—५) *'रिपु रिन रंच न राखब काऊ।'* (२२९। २), ये भी वही राजनीति बरतेंगे, उसमें कण्टक समझ दण्ड-नीतिसे काम लेंगे, प्रीतिको दूर कर देंगे। (ख)—*'समउ फिरे रिपु होहिं·····'*—अर्थात् समय पाकर दिन फिरनेपर प्रिय शत्रु हो जाते हैं। यह राजनीति है। यथा—*'सत्रु सयानो सलिल ज्यों राख सीस रिपु नाउ। बूड़त लखि पग डगत लखि चपरि चहूँदिसि धाउ॥'* (दोहावली ५२०), अर्थात् जल नावको मस्तकपर रखता है पर जब उसके डूबनेका समय पाता है तब जल उसे चारों ओरसे दबा लेता है। वैसे ही राज्य मिलनेपर राम करेंगे। तुम्हें दासी बनकर रहना होगा, इत्यादि। जैसा आगे वह कहेगी। (वाल्मी० २। ७। २३) **'नराधिपकुले जाता महिषी त्वं महीपतेः। उग्रत्वं राजधर्माणां कथं देवि न बुद्ध्यसे॥'** का भाव किस खूबीसे *'समउ पाइ···'* में दरसाया गया है! [***समउ फिरे***=समयके परिवर्तित, विपरीत वा उलटे होनेसे। *'पिरीते'* (प्रीत=प्रसन्न)प्रिय लोग। जब भाग्य पलटा खाता है, दिन बुरे आते हैं, तब मित्र भी शत्रु हो जाते हैं, यह कहकर इसको दृष्टान्त देकर प्रमाणित करती है। यहाँ 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग्य' है।]

नोट—१ *'भानु कमल कुल पोषनि हारा·····'* इति।—यह वचन *'यह दिनकर कुल रीति सुहाई'* के उत्तरमें है। यहाँ भानुके स्थानपर रामजी हैं जो *'भानुकुल भानु'* हैं। भरत, कैकेयी और मन्थरा कमलकुल हैं। 'जल' कैकेयी और भरतकी स्वतन्त्रता, वा राज्याधिकार है। भाव यह कि सूर्यका स्नेही कमल है जो सूर्यको देखकर प्रफुल्लित होता है और वियोगमें सम्पुटित हो जाता है, पर देखिये कि वह भी कमलको जल न रहनेपर जला (सुखा) देता है। यथा—*'आपन छोड़ो साथ जब ता दिन हितू न कोइ। तुलसी अंबुज अंबु बिनु तरनि तासु रिपु होइ॥'* (दोहावली। ५३४), यहाँ भानु और कमलका उदाहरण कैसा उत्तम है। कैकेयीने *'दिनकर कुल रीति सुहाई'* कहा, उसी सम्बन्धको लेकर 'दिनकरकी कुरीति और असुहावनता' दिखाती है। सूर्य इस कुलके पुरुषा हैं सो उन्हींको देखो वे अपने परममित्र कमलको जला डालते हैं, यह रीति स्वयं इस कुलके पुरुषा अपने कर्तव्यद्वारा उपदेश करते हैं। अतः भरतको राज्य न मिलनेपर उनके और तुम्हारे साथ यही बर्ताव होगा।

टिप्पणी—३ *'भानु कमल·····'* इति। भाव कि सूर्य बिना जलके कमलकुलका नाश करता है तब भानुकुल बिना जलवालेको नाश क्यों न करेगा? देखिये, मन्थरा *'भानु कमल कुल पोषनि हारा'* कहकर प्रथम कैकेयीकी बात ***('जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥')*** का समर्थन करती है और फिर *'बिनु जल जारि·····'* से अपनी बात सिद्ध करती है। कैकेयीने 'दिनकर कुल' की बड़ाई की, इसीपर मन्थरा कहती है कि सूर्यकी यह करनी है कि अपने स्नेहीको जला डालता है; तब सूर्यकुलके लोग वैसी ही करनी क्यों न करेंगे? अतः (ख) —*'जरि तुम्हारि चह सवति उखारी'* अर्थात् सौतिया भावसे वह तुम्हारी जड़ उखाड़ना चाहती है जिसमें रामरूपी भानु तुम्हारी जड़रूप भरतको क्षार कर दें?

नोट—२ *'जरि तुम्हारि चह सवति उखारी·····'* इति। —*'राजहिं तुम्ह पर प्रेमु बिसेषी। सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी॥'* जो आगे कह रही है वही अभिप्राय यहाँ भी है। तुमपर राजाका विशेष प्रेम है इसीसे तुम कौसल्याकी सेवा नहीं करती जिससे कौसल्याको ईर्ष्या है; इसीसे वह अपने पुत्रको राज्य दिला रही है। ध्वनि यह है कि राज गया और भरतको राज्य न मिला तो तुम्हारा अधिकार गया, तुम रानी रह नहीं सकती,

तुम्हें भी सौतकी सेवा तब करनी ही पड़ेगी। राज्य ही जड़ है। जब जड़ ही उखड़ जायगी तो राजाका स्नेह-बलरूपी वृक्ष भी न रह जायगा और उसके आश्रित जो तुम्हारा गर्व है वह भी न रहेगा।

'बारी' (अबार—सं०) बगीचे, खेत आदिके चारों ओर रोकके लिये बनाया हुआ घेरा, बाढ़, पेड़ोंका समूह या वह स्थान जहाँसे पेड़ लगाये गये हों। रूँधना=बाढ़ लगाना, कँटीले झाड़ आदिसे घेरना।

अर्थात् कौसल्या तुमको अपनी दासी बनाना चाहती है। उसके रोकनेका उपाय एक ही है कि तुम चारों ओरसे कँटीले झाड़ लगा दो अर्थात् राज्य भरतको दिलाकर रामराज्य रोको और भरतराज्यकी रक्षा रामवनवाससे करो। रामको वनवास देना ही काँटेदार झाड़से घेरना है। जो जड़से वृक्षको उखाड़ना चाहता है, वह जब देखेगा कि यहाँ तो काँटे गड़ेंगे तब वह अपनी ही खैरियत मनायेगा, वृक्ष बच जायगा। इसी प्रकार कौसल्या स्वयं विपत्तिमें पड़ जायँगी। तुम्हारी जड़ तो फिर बची-बचायी ही है। (पंजाबीजी)

टिप्पणी—३ *'रूँधहु करि उपाउ बर बारी'* इति। मन्थराके हृदयमें रामवनवासकी जो वासना है उसे वह इन शब्दोंमें मूँदे—छिपाये हुए कह रही है कि जड़को *'बर बारी'* से उपाय करके रूँध दो। श्रेष्ठ बारीमें हाथ डालकर यदि कोई पौधेको उखाड़ना चाहता है तो काँटे उसके हाथमें चुभ जाते हैं, इस डरसे फिर कोई उसे नहीं उखाड़ता। इस वर (रूपी) बारीसे कौसल्याको कष्ट होगा, वह तुम्हारी जड़ नहीं उखाड़ सकतीं। भरतराज्यसे तुम्हारी जड़ पुष्ट होगी। अभी यह जड़ पुष्ट नहीं है, अभी उखाड़ी जा सकती है। इसीसे तुम्हारी सौत उसे उखाड़नेका उपाय कर रही है। तुम शीघ्र *'बर बारी'* से रूँधकर उसकी रक्षा करो। उपाय आगे स्वयं बताती है—*'भामिनि करहु त कहौं उपाऊ।'* (२१।८)

वीरकवि—मन्थराने पहले विशेष बात कही कि समय फिरनेपर मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। फिर इसका साधारण दृष्टान्तसे समर्थन करती है कि *'भानु कमल कुल ⋯ बिनु जल जारि करइ सोइ छारा।'* इतनेपर भी सन्तुष्ट न होकर *'जरि तुम्हारि ⋯ बर बारी'* इस विशेष सिद्धान्तसे उसका समर्थन करती है। अतः यहाँ 'विकस्वर अलंकार' है।

नोट—३ ऐसा ही सुभाषितरत्नभाण्डारमें भी कहा है। यथा—'**येनाञ्चलेन सरसीरुहलोचनायास्त्रातः प्रभूतपवनादुदये प्रदीपः। तेनैव सोऽस्तसमयेऽस्तमयं विनीतः क्रुद्धे विधौ भजति मित्रममित्रभावम्॥**' (२।७७) '**वनानि दहतो वह्नेः सखा भवति मारुतः। स एव दीपनाशाय कृशे कस्यास्ति सौहृदम्॥**' (३।१२०)। अर्थात् विधाताके रुष्ट होनेपर मित्र भी विपरीत हो जाते हैं, जैसे दीपके उदय समय स्त्रियाँ अपने अंचलद्वारा उसकी वायुवेगसे रक्षा करती हैं और अस्त (बुझने) के समय उसी अंचलसे उसे बुझा देती हैं॥७७॥ वनको जलाते देख पवन अग्निका सहायक होता है, पर वही पवन दीपको कृश देखकर उसको बुझा देता है। सच है कि कृशका सुहृद् कोई नहीं होता॥१२०॥

दो०—तुम्हहि न सोचु सोहाग बल निज बस जानहु राउ।
मन मलीन मुँह मीठ नृपु राउर सरल सुभाउ॥१७॥

शब्दार्थ—**सोहाग**=(सं० सौभाग्य) अच्छा भाग्य, अहिवात, पतिका स्नेह। **मुँह मीठ**=मुँहके मीठे, ऊपरसे चिकनी-चुपड़ी बातें करनेवाले। **सरल**=सीधा-सादा, निश्छल, कपटरहित, यथा—*'सरल सुभाउ छुआ छल नाहीं।'*

अर्थ—आपको अपने सुहागके बलसे कुछ भी सोच नहीं है, आप राजाको अपने वशमें समझती हैं। (पर) राजा मनके मैले और मुँहके मिठबोले हैं, आपका स्वभाव सीधा-सादा है॥१७॥

टिप्पणी—१ (क) *'तुम्हहिं न सोच'*—भाव यह है कि समय सोच करनेका है पर तुमको सोच नहीं। (आशय यह है कि रामको युवराज हो जानेसे तुम्हारा ऐसा विनाश होगा कि जिसका प्रतीकार न हो सके। यथा— '**अक्षयं सुमहद्देवि प्रवृत्तं त्वद्विनाशनम्।**' (वाल्मी० २। ७। २०) सोहागबल अर्थात् पतिका बल कि राजा हमारे वशमें हैं। (इसमें भाव यह है कि तुम्हें अपने सौन्दर्यका, अपने पतिप्रिया होनेका गर्व है, इसीसे तुम्हें कुछ भी चिन्ता नहीं है। पर यह तुम्हारा सौभाग्य अनिश्चित है, रामके युवराज होनेपर न रह जायगा, जैसे

ग्रीष्म-ऋतुमें नदीका स्रोत अनिश्चित हो जाता है। यथा—'**न जानीषेऽतिसौन्दर्यमानिनी।**' (अ० रा० २। २। ५३) '**अनिष्टे सुभगाकारे सौभाग्येन विकत्थसे। चलं हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्णगे॥**' (वाल्मी० २। ७। १५) (ख) '***निज बस जानहु राउ***'—अर्थात् तुम ऐसा समझती हो पर वे तुम्हारे वशमें हैं नहीं। इसीको उत्तरार्धमें स्पष्ट करती है। (भाव कि वे तुम्हारे पास सोते हैं, तुम्हारे महलमें रहते हैं, इससे तुम उन्हें अपने वशमें जानती हो, पर वे हैं कौसल्याके वशमें, तुम्हारे वशमें नहीं। यथा—'**सुभगा किल कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते। यौवराज्येन**····॥' (वाल्मी० २। ८। ९)

टिप्पणी—२ (क) '***मन मलीन***' अर्थात् वे तुमसे अपने मनकी एक बात भी नहीं प्रकट करते, उनके मनमें कपट है। '***मुँह मीठ***' अर्थात् ऊपरसे मीठी-मीठी चिकनी-चुपड़ी बातें करके आपको रिझाये रहते हैं। (ख) '***राउर सरल सुभाउ***'—आप भोली-भाली हैं इसीसे उनकी बातोंमें आ जाती हैं, उनकी कपटपूर्ण बातोंको नहीं समझ पातीं और उनपर विश्वास कर लेती हैं। आगेके वचनोंमें उत्तरार्धको पुष्ट और स्पष्ट करती है।

नोट— उत्तरार्धके भावके श्लोक, यथा—'**धर्मवादी शठो भर्ता श्लक्ष्णवादी च दारुणः। शुद्धभावेन जानीषे तेनैवमतिसंधिता॥**' (वाल्मी० २। ७। २४) '**त्वां तोषयन् सदा राजा प्रियवाक्यानि भाषते।**' (अ० रा० २। २५८)

चतुर गँभीर राम महतारी। बीचु पाइ निज बात सँवारी॥ १॥
पठये भरतु भूप ननिअउरे। राम मातु मत जानब रउरे॥ २॥
सेवहिं सकल सवति मोहि नीके। गरबित भरतमातु बल पी के॥ ३॥
सालु तुम्हार कौसिलहि माई। चतुर कपट नहिं होइ जनाई*॥ ४॥

शब्दार्थ—**बीचु**=मौका, अवसर। **सँवारी**=अच्छी तरह बना ली, बंदिश बाँधी। **ननिअउरे**=(नानालय) नानाका घर, ननिहाल। **रउरे**=आप। **नीके**=भलीभाँति, अच्छी तरह। **पी**=(सं० प्रिय) पिय, पति। **सालु**=(हि० सलना या सालना) दु:ख; पीड़ा; काँटा-सा खटकना; कसक। **गँभीर**=गहरी जिसकी थाह न मिले। **मत**=सलाह सम्मति, राय। **जानब**=जानिये, समझिये। **जनाई**=प्रकट होनेका भाव, लख पड़ना।

अर्थ—रामकी माता कौसल्या चतुर और गम्भीर हैं। मौका पाकर उन्होंने अपनी बात अच्छी तरह बना ली (अपना मतलब गाँठा)॥ १॥ राजाने (जो) भरतजीको ननिहाल भेजा है, इसमें आप रामचन्द्रकी माँकी सलाह समझिये॥ २॥ (कौसल्याजी सोचती हैं कि) सब सौतें तो मेरी भली प्रकार सेवा करती हैं। (पर) भरतकी माँ पतिके बलपर गर्वित (घमण्डमें चूर, घमण्डमें भरी) रहती हैं॥ ३॥ (इसीसे) हे माई! कौसल्याको तुम्हीं खटक रही हो। वे कपटमें चतुर हैं, इससे उनका कसक सौतियाडाह जान नहीं पड़ता॥ ४॥

नोट—१ रामचन्द्रजी, राजा और कौसल्या इन तीनोंकी ओरसे जब रानीका मन खट्टा पड़ेगा कभी काम चलेगा। अत: पहले रामजीकी ओरसे इस प्रकार प्रेम हटाया कि '***समउ फिरे रिपु होहिं पिरीते। भानु कमल कुल पोषनि हारा।***····' अब राजा और रानीमें बिगाड़ कराती है, इस तरह कि राजा मुँहके मीठे हैं पर मनके कपटी हैं और कौसल्याकी निगाहमें तुम सदा ही खटकती रहती हो, क्योंकि और सब रानियां तो उनकी सेवा करती हैं, एक तुम ही सौभाग्यके बलसे उनकी सेवा नहीं करती हो।

टिप्पणी—१ '***चतुर गँभीर राम महतारी***····' इति। चतुर और गम्भीर कहकर फिर उसका स्वरूप दिखाती है। चतुर हैं अतएव अपना काम सुधारती-साधती हैं (भरतके बाहर जाते ही अपना मतलब गाँठा)। गम्भीर हैं, अत: उनका कपट खुलता नहीं, कोई लख नहीं पाता। यथा—'***कपट चतुर नहिं होइ जनाई।***' '***बीचु पाइ***'—भरतके ननिहाल चले जानेपर यथा—'***पठये भरत भूप ननिअउरे***', यही '***बीचु***' है। [भाव कि भरतजीके बाहर रहनेसे राजाका प्रेम रामपर बढ़ता गया, भरतपर प्रेम न रह गया। भरत यहाँ होते तो राजाका उनपर प्रेम होता,

* 'कपट चतुर नहिं होइ जनाई' काशिराज और गौड़जीकी प्रतियोंमें है। प्र० सं० में 'चतुर कपट नहिं परइ लखाई' पाठ था। गी० प्रे० की पोथीसे निश्चित होता है कि 'कपट चतुर नहिं होइ जनाई' राजापुरकी पोथीका पाठ है।

कौसल्याको स्वार्थसाधनका अवसर न मिलता। यह भाव वाल्मी० २।८ के '**बाल एव तु मातुल्यं भरतो नायितस्त्वया। संनिकर्षाच्च सौहार्दं जायते स्थविरेष्विव॥**' (२८) अर्थात् तुमने भरतको बाल्यावस्थामें ही मामाके यहाँ भेज दिया, यह बुरा किया। साथ रहनेसे जड़पर भी मनुष्यका प्रेम हो जाता है।—इस उद्धरणसे निकलता है। ***'राम महतारी'***—भाव कि जैसे राम राजनीतिमें चतुर और गम्भीर हैं, समयपर अपना काम निकालना जानते हैं, वैसी ही उनकी माताको होना ही चाहिये। यह भाव वाल्मी० २।८ के '**विदुषः क्षत्रचारित्रे प्राज्ञस्य प्राप्तकारिणः। भयात्प्रवेषे रामस्य चिन्तयन्ती तवात्मजम्॥**' (८) इस वचनसे निकलता है।]

टिप्पणी—२ ***'पठये भरतु भूप'''*** इति। पहले रामकी शिकायत की, फिर राम-माताकी और अब राजा और रानी दोनोंका कपट प्रत्यक्ष दिखाती है। भाव कि कपट न होता तो भरतको अवश्य बुलाते। उनके यहाँ न रहनेपर राज्याभिषेक करना अनुचित है। (इससे स्पष्ट है कि राजा तुमसे ऊपरसे मीठी-मीठी बातें करते हैं। भीतरसे राममाता ही उनको प्रिय हैं, इसीसे वे कौसल्याको प्रसन्न करनेके कार्य किया करते हैं। अपने मनमें ऐसा रखकर ही उन्होंने तुम्हारे पुत्रको मामाके यहाँ भेज दिया। यथा—'**त्वां वाचा परितोषयन्। कार्यं करोति तस्या वै राममातुः सुपुष्कलम्॥**' (५) **मनस्येतन्निधायैव प्रेषयामास ते सुतम्। भरतं मातुलकुले प्रेषयामास सानुजम्॥**' (अ० रा० २। २।६०) अतः यह निश्चय जानिये कि राममाताकी सलाहसे भेजा है। ☞ मन्थराको यह झूठ बनानेका मौका भरतकी अनुपस्थितिके आधारपर मिल गया। नहीं तो भरत तो मामाके बहुत आग्रह करनेपर कैकेयी आदिकी सम्मतिसे भेजे गये थे। यह पूर्व लिखा जा चुका है। ***'राममातु मत'*** होनेकी पुष्टि आगेके वचनोंसे भी कर रही है। ***'राममातु'*** में भी वही भाव है कि जैसे राम हैं वैसी ही उनकी माता हुआ ही चाहें। पुनः भाव कि वे रामकी माता हैं, अतः रामके युवराज्यके लिये उपाय करती हैं और तुम भरतकी माता होकर भी भरतको दास बनाना चाहती हो, यथा—***'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई'।*** राममातुने क्यों वैर किया इसका कारण आगे कहती है। पूर्व जो कहा था कि ***'पूत बिदेस न सोच तुम्हारे'*** उसका अभिप्राय यहाँ खोल दिया।

टिप्पणी ३—***'सेवहिं सकल सवति मोहि'''*** इति। (क) कौसल्याजी जेठी और पटरानी हैं। इसीसे सब सौतें धर्म विचारकर उनकी सेवा करती हैं। मन्थराने इस धर्ममें भी कपट निकाला कि सब रानियाँ दासीभावसे उनके वशमें हैं और उनकीं सेवा करती हैं। (कुबड़ी ईर्ष्या बढ़ानेके विचारसे इस सेवामें दासित्व जना रही है।) तुम सेवा करने नहीं जाती हो, अतः तुमको गर्वित जानती हैं। (ख) ***'सालु तुम्हार'''''*** इति। पूर्व राजाके विषयमें कहा कि ***'लखहु न भूप कपट चतुराई'*** यहाँ कौसल्याजीके सम्बन्धमें ***'कपट चतुर नहिं होइ जनाई'*** कहा। इस तरह दोनोंको कपटमें चतुर बताया। तुम उनकी सेवा नहीं करतीं हो, यही 'शाल' (कसक) उनके हृदयमें है। (ग) ***'कौसिलहि'*** अर्थात और किसीको नहीं है, केवल कौसल्याको है। [(घ) सम्भवतः कैकेयी भी कहें कि मैंने तो कभी पतिप्रिया होनेका गर्व किया नहीं तो उसपर आगे कहती है कि ***'राजहि तुम्ह'''*** (पु०)] ☞***'सजि प्रतीति बहुबिधि गढ़ि छोली'*** जो ऊपर कहा है वह गढ़ना, छोलना, सीधा करना यहाँ तक दिखाया।

राजहि तुम्हपर प्रेम बिसेषी। सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी॥ ५॥
रचि प्रपंचु भूपहि अपनाई। राम तिलक हित लगन धराई॥ ६॥
यह कुल उचित राम कहुँ टीका। सबहिं सोहाइ मोहि सुठि नीका॥ ७॥
आगिलि बात समुझि डर मोही। देउ दैउ फिरि सो फलु ओही॥ ८॥

शब्दार्थ—***'सकइ नहिं देखी'***=नहीं देख सकती, यह मुहावरा है। 'बुरा लगता है' इसका भाव है। **रचना**=युक्ति करना, आयोजन करना। **रुचि**=रचकर। **प्रपंचु**=माया। **लगन धराई**=लग्न वा मुहूर्त निश्चित कराया या ठहराया है। लग्न धराना मुहावरा है। विवाहमें लग्न निश्चित होकर वरके पिताके यहाँ भेजी जाती है। वह उसे पुरोहित आदिके यहाँ रखा देता है। इसीसे 'लग्न धराना' यह मुहावरा पड़ा। **अपनाई**=अपनाकर, वश वा काबूमें करके। **सुठि**=(सुष्ठि)=अत्यन्त, बहुत ही। **आगिलि**=अगली, आगेकी। **दैउ**=दैव, विधाता, ईश्वर।

फिरि=फिरकर, विपरीत होकर। **ओही**=उसीको, उसे ही।

अर्थ—राजाका तुमपर बहुत प्रेम है। कौसल्या सौत-स्वभावसे उसे नहीं देख सकती॥५॥ (इसलिये) मायाका जाल फैलाकर राजाको अपना करके उन्होंने रामचन्द्रजीके राजतिलकके लिये मुहूर्त निश्चित करा लिया॥६॥ इस कुलमें रामचन्द्रजीको तिलक होना उचित है, सभीको सुहाता है और मुझे तो बहुत ही अच्छा लगता है॥७॥ (परन्तु) आगेकी बात विचारकर मुझे डर लगता है। हे विधाता! यही फल उलटकर उसीको दो। (वा, वह फल दैव फिरकर उन्हींको दे)॥८॥

टिप्पणी—१ ***'राजहि तुम्हपर प्रेम बिसेषी''''*** इति। (क) ***बिसेषी***—भाव कि प्रेम तो सब रानियोंपर है पर तुम्हारे ऊपर राजाका विशेष प्रेम है। ***'सवति सुभाउ''''***— एक कसक तो यह दिखायी कि तुम उनकी सेवा नहीं करती। अब दूसरी कसक यह बताती है कि राजाका तुमपर सबसे अधिक प्रेम है। सौतिया स्वभावसे उनको यह बुरा लगता है। भाव कि तुमने उनके साथ कोई बुराई नहीं की, उनका कुछ बिगाड़ा नहीं है, पर सौतिया स्वभाव ही ऐसा होता है कि वैर मानती हैं। (ख) शंका—ऊपर तो कह आयी कि ***'मन मलीन मुँह मीठ नृप'*** तब यहाँ यह कैसे कहती है कि ***'राजहि तुम्हपर प्रेम बिसेषी'?*** समाधान—मन्थराके कथनका अभिप्राय यह है कि तुमपर प्रेम तो बहुत करते हैं, पर तुम्हारे वशमें नहीं हैं और तुम उनको अपने वशमें जानती हो। (अथवा तुमपर विशेष प्रेम था, पर अब सौतने अपने वशमें कर लिया है, अब ऊपर दिखावका प्रेम है)।

नोट १—उपर्युक्त चौपाइयोंमें भाव यह है कि पहले तुमने अपने पतिप्रिया होनेके गर्वसे राममाताका तिरस्कार किया है। कौसल्या तुम्हारी सौत हैं तब भला वे तुम्हारे वैरका बदला क्यों न लेंगी। यथा—'**दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया। राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यापयेत्॥**' (वाल्मी० २। ८। ३७)

टिप्पणी—२ (क) ***'रचि प्रपंचु'***—अर्थात् ***'राजहि तुम्हपर प्रेमु''''देखी',*** अतः उन्होंने प्रपंच रचकर राजाको अपने वशमें कर लिया। प्रपंच यह रचा कि भरतको ननिहाल भेजवा दिया जिसमें भरतमें राजाका प्रेम न रहे। यदि ऐसा न होता तो वे राजासे भरतको बुला भेजनेको कहतीं। वह जानती हैं कि भरत ही एक कंटक रामके युवराज होनेमें हैं, इसीसे उन्हें अवधसे बाहर करा दिया। फिर राजासे कहा होगा कि कुलरीति, धर्मशास्त्र और राजनीतिसे ज्येष्ठ पुत्रको ही राज्य मिलना चाहिये, सारी प्रजा रामको चाहती है। आप धर्मात्मा हैं, उस रीतिका उल्लंघन कैसे करेंगे। इत्यादि रीतिसे राजाको समझा-बुझाकर रामके अभिषेकके लिये मुहूर्त भी निश्चित करा लिया और तुमको किंचित् पता नहीं। तुमसे सब बात छिपायी गयी है। कल ही तो तिलक है। (ख) ***'भूपहि अपनाई'***—भाव कि अब तुम्हारे वशमें राजा नहीं हैं, तुम जानती भर हो कि तुम्हारे वशमें हैं, वशमें तो कौसल्याके हैं।

टिप्पणी ३—***'यह कुल उचित''''*** इति। (यह ***'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥'*** तथा ***'प्रान तें अधिक राम प्रिय मोरे।'*** के सम्बन्धसे कह रही है कि ठीक है राम बड़े हैं उनको युवराज होना चाहिये। राजके सभी लड़के अधिकार नहीं पाते। यदि सभीको राज्याधिकार दिया जाय तो महान् अन्याय हो जाय। यथा—'**नहि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि। स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत्॥**' (वाल्मी० २। ८। २३) अतः रामका राजा होना उचित है) ***'मोहि सुठि नीका'***—अर्थात् राम आपको प्राणोंसे अधिक प्रिय हैं और मैं आपकी दासी हूँ, अतः वे मुझे भी प्रिय हैं और उनका युवराज होना मुझे भी अत्यन्त अच्छा लगता है। (अर्थात् मुझे रामसे ईर्ष्या वा द्वेष किंचित् भी नहीं है। इस तरह पहले रानीके वचनका समर्थन करके आगे अपने क्षोभका कारण बताती है। पंजाबीजी इस चौपाईके—***'रामतिलक जौं साँचेहु काली। देउँ माँगु मन भावत आली।'*** का उत्तर कहते हैं।)

टिप्पणी ४— ***'आगिलि बात समुझि''''*** इति। यह ***'तिन्हके तिलक छोभ कस तोरें'*** तथा ***'हरष समय बिसमय करसि कारन मोहि सुनाउ'*** कैकेयीके इस वाक्यका उत्तर दे रही है। यह कारण विस्मयका बताती है। क्या डर है सो आगे कहेगी कि—***'रामहिं तिलक कालि जो भयऊ। तुम्ह कहँ बिपति बीजु बिधि बयऊ॥'*** से ***'तौ घरु रहहु न आन उपाई'*** तक। पूर्वार्धमें रामतिलकको अच्छा कहकर फिर उत्तरार्धमें उसका निषेध करनेसे

यहाँ 'उक्ताक्षेप अलंकार' है।

नोट—२ वाल्मीकीय २। ८। २२ के **'भविता राघवो राजा राघवस्य च यः सुतः। राजवंशात्तु भरतः कैकेयि परिहास्यते॥'** (अर्थात् राघव रामजी राजा होंगे तो उनके पीछे उनके पुत्र राजा होंगे। इस प्रकार भरतजी तो राजवंशसे सदैवके लिये निकाले गये) इस कथनको '**आगिलि बात**' में गोस्वामीजीने कह दिया।

टिप्पणी ५— ***'देउ दैउ फिरि सो फलु ओही'*** इति। पूर्व कहा था कि ***'भयउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन'।*** अब कहती है कि वही विधाता उनसे फिर जायँ और ***'तुम्हें अति दाहिन'*** हो जायँ। यह आशिष कैकेयीको देती है और विपत्ति आदि फल कौसल्याको विधाता दें—जो कौसल्याने तुम्हें देना चाहा था अर्थात् वे तुम्हारी दासी होकर रहें, दूधकी मक्खी-सरीखी निकाली जायँ, पुत्रसहित तुम्हारी सेवा करें। यह शाप कौसल्याको दे रही है। (कथनका आशय यह है कि तुम ऐसी सीधी-सादी, भोली-भालीके साथ कपट-छलका व्यवहार किया अतः उन्हींको इसका फल मिले)।

दो०—रचि पचि कोटिक कुटिलपन कीन्हेसि कपट प्रबोधु। कहिसि कथा सत सवति कै जेहि बिधि बाढ़ बिरोधु॥ १८॥

शब्दार्थ—**रचि पचि—**यह मुहावरा है, वा० २८८ (४) देखिये। **रचि**=गढ़कर, बनाकर। **पचि**=पचा वा बैठाकर। **रचि पचि**=भलीभाँति गढ़कर, बैठाकर या जमाकर। **कोटिक**=करोडों, मुहावरा है अर्थात् बहुत-सी, कितनी ही। **सत**=सौ, सैकड़ों अर्थात् बहुत-सी। **बाढ़**=बढ़े। **बिरोध**=वैर, शत्रुता। **कुटिलपन**=खोटाई, कपट, छल, कुटिलता, धूर्तता।

अर्थ—कितनी ही कुटिलपनकी बातें गढ़कर मन्थराने कैकेयीको कपटका पूर्ण ज्ञान कराया और सैकड़ों सौतों-की कथाएँ कहीं, जिनसे वैर बढ़े॥ १८॥

नोट—बैजनाथदासजी और प्रोफे० दीनजी दोहेके पूर्वार्धका भावार्थ यह लिखते हैं—मन्थराने कितने ही कुटिलपनेकी बातें कैकेयीके हृदयमें बैठाकर कपटद्वारा प्रबोध किया (समझाया)⋯'। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'पूर्व कैकेयीके हृदयमें सीधापन था। उसको सौतियाडाहरूपी बसूला और ईर्ष्यारूपी रुखानीद्वारा निकालकर उसके स्थलमें कुटिलपन अर्थात् वैरकी बातें भलीभाँति कसकर ठोंक दीं। कपटमय वचनद्वारा समझाकर कुटिलताका दृढ़ करना यही पच देना है।'

टिप्पणी—१ (क) ***'रचि पचि⋯'***— रचकर परिश्रम करके करोड़ों कुटिलपन (की बातोंसे) कपटका प्रबोध कराया। पूर्व कहा था कि ***'सालु तुम्हार कौसिलहि माई। कपट चतुर नहिं होइ जनाई।'*** अर्थात् कौसल्याका कपट उनकी चतुरताके कारण कोई जान नहीं पाता था। उसी कपटका उसने कैकेयीको प्रकर्ष बोध कराया। भली-भाँति उस कपटका पूर्ण ज्ञान करा दिया। [***'सजि प्रतीति बहु बिधि गढ़ि छोली'*** कहकर जिस कुटिलपनका उपक्रम किया था, उसीका उपसंहार ***'रचि पचि कोटिक कुटिलपन⋯'*** कहकर करते हैं; क्योंकि अब रानीको कपटका प्रबोध हो गया, नहीं तो पहले वह कपट जानती ही न थी। (पं० विजयानन्द त्रिपाठी)] (ख) ***'कहिसि कथा⋯'*** इति। ***'सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी'*** यह जो ऊपर कहा था उसके पुष्ट करनेके लिये सौतोंकी कथाएँ कह सुनायीं। ***'जेहि बिधि बाढ़ बिरोधु'*** भाव कि बहुत-सी सौंतोंकी ऐसी भी कथाएँ हैं कि जिनसे परस्पर प्रेम हो; ऐसी कथाएँ उसने नहीं कहीं, परं च वे कथाएँ कहीं जिनसे विरोध बढ़े। (अम्बरीष महाराजकी रानियाँ छोटी रानीकी भक्तिको देखकर भक्त हो गयीं, जिससे अम्बरीष महाराजका प्रेम सबपर एक-सा हो गया। इसी तरह पुराणोंमें अनेक सती स्त्रियोंकी कथाएँ मिलती हैं जिन्होंने सौतसे बड़ा प्रेम किया है)।

नोट—***'सत सवति कै'***— चित्रकेतुकी रानियोंकी कथा— बा० ७९ (२) ***'चित्रकेतु कर घर उन्ह घाला'*** देखिये। उत्तानपादकी रानियों सुरुचि-सुनीतिकी कथा—२६ (५) ***'ध्रुव सगलानि जपेउँ हरि नाऊँ'*** देखिये। चन्द्रमाके २७ स्त्रियाँ थीं। जब वह रोहिणीपर रीझा तब सबने ईर्ष्यावश हो दक्षसे उसको शाप दिलाया। ***'घटै बढ़ै बिरहिनि***

दुखदाई।' (१।२—३८।१), में देखिये। कद्रू-विनता इत्यादिकी कथाएँ सुनायीं। कद्रू-विनताकी कथा आगे दोहेमें है।

भावी बस प्रतीति उर आई। पूछ रानि पुनि सपथ देवाई॥ १॥
का पूछहु तुम्ह अबहुँ न जाना। निज हित अनहित पसु पहिचाना॥ २॥
भयउ पाखु दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू॥ ३॥

शब्दार्थ—**अनहित**=बुरा। **पशु**=जानवर।

अर्थ—होनहारवश कैकेयीके हृदयमें (मन्थरापर) विश्वास जम गया। तब रानी फिर शपथ दिलाकर पूछने लगी॥ १॥ (मन्थरा बोली)—क्या पूछती हो? अरे! तुमने अब भी न समझा? अपना भला-बुरा (अर्थात् मित्र और शत्रुको) तो पशु भी पहचान लेते हैं॥ २॥ तिलकको तैयारी होते हुए एक पखवारा हो गया और तुमने आज मुझसे खबर पायी॥ ३॥

टिप्पणी—१ ***'भावी बस प्रतीति***…' इति। (क) पूर्व भावीवश बुद्धिका फिरना, भ्रष्ट होना कहा था, यथा—***'तसि मति फिरी अहइ जसि भावी।'*** (१७।२), अब विश्वासका होना भी भावीवश कहते हैं—***'भावी बस'''।'*** भाव यह कि मन्थराके कहनेसे न तो बुद्धि फिरी थी और न प्रतीति ही आयी। भावीसे ही प्रथम बुद्धि नष्ट हुई फिर प्रतीति हुई। मन्थराका प्रतीति सजना पूर्व कहा गया; यथा—***'सजि प्रतीति बहु बिधि गढ़ि छोली।'*** (१७।४) उसीको यहाँ ***'प्रतीति उर आई'*** से चरितार्थ किया। (ख)—***'पूछ रानि पुनि सपथ देवाई'***—पहले भी एक बार उन्होंने भरतकी शपथ देकर पूछा था। यथा—***'भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ।'*** (१५) अब फिर भरतकी शपथ देकर पूछती है। अतः ***'पुनि सपथ देवाई'*** कहा। (***'पुनि'*** से जनाया कि इस बार भी भरतकी शपथ दी। रा० प्र० का मत है कि अपनी शपथ दी, इसीसे यहाँ केवल ***'सपथ'*** शब्द दिया)।

वि० त्रि०— पहले रानीके मनमें मन्थराके कुटिल-कुचाली होनेकी भावना उठी, यथा—***'काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि। तिय विशेष पुनि चेरि कहि भरत मातु मुसकानि॥'*** उसे उसने ***'गूढ कपट प्रिय'*** वचन कहकर दूर किया, रानीने समझ लिया कि यह सुहृद् है। विश्वास योग्य है। परंतु कौसल्या और कैकेयीमें बड़ा प्रेम था, यथा—***'कबहुँ न कियेउ सवति आरेसू। प्रीति प्रतीति जान सब देसू॥'*** तो इस साढ़ेसातीने रानीकी ऐसी बुद्धि बिगाड़ी कि अब उसे कौसल्याके विरोधी होनेका विश्वास हो गया। इतने दिनोंकी प्रीति-प्रतीतिका एक दासीके सुझावपर क्षणभरमें नष्ट होना असम्भव था, पर ***'तस मति फिरी अहै जस भावी।'*** रानी भावीके वशमें है, उसे विश्वास हो गया। अब वह पूछती है कि वह अगली बात कौन-सी है, जिससे तुझे डर हो रहा है?

परंतु मन्थरा बड़ी सावधान है, वह रानीके मनको पहले ऐसी अवस्थामें ला देती है, जिसमें विवक्षित बात जम जाय, तब बोलती है, ***'आगिल बात समुझि डर मोही। देउ दैउ फिरि सो फल ओही।'*** इतना कहकर सौ सौतिकी कथा कहने लगती है, डरवाली बात नहीं खोलती। जब रानीने फिर भरतका शपथ दिलाया तब बोली।

टिप्पणी—२ ***'का पूछहु***…'— भाव कि पशुमें ज्ञान नहीं होता तो भी वे जान लेते हैं कि कौन उनका हितू है और कौन शत्रु। हितको पहचानकर उसके पास जाते हैं और 'अनहित' को देखकर भागते हैं और तुम तो मनुष्य हो, मनुष्य-शरीर ज्ञानका स्थान है; यथा—***'मुनिगन निकट बिहग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं। हित अनहित पसु पच्छिउ जाना। मानुष तनु गुन ज्ञान निधाना॥'*** (२६४। ३-४) [अतः तुमको तो स्वयं वैर अथवा प्रेम, कपट और चतुरता जान लेनी थी, पर तुम इतना भी नहीं समझती हो। पशुसे भी गयी-गुजरी हो। जो हमसे बार-बार पूछती हो। (मा० सं०) अपनेको साफ स्पष्ट कहनेवाली जनानेके लिये वह कठोर वाणी बोलने लगी। (रा० प्र०) '**अनर्थदर्शिनी मौर्ख्यान्नात्मानमवबुद्ध्यसे। शोकव्यसनविस्तीर्णे मज्जन्ती दुःखसागरे॥**' (वाल्मी० २। ८। २१)का सब भाव इस अर्धालीमें आ गया]।

टिप्पणी—३ *'भयउ पाखु दिन'''* इति। [(क) प्रोफे० दीनजी 'पाख' का अर्थ 'दो' लिखते हैं। पक्ष दो होते हैं, शुक्ल और कृष्ण। अतः उसका यह भी अर्थ ले सकते हैं। जैसे, वेद=चार; मास=१२; राम= एक; इत्यादि। 'पाख' का दूसरा अर्थ एक पक्ष, एक पखवारा, प्रसिद्ध ही है। यथा—***'सम प्रकास तम पाख दुहूँ।'*** (१।७) तिलककी तैयारी तो आजहीसे हो रही है किंतु मन्थराने विरोध बढ़ाने और राजापर एकदम क्रोध उत्पन्न करानेके लिये १५ दिन कहे हैं। अतएव आग भड़कानेके विचारसे यही अर्थ विशेष संगत है] (ख)— सारी रचना एक दिनमें हुई पर मन्थराने अनुमान किया कि ऐसी रचना पंद्रहदिन से कममें नहीं हो सकती। इसीसे उसने ***'पाखु दिन'*** कहा। इससे राजाका कपट जनाती है। (ग) ***'तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू'*—** भाव कि यदि राजाके मनमें कपट न होता तो तुमसे इतने दिनतक बात क्यों छिपाये रखते? न तो तुमको खबर दी और न तुम्हारे पुत्रको बुलाया। तुमने प्रथम-प्रथम मुझसे ही खबर पायी और वह भी पंद्रह दिनपर। अन्य सब रानियोंके यहाँ पंद्रह दिन पूर्वसे ही खबर पहुँचा दी गयी। अतएव निश्चय ही राजाके मनमें कपट है। (मैं न कहती तो तिलक भी हो जाता तब भी तुमको मालूम होता या न होता, कौन जाने।) ☞ इन वचनोंसे मन्थरा सुझा रही है कि एकमात्र मैं ही तुम्हारी हितैषिणी हूँ। एक मैं ही सत्य-सत्य तुम्हारे हितकी कह रही हूँ और राजा, कौसल्या, राम आदि सभी तुम्हारे शत्रु हैं।

पं० विजयानन्दत्रिपाठीजी—राज्यके गुप्त भेद छिपाये जाते हैं। प्रकाश करनेवाला दोषी है। दण्डनीय है। पन्द्रह दिनसे तिलककी तैयारी हो रही है, पर तुमसे बात छिपायी जा रही है। तुमसे कहनेका दोष कौन अपने सिरपर ले और राजा तथा कौसल्याके कोपका भाजन बने। पर मैं तो तुम्हारे राज्यमें खाती-पहनती हूँ, मैं और किसीको नहीं जानती, मुझे सच्ची बातके प्रकट कर देनेमें दोष नहीं। आजतक मैं भी छिपाये रही, पर अब नहीं प्रकट करती हूँ तो सर्वनाश हो जायगा, अतः अब मैं कहे देती हूँ। यथा—***'जबते कुमत सुना मैं स्वामिनि। भूख न बासर नींद न जामिनि॥'***

खाइअ पहिरिअ राज तुम्हारे। सत्य कहे नहिं दोषु हमारे॥ ४॥
जौं असत्य कछु कहब बनाई। तौ बिधि देइहि हमहिं सजाई॥ ५॥

अर्थ—मैं तुम्हारे राज्यमें खाती-पहनती हूँ, (इसलिये) मेरे सत्य कहनेमें मुझे कुछ दोष नहीं (लग सकता)॥ ४॥ यदि मैं कुछ झूठ बनाकर कहूँ तो विधाता मुझे दण्ड देगा॥ ५॥

नोट—१ मन्थरा ये वचन अपनी बातको पुष्ट वा प्रामाणिक करनेके लिये कहती है। ***'भरत सपथ तोहि सत्य कहु'*** इन वचनोंका उत्तर यहाँ दिया गया कि मैं सत्य ही कहूँगी। ***'खाइय पहिरिअ......'*** से जनाया कि अपने पालन-पोषण करनेवालेके हितके लिये झूठ भी बोले तो दोष नहीं।

नोट—२ ***'सत्य कहे नहिं दोषु हमारे'*** इति। इन वचनोंसे पाया जाता है कि सत्य कहनेमें भी दोष लगता है। सत्यभाषणके विषयमें—**'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥'** यह नीतिका श्लोक बहुत प्रसिद्ध है। अर्थात् वह सत्य बोलना चाहिये जो प्रिय हो, जो दूसरेको अप्रिय हो वह सत्य भी न बोले और असत्य प्रिय भी हो तो भी न बोले यह सनातन-धर्म है।

मन्थराके कथनका आशय यह है कि यद्यपि मेरे इस सत्यसे कौसल्याके हितकी हानि होगी और यद्यपि दूसरेका कार्य जिसमें बिगड़े वह सत्य भी दूषित कहा जाता है तथापि मैं तो तुम्हारा खाती-पहनती हूँ, तुम्हारे राज्यमें हूँ और इस सत्यसे तुम्हारा हित होगा; अतः मुझे दोष नहीं हो सकता। मेरी स्वामिनीका तो हित है, दूसरेकी हानि हुआ करे (बै०, रा० प्र०)।

टिप्पणी—१ ***'खाइअ पहिरिअ राज तुम्हारे।'''*** इति। (क) जिस सत्यसे किसीका अनहित हो उसे न कहना चाहिये, इसीपर कहती है कि मैं तुम्हारा खाती-पहनती हूँ इसलिये मुझे तुम्हारा अहित, तुम्हारी हानि न देखनी चाहिये। अतएव मेरे सत्य कहनेमें दोष नहीं है। (ख) ***'राज तुम्हारे'***—भाव कि तुम्हारी सौत तुम्हारा राज्य नष्ट करना चाहती है, उसकी रक्षाके लिये मैं सत्य कहती हूँ। दूसरेको दोष देना पाप है। अतः कहती है कि मैं सत्य कहती हूँ, कौसल्याका दोष कहनेसे मुझे दोष नहीं लग सकता। (***'राज तुम्हारे'***

में भाव यह है कि पतिप्रिया हानेसे पतिका राज्य तुम्हारा ही राज्य था। रामराज्य होनेसे तुम्हारा राज्य न रह जायगा। वह तो कौसल्या-सीताका राज्य होगा। तुम्हारा राज्य तो भरतके राजा होनेसे ही रह सकता है, अन्यथा नहीं)।

टिप्पणी २—*'जौं असत्य कछु कहब बनाई।····'* इति। (क) रानीके *'भरत सपथ तोहि सत्य कहु'* का उत्तर *'जौं असत्य···'* है। पहले कहा कि *'सत्य कहे नहि दोष हमारे'* अर्थात् सत्यमें दोष नहीं है ओर अब कहती है कि यदि असत्य कहूँ तो दण्ड मिलेगा। अर्थात् मैं असत्यसे डरती हूँ, असत्यसे दोष लगेगा। (ख) *'कुछ कहब बनाई'*— भाव कि मैं सब सत्य-ही-सत्य कहूँगी, किंचित् भी असत्य न कहूँगी। रामराज्यसे किसीको भी दु:ख नहीं हो सकता और मन्थरा रामराज्याभिषेकको कैकेयीके लिये विपत्तिका बीज बाताती है। यह सब असत्य है। अत: इसे (शत्रुघ्नजीद्वारा)दण्ड मिलेगा। यथा—*'तेहि अवसर कुबरी तहँ आई। बसन बिभूषन बिबिध बनाई॥ लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई। बरत अनल घृत आहुति पाई॥ हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुँहभर महि करत पुकारा॥ कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू॥···· सुनि रिपुहन लखि नखसिख खोटी। लगे घसीटन धरि-धरि झोंटी॥'* (१६३। २—७)। यहाँ विधिका दण्ड देना कहती हैं। क्योंकि विधि ही कर्मका फल देते हैं। वे शत्रुघ्नद्वारा दण्ड देंगे। *'तौ बिधि···'* यह शपथपूर्वक कहना है। कैकेयीको दृढ़ करनेके लिये ये वचन कहे जिसमें सत्य मानकर वह इसके कहनेके अनुकूल करे।

रामहि तिलक कालि जौं भयऊ। तुम्ह कहुँ बिपति बीजु बिधि बयऊ॥ ६॥
रेख खँचाइ कहउँ बल भाखी। भामिनि भइहु दूध कै माखी॥ ७॥
जौं सुत सहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**बयऊ**=बो दिया। **तिलक**=टीका, राज्याभिषेक।

अर्थ—जो कल रामचन्द्रजीको तिलक हो गया (तो समझ रखिये कि) विधाताने आपके लिये विपत्तिका बीज ही बो दिया॥ ६॥ मैं रेखा खींचकर बलपूर्वक कहती हूँ, हे भामिनी! आप दूधकी मक्खी हो गयीं॥ ७॥ यदि आप पुत्रसहित सेवा करें (अर्थात् दास-दासी बन कर रहें) तो घरमें रह सकेंगी, अन्यथा किसी उपायसे नहीं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'रामहि तिलक····'* इति। यह *'हरष समय बिसमय करसि'* का उत्तर है। 'जौं संदिग्ध' वचनसे उसके हृदयकी बात सूचित हो रही है कि वह रामराज्य न होने देगी। (भाव कि अपने वशभर तो हम उनका राज्याभिषेक होने ही न देंगी, फिर भी कदाचित् हो गया तो यह निश्चय जानो कि····। भीतरी आशय यह है कि तुम रामराज्य न होने दो। रामराज्याभिषेक बीज है, आगे इसका फल विपत्ति-ही-विपत्ति होगा। क्या विपत्ति पड़ेगी यह आगे बताती है। यहाँ 'सम्भावना अलंकार' है)।

टिप्पणी—२—*'रेख खँचाइ कहउँ···'* इति। (क) सत्यकी दृढ़ताके लिये लोगोंमें रेखा खींचकर कहनेकी रीति है। यथा—*'पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची।····'* (२१। ७)' *'बल भाषी'*—अर्थात् जोर देकर कहती हूँ।

नोट—१ 'रेखा खींचकर कहना' मुहावरा है जिसका अर्थ है—निश्चयपूर्वक कहना, जोर देकर कहना। जैसे पत्थरपर खींची हुई लकीर नहीं मिटती वैसे ही मेरी यह बात अमिट है, पक्की है। यथा—*'पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची।····'*

नोट—२— *'भामिनि'*=हे भामिनी! भामिनि मानवती क्रोधवती स्त्रीको कहते हैं। प्राय: यह स्त्री, रमणी और सुन्दरीके अर्थमें आता है। यथा—*'कह रघुपति सुनु भामिनि बाता'* (आ० ३५), दीनजी यहाँ *'भामिनि'* का भाव मनको 'भानेवाली' करते हैं।

पंजाबीजी कहते हैं कि भामिनि सम्बोधन करनेका कारण यह है कि इसकी जिह्वापर सरस्वती है जो ऐसा बोल रही है मानो वह देवी कैकेयीको 'कोपिणी' होनेका वर दे रही है। प्रमाण अमरकोष—**'सुंदरी**

रमणी कोपनासैव भामिनी।' वैजनाथजी कहते हैं कि इससे सूचित करती है कि अबतक तुम मानवती रहीं, तुम्हारा मान रहा, अब दूधकी मक्खी हो जाओगी।

नोट—३ 'दुधकी मक्खी' भी मुहावरा है। जैसे दूधमें मक्खी गिरती है तो कोई दूधको नहीं फेंक देता। किंतु मक्खी ही निकालकर फेंक दी जाती है, वैसे ही तुम भी निकाल बाहर की जाओगी। पुनः, दूध श्वेत होता है। उसमें मक्खी काली होनेसे तुरंत देख ली जाती है, निकालकर फेंकते-फेंकते प्रायः उसका अंग-भंग हो जाता है। वैसे ही सबकी दृष्टि तुमपर रहेगी, सबकी निगाहमें खटकोगी और कहींकी न रहोगी।—(रा० प्र०)। यहाँ 'ललित अलंकार' है। क्योंकि सीधे यह न कहकर कि घरसे निकाल दी जाओगी उसका प्रतिबिम्बमात्र घुमाकर कहा गया है।

बैजनाथजी कहते हैं कि 'यहाँ सरस्वती-उक्ति यह है कि रातको दूधमें मक्खी पीनेसे विषवत् हो जाती है सो स्नेहरूप दूधमें रातको तुम्हारे प्रेमपानद्वारा राजाके प्राण जायँगे'।

नोट—४ *'जौं सुत सहित करहु""'* इसमें भी *'जौं'* से सूचित करती है कि तुमसे सेवा हो नहीं सकती, यथा—*'नैहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति सेवकाई॥'* (२१।१) यदि राजतिलक कौसल्याने सेवा करानेके लिये रचाया है; ऐसा मन्थरा सुझाती चली आ रही है और उसी पक्षके अनुकूल दृष्टान्त देती है। भाव कि कौसल्या दुःख देंगी और सेवा न करोगी तो घरसे निकाल देंगी। *'आन उपाई'* अर्थात् साम, दाम, भय, भेदसे। इसमें भाव यह निकलता है कि भला सोचो तो कि भरत रामके वशमें कैसे रह सकेगा और तुम सौतसे अपमानित होकर कैसे जी सकोगी, उससे तो मरण ही अच्छा है। अतएव तुम शीघ्र उसका उपाय करो। यथा—'**त्वं तु दासीव कौसल्यां नित्यं परिचरिष्यसि। ततोऽपि मरणं श्रेयो यत्सपत्न्याः पराभवः॥**' (अ० रा० २। २। ६३) '**अतः शीघ्रं यतस्वाद्य""॥**'

दो०—कद्रू बिनतहिं दीन्ह दुख तुम्हहिं कौसिला देब।
भरत बंदिगृह सेइहहिं लषनु राम के नेब॥ १९॥

शब्दार्थ—**देब**=देंगी। **बंदीगृह**=बन्दीखाना, जेलखाना, कारागार, कैद। **नेब**=यह अरबी शब्द नायबका अपभ्रंश है। नायब, मन्त्री, वजीर, सहायक। **सेइहहिं**=भोगेंगे, सेवन करेंगे।

अर्थ—(जैसे) कद्रूने विनताको दुःख दिया था (वैसे ही) कौसल्या तुमको दुःख देंगी। भरत जेलखाना भागेंगे और लक्ष्मण रामके नायब होंगे॥ १९॥

टिप्पणी—१ (क) जो ऊपर कहा था कि सुतसहित सेवा करनी होगी उसीको दृष्टान्त देकर स्पष्ट और पुष्ट करती है। भाव कि कौसल्याकी इच्छा है कि तुम उनकी सेवा करो, अतएव वे तुमको दासी बनायेंगी। देखो, सौतको सदा सौतने दुःख दिया है। वैसे ही कौसल्या तुमको दुःख देगी। यहाँ दृष्टान्त अलंकार है। (ख) *'भरत बंदिगृह सेइहहिं'*— भाव कि कौसल्या तुमको अपना शत्रु समझती हैं; अतएव उनके पुत्र राम भरत और शत्रुघ्नको वैरी समझेंगे। शत्रुको स्वतन्त्र न रहने देना चाहिये। अतएव वे भरत-शत्रुघ्नको जेलखाने में डाल देंगे। देखो न, कद्रू और विनताकी शत्रुताके कारण उनके पुत्रोंमें भी परस्पर विरोध है। (ग) *'भरत बंदिगृह सेइहहिं'*—भाव कि विनताका उद्धार तो उनके पुत्र गरुड़ने किया था, पर तुम्हारा पुत्र तुम्हारा उद्धार न कर सकेगा, वह तो प्रथम ही बन्दीगृहमें डाल दिये जायँगे। (अतः तुम आजीवन दासी ही बनी रहोगी।) (घ) *'लषनु रामके नेब'*— नेब अर्थात् हुक्मसे। (पर मेरी समझसे 'नेब' का अर्थ 'नायब, मन्त्री, सहायक' ही ठीक है। गीतावलीमें भी यह शब्द आया है। यथा—*'रिषि नृप सीस ठगौरी सी डारी। कुलगुरु सचिव निपुन नेवनि अवरेब न समुझि सुधारी॥'* (१। १००)

नोट—*'लषनु रामके नेब'* का भाव यह भी है कि लक्ष्मण तो श्रीरामके अनुगामी हैं, इन दोनोंमें अश्विनीकुमारोंका-सा प्रेम है, राम उनकी रक्षा करते हैं और वे रामकी। अतः लक्ष्मणजी *'नेब'* होकर राज्य भोगेंगे। वे ही सर्वेसर्वा होंगे। अतः उनकी माताके लिये सब ठीक ही होगा, उनको दासीत्व नहीं करनी

पड़ेगी। यथा—'**सुमित्रायाः समीचीनं भविष्यति न संशयः। लक्ष्मणो राममन्वेति राज्यं सोऽनुभविष्यति॥**' (अ० रा० २। २। ६१) '**निमित्तमात्रमेवाहं कर्ता भोक्ता त्वमेव हि।**' (अ० रा० २। २। ३७), (यह स्वयं श्रीरामजीने लक्ष्मणजीसे कहा है), '**गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः। अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम्॥**' (वाल्मी० २। ८। ३१)

प्र० सं०— कद्रू-विनताका दृष्टान्त देकर जनाती है कि वहाँ गरूड़ समर्थ थे। उन्होने सर्पोंसे अमृत देकर मेल कर लिया, अपनी माताका दु:ख दूर किया, सो तुम्हारे पुत्रसे होनेका नहीं। लक्ष्मण नायब होंगे, वे यही सलाह देंगे कि शत्रुको स्वतन्त्र न रखना चाहिये। अत:, भरतजी बन्दीखानेमें डाल दिये जायँगे और कोई नायबके डरसे बोल न सकेगा। बाबा हरिदासजी कहते हैं कि भाव यह है कि भाई पटइत (पट्टीदार) जबरदस्त होते हैं। वे रामजीके कहनेपर भी न मानेंगे।

हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि दासी होकर जन्म बिताना होगा, इतनेसे ही यहाँ प्रयोजन है। छूटना है ही नहीं, अत: गरुड़से छुड़ाये जानेकी कथाका उल्लेख नहीं किया गया।

'कद्रू-विनताकी कथा'— श्रीकश्यप ऋषिजीकी स्त्रियोंमेंसे दो ये थीं। कद्रू नागोंकी माता थी और विनता गरूड़ और अरुणकी। दोनोंमें सूर्यके घोडेकी अथवा (महाभारत, आदिपर्व अ० २० के अनुसार क्षीरसमुद्रसे निकले हुए) उच्चै:श्रवाकी पूँछके रंगके विषयमें वाद-विवाद हुआ, कद्रू काली बताती और विनता श्वेत। अन्ततोगत्वा यह ठहरी कि जिसकी बात झूठी निकले वह दूसरेकी दासी होकर रहे। कद्रूके पुत्र घोड़ेकी पूँछसे जा लपटे जिससे वह काली दिख पड़ी। इस चालाकीसे कद्रूने विनताको दासी बनाया और अनेक कष्ट दिया करती थी। अपनी माताको खिन्न देख गरूड़ने पूछा तो उसने सब हाल बताया। इसपर गरूड़ने तपस्याकर विष्णु-भगवान्को प्रसन्नकर वर माँग लिया कि मैं सर्पोंका भक्षण किया करूँ; मुझे उनका विष न लगे। बस अब इन्होंने सर्पोंका भक्षण करना प्रारम्भ कर दिया। इस तरह माताका बदला लिया। महाभारत, आदिपर्व० अ० २७ में यह उल्लेख है कि गरुड़के मातासे पूछनेपर कि नागोंकी आज्ञा माननेके लिये मैं क्यों बारंबार विवश किया जाता हूँ। उन्होंने कद्रू और नागोंके छलका सब वृत्तान्त कह सुनाया। तब गरुड़ने नागोंसे कहा कि हम तुम्हारा क्या काम कर दें। जिसके बदलेमें मैं और मेरी माता दासभावसे छुटकारा पा जायँ? उन्होंने कहा कि हमें अमृत ला दो। माताकी आज्ञा ले और माता-पिता दोनोंका आशीर्वाद पा ये अमृत लेने चले। गज-कच्छपको सरोवरसे पकड़कर आकाशमार्गमें जा हिमांचलपर पहुँचकर उन्हें खा डाला, फिर वे देवताओंको युद्धमें हराकर अमृत प्राप्त कर ले आये। इतनी कठिनाइयोंको झेलकर माताको दासीभावसे छुड़ाया। (यह कथा पं० रामकुमारजीके भावके अनुकूल है) इन्द्रने गरूड़से मित्रता कर ली और नागोंके भक्षणका वर गरूड़को दिया। गरूड़ने अमृतका घट नागोंके सामने लाकर रख दिया और माताको दासीत्वसे छुड़ाया; त्यों ही इन्द्र वह अमृत उठा ले गये। नागोंको पीनेको न मिला—जैसा छल उन्होंने किया था वैसा ही फल पाया।

कैकयसुता सुनत कटु बानी। कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी॥ १॥
तन पसेउ कदली जिमि काँपी। कुबरी दसन जीभ तब चाँपी॥ २॥

शब्दार्थ—**सहमि**=(फारसी सहम) डरकर। **पसेउ**=(सं० प्रस्वेद) पसीना। **कदली**=केला। **चाँपी**=दाबी, दबाई।

अर्थ—कैकेयी कुबरीकी यह कड़वी वाणी सुनते ही डरकर सूख गयी, कुछ बोल नहीं सकती॥ १॥ शरीरमें पसीना हो आया। वह केलेकी तरह काँपने लगी। तब (यह दशा देखकर) कुबरीने दाँतों तले जीभ दबायी॥ २॥

नोट—'***कैकयसुता*……**' इति। अभीतक भरतजीके सम्बन्धका नाम देते आये अर्थात् '***भरतमातु***' कहते आये; अब यहाँ बुद्धि फिर गयी और कुमति आ गयी इससे भरत-सम्बन्ध छोड़कर पिता सम्बन्धी नाम दिया। पुन:, मन्थरामें अब प्रतीति हो गयी है, वह कैकय देशकी हैं; इससे कैकयराजका सम्बन्ध यहाँ दिया।

टिप्पणी—१ *'कैकयसुता सुनत कटु बानी।'....'* इति। (क) 'रामतिलक' यह वाणी पहले मधुर थी अब वही कटु हो गयी ☞ भावके अनुसार एक ही वस्तु प्रिय और अप्रिय हो जाती है। (जबतक कैकेयीजीका श्रीरामजीमें प्रेम-भाव बना रहा तबतक रामतिलक उसको प्रिय लगता रहा।) *'सुनि प्रिय बचन मलिन मनु जानी।'*(१४।७) *'प्रियवादिनि सिख दीन्हिउँ तोही।'*(१५।१)। तथा *'गूढ़ कपट प्रिय बचन सुनि।'*(१६) यहाँतक वचन प्रिय रहे। परन्तु जब *'भावी बस प्रतीति उर आई।'* (१९।१)। (मन्थराकी बातोंपर विश्वास हुआ तब प्रथमवाला भाव नष्ट हो गया अतः) तब वे ही वचन कटु लगे। ☞ *'जौं सुत सहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥'.... दुख तुम्हहि कौसिला देब। भरत बंदिगृह सेइहहिं'* ये वचन भयावने और कड़वे हैं ही। तुम्हें और तुम्हारे पुत्रको दासी-दासकी तरह सेवा करती होगी, तुम्हें कौसल्या दुःख देंगी, भरत सदाके लिये कारागारमें डाल दिये जायँगे—भला सौतके लिये इससे अधिक कठोर, कड़वे और हृदयको दहला देनेवाले वचन और क्या हो सकते हैं? इस भावी दृश्यकी कल्पनासे भला किस स्त्रीका हृदय क्षुब्ध न होगा? यहाँ मानव-अन्तःकरणका कैसा सुन्दर चित्रण है! वाल्मीकीय और अ० रा० में इसकी छटा भी नहीं है। (ख) *'कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी'*—तन, मन, वचनसे व्याकुल हो गयीं। सूख गयीं, काँप उठीं, शरीर पसीना-पसीना हो गया यह तनकी व्याकुलता है, मनमें सहम गयीं और *'कहि न सकइ कछु'* मुँहसे कुछ कह न सकी यह वचनकी व्याकुलता है।

टिप्पणी—२ *'तन पसेउ'....'* इति। सहम जानेपर यह दशा हो जाती है। पवनके झोंकेसे केलेका पेड़-पत्र सर्वांग काँपता (हिलता) है वैसे ही कैकेयीका सर्वांग काँप उठा, वह सिरसे पैरतक काँपने लगी। वह इतना काँपी कि उसकी व्याकुलता देखकर मन्थराको शंका कि यह मरणप्राय है। स्त्रियोंका स्वभाव है कि शंका होनेपर वे जीभको सहसा दाँतों तले दाब लेती हैं। (*'तनु पसेउ'....काँपी'* में उदाहरण अलंकार है)।

नोट—*'कुबरी दसन जीभ तब चाँपी'* इति। (क)—'दाँतों तले जीभ दबाया' मुहावरा है। इसका भाव है कि 'अरे! क्या गजब हो गया!' कहीं इस दशामें इसके प्राण न निकल जायँ। ऐसा समझकर दाँत तले जीभ दबायी। (दीनजी) यह शोचकी मुद्रा है। (ख) रा० प्र० कारका मत है कि कैकेयीको यह मुद्रा दिखाकर उसे सावधान करती है कि भण्डा फूट जायगा, सारा खेल बिगड़ जायगा। देखो, यह क्या कर रही हो? यह समय शोक प्रकट करनेका नहीं है। ऐसा करनेसे कार्यमें हानि पहुँचेगी। (ग) पंजाबीजीका मत है कि इस मुद्रासे मन्थरा अपने मनको धैर्य बंधा रही है कि अब रानी मेरे वशमें आ गयी, विषवृक्षमें फूल लग गये। अथवा, कुबरीको हर्ष हुआ, पर अपने हृदयका कपट रानीपर प्रकट न हो जाय, मेरे मुँहसे कोई ऐसी बात निकल न पड़े जिससे भेद खुल जाय; अतः जीभको दाब रही है। (पं०, रा० प्र०) इसी भावको वि० टी० कार इस प्रकार लिखते हैं—'जीभका दबाना इस अभिप्रायसे है कि गढ़ी हुई बात बन बैठी। अर्थात् जिससे बात कही गयी वह इस प्रकार फँस गया जैसे दाँतोंसे जीभ। (घ) बैजनाथजी लिखते हैं कि अपने प्रबन्धमें विघ्नकी शंका मानकर दाँतों तले जीभ दबा ली। भाव कि इस व्याकुलतामें कहीं यह मूर्च्छित हो गयी तो हल्ला मच जायगा, सारा घर यहाँ जुट जायगा, कहीं इसके मुखसे मेरी कही हुई बातें निकल पड़ीं तो सारा काम बिगड़ जायगा और मैं दण्ड पाऊँगी। (ङ) वीर कविजी लिखते हैं कि दाँतों तले जीभ दबाना चेष्टासूचक वर्जनका संकेत है कि अभी क्या बिगड़ा है? इतनी घबड़ाहटकी कौन बात है? उपाय हाथमें है, उसे सावधानीसे कीजिये।

कहि कहि कोटिक कपट कहानी । धीरज धरहु प्रबोधिसि रानी॥ ३॥
*** कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू । जिमि न नवइ फिरि उकठ कुकाठू॥ ४॥**
फिरा करमु प्रिय लागि कुचाली । बकिहि सराहइ मानि मराली॥ ५॥

* यह अर्धाली राजापुरकी पोथीमें नहीं है पर अनेक प्राचीन पोथियोंमें है।

शब्दार्थ—**कुपाठ**=बुरी बातें। '**पाठ पढ़ाना**' मुहावरा है। इसका अर्थ है 'अपने मतलबके लिये किसीको बहकाना, पट्टी पढ़ाना, बुरी बात सिखाना।' पाठ=जो कुछ पढ़ा या पढ़ाया जाय, सबक। **कुपाठ**=बुरा सबक, बुरी बात, बुरी सलाह, बुरी मन्त्रणा। '**उकठ कुकाठू**—जो वृक्ष खड़ा-खड़ा सूख जाता है उसकी लकड़ीको उकठा काठ कहते हैं। **उकठा**=(अब=बुरी+ काष्ठ=लकड़ी जैसे कठियाना=कड़ा होना) सूखकर जो कड़ी हो जाय या ऐंठ जाय। **कुकाठू**=कुत्सित काष्ठ, बुरी लकड़ी; जैसे बबूल, बहेड़ा, करील आदि। **नवइ**=नवता, झुकाया जा सकता। **करमु**=भाग्य। **बकिहि**=बगुली। **मराली**=हंसिनी।

अर्थ—मन्थराने अनेकों कपटकी कहानियाँ कहकर रानीको खूब समझाया कि धीरज धरिये॥ ३॥ कैकेयीको कुपाठ पढ़ाकर ऐसा कठिन (कठोर) कर दिया जैसे 'उकठा कुकाठ' फिर नहीं नवता॥ ४॥ कैकेयीका भाग्य पलट गया, उसे कुचाल (वा, कुचाली मन्थरा) प्रिय लगने लगी। वह बगुलीको हंसिनी मानकर सराहने लगी॥ ५॥

टिप्पणी—१ ***'कहि कहि'''*** इति। कपट कहानियोंके द्वारा प्रबोध कराया, समझाया कि अधीर होनेसे काम बिगड़ जायगा—***'धीरज धरिय त पाइय पारू',*** जैसे अमुक-अमुकका काम धीरज धरनेसे बना था और अमुकका अधीर होनेसे बिगड़ा। घबड़ाओ नहीं, मैं तुम्हारे सब काम बनाऊँगी। धैर्य धारण करनेवालोंकी कहानियाँ कहीं। ***'कपट कहानी'*** से जनाया कि ये सब गढ़ी हुई कहानियाँ थीं।

टिप्पणी—२ ***'कीन्हेसि कठिन'''*** इति। (क) निकम्मी बातें पढ़ा (सुना) कर उसे कठिन कर दिया (जिसमें राजाकी बातोंमें न आ जाय। भेद न खोल दे)। भाव कि पहले वह कोमल थी अब कठिन (कठोर) हो गयी। उत्तरार्धमें कठिनताकी उपमा देते हैं। (ख)—उकठे काठमें रस नहीं रहता वैसे ही कैकेयी नीरस हो गयी। कुकाठकी तरह कठिन कर दिया । कपट कहानी कुपाठ है। बिना काटे ही खड़े वृक्षका सूख जाना कुकाठका 'उकठना' है। [काष्ठ (लकड़ी) एक तो स्वाभाविक ही कठोर होता है, दूसरे 'उनका' (लगे हुए वृक्षकी सूखी लकड़ी) वह तो और भी कठोर होता है, किसी प्रकार नरम नहीं होता चाहे जल दें, चाहे आँच दिखावें। वह किसी प्रकार नहीं झुकाया जा सकता, टूट भले ही जाय। और कुत्सित काठ तो अत्यन्त कठिन। हरा पेड़ जल्दी नव जाता है, सूखनेपर झुकाया नहीं जा सकता। मन्थराने रानीको ऐसी पट्टी पढ़ायी कि फिर वह राजा वा किसीके भी पट्टीमें न आवे, किंचित् भी नर्म न हो। यहाँ उदाहरण अलंकार है।

टिप्पणी—३ ***'फिरा करमु'''*** इति। (क) प्रथम मति (बुद्धि) फिरी तब प्रतीति आयी और जब कुचालीमें प्रतीति हुई तब कर्म फिरा। यथा क्रमशः—***'तसि मति फिरी अहइ जसि भावी।'*** (१७। २)' ***'भावी बस प्रतीति उर आई।*** (१९। १)', ***'फिरा करम प्रिय लागि कुचाली।'*** [भाग्य फिर गया है, इसीसे कुचाली प्रिय लगी। (रा० प्र०) सुकर्म बीत गया, कुकर्मोंका उदय हुआ, इसीसे कुचाल, अनीति-मार्गपर चलना प्रिय लगा। (वै०) इसीसे वह कुत्सित मन्थराकी प्रशंसा करने लगी।] (ख) कैकेयीके मन, कर्म और वचन तीनों बिगड़ गये (वह तीनोंसे नष्ट हुई)। ***'प्रिय लागि कुचाली'*** से मनका ***'फिरा करम'*** से कर्मका और ***'बकिहि सराहइ मानि मराली'*** से वचनका बिगड़ना सूचित किया गया। (ग)***'बकिहि सराहइ'*** प्रथम कटु वचन सुनकर भयसे सूख गयी। तब मन्थराने कपट कहानियाँ कहकर, उसका प्रबोध किया, जिससे कैकेयीको धीरज हुआ। धैर्य आनेपर अब वचन निकले और वह मन्थराकी प्रशंसा करने लगी। (च) ***'मानि मराली'***—अर्थात् वह है तो बगुली ही किंतु कैकेयीने उसे हंसिनी मान लिया है। वह हंसिनी है नहीं। हंसिनी माना है अतः वैसी ही प्रशंसा करती है कि तू बड़ी बुद्धिमान् है। बगुली ऊपरसे देखनेमात्रमें तो स्वच्छ होती है, उसमें क्षीर-नीर-विवरणका विवेक नहीं, वह दूध और मोतीको छोड़कर मछली आदिको खाती; कपटसे पूर्ण होती है, इत्यादि। वैसी ही मन्थरा है, उसके हृदयमें कपट भरा है, वह मलिन है, सत्यासत्यका विवेक उसमें नहीं है, पर रानी उसके विवेककी प्रशंसा करती है कि तूने राजा और रानी कौसल्या आदि सभीका गुप्त कपट पहचान लिया जो मैं भी न लख सकी थी और न किसी औरने ही भाँप पाया।

सुनु मंथरा बात फुरि तोरी। दहिनि आँखि नित फरकइ मोरी॥ ६॥
दिन प्रति देखउँ[1] राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोहबस अपने॥ ७॥
काह करौं सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउँ काऊ॥ ८॥

दो०—अपने चलत न आजु लगि अनभल काहुक कीन्ह।
केहि अघ एकहि बार मोहि दैअ[2] दुसह दुखु दीन्ह॥ २०॥

शब्दार्थ—**दिन प्रति**=प्रत्येक दिन। '**सूध**'=सीधा, सरल। **काऊ**=कभी। **चलत**=अधिकारके समय—यह भी मुहावरा है।=भरसक। '**काहुक**=किसीका, यथा—'*सपनेहु आन भरोस न देवक*' में '**देवक**'=देवका। **अघ**=पाप। **मोहबस**=नासमझीसे, अज्ञानवश।

अर्थ—(कैकेयी बोली) ऐ मन्थरे! सुन, तेरी बात सत्य है, मेरी दाहिनी आँख नित्य (हर समय) फड़कती रहती है॥ ६॥ मैं प्रत्येक दिन रातमें बुरे स्वप्न देखती हूँ पर अपने अज्ञानवश तुमसे नहीं कहती॥ ७॥ हे सखी! मैं क्या करूँ? मेरा सीधा-सादा स्वभाव है, मैंने कभी दाहिना बायाँ नहीं जाना॥ ८॥ मैंने अपनी चलतीमें आजतक किसीकी बुराई नहीं की। फिर न जाने किस पापसे विधाताने मुझे एकबारगी ही यह कठिन असह्य दुःख दिया॥ २०॥

टिप्पणी—१ '*सुनु मंथरा बात फुरि तोरी।*….' इति। (क) '*बात फुरि*'—अर्थात् मैं पहले झूठी मानती-समझती थी। '*दहिनि आँखि*….' अर्थात् कहा आँखों देख रही हूँ, प्रत्यक्ष देख पड़ता है। (आँख नित्य फड़कती है यह अपशकुन नित्य देख पड़ता है, इससे बात सत्य जान पड़ती है कि राजा और कौसल्या मेरा अहित करने जा रहे हैं। राज्याभिषेकसे मैं विपत्तिमें पड़ूँगी)। (ख) '*नित फरकइ मोरी*'— इससे अपशकुन सूचित होता है। भाव कि एक-दो दिन फड़कती तो वायु आदिका विकार समझा जा सकता था, पर यह नित्य फड़क रही है। अतः यह अपशकुन ही है जो जना रहा है कि भारी विपत्ति आनेवाली है। कैकेयी (मन्थराके बहकानेसे) समझती है कि रामराज्याभिषेक ही भारी विपत्ति है। अतः यहाँ 'भ्रान्ति अलंकार' है। यद्यपि अपशकुन भारी अपयश और वैधव्यका सूचक है। (स्त्रीका दक्षिण अंग फड़कना अशुभ है। पति और पुत्र दोनों इसका त्याग करेंगे।—'***कैकेयी जौं लों जियति रही। तौ लौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही॥***' (गी० ७। ३७) '***लोचन ओट बैठु मुँह गोई।***' (३६। ६)। राम, राजा और भरत तीनोंसे उसे विमुख होना है।)

टिप्पणी २—'*दिन प्रति देखउँ राति कुसपने।*….' इति (क) दिनका स्वप्न सत्य नहीं होता, रात्रिका सत्य होता है। दिनमें आँख फड़कती है, रात्रिमें बुरे-बुरे स्वप्न देख पड़ते हैं। अभिप्राय यह है कि दिन और रात दोनोंमें अपशकुन हो रहे हैं। (ख) '*मोह बस अपने*'—भाव कि यह बात कहनेयोग्य थी पर मैंने अपने अज्ञानवश तुझसे नहीं कही। पुनः भाव कि मुझे यही न समझ पड़ा कि अपशकुन हो रहा है, यदि समझ पड़ता तो तुझसे अवश्य कहती और उसकी निवृत्तिका उपाय करवाती। मोहके अनेक अर्थ हैं—भ्रम, अज्ञान, मूर्खता, मूढता, प्रेम इत्यादि। यहाँ मूर्खता, गलती, अज्ञानके अर्थमें आया है (पंजाबीजी और बैजनाथजी 'मैं पतिके प्रेम वा मोहके वश रही, उनके स्नेहमें भूली रही कि स्वामी अनुकूल हैं तो मुझे क्या चिन्ता है'—ऐसा भावार्थ कहते हैं)।

टिप्पणी ३—'***काह करौं सखि सूध सुभाऊ***….' इति। जो मन्थराने कहा कि '***राउर सरल सुभाउ***' और '***निज हित अनहित पसु पहिचाना***' उन्हीं वचनोंके अनुकूल अब रानी कहने लगी। मन्थराने जो कहा था कि '***राउर सरल सुभाउ***' उसीको लेकर उसके अनुकूल कैकेयी अपने स्वभावको सीधा सरल कहती है,

१. देखहुँ—का०, रा० प्र०।
२. दइअ— ना० प्र०।

इस तरह उसके वचनोंका अब समर्थन करती है। (ख) *'दाहिन बाम न जानउँ काऊ'*—(दाहिना-बायाँ अर्थात् हित, अनहित मित्र, शत्रु, अनुकूल वा प्रतिकूल। यह मुहावरा है। भाव कि मैंने किसीको अपना शत्रु या मित्र नहीं जाना, यह न जाना कि कौन मेरा शत्रु है कौन मित्र; सबको अपने समान सीधा-सादा निष्कपट-स्वभाव जानती थी अत:) मैं क्या जानूँ कि राजा, कौसल्या और राम मुझपर दाहिन हैं वा वाम? पुन: 'दाहिन-बाम कभी न जानती थी'—अर्थात् मेरी दाहिनी आँख नित्य फड़कती थी पर मैं अज्ञानवश न जानती थी कि मेरी यह आँख दाहिनी है वा बायीं। पुन:, दाहिन=हित। बाम=अनहित। भाव कि हमें अपना हित और अहित नहीं जान पड़ता। पुन: भाव कि मुझे शकुन अथवा अपशकुन भी नहीं समझ पड़ा। [पुन: भाव कि दाहिने भी वाम हो जाते हैं यह मैं कभी न समझती थी। (बाबा रामदास)]

टिप्पणी—४ *'अपने चलत······'* इति। (क) पतिप्रिया होनेसे मेरा पूर्ण अधिकार था, मेरी ही चलती थी, मैं जो चाहती वह राजासे करवा सकती थी तथा स्वयं कर सकती थी, फिर भी मैंने किसीके साथ बुराई नहीं की। *'अपने चलत'* अर्थात् अब तो सौतकी चलती है, उसने अपनी चलतीमें हमारा अनभल किया, यद्यपि हमने अपनी चलतीमें सौतका अहित कभी नहीं किया था। (इन वचनोंसे ज्ञात होता है कि मन्थराकी बातोंमें आकर कैकेयीने अब सौतकी चलतीका अनुभव किया।) (ख) *'केहि अघ···दुखु दीन्ह'*—पापका फल दु:ख है, यथा—*'करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग'।* (अत: सोचती है कि न जाने कौन भारी पाप किया जिससे दु:ख मिला।) *'दुसह दुख'*— सौतके अधीन दासी बनकर रहना तथा पुत्रका सदाके लिये कारागारमें डाला जाना ऐसा दु:ख है कि सहा नहीं जा सकता।

नैहर जनमु भरब बरु जाई । जियत न करबि सवति सेवकाई॥ १॥
अरिबस दैउ जिआवत जाही । मरनु नीक तेहि जीव* न चाही॥ २॥
दीन बचन कह बहु बिधि रानी । सुनि कुबरी तिय माया ठानी॥ ३॥

शब्दार्थ—**नैहर**=मैका, स्त्रीके पिताका घर। **भरब**=बिताऊँगी। **बरु**=भले ही, वरंच। '**चाही**'— यह अव्यय है (सं० चैवसे बना हुआ जान पड़ता है)=अपेक्षाकृत (अधिक), से बढ़कर। यथा—*'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा।'* (१। २५८), *कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि।'* (७। १९) इसका प्रयोग जायसीने बहुत किया है। बँगलामें 'चाहिया' का प्रयोग इसी अर्थमें होता है, अब 'चे' से वही अर्थ लेते हैं। **तिय माया**=त्रिया-चरित्र। **ठानी**=की, फैलायी।

अर्थ—मैं भले ही मैकेमें जाकर जीवनके दिन बिताऊँगी, पर जीते-जी सौतकी सेवा न करुँगी॥ १॥ विधाता जिसे शत्रुके अधीन रखकर जिलाता है उसका जीनेसे मरना ही भला है॥ २॥ रानीने अनेक प्रकारके दीन वचन कहे। कुबड़ीने उन्हे सुनकर त्रियाचरित्र फैलाया॥ ३॥

नोट—*'जो सुत सहित करहु सेवकाई।······'* इसका उत्तर यहाँ रानी देती हैं। *'भरब'* बड़ा चमत्कृत शब्द है, भाव यह है कि जन्मके सुखका फल तो गया ही अब केवल दिन भरना-पूरे करना है, भला मैकेमें ससुरालका-सा सुख कहाँ मिल सकेगा? वहाँ तो भावजादि ताना मारेंगी।

टिप्पणी—१ *'अरि बस···'* इति। जीते-जी सौतकी सेवा न करूँगी उसका कारण कहती हैं कि *'अरिबस····।'* अर्थात् ऐसे जीवनसे मर जाना भला है, अत: मैं मर भले ही जाऊँगी पर अपने शत्रु (सौत) की सेवा न करूँगी। [शत्रुके वश होकर जीनेसे मृत्युको अच्छा (गुणमयी) समझना जिससे जीवनका दु:सह दु:ख दूर हो 'अनुज्ञा अलंकार' है। (वीरकवि) अ० रा० में मन्थराने यही बात कैकेयीसे कही है। यथा—'**ततोऽपि मरणं श्रेयो यत्सपत्न्या:पराभव:**।' (२। २। ६३) मानसका *'मरन नीकु'* ही '**मरणं श्रेय:**' है।]

* जीवन—१७६२, छ०, को० रा०, १७०४। जीव न—राजापुर, रा० प्र०। सम्भवत: लेखकप्रमादसे 'जीव' और 'न' पृथक्-पृथक् लिखे गये। 'चाही' का अर्थ न जाननेसे यह भूल हो सकती है। अतएव हमने 'जीवन' ही अर्थ किया है। 'जीव न चाही' पाठका अर्थ लोगोंने 'उसे जीना न चाहिये' ऐसा किया है।

टिप्पणी—२ *'दीन बचन कह बहु बिधि……'* इति। (क) *'बहु बिधि',* यथा— *'काह करौं सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउँ काऊ॥'* (अपना अज्ञान कहा, यही दीन वचन है), *'अपने चलत न आजु लगि अनभल काहुक कीन्ह।……', 'नैहर जनम भरब बरु जाई'* और *'अरिबस……जीवन चाही।'* यही बहुत विधि कहना है। (ख)—अरिष्ट आनेसे भय और दीनता आती है, वैसे ही कैकेयीजीकी दशा हुई। प्रथम वे भयभीत हुईं, यथा— *'कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी।'* (२०। १) फिर दीन होकर वचन बोलीं, यथा—*'दीन बचन कह……।'* भुशुण्डीजीके वाक्य इसका प्रमाण हैं, यथा—*'लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥'* (७। ११२) (ग)—स्त्रीचरित्र क्या किया यह आगेकी चौपाइयोंमें है। स्त्रियाँ अंचल उठाकर शत्रुको शाप देती, कोसती हैं वैसा ही करते हुए उसने निम्न वचन कहे।

अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुख सोहागु तुम्ह कहुँ दिन दूना॥ ४॥
जेहिं राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यह फलु परिपाका॥ ५॥
जब तें कुमत सुना मैं स्वामिनि। भूख न बासर नीद न जामिनि॥ ६॥
पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची॥ ७॥

शब्दार्थ—'**ऊना** (सं० ऊन)=न्यून, खेद, ग्लानि, हीनता। यथा—*'जनि जननी मानहु जिय ऊना। तुम्हतें प्रेम रामके दूना॥'* (५। १४) **दूना**=द्विगुण, दुगना। **ताका**=विचारा, सोचा। बुरायी ताकना मुहावरा है। **परिपाका**=परिपक्व, खूब पका हुआ, पूर्णरूपसे, परिणाम। **फलु**—परिणाम। **बासर**=दिन। **जामिनि**=(यामिनी) रात। **कुमत**=बुरी सलाह, कुमन्त्र। **गुनिन्ह**=गुणी, गुणवान्। गुणी शब्द गणक वा ज्योतिषीके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है; रमलवाले।

अर्थ— (और कहने लगी कि) मनमें हीनता मानकर दु:खित होकर ऐसा क्यों कहती हो? तुम्हारा सुख-सुहाग दिन-दिन दूना हो॥ ४॥ जिसने आपका अत्यन्त अहित सोचा है वही इसका (परिणाम) भोगेगा॥ ५॥ हे स्वामिनि! जबसे मैंने यह कुमत सुनी है तबसे न दिनमें भूख लगती है न रातमें नींद ही आती है॥ ६॥ मैंने ज्योतिषियोंसे पूछा तो उन्होंने (गणित करके) निश्चयपूर्वक कहा कि भरत भुआल (राजा) होंगे, यह बात सत्य है॥ ७॥

टिप्पणी— १ *'अस कस कहहु……'* इति। (क) यह कैकेयीजीके *'केहि अघ एकहि बार मोहि दैअँ दुसह दुख दीन्ह॥'* (२०), का उत्तर है। दीन वचन कहना ही अपनेको न्यून मानना है। (ख) *'सुख सोहाग……'*—रानीने जो कहा था कि दैवने मुझे दु:ख दिया, उसीपर मन्थरा कहती है कि तुमको दु:ख न होगा, तुम्हें सुख होगा। कौसल्याने राजाको अपने वशमें कर लिया। यही सुहागका हरण है। *'तुम्ह कहुँ दिन दूना'*—यह समझानेकी रीति है, यथा—*'सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥'* (४। ३) *'दूना'* कहनेका भाव कि अभी तो तुम्हें सुख और सुहागका बल है ही, आगे जब तुम्हारे पुत्र भरतका राज्य होगा तब राजा तुम्हारे ही वशमें रहेंगे; इस तरह तुम्हारा सुख और सौभाग्य दूने हो जायँगे। यही बात वह आगे कहती है, यथा—*'पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यहु साँची॥'*

नोट— सीधा अर्थ ऊपर लिखा गया। मानस-मयंककार इत्यादि महानुभाव यहाँ, 'इन दोनोंमेंसे कोई बात सत्य नहीं हुई, न कैकेयीका सोहाग ही रहा, न भरत राजा हुए। सरस्वती यह झूठ क्यों बोलीं?' यह शंका करके उसका समाधान भी करते हैं कि यहाँ श्लेषद्वारा दूसरा गुप्त अर्थ भी निकलता है कि— (क) *'दिन दूना'* अर्थात् दो दिन भी नहीं है, आज ही भर समझो। यह 'विवृतोक्ति अलंकार' है। अथवा, (ख) 'दिन' =७ और दू=२। अर्थात् सात दिनमेंसे दो दिन नहीं, केवल पाँच दिन और है; वह भी दु:खमें बीतेंगे। राजा सुमन्तजीके लौटनेपर शरीर छोड़ देंगे तब विधवापन आ जायगा। (मानसमयंक)। गणपति उपाध्यायजी इसीको यों कहते हैं—*'दिन दूनो कहि आज लगि पुनि मुनि मो दुइ ऊन। पुनि दिन बीते युगलके यह समुझे सुख दून॥ तजे भरतके सुख गए भूपति मरे सुहाग। प्रविशे बिरह विषाद उर सत्य शारदा बाग॥'*

अथवा, (ग) *'दिन दूना'*—अर्थात् आज रात व्यतीत होनेपर कल दिन (भोर) होनेपर दू (दोनों) न रहेंगे, न सुख ही और न पति-अनुकूलतारूपी सोहाग। (बैजनाथजी)

अ० दी० में इसके समाधानका यह दोहा है—*'दिन द्वै ऊन नराच दिन द्वै दूना दिन एक। भाल अरुण प्रिय बचन सुख धरी शारदा टेक॥'* (१३) अर्थात् दिन (सात) मेंसे दो कम नाराच (=बाण=पाँच) दिन भाल अरुण (माँग सुहाग) अर्थात् पाँच दिन सुहाग रहेगा। (छठे दिन पतिमरण हो जायगा) और प्रियवचनरूपी सुख दो दिन नहीं अर्थात् आज ही भर रहेगा, सबेरा होते ही सभीके कटुवचन सुननेको मिलेंगे तब सुख कहाँ? (अ० दी० च०)

टिप्पणी—२ *'जेहिं राउर अति अनभल ताका…'* इति। (क) यह *'अपने चलत न आजु लगि अनभल काहुक कीन्ह'* का उत्तर है। भाव यह कि आपने तो किसीका अहित किया नहीं अतएव आपको दुःख क्यों होगा? हाँ, जिसने तुम्हारी बुराई सोची अथवा की है उसने पाप किया है, उसको पापका फल प्राप्त होगा। मन्थराके मनमें है कि मैं रानीसे कहूँ कि राजासे 'राम-बनवास' और 'भरतको राज्य' यह दो वर माँगे। इसीको वह फलका भोग कहती है। (ख) *'अति अनभल'* दासी बनाना चाहा यह *'अनभल'* है और जड़ उखाड़ना चाहती है यह *'अति अनभल'* है। भाव यह कि जो दूसरेके लिये गड्ढा खोदता है वह स्वयं गड्ढेमें गिरता है। यथा—*'जोइ जोइ कूप खनैगो पर कहँ सो सठ फिरि तेहि कूप परै। सपनेहु सुख न संतद्रोही कहँ सुरतरु सोउ विष फरनि फरै॥'* (वि० १३७)

टिप्पणी—३ *'जब तें कुमत सुना मैं स्वामिनि…'* इति। (क) *'स्वामिनि'*—भाव कि आप मेरी स्वामिनी हैं इसीसे आपका अहित सुनते ही मुझे बड़ा शोच हो गया। यथा—*'पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। रामतिलक सुनि भा उर दाहू॥'* (१३। २)—यही सुनना है, रामतिलक कुमत है। (ख) *'भूख न बासर नींद न जामिनि'*— भाव कि इस बातका बड़ा शोच है, शोचके मारे न तो नींद आती है और न भूख लगती है। यथा—*'निसि न नींद नहिं भूख दिन भरत बिकल सुचि सोच।'* (२५२)(ग) *'जामिनि'* शब्दसे जनाया कि 'यामिनी' के किसी याम (प्रहर) में नींद नहीं पड़ती।

टिप्पणी ४—*'पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची।…'* इति। (क) ज्योतिषियोंके रेखा खींचकर सत्य कहनेका भाव कि भरतजी छोटे हैं, उनका युवराज होना अयोग्य है। अतः भरत युवराज होंगे, यह सुनकर विश्वास नहीं हो सकता कि यह बात सत्य होगी। इसीसे विश्वास दिलानेके लिये गुणी लोगोंने रेख खींचकर यह बात कही। (ख) *'भरत भुआल होहिं यह साँची'*—भरतका 'भुआल' होना सत्य नहीं है क्योंकि *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥'* इस संदेहके निवृत्त्यर्थ कहते हैं कि *'यह साँची'* अर्थात् यह सत्य है; इसमें संदेह नहीं। [न तो उसने ज्योतिषियोंसे पूछा और न उन्होंने कुछ कहा; क्योंकि अवधवासियोंमें कोई राम-विरोधी था ही नहीं। दूसरे वह तो 'रामतिलक' सुनकर कैकेयीजीके पास आयी थी; कहीं और गयी ही नहीं। मयंककार कहते हैं कि मन्थरा तो सरस्वतीके वशमें हैं तब यह झूठ कैसे कहा। और समाधान करते हैं कि 'भूआल=भू (पृथ्वी)+ 'आल' (आलय=रहनेका स्थान)। अर्थात् भरत पृथ्वीमें रहनेका स्थान बनाकर रहेंगे। यह ठीक है, भरतजी नन्दीग्राममें भूमि खोदकर गुफा बनाकर रहे थे। यथा—*'पूछेउँ गुनिन्ह सो सगुन करि कही रेख तिन्ह खाँचि। करहिं आल भूमें सही भरत बचन यह साँच॥'* (मा० म०)। *'भूख न बासर…'* कैसे सत्य हो, अभी तो सुने कुछ घड़ियाँ भी नहीं हुईं। स्त्रीचरित्रमें सब घट जाते हैं। सरस्वतीकी युक्तिका अर्थ इसका भी इस प्रकार किया जाता है—जबसे सुना दिनमें तबसे भूख नहीं और अब नींद नहीं रही। (प्र० सं०)]

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—यदि रानी किसी तरहसे यह जान जायँ कि रामजीके तिलकका प्रस्ताव आज ही हुआ है तो मन्थराकी सब कलई एक क्षणमें खुल जाय, अतः वह झूठी-झूठी बातें गढ़कर उसी मर्मपर परदा डाल रही है। पन्द्रह दिनसे समाजका साजा जाना बतला रही है, जबसे यह समाचार सुना तबसे दिनको भूख न लगना, रातको नींद न आना कहकर भी उसी बातको पुष्ट करती है। इतना

ही नहीं, अपना जाना गुणियोंके पास, उनसे पूछना और उनका कहना कि भरत राजा होंगे, ये सब झूठी-झूठी बातें उसने गढ़ीं। मन्थराको कपट पेटारी बनाकर सरस्वती चली गयीं, अतः कपटकी पेटारीसे सत्यकी आशा कैसे की जा सकती है?

यहाँ मन्थराके मुखसे सरस्वतीके बोलनेकी कल्पना करके हठतः शंका उत्पन्न करना कि सरस्वती झूठ क्यों बोलीं अनुचित है। श्लेषद्वारा गुप्त अर्थ निकलनेपर भी झूठ सत्य नहीं हो जाता। उसे वंचिता वाणी कहते हैं। वह झूठ ही है। वंचिता, भ्रान्ता और प्रतिवन्ध्या वाणीकी गणना भगवान् व्यासने मिथ्यामें ही की है।

इसी भाँति *'भुआल'* शब्दका गुफा अर्थ करना, गुणियोंको सच्चा बनानेके लिये भी, षण्ड श्रम ही है। गुणियोंके सच्चे-झूठे होनेका प्रश्न तो तब उठे यदि वह (मन्थरा) गुणियोंके पास गयी भी हो। उसने तो लोगोंसे पूछा कि यह उछाह कैसा हो रहा है। पता लगा कि रामजीको तिलक होनेवाला है। उसका कलेजा जलने लगा, वह इस धुनमें लगी कि रातभरमें यह काम कैसे बिगड़े। अतः बिलखती हुई भरतकी माँके पास गयी। गुणियोंके पास जानेवाला किस्सा तो सीधा-सीधा उसका मनगढ़न्त है। इसे उसने तत्काल अपनी हितचिन्तकता द्योतनके लिये, रानीको ढाढ़स बँधानेके लिये, यथा—'पन्द्रह दिनसे राजतिलककी तैयारी हो रही है' इस झूठको सत्य सिद्ध करनेके लिये गढ़ लिया है। इससे भगवती सरस्वतीका उसे कपट पेटारी बनानेका साफल्य सिद्ध होता है।

भामिनी करहु त कहौं उपाऊ। हैं* तुम्हारी सेवा बस राऊ॥ ८॥

दो०—परउँ कूप तव बचन पर सकउँ पूत पति त्यागि।
कहसि मोर दुखु देखि बड़ कस न करब हित लागि॥ २१॥

शब्दार्थ—**त**=तो, यथा—*'नाहिं त मौन रहब दिन राती।'* तव बचन लगि=तेरे वचनोंसे, तेरा वचन रखनेके लिये।

अर्थ—हे भामिनी! आप करें तो मैं उपाय बताऊँ। राजा आपकी सेवासे आपके वशमें हैं॥ ८॥ (रानी बोली) मैं तेरे कहनेसे कुएँमें गिर सकती हूँ और अपने पुत्र और पतिको भी छोड़ सकती हूँ। तू मेरा भारी दुःख देखकर कह रही है, (फिर भला) अपने हित (भले) के लिये क्यों न करूँगी?॥ २१॥

टिप्पणी—१—*'भामिनि करहु त कहौं उपाऊ।'*""इति। (क) पूर्व जो कहा था कि *'रूँधहु करि उपाउ बर बारी'* (१७।८), वह उपाय अब कहती है। पर मन्थराको अभी एक सन्देह है कि कैकेयी रामके लिये वनवास न माँगेगी, इसीसे वह पहले उससे कबुलवाती है, वचनबद्ध कराती है कि *'करहु त कहौं'* न करना हो तो क्यों कहूँ, वचन व्यर्थ क्यों जाय! (ख)—*'हैं तुम्हारी सेवा बस राऊ'* यह उपाय है। अर्थात् जो मैं करनेको कहूँगी, उसकी सिद्धि राजाके अधीन है और राजा तुम्हारे वशमें हैं ही। [यथा—'**दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशयः। त्वत्कृते च महाराजो विशेदपि हुताशनम्॥'**"" **तव प्रियार्थं राजा तु प्राणानपि परित्यजेत्॥**' (वाल्मी० २।९।२४-२५)।] अर्थात् तुम महाराजकी बड़ी प्यारी हो, इसमें मुझे किंचित् सन्देह नहीं है, राजा तुम्हारे लिये आगमें भी कूद सकते हैं, तुम्हारा प्रिय कार्य करनेके लिये प्राण भी छोड़ सकते हैं।— ये सब भाव इस चरणमें आ गये। इनके सम्बन्धसे *'भामिनी'* का भाव वही है जो '**न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम्।**"" **न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपतिः। मन्दस्वभावे बुध्यस्व सौभाग्यबलमात्मनः॥**' (वाल्मी० २। ९। २५-२६), (अर्थात् राजा तुम्हें न तो क्रोधित कर सकते हैं और न क्रोधित देख सकते हैं। वे तुम्हारी बात टाल नहीं सकते। अपने सौभाग्यका बल देखो), मन्थराके इन वचनोंका है। इससे यहाँ 'भामिनी' का अर्थ मानवती, क्रोधवती है जैसा पूर्व लिखा गया है। भाव यह है कि तुझे कोप और मान करना होगा। बस, इतनेसे ही सब कार्य सिद्ध हो जायगा।

वि० त्रि०—भाव यह कि षड्यन्त्र तुम्हारे वैरियोंने खूब रचा है, पर अब भी यह टूट सकता है।

* 'हइ'—राजापुर, काशी, रा० प्र०।

इसके टूटनेका एक उपाय है, पर वह तुम्हारा किया होगा नहीं। उसके तोड़नेके लिये बड़ी दृढ़ता और बड़ी कड़ाईकी आवश्यकता है। कितने प्रेमबन्धन तोड़ने पडेंगे, जो तुम न तोड़ सकोगी। अत: मैं उस उपायको मुखसे निकाल नहीं सकती। यदि मैंने उस उपायको कह दिया और तुम न कर सकी तो मेरी क्या दुर्दशा होगी, इसे कौन कह सकता है?

यदि तुम उसे करनेकी प्रतिज्ञा करो तो मैं बतलाऊँ। तुम्हारा काम राजासे निकलेगा। यद्यपि प्रपंच रचके, उन्होंने राजाको अपनाया है, पर तुमने राजाकी ऐसी सच्ची सेवा की है कि अब भी वे तुम्हारे वश हैं, तुम्हारे हाथके बाहर नहीं हैं, और *'वेद विदित संमत सबहीका। जेहि पितु देइ सो पावै टीका॥'* सम्पूर्ण चक्र तुम्हारा विरोध करके भी कुछ नहीं कर सकता। तुम्हारेमें कठोरता, दृढ़ता और स्नेहबंधनविच्छेदकी क्षमता होनी चाहिये। इसीपर महारानी कैकेयी कहती हैं *'परउँ कूप तव बचन पर सकउँ पूत पति त्यागि।'*

टिप्पणी—२ *'परउँ कूप तव बचन पर......'* इति। (क) *'तव बचन पर'*—भाव कि केवल तेरे वचनपर ये सब बातें कर सकती हूँ, तब भला अपने हितके लिये क्यों न करूँगी। (ख) कुएँमें गिरना देह और प्राणोंका देना है। देह और प्राणसे अधिक प्रिय कुछ नहीं होता, यथा—*'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।'* (१। २०८) अत: *'परउँ कूप'* कहकर प्रथम (परम प्रिय) देह और प्राणतक देनेको कहा। तब पुत्र और पतिको क्रमसे कहा। (प्राणोंसे कम प्रेम पुत्रमें है और पुत्रसे कम पतिमें। अत: प्राण, पुत्र और पतिको उसी क्रमसे कहा। किसीके कहनेपर कूएँमें गिर पड़ना मुहावरा है। भाव यह कि सब कुछ कर सकती हूँ, प्राणतक दे सकती हूँ।) (ग) *'कहसि मोर दुख देखि बड़....'* भाव कि तू मेरा बड़ा दु:ख देखकर हित करनेको कहती है, अत: मैं तेरे वचनपर बड़ा दु:ख सह सकती हूँ। तू तो प्राण, पुत्र और पतिकी रक्षाकी बात कहती है तब भी क्यों न करूँगी?

नोट—कैकेयीकी यह सब गति (मरण, पुत्र और पति-त्याग) होगी— कोपभवनमें मन्थराके कहनेसे जाना और कलंकित होना—यह कुएँमें गिरने और प्राण हरण होनेके सदृश है। भरत जबतक रहे माँसे बोले नहीं, यथा—*'कैकेयी जौ लौं जियति रही। तौ लौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कहीं', 'तजेउ पिता प्रहलाद बिभीषण बंधु भरत महतारी।'* पतिने शरीर ही छोड़ दिया।—इस प्रकार सरस्वती दोनों ओरसे भविष्यत होनहार कह रही है। पुत्र और पतिको त्यागकर वह दु:खरूप कुएँमें गिरी। (पं० रा० कु०, मयंक)।

***कुबरीं करि कबुली कैकेई। कपट छुरी उर पाहन टेई॥ १॥**
लखइ न रानि निकट दुख कैसें। चरइ हरित तिन बलिपसु जैसें॥ २॥
सुनत बात मृदु अंत कठोरी। देति मनहुँ मधु माहुर घोरी॥ ३॥

शब्दार्थ—**करि**=कसाइन; करके। **पाहन**=पाषाण, पत्थर, सिल्ली। **टेई**=टेती है, तेज करती है। **तिन** (तृण)=घास, तिनका। **माहुर**=विष, जहर। **घोरी**=घोलकर, मिलाकर। **बलिपसु**=वह पशु, जिसका बलिप्रदान होनेवाला हो; देवीको माना हुआ पशु।

अर्थ—कसाइन कुबरी, कैकेयी रूपिणी अधमरी बलिपशुके मारनेके लिये कपटरूपी छुरी हृदयरूपी सिल्लीपर तेज कर रही है॥ १॥ (पर) रानी अपने अत्यन्त निकटके दु:खको कैसे नहीं देखती जैसे बलिपशु हरी घास चरता है (पर यह नहीं जानता कि उसका बलिदान होनेको है, उसकी मृत्यु सिरपर खड़ी है)॥ २॥ उसकी बातें सुनने में तो कोमल और मीठी हैं, पर उनका परिणाम कठोर (बुरा) है, मानो वह विषको शहदमें घोलकर दे रही है॥ ३॥

---

* १—'कुबरी करी कुबलि कैकेयी'—ना० प्र० सभाकी प्रतिमें है और उपर्युक्त पाठ राजापुर, काशिराज इत्यादिकी प्रतियोंमें है। 'कुबलि'=बुरी बलि। दीनजी कहते हैं कि बलि 'नर' जीवकी दी जाती है। 'स्त्री' 'जीव' होनेके कारण कैकेयीको 'कुबलि' कहा। सन् १९२२ में ना० प्र० ने राजापुरका ही पाठ रखा है।

टिप्पणी—१ *'कुबरीं करि कबुली कैकेई'* इति। पहले कैकेयी (इसके वचनको) नहीं कबूल (अंगीकार) करती थी अब उसने कबूल किया कि *'परउँ कूप तव बचन पर सकउँ पूत पति त्यागि।'*

नोट— इस चरणके अर्थ लोगोंने ये किये हैं—(१) कुबरी करिके (अर्थात् कुबरीद्वारा) कबुलवायी हुई कैकेयी (के मारनेके लिये)। (रा० प्र०), (२) **कबुली**=मानता, मानी हुई, कबूली हुई बलि।

अर्थ—कुबरीद्वारा मानता मानी हुई जो बलिरूपी कैकेयी है उसके लिये। (रा० प्र०), (३) **कबुली**=राजी की हुई; पक्षीभेद। (गौड़जी), (४) ***करि***=कसाई; गामरी, गौको मारनेवाली पापिनी। यथा—**'गोमरी करि चाण्डाली श्वानी महि बिभक्षिका भास्करेति।'** ***कबुली***=बलिपशु। यथा—**'प्राणत्यागे पशुश्चैव सार्द्धत्यागे कबूलिका।'** (इति नन्दीकोशे) यह अर्थ *'लखइ न रानि निकट दुख कैसे। चरइ हरित तिन बलिपसु जैसे॥'* के आधारपर है। (अ० दी० च०) मा० म० के टीकाकार लिखते हैं कि *'करि'* का अर्थ कसाइन वररुचिकोशमें कथित है और *'कबुली'* का अर्थ 'अधमरा बलिपशु' भास्करकोशमें है। (५) कुबरीने कैकेयीको कबूल करनेवाली बनाकर। (वीरकवि) (६) कुबरीने कैकेयीसे वचन हराकर। (अर्थात् उसको वचनबद्ध करके), (७) मन्थराने कैकेयीसे (पहले उपाय करनेको कहा), करनेको कबूल (स्वीकार) करा लिया। (पु० रा० कु०)

उपर्युक्त अर्थोंपर विचार करनेसे दो अर्थ होते हैं—(१) मन्थराने कैकेयीको वचनबद्ध करके। (२) मन्थरा-रूपी कसाइनने कैकेयीको बलिपशु बनाकर। अर्थ (२) में *'करि'* श्लेषार्थी है। 'कसाइन' और 'करके' दोनों अर्थ लिये गये हैं। ☞ दोनोंको मिलाकर एक अर्थ पूर्व संस्करणमें यह दिया गया था कि—'कुबरीने कैकेयीको देवीके आगे मानताकी कबूली हुई बकरी करके'। (३) पूरी अर्धालीका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—'मन्थरा कसाइन है। कैकेयी मन्नत मानी हुई बलिपशु है। कपट छुरी है जो मन्थराके हृदयरूपी पाषाणपर टेयी गयी है।'

टिप्पणी—२ (क) *'कपट छुरी उर पाहन टेई'* इति। अर्थात् कपटको हृदयमें सुधारने लगी जिसमें कपटसे मेरा कहना सिद्ध हो जाय। मन्थराके कपटसे कैकेयीका घात (नाश) है। वह रानीको अपने कपटसे मारती है। इससे मन्थराके कपटको *'छुरी'* कहा। मन्थराका हृदय जड़ एवं कठोर है, अतः उसे *'पाहन'* कहा। (कपटको छुरीका रूपक दिया, अतएव मन्थराके हृदयपर पाषाणका आरोपण किया, क्योंकि छुरी पत्थरपर टेई जाती है जिससे धार तीक्ष्ण होती है। यहाँ 'परम्परित रूपक' है)। जब कैकेयीने अपने मुखसे मरनेतकको कह दिया तब मन्थरा वध करनेको तैयार हुई। पत्थरसे लोहा उत्पन्न होता है, यथा—*'कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर।'* (१७९) कपट हृदयसे उत्पन्न हुआ है (कपट कार्य है, हृदय कारण है), इसीसे कपटको छुरी और हृदयको पाषाण कहा। (ख) *'उर पाहन टेई'* इति। टेना (तेज करना, धार चढ़ाना) हृदयके भीतर है, इसीसे कैकेयीको नहीं सूझता। [टेना विचारना है। (रा० प्र०) अविचारोंको हृदयमें चैतन्य करना पत्थरपर घिसकर तीक्ष्ण करना है। (वि० टी०)]

टिप्पणी—३ *'लखइ न रानि⋯'* इति। (क) दुःख सामने ही उपस्थित है। अत्यन्त निकट है, बस जबतक छुरी टेई, तेज की जा रही है, उतने ही समयकी देर है। बलिपशु हरी-हरी घास-पत्ती आदि चरता है, यह अपनेको पुत्रके राज्यका और सौतको दुःख होनेका सुख माने हुए है। (अर्थात् अपने पुत्रके राज्यसुखका अनुभव तथा भरत-राज्य होनेसे सौतको दुःख होगा, इससे जो हृदयमें सुख हो सकेगा उसका अनुभव करना हरित तृणका चरना है जिसमें वह मग्न है)। प्राण जाना ही चाहता है। पर वह नहीं देखती। *'दुइ बरदान भूप सन थाती। माँगहु आजु जुड़ावहु छाती॥'* (चौ० ५) मन्थराका यह उपदेश करना ही कैकेयीका वध करना है। अपयशकी प्राप्ति मरण है। यथा—*'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* (९५। ७) बलिदान देवीको दिया जाता है। यहाँ दोनों वरदानोंकी प्राप्तिकी आशा देवी है। यथा—*'तुलसी अद्‌भुत देवता आसा देवी नाम। सेएँ सोक समर्पई बिमुख भएँ अभिराम॥'* (दो० २५८) मन्थरा रानीको आशा दिखाकर मारना चाहती है, अर्थात् उसको अपयशभाजन बना रही है। (आशासे ही इसका नाश हुआ। कैकेयीका भावी दुःखको न लखकर प्रसन्न होना, इस साधारण बातकी विशेषसे समता दिखाना कि *'चरइ हरित तिन बलिपसु जैसे'* 'उदाहरण अलंकार' है)।

टिप्पणी—४ *'सुनत बात मृदु अंत कठोरी।"" '* इति। लोग बलिपशुके मुखमें शर्बत डालते हैं वैसे ही मन्थरा कैकेयीके मुखमें विष घोलकर मधु डालती है। यहाँतक रूपक है। पहले तो बात मृदु है पीछे कठोर है (अर्थात् उसका परिणाम बुरा है), जैसे माहुर मिला हुआ मधु पहले मीठा लगता है किंतु पीछे मार डालता है। प्रथम जो कहा है कि *'कपट छुरी उर पाहन टेई'* अर्थात् कपटको सुधारकर बोली; यही मारना है उसीकी उपमा यहाँ *'देति मनहु मधु माहुर घोरी'* देते हैं। वचन मृदु हैं किंतु उनका परिणाम बुरा है इसीसे मधु घोलकर माहुर देना कहा। (धोखा देनेवाले ठग मधु वा किसी मीठी वस्तुमें विष मिलाकर देते हैं अत: यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है)।

नोट— वाल्मी० २। ९। ४ '**एवमुक्ता तु सा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी। रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयी-मिदमब्रवीत्॥**' (अर्थात् देवी कैकेयीके द्वारा ऐसा कही जानेपर बुरी बातोंमें तीव्र बुद्धि रखनेवाली (पापदर्शिनी) मन्थरा श्रीरामचन्द्रके अभ्युदयसे द्वेष करती हुई बोली) के 'पापदर्शिनी' और उपहिंसन्ती' शब्दोंके भावको यहाँ व्यासने रूपकालंकारमें कैसे विचित्ररूपसे वर्णन किया है यह विचारने योग्य है। ☞ इस श्लोकको वाल्मीकिजीने दो बार लिखा है, यही चौथा और दसवाँ श्लोक है। वैसे ही मानसके आदिमें *'कपट छुरी उर पाहन टेई।" '* और फिर अन्तमें *'देति मनहु मधु माहुर घोरी'* है। जैसे वहाँ दोनोंके बाद वरदानकी कथा है वैसे ही यहाँ।

कहइ चेरि सुधि अहइ कि नाहीं। स्वामिनि कहिहु कथा मोहि पाहीं॥ ४॥
दुइ बरदान भूप सन थाती। माँगहु आजु जुड़ावहु छाती॥ ५॥
सुतहिं राज रामहिं बनवासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥ ६॥
भूपति रामसपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई॥ ७॥

शब्दार्थ—**थाती**=(स्थिति) धरोहर, बन्धक, अमानत। ***छाती जुड़ाना***=कलेजा ठंडा करना; मुहावरेमें चित्त प्रसन्न करनेको कहते है। **हुलास**=उल्लास,आनन्द। **टरई**=टले।

अर्थ—चेरी मन्थरा कहती है कि हे स्वामिनी! आपने मुझसे एक कथा कही थी, उसकी आपको सुधि (याद) है कि नहीं?॥ ४॥ अपने दो वरदान जो राजाके पास धरोहर हैं, उनको राजासे आज माँगकर अपनी छाती ठंडी कीजिये॥ ५॥ पुत्रको राज्य दीजिये और रामको वनवास (इस प्रकार) सब सौतोंका आनन्द ले लीजिये॥ ६॥ राजा जब रामजीकी सौगन्ध खा लें तब वह माँगियेगा जिसमें वचन न टलने पावे॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'कहइ चेरि सुधि अहइ कि नाहीं।" '* इति। (क) भाव कि इस कथाको कहे हुए बहुत वर्ष बीत गये इससे सुध दिलाती है। *'सुधि अहइ कि नाहीं'* अर्थात् मुझे तो याद है, तुम्हें याद है कि नहीं। मन्थराने प्रथम कैकेयीको कबुलवा लिया, वचनबद्ध कर लिया कि करेगी तब उपाय बताया कि राजा तुम्हारे वशमें हैं। इसी तरह यहाँ उसने प्रथम कथाकी सुध दिलाकर तब वर माँगनेको कहा। (*'सुधि अहइ कि नाहीं'* में यह भी भाव है कि क्या तुम्हें स्मरण नहीं है, तुमने ही तो हमसे कहा था, अत: तुम्हे अवश्य स्मरण होगा। ऐसा तो नहीं है कि स्मरण होनेपर भी तुम मुझसे छिपा रही हो। जो उपाय तुम्हें कहना चाहिये था वह तुम मुझसे पूछना चाहती हो? यथा—'**किं न स्मरसि कैकेयि स्मरन्ती वा निगूहसे। यदुच्यमानमात्मार्थं मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि॥**' (वाल्मी० २।९।६) यदि तुम मेरे ही द्वारा सुनना चाहती हो तो सुनो, यथा—'**मयोच्यमानं यदि ते श्रोतुं छन्दो विलासिनि। श्रूयतामभिधास्यामि""।**' (श्लो० ७)' *'कहिहु मोहि पाहीं'*—अर्थात् मुझे मालूम न थी, तुम्हारे बतानेसे मैंने जाना था और तुम्हारे प्रति प्रेम होनेसे मैंने याद रखी। यथा—'**अनभिज्ञा ह्यहं देवि त्वयैव कथितं पुरा॥**' '**कथैषा तव तु स्नेहान्मनसा धार्यते मया।**' (वाल्मी० २। ९। १८-१९) (इससे यह भी जनाती है कि देखो मेरा कैसा स्नेह तुमपर है। स्मरण न रखती तो इस समय तुमपर बड़ा संकट पड़ जाता।)

(ख)—*'आजु'*— आज ही माँगो क्योंकि सबेरा होते ही कल रामराज्याभिषेक हो जायगा तब कुछ उपाय न चलेगा। राजाके वशकी बात ही न रह जायगी। (ग) *'जुड़ावहु छाती'*— कैकेयीकी छाती जल रही है, यथा— *'अस अभिलाषु नगर सब काहू। कैकयसुता हृदय अति दाहू॥'* (२४। ७) अतः कहती है कि बस आज ही वर माँग लो, सब जलन दूर हो जायगी, छाती ठंडी हो जायगी। माँगने ही भरकी देर है।

नोट—वरदान किस बातपर देनेका एकरार (प्रतिज्ञा) हुआ, इस विषयमें कथाएँ भिन्न-भिन्न मिलती हैं। १—वाल्मीकीयमें कथा इस प्रकार है कि दक्षिण दिशामें दण्डकारण्यमें वैजयन्त नामक एक प्रसिद्ध नगर है, जहाँ तिमिध्वज असुर रहता था जिसका दूसरा नाम 'शंबर' विख्यात था। वह महासुर सैकड़ों प्रकारकी माया जानता था। देवता उसे पराजित न कर सके तब वह इन्द्रसे संग्राम करनेको तैयार हुआ। उस बड़े भारी देवासुर-संग्राममें क्षत-विक्षत पुरुषोंको रातमें सोते समय राक्षस लोग बिछौनेसे खींचकर मारा करते थे। इन्द्रने राजासे सहायता माँगी। यथा—**'इन्द्रेण याचितो धन्वी सहायार्थं महारथः।'** (अ० रा० २। २। ६६) अन्य राजर्षियोंके साथ तुम्हारे पति महाबाहु राजा दशरथ भी तुमको साथ लेकर इन्द्रकी सहायताके लिये गये और उन्होंने राक्षसोंके साथ घनघोर युद्ध किया। राजा युद्धमें घायल होकर मूर्छित हो गये। [सारथी भी मारा गया। तब तुमने सारथीका काम किया। (प्र० सं०)] तब तुम राजाको संग्रामभूमिसे निकालकर दूर ले गयी। इस प्रकार तुमने शस्त्रोंसे घायल हुए अपने पतिकी रक्षा की। उस समय राजाने प्रसन्न होकर इसके प्रत्युपकारमें दो वर माँगनेको कहे। तुमने कहा कि जब चाहूँगी तब माँग लूँगी (आपके पास ये थाती रहें)। राजाने तुम्हारी बात मान ली। (वाल्मी० २। ९। ११—१७)। अ० रा० में धरोहर स्पष्ट कहा है। यथा—**'त्वय्येव तिष्ठतु चिरं न्यासभूतं ममानघ। यदा मेऽवसरो भूयात्तदा देहि वरद्वयम्॥'** (२। २। ७२)

२— अध्यात्मरामायण सर्ग २ में लिखा है कि **'तदाक्षकीलो न्यपतच्छिन्नस्तस्य न वेद सः। त्वं तु हस्तं समावेश्य कीलरन्ध्रेऽतिधैर्यतः॥'** (६८) अर्थात् देवासुर-संग्राममें युद्ध-समय रथके धुराकी कील क्षीण होकर गिर पड़ी, राजाको इसकी खबर न हुई। उस समय तुमने बड़े धैर्यसे काम लिया, अपना हाथ कीलके छिद्रमें डालकर तुमने रथके पहियेको निकलनेसे रोका और रथको संग्रामभूमिमें थाँमे हुए राजाकी रक्षा की। शत्रुओंपर जय प्राप्त होनेपर राजा तुमको धुरेके छेदमें हाथ डाले देख आश्चर्यमें हो बड़े प्रसन्न हुए। तुम्हें गले लगाकर कहा कि मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ, जो चाहो दो वर माँग लो।

३—तीसरी कथा यह कही जाती है कि दशरथ महाराजकी उँगलीमें विस्फोटक नामक रोग हुआ जिसमें बड़ी जलन होती थी। उन्हें यह ज्ञात हुआ कि यदि कैकेयीके मुँहमें उँगली रहे तो उसमें जलन न होगी। अतएव कैकेयीसे कहा गया, उन्होंने स्वीकार कर लिया और मुखमें उँगली डालनेसे सचमुच जलन मिट गयी। तब प्रसन्न हो राजाने दो वरदान माँगनेको कहा था⋯।

विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि कैकेयीने राजाके फोड़ेको चूसकर अपने अधरामृतसे राजाको चंगा कर दिया था। इसपर उन्होंने वरदान माँगनेको कहा।

४—बाबू श्यामसुन्दरदासजी लिखते हैं कि कहीं यह कथा है कि एक ऋषि सोये हुए थे और कैकेयीने उनके मुँहमें स्याही लगाकर काला मुँह कर दिया था, उन्होंने क्रोधसे शाप दिया था कि तुझे ऐसा कलंक लगेगा कि कोई तेरा मुख न देखेगा। फिर ऋषिने अपना दण्ड माँगा तो कैकेयीने दे दिया। इसपर संतुष्ट होकर उन्होंने वर दिया कि तू चाहेगी तब तेरा हाथ लोहदण्डका काम देगा। अतः, इस संग्राममें रथके चक्रमें उसके हाथने लोहेकी कीलका काम किया।

टिप्पणी— २ *'दुइ बरदान भूप सन थाती। माँगहु⋯'* इति। (क) *'थाती'*—भाव कि यदि ऐसे ही राजासे माँगोगी कि भरतको राज्य दो और रामको वन दो तो राजा न देंगे। जब यह कहोगी कि पूर्व आपने मुझे दो वर देनेको कहे थे, मैंने आपके पास थातीरूपसे उन्हे रख दिया था कि जब इच्छा होगी तब माँग लूँगी। आज मैं माँगना चाहती हूँ, अतः आज ही आप दें; तब मिलेगा।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—१ मूलविषय यहाँ राजतिलक है, इसलिये पहले *'सुतहि राज'* कहा। वह

राज्य बिना रामके वनवासके निष्कण्टक हो नहीं सकता। क्योंकि तिलक देते ही गृह-कलहकी आशंका है। **'क्षत्रियाणामयं धर्मो यत्प्रजापरिपालनम्। वधश्च धर्मयुद्धेन स्वराज्यपरिपन्थिनाम्।'** (वि० पु० ६। ७। ३) क्षत्रियोंका यह धर्म है कि प्रजाका परिपालन करें और धर्मयुद्धसे अपने राज्यके कण्टकोंका वध करें। इस वचनके अनुसार सम्भव है कि धर्मात्मा रामचन्द्र भी युद्धके लिये कटिबद्ध हो जायँ। अत: भरतके राज्यकी स्थिरताके लिये रामजीका वनवास उतना ही आवश्यक है। इस भाँति मन्थराने यह समझाया कि जिस दु:खकी कामना कौशल्याने तुम्हारे लिये की थी वह स्वयं कौशल्याके सिर पड़ेगा और जो सुख अपने लिये चाहा था, वह सब तुम्हें मिलेगा। तुम्हारे वैरियोंकी सब बात ही उलटी पड़ जायगी।

टिप्पणी—३ ***'सुतहि राज रामहिं बनबासू।…'*** इति।— पहले राज्य दिलानेका वर माँगनेको कहती है; क्योंकि यदि पहले वनवासका वर माँगेगी तो राजा मूर्छित हो जायँगे तब भरतको राज्य कौन देगा? रामके घरपर रहनेसे सौतका उल्लास बना रहेगा, वनवाससे सब आनन्द जाता रहेगा (काष्ठजिह्वा स्वामीजी कहते हैं कि रामके रहनेसे प्रजामें दो भाग हो जायँगे, कुछ रामका पक्ष लेंगे, कुछ भरतका; इससे रामको वनवास दिलाती है)।

टिप्पणी—४ ***'भूपति राम सपथ जब करई…'*** इति। (क) मन्थराको विश्वास नहीं है कि राजा श्रीरामजीको वन देंगे। वचन भले ही छोड़ दें पर रामको वनवास दें यह असम्भव है; क्योंकि राम उनको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं। अत: कहती है कि जब रामकी शपथ करें तब माँगना जिसमें अपने वचनसे न टलें। (ख) ***'जब करई'***— अर्थात् वे रामशपथ भी जल्दी न करेंगे। यथा—***'तेहिपर राम सपथ करि आई।'*** (२८। ७) ***'करि आई'*** का भाव यही है कि भावीवश उनके मुखसे शपथ निकल गयी नहीं तो वे रामशपथ तो कभी भी न करते; यथा—***'राम सपथ मैं कीन्ह न काऊ।'*** (ग) मन्थराके कथनका सारांश यह है कि प्रथम वरको स्मरण कराना; वर न माँगना। (जब रामशपथ कर लें तब वर माँगना। पहले भरत राजा हों यह माँगना, पीछे राम वन जायँ यह माँगना।) (घ) ***'तब माँगेहु'*** में ध्वनि यह है कि तबतक मौन ही रहना वर न माँगना, (ङ) भरतको राज, रामको वनवास देकर अपना दु:ख सवतिको दो और उसका सुख तुम ले लो; 'परिवृत्त अलंकार' है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—मन्थरा सावधान करती है कि जैसे मैंने तुमसे प्रतिज्ञा करा लिया तब उपाय बतलाया, उसी भाँति तुम भी तब वरदान माँगना जब राजा रामजीकी शपथ ले लें। यदि तुम राजासे शपथ लेनेके पहले कह दोगी तो वचन प्रमाण न माना जायगा। गुरु वसिष्ठ और मन्त्री सुमन्त्र आदि कहेंगे कि स्त्रीके साथ नर्ममें कहे हुए वचन प्रमाण नहीं होते। यदि राजा रामजीकी शपथ ले लेवेंगे, तब नर्मवाला झगड़ा न उठ सकेगा और राजा लाचार होकर भरतको राज और रामजीको वनवास देवेंगे।

होइ अकाजु आजु निसि बीते। बचनु मोर प्रिय* मानेहु जी तें॥ ८॥

दो०—बड़ कुघातु करि पातकिनि कहेसि कोपगृह जाहु।
काजु सँवारेहु सजग सबु सहसा जनि पतिआहु॥ २२॥

शब्दार्थ—**अकाजु**=कार्यकी हानि। **कोपगृह**=कोपभवन, क्रोधघर। राजमहलोंमें प्राय: एक कोठरी शयनागारके पास ही रहती है, जिसमें रानियाँ राजासे रूठ जानेपर अथवा अपने किसी मनोरथकी सिद्धिहेतु कुसाज सजकर जा पड़ती हैं। इस कोठरीकी सजावट भी कोप प्रकट करनेवाली ही वस्तुओंसे की जाती है। इस प्रकार राजा देखते ही समझ जाते है कि आज रानी किसी कारणसे रूठी हैं। यहाँ दिव्य वस्त्र-भूषण-श्रृंगार सब उतार मैले वस्त्र पहनकर भूमिमें लेटा जाता है। **प्रिय**=हितकर, प्यारे, सत्य। **जी**=प्राण, हृदय। **तें**=से। **पातकिनि**=पापिनी। **कुघात**=बुरी घात। **घात**=दाँव, पेंच, चाल। **सजग**=सावधानीसे, चैतन्यतासे। **सहसा**=एकबारगी। **पतिआहु**=(सं० प्रत्ययन) विश्वास करो।

* फुर—छं०।

अर्थ—आजकी रात बीत जानेसे काम बिगड़ जायगा, मेरी बातको प्राणोंसे भी (वा हृदयसे) प्रिय समझना॥ ८॥ उस पापिनीने कैकेयीपर बड़ी बुरी घात लगाकर उससे कहा कि कोपभवनमें जाओ, सब काम सावधानीसे सँभालना-सुधारना, एकबारगी राजापर विश्वास न कर लेना (अथवा उनकी बातोंमें न आ जाना)॥ २२॥

टिप्पणी—१ ***'होइ अकाजु आजु निसि बीते।'''' '*** इति। (क) ***'माँगहु आजु', 'आजु निसि बीते',*** इस तरह बार-बार ***'आजु'*** कहकर कैकेयीको सावधान करती है ***'आजु निसि बीते'***—अर्थात् यदि आज रातभरमें तुमने उपाय न कर लिया, राजासे दोनों वर न माँग लिये तो फिर बड़े सबेरे ही रामराज्याभिषेक हो जायगा। तब कोई उपाय न चलेगा तथा न लगेगा। भाव यह कि यदि राजा कहें कि फिर कभी दो-एक दिनमें वर देंगे तो न मान लेना, कहना कि देना हो तो अभी दे दो, मैं पीछे न लूँगी। यदि उनकी बात मान लोगी तो 'अकाज' हो जायगा। हमारी बात न मानोगी तो 'अकाज' होगा। यही समझानेके लिये कहती है कि ***'बचन मोर'''' ।'*** (पुनः, ***'आजु निसि बीते'*** का भाव कि तुमको ***'नींद बहुत प्रिय सेज तुराई।'*** (१४। ६), अतः कहीं सो न जाना।) (ख) ***'बचन मोर प्रिय मानेहु जी तें'***—प्रथम जब मन्थराने कैकेयीको ***'रामतिलक'*** का समाचार सुनाया तब उन्होंने उसे असत्य माना था; यथा—***'सुदिन सुमंगलदायक सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई॥'*** मन्थराके वचनको झूठा मानती थी, यथा—***'भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ।'*** अतएव मन्थरा कहती है कि अन्तःकरणसे मेरे वचनोंको सत्य मानो (प्राणोंसे भी अधिक समझकर इन वचनोंकी रक्षा करना। आज रातभरमें काम बना लेना, चूकना नहीं। यहाँ 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग है')।

टिप्पणी—२ ***'बड़ कुघात करि'''' '*** इति। (क) भरतराज्य और रामवनवास माँगनेका उपदेश करना वध करना है। अतः जब उपदेश कर चुकी तब कहते हैं कि उसने बड़ा कुघात किया, अर्थात् छुरीसे सिर काट लिया। (ऊपर कैकेयीको बलिपशु कह आये ही हैं। पुनः इसने अपने अन्नदाता, पालन-पोषणकर्तापर घात किया)। अतः इसे ***'पातकिनि'*** पापिनी कहा। (ख) ***'कोपगृह जाहु'***— भाव कि कोप करनेसे राजा मनावेंगे, वर देंगे, यह सब काम कोपभवनमें जानेसे सिद्ध होगा। [कोपभवनमें जानेको कहा, जिसमें कैकेयीको कुछ कहना न पड़े, राजा स्वयं ही जाकर पूछें और मनावें। राजभवनमें रहनेसे रानीको अपनेहीसे वरके लिये राजासे कहना पड़ेगा जो उचित न होगा]। (ग) ***'काज सँवारेहु सजग सबु'***—भाव कि मैं वहाँ न होऊँगी, वहाँ रहती तो बराबर शिक्षा देती रहती, इसलिये तुम सावधान रहकर सब काम सँवारना। राजाका शीघ्र विश्वास न मान लेना; यही सब कार्यका सुधाकर कर लेना है। (घ) ***'सब काजु'***—अर्थात् थातीकी सुध दिलाना; राजाकी बातोंमें न आ जाना; राजा रामशपथ कर चुकें तब वर माँगना; प्रथम भरतके लिये राज्य माँगना, पीछे रामको वनवास हो यह माँगना; आज रात्रिमें ही यह सब कार्य कर लेना। भरतको राज्य, रामको वनवास (देकर) सौतको दुःख और अपने लिये सुख उत्पन्न कर लो। (ङ) ***'सहसा जनि पतिआहु'***—भाव कि राजा कपटी हैं, यथा—***'लखहु न भूप कपट चतुराई।'*** (१४।६) अतएव वे शीघ्र विश्वास करनेयोग्य नहीं हैं।

नोट—१ वाल्मी० २। ९। ५४ के **'गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते** (अर्थात् जलके चले जानेपर बाँध नहीं बाँधा जाता) का भाव ***'होइ अकाजु आजु निसि बीते'*** में है।

नोट—२ ***'होइ अकाजु आजु निसि बीते'*** का सरस्वतीकृत अर्थ यह है कि आजकी रात बीतनेपर सौतोंका हुलास जायगा, राम वन जायँगे तब राजा प्राण त्याग देंगे, तुम्हारी सौतें विधवा होंगी और उसके साथ तुम्हारा भी अकाज होगा, तुम भी विधवा होगी। और दूसरा अकाज यह होगा कि भरतको राज्यकी प्राप्ति नहीं होगी। (अ० दी०)।

कुबरिहि रानि प्रान प्रिय जानी। बार बार बड़ि बुद्धि बखानी॥ १॥
तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कइ भइसि अधारा॥ २॥

जौं बिधि पुरब मनोरथु काली। करौं तोहि चखपूतरि आली॥ ३॥
बहु बिधि चेरिहि आदरु देई। कोपभवन गवनी कैकेई॥ ४॥

शब्दार्थ—**हित**=हितु, हितैषी, भलाई चाहनेवाला। **भइसि**=(तू) हुई। **अधारा**=सहारा, आधार। **पुरब**=पूरा करे। **चखपूतरि**=(चक्षु-पुत्तली) आँखकी पुतली। 'आँखकी पुतली बनाना' यह मुहावरा है; अर्थात् आँखकी पुतलीके समान अत्यन्त प्रिय बनाकर रखना, बहुत ही प्रिय बना लेना। पूरी तरहसे रक्षा और प्रेम करना, यथा—***'राखेहु नयन पलक की नाईं।'*** (१। ३५५), ***'नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई।'*** (५९। २) **गवनी**=गयी।

अर्थ— कुबरी मन्थराको रानीने प्राणप्रिय समझ बारंबार उसे बड़ी बुद्धिवाली कहकर उसकी (वा, उसकी उत्तम बुद्धिकी) सराहना करने लगी॥ १॥ तेरे समान संसारमें मेरा कोई भी हितैषी नहीं है। तू मुझ बही जाती हुईको सहारा हो गयी॥ २॥ यदि विधाता कल मेरा मनोरथ पूरा करें तो हे सखी! मैं तुझे अपने आँखकी पुतली बनाऊँ॥ ३॥ (इस प्रकार) बहुत प्रकारसे दासीका आदर करके कैकेयी कोपभवनको गयी॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'कुबरिहि रानि प्रान प्रिय जानी।'****** '***इति। (क) प्राणप्रिय जाननेका कारण आगे रानी स्वयं कहती हैं कि ***'तोहि सम हित न मोर संसारा।'*** हित करनेवाला प्राणसमान प्रिय होता है। बहे जाते हुएके प्राण जाते हैं, उसे जो बचाता है वह उसका प्राणदाता होता है और प्राणदाता होनेसे प्राणप्रिय होता है। तूने मेरे प्राण बचाये अतः तू मुझे प्राणप्रिय है। (यहाँ ***'प्रान प्रिय जानी'*** कविके वचन हैं और अ० रा० में **'मम त्वं प्राणवल्लभा।'** (२। २। ७८) कैकेयीके वचन हैं)। (ख) ***'बार बार बड़ि बुद्धि बखानी'***— अनेक प्रकारकी बुद्धिमत्ता समझकर बारम्बार बुद्धिकी प्रशंसा करती है। जैसे कि—कौसल्याकी चतुरता लख लेनेमें बुद्धिकी बड़ाई की; उपाय बतानेमें बुद्धिकी सराहना की; इत्यादि। (ग) ***'कुबरिहि'*** कहकर ***'बुद्धि बखानी'*** कहनेका भाव कि तेरे कूबड़में बुद्धि भरी हुई है।

नोट—१ जो प्रिय होता है उसमें सब गुण-ही-गुण देख पड़ते हैं। इसी प्रकार ***'कुबरिहि बखानी'*** का भाव कि यद्यपि वह कुरूपा है, मन्दबुद्धि है (यथा—***'नाम मंथरा मंदमति,' 'करइ बिचारु कुबुद्धि कुजाती,' 'कूबरे कुटिल कुचाली जानि,' 'करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा'***) तथापि मन्थरा कैकेयीको बहुत सुन्दर लग रही है, यथा) **'त्वं पद्ममिव वातेन संनता प्रियदर्शना,' 'विमलेन्दुसमं वक्त्रम्'** (वाल्मी० २। ९। ४१—४३। वाल्मी० २। ९। ४१—४५ में) उसके अंगोंकी सुन्दरताकी प्रशंसा रानीने की है। वे सब भाव ***'कुबरहिं प्रानप्रिय जानी'*** से जना दिये। ***'बार बार बुद्धि बखानी',*** यथा—**'आसन् याः शम्बरे मायाः सहस्रमसुराधिपे॥ ४५॥ हृदये ते निविष्टास्ता भूयश्चान्याः सहस्रशः। तदेव स्थगु यद्दीर्घं रथघोणमिवायतम्॥ ४६॥ मतयः क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते।'** (वाल्मी० २। ९ अर्थात् असुरराज शम्बरसे हजारों गुणा मायाएँ तुम जानती हो। ये सब तुम्हारे हृदयमें भरी हैं, इसीसे रथके आगेवाले भागके समान तुम्हारी छाती लम्बी और बड़ी हो गयी है। तेरे हृदयमें बुद्धि, वीरता और मायाका निवास है)। पुनश्च यथा—**'एवं त्वां बुद्धिसम्पन्नां न जाने वक्रसुन्दरि'**॥ ७७॥ **कुतस्ते बुद्धिरीदृशी**॥ ७६॥ अ० रा०। अर्थात् हे वक्रसुन्दरि! मैं जानती थी कि तू इतनी बुद्धिमती है। तुझमें ऐसी बुद्धि कहाँसे आ गयी।—ये सब भाव इस चरणमें जना दिये। **'वक्रसुन्दरि'** में ध्वनि यह है कि तेरा यह कूबड़ नहीं है किंतु बुद्धिका कोष है।

टिप्पणी— २ ***'तोहि सम हित न मोर संसारा।'****** '*** इति। (क) भाव कि संसारमें माता, पिता, भाई आदि हित थे, पर तेरी बराबरीका हितैषी कोई नहीं है; क्योंकि तू तो मेरा गया हुआ राज्य मुझे दे रही है, दिन दूना सुख-सुहाग दे रही है, मुझे दासी होनेसे और मेरे पुत्रको बन्दिगृहसे बचा रही है। (यथा—**'त्वमेव तु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी।'** (वाल्मी० २। ९। ३९) अर्थात् तुम्हीं मेरी हितैषिणी हो; सदा मेरे हितमें तत्पर रहती हो।)

नोट—१ ***'बहे जात कइ भइसि अधारा'*** इति। बहे जाते हुएको तिनकेका सहारा बहुत हो जाता है, यह मुहावरा है। नदी या किसी बहते जलमें जब किसीका पैर उखड़ जाता है और वह प्रवाहमें बहता

जा रहा हो तब यदि उसे किनारेकी घास-फूस जमी हुई अथवा कोई लकड़ी, उथली भूमि, नाव इत्यादि कुछ भी वस्तु उसके बचावके लिये मिल जाती है तो वह उसे, बचनेकी आशा करके पकड़ लेता है और उसके सहारे बहुधा बच भी जाता है। यथा—*'तुलसी तृन जल कूलको निरधन निपट निकाज। कै राखै कै सँग चलै बाँह गहेकी लाज॥'* (दो० ५४४)। रानी कहती है कि सौतोंके ईर्ष्यावश मेरा राजपाट, मेरी स्वतन्त्रता इत्यादि सब डूबी जाती थी, मुझे सदाके लिये उन्होंने विपत्ति-बीज बो दिया था, उनसे तूने बचाया। अब मैं सौतोंद्वारा ढायी जानेवाली विपत्तिसे बच जाऊँगी, बहुतेरे नौकर-चाकर रहे पर किसीने हमको सावधान न किया, बचाना तो दूर रहा, एक तूने ही उपदेश देकर मुझे प्राण दिये। (मन्थरा दासी है, तृणवत् है, पैरोंतले कुचली जानेवाली घासके समान है)। बहतेको जैसे तुच्छ घास सहारा होती है, वैसे ही तू मुझे हुई। यहाँ 'ललित अलंकार' है।

वि० त्रि०—जो बात मन्थरा रानीके हृदयमें जमाना चाहती थी, वह जम गयी। अब उसने निश्चय कर लिया कि संसारमें मेरा हितू मन्थराके समान कोई नहीं है, अब वह न किसीकी बात सुनेगी न किसीपर विश्वास करेगी, अपने मुखसे कह दिया कि *'तोहि सम हित न मोर संसारा।'* कारण भी देती है कि *'बहे जात कर भइसि अधारा।'* मैं तो प्रवाहमें पड़ी बही जाती थी। यथा—*'सुदिन सुमंगलदायक सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई। जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥ राम तिलक जौ साँचेहु काली। देउँ माँगु मन भावत आली॥'* मुझे इस बातका ध्यान भी नहीं था कि इससे मेरी कोई हानि होगी। इतने शुभचिन्तक कहलानेवाले थे, पर किसीने मेरे लाभ-हानिका खयाल न किया, किसीने मुझे बहे जानेसे रोका नहीं। बहे जानेमें रुकावट डालनेवाला ही आधार होता है, अतः रानी कहती है कि केवल तू ही मुझ बहते हुएको आधार मिल गयी। अतः संसारमें बड़ी भारी हितचिन्तक मेरी तू ही है।

टिप्पणी—**३** *'जौं बिधि पुरब मनोरथ·····'* इति। (क) मनोरथके पूर्ण होनेमें निश्चय नहीं है, राजा रामको वनवास देंगे इसमें सन्देह है, इसीसे *'जौ पुरब'* कहा। मनोरथकी पूर्ति विधाताके अधीन है; क्योंकि वे ही कर्मफलदाता हैं। (ख) *'करौं तोहि चखपूतरि आली'* आँखकी पुतली बनाना मुहावरा है। अर्थात् तेरा अत्यन्त दुलार करूँगी। (ग) कैकेयीने मन, वचन और कर्म तीनोंसे अपना प्रेम दिखाया। मनसे प्राणप्रिय जाना, वचनमें प्रशंसा की और कर्मसे आँखकी पुतली बनानेको कहा। [(घ)—वाल्मी० २। ९ में जो कहा है कि 'तुम्हें प्रधान पद मिलेगा।' अपनेसे द्वेष रखनेवालोंके सामने तुम अहंकार कर सकोगी। जैसे तुम मेरी सेवा किया करती थी वैसे ही अन्य कुब्जाएँ तुम्हारी सेवा किया करेंगी। तुम्हारी छाती सोनेके गहनोंसे भर दूँगी, मुखपर सुन्दर सोनेका तिलक लगवा दूँगी। उत्तम-उत्तम भूषण-वस्त्रसे तुम्हें सजा दूँगी। (श्लोक ४८—५२) वह सब *'करौं चखपूतरि'* में आ गये। फिर भी मानसके *'आली'* सम्बोधनमात्रमें जो गौरव है, जितना भाव है उसको उपर्युक्त उद्धरण नहीं पा सकता। वहाँ वह फिर भी दासी ही रहेगी और यहाँ तो बराबरकी प्राणप्रिय सखी ही हो जायगी।]

नोट—२ कैकेयीका मनोरथ तो पूरा न हुआ, भरतने राज्य नहीं लिया, हाँ, राम वनको गये। मुख्य मनोरथ तो छूँछा ही पड़ा तब तो *'करौं तोहि चखपूतरि'* झूठा हुआ? इस शंकाके निवारणार्थ सरस्वतीकृत अर्थ यह किया जाता है कि पुतली काली होती है, और राज्याभिषेक न होनेसे उसके मुखमें कालिख लगेगी। यही 'चखपूतरि करना' हुआ।

वि० त्रि०—*'करौं तोहि चखपूतरि आली'* इति। मैं तुझे मनोवांछित देनेको प्रस्तुत थी, यथा—*'रामतिलक जौं साँचेहु काली। देउँ माँगु मनभावत आली॥'* पर उसपर ध्यान न देकर तूने मेरा भला देखा, अतः अब कहती हूँ कि कल यदि ब्रह्मदेवने मेरा मनोरथ पूरा किया, अर्थात् भरतको राज्य और रामको वनवास हुआ तो तुझे आँखकी पुतली बनाऊँगी। आँखकी पुतली द्वारा ही सब कुछ देखा जाता है। सो आँखकी पुतली बनानेसे तात्पर्य यह है कि जैसा तू कहेगी वैसा ही सदा मानूँगी, तेरे ही आँखसे सब कुछ देखूँगी। तूने ही मुझे इस समय आँख दिया, नहीं तो यह षड्यन्त्र मुझे न सूझता, अतः सदाके लिये मैं तुझे आँखकी पुतली बनाऊँगी। यदि मनोरथ न पूरा हुआ, तबकी बात दूसरी है, तब तो मैं ही कुछ न रह जाऊँगी, आँखकी पुतली बनाकर क्या करूँगी?

वि० त्रि०—*'बहु बिधि चेरिहि आदर देई।'* चेरीको बहुत प्रकारसे आदर दिया, अर्थात् 'आजसे तू चेरी नहीं है, तू मेरी सखी है, मन्त्री है' ऐसा कहकर, जिन वस्त्र-आभरणके पहननेका दासियोंको अधिकार नहीं है, जिन वसन-आभूषणोंको सरदारों अथवा मन्त्रीकी स्त्रियाँ ही धारण कर सकती हैं, यथा पैरमें सोनेका तोड़ा आदि, वे सब वसन-आभूषण मन्थराको देकर, उसे मन्त्री-पद देकर तब कैकेयी कोपभवनमें गयी। मिलान कीजिये—*'तेहि अवसर कुबरी तहँ आई। बसन बिभूषन बिबिध बनाई॥ लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई। बरत अनल घृत आहुति पाई॥'* यहाँ लखनेका भाव ही यही है कि आज यह इस ठाठ-बाटसे राजमाताके मन्त्रीका पद सँभालने आयी है।

टिप्पणी—४ *'बहुबिधि चेरिहि आदरु देई'*'''' 'इति। (क) *'बहुबिधि'*—प्राणप्रिय जाना; बुद्धिकी बड़ी प्रशंसा की; उसको अपना आधार बताया; उसे आँखकी पुतली बनानेको कहा; इत्यादि 'बहुत बिधि' का आदर है। (ख)*'चेरिहि आदरु देई'*—भाव कि यद्यपि दासी है तो भी इसकी समझमें उसने बड़ा काम किया है, अत: उसको प्रसन्न करनेके लिये उसका इतना आदर कर रही है (नहीं तो चेरीका आदर कौन करता है)। [(ग) वाल्मी० २।९।३८ '**कैकेयी विस्मयं प्राप्य परं परमदर्शना॥**' से लेकर '**पादौ परिचरिष्यन्ति यथैव त्वं सदा मम।**' (५२) तक जो कहा है वह सब *'बहु बिधि आदर देई'* से कह दिया गया। आदर देकर जनाया कि मैं तुम्हारा बहुत उपकार मानती हूँ, बड़ी कृतज्ञ हूँ। पं० तथा रा० प्र० कार यह भाव भी कहते हैं कि उसका अत्यन्त आदर किया जिसमें यह इस मन्त्रको गुप्त रखे, किसी औरसे प्रकट न कर दे क्योंकि चेरी ही तो है। चेरीके आदरका फल उलटा होता है वही फल रानीको मिलेगा। (रा० प्र०)] (ग) *'कोपभवन गवनी'*— यदि इतना आदर न देती तो उसके मनमें संदेह होता कि इतने उपदेशपर भी कुछ न बोली, न जाने मेरा वचन मानेगी कि नहीं। अत: आदर देकर उसके सामने तुरत कोपभवनमें चली गयी, जिससे उसे विश्वास हो जाय।

बिपति बीजु बरषारितु चेरी। भुइँ भइ कुमति केकई केरी॥ ५॥
पाइ कपट जलु अंकुर जामा। बर दोउ दल दुख फल परिनामा॥ ६॥
कोप समाजु साजि सब सोई। राजु करत निज कुमति बिगोई॥ ७॥
राउर नगर कोलाहलु होई। यह कुचालि कछु जान न कोई॥ ८॥

शब्दार्थ—**भुइँ**=भूमि, पृथ्वी। **अंकुर जामा**=अँकुआ निकला वा फूटा। **बिगोई**=नष्ट हो गयी, ठगी गयी। **राउर**=रनवास, राजमहल, यथा—*'गये सुमंत्र तब राउर माँहीं।'* (३८।३) यह उदयपुरकी बोली है। **कोलाहलु**=शोर, तुमुलध्वनि, धूमधाम, हर्षका शब्द।

अर्थ—विपत्ति बीज है, दासी वर्षा-ऋतु है, कैकेयीकी दुर्बुद्धि (उस बीजके बोने-जमनेके लिये) भूमि हुई॥ ५॥ उसमें कपटरूपी जलको पाकर अँकुआ फूटा है, दोनों वर उस अंकुरके दोनों दल हैं। जो अन्तमें दु:ख होनेवाला है वही इसका फल है॥ ६॥ कैकेयी कोपका सब साज सजकर कोपभवनमें लेट गयी। राज्य करते हुए अपनी दुर्बुद्धि से वह नष्ट हुई॥ ७॥ राजमहल और नगरमें (उत्सवके कारण) धूमधाम मच रही है। इस कुचालको कोई किंचित् भी नहीं जानता॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'बिपति बीजु बरषारितु'*'''' 'इति। (क) कुमतिसे विपत्ति होती है, यथा—*'जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना।'* (५।४०), इसीसे कुमतिको भूमि और विपत्तिको बीज कहा। कैकेयीमें पहले सुमति थी। *'पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी।'* (१४।८) से *'हरष समय बिसमउ करसि'''' ।'* (१५) तक सब सुन्दर बुद्धिके वचन उनके मुखसे निकले। तत्पश्चात् मन्थराके कुसंगसे उसमें 'कुमति' आ गयी। (ख) वर्षा-ऋतुकी वर्षामें सभी बीज जम उठते हैं, अन्य ऋतुओंमें सब बीज नहीं जमते।

नोट—१ यहाँ वृक्षका सांगरूपक बाँधा गया है। वृक्षका बीज भूमिमें बोया जाता है। जो बीज जिस ऋतुका होता है उसीमें जमता है, अन्यमें नहीं और वर्षाकालमें भूमिमें पहलेके भी पड़े हुए बीज जल पाकर अंकुरित हो जाया करते हैं। बीजमें जल पड़नेसे अंकुर फूटता है, फिर अंकुर फूटनेपर पहले-पहल

दो पत्ते निकलते हैं। इन्हींको दल कहा है। पौधा बड़ा होनेपर फल लगते हैं। यहाँ कैकेयीकी दुर्बुद्धिरूपी भूमिमें विपत्तिरूपी बीज बोया गया है। कुमतिसे विपत्ति होती ही है, यथा—*'जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना।'* (५। ४०) दासी वर्षा-ऋतु है अर्थात् जैसे वर्षाजल पाकर अंकुर जमता है, वैसे ही मन्थरारूपी वर्षा-ऋतुके कपटरूपी जलसे कैकेयीकी दुर्बुद्धिरूपी भूमिद्वारा विपत्तिका बीज पौधारूप हो गया।

यहाँ सब उपमान उपमेय दिखाये गये; पर अंकुर उपमानका उपमेय यहाँ नहीं खोला गया। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि और कवि कह डालते पर गोस्वामीजी दिव्यदृष्टिवाले हैं, इससे उन्होंने न कहा। बीज पृथ्वीमें वर्षाजल पाकर प्रथम जमता है, फिर उसमें अंकुर फूटता है। जबतक अंकुर पृथ्वीके बाहर नहीं निकलता है तबतक दिखायी नहीं देता, बाहर निकलनेपर देख पड़ता है। वैसे ही वर माँगनेका मनोरथ अंकुर है। यह मनोरथ मन्थराके कपट-वाक्योंसे कैकेयीकी दुर्बुद्धिमें जम गया है पर अभी कैकेयीके अन्त:करणमें गुप्त है। (अभी उनके मुखसे वचनद्वारा दलरूप होकर बाहर नहीं निकला है)। अतएव कवि भी उसे अभी कैसे कहें? जब कैकेयी वर माँगेंगी तब दोनों वरदानरूपी दलोंका निकलना लिखना उचित होगा। जब बिरवा प्रकट हुआ तब उसे कह सके। अतएव अंकुरका उपमेय नहीं खोला गया।

श्रीबैजनाथजीने इस रूपकको और बढ़ाया है। वे लिखते हैं कि कैकेयीका हठ फुनगी है, कामना और क्रोधयुक्त अनेक वचन शाखाएँ हैं, सबका अनादररूप वचन पत्ते हैं, पतिविमुखता फूल हैं और अन्तका सब दु:ख परिपक्व फल हैं।

बाबा हरीदासजी—यहाँ 'विपत्ति' और 'दु:ख' दोनों एक ही बातें हैं। इससे पुनरूक्ति दोष आता है, दूसरे बीजका रूप भी नहीं खुलता, तीसरे अभी श्रीरामजी घरमें हैं, राजा दशरथ मरे नहीं हैं; तब विपत्ति कैसे कहते बने। अतएव यहाँ 'विपत्ति' का अर्थ यों ठीक हो कि—वि=दो, पति=मर्याद। सो दशरथजीकी एक मर्याद दस हजार वर्षकी आयु है और एक मर्याद नौ हजार वर्षकी तापस अन्धशाप-मिस सोई बीजरूप है।' (श्रीदशरथ महाराजकी आयु तो ६०,००० वर्षकी हो चुकी थी जब पुत्र हुए। बाबा हरीदासके कथनका आशय यह है कि तापसके शापसे उनकी आयु एक हजार वर्ष घट गयी, शाप था कि तुम भी पुत्र-वियोगके शोकमें मरोगे। अत: विपत्ति बीजरूपसे तभीसे पड़ी थी। वही अब देवमाया वा भावीवश कैकेयीकी कुमतिरूपी भूमिमें पड़कर जमा। इत्यादि। बीज और परिपक्व फल एक ही हैं। परिपक्व फल बीजके काममें आता है। इसीसे विपत्तिको बीज और परिपक्व फल दोनों कहा। दु:ख और विपत्ति पर्याय शब्द हैं। विपत्ति सबपर पड़ेगी, पर राजापर सबसे अधिक पड़ी। (प्र० सं०)]

टिप्पणी—२ *'कोप समाजु साजि सब सोई…'* इति। (क) सोई अर्थात् जो मन्थराने बताया था। (यह भाव मानसमें स्पष्ट नहीं निकलता। *'कोपगृह जाहू'* से यह अनुमान कर सकते हैं कि उसने यह भी बताया कि क्या कोप-साज सजे। क्या कोपसामग्री सजी, यह कवि स्वयं आगे स्पष्ट कहते हैं। यथा—*'भूमि सयन पट मोट पुराना। दिए डारि तन भूषन नाना॥'* (२५। ६), (वाल्मी० २। ९) में मन्थराने कैकेयीसे कहा है कि तुम कोपभवनमें जाकर मैले वस्त्र पहनकर सो जाओ। उसके अनुसार यह भाव ले सकते हैं। अ० रा० में मानसका-सा उल्लेख है) *'सोई'* श्लेषार्थी शब्द है। दूसरा अर्थ सो गयी, लेट गयी है। [*'सोइ'* शब्द वाल्मी० २। १०। १ **'तदा शेते स्म सा भूमौ'** के अनुसार है। यहाँ तात्पर्य लेटनेसे है, यह आगे *'बिहसि उठी मति मंद।'* (२६) से स्पष्ट है। प्र० सं० मे *'सोई'* का एक अर्थ यह भी किया था कि 'वही कैकेयी जो पहले श्रीरामप्रेमकी प्रबलतासे कुबरीके वचनोंपर विश्वास नहीं करती थी।'] (ख) *'राजकरत…'* इति। (भाव कि सम्पूर्ण राज्य इसीके अधीन था, यथा—*'प्रिया प्रान सुत सरबस मोरे। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥'* (२६। ५)

नोट—२ *'राउर नगर कोलाहलु होई'*—यहाँतक मन्थरा-कैकेयी-संवाद लिखा, अब सब नगरका पूर्वोक्त आनन्द लिखते हैं। राजमहल और नगरके आनन्द कोलाहलका वर्णन पूर्व हो चुका है, उसी आनन्दमें सब डूब रहे हैं।

टिप्पणी—३ *'राउर नगर कोलाहलु होई…।'* इति। (क) राजमहल और नगरमें हर्ष और आनन्दका

शब्द हो रहा है। *'एहि अवसर मंगल परम सुनि रहसेउ रनिवासु। सोभत लखि बिधु बढ़त जनु बारिधि बीचि बिलासु॥'* (७) से *'गावहिं मंगल कोकिल बयनी।'* (८।७) तक राजमहलका कोलाहल है। और *'रामराज अभिषेक सुनि हिय हरषे नरनारि। लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि॥'* (८) यह नगरकोलाहल उपक्रम है। इसका उपसंहार *'बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना। पुर प्रमोद नहिं जाइ बखाना॥'* (११।१) से किया गया है। (ख) *'जान न कोई'*—अर्थात् जान पाते तो कोलाहल न होता। विपत्तिका बीज बोया ही न जा सकता। लोग उसका उपाय कर लेते। राजासे कह देते। बस, न राजा कैकेयीके पास जाते, न वर देनेकी बात ही होती। [वसिष्ठादिको भी नहीं मालूम था, नहीं तो उसके रोकका उपाय कर लेते। (प्र० सं०) राजाके पास सुमन्त्रजीको न भेजते, तिलक कर देते]।

दो०—प्रमुदित पुर नर नारि सब सजहिं सुमंगलचार।
एक प्रबिसहिं एक निर्गमहिं भीर भूप दरबार॥ २३॥

शब्दार्थ—**सुमंगलचार**—ध्वजा, पताका, कलश, चौकें, नाचरंग मंगल-गान, दधि, दूब इत्यादि सब मांगलिक साज। बा०। ३४४(४)—३४६ देखिये। **चार**=आचार, रीति, साज। **प्रबिसहिं**=प्रवेश करते हैं, भीतर जाते हैं, प्रविष्ट होते हैं। यह प्रवेश शब्दसे बनाया गया है। '**निर्गमहिं**'—निर्गमन संस्कृत शब्द है, उससे यह अकर्मक क्रिया बनायी गयी है। बाहर निकलते हैं। **दरबार**=राजद्वार जहाँ ड्योढ़ी लगती है। यथा—*'करि मज्जन सरजू जल गये भूप दरबार।'* (२०६) देखिये। **भीर**=भीड़, जमघट।

अर्थ—बड़े ही आनन्दित होकर नगरके सब स्त्री-पुरुष अत्यन्त सुन्दर मांगलिक साज सज रहे हैं। कोई तो भीतर जाते हैं और कोई भीतरसे बाहर निकल रहे हैं। राजद्वारपर बड़ी भीड़ है॥ २३॥

टिप्पणी—१ (क) *'राम राज अभिषेक सुनि हिय हरषे नरनारि॥'* दोहा ८ पर पुरवासियोंका प्रसंग छोड़ा था। अब वहींसे पुनः उठाते हैं। *'प्रमुदित'*—अर्थात् श्रीरामजीको देख-देखकर मुदित तो सदा ही रहते थे, यथा—*'सब बिधि सब पुरलोक सुखारी। रामचंद्र मुखचंदु निहारी॥'* (१।६) अब राज्याभिषेक सुनकर 'प्रमुदित' हैं। (ख) *'एक प्रबिसहिं····'* अर्थात् आने-जानेवालोंका ताँता लगा हुआ है। द्वारपर कैसी भारी भीड़ है यह यहाँ इन शब्दोंसे दिखाते हैं। इतनी भीड़ है कि एक ही मनुष्य प्रवेश कर सकता है और एक ही निकलता है, दो-दो मनुष्योंके निकलनेपर भीतर जानेके लिये अवकाश नहीं मिलता। दो मनुष्य भी एक साथ निकल नहीं सकते। [(ग) *'भीर भूप दरबार'* का भाव यह भी कहा जाता है कि दरबारमें राजाओंकी बड़ी भीड़ है, एक आता है, एक जाता है। एक-एक करके ही वे आते-जाते हैं। (रा० प्र०) यह भाव वाल्मी० २।१।४६, '**नानानगरवास्तव्यान्पृथग्जानपदानपि। समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान्पृथिवीपतिः॥**' (अर्थात् अभिषेकमें सम्मिलित होनेके लिये भिन्न-भिन्न नगरोंके निवासी, भिन्न-भिन्न मण्डलोंके राजाओंको निमन्त्रित किया) के आधारपर कहा गया जान पड़ता है।]

बालसखा सुनि हिय हरषाहीं। मिलि दस पाँच रामु पहिं जाहीं॥ १॥
प्रभु आदरहिं प्रेमु पहिचानी। पूछहिं कुसल खेम मृदु बानी॥ २॥
फिरहिं भवन प्रिय आयसु पाई। करत परसपर राम बड़ाई॥ ३॥

शब्दार्थ—**दस-पाँच**—यह मुहावरा है अर्थात् कई मिलकर, अकेले-दुकेले नहीं। **कुसल खेम**=कुशल-क्षेम राजी-खुशी, खैरो आफियत, कुशल-मंगल। कुशल और क्षेम दोनोंका एक ही अर्थ है और ये दोनों मिलाकर भी उसी अर्थमें बोले जाते हैं। दीनजी लिखते हैं कि—**कुशल**=चतुराईपूर्वक दुनियाँमें व्यवहार करते हुए धन कमाना। **खेम**=(क्षेम) जो कमाया है उसे भोगना और सुरक्षित रखना। कुशल-क्षेम पूछते हैं अर्थात् कैसे रहे, आनन्दसे जीवन वहन होता है न? लड़केवाले अच्छे हैं आदि पूछते हैं।' **पहिचानि**=जानकर, देखकर, लखकर।

अर्थ—(श्रीरामचन्द्रजीके) बालसखा राज्यतिलकका समाचार सुनकर मनमें प्रसन्न होते हैं और दस-पाँच मिल-जुलकर श्रीरामचन्द्रजीके पास जाते हैं॥ १॥ प्रभु (रामचन्द्रजी) उनका प्रेम पहचानकर उनका आदर-सत्कार करते हैं, कोमल मीठी वाणीसे उनका कुशल-क्षेम पूछते हैं॥ २॥ वे प्रियकी आज्ञा पाकर लौटते हैं। (लौटते हुए मार्गमें वे) आपसमें एक-दूसरेसे श्रीरामजीकी बड़ाई करते हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'बालसखा''''* 'इति। (क) पुरके लोग राजद्वारपर जाते हैं और बालसखा श्रीरामजीके यहाँ जाते हैं। पुर-नर सुमंगलचार सजते हैं बालसखा सुनकर हर्षित होते हैं, वे मंगल नहीं सज सकते। पुर-नर-नारि हर्षित होकर मंगल सजते हैं और बालसखा हर्षित होकर श्रीरामजीके पास जाते हैं। यह कृत्य बालसखाओंका वर्णन किया। हर्ष है कि हमारे मित्रको राज्य प्राप्त हो रहा है। [(ख)—*'प्रभु आदरहिं''''* '—*'प्रभु'* का भाव कि समर्थ हैं और अब चक्रवर्ती होने जा रहे हैं। यह प्रभुत्व पा रहे हैं तब भी उनको किंचित् भी अभिमान, गर्व वा गुमान नहीं है। (रा० प्र०) अथवा समर्थ हैं, जानते हैं कि अभिषेक तो होगा नहीं पर उनसे यह कहते नहीं, उनका प्रेम पहचानकर जिस प्रेमसे वे आये हैं, उसीके अनुकूल उनका आदर करते हैं, समर्थ हैं, इसीसे उनका प्रेम पहचानते हैं। (पं०)*'आदरहिं'*—आगेसे उठकर लेना, आसनपर बिठाना, कुशल-क्षेम मीठे वचनोंसे पूछना इत्यादि आदर है] (ग) *'प्रेम पहिचानी'*—भाव कि श्रीरामजीको केवल प्रेम प्यारा है, इसीसे प्रेम पहचानकर आदर करते हैं, बैठाते हैं। प्रभु मन, कर्म और वचन तीनोंसे आदर-सम्मानमें लगे हैं। मनसे प्रेम पहचानते हैं, बैठाते हैं, आदर करते हैं यह कर्म है और वचनसे कुशल-क्षेम पूछते हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'फिरहिं भवन''''* '—अर्थात् बालकोंको विदा होनेकी इच्छा नहीं है, वे लौटना नहीं चाहते। इससे श्रीरामजीके अपनी ओरसे आज्ञा देनेपर लौटना कहा। (इससे सखाओंका प्रेम दिखाया। वे अपनी इच्छासे नहीं चल देते, न जानेकी आज्ञा माँगते हैं। श्रीरामजी अपनी ओरसे जब जानेको बहुत-बहुत कहते हैं तब आज्ञाका पालन करते हैं। इसी तरह जनकपुरके सखाओंके सम्बन्धमें कहा गया है। यथा—*'कहि बातें मृदु मधुर सुहाई। किये बिदा बालक बरिआई।'* (१। २२५। ८), (ख) *'करत परसपर राम बड़ाई'*—बड़ाई करते हैं कि *'को रघुबीर सरिस संसारा।''''* ' अर्थात् इनको राज्य मिलनेवाला है फिर भी इनके मनमें अभिमान छू भी नहीं गया, जैसे ये पूर्व थे वैसे ही अब भी हैं। प्रभुता पानेपर शील और स्नेह घट जाता है, अभिमान हो जाता है, यथा—*'नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥'* (१। ६०। ८), पर श्रीरामजीका शील और स्नेह हमपर वैसा ही है। [उनकी गम्भीरताकी सराहना करते हैं। (पं०)]

को रघुबीर सरिस संसारा। सीलु सनेहु निबाहनिहारा॥ ४॥
जेहि जेहि जोनि करमबस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥ ५॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥ ६॥

शब्दार्थ—**सरिस**=सदृश, सरीखा, समान। **जोनि**=योनि, आकर, खानि। चौरासी लक्ष योनियाँ कही जाती हैं। १।८।१ देखिये। **नात**=सम्बन्ध, रिश्ता ओर=ओर-छोर, आदिसे अन्ततक। **हारा**=करनेवाला, वाला। **भ्रमहीं**=भ्रमते फिरें। बार-बार जन्म लेना योनियोंमे भ्रमना कहा जाता है, क्योंकि यह अच्छा नहीं समझा जाता। **ईसु** (ईश) शिवजी, विधाता।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीके समान संसारमें शील और स्नेहका निर्वाह करनेवाला कौन है?॥ ४॥ हे ईश! हम अपने कर्मवश जिस-जिस योनिमें जनमें उस-उस योनिमें हमें यही दीजिये कि हम तो सेवक हों और सीतापति श्रीरामचन्द्रजी (हमारे) स्वामी हों। और, यह नाता ओर-छोर निबह जाय॥ ५-६॥

टिप्पणी—१ *'को रघुबीर सरिस''''* 'इति। [(क) भुशुण्डीजीने भी कहा है—*'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥'* (७। १२४। ४) महर्षि अत्रिजीका भी यही सिद्धान्त है, यथा—*'जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ताकर सील कस न अस होई॥'* (३। ६। ८) पुनश्च यथा—'**लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः॥**' (वाल्मी० २१। १८) रघुवीर शब्द देकर जनाया कि पंचवीरतामें इनके समान कोई नहीं है]। (ख) *'सील सनेह निबाहनिहारा'*— यथा—*'सीलसनेह छाँड़ि नहिं जाई। असमंजस बस भे रघुराई॥'* (८५। ५) *'निबाहनिहारा'*—अर्थात् शील और स्नेहका आद्यन्त निर्वाह प्रायः होता नहीं पर श्रीरामजी आदिसे अन्ततक दोनोंका निर्वाह करते हैं। वीर हैं, इसलिये 'रघुबीर' कहा। [(ग) शील नेत्रका व्यवहार है और स्नेह अन्तः करणका धर्म है। 'दोनोंको कहकर भीतर-बाहर दोनोंसे निरभिमान होनेकी प्रशंसा करते हैं। प्रभुके स्वभावपर रीझकर भक्तिकी याचना करते हैं। (प्र० सं०)]

टिप्पणी—२—*'जेहि जेहि जोनि'''* इति। (क) भक्तलोग भक्ति करनेके लिये जन्म चाहते हैं, मुक्ति नहीं चाहते। यथा—*'अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥'* (७। ११९। ७) *'मोको अगम सुगम तुम्हको प्रभु तउ फल चारि न चहिहौं।'* (वि० २३१) [(ख) *'जेहि जेहि जोनि'*—अर्थात् योनिका नियम नहीं। *'तहँ तहँ'*— अर्थात् स्थानका नियम नहीं। भाव कि चाहे किसी भी योनिमें हमारा जन्म हों; पशु-पक्षी, गुल्म, मनुष्य इत्यादि कोई भी शरीर हमें मिले और चाहे कहीं किसी स्थानमें हमारा जन्म हो। जन्म कर्मवश होता है, जैसे कर्म होते हैं वैसी योनि मिलती है, यथा—*'कुटिल कर्म लै जाइ मोहिं जहँ तहँ अपनी बरिआई।'* (वि० १०३) (ग) *'भ्रमहीं'* अर्थात् योनियोंमें भटकते फिरें। यथा—*'आकर चारि लाख चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा'''।'* (७। ४४)] (घ) *'ईसु देउ यह'*—भगवान् शंकर रामभक्तिके दाता हैं, यथा—*'भगति मोरि तेहि संकर देइहि।'* (६। ३। ३) *'संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि।'* (७। ४५) इसीसे शंकरजीसे माँगते हैं।

टिप्पणी ३—*'सेवक हम स्वामी सियनाहू।......'* इति। (क) स्वामी-सेवकका नाता माँगते हैं, क्योंकि श्रीरामजी सब नातोंसे सेवकका नाता अधिक मानते हैं। *'अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥ सब के प्रिय सेवक यह नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती॥'* (७। १६) *'कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥'* (४। ३५। ४) (ख) *'सियनाहू'* का भाव कि जैसे श्रीसीताजीके नाह हैं वैसे ही हमारे अनन्य स्वामी होवें। (अर्थात् जैसे श्रीसीताजी अपने पति श्रीरामजीमें अनन्य हैं वैसे हम सब भी श्रीरामजीके अनन्य भक्त हों। यथा—*'जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं॥'* (६। १०८)(श्रीसीताजी) *'मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥'* (३। १०। २) (यह सुतीक्ष्णजीकी अनन्यता है)। (ग) *'होउ नात यह ओर निबाहु'*— यह नाता माँगते हैं; क्योंकि प्रभु एक भक्तिका ही नाता मानते हैं, जैसा उन्होंने शबरीजीसे कहा है—*'मानउँ एक भगति कर नाता'*] (घ)*'ओर निबाहू'* का भाव कि इस नातेका निर्वाह कठिन है। (श्रीभरतजीका वाक्य है कि *'सबते सेवक धरम कठोरा॥'* अत: वे शिवजीसे प्रार्थना करते हैं कि) आप हमारा एक तो यह नाता प्रभुसे करा दीजिये, दूसरे इस नातेको आदिसे अन्ततक निबाह दीजिये। श्रीरघुनाथजीने तो हमारे साथ शील और स्नेह निबाहा, अब आप ऐसी कृपा कीजिये कि हमारा यह नाता (हमारी ओरेसे) निबह जाय। किसी जन्ममें यह नाता न टूटे।

नोट—१☞*'जेहि जेहि जोनि'''निबाहू'* इति। मिलान कीजिये, यथा—*'खेलिबेको खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। एहि नाते नरकहुँ सचु या बिनु परमपदहु दुख दहिहौं॥ इतनी जिय लालसा दासके कहत पानही गहिहौं। दीजे बचन कि हिये आनिये तुलसीको पन निरबहिहौं॥'* (वि० २३१) *'आप माने स्वामी, कै सखा सुभाइ भाइ, पति, ते सनेह सावधान रहत डरत। साहिब सेवक रीति प्रीति परमिति नीति नेमको निबाह एक टेक न टरत॥'* (वि० २५१), (इस पदसे ज्ञात होता है कि निर्वाह कितना कठिन है! इसीसे हर, हनुमान्, लषन, भरत सदा सावधान रहते हैं।')

नोट—२—पाण्डवगीतामें कुन्तीजी, द्रौपदीजी और प्रह्लादजीने यही अभिलाषा प्रकट की है। यथा—**'स्वकर्मफलनिर्दिष्टां यां यां योनिं व्रजाम्यहम्। तस्यां तस्यां हृषीकेश त्वयि भक्तिर्दृढाऽस्तु मे॥'** (कुन्त्युवाच) (१०) **'कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु रक्षः पिशाचमनुजेष्वपि यत्र तत्र। जातस्य मे भवतु केशव त्वत्प्रसादात्त्वय्येव भक्तिरचलाऽव्यभिचारिणी च॥'** (द्रोपद्युवाच) (१२) **नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्। तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युताऽस्तु सदा त्वयि॥'** प्रह्लाद उवाच (४१) अर्थात् हे हृषीकेश! मैं अपने कर्मोंके फलानुसार जिस-जिस योनिमें जाऊँ उस-उस योनिमें मेरे हृदयमें आपकी दृढ़ भक्ति बनी रहे (१०) हे केशव! कीट, पक्षी, मृग, सर्प, राक्षस, पिशाच तथा मनुष्य-योनिमें अथवा जहाँ भी मैं जन्म लूँ, आपके प्रसादसे आपमें मेरी निष्कपट और अचल भक्ति बनी रहे। (१२) हे नाथ! हे अच्युत! मैं जिन-जिन हजारों योनियोंमें जाऊँ, उन-उन योनियोंमें आपमें मेरी अचल भक्ति रहे। (४१)

नोट—३ बालसखाओंकी प्रार्थनासे स्पष्ट है कि सख्य-भावमें भी सेवक-स्वामीका नाता भी अवश्य कायम रहता है।

अस अभिलाषु नगर सब काहू। कैकयसुता हृदय अति दाहू॥ ७॥
को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें* चतुराई॥ ८॥

शब्दार्थ—**मतें**=मतमें आने वा पड़नेसे।

अर्थ—नगरमें सब किसीके हृदयमें ऐसी अभिलाषा है। (परंतु) कैकेयीके हृदयमें अत्यन्त जलन हो रही है॥ ७॥ कुसंगतिमें पड़कर कौन नष्ट नहीं होता? नीचकी सलाहमें चलनेसे चतुरता नहीं रह जाती॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'अस अभिलाषु…'* इति। (क) भाव कि यदि ऐसा न कहते तो समझा जाता कि नगरमें बालकोंहीकी ऐसी अभिलाषा है, और किसीकी नहीं। ('अस अभिलाषा' अर्थात् जहाँ-कहीं जिस योनिमें हमारा जन्म हो वहाँ हम सेवक हों और सीतापति श्रीरामजी हमारे स्वामी हों, सेवक-स्वामीका नाता सदा बना रहे और अन्ततक इसका निर्वाह हो— यहीं सब नगर-निवासियोंकी लालसा है। कैकेयी इन लोगोंमें नहीं है। वह इनसे पृथक् है, यह सूचित करनेके लिये कविने उसे नगर-निवासियोंसे अलग कर पृथक् चरणमें कहा। इतना ही नहीं किंतु उसका नाम भी अवधसम्बन्धी न देकर केकयसम्बन्धी दिया। (ख)—***'कैकयसुता हृदय अति दाहू'***—भाव कि जैसे राम-राज्य सुनकर नगरके सब लोग 'प्रमुदित' प्रहर्षपूर्वक मुदित हैं वैसे ही कैकेयीके हृदयमें अतिदाह है। 'अति' में ***'प्रमुदित पुर नर नारि सब'*** के 'प्र' का भाव है। (कैकेयीकी बुद्धि अवधवासियोंसे भिन्न क्यों हुई? क्योंकि वह कैकय-सुता है, मातृकुलका प्रभाव उसपर पड़ा है।)

टिप्पणी—२ ***'को न कुसंगति…चतुराई'***— कौन नहीं नष्ट होता अर्थात् सभी नष्ट होते हैं। (इसपर कोई-कोई कह सकते हैं कि चतुर लोग नष्ट नहीं होते, इसीके निराकरणमें कहते हैं कि ***'रहइ न नीच मतें चतुराई'*** अर्थात्) नीचके संगसे चतुरता नष्ट हो जाती है। कैकेयीने मन्थराका सम्मत लिया, इसीसे चतुरता नष्ट हो गयी।

नोट—१ मन्थरा-कैकेयी-संवादका सारांश गोस्वामीपादने यहाँ स्वयं ही निकालकर रख दिया है। ***'को न कुसंगति पाइ नसाई।…'*** अर्थात् बुरेकी संगतिमें रहनेवालेका पतन अवश्य होता है, उससे सुमतिका भी नाश हो जाता है। अतः बुरी संगत छोड़ सत्संगमें रहो; क्योंकि ***'सतसंगति मुदमंगल मूला।'*** सत्संगति, कुसंगतिकी व्याख्या बालकाण्डके आदिमें स्वयं कविने खूब की है, उसे भी देखिये। और भी कहा है— ***'बिगरी जन्म अनेक की सुधरै अबहीं आजु। होहु रामको नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥'*** (दोहावली २२) पुनः यथा—***'संग ते जती कुमंत्र तें राजा', 'ज्ञान घटै जड़ मूढ़ की संगति। प्रीति घटै जो कठोर ह्वै बोलै, रीति घटै मुँह नीचके लाए॥'***

नोट २—मिलान कीजिये, अ० रा० २।२ के '**धीरोऽत्यन्तदयान्वितोऽपि सुगुणाचारान्वितो वाथवा नीतिज्ञो विधिवाददेशिकपरो विद्याविवेकोऽथवा। दुष्टानामतिपापभावितधियां सङ्गं सदा चेद्भजेत्तद्बुद्ध्य परिभावितो व्रजति तत् साम्यं क्रमेण स्फुटम्॥**' '**अतः संगः परित्याज्यो दुष्टानां सर्वदैव हि। दुःसंगी च्यवते स्वार्थाद्यथेयं राजकन्यका॥**' (८२-८३) इन श्लोकोंसे। अर्थात् कोई पुरुष अत्यन्त धीर, दयालु, सुन्दर सद्गुणोंसे युक्त, सदाचारी, नीतिज्ञ, कर्तव्यनिष्ठ और गुरूभक्ति, अथवा विद्या-विवेक-सम्पन्न भी क्यों न हो, पर यदि वह अत्यन्त पापबुद्धि दुष्ट पुरुषोंका संग करेगा तो अवश्य ही क्रमशः उन्हींकी बुद्धिसे प्रभावित होकर उन्हींके समान हो जायगा। इसलिये सदा ही दुष्ट पुरुषों का संग छोड़ना चाहिये, क्योंकि दुःसंगसे पुरुष इस राजकन्याके समान ही पुरुषार्थच्युत हो जाता है।

उपर्युक्त दोनों श्लोकोंका सब भाव इन दो चरणोंमें कह दिया गया है। जैसे राज्याभिषेकका प्रसंग वहाँ इन श्लोकोंपर समाप्त किया गया है, वैसे ही यह प्रसंग मानसमें इन दोनों चरणोंपर समाप्त किया गया है। वस्तुतः ***'पुनि नृप बचन'*** प्रसंग आगे दोहेसे प्रारम्भ होता है। ***'बिघन मनावहिं देव कुचाली।'*** (११। ६) से ***'को न कुसंगति…'*** तब आगेके प्रसंगकी भूमिकामात्र है।

* 'गरुआई' पाठ भागवतदासजीकी प्रतिका है।

नोट—३ *'को न कुसंगति पाइ नसाई'* उपमेय वाक्य है और *'रहइ न⋯'* उपमान वाक्य है। बिना वाचकके बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है।

बाबू शिवनन्दनसहाय (आरानिवासी)—कैकेयीकी कथा इस कथनको भलीभाँति सिद्धकर हमलोगोंको चेतावनी दे रही है कि कुसंगति करने तथा नीचोंकी बातोंपर कान करनेका महाक्लेशकारक परिणाम होता है। उससे कुसंगति करनेवाला ही कष्ट नहीं पाता वरन् उससे उसके सगे-सम्बन्धी सकल परिवार दुःख भोगते हैं। कुसंगति अच्छे-अच्छे बुद्धिमानोंकी मति भी भ्रष्ट कर देती है। अतएव कविके इस पात्रद्वारा शिक्षापर ध्यान रखकर सबको कुसंगतिसे बचना ही चाहिये। देखिये कैकेयीका हृदय कठोर न था। यह बुद्धिमति भी थी और भरतसे अधिक रामचन्द्रको प्यार भी करती थी⋯ परंतु दुष्टा दासीकी बातोंपर विश्वास करने और कुसंगतिमें पड़नेसे वे ऐसी वज्रहृदया हो गयीं, अपने कर्तव्यको ऐसी भूल गयीं ओर ऐसी बुद्धिहीना हो गयीं कि—*'परौं कूप तव बचन पर सकउँ पूत पति त्यागि।'* ऐसी प्रतिज्ञा करनेमें भी उन्हें हिचक नहीं हुई। पतिको दुःखमें कातर देखकर दया-प्रेमके बदले—जलेपर नमक छींटती ही गयीं और अपने आचरण और वाक्योंसे उन्होंने पतिको ऐसा अधीर कर दिया कि उनके समान गम्भीर शील-स्नेह-पूर्ण व्यक्तिको भी *'फिर पछितैहेसि अन्त अभागी'* कहना ही पड़ा। सखी-सहेलियोंने भी, सिख न माननेके कारण, इन्हें दुर्वचन कह ही डाला, पतिसे चिरविछोह हुआ ही, पुत्रने भी ⋯*'हंस बंस दसरथ जनक, रामलखनसे भाइ। जननी तू जननी भई'*—ऐसा वाक्य कह सुनाया। इन्होंने आप वैधव्यका दुःख भोगा और स्वपरिवारवर्ग तथा पुरजन-परिजनोंको भी शोकसागरमें डुबाया। इन्हें तो दुःख होना ही चाहता था; क्योंकि वे एक रीतिसे पति-प्राण-घातिनी हुई; परंतु इनके संसर्ग-दोषसे औरोंको भी दुःख झेलना पड़ा। आशा करते हैं कि स्त्री-पुरुष सभी इस विशेष पात्रके आचरणसे शिक्षा ग्रहण करेंगे।

दो०—साँझ समय सानंद नृपु गयउ कैकई गेह।
गवनु निठुरता निकट किय जनु धरि देह सनेह॥ २४॥

शब्दार्थ—**साँझ**=(सं० संध्या) शाम, सायंकाल। **निठुरता**=(निष्ठुरता), हृदयकी कठोरता। **सानन्द**=आनन्दसहित, आनन्दमें भरे। **गेह** (सं० गृह)=घर, महल।

अर्थ—संध्या-समय राजा दशरथ आनन्दमें भरे हुए कैकेयीके महलमें गये। मानो साक्षात् स्नेह ही शरीर धरकर निष्ठुरताके पास गया॥ २४॥

टिप्पणी—१ *'साँझ समय⋯'* इति। (क) संध्या-समय जानेका भाव कि रानी कैकेयी राजाको अत्यन्त प्यारी है; इसीसे वे इनके महलमें बहुत रहते हैं। संध्यावन्दन, व्यालू (रात्रिका भोजन) इत्यादि यहीं करते हैं। अतः संध्या-समय वहाँ गये। (ख) *'सानंद नृपु'*— क्योंकि आज रामराज्याभिषेकके आनन्दसे परिपूर्ण हैं।

नोट—१ *'साँझ समय सानंद⋯'* इति। (क) वाल्मीकिजी लिखते हैं कि बाहरका कार्य समाप्त करके अर्थात् लोगोको राज्याभिषेकको सामग्री एकत्र करनेकी आज्ञा देकर राजा रनवास को यह समाचार सुनानेके लिये रनवासमें गये। रानी कैकेयी राजाको सबसे अधिक प्रिय थीं, अतः वे सर्वप्रथम उन्हींको यह प्रिय संवाद सुनानेके लिये उन्हींके महलमें गये। यथा—'**अद्य रामाभिषेको वै प्रसिद्ध इति जज्ञिवान्।**' (२। १०। १०) '**प्रियार्हां प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी। स कैकेय्या गृहं श्रेष्ठं प्रविवेश महायशाः॥**' (११) '**स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्॥**' (२३) कैकेयीजी प्राणोंसे भी अधिक प्रिय थीं, इससे प्रथम वहीं गये। '**साँझ समय**' से जनाया कि आज्ञा देते-दिलाते संध्या हो गयी। कारण कि आज ही विचार उठा, आज ही गुरुके यहाँ गये, आज ही सभाका सम्मत लिया और तब राज्याभिषेकका साज सजने-सजानेकी आज्ञा हुई, इत्यादि। (ख) *'सानंद नृपु'*, यथा— '**सानन्दो गृहमाविशत्।**' (अ० रा० २। ३। १) (ग) पं० रामकुमारजीका भाव टि० १ में है। अन्य लोगोंके भाव—दिनके व्यवहारोंसे जो श्रम होता है उसके मिटानेके लिये रात्रि स्वाभाविक ही आनन्दरूप है। अथवा, रसिकोंको रात्रिमें चन्द्रमुखियोंका संयोग अति आनन्ददायक है। अथवा,

अपनेको रामतिलकका हर्ष है और कैकेयी परम प्रिय है अतएव उसे सुनानेके लिये प्रसन्न होकर गये। (पं०), (घ)—पंजाबीजी यह प्रश्न उठाकर कि 'आज रात्रिमें राजा कैकेयीके ही महलमें क्यों गये?' उसका उत्तर यह देते हैं कि—(१) मुख्य बात तो यह है कि भावी जैसी होती है उसीके अनुसार बुद्धि भी हो जाती है। यथा—*'तुलसी जसि भवितब्यता तैसी मिलै सहाइ। आपु न आवइ ताहि पहिं ताहि तहाँ लै जाइ॥'* (१। १५९) अथवा, (२) राजा नीति विचारकर गये कि कौसल्याजीके पुत्रको तो राज्य ही मिल रहा है और सुमित्रा सौम्य हैं, उनको दोनों ओर आनन्द है। रहीं कैकेयीजी; इनका स्वभाव अनखका है। ये मानवती हैं, (यथा—*'तुम्हहि कोहाब परम प्रिय अहई'*) अपनेको कौसल्या-समान समझती हैं, मेरा प्रेम भी इनपर विशेष है। उनका पुत्र भी यहाँ नहीं है, कदाचित् उनके मनमें दुःख हो जाय, अतः उन्हींके यहाँ प्रथम जाना उचित है, यह सोचकर वहीं गये। ☞ मेरी समझमें राजा कैकेयीके महलमें इसलिये प्रथम गये कि उसपर राजाका सबसे अधिक प्रेम है, जैसा पूर्व बारंबार लिखा जा चुका है। वे जानते हैं कि वह इस प्रिय समाचारको सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होगी; क्योंकि वह स्वयं चाहती थी कि रामका राज्याभिषेक कर दिया जाय, राजासे वह कई बार इस बातको कह चुकी थी, जैसा कि राजाके *'भामिनि भयउ तोर मन भावा। घर घर नगर अनंद बधावा॥ रामहि देउँ कालि जुबराजू।'* (२७। २-३) इन वचनोंसे स्पष्ट है। अतः वे प्रथम कैकेयीके महलमें गये। यहाँ समाचार देकर कौसल्या आदिके यहाँ जाते, पर यहाँ तो कुछ और ही दुर्घटना हो गयी।

वि० त्रि०—भाव यह कि वह अवसर तो ऐसा था कि महाराजको कौसल्याके घर जाना चाहिये था; क्योंकि उन्हींके पुत्रका अभिषेक होनेवाला था, आनन्द-विशेषकी सम्भावना तो कौसल्यामें ही थी, परंतु महाराज जानते थे कि इस अभिषेकसे अधिक आनन्द कैकेयीको होगा; क्योंकि उसे भरतसे भी अधिक राम प्यारे हैं, कौसल्याने कभी रामजीके अभिषेककी चर्चा भी नहीं की; और कैकेयी कई बार रामाभिषेकके लिये अपनी इच्छा प्रकाशित कर चुकी है, उसके लिये लालायित है, अतः मेरे मुखसे समाचार पाकर वह अत्यन्त आनन्दित होगी और उसे आनन्दित देखकर मेरा आनन्द और भी बढ़ेगा। ऐसा विचारकर महाराज सानन्द उसीके घर गये।

महारानी कैकेयीके रामाभिषेकके लिये इच्छा प्रकट करनेसे ही उनके विवाहके अवसरपर जो समय (इकरार) स्थापित हुआ था वह टूट गया था, इसलिये दूसरे दो वरदानका सहारा पकड़ना पड़ा। महाराजको स्वप्नमें भी वह खयाल न था कि जिसने रामजीके लिये इतने दृढ़ समय (इकरार) को भंग कर दिया वह उनके अभिषेकसे अप्रसन्न होगी। अतः कहते हैं *'गवन निठुरता निकट किय जनु धरि देह सनेह।'*

टिप्पणी—२ *'गवन निठुरता⋯'* इति। (क) राजा कैकेयीपर अत्यन्त स्नेह किये हुए हैं, इसीसे राजाको स्नेहकी मूर्ति कहा। कैकेयी राजापर अत्यन्त निष्ठुर है इसीसे उसे निष्ठुरताकी मूर्ति कहा। (ख) निष्ठुरताके पास स्नेहके गमनका भाव यह है कि जैसे निष्ठुरताके निकट जानेसे स्नेहका नाश होता है, क्योंकि निष्ठुरता तलवारकी धारके समान है, यथा—*'मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई॥'* (३०। २) वैसे ही कैकेयीके निकट इस समय जानेसे राजाका नाश है।

नोट—२ इस समय राजा आनन्दमें मग्न कैकेयीके महलमें उससे मिलने जा रहे हैं; यही उत्प्रेक्षाका विषय है। राजा मानो मूर्तिमान् स्नेह हैं और वह निष्ठुरताकी मूर्ति बनी बैठी या लेटी है। निष्ठुरता और स्नेह मूर्तिमान् नहीं होते; अतः यहाँ 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ। भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ॥ १॥
सुरपति बसइ बाँह बल जाकें। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें॥ २॥
सो सुनि तियरिस गयउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बड़ाई॥ ३॥
सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमनसर मारे॥ ४॥

शब्दार्थ—**सकुचेउ**=सहम गये, सूख गये, सकुच गये। **अगहुड़**=आगे। **नरपति**=नृपति, राजा। **सूल**=त्रिशूल। **कुलिस**= (कुलिश) वज्र; अस्त्रविशेष—(दीनजी)। **असि**=तलवार। **अँगवनिहारे**=(अंगग्रहण हारे) अपने शरीरपर लेनेवाले, सहनेवाले। '**अँगवना**' सकर्मक क्रिया है, केवल पद्यमें इसका प्रयोग पाया जाता है। इसका अर्थ है—अंगीकार करना, सिरपर लेना, उठाना, सहना; यथा—***'धरती भार न अँगवै पाँव धरत उठ हाल। कूर्म टूट भुइँ फाटी तिन हस्तिनकी चाल'*** (जायसी) **बसइ**=बसता है, सुखपूर्वक निर्भय घरमें रहता है। **बाँहबल**=बाहुबल, भुजाओंके आश्रित या सहारे; पराक्रमके भरोसे। ***'रुख ताके'*** (२। २। ३), देखिये।

अर्थ— 'कोपभवनमें' सुनकर राजा सहम गये। डरके मारे आगे पैर ही नहीं पड़ता॥ १॥ जिनके भुजबलके भरोसे इन्द्र (राक्षसोंसे निर्भय सुखपूर्वक) बसते हैं तथा सभी (मनुष्योंके) राजा जिनका रूख देखते रहते हैं॥ २॥ वे ही (राजा दशरथ) स्त्रीका रिसाना (कोप, क्रोध) सुनकर सूख गये। कामदेवका प्रताप और बड़ाई तो देखिये!॥ ३॥ जो त्रिशूल, वज्र और तलवार आदिका घात अपने ऊपर लेने और सहनेवाले हैं वे कामदेवके पुष्पबाणसे मारे गये॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'कोपभवन सुनि'''*** इति (क) ***'सुनि'*** से सूचित होता है कि महाराजने किसी दासीसे पूछा कि तुम्हारी स्वामिनी कहाँ हैं। (तब दासीने कहा कि कोपभवनमें हैं, मैं कारण नहीं जानती। यथा—'**ता ऊचुः क्रोधभवनं प्रविष्टा नैव विद्महे।**' (अ० रा० २। ३। ५), '**देव देवी भृशं क्रुद्धा क्रोधागारमभिद्रुता।**' (वाल्मी० २। १०। २१) स्मरण रहे कि मन्थरा कैकेयीको पट्टी पढ़ाके यहाँसे चली गयी थी, यथा—'**इत्युक्त्वा प्रययौ कुब्जा गृहं''''।**' (अ० रा० २। २। ८१) अन्य दासियोंसे राजाने पूछा जो वहाँ थीं)। (ख) ***'भय बस अगहुड़'''' '***— भयवश आगे पैर नहीं पड़ता, इस कथनसे सूचित होता है कि राजा कैकेयीके वशमें रहे हैं। यथा—***'प्रिया प्रान सुत सरबस मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥'*** (२६। ५) आगे पैर नहीं पड़तासे जनाया कि सुनकर खड़े हो गये थे फिर आगे (कोपभवनमें) चलनेको कदम उठाया, पर पैर आगे नहीं पड़ता। 'भय बस', यथा—'**इत्युक्तो भयसन्त्रस्तो राजा।**' (अ० रा० २। ३। ६)

नोट—१ क्या भय हुआ? बैजनाथजी लिखते हैं कि केकयराजाको जो एकरारपत्र विवाह-समय इन्होंने लिखा था उसका स्मरण हो आया उसीका भय है। इस ग्रन्थमें राजा और कैकेयीके वचनोंसे इसका लेश भी नहीं पाया जाता; मन्थरा भी इसको स्पष्ट नहीं कहती, उसने धरोहर वरदानहीका सहारा लिया न कि किसी प्रतिज्ञापत्रका। कवि स्वयं उसका कारण दे रहे हैं—***'ते रतिनाथ''''।'*** वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जितेन्द्रिय यशस्वी राजा यह प्रिय संवाद रानीको सुनानेके लिये प्रथम कैकेयीके महलमें गये। राजाके इस समयको कैकेयीजीने आजतक कभी नहीं लाँघा था। अविवेकिनी कैकेयी भरतको राज्य दिलाना चाहती है यह बात उनको मालूम न थी। कैकेयीको न देखकर दु:खित हुए ही थे, अब क्रोधकी बात सुनकर वे अधिक दु:खी हुए और उसे देखकर वे घबड़ा गये; क्योंकि वह राजाको प्राणसे भी प्यारी थी। (नोट—हमारी समझमें यही कारण अधिक उत्तम जँचता है।)

वि० त्रि०—कोपभवन तो इसीलिये बना ही हुआ है कि यदि रानी कुपित हों तो उस भवनमें चली जायँ। कुपितावस्थामें न जाने कैसी आज्ञा उनके मुखसे निकल पड़े, पर राम-राज्याभिषेकके समय महारानीके कोपभवनमें जानेका अर्थ दुनिया तो यही लगावेगी कि रामराज्याभिषेक सुनकर रानी कैकेयी कुपित हुई हैं, यह समझकर राजाको संकोच हुआ। आगे चलकर कहेंगे भी ***'घरी कुघरी समुझि जिय देखू। बेगि प्रिया परिहरहि कुबेषू॥',*** और प्रणयकोपका बड़ा भारी भय भी हुआ; क्योंकि '**बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्। दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पंकजकोषे॥**' बन्धन तो बहुतसे हैं, परंतु प्रेमकी रस्सीका बन्धन ही दूसरा है। भौंरा लकड़ीके बेधनेमें बड़ा कुशल होता है, पर कमलके कोषमें बँध जानेपर उसका किया कुछ भी नहीं होता। अत: महाराज प्रणयकोपके भयसे अत्यन्त भीत भी हुए।

टिप्पणी—२ ***'सुरपति बसइ बाँह बल''' '*** इति। (क) जिसके भुजबलके भरोसे इन्द्र बसते हैं अर्थात्

जो इन्द्रकी सहायता किया करते हैं। इससे जनाया कि स्वर्गके राजासे अधिक बलवान् हैं। राक्षसोंको मारनेसे सुरपतिकी सहायता हुई। अतएव *'सुरपति बसइ'''''* से यह भी जनाया कि श्रीदशरथमहाराज पातालवासी राजाओंसे भी बली हैं। (ख) *'नरपति सकल रहहिं'''''* पृथ्वीके जितने नरराज हैं वे जैसा रुख देखते हैं वैसा काम करते हैं। इससे मर्त्यलोकके राजाओंसे अधिक बलवान् जनाया। (ग) ***'सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई'***— राजा प्रथम आनन्दमें मग्न थे, यथा—***'साँझ समय सानंद नृपु गयउ''''' ॥'***(२४) वे ही स्त्रीका कोप सुनकर सूख गये। राजाके द्वारा कामका प्रताप प्रत्यक्ष दिखाया, इसीसे कहते हैं कि ***'देखहु'।*** (यहाँ राजापर प्रत्यक्ष बीत रही है, अतः पूज्य कवि ***'सुनहु'*** या ***'समझहु'*** आदि न कहकर ***'देखहु'*** कहते हैं। अर्थात् इस समय यह बात प्रत्यक्ष नेत्रोंका विषय हो रही है। यह कामके प्रतापकी बड़ाई है। कामी पुरुष इसी तरह प्राणप्रियाके कोपसे सहम जाते हैं। अतः कामके फंदेसे बचे रहो, यह उपदेश है।) जो पूर्व कहा था कि ***'कोपभवन सुनि सकुचेऊ राऊ,'*** उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट कर दिया कि ***'सो सुनि तियरिस गयउ सुखाई'। सकुचेउ***=सूख गये। 'कोपभवन' में हैं अर्थात् क्रुद्ध हैं।

टिप्पणी—३ ***'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे'''''*** इति। (क) त्रिशूल महादेवजीका, कुलिश (वज्र) इन्द्रका और खड्ग वा तलवार दुर्गा और कालीकी (अथवा शूल, वज्र, खड्ग आदि अस्त्र-शस्त्र भगवान् विष्णुके जो ये सब अस्त्र-शस्त्र धारण करते हैं। प्र० सं०) इन सबोंको भी सह लेनेवाले जो वीर हैं उनको भी कामदेवने पुष्पोंके बाणोंसे मार-मारकर घायल कर डाला; अर्थात् कामी बना दिया। भाव कि प्रथम राजाके ऊपर कामका प्रताप वर्णन किया कि ***'सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई',*** इससे पाया जाता है कि राजा कामी हैं, स्त्रीके वशमें हैं; अतः कहते हैं कि राजा दशरथ ही ऐसे नहीं हैं। त्रिलोकीमें जितने वीर हैं वे सब कामके वश हैं; इसमें राजाकी कुछ न्यूनता नहीं है। [शूल, वज्र, खड्ग—ये सब आयुध अमोघ हैं तथापि जलंधर, मेघनाद और रावण आदि के अंगोंने इनका भी निरादर किया था। ऐसे अत्यन्त कठोर अंगोवाले भी पुष्पबाणोंसे घायल किये गये, वे भी न बचे तब भला राजा दशरथका क्या कहना? (प्र०सं०)] (ख) — राजा क्षत्रिय हैं, अतएव यहाँ वीरों-के ऊपर कामका प्रताप कहा। ***'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे'*** वीर हैं। और, ब्राह्मण इन्द्रियजित् होते हैं अतएव उनके प्रसंगमें ब्रह्मचर्यके ऊपर कामका प्रताप कहा था। यथा—***'ब्रह्मचरज ब्रत रत मति धीरा। तुम्हहि कि करै मनोभव पीरा॥'***(१। १२९। २), (नारदमोह प्र०) (ग) शूल, कुलिश और असिके सम्बन्धसे ***'सुमन सर'*** कहा। भाव कि जिन्होंने बड़े-बड़े कठिन अस्त्र-शस्त्र सहे उन्हें अत्यन्त कोमल फूलके बाणसे मारा। अर्थात् वे कामासक्त हो गये।

नोट—२ ***'सूल कुलिस''''मारे'*** इति। (क) बैजनाथजी आदि कई टीकाकारोंने इसे दशरथजीमें लगाया है। वे इस प्रकार अर्थ करते हैं कि 'शिवका त्रिशूल, इन्द्रका वज्र तथा अन्य राजाओं, दैत्य-दानवादिकी तलवारकी चोट सह लेनेवाले राजा दशरथको कामदेवने फूलके बाणोंसे ऐसा मार गिराया कि वे मूर्छित हो गये; यह उनकी दशा प्रत्यक्ष देखनेमें आ रही है।' उनका मत है कि यह चोट पूर्वकी है। जब उन्होंने प्रथम-प्रथम नारदजीसे कैकेयीके रूपलावण्यका समाचार पाया था,उस समय वे कामबाणसे मूर्छित हो गये थे। देवकाली देवीसे प्रार्थना करनेपर वह योगिनी बनकर कैकेयीके पास गयी और दूतीका काम किया। तत्पश्चात् प्रतिज्ञापत्र लिखनेपर विवाह हुआ। यह कथा सत्योपाख्यानमें है। [राजा दशरथने शिवजीका त्रिशूल, इन्द्रका वज्र सहा, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। जलंधर आदिने शंकरका त्रिशूल सह लिया, मेघनाद, वृत्रासुर आदिने इन्द्रका वज्र सह लिया और रावणने कुबेर आदि सभीके अस्त्र-शस्त्र सह लिये, यहाँतक कि विष्णुका चक्र भी उसका कुछ न कर सका था। दशरथजीमें लगानेसे शूल, कुलिश आदिका अर्थ यह लेना होगा कि शिवजीके त्रिशूल और इन्द्रके वज्रके समान अमोघ आयुधोंको सह लेते थे। देवासुर-संग्राममें दैत्योंके ऐसे आयुध सहे ही होंगे] (ख) ***'अँगवनिहारे'*** का अर्थ उठानेवाले भी हैं। (श० सा०) इसके अनुसार एक अर्थ यह भी किया जाता है कि त्रिशूल, वज्र और तलवार धारण करनेवाले शिव, इन्द्र और विष्णु भी पुष्पबाणोंसे घायल हुए हैं, तब राजा दशरथ घायल हुए तो इसमें आश्चर्य क्या?

यथा—'**शम्भुस्वयम्भुहरयो हरिणीक्षणानां येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः। वाचामगोचरचरित्रविचित्रताय तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय॥**' (भर्तृहरिशृंगारशतक) (ग) कामदेवके बाण फूलोंके हैं। (१। ८३। ८, १। ८७ (१-२)) देखिये। फूलके बाणोंसे योद्धाका आहत होना अपूर्ण कार्य होनेमें 'दूसरी विभावना' है। पुनः ये दोनों असम वाक्य हैं, इनमें भिन्नताभाव रहते हुए भी समतासूचक आरोप 'प्रथम निदर्शना' है। *'सुरपति बसइ'''ताके'* इस विशेष बातका समर्थन *'सो सुनि'''देखहु काम प्रताप बड़ाई'* इस सामान्य बातसे करके भी संतुष्ट न होकर फिर उसका समर्थन *'सूल कुलिस'''मारे'* इस विशेष सिद्धान्तसे करनेसे यहाँ 'विकस्वर अलंकार' है। (वीरकवि)।

नोट—३ 'इस वर्णनमें दशरथजीको कैसी मर्यादा रखते हुए स्त्री-लम्पट दर्शाया यह देखने योग्य है।' (मानस-हंस)

सभय नरेसु प्रिया पहिं गयऊ। देखि दसा दुखु दारुन भयऊ॥ ५॥
भूमिसयन पटु मोट* पुराना। दिये डारि तन भूषन नाना॥ ६॥
कुमतिहि कसि कुबेषता फाबी। अन-अहिवात सूच जनु भाबी॥ ७॥
जाइ निकट नृपु कह मृदु बानी। प्रान प्रिया केहि हेतु रिसानी॥ ८॥

शब्दार्थ—**प्रिया**=प्यारी स्त्री। **दारुन** (दारुण)=कठिन, भारी। **पटु**=वस्त्र। **कसि**=कैसी। **कुबेषता**=बुरा वेष। **फाबी**=फब रही है, अच्छी लगती है, उचित जान पड़ती है, सोह रही है। **अन-अहिवात**=असौभाग्य, विधवापन। **सूच**=जना रही है, सूचना दे रही है। **हेतु**=कारण, लिये।

अर्थ—डरते-डरते राजा अपनी प्रियाके पास गये। उनकी दशा देखकर भारी दुःख हुआ॥ ५॥ (क्या देखते हैं कि) भूमिपर पड़ी हुई हैं। मोटा पुराना वस्त्र पहने हैं। शरीरके अनेक प्रकारके गहने उतारकर डाल दिये हैं॥ ६॥ दुर्बुद्धि कैकेयीको यह कुवेशता कैसी फब रही है मानो भावी विधवापनकी सूचना दे रही है॥ ७॥ राजा पास जाकर कोमल मीठी वाणीसे बोले—हे प्राणप्रिये! किसलिये रिसाई (कुपित) हो?॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'सभय नरेसु'''* इति। (क) ***'कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ। भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ॥'*** (२५। १) में राजाका भय कहकर प्रसंग छोड़ा था। बीचमें कामके प्रतापकी बड़ाई करने लगे थे। ***'सभय नरेसु'*** शब्दोंसे वहींसे प्रसंग मिलाकर पुनः वहींसे कहते हैं। (वहाँ चलना कहा था, यहाँ ***'प्रिय पहिं गयऊ'*** से पहुँचना कहा)। (ख) ***'देखि दसा'***— क्या दशा देखी यह आगे कवि स्वयं कहते हैं। ***'दुखु दारुन भयऊ'***— भाव कि कोपभवनमें जाना सुनकर दुःख हुआ ही था, अब दशा देखकर दारुण दुःख हुआ।

टिप्पणी—२ ***'भूमिसयन पटु मोट पुराना।'*** इति। (क) भूमिशयन अर्थात् जमीनपर बिना किसी बिछौनेके पड़ी हैं। ***'मोट पुराना'*** अर्थात् मोटे मैले वस्त्र पहने हैं। यथा—'**शेषे कल्याणि पांसुषु। भूमौ शेषे किमर्थं'''।**' (वाल्मी० २। १०। २९) '**मलिनाम्बरा।**' (२। १०। ८) (ख) ***'दिये डारि'''***'— अर्थात् उतारकर एक जगह नहीं रखे हैं। किंतु छितरा दिये हैं, इससे वे जहाँ-तहाँ उलटे-पलटे पड़े हैं। यह क्रोधका सूचक है।

टिप्पणी ३—***'कुमतिहि कसि कुबेषता'''*** ' इति। (क) कुवेष बनानेका भाव कि सुवेष धारण किये रहनेसे राजाको यह न मालूम होता कि रानी कुपित हैं। कुवेष बनानेसे राजा पूछेंगे कि क्यों कुपित हो। (कुवेष बनानेसे कवि उसे 'कुमति' विशेषण देते हैं; क्योंकि कुसंग पाकर यह दुर्बुद्धि हो गयी। अपने हाथों अपना वैधव्य बुला लिया।) [(ख) ***'कुबेषता फाबी'*** इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वह भूमिपर पड़ी हुई कटी लताके समान अथवा आकाशसे गिरे हुए देवताके, पुण्य क्षीण होनेके कारण

* 'मोटे'—ना० प्र, गी० प्रे०। पोट—राजापुर, भा० दा०।

स्वर्गसे गिरी किन्नरी, स्वर्गभ्रष्ट अप्सरा, असफल माया, बँधी हुई अप्सरा अथवा व्याधद्वारा विषैले बाणोंसे विद्ध हथिनीके समान देख पड़ती थी। (२। १०। २४—२६; २। ९। ६५) ये भाव *'फाबी'* शब्दसे सूचित कर दिये। पुनः भाव कि 'कुवेष' अच्छा नहीं लगता पर कैकेयीको यह फब रहा है, क्योंकि *'अन-अहिवात·····'*] (ग) *'अन-अहिवात सूच·····'*—सब भूषणोंके उतार डालनेसे विधवाका रूप बन गया; क्योंकि इसे आगे विधवा होना है। 'सूच' का भाव कि यह बात अभी जानी हुई नहीं है कि वह विधवा होगी, पर कुवेष सूचित करता है कि वह विधवा होगी। *'फाबी'* का भाव कि कुवेष सावित्रीको नहीं फबता, विधवाहीको फबता है। यहाँ बताते हैं कि विधवाओंको किस प्रकार रहना चाहिये।

टिप्पणी—४ *'जाइ निकट·····'* इति। (क) इससे जनाया कि प्रथम दूरसे देखकर दुःखी हुए थे, यथा— *'सभय नरेसु प्रिया पहिं गयऊ।'* निकट पहुँचते-पहुँचते इतना देखा। जब और निकट पहुँचे तब हाल पूछने लगे। आगे जब अत्यन्त निकट पहुँचे तब शरीरपर हाथ फेरने लगे। (ख)—*'प्रान प्रिया केहि हेतु रिसानी'* इति। (स्त्रियाँ प्रायः दो कारणोंसे रूठा करती हैं। एक तो पतिकी प्रतिकूलतासे दूसरे भूषण-वस्त्रादि अन्य प्रयोजनोंकी पूर्तिके लिये। अतः *'प्राणप्रिया'* कहकर जनाते हैं कि) तुम तो हमारी प्राणप्रिया हो, हम सदा तुम्हारे मनके अनुकूल ही सब काम किया करते हैं, तब तुम क्यों कुपित हो, रिस तो तब करना था जब हम तुम्हारे अनुकूल न करते। (यह भी जनाया कि जो कुछ तुम कहोगी वह मैं अपने प्राणोंसे पूर्ण करूँगा।) '**आत्मनो जीवितेनापि ब्रूहि यन्मनसि स्थितम्।**' (वाल्मी० २। १०। ३५)

छं०—केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि निवारई।
मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि बिषम भाँति निहारई॥
दोउ बासना रसना दसन बर मरम ठाहरु देखई।
तुलसी नृपति भवतव्यता बस काम कौतुक लेखई॥

दो०—बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि।
कारन मोहिं सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर॥ २५॥

शब्दार्थ—**परसत**=(स्पर्श) छूते ही, स्पर्श करते ही। **पानि** (सं० पाणि)=हाथ। **निवारई**=निवारण करती, झटक देती है, रोकती है, यथा— *'सैनहिं लखनहिं राम निवारे।'* **सरोष**=क्रोधयुक्त। **भुअंग भामिनि**=भुजंग (टेढ़ा चलनेवाला सर्प) की स्त्री, नागिन, सर्पिणी। **बिषम**=तीखी, टेढ़ी, क्रूरदृष्टिसे। **बासना**=इच्छा, अभिलाषा। **रसना**=जिह्वा,जीभ। **दसन**=दाँत। **बर**=वरदान। **मरम ठाहरु**=मर्मस्थान, सुकुमार अंग। मर्म प्राणियोंके शरीरमें वह स्थान जहाँ आघात पहुँचनेसे अधिक वेदना होती है, प्रकृति-स्थान और परिणामभेदसे मर्म ५ प्रकारके होते हैं। **भवतव्यता**=होनहार। **कौतुक**=तमाशा, खेल, क्रीडा। **लेखई** (सं० लेखन)=मन-ही-मन ठहराते हैं, समझते हैं, सोचते हैं, विचारते वा मानते हैं, यथा—*'सिय सौमित्रि रामछबि देखहिं। साधन सकल सफल करि लेखहिं॥'* **पिकबचनि**=कोकिलबयनी, कोकिलकी-सी मीठी कोमल सुरीली वाणीवाली।

अर्थ—हे रानी! किसलिये रूठी हो? (ऐसा कहते हुए राजाने उसको हाथसे स्पर्श किया) हाथसे स्पर्श करते ही वह पतिको (उनके हाथको) झटककर रोकती है और ऐसे देखती है मानो नागिन क्रोधमें भरी हुई टेढ़ी तीखी दृष्टिसे देख रही है। दोनों वासनाएँ (नागिनकी) जीभें हैं। दोनों वर दाँत हैं। वह काटनेके लिये मर्मस्थल देख रही है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि राजा होनहारके वश इसे (हाथ झटकने इत्यादिको) कामदेवकी क्रीड़ा ही समझ रहे हैं*। राजा बारंबार कह रहे हैं— हे सुमुखी! हे सुलोचनि!! हे कोकिलबयनी!!! हे गजगामिनी!!! अपने कोपका कारण मुझे सुना॥ २५॥

* पंजाबीजी, पं० शिवलाल पाठकजी और प्रोफे० दीनजी भी यही अर्थ करते हैं कि 'रानी काम-कौतुक कर रही है। वे यह नहीं समझते कि सर्वनाशका प्रबन्ध कर रही है, नहीं तो उसकी बातोंमें न आते'। २—बाबा

टिप्पणी—१ *'केहि हेतु रानि रिसानि''' '* इति। (क) एक हेतु पूछ चुके, अब दूसरा हेतु पूछते हैं। *'रानि'* सम्बोधनका भाव कि जो रंक होती हैं, वह भूषणवस्त्रादि किसी वस्तुके लिये रिसाती हैं पर तुम तो रानी हो, सब कुछ तुम्हारा ही है, तुम्हें किसी वस्तुकी कमी नहीं है जिसके लिये तुम रिस करो, तब कोपका क्या कारण है? [पुनः भाव कि तुम चक्रवर्ती महाराजकी प्राणप्रिय रानी हो, तुम्हें भिखारिनीके समान ***'पटु मोट पुराना'*** पहनना और आभूषणोंका फेंक देना उचित नहीं। (प० प० प्र०)] (ख)—***'परसत पानि पतिहि निवारई'***—कैकेयीको भुअंगभामिनी यहाँ कह रहे हैं। सर्पिणी छूनेसे क्रोध करती है, वैसे ही राजाके स्पर्श करनेसे, हाथ फेरनेसे कैकेयीने क्रोध किया कि (देखो तो) सौतके कहनेसे हमारे पुत्रको तो ननिहाल भेज दिया और उसके पुत्रको राज्य देते हैं, झूठे ही हमारे ऊपर हाथ फेरते हैं। (प्र० सं० में हमने लिखा था कि 'जैसे नागिन छूते ही फूफकार मारकर काटनेको करती है वैसे ही यहाँ कैकेयी झुँझलाकर बोली कि हमसे न बोलो, न पूछो और हाथ झटक दिया। पर मेरी समझमें वह 'बोलीं' यह कहना ठीक नहीं। 'निवारण' करना केवल हाथसे ही हुआ। अभी वह बोलती नहीं हैं। वाल्मी० और अ० रा० से भी ऐसा ही सिद्ध होता है)।

टिप्पणी—२—***'मानहु सरोष भुअंग भामिनि''' '*** इति। [(क) सर्पिणी जब काटनेको होती है तब उसकी जिह्वा लपलपाती है; इसी भावसे ***'सरोष विषम भाँति निहारई'*** कहा। (प्र० सं०)] (ख) ***'भुअंग भामिनी'*** इति। मन्थराको मधुमक्खी मारनेवाली किरातिनी कहा था, यथा—***'देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गवँ तकइ लेउँ केहि भाँती॥'*** (१३। ४) और यहाँ कैकेयीको भुअंगभामिनी कहते हैं। भेदमें भाव यह है कि किरातिनी जब मधु ले लेती है तब मधुमक्खियाँ व्याकुल हो जाती हैं, पर मर नहीं जाती हैं, उनको फिर मधु पीनेका अवसर मिलता है, फिर छत्ता लगाती और मधु पीती हैं। इसी तरह मन्थरारूपिणी किरातिनीने जब रामराज्यरूपी मधु ले लिया तब अवधवासीरूपी मधुमक्खियाँ विकल हो गयीं। यथा—***'कृस तन मन दुख बदन मलीने। बिकल मनहु माखी मधु छीने॥'*** (७६। ४) अर्थात् रामराज्याभिषेक भंग होनेसे अवधवासी व्याकुल हो गये, पर आगे वे पुनः रामराज्य देखेंगे। (मधुके पुनः होनेसे मक्खी पुनः सुखी हो जाती है, वैसे ही वनवासकी चौदह वर्षकी अवधि व्यतीत होनेपर रामराज्य पाकर अवधवासी फिर सुखी होंगे।) किंतु कैकेयी सर्पिणी है। नागिनके डँसनेसे मृत्यु होती है; यह राजाको डँसेगी जिससे राजाकी मृत्यु होगी; वे रामराज्य न देख पायेंगे। (यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।)

प० प० प्र०—***'भुअंग भामिनि'*** का भाव कि दशरथजी भी भुजंग बन जायँगे। कैकेयीके भुजंगिनी बननेसे कुछ न बिगड़ता, यदि दशरथजी भुजंग न बनते। पर दशरथजीको भी भुजंग बनानेसे सूचित किया कि दोनों मिलकर अवधको मृतप्राय करेंगे। कैकेयीजीके सम्बन्धमें बारंबार 'भामिनि' शब्दका प्रयोग इसी भावसे हुआ है कि उनका स्वभाव ही क्रोधी था।

टिप्पणी—३ ***'दोउ बासना रसना दसन बर''' '*** इति। (क) सर्पके दो जिह्वाएँ होती हैं, इसीसे दोनों वासनाओंको जीभ कहा। वरदानको दाँत कहा, क्योंकि दाँतके लगनेसे मृत्यु होती है। वरके माँगनेसे राजाकी मृत्यु होगी। [मृत्युकारक एक ही दाँत होता है, जो तालूमें होता है जहाँ विष रहता है। वैसे ही यहाँ राजाका प्राण हरनेवाला वर एक 'रामवनवास' ही है। दूसरे दाँतसे मृत्यु नहीं होती, वैसे ही दूसरे (भरत-राज्याभिषेक) वरसे मृत्यु नहीं होती वरंच केवल किंचित् दुःख होता। यथा—***'बर दूसर असमंजस माँगा,' 'जीवन मोर राम बिनु नाहीं।'*** (प्र० सं०)] सर्पिणी मर्मस्थान ढूँढ़ती है कि जहाँ काटनेसे फिर मनुष्य जीवित न हो। वैसे ही रानी भी राजाका मर्मस्थान देख रही है कि उस समय वर माँगूँ जब राजा फिर टल न सके। रामशपथ करना ही मर्मस्थल है, यथा— ***'भूपति राम सपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई॥'*** (२२। ८) (यह चेरीने पहले बता रखा है उसीकी राह देख रही है)।

हरिहरप्रसाद दूसरा अर्थ यह कहते हैं कि 'राजा भावीवश हैं, इससे कामदेव उनका तमाशा देख रहा है। भाव यह है कि महाराज कामका तमाशा देखने योग्य न थे, यह भावीकी प्रबलता दिखा रही है'। ३— वीरकवि यह अर्थ लिखते हैं कि 'राजा होनहारके अधीन हैं और कामविनोद लिखना निमित्तमात्र है। अर्थात् असली कारण होनहार है, पर ऊपर उसे न वर्णनकर राजाको कामके अधीन कहा गया जो निमित्तमात्र है। यह 'अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार' है।' बैजनाथजीने यही लिखा है।

टिप्पणी—४ *'तुलसी नृपति भवतव्यता बस'''* इति। कैकेयी मर्मस्थान देख रही है और राजा इसे काम-कौतुक समझ रहे हैं। भाव कि राजा गाफिल हैं, धोखा खा गये। जब सर्पिणी क्रोध करती है तब काटती है। रानी राजाकी ओर विषम दृष्टिसे देख रही है। पर राजा समझते हैं कि वह कामक्रीड़ा अर्थात् कटाक्ष कर रही है। (वे समझे कुछ और, और यहाँ था कुछ और। इसीसे कवि उनको निर्दोष करते हैं कि भावीवश वे ऐसा समझे नहीं तो ऐसा समझना न चाहिये था। इन वचनोंसे कविने वाल्मीकिजीके वचनोंका सुधार किया है।)

अ० दी० च०—***'तुलसी नृपति भवतव्यता बस काम कौतुक लेखई'*** इसके भावपर कोई ऐसा अर्थ करते हैं कि राजा होनहारवश कामवश होकर सूख गये हैं। अ० दी० कार इस भ्रमको मिटानेके लिये लिखते हैं कि 'राजा होनहारवश समझे कि मैं १४ दिन राज्याभिषेककी तैयारीमें लगा रहनेसे कैकेयीके घरमें नहीं आ सका। आज पन्द्रहवें दिन आया, इसीसे रानीको मेरी ओरसे अरुचि अर्थात् मान है। पतिकी प्यारी रूपवती स्त्री पतिका अधिक दिन संसर्ग छूट जानेसे कामवश मानवती हो जाती है। कैकेयीको शय्या प्रिय है, वह काम-कौतुक कर रही है—जब राजाको यह भ्रम हुआ तब वे उसका मान छुड़ानेके लिये कहते हैं ***'रामहिं देउँ कालि जुवराजू'''*** यदि राजा कामवश होते तो ऐसा न कहकर कि 'रामराज्यकी तैयारी करो' काममें प्रवृत्त हो जाते। अतः यह कहना कि राजा कामवश हुए, अयोग्य है।

राजाने यह समझकर कि यह कामवश मानवती है, इससे राजाने भी कामातुरका स्वाँग रचा जिसमें वह मान छोड़ दे, उसके अंगोंका स्पर्श उसके हृदयकी कसक मिटानेके लिये करने लगे। रानीने भी समझ लिया कि इनको यह भ्रम है, अतः उसने सोचा कि मैं भी उनके अनुमानके अनुकूल बन जाऊँ, जिसमें राजाको पता न चले कि मैं रामराज्यमें बाधा डालनेके लिये कुपित हूँ। अतः वह ***'बिहँसि उठी'*** और भूषण सजने लगी, जिससे राजाको विश्वास हो गया कि मेरे अंगस्पर्श करनेसे रानीका मान टूट गया, सत्य ही वह कामकौतुकवश मानवती थी। परंतु राजा कामवश कदापि नहीं थे, वे तो रामराज्यभिषेकके आनन्दमें मग्न थे, इसीसे तो उन्होंने तिलकका समाचार सुनाया।

टिप्पणी—५ *'बार बार कह राउ'''* इति (क) राजाने बारंबार कोपका कारण पूछा है। यथा—***'प्रानप्रिया केहि हेतु रिसानी।' 'केहि हेतु रानि रिसानि', 'कारन मोहि सुनाव गजगामिनि निज कोप कर।'*** यह भाव दिखानेके लिये ग्रंथकारने तीन बार लिखा। (ख) ***'सुमुखि, सुलोचनि, पिकबचनि, गजगामिनि'*** सम्बोधनका भाव कि हमारे आगमनपर अपना सुन्दर मुख दिखाकर, अपने सुन्दर मृगशावकनेत्रोंसे अवलोकन करके, सुन्दर मुखसे कोकिलसमान सुन्दर मधुर वचन सुनाकर और सुन्दर गजकी मतवाली चालसे हमारे पास आकर हमें सदा सुख दिया करती थीं, सो आज वह सब सुख क्यों नहीं दे रही हो।* (इन चार विशेषणोंको देकर गुसाईंजीने पतिव्रताके चार लक्षण दिखाये हैं। उनपर पतिव्रताकी मुहर (छाप) लगायी है। पतिव्रताको चाहिये कि आगे चलके मुख दिखाकर मधुर वचन बोले और सुन्दर अवलोकनसे पतिको प्रसन्न करे)। यथा—***'आश्रम निरखि भूले, द्रुम न फले न फूले, अलि खग मृग मानो कबहूँ न हे। मुनि न मुनिबधूटी, उजरी परन कुटी पंचबटी पहिचानि ठाढ़ेइ रहे ॥ उठी न सलिल लिए प्रेम मुदित हिये प्रिया न पुलकि प्रिय बचन कहे। पल्लव सालन हेरी प्रानबल्लभा न टेरी, बिरह बिथकि लखि लषन गहे॥ देखे रघुपति गति बिबुध बिकल अति, तुलसी गहन बिनु दहन दहे।'*** (गी० आ० पद १०) कैकेयी राजाके प्रति नित्य इनको वर्तती रहीं। परंतु आज उसने इनमेंसे एक भी न बरता; रामराज्य इनमें बाधक हुआ। [पुनः भाव कि 'तेरा सुन्दर मुख है, नेत्र भी सुन्दर, बोली भी सुन्दर, चाल भी अच्छी है, फिर भी तू कोप कर रही है, क्या कारण है? शीघ्र कह। राजा इन विशेषणोंद्वारा प्रेम दिखाकर कैकेयीका मान भंग करना चाहते हैं।' (दीनजी)]

नोट—***'बार बार'*** पूछनेका कारण यह है कि कैकेयी कोपका कारण बताती नहीं, (मौन है)।

---

*वाल्मी० २।१०।१८-१९ के 'नहि तस्य पुरा देवी तां वेलामत्यवर्तत।' 'न च राजा गृहं शून्यं प्रविवेश कदाचन।''' अर्थात् देवी कैकेयीने आजतक राजाके इस समयको कभी लाँघा न था, सूने घरमें राजाने कभी प्रवेश न किया था—इन वचनोंसे भी यह भाव पुष्ट होता है।

वह बताती इसलिये नहीं कि अभी बोलनेमें हानि है। मन्थराने इसे खूब सिखा रखा है कि ***'काजु सँवारेहु सजग सबु सहसा जनि पतिआहु॥'*** (२२) जबतक वचनबद्ध न हो जायँ तबतक मौन रहना, यथा—'**····तूष्णीमातिष्ठ भामिनि।**' (अ० रा० २। २। ७४), '**यावत्सत्यं प्रतिज्ञाय राजाभीष्टं करोति ते।**' ***'बार बार कह'*** कहकर चार सम्बोधन दे-देकर कई बार पूछा। अर्थात् हे सुमुखि! कोपका कारण कहो। हे सुलोचनि! कोपका कारण कहो—इत्यादि। चार सम्बोधनोंमें आदरकी विप्सा है।

अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा॥ १॥
कहु केहि रंकहि करौं नरेसू। कहु केहि नृपहिं* निकासौं देसू॥ २॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी। काह कीट बपुरे नर-नारी॥ ३॥

शब्दार्थ—**अनहित**=अनभल, बुरा। **रंक**=दरिद्र। **निकासौं**=निकाल बाहर करूँ, शहर-बाहर करूँ, देशनिकाला दे दूँ। **अमरउ**=अमरको भी। **कीट**=कीड़ा-मकोड़ा। **बपुरे**=बेचारे।

अर्थ—हे प्रिये! तेरा अनभल किसने किया है? किसके दो सिर हो गये हैं? किसे यमराज लेना चाहते हैं अर्थात् किसकी मृत्यु आयी है॥ १॥ बताओ किस दरिद्रको राजा बना दूँ? किस राजाको देशसे निकाल बाहर करूँ?॥ २॥ तेरा शत्रु अमर भी हो तो उसे भी मार सकता हूँ, बेचारे कीड़े-मकोड़े समान स्त्री-पुरुष (मनुष्य) किस गिनतीमें हैं॥ ३॥

नोट—१ अनेक बार रिसका कारण पूछनेपर भी कैकेयी न बोली, क्योंकि वह अपने कार्य-साधनहेतु राजाके रामशपथ करनेकी प्रतीक्षा कर रही है, जैसा कुबरीने उसे पाठ पढ़ाया था, यथा—***'भूपति राम सपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई॥'*** राजाने अपनी ओरसे रिसका हेतु जो अनुमान किया सो कहने लगे।

नोट २— (क) ***'केहि दुइ सिर'***—भाव यह कि एक सिरवालेकी मजाल नहीं कि तुम्हारा अनभल ताकता भी, क्योंकि वह समझ सकता है कि उसका सिर अवश्य काट लिया जायगा। निडर होकर वही अनभल कर सकता होगा, जिसके दो सिर हों कि एक कट जायगा तो क्या, एक तो बच रहेगा, मृत्यु तो न होगी। कथनका तात्पर्य यह है कि जिसने तुम्हारे साथ बुराई की उसका सिर मैं काट लूँ। यदि वह दो सिरवाला हो तो भले ही चाहे कुछ दिन बच जाय, जबतक दूसरा सिर भी न कट जाय। ऐसा ही विनय-पत्रिकामें कहा है—***'हैं काके द्वै सीस ईसके जो हठि जनकी सीम चरै।'*** (पद १३७) (ख) ***'केहि जम चह लीन्हा'*** भाव कि जिसने ऐसा किया उसका बुलावा यमराजके यहाँसे आ गया, उसकी यमपुरकी तैयारी हो गयी, उसको मौत आ गयी, मैं उसके प्राण ले लूँगा, इसमें किंचित् सन्देह नहीं है।

नोट—३ ***'सकउँ तोर अरि अमरउ मारी·······।'*** इति। अर्थात् अनभल करनेवाला अमर ही क्यों न हो, अर्थात् जो किसीसे मर न सके वा देवताओंमेंसे ही कोई क्यों न हो, मैं तुम्हारे लिये उसको भी मार सकता हूँ। भाव यह कि कैसा ही कठिन वैरी हो मैं उसे भी जीता न छोड़ूँगा। अमरका मरना असम्भव है, उसकी अपेक्षामें मनुष्योंको कीड़ा कहा। अर्थात् इनका मारना तो कोई बात ही नहीं, जैसे कीड़े-मकोड़े सहज ही मर जाते हैं। श्रीहनुमान्‌जी ने अमर राक्षसोंको दण्ड दिया था। उससे मिलान कीजिये, यथा—***'जे रजनीचर बीर बिसाल कराल बिलोकत काल न खाए। ते रन रोर कपीस किसोर बड़े बरजोर परे फँग पाए॥ लूम लपेटि अकास निहारि कै हाँकि हठी हनुमान चलाए। सूखि गे गात चले नभ जात, परे भ्रम-बात न भूतल आए॥'*** (क० ६। ३७)

नोट—४ ***'अनहित तोर····नर-नारी'*** इति। ऐसा ही अ० रा० और वाल्मी० रा० में कहा है। यथा—'**को**

* नृपति—पं० रामकुमार, बाबा रघुनाथदास (मा० दी०)।

वा तवाहितं कर्ता नारी वा पुरुषोऽपि वा। स मे दण्ड्यश्च वध्यश्च भविष्यति न संशयः॥' (९) '**ब्रूहि कं धनिनं कुर्यां दरिद्रं ते प्रियंकरम्। धनिनं क्षणमात्रेण निर्धनं च तवाहितम्॥**' (१२) '**ब्रूहि कं वा वधिष्यामि**....' (अ० रा० २। ३। १३),'....**केन वा विप्रियं कृतम्।**' (३१) '**अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम्। दरिद्रः को भवेदाढ्यो द्रव्यवान्वाप्यकिंचनः।**' (वाल्मी० २। १०। ३३-३४)। भाव तीनोंका एक ही है, पर शब्द मानसके उनसे कहीं जोरदार हैं, पाठक स्वयं विचार लें।

मुं० रोशनलालजी— होनहारवश राजाके मुँहसे वही शब्द निकल रहे हैं जो सत्य ही होनेवाले हैं। राजा वही करनेको कह रहे हैं जो कैकेयी चाहती है, जिसके लिये वह कोपभवनमें आयी है। भरतजी रंकसे राजा किये जावें, राज्यके उत्तराधिकारी जिनका अभिषेक निश्चय हो गया उन राम-राजाको वनवास दिया जावे— ये दोनों कैकेयी चाहती ही हैं। रही तीसरी बात ***'केहि जम चह लीन्हा'*** सो यह अपने अधीन है, उसको राजा अपने ही लिये स्वीकार करेंगे, दूसरेको यमपुर न भेजकर स्वयं ही चलते हुए।

बाबा हरिहरप्रसादजी—***'केहि रंकहि करउँ नरेसू'*** और ***'केहि नृपहिं निकासौं'*** कहकर जनाया कि मैं तुम्हारी रीझ और खीझ दोनोंका पालन कर सकता हूँ।

दशरथजीका स्त्रैणत्व

पं० रामचन्द्र शुक्ल—इस वृद्धावस्थामें राजा अपनी छोटी रानीके वशमें थे, यह उस घबराहटसे प्रकट होता है जो उसका कोप सुनकर उन्हें हुई। वे उसके पास जाकर कहते हैं—***'अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा........ परिजन प्रजा सकल बस तोरे।'*** प्राण, पुत्र, परिजन, प्रजा सबका कैकेयीके वशमें होना यही अभिव्यंजित करता है। एक स्त्रीके कहनेसे किसी मनुष्यको यमराजके यहाँ भेजनेके लिये, किसी दरिद्रको राजा बनानेके लिये, किसी राजाको देशसे निकालनेके लिये तैयार होना स्त्रैण होनेका ही परिचय देता है। कैकेयीके पास जानेपर न्याय और विवेक थोड़ी देरके लिये विश्राम ले लेते थे। वाल्मीकिजीने भी इसी प्रकारकी बातें उस अवसरपर दशरथसे कहलायी हैं।

दशरथके हृदयकी इस दुर्बलताके चित्रके भीतर प्रचलित दाम्पत्य विधानका वह दोष भी झलकता है, जिसके पूर्ण परिहारका पथ आगे चलकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रने अपने आचरणद्वारा प्रदर्शित किया। आधी उम्रतक विवाह-पर-विवाह करते जानेका परिणाम अन्तमें एक ऐसा बेमेल जोड़ होता है जो सब मामलोंका मेल बिगाड़ देता है और जीवन किरकिरा हो जाता है। एकमें तो प्रेम रहा करता है, दूसरोंमें स्वार्थ। अतः एक तो दूसरेके वशमें हो जाता है और दूसरा उसके वशके बाहर रहता है। एक तो प्रेमवश दूसरेके सुख-सन्तोषके प्रयत्नमें रहा करता है, दूसरा उसके सुख-सन्तोषकी वहींतक परवाह रखता है जहाँतक उससे स्वार्थसाधन होता है।

टिप्पणी—१ ***'अनहित तोर**....'* इति। (क) राजाने बारंबार कारण पूछा पर वह न बोली; तब जहाँतक उनको कोपका कारण समझ पड़ा वह सब आप ही कह चले। ***'केहि दुइ सिर'*** अर्थात् वह कौन है जिसने सिर काटे जानेका भय न किया, यथा—***'दुइ माथ कहि रतिनाथ जेहि कहुँ कोपि कर धनुसर धरा।'*** (१। ८४), इसपर न बोली तब समझे कि किसी रंकको नरेश करना चाहती है। उत्तर न मिलनेपर सोचा कि किसी राजापर कुपित है, अतः कहा कि किस नृपतिको देशसे निकाल दूँ, सो कहो। फिर भी न बोली तब कहा कि कोई देवता हो अमर हो तो उसे भी मार सकता हूँ। (ख)—***'कहु केहि रंकहि करौं नरेसू'*** से अनुग्रह दिखाकर तब निग्रह कहते हैं कि ***'कहु केहि नृपहिं**....।'* तात्पर्य यह कि तुम्हारी प्रसन्नता और अप्रसन्नता दोनोंका फल हम दे सकते हैं, रंकको राजा और राजाको रंक कर सकते हैं।

टिप्पणी २—राजा जानते हैं कि रानी धर्मात्मा है, किसी रंकको राजा बनानेको कहेगी, इसलिये रिसानी है, अथवा किसी राजाको देशसे निकालनेको कहेगी; अतएव यहाँ ***'कहु'*** पद देते हैं। और, आगे ***'सकउँ तोर अरि अमरउ मारी'*** में ***'कहु'*** पद नहीं दिया; क्योंकि रानी धर्मात्मा है, किसीको वध करनेको न कहेगी। (ग) ***'सकउँ तोर**....'* इति। सबको मारना सुगम है पर अमरको मारना अगम है, इसीसे यहाँ ***'सकउँ'***

पद देते हैं। (पूर्वार्धमें *'सकउँ तोर अरि अमरउ मारी'* कहकर *'काह कीट बपुरे नर-नारी'* अर्थात् मनुष्य क्या चीज हैं, वे तो मरे-मराये ही हैं, कहना 'काव्यर्थापत्ति अलंकार' है।)

वि० त्रि०—ये मानिनी स्त्रीको मनानेके लिये नर्ममें कहे हुए वचन प्रमाण नहीं हैं, इससे यह न समझना चाहिये कि राजाने स्त्रीके लिये न्यायको उठाकर ताकपर रख दिया। अतः इसके लिये राजा शपथ भी नहीं लेते। जिस बातके लिये शपथ लिया वे ये हैं, यथा—*'प्रिया प्रान सुत सरबस मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥ जो कछु कहौं कपट करि तोही। भामिनि राम सपथ सत मोही॥ बिहँसि माँगु मन भावति बाता। भूषन सजइ मनोहर गाता॥'*

जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मनु तव आनन चंद चकोरू॥ ४॥
प्रिया प्रान सुत सरबसु मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥ ५॥
जौं कछु कहउँ कपट करि तोही। भामिनि रामसपथ सत मोही॥ ६॥
बिहँसि मागु मनभावति बाता। भूषन सजहि मनोहर गाता॥ ७॥
घरी कुघरी समुझि जिय देखू। बेगि प्रिया परिहरहि कुबेषू॥ ८॥

शब्दार्थ—**बरोरू**=(वर+उरु) श्रेष्ठ जंघोंवाली, सुन्दरी। **आनन**=मुख। **सरबसु**=सर्वस्व, राज्य-साज सभी कुछ, सारी संपत्ति, जो कुछ मेरा है वह सब। **परिजन**=परिवार; कुटुम्बी; आश्रित या पोष्यवर्ग; वे लोग जो अपने भरण-पोषणके लिये किसी एक व्यक्तिपर अवलम्बित हों, जैसे स्त्री, पुत्र, सेवक आदि। **भावति**=अच्छी लगनेवाली। **सजहि**=शरीरपर सँवारकर पहनना, जो गहना जिस अंगका है उस अंगमें ठीकसे पहनना, अलंकृत होना, सजना कहलाता है। *'भूषन सजहि'* अर्थात् अपना शृंगार करो। **घरी कुघरी**=समय-कुसमय, मौका-बेमौका।

अर्थ—हे सुन्दरि! तू मेरा स्वभाव जानती है कि मेरा मन तेरे मुखचन्द्रका चकोर है॥ ४॥ हे प्रिये! प्राण, पुत्र, परिजन, प्रजा जो कुछ भी मेरा है वह सब तेरे वशमें है॥ ५॥ यदि मैं तुझसे कुछ कपट करके कहता हूँ तो हे भामिनि! मुझे रामजीकी सौ बार सौगन्ध है ॥ ६॥ हँसी-खुशीसे मनको भानेवाली वस्तु मुझसे माँग लो और सुन्दर शरीरपर आभूषण सजाओ॥ ७॥ अपने मनमें मौका-बेमौका (अवसर-कुअवसर) तो विचार देखो। हे प्रिये! कुवेषको शीघ्र ही त्यागो॥ ८॥

नोट— १ *'जानसि मोर सुभाउ'''* 'इति। भाव, तुम मेरे हृदयकी जानती हो कि मैं तुम्हारे वशीभूत हूँ, अपना बल जानती हो कि तुम्हारा कितना अधिकार मुझपर है, तब मुझे क्यों खिन्न कर रही हो, बोलती क्यों नहीं? तुम्हें मुझपर शंका न करनी चाहिए। यथा—'**जानासि त्वं मम स्वान्तं प्रियं मां स्ववशे स्थितम्। तथापि मां खेदयसे वृथा तव परिश्रमः॥**' (अ० रा० २। ३। ११), '**बलमात्मनि जानन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि।**' (वाल्मी० २। १०। ३५)।

टिप्पणी—१ ऊपर अन्यका हाल कहा, अब अपना हाल कहते हैं कि जैसे चकोर एकटक चन्द्रमाको देखता रहता है वैसे ही मेरा मन तेरे मुखको देखता रहता है, तेरे मुखचन्द्रपर मुग्ध और लुब्ध रहता है। तुम्हारे प्रेममें आसक्त हूँ। तात्पर्य यह कि सब मेरे बसमें हैं और मैं तुम्हारे बसमें हूँ। चन्द्र-चकोरकी उपमा देकर अनन्यता दिखाते हैं, आगेके *'बस तोरें'* शब्द इसके साथ भी हैं। अपना हाल कहकर अब जो अपने हैं उनका हाल आगे कहते हैं कि *'प्रिया प्रान सुत'''* '। *'मन तव आनन'''* 'में परम्परित रूपक है। [मयंककार कहते हैं कि इसमें यह भाव है कि 'मेरा मन-चकोर कौशल्यादि रानियोंके मुख-नक्षत्रको कभी नहीं देखता, तुम्हारे ही मुखचन्द्रकी सुधाका पान करता है। अर्थात् तुम सब रानियोंसे मुझे अधिक प्रिय हो। मयंककारका यह भाव वाल्मीकीयके '**न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव। इदानीं तत्तपति मां यन्मया सुकृतं त्वयि॥**' (१२। ७०), (अर्थात् तेरे भयसे मैंने सत्कार करनेयोग्य कौसल्याका सत्कार नहीं किया, आज मुझे इस बातसे कितना कष्ट हो रहा है) इन वचनोंसे पुष्ट होता है।]

टिप्पणी—२ *'प्रान सुत सरबस मोरें····।'* इति। प्रथम प्राण कहा, क्योंकि प्राण सबसे अधिक प्रिय है, यथा—*'देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं।'* (१। २०८। ४) प्राणके समीप सुतको कहा, क्योंकि सुत प्राणके समान ही प्रिय हैं, यथा—*'सब सुत प्रिय मोहि प्रानकी नाईं।'* (१। २०८) मुख्य प्राण और सुत हैं, उनसे कम सर्वस्व, परिजन और प्रजा हैं, अतः क्रमसे एकके बाद दूसरेको कहा। सर्वस्व अर्थात् कोश, राज, सेना आदि सब साज-समाज सब पदार्थ। *'सकल बस तोरें'* अर्थात् यह सब तुम्हारे अर्पण है। [भाव कि तुम्हारी इच्छाको इन सबको देकर पूर्ण करूँगा, इच्छाको अपूर्ण नहीं होने दूँगा। यथा—'**अहं च हि मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगाः। न ते कंचिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे॥**' (वाल्मी० २। १०। ३४) यहाँ 'कारणमाला' अलंकार है]।

टिप्पणी—३ *'जौं कछु कहउँ कपट करि तोही।'* इति। राजाने एक साथ बहुत-सी बातें कह डालीं। बहुत बातोंसे कपटकी सम्भावना होती है। रानी समझतीं कि हमारे प्रसन्न करनेके लिये ये सब बातें कपटसे (बनाकर) कह रहे हैं, राजा जितना कह रहे हैं उतना कर नहीं सकते। अतएव राजा कपटकी सफाईमें शपथ करते हैं कि *'जौं कछु····।'* मुझे रामजीकी सौ शपथ है अर्थात् मुझे सौ शपथका पाप लगे, मेरा सुकृत और स्नेह नष्ट हो जाय। यथा—*'तेहिपर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥'* (२८।७) पुनः 'सत शपथ' अर्थात् मुझे रामकी सत्य शपथ है वा समीचीन शपथ है। (श्रीरामजीकी शपथ करके जनाया कि श्रीरामजीसे अधिक प्रिय राजाको कोई और नहीं। यथा—'**अवलिप्ते न जानासि त्वत्तः प्रियतरो मम। मनुजो मनुजव्याघ्राद्रामादन्यो न विद्यते॥**' (वाल्मीकि० २।११।५) '**तेनाजय्येन मुख्येन राघवेण महात्मना। शपे ते जीवनार्हेण ब्रूहि यन्मनसेप्सितम्॥**' (६) अर्थात् मनुष्यश्रेष्ठ, अजेय, जीवनसे भी श्रेष्ठ महात्मा रामको छोड़कर तुमसे अधिक और कोई भी प्रिय नहीं है सो उनकी शपथ तुम्हारे लिये मैं करता हूँ, तुम बताओ कि क्या चाहती हो? पुनः भाव कि जिनके बिना मैं जी नहीं सकता उनकी शपथ करता हूँ, इससे तुम मेरे हृदयकी अवस्था जान लो और मुँहमाँगा माँगकर मेरा उद्धार करो। यथा—'**यं मुहूर्तमपश्यंस्तु न जीवे तमहं ध्रुवम्। तेन रामेण कैकेयी शपे ते वचनक्रियाम्॥**' (७) '**भद्रे हृदयमप्येतदनुमृश्योद्धरस्व मे।**' (वाल्मी० २। ११। ९) वाल्मीकीयमें पाँच श्लोकोंमें इस स्थानपर रामशपथका उल्लेख है। मानसमें *'राम सपथ सत'* कितना अधिक गौरवका है। प्रत्येक शपथमें भाव निकालते जाइये)।

नोट—२ 'भामिनी' शब्द भी यह सार्थक है। वास्तविक अर्थ 'मानवती-क्रोधवती' यहाँ घटित होता है। (मा० सं०)

टिप्पणी—४ *'बिहँसि माँगु···मनोहर गाता'* इति। प्रथम मुख, नेत्र, वचन, गमन (चाल) ओर उरु, इनको सुन्दर कहा, यथा—*'बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि। कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर॥'* (२५) *'जानसि मोर सुभाउ बरोरू।'* अब सारे शरीरको सुन्दर कहते हैं—*'भूषन सजहि मनोहर गाता।'* तात्पर्य कि राजा कैकेयीके रूपपर आशिक (आसक्त) हैं, इसीसे बार-बार उसके स्वरूपकी सुन्दरता वर्णन करते हैं। कैकेयी रुष्ट है—*'मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि···।'* अतः राजा कहते हैं कि रिस छोड़कर प्रसन्न हो और हँसकर वर माँगो। पुनः, *'मनोहरगाता'* कहकर सूचित करते हैं कि तुम्हारा शरीर तो सहज ही, बिना गहनेके ही मनको हर लेता है तो भी आभूषण धारण करो।

टिप्पणी ५— इस दोहेमें कैकेयीको राजाने पाँच विशेषण दिये— *'सुमुखि', 'सुलोचनि', 'पिकबचनि', 'गजगामिनि'* और *'बरोरू'।* इनका अभिप्राय यह है कि हे सुमुखि, हे सुलोचनि, हमारी ओर देखो; हे पिकवचनी! हमसे बोलो; हे गजगामिनि, हे वरोरू! यहाँसे शयनागारमें चलो और हमसे विलास करो। (नोट—यहाँ कामियोंकी दीनता दिखलायी है।)

नोट—३ *'माँगु मन भावति बाता। भूषन···'* यहाँ यह कहा और आगे कहते हैं कि *'भामिनि भयउ तोर मन भावा।'* इससे जान पड़ता है कि कैकेयी राजासे पूर्व कई बार राम-राज्याभिषेकके लिये कह चुकी हैं, अतः राजा समझते हैं कि वही बात इस समय भी माँगना चाहती है, उसीके लिये रूठी है।

अतः, *'माँगु मन भावति बाता'* कहा। राजा इन वचनोंमें धोखा खा गये। धोखेहीसे उन्होंने यह बात कह डाली। वे इसी धोखेमें रहे कि रामराज्य ही इसके मनको भाया हुआ है, जैसे वे स्वयं ही आगे कह रहे हैं—*'भामिनि भयउ तोर मन भावा"" रामहि देउँ कालि जुबराजू।'*

नोट—४ *'घरी कुघरी समुझि""'* इति। अर्थात् यह रामराज्याभिषेकका शुभ अवसर है, शुभ घड़ीमें क्रोध नहीं किया जाता और तुम ऐसे मंगलसमयमें कोपभवनमें पड़ी कुवेष धारण किये हो। यह घड़ी शृंगारसे सुसज्जित होनेकी है न कि कुवेषधारण या कोप करनेकी। राज्याभिषेक और शृंगारके योगसे 'घड़ी' और कोप एवम् कुवेषके सम्बन्धसे 'कुघड़ी' कहा। घड़ी-कुघड़ी, मौका-बेमौका, यह मुहावरा है।— इसमें 'ललित' अलंकार है।

टिप्पणी—६ (क) क्रोध और कुवेषके लिये कुघड़ी बनायी गयी है। यह क्रोध और कुवेष करनेकी घड़ी नहीं है वरन् रामजीको राज्य देनेकी घड़ी है, यही आगे कहते हैं— *'रामहिं कालि देउँ जुबराजू।'* जिसे समझ देखो कि तुम्हारे मनकी बात हुई, कल रामराज्याभिषेक होगा यह घड़ी सुन्दर शरीरमें भूषण-वस्त्र सजनेका है—इस कथनसे सूचित होता है कि राजाको मालूम नहीं है कि कैकेयीके यहाँ तिलककी खबर नहीं पहुँची; इसीसे वे कहते हैं कि मंगल समयमें अमंगल-वेष बनाये हो (ख)—*'बेगि परिहरहि कुबेषू'* क्योंकि तुम्हारा कुवेष देखकर मुझे दारुण दुःख हो रहा है, यथा—*'देखि दसा दुख दारुन भयऊ'* कुवेष देखा नहीं जाता।

बाबा हरिदासजी यह घड़ी कुघड़ी है अर्थात् तुम्हारा कुवेश हमें क्षण-क्षणमें क्लेश दे रहा है।

दो०—यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि बिहँसि उठी मतिमंद।
भूषन सजति बिलोकि मृगु मनहुँ किराततिनि फंद॥ २६॥

अर्थ—यह सुनकर और मनमें इस शपथको बहुत बड़ी (वा, इस बड़ी शपथको) विचारकर मन्दबुद्धि कैकेयी हँसती हुई उठी और शरीरपर गहने ऐसे सजाने लगी मानो भीलनी मृगको देखकर फंदा सजा रही हो॥ २६॥

नोट—१ *'सपथ बड़ि'* इति।—बड़ी क्योंकि राम-शपथ, सो भी सौ बार। मन्थराने तो एक बार शपथ करनेपर वर माँगनेको कह दिया था और यहाँ की गयीं सौ, अतः शपथको 'बड़ी' कहा। यह शपथ बड़े महत्त्वकी है। (वाल्मी० २। ११। ५—९ देखिये) ऐसी शपथपर भी विश्वास न कर अपने स्वामीपर आघात करने चली; अतः *'मतिमन्द'* कहा। *'गुनि'* अर्थात् विचारकर कि मन्थराने जो कहा था उससे भी बड़ी सौगन्द यहाँ हुई, अब वर माँगनेका योग लगा, यही उसके लिये उचित अवसर है।

टिप्पणी—१ (क) *'बिहँसि उठी'*— पृथ्वीपर पड़ी थीं, अतः उठना कहा। राजाने कहा था कि *'बिहँसि माँगु',* और राम-शपथ की। यह उसके मनकी बात पूरी हुई (क्योंकि मन्थराने सुझा रखा था कि राम-शपथ जबतक न करें तबतक वर माँगना) अतः *'बिहँसि उठी'।* (ख) कैकेयी 'मतिमन्द' है। जब राजा बोले कि *'प्रिया प्रान सुत सरबस मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥ जौं कछु कहउँ कपट करि तोही। भामिनि रामसपथ सत मोही॥'* तब यह सुनकर उसे समझ लेना था कि राजा और ये सब हमारे वशमें हैं तब वर माँगनेका प्रयोजन ही क्या? वर माँगनेसे कौन वस्तु अधिक मिलेगी? उसे विश्वास कर लेना था कि राजा निष्कपट हैं, वे सत्य ही कह रहे हैं, अब वर माँगनेकी आवश्यकता नहीं रह गयी। पर उसे यह कुछ न समझ पड़ा। वह ऐसे अनुकूल पतिको भी मारनेको उद्यत हुई; अतः उसे *'मतिमंद'* कहा (ग) यहाँ राजा मृग, कैकेयी किराततिनी और आभूषण फंदे हैं। राजाके फँसानेके लिये आभूषण सज रही है; तात्पर्य कि भूषण पहननेसे राजा प्रसन्न होकर वर देंगे, जो कहा न करूँगी और आभूषण न पहनूँगी तो वर न देंगे। स्त्रीका आभूषण पुरुषकी फाँसी है।

नोट—२ (क) यहाँ राजाको मृगकी उपमा दी; क्योंकि मृग नहीं जान पाता कि वह फाँसा जा रहा है। वैसे ही राजा कैकेयीके अन्त:करणका मर्म न जान पाये। वे न समझ सके कि इसका हँसना और शरीरको आभूषणोंसे अलंकृत करना हमें केवल धोखेमें डालने और असावधान करनेके लिये है—। (उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार), (ख) इसको वाल्मीकीयके **'वाङ्मात्रेण तदा राजा कैकेय्या स्ववशं कृतः। प्रचस्कन्द विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः॥'** (२।११।२२) अर्थात् वचनोंके द्वारा कैकेयीके वशमें हुए राजा अपने विनाशके लिये मृगके समान पाशके पास गये— इस श्लोकसे मिलान करके देखिये कि किसमें अधिक चमत्कार है। वाल्मी० और अ० रा० में आभूषणोंके सजनेकी चर्चा नहीं है। वहाँ कैकेयीका वचनबद्ध होना ही पाश है।

पुनि कह राउ सुहृद जिय जानी। प्रेम पुलकि मृदु मंजुल बानी॥ १॥
भामिनि भयउ तोर मन भावा। घर घर नगर अनंद बधावा॥ २॥
रामहि देउँ कालि जुबराजू। सजहि सुलोचनि मंगल साजू॥ ३॥

शब्दार्थ—**सुहृद** (सुहृत्)=अच्छे हृदयवाली, निष्कपट, मित्र। 'मंगलसाज' अर्थात् मंगल-कलश सजना, चौके पूरना इत्यादि—दोहा ८, ८ (२) देखिये।

अर्थ—अपने जीमें कैकेयीको सुहृद् जानकर प्रेमसे पुलकित हो सुन्दर कोमल वाणी राजा पुनः बोले॥ १॥ हे भामिनि! तेरा मनभाया हुआ। नगरमें घर-घर आनन्द-बधावे हो रहे हैं॥ २॥ मैं कल ही रामको युवराज पद दे रहा हूँ। हे सुनयनी! मंगलसाज सजो॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) ***'सुहृद जिय जानी'''' '*** इति। सुहृद् कैसे जाना? इस तरह कि जो आज्ञा उसे दी उसने उसका पालन किया। ***'बिहँसि माँगु मनभावति बाता'*** कहा था सो उसे सुनकर वह ***'बिहँसि उठी'*** और दूसरी आज्ञा दी थी कि ***'भूषन सजहि मनोहर गाता'*** उसे सुनकर भूषण पहनने लगी। राजा समझे कि हमारी खुशीमें वह भी खुश है, हमारी हितकर्त्री है। (ख)—***'जिय जानी'*** का भाव कि राजा अपने जीमें जानते हैं कि वह सुहृद् है पर वह सुहृद् है नहीं, उसने आज्ञाका पालन सुहृदतासे नहीं किया। किन्तु मनकी बात हुई इससे विहँसी और राजाको फँसाना है इससे भूषण सजे, यथा—***'भूषन सजति बिलोकि मृग मनहु किरातिनि फंद।'***

टिप्पणी—२ ***'भामिनि भयउ तोर मन भावा।'''' '*** इति। (क) इससे सूचित हुआ कि कैकेयीने किसी समय राजासे कहा था कि हमारे मनमें ऐसा है कि आप रामको राज्य दें। इसीसे राजा कहते हैं कि तेरा मनभावा हुआ। ***'भयउ तोर मन भावा', 'बिहँसि माँगु मन भावति बाता'*** यह बात राजा धोखेमें कह गये, क्योंकि वे समझते हैं कि इसे रामराज्य भाता है वही यह माँगेगी। प्रथम ***'मन भावति बाता'*** माँगनेको कहा था और अब आप ही उसकी ***'मन भावती'*** बात कहते हैं कि ***'भामिनि—रामहि देउँ कालि जुबराजू।'*** (२७।३) देखिये। (ख)—***'आनन्द बधावा'***=आनन्द और बधावा। अर्थात् आनन्द-सम्बन्धी बधाइयाँ बज रही हैं। भाव यह कि अन्य सब लोग आनन्द मानते-मनाते हैं और यह तो तुम्हारा ही काम है, यथा—***'भयउ तोर मन भावा'***, ***'राम तिलक जौं साँचेहु काली। देउँ माँगु मन भावति आली॥'*** (१५।४) अतः तुम्हें, आनन्दमंगलका साज तो स्वयं स्वाभाविक ही सजाना चाहिये था। देखो अन्य-अन्य लोग मंगलसाज सज रहे हैं और तुम्हारे तो परमप्रिय पुत्रका ही तिलक हो रहा है, तुम्हें तो सबसे प्रथम ऐसा करना उचित था, सो तू अमंगलसाज सजाये हुए हो।

टिप्पणी ३ ***'रामहि देउँ कालि'''' '*** इति। राजा रानीको प्रसन्न करना चाहते हैं, रानीकी प्रसन्नताकी सब बातें सुना रहे हैं। रामराज्य रानीको प्रिय था सो प्रथम सुनाया, उसके जल्दी होनेकी खबरसे वह अत्यन्त प्रसन्न होगी; अतः कहा कि ***'देउँ कालि'*** अर्थात् कल ही तिलक होगा। कल तिलक है अतएव आज मंगल सजो। ऊपर दोहा २३ में कहा था कि ***'प्रमुदित पुर नर नारि सब सजहिं सुमंगलचार'*** उस ***'सुमंगलचार'*** शब्दका

अर्थ यहाँ स्पष्ट किया। सुमंगलचार=सुमंगलसाज। देखिये, जब राजाने कहा कि *'भूषन सजहि मनोहर गाता'* तब वह भूषण सजने लगी, पर जब कहा कि *'सजहि सुलोचनि मंगलसाजू'* तब उसने मंगल सजना न प्रारम्भ किया। इस बातसे राजाको समझ लेना था कि उसका *'विहँसि उठना'* और *'भूषण सजना'* कपटपूर्ण था, उसने अपने कपटको हँसकर छिपाया है, यथा—*'ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई'।* राजा यह कुछ न समझे। उसको रामतिलक सुनकर असह्य पीड़ा हुई, जिसे उसने हँसकर दबा दिया और राजा उलटा समझे कि वह रामराज्य सुनकर प्रसन्न हुई है।

नोट—*'देउँ कालि'* से भी इस बातकी पुष्टि होती है कि कैकेयी पूर्व रामराज्यके लिये कह चुकी थीं। अत: राजा कहते हैं कि तुम रूठो मत, मैं तुम्हारा मनभाया पदार्थ आप ही दे रहा हूँ, तुम्हें माँगनेकी भी जरूरत न पड़ेगी, जो तुम माँगना चाहती हो वही तो हम कर रहे हैं। राजाको पूर्ण विश्वास है कि वह यही माँगेगी। अत: कहते हैं कि *'देउँ'* अर्थात् मैं दे रहा हूँ; अब इसमें किंचित् सन्देह न जानो। *'देउँ'* कहा, क्योंकि रानीको सन्देह है, यथा—*'माँगु माँगु पै कहहु प्रिय कबहुँ न देहु न लेहु।'*

दलकि उठेउ सुनि हृदउ कठोरू। जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू॥ ४॥
ऐसिउ पीर बिहँसि तेहिं* गोई। चोर नारि जिमि प्रगटि न रोई॥ ५॥

शब्दार्थ—*'दलकना'*=(१) फट जाना, दरार खाना, चिर जाना, यथा—*'तुलसी कुलिसकी कठोरता तेहि दिन दलकि दली'*= (२) थर्राना, काँपना। यथा—*'महाबली बालिको दबतु दलकत भूमि तुलसी उछरि सिन्धु मेरु मसकतु हैं'* (३) चौंकना, उद्विग्न हो उठना। (उदाहरण)—*'दलकि उठेउ सुनि बचन कठोरू', कैकेयी अपने करमनको सुमिरत हियमें दलकि उठी'*— (देवस्वामी) (श० सा०)। = टपकने लगना, पीड़ा होना—(दीनजी)। *'दलकि उठेउ'*=असह्य ठेस लगी—(दीनजी), मानसी वेदना हुई। **बरतोरू**= बलतोर= बलतोड़, रगड़ आदिसे शरीरका रोआँ (बाल) टूटनेसे प्राय: उस जगह फुन्सी-फोड़ा निकल आता है, जिसे बलतोड़ कहते हैं। यह फोड़ा बड़ा कष्ट देता है, छू जाने या दब जानेसे इसमें बड़ी असह्य जलन और पीड़ा-वेदना होती है। *'पीर'*= पीड़ा, व्यथा। *'गोई'*=छिपाई।

अर्थ—यह सुनते ही उसका कठोर हृदय दलक उठा, मानो पका हुआ बलतोड़ छू गया हो॥ ४॥ ऐसी भारी पीड़ा भी उसने हँसकर छिपा ली, जैसे *'चोर नारि'* प्रत्यक्ष नहीं रोती॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'दलकि उठेउ सुनि हृदउ कठोरू⋯'* इति। (क)—सब पके फोड़ोंसे पके बलतोड़में अधिक पीड़ा होती है, उसपर यह बलतोड़ तो अभी कच्चा ही है, आजकी ही रात्रिमें पैदा हुआ है, इसीसे 'कठोर' कहा। यहाँ कठोर हृदय 'बरतोर पाका' है। पुन:, (ख) भाव कि रामराज्य सुनकर उसका हृदय कठोर होनेपर भी दलक उठा। जैसे पके हुए बलतोड़के छू जानेसे असह्य पीड़ा होती है, मनुष्य काँप उठता है; वैसे ही उसे पीड़ा हुई, वह काँप उठी। जो दूसरेका काम बिगाड़ता है उसका हृदय कठोर होता है और बलतोड़ भी पहले कठोर होता है, पीछे पकनेपर 'गुलगुलाता' है। और, जैसे उसमें मुलायमत बनी रहती है वैसे ही परहितकी हानि करनेवालोंके हृदयमें पराया अकाजरूपी मुलायमत रहती है। (मलके रहते सुख नहीं) (ग) *'छुइ गयउ'*—भाव कि रामतिलक होनेकी पीर तो उसे आगेसे ही थी, अब राजाके सुनानेपर पीड़ा अधिक बढ़ गयी; जैसे बलतोड़में पीड़ा तो रहती ही है पर छू जानेसे पीड़ा बढ़ जाती है। मन्थराने पूर्व जो कहा था कि *'रामहि तिलक कालि जो भयऊ। तुम्ह कहँ बिपति बीज बिधि बयऊ॥'* वही बात राजाने कही कि *'रामहि कालि देउँ जुबराजू',* इसीसे सुनकर उसके हृदयमें पीड़ा हुई।

'ऐसिउ पीर बिहँसि तेहिं गोई।⋯' इति। भारी पीड़ामें रोना आता है, वह रोई नहीं वरन् हँस दी, हँसकर पीड़ाको हृदयमें छिपा लिया। यद्यपि बहुत बड़ी पीड़ा है तथापि उसको दबाया, क्योंकि यदि राजा

* 'उर गोई'—(पं० रामकुमार)। तेइ—मा० दी० (बाबा रघुनाथ दास)। तेहिं—राजापुर, रा० प०, १७६२, छ०।

जान गये कि रामतिलक सुनकर इसके हृदय में पीड़ा हुई है तो वे कदापि वर न देंगे। हँसकर छिपाया, जिससे राजा समझें कि रामराज्य सुनकर प्रसन्न हुई है।

'चोर नारि जिमि प्रगट न रोई'—

दीनजी—*'**चोर नारि**'*— चोरीसे व्यभिचार करनेवाली स्त्री, परकीया नायिका। परकीयाका उपनायक यदि क्षतिग्रस्त हो पकड़ जाय या किसी आपत्तिमें पड़ जाय या मर जाय तो वह व्यभिचार खुल जानेके भयसे सबके सामने नहीं रोती।*

२—पुरुषोत्तम रामकु०—चोरकी स्त्री चोरके पकड़ जानेपर प्रकट नहीं रोती, क्योंकि प्रकट रोवे तो आप भी धरी जाय और माल भी जाय। वैसे ही कैकेयी यदि रामराज्य सुनकर व्यथा करे तो यह भेद खुल जाय, राजा जान जायँ कि यह कपट कर रही है, फिर वे इसका विश्वास न करेंगे, रानीको सजा हो और भरतको राज्य न मिले।

३—पण्डितजी—(१) चोर नारिके *'**धिया**'* (=जार?) पतिका सिर काट लिया गया। यदि वह प्रगट रोवे तो *'**धइ परै**'* (पकड़ी जाय) उससे दण्ड लिया जाय, सब जान जायँ कि इससे आशनाई थी नहीं तो 'अनचिन्हार' (जिसे वह जानती नहीं, जिससे कोई ताल्लुक नहीं) उसके लिये क्यों रोती? इसी प्रकार रामराज्य सुनकर यदि कैकेयी व्यथा करे तो राजा पकड़ लें कि यह कपट करती है *'**भरे न परै**'* (१) वे विश्वास न करें (२) अथवा, 'जैसे चोर नर होवे वैसे ही रानी चोर नारि (चोट्टी स्त्री) है, पतिसे कुछ काम नहीं। राजाका राज्य-सर्वस्व लेना चाहती है, रामको राज्य मिलना मानो सर्वस्वका उसके हाथसे निकल जाना है, यदि रानी रोवें तो राजा जान लें कि यह रामराज्यके विरुद्ध है, राज्य छीनेगी तब सर्वस्व जाता रहेगा।' (खर्रा)

४—बाबा हरीदासजी— दूतिकाके फन्देमें पड़कर किसी स्त्रीका पर पुरुषसे प्रेम-सम्बन्ध हो जानेपर यदि पति-पुत्र, परिवारको मालूम हो गया, ग्राममें उसका शोर मच गया तो पति-पुत्र आदि सभी उसे छोड़ देते हैं; इसी भयसे वह गुप्त रोती है, प्रकट नहीं। साथ ही इसके पीछे खुल जानेपर उसका उपनायक भी उसे छोड़ देता है तब वह रोती है। जबतक उसने न छोड़ा तबतक वह मन-ही-मन रोती है, यह दृष्टान्त है। अब दार्ष्टान्त सुनिये। कैकेयीकी मति *'**चोर नारि**'* है, मन्थराकी मति दूतिका (कुटनी) है। राजासे चुराकर अर्थात् उनका मत छोड़ कुमतरूपी परपुरुषसे उसका सम्बन्ध दूतिकाने कराया। यह चर्चा नगरमें फैली। तब भरत और राजा, पुत्र और पति, दोनोंहीने उसको त्याग दिया; पीछे फिर कुमत भी उसे छोड़ अलग हो गया। तब कैकेयी रोयी, यथा— *'**अवनि जमहिं जाँचति कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई॥**'* (२५२। ६) *'**गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषन देई॥**'* (२७३। १)

'चोरकी स्त्री' ऐसा अर्थ करनेमें यह विरोध होता है कि चोर नारि और चोरका मत एक ही होता है और यहाँ राजा-रानीका मत दो (पृथक्-पृथक्) है। पुनः जो चोरकी स्त्री ही चोरको मारे तो रोना कैसे बने? यहाँ दृष्टान्तमें राजा चोररूप हैं और कैकेयी चोर नारिरूप है; वही राजाको मारती है; यथा—*'**लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवन लेइहि मोरा।**'*— तो रानीका रोना कैसे बने?

५— श्रीनंगे परमहंसजी—कैकेयीने हँसकर ऐसी असह्य पीड़ा को किस भाँति छिपा दिया, जैसे चोर स्त्री अपने पतिसे चोरी करके परपतिपर आसक्त होकर उससे सुख भोगना चाहती हो, परन्तु किसी कारणवश उसकी मृत्यु हो जाय तो उसके नष्ट हो जानेका समाचार सुनकर वह भीतर-ही-भीतर दुःखी होकर रोवे, कारणकि उसका रोना प्रकट हो जानेसे उसकी चोरी खुल जायगी। वैसे ही कैकेयी अपने पतिदेव राजा

---

* यही भाव श्रीबैजनाथजी, काष्ठजिह्वास्वामी, बाबा हरिहरप्रसादजी, आदि कई महानुभावोंने लिखा है 'अर्थात् चोर-नारि'= पतिवंचक स्त्री, जो जारपति-(पर-पुरुष) से प्रीति करे, कुलटा। अयोध्याविन्दुमें काष्ठजिह्वास्वामीजी लिखते हैं— 'चोर नारि व्यभिचारिन नारि। जो पर पुरुषहिं भजु चोरीसे अपनी तोष विचारि॥ जार पुरुषके दुःखसे वाको लगत मनहुँ तरवारि। देवरसे हँसि पीर छपावत रानी तेहि अनुहारि।'

दशरथ से वंचकता करके राजवैभवपर प्रेमासक्त होकर उसीकी प्राप्तिसे सुख उठाना चाहती है। जब राजाने यह कहा कि *'रामहि देउँ कालि जुवराजू। सजहि सुलोचनि मंगल साजू।'* तब कैकेयीका हृदय दलक उठा। कारण कि अभीष्ट नष्ट हो जानेका समाचार श्रवणमें पड़नेसे उसने महान् पीड़ा उत्पन्न कर दी। अतएव उसने उस पीड़ाको छिपा लिया जिससे *'लखी न भूप कपट चतुराई।'*

'चोर नारि' का 'चोरकी स्त्री' अर्थ करना असंगत है। क्योंकि ऐसा कहनेसे राजा दशरथ चोरकी उपमामें आ जाते हैं। पहले तो यह अयोग्य है कि कपट तो कैकेयी कर रही है कि मेरी चोरी राजाको प्रकट न हो और चोर राजाको बना देना, जो निष्कपट सरल हृदयसे स्वयं रामजीको युवराजपद देनेका समाचार दे रहे हैं। दूसरे चोरके पकड़े या मारे जानेपर चोरकी स्त्रीको प्रकट न रोनेका मिलान भी यहाँ कदापि मेल नहीं खाता, क्योंकि दशरथके लिये किसी दु:खके कारण कैकेयीको पीड़ा होना नहीं कहा जा रहा है। तीसरे चोरकी स्त्रीको गैरसे प्रेम प्रकट होनेमें भय बताया जा रहा है। परन्तु अपने पति चोरसे वह क्या छिपायेगी और यहाँ कैकेयी पतिसे ही पीड़ा छिपा रही है।

६— पाँड़ेजीने दोनों अर्थ दिये हैं—चोरकी स्त्री; जो चोरीसे दूसरेकी स्त्री बन गयी हो।

७— पं० रामकुमारजी, बिनायकराव आदि कुछ महानुभावोंने 'चोरकी स्त्री' ऐसा अर्थ किया है। चोरकी स्त्री अपने और अपने परिवारके पकड़ जानेके भयसे प्रकट नहीं रोती। इसपर दूसरे संदेह करते हैं कि जब चोर पकड़ ही गया तब उसकी स्त्री क्यों न रोवेगी? वह अवश्य उसके बचानेका प्रयत्न करेगी। और फिर *'चोर नारि'* का अर्थ 'चोर स्त्री' 'चोट्टी' (चुरानेवाली) स्त्री करते हैं और उसपर यह दृष्टान्त देते हैं कि एक चोट्टी स्त्री कुतिया बनकर एक मुसाफिरकी चोरी करने गयी, वह जाग पड़ा और कुतियाको लाठी मारी जो उसको लगी। वह चोटसे मन-ही-मन व्यथा सहती है, पर प्रकट नहीं रोयी कि कहीं मुसाफिर जान न जायँ। (रा० प्र० से उद्धृत)

विनायकीटीकाकार 'चोरकी स्त्री' इस अर्थका निर्वाह यों करते हैं कि 'जब कभी वज्र चोर सेंध लगाकर किसी धनवान्‌के घर दबे पाँव घुसते पकड़ जाता है तो उसके साथी, यदि उसको छुडानेमें सफल न हुए तो उसका सिर काट लेते हैं, जिसमें पता न लगे कि वह और उसके साथी कौन थे। उसकी स्त्री यह समाचार पाकर दु:खके कारण मन-ही-मन रोती है, प्रकट नहीं रो सकती, क्योंकि प्रकट रोनेसे भेद खुल जायगा।

लखहिं* न भूप कपट चतुराई। कोटि कुटिलमनि गुरू पढ़ाई॥ ६॥
जद्यपि नीति निपुन नरनाहू। नारि चरित जलनिधि अवगाहू॥ ७॥
कपट सनेहु बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी॥ ८॥

शब्दार्थ—'**कुटिलमनि**'=कुटिलोंमें शिरोमणि, सिरताज वा श्रेष्ठ। **निपुन** (निपुण)=प्रवीण, कुशल। **जल-निधि**= जलका खजाना, समुद्र। '**अवगाह**'=अथाह, अगाध, बहुत गहरा। **मुँह मोरी**=मुँह मोड़कर, नखरेसे मुँह टेढ़ा करके, मुँह बनाकर, मटकाकर। *'सनेहु बढ़ाई'* अर्थात् स्नेहकी चेष्टा दर्शाकर। *'नयन मुँह मोरी'* अर्थात् नेत्रोंसे कटाक्ष करके नाज-नखरेके साथ, विलास हाव-भाव दिखा तिर्छी चितवन करके।

अर्थ—राजा उसकी कपटपूर्ण चतुराईको नहीं भाँप सकते (क्योंकि) वह करोड़ों कुटिलोंकी सिरताज (मन्थरा ऐसी) गुरुकी पढ़ायी-सिखायी हुई है॥ ६॥ यद्यपि राजा नीतिमें निपुण हैं फिर भी स्त्री-चरित्र अथाह समुद्र है॥ ७॥ फिर कपटपूर्ण (झूठा) स्नेह अधिक दिखाकर, नेत्र और मुँह मोड़कर हँसती हुई वह पुन: बोली॥ ८॥

नोट—कैकेयीके कपटपूर्ण चातुर्यको राजा न भाँप सके। इसपर कवि कहते हैं कि वे कैसे लख पाते? क्या आप नहीं जानते कि वह कैसे उस्तादकी पढ़ायी हुई है? इसका गुरु करोड़ों कुटिलोंका सिरताज है, जो तन, मन, भीतर-बाहर, दोनोंसे कुटिल है, कोई साधारण गुरु नहीं है। यदि कहो कि

* लखी—पाठान्तर।

नीतिज्ञसे कपट नहीं छिप सकता, राजा उसकी चालोंमें कैसे आ गये? तो उसपर कहते हैं कि स्त्री-चरित्र भी तो अथाह समुद्र है, इसकी थाह कौन पा सकता है, बड़े-बड़े इसमें गोता खाते हैं। जैसा कहा है—'**स्त्रीचरित्रं पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः**' अर्थात् देवता भी नहीं जान सकते, फिर मनुष्य किस लेखेमें हैं। यहाँ 'काव्यलिंग अलंकार' है।

टिप्पणी—१ ***'लखहिं न भूप कपट चतुराई।'''' '*** इति। ***'कपट चतुराई'*** कहा क्योंकि भीतर कुछ है, बाहर कुछ, भीतर पीड़ा है, बाहर हँसी। ***'लखहिं न'*** कथनका भाव कि इस कपट-चतुराईका लखना सम्भव था, क्योंकि जिन-जिनने रामतिलक सुना वे सब प्रसन्न हुए और मंगल सजाने लगे, यथा—***'मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी', 'तेहि अवसर मंगल परम सुनि रहसेउ रनिवास', 'प्रेम पुलकि तनमन अनुरागीं। मंगलसाज सजन सब लागीं॥', 'रामराज अभिषेक सुनि हिय हरषे नरनारि। लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि॥'*** परंतु कैकेयीने रामराज्य सुनकर भी उसकी चर्चा न की, न राजाको धन्यवाद ही दिया और न मंगलसाज सजानेको उठी। इन सब लक्षणोंसे राजाको लख लेना चाहिये था, पर वे न लख पाये। क्यों न लखा? इसका कारण उत्तरार्द्धमें देते हैं कि ***'कोटि कुटिलमनि'''' '*** अर्थात् यह कपट-चतुराई रानीको न आती थी, मन्थराके सिखानेसे आयी है। जो कोटि कुटिलोंकी शिरोमणि है, ऐसी गुरु मन्थराकी पढ़ायी है, यथा—***'कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू।'***

[पुनः, भूपने न लख पाया, क्योंकि (१)— भू (पृथ्वी) जड़ है उसके पति हैं वे कपट-चतुराई क्या जानें? (२) रानी कपटमें चतुर है। उसे पक्का गुरु मिला है जो करोड़ो कुटिल मति (कुचालों)-में निपुण है। जैसे लोग परिश्रम करके वेदशास्त्र पढ़ते-पढ़ाते हैं वैसे ही इसने कुटिलपना पढ़ा है, उसका अच्छी तरह अभ्यास किया है। हालकी ही पढ़ी विद्या है, फिर कोई क्या लख सके? क्या पढ़ाया है? यह कि ***'काज सँवारेहु सजग होइ सहसा जनि पतियाहु'।*** —(पण्डितजी)]

टिप्पणी—२ ***'जद्यपि नीति निपुन नरनाहू।'''' '*** इति। राजा कैकेयीकी कपट-चतुराई लख न सके इससे राजापर अज्ञानका दोष लगता है; अतः कहते हैं कि राजा नीतिमें निपुण हैं, पर स्त्रीचरित ऐसा ही अथाह है कि उसकी थाह कोई नहीं पा सकता। ***'कपट चतुराई'*** स्त्रीचरित है।

प० प० प्र०— ***'नरनाहू'*** का भाव कि जो सामान्य नरोंके समान होगा वह नरनाथ होनेपर नारिचरित जलनिधिकी थाह नहीं पा सकेगा।

टिप्पणी—३ ***'कपट सनेहु बढ़ाइ'''' '***इति। स्नेहसे कपट दिखानेभरका है; हृदयमें नहीं है, स्नेह बढ़ाया जिसमें राजा प्रसन्न होकर वर दे दें। इसके तन-मन-वचन तीनोंमें कपट भरा है— 'कपट-सनेह बढ़ाना' मनका कपट है, ***'बोली बिहँसि'*** यह वचनका कपट है और ***'नयन मुँह मोरी'*** यह तनका कपट है।

टिप्पणी—४ इस प्रसंगमें कैकेयीका विहँसना कई बार लिखा है—***'यह सुनि मन गुनि सपथ बढ़ि बिहँसि उठी मति मंद', 'ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई', 'बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी', 'बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली।'*** तात्पर्य यह कि हँस-हँसकर इसने राजाका मन हर लिया, इस प्रकार अपना कार्य सिद्ध किया।

दो०—माँगु माँगु पै कहहु पिय कबहुँ न देहु न लेहु।
देन कहेहु बरदान दुइ तेउ पावत संदेहु॥ २७॥

शब्दार्थ— **देहु न लेहु**=देते-लेते नहीं— यह मुहावरा है* **पै**=निश्चय, अवश्य, जरूर ही, यथा—***'सुख पैहैं कान कहे बतियाँ कल आपुसमें कछु पै कहिहैं'।*** =पर, परन्तु। **कबहुँ न**=कभी भी, यथा—***'नाहिंन राम राजके भूखे।'*** (५०।३) में '**नाहिंन**'=नहीं ही।

---

* इसका अर्थ किसी-किसीने यह किया है—'कभी ऐसा कहकर नहीं देते कि लो न' (हम तो देते हैं)। पं० रामकुमारजी एक भाव यह कहते हैं कि 'न वर देते न यश लेते हो। वर देनेमें यश है और न देनेमें अपयश। यथा— 'देन कहेउ अब जनि बर देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू'॥'

अर्थ— हे प्रियतम! आप 'माँगो, माँगो' यह तो जरूर कहा ही करते हैं, पर देते-लेते कभी कुछ नहीं। आपने दो वर देनेको कहा था, उनके भी पानेमें (मुझे) संदेह है॥ २७॥

टिप्पणी—१ *'तेउ पावत संदेहु'* इति। (क) जैसा कैकेयीके हृदयमें है वैसा ही मुखसे निकल रहा है। भरतका राज्य और रामका वनवास माँगनेकी वासना हृदयमें है, इनके पानेमें संदेह है, वही वह मुखसे कह रही है। राजाने कहा था *'बिहँसि माँगु मन भावति बाता'* इसीपर वह ऐसा कह रही है। (ख) पुनः, *'तेउ पावत संदेहु'* का भाव कि किसी प्रकार मेरे ऐसा कहनेपर राजा अपने मुखसे कह दें कि इसमें कुछ सन्देह नहीं है, सन्देह न करो, तुम वर माँगो,हम अवश्य देंगे। पुन: [(ग) सन्देह है सो ठीक ही है। देखिये एक वर आखिर अच्छी तरह राजी-खुशीसे नहीं ही दिया—राम-वनवास। श्रीरामजी अपनी जोरावरीसे चले गये। कैकेयी यह जानती है कि साठ हजार वर्षमें जो सुकृत किये वे भले ही नष्ट हो जायँ, सुयश जाता रहे, पर राजा रामजीको वन जानेको न कहेंगे; यथा—*'अजस होउ जग सुजस नसाऊ। नरक परउँ बरु सुरपुर जाऊ॥ सब दुख दुसह सहावहु मोहीं। लोचन ओट राम जनि होहीं॥'* (४५। १-२), *'नृपहिं प्रानप्रिय तुम्ह रघुबीरा। सील सनेह न छाड़िहि भीरा॥ सुकृत सुजस परलोक नसाऊ। तुम्हहिं जान बन कहिहिं न काऊ। अस बिचारि सोइ करहु जो भावा।'····· 'राम तुरत मुनिबेषु बनाई। चले जनक जननिहि सिरु नाई॥'* (७९। ३। ८) अतएव पानेमें सन्देह बताती है।]

जानेउँ मरम राउ हँसि कहई। तुम्हहि कोहाब परम प्रिय अहई॥ १॥
थाती राखि न माँगिहु काऊ। बिसरि गयउ मोहि भोर सुभाऊ॥ २॥
झूठेहुँ हमहि दोष जनि देहू। दुइ कै चारि माँगि मकु[१] लेहू॥ ३॥
रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचनु न जाई॥ ४॥

शब्दार्थ—**मरम** (मर्म)=भेद, अभिप्राय, मतलब। **कोहाब** (कोह=क्रोध)=रूठना, मान करना। **अहई**=है। **कै**=के बदले, के। **मकु**=चाहे, भले ही, बल्कि, यथा—*'तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई। गगन मगन मकु मेघहि मिलई॥····मसक फूक मकु मेरु उड़ाई।'* (२३२। १—३) **बिसरि गयउ**=भूल गया, याद न रही। **झूठेहुँ**=झूठमूठ, झूठे ही। **बरु**=भले ही, चाहे, ऐसा हो जाय कुछ हर्ज नहीं, यह उत्तम है, यथा—*'बरु तीर मारहिं लषन पै······'*, *'सहज छमा बरु छाड़ै छोनी॥'* (२३२। २)

अर्थ—राजा हँसकर कहने लगे—अब मैं तुम्हारा मतलब समझा! मान करना तुम्हे अत्यन्त प्रिय है। (तुम मान करानेके लिये रूठा करती हो, जिसमें हम तुम्हें मनावें।)॥ १॥ थाती (धरोहर) रखकर तुमने कभी माँगा ही नहीं। भोला-भाला भुलक्कड़ स्वभाव होनेके कारण मुझे भूल गया॥ २॥ मुझे झूठे ही दोष न दो, चाहे दोके बदले चार (क्यों न) माँग लो॥ ३॥ रघुकुलकी सदासे रीति चली आ रही है कि प्राण भले ही चले जायँ पर वचन नहीं टल सकता। अर्थात् रघुवंशी प्रतिज्ञासे विचलित नहीं होते, झूठे नहीं होते, झूठे नहीं पड़ सकते, कहे हुएसे फिर नहीं सकते[२]॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'जानेउँ मरम राउ हँसि कहई'* इति। कोहाना परम प्रिय है इसीसे रिसानी हो, नहीं तो जब तुम्हारी थाती हमारे यहाँ थी ही तो जब चाहतीं माँग लेतीं, इसमें रिसानेका कौन काम था? राजा हँसे इससे कि रानी कुपित हैं, पर कुपित होनेका हेतु कुछ भी नहीं। (कोहाब परमप्रिय है इस कथनसे सूचित होता है कि पहले भी कई बार मान कर चुकी हैं। राजा सरलस्वभाव हैं, जानते हैं कि वैसे ही इस बार भी रूठी होगी। नहीं तो चार वर देनेको कैसे कह सकते, एकहीके देनेमें तो अनर्थ है।)

---

१. राजापुर और काशिराज एवं भागवतदासजीमें यही पाठ है। ना० प्र० की प्रतिमें 'किन' है।

२. चलेद्धि मेरुर्विचलेच्च मन्दरश्चलन्तु तारा रविरेष चन्द्रमाः।
कदापि काले पृथिवी च संचलेच्चलेन्न धर्मात् पुरुषस्य यद् वचः॥

टिप्पणी—२ *'थाती राखि न माँगेहु काऊ।'''''''* इति। (क) (थाती रखकर फिर कभी माँगा ही नहीं और सन्देह करने लगीं। भला कोई परायी थाती भी माँगनेपर रख छोड़ता है? कदापि नहीं। माँगतीं तो तुरत मिल जाता। पुनः भाव कि) तुमने माँगा ही नहीं, क्योंकि तुम्हें रूठना परमप्रिय है, यदि माँग लेतीं तो फिर रिसातीं किस बहाने? *'बिसरि गयउ'''''''*— उधरकी कहकर तब राजा अपनी बात कहने लगे कि मेरा भोर स्वभाव है, इससे मुझे याद न रहा [*'मोहि भोर सुभाऊ'* अर्थात् हम जानकर वचनका त्याग कभी नहीं करते। (पंजाबीजी) भुलने स्वभावका भूलना कारणके समान कार्यका वर्णन 'द्वितीय सम अलंकार' है]।

टिप्पणी—३ *'झूठेहुँ हमहिं दोष जनि देहू'''''''* इति। अर्थात् तुमने जो कहा कि *'माँगु माँगु पै कहहु पिय कबहुँ न देहु न लेहु'* यह झूठ ही हमें दोष लगाती हो, चाहे दोके चार माँग लो मैं दे दूँगा—दो वर तो तुम्हारे हैं ही, दो हमारी ओरसे लो, ये दो हम अपनी भूलके बदले, उनके कसूरमें देते हैं। झूठ बोलना दोष है, यथा—*'नहिं असत्य सम पातक पुंजा।'* अतः कहते हैं कि यह दोष हमें झूठे भी न दो, हमें झूठा न कहो, क्योंकि झूठा बनानेसे हमारे कुलको और हमें कलंक लगता है, रघुकुलमें कोई झूठ नहीं बोलता। तुमने माँगा नहीं और हम भूल गये। इससे हम झूठे नहीं हो सकते, हमारा दोष इसमें कुछ नहीं।

टिप्पणी—४ *'रघुकुल रीति सदा चलि आई।'''''''* इति। अर्थात् यह रघुकुलकी रीति है, रघुकुल सत्यवादी है। *'रीति'* का भाव कि यदि कुलमें कोई एक सत्यवादी हुआ तो उससे कुलकी रीति नहीं कही जा सकती। इस कुलमें 'सदा' से यह रीति चली आयी है; अर्थात् जबसे रघुकुल उत्पन्न हुआ तबसे इस कुलमें बराबर सत्यका निर्वाह चला आ रहा है, सब सत्यवादी होते आये। सत्यका सदा चलता आना कठिन है पर रघुवंशी सदा सत्य बोलते हैं, अतएव कहा कि *'रघुकुल रीति सदा चलि आई।'* तात्पर्य कि हम रघुवंशी हैं, हम देनेको कहके फिर कैसे न देंगे? राजा भवितव्यताके वश धर्म-पाशमें फँसे और अपने वचनको पुष्ट करते हैं। *'प्रान जाहु बरु बचन न जाई'* तात्पर्य कि वचन प्राणसे अधिक प्रिय है (भाव यह कि अपने वचनके लिये प्राण भी दे सकता हूँ)। वचन न टलनेका कारण आगे कहते हैं कि *'नहिं असत्य सम''''''।'*

नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥ ५॥
सत्य मूल सब सुकृत सुहाये। बेद पुरान बिदित मनु गाये॥ ६॥
तेहि पर राम-सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥ ७॥

शब्दार्थ—**पातकपुंजा**=पापसमूह, बहुतसे पाप जो मिलकर एक बनें (उनका मजमूआ)। **गुंजा**=घुँघची। इसकी जड़ मुलेठी है। यह एक मोटी बेल है, जो प्रायः जंगलोंमें पहाड़ियोंपर फैली हुई पायी जाती है। इसमें इमलीकी-सी पत्ती, सेमके-से फूल और मटरकी-सी फली होती है। जाड़ेमें कलियाँ सूखकर फट जाती हैं, उनके भीतर लाल-लाल बीजें निकलते हैं। जिनके मुँहपर छोटा काला छींटा रहता है। इसी बीजको गुंजा कहते हैं। रत्तीभर वस्तुके तोलनेमें सराफ इसे काममें लाते हैं। **करि आई**=कर पड़ा, करना पड़ा, कर चुका, कर आया, करते ही बनी (क्योंकि तू और तरह प्रसन्न न हुई) जब और सब तरह मनानेमें सफल न हुआ; की जा चुकी।

अर्थ—असत्यके समान पापोंका समूह भी नहीं। क्या करोड़ों घुँघचियाँ (मिलकर भी) पर्वतके समान हो सकती हैं॥ ५॥ सत्य ही समस्त उत्तम सुन्दर सुकृतोंकी जड़ है (पुनः, सत्यमूलक होनेसे ही सब सुकृत सुहावने माने गये हैं)* यह बात वेदों तथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है (वर्णित है) और मनुजीने (मनुस्मृतिमें ऐसा ही) कहा है ॥ ६॥ इतनेपर भी मैं रामचन्द्रजीकी शपथ कर पड़ा हूँ (कि जो) रघुराई रामचन्द्र सुकृत और स्नेहकी सीमा हैं॥ ७॥

---

* 'सुहाये' क्रिया और विशेषण दोनोंका काम यहाँ कर रहा है। जब सत्य उनका मूल हुआ तभी वे सुहावने हुए। बिना सत्यके वे सुहावने नहीं हो सकते; पुनः, सुकृत सुहाये=जितने उत्तम सुकृत हैं।

नोट—१ *'नहिं असत्य सम पातक पुंजा।.........'* इति। अर्थात् करोड़ों गुंजे मिलकर रखे जायँ तो भी पर्वतके समान ऊँचे नहीं हो सकते। पुन:, करोड़ों गुंजोंसे पर्वतको तोला चाहें तो कहीं तुल सकता है? गुंजा आखिर रत्ती ही तो है। सेर, ढका (तीन सेरका बाट), पसेरीके समान तो वह हो ही नहीं सकता तब भला पहाड़के समान कैसे हो सकेगा? जहाँ मनोंकी भी गति नहीं वहाँ रत्ती-रत्ती किस खातेमें हैं? इसी तरह समस्त पापोंको एकत्रकर एक पलरेमें रखें और केवल असत्य यही एक पाप दूसरेमें रखें तो वे सब मिलकर भी इस एकके बराबर नहीं हो सकते। असत्य पर्वतके समान है और अन्य समस्त पाप इसके सामने रत्तीके समान हैं। दोनोंमें कितना बड़ा अन्तर है।

नोट—२ असत्यमें क्या कला है जो वह इतना बड़ा है? उत्तर—आत्मा सत्-रूप है सो असत्-रूप हुआ; इस झूठमें यह छल है। इस झूठमें आत्माका चुराना है जो मारनेके बराबर है। भाव यह कि और पाप स्वरूपके नाशक नहीं हैं और यह उसका नाशक है। (रा० प०)

टिप्पणी—१ *'नहिं असत्य.......'* इति। भाव कि गुंजा रत्ती है, वह रत्तीहीके बराबर हो सकता है। रत्तीसे कहीं पहाड़ तोला जाता है? वैसे ही असत्यके सामने सब पाप रत्तीके समान हैं। *'गिरि सम'*—राजाओंके यहाँ हजारों मन मोती होता है, पहाड़भर मोती किसीके यहाँ नहीं होता; इसीसे पर्वतके समान कहा। (यहाँ 'दृष्टान्त अलंकार' है। वक्रोक्ति भी अंगांगी भावसे आया है।)

टिप्पणी—२ *'सत्य मूल सब सुकृत सुहाये।......'* इति। [(क) असत्य समस्त पापोंके समूहसे भी बड़ा पाप है, यह कहकर अब सत्यका महत्त्व कहते हैं] *'मूल'* कहनेका भाव कि सत्य समस्त धर्मोंसे बड़ा है, (यह मूल है और सब धर्म वृक्ष, शाखा, पल्लव, फूल, फल आदि हैं। जबतक यह बना रहता है तबतक सब होते रहते हैं, सबकी स्थिति इसीपर निर्भर है), इसके नाशसे समस्त सुकृतोंका नाश हो जाता है। (जड़ ही न रहेगी तब वृक्ष ही कैसे रह सकता है, वह गिर ही पड़ेगा। यथा—*'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ।'* १। २५२। ५) (ख) *'सुहाये'*—भाव कि सत्य इन सबका मूल है। वह सबका मूल है, इसीसे सब सुकृत 'सुहाये' हो गये हैं। अथवा सुकृत सभी सुन्दर हैं, उन सबोंका मूल सत्य है। इससे जनाया कि सत्य समस्त सुकृतोंसे सुन्दर है। [अथवा समस्त सुन्दर सुकृतोंका मूल कहकर जनाया कि कुछ पुण्य 'असुहाये' भी होते हैं। जो दान-पुण्य आदि नामके लिये या किसी स्वार्थके लिये किये जाते हैं वे 'सुहाये' नहीं हैं। वीरकविजीका मत है कि यहाँ समस्त सुहावने सुकृतोंकी समता एक सत्यमें लाना 'तृतीय तुल्ययोगिता अलंकार' है] (ग) *'मनु गाये'*—वेद-पुराण कहकर *'मनु गाये'* शब्द देनेसे स्मृति सूचित किये। सब स्मृतियोंसे मनुस्मृति श्रेष्ठ है, इसीसे मनुजीका प्रमाण दिया। (*'बेद पुरान बिदित मनु गाये'* में 'शब्द प्रमाण अलंकार' है।)

नोट—३ प० पु०, सृष्टिखण्डमें सत्यकी '**उक्त्वानृतं भवेद् यत्र प्राणिनां प्राणरक्षणम्। अनृतं तत्र सत्यं स्यात् सत्यमप्यनृतं भवेत्॥**' (१८। ३९२) अर्थात् जहाँ असत्य बोलनेसे प्राणियोंकी प्राणरक्षा होती हो वहाँ वह असत्य भी सत्य है और सत्य भी असत्य है—इसके उत्तरमें नन्दाने सत्यकी महिमा कहते हुए कहा है कि स्वर्ग, मोक्ष तथा धर्म ये सब सत्यमें ही प्रतिष्ठित हैं। जो अपने वचनका लोप करता है, उसने मानो सबका लोप कर दिया, यथा—'**स्वर्गो मोक्षस्तथा धर्मः सर्वे वाचि प्रतिष्ठिताः। यस्तां लोपयते वाचमशेषं तेन लोपितम्॥**' (३१९) सहस्रों अश्वमेध यज्ञ भी सत्य भाषणकी समताको नहीं पहुँच सकते। सत्य ही उत्तम तप है, सत्य ही उत्कृष्ट शास्त्रज्ञान है। सत्यहीसे साधुपुरुषोंकी परख होती है। वही सत्पुरुषोंकी वंशपरम्परागत सम्पत्ति है। सत्यका ही आश्रय सम्पूर्ण आश्रयोंसे श्रेष्ठ माना गया है। यथा—'**साधूनां निकषं सतां कुलधनं सर्वाश्रयाणां वरम्॥**' (४०३) यह सब भाव *'सत्य मूल सब सुकृत सुहाये'* में हैं।

टिप्पणी—३ *'तेहि पर राम-सपथ करि आई....'* इति। (क) तात्पर्य कि रामकी शपथ हम कभी नहीं करते, अकस्मात् ही वह मुँहसे निकल आयी। रघुनाथजी हमारे सुकृत और स्नेहकी अवधि हैं, हमारा सुकृत यहींतक है, हमारा स्नेह यहींतक है। (ख) प्रथम असत्यकी बड़ाई कही कि *'नहिं असत्य सम पातक पुंजा',* फिर सत्यकी बड़ाई की कि *'सत्यमूल सब सुकृत सुहाये।'* अब रामशपथकी बड़ाई करते

हैं कि *'तापर राम सपथ·········रघुराई।'* इस तरह तीनोंकी उत्तरोत्तर बड़ाई की (उत्कृष्टता दिखायी)—असत्यसे बड़ा सत्य है, सत्यसे बड़ा रामशपथ है; रामजीके लिये सब धर्म त्याग दिये जाते हैं, यथा—'**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' (गीता १८। ६६)

नोट—४ *'तेहि पर'* से जनाते हैं कि यह सबसे उत्कृष्ट है सो इस शपथको भी हम कर पड़े। सब सुकृत करनेपर तब कहीं स्नेह होता है, यथा—*'सकल सुकृत फल राम सनेहू।'* (१। २७। २) उस स्नेहकी अवधि रघुराई हैं अर्थात् अत्यन्त प्रेमसे ही श्रीरामजीकी प्राप्ति होती है। श्रीरामप्रेमके आगे फिर कोई प्रेम नहीं। जैसे नदियोंकी अवधि समुद्र वैसे ही सुकृत और स्नेह रामजीहीतक हैं, आगे नहीं। जैसे किसानीके कामसे अन्नकी सिद्धि होनेपर फिर कोई थालीमें दाल-भात-रोटी आनेपर खाद नहीं डालता वैसे ही सब सुकृत करके राजा रामजीको प्राप्त कर चुके। वे रामजीको भलीभाँति पहचानते हैं, यथा—*'जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई॥'* (१। १९३। ५) अब उन्हें सुकृत करनेकी आवश्यकता न रह गयी। बालकाण्डमें कहा भी है कि *'दसरथ सुकृत राम धरे देही।'* (१। ३१०। १) (खर्रा)

पंजाबीजी—भाव यह है कि रघुवंशी असत्य नहीं बोलते, यह कुलरीति है। वे वेदवाक्य और मनुवाक्यका उल्लंघन नहीं करते। अत: तुमको शंका न करनी थी, तिसपर भी मैंने सुकृत और स्नेहकी सीमाकी शपथ खायी है अर्थात् जो उनकी (झूठी) सौगन्ध खाये उसके तो समस्त सुकृतोंका ही नाश हो जायगा।

बात दृढ़ाइ* कुमति हँसि बोली। कुमत कुबिहग कुलह जनु खोली॥ ८॥

दो०—भूप मनोरथ सुभग बनु सुख सुबिहंग समाजु।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति बचन भयंकरु बाजु॥ २८॥

शब्दार्थ—**दृढ़ाई**=दृढ़ (पक्की) करके। **कुमत**=कुविचार, बुरा मन्तव्य, कुमन्त्रणा, दुर्बुद्धि। **कुबिहंग**=बुरा पक्षी, बाज, जुर्रा। **कुलह**=यह फारसी 'कुलाह' शब्द है। =टोपी। 'कुलह' प्राय: खारुआ वस्त्र या चमड़ेकी टोपी वा ढक्कन जो शिकारी चिड़ियोंकी आँखोंपर पहनाया रहता है; क्योंकि यदि आँख ढकी न रही तो वह जिसी चिड़ियाको (अपने शिकारको) देखेगा उसीपर झपटेगा। बाजको शिकारी प्राय: अपने हाथपर, टोपी लगाये हुए बिठाये रहते हैं, जब किसी पक्षीका शिकार कराना चाहते हैं तब टोपी खोल देते हैं। वह देखते ही सीधा झपटता है। टोपी लगी रहनेपर वह दबका रहता है, यथा—*'बगुला झपटत बाज पै बाज रहै सिर नाय। कुलहा दीन्हें पग बँधे खोंटे दे फहराय'*—(समाविलास, गिरिधर कविराय)। इस टोपीको कुलहा, अँधियारी और ढोका भी कहते हैं। '**सुबिहंग**'=सुन्दर पक्षी जैसे-शुक, सारिका, कोकिल, कबूतर आदि। **भिल्लिनि**=भीलनी=भीलकी स्त्री। इस जातिके लोग बड़े क्रूर, भीषण और अत्याचारी होते हैं, प्राय: व्याधका काम करते हैं। ये तीर चलाने और शिकार करनेमें बड़े निपुण होते हैं। अतएव कठोर हृदयवाले, व्याध या शिकारी आदिके अर्थमें इसका प्रयोग किया जाता है। **बाज**=यह चीलसे छोटा, पर अधिक भयंकर होता है। इसका रंग मटमैला, पीठ काली और आँखें लाल होती हैं। *'सुभग'* अर्थात् हरा-भरा, फूला-फला हुआ।

अर्थ—बात पक्की कराके दुर्बुद्धि कैकेयी हँसकर बोली मानो कुमतरूपी बाजकी टोपी खोल दी॥ ८॥ राजाका मनोरथ सुन्दर वन है। सुख सुन्दर पक्षियोंका झुंड है उसपर भीलनी-जैसी कैकेयी अपना वचनरूपी भयंकर बाज छोड़ना चाहती है॥ २८॥

नोट—१ *'कुमति कुबिहग कुलह·········'* इति। यहाँ रूपकसे पुष्ट उत्प्रेक्षा की गयी है। कुविचारका वचन बाज है। कपट कुलाह है जो इस वचन-बाजको छिपाये हुए था। बोलीका मुखसे बाहर निकलना कुलहका खोला जाना है। शिकार सम्मुख होनेपर टोपी खोली जाती है, राजासे रामशपथ कराके और उसको पुन:

* 'दिढ़ाई'—(छक्कनलालजी) अर्थ वही है।

उनसे पक्का कराके कि *'नहिं असत्य सम पातक पुंजा'* और उसपर भी मैं रामशपथ कर चुका, राजाको प्रतिज्ञा-बद्ध करा लेना शिकारका सामने आना है। टोपी हटते ही बाज शिकारपर झपटकर उसे पकड़ लेता है। ठीक वैसी ही दशा राजाकी, इन वचनोंसे होगी। वे आहत होंगे, इन वचनोंमें वे बँध या फँस गये, अब वे निकल नहीं सकते।

नोट—२ दोहेमें पुन: रूपकसे पुष्ट उत्प्रेक्षा है। राजाका मनोरथ सुन्दर हरा-भरा वन है। राम युवराज हों इस मनोरथसे पिता-माताओं, परिवार-परिजन, मन्त्रियों, पुरवासियों, देश-देशान्तरके राजाओं, दास-दासियों इत्यादि अमित लोगोंको जो सुख हो रहा है वही वनके अच्छे-अच्छे पक्षियोंका समुदाय है। बाज इन पक्षियोंपर टूट पड़ता है और इनका शिकार करता है। कैकेयीके वचन एकाएक राजापर पड़कर उनके और अन्य सबके भी सुखोंका नाश करेंगे।

टिप्पणी—१ *'बात दृढ़ाइ कुमति·······'* इति। (क)—राजाने रामशपथ की, यही बातका दृढ़ होना है, यथा—*'भूपति राम सपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई॥'* अब वचन नहीं टल सकता, (जिस अवसरकी घातमें थी वह अब मिला। अत: वह कुमतिनि जिसने पहलेसे ही कुत्सित मति ठान रखी थी) *'हँसि बोली'* अर्थात् प्रसन्न होकर बोली। 'कुमत' मन्थराकी दी हुई कुत्सित मत है—*'सुतहि राज रामहि बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥'* यही कुमत, वचनरूपी बाजका वस्त्र (टोपी) है। जैसे वस्त्रसे बाज ढाँपा रहता है वैसे ही दोनों वरदानरूपी वस्त्रसे वचन ढका रहा। कैकेयी वरदान मिलने (माँगने) का मौका ताकती रही, इसीसे जल्दी नहीं बोली। *'कुलह जनु खोली'* अर्थात् सुविहंगके समाजमें कुविहंगको छोड़ना चाहती है। जैसे वस्त्रसे बाज निकले वैसे ही कुमतसे वचन निकले। [पुन:, (ख) पण्डितजी—कुमत कुविहंग है, पक्षीको देखकर उसकी हिंसा (शिकार) के लिये मानो बाजकी कुलही (आँखकी पट्टी) खुली। कुबुद्धि कैकेयी हँसकर बोली; उसपर उत्प्रेक्षा करते हैं कि वह हँसकर नहीं बोली, उसका होंठ नहीं फड़का, किंतु मानो हिंसाके लिये बाजकी कुलही खुली।] (नोट—पं० रा० कु० जीकी टिप्पणी और ऊपर दिये हुए नोटमें यह भेद है कि नोटमें कुमतको बाज और कैकेयीके कपटको कुलह कहा है और पं० रा० कु० जी कुमतको कुलह मानते हैं। नोटमें दिया हुआ भाव पाँड़ेजी और दीनजी आदिके मतसे मिलता है। (सम्पादक)

टिप्पणी—२ *'भूप मनोरथ सुभग बनु'* इति। (क) —*'सुभग बनु·······'* कल्पवृक्षका वन है, यथा—*'मोर मनोरथ सुरतरु फूला।'* मनोरथ श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकका है; इसीसे उसे *'सुभग'* कहा। सुख सुविहंग-समाज है। अर्थात् भूपके मनोरथमें सब लोग सुखी हैं। [वा, राजाको अपने मनोरथसे जो सुख हो रहा है वह सुविहंग 'समाज' है। (नं० पं०) नोट—२ भी देखिये] बाज पक्षियोंका नाश करता है, कैकेयीके वचन सुखका नाश करेंगे। बाज दो पक्षयुत होते हैं, कैकेयीके वचन दो वर-युक्त हैं। (करुणासिंधुजी कहते हैं कि दोनों वरदान बाजके दोनों नेत्र हैं।)

सुनहु प्रानप्रिय* भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका॥ १॥
माँगउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥ २॥
तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनबासी॥ ३॥

शब्दार्थ—**टीका**=तिलक, राज्याभिषेक। **पुरवहु**=पूर्ण करो, पूरा कीजिये। **तापस बेष**=तपस्वियोंके वेष या बानेमें। **बिसेषि** (विशेष)=नियमसे, ढंगसे, तरह। **उदासी**=उदासीन, विरक्त, त्यागी, मुनियोंकी तरह, यथा—*'सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥'* (२१० । ३)

अर्थ—हे प्राणप्यारे! मेरे जीको भानेवाला वर सुनो। भरतको राज्यतिलक, एक तो यह वर दीजिये॥ १॥ दूसरा वर मैं हाथ जोड़कर माँगती हूँ। हे नाथ! मेरी अभिलाषा पूरी कीजिये॥ २॥ तपस्वी वेषमें खासकर उदासियोंकी रीतिसे (वा, विशेष उदासीन रहकर) राम चौदह वर्षतक वनमें निवास करें॥ ३॥

* 'प्रानपति'—(पं० रा० कु० जी)।

टिप्पणी—१ *'सुनहु प्रान प्रिय भावत जी का'* इति। (क) राजाने कैकेयीको प्राणप्रिया कहा; यथा—*'प्रान प्रिया केहि हेतु रिसानी।'* इसीसे वह भी प्राणपति ('प्रान-प्रिय') कहती है। पुनः भाव यह कि आप हमारे प्राणोंके पति हैं, अतः हमारा मनोरथ अवश्य पूरा करेंगे। अपना स्वार्थ साधनेके लिये उसने अत्यन्त प्रिय सम्बोधन किया। [*'प्रानप्रिय'* के अन्य कुछ भाव—(१) राजा वर देने और मनोरथ पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं, अतः प्राणोंके सदृश प्रिय कहा। (२) साधारणतया यह शब्द पतिके लिये स्त्रियाँ प्रयुक्त करती ही हैं। (३) वर माँगते हुए भी वह कपटपूर्ण स्नेह प्रकट कर रही है। (४) प्राणप्रियको *'भावत जीका'* विशेषण मान लें तो भाव होगा कि ये वर मुझे आपके प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं; क्योंकि इस समय इन वरदानोंके माँगनेसे यह निश्चय है कि वह राजाके प्राणोंकी भूखी है। पुनः भाव कि मुझे भी ये वर प्राणोंके समान प्रिय हैं जैसा मन्थराने पढ़ा रखा है—*'बचन मोर प्रिय मानहु जीते।'* वाल्मीकीयमें भी कहा है—'**एष मे परमः कामो**………॥' (२। ११। २८) अर्थात् यह मेरा सर्वश्रेष्ठ मनोरथ है। इत्यादि] (ख)—राजाने कहा कि *'बिहँसि माँगु मन भावति बाता'* उसीपर कहती है कि जो जीको भाता है सो माँगती हूँ और हँसकर तो बोली ही है—*'बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली'* [(ग) *'देहु एक बर भरतहि टीका'* में यह भी भाव है कि जिस अभिषेककी सामग्रीसे आपने रामके तिलकका निश्चय किया है उसीसे मेरे पुत्र भरतका अभिषेक कीजिये, दूसरी सामग्री जुटानी नहीं है, उसमें अधिक दिन लगेंगे। भरत तुरत बुलाये जायँ और इसी सामग्रीसे उनके आते ही उनका तिलक किया जाय। यथा—'**अनेनैवाभिषेकेण भरतो मेऽभिषिच्यताम्।**' (वाल्मी० २। ११। २५)]

टिप्पणी—२ *'माँगउँ दूसर बर कर जोरी।………'* इति। प्रथम भरतको राज्य माँगा पीछे रामको वनवास; क्योंकि मन्थराका वचन है कि *'सुतहि राज रामहि बनबासू'* इसमें राज पहले है तब वनवास। दूसरेमें वनका वर प्रथम माँगनेपर राजाको चेत न रह जायगा, वे अचेत हो जायँगे। तब भरतराज्यका वर रह ही जायगा। दूसरा वर अगम है इसीसे अपना काम निकालनेके लिये हाथ जोड़कर अपना विशेष विनीत भाव दिखा रही है। इसीसे 'प्राणप्रिय' सम्बोधन किया अर्थात् हमको अत्यन्त प्रिय है।

नोट—१ दूसरे वरके माँगनेमें हाथ जोड़नेके अनेक भाव कहे जाते हैं। (१) वर कठिन है, उसकी विषमताके निवारणार्थ हाथ जोड़े। (वै०) (२) पहलेसे धन और दूसरेसे तन (प्राण) लेना है; अतः पहलेसे दूसरेमें अधिक नम्र हुई। (रा० प्र०) (३) इससे प्रदर्शित करती है कि ये वही हाथ हैं जिनके बलसे मैंने देवासुर-संग्राममें आपके प्राण बचाये थे, इनके प्रयत्न और पुरुषार्थपर ध्यान देकर मेरा मनोरथ पूरा कीजिये। मैंने आपके प्राण बचाये थे, आप मेरे प्राणोंकी रक्षा करें; क्योंकि यदि दोनों वर आपने तुरत न दिये तो मैं प्राण त्याग दूँगी। यथा—*'होत प्रात मुनि बेष धरि जौं न राम बन जाहिं। मोर मरन राउर अजस नृप समुझिय मन माहिं॥'* (३३) वाल्मीकीयमें कैकेयीके वचन ये हैं, यथा—'**तत्र चापि मया देव यत्त्वं समभिरक्षितः। जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्रददौ वरौ॥**' (९) **तत्प्रतिश्रुत्य धर्मेण न चेद्दास्यसि मे वरम्। अद्यैव हि प्रहास्यामि जीवितं त्वद्विमानिता॥**' (वाल्मी० २। ११। २१)

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—दूसरे वरको हाथ जोड़कर माँगनेसे सूचित होता है कि रानीका पहले वरपर अधिक आग्रह नहीं है; क्योंकि वह जानती है कि राजाको इसके देनेमें अधिक कष्ट न होगा। कैकेयीसे विवाहके समय ही महाराज समय (इकरार) कर चुके थे। कैकेयीकी ही इच्छा प्रकट करनेसे उस समयका उल्लंघन किया गया। यथा—*'भामिनि भयउ तोर मन भावा।'* दूसरे वरके मिलनेमें उसे पूरा सन्देह है; पहले कह भी चुकी है कि *'तेउ पावत संदेहु।'* इसलिये दूसरा वरदान बड़े अनुनय-विनयसे माँग रही है।

टिप्पणी—३ रानीने वर यों माँगा कि *'देहु एक बर भरतहिं…… '* और *'दूसर बर माँगउँ……… ।'* अर्थात् एक, दूसरा इस तरह—गिनती (गिन) करके वर माँगा। गिन या गिनाकर वर माँगनेका भाव कि राजाने चार वर देनेको कहा है, यथा—*'दुइ के चार माँगि मकु लेहू।'* उसमेंसे तीसरा और चौथा ये दो वर शिथिल

हैं; क्योंकि राजाने उनको अपनी ओरसे देनेको कहा है। और, जो दो वर वह माँग रही है वह उसने अपनी सेवासे उत्पन्न किये हैं इससे ये दोनों वर प्रबल हैं। रानी इन्हीं दोनोंको माँगती है। उसे राजाके वचनोंपर विश्वास नहीं है, सम्भव है कि राजा बदल जायँ। दूसरे राजाके शिथिल वरदानोंसे उसका काम नहीं चलनेका।

टिप्पणी—४ ***'तापस बेष·······'*** इति। (क) तापस वेष धारण करनेसे चित्तमें विषयकी वासना न रह जायगी तब वनवाससे लौटनेपर राज्य करनेकी इच्छा न करेंगे। (ख) ***'बिसेषि उदासी'*** कहनेसे 'सामान्य उदासी' का भी बोध होता है। जो ग्राम, पुर या नगरमें जावें वे सामान्य उदासी हैं और जो ग्रामादिमें न जायँ वे 'विशेष उदासी' हैं। रानी वर माँगती है कि रामजी वनमें तपस्वी-वेषमें विशेष उदासीन होकर रहें। अर्थात् ग्रामादिमें न जायँ। तात्पर्य कि बस्तीमें अनेक बुद्धिमान् लोग रहते हैं, कदाचित् कोई इनका सहायक हो जाय और इन्हें उपाय बतावे जिससे ये हमारे पुत्रपर उपद्रव कर सकें। (पुनः विशेष उदासीन मुनिवेषमें रहनेसे वनमें कन्दमूल-फल खाकर, वह भी जब योग लगे, शरीरका जैसे-तैसे निर्वाह करनेसे शरीर क्षीण हो जायगा, तब वे लड़ाई भी न कर सकेंगे) (ग) ***'तापस बेष बिसेषि उदासी'*** इत्यादि बहुत-सी बातें रानीने कहीं। जो मन्थराने उसे नहीं सिखायी थीं। रानीने स्वयं अपनी बुद्धिसे यहाँ काम लिया है, ये बातें अपनी ओरसे कही हैं। (वाल्मी० और अ० रा० में ये बातें मन्थराने सिखायी हैं।)

नोट—२ ***'तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस·······'*** इति। अर्थात् विरक्त मुनियोंकी तरह वनमें रहें। कैकेयी सोचती है कि केवल वनवाससे काम न चलेगा; क्योंकि सारी प्रजाको श्रीरामजी प्राणप्रिय हैं, सब उनके साथ चल देंगे और वनमें ही जाकर रहेंगे, अवध तो उजड़ जायगा और वन ही अवध बन जायगा, यथा—***'अवध तहाँ जहँ राम निवासू।'*** (७४। ३) उजड़े हुए नगरमें तब भरत ही क्या करेंगे? किसपर राज्य करेंगे? अतः तपस्वियोंके वेषमें रहनेको कहती है। अर्थात् वल्कल वसन, कौपीन, कमण्डलु आदिसे ही प्रयोजन रखें, कोई विशेष सामान न रखें। तपस्वी-वेष स्वयं उदासीनताका चिह्न है, पर उसे इतनेसे भी संतोष नहीं। वह चाहती है कि 'विशेष उदासी' बनकर रहें। भरद्वाज, वसिष्ठ, दुर्वासा आदि विरक्त उदासीन तपस्वी हैं, यथा—***'सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥'*** (२१०। ३) पर ये भी नगर आदिमें जाते, शिष्य-वर्ग और अन्य ऋषियों-मुनियोंके सहित आश्रममें रहते और प्रयोजनभरके लिये सामान भी रखते थे। कैकेयी चाहती है कि इन मुनियोंकी तरह भी न रहें और न किसी ग्राम-नगर या आबादीमें जायँ।

इस प्रकार रामजी रहें, यह क्यों? तात्पर्य यह है कि कैकेयीके जीमें अब यदि कोई भी भय था तो वह रामचन्द्रजीसे भरतजीके अनिष्ट होनेका था। वह डर रही है कि यदि रामजी नगरमें रहेंगे तो प्रजा इनके पक्षमें हो जायगी और ये भरतसे राज्य छीन लेंगे। अथवा, यदि किसी दूसरे नगर, देश या ग्राममें रहने दिया जायगा तो संदेह है कि किसी दूसरेको चढ़ाई करनेको न भेज दें। इसीसे वह कहती है कि ये कहीं आबादीमें न जायँ, सबसे उदासीन रहें, राज्य-सुख-सम्पत्तिका विचार भी मनमें न लावें, किसीसे वैर-विरोध या मित्रताका भाव मनमें भी न लावें, इत्यादि। इस प्रकार जब १४ वर्ष बीत जायँगे तब एक तो उन्हें स्वयं ही राज्यकी चाह न रह जायगी, दूसरे रहे भी तो कोई उनका साथ न देगा। क्योंकि उतने दिनोंमें भरतजीका पूर्ण स्वत्व प्रजापर हो जायगा। प्रजा, मन्त्री, देश-देशान्तरके राजा इत्यादि सभी उनको चाहने लगेंगे और वे राजकाजमें भी निपुण हो जायँगे।

नोट—३ १४ वर्षके लिये वनवास क्यों माँगा? इसके बारेमें कुछ ऊपर लिखा गया जो वाल्मीकीयके अनुसार है। वहाँ मन्थरा कैकेयीसे कहती है कि—'**चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम्। प्रजाभावगतस्नेहः स्थितः पुत्रो भविष्यति॥**' (२१) '**रूढश्च कृतमूलश्च शेषं स्थास्यति ते सुतः॥**' (३१) '**एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति। भरतश्च गतामित्रस्तव राजा भविष्यति॥**' (३३) '**येन कालेन रामश्च वनात्प्रत्यागमिष्यति। अन्तर्बहिश्च पुत्रस्ते कृतमूलो भविष्यति॥**' (३४) '**संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः साकमात्मवान्॥**' (३५) (सर्ग ९)।

अर्थात् भरतपर प्रजाका स्नेह स्थिर हो जायगा; वे जम जायँगे; प्रजापर रोब जम जायगा, राम प्रजाके अप्रिय हो जायँगे, प्रजा उन्हें भूल जायगी, उनके लौटनेतक भीतर-बाहर भरतकी जड़ जम जायगी। भरत आत्मवान् हैं। वे प्रजाको प्रसन्न करके अपने पक्षमें मिला लेंगे। यह तो हुआ वाल्मीकीयका मत, अब और सुनिये—

नोट—४ इस समय सरस्वती यह वचन रानीकी जिह्वासे कहला रही है। मानसकी मन्थराने दिन नहीं बताये थे, पर सरस्वती तो जानती है कि रावणकी मृत्युको १४ वर्ष शेष (बाकी) हैं। अतः १४ वर्षका वनवास माँगा। ऐसा न होता तो जन्मभरके लिये वनवास माँगकर सदाके लिये बेखटके क्यों न हो जाती? और इससे कम कहती तो रावणका वध कैसे होता? देवकार्य कैसे होता कि जिसके लिये उन्होंने शारदाको अवध भेजा था—*'बिपति हमारि बिलोकि बड़ि मातु करिय सोइ आजु। राम जाहिं बन राज तजि होइ सकल सुरकाजु॥'* (११) रावणवध हो जानेपर अधिक वनवाससे प्रयोजन नहीं। सरस्वती क्यों अधिक वनवास कराती, वह तो इतनेसे ही पछताती थी, यथा—*'भइउँ सरोज बिपिन हिमराती',* प्रजाका दुःख न देख सकती थी—इसमें 'लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग' है।

नोट—५ मन्थराने कैकेयीसे कहा था कि *'भयउ पाख दिन सजत समाजू',* १४ दिन बीतनेपर पंद्रहवें दिन खबर मिली; अतः एक दिनके बदले एक-एक वर्षका वनवास माँगा। (दोहा)—*'चौदह दिनपर श्रवण सुनि राज तिलककी बात। ताते माँगेउ राम वन जाहिं वर्ष दुइ सात'*—(गणपति उपाध्याय) अथवा, 'राजा कैकेयीके पास गये तब तिलकको १४ घड़ी समय बाकी था; अतः प्रत्येक घड़ीके बदले एक-एक वर्ष माँगा। अथवा, १४ वर्षमें चौदहों राजनीतियों और विद्याओंमें भरत निपुण हो जायँगे। वा; इतने वर्षोंमें शास्त्रसे रामजीका कुछ हक या हिस्सा पिताकी जायदादपर न रह जायगा।' (पाँड़ेजी, वै० रा० प्र०)

नोट—६ पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि उसे रामजीसे अब भी वैर नहीं है। कपट-पेटारी (मन्थरा) ने ऐसा पाठ पढ़ाया है कि वज्र-वैर सौत-(कौसल्या-) से हो गया है। वह चाहती है कि जिस बेटेको कौसल्या मुकुटादिसे अलंकृत राजवेषमें सिंहासनारूढ़ देखना चाहती है उसी बेटेको तापस वेषमें वन जाते देखे। मन्थराने तो सदाके लिये वनवास माँगनेको कहा था, यथा—*'सुतहि राज रामहि बनवासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥'* पर रानी कैकेयीने चौदह वर्षके लिये ही वनवास माँगा। उसको सबसे अधिक इस बातका दुःख था कि कौसल्याने राजाको ऐसा अपनाया कि उसके मतमें पड़कर राजाने चौदह दिनतक मुझसे बात छिपायी, यथा—*'भयउ पाख दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू॥'* (१९। ३) अतः कौसल्याको साका करके फल देनेके लिये, एक-एक दिन बात छिपानेके बदले एक-एक वर्षका वनवास दिया। इस भाँति दूसरे वरमें रामजीके लिये चौदह वर्षका वनवास माँगा। चौदह वर्षमें प्रजा भरतजीके हाथमें आ जायगी इत्यादि अनेक कारण हो सकते हैं। पर अन्यूनातिरिक्त चौदह वर्ष माँगनेका कोई लौकिक प्रत्यक्ष कारण होना चाहिये।

दीनजी—इस स्थानपर तुलसीदासजीने *'मनोरथ मोरी'* पाठ दिया है जो व्याकरणके अनुसार अशुद्ध है। इसका क्या कारण है? उन्होंने ऐसा क्यों लिखा? यह निश्चयात्मक रूपसे मैं नहीं कह सकता। शायद स्त्री होनेके कारण कैकेयीने मनोरथको स्त्रीलिंग कह दिया हो। इस दोषके निवारणार्थ कुछ लोगोंने *'जोरे' 'मोरे'* पाठ रखा है; पर प्राचीन प्रतियोंमें *'जोरी', 'मोरी'* ही पाठ मिलता है। [☞ गोस्वामीजीने 'मनोरथ' शब्दको स्त्रीलिंगके रूपमें अन्यत्र भी प्रयुक्त किया है। यथा—*'बिबुध बिप्र बुध ग्रहचरन बंदि कहौं कर जोरि। होइ प्रसन्न पुरवहु सकल मंजु मनोरथ मोरि।'* (१। १४) (यहाँ कवि तुलसीदासजीका मनोरथ है), *'फलित बिलोकि मनोरथ बेली।'* (२। १। ७) (यह माताओं और सखी-सहेलियोंका मनोरथ है); तथा यहाँ *('पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी।')* साथ ही इस शब्दका प्रयोग पुँल्लिंगके रूपमें भी हुआ है। यथा—*'मोर मनोरथ जानहु नीकें। बसहु सदा उरपुर सब ही कें॥' 'कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही।'* (१। २३६) (यह श्रीजानकीजीका मनोरथ है), *'सुफल मनोरथ होहु तुम्हारे।'* (१। २३७) (ये श्रीराम-लक्ष्मणजीके मनोरथ हैं), *'मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥'* (२९। ८) *'मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूछे। तेहि तें परेउ*

मनोरथ छूछें॥' (३२। २) (ये राजाने स्वयं अपने मनोरथके सम्बन्धमें कहा है), *'भूप मनोरथ सुभग बन········।'* (२८) यह कविने राजाके सम्बन्धमें लिखा है। इसी तरह ब्रह्मगिराने पार्वतीजीसे कहा है—*'भयउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराजकुमारि।'* (२१। ७४) इत्यादि इन उद्धरणोंसे सिद्ध होता है कि केवल स्त्री होनेके कारण उसके मुखसे 'मनोरथ' को स्त्रीलिंग रूप दिया गया हो, सिद्ध नहीं होता। सम्भव है कि उस समय इस शब्दका प्रयोग दोनों रूपोंमें होता रहा हो। अथवा इसमें कुछ और सूक्ष्म भाव हो।]

सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू। ससिकर छुअत बिकल जिमि कोकू॥ ४॥
गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा॥ ५॥
बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू*॥ ६॥

शब्दार्थ—**कर**=किरण। **कोका**=चक्रवाक, चकवा। यह हंसकी जातिका एक पक्षी है जो हाथभर लम्बा होता है। इसके शरीरपर भिन्न-भिन्न रंगोंका मेल होता है। पीठ, छाती पीली और पीछेका रंग खैरा, पूँछ कुछ हरी, डैनोंपर कई रंगोंका मेल होता है। कहते हैं कि रातको यह अपने जोड़ेसे अलग रहता है। जाड़ेमें बड़े जलाशयोंके पास यह भारतवर्षमें दिखायी देता है। सचान (सं० संचान=श्येन)=बाज। **लावा**= लवा, बटेर, तीतर। यह तीतरकी जातिका, पर उससे छोटा पक्षी होता है। इसके पंजे बहुत लम्बे होते हैं। यह जमीनपर अधिक रहता है और दाना-कीड़े खाता है। जाड़ेमें इसके झुण्ड-के-झुण्ड दिखायी देते हैं। इसीसे यहाँ 'लावाका वन और वनमें लावापर झपटना' कहा गया। **झपटेउ**=लपककर, दौड़कर, तेजीसे बढ़कर किसीपर आक्रमण करना और उसे पकड़ लेना, टूट पड़ना 'झपटना' कहलाता है—(सं० झंप=कूदना)। **बिबरन**=बदरंग, रंग उड़ जाना, पीला, सफेद या काला पड़ जाना। **निपट**=बिलकुल। **तालू**=ताड़का वृक्ष। **हनेउ**=मार गिराया।

अर्थ—कैकेयीके कोमल मीठे वचन सुनकर राजाके हृदयमें ऐसा शोक हुआ, जैसे चन्द्र-किरणके स्पर्शसे चकवा व्याकुल हो जाता है॥ ४॥ राजा सहम गये, उनसे कुछ कहते न बना, मानो बटेरके वन, वा वनमें बटेरपर बाज टूट पड़ा हो॥ ५॥ राजाका रंग बिलकुल उड़ गया, मानो ताड़के वृक्षपर बिजली गिरी हो॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू·········'* इति। (क) चन्द्रकिरण बाहर शीतल करती है पर कोकके उरमें शोक उत्पन्न करती है। वह व्याकुल हो जाता है। वैसे ही कैकेयीके वचन सुननेमें मृदु हैं पर हृदयको शोकदाता हैं। यहाँ कैकेयीका मुख चन्द्रमा है, वचन किरण हैं और राजा कोक हैं। [(ख) प्राणप्रिय, नाथ आदि विशेषणयुक्त होनेसे वचनको मृदु कहा। कोमल वचनोंसे राजाको शोक हुआ जैसे चन्द्र-किरणसे कोकको व्याकुलता होती है। भाव कि चन्द्र-किरण सुखदायी होती है, पर कोकको नहीं। (रा० प०) कोमल वचनोंमें जो वर माँगे गये हैं उनका श्रवण किरणका स्पर्श है। (मा० सं०) बैजनाथजीका मत है कि 'कोक विकल होता है क्योंकि वियोगी है। उसको कोकीका वियोग होता है वैसे ही इनको रघुनन्दन श्रीरामजी और कैकेयी इन दोनों प्यारोंका वियोग हो जायगा।' (वै०) (ग) यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है। वीरकविजी लिखते हैं कि पुत्रका वियोग सुनकर राजाके हृदयमें जो दुःख हुआ, वह 'शोक स्थायी भाव' है। इस समयका दुःख अल्प है, क्योंकि अभी राजा समझते हैं कि कदाचित् रानीने हँसी की हो। पूरा निश्चय होनेपर यह शोक पूर्णावस्थाको पहुँचेगा। (घ) प० प० प्र०—कोकको सूर्यके किरण प्रिय होते हैं। *'राम सच्चिदानन्द दिनेसा'* श्रीरामजी दशरथजीको प्राणोंसे भी प्रिय हैं। इस चरणमें 'चन्द्र' के स्थानपर 'शशि' शब्दका प्रयोग करके बताया कि कलंकित चन्द्रमाके समान कैकेयीके वचन थे। निष्कलंक शशि या 'शशि चारू' श्रीरामजी हैं। कैकेयीके वचन-शशिमें रामद्रोहरूपी कलंक लगा है, इससे दशरथजी व्याकुल हो गये।]

* पाठान्तर—'जालू'

टिप्पणी—२ *'गयउ सहमि कछु·········'* इति। कुछ कहते न बना क्योंकि राजा सत्यप्रतिज्ञ हैं, धर्मात्मा हैं, सत्यकी सराहना करके उन्होंने वर देनेको कहा था, अतः अब न तो नहीं ही करते बने और न एवमस्तु ही। यहाँ रानीको सचान और राजाको लावासे उपमा दी गयी; क्योंकि यहाँ रानीकी बात प्रबल है, दो वरदान उसके थाती थे ही, वही उसने माँगे और वह भी राजाके कहनेपर कि माँगो हम देंगे। राजाको लवा कहा; क्योंकि इनकी बात शिथिल पड़ गयी, सत्यकी प्रशंसा करके उन्होंने वर देनेको कहा, पर जब रानीने माँगा तब वे चुप हो रहे, बटेरकी तरह दबक गये। [नोट—ऊपर दोहेमें वचनको बाज कहा है, यथा—*'भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति बचन भयंकर बाज।'* वैसे ही यहाँ भी वचन बाज है। बाजके झपटनेपर लवा दबककर, सिकुड़कर निर्जीव-सा हो जाता है। एक खास बात उसमें यह है कि वह पकड़े जानेपर चिल्लाता भी नहीं, उसके मुँहसे शब्द भी नहीं निकलता; अतः लवाकी उपमा सार्थक है।] सचान वनमें झपटा, रानी कोपभवनमें। यहाँ उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

श्रीनंगे परमहंसजी—१ *'सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू·········'* इति। यहाँ जो प्रथम वर माँगा है कि *'सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका॥'* यही मृदु वचन है। भरतजी राजाको प्रिय हैं, यथा—*'मोरे राम भरत दोउ आँखी',* इसलिये भरतके लिये राज्य माँगना मृदु वचन है। तब शोक क्यों हुआ? इसका उत्तर *'ससि कर छुअत बिकल जिमि कोकू'* में दे दिया है। भाव यह कि चन्द्रकिरण चक्रवाकको शीतल लगती है पर साथ ही शोक भी उत्पन्न करती है। चक्रवाकने चकईके साथ रहनेको सुख माना है और चन्द्रकिरण उसको उस सुखसे रहित कर देती है, अतः चकवाको शोक होता है। उसी तरह राजाने श्रीरामजीको युवराज होनेमें सुख माना था, वह सुख भरतके लिये राज्य माँगनेसे जाता रहा। इसीसे राजाको शोक हुआ। पहला वरदान सुनकर राजाकी जो दशा हुई उसको ग्रन्थकारने चकवेकी उपमा देकर सूचित की है और दूसरे वरदानसे जो दशा हुई उसे लवा और बाजके दृष्टान्तसे आगे दिखाते हैं।

२ *'गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा।·········'* इति। *'चौदह बरिस राम बनबासी'* ये वचन सुनकर राजा सहम गये, क्यों सहम गये? प्राण जानेके डरसे, क्योंकि इससे तो अब प्राण रहेंगे नहीं। श्रीरामजी राजाके प्राण हैं। कैसे डर गये? जैसे लवापर बाजके झपटनेसे लवा डर जाता है। अर्थात् जैसे जब लवाको बाज अपने पंजेमें ले लेता है तब वह प्राण जानेके डरसे बोलता ही नहीं; क्योंकि भयमें वचन निकलता नहीं। वैसे ही राजा वरदानरूप पंजेमें आ गये हैं, अतः प्राण जानेके भयसे उनके मुखसे वचन नहीं निकलता।

नोट—१ प्रथम वरसे भी राजाको शोक हुआ, क्योंकि राजाने मन्त्रियों और प्रजाप्रतिनिधियोंसे सम्मति लेकर श्रीरामजीको युवराज बनानेका निश्चय किया था, अब वे लोग क्या कहेंगे? वे अवश्य कहेंगे कि राजाकी बुद्धि नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। रामको कल प्रातः युवराज्य देंगे, यह कहकर दूसरेको राज्य देते हैं, राजाके वचनका कोई ठीक नहीं, वे असत्यवादी हो गये। दूसरे, नीतियुक्त इक्ष्वाकुकुलमें यह बड़ा नीतिविरुद्ध कार्य होने जा रहा है, इससे भी शोक हुआ। यथा—*'मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति॥'* (३१) **'इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्प्राप्तः सुमहानयम्॥'** (वाल्मी० २।१२।१९) (वाल्मी० २।१२।६३-६४) दूसरा वर तो प्राण ही लेनेवाला है, अतः उससे भी शोक हुआ, पर पहलेसे अधिक। दोनों ही वर परम अनुचित थे, इसीसे राजा थोड़ी देरतक कुछ भी न बोल सके, उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयीं। यह मत वाल्मीकिजीका भी है। यथा—**'रामस्य च वने वासमैश्वर्यं भरतस्य च।'** (२।१२।५१) **'नाभ्यभाषत कैकेयीं मुहूर्तं व्याकुलेन्द्रियः।'** भरतजीको राज्य देना भी उनको नीतिविरुद्ध होनेसे प्रिय नहीं है, फिर भी वे इस वरको देना स्वीकार करते हैं जिसमें वह प्रसन्न होकर श्रीरामको वनवास न दे। श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि *'नहिं कछु कहि आवा'* यह केवल दूसरे वरदानसे सम्बन्धित है।

टिप्पणी—३ *'बिबरन भयउ निपट नरपालू·········'* इति। (क) विवर्ण हुए, उनका रंग फक्क हो गया, उनका शरीर झुलस-सा गया, वे सूख गये। ताड़पर बिजली गिरनेकी उत्प्रेक्षाका भाव कि बिजलीके गिरनेसे अन्य वृक्षोंमें शाखाएँ रह जाती हैं, पर तालवृक्षमें कुछ नहीं रह जाता। वैसे ही राजा नाशको प्राप्त-से हुए।

[(ख) ताड़पर बिजलीके गिरनेसे उसका शिरोभाग टूट जाता है। फिर उसमें अन्य वृक्षोंकी तरह नवीन अंकुर नहीं निकलते। वह पेड़ ही नष्ट हो जाता है। (दीनजी) पुन: भाव कि जैसे ताड़का वृक्ष शिरोभंग होनेसे द्युतिहीन हो जाता है वैसे ही राजा अत्यन्त द्युतिहीन हो गये। (रा० प्र०) शोक और सहम जानेसे उनके शरीरकी यह दशा हो गयी। (ग) ***नरपालू—'नरनाहू*** २७। ७।' देखिये। यहाँ ***'तरु'*** शब्दसे भाव यह है कि दशरथजी ताल-वृक्षके समान बड़े ऊँचे, धीर, गम्भीर होनेपर भी माधुर्यभावके कोमल हृदयवाले उपासक हैं और कैकेयीके शब्द तो दामिनीके समान अग्निमय हैं। सुननेमें तो शीतल थे पर समझनेपर विद्युत्‌के समान विनाशक और विदाहक हैं। ***'लावा'*** और ***'तरु तालू'*** से ध्वनित किया कि तालसमान होनेपर भी लावाके समान क्षुद्र बन गये। तालकी उपमासे राजाकी सरलता सूचित की। (प० प० प्र०) पर श्रीनंगे परमहंसजी कहते हैं कि दामिनीकी उपमा कैकेयीके वचनकी नहीं है, बल्कि तीसरी उपमा इस बातकी है कि राजाकी कैकेयीने कैसी दशा कर दी।]

टिप्पणी—४ यहाँ राजाके मन, वचन और तन तीनोंकी दशा कहते हैं। ***'भूप हिय सोकू'*** यह मनकी दशा है। ***'नहिं कछु कहि आवा'*** यह वचनकी और ***'बिबरन भयउ'*** यह तनकी दशा है।

नोट—२ मिलान कीजिये। यथा—'**निपपात महीपालो वज्राहत इवाचलः।**' (अ० रा० २। ३। २३) '**तां हि वज्रसमां वाचमाकर्ण्य हृदयाप्रियाम्। दुःखशोकमयीं श्रुत्वा''''''''तरुरिवापतत्।**' (वाल्मी० २। १२। ५३-५४) अर्थात् अप्रिय दु:खशोकमयी वज्रके समान वाणीको सुनकर राजा कटे वृक्षके समान गिर पड़े। विशेष ३५(१—३) में देखिये।

माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन॥ ७॥
मोर मनोरथु सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥ ८॥
अवध उजारि कीन्हि कैकेईं। दीन्हिसि अचल बिपति कै नेईं॥ ९॥

शब्दार्थ—**मूँदि**=बन्द करके, ढककर, ढाँपकर। **करिनि**=हथिनी। **हतेउ**=उखाड़ गिराया। **उजारि कीन्हि**=उजाड़ कर दिया। **उजाड़**=गिरा-पड़ा-सा, निर्जन। यहाँ तात्पर्य है—नष्ट करने, बिगाड़ डालने, तितर-बितर करनेसे। **नेईं**=नींव, बुनियाद। **अचल**=जो चल न सके, अटल, पक्की, मजबूत, किसी प्रकार न उखड़नेवाली।

अर्थ—माथेपर हाथ रख दोनों नेत्र बन्द करके राजा ऐसे सोचने लग गये मानो सोच ही शरीर धारण करके सोच कर रहा हो॥ ७॥ (सोचते हैं कि हा हन्त,) 'मेरा मनोरथरूपी कल्पवृक्ष फूल चुका था (परंतु) फलते समय (कैकेयीने उस मनोरथका ऐसा सर्वनाश कर दिया।) जैसे हथिनीने उसे जड़समेत उखाड़ गिराया हो॥ ८॥ कैकेयीने अवधको उजाड़ डाला, विपत्ति-(दु:ख-)की पक्की नींव डाल दी॥ ९॥

—'करुणारसका आदर्श विकास'—

इस प्रसंगमें मानसकारने करुणारसका क्रमशः जैसा विकास किया है वैसा अन्य किसी रामचरितसम्बन्धी काव्यमें देखनेमें नहीं आया। और रामायणोंमें प्राय: रामवनगमनकी बात सुनते ही राजा दशरथ मूर्च्छित हो गये हैं। परंतु यहाँ वह बात नहीं है। कैकेयीके कोपभवनको सुनकर और अमंगलवेषको देखकर ही राजा दशरथके मनमें भावी अमंगलका खटका हो गया, शोकका स्थायी भाव इस अवलम्बनको पाकर उभरा। कैकेयीका दूसरा वरदान उस शोकके उद्दीपनका कारण हुआ। शोकके उद्दीप्त होते ही विकलताका संचार हुआ, राजा सहम गये, फिर सात्त्विक भावोंका उदय हुआ, वदन पीला और तेजहीन हो गया, माथेपर हाथ धर दोनों आँखें मूँद शोककी मूर्ति बन गये। फिर तो आगेको राजा-रानीका संवाद साक्षात् शोकसागर है और भगवान्‌का वनगमन, दशरथजीका प्राणत्याग और उसके परिवर्ती सभी प्रसंग बड़े उत्तम क्रमके साथ करुणारसका आदर्श रूप और आदर्श विकास है। यद्यपि कथाक्रम स्वयं कविके लिये सहायक है तथापि उसके यथोचित प्रयोगमें और रसके विकासके वर्णनमें किसी अन्य कविको इतनी सफलता नहीं मिली है—(गौड़जी)।

टिप्पणी—१ ***'माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन'*** इति। यह भारी सोचकी मुद्रा है। भारी शोकमें मनुष्योंकी यह दशा होती है। वे शोकसे व्याकुल होकर स्वाभाविक ही नेत्र बन्दकर दोनों हाथ माथेपर धरकर बैठ जाते हैं। भारी शोक, भय या दु:खमें आँखें सहज ही मुँद (बन्द हो) जाती हैं। इसके उदाहरण इसी ग्रन्थमें बहुत हैं। यथा—***'हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूँदि बैठी मग माँहीं॥'*** (१। ५५) ***'मूँदेउ नयन त्रसित जब भयऊँ।'*** (७। ८०। १) ***'मूँदे नयन सहमि सुकुमारी।'*** (२४६। ४) इत्यादि, तथा यहाँ ***'माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन·······।'*** [***'माथे हाथ मूँदि'*** का भाव कि मस्तकमें भाग्य-कुभाग्य लिखा रहता है और हाथोंमें भी इसीसे माथेपर हाथ धरकर सोचते हैं कि हम हतभाग्य हो गये, हमारा भाग्य जाता रहा, फूट गया।) नेत्र बन्द कर लिये कि दुष्टा दृष्टिमें न आवे। (पं०) अथवा बिजलीके गिरनेके समय लोग नेत्र बन्द कर लेते हैं वैसे ही राजाने कैकेयीके वाक्‌रूपी दामिनिके भयसे नेत्र बन्द कर लिये। (मुं० रोशनलाल)]

टिप्पणी—२ ***'तनु धरि सोचु लागु जनु सोचन'*** इति। राजाका शोक यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय है, शोक शरीरधारी नहीं होता इसीसे कवि उसकी उत्प्रेक्षा करते हैं। राजा तन-मन-वचन तीनोंसे शोचमय हो गये हैं; इसीसे राजाको शोचमूर्ति कहते हैं। मानो राजा नहीं हैं वरन् सोच ही मूर्तिमान् होकर बैठा सोच कर रहा है। इससे शोककी अधिकता दिखायी। यह अत्युक्तिपूर्ण कल्पना 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है। राजा क्या सोच कर रहे हैं यह आगे लिखते हैं—***'मोर मनोरथ·······।'*** *

नोट—१ ***'मोर मनोरथु सुरतरु फूला। फरत करिनि·······समूला'*** इति। (क) रामराज्याभिषेकका मनोरथ सुरतरु है। गुरु, मन्त्री, परिजन आदिकी भी उसमें सम्मति हुई, यही उसका बढ़कर बड़ा होना है। यथा—***'अभिमत बिरव परेउ जनु पानी।'*** (२। ५। ४) तिलककी तैयारी इस मनोरथ-वृक्षका फूलना और तिलक होना फल लगना है। (ख) कल्पवृक्ष वांछित फल देता है, राजाके रामराज्याभिषेक मनोरथसे सबको वांछित फलकी प्राप्ति होगी, सभीका उपकार होगा, कुछ एक राजाका ही नहीं। अतः उसे राजा ***'सुरतरु'*** कहते हैं। (पु० रा० कु०) (ग) जब वह फूल चुका था, उसके फलका सुख सबको मिलनेवाला ही था और उसके नष्ट होनेकी सम्भावना न हो सकती थी उसी समय कैकेयीने उसको उखाड़ फेंका।

टिप्पणी—३ (क) ***'बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहु तरु तालू॥'*** और ***'मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥'*** इन दोनों उत्प्रेक्षाओंसे जनाया कि कैकेयीके वचनसे राजाके तनका नाश हुआ और मनोरथका भी। (ख) ***'हतेउ समूला'***—(जड़समेत उखाड़ डाला, क्योंकि यदि जड़ या ठूँठ रह जाय तो पेड़ फिर हरा हो जाता है, उसमें फिर अंकुर फूट आते हैं, डाल, पत्ते, फूल, फल फिर हो जाते हैं और जड़से उखड़ जानेसे सूख ही जाता है; अतएव ***'हतेउ समूला'*** कहा। अर्थात् अब रामराज्य किसी प्रकार नहीं हो सकता। जड़से उखड़ गया। राजा सोचते हैं कि यदि कैकेयी रामवनवास न माँगती तो रामराज्यकी फिर भी अभी आशा कर सकते, पर रामवनगमनसे तो हमारी मृत्यु ही हो जायगी, [हम जीवित ही न रहेंगे, तब मनोरथकी पूर्ति कैसे सम्भव हो सकती है? मनोरथ तो हमारे साथ ही चला जायगा। (ग) यहाँ मनोरथ सुरतरु है पर उसका मूल क्या है? राजा स्वयं ही मनोरथके मूल हैं, आपहीने राज्याभिषेककी चर्चा गुरुसे चलायी और उसका होना निश्चित किया। इस प्रकार ***'हतेउ समूला'*** वचनोंद्वारा अपने मनोरथका ही नहीं किंतु साथ-ही-साथ कैकेयीद्वारा अपना भी नाश सूचित कर रहे हैं। इस भावकी पुष्टि ***'ब्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहु निपाता॥'*** (३५। १) से भी होती है। यहाँ 'मनोरथ' को कल्पवृक्ष और वहाँ 'राजा' को कल्पवृक्ष कहा। दोनोंको कैकेयीने नष्ट किया। अतएव दोनों स्थानोंमें उसको हथिनी पशुसे उपमित किया है। (घ)—मनोरथपर सुरतरुका आरोप करके कैकेयीपर हथिनीका आरोपण करनेसे यहाँ रूपक है। जैसे हथिनी पेड़को उखाड़ डालती

* वाल्मी० आदिके राजा दशरथ यह सोच रहे थे कि क्या यह मेरा दिनका स्वप्न है या मुझे चित्तमोह हो गया है या पूर्व जन्मका अनुभूत किसी बातका स्मरण हो रहा है या यह कोई मानसिक विकार या उन्माद हो रहा है। (२। १२। २)

है वैसे ही इसने मनोरथको नष्ट कर डाला, इसमें 'उदाहरण अलंकार' है।] (ङ) कैकेयीको हथिनी अर्थात् पशुसे रूपक दिया, क्योंकि उसमें विचार नहीं है। देखिये, अपने घरमें लगा हुआ फूलता-फलता कल्पवृक्ष पेड़ देवता, मनुष्यकी कौन कहे राक्षस भी नहीं उखाड़ते या काटते, (और अपनी कौन कहे कोई दूसरेको भी न उखाड़ने देगा), सो ऐसे मनोरथरूपी सुरतरुको दुर्बुद्धि विचारहीन कैकेयी अर्थात् घरवालेने ही जड़मूलसहित उखाड़ गिराया। पुनः हथिनी कहा, क्योंकि वृक्षोंके गिराने-उखाड़नेमें उसको कुछ नहीं लगता, वह बलपूर्वक वृक्षोंको उखाड़ डालनेमें समर्थ है; वैसे ही कैकेयी यहाँ इस मनोरथ-तरुके नष्ट करनेमें प्रबल है, उसने पहले ही राजाको वचन-बद्ध करके तब वर माँगा)

टिप्पणी—४ ***'अवध उजारि कीन्हि कैकेयी।'''''''' '*** इति। (क)—भाव यह कि उसने एक मेरा ही मनोरथ नहीं नष्ट किया वरन् अवधमात्रको उजाड़ डाला और उसमें विपत्तिकी नींव डाल दी। अर्थात् अवधको उजाड़कर विपत्तिका नगर बसाना चाहती है। (ख)—अपने मनोरथका उजड़ना कहकर तब अवधका उजड़ना कहा, क्योंकि इस मनोरथके पूर्ण होनेसे अयोध्या बसती और इसके नष्ट होनेसे (राम-वनगमनसे) उजड़ती है। (अवधका उजड़ना प्रजाके विरह-वर्णनमें कहा जायगा, प्रजा रहना नहीं चाहेगी, भागेगी और अन्तमें जब रहेगी भी तब भूषण-भोग सब त्यागकर रहेगी)। (ग)—***'अचल'*** का भाव कि ऐसा पुष्ट पक्का संगीन काम किया कि चलायमान न हो सके, इस विपत्तिको कोई टाल या हटा न सके। विपत्ति अटल है क्योंकि हम (राजा) अपना वचन न छोड़ेंगे, वचनको मिथ्या न करेंगे। रामजी अवश्य वनको जायँगे और हमारा मरण होगा—यह टलनेवाला नहीं है। (घ)—विपत्तिकी अटल नींव डाली; आगे कहेंगे कि घर भी ढहाना चाहती है।

दो०—कवने अवसर का भयउ गयउँ[१] नारि बिस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अबिद्या नास॥ २९॥

शब्दार्थ—**गयउँ**=बुरी दशाको पहुँचा, नष्ट हुआ, ठगा गया, कहींका न रहा, मारा गया। **जतिहि**=यतिको। यति=वह जिसने इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली हो और संसारसे विरक्त होकर मोक्षका उद्योग करता हो, संन्यासी, योगी।

अर्थ—क्या अवसर था और उसमें हो गया क्या! स्त्रीपर विश्वास करनेसे मैं मारा गया, कहींका न रह गया। (इस समय मेरी वही दशा हुई) जैसे योगकी सिद्धि-फल-प्राप्तिके समय योगीको अविद्या माया नष्ट कर डालती है॥ २९॥

नोट—१ भाव यह है कि यह मंगलका समय था; इसमें अमंगल हो गया, सुखके अवसरपर दुःख हो गया, परम लाभके अवसर परम हानि हो गयी। राज्याभिषेकके समय वन हो गया।[२] जैसे यती सिद्ध होकर आत्मज्ञानीकी अवस्थाको प्राप्त करनेके योग्य हुआ तभी अविद्यामायाने आकर उसका ज्ञान हर लिया और वह तनको ही नित्य मानकर उसीके साधनमें लग जाय। जैसे बहुत-से लोग सिद्धियोंमें पड़कर अपना किया-कराया सब परिश्रम खो बैठते हैं। यथा—***'प्रबल अविद्या कर परिवारा', 'रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ देखावहिं आई॥' 'कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा॥' 'होइ बुद्धि जो परम सयानी। तिन्ह तन चितइ न अनहित जानी॥'*** (७। ११८) इत्यादि ज्ञान दीपक-प्रसंगसे इसका पूर्ण भाव समझमें आ जायगा।

---

१. 'गयउँ'—(राजापुर), 'गयेउ'—(रा० प्र०), 'गयउ'—(ना० प्र०) 'गयउ' पाठसे लोगोंने यह अर्थ किया है कि आजसे अब स्त्रियोंका विश्वास उठ गया। पर प्रसंगके अनुकूल 'गयउँ' ही सुसंगत है। यहाँ नष्ट होनेसे प्रयोजन है। उसीका उदाहरण उत्तरार्द्धमें दे रहे हैं।

२. इसमें वाल्मी० २। १२। २ 'किं नु मेऽयं दिवास्वप्नश्चित्तमोहोऽपि वा मम। अनुभूतोपसर्गो वा मनसो वाप्युपद्रवः।' का भाव भी आ जाता है। इससे जनाते हैं कि राजाको विश्वास नहीं होता कि जो कैकेयीने कहा वह सत्य है, इसीसे वे सोचते हैं कि मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ, या मेरे चित्तमें कुछ भ्रम तो नहीं हो गया इत्यादि।

टिप्पणी—१ *'कवने अवसर का भयउ······।'* इति (क) भाव कि राज्याभिषेकके अवसरपर वनवास हो गया, स्त्रीपर विश्वास करनेसे मैं नाशको प्राप्त हुआ। जैसे योगसिद्धिके फलके समय अविद्यासे यतीका नाश होता है। योग-सिद्धि-फल परम लाभ है, उसके समान और लाभ नहीं और अविद्याकी प्राप्ति परम हानि है। वैसे ही रामराज्य परम लाभके अवसर वनवास परम हानि हुई। अविद्या योगको बिगाड़ देती है, योग सिद्ध नहीं होने पाता, फल नहीं मिलता और योगके बिगड़नेसे यतीके तनका भी नाश होता है। यहाँ राजा यती, रामराज्याभिषेककी तैयारी योग, रामराज्य योगसिद्धि-फल और कैकेयीकी कुमति अविद्या है जिसने योगको बिगाड़ा जिससे फलकी प्राप्ति न हो पायी और राजाके तनका नाश हुआ। (ख) अविद्या यतीको छलसे बिगाड़ती है, यथा—*'कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा॥'* (७। ११८। ८) वैसे ही कैकेयीकी कुमतिने राजाको छलसे बिगाड़ा, यथा—*'कपट सनेह बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी'*, *'ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई॥······ लखी न भूप कपट चतुराई'* इत्यादि। (ग)—यती योग करनेमें मुख्य है। सब विषय त्याग करनेपर मनुष्य योगका अधिकारी होता है। यती योगका अधिकारी है, इसीसे यहाँ 'यती' की उपमा दी। (घ)—राजा सोचते हैं कि हमारी राजधानी नष्ट हुई, यथा—*'अवध उजारि कीन्हि······'*, हमारा नाश हुआ, यथा—*'गयउँ नारि बिस्वास।'* प्रथम राजधानीका नाश कहकर तब अपने नाशका शोच करते हैं अर्थात् अपने तनके शोचसे राजधानीके नाशका शोच अधिक है।

नोट—२ 'योग-सिद्धि' के लिये योगके आठों अंगोंका साधन आवश्यक और अनिवार्य बताया गया है। अष्टांग ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच प्रकारके क्लेश योगदर्शनमें माने गये हैं। पतंजलि ऋषिने इनसे बचने और मोक्ष प्राप्त करनेका उपाय योग बताया है। अष्टांगका क्रमशः साधन करते-करते मनुष्य सिद्ध हो जाता है और अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है। 'अविद्या'—मोह, अहंकार, काम, क्रोध आदि सब अविद्या मायाके परिवार हैं। इसीके कारण जीव भवकूपमें पड़ा सड़ता है। इससे ज्ञान उलट जाता है। मनुष्य अनित्यमें नित्य, अशुचिमें शुचि, दुःखमें सुख और अनात्मामें आत्माका भाव करने लगता है। स्त्रीको मायाका रूप ही कहा है, यथा—*'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥'* (३। ४३) अतः यहाँ रानीके लिये अविद्याकी उपमा बड़ी उत्तम है।

पण्डितजी—'योगके आठ अंगोंमेंसे एक अंग आसन है जो ८४ लाख हैं, सात अंग और हैं। सो इन सबको करके, जैसा उत्तरकाण्ड ज्ञान-दीपकमें वर्णन किया गया है—*'सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई'* इत्यादि, जब तेजराशि विज्ञानमय दीपक जला और जो *'जड चेतनहिं ग्रंथि परि गई'* थी वह छूटने लगी तब मायाकी उपाधिसे वह योग-भ्रष्ट हो गया। यतीको किसीमें राग (प्रीति) नहीं होता। सो योग-सिद्धि-फलके समय उसे कामकी इच्छा हुई, स्त्री प्राप्त हुई उसके संगसे वह नष्ट हो गया। स्त्री-रूपी अविद्या योग-मार्गमें तलवारकी धार है—*'परत खगेस होइ नहिं बारा।'*

प्रश्न—महान् समुद्रको जड़ करणीसे अर्थात् पैरकर (पँवर कर) कोई कैसे पार कर सके? उत्तर—'रामभक्ति-नावसे'।

प्रश्न—सब वासनाओंका त्याग कैसे बने? उत्तर—रामदास होनेसे। रामजीके दास होनेसे पार लग जाता है और राजा तो रामजीके बाप बने हैं तो कैसे बन सके? योगीके नजदीक अविद्या कुछ नहीं है पर गृहस्थ तो अविद्यामय ही है। राजा योगी हैं, रामराज्यरूपी योगसिद्धि-फल परम लाभ है, सो वे अविद्यारूपिणी कैकेयीके संगसे इतने बड़े पदसे गिरे, परमलाभके बदले परम हानि हुई।

एहि बिधि राउ मनहिं मन झाँखा। देखि कुभाँति कुमति मन माषा॥ १॥

शब्दार्थ—**झाँखा**=झींखने वा झँखने लगे, खीझे—(यह शब्द 'झींखना' से बनाया गया है। झींखना=किसी अनिवार्य अनिष्टके कारण दुःखी होकर बहुत पछताना और कुढ़ना, दुखड़ा रोना)= पछताते रहे। **कुभाँति**=बुरी रीति, बुरी तरह, बुरा ढंग (चेष्टा), बेतरह। **माषा**=माषना, क्रुद्ध या कुपित होना। *'भटमानी अतिसय मन माषे'* (१। २५०। ५) में देखिये।

अर्थ—इस प्रकार राजा मन-ही-मन झींखते रहे। राजाके इस बुरे ढंगको देखकर दुर्बुद्धि कैकेयी मनमें बेतरह क्रुद्ध हुई॥ १॥

टिप्पणी—१ *'एहि बिधि राउ मनहिं मन झाँखा'* इति। (क) *'तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन।'* (२९। ७) उपक्रम है, *'एहि बिधि······'* उपसंहार है। इसके बीचमें क्या सोच रहे हैं उसका उल्लेख है प्रथम कहा कि *'गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा।'* (२९। ५) जब मुँहसे कुछ वचन न निकल सका, बोल न सके तब राजा मन-ही-मनमें झँखने लगे। आदिमें *'लाग जनु सोचन'* और अन्तमें *'मनहिं मन झाँखा'* कहकर सोचने और मनमें झँखनेको पर्याय शब्द जनाया। [(ख) *'एहि बिधि'* अर्थात् जैसा ऊपर लिख आये, *'मोर मनोरथ सुरतरु फूला'* से 'अविद्या-नाश' तक। पुनः भाव कि कुछ विधि यहाँ लिखी गयी, इसी प्रकार और भी समझ लीजिये जो अन्य ऋषियोंने लिखी हों। वाल्मी० २। १२। २ तथा अ० रा० २। ३। २४ में जो मनमें सोचना लिखा है वह ऊपर दोहेमें लिखा गया है। इन शब्दोंसे यह भी जनाया कि राजा कुछ कर्तव्य निश्चित न कर सके।]

टिप्पणी—२ *'देखि कुभाँति कुमति मन माषा'* इति। [(क)'कुभाँति' के दो-तीन अर्थ ऊपर दिये गये हैं। 'कुभाँति' को दीपदेहलीन्यायसे लेनेसे ये सब अर्थ यहाँ लगते हैं। अर्थात् राजाकी 'कुभाँति' (बुरी चेष्टा, मनमें झँखना, इत्यादि) देखकर कैकेयी 'कुभाँति' (बुरी तरह एवं बेतरह) मनमें माखी। और 'कुभाँति' (बुरी तरहके) वचन बोली, इसका अध्याहार ऊपरसे करना होगा, क्योंकि आगे उसके वचन हैं जिन्हें सुनकर राजाने कहा है कि *'प्रिया वचन कस कहसि कुभाँती।'* (३१। ५) (ख)—*'कुमति मन माषा'* इति। पूर्व जब कैकेयीने अपना कर्म नष्ट किया तब कविने उसको 'कुमति' कहा, यथा—*'कोप समाज साजि सबु सोई। राज करत निज कुमति बिगोई॥'* (१३। ७) फिर जब वह नष्ट वचन बोली, तब उसको 'कुमति' कहा, यथा—*'बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली। कुमत कुबिहग कुलह जनु खोली॥······भिल्लिनि जिमि छाँड़न चहति बचनु भयंकरु बाजु॥'* (२८) और जब उसने *'कुभाँति मन माषा'* तब उसके मनको भी नष्ट जानकर 'कुमति' विशेषण दे रहे हैं—*'कुमति मन माषा।'* तात्पर्य कि उसके कर्म, वचन और मन तीनोंको निन्दित जानकर कवि तीनों स्थानोंमें कुमति विशेषण देकर उसके कर्म, वचन और मन तीनोंकी निंदा करते हैं। (ग)—*'मन माषा'* इति। मनमें क्रोध होनेका भाव कि (राजाकी यह दशा देखकर कि वर माँगनेपर उनको भारी शोक हो रहा है, वे पीले पड़ गये, मनमें न जाने क्या झँख रहे हैं, उत्तर नहीं देते, वह सह न सकी। उसे कुबरीके वचनोंका स्मरण हो आया कि) जो मन्थराने कहा था कि *'तुम्हहिं न सोचु सोहाग बल निज बस जानहु राउ। मन मलीन मुह मीठ नृप······।'* (१७) वह सब सत्य हैं, राजा कपटी हैं, मनमें मैले हैं, हमसे ऊपरसे मीठे वचन बोला करते थे, पर प्रेम है कौसल्यामें। वे कौसल्याका ही हित चाहते हैं। (मनमें माष हुआ अर्थात् वह सह न सकी। सह न सकनेसे क्रोध आ गया। 'माष' शब्द 'अमर्ष' से बना है। क्रोधमें कठोर वचन निकलते हैं, यथा—*'क्रोध के परुष बचन बल······।'* वही कठोर वचन आगे हैं।)

भरतु कि राउर पूत न होंही। आनेहु मोल बेसाहि कि मोही॥ २॥
जो सुनि सरु अस लाग तुम्हारे। काहे न बोलहु[१] बचन सँभारे॥ ३॥
देहु उतरु अनु[२] करहु[३] कि नाहीं। सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माहीं ४॥

शब्दार्थ—**मोल बेसाहि**=दाम देकर मोल लाये। '**बेसाहि**' (सं० व्यवसाय)। **बिसाहना**=दाम देकर लेना, मोल लेना, खरीद करना। **सत्यसंध**=सत्यप्रतिज्ञ, सत्यके साधनेवाले, सत्यवादी।

अर्थ—क्या भरत आपके पुत्र नहीं हैं? या कि आप मुझे ही दाम देकर मोल लाये हैं?॥ २॥ जो (मेरा

१. बोलेहु—ना० प्र०, को० रा०। २. अरु—भा० दा०, लाला सीताराम, पं० रा० गु० द्वि०। ३. कहहु—पाठान्तर। विशेष नोट—३ में देखिये।

वचन वा भरतका राज्य) सुनकर आपको बाण-सा लगा तो आप वचन सँभालकर क्यों नहीं बोले?॥ ३॥ उत्तर दीजिये कि आप उसके अनुकूल करते हैं या नहीं? आप तो सत्यवादी हैं और रघुकुलमें हैं!॥ ४॥

नोट—१ *'भरतु कि राउर पूत न होंही।……'* इति। क्या भरत आपके पुत्र नहीं हैं या कि आप मुझे खरीद लाये हैं? इस कथनका तात्पर्य यह है कि दो ही हालतोंमें भरत राज्यके अधिकारी नहीं हो सकते। एक तो यदि वे आपके पुत्र न हों; दूसरे यदि वे दासीपुत्र हों। यदि ऐसा नहीं है, वे आपहीके पुत्र हैं और मैं पटरानी हूँ लौंड़ी नहीं, तो आपको भरत-राज्यके वरसे दुःख न होना चाहिये था, हर्ज क्या था, राम न राजा हुए भरत ही हुए! यहाँ तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग है। यहाँ व्यंगसे सूचित करती हैं कि क्या कौसल्या ही पटरानी हैं और राम ही आपके पुत्र हैं?

वि० त्रि०—राजाकी यह दशा देखकर कैकेयी बड़ी चिढ़ी कि यदि कौसल्याके षड्यन्त्रके सफल होनेपर रामको राज्य होता तब तो मेरे पुत्रको आजन्म कारावास होता, यथा—*'भरत बंदिगृह सेइहैं राम लखन के नेब।'* सो इन्हें मंजूर था, और मैं तो भरतके राज्यके साथ रामचन्द्रके लिये केवल चौदह वर्षका वनवास माँगती हूँ, सो इन्हें बाणकी भाँति लगा। अतः कहती है कि क्या मैं जरख़रीद गुलाम हूँ, और भरत दासीपुत्र हैं? (भाव यह कि दासी-पुत्र, पुत्र नहीं माने जाते। कहावत भी है कि रानीके बेटे राजा होते हैं, राजाके बेटे राजा नहीं होते) अर्थात् मैं भी पटरानी हूँ, मेरे बेटेपर भी तुम्हें वैसा ही प्रेम होना चाहिये जैसा कि कौसल्याके बेटेपर है। उसके लिये राज्य माँगनेपर आपको ऐसी चोट क्यों लगी कि इतने बिकल हो गये?

नोट—१ *'मोल बेसाहि'* एक शब्द मानकर बोला जाता है। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि यह देशबोली है, लोग बोलते हैं कि 'यह वस्तु हम मोल बेसाहा' है। ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। अब भी लोग जोर देनेके लिये बोला करते हैं—क्या दाम देकर मोल लिया है, जरखरीद किया है? इसमें पुनरुक्ति नहीं है। २—पुनरुक्तिके विचारसे लोग इस तरह अर्थ करते हैं कि *'आनेहु मोल?'* भरतके लिये कहा और *'आनेहु बेसाहि'* अपने लिये। अर्थात् क्या भरतको मोल लाये हो या कि मुझे बेसाहि लाये हो। इस प्रकार इसमें पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

टिप्पणी—१ *'जो सुनि सरु अस लाग……'* इति। [(क) *'भरतु कि राउर पूत न होंही।……'* इन वचनोंके साथ मिलाकर अर्थ करनेसे *'जो सुनि'* का अर्थ होगा 'भरतका राज्य सुनकर', *'देहु एक बर भरतहि टीका'* इसे सुनकर। इससे जनाया कि मुख्य वरदान यही है और दूसरा तो केवल उसकी पुष्टिके लिये है, पहला योग है दूसरा क्षेम] (ख) *'सरु अस लाग तुम्हारे'*—राजाका रंग पीला पड़ गया। शोकके मारे उनके मुखसे वचन नहीं निकलता। वे दोनों हाथ माथेपर रखे आँखें बंद किये हुए शोकमें डूबे हुए बैठे हैं। इसीपर वह कहती है—*'जो सुनि सरु……।'* यह सब दशा बाण लगनेसे होती है। भाव कि भरतको राज्य दीजिये यह वचन तुमको बाण-सा लगा। (ग) *'काहे न बोलहु'*—अर्थात् अपनेको सँभालकर मुँहसे कहना चाहिये कि तुम्हारे किये होगा या नहीं, भरत तुम्हारे पुत्र हैं या नहीं? मैं जरखरीद दासी हूँ या रानी?

नोट—१ लाला सीतारामकी पुस्तकमें *'बोलहु'* पाठ है। गीताप्रेसने भी यही पाठ दिया है। को० रा० और ना० प्र० सभाने *'बोलेहु'* पाठ दिया है। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि राजापुरकी पोथीमें *'बोलेहु'* है और टीकाकारोंने *'बोलहु'* पाठ दिया है। दास अयोध्याजीसे बाहर नहीं जाता इससे कुछ निर्णय नहीं कर सकता कि वास्तवमें पाठ क्या है। गी० प्रे० ने राजापुरका पाठ प्रायः रखा है। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीके टिप्पणसे प्रतीत होता है कि *'बोलहु'* पाठ उन्होंने भी रखा है। अतः मा० पी० में भी *'बोलहु'* पाठ दिया गया है। इस पाठके जो भाव लोगोंने लिखे हैं वे सब यहाँ दिये गये हैं।

नोट—२ (क)—पंजाबीजी कहते हैं कि राजाकी दशा देख कैकेयी डरी कि कहीं इस दशामें प्राणान्त हो गया और वे 'हाँ' न कह सके तो बना-बनाया काम बिगड़ जायगा। इसलिये वह ऐसा कहती है कि 'हमारे वचन बाणसे लगे हैं! अपनेको सँभालकर बोलते क्यों नहीं?' जिसमें वे बोलें। फिर भी वे

न बोले तब कहती है कि उत्तर दीजिये, हाँ या नहीं कुछ भी कीजिये। यह अर्थ भी ठीक लगता है। (प्र० सं० में हमने ऐसा लिखा था किन्तु अब देखनेसे पता चला कि यह भाव उनका नहीं है अथवा मैंने समझनेमें गलती की थी। उनका अर्थ यह है—'भरतके राज्यका वाक्य जो तुम्हारे हृदयको बाण-समान छेद रहा है, तो तुमको प्रतिज्ञा विचारकर करनी थी।' इस तरह उन्होंने भी 'बोलहु' का अर्थ 'बोलेहु' किया है)।

(ख) वि० त्रि०—जैसे बाणके लगनेसे वीर बेसँभाल हो जाते हैं (यथा—***'परा बिकल महि सरके लागे'***) उसी भाँति राजाको विकल देखकर कैकेयी कहती है कि इसमें कोई दु:खकी बात नहीं है, राम या भरत किसीके राजा होनेपर एकको सुख और दूसरेको दु:ख होना अनिवार्य है, अत: आप अपनेको सँभालकर एक बात कह दीजिये 'हाँ' या 'ना', पर इस बातका ध्यान रहे कि आप रघुकुलमें सत्यसन्ध हैं।

(ग) हमारा वचन तुम्हें बाण-सा लगा। सँभालकर क्यों नहीं बोलते हो। अर्थात् तुम्हें पहले ही सोच-विचारकर बोलना चाहिये था। पहले किस मुँहसे कहा था कि ***'रघुकुल रीति सदा चलि आई······'*** इत्यादि। इस तरह न बोलना चाहिये था। ***बोलहु***=बोलते हो=बोले। ***बोलइ***=बोलेहु। इस प्रकार मानसमें बहुत स्थानोंपर शब्दोंका प्रयोग हुआ है। यथा—***'तहूँ सराहसि करसि सनेहू', 'मारसि गाइ नहारू लागी।'*** (३५। ८) इत्यादि। 'सँभारे' वचनके साथ है। पहले अर्थमें 'वचन' शब्द व्यर्थ हो जाता है। दु:ख तो प्रथम वरदानसे भी हुआ पर बाण-सा लगा दूसरा ही वर न कि पहला, क्योंकि यह प्राणघातक है। यदि पहलेमें कैकेयीको संतोष हो जाता तो राजा तो बड़ी प्रसन्नतासे उसे यह वरदान देनेको तैयार हैं। (प्र० सं०)

नोट—३ ***'देहु उतरु अनु करहु कि नाहीं।'*** इति। ***'अनु करहु'*** शब्दके प्रयोगके उदाहरण हिंदी-शब्दकोशमें नहीं मिले। मेरी समझमें ***'अनु करहु'*** एक शब्द है जिसका अर्थ है—'उसके अनुकूल अनुहार वा अनुसार करते हो।' यथा—'**अनुकार: सदृशीकरणम् अनुहार:**' इत्यमर:। (शब्दकल्पद्रुम)। 'अनुकार' से ही अनुकरहु बना है। गी० प्रे० ने 'हाँ कीजिये, नहीं तो नाहीं कर दीजिये' ऐसा अर्थ किया है। ***'अनुकरहु कि नाहीं'*** के अर्थ लोगोंने ये किये हैं—'नहीं तो नहीं कर दो', 'पीछे नहीं कर दो', 'या कि नहीं कर दो।' ***'अनु करहु'*** पाठ राजापुर, भागवतदास, काशिराज इत्यादिकी प्रतियोंमें है।

पं० रामगुलाम द्विवेदीकी प्रतिलिपि जो बंदनपाठकजीके पास थी, उसमें ***'अरु कहहु'*** पाठ है; पर पाठकजीके शिष्य छोटेलाल व्यासजी ***'अनु करहु'*** पाठ पाठकजीका बताते हैं। बाबा हरिहरप्रसादजी आदि इसे राजापुरका पाठ लिखते हैं। पर लाला सीतारामकी प्रति जो मिली उसमें 'अरु' है। 'र' पोथीमें 'न' और नकार 'न' ऐसा लिखा गया है, सम्भव है कि 'न' को 'र' पढ़ लिया हो। 'अनुकरहु' का 'अरुकरहु' 'अरुकहहु' ठीक अर्थ न समझनेके कारण हो जाना असम्भव नहीं है।

पं० रामकुमारजी 'अरुकरहु' का अर्थ यों करते हैं—'हमारे वचनका उत्तर दो कि हमने वरदान दिया और कि (या) नहीं करो।' और, कहते हैं कि कैकेयी अपना काम किया चाहती है इसीसे पहले देनेको कहती है पीछे नहीं करनेको कहती है और फिर आगे नहीं करनेसे रोकती है—यह कहकर कि 'आप सत्यसंध हैं और रघुवंशी हैं फिर आप नहीं कैसे कर सकते हैं?'

नोट—४ ***'सत्यसंध तुम्ह······'*** इति। कैकेयी ***'अनु करहु कि नाहीं'*** कहकर फिर भी डरती है कि कहीं सत्य ही नहीं न कर दें, क्योंकि श्रीरामजी उनको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, अत: वह अपना कार्य साधनेके लिये फिर कहती है कि ***'सत्यसंध······।'*** ये वचन व्यंगके हैं। अर्थात् आप ही तो अभी कह चुके हैं कि ***'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचनु न जाई॥'*** और सत्यकी सराहना की है। अब उस रीतिका पालन करना आपका कर्तव्य है; जैसे बने आपको वरदान देना चाहिये। पुन:, सत्यसन्ध हो, अत: नहीं करनेसे प्रतिज्ञा जाती है और रघुवंशी हो, अत: मुकरनेसे कुल दूषित हो जायगा। (पु० रा० कु०)

देन कहेहु अब जनि बरु देहू। तजहु सत्य जग अपजसु लेहू॥ ५॥
सत्य सराहि कहेहु बरु देना। जानेहु लेइहि माँगि चबेना॥ ६॥

अर्थ—आपने वर देनेको कहा था, अब न दीजिये। सत्य छोड़ दीजिये और जगत्में अपयश लीजिये॥ ५॥ सत्यकी बड़ाई करके आपने वर देनेको कहा था। समझते थे कि चबेना माँग लेगी?॥ ६॥

टिप्पणी—१ ***'देन कहेहु'***''''' 'इति।—***'देहु उतरु अनुकरहु कि नाहीं।'***''''' 'इसका अर्थ यहाँ स्पष्ट कर दिया। जो वहाँ कहा उसीको यहाँ फिरसे कहा। ***'सत्यसंध तुम्ह'*** इसका तात्पर्य कहते हैं कि ***'तजहु सत्य जग अपजस लेहू।'*** अपयशका भय दिखाती है जिसमें राजा नहीं न करें।

टिप्पणी—२ (क) ***'सत्य सराहि'***, यथा—***'सत्यमूल सब सुकृत सुहाये।'***''''' 'चबेना माँगेगी, ऐसा समझकर, इसी धोखेसे आप दानी और सत्यवादी बन रहे थे। शिबिजी आदि बड़े-बड़े उदार दानियोंका उदाहरण आगे देकर राजाको कृपण बनाती है कि आप तो मुट्ठीभर चबेना ही देना जानते हैं। दानी तो वे थे कि तन-धन सब दे डाला। इससे राजाको कृपण जनाया। पुनः भाव कि यदि आपने ऐसा समझा हो तो आपकी भूल है, कोई मरभुक्खा दरिद्री होता तो भले ही ऐसा समझना उचित था कि मुट्ठीभर चबेना माँग लेगा पर, रानी तो राज्य ही माँगेगी (पं०) चबेना=(चर्वण) चबाकर खानेका सूखा भुना हुआ अन्न जैसे चना। यहाँ तुच्छ, अल्प वस्तुका आशय है। यहाँ 'काकोक्ति अलंकार' है।

पंजाबीजी—***'तजहु सत्य'*** इसपर यदि राजा कहें कि मैं सत्य नहीं छोड़ता, पर तुमने अयोग्य वर माँगा है, दूसरा कोई उचित वर माँग लो (जैसा राजाने आगे कहा है, यथा—***'प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती'***, ***'मागु माथ अबहीं देउँ तोही। रामबिरह जनि मारसि मोही॥'*** (३४। ७) तो उसपर कहती है कि ***'सत्य सराहि कहेउ बरु देना।'***''''' 'भाव कि तुम्हें पहले ही नियम कर देना था कि अमुक वर न देंगे, सो तो आपने किया नहीं; आपने तो अपने कुलकी तथा अपने सत्यकी सराहना करके वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी।

वि० त्रि०—इतनेपर भी राजाको न बोलते देखकर कहती है कि देनेको कहकर न देना सत्यका त्यागना है। आपका यश संसारमें है कि महाराज अयोध्या-नरेश बड़े सत्यवादी हैं। सो न देनेसे आपका निर्मल यश नष्ट होगा, और संसारमें अपयश होगा कि स्त्री (कौसल्या) के वशमें पड़कर राजाने उस सत्यको त्याग दिया, जो कि इनके कुलमें किसीने किया न था। यदि कहिये कि मुझे धोखा हुआ मैं यह नहीं समझता था कि यह भरतको राज्य और रामको वन माँगेगी, तो यह बात भी नहीं है, आप जानते थे कि प्राणसे भी प्यारी वस्तु मैं माँगूँगी। अत: वर देनेके पहले आपने सत्यकी सराहना की (यथा—***'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई'*** इत्यादि) ऐसी बातें तो दाता तभी कहता है, जब वह अति दुर्लभ वस्तु देनेको तैयार होता है, तुच्छ वस्तु देनेके समय ऐसे शब्द प्राकृत दानीके भी मुखसे नहीं निकलते, जो आपने कहे।

नोट—वाल्मीकीयमें कैकेयीके इन चौपाइयोंसे मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**यदि दत्त्वा वरौ राजन् पुनः प्रत्यनुतप्यसे। धार्मिकत्वं कथं वीर पृथिव्यां कथयिष्यसि॥ यदा समेता बहवस्त्वया राजर्षयः सह। कथयिष्यन्ति धर्मज्ञ तत्र किं प्रतिवक्ष्यसि॥ यस्याः प्रसादे जीवामि या च मामभ्यपालयत्। तस्याः कृता मया मिथ्या कैकेय्या इति वक्ष्यसि॥ किल्बिषं त्वं नरेन्द्राणां करिष्यसि नराधिप। यो दत्त्वा वरमद्यैव पुनरन्यानि भाषसे॥ शैव्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ॥''''''समयं मानृतं कार्षीः पूर्ववृत्तमनुस्मरन्॥**' (२। १२। ३९—४४)

उपर्युक्त उद्धरणके श्लोक ३९ का भाव ***'जो सुनि सरु अस लाग'***''''' ' में है। '**प्रत्यनुतप्यसे**' ही ***'सरु अस लाग'*** है। भाव कि वर देनेको कहकर आप पश्चात्ताप कर रहे हैं, तब हे वीर! आप पृथ्वीमें धार्मिक कैसे कहे जावेंगे? श्लोक ४०, ४१ का भाव ***'देहु उतरु'*** में आ जाता है। अर्थात् 'जब अनेक राजर्षि आकर आपको धर्मज्ञ कहेंगे तब आप उनको क्या यह उत्तर देंगे कि जिस कैकेयीने मेरी रक्षा की, जिसकी कृपासे मैं इतने दिनों जीवित रहा, उससे जो मैंने प्रतिज्ञा की थी उसका पालन मैंने नहीं किया?' ***'अनुकरहु कि***

नाहीं। सत्यसंध तुम रघुकुल माहीं॥ देन कहेउ अब जनि बरु देहू। तजहु सत्य जग अपजसु लेहू' में श्लोक ४२ का भाव है कि वर देनेको कहकर तुम उसका उलटा कर रहे हो इससे तुम अपने वंशके राजाओंके यशमें कलंक लगाओगे। *'सिबि दधीचि बलि जो कछु भाषा……।'* की जोड़में श्लोक ४३ है कि बाज और कबूतरके प्रसंगमें राजा शिबिने पक्षीको अपना मांस दे दिया था *'बचन पनु राखा'* का भाव श्लोक ४४ में है कि इन सब बातोंका स्मरण करके अपनी प्रतिज्ञा न छोड़िये, प्राणप्रिय रामका एवं प्राणोंका वियोग होगा तो क्या? *'सत्य सराहि……लेइहि माँगि चबेना'* में श्लोक ४६ का भाव ले सकते हैं कि इस प्रतिज्ञामें अब रद्दोबदल नहीं हो सकता, जो मैंने माँगा है वही देना होगा।

सिबि दधीचि बलि जो कछु भाषा। तनु धनु तजेउ बचन पनु राखा॥ ७॥
अति कटु बचन कहत कैकेई। मानहु लोन जरे पर देई॥ ८॥

अर्थ—राजा शिबि, दधीचि ऋषि और राजा बलिने जो कुछ कहा उस वचनकी प्रतिज्ञाकी उन्होंने रक्षा की, तन, धन (भले ही) त्याग दिया॥ ७॥ कैकेयी अत्यन्त कड़ुए वचन कह रही है मानो जलेपर नमक छिड़कती है॥ ८॥

राजा शिबिजी—महाभारत, वनपर्व, अ० १९७ में मार्कण्डेयजीने युधिष्ठिरजीसे इनकी कथा यों कही है—ये 'उशीनर महाराजके पुत्र थे। इनकी साधुता और उदारताकी परीक्षा लेनेके लिये देवताओंने इन्द्र और अग्निको भेजा। अग्नि कबूतर बन गये और इन्द्र बाज। राजा शिबि सभामें सिंहासनपर विराजमान थे। कबूतर भागता हुआ उनकी गोदमें जा गिरा और बाज भी पीछा करता हुआ वहाँ पहुँचा। कबूतरने राजासे कहा कि मैं आपकी शरण हूँ, मैं वस्तुतः कबूतर नहीं हूँ, एक स्वाध्यायनिरत तपस्वी श्रोत्रिय ब्रह्मचारी हूँ, मेरे प्राणोंकी रक्षा कीजिये। इसपर बाज बोला कि मेरे आहारमें विघ्न न डालिये। इन दोनोंकी ऐसी स्पष्ट मनुष्य-भाषामें बातचीत सुन राजा असमंजसमें पड़ गये। शरणागतको शत्रुके हाथमें देनेके पातकको कहते हुए राजाने बाजसे कहा कि मैं अपने प्राण चाहे दे दूँ पर शरणागतको नहीं छोड़ूँगा, तुम इसके लिये व्यर्थ क्लेश न करो। हाँ, मैं उनके बदले बैल आदिका मांस दे सकता हूँ, अथवा और जिसमें मेरी कीर्ति हो और तुम्हारा भी प्रिय हो वह बताओ मैं उसे करनेको तैयार हूँ।

तब बाजने कहा कि अपनी दाहिनी जंघाका मांस अपने हाथसे काटकर इसके बराबर तौलकर मुझे खिला दीजिये तो मेरा प्रिय होगा और इसकी जान बचेगी।

महाराज शिबिने तराजू मँगाकर एक पलड़ेमें कबूतरको बिठाया और दूसरेमें अपना मांस काट-काटकर रखते गये। पर सारे शरीरका मांस काटकर चढ़ा देनेपर भी कबूतरका पलड़ा भारी ही रहा, तब राजाने अपना शरीर ही शरणागतकी रक्षाके लिये अर्पण कर दिया। यह देख बाज यह कहता हुआ अन्तर्धान हो गया कि राजाके लिये असाध्य कुछ नहीं है और कबूतरकी रक्षा हो गयी। तब राजाने कबूतरसे पूछा कि यह बाज कौन था? उसने सारा हाल कह दिया और वर दिया कि जो मांस तुमने मेरी रक्षाके लिये दिया है यह तुम राजाओंका स्वर्णवर्ण अत्यन्त पवित्र सुगन्धयुक्त राजचिह्न होगा अर्थात् जंघाकी चमड़ीका रंग सुन्दर और सुनहला हो जायगा और इससे बड़ी पवित्र सुन्दर सुगन्ध निकलती रहेगी। और तुम्हारे दक्षिण भागसे जंघाके इस चिह्नके पाससे यशस्वी कपोतरोमा पुत्र होगा। यह कहकर वह भी अन्तर्धान हो गया।

कहीं-कहीं ऐसा लेख है कि राजाने १०० यज्ञ करनेका संकल्प किया। ९९ यज्ञ पूरे हो जानेपर इन्द्र डरे कि हमारा सिंहासन राजा न छीन लें। अतः उसने अग्निको साथ ले राजा जहाँ यज्ञमें बैठे थे वहीं परीक्षा लेने पहुँचे। ……जब शरीरका मांस कबूतरके बराबर न हुआ तब राजाने सिर काटकर देना चाहा। ज्यों ही उन्होंने तलवार उठायी इन्द्र और अग्निदेव अपना कृत्रिम रूप छोड़कर प्रकट हो गये और प्रसन्न होकर उन्होंने राजाका शरीर जैसाका तैसा कर दिया। ये सोमवंशी राजा थे और ययातिके दौहित्र थे। उशीनर देश कन्धारके समीप है।

शिबिजीके धर्म और धैर्यकी परीक्षाके लिये एक बार ब्रह्माजी ब्राह्मण-वेष धरकर आये और बोले कि अपने पुत्रका मांस पकाकर खिला। जब भोजन तैयार कर राजा विप्रके पास गये तो वह वहाँ न मिला। मालूम हुआ कि देर हो जानेसे वह विप्र कुपित हो गये और घर-बार-नगरमें आग लगा रहे हैं। तब भी राजाको किंचित् दुःख न हुआ। वे विप्रके पास भोजन ले गये। उसने कहा कि तुम्हीं खा लो। ज्योंही वे आज्ञा मानकर खानेको तैयार हुए, विप्रने हाथ पकड़ लिया और बहुत सत्कार किया। राजाने देखा कि पुत्र वहीं जीवित खड़ा हुआ है। (अ० १९९) ☞ राजा शिबिसे जो कोई जो कुछ माँगता वे देनेको उद्यत हो जाते थे, यह कुछ यशकी अथवा ऐश्वर्य वा भोगोंकी कामनासे नहीं किंतु इस विचारसे कि 'धर्मात्मा पुरुषोंने इस मार्गका सेवन किया है, अतः मेरा भी यही कर्तव्य है। 'सत्पुरुष जिस मार्गसे चले हैं, वही उत्तम है' यही सोचकर उनकी बुद्धि उत्तम पथका आश्रय लेती रही है।—'**महाजनो येन गतः स पन्थाः।**'

वनपर्व, अध्याय १३०, १३१ में लोमशजीने राजा उशीनरकी धर्म-परीक्षाका इतिहास भी ऐसा ही कहा है; केवल भेद इतना ही है कि वहाँ इन्द्र और अग्नि दोनोंका छद्मवेश छोड़कर प्रकट होना वर्णित है। जान पड़ता है कि टीकाकारोंने भ्रमसे एकको कथा दूसरेमें जोड़ दी है अथवा कल्पभेद हो।

२—श्रीदधीचि ऋषि—ब्रह्माजीके मानसपुत्र अथर्वण ऋषिके पुत्र हैं। इनकी माता चिति (शान्ति) देवहूतिजीकी कन्या हैं। ये बड़े उदार-बुद्धि और महातपस्वी थे। इनका आश्रम सरस्वती नदीके पार था। जब इन्द्र वृत्रासुरको न जीत सका तब देवगण भगवान् विष्णुकी शरण गये और प्रार्थना की। भगवान्‌ने प्रकट होकर इन्द्रसे कहा कि—तुम ऋषिश्रेष्ठ दधीचिके पास जाओ, विद्या, व्रत एवं तपके प्रभावसे अत्यन्त दृढ़ उनका शरीर उनसे माँगो। वे अध्यात्म-विद्यामें अत्यन्त विद्वान् हैं, ज्ञान-काण्डको जानते हैं एवं उसे अश्विनीकुमारको बतलाया है जिसके बलसे वे अमरभावको प्राप्त हो गये। मुनिने त्वष्टाको अभेद-नारायण-कवच बताया था……। तुम लोगोंके प्रार्थना करनेपर अतिथि धर्मज्ञ ऋषि तुमको अपना शरीर दे देंगे। उनकी हड्डियोंसे विश्वकर्मा जो अस्त्र बना देंगे उसके द्वारा मेरे तेजसे युक्त तुम वृत्रासुरका सिर काटोगे। देवताओंसमेत इन्द्रने जाकर प्रार्थना की, अपना दुखड़ा कह सुनाया और शरीर माँगा। उन्होंने प्रसन्न-हृदयसे कहा—'हे स्वामियो! यह शरीर अनित्य है, जो पुरुष सब प्राणियोंपर दया प्रकाश करते हुए इससे धर्म-धनके उपार्जनकी चेष्टा नहीं करता उसके लिये अचेतन जड़ जीव भी शोच करते हैं। जो व्यक्ति अन्य प्राणियोंके शोकमें शोकाकुल और हर्षमें हर्षित होते हैं उनका उक्त धर्म अव्यय है। पुण्यश्लोक मनुष्य उक्त धर्मका आदर करते हैं। धन, स्वजन एवं शरीर कुछ भी अपना प्रयोजनीय नहीं है। अहो, कैसे कष्टकी बात है, कैसी कृपणता है! मनुष्य इनसे भी उपकार नहीं कर सकता। मेरा यह शरीर अत्यन्त प्रीतिपात्र होनेपर भी एक दिन अवश्य मुझे त्याग देगा। अतः आप लोगोंके लिये मैं इसको अभी त्याग देता हूँ। ऐसा कह उन्होंने शरीर त्याग दिया और विश्वकर्माने उनकी हड्डियोंसे वज्र बनाया जिससे वृत्रासुर मारा गया। (श्रीमद्भागवत ४। १। ४२, स्कन्ध ६ अध्याय ९, १०)

प० पु०, सृष्टिखण्ड, अ० १९ में लिखा है कि सत्ययुगमें कालकेय नामक दुर्जेय दैत्यगण वृत्रासुरको अपना सरदार बनाकर देवताओंपर चढ़ आये। तब इन्द्रादि देवता ब्रह्माजीके पास गये। उन्होंने देवताओंको दधीचिके पास हड्डियाँ माँग लानेको भेजा। उनका आश्रम सरस्वती नदीके उस पार है। पुष्करतीर्थके आश्रमोंके वर्णनमें यह कथा है। महाभारत, वनपर्व, अ० १०० में भी ब्रह्माजीने ही देवताओंको महर्षिके पास भेजा था और हड्डियोंसे छः कोनोंवाला भयानक ध्वनिपूर्ण सुदृढ़ वज्र बनवानेकी सम्मति दी थी।

बालकाण्ड परशुराम-गर्वहरण प्रकरणमें लिखा है कि इन्हींकी हड्डियोंसे दो धनुष बने थे, एक श्रीशिवजीके लिये दूसरा भगवान् विष्णुके लिये। पुराणान्तरमें ऐसी कथा है कि ऋषिने शरीरपर क्षार लगवाकर सब मांस गौओंसे चटवा दिया। हड्डियाँ देवताओंको दे दीं।

'राजा बलि'—ये दैत्यराज प्रह्लादके पौत्र थे। देवताओंको इन्होंने जीत लिया। यह बड़े धर्मज्ञ और दानशील थे। देवताओंका राज्य आदि छिन जानेपर उनकी माता अदितिने अपने पति कश्यपजीसे प्रार्थना

की, उन्होंने भगवान्‌की उपासना इनको बतायी जिससे भगवान् प्रसन्न हो उनके पुत्र हुए—'वामन' रूपसे। यह अवतार भाद्रपद शुक्ल १२ को हुआ। वामनभगवान् इसी रूपसे बलिके पास आये। वह उस समय यज्ञमें बैठा था (९९ यज्ञ कर चुका था और अब इन्द्र बननेके लिये अन्तिम यज्ञ कर रहा था)। राजा बलिने ब्राह्मण वामनरूप भगवान्‌का आदर-सम्मान कर चरणामृत ले उनसे कहा कि आपकी जो-जो अभिलाषा हो मुझसे कहिये मैं आपको वही दूँगा। वामनजीने उनकी उदारताकी प्रशंसा करके अपने पैरोंके नापसे तीन पग पृथ्वी माँगी। शुक्राचार्यने दैत्यराजको बहुत समझाया कि तुम 'नहीं' कर दो, ये भगवान् हैं, छलसे तुम्हारा राज्य आदि लेना चाहते हैं; फिर भी राजा बलि प्रतिज्ञासे न डिगे। वे बोले—मैं प्रह्लादका पौत्र हूँ 'दूँगा' कहकर अब 'नहीं दूँगा' नहीं कह सकता। मैं अवश्य दूँगा।······वामन ब्रह्मचारीने पग बढ़ाया, एक पगसे बलिकी पृथ्वी नाप ली। दूसरे चरणकी नापमें स्वर्ग आदि सभी आ गये; तीसरेके लिये कुछ न बचा। भगवान्‌के यह कहनेपर कि तेरा वचन असत्य हुआ बलिने उत्तर दिया कि राजाका शरीर आधा राज्यके बराबर है आप इसे एक चरणके बदलेमें नाप लीजिये। मैं झूठ नहीं बोलता और अपकीर्तिसे बहुत डरता हूँ। भगवान्‌ने तीसरा चरण इनके सिरपर रख इनको भी नाप लिया।—(भा० स्कं० ८ अ० १६—२२)

टिप्पणी—१ ***'सिबि दधीचि······'*** इति। (क) भाव कि इन्होंने जो कुछ कहा उसे पूरा किया। तन वा धन बचानेका उपाय नहीं किया, न मनसे ऐसी चेष्टा की। श्रीशिबिमहाराज और महर्षि दधीचिने तन दे दिया और राजा बलिने धन-(त्रैलोक्यकी सम्पत्ति) दे दिया। इस तरह यहाँ 'यथासंख्यालंकार' है। (ख) ***'तन धन तजेउ'***—भरतजीको राज्य देनेमें राजाको धन-(अवधराज्यरूपी सम्पत्ति-)का त्याग करना पड़ेगा और श्रीरामजीको वन देनेमें तनका त्याग होगा। इसीसे तन और धनके त्याग करनेवालोंके उदाहरण दिये। [पुनः भाव कि श्रीशिबिजी और महर्षि दधीचिने शरीर दे डाला और राजा बलिने सर्वस्व दे दिया (त्रिलोकीकी सम्पत्ति देकर फिर शरीर भी समर्पित कर दिया) और तुम्हारे तो चार पुत्र हैं, उनमेंसे केवल एकका वियोग माँगती हूँ और वह भी अल्पकाल, केवल १४ वर्षके लिये, यह तो उन लोगोंकी उदारताके सामने कुछ भी नहीं है; यह विशेष दुःखद नहीं है। (पं०—इन दृष्टान्तोंसे जनाया कि उदार पुरुषोंको शरीर और सम्पत्तिका मोह नहीं होता, वचनके आगे वे इन्हें तृण-समान त्याग देते हैं और आपको तो धन और तन दोनोंका मोह है।)]

टिप्पणी—२ ***'अति कटु बचन कहत······'*** इति। शंका—कैकेयीके वचन तो धर्ममय हैं। धर्मकी बातको 'अति कटु' कैसे कहा? समाधान—वह धर्मात्माओंकी प्रशंसा करके राजाकी निन्दा कर रही है, यथा—***'देन कहेउ अब जनि बर देहू। तजहु सत्य जग अपजसु लेहू॥'*** यही 'अति कटु' है मानो जलेपर लोन लगाती है। प्रथम जलना लिख आये—***'बिबरन भयेउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहु तरु तालू॥'*** वर माँगकर राजाको जलाया और अब धर्मात्माओंका धर्म कहकर राजाको अधर्मी बनाती है, यह जलेपर लोन लगाना है। 'अति कटु' वचन कह रही है, क्योंकि राजापर भारी क्रोध है, यथा—***'आगे दीखि जरत रिस भारी।'*** जब जैसी रिस होती है तब तैसा कटु वचन निकलता है। क्रोधसे कटु वचन निकलते हैं, यथा—***'क्रोधके परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि।'*** (३। ३८) इस समय भारी क्रोध है, अतः 'अति' कटुवचन निकले। पुनः, वनवास कटु उसपर भी अधर्मी, असत्यवादी, कृपण, प्राण और धनके लोभी, धर्मके न जाननेवाले, इत्यादि बनाना यह 'अति कटु' है। (वाल्मीकिजीने उपर्युक्त वचनोंको भयंकर कहा है, यथा—'**रौद्रतरं वचः**' वही यहाँ 'अति कटु' है। पंजाबीजीका मत है कि श्रीरामजीको बिना अपराध महा वनवास देनेको अल्प कष्ट कहना 'अति कटु' है)।

नोट—जलेपर लोन लगाना या छिड़कना मुहावरा है। किसी दुःखी या व्यथित मनुष्यको और अधिक दुःख या व्यथा पहुँचानेके अर्थमें प्रयुक्त होता है। जले हुए स्थानपर यदि धोखेसे भी नमक लग जाय तो बड़ी असह्य वेदना या पीड़ा होती है।

पंडितजी—एक तो राजाने उसे वचन दिया यद्यपि वह उसकी पात्र न थी, इस कारण वरसे दाह हो रहा है; दूसरे इतिहास कहकर जलेपर नमक लगा रही है, अधर्मीके मुँहसे धर्मके इतिहास नहीं सुहाते।

वीर कविजी—रामवियोगका दुःख और आगसे जलनेका घाव, कैकेयीके कटुवचन और लवण परस्पर उपमेय-उपमान हैं। जलेपर नमक पड़नेसे असह्य पीड़ा होती ही है। अतः यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

दो०—धरम धुरंधर धीर धरि नयन उघारे राय।
सिरु धुनि लीन्हि उसास असि मारेसि मोहि कुठाय॥ ३०॥

शब्दार्थ—**धरम धुरंधर**=धर्मकी धुरी धारण करनेवाले, धर्मिष्ठ, धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ। **उघारे**=खोले। **उसास** (उत+श्वास)=ऊर्ध्व श्वास, ऊपरको चढ़ती हुई लम्बी साँस। **लीन्हि उसास**=ठंडी दुःखभरी श्वास ली, आह भरी। **कुठाय**=बुरी जगह; मर्मस्थान।

अर्थ—धर्मिष्ठ राजाने, धीरज धरकर नेत्र खोले। माथा पीटकर आह भरी मनमें सोचते हैं कि इसने मुझे बुरी ठौर तलवारसे मारा॥ ३०॥

टिप्पणी—१ ***'धरम धुरंधर'*** का भाव—(क) राजा धर्मिष्ठ हैं, वे धर्मका त्याग नहीं करना चाहते, इससे यद्यपि वे शोकमें मग्न हैं, नेत्र खोलने वा बोलनेकी सामर्थ्य नहीं है तो भी उन्होंने धैर्य धारण किया और आँखें खोलीं। [पुनः धर्मधुरंधर कहा; क्योंकि अपने धर्मके डरसे ऐसे कटुवचन सह रहे हैं, नहीं तो न जाने क्या कर डालते। (रा० प्र०) रानी राजाको अधर्मी बना रही है, कवि उसके इस अधर्मको नहीं सह सकते, इसीसे राजाको धर्मधुरंधर विशेषण देकर उसे झूठी करार दे रहे हैं, उसकी बातोंका खण्डन कर रहे हैं।]

टिप्पणी—२ ***'सिरु धुनि लीन्हि उसास असि मारेसि मोहि कुठाय'*** इति। (क) राजाको बड़ा दुःख हुआ, भारी दुःखमें लोग सिर पीटते हैं, अतः राजाने भी सिर धुना। राजा हृदयसे हार गये हैं, कैकेयीसे कुछ बस नहीं चलता दीखता, कुछ उपाय नहीं लगता सूझता। जब कोई उपाय नहीं सूझता तब लोग ऊर्ध्व श्वास लेते हैं; वैसे ही राजाको कोई उपाय न सूझा, इससे उन्होंने ऊर्ध्व श्वास ली। यथा—'**ध्यात्वा रामेऽति निःश्वस्य।**' (वाल्मी० २। १२। ५४) (ख) यहाँ ***'असि'*** से मारना कहते हैं; इसीसे आगे 'असि' का ही रूपक बाँधते हैं। राजा विचारते हैं कि इसने तलवार मारी पर ऐसी बुरी और नाजुक ठौर मारी कि जहाँ घाव लगनेसे मरहमपट्टी भी न लग सके, किसी प्रकार भी जान नहीं बच सकती, मरण अवश्य होगा। 'हम तो रामको राज्य देते हैं और कैकेयी वनवास माँगती है', यही कुठौरमें तलवार मारना है। इससे हमारा सत्य ही जायगा या जीवन ही, यही तलवारका लगना है।

पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी—माँगनेवाला जो चाहता है, माँगता है, पर देनेवाला जो चाहता है वही देता है, वरदाता देवता लोग भी कह देते हैं कि यह वर अदेय है, दूसरा वर माँगो, इसमें धैर्य छोड़नेकी कोई बात नहीं थी, पर राजा धर्मधुरंधर थे। उन्हें प्राणसे प्यारे रामजी थे, रामजीसे भी प्यारा सत्य था, यथा—***'तुलसी जान्यौ दशरथहि धरमु न सत्य समान। राम तजेउ जेहि लागि बिनु राम परिहरे प्रान॥'*** वह सत्यको किसी दशामें भी छोड़नेको तैयार न थे। उन्होंने वरको दिया हुआ मानकर अपार सोच किया और इसीसे उनका धैर्य छूट गया। ***'माथे हाथ मूदि दोउ लोचन। तनु धरि सोच लाग जनु सोचन॥'***

जब कैकेयीने कहा कि अपनेको सँभालकर कुछ बोलो तो, हाँ या नाँ कुछ उत्तर तो दो, और राजाकी विकलतापर अनेक आक्षेप करने लगी, तब राजाने अपनेको सँभाला, धैर्य धारण करके आँख खोली, पर सामनेका दृश्य देखकर सिर पीटने लगे, कैकेयीको ऐसा क्रोधमें भरा पाया कि उससे दया या स्नेहकी कोई आशा ही न रह गयी। जब मनुष्यसे कुछ करते नहीं बनता तभी वह सिर पीटता है, लम्बी साँस लेता है। राजा सत्यके अनुरोधसे 'नाँ' कर नहीं सकते, और रामजी प्राणोंसे अधिक प्रिय हैं, उन्हें आँखसे ओट करना और प्राण छोड़ना एक बात है, अतः 'हाँ' कहना भी असम्भव है, अब यदि कैकेयी ही दया करे तो कोई रास्ता निकल सकता है सो कैकेयी ***'आगे दीख जरत रिसि भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी'*** हो रही है, अतः सिर पीटते हैं और लम्बी साँस लेते हैं। सोचते हैं कि इसके क्रोधरूपी खड्गका आघात

रामजीपर नहीं है, मुझपर है। *'राम पुनीत बिषयरस रूखे'* हैं (देवताओंने भी कहा था कि *'बिस्मय हर्ष रहित रघुराऊ'*) अत: रामजीकी भी कोई विशेष हानि नहीं है। इसमें मरण हमारा है, जो रामजीके बिना जी नहीं सकते, और सबसे बड़ी बात यह है कि मैंने ही रामजीसे कहलाया था कि कल तुम्हारा अभिषेक होगा, और जब कलका दिन आया, तब मैं ही कहूँ कि तुम्हें मैं वनवास देता हूँ। यह तो प्राण रहते नहीं हो सकता (यथा—*'कहेउ राज बन दियो नारिबस गरि गलानि गये राउ'*) अत: यह तलवारकी चोट ऐसे मर्मपर की गयी है कि इसका परिणाम मृत्यु ही है, इसका कोई उपचार हो नहीं सकता, इसीलिये कहते हैं कि यह तलवार मुझपर चली है और इसने सद्य: प्राणहर मर्मको काट दिया।

आगें दीखि जरत रिस भारी। मनहु रोष तरवारि उघारी॥ १॥
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई॥ २॥
लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवनु लेइहि मोरा॥ ३॥

शब्दार्थ—**मूठि** (मूठ)=किसी हथियारका वह भाग जो व्यवहार करते समय हाथमें रहता है, मुठिया, दस्ता, कब्जा। **निठुराई**=निर्दयता, हृदयकी कठोरता। **सान** (शाण)=वह पत्थरकी चक्की जिसपर अस्त्रादि तेज किये जाते हैं। शाण धरना=अस्त्र तेज करना। **कराल**=भयंकर। **उघारी**=म्यानसे निकाली हुई, नंगी। **बनाई**=भलीभाँति ठीक करके।

अर्थ—भारी क्रोधसे जलती हुई कैकेयीको आगे (खड़ी) देखा। (वह ऐसी मालूम होती थी) मानो रोषरूपी नंगी तलवार है॥१॥ कुबुद्धि जिसकी मूठ और निष्ठुरता धार है, जिसे कूबरीने अच्छी तरह शाणपर धरकर तेज किया है (वा, जो कूबरीरूपिणी शाणपर तेज की गयी है)॥ २॥ राजाने लख लिया कि यह बड़ी भयंकर और कठोर है, यह अवश्य मेरा सत्य या प्राण लेगी*॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'आगें दीखि······उघारी'* इति। (क) राजाने नेत्र खोले तो भारी क्रोधाग्निसे जलती हुई कैकेयीको आगे देखा। *'रिस भारी'* से सूचित किया कि आँखें लाल हैं, होंठ फड़क रहे हैं, मुख रोषसे लाल है। रोष तलवार है। स्नेह म्यान है (बैजनाथजी प्रणयको म्यान मानते हैं। प्रणय प्रीतिका एक अंग है।) जिसके भीतर यह तलवार रखी हुई थी। पहले प्रीति ऊपर दिखायी पड़ती थी और रोष उसके भीतर रहा और अब स्नेह नहीं रह गया, प्रीति-प्रतीति नष्ट हो गयी, यथा—*'प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती॥'* अब केवल रोष ही देख पड़ता है। (ख) रोषको तलवारसे उपमा दी गयी; क्योंकि लोग तलवारसे मारते हैं और कैकेयी राजाको रोषसे मारेगी, वह रोषरूपी तलवारको धारण किये हुए है। तलवार नंगी है, म्यान नहीं है, इससे म्यानका उल्लेख नहीं किया गया। (ग)—*'रिस भारी'* से सूचित किया कि तलवार भारी है। प्रथम कटुवचन सुनकर *'आँख उघारी'*, आँख खोलकर देखा कि आगे भारी रिससे जल रही है। (घ) ऊपर कहा था कि *'मारेसि मोहि कुठाय असि।'* वहाँ कैकेयीका वचन *'असि'* है; क्योंकि मारनेवालेको *'असि'* से पृथक् कहा। और, *'आगे दीखि जरत रिस भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी॥'* में कैकेयीको तलवार कहा, उसके मनको तलवार न कहा; क्योंकि एक तो मनसे कोई किसीको मार नहीं सकता, दूसरे मन प्रकट नहीं होता। पूर्व वचनको और अब कर्मको (अर्थात् केवल कर्म और वचनको) तलवार कहा, क्योंकि कर्म और वचन इन्हीं दोसे लोग दूसरेको मार सकते हैं, मनसे नहीं।

टिप्पणी—२ *'मूठि कुबुद्धि धार निठुराई।······'* इति। (क) कुबरीने अच्छी तरहसे सानपर धरा है अर्थात् कैकेयीको निठुरतामें प्रवीण कर दिया है। (ख) तलवारकी मूठ पकड़ी जाती है। मूठ कुबुद्धि है अर्थात् कैकेयी कुबुद्धिको पकड़े है। (रामके निर्वासनके बिना मैं किसी दूसरी वस्तुसे प्रसन्न नहीं होनेकी। कौसल्या अपने बेटेको राज्य दिलाकर मुझे और मेरे बेटेको दासी और दास बनाना चाहती थीं, मैं उनके बेटेको तपस्वी बनाकर भेजूँगी। इत्यादि। उसे रामचन्द्रजीसे भरतके अनिष्टका भय था। *'रामहि तिलक कालि जौं*

* श्रीत्रिपाठीजी यह अर्थ करते हैं—'क्या सचमुच यह मेरा प्राण ही लेगी।'

भयऊ। तुम्ह कहुँ बिपति बीज बिधि बयऊ॥' यह उसके हृदयमें जो कुबरीने जमा दिया है यही कुबुद्धि है जिसे वह दृढ़ पकड़े है। इसीसे वह सोचती है कि) मेरा भला बस इसीमें है कि भरत निष्कण्टक राज्य पावें और राम वनको जायँ। रोष तलवार है। [उसे किसीकी पीर नहीं रह गयी, पुत्र, सौत और परिवार तथा पतिके दुःखकी पीर नहीं। (वै०) इनकी कौन कहे अपने वैधव्यकी भी परवा नहीं। ***'सकउँ पूत पति त्यागि'*** पर वह तुली हुई है—यही निष्ठुरता है] रोषसे जो निठुर हो गयी है (निडरपन आ गया है) यही तलवारकी धार है; तात्पर्य कि अब किसीके कहनेसे रानी न मानेगी, मन्थराने सिखाया है, यही उसका शाण धरना है।

टिप्पणी—३ तलवारके प्रथम मूठ है, रोषरूपी तलवारके प्रथम कुबुद्धि है, कुबुद्धिसे रोष होता है। कुबड़ीने शाण धरा और उसीने तलवार बनायी, मन्थराने कैकेयीके रोष पैदा किया, उसको कुबुद्धि किया और निठुर बनाया। शाणकी जोड़में दूसरा अंग कुछ नहीं कहा; क्योंकि शाण धरनेमें दूसरा अंग कुछ नहीं है, निठुरता धार है उसीको पैनी किया है अर्थात् कैकेयीको निठुरतामें प्रवीण कर दिया।

नोट—१ धारको निष्ठुरता कहनेका भाव यह भी है कि जैसे तेज पैनी तलवारका आघात प्राण लेता है वैसे ही वज्र कठोर हृदयवाली कैकेयीको राजाके मरनेका गम नहीं है, वह प्राण लेगी। यदि कुबड़ीको सान मानें तो प्रश्न होता है कि शाण धरनेवाला कौन है? इसका उत्तर कोई-कोई 'सरस्वती' बताते हैं।* पर पूर्व कैकेयी-मन्थरा-संवादमें मन्थराको गुरु और कर्ता कहते आये हैं, यथा—***'कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू। जिमि न नवइ फिरि उकठ कुकाठू॥' 'कुबरी करि कबुली कैकेई। कपट छुरी उर पाहन टेई॥' 'कुटिलमनि गुरू पढ़ाई'*** इत्यादि। इनसे यहाँ भी मन्थरा सानपर तेज करनेवाली जान पड़ती है। और, ***'काज सँवारेहु सजग सब सहसा जनि पतियाहु', 'कहि कहि कोटिक कपट कहानी'*** इत्यादि ही सान हैं जिनसे निष्ठुरता दृढ़ हो गयी। यहाँ 'परम्परित रूपक' है।

टिप्पणी—४ ***'लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि'*** इति। (क) जब रोषरूपी तलवार म्यानसे निकल आयी तब राजाने उसे देखा। देखनेमें कराल है और काटनेमें कठोर है। ***'सत्य कि जीवन लेइहि मोरा'*** यही काटना है। ***'कराल कठोरा'***—प्रथम रिसको भारी कहा, यथा—***'आगे दीखि जरत रिस भारी',*** उसी भारी रिसको तलवार कहते हैं; इसीसे तलवारको कराल कहा। कठोर है अर्थात् समझानेसे रिस निवृत्त होनेवाली नहीं है। जो रामको रख लें तो सत्य ले लेगी और जो राम वन जायँगे तो जीवन लेगी। (ख) ***'सत्य कि जीवनु लेइहि मोरा'***—भाव कि अभीतक राजाको आशा थी कि यह हमारी प्रिया है, समझानेसे मान जायगी। साधारण कोप है, इसे रूठना भाता है, इसे शीघ्र मना लेंगे। पर, जब उसे भारी रिससे जलती देखा तब आशा छूट गयी, अब जाना कि समझानेसे न मानेगी, सत्य अथवा जीवन लेवेगी।

पण्डितजी—कराल है; अतः भयसे चित्तमें विभ्रम हो जानेका भय है जिससे सत्य छूट जायगा और कठोर है इससे जीवन लेगी। अथवा सत्य ही मेरा जीवन लेगी।

दीनजी—भाव यह है कि 'जैसे शानपर तेज की गयी तलवार किसी वीरका या तो सत्य लेती है—वह पीठ दिखाकर भाग जाता है—या प्राण ही लेती है, वैसे ही मन्थराकी सिखायी-पढ़ायी दुर्बुद्धि और निष्ठुर कैकेयी भी राजाका या तो सत्य लेगी, पन छुटा देगी, या प्राण ही ले लेगी—राजाका देहावसान हो जायगा। इसमें 'विकल्प अलंकार' है।

वि० त्रि०—अब भी राजाके हृदयमें छिपी हुई यह आशाकी एक रेखा थी कि कैकेयीको जब निश्चय हो जायगा कि मेरे प्राणोंपर आ बनी है, तो सम्भव है कि द्रवीभूत हो जाय, पर कैकेयीके उस रौद्ररूपके दर्शनसे वह रेखा भी मिटने लगी, तब राजा सोचते हैं कि क्या सचमुच यह मेरा प्राण ही लेगी। अतः छाती कड़ी करके कैकेयीके समझानेके लिये प्रयत्न करते हैं।

---

* प० प० प्र० का भी यही मत है कि भवितव्यता अथवा सरस्वती शाण धरनेवाली है।

बोले राउ कठिन करि छाती। बानी सबिनय तासु सोहाती॥ ४॥
प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर[1] प्रतीति प्रीति करि हाँती॥ ५॥

शब्दार्थ—**कुभाँती**=बुरी तरहसे। **हाँती**=नष्ट करके, तोड़कर।

अर्थ—राजा छाती कड़ी करके विनययुक्त (बहुत नम्र और विनतीसे भरी हुई) कैकेयीको प्रिय लगनेवाली वाणीसे बोले॥ ४॥ हे प्रिये! हे भयशीले! तुम भय (संकोच) विश्वास और प्रेमको नष्ट करके ऐसी बुरी तरहसे वचन कैसे कह रही हो?॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'बोले राउ कठिन करि छाती।·········'* इति। [(क) सत्य न जाय जीवन चाहे चला जाय, यह विचारकर इस तलवारकी चोट सहनेके लिये राजाने अपनी छाती कड़ी की और मनमें कहा, ले मार, मैं तैयार हूँ, प्राण दे दूँगा, पर सत्यको न छोड़ूँगा। (दीनजी)] (ख)—पहले जब कैकेयीने वर माँगा तब उसे सुनकर उनके मुखसे कुछ वचन न निकला था, यथा—*'गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा।'* अब वे छाती कड़ी करके बोले। रामको वन सुनकर राजाको बोलनेकी शक्ति न रह गयी, जब कैकेयी धर्मात्मा राजाओंका धर्म सुनाकर राजाको अधर्मी बनाने लगी तब राजा छाती कड़ी करके बोले। कैकेयीने जो कहा कि *'देहु उतरु अनु करहु कि नाहीं'* उसे सुनकर राजाने विचार किया कि यदि हम न बोलेंगे तो 'नहीं' होती है, न बोलना 'नहीं' करना है। कैसी वाणी सो बताते हैं—*'सबिनय तासु सोहाती।'* विनयसंयुक्त है और कैकेयीको सुहानेवाली है (ग)—पुनः भाव कि [जब शत्रु अपना मरण देखता है तब अपना पूरा बल एक बार लगा ही देता है। इसी तरह राजाने छाती कड़ी करके कैकेयीसे ऐसा कहा, यह सोचकर कि कह तो लूँ ही मनकी, आखिर मरना तो है ही। क्षत्रिय हैं, तलवारसे क्या डरना! (पं०)]

'·········भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती' इति।—

१ गौड़जी—यहाँ 'प्रिया' और 'भीरु' दोनों शब्द सप्रयोजन है। जो प्यारी और प्रियवादिनी हो उसे कुभाँति वचन न कहने चाहिये और जो अकल्याणसे स्वाभाविक ही डरती हो उसे भी अमंगल वाक्य मुखसे न निकालने चाहिये। भीर=भीरु=भयशीले! यथा—*'कहा बालि सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ',* यह विशेषण सम्बोधनमें है। स्त्रियोंके लिये संस्कृत ग्रन्थोंमें भी यह विशेषण मिलता है।

२ दीनजी—'भीर' यहाँ बहुत उचित सम्बोधन है। क्योंकि कैकेयीको अकारण यह भय था कि रामराज्यसे भरतको कष्टकी सम्भावना है। राजा दशरथजी 'भीरु' कहकर यह जताते हैं कि तेरा यह भय बिलकुल निर्मूल है।

३ पं० रामकुमारजीके एक हस्तलिखित खर्रेमें हमें यही उपर्युक्त भाव मिला है। वे यों लिखते हैं—'हे प्रिया! अपनी रीति छोड़के वचन कुभाँति क्यों कहती हो? तू तो प्रिया है। जो हमको प्रिय लगे वही तुम्हें कहना चाहिये। हे भीरु! तुम तो भीरु संज्ञा अर्थात् कादरि हो पर कर्म तुम्हारा कठोर है। अथवा भीर, प्रतीति और प्रीतिको हतकर क्यों कहती हो।'[2]

४ पुरुषोत्तम रामकु०—पहले राजाकी 'कुभाँति' देखकर कैकेयी कुभाँति बोली, यथा—*'एहि बिधि राउ मनहि मन झाँखा। देखि कुभाँति मनहिं मन माषा॥'* जो *'अति कटु बचन कहति कैकेई'* कैकेयी कटु वचन कह रही है उसीपर राजा उससे कहते हैं कि *'प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती'* [3] अर्थात् हे प्रिये! भीर

---

१. राजापुर, पं० रामकुमारजी, रा० प० में 'भीर पाठ है। ना० प्र०, गौड़जीने 'भीरु' पाठ दिया है। वन्दन पाठकजीकी प्रतिमें 'भीरु' है। और हाशियेपर 'भीर' है। हाशियेपर उन्होंने यह टिप्पणी दी है—'भीरु स्यात्कातरे पुंसि कामयानेति योषिति इति महोदधिः।'

२. श्रीनंगे परमहंसजीने भी 'भीरु' पाठ देकर अर्थ किया है कि—'प्रीतिका नाश करके भयकी प्रतीति करती है। भाव कि श्रीरामजीमें जो प्रीति की है उसका नाश करके और भरतकी प्रीति भयरूपमें विश्वास किया है यही कुभाँति है।'

३. प्राण हरण करनेवाले होनेसे वचनको 'कुभाँति' विशेषण दिया। (वै०) यथा—'किमिदं भाषसे भद्रे मम प्राणहरं वचः।' (अ० रा० २। ३। २५)

(अर्थात् डर), प्रतीति और प्रीतिका नाश करके तुम कुभाँति (अर्थात् कटु) वचन कैसे कहती हो? तात्पर्य कि कटु वचन बोलनेसे इन तीनोंका नाश होता है। जो हमारा डर हमारी प्रतीति करतीं और हमसे प्रीति रखतीं तो ऐसे वचन न बोलतीं। अपने स्वामीसे प्रीति, प्रतीति और डर तीनों करने चाहिये। तीनों भाव स्वामीमें रखने और बरतने चाहिये, यथा—*'सुतकी प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरिहै।'* (वि० २६८) (वीरकविने भी यही भाव लिखा है)।

५ बाबा हरिहरप्रसाद—'भीर'=संकोच। संकोच, प्रतीति और प्रीतिका नाश करके (अर्थात् तुम्हें कहते भी संकोच नहीं होता कि पतिसे ऐसा कह रही हो, मुझपर जो तेरा विश्वास और प्रेम था वह कहाँ गया। ये बातें तो प्रेम और विश्वासकी नहीं हैं)। अथवा, सबका संकोच, पति-पत्नीविषयक प्रतीति और पुत्रविषयक प्रीतिको नष्ट करके।*

६ प० प० प्र०— मानसमें 'भीर' शब्द 'भय' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, यथा—*'हरहु विषम भव भीर।'* तथापि यहाँ 'भीरु' के अर्थमें लेना ही उचित है। मंगल-समयमें भी स्त्रीका स्वभाव है कि वह भय मानती है, यथा—*'सभय सुभाउ नारि कर साँचा। मंगल महुँ भय मन अति काचा॥'* (५। ३७) यहाँ कैकेयी रामराज्याभिषेकरूपी परम मंगलमें भय मान रही है; अतः भीर (भीरु!) सम्बोधनका प्रयोग उचित ही है।

मोरें भरत रामु दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकरु साखी॥ ६॥
अवसि दूतु मैं पठइब प्राता। ऐहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता॥ ७॥
सुदिन सोधि सबु साजु सजाई। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**साखी**=साक्षी, गवाह। **अवसि**=अवश्य। **सोधि**=शोधकर, ढूँढ़कर, ज्योतिष गणितसे विचारकर, यथा—*'ग्रहबल लग्न नक्षत्र शोधि कीनी वेद ध्वनि'*—(सूर)। **पठइब**=भेजूँगा।

अर्थ—मेरे तो भरत और राम दो आँखें हैं, मैं शिवजीको साक्षी करके सत्य कहता हूँ॥ ६॥ मैं सबेरे ही अवश्य दूत भेजूँगा। दोनों भाई सुनते ही शीघ्र आवेंगे॥ ७॥ सुन्दर मुहूर्त शोधवाकर सब तैयारी करके धूम-धामसे (वा, डंकेकी चोटपर) भरतको राज्य दूँगा॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'मोरें भरत रामु दुइ आँखी।......'* इति। (क) कैकेयीने जो कहा था कि *'भरतु कि राउर पूत न होंही। आनेहु मोल बेसाहि कि मोही॥'* उसके उत्तरमें कहते हैं कि भरत और राम मेरी दो आँखें हैं (भाव कि जो तुम कह रही हो इनमेंसे कोई बात नहीं है। मेरी तो भरत और राम दाहिनी-बायीं दोनों आँखें हैं, इन्हींसे मैं देखता हूँ) *'आँखी'* कहनेका भाव कि आँखवालेकी प्रीति दोनों आँखोंमें समान रहती है, वह दोनोंमें किंचित् भी भेद नहीं रखता। (इनमें दाहिनी-बायींका भी किंचित् विचार नहीं किया जाता। वैसे ही भरत और राम मुझे समान प्रिय हैं, कोई न्यून या अधिक नहीं। यहाँ *'भरत'* का नाम प्रथम कहा जिसमें कैकेयीको वचन प्रिय लगे। कविने जो कहा था कि राजा *'तासु सोहाती'* बोले, उसीको यहाँ चरितार्थ किया है।) (ख) *'सत्य कहउँ करि संकरु साखी'*—शंकरजीकी साक्षी देते हैं; क्योंकि कैकेयीको इस बातका विश्वास न होगा कि राजाको भरत और राम समान प्रिय हैं। [भाव कि मैं कुछ मुँहसे ही सत्य नहीं कहता, शंकरकी साक्षी देकर सत्य कहता हूँ। मैं असत्य कहता हूँगा तो मुझे दण्ड देंगे। 'शंकर' का भाव कि सबके कल्याणकर्ता हैं, यदि मैं झूठ कहता हूँगा तो मेरे कल्याणका नाश हो जायगा, पुनः शंकरजीकी साक्षीका भाव कि सूर्य, चन्द्र और अग्नि शंकरजीके नेत्र हैं, यथा—'**सूर्यः शशाङ्को वह्निनयनम्**', '**इन्दुपावक भानु नयन।**'] (वि० ११) सूर्य और चन्द्र नेत्रोंद्वारा वह दिन-रात देखा करते हैं और अग्निनेत्रसे

* बैजनाथजीने 'भीर' पाठ देकर ऐसा अर्थ किया है—'भीर सब पुत्रोंको समान पालनेकी कृपा (क्रिया), प्रतीति अपनी मातासे अधिक तेरी मया जानते हैं, प्रीति अपनी मातासे अधिक श्रीरामजी तुझमें प्रीति रखते हैं, इत्यादि सबका नाश करके राम वनको जायँ ये कुभाँति वचन कैसे कहती है?'

दण्ड देते हैं। यदि मैं असत्य कहता हूँ तो वे किंचित् शील न करेंगे मुझे अवश्य दण्ड देंगे। (खर्रा) भरत और राम दो आँखें हैं, तब शेष दो भाई क्या हैं? उत्तर—श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामानुगामी हैं और श्रीशत्रुघ्नजी श्रीभरतानुगामी हैं। ये दोनों अपने-अपने स्वामियोंकी सेवा करते हैं। अत: ये पलकसमान हैं।

टिप्पणी—२ *'अवसि दूतु मैं पठइब········'* इति। (क) दूत भेजेंगे इसका विश्वास उसको न होगा; इसीसे कहते हैं कि *'ऐहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता।'* दोनों भाई जल्दी आवेंगे तब तो उन्हें निश्चय प्रतीति हो जायगी कि राजाने तुरंत ही दूत भेजे थे। पुनः, उसके विश्वासके लिये *'अवसि'* और *'प्रात'* पद देते हैं अर्थात् उनके बुलानेमें किंचित् विलम्ब न करेंगे, बड़े सबेरे ही दूतोंको भेज देंगे। (ख)—*'ऐहहिं बेगि सुनत········'* अर्थात् हम ऐसी जरूरी चिट्ठी लिखेंगे कि सुनते ही चल देंगे, देर न करेंगे। (ग) *'दोउ भ्राता'* आवेंगे। हम दोनोंको बुला भेजेंगे; कारण यह कि रामको राज्य देने लगे तब भरत-शत्रुघ्नको न बुलाया इसीसे विघ्न हुआ। अब जिसमें आगे कोई विघ्न न हो इस विचारसे शत्रुघ्नको भी बुलावेंगे। (शत्रुघ्नजीके आनेका कारण यह भी हो सकता है कि वे सदा भरतके साथ रहते हैं। जैसे लक्ष्मणजी रामजीके साथ, यथा—*'बारेहि तें निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥ भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥'* (१। १९८) जैसे दोनों भरतके ननिहालको साथ-साथ गये वैसे ही साथ-साथ लौटेंगे)।

टिप्पणी—३ *'सुदिन सोधि········'* इति। (क)—*'सुदिन'* जिसमें विघ्न न हो सके, भरत सुखपूर्वक राज्य करें। दोनों भाइयोंके आनेमें विलम्ब नहीं, वे तो शीघ्र ही आवेंगे। राजतिलकमें भी देर न होगी, जितने दिनमें *'सुदिन'* शुभ लग्न मुहूर्त बन जाय बस उतने ही दिनोंका विलम्ब समझो। (राम-तिलकके लिये कल शुभ मुहूर्त है तो उसी सामग्रीसे क्यों न कर दें? कारण कि भरत केकयदेशमें हैं। दूतके जाने और उनके आनेमें कुछ दिन अवश्य लग जायँगे। यह मुहूर्त उनको मिल नहीं सकता। तबतक और कोई इससे भी उत्तम मुहूर्त शोधवा ली जायगी जो निर्विघ्न हो, इसमें तो विघ्न हो गया था)। (ख)—*'सबु साजु सजाई।'* अर्थात् राज्याभिषेकमें जितनी सामग्री लगती है वह सब एकत्र करके। इस कथनका आशय यह कि भरतको राज्य देनेमें उत्साह कम हो सो नहीं, बड़े उत्साहसे उनको राज्य दूँगा। (ग)—*'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥'* रघुवंशकी इस रीतिको समझकर सम्भव है कि राजा रीतिके उल्लंघनके भयसे चुपचाप भरतको राज्य दे दें, विशेष उत्सव न मनावें, इसीपर वे कहते हैं कि हम छिपाकर चोरीसे उनको राज्य देंगे ऐसा न समझो, उनको डंकेकी चोटपर राज्य देंगे। इससे हमें अपयश होगा, कुल कलंकित होगा इसको हम नहीं डरेंगे।

दो०—लोभु न रामहिं राजु कर बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृप नीति॥ ३१॥

अर्थ—रामको राज्यका लोभ नहीं है, उनका भरतपर बहुत प्रेम है। मैं (ही) बड़े-छोटेका विचार मनमें करके राज्यनीति (का पालन) कर रहा था॥ ३१॥

टिप्पणी—१ (क) *'लोभु न रामहिं राजु कर'*—सम्भव था कि कैकेयी कहती कि अच्छा भरतको राज्य तो दोगे पर राम उनसे ईर्ष्या-द्वेष रखेंगे क्योंकि राज्य छूटनेका दु:ख होगा। उसपर यह कहते हैं कि उनको राज्यका लोभ नहीं, वे भरतके राज्यमें कुछ उपाधि या उज्र नहीं करेंगे और न राज्यके लिये भरतसे वैर रखेंगे, भरतपर तो उनका बहुत प्रेम है। (ख) *'बहुत भरत पर प्रीति'*—अर्थात् वे उनको राज मिलता देख प्रसन्न होंगे, सुख पावेंगे, पुनः, *'बहुत भरत पर प्रीति'* का भाव कि राम सब भाइयोंपर प्रीति रखते हैं पर भरतपर उनका बहुत प्रेम है, यथा—*'तुलसी न तुम्ह सों राम प्रीतम कहत हौं सौंहैं किए।'* (२०१ छंद) *'प्रेमपात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं।'* (२०७। ३) *'भरत सरिस को राम सनेही। जग जपु राम राम जपु जेही॥'* *'भरत अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सीम समता की॥'* (२८९। ६) (ग) पूर्वार्द्धमें रामजीको निर्दोष बताकर उत्तरार्द्धमें सारा दोष अपना बताते हैं कि मैं ही बड़े-छोटेका

विचार करके राजनीतिके अनुकूल रामको तिलक करता था। मुझे तो भरत, राम दोनों बराबर हैं। अब रामको न सही हम भरतको ही राज देंगे। (*'मैं'* से जनाया कि किसी दूसरेकी सम्मति इसमें न थी, केवल उत्तम नृपनीति—*'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई'*—विचारकर मैंने ही ऐसा किया। इससे सूचित हुआ कि *'लोक बेद संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥'* यह नीति मध्यम है; क्योंकि पहलेके साथ *'सुहाई'* विशेषण है—*'यह दिनकर कुलरीति सुहाई'* जो दूसरेमें नहीं है।

नोट—राजा ऐसा कह रहे हैं जिसमें वह प्रसन्न हो जाय और दूसरा वर न माँगे।

राम सपथ सत कहउँ सुभाऊ। राममातु कछु कहेउ न काऊ॥ १॥
मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूँछें। तेहि तें परेउ मनोरथु छूछें॥ २॥
रिस परिहरु अब मंगल साजू। कछु दिन गए भरत जुबराजू॥ ३॥
एकहि बात मोहि दुखु लागा। बर दूसर असमंजस मागा॥ ४॥
अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा। रिस परिहास कि साँचेहु साँचा॥ ५॥

शब्दार्थ—**छूछें**=(सं० तुच्छ, प्रा० छुच्छ), खाली, निष्फल। **छूछें परेउ**=पूर्ण न हुए, सुफल न हुए। **असमंजस**=पसोपेशका; अड़चनवाला, जो न तो करते ही बने और न नहीं करते बने। **आँचा**=आगकी तपन या गर्मी। **परिहास**=हँसी। **सुभाऊ**=छल-कपटसे या बनाकर नहीं।

अर्थ—रामकी सौ शपथ करके मैं स्वभावसे ही कहता हूँ* कि रामकी माताने मुझसे (तिलकके विषयमें) कभी कुछ नहीं कहा॥ १॥ (हाँ) मैंने बिना तुझसे पूछे ही यह सब किया, इसीसे (सब) मनोरथ निष्फल हुए॥ २॥ अब क्रोध छोड़ो और मंगलसाज साजो। कुछ ही दिन बीतनेपर भरत युवराज हो जायँगे॥ ३॥ एक ही बातसे मुझे दुःख हुआ कि दूसरा वरदान तुमने बड़े अड़चनका माँगा है॥ ४॥ उसीकी आँचसे अब भी मेरा हृदय जल रहा है। यह तुम्हारा क्रोध है, या हँसी है या सच-ही-सच है?॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'राम सपथ सत कहउँ सुभाऊ।·········'* इति। (क) राजा अब समझ गये कि इसके हृदयमें तीन लोगोंपर संदेह है—रामपर, कौसल्यापर और मुझपर। अतएव तीनोंकी सफाई देते हैं। कौसल्यापर संदेह है कि इनके कहनेसे राजा रामको राज्य देते हैं, यथा—*'राम मातु मत जानब रउरे', 'सालु तुम्हार कौसिलहिं माई।'* अतः उनकी सफाईके लिये रामजीकी शपथ की। श्रीरामजीके शपथसे कैकेयीको विश्वास हो जायगा कि ये रामकी झूठी शपथ कदापि न करेंगे, क्योंकि इनको वे अत्यन्त प्रिय हैं। भरतकी शपथ न की; क्योंकि उससे कैकेयीका क्रोध और प्रचण्ड हो जाता, यह समझकर कि कौसल्या ही तो अपने पुत्र रामको राज्य दिलाती है, हमारे पुत्रको उसीने ननिहाल भेजवाया, उसकी झूठी सफाईमें हमारे पुत्रकी शपथ करते हैं। (२) *'सपथ सत'* में 'सत' अनन्तवाची है अर्थात् रामकी अनन्त शपथ है।—*'राममातु'* कहनेका भाव कि रामके लिये रामकी माताने कुछ न कहा। [पुनः, भाव कि जैसा स्वभाव रामका है वैसा ही उनकी माँका है। जैसे वे किसीसे वैर-विरोध, ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते वैसे ही उनकी माता नहीं रखतीं। जैसे राम निर्लोभी हैं वैसी ही उनकी माता भी हैं। अथवा, और किसी सम्बन्धका नाम इस समय कथनयोग्य न जानकर *'राममातु'* कहा। (र० प्र०)] (४) *'काऊ'*=कभी नहीं। अर्थात् कभी भी रामको राज्य देनेकी चर्चातक न की।

टिप्पणी—२ *'मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूँछें।·········'* इति। (क) रामका कसूर नहीं और न कौसल्याका ही, यह सब मेरा ही कसूर है कि मैंने यह सब *'तोहि बिनु पूँछें'* किया। उसीका फल पाया कि मनोरथ ही नष्ट हो गया, व्यर्थ हुआ। [छूँछा शब्द प्रायः छोटी वस्तुओंके लिये प्रयुक्त होता है बड़ीके लिये नहीं। यहाँ राजाका मनोरथ नष्ट हो जानेसे वे बड़े दीन वचन बोल रहे हैं, स्त्रीसे विनती करनी पड़ी; इसीसे

* रा० प० का अर्थ—'राममातुका स्वभाव कहता हूँ।'

कविने यहाँ क्षुद्र पदका प्रयोग किया—(खर्रा)]। (ख) ***'सबु कीन्ह'***—अर्थात् तिलकका निश्चय किया, सुदिन शोधवाया, मंगल-साज सजाया इत्यादि। ***'तोहि बिनु पूँछें'***—अर्थात् मैंने तिलकके लिये गुरुसे पूछा, फिर मन्त्रियोंसे सलाह ली, पर तुमसे नहीं पूछा यही भूल हुई। डरके मारे राजा मनोरथ भंग होनेका दोष कैकेयीको नहीं देते, सब दोष अपने ही सिर लेते हैं कि मेरा कसूर है कि तुझसे नहीं पूछा।

टिप्पणी—३ ***'रिस परिहरु अब मंगल साजू········'*** इति। (क)—रिस प्रत्यक्ष देख पड़ी, यथा—***'आगे दीखि जरत रिस भारी'*** अत: कहते हैं कि रिस छोड़ो। (ख)—***'मंगल साजू'—'कुछ दिन गए भरत जुबराजू'*** होंगे तो मंगलसाज अभीसे क्यों सजनेको कहते हैं? उत्तर—भरतजीके तिलककी शीघ्रता दिखाते हैं, जनाते हैं कि जबतक तुम मंगलसाज सजाओगी तबतक सुदिन भी आ जायगा, भरतके आते ही शुभ मुहूर्तमें हम तुरत राज दे देंगे इसीसे ***'कछु दिन गए'*** कहा। और मंगलसाज सजानेमें कई दिन लगते हैं इसीसे कहते हैं कि अभीसे साज सज लो जिसमें उनके आनेपर फिर विलम्ब न हो। (ग) कौसल्याको निर्दोष कहकर राजा अब कैकेयीका दोष दिखाते हैं कि तुम रिसानी हो, रिससे गुणमें भी अवगुण देख पड़ते हैं, इसीसे तुम कौसल्यामें दोष देख रही हो। अतएव रिस छोड़ो।

टिप्पणी—४ ***'एकहि बात मोहि दुखु लागा········'*** इति। कैकेयीने जो कहा था कि ***'भरत कि राउर पूत न होहीं।········जो सुनि सर अस लाग तुम्हारे',*** उसपर राजा कहते हैं कि भरतके लिये राज्य माँगनेमें हमें दु:ख नहीं हुआ, जैसा तुम समझती और कहती हो। दूसरा वर दु:खदायक है, वही असमंजसका वर है। देखिये, राजाको दूसरे वरसे ऐसी असह्य व्यथा होती है कि वे उसका नाम भी नहीं लेते, उसका स्वरूप यहाँ नहीं कहते, उसको जिह्वापर लाते डरते हैं—***'बचन बियोग न सकहिं सँभारी',*** (वियोगसूचक वचन भी कहते सहम जाते हैं।) (ख)—***'एकहि बात मोहि दुखु लागा'*** इस कथनसे साफ न जान पड़ा कि किस बातसे दु:ख लगा, उसीको उत्तरार्द्धमें स्पष्ट किया कि ***'बर दूसर असमंजस मागा।'*** अर्थात् प्रथम वर तो सुखका माँगा, भरतको राज्य देनेमें सुख होगा दूसरेमें दु:ख होगा।

नोट—***'बर दूसर असमंजस मागा········'*** इति। असमंजस कि उन्हें राज्य देनेको कहकर अब वन जानेको कैसे कहूँ? यथा—***'राज सुनाइ दीन्ह बनबासू।'*** (१४९।७) लोक मुझे क्या कहेगा। सब कहेंगे कि दुरात्मा दशरथने अपने महात्मा पुत्रको पितृहीन बना दिया, स्वयं रहकर भी पिताका कर्तव्य न किया। श्रीरामजीको दु:खमें देखकर जगत्‌के सब लोग क्रोध करेंगे। स्नेह रखनेवाले पिता भी अपने पुत्रोंको छोड़ देंगे और स्त्रियाँ भी अपने-अपने पतियोंको छोड़ देंगी। रामके वनगमनसे कोई अयोध्यावासी न जियेगा। मैं जीवित नहीं रह सकता। मेरे स्वर्ग जानेपर देवता रामचन्द्रकी कुशल पूछेंगे तब मैं क्या उत्तर दूँगा? तुझे भी लोग क्या कहेंगे? मन्त्रियों, देश-देशान्तरके राजाओं इत्यादि सभीकी सम्मति लेकर मैंने रामको युवराज बनानेका निश्चय किया था, वे सब यही कहेंगे कि राजाकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। रामके वन जानेपर कौसल्या क्या कहेंगी, उसने मेरा सदा प्रिय किया पर तेरे भयसे मैंने कभी उनका सम्मान नहीं किया, तेरे सम्मानका यही फल है कि राम वन जायँ, मैं कौसल्याको क्या उत्तर दूँगा। सुमित्रा भी सहम जायगी, सीताका दु:ख देखकर मैं जी न सकूँगा। तुम्हारे अनुरागके कारण सब मेरी निन्दा करेंगे। इत्यादि जो वाल्मी० २ सर्ग १२, १३ में है वह सब ***'असमंजस'*** का भाव ही है।

वि० त्रि०—असामंजस्यको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दूसरे वरका प्रसंग क्यों उठा? यदि कहा जाय कि भरतके राज्यमें रामजी या उनकी माताद्वारा विघ्नाचरणका भय है, अत: रामजीको वन देना आवश्यक है, तो यह बात भी नहीं है। यह बात तो तब होती, जब रामजीको राज्यका लोभ होता, या भरतसे अनबन होती या रामके तिलकके निश्चयमें कौसल्याका कुछ हाथ होता। इन सब कारणोंके न होते हुए, नाहक रामको वनवास कैसे दे दें। इस बातका मुझे बड़ा भारी दु:ख हुआ। उसीके तापसे इस समय भी कलेजा जल रहा है। ऐसी निर्मूल बातें तो केवल क्रोधमें कही जाती हैं, जो केवल उतने ही कालके लिये सच्ची होती हैं जितने कालतक क्रोध बना हुआ है, अथवा हँसीमें कही जाती हैं, और उसका

प्रभाव तभीतक रहता है, जबतक परिहास चल रहा है, और वास्तवमें सत्यरूपसे ऐसी निर्मूल बात तो नहीं कही जाती। अतः रिसमें या परिहासमें तुमने ऐसा कहा हो तो सामंजस्य बैठ जाता है और यदि वास्तवमें सत्यरूपसे कहा है, तब तो घोर असामंजस्य है।

टिप्पणी—५ *'अजहूँ हृदय जरत········'* इति। (क) *'अजहूँ'* कथनका भाव कि ज्यों ही तुमने यह वर माँगा त्यों ही मैं सुनकर उसकी आँचसे जल गया। यथा—*'दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू।'* और, अब भी उसको समझकर उसके कारण, उसकी आँचमें हृदय दग्ध हो रहा है। पुनः, जब तुमने वर माँगा तबसे अबतक कितनी देर हो चुकी तब भी वह जलन हृदयसे नहीं गयी। (ख)—*'रिस परिहास साँचेहु साँचा।'* राजाको कैकेयीमें तीनों बातें देख और समझ पड़ीं। *'आगे दीखि जरत रिस भारी',* इससे रिसकी प्रतीति हुई। *'बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली',* इसमें परिहासकी प्रतीति हुई। और, *'देन कहेउ अब जनि बर देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू॥'* इससे सत्यकी प्रतीति हुई। रिस प्रत्यक्ष देख पड़ती है, अतः उसे प्रथम कहा। रिससे कहती है इससे रामको वन न भेजेगी और हँसी करती है। इससे भी रामको वनवास कदापि न देगी, इन दोमें भय नहीं है; पर सत्यासत्य *'साँचेहु साँच'* अगर वह ऐसा कह रही हो तो अवश्य वन देगी।

नोट—*'रिस परिहास कि साँचेहु साँचा'* इति। राजाका तात्पर्य यह है कि हमें विश्वास नहीं होता कि तुमने जो कहा वही सचमुच चाहती हो। इसीसे सन्देह निवारणार्थ पूछते हैं कि तुमने क्रोधके आवेशमें तो ऐसा नहीं कहा; क्योंकि क्रोधके आवेशमें लोग अनुचित कह जाते हैं, यथा—*'जेहि बस जन अनुचित करहिं चरहिं बिस्व प्रतिकूल।'* (१। २७७) *'क्रोधके परुष बचन बल।'* अथवा, हमारा हृदय टटोलनेके लिये कि देखें भरतपर कैसा प्रेम है तुम हमसे हँसी कर रही हो या कि सचमुच यह वर माँग रही हो। (वाल्मीकीय २। १२। २०) में भी राजाने कहा है कि मैं इसे सत्य नहीं समझता, इन बातोंपर मुझे विश्वास नहीं होता; क्योंकि आजतक तुमने मेरी कोई बुराई नहीं की। यथा—'**नहि किञ्चिदयुक्तं वा विप्रियं वा पुरा मम। अकरोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्दधामि ते**'। फिर तुमने मुझसे बारंबार कहा है कि मुझे जैसे भरत प्रिय हैं वैसे ही राम, तब उनको वनमें भेजना कैसे चाहोगी? यथा—'**ननु ते राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना। बहुशो हि स्म बाले त्वं कथाः कथयसे मम।**' (२१)·········' हमारा प्रेम भरतपर है या नहीं, यदि यह देखनेके लिये तुमने ऐसा कहा है तो हर्ज नहीं, तुम देख लो, मैं तुम्हारा वह कहा हुआ किये देता हूँ, भरतको राज्य दिये देता हूँ। यथा—'**अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये। अस्तु यत्तत्त्वया पूर्वं व्याहृतं राघवं प्रति।**' (२। १२। १६) रिस और हँसीमें बातको डालकर राजा उसके वचनको छुड़ाना चाहते हैं; इसीसे रिस और परिहास प्रथम कहा।

कहु तजि रोषु राम अपराधू। सबु कोउ कहइ राम सुठि साधू॥ ६॥
तुहूँ सराहसि करसि सनेहू। अब सुनि मोहि भयेउ संदेहू॥ ७॥
जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला। सो किमि करिहि मातु प्रतिकूला॥ ८॥

अर्थ—क्रोध छोड़कर रामका अपराध बता। सभी कोई कहते हैं कि राम अत्यन्त साधु हैं॥ ६॥ तू स्वयं भी सराहती और प्रेम करती थी। अब तेरा वचन सुनकर मुझे संदेह हुआ॥ ७॥ जिसका स्वभाव शत्रुको भी अनुकूल (हितकर और रुचिकर) है, भला वह माताके प्रतिकूल व्यवहार कैसे कर सकता है?॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'कहु तजि रोषु राम अपराधू।········'* इति (क)—क्रोध त्यागकर अपराध बतानेको कहते हैं। भाव कि क्रोधसे उनकी साधुता नहीं देख पड़ती; क्योंकि क्रोध अँधियारी रातके समान है, यथा—*'घोर क्रोध तम निसि जो जागा।'* (४। २१) क्रोधमें सूझता नहीं, विचार नहीं रहता, लोग कुछ-का-कुछ कह डालते हैं फिर शान्त होनेपर पछताते हैं; अतः 'क्रोध' छोड़कर विचार देखो तो उनमें कोई अपराध न

पाओगी। प्रमाण जैसे बालिको न सूझा—*'कहा बालि सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।········'* (ख)—*'सबु कोउ कहइ'* अर्थात् कुछ मैं ही नहीं वरन् शत्रु, मित्र और उदासीन सभी कहते हैं, यह नहीं कि उदासीन न कहते हों जैसा कि उनका स्वभाव है। यथा—*'तुलसी बयर सनेह दोउ रहित बिलोचन चारि। सुरहि सेवरा आदरहिं निदरहिं सुरसरि बारि॥'* (ग)—*'सुठि साधू'* से जाना गया कि 'साधारण साधु' भी होते हैं। अत्यन्त साधु अपराध कभी नहीं करते, यथा—*'बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥'* (१। ३। १०) और जो साधारण साधु हैं उनसे कभी-कभी अपराध भी हो जाता है, यथा—*'काल सुभाउ करम बरियाई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई॥'* (१। ७। २)

नोट—१ *'कहु राम अपराधू'*—भाव कि हमारे यहाँ हजारों स्त्रियाँ, नौकर हैं, परिजन, परिवारवाले इत्यादि हैं, पर रामजीके सम्बन्धमें कभी कोई परिवाद वा अपवाद (सकारण वा निष्कारण निन्दा) नहीं सुना गया। वे तो बड़े प्रिय बोलनेवाले हैं, फिर तुम्हारे साथ उनका सदा माताका-सा व्यवहार रहता है, भरतसे अधिक वे तुम्हारी सेवा करते हैं। सबके साथ वे शुद्ध चित्तसे व्यवहार करते हैं। तब तुम्हारा कोई अपराध किया हो, यह विश्वास नहीं होता। जब कोई भारी अपराध या पाप करता है तब उसे देश-निकाला दिया जाता है। अतः बिना अपराधके उन्हें वन कैसे देती हो। बताओ, तुम्हें उनसे क्या आशंका है?

नोट—२ *'सुठि साधू'* अर्थात् वे देवोपम महर्षियोंके समान तेजस्वी हैं। क्षमा, तप, त्याग, सत्य, धर्म, कृतज्ञता इत्यादि गुणसम्पन्न हैं। यथा—'**सान्त्वयन्सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा। गृह्णाति मनुजव्याघ्रः प्रियैर्विषयवासिनः॥**' (२८) '········**तस्मिन्नार्जवसम्पन्ने देवि देवोपमे कथम्। पापमाशंससे रामे महर्षिसमतेजसि॥**' (३१) '**क्षमा यस्मिंस्तपस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता। अप्यहिंसा च भूतानां तमृते का गतिर्मम॥**'(३३) (वाल्मी० २सर्ग १२) पुनः '**पुत्रः स महात्मा।**' इत्यादि जो-जो वाल्मीकीयमें कहा है वह सब 'सुठि साधु' से पूज्यकविने जना दिया है। सारांश यह कि साधु सन्मार्गवर्ती होते हैं और राम तो सुठि साधु हैं; इनमें तो अधर्म छू भी नहीं गया, चाण्डाल और अधर्मी देशसे निकालकर वनमें भेजे जाते हैं, वध न किये गये तो निकाल ही दिये गये; और राम तो सुठि साधु हैं तो फिर उन्हें क्यों वन देती है?

नोट—३ वि० त्रि०—(क) *'कहु राम अपराधू'*—भाव कि यदि वस्तुतः रामने कोई अपराध किया है, और दण्डके रूपसे तुमने दूसरा वर माँगा है, तो वह अपराध मुझे भी मालूम होना चाहिये, जिससे मेरा मनस्ताप घटे, मैं समझ सकूँ कि जो मैं कर रहा हूँ, उचित कर रहा हूँ। कहनेसे बात स्पष्ट हो जायगी। बहुत सम्भव है कि तुम्हारे समझनेमें भूल हो और रामका अपराध न निकले; क्योंकि सब कोई कहते हैं कि रामजी अत्यन्त साधु हैं, और साधुसे किसीके कार्यकी हानि नहीं होती, यथा—*'साधु ते होइ न कारज हानी।'* (ख) *'तुहूँ सराहसि········'* इति। भाव कि आज तुम रामको वनवास माँग रही हो, कलतक तो तुम रामजीकी प्रशंसा करती थीं और स्नेह करती थीं। ऐसे स्नेही और प्रशंसकके मुखसे ऐसी बात सुनकर मुझे संदेह हो रहा है, नहीं तो राम अपराध करें, ऐसा हो नहीं सकता। तुम अपराध बतला दो, मैं उसकी जाँच करूँगा।

नोट—४ *'अब सुनि मोहि भयेउ संदेहू'*—पहले तुम कहा करती थी कि 'राम ज्येष्ठ पुत्र हैं, वे धर्मसे बड़े हैं, मुझे भरत जैसा मान्य है, राम उससे भी अधिक मान्य हैं; क्योंकि वे कौसल्यासे अधिक मेरी सेवा करते हैं। राम सब भाइयोंको अपने ही समान समझते हैं। वे धर्मज्ञ, गुणवान्, संयत, सत्यप्रिय और शुद्धचरित्र हैं। राम मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं', यथा—**धर्मज्ञो गुणवान्दान्तः कृतज्ञः सत्यवाञ्छुचिः।········यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः। कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु॥········मन्यते हि यथात्मानं तथा भ्रातॄंस्तु राघवः।**' (वाल्मी० २। ८। १४, १८, १९) '**स मे ज्येष्ठसुतः श्रीमान्धर्मज्येष्ठ इतीव मे।**' (२। १२। १७) *'प्रान तें अधिक राम प्रिय मोरे'* (इत्यादि जो मन्थरासे कैकेयीजीने कहा है, वह सब राजासे कहा करती थीं। स्नेह करनेका प्रमाण ये सब वचन हैं और

पूर्व *'मैं करि प्रीति परीक्षा देखी॥'* (१५। ७) में भी लिखा जा चुका है) अब रामजीका अभिषेक सुनकर प्रसन्न होना चाहिये था; क्योंकि *'भामिनि भयउ तोर मन भावा',* किंतु आज उलटे तुम अभिषेक सुनकर दुःखित हुईं, प्राणप्रिय पुत्रको वन भेजनेको कहती हो, दूसरोंके बहकानेसे नीतिविरुद्ध करने जा रही हो; इससे निश्चय होता है कि तुम्हारा राममें स्नेह नहीं था, सम्भवतः तुम मुझे प्रसन्न करनेके लिये झूठा स्नेह दिखाया करती थीं और प्रिय बोला करती थीं। यथा—**'तत्त्वया प्रियवादिन्या सेवार्थं कथितं भवेत्॥'** (१७) **'तच्छ्रुत्वा शोकसंतप्ता संतापयसि मां भृशम्।'** (वाल्मी० २। १२। १८) झूठे प्रलोभनके वचनोंसे मुझे भुलावा देनेके लिये ही प्रिय बातें किया करती थीं—**'अमृतैर्बत मां सान्त्वैः सान्त्वयन्ती स्म भाषसे।'**(श्लो० ७७) [इससे यह भी जनाया कि श्रीरामजी तो अपराध कर नहीं सकते, तेरी ही बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। (पं०)]

टिप्पणी—२ *'तुहूँ सराहसि करसि सनेहू। अब·········'* इति। मुखसे सराहना किया करती थी, इतना ही नहीं किंतु हृदयसे स्नेह भी करती थी; इसीसे अब मुझे संदेह हो गया कि तूने *'बर दूसर असमंजस माँगा'* यह कैसे? क्या तूने श्रीरामजीमें जो स्नेह था उसे छोड़ दिया, या वह स्नेह ही झूठा था, अथवा रामजीने अपनी साधुता छोड़ दी? किस कारणसे तूने राम-वनवास माँगा? इससे यह भी जनाते हैं कि यदि पहले तू प्रशंसा और स्नेह न करती होती तो संदेह न होता। हाँ! एक कारण यह हो सकता था कि रामजीने माताके प्रतिकूल कोई काम किया होगा; पर वे ऐसा कदापि नहीं करेंगे क्योंकि *'जासु सुभाउ·········।'*

टिप्पणी—३ *'जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला।·········'* अर्थात् रामजी माताके प्रतिकूल कदापि न करेंगे। इससे रामजीकी साधुता पुष्ट की कि वे अपनी साधुता न छोड़ेंगे, तूहीने क्रोधके आवेशमें रामजीमें स्नेह छोड़ दिया। सो हे प्रिये! रिसको छोड़ दे। *'अरिहि'* अर्थात् अनहित करनेवालेके अनुकूल कोई नहीं होता पर श्रीरामजी उसके भी अनुकूल रहते हैं, उसका भी हित ही करते हैं, यथा—*'उमा राम मृदु चित करुनाकर। बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥ देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी॥'* (६। ४४) पुनः यथा—*'बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥'* (२००। ७), *'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।'* (१८३। ६) देखिये बालिने प्रशंसा की है कि हमारे लिये आपने अपनी प्रतिज्ञा त्याग करना स्वीकार किया तभी तो आपने कहा कि *'अचल करउँ तन राखहु प्राना',* नहीं तो आप तो प्रतिज्ञा कर चुके थे कि *'ब्रह्म रुद्र सरनागत गये न उबरिहि प्रान।'* मारीच आदिने प्रशंसा की। देखिये पत्नी-हरण करनेवाले रावणके पास जब अंगदको भेजा तब उनसे यही रामजीने कहा कि—*'काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥',* (इतनेपर भी शत्रुका हित ही चाहते हैं)। भाव कि जब वे शत्रुके अनुकूल रहते हैं तब भला वे माताके प्रतिकूल कैसे करेंगे? कदापि नहीं। पुनः भाव कि [उदासीन उनका स्वभाव देखकर उदासीनता छोड़ मित्र हो गये। शत्रु प्रतिकूलताको त्यागकर अनुकूल हो गये। ऐसा जिनका स्वभाव है वे माताके प्रतिकूल कब हो सकते हैं? यह विश्वास करनेकी बात नहीं है (वै०)]

दो०—प्रिया हास रिस परिहरहि मागु बिचारि बिबेकु।
जेहि देखौं अब नयन भरि भरत राज अभिषेकु॥ ३२॥

अर्थ—हे प्रिये! हँसी और क्रोधको छोड़ दो। विवेकसे विचारकर वर माँगो, जिससे मैं अब नेत्र भरके भरतका राज्याभिषेक देख सकूँ॥ ३२॥

नोट—१ राजाने अपने इन वचनोंसे एक वर (भरतराज्य) को तो पक्का कर ही दिया। वे कहते हैं कि ऐसा कर कि मैं भी नेत्र भर भरतराज्य देखूँ। अर्थात् यह वर मैंने तुझे दिया, भरत राजा हों। और दूसरे वरके बारेमें कहते हैं कि हँसीसे माँगा हो, चाहे रिससे माँगा हो, हँसी और रिस दोनोंको छोड़ दो, क्योंकि इसके कारण मुझे बड़ी व्यथा हो रही है। विवेकसे विचार करके दूसरा वर माँगो जिसमें मैं भरतराज्य देख सकूँ। आशय यह कि मेरा भरतराज्य देखना तेरे दूसरे वरके अधीन है। यदि दूसरे

वरसे रामको वनवास माँगोगी तो समझ लो कि मैं भरतका राजतिलक कैसे देख सकूँगा? यथा—*'समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना। जीवनु राम दरस आधीना॥'* राम वन गये तो मैं जीता न रहूँगा, यथा—*'जीवन मोर राम बिनु नाहीं।'* विचार न करोगी तो भरतका तिलक कौन देखेगा? इस प्रकार इन वचनोंसे सुझाते हैं कि वनवास न माँगो। यह नहीं कहते कि दूसरा वर न दूँगा। मैं भरतराज्य देखना चाहता हूँ, वह उपाय कर कि उसे देख सकूँ। जिससे वह प्रसन्न हो जाय कि हमारे पुत्रका राज्य देखना चाहते हैं, इससे दूसरा वर ऐसा न सही। इसमें एक प्रकारका लोभ उसे देते हैं। २—हँसी और रिसको छोड़नेको कहा, क्योंकि तब यह वर भी न रहेगा। *'साँचेहु साँचा'* के बारेमें कहा कि *'माँगु········देखौं।'* अर्थात् सत्य ही वर माँगा है तो मैं विनय करता हूँ कि इसपर विवेकसे विचार कर लो।

टिप्पणी—१ (क) *'हास रिस परिहरहि'* रानीने रुष्ट होकर वर माँगा है; अतः रिस छोड़नेमें उसे संकोच होगा कि किस बहाने उसे छोड़ूँ, यह समझकर राजा 'हास्य' त्याग करनेको कहते हैं। वे कहते हैं कि हास्यके बहाने रिसको त्यागकर रामको घर रखो। अर्थात् यह कह दो कि मैं हँसी करती थी, मुझे कुछ रामसे वैर तो था ही नहीं जो ऐसा वर माँगती, हास्यसे ऐसा वर माँगा था। दूसरे इससे भी हास्य छोड़नेको कहते हैं कि यदि हँसीका बहाना न होगा तो रिस छोड़नेपर रामको घरमें रखा तो भी जीमें वैर बना ही रहेगा। (ख) *'माँगु'*—राजा फिरसे वर माँगनेको कहते हैं। आशय यह है कि किसी तरह कैकेयी अपने मुखसे कह दे कि राम घर रहें, भरतको राज्य हो। (ग) *'माँगु बिचारि बिबेकु'* अर्थात् भरतको राज्य हो, इसीसे काम है, रामके वन जानेसे तो तुम्हारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उनके वन जानेका क्या काम? रामजीका अपराध कुछ नहीं है। बिना अपराधके उन्हें व्यर्थ दण्ड देना विवेक नहीं। सभी रामको साधु कहते हैं; तुम उनको वन दोगी तो सभी तुम्हारी निन्दा करेंगे। रामको वन माँगना अविवेक है, घरमें रखना विवेक है।

वि० त्रि०—कैकेयी चुप है, कोई उत्तर नहीं देती। तब महाराज कहते हैं कि जब तुम कोई अपराध नहीं बतला सकती, तब तुम्हारा माँगना वास्तवमें सत्य नहीं हो सकता। या तो तुम परिहास कर रही हो, या निर्मूल क्रोध कर रही हो। यहाँ मेरे जीवन-मरणका प्रश्न उपस्थित है, अतः हास्य और क्रोधको छोड़ दो। तुम्हारी माँग अविवेकयुक्त है, क्योंकि इसके पूरा करनेमें मेरा प्राण जायगा। साध्वी स्त्रीके लिये पतिके प्राणसे बढ़कर जगत्‌में कोई दूसरी वस्तु नहीं है, अतः इस वरके बदलेमें कोई दूसरा वर माँगो, जिसमें मेरा प्राण तो बचा रहे, यथा—*'गुरु गृह बसहुँ राम तजि गेहू। नृप सन अस बर दूसर लेहू॥'* (५०। ४) मैं आँख भरकर भरतका राज्याभिषेक देख लूँ। नहीं तो भरतके राज्याभिषेकके पहले ही मेरा प्राण चला जायगा।

यहाँपर महाराजने स्पष्ट दिखला दिया कि मेरे लिये भरत और राम समान हैं। यथा—*'मोरे भरत राम दुइ आँखी। सत्य कहौं करि संकर साखी॥'* और प्रिया सम्बोधन करके यह दिखलाया कि मेरा और तुम्हारा सम्बन्ध ऐसा है कि बिलकुल बेलगाव होकर वरदान माँगना उचित नहीं है। दाम्पत्य-भावकी रक्षाके लिये आपसमें समझ-बूझ लेना धर्मतः प्राप्त है।

नोट—२ *'बिचारि बिबेकु'* इति। भाव कि महात्मा, धर्मज्ञ, परमसाधु, सुकुमार और प्राणप्रियको बिना अपराध भयानक वनमें भेजना, बिना अपराध देशसे निकाल देना और पतिकी अपकीर्ति कराना तथा वैधव्य लेना इत्यादि विकृत बुद्धिवालीका ही काम है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे रामवनगमन तुमको स्वयं अनुचित जान पड़ेगा और तब उसे स्वयं न माँगोगी अतः विवेकसे विचार करनेको कहा। यथा—**'शून्ये न खलु सुश्रोणि मयेदं समुपाहृतम्॥' 'कुरु साधुप्रसादं मे बाले सहृदया ह्यसि।'** (वाल्मी० २। १३। २१-२२) अर्थात् तुम सहृदय हो, दूसरोंके दुःख-सुखको समझती हो, जो मैंने कहा है वह शून्यमें नहीं कहा है। तुम सब बातोंपर विचार करो।

जिअइ[1] मीन बरु बारि बिहीना। मनि बिनु फनिकु जिअइ[2] दुख दीना॥ १॥
कहउँ सुभाउ न छल मन माहीं। जीवनु मोर राम बिनु नाहीं॥ २॥
समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना। जीवनु राम दरस आधीना॥ ३॥

शब्दार्थ—**मीन**=मछली। **बिहीना**=रहित, बिना। **फनिकु**=सर्प। **दुख दीना**=दुःखसे दीन होकर। **प्रबीना**=(प्रवीण) चतुर।

अर्थ—चाहे मछली बिना पानीके भले ही जीती रहे, सर्प बिना मणिके दुःखसे दीन होकर (भले ही) जीता रहे॥ १॥ (परंतु) मैं स्वभावसे कहता हूँ, मनमें छल रखकर नहीं कि मेरा जीवन रामके बिना नहीं हो सकता॥ २॥ हे प्रवीण प्रिये! हृदयमें विचारकर देख कि मेरा जीवन रामदर्शनके अधीन है॥ ३॥

नोट—१ भाव यह कि मछली पानीके बिना छटपटाकर तुरत मर जाती है, यथा—***'जल बिनु थल कहाँ मीचु बिनु मीन को।'*** (वि० १७८) सर्प मणिके निकल जानेसे तड़पता है, यथा—***'मणि लिए फणि जियै ब्याकुल बिहाल रे।'*** (वि० ६७) इनकी प्रकृति चाहे बदल जाये, ये न मरें, पर मैं कदापि नहीं जी सकता। इससे जनाया कि दोनोंसे अधिक मेरा प्रेम राममें है। पूर्वजन्मका यही वर है—***'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना॥'*** (१।१५१) इसीसे ये दोनों दृष्टान्त इस समय मुखसे निकल पड़े हैं।

नोट—२ यहाँ विचार देखनेको कहते हैं; अतः 'प्रवीण' विशेषण दिया; चतुर लोग ही विचार करते हैं। पुनः, व्यंगसे जनाते हैं कि अन्यथा तुम 'प्रवीणा' और 'प्रिया' कहे जानेयोग्य न रह जाओगी। (रा० प्र०) ***'कहउँ सुभाउ........नाहीं।'*** इस बातको विशेष प्रमाणके द्वारा पुष्ट करना 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है। ***'जीवन मोर राम बिनु नाहीं'*** में 'प्रथम विनोक्ति अलंकार' है। (वीर)

टिप्पणी—१ ***'कहउँ सुभाउ न छल मन माहीं'*** इति। मेरे मनमें छल नहीं है। छल यह कि रामवनगमनसे अपना मरण इसलिये सुनाते हैं जिसमें अपने वैधव्यके डरसे रामको घरमें रहने दे, वन न भेजे। पुनः, (ख)—मछली और सर्पके दृष्टान्तसे छल पाया जाता है; क्योंकि संदेह होता है कि इनका तो तत्क्षण मरण हो जाता है, ऐसा मरण और किसीका हो नहीं सकता, राजा जो अपने सम्बन्धमें कहते हैं कि ऐसे ही हम भी बिना रामजीके मर जायँगे सो झूठ है, वे छलसे ऐसा कहते हैं जिसमें रामको वन न भेजूँ। इस संदेहके निवृत्त्यर्थ कहते हैं कि ***'कहउँ सुभाउ न छल मन माहीं'*** अर्थात् निष्कपटभावसे सत्य कहता हूँ।

टिप्पणी—२ ***'समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना।........'*** इति। (क) प्रवीणा हो, स्वयं चतुर हो, अतः तुमसे बहुत क्या कहूँ, तुम स्वयं विचार देखो। (ख)—प्रथम दो दृष्टान्त, मणि और फणिके दिये, अब अपने न जीनेमें दोनोंसे समानता कहते हैं। ***'कहउँ सुभाउ न छल मन माहीं। जीवनु मोर राम बिनु नाहीं॥'*** यह मीनकी समता है। बिना जलके मछलीका जीवन नहीं, यथा—***'जल बिनु थल कहाँ मीचु बिनु मीन को।'*** (इति विनय०) इसी तरह बिना रामके मेरा जीवन नहीं। ***'समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना। जीवनु राम दरस आधीना॥'*** यह सर्पकी समता है। सर्प मणिको देखकर जीता है, मैं रामको देखकर जीता हूँ। दोहा ३०में राजाको 'धर्मधुरन्धर' विशेषण दिया गया। उन्होंने धर्मकी बातें कहीं, अपना और राजाका धर्म रखनेकी बातें कहीं, स्वयं विचार करनेको कहा; इत्यादि। और वहाँसे यहाँतक उनके वचनोंमें 'प्रिय' वा 'प्रिया' सम्बोधन तीन बार आया। अब आगे 'प्रिया' सम्बोधन न देंगे।

वि० त्रि०—रामजीके दर्शन बिना तो सम्पूर्ण अयोध्याको प्राण-संकट उपस्थित होगा, यथा—***'रामदरस हित लोग सब करत नेम उपवास। परिहरि भूषन भोग सुख जिअत अवधि की आस॥'***, परंतु मैं तो उतना ठहर न सकूँगा, बिना जलकी मछलीकी भाँति सद्यः प्राणत्याग करूँगा। यद्यपि प्रेम आँखोंसे देखा नहीं जाता, परंतु व्यवहार देखकर मनसे लखा जाता है, यथा—***'जीवन तरु जिमि जोगवत राऊ'***, और लखनेवालेने

१-जिऐ-गी० प्रे०। २-जिअई-रा० प०।

लखा भी, यथा—*'नृप सनेहु लखि धुनेउ सिरु पापिनि दीन्ह कुदाउ॥'* (७३) अतः चक्रवर्तीजी कहते हैं कि हे प्रिये! तू तो प्रवीण है, समझकर जीसे देख ले कि मैं क्या राम बिना जी सकूँगा? अतः तू प्रिया होकर प्राणदण्ड मुझे दे रही है।

सुनि मृदु बचन कुमति अति जरई। मनहु अनल आहुति घृत परई॥ ४॥
कहइ करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउरि माया॥ ५॥
देहु कि लेहु अजसु करि नाहीं। मोहिं[१] न बहुत प्रपंच[२] सोहाहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—**आहुति**=मन्त्र पढ़कर देवताके लिये जो द्रव्य (साकल्य) अग्निमें डाली जाती है, होम-द्रव्यकी वह मात्रा जो एक बार यज्ञकुण्डमें डाली जाय। **उपाया**=यत्न, तदबीरें। **माया**=छल-कपट, धोखा, चालबाजी। **प्रपंच**=झंझट, बखेड़ा, टालमटोलका बकवाद, माया।

अर्थ—राजाके मीठे कोमल वचन सुनकर दुर्बुद्धि कैकेयी अत्यन्त जल रही (कुढ़ रही) है मानो अग्निमें घीकी आहुतियाँ पड़ रही हैं॥ ४॥ वह कहने लगी कि आप कितने ही उपाय क्यों न करें यहाँ आपकी माया नहीं लगनेकी, चालें नहीं चलनेकी॥ ५॥ वरदान दीजिये, नहीं तो 'नहीं' करके अपयश लीजिये। मुझे बहुत प्रपंच नहीं अच्छे लगते।

नोट—राजाके वचनका उपक्रम *'बोले·······बानी सबिनय तासु सोहाती।'* (३१। ४) से किया था और उपसंहार *'सुनि मृदु बचन'* से किया। *'प्रिया'* सम्बोधनसे वचनोंका आरम्भ हुआ, यथा—*'प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती।'* (२१। ५) और उसी सम्बोधनसे समाप्ति की, यथा—*'समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना।'* विनीतयुक्त होनेसे सब मृदु हैं। उसने राजाका कहना न माना, विवेकसे विचार न किया। अतः कवि उसे यहाँ *'कुमति'* विशेषण देते हैं।

टिप्पणी—१ *'सुनि मृदु बचन कुमति अति जरई।·······'* इति। (क) मृदु वचन सुनकर जली, इसीसे *'कुमति'* विशेषण दिया। *'अति जरई'* अर्थात् जल तो प्रथमसे रही थी, यथा—*'आगे दीखि जरत रिस भारी',* पर अब 'अत्यन्त' जलने लगी, दाह अधिक हो गया। (ख) *'मनहुँ अनल आहुति घृत परई'*—यहाँ क्रोध अग्नि है, मृदु वचन घृत है। वचन कोमल और घृत कोमल। घीकी आहुति अग्निमें पड़नेसे आग प्रचण्ड होती है, वैसे ही मृदु वचन सुनकर क्रोध बढ़ा, यथा—*'लषन उतर आहुति सरिस भृगुबर कोपु कृसानु। बढ़त देखि जल सम बचन बोले रघुकुल भानु॥'* (१। २७६) राजाके वचन कोमल, स्नेहमय, छलरहित, पवित्र और गुणद हैं इसीसे उन्हें घृतसे उपमा दी। (यहाँ 'दूसरा विषम', 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है)

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—चक्रवर्तीजी उसे अच्छी लगनेवाली सविनय वाणी बोले। यदि वह सुमति होती तो उसका क्रोध शान्त हो जाता, पर कुमति होनेके कारणसे उसका क्रोध बढ़ता ही चला गया। '**अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥**' (गीता १८। ३२) तमोगुणसे आवृत होनेके कारण जो बुद्धि अधर्मको ही धर्म मानती हो, सब अर्थोंको विपरीत मानती हो, वही बुद्धि तामसी है, अर्थात् कुमति है। कुमति कैकेयीने महाराजके युक्तियुक्त विनम्र वचनको माया माना। समझा कि यह सब मुझे अपने ध्येयसे विचलित करनेके उपाय हैं। ये मन-मलीन मुँह-मीठ हैं। इसी भाँति मीठी बात करके अपना काम निकालते हैं और सत्यवादी भी बने रहते हैं। मन्थराने ठीक कहा था कि *'सहसा जनि पतियाहु।'* अब मैं सजग हूँ, इनके फंदेमें आनेवाली नहीं। अतः महाराजके स्नेहमय हितकर वचनोंने कैकेयीके कोपानलके उद्दीपनका काम किया।

टिप्पणी—२ *'कहइ करहु किन कोटि उपाया।·······'* इति। (क) *'कोटि'*—राजाने अपनी, कौसल्याजीकी और रामजीकी सफाईमें जो बातें कहीं, यथा—*'लोभु न रामहिं राज कर बहुत भरत पर प्रीति', 'मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृप नीति', 'राम सपथ सत कहउँ सुभाऊ। राममातु कछु कहेउ न काऊ॥'*

१- 'मोहि' (भा० दा०, पं० रामगु०)। 'मोंहिं' (राजापुर)। २-'परपंच' (भा० दा०, पं० रामगु०)।

उसीपर कैकेयी कहती है कि तुम अनेकों उपाय क्यों न करो, यहाँ तुम्हारी माया न लगेगी। राजा भरतको राज्य देनेको कहते हैं, भरतको रामके समान प्रिय कहते हैं, राम बिना अपना मरण सुनाते हैं, रामको घरमें रखनेके लिये यह सब माया है। (ख)—*'इहाँ न लागिहि राउरि माया'*—भाव यह कि जो छलीका छल-कपट न जान पावे उसको माया लगती है। मैं तो तुम्हारा सब छल-कपट जानती हूँ, मन्थराने सब लखा दिया है, इससे तुम्हारी माया न लगेगी। [*'मन मलीन मुँह मीठ नृप'* मन्थराके इन वचनोंको स्मरण करके कैकेयी ऐसा कह रही है। (रा० प्र०) राजाने जो कहा था कि *'मागु बिचारि बिबेकु'* उसीपर वह कहती है कि आपकी माया यहाँ नहीं लगनेकी। अर्थात् मैं अपनी जिद्द नहीं छोड़नेकी, रामको वन भेजना धर्म हो वा अधर्म, रामको, कौसल्याको, तुमको दुःख हो, तुम्हारा चाहे मरण हो इन बातोंकी मुझे परवा नहीं। वरमें रद्दोबदल नहीं होगा, चाहे कितना ही तुम गिड़गिड़ाओ। यथा—'**भवत्वधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वानृतम्। यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः॥**' (वाल्मी० २। १२। ४६)

(ग) पण्डितजी—तुम्हारे राजनीतिमें चार उपाय हैं—साम, दाम, भेद, दण्ड (**नीत्योपायचतुष्टयम्**), अथवा सात 'उपेक्षा इन्द्रजाल' सो इन सातोंमेंसे भेदको तुम काममें ला रहे हो, सो ये कोई यहाँ न लगेंगे। रानी देवमायाके वशमें है; अतः सरस्वती उससे *'राउरि माया न लागिहि'* ऐसा कहलाकर सूचित करती है कि यहाँ तो ब्राह्मी (देव) माया लगी हुई है उसके सामने नर-माया क्या चीज है जो लगेगी।

टिप्पणी—३ *'देहु कि लेहु अजसु करि नाहीं।·······'* इति। रानी अपना प्रयोजन चाहती है, इसीसे वह सब जगह पहले *'देहु',* यही कहती है, यथा—*'देहु उतरु अनु करहु कि नाहीं।'* (३०। ४) तथा यहाँ *'देहु कि लेहु अजसु करि नाहीं।' 'मोहि न बहुत प्रपंच सोहाहीं॥',* यही बात इसके ऊपरकी अर्धालीमें कही थी कि *'इहाँ न लागिहि राउरि माया।'* प्रपंच और माया एक ही बात है। राजाके वचनोंको प्रपंच समझती है। तात्पर्य यह है कि मैं एक ही बात जानती हूँ कि वर दो या नहीं कर दो और प्रपंचसे मुझे कुछ मतलब नहीं।

राम साधु तुम्ह साधु सयानें। राममातु भलि सब पहिचानें॥ ७॥
जस कौसिला मोर भल ताका। तस फलु उन्हहिं देउँ करि साका॥ ८॥

शब्दार्थ—**भल ताका**=(यह मुहावरा है) बुरा चाहा (व्यंगसे ऐसा अर्थ किया जाता है)। **साका** (शाका)=ख्याति, प्रसिद्धि, कीर्तिका स्मारक। *'करि साका'* अर्थात् ऐसा फल चखाऊँगी कि मरनेपर भी न भूले, डंका बजाकर, डंकेकी चोटपर। ऐसा बड़ा काम करना कि जिससे कर्ताकी कीर्ति बहुत दिनोंतक चले, जैसे शालिवाहनका शाका संवत्, विक्रमादित्यका संवत् इत्यादि।

अर्थ—राम साधु हैं, तुम सयाने साधु हो और रामकी माता भली (साधु) हैं, सब मेरे पहचाने जाने हुए हैं॥ ७॥ कौसल्याने मेरा जैसा भला ताका वैसा ही फल मैं उन्हें स्मारक बनाकर दूँगी (कि जन्मभर न भूलें)॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'राम साधु तुम्ह साधु सयानें।······'* इति। (क) *'सब कोउ कहइ राम सुठि साधू,'* राजाके इन वचनोंके उत्तरमें यह कहा है। *'सब पहिचानें'* अर्थात् मैं सबको खूब जानती हूँ जैसे कुछ हैं। क्या जानती है? उत्तर—वही जो मन्थराने जनाया है कि (१) राम तुम्हारे वैरी हैं, यथा—*'प्रिय सिय रामु कहा तुम्ह रानी। रामहि तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी॥ रहा प्रथम अब ते दिन बीते। समर फिरे रिपु होहिं पिरीते॥'* (१७। ५-६) अर्थात् पहले प्रिय थे, अब रिपु हैं। (२) कौसल्या वैरिणी है, यथा—*'जरि तुम्हार चह सवति उखारी।'* (१७। ८)(३)राजा कपटी हैं। यथा—*'मन मलीन मुँह मीठ नृप।'* (१७) (ख) *'साधु सयानें'* का भाव कि सब साधु हैं और आप सबके गुरु हैं। भाव यह कि सबके सब ऊपरसे साधु बने हैं, ऊपरसे आप सब स्नेह दिखाते हैं पर भीतर सबके कपट भरा है, कोई भी हृदयसे हमारा भला नहीं चाहता। ऐसे लोग पहचाने नहीं जा सकते पर मैंने तुम सबको पहचान लिया है।—इन वचनोंमें 'व्याज-निन्दा' अलंकार है। पुनः, *'सयानें'* अर्थात् स्वार्थके लिये साधु बने हो।

टिप्पणी—२ *'जस कौसिला मोर भल ताका'* इति। अर्थात् वे मेरी जड़ उखाड़ना चाहती थीं, मैं उनकी जड़ उखाड़ूँगी। वे मुझे दासी बनाना चाहती थीं, मैं उनको दासी बनाऊँगी। वह मेरे पुत्रको निकालकर अपने पुत्रको राज्य देना चाहती थीं, मैं उनके पुत्रको निकालकर अपने पुत्रको राज दूँगी। इस प्रकार जैसा-जैसा उन्होंने मेरे लिये सोच रखा था वैसा ही मैं उनके साथ करूँगी। *'करि साका'* अर्थात् यह बात अधिक करूँगी, उन्होंने छिपकर मेरा भला ताका था और मैं तो जाहिर करके (डंकेकी चोटपर) उन्हें सब फल चखाऊँगी। कैकेयीके इस वचनका वही अभिप्राय है जो मन्थराके इन वचनोंका है—*'जेहि राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यहु फल परिपाका॥'* (२१। ५) कैकेयी उसी बातको यहाँ कह रही है। यहाँ 'अन्योन्यालंकार' है।

नोट—१ राजाने कहा है कि *'देहुँ भरत कहुँ राज बजाई'* उसीके उत्तरमें यहाँ *'करि साका'* कहा। *'राम साधु·······'* में व्यंग है कि तभी तो भाईके सूनेमें अपना तिलक करा रहे हैं और भरतको बंदीखानेमें छोड़ना चाहते हैं, और तुमने और कौसल्याने एकमत होकर भरतको परदेशमें भेज दिया है, इत्यादि। *'बजाई'* का अर्थ 'गा-बजाकर, खुशीसे' भी है।

नोट—२ मिलान कीजिये—**'स त्वं धर्मं परित्यज्य रामं राज्येऽभिषिच्य च। सह कौसल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते॥' 'एकाहमपि पश्येयं यद्यहं राममातरम्। अञ्जलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मृतिर्मम॥'** (वाल्मी० २। १२) अर्थात् दुर्बुद्धि! तुम धर्म छोड़कर रामका राज्याभिषेक करके कौसल्याके साथ सदा रमण करना चाहते हो। रामकी माता राजमाता होकर सब लोगोंकी प्रणामांजलि ग्रहण करेंगी और मैं अकेली देखा करूँगी, इससे तो मेरा मर जाना ही अच्छा है। श्लोक ४५ का भाव *'तुम साधु सयानें'* में और श्लोक ४५ व ४८ दोनोंका भाव *'राममातु भलि·······'* में है।

दो०—होत प्रात मुनि बेष धरि जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजसु नृप समुझिअ मन माहिं॥ ३३॥

अर्थ—सबेरा होते ही मुनिवेष धारण करके जो राम वनको न गये तो हे नृप! मनमें समझ रखिये कि मेरी मृत्यु और आपका अपयश होगा॥ ३३॥

वि० त्रि०—*'सुनि मृदु बचन कुमति अति जरई'* का साफल्य दिखाते हैं। पहले दूसरे वरके कार्यान्वित करनेमें शीघ्रताकी कोई बात न थी। क्रोध बढ़ गया है, अतः तुरंत उसे कार्यान्वित करना चाहती है। भरतका राज्याभिषेक कल नहीं हो सकता तो नहीं सही, भरतके आ जानेपर अभिषेक होगा, पर रामजीके वन जानेमें तो कोई अड़चन नहीं है। अतः यह वर तुरंत कार्यान्वित होना चाहिये। प्रातः होते ही रामजी वन जायँ। वनमें जाकर मुनिवेष न धारण करें, यहींसे मुनिवेष धारण करके वन चलें, संसार देख ले कि कपटसे राज्य चाहनेवालोंकी यही गति होती है, कौसल्या देख लें कि जिस पुत्रको उन्होंने राजवेषमें देखना चाहा था वह तपस्वीवेषमें वनवासके लिये जा रहा है।

यदि कहिये कि ऐसा होनेसे मेरा प्राण जायगा, ऐसा अनर्थ नहीं होना चाहिये तो देख लीजिये कि ऐसा न होनेसे कितना बड़ा अनर्थ होगा। मैं प्राण दे दूँगी और आपको अपयश होगा जिससे मर जाना कहीं अच्छा है। *'सम्भावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* यही अन्तिम निर्णय है।

टिप्पणी—१ (क) ये वचन राजाके *'जीवन मोर राम बिनु नाहीं'* इन वचनोंके उत्तर हैं। वह कहती है कि तुम राम बिना नहीं जी सकते और मैं रामके घर रहनेसे नहीं जिऊँगी। राजाने कहा था कि *'समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना'* उसके उत्तरमें कहती है कि *'नृप समुझिअ मन माहिं।'* (ख) कैकेयी जानती है कि राजा अपयशको डरते हैं इसीसे बारम्बार अपयश होना सुनाती है। यथा—*'देन कहेहु अब जनि बरु देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू॥'* (३०। ५) *'देहु कि लेहु अजस करि नाहीं। मोहि न बहुत प्रपंच सोहाहीं॥'* (३३। ६) तथा यहाँ *'मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं।'*

टिप्पणी—२ (क) —*'होत प्रात'* इति। राजाने कहा कि मेरा *'जीवनु राम दरस आधीना'* है। उसीकी जोड़में वह सुनाती है कि मेरा मरण 'रामदरश' से है। अतः वह कहती है कि वे प्रातःकाल ही वनको चल दें, मैं उनको न देखूँ। (ख)—*'मोर मरन राउर अजसु'*—मरण और अपयश बराबर है बल्कि अपयश करोड़ों मरणके बराबर है, यथा—*'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* तात्पर्य कि मैं मरूँगी सो अकेले नहीं तुम्हें मारकर मरूँगी; तुम जीनेके लायक न रह जाओगे।

नोट—१ *'समुझिअ मन माहिं'* का भाव कि आप सोच-विचार लें कि आपके लिये कौन अच्छा है—राम-वियोगमें एक ही बारका मरण, या अपयश लेकर जीते ही करोड़ों मरणके समान जीवन?

नोट—२ अ० रा० में इससे मिलता हुआ श्लोक यह है—'**वनं न गच्छेद्यदि रामचन्द्रः प्रभातकालेऽजिनचीरयुक्तः। उद्बन्धनं वा विषभक्षणं वा कृत्वा मरिष्ये पुरतस्तवाहम्॥**' (२। ३। ३१) अर्थात् यदि प्रातःकाल ही राम वल्कलवस्त्र धारण कर वनको न चले गये तो मैं आपके सामने ही फाँसी लगाकर या विष खाकर मर जाऊँगी।—मानसमें *'राउर अजसु समुझिअ मन माहिं'* विशेष है।

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहु* रोष तरंगिनि बाढ़ी॥ १॥
पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई॥ २॥
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भवँर कूबरी बचन प्रचारा॥ ३॥
ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला॥ ४॥

शब्दार्थ—**तरंगिनि**=लहर लेनेवाली, नदी। **जोई**=देखी। **कूल**=तट, किनारा। **प्रचारा**=प्रेरणा, फैलाव, उत्तेजित करनेवाले, रह-रहकर स्मरण होना। **ढाहत**=गिराती हुई। **अनुकूला**=सीधी, सम्मुख।

अर्थ—ऐसा कहकर कुटिला कैकेयी उठ खड़ी हुई। मानो क्रोधकी नदी बढ़ी हो॥ १॥ वह नदी पापरूपी पर्वतसे निकली है। क्रोधरूपी जलसे भरी हुई देखी नहीं जाती (ऐसी भयंकर है)॥ २॥ दोनों वरदान दोनों किनारे हैं। कैकेयीकी कठिन (न हटनेवाली) हठ ही नदीकी कठिन धारा है। कुबड़ी मन्थराके वचनोंकी प्रेरणा भँवर है॥ ३॥ यह रोष-नदी भूपरूपी वृक्षको जड़-मूलसे ढाहती हुई विपत्ति-समुद्रके सम्मुख (उसकी ओर, उससे मिलनेको) सीधी चली॥ ४॥

नोट—१ यहाँ कैकेयीका क्रोधपूर्वक उठ खड़ा होना उत्प्रेक्षाका विषय है। उत्प्रेक्षा करके रोषका नदीसे सांगरूपक बाँधा है। नदी टेढ़ी होती है इसीसे यहाँ कैकेयीको भी *'कुटिल'* विशेषण दिया।

'सांग-रूपक'

नदी टेढ़ी होती है—'**नद्याः कुटिलगामित्वात्**'	१ कैकेयी कुटिल
तरंगिनी बाढ़ पाकर ऊँची उठती है	२ कैकेयी उठ खड़ी हुई, खड़ी होनेसे ऊँची हुई
तरंगिनी जलमय	३ कैकेयी रोषमय
नदी बहती और तटके वृक्षादिको उखाड़ बहाती है	४ कैकेयी आप बही और राजाको बहा ले गयी
नदी समुद्रको चली	५ यह विपत्तिमें पड़नेको चली
नदीमें क्षण-क्षणपर तरंगें उठती हैं	६ कैकेयीको क्षण-क्षणमें रोष होता है
नदी पहाड़से निकलती है	७ क्रोध-नदी पापसे प्रकट हुई
नदीकी बाढ़ देख डर लगता है	८ क्रोधीको देख डर लगता है
नदीके दो किनारे (तट, करार)	९ दो वरदान
धारा·········	१० कठिन हठ
भँवर·········	११ कुबरीके वचनोंका प्रचार

* 'मानहुँ'—(भागवतदास)। 'मानहु'—(राजापुर)।

नदी बाढ़में तटके वृक्षोंको ढाहती है	१२ कैकेयीके रोषमें राजा बह गये
तटके वृक्ष………	१३ भूप
वृक्षोंकी जड़………	१४ रामचन्द्रजी

☞ प्रोफे० पं० रामचन्द्र शुक्लजी—मतलब निकालनेके लिये तैयार दुष्ट संसारमें कितनी भयंकर वस्तु है! क्रोधसे भरी कैकेयी रामको वन भेजनेपर उद्यत होकर खड़ी होती है। उस समय उसके कर्म और संकल्पकी सारी भीषणता गोचर नहीं हो रही है। देश और कालका व्यवधान पड़ता है। इससे गोस्वामीजी रूपकद्वारा उसे प्रत्यक्ष कह रहे हैं—

'पाप' और 'पहाड़' तथा 'क्रोध' और 'जल' में यहाँ अनुगामी धर्म है, शेषमें वस्तु-प्रतिवस्तु। जैसे नदीके दो कूल होते हैं वैसे ही उसके क्रोधके दो पक्ष दोनों वर हैं; जैसे धारामें वेग होता है वैसे ही हठमें है, जैसे भँवर मनुष्यका निकलना कठिन कर देता है, वैसे ही कूबरीके वचन परिस्थितिको और कठिन कर रहे हैं। यह सांगरूपक कैकेयीके कर्मकी भीषणताको खूब आँखके सामने ला रहा है। भाव या क्रियाकी गहनता द्योतित करनेके लिये गोस्वामीजीने प्राय: नदी और समुद्रके रूपकका आश्रय लिया है। चित्रकूटमें अपने भाइयोंके सहित रामचन्द्र जनकसे मिलकर उन्हें अपने आश्रमपर ले जा रहे हैं। वह समाज ऐसे शोकसे भरा हुआ था कि उसका प्रत्यक्षीकरण भी रूपकहीद्वारा हो सकता था वैसा ही उन्होंने किया।

टिप्पणी—१ (क) ***'अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी'*** इति। ***'भई उठि ठाढ़ी'*** अर्थात् लो, जो कुछ हमें कहना था सो कह दिया, अब मैं यहाँसे चली जा रही हूँ, मुख्य बात यही है, यही होगी। इसमें कुछ अदल-बदल नहीं होनेका। [अथवा, व्यर्थ प्रपंचकी बातें कौन सुने, ऐसी जगहसे टल जाना ही अच्छा। (रा० प्र०)] ***'मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी'***—रोषकी नदीकी उत्प्रेक्षा की। उठकर खड़ी होनेसे ऊँची हो गयी है इसीसे नदीकी बाढ़की उपमा दी गयी। ***'रोष तरंगिनि'*** अर्थात् जैसे नदी जलमय है वैसे ही कैकेयी रोषमय है। पुनः, जैसे बाढ़के जलसे बढ़ी हुई नदीमें बार-बार तरंगें उठती हैं वैसे ही इसमें क्षण-क्षणपर रोषकी तरंगें उठती हैं, यथा—(१) ***'मानहु सरोष भुअंग भामिनि बिषम भाँति निहारई।'*** (२) ***'देखि कुभाँति कुमति मन माषा'*** (३) ***'आगे दीखि जरत रिस भारी'*** (४) ***'अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहु।………'*** [***'रोष तरंगिनि बाढ़ी'*** और ***'भई उठि ठाढ़ी'*** से नख-शिखसे रोषमें भरी जनाया। ***'बाढ़ी'*** स्वच्छन्दगामिनी सूचित किया। (पण्डितजी)]

टिप्पणी—२ यहाँ नदीका रूपक बाँधा गया, क्योंकि कैकेयी स्वयं ही बहकर विपत्ति-समुद्रमें गिरने चली और राजाको भी बहा ले गयी, यथा—***'ढाहत भूपरूप तरु मूला।'***

टिप्पणी—३ ***'पाप पहार प्रगट भइ सोई'*** इति। (क) पर्वतसे पहाड़ शब्दमें अधिक गुरुता है। पहाड़=भारी पर्वत। भारी जनानेके लिये ***'पहार'*** शब्द दिया। भारी नदी भारी पर्वत अर्थात् पहाड़से निकलती है, वैसे ही कैकेयी बड़े भारी पापसे पैदा हुई है। (यह मत पं० रामकुमारजीका है। बाबा रामदासजी कहते हैं कि यहाँ राजाका पूर्वकृत पाप ही पहाड़ है। यथा—***'सो सब मोर पाप परिनामू।'*** (३६। २) ***'तापस अंध साप सुधि आई।'*** (१५५। ४) ***'तापस अंध साप'*** वाले पापसे कैकेयी शापकी पूर्ति करनेके लिये पैदा हुई। बैजनाथजीका मत है कि कैकेयीका मानसी-पाप पहाड़ है जिससे रोष-नदी प्रकट हुई। लाला भगवानदीनजी भी कहते हैं कि कैकेयीका यह रोष पाप-वासनासे हुआ है कि कौसल्या मेरा बुरा चाहती हैं। हालका पाप उपचार करनेसे छूट जाता है, पर ये पाप जन्म-जन्मान्तरके हैं, इसीसे पहाड़रूप और अचल हैं।) (ख)—बालकाण्डमें क्रोधको पापका मूल कहा है, यथा—***'लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल।'*** (२७७) और यहाँ पापको क्रोधका मूल कहते हैं। रोष-तरंगिनिका पाप पहाड़से प्रकट होना कहा है अर्थात् क्रोधका पापसे उत्पन्न होना कहा। दो जगह दो परस्पर-विरोधी बातें देकर जनाया है कि दोनों एक-दूसरेसे होते हैं क्रोधसे पाप होता है और पापसे क्रोध होता है अर्थात् न्यायकी भाषामें ये दोनों अन्योन्याश्रय हैं।

टिप्पणी—४ ***'भरी क्रोध जल जाइ न जोई'*** इति। (क) रिसमें भरी हुई कैकेयीको रोष-नदीकी उपमा दी। अब कहते हैं कि क्रोध जल है। भाव यह कि नदी जलमय होती है, यहाँ क्रोधकी नदी क्रोध-जलसे भरी है। रोष और क्रोध एक ही हैं। तात्पर्य यह कि क्रोध उसके अंग-प्रत्यंगमें परिपूर्ण है। (ख) नदी बढ़ी है, इसीसे क्रोध-जलसे परिपूर्ण कहा। नदीकी बाढ़ देख डर लगता है और क्रोधीको देखकर डर लगता है; अतः ***'जाइ न जोई'*** कहा।

टिप्पणी—५ ***'दोउ बर कूल कठिन हठ धारा'*** इति। (क) नदीकी मर्यादा कूल (किनारा) है। नदी उनके आगे नहीं जाती। वैसे ही रोष-नदीकी मर्यादा वर है। वर मिल जायँ तो क्रोध न करेगी। (ख) ***'कठिन हठ'*** अर्थात् किसीके भी कहनेसे यह हठ छूटनेवाली नहीं, इसीसे उसे ***'धारा'*** कहा। धारा कूलयुक्त वैसे ही हठ दोनों वरयुक्त। तात्पर्य यह कि दोनों वरदान पानेके लिये ही हठ है। यह हठ कुबरीके वचनके प्रचारसे भयदायक हो गयी है (अर्थात् 'कुबरीके कहनेके कारण उसने यह भयंकर हठ ठानी है') जैसे धारा भँवरसे भयदायक हो जाती है। (ग) ***'भँवर कूबरी बचन प्रचारा'*** इति। ***'कहइ करहु किन कोटि उपाया'*** से ***'होत प्रात मुनि बेष धरि जौं न राम बन जाहिं'*** तक जो कुबरीकी सिखायी-पढ़ायी बातें कैकेयीने राजासे कहीं अर्थात् कुबरीके वचनका प्रचार किया यही भँवर है। [अथवा, कुबरीके वचनका जो प्रचार अर्थात् ललकार है कि ***'काज सँवारेहु सजग होइ सहसा जनि पतियाहु'*** और ***'भूपति रामसपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई॥'*** एवम् ***'बचन मोर प्रिय मानहु जीते'***—यही भँवर है जो डुबा देता है।

टिप्पणी—६ ***'ढाहति भूपरूप तरु मूला'*** इति। धाराके वेगसे नदी तटके वृक्षोंको जड़सहित उखाड़ डालती है। यहाँ राजा ही रोषतरंगिनीके तटके वृक्ष हैं, उनकी जड़ श्रीरामजी हैं। रामजीको देशसे निकाल वन भेजना, जिससे राजाकी भी मृत्यु होगी, वृक्षको जड़-मूलसे ढहाना है।

टिप्पणी—७ ***'चली बिपति बारिधि अनुकूला'*** अर्थात् आप विपत्ति-समुद्रको प्राप्त होगी, विपत्तिमें जा गिरेगी—ऐसे धर्मात्मा और आज्ञाकारी पतिका नाश होगा, भरत ऐसा पुत्र छूटेगा, राज छूटेगा, कोई मुँह न देखेगा, मरने योग्य हो जायगी, यथा—***'अवनि जमहिं जाचति कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई॥'*** (२५२। ६) और अन्य सब लोगोंको विपत्ति-समुद्रमें डालेगी। ***अनुकूला***=सम्मुख। अर्थात् सीधी चली, (फेरफार, टेढ़े-मेढ़े नहीं कि कुछ दिन लगें), जिसमें तुरत विपत्ति-समुद्रमें जा मिले; क्योंकि प्रातःकाल ही सब कुछ हो जाना है।

लखी नरेस बात फुरि[१] साँची । तिय मिस मीचु सीस पर नाँची॥ ५॥
गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी । जनि दिनकर कुल होसि कुठारी॥ ६॥
माँगु माथ अबहीं देउँ तोही । राम बिरह जनि मारसि मोही॥ ७॥
राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती । नाहिंत जरिहि जनम भरि छाती॥ ८॥

दो०—देखी ब्याधि असाधि[२] नृपु परेउ धरनि धुनि माथ।
कहत परम आरत बचन राम राम रघुनाथ॥ ३४॥

शब्दार्थ—'**मिस**' (सं० मिष)=बहानेसे। '**मीचु**'=मृत्यु, मौत। '**सीस पर नाँची**'—मृत्यु सिरपर नाच रही है, अर्थात् मृत्यु होनेहीवाली है, निकट है। '**जेहि तेहि भाँती**'—जैसे बने तैसे, जिस-तिस प्रकारसे। **ब्याधि**=रोग। **असाधि**=(असाध्य), जो अच्छा न हो सके। **आरत**=(आर्त) दुःखसे भरे हुए (वचन), दुःखसूचक, दीन, चोट खाये हुए।

१- राजापुर और काशिराजकी रामायण-परिचर्यामें यही पाठ है। पं० रामगुलाम द्विवेदी, भागवतदासजी और ना० प्र० सभाने 'सब साँची' पाठ दिया है। २- असाधि—रा० प्रे०। असाध-गी० प्रे०।

अर्थ—राजाने समझ लिया कि बात सचमुच (वा, साँचेहुँ साँचीवाली बात) ठीक है। सच ही स्त्रीके बहाने मेरी मृत्यु सिरपर नाच रही है ५॥ राजाने उसके चरण पकड़कर उसे बिठाकर विनती की कि सूर्यवंश-(रूपी वृक्षके काटने-) के लिये कुल्हाड़ी मत बन॥ ६॥ तू मेरा मस्तक माँग ले, मैं अभी दे दूँ, पर राम-वियोगमें मुझे मत मार॥ ७॥ जैसे-तैसे रामको रख ले नहीं तो जन्मभर तेरी छाती जलेगी॥ ८॥ राजाने देखा कि रोग असाध्य है (तब वे) माथा पीटकर पृथ्वीपर गिर पड़े और बड़े आर्त-स्वरसे ***'राम राम रघुनाथ'*** ये आर्त वचन कहे॥ ३४॥

नोट—१ ***'लखी नरेस बात फुरि साँची'*** इति। (क) अर्थात् रिस, परिहास झूठ है, यह बात रिस-परिहासवाली नहीं है। ***'बात फुरि'*** अर्थात् ***'साँचेहु साँची'*** वाली बात। ***'साँची'***=सत्य है। जो राजाने कैकेयीसे पूछा था कि ***'एकहि बात मोहि दुख लागा। बर दूसर असमंजस माँगा॥'*** सो ***'रिस परिहास कि साँचेहु साँचा'?*** कैकेयीके अबकी बारके वचनोंसे अब उन्होंने स्वयं निश्चय जान लिया कि यह बात न तो रिसवाली है न परिहासवाली, वह तो ***'साँचेहु साँची'*** वाली है। अथवा साँचेहु साँची है, सत्य ही ठीक है; जैसे वहाँ ***'साँचेहु साँची'*** वैसे ही यहाँ ***'फुरि साँची'*** कहा।

नोट—२ ***'फुरि साँची'*** में पुनरुक्ति दोष समझकर कुछ लोगोंने ***'सब साँची'*** पाठ उत्तम माना है। पर 'सब' पाठमें ***'फुरि साँची'*** वाला चमत्कार नहीं रह जाता और विचारकर देखनेसे इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है। किंतु पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

पुनरुक्तिका दोष यों भी नहीं रहता कि ***'फुरि'*** को 'बात' के साथ ले लें और ***'साँची'*** को ***'मीचु सीसपर नाची'*** के साथ लेकर अर्थ कर लें तो भी अर्थ ठीक बैठता है। जैसा बाबा हरिहरप्रसादजीने किया है।—'यह बात फुर है अर्थात् रिस-परिहाससे नहीं कही गयी, अब सच ही मृत्यु सिरपर·········।'

नोट—३ ***'लखी नरेस·········तिय मिस मीचु'*** इति। मिलान कीजिये—'**रममाणस्त्वया सार्धं मृत्युं त्वां नाभिलक्षये। बालो रहसि हस्तेन कृष्णसर्पमिवास्पृशम्॥**','**विनाशकामामहितामित्रामावासयं मृत्युमिवात्मनस्त्वाम्। चिरं बताङ्केन धृतासि सर्पी महाविषा तेन हतोऽस्मि मोहात्॥**' (वा०रा०२। १२। ८१,१०५) अर्थात् मैं तुम्हारे साथ रमण किया करता था, पर तुम मेरी मृत्यु हो यह मैं नहीं जानता था। जैसे एकान्तमें बालक सर्पसे खेलकर अपनी मृत्यु बुलाता है, उसी प्रकार मैंने तुम्हारा साथ किया। तुम मेरा नाश चाहनेवाली हो, अहित चाहनेवाली हो, शत्रु हो, मैंने तुमको मृत्युके समान अपने घरमें रखा, भयंकर विषवाली सर्पिणीको अज्ञानसे मैंने अंकमें धारण किया; उसी कारण आज मैं मारा जाता हूँ।—ये सब भाव ***'लखी'*** और ***'तिय मिस मीचु'*** से ग्रहण किये जा सकते हैं।

टिप्पणी—१ ***'गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी।·········'*** इति। पूर्व कहा था कि **'अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी'**, अतः पैर पकड़ विनय करके उसको बिठाया। क्या विनय की यह आगे कहते हैं—***'माँगु माथ·········'*** इत्यादि।

नोट—४ गणपति उपाध्यायजीने लिखा है कि राजाने स्त्रीके चरण नहीं पकड़े वरन् शारदा वा मृत्युके—***'तियपद भूपति नहिं गही गही शारदा पाँव। किंतु मीचु तिय सीसपर गहि पद बिनय सुनाव॥'*** पर इस खींचकी जरूरत ही क्या? आर्त दीन दशामें हठीको समझाने और अपने अनुकूल बनानेके लिये हाथ जोड़ना, पैर पकड़ना इत्यादि साधारण बातें हैं। वाल्मीकिजीने भी प्रत्यक्ष यही कहा है—'**अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते। शरणं भव रामस्य माऽधर्मो मामिह स्पृशेत्॥**' (२। १२। ३६) अर्थात् कैकेयी! मैं तेरे हाथ जोड़ता हूँ, तेरे पैर छूता हूँ, रामचन्द्रकी रक्षा कर, जिसमें मुझे अधर्म न हो। पुनः, यथा—'**स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे।**' (२। १२। १११) अर्थात् मैं तुम्हारे चरण छूता हूँ, तुम प्रसन्न हो जाओ। वही अर्थ यहाँ है, इसमें आपत्ति ही क्या? दुष्टसे पाला पड़ता है तब क्या नहीं किया जाता है?

टिप्पणी—२ इस प्रसंगमें दिखाया गया है कि कैकेयीने राजाका रूप, राजाका मनोरथ, अयोध्या और कुलका नाश मारा। राजाके रूपका नाश किया, यथा—***'बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि·········'*** (२९। ५) मनोरथ नष्ट किया, यथा—***'मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥'*** (२९। ७) अयोध्याको

उजाड़ डाला, यथा—'**अवध उजारि कीन्हि कैकेयी।**' (२९। ८) कुलका नाश किया, यथा—'***जनि दिनकर कुल होसि कुठारी***' इन सबका 'निर्धार' राजा अपने मुखसे आगे कहते हैं—'***सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुनधाम राम प्रभुताई॥***', '***करिहहिं भाइ सकल सेवकाई।***' पर मेरा शरीर न रहेगा, मेरा मनोरथ न पूर्ण हुआ और '***तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुएहु न मिटिहि न जाइहि काऊ॥***'

टिप्पणी—३ पहले जब कैकेयीको भारी रिससे जलते देखा तब तलवारका रूपक बाँधा था। तब भी राजाने कैकेयीसे अपने जीनेके लिये विनय की थी, यथा—'***जिअइ मीन बरु बारि बिहीना***' इत्यादि। उस विनयको सुनकर वह जल उठी थी, यथा—'***सुनि मृदु बचन कुमति अति जरई।***' इसी कारण राजा अबकी बार अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये विनती नहीं करते, दिनकर-कुलके बचानेकी और अपनेको रामविरहसे बचानेकी विनती कर रहे हैं।

पण्डितजी—'***जनि दिनकर कुल होसि कुठारी***' अर्थात् रघुकुलरूपी वृक्षसे सबका उपकार है, यह सबको विश्राम देनेवाला है। जो कहो कि सत्यकी सराहना करके दानी बने अब ऐसा क्यों कहते हो; या यह कि मुझे कुठारी कहते हैं और आप सत्यवादी बनकर मिथ्या बोलते हैं, उसपर आगे कहते हैं कि '***माँगु माथ।*********'

नोट—५ '***माँगु माथ अबहीं देउँ तोही।*********' इति (क) भाव कि रामकी रक्षाके बदले या दूसरे वरके बदले मेरा सिर चाहे तो अभी काटकर दे दूँ। सिर देनेसे केवल मेरे प्राण जायँगे, रघुकुल तो बच जायगा और रामवनवाससे दिनकर-कुलका ही नाश हो जायगा। पुनः रामविरहमें मरना अत्यन्त असहनीय होगा, उसमें तड़प-तड़पकर मरण होगा और सिर काट देनेमें दुःख न होगा। (रा० प्र० पं०) मस्तक देनेसे यश होगा। (पं०) यह मृत्यु सुखद है और विरहवाली मृत्यु विषम है। (वै०) अतः '***माँगु माथ*********' और '***राखु राम कहुँ***' कहा। (ख) कैकेयी यह न कहे कि तुम्हारे वचनका क्या ठिकाना? एक बार अभी देनेको कहा सो नहीं देते, आगेकी कौन प्रतीति माने? उसपर कहते हैं कि '***अबहीं देउँ तोही***' तुरत देता हूँ, तुम्हारे माँगनेभरकी देर है।

टिप्पणी—४ (क) राजा उसे इस दशामें देखकर समझ गये कि '***तिय***' के बहाने मेरी मत्यु सिरपर नाच रही है। इसीसे '***तिय***' से कहते हैं '***माँगु माथ*********' अर्थात् तू ही तो मृत्युरूप है, ले मैं अपना माथा बलि देता हूँ, प्राण लेने आयी है तो ले, मैं प्रसन्न होकर दिये देता हूँ पर (यह कृपा कर कि) रामविरहमें हमको न मार। '***अबहीं देउँ तोही***' अर्थात् रामको वनवास देनेमें बड़ा क्लेश है, दिया नहीं जाता और सिर देनेमें क्लेश नहीं (इसलिये इसे तुरत दे दूँगा)। (ख)—'***जेहि तेहि भाँती***' अर्थात् आदरसे वा निरादरसे, जैसे बने तैसे।

नोट—६ '***जेहि तेहि भाँती***'=जैसे-तैसे, ज्यों-त्यों। रामजी धर्मात्मा हैं। वे वरका हाल सुनकर राज्य कदापि न ग्रहण करेंगे, अवश्य वनको चल देंगे और सत्य त्यागके भयसे मैं उनसे कह नहीं सकता कि न जाओ, घर रहो; इसीसे राजा कैकेयीसे कहते हैं कि '***राखु राम कहुँ*********' अर्थात् तू उन्हें वन जानेसे रोककर घरमें रख, तेरे कहनेसे वे रह सकते हैं और किसी तरह नहीं। (पंजाबीजी) **राखु**=घरमें रख, रक्षाकर, वन न भेज। '***राखु जेहि तेहि भाँती***'— जैसा कैकेयीकी परम प्रिय विप्रवधुओं आदिने कहा है, यथा—'***गुर गृह बसहुँ राम तजि गेहू। नृप सन अस बर दूसर लेहू॥***' (५०। ४) '***नाहित जरिहि जनम भरि छाती***' अर्थात् मैं तो मर जाऊँगा, पर तेरी छाती जनमभर जलेगी; जैसा गीतावलीमें कहा है कि '***कैकयी जौलौं जियति रही। तौ लौं बात मातुसों मुँह भरि भरत न भूलि कही।*********'

टिप्पणी—५ '***देखी व्याधि असाधि नृपु।*********' इति। ऊपर रोष तरंगिनिके रूपकमें जो कहा था कि '***ढाहति भूप रूप तरु मूला***' उसीको इस दोहेमें चरितार्थ करते हैं—'***परेउ धरनि धुनि माथ।***' राजाने देखा कि रोग असाध्य है। व्याधिकी चिकित्सा करना शास्त्राज्ञा है, जहाँतक बस चले ओषधि करनी चाहिये, न करनेसे मनुष्य दोषका भागी होता है। रोग असाध्य होनेपर क्या किया जाय, तब तो मनुष्य लाचार

ही है। यहाँ राजा पैरों पड़े, विनती की, सिर काटकर देनेको कहा, जहाँतक चिकित्सा हो सकती थी, बसभर वह सब कर देखा, कोई कारगर न हुई, कैकेयीने एक न मानी तब समझ गये कि रोग (कैकेयीका हठ) असाध्य* है, यह रामको अवश्य वन देगी। यह समझकर माथा पीटकर पृथ्वीपर गिर पड़े और परम आर्त वचन *'राम राम रघुनाथ'* कहने लगे अर्थात् भावी विरह समझकर व्याकुल हुए। (३५। ७)

पंजाबीजी—असाध्य रोग वह है जो परम ओषधियोंसे भी निवृत्त न हो। राजाने विचारा कि महाभेषजके स्थान अपनी मृत्युका और इसके जन्मपर्यन्त छाती जलनेका भय मैंने इसको दिया तो भी इसने नहीं ही माना, इससे यह रोग असाध्य जान पड़ता है। सिर पीटा कि हाय मैं इस पापिनीके घर क्यों आया वर देनेके समय विचार क्यों न किया? (नोट—निराश होनेपर बहुत शोक और पश्चात्ताप होनेपर लोग सहज ही माथा पीटते, धरतीपर लोटते और भगवान्‌को उस संकटमें याद करते ही हैं।)

नोट—७ दोहेमें **'विशुद्धभावस्य हि दुष्टभावा दीनस्य ताम्राश्रुकलस्य राज्ञः। श्रुत्वा विचित्रं करुणं विलापं भर्तुर्नृशंसा न चकार वाक्यम्॥'** (वाल्मी० २। १३। २४)का भाव भी आ जाता है कि दुष्ट अभिप्राय रखनेवाली कैकेयीने छल-कपटरहित दीन तथा अत्यन्त विलाप करनेसे लाल, आँसूभरी हुई आँखोंवाले पतिका अद्‌भुत और दयनीय विलाप सुनकर भी उनके वचनोंका पालन न किया, प्रसन्न न हुई और कटु वचन बोलती ही रही, हठ न छोड़ी।

ब्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहु निपाता॥ १॥
कंठु सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीनु दीनु बिनु पानी॥ २॥
पुनि कह कटु कठोर कैकेई। मनहुँ घाय महुँ माहुर देई॥ ३॥

शब्दार्थ—**सिथिल**=ढीले, बेकाबू, श्रान्त। **निपाता**=नाश किया, गिरा दिया। **पाठीनु**=पढ़िना, पहिना वा बरारी नामकी मछली। यह बिना सेहरेकी होती है, प्रायः अन्य सब मछलियोंसे अधिक दीर्घजीवी और डील-डौलवाली होती है। इसके सारे शरीरमें बारीक काँटे होते हैं; मछलीविशेष। **दीनु**=दुःखी, व्याकुल। **घाय**=घाव। **माहुर**=विष **कटु**=कड़ुए, अप्रिय, गुस्सैले, टेढ़े, जहरीले। कटु कठोर अर्थात् मर्म वचन, यथा—*'मरम बचन सुनि·········।'*

अर्थ—राजा व्याकुल हो गये। उनका शरीर शिथिल पड़ गया। मानो हथिनीने कल्पवृक्षको उखाड़ डाला॥ १॥ गला सूख गया, मुखसे वचन नहीं निकलता, मानो पानी बिना पढ़िना मछली तड़प रही हो॥ २॥ कैकेयी फिर कड़ुए और कठोर (अर्थात् मर्म) वचन बोली मानो घावमें विष (का फाया) दे रही है॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'ब्याकुल राउ·········करिनि कलपतरु·······'* इति। (क) *'मोर मनोरथ सुरतरु फूला'* (२८। ७) में राजाके मनोरथको कल्पवृक्ष कहा और यहाँ राजाको। तात्पर्य कि कैकेयीने राजाके मनोरथ और शरीर दोनोंका नाश किया। (ख) कैकेयीने राजाको कृपण बनाया था और अब भी बनायेगी, यथा—*'देन कहेहु अब जनि बरु देहू।'* (३०५) *'जानेहु लेइहि माँगि चबेना।'* (३०। ६) और *'दानि कहाउब अरु कृपनाई।'* (३५। ६) इसपर कवि उसकी बातको असत्य ठहराते हैं। वे सब वक्ताओंके मुखसे राजाको कल्पवृक्ष कहलाकर उसके सत्य और दानकी प्रशंसा करा रहे हैं कि राजा कृपण नहीं हैं वे तो कल्पतरु हैं, सबका मनोरथ पूरा करते हैं, कैकेयीका भी मनोरथ पूरा किया, 'नहीं' न किया। वे सत्यप्रतिज्ञ हैं, उन्होंने प्रतिज्ञाका पालन किया, रामचन्द्रजीसे रहनेको न कहा।

पण्डितजी—हथिनीका प्रयोजन पेट भरनेसे है। वह डाल-पत्तेसे पेट भरती है। पेड़ उखाड़नेसे उसका कुछ लाभ या प्रयोजन नहीं, किंतु आगे फिर उससे डाल-पत्ते, फल-फूल खानेको मिलते। पेड़ उखाड़कर उसने अपनी भी हानि की। आखिर पशु ही तो है। वैसे ही कैकेयी अपने पुत्रको राज देकर अपना

* रोग तीन प्रकारके माने गये हैं—साध्य (जो शीघ्र अच्छे हो जायँ), साध्यासाध्य वा कष्टसाध्य (जो अच्छे हो सकते हैं यदि ठीकसे उपाय लगाकर किया जाय) और असाध्य (जो अच्छे नहीं हो सकते)।

पेट भरती, इतनेसे ही उसे प्रयोजन था सो न करके उसने कल्पतरुरूप राजाको मारकर कुलकी कौन कहे जगत्‌भरके सुखोंपर पानी फेर दिया; और स्वयं भी सुखसे वंचित हुई। सत्ययुग-त्रेतामें कल्पवृक्ष पृथ्वीपर भी रहता है।

श्रीनंगेपरमहंसजी—हथिनीने अपने सुखके लिये कल्पवृक्षको नष्ट किया जिससे बहुत लोगोंका भला होता। उसी तरह कैकेयीने अपने सुखके लिये राजाका नाश किया जिनसे बहुतोंका भला होता। जैसे कल्पतरु पेड़ नहीं है, यथा—*'पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा।'* (६। २६) वैसे ही राजा मनुष्य नहीं हैं। इनके वधसे भारी पाप लगता है।

टिप्पणी—२ *'कंठु सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीनु·······'* इति। (क) राजा पाठीन हैं, श्रीरामजी जल हैं, राजा ऐसे व्याकुल हो रहे हैं मानो उनके लिये श्रीरामजी अभी चले गये और उनकी दशा जल बिना पढ़िना मछलीकी-सी होने लगी। (ख) प्रथम राजाको व्याकुल कहा अब व्याकुलताकी दशा कहते हैं—मारे शोकके कण्ठ सूख गया, कण्ठ सूखनेसे वाणी नहीं निकली। (ग) (जैसे मछलीका प्रीतम जल है वैसे ही राजाके प्रीतम राम हैं), यथा—*'हृदउ न बिदरेउ पंक जिमि बिछुरत प्रीतम नीरु।'* (१४६) (घ) *'जनु पाठीनु·······'* से राजाकी मरणावस्था सूचित की बिना जलके मछली नहीं जीती। विरहकी नव दशाएँ कह आये। [(ङ) यहाँ कैकेयी मछली मारनेवाली है, वर जाल है। वररूपी जालमें फाँसकर राजारूपी मछलीको उसने रामरूपी जलसे अलग कर दिया। वै०]

देखिये, जब कैकेयीने वर माँगा तब राजा सहम गये और कुछ बोल न सके थे, यथा—*'गएउ सहमि नहिं कछु कहि आवा।'* (२९। ४), मनमें झँखने लगे थे। तब कैकेयी *'माष'* उठी (अप्रसन्न वा रुष्ट हो गयी थी), यथा—*'देखि कुभाँति कुमति मन माषा'* और कटु वचन बोलने लगी, यथा—*'अति कटु बचन कहति कैकेयी।'* वैसे ही इस समय जब राजाका कण्ठ सूख गया और वे बोल न सके तब भी वह कटु वचन बोलने लगी जैसा आगे कहते हैं। तात्पर्य यह कि उनके चुप हो जानेसे कैकेयी समझती है कि राजा वर नहीं देना चाहते।

टिप्पणी—३ *'पुनि कह कटु कठोर कैकेयी।·······'* इति। (क)—*'पुनि'* अर्थात् प्रथम एक बार कह चुकी है अब दुबारा कहती है। पहले *'अति कटु वचन'* कहे थे वैसे ही *'कटु कठोर'* अब भी कहे।—(मिलान देखिये)। (ख) पहले जलेपर लोन लगाना कहा था, अब घावमें माहुर देना कहते हैं। तात्पर्य कि जैसे प्रथम अग्निसे जलना कहकर (*'दामिनि हनेउ मनहुँ·······।'* (२९। ५) दामिनी अग्नि है), उस जलेपर लोन लगाना दिखाया था, यथा—*'तजहु सत्य जग अपजस लेहू'*; वैसे ही घाव करके उसमें विष भरना कहते हैं। घाव क्या है? उत्तर—ऊपर तलवारका रूपक दे आये, यथा—*'आगे दीखि जरत रिस भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी॥'* (३१। १) वह तलवार राजाके लगी अर्थात् उसने रामवनवास माँगकर घाव कर दिया। एक तो वनवास माँगा और अब उनके शोकमें मग्न होकर चुप रहनेपर उनको कृपण बनाती है, यथा—*'दानि कहाउब अरु कृपनाई।'* (३५। ६) यह उस घावपर विष लगाना है। कैकेयीके वचन इतने कटु हैं कि माहुरके समान हैं, इसीसे *'माहुर'* की उपमा दी।

मानस-मयंक—*'बिबरन भयउ निपट नरपालू।·······।'* (२९। ५), *'अति कटु बचन कहति कैकेयी।·······'* (३०। ८) और *'पुनि कह कटु कठोर कैकेयी।·······'* इन तीनोंका भाव यह है कि जैसे दामिनी तालवृक्षको जला देती है, लवण लगनेसे अंग गल जाता है और माहुर लगनेसे घावमें दाह होता है, वैसे ही राजा कैकेयीके वचनसे मरे हुएके समान हो गये; जैसे एक कसाईनने पुत्रके स्नेहवश पतिको मार डाला वैसे ही भरत-प्रेमवश कैकेयीने राजाको मार डाला।

पण्डितजी—वचन कानोंको कटु और हृदयको शूल देनेवाले हैं। माहुर दिया जिसमें घाव सड़ जाय, मृत्यु शीघ्र हो जाय। घावमें विष पड़ जानेसे बड़ा भीषण असह्य कष्ट होता है। यहाँ 'उक्त विषया-वस्तूत्प्रेक्षा' है।

वचन कठोर भी हैं अर्थात् निर्दय हृदयसे निकले हैं जिसमें दूसरेके संकट-शोकका किंचित् भी खयाल नहीं, वज्र-जैसे हृदयसे कहे गये हैं। पंजाबीजी *'कठोर'* को कैकेयीका विशेषण मानते हैं।

दो बारके कटु वचनोंका मिलान

अति कटु बचन कहति कैकेयी	१	पुनि कह कटु कठोर कैकेयी
जो सुनि सर अस लागु तुम्हारे	२	जौं अंतहु अस करतब रहेऊ
काहे न बोलेहु बचन सँभारे	३	माँगु माँगु तुम्ह केहि बल कहेऊ
देन कहेहु अब जनि बर देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू॥	४	छाँड़हु बचनु कि धीरजु धरहू। जनि अबला जिमि करुना करहू॥
सत्य सराहि कहेहु बरु देना। जानेहु लेइहि माँगि चबेना॥		
	५	दानि कहाउब अरु कृपनाई
सिबि दधीचि बलि जो कछु भाषा। तन धन तजेउ बचन पन राखा॥	६	तन तिय तनय धाम धन धरनी। सत्यसंध कहँ तृन सम बरनी॥
दामिनि हनेउ मनहु तरु तालू	७	मनहु रोष तरवारि उघारी
(वचन-वज्रसे जलाकर जलेपर नमक छिड़का)		(तलवारसे घाव करके विष भरा)
मानहु लोन जले पर देई	८	मनहुँ घाय महुँ माहुर देई

रामायणी रामसुन्दरदासजी (छावनी मणिरामदासजी)—इस प्रसंगमें दोहा २९। ४—६ में कविने राजाकी तीन प्रकारकी दशाएँ (वनवासका वर सुननेपर) दिखायी हैं—*'ससि कर छुअत बिकल जिमि कोकू', 'जनु सचान बन झपटेउ लावा'* और *'दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू।'* यहाँ कैकेयीके वचनोंकी उपमा चन्द्रमा, बाज और बिजलीसे दी गयी। चन्द्रमा, बिजली और बाज (पक्षी) तीनों ऊपर हैं, आकाशमें हैं। किरणें आकाशसे नीचे आती हैं, बिजली आकाशसे (मेघोंसे) निकलकर आती है, बाज भी ऊपरसे झपटकर लवापर टूटता है। तीनों आकाशवालोंके दृष्टान्त दिये गये। क्यों? इसमें बड़ा चमत्कार है। वह यह कि 'वचन' (शब्द) आकाशका विषय है और राजाकी यह सब दशा कैकेयीके वचनोंसे हुई है, यथा—*'सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू। ससि कर छुअत……।'* अतएव आकाशवालोंकी ही उपमाएँ दी गयी हैं।

जौं अंतहु अस करतबु रहेऊ। माँगु माँगु तुम्ह केहि बल कहेऊ॥ ४॥
दुइ कि होइ* एक समय भुआला। हँसब ठठाइ फुलाउब गाला॥ ५॥
दानि कहाउब अरु कृपनाई। होइ कि खेम कुसल रौताई॥ ६॥
छाँड़हु बचनु कि धीरजु धरहू। जनि अबला जिमि करुना करहू॥ ७॥
तनु तिय तनय धामु धनु धरनी। सत्यसंध कहुँ तृन सम बरनी॥ ८॥

शब्दार्थ—**अंतहु**=अन्तमें। **करतबु** (कर्तव्य)=करनी, करतूत। **बल**=भरोसा। **ठठाइ**=ठठ्ठा मारकर। ठठाना=अट्टहास करना, खिलखिलाना, जोरसे हँसना, कहकहा लगाना। **कृपनाई**=कृपणता, कंजूसी, सूमता। **खेम कुसल**=क्षेमकुशल, खैरोआफियत। **रउताई**=रावतपना, वीरता, लड़ाई—(सं० राजपुत्र, प्रा० रावत=राय+उत=छोटा राजा, शूर, वीर, बहादुर, बड़ा योद्धा, सामन्त, सरदार)।

अर्थ—जो अन्तमें यही कर्तव्य करना था तो तुमने किस बलपर 'माँगो, माँगो' कहा था॥ ४॥ हे राजन्! क्या दो (विरुद्ध) बातें एक ही समय हो सकती हैं—ठट्ठा मारकर हँसना और गाल फुलाना?॥ ५॥ दानी कहाना और कंजूसी करना, क्षेमकुशल और रावतपना! क्या एक साथ हो सकते हैं?॥ ६॥ या तो

* 'होहिं'—(भागवतदासजी)। होइ—(राजापुर)।

वचन ही छोड़िये या धैर्य धारण कीजिये इस तरह स्त्रियोंकी तरह विलाप न कीजिये॥ ७॥ सत्यवादीके लिये शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन और पृथ्वी तिनकेके समान कहे गये हैं॥ ८॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'जौं अंतहु अस करतबु''''''''तृन सम बरनी'* इति। *'माँगु माँगु'* कहनेवालेके कलेजेमें दम चाहिये। सत्यसन्ध दानवीर ही ऐसे उदार शब्दके उच्चारणका अधिकारी है। *'माँगु माँगु'* कहनेका अर्थ ही यही है कि माँगनेमें संकोच न करो। आपने देय वस्तुकी सीमा भी बतला दी कि *'कहु केहि रंकहि करउँ नरेसू। कहु केहि नृपति निकारौं देसू॥'* अतः मैंने वर भी उसी सीमाके भीतर ही माँगा, किसी रंकको नरेश करना न माँगकर, अपने बेटेको ही नरेश करना माँगा, किसी बलवान् राजाका देश-निकारा नहीं माँगा, जो कि आपकी आज्ञाका अनादर करके युद्धके लिये तैयार हो जाता। मैंने तो केवल चौदह वर्षका वनवास ऐसेके लिये माँगा, जो तुरंत आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर ले। यदि ऐसे सुकर कार्यके लिये आपमें आत्मबल नहीं है, जमीनपर लोट रहे हैं, सिर पीटते हैं, आर्तनाद करते हैं, *'माँगु-माँगु'* आपने क्यों कहा? कहाँ यह भाव कि *'प्रान जाइ बरु बचन न जाई'* और कहाँ अब यह भाव कि *'बचन जाउ बरु प्रान न जाई।'* इन दोनों परस्पर विरुद्ध भावोंका एक साथ निर्वाह चाहना तो वैसा ही है जैसे कि कोई ठहाका मारकर हँसने और गाल फुलानेका निर्वाह एक साथ चाहे। मनमें कृपणता रखना और दानी होनेका दम्भ रचना कितने क्षण टिक सकता है? आप राजापन भी दिखाते हैं और कुशलक्षेम भी चाहते हैं? राजाके मुखसे जो बात निकल गयी वह हाथीके दाँतकी भाँति फिर नहीं पलटती। राजा यदि बात कहकर पलट जाय तो सत्यको स्थान कहाँ है? फिर सत्यसन्ध होनेके लिये बड़ा कलेजा होना चाहिये। सत्यसन्ध अपनी प्रतिज्ञाके आगे स्त्री, पुत्र, शरीर, धाम, धन धरणीको तृण समझते हैं, इनके त्यागमें उन्हें तनिक भी दुःख नहीं होता, वे जमीनपर लोटकर आर्तनाद नहीं करते। यदि संसारके सामने सत्यसन्ध बना रहना है तो धैर्य धारण करो। स्त्रियोंकी भाँति करुणा करनेवाले सत्यसन्ध नहीं कहलाते।

टिप्पणी—१ *'जौं अंतहु अस करतबु रहेऊ।'''''''' '* इति। *'अंतहु'*=अन्तमें, अथवा अन्तःकरणमें। *'अंतहु'* का भाव कि प्रथम (आदिमें) भी नहीं देते थे, यथा—*'माँगु माँगु पै कहहु पिय कबहुँ न देहु न लेहु'* और *'अंतहु'* (अर्थात् माँगनेपर भी) नहीं देना था तो *'माँगु-माँगु'* क्यों कहा?

नोट—१ *'दुइ कि होइ एक संग भुआला'* इति। ठट्ठा मारकर हँसनेमें मुँह खुला रहता है, गाल पिचक जाते हैं और गाल फुलानेमें होंठ मिले रहते हैं, मुँह बन्द हो जाता है। गाल पचके भी रहें और फूले भी, होंठ मिले भी रहें और अलग भी, मुँह बन्द रहे और खूब फैला भी ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते। एक समयमें एक ही हो सकता है। दानी बने और देना न चाहे, सरदार और वीर बने और कुशल चाहे, दोनों एक साथ नहीं हो सकते। इनमेंसे एकका ही ग्रहण एक समय हो सकता है, दूसरेका त्याग अवश्य करना पड़ेगा। तुम मुझे और कौसल्या दोनोंको प्रसन्न रखना चाहते हो, यह नहीं हो सकता, या तो उन्हींको प्रसन्न कर लो या मुझको ही। एककी जरूर अप्रसन्नता उठानी पड़ेगी—यह पहले दृष्टान्तसे जनाया। सत्यकी सराहना करके, रघुकुलकी प्रशंसा करके, दानी बनकर वर माँगनेको कहा और जब हमने माँगा तब कहते हो कि राम तो हमें प्राणसे भी अधिक प्रिय हैं, यह वर न माँगो, दूसरे शब्दोंमें कि यह वर न दूँगा। यह कृपणता है, कहते हो कि इसके बदलेमें अन्य कोई वर माँग लो, तब दानी कैसे कहे जा सकते हो? दानी बनते हो तो सत्यपर स्थिर रहना होगा, देना अवश्य पड़ेगा। रामका लोभ नहीं कर सकते, वे पास ही रहें, घरसे न जायँ, यह नहीं हो सकता।—यह दूसरे दृष्टान्तका भाव हुआ। तीसरे दृष्टान्त *'खेम कुसल रउताई'* का भाव यह है कि दानवीर बनते हो और प्राणोंका लोभ करते हो कि रामवियोगमें प्राण न रहेंगे। अतएव यदि आप सत्यपर कायम रहना चाहें तो धीरज धरिये, शोक न कीजिये, रोइये नहीं।

टिप्पणी—२ हँसब अर्थात् प्रसन्नता, *'गाल फुलाउब'* अर्थात् अप्रसन्नता। कैकेयीने वर माँगनेके पूर्व

राजाको 'प्रिय, प्राणपति, नाथ' सम्बोधन किये थे, यथा—*'माँगु माँगु पै कहहु पिय', 'सुनहु प्रानपति भावत जीका', 'पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी।'* जब राजा शोकके मारे न बोले तब क्रोधसे बोली और राजाको 'तुम, राउर, नृप, भुआल' सम्बोधन दिये, यथा—*'माँगु माँगु तुम्ह केहि बल कहेऊ' 'मोर मरन राउर अजसु नृप समुझिअ मन माहिं' 'दुइ कि होइ इक संग भुआला।'* तात्पर्य कि जबसे कैकेयी बिगड़ी तबसे मधुर सम्बोधन उसने नहीं प्रयुक्त किये।

☞ स्वार्थ-साधकोंका यही ढंग है। क्रोधमें मनुष्य अन्धा हो जाता है। कुम्भकर्णने विभीषणसे कहा ही है—*'जाहु न निज पर सूझ मोहि भयउँ काल बस बीर।'* (६। ६३)

टिप्पणी—३ *'दानि कहाउब········रउताई'* इति। **'रउताई'**=राजा होकर। अर्थात् तुम राजा हो, राजाओंपर अनेक आपदाएँ आती हैं, वे धीरज धरते हैं; तुम भी धैर्य धारण करो।

टिप्पणी—४ राजा पहले ठठाकर हँसे थे, यथा—*'जानेउँ मरम राउ हँसि कहई',* पीछे चुप रहे, यथा—*'कंठ सूख मुख आव न बानी।'* तीनों बातें राजाके ऊपर कही हैं।

टिप्पणी—५ *'छाँड़हु बचन कि धीरज धरहू।········'* इति। इससे सूचित होता है कि श्रीरामजीका वियोग सिरपर समझकर राजाने रोकर रामजीके नाम लिये थे—*'कहत परम आरत बचन राम राम रघुनाथ।'* इसीसे वहाँ *'परम आरत'* कहा। वचन छोड़ो अर्थात् रामको रख लो। 'धीरज धरो' अर्थात् वचन रखो, रामको त्यागो। पुन: *'अबला'* शब्द बड़ा उत्तम है, इसीसे उनकी क्रिया सूचित हो जाती है। बलहीन रोवेगा नहीं तो क्या करेगा? (स्त्रियाँ सहज ही रो देती हैं)।

टिप्पणी—६ *'तन तिय तनय धाम धन धरनी।········'* इति।—राजा सत्यसंध हैं, उन्होंने अपना तन तृणकी नाई छोड़ दिया, यथा—*'बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ।'* जब तन तृणसरीखा त्याग दिया तब तनके सम्बन्धियोंका त्याग तृणकी नाई आप ही हो गया। पहले 'तन' कहा क्योंकि इसीके आश्रित और सब हैं। कैकेयी बोली कि वचन छोड़ो नहीं तो धीरज धरो, फिर उसने विचार किया कि वचन छोड़नेसे हमारा नुकसान है, इसीसे वचन रखनेको पुष्ट करती है, यथा—*'तनु तिय तनय धाम धन धरनी। सत्यसंध कहँ तृन सम बरनी॥'* और *'सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माँहीं',* अर्थात् सत्यसंधका कर्तव्य आपको भी उचित है।

दीनजी—राजाने जो प्रथम कहा था कि *'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥'* (२८। ४) उसीकी ओर कैकेयीका लक्ष्य है। व्यंगसे जनाती है कि आपके ही ये वचन थे, उन्हीं वचनोंको आप त्यागना चाहते हैं।

वीरकविजी—प्रत्यक्षमें सत्यवादी पुरुषकी दानवीरता आदि बखानकर वह अपना हार्दिक अभिप्राय सिद्ध करनेका ढंग रच रही है, यह व्याजोक्ति है।

दो०—मरम बचन सुनि राउ कह कहु कछु दोष न तोर।
लागेउ तोहि पिसाच जिमि कालु कहावत मोर॥ ३५॥

अर्थ—कैकेयीके मर्मभेदी वचन सुनकर राजाने कहा—(जो चाहे) कह, तेरा कुछ दोष नहीं है। मेरा काल तुझे पिशाच-जैसा लगा है, वही यह कहलाता है॥ ३५॥

टिप्पणी—१ कैकेयीके बोलनेके पूर्व कविने कहा की *'पुनि कह कटु कठोर कैकेयी'* और जब वह कह चुकी तब कवि कहते है कि *'मरम बचन सुनि········।'* इससे 'मर्म बचन' का अर्थ 'कटु कठोर वचन' सूचित किया। मर्म=घाव कर देनेवाले प्रथम जब श्रीरामजीके लिये वनवास माँगा तब घाव हो गया था। फिर कृपण कहा अर्थात् उस घावमें माहुर दिया; तात्पर्य यह कि घावमें घाव करती जाती है। अब राजाकी मृत्यु होगी, यही बात राजा कहते हैं कि *'लागेहु तोहि········।'*

नोट—१ कैकेयीको यहाँ पिशाचके वश कहना उचित ही है। जिसे प्रेत-पिशाच लगता है वह उलटी-

पुलटी बकता है, उसके वचनोंमें सँभाल वा विचार नहीं रहता—यथा—*'बातुल भूत-बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥'* (१। ११५। ७) वैसे ही कैकेयीकी लज्जा और शीलका सत्यानाश हो गया है। वाल्मीकीयसे मिलान कीजिये—**'भूतोपहतचित्तेव ब्रुवन्ती मां न लज्जसे। शीलव्यसनमेतत्ते नाभिजानाम्यहं पुरा॥ बालायास्तत्त्विदानीं ते लक्षये विपरीतवत्।'** (२। १२। ५७-५८) अर्थात् भूत लगेके समान तुम मेरे सामने ऐसे बोल रही हो, लज्जित नहीं होती हो, तुम्हारे शीलका इतना नाश हुआ—यह बात मैं पहले नहीं जानता था। बाल्यावस्थामें तुम बड़ी शीलवती थीं पर इस समय वह सब उलटा देख रहा हूँ।

नोट—२ वीरकविजी—यहाँ कैकेयीका सच्चा धर्म (कटुजल्पना) इसलिये निषेध किया कि वह धर्म अपने कालरूपी पिशाचमें आरोपित करना अभीष्ट है। यह 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' है।

चहत न भरत भूपतहि भोरें। बिधि बस कुमति बसी जिअ तोरें॥ १॥
सो सबु मोर पाप परिनामू। भयेउ कुठाहर जेहि बिधि बामू॥ २॥

शब्दार्थ—**भूपतहि**=भूपता, भूप-पदवी, राज्यपदको। **परिनामू**=फल। **कुठाहर**=बुरी जगह, बेमौका।

अर्थ—भरत तो राज्यपदको भूलकर भी नहीं चाहते, विधिवश तेरे ही हृदयमें कुमति बसी है?॥ १॥ यह सब मेरे पापका फल है जिससे विधाता बेमौके उलटे हो गये॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'चहत न भरत भूपतहि'* इति। अर्थात् भरत राज्य न करेंगे। श्रीरामजी ही राज्य करेंगे, तीनों भाई उनकी सेवा करेंगे, यह बात आगे स्पष्ट है। (ख) देखिये, जब कैकेयीने वर माँगा कि भरतको राज्य और रामको वन दो तब राजा बोले थे कि—*'भरतहि अवसि देउँ जुबराजू',* इसका कारण यह था कि वह श्रीरामजीको वन जानेको न कहे। पर जब कैकेयीने न माना और यह निश्चय हो गया कि रामको वन अवश्य देगी तब राजाने ठीक-ठीक कह दिया कि भरतजी भूलकर भी राज्यकी इच्छा नहीं करते।

टिप्पणी—२ *'सो सबु मोर पाप परिनामू।.........'* इति। मेरे पापके फलसे विधाता बाम हो गये, कुछ बस (अर्थात् कोई भी उपाय) नहीं चलता। यहाँ पापके तीन फल कहे। (१) *'लागेउ तोहि पिसाच जिमि काल कहावत मोर।'* (२) *'बिधि बस कुमति बसी जिअ तोरें।'* (३) *'भयेउ कुठाहर जेहि बिधि बामू।'* प्रथम जो कहा कि *'लागेउ तोहि पिसाच'* उसीका कारण कहते हैं कि *'बिधि बस कुमति बसी जिअ तोरें'* अर्थात् तू दुर्बुद्धिके कारण ऐसा कहती है और 'दुर्बुद्धि' का कारण है 'विधिवश'। विधिवश कैसे कुमति हुई उसका कारण कहते हैं कि मुझे विधाता बाम हो गये। इसीसे तेरे उरमें कुमति बस गयी। विधाताके बाम होनेका कारण अपना पाप बताते हैं—*'सो सब मोर पाप परिनामू।'* पापसे विधि बाम होते हैं, यथा—*'कठिन करमगति जानि बिधाता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥'* (*'मोर पाप'*—(३४। २) *'पाप पहार प्रगट.........'* में देखिये।)

२ पंजाबीजी—कुठाहर क्या है? कुठाहर यह कि तेरे घर आया। आज यहाँ न आता तो सब बात बनी-बनायी थी। विधिकी बामता यह कि यहाँ भरत नहीं हैं और न रामराज्याभिषेकके मुहूर्तका दिन ही कुछ दूर हुआ कि वे बुलाये जा सकते जिससे बात बन जाती। इस समय सब कुठाट ही है। *'कुठाहर'*—भरतका न होना अथवा धर्मसंकट पड़ा जिससे कुछ करते-धरते नहीं बनता।—(रा० प्र०)

नोट—*'कुठाहर'* का अर्थ यहाँ बेमौका है अर्थात् सब तैयारी हो चुकी थी, सबेरे तिलकभर करना बाकी था। ऐसे समयमें ही विधाताको बाम न होना चाहिये था। उसके लिये यह मौका उचित न था। उसने हर्षके समय विस्मय कर दिया।

वि० त्रि०—*'सो सब मोर पाप परिनामू.........बामू'* इति। पहले कह आये हैं *'कछुक दोष नहिं तोर'* उसीको स्पष्ट करते हैं कि मूल कारण इस विपत्तिका मेरा पाप है। उसी पापके कारण दुःख उपस्थित हुआ है; यथा—*'काहु न कोउ दुख सुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥'* कर्मफल देनेवाले ब्रह्मदेव बेमौके बायें हो गये। ब्रह्मदेवके बायें होनेसे मृत्यु होती है, सो यदि रणांगणमें वीरगति हो तो

वह ब्रह्मदेवका सुठाहरमें बायें होना कहा जायगा। प्रियतमके विरहमें प्राणत्याग और संसारमें स्त्रैण होनेकी अपकीर्तिका होना ब्रह्मदेवका कुठाहरमें बायें होना है।

सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुनधाम राम प्रभुताई॥ ३॥
करिहहिं भाइ सकल सेवकाई। होइहि तिहुँ पुर राम बड़ाई॥ ४॥
तोर कलंकु मोर पछिताऊ। मुयेहु न मिटिहि न जाइहि काऊ॥ ५॥

शब्दार्थ—**सुबस**=स्वतन्त्र, स्वतन्त्ररूपसे, सुखसहित, शोभायुक्त।

अर्थ—अयोध्यापुरी फिर भी स्वतन्त्ररूपसे सुहावनी होकर बसेगी, समस्त गुणोंके धाम रामचन्द्रजीकी प्रभुता होगी अर्थात् वे प्रभु (स्वामी, राजा) होंगे॥ ३॥ सभी भाई उनकी सेवा करेंगे। तीनों लोकोंमें श्रीरामचन्द्रजीकी बड़ाई होगी॥ ४॥ (परंतु) तेरा कलंक और मेरा पछतावा मरनेपर भी न मिटेगा और कभी भी न जायगा॥ ५॥

टिप्पणी—१ ***'सुबस बसिहि·········'*** इति (क) राजा अयोध्याको अभीसे उजड़ी समझ रहे हैं, यथा—***'अवध उजारि कीन्हि कैकेई।'*** (२९। ८) इसीसे कहते हैं कि ***'सुबस बसिहि फिरि·········।'*** अवध ही नहीं किंतु देवता, मनुष्य आदि तीनों लोकोंके लोग सुखपूर्वक बसे, यथा—***'दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाए नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्ह के जस अमर-नाग नर-सुमुखिसना हैं॥'*** (गी० ७। १३) (ख) ***'सुहाई'*** का भाव कि श्रीरामजीके वनगमनसे अयोध्या भयानक हो जावेगी, यथा—***'लागति अवध भयावनि भारी। मानहु कालराति अँधियारी॥'*** (८३। ५) यह फिर सुहावनी हो जावेगी, यथा—***'अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा कै खानी॥'*** (७। ३९) (ग)—***'सब गुन धाम·········'***—भाव कि जिस राजामें गुण नहीं होते वह राज्य नहीं कर सकता, उसकी बड़ाई नहीं होती। श्रीरामजी समस्त सद्गुणोंके धाम हैं अत: उनका राज्य होगा और त्रिलोकीमें उनकी बड़ाई होगी, यथा—***'राम राज बैठे त्रैलोका। हर्षित भये······'*** अर्थात् वे ऐसे समर्थ राजा होंगे कि तीनों लोकोंको उनसे सुख मिलेगा। ('गुणधाम'—१ (८) ३ (१) देखिये।)

टिप्पणी—२ ***'करिहहिं भाइ सकल सेवकाई'*** इति। भाव कि रघुकुलकी जो सुन्दर रीति है कि ***'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥'*** वही सब बरती जायँगी, यथा—***'सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम चरन रति अति अधिकाई॥'***

टिप्पणी—३ ***'तोर कलंकु मोर पछिताऊ।·········'*** (क) मेरा पछतावा यह कि मैं श्रीरामजीको राज न दे पाया, यथा—***'पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ। जेहिं न होइ पाछे पछिताऊ॥'*** (२। ४। ५) राजाका तन न रहा पर रामको राज्य न दे सकनेका पछतावा बना रह गया। (ख)—***'मुयेहु'*** अर्थात् जीनेमें तो रहेगा ही और मरनेके बाद भी बना रहेगा। ***'न जाइहि काऊ'*** अर्थात् कल्पान्त भी होनेपर न जायगा; बराबर बना रहेगा। जैसे भुशुण्डीजीको गुरुके अपमानका शूल २७ कल्प बीत जानेपर भी न गया, हजारों देह धारण करनेपर भी वे उसे न भूले, यथा—***'एक सूल मोहिं बिसर न काऊ। गुरु कर कोमल सील सुभाऊ॥'*** (ग)—[पण्डितजी—मेरा पछतावा मरनेपर भी न मिटेगा। जैसे राजा परीक्षित् वैकुण्ठको गये तब भी पछताते ही रहे कि हमने कलियुगको मार न डाला, दया करके छोड़ क्यों दिया? यथा—***'अकनि याके कपट करतब अमित अनय अपाय। सुखी हरिपुर बसत होत परीछितहि पछिताय॥'*** (वि० २२०) और तेरा कलंक कभी भी न मिटेगा।]

नोट—वाल्मीकीयमें जब रावणवधके पश्चात् श्रीदशरथजी स्वर्गसे इन्द्रादि देवताओंके साथ लंकामें आये तब उन्होंने श्रीरामजीसे स्वयं कहा है कि '**कैकेय्या यानि चोक्तानि वाक्यानि वदतां वर। तव प्रव्राजनार्थानि स्थितानि हृदये मम॥**' (६। ११९। १४) '**त्वां तु दृष्ट्वा कुशलिनं परिष्वज्य सलक्ष्मणम्। अद्य दुःखाद्विमुक्तोऽस्मि नीहारादिव भास्करः॥** (१५) अर्थात् तुम्हारे वनवासके सम्बन्धमें कैकेयीने जो वाक्य कहे थे वे मेरे हृदयमें

अबतक स्थित थे, गड़े हुए थे; पर आज लक्ष्मणसहित तुमको सुखपूर्वक देखकर और आलिंगन करके मैं दु:खसे मुक्त हो गया जैसे कुहरेसे सूर्य।-यह *'मुयेहु न मिटिहि'* का प्रमाण है। स्वर्गमें भी उनका पछतावा रहा।

अब तोहि नीक लाग करु सोई। लोचन ओट बैठु मुँहु गोई॥ ६॥
जब लगि जिअउँ कहउँ कर जोरी। तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी॥ ७॥
फिरि पछितैहसि अंत अभागी। मारसि गाइ नहारू[1] लागी॥ ८॥

शब्दार्थ—'**नहारू**'=हिंदी (शब्द सागरमें नहारू) शब्द नहीं मिला नाहर और नाहरू मिलते है। '**नाहर**'=सिंह बाघ, नारू या नहरुआ नामका रोग। 'नहारू' के लोगोंने अनेक अर्थ किये हैं, वे सब यहाँ दिये जाते हैं जिसमें साहित्यिक विज्ञ लोग इनपर स्वयं विचारकर ठीक अर्थ निश्चय करें। 'नहरुआ रोग' और 'सिंह या बाघ' ये दो अर्थ अधिकतर लोगोंने लिखे हैं। (१)—वीरकविजीने अर्थ किया है कि 'तुझे गायके मारनेमें पीड़ा नहीं लगती' अर्थात् '**हारू**'=पीड़ा।[2] (२) बाबा हरिदासजी अर्थ करते हैं कि 'हारके लिये गायको न मार।' जैसे गाय हीराका हार लीले तो उसका पेट न फाड़ना चाहिये, यत्नसे ले लेना उचित है। वैसे ही मैं तेरी गाय-रूप हूँ और अवधका राज्य हाररूप है सो मैं तो रामहेतु पहले ही न्यास कर चुका अब रामजी न सही भरतहीको वह हाररूप राज पहना दूँगा। जो रामजी वनको चले जायँगे तो भरतजी राज्य न ग्रहण करेंगे तब तू अन्तमें पछतावेगी। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी 'ताँत' अर्थ करते हैं। टीकाकारोंने और भी अर्थ ये लिखे हैं—(क) बरवट रोग झाड़नेके लिये नहारू ताँतका बनाया जाता है। (ख) **नहारू लागी**=बाघके धोखेसे। (ग) काश्मीरमें बाजको कहते हैं, बाज गोमांस नहीं खाता। (घ) बाघिनका बच्चा जिसकी आँख न खुली हो। भाव कि उस बच्चेके लिये यदि गाय मारें तो व्यर्थ ही है। (ङ) जूता या चमड़ेका टुकड़ा इत्यादि। विशेष टिप्पणियोंमें देखिये। '**ओट**'—आड़में, ओझल होकर।

अर्थ—अब तुझे जो अच्छा लगे सो कर। आँखोंकी ओटमें मुँह छिपाकर जा बैठ अर्थात् यहाँसे दूर हट जा, मुँह न दिखा॥ ६॥ मैं हाथ जोड़कर कहता हूँ कि जबतक मैं जीवित रहूँ तबतक फिर कुछ मत कहना॥ ७॥ अरी अभागिनी! फिर तू अन्तमें पछतायेगी कि 'नहारू' के लिये तूने गायको मारा॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'अब तोहि नीक……'* इति। जो अच्छा लगे वही कर अर्थात् भरतको राज्य दे, रामको वन भेज (इस प्रकार राजाने उसको वर दे दिया। उसको आज्ञा दे दी कि जो चाहे कर)। ***'लोचन ओट……'*** अर्थात् जिस मुँहसे तूने 'रामको वन' माँगा वह मुँह मैं न देखूँ, तात्पर्य कि राम-विमुखका मुँह न देखना चाहिये। (ख) राजा साम, दाम, भेद, दण्ड चारों राजनीतियाँ कैकेयीको समझानेके लिये काममें लाये। यथा—***'गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी'*** (यह साम है), ***'माँगु माथ अबहीं देउँ तोही'*** (दाम है), ***'चहत न भरत भूपतहि भोरे। बिधि बस कुमति बसी उर तोरे॥'*** (भेद है), और, ***'लोचन ओट बैठु मुँहु गोई'*** यह दण्ड है—त्याग और वध दोनों बराबर हैं (वन्दन पाठकजी) यथा—'**त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं समम्।**'(वाल्मी० ७। १०६। १३) [पुनः, ***'मुँहु गोई'*** का भाव कि जिसमें कोई भी तेरा मुख देखकर दोषी न हो। (रा० प्र०)। वा, अब तू किसीको मुँह दिखानेके योग्य नहीं रह गयी, अब तू सबको क्या मुख दिखायेगी। (वै०)]

१-राजापुर और काशिराजकी प्रतियों एवम् पं० रामगुलाम द्विवेदी, भागवतदासजी, वन्दन पाठकजी और पं० रामकुमारजीकी प्रतियोंमें भी यही पाठ है। ना० प्र० सभाकी प्रतिमें 'नहारुहि' और बाबा हरिदासकी प्रतिमें 'नहारहि' ऐसा पाठ है। छक्कनलालजीकी प्रतिमें 'नहारू' पाठ है। मानस-मयंकमें नाहरू और नहारू दोनों पाठोंका भावार्थ दिया गया है।

२-राजापुरकी पोथीमें शब्द-विन्यास नहीं है, इससे 'न' अक्षर मिलाकर उच्चारण करनेसे 'नहारू' एक शब्द हो सकता है। (वीरकवि)।

टिप्पणी—२ [(क) *'जब लगि जिअउँ'*—भाव कि मैं अब अधिक न जिऊँगा, कुछ घड़ी या दिन ही जीता रहूँगा, रामके वन जानेपर मेरे प्राण नहीं रहनेके। अतः तू मेरी आँखोंसे ओझल होकर मुँह छिपाकर अलग जा बैठ। यदि तू हठ करके यहाँसे नहीं जायगी तो फिर कटुवचन कहेगी ही, अतः हाथ जोड़कर विनती करते हैं कि यदि यहाँसे न हटे तो चुप रहे, जितनी घड़ियोंतक मैं जीवित रहूँ उतने समयतक फिर कुछ न कहना। बाबा हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि *'जब लगि जिअउँ'* कहनेमें भाव यह है कि अल्पकालमें मरण सुनकर कदाचित् वह अपना हठ छोड़ दे। बैजनाथजीका मत है कि कैकेयीको राजाने त्याग दिया, इसीसे आज्ञा देनेका अधिकार अब नहीं रह गया, अतः आज्ञा नहीं दी, हाथ जोड़ा।] (ख) ***'कहउँ कर जोरी।''''''''*** इति। कैकेयी बार-बार कटु वचन बोलती है, यथा—***'पुनि कह कटु कठोर कैकेई। मनहुँ'''''''' ।'*** इसीसे प्रार्थना करते हैं। वे अब उसकी बोली भी नहीं सुनना चाहते, न मुँह देखना चाहें। (४)—***'फिरि पछितैहसि'''''''' ',*** यथा—***'लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥'*** ***'अभागी'*** क्योंकि पति-पुत्र और राज्य तीनोंका सुख इसने नष्ट किया।

'मारसि गाइ नहारू लागी'—

पुरुषोत्तम रामकुमारजी—***'नहारू'*** तृणको कहते हैं। अर्थात् तू तृणके लिये गाय मारती है। राज्य तृण है। कैकेयीने राज्यको तृणके समान कहा था, यथा—***'तनु तिय तनय धाम धन धरनी। सत्यसंध कहुँ तृन सम बरनी॥'*** (३५। ८) श्रीरामजीको त्याग करना गाय मारना है, यथा—***'पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारिसि गुरु ब्राह्मन गाई॥'***

२—बाबा रामदासजीने टिप्पणीमें लिखा है कि 'नहारू' किसी देशमें बन्धनको कहते हैं[1]। ***'नहारू लागी'*** अर्थात् बन्धन लगी हुई, बँधी हुई। भाव यह कि छुटी हो तो चाहे भाग भी जा सके, बँधी हुई भाग भी नहीं सकती कि जान बचा ले। यहाँ राजा गाय हैं जो प्रतिज्ञामें बँध गये हैं। (पं० रा० कु०)

३—काष्ठजिह्वा स्वामी—जैसे कोई बाघकी तृप्तिके लिये गोवध करे वैसे ही तू सौतके हेतु, सपत्नीसे अपना वैर निकालनेके लिए यह अनर्थ करती है। नाहर=बाघ। नहारू=बाघका बच्चा। यह बुन्देलखण्ड आदिकी भाषा है। (रा० प० प०)

४—दीनजी—अर्थ यह है कि 'तू शेरके बच्चेके पुष्ट करनेके लिये गौ मार रही है। नहारू और नाहरू एक ही बात है। अन्य लोग इसके विचित्र अर्थ करते हैं, पर वे ध्यान नहीं देते हैं कि अन्यान्य अर्थोंमें दोष यह है कि भरतजीकी तुच्छता झलकती है, जो महान् अनर्थ है। राजा कहते हैं कि भरत तो नाहरका बच्चा है, वह तो ऐसे-ऐसे अनेक राज्य अपने बाहुबलसे छीन सकता है। उसकी सहायताके हेतु तू रामको क्यों कष्ट देती है।

मानस-मयंक—'तूने प्यारे रामचन्द्ररूपी धेनुको मारकर राज्यरूपी आमिष भरतरूपी सिंहके लिये निकाल लिया जो कदापि उसे ग्रहण न करेंगे। जैसे सिंहका बच्चा दूसरेके मारे हुए पशुका मांस नहीं खाता[2]। अतएव तुझको महापातक ही हाथ लगा।'

अ० दी० च०—अथवा, राज्यश्री गाय है। उसको भरतरूपी सिंहके लिये मारा अर्थात् राज्यश्री जो श्रीरामजीको मिल रही थी उसे तूने विध्वंस कर दिया, नहीं होने दिया।

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'नहारू नसोंकी होती है, उसका बन्धन दृढ़ होता है। अर्थ हुआ कि ऐसी नहारू लगी हुई गायको मारती है। भरतराज्य-रक्षा-हेतु रामवनवास (का वर) नहारू है; राजा गाय हैं।' यह भाव 'बाबारामदासजी' की टिप्पणीसे मिलता है। मुख्य अर्थ उन्होंने 'बाघ' रखा है।

गौड़जी—मानसकारने उत्तरकाण्डमें मानस रोगोंमें ***'नहरूआ'*** शब्दका प्रयोग किया है। यहाँ ***'नहारू'***

१-करुणासिंधुजीने एक अर्थ 'खेतका अंकुर' भी लिखा है।

२-महादेवदत्तजी लिखते हैं कि सिंह गायका मांस नहीं खाता।

भी सिंहके अर्थमें नहीं प्रत्युत रोगके ही अर्थमें आया है। नहरुवा रोग कमरके नीचे होता है। इसमें पहले पहल किसी स्थानमें सूजन होती है, फिर छोटा-सा घाव होता है और तब उसमेंसे डोरीकी तरहका कीड़ा धीरे-धीरे निकलने लगता है जो प्राय: गजों लंबा होता है। इस रोगसे कभी-कभी पैर आदि अंग बेकार हो जाते हैं। टोटकेकी तरह ऐसा समझा जाता है कि गायका ताँत बाँधनेसे इसकी निवृत्ति होती है परंतु यह उपाय निश्चित फलदायक नहीं है। प्रस्तुत प्रसंगमें भरतजीकी निर्विघ्न राजगद्दीके मनोरथके पूर्ण होनेमें जो संदेह कैकेयीके हृदयमें है वही नहरुवा रोगके समान है जो नीचेके अंगमें होता है। इसमें जो डोरी निकलती है वही उसकी विविध कुवासनाएँ हैं। यहाँ कल्याणमयी अयोध्या गाय है, भगवान्‌के वनगमनसे मानो कैकेयी अयोध्याकी गर्दनपर खाँड़ा (खड्ग) चला रही है। राज्य वह ताँत है जिसे बाँधकर अर्थात् भरतजीके लिये प्राप्त करके वह अपने कुटिल मनोरथको पूर्ण करना चाहती है, परंतु पछतायगी; क्योंकि इस टोटकेसे यह रोग अच्छा न होगा। अयोध्यारूपी गायकी व्यर्थ हत्या सिर चढ़ेगी। राजा दशरथके कहनेका यही भाव है।

भरतजीके लिये व्याघ्र, सिंह या बाजकी उपमा देना और भगवान् रामचन्द्र वा राजा दशरथके लिये गायकी उपमा देना मेरे निकट सर्वथा असंगत है। वीर रसका कोई प्रसंग नहीं है इसलिये 'नाहर' की उपमा असंगत है। गाय स्त्रीलिंग है, इसलिये पुरुषोंकी उपमा उससे असंगत है; इसके सिवा सिंह या व्याघ्रके अर्थमें कोई चमत्कारिक रूपक भी नहीं घटता।

पं० रामकुमारजीका अर्थ (नहारू=बन्धन) बहुत विलक्षण है। यद्यपि कोशमें कहीं नहीं मिलता तथापि 'नहना, नथना' क्रिया प्रसिद्ध है और कोशोंमें मिलता है। इससे 'नहारू' शब्द बन्धनके लिये सहज ही अनुमति है। हाँ, नहारूके अन्तका उकार इस प्रयोगमें समझमें नहीं आता। इस वाच्यार्थके ग्रहणमें मेरे निकटमें अन्तिम उकार ही आपत्तिजनक है। नहीं तो अभिलाषाको वाग्बद्धा करके हत्याका इस प्रकार बहुत अच्छा रूपक होता है।

वीरकविजी लिखते हैं कि 'भरतको राज्य देनेकी इच्छा और नहरूआ रोग, राम-वनवास और गोवध, भरतका राज्य त्यागना और रोगका अच्छा न होना, परस्पर उपमेय उपमान हैं।'

श्रीनंगे परमहंसजी 'नाहरुह' पाठ देकर उसका अर्थ 'सिंह' करते हैं। वे लिखते हैं कि—'तू गऊको सिंहके भोजनार्थ मार रही है, अत: अन्तमें तुझे पछताना ही हाथ लगेगा। कारण कि जैसे सिंह अपना ही मारा हुआ शिकार खाते हैं, मुर्दाखोर नहीं होते इसी प्रकार श्रीभरतजी-रूपी सिंह अपने ही हक-(प्रारब्ध-) को भोगनेवाले हैं, वे दूसरेका हक (राजगद्दी) न ग्रहण करेंगे। अतएव भरतरूप सिंहके लिये मुझ गऊके प्राण (श्रीरामजी) को निकालकर हमारा राज्यरूप मांस भरतरूप सिंहको देना चाहती है। इससे तेरा मनोरथ सिद्ध न होकर उलटे हत्याके पापका पछतावा तुझे करना पड़ेगा।'

नाहरूका अर्थ जो लोग 'बाज' पक्षी या नहरूआ रोग करते हैं वह इसीलिये असंगत है कि बाजके लिये गऊका मारना क्यों कहा जायगा? उसका जोड़ तो लवा (बटेर) से है, यथा—***'बाज झपट जनु लवा लुकाने', 'लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू'*** । और सिंहके लिये गऊके मारनेमें ***'गोमुख नाहरनके न्याय'*** (विनय० २२०) सम्बन्ध प्रमाण है। पुन: जो गायकी चर्बीसे रोगका अच्छा होना बताते हैं तो नहरूआ यदि अच्छा हो गया तो पछताना नहीं सिद्ध होगा। अतएव श्रीभरतलालको पक्षी और रोग बनाना अयोग्य है। ऐसेको पुरुषसिंह वा नरकेहरि कहना ही यथार्थ मालूम होता है। अत: पूर्वोक्त अर्थ संगत है।

'किसी-किसीका मत है कि 'हारू' नाम पीड़ाका है। 'न हारू' अर्थात् (गाय मारनेमें) पीड़ा नहीं आती।' परंतु ऐसा अर्थ करनेमें ***'पुनि पछितैहसि'*** किसलिये कहा जायगा। किसीका मत है कि 'हार' के लिये गाय मार रही है। अर्थात् गाय हीराका हार निगल जाय तो उसके लिये उसका पेट फाड़ना चाहिये! कोई 'नहारू' का अर्थ तृण और कोई रस्सी करते हुए अर्थ करते हैं कि तृणके लिये मारती है अथवा रस्सीसे बँधी हुई गाय मारकर पछतायेगी। परंतु वे यह नहीं सोचते कि जिसे गोघातका पश्चात्ताप होना है क्या

उसे खुली हुई गाय मारनेसे पाप नहीं लगेगा। कुछ टीकाकारोंने श्रीरामजीको ही गायका उपमेय बनाया है परंतु यह भी सर्वथा असंगत है, कारण कि प्राण ले लेना सिद्ध होना चाहिये जो स्पष्ट राजा दशरथके लिये हुआ। अत: वह अपनेको ही गौ-रूप बना रहे हैं अर्थात् हम न जियेंगे और हमारा वध करना गौकी व्यर्थ हत्या करनी है। गौ-शब्दसे तीन अंग सूचित हो रहे हैं और तीनोंका उपमेय याथातथ्य बैठ जाता है—एक तो गाय, दूसरा उसके प्राण, तीसरा उसका मांस (शरीर)। यही तीन अंग राजा दशरथरूपी गायमें हैं। राजा दशरथ गाय हैं, श्रीरामजी उनके प्राण हैं, जिनके वियोगमें मृत्यु हुई है और राज्य ही उनका शरीर (मांस) है जिसे भरत-नाहरू अर्थात् सिंहके लिये कैकेयीने भोगार्थ रखना चाहा है, परंतु भरत सिंहने जब (मांसरूप) राज्य नहीं स्वीकार किया तब पछताना पड़ा है।'

उपर्युक्त लेखोंसे स्पष्ट है कि बहुमत इस पक्षमें है कि 'नहारू' का अर्थ सिंह है और श्रीदशरथजी गाय हैं।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी=नहारू=ताँत, यथा—'**युमे नहारू च शिरा धम्यथ रसगा सा। अभिधानप्यदीपिकायाम्॥**' (यह पाली भाषाका कोष है।)

अर्धालीका भाव—ताँतकी आवश्यकता आ पड़नेपर कोई पशुवध नहीं कर डालता, क्योंकि ताँत सुलभ वस्तु है, उसके लिये गोवध तो वही कर सकता है, जिसे कोई पिशाच लगा हो, अपने होशमें कोई ऐसा गर्हित कार्य कर नहीं सकता, सो तू कर रही है। भरतके राज्यकी निर्विघ्नता ताँतके तुल्य है। उसके लिये हजारों साधन हैं तो उसके लिये निरपराध रामजीको वन देना गाय मारना है। जिसे पिशाच लगा होता है, वह ऐसा कर्म कर डालनेके बाद पिशाचके उतर जानेपर पछताता है, उसी भाँति तू भी पछतायगी। (गोवध करनेसे दोनों लोक बिगड़ते हैं। इसलिये अभागी कहा) यथा—'***अवनि जमहि जाँचति कैकेई। महि न बीच बिधि मीचु न देई॥***'

☞ कैकेयीके अन्तिम वचन हैं कि—सत्यवादीके लिये शरीर आदि तिनकेके समान कहे गये हैं; अत: वर देकर प्राणोंका लोभ कैसा? पछताना कैसा? उसके उत्तरमें राजा कहते हैं—'***चहत न भरत भूपतहि भोरे। बिधि बस कुमति बसी उर तोरे॥***' और उन्हीं वचनोंका अन्ततक निर्वाह किया है। अन्तमें कहते हैं कि तू पछतायगी, नहारूके लिये गाय मारती है। अर्थात् जिस भूपताको भरत नहीं चाहते और न लेंगे उसके लिये या भरतके लिये कि जो राज्य नहीं चाहते तू रामको दुर्बुद्धिके कारण वन देकर मुझे मारती है। इस पूर्वापर प्रसंगको ध्यान रखकर प्रेमी पाठक विचार करें कि नहारूका क्या अर्थ ठीक है और यह भी कि उस अर्थमें उसका प्रयोग कहीं हुआ है या केवल गढ़न्त है।

दो०—परेउ राउ कहि कोटि बिधि काहे करसि निदानु।
कपट सयानि न कहति कछु जागति मनहुँ मसानु॥ ३६॥

शब्दार्थ—**निदानु**=अन्त, नाश, यथा—'***नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि तन करहि निदाना॥***' (५।१२) **मसानु** (सं० श्मशान)=वह स्थान जहाँ मुर्दे जलाये जाते हैं, मरघट। '***मसान जगाना***' मुहावरा है। योगिनी या भूत, प्रेत या मुर्दा सिद्ध करना।

अर्थ—राजा करोड़ों अर्थात् अनेकों प्रकारसे कह-समझाकर कि तू मेरा अन्त क्यों करती है, पृथ्वीपर गिर पड़े। परन्तु वह कपटमें चतुर है, कुछ बोलती नहीं (चुप साधे है) मानो मसान जगा रही है॥ ३६॥

टिप्पणी—१ (क) राजाका दो बार पृथ्वीपर गिरना लिखते हैं—'***देखी ब्याधि असाध नृप परेउ धरनि धुनि माथ।***' (३४) और यहाँ '***परेउ राउ········।***' इससे सूचित होता है कि प्रथम पृथ्वीपर गिरनेके बाद जब कैकेयीने पुन: कटु, कठोर वचन कहे, तब सुनकर कैकेयीसे भावी कहने और उसे आँखोंसे ओझल हो दूर बैठने एवं चुप रहनेको कहनेके लिये उठ बैठे थे, जो कुछ कहना था कहकर और व्याकुल होकर पुन: गिर पड़े। अत: यहाँ पुन: '***परेउ राउ***' कहा गया। जब सुमन्तजी आये तब भी राजा भूमिपर

पड़े हुए थे, यथा—*'सोच बिकल बिबरन महि परेऊ।'* (३८। ७) श्रीरामजीके आनेपर उठे, यथा—*'सचिव सँभारि राउ बैठारे।'* (४४। २) पुनः, कविताकी रीतिसे दो बार गिरना लिखा। कविने प्रथम नदीका रूपक दिया था, यथा—*'अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी॥ ढाहत भूप रूप तरु मूला।'* (३४। १, ४) उसके अनुसार दोहा ३४ में भूप-रूप-तरुका ढहना प्रत्यक्ष दिखाते हैं—*'देखी ब्याधि असाधि नृप परेउ……… ।'* फिर दूसरी उपमा दी थी कि *'ब्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता॥'* (३५। १) वृक्ष निपात होनेसे पृथ्वीपर गिर पड़ता है। वह गिरना यहाँ लिखते हैं कि *'परेउ राउ।'*

टिप्पणी—२ *'जागति मनहुँ मसानु।'* यहाँ घर मसान है, यथा—*'घर मसान परिजन जनु भूता'* (८३। ७) और राजा प्रेत हैं, यथा—*'सचिव आगमन सुनत सब बिकल भयउ रनिवासु। भवन भयंकर लाग तेहि मानहुँ प्रेत निवासु॥'* (१४७) मसान जगानेवालेसे प्रेत विनती करते हैं और यहाँ राजा कैकेयीसे विनती करते हैं, यथा—*'परेउ राउ कहि।'* जैसे मसान जगानेवाला नहीं बोलता वैसे ही कैकेयी नहीं बोलती।

नोट—योगिनी या भूत-प्रेत या मुर्दा सिद्ध करनेवाले श्मशानमें जाकर तन्त्रशास्त्रके अनुसार मुर्देकी खोपड़ी या शवपर बैठकर मौन रहकर रातभर मन्त्र जपते हैं। प्रेत बहुत तरहसे शब्द करते, डरवाते, विनय करते इत्यादि अनेक बाधाएँ डालते हैं। यदि साधक बोल दिया तो कार्यसिद्ध होनेके बदले साधक प्रायः पागल हो जाता है। निर्विघ्न समाप्तिपर योगिनी सिद्ध हो जाती है।

पं० शिवलाल पाठक इसका अर्थ यह लिखते हैं—(दोहा) *'सब प्रिय घेरे प्रेत डर, शर औसरे निहार। कुटिला प्रिय डर भरत पर राघो मिलन सँभार।'* अर्थात् 'जैसे मुर्देके प्रिय लोग प्रेतके डरसे मुर्देको अगोरते हैं जबतक चिताका अवसर हो अर्थात् प्रातःकालतक; वैसे ही कुटिला कैकेयी इस डरसे जागकर राजा दशरथको अगोरती हुई भरत और रामचन्द्रके मिलनेको रोके हुए है कि कहीं राजा रामको बुलाकर कुछ कह न दें वा भरतके यहाँ कुछ सन्देशा न कहला भेजें।' (मा० म०) अथवा, कहीं राजा किसीसे मन्त्रियों वा गुरुजीको कहला न दें वा मेरे न रहनेपर वे स्वयं जाकर कह न दें कि तुमलोग बिना मेरे ही प्रातः रामको राज्य दे देना। अतः वह वहाँसे हटती नहीं है। इसीका भाव गणपति उपाध्याय यों लिखते हैं—(दोहा) *'छुए मृत्यु मकान को ताते जागु मसान। सिद्ध समय कोउ आइ कछु कहे न नृपके कान॥'*

टिप्पणी—३ *'कपट सयानि……… '* इति। ऊपरसे मानो राजाके वचन मानकर नहीं बोलती, यथा—*'जब लगि जिअउँ कहउँ कर जोरी। तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी॥'* इसीसे कपटमें सयानी कहा। हृदयसे यह बात नहीं है, वह तो अपना मतलब सिद्ध करनेके लिये नहीं बोलती। वह सोचती है कि हमारा काम तो राजाके इन वचनोंसे सिद्ध हो गया कि *'अब तोहि नीक लाग करु सोई'* अब इनसे बोलनेका प्रयोजन ही क्या? बस अब तो राम यहाँ आवेंभर कि मैं उनको वन भेज दूँ। यही सोच-समझकर वह चुप साधे बैठी है, बोलती नहीं। मसान जगानेवाला यदि प्रेतकी विनय मान ले तो विघ्न हो जाय; वैसे ही कैकेयी (समझती है कि) यदि राजाकी विनय मैं मानूँ तो विघ्न हो जायगा। (नोट—जैसे रातभर मसानपर मौन होकर मन्त्र-जाप करनेसे सिद्धि होती है वैसे ही यहाँ अब रातभर ही मौन रहनेसे कार्यकी सिद्धि होगी। राजा सायंकालमें कैकेयीके भवनमें गये थे, यथा—*'साँझ समय सानंद नृप गयउ कैकई गेह।'* (२४) जानेके बाद ही उसने वर माँगा। इस संवादमें कुछ अधिक देर नहीं लगी। इस प्रकार रातभर हुआ। यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।)

राम राम रट बिकल भुआलू। जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू॥ १॥
हृदयँ मनाव भोरु जनि होई। रामहिं जाइ कहइ जनि कोई॥ २॥
उदउ करहु जनि रबि रघुकुल गुर। अवध बिलोकि सूल होइहि उर॥ ३॥

शब्दार्थ—**पंख**=पक्ष, पर, डैने। **बिहंग**=पक्षी। **बेहाल**=व्याकुल, परेशान, **सूल**=(शूल) पीड़ा।

अर्थ—राजा राम-राम रटते (कहते) हैं और व्याकुल हैं मानो बिना पंखके पक्षी व्याकुल है॥ १॥ हृदयमें मनाते हैं कि सबेरा न हो, कोई रामजीसे जाकर कह न दे॥ २॥ हे रघुकुलमें श्रेष्ठ (बड़े अर्थात् पुरुषा) सूर्य! आप अपना उदय न करें, (अथवा, हे रघुकुलगुरु वसिष्ठजी! आप सूर्यका उदय न होने दें) अयोध्याको देखकर हृदयमें शूल होगा॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'राम राम रट……'* इति। अर्थात् श्रीरामजीके लिये व्याकुल हैं। बिना पंखके विहंगकी उपमा देकर कवि राजाकी अति दीनता सूचित करते हैं, यथा—*'जथा पंख बिनु खग अति दीना।'* (६। ६०। ९) राजा अनेक उपाय करके हार गये हैं। [यहाँपर राजारूपी पक्षीके दो वरदान ही दो पक्ष हैं जिनमेंसे एक राम-वनवाससे कट गया। (दीनजी)]

टिप्पणी—२ (क) *'हृदय मनाव……'* इति। मनाते हैं कि भोर न हो, क्योंकि भोर होनेसे राम वनको चले जायँगे; कैकेयी कह ही चुकी है कि *'होत प्रात मुनि बेष धरि जो न राम बन जाहिं।'* (३३) हृदयमें मनाते हैं; क्योंकि एक तो देवता हृदयमें स्मरण करनेसे प्रसन्न होते हैं, दूसरे कैकेयी वहाँ बैठी हुई है उसके सामने राजा मुखसे ऐसा नहीं कह सकते थे कि *'भोर न होइ'* जब कि कैकेयी भोर होनेकी प्रतीक्षा कर रही है, तीसरे इस समय राजा बहुत व्याकुल हैं, बोलते नहीं बनता, इससे हृदयमें मनाते हैं। (वाल्मी० २। १३) में राजा रात्रिको सम्बोधन करके कहते हैं कि हे नक्षत्रोंसे सुशोभित रात्रि! मैं नहीं चाहता कि तुम्हारी समाप्तिपर प्रातःकाल हो। यथा—**'न प्रभातं त्वयेच्छामि निशे नक्षत्रभूषिते।'** (१८) (ख)—*'कहइ जनि कोई'* अर्थात् हम तो अपने मुखसे वन जानेको कहेंगे नहीं, न कोई अवधवासी ही कहेगा, रह गयी कैकेयी, यही कहनेवाली है। (कह दे या किसीसे कहला भेजे) कैकेयीका नाम नहीं लेते क्योंकि वह शत्रु है—आँखोंकी ओट बैठी है, पर अब भी बोलनेको मन किये हैं। किसको मनाते हैं? सूर्यको; यह आगे स्पष्ट है।

टिप्पणी—३ *'उदउ करहु जनि रबि रघुकुल गुर'* इति। (रात्रिको मनाया कि प्रभात न हो। फिर सोचे कि प्रभात न होने देना उसके वशकी बात नहीं है जबतक सूर्यदेव भी राजी न हों, अतः सूर्यको रघुकुलके पुरुषा सम्बोधन करके मनाते हैं) सूर्यको मनाते हैं कि सबेरा न हो। दिन करनेवाले सूर्य ही हैं। इनको मनानेका कारण कहते हैं कि तुम रघुकुलगुरु अर्थात् इस कुलके पुरुषा हो, कुलमें सबसे बड़े हो, बड़े अपने कुलकी रक्षा करते हैं; अतः आप भी करें। आप उदय न हों, क्योंकि आप इस कुलकी व्याकुलता देख न सकेंगे। *'रघुकुलगुरु'* से यह पाया जाता है कि रघुकुलहीको पीड़ा होगी इससे कहते हैं कि *'अवध बिलोकि……'* अर्थात् सबेरा होते ही रामके वनगमनकी खबरसे अयोध्यापुरीभर व्याकुल हो जायगी, उसे देखकर तुम्हारे हृदयमें भी पीड़ा होगी। [भाव यह कि जो आनन्द देखकर एक मास भूले रह गये थे, उसकी कसर निकल जायगी। (रा० प्र०) 'सबेरा न हो' यह मुहावरा है; इसका ठीक अर्थ है 'हम जीवित न रहें।' (दीनजी)]।

नोट—पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी 'गुरु' से वसिष्ठजीका ही अर्थ लेते हुए लिखते हैं कि चक्रवर्तीजी मन-ही-मन मना रहे हैं कि भोर न हो, अवधपुरीकी शृंगारित मूर्ति देखकर हृदयमें शूल होगा। पर भोर होना तो रुक नहीं सकता, सूर्य उदय होते ही भोर हो जायगा। सूर्यकी गति किसीके रोके नहीं रुक सकती। अतः चक्रवर्तीजी विधिगति छेकनेवाले सर्वज्ञ रघुकुलगुरु वसिष्ठजीको मनाते हैं कि आप सदासे रघुकुलके दुःखका दलन करके कल्याण करते आये हैं, ब्रह्मदेवकी गतिको भी रोकते हैं, आप सूर्य उदय न होने दीजिये। आपकी इच्छाके प्रतिकूल सूर्योदय नहीं हो सकता। यथा—*'भानुबंस भए भूप घनेरे। सकल एकते एक बड़ेरे॥' जनमहेतु सब कहँ पितु माता। करम सुभासुभ देहिं बिधाता॥ दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउर जग जाना॥' सो गोसाँइ जेहि बिधि गति छेकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी॥'*

भूप प्रीति कैकइ कठिनाई। उभय अवधि बिधि रची बनाई॥ ४॥

बिलपत नृपहि भएउ भिनुसारा। बीना बेनु संख धुनि द्वारा॥ ५॥
पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक। सुनत नृपहि जनु लागहिं सायक॥ ६॥

शब्दार्थ—**कठिनाई**=कठोरता, निष्ठुरता। **भिनुसारा**=(सं० भानु सरण)=सबेरा, प्रात:काल। **बिलपत**=विलाप करते, कलपते। **गुन**=गुण, यश, विरुदावलि।

अर्थ—राजा प्रीतिकी और कैकेयी निष्ठुरताकी सीमा हैं; ब्रह्माने दोनोंको सीमा रचकर बनाया है*॥ ४॥ राजाको विलाप करते-करते ही सबेरा हो गया। द्वारपर वीणा, बाँसुरी, शंखकी ध्वनि हो रही है॥ ५॥ भाट विरुदावली पढ़ते और गवैये गुणगान कर रहे हैं। सुनते ही राजाको वे मानो बाणसे लगते हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) ***'भूप प्रीति कैकइ कठिनाई।'''''''' '*** इति। शंका—'यहाँ राजाके विलापका प्रसंग है' ***'भूप प्रीति कैकइ कठिनाई'*** के कथनका कौन प्रयोजन है, प्रसंगसे मिलान नहीं होता? समाधान— सन्ध्यासे रात्रिभरमें जो चरित्र हुआ वह सब वर्णन किया। अब सबेरा हुआ, यथा—***'बिलपत नृपहि भएउ भिनुसारा।'*** अतएव यहाँ प्रसंगकी इति लगाते हैं। (नोट—***'भवन निठुरता निकट किय जनु धरि देह सनेह॥'*** (२४) उपक्रम है और ***'भूप प्रीति कैकइ कठिनाई। उभय अवधि'''''''' '*** उपसंहार है) ***'उभय अवधि'*** अर्थात् न ऐसी प्रीति किसीमें है और न ऐसी निठुरता। विधिने बनाकर रचा है—तात्पर्य कि ऐसी प्रीतिमें निष्ठुरता नहीं रह जाती और ऐसी निष्ठुरतामें प्रीति नहीं रह जाती। राजाकी प्रीति और रानीकी निष्ठुरता दोनों आदिसे अन्ततक बनी रहीं; क्योंकि ब्रह्माने अच्छी तरहसे बनायी है। राजाकी प्रीति कैकेयीपर बनी रही और कैकेयी राजापर निष्ठुर ही रही।

टिप्पणी—२ [(क) ***'बिलपत नृपहि भएउ भिनुसारा'*** अर्थात् राजाने वह भयंकर रात्रि बड़े दु:खसे बितायी। ***'बीना बेनु'''''''' '***—यह गान और वाद्य राजाको प्रात:काल जगानेके लिये हुआ करता है, वही है। ऐसा वाल्मी० रा० का मत है।] (ख) ***'पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक।'''''''' '*** इति। भाट गुण (यश) पढ़ते हैं, गवैये गुण गाते हैं। रातभर विलाप करते बीता, सबेरे श्रवण-सुखद मधुर शब्द सुनायी दिये। ये राजाको बाण-से लगते हैं। रामवनवास समझकर उन्हें कुछ नहीं सुहाता।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—***'बिलपत'''''' '***इति। अयोध्यामें रातको सोया तो कोई नहीं, सब लोग रामदरस-लालसा और उत्साहके कारण जागे। चक्रवर्तीजी विलाप करते हुए जागे। जिस भोर होनेको डर रहे थे वह हो ही गया। वीणा, वेणु, शंखकी ध्वनि द्वारपर सुनायी पड़ी। महाराजाओंको जगानेके लिये महलके द्वारपर वीणा बजायी जाती है, जिसका अत्यन्त कोमल स्वर होता है, जिसमें महाराज सूखपूर्वक जागें। कदाचित् नींद कुछ अधिक लग गयी हो, इसलिये वीणाके बाद बाँसुरी बजाते हैं। राजा किसी हालतमें भी अरुणोदयमें सोते न रहें, इसलिये अन्तमें शंख बजाते हैं। वाद्यके शब्दोंसे चक्रवर्तीजीने जाना कि अरुणोदय हो गया।

राजाको स्वधर्म-कुलधर्मके पालनमें उत्साह दिलानेके लिये तथा प्रतिज्ञापालनादि विशिष्ट गुणोंको दृढ़ करनेके लिये सूत, मागध और वन्दी लोग विरद कहते हैं, गुणगान करते हैं। आज चक्रवर्तीजीको विरद तथा गुणगानसे अधिक कष्ट हो रहा है; क्योंकि वे सब रामवनवासको ही बिना जाने पुष्ट कर रहे हैं। अत: वे बाणकी भाँति हृदयपर चोट कर रहे हैं।

नोट—'दशरथ-कैकेयी-संवाद' इति। यह संवाद कविकौशलका एक अपूर्व नमूना है। गोसाईंजीको इस संवादमें जिस प्रकारके दशरथजी और कैकेयी दिखलानी थी उसे अपने ही शब्दोंमें उन्होंने इस प्रकार प्रकट किया है—***'भूप प्रीति कैकइ कठिनाई। उभय अवधि'''''' ॥'***

उनका यह प्रयत्न जैसा चाहिये वैसा ही अक्षरश: सफल हुआ है। अभीतक कैकेयीके समान हृदयवाला मनुष्य हमें कोई भी मिला नहीं जो यह संवाद सुनकर द्रवीभूत न हुआ हो।

---

* यों भी अर्थ होता है—राजाकी प्रीति और कैकेयीकी निष्ठुरता दोनोंको ब्रह्माने सीमा रचकर बनाया है।

कैकेयीके मुखसे हृदयभेदी और अपमानकारक शब्द निकलनेपर भी दशरथजीकी जिह्वाको कविने कुत्सित शब्दोंका स्पर्श न होने दिया। इसे ही हम दशरथजीके चरित्रकी और कविकी लोक-शिक्षाकी विशेषता समझते हैं। इस संवादका अंत कैसा हृदयभेदी हुआ, वह इस चौपाईसे ध्यानमें आ सकेगा। ***'फिरि पछितैहसि अंत अभागी। मारसि गाइ नहारू लागी॥'*** (मा० हं०)

मंगल सकल सोहाहिं न कैसें। सहगामिनिहि बिभूषन जैसें॥ ७॥
तेहि निसि नीद परी नहिं काहू। रामदरस लालसा उछाहू॥ ८॥

अर्थ—राजाको ये सब मंगल कैसे अच्छे नहीं लगते, जैसे पतिके साथ सती होनेवाली स्त्रीको* 'विभूषण' (साज-शृंगार) भले नहीं लगते॥ ७॥ उस रातको किसीको भी नींद नहीं पड़ी; क्योंकि सबको रामके दर्शनकी अभिलाषा और उत्साह है॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'सहगामिनिहि बिभूषन जैसें'*** इति। सती होनेवाली स्त्रीको विभूषण नहीं सुहाते; क्योंकि जिसके लिये वह विभूषण पहनती थी वह तो चला गया, अब विभूषण कैसे सुहावें। वैसे ही श्रीरामजीके लिये सब मंगल हो रहे थे सो वे तो वनको चले अब राजाको वे मंगल कैसे अच्छे लगें? सती पतिके साथ जाती है वैसे ही जब श्रीरामजी वनको चले जायँगे तब राजाकी मृत्यु हो जायगी। इसीसे 'सहगामिनी' अर्थात् साथ चलनेवालीकी उपमा दी। वीणा, बीन आदि सब मंगल हैं। इनका शब्द वे सुनना नहीं चाहते। वे बरियाई कानमें पड़ते हैं तब बाणके समान लगते हैं और अपनी ओरसे वे सब मंगल कैसे नहीं सुहाते, जैसे सहगामिनीको विभूषण नहीं सुहाते।

नोट—१ पतिके संग सती होनेवाली स्त्री सोलहो शृंगार करके तब पतिके साथ सती होती है। उसे साज-शृंगार भला नहीं लगता। यहाँ उदाहरण अलंकार है। (दीनजी)-जैसे स्त्री पतिके मरनेके कुछ देर बाद सती होती है वैसे ही रामवनगमनके कुछ देर पीछे राजाकी मृत्यु हुई। सब शृंगार और लोग करते हैं, पर सतीको नहीं सुहाता, वैसे ही सब प्रजा आदि मंगल मना रहे हैं, पर वे राजाको नहीं भाते। (पण्डितजी) अ० दी० कार लिखते हैं कि सती होनेवाली स्त्री भूषणोंको अंगोंसे निकाल देती है परंतु शृंगार धारण कर लेती है अर्थात् जैसे सधवा स्त्री माथा गुहकर सिंदूर धारण कर लेती है वैसे ही राजाने मंगलको छोड़कर प्रेमरूपी शृंगार धारण कर लिया। अभिप्राय यह कि सहगामिनीको भूषण नहीं सुहाता वैसे ही राजाको मंगल नहीं सुहाते। और, जैसे सहगामिनी शृंगार धारण किये रहती है, क्योंकि शृंगार तो विधवाके लिये दूषण है और यह तो सती है, पतिके साथ जा रही है, यह क्यों विधवा बनकर शृंगार छोड़े। वैसे ही राजा रामप्रेमरूपी शृंगार धारण किये रहेंगे; क्योंकि ये तो रामवनगमन होनेपर अपने प्राणोंको भी उनके साथ चलता कर देंगे। (अ० दी० च०) २—विजयानन्द त्रिपाठीजी—***'मंगल सकल……जैसे'*** इति। भोर होते ही अयोध्यामें मंगल होने लगा। आज अयोध्यापुरीका यह सब मंगल महाराजको अच्छा नहीं लग रहा है, जैसे सती होनेवाली स्त्रीका शृंगार किसीको अच्छा नहीं लगता। यहाँ सतीके लिये 'सहगामिनी' शब्द दिया है, जिसका अर्थ है पतिके साथ जानेवाली। यहाँ अयोध्याकी उपमा सहगामिनीसे है, और मंगलकी उपमा विभूषणोंसे है। अब अयोध्याका शृंगार सहगामिनी-शृंगार हो गया। अवधपुरी रहेगी नहीं वह तो सरकारके साथ जायेगी, यथा—***'अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहहिं दिवस जहँ भानु प्रकासू॥'***

टिप्पणी—२ ***'तेहि निसि नींद……'*** इति। अर्थात् दर्शनकी लालसा और राज्याभिषेकका उत्साह है,

* श्रीजानकीजीवनशरणजी—सहगामिनी शब्द रूढ़िशक्तिद्वारा अपने पतिके साथ जानेवाली सतीके बोधकत्वमें तो शंकाशून्य है; किंतु यौगिक पक्षमें आनेसे (सह अव्ययपूर्वक गमनार्थक धातुसे शीलार्थक प्रत्ययद्वारा निष्पन्न होनेपर) साथ गमनरूपार्थ पक्षमें लोकमें पतिके साथ गमनमें भूषणादि सुखप्रद हैं, तब तो शंकाजनक अवश्य होगा, अतएव पंकजादिवत् योगरूढ़िद्वारा 'परलोकको पतिके साथ गमन करनेवाली' सतीबोधक पक्षमें लेनेसे शंका नहीं रहती।

यथा—*'कनक सिंघासन सीय समेता। बैठहिं राम होइ चित चेता॥'* (११। ५) नींद किसीको न पड़ी, राजा और कैकेयीको भी न पड़ी; पर इनके नींद न पड़नेका हेतु भिन्न-भिन्न है। कैकेयीको अपना कार्य साधना था, यथा—*'कपट सयानि न कहति कछु जागति मनहुँ मसान।'* राजाको रामवनवासके कारण कलपते बीता और पुरवासियोंको उत्साहके कारण।

नोट—२ सबके नींद न पड़नेका कारण कहा गया—*'रामदरस लालसा उछाहू'*; **'ब्राह्मणस्य ग्रामोऽयम्'** इस न्यायसे ऐसा कहा गया अर्थात् यहाँ केवल सब अवधवासी प्रजागणसे प्रयोजन है। सबको चटपटी लगी हुई है कि कब हम समस्त आभूषणोंसे सुसज्जित कोटिकामकमनीय पीताम्बरधारी श्यामवर्ण श्रीरामको राज्याभिषेकके अनन्तर हाथीपर सवार आते हुए देखेंगे, वह मंगल-प्रभात कब होगा? इत्यादि लालसा सबकी थी। यथा—**'स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च रात्रौ निद्रां न लेभिरे। कदा द्रक्ष्यामहे रामं·········'** इत्यादि (१३। २। ५) नोट २ देखिये।

दो०—द्वार भीर सेवक सचिव कहहिं उदित रबि देखि।
जागेउ अजहुँ न अवधपति कारनु कवनु बिसेषि॥ ३७॥

अर्थ—द्वारपर सेवक, मन्त्री आदि सभीकी भीड़ लगी है। सूर्योदय देखकर वे सब कह रहे हैं कि अवधपति महाराज दशरथजी अभीतक नहीं उठे, क्या विशेष कारण है?॥ ३७॥

टिप्पणी—१ (क) *'द्वार भीर'*—पूर्व उपक्रममें लिखा है कि *'एक प्रबिसहिं एक निर्गमहिं भीर भूप दरबार।'* (२३) यहाँ *'द्वार भीर सेवक सचिव'* से उसका उपसंहार किया। 'दरबारका अर्थ द्वार, दरवाजा यहाँ स्पष्ट किया। विश्वामित्र-आगमन और अंगद-रावण-संवाद-प्रकरणमें भी दरबार शब्द इसी अर्थमें आया है, यथा—*'करि मज्जन सरजू जल गए भूप दरबार।'* (१। २०६) *'मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गयउ लै बिप्र समाजा॥', 'गयउ सभा दरबार तब सुमिरि राम पद कंज········तुरत निसाचर एक पठावा। समाचार रावनहिं सुनावा॥'* (६। १९। १) अर्थात् अंगद सभास्थानके दरवाजेपर गये। (ख) रामराज्याभिषेकका समय है इसीसे द्वारपर भीड़ है। सेवक, सचिव सब काम करनेवाले हैं, पर बिना आज्ञाके काम नहीं कर सकते। यथा—*'जाहु सुमंत्र जगावहु जाई। कीजिअ काजु रजायसु पाई॥'* (३८। २) (*'द्वार भीर········कहहिं'* इति। वाल्मी० १४। ३० तथा सर्ग १५। १, १३ से स्पष्ट है कि पुरवासी, राज्यके लोग और अनेक बाहरसे आये हुए राजा वहाँ भरे हुए थे। दण्डधारी ब्राह्मण, राजपुरोहित, राजा लोग अभिषेककी सामग्री लिये हुए खड़े हैं। वसिष्ठजीने सुमन्त्रजीसे कहा कि राजासे जाकर कहो कि शीघ्रता करें, राजाओंने कहा कि सूर्योदय हो गया, राजा नहीं देख पड़े, उन्हें खबर कर दो कि तिलककी—अभिषेककी सामग्री लेकर हमलोग आ गये हैं। यहाँपर भी सेवक, मन्त्री आदि सभीका कहना सूचित करते हैं। कहनेवाले कई हैं यह *'आज हमहिं बड़ अचरज लागा'* से स्पष्ट है, *'हमहिं'* बहुवचन है)। अजहुँ=अबतक। अर्थात् रोज दो पहर रात रहे जागा करते थे, यथा—*'पछिले पहर भूप नित जागा।'* (३८। १) और आज सूर्योदय हो गया अबतक न जगे। (ग) *'अवधपति'* अर्थात् अवधकी रक्षा उनके जागनेसे है। यथा—*'गुरु ते पहिलेहि जगतपति जागे रामु सुजान।'* (१। २२६) और *'राम नाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे॥'* (१। ६०। ३) तथा यहाँ *'जागेउ अजहुँ न अवधपति।'* ईश्वर जगत्पति हैं, अतः ईश्वरके जगनेमें *'जगतपति'* विशेषण दिया और राजा जीव हैं इससे उनके जागनेमें *'अवधपति'* विशेषण दिया। पुनः *'अवधपति'* का भाव कि अवधभरके लोग जागे हुए हैं और ये तो अवधपति हैं ये कैसे अभीतक न जगे। (घ) *'कारनु कवनु बिसेषि'* अर्थात् सामान्य कारणमें ऐसा मोहित न होते, कोई विशेष कारण है।

नोट—मन्त्रियोंके नाम ये हैं—**'धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः। अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित्॥'**

पछिले पहर भूपु नित जागा। आजु हमहिं बड़ अचरजु लागा॥ १॥
जाहु सुमंत्र जगावहु जाई। कीजिअ काजु रजायसु पाई॥ २॥

गए सुमंत्रु तब राउर* माहीं। देखि भयावनु जात डेराहीं॥ ३॥
धाइ खाइ जनु जाइ न हेरा। मानहुँ बिपति बिषाद बसेरा॥ ४॥

शब्दार्थ—**पछिले पहर**—तीन पहर रात बीतनेपर, तीन बजेके उपरान्त ब्राह्ममुहूर्तमें। **अचरज**=आश्चर्य, अचम्भा। राउर (राज+पुर)=राजमहल, यथा—***'राउर नगर कोलाहल होई।'*** (२३।८) ***'भयउ कोलाहल अवध अति सुनि नृप राउर सोर।'*** (१५३) **धाइ**=दौड़कर। **हेरा**=देखा। **बसेरा**=पक्षियोंके संध्यासमय ठहरनेके स्थानको 'बसेरा' कहते हैं; बसेरा करना=वास करना, डेरा डालना, अड्डा बनाना।

अर्थ—राजा नित्य ही रात्रिके पिछले पहर जागते थे, आज हमें बड़ा आश्चर्य हो रहा है॥ १॥ सुमन्त्र जाओ, जाकर राजाको जगाओ उनकी आज्ञा पाकर हम लोग काम करें २॥ तब सुमन्त्र राजमहलमें गये। उसे भयावन लगता देख वे भीतर जाते डरते हैं॥ ३॥ मानो वह दौड़कर खा लेगा; देखा नहीं जाता, मानो विपत्ति और विषादने वहाँ बसेरा किया है॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'पछिले पहर भूपु नित जागा।'*** ········ 'इति। अर्थात् सब दिन सावधान रहे; आज कैसे असावधान हो गये, आज तो और रोजसे भी अधिक सावधान रहनेका अवसर था। ऐसा पूर्व कभी नहीं हुआ, अतः आश्चर्यकी बात ही है।

टिप्पणी—२ ***'जाहु सुमंत्र जगावहु जाई'*** ········ 'इति। (क) इससे सूचित किया कि सिवाय सुमन्त्रजीके और कोई भीतर नहीं जा सकता था। [सुमन्त्रजीका राजभवनमें बेरोक-टोक प्रवेश था। उनके लिये राजाकी प्रथमसे ही आज्ञा थी कि इस वृद्धको कोई द्वारपाल न रोके। यथा—'**तं तु पूर्वोदितं वृद्धं द्वारस्था राजसम्मताः॥ न शेकुरभिसंरोद्धुं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः।**' (वाल्मी० २।१४।४४) 'जाओ, जाकर जगाओ' इस प्रकार बोलनेका मुहावरा है, यथा—***'रामकाज अरु मोर निहोरा। बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा॥ जनक सुता कहँ खोजहु जाई।'*** (४।२२।६, ७) आज्ञा पाकर हम लोग काम करें, इससे जनाया कि यह कार्य बिना राजाकी आज्ञाके मन्त्री न कर सकते थे।

वि० त्रि०—सुमन्त्रसे सब लोग कहते हैं कि महाराजके शयनागारतक तुम्हारा ही प्रवेश है और तुम्हीं महाराजको जगा सकते हो। यदि महाराज अस्वस्थ हों तो उनकी आज्ञा लेकर कार्यारम्भ तो कर दो। यहाँपर गोस्वामीजीने राजदरबारका कायदा दिखलाया। 'महाराज अस्वस्थ तो नहीं हैं?' ऐसा न कहकर दरबारी लोग कहते हैं ***'पछिले पहर भूप नित जागा। आज हमहिं बड़ अचरज लागा॥'*** महाराजके लिये अमंगल शब्द 'अस्वस्थ होना' नहीं कहेंगे। अक्षयकुमार-वधका भी संदेश सैनिकोंने रावणको ***'प्रभु मर्कट बलभूरि'*** कहकर ही दिया है।

टिप्पणी—३ (क) ***'गए सुमंत्रु तब'***—अर्थात् वसिष्ठादि सबके कहनेपर गये। (ख) ***'देखि भयावनु'*** ········ ' इति। राजाके व्याकुल होनेसे राजमहल भयानक हो गया। इसी तरह पुरवासियोंके व्याकुल होनेपर पुर भयावन लगा है, यथा—***'लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी॥'*** (८३।५)

टिप्पणी—४ (क) ***'धाइ खाइ'*** ········ ' से सूचित होता है कि अभी सुमन्त्र भीतर नहीं पहुँचे हैं कुछ दूरीपर हैं, ***'धाइ खाइ'*** अर्थात् धावनेभरकी जगह बीचमें है। खाने ही चाहता है, इस कथनसे सूचित किया कि कालके समान भयानक है, इसीसे देखा नहीं जाता। ('दौड़कर खा ही लेगा' और 'देखा नहीं जाता' ये मुहावरे हैं, ऐसा बोलनेकी रीति है, भाव यह कि बहुत भयंकर लगता है। वीरकविजी लिखते हैं कि मकान चेतन जीव नहीं है जो दौड़कर खा लेगा। यहाँ 'सिद्धविषयाहेतूत्प्रेक्षा' है।) (ख) ***'मानहुँ बिपति बिषाद बसेरा'***—विपत्तिरूपा कैकेयी है, यथा—***'बिपति बीजु बरषा रितु चेरी।***

* 'पाही' पाठ लालासीतारामजीवाली प्रतिमें है और ना० प्र० में। 'माहीं'—पं० राम गु० द्वि०, वन्दन पाठकजी, काशिराज इत्यादिकी प्रतियोंमें है। पाहीं=पास। 'पाहीं' पाठ समीचीन नहीं है, क्योंकि आगेकी चौपाइयोंसे विरोध होता है। 'राउर पाहीं' का अर्थ 'राजाके पास' किया गया है। आगेकी चौपाईसे तब भाव यह होगा कि राजाको भयावन देखकर भीतर जाते डरते हैं, पर अभी वे राजाके पास नहीं पहुँचे हैं। राजाके पास पहुँचना आगे कहा गया है।

भुइँ भइ कुमति कैकई केरी॥' (२३। ५) और विषादरूप राजा हैं। भाव यह कि ये राजा-रानी नहीं हैं मानो मूर्तिमान् विषाद और विपत्ति हैं और यह स्थान राजा-रानीका नहीं है; किंतु मानो विपत्ति-विषादका निवासस्थान है। (ग) पहले विपत्ति लिखा तब विषाद; क्योंकि यहाँ पहले विपत्तिरूपा कैकेयीने आकर वास किया, पीछे विषादरूप राजा आये। जिस क्रमसे विपत्ति-विषाद आये, उसी क्रमसे गोसाईंजीने लिखा। [(घ) विपत्ति और विषादका निवास कहनेमें रूढ़िलक्षणाद्वारा 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है; क्योंकि इसमें मुख्यार्थ 'फैल रहा है' का बाध होकर 'निवास' कहा गया, जो संसारमें प्रसिद्ध है कि उनके यहाँ विपत्तिका घर हो गया है (वीर)।]

श्रीबैजनाथजी—'***धाइ खाइ*********'** इति। भाव कि राजा-रानीके निवासस्थान-सा नहीं लगता। विपत्ति और विषादका मानो यहाँ निवास है। धन-धामादि सर्वांग-सुखकी हानि, शत्रुवश और अयश-लाभादि 'विपत्ति' है, यह मूर्तिमान् कैकेयी है। इष्टहानिका असमंजस विषाद है, यह दशरथजी हैं।

पूछें कोउ न ऊतरु देई। गए जेहि भवन भूप कैकेई॥ ५॥
कहि जय जीव बैठ सिरु नाई। देखि भूप गति गएउ सुखाई॥ ६॥
सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहुँ कमल मूलु परिहरेऊ॥ ७॥
सचिउ* सभीत सकै नहिं पूछी। बोली असुभ भरी सुभ छूछी॥ ८॥

अर्थ—पूछनेपर कोई उत्तर नहीं देता (बोलता ही नहीं)। (तब वे) जिस घरमें राजा और कैकेयी थे, वहाँ गये॥ ५॥ 'जयजीव' कहकर सिर नवाकर (झुकाकर, प्रणाम करके) बैठ गये। राजाकी दशा देख वे सूख गये ६॥ (देखा कि राजा) सोचसे व्याकुल द्युतिहीन पृथ्वीपर पड़े हैं, मानो जड़से छूटा उखड़ा हुआ (जड़-रहित) कमल पड़ा है॥ ७॥ मन्त्री डरके कारण कुछ पूछ नहीं सकते। अशुभसे भरी हुई और शुभसे खाली कैकेयी बोली॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) ***'पूछें कोउ न ऊतरु देई'*** से जनाया कि महलमें बहुत-सी दासियाँ थीं; उन्हींसे पूछा कि राजा किस भवनमें हैं। किसीने उत्तर न दिया; क्योंकि सब डरती थीं कि राजा-रानी एकान्तमें हैं, वहाँ किसीके जाने योग्य नहीं है, ऐसा न हो कि हमारे बता देनेसे इनके वहाँ जानेपर हमको दण्ड मिले। (वाल्मी० और अ० रा० में ऐसा नहीं है। वहाँ तो सुमन्त्रजी सीधे राजाके पास पहुँच गये हैं)। (ख) ***'गए जेहि भवन भूप कैकेई'*** इति। पूछनेसे कोई उत्तर नहीं देता तब सुमन्त्रजी कोपभवनमें गये। इस कथनसे जान पड़ता है कि ऐसा भी कोई चिह्न वहाँ था जिससे यह जान लिया जाय कि राजा-रानी कोप-भवनमें हैं; उसीसे सुमन्त्रजीने पहचाना। प्रथम कहा कि सुमन्त्र राजमहलमें गये, फिर कहा कि जिस भवनमें राजा-रानी हैं वहाँ गये, तात्पर्य यह कि राजमहलमें अनेकों भवन हैं, उनमेंसे उस भवनमें गये जहाँ ये दोनों थे।

वि० त्रि०—सुमन्त्रजी पहले शयनागारमें गये, वहाँ राजाको न पाया। समझे कि नित्यकृत्यमें लगे होंगे, तब दास-दासियोंसे पूछते हैं, कोई बोलता नहीं। सब लख रहे कि दम्पतिको कोई बड़ा भारी असमंजस पड़ा हुआ है। कुछ भी बोलनेसे न जाने क्या अर्थ लग जाय, अतः सब एकदम चुप हैं। मन्त्री है, तुरंत लख गया कि कोपभवनमें हैं, अतः जहाँ राजा-रानी थे वहाँ चले गये।

टिप्पणी—२ [(क) ***'कहि जय जीव बैठ सिरु नाई'*** इति। 'जयजीव'—दोहा ५ (२) में देखिये। यथा—'**वर्धयन् जयशब्देन प्रणमन् शिरसा नृपम्।**' (अ० रा० २। ३। ४३) अर्थात् जय-जयकार कर उन्होंने राजाको सिर झुकाकर प्रणाम किया। यही भाव यहाँ है। बैजनाथजीका मत है कि 'राजाकी दीन दशा देखकर चिन्ताके कारण सिर नीचा करके बैठ गये। सोचमें ऐसा होता है।'] (ख) ***'देखि भूप*********'** इससे जनाया कि राजा व्याकुल पड़े थे, वे मन्त्रीसे न तो कुछ बोले ही और न उधर

* 'सचिउ'—(राजापुर, काशिराज)। 'सचिव'—भाग० दा०।

देखा ही। सुमन्त्रजीने मुखसे 'जयजीव' कहा, तनसे प्रणाम किया और राजाकी दशा देख सूख गये अर्थात् सोचवश हो गये, यह मनका धर्म है।

टिप्पणी—३ *'मानहुँ कमल मूलु परिहरेऊ'* इति। पूर्व राजाके शरीरको कल्पतरुकी उपमा देकर राजाकी उदारता दिखायी थी, यथा—*'करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता।'* (३५। १) राजाका तन सबके लिये कल्पवृक्षके समान था, यह दिखाया। और यहाँ *'मानहुँ कमल·······'* में तनकी सुन्दरता कही। सुन्दर शरीर जो कमलके समान सुन्दर था वह मलिन हो गया है। राम-वनगमनका शोच है जिससे व्याकुल हैं, व्याकुल होनेसे देहका रंग नष्ट हो गया है। जब कमल सूखता है तब काला हो जाता है; इसी तरह इनका कमलसमान लाल शरीर श्याम हो गया। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है। यहाँ रामजी मूल हैं। [रामवियोग मूलका उखड़ना है, विरह-तापसे विवरण होना राजाका सूखना है। (खर्रा, बैजनाथजी)]

प० प० प्र०—*'सोच बिकल बिबरन महि परेऊ'* इति। प्रथम भी कविने विवरण होना कहा है, यथा—*'बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहु तरु तालू॥'* (२९। ५) वज्रपात होनेसे ताड़का वृक्ष तो काला पड़ ही जाता है, पर पृथ्वीपर नहीं गिरता, खड़ा ही रहता है। और कमल जब जड़से उखाड़ा जाता है तब वह गिर पड़ता है, मुर्झा जाता है। उसके सौन्दर्य, कोमलता, प्रफुल्लता आदि सब गुण दूर हो जाते हैं, वह अत्यन्त मलिन हो जाता है। वही सब दशा चक्रवर्तीजीकी हुई।

टिप्पणी—४ *'सचिउ सभीत सकै नहिं पूछी।·······'* इति।—बिना समझे कैसे पूछें, डरते हैं कि समाचार पूछने लायक है कि नहीं। (राजाकी यह दशा देखकर डर गये हैं—रा० प्र०)। 'अशुभ भरी' कहा; क्योंकि जो बात वह बोली। जो कह रही है वह सब झूठ है, सत्य नहीं है। *'परी न राजहि नीद निसि हेतु जान जगदीसु',* यह झूठ है। नींद न पड़नेका कारण आप जानती है और कहती है कि जगदीश जानें, अर्थात् मैं नहीं जानती। पुनः कहती है कि *'रामु रामु रटि भोरु किय कहइ न मरमु महीसु'* यह भी झूठ है, सब मर्म जानती है। असत्य बोलना अशुभ है, यथा—*'नहिं असत्य सम पातक पुंजा।'* [रामराज्याभिषेकोत्साहरूपी 'शुभ' से खाली है—(पण्डितजी)] अलंकार—'मिथ्याध्यवसित'।

बैजनाथजी—१—*'सचिउ सभीत'* इति। भाव यह कि यदि कोई रोग होता तो कैकेयी उदास होती पर वह उदास नहीं है वह तो रुष्ट-सी बैठी है (कोपभवनमें है) जान पड़ता है कि आपसमें दोनोंमें कुछ असम्मत है। सुमन्त्रजीने जब स्वयं कुछ न पूछा, तब वह अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये अपनेहीसे झूठी बात बनाकर बोली। (वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जब राजा अधिक दुःख होनेके कारण कुछ बोल न सके तब अपने कार्यसिद्धिके लिये बोलनेमें चतुर कैकेयी सुमन्त्रजीसे बोली। यथा—'**यदा वक्तुं स्वयं दैन्यान्न शशाक महीपतिः। तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह॥**' (२। १४। ५९)

दो०—परी न राजहि नीद निसि हेतु जान जगदीसु।
रामु रामु रटि भोरु किय कहइ न मरमु महीसु॥ ३८॥

आनहु रामहि बेगि बोलाई। समाचार तब पूछेहु आई॥ १॥

अर्थ—राजाको रातमें नींद नहीं पड़ी; इसका कारण तो भगवान् ही जानें। राजाने राम-राम रटकर सबेरा कर दिया, परंतु इसका भेद न बतलाया॥ ३८॥ रामचन्द्रजीको शीघ्र बुला लाओ, तब आकर समाचार पूछना॥ १॥

टिप्पणी—१ भाव यह कि राजाने रातभर राम-राम रटकर सबेरा कर दिया, कुछ मर्म बताया नहीं इसीसे हमको भी नहीं मालूम हो सका कि क्या बात है। ऐसा कहकर वह भेद छिपाती है, डरती है कि मन्त्रियोंको मालूम हो जायगा तो वे तुरंत तिलक कर देंगे, क्योंकि राजा प्रथम राज्याभिषेककी आज्ञा दे ही चुके हैं।

टिप्पणी—२—'हेतु जगदीश जानें'—भाव कि ये महीश हैं, इनके हृदयकी और कौन जान सकता है? जगदीश जगत् भरके स्वामी हैं, अतः वे ही जानें।

नोट—अ० रा० में दोहेके ***'परी न राजहि नीद निसि'*** और ***'रामु रामु रटि भोरु किय'*** से मिलता हुआ श्लोक यह है—'**तमाह कैकेयी राजा रात्रौ निद्रां न लब्धवान्॥**' '**राम रामेति रामेति राममेवानुचिन्तयन्॥**' (२। ३। ४४-४५) अ० रा० की कैकेयीने राजाके अस्वस्थ होनेका कारण रात्रिमें नींद न पड़ना बताया है और वाल्मीकिकी कैकेयीने कहा है कि रामराज्याभिषेककी प्रसन्नतामें रातभर सोये नहीं अतः जागरणके कारण थककर सो गये हैं। मानसकी कैकेयी ***'कहइ न मरमु महीसु'*** और ***'हेतु जान जगदीसु'*** कहती है। झूठ तीनोंहीने कहा, तीनोंने मर्म छिपाया। ***'कहइ न मरमु महीसु'*** ये शब्द बड़े जोरके हैं, इसीसे मानसके सुमन्त्र तुरत चल देते हैं कि रामको ले आवें जिसमें दुःख शीघ्र मालूम हो जाय। वाल्मी० और अ० रा० के सुमन्त्र उसके कहनेपर भी रुके हैं, राजाके कहनेपर बुलाने गये हैं।

टिप्पणी—३—***'आनहु रामहि बेगि·······'***इति। रामचन्द्रजीको बुलानेका हेतु यह है कि राजाके सामने वनवास अंगीकार हो जाय, मुनिवेष बनाकर वे वनको चल दें। 'बेगि' क्योंकि तिलककी सब सामग्री तैयार है, तिलकका समय भी आ गया है, ऐसा न हो कि तिलक कर दें। अथवा, राजाको दुःखी देखकर यहाँसे उठा ले जायँ। तब राजाके सामने रामको वनवास कैसे करा सकूँगी। राजा अपनी ओरसे वन जानेको नहीं कहेंगे और यहाँ तो उनकी ओरसे मैं ही कह दूँगी, इत्यादि, अनेक विघ्नोंका भय कैकेयीको है। इसीसे वह बुलानेमें शीघ्रता कर रही है, और इसीसे वह कहती है कि पहले शीघ्र बुला लाओ तब समाचार आकर पूछना। समाचार पूछनेकी कोई जल्दी नहीं है।

बाबा हरिहरप्रसादजी—***'बेगि बोलाई'*** और ***'समाचार तब पूछेहु आई'*** का भाव यह कि महाराजको पीड़ा अधिक जान पड़ती है, देर हो जानेसे न जाने क्या हो जाय, इससे रामजीको जल्द बुला लाओ।

पंडितजी—१ ***'कहइ न मरमु महीसु'*** अर्थात् मैं उनकी प्राणप्रिया, सो जब मुझसे ही न कहा तो तुमसे कब कहेंगे? राम उनको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, उनसे अवश्य बता देंगे। अतएव उनको ही शीघ्र ले आओ। २—***'आनहु बेगि बोलाई'*** का भाव कि तुम भी साथ आना, केवल रामको ही न भेज देना। इस कथनका आशय यह है कि ये भी तो तिलकके सलाहकारोंमेंसे हैं ये भी जान लें, इनके आगे भी रामके वनवासका ठीक हो जाय। दोनोंका मुकाबला करा दूँ, ये दोनों वरदान पानेका हाल जान जायँ जिसमें फिर कोई बात टाल न सके।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—***'परी न राजहि·······आई'*** इति। बात अक्षरशः सत्य है, ***'बिलपत नृपहि भयउ भिनुसारा'*** नींद तो नहीं ही लगी। परमेश्वर सर्वज्ञ है, उसे सब कुछ परिज्ञात है, वह हेतु भी जानता ही है। ***'रामु रामु रटि भोरु किय'*** यह भी ठीक ही है। ***'देखी ब्याधि असाधि नृप परेउ धरनि धुनि माथ। कहत परम आरत बचन राम राम रघुनाथ॥'*** (३४) 'राम राम' राजा कहते ही थे, कैकेयीके ***'देहुँ उतरु अनु करहुँ कि नाहीं'*** कहनेपर न राजा 'हाँ' कहते हैं और न 'ना' कहते हैं, अतः ***'कहइ न मरमु महीसु'*** कहना भी ठीक ही है, फिर भी भावोपहत होनेसे कोरा-कोरा झूठ है।

कैकेयीने देख लिया कि मन्त्रीने जान लिया कि महाराज सोचसे विकल हैं और महाराजकी गति देखकर भयभीत हो गया है, कारण पूछना चाहता है, पूछनेका साहस नहीं हो रहा है। कहीं साहस करके पूछ न बैठे, और महाराज यथार्थ बात कह न दें। वह चाहती है कि यदि बात खुले तो रामजीके सामने खुले। उनके सामने खुलनेपर वे निश्चय वनको चले जायँगे। अतः जो कहती है, उसका आशय यह है कि राजाको ऐसी चिन्ता है कि रातको नींद न आयी, और वह इस प्रकारकी चिन्ता है कि मुझसे भी कहना नहीं चाहते, दूसरेसे क्यों कहने लगे। उनके बार-बार राम-नामके उच्चारणसे पता चलता है कि वह राम विषयक चिन्ता है, पर यह बतलाते नहीं मालूम होता है कि रामसे ही कहेंगे। सो रामको शीघ्र बुला लाओ, पीछे हाल-चाल पूछना। उन्हींके सामने वे कहेंगे।

चलेउ सुमंत्रु राय रुख जानी। लखी कुचालि कीन्हि कछु रानी॥ २॥
सोच बिकल मग परइ न पाऊ। रामहि बोलि कहिहि* का राऊ॥ ३॥
उर धरि धीरज गयेउ दुआरें। पूँछहिं सकल देखि मनु मारें॥ ४॥
समाधानु करि सो सबही का। गयेउ जहाँ दिनकर कुल टीका॥ ५॥

शब्दार्थ—**रुख**=इशारा, मर्जी, चेष्टासे इच्छा (जानकर)। '**मनु मारे**'=उदास, म्लान। **समाधानु**=शंका वा सन्देह निवारण, सन्तोष, निराकरण।

अर्थ—राजाका रुख जानकर सुमन्त्रजी चले, ताड़ गये कि रानीने कुछ कुचाल की है॥ २॥ सुमंतजी सोचसे व्याकुल हो गये हैं, रास्तेपर पैर नहीं पड़ता (पैर डगमगाते हैं)। वे सोचते हैं कि 'रामको बुलाकर राजा क्या कहेंगे?'॥ ३॥ हृदयमें धीरज धरकर वे द्वारपर गये। सब लोग इन्हें उदास देखकर पूछने लगे॥ ४॥ वे सबके सन्देहका निवारण करके वहाँ गये जहाँ सूर्यकुलके तिलक श्रीरघुनाथजी थे।

वि० त्रि०—***'चलेउ सुमंत्रु……का राऊ'*** इति। अयोध्यामें बहुत कुछ कार्य रुख देखकर होता है। जो स्वामीके मनमें अपना मन लगाये रहते हैं, वे ही रुख समझ सकते हैं, यथा—***'जोगवत रहत मनहि मन दीन्हे।'*** जो प्रेमी हैं वे रुख देखते हैं, जो भयभीत हैं वे भृकुटी देखते हैं, यथा—***'लोकप करहिं प्रीति रुख राखे।'*** वही लोकप रावणकी भृकुटी देखते हैं, यथा—***'भृकुटि बिलोकहि सकल सभीता।'*** सुमन्त्र मन्त्री हैं, रानीके कहनेपर नहीं गये। महाराजकी ओर देखा। रुखसे मालूम हो गया कि महाराजकी भी यही इच्छा है। अत: चल पड़े, और यह भी लख लिया कि रानीने कोई कुचाल किया है। रानीका कहना कि ***'मरमु न कहइ महीस'*** सुमन्त्रजीके मनमें बैठा नहीं। सुमन्त्रने देखा कि रानीके कोपभवनमें महाराज हैं, इससे स्पष्ट है कि रानी कुपित होकर कोपभवनमें गयी, महाराज मनानेके लिये अवश्य गये होंगे। यही बात बिगड़ी है। आज रामजीका अभिषेक है, और महाराज रामजीको बुलाना चाहते हैं। अवश्य उनसे कोई ऐसी बात कहेंगे, जो महाराजके हृदयके अत्यन्त प्रतिकूल है, और यह कहना रानीके कुचालका ही फल है। दूसरा कारण कुछ हो नहीं सकता।

रामजीके प्रति कोई ऐसी प्रतिकूल आज्ञा इन्हें देनी है कि उस दु:खसे राजाका यह हाल हो रहा है। अत: कोई घोर अनिष्ट रामजीपर दिखायी पड़ता है। मन्त्रीने अपने बुद्धि-वैभवसे परिस्थितिके विशेष रूपको तो नहीं पर सामान्य रूपको ठीक-ठीक जान लिया, अत: सोचमें ऐसे विकल हैं कि रास्तेमें पैर नहीं पड़ता, और इस बातकी चिन्ता है कि रामजीको बुलाकर राजा कौन-सी अनिष्टकारक बात कहेंगे। उस विशेष बातका पता लग जाय तो मन्त्री उचित कार्यवाही करे, नहीं तो सामान्य सन्देशहरकी भाँति रामजीको बुलाना ही कर्तव्य रह गया।

टिप्पणी—१ ***'राय रुख जानी'*** इति। यद्यपि राजा व्याकुल हैं तथापि सुमन्त्रजी उनका रुख जान गये, कारण कि सदा राजाका रुख देखते रहते थे। वे यह भी समझ गये कि रानीने कुछ कुचाल की है पर क्या कुचाल की यह न समझे। वे यह न जान पाये कि रामको बुलाकर वन भेज देगी। तात्पर्य कि यदि ये जान पाते तो कदापि रामजीको लाकर इसका सामना न कराते, अपने काबू भर और उपाय करते।

नोट—१ ऐसा जान पड़ता है कि जब रानीने रामजीको शीघ्र बुला लानेको कहा तब सुमन्त्रजीने राजाकी ओर देखा, उस समय राजाने कुछ चेष्टा की जिससे जान पड़ा कि इसमें उनकी मर्जी है कि बुला लावें। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि कैकेयीके कहनेपर कि शीघ्र जाकर बुला लाओ कुछ इसमें विचार न करो, उन्होंने यही कहा कि मैं बिना राजाकी आज्ञा कैसे जा सकता हूँ। यथा—'**अश्रुत्वा राजवचनं कथं गच्छामि भामिनि।**' (२। १४। ६२) यह सुनकर राजाने कहा कि रामचन्द्रजीको शीघ्र ले आओ, मैं मनोहरमूर्ति श्रीरामजीको देखना चाहता हूँ। यथा—'**सुमन्त्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम्।**' (२। १४। ६३)

* 'कहहिं—(लालासीताराम)। 'कहिहि'—(पं० रामगु० द्वि, वन्दन पाठक, काशिराज, भा० दा०)

पर मानसके दशरथजीने अपने मुखसे नहीं ही कहा। कैकेयीने शीघ्र बुला लानेको कहा था। इससे सुमन्त्रजीको चिन्ता हो गयी थी कि क्या बात है; अतः वे कुछ रुके और राजाकी ओर देखा। उनकी चेष्टासे अनुमति जान ली। अथवा (रा० प्र० के अनुसार) रानीकी बात सुनकर भी राजाके न बोलनेसे उनका भी सम्मत बुलानेमें समझा—'**मौनं सम्मतलक्षणम्।**' मानस कविने *'रुख जानी'* शब्द देकर अन्य ऋषियोंके मतोंकी भी रक्षा कर दी।

प्रश्न—राजा तो मनाते थे कि सबेरा न हो और कोई रामसे जाकर न कहे, तो अब रामजीको बुलानेमें अपनी मर्जी क्यों जनायी? उत्तर—वे सोचते हैं कि अब रामजी किसी न किसीसे एकाएक अवश्य समाचार पायँगे इससे अब उन्हें खबर मिल जाय यही अच्छा है, इसीसे रुख दे दिया। (पण्डितजी)

नोट—२ *'लखी कुचालि·······'* इति। मनमें अनुमान करने लगे कि कुछ कुचाल की है। भाव यह कि यह रानी तो राजाको परम प्रिय है इससे मर्म क्यों न कहते, फिर यहाँ कोई तीसरा भी न था जिसके संकोचसे राजा न कहते। इससे इसकी बातमें फरेब जान पड़ता है। (रा० प्र०) कुचाल तो बहुत बड़ी है, फिर 'कछु' क्योंकि सुमन्त्रजी सब बातोंका निर्णय न कर सके। उन्होंने अनुमान किया कि 'कुछ' है। (बै०)

टिप्पणी—२ *'सोच बिकल'*— राजाकी दशा देखकर सोच हो गया। रानीने कुछ कुचाल की है इसका सोच है। रामको बुलाकर क्या कहेंगे यह भी सोचते हैं।

टिप्पणी—३ *'उर धरि धीरज·······'* (क) व्याकुलताके मारे पैर आगे नहीं पड़ता था, इससे धैर्य धारण किया तब सामर्थ्य हुई और वे द्वारपर आये। *'गयेउ दुआरें'*— द्वारपर जाना कहा क्योंकि सबने उनको यहींसे भेजा था और यहींपर उनके आनेकी राह देखते थे। ऐसा न होता तो रामजीके यहाँ गये ऐसा लिखते, द्वारपर जानेके उल्लेखका कोई प्रयोजन न था। (ख)—पहले मन्त्रियोंको सोच था कि अबतक राजा नहीं जगे इसका क्या कारण है। जब सुमन्त्र उदास देख पड़े तब उनको अधिक सोच हुआ; अतः *'पूछहिं सकल'* सबके सब पूछने लगे। (ग)—सुमन्त्रके तन-मनमें सोचके चिह्न हैं। *'सोच बिकल मग परइ न पाऊ'* यह तनका चिह्न है, जब वे भीतरसे निकलकर द्वारपर आकर खड़े हुए तब पैरका डगमगाना यह चिह्न बन्द हुआ इसीसे लोगोंने उसे नहीं देखा, केवल मनमारे यह चिह्न देखा। अतएव *'मनमारे'* ही लिखा।

टिप्पणी—४—*'समाधानु करि पुनि·······'* इति।-सबने मन मारे देख प्रश्न किया इसीसे सबका समाधान करना कहा। [सुमन्त्रजीने कहा कि मैं राजाकी आज्ञासे रामचन्द्रजीको लानेके लिये शीघ्रतापूर्वक जा रहा हूँ। राजाके यहाँ न आनेका कारण अभी कहता हूँ और कोई बात नहीं है। यथा—'**रामं राज्ञो नियोगेन त्वरया प्रस्थितो ह्यहम्।**' (१६) '**राज्ञः संप्रतिबुद्धस्य चानागमनकारणम्**' (वाल्मी० २। १५। १८) पर वाल्मी० के सुमन्त्र बड़ी प्रसन्नताके साथ महलसे द्वारपर आये हैं और बिना पूछे उन्होंने राजाओंसे यह बात कही है। मानसके 'सुमन्त्र' 'मनमारे' देख पड़े इसीसे सब पूछने लगे। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सबके मनमें शंका उठ रही थी कि कहीं महाराज बीमार तो नहीं पड़ गये। सुमन्त्रजीने आकर सबका समाधान किया कि ऐसी कोई बात नहीं है, महाराजने रामजीको बुलाया है। मन्त्रीके कहनेसे सबका समाधान हो गया। सम्भव है कि अभिषेकके पहले कुछ शिक्षा देना चाहते हों, तत्पश्चात् सुमन्त्रजी रामजीके पास गये। (ख) *'दिनकर कुल टीका'*— जैसे तिलकसे शोभा होती है वैसे ही सूर्यकुलकी शोभा रामजीसे है। *'दिनकर कुल'* अर्थात् यह कुल स्वयं ही शोभित है, सो इस कुलको भी श्रीरामजी शोभित करनेवाले हैं।

राम सुमंत्रहि आवत देखा। आदरु कीन्ह पिता सम लेखा॥ ६॥
निरखि बदनु कहि भूप रजाई। रघुकुल दीपहि चलेउ लेवाई॥ ७॥
रामु कुभाँति सचिव सँग जाहीं। देखि लोग जहँ तहँ बिलखाहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—'**लेखा**'=माना, समझा। '**रजाई**'=आज्ञा। '**जहँ तहँ**'=इधर-उधर, सभी जगह, जो जहाँ है तहाँ ही।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने सुमन्त्रजीको आते देखा तो पिताके समान मानकर उनका आदर-सत्कार किया॥ ६॥ श्रीरामजीके मुखको देख, राजाकी आज्ञा कह, वे रघुकुलदीपक श्रीरामचन्द्रजीको लिवा ले चले॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजी मन्त्रीके साथ बुरी तरहसे जा रहे हैं, यह देख लोग जहाँ-तहाँ दु:खी हो रहे हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'आदरु कीन्ह·········'*—अर्थात् जहाँसे प्रथम देख पड़े, वहीं चलकर गये और मिले। पिताके समान सम्मान किया। (वाल्मीकीयके अनुसार महलमें अपने पास बुलाया यह आदर-सम्मान किया।)

टिप्पणी—२ (क)—*'निरखि बदनु'*—रामजी सुमन्त्रजीको पिताके समान मानते हैं और *'निरखि बदन'* से सूचित किया कि सुमन्त्रजी उनको पुत्र समान मानते हैं इसीसे मुख देखना कहा। वात्सल्यरसमें मुख देखना प्रधान है, यथा—*'जननिन्ह सादर बदन निहारे।'* (१। ३५८। ८) *'सादर सुंदर बदन निहारी। बोली मधुर बचन महतारी।'* (५२। ६) *'निरखि राम छबि धाम मुख बिगत भई सब पीर।'* (३। ३०) इत्यादि। इस रसमें पुत्र-भाव होता है। (ख)—मुख देखकर आज्ञा सुनायी। इससे जान पड़ता है कि सुमन्त्रजी बैठे नहीं क्योंकि शीघ्र बुला लानेकी आज्ञा थी। [(ग) मुखकी चेष्टा देखकर तब आज्ञा सुनायी। (खर्रा) किसीका मत है कि मुख देखा कि यदि इनको कुछ मालूम होगा तो चेष्टासे विदित हो जायगा। यह देखकर समझ गये कि इनको नहीं मालूम है।]

नोट—*'रघुकुल दीपहि'* इति। भाव कि (१) राजाका शोकरूपी तम निवारण करने चले हैं। अत: दीपक कहा। भानु न कहा, क्योंकि सम्पूर्ण शोक दूर न करेंगे। दर्शनसे कुछ प्रसन्नता होगी। दूसरे सूर्य स्वत: उदित होते हैं और दीपक दूसरेके यत्नसे प्रकाश करता है, वैसे ही यहाँ श्रीरामजी स्वत: नहीं गये, सुमन्त्रजीके लिवा जानेपर गये हैं। (पं०, रा० प्र०) (२) दीपकके चले जानेसे अँधेरा हो जाता है वैसे ही रामवनगमनसे रघुकुलमें अँधेरा छा जायगा। (३) सुमन्त्रजीने तो इतना ही अनुमान किया कि रानीने कुछ कुचाल की, पर क्या कुचाल की और उसका परिणाम क्या होगा इत्यादि सब अन्धकारमें हैं। यहाँ 'दीप' शब्द देकर सूचित किया कि जब उस भवनमें दीपकका प्रकाश पहुँचेगा तब सब कुछ प्रकाशमें आ जायगा। गीता और मानसमें ज्ञानको दीपक कहा है—'**ज्ञानदीपेन भास्वता।**' (गीता १०। ११) मानसमें ज्ञान-दीपक-प्रसंग प्रसिद्ध है। पुन: भाव कि अपने ज्ञान, वैराग्य, त्याग, पितृभक्ति इत्यादि गुणरूप प्रकाशसे श्रीरामजी रघुकुलको विशेष प्रकाशित करेंगे। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—३ *'रामु कुभाँति सचिव सँग जाहीं'*— कुभाँति अर्थात् पैदल हैं, वेष सादा है, आभूषण-वस्त्र कुछ शृंगार नहीं हैं। *'बिलखाहीं'* (दु:खी होते हैं) कि आज तो इन्हें सवारीपर शृंगारसहित जाना चाहिये था सो पैदल जा रहे हैं कुछ अनर्थ अवश्य हुआ है। ['**वाग्मिनो वन्दिनश्चापि प्रहृष्टास्त्वां नरर्षभ। स्तुवन्तो नाद्य दृश्यन्ते मंगलैः सूतमागधाः॥ न ते क्षौद्रं च दधि च ब्राह्मणा वेदपारगाः। मूर्ध्नि मूर्धाभिषिक्तस्य ददति स्म विधानतः॥ न त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः। अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तथा॥ चतुर्भिर्वेगसम्पन्नैर्हयैः काञ्चनभूषणैः। मुख्यः पुष्परथो युक्तः किं न गच्छति तेऽग्रतः॥ न हस्ती चाग्रतः श्रीमान्सर्वलक्षणपूजितः। प्रयाणे लक्ष्यते वीर कृष्णमेघगिरिप्रभः॥ न च काञ्चनचित्रं ते पश्यामि प्रियदर्शन। भद्रासनं पुरस्कृत्य यान्तं वीर पुरःसरम्॥**' (वाल्मी० सर्ग २। २६। १२—१७) के ये वचन एवम् '**यं यान्तमनुयाति स्म चतुरंगबलं महत्।**' (सर्ग २। ३३। ६) में जो कहा है वह *'कुभाँति'* का अर्थ समझिये। अर्थात् इस समय बन्दी-सूत-मागध मंगल वचनोंसे स्तुति करते हुए साथ नहीं हैं, वेदपारग ब्राह्मण मधु-दही आदि सिरपर नहीं दे रहे हैं, राजकर्मचारी आदि साथ नहीं हैं, चार घोड़ोंवाला रथ, हाथी, सोनेका सिंहासन लिये हुए सेवक, छत्र, चँवर आदि कुछ भी साथमें दिखायी नहीं देते हैं। श्रीनंगे परमहंसजी *'कुभाँति'* का अर्थ चिन्तित करते हुए लिखते हैं कि 'जैसे सदा पिताजीके पास प्रसन्नतासे जाते थे वैसे नहीं जा रहे हैं। चिन्ता दो बातोंकी थी। एक कि राजा नित्य चार बजे उठते थे सो आज आठ बज गया। दूसरी चिन्ता यह कि राजाको किस बातका कष्ट है जो हमको बुला रहे हैं। अत: उदास भावसे जा रहे हैं।] (ख) *'सचिव सँग जाहीं'* अर्थात् आज सवारीपर श्रीरामजी शृंगारयुक्त आगे चलते, पीछे-पीछे सब मंत्री

आदि चलते, ऐसा न होकर रामजी पैदल हैं और मन्त्री आगे हैं। (वसिष्ठजीने आज्ञा दी थी कि *'राम करहु सब संजम आजू'* अत: ब्रह्मचर्यादि संयमसे थे जो पूर्व कहे जा चुके हैं। मन्त्रीके आनेपर वे तुरत वैसे ही चल दिये। वै०)

दो०—जाइ दीख रघुबंसमनि नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि मनहुँ बृद्ध गजराजु॥ ३९॥

शब्दार्थ—'**निपट**'=बिलकुल, अत्यन्त। '**कुसाज**'=बुरी तरह, अस्त-व्यस्त।

अर्थ—रघुकुलशिरोमणि श्रीरामचन्द्रजीने जाकर देखा कि राजा अत्यन्त अस्त-व्यस्त पड़े हैं मानो सिंहिनीको देखकर कोई बुड्ढा गजराज सहमकर गिर पड़ा हो॥ ३९॥

प० प० प्र०—पहले *'रघुकुल दीपहि चलेउ लेवाई।'* कहा। दीपकका प्रकाश साधनोंपर अवलंबित रहता है पर मणिका प्रकाश स्वयम्भू होता है। मणिकी उपमा भक्तिको दी गयी है। यथा—*'रामभगति चिन्तामनि सुन्दर।'* (७। १२०) इस तरह यहाँ 'रघुवंशमणि' कहकर जनाया कि श्रीरामके मनमें तुरंत ही पितृभक्ति छा गयी। 'नरपति' का भाव कि जो रंकको 'नरेस' और नृपतिको देश-निकाला देनेको समर्थ थे वे ही नृपाल नृपति आज सामान्य 'नरपति' हो गये हैं। जो लोग दशरथजीकी इस दुर्दशाको नहीं जानते तथा कैकेयी जिसने अज्ञानका स्वांग लिया है वे ही 'भूप' शब्दका प्रयोग कर रहे हैं। पर वह कैकेयी भी भूप संकटमें पड़े ऐसा नहीं कहती किंतु *'संकट परेउ नरेसु'* ही कहती है।

पण्डितजी—कुसाज अर्थात् साज नहीं, छत्र, पलंग, चँवर आदि कुछ नहीं, पृथ्वीपर पड़े हैं। कैकेयी हिंसक सिंहिनी है। बड़े डील-डौलवाले राजा गजराज हैं। वह उनको लेना चाहती है। रामको वन होगा तब मानो मस्तक विदीर्णकर गूदा निकाल लेगी; अभी वे पड़े हैं, उनको अभी मारा नहीं है, अब मारेगी। वृद्ध गजराजकी उपमा दी, क्योंकि युवा हो तो भागे भी, राजा वृद्ध भी हैं और प्रतिज्ञामें फँस गये हैं। यहाँ उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

सूखहिं अधर जरइ* सब अंगू। मनहुँ दीन मनि हीन भुअंगू॥ १॥
सरुष समीप दीखि कैकेई। मानहुँ मीचु घरी गनि लेई॥ २॥

अर्थ—राजाके ओठ सूख रहे हैं और सारा शरीर जल रहा है। मानो मणिरहित होनेसे सर्प दीन-दु:खी हो रहा है॥ १॥ पास ही कैकेयीको क्रोधमें भरी हुई देखा, मानो मृत्यु घड़ियाँ गिनकर (राजाको) लेगी। अर्थात् मूर्तिमान् मृत्यु ही (राजाके मरनेकी) घड़ियाँ गिन रही है (कब समय पूरा हो कि मैं प्राण हर लूँ)॥ २॥

टिप्पणी—१ *'सूखहिं अधर जरइ·········'* इति। (क) राम-विरह अग्नि है, उसके कारण ओठ सूखते हैं और अंग जलते हैं, यथा—*'बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माँहि सरीरा॥'* (५। ३१) भुअंग मणिसे हीन है इसीसे उसे दीन कहते हैं। धनरहित होनेसे मनुष्य गरीब कहलाता है। सर्पका धन मणि है। (ख)—राजाने कैकेयीसे कहा था कि *'जिअइ मीन बरु बारि बिहीना। मनि बिनु फनिक जिअइ दुख दीना॥'* (३३। १) कविने राजाके इन दोनों वचनोंको चरितार्थ कर दिखाया है। *'कंठ सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीन दीन बिनु पानी॥'* (३५। २) इस अर्धालीमें जलहीन मीनका दृष्टान्त घटित किया और *'सूखहिं अधर जरइ सब अंगू। मनहुँ दीन मनिहीन भुअंगू॥'* में मणिहीन सर्पका दृष्टान्त घटित किया।

टिप्पणी—२ *'मानहुँ मीचु घरी गनि लेई'* इति। (क) कैकेयी रोषमें भरी हुई समीप है मानो मृत्यु घड़ी गिनकर लेगी अर्थात् मारेगी। (मृत्यु अर्थात् यमराज जब प्राण लेने आते हैं तब रोषयुक्त होते ही हैं, वे प्राण लेकर ही जाते हैं। वैसे ही रानी क्रोधयुक्त है, रामको वन भेजकर ही सामनेसे हटेगी जिससे

* 'जरइ'—(रा० प०, राजापुर, भा० दा०) 'जरइँ'—(पं० रामगु० द्वि, वंदन पाठकजी 'जरहिं'—(ना० प्र०)।

राजाके प्राण निकल जायँगे।) राजाने कैकेयीसे कहा था कि *'लोचन ओट बैठु मुँह गोई।'* उसने राजाका वचन न माना, समीप ही बैठी रही। 'समीप' का भाव कि मृत्यु इतनी निकट आ पहुँची है कि बस घड़ी गिनती है, कुछ घड़ियोंकी ही देर है उन्हींको गिन रही है। (ख)—'घड़ी गिनकर लेगी'—भाव कि बिना आयु पूरी हुए मृत्यु मार नहीं सकती, इसीसे घड़ियाँ गिनती है 'घड़ी' का भाव कि राजा अल्पकाल जियेंगे। यहाँ घड़ी अल्पकालका वाचक है, यथा—*'मुए मरत मरिहैं सकल घरी पहर के बीच।'* (दोहावली २२४)

करुनामय मृदु राम सुभाऊ। प्रथम दीख दुखु सुना न काऊ॥ ३॥
तदपि धीर धरि समउ बिचारी। पूँछी मधुर बचन महतारी॥ ४॥

शब्दार्थ—**करुणा**—मनका वह विकार है जिससे दूसरेका दु:ख देखकर मनुष्यको दु:ख हो और उसकी पीड़ाको निवारण करनेका वह तुरत उपाय करे। यथा—'**आश्रितार्त्यग्निना हेम्नो रक्षितुर्हृदयद्रवः। अत्यन्तमृदुचित्तत्व-मश्रुपातादिकं द्रवत्॥ कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्त्तिनिवारणम्। इति यद्दुःखदुःखित्वमार्त्तानां रक्षणे त्वरा॥ परदुःखानुसंधानाद्विह्वली भवनं विभोः। कारुण्यात्मगुणस्त्वेष आर्त्तानां भीतिवारकः॥**' (भ० गु० द० भा०) अर्थात् आश्रितजनोंके संकटको देखकर भगवान् श्रीरामजी इस प्रकार द्रवित हो जाते हैं जैसे अग्निसे सुवर्ण द्रवित हो जाता है। उनका चित्त अत्यन्त मृदुल होनेसे आश्रितके दु:खसे पिघल जाता है, अश्रुपातादि होने लगते हैं और वे सोचने लगते हैं कि आश्रितका दु:ख किस प्रकार निवारण करूँ, कब (कितनी शीघ्रतासे) करूँ—इस प्रकार उनके दु:खसे दु:खी होना और आश्रितोंके रक्षणमें त्वरा, उनके दु:खोंके चिन्तनसे विह्वल हो जाना—यही भगवान्का कारुण्य गुण है। यह गुण समझकर भक्त लोग निर्भय रहते हैं।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीका स्वभाव कोमल और करुणामय है, उन्होंने पहले-पहल वह दु:ख देखा जो पूर्व कभी सुना भी न था॥ ३॥ फिर भी उन्होंने धीरज धरकर और समयका विचार करके कैकेयी मातासे मीठे वचनोंमें पूछा॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) करुणामय मृदु स्वभाव है अर्थात् यदि निर्दय और कठोर स्वभाव होता तो ऐसा दु:ख सह भी सकते, पर इनका स्वभाव कोमल और करुणामय है इससे ये न सह सके जैसा कवि स्वयं ही आगे कहते हैं। यथा—*'अंब एक दुखु मोहि बिसेषी। निपट बिकल नरनायकु देखी॥'* (४२। ५) पुन:, करुणामय और मृदु दो विशेषण देकर जनाया कि उनका स्वभाव आप कोमल है और दूसरेके लिये करुणामय है, दूसरेपर करुणा होती है—'**विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाननुरूपयोः।**' *'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराईं॥'* (८५। २) ('राम' यहाँ साभिप्राय है कि जो *'राम सदा आनंदनिधानू'* हैं उन्हें दु:ख देखना पड़ा। प० प० प्र०। यह माधुर्य है) (ख) *'प्रथम दीख'* अर्थात् जो कई बार दु:ख देख लेता है तो लोग उसे फिर आनेपर सह लेते हैं, बहुत घबड़ाते नहीं, क्योंकि पहले भी उसे देख चुके हैं पर रामजीने ऐसा भारी दु:ख तो आज ही प्रथम-प्रथम देखा है। (इससे यह भी जनाया कि जबसे श्रीरामजन्म हुआ तबसे अवधमें एवं इस कुलमें कभी कोई दुर्घटना नहीं हुई, न कोई दु:खी दीन हुआ। न आजतक कैकेयीको कभी सरोष देखा था। *'सब बिधि सब पुरलोग सुखारी'* थे। साधारणतया राज्योंमें राजाकी ओरसे ऐसा प्रबन्ध रहता है कि राजकुमारके सामने कोई दुर्घटनाका दृश्य न आने पावे। गौतमबुद्धका इतिहास प्रसिद्ध ही है। पर श्रीअवधमें तो श्रीरामजन्मसे कोई दु:ख रह ही न गया था। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सरकारका स्वभाव करुणामय है। अत: महाराज दशरथकी आज्ञा है कि किसीका दु:ख इनके कानोंमें न पड़ने पावे। यथा—*'राम सुना दुख कान न काऊ। जीवन तरु जिमि जोगवत राऊ॥'* अत: किसीका दु:ख आजतक रामजीने सुन भी नहीं पाया, सो पहले पहल इनका सामना दु:खसे आज हुआ है। अत: अधीर हो उठनेकी पूरी सम्भावना थी)। *'सुना न काऊ'* अर्थात् ऐसा दु:ख कभी सुननेमें नहीं आया था, यह अत्यन्त कठोर दु:ख है। कोमलता और करुणाकी अवधि ऐसा दु:ख श्रीरामजीपर यकायक आ पड़ा, वे दु:खी हो गये, उनका धैर्य छूट गया।

नोट—*'तदपि धीर धरि'* से जनाया कि राजाकी यह दशा देखकर आनन्दनिधान श्रीरामजी भयभीत

हो गये, दुःखका कोई कारण देखनेमें नहीं आता फिर भी राजा ऐसे दुःखी क्यों हैं यह सोचकर वे अत्यन्त व्याकुल हो गये, जैसे पूर्णिमाको समुद्र क्षुब्ध हो जाता है, उनका मुख कुम्हला गया, वे दीन और शोकार्त हो गये। यथा—**'अचिन्त्यकल्पं नृपतेस्तं शोकमुपधारयन्। बभूव संरब्धतरः समुद्र इव पर्वणि॥········ स दीन इव शोकार्तो विषण्णवदनद्युतिः',** (वाल्मीकि० २। १८। ७, १०) अधीर होनेका कारण यह भी था कि राजा सदा रामको देखते ही बड़े प्रसन्न होते थे पर आज उनको दुःख हो रहा है। प्रज्ञानानन्द स्वामीजीका मत है कि भगवान् अपने भक्तका दुःख देखकर अत्यन्त दुःखी हो जाते हैं, जटायुजीका दुःख देखकर तो वे ऐसे दुःखी हो गये कि बोल भी न सके। इसी कारण दशरथजीका दुःख देखकर अतिशय दुःखी हुए।

टिप्पणी—२ ***'तदपि'*** अर्थात् ऐसे भारी दुःखको देखकर धैर्य धारण करना कठिन है तो भी। ***'समउ बिचारी'*** अर्थात् समय विचार किया कि यह समय व्याकुल होने या घबड़ानेका नहीं है, इस समय पिताको बड़ा संकट है। हमें धीरज धरकर पिताके दुःखको दूर करना चाहिये। मातासे पूछा; क्योंकि पिता मूर्छित और बहुत व्याकुल पड़े हैं। नहीं तो उन्हींसे पूछते। मधुर वचनसे पूछा जिसमें अच्छी तरहसे कारण बता दे, दूसरे रामजी तो सदा मधुर वचन बोलते ही हैं। ('महतारी'=माता। पर यहाँ इस शब्दमें एक चमत्कार और भी है जो इसका पदच्छेद 'महत+अरि' इस तरह करनेसे प्रकट होता है। अर्थात् जो राजाकी शत्रु है उस मातासे।—खर्रा।)

मोहि कहु मातु तात दुख कारन। करिअ जतन जेहि होइ निवारन॥ ५॥
सुनहु राम सबु कारनु एहू। राजहि तुम्ह पर बहुत सनेहू॥ ६॥
देन कहेन्हि मोहि दुइ बरदाना। माँगेउँ जो कछु मोहि सोहाना॥ ७॥
सो सुनि भयउ भूप उर सोचू। छाड़ि न सकहिं तुम्हार सँकोचू॥ ८॥

अर्थ—हे माता! पिताके दुःखका कारण मुझसे कहो (जिसमें) यत्न किया जाय जिससे वह दूर हो जाय॥ ५॥ (वह बोली) हे राम! सुनो। सब कारण यही है कि राजाका तुमपर बहुत प्रेम है॥ ६॥ उन्होंने मुझे दो वरदान देनेको कहा। मुझे जो कुछ अच्छा लगा वही मैंने माँगा॥ ७॥ उसे सुनकर राजाके हृदयमें शोच (शोक) हुआ (क्योंकि) वे तुम्हारा संकोच नहीं छोड़ सकते॥ ८॥

वि० त्रि०—***'मोहि कहु'*** का भाव यह कि किसीसे नहीं कहा गया। यहाँतक कि मन्त्रीसे भी नहीं कहा गया, उसे मुझसे कह। महाराजने कहनेके लिये बुलाया, सो वह तो अति विकल मूर्छितप्राय हैं, अतः मैं तेरा पुत्र हूँ, तू मुझसे कह। मैं बुलाया गया, अवश्य यह समझकर कि दुःख निवारण मेरे वशकी बात है, अतः ***'मोहि कहु।'***

रामजी आते ही एक दृष्टिमें परिस्थितिसे परिचित हो गये। महाराजको अतिविकल और रानी कैकेयीको अति क्रुद्ध देखा। अतः समझ लिया कि रानी भलीभाँति भेदसे परिचित है, इस दुःखमें इनका हाथ है। सो कह रहे हैं कि यदि महाराज कहनेमें असमर्थ हैं, तो तू बतला कि महाराजके इस दुःखका कारण क्या है?

मुझसे कह, मैं दुःख-निवारणका यत्न करूँगा। मैं पिताके लिये अग्निमें प्रवेश कर सकता हूँ, अतः मुझसे कहना प्राप्त है।

रामजीने ऐसे उत्साहवर्धक वचन रानीसे कहे कि उसे विश्वास हो चला कि रामजीसे मेरा काम निकल जायगा, अतः बोली।

नोट—श्रीरामचन्द्रजीने दो बातें कहीं। एक तो दुःखका कारण पूछा और दूसरे उपाय करनेको कहा जिससे कष्ट मिटे। कैकेयीने इन दोनों बातोंका उत्तर दिया—कारण बताया और उपाय भी। उसके कथनका व्यंगसे यही भाव स्पष्ट निकलता है कि इसके कारण तुम्हीं हो और इसका मिटना भी तुम्हारे ही अधीन है। यथा—**'त्वमेव कारणं ह्यत्र राज्ञो दुःखोपशान्तये। किञ्चित्कार्यं त्वया राम कर्तव्यं नृपतेर्हितम्॥'** (अ० रा० २। ३। ५५) अर्थात् दुःखके कारण तुम्हीं हो। उसकी शान्तिके लिये तुम्हें उनका कुछ कार्य करना होगा।

टिप्पणी—१ ऊपर रामस्वभावके लिये दो विशेषण दिये गये—करुणामय और मृदु। अब उन्हें चरितार्थ करते हैं कि कोमल है अत: दु:खका कारण पूछा और करुणामय है, अतएव निवारणका उपाय करनेको कहते हैं।

टिप्पणी—२ ***'सबु कारनु एहू राजहि·········सनेहू'*** इति। तात्पर्य यह कि स्नेह ही दु:खका कारण है। सब कारण अर्थात् दु:खके अनेक कारण हैं—(१) हमें वर देनेको कहा, हमने वर माँगा, जिसे सुनकर दु:ख हुआ। (२) तुम्हारा संकोच नहीं छोड़ सकते, यह दु:खका कारण है। (३) अपना वचन और स्नेह नहीं छोड़ सकते, यह दु:खका कारण है। सबका कारण स्नेह है। स्नेहसे वर दिया, सुनकर दु:ख हुआ सो भी स्नेहसे, तुम्हारा संकोच नहीं छोड़ते सो भी स्नेहसे और वचन सुनकर संकटमें पड़े हुए हैं, यह भी स्नेहसे, यथा—***'सुत सनेह इत बचन उत········ ।'***

टिप्पणी—३ ***'देन कहेन्हि मोहि'*** अर्थात् उन्होंने अपनी ओरसे वर देनेको कहा तब मैंने माँगा। ***'मोहि सोहाना'*** अर्थात् दूसरेको चाहे वह सुहाय, चाहे न सुहाय, पर हमको तो वही सुहाये। इससे सूचित हुआ कि निकम्मे और अप्रिय (बुरे) वर माँगे हैं, सो आगे स्पष्ट ही है कि ***'सो सुनि भयउ भूप उर सोचू'।***

टिप्पणी—४ [(क) ***'सो सुनि भयउ भूप उर सोचू'***—भाव कि उसकी सफलता तुम्हारे अधीन है, पर राजाको तुमसे कहनेमें संकोच है। यथा—**'त्वदधीनं तु तत्सर्वं वक्तुं त्वां लज्जते नृपः।'** (अ० रा० २। ३। ५७) आशय यह कि अपनी ओरसे उनके वचनको सत्य करके ही उनकी रक्षा कर सकोगे, वे कहेंगे नहीं।] (ख) ***'छाड़ि न सकहिं तुम्हार सँकोचू',*** इससे सूचित करती है कि तुम्हारे संकोचसे वे तुमको वन जानेको नहीं कहते, इससे तुमको उचित है कि राजाके वचन सत्य करो। भाव कि तुम उनके प्रिय हो, तुमसे अप्रिय कहनेका मुँह नहीं होता, तुम्हारे डरसे वे नहीं कहते। यथा—**'त्वद्भयान्नानुभाषते॥ प्रियं त्वामप्रियं वक्तुं वाणी नास्य प्रवर्तते।** (वाल्मी० २। १८। २०-२१) इससे जनाया कि जो वर मैंने माँगा है उसके लिये उन्हें तुम्हारा स्नेह, शील और संकोच छोड़ना पड़ेगा, जो वे करना नहीं चाहते।

वि० त्रि०—जो मुझे अच्छा लगा वह वर माँगा। भाव यह कि राजाको अच्छा न लगा, उनके हृदयमें शोक हुआ, यथा—***'सुनि मृदु बचन भूप उर सोकू। ससि कर छुअत बिकल जिमि कोकू॥'*** कारण यह कि राजाको तुमपर बहुत प्रेम है। अपने ऐसे प्रेमपात्रको ऐसा वचन अपने मुखसे कैसे कहें, यह संकोच है। भाव यह कि राजा इसी उधेड़बुनमें घुले जा रहे हैं। वे तुम्हें अपने मुखसे नहीं कहेंगे, साथ-ही-साथ वचनभंगका भी साधारण दु:ख नहीं है। इसी असमंजसमें पड़े हुए हैं। अब यदि तुम अपनी इच्छासे उस आज्ञाको उठा लो तो असमंजस मिट सकता है, जैसा कि आगेके दोहेसे स्पष्ट है, अभीतक कैकेयीने बात नहीं खोली है, उसका आभासमात्र दे रही है।

दो०—सुत सनेहु इत बचनु उत संकट परेउ नरेसु।
सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेसु॥ ४०॥

अर्थ—एक ओर तो पुत्रका स्नेह है और दूसरी ओर वचन—(यह समझकर असमंजससे) संकटमें पड़े हैं। (आज्ञा शिरोधार्य) कर सकते हो तो आज्ञा सिरपर धारण करो और उनके कठिन क्लेशको मिटाओ॥ ४०॥

टिप्पणी—१ (क) ***'इत सनेहु उत बचनु'*** अर्थात् न स्नेह छोड़ सकें न अपना वचन मिटा सकें। (ख) सुत स्नेहको ***'इत'*** कहती है और वचनको ***'उत'***। आशय यह कि तुमपर स्नेह विशेष है, वचनमें सामान्य है। यदि दोनोंमें बराबर स्नेह होता तो दोनोंमें ***'इत'*** कहती। यथा—***'सो सुनि रामहि भा अति सोचू। इत पितु बच इत बंधु संकोचू॥'*** (२२७। ३) रामजीके मनमें पिताके वचन और भरतका संकोच दोनों बराबर हैं, इसीसे दोनों जगह ***'इत'*** कहा। पुन:, ***'सुत सनेहु इत बचनु उत········'*** का भाव कि इस लोकके सुखके निमित्त तो पुत्रका प्रेम है और परलोक-साधनहेतु वचनका पालन है। इस संकटमें पड़े हैं, अर्थात् पुत्रको छोड़ें तो यहाँ सुख न मिलेगा और सत्य छोड़ दें तो परलोक नष्ट हो जायगा। दोनों लोक कैसे बनें इस असमंजसमें

हैं। 'सपूत' हो तो आज्ञा मानकर संकट दूर करो।' (पं०) कैकेयीने कहा कि जो मुझे भाया वह मैंने माँगा। तुम्हारे संकोचसे राजा उसे कहते नहीं। वह व्यंगसे जनाती है कि राजाको भय है कि हम तो वचन हार ही गये, पर न जाने तुम उनके वचनका पालन करोगे या नहीं, इसी संकोचसे वे कहते नहीं, धर्म-संकटमें पड़े हैं (रा० प्र०, पंडितजी)। कैकेयीने अब भी बात खोली नहीं, ढकी-मुँदी ही कही जिसमें श्रीरामजी वचनबद्ध हो जायँ तब कहूँ। (ग) ***'सकहु त'*** इस वाक्यसे सूचित होता है कि कैकेयीको विश्वास नहीं है कि रामजी राज्य छोड़कर वनको जायँगे। (इससे सूचित करती है कि पिताका वचन चाहे अच्छा हो या बुरा, तुम्हारी उससे बुराई हो अथवा भलाई, यदि तुम उसका करना स्वीकार करो तो मैं तुमसे बता दूँगी, नहीं तो राजा तो धर्मसंकटमें ही पड़े मर जायँगे तुमसे न कहेंगे। यथा—'**यदि तद्वक्ष्यते राजा शुभं वा यदि वाऽशुभम्। करिष्यसि ततः सर्वमाख्यास्यामि पुनस्त्वहम्॥**' (वाल्मी० २। १८। २५) (घ) ***'मेटहु कठिन कलेसु'*** अर्थात् राजा अपने संकटको निवारण करनेमें असमर्थ हैं, तुम मिटाओ। कैकेयी ऐसा कहकर रामजीको धर्ममार्ग दिखाती है। पिताकी आज्ञा मानो। यह धर्म है, यथा—***'पितु आयसु सब धरमक टीका।'*** पिताका क्लेश दूर करो, यह धर्म है। इस तरह कह रही है, जिनमें धर्म समझकर वे वनको चले जायँ।]

निधरक बैठि कहइ कटु बानी। सुनत कठिनता अति अकुलानी॥ १॥
जीभ कमान बचन सर नाना। मनहुँ महिप मृदु लच्छ समाना॥ २॥
जनु कठोरपन धरें सरीरू। सिखइ धनुष-बिद्या बर बीरू॥ ३॥

शब्दार्थ—**निधरक**=बेधड़क, निःशंक। **अकुलानी**=व्याकुल हुई, घबड़ा गयी। **लच्छ**=लक्ष्य, निशाना। **कठिनता**=कठोरपन।

अर्थ—कैकेयी निडर बैठी हुई कड़ुवे वचन बोल रही है, जिन्हें सुनकर (मूर्तिमान्) कठोरता भी अत्यन्त व्याकुल हो गयी। (अर्थात् उससे भी ये वचन न सुने और सहे जा सके)॥ १॥ जीभ धनुष है। वचन अनेक तीर हैं। राजा ही मानो कोमल निशानाके समान हैं॥ २॥ (ऐसा जान पड़ता है कि) मानो कठोरपन ही श्रेष्ठ वीरका शरीर धारण करके धनुर्विद्या सीख रहा है॥ ३॥

नोट—जिस प्रकार धनुर्विद्या सीखनेवाला तीर-कमान लेकर पहले मुलायम निशानोंहीपर तीर चलाकर सीखता है—बाण चलाना केलेके वृक्षको लक्ष्य बनाकर सिखाया जाता है—उसी प्रकार कैकेयी अपने तीक्ष्ण वचनोंसे राजाका हृदय बेध रही है।—(दीनजी) यहाँ अतिशयोक्ति, उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा, परंपरित रूपक और अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार हैं।

टिप्पणी—१ ***'निधरक बैठि कहइ कटु बानी।*********'** इति। (क) ***'निधरक'*** से जनाया कि उसको किसीका संकोच, डर, लज्जा नहीं रह गयी, वह ढीठ, निर्लज्ज, केवल स्वार्थसाधक और अनार्य हो गयी है।

यथा—'**उवाचेदं सुनिर्लज्जा धृष्टमात्महितं वचः।**' (वाल्मी० २। १८। १९) '*********तमार्जवसमायुक्तमनार्या सत्यवादिनम्। उवाच रामं कैकेयी वचनं भृशदारुणम्।**' (३१) अर्थात् विनयी और सत्यवादी श्रीरामचन्द्रजीसे निर्लज्ज, ढीठ, अनार्या कैकेयी अपने स्वार्थसाधनमें तत्पर अत्यन्त कठोर वचन बोली। (ख) मन्थराने कैकेयीको एक तो कपट सिखाया था; यथा—***'रचिपचि कोटिक कुटिलपन कीन्हेसि कपट प्रबोधु।'*** (१८) वही कपट रानीने राजासे किया, यथा—***'कपट सनेह बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी॥'*** दूसरे, मन्थराने कठिनता भी सिखायी थी। यथा—***'कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू।'*** उसी कठिनताको कवि यहाँ दिखा रहे हैं कि वह ऐसी कठोर हो गयी है कि उसकी वाणी सुनकर मूर्तिमान् कठिनता ही घबरा उठी। कैसी कटु वाणी है यह आगे रूपकद्वारा कहते हैं, ***'जीभ कमान********'*** (कठिनता अकुलानी कि यह तो मुझसे भी अत्यन्त कठोर है)। (ग) कैकेयीका आगे वीरका रूपक बाँधते हैं, यथा—***'सिखइ धनुष बिद्या बर बीरू।'*** वीर बैठकर निशाना मारते हैं वैसे ही कैकेयी बैठी हुई निर्भय कटु वचन कह रही है। वाणीकी अत्यन्त कटुता दिखानेके लिये कठिनताको ***'अति अकुलानी'*** कहा।

टिप्पणी—२ *'जीभ कमान बचन सर नाना।'* इति। धनुषसे तीर निकलते हैं वैसे ही जीभसे वचन निकल रहे हैं। राजा कोमल निशाना हैं अर्थात् राजाके कोमल हृदयको कैकेयीके कटु वचन बेध रहे हैं। [जीभको कमान कहनेका यह भी भाव है कि जैसे तीर चलानेमें कमान लचकती है, वैसे ही वचन बोलनेमें जीभ भी लचकती है। (रा० प्र०) *'बचन सर'* वचनको बाण कहा है और बाण लगकर हृदयमें करक उत्पन्न करते हैं। यथा—*'बचन बिनीत मधुर रघुबरके। सर सम लगे मातु उर करके॥'* (५४। १) *'बक्र उक्ति धनु बचन सर हृदय दहेउ रिपु कीस।'* (६। २३) *'तुलसी तेउ खल बचन सर हये गए न पराइ।'* (दो० ४०२) *'बचन बान सम लागहिं ताही।'* (४९। ४)] श्रीरामजीके हृदयपर इन वचनोंकी कटुताका प्रभाव नहीं पड़ता। यथा—*'रामहि मातु-बचन सब भाये। जिमि सुरसरि गत सलिल सुहाये॥'* (४३। ८) इसीसे राजाको निशाना कहा, इनको नहीं। (यद्यपि वचन इन्हींसे कह रही है। राजाको 'मृदु लक्ष्य' कहकर जनाया कि श्रीरामजी 'कठोर लक्ष्य' हैं, इसीसे उसके वचन-सरका उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इससे श्रीरामजीका स्वभाव दिखाया कि वे परम शान्त और अक्रोधी थे, इतना ही नहीं, वे कठोर वचन कहनेवालेसे भी बड़े प्रेमससे बोला करते थे।)

टिप्पणी—३ *'जनु कठोरपन धरैं सरीरू।·········'* इति। (क)—तात्पर्य कि कठोरपनके दया नहीं होती। वैसे ही कैकेयीको राजाके क्लेशपर दया नहीं है, वह बार-बार कटु वचन बोलती है। (ख) *'धरैं सरीरू'* कहनेका भाव कि आगे उसका धनुर्विद्या सीखना कहते हैं और कठोरपनके शरीर होता नहीं, तब हाथमें धनुष-बाण लेना कैसे बने? अत: उसका शरीर धारण करके धनुर्विद्या सीखना कहा गया। [कठोरपनकी ही उपमा दी; क्योंकि कोमल हृदयवाले मृदुलपर शस्त्रपात नहीं करते। (पं०, रा० प्र०)] (ग)—*'सिखइ'* का भाव कि जो नयी विद्या पढ़ी जाती है उसका अभ्यास किया जाता है। कैकेयीने अभी-अभी मन्थरासे कठोर वाणीका पाठ पढ़ा है, इसीका अभ्यास कर रही है। कठोरपन धनुर्विद्या सीखता है अर्थात् सीखनेमें बार-बार तीर चलाता है, इस कथनका तात्पर्य यह है कि कैकेयीका कठोरपन ही उसके मुखसे बार-बार कटु वचन कहलवा रहा है। (घ) *'बर बीरू'* का भाव कि श्रेष्ठ वीरके सब तीर निशानेपर लगते हैं, उसका एक वार भी खाली नहीं जाता। नये सीखनेवालेके निशाने खाली भी जाते हैं, इसीसे *'बरबीर'* की उपमा दी। भाव कि यह सीखते समय भी कभी निशानेसे नहीं चूकता। वैसे ही कैकेयीका एक भी वचनरूपी बाण राजाको बिना आघात पहुँचाये नहीं रहता। कठोरपन कटु वचनोंसे सबको मारता है, यथा—*'भरदर बरषत कोस सत बचैं जे बूँद बराइ। तुलसी तेउ खल बचन सर हए गए न पराइ॥'* इति (दोहा० ४०२)

बैजनाथजी—जैसे आड़के लिये पीछे दीवार होती है और वस्त्र मढ़ी हुई तृण आदिकी टट्टी, जिसपर पुरुषाकार प्रतिमा बनी होती है, आगे रखी जाती है, जिसपर निशाना लगाया जाता है। बाण इस टट्टीको साफ छेदकर पार निकलकर दीवारमें अड़ जाता है। वैसे ही यहाँ रामजी वह दीवार हैं, जिसमें बाण जरा भी नहीं गड़ते पर राजाको बेध डालते हैं।

सबु प्रसंगु रघुपतिहि सुनाई। बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई॥ ४॥
मन मुसुकाइ भानुकुलभानू। रामु सहज आनंद निधानू॥ ५॥

अर्थ—सब प्रसंग (व्योरा, कथा) श्रीरघुनाथजीको सुनाकर बैठ गयी, मानो निष्ठुरता शरीर धरे बैठी है॥ ४॥ सूर्यवंशके (सूर्यरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेको) सूर्य तथा स्वाभाविक ही आनन्दके खजाना श्रीरामजी मनमें मुसकुरा रहे हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) *'सबु प्रसंगु·········'* इति। पहले सब व्योरा खोलकर नहीं कहा था, यथा—*'माँगेउ जो कछु मोहि सुहावा।'* उसके मनमें थी कि ये भी अपने मुँहसे कह दें कि हम पिताकी आज्ञा सिरपर धारण करेंगे तब सब प्रसंग कह सुनाऊँगी, नहीं तो ये वनको जाना स्वीकार न करेंगे। उसने कपट किया, बात न खोली, इसीसे श्रीरामजी भी चुप रहे, कुछ न बोले; उन्होंने यह भी न पूछा कि क्या आज्ञा है, जिसे शिरोधार्य करनेको कहती हो। तब कैकेयीने यह विचारकर कि हमने बात नहीं खोली, इसीसे

श्रीरामजी चुप हैं, सब प्रसंग कह सुनाया। (ख) [*'सबु प्रसंगु'* अर्थात् देवासुरसंग्राममें राजाका बाण लगनेसे मूर्छित होना और उनकी रक्षा अपने द्वारा होनेपर दो वरदान देनेकी प्रतिज्ञा करना तथा राजाका रामकी शत शपथ करके सत्यकी प्रशंसा करके वर देनेकी प्रतिज्ञा करनेपर वर माँगना इत्यादि सब कथा। यहाँ *'रघुपति'* शब्द भावगर्भित है। इस प्रसंगमें अभीतक प्रायः 'राम' शब्दका ही प्रयोग किया गया। इस स्थानपर जहाँ श्रीदशरथजी विद्यमान हैं वहीं श्रीरामजीको 'रघुपति' कहनेमें भाव यह है कि अब दशरथजी तो 'रघुपति' रहे नहीं, (वे तो वरदानद्वारा दूसरेको राज्य दे चुके) और कैकेयी भरतजीको 'रघुपति' बनाना चाहती है पर वे भी रघुपति नहीं होंगे, श्रीरामजी ही रघुपति होंगे। पुनः कुलकी कीर्तिको अलंकृत रखनेसे ही कुलका सच्चा पालन होता है, श्रीरामजी ही अब इस कुलकी प्रतिष्ठाकी रक्षा करेंगे। अतः 'रघुपति' कहा। (प० प० प्र०)] (ग) *'मनहुँ तनु धरि निठुराई'*— भाव कि राजाको कठोरपन धारणकर वचन-बाणोंसे मारकर व्याकुल कर दिया था, अब श्रीरामजीको निष्ठुरताकी मूर्ति बनकर प्रसंग सुनाया, पर इनके हृदयमें कुछ विकार न उत्पन्न हुआ। (घ) इस प्रसंगमें कैकेयीके मन, वचन और तन तीनोंकी निष्ठुरता दिखायी है। *'निधरक बैठि कहत कटु बानी'*—निर्भय होना यह मनकी निष्ठुरता है, *'सबु प्रसंग रघुपतिहि सुनाई'*—यह वचनकी निष्ठुरता है, और *'बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई'* यह तनकी निष्ठुरता है।

टिप्पणी—२ *'मन मुसुकाइ भानुकुलभानू'* इति। मनमें मुसकाये क्योंकि मनमें पिताके वचनोंके पालन करनेका सुख हुआ। अथवा कैकेयीके वचनोंको सुनकर प्रसन्न हुए कि हमारे मनकी बात हुई।

नोट—१ *'मन मुसुकाइ भानुकुलभानू'* इति। (क) ☞श्रीरामजीका मुसकाना हँसना या बिहँसना जहाँ भी कहा गया है वहाँ इन तीन भावोंमेंसे कोई एक भाव होता है तो वे मायाको प्रेरित करते हैं या मायाको आकर्षित करते हैं अथवा अलौकिक प्रीति देखकर प्रसन्न होते हैं। यथा—*'उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना।'* (१। १९२) *'मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी।'* (१। २१६। ७) *'कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहि तव नाव न जाई॥'* (२। १०१। १) *'सुनि मुनि बचन प्रेम रस साने। सकुचि राम मनमहुँ मुसुकाने॥'* (२। १२८। १) इत्यादि। यहाँ श्रीरामजी अपनी मायाको ऐसी प्रेरणा दे रहे हैं कि जिसमें कैकेयीके विचार स्थिर रहें और दशरथजी वनगमनमें विरोध न करें। (प० प० प्र०) मुसकानेके और भाव ये कहे जाते हैं— (ख) सहज आनन्दनिधानको भी आनन्दरहित करनेकी इच्छा कर रही है। (रा० प्र०) अर्थात् समझती है कि अपना राज्याभिषेक सुनकर बड़े सुखी हुए होंगे, अब वनगमन सुनाकर इनका और इनकी माँका वह सब उल्लास मैं छीने लेती हूँ, वरदान सुनकर अब रोवें। मन्थराने कहा ही था *'सुतहि राजु रामहि बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥'* (२२। ६) अथवा (ग) सरस्वतीकी चतुराईपर हँसे। (रा० प्र०) (घ) कैकेयीकी पूर्व प्रीति आदि और इस समयकी निष्ठुरता तथा अपनी मायाका प्रभाव और भविष्य विचारकर हँसे। (वै०) वा (ङ) हँसे कि अपना भविष्य दुःख नहीं जानती कि भरतराज्यका सुख इसको न मिलेगा, कोरा कलंक ही हाथ लगेगा। और हमारे तो मनकी हुई, देवका कार्य होगा, भक्तोंसे मिलाप होगा और जो *'बिमल बंस यह अनुचित एकू'* था उस अनौचित्यसे कुल भी बच गया। (पं०) अथवा, (च) अब राजा कैकेयीके ऋणसे भी उऋण हो गये, उनकी वाणी सत्य-रंगमें रँग गयी। केकयराजसे जो प्रतिज्ञा की थी वह भी पूरी हो गयी। (मा० म०)

नोट—२ वि० त्रि०—यद्यपि सरकार सहज आनन्दनिधान हैं, फिर भी आनन्दातिरेकसे मुसकरा रहे हैं, यथा—*'नव गयंद रघुबीर मन राज अलान समान। छूट जानि बनगमन सुनि उर अनंद अधिकान॥'* वनवास सरकारको इष्ट है, पर निष्कारण सबको दुःख देकर वन जाना नहीं चाहते तो सरस्वतीकी सहायतासे यथेष्ट कारण हाथ लग रहा है इसलिये मुसकराये। प्रत्यक्ष मुसकरानेसे माता समझती कि मुझे चिढ़ा रहा है, इसलिये मन-ही-मन मुसकराये। रावणकी आज्ञा *'तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ'* पर हनुमान्‌जी भी इसी भाँति मनमें मुसकराये थे, यथा—*'बचन सुनत कपि मन मुसुकाना। भइ सहाय सारद मैं जाना॥'* लंकादाह हनुमान्‌जीको इष्ट था, परंतु आततायी नहीं होना चाहते थे। सरस्वतीकी सहायतासे उस दोषसे

विनिर्मुक्त हो गये। पूँछमें आग लगनेपर बन्दरका चारों ओर दौड़ना स्वाभाविक है, उससे चाहे आग लगे, चाहे कोई मरे। बन्दर दोषी नहीं। मनमें इसलिये मुसकराये कि प्रत्यक्ष मुसकरानेसे राक्षसोंको सन्देह होता, सम्भव था कि वे सावधान हो जाते। अत: मनमें मुसकरानेका गूढ़ कारण होना ही चाहिये।

टिप्पणी—३ ***'भानुकुलभानू'*** इति।—भाव कि ये भानुकुलकी रीतिका पालन करते हैं। सत्य और पिताकी कीर्तिमें प्रीति, यह कुलकी रीति है, यथा—***'जानहु तात तरनि कुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती॥'*** (३०५। १) ***'सहज आनंद निधानू'*** कहा, क्योंकि प्रसंग सुनकर दु:ख न हुआ। जो आनन्द किसी कारणसे होता है वह नाशको प्राप्त हो जाता है। जो स्वाभाविक है उसका नाश नहीं होता। श्रीरामजीका आनन्द स्वाभाविक है, अतएव कैकेयीके वचन सुनकर वह नाशको न प्राप्त हुआ। यथा—पूर्व श्रीरामजीको कुलके टीका, दीपक और मणि कह आये, यथा—***'गएउ जहाँ दिनकर कुल-टीका।'*** (३९। ५) ***'रघुकुल-दीपहि चलेउ लेवाई।'*** (३९। ७) और ***'जाइ दीख रघुबंसमनि·······।'*** अब यहाँ 'भानु-कुलभानु' कहा। ये विशेषण साभिप्राय हैं। श्रीरामचन्द्रजी धर्म करनेको बाहर निकले हैं, जैसे-जैसे आगे चले, तैसे-तैसे बड़ाईके विशेषण उत्तरोत्तर श्रेष्ठ लिखते आये। देखिये, जब वे घरमें रहे तब ***'दिनकर कुल-टीका'*** कहा अर्थात् सूर्यकुलके शोभित करनेवाले हैं। जब घरसे बाहर चले तब दीपक कहा, जब राजाके पास पहुँचे तब 'रघुवंशमणि' कहा और अब यहाँ जब माता-पिताकी आज्ञा अंगीकार करनेको हैं तब ***'भानुकुलभानू'*** विशेषण दिया। टीकासे दीपक अधिक, दीपकसे मणि अधिक और मणिसे भानु। दीपक और मणिसे घर और कुलहीमें प्रकाश होता, सूर्य ब्रह्माण्डभरका प्रकाशक है। सूर्यके निकलनेसे ब्रह्माण्डको सुख होता है, इसी तरह इनके बाहर (वनको) निकलनेसे ब्रह्माण्डभरको सुख होगा। (***'भानुकुलभानू'*** से यह भी सूचित किया कि ये राज्यके मोहजालमें नहीं फँसेंगे और न पिताको ***'ममता तरुन तमी अँधियारी'*** में गिरने देंगे। (प० प० प्र०)

बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषन॥ ६॥
सुनु जननी सोइ सुतु बड़ भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥ ७॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥ ८॥

शब्दार्थ—**दूषन**=दोष। **तोषनिहारा**=संतुष्ट करनेवाला। **बाग बिभूषन**=सरस्वतीको विशेष शोभित करनेवाले गहने, सरस्वतीके शृंगाररूप।

अर्थ—श्रीरामजी सब दूषणोंसे रहित निर्मल वचन बोले, जो ऐसे कोमल, मीठे और सुन्दर हैं, मानो वाणीके विशेष भूषण अर्थात् सौभाग्यतिलक ही हैं॥ ६॥ माता! सुनो, वही पुत्र बड़ा भाग्यवान् है जो पिता-माताके वचनोंमें प्रेम रखता हो॥ ७॥ माता-पिताको संतुष्ट करनेवाला पुत्र, हे माता! सारे संसारमें मिलना कठिन है॥ ८॥

१ पुरुषोत्तम पं० रामकुमारजी—***'बोले बचन बिगत सब दूषन।·······'*** इति। ऐसे वचन बोले जो वाणी सरस्वतीको भी शोभित करें। तात्पर्य कि सब दूषणरहित कोमल और सुन्दर वचनोंसे वाणीकी शोभा होती है। कैकेयीके वचनोंसे इनके हृदयमें सुख हुआ, इसीसे वाणीमें दोष न आया। यदि हृदयमें दु:ख हुआ होता तो वचनोंमें दूषण आ जाता, जो माता-पिताके वचन न मानते तो दूषण आता। सुननेमें मृदु हैं और अर्थ समझनेमें सुन्दर हैं। सरस्वती वाणीद्वारा दूसरोंको शोभित करती है और श्रीरामजीके वचन तो सरस्वतीहीको शोभित करते हैं अर्थात् इनसे सरस्वतीकी प्रशंसा होती है।

२ मानसमयंक—भाव यह है कि कैकेयीके वाणीका विभूषण श्रीरामचन्द्रजीका वचन है, क्योंकि शारदप्रेरित कैकेयीने कटु-कठोर कपटपूर्ण वचन कहकर वर माँगा कि रामचन्द्र वन जायँ। उस वचनको श्रीरामचन्द्रजीने शीशपर धारणकर पूरा किया और राजाके वचनको प्रमाण किया। यही स्वीकार रामवाणीका सार मर्म है। ध्वनि यह कि शारदाने जो दूषित वाणी कैकेयीसे कहलायी उसका विभूषण श्रीरामचन्द्रका वचन है। सन्दर्भ यह कि रामवाणी शारदाका शृंगार है।

३ पंजाबीजी—*'बाग बिभूषन'* अर्थात् जो कोई इन्हें धारण करे उसके मनको ये विभूषित करेंगे और जो इनके अनुसार चलेंगे उनकी वाणी सुशोभित होगी।

४ रा० प्र०—भाव यह कि सरस्वती जो कपट करके बोल रही है उसको ये सँवार रहे हैं।

५ प्रोफे० गौड़जी—कैकेयीने वह वाग्बाण छोड़े थे जिन्हें सुनकर कठिनता भी अकुला गयी थी। सब बातें बेधड़क कहकर जब निष्ठुर कैकेयी चुप हुई तब श्रीरघुनाथजी बोले। उसी कटुवाणीके मुकाबलेमें कोई और पुत्र होता तो सहन करनेमें असमर्थ होकर क्रुद्ध हो जाता। राजके बदले वनवासका संवाद सुनकर दुःखका वारापार न रहता और कठोर वचनोंसे आहत हो वह भी तुर्की-बतुर्की जवाब देता। परंतु राम तो सूर्यकुलके सूर्य हैं, आनन्दसिंधु सुखराशि हैं। यहाँ स्वाभाविक आनन्द लहरें मार रहा है। उसके अन्दर दुःख कहाँ? कैकेयी उनको दुखाना चाहती है पर दुखा नहीं सकती; क्योंकि वे सब दूषणोंसे विगत हैं। इसीलिये जो वचन वे बोले उनमें कठोरता नहीं है, कोमलता है। नैष्ठुर्यकी कुरूपता नहीं है, माधुर्यकी मंजुलता है। हिंसा करनेवाला वचन-शर नहीं है, प्रत्युत श्रवणाभिराम वचनका विभूषण है। इस चौपाईमें कैकेयीके कटुवचनके चित्रसे भगवान्के मृदुमंजुल वाग्विभूषणका मुकाबला किया है।

६ श्रीमंत यादवशंकर जामदारजी—गोस्वामीजीने रामजीसे बिलकुल ही व्यावहारिक परन्तु पूर्णशिक्षा-प्रचुर भाषण करवाया है। यह भाषण उनके कथनानुसार सचमुच ही 'वाग्विभूषण' (वाग्देवीका सौभाग्यतिलक) ही हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि जिस साहित्यमें ऐसे उदात्त, तात्त्विक और प्रेममय भाषण नहीं वह यथार्थमें सौभाग्यहीन ही है।

टिप्पणी—१ *'सुनु जननी·······'* इति। [(क) *'जननी'* शब्दसे सूचित किया कि श्रीरामजी श्रीकौसल्या और कैकेयीको समान मानते थे। (प० प० प्र०) इतना ही नहीं अपनी मातासे इनको विशेष मानते थे। यथा—***'कहैं मोहि मैया कहौं मैं न मैया भरत की, बलैया लैहौं, भैया! तेरी मैया कैकेई है॥ तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी·······।'*** (क० २। ३)] (ख) ***'बड़ भागी'*** से भाग्यवान् और बड़ा भाग्यवान् दोका होना सूचित होता है। धर्म करनेवाला पुरुष भाग्यवान् है और श्रेष्ठ धर्मका पालन करनेवाला बड़भागी है। पिताकी आज्ञाका पालन सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है। यथा—***'पितु आयसु सब धरमक टीका।'*** (५५। ८) पुनः, जो पुत्र पिताकी आज्ञा प्राप्तकर उसका पालन करते हैं वे बड़भागी हैं और जो पुत्र पितासे अन्य पदार्थ पाते हैं, वे ***'भागी'*** (भाग्यवान्) हैं। (अथवा, जो पुत्र पिताकी आज्ञाके बिना ही अर्थात् उनके मुखसे न कहनेपर भी उनका अभीष्ट कार्य करता है वह बड़भागी है, अर्थात् उत्तम है और जो पिताके कहनेपर करे वह मध्यम है अर्थात् केवल भाग्यवान् है। यथा—**'अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः।', 'उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः।'** (अ० रा० २। ३। ६०-६१) भाव कि आप मुझसे कहें, मैं उसे अवश्य करूँगा।) (ग) ***'जो·····बचन अनुरागी'*** इति। वचनमें अनुराग है अर्थात् जो अभिलाषी रहता है कि मुझको कुछ आज्ञा हो। ***'सोई'*** अर्थात् वही, दूसरा नहीं। इससे (वाल्मी० के **'अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके।'** (२। १८। २८) **'भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।'** अर्थात् पिताकी आज्ञासे मैं अग्निमें कूद सकता हूँ, हालाहल विषको भी खा सकता हूँ तथा समुद्रमें भी गिर सकता हूँ—ये भाव भी जना दिये।)

टिप्पणी—२ *'तनय मातु पितु तोषनिहारा।·······'* इति। ऊपर बड़भागी पुत्रका लक्षण कहा कि माता-पिताके वचनमें अनुराग करनेसे पुत्र बड़भागी होता है। और यहाँ बताते हैं कि माता-पिताको (अपने आचरणसे) संतुष्ट करनेवाला पुत्र सारे संसारमें मिलना दुर्लभ है, यदि ऐसा दुर्लभ पुत्र किसीके हो तो उन माता-पिताको परम बड़भागी समझना चाहिये। अर्थात् ऐसे पुत्रकी प्राप्तिसे माता-पिता बड़भागी होते हैं। यहाँ परस्पर अन्योन्य भाग्य-वर्णन किया। ***'सकल संसारा'*** अर्थात् देश, ग्राम, जिला, प्रान्त आदिकी कौन कहे संसारभरमें दुर्लभ है।

नोट—*'जो पितु मातु·······'* में *'पितु'* को प्रथम कहा; क्योंकि प्रस्तुत प्रसंगमें वचन पिताका ही है,

जिसका पालन करके उनमें अनुराग दिखाया है और *'तनय मातु पितु तोषनिहारा'* में *'मातु'* को प्रथम कहा; क्योंकि वन जानेसे कैकेयी ही संतुष्ट होगी और कोई नहीं, पिता तो कभी भी नहीं चाहते कि हमारे इस वचनका श्रीरामजी पालन करें, उनको तो इससे दु:ख ही होगा। कैकेयी भी सुख देनेके सम्बन्धमें अपना ही नाम प्रथम लेती है, यथा—*'जननी जनक बंधु सुत दारा।'* पंजाबीजी लिखते हैं कि रानी आज्ञा देनेमें मुख्य राजाको ही रखती है, स्वयं निर्दोष बनती है, यथा—*'सुत सनेह इत बचन उत········सकहु त आयसु धरहु सिर।'* (४०) अत: उसकी प्रसन्नताके लिये प्रभुने भी सरलतापूर्वक पिताको प्रथम कहा।

दो०—मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥ ४१॥

अर्थ—हे माता! वनमें विशेषरूपसे मुनिलोगोंसे भेंट होगी, जिसमें मेरा सभी प्रकार भला है। उसपर भी पिताकी आज्ञा और फिर आप (माता) की सम्मति है (यह तो सर्वश्रेष्ठ है। इस आज्ञाका तो अवश्य ही पालन करना मेरा कर्तव्य है।)॥ ४१॥

नोट—१ *'मुनिगन········भरत प्रानप्रिय········'* इति। वह बात श्रीरामजीने श्रीवाल्मीकिजीसे कही है। यथा—*'तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ। मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सब मम पुन्य प्रभाउ॥'* (१२५) इससे सिद्ध होता है कि श्रीरामजीके ये वचन केवल कैकेयीको प्रसन्न करनेके लिये नहीं हैं। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१ (क) मुनिगन मिलन विशेष है अर्थात् मुनियोंका मिलना तो यहाँ भी है कि वामदेव, वसिष्ठादि मुनि यहाँ बहुत हैं पर वनमें विशेष हैं और उनका विशेष संग भी होगा, अर्थात् वहाँ तो दिन-रात उन्हींका संग रहेगा। [(ख) *'सबहि भाँति हित मोर'* क्योंकि *'बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू'* (यह आगे स्वयं कह रहे हैं)। मुनिगणसे संतगण अभिप्रेत है। सुमति, कीर्ति, सद्गति, ऐश्वर्य, भलाई सबकी प्राप्ति संतोंके संगसे कही गयी है। यथा—*'मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥ सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥'* (१। ३। ५-६) बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि शबरी और जटायु—ये वात्सल्यरसके उपासक मुझपर वात्सल्य रखनेवाले, निषादराज, सुग्रीव और विभीषण ये सख्य-भाववाले और हनुमदादि सब वानर वीर दास्यरसके उपासक—ये सब वनमें ही हमें मिलेंगे। ये सब भाँतिके हमारे हित हैं जो वनमें ही मिलेंगे। पुन: *'बिसेषि बन········मोर'* से यह भी जना दिया कि इसीलिये तो हमारा आविर्भाव हुआ है। (रा० प्र०) विशेष आगेकी चौपाईमें देखिये। (ग)—अ० रा० में श्रीरामजीने पिताजीसे ऐसा ही कहा है, यथा—'**राज्यात्कोटिगुणं सौख्यं मम राजन् वने सत:।**' '**त्वत्सत्यपालनं देवकार्यं चापि भविष्यति। कैकेय्याश्च प्रियो राजन् वनवासो महागुण:।**' (२। ३। ७४-७५) अर्थात् वनमें रहनेसे तो मुझे राज्यसे भी करोड़ों गुणा सुख होगा। इसमें आपके सत्यकी रक्षा होगी, देवकार्य होगा और कैकेयीका भी प्रिय होगा। राजन्! वनवासमें महान् गुण हैं। ये सब भाव *'सबहि भाँति हित मोर'* में आ जाते हैं] (घ)—*'तेहि महँ'* अर्थात् उससे भी बढ़कर बात यह है कि उसमें *'पितु आयसु'* पिताकी आज्ञा है, यह अधिक श्रेष्ठता है। *'बहुरि'* अर्थात् उसके भी ऊपर, उससे भी श्रेष्ठ। आशय यह कि मुनियोंसे बड़े पिता, पितासे बड़ी माता। प्रमाण, यथा—'**उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥**' (मनुस्मृति) तात्पर्य कि मुनियोंके दर्शनसे और पिताकी एवं तुम्हारी आज्ञा माननेसे मेरा उत्तरोत्तर अधिक हित है।

नोट—२ यहाँ बैजनाथजी 'मुद' अलंकार मानते हैं, यथा—*'क्रम ते मुदकी शृंखला लाभ होइ मुद जानि।'* उनके मतसे यहाँ क्रमसे लाभ कहते हैं। और वीरकविका मत है कि वन जानेके लिये मुनियोंका मिलाप एक ही कारण पर्याप्त है, उसपर पिताकी आज्ञा आदि अन्य प्रबल हेतुओंका कथन 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है।

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥ १॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥ २॥

अर्थ—प्राणप्रिय भरत राज्य पावेंगे विधाता आज सब प्रकार मुझे सम्मुख (मेरे अनुकूल) हैं॥ १॥ जो ऐसे भी लाभके लिये मैं वनको न जाऊँ तो मुझे मूढ़ोंके समाजमें सबसे प्रथम मेरी गणना करना चाहिये॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँतक श्रीरामजीने चार बातें कहीं। मुनिगण-मिलन, पितु-आयसु, जननीका सम्मत और भरतको राज्यकी प्राप्ति। इन चार बातोंसे सूचित किया कि इस आज्ञाके पालनसे हमें चारों पदार्थ मोक्ष, धर्म, काम और अर्थ प्राप्त होंगे। (वन्दन पाठकजी) ***'मुनिगन मिलनु·········'*** से मोक्षकी प्राप्ति है, क्योंकि ***'सतसंगति संसृति कर अंता', 'बड़े भाग पाइब सतसंगा। बिनहिं प्रयास होइ भव भंगा॥'*** (७। ३३। ८) ***'पितु आयसु'*** से धर्मकी प्राप्ति होगी, क्योंकि ***'पितु आयसु सब धरमक टीका'*** है। ***'संमत जननी तोर'*** से कामकी प्राप्ति होगी, क्योंकि कैकेयीके ही सम्मतसे भरतको राज्य और मुझको वनवासकी आज्ञा हुई, यह दोनों मेरी इच्छाकी बातें हैं। ***'बिमल बंस'*** अनौचित्यसे बचेगा, देवकार्य सिद्ध होगा। ***'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू'*** से अर्थकी सिद्धि कही। अर्थके सिद्धिसे सुख होता है, हमारे प्राणरूप भरतको सुख होगा। पुनः, इसका आशय यह भी है कि भरतजी चौदह वर्ष हमारी ही ओरसे राज्य करेंगे, वनसे लौटनेपर राज्यका कोष और सम्पत्ति बहुत बढ़ी हुई मिलेगी, वानरराज, राक्षसराज आदि सभी अधीन हो जायँगे, इत्यादि सब अर्थकी सिद्धि है। (ख)—***'प्रानप्रिय'*** का भाव कि लोग प्राणोंके सुखके लिये यत्न करते हैं, सो बिना मेरे यत्नके ही हमारे प्राणरूप भरतको राज्य मिल गया, इससे हमको बड़ा सुख है। भरतजी प्राणप्रिय हैं—***'भरतसरिस प्रिय को जगमाहीं।'*** (७। ७) देखिये वाल्मी० २। २६ में श्रीरामजीने श्रीसीताजीसे कहा है कि भरत और शत्रुघ्न दोनों मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, यथा—**'भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम।'** (३३) (ग) ***'बिधि सब बिधि मोहि सनमुख'***= ब्रह्मा सब विधि सम्मुख हुए अर्थात् बस, अब इस लाभसे बढ़कर हमें और कुछ न चाहिये। पुनः भाव कि संसारमें तो लोग एक ही ऐसे लाभसे अपनेको भाग्यवान् और सुखी मानते हैं और हमें तो अनेकों लाभ प्राप्त होंगे तब मेरे समान भाग्यवान् कौन होगा? अतः विधिका सब प्रकार सम्मुख होना कहा। (रा० प्र०) (घ) ***'आजू'*** अर्थात् आपके मुखसे आज इसी समय चारों बातोंको सुना है। नहीं तो हम तो पूर्व पछताते थे कि ***'बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू।'*** (वन्दन पाठकजी—यहाँ अपने सगुनका फल कहा।)

टिप्पणी—२ ***'जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा·········'*** इति।—वनगमनमें चार गुण दिखा आये। अब वन न जानेके दोष दिखाते हैं कि जो वन न जाऊँ तो मूढ़-समाजमें गिना जाऊँ। समाज अर्थात् सौ, दो सौ, हजार, पाँच सौकी मंडलीमें मैं सबसे अधिक मूढ़ समझा जाऊँ। मूढ़-समाजमें जिसकी प्रथम गणना हो वह मूढ़तम या अतिशय मूढ़ कहा जाता है। आगे मूढ़का स्वरूप कहते हैं, ***'सेवहिं अरँडु कलपतरु त्यागी।·········', 'काजा'***=कारणोंसे (काममें), [मूर्ख १७ प्रकारके विश्रामसागरमें बाबा रघुनाथदासजीने गिनाये हैं—(दीनजी)। दो असम वाक्योंकी समतामें यहाँ 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है। (वीर)]

वि० त्रि०—***'जौं न जाउँ बन·········समाजा'*** इति। एक तो वन जाना ही बड़े आनन्दका विषय है, वहाँ जानेसे मेरा सभी प्रकारसे कल्याण होगा। दिन-रात मुनियोंका सत्संग रहेगा और ***'मति कीरति गति भूति भलाई। जो जेहि जतन जहाँ जब पाई॥ सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥ पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥ तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥'*** अतः वन जाना तो बड़े मंगलकी बात है। मुझे तो पिताके दुःख-निवारणके लिये घोर संकट स्वीकार था। प्रश्न उठता है कि 'तब आप बस्तीमें क्यों हैं, जंगलमें ही क्यों नहीं चले गये?' तो इसका उत्तर है कि पिता-माताके अनुरोधसे, यथा—***'नवगयंद रघुबीर मन राजु अलान समान। छूट जानि बन गमन सुनि उर अनंद अधिकान॥'*** सो अब तो पिता-माताके आज्ञापालनके लिये वन जाना है। कष्ट सहकर संसार आज्ञा पालन करता है। मैं पिता-माताकी आज्ञा भी पालन करूँगा और साथ-ही-साथ निरतिशय

सुखका उपभोग भी करूँगा। यदि कहिये कि तब राज्य तो न मिलेगा। इसका उत्तर यह है कि अपने प्रिय बन्धुओंके सुखके लिये ही लोग राज्यकी कामना करते हैं, यथा—'**येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।**' सो प्राणप्रिय भरतको राज्य मिलेगा, इस सुखसे क्या अपनेको राज्य मिलना अधिक सुखद है? सो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आज मुझे सभी सुलभ हैं, इसलिये कहते हैं कि ब्रह्मदेव आज सब विधि सम्मुख हो गये। सम्मुख तो पहले भी थे, परंतु सब विधिसे नहीं।

ऐसा अवसर जीवनमें बहुत कम आता है, इस अवसरको मैं कदापि न चूकूँगा, अवसरकी चूक मूढ़ता है, सो ऐसा अवसर मूढ़ भी नहीं चूकता। यदि मैं वन नहीं गया तो मेरी गिनती प्रथम मूढ़समाजमें होगी।

सेवहिं अरँडु कलपतरु त्यागी। परिहरि अमृत लेहिं बिषु माँगी॥ ३॥
तेउ न पाइ अस* समउ चुकाहीं। देखु बिचारि मातु मन माहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—'**अरँडु**' (एरण्ड)=रेंड़।

अर्थ—जो कल्पवृक्षको छोड़कर रेंड़को सेते हैं और अमृतको छोड़कर विषको माँग लेते हैं॥ ३॥ वे भी ऐसा मौका पाकर नहीं चूकते। हे माता! मनमें इसे विचार देखो॥ ४॥

'**सेवहिं अरँडु.........**' इति।

१—पुरुषोत्तम रामकुमार—तात्पर्य कि उन मूर्खोंको न तो कल्पवृक्ष और अमृतके गुण ही समझ पड़े और न एरण्ड और विषके अवगुण ही। कल्पवृक्ष मिलता था, उसे न लिया, उसका त्याग किया। और विष न मिला था सो उसे माँगकर पी लिया। सिद्धान्त यह कि जिनको हानि-लाभ नहीं सूझता, मरना-जीना नहीं सूझता, जो ऐसे मूढ़ हैं। प्रथम जो कहा कि ***'प्रथम गनिय मोहि मूढ़ समाजा'*** उसका अब हेतु कहते हैं कि ऐसे मूढ़ भी समय पाकर कभी नहीं चूकते तब यदि मैं चूक जाऊँ तो समझना चाहिये कि मैं इनसे भी अधिक मूढ़ हूँ। इस हेतुसे मूढ़समाजमें मेरी प्रथम गिनती होगी, जो मैं इस अवसरको हाथसे जाने दूँ।

२—पंडितजी—(क) कल्पवृक्ष सकल कामनाओंका देनेवाला है, उसको छोड़ रेंड़को सेवें तो क्या फल मिलेगा, रेंड़का फल कितने दामका? अमृत अमरपददाता है, उसे छोड़ विष माँगकर लेते हैं जो शीघ्र मृत्यु करे। ऐसे मूर्ख कि जिन्हें एकका गुण न देख पड़ा और न दूसरेका अवगुण, वे भी अवसरपर नहीं चूकते तो हम कैसे चूकेंगे। (ख) ***'देखु बिचारि.........'***—रेंड़ प्रवृत्तिमार्ग है। उसका फल विष अर्थात् विषय है। यह फल बहुत थोड़ा है, यथा—***'स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।'*** (७। ४४। १) '**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति**' (गीता)। और कल्पतरु निवृत्तिपथ है, जिसका फल अमृतरूप भगवत्-भागवतधर्म है। इसको छोड़कर रेंड़रूपी विषयको सेते हैं, जिससे अनेकों जन्म खराब हों। ऐसे लोग भी ऐसा समय पाकर कि थोड़ेहीमें सब बना जाता है, नहीं चूकते, पिताके वचनका पालन करते हैं। इससे आगे (अधिक) करना ही क्या है जो और करेगा? निवृत्तिपथ सुगम ही मिला, जिसके आगे प्रवृत्तिमार्ग छोटा है।

३-(क) पं० विजयानन्द त्रिपाठी—समयपर चूक जाना ही मूढ़ता है। कर्म त्याग-ग्रहणात्मक होता है। सो जिसने त्यागके समय कल्पवृक्षको त्यागकर रेंड़का सेवन किया, ग्रहणके समय माँगकर विष लिया और अमृतको छोड़ दिया, वह सबसे बड़ा मूढ़ है। उस कर्ममूढ़को त्याग-ग्रहणका विचार ही नहीं है, पर जो समय मेरे हाथ लगा है, उसे वह भी न चूकेगा, ऐसे अवसरको मैं कैसे चूक सकता हूँ। मुनिजनमिलन-जनित सत्संगके सुखको कल्पवृक्ष कैसे दे सकता है? माता-पिताकी आज्ञा माननेका जो सुख है वह कल्पवृक्ष कैसे देगा? प्राणप्रियको राज्य मिले और रघुकुल-रीति न टूटे, यह कल्पवृक्षका किया कैसे होगा? अत: आपका वरदान मेरे लिये तो कल्पवृक्षसे कहीं अधिक है, इसके सामने युवराजपद एरण्ड है—***'नर तन पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥'*** सो आपके वरदानद्वारा विषयसे पिण्ड छूटा, और

* 'तेऊ पाइ न समउ'—(पं० रा० गु० द्वि०)।

मुनिव्रतरूपी अमृतकी प्राप्ति हुई। अतः मेरे लिये तो ऐसा सुअवसर है कि मैं इसे चूक नहीं सकता। मुझे सहर्ष स्वीकार है। माता मनमें विचारकर देखो कि मेरे वचनमें कितना सार है। तुमने विचार नहीं किया। इसीलिये सन्देहयुक्त वचन कहती हो कि *'सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेस।'*

३ (ख)—दीनजी—अर्थात् जो भली वस्तुएँ परित्यागकर बुरीका संग्रह करते हैं वे भी।

४—पंजाबीजी—*'अस समउ'* अर्थात् निर्मल लाभ पाकर मूढ़ नहीं त्यागते तो मैं शरीरमें बल रहते परमधर्मकी प्राप्तिको क्यों त्यागने लगा।

५—'शिला'—एरंडतरु संसारमें होता है। उसका फूल-फल ऊपर होता है, फलमें रसरूप तेल होता है जो अशुद्ध है, देवमन्दिरमें नहीं जलता। राज्यपद रेंड़के समान है, जिसमें अनेक राजाओंको जीतनेका कर्तव्य-विचार ही फूल है, विजय फल है, प्रजासे कर लेकर भोग करना ही रसपान है, जिसे पीकर उन्मत्त हो कितने ही राजा ईश्वर-विमुख हो गये, जैसे जरासंध इत्यादि। वनमें मुनिगण-मिलन कल्पतरु सब फलों (मनोरथों) का दाता है, भगवत्कथाश्रवण अमृत है जो भवरोगनाशिनी ईश्वरसम्मुखतारूपी अमृतपदकी देनेवाली है। घरकी अनेकों विषयसम्बन्धी वार्ताएँ विष हैं, जिससे ईश्वर-विमुखतारूपी मरण होता है।

६—वीरकवि—यहाँ रामचन्द्रके इस कथनका मुख्य प्रयोजन यह है कि मुझे अवश्य वन जाना चाहिये और जाऊँगा। परंतु ऐसा न कहकर वे कहते हैं कि ऐसा मौका पाकर इस प्रकारके मूर्ख भी न चूकेंगे। वन जानेकी स्वीकृति कारण है। कार्यके बहाने कारणका कथन 'अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार' है।

नोट—१ *'देखु बिचारि'* इति। कैकेयी सन्देहयुक्त वचन बोली थी कि जो पिताकी आज्ञा सिरपर धर सको तो धरो। इसीके उत्तरमें श्रीरामजी कहते हैं कि 'हे माता! तुम मनमें विचार देखो कि जब समय पाकर ऐसे मूढ़ नहीं चूकते तो हम क्यों चूकेंगे? मैं अवश्य वन जाऊँगा।

अंब एक दुखु मोहि बिसेषी। निपट बिकल नरनायकु देखी॥ ५॥
थोरिहि बात पितहि दुख भारी। होति प्रतीति न मोहि महतारी॥ ६॥
राउ धीरु गुन उदधि अगाधू। भा मोहि तें कछु बड़ अपराधू॥ ७॥
जातें* मोहि न कहत कछु राऊ। मोरि सपथ तोहि कहु सति भाऊ॥ ८॥

शब्दार्थ—'**उदधि**'=समुद्र, सिन्धु। '**गुन-उदधि-अगाधू**'=गुणोंके अथाह समुद्र, अत्यन्त गुणी।

अर्थ—हे माता! राजाको अत्यन्त व्याकुल देखकर मुझे एक बड़ा दुःख हो रहा है॥ ५॥ एक जरा-सी ही बातके लिये पिताको इतना भारी दुःख हो इस बातका विश्वास, हे माता! मुझे नहीं होता (अर्थात् उनके दुःखका कारण कुछ और अवश्य है, केवल वनवास ही नहीं)॥ ६॥ राजा बड़े धीर और गुणोंके अथाह समुद्र हैं। मुझसे (अवश्य) कोई बड़ा अपराध हो गया है॥ ७॥ जिससे राजा मुझसे कुछ नहीं कहते। तुम्हें मेरी सौगंद है, सच-सच कहो॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'एक दुखु मोहि बिसेषी'* अर्थात् वन जानेमें हमें दुःख नहीं है, भरतके राज्य पानेका दुःख नहीं है। राजा अत्यन्त व्याकुल हैं इसीका हमको विशेष दुःख है। [भाव कि आपका माँगा हुआ वरदान तो सर्वथा मेरे लिये सुखकारी है। उसमें मेरे लिये दुःखकी कोई बात नहीं है। बलवान् दुःख तो मुझे दूसरा हो रहा है। नरनाथको निपट विकल देखकर किसे दुःख न होगा, पर मुझे विशेष दुःख है; क्योंकि उसका कारण मैं ही मालूम होता हूँ। वरदान कारण हो नहीं सकता; क्योंकि उससे अपने ही हितके लिये थोड़े दिनोंतक विछोह रहेगा, पर ऐसा अवसर तो पहले भी मखरक्षण-प्रसंगमें आ चुका है, उस समय तो ऐसी विकलता नहीं थी। इतनी छोटी बातके लिये इतनी विकलता हो नहीं सकती। तू माता है, इस बातको समझ सकती है। माताको पितासे कम ममता नहीं होती। (पं० विजयानन्द त्रिपाठी)]

---

* यह पाठ राजापुर, काशिराज, पं० रामगु० द्वि०, भागवतदास इत्यादिका है। ना० प्र० में 'ताते' पाठ है।

(ख) *'थोरिहि बात'*—रामचन्द्रजीने वन-गमनसे अपना बड़ा लाभ बताया है, यथा—*'मुनिगन मिलन……'* इत्यादि। इसीसे वे उसको थोड़ी (तुच्छ बात) बताते हैं। *'निपट बिकल'* कहकर फिर भारी दु:ख कहा, अर्थात् निपट विकलका अर्थ स्पष्ट किया कि भारी दु:ख है। (पंजाबीजी लिखते हैं कि 'थोड़ी बात' का भाव यह है कि हमारे पिताके चार पुत्र हैं। उनमेंसे एक यदि विदेश (वन) जाय तो क्या? उसपर भी जब वह जानेमें प्रसन्न है तब तो, कुछ भी बात न रह गयी। हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि सत्य रखनेके लिये तो लोगोंने अनेक संकट सहे हैं, उसके आगे पुत्रादि तृणके समान हैं, अतएव सत्य रखनेके लिये हमारे वन जानेका सोच क्या करना? थोड़े ही दिनका तो वियोग है। देखो हरिश्चन्द्रादि हमारे पूर्वजोंने सबकी रक्षाके लिये स्त्री-पुत्र, धन-धाम सर्वस्वका त्याग करके भी दु:ख न माना और मुझे तो केवल चौदह वर्षका वनवास मात्र है, इतने ही दिनके त्यागमें तो भारी दु:ख न होना चाहिये।) (वै०)

नोट—१ *'राउ धीरु गुन उदधि अगाधू।……'* इति।—*'धीरु'* कहनेका भाव कि—(क) समुद्र उछलता है, शब्द करता है, राजा गुणोंके समुद्र हैं पर वे अपने गुणोंको जानते नहीं, ऐसे धीर हैं (पं० रा० कु०)। (ख)—राजा धीर हैं तो मेरे त्यागनेमें वे अधीर कैसे होंगे? गुणके अथाह समुद्र हैं तो असत्यजनित अवगुण (दोष) कैसे धारण करेंगे। अतएव तुम्हारे उत्तरमें मुझे प्रतीति नहीं होती। (वै०, रा० प्र०) मुझसे कोई बड़ा अपराध हुआ है अर्थात् हमने जानकर कोई अपराध नहीं किया।

नोट—२ *'जातें मोहि न……'* इति।—अर्थात् उस अपराधके कारण मुझसे कुछ नहीं कहते। तात्पर्य यह कि धीर और गुण सिन्धु हैं, इससे अपराध नहीं कहते, यथा—*'कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥'* (१। ५८। २) मुझसे नहीं कहते पर तुमसे अवश्य कहा होगा; अत: तुम मुझसे 'सतिभाव' से कहो अर्थात् दुराव न करो, सत्य-सत्य कह दो। (पं० रा० कु०) पुन:, मुझसे कोई बड़ा अपराध हुआ, इसीसे वे मुझसे नहीं बोलते, न अपना हाल कहते हैं, उस अपराधके कारण दु:सह दु:ख सह रहे हैं।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—*'राउ धीर' 'सतिभाउ'* इति। महाराज धीर हैं। विकारके कारणकी उपस्थितिपर भी चित्तमें विकार न होना 'धीरता' है। मेरे सामान्य अपराधसे ऐसी धैर्यच्युति नहीं हो सकती। महाराज अगाधगुण-उदधि हैं, इसलिये मेरा अपराध प्रकट नहीं कर रहे हैं और मैंने जान-बूझकर कुछ किया नहीं है। मुझे मालूम होना चाहिये कि मुझसे कौन-सा अपराध बन पड़ा। तुझसे अवश्य कहा होगा और तू वरदानके बहानेसे बात छिपा रही है। मैं तेरे बेटोंमें सबसे प्यारा हूँ, तुम्हें मेरी शपथ है, सत्य-सत्य बतला दे।

नोट—३ यह प्रसंग वाल्मी०, अ० रा० आदिमें ऐसा नहीं है जैसा मानसमें। वाल्मीकीय आदिके प्रेमी इसको स्वयं देख लें। '**किन्तु राजा न वक्तीह मां न जानेऽत्र कारणम्।**' (अ० रा० २। ३। ६७) (अर्थात् किंतु इसका कारण मालूम नहीं होता कि महाराज मुझसे क्यों नहीं कहते) तथा '**कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद्येन मे पिता। कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वमेवैनं प्रसादय॥**'(वाल्मी० २। १८। ११) (अर्थात् मैंने अज्ञानसे भी पिताका कोई अपराध नहीं किया, अत: पिता जिस कारणसे कुपित हैं वह तुम कहो और तुम्हीं उनको मुझपर प्रसन्न करो) एवं '**अलीकं मानसं त्वेकं हृदयं दहते मम। स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम्॥**' (२। १९। ६) (अर्थात् यह एक दु:ख मेरे हृदयको संतप्त कर रहा है कि स्वयं महाराजने भरतके अभिषेकके सम्बन्धमें मुझसे क्यों न कहा?) पाठक इन उद्धरणोंका मिलान मानसके श्रीरामजीके वाक्योंसे करें तो मानसकी किंचित् छटा भी इनमें न मिलेगी।

दो०—सहज सरल रघुबर बचन कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जल* बक्र गति जद्यपि सलिलु समान॥ ४२॥

---

* राजापुर, काशिराज, पं० रामगुलाम द्वि०, भा० दा० की प्रतियोंमें यही पाठ है। ना० प्र० ने 'जोंकजिमि' पाठ दिया है। वन्दन पाठकजीके हाशिये पर 'जिमि' लिखा है।

शब्दार्थ—'**बक्र**'=टेढ़ा। '**सलिल**'=पानी, जल। '**समान**'=सीधा, सम, बराबर।

अर्थ—रघुकुलमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीके स्वाभाविक ही सीधे-सादे वचनोंको दुर्बुद्धि कैकेयीने टेढ़ा ही करके अर्थात् टेढ़ा समझा। जैसे यद्यपि जल समान ही रहता है, पर जोंक उस जलमें टेढ़ी चालसे ही चलती है॥४२॥

टिप्पणी—१ ***'सहज सरल……।'*** अर्थात् वे वचन बनाकर नहीं कहते, वचन बनाकर कहें तो वचन झूठे हों और रघुवंशी झूठ नहीं बोलते, यथा—***'सत्यसंध तुम रघुकुल माहीं'*** और ये तो रघुकुलमें श्रेष्ठ हैं, रघुवर हैं, ये कैसे झूठे बनाये हुए कुटिल वचन कहते? ***'सहज सरल……'*** यथा—***'सहज सरल सुनि रघुबर बानी। साधु साधु बोले मुनि ग्यानी॥'*** (१२६।७) ***'सरल सबल साहिब रघुराजू', 'लखि सिय सहित सरल दोउ भाई।'*** (२५२।५) श्रीरामजी सरल हैं, वैसे ही उनके वचन हैं। कैकेयीकी मति कुत्सित है, इसीसे वह इनके सरल वचनोंको कुटिल मानती है। इसीको कवि दृष्टान्त देकर स्पष्ट दिखाते हैं। जलमें दोष नहीं है, जोंकमें दोष है, जो समान जलमें टेढ़े चलती है। इसी तरह श्रीरामजीके वचनोंमें दोष नहीं है, कैकेयीकी कुमतिका दोष है।

पंडितजी—'वचन सरल है तो कोई उसे कुटिल क्यों जानेगी? इन दोनों बातोंके निर्वाहके लिये जल और जोंकका दृष्टान्त दिया। वाणी तर्कसे भरी हुई है, अतः कैकेयी कुटिल समझती है।'

नोट—इन वचनोंमें क्या कुटिलता उसको जान पड़ी? उत्तर—(१) उसने समझा कि हमें अपने कोमल वचनोंसे रिझाकर वे चाहते हैं कि वनवास न दूँ, पर मैं उनके वचनोंमें भूलनेवाली नहीं। (पंजाबीजी) (२) जैसे कोई अपने वैरीको दण्ड देना चाहे और वैरी दण्ड सुनकर खुश हो। यह देखकर दण्ड देनेवाला उसकी बातोंमें भूलकर उसे दण्ड न दे। वही छल-चातुरी इनके वचनोंमें है। ये हमें भ्रममें डालने, भुलावा देनेके लिये वनवासको सुखरूप कह रहे हैं कि जिससे इनको वन न जाने दूँ अथवा इसको सुखरूप जान मैं अपने पुत्रके लिये वनवास माँग लूँ, सो यह होनेका नहीं, मैं सब समझती हूँ कि पट्टीदार भाईको राज्य और वनवासमें क्या सुख हो सकता है, यह तुम्हारी चतुराई है,तुम्हें अवश्य वन भेजूँगी। (बाबा हरिदास और हरिहरप्रसादजी) (३) एक उत्तर ऊपर पं० रामकुमारजीने कहा है कि वह अपनी कुमति, कुटिलता या नीचताके कारण इन वचनोंमें कुटिलता देखती है। जो जैसा होता है दूसरा भी उसे वैसा ही सूझता है। (४) बैजनाथजी लिखते हैं कि कैकेयी सोचती है कि ये वन जाना नहीं चाहते तभी तो चाहते हैं कि महाराज स्वयं कहें और वे कहेंगे क्यों? इन्हें सत्य ही जाना होता तो मेरे ही कह देनेपर चल देते। अतः वह अपनी कुमतिके कारण कुटिल समझती है, जैसे जोंककी टेढ़ी चाल उसका स्वभाव ही है।

वि० त्रि०—कैकेयीको कुमति हो गयी है, इसलिये वह सीधी बातको भी टेढ़ी समझती है। सरकारने कहा कि ***'अंब एक दुख मोहि बिसेषी। निपट बिकल नर नायक देखी॥'*** सीधी-सी बात है पर वह अर्थ लगाती है कि मैं पुत्र होकर नरनायकके दुःखसे विशेष दुःखी हूँ और तू अर्धांगिनी होनेपर भी नरनायकके लिये दुःखी नहीं है। सरकार कहते हैं कि ***'थोरिहि बात पितहि दुख भारी। होति प्रतीति न मोहि महतारी॥'*** इस सीधी-सी बातका वह अर्थ लगाती है कि जिस बातसे बाप होकर वे इतने दुःखी हैं उस बातसे तू 'माँ' होकर दुःखी नहीं है, क्या माँको ऐसा ही होना चाहिये? सरकार कहते हैं कि ***'राउ धीर गुन उदधि अगाधू। भा मोहि ते कछु बड़ अपराधू॥'*** कैकेयी अर्थ लगाती है कि इनके ऐसा कहनेका अर्थ है कि मेरा कहीं कुछ भी अपराध नहीं है। निरपराधको वनवास देना क्या धर्म है। इसीसे पिताजी दुःखी हैं। भला तू ही बता दे कि मैंने क्या अपराध किया है? सरकार कहते हैं कि ***'ताते मोहि न कहत कछु राऊ। मोरि सपथ तोहि कहु सति भाऊ॥'*** वह रामजीके कहनेका यह अर्थ लगाती है कि अपराध मेरा तो कुछ है ही नहीं, ये राजा हैं निरपराधको वन जानेको कैसे कहें; इसलिये महाराज मुखसे मुझसे कुछ नहीं कहते। तुम्हें निरपराध-सापराधका विचार कुछ नहीं है। तू कहती है कि ***'सकहु त आयसु सीस धरि मेटहु कठिन कलेस।'*** अपनी शपथ इसलिये देते हैं कि मैं तुम्हारा बड़ा प्यारा हूँ, तू कहती थी कि ***'भरत न मोहि प्रिय राम समाना।'*** आज यह क्या करने जा रही हो?

(५) विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'रामचन्द्रजीके सहज वचन ये हैं कि जो मैं पिता-आज्ञारूपी कल्पतरुको छोड़ अरंडरूपी राज्यको चाहूँ और अमृतरूपी भरत-राज्यको देखकर विरोधरूपी विषका अवलम्बन कर उनसे रार ठानूँ तो मेरे समान मूर्ख कोई न होगा। इस अभिप्रायको कैकेयीने अपनी दुर्बुद्धिके कारण कदाचित् यों समझ लिया कि रामचन्द्रजी कहते हैं कि राजा मुझ कल्पतरुको त्याग वरदानरूपी अरंडके वृक्षका सेवन करते हैं और अमृतरूपी राज्यके स्थानमें विषरूपी वनवास चाहते हैं, यही कैकेयीकी भूल है। (६) दीनजी— रामजीने 'महतारी' शब्द माताके अर्थमें कहा है, कैकेयी उसे व्यंग समझकर 'महत—अरि' के अर्थमें लेती है, अत: उसे रामके सरल वचन कुटिल जान पड़े। (७) बैजनाथजी लिखते हैं कि रामचन्द्रजीके ***'सेवहिं अरँड कलपतरु त्यागी'*** इत्यादि वचनोंमें यह व्यंग है कि मेरा रूप कल्पवृक्ष त्यागकर तुम अपयश अरंडको सेती हो, मेरा स्नेह और पतिव्रतरूप अमृतको त्यागकर तुमने विपत्तिरूपी विष माँगा, यह मूढ़ता है। सो ऐसी मूढ़ता होनेपर भी तुम न चूकीं, तुमने हमें वन दे सौतको दण्ड और पुत्रको राजप्राप्ति देख उस वरके माँगनेमें किंचित् संकोच न किया।

८ वि० त्रि०—सरकारकी शुद्ध सात्त्विकी बुद्धि है, उन्होंने अपने मनोभावको ज्यों-का-त्यों शब्दोंमें व्यक्त कर दिया, पर कैकेयीकी बुद्धि तामसी हो रही है, उसे सब बातें उलटी ही समझमें आ रही हैं, यथा—'**अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥**' (गीता। १८। ३२) उसने समझा कि सब बातें गुथी-मथी हैं। तभी न जो बात राजाने कही वही यह लड़का (रामजी) भी दूसरे शब्दोंमें कह रहा है। राजाने कहा था कि ***'कहि तजि रोष राम अपराधू। सब कोउ कहहिं राम सुठि साधू॥'*** यह भी भलीभाँति अपनी साधुता दरसाता हुआ अपना अपराध पूछ रहा है। जिसमें अपराध कहते ही जाँच-पड़ताल आरम्भ हो जाय और प्रवाह ही दूसरा बह चले।

जोंककी गति ही टेढ़ी है, जलमें टेढ़ापन नहीं है। परंतु वह अपनी कुटिलताका आरोप जलमें ही करती है, उसे जलमें ही टेढ़ापनका भान होता है। इसी भाँति कुटिल कैकेयीको सहज सरल रघुवर-वचनमें कुटिलताका भान हो रहा है।

रहसी रानि राम रुख पाई। बोली कपट सनेहु जनाई॥ १॥
सपथ तुम्हार भरत कै आना। हेतु न दूसर मैं कछु जाना॥ २॥
तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता। जननी जनक बंधु सुखदाता॥ ३॥
राम सत्य सबु जो कछु कहहू। तुम्ह पितु मातु बचन रत अहहू॥ ४॥

शब्दार्थ—**रुख**=मन, मंशा, रुचि। **जनाई**=दिखाती हुई। **आना** (आन। सं० आणि=मर्यादा, सीमा)= शपथ। **जोग**=योग्य, लायक। **ताता**=हे तात! मेरे प्यारे! हे प्रिय! **रत**=अनुरक्त, प्रेम रखनेवाले, अनुरागी, तत्पर, माननेवाले।

अर्थ—रानी श्रीरामजीका रुख पाकर (कि पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करेंगे) हर्षित हुई और कपटसे भरा हुआ स्नेह दिखाती हुई बोली॥ १॥ तुम्हारी शपथ और भरतकी सौगंद! मैं दूसरा कुछ भी कारण नहीं जानती॥ २॥ हे तात! तुम अपराधके योग्य नहीं हो, तुम तो माता, पिता और भाईको सुख देनेवाले हो॥ ३॥ हे राम! तुम जो कुछ कह रहे हो वह सब सत्य है। तुम (सत्य ही) पिता-माताके वचनोंमें अनुराग रखते हो॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'रहसी रानि········'* इति। कैकेयीको पहले सन्देह था कि यदि राम वन न जायँ तो कोई कुछ कर नहीं सकता। राजा यही बात महादेवजीसे माँगते हैं, यथा—***'बचनु मोर तजि रहहिं घर परिहरि सील सनेह।'*** (४४) इसीसे कैकेयीने जब श्रीरामजीका रुख वन जानेका पाया तब उसे हर्ष हुआ। ***'सनेहु जनाई'*** अर्थात् उसके हृदयमें स्नेह नहीं है, वह ऊपरसे स्नेह प्रकट करती है, जिसमें मेरा कहना मानें।

पण्डितजी—कैकेयी प्रसन्न हो, इसीसे रामजीने पहले वन जानेमें अपना लाभ कहा और भरतराज्यसे सुख होना पीछे कहा, वही हुआ। विपरीत हर्ष है अतः *'रहसी'* पद दिया। दोहा ४ (१) देखिये।

टिप्पणी—२ *'सपथ तुम्हार भरत कै आना……'* इति। श्रीरामचन्द्रजीने कहा था कि *'मोरि सपथ तोहि कहु सति भाऊ'* इसीसे वह अपनी सचाई जनानेके लिये भरतसहित रामजीकी शपथ करती है। भरतकी शपथ भी की, जिसमें रामजी जानें कि भरतके समान ही हमपर भी यह स्नेह रखती है।

टिप्पणी—३ (क) *'तुम्ह अपराध जोगु नहिं……'* यह श्रीरामजीके *'भा मोहि ते कछु बड़ अपराधू'* का उत्तर है। और, *'तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर'* एवं *'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू'* इन वचनोंके उत्तरमें *'जननी जनक बंधु सुखदाता'* कहा। कैकेयीके इन वचनोंसे उसके हृदयकी बात झलक रही है कि श्रीरामजी माता-पिताका वचन मानकर वन जायँ और भरत राज्य करें। जननी-जनकके वचन मानकर वन जाओगे इससे उनके सुखदाता हो और भरतराज्यमें विघ्न न डालोगे इससे बन्धु-सुखदाता हो। (ख) श्रीरामजीने *'सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो……'* इत्यादि जो कुछ कहा था उन सब वचनोंको कैकेयी अपने *'राम सत्य सब……'* इन वचनोंसे पुष्ट कर रही है, जिसमें श्रीरामजी वन जायँ, बदलें नहीं। *'सत्य सब'* का यही अभिप्राय है कि तुम जो कहते हो, वही करते हो, तुम झूठे नहीं हो।

नोट—यहाँ कैकेयी झूठा छोह प्रकटकर अपनी वचन-चातुरीसे आन्तरिक डाह छिपाकर रामचन्द्रजीको ठगना चाहती है, यह 'युक्ति' अलंकार है। कैकेयीकी बातोंमें अपना मतलब गाँठनेकी चतुराई भरी है, जिसमें रामचन्द्रजीको वनयात्रा अस्वीकृत न हो जाय, इसीसे वह प्रत्यक्षमें उनकी बड़ाई करती है। (वीर)

पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथे पन जेहि अजसु न होई॥ ५॥
तुम्ह सम सुअन सुकृत जेहि दीन्हे। उचित न तासु निरादरु कीन्हे॥ ६॥

शब्दार्थ—**बुझाइ**=समझाकर। **बलि**=बलैया लेती हूँ, बलिहारी जाती हूँ, तुम्हारी बलि जाऊँ। **सुअन** (सं० सूनु)=पुत्र, लड़का। **चौथे पन**=चतुर्थ अवस्था, बुढ़ापा।

अर्थ—मैं बलिहारी जाती हूँ! तुम पिताको समझाकर वही बात कहो, जिससे बुढ़ापेमें उन्हें अपयश न हो॥ ५॥ जिस पुण्यने उन्हें तुम्हारे-से पुत्र दिये उसका निरादर करना ठीक नहीं॥ ६॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकु० *'बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथे पन……'* इति। (क) अर्थात् तुम्हारी बलिहारी है, तुम धर्मको समझते हो। अतः तुम पिताको धर्मकी बात समझाओ। वे तुम्हारे स्नेहमें विकल हैं, इसीसे वे धर्मको नहीं देखते और न अपयशको डरते हैं, अतएव समझाकर कहो। (ख) पुनः, भाव कि कैकेयी ऊपरसे श्रीरामजीको धर्मात्मा कहकर बलिहारी गयी; भीतरका अभिप्राय यह है कि अपने कार्यके लिये व्याकुल है, इसी निमित्त बलिहारी जाती है। (ग) *'चौथे पन'* अर्थात् तीन पन तो धर्मसे बीते अब चौथापन वृद्धावस्था मरणका समय है, मरते समय धर्म न छोड़ें। धर्म छोड़नेसे पाप होगा और पापसे अपयश, यथा—*'बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।'* (७। ११२। ७) (घ) *'सोई'* से यह भाव भी निकलता है कि जो तुमने हमसे कहा वही उनसे भी कहो।

टिप्पणी—२ (क) *'तुम्ह सम सुअन……'* इति। तुम्हारे समान पुत्र दिये, ऐसा कहकर श्रीदशरथजी महाराजके सुकृतोंकी सुन्दरता कही। इनके सुकृत अत्यन्त सुन्दर हैं, तभी तो उनसे इनको सुन्दरताकी अवधि अत्यन्त श्रेष्ठ पुत्र तुम मिले, यथा—*'दसरथ सुकृत रामु धरे देही।'* (१। ३१०। १) (ख)—*'उचित न तासु निरादरु कीन्हें'*— भाव कि सुकृतने यह बड़ा भारी उपकार किया है। उपकारीका आदर करना उचित है, निरादर करना अयोग्य है। समस्त सुकृतोंका मूल सत्य है, यथा—*'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए॥'* (२८। ६) अतएव सत्यके परित्यागसे सभी सुकृतोंका अपमान होता है। प्रथम अपयश लेनेको मना किया, यथा—*'पितहि……जेहि अजस न होई'* और अब यश लेनेको कहती है। सुकृतके निरादर न करनेसे यश होता है, यथा—*'पावन जस कि पुन्य बिनु होई।'*

नोट—सुकृतका निरादर यह है कि जो वचन दे चुके उसका हर्षपूर्वक पालन नहीं करते, वरदान देनेको कहकर देते समय तनमें पुलक और मनमें हर्ष और उत्साह होना चाहिये; ऐसा न होनेसे जन्म व्यर्थ हो जाता है। यथा—*'.........देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन ते जग जीवत जाय॥'* (दो० ४२) राजा हर्षित न होकर शोचवश हो गये हैं, पश्चात्ताप कर रहे हैं। भाव यह कि सत्यकी मर्यादा पालन करनेमें स्थिर रहें। सत्य ही श्रेष्ठ धर्म है। उसका पालन प्रसन्नतापूर्वक करें, जो वर दिया है उसे कार्यरूपमें परिणत करें। संकोच तुम्हारे कारण था कि तुमसे कैसे कहें, तुम करोगे कि नहीं, वह संकोच भी निर्मूल था, क्योंकि तुम तो स्वयं मेरे बताने मात्रसे वन जानेको तैयार हो, अब तो अड़चनकी कोई बात न रह गयी। ऐसा न करनेसे सुकृत नष्ट हो जायँगे, कुल कलंकित हो जायगा—यह सब उनको समझाओ।

लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे। मगह गयादिक तीरथ जैसे॥ ७॥
रामहि मातु बचन सब भाए। जिमि सुरसरिगत सलिल सुहाए॥ ८॥

शब्दार्थ—**कुमुख**=कुत्सित (निकम्मा) मुख। **मगह**—*'असुरसेन सम.........।'* (१। ३१। ९) देखिये।

अर्थ—कैकेयीके निकम्मे मुखके ये वचन कैसे शुभ (वा, कुमुखमें ये शुभ वचन कैसे) लगते हैं, जैसे मगह देशमें गया आदि तीर्थ होते हैं॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजीको माताके सब वचन ऐसे अच्छे लगे, जैसे गंगाजीमें (अपवित्र) जल प्राप्त होने (मिलने) से शुभ और सुहावना हो जाता है॥ ८॥

नोट—१ *'लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे। मगह गयादिक.........'* इति। मगह देशमें भी गयादिक शुभ तीर्थ हैं, जहाँ पिण्डदान करनेसे पितर मोक्ष पाते हैं। वैसे ही कैकेयीका मुख अशुभ है पर उसमेंसे जो वचन निकले वे शुभ हैं, मुखको कुमुख अर्थात् अशुभ कहा, क्योंकि इस मुखसे उसने खोटे निकम्मे अति कटु वचन कहे हैं पुनः ध्वनिद्वारा वह इसी मुखसे वन जानेको कहती है, जो किसीको नहीं सुहाता और न ग्रन्थकारको वा किसी वक्ताको ही भला लगा, फिर उससे जो वचन निकले वे कपटपूर्ण और स्वार्थ साधनेके लिये कहे गये हैं, मतलब गाँठनेके प्रयोजनसे ही उसने रामजीको उत्तम सम्बोधन देकर उनकी प्रशंसा की है। उसका वास्तविक अभिप्राय अशुभ है, जो ऊपर चौपाइयोंमें दिया गया है। तीर्थसे प्राणियोंका कल्याण होता है, वैसे ही इसके वचनोंद्वारा राजाकी कीर्ति और पापी राक्षसोंका उद्धार होगा। आगे दूसरा उदाहरण इस बातका देते हैं कि ये कुटिल वचन श्रीरामजीको अच्छे लगे, जैसे गंगामें गन्दे नालोंका जल भी जाकर शुद्ध हो जाता है वैसे ही ये बुरे वचन भी श्रीरामजीके (आदरपूर्वक धारण वा) ग्रहण करनेसे सुहावने हो गये। वचन अपवित्र जल है, राम सुरसरि हैं।

टिप्पणी—१ (क) वनगमन माँगा (और श्रीरामजीसे पिताके वचनोंको सत्य करने अर्थात् श्रीभरतको निर्विघ्न राज्य करने देने और स्वयं वन जानेको कहती है। ***'सकहु त आयसु धरहु सिर', 'जननी जनक बंधु सुखदाता'*** आदिका यही अभिप्राय है); इससे मुखको अशुभ कहा। जैसे भरतजीने कैकेयीके मुखकी निंदा की है, यथा—***'बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥'*** (१६२। २) (ख) मगहमें चार तीर्थ हैं, यथा—'**कीकटेषु गया पुण्या पुण्यं राजगृहं वनम्। विषयश्चारणः पुण्यो नदीनां च पुनः पुनः॥**' (गरुड़पुराण अ० ८३ श्लोक १)* (रा० प्र०), वैसे ही यहाँ कैकेयीके चार वचन हैं—***'तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता। जननी जनक बंधु सुखदाता॥' 'राम सत्य सब जो कछु कहहू। तुम्ह पितु मातु***

---

* अर्थात् गया (जहाँ पितृ-श्राद्ध करनेके लिये लोग जाते हैं), राजगृही (जहाँ पुरुषोत्तममासमें कल्पवास होता है और पूरे मासभर मेला लगता है), तपोवन और पुनपुना नदी ये चार तीर्थ हैं। अ० दी० च० कारने ''किक्कटेषु गयापुण्यं नदीपुण्यं पुनः पुनः। चमणस्याश्रमं पुण्यं राजगृही तपोवनम्॥ वैकुण्ठं लघुदण्डं च तीर्थेषु मगधानि षट्।'' यह श्लोक दिया है। इसके अनुसार वे मगहमें गया, पुनपुना, चमणाश्रम, राजगृही, तपोवन, वैकुण्ठ—ये छः पुण्य तीर्थ कहते हैं। लघुदंडको वैकुण्ठका उपनाम बताते हैं, आजकल गिरियक नामसे प्रसिद्ध है। यहाँ जरासंधका वध हुआ था और कार्तिकी पूर्णिमाको स्नान होता है।

बचन रत अहहू॥' 'पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथें पन जेहि अजस न होई॥' और ***'तुम्ह सम सुअन सुकृत जेहि दीन्हें। उचित न तासु निरादर कीन्हें॥'***—एक-एक वचन एक-एक तीर्थ है। [पुनः, भाव कि जैसे गयामें फलगू नदीके जलसे पिण्डा देनेसे पितरोंका उद्धार होता है, उन्हें सुख होता है; वैसे ही कैकेयीके इन वचनोंद्वारा श्रीरामजी राजाको अपयशरूपी दुःखसे मुक्त करेंगे। (मा० म०) अथवा, कैकेयीके वचनद्वारा श्रीरामवनगमन होगा। रावण पृथ्वीपर भाररूप है, उसका वध होनेपर शतकोटि रामायण बनेगी, जिसे पढ़-सुनकर भक्तजन भव तरेंगे। अतः वचनोंको शुभ तीर्थ कहा। (बाबा हरिदासजी) पुनः, श्रीरामजीने वनमें जाकर विराध, खर-दूषणादि चौदह सहस्र अमर राक्षसों, कबंध तथा सपरिवार रावणको मुक्त किया। शरभंग, गृध्रराज जटायु और शबरी इन भक्तोंको सद्‌गति दी और मित्रके शत्रु बालिको निज धाम दिया। कितने ही जीव दर्शन पाकर परमपदके योग्य हो गये। यह सब कैकेयीके वचनके कारण ही हुआ, अतः वचनको गयादि तीर्थ कहा—]

नोट—२ 'सुरसरिमें कैसा भी अपवित्र जल जा मिले वह पवित्र गंगाजल हो जाता है, यथा—***'करमनास जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धरई॥'*** (१९४। ७) ***'सुरसरि मिले सो पावन कैसे।'*** पंडितजी लिखते हैं कि सुरसरि साढ़े तीन करोड़ तीर्थमय है।

पं० रा० कु०—***'रामहिं मातु बचन सब भाए'*** इति। (क) वचन तीर्थ हैं, तीर्थ शोभित हुआ ही चाहें। कैसे भी निकम्मे वचन हों पर रामजीके यहाँ सब वचन तीर्थके समान शोभित होते हैं। (ख) वचन-तीर्थ राम-सुरसरिमें पड़कर शोभित हुआ ही चाहे। गंगा सर्व-तीर्थमयी हैं, इससे उनमें सभी तीर्थ आ मिलनेसे शोभित होते हैं। (खर्रा)

गौड़जी—भगवान्‌के स्वाभाविक सरल वचनको भी कुमति कैकेयी कुटिल ही समझती है। क्या करे, स्वभावसे लाचार है। पानी बराबर भी हो तो जोंक अपने टेढ़े चलनेके स्वभावको थोड़े ही छोड़ सकती है। वह भी कपट-स्नेह दिखाकर चालकी बातें करती है। यह नहीं कहती कि मैं वरदानवाली बात वापस लेती हूँ। लल्लो-चप्पोकी बात कहकर श्रीरघुनाथजीको सलाह देती है कि बेटा! तुम्हीं कोई ऐसा उपाय पिताको समझा दो जिससे कि चौथेपनमें उन्हें अपयश भी न हो और तुम्हारे-जैसे सुपूतका निरादर भी न हो, सलाह भी क्या माकूल देती है? पर जो दिल कहीं साफ होता तो ऐसी सलाहकी जरूरत न थी। मगहकी तरह उसका हृदय तो मलिन है। परंतु गयादिक तीर्थकी तरह उसके मलिन हृदयसे शुभकामनाके वचन निकलते हैं; इसीलिये कविको इस कटुमुखवालीके मुखसे निकले हुए शुभ वचन ऐसे लगते हैं, मानो मगहमें जहाँ पुण्यका नाश हो जाता है गयादिक तीर्थ हैं, जहाँ पुण्यका उदय होता है। यह तो कविके हृद्‌गत भावका वर्णन हुआ। अब वे ही वचन श्रीरघुनाथजीको कैसे लगे? माताके वचन थे। श्रीरामजी जन्मसे उन्हींको माता मानते आये हैं। माताके वचनोंमें क्या कभी सुपुत्र कपट या कुटिलता समझ सकता है? श्रीरघुनाथजीको माताके वचन और सभी वचन, बहुत पसंद आये। भगवान्‌के सहज, सरल आदर्श हृदयके भीतर कुटिलता कहाँ रह सकती है? क्रोधके तापसे विगलित कुटिल वचन-द्रव भगवान्‌के शीतल सरल सच्चे सीधे हृदयके साँचेमें आकर जब ढल जाता है तो उसमें टेढ़ापन कहाँ रह सकता है? इसीलिये रघुनाथजीको माताके वचन पसंद आये। गंगाजीमें मिलकर कर्मनाशा-जल भी गंगाजल हो जाता है। गंगा उससे अपवित्र नहीं होतीं। चौपाईके पूर्वार्द्धमें कैकेयीके वचनोंका भाव कविको कैसा लगा यह वर्णित है। उत्तरार्द्धमें श्रीरघुनाथजीको कैसा लगा, इसका वर्णन है।

श्रीनंगे परमहंसजी—कैकेयीके मुखमें जो भाव है वह मगह देशकी तरह अशुभ है। मुखको मगह कहनेका भाव कि मगह अधोगतिको प्राप्त कराता है, वैसे ही कैकेयीके मुखका जो भाव है वह अधोगतिको देनेवाला है। कैकेयीके ***'तुम्ह अपराध जोगु नहि ताता। जननी जनक बंधु सुख दाता'*** में ध्वनि यह है कि हमको तुम्हारे वन जानेमें सुख है, पिताको अपने वचन सत्य हो जानेमें सुख है और भरतको राज्य पानेमें सुख है। इन वचनोंमें भी वही वन जानेका भाव है। पुनः, (***'राम सत्य सब जो कछु***

कहहू।········' से) कैकेयीका आशय यह है कि जो तुमने कहा है कि वनमें मुनियोंके दर्शन, सत्संग मिलेंगे और *'तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर' जो न जाउँ बन ऐसेहु काजा'* उसको सत्य करो। भाव यही है कि वन जाओ। इस तरहका भाव जो उसके मुखमें है, वही मगह देशकी तरह अधोगतिका देनेवाला है। पर कैकेयीके मुखके जो वचन हैं *'तुम्ह अपराध जोग नहिं········'* इत्यादि, उनका जो शब्दार्थ है वह गयादिक तीर्थके समान ऊर्ध्वगतिको देनेवाला अर्थात् शुभ है। जैसे मगहके बीचमें गया है अर्थात् गयाके चारों तरफ मगह है, वैसे ही मुखके बीचमें वचन हैं। जब मुखसे वचन निकलता है तब मुख और वचन दो वस्तु कहे जाते हैं। अत: उसका दो तरहका अर्थ भी होगा। एक भावार्थ, दूसरा शब्दार्थ। भावार्थ मुखसे लिया जायगा और शब्दार्थ वचनसे। इसीसे ग्रन्थकारने भावार्थके लिये मुख लिया है—*'लागहिं कुमुख'* और वचनसे शब्दार्थ लिया है—*'बचन सुभ कैसे।'* अत: 'कुमुख' का अर्थ अंतस नहीं होगा।

इसी तरह यहाँ वनवास माँगनेसे 'कुमुख' नहीं कहा, बल्कि इन वचनोंमें जो भाव वन जानेका है उससे 'कुमुख' कहा।

कैकेयीने जो श्रीरामजीसे प्रथम बार कहा था कि *'सुनहु राम सब कारन एहू।'* इत्यादि। उनको श्रीरामजीने उदाहरणके साथ उत्तर देकर स्वीकार कर लिया। फिर पूछा कि हमसे कोई भारी अपराध हुआ है। जिससे पिताजीको दु:ख हो रहा है वह अपराध तुम सद्भावसे बताओ। कैकेयीने उत्तर दिया *'तुम्ह अपराध········ अहहू।'* ये वचन श्रीरामजीको अच्छे लगे। *'जिमि सुरसरिगत सलिल सुहाए'*—भाव कि गंगाजी अशुभ जलको भी पाकर उद्विग्न न होकर उस जलको पवित्र कर देती हैं, वैसे ही कैकेयीके वचनोंसे श्रीरामजी उद्विग्न न हुए बल्कि उसके भावको सत्य कर दिया।

कैकेयीने जो राजाके लिये संदेसा कहा है, *'पितहि बुझाइ कहहु········'* इत्यादि, वह वचन *'मगह गयादिक'* की उपमामें नहीं है; क्योंकि संदेसाकी उपमा नहीं दी जाती।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—भगवती कैकेयी सदा सुमुखी रही, यथा—*'बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि',* सो इसमें राजाके कालने पिशाचकी भाँति प्रवेश किया, तबसे वह कुमुखि हो गयी। स्वयं महाराज कहते हैं कि *'लागेउ तोहि पिसाच जिमि काल कहावत मोर।'* स्थान-स्थानपर तबसे ऐसी ही उपमा कवि देते हैं, यथा—*'जागति मनहु मसान', 'को तू अहसि सत्य कहु मोहीं।'* इत्यादि। वही कैकेयी आज पिशाचाविष्टकी भाँति अशुभभरी शुभ-छूँछी हो गयी। इसलिये उसे 'कुमुखि' कहा गया। वह जितनी बातें बोलती है, वे सभी चक्रवर्तीजीकी प्राणघातक हैं, अशुभ हैं। इस समय दो बातें शुभ भी बोल गयीं, यथा—*'पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथेपन जेहि अजसु न होई॥ तुम्ह सम सुअन सुकृत जेहि दीन्हें। उचित न तासु निरादर कीन्हें॥'* कैसा निर्मल और दोषरहित उपदेश है, परंतु कैकेयीके मुखसे निकला है, अत: इसका भी पर्यवसान चक्रवर्तीजीकी मृत्युमें ही है। मगधदेश अपवित्र माना गया है, इसपर राजा त्रिशंकुके रथकी छाया पड़ी हुई है। इसमें गयादिक दो-चार तीर्थ हैं। उनसे पितरोंका उद्धार होता है, पर हैं ये मगधके भूमिकापर ही। अत: सर्वथा उपादेय होनेपर भी आसुरतीर्थ हैं। दैवतीर्थकी भाँति इसकी शोभा नहीं है। इसी भाँति कैकेयीके शुभ वचन भी असुरतीर्थकी भाँति हैं, देवतीर्थकी भाँति मनोरम नहीं हैं।

दो०—गइ मुरुछा रामहिं सुमिरि नृप फिरि करवट लीन्ह।
सचिव राम आगमन कहि बिनय समय सम कीन्ह॥ ४३॥

शब्दार्थ—**मूर्छा**=बेहोशी, अचेतनता। **फिरि**=फिरकर, उलटकर। **करवट** (सं० करवर्त)=हाथके बल लेटनेकी मुद्रा। करवट लेना=दूसरी ओर फिरकर लेटना, दूसरे हाथके बल लेटना, एक बलसे दूसरे बल लेटना।

अर्थ—राजाकी मूर्छा दूर हुई, उन्होंने रामका स्मरण (अर्थात् राम-राम कह) कर उलटकर करवट ली। मन्त्रीने रामचन्द्रजीका आना कहकर समयके अनुकूल विनती की॥ ४३॥

नोट—*'गइ मुरुछा'* इति। प्रात:काल जब द्वारपर वीणा-वेणु-शंख आदिकी ध्वनि होने लगी थी उस समयतक राजाको कुछ होश था, वे व्याकुल थे, यथा—*'बिलपत नृपहि भयउ भिनुसारा। बीना बेनु संख धुनि द्वारा॥ पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक। सुनत नृपहि जनु लागहिं सायक॥ मंगल सकल सोहाहिं न········।'* (३७। ५। ७) जब सुमन्त्रजी आये तब उन्होंने देखा कि *'सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहु कमल मूल परिहरेऊ॥'* (३८। ७) फिर कवि कहते हैं कि *'चलेउ सुमन्त्र राय रुख जानी।'* (३९। ३) जब सुमन्त्रजी श्रीरामजीको लिवाकर आये, श्रीरामजीने उनकी दशा देखी कि *'सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि मनहुँ बृद्ध गजराजु। सूखहिं अधर जरइ सब अंगू। मनहुँ दीन मनिहीन भुअंगू॥'* श्रीरामजीका न तो सुमन्त्रजी राजासे आगमन कहते हैं और न श्रीरामजी पिताको प्रणाम करते हैं। इससे अनुमानित होता है कि श्रीरामजीके पहुँचनेपर ये मूर्छित थे, होशके चिह्न न थे; नहीं तो श्रीरामजी प्रणाम अवश्य करते। तब श्रीरामजी मातासे दु:खका कारण पूछने लगे। कवि कहते हैं कि कैकेयीने सब प्रसंग सुनाया—*'जीभ कमान बचन सर नाना। मनहुँ महिप मृदु लच्छ समाना॥'* परंतु इन बाणोंका लगना और उससे करक होना नहीं कहा, जैसे पूर्व कहा था। इससे भी सिद्ध होता है कि वे मूर्छित थे। वह मूर्छा गयी, यह बात उनके रामनामोच्चारणसे जानी गयी। नेत्र अब भी बंद हैं। दूसरे *'मनहुँ'* सूचित करता है कि वस्तुत: ऐसा है नहीं। यदि *'चलेउ सुमंत्र राय रुख जानी'* का यह भाव हो कि राजाके न बोलनेसे वे उनका भी रुख समझकर श्रीरामजीको लेने चल दिये तब तो राजाका सुमन्त्रजीके आनेके पूर्व ही मूर्छित होना ले सकते हैं, जब *'सुनत नृपहि जनु लागहिं सायक'* कहा गया था।

टिप्पणी—मुखसे राम-राम उच्चारण करना ही स्मरण करना है, यथा—*'रामनाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे॥'* (१। ६०) समयके अनुसार विनती की अर्थात् कहा कि हे राजन्! रामजी आये हैं, धीरज धरकर देखिये। यही बात आगेकी चौपाईसे स्पष्ट होती है, यथा—*'अवनिप अकनि राम पगु धारे। धरि धीरजु तब नयन उघारे॥'* (३)—यहाँ मन्त्रीका प्रणाम करना नहीं लिखते, केवल रामजीका प्रणाम करना आगे लिखते हैं; कारण कि मन्त्री प्रथम प्रणाम कर चुके हैं, यथा—*'कहि जय जीव बैठ सिरु नाई।'* (३८। ६) और श्रीरामजी प्रथम-प्रथम आये हैं।

पंजाबीजी, रा० प्र०—(१) विपत्ति और शोकका समय है, इससे थोड़े ही अक्षरोंमें रामगमनादिक वृत्तान्त निवेदन कर दिया। (२)—विनती की कि विपत्तिका समय है, धीरज धरना चाहिये, रघुनाथजी आये हैं, जो आज्ञा देनी हो सो कहिये।

अवनिप अकनि राम पगु धारे। धरि धीरजु तब नयन उघारे॥ १॥
सचिव सँभारि राउ बैठारे। चरन परत नृप रामु निहारे॥ २॥
लिए सनेह बिकल उर लाई। गै मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई॥ ३॥

शब्दार्थ—**अवनिप**=(अवनि+प) पृथ्वीका पालक वा रक्षक, राजा। **अकनि**=(सं० आकर्ण्य) सुनकर। **पगु धारे**=पधारे, आये हैं।

अर्थ—राजाने सुनकर कि रामजी आये हैं, धीरज धारण करके तब नेत्र खोले॥ १॥ मन्त्रीने सँभालकर राजाको बिठाया। राजाने रामचन्द्रजीको चरणोंपर पड़ते अर्थात् प्रणाम करते देखा॥ २॥ (तो) स्नेहसे व्याकुल होकर उन्होंने इनको हृदयसे लगा लिया। मानो सर्प खोयी हुई मणि फिरसे पा गया॥ ३॥

नोट—१ *'अवनिप'*— पृथ्वी धीरज धारण करनेवाली है, ये उसके पति हैं; अत: इन्होंने भी धैर्य धारण किया। धैर्य धारण करनेके सम्बन्धसे यहाँ *'अवनिप'* पद दिया गया। यथा—*'बरबस रोकि बिलोचन बारी। धरि धीरज उर अवनिकुमारी॥'* (६४। ४) *'धरनिसुता धीरज धरेउ समउ सुधरम बिचारि॥'* (२८६) [*'नयन उघारे'*— नेत्र व्याकुलताके कारण बन्द थे। पुन:, कैकेयीका मुख न देखें, इसलिये भी नेत्र बन्द किये थे। (पंजाबीजी, रा० प्र०) श्रीरामजीको देखनेके लिये खोले।]

टिप्पणी—१ ***'सचिव सँभारि राउ बैठारे।·········'*** इति। ***'सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहुँ कमल मूल परिहरेऊ॥'*** (३४। ७) यहाँतक राजाकी व्याकुलता वर्णन की गयी। अब उस प्रसंगको यहाँ मिलाते हैं कि राजा इतने विकल हैं कि अपनेसे उठकर बैठ भी न सकते थे, मन्त्रीने सँभालकर बिठाया। आँख खोलनेमें बड़ा धीरज धरना पड़ा था वह भी रामचन्द्रजीको 'निहारने' के लिये, नहीं तो नेत्र खोलनेमें भी असमर्थ थे।—(पु० रा० कु०)

नोट—२ ***'निहारे'***— अर्थात् एकटक देखने लगे। देखनेका भाव कि इनका रूप देखकर दु:ख भी भूल जाता है। यथा—***'कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें।'*** (६७। ४) (यह श्रीसीताजीने कहा है), ***'दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत'*** (यह माता कौसल्याका वाक्य है।) (गी० २। ५३) '**अन्यदा मां पिता दृष्ट्वा कुपितोऽपि प्रसीदति।**' (वाल्मी० २। १८। ९) (यह श्रीरामजीने कैकेयीसे कहा है कि राजा यदि कुपित भी होते थे तो मुझे देखकर प्रसन्न हो जाते थे)। पुन:, वह ऐसा रूप ही है कि उसके देखनेपर भी तृप्ति नहीं होती। पुन: देखते हैं कि क्या ऐसे सुकुमार सुन्दर पुत्र वनके योग्य हैं? वा, अब तो इनका वियोग अवश्य ही होगा, नेत्रभर देख ही लूँ।—(पंजाबीजी) सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि बिना वस्त्र-भूषण पहने आये हैं इस कारण देख रहे हैं।

टिप्पणी—२ ***'गै मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई'*** इति। गयी हुई मणिपर सर्पका स्नेह अधिक बढ़ जाता है, इसीसे मिलनेपर वह उसे हृदयमें लगाता है। राजा सर्प हैं। कैकेयीका वर माँगना मणिका खो जाना है। श्रीरामजीका आना मणिका मिलना है। राम-मणि मिल गये इसीसे स्नेहसे व्याकुल होकर राजाने उनको हृदयसे लगा लिया। सर्प मणिके वियोगसे व्याकुल होता है और मणिके चले जानेपर मरण-दशाको प्राप्त होता है; वैसे ही राजा भी व्याकुल रहे, मरण-दशाको प्राप्त रहे। अब श्रीरामजी आ गये, मानो खोयी हुई मणि फिर मिल गयी। मणिका खोना पूर्व लिख आये हैं; यथा—***'सूखहिं अधर जरहिं सब अंगू। मनहु दीन मनिहीन भुअंगू॥'*** (४९। १) अत: अब मणिका मिलना लिखते हैं।

पंडितजी—इससे यह भी सूचित करते हैं कि (१) जब रातभरके विक्षेपमें इतना दु:ख हुआ तो १४ वर्ष कौन निबाह सकता है, तुरत ही मृत्यु हो जायगी। (२) श्रीरामजीका वन जाना राजाके हृदयमें समा गया है।

रामहि चितइ रहेउ नरनाहू। चला बिलोचन बारि प्रबाहू॥ ४॥
सोक* बिबस कछु कहइ न पारा। हृदयँ लगावत बारहिं बारा॥ ५॥

शब्दार्थ—**बिलोचन**=दोनों नेत्र—('बि' का अर्थ 'दो' लेना गुजरातीका प्रयोग है—दीनजी।) प्रवाह=धारा। पारना=सकना। '**कहइ न पारा**' यह प्रयोग बँगलाका है जैसे 'बोलिते पारिबे ना', 'चौलिते पारीना' आदि। (दीनजी)

अर्थ—राजा श्रीरामजीको (एकटक) देखते रह गये। उनके दोनों नेत्रोंसे जल (आँसू) का प्रवाह (बह) चला॥ ४॥ शोकके विशेष वश होनेसे वे कुछ कह नहीं सकते। बारम्बार श्रीरामचन्द्रजीको हृदयसे लगाते हैं॥ ५॥

नोट—राजा रामचन्द्रजीके भावी वियोगको विचारकर उनको एकटक देखने लगे और यह समझकर कि हमारे नेत्रोंकी ओट (नजरसे बाहर) होने ही चाहते हैं, उनके नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह उमड़ पड़ा।

पुरुषोत्तम रामकुमारजी—१ (क) देखिये, स्नेहसे व्याकुल होनेपर महाराजने श्रीरामजीको हृदयसे लगा लिया था, यथा—***'लिए सनेह बिकल उर लाई।'*** पर जब वे शोकसे व्याकुल हुए तब बारम्बार हृदयमें लगाने लगे। इससे जनाया कि स्नेहकी व्याकुलतासे शोकमें अधिक व्याकुल हुए। (ख) यहाँ राजाके तन-मन-वचन तीनोंमें व्याकुलता दिखाते हैं—***'हृदय लगावत बारहिं बारा'*** यह तनकी, ***'सोक बिबस'*** यह मनकी और ***'कछु कहइ न पारा'*** यह वचनकी व्याकुलता है। (ग) ***'सोक बिबस'*** अर्थात् यदि सामान्य शोकके

* सोच—रा० प०।

वश होते तो कुछ कहते, जैसे आगे कहेंगे—*'सुनहु राम तुम्ह कहँ मुनि कहहीं।·········'* इत्यादि, पर यहाँ राजा शोकके वश हैं, इसीसे कुछ कह न सके। (घ) *'हृदयँ लगावत बारहिं बारा'* इति।—हृदय जल रहा है। यथा—*'अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा।'* (३२। ५) *'लेहिं परस्पर अति प्रिय पाती। हृदय लगाइ जुड़ावहिं छाती॥'* (१। २९५। ५) उसको शीतल करनेके लिये हृदयमें लगाते हैं। बारंबार हृदयमें लगानेसे सूचित होता है कि वनका जाना समझकर हृदयकी जलन नहीं जाती।

बिधिहि मनाव राउ मन माहीं। जेहिं रघुनाथ न कानन जाहीं॥ ६॥
सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी। बिनती सुनहु सदासिव मोरी॥ ७॥
आसुतोष तुम्ह अवढर दानी। आरति हरहु दीन जनु जानी॥ ८॥

शब्दार्थ—**कानन**=वन। **निहोरी**=अर्थात् हम जन्मभर तुम्हारा एहसान मानेंगे इस प्रकार दीनतापूर्वक प्रार्थना करके। **अवढर**—(श० सा०)—औढर=जिस ओर मनमें आया उसी ओर ढल पड़नेवाले; मनमौजी; जिसकी प्रकृतिका कुछ ठीक ठिकाना न हो। यथा—*'देत न अघात रीझि जात पात आकही के भोरानाथ जोगी जब औढर ढरत हैं।'* (क० ७। १५९) *'औढर दानि द्रवत पुनि थोरे। सकत न देखि दीन कर जोरे॥'* (वि० ६) पात्र-अपात्रका विचार न करके देनेवाले।

अर्थ—राजा हृदयमें ब्रह्माजीको मनाते हैं, जिससे रघुनाथजी वनको न जायँ॥ ६॥ महेशजीका स्मरण करके निहोरापूर्वक प्रार्थना करते हैं कि हे सदाशिव! आप मेरी विनय सुनिये॥ ७॥ आप शीघ्र प्रसन्न होनेवाले और अवढर दानी हैं। मुझे दीनजन जानकर मेरे दुःखको दूर कीजिये॥ ८॥

टिप्पणी—विधिको मनानेका भाव कि—(१) 'वनवास ब्रह्मा ही देनेवाले हैं, यह इन्हींका किया हुआ है, सब प्रकारका संयोग इन्हींके हाथमें है। यथा—*'जौं जगदीस इन्हहिं बन दीन्हा।'* (१२१। ४) *'तेहि पठए बन राजकुमारा।'* (११९। ४), *'जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू।'* (१। २२२) इत्यादि। (२) 'आप रचयिता और सृष्टिकर्ता हैं, भला इतना तो कीजिये कि·········।'—(पंडितजी) (३) 'राजा बड़े प्रबल वात्सल्यरसमें मग्न हैं। वे विचारते हैं कि श्रीरामजीको वनमें दुःख होगा; अतः वे सुखपूर्वक घरहीमें रहें। उनका ध्यान किंचित् भी सुकृतकी ओर नहीं जाता कि श्रीरामजीके वन न जानेसे उनका वचन असत्य होगा।' (मा० म०) (४) रघुनाथजी वनको न जायँ अर्थात् हमारे वचनको त्यागकर घर रहें, जैसा शिवजीकी विनतीमें स्पष्ट है—*'बचन मोर तजि रहहिं घर परिहरि सील सनेहु।'* शोकसे बेबस हैं और कैकेयी तथा रामजी समीप हैं, इससे मनमें मनाते हैं।

नोट—यहाँ शिवजीके लिये जितने विशेषण दिये हैं वे सब साभिप्राय हैं। 'महेश' अर्थात् आप महान् ईश हैं, महान् कार्य कर सकते हैं। यह भी बड़ा काम है, हमारा दुःख भारी है। 'सदाशिव' अर्थात् आप सदैव कल्याणस्वरूप हैं, हमारा यह बड़ा कार्य करके हमारा कल्याण आप अवश्य कर सकते हैं। *'आसुतोष'* (आसु=शीघ्र अर्थात् आप शीघ्र संतुष्ट होनेवाले हैं, यहाँ शीघ्र ही संतुष्ट होनेका काम है; क्योंकि रामजी वनको जाना ही चाहते हैं, शीघ्र ही प्रेरणा करके उन्हें घरमें रखिये। अन्य देवता शीघ्र संतुष्ट नहीं हो सकते, अतएव मैं आपका स्मरण करता हूँ और विनय करता हूँ। आप अवढरदानी हैं अर्थात् आपके दानकी मिति नहीं है, आप अत्यन्त दानी हैं, यथा—*'अवढर दानि द्रवत पुनि थोरे।'* श्रीरामजीको घरमें रखना बड़ा दान है। यह दान मुझे आप ही दे सकते हैं; इसे दीजिये। पुनः 'अवढर' का अर्थ यह भी होता है कि जहाँ कोई दूसरा न ढरे, न देवे, न पसीजे वहाँ आप ढरनेवाले हैं। अवढर दान अर्थात् बेअंदाज, जिसका कोई लेखा नहीं हो सकता ऐसा दान आप देते हैं। पुनः, अवढरदानीसे अनहोनीके भी करनेवाले जनाया—मेरा सत्य भी रहे और राम वनको न जायँ, यह अनहोनी बात हो जाय। *'दीन जनु'* बनकर माँगते हैं, क्योंकि दीनपर शिवजी अत्यन्त प्रसन्न होते हैं—*'सकत न देखि दीन कर जोरे।'* *'आरति'* और *'जन'* शब्दोंसे अपनेको आर्त भक्त जनाया।

दो०—तुम्ह प्रेरक सब के हृदय सो मति रामहिं देहु।
बचनु मोर तजि रहहिं घर परिहरि सीलु सनेहु॥ ४४॥

शब्दार्थ—**प्रेरक**=प्रेरणा करनेवाले, उत्तेजना देने या दबाव डालनेवाले, किसी काममें प्रवृत्त करने या लगानेवाले।

अर्थ—आप सबके हृदयके प्रेरक हैं, रामचन्द्रजीको वह बुद्धि दीजिये जिससे मेरे वचनको त्यागकर और शील-स्नेह छोड़कर वे घरमें रहें॥ ४४॥

टिप्पणी—१ यदि ब्रह्मा और शिवजी कहें कि हम रामको वन जानेसे कैसे रोकें तो उसपर कहते हैं कि ***'तुम्ह प्रेरक·······।'*** वचनका त्याग तभी सम्भव है जब शील-स्नेह न रहे, शील-स्नेहके रहते ऐसा सम्भव नहीं और राजा यह भी जानते हैं कि श्रीरामजी शील-स्नेह नहीं छोड़ेंगे; यथा—***'को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनिहारा॥'*** (२४। ४) अतएव वे ब्रह्मा और शिवजीसे विनती करते हैं कि आप उनका शील और स्नेह छुड़ावें तभी छूट सकता है। इसके छूटनेसे सब काम बन जायगा। २—ब्रह्मा और शिवजीकी विनती की, विष्णुभगवान्‌की क्यों न की? क्योंकि राजा जानते हैं कि राम तो चराचरनायक हैं और जिस कल्पमें क्षीरसागर या वैकुण्ठसे अवतार होता है, उस कल्पके दशरथजी जानते हैं कि रामजी विष्णुभगवान् ही हैं, इससे प्रार्थना करना व्यर्थ ही है। यथा—***'सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। राम चराचर नायक अहहीं॥'*** (७७। ६) विशेष ४५ (३) में वि० त्रि० के टिप्पणी देखिये। [सू० मिश्र कहते हैं कि शिवजी सांसारिक सुखके देनेवाले हैं, इससे उनका स्मरण किया। ***'बचन मोर तजि रहहिं·······'*** का भाव कि दोनों बातें बनें, हमारा सत्य भी रह जाय और रामजी घर बने रहें। (रा० प्र०)]

नोट—१ राजाके स्नेह और शीलसे यहाँ तात्पर्य है। पर बैजनाथजी लिखते हैं कि कैकेयीका स्नेह छोड़कर कहें कि तू हमारी कौन है जो तेरे कहनेसे हम वनको जायँ और राजाका शील छोड़ें कि सभाके बीच तो हमें राज्य दे चुके, अब उनका राज्य कहाँ रह गया जो भरतको दें। पहले हमको दिया अब दूसरेको, तो उनमें सत्य कहाँ रह गया जिसको हम मानें।

नोट—२ ये सब विचार प्रेम-विह्वलता और कर्तव्य-परायणताके आदर्श-स्वरूप हैं। (वि० टी०) ***'बचन मोर तजि'*** से जनाया कि जो रानीने रामजीसे कहा, वे वचन आपके ही हैं।

अजसु होउ जग सुजसु* नसाऊ। नरक परौं बरु सुरपुर जाऊ॥ १॥
सब दुख दुसह सहावहु मोही। लोचन ओट राम जनि होंही॥ २॥

शब्दार्थ—**नसाऊ**=नष्ट हो जाय। **सुरपुर**=देवताओंकी पुरी, अमरावती, देवलोक, स्वर्ग। **जाऊ**=जाय, चला जाय, न मिले, न पाऊँ। **ओट**=आड़, ओझल, दूर। **नरक**—पुराणों और धर्मशास्त्रों आदिके अनुसार वह स्थान जहाँ पापी मनुष्योंकी आत्मा पापका फल भोगनेके लिये भेजी जाती है। इनसे अधिक प्राचीन ग्रन्थोंमें नरकका उल्लेख नहीं है। जान पड़ता है कि वैदिककालमें इस प्रकारके नरककी भावना नहीं थी। (श० सा०)

अर्थ—संसारमें अपयश भले ही हो, मेरा सुन्दर यश (कीर्ति) भले ही नष्ट हो जाय, मैं नरकमें भले ही पड़ूँ, स्वर्ग भले ही चला जाय॥ १॥ सभी दुःसह (न सहने योग्य) दुःख मुझसे सहन करा लीजिये, (भोगनेको दीजिये) पर रामचन्द्रजी मेरे नेत्रोंकी ओट न हों॥ २॥

नोट—१ पहले प्रार्थना यह की कि ऐसा कीजिये कि मेरा सत्य न जाय और रामजी भी वन न जायँ। अब कहते हैं कि दोनों न हो सकें तो न सही, राम घरमें रहें तो मैं सत्य भी छोड़ दूँ। इससे मेरी बनी-बनायी कीर्ति और बना-बनाया स्वर्ग यह सब नष्ट हो जायँगे, मेरी अपकीर्ति होगी, मैं नरकमें

* लालासीतारामवाली प्रतिलिपिमें 'नसाऊँ', 'जाऊँ' पाठ है। 'नसाऊ' 'जाऊ'—(पं० राम गु० द्वि०, भाग० दा०, काशिराज, वन्दन पाठक इत्यादि) 'सुरपुर जाऊ' का अर्थ स्वर्गको जाऊँ और ऊपर दिया हुआ अर्थ भी हो सकता है।

पड़ूँगा, पर यह सब मुझे मंजूर है, स्वीकार है, रामजीका वियोग स्वीकार नहीं है। यहाँ श्रीदशरथ महाराजका मुख्य सिद्धान्त है—***'नरक सरग अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥'***

टिप्पणी—१ *'अजसु होउ'* इति। (क) अपयश मंजूर किया, इसीसे नरकमें पड़ना कहा; क्योंकि अपयशसे नरक होता है। सुयश नष्ट होना कहा इसीसे सुरपुरका 'जाना' कहा, क्योंकि सुयशसे सुरपुर होता है, सुयशके नष्ट होनेसे सुरपुर नहीं मिलता—**'यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोकेषु गीयते। तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥'** अर्थात् इस लोकमें मनुष्यकी कीर्तिका गान जितने वर्ष होता है, उतने हजार वर्ष वह मनुष्य स्वर्गलोकमें निवास करता है। (ख) कैकेयीने कहा था कि *'पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथेपन जेहि अजसु न होई॥'* इसपर राजाके ये वचन हैं कि *'अजसु होउ।'* पुनः (ग) 'अपयश हो' सुयश नष्ट हो, इस वाक्यसे इस लोकका और *'नरक पड़ूँ स्वर्ग न पाऊँ'* इससे परलोकका बिगड़ना अर्थात् अपने दोनों लोकोंका बिगड़ जाना, नष्ट होना मंजूर करते हैं, यह सूचित किया। पर राम आँखोंसे अलग न हों, उनका नेत्रोंसे ओझल होना स्वीकार नहीं है।

टिप्पणी—२ *'सब दुख दुसह सहावहु·······'* इति। इससे सूचित करते हैं कि राम-विरह-दुःख सब दुःखोंसे अधिक है, यथा—*'माँगु माथ अबहीं देउँ तोही। राम बिरह जनि मारसि मोही॥'* (३४। ७) *'दुसह दुख'* का भाव कि हमारे बड़े भारी पाप हैं, इसीसे श्रीरामजी बिछुड़ते हैं। भारी पापका फल भारी दुःख होना ही चाहिये, अतएव अपने भारी पापके प्रायश्चित्तके लिये दुःसह दुःख माँगते हैं और एक-दो नहीं किन्तु जितने भी दुःसह दुःख हैं, उन सभीको सहनेको तैयार हैं।—(यह अनुज्ञा अलंकार है। क्योंकि जो अंगीकार करने योग्य नहीं है, उसे अंगीकार करते हैं।)

नोट—२ बैजनाथजी लिखते हैं कि शिवजीसे यह प्रार्थना करनेका तात्पर्य यह है कि जो रामजीका मन हो जाय तो मैं सत्य भी त्याग दूँ; नहीं तो वे तो धर्म-धुरीण हैं, मेरे सत्य छोड़नेपर भी वे चले जायँगे तब तो एक भी बात न होगी, सत्य भी गया और वे चले भी गये, अतएव आप प्रेरणा करें।

'मानस मयंक'—राजा नरकालयमें वास चाहते हैं तो अपना वचन कहाँ पाला? और रामचन्द्रजीको घरहीमें रहनेको कहते हैं; अतएव यह स्पष्ट है कि वात्सल्यरसवश राजा सुकृतका त्याग करते हैं—सन्दर्भ यह कि रामके प्रेमसे अन्य सुकृत तुच्छ हैं।

अस मन गुनइ* राउ नहिं बोला। पीपर पात सरिस मनु डोला॥ ३॥
रघुपति पितहि प्रेम बस जानी। पुनि कछु कहिहि मातु अनुमानी॥ ४॥
देश काल अवसर अनुसारी। बोले बचन बिनीत बिचारी॥ ५॥

शब्दार्थ—**गुनइ**=विचार कर रहे हैं। **डोला**=चंचल हुआ, हिला, स्थिर नहीं होता। **पात**=पत्ता। **अनुमानी**=ढंगसे, अंदाजसे जानकर, यथा—***'समय प्रतापभानु कर जानी। आपन अति असमय अनुमानी॥'*** (बा०) **अनुसारी**=अनुसार, योग्य।

अर्थ—राजा मनमें इस प्रकार विचार कर रहे थे, बोले नहीं। उनका मन पीपलके पत्तेके समान डोल रहा है॥ ३॥ श्रीरघुनाथजीने पिताको प्रेमके वश जान और यह अनुमान कर कि माता (कैकेयी) फिर कुछ कहेगी, (जिससे पिताको विशेष दुःख होगा) देश, काल और अवसरके अनुकूल विचारकर नम्र वचन बोले॥ ४-५॥

नोट—१ *'अस मन गुनइ राउ नहिं बोला'* इति। न बोलनेके कारण ये कहे जाते हैं—(क) श्रीरघुनाथजीको रखनेसे वचन असत्य होता है; अतः मौन हो गये, मन काँप रहा है। (पं०) (ख)—विनती कहकर सुनानी चाहिये थी। राजाने ब्रह्मासे और शिवजीसे मनमें विनती की, वचनसे विनती नहीं की, क्योंकि शोकके वश हैं, यथा—***'सोक बिबस कछु कहइ न पारा'*** (पु० रा० कु०)। (ग) राजा शोक और प्रेममें मग्न

* 'गुनइ'—पं० राम गु० द्वि०, वंदन पाठक, भागवतदासजी·········। गुनइ—लाला सीताराम।

हैं, ऐसे विह्वल हैं कि बोल नहीं सकते कि कुछ रामजीसे कहें, मनमें विचार करते हैं, विनय करते हैं कि किसी प्रकारसे रामजी वनको न जायँ; इसी विचारमें डूबे हैं, बोलनेका अवकाश नहीं और न उसकी सुध ही है।

टिप्पणी—१ (क) ***'बिधिहि मनाव राउ मनमाहीं।'*** (४४। ६) उपक्रम और ***'अस मन गुनइ राउ'*** उपसंहार है। (ख) ***'पीपर पात सरिस मन डोला'*** अर्थात् स्थिर नहीं होता। तात्पर्य कि विधिको मनाया, शिवजीकी विनती की, फिर भी मनमें विश्वास न हुआ कि रामजी घरमें रहेंगे। यहाँ पूर्णोपमा है।

नोट—२ ***'पीपर पात'*** ·········' पर अन्य टीकाकारोंके भाव ये हैं—(१) अर्थात् संकल्पोंसे मन चंचल हो गया। अथवा सत्य छोड़ रघुनाथको घरमें रखनेकी ओर मन डोला। (रा० प्र०) (२) शुद्ध धर्म, सत्य या शुद्ध भक्ति दोनोंमेंसे एकपर भी मन स्थिर नहीं होता। अर्थात् शुद्ध सत्य ग्रहण करें तो स्त्री-पुत्रादि कुछ नहीं हैं। जैसे हरिश्चन्द्रने सत्यके लिये स्त्री-पुत्र सबका त्याग किया। यदि शुद्ध भक्ति ग्रहण करें तो हरिभक्तिमें जो भी धर्म बाधक हों, उनको अधर्म जानकर त्याग देना चाहिये। यथा—***'तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषन बंधु भरत महतारी। हरिहित गुरु बलि पति ब्रजवनितन्हि सो भये मुदमंगलकारी॥'*** (वि० १७४) वसुदेवने कंसको पुत्र देनेका वचन दिया था पर पुत्रको नन्दके घर पहुँचा दिया और उसके बदले कन्या देकर कंसको ठगा, इससे उनको कोई दोष न लगा। क्योंकि भगवान्‌का वचन है कि **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।·········'** (गीता)। (वै०) वा, (३) उनका मन पीपलके पत्तेकी तरह आगा-पीछा कर रहा है। कभी धर्ममें जाते हैं, कभी स्नेहमें। जब धर्मकी ओर जाते हैं तब चुप लगाकर शिवजीपर ले जाते हैं कि हम अपने मुँहसे न कहें और जब स्नेहमें जाते हैं तब कहते हैं कि श्रीरामजी वनको न जायँ। जैसे पीपलका पत्ता शीघ्रतासे आगे-पीछे डोलता है, उसी तरह राजाका मन आगा-पीछा कर रहा है। (नं० प०) पीपलके पत्तेकी डंठी व डाँड़ी लम्बी, निर्बल और हलकी होती है। पत्ता सिरेपर भारी होता है। इस कारण थोड़ी ही वायुसे वह (ऊपरसे नीचेतक सभी पत्ते) हिलने लगता है। कभी-कभी बिना वायुके ही हिलता रहता है। यह गुण और किसी वृक्षमें नहीं है, जैसा कहा है—***'पीपरके पान हाथीके कान, पंडितकी जबान डोलते ही रहैं'*** वैसे ही राजाका धर्मसंयुक्त मन गरिष्ठ है और रामचन्द्रजीके घरमें रहनेका संकल्प निर्बल है, अतएव पराधीन होनेके कारण अधिक काँपता है। (पं०)

नोट—३ (वि० त्रि०)—***'पीपर पात।'*** ·········' जब कोई बात मनमें स्थिर होती है, तब बोली जाती है। यहाँ कोई बात स्थिर होती नहीं, कहें क्या? अत: मनमें विचार कर रहे हैं, बोलते नहीं। मनकी यह गति है कि वह पीपलका पत्ता हो रहा है। पीपलका नाम ही चलदल है, उसके पत्ते सदा चलायमान रहते हैं, एक स्थितिपर आते ही नहीं। इसी भाँति महाराजका मन अति विकलताके कारण कहीं ठहरता ही नहीं। दो-एक उदाहरण देकर उसकी अस्थिरता दिखायी। पहले यह सोचा कि ब्रह्मदेव विमुख हो गये हैं, तभी कैकेयी-सी विश्वासपात्र रानी विमुख हो गयी। यथा—***'भये बिधि बिमुख बिमुख सब कोई।'*** अत: रूठे हुए विधिको मनाना चाहिये जिसमें रामजी वन न जायँ। फिर वहाँसे भी मन हटा कि ब्रह्मा न सुनेंगे, मैं तो उनसे मनाता ही रहा कि सबेरा न हो, यथा—***'बिधिहि मनाव भोर जनि होई'*** पर सबेरा हो ही गया। यह विधि है, विधानसे काम करते हैं। अत: वहाँसे भी मन हटा। विष्णुकी भी वही गति है, यथा—***'कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥'*** एक शंकर अवढरदानी हैं। वृकासुरको भी वर दिया। ये बिना सोचे-विचारे वर देते हैं, बड़े दयालु हैं। ***'अवढर दानि द्रवत सुठि थोरे। सकत न देखि दीन कर जोरे॥'*** ये सुन लेवेंगे, अत: उनकी विनती करने लगे कि ***'तुम प्रेरक सबके हृदय सो मति रामहि देहु। बचन मोर तजि रहहिं गृह परिहरि सील सनेहु॥'*** यहाँ भी मन न ठहरा। सोचने लगे कि शंकरजी कहेंगे कि रामजीकी बुद्धिको वचन छोड़नेके लिये क्यों पलटें। तुम्हारी बुद्धिको ही पलट दें कि तुम वचन छोड़नेमें समर्थ हो जाओ तब कहते हैं, ***'अजसु होहु जग सुजसु नसाऊ'*** इत्यादि। इस भाँति मनकी दशा पीपलके पत्ते-सी हो गयी। कहीं स्थिरता नहीं।

टिप्पणी—२ (क) *'रघुपति पितहि प्रेम बस जानी'* अर्थात् पिता हमपर प्रेम करते हैं और कैकेयीको यह अच्छा नहीं लगता कि राम तो वन जानेको तैयार हैं और ये प्रेमवश जाने नहीं देते। (ख) *'पुनि कछु कहिहि'* अर्थात् क्रोधसे वह फिर कुछ कटु वचन कहना ही चाहती है, अत: वे बोले जिसमें वह कुछ कहने न पावे। फिर भी आगे उसने कहा ही है, यथा—*'नृपहि प्रान प्रिय तुम्ह रघुबीरा। सील सनेह न छाड़िहि भीरा॥ सुकृत सुजस परलोक नसाऊ। तुम्हहि जान बन कहिहि न काऊ॥ अस बिचारि सोइ करहु जो भावा। राम जननि सिख सुनि सुख पावा॥'* (७९। ३—५) ये ही कटु वचन हैं जो राजाको बाण-से लगे, यथा—*'भूपहि बचन बान सम लागे। करहिं न प्रान पयान अभागे॥'* (७९। ६)

नोट—४ *'देश काल अवसर·········'* इति। देश यह कि इस समय कोप-भवन शोकागारमें हैं, इसलिये बिना आज्ञाके अपनेसे कहने लगे। काल यह कि पिताजी इस समय बहुत कष्टमें हैं। वर दे चुके हैं, उसके अनुसार शीघ्र ही वनको चल देना चाहिये। अत: शीघ्र थोड़े ही शब्दोंमें आश्वासन दे देना उचित है—यह अवसर है। विशेष (४६। ५) में देखिये। बैजनाथजीका मत है कि राजा अपनी प्रभुता त्यागकर प्रेमवश रानीके अनुकूल हैं और कैकेयी वामांगी होकर पातिव्रत्यको त्यागकर प्रतिकूल हो रही है। अयोध्या देशमें यह विषमकाल आ गया है, यह जानकर समयके योग्य नम्र वचन बोले।

तात कहौं कछु करौं ढिठाई। अनुचित छमब जानि लरिकाई॥ ६॥
अति लघु बात लागि दुखु पावा। काहु न मोहि कहि प्रथम जनावा॥ ७॥
देखि गोसाँइहि पूछिउँ माता। सुनि प्रसंगु भये सीतल गाता॥ ८॥

शब्दार्थ—'**ढिठाई**'=धृष्टता। **गोसाईं**=स्वामी, सरकार, आप (यह कहनेका ढंग है)।

अर्थ—हे तात! मैं कुछ कहता हूँ [यह] ढिठाई करता हूँ। इस अनुचितको मेरा लड़कपन समझकर क्षमा कीजियेगा॥ ६॥ अत्यन्त तुच्छ (बहुत जरा-सी) बातके लिये आपने दु:ख पाया, प्रथम ही (यह प्रसंग) कहकर किसीने मुझे जनाया नहीं॥ ७॥ आपको (दु:खी) देखकर मैंने मातासे पूछा। सब प्रसंगको सुनकर शरीर शीतल हुआ॥ ८॥

नोट—१ *'करौं ढिठाई'*—बिना पूछे कुछ कहना और पिताको समझाना ढिठाई है, अनुचित है। *'जानि लरिकाई'* अर्थात् मैं आपको समझाता नहीं हूँ, लड़कपनके स्वभावसे ऐसा कहता हूँ, लड़के अज्ञान होते हैं। आप मुझे शिशु समझकर क्षमा कीजियेगा। (पु० रा० कु०, पंजाबी)

नोट—२ *'अति लघु बात·········'* इति। १४ वर्षका वनवास इसको *'अति लघु'* कहा, जिसमें पिताका दु:ख दूर हो। पिता समझते हैं कि रामजीको वनमें बड़ा क्लेश होगा। इसीसे दु:खी हैं। वाच्यार्थ और व्यंगार्थ बराबर होनेसे यहाँ तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग है कि इसमें कौन-सी कठिनता है जिसके लिये आप अत्यन्त दु:खी हो रहे हैं। (वीर) अ० रा० में भी कहा है **'किमत्र दु:खेन विभो राज्यं शासतु मेऽनुज:।'** (२। ३। ७३) *'काहु न प्रथम जनावा'* अर्थात् किसीने भी कहा होता तो मैं आकर आपसे कह देता कि मुझे वनमें कुछ भी क्लेश न होगा, आप दु:खी न हों—यही बात आगे स्पष्ट कर रहे हैं।

नोट—३ *'देखि गोसाँइहि पूछिउँ माता।'* इति। (क) देखि अर्थात् आपको अत्यन्त व्याकुल देखकर, यथा—*'जाइ दीख रघुबंसमनि नरपति निपट कुसाज।'* (३९) तब मातासे पूछा, उसने सब प्रसंग सुनाया; यथा—*'पूछी मधुर बचन महतारी', 'सब प्रसंग रघुपतिहि सुनाई।'* (४१। ४) *'पूछिउँ माता'* भाव कि मैंने पूछा तब उन्होंने बताया, अपनेसे उन्होंने भी न बताया था। इस प्रकार माताको वनवासकी खबर देनेके दोषसे बचाते हैं। (पंजाबीजी) (ख) *'भये सीतल गाता'* अर्थात् प्रसंग मालूम होनेके पूर्व हमारे गात जलने लगे थे, हम दु:खी हो गये थे यथा—*'अंबु एक दुखु मोहि बिसेषी। निपट बिकल नरनायक देखी॥'* (पु० रा० कु०) मातासे मालूम हुआ कि आपने उनको वर दिया है, यह सुनकर गात शीतल हुए कि माता और पिता दोनोंकी आज्ञा हमें पालन करनेको मिली, हमारा बड़ा भाग्य है।

दो०—मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिअ[१] तात।
आयसु देइअ हरषि हिय कहि पुलके प्रभु गात॥ ४५॥

अर्थ—हे तात! इस मंगलके समय स्नेहवश हो सोच करना छोड़िये। हृदयसे प्रसन्न होकर मुझे आज्ञा दीजिये। यह कहते हुए प्रभु श्रीरामचन्द्रजीका सारा शरीर पुलकित हो गया॥ ४५॥

नोट—१ पुत्रको वनवास हुआ। इसको सबके लिये मंगल-समय कैसे कहा? उत्तर—पुत्र यदि पिताका आज्ञाकारी हो तो पिताके लिये मंगलका ही समय होता है। जब पिताका ऋण उतारनेका अवसर मिलनेपर पुत्र उस ऋणसे पिताको मुक्त करनेको तैयार हो तथा अपना भी पितृऋण उससे समाप्त होता हो तो इससे बढ़कर मंगल-समय उसके लिये क्या हो सकता है? इसीसे तो परमहंस श्रीशुकदेवजीने इस गुणके साथ उनको 'महापुरुष' कहकर उनकी वन्दना की है। यथा—'**त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।"""वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥**'(भा० ११। ५। ३४)

नोट—२ (क) पिताकी आज्ञाका पालन यह हमारे लिये परम धर्म है, अतएव यह मंगलका समय है। आपके वचनोंका प्रतिपालन होगा, यह आपके लिये मंगल है। पुनः पुत्र पिताके ऋणसे और आप कैकेयीके ऋणसे उऋण होते हैं। कैकेयीका भी मंगल-समय है क्योंकि जो वह चाहती है, वही हो रहा है। [२]मंगलके समय स्नेहवश होकर सोच न करना चाहिये वरन् हर्ष और उत्साह होना चाहिये। अतएव सोच छोड़नेको कहा। (ख) ***'कहि पुलके प्रभु गात'***—भाव कि श्रीरामजीने वन जानेको मुखहीसे नहीं कहा; किंतु उनके हृदयमें वन जानेका उत्साह है, पुलकावलिसे भीतरका हर्ष जनाया। (पु० रा० कु०) ***'प्रभु'*** अर्थात् इन वचनोंके पालनमें आप समर्थ हैं, दूसरा कौन पाल सकता है?

धन्य जनमु जगतीतल तासू। पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू॥ १॥
चारि पदारथ करतल ताकें। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें॥ २॥
आयसु पालि जनम फलु पाई। ऐहउँ बेगिहि होउ रजाई॥ ३॥

शब्दार्थ—**धन्य**=सार्थक, कृतार्थ, सफल। **जगतीतल**=(**जगती**=पृथ्वी, तल=पर) संसारमें। **करतल**=हथेली। **रजाई**=आज्ञा, हुक्म—***'चले सीस धरि राम रजाई।'*** (३१८। ७), ***'राम रजाइ सीस सबहीके।'*** (२५४। ८) गौड़जी कहते हैं कि ***'रजाई'*** शब्दका मूलरूप राज्यादेश है। राज्यादेशका ही प्राकृतरूप ***'रजायेसु'*** है। ***'रजायेसु देहु' 'रजायेसु पाई'*** आदि बहुत आये हैं। ***'रजा'*** का भी सम्बन्ध हो सकता है। परंतु 'रजायसु' से ***'रजाई'*** बन जाना अधिक स्वाभाविक है। यह अरबी ***'रजा'*** शब्द है।

अर्थ—पृथ्वीतलपर उसीका जन्म धन्य है, जिसके चरित सुनकर पिताको अतीव आनन्द हो॥ १॥ चारों पदार्थ (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) उसकी हथेलीमें हैं जिसे पिता-माता प्राणके समान प्रिय हैं॥ २॥ आपकी आज्ञाका पालनकर, जन्म-(लेने-)का फल पाकर मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा, अतः शीघ्र आज्ञा दें॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) ***'पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू'***—भाव कि आपकी आज्ञाके पालनमें मुझे उत्साह है, अतः, आपको अतीव हर्ष होना चाहिये, आपके हर्षसे मेरा जन्म धन्य होगा। श्रीरामचन्द्रजीका सुयश सुनकर राजाको हर्ष होता ही है, यथा—***'राम रूप गुन सील सुभाऊ। प्रमुदित होइ देखि सुनि***

१-'परिहरी'—(पं० रामगु०, वंदन पाठकजी)

२-पंडितजी—(१) पृथ्वीका भार उतरेगा, रावणादिका वध होगा, इससे देवताओं, ऋषियों किंतु त्रैलोक्यका मंगल होगा। वे सब सुखी होंगे। इसीलिये मेरा अवतार हुआ है। अब उसका समय आ गया। (यह भाव सम्भवतः अ० रा० के 'देवकार्यं चापि भविष्यति।' (२। ३। ७५) के आधारपर कहा गया है। पर मानसके राम वात्सल्यमें पगे हुए पितासे ऐसा न कहेंगे।) (२) ८८ हजार ऋषि इस चरित्रको और आपके सत्यको गावेंगे-सुनेंगे। अतएव मंगल-समय है। वन्दन पाठकजी—अथवा आपकी अमरावती यात्रा है अतएव।

राऊ॥' (२।१।८) (ख) *' चारि पदारथ करतल ताकें।……… '*—भाव कि अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारोंकी प्राप्ति अगम है, पर माता-पिताकी भक्तिसे ये भी अति सुगम हो जाते हैं मानो हाथमें प्राप्त हैं। पहले चारों पदार्थोंका हाथमें आना कहा, तब माता-पिताका 'प्राणसम' प्रिय होना कहा, भाव कि (पुत्रको) इन चारोंकी प्राप्ति भी माता-पिताके समान प्रिय नहीं होनी चाहिये। माता-पिता प्राणके समान प्रिय हैं अर्थात् प्राणसे अधिक कोई वस्तु प्रिय नहीं होती है, वैसे ही चारों पदार्थ भी इसको प्रिय न हों। तात्पर्य कि साधनमें प्रीति है, फलमें प्रीति नहीं है। फलकी प्राप्ति पहले और साधनको पीछे कहकर जनाया कि माता-पिताकी भक्ति करनेसे चारों पदार्थ मानो प्रथमसे ही प्राप्त रहे हैं। (अर्थान्तरन्यास अलंकार)☞यहाँ प्रभु आचरणद्वारा संसारके पुत्रोंको उपदेश दे रहे हैं।

टिप्पणी—२ *'आयसु पालि जनम फलु पाई……… ।'* इति। जन्मका फल धर्मसे होता है। आयसु-पालन बड़ा धर्म है, यथा—*'पितु आयसु सब धरम क टीका।'* (५५।८) आज्ञा-पालन करके शीघ्र आऊँगा अर्थात् एक दिन भी अधिक वनमें न रहूँगा। 'आज्ञा हो' अर्थात् हमारे जन्मको सुफल कीजिये। *'आयसु पालि'* कहकर आज्ञा-पालनमें अपनी श्रद्धा दिखायी। (यह पिताके संतोषार्थ कहा, अब माताको संतोष देने जाते हैं (रा० प्र०)। जानेकी बात कहकर तुरत लौटनेकी बात कहना 'चपलातिशयोक्ति' है।)

बिदा मातु सन आवौं माँगी। चलिहौं बनहि बहुरि पग लागी॥ ४॥
अस कहि राम गवनु तब कीन्हा। भूप सोकबस उतरु न दीन्हा॥ ५॥

अर्थ—मातासे विदा माँग आऊँ फिर आपके पैर लगकर अर्थात् चरणोंपर माथा नवाकर वनको चल दूँगा॥ ४॥ ऐसा कहकर तब श्रीरामचन्द्रजी वहाँसे चल दिये। राजाने शोकवश होनेके कारण कुछ उत्तर न दिया॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'बिदा मातु सन……… '* इति (क) मातासे आज्ञा ले आऊँ, इस कथनसे सूचित होता है कि उनको निश्चय है कि वे वन जानेकी आज्ञा दे देंगी। माताको अलौकिक ज्ञान है, यथा—*'मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे॥'* (१।१५१) (ख) *'बहुरि पग लागी।'* *'बहुरि'*-क्योंकि एक बार प्रणाम कर चुके हैं, यथा—*'चरन परत नृप राम निहारे।'* (४४।२) पुनः भाव कि रामजीने पितासे दो बार आज्ञा माँगी, यथा—*'आयसु देइय हरषि हिय कहि पुलके……… '* और *'ऐहउँ बेगिहि होउ रजाई।'* पिताने आज्ञा नहीं दी; इसीसे पुनः आनेको कहते हैं। यदि आज्ञा दे दी होती तो फिर यहाँ आनेका कुछ प्रयोजन न था। [वनसाज मुनिवेष यहींसे करके चलना है। वल्कल वस्त्रादि कैकेयीसे ही मिलने हैं। अतः यहाँ फिर आनेका प्रयोजन है।] कैकेयीके संतोषके लिये उसके सामने ही तपस्वीवेष धरकर चलेंगे। उसकी यही प्रतिज्ञा है—*'होत प्रात मुनिबेष धरि जौं न राम बन जाहिं। मोर मरन……… '* (३३)

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—*'आयसु पालि………पग लागी'* इति। जो पुत्र पिताके जीवनमें उनके वाक्यका पालन करे, मरनेपर, मरण-तिथिपर भोजन करावे और गयामें पिण्डदान करे वही पुत्र है। '**जीविते वाक्यकरणाच्च क्षयाहे भूरिभोजनात्। गयायां पिण्डदानैश्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता॥**' यावज्जीवन पिताके वचन माननेमें पुत्रकी पुत्रता है। अथवा पुं नाम नरकका है, उससे जो उद्धार करे वही पुत्र है। इसलिये रामजी कहते हैं कि आपके आज्ञा-पालनमें मेरे जन्मका साफल्य है। मैं वन नहीं जाता हूँ, अपना जन्म सफल करने जा रहा हूँ। लौटनेमें एक दिनका विलम्ब न होगा। मैं बात सब जान गया, फिर भी राजाज्ञा होनी चाहिये। बातके जान लेनेपर भी राजाज्ञाकी अपेक्षा रहती है।

महाराजकी ओरसे कोई उत्तर न पाकर रामजी कहते हैं कि *'बिदा मातु सन आवौं माँगी'* मैं माँसे विदा माँगकर आता हूँ। भाव यह कि माताका स्नेह बच्चोंपर अधिक होता है अतः यदि मैं मातासे आज्ञा ले आऊँ, तब तो आपको आज्ञा देनेमें संकोच न होना चाहिये। अतः मातासे आज्ञा लेकर फिर प्रणाम करने यहाँ आऊँगा। तत्पश्चात् वनको जाऊँगा। विश्वामित्रके साथ जानेमें ऐसा नहीं किया। *'जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस।'* क्योंकि उस समय महाराजने आज्ञा दे दी थी; यथा—*'सौंपे भूप रिषिहि*

सुत बहु बिधि देइ असीस।' इस बार महाराज अति शोकाकुल हैं, बोलनेको भी असमर्थ हैं। अत: शोकके वेगके रोकनेके लिये समय दे रहे हैं, तथा उसके वेगको कम करनेके लिये पहले ही माताकी आज्ञा प्राप्त करने जा रहे हैं।

टिप्पणी—(क) ***'अस कहि'*** इति। भाव कि यदि श्रीरामजी ऐसा कहकर न जाते तो राजाको बड़ा दु:ख होता कि हम तो व्याकुल थे, शोकवश कुछ बोल न सके तब भी रामजी हमको छोड़कर चल दिये। ऐसा समझनेसे अधिक शोक होता, वे तुरत ही मर जाते। अतएव कहकर चले कि फिर आऊँगा। इससे उन्हें आशा बनी है कि अभी फिर आवेंगे। अथवा राजाके कुछ न बोलनेपर यदि वे उत्तरके लिये बैठे रहते तो कैकेयी समझती कि इनके चित्तमें है कि राजा हमें रहनेको कह दें, जानेको रोक दें; अत: उसके इस संदेहके निवारणार्थ वे उठ खड़े हुए और यह कहकर चल दिये कि मातासे आज्ञा लेकर आता हूँ। (पं०) (ख) ***'भूप सोकबस उतरु न दीन्हा'*** अर्थात् उत्तर देनेकी इच्छा थी। जैसे आगे वनगमनके समय उत्तर दिया है—***'सुनहु राम तुम्ह कहँ मुनि कहहीं।'*** ······ इत्यादि, वैसे ही यहाँ भी देते, पर शोकके वश बोल न सके, अत: उत्तर न दिया।

पंजाबीजी—श्रीरामचन्द्रजी ***'देश काल अवसर अनुसारी। बोले बचन बिनीत बिचारी॥'*** इनके वचनोंमें कौन देशके और कौन काल इत्यादिके हैं? उत्तर—१ राजा यदि सिंहासनासीन दरबारमें होते तो बिना पूछे वचन न कहते। पर यहाँ खेद-गृह हैं, शोक-भवन हैं, अत: बिना पूछे बोले और धृष्टता की। यह देशानुसार हुआ। २—थोड़ी-सी बातके लिये इतना दु:ख उठाया, पहले ही कहला भेजा होता। ये वचन दु:ख-कालके शान्त करनेवाले हैं। यह कालानुसार हुआ। ३—***'देखि गुसाँइहि पूछिउँ······'*** से ***'आयसु देइय हरषि हिय'*** यहाँतक अवसरके अनुसार वचन हुए। ४—***'धन्य जनम जगतीतल तासू'*** से ***'प्रिय पितु मातु प्रान सम जाके'*** ये नीतिके वचन हैं और इसके आगे पिताको धीरज देनेका वाक्य है। (नोट—इन्होंने विनीतका अर्थ विशेष नीति किया है। उसीके अनुसार ये भाव कहे हैं। विनीतका अर्थ विनम्र है और रघुनाथजीके सभी वचन अति नम्र हैं ही।)

नृपवचन और राजरस-भंग-प्रकरण समाप्त हुआ

''पुरवासि-विरह-विषाद''—प्रकरण

नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी। छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी॥ ६॥
सुनि भए बिकल सकल नर नारी। बेलि बिटप जिमि देखि दवारी॥ ७॥
जो जहँ सुनइ धुनइ सिरु सोई। बड़ बिषादु नहिं धीरजु होई॥ ८॥

शब्दार्थ—'**ब्यापि गइ**'=व्याप्त हो गयी, फैल गयी—व्यापना अकर्मक क्रिया है। '**सुतीछी**'=बहुत तीक्ष्ण, बड़ी तीखी। तीक्ष्ण वा तीखी बात वह है जो सुननेमें अप्रिय, कटु और असह्य हो। '**चढ़ी**'=किसी वस्तुका बुरा और उद्वेगजनक प्रभाव होना 'चढ़ना' कहलाता है; जैसे विष चढ़ना, नशा चढ़ना, ज्वर चढ़ना।' 'बीछी चढ़ी' अर्थात् उसके डंकका असर व्याप्त हो गया। '**दवारी**'=दवाग्नि=वनमें लगनेवाली आग। '**दव**'=वन, वनाग्नि, यथा—***'मृगी देखि जनु दव चहुँ ओरा।'***

अर्थ—वह बड़ी ही तीखी बात नगरभरमें इतनी शीघ्रतासे फैल गयी मानो बिच्छूका डंक लगते ही सारे शरीरमें बिच्छी (अर्थात् उसका विष) चढ़ गयी॥ ६॥ सब स्त्री-पुरुष सुनकर व्याकुल हो गये जैसे दावानल देखकर लताएँ और वृक्ष व्याकुल हो जाते हैं, अर्थात् मुरझा जाते हैं॥ ७॥ जो जहाँ ही सुनता है, वह वहीं सिर धुनने (पीटने) लगता है। बड़ा दु:ख है, किसी प्रकार धीरज नहीं होता॥ ८॥

'नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी।······' **इति।**

१—***सुतीछी***=अत्यन्त तीक्ष्ण। साँपकी उगली हुई बिच्छी बड़ी ही तीक्ष्ण होती है। यहाँ कैकेयी सर्पिणी

है, यथा—*'दोउ बासना रसना दसन बर मरम ठाहरु देखई।'* (२५ छंद) उसकी कही हुई बात साँपिनीकी उगली बीछी है। तीक्ष्ण बात बिच्छी है और सुतीक्ष्ण बात उगली हुई बिच्छी है। उसने राजाको काटा। प्रजा राजाका अंग है। सब अंगमें बीछी चढ़ गयी अर्थात् अत्यन्त तीक्ष्ण बात सुनकर सब प्रजा व्याकुल हो गयी, जैसे आगे लिखते ही हैं। (पु० रा० कु०) बैजनाथजीके मतानुसार कैकेयी बीछी है, उसका वचन डंक है, भूप थल हैं, एक स्थलमें लगते ही सारे शरीररूपी नगरमें विष फैल गया।

२—बड़े विषैले बिच्छूके डंक मारते ही सारे शरीरमें उसका विष तुरत दौड़ जाता है, वैसे ही कैकेयीके वनवासवाले वरदानकी बात सारे नगरमें बात-की-बातमें फैल गयी, कुछ देर न लगी। श्रीरामचन्द्रजी सुमन्त्रके साथ बाहर आये। सुमन्त्रजीसे द्वारपर जो भीड़ थी उसको मालूम हुई, बस इनसे एक-दूसरेद्वारा नगरभरमें फैल गयी। (यहाँ उक्त-विषया-वस्तूत्प्रेक्षा है।)

३—पण्डितजी लिखते हैं कि इस कथनसे यह भी जनाते हैं कि घाव नहीं देख पड़ता पर व्यथा बड़ी तीव्र है। अथवा वनमें एक *'सुतीछी'* होती है, वह जब किसीको काटती है तब उसको तो चढ़ती ही है और जो-जो उसे छूते हैं, उनको-उनको भी बीछीकी-सी चढ़ जाती है। ☞ विशेष आगे श्रीगौड़जीकी टिप्पणी देखिये।

टिप्पणी—१ *'सुनि भए बिकल नर नारी।·········'* इति। बातकी तीक्ष्णता दिखलाते हैं। ऐसी तीक्ष्ण है कि सुनतेमात्र सब व्याकुल हो गये। यहाँ नरको विटप और नारीको बेलिसे उपमा दी है। दव लगनेसे बेलि और विटप झुलस जाते हैं। दावाग्निसे जले हुए बेलि-वृक्षोंमें फिर पत्ते लगते हैं, वैसे ही श्रीरामजीके आनेपर स्त्री-पुरुष सुखी होंगे। बेलि-विटपकी उपमा देनेका भाव कि जैसे ये जड़ हैं, वैसे ही अवधवासी तीक्ष्ण बात सुनकर व्याकुलतासे जड़वत् हो गये। दावानल लगनेसे बेलि-विटप काले पड़ जाते हैं, वैसे ही तीक्ष्ण बिच्छूके डंक मारनेसे शरीर काला हो जाता है।

तीक्ष्ण बातकी दवाग्निसे उपमा दी। तात्पर्य कि तीक्ष्ण बात अग्निके समान है। वही बिच्छी है। बिच्छीका जहर आगके समान दाहक होता है।

प्रश्न—बेलि-विटपके आँख नहीं है, तब दावाग्निका देखना कैसे कहा। उत्तर—बेलि-विटपके अभिमानी देवता चेतन हैं, उनके आँख है, वे देखते हैं। इसीसे देखना कहा, यथा—*'बन सागर सब नदी तलावा। हिमगिरि सब कहुँ नेवत पठावा॥ कामरूप सुंदर तनधारी। सहित समाज सहित बरनारी॥ आए सकल तुहिनाचल गेहा।'* (१। ९४। ४—६) देखिये।

गौड़जी—बेलि-विटप स्थावर प्राणी हैं, अचर हैं, जब विपत्ति एकदम पास आ जाती है, तब उन्हें उसके आनेका पता लगता है। वह बेचारे भागकर बच नहीं सकते। इसलिये विपत्तिके बिलकुल सिरपर आ जानेसे पहले उसे देखकर ही मुरझा जाते हैं, मूर्छित हो जाते हैं। जब जंगलमें आग लगती है, तब दूर-दूरपरकी लताएँ और वृक्ष भयसे सूख जाते हैं। (अग्निको जलानेमें इस कारण और भी सुगमता हो जाती है।) यहाँ अयोध्याके नर-नारी आनेवाली विपत्तिका, श्रीराम-वियोगका अनुमान करके ही विकल हो गये। विकलता इसलिये भी अधिक है कि हम इस विपत्तिसे बच नहीं सकते। पिता-पुत्र दोनों ही कठिन सत्यव्रती हैं, इसका विश्वास ही निराशाका कारण है कि विपत्ति टल ही नहीं सकती। पिछली अर्धालीमें अवध-नगर राजा अवधनाथका शरीर है, उसमें बिच्छूके डंकका वा सर्पका विष छूते ही चढ़ गया यह दिखाया गया। अर्थात् यह पीड़ाजनक खबर सारे नगरमें डंकके जहरकी तरह आनन-फाननमें फैल गयी। फैलती बेर तो वह तेज चुभनेवाली बीछी-सी थी, परंतु व्यापते ही उसने दावानलका रूप पकड़ लिया। उस विपत्तिके टलनेकी रत्तीभर सम्भावना न देखकर नर-नारी सब घबड़ा उठे। जो जहाँ सुनता था, सिर धुनता था। वह भारी विषाद फैल गया कि धैर्य स्वयं अधीर हो गया। मुँह सूख गये और आँखोंकी राह आँसू होकर शोक बह निकला; क्योंकि हियेमें समा न सका, इतना ज्यादा है।

वि० त्रि०—*'सुनि भए बिकल·········दवारी'* इति। श्रीरामजी वनको जाना चाहते हैं, यह सुनकर नर-

नारी विकल हो गये। जैसे दावानल आया चाहता है, यह देखकर बेलि-विटप जिस भाँति मुरझा जाते हैं। प्रश्न यह उठता है कि क्या बेलि-विटप दावाग्निको देख सकते हैं? उत्तर है कि हाँ, देख सकते हैं। महाभारतमें कारण देखकर बतलाया गया है, '**तस्मात् पश्यन्ति पादपाः। तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः॥**' पेड़ देखते हैं, पेड़ सुनते हैं इत्यादि। जड़ विज्ञान भी अब यह मानने लगा है। जब नर-नारी कहा तब उपमा देते समय विटप-बेलि कहना चाहता था। 'बेलि-विटप' क्यों कहा? बात यह है कि श्रीरामजीके वनगमनका समाचार पहले पुरुषोंको मिला। स्त्रियोंने पीछे जाना, अतः नर-नारी कहा और कोमल होनेसे पहले बेलियाँ (बेलें) विकल हुईं, पीछे विटप विकल हुए, अतः बेलि-विटप कहा। जिसने सुना, वह वहीं स्तब्ध हो गया, इसलिये जड़से उपमा दिया।

टिप्पणी—*'जो जहँ सुनइ धुनइ सिरु सोई।'........'* इति। (क) जैसे दावाग्नि देखकर बेल-विटप कहीं जा नहीं सकते, वैसे ही तीक्ष्ण बात सुनकर स्त्री-पुरुष जो जहाँ हैं, वहीं माथा पीटने लगते हैं, कहीं भागकर जा नहीं सकते, क्योंकि अभी श्रीरामजी अवधमें हैं, उन्हें छोड़कर कहाँ भागकर जायँ। जब श्रीरामजी वनको चले तब दावाग्नि देखकर प्रजाका भागना लिखते हैं, यथा—***'बिधि कैकयी किरातिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं॥ सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥'*** (८४। ३-४) अतएव यहाँ जड़ वृक्ष-बेलोंसे उपमा दी और आगे वनगमनके समय उनको खग-मृगोंसे उपमित किया है, यथा—***'खग मृग बिपुल सकल नर नारी।'*** (८४। २) *['धुनइ सिरु'*—सिर पीटते हैं, मानो अपनी आयुकी रेखा मिटाते हैं कि शीघ्र मर जायँ (रा० प्र०)। अर्थात् हमारे भाग्य फूट गये। शोकमें ऐसा स्वाभाविक लोगोंसे होता है।]

दो०—मुख सुखाहिं लोचन स्त्रवहिं सोकु न हृदय समाइ।
मनहुँ करुनरस कटकई उतरी अवध बजाइ॥ ४६॥

शब्दार्थ—**स्त्रवहिं**=जल बहाते हैं, टपकते हैं। **कटकई**=सेना।

अर्थ—(सब लोगोंके) मुख सूख रहे हैं, आँखोंसे आँसू गिर रहे हैं, शोक हृदयमें नहीं समाता। मानो करुणारसकी सेना अवधपर डंका बजाकर चढ़ आयी है। अर्थात् दुःखने सबको जीत लिया है, आनन्द परास्त हो गया॥ ४६॥

नोट—१ ऊपर कहा कि ***'बड़ बिषाद नहिं धीरजु होई',*** अब दिखाते हैं कि जब धैर्य नहीं होता, तब क्या दशा होती है—मुख सूख जाता है, अश्रुपात होते हैं इत्यादि।

गौड़जी—प्रत्येक प्राणीके सूक्ष्म शरीरमें स्थायीरूपसे प्रेम, घृणा, क्रोध, भय आदि भाव सूक्ष्मरूपमें बने रहते हैं। इन्हें स्थायीभाव कहते हैं। स्थायीभाव वैष्णव कवियोंने यह माने हैं—शोक, क्रोध, उत्साह, भय, आश्चर्य, घृणा, विनोद, रति-निर्वेद, साहचर्य, अनुक्रिया और अनुराग। यह हृदयमें छिपे रहते हैं। किसी विशेष घटनाके सहारे यह भाव उठते हैं। उस घटनाको आलम्बन-विभाव कहते हैं। उस घटनाकी आनुषंगिक सामग्री पाकर यह भाव उद्दीप्त हो जाते हैं। इस सामग्रीको उद्दीपन-विभाव कहते हैं। स्थायीभाव आलम्बन-विभावका हृदयमें ध्यान होनेसे जगता है, उद्दीपन-विभावसे उद्दीप्त हो जाता है, तब स्थायीभावके उद्दीपनके अनुगत सात्त्विक-भाव देख पड़ते हैं अर्थात् शरीरमें उस स्थायीभावके लक्षण प्रकट होते हैं। फिर कुछ ऐसे भाव भी साथ-साथ पैदा हो जाते हैं जो अनेक स्थायीभावोंमें उसके उद्दीपनके समय संचरण करते हैं और फिर विलीन हो जाते हैं। इन्हें संचारी-भाव कहते हैं। स्थायी, सात्त्विक और संचारी-भावों और दोनों विभावोंके सामंजस्यपूर्वक पूर्तिसे स्थायीभावजन्य रसकी पूर्ति होती है। यहाँ शोक स्थायीभाव है। श्रीरामजीसे आसन्न वियोग आलम्बन है। कैकेयीका वर माँगना, राजाका वाग्बद्ध होना, श्रीरघुनाथजीका वनगमनके लिये तैयार हो जाना आदि बातोंका समाचार तथा श्रीरामजीके अलौकिक गुण उद्दीपन-विभाव हैं। नर-नारीका सिर धुनना, मुख सूखना, आँसू गिराना आदि अनुभाव या सात्त्विक भाव हैं। मोह, ग्लानि, विषाद, अपस्मार,

चिन्ता, उन्माद आदि संचारीभाव हैं। इन सबको मिलाकर करुणारसकी पूर्ति होती है। यहाँ सारी अयोध्या करुणा-रसमें डूब गयी है, सो मानो करुणा-रस डंका बजाकर अपनी फौज लेकर अवधपर चढ़ाई करनेको आ उतरा है। इसके डरसे आमोद-प्रमोद भाग गये। ऊपर जो बारह स्थायीभाव गिनाये हैं उनके रस क्रमसे यह हैं—करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, अद्‌भुत, बीभत्स, हास्य, शृंगार, शान्त, सख्य, दास्य और वात्सल्य।

नोट—२ करुणारसकी सेनाका डंका बजाकर अवधपर चढ़ आना कहा है। चतुरंगिणी सेनामें गज, रथ, घोड़े और पैदल होते हैं। यहाँ वे क्या हैं? उत्तर—(क) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'रामवियोग-विभाव है' यही गज है। रुदन, प्रलाप, मूर्छा, ऊर्ध्वश्वास आदि अनुभाव घोड़े हैं। भ्रम, शंका, उन्माद, जड़ता, दैन्य, अश्रु, स्वरभंग आदि संचारी पैदल हैं और अत्यन्त शोक स्थायी रथ है। शीघ्र ही दुःख व्याप्त हो गया यही डंकाका शब्द है। यावत् प्रियमिलनकी आशा है, तावत् विप्रलम्भ है। मिलनेकी आशा नहीं रह जानेसे करुणारस हुआ। (ख) पंजाबीजी लिखते हैं कि 'मुख सूखना', 'अश्रुपात होना' इत्यादि कटकका स्वरूप है। ऊँचे शब्दसे हाहाकार करना नगाड़ोंका बजना है।

नोट—३ ***'मानस मयंक'***— 'कटकई' रचे हुए व्यूहको कहते हैं। भाव यह कि करुणारस चारों प्रकारके व्यूहोंसे सज्जित सेनाको साथ लेकर उतरा है। अर्थात् (१) करुणा (२) अतिकरुणा (३) महाकरुणा और (४) लघुकरुणा क्रमसे (१) संडाव्यूह (२) गरुड़ाव्यूह (३) नराव्यूह और (४) चक्राव्यूह हैं। और कटकईके पूर्व मूलमें लिखा है—***'मुख सुखाहिं लोचन स्त्रवहिं',*** यह मानो करुणारसका विकराल पाँचवाँ दल है। ऐसे साज-समाजसंयुक्त करुणारस अवधको पीड़ित करनेको उतरा है।

वन्दनपाठकजी—***'बजाइ'*** अर्थात् नगाड़ा बजाकर वा ललकारकर। करुणारस-कटकने आनन्दकटकको परास्त कर दिया जो जन्म, विवाह आदिसे आ जुड़े थे।

मिलेहि माँझ बिधि बात बेगारी। जहँ तहँ देहिं कैकइहि गारी॥ १॥
एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावकु धरेऊ॥ २॥
निज कर नयन काढ़ि चह दीखा। डारि सुधा बिषु चाहत चीखा॥ ३॥
कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंस बेनु बन आगी॥ ४॥
पालव बैठि पेड़ एहि काटा। सुख महुँ सोक ठाटु धरि ठाटा॥ ५॥

शब्दार्थ—**मिलेहि माँझ**=मेलहीमें। **काढ़ि**=निकालकर। **डारि**=फेंककर, गिराकर। **चीखना**=स्वाद लेना, चखना। **बेनु** (बेण)=बाँस। **पालव**=पल्लव। नये निकले हुए कोमल पत्तोंका समूह या गुच्छा; टहनीमें लगे हुए नये-नये कोमल पत्ते जो प्रायः लाल होते हैं; कल्ला। **ठाटा**=रचा, खड़ा किया, संयोजित किया, ठाना। ठाट (सं० स्थातृ=खड़ा होनेवाला)=समाज, सामान।

अर्थ—मेलमें ही ब्रह्माने बात बिगाड़ दी! जहाँ-तहाँ लोग कैकेयीको गाली देते हैं॥ १॥ इस पापिनीको क्या समझ पड़ा कि इसने छाये हुए घरपर आग रख दी॥ २॥ अपने हाथसे अपनी आँखें निकालकर देखना चाहती है। अमृतको फेंककर विष चखना चाहती है॥ ३॥ यह कुटिला, कठोर, दुर्बुद्धि और अभागिनी रघुवंशरूपी बाँसके वनके लिये अग्निरूप हुई अर्थात् नाश कर डाला॥ ४॥ पल्लवपर बैठकर इसने पेड़को काटा, सुखमें इसने शोकका ठाट बनाकर खड़ा कर दिया॥ ५॥

टिप्पणी—१ ***मिलेहि माँझ***=मेलहीमें। ***माँझ***=बीचमें। मेलहीमें बिगाड़ हो गया। राजा, रानी, पुत्र सबमें मेल था, किंचित् विरोध न था, सबमें परस्पर प्रीति थी, मेल रहते हुए ही ब्रह्माने बात बिगाड़ दी। यथा—***'अमर नाग मुनि मनुज सपरिजन बिगत बिषाद गलानी। मिलेहि माँझ रावन रजनीचर लंक संक अकुलानी॥'*** (गी० बा० ४) पापिनि, कुटिल, कठोर इत्यादि बनाना ही गाली देना है।

नोट—१ ***'एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ।'*** इति (क) इस कथनसे सूचित हुआ कि सबको आश्चर्य हो रहा है कि कैकेयीको क्या हो गया, वह ऐसी कुटिला कैसे हो गयी? आगे इसका कारण उसका

दुर्भाग्य बताते हैं। (प० प० प्र०) (ख) कैकेयीको पापिन कहा; क्योंकि इसका घरमें आग लगाना कहते हैं और आग लगानेवाला आततायी (वह पापी जिसके मार डालनेमें कोई दोष नहीं) कहा गया है, यथा—'**अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदाराहरश्चैव षडेते आततायिनः॥**' (वसिष्ठस्मृति ३। १९) अर्थात् घर जलानेको आया हुआ, विष देनेवाला, हाथमें हथियार लेकर मारनेके लिये आया हुआ, धन लूटकर ले जानेवाला और स्त्री या खेतका हरणकर्ता—ये छः आततायी हैं। (ग) ***'बूझि का परेऊ'***— अर्थात् इसको यह न सूझ पड़ा कि जिस घरकी छायामें रहना है, जिसमें समस्त सुखके पदार्थ भरे हुए हैं, उसमें आग लगानेसे सब कुछ जल जायगा, कुछ भी न बचेगा। इसे यह न सूझा कि जिन रामजीको मैंने जन्मसे पाल-पोसकर बड़ा किया; राज्य करने योग्य बनाया, उन्हींको राज्य देनेके समय राज्य न देकर वन भेज रही हूँ। (घ) ***'छाइ भवन पर········'*** इति। यहाँ भवन क्या है? छाना क्या है? अग्नि क्या है? उत्तर—राज्य छाया हुआ भवन है, जिसमें सब सुख प्राप्त होते। (पं० रा० कु०) श्रीरामजीका पालन-पोषण करके बड़ा करना और राज्य करने योग्य बनाना भवनका छाना है। (पं० रा० कु०) श्रीनंगे परमहंसजीके शब्दोंमें 'कैकेयीने जो बालपनसे श्रीरामजीका पालन किया है वही मकानका उठाना है। जैसे मकानके उठानेमें बहुत समय लगता है वैसे ही कैकेयीको बालपनसे लेकर कौमारावस्थातक पालन-पोषण करनेमें बहुत समय लगा है। मकान छाया जाता है तो उसमें समय कम लगता है, वैसे ही पाल-पोसकर बड़ा करनेपर कैकेयीने उनका विवाह किया जिसमें समय लगा पर कम। श्रीरामजीका श्रीजानकीजीसे विवाह कराके उनको घर लानेके पश्चात् कैकेयीको उनसे सुख उठाना चाहिये था।' अर्थात् परमहंसजीके मतानुसार श्रीरामजीका विवाह करना घरका छाना है। बाबा हरिदासजीका मत है कि कैकेयीका पूर्व राजासे इच्छा प्रकट करना कि श्रीरामजीको राज्य दे दीजिये, जैसा ***'भामिनि भयउ तोर मन भावा।'*** (२। २७। २) से स्पष्ट है, यह भवनका छाना है। राज्यतिलककी तैयारी हो चुकी थी, यही घरका छा जाना है। (आगे वि० त्रि० का टिप्पण भी देखिये।) पुरवासियोंके कथनका आशय यह है कि कैकेयीने रामजीको वनवास दे अयोध्याका नाश किया, जिससे सब सुख प्राप्त होते, उसी रामराज्यमें बाधक हुई इत्यादि; पर ऐसा सीधे-सीधे न कह उसका प्रतिबिम्बमात्र कहा कि घरको छाकर आग धर दी इत्यादि। यह 'ललित अलंकार' है। (वीरकवि)

नोट—२ (क) ***'निज कर नयन काढ़ि चह दीखा'*** इति। जैसे अपने नेत्रोंकी सुन्दरता सुनकर कोई मूर्ख उन्हें निकालकर अपने हाथपर धरकर उन्हें अपनी आँखोंसे देखना चाहे तो कैसे देख सकता है, जिससे देखता उन्हींको तो उसने निकाल लिया है। देखनेवाली इन्द्रिय ही नष्ट हो गयी तब अपने नेत्रोंका सौन्दर्य भी न देख सका और कुरूप भी हो गया। वैसे ही यहाँ श्रीरामजी नेत्र हैं। कैकेयीने स्वयं ही वर माँगकर उनको वनवास दिया। यही नेत्रोंका अपने हाथसे निकाल लेना है। स्मरण रहे कि यह वर भी उसने हाथोंहीसे माँगा। यथा—***'माँगउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥'*** (२९। २) श्रीरामजीके श्रीअयोध्याजीमें रहनेसे सब सुख देखनेको मिलता। (अर्थात् राजा भरतजीको राज्य देनेको कहते ही थे, यथा—***'सुदिन सोधि सब साजु सजाई। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई।'*** (३१। ८) ***'राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती।'*** (३४। ८) ***'जेहि देखौं अब नयन भरि भरत राज अभिषेक।'*** (३३) श्रीरामजी वनको न जाते तो राजा भी जीवित रहते, सम्भव था कि भरत राज्य ग्रहण करते और तब वह भरत-राज्यका सुख देखती) श्रीरामजीको वनवास देकर निकाल देनेसे अयोध्यामें अब कौन सुख देखनेको मिलेगा। भरतजीका राज्य देखना असम्भव है। विधवा होना और भरतजीका राज्य न ग्रहण करना तथा स्वयं भरतका एवं पुरवासियोंका उसे उलटी-सीधी सुनाना, यही कैकेयीका अंधा और कुरूप होना है। [पु० रा० कु०, रा० प्र०, पं० प्र०, प० प०, नं० प०, वै०] (कैकेयी परम सुन्दर थीं ही, अपने सौभाग्यका उन्हें गर्व था ही। इस सम्बन्धसे ***'निज कर नयन········'*** कथन बड़ा ही सुन्दर है। इनसे यह भी जनाया कि अब वह कलंकित हो गयी, उसका मुख देखनेसे भी लोग घृणा करेंगे और विधवा तो होगी ही। (प० प० प्र०) अपनी आँख निकालकर देखनेकी इच्छा करनेमें 'विचित्र अलंकार' है। पं० वि० त्रि० के टिप्पण आगे देखिये।

(ख) ***'डारि सुधा बिषु चाहत चीखा'*** इति। श्रीरामजी अमृत हैं और कैकेयीको प्राप्त हैं। उन्हें फेंककर अर्थात् वन देकर उसके अनिष्ट परिणाम राजाकी मृत्यु और अपना वैधव्यरूपी विष चखना चाहती है, उसका स्वाद लेना चाहती है अथवा, श्रीरामसंयोग अमृत और श्रीरामवियोग विष है। (पं०, वै०, रा० प्र०) अथवा, रामदर्शन अमृत है, भरतसे तिरस्कृत होना विष है, जिसे चखकर यह मृतकवत् होगी। (वि० टी०) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ भरतराज्य विष है। श्रीरामजीको वन देकर पतिको मारकर भरतराज्य चाहती है, इसीसे भरतराज्यको विष कहा। श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि श्रीरामजीकी भक्ति अमृतरूपा है, राज्यसुख-विषयविष है। अर्थात् भरतजीको राज्य देकर राजसुखका अनुभव करना चाहती है जो असम्भव है, क्योंकि विष तो चखते ही मृत्यु कर देगा? उसका अनुभव कैसे होगा? अर्थात् जब श्रीरामजी वनको चले जायँगे तब राजाकी मृत्यु हो जायगी। ·····अतः जब प्रथम अमृत-पान करके विष चीखेगी तब जीती रहकर विषका अनुभव कर सकती है। भाव कि यदि कैकेयी श्रीरामभक्ति-सुधाका पान करे अर्थात् श्रीरामजीको घरमें रख ले तब भरतराज्य, जो विषका चखना है, हो सकता है; क्योंकि अमृत पीनेवालेको विष नहीं मार सकता, पर जब गरल मृत्यु कर देगा तब अमृत जिला नहीं सकता।' (आगे वि० त्रि० के टिप्पण भी देखिये।)

नोट—३ ***'कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी'*** इति। (क) कैकेयीने चार बातें कीं; इसीसे उसमें चार दोष कहते हैं। छाये हुए घरपर आग धर दी, अतएव कुटिल है। (पं० रा० कु०) वा, स्वामीसे विमुख होने अथवा कुमार्गपर चलनेसे कुटिल कहा। (पं०, वै०) या ऊपरसे तो श्रीरामजीमें स्नेह दिखायी है, पर भीतर कुछ और है, इसीसे तो राजतिलकसे क्षोभ हुआ, अतः ***'कुटिल'*** कहा। (नं० प०) (ख) अपने हाथसे अपनी आँखें निकालनेके सम्बन्धसे ***'कठोर'*** कहा। (पं० रा० कु०) श्रीरामजीको दुःख देनेका विचार मनमें लानेसे, उनको वनवास देनेका हठ करनेसे कठोर हृदय कहा। (पं०) (ग) अमृत फेंककर विषको चखना चाहती है, अतः ***'कुबुद्धि'*** है। हितमें अनहित और अनहितमें हितका विचार कर रही है, किसीका कहना नहीं सुनती-मानती, यह नहीं विचार करती कि श्रीरामजीके वनगमनसे राजाकी मृत्यु हो जायगी, तब मुझे कौन सुखभोग करनेको मिलेगा, यह 'दुर्बुद्धि' की बात ही है। (पं० रा० कु०, पं०, वै०, नं० प०) (घ) 'पालवपर बैठकर पेड़ काटा।' वा रघुवंशको जलानेके लिये इस वंशमें अग्निरूपसे प्रकट हुई, सभीके हृदयको जला रही है, अतः ***'अभागी'*** कहा। (वै०, पं०)। वा, इसके हृदयमें रामभक्ति न होनेसे अभागी कहा। (नं० प०) यथा—***'सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥'*** (३। ३३। ३) ***'जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। ग्यानरंक नर मंद अभागी॥'*** (३। ४५। ३) (ङ) कुटिल कठोर आदिमें उत्तरोत्तर अपकर्षवर्णनमें 'सार अलंकार' है।

नोट—४ ***'भइ रघुबंस बेनु बन आगी'*** इति। (क) कुटिलादि विशेषण देकर तब कहा कि रघुवंशको जलानेके लिये यह वेणुवनसे प्रकट हुई अग्निके समान हुई। इससे जनाया कि कुटिल, कठोर, कुबुद्धि, अभागे ही ऐसा काम कर सकते हैं, दूसरे नहीं! (ख) बाँसके जंगलमें प्रायः आपहीसे आग लग जाती है। वायुके वेगसे बाँस जब आपसमें बारम्बार लड़ते हैं तब उनमें एक-दूसरेकी रगड़से अग्नि पैदा हो जाती है, जो सारे वनको जला डालती है। यहाँ बाँसके वनकी उपमा दी, क्योंकि जैसे बाँसहीमेंसे आग निकलकर बाँसके वनमात्रको जला देती है, वैसे ही इस कुलमें ही कैकेयी अग्निरूप प्रकट हुई, जिसने अपने वंशभरको शोकमें डुबा दिया। यहाँ बाँसोंकी आपसमें रगड़ क्या है? वही जो मंथराने उपदेश दिया है। यथा—***'समउ फिरे रिपु होहिं पिरीते', 'पठए भरत भूप ननिअउरें।' '·········साल तुम्हार कौसिलहि माई।', '·········सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी।' 'कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख तुम्हहि कौसिला देब।······', 'सुतहि राजु रामहि बन बासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू········॥'*** यही सौतियाडाह आपसकी रगड़ है। (ख) यहाँ 'परम्परित रूपक' अलंकार है। कैकेयीका नाम न लेकर उपमानको प्रधान बनानेमें साध्यवसान लक्षणा है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—***'कुटिल कठोर········ठाटा'*** इति। निष्कारण दुःख देना कुटिलता है और सुखके समय दुःख देना कठोर कुटिलता है, यथा—***'केकयनंदिनि मंद मति कठिन कुटिलपन कीन्ह। जेहि रघुनंदन***

जानकिहि सुख अवसर दुख दीन्ह॥' उदाहरण पहले ही दे आये हैं, यथा—***'छाइ भवन पर पावक धरेऊ।'*** घरमें आग लगाना कुटिलता है और छाकर उसमें आग लगाना कठिन कुटिलता है। यह घरकी छानेवाली थी, घर फोड़नेवाली बात नहीं सुन सकती थी, यथा—***'पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तौ धरि जीभ कढ़ावौं तोरी॥'*** वृद्धोंसे सुना है कि जब महाराज दशरथ बारात लेकर जनकपुर गये थे, उसीके बीचमें पुत्र और पुत्रवधू रामजानकीके उतरनेके लिये इसने कनकका भवन बनवाया था, सो आज वनवास देकर उस कनकभवनमें आग लगा रही है।

उलटी बुद्धि जिसके द्वारा हित अनहित जान पड़े और शत्रु मित्र मालूम पड़े वही कुमति है। यथा—***'तव उर कुमति बसी बिपरीता। हित अनहित जानहु रिपु प्रीता॥'*** अब इससे बढ़कर उलटी बुद्धि क्या होगी कि जिस आँखके बदौलत संसार दिखायी पड़ता है, उसे अपने हाथोंसे निकालकर देखना चाहती है। शत्रु आँख निकालना चाहते हैं सो यह स्वयं अपनी शत्रु हो गयी है, अपने हाथसे अपनी आँख निकालना चाहती है। आँख बड़ी प्रिय वस्तु है। कहावत है कि ***'अँखियाँ बड़ी नियामत हैं।'*** इसी भाँति सौभाग्य और सुयश बड़ी प्रिय वस्तु हैं, इन दोनोंको अपने हाथोंसे नष्ट करके यह सुख चाहती है, यथा—***'लीन्ह'*** *(१)* ***बिधवपन*** *(२)* ***अपजस आपू।'*** अत: इससे बढ़कर कुबुद्धि कौन होगा।

जिसके पास अमृत हो और वह विषका स्वाद जाननेके लिये अमृतको फेंककर विष पीना चाहे उसके ऐसा अभागा कौन होगा? कैकेयी रामसंयोगरूपी अमृतका त्याग करके रामविरहरूपी विष पान करना चाहती है, यथा—***'लोग बियोग बिषम बिष दागे।'*** अत: यह अभागी है।

इसके कारण रघुवंशका नाश हुआ चाहता है, इसीलिये कविने रघुवंशकी उपमा वेणुवनसे और कैकेयीकी उपमा अग्निसे दी, यथा—***'मृगी देखि जनु दव चहुँ ओरा।'***

रामवनवासके विषयमें कहकर अब भरतके राज्यके विषयमें कहते हैं। भरत पल्लव हैं, रामजी वृक्ष हैं। वृक्षके कल्याणसे ही पल्लवका कल्याण है। वृक्षके कटनेपर पल्लव सूखते कितनी देर लगती है। सो यह पल्लवरूपी भरतको आश्रय बनाकर रामरूपी वृक्षको काटना चाहती है। भरतजी स्वयं कहते हैं ***'पेड़ काटि तैं पालउ सींचा।'*** अत: कैकेयीकी कोई भी बात बुद्धिके भीतर आने लायक नहीं है। पापिनी भी पाप किसी इष्टसिद्धिका उद्देश्य करके ही करती है, पर इस पापिनीको क्या समझ पड़ा, जो इसने ऐसा अनर्थ कर डाला।

नोट—५ ***'पालव बैठि पेड़ एहि काटा।'******** '* इति। यहाँ भरत 'पालव' हैं, राम पेड़ हैं। यही बात भरतजी अपने मुखसे कहते हैं, यथा—***'पेड़ु काटि तैं पालउ सींचा। मीन जिअन निति बारि उलीचा॥'*** (१६१। ८) जिसके आधारपर सर्व सुख भोगनेको मिलते उसका ही सर्वनाश किया। पल्लवपर बैठे पेड़ काटे और सोचे कि पेड़ कटकर गिर पड़ेगा मैं न गिरूँगी, मेरा आधार पल्लव ज्यों-का-त्यों स्थिर और हरा-भरा रहेगा, यह मूर्खता ही तो है! वह तो साथ ही पत्तेसहित नीचे गिरेगी, वैसे ही यह भरतराज्यका आश्रय पकड़े है और रामराजरूपी पेड़को काटती है।

श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'यहाँ राजा पेड़रूप हैं। पेड़में प्राण होता है, वैसे ही राजाके प्राण श्रीरामजी हैं। भरतजी पल्लव हैं। कैकेयी भरतजीका आधार लेकर श्रीरामको वनवास दे रही है। अर्थात् राजाका प्राण ले रही है। यही पल्लवपर बैठकर पेड़का काटना है। परंतु जब श्रीरामजीके वन जानेसे राजाकी मृत्यु होगी तब कैकेयीको अपना भी तो मरण होगा; क्योंकि स्त्रीका प्राण पति ही है, अत: यह उपमा राजाके मरने और कैकेयीकी मूर्खताके सम्बन्धमें है। भरतका (उपर्युक्त उद्धृत) वाक्य भी इसीका प्रमाण है। वे कैकेयीसे कह रहे हैं कि तू पेड़को काटकर पल्लवको हरा-भरा रखनेके लिये सींचती है, किंतु यह नहीं समझती कि पेड़से जायमान पल्लव पेड़के कटनेपर कैसे हरा रहेगा। पेड़रूप राजाको नष्ट करके उनसे जायमान पल्लवरूप मुझको प्रसन्न करनेके लिये सिंचनरूप राज्य दे रही है तो मैं कब प्रसन्न रह सकता हूँ। भरतजीने अपनेको पल्लव और राजाको पेड़ कहा है।'

नोट—६ ***'सुख महुँ सोक ठाटु धरि ठाटा'*** इति। (क) यहाँ सुख श्रीरामजीका राज्य है और शोकका ठाट वनवास आदि है। कैकेयीने सुखरूपी श्रीरामराज्यको भंग किया। सुखके ठाटमें आग लगा दी; सब जल गया, यथा—***'छाइ भवन पर पावक धरेऊ'*** अब उसकी जगह शोकका ठाट बाँधा। बँगला वा घर छानेके लिये बाँसों और लकड़ियोंकी खपचियों वा फट्टियोंको सीधी-तिरछी रखकर बाँधकर जो टट्टर-सा बनाते हैं उसे ठाट कहते हैं। इस बाँस-लकड़ीके ठाटपर काँस-फूस आदि रखकर बाँस लगाकर बाँधते हैं। इस फूसकी छावनीपर आग पड़नेसे फिर अग्नि तुरत फैल जाती है। (ख) इस चरणका अर्थ भरतजीके ***'मातु कुमत बढ़ई अघमूला। तेहि हमार हित कीन्ह बसूला॥ कलि कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रू। गाड़ि अवध पढ़ि कठिन कुमंत्रू॥ मोहि लगि यहु कुठाटु तेहि ठाटा। घालेसि सब जगु बारह बाटा॥'*** (२१२। ३—५) यहाँके 'शोक-ठाट' का ही भरतजीने 'कुठाट' कहा है, बस इतना ही अन्तर है। (प० प० प्र०)

सदा राम एहि प्रान समाना। कारन कवन कुटिलपनु ठाना॥ ६॥
सत्य कहहिं कबि नारि सुभाऊ। सब बिधि अगहु* अगाध दुराऊ॥ ७॥
निज प्रतिबिंबु बरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**ठाना** (अनुष्ठान)—ठानना=मनमें पक्का, स्थिर, निश्चित या ठीक कर रखना, दृढ़ संकल्प करना। **अगह**=अग्राह्य, जो पकड़ा या लखा न जा सके। यथा—***'कहैं गाधिनंदन मुदित रघुनंदन सों नृपगति अगह गिरा न जाति गही है', 'माधवजू नेकु हटकौ गाय। निसिबासर यह भरमति इत उत अगह गही नहिं जाइ'***— (सूर)। **बरुकु**=भले ही।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी इसको सदा प्राणके समान प्रिय थे। फिर भी न जाने किस कारणसे इसने इस कुटिलपनका दृढ़ संकल्प किया (यह कुटिलता ठानी) अर्थात् श्रीरामजीके वन जानेमें हठ किया॥ ६॥ कवि स्त्री-स्वभाव सत्य ही कहते हैं, अर्थात् जो उन्होंने उनका स्वभाव कहा है वह सत्य ही है कि इनका दुराव (कपट, छिपाव) अगह है अर्थात् पकड़े नहीं मिलता और गहरा है, जिसकी थाह नहीं मिल सकती॥ ७॥ चाहे अपनी परछाँहीं भले ही पकड़ी जा सके पर, हे भाई! स्त्रियोंकी गति (चाल, चरित, व्यवस्था, दशा) नहीं जानी जा सकती॥ ८॥

नोट—१ (क) ***'सदा राम एहि प्रान समाना।'*** .... ' इति। यथा—***'प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें॥'*** (१५। ८) (ख) ***'एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ।'*** (४७। २) उपक्रम है, ***'कारन कवन'*** उपसंहार है। यहाँ आश्चर्य स्थायीभाव है।

टिप्पणी—१ ***'सत्य कहहिं'*** भाव कि अभीतक पोथियोंमें लिखा देखा और उनको कहते सुना था; पर आज प्रकट देखनेमें आया; इससे उनके कथनकी सत्यतापर प्रतीति हुई। अगह और अगाधकी उपमा आगे चौपाई और दोहेमें क्रमसे देते हैं। ***'निज प्रतिबिंबु बरुकु गहि जाई।'*** ...... ' यह अगहकी उपमा है और ***'काह न पावक जारि सक का न समुद्र समाइ।'*** .... ' यह अगाधताकी उपमा है। दोनोंके बीचमें 'पावक' की उपमा कहनेका भाव कि समुद्रमें बड़वानल रहता है, इसीसे बड़वानलसहित समुद्रकी उपमा दी और उससे सूचित किया कि गम्भीरतामें समुद्रके समान है और जलानेमें बड़वानलके समान है (यहाँ शब्द-प्रमाण अलंकार है)।

टिप्पणी—२ ***'जानि न जाइ नारि गति भाई।'*** .... ' इति। ***'नारि गति'*** का वही आशय है, जो ऊपर कहा कि ***'सब बिधि अगह अगाध दुराऊ।'*** दुराव ही ***'नारि गति'*** का भावार्थ है। आगे भरतजीकी उक्तिसे भी यही भाव स्पष्ट होता है, यथा—***'बिधिहु न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥'*** (१६२। ४) भाव कि यह मनमें श्रीरामजीसे द्वेष रखती थी और उस द्वेषको ऐसा छिपाये रही कि आजतक कोई न लख पाया।

---

* अगम—पं० रामगु० द्वि०, वन्दनपाठकजी।

टिप्पणी—३ *'सब बिधि अगहु अगाध दुराऊ'* इति। मिलान कीजिये—'**अग्राह्यं हृदयं तथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतम्। भावः पर्वतसूक्ष्ममार्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते॥**' (भर्तृहरिनीतिशतक ११२), '**अन्तःक्रूराः सौम्यमुखा अगाधहृदयाः स्त्रियः। अन्तर्विषा बहिः सौम्या भक्ष्या विषकृता इव॥**' '**यदन्तस्तन्न जिह्वायां यज्जिह्वायां न तद् बहिः। यद्बहिस्तन्न कुर्वन्ति विचित्रचरिताः स्त्रियः॥**' (१-२) अर्थात् स्त्रियोंके हृदयके विचार अग्राह्य हैं, जैसे दर्पणमें अपने मुखका प्रतिबिम्ब। उनके मनके भाव जाने नहीं जा सकते, जैसे पर्वतपरके सूक्ष्म कठिन मार्ग॥ १॥ भीतरसे कुटिल, देखनेमें सौम्य, स्त्रियोंका हृदय ऐसा अगाध है, भीतर विष बाहर मुखपर सौम्य, मानो विष-मिला सुन्दर भोजन हो॥ २॥ जो उनके हृदयमें है वह जिह्वापर नहीं और जो जिह्वापर है, उसे वे प्रकट नहीं करतीं, जो कहतीं सो करतीं नहीं—स्त्रियोंके ऐसे विचित्र चरित्र होते हैं। (वि० टी०)

टिप्पणी—४ *'भाई'* सम्बोधन इससे दिया कि ये बातें अयोध्यावासी आपसमें कह रहे हैं। पुनः भाई कहकर बोलनेका एक ढंग है, यथा—*'तरुपल्लव महँ रहा लुकाई। करइ बिचारि करउँ का भाई'* इत्यादि। विशेष-(१। ३९। ८। १। ८। १३) देखिये।

दो०—काह न पावकु जारि[1] सक का न समुद्र समाइ।
का न करइ अबला प्रबल केहि जग कालु न खाइ॥ ४७॥

का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा॥ १॥

अर्थ—आग क्या नहीं जला सकती? समुद्रमें क्या नहीं समा सकता? अबला प्रबल है, वह क्या नहीं कर सकती? जगत्में काल किसको नहीं खाता?॥ ४७॥ ब्रह्माने क्या सुनाकर क्या सुनाया? अर्थात् राज्य सुनाकर वन सुनाया। क्या दिखाकर अब क्या दिखाना चाहता है? अर्थात् सदा भूषण-वस्त्रयुक्त रामजीको देखा करते थे, अब वल्कलचीर पहने, जटा धारण किये तपस्वीरूप दिखाना चाहता है, आनन्द-बधावे दिखाकर विपत्ति दिखाना चाहता है[2]॥ १॥

टिप्पणी—१ *'काह न पावकु जारि सक·········'* इति। (क) अग्नि आदिकी उपमाएँ दीं; क्योंकि रामविरहमें इसने सबको जलाया, शोकसमुद्रमें सबको डुबाया और राजाको कालके वश किया। *'का न करइ?'* 'भाव यह कि जो काम अग्नि करता है, समुद्र कर सकता है, काल करता है, उसमेंसे ऐसा कौन काम है जो अबला नहीं कर सकती? वह तो नामहीकी 'अबला' है पर है सबसे प्रबल', यथा—'**नूनं हि ते कविवरा विपरीतबोधा ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम्। याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः।**' (भर्तृहरिशृङ्गारशतक १०) ऊपर इनके दुरावको अगाध कहा था, अब *'का न समुद्र समाइ'* से अगाधताका स्वरूप दिखाते हैं कि अयोध्यारूपी समुद्रमें यह रहती थी, कौन जानता था कि आज बड़वानलरूपी हो उसीको भीतर-भीतर जलायेगी। समुद्र प्रलयके समय ब्रह्माण्डभरको डुबा देते हैं।

टिप्पणी—२ अबला जड़ है, यथा—*'अबला अबल सहज जड़ जाती'* (७। ११५। १६) इसीसे यहाँ जड़की ही उपमाएँ दीं। अग्नि, समुद्र, काल—ये सब जड़ हैं।

वि० त्रि०—*'काह न पावकु·········खाइ।'* इति। स्त्रियोंका स्वभाव कहकर, गति कहकर अब करणी कहते हैं कि इनकी जड़ करणी होती है। उदाहरण देते हैं, जैसे अग्नि, समुद्र और काल। ये नहीं देखते कि कौन भला है, कौन बुरा है, कौन साधु है, कौन असाधु है। अग्नि अवसर पाते ही सबको जलाती है, अपने वशमें आ जानेपर समुद्र सबको डुबाता है और काल तो किसीको छोड़ता ही नहीं, यथा—*'गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कर नाथ सहज जड़ करनी',* तथा—*'अग जग मनुज नाग नर देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा॥'* इसी भाँति प्रबल स्त्री सब अनर्थ करती है—'**स्त्री पुंवच्च**

१-जरि सकै—का, रा० प्र०।

२-दीनजी—वनवास दिखाकर आगे न जाने क्या दिखायेगा?

प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनश्यति।' स्त्री पुरुषकी भाँति जब प्रभु हो जाती है, तब घर नष्ट हुए बिना नहीं बचता।

रानी कैकेयीकी प्रभुता इतनी बढ़ गयी थी कि महाराज उससे सब काम पूछ-पूछकर करते थे, यथा—***'मैं सब कीन्ह तोहि बिनु पूछे। ताते परेउ मनोरथ छूछे॥'*** फल यह हुआ कि आज वह अग्नि, समुद्र और कालकी भाँति घातक हो रही है। अग्निकी भाँति, यथा—***'आगे दीख जरत रिसि भारी। मनहु रोष तरवारि उघारी॥ मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई॥ लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवन लेइहि मोरा॥'***

समुद्रकी भाँति यथा—***'पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई॥ ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला॥'*** अन्तमें विपत्ति वारिधिरूपमें परिणत हो गयी। कालकी भाँति, यथा—***'लागेउ तोहि पिसाच जिमि काल कहावत मोर।'*** इसीलिये साध्वी स्त्री स्वातन्त्र्यको अपना अभाग्य समझती हैं। शास्त्र भी कहता है कि '**न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति**'। स्थूलदर्शी इस बातको नहीं देख सकते। सूक्ष्मदर्शियोंने इस बातको देखा है। कवि सूक्ष्मदर्शीको कहते हैं। अतः लोग कविका प्रमाण देकर बोल रहे हैं कि हम लोग प्रपंचमें पड़े हुए इस बातका अनुभव नहीं कर सके—***'सत्य कहहिं कबि नारि सुभाऊ'*** इत्यादि।

अ० दी० च०—अ० दी० कार यहाँ काकु वक्रोक्तिके अनुसार अर्थ करते हैं। 'जहाँ श्लेष और काकुसे अन्य अर्थकी कल्पना हो वहाँ 'वक्रोक्ति अलंकार' कहा जाता है। ***'काह न पावक जारि सक केहि जग काल न खाइ'*** इसका अर्थ तो व्यंजकसे होगा। ***'का न करइ अबला प्रबल', 'का न समुद्र समाइ'*** अपर अर्थका बोधक। अर्थ यह है—काल और अग्निके मुखसे कोई बचे तो बचे अर्थात् इन दोनोंसे बचना सम्भव है; पर कैकेयीसे अवधका सुख नहीं बचा, (कैकेयीके कान करनेसे) अवध-समुद्रका सुखरूपी जल कैकेयीके कानमें चला गया। अर्थात् अवधका सुख मंथराके मुखसे सुनतेमात्र सूख गया।'

प० प० प्र०—इस दोहेमें बहिर्लापिका है। चारों प्रश्नोंके उत्तर इस प्रकार हैं—(१) ***'काह न पावकु जारि सक?'***—श्रीहनुमान्‌जी, विभीषणजी, प्रह्लादजी आदि वैष्णव भक्तोंको पावक नहीं जला सकता। (२) ***'का न समुद्र समाइ?'***—तृण आदि हलके पदार्थ समुद्रमें नहीं समाते। (३) ***'का न करै अबला प्रबल?'***—सामान्यतः अबला अबल ही रहती है, पर जब वह प्रबल होती है तब अनेकों अनर्थोंकी जड़ होती है। जैसी रघुकुलमें कैकेयी, पेशवाओंमें आनन्दी बाई। ऐसी प्रबल अबला केवल 'सुविचार' नहीं कर सकती। (४) ***'केहि जग काल न खाइ!'***—ज्ञानी, जीवन्मुक्त, महायोगी भक्तोंको काल नहीं खा सकता, जैसे श्रीभुशुण्डिजीको। यथा—***'कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही॥'*** (७। ८८। १) ***'महा प्रलयहुँ नास तव नाहीं। तुम्हहिं न ब्यापत काल अति कराल कारन कवन॥'*** (७। ९४) जो इच्छामरणी होते हैं उनकी इच्छाके विरुद्ध उनकी देहको काल नहीं खाता है।

शंका—जब स्त्री अबला है तब ***'का न करै'*** कैसे कहा? जिसको 'अबला' कहा उसको 'प्रबल' अर्थात् एक ही चरणमें ऐसे दो विरुद्धार्थी शब्द कैसे लिखते हैं?

समाधान—'अ' निषेधार्थक अव्यय है जिसका प्रयोग किसी शब्दके प्रारम्भमें एक निश्चित अर्थको लेकर ही होता है। 'प्र' उपसर्ग है। उपसर्गोंका प्रयोग किसी शब्दविशेषके अर्थमें विशेषता बोध करानेके लिये होता है। 'अबला' शब्दका 'अ' केवल बाह्य बलका निषेध करता है। अर्थात् स्त्रियोंमें पुरुषोंकी अपेक्षा शारीरिक बल कम होता है, यह एक परिपुष्ट सुदृढ़ नैसर्गिक नियम है। इसलिये स्त्रियाँ सर्वत्र अबला शब्दसे व्यवहृत की जाती हैं। उसी नियमके अनुसार मानस कविने उनको 'अबला' लिखा।

शारीरिक बलके अतिरिक्त बुद्धि, चातुर्य, धैर्य, व्यवहार, रीति, नीति, सौख्य, स्निग्धता, सौन्दर्य, स्नेह, दया, ममता, काम-क्रोधादि सभी प्रकारके गुण, अवगुण पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंमें अधिक पाये जाते हैं। यह नैसर्गिक नियम है, इसीसे अवसरविशेषपर स्त्रियोंके लिये 'बल' के साथ 'प्र' लगाकर अर्थात् 'प्रबल'

कहकर अभियुक्त किया। जो कार्य स्त्रियाँ शारीरिक बलसे सिद्ध नहीं कर सकतीं, उसे वे बुद्धिकौशलसे सम्पन्न कर लेती हैं। यों भी कह सकते हैं कि स्त्रियाँ प्रत्येक कार्य-साधनमें सर्वप्रथम बुद्धि-तर्कवादको ही प्रश्रय दिया करती हैं।

सारांश यह है कि पुरुषोंकी अपेक्षा शारीरिक बल कम होनेसे स्त्रियोंको '*अबला*' और भौतिक ज्ञान-तन्तुओं, हृदय, मस्तिष्कके सुदृढ़ होनेसे '*प्रबला*' कहा गया जो सर्वथा युक्तियुक्त है, दोनोंके एक साथ प्रयोगमें वदतो व्याघात दोष नहीं है। (वे० भू० पं० रामकुमारदास)।

पु० रा० कु०—***'का सुनाइ बिधि काह सुनावा'*** अर्थात् विधि होकर उसने अविधि कैसे की? उसको ऐसा अयुक्त, अयोग्य कार्य न करना चाहिये था।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—***'का सुनाइ········सुनावा'***—भाव यह है कि कल तो सुना था कि श्रीरामजीका अभिषेक होगा। यथा—***'सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥'*** और आज ***'जो जहँ सुनइ धुनइ सिर सोई। बड़ बिषाद नहिं धीरज होई॥'*** कल देखा कि घर-घर अभिषेकोत्सव हो रहा है! ***'हाट बाट घर गली अथाई। कहहिं परस्पर लोग लोगाई॥ कालि लगन भलि केतिक बारा। पूजिहिं बिधि अभिलाष हमारा॥ कनक सिंहासन सीय समेता। बैठहिं राम होइ चित चेता॥'*** सो आज उन्हीं रामजीको वन जाते देखा चाहते हैं। यह सब विधिकी करनी है, यथा—***'मिलेहि माँझ बिधि बात बिगारी।'*** नहीं तो जो घटना घट रही है, वह नितान्त असम्भव थी।

एक कहहिं भल भूप न कीन्हा। बरु बिचारि नहिं कुमतिहि दीन्हा॥ २॥
जो हठि भयउ सकल दुख भाजनु। अबला बिबस ग्यानु गुनु गा जनु॥ ३॥
एक धरम परमिति पहिचानें। नृपहिं दोसु नहिं देहिं सयाने॥ ४॥

शब्दार्थ—**हठि**=निश्चय ही, बलात्, हठ करके। **भाजनु**=पात्र, बर्तन, योग्य। **परमिति**=(परिमिति) सीमा, मर्यादा, हद।

अर्थ—एक (कोई) कहते हैं कि राजाने अच्छा नहीं किया, दुर्बुद्धि कैकेयीको विचारकर वर न दिया॥ २॥ जो (अर्थात् वही अविचारका वर) हठ करके अर्थात् निश्चय ही सब दुःखोंका पात्र हो गया।* स्त्रीके विशेष वशमें होनेसे मानो ज्ञान और गुण जाता रहा॥ ३॥ एक (कोई जो) सयाने हैं और धर्मकी मर्यादाको जानते हैं, वे राजाको दोष नहीं देते॥ ४॥

टिप्पणी—***'एक कहहिं भल भूप न कीन्हा।········'*** इति। (क) प्रथम कुछ लोगोंने कैकेयीको दोष दिया तब किसी-किसीने राजाको दोष दिया। (ख) ***'बरु बिचारि नहिं········'***—भाव कि राजाको विचार करना था कि सारे नगरमें श्रीरामराज्याभिषेकके लिये उत्साह हो रहा है, ऐसे अवसरपर यह कोपभवनमें गयी है, अतएव अवश्य इसे रामराज्याभिषेकसे ही दुःख हुआ होगा। इत्यादि विचार करके इस तरह वर देनेकी प्रतिज्ञा न करनी चाहिये थी। वही रामशपथ ही तो सब दुःखका कारण हो गया।

टिप्पणी—२ ***'जो हठि भयउ सकल दुख भाजनु।········'*** इति। (क) ***'हठि'*** का भाव कि राजाने सत्यकी सराहना करके और रामशपथ खाकर आप ही वर माँगनेको कहा और वर दिये। स्त्रीके वश होकर उन्होंने कुछ विचार न किया, बिना विचारे वर दिया। (ख) ***'सकल दुख भाजनु'***—रामराज्यरसभंगका दुःख, रामवनगमनका दुःख, भरतराज्य न देख सकनेका दुःख, कुलके नाश होनेका दुःख, प्रजाके नाशका दुःख इत्यादि सब दुःख हैं। (ग) ***'अबला बिबस'*** अर्थात् वह तो अबला है, उसे कौन बल था जो राजाको दुःख देती, राजा अपनी ओरसे उसके वश होकर दुःखके पात्र हुए। (वाल्मीकीय० सर्ग १२ में राजाने जो कैकेयीसे कहा है कि लोग कहेंगे कि राजा मूर्ख और कामी हैं, उन्होंने स्त्रीके लिये अपने प्रिय

* पाँड़ेजी—जिस अबलाके वश होकर राजा सब दुःखोंके पात्र हो गये। अबलाके विशेष वश होना ज्ञान और गुणका नाशक है।

पुत्रको वन भेज दिया; सभी मुझे धिक्कारेंगे, मेरी निन्दा करेंगे। वही बात यहाँ चरितार्थ हुई है।) (घ) ***'ज्ञानु गुनु गा जनु'*** अर्थात् यदि ज्ञान न जाता रहता तो स्त्रीके वश न हो जाते और न बिना विचार किये वर देते।

टिप्पणी—३ ***'एक धरम परमिति पहिचाने।'*** ········ इति—इससे सूचित हुआ कि जिन्होंने राजाको दोष दिया वे धर्मकी मर्यादाको नहीं जानते थे। जो धर्म-मर्यादाको जानते हैं उन्होंने दोष न दिया, इसीसे उनको ***'सयाने'*** कहा। जब कैकेयीको लोग दोष देते थे तब ये न बोले, न इन्होंने उनका खण्डन किया, न मण्डन, पर राजाको दोष लगाया तब उनके वचनोंका इन्होंने खण्डन किया क्योंकि राजा धर्मात्मा हैं, कैकेयी धर्मात्मा नहीं है। उसीने तो श्रीरामको वन दिया, पतिका घात किया और सभीको दुःख दिया।

सिबि दधीचि हरिचंद कहानी। एक एक सन कहहिं बखानी॥ ५॥
एक भरत कर संमत कहहीं। एक उदास भाय सुनि रहहीं॥ ६॥
कान मूदि कर रद गहि जीहा। एक कहहिं यह बात अलीहा॥ ७॥
सुकृत जाहिं अस कहत तुम्हारे। राम भरत कहुँ प्रान* पियारे॥ ८॥

शब्दार्थ—**संमत**=सलाह, राय, अनुमति। **रद**=दाँत। **जीहा**=जिह्वा, जीभ, यथा—***'नाम जीह जपि जागहिं जोगी।', 'साँचेहुँ मैं लबार भुज बीहा। जौं न उपारिउँ तव दस जीहा॥'*** (६। ३३। ७) '**अलीहा**=(अलीक) मिथ्या, झूठ, असत्य। **उदास**=झगड़ेसे अलग, निरपेक्ष, तटस्थ, जो किसीके लेने-देनेमें न हो।

अर्थ—श्रीशिबिजी, दधीचिजी और हरिश्चन्द्रजीकी कथाएँ एक-दूसरेसे बखान कर कहते हैं॥ ५॥ एक (कैकेयीकी करनीमें) भरतका सम्मत बताते हैं, कोई यह सुनकर उदास भावसे रह जाते हैं (कुछ बोलते नहीं) और कोई हाथसे कान बन्द करके दाँततले जीभ दबाकर कहते हैं कि यह बात झूठ है॥ ६-७॥ ऐसा कहते ही तुम्हारे सुकृत नष्ट हो जायँगे। भरतको तो रामजी प्राणप्रिय हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'सिबि दधीचि'*** ········ इति। (क) जिन्होंने राजाको दोष लगाया था उन्हींके वचनोंके उत्तरमें ये राजाका गुण दिखाते हैं कि राजाने बिना विचारे वर नहीं दिया, राजाका ज्ञान नहीं जाता रहा। राजाने वचन दिया था उसका पालन करना कर्तव्य था। वही उन्होंने किया तभी तो राजा उदारदाता हुए और सत्यसे न डिगे। धर्मात्मा पुरुष अपने वचन रखनेके लिये अनेक दुःख सहते हैं। वैसे ही दशरथ महाराजको सब दुःख उठाकर भी प्रतिज्ञाका पालन करना उचित ही है। इसीपर राजर्षि शिबिजी, महर्षि श्रीदधीचिजी और महाराज हरिश्चन्द्रजीकी कथाएँ एक-एकसे बखानकर कहने लगे। बहुत लोग हैं, अतः कोई किसीसे शिबिजीकी, कोई किसीसे दधीचि ऋषिकी इत्यादि कथा कह रहा है। श्रीशिबिजी, महर्षि दधीचिजीकी कथाएँ ३०। ७ में देखिये।

महाराज हरिश्चन्द्रजी—इनकी कथा बहुत प्रसिद्ध है। संक्षिप्त कुछ यह है—ये रघुवंशी राजा त्रिशंकुके पुत्र थे। विश्वामित्रने वसिष्ठजीको इन्द्रकी सभामें इनकी प्रशंसा करते सुनकर परीक्षाके लिये विप्ररूप धरकर उनके पास जाकर पहले तो उनसे सम्पूर्ण राज्य माँग लिया और फिर दक्षिणा भी माँगी। राजा स्त्री-पुत्रसहित राज्यसे निकले। स्त्री-पुत्रको बेंचकर कुछ अदा हुआ, शेषके लिये काशीजीमें वीरबाहुक चाण्डालके हाथ स्वयं बिके। इतनेपर भी विश्वामित्रने उन्हें चैन न लेने दिया। उन्होंने उनके पुत्र रोहितको सर्प बनकर डसा। उसे जलानेको माता श्मशानपर आयी। लड़केको जलानेके लिये भी उन्होंने अपने मालिकका कर न छोड़ा। रानीका आधा वस्त्र ले ही लिया। तब यह प्रसिद्ध किया कि वह मुर्दे खाती है। वीरबाहुकने यह सुनकर अपने गुलाम हरिश्चन्द्रजीसे इसका वध करनेको कहा। राजा जान गये कि यह उनकी रानी है, पर वे गुलाम थे। अपना धर्म फिर भी न छोड़ना स्वीकार किया और वध करनेके लिये खड्ग उठाया। त्यों ही भगवान्‌ने हाथ पकड़ लिया। मुनि भी अति प्रसन्न हुए और पुत्रको जिला, स्त्रीसहित उनको पुनः अयोध्याका राज्य सौंप दिया।

---

* परम—पं० राम गु० द्विवेदी, पं० रामकुमारजी।

टिप्पणी—२ *'कान मूदि……… ।'* अर्थात् यह बात सुननी भी न चाहिये और न यह बात कहनेयोग्य है। इसका कहना-सुनना दोनों पाप हैं। अप्रिय बात सुनकर ऐसा करनेकी चाल है। ऐसी जिह्वा काटनेयोग्य है। (पंजाबीजी) यहाँ 'पिहित' अलंकार है।

टिप्पणी—३ *'सुकृत जाहिं… '*—सुकृतका फल सुख और सुगति है, सुकृतके नष्ट होनेसे सुख और सद्‌गति नहीं मिलते, यथा—*'मत तुम्हार यह जो जग कहहीं। सो सपनेहु सुख सुगति न लहहीं॥'* (१६९। ४) सुख इस लोकमें नहीं पाते और सुगति परलोकमें नहीं पाते। यथा—*'उर आनत तुम्हपर कुटिलाई। जाइ लोक परलोक नसाई॥'* (२६३। ७)

दो०—चंदु चवइ[1] बरु अनल कन सुधा होइ बिषतूल।
सपनेहु कबहुँ न करहिं किछु[2] भरत राम प्रतिकूल॥ ४८॥

शब्दार्थ—'**चवइ**'=पकावे, गिरावे। थोड़ा-थोड़ा (बूँद-बूँद) गिरनेको चूना कहते हैं। '**कन**' (कण)=बहुत छोटा टुकड़ा। **अनलकन**=चिनगारी। '**तूल**'=तुल्य।

अर्थ—चाहे चन्द्रमा आगके कण गिरावे, अमृत विषके समान हो जाय, पर भरतजी श्रीरामजीके प्रतिकूल स्वप्नमें भी कभी कुछ नहीं करेंगे॥ ४८॥

नोट—१ इस (भरतजीके) प्रसंगमें उत्तम, मध्यम और लघु तीन प्रकारके लोगोंकी वार्ताएँ लिखीं। *'एक भरत कर संमत कहहीं'* ये अधम हैं, *'एक उदास भाय सुनि रहहीं'* ये मध्यम हैं और *'कान मूदि कर रद गहि जीहा।'* यहाँसे दोहातक जिनका कथन है वे उत्तम हैं। ☞ यहाँतक पुरजनोंके विभिन्न विचारोंको प्रदर्शित करके जनस्वभावका सुन्दर चित्रण किया है।

२—*'चंदु चवइ……… '* अर्थात् ये अनहोनी असम्भव बातें चाहे हो भी जायँ, पर भरतजी जागृतिकी कौन कहे स्वप्नमें भी प्रतिकूल न करेंगे। चन्द्रमा अपनी किरणोंद्वारा अमृतकी वृष्टि करके वनस्पतिका पालन-पोषण करता और शरदातपको हरण करता है। चाहे वह अपने स्वभावको छोड़कर आगकी चिनगारियाँ बरसाने लगे, पर भरतजीका स्वभाव नहीं बदल सकता।

एक बिधातहि दूषनु देहीं। सुधा देखाइ दीन्ह बिषु जेहीं॥ १॥
खरभरु नगर सोचु सब काहू। दुसह दाहु उर मिटा उछाहू॥ २॥

अर्थ—एक विधाताको दोष देते हैं कि जिसने अमृत दिखाकर विष दिया॥ १॥ नगरमें हलचल मच गयी। सब किसीको शोच है। हृदयमें असहनीय जलन हो रही है, आनन्दोत्साह जाता रहा॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुधा देखाइ……… '* इति। रामराज्यकी तैयारी अमृत है, वनवास विष है। (ख) पुरुष आठ प्रकारके हैं। इनका आठ प्रकारका स्वभाव गीतामें भगवान्‌ने कहा है[3]। वही आठ प्रकारके मनुष्य गोस्वामीजीने इस प्रसंगमें पुरवासियोंमें गिनाये हैं, यथा—(१) जो राजाको दोष देते हैं। (२) जो राजाको दोष नहीं देते। (३) जो शिबि, दधीचि, हरिश्चन्द्रकी कथा कहते हैं। (४) जो भरतका सम्मत कहते हैं। (५) जो सुनकर उदासीन-भावसे रहते हैं। (६) जो कान बंदकर दाँततले जीभ दबाकर रह जाते हैं। (७) जो कहते हैं कि यह बात झूठ है। (८) जो विधाताको दोष लगाते हैं। मेरी समझमें इसमें कैकेयीको दोष लगानेवाले भी गिने जाने चाहिये। (६) और (७) में दो गिनाये गये हैं पर मेरी समझमें ये दो नहीं हैं। इस प्रकार कैकेयीको दोष देनेवालोंको मिलानेसे फिर भी आठ ही रहेंगे।—(मा० स०)

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—*'एक कहहीं………जेही'* इति। (यहाँ सात प्रकारके लोगोंके वाक्य हैं।)

(१) अर्थशास्त्री बोले *'भल भूप न कीन्हा। बर बिचारि नहि कुमतिहि दीन्हा॥'* इत्यादि।

(२) धर्मशास्त्री राजाको दोष नहीं देते, यथा—*'एक धरम परमिति पहिचाने।'* इत्यादि।

(३) पौराणिक धर्मशास्त्रीके वचनोंको जहाँ-तहाँ पुष्ट करते हैं, यथा *'शिबि दधीचि'* आदि।

(४) कूटनीतिज्ञ भरतकी सम्मति बतला रहे हैं—*'एक भरत कर संमत कहहीं।'*

१. चवै—गी० प्रे०। २. कछु—रा० प्र०। ३.गीतामें इस सम्बन्धके श्लोक एक भी नहीं दीखते। अच्छा होता यदि टिप्पणीकार व्यासजीने अध्यायका हवाला दिया होता—सम्पादक।

(५) नीतिज्ञ उदास और गम्भीर हैं, यथा—*'श्रुति पुरान गावहिं अस नीती। खल सन कलह न भल नहिं प्रीती॥ उदासीन'* इत्यादि।

(६) मर्मज्ञ बोले *'यह बात अलीहा'* इत्यादि।

(७) प्रारब्धवादी विधाताको दोष देते हैं। एक तो विष देना बुरा, फिर अमृत दिखलाकर विष देना अत्यन्त ही बुरा। रामजीको वनवास ही देना था तो अभिषेक सुनाकर उसके बाद वनवास क्यों दिया? हमलोगोंको अभिषेकपर विश्वास दिलाकर घात करना कथमपि उचित नहीं था।

नोट—ऊपर दोहा ४६ में कहा था कि *'मुख सुखाहिं लोचन स्त्रवहिं सोकु न हृदय समाइ।·········'* मानो करुणारस सेना लेकर आ गया, इस प्रसंगको वहाँ छोड़कर नगरवासियोंकी परस्पर वार्ता कहने लगे थे, अब उस पूर्व प्रसंगको यहाँ मिलाया—*'खरभरु नगर सोचु सब काहू।'* *'खरभरु'*=खलबली, कलकल, शोर, हाहाकार।

टिप्पणी—२ *'खरभरु नगर सोचु सब काहू।·········'* इति—*'उछाह'* पूर्व कह आये हैं, यथा—*'तेहि निसि नींद परी नहिं काहू। राम दरस लालसा उछाहू॥'* (३७।८) वह उछाह न रह गया। रामराज्य न हुआ इससे उरमें दाह हुआ और उसके ऊपर वनवास हुआ, इससे *'दुसह दाह'* हुआ। *'उर'* देहली दीपक है।

बिप्रबधू कुलमान्य जठेरी। जे प्रिय परम कैकई केरी॥ ३॥
लगीं देन सिख सीलु सराही। बचन बान सम लागहिं ताही॥ ४॥

शब्दार्थ—'**मान्य**'=प्रतिष्ठित, जिन्हें सब मानते हैं, आदर-सम्मान करते हैं, पूज्य। '**सीलु**=स्वभाव शिष्टाचार। '**जठेरी**'=बड़ी-बूढ़ी, वृद्धावस्थाकी।

अर्थ—ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ, कुलकी मान्य, बड़ी-बूढ़ी और जो कैकेयीकी परम प्रिय हैं, वे कैकेयीके शीलकी प्रशंसा करके उसे शिक्षा देने लगीं। उनके वचन उसको बाणके समान लगते हैं॥ ३-४॥

टिप्पणी—१ *'बिप्रबधू कुलमान्य जठेरी·········'* इति। मान्यमें ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ विशेष हैं, उनसे सामान्य कुलमान्य हैं, फिर इनसे सामान्य *'जठेरी'* और उनसे भी सामान्य वे हैं, जो कैकेयीकी प्यारी हैं, अतः इसी क्रमसे कहा। पुनः, इनसे चारों वर्णोंकी स्त्रियोंका उपदेश करना, सिखाना, समझाना दिखाया—*'बिप्रबधू'* से ब्राह्मण वर्णकी, *'कुलमान्य'* से क्षत्रियवर्णकी, *'जठेरी'* से वैश्योंकी और *'परमप्रिय कैकई केरी'* से शूद्रवर्णकी कैकेयीकी दासियाँ सूचित की। (पुनः, यों भी अर्थ कर सकते हैं कि विप्र-वधू और कुलमान्यमें जो बूढ़ी और कैकेयीकी परम प्यारी थीं उन्होंने उपदेश दिया।)

टिप्पणी—२ *'लगीं देन सिख सीलु सराही।······'* इति। **सीलु**=मुलाहजा, मुरव्वत, शिष्टाचार। शीलकी सराहना इसलिये करती हैं कि जिसमें वह हमारा मुलाहिजा मानकर शिक्षा माने। इसीसे सब मुलाहिजावाली आयी हैं। इन सखियोंके वचन कैकेयीके प्रतिकूल हैं, इसीसे वचनोंसे उसे बाणकी-सी चोट पहुँचती है। [पण्डितजी लिखते हैं कि कैकेयीने करुणारसका कटक जो चढ़ाईके लिये बुलाया है, उसको समझाकर वह लौटा दे, इसलिये ये सब उसे मनाने आयी हैं।]

वि० त्रि०—जिस भाँति चक्रवर्तीजीको भाटोंका विरद बोलने और गायकोंके गुणगान करनेसे बाणके लगनेकी-सी पीड़ा हुई थी, यथा—*'पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक। सुनत नृपहिं लागहिं जनु सायक॥'* उसी भाँति सखियोंके शील सराहनासे कैकेयीको शराघात-सी पीड़ा हो रही है। वह समझ रही है कि इस शील-सराहनाका तात्पर्य यह है कि मैं वरदानको वापस ले लूँ, ये शीलकी सराहना करके मेरा बना हुआ काम बिगाड़ना चाहती हैं। कुबरीने ठीक कहा था कि सब तुम्हारा अनभल देख रहे हैं, पर मुझसे नहीं देखा जाता, यथा—*'जारै जोग सुभाव हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा॥'* ये सब कौसल्याके षड्यन्त्रकी सहायक हैं, षड्यन्त्र टूटते देखकर मुझे बहकाने आयी हैं, इत्यादि।

भरतु न मोहि प्रिय राम समाना। सदा कहहु यहु सबु जगु जाना॥ ५॥
करहु राम पर सहज सनेहू। केहि अपराध आजु बनु देहू॥ ६॥

कबहुँ न किएहु सवति आरेसू। प्रीति प्रतीति जान सबु देसू॥ ७॥
कौसल्या अब काह बिगारा। तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा॥ ८॥
दो०—सीय कि पिय सँगु परिहरिहि लषनु कि रहिहहिं धाम।
राजु कि भूँजब भरत पुर नृपु कि जिइहि बिनु राम॥ ४९॥
अस बिचारि उर छाड़हु कोहू। सोक कलंक कोठि* जनि होहू॥ १॥

शब्दार्थ—**पारा**=गिराया, डाला। '**आरेसू**'=वैर, विरोध।, गाँस, ईर्ष्या, डाह। शब्दसागरमें यह शब्द नहीं मिला। २—दीनजी *'सवति आरेसू'* को 'सवतिया—रेसू' इस तरह लिखकर अर्थ करते हैं—'**सपत्नी**+**रीस**=बराबरी'। 'वा **आरेसू**'=आरेस=[आङ्+ईर्ष्या=आ+रेस] परस्पर ईर्ष्या। 'सवतिया+रेस=सवतोंमें 'ईर्ष्या' इस प्रकार भी अर्थ हो सकता है। (गौड़जी) **भूँजब**=भोग करेंगे। भुजाना चना आदिके भुजाने भूननेके लिये, रुपया आदिके भुनानेके लिये भी आता है। सम्भव है कि उसीसे इसका ऐसा प्रयोग हुआ हो। क्या भुना लेंगे? मुहावरा है अर्थात् क्या कर लेंगे; क्या पा लेंगे? **कोटि**=कोटी, कुठिला, कोठिला, वह बड़ा पात्र जिसमें किसान अनाज रखते हैं।

अर्थ—भरत मुझे रामके समान प्रिय नहीं हैं, यह तुम सदा कहती आयी हो, इसे सब जगत् जानता है॥ ५॥ रामचन्द्रजीपर स्वाभाविक ही प्रेम करती रही हो। आज उन्हें किस अपराधसे वन देती हो?॥ ६॥ तुमने कभी भी सौतसे वैर-विरोध न किया अर्थात् सौतियाडाह नहीं किया। सारा देश तुम्हारी प्रीति और प्रतीति (विश्वास) को जानता है॥ ७॥ अब कौसल्याने तुम्हारा क्या बिगाड़ा (वा, क्या बिगाड़ किया) जिसके कारण तुमने नगरभरपर वज्रपात किया अर्थात् कौसल्याकी बिगाड़से तुम पुरवासियोंको क्यों दुःख दे रही हो, इन्होंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा?॥ ८॥ क्या सीताजी पतिका साथ छोड़ देंगी? लक्ष्मण क्या घरमें रहेंगे? भरत क्या पुरमें राज्य करेंगे? और क्या राजा बिना रामके जीवित रहेंगे? अर्थात् न सीता-लक्ष्मण रहेंगे, न भरत राज्य करेंगे और न राजा जियेंगे, हृदयमें ऐसा विचारकर हृदयसे क्रोधको छोड़ो और कलंककी कोठी न बनो॥ (४९। १)

नोट—सखियोंने पहले रामजीपर उसका प्रेम कहा कि तुम स्वयं ऐसा कहती थी यदि उसपर कहो कि वचन ही तो है कह दिया होगा तो उसपर वे कहती हैं कि ऐसा नहीं है, वरन् तुम्हारा प्रेम रामजीपर स्वभावतः ऐसा रहा है, कुछ मुँहहीसे तुम नहीं कहती थी, भीतरसे तुम्हें प्रेम था। इसपर भी वह न बोली तब उनका अपराध पूछा कि यदि कोई अपराध बतावे तो उनका हम समाधान करें। तब भी न बोली। तब यह विचार किया कि किसी कारणसे कौसल्यासे इसने वैर-विरोध मान रखा हो, अतः कहा कि *'कबहुँ न किएहु सवति आरेसू……।'* बड़ेसे डरना चाहिये और उससे प्रीति-प्रतीति भी रखनी चाहिये। कौसल्या बड़ी हैं। यदि तुम उनसे वैर-विरोध माने होती तो डर, प्रीति और प्रतीतिका नाश हो गया होता सो बात कभी देखी नहीं गयी—*'प्रीति प्रतीति जान सब देसू।'* तो अब ऐसा क्यों करती हो, यथा—*'प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती॥'* क्या अब उनसे कोई दोष हो गया है? यदि हुआ है तो बताओ, क्योंकि तुम्हारी इस करनीसे तो नगरभरका नाश हुआ जाता है। कौसल्याकी चर्चा चलायी तब भी न बोली तब सोचीं कि कदाचित्

* शुद्ध और समस्त प्राचीन प्रतियोंका यही पाठ है। वन्दन पाठककी प्रतिमें हाशियेपर 'कोटि' भी दिया है। रा० प्र०, ना० प्र० ने 'कोटि' पाठ दिया है। 'कोटि'=अन्तिम सीमा, बहुत ही बढ़कर, जैसा लिखा है पंचतन्त्रमें 'कोपकोटिमापन्ना' अर्थात् क्रोधके हदको पहुँची।—(वि० टी०)। आरम्भावस्थामें पं० रामकुमार भी 'कोटि' पाठ करते थे और उसका अर्थ 'आधार' करते थे कि 'सीय कि पिय……'। पूर्व जो कह आये हैं कि 'जो हठि भयउ सकल दुख भाजनु' वे सब दुःख यही हैं जो महाराजरूपी पात्रमें भरे गये हैं।

इसका सीता या लक्ष्मणमें प्रेम हो तो इनका वनको साथ जाना सुनकर सम्भव है कि मान जाय; अतएव कहा कि ***'सीय कि पिय सँग········।'*** जब देखा कि प्रिय-वियोग सुनकर भी न बोली तब कहा कि देख तुझपर विपत्ति आवेगी, कलंक लगेगा।

बैजनाथजी—सखियाँ यह कहती हैं कि 'राम वनगमन' इस एक हानिसे अनेकों हानियाँ हैं और तुम्हारे हितकी भी हानि है। हानिकी शृंखला दोहेमें दिखाती हैं कि श्रीराम, लक्ष्मण, जानकी सभी राज्यको त्याग देंगे तो सब उत्पातकी मूल दूषित राज्यको भरत कब लेनेके?

पाँड़ेजी—पुरपर वज्र गिराया कहकर फिर उस वज्र गिरानेका स्वरूप दिखाती हैं।

वि० त्रि०—१ ***'कौसल्या अब काह········पारा'*** इति। तुम्हारे विवाहमें कौसल्या बाधक नहीं हुईं, हवि विभागमें बाधक नहीं हुईं। तुम्हारे बढ़ते हुए अधिकारमें बाधक नहीं हुईं, अतः तुममें और उनमें प्रीति भी बड़ी भारी थी। जब बिगाड़ करनेका समय था तब बिगाड़ नहीं किया, अब कौसल्याने क्या बिगाड़ा, जो कहती हो कि ***'जस कौसिला मोर भल ताका। तस फल तिन्हहिं देउँ करि साका॥'*** हमलोग तुम्हारी सखी हैं, हमसे कहो। तुम तो चली हो कौसल्याको दण्ड देने, यहाँ सम्पूर्ण राज्यपर वज्र गिरा चाहता है। ऐसे अविवेकसे दण्ड नहीं देना चाहिये कि निरपराध लोग पिस जायँ।

२—***'सीय कि पिय संग परिहरिहि········'*** इति। सखियाँ समझाती हैं कि तुम्हें समझना चाहिये कि रामजीके वन जानेका परिणाम क्या होगा। सीता, लक्ष्मण, भरत और चक्रवर्तीजीका इतना गाढ़ प्रेम रामजीपर है कि सीता और लक्ष्मण तो उनका साथ छोड़ेंगे ही नहीं, निश्चय उनके साथ वन चले जायँगे। सीताके साथ जानेसे कितनी बड़ी अप्रतिष्ठा कुलकी और कितना बड़ा अपयश तुम्हें होगा, लक्ष्मणके भी चले जानेसे सब प्रकारसे अवध अनाथ हो जायगा। इस प्रकारसे अर्जित राज्यको क्या कभी भरतजी स्वीकार करेंगे? रामके वन जानेपर भरतका राज्य करना असम्भव है, यथा—***'सोक समाज राज केहि लेखे। लषन राम सियपद बिनु देखे॥'*** अतः जिसके लिये तुम सब कर रही हो वह इष्टसिद्धि तीन कालमें सम्भव नहीं, और जिसका तुम्हें बल है वह सौभाग्य भी नहीं रहेगा, यथा—***'गर्बित भरत मातु बल पी के।'*** महाराज तो रामजीके लिये प्राण छोड़ देंगे। बड़ा भारी अनर्थ तुम्हारे हाथ हुआ चाहता है। यह सब होनेपर अवध उजाड़ हो जायगा। यही राज्यपर वज्र गिराना है।

भरतहि अवसि देहु जुबराजू। कानन काह राम कर काजू॥ २॥
नाहिं न रामु राज के भूखे। धरमधुरीन बिषयरस रूखे॥ ३॥
गुर गृह बसहु रामु तजि गेहू। नृप सन अस बरु दूसर लेहू॥ ४॥
जौं नहिं लगिहहु कहें हमारे। नहिं लागिहि कछु हाथ तुम्हारे॥ ५॥
जौं परिहास कीन्हि कछु होई। तौं कहि प्रगट जनावहु सोई॥ ६॥
राम सरिस सुत कानन जोगू। काह कहिहि सुनि तुम्ह कहुँ लोगू॥ ७॥
उठहु बेगि सोइ करहु उपाई। जेहि बिधि सोकु कलंकु नसाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**लगिहहु**=लगोगी, तत्पर होगी। **रूखे**=उदासीन, विरक्त। **विषय**=भोग-विलास आदि—विषय १४ कहे जाते हैं, उन्हींकी अनेक शाखाएँ हैं। (पण्डितजी)

अर्थ—भरतको अवश्य युवराज दो। पर वनमें श्रीरामजीका क्या काम है?॥ २॥ श्रीरामजी राज्यके भूखे नहीं हैं अर्थात् उनको उसकी चाह नहीं है वे तो धर्मकी धुरी धारण करनेवाले हैं। (अर्थात् पिताने जब भरतको राज्य दे दिया तो वे उसमें बाधा क्यों करेंगे? 'पितु-आज्ञा-भंग' अधर्म है वे उसे कदापि न करेंगे।) विषय-रससे रूखे हैं॥ ३॥ 'घर छोड़कर राम गुरुके घर रहें'—राजासे ऐसा दूसरा वर माँग लो॥ ४॥ जो हमारे कहनेमें न चलोगी तो तुम्हारे कुछ भी हाथ न लगेगा॥ ५॥ यदि कुछ हँसी

की हो तो खोलकर इस बातको कह दो कि हमने हँसी की थी॥ ६॥ श्रीराम-सरीखा पुत्र क्या वनके योग्य है? यह सुनकर लोग तुम्हें क्या कहेंगे? अर्थात् तुम्हारी निन्दा करेंगे॥ ७॥ जल्द उठो और वही उपाय करो जिस विधि-(उपाय-)से शोक और कलंक मिटें॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) ***'भरतहिं अवसि देहु जुबराजू'***—इस तरह पहले वरके प्रतिकूल कोई नहीं है। भाव कि मुख्य उद्देश्य तो तुम्हारा यही है कि तुम्हारा पुत्र राजा हो तो इसमें कोई हर्ज नहीं वे ही राजा हों। पर रामको वन भेजनेसे तुम्हारा तो कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। ऐसे सुकुमार पुत्रको अनेक कष्ट होंगे। इससे तुम्हें क्या लाभ होगा? (ख) ***'नाहिं न रामु राज के भूखे।·······'*** अर्थात् यदि यह डर हो कि ये राज्यमें उपद्रव करेंगे तो उसपर कहती हैं कि वे विषय-रससे रूखे हैं, विषय-वासनाएँ उनमें नहीं हैं, जो विषयोंमें आसक्त होते हैं वे ही राज्यके भूखे होते हैं और उसकी लालचसे अधर्म करते हैं जिसमें विषय भोग करें। रामजी धर्मधुरीण हैं, विषय-वासना छू भी नहीं गयी जो उनको धर्मसे विचलित कर दे। अत: उनसे कोई संदेह नहीं। मिलान कीजिये—***'राम पुनीत बिषय रस रूखे। लोलुप भूमि भोग के भूखे॥'*** (१७९। ७)

टिप्पणी—२ ***'गुर गृह बसहु·······'***—सखियोंके कथनका भाव यह है कि यदि यही हठ तुम्हें है कि वनवास माँग चुकीं, अब कैसे बदलें, तो उसका उद्धार यों हो सकता है कि गुरुगृह रहें, वह तो वनके तुल्य तप:स्थल है। (पाँड़ेजी) मुनिका स्थान वनके समान है, अत: गुरुगृहमें रहनेसे तुम्हारा वचन रह जायगा, राजाका भी वचन रह जायगा और श्रीरामजीको वन भी हो गया। ***'तजि गेहू'*** अर्थात् १४ वर्षतक वे घर न जायँगे, ब्रह्मचर्य धारण करके गुरुके यहाँ रहेंगे। (पं० रा० कु०)

नोट—२ ***'कानन काह राम कर काजू'*** और ***'नाहिं न रामु राजके भूखे'*** 'क्योंकि धर्मधुरीण हैं, यहाँतक सिखावनका एक भाग है। और 'बिषयरस-रूखे' हैं इससे ***'गुर गृह बसहु रामु तजि गेहू'*** यहाँतक दूसरा भाग है। इसपर भी न बोलीं तब सखियोंने कहा कि ***'जौं नहिं लगिहहु·······'*** तो तुम्हारे कुछ हाथ न लगेगा—न राज्य मिलेगा, न राजा जियेंगे, तुम विधवा होगी, सब 'बिगड़ेगा' और तुझे अपयश होगा।—यह मानो सखियोंका उसको शाप है। (पण्डितजी) 'कुछ हाथ न लगेगा जो हमारा कहा न मानोगी' इस प्रकार साभिप्राय लोकोक्तिका प्रयोग 'छेकोक्ति अलंकार' है। अपनी बात भी रहे और राम वन भी न जायँ, सब बात बनी-बनायी रह जाय, इसका एक उपाय ***'गुर गृह बसहु राम'*** से कहकर दूसरा उपाय उससे निकालनेका कहती है—***'जौं परिहास'*** अर्थात् कह दो कि हमने हँसी की थी, प्रेमकी परीक्षा लेनेके लिये ऐसा कहा था कि इससे मुझे मालूम हो जायगा कि राजाका और रामका मुझमें कितना प्रेम है। वह हमने देख लिया। हँसीकी बात सुनकर सब प्रसन्न हो जायँगे और तुम्हारी भी वाह-वाह होने लगेगी।

नोट—२ ***'राम सरिस सुत कानन जोगू।·······'*** अर्थात् वे तो नेत्रोंसे बाहर करने योग्य नहीं, यथा—***'आँखिनमें सखि राखिबे योग इन्हें किमिकैं वनवास दियो है।'*** (क० २। २०) लोग निन्दा करेंगे, यथा—***'रानी मैं जानी अयानी महा पबि पाहन हू ते कठोर हियो है।'*** (क० २। २०) पुन:, भाव कि कहाँ ऐसे सुकुमार श्रीरामजी और कहाँ भयंकर वन! ***'उठहु बेगि सोइ करहु·······'*** अर्थात् वे वनके लिये तैयार हैं, जल्दी करो नहीं तो फिर कोई उपाय करते न बनेगा। कैकेयी बैठी है, यथा—***'सब प्रसंग रघुपतिहि सुनाई। बैठि मनहु तनु धरि निठुराई॥'*** इसीसे उठनेको कहती हैं।

वि० त्रि०—***'उठहु·······'*** सखियाँ कहती हैं कि बैठी क्या हो, उठो और जल्दीसे उपाय करो। इस समय रामजी मातासे आज्ञा लेने गये हैं, तुम वहाँ पहुँच जाओ और कौसल्यासे कहो कि बहन! तुम आज्ञा न देना मैंने परिहास किया था। कुलकी रक्षाके लिये ऐसा कहना भी दोषयुक्त नहीं है। इस समय वन जानेसे तुम्हीं रामजीको रोक सकती हो। माताकी आज्ञा पा लेनेपर वे किसीके रोके रुकेंगे नहीं और यदि वे न रुकें तो तुम्हारे शोक और कलंकका पारावार नहीं रहेगा।

छं०—जेहि भाँति सोकु कलंकु जाइ उपाय करि कुल पालही।
हठि फेरु रामहि जात बन जनि बात दूसरि चालही॥
जिमि भानु बिनु दिनु प्रान बिनु तनु चंद बिनु जिमि जामिनी।
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझि धौं जिय भामिनी॥

सो०—सखिन्ह सिखावनु दीन्ह सुनत मधुर परिनाम हित।
तेइँ कछु कान न कीन्ह कुटिल प्रबोधी कूबरी॥ ५०॥

शब्दार्थ—**हठि**=हठ करके। **चालही**=चला, कर। यथा—*'बनमाली दिसि सैन कै ग्वाली चाली बात।'* चालना (सं० चालन)=प्रसंग छेड़ना, बात उठाना। '**जामिनी**' (यामिनी)=रात। **धौं** (ध्रुवका अपभ्रंश)=निश्चय ही; तो। '**परिनाम**' (परिणाम)=अन्त, फल, नतीजा।

अर्थ—जिस प्रकार (पुर, परिजन, प्रजा सबका) शोक और (तुम्हारा) कलंक मिटे वह उपाय करके कुलका पालन (रक्षा) करो। राम वनको जाते हैं उन्हें हठ करके वन जानेसे लौटा (रोक) लो दूसरी बात न चला। जैसे सूर्यके बिना दिन, प्राणके बिना शरीर, चन्द्रमाके बिना रात (शोभारहित होते हैं) वैसे ही तुलसीदासके प्रभु (वा, तुलसीदास कहते हैं कि स्त्रियाँ यह कह रही हैं कि वैसे ही प्रभु) रामचन्द्रजीके बिना अयोध्या हो जायगी, हे भामिनी! जरा अपने जीमें समझ तो! सखियोंने वह शिक्षा दी जो सुननेमें मधुर और जिसका फल हितकर है। उसने उसपर जरा भी कान न दिया (न सुना) क्योंकि वह तो कुटिल कुबरीकी पढ़ाई-समझायी हुई है—(*'कोटि कुटिलमनि गुरू पढ़ाई'*)॥ ५०॥

टिप्पणी—१ (क) *'हठि फेरु रामहि जात बन········'* श्रीरामजी वन जानेको कह चुके हैं, यथा—*'बिदा मातु सन आवउँ माँगी। चलिहउँ बनहिं बहुरि पगु लागी॥'* (४६। ४) अब उनके जानेमें किंचित् संदेह नहीं। वे धर्मधुरंधर हैं अब किसीकी न सुनेंगे, किसी तरह न मानेंगे; इससे कहा कि हठ करो कि न जाने देंगी। यह शोक और कलंक मिटानेका उपाय बताया—(मुं० रोशनलाल) पहले लौटानेका उपाय बताया जा चुका है कि *'गुर गृह बसहिं राम तजि गेहू। नृप सन अस बर दूसर लेहू॥'* (ख) *'जनि बात दूसरि चालहीं',* दूसरी बात अर्थात् वन जानेकी चर्चा न कर, नहीं तो वनगमनसे अवधकी बड़ी दुर्दशा हो जायगी, जैसा आगे कहती हैं। पुनः, भाव कि सिवाय उनको हठात् रोक लेनेकी बातके और कोई बात ही उनसे न करो, जैसे बने हठपूर्वक रोक लो। (वै०)

टिप्पणी—२ *'जिमि भानु बिनु दिनु········'* अर्थात् सूर्य बिना दिनकी शोभा नहीं रहती, चन्द्र बिना रात अँधेरी असुहावनी और भयावन, प्राण बिना शरीर मृतक फेंकने-जलाने योग्य हो जाता है वैसे ही राम बिना। (क) अयोध्याकी शोभा जाती रहेगी, प्रभुसे ही इसकी शोभा है, यथा—*'अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा कै खानी॥'* (७। ३) (ख) वह भयानक लगेगी, यथा—*'लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ काल राति अँधियारी॥'* और (ग) इसे भरत क्या कोई भी न ग्रहण करेंगे, यथा—*'जरउ सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ।' प्रभु बिनु*—प्रभु=स्वामी। जैसे दिनके स्वामी सूर्य, तनके स्वामी प्राण और रात्रिके स्वामी चन्द्र (शर्वरीश, राकेश) वैसे ही अवधके स्वामी राम हैं दूसरा नहीं।'

रा० प्र०—सूर्य बिना दिनमें उत्पात, प्राण बिना तन अपावन, चन्द्र बिना रात्रि विधवा वा शून्य'—(वै० रा० प्र०)

बाबा हरिदासजी—यहाँ शंका है कि बिना भानुका दिन कौन होता है, क्योंकि जब जिस लोकमें सूर्य नहीं रहते तब वह रात प्रमाणित होती है, बिना प्राणका तन मुर्दा होता है और चन्द्र बिना रात्रि अमावस्याकी होती है, इस बातको सखियाँ समझा रही हैं (१)—जिस दिन ग्रहणसे सूर्यका सर्वग्रास हो जाता है वह दिन *'भानु बिनु दिनु'* है। भरतजी उस सर्वग्रहणके दिनके समान मलिन रहेंगे और जिस राज्यरूपी प्रकाशके लिये तुम उपाय करती हो उस राज्यको वे ग्रहण न करेंगे। (पूर्ण ग्रहणके कारण

दिन अशोभित रहता है वैसे ही अयोध्या लगेगी।) (२) राजाके प्राण रामजी, यथा—*'मेरे प्राणनाथ सुत दोऊ'* राजा बिना प्राणके तन हो जायँगे। अवधपुरी अमावसकी रातके समान अँधेरी और भयानक होगी।

श्रीनंगेपरमहंसजी—१ *'भानु बिनु दिनु'* इति। सूर्यकी उपमा श्रीरामजीकी है। सर्वग्रास ग्रहणमें तो सूर्यका अभाव हो जाता है और श्रीरामजी तो केवल अवधसे अलग होकर वैसे ही बने रहेंगे। अतएव यहाँ सूर्यके लिये सर्वग्रास ग्रहणका भावार्थ करना अयोग्य है।

यहाँ *'भानु बिनु दिनु'* से वह दिन अभिप्रेत है जिस दिन दिन होनेपर भी सूर्यका दर्शन नहीं होता। वर्षाकालमें सात-सात, आठ-आठ दिनोंतक सूर्य पूर्णरूपसे उदित होनेपर भी मेघोंमें ऐसे छिपे रहते हैं कि देख नहीं पड़ते। वही दिन *'भानु बिनु दिनु'* है। सूर्यका प्रकाश न होनेसे वह दिन अशोभित रहता है। (ऐसे दिवसको दुर्दिन कहा ही है—'**मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्**'। प० प० प्र०) जैसे चन्द्रमाके बिना रात्रि होती है पर अशोभित है, वैसे ही सूर्यके बिना दिन है पर सूर्य-किरणोंका प्रकाश न होनेसे वह दिन अशोभित है।

(यहाँ भानु, प्राण और चन्द्रमा ये तीन उपमाएँ श्रीरामजीकी दी गयी हैं और उनके बिना अवधके लिये क्रमशः दिन, तन और रात्रिकी उपमाएँ दी गयी हैं। श्रीपरमहंसजीका मत है कि *'भानु बिनु दिनु'* की उपमा अवधके पुरुषोंके लिये है, *'प्रान बिनु तनु'* की उपमा श्रीरामजीकी माताओंके लिये है और *'चन्द्र बिनु जामिनी'* की उपमा अवधकी स्त्रियोंके लिये है। वे लिखते हैं)—जैसे सूर्यके प्रकाश बिना दिन मलिन हो जाता है वैसे ही श्रीरामजीके बिना अवधके पुरुष मलिन हो जायँगे। जैसे चन्द्रमाके बिना रात्रि मलिन हो जाती है वैसे ही श्रीरामके बिना अवधकी स्त्रियाँ मलिन हो जायँगी। यथा—*'श्रीहत सीय बिरह दुति हीना। जथा अवध नर नारि बिलीना॥'* (१९९। ५) श्रीरामजी सूर्य और चन्द्रमारूप हैं ही, यथा—*'मन मुसुकाइ भानुकुल भानू।'* (४१। ५) *'निरखि राम राकेस।'* (७। ९) पुनः जैसे बिना प्राणके देह अशोभित हो जाती है, वैसे ही श्रीरामके बिना माताएँ अशोभित हो जायँगी, अर्थात् विधवा हो जायँगी; क्योंकि श्रीरामजीके बिना राजा जी नहीं सकते और स्त्रीका प्राण पति है। पतिविहीन स्त्री मृतकके समान हो जाती है। अतः माताओंके लिये बिना प्राणके देहकी उपमा दी है। यथा—*'जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥'* (६५। ७)

२-शंका हो सकती है कि श्रीरामजीके आनेपर अवधके लोग स्त्री-पुरुष तो शोभित हो गये पर माताएँ नहीं शोभित हुईं? तो उसका समाधान यह है कि इसीलिये ग्रन्थकारने माताओंके लिये *'प्राण बिनु देह'* की उपमा दी है। निकला हुआ प्राण पुनः उस देहमें नहीं आता, इसीसे माताएँ शोभित नहीं हुईं।

३-☞अवधकी नर-नारियोंसे सब रानियाँ पृथक् हैं, क्योंकि 'नर नारी' से राजा-रानीका बोध नहीं हो सकता है। अतः तीन उपमाओंसे समस्त अवधका बोध कराया है।

४-प० प० प्र०—(क) मेघ-पटलसे आच्छादित आकाशके कारण सूर्य-प्रकाश न होनेसे दिन दुर्दिन कहलाता है। इसमें उदासीनता, निरुत्साह, विषाद और बेचैनी होती है। वही अवधकी दशा हुई। यथा—*'श्रीहत सर सरिता बन बागा।', 'सरित सरोबर देखि न जाहीं।', 'राम लखन सिय बिनु सुख नाहीं', 'अति बिषाद बस लोग लोगाई।'* (ख) बिना प्राणोंका शरीर प्रेत (शव) है। वह जहाँ रहता है उसे श्मशान कहते हैं। प्राणोंके प्रयाणके समय उस घरमें यमदूतोंका आगमन होता है। यही अवधकी दशा हो गयी। यथा—*'घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहु जमदूता॥ बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं।'* (८३। ७-८), *'जरहिं बिषम जर लेहिं उसासा'।* (ग) बिना चन्द्रमाकी रात्रि अमावस्याकी अँधेरी रात्रि है, जिसमें सर्वत्र भयानकता छायी रहती है। भूत-प्रेतोंका संचार अप्रतिहत होता है। चोर, डाकू आदिका विशेष भय होता है इत्यादि। अवधकी वैसी ही दुर्दशा हुई। यथा—*'लागति अवध भयावनि भारी। मानहु काल राति अँधियारी॥ घोर जंतु सम पुर नर नारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी॥········परिजन जनु भूता।'* (८३। ५—७), *'चले लोग सब ब्याकुल भागी।'* (८४। ४) यह दशा अवधमें दिनहीमें देखनेमें आने लगी।

पाँड़ेजी—सूर्यके स्थानमें रामचन्द्रजी, प्राणके स्थानमें जानकीजी और चन्द्रमाके स्थानमें लक्ष्मणजी हैं।

५—खर्रा—जब रामजी अयोध्यामें हैं तब ज्ञानियोंके लिये राम ज्ञानरूप भानु हैं—ज्ञानी उनके चले जानेसे मानरहित हो जायँगे। उपासकरूपी चकोरोंको राम चन्द्ररूप हैं, उनको देखकर वे प्रसन्न रहते हैं और अयोध्या शरीर है, राम उसके प्राण हैं। प्राण ही न रहेगा तो मृतक-सी हो जायगी। (वा, कर्म तनसे होता है सो बिना प्राण रह नहीं सकता वैसे ही कर्मकाण्डवाले कर्मरहित हो जायँगे।)

६—प्रोफे० लाला भगवानदीनजी—यहाँ भिन्नधर्मा मालोपमा अलंकार है। कोई-कोई इसमें तीन उपमाओंको राम, लक्ष्मण और जानकीजीके लिये मानते हैं और विपरीत क्रमालंकारद्वारा 'तुलसी' की समता जानकीसे, 'दास' की लक्ष्मणसे और 'प्रभु' की रामजीसे मानते हैं। (वन्दन पाठकजीने अपनी प्रतिमें यह टिप्पणी दी है—मा० सं०) इसी प्रकार आगे गंगा उतारनेके प्रसंगमें केवटने कहा है कि ***'तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं'।*** इसमें भी मानते हैं कि केवट यही कह रहा है कि तुलसी (जानकी), दास (लक्ष्मण) और नाथ (रामजी) तीनोंमेंसे किसीको भी पार न उतारूँगा।

७—वीरकवि—रामवनगमनसे अयोध्या फीकी पड़ जायगी, इस एक उपमेयके लिये एक ही धर्म 'अशोभन' के अनेक उपमाओंका कथन 'एकधर्म-मालोपमा अलंकार' है। विनोक्ति और उदाहरणद्वारा इसकी पुष्टि हो रही है। अवधवासी स्त्रियोंके मुखसे यह कहलाना कि तुलसीदासके स्वामी 'भाविक अलंकार' है। उसने कुछ न ध्यान दिया; क्योंकि ***'कुटिल प्रबोधी कूबरी'*** यह काव्यलिंग अलंकार है।

उतरु न देइ दुसह रिस रूखी। मृगिन्ह* चितव जनु बाघिनि भूखी॥ १॥
ब्याधि असाधि जानि तिन्ह त्यागी। चलीं कहत मतिमंद अभागी॥ २॥
राजु करत एहि दैअँ बिगोई। कीन्हेसि अस जस करइ न कोई॥ ३॥
एहि बिधि बिलपहिं पुर नर नारी। देहिं कुचालिहि कोटिक गारी॥ ४॥

शब्दार्थ—**रूखी**=स्नेहरहित, स्नेहरूपी चिकनाहटरहित, उदासीन। शील-संकोच-मुरव्वतको त्यागे हुए; रुष्ट तीखी, यथा-***'भोजन देहु भए वे भूखे। सुनिके ह्वै गए वे रूखे'***-सूर। **दैअँ**=विधाता। **बिगोई**=नष्ट कर डाला, बिगाड़ दिया, ठग लिया। **बिलपहिं**=विलाप करते हैं, बिलख-बिलखकर रोते हैं।

अर्थ—कैकेयी उत्तर नहीं देती, कठिन क्रोधके मारे रूखी हो गयी है। (ऐसी देख पड़ती है) मानो भूखी बाघिन हिरनियोंकी ओर देख रही है॥ १॥ रोगको असाध्य जानकर (अर्थात् यह अब किसी प्रकार समझाये न समझेगी) उन्होंने इसे छोड़ दिया और कहते हुए चलीं कि यह मन्दबुद्धि और अभागिनी है (वा यह अभागिन बड़ी मतिमन्द है)॥ २॥ राज्य करते इसे दैवने ठग लिया, नष्ट कर दिया। इसने ऐसा किया जैसा कोई न करेगा॥ ३॥ इस प्रकार नगरके स्त्री-पुरुष विलाप कर रहे हैं और कुचालिन कैकेयीको करोड़ों गालियाँ दे रहे हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) ***'दुसह रिस रूखी'*** इति। रिससे रूखी तो पहलेसे ही थी अब प्रतिकूल शिक्षा सुनकर अधिक क्रोध हुआ। अतः ***'दुसह रिस'*** कहा। (ख) ***'मृगिन्ह चितव……'*** इति। बाघिन मृगोंको चितवती है। वृद्ध मृगका मांस नहीं खाती। वृद्धको त्यागकर नवीन-(युवा-)का मांस खाती है। वैसे ही कैकेयी सब स्त्रियोंको वृद्धा (जठेरी) जानकर छोड़ती है। ***'रिस रूखी'*** कहकर देखना कहा। अर्थात् उसने मुखसे कुछ उत्तर न दिया, क्रोधसे उनकी ओर देखा। यहाँ 'उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

टिप्पणी—२ ***'ब्याधि असाधि जानि……'*** इति। (क) जब वैद्य समझ लेते हैं कि रोग असाध्य हो गया तब वे ओषधि देना बंद कर देते हैं कि अब हमारे बसका नहीं। [वैसे ही इन वृद्धा स्त्रियोंने यह जानकर कि यह कितना भी समझानेसे न मानेगी उपदेश करना छोड़ दिया। (ख) ***'चलीं कहत***

* मृगन्हि—रा० प्र०। प्र० सं० में 'मृगन्हि' था। रा० प्रे० टीकामें 'मृगिन्ह' है और गी० प्रे० में 'मृगिन्ह' है। स्त्रियोंके लिये स्त्रीलिंग विशेष उपयुक्त है। प्र० सं० में छापेकी अशुद्धि थी, अर्थ 'मृगिन्ह' का ही किया गया था।

मतिमंद अभागी' इति। मंद बुद्धि कहा; क्योंकि हित उपदेश न माना, न उत्तर दिया, उल्टे क्रोध ठाना। ***'अभागी'*** का भाव कि भाग्यरूप श्रीमहाराज हैं सो बिना रामके न जीवित रहेंगे। अथवा, विषयसुखहेतु यह श्रीरामजीसे विमुख हुई; अत: अभागिनी है। (रा० प्र०) जो हितकी न माने वह अभागा है, यथा—***'उतरु देत मोहि बधब अभागे।'*** (३। २६। ६) ***'फिरि पछितैहसि अंत अभागी।'*** (३६। ८) जिसके हितचिन्तक उसे त्याग दें वह भी अभागा है, यथा—***'रावन जबहिं बिभीषन त्यागा। भयउ बिभव बिनु तबहिं अभागा॥'*** (५। ४२। ३) और रामविमुखको सर्वत्र अभागा कहा ही है।]

राजा और पुरवासिनियोंकी शिक्षाका मिलान

बानी सबिनय तासु सोहाती	-	*लगीं देन सिख सीलु सराही।*
देउँ भरत कहुँ राजु बजाई	-	*भरतहिं अवसि देहु जुबराजू २*
लोभु न रामहिं राजु कर	-	*नाहिंन रामु राज के भूखे ४*
तेहि ते परेउ मनोरथ छूछें	-	*नहिं लागिहि कछु हाथ तुम्हारें ५*
रिस परिहास कि	-	*जौं परिहास कीन्हि कछु होई*
प्रिया हास रिस परिहरहि	-	*तौ कहि प्रगट जनावहु सोई*
राममातु कछु कहेउ न काऊ	-	*कौसल्या अब काह बिगारा*
राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती	-	*नृप सन अस बर दूसर लेहू*
कहु तजि रोषु राम अपराधू	-	*केहि अपराध आजु बनु देहू*
तुहूँ सराहसि करसि सनेहू	-	*करहु राम पर सहज सनेहू*
अब सुनि मोहिं भएउ संदेहू	-	*काह कहिहि सुनि तुम्ह कहुँ लोगू*
'जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला। सो किमि करिहि मातु प्रतिकूला॥		*प्रीति प्रतीति जानु सबु देसू*
प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती॥		*रामसरिस सुत कानन जोगू*
जीवनु मोर राम बिनु नाहीं	-	*नृप कि जिइहि बिनु राम*
चहत न भरत भूपतहि भोरें। बिधि बस कुमति बसी उर तोरें॥		*राज कि भूँजब भरत पुर*
माँगु बिचारि बिबेक। जेहि देखौं अब नयन भरि भरत राज अभिषेक॥'		*—उठहु बेगि सोइ करहु उपाई*
'तोर कलंकु मोर पछिताऊ।	}	
मुएहु न मिटिहि न जाइहि काऊ।	}	*—सोक कलंक कोटि जनि होहू*
नाहिं त जरिहि जनम भरि छाती'	}	
'देखी ब्याधि असाधि नृप'	}	
'अब तोहि नीक लाग करु सोई।	}	*—ब्याधि असाधि जानि तिन्ह त्यागी।*
लोचन ओट बैठु मुँह गोई'	}	
फिरि पछितैहसि अंत अभागी। मारसि गाइ		*—चलीं कहत मतिमंद अभागी*
'परेउ राउ कहि कोटि बिधि·······' से	}	
'बिलपत नृपहि भएउ·······' तक	}	*—एहि बिधि बिलपहिं पुर नर नारी*
बर दूसर असमंजस माँगा		*-कानन काह राम कर काजू*
बिधि बस कुमति बसी जिय तोरें		*-राज करत यह दैव बिगोई*
कपट सयानि न कहति कछु		*-'उतरु न देइ दुसह रिस रूखी।·······'*

जरहिं बिषम जर लेहिं उसासा। कवनि राम बिनु जीवन आसा॥ ५॥
बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी। जनु जलचरगन सूखत पानी॥ ६॥
अति बिषाद बस लोग लोगाईं। गए मातु पहिं रामु गोसाईं॥ ७॥

मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ। मिटा[१] सोचु जनि राखइ[२] राऊ॥ ८॥

शब्दार्थ—**बिषम जर**=विषम ज्वर। वैद्यकके अनुसार एक प्रकारका ज्वर जो होता तो नित्य है पर जिसके आनेका कोई समय नियत नहीं होता। इसमें तापमान भी सदा समान नहीं रहता और नाड़ीकी गति भी सदा एक-सी नहीं रहती, बराबर बदलती रहती है। ज्वरका यह रूप किसी साधारण ज्वरके बिगड़ने अथवा पूरी तरह अच्छे न होनेपर कुपथ्य करनेके कारण होता है। इसके अनेक भेद कहे गये हैं। जैसे संतत, सतत, तृतीयक, चतुर्थक, क्षयी इत्यादि। वीरकविजीके मतानुसार विषम ज्वर पाँच प्रकारका होता है। इन सबोंमें पहले कम्प पीछे दाह होता है तथा दम फूलने लगता है। **उसास**=ऊर्ध्वश्वास, ऊँची लंबी साँस। **कवनि**=कौन। **जलचर**=जलमें रहनेवाले जीव-जन्तु। **लोगाईं**=स्त्रियाँ। **चाऊ**=चाव, उत्साह।

अर्थ—पुरवासी विषम ज्वरसे जल रहे हैं; उलटी लंबी साँसें लेते हैं (और कहते हैं कि) श्रीराम बिना जीनेकी कौन आशा है?॥ ५॥ भारी वियोग समझकर प्रजा बड़ी व्याकुल हो गयी। मानो जलचर-समूह पानीको सूखता देख छटपटा रहा है॥ ६॥ स्त्री-पुरुष सभी भारी विषादके वश हो गये। गोस्वामी श्रीरामचन्द्रजी माता कौसल्याके पास गये॥ ७॥ उनका मुख प्रसन्न है, चित्तमें चौगुणा उत्साह है। यह सोच दूर हो गया कि कहीं राजा रख न लें॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'जरहिं बिषम जर'*** इति। विषम ज्वरमें गर्मी बहुत होती है और साँस बहुत चलती है, जीनेकी आशा नहीं रहती। बहुत दिनतक रहनेवाला ज्वर विषम ज्वर कहलाता है। पुरवासियोंका यह ज्वर १४ वर्षतक नहीं उतरेगा। इसीसे कहते हैं ***'कवनि राम बिनु जीवन आसा'*** अर्थात् उनको अपने जीनेकी आशा न रह गयी। [विषम ज्वरमें पहले कम्प होता है पीछे दाह होता है तथा दम फूलने लगता है। यहाँ वियोगका भय कम्प है, तज्जनित संताप दाह है। ज्वरसे पीड़ित होनेपर रोगी अधीर और जीवनसे निराश हो जाता है। वैसे ही पुरवासी अधीर और निराश हैं। (वीरकवि) यहाँ श्रीरामजीसे चौदह वर्षका वियोग होगा यह विचार विषम ज्वर है। श्रीरामदर्शन ही ओषधि है। वह न मिलेगी अतः जीवनसे निराश हो रहे हैं। (वै०)]

टिप्पणी—२ ***'बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी।……'*** इति। (क) १४ वर्षका वियोग है, अतः ***'बिपुल'*** कहा। (ख) श्रीरामजीका वन जाना जलका सूखना है। यहाँ मछली न कहकर जलचरसे प्रजाकी उपमा दी; यह भी साभिप्राय है। पानी सूखनेसे मछली मर जाती है; पर और जलचर नहीं मरते। राम-वनगमनसे कोई प्रजा मरेगी नहीं, सब जीती रहेगी; अतएव ***'जलचरगन'*** से उपमा दी। (ग) पुनः, विषम ज्वरसे अन्तःकरणका ताप कहा और जलचर कहकर प्रजाके तनकी दशा कही कि सबके शरीर तलफते (तड़पते) हैं।

टिप्पणी—३ ***'अति बिषाद बस……'*** इति। (क) ***'अति'*** अर्थात् बहुत भारी है, सहा नहीं जाता, धैर्य नहीं धारण किया जा सकता, यथा—***'जो जहँ सुनइ धुनइ सिर सोई। बड़ बिषाद नहिं धीरज होई॥'*** (४६। ८) (ख) ***'बिदा मातु सन आवउँ माँगी।'*** (४६। ४) उपक्रम है, ***'गए मातु पहिं रामु गोसाईं'*** उपसंहार है। ***'गोसाईं'*** का भाव कि अन्य सबकी इन्द्रियाँ व्याकुल हैं, पर इनकी इन्द्रियाँ सावधान हैं; क्योंकि ये इन्द्रियोंके स्वामी हैं। इन्द्रियजित हैं अतः इनका मन मलिन न हुआ। (पाँड़ेजी) 'गो' अर्थात् पृथ्वीके स्वामी हैं अतः भूभार उतारनेके लिये प्रसन्न हो विदा होने गये। अथवा, माता रखना चाहेगी; पर ये न रहेंगे; क्योंकि ***'गोसाईं'*** हैं, उन्होंने स्नेहको जीत लिया है। यथा—***'तदपि हमहिं त्यागहु जनि रघुपति दीनबंधु दयालु मेरे बारे।…… तुलसिदास जौं रहौं मातहित को सुर बिप्र भूमि भय टारे।'*** (गी० २। २)

'मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ।……' इति।

पुरुषोत्तम रामकुमारजी—(क) अर्थात् सबका मुख तो सूख रहा है, सबके मुखपर खेदके चिह्न हैं,

---

१-'मिटा' पाठ राजापुर, पं० रामगु० द्वि०, भा० दा० इत्यादिका है। वन्दन पाठकजीकी प्रतिमें हाशियेपर 'इहै' पाठान्तर है। पं० रामगुलामजीने पाठ 'मिटा' रखा है पर अर्थ 'इहै' का किया है। २-राखै-गी० प्रे०। राखइ-रा० प्र०।

सबका चित्त विकल है, यथा—*'मुख सुखाहिं लोचन स्त्रवहिं'* पर श्रीरामजीका मुख प्रसन्न है। (ख) *'चौगुन चाऊ'* का भाव कि जैसे सबके हृदयमें चाव था कि *'कनक सिंघासन सीय समेता। बैठहिं राम होहि चित चेता॥'* उससे चौगुणा चाव रामजीको वन जानेमें हुआ।

२ मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि *'चौगुन चाऊ'* अर्थात् बहुत उत्साह है। श्रीरामजीने वनगमनमें चार लाभ दिखाये हैं, यथा—*'मुनिगन मिलन बिसेषि बन सबहिं भाँति हित मोर'* एक यह, *'तेहि महँ पितु आयसु'* का पालन यह दूसरा, *'बहुरि संमत जननी तोर'* अर्थात् माताकी आज्ञाका पालन यह तीसरा और *'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू'* यह चौथा। ब्रह्मा आज सब प्रकारसे अनुकूल हैं कि ये चारों प्राप्त हो रहे हैं। अत: चौगुना कहा। जो सोचा था कि राजा न जाने देंगे वह मिटा।

३—पंजाबीजी—माता, पिता और देवताओंकी प्रसन्नता ये तीन और चौथे रावणादिका वध जिससे सृष्टिका भार उतरेगा, जिसके लिये अवतार हुआ यह कार्य पूर्ण होगा। अत: *'चौगुन'* कहा।

४ रा० प्र०—जिस लिये हमारा अवतार है वह कार्य होगा, यह समझकर चौगुना आनन्द है। ऐसा आनन्द होनेपर विचारते हैं कि जो मिटा हुआ सोच है उसको राजा फिर न रखें अर्थात् फिर न कहें कि रह जाओ। वा, *'राजा राखै जनि'* यह जो सोच था सो मिटा।

५ बैजनाथजी—मुख तो पूर्ववत् स्वाभाविक प्रसन्न है। वनको जानेके लिये चित्तमें पूर्वसे चौगुण उत्साह आनन्द है, (क्योंकि) अबतक एकपाद-विभूतिमें रहे, अब चतुष्पाद-विभूति धारण की।

६ गौड़जी—*'चौगुन चाऊ'*—एक तो वनगमनकी भगवान्‌की अपनी इच्छाकी पूर्ति, देवताओंकी अधीरताकी शान्ति, तीसरे भगवान्‌की अनुपस्थितिमें भरतद्वारा राज्यप्रबन्ध, चौथे सीधे आप-ही-आप माता-पिताकी आज्ञा—ये चारों बातें बिलकुल ठीक हो गयीं। अब किसी तरहकी रुकावट नहीं रही। रुकावटें चारों तरहकी थीं। (१) अपनी इच्छाकी पूर्तिके लिये इस विचारका बहाना मिला कि *'बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥'* इस 'बिसमय' ने 'पछितानि' और उसका परिणामरूप यौवराज्यसे विरक्ति उत्पन्न की। *'जेठस्वामि'* वाली रुकावट यों मिटी। (२) कैकेयी भगवान्‌को इतना जीसे चाहती थी कि उसकी मति न फेरी गयी होती तो यह वनगमनकी घटना घटती ही नहीं। देवताओंकी बारह बरसतककी शिथिलता भारी रुकावट थी। उधर उनमें अधीरता उत्पन्न होनेके लिये राजाकी राज्याभिषेककी इच्छा सहायक हो गयी और इस कारण वह कैकेयीके मत फेरनेमें प्रवृत्त हुए। दूसरी रुकावट मिटी। (३) राम-वन-यात्रामें बड़ी रुकावट यह होती कि उनकी अनुपस्थितिमें राजकाज कौन सँभालेगा, यह विकट प्रश्न उपस्थित होता। भगवती सरस्वतीने दूसरे वरदानमें उसका भी पूरा प्रबन्ध कर लिया। इस तरह वह तीसरी रुकावट भी मिटी। (४) सब होते माता-पिता वन क्यों जाने देते? भरतके राज्यपद पानेमें राम-वन-यात्रा आवश्यक न थी। वर और प्रतिज्ञाकी इस विषयमें भारी सहायता मिली। कैकेयीकी थाती थी। वह वनगमन माँग चुकी थी और देवमाया गाढ़ी थी। राजा मौन रह गये थे। **'मौनं सम्मतिलक्षणम्।'** इस तरह राजाकी भारी रुकावट थी, वह भी मिट गयी। सत्य और वात्सल्यका भयानक संघर्ष था। सत्यकी जीत हुई और होनी ही थी। राजासे रुकावटका डर अन्तकी घड़ीतक था। वह चौथी रुकावट अभी-अभी मिटी। इन चारों रुकावटोंके मिटनेसे चौगुना चाव है। अब वनगमन निश्चय ही है। *'रघुवंशमनि-नव-गयन्द'* के चारों चरण जंजीरसे बँधे थे। सब रुकावटोंका समूह और राज्यरूपी जंजीर चारों पावोंको चारों रुकावटोंके बन्धनमें बाँधे हुए थी। वह बन्धन छूट गये। हृदयमें स्वतन्त्रताका आनन्द चौगुने चावसे उमड़ पड़ा। यह अगले दोहेसे सुसंगत है।

पु० रा० कु०—*'मिटा सोच·········'*—भाव कि राजतिलक सुनकर श्रीरामजीको सोच हुआ था, यथा—*'गुरु सिख देइ राय पहिं गयऊ। राम हृदय अस बिसमय भयऊ॥'* (१०। ४) वे यह जानते हैं कि माता कौसल्या पतिव्रता हैं, वे वन जानेकी आज्ञा अवश्य दे देंगी; यथा—*'जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ।'* पर राजा वन जानेको न कहेंगे, अतएव केवल राजाहीके रख लेनेका सोच है। [नोट—पिताकी आज्ञा वर देनेसे और

माताकी वर माँगनेसे, इस तरह माता-पिता दोनोंकी आज्ञा हो गयी। अब चिन्ता न रही कि पिता रोक लेंगे। वे श्रीरामजीके इस वाक्यपर कुछ न बोले कि 'मातासे बिदा माँगकर आपको प्रणामकर चल दूँगा' इससे निश्चय ही पिताकी आज्ञा हो गयी। पहले डर था कि माताकी बातको झूठी कर देते। अतः सोच मिट गया कि अब कोई रोक नहीं। तत्त्वानुसन्धानद्वारा यह निश्चय होना, 'मतिसंचारी' भाव है। सम्भवतः पं० रा० कु० जीका पाठ ***'इहै सोच'*** रहा हो।]

दो०—नव गयंदु रघुबीर मनु राजु अलान समान।
छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंदु अधिकान॥ ५१॥

शब्दार्थ—**नव**=नया, हालका जंगलसे पकड़ा हुआ। **गयंदु**=हाथी। **अलान**=लकड़ीकी बनी हुई तिकोनी बेड़ी जिसके भीतर लोहेके काँटे लगे रहते हैं। यह नये पकड़े हुए हाथीके पैरमें लगाकर रस्सीमें बाँध दी जाती है। लोहेके काँटे होनेके कारण हाथी उछल-कूद नहीं सकता—(दीनजी)=बन्धन, बेड़ी, यथा—'**अलानं गजबन्धनम्**' इति। (अमरकोष)

अर्थ—रघुवीर श्रीरामचन्द्रजीका मन नये पकड़े हुए हाथीके समान है और राज्य ***'अलान'*** के समान है। वन जाना है यह सुनकर उस बेड़ीको छूटी जानकर उनके हृदयमें आनन्द बढ़ गया॥ ५१॥

टिप्पणी—१ ***'नव गयंदु'*** का भाव कि बहुत दिनोंका पकड़ा हुआ हाथी फिर वन जानेकी इच्छा नहीं करता। नवीन हाथी बन्धनमें पड़नेसे दुःखी होता है, वह वनमें जाकर स्वच्छन्द रहनेकी इच्छा करता है। पुराना हाथी बन्धनमें पड़नेको नहीं डरता, नया बन्धनको डरता है।

प० प० प्र०—१ श्रीरामचन्द्रजीका मनरूपी नव (तरुण) हाथी राज्यरूपी अलानस्तम्भसे युवराज्याभिषेकरूपी लोहेकी दृढ़ शृंखलासे बद्ध होनेवाला था। भाव कि श्रीरामजीकी इच्छाके विरुद्ध राज्याभिषेककी तैयारी की गयी थी। अब राज्याभिषेक नहीं होगा, इससे ***'राम सहज आनंद निधानू'*** के आनन्दकी वृद्धि हो गयी।

टिप्पणी—२ ***'रघुबीर मनु'*** इति। रघुवीर शब्दसे जनाया कि पाँचों प्रकारकी वीरताएँ प्रभुके हृदयमें हुलसीं। पृथ्वीका भार उतारनेमें, उसको निशाचरहीन करनेमें युद्ध-वीरता; सुग्रीव-विभीषणादिको राज्य-दान और भक्तिप्रदानमें त्यागवीरता (वा, अवधराज्यके त्यागमें त्याग और सुग्रीवादिको राज्य देनेमें दान-वीरता); अत्रिजी, सुतीक्ष्णजी आदि महर्षियोंके श्रमको सफल करने, गृध्रराज और शबरीजीपर कृपा करनेमें दया-वीरता; दुष्टोंके विनाश और धर्मसंस्थापनमें धर्मवीरता (***'धर्महेतु अवतरेहु गोसाईं'*** यह बालिने कहा ही है।) और सुग्रीव, तारा, दशरथ आदिको ज्ञान देनेमें विद्यावीरता—ये सब कार्य श्रीरामजीको वनमें करने हैं।

टिप्पणी—३ यह सब घटना श्रीरामजीकी इच्छासे हुई, यह सुरगुरुके ***'तब किछु कीन्ह रामरुख जानी'*** इस वाक्यसे तथा श्रीरामजीके ***'जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू'*** से स्पष्ट है।

वन्दन पाठकजी—रामजी नव गयन्द हैं और सब देवता वनचर-देह धारण किये हुए उनकी राह ताकते हैं, उस गयन्दकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, अतः वनके नव गजेन्द्रकी उपमा बहुत ही उपयुक्त है।

नोट—श्रीरामचन्द्रजी राज्यको बेड़ीके समान समझते थे, यथा रघुवंशमें—'**पित्रा दत्तां रुदन् रामः प्राङ् महीं प्रत्यपद्यत। पश्चाद् वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत्॥**' (१२।७) अर्थात् पिताकी दी हुई पृथ्वीको ग्रहण करनेमें रामचन्द्रजी रोते थे, परंतु वन जानेकी आज्ञाको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया।

रघुकुलतिलक जोरि दोउ हाथा। मुदित मातु पद नायेउ माथा॥ १॥
दीन्हि असीस लाइ उर लीन्हे। भूषन बसन निछावरि कीन्हे॥ २॥
बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जलु पुलकित गाता॥ ३॥
गोद राखि पुनि हृदय लगाए। स्रवत प्रेम रस पयद सुहाए॥ ४॥
प्रेम प्रमोदु न कछु कहि जाई। रंक धनद पदबी जनु पाई॥ ५॥

शब्दार्थ—**राखि**=बिठाकर। **स्रवत**=टपकाते, या टपकते हैं। **पयद**=स्तन। **रंक**=कंगाल, दरिद्र। **धनद**=कुबेर।

अर्थ—रघुकुलतिलक श्रीरामचन्द्रजीने दोनों हाथ जोड़कर प्रसन्नतापूर्वक माताके चरणोंमें सिर नवाया, अर्थात् प्रणाम किया॥ १ ॥ माताने आशीर्वाद दिया, उनको हृदयसे लगा लिया और भूषण-वस्त्र (उनके ऊपरसे) निछावर किये॥ २ ॥ माता बारम्बार श्रीरामजीका मुख चूम रही हैं। उनके नेत्रोंमें प्रेम-जल भर आया और शरीर पुलकायमान हो गया, अर्थात् प्रेमके मारे रोएँ खड़े हो गये॥ ३ ॥ रामजीको गोदमें बिठाकर फिर हृदयसे लगा लिया। सुन्दर स्तनोंसे प्रेमके मारे दूध टपक रहा है॥ ४॥ वह प्रेम और अतिशय आनन्द कुछ कहा नहीं जाता। ऐसा जान पड़ता है मानो दरिद्रने कुबेरकी पदवी पायी हो॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'रघुकुल तिलक जोरि दोउ हाथा·······'* इति। (क) सभी रघुवंशी माता-पिताके भक्त होते हैं और ये तो *'रघुकुल तिलक'* अर्थात् सबमें श्रेष्ठ हैं; अतएव ये अधिक भक्त हैं। हाथ जोड़कर प्रणाम करनेसे रामजी स्वयं प्रसन्न होते हैं, यथा—***'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। ततकाल तुलसीदास जीवन जनमको फल पाइहै॥'*** (वि० १३५) अतएव उन्होंने स्वयं भी हाथ जोड़कर मस्तक नवाया। [सोलहों शृंगारमेंसे तिलक भी एक है। अत: ***रघुकुलतिलक***=रघुकुलके भूषणकर्ता (पण्डितजी)। पुन: श्रीरामजीके निर्वासनकी बात अभीतक माता कौसल्याने नहीं जाना है। वे तो समझती हैं कि आज श्रीरामजीका तिलक किया जायगा। यथा—***'कहहु तात जननी बलिहारी। कबहिं लगन मुद मंगलकारी॥'*** (चौ० ७) अत: ***'रघुकुलतिलक'*** कहा। ***'गयेउ जहाँ दिनकरकुल टीका।'*** (३९।५)से मिलान कीजिये। (प० प० प्र०)(ख) ***'मुदित'*** से जनाया कि उनके चित्तमें पृथ्वीका राज्य छोड़ने और वन जानेके लिये तैयार होनेमें किंचित् भी विकार न हुआ। यथा—**'न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुंधराम्। सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया॥'** (वाल्मी० २। १९। ३३) और माता आदि गुरुजनोंको प्रणाम करते समय हर्ष होना ही चाहिये इस धर्मका भी पालन हुआ। ***'मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ'*** जो ऊपर कहा वही यहाँ ***'मुदित'*** से जनाया।]

टिप्पणी—२ ***'दीन्हि असीस लाइ उर लीन्हे।·······'*** इति। हृदयमें लगाया मानो छाती शीतल की। कौसल्याजीने जब राज्याभिषेककी खबर सुनी थी तब भी निछावरें की थीं, यथा—***'प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाये। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाये॥'*** (८।१) वैसे ही अब उनके आनेपर करती हैं। आशीर्वाद, हृदयसे लगाना, निछावर, मुखचुम्बन ये सब खड़े-ही-खड़े हुआ; अत: आगे ***'गोद राखि'*** पद देते हैं। बैठकर गोदमें बिठा लिया और फिर मारे प्रेमके हृदयसे लगाया।

नोट—☞ देखिये माताएँ कैसा आशीर्वाद दिया करती थीं यह वाल्मीकीयसे पता चलता है। माताने कहा—**'वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम्। प्राप्नुह्यायुश्च कीर्त्तिं च धर्मं चाप्युचितं कुले॥'** अर्थात् धर्मात्माओं, वृद्धों एवं महात्मा राजर्षियोंके समान तुम आयु पाओ, कीर्ति पाओ और कुलोचित धर्मका पालन करो। (सर्ग० २० श्लो० २३) ऐसे ही आशीर्वादोंसे तो पहले ऐसे-ऐसे पुत्र होते थे!!

टिप्पणी—३ ***'स्रवत प्रेम रस पयद सुहाए'*** इति। बालक जबतक छोटा रहता है तबतक स्तनोंमें दूध बहुत रहता है, जब वह बड़ा हो जाता है तब दूध नहीं रहता, सूख जाता है। पर बच्चेमें अत्यन्त प्रेम होनेसे दूध चूने लगता है, बालकके समीप आते ही स्तनमें दूध आ जाता है। जब श्रीरामजीको माताने गोदमें बिठाकर हृदयसे लगाया तब अत्यन्त प्रेमके कारण उनके स्तनोंसे दूध टपकने लगा। दूध टपकने लगा इसीसे ***'पयद'*** (अर्थात् दूध देनेवाला) शब्द दिया। दूधसे ही स्तनोंकी शोभा है, अत: ***'सुहाए'*** विशेषण दिया।

प० प० प्र०—***'प्रेम रस'*** शब्दसे जनाया कि माताके स्तनोंसे जो दूध निकल रहा है वह दूध नहीं किन्तु 'प्रेमरस' ही है। इस समय २७ वर्षकी आयु पुत्रकी हो चुकी है, इतना दीर्घकाल व्यतीत होनेपर स्तनोंमें दूधकी उत्पत्ति असम्भव-सी है, अलौकिक बात है। इससे जनाया कि कौसल्याजीका प्रेम अलौकिक और अनुपम है तथा उनके हृदयमें रामप्रेमकी अलौकिक असाधारण वृद्धि हुई है। यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है पर जब भरतजी उनसे मिलते हैं तब भी ***'थन पय स्रवहिं नयन जल छाए।'*** जिन भरतजीके लिये ही ***'राम सरिस सुत'*** को वनवास हुआ उनके मिलनेपर वही प्रेमरस उमड़ना, यह तो एकमेवाद्वितीय

उदाहरण है जो मानसहीमें मिलता है। (प्रायः ३५ वर्ष हुए जब मैंने एक बुढ़िया माताको देखा कि जब उसका नाती उसकी गोदमें आता तो उसके स्तनोंसे दूध निकलने लगता था। (मा० सं०) गोदमें बिठाना अ०रा० में भी है—'**रामं दृष्ट्वा विशालाक्षमालिंग्याङ्के न्यवेशयत्।**' (२। ४। २)

टिप्पणी—४ ***'प्रेम प्रमोदु न कछु कहि जाई।········'*** इति। प्रेम-प्रमोदकी दशा दिखायी कि नेत्रोंमें जल भर आया, शरीर पुलकित हो गया, स्तनोंसे दूध निकलने लगा। पर प्रेम-प्रमोदका किंचित् वर्णन नहीं हो सकता। अतएव उत्प्रेक्षाद्वारा उसको कहते हैं कि जैसे कुबेरकी पदवी धन-प्राप्तिकी अवधि है, वैसे ही श्रीरामजीकी प्राप्ति सब प्राप्तिकी अवधि है। यथा—***'लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥'*** (१०७। ७) प्रेम प्रमोद=प्रेम और आनन्द=प्रेमसे उत्पन्न हुआ आनन्द। [आनन्द-अंशमें यह दृष्टान्त दिया गया, ऐसा आनन्द है जैसे कोई कंगाल कुबेर हो जाय तो उसको जैसा आनन्द हो, पुनः, ***'रंक धनद',*** का भाव कि अभीतक वह आप ही द्रव्यहीनतासे तंग (कष्टमें) रहता था और अब स्वयं धनी हो गया और दूसरोंको धन देगा, अतएव 'धनद' पद दिया। (खर्रा)]

सादर सुंदर बदन निहारी। बोली मधुर बचन महतारी॥ ६॥
कहहु तात जननी बलिहारी। कबहिं लगन मुद मंगलकारी॥ ७॥
सुकृत सील सुख सींव सुहाई। जनम लाभ कइ अवधि अघाई॥ ८॥

अर्थ—आदरपूर्वक सुन्दर मुख देखकर माता मीठे कोमल वचन बोली॥ ६॥ हे तात! माता बलिहारी जाती है! कहो, वह लग्न कब है जो आनन्द और मंगलकी करनेवाली है?॥ ७॥ पुण्यात्मा पुरुषोंके (वा, पुण्य, शील और) सुखकी सुन्दर सीमा है और जन्म-लाभ अर्थात् जन्म लेनेकी परिपूर्ण सीमा है॥ ८॥*

नोट—१ बारम्बार मुख चूमना, मुख देखना, यह वात्सल्य रसका स्वरूप है। मुख-चुम्बनमें स्नेहकी प्रधानता कही, यथा—***'बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जलु पुलकित गाता॥',*** अर्थात् मारे स्नेहके बारम्बार मुँह चूमती हैं। और मुख देखनेमें शोभाकी प्रधानता कही—***'सादर सुंदर बदन निहारी'*** अर्थात् वदन सुन्दर है, अतएव उसकी सुन्दरता बारम्बार देखती हैं। माताके मन, तन और वचन तीनोंमें स्नेह दिखाया। श्रीरामजीको देखकर मनमें स्नेह हुआ, वही फिर तनमें देख पड़ा, यथा—***'नयन नेह जलु पुलकित गाता',*** और अब ***'बोली मधुर बचन महतारी'*** अर्थात् वह स्नेह वचनोंमें देख पड़ा। प्रेमहीसे मधुर वचन बोली। जैसे श्रीरामजीकी सुन्दर मूर्ति माताको सुखदायी हुई वैसे ही माताके मधुर वचन श्रीरामजीको। (पु० रा० कु०)

टिप्पणी—१ ***'कहहु तात जननी बलिहारी' 'कबहिं लगन········'*** इति। १—आगे दोहेमें कहती हैं कि सभी स्त्री-पुरुष इस राज्याभिषेक-मुहूर्तको स्वातिबूँदकी तरह चाहते हैं। अपनी चाह उन सबसे अधिक दिखाती हैं, इसीसे लग्न बतानेके लिये बलिहारी जा रही हैं। राज्याभिषेकमें लग्न मुख्य है इसलिये लग्नको पूछती हैं और कुर्बान होती हैं। बलिहारी देहलीदीपक है अर्थात् माता आपकी बलिहारी है तथा मुदमंगलकारी लग्नकी बलिहारी है। बलिहारी जाऊँ, बलि जाऊँ, बलैया लूँ, कुर्बान हो जाऊँ इत्यादि मुहावरे हैं। भाव यह है कि मैं इतनी मोहित या प्रसन्न हूँ कि अपनेको निछावर करता हूँ। प्रेम, भक्ति, श्रद्धा आदिक करना अपनेको उत्सर्ग कर देना, बलिहारी जाना है। और, सुन्दरता-शोभा-शील-स्वभाव आदि देखकर प्रायः लोग कह उठते हैं कि बलिहारी है!

टिप्पणी—२ ***'सुकृत सील········'***—सुकृतसे सुख मिलता है, सुकृतसे यह लग्न प्राप्त हुई और इस लग्नसे सुख मिलेगा। सुखसे भीतरका सुख और लाभसे धन, पुत्र, राज्य आदि बाहरका सुख सूचित किया।

टिप्पणी—३ (क) प्रथम कहा कि ***'कबहिं लगन मुद मंगलकारी'*** और फिर ***'सुकृत सील सुख सींव सुहाई········'*** कहकर मुदमंगलकारीका अर्थ स्पष्ट करते हैं। सुकृती पुरुषोंके सुखकी सीमा है। यह मुदका अर्थ

* वीरकविजी अर्थ करते हैं कि—'मेरे पुण्योंकी पराकाष्ठा सुन्दर मुखोंकी सीमा, जिससे जन्मके लाभकी अन्तिम सीमासे अघाऊँगी'। 'जन्मलाभ'=जन्म लेनेका फल, जन्म-साफल्य।

हुआ और *'जन्म लाभकी अवधि'* है यह मंगलका अर्थ है क्योंकि लाभ होना मंगल है। (ख) *'सुहाई'*= सुन्दर। पुन: *'सुहाई'*=जो मुझे सुहाती भाती या अच्छी लगती है, यथा—*'प्रेम मगन मोहि कछु न सुहाई', 'मोहि न बहुत प्रपंच सुहाहीं'* 'सुहाई' का भाव कि इसके आगे मुझे अन्य सुख नहीं सुहाते, इसीसे आगे स्वातिबुंदकी उपमा देते हैं; क्योंकि चातक-चातकी स्वातिबुंद छोड़ अन्य जल नहीं चाहते।

दो०—जेहि चाहत नर नारि सब अति आरत एहि भाँति।
जिमि चातक चातकि तृषित बृष्टि सरद रितु स्वाति॥ ५२॥

अर्थ—जिस लग्नकी सब स्त्री-पुरुष अति आर्त होकर इस प्रकार चाह कर रहे हैं जिस प्रकार प्यासे चातक-चातकी शरद्-ऋतुमें स्वाती नक्षत्रकी वृष्टिकी चाह करते हैं॥ ५२॥

टिप्पणी—*'बृष्टि सरद रितु स्वाति'* इति। १—शरद्-ऋतुमें हस्त, आधा चित्रा और तीन चरण विशाखा इतने नक्षत्रोंका पानी चातक नहीं पीता, और न किसी ऋतुके स्वातिजलको पीता है। वह केवल शरद्के स्वातीका जल पीता है। अर्थात् वह न तो केवल शरद्का ही जल पिये और न केवल स्वातीका; जब शरद् और स्वाती दोनों हों तभी वह पानी पीता है; इसीसे यहाँ *'सरद रितु स्वाति'* कहा*। २—वृष्टि वर्षाकी झड़ीको कहते हैं, कुछ बूँदोंकी वर्षाको ही वृष्टि न कहेंगे। रामराज्यका होना भारी है, अतएव उसको स्वातीकी वृष्टि अर्थात् झड़ीके समान कहा।

प० प० प्र०—*'जेहि चाहत नर नारि·········'* इस दोहेमें भाव यह है कि जब सब स्त्री-पुरुष रामराज्याभिषेक-रूपी स्वातिवर्षाके लिये चातक-चातकीकी भाँति अति आर्त हैं तब श्रीराममाता उस स्वातिविन्दु-जलके पीनेके लिये कितनी आतुर होंगी, यह कोई कैसे कह सकता है? ☞ कौसल्याजीके रामप्रेम और भावी सुखाशाका यह परमोदात्त, परमोच्च अनुपम शब्दचित्र खड़ा करके कवि यह बताते हैं कि *'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू'* ये शब्द सुनकर माताके हृदयकी क्या दशा होगी यह चित्रित करना कविकल्पनाको भी असम्भव है। कारण कि जितना प्रेम अधिक होता है उतना ही फिर दु:ख भी अधिक होता है, फिर भी माता जीती रह गयी, यह केवल ज्ञानावलम्बनसे ही हुआ।

तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥ १॥
पितु समीप तब जायेहु भैआ। भइ बड़ि बार जाइ बलि मैआ॥ २॥

अर्थ—हे तात! मैं बलिहारी जाती हूँ। तुम जल्दी नहाओ और जो मनमें अच्छा लगे सो कुछ मीठा पदार्थ खाओ॥ १॥ हे भैया! तब पिताजीके पास जाना। बड़ी विलम्ब हुई, माता बलिहारी जाती है॥ २॥

टिप्पणी—१ सूर्योदय होनेपर सुमन्त्रजी राजाके पास गये, वहाँ उनसे और कैकेयीसे कुछ बातचीत हुई, तब वे श्रीरामजीके पास आये और समाचार कह राजाके पास उनको ले गये। श्रीरामजीसे कैकेयीसे बात-चीत हुई, फिर राजासे कुछ बातें हुईं। तत्पश्चात् रामचन्द्रजी यहाँ अपनी माताके पास आये। इतनेमें लगभग एक पहर दिन बीत गया है। माता सोचती हैं कि पहरभर दिन चढ़ आया, तिलकमें भी पहरभर बीत जायगा, दोपहर बीत जानेपर कहीं इनको भोजन मिलेगा। बड़ी देर हो जायगी। दूसरे कल रात्रिमें व्रत कराया

---

* १—पुरुषोत्तम रामकु०—सरस्वतीकृत अर्थ यह है कि 'अभी तो बीचमें निशाचर-युद्धरूपी वर्षा तो बाकी ही है। जब वर्षा हो जाय तब शरद्-ऋतुरूपी रामराज्य आवे, जैसा मानस-प्रकरण बालकाण्डमें मानसका रूपक कहा गया है। यथा-'बरषा घोर निशाचर रारी। सुरकुल सालि सुमंगलकारी॥ राम राज सुख बिनय बड़ाई। बिसद सुखद सोइ सरद सुहाई॥' जब राक्षस मरें तब रामराज्य हो।

पंडितजी—चातक-चातकी और शरद्-ऋतुके स्वातिबुन्दकी उपमा देकर सूचित किया कि पुरवासी रामराज्यके अनन्य भक्त हैं, चाहे भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्नसे ही राज्य चले पर इनको दूसरेके राज्यसे काम नहीं। जब मेघ देवें तब चातकको मिले वैसे ही रामराज्य दाशरथी रामजीके ही अधीन है। अन्य कार्य साइत मुहूर्त सगुनके द्वारा उनके अनुसार होते हैं और यह ईश्वरकी इच्छापर निर्भर है—स्वातीकी वृष्टि और रामराज्य दोनों रामेच्छाके अधीन हैं।

जा चुका है, भूख लगी होगी। अतएव माता स्नान और भोजन करनेके लिये बार-बार बलि जा रही हैं। यहाँ कई बार बलि जाना कहा है।

टिप्पणी—२ तिलकके पहले मधुर वस्तु खाना चाहिये, दूसरे जबतक तिलक न हो जाय परिपूर्ण आहार (अन्न) न करना चाहिये। अतएव कहा कि कुछ थोड़ा-सा भोजन कर लो। पुनः, '*कछु*' का भाव कि बहुत पदार्थ भोजनके हैं, उनमेंसे कुछ खा लो। (नोट-पंजाबीजी और हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि अभिषेकके पहले कुछ खाना न चाहिये। माता वात्सल्यमें पगी हुई हैं। स्नेहके मारे खानेको कह दिया। प्रेममें संयमकी सुध नहीं रह गयी।)

नोट—अ० रा० में भी कहा है—'**भुङ्क्ष्व पुत्रेति च प्राह मिष्टमन्नं क्षुधार्दितः।**' (३) अर्थात् बेटा! भूख लगी होगी, कुछ मिष्टान्न खा लो।

टिप्पणी—'***तब जायेहु भैआ***'—पूर्व कहा कि '***बोली मधुर बचन महतारी।***' अब यहाँ मधुर वचनका स्वरूप दिखाते हैं। '*भैया*' कहना मधुर वचन है, यथा—'***मधुर मनोहर बचन उचारे। भैया कहहु कुसल दोउ बारे॥***' (१। २९३। ३-४)

मातु बचन सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह सुरतरु के फूला॥ ३॥
सुख मकरंद भरे श्रिय मूला। निरखि राम मनुभँवरु न भूला॥ ४॥

शब्दार्थ—**श्रिय**=श्री, लक्ष्मी, शोभा, राज्यश्री। **श्रिय मूला**=श्रीके देनेवाले, श्रीके मूल, कल्याणरूप और शोभायुक्त।

अर्थ—माताके बड़े ही अनुकूल (कृपायुक्त) वचनोंको सुनकर, जो मानो स्नेहरूपी कल्पवृक्षके फूल ही थे और जो सुखरूपी मकरन्द-रससे भरे हुए थे (एवम्) '*श्री*' के मूल थे, और उन वचनरूपी फूलोंको देखकर श्रीरामचन्द्रजीका मनरूपी भौंरा उनपर न भूला, अर्थात् न लुभाया॥ ३-४॥

नोट—यहाँ माताके प्रेमसे परिपूर्ण मधुर वचन, जो राज्यकी लालसाकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले थे, उत्प्रेक्षाके विषय हैं। वचन '***अति अनुकूल***' अर्थात् अत्यन्त कृपायुक्त हैं (अथवा, बैजनाथजीके मतानुसार पिताकी प्रतिकूलताको खण्डित करनेवाले हैं)। ऐसे वचन स्नेहहीसे निकलते हैं। अतएव माताके स्नेहको कल्पवृक्ष कहा; (क्योंकि कल्पवृक्षके पास जो भी जाय उसपर वह अनुकूल ही रहता है।) और उनके स्नेहमय वचनोंको कल्पतरुका फूल कहा। मधुर वचनोंकी उपमा फूलसे प्रायः दी ही जाती है, यथा—'***बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला॥***' (१। २८०। ४) फूल वृक्षसे निकलता है, वैसे ही मधुर वचन स्नेहसे निकले हैं।

फूलमें मकरंद-रस होता है। माताके स्नेहपूर्ण वचनोंमें सुखरूपी मकरंद-रस है। फूलमें रस बहुत थोड़ा रहता है; पर वचनरूपी फूलोंमें सुखरूपी मकरंद परिपूर्ण है। इसीसे '***सुख मकरंद भरे***' कहा, यह विशेषता है। वचनमें क्या सुख भरा है, सो सुनिये। माताने तिलककी लग्न पूछी है जो सुखकी सीमा है, यथा—'***कबहिं लगन मुदमंगल कारी॥***', '***सुकृत सील सुख सींव सुहाई।***' अतः वचनमें जो सुख भरा है वही परिपूर्ण मकरंद-रस है।

कल्पवृक्षके फूल श्रीमूल हैं अर्थात् श्री (लक्ष्मी) के देनेवाले हैं। और माताके वचनोंमें भी '*राज्यश्री*' की प्राप्ति है। अतः वचनोंको '***श्रियमूला***' कहा। पुनः, श्रियमूलाका भाव कि वचन लक्ष्मीके मूल हैं; क्योंकि राज्याभिषेक होनेपर श्रीरामजी समस्त श्रीके पति होवेंगे। [बाबा हरीदासजीका मत है कि 'वृक्षमें पुष्प, पुष्पमें रस और सुगन्ध होती है। वैसे ही स्नेहसे वचन, वचनमें सुख और श्री। श्री (अर्थात् शोभा) मूल अर्थात् सुगन्ध है। सुगन्ध पृथ्वीका गुण है जो पहले मूलहीमें वास करता है तब फूलमें आता है। अतएव सुगन्धको मूल कहना कारण नाम है।' वीरकविजीका मत है कि '***श्रियमूला***'=जिसकी जड़ राजलक्ष्मी है। श्रीमूल अर्थात् 'राज्यप्राप्तिकी अभिलाषासे परिपूर्ण' पर मधुरताका आरोपण किया गया है। यहाँ 'परम्परित रूपक अलंकार' और 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है]।

फूलपर भ्रमर बैठता है। यहाँ राम-मन भ्रमर है। भौंरा तो सामान्य फूलोंपर भी बैठता है, पर श्रीरामचन्द्रजीका मनरूपी भौंरा स्नेहकल्पवृक्षके अति अनुकूल सुख और श्रीके देनेवाले वचनरूपी फूलोंपर भी न गया। भ्रमरका लुब्ध न होना 'दूसरा विषम अलंकार' है। ***'मन न भूला'*** अर्थात् श्रीरामजी उनके वचनोंसे मोहित न हुए, उन्होंने पितु-आज्ञापालनरूपी परमधर्मको छोड़कर सुखकी इच्छा न की। यदि करते तो धर्मकी हानि होती। धर्म छोड़कर राज्यश्रीके सुखकी इच्छा करना भूलना है।

दीनजी लिखते हैं कि मन न भूला अर्थात् उन्होंने भोजन न किया। पण्डितजी लिखते हैं कि 'माताकी दी हुई वस्तुको उचित है कि भोग करें, उसमें शोभा है, वह श्रेयकर है; किंतु उसे भी देखकर रामजीका मन उसपर न चला क्योंकि धर्ममें बाधा होती है। यहाँ अलौकिक लोकोत्तर कहा। रसग्राही आसक्त होते हैं, वे ही विषयोंमें भूल जाते हैं—***'लोलुप भूमि भोग के भूखे।'*** इनकी भी गिनती उन्हींमें हो जाती।' ये तो धर्म-धुरीण हैं; इसीसे उसमें न भूले।

धरमधुरीन धरम गति जानी। कहेउ मातु सन अति मृदु बानी॥ ५॥
पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥ ६॥
आयेसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मंगल कानन जाता॥ ७॥
जनि सनेहबस डरपसि भोरें। आनँदु अंब अनुग्रह तोरें॥ ८॥

अर्थ—धर्मका भार वा धुरी धारण करनेवाले धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी धर्मकी गति जानकर मातासे अत्यन्त कोमल वाणीसे बोले॥ ५॥ पिताने मुझे वनका राज्य दिया है जहाँ सब तरहसे मेरा बड़ा काम है॥ ६॥ माता! प्रसन्न मनसे आज्ञा दीजिये जिससे वन-यात्रामें आनन्द-मंगल हो॥ ७॥ मेरे प्रेमके वश होकर भूलकर भी डरो नहीं। हे माता! आपकी कृपासे आनन्द ही होगा॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'धर्मधुरीण' अर्थात् कैसा भी कठिन धर्म क्यों न हो उसको धारण और पालन कर सकते हैं ***'धरम गति जानी'***—भाव कि राज्यके ग्रहण करनेमें धर्मका नाश होगा, यह समझकर वे धर्ममें स्थित रहे, राज्यपर न लुब्ध हुए।

नोट—१-'धर्मधुरीण' विशेषण देकर जनाया कि इस अवसरपर श्रीरामचन्द्रजीने धर्मका ही अवलम्ब लिया, माताको भी धर्मपर आरूढ़ होनेको कहा है। वाल्मी० सर्ग २१ देखिये। उन्होंने समझाया है कि धर्म ही सब पुरुषार्थोंमें श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। धर्ममें सत्यस्वरूप परमात्माका निवास है। पिताकी आज्ञा मैंने कैकेयीके मुखसे सुनी है। पिताका यह वचन धर्म और सत्यसे युक्त है और मैंने पिताकी आज्ञाका पालन करनेकी प्रतिज्ञा की है। तुम्हें भी इस विशुद्ध धर्मका अनुगमन करना चाहिये। (२। २१। ४१—४४) दशरथजी हमारे पिता हैं, वृद्ध हैं, राजा हैं और गुरु हैं। वे क्रोधसे, प्रसन्नतासे अथवा किसी स्वार्थसे हमलोगोंको जो आज्ञा दें उसे धर्म समझकर पालन करना चाहिये। पति ही स्त्रियोंकी गति है और वे ही उनके धर्म हैं। राजा जीते हैं और अपने धर्ममें वर्तमान हैं।.........इत्यादि। (श्लोक ५९—६१)—इस धर्मोपदेशके कारण वाल्मीकिजीने लिखा है कि धर्ममें स्थित श्रीरामचन्द्रजी जो धर्मयुक्त वचन बोले, वे ही बोल सकते थे। उनके ही समान धर्मात्मा मनुष्योंके बोले जाने योग्य वे वचन थे। यथा—'**धर्मे स्थितो धर्ममुवाच वाक्यं यथा स एवार्हति तत्र वक्तुम्।**' (५५)—ये सब भाव ***'धरमधुरीन'*** शब्द से जना दिये हैं।

टिप्पणी—२ ***'अति मृदु बानी'*** बोले जिसमें माता वनगमन-समाचार सह सके, घबड़ा न जाय। (पुनः भाव कि श्रीरामजी मृदु विनीत वचन तो सदा ही बोलते हैं पर इस समय अत्यन्त मृदु वचन बोले।)

वि० त्रि०—***'पिता दीन्ह।'*** तुम लग्न पूछ रही हो, ***'कबहिं लगन मुद मंगलकारी'***; सो पिताजीने मुझे राज्य दे दिया। वनका राज्य मुझे मिला है। यदि कहिये कि वनका राज्य क्यों दिया? तो उत्तर यह है कि वहाँ मेरी बड़ी आवश्यकता है। वनकी व्यवस्था बिगड़ी हुई है, वह बिना मेरे गये सुधर नहीं सकती। और वस्तुतः रामजीने कभी अपने मनमें इस बातको स्थान नहीं दिया कि ***'राज सुनाइ दीन्ह बनबासू'।***

उन्होंने सदा अपनेको वनका राजा ही माना, यथा—*'राम लषन सीता सहित सोहत परन निकेत। जनु बासव बस अमरपुर सची जयंत समेत॥'* भरतजीने भी जाकर वैसा ही दृश्य देखा, यथा—*'राम बास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जिमि पाइ सुराजा॥'* और राजाकी भाँति ही रहे, यथा—*'एक बार चुनि कुसुम सोहाए। निज कर भूषन राम बनाए॥ सीतहि पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुंदर॥'* वेष भी वनके राजाओंका रखते थे, जटाका मुकुट धारण करते थे, उसमें फूल गुँथा रहता था। सुग्रीवको किष्किन्धाका राज्य दिया, विभीषणको लंकाका राज्य दिया, समुद्रपर सेतु बाँधा, वानरी सेना लेकर लंकापर आक्रमण करके उसपर विजय किया। मुनि लोगोंकी दुष्ट निशाचरोंसे रक्षा की, यथा—*'जाकर भुज बल पाइ दसानन। अभय भये बिचरहिं मुनि कानन॥'* इस भाँति वनकी बिगड़ी हुई व्यवस्थाको खूब सँभाला। वही बात मातासे कह रहे हैं कि *'जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू।'* पिताजीने बात बदल दी, इस बातको माननेके लिये रामजी तैयार नहीं। पिताकी कीर्तिको अक्षुण्ण बनाये रखना ही उन्हें प्रिय है, यथा—*'जानहु तात तरनिकुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती॥'* दूसरी बात यह भी है कि रानी कैकेयीने तो वर माँगा था कि *'तापस बेष बिसेष उदासी। चौदह बरस राम बन बासी॥'* यदि बातको इसी भाँति कह देते तो महारानी कौसल्याको अकस्मात् बड़ा आघात पहुँचता, इसलिये उसी बातको जितना मृदु बनाया जा सकता है बनाकर कहा। अत्यन्त कटु समाचारको भी मृदु बनाकर कहना, यह भारतकी सभ्यता है।

टिप्पणी—३ *'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू·······'* इति। (क) धर्मधुरीण हैं, धर्मकी गति जानते हैं, अतएव धर्मकी बात बोले। पिताकी आज्ञा सुनायी। आज्ञापालन धर्म है, यथा—*'पितु आयसु सब धरमक टीका।'* (५५। ८) (ख) *'कानन राजू'*—माता प्रसन्न हैं कि राज्याभिषेक होनेवाला है, अतएव राज्यकी सूचना देते हैं, हमें राज्य दिया है, वनका राज्य हमें मिला, शहरमें न बैठकर राज्य किया, वनमें ही राज्य किया, पर है राज्य ही। इस प्रकार कहा जिसमें माता सहम न जायँ जैसे राजा सहम गये थे—*'गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा॥·······'* (२९। ५—८) माताको दुःख न हो जाय, अतः इस प्रकार कहा। यही *'अति मृदु बानी'* है। कितनी कठोर बातको कितना कोमल करके कहा! *'राजू'* शब्द ही श्रीरामजीकी प्रसन्नता और हर्ष (वनगमनमें) जनानेको पर्याप्त है, केवल *'कानन'* कहनेसे मनमें दुःखकी प्रतीति भी की जा सकती थी। (ग) *'सब भाँति'* अर्थात् अवधमें तो एक ही भाँतिका काम है अर्थात् राज्यसुखका भोग होगा और वनमें जानेसे सब तरहका काम होगा। राज्य शत्रुओंसे रहित हो जायगा। बहुत-से राजा मित्र बन जायँगे, आगे राज्यमें कोई कष्ट न रह जायगा, इत्यादि-इत्यादि। (घ) *'मोर बड़ काजू'*—यह बड़ा काम वही है जो कैकेयीजीसे कहा था अर्थात् *'मुनिगन मिलन बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर·······।'* (४१) संतसमागम और भूभारहरण होगा, ऋषि, देवता, मनुष्य सबको राक्षसोंसे निर्भय करूँगा, यह सब काम वनके राज्यमें हैं। *'बड़ काजू'* कहकर सूचित किया कि घरमें राज्य करना भी 'काज' है पर यह छोटा है और वनके राज्यमें मुनिगण-मिलन आदि बड़ा कार्य है। *'मोर'* का भाव कि अवधराज्यमें और सबका काम होगा (मेरा नहीं) और वनके राज्यमें मेरा बड़ा हित होगा—[पुनः बड़ा काम रावण-मेघनाद-वध आदि है जो और किसीसे न हो सकेगा, मुझसे ही हो सकेगा और यहाँका काम तो और भी कर सकते हैं। भरतजी कर लेंगे। पुनः *'मोर बड़ काजू'* कहनेका भाव कि अतएव मुझे वन जानेसे रोकियेगा नहीं, धर्म जानकर उसके लिये शीघ्र आज्ञा दे दीजिये।]

टिप्पणी—४ *'आयेसु देहि मुदित मन माता।·······'* इति। इससे जान पड़ता है कि वनका समाचार सुनकर माताका मन मलिन हो गया था, मुखपर उदासी छा गयी थी, इसीसे श्रीरामजीने कहा कि 'मुदित मनसे आज्ञा दीजिये।' आज्ञा क्यों माँगते हैं सो कहते हैं कि जिसमें हमारा मुद मंगल हो। प्रभु समझते हैं कि हमारा कल्याण जिसमें होगा, हमारा आनन्दमंगल जिसमें होगा, उसे यह अवश्य करेंगी; अतः कहा कि आज्ञासे हमारा कल्याण होगा, हमें आनन्दमंगल होंगे, जिसमें वे आज्ञा दे दें; नहीं तो न देंगी। [पुनः, हर्षसहित आज्ञा दो, जिसमें इस राज्यमें तो विघ्न हुआ, वहाँ विघ्न न हो, वनमें जाते हुए हमारा श्रेय हो—(खर्रा)]

टिप्पणी—५ यहाँ अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों दिखाये—*'सुख मकरन्द भरे श्रिय मूला'* यह अर्थ है, *'धरमधुरीन धरम गति जानी'* यह धर्म है, *'जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू'* यह काम है और *'आयेसु देहि मुदित मन माता'* यह मोक्ष है। माताकी आज्ञाका पालन मोक्षप्रद है, यथा—*'मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥' 'साधन एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी॥'*—यहाँ 'सुगति' मोक्षका वाचक है। श्रीरामचन्द्रजीने अर्थ त्यागकर धर्म, काम और मोक्षको ग्रहण किया।

टिप्पणी—६ *'जनि सनेहबस डरपसि भोरें।·········'* इति। (क) भाव कि आपको भय है कि वनमें पुत्रको दु:ख होगा, सो न डरिये। आपके अनुग्रहसे हमको आनन्द होगा। (ख) *'सनेहबस'* का भाव कि हमको भय नहीं है अत: तुमको भय न करना चाहिये, तुम जो डर रही हो वह केवल हमारे स्नेहके कारण, वस्तुत: कोई भय नहीं है। (पु० रा० कु०)

नोट—२ मिलान कीजिये—'**सा मानुमन्यस्व वनं व्रजन्तं कुरुष्व नः स्वस्त्ययनानि देवि। यथा समाप्ते पुनराव्रजेयं यथा हि सत्येन पुनर्ययातिः॥**' (वाल्मी० २। २१। ६२) अर्थात् हे देवि! मुझे वन जानेकी आज्ञा दीजिये और मेरे लिये स्वस्तिवाचन आदि कीजिये। जिससे अवधिकी समाप्तिपर मैं पुन: लौट आऊँ, जिस प्रकार ययाति सत्यके कारण पुन: स्वर्गको लौट गये। तथा च '**कुरु स्वस्त्ययनानि मे।**' (४६) जैसे वाल्मीकीयमें दो बार कहा है वैसे ही यहाँ *'आयेसु देहि·········जेहि मुद मंगल कानन जाता'* और *'आनँदु अंब अनुग्रह तोरे'* कहा। अ० रा० में कहा है कि दु:ख दूर करके हमें वन जानेकी अनुमति दीजिये, ऐसा करनेसे मैं वनमें सुखपूर्वक रह सकूँगा। यथा—'**अनुमन्यस्व मामम्ब दु:खं सन्त्यज्य दूरतः। एवं चेत्सुखसंवासो भविष्यति वने मम॥**' (२। ४। ४७) मानसके आयसु देहि, मुदित मन, माता और अंब तथा *'आनँदु अंब अनुग्रह तोरे'* क्रमशः अ० रा० के **अनुमन्यस्व, दु:खं संत्यज्य दूरतः, अंब** और '**एवं·········मम**' हैं।

प० प० प्र०—*'जनि सनेहबस डरपसि·········'* इति। भाव कि साधारण, अज्ञानी, विषयी जीव स्नेहके वश होकर डरसे कर्तव्यच्युत तथा धर्मच्युत हो जाते हैं। कैकेयीने भी ऐसा ही कहा है, यथा—*'सुत सनेह इत बचन उत संकट परेउ नरेसु।'* (४०) श्रीरघुनाथजीने श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीदशरथजीसे भी ऐसा ही कहा है। यथा—*'जौं हठ करहु प्रेम बस बामा। तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा॥'* (६२। ३), *'तात प्रेम बस जनि कदराहू।'* (७०। ८), *'मंगल समय सनेह बस सोचु परिहरिअ तात। आयसु देइअ हरषि हिय·········॥'* (४५) उपर्युक्त चारों वाक्यों तथा यहाँके *'जनि सनेहबस·········'* से सिद्धान्त कहा कि जीव स्नेहवश होकर भयग्रस्त एवं शोकाकुल होकर शोकके निवारणके लिये हठ करता है, परिणामका विचार नहीं करता, इसीसे अन्तमें दु:ख पाता है।

नोट—३ मुं० रोशनलाल *'आनँदु अंब अनुग्रह तोरे'* का अर्थ यह भी करते हैं कि आपकी अनुग्रह हमारे आनन्दकी अंब, आनन्दको उत्पन्न करनेवाली है।

दो०—बरष चारिदस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहौं मनु जनि करसि मलान॥ ५३॥

अर्थ—चार और दस (चौदह) वर्ष वनमें रहकर पिताके वचनको प्रमाणित (पूरा) करके फिर लौटकर आपके चरणोंका दर्शन करूँगा, अपने मनको मलिन न कीजिये अर्थात् दु:खी न हूजिये॥ ५३॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमारजी—पहले कहा कि *'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू'* इससे यह न जान पड़ा कि कितने दिनके लिये वनवास दिया गया। अब उसे कहते हैं कि केवल १४ वर्षके लिये वनमें रहना होगा।

टिप्पणी—२ *'बरस चारिदस'*— १४ न कहा, न दसचार कहा वरन् *'चारिदस'* कहा। गोस्वामीजीने प्रथम ही कह दिया है कि *'कहेउ मातु सन अति मृदु बानी',* वही अत्यन्त कोमलता दिखाते चले जाते हैं। श्रीरामजी जानते हैं कि १४ वर्ष भी सुनकर माताका कोमल हृदय सहन न कर सकेगा, अतएव उस

वनवासकी अवधिको भी कोमल करके कहते हैं, १४ के उन्होंने दो भाग कर दिये ४ और १० और उसपर भी प्रथम अल्पकालवाचक ***'चारि'*** शब्द कह सुनाया जिसमें माता सह सके, व्याकुल न हो जाय।

टिप्पणी—३ 'इतना ही नहीं, इस 'चारि दस' वर्षकी बात और भी कोमल करनेके लिये तुरत ही पुनः मिलन, वियोगकी बातके साथ ही पुनः शीघ्र संयोगकी बात या यों कहिये कि जानेके साथ ही आनेकी बात कही जिसमें माताको धैर्य हो। माताको दुःख न हो इसका कितना खयाल और सँभाल है! यहाँ 'चपलातिशयोक्ति अलंकार' है।

नोट—*'आइ पाय पुनि देखिहौं……'*, इनमें यह ध्वनि है कि तुम जीवित रहोगी, तुम्हारे चरणोंका दर्शन १४ वर्ष बीतनेपर मुझे फिर होगा। पितासे जो वचन कहे थे उनसे मिलान कीजिये।—***'चलिहउँ बनहिं बहुरि पग लागी।'*** वहाँ श्रीरामजीने नहीं कहा कि १४ वर्षपर लौटकर फिर आकर दर्शन करूँगा। उन वचनोंसे उनकी भावी प्रकट होती है कि वे जीवित न रहेंगे। (खर्रा)

बचन बिनीत मधुर रघुबर के। सर सम लगे मातु उर करके॥ १॥
सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी। जिमि जवास परे पावस पानी॥ २॥
कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू॥ ३॥
नयन सजल तन थरथर काँपी। माजहि खाइ मीन जनु मापी॥ ४॥

शब्दार्थ—**करके**—करकना वा कड़कना=रुक-रुककर पीड़ा होना, रह-रहकर दर्द होना, कसकना, सालना, खटकना। बाणके चुभनेसे जैसी कसक होती है उसे 'करक' कहते हैं। **पावस**=(सं० प्रावृट्) वर्षा-ऋतु, श्रावण-भादोंकी वर्षाकालका प्रथम जल। **केहरि नादू**=सिंहकी गरज। **नादू**=शब्द, गरज। माँजा=पहली वर्षाका फेन जो मछलियोंके लिये मादक होता है, यथा—***'तलफत बिषम मोह मन मापा। माँजा मनहुँ मीन कहँ ब्यापा॥'*** मापना=मतवाला होना। माँजा खानेसे मछलियाँ बेहोश हो जाती हैं और पानीके ऊपर आ जाती हैं, बहुत-सी मर भी जाती हैं। पंजाबीजी और हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि पानीमें सेहुँड़ आदिके सड़नेसे जो फेन निकलता है उसे भी माँजा कहते हैं। 'जवासा' (सं० यवासक)। एक कँटीला क्षुप जिसकी पत्तियाँ करौंदेकी पत्तियोंके समान होती हैं। यह नदियोंके किनारे बलुई भूमिमें आप-से-आप उगता है। वर्षाके जलके पड़नेसे इसकी पत्तियाँ गिर जाती हैं और फिर आश्विनतक वह बिना पत्तियोंके रहता है। वर्षाके बीत जानेपर यह फूलता-फलता है।

अर्थ—रघुवरके बहुत ही नम्र और मीठे वचन माताके हृदयमें बाणके समान लगे और कसकने लगे॥ १॥ शीतल वचनोंको सुनकर वह सहम (डर) कर सूख गयी जैसे वर्षाकालका प्रथम जल पड़नेसे जवासा सूख जाता है॥ २॥ हृदयका दुःख कुछ कहा नहीं जाता, मानो सिंहकी गरज सुनकर हरिणी व्याकुल हो गयी है॥ ३॥ नेत्रोंमें जल भर आया है, देह थर-थर काँपने लगी। मानो मछली माँजाको खाकर मादकताको प्राप्त हो गयी है (मतवाली हो गयी)॥ ४॥

नोट—१ ***'सर सम लगे मातु उर करके'*** इति। बाण लगनेसे पीड़ा और व्याकुलता होती है, बोल नहीं निकलती। वैसे ही माताके हृदयमें पीड़ा हुई, वे व्याकुल हो गयीं, मुखसे बोल न सकीं। यहाँ पूर्णोपमालंकार है। ***'उर करके'*** से जनाया कि न घाव है न सूजन, फिर भी पीड़ा होती है—(पण्डितजी)।

नोट—२ ***'सहमि सूखि……जिमि जवास परे पावस पानी'*** इति। (क) मधुर वचनोंकी बाणसे उपमा देकर हृदयकी पीड़ा कही। अब पावसकी उपमा देकर तनकी दशा दिखायी कि वह जवासेकी तरह सूख गया। यहाँ उदाहरण अलंकार है। (ख) सूखना गर्मीसे होता है, वचन ठंढे हैं; इससे कैसे सूख गयीं? अतः दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे ठंढे वर्षा-जलसे जवासा सूखता है (अर्थात् उसकी पत्तियाँ गिर जाती हैं) वैसे ही ये सूख गयीं।

नोट—३ ***'कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू।……'*** इति। (क) अर्थात् ऊपरकी दशा हमने कुछ कही

कि—जवासकी तरह सूख गयीं, मृगीकी तरह भयसे सहम गयीं, मछलीकी तरह थर-थर काँपने लगीं, कण्ठ गद्गद हो गया। पर हृदयका विषाद कुछ कहते नहीं बनता। न सुननेमें आवे न देखनेमें, तो कहते कैसे बने? यहाँ उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा है। (ख) *'मृगी सुनि केहरि नादू'* इति। सिंह मृगीका घातक नहीं है तो भी वह गरज सुनकर डर जाती है। वैसे ही अधर्म-गज-विदारणहेतु धर्म-वीरता लिये हुए श्रीरामजी सिंहवत् शब्द बोले। पर माता पुत्रवियोग-भयसे मृगीवत् डर गयीं। (वै०)

नोट—४ वचन हृदयमें प्रवेश कर गये; इसीसे बाणकी उपमा दी। तन सूख गया, अतः जवासकी, भय उत्पन्न हुआ अतएव मृगीकी और शरीर थर-थर काँपने लगा, इससे मछलीकी उपमा दी।

धरि धीरजु सुत बदनु निहारी। गदगद बचन कहति महतारी॥ ५॥
तात पितहि तुम्ह प्रान पिआरे। देखि मुदित नित चरित तुम्हारे॥ ६॥
राजु देन कहुँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहि अपराधा॥ ७॥
तात सुनावहु मोहि निदानू। को दिनकर कुल भयेउ कृसानू॥ ८॥

शब्दार्थ—**गदगद** (गद्गद) अर्थात् शोकके मारे कुछ वचन मुखसे निकलते हैं, कुछ नहीं, गला भर आता है, कण्ठ रुक जाता है; अच्छी तरह वचन नहीं निकलता ऐसे वचनोंको यहाँ '**गदगद बचन**' कहा। **चरित**=आचरण, कार्य, शील-स्वभाव, गुण इत्यादि। **साधा**=निश्चित किया। **निदानू**=कारण, आदि वा मूल कारण।

अर्थ—धीरज धरकर पुत्रके मुखको देखकर माता गद्गद वचन कहती हैं॥ ५॥ हे तात! तुम तो पिताको प्राणप्रिय हो। वे तो तुम्हारे चरित्रोंको देख-देखकर नित्य ही प्रसन्न होते रहे हैं॥ ६॥ राज्य देनेके लिये उन्होंने शुभ मुहूर्त शोधवाया था। तब किस अपराधसे वन जानेको कहा?॥ ७॥ हे तात! मुझे इसका कारण सुनाओ। दिनकर-(सूर्य-)कुलके लिये कौन अग्नि हुआ?॥ ८॥

नोट—१ यहाँतक माताके मन, तन, वचन तीनोंकी दशा दिखायी जो वनका समाचार सुननेसे हुई। *'कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू।'* यह मनकी व्याकुलता है, *'नयन सजल तन थर थर काँपी'* यह तनकी व्याकुलता है और *'गदगद बचन कहति महतारी'* यह वचनकी व्याकुलता है। अर्थात् यह दिखाया है कि इनके मन, तन और वचन तीनोंमें व्याकुलता व्याप्त हो गयी है।

नोट—२ (क) *'धरि धीरजु सुत बदनु निहारी'* इससे सूचित होता है कि दुःख और सुख दोनोंमें श्रीरामजीके प्रति कौशल्याजीका भाव एकरस बना रहता है। राज्याभिषेकके कारण जब उन्हें अत्यन्त दुःख हो रहा था तब भी वे श्रीरामजीका मुख देखकर बोली थीं, यथा—*'सादर सुंदर बदनु निहारी। बोली मधुर बचन महतारी॥'* और वैसे ही इस समय अत्यन्त दुःखमें भी वे पुत्रका मुख देखकर बोलीं। पुनः वात्सल्यरसमें माता-पिता आदिकी दृष्टि स्वाभाविक ही पुत्र आदिके मुखपर ही जाती है। वे देख रही हैं कि पिताने राज्य सुनाकर वनवास दे दिया तब भी पुत्रका मुख पूर्वसे भी अधिक प्रसन्न है—*'मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ।'* (ख) धीर धरकर बोलीं। भाव यह कि वचन बाण-से लगे थे। पीड़ाके मारे धैर्य जाता रहा था। इतनी पीड़ा होनेपर भी धैर्य धारण किया। जैसे बाण लगनेसे करकके मारे अच्छी तरह बोलते नहीं बनता वैसे ही ये अच्छी तरह नहीं बोल सकतीं, गद्गद वचन कहती हैं।

नोट—३ *'तात पितहिं·······केहि अपराधा'*—भाव कि प्राणप्रिय पुत्रको कोई वनमें न भेजेगा, फिर जिसके गुण और कार्य नित्य ही देखकर आनन्द होता है वह उस आनन्दके कारणको अपनेसे अलग कैसे करेगा? राज्य देना निश्चित करके सब तैयारी कराके राजाने वचन कैसे छोड़ दिये और उसके विपरीत वन कैसे दे दिया? ये सब आश्चर्य और अघटित घटना हैं। अतएव इसमें कोई दुर्घट कारण है। *'राज देन कह·······कहेउ जान बन'* में तृतीय असंगति अलंकार' है। *'केहि अपराधा'*—भाव कि पूर्वकथित बातोंसे तुम्हारा अपराध-योग्य होना सम्भव नहीं और दण्ड बिना अपराधके होता नहीं। अतः पूछती हैं कि *'कहेउ जान बन केहि अपराधा।'* यहाँ आश्चर्य स्थायीभाव है।

पुरुषोत्तम रा० कु०—१ *'तात सुनावहु मोहि निदानू।'* इति। आदि कारण पूछती हैं जिसमें यदि कुछ उपाय लग सके (कारगर हो) तो उसका उपाय करें। कारण सुना तो फिर कोई उपाय किया? हाँ! *'जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥', 'तुम बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेस'* इत्यादि जो वचन कौशल्याजीके रामप्रति हैं ये ही वन जानेसे रोकनेके उपाय हैं।

२—*'को दिनकर कुल भयउ कृसानू'* इति। प्रथम कौशल्याजीने कहा कि तुम राजाके प्राणप्रिय हो, किस अपराधसे तुम्हें वन जानेको कहा? फिर स्वयं ही विचार किया कि न तो राजाका प्रेम ही श्रीरामजीमें घट सकता है और न रामजी अपराध-योग्य हैं तो फिर कैसे राजा इन्हें वन जानेको कहते हैं? इसका कारण कोई और ही है। इसीसे पूछती हैं कि *'तात सुनावहु मोहि······'।*

दो०—निरखि रामरुख सचिवसुत कारनु कहेउ बुझाइ।
सुनि प्रसंगु रहि मूक जिमि दसा बरनि नहिं जाइ॥ ५४॥

शब्दार्थ—'**मूक**'=गूँगा।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीका रुख देखकर मन्त्रीके पुत्रने (सब) कारण समझाकर (अर्थात् अच्छी तरह) कहा। वृत्तान्त सुनकर वह गूँगी-जैसी रह गयीं, उसकी दशा वर्णन नहीं की जा सकती॥ ५४॥

नोट—*'निरखि रामरुख'* अर्थात् रामजीने अपने मुखकी चेष्टासे मन्त्रीके पुत्रको इशारा कर दिया कि तुम कहो। उन्होंने स्वयं न कहा, इसका कारण एक तो यह है कि कारण सुनानेके प्रसंगमें बीच-बीचमें उनकी प्रशंसा है, अपने मुखसे अपनी प्रशंसा कैसे कहें? दूसरे कैकेयी भी तो राजा दशरथकी रानी हैं, हैं तो वे भी माता, यद्यपि सौतेली ही हैं तो क्या? श्रीरामजी परम सुशील और धर्मात्मा हैं, पिताकी सभी स्त्रियोंको, विवाहित ही नहीं किंतु अविवाहित ही क्यों न रही हों, सभीको निज माताके समान मानते थे, फिर भला वे अपने मुखसे मातामें कुचाल या दोष कैसे कहते? उनका तो अवतार ही मर्यादापुरुषोत्तमका है, वे माता-(पिताकी पत्नी-)की ओर पुत्रका कैसा आदर्श व्यवहार होना चाहिये, यह दिखा रहे हैं। इस आदर्शसे अपनेको क्यों गिरायेंगे? मर्यादाको क्यों तोड़ेंगे? तीसरे इसमें पितापर भी लांछन आता है कि स्त्री-वश वे अपना रामराज्याभिषेकवाला पूर्ववचन छोड़ बैठे। अतः स्वयं न कहा। सचिवसुत—मन्त्रीका पुत्र अभिनन्दन साथमें था, उसने कहा।

प० प० प्र०—कैकेयीजीने वनवास कैसे दे दिया, यह कहनेमें यहाँ संकोच हुआ पर वाल्मीकिजीसे तो सब वृत्तान्त श्रीरामजीने स्वयं ही कहा है, यथा—*'अस कहि प्रभु सब कथा बखानी। जेहि जेहि भाँति दीन्ह बनु रानी॥'* (१२५। ८) इसका कारण यह है कि उस समय केवल लक्ष्मणजी और सीताजी ही साथ थीं। यदि लक्ष्मणजीको कहनेका इशारा करते तो वे अपने स्वभावानुसार राजा और कैकेयीके विषयमें बिना कुछ कठोर भाषण किये न रहते, यह श्रीरामजी जानते थे, अतः परिस्थितिवश उन्हें वहाँ अपने मुखसे ही सब वृत्तान्त सुनाना पड़ा।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ *'निदानू'* का अर्थ 'कारण' स्पष्ट कर दिया गया। ऊपर *'सुनावहु मोहि निदानू'* और यहाँ *'कारन कहेउ बुझाइ।'* (यह भी सूचित होता है कि शंबरासुरके संग्रामसे लेकर वरदानका पूरा वृत्तान्त कहा।) (ख) *'कहेउ बुझाइ।'* इति। माता विकल हैं, इससे समझा-समझाकर कहा। (ग) *'सुनि प्रसंग रहि मूक जिमि'* इति। जब श्रीरामजीने कहा कि पिताने हमें काननका राज्य दिया है तब उन्होंने कारण पूछा यह समझकर कि यदि पिताने आज्ञा दी होगी तो हम इन्हें वन न जाने देंगी, क्योंकि मैं माता हूँ। पितासे मेरा गौरव दशगुणा है। पर जब सुना कि कैकेयीने वन दिया है तब चुप रह गयीं कि वे हमसे दशगुणा माननीय हैं, हम उनके वचनपर कुछ नहीं बोल सकतीं। [*'दसा बरनि नहिं जाइ'* का भाव कि उस दशाकी सुध करते ही मन करुणावश हो जाता है। (वै०)]

राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू॥ १॥
लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। बिधिगति बाम सदा सब काहू॥ २॥

शब्दार्थ—**सुधाकर**=अमृत किरणोंवाला, चन्द्रमा। **गति**=कर्तव्य, चाल।

अर्थ—न रख ही सके और न कह सके कि वन जाओ। दोनों ही तरहसे हृदयमें कठिन दाह (जलन) होता है॥ १॥ (मनमें सोचती हैं कि क्या हो गया?) विधिकी चाल सदा सबके लिये टेढ़ी होती है। (देखो तो!) चन्द्रमा लिखते हुए लिख गया राहू॥ २॥

नोट—१ ***'निरखि राम रुख········'*** से कविके वचन हैं। यहाँ कवि प्रथम संक्षेपसे पाठकको पात्रके विचार बता देते हैं जो उसको आगे व्याख्या-रूपसे मिलेंगे।

टिप्पणी—१ ***'राखि न सकइ········दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू।'*** इति। (क) इसीकी व्याख्या आगे है, यथा—***'राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू॥', 'कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी। संकट सोच बिबस भइ रानी॥'*** अर्थात् घरमें रखनेसे धर्मकी हानि है और वन जानेको कहूँ तो स्नेहकी हानि है, प्रेम न हो तभी ऐसा कोई कह सकता है। प्रथम रोकनेका विचार था इसीसे यहाँ पहले ***'राखि न सकइ'*** कहा। (ख) दोनों तरह कठिन दाह है। भाव यह कि यदि इनमें किसीसे कम दाह होता तो वही करती, दूसरी बातको छोड़ देती पर दोनोंसे एक-सा ही दु:ख हो रहा है; इससे कुछ करते नहीं बनता। (पण्डितजी—'दोनोमें असमर्थ हैं इसीसे यहाँ क्षुद्रपद दिया—***'सकइ'***)

टिप्पणी—२ ***'लिखत सुधाकर गा लिखि राहू'*** इति।—विधिका कर्तव्य सबको सदा टेढ़ा है, यह कौसल्याजीके मनका विचार है। राज्य चन्द्रमा है, सबको सुखदाता है, इसीसे सुधाकर कहा। वन राहु है, सबको दुख:दाता है। ***'सदा सब काहू'*** का भाव कि सब युगोंमें विधिगति वाम है—सत्ययुगमें नलके ऊपर, त्रेतामें श्रीरामजीके ऊपर, द्वापरमें युधिष्ठिरके ऊपर। ***'सब काहू'*** अर्थात् चाहे छोटा हो चाहे बड़ा। ***'बिधिगति'***—भाव कि विधिके ही करनेसे सबपर दु:ख-सुख पड़ता है। कौसल्याजीपर इस समय विधाता वाम हैं, इसीसे वे सदा सबके लिये वाम समझती हैं।

नोट—२ पण्डितजी—कैकेयी सदा रामराज्य माँगती रही, अन्तमें उसने वन माँगा। यह विधिकी वामतासे हुआ, यथा—***'बिधि बाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्हीं बावरी।'*** (२००) ***'गा लिखि राहू'*** का भाव कि राहु लिखनेकी इच्छा न थी, विधिकी वामतासे ऐसा लिख गया, वैसे ही किसीकी इच्छा नहीं है कि राम राज्य छोड़कर वनको चले जायँ।* जैसे राहुके लिख जानेसे चन्द्रमाका लोप हो गया वैसे ही वन-गमनसे राज्यका लोप हो गया।

नोट—३ चन्द्रमा लिखते हुए राहु कैसे बन सकता है? काष्ठजिह्वा स्वामीजी लिखते हैं कि धनुषके समान चन्द्रका रूप है और मकरसम राहुका। चन्द्रमा बनाते समय एक कोरपर स्याही अधिक पड़ जाय तो चन्द्रका राहु बन जाय।

नोट—४ वि० त्रि०—आह्लादकारी होनेसे अभिषेकको चन्द्रमा और उसका ग्रासकारी होनेसे रामजीके वनवासको राहु कहा। लेखक चन्द्रमा लिखने बैठा सो राहु लिख गया। भाव यह कि चक्रवर्तीजीने राज्य देनेका उपक्रम किया, बीचमें रानी कैकेयी कूद पड़ी, अत: दु:खदायी वनवास देना पड़ा। अब शंका यह उठती है कि 'चन्द्रमा लिखने जो बैठा वह किसी विक्षेपके आनेसे राहु कैसे लिख बैठेगा? चन्द्रमा लिखनेमें किसी कारणसे बिगड़ भी जाय तो राहु कैसे लिख जायगा? वह बिगड़कर चन्द्रसा, चंडमा, वंदसा आदि भले ही हो सकता है, पर 'राहु' नहीं हो सकता।', इसका बड़ा सुन्दर समाधान महात्मा देवस्वामीने दिया है। उनका कथन है कि कर्मकाण्डमें 'चन्द्र' का आकार द्वितीयाके चन्द्रमा-सा लिखा जाता है, और 'राहु' का आकार सूं० (सूपां) सा माना जाता है, सो लिखनेके समय स्याहीके गिर जानेके कारण अर्धचन्द्रका पेटा भर जानेसे सूर्पाकार होकर राहु ही बन गया। इसी भाँति कैकेयीके बीचमें आ जानेसे राज्य वनराज्यमें परिवर्तित हो गया।

नोट—५ बाबा हरिदासजी अवधवासी कहते हैं कि यह नयी बात ब्रह्माकी नहीं है। सदासे उनकी

* यहाँ 'ललित अलंकार है' और व्यंग्यार्थसे 'विषादन अलंकार' है कि मनचाही बात न होकर उसका उलटा हुआ।

चाल ऐसी ही है। देखिये, हिरण्यकशिपुकी लड़की सिंहिका विप्रचित्ती दैत्यको ब्याही गयी। ब्रह्माने सोचा कि चन्द्रमा और सूर्य देवताओंका जन्म इसके उदरसे कर दें तो कनककशिपु इनका नाना होगा। ननिहालके नातेसे दैत्य इनसे वैर न करेंगे। यह सोच सिंहिकाके माथेपर 'राकेश' लिखने लगे, भावीवश 'रा' लिखकर 'केश' की जगह 'हू' लिख गये। राकेशका राहू बना दिया, जो सबसे अधिक दुःख चन्द्र-सूर्यको देता है। वैसे ही राजाने लोकमंगलहेतु राज्य देना सोचा सो वे घरमें भी न रहने पाये, राजाका मरण हुआ, मंगल-समय अमंगल हुआ, यह विधिका चलन है।

नोट—६ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'विधिकी गति अर्थात् कर्मकाण्डकी रीति सुर-नर-मुनि-नागादि सबको सदा टेढ़ी है। भाव कि कर्म-धर्म सुलभ नहीं है, एक दिन अवश्य ही उलटा पड़ता है। जैसे, राजा बलि यज्ञ करके स्वर्ग चाहते थे सो पाताल भेजे गये। नृगादि अनेक उदाहरण ऐसे ही हैं। वैसे ही कर्मधर्मनिष्ठ राजा दशरथका मनोरथ भी उलटा पड़ा।'

मिलान कीजिये—*'बाम बिधि मेरो सुख सिरिस सुमन सम, ताको छल-छुरी कोह-कुलिस लै टेई है। कीजै कहा जीजी जू सुमित्रा परि पायँ कहै, तुलसी सहावै बिधि सोई सहियतु है।'''''''''देह सुधागेह मृगहू मलीन कियो, ताहू पर बाहु बिनु राहु गहियतु है।'* (क० २। ३-४)

धरम सनेह उभय मति घेरी। भइ गति साँप छुछुंदरि केरी॥ ३॥
राखौं सुतहि करौं अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू॥ ४॥
कहौं जान बन तौ बड़ि हानी। संकट सोच बिबस भइ रानी॥ ५॥

शब्दार्थ—'**अनुरोधू**'=समझाकर या हठ करके अपने अनुकूल करना—'**अनुरोधः अनुवर्त्तनं द्वे अनुकूलस्य इत्यमरविवेकः।**' रुकावट, आग्रह, विनयपूर्वक किसी बातके लिये हठ। छछुँदरि—इसकी बनावट चूहेकी-सी होती है। यह दिनमें बिलकुल नहीं देखता। रातको छू-छू करता कीड़े-मकोड़े खानेके लिये निकलता है। इसके शरीरसे तीव्र दुर्गन्ध आती है। लोगोंको विश्वास है कि यदि साँप छछूँदरको पकड़ ले तो वह छोड़नेसे अन्धा हो जाता है और खानेसे मर जाता है।

अर्थ—धर्म और प्रेम दोनोंने कौसल्याजीकी बुद्धिको घेर लिया, (इससे) उनकी दशा साँप-छछूँदरके समान हो गयी॥ ३॥ (वे सोचने लगीं कि यदि) पुत्रको (रोक) रखती हूँ और अनुरोध करती हूँ तो धर्म जाता है और भाईसे विरोध होता है॥ ४॥ यदि वन जानेके लिये कहती हूँ तो बड़ी हानि है। (इस प्रकार) रानी संकट और सोचके वश हो गयी॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'धरम सनेह उभय मति घेरी'* इति। धर्म और स्नेह दोनों पुरुष (पुँल्लिंग) हैं, मति स्त्री (स्त्रीलिंग) है। जैसे दो पुरुष स्त्रीको घेर लें, वह निकलने न पावे, वैसे ही धर्म और स्नेहके बीचमें पड़ जानेसे मतिकी दशा हो रही है।

यह बात लोकमें प्रसिद्ध है कि साँप यदि छछूँदरको पकड़ लेता है तो वह न तो उसे निगल ही सके और न उगल ही। यदि निगल जाय तो उसकी मृत्यु हो जाय और उगल दे तो अंधा हो जाय। वैसी ही दशा कौसल्याजीकी है। कौसल्या सर्प, राम छछूँदर, निगलना घरमें रखना, उगलना वनकी आज्ञा देना, धर्मका जाना और अपयशकी प्राप्ति (बन्धु-विरोध) मृत्यु—*'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* (९५। ७) और, वनकी आज्ञा देकर १४ वर्षतक रोते-रोते बीतना अन्धा होना, आँख फूटना है। अतएव कौसल्याजी निश्चय नहीं कर पातीं कि क्या करें, दोनोमें आपत्ति देख रही हैं, न रहनेको कह सकें न जानेको। यहाँ दृष्टान्त अलंकार है। (श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'साँप छछूँदरको खा ले तो मर जाय, छोड़ दे तो अन्धा हो जाय, अन्तमें साँप उसे खाकर मर जाता है। उसी तरह कौसल्याजीने मृत्युको स्वीकार किया, धर्म नहीं छोड़ा। भाव कि कौसल्याजीके प्राण राजा दशरथजी हैं। यदि राजाकी मृत्यु हुई तो कौसल्याजीकी मृत्यु हो गयी क्योंकि पतिव्रता स्त्रीका ऐसा ही होता है।')

'मानस-मयंक'—कौसल्याजीकी बुद्धिमें कोई बात नहीं आती, मानो साँप-छछूँदरकी-सी गति हो गयी। कहते हैं कि जब कभी धोखेसे सर्प छछूँदरको पकड़ लेता है तब वह ज्यों ही उसे छोड़ने लगता है त्यों ही वह मूत्र कर देता है जिससे सर्प अन्धा हो जाता है। अतएव सर्प उसे ले जाकर जलमें छोड़ता है जिससे उसका मूत्र इसे स्पर्श नहीं करता और वह अन्धा होनेसे बच जाता है। कौसल्याजी वनकी आज्ञा दें तो स्नेहमें न्यूनता आती है और घरमें रखें तो धर्म जाय। अतएव उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको कैकेयीरूप जलमें छोड़ दिया अर्थात् सब छरभार कैकेयीके सिर रख दिया और इस प्रकार अपने धर्म और प्रेमकी रक्षा की।

वि० त्रि०—सर्पको सुगंध बहुत प्रिय है। केवड़ाके बागमें उनका प्रायेण निवास रहता है। वे जूही-चमेली और मालतीकी लताओंमें प्रायेण पाये जाते हैं। भूखे होनेसे वे छछूँदरको पकड़ लेते हैं, छछूँदरमें अति दुर्गन्ध है, अतः वह निगली नहीं जाती, भूखकी वेदनासे वह छोड़ी भी नहीं जाती। यही दशा रानी कौसल्याकी हुई। वे स्त्री-धर्मके भयसे रामचन्द्रको रख भी नहीं सकतीं और स्नेहके कारण उन्हें जाने भी नहीं देतीं।

टिप्पणी—२ ***'धरम जाइ'***— पुत्रसे माता-पिताकी आज्ञा भंग कराना और अपनी ओरसे पतिकी आज्ञा भंग करना यह धर्मकी हानि है। बन्धु भरतजीसे राज्यके लिये वैर-विरोध होगा जिससे राज्य-सुख भी न मिलेगा—(रा० प्र०) श्रीदशरथजी तथा श्रीकौसल्याजी श्रीरामजी और श्रीभरतजीका स्वभाव जानते हैं जैसा ***'लोभ न रामहिं राजु कर बहुत भरत पर प्रीति।'*** (३१) ***'कहति राम प्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन काय।'*** (१६८) ***'मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहु सुख सुगति न लहहीं॥'*** (१६९।४) ***'जानउँ सदा भरत कुल दीपा। बार बार मोहि कहेउ महीपा॥'*** (२८३।५) इत्यादि उद्धरणोंसे स्पष्ट है। दोनों जानते हैं कि न तो भरतजी श्रीरामराज्याभिषेकमें विरोध करेंगे और न श्रीरामजी भरतराज्याभिषेकमें विरोध करेंगे। वे तो स्वयं ही प्रसन्न हैं कि ***'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥'*** (४२।२) तब ***'बंधु बिरोधू'*** का क्या आशय है? यहाँ श्रीकौसल्याजीके कथनका आशय इतना ही मात्र है कि यदि रामजीको मैं वन जानेसे रोकती हूँ तो कैकेयीजी यही समझेंगी कि भरतके विरुद्ध ये रामको खड़ा कर रही हैं, यद्यपि उनके रोकनेका आशय यह नहीं है। (वे० भू०)]

टिप्पणी—३ ***'कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी।'*** इति। धर्म जाय और लोकसुख जाय यह हानि है और वनको जाना यह बड़ी हानि है।

टिप्पणी—४ ***'संकट सोच बिबस'*** का भाव कि थोड़ी देरतक उन्हें कुछ न समझ पड़ा कि क्या करें। धर्म नष्ट होनेका संकट हुआ और श्रीरामजीके वन जानेका सोच हुआ। ५६ (१-२) भी देखिये।

बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी। रामु भरतु दोउ सुत सम जानी॥ ६॥
सरल सुभाउ राम महतारी। बोली बचन धीर धरि भारी॥ ७॥
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयेसु सब धरमक टीका॥ ८॥

शब्दार्थ—'**तिय धरमु**'=स्त्री-धर्म कि स्त्रीको चाहिये कि सवतके पुत्रको अपने पुत्रके समान समझे। =पातिव्रत्यधर्म। '**सयानी**'=चतुर, बुद्धिमती। '**धरमक**'=धर्मका। '**टीका**'=शिरोमणि, श्रेष्ठ। टीका माथेपर होता है वैसे ही यह सबके ऊपर है।

अर्थ—फिर बुद्धिमती कौसल्याजीने स्त्रीधर्मको समझकर और राम तथा भरत दोनों पुत्रोंको समान जानकर (अर्थात् हमारे पतिके ही दोनों पुत्र हैं, इनमेंसे किसीको न्यून या अधिक न मानना चाहिये) वह सीधे-सादे कपटरहित स्वभाववाली श्रीरामजीकी माता बड़ा धैर्य धारण करके बोलीं॥ ६-७॥ हे तात! मैं बलिहारी जाती हूँ! तुमने अच्छा किया। पिताकी आज्ञाका (पालन) करना सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी।.........'*** इति। (क) धर्ममें सयानी हैं, अतः उन्होंने

धर्मको ग्रहण किया और पुत्रको वन जानेकी आज्ञा दी। धर्म और स्नेह दोनोंका मतिको घेर लेना कहा था—*'धरम सनेह उभय मति घेरी।'* अब धर्मकी राहसे निकल आयीं। कौसल्याजी साक्षात् *'मति'* अर्थात् बुद्धि ही हैं तो क्यों न निकल पातीं? (*'तिय धरम'* में यह भी भाव है कि पतिकी आज्ञाके अनुकूल चलना सतीका धर्म है।) (ख) *'राम भरत दोउ सुत सम जानी'*—भाव कि रामको रोकनेमें केवल स्वार्थ है और धर्मके रखनेमें परमार्थ और स्वार्थ दोनों हैं। स्वार्थकी जगहमें भरत हैं। राम और भरत दोनोंको समान समझा क्योंकि रामकी माताका स्वभाव सरल है, क्योंकि ये रामकी माता हैं, जैसा श्रीसुमित्रा अम्बाजीने कहा भी है कि *'रावरो सुभाउ राम जन्म ही ते जनियतु है।'* (क० २—४) उत्तम क्षेत्रमें ही उत्तम पदार्थ होता है। रामजीका स्वभाव सरल है, यथा—*'सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं।'* (१।२३७) तो इनका स्वभाव वैसा क्यों न हो? हुआ ही चाहे। यथा—*'सरल सुभाय माय हिय लाये। अति हित मनहु राम फिरि आये॥'''''''देखि सुभाउ कहत सब कोई। राम मात अस काहे न होई॥'* (१६५।१—३) *'माता भरतु गोद बैठारे।'* इस उदाहरणमें *'सम जानी'* का प्रमाण भी आ गया। पुनः रामनाम लेनेसे लोग कपटरहित हो जाते हैं और इन्होंने तो उन्हें खिलाया, लाड़ लड़ाया तो ये क्यों न कपटरहित हों। (रा० प्र०)

टिप्पणी—२ *'धीर धरि भारी'*—रामजीको अपने मुखसे वन जानेको कहना चाहती हैं, 'यह बड़ा' कठिन काम है इसीसे 'बड़ा' धीरज धारण किया। [वनगमनकी बात सुननेपर जब बोलती हैं तब कवि कहते हैं कि *'धरि धीरजु सुत बदन निहारी। गदगद बचन कहति महतारी॥'* (५४।५) और अब तो वनगमनकी आज्ञा देनेकी इच्छा है, इसीसे *'भारी'* धीरज धरना पड़ा। भारी धीरज धारण किया इसीसे अब वचन गद्‌गद नहीं हैं। इसीसे जनाया कि स्नेहके वेगपर विवेकने विजय पायी। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ *'तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका'* इति। *'नीक'* अच्छा, भला काम किया, इसीसे बलिहारी जाती हैं, इसीसे प्रसन्न हैं। क्या 'नीक' किया सो कहती हैं कि *'पितु आयेसु'''''''''* '। अर्थात् तुमने बड़ा भारी (परम) धर्म धारण किया है। तुम्हारी निछावरके योग्य कोई वस्तु संसारमें नहीं है इसीसे मैं बलि जाती हूँ अर्थात् अपना तन तुमपर न्योछावर करती हूँ।

☞ मानस-कल्पकी कौसल्या और वाल्मी०, अ० रा० की कौसल्यामें धरती और आकाशका बल है। मानसकी कौसल्या धर्मको जानती हैं, वाल्मी० और अ० रा० की कौसल्याको बहुत कुछ धर्मका उपदेश देना पड़ा है। यह प्रसंग-का-प्रसंग उन सबोंसे विलक्षण है।

बैजनाथजी—*'सब धरमक टीका'* इति। सब धर्मोंका तिलक है अर्थात् इसीमें सबके धर्म दर्शित हो जावेंगे—किशोरीजीको देख स्त्रीधर्म, लक्ष्मणको देख सेवकधर्म, राजासे वात्सल्य, बन्धुधर्म भाईका, सखा-धर्म सुग्रीवका, दास्य हनुमान्‌जीका, प्रजाधर्म पुरवासियोंका, विरोधधर्म रावण आदिका देख (सबको शिक्षा होगी)।

दो०—राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो* दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥ ५५॥

शब्दार्थ—'**लेसु**'=लेशमात्र, जरा-सा भी, थोड़ा भी। **प्रचंड**=अति उत्कट, बहुत बड़ा।

अर्थ—राज्य देनेको कहकर राजाने वन दे दिया, मुझे इसका किंचित् भी दुःख नहीं। पर, तुम्हारे बिना भरतको, राजाको और प्रजाको बहुत बड़ा कष्ट होगा (इस बातका मुझे शोच और दुःख है)॥ ५५॥

टिप्पणी—१ कौसल्यामाता रामजीको घर रखना चाहती हैं, यह बात अगली चौपाईसे स्पष्ट सिद्ध होती है—*'जो केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥'* यदि वे अपने दुःखके बचावके विचारसे उनको वन न जाने दें तो धर्मका सर्वनाश होता है, यथा—*'राखौं सुतहिं करौं अनुरोधू। धरम जाइ अरु*

* सो—राजापुर। सोच-रा० प०, काशी।

बंधु बिरोधू॥' परंतु यदि भरतजी, चक्रवर्ती महाराज और प्रजाके क्लेशनिवारणार्थ श्रीरामजीको घर रखें तो उनके पातिव्रत्यको हानि नहीं पहुँच सकती, क्योंकि पतिके प्राण बचानेके लिये ही उनको घर रहनेको कहती हैं, पुन: भाईसे भी विरोध न होगा, उनके लिये ही घर रखती हैं और फिर राजाको नरकसे बचानेके लिये रखती हैं क्योंकि प्रजाके क्लेशसे राजाको नरक होता है, यथा—*'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥'* (७१। ६) अतएव 'इन सबको दुसह क्लेश' कहा।

नोट—१ श्रीरघुनाथजीने वनकी आज्ञा देनेमें केवल पिताका नाम लिया था, यथा—*'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।'* उनके वचनानुसार तो माताने यह कहा कि पिताकी इस आज्ञासे भरत, प्रजा और स्वयं राजा इन सबोंको क्लेश होगा; अर्थात् इस कारण तुम्हारा जाना उचित नहीं। पर मन्त्रीसुतसे कैकेयीद्वारा वनवास होना सूचित हुआ, उनके प्रति आगे कहती हैं। (रा० प्र०) इन शब्दोंमें छिपा हुआ निषेध होनेसे 'व्यक्ताक्षेप अलंकार' हुआ।

नोट—२ यहाँ *'भरतहि भूपतिहि प्रजहि'* के क्रमका भाव यह है कि सबसे अधिक क्लेश भरतजीको होगा, उनसे कम राजाको और राजासे कम प्रजाको। श्रीकौसल्या अम्बा भरतजीका स्नेह जानती हैं जैसा उनके *'मोहि भरतकर सोचु।'* (२८२), *'मोरे सोचु भरत कर भारी॥ गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥'* (२८४। ३-४) इन वाक्योंसे स्पष्ट है। फिर इस काण्डके अन्तमें जैसा उनका रहन-सहन १४ वर्षतक रहा है वह पाठकोंने पढ़ा ही है, अवधिके बाद वे एक क्षण जीवित नहीं रह सकते थे। राजाकी मृत्यु हुई; उन्होंने *'सो तन राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा॥········'* कहते हुए शरीरको तृणसमान त्याग दिया; पर जो प्रचण्ड क्लेश भरतजीको श्रीरामजीकी आज्ञा मानकर अवधिभर उठाना पड़ा वह उनको नहीं हुआ। प्रजाको उनसे कम क्लेश हुआ यह तो स्पष्ट ही है।

जौं केवल पितु आयेसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥ १॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥ २॥

अर्थ—हे तात! यदि केवल पिताकी आज्ञा है तो माताको बड़ी जानकर वनको मत जाओ॥ १॥ और यदि पिता-माता दोनोंने वन जानेको कहा हो तो वन सैकड़ों अवधके समान है॥ २॥

टिप्पणी—१ रानीने अपना धर्म बचाकर उपर्युक्त दोहेवाले वचन कहे थे। अब श्रीरामजीके धर्मकी रक्षा करते हुए रहनेको कहती हैं कि जो केवल पिताकी आज्ञा हो तो माताको बड़ी जानकर वन न जाओ, पितासे माता दशगुणा माननीय है प्रमाण कई बार आ चुका है और आगे दिया भी है।' तात्पर्य कि माताकी आज्ञासे घरमें रहनेसे तुमको दशगुणा धर्म होगा। (*'जौं केवल पितु आयेसु ताता'* यह रामजीके वचनको लेकर कहा और *'जौं पितु मातु कहेउ बन जाना'* यह मन्त्रीपुत्र अभिनन्दनके वाक्यानुसार कहा।)*'जौं केवल········माता'* में वाच्यसिद्धांगगुणीभूत व्यंग है।

नोट—*'तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता'* से मिलते हुए श्लोक ये हैं—**'यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम्। त्वां साहं नानुजानामि न गन्तव्यमितो वनम्॥'** (वाल्मी० २। २१। २५) तथा **'पिता गुरुर्यथा राम तवाहमधिका ततः। पित्राज्ञप्तो वनं गन्तुं वारयेयमहं सुतम्॥'** (अ० रा० २। ४। १२) अर्थात् जिस गौरवसे तुम्हारे लिये राजा पूज्य हैं उसी गौरवसे मैं भी पूज्य हूँ, तुम्हारी पूज्या होकर मैं आज्ञा नहीं देती, मैं कहती हूँ कि तुम वनको न जाओ। (२५) राम! जैसे पिता तुम्हारे गुरु हैं वैसे ही मैं भी तो उनसे अधिक तुम्हारी गुरु हूँ! यदि पिताने वन जानेको कहा है तो मैं तुम्हें रोकती हूँ। (१२)—किन्तु वाल्मी० और अ० रा० की कौसल्याने इस वाक्यपर हठ किया है और केवल अपने स्वार्थके लिये रोकना चाहा है! और *'जौं पितु मातु कहेउ········'* वाली बातका तो वहाँ स्पर्श भी बहुत दूर है। मिलान कीजिये—*'रहि चलिये सुंदर रघुनायक। जो सुत तात बचन पालन रत, जननिउ तात! मानिबे लायक।'* (गी० २। ३)

टिप्पणी—२ *'जौं पितु मातु········समाना'* इति। अर्थात् तुम माता-पिता दोनोंकी आज्ञा पालन कर रहे हो इससे तुमको वनमें सौ अयोध्याका सुख होगा। तुम पुण्य-पुरुष हो और पुण्य-पुरुष *'कहँ महि सुख

छाई।', 'सत अवध समाना' कहा क्योंकि पितासे दशगुणा माता मान्य है और मातासे दशगुणा विमाता मान्य है, इस प्रकार पिताके राज्यसे शतगुणा वनका राज्य हुआ, यथा—'**पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते। मातुर्दशगुणा मान्या विमाता धर्मभीरुणा॥**' (मनु०) ['सत अवधका भाव कि यहाँ एक पिता और संख्यामात्र माताएँ और सेवक हैं और वनके देवी-देवता असंख्यों माता-पिताका-सा लालन-पालन करेंगे। वन बड़भागी है, इसलिये सौ अवधके समान है। (वै०)]

पितु बनदेव मातु बनदेवी। खग मृग चरन सरोरुह सेवी॥ ३॥
अंतहु उचित नृपहिं बनबासू। बय बिलोकि हिय होइ हरासू॥ ४॥
बड़भागी बनु अवध अभागी। जो रघुबंसतिलक तुम्ह त्यागी॥ ५॥

शब्दार्थ—'**खग**'=(ख=आकाश+ग=गमन करनेवाला) गगनचारी, पक्षी। '**मृग**' (मृ=वन+ग) वनमें गमन करनेवाले, पशुविशेष। '**बय**' (वय)=अवस्था, उम्र, आयु। '**हरासू**' (ह्रास)=भय, दुःख।

अर्थ—वनके देवता पिताके और वनदेवी माताके समान होंगे अर्थात् वनके देवी-देवता मूर्तिमान् होकर माता-पिताकी तरह तुम्हारी रक्षा करेंगे। पक्षी तुम्हारे चरणकमलोंके सेवक होंगे॥ ३॥ अन्तमें राजाको वनवास करना उचित ही है। तुम्हारी (सुकुमार) अवस्था देखकर चित्तमें दुःख होता है॥ ४॥ वन बड़ा भाग्यवान् है, अवध अभागा है, जिसे रघुकुलश्रेष्ठ तुमने त्याग दिया॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'पितु बनदेव········'* इति। यथा—*'देव पितर सब तुम्हहिं गोसाईं। राखहुँ नयन पलक की नाईं॥'* (५७। १) भाव कि यहाँके माता-पिता छूटे तो वनके देवी-देवता माता-पिता हैं, यहाँके सेवक छूटे तो वनमें खग-मृग आकर तुम्हारी चरण-सेवा करेंगे। खग गीधराज श्रीरामजीके लिये अपना शरीर अर्पण कर देगा और अनन्त कोटि मृग (वानर) सेवामें हाजिर रहेंगे।

टिप्पणी—२ *'अंतहु'*—अर्थात् चौथेपनमें, यथा—*'संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन॥'* (६। ७। ३) अतएव दुःख न होना चाहिये पर *'बय बिलोकि·········'* अर्थात् तुम्हारी तो अभी बाल्यावस्था, प्रथम अवस्था है, इस छोटी अवस्थामें जाते हो इससे दुःख होता है।

नोट—पिता-माता और सेवकोंका धर्म क्रमशः वनके देवता, देवी और खगमृगमें स्थापित करना 'तृतीय निदर्शना' अलंकार है। *'बड़भागी बनु'*—वनके भाग्यकी प्रशंसा वक्ताओंने भी की है, यथा—*'सो बनु सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति पावन पावन॥ महिमा कहिअ कवनि बिधि तासू। सुख सागर जहँ कीन्ह निवासू॥'* (१३९। ३-४), *'बड़भागी बनु अवध अभागी'* कहकर यह भी जनाया कि जहाँ तुम जाओगे वह वन अवधके समान सुहावन पावन हो जायगा और जहाँसे तुम जा रहे हो वह अवध वन-समान असुहावन हो जायगा। यथा—*'अवध तहाँ जहँ रामनिवासू।'* (७४। ३) (यह श्रीसुमित्राजीका वाक्य है।), *'लागति अवध भयावनि भारी।'* (८३। ५), *'नगरु सकल बन गहबर भारी। खगमृग बिपुल सकल नर नारी॥'* (८४। २)

जौं सुत कहौं संग मोहि लेहू। तुम्हरें हृदय होइ संदेहू॥ ६॥
पूत परम प्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के॥ ७॥
ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ॥ ८॥

अर्थ—हे पुत्र! जो मैं कहूँ कि मुझे साथ ले चलो तो तुम्हारे हृदयमें संदेह होगा॥ ६॥ हे पुत्र! तुम सभीको परम प्यारे हो। प्राणोंके भी प्राण हो और जीवके जीवन हो॥ ७॥ वही तुम मुझसे कहते हो कि माता! मैं वनको जाता हूँ और मैं इन वचनोंको सुनकर बैठी पछताती हूँ॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'तुम्हरे हृदय होइ संदेहू'* इति। माता अपनेको संग ले जानेको नहीं कहतीं; क्योंकि यदि ऐसा कहें तो श्रीरामजीको संदेह हो—न तो संग ले जाते ही बने और न आज्ञा भंग करते बने। इसीसे

संग ले जानेकी आज्ञा नहीं देतीं। पुन: दूसरा संदेह यह होगा कि माताके हृदयमें पातिव्रत्य धर्म नहीं है जो ऐसी दशामें पतिको छोड़नेकी इच्छा करती हैं।

नोट—१ वाल्मीकीय सर्ग २१ और २४ में श्रीरामजीके ये वचन हैं। '**तस्मिन् पुनर्जीवति धर्मराजे विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने। देवी मया सार्धमितोऽभिगच्छेत्कथंस्विदन्या विधवेव नारी॥**' (२१। ६१) अर्थात् राजा दशरथ जीते हैं और अपने धर्ममें वर्तमान हैं ऐसी दशामें साधारण विधवा स्त्रीके समान देवी (कौसल्या) मेरे साथ वन कैसे जायँगी। पुनश्च—'**जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्त्ता दैवतं प्रभुरेव च। भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः॥**', '**राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता। व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा॥ भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत्। भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम्॥ अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात्। शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता॥**' (सर्ग २४। २१, २५—२७) अर्थात् जीती हुई स्त्रियोंके लिये उसका पति ही देवता है, स्वामी है।········सावधान होकर बूढ़े राजाके हितकी ओर ध्यान दो, उनके हितके लिये व्रत, उपवास आदि करो, ये ही उत्तम स्त्रियोंके लक्षण हैं, जो स्त्री पतिकी सेवा नहीं करती वह पापिनी है।········देवपूजा भी छोड़कर स्त्रियोंको पतिहितकी कामनासे उनकी सेवा करनी चाहिये। ☞ वाल्मीकिकी कौसल्याने साथ चलनेका हठ किया है। यथा—'**कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तमनुगच्छति। अहं त्वानुगमिष्यामि यत्र वत्स गमिष्यसि॥**' (२। २४। ९) अर्थात् जैसे गाय अपने बछड़ेके साथ, जहाँ-जहाँ वह जाता है, जाती है, वैसे ही मैं तुम्हारे साथ चलूँगी जहाँ तुम जाओगे।—यह सुनकर श्रीरामजीको दु:ख हुआ और माताको धर्मका उपदेश करते हुए उन्हें कहना पड़ा कि पतिका परित्याग करना स्त्रीके लिये बड़ी क्रूरता है, ऐसी क्रूरताको मनमें सोचना भी निन्दित है।········यथा—'**भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः। स भवत्या न कर्तव्यो मनसापि विगर्हितः॥**' (२। २४। १२) पर मानसकल्पकी शतरूपा—कौसल्याको अलौकिक विवेक है, वह स्वयं परम पुनीत विचारोंवाली हैं। उपर्युक्त उद्धरणोंसे जो श्रीरामजीके वचन हैं उनका भाव यही है कि जो पतिको छोड़े वह पतिव्रता कैसी? यही भाव ***'जौं सुत········हृदय होइ संदेहू'*** का है।

नोट—२ वि० त्रि०—कौसल्याजी कहती हैं कि यदि मैं तुमसे कहूँ कि मुझे संग ले लो तो तुम्हारे मनमें सन्देह होगा कि इनको भरतका राज्य नहीं रुचा, तब मुझे संग लेनेको कहती हैं, यदि भरतका राज्य रुचता तो मेरे संग चलनेकी आवश्यकता क्या है। अत: इनके अन्त:करणका दुर्भाव ही कैकेयीके दुर्भावका कारण हुआ। इसके लिये जैसा मैं वैसे भरत, किसीका राज्य हो, इन्हें चक्रवर्तीजीकी सेवा करनी चाहिये।

नोट—३ ***'पूत परमप्रिय तुम्ह सबही के।'***, यथा—***'ए प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।'*** (१। २१६। ७) ***'प्रान प्रान के जीवन जी के'***—ऐसा ही वसिष्ठजीने भी कहा है, यथा—***'प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।'*** (२९०), '**प्राणस्य प्राणमुत।**' (बृ०४। ४। १८), '**प्राणस्य प्राणः।**' (केन० १। २), '**येन प्राणः प्रणीयते।**' (विशेष १। २१६। ७) में देखिये। इनसे जनाया कि आप ब्रह्म हैं। ***'जीवन जी के'*** अर्थात् सब जीव आपके ही आश्रित जीवन धारण करते हैं, यथा—'**एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।**'(बृ० ४। ३। ३२)

प० प० प्र०—विश्वामित्रजीने ***'ये प्रिय सबहि'*** कहा था और माता कहती हैं कि ***'तुम परमप्रिय सबही के।'*** कौसल्याजीके ***'सबही'*** से भरत, भूपति और अवधवासी प्रजाका ग्रहण है। अवधवासियोंके सम्बन्धमें श्रीमुखवचन है कि ***'अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी'***, ***'अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ।'***

नोट—४ ***'प्रान प्रानके जीवन जी के।'*** प्राण अर्थात् जिससे शरीर चेतन रहता है। ***'जीवन'*** अर्थात् जिससे प्राण चेतन रहता है। (मुन्शी रोशनलाल) प्राणके प्राण हो अर्थात् प्राणोंकी सत्ता तुम्हींसे है, ***'जीवन जी के'*** अर्थात् चेतनाके भी चेतना हो, चेतनाशक्तिके आधार हो।—(दीनजी १। २१६। ७) देखिये।

नोट—५ (क) ***'ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ'*** इति। मिलान कीजिये महर्षि अत्रिके ***'केहि बिधि कहउँ जाहु अब स्वामी। कहहु नाथ तुम्ह अंतरजामी॥'*** (३।६।९), ***'जासु कृपा अज सिव सनकादी। चहत सकल परमारथबादी॥ ते तुम्ह राम अकाम पिआरे। दीनबंधु मृदु बचन उचारे॥'*** (३। ६। ५-६)। इन वचनोंसे। (प० प० प्र०)

नोट—५ (ख) ***'मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ'*** इति। भाव कि ऐसे वचन सुनकर हृदय विदीर्ण हो जाना चाहिये था। यह भाव श्रीजानकीजीकी ***'ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदय बिलगान।·······'*** (६७) इस उक्तिसे स्पष्ट है। अर्थात् मैं सुनकर पछतानेके लिये जीती हूँ, बैठी पछताती हूँ कि मैं कैसी माता हूँ कि पुत्र-वियोग सुनकर मेरे प्राण न निकल गये। (पु० रा० कु०)

☞ ***'राम लषन सिय बनहि सिधाए। गइउँ न संग न प्रान पठाए॥ यह सबु भा इन्ह आँखिन्ह आगे। तउ न तजा तनु जीव अभागे॥ मोहि न लाज निज नेह निहारी। राम सरिस सुत मैं महतारी॥ जिअइ मरइ भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना॥'*** (२। १६६) माताके इन वचनोंसे उपर्युक्त वचनोंका अर्थ स्पष्ट हो जाता है।' वाल्मी० २। ४० में पुरवासियोंने यही बात कही है—'**आयसं हृदयं नूनं राममातुरसंशयम्। यद्देवगर्भप्रतिमे वनं याति न भिद्यते॥**' (२३) अर्थात् रामकी माताकी छाती अवश्य ही लोहेकी है इसीसे देवकुमार-सदृश श्रीरामजीके वनगमनपर वह नहीं फटी।

बाबा हरिदासजी—***'पूत परमप्रिय·······पछिताऊँ'*** इति। भाव कि तुम सब जीवोंको परमप्रिय हो। यथा—***'जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी॥'*** तुम हमारे पुत्र हुए और वन जानेको कहते हो और मैं सुनकर पछताती हूँ कि मेरे प्राण नहीं निकलते। यह मेरा ही किया हुआ मेरे आगे आया कि मैंने पूर्व ही अलौकिक विवेक माँग लिया था, वही आपने मुझको दिया और राजाको स्नेह दिया।

अलंकार—परमप्रिय, प्राणके प्राण, जीवके जीवन यह उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्णन 'सार अलंकार' है। पुनः प्राणके प्राण हो, इससे सिद्ध हुआ कि इसी कारण परमप्रिय हो, यह 'काव्यलिंग अलंकार' हुआ। वीरकविजी लिखते हैं कि ***'मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ'*** से जनाती हैं कि वचन सुनते ही प्राण नहीं निकलते तो झूठी प्रीति दिखाकर अपने प्रेमकी व्यर्थ बातें क्या कहूँ—इसमें 'काकुक्षिप्त गुणीभूत व्यंग' है क्योंकि माताके हृदयमें अपार प्रेम है, किन्तु उसे मिथ्या ठहराकर मुकरना 'काकु' है।

दो०—यह बिचारि नहिं करउँ हठ झूठ सनेहु बढ़ाइ।
मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ॥ ५६॥

अर्थ—यह विचारकर झूठा स्नेह बढ़ाकर हठ नहीं करती हूँ, मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ, माताका नाता मानकर मेरी सुध न भूल जाय॥ ५६॥

मुं० रोशनलाल—***'मानि मातु कर नात'*** इति। भाव कि वनगमन सुनकर प्राण निकल गये, इसीसे स्नेह झूठा है। स्नेह झूठा है, इस कारण तुमसे मेरा माताका नाता भी झूठा है। यद्यपि मेरी ओरसे यह नाता तो झूठा ही है। तथापि तुम जो मेरे साथ माताका नाता माने हुए हो तो तुम उस नाते मेरी सुरति न भुला देना, अपनी ओरसे उस नातेको ध्यानमें रखकर मुझे याद रखना।

पं० यादवशंकरजी—वाल्मीकिजीकी '**ममास्ति मातृता तात न जह्यात् पुत्रता त्वया**' इस हृदयद्रावक उक्तिका हृदय ***'मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ'*** इस उक्तिमें बहुत ही मार्मिकतासे उतारा गया है। हमारे विचारसे इस उक्तिसे ध्वनि निकलती है कि रामजीको वन जानेकी आज्ञा दे देनेके कारण कौसल्या देवीके मनमें आया कि—'**कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति**' इसमेंके मातृहृदयका पूरा नाश उन्होंने ही कर दिया इसमें संदेह नहीं। परन्तु इस बातपर लक्ष्य न करके रामजीको यही विचार करना चाहिये कि उनकी मातामें माताका हृदय बिलकुल ही नहीं है तो भी माताका नाता अटल है। इसलिये उस नातेपर ध्यान देकर उन्हें अपनी माताको न भूलना चाहिये।

प० प० प्र०—***'यह बिचारि'*** अर्थात् इस तात्त्विक विचारसे तो मेरा स्नेह मिथ्या ही है। तथापि व्यावहारिक सत्तामें तो मैं माता और तुम मेरे पुत्र हो यह भूल न जाना।

नोट—मिलान कीजिये—***'जिन श्रवनन्हि कल बचन तिहारे सुनि सुनि हौं अनुरागी। तिन्ह श्रवनन्हि वनगमन***

सुनति हौं मो ते कौन अभागी॥ जुग सम निमिष जाहिं रघुनंदन बदन कमल बिनु देखे। जौ तनु रहै बरष बीते बलि कहा प्रीति इहि लेखे॥' (गी० २। ४)

देव पितर सब तुम्हहिं गोसाईं। राखहु पलक नयन की नाईं॥ १॥
अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना। तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना॥ २॥
अस बिचारि सोइ करहु उपाई। सबहि जिअत जेहि भेंटहु आई॥ ३॥

अर्थ—देवता, पितर और गुसाईं, भगवान् ये सब अथवा हे गोसाईं! सब देवता, पितर पलक नयनकी तरह तुम्हारी रक्षा करें॥ १॥ (१४ वर्षकी) अवधि जल है। प्रिय और कुटुम्बी मछली हैं। तुम करुणाकी खानि हो और धर्मधुरीण हो॥ २॥ ऐसा विचारकर वही उपाय करो जिससे सबको जीते-जी आ मिलो॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'देव पितर सब तुम्हहिं गोसाईं·······'* इति। प्रथम वनके देवी-देवताको कहा कि वे माता-पिताकी तरह रक्षा करें। अब और जो इन्द्रादिक ३३ करोड़ देवता हैं और अर्यमादि पितृदेव हैं वे सब रक्षा करें, यह आशीर्वाद दे रही हैं। *'गोसाईं'* सम्बोधनका भाव कि तुम 'गो' अर्थात् पृथ्वीके स्वामी हो, पृथ्वीकी रक्षा करने जाते हो, यह देवकार्य है, अतएव देव-पितृगण तुम्हारी रक्षा करें। कैसे रक्षा करें कि जैसे पलक नेत्रोंकी रक्षा करता है। *'पलक नयन की नाईं'* का भाव कि शरीरके सब अंगोंमेंसे नेत्र सबसे कोमल हैं, सो उनकी रक्षा पलक निरन्तर करते हैं। देखिये दिनमें जागते रहनेपर एक तिनका भी नेत्रपर आने लगता है तो तुरत पलक उसको ढक लेते हैं। तिनकेको भीतर नहीं जाने देते और रातमें जब नेत्र सोते हैं तब पलक उनको मूँद लेते हैं किसीका विश्वास नहीं करते। पुनः, [(ख) ***गोसाईं***=हे भूमिके स्वामी! नीचे और ऊपरके पलक मिलकर पुतलीकी रक्षा करते हैं। यहाँ पितृगण नीचेके और देवगण ऊपरके पलक हैं। ***'राखहु पलक नयन की नाईं'*** का भाव कि तुम सबोंको नेत्रवत् प्यारे हो, अतएव ये नेत्रवत् तुम्हारी रक्षा करें! (मा० म०)]

नोट—१ बैजनाथजी और बाबा हरिहरप्रसादजीके अतिरिक्त प्रायः समस्त टीकाकारोंने ***'गोसाईं'*** को सम्बोधन माना है। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि यहाँ ***'गोसाईं'*** शब्द सम्बोधन नहीं है, कौसल्याम्बाका रामजीको ***'गोसाईं'*** सम्बोधन उपयुक्त नहीं है। अतः यहाँ गोसाईं शब्दका अर्थ नारायण है। ***'राखहु'*** क्रियाके जिस भाँति 'देव पिता' शब्द कर्ता हैं, उसी भाँति गोसाईं शब्द भी कर्ता है। अर्थात् देवता, पितर तथा सबके प्रभु नारायण तुम्हारी पलक नयनकी भाँति रक्षा करें। गोसाईं शब्दका प्रयोग रामचरितमानसमें नारायणके अर्थमें और भी आया है, यथा—***'जौं अहिसेज सयन हरि करहीं। बुध कछु तिन्ह कहँ दोष न धरहीं॥ भानु कृसानु सर्बरस खाहीं। तिन्ह कहँ मंद कहत कोउ नाहीं॥ सुभ अरु असुभ सलिल सब बहई। सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई॥ समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥'*** (१। ७९) यहाँ भी गोसाईं शब्द सम्बोधन मालूम होता है, परन्तु अत्यल्प विचारसे स्पष्ट हो जाता है कि गोसाईं शब्द नारायणके लिये प्रयुक्त है। यहाँ चार समर्थोंका वर्णन करके कहते हैं कि उनको दोष नहीं, उनमें प्रथम वर्णन हरिका है कि वह सर्पशय्यापर शयन करते हैं, उन्हींके लिये पहले गोसाईं कहकर तब ***'रबि पावक सुरसरि की नाईं'*** कहते हैं। मुझे भी यही मत विशेष उत्तम जान पड़ता है। वाल्मी० २। २५ के '**येभ्यः प्रणमसे पुत्र देवेष्वायतनेषु च। ते च त्वामभिरक्षन्तु वने सह महर्षिभिः॥**' (४) '**स्वस्ति साध्याश्च विश्वे च मरुतश्च महर्षिभिः। स्वस्ति धाता विधाता च स्वस्ति पूषा भगोऽर्यमा॥**' (८) '**लोकपालाश्च ते सर्वे वासवप्रमुखास्तथा।**·········' (९) '**स्कन्दश्च भगवान्देवः सोमश्च सबृहस्पतिः। सप्तर्षयो नारदश्च ते त्वां रक्षन्तु सर्वतः॥**' (११) '**ते चापि सर्वतः सिद्धा दिशश्च सदिगीश्वराः। स्तुता मया वने तस्मिन्पान्तु त्वां पुत्र नित्यशः॥**' (१२)।········' (पुत्र! देवालयोंमें तुम जिनको प्रणाम करते हो वे देवता महर्षियोंके साथ तुम्हारी रक्षा करें। साध्य, विश्वेदेव, मरुत् और महर्षि, विराट्, ब्रह्मा, पूषन, देव, भग और अर्यमा, इन्द्रप्रभृति लोकपाल तुम्हारा कल्याण करें। भगवान् स्कन्द, बृहस्पतिसहित चन्द्रमा, सप्तर्षि, नारद, जिन सिद्धों, दिक्पालोंकी मैंने स्तुति की है वे वरुण, पवन, समस्त

नक्षत्र, ग्रह, शुक्र, कुबेर तथा यम मेरे द्वारा अर्चित होकर तुम्हारी रक्षा करें। लोकप्रभु ब्रह्मा, जगत्कारण ब्रह्म, ऋषि तथा अन्य नित्य देवता तुम्हारी रक्षा करें। इस उद्धरणका सब भाव *'देव पितर सब……'* में आ गया।

टिप्पणी—२ *'अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना………'* इति। जलमें मछली जीती रहती हैं, जल न रहनेपर तड़पकर, फड़फड़ाकर प्राण दे देती हैं, यथा—*'जल बिनु थल कहाँ मीच बिनु मीनको',* वैसे ही १४ वर्षकी अवधिको जलसे और प्रिय परिजनकी मीनसे उपमा देकर सूचित करती हैं कि प्रिय और परिवारके सभी लोग जैसे-तैसे तबतक जीवित रहेंगे जबतक १४ वर्ष समाप्त नहीं होते। जिस दिन यह अवधिरूपी जल चुक गया मीयाद पूरी हो गयी और आप न आ पहुँचे तो उसी दम ये सब फड़फड़ाकर मर जायँगे।

टिप्पणी—३ (क) *'तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना'*— 'धर्मधुरीण' हो, अतएव वन जाओ, पिताकी आज्ञा पालन करो। 'करुणाकर' हो अतएव प्रिय परिजन सबपर करुणा करके लौटकर सबके प्राणोंकी रक्षा करो नहीं तो सब मर जायँगे। (पु० रा० कु०) [पुनः भाव कि धर्मधुरीण हो, प्रिय परिजनके प्राणोंकी रक्षा धर्म है, इस धर्मको न भूल जाइयेगा—(पां०, रा० प्र०)] (ख) *'अस बिचारि'* अर्थात् अवधि जल है, प्रिय परिजन मीनरूप हैं, तुम करुणाकर और धर्मात्मा हो, यह विचारकर *'सोइ करहु उपाई।………'* अर्थात् अवधि न बीत जाय, नहीं तो कोई जीता न बचेगा। [श्रीरघुनाथजीने तो इतना ही कहा था कि *'आइ पाय पुनि देखिहउँ मन जनि करसि मलान।'* (५३) इन वाक्योंमें केवल कौसल्याजीका उल्लेख है। उधर कौसल्याजी भी जानती हैं कि *'नृप कि जिइहि बिनु राम',* अतः उन्होंने *'सबहि जिअत जेहि भेंटहु आई'* यह विनय की, (यदि वे हाँ कर दें तो राजाकी मृत्यु न होनेका उपाय तो यही है कि राम वनको न जायँ, बस उन्हें रुकना पड़ेगा) किंतु श्रीरामजी तो सर्वज्ञ हैं, वे जानते हैं कि हमारे लौटनेतक राजा जीवित नहीं रहेंगे; अतः उन्होंने माताके इस वाक्यका कोई उत्तर नहीं दिया। (प० प० प्र०)]

जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ। करि अनाथ जन* परिजन गाऊँ॥ ४॥
सब कर आजु सुकृतफल बीता। भयेउ कराल कालु बिपरीता॥ ५॥
बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी॥ ६॥

शब्दार्थ—'**सुखेन**'=सुखपूर्वक, आनन्दसे।=सुखके अयन या घर—(पाँड़ेजी) '**जन**'=स्वजन, प्रजा, देशवासी। '**कराल**'=भयंकर, कठिन।

अर्थ—मैं बलिहारी जाती हूँ, तुम सेवक, परिवार और नगरभरको अनाथ करके सुखपूर्वक वनको जाओ ॥ ४॥ आज सबके पुण्योंका फल चुक गया, कठिन काल-कराल और उलटा हो गया॥ ५॥ (इस तरह) बहुत प्रकारसे विलाप करके माता चरणोंमें लपट गयी और अपनेको परम अभागिनी समझा॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीरामजीने मातासे आज्ञा माँगते हुए कहा था कि *'आयेसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मंगल कानन जाता॥'* माताने वैसी ही आज्ञा दी। वन जाना धर्म है। धर्मसे सुख होता है, अतः *'जाहु सुखेन'* कहा। (*'जाहु सुखेन'* में वाल्मी० सर्ग २५। ३२—४३ का सब भाव भर दिया है। माताने इस प्रकार मंगल-कामना की है—वृत्रासुरके वधके समय देवताओंद्वारा पूजित इन्द्रको जो मंगल हुआ था, अमृत प्राप्त करनेकी प्रार्थनाके समय गरुड़को उनकी माताने जैसा मंगलका विधान किया था, अमृतके निकलनेके समय अदितिने इन्द्रको जो मंगल दिया था, अतुल तेजवाले वामनको त्रिलोकीको तीन पगसे नापनेके समय जो मंगल हुआ था वे सब मंगल तुम्हें हों।………मंगलोंसे युक्त होकर तुम वनको जाओ और वहाँ अपने सब मनोरथोंको पूर्ण करके अयोध्यामें लौट आओ।) (ख) *'बलि जाऊँ'*—यहाँ श्रीरामजीके लौटकर आने और जन-परिजन, नगर सबको जीता रखनेके लिये बलि जाती हैं। (ग) *'करि अनाथ जन परिजन गाऊँ'*— अयोध्या रामजीको बहुत प्रिय है, यथा—*'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना॥ अवध*

* 'पुर परिजन' पाठान्तर है।

सरिस प्रिय मोहि न सोऊ।' (७। ४) और अवधवासी अति प्रिय हैं, यथा—***'अति प्रिय मोहि यहाँ के बासी।'*** (७। ४। ७) अतएव इन सबोंका अनाथ होना कहा जिसमें जल्द लौट आवें।

दीनजी—***'करि अनाथ'*** इति। श्रीरामजीके वन जानेसे अयोध्या सचमुच ही अनाथ हो गयी थी। क्योंकि राजा दशरथ तो बेहोश (अचेत) पड़े थे, वे राजकाज सँभाल ही नहीं सकते थे। श्रीरामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी वनको ही चले गये। रहे भावी राजा भरत और शत्रुघ्न; ये लोग ननिहालमें थे। अयोध्याकी देखभाल करनेवाला कोई स्वामी न रह गया था।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—सरकारने मातासे प्रार्थना की थी कि तुम प्रसन्न मनसे आज्ञा दो। तुम्हारे प्रसन्न मनसे आज्ञा देनेसे वन जानेमें मुद मंगल होगा; यथा—***'आयेसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मंगल कानन जाता॥'*** अर्थात् दबावमें पड़कर यदि आज्ञा दोगी तो उसका फल मंगलमय नहीं होगा। अत: माता वनवासके मंगलमय होनेके लिये आशीर्वाद देती है—***'देव पितर सब तुम्हहिं गोसाईं। राखहु पलक नयन की नाईं॥'*** बिना किसी दबावके आज्ञा देती है ***'जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ।'*** पर मुदित मनसे आज्ञा देनेमें असमर्थता प्रकट करती है, कहती है कि तुम्हारे जानेसे जन-परिजन और राष्ट्र अनाथ हो जायगा, अत: मुदित मनसे आज्ञा देना मेरे सामर्थ्यसे बाहर है। यहाँ विषमालंकार है।

टिप्पणी—२ ***'सब कर आजु सुकृत फल बीता·········'*** इति। तात्पर्य कि जबतक सुकृत रहा तबतक काल सुन्दर रहा, जब सुकृत नष्ट हो गये, खत्म हो गये, तब कालकराल (तीक्ष्ण) हो गया, अर्थात् भारी दु:ख उदय हुआ और विपरीत (उलटा) हो गया अर्थात् सुखके स्थानमें दु:ख हो गया, राज्य होते-होते वन हो गया।

नोट—वाल्मी० २। २४ में ***'जाहु सुखेन'*** और ***'भयेउ कराल काल बिपरीता'*** से मिलता हुआ श्लोक यह है—'**विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः। गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभो॥**' (३३) अर्थात् कालके आगे किसकी चली है। मैं तुम्हें रोकना नहीं चाहती। पुत्र! तुम निश्चिन्त होकर जाओ, तुम्हारा कल्याण हो।

टिप्पणी—३ ***'बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी·········'*** इति। विलपि शब्दसे सूचित होता है कि कौसल्याजीने जो कुछ कहा वह सब रोकर कहा। चरणमें लपट जाना, यह बात माधुर्यके विरुद्ध है, ऐश्वर्यमें उचित है और यहाँ ऐश्वर्यका वर्णन नहीं है। समाधान यह है कि यहाँ चरणमें लपटना केवल व्याकुलताके कारण है, इसलिये माधुर्यमें विरुद्ध नहीं। ***'परम अभागिनि आपुहि जानी'***—पूर्व कहा था कि ***'बड़ भागी बन अवध अभागी'*** अर्थात् अयोध्याको अभागी कहा था और उस अवधमें अपनेको 'परम अभागिनी' कहती हैं; अर्थात् अवधभरमें मुझसे बढ़कर अभागिनी कोई दूसरा नहीं, यह जनाया।

श्रीमन्त यादवशंकर जामदारजी—कौसल्या-विलापका अन्त गोसाईंजीने ***'बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी'*** इस पदसे किया है। ***'चरन लपटानी'*** से ऐसी ध्वनि निकलती है कि कौसल्यादेवीको श्रीरामजीके ईश्वरत्वकी पहचान थी। हमारे मतसे ऐसा समझनेमें उसके करुणरसकी सरसता बहुत ही घट जाती है। पुत्र-वात्सल्यका भाव सम्पूर्ण भाषणमें ओत-प्रोत है। उसमें ईश्वरकी भावनाकी कहीं जरा भी छटा नहीं। फिर ऐसी ध्वनि निकालकर रसशोष करनेमें क्या अर्थ? ***'ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ॥'*** इससे कौसल्यादेवीका यह भाव स्पष्ट दिखलायी देता है कि राम-वनगमन सुनते ही मरना भला था, पर वैसा नहीं हुआ। इस कारण खिन्न होकर वे अपने पुत्र-प्रेमसे लज्जित हुईं। उन्होंने सोचा कि उनका यह प्रेम सच्चा पुत्र-प्रेम ही नहीं। केवल इसी भावनासे ***'मानि मातु कर नात बलि'*** आदि उद्गार उन्होंने निकाले और अपनेको ***'परम अभागिनि'*** समझा। इस प्रकार राम-माता होनेके लिये स्वयं सर्वथैव ही अयोग्य समझकर तुरन्त ही समक्ष खड़ी हुई राममूर्तिकी उत्कृष्टता और अपनी निकृष्टताके विचारोंमें डूब गयीं और माँ-बेटेका रिश्ता बिलकुल भूल गयीं। इस स्थितिमें कौसल्यादेवीको कुछ भी भान न रहनेके कारण श्रीरामचन्द्रजीको अपने हृदयसे न लिपटाते हुए वह स्वयं ही उनके चरणोंमें लिपट पड़ीं। अतएव ***'चरन लपटानी'*** ये शब्द नमनार्थक न होकर वे कौसल्यादेवीकी परम पश्चात्तापकी अहैतुक क्रिया दरशाते हैं।

दारुन दुसह दाहु उर ब्यापा। बरनि न जाहिं[1] बिलाप कलापा॥ ७॥
राम उठाइ मातु उर लाई। कहि मृदु बचन बहुरि समुझाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**कलापा**=समूह, ढेर।

अर्थ—भयंकर (कठिन) और न सहे जाने योग्य दाह हृदयमें व्याप्त हो गया। विलाप-समूहका वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ७॥ श्रीरामजीने माताको उठाकर हृदयसे लगाकर कोमल वचन कहकर फिर समझाया॥ ८॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकु०—(क) ***'दुसह दाहु उर ब्यापा'*** यह भीतरका हाल कहा और ***'बिलाप कलापा'*** यह बाहरका हाल कहा। अर्थात् माता भीतर-बाहर दुःखसे परिपूर्ण हो गयीं। (ख) ***'बिलाप कलापा'*** अर्थात् विलाप बहुत है, इसीसे वर्णन करते नहीं बनता। पुनः, भाव कि श्रीकौसल्याजीके हृदयका विलाप समझकर कविका हृदय दुःखित हो गया, अतएव दुःखके मारे उनसे कहते नहीं बनता।

टिप्पणी—२ ***'कहि मृदु बचन बहुरि समुझाई।'*** इति। ***'बहुरि'*** शब्दसे सूचित किया कि जैसे प्रथम समझाया था वैसे ही पुनः समझाया, यथा—***'बरष चारि दस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान। आइ पाय पुनि देखिहउँ मन जनि करसि मलान॥'*** ऐसा गोसाईंजी लिखते हैं, यह उनकी शैली है और वाल्मीकिजी जो श्लोक प्रथम लिखते हैं वही श्लोक काम पड़नेपर पुनः लिख देते हैं। [समझाया कि तुम हमारा स्वरूप जानती हो, विराट्रूप तुमने देखा है। तुम्हें अलौकिक विवेक मिला है तब तुम लौकिक विवेक और स्नेहमें क्यों डूबती हो। ईश्वर जानकर गुप्त स्नेह रखो। (बाबा हरिदासजी)]

''श्रीकौसल्यादेवी''

मा० हं०—इस पात्रका इच्छानुसार परिचय कर लेनेके लिये सारी रामायणमें मुख्य तीन प्रसंग हैं। १—रामवनगमन-प्रसंग, २—दशरथ-निधन-प्रसंग और ३—भरत-कौसल्या-संवाद।

अध्यात्म और वाल्मीकीय दोनों रामायणोंमें भी कौसल्यादेवी अपने मातृत्वका अधिकार स्थापित करके आत्महत्याका भय दिखलाकर श्रीरामजीको पित्राज्ञासे पराङ्मुख करनेका प्रयत्न करती हैं। वाल्मीकीयकी कौसल्यादेवी तो एक कदम आगे ही बढ़ गयी हैं, क्योंकि वह श्रीरामजीको घोर नरकमें डालनेके लिये भी तैयार हो जाती हैं। राममाता समझकर उनका आदर कोई भी करेगा ही, परंतु इन दोनोंमेंसे किसीपर कोई भी प्रेम नहीं कर सकता। हर एकके मुखसे यही उद्गार निकलेगा कि इनमेंसे पहली आत्मघातिनी है तो दूसरी आत्मघातिनी होकर पुत्रको निरय-(नरक-)दायिनी भी है। दूसरोंको तो जाने दीजिये, स्वयं रामजीको भी ऐसा ही मालूम हुआ। यदि उनके मनमें यह कल्पना न आयी होती तो उन्होंने दोनों कौसल्या देवियोंको स्वयं ही शास्त्रीजी बनकर उपदेश करनेका प्रयत्न ही न किया होता। (अध्यात्म रामायण सर्ग ४ श्लोक ४५, ४६, १२ और वाल्मी० स० २४ श्लोक २५, २६ देखिये) श्रीरामजीका ऐसा उपदेश होनेपर भी अपने पूर्व स्वभावके अनुसार दोनों कब चल बसेंगी इसका कुछ भरोसा न होनेके कारण, लोकशिक्षाकी दृष्टिसे गोसाईंजीको उनसे भय ही मालूम हुआ होगा और इसी कारण उन्होंने अपनी रामायणमें उनमेंसे एक भी कौसल्यादेवी स्वीकृत नहीं की, यह बड़ा ही ठीक हुआ, क्योंकि आगे (पतिके मरते समय) शीघ्र ही देखा जायगा कि दोनों अपने पूर्व स्वभावपर चली गयी हैं।

अध्यात्म और वाल्मीकीय रामायणोंकी कौसल्यादेवीके सम्बन्धमें गोसाईंजीका मन इस प्रकार कलुषित हो जानेके कारण उन्हें उनके ध्येयके अनुसार स्वतन्त्र कौसल्या निर्माण करनी पड़ी।[2] कौसल्याकी योजना उन्होंने इस प्रकारसे की कि ***'मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे॥'***

१-राजापुर और रा० प० में यही पाठ है। भागवतदासजीने 'जाइ' पाठ दिया है।

२-श्रीरामचरितमानसकी कौसल्याका स्वभाव वाल्मीकीयके कौसल्याके स्वभावसे मेल नहीं खाता, अतः यह मान लेना कि गोस्वामीजीको अपने ध्येयके अनुसार स्वतन्त्र कौसल्या निर्माण करनी पड़ी, बड़ी ही अशुभ धारणा है।

यानी जिसका अलौकिक विवेक कभी भी नष्ट न हो। अर्थात् जो पतिधर्म और पुत्रप्रेमके विरोधका योग्य न्याय करनेवाली हजारों आघात होनेपर भी स्वधर्मसे तिलप्राय भी न हटनेवाली, आपाततः आपत्तिका दूरतक विचार करनेवाली, पुत्रको संकट-समयमें भी पुत्रधर्मपर ही अटल रहनेको सिखलानेवाली, दूसरेको किसी तरहका त्रास न पहुँचाते हुए मातृप्रेमको निभानेवाली और आपत्तियोंके बादल फट पड़नेपर भी धैर्य और विवेकको न छोड़नेवाली कौसल्या ही उन्हें योग्य मालूम हुई। ***'जौं सुत कहउँ संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदय होइ संदेहू॥'*** इस एक चौपाईसे स्पष्ट है कि रामजीको भी जिस माताके पेटसे जन्म लेनेमें धन्यता मालूम हो वैसी ही कौसल्यादेवी गोसाईंजीको अभीष्ट हुईं। इस प्रकार योजना हो जानेपर गोसाईंजीने अपनी कौसल्यादेवीकी प्राण-प्रतिष्ठा ***'राम भरत दोउ सुत सम जानी'*** इस बीज-मन्त्रसे की और उसके देहका अंगन्यास इन मन्त्रोंसे किया—***'तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका॥'*** से लेकर ***'पितु बनदेव मातु बनदेवी। खगमृग चरन सरोरुह सेवी॥'*** तक। तात्पर्य यह है कि लोक-संग्रहके लिये गोसाईंजीको वह कौसल्यादेवी पसन्द हुईं जो रामजीपरके अपने सब हक कैकेयीके चरणोंपर शान्तता और स्वेच्छासे अर्पण कर दे, जो स्वयं भरतजीकी माता और रामजीकी कैकेयी बन जावे। (मानसहंससे उद्धृत)

दो०—समाचार तेहि समय सुनि सीय उठी अकुलाइ।
जाइ सासु पद कमल जुग बंदि बैठि सिरु नाइ॥५७॥

अर्थ—उसी समय समाचार सुनकर श्रीसीताजी घबड़ा उठीं और सासके पास जाकर उनके दोनों चरण-कमलोंमें प्रणाम करके सिर नीचा करके बैठ गयीं॥५७॥

नोट—१ ***'तेहि समय'***=जिस समय विलाप बहुत हुआ, यथा—***'बरनि न जाइ बिलाप कलापा'***, उस समय उसका कारण किसीसे पूछा तब किसी दासीने समाचार कह सुनाया।

नोट—२ ***'बंदि'***=पाँयलगी करके, दोनों चरणोंको दोनों हाथोंसे छूकर—यह स्त्रियोंमें प्रणाम करनेकी चाल है, ये दोनों चरणोंको हाथमें अंचल पकड़े छूती हैं।

नोट—३ विपत्तिमें मर्यादा नहीं रहती इससे पतिके सामने सासके पास आना लिखा। हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि यहाँ ***'पद कमल जुग'*** को और ***'बंदि'*** को भिन्न-भिन्न चरणोंमें दिया, एक ही चरणमें न रखा, इसका भाव यह है कि इन चरणोंसे उन्हें पृथक् होना पड़ेगा।

दीन्हि असीस सासु मृदु बानी। अति सुकुमारि देखि अकुलानी॥१॥
बैठि नमित मुख सोचति सीता। रूपरासि पति प्रेम पुनीता॥२॥

शब्दार्थ—**सुकुमारि**=कोमल, नाजुक। **रूपरासि**=रूपवती, बहुत रूपवाली।

अर्थ—सासने कोमल वाणीसे आशीर्वाद दिया। श्रीसीताजीको अति सुकुमार देखकर वे घबड़ा गयीं। (कारण कि चेष्टासे जान गयीं कि ये साथ जरूर जायँगी, पर अत्यन्त सुकुमारी हैं, वनके क्लेश कैसे सह सकेंगी)॥१॥ रूपकी राशि और पतिके प्रेममें पवित्र श्रीसीताजी मुँह झुकाये बैठी सोचती हैं॥२॥

श्रीरामचरितमानस किस्सा-कहानी नहीं है कि उसके पात्रके स्वभावका कोई निर्माण करे। वाल्मीकिजी परम समाधिमें स्थित होकर, योगदृष्टिसे सब घटनाओंका साक्षात्कार करके तब लिखने बैठे। उनका लिखा अक्षरशः सत्य है। श्रीगोस्वामीजीने जो अपने गुरुजीसे सुना, उसीको भाषाबद्ध किया, वह भी अक्षरशः सत्य है। किसीने कोई नयी कौसल्या निर्माण नहीं की, बल्कि तत्-तत् कल्पकी कौसल्याका विधि-निर्मित स्वभाव ही वैसा था। वाल्मीकीयमें श्वेतवाराह कल्पके रामावतारकी कथा है और रामचरितमानसमें कम-से-कम २७ कल्पोंके पहलेके रामावतारोंकी कथा है, यथा—*'मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरित मानस तब भाखा॥'* तथा *'इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कल्प सात अरु बीसा॥'* अतः स्वभावोंमें भेद न पड़ना ही आश्चर्य है। (वि० त्रि०) मैं भी त्रिपाठीजीसे सहमत हूँ।

प० प० प्र०—*'अति सुकुमारि'* इति। माताने आगे ऐसा ही कहा है, यथा—*'तात सुनहु सिय अति सुकुमारी॥'* (५८। ८) इन वाक्योंको दशरथजीके *'सुठि सुकुमार कुमार दोउ जनकसुता सुकुमारि।'* (८१) इस वाक्यसे मिलान करनेसे ज्ञात होता है कि दशरथजी महाराज श्रीरामलक्ष्मणजीको श्रीसीताजीकी अपेक्षा अधिक कोमल मानते हैं और माताजी श्रीसीताजीको अधिक कोमल मानती हैं। यह वास्तववाद और माधुर्य प्रेमभावजनित भेद है। श्रीकौसल्याजी वास्तववादिनी हैं और श्रीदशरथजी माधुर्यप्रेमभावमें रँगे हैं। यह भेद तो राजा, रानी दोनोंकी (मनु-शतरूपा शरीररूपमें) वरयाचनामें ही प्रस्तुत है। बीजके अनुसार वृक्ष हुआ ही चाहे।

नोट—१ सिर नीचा किये सोचती हैं, यह सोचकी मुद्रा है। पूर्व जो कहा कि *'बंदि बैठि सिरु नाइ'* उससे आगेके प्रसंगको *'बैठि नमित मुख……'* कहकर मिलाया।

नोट—२ *'रूपरासि'* से बाहरकी और *'पति प्रेम पुनीता'* से भीतरकी शोभा कही। *'रूपरासि'* से तनको और *'पति प्रेम पुनीता'* से प्राणको सुकृती (अर्थात् दोनोंको सुकृती) सूचित किया। 'दोनों' संग जायँगे यह वक्ता सूचित कर रहे हैं और जानकीजीका विचार आगे है। बैजनाथजी लिखते हैं कि भाव यह है कि यद्यपि रूपराशि हैं अर्थात् सहज ही पतिकी दृष्टि आकर्षित करनेवाली शोभा तनमें है, तथा पतिमें उनका पवित्र प्रेम है अर्थात् वे पतिव्रता हैं अपनी सेवासे प्राणपतिको स्वाधीन किये हुए हैं तथापि समय जानकर शोचमें पड़ गयी हैं।

चलन चहत बन जीवननाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू॥ ३॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि करतबु कछु जाइ न जाना॥ ४॥

शब्दार्थ—**सन**=अवधी भाषामें यह करण कारकका चिह्न है=से।

अर्थ—जीवन-नाथ वनको चलना ही चाहते हैं। किस सुकृतीसे उनका साथ होगा*॥ ३॥ तन और प्राण दोनों (सुकृती साथ होंगे) या केवल प्राण-(सुकृती-)से ही साथ होगा? विधिकी गति कुछ जानी नहीं जाती॥ ४॥

नोट—१ *'जीवननाथू'* अर्थात् मेरा जीवन पतिके अधीन है, साथ रखें तो जीती रहूँगी, नहीं तो नहीं। 'जीवन' के स्वामी मेरे पति ही हैं।

नोट—२ *'केहि सुकृती सन'* अर्थात् तन और प्राण दोनों सुकृती हैं, इनमेंसे किस सुकृतीके संग पतिके साथ जाऊँगी, अर्थात् किस सुकृतीको उनका साथ होगा। तन और प्राण दोनोंको या प्राणहीका।—(पाँड़ेजी) भाव यह कि यदि प्राणनाथ मुझे साथ ले चलें तब तो हमारे प्राण और तन दोनों ही सुकृती हैं और यदि साथ न ले गये तो केवल प्राणहीको सुकृती समझूँगी। तात्पर्य यह कि पतिके बिना मैं प्राण कदापि नहीं रखूँगी, शरीरको छोड़कर (मरकर) प्राणोंसे ही उनका साथ करूँगी, प्राण उनके साथ कर दूँगी, जैसा कौसल्या अम्बाने कहा है—*'गइउँ न संग न प्रान पठाए।'* (१६६। ५) (पु० रा० कु०) इस प्रकार यहाँ 'विकल्प अलंकार' है, प्राणका तो साथ जाना निश्चय ही है और यदि यों अर्थ लें कि विधि-गति नहीं जानी जाती कि क्या होगा, प्राण जायँगे या तन-प्राण दोनों? तो 'संदेह' अलंकार होगा।

नोट—३ *'बिधि करतबु कछु जाइ न जाना।'* इति। तन सुकृती है या प्राण ही सुकृती है। किससे संयोग होगा, किससे वियोग होगा, यह सब विधिका कर्तव्य है। *'जाइ न जाना'* क्योंकि कर्मका फल ब्रह्मा देते हैं और कर्मकी गति कठिन है, विधाता ही जानते हैं, दूसरा नहीं; यथा—*'कठिन करम गति जान बिधाता।'* (२८२। ४)

---

* अर्थान्तर—हमारे किस पुण्यसे उनके साथ हमारा जाना होगा। कौन ऐसा सुकृत है जिसके उदयसे इस असमयमें हमें सहायता मिले। (वै०, रा० प्र०)

चारु चरन नख लेखति धरनी। नूपुर मुखर मधुर कबि बरनी॥ ५॥
मनहुँ प्रेमबस बिनती करहीं। हमहि सीयपद जनि परिहरहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—**लेखति**=कुरेदकर चिह्न बनाती हैं, लिखती हैं। **धरनी**=पृथ्वी। **नूपुर**=पाद-भूषण, पाजेब, घुँघरू। **मुखर**=शब्द।

अर्थ—अपने सुन्दर चरणोंके नखों-(नाखून) से पृथ्वीको कुरेद रही हैं। उस समय नूपुरोंमें जो मधुर शब्द हो रहा है, कवि उसे यों वर्णन करते हैं कि मानो नूपुर प्रेमके वश (श्रीरामचन्द्रजीसे) विनय करते हैं कि श्रीसीताजीके चरण हमारा त्याग न करें॥ ५-६॥

नोट—१ नखसे पृथ्वी कुरेदना, उसपर चिह्न बनाना, यह सोचकी एक मुद्रा है। सोचमें बैठे हुए मनुष्य सहज ही ऐसा करने लगते हैं और स्त्रियोंमें विशेषरूपसे यह स्वभाव पाया जाता है। यथा—***'पुलक सिथिल तनु बारि बिलोचन। महि नख लिखन लगीं सब सोचन॥ सब सियराम-प्रीति कि सि मूरति। जनु करुना बहु बेस बिसूरति॥'*** (२८१। ६-७) (मा० सं०) पुनः, ***'लेखति धरनी'*** का भाव कि संकट पड़नेपर माताका आश्रय लिया जाता है। ये अवनिकुमारी हैं, पृथ्वीमाताको अपना संकट सुनाना चाहती हैं, पर सास और पतिके संकोचसे बोल नहीं सकतीं, अतः लिखकर जनाती हैं अथवा राघवजीसे जनाती हैं कि संग न लोगे तो मैं इसीमें प्रवेश कर जाऊँगी। मातासे कहती हैं कि यदि रघुनाथजी संग न ले जायँ तो आप ही हमें ग्रहण करें। (वै०, रा० प्र०)

नोट—२ ***'हमहि सीयपद जनि परिहरहीं'***—भाव कि आप श्रीसीताजीको साथ ले चलें, जिसमें वे हमें चरणोंमें रखे रहें, क्योंकि साथ न लेनेसे आपके विरहमें वे हमको चरणोंसे निकालकर फेंक देंगी।*

नोट—३ वे० भू० जी कहते हैं कि—'नूपुर सीयपदसे विनती करते हैं कि 'हे सीयपद! आप हमें न त्यागें।' क्योंकि '**अमी पुरस्याः सकलाः सुनिद्रिता न नूपुरं मुञ्च सुखेन यास्यसि। यदि त्यजेः श्रीपदपङ्कजाश्रितं सीते तवाख्यातिरियं भविष्यति॥**'

मंजु बिलोचन मोचति बारी। बोली देखि राम महतारी॥ ७॥
तात सुनहु सिय अति सुकुमारी। सासु ससुर परिजनहि पिआरी॥ ८॥

अर्थ—सुन्दर दोनों नेत्रोंसे जल बहा रही हैं। यह देखकर श्रीरामजीकी माता बोलीं कि हे तात! सुनो, सीता अत्यन्त सुकुमारी हैं, सास-ससुर और कुटुम्बी सभीको प्यारी हैं॥ ७-८॥

टिप्पणी—(क) ***'मंजु बिलोचन'*** का भाव कि श्रीजानकीजीको रूपराशि कह आये हैं ***'रूपरासि पति प्रेम पुनीता'*** इसीसे प्रसंगतः सब अंगोंकी शोभा कहते हैं। यहाँ ***'मंजु बिलोचन मोचति बारी'*** में नेत्रोंकी शोभा कही। आगे ***'चंद्रबदनि दुख कानन भारी'*** में मुखकी शोभा कही। ***'चारु चरन नख लेखति धरनी'*** में चरणोंकी शोभा कही। पुनः, पति-वियोगके भयसे नेत्र जल छोड़ते हैं इससे नेत्रोंको मंजु कहा; संग चलनेके लिये नखोंसे पृथ्वी लिखती हैं इससे चरणोंकी शोभा ***'चारु'*** विशेषण देकर कही, और नूपुर रामजीसे विनय करते हैं इसीसे उनके मुखर (शब्द) को मधुर कहते हैं। (बैजनाथजीका मत है कि वसिष्ठजी संयमकी आज्ञा दे गये थे, अतः कलसे संयमसे रहनेके कारण नेत्रोंमें अंजन-सुरमा आदि नहीं हैं और वियोग-भयसे इस समय करुणा आ गयी, इसीसे नेत्र मंजु अर्थात् उज्ज्वल हैं। नेत्रोंसे अश्रु गिर रहे हैं, यह करुण चेष्टा देखकर श्रीकौसल्याजी बोलीं।) (ख)—***'अति सुकुमारि देखि अकुलानी'*** इस चरणपर प्रसंग छोड़ा था, अब वहींसे फिर प्रसंग उठाते हैं—***'तात सुनहु सिय अति सुकुमारी।'***

---

* अलंकार—यहाँ 'असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा' है। अफलको फल माननेकी उत्प्रेक्षा करना फलोत्प्रेक्षा है; जब इसका आधार असम्भव होता है तब इसे 'असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा' कहते हैं; इसमें क्रियासे फलकी इच्छा प्रकट होती है। नूपुर जड़ हैं उनमें प्रार्थना और यह कि साथ न छूटे अर्थात् साथ रहनेकी इच्छाका होना असिद्ध (असम्भव) आधार है।

वै०, रा० प्र०—*'राम महतारी'* अर्थात् राम परम धीर हैं तो उनकी माँ क्यों न धीर हों। *'अति सुकुमारी'* अर्थात् तुमसे भी सुकुमार हैं।

वि० त्रि०—जिस समय रामजी मातासे विदा माँग रहे थे, ठीक उसी समय सीताजीका अपने महलसे वहाँ चली आने, और सोचकी मुद्रासे बैठकर आँसू बहानेका अर्थ ही यह है कि मैं भी साथ जाऊँगी, मुझे भी आज्ञा मिले, कौसल्याजीने तुरन्त बात समझ ली। इसके इस समय यहाँ आनेका मतलब दूसरा हो नहीं सकता। अपने धर्मपर खड़ी है, इसे मैं कैसे रोकूँ, और यह अति सुकुमार है, कथमपि वन जानेयोग्य नहीं है, रामचन्द्र इसके पति हैं, ये ही यदि चाहें तो इसे रोक सकते हैं, अतः सीताजीसे कुछ न कह रामजीसे बोलीं। जो सीताजीसे कहना था—वही सीताजीको सुनाकर रामजीसे ही कहा।

दो०—पिता जनक भूपालमनि ससुर भानुकुलभानु।
पति रबि-कुल कैरव-बिपिन बिधु गुन रूप निधानु॥ ५८॥

अर्थ—इनके पिता राजशिरोमणि (राजाओंमें श्रेष्ठ) श्रीजनकजी हैं, ससुर सूर्यकुलके सूर्य (दशरथ महाराज) हैं और पति सूर्यकुलरूपी कुमुदवनके लिये चन्द्र (के समान प्रफुल्लित करनेवाले) और गुण और रूपके समुद्र हैं॥ ५८॥*

टिप्पणी—१ *'भूपालमनि'* यथा—*'पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृपमनिमुकुट मिलत पद पीठा॥'* (९८। १) पिताको 'भानुकुलका भानु' कहा, यदि रामजीको भी वही कहें तो पिता-पुत्रकी बराबरी होती है। अतएव पिताको सूर्य और पुत्रको चन्द्र कहा। भानुका अंश चन्द्रमा है, पिताका अंश पुत्र है। 'गुणनिधान' का भाव कि चन्द्रमा अवगुणका निधान है, यथा—*'अवगुन बहुत चंद्रमा तोही',* रामजीमें अवगुण नहीं हैं। 'रूपनिधान'—भाव कि चन्द्रमाके छई रोग है। रोगीका रूप मलिन रहता है पर रामजी रूपके निधान हैं।

टिप्पणी—२ रा० प्र०—*'पति रबि-कुल कैरव-बिपिन'* और *'बिधु'* को दोहेके भिन्न-भिन्न चरणमें देकर जनाया कि विधु (रामजी) कैरव-वन (रघुकुल) से जुदा होते हैं।

नोट—चन्द्रमाके उदय होनेसे कुमुदिनी खिल उठती है वैसे ही रघुवंशी आपको देखकर प्रफुल्लित—आनन्दित होते हैं।

मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। रूपरासि गुन सील सुहाई॥ १॥
नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई॥ २॥

अर्थ—फिर मैंने रूपवती, सुन्दर गुण और शील-स्वभाववाली प्यारी बहू पायी॥ १॥ मैंने जानकीको नेत्रोंकी पुतली बनाकर इससे प्रेम बढ़ाया और अपना प्राण उनमें लगा रखा है॥ २॥ (वा, प्राणोंके साथ लगाकर जानकीको रखती थी—पंजाबीजी।)

टिप्पणी—१ (क) *'मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई'* अर्थात् ऐसी पुत्रवधू और किसीको प्राप्त नहीं हो सकती। बिना गुण और शीलके रूपकी शोभा नहीं होती, और श्रीजानकीजीमें रूपकी शोभाके साथ-ही-साथ गुण और शीलकी भी शोभा है। बहुत वस्तु सिमिटकर एकत्र होनेपर 'राशि' कहलाती है, वैसे ही तीनों लोकोंका रूप सिमिटकर यहाँ एक राशि (ढेर, समूह) हो गया है। (देखिये, राक्षसी शूर्पणखा भी कह रही है—*'तिन्हके सँग नारि एक स्यामा॥', 'रूपरासि बिधि नारि सँवारी।'* (३। २२। ८-९) (ख) *'पुनि'* गहोरा देशकी बोली है, इसका कुछ अर्थ नहीं लिया जाता। यथा—*'मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी', 'मैं पुनि गयउँ बंधु संग लागा'* तथा यहाँ *'मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई।'* अर्थात् *मैं पुनि*=मैं। (हमने पूर्व-प्रसंगसे मिलाकर 'पुनि' का अर्थ 'फिर' किया है।)

टिप्पणी—२ (क) *'नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई।········'* इति। नयनकी पुतली बनाया अर्थात् मुझे जानकी

* सीताजीका उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्णन 'सार अलंकार' है। उत्तरार्द्धमें परम्परित रूपक है।

अत्यन्त प्रिय हैं, अत्यन्त प्रियको लोग नेत्रकी पुतली-सरीखी रखते हैं, यथा—*'जौं बिधि पुरब मनोरथ काली। करौं तोहि चषपूतरि आली॥'* (२३। ३), *'जौं माँगा पाइय बिधि पाहीं। ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं॥'* (१२१। ५) और पति दशरथजी महाराजकी आज्ञा भी यही थी कि *'बधू लरिकनी पर घर आईं। राखेहु नयन पलककी नाईं॥'* (१। ३५४) अतएव कौसल्याजी जानकीजीको 'नयनकी पुतलीके समान रखती हैं।' (ख)—*'प्रीति बढ़ाई'* से सूचित किया कि इनमें मेरी प्रीति नित्य नवीन बढ़ती जाती है। *'राखेउँ प्रान जानकिहि लाई'* इति। भाव कि इनको तन-मन-प्राणसे सेती रही हूँ। *'नयन-पुतरि करि'* यह तनसे सेवन है, *'प्रीति बढ़ाई'* यह मनसे सेवन है और *'राखेउँ प्रान जानकिहि लाई'* यह प्राणसे सेवन हुआ। [पुनः, *'राखेउँ प्रान·········'* से जनाया कि इनके वियोगसे मुझे प्राण निकलनेके समान कष्ट होगा। इस युक्तिसे रोकना चाहती हैं। (वै०)]

पंजाबीजी—*'मैं पुनि पुत्रबधू'* इति—भाव कि मैं बड़भागिनी हूँ कि ऐसी पुत्रबधू पाई जो केवल पिता आदिकी ओरसे ही श्रेष्ठ नहीं, किंतु आप भी रूपगुणशीलका समुदाय है। इन गुणोंवाला अहंकारी होता है, सो दोष इसमें नहीं, यह सुशील है, परम सुन्दर स्वभावयुक्त है।

कलपबेलि जिमि बहु बिधि लाली। सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली॥ ३॥
फूलत फलत भएउ बिधि बामा। जानि न जाइ काह परिनामा॥ ४॥

शब्दार्थ—**कलपबेलि**=कल्पलता। **लाली**=लालन-पालन किया, प्यारसे पाला। **प्रतिपाली**=प्रतिपालन किया; पाला, रक्षा की। **परिनाम** (परिणाम)=परिपक्व फल, अंजाम, अन्त।

अर्थ—कल्पलताकी तरह मैंने (श्रीसीताजीका) बहुत तरहसे लालन-पालन किया और प्रेमरूपी जलसे सींचकर इसका प्रतिपालन किया॥ ३॥ फूलते-फलते समय विधाता वाम (उलटे, टेढ़े) हो गये, जाना नहीं जाता कि क्या परिणाम होगा॥ ४॥

नोट—१ बेलि स्त्रीलिंग है। श्रीजानकीजीकी उपमा है इससे कल्पबेलि कहा। श्रीजानकीजी ब्याह कर आयीं तब छः वर्षकी थीं इसीसे माता कहती हैं कि मैंने पालन किया। *'बहु बिधि'* अर्थात् तनसे, मनसे, प्राणसे, स्नेहसे। *'कलपबेलि·········'* में उदाहरण अलंकार और परम्परित रूपक है।

नोट—२ वि० त्रि०—कौसल्याजी कहती हैं कि इस (सीताजी) को मैकेमें भी, श्वशुरालयमें भी सुख-ही-सुख रहा, जन्मसे ही विधाता इसके अनुकूल थे, जब फूलने-फलनेका समय आया तब विधाता प्रतिकूल हो गये। रामचन्द्रको वनवास हो गया। अयोध्या अनाथ हो रही है, इस समय यह भी चली तो होनहार क्या है कुछ समझमें नहीं आता। विपत्तिका अन्त यहींतक नहीं है। तुम्हारे चले जानेपर, और इसके भी साथ जानेपर, क्या-क्या दुर्घटनाएँ होंगी, उनके इयत्ताका अन्दाज लगाना कठिन है।

नोट—३ *'फूलत फलत भयउ बिधि बामा।'* इति। (क) इससे जान पड़ता है कि विवाहके बाद बहुत दिन अवधमें रहीं। विवाहमें छः वर्षकी थीं, अब १८ वर्षकी हैं। इस प्रकार १२ वर्ष यहाँ रहीं। *'फूलत फलत'* अर्थात् अब लवकुशरूपी फूल-फल लगते। पुत्र होना फूलना-फलना है। वनवास होना विधिकी प्रतिकूलता है। समझमें नहीं आता कि क्या परिणाम होगा, वनमें यह जीती रहे या न रहे—(पु० रा० कु०) पुनः, (ख)—*'फूलत फलत'* अर्थात् राज्यसुख भोग करती, रानी बनती, सन्तान होती। (पंजाबीजी) (मेरी समझमें सन्तानका इस अवस्थामें उस समय होना फलका लगना नहीं है। *'फलति बिलोकि मनोरथ बेली।'* (२। १। ७) में देखिये। (ग) *'काह परिनामा'* अर्थात् अब यह सुख देखनेको मिले या न मिले कौन जानता है। (वै०) पुनः *'काह परिनामा'* =किस कर्मका फल है। (पंजाबीजी) इसमें संदेहालंकार है।

पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥ ५॥
जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीपबाति नहिं टारन कहऊँ॥ ६॥

शब्दार्थ—'**पलँग पीठ**'=पलँग और सिंहासन; पलँगका आसन जैसे चरण-पीठ=चरणका आसन=खड़ाऊँ। '**पीठमासनमिति**'=(अमरकोष) अर्थात् पीठ आसनको कहते हैं। यहाँ कोमल आसन अभिप्रेत है। पीढ़ा कोमल आसन नहीं कहा जा सकता। कोमल शय्या। जोगवना—१। ३५२। ७ देखो।

अर्थ—श्रीसीताजीने पलँग, कोमल आसन, गोद और हिंडोला छोड़ कभी कठोर पृथ्वीपर पैर नहीं रखा॥ ५॥ जीवनमूरिकी तरह मैं उनकी रक्षा करती रहती हूँ। दीपककी बत्तीतक टारने (घटाने, बढ़ाने, उसकाने) को नहीं कहती॥ ६॥

टिप्पणी—१ ***'पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा'*** इति। अर्थात् पलँगसे उतरीं तो सिंहासनपर बैठीं, उसे छोड़ा तो गोदमें रहीं, गोदसे उतरतीं तो हिंडोलेमें झूलती हैं। तात्पर्य यह कि जब अनेक गुलगुले बिछौने बिछें, अनेक पाँवड़ें पड़ें, तब कहीं, उसपर पैर रखती हैं। ['पुनः ***'पलँग·······हिंडोरे'*** का भाव कि बाल्यावस्थामें माता आदिकी गोदमें रहीं अथवा हिंडोलेमें रहीं, जब सयानी हुईं तब गोद और हिंडोला छूटा। तबसे पलँगकी कोमल शय्यापर रहीं। (वै०)] कथनका आशय कि जो पलँगपर सोती रही हैं वे पृथ्वीपर क्योंकर सोवेंगी? जो सिंहासन, गोद और हिंडोलेपर बैठती रहीं वे कठोर पृथ्वीपर कैसे बैठेंगी? जिसने कठोर पृथ्वीपर पैर नहीं दिया वह उसपर कैसे चलेंगी?

टिप्पणी—२ ***'जियनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ'***—पहले कल्पलताकी उपमा दी, अब संजीवनी बूटीकी। भाव यह कि मेरे मनोरथ पूरे करनेके लिये ये कल्पबेलिके समान हैं और मुझे जीवित रखनेके लिये संजीवनीके समान हैं।

टिप्पणी—३ ***'दीप बाति नहिं टारन कहऊँ'*** अर्थात् इतना हलका काम करनेको भी न कहा कि इसको परिश्रम होगा।

नोट—मानस-मयंककार और मुं० रोशनलाल लिखते हैं कि 'शम्बरासुर अयोध्यामें पत्थरकी वर्षा कर उपद्रव मचाये रहता था। नारद, वसिष्ठ आदि महर्षियोंने विचारकर कहा कि इसके शमनके लिये यज्ञ किया जाय, पर उस यज्ञकी पूर्ति तभी होगी जब श्रीसीताजी अपने हाथसे उस यज्ञके दीपककी बत्ती उसकावें। इतना उत्पात हो रहा था, प्रजाको दुःख था, तब भी कौसल्याजीने यह अंगीकार न किया कि श्रीजानकीजीको इतना भी कष्ट दिया जाय। गणपति उपाध्यायजी कहते हैं—***'पाहन वर्षा देखि कै कहि नारद बहु भाँति। दीपशिखा सिय टारहीं होइ बिघ्न तब शान्त॥'*** इस कथाका अवलम्ब इससे लेते हैं कि राजमहलमें तो मणि दीपकका काम करते थे, वहाँ बत्तीका काम ही न था तब बत्ती टालना कैसे बने?

श्रीनंगेपरमहंसजी भी सुनी कथा कहते हैं। वे लिखते हैं कि किसी पुराणमें कहा है कि एक दैत्य श्रीअवधमें आ-आकर उपद्रव करता रहता था। उसकी मृत्यु इस प्रकार थी कि मिट्टीके घड़ेमें छिद्र करके उसमें दीपक जलाकर यदि श्रीजानकीजी उस दैत्यको दिखा दें तो उसकी मृत्यु हो जाय, पर कौसल्याजी इस विचारसे कि सीताजीको कष्ट होगा, यह कार्य उनको नहीं करने देती थीं। राजा दैत्यके कारण बड़े दुःखी थे। जब राजाको यह बात मालूम हुई तब उन्होंने कौसल्याजीसे कहा कि जानकीसे यह काम करा दो। ऐसा किया गया, जानकीजीने उसे ज्यों ही बत्ती दिखायी, उसकी मृत्यु हो गयी। (कथा किस पुराणमें है पता नहीं। पर यहाँ बत्तीके उसकानेकी बात कविने लिखी है और इस कथामें बत्ती जलाकर दैत्यको दिखानेकी बात है।)

☞ श्रीअयोध्याजीमें तो ***'गृह गृह प्रति मनिदीप बिराजहिं।'*** (७। २७। ८) तब दीपककी बत्ती टालनेकी बात कैसे कही गयी? इसीके निर्वाहके लिये शम्बरासुर आदिकी कथाएँ कही जाती हैं जो ऊपर दी गयीं। अ० दी० च० कारने प्रमाणमें '**वर्त्तिका दीपमध्ये तु लुप्ता मर्त्या तत्क्षणः। मर्त्या निर्विघ्नता चैव परास्तं प्रति एव च॥**' इति (भास्करः) यह श्लोक दिया है।

वे० भू० जी लिखते हैं कि धर्मशास्त्रके आज्ञानुसार नित्य तथा विशेष कुछ अवसरोंपर, जैसे कि देवपूजन, अनुष्ठान, दीपमालिकापर, दीपक जलाना आवश्यक है। धार्मिक कृत्योंमें घृत-तैलादिके ही दीपकोंसे

काम लिया जाता है। वैदिक धर्मशास्त्रमें नित्य सायंकालमें दीपक जलाना गृहस्थाश्रमिकोंका कर्तव्य बताया गया है। दीपनिर्वापण कार्य कुलदेवियोंको ही करना चाहिये। पुरुषोंके दीपनिर्वापणमें दोष बताया गया है, यथा—**'दीपनिर्वापणात्पुंसः कूष्माण्डछेदनात् स्त्रियः। अचिरेणैव कालेन वंशनाशो भवेद् ध्रुवम्॥'** (यजुर्वेदीय आह्निकसूत्रावली अह्न अष्टम भाग दीपप्रकरण।) इस शास्त्राज्ञाके अनुसार प्रकाशार्थ नहीं अपितु स्वगार्हस्थ-धर्मपालनार्थ राजसदनमें दीपक नित्य जलाया जाता था। उसका निर्वापण करनेको कभी कौसल्याजीने जानकीजीसे नहीं कहा। निर्वापणकी विधि यही है कि बत्तीको खिसकाकर तेलमें डुबा दे, इससे बुझानेपर दुर्गन्ध भी नहीं होती—इसके अनुसार ऊपरसे किसी कथाकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा॥ ७॥
चंदकिरन रस रसिक चकोरी। रबिरुख नयन सकइ किमि जोरी॥ ८॥

अर्थ—वही सीताजी अब तुम्हारे साथ वनको चलना चाहती हैं। हे रघुनाथ! क्या आज्ञा होती है?॥ ७॥ चन्द्रमाकी किरणोंके रस (अमृत) की चाहनेवाली एवं प्रेम-चकोरी (भला) सूर्यके सामने नेत्र कैसे मिला सकती है? अर्थात् जो सदा भारी राज्य-सुख भोग कर रही है वह वनका भारी दुःख क्योंकर सह सकेगी॥ ८॥

नोट—१ ***'सोइ सिय'*** अर्थात् जो ऐसी सुकुमारी और लाड़-दुलार-नाजमें पली हुई हैं। सुकुमारता दिखाकर आज्ञा माँगनेका आशय यह है कि हमारी रुचि है कि श्रीजानकीजी घरमें रहें। ***'आयसु काह'***—श्रीरघुनाथजीसे इनके बारेमें इस प्रकार कहनेका भाव यह है कि यदि वे यह कह दें कि इनको घर रहनेकी आज्ञा दो तो श्रीजानकीजीको घर रहना पड़े, उनको बड़ा धर्म-संकट पड़े; इसीसे माताने श्रीरामजीको ऐसी आज्ञा देनेके लिये न कहकर इनके साथ जाने-न-जानेकी बात उनकी ही रुचि और आज्ञापर छोड़ दी।

नोट—२ प० प० प्र०—(क) श्रीकौसल्याजीने माता होनेपर भी 'क्या इच्छा है?' इस प्रकार न पूछकर क्या आज्ञा है?' यह कहा। आगे भी फिर ऐसा ही कहती हैं, यथा—***'अस बिचारि जस आयसु होई।' 'पति रबि-कुल कैरव-बिपिन बिधु········।'*** (५८) में भी पुत्रत्वका उल्लेख नहीं है। मध्यम पुरुषका भी उपयोग न करके उन्होंने प्रथम पुरुषका ही उपयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि माता कौसल्या माताका नाता भूलनेका प्रयत्न कर रही हैं, इसीसे ऐश्वर्यभावमें ही बोल रही हैं। (ख) 'रघुनाथ' शब्दमें भी यही भाव है कि रघुवंशके नाथ होते हुए भी सबको अनाथ करके तुम वनमें जा रहे हो, अतएव हम सबोंका कर्तव्य यही है कि तुम्हारी आज्ञाके अनुकूल चलें।

नोट—३ ***'चंद किरन रस रसिक चकोरी········'*** इति। (क) यहाँ अयोध्या चन्द्रमा है, अवधके अनेक सुख चन्द्रकिरण-रस हैं, श्रीसीताजी उसकी रसिक चकोरी हैं, वन रवि है, दुःख सूर्यकिरणका ताप है। यहाँ 'ललित अलंकार' और 'वक्रोक्ति' है। (पं० रा० कु०) (ख) पंजाबीजी लिखते हैं कि ***'चंदकिरन रस रसिक'*** से जनाया कि यह तुम्हारे मुखचन्द्रकी कान्तिकी रसिक है, तुम्हारे वियोगरूपी प्रचण्ड सूर्यके सामने नेत्र कैसे करेगी। तात्पर्य कि ऐसा समझकर इन्हें साथ लेना उचित जान पड़ता है। यह कहकर फिर वनके दुःख समझकर लोकाचार-निमित्त वनके दुःख भी दिखाती हैं। प्रायः यही मत स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका है। वे लिखते हैं कि कौसल्याजीने अभी-अभी श्रीरामजीको ***'रबि-कुल कैरव-बिपिन बिधु'*** कहा है, अतएव श्रीरामजी चन्द्र हैं, कविने भी वन्दनाप्रकरणमें कहा है—***'प्रगटे जहँ रघुपति ससि चारू।'*** श्रीसीताजी चकोरी हैं। चन्द्रदर्शनसे ही चकोरीको सुख समाधानकी प्राप्ति होती है। रघुपति विरह दिनेश है, यथा—***'नारि कुमुदिनी अवध सर रघुपति बिरह दिनेस। अस्त भए बिगसत भईं निरखि राम राकेस॥'*** (७। ९) चकोरी सीताजी इसके तापको सह न सकेंगी। (प्रायः पंजाबीजीका सब भाव है।)

दो०—करि केहरि निसिचर चरहिं दुष्ट जंतु बन भूरि।
बिष बाटिका कि सोह सुत सुभग सजीवनि मूरि॥ ५९॥

अर्थ—हाथी, सिंह, निसाचर तथा और भी बहुत दुष्ट जन्तु वनमें विचरते फिरते हैं। हे पुत्र! क्या विषकी वाटिकामें सुन्दर संजीवनी बूटी शोभित हो सकती है? (कदापि नहीं)॥ ५९॥

टिप्पणी—१ (क) *'करि केहरि निसिचर'* और *'दुष्ट जंतु बन'* और *'बिष बाटिका',* श्रीसीताजी और *'सजीवनि मूरि'* परस्पर उपमेय-उपमान हैं। विषकी झाड़से संजीवनी सूख जाती है, वनके दुष्ट जीव-जन्तुओंके संगमें श्रीजानकीजी कैसे जी सकती हैं? *'बिष बाटिका'* से सूचित किया कि विषयुक्त वृक्षोंके बीचमें संजीवनी नहीं शोभित हो सकती। (ख)—वाटिकामें छोटे-बड़े दोनों तरहके वृक्ष होते हैं। अतएव यहाँ भी वनमें विचरनेवालोंकी दो कोटियाँ अर्थात् भाग किये। करि, केहरि और निशाचर भारी जीव हैं। साँप, बिच्छू इत्यादि छोटे-छोटे जीव हैं। यही दो कोटियाँ हैं। तात्पर्य यह है कि जिस सीताको मैं *'जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ '* वही सीता वनमें इन दुष्ट जीव-जन्तुओंके बीचमें कैसे रहेंगी? (ग) ***चरहिं***=विचरते हैं, फिरते हैं। भाव कि वनमें जहाँ ही टिको या रहो, वहाँ ही ये दुष्ट आपसे-आप आ प्राप्त होते हैं। (घ) *'सुभग'* का भाव कि संजीवनीमें गुण तो है पर रूप सुन्दर नहीं है और श्रीजानकीजीमें संजीवनीके गुण तो हैं ही, पर सुन्दरता भी है। अतएव *'सुभग सजीवनि मूरि'* कहा।

प० प० प्र०—*'सुभग सजीवनि मूरि'* से ध्वनित किया कि *'मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा।'* (६०। ७) आगे श्रीदशरथजीने भी कहा है कि यदि सीता *'फिरइ त होइ प्रान अबलंबा।'* राजा और रानीके विचारों वा शब्दोंमें भेद विचारनेयोग्य है। (कौसल्याजीको अलौकिक विवेक होनेसे श्रीरामवियोगमें उनके प्राण नहीं जायँगे, अतः वे कहती हैं कि मुझे बहुत अवलम्ब होगा। और राजाके तो प्राण ही वियोगमें चले जानेको हैं, अतः वे कहते हैं कि प्राणोंकी रक्षा इनके रहनेसे हो जायगी।)

श्रीकौसल्याजी और राजा जनककी दशा श्रीरामविरहमें एक-सी है। दोनोंको अपने ज्ञानके कारण पछताना पड़ा। यथा—*'ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ॥',* (५६। ८) *'सिथिल सनेह गुनत मन माहीं। आए इहाँ कीन्ह भल नाहीं॥ रामहिं राय कहेउ बन जाना। कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रबाना॥ हम अब बन ते बनहि पठाई। प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई॥'* (२९२। २—४) श्रीसुनयनाजीकी स्थिति कुछ-कुछ दशरथजीकी-सी है।

बन हित कोल किरात किसोरी। रची बिरंचि बिषय सुख भोरी॥ १॥
पाहन कृमि जिमि कठिन सुभाऊ। तिन्हहि कलेसु न कानन काऊ॥ २॥
कै तापस तिय कानन जोगू। जिन्ह तप हेतु तजा सब भोगू॥ ३॥

शब्दार्थ—**हित**=लिये। **किसोरी**=(किशोरी) लड़की, कन्या। **भोरी**=अज्ञान। **पाहन**=पत्थर, पाषाण। **पाहन कृमि**=पत्थरका कीड़ा जो पत्थरको खाता है। **कृमि**=कीड़ा, **हेतु**=लिये। **भोगू**=उत्तम भोजन-वस्त्र आदि सांसारिक भोग-विलासके सुख।

अर्थ—ब्रह्माजीने वनके लिये तो कोल-किरातकी कन्याओंको बनाया है जो विषयसुख (भोग-विलास उत्तम वस्त्र भोजन आदि) से भोरी (अर्थात् न जाननेवाली) हैं॥ १॥ जिनका पत्थरके कीड़े-जैसा कठोर स्वभाव है। उन्हें वनमें कभी भी कष्ट नहीं होता॥ २॥ अथवा, तपस्वियोंकी स्त्रियाँ वनके योग्य हैं, जिन्होंने तपस्याके लिये सब भोगों (ऐश्वर्य-सुख) को त्याग दिया।

नोट—१ पं० रामकुमारजी यों अर्थ करते हैं—'कोल-किरातोंकी कन्याओंका वनमें हित है जिन्हें ब्रह्माने विषयसुखसे भोरी रचा है अर्थात् वे विषयसुखको नहीं जानतीं। विषयसुखसे भोरी बनाया क्योंकि उन्हें वनमें रहना है, वहाँ विषयसुख कहाँ है?

टिप्पणी—१ *'पाहन कृमि जिमि कठिन सुभाऊ'* इति। पत्थर कठोर होता है वैसे ही पत्थरके कीड़ेका स्वभाव कठोर है; पत्थरमें रहनेसे उसे क्लेश नहीं। वैसे ही कोल-किरातकी लड़कियोंका स्वभाव कठिन है। इससे उन्हें वनमें रहनेसे क्लेश नहीं है। [पुनः भाव कि उत्पत्तिस्थान कठोर होनेसे उनका स्वभाव स्वतः

कठोर होता है—*'कारन ते कारज कठिन……। कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर।'* (१७९) और श्रीजानकीजी तो भूमिजा हैं। जैसे पृथ्वीका स्वभाव कोमल है वैसे ही श्रीजानकीजीका स्वभाव है। अत: उनको काननमें क्लेश होगा। (नं० प०)] कठिन स्वभाव, ठंढ-गर्मीकी तपन, वर्षा सबका सहन करनेवाला स्वभाव दिखानेके लिये पत्थरके कीड़ेकी उपमा दी गयी। *'काऊ'* अर्थात् जाड़ा-गर्मी-बरसात कभी भी। (पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'कीड़ेका कठिन स्वभाव है; वह दूसरी वस्तुको नहीं जानता; वैसे ही ये वनको ही जानती हैं। वनमें पैदा हुए लोग उसीको सुख समझते हैं। कीड़ा पत्थर काटता है और ये पाला-गर्मी-सर्दी स्वाभाविक ही काट डालते हैं।')

टिप्पणी—२ (क)—पहले कोल-किरातकिशोरीको (वनके योग्य) कहकर तब तपस्वीकी स्त्रीको कहा। इस क्रमका भाव यह है कि कोल-किरातकी लड़की क्लेश सहनेमें तपस्वीकी स्त्रीसे विशेष हैं; क्योंकि वे तो वनमें स्वाभाविक रहनेसे वनका क्लेश जानती ही नहीं और इनको वनका क्लेश व्यापता अर्थात् मालूम होता है; अतएव उनको प्रथम कहा। दोनोंमें 'प्रथम सम अलंकार' है।

टिप्पणी—३ *'तजा सब भोगू'* इति। इससे जनाया कि उन्होंने युवावस्थामें सब सुख भोग लिये, तब तपस्या करने गयीं। भोगसे तप नहीं होता। अतएव तप करनेवाले भोगका त्याग करते हैं, यथा—*'अति सुकुमारि न तनु तप जोगू। पति पद सुमिरि तजेउ सब भोगू॥'* (१। ७४। २) *'बैखानस सोइ सोचै जोगू। तपु बिहाइ जेहिं भावइ भोगू॥'* (१७३। १) (भाव कि श्रीजानकीजीने तो किसी भोगका त्याग नहीं किया है, अतएव वे आपके साथ वन जाने योग्य नहीं हैं। नं० प०।)

नोट—मानसमयंककार लिखते हैं कि—*'कै तापस तिय…… '* से वाग्देवीके अभ्यन्तर यह ध्वनि निकलती है कि तपस्वीकी स्त्री वनवासयोग्य हैं; अत: वे साथ जायँ'।

सिय बन बसिहि तात केहि भाँती। चित्र लिखित कपि देखि डेराती॥ ४॥
सुरसर सुभग बनज बनचारी। डाबर जोगु कि हंसकुमारी॥ ५॥
अस बिचारि जस आयसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई॥ ६॥
जौं सिय भवन रहै कह अंबा। मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा॥ ७॥

शब्दार्थ—**लिखित**=खिंची हुई, उतरी हुई। **चारी**=चलने, बिहरने, चलनेवाली। **सुरसर**=देवसर; जैसे-मानससर, नारायणसर, पम्पासर, विन्दसर—(पं० छोटेलाल) **डाबर**=गढ़ा, गड्ढा, जिसमें सूकर लोटते हैं।

अर्थ—हे तात! सीताजी वनमें किस तरह बसेंगी कि जो तसवीरमें बने हुए बन्दरको देखकर डरती हैं?॥ ४॥ सुन्दर मानससरके सुन्दर कमलवनमें विचरण करनेवाली हंसकुमारी (हंसकी पुत्री) क्या गड्ढेमें रहने योग्य है? अर्थात् नहीं है॥ ५॥ ऐसा विचारकर जैसी तुम्हारी आज्ञा हो वैसी ही शिक्षा मैं जानकीजीको दूँ॥ ६॥ माता कहती हैं (अर्थात् फिर बोलीं) कि यदि सीताजी घर रहें तो मुझको बहुत सहारा हो जाय॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'चित्र लिखित कपि देखि डेराती'* इति। भाव कि बन्दरका चित्र देखकर डरनेवाली साक्षात् सिंह-व्याघ्र, बन्दरको देखकर कैसे जियेंगी? *'केहि भाँती'* अर्थात् तन कोमल है, स्वभाव डरपोक है, वनमें अनेक प्रकारके दु:ख हैं, तो ये वहाँ किस तरह रह सकती हैं? यहाँ काव्यलिंग अलंकार है।

टिप्पणी—२ *'सुरसर सुभग बनज बनचारी।…'* इति। हंस मानसरोवरके कमलवनमें विचरण करते और मोती चुगते हैं। डाबर छोटा गड्ढा होता है जिसमें मैला पानी रहता है, स्वच्छ जल नहीं प्राप्त होता। यहाँ अयोध्या मानसरोवर है, अनेक प्रकारके व्यंजनोंका भोजन और नाना प्रकारके सुख-भोग मोतीका चुगना है, अनेक रंगोंके कोमल फर्शों, बिछौनों, पावड़ोंपर चलना कमलवनमें विचरना है, वन डाबर है, जानकीजी हंसकुमारी हैं। वनकी डाबरसे उपमा देनेका भाव कि जहाँ अच्छे जलकी भी प्राप्ति नहीं, वहाँ हंसकुमारीको चुगनेको क्या रखा है? तात्पर्य यह कि वनमें पेटभर खानेको भी नहीं है; कपड़ा पहननेको नहीं, वहाँ

उत्तम सुखके पदार्थकी प्राप्ति कहाँ? (वे वनमें कंदमूल-फल खाकर कैसे रह सकती हैं? अतः वे वनके योग्य नहीं हैं। नं० प०)।

श्रीनंगेपरमहंसजी—वन जानेमें श्रीजानकीजीकी चार इन्द्रियोंको दुःख होगा, यह दिखानेके लिये माता कौसल्याने चार उपमाएँ दी हैं। प्रथम उपमा जो ***'पाहन कृमि'*** की दी है वह मनके स्वभावके लिये है। दूसरी उपमा जो ***'तापस तिय'*** की है वह त्वचा इन्द्रियका दुःख दिखानेके लिये है। तीसरी उपमा ***'चित्र लिखित कपि देखि डेराती'*** से नेत्र-इन्द्रियका और चौथी उपमा हंसकुमारीकी देकर जिह्वा और पद इन्द्रियोंका दिखाया। [यदि ***'पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा'*** से यहाँतकके वाक्योंको ले लें तो प्रायः समस्त इन्द्रियोंका दुःख दिखाया जान पड़ता है। ***'सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा'***, ***'दीप बाति नहिं टारन कहऊँ'***, ***'रस रसिक……'***, ***'रबिरुख नयन…'***, ***'करि केहरि…'*** और ***'बिषय सुख भोरी'*** में क्रमशः पद, कर, जिह्वा, नेत्र, कर्ण (सिंह आदिके शब्द सुननेसे कानको दुःख होगा); 'नासिका' (सुगन्ध विषयसुख) को ले सकते हैं।]

प० प० प्र०—***'तात सुनहु सिय अति सुकुमारी'*** से लेकर ***'मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा'*** तक माता कौसल्याजीने अपनी प्रिय पुत्रवधूके विषयमें जो भाव प्रकट किये हैं उनको पढ़कर नारिवर्ग यही कहेगा कि सासु हो तो ऐसी हो। पर ऐसी सास तभी मिल सकती है जब श्रीजनकनन्दिनीजीके समान ***'सास ससुर गुरु सेवा'*** और ***'पति रुख लखि आयसु'*** का अनुसरण करनेवाली पतिव्रताशिरोमणि पुत्रवधू हो। ☞ यहाँ गोस्वामीजीने परम प्रेममय सासका परमोच्च आदर्शरूप हमारे सामने उपस्थित कर दिया है।

टिप्पणी—३ ***'अस बिचारि जस आयसु होई।…'*** इति। ***'अस बिचारि'*** का भाव कि इस प्रकार यदि वे विचार करेंगे तो श्रीसीताजीको वन जानेको न कहेंगे। मैं वही शिक्षा दूँ, इसका भाव यह है कि मैं आज्ञा नहीं दे सकती हूँ, शिक्षा दे सकती हूँ, जो आज्ञा आपकी होगी वही शिक्षा मैं दूँगी; अपनी ओरसे मैं कुछ नहीं कहूँगी।

पंजाबीजी—'अर्थात् गुण और दोष दोनोंको विचारकर जो उचित समझो वह आज्ञा दो। और यदि हमारी इच्छा पूछो तो वह तो यह है कि मुझे अवलम्ब होगा।'

वि० त्रि०—***'अस बिचारि……सोई।'*** दो पक्ष होनेपर विचारकी प्राप्ति होती है। यदि एक ही पक्ष हो तो विचारको स्थान नहीं है। यदि सब तर्क जानकीजीके वन जानेके प्रतिकूल ही हों, तब तो यही कहना चाहिये कि 'जानकीजीका साथ जाना सर्वथा अनुचित है।' परन्तु माँ कौसल्या ऐसा नहीं कहतीं, वे कहती हैं कि जो मैंने कहा है, उसपर विचार करके जैसी आज्ञा दो तदनुसार मैं जानकीको शिक्षा दूँ। कौसल्याजीने जो कुछ कहा है, वह सब जानकीजीके वन न जाने देनेके पक्षकी बातें हैं, पर एक बात वे ऐसा बोल गयीं जिससे दूसरे पक्ष अर्थात् साथ जाने देनेकी भी भलीभाँति पुष्टि है, यद्यपि सब मिला-जुलाकर उनका जोर न जाने देनेपर है। वे कहती हैं कि अति सुकुमारी सीता वनवासका कष्ट नहीं सह सकेंगी, पर पति-विरहका सहना भी उनके लिये कम कठिन नहीं है, यथा—***'चंदकिरन रस रसिक चकोरी। रबिरुख नयन सकइ किमि जोरी॥'*** यहाँ रामचन्द्रके विरहकी उपमा सूर्यसे और रामजीकी उपमा चन्द्रसे दिया है। यही नहीं, अन्यत्र भी ऐसी ही उपमा दी गयी है, यथा—***'नारि कुमुदिनी अवध सर रघुपति बिरह दिनेस। अस्त भए बिकसित भईं निरखि राम राकेस॥'*** अर्थात् बड़ी विषम समस्या सीताके लिये उपस्थित है। उधर वनका कष्ट वह नहीं सह सकती, इधर पति-विरहका भी सहना इसके लिये कम कठिन नहीं है, दोनों पक्ष मैंने कह दिये, अब विचार करके तुम निर्णय करो कि क्या उचित है। तुम्हारा ही निर्णय करना इस अवसरपर ठीक है।

टिप्पणी—४ ***'मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा'*** इति। भाव कि जहाँ कोई अवलम्ब नहीं रह गया वहाँ इनके रहनेसे पूर्ण अवलम्ब होगा। क्योंकि कौसल्या माताको श्रीसीताजी श्रीरामजीके समान प्रिय हैं और इसीसे दशरथजी महाराजने कहा है कि जानकीजीके रहनेसे हमारे प्राणोंको अवलम्ब होगा, यथा—***'एहि बिधि करेहु उपाइ कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥'*** (८२।६) पुनः ***'बहुत अवलंब'***

का भाव कि इनके रहनेसे सबको अवलम्ब होगा पर मुझे सबसे विशेष होगा क्योंकि मेरे समीप तो रात-दिन रहेंगी।

नोट—श्रीसीताजीका प्रसंग दोहा ५७ से प्रारम्भ हुआ—*'समाचार तेहि समय सुनि सीय उठी अकुलाइ।'* यहाँ कविने आदिमें सीताजीका माधुर्य नाम 'सीय' दिया। आगे *'बैठि नमित मुख सोचति सीता।…'* (५८। २) और *'मनहुँ प्रेमबस बिनती करहीं। हमहिं सीय पद जनि परिहरहीं॥'* (५८। ६) भी कविके वचन हैं। फिर श्रीकौसल्या अम्बाजीके वचन हैं जिनमें ५ बार 'सिय' शब्द और दो बार 'जानकी' शब्द आया है। यथा—*'तात सुनहु सिय अति सुकुमारी।', 'राखेउँ प्रान जानकिहि लाई', 'सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा।', 'सोइ सिय चलन चहति बन साथा', 'सिय बन बसिहि तात केहि भाँती', 'मैं सिख देउँ जानकिहि सोई।', 'जौं सिय भवन रहै कह अंबा।'* (६। ७)

सुनि रघुबीर मातु प्रिय बानी। सील सनेह सुधा जनु सानी॥ ८॥

दो०—कहि प्रिय बचन बिबेकमय कीन्हि मातु परितोष।
लगे प्रबोधन जानकिहि प्रगटि बिपिन गुन दोष॥ ६०॥

अर्थ—रघुकुलवीर श्रीरामचन्द्रजीने माताकी मानो शील-स्नेहरूपी अमृतमें सनी हुई प्रिय वाणीको सुनकर॥ ८॥ विवेकसे भरे हुए प्रिय वचन कहकर माताको सन्तुष्ट किया और वनके गुण-दोष प्रकट कहकर श्रीजानकीजीको समझाने लगे॥ ६०॥

टिप्पणी—१ *'सुनि रघुबीर…'* इति। माताने श्रीरामजीके धर्मके अनुकूल वचन कहे हैं; इसीसे वाणीको 'प्रिय' कहा। पुनः, वाणी शील-स्नेहयुक्त है इससे 'प्रिय' है। श्रीरामजानकीजी कौसल्याजीके लड़के (बहू भी पुत्रके ही समान है) हैं, वे जो आज्ञा चाहतीं देतीं, पर शीलके मारे वे कुछ आज्ञा नहीं देतीं, यही कहती हैं कि *'अस बिचारि जस आयसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई'॥*— यह शील है। और *'जौं सिय भवन रहै कह अंबा। मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा॥'* यह स्नेह है। कौसल्याजीकी सब वाणीमें शील और स्नेह भरा हुआ है।

टिप्पणी—२ *'कहि प्रिय बचन बिबेकमय…'* इति। माताने प्रिय वचन कहे। आपने भी वैसे ही वचनोंसे माताको सन्तोष किया। माताको विवेक है, यथा—*'मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥'* (१। १५१। ३) अतएव विवेकमय वचन कहकर समाधान किया। *'लगे प्रबोधन'* पदसे जनाया कि इनको बहुत देरतक समझावेंगे। 'प्रबोध' से भी बहुत समझाना जनाया। जैसे माताने वनके दोष कहे वैसे ही रामजी वनके गुण और दोष (न जानेके जो गुण हैं और जानेमें जो दोष हैं) दोनों कहकर समझाते हैं। (पाँड़ेजी—*'बिबेकमय'* से जनाया कि अपने स्वरूपका ज्ञान दिया, स्वायम्भुवमनु-शतरूपाकी कथाका लक्ष्य कराया जिसमें मोह न हो।)

मातु समीप कहत सकुचाहीं। बोले समउ समुझि मन माहीं॥ १॥
राजकुमारि सिखावनु सुनहू। आन भाँति जिय जनि कछु गुनहू॥ २॥
आपन मोर नीक जौ चहहू। बचनु हमार मानि गृह रहहू॥ ३॥

अर्थ—माताके सामने श्रीजानकीजीसे (कुछ) कहनेमें सकुचते हैं (लज्जा लगती है)। पर मनमें यह समझकर कि (यह) समय ऐसा ही है वे बोले॥ १॥ हे राजकुमारी! मेरी शिक्षा सुनो, हृदयमें और किसी प्रकार कुछ और न समझ लेना॥ २॥ जो अपना और मेरा (दोनोंका) भला चाहती हो तो हमारा वचन मानकर घरमें रहो॥ ३॥

नोट—१ *'मातु समीप कहत सकुचाहीं।'* इति। श्रीरामजी मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। लोक-मर्यादाकी रक्षाके निमित्त माताके समीप पत्नीसे बात करनेमें संकोच करते हैं *'समउ समुझि'* अर्थात् यह विपत्तिका समय है।

विपत्तिमें मर्यादा नहीं रह जाती—'**आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति।**' यदि हम इस समय माताका दु:ख माताके सामने ही इनसे न कहेंगे तो ठीक न होगा।

नोट—२ वि० त्रि०—'***राजकुमारि"गुनहूँ।***' सरकार बड़े संकोची हैं, बारह वर्ष ब्याह हुए हुआ, पर आजतक माताके सामने जानकीजीसे कभी न बोले। प्रिये आदि सम्बोधन एकान्तका है। माताके सामने 'राजकुमारी' कहकर सम्बोधन करना भारतकी सभ्यताके अनुकूल है।

यद्यपि माँने कहा था कि '***मैं सिख देउँ जानकिहि सोई***' पर सरकार समझ गये कि मेरे साक्षात् समझानेसे माताको अधिक सन्तोष होगा, अत: मातासे कुछ न कहकर जानकीजीसे बोले, आदेश नहीं देते, किंतु सिखावन देते हैं। आदेश तो माताकी सेवाके लिये है, सो यथावसर सीताजी करती ही गयीं, यथा—'***सीय सास प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरस सेवकाई॥***' सिखावनमें भी कह रहे हैं कि मेरे कहनेका दूसरा अर्थ न लगाना अर्थात् यह न समझना कि मैं तुम्हें साथ ले जानेसे भागता हूँ। मैं जिसमें तुम्हारी भलाई समझता हूँ वह कह रहा हूँ।

नोट—३ '***राजकुमारि सिखावनु सुनहू।***"' इति। 'राजकुमारी' का भाव कि तुम राजकन्या हो, जानती हो कि पतिकी आज्ञा मुख्य है। (पु० रा० कु०) अथवा, राजा परमधीर होते हैं; तुम राजाकी कन्या हो, अतएव तुमको धैर्य धारण करना चाहिये—(पंजाबीजी, रा० प्र०); या सम्मानार्थ ऐसा सम्बोधन किया। (पंजाबीजी) या राजकन्या होनेसे तुम्हारा शरीर वनवासमें मेरे साथ रहने योग्य नहीं है। इस शब्दमें '***सुरसर सुभग बनज बनचारी। डाबर जोगु कि हंसकुमारी॥***' (६०।५) का सब भाव है। (प० प० प्र०) मिलान कीजिये—'***राजकुमारि कठिन कंटक मग क्यों चलिहौ मृदु पद गजगामिनि।***' (गी० २।५) भाव कि तुम महलमें रहनेवाली, सुकुमारी हो, वनके योग्य नहीं……।

नोट—४ '***आन भाँति जिय जनि कछु गुनहू***' इति। अर्थात् जो मैं कहूँ उसे सुनकर हृदयमें धारण करो। अथवा प्राण छोड़नेका जो विचार हृदयमें करती हो सो न करो यथा—'***चलन चहत बन जीवननाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू॥ की तनु प्रान कि केवल प्राना।***'इत्यादि। (पु० रा० कु०) पुन: हृदयमें कुछ दूसरी प्रकारसे न समझना, इस कथनका भाव यह है कि मेरी बातोंका उलटा अर्थ न लगा लेना। (दीनजी) 'दूसरी तरह मनमें कुछ न बिचारो' इस वाक्यमें वाच्यसिद्धांग गुणीभूत व्यंग है कि जैसा मैं कहता हूँ वैसा ही करो। (वीरकवि) पुन: भाव कि यह न समझो कि मैं तुम्हारा परित्याग करना चाहता हूँ (पा०); किंतु देश-काल-परिस्थित्यनुसार तुम्हारा, मेरा और रघुवंशका जिसमें हित होगा वही करना उचित है। (प० प० प्र०)

नोट—५ '***आपन मोर नीक जो चहहू।***"' इति। (क) अर्थात् घरमें रहनेसे दोनोंका भला होगा। तुम वनके क्लेशसे बचोगी, हम तुम्हारी रक्षा (के उद्योग) से बचेंगे। अथवा सासकी सेवासे हमारा-तुम्हारा दोनोंका कल्याण होगा। (पु० रा० कु०) पुन:, भाव कि परदा बना रहेगा, पतिकी आज्ञाका पालन करके तुम उत्तम धर्मको प्राप्त होगी। (पंजाबीजी, रा० प्र०) (ख) प्रथम चरणमें '***मोर***' कहकर दूसरेमें ही '***हमार***' बहुबचनका प्रयोग करके जनाया कि मेरा और पूज्य माताजीका वचन मानना तुम्हारा धर्म है। माताकी इच्छा उनके अन्तिम वचन '***जौं सिय भवन रहै***"' में प्रकट हुई है। (प० प० प्र०)* (ग) मैं अपने और तुम्हारे दोनोंकी भलाईकी बात कहूँगा, इसलिये उसे मानकर घर रह जाओ, अर्थात् वन जानेके लिये हठ करोगी तो मैं साथ ले चलूँगा इसमें सन्देह नहीं, पर हम दोनोंकी भलाई तुम्हारे घर रहनेमें है। मैं वन जाता हूँ, अत: माता-पिताकी पूजासे वंचित रहूँगा, तुम घर रहकर उनकी पूजा करती रहोगी तो मानो मैं ही पूजा कर रहा हूँ। माता कहती है कि '***जौं सिय भवन रहै……मो कहँ होइ बहुत अवलंबा***' तुम्हारे चले जानेसे माँ अपनेको निरालम्ब समझेगी, यह हमलोगोंके कल्याणकी बात न होगी। अत: मेरा-तुम्हारा हित तुम्हारे घर रह जानेमें ही है। (वि० त्रि०)

* दूसरा अर्थ—मेरी आज्ञा है कि सासकी सेवा करो। (दीनजी)

नोट—६ पं० शिवलाल पाठकजीका मत है कि *'राजकुमारि सिखावनु सुनहू। आन भाँति जिय जनि कछु धरहू॥'* से लेकर तीन दोहोंमें जो शिक्षा दी गयी है वस्तुत: यह माताके सहारेके लिये घरमें रहनेकी शिक्षा नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा मानें तो रावणका वध किस बहानेसे करेंगे? घरमें रहनेको कहें तो मुख्य कार्यमें बाधा होगी। अतएव इनमें ऊपरसे देखनेमें तो घरमें रहनेकी शिक्षा है और अन्तर्लापिकासे वनमें साथ चलनेका भाव है उनके मतानुसार *'आन भाँति जिय जनि कछु धरहू'* मनमें अन्य प्रकार न विचारो—इसमें ध्वनि यह है कि सनातनकी परिपाटीको विचारो और *'आपन मोर नीक जो चहहू।'*····में आन्तरिक भाव यह है कि जो तुम अपनी और मेरी भलाई चाहो तो हम ही तुम्हारे घर अर्थात् विश्रामके स्थान हैं, मेरे साथ रहो। इसमें तुम्हारी भलाई है। वियोग न होगा और देवताओंका कार्य करूँगा, इससे मेरी भलाई होगी।—(अ० दी० च०) (सभी रामायणोंमें प्राय: वनके कष्टोंके विचारसे घरपर रहनेका उपदेश किया है और अन्तमें दृढ़ निश्चय देखकर साथ लिया गया है। सतीशिरोमणि इस उपदेशको मानेंगी ही क्यों? इस उपदेशपर ही उनका अनन्य पातिव्रत्य प्रकट होगा जो संसारकी देवियोंके लिये उपदेश होगा। घरपर रहनेका उपदेश है पर वे उसे स्वीकार ही क्यों करेंगी?)

आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥ ४॥
एहि ते अधिकु धरमु नहिं दूजा। सादर सासु ससुरपद पूजा॥ ५॥
जब जब मातु करिहि सुधि मोरी। होइहि प्रेम बिकल मति भोरी॥ ६॥
तब तब तुम्ह कहि कथा पुरानी। सुंदरि समुझायहु मृदु बानी॥ ७॥

शब्दार्थ—**दूजा**=दूसरा। **भोरी**=पागलकी-सी।

अर्थ—मेरी आज्ञाका पालन होगा और सासकी सेवा हो जायगी इस प्रकार हे भामिनी! घरमें रहनेमें सब तरहसे भलाई है॥ ४॥ आदरसहित सास-ससुरके चरणोंकी पूजासे बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है॥ ५॥ जब-जब माता 'मेरी याद करेंगी' तब-तब प्रेमसे व्याकुल हो उनकी बुद्धि पागलकी-सी हो जायगी॥ ६॥ हे सुन्दरी! तब-तब तुम पुराणसम्बन्धी कथाएँ कह-कहकर कोमल वाणीसे उन्हें समझाना॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ अर्थ-धर्म-काम और मोक्ष चारोंकी प्राप्ति घरपर रहनेमें दिखाते हैं। 'अपना भला चाहना' अर्थ है, 'मेरा (पतिका) भला चाहना' धर्म है, 'मेरी आज्ञाका पालन करना' काम है और माताकी सेवा मोक्ष है—इस प्रकार चारों पदार्थ घर बैठे तुमको प्राप्त होंगे। [पुन:, भाव कि 'नहीं तो दोनोंको दोष होगा तुमको भी बिछोह होगा और हमको वियोग होगा।' (पण्डितजी)]

टिप्पणी—२ *'भामिनि'*=क्रोधवती, मानवती। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जब श्रीरामचन्द्रजीने सीताजीको वनमें चलनेकी अनुमति न दी तब वे बड़ी चिन्तित और क्रोधित हुईं—'**चिन्तयन्तीं तदा तां तु निवर्तयितुमात्मवान्। क्रोधाविष्टां तु वैदेहीं काकुत्स्थो बहु सान्त्वयत्॥**' (सर्ग २९ श्लो० २४) अर्थात् इस प्रकार चिन्तित और क्रोधमें पड़ी हुई सीताको अपना निश्चय बदलनेके लिये श्रीरामजीने बहुत समझाया। और क्रोधमें आकर उन्होंने कहा था कि बचपनमें जिसके साथ आपका ब्याह हुआ उसे आप नटकी तरह दूसरेको देना चाहते हैं, आप मुझे भरतके अनुकूल चलनेका उपदेश देते हैं कि जिनके लिये आपका अभिषेक रोक दिया गया, मैं कदापि उनकी अनुकूलवर्ती नहीं बननेकी, मैं सर्वत्र साथ रहूँगी, नहीं तो प्राण दे दूँगी·····। (सर्ग ३० श्लोक ८—१०) गोस्वामीजीने इस विरस बातको अपने ग्रन्थमें नहीं लिखा। पर *'भामिनि'* सम्बोधन देकर उन्होंने उस बातको भी सूचित कर दिया।

प० प० प्र०—यहाँ *'भामिनि'* का अर्थ क्रोधशील लेना उचित नहीं है। मानसकी सीता और वाल्मीकीयकी सीतामें महदन्तर है। मानसकी सीताने कहीं भी किसीपर भी किंचित् भी क्रोध नहीं किया है, इतना ही नहीं, उन्होंने सती-धर्मका जरा-सा भी उल्लंघन कहीं नहीं किया है, श्रीशबरीजीके लिये भी श्रीमुखसे 'भामिनी' शब्दका प्रयोग बहुत बार हुआ है पर वहाँ तो वाल्मीकीयमें भी कुछ भी आधार नहीं मिलता है, जिससे

'कोप' का अर्थ किया जाय। यहाँ 'भामिनी' का अर्थ 'सुन्दरी' 'रामा' करना ही उचित है शबरीजीके प्रसंगमें घटित होता है। ३। ३५। ४; ३। ३६। ७—१० देखिये। (यह भी स्मरण रहे कि यह वाल्मीकीयके रामावतारकी सीता नहीं हैं। इसीसे स्वभावमें भेद है।)

पाँड़ेजी इस चरणका यह अर्थ करते हैं—'भामिनीकी घरहीमें सब विधि भलाई होती है। वा हे भामिनी! सब विधि भलाईका भवन यही है जो हम कहते हैं।' ***'एहि ते अधिक धरम नहिं दूजा'*** यही सब विधि भलाई है।

टिप्पणी—३ ***'एहि ते अधिक धरम नहिं दूजा। ……'*** इति। (क) श्रीजानकीजी पातिव्रत्य धर्मपर उद्यत हैं, पतिकी सेवाके लिये पतिके साथ जाना चाहती हैं। इसीसे श्रीरामचन्द्रजी यह कहते हैं कि सास-ससुरकी सेवासे अधिक हमारी सेवा नहीं है, वे हमारे भी देवता हैं, तुमको घरमें ही हमारी सेवाके समान इनकी सेवा प्राप्त है तब तुम वन क्यों चलती हो? 'अधिक' क्योंकि मैं तुम्हारा पूज्य देवता हूँ और माता-पिता मेरे भी पूज्य देवता हैं, अतएव उनका पूजन मुझसे अधिक है। वे देवके भी देव हैं। (रा० प्र०, पं०) (ख)—***'सादर सासु ससुर पद पूजा।'*** अर्थात् उनकी सेवा केवल हमारी आज्ञा पालनके विचारसे न करना वरन् अपनी भक्तिसे उनकी सेवा करना। अथवा, पादपूजन चौथी भक्ति है, भक्ति आदरसे करना ही चाहिये। अतएव ***'सादर'*** कहा।

टिप्पणी—४ ***'जब जब मातु……तब तब तुम्ह……'*** इति। (क) अर्थात् जब वे व्याकुल हो जायँ तब व्याकुलता दूर करनेके लिये कथाएँ कहना और बुद्धिको सावधान कर देना। पुनः, ऐश्वर्यमें भी मतिको सावधान करनेवाली तुम्हीं हो, यथा—***'जनकसुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥ ताके जुगपदकमल मनावउँ। जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥'*** (ख) ***'कहि कथा पुरानी।'*** भाव कि कौसल्याजी पण्डिता हैं, प्रामाणिक कथाओंमें मन लगेगा और नवीन कथाके सुननेमें मन लगता है। (ग)—***'समुझायहु'*** क्योंकि हमारी यादमें वे व्याकुल होंगी, समझानेपर व्याकुलता दूर होगी।

नोट—१ पंजाबीजी लिखते हैं कि मैं जो सासु-ससुरकी सेवाके लिये घरपर रहनेको कहता हूँ इससे यह न समझना कि तुम्हारे पति-प्रेममें न्यूनता आवेगी। केवल माताके हितके लिये तुम्हें यहाँ रखता हूँ। तुम उनकी व्याकुलतामें उनको सँभाल सकोगी।

नोट—२ पण्डितजी—भाव यह कि यदि कहो कि यहाँ अनेक दास-दासी सेवा करनेको हैं, हम कौन सेवा करेंगी तो उसपर कहते हैं कि माताको व्याकुल होनेपर समझाओगी।

कहौं सुभाय सपथ सत मोही। सुमुखि मातु हित राखौं तोही॥ ८॥

दो०—गुर श्रुति संमत धरम फलु पाइअ बिनहिं कलेस।
हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस॥ ६१॥

अर्थ—हे सुमुखि,! मैं स्वभावसे ही कहता हूँ, कुछ बनाकर नहीं कहता, मुझे सैकड़ों शपथ है, कि मैं तुम्हे माताके लिये घरपर रखता हूँ॥ ८॥ गुरु और वेदकी सम्मति* अर्थात् जो गुरु और वेद कहते हैं वही धर्मका फल बिना क्लेश प्राप्त हो जाता है। परन्तु हठके वश होनेसे गालव मुनि और राजा नहुष आदि सबने संकट ही सहा है॥ ६१॥

टिप्पणी १—(क) ***'सपथ सत मोही'*** इति। श्रीरामचन्द्रजीने विचार किया कि कहीं सीताजीके मनमें यह न आवे कि माताके समझानेके लिये अरुन्धती (वसिष्ठ-पत्नी) आदि मुनियोंकी बहुत-सी स्त्रियाँ हैं, यहाँ माताके समझानेके लिये रखते हैं, यह केवल हमको त्याग करनेका एक बहाना है। अतएव उनको विश्वास दिलानेके लिये 'शत शपथ' करते हैं। (ख) किसकी शपथ की यह यहाँ नहीं खोला। कारण यह है कि सैकड़ों शपथ करते हैं। इससे किसी एकका नाम नहीं कहते। नाम न लेनेसे सबकी शपथ हुई, नहीं

* पाँड़ेजी—वेदके सम्मत जो गुरु अर्थात् उत्तम धर्म है।

तो जिसका नाम लेते केवल उसीकी शपथ मानी जाती। (ग) *'सुमुखि'* का भाव कि माताका हित इस सुन्दर मुखसे होगा। इसीसे कोमल वाणीसे पुरानी कथाएँ कहकर माताको समझाना।

टिप्पणी—२ *'गुर श्रुति संमत धरम फलु……'* इति। (क) पतिकी आज्ञाका पालन, सास-ससुरकी सेवा, यह गुरु-श्रुतिसम्मत धर्म है। इसका फल स्वर्ग है सो बिना क्लेश मिलता है। पुनः, *'गुरु श्रुति संमत धरम'* कथनका भाव कि गुरु और वेद दोनोंके सम्मतमें जो धर्म है वह पुष्ट धर्म है। गुरु और वेद दोनों कहनेका भाव यह कि वेदवाक्यका समझानेवाला भी कोई चाहिये। गुरु उसके ज्ञाता और समझानेवाले हैं, अतएव दोनोंको यहाँ कहा। (ख) *'पाइअ बिनहिं कलेस।'* भाव कि धर्मके साधनमें बड़ा क्लेश है, यथा—*'सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥'* (९५। ३) वही धर्म यहाँ सासु-ससुरकी सेवासे बिना कष्टके प्राप्त हो रहा है।

टिप्पणी—३ गालव मुनिने विश्वामित्रसे बड़ा हठ किया कि गुरुदक्षिणा लीजिये। विश्वामित्रजीने मना किया कि हठ न करो पर वे न माने; तब विश्वामित्रने ८०० श्यामकर्ण घोड़े माँगे। गालव मुनि देश-देशके राजाओंके यहाँ मारे-मारे फिरे, बड़े संकटमें पड़े। गालवने इसी शरीरमें संकट सहा और राजा बृहस्पतिका कहना न माननेसे विप्रशापसे अजगर होकर नहुषको दूसरे शरीरमें संकट सहना पड़ा। वैसे ही यहाँ हठ करनेसे श्रीजानकीजीको इस तनमें यह क्लेश हुए—पंथमें यह क्लेश हुआ कि शूर्पणखासे भयभीत हुईं। दूसरा तन (छायारूप) धारण किया तब रावणने हरण किया, वर्षभर बड़े संकटमें रहीं। इस प्रकार दोनों तनसे संकट भोगना पड़ा। यही दिखलानेके लिये गालव मुनि और नहुष दोके इतिहास कहे।

रा० प्र०—गुरुदक्षिणा देना धर्म है, पर गुरुसम्मत न था। गुरुसे हठ किया, इससे संकट पड़ा।

गालव मुनि—नारदजीने दुर्योधनको समझाते हुए कि सुहृद्‌की बात हठ छोड़कर सुनना चाहिये, हठ करना ठीक नहीं है, महर्षि गालवने हठके कारण नीचा देखा, गालव मुनिका इतिहास यों कहा है—एक समय धर्मभगवान् वसिष्ठका रूप धारणकर विश्वामित्रकी परीक्षाके लिये गये और उनसे भोजन माँगा। जबतक वे भोजन तैयार करके लावें ये अन्य मुनियोंका दिया हुआ अन्न खाकर तृप्त हो गये। विश्वामित्रके भोजन लानेपर वे बोले कि मैं भोजन कर चुका, तुम खड़े रहो। वे वहीं सिरपर गर्म भोजन लिये खड़े रहे। इस अवस्थामें उनके शिष्य गालव मुनि गुरुके गौरव-मान और प्रियके लिये उनकी सेवा करते रहे। सौ वर्ष बीतनेपर धर्म फिर उसी रूपसे आये और भोजन कर लिया। तथा विश्वामित्रको ब्रह्मर्षि कहकर चल दिये।

शिष्य गालवकी सेवासे सन्तुष्ट होकर गुरुने आज्ञा दी कि अब तुम जहाँ चाहो जाओ। गालव मुनिने कहा मैं गुरुदक्षिणा देना चाहता हूँ जो आज्ञा हो वह दूँ और इस ऋणसे छुटकारा पाऊँ। गुरु विश्वामित्रजीने कहा कि उसकी जरूरत नहीं है, पर उन्होंने न माना, बड़ा हठ किया। तब गुरुने कहा **'एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम्। अष्टौ शतानि मे देहि गच्छ गालव मा चिरम्॥'** (१०६। २७) अर्थात् अच्छा जो दक्षिणाकी हठ है तो शीघ्र तुम एक रंग-रूपके चन्द्रमाके समान उज्ज्वल ८०० श्यामकर्ण घोड़े लाकर दो। गालव मुनि बड़े चिन्तित हो गये, उनका शरीर सूख गया। वे प्राण देने (आत्महत्या) के लिये तैयार हो गये। अन्तमें उन्होंने भगवान् विष्णुका आश्रय लिया, तब गरुड़ने आकर सहायता की। बहुत घूमे पर घोड़े न मिले। तब गरुड़ उनको राजा ययातिके पास ले गये और उनसे सब वृत्तान्त कहकर भिक्षामें घोड़े माँगे। राजाने अपनी परम सुन्दरी कन्या माधवी उनको दी कि इसको आशीर्वाद है कि इससे चार वंश चलेंगे। आप इसके द्वारा अपना मनोरथ पूरा करें। सोच-विचारकर वे इक्ष्वाकुवंशीय राजा हर्यश्वके पास गये जो पुत्रके लिये तप कर रहे थे—और कहा कि आप इसे ग्रहण करें। इसका शुल्क ८०० श्यामकर्ण घोड़े हैं। राजाने कहा कि मेरे पास २०० घोड़े हैं उन्हें लीजिये और मुझे इससे एक पुत्र उत्पन्न कर लेने दीजिये। मुनिने स्वीकार किया। इसके बाद मुनिने काशीके राजा दिवोदास, भोज नगरके राजा उशीनरसे इसी प्रकार दो-दो सौ श्यामकर्ण घोड़े प्राप्त किये। अब दो सौ घोड़े रहे तब गरुड़ने मुनिसे कहा कि

और घोड़े कहीं अब पृथ्वीमें नहीं हैं, तुम उनके बदलेमें इस कन्याको ही विश्वामित्रको दे दो। उन्होंने आकर ऐसा ही किया। गालव मुनिको इस हठके कारण बहुत संकट उठाना पड़ा। अ० १०८—११७। (महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय १०६—११७)

नहुष—राजा नहुष महातेजस्वी, यशस्वी, धर्मिष्ठ और दानी था। इन्द्र जब वृत्रासुरका वध करनेसे ब्रह्महत्यासे पीड़ित हो जलमें छिप रहे; चारों ओर अराजकता छा गयी, तब देवताओंने राजा नहुषको इन्द्र बनाया और उनको शक्ति दी कि जिससे इनके तेजके आगे किसीका तेज न रहे। '**तेज आदास्यसे पश्यन् बलवांश्च भविष्यसि।**……' (११। ८) '**अभिषिक्तः स राजेन्द्र ततो राजा त्रिविष्टपे।**' (९) नहुषने एक दिन इन्द्राणीको देखा तो उसका चित्त दूषित हो गया और उसने आज्ञा दी कि वे तुरन्त उसकी स्त्री बनें। इन्द्राणी बृहस्पतिकी शरणमें गयीं। इसपर नहुषके क्रोधका ठिकाना न रह गया। देवताओं और ऋषियोंने नहुषको बहुत समझाया पर कामान्ध नहुषने उनके समझानेपर कुछ ध्यान न दिया। तब देवता, गन्धर्व, ऋषि सबने जाकर देवगुरुसे परामर्श किया। उन्होंने कहा कि इन्द्राणी नहुषके पास जाकर मुहलत माँगे। ऐसा ही किया गया। नहुष प्रसन्न हुआ और मुहलत दी कि इन्द्रका पता लगा ले।

इन्द्राणीने इन्द्रका पता लगाकर उनके पास जा सब वृत्तान्त सुनाया और पातिव्रत्यकी रक्षा चाही। इन्द्रने यह उपाय बताया कि तुम एकान्तमें नहुषसे मिलकर कहो कि तुम मुझसे मिलनेके लिये ऋषीश्वरोंकी दिव्य सवारीपर चढ़कर आओ तो मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारे अधीन हो जाऊँगी। शचीने ऐसा ही किया। राजासे जाकर कहा—मेरी इच्छा है कि सब ऋषि मिलकर अपने कन्धेपर आपकी सवारी ले चलें, इस प्रकार नयी सवारीपर चलना आपके योग्य होगा। कोई ऋषि कुछ कर नहीं सकता, क्योंकि आपके तेजके सामने सबका तेज हर जाता है। नहुषने इसे अंगीकार किया। इधर बृहस्पतिजीने भी उसके भ्रष्ट होनेके लिये और इन्द्रके खोजनेके लिये यज्ञारम्भ किया।

नहुष देवर्षि और महर्षियोंसे पालकी उठवाकर इन्द्राणीके पास चला। थक जानेपर ऋषियोंने राजासे कहा कि आप अधर्मपर उतारू हैं। पूर्वके महर्षिगण और ब्रह्मा जो कह आये हैं उसे आप नहीं मानते—इसपर वाद-विवाद होनेपर क्रोधान्ध हो नहुषने अगस्त्यजीके सिरपर लात चलायी। अगस्त्यजीने शाप दिया कि तूने अधर्मसे व्याप्त होकर मेरे सिरमें पैरकी ठोकर मारी—'**अथ मामस्पर्शन्मूर्ध्नि पीडितः।**' (१७। १२) अतः तू तेजहत होकर पृथ्वीपर गिर और दस हजार वर्षतक अजगर बना रह। (महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय १०—१७)

मैं पुनि करि प्रवान पितु बानी। बेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी॥ १॥
दिवस जात नहिं लागिहि बारा। सुंदरि सिखवनु सुनहु हमारा॥ २॥
जौं हठ करहु प्रेमबस बामा। तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा॥ ३॥

शब्दार्थ—**प्रवान**=प्रमाण, सच्चा, पूरा। **बारा**=देर। **बामा**=(सं० वाम) स्त्री।

अर्थ—हे सुमुखि! हे चतुरे! सुनो, फिर मैं भी पिताके वचनोंको पूरा करके शीघ्र ही लौटूँगा॥ १॥ दिन जाते देर न लगेगी, सुन्दरी! हमारी यह सीख (शिक्षा) सुनो॥ २॥ यदि हे वामा! तुम प्रेमवश हठ करोगी तो अन्तमें परिणामस्वरूप दुःख पाओगी॥ ३॥

टिप्पणी १—***'करि प्रवान पितु बानी'*** अर्थात् तुम माताकी सेवा करो, मैं पिताका वचन पालन करूँ। ***'बेगि फिरब'*** अर्थात् पिताकी आज्ञा पालन कर एक दिन भी बाहर न रुकूँगा। ***'सुमुखि सयानी'***—भाव कि मुखकी सुन्दरता इसीमें है कि स्वामीकी आज्ञा सुनकर उत्तर न दे, यथा—***'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥'*** (२६९। ५) ***'सयानी'*** अर्थात् तुम सब धर्म जानती हो। तुम्हें विशेष कहने-समझानेकी आवश्यकता नहीं है।

टिप्पणी—२ ***'दिवस जात नहिं लागिहि बारा। सुंदरि……'*** इति। १४ वर्ष बहुत होते हैं, अतएव सीताजीके ढारस (खातिर) के लिये कहा कि दिन बीतते देर न लगेगी। ***'सुन्दरि'*** अर्थात् हमारी सीख माननेहीमें

तुम्हारी सुन्दरता है। (यहाँ श्रीसीताजीके शरीर-सौन्दर्य कथनका अभिप्राय नहीं है। यहाँ 'सुन्दरि' सम्बोधनसे 'अत्यन्त आदरणीय' अर्थका ग्रहण है। भाव यह है कि माताजीके मनमें तुम्हारे प्रति बहुत आदर है, इससे प्रेमाकुल दशामें उनको तुम्हारे मृदु वचनोंसे समाधान होगा। प० प० प्र०)

टिप्पणी—३ ***'जौं हठ करहु प्रेम बस बामा।'****····* 'इति। (क) ***'बामा'*** सम्बोधन ***'हठ'*** के साथ बड़ा ही उत्तम है। यह शब्द ही 'आज्ञाका उल्लंघन' वा अपनी बातका हठ एवं पतिसे प्रतिकूलता सूचित कर रहा है। अन्तमें दु:ख पाओगी अर्थात् वन चलनेमें दु:ख पाओगी; पुन: तुम्हारा हरण होगा, एक वर्षका हमसे वियोग होगा।* [(ख) पुन: भाव कि यदि अपने पातिव्रत्य धर्मका विचार करके चलना चाहती हो, तो वह गुरुश्रुतिसम्मत धर्म फल तुम्हें घर बैठे बिना परिश्रम ही मिल जाता है, अत: धर्मके लिये साथ चलना आवश्यक नहीं। यह कहकर हठकी निन्दा की। गालव और नहुष नरेशका उदाहरण दिया, और प्रशंसा करते हुए कहा कि तुम वामा हो, स्त्रियोंमें उत्तम हो, तुमको हठ शोभा न देगा। यदि तुमने प्रेमवश हठ किया तो परिणाम वही होगा, जो हठी लोगोंका होता है। अन्तमें दु:ख पाओगी, और वही हुआ। परिणाममें दु:खकी भविष्यद्वाणी कहकर, स्वयं वनगमन और वनवासके क्लेशोंका वर्णन करते हैं। (वि० त्रि०)]

काननु कठिन भयंकरु भारी। घोर घामु हिम बारि बयारी॥ ४॥
कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहिं बिनु पदत्राना॥ ५॥

शब्दार्थ—**कठिन**=कठोर। **घोर**=भयानक, तीक्ष्ण, विकट। **बयारी**=पवन, वायु। **कुस**=(कुश) कासकी तरहकी एक घास जिसकी पत्तियाँ नुकीली, तीखी और बड़ी होती हैं। यह पवित्र माना जाता है, कर्मकाण्ड तथा तर्पण आदिमें इसका उपयोग होता है। (श० सा०) **कंटक**=काँटा। **पयादेहिं**=पैदल। **पदत्राना**=पैरोंकी रक्षा करनेवाला=खड़ाऊँ या जूता।

अर्थ—वन कठिन और भारी भयावन है। घाम, जाड़ा-पाला, वर्षा और पवन सब वहाँ बड़े विकट होते हैं॥ ४॥ मार्गमें कुश, काँटे और कंकड़ बहुत हैं। तुम्हें पैदल (और उसपर भी) बिना जूतीके चलना होगा॥ ५॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रा० कु०—(क) ***'कानन कठिन'***··· अर्थात् वनकी भूमि कठिन है, यथा—***'कठिन भूमि कोमल पदगामी।'*** (४। १। ८) वन भयंकर है। उसका खयाल आते ही डरसे कलेजा दहल जाता है; प्रत्यक्षकी कौन कहे, यथा—***'डरपहिं धीर गहन सुधि आये।'*** [दण्डकारण्य ४०० कोसका भारी भयदायक है— (खर्रा) (ख) प्रथम घाम कहा। श्रीरामचन्द्रजीका वनगमन चैत्रमें हुआ और चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़में तीक्ष्ण घाम होता है, अतएव प्रथम घाम अर्थात् ग्रीष्म-ऋतुका ही दु:ख कहा। फिर वर्षा होती है पर वर्षाको न कहकर हेमन्त-ऋतु अर्थात् जाड़ेका दु:ख कहा, क्योंकि (गर्मीमें) जैसा घामका दु:ख होता है वैसा ही जाड़ेमें शीतका दु:ख है; दोनोंको साथ-साथ लिखने और कहनेका यही कारण है। ***'बारि'*** से वर्षाका दु:ख सूचित किया। अन्तमें 'बयारि' को कहनेका भाव कि ***'बयारी'*** का अन्वय घाम, हिम और बारि तीनोंके साथ है। घामके, हिमके या वर्षाके साथ जब पवनका झँकोरा चलता है तब बड़ा दु:ख देता है।

टिप्पणी—२ ***'कुस कंटक मग काँकर नाना।'****······* 'इति। कुश काँटेसे भी अधिक लगता है; अत: उसे प्रथम कहा। ***'पयादेहिं'*** का भाव कि पालकीमें बैठनेसे घाम, हिम, बारि और बयारिका दु:ख नहीं होता, पर हमारे साथ पैदल ही चलना होगा, पदत्राण होनेसे कुशकाँटा या कंकड़का दु:ख न होता, पर तुम्हें बिना पदत्राणके चलना होगा (अत: यह दु:ख भी झेलना पड़ेगा)। ***'कुस कंटक'****····* 'से यह भी जनाया कि कहीं-कहीं तो इनसे ढक जानेके कारण मार्गका पता भी नहीं चलता। यथा—'**मार्गो न दृश्यते क्वापि**

---

* अ० दी० च० का मत है कि 'परिणाममें जो दु:ख सहनेको कहा उसका आन्तरिक भाव दु:खका आक्षेप अर्थात् निषेध है। सन्दर्भ यह कि ऊपरसे कहा कि वनमें दु:ख होगा, परन्तु भीतरी भाव दु:खका निषेध है।' शृंखलाके लिये ६१। २-३ देखिये।

शर्कराकण्टकान्वितः।' (अ० रा० २।४।६७) (कुश और काँटेदार वृक्षोंकी डालियाँ मार्गको छेंके रहती हैं, उनसे शरीर छिल जाता है। इत्यादि) वनकी भयंकरता कहकर अब मार्गका कष्ट दिखा रहे हैं।

चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे॥ ६॥
कंदर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे॥ ७॥
भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरजु भागा॥ ८॥

शब्दार्थ—'**अगम**'='अगम्य'; जहाँ कोई जा न सके, निकलनेका रास्ता न हो, एक-एक करके भी न गुजर सके। पहुँचके बाहर। '**मारग**'=मार्ग, रास्ता। '**भूमिधर**'=पृथ्वीको धारण करनेवाले, पर्वत। '**कंदर**'=गुफा, पर्वतकी सुरंग—[यह स्वाभाविक होती है जो पहाड़ी जलसे बन जाती है—(दीनजी)] '**खोह**'=दो पहाड़का तंग रास्ता जो ऊपरसे पहाड़ोंके निकले हुए बड़े भागसे घिरा रहता है—(दीनजी) '**नद**'=बड़ी नदी। '**नारे**'=नाले। '**बृक**'=भेड़िया। '**भालु**'=ऋक्ष, रीछ।

अर्थ—तुम्हारे चरणकमल सुन्दर और कोमल हैं। रास्ता अगम्य है। उसमें बड़े-बड़े पहाड़ हैं॥ ६॥ कन्दराएँ, खोह, नदियाँ, नद और नाले ऐसे दुर्गम और गहरे हैं कि उनकी ओर देखा नहीं जाता अर्थात् देखनेसे डर लगता है॥ ७॥ रीछ, बाघ, भेड़िये, सिंह और हाथी ऐसे भयावने शब्द करते हैं (गरजते हैं) कि सुनकर धीरज भाग जाता है (धैर्य जाता रहता है)॥ ८॥

नोट—क्रमशः मार्गकी दुर्गमता दिखाते चल रहे हैं। पहले सामान्य फिर विशेष तब उससे विशेष। (१) पहले कुश-काँटा-कंकड़ यह सामान्य अगमता कही। अब कहते हैं कि एक तो तुम्हारे चरण ही कोमल हैं इससे तुम्हें मार्गपर चलना स्वाभाविक ही कठिन है; उसपर भी मार्ग कैसे हैं कि *'अगम भूमिधर भारे।'* अर्थात् एक तो मार्ग ही दुर्गम, उसपर भी चढ़ाव-उतार, बड़े-बड़े पर्वतोंका चढ़ना-उतरना यह तो बहुत ही कठिन है। *'अगम'* में बहुत भाव मिश्रित हैं—भूमि कठिन, जल्दी चुकनेवाली नहीं, ऊँची-नीची, रास्ता ठीक बना नहीं है, इत्यादि। यह कहकर अधिक दुर्गमता दिखाते हैं कि *'कंदर खोह……'* (२) *'कंदर खोह……'* का भाव कि पहाड़ोंमें कंदराएँ और खोह होते ही हैं, वे ऐसे होते हैं कि उनमें किसीका गम-गुजर नहीं हो सकता। नदी, नद, नाले अगाध हैं, बहुत गहरे हैं, थाह नहीं मिलती, देखे डर लगता है—सो इनमेंसे होकर चलना पड़ेगा, जलमें हलना पड़ेगा। (३) पहले पहाड़ कहा, पहाड़में कन्दरा खोह आदि होते हैं; इससे उन्हें कहा। खोह-कन्दरामें हिंसक पशु रहते हैं इससे अब उनको कहते हैं। इनके कारण वे कन्दराएँ और खोह और भी भयावन तथा अगम्य हो जाते हैं। (४) नदी, नद, नालोंकी अगमता यह भी है कि उनमें मगर-घड़ियाल आदि रहते हैं, किसी-किसीमें दलदल होता है, किसी-किसीकी धारा बड़ी तीव्र होती है, मत्त हाथी भी तैरकर पार नहीं जा सकते। यथा—'**सग्राहाः सरितश्चैव पङ्कवत्यस्तु दुस्तराः। मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम्॥**' (वाल्मी० २।२८।९)

टिप्पणी—१ थल, जल, नभ ये तीन स्थल हैं। यहाँ तीनोंकी अगम्यता तीन चरणोंसे दिखायी। (क) *'कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहिं बिनु पदत्राना॥'* यह स्थलकी अगमता। (ख) *'नदी नद नारे'* यह जलकी अगमता। और (ग)—*'भूमिधर भारे'* यह नभकी अगमता है। (पहाड़ोंकी ऊँचाई लेकर इससे 'नभ' का भाव लिया। पहाड़ मानो आकाशसे बातें कर रहे हैं।)

टिप्पणी—२ भालु और बाघ आदि कन्दरा, खोह, नदी, नद, नालोंमें रहते हैं। इसीसे इनको पहले कह आये। जहाँ भालु आदि रहेंगे वहाँ वे 'नाद' करेंगे अतएव उनको कहकर उनका नाद कहा। वृक्षपर चढ़नेसे बाघ, बृक, केहरि और नागसे लोग बच जाते हैं पर भालुसे वहाँ भी नहीं बच पाते। घातक जीवोंमें भालु सबसे अधिक घात करनेवाला है; इन कारणोंसे भालुको प्रथम कहा। *'नाद सुनि धीरजु भागा'* का भाव कि जब गर्जन सुनकर धैर्य छूट जाता है तब लोग भी वहाँसे भाग जाते हैं। नदी, नद, नालोंको कहकर भालु-बाघादिके नादका उल्लेख करके यह भी जनाया कि भालु-सिंह आदिके शब्द पहाड़ी नदियोंके

साथ मिलकर सुननेमें बड़े दुःखदायी होते हैं, यथा—'**गिरिनिर्झरसम्भूता गिरिनिर्दरिवासिनाम्। सिंहानां निनदा दुःखाः श्रोतुं दुःखमतो वनम्॥**' (वाल्मी० २। २८। ७)।

दो०—भूमि सयन बलकल बसन असनु कंद फल मूल।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं सबुइ समय अनुकूल॥ ६२॥

शब्दार्थ—'**बलकल**'=वृक्षोंकी छाल, भोजपत्र आदि। '**असनु**'=भोजन। '**कंद**'=जो पृथ्वीसे वर्त्तुलाकार (गोल-गोल) निकलते हैं, 'मूल' जो लम्बे-लम्बे निकलते हैं—(पंजाबीजी, रा० प्र०) पृथ्वीके अन्दर जिनकी उत्पत्ति एक पेड़के ही अनेक मूलों (जड़ों) से ही होती हैं वे मूल कहलाते हैं; जैसे सतालू आदि। जो पृथ्वीके भीतर एक पौधेमें एक ही होता है उसे 'कंद' कहते हैं; जैसे सूरन इत्यादि। '**अशेघ्निः सूरणः कन्दः**' इति। (अमरकोष)

अर्थ—पृथ्वीपर सोना होगा, वल्कलके वस्त्र धारण करने होंगे और कन्द-फल-मूलका भोजन होगा और वे भी क्या सब दिन सदा मिलेंगे? अर्थात् सब दिन न मिलेंगे। सब समयके अनुकूल मिलेंगे॥ ६२॥

नोट—१ पृथ्वी ही शय्या होगी। जमीनपर सोनेसे शीत पकड़ लेती है, शरीरमें पीड़ा होती है। भोजपत्र आदिसे घाम, जाड़ा या वर्षाकी निवृत्ति नहीं होती, केवल इन्द्रिय भर ढकना होता है। कन्द-मूल-फल भोजन करना पड़ेगा। १४ वर्षतक अन्न न मिलनेसे शरीर निर्बल और दुर्बल हो जायगा। फिर ये भी सदा नहीं मिलते इससे कई-कई दिन उपवास करना पड़ जायगा। फल भी जो मिले वह सब समय-समयके अनुकूल मिलते हैं। जाड़ेमें जाड़ेवाले, गर्मीमें गर्मीवाले, वर्षामें वर्षावाले। इनमें बहुत ऐसे हैं कि शीत और वर्षामें कफ उत्पन्न कर देते हैं, ग्रीष्ममें पित्त—यह भोजनका कष्ट है। (पंजाबीजी, पु० रा० कु०)

नोट—२ *'असनु कंद फल मूल'* से यह भी जनाया कि भोजनके लिये खट्टे और कड़ुवे फल-मूल मिलते हैं, वहाँ पूए आदि व्यंजन नहीं मिलते। फिर यह भी नहीं कि फल तोड़कर ले लें, तपस्वीका धर्म है कि जो फल वृक्षसे स्वयं गिरे हों उन्हींको ग्रहण करना होता है। यथा—'**फलैर्वृक्षावपतितैः।**' (वाल्मी० २। २८। १२) ***'ते कि सदा सब दिन मिलहिं'*** अर्थात् जिस समय जितना और जो आहार मिल जाय, उसीपर संतोष करना पड़ता है अतः वन बड़ा दुःखदायी है।

नर अहार रजनीचर चरहीं। कपट बेष बिधि कोटिक करहीं॥ १॥
लागइ अति पहार कर पानी। बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी॥ २॥
ब्याल कराल बिहग बन घोरा। निसिचर निकर नारि नर चोरा॥ ३॥

शब्दार्थ—**नर अहार**=मनुष्य ही जिनका भोजन है, नराहारी। **अहार**=भोजन, खाना। **रजनीचर**=(रजनी=रात, निशि+चर=चलनेवाले) निशाचर। **लागइ**=लगता है। पानी लगना=पानी इकट्ठा या जमा होना, दाँतों और शरीरको असह्य होना—(रा० प्र०) पानी लगना मुहावरा है, अर्थात् शरीरमें रोग उत्पन्न कर देता है, हानिकारक है। **बिपिन**=वन। **बखान**=विस्तृत वर्णन।

अर्थ—मनुष्योंको खानेवाले निशाचर फिरते रहते हैं। वे करोड़ों अर्थात् अनेक तरहके कपट (बनावटी) वेष धारण करते हैं॥ १॥ पहाड़का पानी बहुत ही लगता है। वनके क्लेश बखाने नहीं जा सकते॥ २॥ वनमें भयंकर सर्प और डरावने पक्षी तथा नर और नारियों (मनुष्यों और उनकी स्त्रियों) को चुरानेवाले भयंकर राक्षसोंके झुण्ड-के-झुण्ड वनमें रहते हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'नर अहार रजनीचर चरहीं।·····'* इति। अर्थात् निशाचर रातमें भोजनके लिये निकलते हैं। इससे रातभर जागना पड़ता है। मनुष्योंको वे खा लेते हैं। इनसे रक्षा करना कठिन है; क्योंकि एक तो रातमें सूझता नहीं, दूसरे सूझे भी तो वे बड़े मायावी होते हैं, अगणित प्रकारसे वे कपट वेष बनाकर आते हैं और छलसे मनुष्योंको ले जाकर खा लेते हैं। उनसे रक्षा नहीं की जा सकती। (*'नर अहार रजनीचर·····'*, यथा—'**राक्षसा घोररूपाश्च सन्ति मानुषभोजिनः।**' (अ० रा० २। ४। ६५), *'कोटि बिधि'* जैसे मारीच मृग बना, रावण यती बना, कालनेमि तपस्वी मुनि बना इत्यादि।

नोट—१ (क) *'नर अहार रजनीचर चरहीं' 'निसिचर निकर नारि नर चोरा'* मेंसे पहलेमें मनुष्योंका खा लेना और दूसरेमें उठा ले जाना सूचित किया। पहलेमें नराहारी राक्षसोंका भोजनकी खोजमें फिरना और दूसरेमें भोजनको ले जाना कहा। दो पृथक् बातें हैं। पुनरुक्ति नहीं है। (ख) किसी-किसीने पुनरुक्तिके भयसे यों भी अर्थ किया है कि वनके राक्षस और स्त्री-पुरुष सभी चोर होते हैं, यथा—*'लेहिं न बासन बसन चुराई।'* (ग) *'चरहीं'* पाठ ही प्राचीन सभी पोथियोंमें है। उसका ठीक अर्थ न लगा पानेके कारण आधुनिक प्रतियोंमें टीकाकारोंने *'करहीं'* पाठ कर लिया है। (घ) रावण मायासीताको चुरा ले गया। अहिरावण श्रीराम-लक्ष्मणको ले गया। कालकेतु भानुप्रतापको ले गया इत्यादि उदाहरण हैं। '**चर गतिभक्षणयोः**' धातु है। इसमें दोनों भाव आ गये—चलते हैं और भक्षण करते हैं।

टिप्पणी—२ *'लागइ अति पहार कर पानी।……'* इति। भोजनका दुःख कह आये। भोजन करनेपर जल पीनेको चाहिये; अतएव अब जलका दुःख कहते हैं। *'अति लागइ'* का भाव यह कि अन्न-भोजन करके पानी पिये तो बीमार पड़ जाय और कन्द-मूल-फल खाकर वहाँका जल पिये तो अत्यन्त लगता है अर्थात् मृत्यु ही हो जाती है। *'नहिं जाइ बखानी'* अर्थात् तो फिर देखी और सुनी कैसे जायगी?

टिप्पणी—३ *'ब्याल कराल बिहग बन घोरा।……'* इति। सर्प कराल हैं अर्थात् अजगर आदि मनुष्योंको निगल जाते हैं, विहंग भयानक हैं; आँख निकाल लेते हैं, इत्यादि। शार्दूल आदि पक्षी जीवोंको पकड़कर उड़ जाते हैं। तात्पर्य यह कि तीनों स्थलोंके जीव बाधा करते हैं—व्याल पृथ्वीके, विहंग आकाशके और निशाचर पातालके। पुनः, निशाचर व्यभिचारी होते हैं, इससे स्त्रियोंको चुरा ले जाते हैं और नराहारी हैं इससे पुरुषोंको भी उठा ले जाते हैं। [*'ब्याल कराल'* से जनाया कि इनको देखकर डर लगता है। इनका डसा मनुष्य जी नहीं सकता। ये रास्ता रोककर खड़े हो जाते हैं, वनमें ये निर्भय विचरते हैं। यथा—'**चरन्ति पथि ते दर्पात्।**', '**तिष्ठन्त्यावृत्य पन्थानम्**' (वाल्मी० २। २८। १९-२०)]

नोट—२ पंजाबीजी लिखते हैं कि सीताजीको भय दिलानेके लिये 'नारी' का चुराना कहना अभिप्रेत था। पर, अपनी बातको प्रमाणित करनेके लिये उन्होंने 'नर' पद भी दिया। अथवा, यहाँ भावी कह रहे हैं। अथवा, यह अर्थ है कि नर और नारी चोर हैं।

डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ॥ ४॥
हंसगवनि तुम्ह नहिं बन* जोगू। सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू॥ ५॥
मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जिअइ कि लवन पयोधि मराली॥ ६॥

शब्दार्थ—'**गहन**'=वन। '**भीरु**'=डरपोक। '**लवन**' (लवण)=खारा, नमकवाला।

अर्थ—वनके भयंकरताकी सुध (स्मरण) आते ही धैर्यवान् पुरुष भी डर जाते हैं और तुम तो, हे मृगनयनी! स्वभावसे ही डरपोक हो॥ ४॥ हे हंसगामिनी! तुम वनके योग्य नहीं। (तुम्हारा वनगमन) सुनकर लोग मुझे अपयश देगें अर्थात् मेरा नाम धरेंगे, मुझे बदनाम करेंगे॥ ५॥ मानसरोवरकी अमृत-तुल्य जलसे पाली हुई हंसिनी क्या खारे समुद्रमें जी सकती है? अर्थात् नहीं जी सकती॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ……'* इति। सीताजीका भीरु स्वभाव है। इसीसे *'मृगलोचनि'* सम्बोधन किया। हिरन भी बहुत डरता है। पुनः, दूसरा भाव कि जिस वनकी सुधमात्रसे बड़े-बड़े धीर पुरुष दहल जाते हैं वह वन तुम्हें आँखोंसे देखना पड़ेगा। वे धीर हैं और तुम भीरु, सुधि आनेसे वे भयभीत होते हैं तब तुम इन नयनोंसे देखकर कैसे जी सकती हो?

टिप्पणी—२ *'हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू।……'* इति। भाव कि हंसिनी मानससरमें मोती चुगती है,

---

* पाठान्तर—'तुम कानन जोगू'—पं० रामगुलाम द्विवेदी। 'नाह बन'—भागवतदास, राजापुर, वन्दन पाठक, काशी (रा० प्र०), पं० रामकुमारजी। 'कानन जोगू' में वक्रोक्ति और विषम अलंकारसे अर्थ करना होगा—क्या तुम वनके योग्य हो? अर्थात् नहीं।

कमलोंपर चलती है। वैसे ही तुम अयोध्याजीकी सुख भोगनेवाली और पाँवड़ोंपर चलनेवाली हो। वनमें रहनेयोग्य नहीं। पुनः भाव कि तुम्हारी चाल हंसकी-सी है। इस चालसे तुम कैसे वनमें चलोगी? कैसे पहाड़पर चढ़ोगी? लोग सुनकर हमको अपयश देंगे कि रामजी ऐसी कोमल सुकुमारी स्त्रीको वनमें साथ ले गये, वह वहाँ मर गयी यह अपयश हमको मिलेगा। वनमें तुम्हारा जीना कठिन है यह आगे स्पष्ट कहते ही हैं *'जिअइ कि……।'*

टिप्पणी—३ *'मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जिअइ……'* इति। प्रथम हंसगामिनी कहकर वनमें जानेकी अयोग्यता दिखायी और अब *'जिअइ कि लवन पयोधि मराली'* कहकर वहाँ जीना दुर्लभ और असम्भव ठहराया। जो सुन्दर भोगोंका सेवन करता है और जो अत्यन्त कोमल होता है उसे भारी दुःख बहुत व्याप्त होता है जिससे वह मर ही जाता है। जो सदा दुःख भोगनेवाला होता है उसे अत्यन्त दुःख भी नहीं व्याप्त होता है। जैसे खारे समुद्रमें रहनेवाले जीवोंको उसमें दुःख नहीं होता। (यहाँ मानससरसम अयोध्याजी और मिथिलाजी, खारे समुद्रसम वन, सलिलसुधा अवध, मिथिलाके सुखभोग और खारा जल वनके सभी दुःख हैं। रा० प्र०)

पंजाबीजी—सुन्दर, कोमलता और भयके विचारसे *'मृगलोचनि'* कहा। हिरन जरामें चौंक पड़ता है। *'हंसगवनि'* से वन जानेकी अयोग्यता और मराली कहकर अभाव दिखाया। आगे कोकिल कहकर शोभाका अभाव कहते हैं।

नव रसाल बन बिहरनसीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥ ७॥
रहहु भवन अस हृदय बिचारी। चंदबदनि दुखु कानन भारी॥ ८॥

शब्दार्थ—**नव**=नवीन, नया। **रसाल**=आम। **बिहरनसीला**=विहार करनेवाली, विचरनेवाली, रहनेवाली। **कोकिल**=काले रंगकी एक चिड़िया जो कौवेसे कुछ छोटी होती है और मैदानोंमें वसन्तके आरम्भसे वर्षाके अन्ततक रहती है। बड़ी सुरीली होती है।=कोयल। **करील**—ऊसर और कँकरीली भूमिमें इसकी झाड़ी होती है जिसमें पत्तियाँ नहीं होतीं, केवल गहरे हरे रंगकी पतली-पतली बहुत-सी डण्ठलें फूटती हैं। फागुन-चैत्रमें इसमें गुलाबी रंगके फूल होते हैं। इसके फलको टेंटी कहते हैं जिसका अचार पड़ता है।

अर्थ—नये आमके वनमें विहार करनेवाली कोयल क्या करीलके वनमें शोभा पा सकती है? अर्थात् वहाँ उसकी शोभा नहीं॥ ७॥ ऐसा हृदयमें विचारकर तुम घरपर ही रहो। हे चन्द्रमुखी! वनमें बड़े दुःख हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'नव रसाल'* कहा क्योंकि आमके नये वृक्ष बहुत शोभित होते हैं। 'करील-वन' को वनकी उपमा दी, 'रसाल-वन' को घरकी, क्योंकि आमके वनमें सुन्दर छाया और फल एवं सुगन्धित फूल होते हैं और करील-वनमें पत्ते नहीं होते। फल-फूल भी सुन्दर नहीं होते।

टिप्पणी—२ *'अस बिचारि'* अर्थात् हम वनके योग्य नहीं हैं, वनमें बहुत क्लेश हैं यह विचारकर। 'भारी दुःख' का भाव कि साधारण दुःख होता तो हम तुम्हें ले चलते। *'चंदबदनि'* अर्थात् वनमें तुम्हारे मुखकी शोभा मलिन पड़ जायगी। [वीर कवि—वक्रोक्तिद्वारा कोयलपर ढारकर यह बात कहना कि सुकुमारी और सुखभोगिनी स्त्रियाँ वनका दुःख नहीं सह सकतीं 'विशेषनिबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार' है। रसालवनमें रहनेवाली कोयल करीलवनमें रहे, यह 'विषम अलंकार' है। अप्रस्तुत प्रशंसा प्रधान और शेष दोनों उसके अंगी हैं।]

दो०—सहज सुहृद गुर स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि।
सो पछिताइ अघाइ उर अवसि होइ हित हानि॥ ६३॥

अर्थ—सहज सुहृद् (स्वभावसे ही हितैषी)* गुरु और स्वामीकी शिक्षा जो सिरपर धारण करके नहीं करता, वह हृदयमें भरपूर पछताता है और उसके हितकी हानि अवश्य होती है॥ ६३॥

* पाँड़ेजी यों अर्थ करते हैं—मित्र, गुरु, स्वामीका सिखावन जो सहज ही सिरपर धरकर नहीं करता।

टिप्पणी—१(क) *'जो न करइ सिर मानि'* से जनाया कि जो इनकी सीखपर चलता है वह बिना क्लेशके धर्मका फल पाता है, यथा—*'गुरु श्रुति संमत······।'* और जो आज्ञा पालन नहीं करता वह पछताता है। *'सिर मानि'* का भाव कि इनकी शिक्षा परम धर्म है, यथा—*'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥'* (१।७७।२)

अतएव शिरोधार्य करके माननेयोग्य है। (ख) *'पछिताइ अघाइ उर'*—हृदयमें पछताता है क्योंकि उत्तम शिक्षा न मानी यह अपनी भूल है। अपनी भूल समझकर दूसरेसे कहता नहीं, हृदयमें ही पछताता है। (ग) *'अवसि होइ हित हानि'* इति। भाव कि सुहृद्, गुरु और स्वामी ये हितकी शिक्षा देनेवाले हैं, इनकी शिक्षाके अनुसार न करनेसे हितकी हानि होती है। पुनः इनके वचन अमोघ हैं, व्यर्थ नहीं होते, इसीसे 'अवश्य' हितकी हानि होती है, पश्चात्ताप करना पड़ता है।

नोट—यहाँ जनाते हैं कि इनमेंसे एककी भी सीखपर न चलनेसे हितकी हानि अवश्य होती है और जहाँ तीनोंकी एक ही शिक्षा है वहाँकी हानिका तो कहना ही क्या? इस कथनसे सूचित किया कि यहाँ तीनों तुम्हें यही उपदेश दे रहे हैं। मैं तुम्हारा सहज सुहृद् और स्वामी हूँ और कौसल्याजी गुरु-समान वा बड़ी हैं। वाल्मीकीयमें श्रीरामजीने माता-पिताको गुरु बहुत स्थलोंमें कहा है और श्रीजानकीजीसे ही कहा है—'**अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते। स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम्॥**' (२।३०।३३) अर्थात् देवता प्रत्यक्ष नहीं हैं, उनकी आराधनासे सदा सफलताकी सम्भावना नहीं है। पिता-माता प्रत्यक्ष हैं, वे गुरु हैं। उनकी आज्ञाका उल्लंघन करके देवाराधन कैसे उचित होगा। अतएव यह आज्ञा तुम्हें माननीय है।

सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के। लोचन ललित भरे जल सिय के॥ १॥
सीतल सिख दाहक भइ कैसें। चकइहि सरद चंद निसि जैसें॥ २॥
उतरु न आव बिकल बैदेही। तजन चहत सुचि स्वामि सनेही॥ ३॥

अर्थ—प्यारे पतिके कोमल और मनोहर वचन सुनकर श्रीसीताजीके सुन्दर नेत्र जलसे भर गये॥ १॥ शीतल सीख उन्हें कैसी जलानेवाली (संतप्त करनेवाली) हुई जैसे शरद्-ऋतुकी चाँदनी रात चकवीको (दाहक होती है)॥ २॥ वैदेही श्रीजानकीजीके मुखसे जवाब नहीं निकलता। वे व्याकुल हो गयीं (कि) हमारे पवित्र प्रेमी स्वामी हमें छोड़ना चाहते हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के'* अर्थात् सुननेमें कोमल और अर्थ समझनेमें मधुर। पतिके वियोगकी बात सुनकर नेत्रोंमें जल भर आया। इसीसे वक्ता उनके नेत्रोंको *'ललित'* विशेषण दे रहे हैं। उचित अवसरपर नेत्रोंमें अश्रु आना उनकी शोभा है।

टिप्पणी—२ *'सीतल सिख दाहक भइ कैसें। चकइहि·····'* इति। (क) शरद्-ऋतुकी चन्द्रमाकी रात सबको सुखदायी है पर चकईको चकवासे रात्रिमें विछोह होनेके कारण वह शरद्-चन्द्र हृदयमें जलन उत्पन्न करता है। वैसे ही श्रीरामजीकी शिक्षा शीतल है पर उसमें पतिवियोग है, अतएव वह हृदयको दग्ध कर रही है। (ख) रात्रि तो सब दिन शीतल होती है पर शरद्-ऋतुकी रात अत्यन्त शीतल और स्वच्छ होती है, वैसे ही यह सीख अत्यन्त शीतल और स्वच्छ है। मुख चन्द्रमा है। और वचन किरण है।*

'उतरु न आव बिकल बैदेही।···' इति। *'बैदेही'* पदसे सूचित किया कि व्याकुलतामें देहकी खबर न रही। (पुनः भाव कि विदेहकी कन्या होनेसे इनकी देहबुद्धि तथा देहासक्ति नष्ट हो गयी है। ऐसी देहसुखसे

---

* अ० दी० च०—'मृदु मनोहर' और 'शीतल सिख' इन शब्दोंको विचारना चाहिये। यदि ये वचन मनको सन्तुष्ट करनेवाले न होते तो ग्रन्थकार 'मृदु मनोहर' विशेषण न देते। 'शीतल सिखावन' से भी हृदयका जुड़ाना मालूम होता है। अतः सन्दर्भ यह है कि श्रीरामजीके वचनसे मन सन्तुष्ट हो गया, हृदय शीतल हो गया। अतः महारानीजी शरीरसे वियोगका दुःख नहीं अनुभव करती हैं, केवल वचनसे (अनुभव करती हैं) जो आगे लिखा भी है।

पूर्ण उदासीन रहनेवाली होनेपर भी वे व्याकुल हो गयीं। उस दुःखकी कल्पना करना भी असम्भव है। प० प० प्र०) स्वामीको *'सुचि सनेही'* विशेषण देनेका भाव कि शुचि हैं इसीसे उन्होंने पवित्र सिखावन दी और स्नेही हैं इसीसे हमपर तथा मातापर स्नेह होनेके कारण यह सोच-विचार करके कि मैं वनमें दुःख पाऊँगी, दूसरे यह कि घरपर रहनेसे माताको अवलम्ब होगा मुझे घरपर छोड़ना चाहते हैं। *'एहि तें अधिक धरम नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा॥'*—यह पवित्र उपदेश है—[*'सुचि स्वामि सनेही'* से जनाया कि अन्य वा औरोंके स्वामी अशुचि हैं। (खर्रा) 'शुचि' से श्रीरामजीके शीलका निर्देश किया। (प० प० प्र०) अथवा, पवित्र परम स्नेही होकर भी इन्होंने लौकिक धर्मका उपदेश दिया, मेरी अनन्यतापर दृष्टि न डाली, मैं वियोगमें मर जाऊँगी यह विचारकर दया न की, मुझे त्यागकर चल देना चाहते हैं; अतः विकल हुईं। (वै०)]

वि० त्रि०—उत्तर देना चाहती हैं। पर गद्‌गदकण्ठ हैं, धैर्य छूटा हुआ है, विकल हैं, इसलिये दे नहीं रही हैं। विकलताका कारण यह है कि उन्होंने समझ लिया कि स्वामिधर्मसे विचलित न होनेवाले प्रभु मुझे साथ नहीं ले जाना चाहते। इनका स्वामिधर्म और स्नेहाधिक्य ही मेरे वनगमनमें बाधक हो रहा है।

बरबस रोकि बिलोचन बारी। धरि धीरजु उर अवनि-कुमारी॥ ४॥
लागि सासु पग कह कर जोरी। छमबि देबि बड़ि अबिनय मोरी॥ ५॥

शब्दार्थ—**बरबस**=जबरदस्ती, बलपूर्वक, हठात्। **अवनि-कुमारी**=पृथ्वीकी कन्या, श्रीजानकीजी। **पगु लागि**=पास जाकर=पैर छूकर (मुहावरा है—पयलगी करना, पैर लगना)। **छमबि**=क्षमा करना। **अबिनय**=ढिठाई।

अर्थ—नेत्रोंके जलको बरबस रोककर भूमिजा श्रीसीताजी हृदयमें धीरज धर सासके पैर लगकर हाथ जोड़कर कहने लगीं—हे देवि! मेरी इस बड़ी ढिठाईको क्षमा कीजिये॥ ४-५॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकु०— *'बरबस रोकि बिलोचन बारी।⋯'* इति। (क) नेत्रोंमें जो जल भर आया था, यथा—*'लोचन ललित भरे जल सिय के',* वह रोके नहीं रुकता था, अतः बरबस रोकना कहा। (ख) *'धरि धीरजु उर अवनि-कुमारी'*—हृदयमें शीतल उपदेशसे दाह उत्पन्न हो गया था उसे सहकर धीरज धारण किया; अतएव यहाँ *'अवनि-कुमारी'* नाम दिया। धीरज धारण करना और सहन करना पृथ्वीके गुण हैं इसीसे पृथ्वीका 'सर्वसहा' भी एक नाम है। उनकी कन्यामें भी ये गुण होने ही चाहिये। [स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि धैर्य धारण करनेमें धरणि (धरा) का प्रयोग किया गया है। यथा—*'धरनिसुता धीरज धरेउ समउ सुधरमु बिचारि।'* (२८६) यदि 'अवनि' की जगह 'धरा' शब्द लिखते तो अनुप्रासकी सुन्दरता भी बढ़ जाती। *'उर धरि धीरज धराकुमारी'* लिख सकते थे। ऐसा न करके *'अवनि-कुमारी'* शब्द देनेमें भाव यह है कि अवनि=रक्षण करनेवाला। ('अवन' शब्दका अर्थ रक्षण है। यथा—*'सीय सोच समन दुरति दोष दवनु सरन आये अवन लषन प्रिय प्रान सो।'* (बाहुक) उसीसे 'अवनिका' यह अर्थ किया जान पड़ता है) रक्षण करनेवालेकी कुमारी हैं अतः धर्म और अवनि (पृथ्वी) की रक्षाके लिये वनमें जानेका हठ करती हैं। श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि पृथ्वीकी कन्या कहा क्योंकि इनमें भी पृथ्वीके समान क्षमा है।]

टिप्पणी २—*'लागि सासु पग कह कर जोरी।⋯⋯'* इति। श्रीरामजी माताके समीप श्रीसीताजीसे बोलनेमें सकुचे थे, यथा—*'मातु समीप कहत सकुचाहीं।'* (६१। १) वैसे ही श्रीसीताजी श्रीरामजीसे बातें करनेमें सकुचती हैं। इसीसे वे पैरों पड़, हाथ जोड़, क्षमा माँगती हैं कि आपके सामने पतिसे बात करती हूँ, यह बड़ी ढिठाई है, अनीति है, इसे क्षमा करना। (आपने ही उनको अपने सामने शिक्षा देनेको कहा, उन्होंने शिक्षा दी। उत्तरमें मुझे भी आवश्यक हुआ, नहीं तो न बोलती। (पंजाबीजी)

दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई। जेहि बिधि मोर परम हित होई॥ ६॥
मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं। पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं॥ ७॥

अर्थ—मुझे प्राणपतिने वही शिक्षा दी है जिस प्रकार मेरा परम कल्याण हो॥ ६॥ मैंने भी मनमें विचार देखा कि पतिके वियोगके समान संसारमें कोई दुःख नहीं॥ ७॥

वि० त्रि०—सरकारने तो संकोचसे '*प्रिये*' सम्बोधन नहीं किया, पर भगवती '***प्राणपति***' कहनेमें संकोच नहीं कर रही हैं। क्योंकि इसी एक शब्दमें सब बातोंका उत्तर है। भाव यह कि प्राणपतिके बिना तो प्राण ही नहीं रहेगा, उपदेशका पालन कौन करेगा? उपदेश निर्दोष है, उसीमें मेरा परमहित निहित है। मैंने उसे सुना-समझा और विचारा तो यही निश्चय हुआ कि पति-वियोग-जन्य दुःख ही सबसे बड़ा है। स्त्रीको स्त्रीके भावके समझनेमें बहुत कहना नहीं पड़ता, अतः कौसल्याजीके लिये इतना उत्तर यथेष्ट था। अब सरकारसे कहती हैं।

पुरुषोत्तम रामकुमार—१ (क) '***प्राणपति***' का भाव कि ये हमारे प्राणोंके स्वामी, मालिक और रक्षक हैं, इनके बिना हमारे प्राण न रहेंगे। पुनः उन्होंने वह सीख दी जिससे मेरे प्राणोंकी रक्षा हो और परम हित हो। अतः '***प्राणपति***' शब्द दिया। [पुनः, ये सत्य ही प्राणके पति हैं। प्राणके प्राण हैं इनके बिना प्राण न रहेंगे; और लोग कहनेभरको प्राणपति हैं। वस्तुतः वे देहके पति हैं। (पण्डितजी)] (ख) परमहित जिससे लोक-परलोक दोनों बनें। '***जेहि बिधि मोर परमहित होई***' का भाव कि पतिव्रताका धर्म है कि पतिके वचनमें परम हित माने, उसका आदर करे, अतएव उनके वचनोंको '***परमहित***' कहा। आगे अपने हृदयकी बात कहती हैं। (ग) '***जेहि बिधि***' अर्थात् जिसमें हमारा परमहित हो, वही कहा, यथा—'***गुर स्त्रुति संमत धरम फल पाइय बिनहिं कलेस।***' (६१) और परमहित होनेकी विधि भी कही कि घरमें रहो, सास-ससुरके पदकी पूजा करो, यथा—'***एहि तें अधिक धरम नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा॥***', '***सब बिधि भामिनि भवन भलाई***'—परमहित होनेकी विधि यही है।

२—'***मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं।*****' इति।—यह कहकर कौसल्याजीको उन्होंने निरुत्तर किया। अब इसके प्रत्युत्तरमें वे कुछ न कह सकेंगी; क्योंकि पतिव्रताके धर्मको वे जानती हैं कि यही है जो जानकीजी कह रही हैं। पहले कौसल्याजी बोली थीं, अतएव पहले उन्हींसे बात की। आगे अब श्रीरामजीसे विनय करती हैं।*

☞ देखिये श्रीअम्बा जनकनन्दिनीजूकी व्याकुलताका प्रभाव हमारे पूज्य भक्त कविजीपर भी कैसा पड़ा। चार चौपाइयोंका क्रमभंग ही तो हो गया।

नोट—'***मैं पुनि समुझि दीखि***' में (वाल्मी० २। २७। १०) '**अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्। नास्मि संप्रति वक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया॥**' का भाव भी आ जाता है। अर्थात् माता-पिताद्वारा अनेक बार आदेश मिल चुका है, मुझे इस समय क्या कर्तव्य है मैं जानती हूँ, इस विषयमें मुझे उपदेश न दें। अ० रा० की ज्योतिषीवाली बात कि तुम पतिके साथ वन जाओगी और समस्त रामायणोंवाली बात कि सीता सभीमें श्रीरामके साथ गयी हैं भी '***समुझि मन माहीं***' में खींचकर ले सकते हैं। वाल्मी० में भी लक्षण बतानेवाले भिक्षुकी, सामुद्रिककी बात कही है। (२। २९। ९। १३)

दो०—प्राननाथ करुनायतन सुंदर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥ ६४॥

शब्दार्थ—'**करुनायतन**'=(करुणा+आयतन=घर, स्थान) दयानिधान।

---

* अ० दी० च०—'इन अर्धालियोंमें आन्तरिक भाव यह है कि प्राणपतिने मुझे यही शिक्षा दी है जिससे मेरा परमहित हो अर्थात् स्त्रीका परमहित पतिके साथ ही है। फिर मैं भी यही विचारती हूँ कि पियवियोग दुःखकी सीमा है। अतएव मैं नित्य पतिके साथ रहकर सुखपान करना चाहती हूँ। २—जैसे श्रीरामजीके वचनोंका आन्तरिक भाव दूसरा है वैसे ही श्रीजानकीजीने चार दोहोंमें उत्तर दिया है वह भी गूढ़ है, उसमें आन्तरिक भाव दूसरा ही है।'

अर्थ—हमारे प्राणोंके स्वामी, करुणाके स्थान, सुंदर सुखके दाता, सुजान और रघुकुलरूपी कुमुदिनीके (खिलाने, प्रफुल्लित करनेवाले) चन्द्रमा! आपके बिना स्वर्ग भी नरकके समान है॥ ६४॥

पुरुषोत्तम रामकुमार—१ आप प्राणके नाथ हैं, अतएव प्राणोंके सुखदाता हैं और करुणायतन हैं, अतः तनके सुख देनेवाले हैं। सुन्दर हैं अतः नेत्रोंको सुखद हैं, सुजान हैं अतः मनको सुख देनेवाले हैं अर्थात् सेवकके मनकी बात जानकर आप उसके मनोरथको पूरा करते हैं। अथवा आप प्राणनाथ हैं, हमारे प्राणोंकी रक्षा कीजिये। आपके बिना मेरे प्राण न रहेंगे। आप करुणायतन हैं, मुझपर करुणा कीजिये। [करुणाके स्थान होकर आपको ऐसी निष्ठुर दयारहित बात न कहनी चाहिये। (रा० प्र०)] सुन्दर और सुखद हैं अतः मुझे साथ ले चलकर दर्शनका आनन्द दीजिये। (यहाँ रखकर दुःख न दीजिये। रा० प्र०) सुजान हैं, मेरे हृदयकी जानते हैं कि आपके बिना मुझे स्वर्ग नरकके समान दुःखदायी है। आपके वियोगमें मेरे प्राण न रहेंगे। २—*'रघुकुल-कुमुद बिधु'*—रघुकुल रघुवंश एवं रघु (जीव)—कुल अर्थात् जीवमात्रके सुख देनेवाले हैं और मैं तो आपकी दासी हूँ; अतएव मुझे सुख दीजिये। *'सुरपुर नरक समान'* से सूचित करती हैं कि वियोगमें सुरपुर नरकके समान है और आपके संयोगसे वन भी स्वर्गके समान होगा (भाव यह कि जिसके बिना वैकुण्ठ नरकके समान दुःखदायी हो जाता है उसको साथ रहकर वनका दुःख सहने ही योग्य है। (पण्डितजी)

बाबा हरिहरप्रसादजी—१ रामजीने जो वचन कहे हैं *'आपन मोर नीक जो चहहू।'* से लेकर *'सब बिधि भामिनि भवन भलाई'* तक उनका उत्तर यहाँसे प्रारम्भ हुआ। श्रीरघुनाथजीने घरको सुखदायी कहा उसका उत्तर है *'सुरपुर नरक समान।'*

नोट—१ अ० रा० के '**कथं मामिच्छसे त्यक्तुं धर्मपत्नीं पतिव्रताम्। त्वदनन्यामदोषां मां धर्मज्ञोऽसि दयापरः॥**' (२।४।७१-७२) में *'प्राननाथ करुनायतन'* का भाव है। *'सुरपुर नरक समान'* में (वाल्मी० २।२७।२१)—'**व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि हि न मे मतः। स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव। त्वया विना नरव्याघ्र नाहं तदपि रोचये॥**' (तथा २।३०।१८)—'**यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना। इति जानन्परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह॥**' का सब भाव आ गया कि आपके बिना यदि स्वर्गमें भी रहना पड़े तो वह स्वर्ग भी मुझे पसन्द नहीं आपके साथ जिस स्थानपर रहना हो वही मेरे लिये स्वर्ग है और आपके बिना जहाँ रहना हो वह नरक है। इस प्रकारका मेरा निश्चय जानकर आप मुझे साथ ले चलें।

नोट—२ प० प० प्र०—प्रभुने *'गुर श्रुति संमत धर्म फल पाइअ बिनहि कलेस'* कहकर सूचित किया था कि इससे बिना क्लेशके स्वर्गकी प्राप्ति होगी। उसीपर श्रीजानकीजी कहती हैं कि *'सुरपुर नरक समान।'* अर्थात् पति-विहीन (पति-विरहमें) रहनेसे स्वर्ग प्राप्त होगा, पर वह स्वर्ग भी मुझे तथा अन्य पतिव्रताओंको नरकके समान ही होगा, तब अवधके सुखोंकी बात ही क्या?

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥ १॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥ २॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नातें। पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते तातें॥ ३॥

शब्दार्थ—'**समुदाई**'=समूह, समुदाय। **सजन**=सम्बन्धी, नातेदार, मान्य लोग। **सहाई**=सहायता करनेवाले सहायक। **तातें**=गर्म, तप्त। **नाते**=सम्बन्ध।

अर्थ—माता, पिता, बहिन, प्यारा भाई, प्यारा परिवार, सुहृद् (मित्र, उपकारकर्ता) समुदाय, सास, ससुर, गुरु एवं स्वजन, मान्य नातेदार (जैसे दामाद, फूफा, बहनोई और भी अन्य मान्य), सहायक, सुन्दर, सुशील और सुख देनेवाला पुत्र आदि, हे नाथ! जहाँतक प्रेम और नाते हैं वे सब स्त्रीको पतिके बिना सूर्यसे भी अधिक तप्त अर्थात् ताप देनेवाले हैं॥ १—३॥

टिप्पणी—(क) *'सुरपुर नरक समान'* कहकर स्वर्गके सुखोंका खण्डन किया। अब इस लोकके सुखोंका

खण्डन करती हैं। यथा—*'मातु पिता भगिनी····।'* पहले *'माता पिता···सुहृद समुदाई'* में नैहर (मायके) के सुखका खण्डन किया। क्योंकि माता, पिता, बहिन, भाई···ये सब मायकेके हैं। फिर *'सासु ससुर····'* में ससुरालके सुखका खण्डन किया। क्योंकि सास, ससुर, ज्येष्ठ, दामाद, पुत्र ये सब नाते ससुरालमें हुए। (ख) जितने नाते *'मातु'* से *'सहाई'* तक यहाँ कहे वे सब क्रमसे कहे। माताका गौरव पितासे अधिक, पिता बहिनसे अधिक, बहिन भाईसे, इत्यादि। इसी तरह ससुरसे सास अधिक, सजनसे गुरु अधिक। प्रमाण—'**उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्त्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥**' इति मनुः। पुत्र शरीरसे सुन्दर हो, सुशील हो अर्थात् सबका मुलाहिजा माने और सुखदाता अर्थात् सेवक हो। [(ग) यहाँ केवल भाईके साथ प्रिय विशेषण देकर मनुष्यस्वभावका एक मर्म सूचित किया है। वह यह कि माता-पिता और बहिन सहज सुहृद् तो होते ही हैं, पर विवाहित भगिनीपर सब भाइयोंका प्रेम होगा ही ऐसा नियम नहीं है। और परिवार भी सदा प्रेम करेगा या नहीं यह भी नियम नहीं, इसीसे इसके साथ भी 'प्रिय' विशेषण लगा दिया। यहाँ *'सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख····'* का खण्डन करती हैं। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'जहँ लगि नाथ नेह अरु नातें।'* इति। (क) प्रथम चार चरणोंमें विशेष नातेवालोंको पृथक्-पृथक् कहा अब जो सामान्य नाते हैं उन्हें कहती हैं—*'जहँ लगि····नातें।'* स्नेहवाले और नातेदार भिन्न-भिन्न हैं; इसलिये इन दोनोंके बीचमें *'अरु'* पद दिया। (ख) *'पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते तातें।'* भाव कि जैसे जबतक जल रहता है तबतक सूर्य कमलको सुख देता है जब जल न रहा तब ताप देता है वैसे ही जबतक स्त्रीके पति हैं तबतक सब नातेदार सुख देते हैं। जब पति नहीं रहता तब सब ताप देते हैं अर्थात् देखकर सब जलते हैं, मनाते हैं कि यह मर जाय तो अच्छा हो। (ग) सूर्य १२ हैं; इसीसे यहाँ १२ नातेदार गिनाये।

रा० प्र०—*'पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते तातें'* इसमें यह ध्वनि है कि यही पातिव्रत्य धर्म विचारकर कौसल्याजी घरमें रह गयी हैं। अतएव मुझे भी साथ ले चलिये।

नोट—(वाल्मी० २। २७) में जो श्रीसीताजीने कहा है—'**आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा। स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते॥ (४) भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ। अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि॥ (५) न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः। इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा॥**' (६) अर्थात् पिता, माता, भाई, पुत्र तथा पुत्रवधू ये सब अपने-अपने कर्मके अनुसार दुःख-सुख भोगते हैं। एक स्त्री ही पतिके कर्मफलोंकी भागिनी है। अतएव आपके लिये जो वनवासकी आज्ञा हुई वह मेरे लिये भी हुई। पिता, पुत्र, माता और सखियाँ कोई भी स्त्रियोंके लिये न तो इस लोकमें और न परलोकमें सहायक हो सकते हैं, केवल एक पति ही स्त्रियोंके लिये इहलोक तथा परलोकमें गति है, वही आश्रय है।—वे सब भाव *'जहँ लगि नाथ नेह अरु नातें।·····'* इन चरणोंमें आ जाते हैं। फिर भी *'तरनिहुँ ते तातें'* की जोड़में ये श्लोक नहीं ठहर सकते।

तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥ ४॥
भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥ ५॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—**भारू**=बोझ। **यम यातना**=यमराजके दूतोंकी दी हुई पीड़ा, नरककी पीड़ा।

अर्थ—तन, धन, धाम (घर), पृथ्वी, नगरका राज्य वा नगर और राज्य पति-विहीन (पतिरहित, पतिके बिना) स्त्रीके लिये ये सब शोकके समाज हैं (अर्थात् इसको देख-देखकर उसके हृदयमें शोक उत्पन्न होता है)॥ ४॥ भोग रोगके समान है। भूषण बोझके और संसार* यमयातनाके समान है अर्थात् पीड़ा पहुँचाते हैं॥ ५॥ हे प्राणनाथ! आपके बिना मुझे संसारमें कहीं कुछ जरा भी सुखद नहीं है॥ ६॥

---

* अर्थात् संसारके व्यवहार हँसना, बोलना इत्यादि यमयातनासे अधिक हैं। (पांडेजी)

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—धन, धाम, पृथ्वी आदि सब सुख तनके लिये किये जाते हैं; अतएव *'तन'* को प्रथम कहा।

टिप्पणी—२—*'भोग रोग सम'* इति। भोगसे सुख होता है। वही भोग पतिके बिना रोगके समान दु:खदाता हो जाता है। भूषण पहननेसे शोभा होती है, पर विधवा स्त्री गहने पहने तो शोभा नहीं देती, सभी नाम धरते हैं, इसीसे वह बोझ-सदृश है। [*'भोग रोग सम·····'*—जो प्रभुने कहा था कि *'भूमि सयन बलकल बसन असन कंद फल मूल।', 'नव रसाल बन बिहरन सीला।·····'* उसीपर कहती हैं कि धन, धाम आदि, स्वादिष्ट भोजन, दिव्य वस्त्र, भूषण, तैल, सुगन्ध, कोमल शय्या आदि जितने भी भोग अर्थात् सुखके पदार्थ हैं ये सब पतिविहीन स्त्रीके लिये नहीं हैं, उसके लिये तो ये रोगके समान हैं। इन भोगोंसे पाप होते हैं जिससे पीछे अनेक दु:ख भोगने पड़ते हैं और संसारके यावत् व्यवहार हैं वे सब यम-साँसतिके समान हैं। भाव यह कि साथ रहकर वल्कल वस्त्र, कन्दमूलफल, भूमिशयन ही सुख देनेवाले होंगे; अत: साथ ले चलिये।]

टिप्पणी—३—*'प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं'* इति। (क) *'कतहुँ'* अर्थात् मायकेमें, ससुरालमें और अन्य किसी स्थलमें भी। यहाँतक अपना हाल कहा आगे संसारकी स्त्रियोंका हाल कहती हैं। [अथवा *'मातु पिता भगिनी'* से लेकर *'जम-जातना सरिस संसारू'* तक साधारण स्त्रियोंपर कहा, आगे *'प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं।'* यह विशेषकर अपने ऊपर कहती हैं। *'कतहुँ कछु नाहीं'* अर्थात् और किसीको सुखदायी हो तो हो पर मुझको तो बिलकुल नहीं है। (रा० प्र०)]

जिअ बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥ ७॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधुबदन निहारें॥ ८॥

अर्थ—जैसे बिना जीवके देह और बिना जलके नदी, वैसे ही हे नाथ! पुरुषके बिना स्त्री है॥ ७॥ हे नाथ! आपके साथ रहकर आपका शरद्-ऋतुके निर्मल चन्द्रमाके समान मुख देखनेसे मुझे सब सुख प्राप्त है॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'जिय बिनु····· बारी।·····'* इति। बिना जीवके देह अशुद्ध है, बिना जलके नदी अशोभित है। पुन:, बिना जीवके देहका नुकसान है अर्थात् बिना जीवके देह नहीं रहती, जीवके साथ ही रहेगी। वैसे ही बिना आपके यह देह नहीं रह सकती, आपके संयोगमें ही रह सकती है। बिना जलकी नदीसे दूसरेका नुकसान है क्योंकि नदी दूसरोंके लिये बहती है, यथा *'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥'* वैसे ही आपके बिना मेरे शरीरसे दूसरेका कुछ उपकार नहीं हो सकेगा; तात्पर्य कि आप जो आज्ञा दे रहे हैं कि सासु-ससुरकी सेवा करो, पूजा करो, यह मुझसे न होगा। श्रीरामजीने जो धर्मका उपदेश दिया था कि *'एहि ते अधिक धरम नहिं दूजा'* उसका उत्तर यहाँतक दिया कि स्त्रीका धर्म पतिकी सेवा है, उसका और कोई धर्म नहीं, यथा—*'एकइ धरम एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥'* (आ० ४) श्रीरामचन्द्रजीने वनके दु:ख कहे, उसका उत्तर आगे देती हैं—*'नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे।···'*

श्रीनंगेपरमहंसजी—यहाँ पुरुषरहित स्त्रीके लिये दो उदाहरण दिये गये हैं। एक बिना प्राणके देहका, दूसरा बिना जलके नदीका। इनका भाव यह है कि जब स्त्रीका पतिसे वियोग होता है तब उसके लिये दो क्रियाएँ हैं। एक तो यह कि वह पतिके साथ अपना प्राण दे देती है अर्थात् सती हो जाती है—यह पतिव्रता स्त्रियोंकी क्रिया है। यदि यह न हुआ तो ब्रह्मचर्यव्रतको धारण करके अशोभित रूपसे शरीरान्त कर देती है। यह दूसरी क्रिया है। अत: पतिव्रताके लिये *'जिय बिनु देह'* कहा और ब्रह्मचर्य क्रियाके लिये *'बिनु बारी'* की नदी कहा। पर श्रीसीताजीने अपने लिये *'जिय बिनु देह'* का ही निश्चय किया था। यथा—*'चलन चहत बन जीवन नाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू॥ की तनु प्रान कि केवल प्राना।'*

प० प० प्र०—निर्जीव देह प्रेत-शव ही है। जहाँ वह रहती है वह स्थान अपवित्र रहता है। उसके

दर्शनसे घृणा होती है। वैसे ही बिना पतिके स्त्री घृणित, तिरस्कृत, अपवित्र, मृतक समान हो जाती है तब वह किसीकी सेवा कर सकेगी, किसको सुख दे सकेगी। जबतक नदीमें जल रहता है तबतक वह पवित्र, सुखदायी, उपकारक इत्यादि होती है। जलका अभाव होनेपर फिर उसे कोई नहीं मानता, उसके सभी गुणोंका अभाव ही होता है। नदीका नदीत्व जलसे ही है। एकके अभावमें दूसरेका भी अभाव होगा।

वि० त्रि०—देह बड़े कामकी चीज है, साधन-धाम मोक्षका द्वार है; परंतु अभीतक जबतक कि उसका जीवका साथ रहे। जीवसे वियोग होनेपर वही देह अमंगलमय और व्यर्थ हो जाता है। नदी बड़े कामकी वस्तु है, बड़े-बड़े नगर उसीके आश्रयसे बसे हुए हैं, पर तभीतक जबतक कि उसमें जल है, जल न होनेसे वही व्यर्थ और भयानक हो जाती है। उससे किसीका काम नहीं निकलता। यही दशा स्त्रीकी है, पतिका साथ होनेसे ही वह मंगलमय है, गृहलक्ष्मी है, उससे संसारका व्यवहार चलता है, पर पतिका साथ न होनेसे वही स्त्री अमंगलमय हो जाती है, व्यर्थ हो जाती है, भयानक हो जाती है, उससे किसीका काम नहीं निकलता। वह क्या किसीकी सेवा करेगी और क्या पुरानी कथा कहकर किसीको समझावेगी।

टिप्पणी—२ ***'नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें।'''''***—भाव कि बिना साथके कहीं किसीसे सुख नहीं और साथमें सभी सुख हैं। शरद-बिमल-बिधु-बदन निहारनेसे सब सुख प्राप्त हो जाते हैं। भाव यह कि बिना आपके सब नातेदार मुझे सूर्यके समान तापदाता हैं और आपका मुखचन्द्र देखनेसे मैं शीतल हो जाती हूँ। सकल सुख क्या हैं, यह आगे कहती हैं।

पाँड़ेजी—***'सकल सुख'*** का भाव कि जो आपने सम्पूर्ण दुःख वर्णन किये हैं वे सब आपके साथ हमें सुख (रूप) हैं। जिसके विक्षेप वा वियोगमें इतना दुःख है कि राज, भोग, भूषण आदि सब दुःखरूप हो जाते हैं तब तो उसकी प्राप्तिमें कैसा बड़ा सुख होगा, यह स्वयं विचार देखिये।

दो०—खग मृग परिजन नगरु बनु बलकल बिमल दुकूल।
नाथ साथ सुरसदन सम परनसाल सुखमूल॥ ६५॥

अर्थ—हे नाथ! आपके साथ पक्षी-पशु कुटुम्बीके समान, वन नगरके, भोजपत्र आदि पेड़ोंकी छाल निर्मल वस्त्रके और पर्णकुटी देवताओंके लोकोंके समान सुख देनेवाले होंगे॥ ६५॥

नोट—*१*—प्रथम पतिके बिना परिजन-नगर आदिको जानकीजीने शोकसमाज करार दिया और अब पतिके साथ इन्हींको सुखसमाज कहती हैं।

नोट—*२*—पर्णशालके साथ सुखमूल विशेषण देनेका भाव यह कि पर्णशालको सुरसदनके समान कहा। सुरसदनमें रहनेसे पुण्य क्षीण होते हैं। फिर सुखका नाश होता है। पर आपके साथ पर्णकुटीमें रहनेसे सुकृत बढ़ते हैं, सुकृतसे सुख बढ़ता है।

नोट—*३*—***'बिमल दुकूल'*** का भाव—मैंने वस्त्र पहनना मना है। और श्रीरामजी कह चुके हैं कि वल्कल वस्त्र पहनना पड़ेगा। इसीपर वे कहती हैं कि वल्कल निर्मल वस्त्रके समान पवित्र और सुखदायक है। भाव यह कि मैं वल्कल धारण करूँगी, पर्णकुटीमें रहूँगी, मुझे साथ ले चलिये।

बनदेवी बनदेव उदारा। करिहहिं सासु ससुर सम सारा॥ १॥
कुस किसलय साथरी सुहाई। प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई॥ २॥
कंद मूल फल अमिअ अहारू। अवध सौंध सत सरिस पहारू॥ ३॥

शब्दार्थ—**उदारा**=दानशील, जो संकीर्ण-चित्तका न हो, श्रेष्ठ। **सारा**=रक्षा, पालन। **किसलय**=नया निकला हुआ पत्ता, कोमल पत्ता, कल्ला। **सौंध**=राजमहल—**'सौंधोऽस्त्री राज्यसदनम्'** (अमरकोश)। **साथरी**—नोट २ में देखिये।

अर्थ—वनके देवी और देवता उदार हैं। वे सास-ससुरकी तरह मेरा पालन करेंगे॥ १॥ कुश और पेड़ोंके

पत्तेकी सुन्दर साथरी प्रभुके साथमें सुन्दर कामदेवकी तोषकके समान होगी॥ २॥ कन्द, मूल, फलका आहार (भोजन) अमृतके समान होंगे और पहाड़ अवधके सौ राजमहलोंके समान (सुखदायक) होंगे॥ ३॥

नोट—१ ***'बनदेवी बनदेव उदारा।·····'*** इति। उदार कहनेका भाव कि (क)—मनुष्य आदि चेतन जीवोंपर तो दया सभी करते हैं, पर ये स्थावरपर निर्हेतु दया करते हैं। ये वनस्पतिका पालन-पोषण करते हैं और उनको फल-फूलसे सम्पन्नकर अगणित जीव-जन्तुओंका उपकार करते हैं। (ख)—अन्य देवता पूजा लेकर तब मनुष्योंपर कृपा करते हैं और ये निर्हेतु उनको भी फल-फूल देते हैं। (ग)—स्वर्गके विषय-सुखको छोड़ वनमें आ बसे हैं। (पंजाबीजी, रा० प्र०)

नोट—२ पलास आदिके नये-नये पत्तोंको सुखाकर तोषक-सा सेज बनाते हैं, इसे 'साथरी' कहते हैं। यह बड़ी कोमल होती है। इसी कारण इसकी कामदेवकी तोषक वा सेजसे उपमा दी। यह श्रीरामजीके ***'भूमि सयन बलकल बसन'*** का उत्तर है।

नोट—३ ***'कुस किसलय···पहारू'*** इति। मिलान कीजिये—***'कहौ तुम्ह बिनु गृह मेरो कौन काजु। बिपिन कोटि सुरपुर समान मोको जो पै पिय परिहर्‌यो राजु॥*** (१) ***बलकल बिमल दुकूल मनोहर कंद मूल फल अमिय नाजु।'*** (गी० २। ७)

टिप्पणी—१ ***'कंदमूल फल अमिअ अहारू।'*** इति। श्रीरामजीने कहा था कि वनमें फल, मूल, कन्द भोजन है, उसीपर कहती हैं कि यह तो अमृतके समान आहार है। और जो कहा था कि ***'मारग अगम भूमिधर भारे'*** भारी पहाड़ मिलेंगे उसका उत्तर देती हैं कि भारी पहाड़ अयोध्याजीके महलोंके समान हैं। ***'अवध सौंध सत'*** का भाव कि कौसल्याजीने कहा था कि ***'जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥'*** इसीसे जानकीजी भी पहाड़को 'शत' राजमहलके समान कहती हैं। ***'कंद मूल फल अमिअ अहारू'*** में वाचक लुप्तोपमा है।

नोट—४ ***'नाथ साथ सुरसदन सम परनसाल सुखमूल'*** से ***'कंदमूल फल अमिअ अहारू'*** तक स्वर्गके सुखकी उपमाएँ दीं। पर्णशाल सुरसदन, पर्णसाथरी कामतुराई, कन्द मूल फल अमृत।

'अवध सौंध सत सरिस पहारू'

'दाम्पत्य प्रेमका दृश्य भी गोस्वामीजीने बहुत सुन्दर दिखाया है, पर बड़ी ही मर्यादाके साथ। नायिका भेदवाले कवियोंका-सा, या श्रीकृष्णकी रासलीलाके रसिकोंका-सा लोक-मर्यादाका उल्लंघन उसमें नहीं है। श्रीसीतारामके परमपुनीत प्रणयकी जो प्रतिष्ठा उन्होंने मिथिलामें की, उसकी परिपक्वता जीवनकी भिन्न-भिन्न दशाओंके बीच पति-पत्नीके सम्बन्धकी उच्चता और रमणीयता संगठित करती दिखायी देती है। अभिषेकके रामको वन जानेकी आज्ञा मिलती है। आनन्दोत्सवका सारा दृश्य करुणादृश्यमें परिणत हो जाता है। राम वन जानेको तैयार हैं और वनके क्लेश बताते हुए (श्री) सीताजीको घर रहनेके लिये कहते हैं। इसपर सीताजी कहती हैं—***'बन दुख नाथ कहे बहुतेरे।' 'लागिहि तात बयारि न मोही।'***

दु:खकी परिस्थितिमें सुखकी इस कल्पनाके भीतर हम जीवनयात्रामें श्रान्त पथिकके लिये प्रेमकी शीतल सुखद छाया देखते हैं। यह प्रेममार्ग निराला नहीं है। जीवनयात्राके मार्गसे अलग होकर जानेवाला नहीं है, यह प्रेम कर्मक्षेत्रसे अलग नहीं करता, उसमें बिखरे हुए काँटोंपर फूल बिछाता है। (श्री) रामजानकीको नंगे पाँव चलते देख ग्रामवासी कहते हैं—***'जौ जगदीस इन्हहिं बन दीन्हा। कस न सुमनमय मारग कीन्हा॥'*** थोड़ी दूर साथ चलकर उन्होंने जान लिया होगा कि उनका मार्ग ***'सुमनमय'*** है। प्रेमके प्रभावसे जंगलमें भी मंगल था। (श्री) सीताजीको तो सहस्रों अयोध्याका सुख वहाँ मिल रहा था—***'नाह नेह नित बढ़त बिलोकी।'***

अयोध्यासे अधिक सुखका रहस्य क्या है? प्रियके साथ सहयोगके अधिक अवसर। अयोध्यामें सहयोग और सेवाके इतने अवसर कहाँ मिल सकते थे? जीवन-यात्राकी स्वाभाविक आवश्यकताओंकी पूर्ति वनमें अपने हाथोंसे करनी पड़ती थी। कुटी छाना, स्थान स्वच्छ करना, जल भर लाना, ईंधन और कन्द-मूल

इकट्ठा करना इत्यादि वहाँके नित्य जीवनके अंग थे। ऐसे प्राकृतिक जीवनमें प्रेमका जो विकास हो सकता है, वह कृत्रिम-जीवनमें दुर्लभ है। प्रियके प्रयत्नोंमें ऐसे ही स्वाभाविक सहयोगकी अभिलाषिणी एक ग्रामीण नायिका कहती है—*'आगि लागि घर जरिगा बड़ सुख कीन। पियके साथ घइलवा भरि भरि दीन॥'* दूसरा कारण इस सुखका था हृदयका प्रकृतिके अनेक रूपोंके साथ सामंजस्य; जिसके प्रभावसे 'कुरंग-बिहंग' अपने परिवारके भीतर जान पड़ते हैं। उस जगज्जननी जानकीका हृदय ऐसा न होगा तो और किसका होगा, जिसे एक स्थानपर लगाये हुए फूल-पौधोंको छोड़कर दूसरे स्थानपर जाते हुए भी दुःख होता था।

छिनु छिनु प्रभुपद कमल बिलोकी। रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी॥ ४॥
बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥ ५॥
प्रभु बियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥ ६॥

शब्दार्थ—**लवलेस**=जरा भी, कुछ भी, नाममात्र। **कोकी**=चकवी, चकोरी।

अर्थ—क्षण-क्षण, पल-पलपर आपके चरणकमलोंको देखकर मैं ऐसी प्रसन्न रहूँगी जैसे दिनमें चकवी हर्षित रहती है॥ ४॥ हे नाथ! आपने वनके बहुत दुःख कहे, बहुत-से भय, विषाद और क्लेश कहे॥ ५॥ पर, हे कृपानिधे! ये सब दुःख, भय इत्यादि मिलकर भी आपके वियोग-दुःखके लवलेशके समान भी नहीं होते अर्थात् वियोग-दुःख इन सबके समूहसे कहीं बढ़कर है॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'छिनु छिनु प्रभुपद कमल·····'* इति। भक्तलोग भगवान्‌को क्षण-क्षणपर 'सँभारते' रहते हैं, यथा—*'सुनु सठ सदा रंकके धन ज्यों छन छन प्रभुहि सँभारहि।'* अथवा, लक्ष्मी भगवान्‌के चरणकी उपासक हैं, इसीसे बारम्बार चरण देखनेको कहती हैं। लक्ष्मी कमला हैं, कमलमें बसती हैं; इसीसे प्रभुके पदको कमल कहा।

टिप्पणी—२ *'रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी'* इति। श्रीरामजीकी शिक्षा सुनकर श्रीसीताजी विकल हो गयीं; जैसे रातको कोकी व्याकुल होती है, यथा—*'सीतल सिख दाहक भइ कैसें। चकइहि सरल चंदनिसि जैसें॥'* इसीसे वे कहती हैं कि चरण देखकर मैं वैसी ही प्रसन्न रहूँगी जैसी दिनमें कोकी।

टिप्पणी—३ *'बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय····'* इति। *'भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा॥'* इत्यादि भयके वचन हैं। *'कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहि बिनु पदत्राना॥ चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे॥'*—ये विषादके वचन हैं। और *'घोर घाम हिम बारि बयारी'* इत्यादि परितापके वचन हैं। [दीनजी कहते हैं कि विषाद उस मानसिक दुःखको कहते हैं जिसमें अपनी वह कमजोरी प्रकट होती है जिसमें हम अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर सकते। परिताप उस मानसिक दुःखको कहते हैं जिसमें हमें कुछ हार्दिक और कुछ शारीरिक दुःख हो।—*'सुनि अपजस मोहि देइहि लोगू॥····'* विषादके वचन हैं और जो पं० रामकुमारजीने विषादके वचन माने हैं वह मेरी रायमें परितापके वचन हैं। रा० प्र० का मत है कि *'भूमि सयन बलकल बसन'* इत्यादि विषाद है। *'लागइ अति पहार कइ पानी'* यह परिताप है। पाँड़ेजी लिखते हैं कि बहुतेरे शब्द अनादरका है, भाव यह कि ये दुःख तो कुछ भी नहीं हैं। भय, विषाद, परिताप तीनों भाँतिके दुःख वही हैं जो रघुनाथजीने वर्णन किये हैं।]

टिप्पणी—४ *'प्रभु बियोग लवलेस समाना।' 'कृपानिधाना'* इति। (क) *'प्रभु बियोग'* अर्थात् जैसे आप (प्रभु) समर्थ हैं, वैसे ही आपका वियोग समर्थ है। ऐसा भारी है कि समस्त दुःखसमूह मिलकर भी उसका मुकाबला नहीं कर सकते। (ख) *'कृपानिधाना'* का भाव कि आप कृपा करके वियोग-दुःखसे मुझे बचाइये। [पुनः भाव कि आप छोटे-छोटे दुःखोंसे रक्षाके लिये मुझे घरपर रखना चाहते हैं और वियोगका महान् दुःख देना चाहते हैं, यह विपरीत कृपा कैसी? (वै०) (ग) वियोगके क्लेशके बराबर नहीं, भाव यह कि वियोगका लवलेश होते ही मेरे प्राण छूट जायँगे।

अस जिय जानि सुजान सिरोमनि। लेइअ संग मोहि छाड़िय जनि॥ ७॥
बिनती बहुत करौं का स्वामी। करुनामय उर अंतरजामी॥ ८॥

अर्थ—हे सुजान-शिरोमणि! ऐसा जीसे जानकर मुझे संग लीजिये, छोड़िये नहीं॥ ७॥ हे स्वामिन्! मैं बहुत विनती क्या करूँ? आप करुणामय और हृदयके भीतरकी जाननेवाले हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ सुजान-शिरोमणिका भाव स्वयं ही आगे कहती हैं कि *'राखिअ अवध जौं अवधि लगि रहत न जानिअहिं प्रान।'* अर्थात् आप सब बिना जनाये जाननेवाले हैं। २—जब हृदयकी जानते ही हैं तो बहुत विनती करना दोषमें दाखिल है, यथा—*'सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बढ़ि खोरि।'* आप करुणामय हैं। अतएव हमपर करुणा करें, अन्तर्यामी हैं, हृदयकी जानते हैं, अत: हमें साथ लीजिये।

दोहा—राखिअ अवध जौं अवधि लगि रहत न* जानिअहिं प्रान।
दीनबंधु सुंदर सुखद सील सनेह निधान॥ ६६॥

अर्थ—हे दीनबन्धु! हे सुन्दर सुखोंके देनेवाले!! हे शील-स्नेह-निधान!!! यदि आप मुझे (वनवासकी चौदह वर्षकी) अवधितक अयोध्यामें रखते हैं तो प्राणोंको रहता हुआ न जानिये। अर्थात् समझ लीजिये कि प्राण नहीं रहेंगे॥ ६६॥

टिप्पणी—१ *'राखिअ अवध·····प्रान'* इति। श्रीजानकीजीने प्रथम प्रार्थना की कि मुझे साथ ले चलिये, बिना आपके मैं जीवित न रहूँगी। यथा—*'पिय बियोग सम दुख जग नाहीं', 'प्रभु बियोग लवलेस समाना।·····लेइअ संग·····।'* ऐसा कहनेसे हठ समझा जाता है और श्रीरामजीने बार-बार हठ करनेको मना किया है। यथा—*'हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस॥'* (६१) *'जौं हठ करहु प्रेम बस बामा। तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा॥'* (६२। ३) *'सहज सुहृद गुर स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि। सो पछिताइ·····।'* (६३) इसीसे वे हठ न करके इस तरह कह रही हैं कि यदि अवधितक प्राण रहते समझिये तो अवधमें रखिये। (यह अर्थ *'रहतन'* या केवल *'रहत जानिअहिं'* पाठमें होता है।) यह वाक्य हठ नहीं करार दिया जा सकता; क्योंकि घरपर रखना या न रखना यह श्रीरामजीके अधीन है, उन्हींपर इसका फैसला छोड़ दिया गया है।

---

* प्रथम संस्करणमें मैंने लिखा था कि 'राजापुरका' 'रहतन जानिअ प्रान' पाठ है। भागवतदास आदिकी पोथियोंमें 'रहत जानिअहि प्रान' है। अर्थ दोनोंका एक ही है। 'रहतन' एक शब्द है जिसका अर्थ वही है जो 'रहत' का है। यह बुन्देलखण्डी प्रयोग है। 'ठाकुर' की कविता 'ठाकुर ठसक' आदिमें ऐसे प्रयोग बहुत हैं। दीनजीके 'प्रेमपंचक' में भी एक प्रयोग ऐसा ही है—'ऊँची तरंगैं उमंगनकी जिनमें बहि जातन झेल नहीं है' यहाँ व्यक्ताक्षेपालंकार है।' 'रहत' और 'न' को अलग करके अर्थ हो सकता है, पर उस अर्थमें भावकी चोखाई जाती रहती है।'

गीताप्रेसके सं० १९९७ के संस्करणमें लिखा है कि 'राजापुरकी प्रतिमें 'रहत न जानिअहिं' पाठ मिलता है। इससे एक मात्रा बढ़ जाती है और छन्द बिगड़ जाता है। अत: हमने 'जानिअहिं' के स्थानमें 'जनिअहिं' कर दिया है। इससे अर्थमें कोई अन्तर नहीं आता और छन्दका दोष निवृत्त हो जाता है। सम्भव है कि 'ज' के स्थानमें 'जा' भूलसे लिख गया हो। 'जानिअहिं,' 'पालिअहिं', 'राखिअहिं' के स्थानपर 'जनिअहिं', पलिअहिं', 'रखिअहिं'·······प्रयोग अन्यत्र भी आये हैं।'

लाला सीतारामकी पुस्तकमें 'रहतन' पाठ है। सम्भव है कि चरणमें एक मात्राके बढ़ जानेसे 'न' को किसी-किसीने हटा दिया और किसी-किसीने 'जानिअहिं' का 'हि' हटा दिया हो। इस तरह 'रहतन जानिअ', 'रहत जानिअहि', 'रहत न जानिअ' इतने पाठ हो गये। मैं राजापुरका पाठ जैसा बताया जाता है वैसा ही इसमें रखता हूँ। सम्भव है कि आगे कोई विद्वान् इस दोषमें सुन्दर भाव बतायें। जैसे लंकाकाण्डमें एक दोहेमें संख्या न होनेका भाव लिखा गया है। यदि 'रहतन' पाठ राजापुरकी पोथीका हो तो उसका अर्थ 'रहत' होगा जैसा प्रथम संस्करणमें लिखा गया। अर्थ होगा—'यदि मेरे प्राणोंको (वनवासकी) अवधितक रहते समझिये तो मुझे अवधमें रखिये।'

नोट—१ वाल्मी० और अ० रा० की सीता और मानसकी सीतामें महान् अन्तर है। वाल्मी० में तो बारम्बार हठ किया है, यहाँतक कि अपनी मृत्युके लिये विष, अग्नि या जलका उपयोग करनेतकका विचार प्रकट किया है और भी ऐसी बातें कह डाली हैं जो पतिव्रताशिरोमणिके मुखसे शोभित नहीं कही जा सकती।

नोट—२ दोहेके पूर्वार्धमें यह भी भाव है कि आपने जिस कर्तव्यका मुझे उपदेश किया है कि माताकी सेवा करना, उनका दुःख मिटाना, यह कर्तव्य तो अपनेसे वियोग होनेपरका बताया है पर यह भी आपने सोचा कि आपका वियोग होनेपर मेरे शरीरमें प्राण रहेंगे भी या नहीं। यदि प्राण ही न रहेंगे तब आपके उपदेशका पालन कौन करेगा? ***'अवधि लगि'*** में भाव यह है कि मैं तो आपका वियोग-दुःख एक क्षण भी नहीं सह सकूँगी तब भला चौदह वर्षके लिये घरपर कैसे रह सकूँगी। यथा—**'इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्तमपि नोत्सहे। किं पुनर्दश वर्षाणि त्रीणि चैकं च दुःखिता॥'** (वाल्मी० २। ३०। २१)

नोट—३ ***'दीनबन्धु····'***—भाव कि आप दीनबन्धु हैं, मैं दीन हूँ; दीन जानकर मुझपर दया कीजिये, नहीं तो दीनबन्धु नाममें बट्टा लगेगा। ***'सुन्दर सुखद'*** हैं, मुझे सुन्दर मुखारविन्द तथा चरणोंके दर्शनका सुख दीजिये। यथा—***'नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद बिमल बिधु बदन निहारे॥'*** (६५। ८), ***'छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी॥'*** सुखद होकर मुझे दुःख न दीजिये। शीलनिधान तथा स्नेहनिधान हैं, सबका शीलस्नेह रखते हैं, अतः मेरा भी मान रखिये, शीलका त्याग न कीजिये। मेरे स्नेहकी ओर भी देखिये, मैं आपकी अनन्या हूँ, मेरे प्रेमको रखिये। स्नेह न छोड़िये। मैं आपके प्रेमकी भूखी हूँ। साथमें रहनेसे जो मुझे प्रेम मिलेगा उससे मुझे वंचित न कीजिये। (पं०, रा० प०, पं० रा० कु०।)

श्रीजानकीजीने श्रीरघुनाथजीको ***'प्राणनाथ', 'करुणायतन', 'सुन्दर-सुखद', 'सुजान'*** आदि सम्बोधन करके वार्ताका उपक्रम किया। (दोहा ६४ में) दोहा ६६ में भी प्रायः वे ही सब सम्बोधन हैं, यथा—***'बन दुख नाथ कहे····', 'सब मिलि होहिं न कृपानिधाना', 'अस जिय जानि सुजान सिरोमनि', 'करुनामय उर अंतरजामी', 'दीनबंधु सुंदर सुखद सील सनेह निधान।'*** दोहा ६६ में ***'सील सनेह निधान'*** विशेष है। इससे सूचित होता है कि यहाँ महारानीजी साथमें ले चलनेके लिये शील और स्नेहपर विशेष जोर दे रही हैं। गीतावलीके ***'पिय निठुर बचन कहे कारन कवन। जानत हौ सबके मनकी गति, मृदुचित परम कृपालु रवन।' 'प्राननाथ सुन्दर सुजानमनि दीनबंधु जग आरति दवन। तुलसिदास प्रभुपद सरोज तजि रहि हौं कहा करौंगी भवन।'*** (२। ८। १-२) इस पद्यमें प्रायः वही सब भाव हैं।

मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥ १॥
सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग जनित सकल श्रम हरिहौं॥ २॥
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहौं बाउ मुदित मन माहीं॥ ३॥
श्रम कन सहित स्याम तनु देखें। कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें॥ ४॥

शब्दार्थ—**'हारी'**=('हार' बुन्देलखण्डी बोली है) परिश्रम, थकावट। **'पखारि'**=प्रक्षालन करके, धोकर। **'बाउ'**=वायु। **'श्रम कन'**=(कण=बूँद) पसीनेकी बूँदें, **'पेखें'** (प्रेक्षण)=देखकर।

अर्थ—क्षण-क्षणमें आपके चरणकमलोंको देख-देखकर मुझे रास्ता चलनेमें थकावट न होगी॥ १॥ सब प्रकारसे प्रिय पतिकी सेवा करूँगी वा हे प्रियतम मैं सभी प्रकारसे आपकी सेवा करूँगी और मार्गमें चलनेसे उत्पन्न होनेवाली सारी थकावटको दूर करूँगी॥ २॥ आपके चरण धोकर वृक्षकी छायामें बैठकर प्रसन्न मनसे आपको हवा करूँगी॥ ३॥ पसीनेकी बूँदोंसहित आपका श्याम शरीर देखकर और प्राणपतिके अवलोकनसे अथवा प्राणपतिका दर्शन करते रहनेसे दुःखका समय कहाँ होगा॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'मोहि मग चलत न होइहि हारी।'*****·····** 'इति। श्रीरामचन्द्रजीने कहा था कि तुम्हारे चरण कोमल हैं, मार्ग अगम है, कैसे चलोगी, यथा—***'चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे॥'*** उसीका यह उत्तर है कि थकूँगी नहीं। न थकनेका कारण बताती हैं—***'छिनु छिनु चरन सरोज निहारी।'*** भाव कि इनके दर्शनसे तो भवमार्गका श्रम दूर होता है, तब इस मार्गके श्रमकी भली चलाई। ***'न होइहि हारी'*** इन शब्दोंसे यह नहीं कहतीं कि श्रम छूट जायगा वरन् यह कहती हैं कि श्रम होने ही न पावेगा, छूटनेकी चर्चा ही क्या? [भाव कि मुझे आपके सदा साथ रहने और सदा चरणोंके दर्शनका उत्साह और प्रेम है। जिस कार्यमें प्रेम और उत्साह रहता है तथा जो मनको भाता है उसमें परिश्रम नहीं होता यह लोकप्रसिद्ध है। अतः मुझे थकावट न होगी। (वै०)]

टिप्पणी—२ ***'सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं'*** इति। (क) सब प्रकारकी सेवा क्या है? यह स्वयं आगे कहती हैं—***'पाय पखारि' 'पाय पलोटिहि सब निसि दासी।'*** [पदप्रक्षालन, स्नान कराना, वस्त्र-प्रक्षालन, शय्या-डासन, पाद पलोटनादि सब सेवा है। (वै०) ***'पिय सेवा'*** का भाव कि प्रियतमकी सेवा प्रियतमके ही समान है। तात्पर्य कि आपकी सेवा मुझे अत्यन्त प्रिय है। (यथा—***'जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी॥ निज कर गृह परिचरजा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई॥'*** (७। २४)—यह राज्याभिषेक होनेपर भी सेवा दिखायी गयी है।) (ख) ***'मारग जनित सकल श्रम'***—(मार्गजनित श्रम यह कि उष्णतापसे प्यास लगेगी तब जल पिलाऊँगी, पंखा झलकर पसीना और ताप दूर करूँगी। पैर दबाकर थकावट दूर करूँगी इत्यादि।) (वै०) भाव कि मैं तो आपके मार्गश्रमको दूर करूँगी और मुझको मार्गश्रम कहाँ?—***'मोहि मग चलत न होइहि हारी।'***

रा० प्र०—'यहाँ तो सेवा करनेको कहती हैं, पर सेवा तो कहीं देख नहीं पड़ती?' इस शंकाका समाधान यह है कि ये प्रिय वचन प्राणपतिके साथ जानेके लिये कहे जिसमें वे साथ ले जायँ। फिर प्रत्यक्ष सेवा भी कही गयी है, यथा—***'बट छाया बेदिका बनाई। सिय निज पानि सरोज सुहाई॥', 'तुलसी तरुवर बिबिध सुहाए। कहुँ कहुँ सिय कहुँ लषन लगाए॥'*** (२३७। ८। ७) लक्ष्मणजी देवर हैं, उनकी माताने उनको यही उपदेश दिया था कि श्रीसीतारामजीको सब प्रकारसे सुख देना, अतः वे इनको कोई सेवा करने नहीं देते थे। इससे विशेष सेवाका उल्लेख भी नहीं है।

टिप्पणी—३ ***'पाय पखारि बैठि तरु छाहीं'*** इति। (क) पहले मार्गका श्रम हरनेको कहा। मार्गजनित श्रम पैरका होता है, इससे पैर धोकर पैरोंका श्रम दूर करूँगी, पंखा झलकर हवा करके शरीरकी गर्मी दूर करूँगी ***'बैठि तरु छाहीं'*** का भाव कि यह बैठने-(बैठकर करने-) की सेवा है। आगे शयनकी सेवा कहती हैं—***'सम महि तृन तरु पल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥'*** (ख) ***'मुदित मन माहीं'*** —भाव कि सेवा उत्साहपूर्वक करनी चाहिये, इसीसे उत्साहपूर्वक करनेको कहती हैं, यथा—***'मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥'*** (७। ५०। ६) पुनः, [भाव कि प्रसन्न चेष्टापूर्वक हास्यवार्ता करती हुई उदासीनताको मिटाऊँगी। (वै०) आपको भी प्रसन्न करूँगी, आपको कभी उदास न होने दूँगी और स्वयं उदास न रहूँगी। इसमें (वाल्मी० २। ३०। १७) **'न च तत्र ततः किंचिद् द्रष्टुमर्हसि विप्रियम्। मत्कृते न च ते शोको न भविष्यामि दुर्भरा॥'** का भाव भी आ गया (और वचन भी कोमल और प्रिय बने रहे)। अर्थात् मेरे साथ जानेसे आप कोई भी अनिष्ट न देख सकेंगे, मेरे लिये आपको कोई कष्ट न होगा, मैं आपके लिये दूभर न होऊँगी।]

टिप्पणी—४ ***'श्रम कन सहित स्याम तनु देखे।'*****·····** 'इति। ***'स्याम तनु'*** का भाव कि स्त्रियोंकी भावना शृंगारकी होती है। और शृंगारका रंग श्याम है—**'श्यामो भवति शृंगारः'**—इसीसे श्याम तन देखना कहा। अन्य स्थलोंमें भी ऐसा ही कहा गया है, यथा—***'सीता चितव स्याम मृदु गाता। परम प्रेम लोचन न अघाता॥'*** (३। २१। ३) ***'कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता॥'*** (५। १४। ६) वैसे ही यहाँ कहा।

नोट—गीतावलीमें भी बड़ा सुन्दर वर्णन है। उससे मिलान कीजिये—***'कृपानिधान सुजान प्रानपति संग***

विपिन ह्वै आवोंगी। गृह ते कोटि गुनित सुख मारग चलत साथ सचु पावोंगी॥' (१)*'थाके चरन कमल चाँपोंगी श्रम भये बाउ डोलावोंगी। नयन चकोरनि मुख मयंक छबि सादर पान करावोंगी॥' (२)* (गी० २। ६) *'प्रभु पद कमल बिलोकिहौं छिन छिन, एहि ते अधिक कहा सुख समाजु॥'* (गी० २। ७)

नोट—१ पंजाबीजी लिखते हैं कि—(क) मेघकी बूँदोंसे ताप और धूल आदिसे जो शरीरको कष्ट होता है वह भी दूर होता है। वैसे ही यहाँ *'श्रम कन'''''* से जनाया कि आपका श्यामतन श्याम मेघ है, श्रमकण (पसीनेकी बूँदें) मेघकी बूँदें हैं, मार्गका सारा श्रम आतप और धूल आदिका कष्ट है, श्रमकणसहित श्यामतनका दर्शन और प्रभुका कृपावलोकन मेघोंकी बूँदोंका स्नान है जिससे तापादि दुःखोंका हरण होता है। (ख)—यहाँ *'स्याम तनु देखें'* और *'प्रानपति पेखें'* में पुनरुक्ति होती है। अतः अर्थ यह है कि *'श्रम कन सहित स्याम तनु देखें'* अपने लिये कहा गया है और *'प्रानपति पेखें'* से प्राणपतिका देखना कहा है। भाव यह कि श्रमकणसहित आपका श्याम शरीर मैं देखूँगी और आप मुझे कृपादृष्टिसे देखेंगे तब दुःखका समय कहाँ?

वीरकविजी लिखते हैं कि देखें और पेखें पर्यायवाची हैं, किन्तु अर्थ दोनोंका पृथक् होनेसे 'पुनरुक्तिवदाभास अलंकार' है। *'कहँ दुख समउ''''* में वक्रोक्ति अलंकार है।

नोट—२ *'कहँ दुख समउ'* में यह भी भाव है कि जिसपर मन आसक्त रहता है उस स्वामीको श्रमित देखकर सुसेवककी दृष्टि कभी भी अपने दुःखकी ओर जा ही नहीं सकती; उसको अपने दुःखको विचारनेका अवसर ही कहाँ? (वै०) इस तरह प्रथम *'मोहि मग चलत न होइहि हारी'* से जनाया कि मुझको तो पथश्रम होगा नहीं, हाँ, आपको अवश्य होगा। इस कथनसे सूचित किया कि आप मुझसे भी अधिक सुकुमार हैं। (प० प० प्र०) यही आगे व्यंगसे कहा है—*'मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू?'*

नोट—३ (क) *'प्रानपति'* का भाव कि आपका कृपावलोकन हमारे प्राणोंका रक्षक होगा। (ख) यहाँतक दिनकी सेवा कही आगे रात्रिकी सेवा कहती हैं। (पु० रा० कु०)

सम महि तृन तरुपल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥ ५॥
बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि तात बयारि न मोही॥ ६॥

शब्दार्थ—**पलोटना** (सं० प्रलोठन)=पैर दबाना। **जोहना**=देखना। **बयारि**=हवा।

अर्थ—बराबर चौरस जमीनपर तृण और पेड़ोंके पत्ते बिछाकर यह दासी सारी रात आपके चरण दाबेगी॥ ५॥ बारम्बार आपकी कोमल मूर्तिको देख-देखकर मुझे गर्म हवा भी न लगेगी॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'पाय पलोटिहि सब निसि दासी'* इति। (क) चरणसेवा करना दासीका काम है इसीसे अपनेको 'दासी' कहा। (ख) पूर्व कुश और पत्ते कहे थे, यथा—*'कुस किसलय साथरी सुहाई'* और यहाँ तृण और तरु-पल्लव कहती हैं। इस भेदका आशय यह है कि सब जगह कुश नहीं प्राप्त होता पर घास सब जगह मिलती है, जहाँ कुश मिला वहाँ कुश बिछाये, जहाँ वह न मिला वहाँ घास बिछायी। (ग) *'सब निसि'* अर्थात् जितने दिन साथ रहेंगी उतने सब दिनोंमें प्रत्येक सारी रातको यह सेवा करूँगी। भागवतमें शुकदेवजीने इनकी चरण-सेवाका वर्णन किया है। (**''''''पद्मपद्भ्यां प्रियायाः पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां''''''।**' (९। १०। ४) '**कोसलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ। जानकीकरसरोजलालितौ''''''॥**' (७। मं० श्लोक २)

टिप्पणी—२ *'बार बार मृदु मूरति जोही।'''''* इति। (क) मूर्तिके दर्शनसे ताप दूर होता है अतः कहा कि *'लागिहि तात बयारि न मोही'* । यह *'घोर घामु हिम बारि बयारी'* का उत्तर है। (ख) *'तात बयारि'* गर्म हवा कहनेका भाव कि चैत्रमास है, पहले गर्म हवा मिलेगी, अतः 'तात' ही कहा। अथवा *'तात बयारि'* यह पद अल्प दुःखका वाचक है। तात्पर्य कि आपके दर्शनसे बड़े दुःखको कौन कहे *'तात बयारि'* भी न लगेगी अर्थात् किंचित् भी दुःख न होगा। यथा—*'मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। तात बाउ तन लाग न काऊ॥ ते बन सहहिं बिपति सब भाँती।'* (२००। ३-४) (ग) *'बार बार'* मूर्ति-दर्शन कहा। इसी तरह चरण-दर्शनके साथ भी *'छिन-छिन'* पद दिया था जिससे भी बारम्बार देखना जनाया है—*'छिनु*

छिनु प्रभुपद कमल बिलोकी', 'छिनु छिनु चरन सरोज निहारी' बारम्बार देखनेका भाव कि इनके दर्शनोंसे तृप्ति नहीं होती।

को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा। सिंघ बधुहि जिमि ससक सिआरा॥ ७॥
मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू॥ ८॥

शब्दार्थ—**सिंघ बधुहि**=सिंहकी स्त्री, सिंहनी। **ससक**=खरगोश, खरहा। **सिआर**=गीदड़।

अर्थ—प्रभुके साथ रहते मुझे कौन ताकनेवाला है जैसे सिंहकी स्त्रीकी ओर खरगोश या सियार (कब आँख उठाकर देख सकते हैं)?॥ ७॥ मैं सुकुमारी हूँ और आप वनके योग्य! आपको तो तपस्या उचित है और मुझे भोग!॥ ८॥

नोट १—प्रभुके *'निसिचर निकर नारि नर चोरा', 'हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू'* इन वचनोंका उत्तर यहाँ है।

नोट २—*'प्रभु'* पद देकर जनाया कि आप समर्थ हैं, समर्थके साथ किसकी मजाल है कि नजर उठाकर दृष्टि डाल सके। आप सिंह हैं, मैं सिंहनी हूँ, देवता खरगोश और राक्षस सियार हैं। सिंहनी कहनेका भाव कि वह ही इन्हें मार सकती है वैसे ही मैं सब राक्षसोंको मार सकती हूँ। श्रीरामजी लीला करना चाहते हैं इसीसे श्रीजानकीजी उनकी इच्छानुकूल काम करती हैं, राक्षसोंके मारनेकी इच्छा नहीं करतीं—*'मैं कछु करब ललित नर लीला।'* देवताओंमें जयन्तने श्रीसीताजीकी ओर दृष्टि की। उसका वृत्तान्त प्रसिद्ध ही है और राक्षसोंमें खर-दूषण-रावणादिने आँख उठायी सो परिवारसहित नष्ट हुए। (पु० रा० कु०) [वाल्मीकीय सर्ग २९ के **'न हि मां त्वत्समीपस्थामपि शक्नोति राघव। सुराणामीश्वरः शक्रः प्रधर्षयितुमोजसा॥'** (६) इस श्लोकसे मिलान कीजिये। अर्थात् आपके साथ रहनेपर देवेन्द्र इन्द्र भी बलपूर्वक मेरा अपमान नहीं कर सकता।]

श्रीनंगेपरमहंसजीने *'निसिचर निकर नारि नर चोरा'* का अर्थ *सिंघ बधुहि जिमि ससक सिआरा'* के आधारपर इस तरह किया है—'निशिचर और पुरुष-स्त्रीको चुरानेवाले बहुत वनमें रहते हैं।' और लिखते हैं कि श्रीजानकीजी कहती हैं कि आपके साथमें निशाचर और वनके पुरुष मेरी ओर ताक नहीं सकते। जैसे सिंहवधूको शशक और सियार लेने जायगा तो स्वयं ही नाशको प्राप्त होगा, क्योंकि सिंहवधूके बलको शशक और सियार कैसे पा सकता है।

वे लिखते हैं कि देवताओंको खरगोश बनाना अयोग्य है; क्योंकि देवताओंकी रक्षाके लिये ही तो अवतार होता है। यहाँ निशिचरोंको खरगोश कहा है और पुरुषोंको सियार। देवताओंमें जयन्तको लेना ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ प्रसंग चोरीका है और जयन्तने तो द्रोह किया था, चोरी नहीं।

मेरी समझमें *'नारि नर चोरा'* का अर्थ 'स्त्री और पुरुषोंको चुरानेवाले' ही ठीक है। श्रीरामजीने वहाँ निशाचरोंको *'नारि नर चोरा'* कहा है, उस सम्बन्धसे शशक और सियार दोनों ही निशाचरोंके लिये कहा गया है; ऐसा मानना उचित होगा। आगे जो प्रेमियोंको रुचे वह ही ठीक है।

नोट ३—*'मैं सुकुमारि......'* इसमें व्यंग है कि मैं सुकुमारी हूँ क्या आप कठोर तनके हैं? आपकी यह अवस्था तपके योग्य है और मेरी भोगके? अर्थात् जैसे आप सुकुमार और लघु वयस् वैसी ही मैं, यदि आपको यह सब उचित है तो मुझे भी उचित है। (पंजाबीजी) पुनः भाव कि चौथेपनमें राजाको वन जानेकी आज्ञा है तो क्या चौथापन आपका आ गया? (वै०)

दो०—ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥ ६७॥

शब्दार्थ—**बिलगान**=फट गया। ('कलेजा फटना' मुहावरा) है।

अर्थ—ऐसे भी कठोर वचनको सुनकर जो मेरा हृदय न फटा तो हे प्रभु! आपके कठिन वियोगका कठिन दुःख ये नीच प्राण सहेंगे॥ ६७॥

☞ मिलान कीजिये—*'हौं रहौं भवन भोग लोलुप ह्वै पति कानन कियो मुनि को साजु। तुलसिदास ऐसे बिरह बचन सुनि कठिन हियो बिहरो न आजु॥'* (गी० २७)

पुरुषोत्तम रामकुमार—तात्पर्य यह कि प्रभुके वचन *('रहहु भवन अस हृदय बिचारी')* वियोगसूचक होनेके कारण इतने कठोर हैं कि हृदय सुनते ही फट जाना चाहिये था सो न फटा, अतएव यह सिद्ध हुआ कि मेरा हृदय वियोगके वचनसे भी अधिक कठिन है। हृदय इनको सह गया, इससे अनुमान होता है कि प्राण भी वियोग-दु:ख भोगेंगे और सहेंगे। दु:ख उठानेको तैयार हैं; अत: ये प्राण अधम हैं। यहाँ सम्भावना अलंकार है।

श्रीजानकीजीके शब्दोंसे भावी बात सूचित हुई कि एक वर्षतक प्रतिबिम्बरूपसे लंकामें रहकर प्राण-वियोग-दु:ख सहेंगे, अभी निकल जाते तो न सहना पड़ता।

अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचन बियोग न सकी सँभारी॥ १॥
देखि दसा रघुपति जिय जाना। हठि राखे नहिं राखिहि प्राना॥ २॥
कहेउ कृपाल भानुकुल नाथा। परिहरि सोचु चलहु बन साथा॥ ३॥
नहिं बिषाद कर अवसरु आजू। बेगि करहु बन गवन समाजू॥ ४॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीसीताजी अत्यन्त व्याकुल हो गयीं, वे वचनवियोग भी न सँभाल (सह) सकीं॥ १॥ उनकी दशा देखकर श्रीरघुनाथजीने अपने जीमें जान लिया कि हठ करके (इनको घरपर) रखनेसे ये प्राण न रखेंगी॥ २॥ कृपालु सूर्यवंशके स्वामी बोले—शोक छोड़कर वनको साथ चलो॥ ३॥ आज शोकका समय नहीं है। शीघ्र ही वन चलनेकी तैयारी करो॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'अस कहि सीय बिकल भइ भारी।' '* इति। श्रीसीताजी श्रीरामजीका वचन सुनकर पूर्व व्याकुल हो गयी थीं, यथा—*'उतरु न आव बिकल बैदेही।'* अब 'भारी बिकल' हुईं। कारण यह कि उन्हें इस समय बड़ी ग्लानि हो रही है कि वियोग जब होता तब होता, वियोगका वचन सुनकर मृत्यु हो जानी चाहिये थी। साक्षात् वियोगकी कौन कहे, वे वचनमात्रका वियोग (अर्थात् जो वचन वियोगके सूचकमात्र हैं) न सह सकीं।*

नोट—१ *'बचन बियोग' '* अर्थात् वियोगका वचनमात्र सुनकर सह न सकीं, मूर्छित हो गयीं। यथा—*'तुलसिदास प्रभु बिरह बचन सुनि सहि न सकी मुरछित भइ भामिनि।'* (गी० २। ५)

नोट—२ (वाल्मी० ३०। २२—२६) में श्रीसीताजीकी व्याकुल दशाका वर्णन इस प्रकार है—शोकसंतप्त श्रीजानकीजी इस प्रकार बहुत दु:खपूर्वक प्रार्थना करती-करती थक गयीं, तब वे पतिसे लिपटकर जोर-जोर रोने लगीं। विषबुझे बाणोंसे विद्ध हथिनीके समान वे अनेक वाक्योंसे बिधी हुई थीं। अतएव बहुत दिनोंका जमा हुआ आँसू निकलने लगा, जैसे अरणिसे आग निकलती है। सीताजीकी आँखोंसे दु:खसे उत्पन्न स्फटिकके समान स्वच्छ जल निकलने लगा, मानो दो कमलोंसे जल बहता हो। लम्बी आँखोंवाला पूर्णिमाके निर्मल चन्द्रमाके समान सीताजीका वह मुँह सूख गया, जिस प्रकार जलसे बाहर निकाला हुआ कमल सूख जाता है। दु:खिनी सीता बेहोश-सी हो रही थीं।—यह सब दशा *'सीय बिकल भइ भारी।····देखि दसा'* में ले सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य स्मरण रहे कि वाल्मी० की सीताजीकी यह दशा अपने महलमें हुई। मानसमें सीताजी सासके सामने हैं। अत: लिपट जानेवाली बात यहाँ मर्यादित न होगी।

नोट—३ *'हठि राखे नहिं राखिहि प्राना'*—गीतावलीमें सीताजीने कहा है—*'जो हठि नाथ राखिहौ मो कहुँ तौं संग प्रान पठावोंगी। तुलसिदास प्रभु बिनु जीवत रहि क्यों फिरि बदन देखावोंगी॥'* (गी० २। ६)

---

* अ० दी० च०—'श्रीरामजीके गूढ़वचनका ऊपरी भाव यह है कि अवधमें रहो, पर यथार्थ तत्त्वको जो समझाया कि वनको चलो यह आन्तरिक भाव महारानीजी समझ गयीं, पर इतनेपर भी वे वचनमात्रका वियोग सँभाल न सकीं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि यदि वास्तविक रहनेको कहते तो नहीं सँभालतीं।'

नोट—४ वि० त्रि०—सीताजीकी भारी विकलता देखी। जो वियोगके वचनको नहीं सँभाल सकतीं, उसका जीवन वियोगमें कैसे रह सकता है। देखा कि इनकी तो दशम दशा उपस्थित है—*'इंद्रिय सकल बिकल भइँ भारी। जिमि सर सरसिज बन बिनु बारी॥'* अत: सरकारने सोचा कि जो साथ न होनेसे प्राण नहीं रख सकती उसका साथ चलनेके लिये आग्रह हठ नहीं है। यह सच्चा स्नेह है। भगवती कौसल्याने कहा था कि *'अस बिचारि नहिं करहुँ हठ झूठ सनेह बढ़ाइ'* अर्थात् मैं तुम्हारे वियोगका दु:ख सह सकूँगी, मरूँगी नहीं, अत: मेरा स्नेह झूठा है, मैं जानेके लिये हठ न करूँगी। सो यहाँ तो सच्चे स्नेहसे काम पड़ गया, अब इन्हें संग न ले जानेमें मेरा हठ समझा जायगा, यह तो प्राण छोड़ना चाहती है। अत: चलनेकी आज्ञा देनेमें विलम्ब नहीं किया।

टिप्पणी—२ *'हठि राखे नहिं राखिहि प्राना'* इति। भाव यह कि भारी व्याकुलतासे उनकी दशा ऐसी देख पड़ी कि मृत्यु ही होनेवाली है, इसीसे *'देखि दसा'* कहा। श्रीजानकीजीके *'राखिय अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहि प्रान'* इन वचनोंका यहाँ चरितार्थ है—*'देखि दसा रघुपति जिय जाना।'* अर्थात् उस दशाको रघुनाथजीने देखा और जीसे जान लिया कि इनके प्राण वियोगमें न रहेंगे। यहाँ अनुमान प्रमाण अलंकार है।

टिप्पणी—३ *'कहेउ कृपाल भानुकुल नाथा····'* इति। साथ चलनेकी आज्ञा दी यह कृपा की, अत: *'कृपाल'* कहा। भानुकुलके क्षत्रिय दूसरोंके सोच दूर करते हैं। इन्होंने सीताका सोच मिटाया, सोच छोड़नेको कहा—*'परिहरि सोचु चलहु बन साथा।'* अतएव *'भानुकुलनाथ'* कहा। पुन:, सीताजीकी मृत्यु हो जाती तो श्रीरामजी दूसरा ब्याह न करते, क्योंकि वे एकपत्नीव्रत हैं। संतान न होनेसे कुलकी वृद्धि न होती। साथ लेकर उन्होंने रघुकुलकी रक्षा की। अतएव *'भानुकुलनाथा'* कहा। (पंजाबीजी) सोच छोड़नेका कारण कहते हैं कि *'नहिं बिषाद कर·····'* (यह भी भाव है कि अब प्रसन्न हो जाओ)।

टिप्पणी—४ (क) *'नहिं बिषाद कर अवसरु आजू····।'* भाव कि विषाद देखकर लोग कहेंगे कि इनको वन जानेमें बड़ा क्लेश हो रहा है। पुन: दु:ख मानकर जानेमें व्रत-भंग होगा। (पण्डितजी) वा, यात्राके समय विषाद करना अमंगल है। वा, आज परम मंगल है विषादका समय नहीं; क्योंकि सुर, विप्र, गऊके कार्यके लिये चलना है। वा, आज इस समय शुभ मुहूर्त है। (पंजाबीजी, रा० प्र०) (ख) *'बेगि करहु बन गवन समाजू'* *'बेगि'* अर्थात् देर करनेसे कोई दुर्योग यहाँ रह जानेका न उपस्थित हो जाय। अथवा, विलम्ब करनेसे पिताके वचनोंमें अभक्ति पायी जाती है।

कहि प्रिय बचन प्रिया समुझाई। लगे मातु पद आसिष पाई॥ ५॥
बेगि प्रजा दुख मेटब आई। जननी निठुर बिसरि जनि जाई॥ ६॥

अर्थ—श्रीरामजीने प्रिय वचन कहकर अपनी प्यारी पत्नीको समझाकर माताके चरणोंको स्पर्शकर आशीर्वाद पाया॥ ५॥ (माता बोलीं कि) शीघ्र आकर प्रजाका दु:ख दूर करना* कठोर (हृदयवाली) माता तुम्हें भूल न जाय॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'कहि प्रिय बचन'* भाव यह कि पहले कठोर वचन कहे थे, अब प्रिय कहे। घरमें रहनेकी शिक्षा कठोर वचन है और वनको साथ चलनेकी आज्ञा प्रिय वचन हैं। इन्हींको कहकर समझाया। यथा—*'कहेउ कृपाल भानुकुल नाथा। परिहरि सोचु चलहु बन साथा॥·····'* इत्यादि यही समझाना है।

नोट—१ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि—दु:खिनी सीताका मुख सूख गया, वह बेहोश-सी हो रही थीं। यह दशा देख श्रीरामजी उनको विश्वास दिलाते हुए बोले कि—तुम्हारे बिना मैं स्वर्गमें भी रहना नहीं चाहता, पर बिना तुम्हारा ठीक-ठीक अभिप्राय जाने वन चलनेको कैसे कहता, अब तुम्हारा दृढ़ निश्चय और विश्वास देखकर तुम्हें साथ न ले जानेका विचार छोड़ दिया। तुम मेरे साथ वनवासके लिये ही उत्पन्न हुई हो। अब

* सू० मिश्र लिखते हैं कि 'बेगि प्रजा' यह रामजीकी उक्ति है और जननि माताकी।

प्रसन्न हो जाओ, वनको चलो, साथ चलनेका तुमने जो निश्चय किया यह अति उत्तम है। तुम्हारे पिताके और मेरे दोनोंके कुलके योग्य यह निश्चय है, इत्यादि। अब ब्राह्मणोंको दान देकर वन चलनेकी तैयारी करो। (सर्ग ३० श्लोक २६, ३०, ३९, ४५) गोस्वामीजीने यह सब आशय ***'कहि प्रिय बचन प्रिया समुझाई'*** में सूचित कर दिया है।

नोट—२ पण्डितजी—पूर्व जब सीताजीको देखकर माताने श्रीरामजीसे पूछा कि इनके लिये क्या आज्ञा है तब उन्होंने माताको प्रिय वचन कहकर समझाया था, यथा—***'कहि प्रिय बचन बिबेकमय मातु कीन्ह परितोष'*** तत्पश्चात् सीताजीका प्रसंग चला। अब अन्तमें लिखते हैं कि ***'कहि प्रिय बचन प्रिया समुझाई।'*** तात्पर्य यह कि दोनोंको प्रिय वचन कहके समझाया।

नोट—३ ***'समुझाई'*** कहकर ***'लगे मातु पद…… '*** कहनेसे पाया गया कि श्रीसीताजीको सन्तोष हो गया, वे प्रसन्न हो गयीं। यथा—***'जौं चलिहौं तौ चलौ चलि कै बन सुनि सिय मन अवलंब लही है। बूड़त बिरह बारिनिधि मानहु नाह बचन मिस बाँह गही है॥ प्राननाथके साथ चलौ उठि।'*** (गी० २।९)

टिप्पणी—२ (क) ***'बेगि प्रजा दुख मेटब आई'*** इति। कौसल्याजीने रामचन्द्रजीसे प्रजाका दुःख कहा था—***'अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना। तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना॥'*** (५७।२) इतनेहीमें श्रीजानकीजी आ गयी थीं। जब इनका संवाद हो गया तब उन्होंने उसी बातको फिरसे उठाकर कहा कि ***'बेगि प्रजा दुख मेटब आई।'*** वहाँ परिजनका दुःख कहा, यहाँ प्रजाका दुःख कहती हैं, प्रजा-परिजन दो हैं, इसीसे दो बार कहा। (ख) ***'जननी निठुर'*** का भाव कि ऐसे पूत-पतोहू वनको जाते हैं तो भी मेरे प्राण नहीं निकलते मैं ऐसी निठुर हूँ। निठुरकी खबर कोई नहीं लेता, इसीसे विनती करती हैं कि मेरी याद न भुला देना। ***'जननी'*** का भाव कि जननीका नाता मानकर मेरी सुध करते रहना, यथा—***'मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ।'*** (५६)

फिरिहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी। देखिहौं नयन मनोहर जोरी॥ ७॥
सुदिन सुघरी तात कब होइहि। जननी जिअत बदन बिधु जोइहि॥ ८॥

अर्थ—हे विधि! क्या मेरी दशा फिर फिरेगी? नेत्रोंसे इस सुन्दर जोड़ी-(श्रीराम-जानकी-) को पुनः देखूँगी॥ ७॥ हे तात! वह सुन्दर दिन, सुन्दर घड़ी कब होगी कि जब माता जीते-जी तुम्हारा चन्द्रमुख देखेगी॥ ८॥

पुरुषोत्तम रामकुमारजी—१ ***'फिरिहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी।…… '*** इति। अभीतक श्रीरामजी घरमें रहे इससे दशा अच्छी रही, अब दशा बुरी आयी इसीसे वे वनको चले। बुरी दशाका आना प्रथम ही कह चुके हैं, यथा—***'हरषि हृदय दसरथपुर आई। जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई॥'*** यह दशा रामजीको वन भेजनेके लिये आयी है, यथा—***'बिपति हमार बिलोकि बड़ि मातु करिअ सोइ आज। राम जाहिं बन राज तजि होइ सकल सुरकाज॥'* २—**'दशा फिरेगी'=बुरे दिन जायँगे और फिरसे अच्छे दिन आयेंगे। श्रीराम-सीता नेत्रोंकी ओट होंगे, यह बुरी दशा है, फिर इन्हीं नेत्रोंसे इस मनोहर जोड़ीका दर्शन होना दशाका पलटना और सुदिन शुभ मुहूर्तका फिरसे आना है।

३—***'सुदिन सुघरी कब होइहि***—भाव कि अभी बहुत दिन हैं, १४ वर्षके बाद कहीं ऐसे दिन आवेंगे तबतक मैं कैसे जीती रहूँगी। अतएव जीवनसे निराश होकर कहती हैं कि जननी क्या जीती रहेगी और फिर मुख-चन्द्र देखेगी?

दो०—बहुरि बच्छ कहि लालु कहि रघुपति रघुबर तात।
कबहिं बोलाइ लगाइ हिय हरषि निरखिहौं गात॥ ६८॥

अर्थ—फिर कभी 'बच्छ' कहकर, 'लाल' कहकर, 'रघुपति', 'तात' कहकर, दुलारकर और हृदयसे लगाकर हर्षित हो तुम्हारे शरीर अर्थात् तुमको देखूँगी॥ ६८॥

नोट—१ (क) *'बहुरि'* से जनाया कि जन्मसे अबतक 'बच्छ' 'लाल' आदि प्यारके नाम लिया करती थीं। मिलान कीजिये—*'राम हौं कौन जतन घर रहिहौं। बार बार भरि अंक गोद लै ललन कौन सों कहिहौं॥ इहि आँगन बिहरत मेरे बारे तुम जो संग सिसु लीन्हें। कैसे प्रान रहत सुमिरत सुत बहु बिनोद तुम्ह कीन्हें॥ जिन्ह श्रवननि कल बचन तिहारे सुनि सुनि हौं अनुरागी। तिन्ह श्रवननि बनगमन सुनति हौं मो तें कौन अभागी॥ जुग सम निमिष जाहिं रघुनंदन बदन कमल बिनु देखें।'* (गी० २।४। १—४) (ख) माता रामजीके स्नेहसे कातर और व्याकुल हैं। उनके वचन, तन, मन सभी स्नेहमय हो रहे हैं। नाम लेकर बुलाना वचनका स्नेह है, हृदय लगाना और देखना तनका और हर्ष मनका स्नेह है। (पु० रा० कु०) अत्यन्त स्नेह और आतुरताके कारण बच्छ-लाल इत्यादि अनेक शब्द मुँहसे निकले, यह वीप्सालंकार है।

☞ गोस्वामीजीकी प्रतिमें और प्राचीन प्रतिलिपियोंमें 'च्छ' के स्थानपर प्राय: 'छ' का ही प्रयोग पाया जाता है।

लखि सनेह कातरि महतारी। बचनु न आव बिकल भइ भारी॥ १॥
राम प्रबोधु कीन्ह बिधि नाना। समउ सनेहु न जाइ बखाना॥ २॥

अर्थ—माता स्नेहसे कातर हो गयी हैं अर्थात् धीरज छोड़ दिया है, मुँहसे वचन नहीं निकलता और अत्यन्त विकल हो गयी हैं—यह देखकर रामजीने अनेक प्रकारसे उनका प्रबोध किया। उस समयका प्रेम (वा, वह समय और उस समयका वह स्नेह) वर्णन नहीं किया जा सकता॥ १-२॥

नोट—१ स्नेह ऊपर दोहेमें दिखाया है—*'बहुरि बच्छ कहि····।'* मुझे अब यह जोड़ी देखनेको न मिलेगी। यह स्नेहसे *'कातरि'* होना है। २ (क) *'प्रबोधु कीन्ह बिधि नाना'* इति। भारी व्याकुलता है इसीसे बहुत तरहसे और बहुत समझाना पड़ा। जैसे कि—दशा भी फिरेगी, हमलोगोंको फिर देखोगी, हृदयसे लगाओगी इत्यादि सब मनोरथ पूरे होंगे, तब प्रबोध हुआ। ☞ वाल्मीकीयमें अन्तिम विदाईके समय श्रीरामजीने माताको यों धीरज दिया है—'**क्षयोऽपि वनवासस्य क्षिप्रमेव भविष्यति॥ सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च। समग्रमिह सम्प्राप्तं मां द्रक्ष्यसि सुहृद्वृतम्॥**' (३४-३५) अर्थात् वनवासका शीघ्र ही अन्त हुआ जाता है। ये १४ वर्ष तो सोते (स्वप्न-सरीखे) बीत जायँगे। जैसे रातको सोनेके बाद सबेरा होता है वैसे ही एक दिन सुनोगी कि मैं सुहृद्गणसहित आ गया। (सर्ग ३९) मैं अपने प्राणोंकी शपथ करता हूँ कि पिताकी आज्ञाका पालन करके मैं वनसे पुन: यहाँ लौट आऊँगा आप सोच न कीजिये, मेरी यात्राके लिये मंगल-विधान कीजिये। (वाल्मी० २। २१। ४६—४८) दु:खको मनमें रोकिये, शोकके चिह्न बाहर प्रकट न कीजिये—इत्यादि। अ० रा० में लक्ष्मणको ज्ञानोपदेश किया है और मातासे कहा है कि 'तुम भी इसपर नित्य विचार करना।' कर्मबन्धनमें बँधे हुए जीवोंका सदा एक ही साथ रहना-सहना नहीं हुआ करता। जैसे नदीके प्रवाहमें पड़कर बहती हुई डोंगियाँ सदा साथ-साथ ही नहीं चलतीं। माता! यह १४ वर्षकी अवधि आधे क्षणके समान बीत जायगी (सर्ग ४। ४५—४७) *'बिधि नाना'* शब्दसे कविने सब मतोंके लिये अवकाश दे दिया है। (ख) *'न जाइ बखाना'* का भाव यह कि स्नेह भी भारी है, *'लागत प्रीति सिखी सी'* स्नेहमें ज्ञानका प्रकाश नहीं होता, पुनि-पुनि व्याकुलता होती है।

तब जानकी सासु पग लागी। सुनिअ माय मैं परम अभागी॥ ३॥
सेवा समय दैअ बनु दीन्हा। मोर मनोरथ सफल न कीन्हा॥ ४॥
तजब छोभु जनि छाड़िय छोहू। करमु कठिन कछु दोसु न मोहू॥ ५॥

अर्थ—तब श्रीजानकीजी सासके पाँव लगीं अर्थात् चरण-स्पर्शकर प्रणाम किया और बोलीं—हे माता! सुनिये, मैं अत्यन्त अभागिनी हूँ॥ ३॥ आपकी सेवाके समय दैवने वनवास दिया, मेरा मनोरथ पूरा न किया॥ ४॥ क्षोभ (मनका उद्वेग और दु:ख-चिन्ता) छोड़िये, पर प्रेम और कृपा न छोड़ियेगा। कर्मकी गति बड़ी कठिन है, इसमें मेरा भी कुछ दोष नहीं॥ ५॥

टिप्पणी १—*'तब जानकी सासु पग लागी···· ।'* इति। 'तब' अर्थात् जब माताको प्रबोध हुआ और वे सावधान हुईं तब समय जानकर। पैरोंमें लगकर अपनेको परम अभागिनी कहनेका भाव कि इन चरणोंके छूटनेसे मैं परम अभागिनी हूँ।

टिप्पणी २—*'सेवा समय दैअ बनु दीन्हा।···· '* इति। श्रीजानकीजी किसीको दोष नहीं देतीं, वे यह नहीं कहतीं कि कैकेयीने या राजाने वन दिया वा देवताओंने उपाधि की। वे दैवको दोष देती हैं। अपना किया हुआ कर्म दैव कहलाता है [वाल्मीकीय सर्ग २२ में रामचन्द्रजीने 'दैव' का अर्थ लक्ष्मणजीसे यों कहा है—'**यदचिन्त्यं तु तद्दैवं भूतेष्वपि न हन्यते। व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः॥**' (२०) '**सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ। यस्य किञ्चित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्॥**' (२२) '**असंकल्पितमेवेह यदकस्मात्प्रवर्तते। निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत्॥**' (२४) अर्थात् जिसके विषयमें कभी कुछ न सोचा गया हो वह दैव है, कोई उससे युद्ध नहीं कर सकता क्योंकि वह प्रत्यक्ष है नहीं, प्रत्यक्ष हैं उसके कार्योंके फलभोग। सुख-दुःख, भय, क्रोध, लाभ-हानि, जीवन-मरण तथा इस प्रकारके और भी अज्ञात हेतुक जो कुछ होते हैं वे सब दैवके कार्य हैं।···प्रयत्नोंके द्वारा प्रारम्भ किये कामको रोककर अनचाहा काम अनायास हो जाता है वह दैवका काम है। (श्लोक २०—२४)] यही सिद्धान्त कौसल्याजीका है। यथा—*'कौसल्या कह दोषु न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू॥'* (२८२। ३) अच्छे कर्मसे मनोरथ सफल होते हैं, हमारे कर्म कठिन रहे हैं इसीसे मनोरथ सफल न हुआ। सेवा करनेका समय आया था कि मैं आपकी सेवा करती सो वन हो गया, आपके दर्शनसे भी वंचित रहूँगी।

टिप्पणी ३—*'तजब छोभ···· '* इति। (क) प्रथम दैवका वन देना कहा अब दैवका अर्थ करती हैं कि *'करम कठिन···· ।'* अर्थात् कर्म ही दैव है, यथा—'**पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।**' (ख) *'छोभु'* यह कि जानकीजी अत्यन्त सुकुमारी हैं, वनमें कैसे निर्वाह होगा इत्यादि। (जैसा उनके *'पलँगपीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥'* (५९। ५) से लेकर *'सिय बन बसिहि तात केहि भाँती।···· '* (६०। ४-५) तकके वचनोंसे स्पष्ट है।) (ग) *'जनि छाड़िय छोहू'* का भाव कि आपके छोहसे हमको वनमें कुशल और मंगल होगा। [श्रीसुमन्त्रजीद्वारा श्रीरामजीने जो संदेसा भेजा है कि *'बन मग मंगल कुसल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे॥ तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुखु पाइहौं।'* (१५१। ८ छन्द) वही भाव यहाँ है।]

नोट—कर्मकी प्रधानता मीमांसाशास्त्रमें है।

सुनि सिय बचन सासु अकुलानी। दशा कवनि बिधि कहौं बखानी॥ ६॥
बारहिं बार लाइ उर लीन्ही। धरि धीरजु सिख आसिष दीन्ही॥ ७॥
अचल होउ अहिवातु तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जलधारा॥ ८॥

शब्दार्थ—**अहिवातु** (आधिपत्य)—सोहाग।

अर्थ—श्रीसीताजीके वचन सुनकर सास व्याकुल हो गयीं। उनकी दशा मैं किस प्रकार बखानकर कहूँ॥ ६॥ उन्होंने सीताजीको बारम्बार हृदयसे लगा लिया और धीरज धरकर शिक्षा और आशीर्वाद दिया॥ ७॥ तुम्हारा सोहाग अचल रहे जबतक गंगा और यमुनामें जलकी धारा है॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'सुनि सिय बचन सासु अकुलानी।···· '* इति। (क) व्याकुल हो जानेका कारण श्रीसीताजीके साधु वचन हैं। इन वचनोंमें उनकी परम साधुता प्रकट होती है। ऐसी साधु बहूका बिछोह समझकर व्याकुल हुईं। [अथवा, यह समझकर व्याकुल हुईं कि प्राणाधार पुत्र तो पिता-वचन-परिपालन-धर्म ग्रहण करके चले तो पुत्रवधू एक अवलम्ब थी, पर वह भी पातिव्रत्यधर्म ग्रहण करके साथ जा रही है तब यह वियोग कैसे सहा जायगा। (वै०)] (ख) *'दशा कवनि बिधि कहौं बखानी'* अर्थात् संवाद तो हमने विस्तारसे कह सुनाया, पर माताकी व्याकुलताकी दशा किस विधिसे वर्णन कर सकूँ। वर्णन करनेकी विधि

अक्षर और अर्थ हैं, यथा—*'कबिहि अरथ आखर बल साँचा।'* (२४१। ४) सो दोनों यहाँ नहीं मिलते। वे व्याकुलतासे बोल नहीं सकतीं। बोल न सकीं अतएव प्रेमके मारे *'बारहिं बार लाइ उर लीन्हीं'* (वाल्मीकीयमें कौसल्याजीकी दशा इस प्रकार वर्णित है—**'सीताया वचनं श्रुत्वा कौसल्या हृदयंगमम्। शुद्धसत्त्वा मुमोचाश्रु सहसा दुःखहर्षजम्॥'** (२। ३९। ३२) अर्थात् शुद्धान्तःकरणवाली कौसल्याकी आँखोंसे दुःख और हर्षके आँसू बहने लगे।)

टिप्पणी—२ *'धरि धीरज सिख आसिष दीन्ही।'* माताने विचार किया कि यह समय सीताजीको शिक्षा और आसिष देनेका है, हम न बोलेंगी तो उनको संतोष न होगा और हमें पीछे पछतावा होगा कि सीताजी ऐसे ही चली गयीं। अतएव धैर्य धारण किया और उनको पातिव्रत-धर्मका उपदेश किया तदनन्तर आशीर्वाद दिया।

टिप्पणी—३ *'अचल होउ·····'* इति। [(क) *'अहिवातु' तुम्हारा*—यहाँ *'तुम्हारा'* बहुवचन शब्द आदरके लिये है। स्त्री सौभाग्यवती कही जाती है यदि वह पतिके जीते-जी मर जाय। *'तुम्हारा'* शब्द देकर जनाया कि पतिसहित तुम्हारा सौभाग्य अचल रहे। पति भी चिरजीवी हों और तुम भी। (पं०) (ख) *'जब लगि गंग·····'* इति। गंगा-यमुनाकी धारा अचल है, कल्पभर इस लोकमें रहती हैं, फिर देवलोकमें और वैकुण्ठमें रहती हैं। श्रीजानकीजीने सब नातोंका खण्डन करके पतिका नाता दृढ़ और मुख्य रखा—*'जहँ लगि नाथ नेह अरु नातें। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते तातें॥'* (६५। ३) इसीसे कौसल्याजीने अहिवातकी अचलताका आसिष दिया। पुनः, श्रीजानकीजीने कहा था कि *'जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥'* (६५। ७) इसीसे कौसल्याजीने *'जब लगि गंग जमुन जल धारा'* कहा।]

पंजाबीजी—गंगा-यमुना समस्त नदियोंमें मुख्य, पवित्र और एकत्रगामिनी हैं और 'वर्णोंकी भी सम हैं, प्रभुका दृष्टान्त इन्हींका बनता है।' (मानसमें गंगाका वर्ण श्वेत और यमुनाका श्याम कहा गया है, यथा—*'सबिधि सितासित नीर नहाए।'* (२०४। ४) *'देखत स्यामल धवल हलोरे। पुलकि सरीर भरत कर जोरे॥'* (५) अतः पुत्र और पुत्रवधू दोनोंकी श्याम-गौरि जोड़ीके साम्यसे गंगा और यमुना दोनोंको कहा।

दो०—सीतहि सासु असीस सिख दीन्हि अनेक प्रकार।
चली नाइ पद पदुम सिरु अति हित बारहि बार॥ ६९॥

अर्थ—सासने सीताजीको अनेक प्रकारसे आशीर्वाद और शिक्षाएँ दी। तब सीताजी बड़े प्रेमसे बारम्बार चरणकमलोंमें सिर नवाकर चलीं॥ ६९॥

नोट—१ माताकी व्याकुलता और स्नेह दिखानेके लिये दो बार आशीर्वाद और सीख देना लिखा—*'धरि धीरज सिख आसिष दीन्ही'* और *'सीतहि सासु असीस सिख·····।'* वाल्मीकीय सर्ग २९ में कौसल्याजीका विस्तारसे पातिव्रत्य उपदेश करना लिखा है, विस्तारसे अरण्यकाण्डमें अनुसुइयाजीके प्रकरणमें कहेंगे। (हमने प्र० सं० में यह लिखा था। किंतु पुनर्विचारसे मानसकी कौसल्या मानसकी सीताको वैसा उपदेश न देंगी। केवल श्लोक २४ और २५ में जो धर्मोपदेश है उतना ही यहाँ लिखा जा सकता है। वह यह है—'जो स्त्रियाँ साध्वी हैं वे शीलवती और सत्यवादिनी होती हैं। ऐसी स्त्रियोंके लिये पति ही परम पवित्र सर्वश्रेष्ठ है। निर्वासित होनेपर भी राम तुम्हारे लिये देवता हैं।' श्लोक २०—२३ में जो कहा है उसका उत्तर सीताजीने दिया है कि आप असाध्वी स्त्रियोंके साथ मेरी तुलना न कीजिये इत्यादि। हाँ, अन्य कल्पोंके रामावतारोंमें वह शिक्षा भले ही हुई हो।

नोट—२ बार-बार प्रणाम करना कहकर कौसल्याजीका बारम्बार आशीर्वाद देना जनाया। अतः प्रत्येक बार सीताजीने प्रणाम किया। पातिव्रत्य धर्मकी शिक्षा मिली, अचल अहिवातका आशीर्वाद मिला। अतएव बड़े प्रेमसे सिर नवाया। कुछ लोग कहते हैं कि *'अति हित'* से यह भाव भी निकलता है कि आशीर्वादसे अत्यन्त हित समझकर बार-बार प्रणाम करती हैं, अथवा राम-संयोग सम्बन्धसे *'अति हित'* कहा।

नोट—३ *'पुरवासिन्ह कर बिरह बिषादा'* यह प्रकरण भुशुण्डिजीकी मूलके अनुसार यहाँ समाप्त होता है क्योंकि इसीके पश्चात् श्रीराम-लक्ष्मण-संवाद है। नहीं तो यह प्रकरण *'अति विषाद बस लोग लोगाईं'* पर समाप्त हो गया था।

'श्रीराम-लक्ष्मण-संवाद'—प्रकरण

समाचार जब लछिमन पाए। ब्याकुल बिलख बदन उठि धाए॥ १॥
कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥ २॥

अर्थ—जब लक्ष्मणजीने यह समाचार पाया तब वे उदासमुख व्याकुल हो उठ दौड़े॥ १॥ शरीर काँप रहा है, रोएँ खड़े हो गये हैं, नेत्रोंमें जल भरा है। उन्होंने श्रीरामजीके चरण पकड़ लिये, वे अत्यन्त प्रेमसे अधीर हो गये हैं॥ २॥

नोट—१ यहाँ लक्ष्मणजीको खबर देनेवालोंकी योग्यता और प्रवीणता दिखाते हैं। श्रीकौसल्या-राम-संवादके और श्रीराम-जानकी-संवादके बीचमें लक्ष्मणजीका पहुँचना उचित न था। जब श्रीसीतारामजी महलसे बाहर निकल आये तब लक्ष्मणजीके आनेका उचित अवसर था, ऐसा जानकर उसी समय सेवकोंने उनको समाचार दिया।

नोट—२ यहाँ *'लछिमन'* शब्द भी बड़ा सुन्दर है। *'लच्छन धाम राम प्रिय···· गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार।'* (१। १९७) और *'बारेहि तें निजहित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥'* (१। १९८। ३) में जो नाम दिया था, वही लछिमन नाम यहाँ देकर जनाया कि ये भगवत्-कैंकर्यके लक्षणोंसे सम्पन्न हैं; अपना हित, स्वामी, रामको ही जानकर उन्हींके चरणोंमें लगे रहते हैं; अतएव वे विछोह होता देख व्याकुल हो गये।

नोट—३ समाचार सुनते ही लक्ष्मणजी बड़े व्याकुल हो गये। उनकी षट् इन्द्रियों, अंगोंकी व्याकुलता यहाँ दिखायी है—*'समाचार पाए'* से श्रवण इन्द्रिय, *'बिलख बदन'* से मुख इन्द्रिय, *'उठि धाए'* से चरण इन्द्रिय, *'कंप पुलक तन'* से हृदय (एवं त्वक् इन्द्रिय), *'नयन सनीरा'* से नेत्र और *'गहे चरन'* से हस्त इन्द्रियकी विकलता जनायी। *'अति प्रेम अधीरा'* से उनका प्रेम और *'कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन···· '* से प्रेमकी दशा कही। (ख) *'बिलख बदन'* से जनाया कि अश्रु आदिके कारण उनका मुख विकृत हो गया था, मुखकी कान्ति जाती रही थी। *'ब्याकुल'* से जनाया कि श्रीरामजी मुझे साथ ले जायँगे या नहीं, इस शंकासे वे बहुत दुःखी हुए और वे इस दुःखको सह न सके। यथा—'**बाष्पपर्याकुलमुखः शोकं सोढुमशक्नुवन्।**' (वाल्मी० २। ३१। १) कम्पसे जनाया कि हृदय काँप उठा, यथा—*'उर धकधकी···· ।'* (गी० २। ११)

नोट—४ (क) रामवनवासका वृत्तान्त सुनते ही लक्ष्मणजीमें अष्ट सात्त्विक भावोंमेंसे सात भाव उत्पन्न हुए—*'बिलख बदन'* वैवर्ण्य, *'कम्प'* वेपथुः, *'नयन सनीरा'* अश्रु, *'कहि न सकत कछु'* स्वरभंग कण्ठावरोध, *'चितवत ठाढ़े'* स्तम्भ, *'मीनु दीनु जल तें काढ़े'* स्वेद, और *'पुलक तन'* रोमांच है। केवल एक भाव 'प्रलय' अर्थात् मूर्छा वा मृत्यु नहीं हुआ। यदि श्रीरामजी यह न कहते कि *'माँगहु बिदा मातु सन···· '* तो अवश्य मृत्यु हो जाती। (प० प० प्र०) (ख) इतने भाव एक ही समयमें और किसीमें प्रकट नहीं हुए हैं। इससे लक्ष्मणजीके प्रेमको अनुपम और असाधारण सूचित किया। *'जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥'* (६। ६०) से भी इस भावकी पुष्टि होती है। (प० प० प्र०)

नोट—५ *'गहे चरन',* यथा—'**स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः।**' (वाल्मी० २। ३१। २)

कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। मीनु दीनु जनु जल तें काढ़े॥ ३॥
सोचु हृदय बिधि का होनिहारा। सब सुख सुकृत सिरान हमारा॥ ४॥

अर्थ—वे कुछ कह नहीं सकते, खड़े (उनकी ओर) देख रहे हैं; श्रीलक्ष्मण ऐसे दीन हो रहे हैं

मानो जलसे निकाले जानेपर मछली दीन-दु:खी हो रही हो॥ ३॥ हृदयमें सोचते हैं कि हे विधाता! क्या होनेवाला है? क्या हमारा सब सुख और सुकृत समाप्त हो गया?॥ ४॥

टिप्पणी—१ ऊपर कह आये कि अत्यन्त प्रेमसे अधीर हैं, अब दिखाते हैं कि प्रेमके मारे मुखसे वचन नहीं निकलता। यथा—*'अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै बचन कही।'* (१। २११) कुछ नहीं कह सकते क्योंकि सेवकको बिना स्वामीका रुख पाये न बोलना चाहिये। *'ठाढ़े'* से जनाया कि पहले चरणमें लपटे, फिर उठकर अब हाथ जोड़े खड़े हैं जैसा आगे स्पष्ट कहते हैं—*'राम बिलोकि बंधु कर जोरे।'*

टिप्पणी—२ मीनका दृष्टान्त देकर सूचित करते हैं कि ये बिना श्रीरामजीके जी नहीं सकते। यथा—'**न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव। मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥**' (वाल्मी० २। ५३। ३१)

टिप्पणी—३ *'सब सुख सुकृत सिरान हमारा'* इति। (क) *'सब सुख'* अर्थात् रामजीहीमें हमें माता-पिता, भ्राता, गुरु, स्वामी इत्यादि सबका सुख था, और *'सुकृत'* अर्थात् हमारा भागवत धर्म, प्रभुका कैंकर्य। (वा, सुखरूप श्रीरघुनाथजी और सुकृतफल-रूप उनकी सेवा है।) (रा० प्र०) सुकृतसे सुख होता है। सुकृतके चुकनेसे सुखका भी अन्त हो जाता है। पुन:, सुकृतसे श्रीरामजानकीजीकी प्राप्ति होती है, यथा—*'को जानै केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हे बिधि आनी॥'* (१। ३३५। ४) *'लोचनगोचर सुकृत फल मनहुँ किये बिधि आनि।'* (१०६) इत्यादि। सुकृतका फल ब्रह्मा देते हैं, अत: कहा कि *'बिधि का होनिहारा।'** *'का होनिहारा'* का भाव अगली चौपाईमें है।

मो कहुँ काह कहब रघुनाथा। रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा॥ ५॥
राम बिलोकि बंधु कर जोरें। देह गेह सब सन तृनु तोरें॥ ६॥
बोले बचनु राम नय नागर। सील सनेह सरल सुख सागर॥ ७॥
तात प्रेम बस जनि कदराहू। समुझि हृदय परिनाम उछाहू॥ ८॥

शब्दार्थ—'**तृनु तोरें**'=नाता-रिश्ता तोड़े हुए। खत्रियोंमें अब भी रीति है कि शवके जलनेपर जब सम्बन्धी स्नानके लिये जाते हैं तब तिनका लेकर उसके दो टुकड़े करके पीछे फेंक देते हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि आजसे इस मृतक प्राणीसे हमारा सम्बन्ध टूट गया। तृण तोड़ना मुहावरा इसीसे निकला है। '**नय नागर**'= नीतिमें नागर हैं। '**नागर**'=चतुर, निपुण।

अर्थ—मेरे लिये श्रीरघुनाथजी क्या कहेंगे! घर रखेंगे या साथ ले चलेंगे॥ ५॥ श्रीरामचन्द्रजीने भाईको हाथ जोड़े और शरीर, घर तथा (नातेदार आदि) सभीसे तिनका तोड़े हुए देखा॥ ६॥ तब नीतिमें चतुर, शील, स्नेह, सरलता और सुखके सागर श्रीरामचन्द्रजी ये वचन बोले॥ ७॥ हे तात! अन्तमें आनन्द-मंगल होगा ऐसा हृदयमें समझकर प्रेमवश कादर (अधीर) मत हो॥ ८॥

वि० त्रि—लक्ष्मणजीने देखा कि जगदम्बा साथमें हैं, अत: विचार करते हैं कि इन्हें तो अति-स्नेह देखकर साथ ले लिया, पर मैं भी बिना इनके नहीं रह सकता—*'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥'* देखें मुझे क्या कहते हैं। रघुनाथ हैं, इनकी जो आज्ञा होगी वह माननी ही होगी। यदि घर रखेंगे तो घर रहना पड़ेगा, और यदि साथमें लेवें तो साथ जाऊँगा। मैं इनका वचन हटा नहीं सकता। ये रघुनाथ हैं। बहुत सम्भव है कि कुल-रक्षाके लिये मुझे घर रखें, पर मेरा साथ तो कभी

* सू० मिश्र—भाव यह कि सुख भोगनेसे पुण्य क्षीण होता है सो दशा तो मेरी नहीं है, अभी तो मेरी उम्र भी कुछ बड़ी नहीं है, पर रामजी तो जाते हैं; मेरा सुख क्या, मेरे कुल तथा देशमात्रका सुख चला गया।

छूटा नहीं है। मैं तो इनके अतिरिक्त किसीको जानता नहीं, अतः मुझे तो न छोड़ना चाहिये, देखें क्या होता है। इस भाँति लक्ष्मणजीका हृदय अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है।

टिप्पणी—१ यहाँ पहले घरमें रखना कहते हैं, पीछे साथ लेना। क्योंकि वे जानते हैं कि श्रीरामजी मुझे माता-पिता और रघुकुलके लिये घरपर रखेंगे क्योंकि वे रघुनाथ हैं। आगे ऐसा कहा ही है, यथा—***'गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥ रहहु करहु सब कर परितोषू।'*** यहाँ सन्देह अलंकार है।

काष्ठजिह्वा स्वामीजी—१ (क) ***'रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा'*** यह दुविधा मनमें हुई क्योंकि विचारते हैं कि—सीताजीका तो पद (अधिकार) था। वे अर्द्धांगिनी हैं। अग्निकी साक्षी देकर गुरुजनोंके बीचमें प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके हैं कि साथ रखेंगे, दूसरे वानप्रस्थ धर्म अकेले होता भी नहीं। और मैं तो दास हूँ, मेरा 'पद' ही क्या है, मैं तो परतन्त्र हूँ। यथा—***'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गुसाईं॥·····'*** (ख) ***'राम बिलोकि बंधु कर जोरें।·····'*** ऐसा ही गीतावलीमें कहा है—***'ठाढ़े हैं लषन कमल कर जोरें। उर धकधकी न कह कछु सकुचनि प्रभु परिहरत सबन तृन तोरे॥ कृपासिंधु अवलोकि बंधु तन प्रान कृपान वीर सी छोरे।'*** (गी० २।११)

टिप्पणी—२ ***'राम बिलोकि·····'*** इति। 'राम' का भाव कि सबमें रमण करते हैं, अतः लक्ष्मणजीके हृदयकी बात जानते हैं कि देह-गेह सबसे स्नेह और ममत्व तृणके समान तोड़े हैं*। यहाँ स्नेहका नाम नहीं लेनेमें तात्पर्य यह है कि उनके हृदयमें किसीका स्नेह नहीं है। इसीसे चौपाईमें भी स्नेह शब्द नहीं रखा। [***'कर जोरे'*** से दीनता दर्शित की कि मुझे भी संग ले चलिये। आप ही मेरे दोनों लोकोंके साधनभूत हैं।—(सू० मिश्र)]

टिप्पणी—३ नयनागर, शीलसागर आदि विशेषण सहेतुक हैं। रामजीके प्रत्येक वचनमें नीति, शील, स्नेह, सरलता और सुख पाँचों हैं। आगे लक्ष्मणजीको घरमें रहनेकी आज्ञा दे रहे हैं, उसमें नीतिका उपदेश करेंगे, अतएव ***'नय नागर'*** नीतिनिपुण कहा। नीतिका उपदेश प्रधान है, इसीसे ***'नय नागर'*** यह गुण प्रथम कहा। [अथवा, इससे जनाया कि प्रथम नीतिका उपदेश करेंगे और नगरमें रहनेको कहेंगे। (प० प० प्र०)] (ख) ***'शील'***—जिन माता-पिताने वनवास दिया उन्हींके लिये सब प्रबन्ध कर रहे हैं, मनमें किसी प्रकार भी उनकी ओरसे कुटिलता या छल इत्यादि नहीं है, उनके अपकारपर दृष्टि नहीं है। यही शील और सरलता है। ***'सनेह सुख सागर'***—श्रीलक्ष्मणजीको वनमें कष्ट न हो इससे भी घर रहनेको कहते हैं, यह स्नेह है। और माता-पिता-परिजन-प्रजा—सबको सुख देनेका उपदेश करेंगे अतः स्नेह और सुखसागर कहा। [श्रीबैजनाथजी इस प्रकार अर्थ करते हैं कि यद्यपि श्रीरामजी शील-स्नेह आदिके सागर हैं तथापि नीतिके वचन बोले। पाँड़ेजीका मत है कि ***'सनेह सभीत'*** देखकर साथ लेंगे, अतएव शील-स्नेह-सागर कहा। प० प० प्र० स्वामीका भी मत है कि ***'सील·····सागर'*** विशेषणोंसे सूचित करते हैं कि यद्यपि प्रथम नीतिका उपदेश करेंगे फिर भी लक्ष्मणका त्याग नहीं करेंगे। ***'मोरें अधिक दास पर प्रीती'*** यह गुण 'शीलसागर' कहकर सूचित किया। प्रभुका शील-गुण जानकर ही लक्ष्मणजीने आगे कहा है—***'मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई।'*** (७२।८) ***'रहहु तात असि नीति बिचारी'*** तक नयनागरत्व बताया।]

टिप्पणी—४ ***'तात प्रेम बस जनि कदराहू'***—रामजीने यह वचन कहे, क्योंकि लक्ष्मणजी प्रेमके वश हैं, यथा—***'गहे चरन अति प्रेम अधीरा'*** और कादर हो रहे हैं यथा—***'लागि अगम अपनी कदराई।'*** परिणाममें उछाह होगा। इस कथनका आशय यह है कि माता-पिता, गुरु-स्वामीकी शिक्षा माननेसे अन्तमें भलाई होगी, अथवा, माता-पिताकी आज्ञा पालकर हम आयेंगे तब राज्य करेंगे यह 'उछाह' होगा।

वि० त्रि०—***'तात प्रेम बस·····उछाहू'*** इति। लक्ष्मणजीकी दशा देखकर सरकारने कहा कि तुम वीर हो, वीरको धैर्य न छोड़ना चाहिये। तुम प्रेमवश धैर्य छोड़ रहे हो। यह तुम्हें शोभा नहीं देता। यह दुःख नहीं है, सात्त्विक सुख है। सात्त्विक सुख ऐसा ही होता है। **'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।**

---

* यहाँ 'राम' शब्द पूर्वकालिक क्रियाका कर्ता है।

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥' (गीता १८। ३७) सात्त्विक सुख तो पहले विष-सा मालूम ही होता है, परिणाम उसका अमृत-सा होता है। पिताका वचन मानकर लौटेंगे, तब कैसा उछाह होगा, इसे सोचो।

दो०—मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभाय।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर नतरु जनम जग जाय॥ ७०॥

अस जिय जानि सुनहु सिख भाई। करहु मातु पितु पद सेवकाई॥ १॥

अर्थ—जो लोग माता, पिता, गुरु, स्वामीकी शिक्षा स्वाभाविक ही शिरोधार्य करके करते हैं उन्होंने ही जन्म लेनेका फल पाया (अर्थात् उनका जन्म सुफल हुआ) नहीं तो संसारमें जन्म व्यर्थ है॥ ७०॥ हे भाई! हृदयमें ऐसा जानकर मेरी शिक्षा सुनो और माता-पिताके चरणोंकी सेवा करो॥ १॥

वि० त्रि०—*'मातु पिता गुरु…सेवकाई।'* इति। **'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'** यह वेदका अनुशासन है। इनकी सेवा करना धर्म है। *'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।'* अत: स्वभावसे ही इनकी शिक्षा माननी चाहिये। उन्हींकी आज्ञा मानकर मैं वन जा रहा हूँ। तुम्हें तो वन जानेकी आज्ञा नहीं है। अत: मेरे जन्मका साफल्य वन जानेमें है, और तुम्हारे जन्मका साफल्य घर रहकर उनकी सेवा करनेमें है। ऐसा न करनेसे जन्म ही व्यर्थ हो जायगा। यदि कहो कि आप स्वामी हैं, ज्येष्ठ भ्राता हैं, पिताके समान हैं, मैं आपकी सेवा करूँगा, तो मैं शिक्षा देता हूँ कि तुम माता-पिताकी सेवा करो, यही मेरी सेवा है।

टिप्पणी—१ (क) *'मातु पिता गुरु स्वामि सिख…'* इति। श्रेष्ठकी गणना प्रथम करते हैं। स्वामीसे गुरु श्रेष्ठ, गुरुसे पिता और पितासे माता। इनका सिखावन सिर धरके अर्थात् आदरसे करे और 'सुभाय' करे अर्थात् सहज स्वभावसे करे, किसीके कहनेसे-सुननेसे नहीं। (ख) शिक्षापर न चलने, आज्ञाको शिरोधार्य न करनेका फल पूर्व कहा जा चुका है कि *'सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि। सो पछिताइ अघाइ उर अवसि होइ हित हानि॥'* (६४) और यहाँ बताते हैं कि जो इनकी सीख सिर धरकर करते हैं उनका जन्म सफल होता है। कथनका तात्पर्य यह है कि हम तुम्हारे स्वामी हैं हमारा कहना मानो।

टिप्पणी—२(क) *'सुनहु सिख भाई'* यहाँ भाई कहनेका भाव यह है कि तुम हमारे भाई हो, मैं माता-पिताकी आज्ञा पालन करने जा रहा हूँ, तुम उनकी सेवा करो, यही काम भाईका है। इसी आशयसे भरतजीको भी 'भाई' कहा है। यथा—*'पितु आयसु पालिहिं दुहुँ भाई।'* (३१५। ४) (ख) *'करहु मातु पितु पद सेवकाई'* इति। भाव कि एककी सेवासे जन्म सफल होता है और तुमको तो माता-पिता-गुरु-स्वामी सबकी सेवा प्राप्त है—हम तुम्हारे स्वामी हैं, तुम छोटे भाई हो। छोटा भाई सेवकके समान है, यथा—*'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥'* अतएव तुम हमारी शिक्षा मानो। [जिस धर्मपर आप स्वयं आरूढ़ हैं, उसीका उपदेश लक्ष्मणजीको कर रहे हैं। (पाँड़ेजी)] (ग) *'पद सेवकाई'*—भाव कि पदकी सेवा चौथी भक्ति है, यथा—'**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।**' [*'करहु मातु पितु पद सेवकाई'* यहाँ शील-स्नेह-सागर और *'रहहु करहु सब…'* यहाँ सुख-सागर विशेषणोंकी संगति दिखायी—(खर्रा)]।

भवन भरत रिपुसूदन नाहीं। राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥ २॥
मैं बन जाउँ तुम्हहिं लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा॥ ३॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥ ४॥
रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥ ५॥

अर्थ—घरपर भरत-शत्रुघ्न नहीं हैं, राजा बूढ़े हैं और उनके मनमें मेरा दु:ख है॥ २॥ इस परिस्थितिमें मैं तुमको साथ लेकर वन जाऊँ तो अवध सभी तरहसे अनाथ (बिना मालिकके) हो जायगा॥ ३॥ गुरु,

पिता, माता, प्रजा, परिवार सभीपर भारी दु:सह (कठिनतासे जो सहा जा सके, न सहने योग्य) दु:खका भार आ पड़ेगा॥ ४॥ अत: यहाँ रहकर सबका समाधान-संतोष करना, नहीं तो हे तात! बड़ा दोष होगा॥ ५॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमारजी—*'राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं'* इति। तात्पर्य यह कि राजा बूढ़े हैं और मेरे वियोगका दु:ख उनको ऐसा है कि वे उसे सह नहीं सकते। हम चार भाइयोंमेंसे इस समय उनके पास कोई नहीं है कि जो उनको सँभाले, संतोष दे। न जाने विरहमें शरीर छूट जाय और हममेंसे एक भी पुत्र पास न हुआ तो अच्छा नहीं, अत: बड़ा अनर्थ है। [दूसरे, न जाने कोई शत्रु समाचार पाकर चढ़ाई कर दे तो नगर अनाथ होनेसे इनकी रक्षा भी कोई नहीं कर सकेगा। राज्य और घरके प्रबन्धमें राजाका वृद्धपन ही पर्याप्त बाधक है, उसपर भी पुत्रवियोगका शोक दूसरा प्रबल कारण भी विद्यमान होनेसे यहाँ दूसरा समुच्चय अलंकार है। [(वीर)]

टिप्पणी—२ *'होइ सबहि बिधि अवध अनाथा'* इति। श्रीरामजीको सबसे अधिक चिन्ता इस समय राजाकी है, अत: उनका दु:ख प्रथम कहा; फिर अयोध्याका दु:ख कहा क्योंकि यह उन्हें प्रिय है, यथा—*'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना···· अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ।'* (७। ४। ४) *'सब बिधि'*—वही जो प्रथम ही कह आये कि—*'भवन भरत रिपुसूदन नाहीं',* दूसरी *'राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं',* तीसरी मैं वन जाता हूँ और मैं तुम्हें साथ ले जाऊँ यह चौथी विधि है इति। सब विधि अनाथ होगी। कोई नाथ इसका नहीं रहा। मिलान कीजिये—'**अनाथश्च हि वृद्धश्च मया चैव विनाकृत:।**' (मेरे चले आनेसे वृद्ध राजा इस समय अनाथ हो गये हैं वे अपनी रक्षा कैसे कर सकते हैं), '**ध्रुवमद्य पुरी राम अयोध्यां युधिनां वर।**' आपके चले जानेसे अयोध्या अवश्य पुत्रहीन हो गयी होगी।) (वाल्मी० २।५३।८)

टिप्पणी—३ *'दुसह दुख भारू'* भाव कि मेरा वियोगदु:ख सबके हृदयमें समा जायगा, उससे उनका उबरना कठिन है; क्योंकि हम सबको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, यथा—*'प्रानहु तें प्रिय लागत सब कहँ राम कृपाल।'* (१। २०४) दु:सह दु:ख होगा अत: उन्हें समझाने, संतोष देनेकी जरूरत पड़ेगी। *'होइहि बड़ दोषू'* का भाव कि एकपर दु:ख पड़नेसे दोष होता है और यहाँ तो सभीपर विपत्ति आ पड़ी है। पुन:, दु:ख पड़नेसे दोष है और इनको दु:सह दु:ख होगा अतएव 'बड़ा दोष' होगा।

वि० त्रि०—*'रहहु करहु···· दोषू'* इति। मैं तो पिता-माताकी आज्ञासे वन जा रहा हूँ। मेरे चले जानेपर सिवा तुम्हारे राज्य और घरका सँभालनेवाला रह कौन जाता है। चक्रवर्तीजी इस समय इस योग्य नहीं हैं कि राज-काज सँभाल सकें। राजाका एकमात्र धर्म प्रजापालन है, उसमें त्रुटि आना बड़ा भारी दोष है। अत: यह बड़ा भारी दोष तुम्हें होगा। अत: तुम अपने कर्तव्यसे च्युत न हो, तुम घरमें रहकर गुरु-पिता-माता-प्रजा और परिवार सबका परितोष करो।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥ ६॥
रहहु तात असि नीति बिचारी। सुनत लषनु भए ब्याकुल भारी॥ ७॥
सिअरे बचन सूखि गए कैसें। परसत तुहिन तामरसु जैसें॥ ८॥

शब्दार्थ—'**अधिकारी**'=भागी। **सिअरे**=शीतल।

अर्थ—जिसके राज्यमें प्यारी प्रजा दु:खी हो, वह राजा निस्संदेह नरकका अधिकारी है॥ ६॥ ऐसी नीति है इसे विचारकर (घरपर) रहो। यह सुनते ही लक्ष्मणजी बड़े व्याकुल हो गये॥ ७॥ शीतल वचनोंसे कैसे सूख गये जैसे पालेके स्पर्शसे कमल॥ ८॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमारजी—*'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी'* इति।—भाव यह कि जो प्रजा चोर, व्यभिचारी, चुगलखोर आदि हो वह दु:खी रहे तो राजाको नरक नहीं होता, परंतु 'प्रिय' प्रजा अर्थात् जो धर्मात्मा हैं वे दु:खी हों तो अवश्य नरक होता है। पुन:, भाव कि राजाका धर्म है कि वह प्रजाको प्राणके समान प्रिय समझे, यथा—*'सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय*

प्रान समाना॥' (१७२। ४) राजा धर्मिष्ठ हैं, अत: यहाँ प्रजाको 'प्रिय' कहा। और श्रीरामजीको तो प्रजा अति प्यारी है, यथा—***'अति प्रिय मोहि यहाँके बासी।'*** (७। ४) यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है।

टिप्पणी—२ ***'अवसि नरक अधिकारी'*** इति। अवश्यका भाव कि और अधर्म राजाके लिये सामान्य हैं पर प्रजाका दु:खी रहना यह अधर्म विशेष है, महान् अधर्म है, इसीसे अवश्य नरक होता है। अभिप्राय यह है कि तुम्हारे यहाँ रहनेसे सभी बातें बन जायँगी।

टिप्पणी—३ ***'रहहु तात असि नीति बिचारी। सुनत····'*** इति।—***'असि नीति'*** अर्थात् हमारे रहते राजा नरकके भागी न हों। ***'ब्याकुल भारी'*** का भाव कि व्याकुल तो वन जानेका समाचार पाते ही हो गये थे, यथा—***'ब्याकुल बिलखि बदन उठि धाए';*** और अब नीति सुनकर भारी व्याकुल हुए। पहले भावी वियोग समझकर व्याकुल हुए थे और अब तो घर रहनेकी आज्ञा देकर श्रीरामजीने वियोगका निश्चय कर दिया; अतएव भारी व्याकुल होना कहा। ***'बोले बचन राम नयनागर'*** उपक्रम है और ***'रहहु तात असि नीति बिचारी'*** यह उपसंहार है।

टिप्पणी—४ ***'सिअरे बचन सूखि गए कैसें।·····'*** इति। (क) श्रीरामजीने धर्मका उपदेश किया। धर्म शीतल है अतएव वचनको शीतल कहा। (ख) तामरसकी उपमा देनेका भाव कि लक्ष्मणजीका शरीर कमलके समान कोमल है। तापसे सूखना चाहिये पर यहाँ शीतल वचनसे सूख गये, अतएव तुहिन और कमलकी उपमा दी। (ग) लक्ष्मणजीकी व्याकुलता दर्शित करानेके लिये मीनकी उपमा दी थी—***'मीन दीन जनु जल ते काढ़े'*** और वचन सुनकर शरीर सूख गया, इससे तुहिन तामरसकी उपमा दी। यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है।

पण्डितजी—जैसे किसी योगीको गृहस्थ धर्मका उपदेश किया जाय तो वह घबड़ा जाय वैसे ही ये घबड़ा गये। जिसका जिसमें अधिकार है, उसको उसीसे सुख प्राप्त होता है। लक्ष्मणजी भागवतधर्मके अधिकारी हैं, वे इस विशेष धर्मपर आरूढ़ हैं, वे तो ***'सब तजि करौं चरन रज सेवा'*** ही चाहते हैं और यही जन्मसे करते आ रहे हैं। उनको नीतिके उपदेशसे कैसे सुख हो सकता है। वे अपने हृदयकमलको भक्तिके लिये स्वच्छ किये हुए हैं, उनको नीतिका उपदेश ऐसा है जैसा कमल के लिये पाला; जिससे भक्तिका नाश सम्भव है। अतएव वे बहुत व्याकुल हो गये।

दो०—उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त कहा बसाइ॥ ७१॥

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥ १॥

अर्थ—प्रेमके वश उत्तर नहीं सूझ रहा है, घबड़ाकर उन्होंने (श्रीरामजीके) चरण पकड़ लिये (और बोले कि) हे नाथ! मैं दास हूँ, आप स्वामी हैं, अत: आप त्याग दें तो मेरा क्या वश है॥ ७१॥ हे गोसाईं! आपने मुझे बड़ी सुन्दर शिक्षा दी, पर मुझे अपनी कायरताके कारण वह अगम लगी॥ १॥

टिप्पणी—१(क) ***'उतरु न आवत प्रेम बस'*** इति। भाव कि यह न समझो कि अज्ञानके वश उत्तर नहीं आता, उत्तर दे सकते हैं पर प्रेमसे अधीर हैं इससे जवाब मुँहसे नहीं निकलता। व्याकुलताके बढ़नेसे उन्होंने चरण पकड़ लिये। देखिये प्रथम जब आये तब भी उन्होंने ***'गहे चरन अति प्रेम अधीरा'*** और यहाँ फिर ***'प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ।'*** बार-बार चरण पकड़कर सूचित करते हैं कि मुझे इनकी सेवा प्राप्त रहे। (ख) ***'तजहु त कहा बसाइ'***—भाव कि स्वामीकी आज्ञा सुनकर सेवकको उत्तर तक न देना चाहिये, यथा—***'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥'*** (२६९। ५) तो फिर मेरा जोर कौन! [यहाँ साथ चलनेका कार्यसाधन विरुद्ध-क्रियासे करना कि आप स्वामी हैं यदि त्याग देते हैं तो मेरा वश ही क्या 'दूसरा व्याघात अलंकार' है। (वीर)] (ग) ***'दासु मैं'।*** यहाँ ममकार दासत्वके लिये है, अहंकार स्वामीके लिये है जो प्रशंसनीय है। यथा—***'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'***

टिप्पणी—२ (क) *'सीख'* को नीकि कहनेका भाव कि श्रीरामजीने इस उपदेशकी बड़ाई की है, यथा—*'मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभाय। लहेउ लाभ तिन्ह जनम कर····।'* (७०) अतएव ये भी उसे *'नीकि'* कहते हैं। (ख) *'अगम लागि आपन कदराईं'* इति। अर्थात् इसमें मेरा दोष है कि मेरे मनमें दृढ़ता नहीं होती। आप तो भली ही कहते हैं। (सू० मिश्र—*'अगम लागि'*—वेद-तुल्य वचन अप्रिय लगे।)

नर बर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥ २॥
मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥ ३॥

अर्थ—जो मनुष्य श्रेष्ठ हैं, धीर हैं और धर्मकी धुरीको धारण करनेवाले हैं, वे ही वेदधर्म और नीतिके अधिकारी हैं॥ २॥ मैं तो नन्हा-सा बच्चा हूँ, प्रभुके स्नेहमें पला हूँ। क्या हंस मन्दराचल या सुमेरु पर्वतको उठा सकते हैं?॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'नर बर धीर धरम धुर धारी।'* इति। *'निगम नीति'* में धर्म वर्णित है। *'निगम नीति'* अर्थात् वेदोक्त नीति, अथवा वेदधर्म और नीति। तात्पर्य कि इनके अधिकारी धर्म-धुरन्धर हैं जो धर्म करनेवाले हैं। पुनः, धर्मधुरन्धर हैं इससे धर्म धारण करनेमें धीर हैं, घबड़ाते नहीं, धर्मके लिये बड़े-बड़े क्लेश सहते हैं। और धर्म धारण करनेमें धीर हैं अतएव वे मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं।' (पांड़ेजी कहते हैं कि इसमें ध्वनि यह है कि नरश्रेष्ठ आप हैं, आप ही इसके अधिकारी हैं, आप राज्यका भार और धर्मका भार उठा सकते हैं, मैं नहीं।)

टिप्पणी—२ *'मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला।·····'* इति। (क) प्रथम अपनेको शिशु कहा फिर मराल। तात्पर्य कि *'बाल मराल कि मंदर लेहीं।'* *'मंदरु मेरु'*=सुमेरु पर्वत। यथा—*'गहि मंदर बंदर भालु चले सो मनो उनये घन सावनके।'* (कवित्तरामायण)—अथवा, *'मंदरु मेरु'*=मन्दराचल और सुमेरु।* (ख) *'मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभाय·····।'* (७०) श्रीरघुनाथजीका यह वाक्य अर्थात् माता, पिता, गुरुकी सेवा वेद-धर्म है, वही सुमेरु है। प्रजापालन अर्थात् जो प्रभुने कहा था कि *'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥'* वह नीति है, यही मन्दराचल है—मैं इन दोनोंमेंसे किसीको उठा लेनेका अधिकारी नहीं हूँ। तात्पर्य कि जिनपर श्रीरामजी स्नेह करते हैं उनको निगम-नीति मन्दर-मेरुके समान बोझारूप हो जाते हैं। (श्रीनंगेपरमहंसजीका मत है कि प्रथम धर्म कहा है तब नीति। अतः धर्म मन्दर है और नीति मेरु है।) (ग) *'प्रभु सनेह प्रतिपाला'* का भाव कि जो मुझे स्नेहसे पाला है तो मेरे स्नेहको पालिये, मुझपर पहाड़ न रखिये।

रा० प्र०—यहाँ लक्ष्मणजी जनाते हैं कि भगवत्-शरणागतको दूसरा कोई धर्म नहीं है, एक भगवत्-शरणागति ही धर्मका वह अधिकारी है। निगम-नीति राज-व्यवहार मुझसे नहीं हो सकते हैं।

टिप्पणी—३ पण्डितजी—बालक अपना तन पालनेको समर्थ नहीं तब प्रजाका पालन कैसे कर सकता है? जो प्रौढ़ हो वह जानता-समझता है, वह न करे तो उसे दोष है और मैं तो शिशु हूँ, मुझे उसका किंचित् बोध नहीं। मन्दराचल सौ योजनका है और सुमेरु लक्ष योजनका। उसे मराल नहीं उठा सकता तो मैं बाल मराल कैसे उठा सकता हूँ। जड़ पर्वत भार है वैसे ही राज्य है। मराल विवेकके लिये

* सुमेरु पर्वत—यह सोनेका पर्वत कहा जाता है। कहते हैं कि इसपर इन्द्रादि देवताओंके लोक हैं। उत्तर ध्रुवके ठीक नीचे है, सूर्य आदि ग्रह इसकी प्रदक्षिणा किया करते हैं। भागवत स्कन्ध ५ अ० १६ में इसका विस्तृत वर्णन है। 'मन्दराचल' वह पर्वत है जिससे क्षीर-सागरके मथनेके समय मथानीका काम लिया गया था। विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'मेरु मन्दर' नामका एक पर्वत सुमेरु पर्वतके समीप है; इसके आधारपर कुछ लोग यह अर्थ करते हैं—'मन्दर मेरु' पर्वतको क्या हंस उठा सकता है? (नहीं); इसे तो कच्छप अवतारमें ईश्वरने ही धारण किया था। यहाँ काकुद्वारा वक्रोक्ति अलंकार है।

है, बोझा ढोनेके लिये नहीं। [वा, जैसे हंसोंका धर्म है शुद्ध क्षीरपान, मुक्ताभोजन और मानसवास; वैसे ही मेरा धर्म है आपका स्नेह, आपकी सेवा और आपकी समीपता। (बै०)] माता-पिता सुमेरुकी सेवा हैं, यह वेद-धर्म है जिससे परलोक बनता है और प्रजापालन मन्दराचलरूप है, यह लोक-धर्म है। इससे जनाया कि मुझे लोक और वेद दोनोंमेंसे किसीका अधिकार नहीं। लोक-वेद-धर्म मेरे लिये भाररूप हैं।

गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥ ४॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥ ५॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥ ६॥

अर्थ—मैं गुरु, पिता, माता किसीको नहीं जानता। हे नाथ! मैं स्वभावसे ही कहता हूँ, विश्वास मानिये॥ ४॥ जहाँतक जगत्में स्नेह सम्बन्ध, प्रीति और प्रतीति वेदोंने आप गान किया है (वा, वेद जो आपका वचन है उसने गाया है)॥ ५॥ हे स्वामी! हे दीनबन्धु! हे हृदयकी जाननेवाले! मेरे वह सब एक आप ही हैं॥ ६॥*

टिप्पणी—१ *'गुरु पितु मातु प्रजा·····'* इति। (क) श्रीरामचन्द्रजीके ***'गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परइ दुसह दुख भारू॥ रहहु करहु सब कर परितोषू'*** इन वचनोंका उत्तर यह वचन है। (ख) ***'कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू'*** इति। भाव कि मैं वेद-पुराणादिकी सुनी नहीं कहता और न उनको सुनकर मुझे ऐसी धारणा हुई है; वरन् स्वाभाविक, जन्मसे ही, बिना सीखे ही मेरे मनकी ऐसी वृत्ति है। यथा—***'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥'*** (१। १९८। ३) ऐसी सहज वृत्तिका होना कठिन है। इसीसे कहते हैं कि इस बातपर विश्वास कीजिये कि मैं कुछ आपके साथ चलनेके लिये स्नेहकी बात बनाकर नहीं कहता हूँ।

टिप्पणी—२ ***'जहँ लगि जगत·····स्वामी'*** इति। पहले गुरु-पिता-माताको गिनाकर तब कहा कि जहाँतक स्नेहका सम्बन्ध है मैं गुरु आदि किसीको नहीं जानता, इस वाक्यमें आस्तिक धर्म (आस्तिकता) नहीं रह जाती। पर जब यह कहते हैं कि माता-पिता-गुरु आदि मेरे सब आप ही हैं तो यह परम धर्म हो गया। (क्योंकि इसीका आदेश भगवान्ने यत्र-तत्र किया है। जैसे—***'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥ अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥'*** (५। ४८) ***'गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥'*** (३। १६। १०) **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'** (गीता १८। ६६)

टिप्पणी—३ ***'दीनबंधु उर अंतरजामी'*** इति। भाव कि मैं दीन हूँ आप दीनबन्धु हैं। लक्ष्मणजीकी दीनता प्रथम ही कह आये हैं, यथा—***'कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। दीन मीन जनु जल ते काढ़े॥'*** अर्थात् जैसे जल बिना मछली वैसे ही तुम्हारे बिना मैं। यदि मैं झूठ कहता होऊँ तो आप अन्तर्यामी हैं; आप सबके जीकी जानते हैं, मैं झूठ बनाकर कैसे कह सकता हूँ?

धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥ ७॥
मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥ ८॥

अर्थ—धर्म और नीतिका उपदेश तो उसको करना चाहिये जिसे कीर्ति, ऐश्वर्य या सद्गति प्यारी हो॥ ७॥ जो मन-कर्म-वचनसे चरणोंमें प्रेम रखता है, हे कृपासिन्धु! क्या उसे त्याग करना चाहिये?॥ ८॥

पुरुषोत्तम रा० कु०—१ (क) श्रीरामचन्द्रजीने कहा था कि माता-पिता-गुरु-स्वामीकी आज्ञा सिर धरकर

* यथा—'पुत्रवत्पितृवद्रामो मातृवन्मम सर्वदा॥ श्यालवद्भ्रामवद्रामः श्वश्रूवच्छ्वशुरादिवत्॥ पुत्रीवत्प्रपौत्रवद्रामो भागिनेयादिवन्मम। सखावत्सखिवद्रामः पत्नीवदनुजादिवत्॥ या प्रीतिः सर्वभावेषु प्राणिनामनपायिनी। रामे सीतापतावेव निधिवन्निहिता मुने॥' (शिवसंहिता, हनुमान्; वै०)

करना चाहिये—यह धर्म है। धर्मका फल कीर्ति, सुगति और भूति है, यथा—*'मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू। साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी॥'* (३०६। २। ४)। इसीसे लक्ष्मणजी कहते हैं कि जिनको कीर्ति, सुगति, भूति प्रिय हो उन्हें ही धर्म-नीतिका उपदेश करना चाहिये। पुनः कीर्ति आदि जिसे प्रिय हों' इसका अभिप्राय यह है कि जिसे फलकी चाह हो उसीको साधन प्रिय लगेगा। (ख) *'कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई'* अर्थात् ऐसे सेवकका त्याग न करना चाहिये, यथा—*'मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी॥'* आप कृपासिन्धु हैं, अतएव कृपा करके त्यागिये नहीं। [इस कथनमें भाव यह है कि *'मन क्रम बचन चरनरत'* के परित्यागका सामर्थ्य आपमें है ही नहीं। आप केवल *'राजनीति राखत जन त्राता।'* —प० प० प्र०]

नोट—वाल्मी० २। ३१। ५ **'न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे। ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना॥'** (अर्थात् आपके बिना देवलोकमें जाना वा देवता बनना तथा सम्पूर्ण लोकोंका ऐश्वर्य यह कुछ भी मैं नहीं चाहता) का सब भाव *'कीरति भूति सुगति'* में आ जाता है।

दो०—करुनासिंधु सुबंधु के सुनि मृदु बचन बिनीत।
समुझाए उर लाइ प्रभु जानि सनेह सभीत॥ ७२॥

अर्थ—करुणाके समुद्र प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने सुन्दर भाईके मीठे कोमल और बहुत नम्र वचन सुनकर और उन्हें स्नेहके कारण डरा हुआ जानकर हृदयसे लगाकर समझाया॥ ७२॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रा० कु०—*'करुनासिंधु'* का भाव—लक्ष्मणजीने कहा था कि आप कृपासिन्धु हैं मुझपर कृपा कीजिये। अतएव इस विशेषणसे जनाते हैं कि उन्होंने कृपा की। २—*'सुबंधु'*—विपत्तिमें साथ देनेको चलते हैं, अतएव 'सुबंधु' कहा, यथा—*'होहिं कुठायँ सुबंधु सहाये।'* (३०६। ८) *'मृदु'* सुननेमें कोमल। *'बिनीत'* अर्थात् शिक्षित, जैसा वेदशास्त्रमें बोलनेकी आज्ञा है वैसा बोले। *'उर लाइ'* का भाव कि हमने तुम्हें त्याग नहीं दिया, तुम हमारे हृदयमें बसते हो। *'समुझाए'* कि भय न करो, हम माता-पिताके खयालसे तुम्हें यहाँ रखते थे, कुछ हमारा प्रेम तुमपर कम नहीं है। अच्छा, अब चलो। *'जानि सनेह सभीत'* का भाव कि रामजीका व्रत है कि सभीतको अभय देते हैं; यथा—*'जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहौं ताहि प्रान की नाईं॥'*, **'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम'**, अतएव समझाकर उन्होंने लक्ष्मणजीको अभय दिया। (मानसके लक्ष्मण और वाल्मीकीयके लक्ष्मणमें बड़ा भारी अन्तर है। अतः वहाँका समझाना यहाँ नहीं लिया जा सकता।)

माँगहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई॥ १॥
मुदित भए सुनि रघुबर बानी। भएउ लाभ बड़ गइ बड़ि हानी॥ २॥

अर्थ—जाकर मातासे बिदा माँगो और हे भाई! जल्दी आओ, वनको चलो॥ १॥ वे रघुवर श्रीरामजीके वचन सुनकर आनन्दित हुए; बड़ा लाभ हुआ, बड़ी हानि दूर हुई॥ २॥

नोट—*'जाई'* से सूचित किया कि श्रीरामजी साथ नहीं गये। *'आवहु बेगि'* से जनाया कि हम तबतक यहीं रहेंगे, तुम्हारे आनेपर साथ चलेंगे। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१(क) *'आवहु बेगि चलहु बन भाई'* से सूचित करते हैं कि उनको निश्चय है कि श्रीसुमित्रा अम्बाजी लक्ष्मणजीको आज्ञा दे देंगी। *'बेगि'* का भाव कि विलम्ब करनेसे लोग समझेंगे कि घर छोड़ा नहीं जाता, अथवा धर्मकार्यमें विलम्ब होनेसे विघ्नका डर है। (ख) *'भएउ लाभ बड़ गइ बड़ि हानी'* इति। सेवा मिली यह बड़ा लाभ है, यथा—*'लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा।'* (६। २६। ८) श्रीरामजीसे वियोग होना बड़ी हानि है, यथा—*'हानि कि जग एहि सम कछु भाई। भजिअ न रामहि नर तनु पाई॥'* (७। ११२। ९) **'भज सेवायां'** धातु है अर्थात् सेवा भजन है, घर रहनेसे सेवाकी हानि होती, सो न हुई। [*'लाभ बड़'* का भाव कि माता-पिताकी सेवा, प्रजा-पालन आदि लौकिक धर्म भी लाभ था,

पर इसकी अपेक्षा यह क्षुद्र लाभ था। राज्य-सुख थोड़ी हानि थी, वियोग बड़ी हानि थी। (रा० प्र०) संग बड़ा लाभ है। (पं०)]

रा० प्र०—गीतावलीमें कहा है कि *'तात बिदा माँगिये मातु सन बनिहै बात उपाइ न औरै'* मातासे बिदा माँगनेका यह भाव कि सुमित्राजी इनको प्रपत्तिमें और दृढ़ कर देंगी अर्थात् अपने मनसे इतने दृढ़ हैं, गुरु उपदेश हो जानेसे और भी बन जायगा। [मातासे बिदा माँगनेमें लोकमर्यादाकी रक्षा है। (पं०)]

श्रीराम-लक्ष्मण-संवाद समाप्त हुआ

हरषित हृदय मातु पहिं आए। मनहुँ अंध फिरि लोचन पाए॥ ३॥
जाइ जननि पग नाएउ माथा। मनु रघुनंदन जानकि साथा॥ ४॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मण हृदयमें प्रसन्न हो माताके पास आये, मानो अंधेने फिरसे नेत्र पा लिया हो॥ ३॥ जाकर माताके चरणोंपर माथा नवाया। पर उनका मन श्रीरघुनन्दन (श्रीरामचन्द्रजी) और जानकीजीके साथ है॥ ४॥

टिप्पणी—१ पहले मुदित कहा, उसका अर्थ 'हर्षित' यहाँ स्पष्ट किया। *'अंध फिरि लोचन पाए'* अर्थात् श्रीराम-जानकीजी इनके दोनों नेत्र हैं, इन्हींसे सब कुछ देखते हैं। जब घरमें रहनेकी आज्ञा दी गयी तब मानो अन्धे हो गये थे, कुछ सूझ न पड़ा था। वन चलनेकी आज्ञा होना अन्धेसे फिर आँखवाले हो जाना है। नेत्र पानेसे सुखी हुए। *'लोचन'* कहनेका भाव कि *'लोचृ दीप्तौ'* अर्थात् दीप्तियुक्त नेत्र पाये, अन्धा नेत्र पानेसे प्रसन्न होता ही है। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। *'फिरि'* से जनाया कि पहले दोनों नेत्र थे, पीछे अन्धे हो गये। अबतक वियोग न हुआ था, सदा संग रहा था, यह पहले नेत्रोंका होना है, साथ छूटने लगा, यही अन्धा होना था।

नोट—१ श्रीनंगेपरमहंसजीका मत है कि लक्ष्मणजी श्रीरामजीका वन-गमन सुनकर अन्धेके समान हो गये, उन्हें कुछ भी न सूझता था कि क्या करूँ? क्योंकि श्रीरामजी उनके नेत्र हैं। साथ चलनेकी आज्ञा मिली मानो नेत्र मिल गये, अब सूझने लगा कि मैं ऐसा करूँगा।

नोट—२ पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीका मत टिप्पणी १ से मिलता है। वे लिखते हैं कि लक्ष्मणजी ऐसे हर्षित थे जैसे अन्धेको फिरसे आँख मिले। अर्थात् जो पहले देखता रहा हो, पीछे अन्धा हो गया हो, उसे आँख मिलनेसे जैसा आनन्द होता है वैसा ही आनन्द लक्ष्मणजीको था। जन्मान्धको यदि आँख मिल जाय तो वह बड़ी विपत्तिमें पड़ जाता है। इतना बड़ा संसार उसके सामने आ जाता है, उसे समझमें नहीं आता कि यह क्या है? कई महीनेकी शिक्षाके बाद उसे बन्द दरवाजा और खुले हुए दरवाजेका भेद मालूम पड़ता है, रंग पहचाननेमें महीनों लगते हैं। उसे आँख मिलनेसे आनन्द नहीं होता। आनन्द तो उसे होता है जो जन्मान्ध न रहा हो। बीचमें किसी कारणसे आँख जाती रही हो, अतः कवि *'फिरि लोचन पाए'* कहते हैं। लक्ष्मणजीको श्रीसीता-रामकी प्राप्ति थी ही, बीचमें वियोगकी आशंका आ पड़ी, उसके मिट जानेसे कहते है *'मनहु अंध फिरि लोचन पाए।'*

टिप्पणी—२ *'जाइ जननि'* इति। श्रीरामजीकी आज्ञा है कि *'माँगहु बिदा मातु सन जाई',* अतएव यहाँ कहते हैं कि *'जाइ जननि पग……।'* मन श्रीराम-जानकीजीके साथ है, केवल शरीर माताके यहाँ आया है, यह भी उनकी आज्ञासे, तात्पर्य कि जब वे माताके पास आये तब श्रीराम-जानकीजीसे क्षणभरका वियोग हुआ, इसीसे मन वहाँ रखा। क्षणभरका वियोग भी ये न सह सकते थे।

प० प० प्र०—१ *'मनु रघुनंदन जानकि साथा'* इति। इससे जनाया कि जो मन-तन-वचनसे श्रीराम-चरणमें अनुरक्त रहता है, उसका मन सदा श्रीसीतारामजीमें ही लगा रहता है और श्रीसीतारामजी उसे सब प्रकारसे आनन्द देते हैं।

२—अरण्यकाण्ड श्रीरामगीतामें जो भक्तिके साधन कहे गये, उनमेंसे *'मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा।'* (१६। ९) से लेकर दोहा १६ तकके सब लक्षण श्रीलक्ष्मणजीमें इस संवादमें पाये जाते हैं।

मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा	१	*मन क्रम बचन चरनरत*
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा।	२	*गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।*
सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥		*कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥*
		मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।
मम गुन गावत पुलक सरीरा।	३	*बिलख बदन कंप पुलक तन,*
गदगद गिरा नयन बह नीरा॥		*नयन सनीरा*
काम आदि मद दंभ न जाके	४	*देह गेह सब सन तृन तोरे*

वनमें साथ जानेकी आज्ञा मिल गयी, इसको लक्ष्मणजीने बड़ा लाभ माना। अयोध्याका ऐश्वर्य-भोग उनको हानिकारक लगा। इससे उनकी निर्लोभता सिद्ध हुई। श्रीरामजीके कहनेपर कि ***'रहहु करहु सब कर परितोषू'*** क्रोध न हुआ, किंतु प्रेमवश व्याकुल होकर उन्होंने दीनतापूर्वक श्रीरामजीके चरण पकड़ लिये। इससे क्रोध-मदादिका पूर्ण अभाव, विनम्रता और दास्यभाव प्रकट होता है। लक्ष्मणजीके समान त्यागी रघुवंशमें दूसरा नहीं है। *'रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥'* (३२४।८) यह वाक्य श्रीलक्ष्मणजीके चरित्रमें जितना चरितार्थ हुआ है उतना अन्य किसीमें भी नहीं। इसीसे तो वे श्रीरामजीके दक्षिण भागमें पूज्य हो गये।

गोस्वामीजीके लक्ष्मणचरित्रके समान पूर्ण निर्दोष भक्त और बन्धुका चरित्र अन्यत्र नहीं मिलता है। यद्यपि श्रीरामजी उनको भ्रातृभावसे ही देखते हैं तथापि लक्ष्मणजी अपनेको श्रीरामचरण-सेवक ही मानते हैं।

पूँछे मातु मलिन मन देखी। लषन कही सब कथा बिसेषी॥ ५॥
गई सहमि सुनि बचन कठोरा। मृगी देखि दव जनु चहुँ ओरा॥ ६॥

शब्दार्थ—**बिसेषी**=विस्तारसे। '**दव**'=वनकी आग। '**सहमि गई**'= डर गयी, घबड़ा गयीं। २९। ४ देखिये।

अर्थ—माताने लक्ष्मणजीको मन मारे (उदास) देखकर (कारण) पूछा। लक्ष्मणजीने सब कथा विस्तारसे कह दी॥ ५॥ कठोर वचन सुनकर वे भयभीत हो गयीं; जैसे चारों तरफ वनाग्नि देखकर हरिणी भयभीत हो जाती है॥ ६॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—*'मलिन मन देखी'* इति। प्रश्न—ऊपर कह आये हैं कि *'मुदित भए सुनि रघुबर बानी'* और *'हरषित हृदय मातु पहिं आए'* तो यहाँ *'मलिन मन'* कैसे कहा? उत्तर—मनमें श्रीरामजीके संगका सुख है पर उनके वनवास होनेका दु:ख तो है ही। यह दु:ख उनके उन वचनोंसे प्रकट होता है जो उन्होंने सुमन्त्रजीसे पिताके विषयमें कहे, जिसका परिचय इन शब्दोंमें पूज्य कविने किया है—***'पुनि कछु लषन कही कटु बानी। प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी॥ सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखन सँदेसु कहिअ जनि जाई॥'*** (९६। ४-५) और फिर इसी काण्डमें भरतजीका ससैन्य आगमन सुननेपर यह दु:ख पूर्ण रूपसे उमड़ा हुआ देख पड़ता है—***'कहँ लगि सहिय रहिअ मन मारे। नाथ साथ धनु हाथ हमारे॥''''प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू''''*** ' (२२९।८। २३०) वही *'मन मारे'* यहाँ *'मलिन मन'* से सूचित किया है। मन मलिन होनेसे मुखकी चेष्टा भी मलिन हो जाती है। इसी चेष्टाको यहाँ *'मन मलिन'* कहते हैं। (पुन:, ***'मलिन मन देखी'*** का भाव कि आज तो श्रीरामराज्याभिषेक है, अत्यन्त प्रसन्न होना चाहिये था सो न होकर उदास हैं, इसका क्या कारण? अत: पूछा।) *'बिसेषी'* अर्थात् विशेषरूपसे, विस्तारपूर्वक कह सुनायी जिसमें फिर उन्हें कुछ पूछना न पड़े।

टिप्पणी—२ रामवनवास *'कठोर बचन'* है। श्रीराम-जानकीजी वनको जायँगे, राजाकी मृत्यु होगी,

लक्ष्मण वन जायँगे और भरत राज्य न ग्रहण करेंगे—यही चारों ओरका डाढ़ा (दावाग्नि) है, यथा—***'सीय कि पिय सँग परिहरिहि लषन कि रहिहहिं धाम। राज कि भूँजब भरत पुर नृपु कि जिइहि बिनु राम॥'*** (४९) मृगी चारों ओरकी अग्निको देखकर और अपनेको बीचमें घिरी हुई पाकर सहम जाती है कि अब तो बचना असम्भव है, जलते ही बनेगा, वैसे ही श्रीसुमित्राजीने अपने हृदयके नेत्रोंसे चारों ओरसे दु:ख ही घिरा हुआ देखा जिससे छुटकारा नहीं। सभी इस बातको जानते-समझते हैं कि ऐसा ही होगा।

लखन लखेउ भा अनरथ आजू। एहि सनेह बस करब अकाजू॥ ७॥
माँगत बिदा सभय सकुचाहीं। जाइ संग बिधि कहिहि कि नाहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—**अनरथ**=(अनर्थ) बुरा, अकाज।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने देखा कि आज (अब) अनर्थ हुआ। यह स्नेहके वश होकर काम बिगाड़ देंगी॥ ७॥ डरके कारण मातासे बिदा माँगते हुए सकुचाते हैं। सोचते हैं कि हे विधि! यह साथ जानेको कहेगी कि नहीं!॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'लखन लखेउ भा अनरथ आजू·····'*** इति। (क) श्रीलक्ष्मणजीने लखा कि माता हमपर प्रेम करके न जाने देंगी; पर ऐसा वस्तुत: हुआ नहीं, लक्ष्मणजी लख न पाये, उन्होंने यहाँ लखनेमें गलती की—यह क्यों? इसका कारण प्रथम ही दे चुके हैं कि—***'मन रघुनंदन जानकि साथा।'*** जब मन यहाँ है ही नहीं तो लखते कैसे? (ख) ***'भा अनरथ आजू'*** अर्थात् श्रीरामजीका और हमारा सब दिनसे साथ चला आता है, अबतक कभी वियोग नहीं हुआ था, वे आज वनको जाते हैं, यह आज्ञा न देगी तो आज प्रथम-प्रथम वियोग होगा। यही अनर्थ होगा। सुमित्राजीको शोक रामवनवाससे हुआ कि कैकेयीने तो सर्वनाश कर डाला, परंतु लक्ष्मणजीने समझा कि ये मेरे वन जानेके सम्बन्धसे व्याकुल हुई हैं—यह 'भ्रान्ति अलंकार' है।

टिप्पणी—२ ***'सभय सकुचाहीं'***—भय और संकोच दोनों हैं। यदि पूछनेपर यह आज्ञा न देगी तो श्रीरामजी साथ न ले जायँगे, यह भय है। और बिदा मागनेमें संकोच है (कि न जाने हाँ करे कि नहीं) (पुन:, भाव कि पूछनेसे कदाचित् यह आज्ञा नहीं ही देगी और न पूछनेसे जब यह देखेगी कि मैं जानेपर तुला हूँ, अवश्य जाऊँगा तो बरबस आज्ञा देगी ही। अत: मातासे पूछते नहीं। वै०) ***'बिधि'*** से कहनेका भाव कि संयोग-वियोग सबके कर्ता विधि हैं, यथा—***'जो पै पियबियोग बिधि कीन्हा'*** और ***'यह सँजोग बिधि लिखा बिचारी।'*** (३। १७। ८) यहाँ सन्देह अलंकार है।

दो०—समुझि सुमित्रा राम सिय रूप सुसीलु सुभाउ।
नृप सनेहु लखि धुनेउ सिरु पापिनि दीन्ह कुदाउ॥ ७३॥

शब्दार्थ—दाँव=खेलमें प्रत्येक खेलाड़ीके खेलनेका समय जो एक-दूसरेके पीछे क्रमसे आता है। =चाल। दाँव देना=दाँव खेलना=चाल चलना, धोखा देना। यह मुहावरा है।

अर्थ—श्रीसुमित्राजी श्रीराम-सीताजीका रूप, सुन्दर शील और स्वभाव समझकर और उनपर राजाका प्रेम लख (देख) कर अपना सिर पीटने लगीं कि पापिनी कैकेयीने बुरा दाँव दिया। अर्थात् ऐसा दाँव राजाको दिया कि जिसमें अवश्य हार ही हो, उनका पाँसा या कौड़ी न पड़ सके॥ ७३॥

टिप्पणी—१ ***'समुझि सुमित्रा रामसिय रूप सुसीलु सुभाउ'*** इति। समझकर अर्थात् स्मरण करके। भाव यह है कि राजा श्रीरामजीके रूप, शील और स्वभावको याद करके प्राण दे देंगे, यथा—***'राम रूप गुन सील सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ॥'*** (१४९। ६) पुन:, यह समझकर कि राजाका उनपर बहुत स्नेह है इससे वे जीवित न रहेंगे, अतएव माथा पीटा (कि हम सब विधवा हो जायँगी)। [सुमित्रा (=सुष्ठु मित्रा) हैं, अत: ऐसा समझा—(खर्रा)।]

टिप्पणी—२ ***'पापिनि दीन्ह कुदाउ'*** इति। अर्थात् धोखा दिया कि ऊपरसे पतिव्रता बनी रही, श्रीरामजीसे प्रेम करती रही, अन्तमें इनको वन दिया और पतिपर घात किया। इसीसे ***'पापिनि'*** कहा।

धीरजु धरेउ कुअवसर जानी। सहज सुहृद बोली मृदु बानी॥ १॥
तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥ २॥

अर्थ—परन्तु कुसमय जानकर धैर्य धारण किया। सहज ही सुन्दर हृदयवाली स्वाभाविक ही हित चाहनेवाली, सुमित्राजी कोमल वाणी बोली॥ १॥ हे तात! वैदेही श्रीजानकीजी तुम्हारी माता हैं, राम तुम्हारे पिता हैं। सब प्रकारसे स्नेह करनेवाले हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ ***'कुअवसर जानी'*** अर्थात् यह समय विकल होनेका नहीं है किन्तु पुत्रको धर्मशिक्षा देनेका है। [पुनः, यह कि इस समय सिवाय धीरज धारण करनेके दूसरा कोई उपाय चल नहीं सकता। वा, हम ही अधीर होंगी तो इनको उपदेश कौन देगा। (रा० प्र०) पुनः पुत्रको साथ जाना है, यात्राके समय रोना अच्छा नहीं।]

टिप्पणी—२ ***'सहज सुहृद'*** का भाव कि—(क) जैसा सुन्दर हृदय है वैसी ही सुन्दर वाणी बोलीं। पुनः, (ख) जैसे सुहृद् मित्र परोपकारहेतु उपदेश देते हैं वैसे ही इन्होंने लक्ष्मणजीको हितोपदेश किया। (पण्डितजी) पुनः, (ग) 'सहज ही सुन्दर हृदय है तो रघुनाथजीका गुण, प्रताप और प्रीति क्यों न आवे' (समुझें)—(रा० प्र०)। पुनः; (घ) इनका हृदय स्वाभाविक ही सुन्दर है कुछ सत्संग आदिसे ये सुहृद् नहीं हुई हैं।

टिप्पणी—३ मृदु वाणी बोलीं, क्योंकि उपदेश कोमल वाणीसे ही मनमें लगता है।

टिप्पणी—४ ***'तात तुम्हारि मातु बैदेही।'*** इति। भाव कि इन्हींको माता-पिता समझना, हमारी याद न करना, हममें तुम्हारा चित्त न लगा रहे। राम सब भाँतिसे स्नेही हैं अर्थात् वे माता-पिताके समान पालक और रक्षक हैं, गुरुके समान उपदेश देनेवाले हैं, स्वामी हैं, इन्हींकी सेवा करनी चाहिये, रामजी स्वामीकी तरह सेवकका हित करते हैं, आपत्तिमें भाई और सखाके समान सहायक हैं, इत्यादि सभी प्रकारसे तुम्हारे स्नेही हैं, गुरु-पिता-माता-बन्धु इत्यादि सब इन्हींको समझो,यथा—'**त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥**' (पाण्डवगीता) (वे लोक-परलोक दोनोंके रक्षक हैं। अतएव ***'सब कर ममता ताग बटोरी'*** इन्हींके चरणोंमें ***'मनहिं बाँधु बरि डोरी'***।—पण्डितजी) यहाँ तीसरी निदर्शना है।

नोट—वाल्मीकीय सर्ग ४० श्लोक ९ '**रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्। अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥**' अर्थात् श्रीरामजीको दशरथ, श्रीजानकीजीको मेरे स्थानमें और वनको अयोध्या समझकर तुम सुखपूर्वक जाओ। सीधा अर्थ यही है। पर, विनायकी टीकाकारने इसका भावीसूचक यह अर्थ किया है—'दशरथजीको तुम मरा हुआ समझो, मुझे पिताकी लड़की यानी विधवा समझो और अयोध्याको उजड़ा समझ अपने इच्छानुसार वनको जाओ—सारांश यह है कि रामके वियोगमें दशरथजी प्राण त्यागकर मुझे विधवाकर अयोध्याको वनतुल्य कर जावेंगे (यही बात मानो कैकेयीने की जो पहले सुमित्राजी कह आयी हैं कि ***'पापिनि दीन्ह कुदाउ'***)।

वाल्मीकिके कथन और गोस्वामीजीके कथनमें भाव तो एक ही है, पर विचार कीजिये तो देख पड़ेगा कि गोस्वामीजीके वचनोंमें कैसा चमत्कार है, क्या उत्कृष्टता है? कैसे भावपूर्ण इनके शब्द दिख रहे हैं। देखिये सुमित्राजी लड़केको एकदम ऐसा कहने लगीं कि ***'तात तुम्हार मातु बैदेही। पिता राम…'*** यह क्यों? लक्ष्मणजी तो स्वयं ही ऐसा जानते-मानते आये हैं—***'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतियाहू॥', 'मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी'*** इत्यादि फिर ऐसे प्रिय पुत्रको एकदम ऐसा कहनेका क्या तात्पर्य! सुमित्रा अम्बाजी परम भागवता हैं। श्रीसीतारामजीके स्वरूपको भली प्रकार जानती हैं—मदालसा देवीसे किसी भाँति कम नहीं हैं। उनको लक्ष्मणजीका श्रीसीतारामजीको छोड़कर अपने पास आना बहुत

बुरा लगा। उनको लक्ष्मणजीके इस आचरणसे बड़ा दुःख हुआ, वे इसे सहन न कर सकीं, सहसा उनके मुखसे आवेशमें उनके चित्तकी वृत्तिको प्रकट करनेवाले वचन ही एकबारगी निकल पड़े—***'तात तुम्हारि मातु बैदेही।'*** अर्थात् शोक है कि मेरे उदरसे जन्म लेकर भी तुमने अबतक न जाना कि तुम्हारी माता 'वैदेही' हैं, मेरा तो देहका नाता है और वस्तुतः 'वैदेही' तेरी माँ हैं, मेरे पास तुम आज्ञा माँगने आये इससे स्पष्ट है कि तुमको अभी मोह है, तुम्हें आज्ञा भी लेनी थी तो उन्हींसे। इस बातकी पुष्टता गीतावलीसे होती है—

'जाइ चरन गहि आयसु जाँची, जननि कहति बहु भाँति निहोरे।
सिय रघुबर सेवा सुचि ह्वैहौ तौ जानिहौं सही सुत मोरे॥
कीजहु इहै बिचार निरन्तर राम समीप सुकृत नहिं थोरे।
तुलसी सुनि सिख चले चकित चित उड़्यो मानो बिहग बधिक भए भोरे॥' (२।११)

माताके पास आज्ञा माँगने आये। माता जो उपदेश करती हैं, उसीको चरितार्थ भी करती हैं—अतः पहले अपना ही नाता तोड़ती हैं। इस प्रकार कि हमारे पास क्यों आये? मैं तुम्हारी माँ नहीं। अब सोचिये ***'तुम्हारि मातु बैदेही'*** पहले यह कहना उत्तम है कि **'रामं दशरथं विद्धि।'**

प० प० प्र०—१ (क) श्रीसुमित्राजीके सब वचन आध्यात्मिक अर्थसे पूर्ण हैं। लौकिक माता-पिता ***'सब भाँति सनेही'*** नहीं होते। उनमें भी कुछ-न-कुछ स्वार्थबुद्धि रहती है—***'मातु पिता स्वारथ रत ओऊ।'*** (७।४७।४)। (ख) ***'बैदेही'*** का भाव कि उनको अपनी देहपर किंचित् भी प्रेम नहीं है, इसीसे वे स्वार्थरहित प्रेम कर सकती हैं और राम ***'सहज आनंद निधान'*** हैं अतः उनके पुत्रको कभी दुःखका अनुभव न होगा।

अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥ ३॥
जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥ ४॥
गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥ ५॥

अर्थ—जहाँ श्रीरामजीका निवास हो वही अयोध्या है, जहाँ सूर्यका प्रकाश है वहीं दिन है॥ ३॥ यदि निश्चय ही श्रीसीतारामजी वन जा रहे हैं तो अयोध्यामें तुम्हारा कुछ काम नहीं है॥ ४॥ गुरु, पिता, माता, भाई, देवता और स्वामी इन सबकी सेवा प्राणकी तरह करनी चाहिये॥ ५॥

नोट—१ ***'अवध तहाँ जहँ राम निवासू'*** इति। ऐसा ही श्रीवसिष्ठजीने कैकेयीको फटकारते हुए कहा है—**'न हि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः। तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति॥'** (वाल्मी० २।३७।२९) अर्थात् जहाँके राजा रामचन्द्र न होंगे, वह राज्य न होगा, किंतु वह वन ही राज्य होगा जहाँ रामचन्द्रजी निवास करेंगे। माता सुमित्राजीके कथनका भाव यह है कि श्रीसीतारामजी वनको जाते हैं तो वन ही अयोध्या है अर्थात् तुम्हें अवधके समस्त सुख वनमें प्राप्त हैं—यहाँ दशरथ पिता वहाँ राम पिता, यहाँ मैं माता वहाँ सीता माता—जब वन अवध है और माता-पिता वहाँ साथ हैं तो फिर यहाँके माता-पिता और इस अवधकी याद कदापि न करना। यह आगे स्पष्ट दिखाया है कि लक्ष्मणजीने सचमुच ऐसा ही किया है, यथा—***'छिनु छिनु लखि सियरामपद जानि आपु पर नेहु। करत न सपनेहुँ लखनु चितु बंधु मातु पितु गेहु॥'*** १३९। देखिये ७३ (६-७)।

नोट—२ ***'तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू'*** इति। जहाँ प्रकाश है वहीं दिन है, जहाँ प्रकाश नहीं वहाँ रात है। अयोध्यामें श्रीरामजी नहीं हैं अतएव यहाँ रात है, यथा—***'लागति अवध भयावनि भारी। मानहु कालराति अँधियारी॥'*** (८३।५) **'अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्।'** (वाल्मी० २।४०।९) यहाँ दृष्टान्त अलंकार है।

नोट—३ ***'जौं पै सीय रामु बन जाहीं·····'*** इति। तात्पर्य कि जहाँ स्वामी रहे वहीं सेवकका काम

है। *'जौं पै'* यह गहोरा देशकी बोली है। गुरु, पिता, माता, भाई, देवता, स्वामी इन सबकी सेवा बड़े आदरपूर्वक करनी चाहिये; यह *'प्राणकी नाईं'* का भाव है। प्राणोंकी रक्षाके लिये मनुष्य क्या यत्न नहीं करते, वैसे ही इनकी सेवा दिलोजानसे तन और प्राणसे करनी चाहिये। इस अर्धालीमें 'प्रथमनिदर्शना' है।

रामु प्रान प्रिय जीवन जी के। स्वारथरहित सखा सबही के॥ ६॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं* राम के नातें॥ ७॥
अस जिय जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवनु लाहू॥ ८॥

शब्दार्थ—**जी**=जीव, प्राणी। **मानिअहिं**=माने जाते हैं, मानिये।

अर्थ—राम प्राणप्रिय हैं। जीवोंके जीवन हैं! और सबके स्वार्थरहित सखा हैं॥ ६॥ जहाँतक पूजनीय और परमप्रिय हैं सबको रामजीके नाते मानना चाहिये (कि इनके माननेसे रामजी प्रसन्न होंगे। अथवा, रामजी सबके प्राण और जीव हैं इस नातेसे सबको माने; जब प्राण और जीव नहीं रहते तब मृतक शरीरको कौन मानता है?)॥ ७॥ ऐसा हृदयमें जानकर उनके साथ वन जाओ और हे तात! संसारमें जीनेका लाभ उठाओ॥ ८॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—*'राम प्रानप्रिय जीवन जी के।·····'* इति। गुरु-पिता-माता-बन्धु आदि सब प्राणके सदृश हैं और राम प्राणसे अधिक हैं; अतः श्रीरामजीको सबसे अधिक मानकर उन्हींकी सेवा करनी चाहिये। इनके समान सेवा योग्य दूसरा नहीं है। जीवके जीवन ये ही हैं अतएव इनके सिवा दूसरा कोई पालक या रक्षक नहीं है। (रा० प्र०)

टिप्पणी—२ *'स्वारथरहित सखा सबही के'* इति। भाव यह कि सब कोई स्वार्थके लिये प्रीति करते हैं, यथा—*'सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती।'* (४। ११) पर श्रीरामचन्द्रजी स्वार्थरहित सबके सखा हैं। अर्थात् बिना किसी स्वार्थके सबका हित करते हैं। प्राणके प्राण हैं, जीवके जीव हैं, सबके सखा हैं, ऐसा वेदमें लिखा है, यथा—*'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'* (श्वे० उ० ४। ६) श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ में लिखा है कि 'नारायण जो मनुष्योंके सखा हैं उनके हम शरण हैं—*'ब्रह्मजीव सम सहज सँघाती।'*(१। २०। ४) देखिये। अन्नपूर्णोपनिषद्‌में भी लिखा है—**'द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिन् जीवेशाख्यौ सह स्थितौ। तयोर्जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः॥ केवलं साक्षिरूपेण विना भोगेन वर्तते।'** (रा० प्र०) इस कथनका भाव यह है कि माताने लक्ष्मणजीको ब्रह्मका उपदेश किया अर्थात् यह बताया कि श्रीरामजी साक्षात् ब्रह्म हैं। जैसे जबतक प्राण और जीव रहते हैं तबतक शरीरकी सेवा की जाती है, पर जब ये शरीरको छोड़ देते हैं तब मृतक शरीरकी सेवाका कुछ प्रयोजन नहीं रहता; वैसे ही जबतक रामजी हैं तबतक सबकी सेवा करे, जब राम नहीं तब सबकी सेवा कुछ नहीं।

पण्डितजी—प्राणोंके बिना देह मिट्टी, वैसे ही राम बिना प्राण मिट्टी, बिना जीवके प्राण व्यर्थ वैसे ही बिना रामके जीव निकाम (व्यर्थ)। सब परम प्रिय और पूजनीयको इस नाते मानना ठीक है पर उनका मानना साधनभूत है। सबके सिद्ध फल राम प्रत्यक्ष प्राप्त हैं। तब उनको ही सर्वोपरि मानना चाहिये—ऐसा जान लो और वनको जाओ।

टिप्पणी—३ *'पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें।·····'* इति। प्रथम प्रधान-प्रधान पूजनीय लोगोंको कहकर फिर कहा कि जहाँतक पूजनीय हैं सबको रामके नाते मानिये।

पण्डितजी—*'सब मानिअहिं राम के नातें'* का भाव यह है कि जहाँतक रामजीमें अपना नाता बना

* 'मानी सकल' पाठ पाण्डेयजी और रामगुलामजीकी प्रतिलिपि जो वंदन पाठकजीकी लिखी हुई है, उनमें है। काशीराज, भागवतदास, छोटेलाल (पाठकजीके शिष्य) की प्रतियोंमें 'सब मनिअहिं' है। पाण्डेयजी यह अर्थ कहते हैं—रामके नातेसे सब पूजनीय पूजे जाते हैं, तो सर्वोपरि भावसे उन्हीं रामजीको पूजना चाहिये।

रहे वहाँतक सबको मानना चाहिये; परंतु जब उनके कारण रामजीमें अपना नाता टूटता हो तब उनको न माने। प्रमाण, यथा—*'जाके प्रिय न राम बैदेही·····'* और *'जरउ सो संपति सदन सुख·····।'* अथवा, २—ये सब रामके नाते माने जाते हैं जब राम ही नहीं तब ये कौन हैं (जिनके साथ रहा जाय)।

नोट—*'सो जननी सो पिता सोइ भ्राता सो भामिनि सो सुत सो हितु मेरो। सोइ सगो सो सखा सोइ सेवक सो गुरु सो सुर साहिब चेरो॥ सो तुलसी प्रिय प्रान समान कहाँ लौं बनाइ कहउँ बहुतेरो। जो तजि देह को गेह को नेह सनेह सों राम को होत सबेरो॥'* (क० ७। ३५) *'राम हैं मातु पिता सुत बंधु औ संगी सखा गुरु स्वामी सनेही। राम की सौहैं भरोसो है रामको राम रँगी रुचि राचौं न केही॥ जीवत राम मुये पुनि राम सदा रघुनाथहि की गति जेही। सोइ जियै जगमें तुलसी न त डोलत और मुए धरि देही॥'* (क० ३६)

'जाके प्रिय न राम बैदेही। तेहि छाँड़िए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही। तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषण बंधु भरत महतारी॥ हरिहित गुरु बलि पति ब्रजबनितन्हि भए मुद मंगलकारी। नाते नेह राम के मनियति, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं॥ अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं।·····' (वि० १७४) इन उद्धरणोंसे *'सब मानिअहिं राम के नाते'* का भाव स्पष्ट हो जाता है।

प० प० प्र०—*'रामु प्रान प्रिय जीवन जी के।··'* इति। कौसल्याजीके *'पूत परमप्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के॥'* (५६। ७) तथा श्रीविश्वामित्रजीके *'ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।'* (१। २१६) से मिलान कीजिये। भाव यह है कि अन्तर्यामी रूपसे राम ही सब प्राणियोंके हृदयमें निवास करते हैं और प्राणोंके भी प्रेरक और प्रकाशक तथा जीवके प्रकाशक भी वे ही हैं। श्रीरामजी मूल हैं, माता-पिता सुहृद् बंधु सुर आदि सब इस मूलके आश्रित शाखा, टहनी, पल्लवादि हैं। मूलमें जल सींचनेसे वृक्षके सभी अंगोपांग हरित, पुष्पित, फलित होते हैं, वैसे ही श्रीरामजीकी सेवामें सभी पूज्योंकी पूजा और सेवाका अन्तर्भाव होता है। जबतक श्रीरामजी अन्तर्यामी रूपसे जीवके शरीरमें प्रेरणा प्रकाश देते रहते हैं तभीतक उस देहधारी जीवकी मान्यता है। जब वह प्रकाश मिलना बंद होता है तब वह शरीर अत्यन्त अपवित्र और अपूज्य होता है। इसीसे कहा—*'सब मानिअहिं राम के नाते।'*

टिप्पणी—४ *'अस जिय जानि'* अर्थात् ऐसा जानकर कि सब रामके नातेसे माने जाते हैं, जब राम नहीं तब ये कौन हैं; अथवा *'प्राण प्राण के जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥'* ऐसा रामजीका स्वरूप है यह जीमें जानके; अथवा, रामजी परब्रह्म परमात्मा हैं यह समझकर साथ जाओ अर्थात् भाईका भाव न मानना जैसा मैंने बताया वैसा मानना। [जीव जब यह जानकर कि राम ही सबके अन्तर्यामी और प्रेरक हैं उनका संगी बन जाता है तभी वह मानव-जीवनका लाभ प्राप्त करता है और कृतकृत्य होता है। (प० प० प्र०)]

दो०—भूरि भाग भाजनु भयेहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौ तुम्हरे मन छाँड़ि छलु कीन्ह रामपद ठाउँ॥ ७४॥

अर्थ—मुझ समेत तुम बड़े भाग्यवान् हुए, मैं बलिहारी जाती हूँ कि जो छल छोड़कर तुम्हारे मनने रामजीके चरणोंमें ठिकाना (जगह) बनाया॥ ७४॥

टिप्पणी—श्रीरामचरणमें चित्त लगना बड़े भाग्यकी बात है; यथा—*'तुलसी कहत सुनत सब समुझत कोय। बड़े भाग अनुराग राम सन होय॥'* (बरवै० ६३)। जो-जो श्रीरामजीके चरणोंमें लगे उनको बड़भागी कहा गया है। १। २११ छन्द १ देखिये। अतएव भूरि-भाग्यका पात्र कहा। (जो पुत्र श्रीरामचरणानुरागी हो जाता है वह अपनी माताको समस्त भाग्योंका भाजन बना देता है। यथा—*'सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥'* (७। १२७) अतः कहा कि *'भूरि भाग भाजन भयेहु मोहि समेत॥'* (प० प० प्र०।) *'बलि जाउँ'* का भाव कि तुम भाग्यभाजन हुए, मुझे भाग्यवती

किया, अतएव तुम इस योग्य हो कि तुम्हारी बलि जाऊँ, यह तन तुम्हारे निछावर है। बड़ा काम करे तो भारी निछावर की जाती है; इसीसे तन न्योछावर करती हैं। यह कैसे जाना कि इनका मन रामचरणमें आसक्त है? उत्तर—माताके पूछनेपर लक्ष्मणजीने सब कथा कह सुनायी थी, उसीमें अपने वन साथ जानेका भी वृत्तान्त कह दिया था। *'छल छाँड़ि'*=कामना या वासनारहित, निष्काम, निःस्वार्थ, यथा—*'स्वारथ छल फल चारि बिहाई।'* (३०१।३) [पुनः, छल=कपट=माया और मायाका परिवार मोह-काम-क्रोधादि समस्त मनोविकार। क्योंकि प्रभुका वचन है कि *'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।'* यही बात आगे कहती हैं—*'सकल प्रकार बिकार बिहाई'''।'* (प० प० प्र०) बैजनाथजीका मत है कि 'प्रकृतिका अंश होनेसे मनका सहज ही चंचल स्वभाव है, वह इन्द्रियोंके विषयोंकी चाहमें लवलीन रहता है, उनकी कामनाएँ पूर्ण करनेके लिये अनेक छल=विद्यामें प्रवीण होता है। तुम्हारा मन चंचलतारहित विषयोंसे विमुख होकर छल छोड़कर श्रीरामपदमें लगा है।'] पुनः भाव कि वनको अयोध्या जानकर तन तो वनमें बसे और मन निष्काम होकर रामपदमें बसे।

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥ १॥
न तरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी*॥ २॥

अर्थ—संसारमें वही स्त्री पुत्रवती है जिसका पुत्र रघुनाथजीका भक्त हो॥ १॥ नहीं तो बाँझ भली थी, रामविमुख पुत्रसे अपनी भलाई जानकर व्यर्थ ही वह (पशुकी तरह) ब्यायी॥ २॥

पुरुषोत्तम रामकु०—*'पुत्रवती जुबती जग सोई।'''''* इति। पुत्रवती कहा, क्योंकि पुत्र वही है जो नरकसे पितृकी रक्षा करे, यथा—**'पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः। तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवः॥'**=(वायुपुराण) जो रघुपतिका भक्त होता है वह पितरोंकी रक्षा करता है। जो राम-विमुख होता है उससे सब कुलके पूर्व किये हुए भी सुकृतोंका नाश होता है। पिता नरकमें पड़ते हैं यह हितकी हानि है; अतएव ऐसा सुत पैदा करनेसे बिना सुतका होना भला है। महारामायणमें भी कहा—**'ये कल्पकोटि सततं जपहोमयोगैर्ध्यानैः समाधिभिरहोरत ब्रह्मज्ञानात्। ते देवि धन्यमनुजा हृदि बाह्यशुद्धा भक्तिस्तदा भवति तेष्वपि रामपादौ॥'**

नोट—*'बिआनी'* पद यहाँ 'बादि' के संगसे कैसा उत्कृष्ट पड़ा है। पशु शूकर आदिके बच्चे देनेको बियाना कहा जाता है। जिसमें श्रीरामजीकी भक्ति नहीं वह पशुवत् ही है। जैसा गोस्वामीजीने कवितावलीमें कहा है—*'तिन्हतें खर सूकर स्वान भले जड़ता बस ते न कहैं कछुवै। तुलसी जेहि राम सों नेह नहीं सो सही पसु पूँछ विषानन द्वै॥ जननी कत भार भुई दस मास भई किन बाँझ गई किन च्वै। जरि जाइ सो जीवन जानकिनाथ रहै जग में तुम्हरो बिनु ह्वै॥'* (७। ४०)

जब मनुष्यकी जगह उसने पशु जना (पैदा किया) तो उसके लिये *'बिआनी'* ही कहना ठीक है।

तुम्हरेहि भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥ ३॥
सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। राम सीय पद सहज सनेहू॥ ४॥

अर्थ—तुम्हारे ही भाग्यसे रामजी वनको जा रहे हैं। हे तात! (वन जानेका) और कोई कारण नहीं है॥ ३॥ समस्त पुण्योंका बड़ा फल यही है कि श्रीसीतारामजीके चरणोंमें स्वाभाविक स्नेह हो॥ ४॥

नोट—प्रथम कहा कि *'भूरि भाग भाजनु भयेहु मोहि समेत बलि जाउँ'* अर्थात् दोनोंका बड़भागी होना एक साथ कहा। अब दोनोंके भाग्य पृथक्-पृथक् कहती हैं—*'पुत्रवती जुबती जग सोई।'''''* इस चौपाईमें अपना बड़ा भाग्य दिखाया और *'तुम्हरेहि भाग रामु बन जाहीं।'* इस चौपाईमें लक्ष्मणजीका बड़ा भाग्य दिखाया।

---

* 'जानी' पाठ राजापुर, पं० रामगुलाम द्विवेदी, बंदन पाठक, पाँड़ेजी इत्यादिका है। रा० प्र० में 'हानी' पाठ है पर अर्थ 'जानी' पाठका किया गया है। भागवतदासजी एवं पं० रामकुमारजीने 'हानी' पाठ रखा है।

टिप्पणी—१ *'तुम्हरेहि भाग'* अर्थात् जबतक श्रीरामजी अयोध्यामें रहे तबतक सबका भाग्य रहा, सबको दर्शन होते रहे, सबको सेवा मिलती रही। वनमें तुम्हारा ही भाग्य है, सब सेवा तुम्हींको प्राप्त हुई। (यहाँ मुख्य कारण तो कैकेयीका वरदान है पर ये कहती हैं कि केवल तुम्हारा सौभाग्य है दूसरा कारण नहीं—'हेत्वापह्नुति' अलंकार है)।

नोट—१ ऐसा ही वाल्मीकीयमें पुरवासियोंने कहा है '**अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम्। भ्रातरं देवसंकाशं यस्त्वं परिचरिष्यसि॥ महत्येषा हि ते बुद्धिरेष चाभ्युदयो महान्। एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि॥**' (२। ४०। २५-२६) अर्थात् अहा, लक्ष्मण! तुम धन्य हो, तुम्हारे मनोरथ सिद्ध हुए जो तुम प्रियवादी देवसदृश भ्राताकी सेवा करोगे। तुम्हारी बुद्धि प्रशंसनीय है। तुम्हारे भाग्यका बड़ा भारी अभ्युदय हुआ जो तुम साथ जा रहे हो। यह तुम्हारे स्वर्गका अर्थात् सर्वाधिक सुखका मार्ग है।

नोट-२ दूसरा भाव *'तुम्हरेहि भाग'* का लोग यह कहते हैं कि—पापियोंका भार भूमिपर है—*'गिरि सर सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहिं गरुअ एक परद्रोही॥'* रावणादि भाररूप हैं। लक्ष्मणजी कोल, कूर्म, शेषादिके नियन्ता हैं—*'दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धीर'''''* '—इन सबोंको आज्ञा देनेवाले हैं। नियम्यका भार नियन्तापर रहता है। रामजी भार उतारने जाते हैं, अतएव *'तुम्हरेहि भाग'* कहा। अथवा, कल्पान्तरमें शेष ही लक्ष्मण होते हैं और शेषपर भार है, उसे उतारने जाते हैं। राम तुम्हारे सिरका भार उतारने जाते हैं, यह तुम्हारा सौभाग्य है।

इसपर पण्डित रामकुमार, वन्दन पाठक और बैजनाथजी लिखते हैं कि—

१—यह अर्थ सरस्वतीकी उक्ति है पर माधुर्यके अनुकूल नहीं है।

२—यहाँ *'तुम्हरेहि'* यह उपलक्षण है अर्थात् भक्तोंके वास्ते वनमें जाते हैं। अथवा यहाँ बहुत सेवक हैं, वनमें राम तुम्हारे बाँटे (हिस्सेमें) पड़े हैं, अघाकर सेवा कर लो। प्रसंगसे यही अर्थ मुख्य है, यहाँ वात्सल्यरस है। शेषके भारवाले अर्थमें पूर्वापर प्रकरणसे विरोध होता है; क्योंकि शेषजीपर भार नहीं हो सकता—*'ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रजकनी।'* जब ब्रह्माण्डका बोझ तिनकामात्र है तब तो बोझकी शंका ही न रही। पुनः, जहाँ लक्ष्मणजीका अवतार कहा है और रामजीको अवतारी वहाँ प्रमाणमें *'दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला'''''होहु सजग सुनि आयसु मोरा', 'जो अवतरेउ भूमि भय टारन'* और *'सचराचरधनी'*—ऐसा कहा है और यहाँ तो प्रकरण ऐसा है—*'रघुपति भगत जासु सुत होई।' 'सुत'* वात्सल्यरसको ही सूचित करता है। यहाँ यही रस प्रधान है। अन्य अर्थमें लक्ष्मणजीमें अनित्यता होती है। जो कहो कि नगर भरको इतना दुःख है, लक्ष्मणजीका भाग्य कैसे? इसका अभिप्राय यह है कि इनको वियोग-जनित दुःख न होगा—यह क्या कम भाग्य है?

३—शेषरूप माननेसे लक्ष्मणजीकी सेवा व्यर्थ हुई जाती है; क्योंकि जब स्वामी हमारा दुःख दूर करनेके लिये परिश्रम उठाते हैं तब हमारी सेवा कैसी? यहाँ आशय है कि सब त्यागकर तुम ही साथ जाते हो यह तुम्हारा अमल यश अचल रहेगा, अतः तुम ही भाग्यशाली ठहरे।

दीनजी=रामलक्ष्मणके अवतारकी खबर इनको मालूम थी इसलिये ये स्वयं ही उनको साथ जानेकी आज्ञा दे रही हैं। लक्ष्मणजीने अभीतक आज्ञा नहीं माँगी थी।

टिप्पणी—२ *'सकल सुकृत कर बड़ फल एहू।'''''*', यथा—*'तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई॥ नाना करम धरम ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥ भूत-दया द्विज-गुरु-सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई। जहँ लगि साधन बेद बखानी। सबकर फल हरिभगति भवानी॥'* (७। १२६) *'बड़ फल'* का भाव कि सुकृतसे स्वर्ग होता है। यह क्षुद्र फल है। क्योंकि पुण्यके क्षीण होनेपर स्वर्गसे फिर पृथ्वीपर ढकेल दिये जानेका भय वहाँ बना है। यथा—*'स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।'* (७। ४४) *'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'* श्रीसीतारामचरणानुराग होना बड़ा फल है। गीतामें भी कहा है—'**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**' पुनः, यथा—*'सकल सुकृत फल राम सनेहू।'*

रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू॥ ५॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥ ६॥
तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु राम सिय जासू॥ ७॥
जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥ ८॥

अर्थ—राग, रोष, ईर्ष्या, मद (घमंड) और मोह, इनके वश स्वप्नमें भी न होना॥ ५॥ सब प्रकारसे विकारको छोड़कर मन-कर्म-वचनसे सेवा करना॥ ६॥ तुमको वनमें सब तरहसे सुख है कि जिसके संग पिता-माता श्रीरामसीताजी हैं (अर्थात् माता-पिता लड़केको हर तरहका आराम देते हैं, तुम्हें अपने आरामकी चिन्ता वहाँ नहीं करनी पड़ेगी। ध्वनि यह है कि तुम अपना सुपास न देखने या करने लगना)॥ ७॥ हे पुत्र! तुम वही करना जिससे श्रीरामजी वनमें क्लेश न पावें। यही मेरा उपदेश है॥ ८॥

नोट—१ राग (सांसारिक प्रेम), क्रोध, ईर्ष्या (डाह), मद और मोह ये सब सेवा (राम-भक्ति) के बाधक हैं; अतएव यह कहकर कि श्रीसीताराम-चरणमें अनुराग होना समस्त सुकृतोंका बड़ा फल है, यह बताया कि इसमें बहुत विघ्न डालनेवाले हैं जिनसे वह अनुराग जाता रहता है, यथा—***'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥'*** (३। ३८) वे ये हैं, इनसे बचे रहना। बाधकोंका निवारण करके तब सेवाका उपदेश करती हैं।

नोट—२ ***'रागु रोषु इरिषा मदु मोहू।'''''*** इति। रागके वश न होनेका भाव कि श्रीसीतारामजीको छोड़ अन्य किसीमें प्रेम न करना, माता-पिता, भाई-पत्नी इत्यादि सबकी ओरसे प्रेमको हटाकर इनके ही चरणोंमें प्रेम रहे। अर्थात् और सबको मनसे भुला देना। रोषके वश न होनेका भाव कि ये जो आज्ञा दें वह यदि तुम्हारे मनके अनुकूल न भी हो तो भी कदापि रुष्ट न होना—देखिये माताके उपदेशपर श्रीलक्ष्मणजी कैसे दृढ़ रहे हैं। ***'मरम बचन सीता जब बोला।'*** (३। २८। ५) और ***'आएहु तात बचन मम पेली।'*** (३। ३०। २) इन वचनोंपर भी वे कुछ रुष्ट होकर न बोले—क्रोध आनेसे सेवा भंग हो जायगी। ईर्ष्या यह कि किसी समय किसी भी कारणसे यह चित्तमें न आवे कि ये भी राजकुमार और हम भी राजकुमार, दोनों बराबर हैं, हम सेवा क्यों करें? जाति, विद्या, बल इत्यादिका गर्व न हो, यह विचार कदापि न आवे मेरे सिवा इनका कौन सेवक या रक्षक है। घरका मोह न करना। इनके स्वरूप और अपने स्वरूपको न भुला देना; यही मोह वश न होना है।

टिप्पणी—१ ***'सकल प्रकार बिकार बिहाई।'''''*** इति। राग-रोषादि पाँच प्रकारके विकार कहकर अब कहती हैं कि और भी बहुत विकार हैं। सब प्रकारके विकारोंको छोड़कर सेवा करना, मन, कर्म, वचन तीनों शुद्ध रहें, इनमें सेवाके प्रति कोई विकार न उत्पन्न होने पावे। [***'मन क्रम बचन करेहु सेवकाई'***— मनकी सेवा यह है कि सेवाके समयका ध्यान बना रहे। वचनकी सेवा यह कि मनकी बात लखकर अनुकूल आज्ञा माँगना और करना, तथा सदा प्रिय मधुर कोमल प्रेममय वचन बोलना। कर्म अर्थात् प्रत्यक्ष सेवा कैंकर्य करना। (पाँ०)]

टिप्पणी—२ ***'जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू।'''''*** इति। तात्पर्य यह कि श्रीरामजानकीजी तुम्हारा 'सुपास' करेंगे तुम उनका 'सुपास' करना। वे क्लेश न पावें, इसका भाव यह है कि वनमें बहुत क्लेश हैं, यथा—***'बिपिनि बिपति नहिं जाइ बखानी'***—उनको कोई क्लेश न हो। इस उपदेशमें पर्णकुटी, भोजन, पुष्प-शय्या, वनके जीवोंसे रक्षा इत्यादि सम्पूर्ण सेवाका उपदेश हो गया।

नोट—३ माता सुमित्राको कितना खयाल है कि श्रीरामजीको दुःख न हो, यह बात गीतावलीसे भलीभाँति स्पष्ट होती है, अपने पुत्र लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेका शोक उनको नहीं है वरन् राम अकेले हैं इसका शोक है, वे शत्रुघ्नजीसे कहती हैं कि तुम जाओ, सेवा करो—***'सुनि रन घायल लषन परे हैं। स्वामिकाज संग्राम सुभट सों लोहे ललकि लरे हैं॥ सुवन सोक संतोष सुमित्रहिं रघुपति भगति बरे हैं॥ छिन छिन गात सुखात छिनहिं छिन हुलसत होत हरे हैं॥ कपि सो कहत सुभाय अंबके अंबक अंबु भरे हैं। रघुनंदन बिनु***

बंधु कुअवसर जद्यपि धनु दुसरे हैं॥ तात जाहु कपि संग रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं। प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं॥ अंब अनुज गति लखि पवनज भरतादि गलानि गरे हैं॥ तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥' (गी० ६। १३)

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि श्रीमानसकी सुमित्राजीके समान माताका चरित्र अन्य किसी ग्रन्थमें तो क्या अन्य किसी देश या भाषामें मिलना असम्भव है। अथसे इतितक सुमित्राजीके हृदयको पुत्र-विरहका स्पर्श भी नहीं हुआ। उन्होंने अपने प्रियतम रामभक्त पुत्रको चौदह वर्षके वनवासके लिये जाते समय भी हृदयसे नहीं लगाया। धन्य-धन्य भक्तजननी और उसका '**वज्रादपि कठोरं च कोमलं कुसुमादपि**' अन्त:करण!! ऐसी माताका पुत्र लक्ष्मणजीके समान सर्व भक्त-लक्षण-सम्पन्न न होगा तो और किसका होगा?

छंद—उपदेसु यहु जेहि जात[1] तुम्हरें राम सिय सुख पावहीं।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर[2] सुख सुरति बन बिसरावहीं॥
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सियरघुबीर पद नित नित नई॥

शब्दार्थ—**अबिरल**=अविच्छिन्न, भरपूर, निर्भर। **अमल**=शुद्ध, निर्विकार।

अर्थ—हे तात! हमारा तुमको यही उपदेश है कि जिसमें तुम्हारे साथ जानेसे श्रीरामजानकीजी सुख पावें और पिता, माता, प्रिय, परिवार तथा अवधपुरके सुखकी याद वनमें भुला दें (वही तुम करना)। तुलसीदासजी कहते हैं कि (सुमित्राजीने हमारे) प्रभु लक्ष्मणजीको शिक्षा देकर आज्ञा दी और फिर आशीर्वाद दिया कि श्रीसियरघुवीर-चरणमें नित्य-नित्य नया अविरल और विशुद्ध अनुराग हो।

टिप्पणी—१ दो बार उपदेश कहा, यथा—*'जेहिं न राम बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥'* और *'उपदेसु यहु जेहि जात तुम्हरें राम सिय सुख पावहीं।'* दो बार कहनेका तात्पर्य यह कि एक बार तो क्लेश दूर करनेको कहा और दूसरेमें उनको सुख देनेका उपदेश किया और बताया कि कैसा सुख देना *'जेहि''' पितु मातु प्रिय परिवार सुख सुरति बन बिसरावहीं'* [☞सेव्यकी सेवा करनेकी विधि *'रागरोष इरिषा''' राम सिय सुख पावहीं'* इन पंक्तियोंमें सुचारु रूपसे बतायी है। यह सेवाका परमोच्च आदर्श है। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई'*—यहाँ शिक्षा, आज्ञा और आशीर्वाद तीनोंका विभाग किया। *'पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं'* यहाँ तक शिक्षा है। *'अस जिय जानि संग बन जाहू'* यह आज्ञा है और *'रति होउ अबिरल अमल सियरघुबीर पद नित नित नई'* यह आशीर्वाद है। प्रथम जो सिखावन दी थी कि *'सकल सुकृत कर फल सुत एहू। सीयराम पद सहज सनेहू॥'* उसीका यहाँ आशीर्वाद दिया कि श्रीसीतारामपदमें नित्य नवीन प्रेम हो।

सो०—मातु चरन सिरु नाइ चले तुरत संकित हृदय।
बागुर बिषम तोराइ मनहुँ भाग मृगु भाग बस॥ ७५॥

शब्दार्थ—**संकित**=शंका करते हुए, डरते हुए। **बागुर**=फंदा, जाल। **तोराइ**=तोड़कर, छुटाकर, तुड़ाकर।

अर्थ—(श्रीलक्ष्मणजी) माताके चरणोंमें माथा नवाकर मनमें डरते हुए तुरत चले—(डर इस बातका है कि कहीं हमारे माता-पिता, हमारे सर्वस्व श्रीसीतारामजी विलंब हो जानेके कारण चल न दिये हों, अतएव तुरत तेजीसे चले। जब श्रीजानकीनाथजीके पास पहुँच गये तब शंका दूर हुई और वे *'भे मन मुदित पाइ प्रिय साथू।'*)—मानो सौभाग्यवश हिरन कठिन फंदा तुड़ाकर भाग निकला हो॥ ७५॥

---

१. 'जात' पाठ रा० प०, को० रा०, आदि अनेक प्रतियोंमें है। गी० प्रे०में 'तात' पाठ दिया है। मेरी समझमें 'जात' पाठ उत्तम है। गी० प्रे० ने 'तात तुम्हरे' का अर्थ 'हे तात! तुम्हारे कारण' लिखा है। २. लाला सीतारामजीकी छपाई राजापुरकी पोथीमें 'पुर' नहीं है।

टिप्पणी—१ लक्ष्मणजी मातासे विदा होने आये हैं, माताने उनके इच्छानुकूल आज्ञा दी, दूसरे माताने सेवा-भक्तिका उपदेश दिया और आशीर्वाद भी; अतएव मस्तक नवाकर चले।

टिप्पणी—२ माताकी आज्ञा ***'बिषम बागुर'*** है, बिना आज्ञाके साथ नहीं जा सकते। माताकी आज्ञा होना ***'बिषम बागुर'*** का टूटना है। यथा—***'तात बिदा माँगिये मातु सों बनिहै बात उपाइ न औरे।'*** (गी० २।११) फंदा कठिन है, तोड़नेसे नहीं टूट सकता था; इसीसे कहा कि बड़े भाग्यसे टूट गया। ***'बागुर'*** विषम वैसे ही माताकी आज्ञा भारी। भाग्यवश आज्ञा मिल गयी, कठिन जालसे छुटकारा मिल गया; इसीसे जल्दीसे भाग चले।

नोट—***'संकित हृदय'*** के भाव ये कहे जाते हैं—(१) शंका कि कहीं कोई और विघ्न उपस्थित न हो जाता। जैसे हिरन भागे कि फिर फाँस न लिया जावे वैसे ही ये डरते हुए जल्द चल दिये कि फिर दूसरे प्रकारकी आज्ञा न दे दे। (पु० रा० कु०) (२) शंका कि कहीं माता साथ चलनेका हठ न करे। (दीनजी) (३) शंका कि उर्मिलाजी न आ जायँ, सीताजीकी तरह वे हमारे साथ चलनेका हठ कहीं करें तो कठिन हो। (शीलावृत्ति) (४) और कोई माताएँ न विघ्न डालने आ जायँ। (पां०) (मेरी समझमें जो भाव है वह अर्थमें कोष्ठकमें दिया गया है।) (५) पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीका मत शीलावृत्तिके अनुसार है। वे लिखते हैं कि लक्ष्मणजी माताको प्रणाम करके तुरन्त चल पड़े, क्योंकि सरकारकी आज्ञा थी ***'आवहु बेगि'*** । शंकित हृदय इसलिये कि कहीं सीताजीकी भाँति भगवती उर्मिला न आ पड़ें, तब तो एक दूसरा ही प्रपंच खड़ा हो जायगा। इसीलिये कवि कहते हैं कि विषम जाल तुड़ाकर जैसे मृग भाग्यवश भाग निकले। माता विषम बागुर नहीं है, विषम बागुर तो स्त्री होती है।

वि० त्रि०—वाल्मीकीय, अध्यात्म और रामचरितमानसमें सीताजीकी भाँति उर्मिलाजीका साथ जानेका आग्रह इसलिये नहीं दिखाया कि उन्होंने आग्रह किया ही नहीं। क्योंकि लक्ष्मणजीको वनवास दिया नहीं गया। वे अपनी खुशीसे सेवक धर्मपालनके लिये गये। उनके धर्मपालनमें बाधा न पहुँचे; इसलिये उर्मिलाजीने उफ तक नहीं की। यहाँ उर्मिलाका मौन रहना दिखलाकर, उनके गुणोंका बड़ा भारी उत्कर्ष दिखलाया। उर्मिलाके साथ अन्याय नहीं किया।

'श्रीलक्ष्मण-सुमित्रा-संवाद'

(मानस-हंससे उद्‌धृत)

'कविकला और लोक-शिक्षाकी दृष्टिसे यह संवाद रामायणके सभी संवादोंका तिलक है। तुलनात्मक दृष्टिसे इस संवादका और राम-कौसल्या-संवादका विचार करनेपर कौसल्या देवीकी अपेक्षा भी सुमित्रा देवी रामप्रेमके विषयमें अधिक जाज्वल्य नजर आती हैं।* सुमित्रादेवीने लक्ष्मणविषयक पुत्र-प्रेमको हृदयसे नितान्त निकालकर अपना पूरा-पूरा हृदय रामचरणोंमें निविष्ट कर दिया। हमारे मतसे सारी रामायणमें इतने प्रखर राम-प्रेमका स्त्रीपात्र और दूसरा नहीं है। कहना पड़ता है कि स्त्री-शिक्षा-विषयक अपने सब तत्त्व स्वामीजीने सुमित्रा देवीके चरणोंमें समर्पित किये हैं।'

इस संवादका सौन्दर्य इतना अधिक है कि उसका यहाँपर दर्शाया जाना असम्भव है। अतएव यहाँपर उसके विचारकी केवल रूपरेखा ही दिखलायी जावेगी।

वाल्मीकि रामायणमें **'रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्'** कहा गया है। परन्तु कविने वह क्रम बदलकर यहाँ ***'तुम्हार मातु बैदेही। पिता राम'*** रख दिया है। हमारा मत है कि यही इस संवादकी कुंजी है।

लक्ष्मणजीको ***'माँगहु बिदा मातु सन जाई'*** ऐसी रामाज्ञा थी। तदनुसार लक्ष्मणजीने आकर सुमित्रादेवीको ***'कही सब कथा बिसेषी।'*** सब हाल सुन लेनेपर सुमित्रादेवीको आदिसे अन्ततक लक्ष्मणजीकी जो घोर

---

* प्रज्ञानानन्द स्वामीजी कहते हैं कि कौसल्याजीकी रामभक्ति और सुमित्राजीकी रामचरणरतिकी तुलना अनुचित है। कारण कि एक जीवकी माता है और दूसरी ब्रह्मकी जननी है।

गलतियाँ नजर आयीं वे ऐसी हैं:—(१) लक्ष्मणजीने यही नहीं समझा कि उनकी माता कौन थी। (२) रामजीको वैसे ही छोड़कर सुमित्रादेवीकी भेंटके लिये आना लक्ष्मणजीको अनुचित था। (३) लक्ष्मणजीको परमार्थ तत्त्वका अज्ञान था।

पहली गलतीके कारण सुमित्राजीको खेद हुआ; दूसरीके कारण उनको क्रोध आया, और इन मनोविकारोंके झटपटमें वे आवेशसे एकदम इस प्रकार बोल उठीं—*'तात तुम्हार मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥ अवध तहाँ जहँ राम निवासू।''''''अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥'*

परन्तु उसी क्षण उन्हें लक्ष्मणजीके अज्ञानपर दया आयी और उन्होंने शुद्ध उपासनाके मूल तत्त्वका लक्ष्मणजीको इस प्रकार उपदेश किया—*'गुरु पितु मातु बंधु सुर साईं'* से *'लेहु तात जग जीवन लाहू'* तक।

इसके पश्चात् उन्होंने लक्ष्मणजीको बड़े प्यारसे अपनाकर मनाया और रामजीकी सेवाके विषयमें उपदेश दिया जिसका सार यह है:—*'पुत्रवती जुबती जग सोई'* से *'सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू।'*

स्वामीजीकी सुमित्रा देवीमें विशेषतासे देखनेयोग्य बात यह है कि एक क्षण भरके लिये भी पुत्रप्रेमकी छायातकका स्पर्श उन्होंने अपने चित्तको न होने दिया। इसी कारण बिदा होते समय लक्ष्मणजीको उन्होंने अपने हृदयसे लगाया तक नहीं।

माताका वह उत्तेजित उपदेश सुनकर (और माताके उपकार जानकर) लक्ष्मणजी सुमित्रा देवीके चरणोंपर गिरे और वैसे ही वे *'चले तुरत संकित हृदय।'* ऐसा क्यों? उन्हें यही शंका हुई होगी कि माता सुमित्राके सन्निधिमें अधिक समय व्यतीत हो जानेके कारण कदाचित् रामचन्द्रजी निकल गये होंगे और यदि ऐसा हुआ तो उनके पक्षमें वह बड़ा ही हानिकारक होगा। क्योंकि इधर माता सुमित्रा देवी पुनश्च अधिक दुश्चित्त हो जायँगी, और उधर श्रीसीतारामजीके मनमें कदाचित् कुछ शंका हो जायगी।

'धन्य माता, और धन्य पुत्र! दोनों सच्चे शूरवीर!'—गोसाईंजीकी सुमित्रा देवीके सम्मुख वाल्मीकि और अध्यात्मकी सुमित्रा देवी कुछ फीकी-सी दिखायी देती हैं। इसका कारण यह कि इनके चरित्रके चित्रणमें कुछ अजब ही मसाला स्वामीजीने मिलाया है। वह मसाला तत्त्वज्ञानके लिये मूलभूत प्रेम प्रचुर रामोपासना है। उसकी प्रतीति उनके सम्पूर्ण उपदेशसे हो रही है।

इस सुमित्रादेवीको देखकर हमारी कल्पना यही होती है कि लक्ष्मणजीके समान तेजस्वी, विरक्त और श्रीरामभक्त पुत्रके अनुरूप ही उनको माता चाहिये थी। इसी कारण स्वामीजीने सुमित्रा देवीको लक्ष्मणजीमें भी कुछ अंशोंसे अधिक तेजस्वी, विरक्त और रामभक्त चित्रित किया है। उत्तरकाण्डमें इस पात्रकी सुसंगति देखनेमें आयेगी। *'भेंटी तनय सुमित्रा रामचरनरत जानि।'*

गये लषनु जहँ जानकिनाथू। भे मन मुदित पाइ प्रिय साथू॥ १॥
बंदि रामसिय चरन सुहाए। चले संग नृप मंदिर आए॥ २॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी वहाँ गये जहाँ श्रीजानकीजी और उनके साथ श्रीरघुनाथजी थे, प्यारा साथ पाकर मनमें प्रसन्न हुए॥ १॥ श्रीरामजानकीजीके सुहावने सुन्दर चरणोंकी वन्दना करके वे साथ चले और राज-मन्दिरमें आये॥ २॥

नोट—१ *'गये लषनु जहँ जानकिनाथू'* इति। श्रीरामचन्द्रजी कौसल्याजीके महलसे निकले, वैसे ही श्रीलक्ष्मणजी समाचार सुनकर उनके पास पहुँच गये थे। जब सुमित्राजीके पास लक्ष्मणजी बिदा माँगने गये और बिदा होकर लौटे तबतक श्रीसीतारामजी महलसे कुछ दूर निकल आये, पर कहाँ हैं इस स्थानको नियत नहीं किया। इससे सूचित करते हैं कि वे न तो कौसल्याजीके स्थानमें हैं न गुरुके, न राजमन्दिरमें हैं और न अपने महलमें। अर्थात् किसी प्रधान स्थान-विशेषमें नहीं हैं जिनका नाम दिया जाता। अतएव कहते हैं कि *'जहँ जानकिनाथू।'*

नोट—२ *'जहँ जानकिनाथू।'* जहाँ श्रीजानकीजीसहित श्रीरघुनाथजी हैं। लक्ष्मणजीका स्नेह श्रीराम-जानकीजीमें बराबर-बराबर है, यदि कहते कि जहाँ रामजी हैं वहाँ आये तो केवल रामजीहीमें स्नेह पाया

जाता। अतएव ***'जानकिनाथू'*** पद देकर दोनोंको सूचित कर दिया—जानकीजी और उनके पति। पुनः भाव कि श्रीराम-जानकी दोनोंका सदा संग है, दोनों अपृथक् हैं, अतएव ग्रन्थकारने दोनोंको ऐसे शब्दमें एक साथ कहा। (पु० रा० कु०)

नोट—३ ***'भे मन मुदित पाइ प्रिय साथू'*** इति। श्रीरामजीने आज्ञा दी थी कि मातासे बिदा माँगकर वन चलो, तब मुदित हुए थे, यथा—***'भये मुदित सुनि रघुबर बानी।'*** माताके पास बिदा होनेकी आज्ञा लेने गये तब मनमें संदेह हुआ कि न जाने आज्ञा दे या न दे, यथा—***'माँगत बिदा सभय सकुचाहीं। जाइ संग बिधि कहिहि कि नाहीं॥'*** परंतु जब माताकी आज्ञा हो गयी तब पुनः मन प्रसन्न हो गया। यहाँ ***'पाइ'*** पद दिया। यह भी साभिप्राय है। माताकी आज्ञासे ही साथ हो पाया नहीं तो साथ जानेको न मिलता, साथ न पाते। ***'प्रिय साथू'*** का भाव कि औरोंका साथ अप्रिय है, श्रीसीतारामजीका ही साथ इनको प्रिय है।

नोट—४ ***'बंदि रामसिय चरन सुहाए। चले संग.....'*** इति। (क) श्रीसीतारामजीके चरणारविन्दकी वन्दनाका यहाँ क्या प्रयोजन, साथ तो थे ही? उत्तर—(१) पहले इनका वहाँ पहुँचना कहा, पहुँचनेपर प्रणाम करना आवश्यक था सो कहा; साथ होते ही तीनों वहाँसे चल दिये। (२) यह लक्ष्मणजीकी वन-यात्राका मंगलाचरण है, इन्हें अब किसीसे बिदा नहीं होना है, श्रीरामजीको अभी पितासे बिदा होना है पर ये तो श्रीरामजानकीजीहीको अपना सर्वस्व मानते-जानते हैं और माताका भी यही उपदेश है। अतएव वनमें मंगल हो, साथ न छूटे, इसलिये आदिमें प्रस्थान करते ही वन्दना की। अथवा, (३) चरणवन्दनसे ही सूचित कर दिया कि मातासे आज्ञा ले आया हूँ, बस तभी रामजी इनको साथ लेकर चल दिये। (ख) ***'चले'*** से यह ध्वनित होता है कि अबतक लक्ष्मणजीकी राह वे देखते रहे थे, वे आ गये तब चले। (ग) ***'बंदि चरन'*** में माताका आशीर्वाद—***'रति होउ अबिरल अमल सिय-रघुबीर-पद नित नित नई'***—चरितार्थ है। श्रीसीतारामचरणकी वन्दना करना यही उनके चरणोंमें प्रीति होना है।

मानसहंस—'श्रीसीता देवी और लक्ष्मणजी'—स्वामीजी इन दोनोंको पहले ही कक्षामें लिखते हैं। राम-विषयक प्रेमके सम्बन्धमें ये दोनों पात्र बिलकुल कंधा-से-कंधा भिड़ाकर चलनेयोग्य हैं। उधर सीताजीको ***'बचन बियोग न सकी सँभारी'*** अर्थात् पति वियोग इतना शब्द भी असह्य होता है, तो इधर लक्ष्मणजी ***'देह गेह सब सन तृन तोरे'*** घर-द्वार इत्यादिपर तुलसीपत्र धर देते हैं। सारांश यह कि ये दोनों पात्र श्रीरामजीपर अपने प्राण तक निछावर कर डालते हैं।......। इनके प्रेमको हठीला प्रेम अथवा 'कातर प्रेम' भले ही कहें पर इतनी बात जरूर है कि इन दोनोंमेंसे किसीके भी रामप्रेमको और कोई कभी किसी प्रकार नाम रखे तो उसे स्वयं ही बदनाम होना पड़ेगा।

वास्तवमें श्रीसीतादेवी और लक्ष्मणका रामजीके साथ जो सेव्य-सेवक भावका सम्बन्ध दीख रहा है वह तत्त्वतः अंगांगी भाव है और उसे स्वामीजीने इस प्रकार दर्शाया है—

श्रीसीतादेवी	श्रीलक्ष्मणजी
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई।	***रघुपति कीरति बिमल पताका।***
कहँ चंद्रिका चंद्र तजि जाई॥	***दंड समान भयेउ जस जाका॥***

इस दृष्टिसे न तो सीतादेवी और न लक्ष्मणजी श्रीरामजीसे पृथक्तया देखे जा सकते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वे दोनों भी रामजीमें समाविष्ट हैं। अर्थात् यही हुआ कि भक्तिकी भावनासे उन्हें इसी प्रकार देखना अधिक श्रेयस्कर है।

तो फिर इनके प्रेमका रामजीद्वारा वर्गीकरण क्यों करवाया? (***'हठि राखे नहिं राखिहि प्राना', 'जानि सनेह सभीत'***) इस प्रश्नको कोई भी सहजमें सुलझा सकेगा। स्वामीजीका ध्येय यदि लोक-शिक्षा है तो उन्हें हर एक प्रश्नके सम्बन्धमें पृथक् और स्वतन्त्र विचार करना कर्तव्यताकी दृष्टिसे आवश्यक है। हमारी समझसे यदि वे इस प्रकार विचार न करते तो उन्हें लोक-दृष्टिसे एक तो साम्प्रदायिक कहलवाना पड़ता अथवा कर्तव्य-विमुखता धारण करनी पड़ती।

कहहिं परसपर पुर नर नारी। भलि बनाइ बिधि बात बिगारी॥ ३॥
तन कृस मन दुखु बदन मलीने। बिकल मनहुँ माखी मधु छीने॥ ४॥

अर्थ—नगरके स्त्री-पुरुष आपसमें एक-दूसरेसे कहते हैं कि विधाताने अच्छी तरह बात बनाकर बिगाड़ दी॥ ३॥ उनके शरीर दुबले, मन दुःखी और मुख उदास हैं। वे ऐसे व्याकुल हैं मानो शहदकी मक्खी शहद निकाल (छीन) लिये जानेसे व्याकुल है॥ ४॥

नोट—१ जब श्रीरामचन्द्रजी कैकेयीके महलसे यह कहकर कि ***'बिदा मातु सन आवौं माँगी। चलिहौं बनहिं बहुरि पगु लागी।'*** (४६। ४) माताके महलको चले तब वनका समाचार सुन सब पुर-नर-नारी दुःखी हो गये। ***'नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी।'*** (४६। ५) से पुरवासियोंका दुःख और विलापका प्रसंग ***'एहि बिधि बिलपहिं पुर नर नारी।'''बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी।'''अति बिषाद बस लोग लोगाईं।'*** (५१। ७) पर छोड़ा था अब वहींसे फिर प्रसंग उठाते हैं।

नोट—२ ***'भलि बनाइ बिधि बात बिगारी'*** इति। (क) राज्याभिषेककी तैयारी हो चुकनेपर वनवास दिया यही अच्छी तरह बनाकर बातका बिगाड़ना है। पुनः, दूसरा अर्थ यह है कि खूब बनाकर बिगाड़ा अर्थात् इससे अधिक बिगाड़ना और क्या हो सकता है कि जिसका सुधार ही न हो सका। (ख) ***'बिधि बिगारी'*** कहकर विधाताका अविवेकी होना सूचित किया, यथा—***'जो सृजि पालइ हरहि बहोरी। बाल केलि सम बिधि मति भोरी॥'*** (२८२। २)

नोट—३ यहाँ दिखाते हैं कि पुरवासी तन-मन-वचनसे दुःखी हैं। ***'तन कृस मन दुख बदन मलीने।'*** और ***'बिकल'*** यह तन और मनसे और ***'कहहिं परसपर पुर नर नारी'*** यह वचनसे दुःखी दिखाया। (पु० रा० कु०)

नोट—४ मधुमक्खीके शहदका छीनना कैकेयी-मन्थरा संवादमें प्रथम ही कह आये हैं, यथा—***'देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गँव तकइ लेउँ केहि भाँती॥'*** (१३। ४) मन्थरा और कैकेयी दोनों किरातिनियोंने मिलकर मधु छीन लिया। पुरवासी मक्खी हैं। राज्याभिषेक मधु है। जब सेकर तैयार किया तब किरातिनीने छीन लिया। (पण्डितजी) बैजनाथजी 'रामसंयोग' को मधु मानते हैं।

प० प० प्र०—***'बिकल मनहुँ माखी मधु छीने'*** इति। मधुमक्खियाँ कितने ही दिनोंतक धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा संग्रह करती रहती हैं और स्वयं उस मधुका भोग भी नहीं करतीं। इसी तरह सभी पुरवासी रामराज्याभिषेकरूपी मधुका मनोरथ बढ़ाते रहे। अकस्मात् वह छीन लिया गया। तब मधुमक्खीके समान वे लोग छीननेवालोंपर क्रुद्ध, क्षुब्ध होकर काटना चाहते हैं। पर जब किरातिनी मधु छीन लेती है तब ऐसा उपाय कर लेती है कि मक्खी काट न सके। इसीसे मन्थरा और कैकेयी दोनोंको पहले ही किरातिनी बनाया गया।

कर मीजहिं सिरु धुनि पछिताहीं। जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं॥ ५॥
भइ बड़ि भीर भूप दरबारा। बरनि न जाइ बिषादु अपारा॥ ६॥

अर्थ—हाथ मलते हैं, सिर धुनकर पछताते हैं, मानो बिना पंखके पक्षी व्याकुल हो रहे हैं॥ ५॥ राजाके द्वारपर बड़ी भीड़ हो गयी है। विषाद अपार है। वर्णन नहीं करते बनता॥ ६॥

टिप्पणी—१ जब कुछ किया नहीं होता, वश नहीं चलता तब लोग हाथ मलते हैं। ***'जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं'*** इति। श्रीरामजानकीजी दोनों पक्ष हैं। दोनों वनको जाते हैं, यहाँ नहीं रहते, इसके बिना पुरवासी व्याकुल हैं।

टिप्पणी—२ 'मधुमक्खी' की उत्प्रेक्षासे सूचित किया कि जैसे मधुके आश्रयसे मक्खी जीती है वैसे ही श्रीरामजानकीके आश्रयसे पुरवासी जीते हैं। और 'बिनु पंखके बिहंग' की उत्प्रेक्षासे जनाया कि जैसे पक्षीकी गति पंख है वैसे ही पुरवासियोंकी गति श्रीराम-जानकी हैं। पंजाबीजी कहते हैं कि ***'माखी मधु***

छीने' के दृष्टान्तसे दिखाया कि एक ही हानिसे अनेकको दुःख हुआ, रामजीके जानेसे नगरभर दुःखी हो गया। और, विहंगके दृष्टान्तसे दिखाया कि राम-लक्ष्मण दोनों जाते हैं—सीताराम तो एक ही हैं जैसे चन्द-चाँदनी, जल-बीचि इत्यादि। छत्ता तैयार होनेपर मधु निकाला जाता है, यहाँ राज्याभिषेकको तैयारी हो गयी थी तब राज्य छीन वन दिया गया—(खर्रा)। राजद्वारपर बड़ी भारी भीड़ है, सभी पुरवासी वहाँ आये हैं। ***'बरनि न जाइ'*** दीप-देहली है—भीड़ अपार है, वर्णन नहीं की जा सकती और विषाद अपार है वह भी वर्णन नहीं हो सकता।

सचिव उठाइ राउ बैठारे। कहि प्रिय बचन रामु पगु धारे॥ ७॥
सिय समेत दोउ तनय निहारी। ब्याकुल भएउ भूमिपति भारी॥ ८॥

अर्थ—'श्रीरामजी आये हैं' ये प्रिय वचन कहकर मन्त्रीने राजाको उठाकर बिठाया॥ ७॥ सीतासहित दोनों बेटोंको देखकर राजा बहुत व्याकुल हुए॥ ८॥

नोट—१ ***'चले संग नृप मंदिर आए'*** वहाँसे अब प्रसंग मिलाते हैं। तीनों चलकर जब राजमन्दिरमें आये तब मन्त्रीने श्रीरामजीका आगमन कहकर राजाको उठाकर बिठाया। आगमन कहकर बिठानेका भाव कि जिसमें राजा धीरज धारण करके बैठें। रामजीका आगमन राजाको प्रिय है, इसीसे वचनके लिये 'प्रिय' विशेषण दिया।

नोट—२ ***'सिय समेत दोउ तनय निहारी।''''''भारी'*** इति। ***'भारी'*** का भाव यह है कि रामजीके वनगमनके कारण व्याकुल तो थे ही अब देखा कि श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी भी साथ जा रहे हैं—वरदान तो केवल रामके वनका माँगा था और जाते दो और हैं—अतएव अब व्याकुलता बहुत बढ़ गयी।

'भूमिपति' का भाव कि पृथ्वी बड़ी धीर है, उसके ये पति हैं, अतः बड़े धैर्यवान् हैं पर क्या करें? (वा, भूमि=अन्न धान्यादिको उत्पन्न करनेवाली। इसके पति अर्थात पालक वा स्वामी हैं। तथापि उनके प्रियतम पुत्र और पुत्रवधू अब बिना अन्नके ही रहेंगे, यह विचार मनमें आनेसे भारी व्याकुल हो गये। ***'कपट भू भट अंकुरे'*** में भू (भूमि) शब्दका प्रयोग देखिये। (प० प० प्र०) अथवा, सारी पृथ्वीके चक्रवर्ती राजा होकर भी हमारे पुत्र वनमें वल्कलवस्त्र और कन्दमूल-फलपर रहकर ग्रीष्म, वर्षा, शीत आदिका कष्ट सहें और हमारा कुछ वश न चले यह सोचकर अत्यन्त व्याकुल हुए] दुःख अपार है, इससे धीरज नहीं रहा, व्याकुल हो गये।

दो०—सीयसहित सुत सुभग दोउ देखि देखि अकुलाइ।
बारहिं बार सनेहबस राउ लेइ उर लाइ॥ ७६॥

अर्थ—श्रीसीतासहित दोनों सुन्दर पुत्रोंको देख-देखकर राजा व्याकुल हो उठते हैं और स्नेहके कारण बारंबार उन्हें हृदयसे लगा लेते हैं॥ ७६॥

पुरुषोत्तम रामकुमार—जो बात पिछली चौपाईमें कही वही दोहेमें कहते हैं। यह पुनरुक्ति है? उत्तर—प्रथम तीनोंको देखकर व्याकुल हुए अब तीनोंको पृथक्-पृथक् देख-देखकर अकुलाते हैं; यह भेद है। अतः पुनरुक्ति नहीं है। व्याकुलताके कारण बोल नहीं सकते, इसीसे बारंबार हृदयसे लगाते हैं।

सकइ न बोलि बिकल नरनाहू। सोक जनित उर दारुन दाहू॥ १॥
नाइ सीसु पद अति अनुरागा। उठि रघुबीर बिदा तब माँगा॥ २॥

अर्थ—राजा व्याकुल हैं, बोल नहीं सकते, उनके हृदयमें शोकसे उत्पन्न हुआ बड़ा कठिन दाह (जलन) है॥ १॥ तब बड़े प्रेमसे चरणोंमें सिर नवाकर रघुकुल वीर श्रीरामजीने उठकर बिदा माँगी॥ २॥

टिप्पणी—१(क) ***'सकइ न बोलि'*** से जनाया कि बोलना चाहते हैं पर वचन नहीं निकलता। ***'सकइ न बोलि'*** का कारण शोक बताया। (ख) ***'अति अनुरागा'*** का भाव यह कि वनवास सुनकर उनके मनमें

किंचित् दु:ख न हुआ, यथा—*'राज सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरषु हरासू॥'* (१४९। ७) जैसी भक्ति पितामें पूर्व थी उससे भी अब अधिक है, उनके वचनके पालनेमें इन्हें अत्यन्त अनुराग है; अतएव उठकर बिदा माँगी। पुन:, बड़ोंके चरणोंमें प्रणाम करते समय अनुराग-पुलक होना ही चाहिये, यथा—*'रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन ते जग जीवन जाय॥'* (दो० ४२) अतएव *'अति अनुरागा'* कहा।

टिप्पणी—२ *'रघुबीर बिदा तब माँगा'* इति। यहाँ रघुवीर कहकर उनकी धर्मवीरता दिखायी। १४ वर्ष वनवास सुनकर मन कादर न हुआ। (धर्मवीरताके अतिरिक्त मुख्यत: त्याग और विद्या ये दो वीरताएँ और भी सूचित कीं।) पिताकी आज्ञापालनमें धर्म-रक्षण, हर्षविषादरहित चित्तसे चक्रवर्तीके राज्यसत्ताके तृण-समान त्यागमें त्यागवीरता और *'हृदय न हरष बिषाद कछु पहिरे बलकल चीर'* में विद्यावीरताकी प्रतीति होती है। *'बिप्र धेनु सुर संत'* और *'महि'* का हित करनेके लिये ही यह सब किया, इससे कृपावीरता सबका मूल है। (प० प० प्र०) *'तब'* अर्थात् चरणोंमें मस्तक नवानेके उपरान्त, अथवा जब राजा न बोले तब उठकर विदा माँगी।

पितु असीस आयसु मोहि दीजै। हरष समय बिसमउ कत कीजै॥ ३॥
तात किए प्रिय प्रेम प्रमादू। जसु जग जाइ होइ अपबादू॥ ४॥

शब्दार्थ—**प्रमाद**=असावधानी, '**प्रमादोऽनवधानता**' इति (अमरकोश)= किसी कारणसे कुछको कुछ जानना और कुछका कुछ करना; कर्तव्यमें चूक, अन्त:करणकी दुर्बलता। अपवाद=निन्दा।

अर्थ—पिताजी! मुझे आशीर्वाद और आज्ञा दीजिये। हर्षके समय आप दु:ख (शोक) क्यों करते हैं? ॥ ३॥ हे तात! प्रियके प्रेमसे प्रेमवश (होकर) प्रमाद करनेसे* संसारसे यश जाता रहेगा और निन्दा होगी॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'असीस आयसु मोहि दीजै'* इति। माता-पिताकी आज्ञा और आशीर्वाद मुदमंगलदायक है, ऐसा मातासे आज्ञा माँगते समय श्रीरामजीने स्वयं कहा है, यथा—*'आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मंगल कानन जाता॥'* (५३। ७) और पिताको जो संदेश भेजा है उसमें भी कहा है कि *'बन मग मंगल कुसल हमारें। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारें॥' 'तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुख पाइहौं। प्रतिपालि आयसु कुसल देखन पाय पुनि फिरि आइहौं॥'* (१५१) कृपामें आशीर्वादका भाव है। (ख) *'हरष समय बिसमउ कत कीजै'* इति। हर्षका समय है, क्योंकि सत्यका पालन करनेसे संसारमें सुयश होगा और मैं वचन पालन करनेको सहर्ष तैयार हूँ, आप कैकेयीसे उऋण हो जायँगे। विशेष *'मंगल समय सनेह बस।'* (४५) में देखिये।

टिप्पणी—२ [(क) *'किए प्रिय प्रेम प्रमादू'*—भाव कि प्रियमें प्रेम करना तो उचित है पर प्रेमवश कातर बनकर प्रमाद करना अनुचित है। प्रेमजनित प्रमाद कारण है, अपयश और निन्दा उसका फल कार्य है। (प० प० प्र०)] (ख) *'जसु जग जाइ होइ अपबादू'* इति। सत्यके समान धर्म नहीं, यथा—*'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए।'* उसके नाशसे पाप होता है और पापसे अपयश, यथा—*'नहिं असत्य सम पातक पुंजा।'* (२८। ५) *'बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।'* (७। ११२। ७) *'जग'* का भाव यह कि आपका यश जगत्‌भरमें विख्यात है, यथा—*'दसरथ गुनगन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं॥'* (२०९। ८) वह यश मिट्टीमें मिल जायगा और उसकी जगह सारे संसारमें अपयश होगा। माता कैकेयीकी आज्ञा है—*'पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथे पन जेहिं अजसु न होई॥'* (४३। ५) वही बात श्रीरामजी इस समय पितासे समझाकर कह रहे हैं—*'तात किए प्रिय प्रेम'''' ।'*

नोट—वाल्मीकीयमें श्रीरामजीने पितासे कहा है कि 'माता कैकेयीको जो-जो वर आपने दिये हैं वे

* रा० प्र०—प्रिय प्रेम प्रमादू=प्रमादसे प्रियमें प्रेम करनेसे।

सांगोपांग पूरे हों, आपकी प्रतिज्ञा सत्य हो यही मैं चाहता हूँ। मैं आपको सत्यवादी देखना चाहता हूँ, असत्यवादी नहीं। हे पुरुषश्रेष्ठ! मैं यह बात आपके सामने सत्य और धर्मकी शपथ करके कहता हूँ। पिता देवताओंसे भी बढ़कर आराध्य देवता है, यही समझकर मैं आज्ञाका पालन करके १४ वर्ष बीतनेपर लौट आऊँगा, अतः आप शोक न करें। हमलोग वनमें बड़े आनन्दसे रहेंगे। (सर्ग ३४। ४०—५९)। ये सब भाव यहाँ आ गये।

सुनि सनेह बस उठि नर नाहाँ। बैठारे रघुपति गहि बाहाँ॥ ५॥

सुनहु तात तुम्ह कहुँ मुनि कहहीं। रामु चराचर नायक अहहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—**बाहाँ**=बाँह, कंधेसे निकलकर दंडके रूपमें गया हुआ अंग, जिसके छोरपर हथेली या पंजा लगा होता है; भुजा; बाहु। **कहुँ**=बारेमें, विषयमें। **चराचर**=चर (जंगम, चलनेवाले, चेतन) और अचर (स्थावर, जड़)।

अर्थ—यह सुनकर प्रेमके वश उठकर राजाने रघुनाथजीको बाहु पकड़कर बिठाया॥ ५॥ (और बोले) हे तात! सुनो, तुम्हारे विषयमें मुनि कहते हैं कि राम चराचरके स्वामी हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) ***'सनेह बस उठि'*** इति। भाव कि राजाके शरीरमें शक्ति नहीं है, स्नेहसे शक्ति आ गयी, इससे उठ सके। (ख) ***'नरनाह'*** का भाव कि राजनीतिमें यह उपदेश है कि राजा अनेक उपायोंसे अपना अर्थ सिद्ध करे। यहाँ श्रीरामजीको रखनेके लिये राजाने बहुत उपाय किये, यथा—***'राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किये छल त्यागी॥'*** इसीसे 'नरनाह' कहा। (***'जद्यपि नीति निपुन नरनाहू।'*** (२७। ७ भी देखिये)। (ग) ***'गहि बाहाँ'***—राजा व्याकुल हैं, बोल नहीं पाते। देखते हैं कि श्रीरामजी उठ खड़े हुए हैं, चल न दें; अतएव घबड़ाकर हाथ पकड़कर बिठाया और धैर्य धारण करके बोले। यहाँतक राजाकी व्याकुलता दिखायी।

टिप्पणी—२ ***'सुनहु तात तुम्ह कहुँ मुनि कहहीं''''*** ' इति। राजा माधुर्य ग्रहण किये हुए हैं; अतएव वे 'तात' सम्बोधन कर रहे हैं और मुनिलोग ऐश्वर्य ग्रहण किये हैं; वे ईश्वरभावसे राम कहते हैं और रामहीमें रमते हैं, अतएव दूसरे चरणमें 'राम' शब्द दिया। वसिष्ठजीने राजासे कहा ही है—***'सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥ भएउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। रामु पुनीत प्रेम अनुगामी॥'*** (२। ४। ७। ८), ***'तब बसिष्ठ बहु बिधि समुझावा। नृप संदेह नास कहुँ पावा॥'*** (१। २०८। ८) इत्यादि।

जब राजाने कोई उपाय चलता न देखा तब यह निश्चय जानकर कि माधुर्यमें ये हमारा वचन न त्याग करेंगे, वे ऐश्वर्यकी बात कहने लगे, तात्पर्य यह है कि ईश्वर व्यवहारसे भिन्न है (पण्डितजी—'नायक'=नियन्ता, दण्डदाता, शुभाशुभ कर्मोंका फलदाता, इत्यादि। रा० प्र०—भाव यह कि तुम नियन्ता हो तुमको उचित बात करनी चाहिये और यहाँ अनुचित हो रहा है)।

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईसु देइ फलु हृदय बिचारी॥ ७॥

करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति असि कह सबु कोई॥ ८॥

अर्थ—शुभ और अशुभ (भले-बुरे) कर्मोंके अनुसार ईश्वर हृदयमें विचारकर फल देता है॥ ७॥ जो कोई कर्म करता है वही फल पाता है, ऐसा वेद और नीति और सब लोग भी ऐसा ही कहते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—(क) ***'ईस देइ फलु'*** इति। भाव यह कि ईश्वर कर्मका फल देनेवाला है, कर्मफलका भोगनेवाला नहीं है, फलदाता है न कि फलभोक्ता। यथा—***'करम सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा।'***तो तुम वनको क्यों जाते हो, हमने जो कर्म किया है उसका फल हमें भोगने दो। (ख)—***'हृदय बिचारी'*** का भाव यह कि कर्मकी गति कठिन है, ईश्वरके विचारमें आती है और किसीके समझमें नहीं आती, यथा—***'कठिन करम गति जानि बिधाता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥'*** (ग) यहाँ परोक्षमें ऐसा कह रहे हैं; क्योंकि साक्षात् पुत्रकी प्रशंसा उनके सम्मुख न करनी चाहिये।

नं० प०—पहले कहा कि ***'चराचर नायक अहहीं।'*** भाव कि जब आप चराचरके मालिक हैं, तब

आपको कर्मोंका भोक्ता न होना चाहिये, प्रत्युत हमारे और कैकेयीके बीचमें न्याय करना चाहिये। तात्पर्य कि आप वनको न जाइये। इस कथनपर जब श्रीरामजीने कुछ ध्यान न दिया तब राजाने फिर कहा *'सुभ अरु·····'* अर्थात् ईश्वर शुभ और अशुभ कर्मोंको हृदयमें विचारकर उसके सदृश फल देते हैं, तब हमारे कर्मोंका फल भी कर्मके सदृश हमको देना चाहिये अर्थात् हमारा कर्म ऐसा नहीं है कि जिसका फल वनवास दिया जाय, किंतु विचारकर दूसरा फल दिया जाय। इसलिये आपको वन न जाना चाहिये।—यह दूसरा उपाय श्रीरामजीको रखनेका है। इसपर भी श्रीरामजीके रहनेका आशय (रुख) नहीं पाया, तब राजाने फिर कहा कि *'करइ जो करम···।'* (विशेष आगे दोहा ७७ में देखिये।)

टिप्पणी—२ *'करइ जो करम पाव फल सोई'* इति।—तात्पर्य यह कि यहाँ व्यतिक्रम देखनेमें आता है कि अपराध तो करे कोई और फल भोग करे कोई और, यह कैसा?

टिप्पणी—३ यहाँतक तीन बातें राजाने कहीं, तीन उपाय रोकनेके किये। प्रथम तो श्रीरामजीको ईश्वर कहा और उसकी पुष्टताके लिये मुनियोंका प्रमाण दिया कि *'सुनहु तात तुम्ह कहुँ मुनि कहहीं। राम चराचरनायक अहहीं॥'* दूसरे, कर्मानुसार फलका दाता उनको कहा और उसको इस तरह पुष्ट करते हैं कि *'ईस देइ फल हृदय बिचारी'* अर्थात् ईश्वर हृदयमें विचारकर फल देता है तो कर्मके अनुसार ही फल होता है इसके विपरीत नहीं हो सकता। तीसरे, जो कर्म करता है वही फल पाता है; इसकी पुष्टताके लिये लोक और वेद दोनोंका प्रमाण देते हैं—*'कह सबु कोई',* यह लोकमत है।

दो०—औरु करै अपराधु कोउ और पाव फल भोगु।
अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानइ जोगु॥ ७७॥

शब्दार्थ—**भगवंत**=भगवान्, ईश्वर। **गति**=कर्तव्य।

अर्थ—अपराध करे कोई और फल भोगे और (दूसरा)! भगवान्‌की गति बड़ी ही विचित्र है। संसारमें उसे जाननेके योग्य कौन है? (अर्थात् कौन जान सकता है? कोई भी नहीं)॥ ७७॥

टिप्पणी—इस कथनका आशय यह है कि—अपराध करनेवाले हम हैं, कैकेयी है, मन्थरा है; अतएव हम सबको फल भोगना चाहिये, तुमको वन कैसे जाना चाहिये? अथवा, अपराध मुखने किया है, मुखको ही सजा मिलनी चाहिये, यथा—*'बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥'* (१६२। २) सो उसको दण्ड न मिलकर आँखोंको दण्ड मिला, तुम्हारे रूप-दर्शनमें विक्षेप हुआ। अपराध कोई करे और फल दूसरा पावे, यह अनीति ईश्वरमें घटित हो रही है; इसीसे कहते हैं कि *'को जग जानइ जोगु'* अर्थात् ईश्वर योग्य फल देता है पर कोई जान नहीं सकता, दोष न जाननेवालेका है, ईश्वरका नहीं, वह भूल नहीं सकता। उनका कर्तव्य बड़ा विचित्र है इसीसे कोई जान नहीं सकता।

नोट—१ वाल्मीकीयमें इससे कुछ मिलता हुआ वचन यह है '**वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि। अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याभिप्रचोदितः॥**' (३७) '**न चैतदाश्चर्यतमं यत्त्वं ज्येष्ठः सुतो मम। अपानृतकथं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि॥**' (३८) (वाल्मी० सर्ग ३४) अर्थात् कुलोचित आचारको नष्ट करनेवाली इस कैकेयीके कहनेमें पड़कर मुझे धोखा हुआ और उसका फल तुम्हें भोगना पड़ रहा है। इसमें आश्चर्य नहीं; तुम मेरे जेठे पुत्र हो और मुझे सत्यप्रतिज्ञ देखना चाहते हो। पर इसमें ईश्वरभाव किंचित् भी नहीं आने पाया है। इस श्लोकमें फल भोगनेका कारण दशरथजी महाराजने स्वयं बताया है कि तुम हमारे पुत्र हो, मुझे सत्यप्रतिज्ञ देखना चाहते हो, इसीसे हमारे कर्मका फल-भोग तुमने स्वयं अपने ऊपर ले लिया है।—मिलान करनेसे *'अति बिचित्र····जोग'* इस कथनकी भावोत्कृष्टताको श्लोकमें कहा हुआ उत्तर नहीं पा सकता! इस श्लोकसे अपराध राजाका ही सिद्ध होता है। रा० प्र० कार भी अपराध राजामें ही लगाते हैं। बैजनाथजीका मत है कि अपराध कैकेयीने किया कि निरपराध तुमको वन दिया और अवधवासियोंको वियोग-दुःख दिया; इस भागवतापराधका फल हमको भोगना पड़ा। 'अथवा' में वे राजाका अपराध लिखते हैं कि पहले श्रीरामजीको

राज्य सबके सामने दे दिया फिर स्त्रीके वश होकर पूर्ववचनको त्याग दिया। इसका फल हमको और कैकेयीको भोगना चाहिये था।

श्रीनंगेपरमहंसजी—*'**करइ जो करम''''जोगु**'* इति। भाव—(१) राजाको यह बात निश्चय हो गयी थी कि हम जो श्रीरामजीको युवराज्य दे रहे थे उसके सम्बन्धमें कैकेयीने यही समझ रखा है कि इसमें कौसल्याजीकी सम्मति है। यथा—*'**जस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहिं देउँ करि साका॥**'* (३३। ८) इसी ईर्ष्यासे वह श्रीरामजीको वन भेज रही है। कैकेयीकी उसी बातपर राजा कहते हैं कि हे तात! जो कर्म करता है वही फल पाता है''। भाव कि कर्म तो हमने किया है कि बिना कैकेयीसे पूछे तुमको राजगद्दी देनेकी तैयारी की, अतएव उसका परिणाम हमको मिलना चाहिये। पर ऐसा न होकर हमारे कर्मका फल आपको दिया जाता है अर्थात् आप वनको जा रहे हैं। यह क्यों ऐसा हो रहा है? यह न होना चाहिये। कैकेयीको जो कुछ दण्ड देना है वह (कैकेयी) हमको देवे, पर आपसे और हमारे कर्मसे क्या सम्बन्ध है? यदि है तो यह भगवान्‌की अति विचित्रता है। यह तीसरा उपाय राजाने श्रीरामजीको रोकनेके लिये किया। परंतु इसपर भी श्रीरामजीने ध्यान न दिया। यहाँ राज्याभिषेकके कर्ता होनेसे राजा अपराधके कर्ता हैं, उनके कर्मके भोक्ता श्रीरामजी हुए और राज्याभिषेकके कर्म-फलदाता कैकेयी हैं।

(२) कैकेयीको अपराधी माननेमें कई दोष आते हैं। यदि राजा वर माँगना अपराध मानते हैं तो वर न देते, कह देते कि हम ऐसा वर नहीं देते। बस बात खतम हो जाती फिर उसका फल भोगना क्यों कहते? दूसरे, यदि कैकेयीको अपराधी मानते हैं तो फल देनेवाला तीसरा व्यक्ति चाहिये। भगवान् कर्मोंका फल तत्क्षण नहीं देते। तत्क्षण कर्मोंका फल मनुष्य अथवा राजा देता है। तीसरा विरोध यह है कि कैकेयीने तो श्रीरामजीको वन भेजकर दु:ख दिया है परंतु राजा तो मोहके वश होकर स्वयं दु:ख भोग रहे हैं, (यह) कैकेयीके कर्म-फलका भोग कैसे माना जा सकता है।.....'

(३) राजा श्रीरामजीको ईश्वर सूचित करते हैं, तब तो ईश्वरमें 'भोग' शब्द नहीं बनता?' इस शंकाका समाधान यह है कि राजाने जो श्रीरामजीको रखनेका उपाय किया है वह पुत्रभावमें है न कि ईश्वर-भावमें। पुन:, जब भगवान् शाप ग्रहण करके अवतार लेते हैं तो दु:ख भी भोगना पड़ता है, यथा—*'**मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥**'* अत: भोग शब्द भी घट सकता है। पुन:, राजाने श्रीरामजीको चराचरका नायक मुनियोंका कहा हुआ कहा है; उसपर यह भाव उसी चौपाईतक रहेगा। वह केवल न्यायहेतुमें कहा है। उसके बाद जो वचन है वह माधुर्यमें है; क्योंकि बिना माधुर्यके उपाय करके रखना नहीं घटित हो सकता।

(४)—राजा भी निरपराध हैं; पर श्रीरामजीको रखनेके लिये वे अपना अपराध सूचित करते हैं।

नोट—२ *'**अति बिचित्र भगवंत गति**''''* के और भाव—(क) जब श्रीरामजीने इसका उत्तर न दिया तब राजा आप ही समाधान करते हैं कि *'**अति बिचित्र**''''* अर्थात् काम करें हम, फल भोगें आप! यही विचित्रता है। अथवा, उत्तरार्द्धमें वक्ता रामजी हैं। वे समझाते हैं कि आप क्या करें परमेश्वरकी गति अति विचित्र है। (रा० प्र०) रघुनाथजीने यह उत्तर देकर कि भगवान्‌की गति अति आश्चर्यमय है उसका जाननेवाला कोई नहीं, सबको निर्दोष कर दिया और यह भी लक्षित कर दिया है कि जो कुछ होता है भगवान्‌की इच्छासे होता है। (पण्डितजी) स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका भी यही मत है। वे लिखते हैं कि 'दोहेके उत्तरार्धको श्रीरामजीका वचन मानना चाहिये, कारण कि दशरथजीने यह प्रकट कर दिया है कि *'**राम चराचरनायक अहहीं।**'* पर *'**गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु**',* इसीसे अपना प्रभुत्व छिपाने और माधुर्य-भाव प्रकट रखनेके लिये वे *'**अति बिचित्र भगवंत गति**'* ऐसा कहते हैं। भाव कि यद्यपि व्यवहारमें कभी-कभी ऐसी प्रतीति होती है कि *'**औरु करइ अपराध कोउ और पाव फल भोग**',* तथापि वस्तुत: ऐसा है नहीं, प्रत्येक जीव अपने कर्मका ही फल भोगता है। प्रमाण—*'**कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा॥**'* *'**काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥**'*—यह सिद्धान्त निरपवाद है। पर

कभी-कभी सुख-दु:खात्मक भोगोंका कारण जाना नहीं जाता। पर विधाता तो जानते ही हैं—'**गहना कर्मणो गति:।**' (प० प० प्र०) श्रीबैजनाथजी इसको राजाका ही वचन मानते हैं।

राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किए छलु त्यागी॥ १॥
लखी रामरुख रहत न जाने। धरम धुरंधर धीर सयाने॥ २॥
तब नृप सीय लाइ उर लीन्ही। अति हित बहुत भाँति सिख दीन्ही॥ ३॥

अर्थ—राजाने श्रीरामजीको रखनेके* लिये छल छोड़कर बहुत उपाय किये॥ १॥ परंतु जब श्रीरामजीका रुख देखकर उनको रहते न जाना, (क्योंकि) वे धर्मधुरन्धर, धीर और सयाने हैं॥ २॥ तब राजाने सीताजीको हृदयसे लगा लिया और बड़े प्रेमसे बहुत तरहसे शिक्षा दी॥ ३॥

नोट—१ ***'बहुत उपाय·····'*** इति। बहुत उपाय ये हैं—(१) प्रथम कैकेयीसे उपाय किये, यथा—***'राखु रामु कहँ जेहि तेहि भाँती।'*** (२) फिर दैवी उपाय यथा—***'बिधिहि मनाव राउ मन माहीं। जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं।'*** (४४। ६) ***'हृदय मनाव भोरु जनि होई। रामहिं जाइ कहइ जनि कोई।'*** (३७। २) ***'उदय करहु जनि रबि रघुकुल गुर।'*** (३७। ३) और ***'सुमिरि महेसहिं कहइ निहोरी'*** से ***'सो मति रामहिं देहु। बचन मोर तजि रहहिं घर·····।'*** (४४) तक। यह सब साधारण उपाय कर चुके और (३)—***'सुनहु राम तुम्ह कहँ मुनि कहहीं'*** इत्यादि विशेष उपाय हैं जिनकी व्याख्या पूर्व की जा चुकी है। कैकेयीके साथ साम, दाम, भय, भेद चारों नीतियाँ काममें लाये। (पाँड़ेजी, रा० प्र०)

नोट—२ ***'छलु त्यागी'*** अर्थात् निष्कपट हृदयसे, यह नहीं कि ऊपर कुछ और भीतर कुछ हो। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि छलसे यहाँ धर्मरूपी 'छल' अभिप्रेत है। ***'छल त्यागी'*** अर्थात् कैकेयीकी शंका त्यागकर राजाने यह कहा कि मेरा वचन रहे या न रहे तुम घर रहो, वनको न जाओ। (पं० वै०) ***'बहुत उपाय किए छल त्यागी'*** में वे भी उपाय आ सकते हैं जो वाल्मीकीय आदिमें हैं। अर्थात् मैं अपने अधीन नहीं हूँ, अतएव राज्य करने योग्य नहीं हूँ, तुम मुझे कैद करके राजा बनो। यथा—'**अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहित:। अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम्॥**' (सर्ग ३४। २६) बैजनाथका मत है कि राजाने कहा कि हम तुम्हें पहले ही राज्य दे चुके अत: तुम मुझे कैद करके राज्य ले लो। स्त्रीवश हूँ अत: यह वचन प्रमाण नहीं है।

नोट—३ ***'लखी रामरुख·····सयाने'*** इति। राजाके कहनेपर कि मेरी बुद्धि मोहित हो गयी है, तुम मुझे कैद करके राज्य करो, श्रीरामजीने उन्हें समझाया है, उस समय वाल्मीकिजीने भी उन्हें धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ और वाक्यकोविद विशेषण दिया है—'**एवमुक्तो नृपतिना रामो धर्मभृतां वर:। प्रत्युवाचाञ्जलिं कृत्वा पितरं वाक्यकोविद:॥**' (२। ३४। २७) और राजाने भी '**सत्यात्मन:**' '**धर्माभिमनस:**' कहा है—'**नहि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव। सन्निवर्तयितुं बुद्धि: शक्यते रघुनन्दन॥**' (२। ३४। ३२) अर्थात् पुत्र! तुम स्वभावसे ही सत्यप्रेमी और धर्माभिमानी हो, तुम्हारा वन जानेका निश्चय बदला नहीं जा सकता।—वाल्मी० के '**धर्मभृतांवर:**' और '**सत्यात्मन:, धर्माभिमनस:**' ही यहाँ ***'धर्मधुरंधर धीर'*** से '**वाक्यकोविद:**' सयानेसे सूचित किया है। वाल्मीकीयमें श्रीरामजीने स्पष्ट कहा है कि वनवासके सम्बन्धमें जो मेरा निश्चय है वह बदल नहीं सकता। आपने युद्धमें जो कैकेयीको वर दिया है वे सांगोपांग पूरे हों, आपकी प्रतिज्ञा सत्य हो; मैं आपकी उस आज्ञाका पालन करूँगा। (श्लो० ४३) मानसकल्पके 'राम' विशेष शीलसंकोची स्वभावके हैं, वे केवल चेष्टासे सूचित कर देते हैं।

टिप्पणी—१ ***'लखी रामरुख रहत न जाने'*** इति। ***'लखी रामरुख'*** से जनाया कि राजाने श्रीरामजीका ऐश्वर्य यहाँ वर्णन किया, इससे वे सकुच गये और संकोचवश उन्होंने उत्तर न दिया। अतएव चेष्टाद्वारा उन्होंने अपना उत्तर प्रकट कर दिया। क्यों न रहेंगे? इसका कारण राजा स्वयं समझते हैं कि—वे धर्मकी

* पं० रामकुमारजी 'स्नेह रखनेके लिये' ऐसा अर्थ करते हैं।

धुरीको धारण करनेवाले हैं, अतएव हमारा वचन झूठा न होने देंगे, हमारे वचनको न त्याग करेंगे, यथा—*'पितु आयसु सब धरमक टीका।'* पुनः, वे धीर हैं, इन्द्रियजित हैं, उनको विषय-भोगकी इच्छा नहीं है, यथा—*'नाहिन राम राजके भूखे। धरम धुरीन विषयरस रूखे॥'* और, सयाने हैं अर्थात् धर्मकी गतिको जानते हैं, पण्डित हैं, सदसद्विवेकमें निपुण हैं। [वा, धीर हैं, वनवासके दुःख समझकर घबराये नहीं। वा सत्य और धर्मके निमित्त अपने ऊपर वनका कष्ट लेंगे, अतएव धीर कहा। सयाने हैं क्योंकि लक्ष्मणजीको और जानकीजीको ठीक साथ चुना। भाई अनुज और अर्धांगिनी कार्य इन्हींसे सधेगा; फिर और किसीको क्यों साथ ले जाकर वनके दुःख सहावें। (पं०)]

टिप्पणी—२ *'अति हित बहुत भाँति सिख दीन्ही'* इति। जब श्रीरामजीकी ओरसे निराश हुए तब बड़े प्यारसे श्रीसीताजीको शिक्षा देने लगे जो आगे दी हुई है—वनके दुःख, मायके-ससुरेके सुख इत्यादि दिखाये। *'बहुत भाँति'* से जनाया कि विस्तारपूर्वक शिक्षा दी, जैसी रामजीने दी थी।

कहि बन के दुख दुसह सुनाए। सासु ससुर पितु सुख समुझाए॥ ४॥
सिय मनु रामचरन अनुरागा। घरु न सुगमु बनु बिषमु न लागा॥ ५॥

अर्थ—वनके कठिन दुःख कह सुनाये, सास-ससुर और पिताके (घरके) सुख समझाये॥ ४॥ पर, श्रीसीताजीके मनमें श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग है (इसलिये उन्हें) न तो घर सुखद लगता था और न वन विषम (कठिन, दुःखद) लगता था॥ ५॥

नोट—१ राजाने वनके दुःख सुनाये जिसमें वे वनको न जायँ और घरके सुख सुनाये जिसमें घर रहें। वनके दुःख सुनाये और ससुराल और मायकेके सुख समझाये अर्थात् विस्तारसे कहे। *'सास ससुर पितु सुख'* अर्थात् कभी यहाँ रहना कभी पिताके यहाँ, यथा—*'पितु गृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी॥'* (८२। ५) (पु० रा० कु०) *'मइकें ससुरे सकल सुख जबहिं जहाँ मनु मान। तहँ तब रहिहि सुखेन सिय जब लगि बिपति बिहान॥'* (९६) २—*'समुझाए'* पदसे जनाया कि सीताजी पतिप्रेमके आगे सब सुख भूल गयी हैं। समझानेकी क्रिया मनके लिये है और मन दूसरी ठौर लगा है, अतः समझाना व्यर्थ ही हुआ—(रा० च० मिश्र)।

नोट—२ *'घरु न सुगमु बनु बिषमु न लागा'* इति।—श्रीरामचरणानुरागसे विषयसुखकी इच्छा नहीं रही, यथा—*'सुमिरत रामहिं तजहिं जन तृन सम बिषय बिलासु। रामप्रिया जगजननि सिय कछु न आचरजु तासु॥'* (१४०) वन विषम न लगा अर्थात् प्रिय लगा, यथा—*'सिय मनु रामचरन अनुरागा। अवध सहस सम बनु प्रिय लागा॥'* (१४०। ४) वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि **'नैव स्म सीता विनिवृत्तभावा प्रियस्य भर्तुः प्रतिकारकामा।'** (२। ३७। ३७) अर्थात् वसिष्ठजीके कहनेपर भी सीताजीने अपना विचार नहीं बदला, क्योंकि वह अपने पतिके समान रहना चाहती थी।

औरउ सबहिं सीय समुझाई। कहि कहि बिपिन बिपति अधिकाई॥ ६॥
सचिव नारि गुरनारि सयानी। सहित सनेह कहहिं मृदु बानी॥ ७॥
तुम्ह कहुँ तौ न दीन्ह बनवासू। करहु जो कहहिं ससुर गुर सासू॥ ८॥

अर्थ—और सबोंने भी वनके दुःखोंकी अधिकता कह-कहकर श्रीसीताजीको समझाया॥ ६॥ मन्त्री-(सुमन्त्रजी-) की स्त्री, गुरु वसिष्ठजीकी स्त्री अरुन्धतीजी और भी सयानी स्त्रियाँ प्रेमसहित कोमल वाणीसे कह रही हैं (कि)॥ ७॥ तुमको तो वनवास नहीं दिया गया। जो ससुर, गुरु और सास कहती हैं, तुम वही करो॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'औरउ सबहिं·····'* अर्थात् जब राजाके समझानेपर भी उन्हें वन विषम न लगा तब औरोंने समझाया। *'अधिकाई'* का भाव कि जितना राजाने कहा था उससे कहीं अधिक दुःख इन्होंने कहे। *'समुझाई'* अर्थात् राजाने केवल सुना भर दिया था और इन्होंने अच्छी तरह समझा-समझाकर कहा। राजाने घरका सुख समझाकर कहा था, इसीसे इन स्त्रियोंने उसे नहीं कहा।

२—पहले स्त्रियोंने वनके दु:ख समझाये जैसे राजाने घरका सुख समझाया था। जब इससे कुछ प्रभाव न पड़ा तब मन्त्रीकी स्त्री, गुरुपत्नी और भी बड़ी-बूढ़ी अर्थात् जिनका दबाव पड़ सकता था, वे सब उपदेश करने लगीं जिसमें उनका कहना मानकर रह जायँ। *'सहित सनेह मृदु बानी'* अर्थात् भीतर स्नेह है, बाहर वाणी मृदु है, भीतर-बाहर दोनोंसे स्वच्छ हैं।

३—*'तुम्ह कहुँ तौ न दीन्ह बनबासू।'''''* इति। अर्थात् श्रीरामजीको माता-पिताने वनवास दिया, वे उनकी आज्ञा मानकर वनको जाते हैं, और तुमको सास-ससुर घर रहनेको कहते हैं, तुम घर रहो; जैसे वे आज्ञा-पालन करते हैं वैसे ही तुम भी पालन करो। *'गुरु'* का भाव कि हम सब तुम्हारे गुरुके समान हैं, बड़े लोग गुरु कहलाते हैं, अतएव हमारा वचन मानो। [रा० च० मिश्र०—*'ससुर गुरु सासू'* यहाँ अनुचित-उचित व्यवहार समझानेके निमित्त ससुर और सासूके मध्यमें गुरुको रखा।]

वि० त्रि०—*'कहि कहि बिपिन''''अधिकाई।'* छप्पय *'वन निर्जन झनझनत, चलत सन-सन समीर खर। भूमि तपत ज्यों भाड़, आगि बरसत दिनकर कर। जहँ तहँ बीछी ब्याल, फिरत गज भालु बाघ हरि। दिनहि भूत बेताल, नचत बिकराल रूप धरि। जीवजंतु जरि जरि मरै, जब दावानल लगि परै। याते तू वन जान को ध्यान वधू जनि चित धरै।'*

दो०—सिख सीतलि हित मधुर मृदु सुनि सीतहि न सोहानि।
सरदचंद-चंदिनि लगत जनु चकई अकुलानि॥ ७८॥

अर्थ—(इनकी) शीतल, हितकारी, मीठी और कोमल शिक्षा सुनकर श्रीसीताजीको अच्छी न लगी। मानो शरद्-ऋतुके चन्द्रमाकी चाँदनी लगते (स्पर्श होते) ही चकई व्याकुल हो गयी है॥ ७८॥

नोट—१—सीखको चाँदनीसे उपमा दी। चाँदनी शीतल है और हितकर है। स्त्रियोंके वचन स्नेहमय हैं, अतएव मधुर हैं। वचन मृदु हैं अतएव सीख भी मृदु है। वैसे ही चाँदनीमें अमृत है। अमृत मधुर है और स्नेह अमृत है। चाँदनीके स्पर्शमात्र अर्थात् उसके प्रकाशमात्रसे चकई व्याकुल होती है। यहाँ 'सुनना' ही स्पर्श है। वह सबको शीतल और सुखद है पर चकईको वियोग दु:ख देती है; वैसे ही वचनोंसे पतिका वियोग-दु:ख होता है।

नोट—३ शरच्चन्द्रकी चाँदनीसे उपमा देनेका कारण यह है कि चाँदनी तो सब दिनकी चकईको संतप्त करती है पर शरद्‌की चाँदनी निर्मल होनेसे अधिक ताप देती है—(पु० रा० कु०)।—यहाँ प्रतिवस्तूपमालंकार है।

पण्डितजी—सीखमें चार गुण दिखाये। १-शीतल है अर्थात् तापनिवारक है। २-हित है अर्थात् उत्तम फल देनेवाली है। ३-मधुर अर्थात् सुन्दर शब्दोंसे युक्त है। ४-मृदु अर्थात् कोमलार्थक है।

सीय सकुच बस उतरु न देई। सो सुनि तमकि उठी कैकेई॥ १॥
मुनि पट भूषन भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी॥ २॥

शब्दार्थ—**तमकि**=तमककर, क्रोधके आवेशमें, क्रोधसे तेजीसे। तमकना=जोशमें आना, क्रोधके कारण उछल पड़ना। **आनी** (आनना=लाना)=लाकर।

अर्थ—श्रीसीताजी संकोचवश उत्तर नहीं देतीं। इन बातोंको सुनकर कैकेयी तमक उठी॥ १॥ मुनियोंके वस्त्र (वल्कल, चीर), भूषण (मालामेखलादि) और पात्र (कमण्डलु) ले आयी (और रामजीके) आगे रखकर उनसे कोमल वाणीसे बोली॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) पुरुषोत्तमरामकुमारजी—*'सीय सकुच बस उतरु न देई'* अर्थात् उत्तर दे सकती हैं पर बड़ोंके संकोचसे उन्होंने उत्तर न दिया। [न बोलीं कि खण्डन-मण्डन करके इनका अपमान क्यों करें, जो उन्हें भाया सो उन्होंने कहा। कैकेयीके तमकनेका कारण यह कि मौन अर्ध 'अंगीकार' है, कदाचित् स्त्रियाँ उपदेश करें और ये रह जायँ। (पं०)] (ख) *'तमकि उठी कैकेई'* इति।—कैकेयीके तमक उठनेका कारण

यह है कि—राजाने रामजीके रखनेके लिये बहुत उपाय किये, यथा—*'राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किये·····';* पर उन्होंने कुछ उत्तर न दिया, यथा—*'लखी रामरुख रहत न जाने।'* तब राजाने श्रीजानकीजीको घर रहनेको कहा और अन्य लोगोंने भी कहा, परंतु इन्होंने भी कुछ उत्तर न दिया। अतएव कैकेयीने समझा कि ये इन लोगोंके कहनेसे घर रहना चाहते हैं, वन जानेकी इच्छा नहीं है।

वि० त्रि०—सीताजीके उत्तर न देनेका कारण संकोच था, कैकेयीने समझा कि **'मौनं स्वीकार लक्षणम्।'** वह प्रसन्न थी कि सीताके चले जानेसे रामजीका सम्बन्ध अयोध्यासे एकदम टूट जायगा। समझाने-बुझानेका प्रभाव सीताजीपर पड़ते देखकर उससे सहा न गया, बातको समाप्त करनेके लिये वह उठ पड़ी।

टिप्पणी—२ (क) *'मुनि पट भूषन भाजन आनी।·····'* इति। वल्कल आदिको लाकर श्रीरामजीके सामने रखनेका भाव यह है कि जिसमें ये तपस्वी वेष बना लें तो इनके वन जानेका निश्चय हो जायगा, फिर कोई आप ही घर रहनेके लिये इनसे न कह सकेगा। तपस्वी वेषमें रहनेका ही उसने वर माँगा था। पुनः, आगे इससे रखा कि रामजी धर्मात्मा हैं, मुनिवेषकी सामग्रीका अनादर न करेंगे, देखकर अवश्य धारण कर लेंगे।

नोट—१ कैकेयीने केवल श्रीरामजीके लिये वनवास माँगा था, अतः राजा, वृद्धा स्त्रियों और गुरुपत्नी आदिका कहना भी उचित ही था कि *'तुम्ह कहुँ तौ न दीन्ह बनबासू।'* कैकेयी भी कुछ कह न सकती थी। भगवान् या देवमायाकी ही यह प्रेरणा जान पड़ती है कि वह श्रीरामजीके आगे लाकर तीनों मूर्तियोंके लिये मुनिवस्त्र-भूषणादि रखती है। यह बात आगेके *'सजि बन साज समाजु सब बनिता बंधु समेत।'* (७९) से स्पष्ट है।

नोट—२ भगवान्‌की विचित्र लीला है। कैकेयीने तीनोंके लिये मुनि-चीर आदि लाकर सामने रख दिये। इससे यह स्पष्ट है कि उसके संग्रहमें ये सब पहलेसे ही थे। यह प्रारब्धकी रचना विचित्र है। (प० प० प्र०)

नोट—३ आगे लाकर रखनेका आशय यही था कि यहींसे मुनिवेष बनाकर जायँ। जितने लोग उनके पक्षके हैं वे राज्य-वेषके बदले रामका यह वेष देख लें। राजासे उसने कहा ही था—*'होत प्रात मुनिबेष धरि जौ न राम बन जाहिं।·····'* और *'जस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहिं देउँ करि साका॥'* दूसरे इससे उसको संतोष हो जायगा कि हाँ, वे वनको चले जायँगे, अब घरमें न ठहरेंगे।

नोट—४ इससे यह भी जनाया कि वस्त्र-भूषणादि जो तुम पहने हो उन्हें उतार दो। वे सब अब तुम्हारे नहीं किंतु भरतके हैं। वाल्मीकीयमें यह प्रसंग बहुत हृदय-द्रावक है, पढ़नेयोग्य है। (प० प० प्र०)

नोट—५ अ० रा० की कैकेयीने तो श्रीराम, लक्ष्मण, सीता तीनोंको अलग-अलग वल्कल वस्त्र दिये। पर पं० राजकुमारजीका मत ऐसा जान पड़ता है कि मानसकी कैकेयीने केवल रामजीको वल्कल वस्त्र दिये और उन्होंने तुरंत उन्हें धारण किये—*'राम तुरत मुनिबेष बनाई।'* और आगे जो कहा है *'सजि बन साज समाजु सब·····'* वह वन साज-समाज वह है जो श्रीसीताजीने पतिके आज्ञानुसार स्वयं ठीक कर रखा था, यथा—*'बेगि करहु बनगमन समाजू।'*

नोट—६ *'बोली मृदु बानी'* इति। जब राजा श्रीरामजीको वन जानेको नहीं कहते तो रामजीके ऊपर तो कैकेयीका कुछ जोर है ही नहीं, जो वह जबरदस्ती वन भेज दे, यही समझकर वह कोमल वाणीसे बोली और धर्मकी बात बोली जिसमें रामजी प्रसन्न होकर वनको चले जायँ।

नृपहि प्रान प्रिय तुम्ह रघुबीरा। सील सनेह न छाड़िहि भीरा॥ ३॥
सुकृत सुजसु परलोकु नसाऊ। तुम्हहिं जान बन कहिहि न काऊ*॥ ४॥

अर्थ—हे रघुवीर! तुम राजाको प्राणप्रिय हो। प्रेम-कादर लोग शील और स्नेह नहीं छोड़ सकते [वा,

* 'काऊ'—(भागवतदास, वन्दन पाठक, राजापुर, रा० प्र०, पं० रामगुलाम द्विवेदी,)। 'राऊ'—(पं० रामकुमारजी)।

राजा शील, स्नेह और डर न छोड़ेंगे—(पु० रा० कु०)। वा, यह भीड़ जो इकट्ठी हुई है, शील, स्नेहका दिखावा करती ही रहेगी। (वि० त्रि०)]॥ ३॥ पुण्य, सुन्दर यश और परलोक चाहे नष्ट हो जायँ पर वे कभी भी तुम्हें वन जानेको न कहेंगे॥ ४॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—'**प्राणप्रिय**' अर्थात् चाहे प्राण चले जायँ पर वनकी आज्ञा न देंगे क्योंकि तुम प्राणोंसे अधिक प्रिय हो। '**रघुवीर**' अर्थात् तुम धर्ममें वीर हो, धर्मका सँभाल करो। राजा धर्ममें भीरु (कादर) हैं इससे वे तुम्हारा शील और स्नेह न छोड़ेंगे। [वा, राजा भीरु (प्रेम-कादर) हैं और तुम रघुकुलके सर्वश्रेष्ठ वीर हो। वीर प्रतिज्ञा और धर्मका पालन करते हैं। (प० प० प्र०)]

वि० त्रि०—***भीर***=भीड़। यह भीड़ शील-स्नेहका दिखावा करती ही रहेगी। भाव कि ये सब तमाशायी हैं, तमाशा देखने आये हैं, यथा—'***भइ बड़ि भीर भूप दरबारा।***' इनके कहनेका कोई मूल्य नहीं है। कैकेयी समझाने-बुझानेवालोंपर बहुत अप्रसन्न है, अतः उनकी गिनती भीड़में कर रही है (यह नवीन अर्थ बड़ा सुन्दर है—मा० सं०)।

टिप्पणी—२ '***सुकृत सुजसु परलोकु नसाऊ।***……' इति। (क)—भाव कि तुम्हारे रहनेसे सुकृत नष्ट हो जायँगे और वन जानेसे सब बने रहेंगे। राजा तुम्हें चाहते हैं, सुकृत, सुयश और परलोक नहीं चाहते, यथा—'***अजसु होउ बरु सुजसु नसाऊ। नरक परउँ बरु सुरपुर जाऊ॥***……***लोचन ओट राम जनि होहीं।***' (४५। १-२) (ख) सुकृतसे इस लोकमें सुयश होता है और परलोक बनता है, सुकृतके नाशसे लोक-परलोक दोनोंका नाश होता है।

सू० मिश्र—'***काऊ***'=काहू, कोई भी। अर्थात् कोई आपको वन जानेको न कहेगा फिर राजा कैसे कहेंगे कि जाओ।' ['***काऊ***'=कभी भी, यथा—'***थाती राखि न माँगिहु काऊ।***' (२८। २)]

अस बिचारि सोइ करहु जो भावा। राम जननि सिख सुनि सुखु पावा॥ ५॥
भूपहि बचन बान सम लागे। करहिं न प्रान पयान अभागे॥ ६॥

शब्दार्थ—**पयान**=गमन, यात्रा। पयान करना=जाना।

अर्थ—ऐसा विचारकर जो तुम्हें अच्छा लगे वही करो। श्रीरामचन्द्रजीने माताकी शिक्षा सुनकर सुख पाया॥ ५॥ परन्तु राजाको उसके वचन बाणके समान लगे (वे सोचते हैं कि) अभागे प्राण अब भी क्यों नहीं निकलते॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) पुरुषोत्तम रामकुमारजी—'***अस बिचारि सोइ करहु जो भावा***' इति। भाव यह कि राजा तुम्हारे लिये अपने सुकृतादि नष्ट करते हैं; तुम चाहे उनके सुकृतोंको नष्ट होने दो चाहे रखो, दोनों बातें तुम्हारे अधीन हैं। (ख) '***सुनि सुखु पावा***' क्योंकि माताका उपदेश उनकी रुचिके अनुकूल है। पुनः, भाव कि राजा वन जाने नहीं देते थे, हाथ पकड़कर उन्होंने रामजीको बिठा रखा। श्रीरामजी राजाका शील तोड़कर कैसे चल देते? वे बड़े संकोचमें पड़े थे कि इतनेमें माताने मुनिवेषकी सामग्री लाकर आगे रख दी और धर्मोपदेश करके वन जानेको कहा। बस उन्हें राजाके पाससे उठकर जानेका योग लगा; अतएव वे सुखी हुए।

टिप्पणी—२ '***करहिं न प्रान पयान अभागे***' इति। भाव कि ऐसे-ऐसे बाण लगनेपर भी प्राण नहीं निकलते, अतएव अभागे हैं, आगे वियोग-दुःख सहेंगे। ऐसे ही वचन श्रीजानकीजीने रामजीसे कहे थे—'***ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदय बिलगान। तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥***' (६७)

लोग बिकल मुरुछित नरनाहू। काह करिय कछु सूझ न काहू॥ ७॥
राम तुरत मुनि बेषु बनाई। चले जनक जननी सिरु नाई॥ ८॥

अर्थ—लोग व्याकुल हैं। राजा मूर्छित हैं। किसीको कुछ सूझता नहीं कि क्या करें॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजी तुरत मुनियोंका-सा वेष बनाकर पिता-माताको माथा नवाकर चल दिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) पुरुषोत्तम रामकुमारजी—बाण लगनेसे लोग व्याकुल होते हैं। मूर्छा आ जाती है। ऊपर कहा है कि *'भूपहि बचन बान सम लागे'* अतएव राजा मूर्छित हैं। लोगोंका प्रेम श्रीरामजीमें अत्यन्त है, अतएव वे व्याकुल हो गये। जिसका जैसा प्रेम रामजीमें है वैसी ही उसकी व्याकुलता है। (ख) *'काह करिय कछु सूझ न काहू'* इति। सब व्याकुल हैं, मुखसे कहते हैं कि हाय! क्या करें? कुछ सूझता नहीं अर्थात् न राजाको समझा सकें, न रानीको, न रामको; कोई उपाय नहीं चलता।

वि० त्रि०—रामजीने मुनिवेष-धारणमें जल्दी की। वे चाह रहे हैं कि चक्रवर्तीजीकी मूर्छावस्थामें ही मुनि-वेष बनाकर निकल चलें। मुझे मुनि-वेषमें देखकर महाराज प्राण छोड़ देंगे। अतः मुनि-वेष बनाकर मूर्छितावस्थामें ही पिताको प्रणाम किया और माताको सिर नवाकर चल पड़े।

टिप्पणी—२ *'राम तुरत मुनि बेषु बनाई'* इति। *'तुरत'* पदसे माता कैकेयीमें श्रीरामजीकी भक्ति दिखायी; विलम्ब करनेसे अश्रद्धा पायी जाती। पुनः धर्मोपदेश था। धर्मके काममें शीघ्रता चाहिये जिसमें कोई विघ्न न उपस्थित हो जाय; अतएव *'तुरत'* पद दिया।

टिप्पणी—३ *'चले सिरु नाई'*—यह श्रीरामजीका स्वभाव है। वे माता-पिताके भक्त हैं। यथा—*'प्रात काल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥'* वैसे ही इस समय वनयात्राके समय प्रणाम करके चले, हृदयमें कुछ दुःख न हुआ। पुनः, माता-पिताको प्रणाम करना यह वन-यात्राका मंगलाचरण है।

दो०—सजि बन साजु समाजु सब बनिता बंधु समेत।
बंदि बिप्र गुर चरन प्रभु चले करि सबहि अचेत॥ ७९॥

शब्दार्थ—**साज-समाज**=सामान, तैयारी, ठाट-बाट, सामग्री। **अचेत**=मूर्छित, व्याकुल, बेहोश, जड़वत्।

अर्थ—वनका सब साज-समाज धारण करके, स्त्री और भाईसहित प्रभु रामचन्द्रजी, ब्राह्मण और गुरु-चरणोंकी वन्दना करके, सबको अचेत करके चले॥ ७९॥

नोट—ऊपर जो कहा था कि *'तुरत राम मुनि बेषु बनाई'* उससे मुनि-पट-भूषण-भाजनका धारण करना हो चुका। अब *'बन साजु समाजु'* क्या रहा? इसका अर्थ वाल्मीकीय रामायणसे स्पष्ट हो जाता है। खंती, खोंची, कुल्हाड़ी, पेटी, अपने अस्त्र-शस्त्र, कवच-तरकस यही वनका साज-समाज है। यथा—'**ये च राज्ञो ददौ दिव्ये महात्मा वरुणः स्वयम्। जनकस्य महायज्ञे धनुषी रौद्रदर्शने॥ अभेद्ये कवचे दिव्ये तूणी चाक्षय्यसायकौ। आदित्यविमलाभौ द्वौ खड्गौ हेमपरिष्कृतौ॥ सत्कृत्य निहितं सर्वमेतदाचार्यसद्मनि। सर्वमायुधमादाय क्षिप्रमाव्रज लक्ष्मण॥**' (वाल्मी० २। ३१। २९—३१) अर्थात्—'राजा जनकके महायज्ञमें प्रसन्न होकर वरुणने स्वयं दो दिव्य धनुष जो देखनेसे ही बड़े भयानक लगते थे, दो अभेद्य कवच, दो अक्षय तरकस सूर्यके सदृश विमल और स्वर्ण चढ़े दो खड्ग, जनकजीको दिये थे जो उन्होंने रामको (रामचन्द्रजीको) दे दिये थे, ये गुरुके यहाँ रखे हैं उन सबको शीघ्र लाओ।' लक्ष्मणजी आज्ञानुसार इन्हें राजमन्दिरको जाते हुए रास्तेमें ही ले आये थे। पुनः, सर्ग ३७ में '**खनित्रपिटके चोभे समानयत गच्छत।**' (५) अर्थात् एक खन्ती और खाँची ले आओ। पुनः, सर्ग ४० में '**तथैवायुधजातानि भ्रातृभ्यां कवचानि च। रथोपस्थे प्रविन्यस्य सचर्म कठिनं च यत्॥**' (१५) अर्थात् दोनों भाइयोंके लिये अस्त्र-शस्त्र, कवच, चमड़ेसे मढ़ी पेटी और कुल्हाड़ी रथमें रख दी गयी।

नोट—२ वाल्मीकीयसे पता चलता है कि वसिष्ठजीके मना करनेपर सीताजीको वस्त्र-भूषण पहने रहने दिया गया। पर रामचरितमानससे ऐसा जान पड़ता है कि तपस्विनीका-सा वेष कुछ-न-कुछ रहा है, यथा—*'तापस बेष जनक सिय देखी। भयउ प्रेमु परितोषु बिसेषी॥* (२८७। १)।' *'तापस बेष जानकी देखी। भे सबु बिकल बिषाद बिसेषी॥'* (२८६। २)

वाल्मीकिजी लिखते हैं कि पातिव्रत्यधर्म जाननेवाली तथा उसका अनुष्ठान करनेवाली जानकीजी न जानती थीं कि मुनि चीर कैसे पहनते हैं। तब श्रीरामजीने पीताम्बरके ऊपर चीर बाँध दिया। सर्ग ३७

श्लोक १०, १४, २०। इससे जान पड़ता है कि पीताम्बरके ऊपरसे वे वल्कल वस्त्र पहना करती थीं। इसीसे तो भरतजीने शृंगवेरपुरमें *'कनक बिंदु दुइ चारिक देखे।'* (१९८। ३)

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—*'बंदि बिप्र गुर चरन प्रभु'* इति। गुरु वसिष्ठजी ब्राह्मणोंसहित वहाँ थे। (वाल्मीकीयमें ऐसा उल्लेख है) अतएव उन सबोंकी वन्दना करके चलना कहा।

टिप्पणी—२ *'चले'* दो बार कहा गया। एक तो *'चले जनक जननी सिरु नाई।'* और दूसरे यहाँ *'बंदि बिप्र····चले।'* इससे सूचित होता है कि राजा-रानी कोपभवनमें थे और ये सब उसके बाहर थे। अतएव कोपभवनसे माता-पिताको प्रणाम करके चले, बाहर आये, तब इनको प्रणाम किया और आगे चले।

रा० च० मिश्र—अवधवासियोंके साथ कवि भी अचेत हो गये; इसीसे कहते हैं कि 'प्रभु' अर्थात् स्वामी हैं, क्या किया जाय, कुछ वश है?—*'नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह तजहु त कहा बसाइ।'* कवि ऐसे अचेत हुए कि 'चले' में एक मात्रा अधिक हो गयी मानो इससे जनाया कि जैसे चौथे चरणमें मात्रा बढ़ी वैसे ही अवधवासियोंके दु:खकी मात्रा बढ़ी।

निकसि बसिष्ठ द्वार भए ठाढ़े। देखे लोग बिरह दव दाढ़े॥ १॥
कहि प्रिय बचन सकल समुझाए। बिप्रबृंद रघुबीर बोलाए॥ २॥
गुर सन कहि बरषासन दीन्हे। आदर दान बिनय बस कीन्हे॥ ३॥

शब्दार्थ—**दाढ़े**=(संदग्ध) जले हुए।

अर्थ—(राजमन्दिरसे) निकलकर वसिष्ठजीके दरवाजेपर (आकर) खड़े हुए। देखा कि लोग विरहरूपी दव-(अग्नि-) से जल रहे हैं॥ १॥ प्रिय वचन कहकर सबको समझाया। फिर रघुवीर रामचन्द्रजीने ब्राह्मणमण्डलीको बुलाया॥ २॥ गुरुजीसे कहकर उनको 'वर्षाशन' दिया और आदर, दान और विनयसे उन्हें वश किया॥ ३॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—*'बसिष्ठ द्वार भए ठाढ़े'* इति। जब राजा लोग बाहरकी यात्रा करते हैं तब मंगलके लिये देवताके स्थानसे, गुरुके स्थानसे, अपने घरसे, मित्रके घरसे, स्त्रीके घरसे होकर यात्रा करते हैं, ऐसा प्रमाण है, यथा—'**देवगृहाद्वा गुरुसदनाद्वा स्वगृहान्मित्रकलत्रगृहाद्वा इति।**' (मुहूर्तचिन्तामणि यात्राप्र० ९१) पुन:, वसिष्ठजीका घर बस्तीके बाहर है। वह वनके तुल्य है। अतएव महलसे निकलकर वहीं आकर रुके। जितनी देर ठहरना है वहीं ठहरेंगे। वहाँ भी बैठे नहीं, *'ठाढ़े'* अर्थात् खड़े-ही-खड़े जो कुछ कृत्य करना है कर रहे हैं। (पण्डितजी) वसिष्ठके द्वारपर खड़े होनेके अनेक तात्पर्य हैं, पर उसके साथ यह भी है कि गुरुजी यदि रोकना चाहते हों तो रोक लें। ऐसा न हो कि वन चले जानेपर वहाँ गुरुजीका संदेसा जाय कि लौट चलो। गुरुकी आज्ञा माननी ही पड़ेगी, और जाकर बिना अवधि पूरी किये लौटनेमें बड़ी कचायी है। (वि० त्रि०) घरके भीतर नहीं गये। द्वारपर बाहर ही खड़े रहे। पं० छोटेलाल व्यास कहते हैं कि अब गुरुकी आज्ञा लेते हैं अतएव उनके द्वारपर आ खड़े हुए। यहींसे प्रस्थान करेंगे।

टिप्पणी—२ *'देखे लोग बिरह दव दाढ़े'* इति। श्रीरामजी जब चले तब भीतरके लोग अचेत हुए, निकलकर बाहरके लोगोंको देखा कि वे विरह-दवसे जले हैं। दवाग्नि वनमें लगती है, किरातिनी लगाती है, वैसे ही यहाँ अयोध्यारूपी वनमें कैकेयी किरातिनीने विरह-दव लगायी, यथा—*'नगरु सकल बन गहबर भारी। खगमृग बिपुल सकल नरनारी॥ बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही। जेहि दव दुसह दसहु दिसि दीन्ही॥'* (८४। २-३) वनकी आगसे डाढ़ा होता है, रामजी वन जाते हैं उसीसे विरहाग्नि हुई है।

टिप्पणी—३ *'बिप्र बृंद····कहि प्रिय बचन'* इति। ये ब्राह्मण वे हैं जो पूजापाठके वरणी थे और वर्षाशन पाया करते थे। *'प्रिय बचन'* जो उनको प्रिय लगे ऐसे वचन। जैसे—पिताकी आज्ञाका पालन करके तुरंत

लौटेंगे; इसमें संदेह न करो। देखो, रघुकुलके सभी राजा सत्यसन्ध हुए, किसीने सत्यका त्याग और असत्यका ग्रहण नहीं किया। अतएव मैं पिताका वचन छोड़कर घर कैसे रहूँ? ऐसा करनेसे राजा असत्यवादी कहलायेंगे और मैं भी धर्मसे च्युत हूँगा। (बाबा हरिदास) विप्रवृन्दको लक्ष्मणजी बुलाने भेजे गये। यथा—'**वसिष्ठपुत्रं तु सुयज्ञमार्थं त्वमानयाशु प्रवरं द्विजानाम्। अपि प्रयास्यामि वनं समस्तानभ्यर्च्य शिष्टानपरान्द्विजातीन्॥**' (२। ३१। ३७) अर्थात् तुम वसिष्ठपुत्र सुयज्ञको ले आओ, वे श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उनकी तथा अन्य शिष्ट ब्राह्मणोंकी पूजा करके मैं वनको जाऊँगा। वाल्मी० ३२। ४५ में लिखा है कि ब्राह्मण, सुहृद्, भृत्य और भिक्षुक जो भी उस समय आया उसे श्रीरामजीने उचित सम्मान दानसे संतुष्ट किया। अतः यहाँ केवल 'पूजापाठके लिये वरणी ब्राह्मण' को ही न लेना चाहिये। त्रिजट नामक ब्राह्मण, बालक और वृद्ध ब्राह्मण सभीको दिया गया जो वरणी नहीं थे।

टिप्पणी—४ ***'गुर सन कहि बरषासन दीन्हे'*** इति। गुरुसे कहनेका भाव यह कि देनेमें विलम्ब होता और इनको तुरंत जाना है; अतएव गुरुसे कह दिया कि इनको इतनी वस्तु दे दी जाय। पुनः, इस समय सब काम करनेवाले गुरु ही हैं, ब्राह्मणोंका सम्मान उनके सुपुर्द किया। वर्षाशन=वर्ष+अशन=वर्ष भरके लिये भोजन। यहाँ वर्षाशनसे तात्पर्य यह कि १४ वर्षके लिये लेखा (हिसाब) लगाकर भोजनके लिये द्रव्य किया—***'आदर दान बिनय बस कीन्हें'***—भाव कि ब्राह्मण आदर, दान और विनयसे वश होते हैं, इनके वश होनेसे त्रिदेव वशमें हो जाते हैं, यथा—***'जौं बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तब तुव बस बिधि बिष्णु महेसा॥'***

वि० त्रि०—एक वर्षसे अधिक अन्न-संग्रहका ब्राह्मणोंके लिये धर्मशास्त्रसे निषेध है इसलिये वर्षाशन दिया। आदर और विनय सात्त्विक दानका अंग है। अतः अन्य भी अनेक दान दिये, और प्रतिगृहीताका आदर विनयसे पूजन किया। संसारमें प्रतिगृहीता दाताका पूजन करता है, पर भारतकी सभ्यता यह है कि दाता ही प्रतिगृहीताका पूजन करे।

नोट—वर्षाशन वह बँधेज, बंधान है जो वर्ष-वर्षपर पूजापाठ आदिके लिये दिया जाता है।

वाल्मी० सर्ग ३२ में उल्लेख है पिताके पास जानेके पूर्व रामजीने निजमहलमें आकर अपना सब धन तपस्वी ब्राह्मणोंको दिया। जो श्रेष्ठ ब्राह्मण गुरु गृहमें वास करते हैं उनको दान दिया। अगस्त्य और कौशिककी रत्नोंसे पूजा की, १००० गौएँ इत्यादि भी दीं। तैत्तिरीयोंके आचार्य वेदज्ञ विद्वान् एवं और भी विप्रवृन्द जो कौसल्याजीको आशीर्वाद दिया करते थे उनको, कठकलापशाखा पढ़नेवाले ब्रह्मचारियों, जो पढ़नेमें ही लगे रहते हैं, इत्यादिको, पूर्णरूपसे संतुष्ट किया। चित्ररथ वृद्ध सारथीको भी धन, रथ आदि दिये…तदनन्तर अपने प्रत्येक भृत्यको जीवन-निर्वाह योग्य पूरा धन दिया, इत्यादि-इत्यादि। (सर्ग ३२) स्मरण रहे कि जो कुछ दिया वह सब अपने धनसे दिया। यह स्वयं उन्होंने कहा है—'**अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मामकं धनम्। ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यस्त्वया सह परंतप॥**' (वाल्मी० २। ३१। ३५) '**धनं हि यद्यन्मम विप्रकारणात्। भवत्सु सम्यक् प्रतिपादनेन मयार्जितं चैव यशस्करं भवेत्॥**' (२। ३२। ४२)

हाथ जोड़कर अभ्युत्थान दिया, मीठे प्रिय वचनसे कहा कि आप इसे स्वीकार करें; मणियों-रत्नोंसे पूजा की। कहा कि और जो इच्छा हो ले लो धर्म बलसे अर्जित मेरा सब धन ब्राह्मणोंका ही है…इत्यादि ***'आदर विनय'*** है। रा० प्र० का मत है कि वर्षाशन ब्राह्मणोंको दिया, क्षत्रियवैश्यादिको आदर रूप दान और विनयसे वश किया। पर यहाँ 'विप्रवृन्द' स्पष्ट लिखा है।

वाल्मीकीय आदिमें अपने महलमें जाकर दान करके तब कैकेयीके पास गये हैं। मानसमें यह बात नहीं है। यहाँ तो कैकेयीकी आज्ञा सुनकर फिर वे अपने महलमें भी नहीं गये, माता कौसल्यासे आज्ञा लेकर वे कैकेयीके पास आये और तुरत मुनि-वेष बनाकर चल दिये। इसीसे अपने महलमें फिर भी न गये। गुरुजीद्वारा सब व्यवस्था कर दी।

जाचक दान मान संतोषे। मीत पुनीत प्रेम परितोषे॥ ४॥
दासी दास बोलाइ बहोरी। गुरहि सौंपि बोले कर जोरी॥ ५॥
सब कै सार सँभार गोसाईं। करबि जनक जननी की नाईं॥ ६॥

शब्दार्थ—**परितोषे**=सन्तोष, तृप्ति, प्रसन्नता। वह प्रसन्नता जो किसी विशेष अभिलाषा या इच्छाके पूर्ण होनेसे उत्पन्न हो। **सार**=रक्षा, देखभाल, पालन-पोषण। **सार सँभार**=देख-रेख, पूर्णरूपसे रक्षा, पालन-पोषण।

अर्थ—याचकोंको दान और सम्मानसे खूब सन्तुष्ट किया और पवित्र (सच्चे) मित्रोंको पवित्र प्रेमसे खूब सन्तुष्ट किया॥ ४॥ फिर दासियों और दासोंको बुलाकर उन्हें गुरुजीको सौंपकर हाथ जोड़कर बोले॥ ५॥ हे गोसाईं! इन सबका पालन-पोषण और देख-भाल आप माता-पिताकी तरह कीजियेगा॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) ***'जाचक दान मान·····'*** इति। ये सूत मागध बंदी आदि हैं। ***'दान मान'***—बिना आदरका दान व्यर्थ है, अत: आदरपूर्वक दान देना कहा। (वानप्रस्थ धर्म अंगीकार किया है; अतएव जो कुछ द्रव्य था सब लुटा दिया—खर्रा)। (ख) ***'मीत पुनीत प्रेम परितोषे'***—प्रेमसे सन्तुष्ट करनेका भाव यह कि मित्रोंको किसी पदार्थकी चाह नहीं, वे कोई पदार्थ लेनेवाले नहीं; अतएव उनको प्रेमसे सन्तुष्ट किया। प्रेममें यदि पवित्रता न हुई तो वह प्रेम खण्डित है, अतएव ***'पुनीत'*** कहा।

टिप्पणी—२ (क) ***'गुरहि सौंपि·····'*** गुरुको सौंपनेका भाव कि दासी-दास भगवान्‌को बहुत प्रिय हैं, यथा—***'सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती।'*** (७। १५) इसीसे बुलाकर सौंपा, बुलाकर सौंपनेमें उनका अधिक सम्मान दिखाया और उनको संतोष भी दिया। ***'सौंपि'*** अर्थात् कहा कि ये सेवक घरके हैं, कहीं जानेके नहीं; अतएव आप इनकी खबर लेते रहें। हाथ जोड़ना यह विनम्र भाव है, दूसरे राजा हों तो आज्ञा दे सकें सो ये राजा तो हैं नहीं।—ये दासी-दास वे हैं जो जनकपुरके दाइजमें साथ दिये गये थे, यथा—***'दासीं दास दिये बहुतेरे। सुचि सेवक जे प्रिय सिय केरे॥'*** (१। ३३९। २) और जो कौसल्याजीके नैहरके थे (खर्रा)। अवधके जो दासी-दास थे जो इन्हींकी सेवामें रहते थे वे भी सौंपे गये। गुरुको क्यों सौंपा? उत्तर—माता-पिता शोकसे विह्वल हैं। दूसरे, ये गुरु हैं और राजकाज भी इनके अधीन हैं। तीसरे गुरु ही समीप थे। (पं०) चौथा इनका आतंक रघुकुल भरपर है, इनके डरसे कैकेयी किसीको दु:ख न देगी। (ख) ***'जनक जननी की नाईं',*** से सूचित किया कि रामजी इनकी सार-सँभार माता-पिताकी तरह करते थे।

बारहिं बार जोरि जुग पानी। कहत रामु सब सन मृदु बानी॥ ७॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जेहि तें रहै भुआल सुखारी॥ ८॥

दो०—मातु सकल मोरे बिरह जेहि न होहिं दुख दीन।
सोइ उपाय तुम्ह करेहु सब पुरजन परम प्रबीन॥ ८०॥

अर्थ—बारम्बार दोनों हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजी सबसे कोमल वाणीसे कहते हैं॥ ७॥ वही मेरा सब प्रकारसे हितैषी है जिससे राजा सुखी रहें॥ ८॥ हे परम चतुर पुरवासियो! तुम सब वही उपाय करना जिससे समस्त माताएँ मेरे विरहमें दु:खसे दीन (व्याकुल) न हों॥ ८०॥

टिप्पणी—१ ***'बारहिं बार जोरि जुग पानी।·····'*** इति। (क) सबसे हाथ जोड़कर कह रहे हैं; क्योंकि सब ***'परम प्रबीन'*** हैं। रामचन्द्रजीको बड़ा संदेह है, वे जानते हैं कि पिता और सब माताएँ हमारे वियोगकी विरहाग्निसे जल रही हैं। इसीसे उन्होंने स्वयं उनको समझाया और इन सब पुरवासियोंसे भी हाथ जोड़कर विनती करते हैं कि उन्हें बराबर चतुरतापूर्वक समझाते रहें। [नि:शोच करनेमें इस समय श्रीरामजीने सबको बड़ाई दी जिसमें वे सब लोग स्वयं नि:शोच हो जायँ। इस विधिसे समझाया यह उनकी प्रवीणता है। (शीला)] (ख) शंका—गुरुसे समझानेके लिये क्यों न कहा? समाधान—वसिष्ठजी त्रिकालज्ञ हैं। वे श्रीरामजीका ऐश्वर्य जानते हैं। अतएव उनसे समझानेको न कह सके; क्योंकि यदि कहते तो वे जवाब देते कि आप सर्वज्ञ हैं, सब जानते हैं कि विरहमें पिताका मरण होगा, हम उन्हें क्या समझायेंगे?

टिप्पणी—२ ***'सोइ सब भाँति मोर हितकारी।·····'*** इति। भाव कि जो उनको सुखी रखेगा वह मानो हमारा ही हित कर रहा है। उसका हित हम सब भाँतिसे करेंगे। ***'भुआल'*** सुखी हों अर्थात् इनके सुखी

रहनेसे पृथ्वीभरके लोग सुखी रहेंगे। इसीमें हमारा सब भाँतिका हित होगा। *'जेहि ते'* अर्थात् किसीका नियम नहीं, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष, कोई भी हो।

वि० त्रि०—*'मातु सकल'''''*।' अयोध्याकी महारानी लोग अत्यन्त दुःखमें प्रजाके सुख-दुःखको नहीं भूलतीं। कौसल्याका अन्तिम वचन यही है कि *'बेगि प्रजा दुख मेटब आई।'* अतः सरकार प्रजावर्गसे कहते हैं कि आप लोग परम प्रवीण हैं। देखिये माता लोग मेरे विरहसे दुःखी हैं, इसपर यदि आपलोगोंने मेरे वन जानेका शोक मनाया, तो वे दुःखसे दीन हो जायँगी। अतः आपलोग मेरे लिये शोक न मनाइयेगा और भी कोई ऐसी बात न होने दीजियेगा, जिसमें उनको विरहकी तीव्रता बढ़े।

टिप्पणी—३ *'मातु सकल मोरे बिरह''''''* इति। श्रीरामजीको सब माताएँ एक समान प्रिय हैं, यथा—*'कौसल्यादि सकल महतारी। रामहि सहज सुभाय पियारी॥'* (*'मातु सकल'* में कैकेयीका भी अन्तर्भाव है। श्रीरामजी जानते हैं कि यद्यपि वह आज दीन-दुःखी नहीं है तथापि उसे आगे पश्चात्ताप होगा और वह दीन-दुःखी होगी।) (प० प० प्र०) विरहसे दुःखी न हों, ऐसा कहनेका अभिप्राय यह कि सबके दुःखका कारण मैं ही हूँ। 'सोइ' अर्थात् जो जिस समय उचित हो सो उपाय करना, कोई एक उपाय मैं तुम्हें क्या बताऊँ, तुम तो स्वयं परम कुशल हो, सब जानते हो।

एहि बिधि राम सबहि समुझावा। गुरुपद पदुम हरषि सिरु नावा॥ १॥
गनपति गौरि गिरीसु मनाई। चले असीस पाइ रघुराई॥ २॥
रामु चलत अति भएउ बिषादू। सुनि न जाइ पुर आरत नादू॥ ३॥
कुसगुन लंक अवध अति सोकू। हरष बिषाद बिबस सुरलोकू॥ ४॥

शब्दार्थ—**मनाई**=मनाकर, प्रार्थना-स्तुति वा वन्दना करके।

अर्थ—इस प्रकार श्रीरामजीने सबको समझाया और हर्षपूर्वक गुरुजीके चरणकमलोंमें माथा नवाया॥ १॥ गणेशजी, पार्वतीजी और कैलासके स्वामी श्रीशिवजीकी प्रार्थना वा वन्दना करके और (गुरुका) आशीर्वाद पाकर रघुनाथजी चले॥ २॥ श्रीरामजीके चलते ही अत्यन्त विषाद हुआ। नगरका आर्तनाद (दुःख और करुणाका शब्द) सुना नहीं जाता॥ ३॥ लंकामें अपशकुन और अवधमें अत्यन्त शोक होने लगा। देवलोक हर्ष और विषाद दोनोंके वश हो गये॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'एहि बिधि राम सबहि समुझावा'* उपसंहार है। इसका उपक्रम *'कहि प्रिय बचन सकल समुझाए।'* (८०। २) 'सब' को समझाना कहा इसी कारण 'राम' पद दिया अर्थात् जो सबमें रमण करते हैं; माधुर्यमें सबको समझाना नहीं बनता, ऐश्वर्यहीमें इसका निर्वाह हो सकता है; इसीसे ऐश्वर्यसूचक नाम दिया गया। (ख) *'गुरुपद पदुम हरषि सिरु नावा'*—गुरुको प्रणाम करनेमें हर्ष (प्रेमपुलक) होना ही चाहिये, यथा—*'रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय''''''*, अतएव *'हरषि'* कहा। *'पद पदुम'*—अर्थात् जैसे कमलको देखनेमें आनन्द होता है वैसे ही गुरुपदके दर्शनसे आनन्द होगा। (गुरुजनोंके चरणोंके साथ यह या इसके पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त किये जानेकी रीति है।) [*'सुरकाज सँवारन'* चले हैं, इससे हर्ष अर्थात् उत्साह है नहीं तो श्रीराम तो *'बिषमय हरष रहित'* हैं। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'गनपति गौरि गिरीसु मनाई।'''''* इति। विघ्ननिवारणार्थ गणेशको मनाया, शत्रु-विनाश-हेतु दुर्गाको मनाया—दुर्गा शत्रुके नाश करनेमें प्रबल हैं, यथा—*'दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन।'* (७। ९१। ७) अथवा, यात्राके समय मंगलके लिये इनका स्मरण करनेकी रीति है। [अथवा, गणेशको विघ्नशान्ति और श्रेयके लिये वा आवश्यकता पड़नेपर अनन्तकोटि सेनाके लिये। गौरीको युद्धमें सहायताके लिये तथा विभवके लिये। गिरीशको जय और स्थिरताके लिये। (पण्डितजी) अथवा, वनमें पर्वतका आश्रय लेना होगा, अतएव *'गिरीसु'* नाम दिया। दूसरे ये रावणके इष्टदेव हैं, इससे इन्हें मनाया। (रा० च० मिश्र) अथवा, यहाँ श्रीसीता-राम-लक्ष्मण तीन (दो पुरुष, एक स्त्री) वैसे ही मनाया भी तीनको गणपति, गिरीश (दो पुरुष) और

गौरी (एक स्त्रीको)—इत्यादि भाव लोगोंने कहे हैं पर वस्तुतः मर्यादा-पुरुषोत्तमने इनका स्मरण करके लोकरीतिकी रक्षा की है; नहीं तो अनेकों शिव, दुर्गा, गणेश आदि एक साथ भी मिलकर युद्धमें श्रीरामजीके सम्मुख खड़े नहीं रह सकते, यह वाल्मीकीय आदिसे भी स्पष्ट है।]

टिप्पणी—३ *'चले असीस पाइ'* को अन्तमें रखकर सूचित किया कि सबने आशीर्वाद दिया। गुरुने प्रत्यक्ष दिया और देवताओंने परोक्ष। चले अतएव *'रघुराई'* पद दिया—**'रघि गतौ'** **'रंघति गच्छतीति रघुः।'** सो उसके भी राजा हैं अथवा गणपति-गौरि और गिरीशके मनानेके सम्बन्धसे *'रघुराई'* यह माधुर्य नाम दिया। [पुनः भाव कि इतने बड़े होते हुए भी गुरु और देवताओंको मनाते हैं, राज्यका त्याग करके चले हैं; क्योंकि रघुराई हैं। रघुवंशी राजाओंकी कीर्ति बढ़ानेके लिये तथा राजधर्मका पालन करनेके लिये चले हैं। *'सीतहिं सभय देखि रघुराई।'* (३। १७। २०) *'पंपासरहि जाहु रघुराई।'* (३। ३६। ११) और *'आगे चले बहुरि रघुराया।'* (४। १। १) भी देखिये। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—४ *'रामु चलत अति भएउ बिषादू'* इति।—विषाद तो पूर्वसे ही था; परंतु अब अवधसे चल दिये अतएव अब *'अति'* विषाद है अर्थात् अब लोग उच्चस्वरसे रो रहे हैं जैसा *'सुनि न जाइ पुर आरत नादू'* से स्पष्ट है। श्रीरामजीके वनगमनका शोक सबको है। शोकके कारण विषाद है, यथा—*'सोक जनित उर दारुन दाहू।'* शोक अत्यन्त है अतएव विषाद भी अत्यन्त है। राज्य त्यागकर कैसे चले हैं यह कवितावलीमें दिया है। *'कीरके कागर ज्यों नृप चीर विभूषण उप्पम अंगनि पाई। औध तजी मग बास के रूख ज्यों, पंथ के साथ ज्यों लोग लुगाई॥ संग सुबंधु पुनीत प्रिया मनो धर्म क्रिया धरि देह सोहाई। राजिवलोचन राम चले तजि बापको राज बटाउ कि नाईं॥' (२। १) 'कागर कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई। मातु-पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाय सनेह सगाई॥ संग सुभामिनि भाइ भलो दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई। राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाउ की नाईं॥'* (२। २)

प० प० प्र०—*'राम सकल आनंदनिधानू'* ही जब सबको छोड़कर चले तब शेष तो अति विषाद रहेगा ही। आनन्दका विरोधी विषाद ही तो है।

टिप्पणी—५ *'कुसगुन लंक अवध अति सोकू। हरष……'* इति। यहाँ यथासंख्य अलंकारके अनुसार अर्थ है। लंकामें मृत्युसूचक अपशकुन हुए। इससे देवताओंको हर्ष हुआ कि अब राक्षसोंका नाश होगा, हम बन्दीगृहसे छूटेंगे। अवधमें अतिविषाद छाया है उसे देख उनको भी विषाद हुआ, यह सोचकर कि इनके दुःखका कारण हम ही हैं; हमने इनको बिना अपराधके दुःख दिया। *'सुरलोक'* में हर्ष-विषाद हुआ, इस कथनसे सूचित किया कि देवताओंने अपशकुन और विषाद दोनों जान लिये; क्योंकि सर्वज्ञ हैं इसीसे समस्त देवलोकोंमें हर्ष-विषाद व्याप्त हो गया। देवताओंकी ही कुचालसे अवधपर विपत्ति पड़ी फिर वे क्यों दुःखी हुए? शोक और आर्तनाद इतना भयंकर था कि उनको भी दुःख लगा। यहाँ देवताओंका स्वभाव दिखाया कि यद्यपि वे अपने स्वार्थके लिये मृत्युलोकके लोगोंको दुःख देनेमें अग्रसर होते हैं तथापि दुःख देख-सुनकर दुःखी भी होते हैं। कारण कि देवताओंमें दया और दान-बुद्धि होती है। मानवोंमें दया और दम (इन्द्रियनिग्रह) है। (प० प० प्र०)

गइ मुरुछा तब भूपति जागे। बोलि सुमंत्र कहन अस लागे॥ ५॥
रामु चले बन प्रान न जाहीं। केहि सुख लागि रहत तन माहीं॥ ६॥
एहि तें कवन व्यथा बलवाना। जो दुख पाइ तजहिं* तनु प्राना॥ ७॥
पुनि धरि धीर कहै नरनाहू। लै रथु संग सखा तुम्ह जाहू॥ ८॥

* तजिहि—को० रा०, ना० प्र०। तजहिं—राजापुर, रा० प०, भा० दा०। 'तजिहि' पाठ उत्तम जान पड़ता है। पर 'तजिहिं' का अर्थ भी ठीक लग जाता है। अर्थात् क्या इससे भी बढ़कर कोई दुःख है जिसे पाकर प्राण शरीरको छोड़ते हैं?

अर्थ—मूर्छा दूर हुई, तब राजा जगे अर्थात् सचेत हुए और सुमन्त्रको बुलाकर ऐसा कहने लगे॥ ५॥ राम वनको चल दिये पर प्राण नहीं निकल रहे हैं (न जाने) किस सुखके लिये शरीरमें बने हैं॥ ६॥ इससे अधिक प्रबल और कौन दु:ख होगा, जिस दु:खको पाकर प्राण शरीरको छोड़ते हैं॥ ७॥ धीरज धरकर फिर राजाने कहा कि हे सखा! तुम रथको लेकर साथ जाओ॥ ८॥

नोट—*'गइ मुरुछा'*—जब कैकेयीने मुनिपट-भूषण-भाजन लाकर श्रीरामजीके आगे रखे और वचन कहे थे तब राजाको मूर्छा हुई थी, यथा—*'भूपति बचन बान सम लागे।""लोग बिकल मूर्छित नरनाहू'॥* तबसे अब जाकर सचेत हुए। *'बोलि सुमंत्र कहन अस लागे'*—यहाँ ऊपरके *'धरि धीरज'* का अध्याहार करना होगा; (अर्थात् मूर्छा विगत होनेपर धैर्य धरकर उन्होंने सुमन्त्रको बुलाकर कहा); क्योंकि आगे कहते हैं कि *'पुनि धरि धीर कहइ""'* आगे *'पुनि'* शब्द देनेसे पूर्व धीरज धरना सूचित होता है।

टिप्पणी—१ *'रामु चले बन प्रान न जाहीं।""'* अर्थात् प्राणोंको निकल जाना चाहिये था सो मूर्छा होनेपर भी बने रह गये। *'केहि सुख लागि'* से जनाते हैं कि सुख पानेसे प्राण रहते हैं और *'जो दुख पाइ तजहिं""'* से जनाया कि दु:ख पाकर प्राण निकल जाते हैं; अतएव यहाँ कहते हैं कि सुखस्वरूप रामजी तो चले गये तो अब सुख कहाँ रह गया जिससे प्राण टिके हुए हैं और राम-वियोगसे अधिक अब कोई और दु:ख भी नहीं हो सकता। यथा—*'सब दुख दुसह सहावहु मोहीं। लोचन ओट राम जनि होहीं॥'* तब प्राण निकलते क्यों नहीं? (मिलान कीजिये—*'सीय रघुबर लषन बिनु भय भभरि भगी न आउ। मोहिं बूझि न परत यातें कौन कठिन कुघाउ॥'* (गी० २। ५७)

टिप्पणी—२ *'पुनि धरि धीर कहै नरनाहू""'* इति। 'धीरज' के सम्बन्धमें 'नरनाह' कहा अर्थात् ऐसी व्यथामें प्राप्त होनेपर भी धैर्य धारण करना हर एक मनुष्यका काम नहीं, ये मनुष्योंके स्वामी हैं, राजा हैं। राजा लोग शस्त्रास्त्रके घाव सह लेते हैं, अतएव धैर्य धारण कर लिया।

टिप्पणी—३ *'लै रथु संग सखा तुम्ह जाहू'*। इति। *'तुम्ह जाहू'* अर्थात् दूसरेको न भेजना तुम स्वयं जाना। पुन:, भाव कि तुम हमारे सखा हो, हमारे प्राणके समान हो, रामजी चले गये, हमारे प्राण संग न गये, अतएव तुम जो हमारे प्राणके समान हो वही उनके साथ जाओ। जो हित करे वही सखा है, तुम हमारे सखा हो; जिसमें हमारा हित हो वह करो। क्या हित करो यह आगे कहते हैं—*'रथ चढ़ाइ""फिरेहु""'*

दो०—सुठि सुकुमार कुमार दोउ जनकसुता सुकुमारि। रथ चढ़ाइ देखराइ बनु फिरेहु गए दिन चारि॥ ८१॥

अर्थ—दोनों कुमार अत्यन्त कोमल हैं और जानकीजी भी अत्यन्त सुकुमारी हैं। रथमें चढ़ाकर वन दिखलाकर चार दिन बीतनेपर लौट आना॥ ८१॥

टिप्पणी १—पुरुषोत्तम रामकुमार—भाव कि तीनों अत्यन्त सुकुमार हैं, पैदल चलने लायक नहीं हैं, अतएव रथमें बिठाकर ले जाओ। वनमें रहनेयोग्य नहीं हैं, अतएव वन दिखलाकर लौटा लानेको कहा।

टिप्पणी—२ *'दिन चारि'* अर्थात् बहुत शीघ्र, कुछ ही दिनोंमें। यह अल्पकालका वाचक है, यथा—*'यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गए दिन चारी॥'* (५। ११। ७) याज्ञवल्क्यजीके मतानुसार १४ वर्षको यहाँ चार दिन कहा।

☞राजाकी आज्ञा हुई कि चार दिन गये लौटना, सुमन्त्रजी चार दिन बीत जानेपर पाँचवें दिन आये। *'प्रथमबास तमसा भएउ दूसर सुरसरि तीर।'* तीसरा निवास वृक्षके नीचे हुआ, यथा—*'तेहि दिन भएउ बिटप तर बासू'* और चौथा वास प्रयागमें हुआ—*'राम कीन्ह बिसराम निसि प्रात प्रयाग नहाइ।'* पाँचवें दिन दस बजे यमुनातीरसे निषादराजको बिदा किया। निषाद पहर दिन रहे शृंगवेरपुर आये और सुमन्त्रको रथमें चढ़ाकर उसी दिन तमसातटपर पहुँचा दिया, यथा—*'तमसा तीर तुरत रथ आवा।'* (१४७। १) तमसातीरसे सन्ध्या हो जानेपर सुमन्त्र घर आये।

जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ ब्रत रघुराई॥ १॥
तौ तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी। फेरिअ प्रभु मिथिलेस किसोरी॥ २॥
जब सिय कानन देखि डेराई। कहेहु मोरि सिख अवसरु पाई॥ ३॥

अर्थ—दोनों भाई धैर्यवान् हैं और श्रीरामचन्द्रजी सत्यप्रतिज्ञ और अटल व्रत धारण करनेवाले हैं अर्थात् नियमके पक्के हैं। इससे यदि वे दोनों भाई न लौटें॥ १॥ तो तुम हाथ जोड़कर विनती करना कि हे प्रभो! राजा जनककी पुत्री सीताजीको लौटा दीजिये॥ २॥ जब सीता वनको देखकर डरें तब मौका पाकर उनसे मेरी शिक्षा कहना॥ ३॥

टिप्पणी—१ ***'सत्यसंध'*** हैं, कैकेयीसे वन जानेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं उसे न छोड़ेंगे और ***'दृढ़ ब्रत'*** हैं अर्थात् जो मुनिव्रत, तपस्वी-वेष धारण कर लिया है उसका परित्याग न करेंगे। ***'रघुराई'*** हैं अर्थात् सभी रघुवंशी सत्यप्रतिज्ञ और दृढ़व्रत होते हैं पर ये सब रघुवंशियोंके राजा हैं, सबसे श्रेष्ठ हैं। विषयके त्यागमें दोनों भाई धीर हैं। 'सत्यसंध दृढ़व्रत' विशेषण केवल रघुनाथजीको दिये गये; कारण कि वनकी प्रतिज्ञा और व्रत रामजीहीने धारण किया, लक्ष्मणजीने नहीं; ये तो रघुनाथजीकी सेवाके लिये साथ जाते हैं।' [जो आपत्तिमें भी धर्म न छोड़े वह 'दृढ़व्रत' कहलाता है। वा, वानप्रस्थव्रत जो धारण किया उसमें दृढ़ हैं। (खर्रा)]

टिप्पणी—२ ***'तौ तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी।'*** इति। भाव कि हाथ जोड़कर विनती करनेसे वे प्रसन्न होकर लौटा देंगे। ***'फेरिअ प्रभु'*** का भाव कि तुम्हारे कहनेसे वे न लौटेंगी, श्रीरामजी प्रभु अर्थात् समर्थ हैं वे लौटा देंगे। अत: तुम उनसे प्रार्थना करना कि लौटा दें (बालकाण्डमें ***'जनु जीव उर चारिउ अवस्था……।'*** (३२५। छंद ४) की व्याख्यामें बताया गया है कि श्रीसीताराम-लक्ष्मणजी क्रमश: तुरीया, प्रत्यगात्मा और विश्व-विभु हैं। अत: यह आशा ठीक है कि राम-लक्ष्मण तो लौटेंगे नहीं, पर यदि तुरीया जानकीजी लौटें तो प्राणका अवलम्ब हो जायगा। पर विभुको छोड़कर अवस्था कैसे प्राप्त होगी। अत: श्रीजानकीजीने उचित ही कहा है कि ***'प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई॥'*** (९७। ६) ये वचन बड़ी आतुरतासे राजाने कहे कि इसी बहाने जानकीजी लौट आवें।

नोट—***'मिथिलेस किसोरी'*** का भाव कि मिथिलेशजी हमें और तुम्हें क्या कहेंगे? उनको कितना दु:ख होगा। किशोरावस्थावाली अत्यन्त सुकुमारी मेरी कन्याको वृद्ध रघुवंशी राजाने कैसे वन जाने दिया? इत्यादि अनेक शंकाएँ उनके मनमें उठेंगी। हम मिथिलेशजीको क्या उत्तर देंगे? इन भावोंको सूचित करनेके लिये ***'मिथिलेस किसोरी'*** शब्द दिया। (पं०, रा० प्र०, प० प० प्र०) पं० रामचरण मिश्रजीका मत है कि यहाँ ***'मिथिलेस किसोरी'*** पद सरस्वती यथार्थ ही कह रही है, मिथिलाधीश ज्ञानी, संसाररागसे रूखे हैं फिर उनकी पुत्री कैसे संसाररागमें आ सकती है, वह क्यों फिरेगी? पुन:, वात्सल्य-प्रकरणमें मिथिलेश ऐश्वर्यसूचक है और 'किशोरी' पदमें लाड़पनका भाव है।

टिप्पणी—३ ***'जब सिय कानन देखि डेराई।'*** इति। वनके दु:ख कौसल्याजीने, रामजीने, दशरथजीने और भी सबने सुनाये। सुननेसे वे न डरीं, अतएव कहते हैं कि 'देखकर अवश्य डरेंगी' बस उसी समय हमारा उपदेश कह सुनाना, मौकेपर उपदेश लग जाता है। क्या सीख है सो आगे कहते हैं। सीख, उपदेश और संदेश तीनों एक ही बातें हैं।

सासु ससुर अस कहेउ संदेसू। पुत्रि फिरिअ बन बहुत कलेसू॥ ४॥
पितुगृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी॥ ५॥

अर्थ—तुम्हारे सास और ससुरने ऐसा संदेश कहा है—'हे पुत्रि! लौट चलो, वनमें बहुत क्लेश (दु:ख) होता है॥ ४॥ कभी पिताके घर और कभी ससुरालमें, जब जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, रहना॥ ५॥

नोट—१ राजा कोपभवनमें हैं और सुमन्त्रजी कहते हैं कि 'सासु-ससुरने ऐसा संदेशा कहा है' वहाँ

सास कहाँ है? सासका संदेशा कहना कैसे समझा जावे? उत्तर यह है कि जानकीजी कौसल्याजीको बहुत मानती हैं, इसीसे राजाने अपना और कौसल्या दोनोंका संदेशा कहा जिसमें वे लौट आवें (और कौसल्याजी कब न चाहेंगी कि वे लौट आवें)। (प्र० सं०)

नोट—२ श्रीसुनयना अम्बाने श्रीजानकीको उपदेश दिया है कि ***'सासु ससुर गुरु सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू॥'*** (१।३३४।५) अतः ***'सासु ससुर अस कहेउ'*** से जनाया कि तुम्हारी माताने भी यही उपदेश किया था। सास-ससुर, गुरु और पतिकी भी यही इच्छा है। सासने कहा ही है—***'जौं सिय भवन रहै''''मो कहँ होइ बहुत अवलंबा।'*** (६०।७) गुरुकी भी यही इच्छा है जैसा ***'करहु जो कहहिं ससुर गुर सासू।'*** (७८।८) गुरु नारि आदिके वचनोंसे सिद्ध है और श्रीरामजीने भी कहा है—***'सुमुखि मातुहित राखउँ तोही।'*** (६१।८) (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१ (क) ***'पुत्रि फिरिअ'*** यहाँ 'पुत्री' कहनेका भाव वही है जो अर्थ 'पुत्र' शब्दका होता है, जो नरकसे बचावे वह पुत्री है। तात्पर्य कि रामजीके बिना हम सबको नरकका-सा दुःख हो रहा है (यह बात श्रीजानकीजीकी उक्तिमें स्पष्ट है कि ***'तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान'***) तुम्हारे लौटनेसे सबकी इस नरकसे रक्षा होगी। (ख) ***'बन बहुत कलेसू'*** अर्थात् अभी तो वनका आरम्भ है फिर और आगे तो बहुत ही कष्ट होगा।

टिप्पणी—२ ***'पितु गृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी'*** इति। पिताका घर प्रथम कहा; क्योंकि लड़कियोंको अपने पिताके घर रहनेकी अधिक रुचि होती है। ***'जहाँ रुचि होइ'*** इसका भाव यह कि जब लड़की नैहरमें रहती है तब माता-पिताकी रुचि और जब ससुरालमें रहती है तब सास-ससुरकी रुचिसे बिदा होती है, इसी विचारसे कहते हैं कि ऐसा न होगा, यहाँ या वहाँ रहना तुम्हारी रुचिपर निर्भर रहेगा।

एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥ ६॥
नाहिं त मोर मरनु परिनामा। कछु न बसाइ भए बिधि बामा॥ ७॥
अस कहि मुरुछि परा महि राऊ। राम लषनु सिय आनि देखाऊ॥ ८॥

शब्दार्थ—**कदंबा**=समूह, अनेक, बहुत-से। '**त**'=तो।

अर्थ—इस प्रकार बहुत-से उपाय करना। यदि वे लौटें तो मेरे प्राणोंको सहारा हो जायगा॥ ६॥ नहीं तो अन्तमें (इसका परिणाम) मेरा मरण ही होगा। विधाताके वाम (उलटे, विपरीत) होनेसे कुछ वश नहीं चलता॥ ७॥ ऐसा* कहकर राजा जमीनपर मूर्छित हो गिर पड़े (और कहने लगे कि) राम, लक्ष्मण, सीताको लाकर दिखाओ॥ ८॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ ***'एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा।'*** इति। भाव कि जो उपाय हमने बताया उसे करना और अन्य भी अनेक उपाय करना। 'अवलम्ब हो' इसका भाव यह है कि श्रीसीताजी रामजीकी अर्द्धांगिनी हैं, उनके रहनेसे प्राणोंको रहनेका अवलम्ब मिल जायगा; नहीं तो प्राण नहीं रह सकते, हमारा जीवन श्रीरामजीके अधीन है।

(इससे सूचित किया कि श्रीराम-जानकी दोनों एक हैं जैसा बा० १८ ***'गिरा अरथ जल बीचि सम'*** और मनु-शतरूपा प्रकरणमें दिखाया गया है)।

पुनः, ***'एहि बिधि'''*** का भाव कि हमने श्रीरामजीके रखनेके लिये बहुत उपाय किये थे, तुम सीताजीके रखनेके लिये बहुत उपाय करना। जिस विधिसे हमने कहा है, इसी विधिसे तुम उपाय करना। तात्पर्य कि उपाय सात प्रकारके हैं—साम, दाम, भेद, दण्ड, माया, उपेक्षा और इन्द्रजाल इनमेंसे साम-दाम ये ही दो उपाय काममें लाना।

---

* 'अस' आगे और पीछे दोनोंके साथ है। जो पूर्व कहा कि रथ ले जाओ इत्यादि और आगे जो कहते हैं कि 'रामु लषन सिय' (पंजाबीजी)।

टिप्पणी—२ (क) *'मोर मरनु परिनामा'* अर्थात् जबतक तुम न आ लोगे तबतक हम प्राण रखेंगे। परिणाम=अन्त, प्रतिफल। (ख) *'भए बिधि बामा'* अर्थात् हमारा कोई उपाय नहीं चलता, यथा—*'राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय कीन्ह छल त्यागी॥'* इससे सिद्ध है कि ब्रह्मा विपरीत हैं।

टिप्पणी—३ *'अस कहि मुरुछि परा महि राऊ।'* इति। श्रीराम-लक्ष्मणजीकी ओरसे तो निराश थे ही, यथा—*'जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई॥'* अब सीताजीके लौटनेमें भी संदेह मानते हैं, इनकी ओरसे भी निराश हो रहे हैं; क्योंकि वे सोचते हैं कि ब्रह्मा प्रतिकूल हैं। सब ओरसे निराश होनेपर यह कहते हुए मूर्छित हो गये कि राम, लक्ष्मण और सीताको लाकर दिखाओ अर्थात् जैसा हमने कहा है कि *'रथ चढ़ाइ देखराइ बन फिरेहु गये दिन चारि'* वैसा ही करना, साथ शीघ्र लौटा लाओ।

रा० च० मिश्र—*'राम लषनु सिय आनि देखाऊ'* इति। यहाँ उत्तरोत्तरक्रम *'आनि'* और *'देखाऊ'* के साथ सम्बन्धित किया है। यदि सत्यसन्ध दृढ़व्रत होनेके कारण रामजी न लौटें और उनकी सेवामें रहनेके कारण लक्ष्मणजी भी न लौटेंगे तब सीताजीके फेरनेको कह रहे हैं अतएव 'राम' पदके आगे 'लषन' पदका अन्तर देकर 'सिय' पदको *'आनि'* और *'देखाऊ'* पदका संयोगी बनाया।

दो०—पाइ रजायसु नाइ सिरु रथु अति बेग बनाइ।
गयेउ जहाँ बाहेर नगर सीय सहित दोउ भाइ॥ ८२॥

अर्थ—राजाकी आज्ञा पाकर माथा नवाकर सुमन्त्रजी बहुत शीघ्र चलनेवाला रथ तैयार करके (अर्थात् उसमें बहुत तेज चलनेवाले घोड़े जोतकर) नगरके बाहर जहाँ सीतासहित दोनों भाई थे, वहाँ गये॥ ८२॥

तब सुमंत्र नृप बचन सुनाए। करि बिनती रथ रामु चढ़ाए॥ १॥
चढ़ि रथ सीय सहित दोउ भाई। चले हृदय अवधहि सिरु नाई॥ २॥
चलत रामु लखि अवध अनाथा। बिकल लोग सब लागे साथा॥ ३॥

अर्थ—तब सुमन्त्रने राजाके वचन (रथ चढ़ाइ देखराइ बनु) श्रीरामजीको सुनाये और विनती करके उनको रथपर चढ़ाया॥ १॥ दोनों भाई सीतासहित रथपर चढ़कर हृदयमें अयोध्यापुरीको प्रणाम करके चले॥ २॥ श्रीरामजीको जाते हुए और अवधको अनाथ देखकर सब लोग व्याकुल होकर साथ चले॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) पिताकी आज्ञा सुनायी कि रथपर चढ़ाकर वनमें घुमाकर चार दिनमें लौटा लाना, आज्ञा सुनानेका कारण यह है कि सुमन्त्रके कहनेसे न चढ़ते। राजाकी आज्ञासे संकोचमें पड़कर चढ़े थे, यह स्पष्ट ही है क्योंकि उसपर भी मन्त्रीको बहुत प्रार्थना करनी पड़ी। (ख) पहले श्रीसीताजी रथपर चढ़ीं, तब श्रीरामजी और इनके पीछे लक्ष्मणजी, यह नीति और रीति है, यथा—*'राम सखा तब नाव मँगाई। प्रिया चढ़ाइ चढ़े रघुराई॥'* (१५१। ३) (यह सुमन्त्रने लौटकर राजासे कहा है)।

टिप्पणी—२ अयोध्यापुरी महान् तीर्थ है, सप्त पुरियोंमें इसको मस्तकरूप (सबसे श्रेष्ठ) कहा है, पुनः, यह महात्मा राजाओंकी राजधानी है। इसीसे प्रणाम करके चले। हृदयमें प्रणाम करनेका भाव कि यह दिव्य पुरी है, हृदयमें उसकी मूर्तिका ध्यान करके सिर नवाया।

नोट—रा० प्र० कारका मत है कि बाहर सब लोगोंके सामने प्रत्यक्ष प्रणाम करते तो सम्भव था कि दुष्ट लोग समझते कि इसमें इनका बड़ा मोह है, इसे छोड़ना नहीं चाहते। अथवा, मानसिक प्रणाम बाहरी प्रणामसे श्रेष्ठ है। ऐसा करके अपना अत्यन्त प्रियत्व जनाया। वन्दन पाठकजी लिखते हैं कि अवधको प्रणाम क्यों न करते, अवध ही तो उनको वनका राजा बना रहा है। वाल्मीकीयमें प्रत्यक्ष प्रणाम करना कहा है। सर्ग ५० में वाल्मीकिजी लिखते हैं कि—'**विशालान्कोसलान् रम्यान्यात्वा लक्ष्मणपूर्वजः। अयोध्यामुन्मुखो धीमान्प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्॥ आपृच्छे त्वां पुरिश्रेष्ठे काकुत्स्थपरिपालिते। दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च॥ निवृत्तवनवासस्त्वामनृणो जगतीपतेः। पुनर्द्रक्ष्यामि मात्रा च पित्रा च सह संगतः॥**' (२। १—३) अर्थात् विशाल रमणीय कोशल देशको पार करके अयोध्यापुरीकी ओर मुँह करके रामजी

हाथ जोड़कर बोले कि हे काकुत्स्थ नरेशोंद्वारा परिपालित पुरिश्रेष्ठ! मैं तुमसे, तुमको पालन करने तथा तुममें निवास करनेवाले देवताओं इत्यादिसे वन जानेकी आज्ञा माँगता हूँ। अवधि पूरी होनेपर राजासे उऋण होकर मैं पुनः तुम सबका दर्शन करूँगा।—इस तरह यह विदाका प्रणाम है।

नोट—२ लंकासे लौटनेपर भी जब पुष्पकविमानपरसे अवधपुरी दिखायी पड़ी तब भी उसे प्रणाम किया है, यथा—*'पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि। त्रिबिधताप भवरोग नसावनि। सीता सहित अवध कहँ कीन्ह कृपाल प्रनाम। सजल नयन तन पुलकित पुनि पुनि हरषित राम॥'* (लं० ११९) प्रणाम करके उसका महत्त्व दिखाते हैं।

यहाँ अवधमें जो प्रेम है उसे प्रकट न करनेमें त्याग वीरता दर्शित होती है। प्रसिद्ध ऐश्वर्यका त्याग किया, सूक्ष्म रीतिसे प्रीति रखी। (वै०)

नोट—३ पण्डितजी—प्रणाम किया क्योंकि *'मम धामदा पुरी सुखरासी।'* (७। ४। ७) है, असंख्यों राम बनाती है। जिनका शरीर छूटता है वे सब रामरूप हो जाते हैं।

टिप्पणी—२ *'चलत रामु लखि अवध अनाथा'* इति। श्रीरामजीके माथा नवानेसे यह सन्देह होता कि अयोध्याका नाथ कोई अलख निरंजन दूसरा है; अतएव उसके निवारणार्थ कहते हैं कि यह बात नहीं है, रामजी ही इसके नाथ हैं, उनके बिना यह अनाथ हो गयी। *'लखि'* अर्थात् अनाथ तो प्रत्यक्ष दीख रही है, जैसा आगे कहते हैं—*'लागति अवध·····'* ☞*'चढ़ि रथ सीय सहित दोउ भाई। चले हृदय अवधहिं सिरु नाई॥'* यात्राके लिये यह मंगलकारक मूलमन्त्र है। इसका जप मंगलकारक होता है।

कृपासिंधु बहु बिधि समुझावहिं। फिरहिं प्रेम बस पुनि फिरि आवहिं॥ ४॥
लागति अवध भयावनि भारी। मानहु कालराति अँधियारी॥ ५॥

शब्दार्थ—**कालराति**=प्रलयकी रात, ब्रह्माकी रात्रि, मृत्युकी रात्रि, ज्योतिषमें रात्रिका वह भाव जिसमें किसी कार्यका आरम्भ करना निषिद्ध समझा जाता है, दिवालीकी अमावस्या, मनुष्यकी आयुमें वह रात जो सतहत्तरवें वर्षके सातवें महीनेके सातवें दिन पड़ती है और जिसके बाद वह नित्यकर्म आदिसे मुक्त समझा जाता है।—(शब्दसागर) लाला भगवानदीनजी लिखते हैं कि तीन रात्रियाँ प्रसिद्ध हैं—१ कालरात्रि, २ शिवरात्रि (महारात्रि), ३ मोहरात्रि (जन्माष्टमीकी रात्रि)। दिवालीकी रात्रि तन्त्रशास्त्रानुसार बड़ी भयानक मानी गयी है, क्योंकि इसी रात्रिको अनेक तन्त्र-मन्त्र जगाये जाते हैं। उसकी भयानकता ही घटनाके लिये दीपक जलानेकी रीति प्रचलित है।

अर्थ—दयासागर रामजी बहुत तरह समझाते हैं, समझानेपर वे लौट जाते हैं अर्थात् अयोध्याकी ओर चलने लगते हैं, पर प्रेमवश फिर लौट आते हैं॥ ४॥ अवधपुरी बहुत डरावनी लग रही है, मानो (अयोध्या नहीं है किंतु) अँधेरी कालरात्रि है॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'कृपासिंधु बहु बिधि समुझावहिं·····'* इति। क्यों लौटाते हैं? क्योंकि 'कृपासिंधु' हैं, पुरवासियोंपर बड़ी कृपा रखते हैं, उनको साथ जानेमें बड़ा दुःख होगा, उनका दुःख वे सह नहीं सकते। (देखिये, कैसा उत्कृष्ट भाव है? आगे जब तमसा नदीपर श्रीरामजी इनको सोता छोड़कर चल देते हैं तब देखिये, ये छोड़नेका कारण स्वयं ही क्या बताते हैं—*'तजे राम हम जानि कलेसू।'* भावी राजापर प्रजाका कैसा विश्वास है? वह खूब समझती है कि ये हमारे दुःखसे दुःखी हैं; हमारे सुखमें सुखी हैं। जिसके प्रति प्रजाका ऐसा दृढ़ विश्वास है वस्तुतः वही राजा कहलाने योग्य है)। कृपाके कारण ही वे बहुत समझा रहे हैं—कि राजा तो बने ही हैं, तुम्हारा पालन-पोषण भलीभाँति करेंगे जैसा होता आया है, पिताकी आज्ञा पालन करना हमारा धर्म है, हम शीघ्र ही लौटेंगे, १४ वर्ष बहुत नहीं हैं, भरत बड़े धर्मात्मा हैं, वे आकर तुम्हारा पालन-पोषण करेंगे·····इत्यादि-इत्यादि।

नोट—२ *'लागति अवध भयावनि भारी।·····'* इति। (क) श्रीरामजीके पास फिर लौट-लौट जानेका एक कारण तो 'प्रेम' बताया, अब दूसरा कारण यह बताते हैं। अँधेरी रातमें स्वाभाविक ही डर लगता

है। और जहाँ काल वर्तमान है वहाँ भी डर लगता है। वहाँ तो 'अँधियारी' और 'कालरात्रि' दोनों ही वर्तमान हैं; अतएव *'भारी भयावनी'* कहा। (ख)—किसीको कुछ सूझता नहीं इसीमें *'अँधियारी'* कहा और राम-बिना सब मृत्युप्राय हो रहे हैं अतएव *'कालराति'* कहा। अथवा, कालरात्रि है अर्थात् ऐसा जान पड़ता है मानो खाना ही चाहती है। (ग)—*'मानहुँ'* से जनाया कि अवधवासियोंके लिये अयोध्या कालरात्रि नहीं है, पर कालरात्रिके समान इस समय भयानक लग रही है। इसीसे उत्प्रेक्षा करते हैं। जहाँ साक्षात् कालरात्रि है वहाँ उत्प्रेक्षावाचक शब्द नहीं रहता, यथा—*'कालराति निसिचर कुल केरी। तेहि सीतापर प्रीति घनेरी॥'* अर्थात् सीताजी निशाचरोंकी कालरात्रि हैं, नाश करके ही टलेंगी।

नोट—*'लागति अवध भयावनि''''अँधियारी'* इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि नगरकी शोभा बिलकुल नष्ट हो गयी थी। वह पुरवासियोंको तारागण तथा चन्द्रहीन आकाशके समान, जलहीन समुद्रके समान देख पड़ती थी। वह उस समय अन्धकारसे पोती हुईके समान हो गयी थी—'**चन्द्रहीनमिवाकाशं तोयहीनमिवार्णवम्। अपश्यन्निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः॥**' (४७। १८) '**अयोध्यानगरी चासीन्नष्टतारामिवाम्बरम्।**' (४८। ३५) '**तिमिरेणानुलिप्तेव तदा सा नगरी बभौ।**' (४८। ३४)—ये सब भाव *'भयावनि भारी'* के हैं।

घोर जंतु सम पुर नर नारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी॥ ६॥
घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥ ७॥

अर्थ—नगरके स्त्री-पुरुष भयानक जन्तु (जीव) के समान हैं, एक-एक (दूसरे) को देखकर डरते हैं॥ ६॥ घर मरघट और कुटुम्बी मानो भूत हैं। पुत्र, हितैषी (नातेदार) और मित्र मानो यमदूत हैं॥ ७॥

नोट—१ पुरकी भयानकता कहकर अब पुरवासियोंका हाल कहते हैं। अयोध्याकी उत्प्रेक्षा कालरात्रिसे की गयी, अब उसके भीतर भयानक जीव चाहिये सो बताते हैं कि पुरवासी ही बाघ, सिंह और सर्पके समान हैं; इसीसे एक-एकको देख-देखकर डरते हैं। यह पुरका हाल हुआ, आगे घर-घरका हाल कहते हैं। अयोध्याको 'भारी' भयावनी कहा, अतएव वहाँके स्त्री-पुरुषोंको 'घोर' जन्तुके समान कहा।

नोट—२ अयोध्याको प्रलयकी रात्रि कहा। प्रलयमें श्मशान बहुत-से चाहिये। यहाँ लाखों घर ही लाखों मरघट हैं। श्मशानमें भूत रहते हैं, यहाँ कुटुम्बी भूत हैं। वहाँ यमदूत आकर प्राणीको पकड़कर यमपुरीको ले जाते हैं, यमदूतोंको देखकर डर लगता है; वैसे ही यहाँ पुत्र, नातेदार और मित्रोंको देखकर डर लगता है कि हमें पकड़कर अयोध्याको ले जायँगे, श्रीरामजीसे हमारा वियोग करायेंगे।

यहाँतक जंगमकी व्याकुलता कही, आगे स्थावरकी कहते हैं।

नोट—३ *'घोर जंतु सम''''* इति। (वाल्मी० २। ४७। १९) '**नैव प्रजग्मुः स्वजनं परं वा निरीक्षमाणाः प्रविनष्टहर्षाः।**' (अर्थात् वे देख रहे थे, पर कौन अपना है तथा कौन बिराना है यह वे न जान सके) को गोस्वामीजीने कितनी सुन्दरतासे वर्णन किया है।

बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥ ८॥

दो०—हय गय कोटिन्ह केलिमृग पुरपसु चातक मोर।
पिक रथांग सुक सारिका सारस हंस चकोर॥ ८३॥

राम बियोग बिकल सब ठाढ़े। जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढ़े॥ १॥

शब्दार्थ—'**रथांग**'-रथका अंग चक्र; अतएव चक्रवाकका अर्थ हुआ।

अर्थ—बागोंमें वृक्ष और बेलें कुम्हला रही हैं, नदी और तालाब देखे नहीं जाते॥ ८॥ करोड़ों घोड़े, हाथी, क्रीड़ाके पशु, नगरके पशु (गाय, बैल आदि), चातक, मोर, कोयल, चकवा, तोता, मैना, सारस, हंस और चकोर—॥ ८३॥ ये सब श्रीरामजीके वियोगमें ऐसे व्याकुल खड़े हैं, मानो जहाँ-तहाँ तसवीरें कढ़ी हुई (खिंची हुई) खड़ी हैं अर्थात् हिलते-डोलते नहीं॥ १॥

टिप्पणी—१ *'कुम्हिलाहीं'*=सूखे या मुर्झाये जाते हैं। *'देखि न जाहीं'* अर्थात् शोभाहीन हो गये हैं। चेतनमें नरनारियोंकी व्याकुलता कही, अब जड़ोंमें नरनारियोंकी विकलता कहते हैं। विटप पुरुष हैं, बेलि स्त्री हैं। सरिता स्त्री, सरोवर पुरुष। श्रीरामजीके विरहाग्निमें वृक्ष और लताएँ मुरझा गयीं, नदी और तालाबोंका जल गर्म हो गया; क्योंकि श्रीरामजी सबके आत्मा हैं—***'प्रान प्रानके जीवन जी के।'***

टिप्पणी—२ हाथी, घोड़े केलिमृग इत्यादि सब नदी-तालाबके पास पानी पीने आते हैं, यथा—***'दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पियहिं बाजि गज ठाटा॥'*** चातक मोर आदि पक्षी बागोंमें आते हैं। अतएव बाग, नदी और तालाबको प्रथम कहकर पशु-पक्षियोंको कहा। यहाँतक जीवोंकी तीन कोटियाँ कहीं—१ नर-नारी चैतन्य हैं, २—विटप बेलि जड़ हैं, ३—पशु-पक्षी न केवल चेतन हैं, न केवल जड़ ही।

टिप्पणी—३ ***'राम बियोग बिकल सब ठाढ़े।.....'*** इति। ***'लिखि काढ़े'***=लिखकर निकाले गये हैं अर्थात् चितेरेने मानो लिखकर प्रकट किया है, न हिलें डोलें न बोलें। पशु-पक्षियोंकी व्याकुलताका वर्णन करनेका अभिप्राय यह है कि जब ये ऐसे विकल हैं कि जिनको कुछ ज्ञान नहीं है तब भला मनुष्योंकी व्याकुलता कौन वर्णन कर सकता है, यथा—***'जासु बियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु पितु जीहहिं कैसे॥'*** 'राम-वियोगका' भाव कि राम सबके आत्मा हैं सबमें रमते हैं; अतएव उनके वियोगमें सब जड़वत् हो गये हैं।

नोट—१ श्रीरामजीके पाससे लौटनेपर सुमन्त्रजीने अयोध्याजीकी कुछ ऐसी ही दशा देखी और राजासे कही है। वह यह है कि दुःखसे दुःखी होकर वृक्ष भी फूलों और अंकुरोंसहित मुर्झा गये, नदी और तालाब सूख गये, बाग शून्य हो गये, पक्षी चुप हो गये, इत्यादि। (वाल्मी० सर्ग ५९। श्लोक ४—९) सर्ग ४०, ४१, ३३ भी देखिये [पूर्व जो कहा है कि—***'जिमि भानु बिनु दिन प्रान बिनु तन चंद बिनु जिमि जामिनी। तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझि धौं जिय भामिनी॥'*** (५० छंद) उसीका यहाँ विस्तार किया गया है। (प० प० प्र०)]

नगरु सफल* बनु गहबर भारी। खग मृग बिपुल सकल नर नारी॥ २॥
बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं। जेंहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं॥ ३॥
सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥ ४॥

शब्दार्थ—**गहबर**=सघन, गम्भीर। गुफा, कुंज, यथा—'**गह्वरस्तु गुहादम्भनिकुञ्जगहनेष्वपीति विश्वकोशे।**' (बैजनाथ)।

अर्थ—नगर फलसे लदा हुआ सघन भारी वन है, सब स्त्री-पुरुष उसके बहुत-से (अनेक) पशु-पक्षी हैं॥ २॥ ब्रह्माने कैकेयीको भीलिनी बनाया जिसने दसों दिशाओंमें न सही जानेवाली दव (वनाग्नि) लगा दी॥ ३॥ लोग रघुकुलश्रेष्ठ रामजीकी विरहकी अग्निको सह न सके, (अतः) वे सब व्याकुल होकर भाग चले॥ ४॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमारजी—१ ***'नगरु सफल बनु गहबर भारी।.....'*** इति। (क) ***'सफल बन'*** का भाव यह कि नगर सब पदार्थोंसे परिपूर्ण है, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चारों फल देता है। (पाँड़ेजीके मतानुसार नगररूपी वन रामराज्याभिषेकरूपी फलसे फला हुआ है)। नगरकी बस्ती सघन है; अतएव वनको भी ***'गहबर'*** कहा। नगर बड़ा 'भारी' है, ४८ कोस लंबा और १२ कोस चौड़ा है, अतएव वनको भी

* राजापुर, काशिराज, वन्दनपाठकजी, भगवानदासजी इत्यादिकी प्रतियोंमें 'सफल' पाठ है। ना० प्र० ने 'सफल' पाठ दिया है। 'सफल' से स्थावर-जंगम दोनोंका ग्रहण है।—सू० मिश्र।

'भारी' कहा। जब ऐसे भारी नगररूपी वनमें आग लगी तब फिर जल्द कैसे बुझेगी, वह तो १४ वर्षतक जलती रहेगी। वन सघन गम्भीर भारी और फलयुक्त है, इसीसे वहाँ पक्षी बहुत रहते हैं; उनको वहाँ बड़ा आराम है। (ख) यहाँ पशु-पक्षियोंकी व्याकुलताका प्रकरण चल रहा था, यथा—*'हय गय कोटिन्ह केलिमृग"""।'* अतएव पक्षियोंके रूपकसे पुरवासियोंकी व्याकुलता कहने लगे हैं—*'खगमृग बिपुल सकल नरनारी।'* श्रीरामजीके बिना नगर वनके समान है, इसीसे वनका रूपक बाँधा है।

टिप्पणी—२ *'बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही"""'* इति। (क) भाव कि कैकेयी किरातिनी नहीं है, वह तो रामजीको बहुत प्यार करती थी, यथा—*'प्रानतें अधिक राम प्रिय मोरे।',* दैवने उसे किरातिनी बना दिया अर्थात् दैवमायावश होनेके कारण उसने किरातिनीका काम किया। दैवने अपना काम साधनेके लिये उसे ऐसा बना दिया। इस कथनसे वक्ताने उसको निर्दोष किया। (ख)—दसों दिशाओंमें विरहकी अग्नि उत्पन्न कर दी— ४ दिशाएँ ४ उपदिशाएँ और ऊपर-नीचे, वृक्षोंकी टहनी, फुनगी और जड़में। तात्पर्य यह कि नगरकी आठों दिशाओंमें, ऊँचे महलोंमें और नीचे सभी विरहाग्निमें जल रहे हैं।

टिप्पणी—३ *'सहि न सके रघुबर बिरहागी'* इति। विरहाग्नि दु:सह है। *'रघुबर बिरहागी'* का भाव कि जैसे रामजी रघुकुलमें श्रेष्ठ हैं वैसे ही उनके विरहकी अग्नि जलानेमें श्रेष्ठ है। सब लोग बड़े वेगसे खग-मृगकी तरह भाग चले। पुरवासी बहुत हैं, अत: खग-मृग भी विपुल कहे गये।

सबहिं बिचारु कीन्ह मन माहीं। राम लषन सिय बिनु सुखु नाहीं॥ ५॥
जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू॥ ६॥
चले साथ अस मंत्रु दृढ़ाई। सुर-दुर्लभ सुख सदन बिहाई॥ ७॥
राम चरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करहिं कि तिन्हहीं॥ ८॥

अर्थ—सबने मनमें विचार किया कि श्रीराम-लक्ष्मण-सीताके बिना सुख नहीं है॥ ५॥ जहाँ श्रीरामजी रहें वहीं सब समाज रहेगा। रघुवीरके बिना अवधमें (रहनेका कुछ) काम नहीं॥ ६॥ ऐसा मन्त्र (सलाह, मन्तव्य) पक्का करके वे देवताओंको भी दुर्लभ सुख और ऐसे सुखवाले घरोंको छोड़कर साथ हो लिये॥ ७॥ जिनको श्रीरामजीके चरणकमल प्यारे हैं, उन्हें भला विषय-भोग कभी वशमें कर सकते हैं? अर्थात् नहीं॥ ८॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ *'राम लषन सिय बिनु सुखु नाहीं'* इति। इससे जनाया कि अवधवासी रामजीसे ही सुखी हैं और किसी सुखसे सुखी नहीं हैं, यथा—*'तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह ते ही।'* (२९१। ३)

टिप्पणी—२ *'अवध नहिं काजू।'*—देखिये यही उपदेश श्रीसुमित्रा अम्बाजीने लक्ष्मणजीको दिया था— *'जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥'* (७४। ४) *'जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू'* का भाव कि राम सब सुखोंके धाम हैं, यथा—*'सो सुखधाम राम अस नामा।'* (१। १९७) उनके साथ समाजको सब सुख है। *'रघुबीर'* का भाव कि श्रीरामजी दयावीर हैं, दानवीर हैं। उनके साथ रहनेसे वे दया भी करेंगे और पालन भी करेंगे; अतएव अवधमें हमारा कौन काम है?

टिप्पणी—३ *'सुर-दुर्लभ सुख सदन"""'* इति। (क) सत्योपाख्यानमें लिखा है कि इन्द्रादिक देवताओंने अयोध्याजीको देखकर ब्रह्माजीसे कहा कि आपने हमको ठग लिया। तब ब्रह्माने समझाया कि अयोध्या दिव्य है, महावैकुण्ठ है, यहाँके निवासी परिषद् हैं। बालकाण्डमें भी कहा है कि *'नित नव सुख सुर देखि सिहाहीं। अवध जनम जाचहिं बिधि पाहीं॥'* (३६०। २) (ख) यहाँ मन्त्र दृढ़ करनेको कहते हैं आगे इसीको जहाज कहना है, जहाज दृढ़ होना चाहिये। इसीसे मन्त्रका दृढ़ करना कहते हैं।

टिप्पणी—४ *'राम चरन पंकज प्रिय जिन्हहीं।'* """"इति। कमल जलमें रहते हुए भी उससे पृथक्

रहते हैं, वैसे ही रामचरणकमलके प्रेमी अवधवासी विषय-भोग करते हैं, पर उसके वश नहीं हैं। क्योंकि जो सुख चरणकमलमें है वह विषय-भोगमें नहीं। यथा—*'सात टूक कोपीनकी औ भाजी बिनु लोन। तुलसी रघुबर उर बसें इन्द्र बापुरो कौन॥'* पुनः, विषय-भोग मनको वश कर लेता है और इनके मन चरणकमलोंमें भ्रमरकी तरह लुब्ध हैं तो विषय-बबूल-पुष्पके वश कैसे हो सकते हैं?

दो०—बालक बृद्ध बिहाइ गृह लगे लोग सब साथ।
तमसा तीर निवासु किय प्रथम दिवस रघुनाथ॥ ८४॥

अर्थ—घरमें बच्चों बूढ़ोंको* छोड़कर सभी लोग साथ लगे। पहले दिन रघुनाथजीने तमसा नदीके तट (किनारे) पर वास किया॥ ८४॥

टिप्पणी—१ बालक-वृद्ध दौड़ नहीं सकते और इस समय रथके साथ दौड़ते हुए चलना है। पूर्व कह भी आये हैं कि अयोध्यावासी अयोध्यासे भाग निकले—*'चले लोग सब ब्याकुल भागी।'* अतएव *'बालक बृद्ध बिहाइ'* कहा।

टिप्पणी—२ *'तमसा तीर····रघुनाथ'* भाव कि लोगोंका दुःख देखकर श्रीरामचन्द्रजी तमसाके समीप ठहर गये, नहीं तो गंगातटपर निवास करते। पुनः भाव कि ज्योतिषमें ऐसा लिखा है कि यात्रामें प्रथम दिन अपने सिवानेमें रहे। अतएव तमसापर रुक गये।

टिप्पणी—३ *'प्रथम दिवस'* कहकर जनाया कि आजसे ही १४ वर्षकी गिनती प्रारम्भ हो गयी। आज वनवासका प्रथम दिन हुआ।

नोट—१ यहाँ आज रघुनाथजी निराहार ही रह गये, केवल जल ग्रहण किया था। यह वाल्मीकीयमें स्पष्ट है। सर्ग ४६ श्लो० १०—'**अद्भिरेव हि सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम्। एतद्धि रोचते मह्यं वन्येऽपि विविधे सति॥**' अर्थात् हे लक्ष्मण! यद्यपि यहाँ फल आदि भोजनके पदार्थ हैं पर आज जलपर रहनेकी इच्छा है। और सुमन्त्रजीने भी राजासे ऐसा ही कहा है—*'न्हाइ रहे जल पान करि सिय समेत दोउ बीर।'* (१५०) चैत्र शुक्ल नवमीको वनवास हुआ।

नोट—२ *'तमसा'* एक छोटी नदी जो अयोध्याके पश्चिमसे निकलकर बलियाके पास गंगामें मिलती है। इसी तमसाके तटपर श्रीराम-सीता-लक्ष्मणजी ठहरे थे। इससे आगे चलकर गोमती और गंगा पड़ी थीं—(श० सा०)। इसे टौंस भी कहते हैं।

लालासीतारामजी (डिप्टीकलेक्टर पेंशनर) लिखते हैं कि—वाल्मीकिजी तमसाको उत्तरंगा नदी कहते हैं। आजकल इसको मड़हा कहते हैं। यह छोटी नदी अयोध्यासे ६ कोस दक्खिन बहती है। १८ कोस पूर्व जाकर अकबरपुरसे थोड़ी दूरपर बिसुईसे मिलती है और उसके आगे टोंसके नामसे प्रसिद्ध है जो तमसाका अपभ्रंश है। मड़हा गर्मीके दिनोंमें कभी-कभी सूख जाती है। परंतु बरसातमें इसका पाट आध-मीलतक हो जाता है। उसके आस-पास बहुत-से ताल और झीलें हैं। इसमें एक झील बरन भी है। वारण संस्कृतमें हाथीको कहते हैं और यह प्रसिद्ध है कि इसमें महाराजा दशरथके हाथी रहते थे। इसीके पास बाजार बसा हुआ है। भरतकुण्डसे पूर्व दो कोसपर ताड़डीह गाँव है। उसमें इस नदीका एक घाट रामचौराके नामसे प्रसिद्ध है। जहाँ श्रीरामचन्द्रजी पहले दिन ठहरे थे।

रायसाहब पं० परमेश्वरदत्त मिश्र डि० सुपरिन्टेंडेन्ट पुलिसने सम्पादकसे अपनी यात्रा जो वर्णन की उसके अनुसार कनकभवन श्रीअयोध्याजीसे श्रीसीताराम-निवास स्थान ७ कोस है। १४ क्रोशी परिक्रमामें घपाप कुण्ड एक पड़ता है जहाँसे नन्दिग्राम रास्तेसे आधमील दाहिने छूट जाता है। भरतकुण्डसे लगभग एक मील आगे सुलतानपुर-प्रतापगढ़वाली सड़क कच्ची सड़कसे मिलती है। इसके सामने चकिया नामक

* दूसरा अर्थ—बच्चे, बूढ़े सभी लोग घरोंको छोड़कर साथ हो लिये। यथा—'ततः सबालवृद्धा सा पुरी परमपीडिता। राममेवाभिदुद्राव घर्मार्तः सलिलं यथा॥' (वाल्मी० २। ४०। २०)

गाँव मिलता है जहाँ एक ब्राह्मणका घर है और बाकी सब केवट आदिके घर हैं। इसी जगह तमसा नदीका पत्थर गड़ा है जहाँ प्रभु सियलषनसहित ठहरे थे। नगर-निवासी नन्दिग्रामसे लेकर चकियातक फैले पड़े रहे। रामरथीवीताल गाँव वह स्थान है जहाँसे अवधवासियोंको फिर रास्तेके चिह्न नहीं मिले।

(नोट—चित्रकूटको पैदल जानेके इच्छुकोंके लिये सरकारोंके चित्रकूट पहुँचनेके पश्चात् रास्तेका पूरा ब्योरा लिखा जायगा।)

रघुपति प्रजा प्रेम बस देखी। सदय हृदय दुखु भएउ बिसेषी॥ १॥
करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइअहि पीर पराई॥ २॥

अर्थ—प्रजाको प्रेमके वश देखकर श्रीरघुनाथजीके दयालु हृदयमें बड़ा दुःख हुआ॥ १॥ गोस्वामी रघुनाथजी करुणामय (दयाके स्वरूप ही) हैं। वे दूसरेकी पीर (पीड़ा, दुःख) शीघ्र पाते हैं अर्थात् दूसरेकी पीड़ा देख स्वयं पीड़ित हो जाते हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ ***'रघुपति प्रजा प्रेम बस देखी'*** इति। प्रजाका प्रेम प्रत्यक्ष देख पड़ता है। प्रेमके मारे व्याकुल हैं। घरका सुख सब छोड़ दिया और साथमें दुःख उठानेको तैयार हैं। अतएव ***'देखी'*** पद दिया। प्रेमके वश देखा इसीसे दया आ गयी, क्योंकि श्रीरामजी प्रेम होनेसे कृपा करते हैं, यथा—***'राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निःकेवल प्रेम।'*** (६। ११६) ***'दुखु भएउ बिसेषी'***से जनाया कि रामजीको प्रजा एक तो प्रजाभावसे प्रिय है, यथा—***'सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥'*** (१७२। ४) दूसरे प्रेमभावसे भी प्रिय है, यथा—***'रामहि केवल प्रेम पियारा।'*** (१३७। १) अतएव वे विशेष दुःखी हुए। पुनः ये दयालु-चित्त हैं इससे अधिक दुःख हुआ, यथा—***'जनके दुख रघुनाथ दुखित अति सहज प्रकृति करुनानिधान की।'*** (गी० ५। ११) (जिसके हृदयमें दया है वही दूसरेके दुःखको देख दुःखी होगा, दूसरा नहीं अतएव ***'सदय'*** विशेषण दिया।)

टिप्पणी—२ ***'करुनामय रघुबीर गोसाँई'***—इन्द्रियोंके स्वामी हैं, सबकी इन्द्रियोंका हाल जानते हैं; इसीसे शीघ्र पीर पाते हैं। ऊपर कहा कि प्रजाका दुःख देखकर रामजीके हृदयमें दया आयी इससे जान पड़ा कि कारण पाकर करुणा हुई। उसीपर कहा कि रघुनाथजी करुणामय हैं अर्थात् बिना कारण ही कृपालु होते हैं।

कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाए। बहु बिधि राम लोग समुझाए॥ ३॥
किये धरम उपदेस घनेरे। लोग प्रेम बस फिरहिं न फेरे॥ ४॥

अर्थ—प्रेमसहित सुन्दर कोमल वचन कहकर श्रीरामजीने लोगोंको बहुत तरहसे समझाया॥ ३॥ धर्मके अनेक उपदेश किये, पर, प्रेमवश होनेसे लोग लौटानेसे भी नहीं लौटते॥ ४॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ (क) ***'रघुपति प्रजा प्रेम बस देखी'*** अतएव ***'सप्रेम'*** उनको समझाया। प्रेमसे समझाते हैं और सुन्दर मीठे कोमल वचन कहकर, जिसमें वियोग करानेवाला यह उपदेश कानोंको कड़ुवा न लगे, उनके हृदयमें उससे दुःख न हो। वचनोंमें धर्मका उपदेश है; अतएव वे ***'सुहाए'*** हैं। लोग बहुत हैं, अतएव ***'राम समुझाए'*** पद दिया, ये सबमें रमते हैं, इतने लोगोंको समझाना उनके लिये असम्भव नहीं, यथा—***'यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं॥'*** (२४४। ४) [(ख) धर्म उपदेश अर्थात् कहा कि पिताकी आज्ञा पालन करना धर्म है और तुमको भी उचित है कि जिसमें हमारा धर्म रहे और तुम्हारा भी, वही करो। हमारी आज्ञा मानो, अयोध्यामें रहो, यह तुम्हारा धर्म है। और भी धर्मोपदेश किये जैसे सुमन्त्रजीसे उन्होंने कहा है, ***'सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥ रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरम धरेउ सहि संकट नाना॥ धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥ मैं सोइ धरम सुलभ करि पावा। तजे तिहूँ पुर अपजसु छावा॥ संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'*** (९५। ३—७) पुनः, वनमें गृहस्थी-धर्म तुम लोगोंका निबह नहीं सकता, इत्यादि]।

टिप्पणी—२ ***'प्रेम बस फिरहिं न फेरे'*** इति। प्रथम बार लोग समझानेसे आज्ञा मानकर लौटानेसे लौट भी जाते थे यह समझकर कि ***'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।'*** यथा—***'कृपासिंधु बहुबिधि समुझावहिं। फिरहिं प्रेमबस पुनि फिरि आवहिं॥'*** परंतु अब धर्मोपदेश करनेपर लौटानेसे भी नहीं लौटते; तात्पर्य यह कि जिस धर्मसे श्रीरामजी मिलें वही धर्म है, जिस धर्मसे उनका वियोग हो, उनका साथ छूटे, वह धर्म धर्म नहीं, यथा—***'सो सुखु करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥'*** (२९१। १) (नोट—प्रेमी तो प्रेमको ही जानता-मानता है, धर्मको नहीं।)

सील सनेहु छाड़ि नहिं जाई। असमंजस बस भे रघुराई॥ ५॥
लोग सोग श्रम बस गए सोई। कछुक देव माया मति मोई॥ ६॥

शब्दार्थ—**मोई**=मिल गयी—(पु० रा० कु०); मोह गयी; भिगोई—(पाँड़ेजी); मिश्रित हुई वा मोहित हुई—(वन्दन पाठकजी)। मोना=भिगोना, तर करना, यथा—***'तुलसी मुदित मातु सुत गति लखि बिथकी है ग्वालि मैन मन मोए।'*** (कृष्ण गी० ११) ***'कह्यौ राम तहँ भरत सों काके बालक दोइ। मोर चरित गावत मधुर सुर संयुत रस मोइ॥'*** (विश्राम)-(शब्द-सागर)।

अर्थ—शील और स्नेह छोड़ा नहीं जाता। श्रीरघुनाथजी असमंजस (दुविधा) में पड़ गये॥ ५॥ लोग शोक और श्रम (थकावट) के कारण सो गये और कुछ देवताओंकी मायासे भी उनकी बुद्धि मोहित हो गयी॥ ६॥

टिप्पणी— पुरुषोत्तम राजकुमार—१ ***'सील सनेहु'''''*** इति। श्रीरामचन्द्रजी शील और स्नेहके निबाहनेवाले हैं, शील-स्नेह नहीं तोड़ते; इसीसे उनका निरादर नहीं कर सकते। 'ऊँची-नीची' बातें कहकर नहीं फेर सकते, यथा—***'को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनिहारा'*** (२४। ४) कैसे इनको छोड़कर चल दें इस सोचमें पड़े हैं; अतः ***'रघुराई'*** कहा।

टिप्पणी—२ ***'लोग सोग श्रम'''*** इति। (क) थकावटसे नींद बहुत आती है, यथा—***'श्रमित भूप निद्रा अति आई।'*** (१। १७०। २) अयोध्याजीसे तमसातटतक दौड़ते आये हैं; इसीसे बहुत श्रम हुआ और शोक वियोगका है। (ख)—***'कछुक देव माया'*** का भाव कि शोक और श्रम बहुत है, देवमाया कुछ ही है। राजभंग और वनवास करानेमें देवताओंने बहुत माया की थी; उसके आगे यह माया कुछ ही है। लोग थके थे ही ऐसे ही बेखबर सोते; और अधिक गहरी निद्रा लानेके लिये अधिक मायाकी जरूरत न हुई। मायासे निद्रा आती है, यथा—**'या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।'** (ग) इस चौपाईका भाव यह है कि अयोध्यावासी बड़े सावधान हैं। शोक, श्रम और देवमाया इन तीनोंके वश हुए तब उन्हें ऐसी नींद आयी।

जबहिं जाम जुग जामिनि बीती। रामु सचिव सन कहेउ सप्रीती॥ ७॥
खोज मारि रथ हाँकहु ताता। आन उपाय बनिहि नहिं बाता॥ ८॥

अर्थ—जब दो पहर रात बीत गयी, तब रामचन्द्रजीने प्रेमपूर्वक मन्त्रीसे कहा—॥ ७॥ हे तात! खोज मारकर (अर्थात् जिसमें रथकी लकीर वा चिह्नका पता न लगे इस प्रकार) रथ हाँको, और किसी उपायसे बात न बनेगी (अर्थात् भागने और सोते छोड़नेसे ही बात बनेगी)॥ ८॥

टिप्पणी—***'जबहिं जाम जुग'''''*** इति। ऐसा जान पड़ता है कि अवधवासी आधी राततक जागते रहे थे। इसीसे मन्त्रीसे बात करनेका योग न लगा था, अब मौका मिला। प्रभु सुमन्त्रजीको पिताके समान मानते हैं; अतएव जैसे पितासे प्रेमसहित बोलते हैं वैसे ही बोले—(काम भी निकालना है, नहीं तो जगा दें तो कैसे बने और प्रीतिपूर्वक बोलना तो आपका स्वभाव ही है। पं० शिवलाल पाठकजीका मत है कि उस दिन सुन्दर रामनवमी थी, इसीसे दो पहर रातके बाद जब चाँदनी मन्द पड़ी तब सुमन्त्रजीसे रथ हाँकनेको कहा। और बैजनाथजी लिखते हैं कि दक्षिण दिशाकी यात्राके लिये अर्द्धरात्रि शुभ बेला है)।

दो०—राम लषनु सिय जान चढ़ि संभु चरन सिरु नाइ।
सचिव चलाएउ तुरत रथु इत उत खोज दुराइ॥ ८५॥

अर्थ—श्रीशंकरजीके चरणोंमें माथा नवाकर श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी रथपर चढ़े। तब मन्त्रीने तुरत रथको इधर-उधर खोज मारकर चलाया॥ ८५॥

टिप्पणी—(१) रामजीका रथपर चढ़कर शिवजीको प्रणाम करके चलना न कहा, क्योंकि जब रथ चले तब उनका चलना कहा जा सके। *'तुरत'* जिसमें अभी गहरी नींद है, कोई जागने न पावे। सुमन्त्रका रथपर चढ़ना *'चलाएउ'* से जना दिया, साथमें न कहा क्योंकि वह हाँकनेवाले हैं, पहलेसे रथपर चढ़े हैं। *'खोज मारि रथ हाँकहु ताता'* इस वचनका यहाँ अर्थ करते हैं—*'इत उत खोज दुराइ।'*

टिप्पणी—२ अवधसे चलते समय *'गणपति गौरि गिरीश'* तीनका मंगलाचरण करना कहा और यहाँ केवल शिवजीका कहते हैं। भाव यह है कि जैसे यहाँ रामजी सब अवधवासियोंको छोड़कर चले हैं, वैसे ही मंगलाचरणमें भी गणपति और गौरीको छोड़ दिया।

पाँड़ेजी—शिवजीको प्रणाम करनेका भाव—१—माधुर्यमें शिवजीके उपासक हैं, यथा—*'सेवक स्वामि सखा सिय पीके।'* २—रात्रिमें चलना वर्जित है, रुद्रगण-प्रेत, पिशाचादि उस समय फिरा करते हैं, अत: उनके विघ्नकी शान्तिके लिये। ३—शं=कल्याण+भु=उत्पन्न करनेवाले। कल्याणके करनेवाले हैं, इनका स्मरण विपत्तिका नाशक है। ४—मृत्यु इनके अधीन है, ये संहारकर्ता हैं, अवधवासी प्राण देनेपर संनद्ध हैं, उनके प्राणोंकी रक्षा करें, इत्यादि।

वि० त्रि०—पहले रथपर चढ़े, तब शम्भु-चरणोंमें सिर नवाया। इसके बाद रथ चला अर्थात् यात्रा आरम्भके पहले फिर महादेवजीको प्रणाम किया। पहले पुत्र-कलत्रके साथ प्रणाम करना कह चुके हैं। यहाँ भी वही समझना चाहिये। शम्भुमूर्तिमें गणपति-गौरीका अन्तर्भाव है। शिवजीकी गोदमें गिरिजा हैं और उनके गोदमें गजानन हैं। तीनों कल्याणदाता हैं। शम्भु नाममें तीनोंका अन्तर्भाव है, '**शम्=कल्याणं भावयति उत्पादयतीति शम्भुः।**' कल्याणका उत्पादन करते हैं, इसलिये शम्भु कहलाते हैं।

नोट—*'इत उत खोज दुराइ'* इति। इससे *'खोज मारि रथ हाँकहु'* का अर्थ स्पष्ट कर दिया। काष्ठजिह्वा स्वामीका मत है कि रथके पीछे झाँखड़ (या झरबेरीके काँटे—सू० मिश्र) बाँधकर रथ चलानेसे पहियेका निशान मिटता जाता है, लोग यह समझेंगे कि कोई झाँखड़ घसीटकर ले गया है। आकाशमार्गसे चलना कहनेसे ठीक नहीं होता; क्योंकि उससे ऐश्वर्य नहीं छिपेगा। (रा० प्र०)

वाल्मीकिजी लिखते हैं कि भुलावा देनेके लिये श्रीरामजीने सुमन्त्रजीसे कहा कि पहले रथ उत्तरकी ओर ले चलो फिर बड़ी सावधानीसे लौटाओ जिसमें पता न चले कि हम किधर गये। —'**उदङ्मुखः प्रयाहि त्वं रथमारुह्य सारथे॥**' '**मुहूर्त्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः। यथा न विद्युः पौरा मां तथा कुरु समाहितः॥**' (४६। ३०-३१) आगे—*'रथ कर खोज कतहुँ नहिं पावहिं'* देखिये।

वि० त्रि०—सुमन्त्र मन्त्री है, उसने देखा कि प्रजाके साथ चलनेमें किसीका कल्याण नहीं है। अत: उसने बिना कुछ कहे-सुने, रघुनाथजीकी आज्ञाका पालन किया। इस भाँति रथ चलाया कि उसकी लीक देखनेसे पता न चले कि रथ किधर गया। जिधर देखते हैं उधरसे ही मालूम होता है कि रथ गया है। लीकोंकी ऐसी भूल-भूलैयाँ बन गयी हैं कि बुद्धि काम नहीं करती। यह रथ चलानेका पाण्डित्य है।

जागे सकल लोग भये भोरू। गे रघुनाथ भएउ अति सोरू॥ १॥
रथ कर खोज कतहुँ नहिं पावहिं। राम राम कहि चहुँ दिसि धावहिं॥ २॥
मनहुँ बारिनिधि बूड़ जहाजू। भएउ बिकल बड़ बनिक समाजू॥ ३॥

अर्थ—सबेरा होनेपर सब लोग जगे। रघुनाथजी चले गये इसका बड़ा शोर मच गया॥ १॥ रथका

निशान कहीं नहीं पाते, 'हा राम! हा राम!!' कहकर चारों ओर दौड़ते हैं॥ २॥ मानो समुद्रमें जहाज डूब गया, इससे व्यापारी लोग बड़े व्याकुल हो गये हैं॥ ३॥

नोट—*'अति सोरू'* इति। वाल्मीकिजी सर्ग ४७ में लिखते हैं कि प्रातःकाल उठकर राघवको न देख वे शोकके मारे कर्तव्य-विमूढ़ और अचेत हो गये। होश आनेपर रोते हुए चारों ओर दौड़े पर कोई भी चिह्न न देख उनके मुख सूख गये, उन बुद्धिमानोंका ज्ञान जाता रहा, वे परस्पर आर्त वचन बोलने लगे—उस निद्राको धिक्कार है जिससे हम असावधान होकर महाबाहु रामजीको खो बैठे, हा! हम भक्तोंको छोड़कर वे कैसे चले गये! वे पुत्रकी तरह हमारा पालन करते थे, वे रघुकुलश्रेष्ठ हमें छोड़कर वन क्यों चले गये? उनके बिना किस सुखके लिये जियें? हम मर जायँगे वा हिमालयपर मरनेके लिये चले जायँगे, या यहीं चिता बनाकर जल मरेंगे। हमें नगरी देखकर दुःखी होगी। हा! हम क्या कहेंगे कि हम वन भेज आये! इस प्रकारसे हाथ ऊपर उठाकर वे अनेक तरहका विलाप करने लगे जैसे बछड़ेके वियोगसे गाय बँवाये और दुःखित हो। बड़े प्रयत्नसे पता लगाकर मार्गपर चले, जब आगे पता न चला तब वे हताश हो घबड़ाकर चीख उठे—अरे, यह क्या! रथका मार्ग क्या हो गया? हा, अब क्या करें? हमारे तो भाग्य ही फूट गये—'**किमिदं किं करिष्यामो दैवेनोपहता इति॥**' (१४) '**धिगस्तु खलु निद्रां तां ययापहतचेतसः। नाद्य पश्यामहे रामं पृथूरस्कं महाभुजम्॥**' (४) '**कथं रामो महाबाहुः स तथावितथक्रियः। भक्तं जनमभित्यज्य प्रवासं तापसो गतः॥**' (५) '**यो नः सदा पालयति पिता पुत्रानिवौरसान्। कथं रघूणां स श्रेष्ठस्त्यक्त्वा नो विपिनं गतः॥**' (६) '**इहैव निधनं याम महाप्रस्थानमेव वा। रामेण रहितानां नो किमर्थं जीवितं हितम्॥**' (७) '**……सा नूनं नगरी दीना दृष्ट्वास्मान् राघवं विना। भविष्यति निरानन्दा सस्त्रीबालवयोऽधिका**' (१०) '**……इतीव बहुधा वाचो बाहुमुद्यम्य ते जनाः। विलपन्ति स्म दुःखार्त्ता हृतवत्सा इवाग्रगाः॥**' (१२)

टिप्पणी—१ (क) राम-राम कहकर चारों ओर दौड़ते हैं, इसीसे बड़ा शोर हुआ। *'चहुँ दिसि धावहिं'* इस पदसे *'इत उत खोज दुराइ'* का अर्थ स्पष्ट करते हैं कि रथकी लीक चारों दिशाओंमें लगायी हैं। (ख) ☞राम-राम कहते चारों ओर दौड़ते हैं पर रामजीको नहीं पाते। जब भरतजीके साथ जायँगे तब पायेंगे। इससे जनाते हैं कि चारों वर्णाश्रमों, चारों वेदोंमें ढूँढ़े भगवान् नहीं मिलते और संतद्वारा मिलते हैं।

टिप्पणी—२ *'मनहु बारिनिधि बूड़ जहाजू'* इति। श्रीरामजीको अयोध्यासे लंकातक जाना है। यह सब भूमि मानो समुद्र है। अवधवासियोंका साथ रहनेका मनोरथ—*'जहाँ राम तहँ सबुइ समाजू'* और *'चले साथ अस मंत्र दृढ़ाई'*—यही दृढ़ जहाज है। यह जहाज अयोध्याजीसे चला और तमसा किनारे आकर डूब गया; अर्थात् तमसा-तीरतक अवधवासियोंका मनोरथ पूरा हुआ, आगे न चल सका; क्योंकि श्रीरामजी छोड़कर चले गये। अयोध्यावासी वणिक् हैं, वे विकल हो गये; क्योंकि जहाज डूब जानेसे माल मारा गया—श्रीरामलक्ष्मण-सीताजीका चला जाना यही मालकी हानि है। रामरूपी माल हाथसे जाता रहा, अतएव जैसे वणिक् मालका नाम ले-लेकर रोता है वैसे ही ये हा राम! हा राम! कह-कहकर रोते-चिल्लाते और व्याकुल हो रहे हैं।

वि० त्रि०—श्रीरामजीके वियोगमें अवधवासियोंका धैर्य छूट गया और वे ऐसे विकल हुए, जैसे डूबते हुए जहाजका वणिक्-समाज विकल हो जाता है। किसीका धैर्य नहीं रह जाता। यहाँ धैर्यका छूटना ही डूबना है, यथा—*'नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू॥ करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥ धीरज धरिअ त पाइअ पारू।'* (१५४। ५—७)।

एकहि एक देहिं उपदेसू। तजे राम हम जानि कलेसू॥ ४॥
निंदहिं आपु सराहहिं मीना। धिग जीवनु रघुबीर बिहीना॥ ५॥

शब्दार्थ—**आपु**=अपनेको, अपनी। **धिग** (धिक्)=धिक्कार योग्य।

अर्थ—एक-दूसरेको उपदेश देते हैं कि श्रीरामजीने हमारा क्लेश विचारकर हमें छोड़ दिया है। (अर्थात् यह समझकर कि हम सबको बड़ा कष्ट होगा, हमारे ऊपर तरस खाकर कुछ निरादरसे नहीं किंतु दयाके कारण हमको छोड़ा)॥ ४॥ अपनेको धिक्कारते हैं, मछलीकी ईर्ष्यापूर्वक बड़ाई करते हैं और कहते हैं कि रघुवीरके बिना हमारे जीवनको धिक्कार है॥ ५॥

टिप्पणी—१ ***'एकहि एक देहिं उपदेसू'*** अर्थात् जबतक श्रीरामजी रहे तबतक वे सबको समझाते रहे, अब कौन ढाढस दे? अतएव आपसमें एक-दूसरेको समझाते हैं?

नोट—१ ***'जानि कलेसू'***, यथा—**'नाहं गच्छामि नगरमेते वै क्लेशभागिनः।'** (अ० रा० २। ५। ५४) अर्थात् मैं तो नगरको लौटकर जाऊँगा नहीं और ये व्यर्थ क्लेश उठायेंगे। वाल्मीकीयमें रामजीके ये वचन हैं—**'पौरा ह्यात्मकृताद्दुःखाद्विप्रमोच्या नृपात्मजैः। न तु खल्वात्मना योज्या दुःखेन पुरवासिनः॥'** (२। ४६। २३) अर्थात् राजपुत्रोंको चाहिये कि वे पुरवासियोंके उन दुःखोंको मिटावें जो उन्होंने अपने हाथों अपने ऊपर बुला लिये हैं। अपना दुःख पुरवासियोंको न भोगने दें। यह कहकर उन्होंने सुमन्त्रजीसे खोज मारकर रथ ले चलनेको कहा है।

नोट—२ ***'मकर उरग दादुर कमठ जल जीवन जल गेह। तुलसी एकइ मीन को है साँचिलो सनेह॥'*** (दो० ३१८) ***'मीन काटि जल धोइए खाए अधिक पियास। तुलसी प्रीति सराहिए मुएहु मीत की आस॥'*** ***'सुलभ प्रीति प्रीतम सबै कहत करत सब कोइ। तुलसी मीन पुनीत तें त्रिभुवन बड़ो न कोइ॥'*** (दोहा ३२०) यह मछलीकी प्रशंसा है।

'जग जो बनायो तो बनायो ना बिगारो कछु जगको बनाइ नहिं जीव बिस्तारतो। जीवरचनामें रचतो न नर नारी फेरि, कीन्हें नरनारि तो न प्रेमको प्रचारतो॥ प्रेमको प्रचारो तो प्रचारो न संयोग देतो देयके संयोग सो बियोग न बिचारतो। अवधनिवासी कहें रामके बियोग हमें माँगे देत मौत बिधि होत जो उदार तो॥'

टिप्पणी—२ ***'धिग जीवनु रघुबीर बिहीना'*** इति। जब अवधसे वनको रामजी चलने लगे तब ***'बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी। जिमि जलचरगन सूखत पानी॥'*** अर्थात् तब उनकी व्याकुलताका दृष्टान्त यह दिया था कि जैसे जलचर तालाब आदिका जल सूखते हुए व्याकुल हों। श्रीरामजी वनको चले पर अभी उनका साथ था; रामरूपी जल अभी बना हुआ था; अब उनका साथ छूट गया, जल बिलकुल न रह गया तो तड़पकर मर जाना चाहिये था जैसे मछली मर जाती है पर हम जीवित हैं, अतएव हमारा जीवन धिक्कार योग्य है। (नोट—स्मरण रहे कि पूर्व जलचरकी उपमा दी थी, सब जलचर पानी सूखनेपर मर नहीं जाते मछली ही मर जाती है।)

जौं पै प्रिय बियोगु बिधि कीन्हा। तौ कस मरनु न मागें दीन्हा॥ ६॥
एहि बिधि करत प्रलाप कलापा। आए अवध भरे परितापा॥ ७॥
बिषम बियोगु न जाइ बखाना। अवधि आस सब राखहिं प्राना॥ ८॥

अर्थ—ब्रह्माने जो निश्चय ही प्यारेका वियोग रचा था तो माँगी मौत भी क्यों न दी॥ ६॥ इस प्रकार प्रलाप-समूह करते हुए अत्यन्त दुःख और दाहसे भरे वे अयोध्याजी आये॥ ७॥ कठिन दुःख वर्णन नहीं किया जा सकता, सब (१४ वर्षकी) अवधिकी आशासे (कि इसके बीतनेपर फिर मिलेंगे) प्राण रख रहे हैं॥ ८॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ (क) ***'कस मरनु न मागें दीन्हा'*** से जनाया कि वे मृत्यु चाहते हैं पर मिलती नहीं, माँगी मृत्यु मिलती तो मीनकी तरह मर जाते; क्योंकि मीनकी प्रशंसा कर रहे हैं। (ख) ***'करत प्रलाप कलापा''''''भरे परितापा'*** अर्थात् मुखसे प्रलाप करते हैं और अन्तःकरणमें परिताप है, भीतर-बाहर दोनोंमें दुःख व्याप्त हो गया है। वियोग-दुःखमें ये लोग प्रलाप करते हैं जैसे लक्ष्मणजीके वियोग-दुःखमें रामजीने 'प्रलाप' किया है—***'प्रभु प्रलाप सुनि कान।'*** वैसा ही यहाँ समझ लेना चाहिये।

(ग) ***'भरे परितापा'***—विरहाग्निके भयसे पुरवासी अवध छोड़ भगे थे, यथा—***'सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥'*** (८४।४) रामजीके साथ गये, वहाँ भी वियोग हुआ। अतएव वहाँसे विरहाग्निके परितापसे भरे हुए आये।

टिप्पणी—२ ***'बिषम बियोगु'*** अर्थात् ऐसे दुःखमें वे मर जाते पर आशासे प्राण रखते हैं। विषम वियोग विषम ज्वर है—***'जरहिं बिषम ज्वर लेहिं उसासा। कवनि राम बिनु जीवन आसा॥'*** (५१।५) राम बिना जीवनकी आशा नहीं है; उनके मिलनेकी आशासे प्राण रखे हैं।

दो०—राम दरस हित नेम ब्रत लगे करन नर नारि।
मनहुँ कोक कोकी कमल दीन बिहीन तमारि॥ ८६॥

अर्थ—स्त्री-पुरुष राम-दर्शनके लिये नियम और व्रत करने लगे, मानो चकवा, चकवी और कमल सूर्यके बिना दीन दुःखी हैं॥ ८६॥

'नेम ब्रत'—बाह्य-वस्तु-साध्य नित्य-कर्मोंको 'नियम' कहते हैं, जैसे शौच, संतोष, तप, वेदपठन और ईश्वरका ध्यान। व्रत भी प्रायः नियमके लक्षणमें अन्तर्भूत है, परंतु विशेषकर काम्य और स्वयं गृहीतकर्मको व्रत कहते हैं; जैसे उपवास, नक्त-भोजन। यद्यपि नियम और व्रत इनके अर्थमें भेद दर्शाया है तथापि ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। प्रवाह-पतित होनेसे एकके साथ दूसरेका उच्चारण होता है, जैसे 'यज्ञयागादिक।' (वि० टी०)

पुरुषोत्तम रामकुमार—१ (क) सूचीकटाहन्यायानुसार पहले पुरवासियोंका विरह वर्णन किया, आगे श्रीरामजीका वृत्तान्त वर्णन करेंगे। (ख) श्रीरामदर्शनके लिये नेमव्रत करने लगे। इससे विदित हुआ कि साधनसे श्रीरामजीकी प्राप्ति होती है, यथा—***'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥'*** (२०९।५) क्या नेमव्रत किये, इसका ब्योरा आगे स्पष्ट करके लिखते हैं—***'पय अहार फल असन एक निसि भोजन एक लोग। करत रामहित नेम ब्रत परिहरि भूषन भोग॥'*** (१८८) (ग) ***'कोक''''दीन बिहीन तमारि'*** इति। यहाँ १४ वर्षका वियोग रात्रि है, उसके बाद रामजीका आगमन सूर्योदय है जिससे शोक-तम निवृत्त होगा!

कोक-कोकीकी उपमा देकर सूचित किया कि पुरवासियोंका पति-पत्नीसे (पतिको पत्नीसे और पत्नीको पतिसे) विछोह है, और कमलके दृष्टान्तसे सूचित किया कि सब शोभासे रहित हैं। जैसे बिना सूर्यके अन्धकार वैसे ही अयोध्यामें बिना रामजीके (शोकरूपी) तम है, यथा—***'लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी॥'***

मानस-मयंक—कोक-कोकीकी उत्प्रेक्षासे सूचित करते हैं कि सब लोग वानप्रस्थ-आश्रमके नियमको पालन करने लगे, यद्यपि स्त्री साथ है तो भी भूलकर भोग नहीं रुचता। नेम-व्रतसे सूचित होता है कि शरीररक्षार्थ कुछ भोजनका अवलम्बन किये हैं।

मु० रोशनलाल—'कमलका दृष्टान्त देकर शोभाका नष्ट होना जनाया; क्योंकि कुम्हलाये हुए कमलमें स्याही आ जाती है और लाली नष्ट हो जाती है और कोक-कोकीके दृष्टान्तसे शृंगार-वासनाका जाता रहना, एवं करुणाकी वृद्धि सूचित की।'

श्रीनंगे परमहंसजी—श्रीअवधके स्त्री और पुरुषोंने इस नियमका व्रत किया कि रात्रिरूप चौदह वर्षकी अवधितक रघुनाथजीका दर्शन किये बिना हमारा आपसमें संयोग नहीं होगा। वे चकवा-चकवीकी तरह व्याकुल हो गये और उनका कमलरूप मन सम्पुटित हो गया।

वि० त्रि०—जैसे सूर्य बिना कोक-कोकी और कमल दीन हो जाते हैं। कोक-कोकी ग्राम्य-सुखका त्याग करते हैं, और कमल विकसित नहीं होता, अन्तर्मुख हो जाता है। उसी भाँति अवधवासियोंमेंसे कुछने तो ग्राम्य-सुख न करनेका नियम कर लिया और कुछने अन्तर्मुख रहनेका व्रत धारण कर लिया।

चार प्रकारके रामभक्तोंकी उपमा देते हुए लक्ष्मणजी कहते हैं कि *'कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना॥ ऐसेइ प्रभु सब भगत तुम्हारे। ह्वै हैं टूटे धनुष सुखारे॥'* इससे स्पष्ट है कि ज्ञानी भक्तकी उपमा कमलसे है, जिज्ञासुकी कोकसे, अर्थार्थीकी भ्रमरसे और आर्तकी *'नाना खग'* से। सो अयोध्यामें दो ही प्रकारके भक्त हैं ज्ञानी और जिज्ञासु, जिनकी उपमा यहाँ कमल और कोक-कोकीसे दी है, अर्थार्थी और आर्त भक्त अयोध्यामें हैं नहीं, क्योंकि *'रिधि सिधि संपति नदी सोहाई। उमगि अवध अंबुधि कहँ आई॥ मनिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुंदर सब भाँती॥'* (२। १। ३४) ये रत्नोंकी भाँति *'रिधि सिधि संपति के'* रत्नाकरके गर्भमें डूबाडूब हैं, ये अर्थार्थी और आर्त क्यों होंगे? अत: जिज्ञासुओंने ब्रह्मचर्यका नियम धारण कर लिया और ज्ञानीने अन्तर्मुख रहनेका व्रत धारण कर लिया।

सीता सचिव सहित दोउ भाई। सृंगबेरपुर पहुँचे जाई॥ १॥
उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दंडवत हरषु बिसेषी॥ २॥
लषन सचिव सिय किए प्रनामा। सबहि सहित सुखु पायउ रामा॥ ३॥

अर्थ—श्रीसीताजी और मन्त्रीसहित दोनों भाई शृंगवेरपुर जा पहुँचे॥ १॥ सुरसरिको देखकर श्रीरामचन्द्रजी रथसे उतरे और बहुत प्रसन्न होकर दण्डवत् की॥ २॥ लक्ष्मणजी, मन्त्री और सीताजीने प्रणाम किया, सबोंके सहित श्रीरामजीने सुख पाया॥ ३॥

नोट—इस प्रसंगका सम्बन्ध पूर्व-प्रसंग *'राम लषन सिय जान चढ़ि'''''इत उत खोज दुराइ।'* (८५) से है। बीचमें पुरवासियोंके विरहका वर्णन हुआ।

शृंगवेरपुर—लाला सीतारामजी लिखते हैं कि तमसासे शृंगवेरपुर ४० कोस है। सुलतानपुरसे पूर्व आध मीलपर गोमती और प्रतापगढ़-किलाके नीचे, सई पार करके शृंगवेरपुर पहुँचे। रायसाहब पं० परमेश्वरीदत्त मिश्रजी कहते थे कि भरतकुण्डसे रेलके रास्ते प्रतापगढ़ ५२ मील है, वहाँसे ४० मील वह मुकाम है जहाँ दूसरी रात निवास हुआ है। जेठवारा थानातक पक्की सड़क है, फिर कच्ची। शृंगवेरपुर जिला इलाहाबादमें है। आजकल वह सिंगरौर घाट कहलाता है। यहाँ 'रामचौरा' स्थान है, जहाँ श्रीरामजी दूसरी रात रहे थे। रामचौरासे रामचौरा स्टेशन डेढ़ मीलपर है। यहाँपर एक घाट रामसन्ध्या-घाट है जहाँपर पार उतारनेके लिये केवटसे बातचीत हुई थी।

श्रीपं० रामवल्लभाशरणजी (अयोध्याजी) का मत है—कि शृंगवेरपुर=पुर जिसके चारों ओर सींगोंकी बारी लगी हुई है। इस नामसे सूचित होता है कि निषाद कैसे हिंसक थे, अगणित मृगादि जीवोंका वधकर उनकी सींगोंसे गाँवकी सरहद बनायी थी। इसीसे शृंगवेरपुर नाम पड़ा।

लाला सीतारामजी लिखते हैं कि इसे अब सिंगरौर कहते हैं। प्रयागसे २२ मील उत्तर-पश्चिम गंगाके उत्तर तटपर एक ऊँचे टेकरेपर बसा है और बहुत दिनोंतक परगनेका प्रधान नगर था। शृंगवेर संस्कृतमें अदरकको कहते हैं। इससे विद्वान् लोग अनुमान करते हैं कि यहाँ पहले अदरककी खेती होती थी। परंतु तीर्थ-स्थानोंकी महिमा बढ़ानेके लिये केवल श्रीरघुनाथजीका पदार्पण पर्याप्त न समझकर शृंगवेरको शृंगीवीर कर दिया गया और रघुनाथजीकी बड़ी बहिन शान्ता और उनके बहनोई ऋष्यशृंगका आश्रम यहाँ बन गया। मुख्य स्थान जिससे हमको प्रयोजन है रामचौरा है। यह गाँव सिंगरौरहीका एक भाग है। इसमें गंगातटपर दो पेड़ शीशमके हैं जिनके नीचे चौतरे बने हैं। यह उसी वृक्षकी संतान कहे जाते हैं जिसके नीचे श्रीरघुनाथजीने विश्राम किया था।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं—दोनों भाई, मन्त्री और सीताजीके सहित शृंगवेरपुर जा पहुँचे। शृंगवेरपुरका नाम आजकल सिंगरौर है, यथा—*'सो जामिनि सिंगरौर गँवाई।'* सुनते हैं कि यहाँ पहले शृंगी ऋषिका आश्रम था, इसलिये इसका नाम शृंगवेरपुर पड़ा, और नामका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी ऐसा ही है। शृंगवेरका अर्थ ही है शृंगी। शृंग है वेर-(देह-) में जिसके, उसे शृंगी कहते हैं। उन्हींका पुर

शृंगवेरपुर कहलाता है। यही अर्थ जनश्रुतिके अनुकूल है, नहीं तो जहाँ अदरककी खेती हो या व्यवसाय होता हो, उसे भी शृंगवेरपुर कह सकते हैं। शृंगवेरका अर्थ ही अदरक है।

☞वाल्मीकिजी लिखते हैं कि देवसरिकी भँवरवाली लहरोंको देखकर श्रीरामजीने सुमन्त्रजीसे कहा कि यहाँ तटपर बहुत बड़ा इंगुदीका वृक्ष है, हमलोग यहीं ठहरें, इस नदीके जलका देवता, दानव, गन्धर्व आदि सभी आदर करते हैं। यह कहकर वहीं सब कोई उतर पड़े।

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकु०—१ तीर्थ जहाँसे देख पड़े वहींसे सवारीसे उतरकर प्रणाम करना चाहिये, यथा—*'गिरबरु दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनामु रथ त्यागेउ तबहीं॥'* (२७५। २) विशेष हर्ष हुआ अर्थात् रोमांच, सजल नयन, गद्‌गद कण्ठ इत्यादि हुए। बड़ेको हर्षसहित प्रणाम करना चाहिये। पुनः, दूसरा भाव कि गंगा साक्षात् ब्रह्मद्रव हैं अतएव उनके दर्शनसे ब्रह्मसुख प्राप्त हुआ जिससे अधिक कोई सुख नहीं। पुनः, हर्ष इससे कि यह हमारे कुलकी कीर्तिरूपिणी हैं।

टिप्पणी—२ रामजीने 'दण्डवत्' और सबने 'प्रणाम' किया। भाव कि श्रीरामजीकी भक्ति द्विज, देवता और तीर्थमें बहुत है और श्रीसीताजी, लक्ष्मणजी और मन्त्रीकी भक्ति रामजीमें बहुत है, अन्यमें सामान्य है।

टिप्पणी—३ *'सबहि सहित सुखु पायउ रामा'*—भाव कि प्रथम श्रीरामजीको हर्ष हुआ और अब सबको सुख हुआ। यदि *'सबहि सहित'* न कहते तो समझा जाता कि केवल श्रीरामजीको सुख हुआ। गंगा-दर्शनसे ब्रह्मप्राप्ति है सो उनकी प्राप्तिमें रामजी मुख्य हैं; तात्पर्य यह कि राम-दर्शनके आगे ब्रह्मानन्द सामान्य है, यथा—*'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा॥'* इसीसे ब्रह्मसुखकी प्राप्तिमें इन तीनोंको सामान्य कहा।

नोट—इन चौपाइयोंसे मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**रामः सीतासमन्वितः॥ गंगातीरं समागच्छच्छृंग-वेराविदूरतः। गंगां दृष्ट्वा नमस्कृत्य स्नात्वा सानन्दमानसः॥**' (अ० रा० २। ५। ५९-६०) अर्थात् श्रीसीतासहित श्रीरामजी शृंगवेरपुरके पास गंगातटपर पहुँचे। गंगाजीको देखकर प्रसन्न-चित्तसे नमस्कार करके उन्होंने स्नान किया।

गंग सकल मुद मंगल मूला। सब सुख करनि हरनि सब सूला॥ ४॥
कहि कहि कोटिक कथा प्रसंगा। रामु बिलोकहिं गंग तरंगा॥ ५॥
सचिवहि अनुजहि प्रियहि सुनाई। बिबुधनदी महिमा अधिकाई॥ ६॥

अर्थ—गंगा सारे आनन्दमंगलोंकी जड़ है, सारे सुखोंकी करने और सारे दुःखोंकी हरनेवाली है॥ ४॥ अनेक कथाओंके प्रसंग कहकर श्रीरामजी गंगाकी लहरें देख रहे हैं॥ ५॥ मन्त्रीको, भाईको और प्रियपत्नीको देवनदीकी बड़ी महिमा सुनायी॥ ६॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—गंगाजीको *'सकल मुद मंगल मूल'* कहकर निराकार ब्रह्म अथवा ब्रह्मद्रवा कहा। क्योंकि मंगलमूल तो ब्रह्म राम ही हैं, यथा—*'मंगलमूल राम सुत जासू। जो कछु कहिय थोर सब तासू॥'* भगवान् व्यासदेवने भी '**ब्रह्मद्रवेति विख्याते पापं मे हर जाह्नवी**' ऐसा कहा है। इसकी एक कथा भी गर्गसंहितामें पायी जाती है कि किस प्रकार स्वयं कृष्णमूर्ति द्रवीभूत होकर गंगाजलरूपमें परिणत हो गयी। *'सब सुख करनि'* से गुणाधान कहा और *'हरनि सब सूला'* से दोषापकर्षण कहा।

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ *'सकल मुद मंगल मूला'* अर्थात् ब्रह्मानन्द, विषयानन्द सब प्रकारके आनन्दोंकी मूल हैं। इससे वे सब आनन्द प्राप्त होते हैं। *'सब सूला'*=त्रयशूल। शूल तीन माने गये हैं, यथा—'**त्रयः शूलनिर्मूलनं शूलपाणिम्।**' (७। १०८) वे ये हैं—जन्म, जरा, मरण।

टिप्पणी—२ *'कहि कहि कोटिक कथा प्रसंगा'* इति। (क)—'कोटिक' संख्यावाची नहीं है किंतु अनन्तवाची है, यथा—*'कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरज धरहु प्रबोधिसि रानी॥'* (२०। ३) अर्थात्

बहुत-सी कथाएँ कहीं। प्रत्येक कथाकी समाप्तिपर गंगाजीकी तरंगें देखते हैं कि ऐसी ये गंगा हैं।* (ख) यहाँ मन-वचन-कर्म तीनोंसे गंगामें भक्ति दिखायी है—*'सुख पाया'* यह मनकी भक्ति है क्योंकि सुख पाना मनका धर्म है। *'कहि कहि कोटिक कथा'* यह वचनकी और *'कीन्ह दण्डवत'* यह कर्म या तनकी भक्ति है। (ग)—बहुत-सी कथाएँ क्या कहीं, यह आगे कहते हैं कि गंगाजीकी महिमा-(बड़ाई-) की कथा कहते हैं, उनका माहात्म्य कहते हैं। ☞ तीर्थ-स्नानकी विधि यह है कि पहले माहात्म्य सुने, तब स्नान करे। कोई और वहाँ न था जो सुनाता, अतएव रामजीने ही सुनाया। माहात्म्य कहना यह भी एक भक्ति है।

टिप्पणी—३ *'बिबुधनदी'* पदका भाव कि ब्रह्मा-शिवादि देवताओंको भी पवित्र करती हैं, यथा—'**भागीरथीभवविरञ्चिपुनीतनित्यम्।**' यहाँ महिमाकी अधिकाई कहते हैं, एक महिमा यह भी है।

*नोट—विनयपत्रिकामें गंगाजीकी महिमापर कविके ये पद्य हैं—**'जय जय भगीरथनंदिनि, मुनिचय चकोरचंदिनि नरनाग बिबुध बंदिनि जय जह्नुबालिका। विष्णुपद सरोजजासि ईससीसपर बिभासि त्रिपथगासि पुण्यरासि पापछालिका॥ बिमल बिपुल बहसि बारि सीतल त्रयतापहारि भँवर बर बिभंगतर तरंगमालिका। पुरजन पूजोपहार सोभित ससि धवल धार भंजनि भवभार भक्तिकल्पथालिका। निज-तट-बासी बिहंग जलथलचर पसु पतंग कीट जटिल तापस सब सरिस पालिका। तुलसी तव तीर तीर सुमिरत रघुबंसबीर बिचरत मति देहि मोह-महिष-कालिका॥'*** (वि० १७)

२—'जयति जय सुरसरी जगदखिल पावनी।
विष्णु पदकंज मकरंद इव अंबुवर वहसि दुख दहसि अघ बृंद विद्राविनी॥
मिलित जलपात्र अज, युक्त हरिचरणरज, विरजवर वारि त्रिपुरारि शिरधामिनी।
जह्नुकन्या धन्य पुण्यकृत सगर-सुत भूधर-द्रोणि-विद्दरणि बहुनामिनी॥
यक्ष गंधर्व मुनि किन्नरोरग दनुज मनुज मज्जहिं सुकृतपुंज युत-कामिनी।
स्वर्ग सोपान विज्ञान ज्ञानप्रदे मोह-मद-मदन-पाथोज हिम-जामिनी॥
हरित गंभीर वानीर दुहुँ तीरवर, मध्य धारा विशद, विश्व अभिरामिनी।
नील पर्यंककृत शयन सर्पेश जनु सहस शीशावली स्त्रोत सुर स्वामिनी॥
अमित महिमा अमित रूप भूपावली मुकुटमणि बंदिते लोकत्रय गामिनी।
देहि रघुबीरपद प्रीति निर्भर मातु दास तुलसी त्रास-हरणि भवभामिनी॥ (वि०१८) इत्यादि

मज्जनु कीन्ह पंथ श्रम गएऊ। सुचि जलु पियत मुदित मन भएऊ॥ ७॥
सुमिरत जाहि मिटइ श्रम भारू। तेहि श्रम यह लौकिक ब्यवहारू॥ ८॥

शब्दार्थ—**सुचि**='**शुचिः शुद्धे पुनः शुक्लः शुभ्रः शुचिःश्वेत**' इति (अमरकोश) अर्थात् शुद्ध, स्वच्छ, साफ, पवित्र—(पाठकजी)। '**श्रम भारू**'=श्रमका भार बोझा अर्थात् जन्म-मरणादि, भारी श्रम।

अर्थ—स्नान किया, उससे रास्तेकी थकावट दूर हुई। पवित्र जल पीते ही मन प्रसन्न हो गया॥ ७॥ (वक्ता कहते हैं कि) जिसका स्मरण करते ही भारी श्रम (अनेकों जन्मोंका जन्म-मरण आवागमन-श्रम) मिट जाता है उसको श्रम! यह लोकका व्यवहार है (लोकाचार है)॥ ८॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ यहाँ 'दरस, परस, मज्जन और पान' चारों कहे गये—*'राम बिलोकहिं गंग-तरंगा'* यह दर्शन; *'मज्जनु कीन्ह पंथ श्रम गएऊ'* यह मज्जन और स्पर्श और *'सुचि जल पिअत मुदित'* यह पान हुआ। पुनः,

टिप्पणी—२ माहात्म्य कहकर स्नान किया, ऐसा करनेसे धर्मशास्त्रकी मर्यादाकी रक्षा की। पुनः, वैद्यक शास्त्रकी मर्यादा भी रखी; क्योंकि इसमें लिखा है कि परिश्रमकी गर्मी मिटाकर स्नान करे। स्नानमें दस गुण कहे गये हैं, उनमेंसे श्रम दूर होना और मन मुदित होना ये दो गुण यहाँ कहे। [मिलान कीजिये—*'गै श्रम सकल सुखी नृप भएऊ।'* (१।१५९।१) *'मज्जन कीन्ह परम सुख पावा।'* (३।४१) *'करि तड़ाग*

* १—अनेक पापियोंके तारनेकी कथाएँ कहीं—(रा० प्र०)। २—मयंककार लिखते हैं कि दो ब्राह्मण, गुद्दर, यती, अकेली नारि, गणिकापति तस्कर, कपिदल और ब्रह्मदग्धादिककी कथाएँ कहीं।

मज्जन जल पाना। बट तर गएउ हृदय हरषाना॥' (७। ६२) ***'मज्जन करिअ समर श्रम छीजै।'*** (६। ११५)

नोट—***'तेहि श्रम यह लौकिक व्यवहारू'*** इति। यहाँ यह शंका खड़ी की जाती है कि प्राकृत मनुष्यों और जीवोंको चलनेसे परिश्रम होता है और स्नान करनेसे उनकी थकावट दूर होती है, पर ये तो परात्पर परब्रह्म हैं, इनको श्रम हुआ! यह कैसा? इनके स्मरणमात्रसे जीव आवागमनरूपी भव-श्रमसे मुक्त हो जाते हैं, यथा—**'यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्। विमुच्यते''''''॥'** तो उनको श्रम कैसे सम्भव है? 'श्रीसीतारामजीको श्रम हुआ और वह श्रम गंगास्नानसे दूर हुआ' ऐसा पढ़ या सुनकर बहुत ही सम्भव है कि पाठक या श्रोता और आजकल कलियुगकी संतान विशेष, इनको मनुष्य समझ लें; अतएव पूज्य वक्ता इस माधुर्य-विशेषको कहकर तुरत उनके साथ ही उनका ऐश्वर्य वर्णन करते हुए उसका समाधान करते हैं कि वे नर-नाट्य कर रहे हैं इसीलिये उनमें सब लोक-व्यवहारोंको कहना पड़ता है, नहीं तो उनको श्रम कहना ही न चाहिये। वास्तवमें उनको न तो श्रम ही हुआ न वह मिटा। लीलामात्रके लिये ऐसा दिखाया और कहा गया।

☞स्मरण रहे कि यह पूज्य कविकी शैली है कि जब कहीं अत्यन्त माधुर्य लीलाका वर्णन आ जाता है, जिससे पाठक या श्रोताको श्रीरामजीके ब्रह्म होनेमें सन्देह होनेका अंदेशा है तब वे उनका कुछ ऐश्वर्य कहकर उस सन्देहकी निवृत्ति भी साथ-ही-साथ कर देते हैं। वैसे ही यहाँ भी दोहेमें कहते हैं—***'सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु।''''''*** ' पूर्व भी कई स्थलोंपर यह बात बतायी जा चुकी है।

☞ इसी तरह जहाँ-जहाँ श्रीरामजीको श्रमादि होनेका उल्लेख हो वहाँ-वहाँ इस चौपाईका अध्याहार कर लेना चाहिये।

दो०—सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुलकेतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥ ८७॥

शब्दार्थ—**कंद**=(कं=सुख=जल+द=दाता) सुख देनेवाले; मेघ-समूह, जड़। **अनुहरत**=सदृश,(जैसा मनुष्य करते हैं) वैसा ही; तरह। **संसृति**=संसार, भव, जन्म-मरण।

अर्थ—शुद्ध (सत्त्व, रज, तम तीनों मायिक गुणोंसे परे) सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, सुखरूपी जलके देनेवाले, सूर्यकुलकी ध्वजा (अर्थात् उसमें श्रेष्ठ) श्रीरामजी मनुष्योंकी तरह चरित करते हैं जो (चरित) संसार (भव) सागरसे पार होनेके लिये पुलके समान है। अर्थात् इन चरित्रोंको गा-सुनकर जीव भवसागरसे पार हो जाते हैं॥ ८७॥

पाँड़ेजी—मयके तीन अर्थ हैं—प्रचुर, विकार और तदात्मक। प्रचुर जैसे पृथ्वी जलमय हो गयी। विकार जैसे पृथ्वी अन्नमय है, अन्नकार्य और पृथ्वी कारण है। तदात्मक जैसे कुण्डल स्वर्णमय और घट मृत्तिकामय। तीनों अर्थ यहाँ गृहीत हैं—शुद्ध सच्चिदानन्द इनमें भरा हुआ है। शुद्ध सच्चिदानन्दके आकर अर्थात् कारण हैं, वा सुद्ध सच्चिदानन्दरूप हैं—सो ये कौन राम हैं? जो भानुकुलकेतु हैं और जो चरित्र करते हैं'''।

सू० मिश्रजी उत्तरार्द्धका अर्थ यह भी करते हैं—'संसार-सागरसे पार उतारनेवाले प्रभु भी मनुष्यके समान चरित्र करते हैं।' शुद्ध=त्रिगुणातीत, तीनों मायिक गुणों (सत्, रज, तम) से परे। सत्=भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंमें एकरस। चित्=चैतन्यस्वरूप। कंद अर्थात् जगत्के मूलभूत।

नोट—१-बालकाण्ड १९ (२) में ***'बिधि हरिहर मय'*** प्रत्यय अर्थोंपर विस्तृत विचार किया गया है। पाठक वहीं देख लें। यहाँ यह तद्रूप अर्थमें आया है। जब गुण और स्वरूपकी एकता होती है तब उसे तदात्मक कहते हैं। जैसे-घट मृत्तिकामय, कंठा स्वर्णमय, लवण क्षारमय। वैसे ही 'सच्चिदानन्दमय'=भीतर-बाहर शुद्ध सत्-चित्त आनन्दमय; सच्चिदानन्दरूप; जहाँ सत्-चित्त-आनन्दके अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं। यथा—***'चिदानंदमय देह तुम्हारी।'*** (१२७। ५) देही देह विभागरहित चिदानन्द ही चिदानन्दरूप है।

नोट—२ ***'सुद्ध सच्चिदानंदमय'*** यह ब्रह्मका स्वरूप कहा। फिर बताया कि वह ही रघुकुलमें उत्पन्न होकर मनुष्योंके-से चरित करते हैं और अन्तमें इस चरितका कारण कहते हैं—***'संसृति सागर सेतु।'*** यथा—***'जग पावन कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भवनिधि जन तरिहहिं॥'*** (६। ६५)

नोट—३ बैजनाथजी—*'शुद्धसच्चिदानंदमय—कंद'*=शुद्ध सच्चिदानन्दमय मेघ हैं। आनन्दमय मेघ हैं, आनन्द बरसाते हैं, जैसे जलमय मेघ पानी बरसाते हैं। ['जो कोई शुद्ध सच्चिदानन्दमय हैं उसे भी सुख देनेवाले हैं'—(रा० प्र०)]

एह सुधि गुह निषाद जब पाई। मुदित लिये प्रिय बंधु बोलाई॥ १॥
लिए फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हिय हरषु अपारा॥ २॥
करि दंडवत भेंट धरि आगें। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागें॥ ३॥

शब्दार्थ—**भार**=बोझा जो एक आदमी उठा सके। **भरि भारा**=भरपूर बोझा लेकर, काँवर वा बँहगी पूरी भरी लदी हुई लेकर।

अर्थ—जब गुह निषादने यह खबर पायी तब प्रसन्न होकर उसने अपने प्यारे बन्धुवर्ग (सम्बन्धियों, कुटुम्बियों, जाति-भाई-बिरादरीवालों) को बुला लिया॥ १॥ और भेंटके लिये फल और (कंद आदि) मूल 'भार' भर-भरके लेकर श्रीरामचन्द्रजीसे मिलने चला, (उस समय) उसके हृदयमें बेहद हर्ष था॥ २॥ भेंटको आगे रखकर दण्डवत् करके वह प्रभु-(रामचन्द्र-)को अत्यन्त अनुरागसे देखने लगा॥ ३॥

पुरुषोत्तम रामकुमार—१ *'गुह निषाद'* कहनेका भाव कि श्रीरामजीका आगमन सुनकर उसके सब विकार दूर हो गये। *'बंधु बोलाई'*—सबको बुलाया क्योंकि सब कुटुम्बियोंके सहित वह रामजीकी शरण होना चाहता है जैसा आगे उसने स्वयं कहा है, यथा—*'देव धरनि धन धाम तुम्हारा। मैं जन नीच सहित परिवारा॥'* (रा० प्र० कारका मत है कि प्रिय और भाइयोंको बुलाया। भाइयोंको साथ लिया क्योंकि उत्तम पदार्थ अकेले ही सेवन करना योग्य नहीं। अथवा, रामजी भाईसहित हैं अतः यह भी भाइयोंसहित गया।)

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—भगवदर्चन परिवारके साथ करना चाहिये यथा—*'सेवहिं तुम्हहिं सहित परिवारा।'* इसलिये *'मुदित लिए प्रिय बंधु बुलाई'*। सुना कि सरकार श्रीसीताजी, लक्ष्मणजी तथा मन्त्रीके सहित गंगातटपर विराजमान हैं, रथपर आये हैं, समझा कि गंगा-स्नानके लिये, पूजनके लिये आये हैं। अतः सात्त्विक आहार योग्य फल और मूल भार (बँहगी) में भरकर उपहाररूपमें ले चला—**'रिक्तपाणिर्न गच्छेत राजानं भिषजं गुरुम्।'** अपार हर्ष *'सेवक सदन स्वामि आगमनू'* से है।

नोट—*'गुह निषाद'* इति। **'पर अशुं गुहति इति गुहः'** अर्थात् जो पराया द्रव्य चुरावे वह गुह है। (पु० रा० कु०) **'गुह्यति वञ्चयति परस्वमिति गुहः'** अर्थात् पराये धनको चुरावे वह गुह है। (रा० प्र०) **'निषादो जीवहिंसकः'** जो जीव-हिंसा करे वह निषाद है। (पु० रा० कु०) **'ब्राह्मणेन शूद्रायां जातो निषादः।'** **'मत्स्यघातो निषादानाम्'** (मनुसंहिता) (वन्दन पाठकजी) ☞ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि इस देशके राजाका नाम 'गुह' है। यह निषाद जातिका है। यह रामचन्द्रजीका प्राणोंके समान मित्र था और बड़ा बली था यह सुनकर कि रामजी हमारे देशमें आये हैं वह बूढ़े अमात्यों तथा साथियोंसे युक्त होकर वहाँ गया। **'तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः सखा। निषादजात्यो बलवान्स्थपतिश्चेति विश्रुतः॥' 'स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं रामं विषयमागतम्। वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर्ज्ञातिभिश्चाप्युपागतः॥'** (सर्ग ५०। ३३-३४) श्री० वि० त्रि० जी लिखते हैं कि गुह नाम भगवान् कार्तिकेयका है। वही नाम निषादराजका था। अथवा वह साक्षात् कार्तिकेयका अंश था, इसलिये गुह निषाद कहा।

पद्मपु० भूमिखण्डमें राजा पृथुके जन्मके वर्णनमें लिखा है कि जब ऋषियोंने राजा वेनको पकड़कर क्रोधमें भरे हुए उसकी बायीं जंघाको मथना आरम्भ किया। तो उससे काले अंजनकी राशिके समान एक नाटे कदका मनुष्य प्रकट हुआ। उसकी आकृति विलक्षण थी। लम्बा मुँह, विकराल आँखें, नील कवचके समान काला रंग, मोटे और चौड़े कान, बेडौल बढ़ी हुई बाहें और विशाल भद्दा-सा पेट—यही उसकी हुलिया थी। ऋषियोंने उसकी ओर देखा और कहा—निषीद (बैठ जाओ)। उनकी बात सुनकर वह भयसे व्याकुल

हो बैठ गया। इसलिये उसका नाम निषाद पड़ गया। पर्वतों और वनोंमें ही उसके वंशकी प्रतिष्ठा हुई।

टिप्पणी-१—पु० रा० कु०—*'हरष अपारा'* का भाव कि रामजीके अनुभवको ब्रह्मानन्द कहते हैं। जिनका अनुभवमात्र करनेसे ब्रह्मानन्द होता है, उनके दर्शनोंको जा रहा है; अतएव उसके आनन्दका पारावार नहीं है, जीमें उमंगें भरी हैं कि चलकर उनको देखूँगा और जिस प्रकार देखा सो आगे कहते ही हैं।

टिप्पणी—२ *'लिए फल मूल भेंट भरि भारा।'''''* इति। निषादराजको यह खबर मिली कि मुनिवेषसे श्रीसीतारामलक्ष्मणजी वनको जा रहे हैं, अतएव मुनियोंके योग्य जो भेंट है—कन्द-मूल-फल इत्यादि—वही लेकर मिलने गये। जब भरतजी आवेंगे तब दूसरे प्रकारकी भेंट, जो राजाओंके योग्य है उसे ले जायँगे, क्योंकि भरत राजा हैं।

टिप्पणी—३ *'भरि भारा'* का भाव कि भेंटका भार परिपूर्ण चाहिये, खाली न चाहिये, पात्र भरा रहना चाहिये। यथा—*'दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि भरि काँवरि चले कहारा॥'* (१।३०५।६) *'भरे सुधा सम सब पकवाने।'* (१।३०५।२) *'अस कहि भेंट सँजोवन लागे। भरि भरि भार कहारन्ह आने॥'* (१९३।२-३) इत्यादि। यहाँपर भी *'भार'* से वही अर्थ लेना चाहिये।

टिप्पणी—४ *'करि दंडवत भेंट धरि आगे।'''''* इति। अर्थात् प्रथम अपनी देह अर्पण की, फिर सब भेंट श्रीरामजीको नजर (अर्पण) की, ये तो बाह्य इन्द्रिय और पदार्थ हुए। इनको समर्पण करनेके बाद अन्त:करण-(भीतरकी इन्द्रियों-) को समर्पण कर रहे हैं—*'प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागे'*—अनुराग मनका धर्म है। तात्पर्य यह कि मन, बुद्धि और चित्तको उनके दर्शनमें लगा दिया है, यथा—*'राम लषन सिय सुंदरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई॥'*

[१] सहज सनेह बिबस रघुराई। पूँछी कुसल निकट बैठाई॥ ४॥
नाथ कुसल पद पंकज देखे। भएउँ भाग भाजनु जन लेखे॥ ५॥

शब्दार्थ—'**भाग-भाजन**'=भाग्यके पात्र, भाग्यवाले, बड़भागी।

अर्थ—रघुराई श्रीरामचन्द्रजी सहज प्रेमके वश हैं। उन्होंने उसे पास बिठाकर कुशल पूछी॥ ४॥ (निषादराज बोले) हे नाथ! आपके चरणकमलोंके दर्शनसे कुशल है, अब मैं बड़भागी लोगोंकी गिनतीमें आ गया अर्थात् मैं भी आपका एक बड़ा भाग्यवान् दास आजसे माना जाऊँगा॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) *'सहज सनेह बिबस'* इति। श्रीरामजी स्वाभाविक प्रेमके वश हैं। निषादने दण्डवत् की उससे वश न हुए, भेंट नजर की उससे वश न हुए, अति अनुरागसे जब वह स्वरूपके दर्शनमें लग गया तब वश हो गये, रहा न गया, पास बिठा ही तो लिया और कुशल-प्रश्न करने लगे। *'बिबस'*=विशेष वश। 'विवश' का भाव कि प्रेमके वश हैं और स्वाभाविक प्रेमके विशेष वश हैं। (ख) *'रघुराई'*=रघुकुलके राजा, रघुकुल श्रेष्ठ। इस शब्दका भाव यह है कि ये तो राजा हैं इनके यहाँ क्या पदार्थ नहीं है जिसकी उन्हें चाह हो, सभी कुछ तो है, अतएव ये भेंटसे वश नहीं हो सकते। पुनः भाव कि अन्य राजा सेवा करनेपर भी वशमें नहीं होते, यथा—*'भूप सुसेवित बस नहिं लेखिए'* और 'रघुराई' केवल निष्कपट-स्नेह मात्रसे विशेष वश हो जाते हैं। [(ग) *'पूँछी कुसल'*—(वाल्मी० २।५०) में श्रीरघुनाथजीने कहा है कि '**दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि ह्यरोगं सह बान्धवैः। अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च वनेषु च॥**' (४२) अर्थात् गुह! यह प्रसन्नताकी बात है कि मैं बान्धवोंके सहित आपको नीरोग देखता हूँ। आपके राज्य, मित्र और वनका तो कुशल है? कुशल पूछना आत्मीयताका निदर्शक है] (घ) *'निकट बैठाई'*—यह बड़ा आदर और प्रेम सूचित करता है, यथा—*'अति आदर समीप बैठारी।'* (६।३७।४)

प० प० प्र०—(क) यह प्रथम परिचय है।[२] इसीसे यहाँ श्रीरामजी निषादराजसे भेंटे नहीं। जब

१-यह अर्धाली राजापुरकी पोथीमें नहीं है।

२-वाल्मीकीय और अ० रा० से निषादराजका परिचय पूर्वसे ही जान पड़ता है और सत्योपाख्यानमें तो स्पष्ट लिखा है कि कौमारावस्थामें वह चारों भाइयोंके साथ शिकारमें जाया करता था। अ० रा० में निषादको

वह श्रीभरतजीके साथ चित्रकूट आया उस समय *'केवट भेटेउ राम'*। (२४१) (ख) निकट बैठाना, कर गहि निकट बैठाना, परम निकट बैठाना और कर गहि परम निकट बैठाना ये उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रेमादरके निदर्शक हैं। 'निकट बैठने' का परम सौभाग्य प्रथम निषादराजको ही मिला। नारदजीके समान ही निषादराजका यह भाग्य है, क्योंकि नारदजीको भी *'स्वागत पूँछि निकट बैठारे।'* (३। ४१। ११) यह भाग्य सुग्रीवजीको नहीं मिला। विभीषणजीको भी *'अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी।'* (३। ४६। ३) श्रीसनकादिकजीको हाथ पकड़कर बैठाया है पर निकट नहीं, यथा—*'कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे।'* (७। ३३। ६)। श्रीहनुमान्‌जीका सौभाग्य सबसे उत्कृष्ट है उनको तो प्रभुने *'कर गहि परम निकट बैठावा।'* (५। ३३। ४)

टिप्पणी—४ *'नाथ कुसल पद पंकज देखे।…… '* इति।—चरण-कमल कुशलके कारण हैं, मूल हैं, इसीसे उनके दर्शनसे कुशल होना कहा, यथा—*'कुसलमूल पद पंकज देखी। मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी॥'* (१९५। ७)। चरणके दर्शनसे जनकी गणनामें हो गया अर्थात् जिन्होंने आपके चरणोंकी भक्ति की वे भाग्यवान् जन हो गये, उन्हीं चरणोंका मुझे दर्शन हुआ अतएव मैं भी भाग्यवान् जन हो गया। यहाँ प्रथम उल्लास अलंकार है।

रा० प्र०—*'भएउँ भाग भाजनु जन लेखे'* अर्थात् भाग्यभाजन हुआ और आपके जनकी गणनामें आया।

प० प० प्र०—*'भएउँ भाग भाजनु जन लेखे'* इति। श्रीसुमित्राजीने भी कहा है, यथा—*'भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ। जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु कीन्ह रामपद ठाउँ॥'* (७४) इससे सिद्ध हुआ कि श्रीरामजीके चरणोंमें मनका दृढ़तापूर्वक लग जाना ही *'सहज सनेह'* है। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी और श्रीनिषादराजके प्रेमकी समता दिखायी। निषादराजका प्रेम केवल श्रीरामजीके रूपदर्शनप्रभावका ही परिणाम हैं। अभीतक वे जानते नहीं हैं कि *'राम ब्रह्म परमारथ रूपा'* हैं। यह मर्म लक्ष्मणजी समझायेंगे तब गुरु-शिष्यकी समता देख पड़ेगी। इसीसे यहाँ *'भूरि भाग भाजनु'* नहीं कहा।

नोट—मिलान कीजिये—'**संपृष्टकुशलो रामं गुहः प्राञ्जलिरब्रवीत्। धन्योऽहमद्य मे जन्म नैषादं लोकपावन॥**' (२। ५। ६४) अर्थात् कुशल प्रश्न करनेपर गुहने हाथ जोड़कर कहा—'हे लोकपावन! मैं धन्य हूँ, आज मेरा निषादजातिमें जन्म लेना सफल हो गया।'

देव धरनि धनु धामु तुम्हारा। मैं जनु नीचु सहित परिवारा॥ ६॥
कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ। थापिअ जनु सब लोगु सिहाऊ॥ ७॥
कहेहु सत्य सबु सखा सुजाना। मोहि दीन्ह पितु आयेसु आना॥ ८॥

शब्दार्थ—'**थापिअ**'=स्थापित कीजिये, प्रतिष्ठा, बड़ाई दीजिये।

अर्थ—हे देव! यह पृथ्वी, धन, घर सब आपका है, मैं परिवारसहित आपका नीच टहलुआ हूँ॥ ६॥ कृपा करके नगरमें चलिये और इस अपने दासकी प्रतिष्ठा बढ़ाइये जिससे सब लोग सिहावें अर्थात् प्रशंसा करें कि धन्य भाग्य इस निषादके हैं कि जिसके घर श्रीरामजी आये हैं, हमारे भाग्य ऐसे न हुए॥ ७॥ (श्रीरामचन्द्रजी बोले) हे चतुर सखे! तुमने सत्य (ठीक) ही कहा, पर पिताने मुझे और ही आज्ञा दी है॥ ८॥

नोट—१ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि गुह भोजनकी सामग्री और अर्घ्य लेकर रामजीके पास आया और उनसे प्रार्थना की कि 'हे महाबाहो! आपका स्वागत है। मेरे राज्यकी समस्त पृथ्वी आपकी ही है, हम सब आपके सेवक हैं, आप इस राज्यका शासन करें '**अर्घ्यं चोपानयच्छीघ्रं वाक्यं चेदमुवाच ह। स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही॥**' '**वयं प्रेष्या भवान्भर्ता साधु राज्यं प्रशाधि नः॥**' (२। ५०। ३८, ३९) आपके लिये जैसी अयोध्या है वैसा ही इस देशको भी अपना ही समझिये—'**यथायोध्या तथेदं ते राम किं करवाणि**

सखा भी कहा है। वाल्मीकीयमें उसने कहा है कि हमलोग आपके सेवक हैं और आप हमारे स्वामी हैं। श्रीरामजीने भी कहा है कि आपने हमलोगोंका सदा ही सत्कार किया है।

ते।' (सर्ग ५०। ३६) वही गोस्वामीजी इस चौपाईमें कह रहे हैं। पहले वहाँ राज्य अर्पण किया। वैसे ही यहाँ प्रथम ***'धरनि'*** पद दिया। श्लोक ३८ में ***'मही'*** शब्द भी है।

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—***'नीच जन'*** का भाव कि घरकी नीच टहल मैं करूँगा। यहाँ निषादराजकी आत्मसमर्पण-भक्ति कही गयी।

टिप्पणी—२—***'पुर धारिअ पाऊ'''*** का भाव कि सन्ध्याका समय है। इस समय सब लोग पुरमें जाकर रहते हैं (दूसरे, वहाँ सब सुखका सामान है)। चक्रवर्त्ती राजाके पुत्र हैं, नीचोंके घर कैसे जायँगे, यह सोचकर कहा कि ***'कृपा करिअ'***—(बड़े लोगोंसे बोलनेका यह ढंग है)। मैं नीच हूँ, आपको घर ले जानेयोग्य नहीं हूँ, आप कृपा करके चलें। (पुनः भाव कि चलकर घरको पवित्र कर दीजिये। यथा—'**आगच्छ यामो नगरं पावनं कुरु मे गृहम्।**' (अ० रा० २। ५। ६६)

टिप्पणी—३ ***'कहेहु सत्य सबु सखा सुजाना'*** इति। भाव कि तुमने जो कुछ कहा कि ***'धरनि धाम''''''*** ये सभी बातें सत्य हैं। तुम सखा हो, सखाको जैसा चाहिये वैसा ही तुमने कहा है, क्योंकि तुम सुजान हो। तुमने जो कुछ कहा वह सब हृदयसे कहा है, कुछ बनाकर नहीं कहा। 'सखा' सम्बोधनका भाव कि मित्रके घर जानेमें संकोच नहीं होना चाहिये और मुझे भी कोई उज्र नहीं था, पर पिताकी आज्ञा नगरमें जानेकी नहीं है, आज्ञा-पालन परम धर्म है और तुम सुजान हो, जानते ही हो कि संकट सहकर भी धर्मको निबाहना चाहिये; इसीसे नगरमें नहीं जा सकता।

नोट—२ श्रीरामजीका सखा बननेका प्रथम सम्मान श्रीनिषादराजको ही मिला, पीछे सुग्रीवको और अन्तमें विभीषणजीको। पर इन तीनोंमें पूर्ण निष्काम और अमानी तो निषादराज ही हैं। (प० प० प्र०) उत्तरकाण्डमें तीनोंका मिलान दिया गया है।

नोट—३ मिलान कीजिये—'**राज्यं ममैतत्ते सर्वं त्वं सखा मेऽतिवल्लभः।**' (अ० रा० २। ५। ६९)। अर्थात् तुम्हारा यह सम्पूर्ण राज्य मेरा ही है और तुम भी मेरे अत्यन्त प्रिय सखा हो।

दो०—बरष चारि दस बासु बन मुनि ब्रत बेषु अहारु।
ग्राम बासु नहिं उचित सुनि गुहहि भएउ दुख भारु॥ ८८॥

अर्थ—चौदह वर्ष वनमें निवास, मुनियोंके व्रत, वेष और भोजनकी आज्ञा है। (अतएव) ग्राममें ठहरना उचित नहीं है। यह सुनकर गुहको भारी दुःख हुआ (कि ये अतिकोमल हैं, वर्षा, ग्रीष्म, शरद् और हिममें बिना ग्रामके कैसे निर्वाह होगा। पुनः इससे दुःख हुआ कि ग्राममें आनेकी आज्ञा नहीं, हमारा घर पवित्र न कर सके)॥ ८८॥

नोट—१ (क) ***'बरष चारि दस बासु बन'*** का भाव कि अभी वनवासका प्रारम्भ है। इसीसे अल्पकाल वाचक शब्द ***'चारि'*** पहले दिया। ऐसा ही मातासे भी कहा था। (ख) यहाँ दो अर्द्धालियोंमें दो बातें जो गुहने कही थीं उन दोनोंका उत्तर दिया कि—तुम पुरमें वास करनेको कहते हो और पिताकी आज्ञा १४ वर्षतक वनमें वास करनेकी है। तुम यहाँ राज्य करनेको कहते हो और मुझे मुनियोंकी तरह रहनेकी आज्ञा है। (पु० रा० कु०)

नोट—२ यहाँ गुहसे कहा कि ***'ग्राम बासु नहिं उचित',*** परन्तु सुग्रीवसे कहा है कि ***'पुर न जाउँ दस चारि बरीसा',*** और विभीषणजीसे यह कहा है कि ***'पिता बचन मैं नगर न जाऊँ।'*** (क) तीनों जगह पृथक्-पृथक् नाम देकर ग्राम, पुर और नगर तीनोंका निषेध जनाया। अर्थात् तीनोंमेंसे कहीं जानेकी आज्ञा नहीं है। यह ***'बिसेषि उदासी'*** का अर्थ इस तरह स्पष्ट किया गया है। वा, (ख) निषादराज ग्रामवासी हैं; अतः ग्राम कहा, सुग्रीवजी पुरवासी हैं अतएव पुर कहा और विभीषणजी नगरवासी हैं इससे वहाँ नगर कहा। (रा० प्र०) ☞मेरी समझमें गोस्वामीजीने इन शब्दोंको प्रायः पर्यायवाची माना है। जैसे, 'अवध' को कहीं नगर, कहीं पुर इत्यादि कहा है। गुहने रामजीसे स्वयं कहा है कि ***'पुर धारिअ पाऊँ'*** और

रामजी *'ग्रामवास'* कह रहे हैं; इससे पुर और ग्राम दोनों समानार्थवाची शब्द यहाँ समझ पड़ते हैं। अथवा वानप्रस्थोंके लिये मनुस्मृतिमें जो आज्ञा दी है—**'ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः'** उसमें 'ग्राम' शब्द आबादीके अर्थमें आया है उसीके अनुसार यहाँ 'ग्राम' शब्द दिया गया है।

नोट—३ बाबा हरिदास—(क) '४+१०' से १४ होता है; पर और तरह भी १४ हो सकता है। जैसे-६+८, ५+९, ३+११, इत्यादि। यहाँ ४ और १० ही कहनेका क्या भाव है? उत्तर—चर गति भक्षणयोः धातु है अर्थात् चर चलनेको भी कहते हैं, अतएव 'चार' कहकर जनाया कि ये दुःखके १४ वर्ष शीघ्र बीत जायँगे, फिर न लौटेंगे। (ख)—*'मुनिब्रत बेषु अहार'* से पंच-विषयोंसे वैराग्य जनाया है। श्रीरामजी विशेष उदासी हैं, तन-मनसे इनका वैराग्य है। वनवाससे रूप-विषयसे विरोध है, मुनिव्रतसे रस-विषयसे विरोध है। मुनिव्रत नीरस है, मुनिवेषसे गन्धविषयसे विरोध, मुनि-अहारसे शब्द-विषयसे विरोध और ग्राम-वास तथा स्पर्श-विषयसे विरोध है।

राम लषन सिय रूप निहारी। कहहिं सप्रेम ग्राम नर नारी॥ १॥
ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥ २॥
एक कहहिं भल भूपति कीन्हा। लोचन लाहु हमहिं बिधि दीन्हा॥ ३॥

अर्थ—श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीका रूप देखकर गाँवके स्त्री पुरुष प्रेमसहित कहते हैं॥ १॥ हे सखी! कहो तो, वे माता-पिता कैसे हैं कि जिन्होंने ऐसे (सुन्दर सुकुमार) बालकोंको वनमें भेज दिया है॥ २॥ दूसरे कोई कहते हैं कि राजाने अच्छा किया, ब्रह्माने हमें नेत्रोंका लाभ दिया॥ ३॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ (क) *'रूप निहारी'* का भाव कि ऐसे कोमल सुन्दर बालक क्या वनके योग्य हैं? कदापि नहीं। प्रथम निषादराजने खबर पायी, इससे वह प्रथम मिलने गया, जब पुरवासियोंको खबर मिली तब वे भी देखनेको चले। (ख)—*'सप्रेम'* का भाव कि इनमें प्रेम है तभी तो इन्हें तरस आता है और वे कहते हैं कि क्या इनके माता-पिता ऐसे सुन्दर-सुकुमार कुमारोंपर भी प्रेम नहीं करते, बड़े कठोर जान पड़ते हैं। निर्दयता व्यंजित होना 'वाच्यसिद्धांगगुणीभूत व्यंग' है।

टिप्पणी—२ *'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे'* इति। भाव कि संसारमें तो कोई ऐसा नहीं है जिसे ये प्रिय न लगते हों, फिर भला माता-पिताको ये कैसे अप्रिय लगे, यह आश्चर्य है, अतएव वह दूसरेसे पूछती है कि वे माता-पिता कैसे हैं। ऐसा ही भरतजीने कैकेयीसे पूछा है—*'अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं॥ भे अति अहित राम तेउ तोही। को तू अहसि सत्य कहु मोही॥'* (१६२। ६-७)

नोट—१ यही यमुनातटवासी स्त्री-पुरुषोंने कहा है। यथा—*'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥'* (१११। ७) ये दोनों चरण तथा *'राम लषन सिय रूप निहारी'* यह चरण दोहा १११ में पुनः आये हैं। दोहा १११। ८ में जो कहा है कि *'होहिं सनेह बिकल नरनारी।'* वही व्याकुलता यहाँ *'कहहिं सप्रेम ग्राम नरनारी। ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥'* इन शब्दोंसे प्रकट की है। दोनों स्थानोंमें वही चरण देकर जनाया कि दोनों जगह एक ही भाव है। इसी तरह सर्वत्र जहाँ ये जाते हैं सब ऐसा ही कहते हैं। इनकी सुकुमारता आदि देखकर सभी व्याकुल हो जाते हैं।

टिप्पणी—३ (क) *'भल भूपति·····'* अर्थात् पृथ्वीपति हैं, इन्हें वनवास देकर पृथ्वीभरका भला किया, और हमारा भी किया कि हमको दर्शन दिया। प्रथमने राजाको दोष दिया। उसपर दूसरेने उसकी बातका खण्डन किया कि पृथ्वीपतिको ऐसा ही चाहिये, नहीं तो दर्शन कैसे होते, इस बहाने दर्शन दिया। (ख) *'लोचन लाहु हमहिं बिधि दीन्हा'*—अर्थात् विधिकी प्रेरणासे ही ये इस मार्गसे आये, नहीं तो और किसी मार्गसे चले जाते।

नोट—२ मिलान कीजिये—*'एक कहैं बाम बिधि दाहिनो हमको भयो, उत कीन्हीं पीठि, इत*

को सुडीठि भई है। तुलसी सहित बनबासी मुनि हमरिऔ, अनायास अधिक अघाइ बनि गयी है।' (गी० २। ३४) ***'बिपिन गवनु भले भूखेको सुनाजु भो।'*** (गी० २। ३३) ***'जोगीजन अगम दरस पायो पावँरनि।'*** (गी० २। ३०) इत्यादि।

तब निषादपति उर अनुमाना। तरु सिंसुपा मनोहर जाना॥ ४॥
लै रघुनाथहि ठाउँ देखावा। कहेउ राम सब भाँति सुहावा॥ ५॥
पुरजन करि जोहारु घर आये। रघुबर संध्या करन सिधाये॥ ६॥

शब्दार्थ—'शिंशिपा'—इसका अर्थ काष्ठजिह्वा स्वामीने यों लिखा है—***'तेहि पुरमें सिंसुपावृक्ष तर रहे राम हरषाय। आत सरीफादिक नामनसे जगमें यह कहि जाय॥ सिंस नाम सूईस ताको जल पीवन ते जो डिढाय। ताते नाम सिंसुपा यह है नागदेव को भाय॥'*** पं० रामकुमारजी और हरिहरप्रसादजीने 'सीसो' अर्थात् शीशम लिखा है। दीनजी लिखते हैं कि अशोकको भी सिंसुपा कहते हैं अतएव यहाँ अशोक ही अर्थ है। वन्दन पाठकजी पं० रामगुलामजीकी टिप्पणीमें लिखते हैं कि 'शिंशुपा गुग्गुल, शीशम (सीसो), अशोक और शरीफा' को कहते हैं।—'**पिच्छिलाऽगुरु शिंशिपा इति।**' (अमरकोश) (८७। १—३) भी देखिये।

अर्थ—तब निषादराजने हृदयमें विचार किया कि ***'सिंसुपा'*** का वृक्ष सुन्दर है॥ ४॥ (ऐसा जानकर) रघुनाथजीको ले जाकर वह स्थान दिखाया। रामचन्द्रजीने कहा कि यह सब तरह सुन्दर है॥ ५॥ पुरवासी प्रणाम करके घर लौटे और रघुवर श्रीरामजी संध्या करने चल दिये॥ ६॥

पुरुषोत्तम रामकुमार—१ (क) चौपाईका सम्बन्ध ***'बरस चारि दस बास बन''''भएउ गुहहि दुख भारु'*** इस दोहेसे है, बीचमें पुरवासियोंकी चर्चा होने लगी थी। (ख) ***'निषादपति'*** का भाव कि ये राजा हैं, राजाओंके ठहरनेयोग्य स्थान राजा ही अनुमान कर सकता है, अतएव अनुमान करनेमें राजा-सबन्धी नाम दिया और इसका सोचा हुआ स्थान श्रीरामजीको पसंद आया ही; क्यों न आता? [अथवा, निषादोंकी जाति स्वभाव तथा अभ्याससे जड़, कुटिल, दुर्बुद्धि होती है, यथा—***'हम जड़ जीव जीवगन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाति॥''सपनेहु धरम बुद्धि कस काऊ।'*** (२५१। ४। ६) ऐसोंका राजा होनेपर भी उसने 'शिंशुपा तरु' ही चुना, यह उनके स्वभावके विरुद्ध हुआ, यह जनाया। शीशमके वृक्ष चैत्र वैशाखमें फूलते हैं। उनके पुष्प बहुत मधुर सुगंधवाले और मनोहर होते हैं। निषादराज जानते थे कि ***'सुचि सुबिचित्र सुभोगमय सुमन सुगंध सुबास। तहँ सिय राम सयन निसि करहीं।'*** अतएव उन्होंने सुमन सुगंधवाला स्थान चुना (प० प० प्र०)]

२—***'लै रघुनाथहि ठाउँ देखावा।''''''*** इति। राजाका चुना हुआ स्थान था फिर दिखानेकी क्या जरूरत थी? श्रीरामजीका मन रखनेके लिये और श्रीरामजीने उसका मन रखा, इसीसे स्थानकी प्रशंसा की कि ***'सब भाँति सुहावा'*** है, अर्थात् स्थान सुन्दर है, गंगाजीके निकट है, ग्रामके बाहर है, समभूमि है, स्वच्छ है, छाया सघन है और हमारे भक्त निषादराजका पसंद किया हुआ है।

[अथवा, यद्यपि निषादपति और रघुनाथजी दोनों ही राजा हैं तथापि निषादराज अपनेको सेवक ही मानते हैं, इससे ***'ठाउँ'*** दिखाना अपना कर्तव्य समझते हैं। ***'मैं जन नीच'*** से दास्यभाव और दीनता प्रकट होती है। ***'कहेउ राम'***—राम शब्द देकर जनाया कि स्थानको देखकर उनको आनन्द हुआ और निषादराजसे सहमत होकर उन्होंने उनको भी आनन्द दिया। (प० प० प्र०)]

३—***'पुरजन करि जोहारु''''''*** इति। जब निषादराज स्थान दिखाने गये तब पुरवासी भी साथ गये और प्रणाम करके वहाँसे घर आये। तब रघुनाथजी संध्या करने गये। भाव यह कि पुरवासी मारे प्रेमके रामजीके पीछे साथ-साथ चले आये इसीसे उनको छोड़कर (उनके प्रेमसे) संध्या करने न गये, जब वे चले गये तब संध्या करने गये। संध्या होनेके कारण पुरवासी घर लौट गये, नहीं तो छोड़कर अभी न जाते। वेदोक्त धर्मकी मर्यादा रखते हैं इसीसे संध्या करने गये। अतएव ***'रघुबर'*** पद दिया। (श्रीरामजी क्षत्रिय-द्विज-

उपनीत हैं। '**अहरहः संध्यामुपासीत**' यह द्विजोंका प्रथम मुख्य धर्म है। श्रीरामजी रघुकुलश्रेष्ठ हैं। वे धर्ममर्यादाका पालन क्यों न करेंगे। संध्याहीन द्विज 'अशुचि' है, उसको अन्य श्रौत-स्मार्त-पौराणिक कर्म करनेका अधिकार नहीं है। प० प० प्र०। ☞ संध्या—१। २२६। १, १। २३७। ६ देखिये।)

गुह सँवारि साथरी डसाई। कुस किसलय मय मृदुल सुहाई॥ ७॥
सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि पानी*॥ ८॥

अर्थ—गुहने कुश और नवीन कोमल पत्तोंसे युक्त कोमल (गुलगुली) सुन्दर साथरी सजाकर बिछायी॥ ७॥ पवित्र मीठे और कोमल पहचानकर फल और मूल दोनोंमें भर-भर लाकर रखे और पवित्र मीठा जल भी रखा॥ ८॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार पहले कुश बिछाकर तब ऊपरसे पत्ते बिछाये, इसीसे पहले ***'कुस'*** कहा तब ***'किसलय'*** सँवारकर बिछाये, अतः ***'सुहाई'*** है। ***'कुस किसलयमय'***—प्रचुर, विकार और प्रधान अर्थके लिये 'मय' प्रत्यय प्रयुक्त होता है। यहाँ 'प्रचुर' अर्थमें प्रयुक्त हुआ है अर्थात् कुशकिसलय बहुत हैं, अतएव साथरी ऊँची होनेसे मृदुल है। यह साथरी श्रीसीतारामजीके शयनके लिये गुहने स्वयं बिछायी।

प० प० प्र०—निषादराज जानते हैं कि श्रीसीतारामजीका ***'क्षीरफेन मृदु बिषद सुहाई'*** शय्यापर शयन करनेका अभ्यास है। (दोहा ९० देखिये) अतः उन्होंने प्रथम तो सुमन सुगंधयुक्त शीशमतरुके नीचे स्थान चुन लिया और शय्या भी मृदुल सुहाई बनायी। गंगातटके वृक्षलताओंके मृदु पत्तोंसे बनायी गयी है, अतः शुचि भी है। राजमहलमें चारु चँदोवा है तो इधर गंगा नदीपर निशापति चन्द्रमा ही चँदोवा है। ☞ इससे यह सिद्ध हुआ कि श्रीसीतारामजीको यावच्छक्य परिस्थित्यनुसार जितना सुख देना सम्भव था उतना निषादराजने प्रयत्न प्रेमपरिपूर्ण हृदयसे किया। सुग्रीव-विभीषणने ऐसा नहीं किया; क्योंकि वे अपनेको राजा ही मानते थे।

टिप्पणी—२ ***'सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी'*** इति। (क)—***'सुचि'*** शब्द सूचित कर रहा है कि कोई-कोई फलमूल अपवित्र भी होते हैं जैसे—ऊमरि-(गूलर-)का फल, विलायती अरंडका फल जिसे पपीता कहते हैं, कैथा, कुँदरू इत्यादि फल और गाजर इत्यादि मूल। ***'मुनि व्रत बेष अहार'*** ऐसा रामजीने कहा था, अतएव मुनियोंके योग्य जो फल-मूल हैं उन्हींको लाये हैं। (ख) ***'जानी'*** का भाव कि ये फल उन वृक्षों और उस भूमिके हैं जिन्हें निषादराज जानते हैं कि इसके फल-मूल निस्सन्देह मधुर और कोमल हैं। (ग) ***'दोना भरि भरि'*** अर्थात् बहुत-से दोनोंमें भर-भरकर लाये, कई प्रकारके हैं, एक-एक प्रकारके पृथक्-पृथक् दोनोंमें रखे। चार मूर्ति खानेवाले हैं, इसीसे प्रत्येक किस्मके भर-भरकर लाये।

नोट—(चैत्र-वैशाखमें ढाकमें नवीन पत्ते निकलते हैं, जिसके पत्तल और दोने बनाये जाते हैं। यह वृक्ष पवित्र वृक्षोंमें माना गया है। इसकी लकड़ीसे यज्ञपात्र बनते हैं। उपनयन-संस्कारमें इसीका दण्ड ग्रहण किया जाता है। इसको ब्रह्मवृक्ष भी कहते हैं। उसीके पत्तोंके दोने बनाये। आज भी नेपाली लोग दोने

---

* राजापुर और भागवतदासजीकी पोथीमें 'पानी' पाठ है। काशिराज, पं० राम गु० द्विवेदी एवं वंदन पाठकजी और पं० रामकुमारजीने 'आनी' पाठ दिया है। 'पानी' पाठमें अन्वय यों होगा कि 'शुचि फल मूल दोना भरि-भरि राखेसि और पानी भरि-भरि राखेसि'। आनी=लाकर। संभव है कि कर्मकाण्डी पण्डितोंने यह समझकर कि अस्पृश्य जातिके हाथसे लाया हुआ जल कदापि न ग्रहण करेंगे, 'पानी' के बदले 'आनी' पाठ कर दिया हो।

☞ किंतु स्मरण रखना चाहिये कि भगवान् अवतार लेनेपर भी प्रेमहीके भूखे रहते हैं। जहाँ प्रेम है वहाँ नियम नहीं रह जाता। श्रीप्रज्ञानानन्दजीका भी यही मत है। देखिये और विचारिये तो कि 'जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा' ऐसे निषादराजको श्रीभरतजी, गुरु वसिष्ठजी, श्रीरामलक्ष्मणजी गले और छातीसे लगाकर मिले हैं। इनमेंसे किसीने भी तो स्पर्श-दोष नहीं माना और न किसीने दोष-निवारणार्थ स्नान ही किया। शबरी भीलिनी तो चरणोंमें लपट गयी थी, वहाँपर भी भगवान् रामने स्नान नहीं किया।

बड़े सुन्दर बनाते हैं, रसदार साग आदि उसीमें खाते हैं। श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि जंगली लोग आज भी ऐसा दोना और घट पत्तोंका बना लेते हैं, जिससे पुरवा और घट आदिका कार्य अच्छी तरह निकल जाता है और उसमेंसे पानी नहीं टपकता। निषादराजने वैसा ही दोना बनाकर उसमें गंगाजल भरके सरकारके पीनेके लिये रखा। जनश्रुति यह है कि तभीसे लोग मल्लाहोंका जल ग्रहण करने लगे, इसके पहले इनका जल ग्रहण नहीं होता था। इस प्रकारसे उसकी थापना भी हो गयी। वह कहता था कि *'थापिय जन सब लोग सिहाऊ।'*

दो०—सिय सुमंत्र भ्राता सहित कंद मूल फल खाइ।
सयन कीन्ह रघुबंसमनि पाय पलोटत भाइ॥ ८९॥

अर्थ—श्रीसीताजी, सुमन्त्रजी और भाई लक्ष्मणजीसमेत कन्द, मूल, फल खाकर रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीने शयन किया (सो रहे) और भाई लक्ष्मणजी पैर दबाते हैं॥ ८९॥

प० प० प्र०—ऊपर कहा है कि *'सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि·····'*लानेमें 'कन्द' का नाम नहीं है। यहाँ *'कंद मूल फल खाइ'* से जनाया कि कन्द भी दोनोंमें रखकर लाया था। इसी प्रकार अन्य प्रसंगोंमें भी जहाँ केवल फल, फल-मूल, कन्द-मूल इत्यादिके खानेका उल्लेख है—वहाँ भी *'कंद मूल फल अंकुर नीके'* का ग्रहण करना उचित है। (यह भी हो सकता है कि निषादके लानेके समय *'मूल फल'* कहकर जनाया कि कन्द और मूलको वह एक ही जानता है। क्योंकि कन्द भी मूल ही है। गूदेदार और बिना रेशेकी खानेयोग्य जड़ोंको लोग कन्द कहते हैं। मूलकी एक किस्म कन्द भी है। और खानेके समय कन्द और मूल दोनों लिखे, क्योंकि खानेवाले कन्द और मूलमें भेद मानते हैं।)

पुरुषोत्तम रामकुमार—(क) पहले स्त्रीको, बुड्ढेको और लड़केको भोजन देकर तब आपने भोजन किया, यह धर्म है। ऐसा करना रघुकुलश्रेष्ठके योग्य ही है; इसीसे बड़ाईका नाम यहाँ दिया—'रघुवंशमणि'। ऐसे ही बालकाण्डमें जब ऋषियोंको साथमें लेकर भोजन किया था तब भी यही नाम दिया था, यथा—*'रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजन बिश्राम।'* (२१७) (ख) चरणसेवा लक्ष्मणजीने की; क्योंकि एक तो माताकी आज्ञा है कि तुम सब सेवा करना जिसमें श्रीसीतारामजीको सुख मिले, दूसरे निषादराज अपनेको अपावन समझकर उनके शरीरको स्पर्श नहीं कर सकता। उसने साथरी—बिछानेमें अपना अधिकार समझकर साथरी बिछायी थी।

वि० त्रि०—*'सयन कीन्ह·····।'* शुचि फल-मूल जो निषादराज लाये थे, उसे सरकारने सीताजी, लक्ष्मणजी और मन्त्रीके साथ स्वीकार किया। भोजनोपरान्त निषादराजकी बनायी हुई साथरीपर सोये। 'सोये' कहनेका भाव यह कि पिछली रात्रि यात्रामें ही बीती, जागते ही रहे। आज सोये, लक्ष्मणजी चरणसेवामें लग गये। सरकार जब बाहर रहते हैं तो चरणसेवा लक्ष्मणजी ही करते हैं, यथा—*'चापत चरन लखन उर लाये।'* चरणसेवाका अवसर बड़े भाग्यसे मिलता है, यथा—*'बड़ भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चापत बिधि नाना॥'* वनमें जानेसे जैसा सुअवसर लक्ष्मणजीको सेवाका मिलेगा, वैसा सुअवसर घरपर मिलना दुर्लभ है, इसी बातका लक्ष्य करके भगवती सुमित्रा देवीने कहा था कि *'तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥'*

उठे लषनु प्रभु सोवत जानी। कहि सचिवहि सोवन मृदु बानी॥ १॥
कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि बीरासन॥ २॥
गुह बोलाइ पाहरू प्रतीती। ठाँव ठाँव राखे अति प्रीती॥ ३॥
आपु लषन पहिं बैठेउ जाई। कटि भाथी सर चाप चढ़ाई॥ ४॥

अर्थ—प्रभुको सोते जानकर लक्ष्मणजी उठे। कोमल वाणीसे मन्त्रीको सोनेके लिये कहकर॥ १॥ वे

कुछ दूरीपर धनुष-बाणको सजाकर और वीरासनसे बैठकर जागने (पहरा देने) लगे॥ २॥ गुहने विश्वासवाले पहरेदारोंको बुलाकर अत्यन्त प्रेमसे उनको स्थान-स्थानपर रखा॥ ३॥ और आप कमरमें तरकश और धनुषपर बाण चढ़ाकर श्रीलक्ष्मणजीके पास जा बैठा॥ ४॥

नोट—*'उठे लषनु प्रभु सोवत जानी'* इति। इस कथनसे कई बातें सूचित की हैं। एक तो यह कि श्रीसीतारामजीको आज शीघ्र ही निद्रा आ गयी। श्रीअयोध्याजी एवं श्रीजनकपुरमें नींद इतनी शीघ्र न आती थी जैसा *'अज्ञा पुनि पुनि भाइन्ह दीन्ही। निज निज सेज सयन तिन्ह कीन्ही॥'* (१। ३५६। ६) *'पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता। पौढ़े धरि उर पद जलजाता॥'* (१। २२६। ८) से स्पष्ट है। दूसरे यह कि आज त्रैलोक्यपावनी गंगाजीके तटपर शिंशिपा वृक्षके नीचे, नैसर्गिक सुमनसुगन्धित शीतल मन्द पवनमें, कुश-किसलयमय साथरीपर इस आनन्दकी नींद और इतनी शीघ्र आनेसे सूचित किया कि युगल सरकारका चित्त श्रीअवध-मिथिलासे भी अधिक निश्चिन्त और प्रसन्न है। (प० प० प्र०) अ० रा० में इस भावका दर्शक श्लोक यह है—**'उवास तत्र नगरप्रासादाग्रे यथा पुरा। सुष्वाप तत्र वैदेह्या पर्यङ्क इव संस्कृते॥'** (२। ५। ७२) अर्थात् पहले जिस प्रकार अयोध्यापुरीके महलमें श्रीजनकनन्दिनीजीके सहित सुसज्जित पलंगपर लेटा करते थे उसी प्रकार कुश और पत्तोंकी शय्यापर सो गये। तीसरे, श्रीलक्ष्मणजीकी नित्यकी रात्रिचर्या जो आजसे होगी वह बता दिया कि ये चौदह वर्षतक रात्रिमें न सोयेंगे, श्रीसीतारामजीके शयन करनेपर पहरा दिया करेंगे। चौथे, आज जो सोनेकी आज्ञाका उल्लेख नहीं हुआ है वह इसलिये कि आज आज्ञा नहीं ही दी गयी है, क्योंकि प्रभु जानते हैं कि ये सोवेंगे नहीं। पाँचवें, लक्ष्मणजीद्वारा निषादराजको परमार्थका उपदेश भी कराना है और लोकव्यवहारके अनुसार सफरसे थकावट होती है अतः शीघ्र नींद आयी। इत्यादि।

पुरुषोत्तम रामकुमार—१ *'कहि सचिवहि सोवन मृदु बानी'* इति। मन्त्री बड़े चिन्तामें हैं कि कैसे-कैसे कष्ट ये पा रहे हैं, कैसेहू ये लौट चलें; इत्यादि सोचके मारे व्याकुल हैं, सोते नहीं हैं, अतएव मृदु वाणी कहकर उन्हें सोनेको भेजा। दूसरे, श्रीसीतारामजी शयन कर रहे हैं, निद्रा भंग न हो जाय, इससे मृदु-धीमी वाणीसे बोले और इसीसे चरण-सेवा बंद करके उठ आये। (उपदेश है कि जहाँ गुरुजन सोते हों वहाँ यदि बोलनेकी आवश्यकता पड़े तो बहुत धीमे बोले। प० प० प्र०)

टिप्पणी—२ (क) *'कछुक दूरि सजि बान सरासन'*—न बहुत दूर और न बहुत पासहीसे पहरा ठीक बन सकता है; अतएव कुछ दूरपर बैठे। रोदा चढ़ाकर वीरासनसे* बैठे अर्थात् सावधान होकर पहरा देने लगे, जैसे राजाओंके यहाँ पहरा रहता है। (श्रीलक्ष्मणजीसे गुहने शयन करनेको कहा तब लक्ष्मणजीने उत्तर दिया कि श्रीरामचन्द्रजी श्रीसीताजीके साथ भूमिपर सो रहे हैं, ऐसी दशामें कैसे सो सकता हूँ अथवा जीवनके अन्य सुखोंको भोग सकता हूँ। ऐसा वाल्मीकिजी लिखते हैं—**'कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया। शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा॥'** (२। ५१। ९) श्रीसीतारामजी सुखपूर्वक शयन करें इस विचारसे श्रीलक्ष्मणजी जाग रहे हैं, यथा—**'तं जाग्रतमदम्भेन भ्रातुरर्थाय लक्ष्मणम्।'** (वाल्मी० २। ५१। १) [(ख) *'अति प्रीती'* से वाल्मी० ५१ मेंके गुहके **'नहि रामात्प्रियतमो ममास्ते भुवि कश्चन। ब्रवीम्येव च ते सत्यं सत्येनैव च ते शपे॥'** (४) इन वचनोंका भाव दरसा दिया गया है। वह लक्ष्मणजीसे कहता है कि मैं सत्यकी शपथ करके तुमसे सत्य-सत्य कहता हूँ कि रामसे बढ़कर संसारमें मुझे दूसरा प्रिय नहीं है।—इसीसे ज्ञातिवर्गसहित स्वयं पहरा दिया।]

टिप्पणी—३ *'गुह बोलाइ पाहरू प्रतीती।.....'* इति। अर्थात् नाके-नाकेपर पहरा बिठा दिया था। यहाँ कोई ऐसा भय नहीं था कि ऐसा करता। उसके ऐसा करनेका कारण 'अति प्रीति' बताते हैं। श्रीरामजीमें अत्यन्त प्रेम है, इससे स्थान-स्थानपर कई-कई पहरे बिठा दिये। पुनः, *'प्रतीती'* और *'अति प्रीति'* का भाव यह भी होता है कि जिनमें अत्यन्त प्रीति और प्रतीति है उन्हींको पहरेपर बिठाया—पुत्रमें प्रीति

* बैठनेका एक प्रकारका आसन या मुद्रा। इसमें बायें पैर और टखनेपर दाहिनी जाँघ रखकर बैठते हैं।

और मित्रमें प्रतीति होती है, यथा—*'सुतकी प्रीति प्रतीति मीतकी····।'* (विनय०) पुत्रों और मित्रोंको पहरेके लिये नियुक्त किया।'

टिप्पणी—४ *'आपु लषन पहिं बैठेउ जाई। कटि भाथी··'* इति। (क) तरकश कसकर, बाण लेकर और धनुष चढ़ाकर लक्ष्मणजीके पास हाजिर हुआ कि जो आज्ञा हो सो करूँ। (ख) *'भाथी'* से जनाया कि इसके यहाँ छोटे-छोटे तरकश, बाण और धनुष हैं जैसा आगे स्पष्ट कहा गया है, यथा—*'सुमिरि रामपद पंकज पनहीं। भाथी बाँधि चढ़ाइन्हि धनुहीं॥' 'अँगरी पहिरि कूड़ि सिर धरहीं। फरसा बाँस सेल सम करहीं॥'* (१९१।४।५) वह सब गँवारू ठाट है, जैसे बड़े राजाओंके यहाँ बड़े-बड़े शस्त्रास्त्र होते हैं वैसे नहीं हैं। लक्ष्मणजी धनुष चढ़ाये बाण लिये बैठे हैं, अतएव उन्हें देखकर यह भी वैसे ही जा बैठा। [पुनः पास जाकर बैठनेमें भाव यह है कि श्रीरामानुजजीसे कुछ-न-कुछ सत्संगकी चर्चा हो सकेगी और इससे निद्राका आक्रमण भी न होगा। जब निषादराज स्वयं सजग रहेंगे तब नाके-नाकेपर बैठे हुए पहरेदार भी सजग रहेंगे—'**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।**' (गीता)। प० प० प्र०]

श्रीलक्ष्मणगीता

(विषादयोग-भूमिका)

सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयेउ प्रेम बस हृदय बिषादू॥ ५॥
तनु पुलकित जलु लोचन बहई। बचन सप्रेम लषन सन कहई॥ ६॥
भूपति भवन सुभाय सुहावा। सुरपति सदनु न पटतर पावा*॥ ७॥
मनिमय रचित चारु चौबारे। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे॥ ८॥

शब्दार्थ—**सुभाय**=स्वाभाविक ही, सहज ही, बिना सजाये-सँवारे ही। **चौबारे**=वह बँगला जिसमें चारों ओर दरवाजे हों, जिसमें चारों ओरसे हवा आ-जा सके। =कोठेके ऊपरकी वह कोठरी जिसके चारों ओर दरवाजे हों। चौ=चार। बार=द्वार। बैजनाथजी लिखते हैं कि जयपुर आदिमें त्रिद्वारीको 'बारी' कहते हैं। जिस अजिरके चारों ओर त्रिद्वारी लगी हो उसे 'चौबारा' कहते हैं।

अर्थ—प्रभुको (साथरीपर) सोते हुए देखकर प्रेमके कारण निषादराजके हृदयमें बड़ा दुःख हुआ॥ ५॥ उसका शरीर रोमांचित हो गया, नेत्रोंसे जल बह रहा है। वह लक्ष्मणजीसे प्रेमसहित ये वचन कह रहा है॥ ६॥ राजाका महल स्वाभाविक ही सुन्दर है। इन्द्रका महल भी उसकी उपमा या समताको नहीं पाता (बराबरी नहीं कर सकता)॥ ७॥ सुन्दर मणिरचित 'चौबारे' हैं मानो रतिके पति कामदेवने अपने हाथों सजाकर बनाये हैं॥ ८॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ (क) निषादराज माधुर्यमें पगे हुए हैं इसीसे प्रभुको दुःखी समझकर प्रेमके मारे उनको दुःख हो रहा है। श्रीलक्ष्मणजी ऐश्वर्य कहकर उसके दुःखको दूर करेंगे। कैसा भारी दुःख है यह उसकी दशा दिखाकर कविने सूचित कर दिया है। (ख) *'सोवत प्रभुहि निहारि'* से जनाया कि सो जानेपर जब लक्ष्मणजी उठ आये तब वह आया। पुनः, *'सोवत निहारि'* का भाव उसके वचनोंसे स्पष्ट होता है कि कुश-पत्तोंपर ऐसे बड़े नाजमें पले हुए राजकुमारको लेटा देखा; यह सोचकर दुःख हुआ।

टिप्पणी—२ *'तनु पुलकित····'* इति। यह कहकर कि वह प्रेम-वश दुःखित हुआ, अब उसके प्रेमकी दशा दिखाते हैं कि रोयें खड़े हैं, अश्रुका प्रवाह जारी है और प्रेमसे गद्गद वचन कह रहा है। दुःखका समाधान अपनेसे नहीं हो रहा है कि जिससे चित्तको संतोष हो, अतएव लक्ष्मणजीसे अपना दुःख कह रहा है कि ये समाधान करें।

टिप्पणी—३ *'भूपति भवन सुभाय सुहावा····'* इति।—भाव कि महाराज दशरथ पृथ्वीभरके स्वामी हैं,

* राजापुरकी प्रतिमें 'आवा' है—(ला० सीताराम)। पर रा० प० और गी० प्रे० ने 'पावा' पाठ दिया है।

पृथ्वीभरमें इनका-सा महल कहीं नहीं जिससे इसकी उपमा दी जाय, रहा स्वर्ग सो उसमें औरकी क्या उपमा दें, इन्द्रके ही भवनसे उपमा देना उचित है, क्योंकि उससे बढ़कर वहाँ किसीका महल नहीं। दूसरे ये 'भू-पति' हैं और वह 'सुर-पति'। राजाके लिये राजाकी ही उपमा योग्य है; पर वह भी समताको नहीं पहुँचता।

टिप्पणी—४ ***'सँवारे'*** अत्यन्त सुन्दर बनाये। 'रति' अत्यन्त सुन्दर है उसका पति कामदेव तो फिर सुन्दरताकी मानो अवधि ही हुआ चाहे। देवताओंमें इससे अधिक सुन्दर कोई नहीं। इसका स्वयं अपने हाथोंसे और वह भी सँवारकर बनाया हुआ स्थान भी सुन्दरताकी सीमा ही होगा। (ख)—***'मनिमय'*** से जनाया कि उसमें अमूल्य और सुन्दर रत्न लगे हैं। ***'रचित'*** से बनाव (रचना) सुन्दर कहा। ***'चारु'*** से कितनी सुन्दर है यह बताया। और, ***'रतिपति निज हाथ सँवारे'*** से बनानेवाले कारीगरकी सुन्दरता जनायी।

दो०—सुचि सुबिचित्र सुभोगमय सुमन सुगंध सुबास।
पलँग मंजु मनि दीप जहँ सब बिधि सकल सुपास॥ ९०॥

अर्थ—जो पवित्र है, अति विचित्र है, सुन्दर भोगमय (उत्तम-उत्तम भोगोंके पदार्थोंसे भरा हुआ) है, फूल और (इत्र गुलाब, केवड़ा आदि) सुगन्धित द्रव्योंसे सुवासित है अर्थात् जहाँ इनकी सुगन्ध फैली हुई है, जहाँ सुन्दर मणिमय पलंग और सुन्दर मणिमय दीपक हैं (इत्यादि) जहाँ सब प्रकारकी सुविधा है॥ ९०॥

पुरुषोत्तम रामकुमार—***'सुचि'*** का भाव कि बहुत लोगोंके घर सुन्दर बने होते हैं पर पवित्र नहीं होते; जैसे यवनों और अंग्रेजोंके, और यह पवित्र है। ***'बिचित्र'*** क्योंकि रंग-बिरंगके अनेक मणियोंका ही बना है तथा जिसमें चित्रकारी भी है। ***'सुभोगमय'*** अर्थात् वहाँ सब सिद्धियाँ रहती हैं जो श्रीसीतारामजीकी सेवा किया करती हैं, यथा—***'तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें।'*** (१०३। ६) इसीसे यह स्थान सुभोगमय है। पुन:, (ख) शुचि हैं अर्थात् स्नानके लिये वहाँ सब तीर्थोंका जल रखा है। स्नानके बाद भोजन चाहिये, अत: वह सब भोगके सुन्दर पदार्थोंसे भरा हुआ है। भोजनके बाद फूल-माला, इत्र आदि सुगन्ध चाहिये, यह सब वहाँ है। इसके बाद विश्रामके लिये पलंग चाहिये सो वहाँ सुन्दर मणियोंका पलंग है। रातमें दीपक चाहिये सो वहाँ मणिके दीपक हैं, जिसमें कालिख, दुर्गन्ध और गर्मी नहीं है, न तेल-बत्तीका काम, न बुझनेका डर। और भी जो-जो पदार्थ आरामके चाहिये वे सब हैं।

बिबिध बसन उपधान तुराई। छीरफेन मृदु बिसद सुहाई॥ १॥
तहँ सिय रामु सयन निसि करहीं। निज छबि रति मनोज मदु हरहीं॥ २॥
ते सियरामु साथरी सोए। श्रमित बसन बिनु जाहिं न जोए॥ ३॥

शब्दार्थ—**उपधान** (सं०)=वह जिसपर कोई वस्तु रखी जाय; सहारेकी चीज तकिया। **तुराई** (सं०) तूल=रूई। तूलिका=(गद्दा)=रूईका गुलगुला बिछौना, तोशक। **छीरफेन** (क्षीरफेन)=दूधके फेनके समान। फेन=महीन-महीन बुलबुलोंका वह गठा हुआ समूह जो पानी या और किसी द्रवपूर्ण पदार्थके खूब हिलने आदिसे ऊपर दिखायी पड़ता है; झाग।

अर्थ—जहाँ (ओढ़ने-बिछानेके) अनेकों वस्त्र, तकिये, तोशक हैं जो दूधके फेनके समान कोमल, उज्ज्वल और सुन्दर हैं॥ १॥ वहाँ श्रीसीतारामजी रातमें सोया करते और अपनी छबिसे रति और कामदेवके गर्वको हरण करते थे॥ २॥ वही श्रीसीतारामजी थके हुए और बिना वस्त्रके साथरीपर सो रहे हैं (ऐसी दशामें) वे देखे नहीं जाते। अर्थात् इस दशामें सोते हुए देख बड़ा दु:ख लगता है॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) ऊपर पलंगतक वर्णन कर आये, अब पलंगपरका सामान कहते हैं। दूधके फेनके समान अर्थात् सब शुक्ल हैं; क्योंकि भगवान् शुक्ल-वस्त्र धारण करते हैं, यथा—**'शुक्लाम्बरधरं विष्णुम्।'** [***'क्षीरफेन'***—इस उपमाके समान मृदुत्वके लिये अन्य उपमा ही न मिलेगी। इससे निर्मलता, परम शुभ्रता

और शुचिता भी सूचित की गयी। क्षीरसागरके फेनके समान मृदु ऐसा भी अर्थ लेना उचित होगा। (प० प० प्र०) (ख)—*'तहँ सिय रामु सयन निसि करहीं'*—मिलान कीजिये—*'जटित कनकमनि पलँग डसाए॥ सुभग सुरभि पयफेन समाना। कोमल कलित सुपेती नाना॥ उपबरहन बर बरनि न जाहीं। स्रग सुगंध मनिमंदिर माहीं॥ रतनदीप सुठि चारु चँदोवा। कहत न बनै जान जेहि जोवा॥ सेज रुचिर रचि राम उठाये। प्रेम समेत पलँग पौढ़ाये॥'* (१।३५६। १—५)] *'रति मनोज मदु हरहीं'* अर्थात् श्रीसीताजी रतिके मदको और श्रीरामजी कामदेवके मदको नष्ट करते हैं। यह रात्रिके विहारका स्थान है इसीसे कामदेवके सँवारनेकी उत्प्रेक्षा की—*'जनु रतिपति निज हाथ सँवारे'*, और काम और रतिके ही मदको हरण करना कह रहे हैं; क्योंकि वहाँ (भूपभवनमें) शृंगार ही प्रधान है।

टिप्पणी—२ *'ते सियरामु'* अर्थात् जो ऐसे महलमें ऐसे सजे हुए पलंगपर शयन करते थे वे पृथ्वीपर पत्तोंपर सो रहे हैं। *'श्रमित'* का भाव कि ऐसे कोमल बिछौनेपर सोनेवाले, उनको साथरीपर कैसे नींद आ सकती थी? थके हैं इससे सो गये नहीं तो कब सो सकते? थकावटमें निद्रा बहुत आती है, यथा—*'श्रमित भूप निद्रा अति आई।'* (१। १७०। २) पुनः, दूसरा कारण निद्राका यह है कि प्रथम रात्रिके (तमसापर) जगे हुए हैं।

नोट—अ० रा० में उपर्युक्त दोहा और चौपाइयोंसे मिलता हुआ श्लोक यह है—'......**भ्रातः पश्यसि राघवम्।**' (२।६।१) '**शयानं कुशपत्रौघसंस्तरे सीतया सह। यः शेते स्वर्णपर्यङ्के स्वास्तीर्णे भवनोत्तमे॥**' (२) अर्थात् भाई लक्ष्मण देखते हो, जो रघुनाथजी अपने भव्य भवनके सुन्दर बिछौनेसे युक्त सुवर्णनिर्मित पलंगपर लेटते थे वे ही आज श्रीसीताजीके सहित कुश और पत्तोंकी साथरीपर पड़े हैं।

मातु पिता परिजन पुरवासी। सखा सुसील दास अरु दासी॥ ४॥
जोगवहिं जिन्हहिं प्रान की नाईं। महि सोवत तेइ राम गोसाईं॥ ५॥
पिता जनक जग बिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ॥ ६॥
रामचंदु पति सो बैदेही। सोवत महि बिधि बाम न केही॥ ७॥
सिय रघुबीर कि कानन जोगू। करम प्रधानु सत्य कह लोगू॥ ८॥

अर्थ—माता, पिता, कुटुम्बी, पुरवासी (प्रजा), सुन्दर शील स्वभाववाले सखा, दास और दासियाँ ये सब जिनकी अपने प्राणोंकी तरह रक्षा करते रहते थे, वे ही रामगुसाईं आज जमीनपर सो रहे हैं॥ ४-५॥ जिनके पिता जनकमहाराज हैं जिनका प्रभाव जगत्‌भरमें प्रसिद्ध है और जिनके श्वशुर इन्द्रके सखा और रघुकुलके राजा हैं॥ ६॥ और जिनके पति श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे ही विदेहकुमारी सीताजी आज पृथ्वीपर सो रही हैं। विधाता किसे उलटा नहीं होता? अर्थात् जब ऐसे महान् प्रभाववालोंको विपरीत होता है तब तो बस हद्द है॥ ७॥ श्रीसीताजी और रघुवीर श्रीरामजी क्या वनके योग्य हैं? अर्थात् नहीं। लोगोंने सत्य कहा है कि कर्म मुख्य है॥ ८॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ *'सखा सुसील दास अरु दासी'* इति। सुशीलका भाव कि सखा शठ नहीं हैं और दास-दासी उत्तर देनेवाले नहीं हैं, यथा—'**दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तर-दायकः।**' सुशील न होनेसे सुखदायी नहीं हो सकते। प्राणोंकी तरह रखते हैं इसीसे जान पड़ता है कि बड़े ही सुखदायी हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'जोगवहिं जिन्हहिं प्रान की नाईं'* इति।—रामजी सबको प्राणप्रिय हैं, यथा—*'कोसलपुरबासी नर नारि बृद्ध अरु बाल। प्रानहु ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल॥'* (१। २०४) अतएव प्राणोंकी तरह उनकी रक्षा करना कहा। यहाँ *'जोगवहिं'* बड़ा उत्तम शब्द है। सेवा करना नहीं कहते; क्योंकि माता-पिता-परिजन-पुरवासीमें बड़े-बड़े लोग हैं, ब्राह्मण भी हैं, उनको सेवक कहना अनुचित है। (ख) *'गोसाईं'* अर्थात् जो पृथ्वीके साईं हैं वे पृथ्वीपर सो रहे हैं।

टिप्पणी—३—श्रीसीतारामजीको जमीनपर सोते हुए देख निषादराजको बड़ा दुःख हुआ है—*'सोवत*

प्रभुहिं निहारि निषादू। भयेउ प्रेमबस हृदय बिषादू॥'—इसीसे वह बारंबार उनके भूमिपर सोनेका दु:ख कह रहा है, यथा—*'तेहि सियरामु साथरी सोये', 'महि सोवत तेइ राम गोसाईं', 'रामचंदु पति सो बैदेही। महि सोवत बिधि बाम न केही॥'*

प० प० प्र०—बालकाण्डके उपर्युक्त उद्धरणमें शयनागारका किंचित् वर्णन है। वहाँ *'सुभग सुरभिपयफेन समाना'* कहा है वैसे ही यहाँ *'छीरफेनु मृदु बिसद सुहाई'* है। वहाँ *'कहत न बनै जान जेहि जोवा'* पर उपसंहार किया है। यहाँ निषादराजने उस शयनागार और शय्याका कुछ विस्तृत वर्णन किया है। इससे अनुमान होता है कि इन्होंने शयनागार देखा होगा, अन्यथा ये उसका इतना विस्तृत वर्णन कर नहीं सकते। (यह भी सिद्ध करता है कि ये पूर्वसे ही श्रीरामजीके सखा हैं) यह अनुमान *'सदा रहेहु पुर आवत जाता'* उत्तरकाण्डके इन वचनोंसे भी पुष्ट होता है।

नोट—१ *'पिता जनक''''रघुराऊ'* इति। मिलान कीजिये—*'पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृप मनि मुकुट मिलित पदपीठा॥''''' ' 'आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंहासन आसनु देई॥ ससुर एतादृस अवध निवासू।'* (२। ९८। ४-५)। वा, ऐसे प्रभावशाली कि पृथ्वीसे कन्या उपजायी, शुकदेवजीको ज्ञान सिखाया।

नोट—२ *'रामचंदु पति'* —चदि धातु आह्लाद अर्थका वाचक है, अतएव *'रामचंद'* का भाव यह कि ये ब्रह्माण्डभरको आह्लाद देनेवाले हैं। (पु० रा० कु०) रकार अग्निबीज है और अग्नि तापयुक्त होता है, इसीसे रकाररहित *'रामचंद'* शब्दका प्रयोग करके बताया कि श्रीसीताजीको परम प्रसन्नता, शीतलता और संतोष देनेवाले तथा उनका सब तापदु:ख हरनेवाले ऐसे पति हैं तथापि वह वैदेही तपस्वीके समान आज भूमिपर सो रही है। *'बिधि बाम न केही'* यथा—*'बिधि बामकी करनी कठिन''''' '* (२०१) (प० प० प्र०)

नोट—३ यहाँ पिता, ससुर, पति तीनोंका प्रभाव क्रमसे दिखाया। पिताका प्रभाव 'जग विदित' है, ससुरका प्रभाव 'स्वर्गतक' विदित है और पतिका प्रभाव 'ब्रह्माण्डभरमें' विदित है।

टिप्पणी—४ *'करम प्रधान सत्य कह लोगू'* इति। मीमांसा शास्त्रवाले कर्मको प्रधान कहते हैं। निषादराजने पहले विधिको वाम कहा और अब कर्मको प्रधान कहा है—तात्पर्य यह कि विधिकी वामता कर्मसे होती है—*'कठिन करम गति जान बिधाता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥'*

नोट—४ भर्तृहरिजीने भी इसी आशयपर यह श्लोक कहा है—'**नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः स्वर्गो दुर्गमनिग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः। इत्यैश्वर्यबलान्वितोऽपि बलिभिर्भग्नो वरैः संगरे तद्व्यक्तं वरमेव दैवशरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम्॥**' अर्थात् बृहस्पति जिसके गुरु नेता हैं, वज्र जिसका अस्त्र-शस्त्र है, देवता सेना है, स्वर्ग दुर्गम गढ़ है, हरि रक्षक और ऐरावत वाहन, ऐसे पराक्रम और ऐश्वर्यवाला इन्द्र ही जब शत्रुसे हार गया तो बस दैव ही प्रबल है, पौरुष व्यर्थ है।

'सिय रघुबीर कि कानन जोगू' यह प्रश्न उठाकर उसका समाधान स्वयं ही किया कि कर्मकी प्रबलतासे वन हुआ। कर्मकी प्रबलता किसी-न-किसीद्वारा होती है सो आगे कहते हैं कि *'कैकयनंदिनि'*।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—यहाँ निषादराजको मोह हुआ। उसने नहीं समझा कि सरकारके जन्म, कर्म दिव्य हैं, ये ईश्वर हैं, अपनी इच्छासे शरीर धारण करते हैं। और ऐसी लीला धारण करते हैं, जिसे सुनने-समझनेवाले लोगोंको परमपदकी प्राप्ति होती है, इन बातोंको उसने नहीं समझा। जिस भाँति जीव कर्मवश दु:ख-सुखके भागी रहते हैं, उसी भाँति रघुनाथजीको भी कर्मवश समझकर उसे विषाद हुआ। विषाद होनेपर ही अर्जुनको गीताका उपदेश हुआ। पहले अध्यायका नाम ही 'विषादयोग' है। उसी भाँति निषादराजको साक्षात् भगवान् रामानुज गीताका उपदेश करेंगे।

दो०—कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहि रघुनंदन जानकिहि सुखु अवसर दुखु दीन्ह॥ ९१॥

अर्थ—केकय देशके राजाकी लड़की नीचबुद्धि कैकेयीने कठिन कुटिलता (वा कुटिल प्रतिज्ञा) की। जिसने रघुनन्दन श्रीरामजी और श्रीजानकीजीको सुखके समय दु:ख दिया (ऐसा नीच काम किया)॥ ९१॥

नोट—१ कुटिलता करनेमें अवधका सम्बन्ध न दिया। किंतु केकयका सम्बन्ध दिया है। ***'कठिन कुटिलपनु'*** अर्थात् श्रीरामजीके वनवासकी प्रतिज्ञा की, यह प्रण कठिन है। अर्थात् किसीके टाले न टल सका। और मन्द बुद्धि है इसीसे कुटिलता किया, वन भेजना यह कुटिलता है। (प्र० सं०)

नोट—२ ***'कैकयनंदिनि'*** अर्थात् केकयकुलको आनन्द देनेवाली कहनेका भाव कि कन्याको चाहिये कि वह उभयकुलानन्ददायिनी हो, पर कैकेयीने भरतके लिये राज्याभिषेक माँगकर केवल अपने पिताके कुलको आनन्द दिया। 'रघुनन्दन' का भाव कि जो सम्पूर्ण रघुकुलको आनन्द देनेवाले हैं और जो कैकेयीको सदा-सर्वदा आनन्द देते रहे तथा आगे भी देंगे उन्हींको इसने दुःख दिया। इससे जनाया कि कैकेयी कृतघ्न है। ***'सुखु अवसर'*** दुःख देनेका भाव कि सुखके अवसरमें जो दुःख होता है वह अत्यन्त असह्य और हृदयविदारक होता है। (प० प० प्र०)

नोट—३ अ० रा० में कुछ मिलता हुआ श्लोक यह है—**'कैकेयी रामदुःखस्य कारणं विधिना कृता। मन्थराबुद्धिमास्थाय कैकेयी पापमाचरत्॥'** (२। ६। ३) अर्थात् विधाताने श्रीरामजीके इस दुःखका कारण कैकेयीको बना दिया। मन्थराकी बुद्धिपर विश्वास करके कैकेयीने यह बड़ा पाप कर्म किया।—मानसके निषादराज मन्थरावाली बात ही नहीं जानते और जान ही कैसे सकते थे? मन्थराकी बात तो श्रीभरतजीके आगमनपर खुली—***'भै मंथरा सहाय बिचारी।'*** (१६०। १) अभी उसे कोई नहीं जानता।

भइ दिनकर कुल बिटप कुठारी। कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी॥ १॥
भयउ बिषादु निषादहि भारी। राम सीय महि सयन निहारी॥ २॥
बोले लषन मधुर मृदु बानी। ग्यान बिराग भगति रस सानी॥ ३॥

अर्थ—वह सूर्यकुलरूपी वृक्षके लिये कुल्हाड़ी हुई। उस दुर्बुद्धिने सारे संसारको दुःखी किया॥ १॥ श्रीसीतारामचन्द्रजीको जमीनपर सोते हुए देखकर निषादको भारी दुःख हुआ॥ २॥ तब श्रीलक्ष्मणजी ज्ञान-वैराग्य और भक्ति-रसमें सनी हुई मीठी कोमल वाणी बोले॥ ३॥

पुरुषोत्तम रामकुमारजी—१ राजा दशरथजीने मना किया था कि ***'जनि दिनकर कुल होसि कुठारी',*** सो उसने न माना, सत्य ही ***'भइ दिनकर कुल बिटप कुठारी।'*** प्रथम कहा कि 'रघुनंदन जानकी' को दुःख दिया फिर कहा कि रघुकुलभरको दुःख दिया है। रघुकुलको फूला-फला वृक्ष कहा अर्थात् इसके आश्रयसे विश्वभरको सुख था। उसको काट डाला इसीसे सारे संसारको दुःख हुआ। क्यों ऐसा किया? ***'कुमति'*** के कारण। पहले रघुनन्दन जानकीको, फिर कुलको, तब विश्वको अर्थात् क्रमसे उत्तरोत्तर अधिक लोगोंको दुःख देना कहा।

टिप्पणी—२ ***'भयउ बिषादु निषादहि भारी'*** इति। पहले हृदयमें विषाद हुआ, यथा—***'भयउ प्रेमबस हृदय बिषादू';*** अब विषादकी बातें कहते-कहते विषाद भारी हो गया। 'निषादको भारी विषाद' हुआ इसका भाव यह है कि '**निषादो जीवहिंसकः**', ऐसेको जब ऐसा भारी दुःख हुआ तब औरोंको आप स्वयं समझ लें कि कितना दुःख हुआ होगा।

टिप्पणी—३ ***'बोले लषन मधुर मृदु बानी'*** इति। निषादकी बातोंका खण्डन करके उसे समझाना है; अतएव मधुर मृदु वचन बोले जिसमें उसको दुःख न हो। पुनः मधुर मृदु धीमे-धीमे जिसमें श्रीरामजी जग न पड़ें। पुनः निषादके सम्बन्धमें कहा है कि ***'बचन सप्रेम लषन सन कहई'*** अतएव ये भी मधुर मृदु वाणी बोले। पुनः, जिसमें उपदेश उसके मनमें बैठ जावे इससे मधुर मृदु वाणीसे बोले। (☞ नीच निषादको 'भ्राता' सम्बोधन देकर मृदुताको हदतक पहुँचा दिया।)

नोट—श्रीलक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य हैं। वे एक मुमुक्षुमें तत्त्वत्रय ज्ञानका अभाव देखकर उसे बहुत सरल और मधुर शब्दोंमें प्रथम ज्ञान, फिर वैराग्य और तत्पश्चात् भक्तिरससानी वाणी बोलकर शोकापनोदनपूर्वक परमार्थनिष्ठ बना रहे हैं। (श्रीकौशलेन्द्रप्रपन्नाचार्यजी)

(श्रीलक्ष्मणगीतान्तर्गत)

ज्ञान, वैराग्य और भक्तियोग

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता । निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥ ४॥
जोग बियोग भोग भल मंदा । हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ ५॥
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू । संपति बिपति करमु अरु कालू॥ ६॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू । सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥ ७॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं । मोह मूल परमारथु नाहीं॥ ८॥

अर्थ—कोई किसीको दुःख-सुखका देनेवाला नहीं है। हे भाई! सब अपने ही किये हुए कर्मका भोग करते हैं॥ ४॥ संयोग, वियोग, भोग, बुरा एवं भला-बुरा भोग*, मित्र, शत्रु, मध्यस्थ अर्थात् उदासीन जो न मित्र ही हैं न शत्रु, ये सब भ्रमके फंदे हैं॥ ५॥ जन्म-मरण जहाँतक संसारका जाल (पसारा) है (अर्थात् जहाँतक प्राकृत व्यवहार फैला हुआ है), सम्पत्ति (धन, ऐश्वर्य), विपत्ति, कर्म और काल॥ ६॥ पृथ्वी, घर, धन, नगर, कुटुम्ब, स्वर्ग और नरक जहाँतक व्यवहार देखने-सुनने और मनमें विचारनेमें आता है इन सबोंका मूल मोह है, परमार्थ नहीं है॥ ७-८॥

वि० त्रि०—निषादराजने पहले कहा कि ***'कर्म प्रधान सत्य कह लोगू'*** और फिर कैकेयीजीको दोष देने लग गया कि उन्होंने रघुनन्दन-जानकीको सुखके अवसरपर दुःख दिया, ये दोनों बातें एक-दूसरेके विरुद्ध हैं। मोह होनेपर लोग इसी प्रकारसे सोचा करते हैं, स्थिर नहीं कर सकते कि वस्तुस्थिति क्या है? इसीपर लक्ष्मणजी कहते हैं कि जो तुम भगवती कैकेयीको दुःखदाता समझ रहे हो, यह भूल है। कोई जीव किसी सुख-दुःखका दाता नहीं हो सकता, अपने कर्म ही सुख-दुःखके देनेवाले हैं, वे ही सुख-दुःखरूपी फल प्रदान किया करते हैं, यथा—***'करै जो कर्म पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सब कोई॥'***

पुरुषोत्तम रामकुमारजी—निषादराजने कहा था—***'कैकयनंदिनि·····सुख अवसर दुख दीन्ह',*** उसका उत्तर लक्ष्मणजीने दिया कि कोई किसीको दुःख-सुख नहीं देता, यह सब अपने कर्मका भोग है। यह उत्तर कर्मवादी अर्थात् मीमांसाके मतसे है, जिसमें कर्म ही प्रधान माना गया है, योग-वियोग इत्यादि उसके फलका भोग है। इस उत्तरसे मीमांसाके मतकी रक्षा की।

नोट—१ अ० रा० में ***'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता'*** की जोड़में '**सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता।**' (२।६।५) (अर्थात् सुख-दुःखका दाता कोई और नहीं है), '**कः कस्य हेतुर्दुःखस्य कश्च हेतुः सुखस्य वा।**' (२।६।४) (अर्थात् किसीके दुःख अथवा सुखका कारण दूसरा कौन है?) ये श्लोक हैं और ***'निजकृत करम भोग सबु भ्राता'*** की जोड़में '**सखे शृणु वचो मम।**·····' (४) '**स्वपूर्वार्जितकर्मैव कारणं सुखदुःखयोः॥**' (५) ये श्लोक हैं। मानसमें 'भ्राता' सम्बोधन है तो वहाँ 'सखा' है। इसके आगे जो अ० रा० में कहा कि '**परो ददातीति कुबुद्धिरेषा। अहं करोमीति वृथाभिमानः स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः॥**' (६) अर्थात् कोई अन्य सुख-दुःख देता है यह समझना कुबुद्धि है। मैं करता हूँ यह वृथा अभिमान है, क्योंकि लोग अपने-अपने कर्मोंकी डोरीमें बँधे हुए हैं—यह सब इन दोनों चरणोंका भाव है। इसके आगे कर्त्तव्य बताया है कि प्रारब्धानुसार सुख-दुःख जो कुछ प्राप्त हो उसे भोगते हुए प्रसन्न

---

* पाँड़ेजी इस प्रकार अर्थ करते हैं कि 'संयोग-वियोग, भले-बुरेका भोग इत्यादि भ्रमके फंदे हैं। ये फंदे जगमें जन्मसे मरणपर्यन्तका जो जाल है उसमें लगे हुए हैं। और सम्पत्ति-विपत्ति आदि जो सम्पूर्ण कर्म और काल हैं···', जहाँतक आँख-कान और मनकी गति (पहुँच) है सो सब मोहका मूल है। इसका प्रमाण यह है कि 'सपने होइ···'।'

चित्त रहे। यथा—'**सुखं वा यदि वा दुःखं स्वकर्मवशगो नरः। यद्यद्यथागतं तत्तद्भुक्त्वा स्वस्थमना भवेत्॥**' (२।६।८) यह उपदेश इन चरणोंमें है।

नोट—२ प० पु०, भूमिखण्डमें राजा ययातिके भी कर्मके सम्बन्धमें ऐसे ही विचार हैं—'उपद्रव, आघातदोष, सर्प और व्याधियाँ ये सभी कर्मसे प्रेरित होकर मनुष्यको प्राप्त होते हैं। आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु ये पाँच बातें जीवके गर्भमें रहते समय ही रच दी जाती हैं।…मनुष्य जैसा करता है, वैसा भोगता है। उसे अपने किये हुएको ही सदा भोगना पड़ता है। वह अपना ही बनाया हुआ दुःख और अपना ही रचा हुआ सुख भोगता है।…जैसे बछड़ा हजारों गौओंके बीचमें खड़ा होनेपर भी अपनी माताको पहचानकर उसके पास पहुँच जाता है, उसी प्रकार पूर्व जन्मके किये हुए शुभाशुभ कर्म कर्ताका अनुसरण करते हैं। पहलेका किया हुआ कर्म कर्ताके सोनेपर उसके साथ सोता है, उसके खड़े होनेपर खड़ा होता है और चलनेपर पीछे चलता है।' तात्पर्य कि कर्म छायाकी भाँति कर्ताके साथ लगा रहता है। जैसे छाया और धूप सदा एक-दूसरेसे संबद्ध होते हैं, उसी प्रकार कर्म और कर्ताका भी परस्पर सम्बन्ध है। [अपने किये हुए कर्मोंके अनुकूल ईश्वरकी प्रेरणासे जग अनुकूल वा प्रतिकूल बन जाता है। (कौशलेन्द्रप्रपन्नाचार्यजी)]

नोट—३ ***'निज कृत करम भोग सबु भ्राता'*** इसमें ***'निजकृत'*** शब्द गम्भीर आशयसे भरे हैं। यहाँ लक्ष्मणजी कहते हैं कि सुख-दुःखका प्रधान कारण कर्म है, पर उत्तर-मानस-पुरजन-गीतामें तो कहा है कि ***'सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ। कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥'*** अर्थात् इसके अनुसार तो दुःख-सुख-मूलक (संसारके उच्छेदमें) कर्मगत दोष नहीं है। इस तरह पूर्वापर विरोधका भास हो रहा है, वस्तुतः विरोध नहीं है। विरोधके परिहारके लिये ही यहाँ ***'निजकृत'*** विशेषण कर्मको दिया गया है अर्थात् अपना किया हुआ कर्म दुःख-सुखका मूलक है। यही बात विनयपत्रिकामें कही गयी है—***'तैं निजकर्म डोरि दृढ़ कीन्हीं'।*** कर्म जड़ है वह नहीं बाँध सकता, हमारा जो अभिमान कर्ममें है वही बन्धनका कारण है—यही ***'निजकृत'*** का अर्थ है। इसीलिये उत्तरमानस-ज्ञानगीतामें दुःख-सुखात्मक संसारजालमें फँसनेवाले जीव चेतनके लिये बंदर और तोतेका दृष्टान्त दिया है—***'बँधेउ कीर मर्कट की नाईं।'*** बंदर और तोतेको घट या पोंगलीने नहीं पकड़ा; वह तो जड़ है, ये ही स्वयं उसे पकड़े हैं। (श्रीजानकीजीवनशरणजी) भगवान्ने गीतामें भी यही बात कही है कि 'कर्म सब ओरसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये होते हैं पर मूढ़ात्मा अहंकारसे ऐसा मानता है कि 'मैं करनेवाला हूँ'—'**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥**' (३।२) और कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय भी बताया है कि सदा यह निश्चय माने कि गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं; इससे उनमें आसक्ति न होगी। आत्मा प्रभुका शरीर है और उसी अन्तरप्रविष्ट परमात्माके शासन और शक्तिसे बर्तनेवाला है, सब कर्म उस प्रभुके द्वारा ही किये हुए हैं, ऐसा समझकर उन कर्मोंको उन्हींमें समर्पण कर दे। उन कर्मोंको प्रभुकी आराधना मानकर करे, उसके फलोंकी आशा न करे। ऐसा करनेसे कर्मबन्धनसे छूट जायगा—'**मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा। निराशीर्निर्ममो भूत्वा**…।' (३।३०) '…**मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥**' (३१)

अ० दी० च० कार लिखते हैं कि लक्ष्मणजीके कथनका भाव यह है कि कैकेयीके कारण श्रीरामजीको दुःख हुआ यह ठीक नहीं है। यदि कैकेयी या राजाने बुरे कर्म किये हैं तो वे अपने कर्मसे दुःख भोगेंगे, पर इसके लिये रामवनयात्राका कारण उन लोगोंको कहना भूल है।

कर्म दो प्रकारके हैं—एक विधि जिसके करनेकी शास्त्रोंमें आज्ञा है, दूसरा निषेध जो त्याज्य है।

इस कथनमें ध्वनि यह है कि गुहने कैकेयीको दुःख देनेवाली कहकर लक्ष्मणजीको उत्तेजित करना चाहा। जिसमें ये श्रीरामजीको लौटा ले जाकर अपने बलसे अयोध्यापर दखल कर लें; परंतु श्रीलक्ष्मणजीने सारी लीलाओंको श्रीरामजीकी इच्छापर ठहराकर कैकेयीको श्रीरामाज्ञापालन-विधि-कर्मकी करनेवाली निश्चित किया। श्रीरामसेवाकी दात्री समझकर वे कैकेयीके कृतज्ञ हैं—***'तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं।'*** इसीसे तो

वनसे लौटनेपर वे *'कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले'* हैं। निषादराजने कैकेयीको जो अविधि (निषेध) कर्मकी करनेवाली ठहराकर कुटिला और मंदमति कहा उसीसे गुहको मोहग्रस्त कहकर श्रीसीतारामजीके चरणोंमें प्रेम करनेका उपदेश दे रहे हैं।

नोट—४ प० प० प्र०—**'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः'** यह कर्मसिद्धान्त है। इस अर्धालीमें कथित कर्मभोग सिद्धान्तका प्रभाव चित्तपर यथोचित पड़ जानेसे द्वेष, मत्सर, दोषदर्शन, परनिन्दा, तिरस्कार इत्यादि रोग मिट जाते हैं और दुःख सहन करनेकी शक्ति बढ़ जाती है। ☞ ऐहिक सुख-दुःख-लाभ तो प्रारब्ध-कर्मानुसार ही मिलता है, पर पारमार्थिक सुखकी प्राप्ति मनुष्य-देहसे प्रयत्न करनेसे ही होती है। इसीसे उत्तरकाण्डमें कहा है कि *'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥ सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ। कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥'* (७। ४३) इस अर्धालीमें प्रथम कर्मसिद्धान्तरूप ज्ञान कहा।

पु० रा० कु०—१ *'निजकृत करम भोग सब'* यह जो लक्ष्मणजीने कहा है वह सब जीवोंके लिये कहा है, श्रीरामजीके लिये नहीं। जिनके चरित्र सुननेसे जगजाल मिट जाता है उनको कर्मका भोग कहाँ कहा जा सकता है, यथा—*'करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल।'*

वि० त्रि०—*'जोग बियोग.....फंदा'* इति। श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं कि सुख-दुःखका होना भी व्यावहारिक सत्य है। पारमार्थिक नहीं है। असंग आत्माको योग-वियोग कहाँ? और जब योग-वियोग ही नहीं, तब दुःख-सुखका योग कैसा? और उसके देनेवाले हित,अनहित, मध्यस्थ कहाँसे आ गये, यथा—*'सत्रु मित्र मध्यस्थ तीन ये मन कीन्हें बरिआईं। त्यागब गहब उपेक्षणीय अहि हाटक तृनकी नाईं॥'* (विनय०) अतः योग-वियोग, भल-मन्द भोग और शत्रु-मित्र-मध्यस्थका भाव ही भ्रम है। इसीसे लोग बँधे हैं। इसलिये इसे फंदा कहा गया। फंदे जालमें लगे रहते हैं। अतः आगे चलकर उस जालका भी निरूपण करेंगे जिसमें ये फंदे लगे हुए हैं।

प० प० प्र०—(क) ***भोग भल मंदा***=भले या बुरे भोग।=सुखात्मक अनुकूल भोग अथवा दुःखात्मक प्रतिकूल भोग। (ख) *'हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा'* इति। सुग्रीवने भी कहा है *'सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥'* (४। ७। १८) इस तरह *'भ्रम फंदा'* =माया (कृत)। **'न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः। कारणेन हि जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा॥'** शत्रु-मित्रादि भेद मनसे कल्पित होनेसे मिथ्या है, भ्रम है। पर जबतक जड़-चेतन-ग्रंथि न छूटेगी तबतक ये भेद सत्यवत् प्रतीत होंगे ही। सभी जीव ईश्वरांश, चेतन, अमल, सहज, सुखराशि और अविनाशी हैं। उनमें भेद नहीं है। भेद मायाकृत है।

श्रीकौशलेन्द्रप्रपन्नाचार्यजी—योग (अर्थात् इष्ट स्त्री-पुत्र-मित्रादिकी प्राप्ति), वियोग (अर्थात् इष्ट धनादिकी हानि), कभी उत्तम भोग और कभी बुरा भोग, कोई हितैषी है तो कोई शत्रु और कोई उदासीन इत्यादि बाह्य वस्तुओंमें सुख-दुःखकी प्रतीति भ्रमजन्य है; क्योंकि पुण्य तथा पापाधीन चेतनोंका ईश्वर कर्माध्यक्ष है। अतः **'क्षिपामि या ददामि'** (अर्थात् अखण्ड नीच योनिमें डालना तथा बुद्धियोग देकर ऊपर ले जाना) यह कार्य कर्माधीन जीवोंके लिये ईश्वर करता है। अतः वह दोषी नहीं है, क्योंकि कर्म सापेक्ष फल देते हैं।

पु० रा० कु०—२ मीमांसाका मत कहकर फिर ज्ञानियोंका मत कहा कि योग-वियोग आदि सब भ्रमका फंदा है। ये सब भ्रमकृत फंदे हैं जो मनसे उत्पन्न हुए हैं, यथा—*'सत्रु मित्र मध्यस्थ तीन ए मन कीन्हें बरिआईं। त्यागब गहब उपेक्षनीय अहि हाटक तृन की नाईं॥'* ज्ञानके देशमें यह जगत् कुछ नहीं है, भ्रममात्र है। अयोध्यावासियोंसे और रामजीसे संयोग था। अब वियोग है इससे प्रथम योग (प्राप्ति) और वियोगको कहा।

टिप्पणी—३ *'जनम मरन जहँ लगि जग जालू'* इति। [मन संस्कारोंका पुंज है। उन संस्कारोंके अनुसार

योग प्राप्त करनेके लिये उसके साथ पाँच इन्द्रियाँ भी लगी हुई हैं। इसीका नाम लिंगशरीर है। वही कर्मोंके अनुसार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें और एक लोकसे दूसरे लोकमें आता-जाता है। आत्मा इस शरीरसे सर्वथा पृथक् है। उसका आना-जाना नहीं होता; परंतु जब वह अपनेको लिंगशरीर ही समझ लेता है तब उसे भी अपना आना-जाना प्रतीत होने लगता है।""""मन-ही-मन किसी शरीरमें अभिनिविष्ट होकर उसे पूर्णतया 'मैं' के रूपमें स्वीकार कर लेना ही जीवका जन्म है। किसी भी कारणसे शरीरको सर्वथा भूल जाना ही मृत्यु है। (भा० ११। २२। ३८-३९)] जीवको नवीन देहका संयोग होना जन्म है, देहका वियोग होना मृत्यु है। कर्म तीन प्रकारके हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। काल जो क्षण, मुहूर्त, घड़ी आदिके रूपमें बीतता है, यह भी तीन प्रकारका है—भूत, भविष्य, वर्तमान। धरणि, धाम, धन, पुर और परिवार इस लोकके व्यवहार हैं और स्वर्ग, नरक परलोकके व्यवहार हैं। यहाँतक कर्म-प्रधानताका विकार कहा। सम्पत्ति=घोड़ा, गाड़ी, रथ, हाथी इत्यादि सब सामग्री। धन=द्रव्य।

वि० त्रि०—*'जनमु मरनु""ब्यवहारू'* इति। वह जाल जिसके फंदेमें सभी संसारी जीव फँसे हैं यही जगत् है, यह जन्मसे लेकर मरणतक फैला हुआ है। **'पुनरपि मरणं पुनरपि जननं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।'** इसी जालमें फँसा हुआ जीव जन्म-मरणका अनुभव सदा किया करता है। इसमें परमार्थ कुछ भी नहीं, सब व्यावहारिक है। सम्पत्ति और विपत्ति भी कुछ नहीं, सब-के-सब क्षणिक हैं। इनके कारण कर्म और कालका भी निष्क्रिय आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं। अतः धरणी, धाम, पुर, परिवार, यहाँतक कि स्वर्ग और नरकमें भी व्यावहारिक सत्यता है। इनमेंसे कोई टिकाऊ नहीं, सब क्षणभंगुर हैं, असत्य हैं, सत्य तो वही है जिसमें देशतः कालतः वस्तुतः व्यभिचार न हो।

'देखिअ सुनि""नाहीं' इति। आँखों देखते हैं कि इस जगत्में कहीं किसी पदार्थमें क्षणमात्रके लिये भी स्थिरता नहीं है। परिवर्तन ही जगत्का रूप है। कहाँ गये पिता-पितामह जिनकी गोदमें स्वर्गीय आनन्दके भोगका अनुभव होता था, कहाँ गये वे मित्र जिनके साथमें सब दुःख भूल जाते थे; कहाँ गये वे महाप्रतापी सम्राट्, जिनके विषयमें सुना जाता है कि अपने धनुषकी कोटिसे पर्वतोंको हटा-हटाकर पृथ्वीको जोतने-बोने लायक बनाया, नगर और ग्राम बसाकर मनुष्योंको समाज बाँधकर रहना सिखलाया? मनमें विचारते हैं, तो भी कोई सत्य हाथ नहीं लगता। किसी वस्तुमें सुख-दुःख स्थायी नहीं है। जो वस्तु गर्मीमें सुखद है, वही जाड़ेमें दुःखद हो जाती है, जो वस्तु एक देशमें जैसा प्रभाव दिखाती है, दूसरे देशमें उसका दूसरा प्रभाव हो जाता है। स्वतः न कोई वस्तु सुखद है न दुःखद है। न किसीमें स्थिरता है, अतः कुछ भी पारमार्थिक सत्य नहीं है। अपना अज्ञान ही इन सबका मूल है। आत्मस्वरूपके ज्ञानसे इनका अभाव प्रत्यक्ष भासता है।

पु० रा० कु०—४ *'मोह मूल परमारथ नाहीं'* इति। अर्थात् इन सबकी (कर्म-विकारोंकी) जड़ मोह (अज्ञान) है। जबतक यह अज्ञान है तभीतक प्रपंच है। ज्ञानके उदय होनेपर ये कुछ नहीं हैं। जितने गिनाये गये ये स्वप्न हैं। मोह रात्रि है; रातमें सोनेपर स्वप्न ही दिखायी देते हैं, जागनेपर नहीं; इसीसे कहते हैं कि परमार्थमें ये कुछ नहीं हैं। अथवा, इनसे परमार्थरूप रामजीकी प्राप्ति नहीं है, यह सब विपरीत ज्ञान है।

नोट—५ *'हित अनहित मध्यम""मोह मूल'* की जोड़में अ० रा० में **'सुहृन्मित्रार्युदासीनद्वेष्यमध्यस्थ-बान्धवाः। स्वयमेवाचरन्कर्म तथा तत्र विभाव्यते॥'** (२। ६। ७) यह श्लोक है। अर्थात् यह मनुष्य स्वयं ही पृथक्-पृथक् आचरण करके उसके अनुसार सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, द्वेष्य, मध्यस्थ और बन्धु आदिकी कल्पना कर लेता है। इसलिये विद्वान् लोग यह सब माया है इस भावनासे इष्ट या अनिष्टकी प्राप्तिमें धैर्य रखकर हर्ष या शोक नहीं मानते। **'न हृष्यन्ति न मुह्यन्ति सर्वं मायेति भावनात्॥'** (१५)

श्रीकौसलेन्द्रप्रपन्नजी—*'देखिअ""मोह मूल'* इति। अर्थात् प्रत्यक्ष परिणामी होनेसे प्राकृत जगत् अवस्थान्तरको प्राप्त होता है। स्त्री-पुत्र-धन-धाम स्वर्गादि सभी क्षयिष्णु देखे-सुने गये हैं। स्वयं भी विचारिये तो जितने

कर्मकृतक हैं वे सब अनित्य हैं। यह सब अज्ञानकृत है। क्योंकि अनन्त स्थिर सुखस्वरूप परब्रह्मको छोड़कर अल्प तथा चल जगत्के क्षुद्र सुखोंके लिये जो महान् श्रम करते हैं वे कृपण कहलाते हैं। इसीसे वैदिक रहस्योंके विवेचनमें श्रीमहर्षि बादरायणजीने प्रथम सूत्रमें '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' ऐसा कहा। अर्थात् कर्मका फल अल्प और अनित्य जानकर उससे मुख मोड़कर मुमुक्षु उस ध्रुव अकृत अचल ब्रह्मको जाने तथा प्राप्त करे।

'मोह मूल' कहकर जनाया कि अल्प ज्ञानवाले बाह्य अनित्य पांचभौतिक पदार्थोंमें सुख मानकर तदर्थ प्रयत्न करना परमार्थ नहीं है। गीतामें भी कहा है—'**अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।**' अर्थात् कभी कार्य जगत् और कभी कारण प्रलयके रूपमें रहनेवाली प्रकृतिको ही मत भज। मुझ सूत्रमें मणिवत् गुँथे हुए जगत्को देख, चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मको भज।

दो०—सपने होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ। जागे लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ॥ ९२॥

शब्दार्थ—**नाक**=आकाश, स्वर्ग। **रंकु**=दरिद्र। **नाकपति**=इन्द्र।

अर्थ—जैसे स्वप्नमें भिखारी राजा हो जाय और स्वर्गका स्वामी इन्द्र कंगाल हो जाय* जागनेपर न कुछ लाभ ही है और न कुछ हानि ही। इसी प्रकार इस जगत्के व्यवहारोंको जीमें देखो॥ ९२॥

पुरुषोत्तम रामकुमार—ऊपर कह आये कि सबका मूल मोह है, अब उसका उदाहरण देते हैं कि ***'सपने होइ भिखारि''''''।'*** स्वप्न अज्ञान है। यह कहकर तब परमार्थका उदाहरण दिया कि ***'जागे लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ।'*** 'जागना' परमार्थ है अर्थात् ज्ञान है। ***'तिमि प्रपंच'*** अर्थात् जैसे स्वप्न झूठा वैसे ही सब प्रपंच झूठा है—'**संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुलम्। स्वकाले सत्यवद्भाति प्रबोधेऽसत्यवद्भवेत्॥**' इति। (आत्मबोध)

नोट—१ सबका मूल मोह है, वस्तुतः ये सब कुछ नहीं हैं; इसका प्रमाण देते हैं कि स्वप्नमें भिखारी राजा हो जाय, इन्द्र दरिद्री हो जाय तो भिक्षुक राजा और इन्द्र दरिद्री अपने-अपनेको तभीतक समझते हैं जबतक वे सो रहे हैं, जागनेपर तो इन्द्र इन्द्र ही बना है, दरिद्र दरिद्र ही; न भिखारीको कुछ स्वप्नसे लाभ मिल गया और न इन्द्रकी कुछ हानि हुई, केवल निद्रामात्रमें एकको कुछ हर्ष, दूसरेको दुःख हुआ; पर जागनेपर वे ज्यों-के-त्यों बने मिले। जैसे स्वप्नावस्थाकी ये बातें वस्तुतः झूठी हैं वैसे ही संसारका दुःख-सुख झूठा है। मोहरात्रिमें पड़े हुओंको दुःख होता है, परमार्थचिन्तक दुःखी नहीं होते हैं।

नोट—२ मिलान कीजिये—'**अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते। ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्। स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते॥**' (भा० ११। २८। १३-१४) अर्थात् जैसे स्वप्नमें अनेकों विपत्तियाँ आती हैं पर वास्तवमें वे हैं नहीं, फिर भी स्वप्न टूटनेतक उनका अस्तित्व नहीं मिटता, वैसे ही जो संसारमें प्रतीत होनेवाले विषयोंका चिन्तन करते रहते हैं, उनके जन्म-मृत्युरूप संसारकी निवृत्ति नहीं होती। न होनेपर भी इसकी प्रतीतिका कारण विषय-चिन्तन ही है। जब मनुष्य स्वप्न देखने लगता है, तब नींद टूटनेके पहले उसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है; परंतु जब उसकी नींद टूट जाती है, वह जग पड़ता है, तब न तो स्वप्नकी विपत्तियाँ रहती हैं और न उनके कारण होनेवाले मोह आदि विकार। अज्ञानके कारण होनेवाला कष्ट ज्ञानसे निवृत्त हो जाता है और तब जान पड़ता है कि वास्तवमें वह कष्ट उस समय भी न था।

वि० त्रि०—सपना भी प्रातिभासिक सत्य है, उस कालमें वह सत्य ही प्रतीत होता है, किसीको यह प्रतीति नहीं होती कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ, यह सब मिथ्या है। सभी उसको सत्य मानते हैं, सिंहासनपर

* दूसरा अर्थ पूर्वार्धका इस तरह भी हो सकता है कि 'स्वप्नमें राजा भिखारी हो जाता है और दरिद्र इन्द्र हो जाता है।'

पड़ा हुआ राजा सपनेमें अपनेको अति दीन दरिद्रावस्थामें पाता है, उसे नहीं भासता कि उस समय भी वह राजा है, सिंहासनमें ही लेटा हुआ है, उसे अपनी दीनता—दरिद्रता ही सच्ची मालूम पड़ती है। इसी भाँति महादरिद्र सपनेमें देखता है कि मैं इन्द्र हो गया, सब देवता, ऋद्धि-सिद्धि हाथ बाँधे खड़े हैं, वह नहीं अनुभव करता कि उस समय भी वह दरिद्र ही है, पर निद्रा-दोषके हटते ही वह भ्रम जाता रहता है, न राजाकी कोई हानि हुई और न उस दीन—दरिद्रको कोई लाभ हुआ।

लक्ष्मणजी कहते हैं कि यह प्रपंच (व्यावहारिक सत्य) सपना ही है। उस सपनेसे यह सपना कुछ अधिक स्थायी है, भेद इतना ही है। वह सपना निद्रादोषसे था, यह बड़ा सपना मायादोषसे है। जिस भाँति निद्रादोषकी निवृत्तिसे वह सपना नहीं रह गया, उसी भाँति मायादोषकी निवृत्तिसे यह सपना (प्रपंच) भी नहीं रह जाता।

श्रीजयरामदास 'दीन' जी लिखते हैं कि 'जिस रूपमें हम जगत्‌को देख रहे हैं वह सत्य नहीं है। इसका रूप राममय है। अतः इस जगत्‌का नानाकार झूठा है, न कि जगत् ही झूठा है। जगत् तो रामरूप आकारमें सत्य है क्योंकि जब हमको जगत् निज प्रभु—राममय जान पड़ता है तब इसका नानात्व उसी प्रकार गायब हो जाता है जिस प्रकार जागनेपर स्वप्नका भ्रम नष्ट हो जाता है। स्वप्नका भ्रम क्या है—यह ***'सपने होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ'*** इसमें बताया है। अर्थात् कोई राजा अपनेको स्वप्नमें भिक्षुकके रूपमें देखता या जानता है अथवा कोई भिक्षुक अपनेको इन्द्रके रूपमें देखता है। परन्तु स्वप्नमें राजाका भिक्षुक होना तथा भिक्षुकका इन्द्र होना मिथ्या था, न कि संसारमें भिक्षुकका होना और स्वर्गमें इन्द्रका होना। ये दोनों बातें सत्य ही हैं, केवल स्वप्नमें उन व्यक्तियोंका अपने लिये ऐसा परिवर्तन देखना झूठा था। इसी प्रकार जगत्‌को झूठा न कहकर उसमें जो नानात्व भासता है, उसे ही झूठा कहा गया है। साथ ही जगत् जिस रामका रूप है, उसकी वन्दना की गयी है और नाम-जप (उपासना) की बात भी कही गयी है, जो अद्वैतवादके विरुद्ध है। विशेष ***'झूठेउ सत्य…… ।'*** (१। ११२। २), ***'जौं सपने सिर काटइ कोई'*** (१। ११८। २) में देखिये।

पं० श्रीकान्तशरणजी—जीवका शुद्ध स्वरूप राज्यके समान है, यथा—***'निष्काम राज विहाय नृप ज्यों स्वप्नकारागृह पर्‌यो।'*** (वि० १३६) वह भगवान्‌की शरीररूपता छोड़कर मोहवश देहाभिमानी हुआ, यही निशा हुई और देहसे हुए पूर्वकृत कर्मोंके अभिमानी होनेसे जो फलरूपमें योग-वियोगादिके अनुभव होते हैं, यह स्वप्न देखना है। तीनों तापोंका अनुभव करना रंक होना है। पुनः भगवान्‌का शरीर होनेसे जीव उनके परतन्त्र रंकके समान है, वह देहाभिमानी होकर इन्द्रियदेवोंके विषय-भोगके साथ उनका अभिमानी होकर इन्द्रकी नाईं विषय-भोक्ता भी हो गया है।

अस बिचारि नहिं कीजिअ रोसू। काहुहि बादि न देइअ दोसू॥ १॥
मोह निसा सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥ २॥

अर्थ—ऐसा विचारकर (कि जगत्‌के दुःख-सुख स्वप्न हैं) क्रोध न कीजिये, किसीको व्यर्थ दोष न दीजिये॥ १॥ सब मोह-रात्रिमें सोनेवाले हैं। सोतेमें अनेक प्रकारके स्वप्न देख पड़ते हैं॥ २॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ निषादराजने कैकेयीको दोष दिया था, इसीसे कहते हैं कि किसीको व्यर्थ दोष न दीजिये। ***'अस बिचारि…… '*** का भाव कि जैसा विचार करके तुम दुःखी हो रहे हो, वैसा विचार न करो, वरन् इस प्रकारसे विचार कर देखो, तब तुम्हें स्वयं देख पड़ेगा कि किसीका दोष इसमें नहीं है। अतएव दोष देना व्यर्थ हुआ। रोष न करो, दोष न दो, इसका भाव यह है कि जिसपर लोग रुष्ट होते हैं, उसको दोष देते हैं; इसी आशयसे राजाने कैकेयीसे कहा था कि ***'कहु तजि रोषु राम अपराधू'*** अर्थात् उनमें कोई अपराध नहीं है, क्रोधके कारण तू उनको अपराधी समझती है। (यहाँतक ज्ञान कहा, आगे वैराग्यका स्वरूप कहते हैं।)

वि० त्रि०—जगत्‌को भी सपनारूप जानो, यथा—***'उमा कहौं मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत***

सब सपना॥' विचार तो करो सपनेमेंका शत्रु-मित्र, सपनेमेंका हानि-लाभ तो अपने स्वरूपसे व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सपनेमें तो कोई दूसरा रहता ही नहीं, आप ही अपना शत्रु बन जाता है और आप ही अपना मित्र बन जाता है, और हानि-लाभरूप भी आप ही बन जाता है, फिर दोष किसे दें। सपनेमें जिसे शत्रुरूप देखा था, (क्योंकि उसने हानि की थी) जागनेपर तो उसे न कोई शत्रु मानता है और न उस हानिको हानि मानता है, समझता है कि वह मिथ्या प्रपंच था, अत: न तो रोष करना चाहिये और न किसीको दोष देना चाहिये। अत: भगवती कैकेयीको दोष देना सर्वथा असंगत है।

टिप्पणी—२ ***'सबु सोवनिहारा'*** का भाव कि मोहरात्रि सबको एक ही है। जागना तीन प्रकारका है—ज्ञान, वैराग्य और भक्ति, सो आगे कहेंगे। ***'सपन अनेक प्रकारा'*** वे ही हैं जिन्हें ऊपर कह आये हैं—***'जोग बियोग भोग भल मंदा'*** से ***'मोह मूल परमारथ नाहीं'*** तक सब स्वप्न है, जैसा कि दोहेमें कहा है—***'सपने होइ भिखारि''''''तिमि प्रपंच जिय जोइ॥' 'मोहनिसा''''सपन अनेक प्रकारा।'***—भाव यह कि लोग मोहवश विषयोंमें आसक्त हो जाते हैं, संसारके अनेक गृह-कार्य, हर्ष-शोक, इत्यादि झूठे माया-जालमें फँसे रहते हैं। जो कुछ वे देखते, सुनते, विचारते, करते हैं, यह सब स्वप्नवत् झूठा है।

वि० त्रि०—जिस भाँति सूर्यके न रहनेसे रात होती है, उसी भाँति ज्ञानरूप सूर्यके अभावमें मोहरात्रि होती है। जिस भाँति रातको सब सोते हैं और सब अनेक प्रकारके स्वप्न देखते हैं। उसी भाँति मोहरात्रिमें सब सो रहे हैं और जाग्रत्‌रूप अनेक प्रकारका स्वप्न देखते हैं। रात्रिके स्वप्नमें जिस भाँति जाग्रत्‌का भान होता है, सभी स्वप्न देखनेवाले अपनेको जागता हुआ ही मानते हैं, उसी भाँति मोहरात्रिमें सोनेवालोंका यह जागना भी स्वप्न ही है। यह जागना सच्चा जागना नहीं है, क्योंकि मोहनिशाके दूर होनेपर इसका बाध देखा जाता है।

प० प० प्र०—***'सपन अनेक प्रकारा'*** इति। ***'मैं और मोर तोर तैं'*** यही मुख्य स्वप्न हैं। शत्रु-मित्र, गुण-दोष, भला-बुरा, सुख-दु:ख, लाभ-हानि, रंक-राजा, ब्राह्मणादि वर्ण, ब्रह्मचर्यादि आश्रम; गुरु-शिष्य इत्यादि सब स्वप्न ही हैं। पर जैसे पैरमें लगा हुआ एक काँटा निकालनेको दूसरा नया काँटा लेना ही पड़ता है वैसे ही एक बन्धनकारक स्वप्नका विनाश करनेके लिये गुरु-शिष्य-भावादि दूसरे स्वप्नकी जरूरत पड़ती है।

श्रीकौशलेन्द्रप्रपन्नजी—जीव अज्ञानरूपी रात्रिमें सो रहा है, अनेक स्वप्न देख रहा है। भाव कि जीव अपनेको ईश्वरांश चिन्मय अमल अविनाशी न जानकर अज्ञानसे दु:खी, अनित्य, मरनेवाला समझने लगता है। अविद्यालिंगित होकर गुणोंके सेवनसे तन्मयताको प्राप्त हो आध्यात्मादि अवस्थात्रयादिको अपनेमें आरोपित कर नष्टैश्वर्य हो गया। यही मोहनिशामें सोना और स्वप्न देखना है।

एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥ ३॥
जानिअ तबहि जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ ४॥

शब्दार्थ—योगी—जो इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे समेटकर परमात्मामें मन लगाये रहता है, उसीको गीता २। ६९ में संयमी कहा है। यह अर्थ गीताके '**तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर:।**' (२। ६१), '**तस्यां जागर्ति संयमी।**' (२। ६९) इन उद्धरणोंके अनुसार है। **परमारथी**=परमार्थतत्त्ववेत्ता।=जो 'परम अर्थ' को प्राप्त है। **प्रपंच बियोगी**=मायिक जगत्‌से अलग=मायिक जालसे दु:खी होकर निर्वेदको प्राप्त। संसारके विषयोंसे निर्लिप्त। **प्रपंच**=पंचविषयमय सब दृश्य; मायिक जगत्।

अर्थ—इस संसाररूपी रात्रिमें योगी लोग जागते हैं जो परमार्थी हैं और प्रपंचसे रहित हैं॥३॥ जब (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन) सब विषयोंके विलास (आनन्द, मुग्धता) से वैराग्य हो तब जानना चाहिये कि इस जगत्‌रूपी रात्रिसे जीव जगा॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'सपने होइ भिखारि नृपु'*** इस उपर्युक्त दोहेमें सोना और जागना दोनों बताये कि क्या हैं और अब उनका स्वरूप बताते हैं। ***'मोह निसा सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥'*** यह

सोना है और *'जानिअ तबहि जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥'* यह जागना है। यह सिद्धान्त पातंजलिका है, शेषका सम्मत है और कल्पभेदसे शेष भी लक्ष्मण होते हैं।

टिप्पणी—२ *'एहि जग जामिनि'* इति। (क) जगत्‌के व्यवहारको रात्रि कहा है। जगत् प्रत्यक्ष है, इसीसे प्रत्यक्ष रात्रि दिखाते हैं कि यह जग जामिनि है। *'मोह निसा सबु सोवनिहारा'* कहकर *'एहि जग जामिनि जागहिं जोगी'* कहनेका भाव कि जिस रात्रिमें सबलोग सोते हैं उस रात्रिमें योगी जागते हैं। (ख) मोह-मूल है तब परमार्थ नहीं है, जब मोहरात्रिसे जागते हैं तब परमार्थी हैं। परमार्थ क्या है सो आगे कहते हैं—*'राम ब्रह्म परमारथ रूपा।'*

टिप्पणी—३ (क) लक्ष्मणजीने ज्ञान, वैराग्य और भक्तियुक्त वचन कहे हैं। इनमेंसे *'एहि जग जामिनि जागहिं जोगी'* तक, और *'राम ब्रह्म परमारथ रूपा'* से *'कहि नित नेति'* तक ज्ञानके वचन हैं। *'जानिअ तबहि जीव जग जागा'* ये वैराग्यके हैं। आगे *'होइ बिबेक मोह भ्रम भागा'* से *'मन क्रम बचन रामपद नेहू'* तक और *'भगत भूमि भूसुर'* से *'सिय रघुबीर चरन रत होऊ'* तक भक्तिके वचन हैं। (ख) ऐसा ही गीतामें कहा है—'**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥**' (२। ६९)

वि० त्रि०—*'एहि जग……'*—यही संसाररूपी रात्रि है। उसमें सपना देखनेवाले अपनेको मिथ्या ही जागता हुआ मानते हैं। इसमें सच्चे जागनेवाले योगी लोग हैं, क्योंकि वही पारमार्थिक सत्यका साक्षात्कार करते हैं। इस स्वप्नरूपी प्रपंचका उनके लिये सर्वथा बाध हो जाता है। वे व्यावहारिक सत्यको उसी भाँति मिथ्या अनुभव करते हैं जिस भाँति प्रातिभासिक सत्य उनको मिथ्यारूप मालूम होता है। यथा—*'जेहि निसि सकल जीव सूतें, तब कृपापात्र जन जागें।'* भाव यह कि जिस ओर योगी लोग जाग रहे हैं उस ओर संसारी सोये हुए हैं। और जिस ओर संसारी लोग जाग रहे हैं उस ओर योगी लोग सो रहे हैं। जैसे जिस समय उल्लूको दिखायी पड़ता है उस समय कौआको नहीं सूझता और जिस समय कौआको सूझता है उस समय उल्लूको नहीं सूझता। यही गति संसारी लोगों और योगियोंकी है।

प० प० प्र०—*'जागहिं जोगी……'* इति। जब जीवका ब्रह्मसे तादात्म्य होगा तब वह योगी बनता है। और योगसे ज्ञान होता है। वैराग्यकी पराकाष्ठा और ज्ञान अन्ततोगत्वा एक रूप ही है।

नोट—पूर्व (१। २२। १) में बताया जा चुका है कि सोना और जागना क्या है। देह, स्त्री, पुत्र, धन, धाम, देह सम्बन्ध-मात्रको अपना मानकर उनमें ममत्व करना—आसक्त होना ही सोते रहना है। यथा—*'सुत बित दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।'* (वि० १४०) इन सबोंको नाशवान् जानकर इनका मोह-ममत्व छूटना, विषयोंसे वैराग्य होना, देहाभिमानका छूटना, जगत्‌को निज प्रभुमय देखने लगना इत्यादि जागना है। यथा—*'मैं तैं मोर मूढ़ता त्यागू। महामोह निसि सूतत जागू॥'* (६। ५५) *'ममता बस तैं सब भूलि गयउ, भयो भोर महाभय भागहि रे……'*। (क० ७। ३१)—विशेष (१। २२। १, १। ११२। १-२) में देखिये। जागनेपर जीवको जिज्ञासा होती है। वह परमार्थरूप राम ब्रह्मकी ओर झुकता है, सोचता है कि मैं क्या हूँ, मेरा क्या कर्तव्य है। तब मोह-भ्रम दूर हो जाता है और परस्वरूपका ज्ञान होने लगता है। मदालसाजीने अपने पुत्रोंको अपने स्वरूपका उपदेश यह दिया था—

'**शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि संसारमाया परिवर्जितोऽसि। संसारनिद्रां त्यज स्वप्नरूपां मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम्॥**'

वि० त्रि०—*'जानिअ……'* इति। अब सच्चे जागे हुएका लक्षण कहते हैं। जबतक चित्तमें विषय-विलासका राग है तबतक मोह-निद्रा बनी हुई है। जब सब विषय-विलाससे विराग हो तब जानिये कि जीव जाग गया। अतः रामानुरागी ही सच्चे जागनेवाले हैं, यथा—*'रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि नर बड़भागी॥'* (३२४। ८) भगवान् भी कहते हैं कि सभी योगियोंमें वे ही उत्तम हैं जो मेरा भजन करते हैं, यथा—'**योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥**' (गीता)

होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥ ५॥
सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन रामपद नेहू॥ ६॥

अर्थ—विवेक होनेपर मोह-भ्रम भाग जाता है, तब (मोह-भ्रम दूर होनेपर) रघुनाथजीके चरणोंमें प्रेम होता है॥ ५॥ हे सखा! सबसे उत्कृष्ट परमार्थ यही है कि मन, कर्म और वचनसे श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम हो॥ ६॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—मोह और भ्रम प्रथम कह आये। *'जनम मरन जहँ लगि जग जालू', 'मोहमूल परमारथ नाहीं'* यह मोह और *'हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा'* यह भ्रम। भ्रम विवेकसे दूर होता है, भ्रमके दूर होनेपर भजन होता है, यथा—*'भ्रम तजि भजहु भगत भय हारी।'* वैराग्य होनेपर ज्ञान होता है, यथा—*'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु',* अतएव प्रथम *'जब सब बिषय बिलास बिरागा'* कहकर तब *'होइ बिबेकु'* कहा।

वि० त्रि०—*'होइ बिबेकु·····'* इति। जबतक विषय-विलाससे विराग नहीं होता, तबतक विवेकका उदय नहीं होता, केवल शास्त्रीय ज्ञानसे पूरा काम नहीं चलता, विवेकज ज्ञानसे ही मोहका नाश होता है। पहले अज्ञान होता है, तब विपरीत ज्ञान होता है। विपरीत ज्ञान ही भ्रम है। विवेकज ज्ञानसे भ्रम और उसके मूल मोहका नाश होता है। भ्रम और मोहके रहते रघुनाथजीके चरणमें अनुराग नहीं होता—'**न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥**' (गीता ७। १५) पापी, मोहमें फँसे हुए, जिनका ज्ञान मायासे हरण हो गया है, ऐसे अधम पुरुष मेरी शरणमें नहीं आते। मनसा-वाचा-कर्मणा रामजीके चरणोंमें प्रेम होना ही परम पुरुषार्थ है। क्योंकि मोक्ष-सुख भी बिना हरिभक्तिके ठहर नहीं सकता, यथा—*'जिमि जल थल बिनु रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥ तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरि भगति बिहाई॥'* और सगुणोपासक तो मोक्ष चाहते ही नहीं, वे भक्ति ही चाहते हैं।

प०प०प्र०—*'होइ बिबेकु·····'* इति। *'सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरिपदरति रस बेद बखाना॥'* (१। ३७। १४) *'बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई॥'* (७। १२२। ११) *'मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग।'* (७। ६१) इत्यादि उदाहरणोंसे मानसका सिद्धान्त यही निश्चित होता है कि आत्मज्ञान बिना रामभक्ति-प्रेमलक्षणा भक्तिकी प्राप्ति होगी ही नहीं।

नोट—१ प्रथम विषयोंसे वैराग्य होता है। वैराग्य होनेपर विवेक होता है। क्या सत्य है क्या असत्य, मैं क्या हूँ, कौन हूँ, मेरा क्या कर्तव्य है इत्यादि रीतिसे अर्थपंचकका ज्ञान होता है, तब मोह दूर होता है और मोहके नष्ट होनेपर श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें अनुराग होता है। *'रघुनाथ'* से जनाया कि सगुण ब्रह्म श्रीरामका उपासक हो जाता है। यही परम परमार्थ है। यह क्रमसे कहा।

टिप्पणी—२ *'परम परमारथ एहू'* का भाव कि ज्ञान-वैराग्य आदि परमार्थ हैं और श्रीरामचरणानुराग परम परमार्थ है; क्योंकि यह ज्ञान-वैराग्यका फल-स्वरूप है जैसा पहले ही कह आये, यथा—*'जानिय तबहि जीव जग जागा। जब·····।'* विषय-सुखकी प्राप्ति अर्थ है, ज्ञान-वैराग्य परमार्थ है और रामचरणानुराग परम परमार्थ।

नोट—२ श्रीरामजी ब्रह्म हैं, परमार्थरूप हैं। अतः ब्रह्म रामकी प्राप्ति ही परमार्थकी प्राप्ति है। परमार्थकी प्राप्तिसे दुःख-दोषरूपी दावानलका नाश होता है। *'मन क्रम बचन रामपद नेहू'* (=*'भजन दृढ़ नेम'*=प्रेमाभक्ति) परम परमार्थ है। परमार्थ और परम परमार्थका यह भेद स्मरणमें रखनेसे आगे मानसके वाक्योंका भाव सहज ही समझमें आ जायगा। (प० प० प्र०) मनसे प्रभुका ध्यान करे, वचनसे भगवद्‌गुणगान करे और शरीरसे अर्चन-वन्दन-कैंकर्य करे; यही मन-क्रम-वचनसे अनुराग करना है। यही परम परमार्थ है अर्थात् इससे भिन्न कोई और परमार्थ नहीं है। (कौ० प्र०)

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥ ७॥
सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥ ८॥

शब्दार्थ—**अबिगत**=अतिशय विगत (भिन्न) अर्थात् मन आदि ज्ञानेन्द्रियोंसे परे।=जाननेमें न आनेवाले। (मानसांक) **अलख**=जो लखाया या देखा न जा सके। अव्यक्त (१।११६।२) में देखिये।

अर्थ—श्रीरामजी ब्रह्म हैं, परमार्थस्वरूप हैं, अविगत, अलख, आदि और उपमारहित हैं॥ ७॥ वे समस्त (षट्) विकारोंसे रहित और भेदरहित हैं। वेद नित्य ही नेति-नेति कहकर उनका निरूपण करते हैं॥ ८॥

नोट—१ श्रीरामजी ब्रह्म हैं, यथा—***'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥'*** (१।११६।८) यहाँ अविगत, अलख आदि विशेषणोंसे स्पष्ट है कि ***'ब्रह्म परमारथ रूपा'*** से यहाँ निर्गुण, निराकार ब्रह्मका ही निर्देश किया गया है। (प० प० प्र०) श्रीरामजी ब्रह्म हैं, इस कथनका भाव यह है कि उपर्युक्त जो बातें कही गयीं वे सब तो जीवोंके विषयमें कही गयी हैं। जागे हुए जीवके लिये शत्रु-मित्र, हानि, लाभ सब मिथ्या है। और श्रीरामजी तो ब्रह्म हैं, सुख-दुःखसे परे हैं, यथा—***'बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु रघुबीर सुभाऊ॥'*** उनके लिये दुःख-सुख क्या है? इसलिये संक्षेपसे श्रीरामजीके स्वरूपका वर्णन करते हैं कि ***'राम ब्रह्म……।'*** (वि० त्रि०)

नोट—२ (क) राम ब्रह्म हैं, देशतः, कालतः और वस्तुतः अपरिच्छिन हैं, इसलिये परमार्थ सत्य हैं। (वि० त्रि०) पुनः ***'परमारथ रूपा'*** का भाव कि परमार्थतत्त्वके ज्ञाताओंको कर्म बाधित नहीं होता; यथा—***'कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें।'*** (७।११२।३) और श्रीरामजी तो परमार्थस्वरूप ही हैं तब उनको कर्म कैसे बाधित हो सकते हैं। (ख) अविगत अर्थात् इन्द्रियोंसे परे हैं। वा, अ+विगत (प्रभाहीन)=जिसकी प्रभा सदा एकरस है। वा, अविगत=जाननेमें न आनेवाले। भाव कि जब इन्द्रियोंसे परे हैं, सदा एकरस हैं तब उनको दुःख-सुखका सम्पर्क कैसे सम्भव है? (पं० रा० कु०) अरूप हैं अतः अविगत अर्थात् अव्यक्त हैं। (ग) मन और वाणीसे परे होनेके कारण अलख हैं। वा, स्थूलदृष्टिसे नहीं देखे जा सकनेसे अलख कहा। (वि० त्रि०) अथवा, ध्यानमें भी इनका दर्शन अगम्य है यह जनाया। (वै०) (घ) सबके 'आदि' होनेसे वा इनका आदि वेदोंको भी अज्ञात होनेसे, 'अनादि' कहा। (वि० त्रि०, वै०) पुनः 'अनादि' विशेषणसे निषादराजके ***'बिधि बाम न केही'*** तथा ***'कर्म प्रधान सत्य कह लोगू'*** इत्यादि व्यामोहित वचनोंका निराकरण किया। भाव कि कर्म और कर्मफलके दाता नियामक ब्रह्मा 'सादि' हैं, उनका आदि है और श्रीरामजी आदि-अन्त-रहित हैं, अनादि हैं, तब उनको विधाता कैसे वाम हो सकते हैं, उनको कर्म कैसे बाधक हो सकते हैं? (रा० च० मिश्र) (ङ) अद्वितीय होनेसे, उनके समान दूसरा कोई न होनेसे ***'अनूपा'*** कहा, यथा—***'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप……'*** (७। १३) ***'जेहि समान अतिसय नहिं कोई।'*** (३।६।८), '**निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः॥**' (भा० २।४।१४) ***'निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।'*** (७।९२) (च) ***'सकल बिकार रहित'*** हैं क्योंकि सदा एकरस हैं। (वि० त्रि०) बैजनाथजी लिखते हैं कि—'**परिणामो विकारत्वे प्रकृतेरन्यथाभावे यथा मृद्विकारो घटः।**' इति (अमरविवेक) जैसे सोनेके कुण्डल, मृत्तिकाके घट इत्यादि विकार हैं, वैसे ही आत्मामें प्रकृति, उससे बुद्धि, बुद्धिसे त्रिगुणात्मक अहंकार, अहंकारसे आकाश इत्यादि जीवमें विकार हैं। श्रीरामजी इन समस्त विकारोंसे रहित हैं। जैसे स्वर्णकुण्डल भीतर-बाहर सब सुवर्ण ही है, वैसे ही श्रीरामजीमें देही-देह-विभाग नहीं है, वे शुद्ध आत्मरूप ही भीतर-बाहर हैं। (वै०) वाल्मीकिजीने भी कहा है—***'चिदानंद मय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥'*** (छ) ***'गत भेदा'*** इति। माया त्रिगुणात्मिका है। वही अपने सत्त्व, रज, तम गुणोंसे अनेकों प्रकारकी भेदवृत्तियाँ पैदा कर देती है। इस विकारात्मक सृष्टिके तीन भाग हैं—अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत। ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। इन त्रिविध तत्त्वों वा भेदोंसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। गुणोंके क्षोभसे उत्पन्न हुआ अहंकार प्रकृतिका ही एक विकार है। यह अहंकारी अज्ञान और सृष्टिकी विविधताका मूल है। श्रीरामजी परमात्मा ज्ञानस्वरूप हैं, इन समस्त भेदोंसे परे हैं। भाव यह कि भेदभाव केवल अज्ञानसे ही होता है और श्रीरामजीमें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं है।—'**त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे।**' (भा० १०। ८७। २५) त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सर्वगत होनेसे भेदरहित हैं।

रा० च० मिश्रजीका मत है कि निषादराजने जो '**केकयनंदिनि मंदमति**……' कहा था, उसका निराकरण *'गत भेदा'* से किया। अर्थात् श्रीरामजी सर्वगत हैं, उन्हींकी इच्छा एवं प्रेरणासे कैकेयीने वनवास दिया; इसमें कैकेयीका दोष नहीं।

पं० श्रीकान्तशरणजी *'गत भेदा'* का भाव यह लिखते हैं कि 'श्रीरामजी चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म एक ही हैं। इनसे भिन्न और कुछ नहीं है; अर्थात् जीव और प्रकृति ब्रह्मके अपृथक्सिद्धसम्बन्धयुक्त शरीररूप एवं विशेषण हैं, श्रीरामजी स्वयं ब्रह्मरूप विशेष्य हैं। इस भेदराहित्यसे जनाया कि कैकेयीजी भी इनसे भिन्न नहीं हैं। अत: उनके कार्य भी उनकी इच्छा और प्रेरणासे लीलाके लिये हुए।

पुन: भाव कि भेद तीन प्रकारके हैं—स्वगत, स्वजातीय और विजातीय। ये तीनों ब्रह्ममें नहीं हैं। (प्र० सं०)

पाँड़ेजी—निषादने कहा कि राजभवनमें सोनेवाले कुशसाथरीपर सो रहे हैं, इसके उत्तरमें लक्ष्मणजी कहते हैं कि 'रघुनाथजी सब विकारोंसे रहित हैं, भेदरहित हैं, जब वे राजमन्दिरमें रहे तब यहाँ रहे और जब यहाँ हैं तब राजमन्दिरमें हैं।'

(ज) *'कहि नित नेति…… '*—इदमित्थं रूपसे नहीं कहे जा सकनेके कारण वेद नेति-नेति कहकर निरूपण करते हैं। (वि० त्रि०) भा० में वेदोंने भगवान्‌की स्तुतिमें कहा है—'**द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणा:। ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधना:॥**' (१०। ८७। ४१) अर्थात् आप भी अपना पार नहीं जानते। क्योंकि जब अन्त है ही नहीं; तब कोई जानेगा कैसे? जैसे आकाशमें हवासे धूलके नन्हें-नन्हें कण उड़ते रहते हैं, वैसे ही आपमें कालके वेगसे अपनेसे उत्तरोत्तर दसगुने सात आवरणोंके सहित असंख्य ब्रह्माण्ड एक साथ ही घूमते रहते हैं। तब भला आपकी सीमा कैसे मिले? 'हम श्रुतियाँ भी आपके स्वरूपका साक्षात् वर्णन नहीं कर सकतीं, आपके अतिरिक्त वस्तुओंका निषेध करते-करते अन्तमें अपना भी निषेध कर देती हैं और आपमें ही अपनी सत्ता खोकर सफल हो जाती हैं।'—ये अन्तिम शब्द *'कहि नित नेति'* का भावार्थ ही हैं।

दो०—भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जगजाल॥ ९३॥

अर्थ—भक्त, पृथ्वी, ब्राह्मण, गऊ और देवताओंके हितके लिये दयालु रामचन्द्रजी मनुष्य-शरीर धारण करके चरित करते हैं जिनके सुननेसे संसाररूपी बन्धन टूट जाता है॥ ९३॥

नोट—१ (क) पहले श्रीरामजीको ब्रह्म कहा। फिर *'अबिगत अलख…… '* आदि ब्रह्मके लक्षण कहे। इसपर शंका होती है कि 'जिसे वेद 'नेति-नेति' कहकर निरूपण करता है, वह मनुष्य कैसे हुआ?' अतएव ब्रह्मके अवतारका हेतु कहते हैं—*'भगत भूमि……कृपाल'*। अर्थात् अज होनेपर भी वह अपनी इच्छासे, अपनी अहैतुकी कृपासे अथवा अपनी प्रकृतिका आश्रयण करके अपनी मायासे शरीर भी धारण करते हैं। यथा—*'निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।'* (४। २६), *'सोइ राम ब्यापक ब्रह्म भुवननिकाय पति माया धनी। अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुल मनी॥'*(१।५१) '**मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ।**' (४। मं० १) *'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥'* (१।१४४। ७) उन्हींने भक्त, भूमि, ब्राह्मण, गऊ और देवताओंके हितार्थ मनुष्य-शरीर धारण किया है।—*'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार। निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार॥'* (१।१९२) *'हित लागि'* अर्थात् भक्त, गौ और ब्राह्मणकी रक्षाके लिये, भूमिका भार उतारनेके लिये और देवताओंको बन्दीगृहसे छुड़ाने और स्ववश बसानेके लिये। *'कृपाल'* विशेषणका भाव कि अवतारका कारण कृपा है। यथा—*'तेहि धरि देह चरित कृत नाना। सो केवल भगतन्ह हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥'* (१।१।४-५) *'तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥'*(१।१२१।८) इत्यादि। (ख) *'करत चरित……जगजाल'*

इति। इसमें ब्रह्मका अवतार, चरित करना और चरितका माहात्म्य कहा। भाव कि मनुष्यशरीर धारण करके वे ऐसे-ऐसे चरित कर रहे हैं कि जिनको सुननेसे ही मनुष्य जन्म-मरणादि रूपी जगजालसे छूट जाते हैं। *'जगजाल'* वही है जो प्रारम्भमें कह आये, यथा—*'जोग बियोग भोग भल मंदा।''''''जहँ लगि जगजालू॥'* उस जगजालसे छुटकारा पानेका उपाय यहाँ बताया कि इन चरित्रोंको सुने। *'सुनत मिटहिं जगजाल'* यह चरितका माहात्म्य कहा। भाव कि इस समय तो संसारका कल्याण अवतार लेकर प्रभु कर ही रहे हैं परन्तु भविष्यमें जिनको प्रभुके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त नहीं है, वे चरित्र सुनकर ही संसार-सागरसे पार हो जायँगे। मिलान कीजिये—*'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥'* (१। १२२। १), '**अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः। भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥**' (भा० १०।३३।३७) अर्थात् भगवान् भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही मनुष्यशरीरमें प्रकट होते हैं और मनुष्योंकी-सी लीला करते हैं जिन्हें सुनकर जीव भगवत्परायण हो जाते हैं। ☞भक्तोंके लिये यह सुगम नौका बना दिया है। जो भक्त नहीं हैं, वे कभी इस सुगम उपायको ग्रहण ही कब करने लगे? इसीसे *'भगत भव तरहीं'* कहा है।

सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुबीर चरन रत होहू॥ १॥

अर्थ—हे सखा! ऐसा समझकर मोहको छोड़ श्रीसीतारामजीके चरणोंमें प्रेम करो॥ १॥

नोट—१ *'समुझि अस'* इति। (क) *'अस'* अर्थात् जैसा ऊपर *'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता'* से *'करत चरित''''''* तक कह आये। न तो कैकेयीजीने श्रीसीतारामजीको दुःख दिया और न श्रीरामजी जीवोंके समान कर्मपरतन्त्र हैं। वे तो अविगत, अलख, अनादि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हैं जो भक्तों आदिके हितार्थ अवतार लेकर चरित करते हैं जिन्हें सुन-सुनकर जीव भव पार हों। (मा० सं०) पुनः, भाव कि लक्ष्मणजी कहते हैं कि हे सखे! जैसा तुम समझते रहे, वह समझना मोहयुक्त था। इसलिये जैसा मैं कह रहा हूँ, वैसा श्रीरामजीको समझो। मोहको छोड़ दो। भाव यह कि मोह छोड़नेसे छूटता है और लगाये रहनेसे लगा रहता है। सियरघुवीरको महामायाविशिष्ट ब्रह्म समझो। *'सिय रघुबीर कि कानन जोगू'* इस भ्रमको छोड़ो, और सर्वेश्वर समझकर उनके चरणोंमें प्रेम करो। माहात्म्य-ज्ञान विस्मृतिपूर्वक प्रेम, लौकिक प्रेम हो जाता है। (वि० त्रि०) (ख) *'परिहरि मोहू'*—मोह छोड़नेको अर्थात् मोहनिशासे जागनेको कहते हैं। मोह छोड़ो और श्रीसियरघुवीरके चरणोंमें अनुरक्त हो, इस कथनका तात्पर्य यह है कि बिना मोह दूर हुए रामचरणमें अनुराग नहीं होता, यथा—*'होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुबीर चरन अनुरागा॥' 'मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग।'* (७।६१) निषादराजके मोहका उपक्रम *'सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेमबस हृदय बिषादू॥'* (९०।५) से हुआ और उसका उपसंहार *'भयउ बिषादु निषादहि भारी। रामसीय महि सयन निहारी॥'* (९२।२) पर हुआ। चक्रवर्ती राजाके पुत्र और योगीश्वर जनकराजकी कन्या और घरका सुख तथा वनमें पृथ्वीपर कुशादिपर शयन समझकर उनमें परम प्रेम होनेके कारण दुःख हुआ, इसीसे कैकेयीजीको बुरा-भला कहा। श्रीकान्तशरणजीका मत है कि जैसे अर्जुनका बान्धव-स्नेह ही मोहरूप कहा गया है और अन्तमें '**नष्टो मोहः''''''**।' (गीता १८।७३) से उसका निवृत्त होना कहा गया, वैसे ही यहाँ 'प्रेमवश' शब्दका भाव मोह है, क्योंकि निषादराजने श्रीरामजीको प्राकृत नरकी तरह कर्मवश मानकर उनके दुःखमें सौहार्दसे दुःख माना है। यह उसका बान्धव-स्नेह ही मोह कहा गया है।

नोट—२ लक्ष्मणजीने मोहरात्रिसे जागनेके तीन उपाय बताये हैं—वैराग्य, ज्ञान और भक्ति। *'जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥'* (९३।४) यह वैराग्यसे जागना कहा। *'होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा'*, यहाँ ज्ञानसे जागना कहा। मोह रात्रि है, मोहका नाश होना जागना है। और *'भगत भूमि''''''सखा समुझि अस परिहरि मोहू'* यह भक्तिसे जागना कहा। यहाँ उपासनाकी रीतिसे जागने और उपासना करनेको कहा है। *'सिय रघुबीर चरन रत'* होना उपासना है।

नोट—३ पंजाबीजी—गुसाईंजीने यहाँ पहले ज्ञान, फिर वैराग्य तब भक्ति कहलाकर यह दिखाया कि ज्ञान-वैराग्य भक्तिके साधन हैं और उसके लिये बहुत आवश्यक हैं। ज्ञान-वैराग्यका फल रघुपति-भक्ति

है—*'सबकर फल हरिभगति सुहाई'*। पुनः, इस क्रमका भाव यह भी है कि वे निष्पक्षपात हैं। जहाँ जैसा प्रसंग आता है वैसा कह देते हैं उनकी समझमें ज्ञानहीन भक्ति और भक्तिहीन ज्ञान दोनों व्यर्थ हैं।

☞ इस लक्ष्मण-गीताका निष्कर्ष यह है कि एक तो निषादराजने मोहवश कैकेयीजीको दोष दिया कि उसीने सुखके अवसर श्रीसीतारामजीको दुःख दिया, दूसरे श्रीरामजानकीको कर्म-परतन्त्र समझा। श्रीलक्ष्मणजीने उसीकी बात *(कर्म प्रधान सत्य कह लोगू)* का अनुवाद करते हुए कर्मकी प्रधानतासे पहले कैकेयीको निर्दोष ठहराया, यह कहकर कि *'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥'* पर अब इस सिद्धान्तके प्रतिपादनसे यह शंका होती है कि श्रीरामजानकीजी भी अपने कर्मानुसार दुःख भोग रहे हैं। इसपर वे उसे ज्ञानका उपदेश करते हैं कि सुख-दुःख, योग-वियोग इत्यादि सब अज्ञानसे होते हैं; वस्तुतः ज्ञान-देशमें ये कुछ नहीं हैं और उसको *'सपने होइ भिखारि नृप……'* से पुष्ट करते हैं। अर्थात् जैसे कोई भिक्षुक स्वप्न देखे कि मैं राजा हो गया और इन्द्र स्वप्न देखे कि मैं कंगाल हो गया तो एकको सुख और दूसरेको दुःख होता है पर कितनी देरतक? केवल तभीतक जबतक वे सो रहे हैं; जागनेपर न सुख ही रहता है न दुःख, दोनोंको स्पष्ट समझ पड़ने लगता है कि यह सुख वा दुःख तो स्वप्न था, हमें व्यर्थ कष्ट हुआ। वैसे ही इस जगत्के सब व्यवहार स्वप्नवत् हैं, मोहवश सत्य प्रतीत होते हैं। जब यह ज्ञान होता है और संसारसे वैराग्य होता है तब रघुनाथजीका वास्तविक स्वरूप जान पड़ता है और उनके चरणोंमें प्रेम होता है। श्रीरघुनाथजी ब्रह्म शुद्ध सच्चिदानन्दमयकंद अनादि इत्यादि हैं, वे जीव नहीं हैं, उन्हें कर्म बाधित नहीं कर सकता, न उन्हें कोई दुःख-सुख दे सकता है, वे तो अपनी इच्छासे भक्तोंके लिये नरनाट्य करते हैं, पृथ्वीका भार उतारते हैं। इस नरनाट्यमें कर्म भासता है पर वे कर्मके अधीन नहीं हैं।

इति श्रीलक्ष्मणगीता समाप्ता।

कहत रामगुन भा भिनुसारा। जागे जग मंगल सुखदारा*॥ २॥
सकल सौच करि राम नहावा। सुचि सुजान बट छीर मगावा॥ ३॥
अनुज सहित सिर जटा बनाए। देखि सुमंत्र नयन जल छाए॥ ४॥

शब्दार्थ—**भिनुसारा**=प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त, यथा—*'प्रात पुनीत काल प्रभु जागे। अरुनचूड बर बोलन लागे॥' 'उठे लषन निसि बिगत सुनि अरुन सिखा धुनि कान', 'पिछले पहर भूप नित जागा।'* दारा=दातार, देनेवाले=स्त्री। **सुखदारा**=सुख देनेवाले। आह्लादिनी शक्ति जिनकी दारा है। **जटा**—बहुत-से बाल एकमें उलझनेसे जटा कहलाती हैं जैसी तपस्वी साधुओंके होती हैं।

अर्थ—श्रीरामजीके गुणोंका वर्णन करते-करते सबेरा हो गया। जगत्के मंगल करनेवाले और सुखके देनेवाले श्रीरामजी जागे॥ २॥ सब शौचके कृत्योंको करके शुचि और सुजान श्रीरामचन्द्रजीने स्नान किया और बरगदका दूध मँगाया॥ ३॥ (दूधसे) भाईसमेत सिरपर जटाएँ बनायीं। यह देखकर सुमन्त्रजीके नेत्रोंमें जल भर आया॥ ४॥

नोट—१ *'कहत रामगुन भा भिनुसारा'* इति। भाव कि—(क) रात्रि श्रीरामगुण-गानमें दोनोंको एक क्षणके समान बीत गयी। अरुणोदय हो गया तब जाना कि रात बीत गयी। (प० प० प्र०) (ख) श्रीराम-

---

* वंदनपाठकजीकी प्रतिमें 'मंगलदातारा' पाठ है, पर पं० रामगुलाम द्विवेदीकी गुटका और राजापुर एवम् काशिराज और भागवतदासजीकी प्रतियोंमें 'सुषदारा' पाठ है। पण्डित रामकुमारजी कहते हैं कि यहाँ 'दातारा' शब्दके मध्यम अक्षर 'ता' का लोप हो गया। दाराको 'दा-दाने' धातुसे निष्पन्न दारुसे बनाया हुआ मान लें तो भी अर्थ ठीक रहता है; क्योंकि 'दारु' का अर्थ दानशील, देनेवाला भी है। बाबा हरिहरप्रसादजी अर्थ करते हैं कि—'जिनकी सुखरूपा दारा हैं वे जगत्के मंगल करनेवाले श्रीरामजी जागे'। श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी भी यह अर्थ करते हैं अर्थात् 'सुखरूपा (आह्लादिनी शक्ति) जिनकी दारा हैं वे श्रीरामजी जागे।'

गुणगानसे निषादराजकी मोहनिशा दूर हुई और विज्ञानरूपी सबेरा हो गया। (पु० रा० कु०) गीताओंमें श्रोताओंने अन्तमें कृतज्ञता प्रकट की है। यथा—*'भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥'* (३। १७। १) *'सुनत सुधा सम बचन रामके। गहे सबनि पद कृपा धामके॥'* (७। ४७। १) *'सुनि प्रभु बचन बिभीषन हरषि गहे पद कंज।'* (६। ७९) परंतु यहाँ कृतज्ञता नहीं प्रकट की गयी? इसका समाधान इस अर्धालीसे कर दिया गया है। अर्थात् श्रीलक्ष्मणजीने इस प्रकार जो प्रभुके गुणोंका वर्णन आरम्भ किया तो इसी वर्णनमें रात बीत गयी। *'जल सीकर महि रज गनि जाई। रघुपति गुन नहिं बरनि सिराई॥'* श्रोता-वक्ता उसीमें मग्न हो गये। किसीको सुधि नहीं कि सबेरा हो गया। इधर सुखरूपा (आह्लादिनी शक्ति) दारा है जिसकी, ऐसे प्रभु जाग पड़े। लक्ष्मणजी तुरंत उठकर सेवामें लग गये। इसलिये शिष्यको कृतकृत्यताप्रकाशका अवसर न मिला। (वि० त्रि०)

नोट—२ ☞ इस (श्रीरामचरितमानस) ग्रन्थमें अनेक गीताएँ आयी हैं। जहाँ-जहाँ आध्यात्मिक संशयकी निवृत्तिके लिये उपदेश दिया जाता है और उस उपदेशसे मोह वा संशयकी निवृत्ति हुई है वहाँ वह प्रसंग 'गीता' कहा जाता है। इस प्रकार उमा-शम्भु-संवाद (कैलास-प्रकरण) को 'शिवगीता' और सखीद्वारा श्रीसुनयनाजीके संशय-निवृत्ति प्रसंगको 'सखीगीता' तथा भुशुण्डीजीद्वारा गरुड़जीके मोह और संशयोंकी निवृत्तिके प्रसंगको भुशुण्डीगीता वा गरुड़गीता कह सकते हैं।

☞ पूर्वाचार्योंने मुख्य पाँच गीताएँ मानी हैं। उन्होंने पाँच प्रसंगोंको 'गीता' नाम दिया है। उस रीतिसे सबसे प्रथम 'लक्ष्मणगीता' है जो यहाँ जगत्के जीवोंके आचार्य श्रीलक्ष्मणजीने निषादराजके प्रति कही है। निषादराजने दो बातें कही थीं। एक यह कि कैकेयीने श्रीरामजीको सुखके अवसर दुःख दिया। दूसरे यह कि सब जीवोंके समान श्रीजानकीजी और रघुनाथजीके विषयमें भी कर्मको प्रधान कहा, यथा—*'सिय रघुबीर कि कानन जोगू। करम प्रधान सत्य कह लोगू॥'* इन्हीं दोनोंका खण्डन इस गीतामें किया गया है। अन्य चार गीताएँ काण्डक्रमके अनुसार ये हैं—(१) अरण्यकाण्ड-(तृतीय सोपान) में श्रीलक्ष्मणजीने प्रश्न किया है—*'कहहु ग्यान बिराग अरु माया।⋯मोह भ्रम जाइ।'* (३। १४) और रघुनाथजीने उसका उत्तर जो दिया है वह 'श्रीरामगीता' है। (२)—फिर लंकाकाण्डमें जब विभीषणजीको मोह हुआ कि 'रावण रथपर सवार है और श्रीरामजी पैदल हैं तब ये उस वीरको कैसे जीत सकेंगे? इस संदेहकी भगवान् रामचन्द्रजीने अपने उपदेशसे निवृत्ति की। ६। ७९ देखिये। यह श्रीरामोक्ति विभीषणजीके प्रति 'भगवद्गीता वा विभीषणगीता' है। (३) उत्तरकाण्डमें दो गीताएँ हैं। एक तो 'पुरजनगीता' जो श्रीरामजीने अवधवासियोंको उपदेश किया है। दो० ४३ (१)—४७ (८) देखिये। और दूसरी ज्ञानगीता जो भुशुण्डिजीने गरुड़जीके प्रश्नपर कही है। ज्ञानगीताके साथ-ही-साथ भक्तिका माहात्म्य बहुत दिखाया है। इसे कोई-कोई भक्तिगीता कहते हैं। ७। ११५। ८ से दो० १२० तक।

प्रत्येक गीताके अन्तमें उसका फल कहा गया है। उत्तरकाण्डसे क्रमशः इसे लिखा जाता है— (क) 'ज्ञानगीता' की फलश्रुति, *'जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परमपद लहई॥'* (७। ११९। २) 'भक्तिगीता' का फल तो प्रकरणभरमें है। (ख) 'पुरजनगीता' का फल, *'उमा अवधबासी नर नारि कृतारथरूप।⋯'* (७। ४७) (ग) 'विभीषणगीता' का फल—*'महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।'* (६। ७९) (घ) 'रामगीता' का फल *'तिन्हके हृदय कमल महुँ करौं सदा बिश्राम।'* (३। १६) तथा यहाँ 'लक्ष्मणगीता' में भी फलश्रुति होना चाहिये। इस गीताके श्रवणका फल स्पष्ट और गीताओंका-सा यहाँ नहीं दिया है। इसका फल *'कहत रामगुन भा भिनुसारा'* में लक्षित जान पड़ता है; इस तरह कि उपदेश अंतमें यह दिया कि *'सिय रघुबीर चरन रत होहू'*; इसे फल भी कह सकते हैं। इस उपदेशका फल यह हुआ कि राम-गुण कहते-कहते *'भिनुसारा'* हो गया अर्थात् गुहकी अविद्या-रात्रि मिटी और विज्ञानरूपी सबेरा हो गया। और दूसरा अर्थ है ही।

नोट—३ (क) *'जागे मंगल⋯'* का भाव कि ईश्वरके जागनेसे जगत्का मंगल कल्याण और सुख

है। (पु० रा० कु०) साधारण अर्थ तो यह है कि मंगल और सुखके देनेवाले प्रभु रात व्यतीत होनेपर उठे। (ख) *'जग मंगल सुखदारा'* का भाव कि अबतक तो केवल अवध और मिथिलावासियोंको मंगल और सुखके देनेवाले थे, पर अब जगत्‌मात्रका मंगल करने और उसके निवासियोंको सुख देने चले हैं। अपने अनेक प्यारे भक्तोंको वनमें सुख देंगे, ऋषियोंको अभय करेंगे और रावण आदिका वध करके देवताओंको मंगल और सुख देंगे। यथा—*'कुंभकरन हन्यो रन राम दल्यो दसकंधर कंधर तोरे।…देव निसान बजावत गावत सावँत गो मन भावत भो रे।'* (क० ६। ५७) *'मारे रन रातिचर रावन सकुल दल, 'अनुकूल देव मुनि फूल बरषतु हैं। नाग नर किन्नर बिरंचि हरि हर हेरि पुलक सरीर हिये हेतु हरषतु हैं॥'* (क० ६। ५८) *'दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सना हैं।'* (गी० ७। १३) इत्यादि। (मुं० रोशनलाल) पुन: भाव कि जगके मंगलदाता हैं; अतएव जगत्‌को शिक्षा देते हैं, पिताकी आज्ञा जबरदस्त है; उसका पालन निस्संकोच होकर करना चाहिये। देखो जिन जुल्फोंमें अतरतेल-फुलेल लगता था, जिनका कैसा शृंगार किया जाता था, उनको पिताकी आज्ञासे एकमें मिला जटा बनाकर उन्होंने पूर्ण उदासी वेष बनाया—यह गृहस्थको शिक्षा है। और तपस्वियोंको शिक्षा देते हैं कि तुमलोगोंको बालोंमें अतर-तेल-फुलेल आदि न लगाना चाहिये, बालोंका शृंगार दूर रहा, उनको झाड़े भी नहीं, जब यह अनुचित है तो भूषण-वस्त्र-सवारी तो निश्चय ही दूषण हैं।—(शीला)

नोट—४ *'कहत रामगुन भा भिनुसारा।…नहावा'* से मिलता हुआ श्लोक यह है—'**गुहलक्ष्मणयोरेवं भाषतोर्विमलं नभः। बभूव रामः सलिलं स्पृष्ट्वा प्रातः समाहितः॥**' (२। ६। १६) अर्थात् गुह और लक्ष्मणके इस प्रकार बातचीत करते-करते आकाशमें उजाला हो गया। तब श्रीरामचन्द्रजीने सावधानतापूर्वक आचमन कर प्रात:क्रिया की।

टिप्पणी—१ *'सकल सौच करि…'* इति। [(क) *'सकल सौच'*—मल बारह कहे गये हैं। इसीसे *'सकल'* शब्द दिया। विशेष *'सकल शौच करि जाइ नहाए।'* (१। २२७। १) भाग ३ (क) में देखिये] (ख) *'राम नहावा'* इति। जनकपुरमें श्रीरामजीने शहरके बाहर जाकर नदीमें स्नान किया था, यथा—*'सकल सौच करि जाइ नहाए'* और यहाँ तो गंगातटपर ही टिके हुए हैं, इसीसे यहाँ जाकर नहाना नहीं कहते। (ख) *'सुचि'* इति। शौच कार्योंको करके स्नान किया, इस कथनसे पाया जाता है कि जब स्नान किया तब पवित्र हुए, पहले अशुच थे; इस भ्रमके निवारणार्थ यहाँ 'शुचि' विशेषण देकर जनाया कि वे तो सहज ही पावन हैं, लोक और वेदकी मर्यादाकी रक्षाके लिये ऐसे आचरण करते हैं, वे तो *'तीरथ अमित कोटि सम पावन।'* (७। ९२। २) है। मिलान कीजिये—*'भे पुनीत पातक तम तरनी। जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमंगल मूला॥ सुद्ध सो भयउ साधु संमत अस। तीरथ आवाहन सुरसरि जस॥'* (२४८। १—३) *'सुमिरत जाहि मिटइ श्रम भारू। तेहि श्रम यह लौकिक ब्यवहारू॥ सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु। चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥'* (८७) (ग) *'सुजान बट छीर मँगावा'* इति।—यहाँ सुशीलता देखिये। रामचन्द्रजी सुमन्त्रजीको पिताके समान समझते-मानते हैं; इसीसे मुखपर कहते सकुचते हैं कि हम न लौटेंगे; आप लौट जायँ। अतएव बड़का दूध मँगाकर उनके सामने ही मुनियोंकी-सी जटाएँ बना लीं, जिसमें यह देखकर कि अब तो इन्होंने पूर्ण तपस्वी वेष धारण कर लिया, वे लौटानेका हठ न करें और यहींसे फिर जायँ और घर जाकर कह दें कि हमने जटाएँ धारण कर लीं; इससे कैकेयीजी प्रसन्न होंगी। वाल्मीकीयमें रामजीने सुमन्त्रजीसे कहा है कि मैं तुम्हें इससे लौटाता हूँ कि जिसमें माता कैकेयीको मेरे वनगमनका विश्वास हो जाय, वे संतुष्ट हो जायँ और उनको पितापर मिथ्यावादकी शंका न रह जाय—'**नगरीं त्वां गतं दृष्ट्वा जननी मे यवीयसी। कैकयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः॥**' (६१) '**विपरीते तुष्टिहीना वनवासं गते मयि।**' (सर्ग ५२)] देखिये सौतेली और वह भी सारे नगरको दु:ख देनेवाली माताका भी कैसा आदर-सम्मान है! अतएव *'सुजान'* विशेषण दिया। (घ) *'बटछीर मँगावा'* से जान पड़ता है कि गंगातटपर वटका वृक्ष न था, नहीं तो रातको उसीके नीचे विश्राम करते जैसा वे

प्रायः करते रहे हैं, यथा—*'घरिक बिलंबु कीन्ह बट छाहीं।'* (११५।३) *'देखि निकट बटु सीतल पानी। तहँ बसि''''' ।'* (१२४। ३-४), *'बट छाया बेदिका बनाई।'* (२३७।८) *'पुनि प्रभु पंचवटीकृत बासा।'* (७। ६६) इत्यादि।

टिप्पणी २ (क)—*'अनुज सहित सिर जटा बनाए'* इति। श्रीरामचन्द्रजीने माता-पिताकी भक्ति और उनकी आज्ञाका पालन किया—*'तापस बेस बिसेष उदासी',* अतएव जटाएँ बनायीं। लक्ष्मणजीने क्यों जटाएँ धारण कीं? अपने भाईकी भक्तिसे, नहीं तो उनके लिये न तो वनवासकी आज्ञा थी न उदासी वेष धारण करनेकी। (ख) *'देखि सुमंत्र नयन जल छाए'* इति। सुमन्त्रजी समझ गये कि बस अब ये न लौटेंगे, रामचन्द्रजीने मुनिवेष (कौपीन-कमण्डलु आदि धारण करके) तो कैकेयीके सामने ही बना लिया था, यथा—*'तुरत राम मुनिबेष बनाई',* केवल जटाएँ बनाना बाकी था सो अब बनाकर मुनिवेषकी पूर्ति की। इसीसे मन्त्रीको अत्यन्त दुःख हुआ जिससे आँखोंमें आँसू भर आये। (पुनः भाव कि कहाँ तो श्रीरघुनाथजीका तिलक और उनके सिरपर मुकुट देखनेको थे, कहाँ आज जटाएँ और वनवासका निश्चय देख रहे हैं *'का सुनाइ बिधि काह देखावा',* यह समझकर नेत्रोंमें जल भर आया। रा० प्र०)

नोट—५ वाल्मी० रा० में गंगातटपर नाव आ जानेपर प्रथम सुमन्त्रको लौटनेकी आज्ञा दी गयी है। तब गुहसे यह कहा कि अब मुझे मनुष्यवाले वनमें नहीं रहना चाहिये किंतु आश्रममें रहकर उसके निर्दिष्ट विधिका पालन करना चाहिये, अतएव अब मैं जटा धारण आदि करता हूँ, तुम बड़का दूध ले आओ। गुह दूध ले आया।—यह *'बटछीर मँगावा'* का भाव हुआ। किससे मँगाया यह स्पष्ट हो गया। '**जटाः कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय। तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत्॥**' (५२।६८)

अ० रा० वाले कल्पमें निषादराजके यहाँ पहुँचनेपर और उसके मिलनेपर उसी दिन जटाएँ धारण की हैं। उसके पश्चात् सोनेके लिये साथरी बनायी गयी है—'**वटक्षीरं समानाय्य जटामुकुटमादरात्। बबन्ध लक्ष्मणे नाथ सहितो रघुनन्दनः॥**' (२।५।७०) '''''**आस्तृतं कुशपर्णाद्यैः शयनं लक्ष्मणेन हि॥**' (७१)

'अनुज सहित सिर जटा बनाए' से जनाया कि श्रीरघुनाथजीने अपने हाथसे लक्ष्मणजीके सिरपर जटाएँ बनायीं। यथा—'**लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोज्जटाः।**' (वाल्मी० २।५२।६९)

हृदयँ दाहु अति बदन मलीना। कह कर जोरि बचन अति दीना॥ ५॥
नाथ कहेउ अस कोसलनाथा। लै रथु जाहु राम कें साथा॥ ६॥
बनु देखाइ सुरसरि अन्हवाई। आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई॥ ७॥
लषनु रामु सिय आनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी॥ ८॥

अर्थ—हृदयमें बड़ी जलन है, मुख अत्यन्त मलिन (द्युतिहीन, उदास) है। हाथ जोड़कर वह अत्यन्त दीन (आर्त, दुःखसे भरे और विनयपूर्वक) वचन बोला॥ ५॥ हे नाथ! कौसलेश महाराजने ऐसा कहा था कि रथ ले जाकर रामजीके साथ जाओ॥ ६॥ वन दिखाकर, गंगास्नान कराकर शीघ्र ही दोनों भाइयोंको लौटा लाना॥ ७॥ सब सन्देह और संकोचको दूर करके लक्ष्मण-राम-सीताको लौटा लाना॥ ८॥

टिप्पणी पुरुषोत्तम रामकुमार—१ श्रीसुमन्त्रजी मन-तन-वचन तीनोंसे दुःखी हैं। *'हृदय दाह'* मनका, *'बदन मलीना'* तनका और *'बचन दीन'* वचनका दुःख है। अर्थात् वचनसे दुःखकी बात कही है। *'अति'* का भाव कि हृदयमें दाह और मुखपर मलिनता तो पहलेसे ही थी, पर अब जटा धारण करते देखकर दाह और मलिनता बहुत बढ़ गयी है। तन-मन-वचन तीनोंमें अत्यन्त दुःख है; अतएव तीनोंके साथ *'अति'* शब्द दिया—अति दाह, अति मलिन, अति दीन।

टिप्पणी—२ (क) *'कोसलनाथ'* इति। कोसलो अयोध्या। अयोध्याके नाथ हैं, अतएव उसकी कुशलके लिये राजाने ऐसा कहा कि लौटा लाना, क्योंकि बिना श्रीरामजीके उसकी कुशल नहीं। यही बात आगे मन्त्रीने कही है—*'तात कृपा करि कीजिय सोई। जाते अवध अनाथ न होई॥'* (ख) *'लै रथु जाहु रामके*

साथा' इति। आज्ञा सुनानेमें भाव यह है कि राजाकी आज्ञा प्रबल है, माननीय है। पहले भी आज्ञा सुनायी थी तब पिताकी आज्ञा मानकर ही श्रीरामजी रथपर चढ़े थे। यथा—***'तब सुमंत्र नृप बचन सुनाए। करि बिनती रथ रामु चढ़ाए॥'*** (८३।१) अतएव फिर वचन सुनाते हैं, जिनमें लौटानेकी आज्ञा है; इस विचारसे कि जैसे रथपर चढ़नेकी आज्ञा मानी वैसे ही इसे भी मान लेंगे।

टिप्पणी—३ ***'बन देखाइ सुरसरि…'*** इति। (क) वनवासकी आज्ञा है और कैकेयीजीसे प्रतिज्ञा भी कर चुके हैं—***'जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥'*** (४२।२) अतः वनको जाना मुख्य है। इसीसे प्रथम ***'बन देखाइ'*** कहा तब ***'सुरसरि अन्हवाई'***। ***'सुरसरि अन्हवाई'*** से सूचित किया कि राजाकी यह भी आज्ञा थी। (ख) वन दिखाकर गंगा-स्नान करानेकी आज्ञासे सूचित किया कि गंगाके इसी पारका वन जो गंगाके निकट है उसीको दिखानेकी आज्ञा है, पार उतारनेकी आज्ञा नहीं है। (ग) यहाँ कहते हैं ***'आनेहु फेरि बेगि',*** पर कितनी जल्द, यह यहाँ नहीं कहा। राजाने कहा था कि ***'रथ चढ़ाइ देखराइ बन फिरेहु गए दिन चारि'***। १४ वर्षकी अपेक्षा ४ दिन बहुत जल्द ही कहलायेंगे।

नोट—१ ***'आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई॥…लषन राम सिय आनेहु फेरी'*** इति। रा० प्र० का मत है कि 'प्रथम दोनों भाइयोंको फेर लानेको कहा; शोकातुर होनेसे श्रीजानकीजीको भूल गये थे। तुरत ही स्मरण हो आनेपर तीनोंको फेर लानेको कहा। अथवा, फेर लाना अत्यावश्यक है, अतएव ***'आनेहु फेरी'*** दो बार कहा। अथवा व्याकुलताके कारण दो बार कहा। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि ***'आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई'*** इसका अर्थ ही सीधे-सीधे यही है कि उनके फिरनेसे सीताजी साथमें फिर ही आवेंगी। फिर भी ***'लषन राम सिय आनेहु फेरी'*** का कुछ अर्थ होता है। इसमें श्रीरामलक्ष्मणजीके न फिरनेपर भी श्रीसीताजीका फेर लाना ध्वनित है।

नोट—२ ***'संसय सकल सँकोच निबेरी'*** इति। भाव यह है कि यदि रामजी संशय करें कि हम धर्म कैसे छोड़ें और संकोच करें कि हम प्रतिज्ञा करके घरसे निकले हैं अब कैसे लौटें तो उनके संशय और संकोचको दूर करना। और तुम भी संशय-संकोच न करना कि श्रीरामजी धर्मिष्ठ हैं, वे वचन मानकर वन आये हैं अब न लौटेंगे, हम इनके लौटनेको न कहें। पुनः श्रीरामजीका संकोच न करना, उनसे अवश्य लौटनेको कहना—***'संसय सकल सँकोच'*** में ये सब भाव हैं, अपना और रामजी दोनोंके संशय-संकोचका निवारण अभिप्रेत है, इसीसे ***'सकल'*** दोनोंका विशेषण है। ***निबेरी***=दूर करके। छोड़कर, यथा—***'कुलवंत निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती॥'*** (७।१०१) (पु० रा० कु०) (ख)—सम्भव है कि रामजी संशय करें कि पिताजीकी किस आज्ञाका पालन करें, चौदह वर्षवाली आज्ञाका पालन करें कि चार दिनवाली आज्ञाका। इसपर चक्रवर्तीजी कहते हैं कि तुम संशय दूर कर देना कि नहीं, दूसरी आज्ञाका पालन करो' ऐसी ही चक्रवर्तीजीकी इच्छा है। यदि रामजी लौटनेमें संकोच करें कि 'मुनिवेष करके १४ वर्षके लिये घरसे चले अब बीचमें कैसे लौटें' इसपर चक्रवर्तीजीने कहा कि तुम इस संकोचको भी दूर कर देना कि आप अपनी इच्छासे तो वनमें पधारे नहीं हैं, पिताकी आज्ञासे आये हैं। पिताने स्वयं अवधिमें संकोच करके चार दिनका कर दिया तब उसके माननेमें आपको कौन-सा संकोच है। अतः ***'संसय सकल सँकोच निबेरी'*** कहा। (वि० त्रि०)

दो०—नृप अस कहेउ गोसाइँ जस कहइ करौं बलि सोइ।
करि बिनती पायन्ह परेउ दीन्ह बाल जिमि रोइ॥ ९४॥

अर्थ—राजाने ऐसा कहा है, अब जैसा गुसाईं आप कहें मैं वैसा ही करूँ, आपकी बलिहारी हूँ। विनती करके वह पैरोंपर गिर पड़ा और बालकोंकी तरह रो दिया अर्थात् असमर्थ होकर ऊँचे स्वरसे रोने लगा॥ ९४॥

टिप्पणी—१ (क) ***'नाथ कहेउ अस कोसलनाथा'*** से ***'नृप अस कहेउ'*** तक राजाका संदेसा कहा।

(ख) ***'नृप'***=नृ (मनुष्य)+प (पालक) अर्थात् मनुष्योंके पालनकर्ताके ये वचन हैं, प्रजाकी रक्षाके निमित्त ये वचन उन्होंने कहे हैं, बिना रामजीके लौटे प्रजा मर जायगी, यह सोचकर ऐसा कहा है; अतएव ***'नृप'*** कहा।

टिप्पणी—२ ***'गोसाइँ जस कहइ'***—भाव कि रामजीका संकोची स्वभाव है, कदाचित् वे चुप हो रहें तो मैं फिर पूछ नहीं सकता और राजा मुझसे रामजीका संदेसा पूछेंगे तब मैं क्या कहूँगा; इसीसे उत्तर मिलनेकी प्रार्थना करते हैं—आप लौट चलेंगे या संदेसा कहेंगे।

टिप्पणी—३ विनती करके पैरोंपर गिर पड़नेका कारण यह है कि बड़े लोगोंपर जोर इसी तरह पहुँचता है। [श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि मन्त्रीको राजाज्ञा सुना देना ही यथेष्ट था, पैरपर गिरकर विनती करने और रोनेकी आवश्यकता क्या थी? इस प्रश्नका यही उत्तर है कि मन्त्री भलीभाँति जानता है कि इस दूसरी आज्ञाका कुछ मूल्य नहीं है। इसको रामजी प्रिय-प्रेम-प्रमाद मानेंगे, आज्ञा नहीं मानेंगे, अत: करुणाकर रामजीकी करुणाको रो-गाकर जगाना चाहता है। (वि० त्रि०)]

नोट—वाल्मीकीयमें राजाका संदेसा नहीं है। वहाँ सुमन्त्रजीके पूछनेपर कि मुझे क्या आज्ञा है, श्रीरामजीने उन्हें लौट जानेको कहा। तब उन्होंने अपने पदके योग्य विनती की और श्रीरामजीको जाते देख बड़ी देरतक रोते रहे। यथा—'**इति ब्रुवन्नात्मसमं सुमन्त्रः सारथिस्तथा। दृष्ट्वा दूरगतं रामं दुःखार्तो रुरुदे चिरम्॥**' (२।५२।२०) तब श्रीरामजीने पुनः समझाया है।

तात कृपा करि कीजिअ सोई। जातें अवध अनाथ न होई॥ १॥
मंत्रिहि राम उठाइ प्रबोधा। तात धरममतु* तुम्ह सबु सोधा॥ २॥

अर्थ—हे तात! कृपा करके वही कीजिये जिससे अवध अनाथ न हो॥ १॥ श्रीरामजीने मन्त्रीको उठाकर अच्छी तरह समझाया—हे तात! तुमने धर्मके सब सिद्धान्तोंको छानबीन करके समझा है॥ २॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमारजी—***'कृपा करि कीजिअ सोई।.....'*** इति। अवधवासियोंपर कृपा करो। अपने ऊपर या राजापर कृपा करनेको नहीं कहते, क्योंकि कृपा छोटेपर की जाती है; अतएव प्रजापर कृपा करनेको कहते हैं। कृपाकी प्रार्थना इसलिये करते हैं कि धर्म समझकर तो लौट नहीं सकते हैं, पर अवधवासियोंके प्राणोंकी रक्षाके लिये दया करके लौट सकते हैं। [पुनः अनाथ न होनेका भाव कि तुम्हारे बिना महाराज न जीवित रहेंगे और भरत भी राज्य न ग्रहण करेंगे। (रा० प्र०) इसमें वाल्मी० (२।५२) के '**वयं खलु हता राम यत्त्वया ह्युपवञ्चिताः। कैकेय्या वशमेष्यामः पापाया दुःखभागिनः॥**' (१९) का भाव भी है कि आपके द्वारा त्यक्त होनेके कारण हमलोग तो मारे ही गये, अब हमलोग पापिन कैकेयीके अधीन रहेंगे और दु:ख उठावेंगे—यह भी भाव ***'अनाथ'*** होनेमें है]।

टिप्पणी—२ ***'मंत्रिहि राम उठाइ.....'*** इति। (क) मन्त्री पिताके समान है, इसीसे चरणोंसे उठाकर प्रबोध किया, जैसे माताका प्रबोध किया था—***'बरस चारि दस बिपिन बसि'***, जैसे प्रजाको समझाया था—***'कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाए। बहु बिधि राम लोग समुझाए॥ किए धरम उपदेस घनेरे।'*** वैसे ही इनको भी समझाया।

टिप्पणी—३ ***'तात धरम मतु तुम्ह सब सोधा'*** अर्थात् तुम सब जानते हो। भाव कि तुमको धर्म कहकर समझानेका कुछ विशेष प्रयोजन नहीं है। आगे धर्ममार्गपर चलनेवाले राजाओंका उदाहरण देते हैं।

सिबि दधीच हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥ ३॥
रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरमु धरेउ सहि संकट नाना॥ ४॥
धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥ ५॥
मैं सोइ धरमु सुलभ करि पावा। तजें तिहूँ पुर अपजसु छावा॥ ६॥

* 'मतु' पाठ राजापुर (ला० सीताराम) की पोथीमें है और काशिराजकी प्रतिमें। किसी-किसीने 'मगु' पाठ दिया है।

अर्थ—(राजर्षि) श्रीशिबिजी, (महर्षि) श्रीदधीचिजी और राजा हरिश्चन्द्रजीने धर्मके लिये करोड़ों (अनेक) कष्ट सहे हैं॥ ३॥ सुजान राजर्षि रन्तिदेवजी और दैत्यराज बलिने अनेकों कष्ट उठाकर भी धर्मको धारण किया॥ ४॥ सत्यके समान दूसरा धर्म नहीं है, शास्त्र, वेद और पुराणोंमें ऐसा कहा है॥ ५॥ वही धर्म मैंने सहजहीमें पाया है, उसके छोड़नेसे तीनों लोकोंमें अपकीर्ति फैलेगी॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'भूप सुजाना'* अर्थात् ये दोनों राजा धर्मकी गतिके जाननेमें बड़े प्रवीण थे; इसीसे अनेक संकट सहकर धर्मकी रक्षा करते रहे। रन्तिदेवको ४८ दिनपर भोजन मिला सो भी उन्होंने अतिथिको दे दिया, अपने प्राणोंकी परवा न की।

श्रीरन्तिदेवजी—ये पुरुके वंशमें या यों कहें कि दुष्यन्तके पुत्र श्रीभरतजीके वंशमें राजा संकृतिके पुत्र हुए। ये धन कमानेके लिये कोई विशेष उद्योग नहीं करते थे। प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाता, वही स्वीकार कर लेते। प्राप्त वस्तु भी रखते न थे। जो कुछ भी मिलता दूसरोंको दे डालते थे। वे न तो अपने पास कुछ रखते और न किसी वस्तुसे ममता ही करते। उनके हृदयमें बड़ा धैर्य था। रन्तिदेवजीने अकेले ही नहीं किंतु अपनी स्त्री और पुत्रके सहित आकाशवृत्ति ग्रहण कर रखी थी अर्थात् जीविकाके लिये कर्मचेष्टासे शून्य रह जो अकस्मात् अनाश्रित आ जावे उसीको लेते थे। इससे उनके शरीर क्षीण हो गये थे। एक बार तो उनको लगातार अड़तालीस दिन ऐसे बीत गये कि उन्हें जलतक पीनेको न मिला। स्त्री-पुत्रसहित वे अवसन्न पड़े थे। उनचासवें दिन प्रात:काल ही उन्हें खीर, मोहनभोग (हलवा) और जल मिला। भोजन करनेको ही थे कि एक ब्राह्मण अतिथिके रूपमें आ गया। राजाने उस अन्नमेंसे उसे आदर और श्रद्धापूर्वक खिला दिया। उसके जानेपर जो बचा उसे तीनोंमें बाँटकर खानेको हुए कि एक शूद्र अतिथि आ गया। राजाने उस अन्नमेंसे उसको भी संतुष्ट किया। फिर एक नीच कुत्ते लिये हुए आया और राजासे कहा कि मैं और कुत्ते भूखे हैं, भोजन दीजिये। राजाने शेष अन्न इनको खिला दिया। राजा रन्तिदेव सबमें भगवान्‌हीको देखते थे—'**हरिं सर्वत्र सम्पश्यन्**।' (भा० ९। २१। ६) उन्होंने कुत्तों और कुत्तोंके स्वामीके रूपमें आये हुओंको भी भोजन देकर उसी भावसे नमस्कार किया—'**तच्च दत्त्वा नमश्चक्रे श्वभ्यः श्वपतये विभुः॥**' (श्लो० ९) अब केवल इतना जल बच रहा था जिससे एक व्यक्तिकी प्यास बुझ सके। जल पीना ही चाहते थे कि एक चाण्डाल अकस्मात् पहुँच गया और आर्त हो पीनेका जल माँगा। आपको दया आ गयी। उसकी दीनतासे भरी हुई वाणी सुनकर उसके दु:खको देखकर वे दु:खी हो गये। उन्होंने उसको वह जल पिला दिया और उनके मुखसे यह अमृतमयी वाणी निकली—'**न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा। आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्त:स्थितो येन भवन्त्यदु:खाः॥**' (१२) अर्थात् 'मैं भगवान्‌से अष्टसिद्धियोंसे युक्त परमगति नहीं चाहता। मैं मोक्ष भी नहीं चाहता। मैं केवल यही चाहता हूँ कि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्त:करणमें स्थित हो जाऊँ और उनका सारा दु:ख मैं ही सहन करूँ, जिससे किसी भी प्राणीको दु:ख न हो।' चाण्डालकी प्राणरक्षा करनेमें उनको बड़ा सुख हो रहा था, वे सोचते थे कि इसको यह जल देनेसे मेरी भूख, प्यास, भ्रान्ति, चक्कर आना, दीनता, क्लान्ति, शोक, विषाद और मोह आदि सब ही निवृत्त हो गये। यह सोचते हुए मृतप्राय राजाने ज्यों ही वह जल उसे दिया त्यों ही त्रिदेव, जिन्होंने ही इन स्वरूपोंसे उनकी परीक्षा ली थी, प्रकट हो गये। तीनों प्राणियोंने उनके सामने ही शरीर छोड़ दिया। (श्रीमद्भागवत स्कन्ध ९अ० २१) श्रीप्रियादासजीका यह कवित्त इनके विषयमें है—कवित्त ९४—

अहो! रंतिदेव नृप संत दुष्कंत बंस अतिहि प्रशंस सो अकासवृत्ति लई है।
भूखे को न देखि सकै, आवै सो उठाइ देत, नेति नहिं करैं, भूखे देह छीन भई है।
चालीस और आठ दिन पीछे जल अन्न आयो, दियो बिप्र शूद्र नीच श्वान यह नई है।
हरिको निहारै उन माँझ, तब आए प्रभु, भाए, जग दु:ख जिते भोगौं, भक्ति छई है।

टिप्पणी—२—*'धरम न दूसर सत्य समाना'* का भाव कि सम्भव है कि मन्त्री कहें कि श्रीशिबिजी,

श्रीदधीचिजी और श्रीहरिश्चन्द्रजी आदिका कठिन धर्म था, किसीका सर्वस्व गया, किसीका प्राण गया; उसके लिये तुम क्यों इतना कष्ट उठानेको हो? अतएव श्रीरामजी कहते हैं कि सत्यके समान दूसरा धर्म नहीं है और उसपर वेद-शास्त्र-पुराणोंका प्रमाण देते है। [कैकेयीजीने भी राजासे कहा है कि **'आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः।'** (२।१४।३) **'सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।'** (२।१४।७) अर्थात् धर्मरहस्यके ज्ञाता लोग कहते हैं कि सत्य ही परम धर्म है। एकाक्षर ब्रह्म भी सत्य ही है। सत्यहीमें समस्त धर्म प्रतिष्ठित (वर्तमान) हैं। जाबालि ऋषिको उत्तर देते हुए श्रीरामचन्द्रजीने उनके विरोधमें वेदानुसार वचन कहे, ऐसा वाल्मीकिजी लिखते हैं। उनमेंसे कुछ वचन ये हैं—**'धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते।' 'सत्यमेवेश्वरो·····सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्।' दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च। वेदाः सत्यप्रतिष्ठानाः·····।'** (२।१०९।१२—१४) अर्थात् लोकमें धर्मकी पूर्ति सत्यसे ही होती है, अतएव सत्य सबका मूल कहा जाता है। सत्य ईश्वर ही है। सत्य सबका मूल है, उससे बढ़कर श्रेष्ठ पद नहीं है। दान, यज्ञ, होम, तप, वेद सबोंका मूल सत्य ही है। इत्यादि। ***'सत्यमूल सब सुकृत सुहाए।'*** (२८।६) भी देखिये।]

टिप्पणी—३ ***'मैं सोइ धरम सुलभ करि पावा।····'*** इति। पिताके वचनको सत्य करना यह सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है—***'पितु आयसु सब धरमक टीका',*** वही धर्म मुझे सुलभतासे मिल गया। भाव कि राजालोगोंने साधारण धर्मके पालन करनेमें अपने प्राणतक दे दिये और मुझको तो विशेष धर्मकी प्राप्तिमें भी कुछ क्लेश न मिला। ***'पावा'*** से जनाया कि यह दुर्लभ धर्म हमको भाग्यसे सुलभ हो गया (केवल वनमें जाकर थोड़े दिन रहनेसे ही काम चल जायगा, सत्यप्रतिज्ञका यश प्राप्त होगा) और उसके न करनेसे अपयश होगा कि श्रीरामजी धर्म धारण करनेमें बड़े कादर थे, सुलभ धर्म भी न धारण कर सके। ***'तिहुँ पुर अपजसु छावा'***—तीनों लोकोंमें निन्दा होगी; क्योंकि पिताके वचनका त्याग पाप है और पापका फल अपयश है—***'बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।'***(७।११२।७) उत्तम लोग अपवादको डरते हैं—**'लोकापवादाद्भयम्'**। अपयशसे मर जाना ही भला है—***'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥' 'मरन नीक तेहि जीवन चाही।'***

संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥ ७॥
तुम्ह सन तात बहुत का कहऊँ। दियें उतरु फिरि पातक लहऊँ॥ ८॥

अर्थ—प्रतिष्ठित पुरुषोंको अपयश मिलनेसे करोड़ों मरणके समान कठिन दाह होता है॥ ७॥ हे तात! तुमसे बहुत क्या कहूँ? उत्तर देनेसे उलटे पापका भागी हूँगा॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'संभावित कहुँ अपजस लाहू',*** यथा—**'संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥'** (गीता २। ३४) (इस श्लोकके **'मरणात् अतिरिच्यते'** इस पदका ही अर्थ ***'मरन कोटि सम दारुन दाहू'*** से स्पष्ट किया गया है) ***'संभावित'*** का भाव कि अप्रतिष्ठित पुरुषोंको अपयश होनेसे विशेष क्लेश नहीं होता, प्रतिष्ठितको विशेष होता है। ***'मरन कोटि सम'*** अर्थात् दधीचि आदि धर्मात्मा राजाओंको धर्म धारण करनेमें एक ही बार मरनेका क्लेश हुआ और जो हम धर्मका त्याग करें तो हमको ***'कोटि मरन सम'*** क्लेश होगा। जीवित रहनेपर भी अपयश होगा और मरनेपर भी बराबर अपकीर्ति बनी रहेगी।

टिप्पणी—२ ***'बहुत का कहऊँ'*** क्योंकि तुम सब धर्ममार्ग जानते हो। तदनन्तर तुम्हारे वचनका उत्तर दूँ तो पाप होगा। तुम्हारा वचन पिताका संदेसा है और तुम पिताके समान हो। उत्तर न देना चाहिये था। आपके ***'तात कृपा करि कीजिय सोई',*** इन वचनोंको बिना बिचारे ही मान लेना चाहिये था, यथा—***'मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिय सुभ जानी॥'*** (१। ७७। ३), ***'गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिय भलि जानी॥', 'उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥'*** (१७७। ३-४) उत्तर देनेसे पाप होता है। इसीसे मैंने धर्मात्माओंका उदाहरणमात्र दिया है, आपके वचनोंका उत्तर नहीं दिया है। आप स्वयं समझदार हैं।

दो०—पितु पद गहि कहि कोटि नति बिनय करब कर जोरि।
चिंता कवनिहु बात कै तात करिअ जनि मोरि॥ ९५॥

अर्थ—पिताके चरण पकड़के, और हमारा कोटिशः नमस्कार कहकर, हाथ जोड़कर विनती करना कि हे तात! मेरी ओरसे किसी भी बातकी चिन्ता न कीजिये॥ ९५॥

नोट—१ श्रीरामचन्द्रजी पिताका इतना संकोच करते हैं कि पैर पकड़कर अनन्त बार नमस्कार करके हाथ जोड़कर विनती करके तब इतनी बात कहते हैं। ऐसा संकोची स्वभाव श्रीरामजीका है और श्रीभरतजीका भी ऐसा ही स्वभाव है जैसा उत्तरकाण्डमें देखनेमें आता है कि संकोचके कारण भरतजी संतोंके लक्षण न पूछ सके किन्तु श्रीहनुमान्‌जीसे प्रश्न कराया। श्रीभरतजीने स्वयं कहा है—*'महूँ सनेह संकोच बस सनमुख कही न बैन।'* (२६०) बड़े लोग अपनेसे बड़ोंका संकोच मानते ही हैं। कथनका अभिप्राय यह है कि जितनी बार नमस्कार कहना उतनी ही बार पैर छूना। *'चिंता कवनिहु बात कै तात करिअ जनि मोरि'* इसका भाव आगे स्पष्ट किया गया है—*'बन मग मंगल कुसल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे॥ तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुख पाइहउँ...... ।'*

वि० त्रि०—श्रीरामजीने दूसरी चार दिनवाली आज्ञाको आज्ञा नहीं माना। समझते हैं कि पिताजीको मेरी बड़ी चिन्ता है कि यह कैसे वनवासमें समर्थ होंगे इसलिये चार दिनमें ही लौटनेको कहलाया। माताके वरदानवाली आज्ञा ही आज्ञा है, अतः कहते हैं कि *'चिंता कवनिहु बात कै तात करिअ जनि मोरि।' 'पितु पद गहि कहि कोटि नति'* इसलिये कहते हैं कि चिन्तायुक्त होकर जो बातें चक्रवर्त्तीजीने कहलायी हैं उसे श्रीरामजी माननेयोग्य नहीं मान रहे हैं।

नोट—२ इस दोहेमें वाल्मी० ५२ के '**अदृष्टदुःखं राजानं वृद्धमार्यं जितेन्द्रियम्। ब्रूयास्त्वमभिवाद्यैव मम हेतोरिदं वचः॥' 'न चाहमनुशोचामि लक्ष्मणो न च शोचति। अयोध्यायाश्च्युताश्चेति वने वत्स्यामहेति वा॥**' (२७-२८) इन श्लोकोंका भाव है। अर्थात् जिन्होंने दुःख नहीं देखे हैं, जो जितेन्द्रिय, श्रेष्ठ और वृद्ध हैं उन राजाको प्रणाम करके मेरे सम्बन्धमें आप उनसे ये बातें कहियेगा—अयोध्यासे हम बाहर हैं इसका दुःख न मुझे है न लक्ष्मणको और न इसका दुःख है कि हमें वनमें रहना पड़ेगा। इस कारण आप हमलोगोंकी चिन्ता न करें।

तुम्ह पुनि पितु सम अति हित मोरें। बिनती करउँ तात कर जोरें॥ १॥
सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारें। दुख न पाव पितु सोच हमारें॥ २॥
सुनि रघुनाथ सचिव संबादू। भयउ सपरिजन बिकल निषादू॥ ३॥

शब्दार्थ—**करतब्य** (कर्तव्य)=करनेयोग्य काम, धर्म।

अर्थ—आप भी पिताके समान ही मेरे अत्यन्त हितैषी हैं। हे तात! मैं हाथ जोड़कर आपसे विनय करता हूँ॥ १॥ सब प्रकारसे आपका वही कर्तव्य है अर्थात् आपको वही करना चाहिये, जिससे पिता हमारे शोकसे (अर्थात् हम तीनोंके सोचमें) दुःखी न हों॥ २॥ श्रीरघुनाथजी और मन्त्रीका संवाद सुनकर कुटुम्बसहित निषादराज व्याकुल हो गया॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'अति हित मोरें'* हो, अतएव हमारा अत्यन्त हित जिसमें है वह करो। हमारा भला इसीमें है कि *'दुख न पाव पितु सोच हमारें',* अतएव जिस तरह दुःख दूर हो वही करना। मन्त्री पिताके समान हैं अतएव इनसे हाथ जोड़कर विनती करते हैं, पिताके समान इनका भी संकोच (लिहाज) करते हैं।

टिप्पणी—२ *'सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारें'* इति। *'सब बिधि'* को आगे सुमन्त्रके लौटनेपर खोला है यथा—(क) *'तुलसी करेहु सोइ जतनु जेहिं कुसली रहहिं कोसलधनी॥'* (१५१) (ख) गुरुसे मेरा सँदेशा कहना कि वह उपदेश दें जिससे पिता व्याकुल न होने पावें—*'गुरु सन कहब सँदेसु बार बार पद पदुम*

गहि। करब सोइ उपदेसु जेहि न सोच मोहि अवधपति॥' (१५१) (ग) पुरवासियोंको मेरी विनय सुनाना—*'पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनाएहु बिनती मोरी॥ सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जातें रह नर नाहु सुखारी॥'*

टिप्पणी—३ *'दुख न पाव पितु सोच हमारें।''''''* इति। श्रीरामजीने अन्य सब जगह इस संवादमें अपने लिये 'एकवचनका प्रयोग किया है, यथा—(१) *'तुम्ह सन तात बहुत का कहऊँ',* (२) *'चिंता कवनिहु बात कै तात करिय जनि मोरि',* (३) *'तुम्ह पुनि पितु सम अतिहित मोरें'* और (४) *'बिनती करउँ तात कर जोरें।'* केवल यहाँ बहुवचन *'हमारें'* पद दिया। यह सहेतुक है, जान-बूझकर ऐसा कहा। इसका अभिप्राय यह है कि मेरे, सीताजी और लक्ष्मणजी हम तीनोंके सोचसे दु:खी न हों। ऐसा न कहते तो जान पड़ता कि औरोंका सोच राजाको नहीं है।

नोट—वाल्मी० २। ५२ के '**इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये। यथा दशरथो राजा मां न शोचेत्तथा कुरु॥ २२॥ मम प्रियार्थं राज्ञश्च सुमन्त्र त्वं पुरीं व्रज॥**' (६४) (अर्थात् इक्ष्वाकुवंशका आपके समान मित्र मैं दूसरेको नहीं देखता, अतएव आप वैसा प्रयत्न करें जिससे महाराज दशरथ मेरे लिये सोच न करें। मेरी तथा राजाकी प्रसन्नताके लिये आप अयोध्या जायँ), इन श्लोकों तथा '**जानामि परमां भक्तिमहं ते भर्तृवत्सल॥**' (६०) (अर्थात् स्वामिभक्त! आपकी परम भक्तिको मैं जानता हूँ) का भाव *'अति हित मोरें'* और *'सब बिधि सोइ करतब्य''''''* 'में हैं! वहाँके '**सुहृदं**' '**भर्तृवत्सल**' और '**मम प्रियार्थं**' को यहाँके *'अतिहित'* से जना दिया है। और '**यथा दशरथो राजा मां न शोचेत्तथा कुरु**' तथा '**प्रियार्थं राज्ञश्च**…' का भाव चौ० २ में है। यहाँ विशेषता यह है कि वहाँ '**मां न शोचेत्**' (अर्थात् केवल अपने लिये) कहा है और यहाँ *'सोच हमारें'* है।

टिप्पणी—४ *'सुनि रघुनाथ सचिव''''''निषादू।'* इति। श्रीसुमन्त्रजीकी करुणाभरी विनय सुनी। उसका चरणोंपर गिर पड़ना और बालकोंकी तरह रो देना आँखों देखा। यथा—*'करि बिनती पायनि परेउ दिएउ बाल जिमि रोइ।'* यह भी कितना करुणापूर्ण है। श्रीरामजीने जो संदेसा पिता, माता, पुरजन, भरत इत्यादिको भेजा वह भी करुणासे परिपूर्ण था, उसे भी सुना। और श्रीरामजीका अयोध्याको लौट जाना स्वीकार न करना तथा वन जानेका दृढ़ निश्चय देखा और सुना। यह सब दृश्य करुणामय था। अतएव सब सुननेवाले निषाद दु:खी और व्याकुल हो गये। (*'निषादू'* शब्दका भाव कि ये सब कठोर हृदयवाले होते हैं सो भी व्याकुल हो गये। यह संवाद वा दृश्य ऐसा करुणामय था।)

पुनि कछु लषन कही कटु बानी। प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी॥ ४॥
सकुचि राम निज सपथ देवाई। लषन सँदेसु कहिअ जनि जाई॥ ५॥

अर्थ—तदनन्तर श्रीलक्ष्मणजीने कुछ कड़ुवे वचन कहे, जिन्हें बड़ा अनुचित जानकर प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने मना किया॥ ४॥ श्रीरामचन्द्रजीने सकुचकर अपनी कसम दिलाकर कहा कि जाकर लक्ष्मणका संदेसा न कहना॥ ५॥

नोट—*'पुनि कछु लषन कही कटु बानी। प्रभु बरजे'* इति।—जो वचन लक्ष्मणजीने कहे वे वाल्मीकीयमें हैं जिसे देखना हो देख ले। जब श्रीरामचन्द्रजी स्वयं उन्हें न कहनेके लिये अपनी शपथ देते हैं और कवि भी नहीं लिखते तो सम्पादक कैसे लिखे? हाँ, यह अवश्य है कि जो वचन वे बोले थे वे बड़े कटु थे।

मानस हंसकार लिखते हैं कि ऐसा भाषण बिना क्रोधी, बेलगाम और गुरुजन-निन्दकके अतिरिक्त किसी भी पुत्रसे नहीं हो सकता। पुत्रके द्वारा पिताकी ऐसी अवहेलना लोकशिक्षाके लिये केवल निरुपयोगी ही नहीं किंतु अतीव विघातक है। यह समझकर मालूम होता है कि *'लषन कहेउ कछु बचन कठोरा'* इतना ही कहकर स्वामीजीने उस प्रसंगको बिलकुल ही टाल दिया।'

पं० रामचन्द्र शुक्लजी लिखते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त प्रेमभरा संदेसा पितासे कहनेको कहते

हैं जिसमें कहींसे खिन्नता या उदासीनताका लेश नहीं है। वे सारथीको बहुत तरहसे समझाकर कहते हैं—*'सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारें। दुख न पाव पितु सोच हमारें॥'* यह कहना लक्ष्मणको अच्छा नहीं लगता। जिस निष्ठुर पिताने स्त्रीके कहनेमें आकर वनवास दिया, उसे भला सोच क्या होगा? पिताके व्यवहारकी कठोरताके सामने लक्ष्मणका ध्यान उनके सत्यपालन और परवशताकी ओर न गया, उनकी वृत्ति इतनी धीर और संयत न थी कि वे इतनी दूरतक सोचने जाते। पिताके प्रतिकूल कुछ कठोर वचन वे कहने लगे। पर रामने उन्हें रोका और सारथीसे बहुत विनती की कि लक्ष्मणकी ये बातें पितासे न कहना।

'सकुचि राम निज सपथ देवाई' का 'सकुचि' शब्द कितना भावगर्भित है। यह कविकी अन्तर्दृष्टि सूचित करता है। मनुष्यका जीवन सामाजिक है। वह समाजबद्ध प्राणी है। उसे अपने ही आचरणपर लज्जा या संकोच नहीं होता, अपने कुटुम्बी, इष्ट-मित्र या साथीके भद्दे आचरणपर भी होता है। पुत्रकी करतूत सुनकर पिताका सिर नीचा होता है, भाईकी करतूत सुनकर भाईका। इस बातका अनुभव तो हम बराबर करते हैं कि हमारा साथी हमारे सामने यदि किसीसे बातचीत करते समय भद्दे या अश्लील शब्दोंका प्रयोग करता है तो हमें लज्जा मालूम होती है। यह संकोच रामकी सुशीलता और लोकमर्यादाका भाव व्यंजित करता है। मर्यादापुरुषोत्तमका चरित्र ऐसे ही कविके हाथमें पड़नेयोग्य था। सुमन्त्रने अयोध्या लौटकर राजासे लक्ष्मणकी बातें तो न कहीं, पर इस घटनाका उल्लेख बिना किये उससे न रहा गया। क्यों? क्या लक्ष्मणसे उससे शत्रुता थी? नहीं। रामके शीलका जो अद्भुत उत्कर्ष उसने देखा, उसे वह हृदयमें न रख सका। सुशीलताके मनोहर दृश्यका प्रभाव मानव-अन्तःकरणपर ऐसा ही पड़ता है। सुमन्त्रको रामकी आज्ञाके विरुद्ध कार्य करनेका दोष अपने ऊपर लेना कबूल हुआ, पर उस शील-सौन्दर्यकी झलक अपनेहीतक वह न रख सका, दशरथको भी उसे उसने दिखाया। इस अन्तिम झलकने राजाको और भी मृत्युके पासतक पहुँचा दिया होगा—इसे कहते हैं घटनाका सूक्ष्म क्रम-विन्यास।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी ठीक ही लिखते हैं कि लक्ष्मणजीका निश्चय यह था कि *'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।'* इस निश्चयके अनुसार वे दशरथजीको पिता मानते ही नहीं हैं। श्रीसुमित्राजीकी भी यही आज्ञा और उपदेश है कि *'तात तुम्हार मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥'* श्रीसीतारामको ही वे अपने माता-पिता और सर्वस्व मानते हैं। माता-पिताको सुखके अवसरपर दुःख देनेवालेपर क्रोध होना यह सत्पुत्रका सहज स्वभाव ही है। उस स्वभावानुसार लक्ष्मणजीने जो कुछ कहा हो वह उनकी भावनानुसार उचित ही है। पर यह अलौकिक अपवादरूप भावना है। श्रीरामजी तो दशरथजीको पिता मानते हैं अतः उन्होंने लक्ष्मणजीको विशेष कहने नहीं दिया यह उन्होंने लौकिक व्यवहार मर्यादानुकूल ही किया।

प० प० प्र०—कोई-कोई कहते हैं कि श्रीरामाज्ञाका उल्लंघन प्रेम और शोकके आवेशमें किया गया, पर वस्तुतः यह बात नहीं है। मर्म क्या है यह १५२। ७ में स्पष्ट किया गया है। श्रीरामजीकी आज्ञा तो इतनी ही थी कि *'लषन संदेसु कहिअ जनि जाई'* और सुमन्त्रजीने संदेश नहीं ही कहा। अतएव उनकी आज्ञाका उल्लंघन कहाँ हुआ? श्रीरामाज्ञाका उल्लंघन तो कोई मनसे भी नहीं कर सकता, यथा—*'राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥'* तब सुमन्त्रजीके समान रामप्रेमी कैसे करेंगे।

टिप्पणी—१ (क) *'प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी',* का भाव कि जिनके वचन मानकर हम वनमें आये उनको ऐसा न कहना चाहिये। पिताको कटुवचन कहना बड़ा अनुचित है। यहाँ शंका होती है कि 'जब लक्ष्मणजी कह चुके तब मना करनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ?' उत्तर—यदि वे न मना करते तो वे और भी कटुवचन कहते। इनके मना करनेसे वे चुप हो गये। (ख) लक्ष्मणजीने जो कुछ कटुवचन कहे उनको कविने खोलकर लिखा नहीं। इसमें कविके हृदयका उच्चभाव झलक रहा है, क्या उत्कृष्ट विचार हैं! देखिये, जब श्रीरामजी स्वयं ही सुमन्त्रको ही मना करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि कहना नहीं तो कोई अभक्त, कोई कुसेवक, इत्यादि ही उसको स्पष्ट करनेकी चेष्टा कर सकता है। पूज्यपाद भक्तशिरोमणि गोसाईंजी, भगवान् शंकर, श्रीयाज्ञवल्क्यजी या भुशुण्डिजी कैसे अपनी लेखनी या मुखसे निकालें!

टिप्पणी—२ ***'सकुचि राम निज सपथ देवाई'*** इति। श्रीरामजीके सकुचनेका भाव कि सुमन्त्रजी जानते हैं कि लक्ष्मणजी रामजीकी इच्छानुकूल काम करते हैं; अतएव इन कटुवचनोंमें भी उनकी सम्मति अवश्य होगी; नहीं तो वे कदापि ऐसे वचन पिताके प्रति न कह सकते। कदाचित् सुमन्त्रजी ऐसा समझें, ऐसा विचारकर रामजी सकुच गये और अपनी शपथ दिलायी, क्योंकि वे जानते हैं कि हमारे समान इनको कोई और प्रिय नहीं है, हमारी शपथ सुनकर वे राजासे न कहेंगे।

टिप्पणी—३ ***'लषन सँदेस'*** इन शब्दोंसे ज्ञात होता है कि लक्ष्मणजीने सुमन्त्रजीसे कहा था कि जैसा हम कहते हैं वैसा ही जाकर राजासे कह देना। (१५२। ८) भी देखिये।

कह सुमंत्रु पुनि भूप सँदेसू। सहि न सकिहि सिय बिपिन कलेसू॥ ६॥
जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया। सोइ रघुबरहि तुम्हहि करनीया॥ ७॥
नतरु निपट अवलंब बिहीना। मैं न जिअब जिमि जल बिनु मीना॥ ८॥

अर्थ—सुमन्त्रजीने फिर राजाका सन्देसा कहा—सीता वनका क्लेश न सह सकेंगी॥ ६॥ जिस प्रकारसे सीता अवधको लौट आवें रघुवरको और तुमको वही करना चाहिये (यही तुम दोनोंका कर्तव्य है)॥ ७॥ नहीं तो बिलकुल ही अवलम्ब-(आश्रय, आधार, सहारा-) रहित होनेसे मैं जीता नहीं रहूँगा जैसे बिना जलके मछली (जीती नहीं रह सकती)॥ ८॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ ***'कह सुमंत्रु पुनि भूप सँदेसू'''''*** इति। 'लक्ष्मणजीका सन्देसा न कहना', जब रामजी यह कह चुके तब राजाका सन्देसा कहनेका भाव कि श्रीरामजीका उत्तर सुनकर सुमन्त्रजी विकल हो गये थे, इसीसे वे राजाका सन्देसा कहनेको भूल गये थे; जब रामजीने लक्ष्मणजीका सन्देसा कहनेके लिये मना किया तब उनको याद आया कि अभी और सन्देसा कहना था, बस वे कहने लगे।—(राजाने कहा था कि दोनों भाई न लौटें तब जानकीजीको लौटनेको कहना। अतएव जब उनका सन्देसाद्वारा न लौटना निश्चित हुआ तब दूसरा सन्देश कहा) (ख) ***'पुनि'*** अर्थात् रामजीके वचनके अनन्तर अथवा, एक सन्देसा कह चुके थे ***'लषन रामसिय आनेहु फेरी।'*** अब दूसरा सन्देश कहते हैं जो केवल सीताजीके निमित्त था। (ग) जब तीनोंको फेरनेको राजाने कहा था तब तीनोंकी सुकुमारता कही थी यथा—***'सुठि सुकुमार कुमार दोउ जनकसुता सुकुमारि'''''।'*** अतएव जब केवल सीताजीके लौटनेका सन्देसा कहने लगे तब इनकी ही सुकुमारता कही।

टिप्पणी—२ ***'जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया।'*** इति। जब राजाने सीताजीके लौटानेके लिये कहा था तब उसकी विधि भी बतायी थी कि ऐसा कहना ***'सासु ससुर अस कहेउ सँदेसू'''''*** परंतु रघुवरको कुछ विधि नहीं बतायी कि तुम इस प्रकार सीताको लौटाना; क्योंकि वे जानते हैं कि रामजीकी आज्ञासे वे लौट आवेंगी। सीताजीके लौटानेमें रामजी ही प्रधान हैं, अतएव प्रथम ***'रघुबरहि'*** पद दिया।

टिप्पणी—३ ***'नतरु निपट अवलंब बिहीना।'''''*** इति। श्रीजानकीजीका लौटना अवलम्ब है, यथा—***'येहि बिधि करेहु उपाय कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥'*** उनका न लौटना ***'निपट अवलंब बिहीन'*** होना है। मीनका दृष्टान्त देते हैं क्योंकि और जल-जन्तु जलके बिना जीते रह जाते हैं। पर मछली नहीं जीती रहती; वैसे ही सीता बिना हमारी अवश्य मृत्यु होगी, अभी लौटनेकी आशारूपी जलसे जीते हैं।

दो०—मइकें ससुरें सकल सुख जबहिं जहाँ मनु मान।
तहँ तब रहिहि सुखेन सिय जब लगि बिपति बिहान॥ ९६॥

शब्दार्थ—**बिहान**=बिहाइ **न**=बीत या दूर न हो जाय।

अर्थ—मायके (पिताके घर) और ससुरालमें सब सुख हैं, जब जहाँ जी चाहे तब तहाँ सीता सुखसे रहेंगी, जबतक विपत्तिका अन्त न हो॥ ९६॥

टिप्पणी—१ ***'जब लगि बिपति बिहान'*** इति।—कुछ लोग ***'बिहान'*** का अर्थ सबेरा करके इसका अर्थ

करते हैं—विपत्ति रात्रि है, उसका नाश होना और रामजीका आना बिहान है। परंतु यह अर्थ शिथिल है क्योंकि मूलमें *'बिपति बिहान'* इतना ही लिखा है, बिहान न होय यह कहाँसे निकला? अतएव दूसरी प्रकार अर्थ करते हैं—*'जब लगि बिपति बिहाइ न।'* अर्थात् विपत्तिका त्याग न होइ। यहाँ इकारका लोप है छन्दके कारण।

वि० त्रि०—'मायकेमें या ससुरालमें सभी सुख हैं, जबतक विपत्तिका बिहान हो तबतक सीताजी जहाँ जी चाहे रहें।' परंतु आजकल बोलनेकी रीति ऐसी है कि 'जबतक विपत्तिका बिहान न हो तबतक वहाँ रहें।' 'जबतक विपत्तिका बिहान हो तबतक वहाँ रहें' और 'जबतक बिहान न हो तबतक वहाँ रहें इन दोनों वाक्योंमें अर्थ-भेद कुछ भी नहीं है। रामजीका वनसे लौट आना ही विपत्तिका बिहान है। पहले वाक्यमें रामजीकी उपस्थितिको लक्ष्य करके जो बात कही गयी है, दूसरेमें वही बात उनकी अनुपस्थितिको लक्ष्य करके कही गयी। अनुपस्थितिका अन्त उपस्थिति होनेसे हो जाता है, अत: दोनों वाक्योंमें अर्थ-भेद नहीं है। अन्य स्थानोंमें भी गोस्वामीजीने ऐसा ही प्रयोग किया है, यथा—*'तब लगि बैठि अहौं बट छाहीं। जब लगि तुम अइहों मोहि पाहीं॥'* तथा—*'तब लगि मोहि परिखेउ तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई॥ जब लगि आवउँ सीतहिं देखी।'* यहाँ दोनों जगह *'न'* का अध्याहार करके अर्थ करनेमें सुविधा पड़ेगी, परंतु न के न आनेसे कोई हानि नहीं हुई।

टिप्पणी—२ *'मइकें ससुरें सकल सुख'* इति। राजाने कहा कि बिना जानकीजीके हम न जियेंगे जैसे बिना जलके मीन। इससे पाया गया कि जानकीजी हमारे नजरके सामने सदा बनी रहें तब हम जीते रह सकेंगे; अतएव कहते हैं कि हमारे पास सदा रहनेका प्रयोजन नहीं है, मायके, ससुरे जहाँ मन चाहे रहें। लड़कीका मन मायकेमें बहुत रहता है इससे प्रथम *'मइकें'* कहा। अथवा, प्रथम मायका है पीछे ससुराल उसी क्रमसे कहा।

बिनती भूप कीन्ह जेहिं भाँती। आरति प्रीति न सो कहि जाती॥ १॥
पितु सँदेस सुनि कृपानिधाना। सियहि दीन्ह सिख कोटि बिधाना॥ २॥

अर्थ—राजाने जिस प्रकार (आर्त होकर और प्रेमसे) विनती की है वह दु:ख, दीनता और प्रीति कही नहीं जा सकती॥ १॥ कृपासागर रामजीने पिताका संदेसा सुनकर अनेक प्रकारसे सीताजीको उपदेश किया॥ २॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ *'आरति प्रीति न सो कहि जाती'* इति। (क) केवल सन्देसा कह देनेसे रामजीको कम संकोच होगा और *'बिनती'* सुनानेसे बहुत संकोच होगा कि पिता होकर विनती की है, लौट चलें। पिता पुत्रसे विनती करे यह अयोग्य है और उसपर भी आर्त और प्रेमसे भरी हुई विनती है, तात्पर्य कि आर्त और प्रेममें मर्यादा नहीं रहती। (ख) *'न कहि जाती'* अर्थात् वह दीनता और प्रेम हममें कहाँ जो हम उसे ठीक प्रकारसे कह सकें। दूसरे उसका स्मरण आते ही कलेजा भर आता है।

टिप्पणी—२ (क) कृपानिधान हैं, सास-ससुर-परिवार आदि सबपर कृपा करके सीताजीको लौटनेको कहते हैं, यथा—*'सासु ससुर गुरु प्रिय परिवारू। फिरहु त सब कर मिटइ खभारू॥'* (ख) *'सियहि दीन्ह सिख……'* इति। एक बार अनेक प्रकारसे सिखावन दे चुके हैं वैसे ही शिक्षा फिर दी है, इसीसे पुन: वही बात विस्तारसे न लिखकर *'कोटि बिधाना'* कह दिया है।

☞ पिछली बार श्रीरामजीने शिक्षा देकर घर रहनेकी आज्ञा दी थी, यथा—*'राजकुमारि सिखावन सुनहू। बचन हमार मानि घर रहहू॥'* इसका उत्तर श्रीजानकीजीने ऐसा दिया कि वन साथ चलनेकी आज्ञा देते ही बनी। इस कारणसे यहाँ केवल *'सिख'* दे रहे हैं, आज्ञा नहीं।

सासु ससुर गुर प्रिय परिवारू। फिरहु त सब कर मिटै खभारू॥ ३॥
सुनि पति बचन कहति बैदेही। सुनहु प्रानपति परम सनेही॥ ४॥
प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी॥ ५॥

शब्दार्थ—**खभारू** (खँभार)=खलबली, दुःख। **छाँह**=छाया। **छेकी**=अलग करनेसे, रोकनेसे।=अलग।

अर्थ—जो तुम लौट जाओ तो सास, ससुर, गुरु, प्रियजन और परिवार सबका दुःख मिट जाय॥ ३॥ पतिका वचन सुनकर वैदेही जानकीजी कहती हैं—हे प्राणपति! हे परमस्नेही! सुनिये॥ ४॥ हे प्रभु! आप करुणामय हैं, परम ज्ञानवान् हैं, (भला) देहको छोड़कर छाया कब अलग रह सकती है?॥ ५॥

टिप्पणी—१ सास-ससुर आदि क्रमसे कहे गये—इसके भाव पूर्व लिखे गये हैं। ***'फिरहु त'*** से फिरना श्रीसीताजीके अधीन रखो, फिरनेकी आज्ञा नहीं देते। श्रीसीताजी सबको प्रिय हैं, अतएव इनके लौटनेसे सबका दुःख दूर होगा, यथा—*'तात सुनहु सिय अति सुकुमारी। सासु ससुर परिजनहिं पियारी॥'* (५८। ८)

टिप्पणी—२ ***'सुनि पति……'*** इति। पहले सुमन्त्रजीने राजाके वचन कहे। तदनन्तर श्रीरामजीके वचन कहे। श्रीसीताजी किसके वचनोंका उत्तर देती हैं यह ***'प्रानपति परम सनेही'*** शब्दोंसे एवं ***'सुनि पति बचन'*** से भी स्पष्ट हो जाता है। ***'बैदेही' 'प्रानपति'*** और ***'परमसनेही'*** के भाव क्रमसे ये हैं कि बिना पतिके इनकी देह न रहेगी (ये कविके वचन हैं), प्राण न रहेंगे (प्राणपति आदि श्रीवैदेहीजीके वचन हैं) और सास-ससुर आदि सब स्नेही हैं पर आप परम स्नेही हैं तो भला मैं आपको छोड़कर कैसे जा सकती हूँ। (प्रज्ञानानन्द स्वामीका मत है कि ***'बैदेही'*** शब्दसे जनाया कि ***'सहि न सकिहि सिय बिपिन कलेसू'*** ये वचन यथार्थ नहीं हैं। क्योंकि सीय तो वैदेही है अर्थात् देहभोगासक्तिविहीन है; अतः वह सब कुछ सह सकती है। वैदेहीका मन तो सदा श्रीरामचरणमें रत रहता है तब ***'मन बिनु तन दुख सुख सुधि केही।' 'प्रानपति'*** का भाव कि आप मेरे प्राणोंके रक्षक हैं तब मुझे दुःख और भय आदि कहाँ। पूर्व भी कहा है—***'कहँ दुख समय प्रानपति पेखें।'*** (६७।४) ***'को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा।'***(६७।७) ***'बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि तात बयारि न मोही॥'*** (६७। ६)—यह सब भाव यहाँ ***'प्रानपति'*** सम्बोधनसे सूचित किये हैं)।

टिप्पणी—३ ***'प्रभु करुनामय परम बिबेकी…… ।'*** इति। आप करुणामय हैं। अतः मुझपर दया करें। (क्योंकि करुणा और दयाका सम्बन्ध है। जहाँ करुणा रहेगी वहीं दया रहेगी। नं० प०), जिसमें मेरे प्राण रहें। ***'परम बिबेकी'***—महारानीजी आगे विवेककी बातें कहनेको हैं इसीसे श्रीरामजीको ***'परम बिबेकी'*** कहकर जनाती हैं कि आपके सामने कोई विवेककी बातें क्या कहेगा—आप तन हैं तो मैं छाया हूँ, छाया क्या तनको छोड़कर अलग दूसरी जगह रह सकती है? तात्पर्य कि आप लौटें तो मैं भी साथ लौटूँगी, आप वन जायँगे तो मैं भी साथ रहूँगी; जैसे देहके साथ ही छाया रहती है चाहे जहाँ वह जाय।—[**'कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम्।'** (वाल्मी० २। ४०। २४**)** अर्थात् धन्य है यह वैदेही जो पतिके साथ छायाके समान लगी है, यह धर्मज्ञा श्रीरामजीका साथ कभी नहीं छोड़ती, जैसे मेरु पर्वतको सूर्यकी प्रभा नहीं छोड़ती। (ये श्रीअवधवासियोंके वचन हैं) सुतीक्ष्णजीने भी श्रीरामजीसे वाल्मी० ३। ८ में कहा है कि श्रीसीताजी छायाके समान तुम्हारा अनुवर्तन करनेवाली हैं—**'सीतया चानया सार्द्धं छाययेवानुवृत्तया।'** (११)]

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—भाव कि सरकार शरीर हैं तो मैं छाया हूँ। छाया कुछ जान-बूझकर शरीरका साथ नहीं पकड़े हुए है, उस (छाया) का शरीरके साथ रहना स्वभावसिद्ध है। जगत्‌की रीति भी यही है कि जो छायाको रोकना चाहे, वह शरीरको रोके तो छाया आपसे-आप रुक जायगी, कुछ कहने-सुननेकी आवश्यकता नहीं, शरीरके बिना रोके छायाका रोकना असम्भव है। भाव सीताजीका यह है कि जो मुझे रोकना चाहता है, उसे उचित है कि आपको रोके। यही स्वभावसिद्ध है, और आपको न रोककर मुझे रोकनेका प्रयत्न करना अस्वाभाविक है, अनुचित है। रुकना मेरे सामर्थ्यके बाहरकी बात है।

प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चन्द्रिका चंदु तजि जाई॥ ६॥
पतिहि प्रेम मय बिनय सुनाई। कहति सचिव सन गिरा सुहाई॥ ७॥
तुम्ह पितु ससुर सरिस हितकारी। उतरु देउँ फिरि अनुचित भारी॥ ८॥

अर्थ—सूर्यकी प्रभा सूर्यको छोड़कर कहाँ जा सकती है? चाँदनी चन्द्रमाको त्यागकर कहाँ जा सकती है?॥ ६॥ पतिको प्रेमभरी विनय सुनाकर, वे मन्त्रीसे सुन्दर वाणी बोलीं॥ ७॥ आप पिता और ससुरके समान मेरे हितैषी हैं, फिर भी उलटकर सम्मुख होकर मैं उत्तर दूँ, यह बहुत ही अयोग्य है॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'प्रभा जाइ·····'* इति। सूर्य-चन्द्रमाकी उपमा देनेका भाव कि सूर्यका प्रकाश दिनमें रहता है और चन्द्रमाका रातमें, ऐसा ही मेरा और आपका संयोग दिन-रात अर्थात् निरन्तर रहता है। आप सूर्य हैं तो मैं प्रभा, आप चन्द्र हैं तो मैं चन्द्रिका हूँ, जब आप राम तब मैं सीता हूँ।

नोट—१ वाल्मीकीयमें भी श्रीसीताजीने ऐसा ही कहा है। सुन्दरकाण्डमें रावणसे कहा है कि **'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा॥'** (२१।१५) अर्थात् मैं श्रीराघवजीकी वैसी ही अनन्या हूँ जैसे प्रभा सूर्यकी और अयोध्याकाण्डमें माता कौसल्यासे कहा है कि **'धर्माद्विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा।'** (३९।२८) अर्थात् मैं अपने पातिव्रत्य धर्मसे विचलित नहीं होनेकी जैसे चन्द्रमाकी प्रभा चन्द्रमासे अलग नहीं हो सकती।

नोट—२ (क) चन्दु-९१ (७) *'रामचंदु पति·····'* में देखिये। (ख) 'भानु तापदायक है और चन्द्र तापहारक है। भानुकी उष्णतासे प्रभा भी ताप-सन्ताप युक्त होकर भी भानुका संग नहीं छोड़ती। और चन्द्रिका सुखमय होनेपर भी चन्द्रमाके साथ ही रहती है। अतः भाव यह है कि चाहे दुःख हो चाहे सुख, पतिका त्याग करके पतिसे अलग रहना पतिव्रताका धर्म नहीं है।' (प० प० प्र०) पुनः, भाव कि भानु और प्रभा, एवं चन्द्र और प्रभा निसर्गसे ही अभिन्न हैं, उनको कोई अलग कर नहीं सकता; वैसे ही हम दोनों देखनेमात्रमें दो हैं; वस्तुतः तत्त्वतः एक ही हैं, तब अलग कैसे हो सकते हैं। ***'कहियत भिन्न न भिन्न।'*** (प० प० प्र०)

टिप्पणी—२ ***'सुनि पति बचन कहति बैदेही'*** उपक्रम और ***'पतिहि प्रेममय बिनय सुनाई'*** उपसंहार है। ***'प्रेममय'*** अर्थात् इनमें किंचित् कठोरता नहीं आने पायी। ***'बिनय सुनाई'*** अर्थात् पतिको उत्तर नहीं दिया किन्तु उनसे विनय की। पतिसे वचन ***'प्रेममय'*** कहे और मन्त्रीसे ***'गिरा सुहाई'***—इसका भाव यह है कि उनका प्रेम अपने पतिमें है और किसीमें नहीं इसीसे पतिको प्रेममय विनय सुनायी, और मन्त्रीको सुन्दर वाणी सुनायी।

टिप्पणी—३ ***'उतरु देउँ फिरि·····'*** अर्थात् आपके सम्मुख होकर उत्तर दूँ तो भारी अनुचित है। जैसा रामजीने सुमन्त्रजीसे कहा वैसा ही श्रीजानकीजी भी कहती हैं; क्योंकि वे जानती हैं कि श्रीरामजी विचारकर वचन बोलते हैं, उनके वचनके अनुसार बोलनेमें हमको विचार करनेका प्रयोजन नहीं। श्रीरामजीने सुमन्त्रको पिताके समान हितकारी कहा, यथा—***'तुम्ह पुनि पितु समान हितु मोरें'*** इसीसे जानकीजीने भी उन्हें पिताके समान हितकारी कहा। श्रीरामजीने कहा कि ***'दिये उतरु फिरि पातक लहऊँ'*** वैसा ही ये कहती है ***'उतरु देउँ०'*** । आखिर फिर उत्तर क्यों देती हैं? इसका समाधान वे स्वयं आगे करती हैं।

दो०—आरति बस सनमुख भइउँ बिलगु न मानब तात।
आरजसुत पद कमल बिनु बादि जहाँ लगि नात॥ ९७॥

अर्थ—परंतु दुःखके वश मैं सम्मुख हुई, हे तात! इसका बुरा न मानना (कि सीताजीने हमारा संकोच छोड़ दिया)। आर्यपुत्र (वा, श्रेष्ठ दशरथमहाराजके पुत्र रामचन्द्रजी) के चरणकमल बिना जहाँतक भी सम्बन्ध हैं वे सब व्यर्थ हैं॥ ९७॥

टिप्पणी—१ (क) ***'आरति बस·····'*** अर्थात् आर्तके चित्तमें चेत वा विचार नहीं रह जाता, यथा—***'रहत न आरतके चित चेतू।'*** (२६९-४) उसका दोष सन्त नहीं मानते, यथा—***'दुखित दोष गुन गनहिं न साधू।'*** (१७७। ८) अतएव आप भी अनुचित न मानियेगा। (ख) ***'सनमुख भइउँ'*** का भाव यह भी है कि सामने न निकलती थी, आज सामने होकर उत्तर देती हूँ। (वाल्मी० ३३ में पुरजनोंके वचन हैं—**'या**

न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि। तामद्यसीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः॥' (८) अर्थात् जिनको आकाशचारी देवता भी न देख सकते थे आज उसी सीताको सब मार्गके लोग देख रहे हैं।)

नोट—१ ***'आरज'*** (आर्य)=श्रेष्ठ पुरुष, पूज्य। स्वामी, गुरु, सुहृद् आदिको सम्बोधन करनेमें इस शब्दका व्यवहार करते हैं। छोटे लोग बड़ेको जैसे स्त्री पतिको, छोटा भाई बड़ेको, शिष्य गुरुको आर्य वा आर्यपुत्र कहकर सम्बोधन करते हैं। नाटकोंमें नटी भी सूत्रधारको आर्य वा आर्यपुत्र कहती है। वाल्मी० २। २७ में श्रीसीताजीने यह सम्बोधन दिया है—'**आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा। स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते**'॥ ४॥ '**भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ।**' (अर्थात् हे आर्यपुत्र! पिता-माता, भाई आदि सब अपने कर्मानुसार दुःख-सुख भोगते हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ! एक स्त्री ही पतिके कर्मफलोंकी भागिनी है।—यह भाव ***'बादि जहाँ लगि नात'*** में आ जाता है। फिर कनकमृगको देखकर श्रीरघुनाथजीको बुलाते समय भी यही सम्बोधन दिया है—'**आगच्छागच्छ शीघ्रं वै आर्यपुत्र सहानुज।**' (३। ४३। ३) गीतावलीमें भी पतिके लिये सीताजीने इस शब्दका प्रयोग किया है, यथा—***'आरज सुवनके तो दया दुवनहुँ पर मोहि सोच मो तें सब बिधि नसानि।'*** (५।७) (हनुमान्‌जीसे ये वचन कहे हैं।)

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि श्रीजानकीजी कोई नाम नहीं देतीं, ***'आरज'*** पद दे रही हैं। आर्य=श्रेष्ठ। जहानमें जो श्रेष्ठ है उसके सुत। यहाँ प्रसंगसे दशरथजीका अर्थ गृहीत है। उनको श्रीरामजीकी स्तुतिमें 'आर्य' कहा गया है, यथा—'**ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरञ्चिनुतं शरण्यम्। भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्। मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद् वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥**' ऐसे जो धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हैं जिन्होंने प्राण छोड़ना स्वीकार किया, सत्य न छोड़ा, उनका वचन मानकर वनको आये हैं। वे महाराज श्रेष्ठ और उनके ऐसे पुत्र श्रेष्ठ। इस श्लोकके अनुसार यहाँ 'आर्य' कहा गया है।

टिप्पणी—२ ***'आरजसुत पद कमल बिनु……'*** अर्थात् उनके सहितसे सब नाते माने जाते हैं, यथा—***'पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानियहि रामके नाते॥'*** उनके बिना सब नाते व्यर्थ हैं, यथा—***'मातु पिता भगिनी प्रिय भाई।…जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते ताते॥'***

पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृप मनि मुकुट मिलित[1] पद पीठा॥ १॥
सुखनिधान अस पितुगृह[2] मोरें। पिय बिहीन मन भाव न भोरें॥ २॥
ससुर चक्कवइ कोसलराऊ। भुवन चारि दस प्रगट प्रभाऊ॥ ३॥
आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसनु देई॥ ४॥
ससुर एतादृस अवध निवासू। प्रिय परिवारु मातु सम सासू॥ ५॥
बिनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि केउ[3] सपनेहुँ सुखद न लागा॥ ६॥

शब्दार्थ—**बैभव**=ऐश्वर्य। **बिलास**=सुखभोग, आनन्द।=शोभा, छटा। **डीठा** (दृष्टि)=देखा। **पद पीठा**=खड़ाऊँ यथा=***'प्रभु पद पीठ रजायसु पाई॥'*** (३२४। १) ***'चरनपीठ करुनानिधान के।'*** (३१६। ५) तलवा और चरण रखनेकी चौकी भी अर्थ लोगोंने किया है। **चक्कवइ** (प्रा०)=चक्रवर्ती राजा। **एतादृस** (सं०)=ऐसा, इस प्रकारका।

अर्थ—पिताके ऐश्वर्यकी शोभा मैंने देखी है कि श्रेष्ठ राजाओंके मुकुट उनके खड़ाऊँ-(या तलवों वा चरण रखनेकी चौकी-) से मिलते हैं अर्थात् बड़े-बड़े मुकुटधारी राजा हमारे पिताको साष्टांग प्रणाम

१-मिलित—राजापुर, छ०। मिलत-१७६२, का०, को० रा०।
२-पितृगृह—राजापुर, छ०, रा० प्र०। माइक-१७६२, को० रा०।
३-केउ—राजापुर, को० रा० १७०४। सब-छ०। कोउ-१७६२।

करते हैं जिससे उनके मुकुट खड़ाऊँका स्पर्श करते हैं॥१॥ ऐसा सुखमय पिताका घर भी पतिके बिना मेरे मनको भूलकर भी नहीं अच्छा लगता॥२॥ मेरे ससुर चक्रवर्ती महाराज कोसल देशके राजा हैं जिनका प्रभाव चौदहों भुवनोंमें प्रकट है॥३॥ इन्द्र आगे आकर जिनकी अगवानी करते हैं और (अपने बराबर) आधे सिंहासनपर बिठाते हैं॥४॥ इस तरहके ससुर, अवधपुरीका बास, प्यारा कुटुम्ब और माताके समान सास (ये सब हैं)॥५॥ पर श्रीरघुनाथजीके चरणकमलरजके बिना मुझे कोई स्वप्नमें भी सुखद नहीं लगता॥६॥

टिप्पणी—१ ***'पितु बैभव बिलास.....'*** इति। (क) ***'नृप मनि मुकुट मिलित पद पीठा'*** यह वैभव-विलास है जो देखा। बड़े-बड़े राजशिरोमणि उनको प्रणाम करते थे। [महाराजाओंका सिंहासन इतनी ऊँचाईपर होता है कि जब कोई छोटा राजा आकर प्रणाम करता है तो उसका मुकुट पैरोंसे छू जाता है। (लाला भगवानदीनजी)] अथवा, (ख) ***'पदपीठा'*** से सूचित करते हैं कि जब हमारे पितासे भेंट नहीं होती तब राजालोग उनके खड़ाऊँको प्रणाम करते हैं। (ग) खड़ाऊँको प्रणाम करनेसे ऐश्वर्य नहीं सूचित होता क्योंकि महात्माओंके खड़ाऊँको राजालोग प्रणाम करते ही हैं, जनकमहाराज महात्मा हैं, उनके खड़ाऊँको प्रणाम किया सो उचित ही है। इसपर कहते हैं कि महात्माभावसे प्रणाम नहीं करते, विभव देखकर प्रणाम करते हैं, दरवाजेपर राजाओंकी भीड़ लगी रहती है—***'सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा। भूप भीर नट मागध भाटा॥'*** (१। २१४। १)

वि० त्रि०—***'बिनु रघुपति.....'*** इति। चक्रवर्तीजीका सन्देश कहते हुए सुमन्त्रजीने कहा था कि ***'मइके ससुरे सकल सुख जबहिं जहाँ मनु मान। तहँ तब रहिहि सुखेन सिय जब लगि बिपति बिहान॥'*** (९६) इसीका उत्तर देते हुए भगवती कहती हैं कि ***'सुख निधान अस पितु गृह मोरें। पिय बिहीन मन भाव न भोरें॥'*** इस भाँति मायकेका प्रत्याख्यान किया, अब श्वशुरालयका प्रत्याख्यान करती हैं ***'बिनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि कोउ सपनेहु सुखद न लागा॥'*** स्त्रियोंके लिये दो ही स्थान हैं, मायका या श्वशुरालय। जब दोनों सुखद नहीं मालूम होते तो सिवा पतिके साथके तृतीय गति नहीं है।

अगम पंथ बन भूमि पहारा। करि केहरि सर सरित अपारा॥७॥
कोल किरात कुरंग बिहंगा। मोहि सब सुखद प्रानपति संगा॥८॥

अर्थ—दुर्गम रास्ते, अगम वन, अगम मैदान और अगम पहाड़, अगणित हाथी और सिंह और अपार तालाब और नदियाँ और कोल, भील, हिरन और पक्षी—प्राणोंके नाथ श्रीरामचन्द्रजीके साथ मुझे ये सब (जो साधारणतया यात्रियोंको विपज्जनक हैं) सुख देनेवाले होंगे॥ (७-८)

नोट—१ ***'अगम'*** शब्द पन्थ, वन, भूमि और पहाड़ सबका विशेषण है। ***अगम***=जिसमें चलना, गुजर होना कठिन है। ***'अपार'*** शब्द भी ऐसा ही है।

नोट—२ ***'बिनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि कोउ सपनेहुँ सुखद न लागा॥'*** यहाँतक ***'मइकें ससुरें सकल सुख.....'*** का उत्तर हुआ। अब कहती हैं कि पतिके साथ वन, वनके दुःखद जीव इत्यादि सब सुखदायी होंगे। भाव यह कि अयोध्यासे पन्थ, वन, भूमि और पहाड़ अधिक सुखकर लगेंगे, यथा—***'सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं बर बाटा॥'*** (३। ७। ४) परिवारसे कोल-किरात, पिता और ससुरसे करि-केहरि-कुरंग और पक्षी अधिक सुखदायी होंगे। देखिये, कोल-किरातोंकी सेवा दोहा १३५, १३६ में किंचित् दिखायी गयी है। यथा—***'यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनु नव निधि घर आई॥'*** (१३५। १) ***'.....हम सेवक परिवार समेता। नाथ न सकुचब आयसु देता॥'*** (१३६। ८) अर्थात् स्त्रियाँ श्रीसीताजीकी सेवा करेंगी, पुरुष पुरुषोंकी सेवा करेंगे। पक्षी जटायुने ससुरकी तरह रक्षा की, वानर-भालु आदिने सेवा की, हनुमान्-सुग्रीव आदि समाज-सहित इनके लिये लड़े। इन सबके सुखदायी होनेका कारण 'प्राणपतिका संग' बताया। प्राणोंके पति

अर्थात् रक्षक ही साथ हैं, जो माताके उदरमें रक्षा करते हैं, तब फिर कौन डर? 'प्राणपति' को यहाँ ऐश्वर्य और माधुर्य दोनोंमें लेना चाहिये। ***कुरंग***=बादामी रंगका हिरन।=घोड़ा। यहाँ पशु अभिप्रेत हैं।

नोट—३ यहाँ इतने नाम गिनाये कि ये सब सुखद होंगे। इनमें राक्षसोंको नहीं गिनाया। कारण कि उन्हें तो मारना ही है, इसीलिये अवतार है—***'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'*** (३। ९) वे तो घोर दु:ख देनेवाले होंगे। सीताजी न होतीं तो रामायण ही न होता। रावणके नाशका कारण वे ही होंगी। इसीलिये उनका अवतार ही है। मन्दोदरी और विभीषणादिने यही कहा है, यथा—***'तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥'*** (५। ३६। ९) ***'काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥'*** (५।४०।८)

दो०—सासु ससुर सन मोरि हुँति बिनय करबि परि पायँ।
मोरि सोचु जनि करिअ कछु मैं बन सुखी सुभायँ॥ ९८॥

शब्दार्थ—**हुँति**=(प्राकृत हुन्त)=तरफसे, ओरसे। **सुभायँ**=स्वाभाविक, बिना किसी यत्नके; जो जन्मसे वहाँ रहनेके कारण सहज ही वहाँ रहते हैं वैसे।

अर्थ—सास और ससुरसे मेरी ओरसे पाँव पड़कर विनती कीजियेगा कि मेरा कुछ भी सोच न कीजिये। मैं वनमें स्वाभाविक ही (अर्थात् जैसे वनवासी वनमें रहते हैं वैसे ही) सुखी हूँ॥ ९८॥

प्राननाथ प्रिय देवर साथा। बीर धुरीन धरे धनु भाथा॥ १॥
नहि मग श्रमु भ्रमु दुख मन मोरें। मोहि लगि सोचु करिअ जनि भोरें॥ २॥

शब्दार्थ—'**धुरीन**'=श्रेष्ठ, धुरंधर, अग्रगण्य। **भोरें**=भूलकर भी।

अर्थ—मेरे प्राणनाथ पति और प्रिय देवर साथ हैं जो वीरोंमें अग्रगण्य हैं, धनुष और (बाणोंसे भरा हुआ अक्षय) तर्कस* धारण किये हुए हैं॥ १॥ (इससे मुझे) न तो रास्तेकी थकावट है और न मेरे मनमें भ्रम और (किसी प्रकारका) दु:ख है। मेरे लिये भूलकर भी सोच न कीजिये॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) ***'प्राननाथ'***—पतिव्रता स्त्रीका पति ही उसके प्राणका नाथ है, यह माधुर्यमें अर्थ हुआ और ऐश्वर्यमें रामजी सबके प्राणोंके नाथ हैं सो प्राणके रक्षक साथमें हैं। (ख) ***'बीर धुरीन धरे धनु भाथा'***।—अर्थात् एक तो वे वैसे ही वीरोंमें धुरंधर हैं, दूसरे हथियार भी हाथमें हैं; अतएव कोई भी शत्रु कुछ नहीं कर सकता, शत्रुता करनेवाले कोई इनसे बच नहीं सकते, सब मारे जायँगे। २—***'नहि मग श्रमु भ्रमु दुख मन मोरें'***—मनमें थकावटका दु:ख नहीं और न किसीसे बाधा होनेका भ्रम है। अथवा, श्रमके दु:खका भ्रम भी नहीं है। (पंजाबीजी)

श्रीरामजी और श्रीसीताजीकी उक्तियोंका मिलान

श्रीरामोक्ति	श्रीसीतोक्ति
दिए उतरु फिरि पातक लहऊँ	*उतरु देउँ फिरि पातक भारी*
पितुपद गहि कहि कोटि नति	*सास ससुर सन मोरि हुँति बिनय करबि परि पायँ।*
तुम्ह पुनि पितुसम अतिहित मोरें	*तुम पितु ससुर सरिस हितकारी*
चिंता कवनिउ·····जनि मोरि	*मोरि सोचु जनि करिय कछु मैं बन सुखी सुभायँ।*

सुनु सुमंत्रु सिय सीतल बानी। भएउ बिकल जनु फनि मनि हानी॥ ३॥
नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना॥ ४॥

* वीरकवि—यहाँ 'भाथा' शब्दमें मुख्यार्थ बाध होकर लक्ष्यार्थ 'बाण' लिया जायगा। ना० प्र० सभाकी प्रतिमें 'धीर धुरीन' पाठ है। राजापुर, भागवतदास, पं० रा० गु० द्विवेदीकी प्रतियोंमें 'बीरधुरीन' है।

राम प्रबोधु कीन्ह बहु भाँती। तदपि होति नहि सीतलि छाती॥ ५॥
जतन अनेक साथ हित कीन्हे। उचित उतर रघुनंदन दीन्हे॥ ६॥

अर्थ—श्रीसीताजीकी शीतल वाणी सुनकर सुमन्त्रजी ऐसे विकल हो गये मानो सर्प मणि खो जानेसे व्याकुल हो रहा है॥ ३॥ नेत्रोंसे कुछ दिखायी नहीं पड़ता, कानोंसे सुन नहीं पड़ता। वे बहुत ही व्याकुल हो गये हैं, कुछ कह नहीं सकते॥ ४॥ श्रीरामचन्द्रजीने बहुत समझाया तो भी छाती ठंडी नहीं होती। अर्थात् छाती जल रही है॥ ५॥ साथ जानेके लिये उन्होंने बहुत उपाय किये, पर रघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजीने उचित (जैसा चाहिये वैसा ही) उत्तर दिये॥ ६॥

टिप्पणी—१ ***'भयउ बिकल जनु फनि मनि हानी'*** इति।—यहाँ श्रीराम-लक्ष्मण-सीता तीन मणि हैं। एक सर्पके कई मणियाँ होती हैं, जितने मुँह उतने मणि। अथवा, तीनों मिलकर एक ही मणि हैं, इस प्रकार कि श्रीसीताजी अर्द्धांगिनी हैं और लक्ष्मणजी और रामजी एक ही पिण्डसे हुए। अथवा, इस उत्प्रेक्षासे जनाया कि उसे मरणान्त दुःख हुआ।

नोट—१ सुमन्त्रजी श्रीलक्ष्मणजीसे तो निराश थे ही, पर राजाने कहा था कि सीताजीहीको लौटा लाना। इनको न लौटा सकना मणिका खोना है। इन्हींकी शीतल (कोमल विनम्र) वाणीने उनको व्याकुल भी किया है।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि शीतल वाणी सुननेसे सुननेवालेको शीतलता होती है, सो न हुआ; बल्कि घोर विकलता हुई, इन्द्रियाँ विकल हो गयीं, आँखसे सूझता नहीं, कानसे सुनायी नहीं पड़ता मानो सर्पकी मणि छिन गयी। ***'मनि बिना फनि जिये ब्याकुल बेहाल रे।'*** यहाँ यह प्रश्न नहीं है कि मणिस्थानीय कौन है या फणिस्थानीय कौन है, यहाँ तो केवल विकलताको दिखानेके लिये मणिविहीन सर्पकी विकलताकी उपमा देते हैं।

नोट—२ पंजाबीजी लिखते हैं कि जहाँ-जहाँ ग्रन्थमें शीतल वाणीसे व्याकुल होना कहा गया तहाँ-तहाँ चाँदनी चक्रवाक, तुहिन-तामरसके दृष्टान्त दिये गये; पर यहाँ उनके अनुसार उत्प्रेक्षा नहीं की गयी। सर्पकी मणिहानिका दृष्टान्त दिया गया। यह असंगत जान पड़ता है। इसका समाधान यह है कि यहाँ दृष्टान्तका एक अंग व्याकुल वा संतप्त होना लिया गया। इनके साथ यहाँतक रहे, अब इनके बिना यहाँसे अकेले लौटना होगा, यही पासकी मणिका खोना है, मणि खोनेसे सर्प व्याकुल होता ही है वैसे ही ये व्याकुल हुए। अथवा, यों समाधान कर लें कि सर्प रातमें मणि निकालकर उसके प्रकाशमें विचरता है, यद्यपि रात ठण्ढी होती है तो भी सर्प तो मणिहीन होनेसे व्याकुल होता ही है। वैसे ही सीताके वचन शीतल हैं पर वियोग करानेवाले हैं, अतएव मन्त्री व्याकुल हो गया। यह उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

टिप्पणी—२ ***'नयन सूझ नहिं सुनइ न काना।'***····'इति। यहाँ तीन बातें कहकर तीन प्रकारका दुःख सुमन्त्रको होना दिखाया। अंधेको नेत्रोंसे न दिखनेका दुःख, बहिरेको न सुननेका और गूँगेको न बोल सकनेका जैसा दुःख होता है वैसा ही मन्त्रीको दुःख हुआ। यहाँ राम नेत्र, लक्ष्मण कान और जानकी वाणी—तीनोंकी हानि हुई। अथवा, इनसे भी मरणान्त दुःख दिखाया। [श्रीरामजी सुमन्त्रजीको पिताके समान मानते हैं, यथा—***'आदरु कीन्ह पिता सम लेखा।'*** (३९। ६) ***'तुम्ह पुनि पितु सम अति हित मोरें।'*** (९६। १) और पिताका वाक्य है कि ***'मोरे भरत राम दुइ आँखी'***। अतएव श्रीरामजी सुमन्त्रके नेत्र हुए। लक्ष्मणजी कान (श्रुति) हैं। इन्हींने शूर्पणखाको ***'श्रुतिहीना'*** कर दिया। वैदेहीजी गिरा हैं, यथा—***'सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी।'*** (१। १०५। ४) ***'गिरा अरथ जल बीचि सम····'*** (प० प० प्र०)]

वि० त्रि०—***'राम प्रबोध कीन्ह····छाती।'*** इति। रामजीने बहुत भाँतिसे प्रबोध किया, यथा—***'तातके प्रधान गुन ज्ञानके निधान धर्म नीतिमें प्रमान आप सरिस जनैया कौन। काकों मुख ताकों एहि संकट बिकट माहिं धरि उर धीर लाज पतिको सँभारौ जौ न॥ पितहि बुझाय समुझाय सब मातन को लीजिए रजाय बेगि***

भरत बुलावो भौन। सुकृत न जाय जग जस सरसाय ताप तिमिर नसाय आप करिय उपाय तौन॥' एवं रीत्या रामजीने बहुत समझाया, पर कलेजेमें ऐसी आग लगी हुई है कि समझाने-बुझानेसे छाती ठण्ढी नहीं होती।

नोट—३ *'जतन अनेक साथ हित कीन्हे'* इति। वाल्मी० २। ५२ में उन्होंने कहा है कि भाई और स्त्रीके साथ साधारण मनुष्योंके समान आपका वनमें रहना किसीको अच्छा नहीं लगता, तब वह मुझे कैसे अच्छा लग सकता है। आपके द्वारा त्याग होनेके कारण हमलोग तो मारे ही गये। अब हमलोग पापिन कैकेयीके अधीन रहेंगे और दुःख उठावेंगे। (श्लोक १६, १९) अयोध्या नगरी आपके वियोगसे पुत्रशोकसे दुःखिनीके समान है। उस नगरीमें आपके बिना मैं कैसे जा सकूँगा? पहले लोगोंने मेरे रथको आपसे युक्त देखा है, अब वे बिना आपके उस रथको देखेंगे तो वह समस्त नगरी दुःखसे विदीर्ण हो जायगी, दीन-दुःखिनी हो जायगी, जिस प्रकार रणमें वीर मारा जाय और सारथिमात्र ही बचा रहे ऐसी अपनी सेनाको देखनेसे दुःख होता है। आप अयोध्याकी प्रजाके मनमें सदा रहते हैं, अतः आज आपके बिना रथ लेकर जब मैं जाऊँगा तब वह निराहार रहकर अपने प्राण देनेको तैयार हो जायगी। आपके प्रस्थानके समय जो शोक और दुःखका उन्होंने प्रकाश किया था वह आपने देखा ही है। रथको आपसे खाली लौटा देखकर वे उससे सैकड़ों गुना आर्तनाद करेंगे। (श्लोक ३९—४४। यह प्रजाके सम्बन्धसे यत्न किया) मैं देवी कौसल्यासे क्या कहूँगा? क्या मैं उनसे कहूँगा कि मैं आपके पुत्रको मामाके यहाँ पहुँचा आया, आप दुःख न करें? इस असत्य वचनको तो मैं कहूँगा ही नहीं और जो सत्य है उस अप्रियको मैं कैसे कहूँगा?—**'कथमप्रियमेवाहं ब्रूयां सत्यमिदं वचः।'** (४६)(श्लोक ४५-४६ में माताके सम्बन्धसे यत्न किया) ये घोड़े आपके बान्धवोंको ही ले चलते हैं। जब आप कोई इसपर न रहेंगे तब ये रथ कैसे ले जायँगे। (यह श्लोक ४७ में घोड़ोंके सम्बन्धसे यत्न किया।) अतएव अपने साथ वनमें चलनेकी आज्ञा आप मुझे दें—**'वनवासानुयानाय मामनुज्ञातुमर्हसि।'** (४८)⋯मैं वनमें आपकी तपस्याके समस्त विघ्नकर्ताओंको दूर करूँगा। ये घोड़े वनवासी आपकी सेवा कुछ कर सकें तो इनको भी सुख होगा। वनवासकी अवधि पूरी होनेपर मैं इसी रथपर आपको अयोध्या ले चलूँ, यह मेरी अभिलाषा है। जैसे आपने मुझे अपना सारथी बनाकर सुख दिया वैसे ही साथ लेकर वनवासका भी सुख दीजिये। राजपुत्रने जिस मार्गका ग्रहण किया है उसी मार्गपर भृत्यको रहना चाहिये। मैं आपका सबसे अधिक भक्त भृत्य हूँ। आपको मेरा त्याग नहीं करना चाहिये। (श्लोक ४८ से ५८ तक अपने सम्बन्धसे प्रयत्न किया। और यह भी कहा कि यदि आप मेरा त्याग करेंगे तो मैं आपके सामने रथसमेत अग्निमें प्रवेश करूँगा।—**'सरथोऽग्निं प्रवेक्ष्यामि त्यक्तमात्र इव त्वया।'** (४९)

नोट—४ *'उचित उतर रघुनंदन दीन्हे'* इति। (क) श्रीरघुनाथजीने कहा कि मैं आपकी श्रेष्ठ स्वामिभक्तिको जानता हूँ। सुनिये, जिस लिये मैं आपको यहाँसे अयोध्या भेज रहा हूँ। (१) जब आप यहाँसे लौट जायँगे तब मेरी छोटी माता कैकेयीको विश्वास हो जायगा कि रामचन्द्रजी वनको गये—**'कैकेयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः।'** (६१) (२) देवी कैकेयी संतुष्ट हो जायँगी और धार्मिक राजाके मिथ्यावादी होनेकी शंका न करेंगी—**'राजानं नातिशङ्केत मिथ्यावादीति धार्मिकम्।'** (६२) (३) सबसे प्रधान उद्देश्य भेजनेका यह है कि माता कैकेयी अपने पुत्र भरतके द्वारा अच्छी तरह शासित पुत्रराज्य पावें। (४) मेरी और राजाकी प्रसन्नताके लिये आप अयोध्या जायँ और जिसके लिये जो सन्देश कहा है उससे वह सन्देश जाकर कहें। (श्लोक ६३, ६४) रथको साथ लेकर वनमें साथ जानेको जो कहा है उसके उत्तरमें रघुनाथजीने कहा कि (५) गंगातीर एक ही रथपर जानेकी आज्ञा हमने स्वीकार की है। (श्लोक १४) मानसके अनुसार पिताने सुमन्त्रजीसे इतना ही कहा है कि *'रथ चढ़ाइ देखराइ बन', 'बन देखाइ सुरसरि अन्हवाई'* और *'फिरहु गएँ दिन चारि।'* (८१) इससे सुरसरितक ही रथपर ले जानेकी आज्ञा आपको पिताने दी है। अतः आगे हम रथपर नहीं चढ़ेंगे। गंगास्नान करानेके बाद आपको लौटानेकी आज्ञा दी है। गंगा-स्नान हो चुका। आगे जानेकी आपको आज्ञा नहीं है। आज चार दिन हो रहे हैं, पिता कल आपकी

राह देखेंगे; अतः आपका लौटना आवश्यक है। उनकी आज्ञाके विरुद्ध मैं आपको साथ कैसे ले जा सकता हूँ? (६) राजा वृद्ध हैं, शोकसे अत्यन्त पीड़ित हैं, आप वहाँ जाकर वही करें जिससे वे शोकसे दुःखी न हों। आपके समान उनका और मेरा कोई सुहृद् इस समय नहीं है। राजाको ऐसी अवस्थामें छोड़ना आपको उचित नहीं है। (७) आपको लौटानेके लिये भेजा था, साथ जानेके लिये नहीं। हमने अपने न लौटनेका कारण बता ही दिया।

नोट—५ यहाँ 'रघुनन्दन' पद साभिप्राय है। रघुनन्दनका अर्थ है 'रघुकुलको आनन्द देनेवाला'। उचित उत्तर दिया कि मेरे लौटनेसे अवधको, विशेषतः रघुकुलको, आनन्द न होगा किंतु वह अधःपतित हो जायगा, सदैवके लिये उसका आनन्द नष्ट हो जायगा; इस सम्बन्धसे 'रघुनन्दन' पद बड़ा सार्थक है। (मिश्रजी) पुनः भाव कि अयोध्याको लौट जानेसे केवल दशरथादिको आनन्द होगा। पर पित्राज्ञाभंग, प्रतिज्ञाभंग और असत्यादि दोषोंसे महाराज रघु आदि समस्त पूर्वजोंको दुःख होगा। अतः भक्तोंको और दशरथजीके समस्त पूर्वजोंको आनन्द देना अधिक श्रेयस्कर है, इससे ही रघुनन्दन नाम चरितार्थ होगा। (प० प० प्र०) ऐसा समझकर उचित उत्तर देनेमें 'रघुनन्दन' नाम दिया।

मेटि जाइ नहिं राम रजाई। कठिन करमगति कछु न बसाई॥ ७॥
राम लषन सिय पद सिरु नाई। फिरेउ बनिक जिमि मूरु गँवाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**मूरु**=मूल, जमा, पूँजी।

अर्थ—श्रीरामजीकी आज्ञा मेटी नहीं जा सकती। कर्मकी गति कठिन है, कुछ बस नहीं चलता॥ ७॥ श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजीके चरणोंमें मस्तक नवाकर (सुमन्त्रजी ऐसे) लौटे जैसे बनिया मूल गँवाकर घर लौटे॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) ***'मेटि जाइ नहिं राम रजाई'***—भाव कि श्रीरामजीकी आज्ञा अपेल है, उल्लंघनीय नहीं है। यथा—***'राम रजाइ सीस सबही के'*** (२५४।८) (यह वसिष्ठवाक्य है), ***'राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥'*** (२९८।७) (यह श्रीभरतजीका वाक्य है), ***'प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।'*** (५।५९) (यह सागरका वचन है) अतः सुमन्त्रजी आज्ञाका उल्लंघन न कर सके। (ख) ***'कठिन करम गति''''''***—कर्मकी गति कठिन है, कर्मभोग बिना भोगे नहीं छूटता। इस कथनका भाव यह है कि साथ छूटनेसे अत्यन्त दुःख हो रहा है, मृत्युका योग लगा है तो भी प्राण नहीं निकलते, यह क्यों? क्योंकि कर्मभोग शेष है। उसे भोग करना है (पु० रा० कु०)। (ग) ***'राम लषन सिय पद सिरु नाई'***—इससे सुमन्त्रजीकी तीनोंमें भक्ति दिखायी।

'बनिक जिमि मूरु गँवाई'

टिप्पणी—२ जैसे कोई बनिया पराई भरती अर्थात् दूसरेसे माल लेकर रोजगार करने चले इस शर्तपर कि मूल ब्याज तुमको (मालिक मालको) देंगे और नफा हमारा होगा और राहमें मूलका ही नाश हो जाय—जैसे जहाज डूब जाने या चोरी आदि हो जानेसे—तो जैसे वह बनिया माल अर्थात् जमा रकम ही मारी जानेसे व्याकुल हो, वैसे ही सुमन्त्रजी व्याकुल हुए। यहाँ महाराज दशरथजी मालिक हैं। उन्होंने कहा था कि मिथिलेशकिशोरीको फेर लानेका उपाय करना, उनके लौटनेसे प्राण रह सकेंगे, अतएव जानकीजी यहाँ मूल ठहरीं। मन्त्रीको पूर्ण विश्वास था कि ये तो अवश्य लौट आवेंगी और हो सका तो दोनों भाइयोंको भी लौटा लावेंगे—दोनों भाई ब्याज और नफा हुए। सो कोई भी न लौटा, जानकीजी भी गयीं। दशरथजी मालिक माल जब सुनेंगे कि वणिक् सुमन्त्र मूलका माल भी खो आया तो वे प्राण ही दे देंगे।

बाबा हरिदासजी—बनिया जब व्यापारको जाता है तो जब कभी वह लाभसहित फिरता है तब उसे बड़ा आनन्द होता है और जब किसी कालमें मूल ही लेकर लौटता है तब विस्मय-हर्षरहित रहता है। पर जब घरकी जमा ही खोकर लौटता है तब उसे बड़ा दुःख होता है। वैसा ही सुमन्त्रजीका हाल हुआ। यदि तीनोंको साथ लेकर लौटते तो नफासहित लौटते और जो सीताजीको ही लेकर लौटते तो

मूलसहित फिरना कहा जाता, उस अवस्थामें भी बड़ा दुःख न होता। पर यहाँ तीनों वनको गये, इसीसे मूर गँवाकर लौटना कहा और सुमन्त्रजीको बड़ा दुःख हुआ।

श्रीनंगे परमहंसजी—यहाँ बनिक कहनेका भाव यह है कि 'जिसको थोड़ा धन होता है उसको बनिक कहते हैं और बहुत धनवालेको साहूकार कहते हैं। अतः उस बनिकको थोड़े धनके कारण उस धनमें ममत्व हो गया था और उस धनको बचानेके हेतु परदेश गया था कि रोजगार करके मुनाफेसे अपना गुजर करेंगे और जो (मूलधन) है उसको बचायेंगे। उसी बनिकके धनकी तरह सुमन्त्रजीको श्रीरामजी, जानकीजी और लखनलाल इन तीनों मूर्तियोंमें ममत्व हो गया है। अतः उस धनकी तरह इन तीनोंको वनसे बचानेके लिये और मुनाफारूप उन्हींको लौटा लानेका सुयश प्राप्त करनेके लिये परदेशरूप शृंगवेरपुर आये थे; परंतु जैसे बनिक मूल गँवाकर दुःखाकुल लौटा उसी प्रकार सुमन्त्र तीनों मूर्तियोंके न लौटनेसे दुःखाकुल लौटे। इस बनिककी उपमासे सुमन्त्रमें चार बातें सूचित की गयी हैं—(१) श्रीरामजी इत्यादिमें प्रीति। (२) उन्हें अवधमें रखना। (३) सुयश-प्राप्तिकी इच्छा। (४) वन चले जानेसे दुःख।

टिप्पणीमें जो अर्थ दिया है कि 'जैसे कोई बनिया पराई भरती अर्थात् दूसरेसे माल लेकर रोजगार करने चले। मालिक माल दशरथजी हैं' ऐसा अर्थ करना अनर्थ है, क्योंकि मूलके कोई शब्द बनिकके लिये पराई भरती या दूसरेसे माल लेकर रोजगारको जाना नहीं कह रहे हैं। अब यदि कहिये कि मूलधन श्रीरामजी, जानकीजी, लक्ष्मणजी हैं और मालधनी राजा हैं तो यहाँ राजाको कोई शब्द मालधनी सूचित नहीं कर रहा है, क्योंकि बनिक शब्द उपमामें है, सुमन्त्र उपमानमें हैं, राजाका कोई भी जिक्र नहीं है। यदि कहिये कि राम, जानकी, लक्ष्मण सुमन्त्रके पुत्र नहीं हैं तो यहाँ उपमा सुमन्त्रका ही पुत्र बना रही है, क्योंकि उपमाकी बात उपमानमें लगायी जाती है न कि उपमानकी बात उपमामें। अतः यहाँपर उपमासे राम, जानकी सुमन्त्रके लड़के और बहू बनाये जा रहे हैं कि जो बनिक अपने मालसे रोजगार करने गया था वही मूर गँवाकर फिरा है। जानकीजीको मूल और दोनों भाइयोंको सूद लिखना नायोग्य और नासमझी है। क्योंकि ग्रन्थमें मूल शब्द तीनों मूर्तियोंमेंसे किसीको मूल और सूदके लिये तफसील नहीं करते। वास्तविकमें तीनों मूर्तियाँ मूल हैं और उनको लौटा लानेका यश सूद है। और जो जानकीजीको मूल इस बातपर सूचित करते हैं कि राजाने जानकीजीको लौटा लानेको कहा कि उनके लौटनेसे अवलम्ब हो जायगा तो यह बात गौणपक्षमें कही थी कि जब दोनों भाई न फिरें तब श्रीरामजीकी सिफारिशसे उनको फेर लाना। राजाके प्राणाधार श्रीरामजी हैं और जानकीजी तो प्राणका अवलम्बमात्र हैं।…राजाने तीनोंको लौटानेको कहा था, अतः तीनों मूल हैं। सुमन्त्रको राजाके इस वचनसे श्रीरामजीके फिरनेका विश्वास हो गया था कि *'लषन राम सिय आनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी॥'* किंतु जानकीजीके फिरनेका कैसे विश्वास हो सकता है क्योंकि वे पतिव्रता हैं।…राजाके कहनेका धर्म है सो उन्होंने कहा था।

श्रीकान्तशरणजी कहते हैं कि जो कोई तीनों मूर्तियोंको मूल कहते हैं और तीनोंके लौटानेके सुयशको ब्याज कहते हैं, उन्हें मूलमात्र लेकर लौटनेका उपमेय कहाँसे आवेगा? क्योंकि तीनोंके लौटानेसे तो सुमन्त्रको सुयश होगा ही। यदि कहा जाय कि ब्याज कहनेसे दोनों भाइयोंके प्रति लघुता आती है तो ***'भइ गति साँप छछूँदर केरी।'*** (दो० ५४) ***'चले जहाँ रावन ससि राहू।'*** (अ० २७) में क्या उपाय है? वस्तुतः उपमाके धर्मसे कविका प्रयोजन रहता है और बातें मिलें, चाहे न मिलें वैसे यहाँ सुमन्त्रजीकी व्याकुलता दिखाना ही कविका प्रयोजन है।

चलते समय सुमन्त्रके प्रति राजाके वचनोंमें दो पक्ष हैं—उत्तम हो जब तीनों लौट आवें। दोनों भाई न लौटें और यदि श्रीजानकीजी ही लौट आवें तो मेरे प्राणोंका सहारा हो जाय, नहीं तो मेरा मरण ही होगा। राजाने कहा था कि श्रीसीताजी भीरु हैं, वन देखकर डरेंगी तो कहनेसे अवश्य लौटेंगी; यही सुमन्त्रजीकी दृढ़ता है। जैसे बनियेको मूलमें दृढ़ता रहती है कि यह तो अपने हाथमें है। सत्यसन्ध दृढ़व्रत और धीर होनेसे दोनों भाइयोंके लौटानेकी कम आशा है। अतः इनका लौटाना लाभ लाना है। वैसे ही सुमन्त्रजीने

यहाँ सन्देसा कहा। दोनों भाइयोंसे उत्तर पाया, तब केवल श्रीजानकीजीको कहा। जब वे भी न लौटीं तब मूलका भी गँवाना कहा गया।'

नोट—स्मरण रहे कि राजाको स्वयं श्रीरामलक्ष्मणजीके लौटनेमें सन्देह था, जैसा ***'जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई॥'*** से स्पष्ट है। सुमन्त्रजी भी जानते हैं कि श्रीरामजी सत्यसन्ध, दृढ़व्रत हैं, कैकेयीसे प्रतिज्ञा कर चुके हैं।

प० प० प्र०—वणिक् बिना नफाके भी लौटता है तो भी दुःख, लज्जा आदिका अनुभव करता है और जब नफा तो अलग रहा मूल भी खोकर आया तब तो उसे मरणप्राय दुःख होता है। जन-उपहास, स्वजातिमें अपमान, पश्चात्ताप आदिका उसे सामना करना पड़ता है। वही दशा सुमन्त्रकी हुई, यह आगे १४४ (३) से १४६ दोहेमें स्पष्ट है।

दो०—रथ हाँकेउ हय राम तन हेरि हेरि हिहिनाहिं।
देखि निषाद बिषाद बस धुनहि सीस पछिताहिं॥ ९९॥

जासु बियोग बिकल पसु ऐसें। प्रजा मातु पितु जिइहहिं कैसें॥ १॥
बरबस राम सुमंत्रु पठाए। सुरसरि तीर आपु तब आए॥ २॥

शब्दार्थ—**तीर**=किनारा, तट। **बियोग**=बिछोह, जुदाई। **तन**=ओर, तरफ। दो० १०० देखिये।

अर्थ—सुमन्त्रजीने रथ हाँका। घोड़े श्रीरामजीकी ओर देख-देखकर हिनहिनाते हैं। (घोड़ोंकी यह दशा) देखकर सब निषाद दुःखके वश होकर सिर पीटते और पछताते हैं॥ ९९॥ (कि)—जिसके वियोगमें पशु ऐसे व्याकुल हैं उसके वियोगमें प्रजा और माता-पिता कैसे जीते रहेंगे?॥ १॥ श्रीरामचन्द्रजीने हठात् सुमन्त्रको लौटाया और तब आप गंगातटपर आये॥ २॥

रा० प्र०—***'राम तन'*** अर्थात् रामजीके शरीरको देख-देखकर हिनहिनानेका भाव कि सुमन्त्रजीसे विनती करते हैं कि इस साँवली मूर्तिसे वियोग न कराओ। घोड़ोंकी दशा दोहा १४२ में कही गयी है—***'देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं॥ नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जलु मोचहिं लोचन बारि। ब्याकुल भए निषाद सब रघुबर बाजि निहारि॥'*** (१४२) ***'"""चरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बन मृग मनहु आनि रथ जोरे॥'*** इत्यादि।

पुनः गीतावलीमें माता कौसल्याजीकी उक्ति—***'राघौ एक बार फिरि आवौ। ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बनहिं सिधावौ॥ जे पय प्याइ पोषि कर पंकज बारबार चुचुकारे। क्यों जीवहिं मेरे राम लाडिले ते अब निपट बिसारे॥ भरत सैगुनी सार करत हैं अति प्रिय जानि तिहारे। तदपि दिनहूँ दिन होत झाँवरे मनहुँ कमल हिम मारे॥ सुनहु पथिक जो राम मिलहिं बन कहियो मातु सँदेसो। तुलसी मोहिं और सबहिन ते इन्हको बड़ो अँदेसो॥'*** (२। ८७)

मागी नाव न केवटु आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना॥ ३॥
चरन कमल रज कहुँ सबु कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥ ४॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥ ५॥
तरनिउँ मुनि घरिनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई॥ ६॥

शब्दार्थ—**तरनिउँ**=तरणी भी, नाव भी। **घरनी**=घरवाली, स्त्री। **बाट**=मार्ग, रास्ता। बाट पड़ना—यह देहाती मुहावरा है। अर्थात् राह मारी जाना, डाका पड़ना; हरण होना, 'रहजनी' इसका ठीक उल्था-सा है।

अर्थ—श्रीरामने केवटसे नाव माँगी, वह न लाया और कहने लगा कि मैंने आपका मर्म (भेद) जान लिया है, (धोखेमें नहीं आनेका)॥ ३॥ आपके चरणकमलोंकी धूलिके बारेमें सभी कहते हैं कि यह मनुष्य बनानेकी कोई जड़ी है॥ ४॥ (जब) शिलाको छूते ही वह सुन्दर स्त्री हो गयी (तो फिर)

लकड़ी तो पत्थरसे कठोर नहीं होती॥ ५॥ मेरी नाव भी मुनिपत्नी हो जायगी। (और जैसे अहल्या गौतमके साथ पतिलोकको गयी वैसे ही) मेरी नाव उड़ जायगी तो मेरी जीविका ही मारी जायगी॥ ६॥

नोट—*'माँगी नाव न केवटु आना।…'* इति। कवितावलीमें केवटने इस प्रसंगको खूब कहा है। मिलान कीजिये—*'नाम अजामिल से खल कोटि अपार नदी भव बूड़त काढ़े। जो सुमिरे गिरि मेरु सिलाकन होत अजाखुर बारिधि बाढ़े॥ तुलसी जेहि के पद पंकज ते प्रकटी तटनी जो हरै अघ गाढ़े। सो प्रभु स्वै सरिता तरिबे कहँ माँगत नाव करारे ह्वै ठाढे॥'* (२। ५) *'यहि घाट ते थोरिक दूरि अहै कटिलौं जल थाह देखाइहौं जू। परसे पगधूरि तरे तरनी घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू॥ तुलसी अवलंब न और कछू लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू। बरु मारिये मोहिं बिना पग धोये हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू॥'* (२।६)

श्रीसूरदासजीके भी पद इस प्रसंगसे मिलते हैं। अतः वे भी उद्धृत किये जाते हैं—(१) *'ले भैया केवट उतराइ। रघुपति महाराज इत ठाढ़े तैं कत नाउ दुराइ॥ जबहिं सिला ते भई देव गति जबही चरन छुवाइ। हौं कुटुम्ब कैसे प्रतिपालौं वैसी यह ह्वै जाइ॥ जाके चरन रेनुकी महिमा सुनियत अधिक बड़ाइ। सूरदास प्रभु अगनित महिमा बेद पुराननि गाइ॥'* (२५)*'नवका नाही हौं लै आउँ। प्रगट प्रताप चरनको देख्यौं ताहि कहाँ लौं गाउँ॥ कृपासिंधु पै केवट आयो कंपत करत जु बात। चरन परसि पाषान उड़त है मम बेरी उड़ि जात॥ जौ यह बधू होइ काहू की दार सरूप धरै। छूटत देह जाइ सरिता तजि पग सों परस करै॥ मेरी सकल जीविका यामें रघुपति मुक्ति न कीजै। सूरदास चढ़ियौ प्रभु पीछे रेनु पखारन दीजै॥'*(२६) *'मेरी नवका जिन चढ़ो त्रिभुअनपति राइ। मो देखत पाहन उड़े मेरी काठ की नाइ॥ मैं खेबी ही पारको तुम उलटि मँगाइ। मेरो जिय यौंही डरै मत होइ सिलहाइ॥ मैं निरबल मेरे बल नहीं जौ और गढ़ाउँ। मम कुटुम्ब याही लग्यो ऐसी कहाँ पाउँ॥ मैं निरधन मेरे धन नहीं परिवार घनेरा। सेमर ढाक पलास काटि तुम बाँधो बेरा॥ बार बार श्रीपति कहैं झीवरा नहीं मानै। मन परतीति न आवहि उडतिहि जानै॥ नेरे ही जल थाह है चलो तुम्हें बताउँ। सूरदास की बेनती नीके पहुँचाउँ॥'* (२७) (रा० प्र०)

अ० रा० में इनसे मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**क्षालयामि तव पादपङ्कजं नाथ दारुदृषदोः किमन्तरम्। मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते पादयोरिति कथा प्रथीयसी॥**' (१।६।३) '**पादाम्बुजं ते विमलं हि कृत्वा पश्चात् परं तीरमहं नयामि। नो चेत्तरी सद्युवती मलेन स्याच्चेद्विभो विद्धि कुटुम्बहानिः॥**' (४) अर्थात् यह कथा प्रसिद्ध है कि आपके चरणोंमें मनुष्य बना देनेवाला कोई चूर्ण है। शिला और काष्ठमें भेद ही क्या है? अतएव मैं आपके चरणोंको धोऊँगा। इस प्रकार चरणकमलोंको मल (रज) रहित करके तब आपको पार ले चलूँगा। नहीं तो यदि आपके चरणरजके स्पर्शसे मेरी नौका सुन्दर युवती हो गयी तो मेरे कुटुम्बकी जीविका ही मारी जायगी।

☞ इन उद्धरणोंको मानसकी चौपाइयोंका भाव ही समझिये।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'माँगी नाव न केवट…मैं जाना'* इति। सुमन्त्रको उनकी इच्छाके प्रतिकूल भेजकर सरकार आ रहे हैं, कुछ अनमनेसे हो रहे हैं, केवट उन्हें हँसाना चाहता है; अतः नावको किनारेसे हटा लेता है, माँगनेपर भी नहीं लाता है, कहता है कि तुम्हारा मर्म मैंने जान लिया है, तुम्हें पार नहीं जाना है, किसी मुनिको स्त्री प्रदान करना है। भाव यह है कि शृंगी ऋषिके नाते हँसी कर रहा है। श्रीगोस्वामीजीने कवितावलीमें और भी ऋषिपुत्रोंसे किये गये मजाकका वर्णन किया है, यथा—*'बिन्ध्यके बासी उदासी तपोब्रतधारी सदा बिनु नारि दुखारे। गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनि बृन्द सुखारे॥ ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे। कीन्ही भली रघुनायकजू करुना करि काननको पग धारे॥'* (क० २। २८)

पाण्डेजी—रातमें लक्ष्मणजीने जो उपदेश दिया कि राम ब्रह्म हैं उसीसे उसने कहा कि *'मरम मैं जाना।'* (पाण्डेजी गुह और केवटको एक मानते हैं।)

प० प० प्र०—निषादराजने *'पाहरू प्रतीती। ठाँव ठाँव राखे अति प्रीती॥'* उन्हींमेंसे यह केवट भी

एक था ऐसा मानना आवश्यक है। उसने लक्ष्मणजीके वचनों (श्रीलक्ष्मणगीता) में श्रीरामजीका मर्म अवतार-रहस्य सुन लिया था। अतः कहा कि *'तुम्हार मरम मैं जाना।'*

टिप्पणी—१ *'तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई।'*.....' इति। मनुष्य बनानेकी जड़ी-बूटी है,यह कैसे जाना? उसपर कहता है कि पाषाणको रजका स्पर्श हुआ सो अहल्या बन गया, कदाचित् नाव भी अहल्या बन जाय। भाव यह कि स्त्री होकर मिल भी जाती तो भी कुछ संतोष होता (यद्यपि एकको पालनेका और बोझा सिरपर हो जाता) पर वह तो स्त्री होकर तुरत उड़कर मुनिके साथ चल देगी। *'मुनि घरिनी होइ जाई'* में लक्षणामूलक अगूढ़ व्यंग है।

नोट—१ आनन्दरामायणमें केवटका वचन है कि '**अस्ति मे गृहिणी गेहे किं करोम्यपरां स्त्रियम्**' अर्थात् मेरे एक स्त्री है ही मैं औरको क्या करूँगा? यह भाव भी सुसंगत है। भाव यह कि दो स्त्रियाँ होनेसे सवतियाडाहवाली विपत्ति और एक सिरपर पड़ जायगी।

किसीने कहा है—*'जोरि कै जुगल पानि केवट कहत बात जीविका आपनी कौन यतन बचाइहौं। नाथ पगधूरि को प्रभाउ जग जानत है, तरनी चढ़ाइ कै न धरनी रचाइहौं॥ एककी अधीनता अनेक दुःख दीनानाथ, दूसरी रखाइ गृह राढ़ न मचाइहौं मैं। सबही समेत नाव तब ही चढ़ैहौं जब, चरन पखारि चरनामृत अचैहौं मैं॥'* (रा० वा० दा० मालवी)

नोट—२ यदि रामजी कहें कि मुनिवधू शापसे शिला हुई थी, अतएव वह पुनः ज्यों-की-त्यों हो गयी। उसका उत्तर देता है कि कौन जानता है यह भी शापसे लकड़ी हुई हो। (पं०)

अलंकार—*'पाहन ते न काठ कठिनाई'* अर्थात् काठको तो मुनिपत्नी हुई ही समझो, यह काव्यार्थापत्ति अलंकार है।

☞अहल्याका उद्धार कहाँ हुआ, यह बात निश्चित नहीं होती। वाल्मीकीय, अध्यात्म और मानस तीनोंमें तीन बातें हैं। गोस्वामीजी जनकपुर-यात्राके समय गंगा-दक्षिण तटपर उद्धार होना कहते हैं और अध्यात्मसे भी यही सूचित होता है; पर अध्यात्ममें यह केवटका प्रसंग अयोध्याकाण्डमें न होकर अहल्योद्धारके बाद ही बताया गया है। वाल्मीकिजीने अहल्योद्धार तिरहुतमें (गंगापार होनेपर) बताया है, उसमें यह केवटका प्रसंग नहीं है। जबतक तत्कालीन गंगा-सरयू एवं गंगा-सोनका संगम और इन नदियोंकी प्रवाहगति प्रमाणित न हो जाय तबतक उस स्थलका ठीक पता नहीं लग सकता। यहाँ केवटको अहल्योद्धारका पता कैसे लगा? इसपर बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि सूरदासजीने शृंगवेरपुरमें अहल्याका उद्धार होना लिखा है—*'गंगातट आए श्रीराम। तहाँ पषानरूप पग परसी गौतम रिषिकी बाम॥ गई अकाश देवतन धरिकै अति सुंदर अभिराम। सूरदास प्रभु पतित उधारन बिरद कितक यह काम॥'* (२४)

बाबा रामचरणदासजी एवं श्रीरामबख्श पाण्डेजीने अध्यात्मकी कथा और मानसके इस प्रसंगका समाधान करनेके लिये 'केवट' और 'निषादराज सखा' को एक ही माना है। पर इसमें भी बहुत शंकाएँ उठती हैं। मानससे केवट और सखाका दो ही होना अधिक संगत जान पड़ता है। क्योंकि आगे १०२ (१। २) में लिखते हैं कि *'उतरि ठाढ़ भये सुरसरि रेता। सीय राम गुह लषन समेता॥', 'केवट उतरि दंडवत कीन्हा'*—यहाँ निषादराजका उतरना पहले ही कहा गया और सबके पीछे केवटका। फिर दोहा १०२ में केवटका बिदा होना लिखा है *'बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बर देइ।'* और निषादराज तो साथ ही गये हैं। फिर केवटने आगे कहा है कि *'फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसाद मैं सिर धरि लेबा॥'*—ये वचन निषादराज कैसे कहेंगे? वे तो प्रभुके साथ जानेकी इच्छासे संग हुए हैं जैसा उनके *'नाथ साथ रहि पंथ देखाई।'.....'जेहि बन जाइ रहब रघुराई। परनकुटी मैं करबि सुहाई॥'* (१०४। २—५) से स्पष्ट है। फिर केवट तो नाव चलाना ही अपना उद्यम बताता है—*'नहिं जानउँ कछु अउर कबारू।'* (१००। ७) *'बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी॥'* (१०२। ६) ये वचन निषादराजके मानना असंगत हैं। इत्यादि।

अध्यात्मरामायणमें निषादराजका स्वयं नाव लाना और अपने कुटुम्बियोंके साथ स्वयं उसे खेना लिखा है—**'उवाच शीघ्रं सुदृढां नावमानय मे सखे। श्रुत्वा रामस्य वचनं निषादाधिपतिर्गुहः॥ १७॥ स्वयमेव दृढां नावमानिनाय सुलक्षणाम्। स्वामिन्नारुह्यतां नौकां सीतया लक्ष्मणेन च॥ १८॥ वाहये ज्ञातिभिः सार्धमहमेव समाहितः।''''गुहस्तान्वाहयामास ज्ञातिभिः सहितः स्वयम्॥'** (२१) (सर्ग ६) इससे संगत करनेके लिये लोगोंने गोस्वामीजीके केवटको गुह कहनेकी चेष्टा की है। पर एक न होनेमें आपत्ति क्या? व्यर्थ शंकाएँ क्यों?—*'कल्प भेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥'*

बाबू रणबहादुरसिंहकी टीकासे जान पड़ता है कि केवटका प्रसंग आनन्दरामायण और वशिष्ठरामायणमें भी है। चाहे कविने यह प्रसंग वहींसे लिया हो। पर उनकी टीका अप्रामाणिक है, उसमें अधिकांश श्लोक पण्डितोंके गढ़े हुए हैं। कौन प्रामाणिक हैं, इसका पता लगाना कठिन है। आनन्दरामायणमें केवटका प्रसंग है पर अ० रा० की तरह वह मिथिलायात्राके समय है।

एहि प्रतिपालउँ सबु परिवारू। नहिं जानौं कछु अउर कबारू॥ ७॥
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥ ८॥
छंद—पदकमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहों।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहों॥
बरु तीर मारहु लषन पै जब लगि न पाइ पखारिहों।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहों॥
सो०—सुनि केवट के बयन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहसे करुनाअयन चितइ जानकी लषन तन॥ १००॥

शब्दार्थ—**अउर**=और। **कबारू**=उद्यम, धंधा, व्यापार, लेनदेन। यथा—***'मागध सूत भाट नट जाचक जहँ तहँ करहिं कबार।'*** (गी० १। २। २१) **उतराई**=पार उतारनेकी मजदूरी। **आन**=शपथ, सौगन्ध। **अटपटे**=बेढंगे, जटिल, बेमेल, अनोखे, गूढ़, गँवारू, टेढ़े, उटपटांग। यह संस्कृत अट (=चलना)+ पत् (गिरना) से बना जान पड़ता है। यथा—***'जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी। समुझि न परै बुद्धि भ्रम सानी॥'*** (१।१३४।६)

अर्थ—इसीसे मैं सब कुटुम्बका पालन-पोषण करता हूँ, और कोई उद्यम नहीं जानता॥ ७॥ हे प्रभो! यदि आप अवश्य पार जाना ही चाहते हैं तो मुझे चरणकमलोंको धोनेकी आज्ञा दीजिये॥ ८॥ हे नाथ! मैं चरणकमल धोकर नावपर आपको चढ़ाऊँगा, आपसे उतराई नहीं चाहता। हे राम! मुझे आपकी सौगन्ध है और दशरथमहाराजकी कसम है, मैं सब सत्य-सत्य कह रहा हूँ। चाहे लक्ष्मणजी तीर भले ही मारें पर जबतक आपके चरण न धो लूँगा तबतक हे तुलसीदासके स्वामी! हे कृपालु! मैं पार न उतारूँगा। केवटके प्रेमसे लपेटे हुए अटपट वचन सुनकर, करुणानिधान रामचन्द्रजी जानकीजी और लक्ष्मणजीकी तरफ देखकर हँसे॥ १००॥

नोट—१ (क) *'एहि प्रतिपालउँ''''कबारू,'* यथा—***'तुलसी अवलंब न और कछू लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू।'*** (क० २।६) भाव यदि मैं नाव खेना छोड़ अन्य कोई व्यापार जानता होता तो चिन्ता न होती, नाव मुनिपत्नी बनकर उड़ जाती तो दूसरा उद्यम कर लेता, पर मैं दूसरा उद्यम जानता ही नहीं; अतः मेरे लड़के-बाले भूखे मर जायँगे। (ख) ***'जौं' 'अवसि गा चहहू'*** में भाव यह है कि वस्तुतः आप पार जानेको नहीं हैं, आप तो किसी मुनिके लिये पत्नी बनानेकी ताकमें हैं। यदि सत्य ही पार जानेकी इच्छा है तो केवल चरणकी रज धोने देनेमें क्यों शंका करते हैं? यह कौन बड़ी बात है, जल लाकर मैं चरणोंकी रजको दूर कर दूँ, बस नावके मुनिपत्नी होनेकी शंका न रह जायगी। (ग) वेदान्तभूषणजीका मत है कि—धोने और पखारनेमें भेद है। पग धोना एक साधारण काम है, परिचारक एवं सामान्य लोग भी

चरण धो सकते हैं। परन्तु पद पखार वे ही सकते हैं जिनके साथ असाधारण रूपसे किसीका सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जैसे, जनकजीने श्रीरामजीके चरण पखारे और पश्चात् धोये भी। दशरथ आदिके पद पखारे ही, धोये नहीं। इसीसे दृढ़ सम्बन्ध हो जानेके बाद उनको बिदा कर दिया। श्रीरामजीके चरण पखारे और फिर धोये भी—*'पाय पुनीत पखारन लागे।'* (१।३२४।८) *'लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तन पुलकावली', 'बहुरि राम पद पंकज धोए।'* (१।३२८।५) इसीसे विवाहके समय *'हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्रीसागर दई।'* (१।३२४) ये दो उपमाएँ देकर जनाया कि जैसे शिवजी विवाह करके सपत्नीक अपने घर चले गये, वैसे ही श्रीरामजी अपने असली रूपसे अवध चले गये और जैसे भगवान् श्रीजीको लेकर ससुरालमें ही रह गये वैसे ही श्रीरामजी अर्धांशरूपसे मिथिलामें रह गये। पुनः (२) दूसरा भेद यह है कि धोनेकी क्रिया अकेले होती है और पखारनेकी क्रिया सपरिवार की जाती है। शबरीजी परिवाररहित थीं अतएव उन्होंने आदरको अपना साथी बनाया—*'सादर जल लै पाँव पखारे।'*—[*'धोये'* शब्द राजा दशरथ और श्रीभरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नजीके साथ भी ठीक उसी स्थानपर आया है जहाँ श्रीरामजीके लिये।—*'धोये जनक अवधपति चरना। सील सनेहु जाइ नहिं बरना॥' 'बहुरि राम पद पंकज धोए।.....' 'तीनिउ भाइ राम सम जानी। धोये चरन जनक निज पानी॥'* (१।३२८।४—६) (मा० सं०)]

नोट—२ *'पदकमल धोइ चढ़ाइ नाव.....'* इति। (क) धो लेनेपर तो फिर शंका न करेगा? उसपर कहता है *'चढ़ाइ नाव'* कि चरण धोनेके बाद फिर पृथ्वीपर न चलने दूँगा, मैं पैर धोकर तुरत अपने कंधेपर उठाकर बिठा लूँगा और नावपर चढ़ा दूँगा जिसमें नावपर चढ़नेके पहले फिर कहीं रज न लग जाय। (पु० रा० कु०) (ख) *'नाथ न उतराई चहों'*—केवट लोग उतराई लेनेके लिये पार उतारनेमें विलंब किया करते हैं, उसपर कहता है कि मैं उतराई नहीं चाहता, अतः तुरत पार पहुँचा दूँगा। पुनः, आप राजा हैं, मैं प्रजा हूँ, अतः यह सेवा मैं शीघ्र करूँगा, अथवा आप उदासी वेषमें हैं इससे मैं उतराई न माँगूँगा और तुरत पार उतार दूँगा। पंजाबीजी लिखते हैं कि उतराई नहीं चाहता, यह केवटकी चतुरता है। भाव कि धर्मशास्त्रानुसार मल्लाह मल्लाहसे उतराई, नाऊ नाऊसे बाल बनवाई, ठठेर ठठेरसे बदलाई, इसी तरह और भी एक पेशावाले अपने पेशेवालेसे कर-मूल्य नहीं लेते, तो मैं कैसे लूँ? हमारा-तुम्हारा एक पेशा है, तुम भवसागरसे पार करते हो, मैं गंगा-पार करता हूँ, जब मैं आपके घाटपर आऊँ तब आप मुझे पार कर दीजियेगा। (यह भाव ऐश्वर्य पक्षमें है।)

नोट—३ *'मोहिं राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहों'* इति। इस तरहकी शपथमें प्रायः पिताका नाम न लेकर यों शपथ की जाती है कि तुम्हारी और तुम्हारे बाप-(पिता-) की सौगन्ध है। पर गोस्वामीजीने ऐसा न करके *'दसरथ सपथ'* पद दिया है। लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि गुसाईंजीने ग्राम्यदोष बचानेके लिये 'बापकी कसम' को इस तरह व्यक्त किया है।

यहाँ श्रीरामजी और दशरथमहाराज दोनोंकी शपथ करके अपनेको सत्यप्रतिज्ञ होना निश्चय कराता है। श्रीरामजी सत्यप्रतिज्ञ और दृढ़व्रत हैं, यथा—*'जो नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई॥'* (८२।१) आपने कैकेयीसे कहा था कि *'जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिय मोहि मूढ़ समाजा॥'* और पिताका सत्य रखनेके लिये राज्यका त्याग करके वनवास स्वीकार किया। और राजा ऐसे सत्यप्रतिज्ञ कि अपना सत्य रखनेके लिये अपने प्राणप्रिय पुत्र और प्राणोंका त्याग किया, यथा—*'राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेमपन लागी॥ तासु बचन मेटत मन सोचू॥'* (२६४।६-७) भाव यह कि जैसे आप दृढ़व्रत हैं वैसे ही मैंने भी दृढ़ प्रतिज्ञा की है कि बिना चरण धोये नावपर न चढ़ाऊँगा, जैसे महाराजने सत्य न छोड़ा वैसे ही मैं सत्य नहीं छोड़नेका, जो कहता हूँ यही करूँगा, चाहे मेरे प्राण चले जायँ। (पं० रा० कु०)

पाँडेजी कहते हैं कि—(क) सत्यवादी राजाकी मैं प्रजा हूँ। अतएव मैं भी सत्य ही बोलता हूँ। मैं उतराई नहीं चाहता यह सत्य जानिये, अथवा, (ख)—जो आप जोराबरी किया चाहें तो मैं राजा दशरथकी दुहायी करता हूँ।

नोट—४ ***'बरु तीर मारहु लषन·····'*** इति। उसके वचन सुनकर, ऐसा जान पड़ता है कि लक्ष्मणजीको क्रोध आ गया, उन्होंने बाणकी ओर ताका—उनकी चेष्टा देख उसने कहा कि ***'बरु तीर मारहु'*** अर्थात् हे लक्ष्मणजी! चाहे तुम तीरसे मुझे मारो। (पं० रा० कु०) [नोट—'मारहु' का अर्थ 'मारें' भी होता है जैसा बहुत स्थलोंपर प्रयोग हुआ है। जैसे कि—***'आपु अछत जुबराज पद रामहि देउ नरेसु॥'*** (१) में देउ=देवें; ***'पुनि न सोचु तन रहउ कि जाऊ।'*** (२।४।५) में ***रहउ***=रहे, ***जाऊ***=जाय; ***'होउ नात यह ओर निबाहू।'*** (२४। ६) में ***होउ***=होवे; ***'लषन राम सिय जाहु बन भल परिनाम न पोचु।'*** (२८२) में ***जाहु***=जायँ; ***'सुबस बसउ फिरि सहित समाजा। भरतहि रामु करहु जुबराजा॥'*** (२७३। ७) में ***बसउ***=बसै और ***करहु***=करें। इत्यादि। इस तरह ये वचन श्रीरामजीके प्रति ही समझे जायँगे और प्रसंगानुकूल भी यही ठीक जान पड़ता है। पर गौड़जीका मत है कि जब उसने रामजी और दशरथजीतकका शपथ किया तो उसकी इस ढिठाईपर श्रीलक्ष्मणजीने क्रोधसहित अपने बाणकी ओर देखा। इसीपर केवट लक्ष्मणजीसे ही कहता है। श्रीत्रिपाठीजीका मत है कि श्रीलक्ष्मणजीको हँसानेके लिये उनके रामप्रेम तथा श्रीरामापमानासहन स्वभावपर कटाक्ष करता हुआ ये वचन श्रीरामजीसे कह रहा है। (विशेष आगे उनके टिप्पणमें देखिये।)]

वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि ***'जौं प्रभु पार अवसि·····कहहू'*** से यह जनाकर कि पदप्रक्षालन करनेको आप स्वयं कहें और पदप्रक्षालन कराके और दृढ़ सम्बन्ध करके असाधारणरूपसे मुझे अपनाकर तब आप पार जा सकते हैं, तब ***'पदकमल धोइ·····न उतराई चहों'*** कहनेका भाव यह है कि आप पद पखारनेको स्वयं न कहियेगा तो भी मैं जबरदस्ती धो लूँगा और गोदमें उठाकर नावमें बिठा लूँगा, उस हालतमें ***'न उतराई चहों'*** अर्थात् अपनी नावसे फिर कभी उतरने न दूँगा।*

नोट—५ ***'तुलसीदास नाथ कृपाल'*** इति। (क) यहाँ इस पदसे श्रीसीतारामलक्ष्मण तीनोंको सूचित कर दिया है—'तुलसी' से जानकीजी, 'दास' से लक्ष्मणजी और 'नाथ कृपाल' से रामचन्द्रजी। अर्थात् तीनोंमेंसे किसीको पार न उतारूँगा। पुनः, 'तुलसी' इसी एक शब्दमें तीनों आ जाते हैं—'तु'=तुरीय राम, 'ल'=लक्ष्मण और 'सी'=सीता। (वन्दनपाठकजी) तुलसीदासजी कलियुगमें हुए और केवट कह रहा है त्रेतायुगमें। भविष्यमें होनेवाली बात कहनेसे यहाँ 'भाविक अलंकार' है। मिलान कीजिये—***'सकल तनय चिरजीवहु तुलसिदासके ईस।'*** (१। १९६) कवियोंकी शैली है कि इस तरह भगवद्भक्तोंके मुखारविन्दद्वारा प्रभुसे अपना नाता दृढ़ कराते हैं।

'सुनि केवट के बयन प्रेम लपेटे अटपटे। बिहसे करुना अयन'

१—***'प्रेम लपेटे'*** अर्थात् उनमें प्रेम छिपा हुआ है, प्रेमसे भरे हुए हैं। ***'प्रेम लपेटे अटपटे'*** अर्थात् वचन तो गँवारू हैं पर उनके भीतर प्रेम भरा हुआ है।

केवटकी आन्तरिक अभिलाषा प्रभुके चरणोदक लेनेकी है; पर वह अपनी अभिलाषाको स्पष्ट न कहकर इस बहानेसे चरण धोना चाहता है कि चरणरजके स्पर्शसे नाव मुनिपत्नी हो जायगी तो मैं कुटुम्ब कैसे पालूँगा। पुनः चरणोदक लिये बिना नावपर न चढ़ानेकी प्रतिज्ञा करनेमें वह अपने प्राणोंकी बाजी लगा रहा है कि चाहे लक्ष्मणजी मुझे मार क्यों न डालें पर मैं कदापि न चढ़ाऊँगा। साथ ही दशरथमहाराजकी शपथ करता है कि प्रतिज्ञा न छोड़ूँगा और कहता है कि पार उतारनेकी उतराई नहीं चाहता—ये वचन

---

* वे० भू० जीका मत है कि केवट और गुह एक ही व्यक्ति हैं। गुह कल अपना दृढ़ सम्बन्ध स्थापित करनेमें असफल रहा। उसने जोर तो बहुत लगाया कि 'देव धरनि धन धाम तुम्हारा।···थापिय जन सब लोग सिहाऊ।' पर सफल न हुआ, इसीसे आज सँभलकर प्रयत्न कर रहा है। उनका मत है कि गुह कहता है कि नावका खेवा मैं इसी पार ले लूँगा जो कुछ लेना होगा और 'उत' अर्थात् उस पार तो मैं 'राई' मात्र भी नहीं चाहता और न लूँगा—यह बात निषादराज गुहकी है। यह भी साथ ही उतरा। दूसरा केवट जिसने कि डाँड़ चलाकर नाव खेया है, पीछेसे वह भी उतरा। उसीके सम्बन्धमें कहा है कि 'उतरि दंडवत कीन्हा।' प्रभुने उसे कुछ देना चाहा, परन्तु उसका मालिक पार उतरनेपर कुछ न लेनेकी बात हार चुका है। इससे इसने भी कुछ न लिया। (पाठक स्वयं विचार कर लें।)

बड़े अनोखे और गूढ़ भी हैं और टेढ़े तो हैं ही, पर इनमें उसका प्रेम झलक रहा है कि चरणामृतके लिये जानपर खेलनेको तैयार है।

२—*'करुना अयन'* विशेषण दिया क्योंकि प्रभु उसके आन्तरिक प्रेमको जानकर उसपर कृपा करना चाहते हैं—*'कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जानि जन जीकी॥'*

३—*'चितइ जानकी लखन तन'।* —श्रीलक्ष्मणजानकीजीकी ओर देखकर हँसनेके अनेक भाव महानुभावोंने कहे हैं, कुछ ये हैं—(क) तुम लोग प्रेमी हो, इसका प्रेम देखो कि अटपट वचन कहता है पर चरण धोनेके लिये तीरकी चोट भी सहनेको तैयार है। (ख) लक्ष्मणका क्रोध शान्त करनेके लिये हँसे। वा, (ग) उसकी वचन-रचना और प्रेमको देखकर दोनोंकी ओर देखा कि क्या राय है, क्या करना चाहिये? अथवा, (घ) अभीतक चरणसेवा तुम दोनोंके हिस्सेमें पड़ी थी, अब इसको चरण धो लेने दो। (पु० रा० कु०) (ङ) देखो वनमें भी हमारे कैसे-कैसे प्रेमी छिपे पड़े हैं कि हमारे लिये प्राणतक देनेको तैयार हैं। (च) अभीतक निषादराजको ही चतुर समझते थे, पर उसकी प्रजा भी बड़ी चतुर है। (छ) हमारे और लक्ष्मणके चरण तुम्हारे पिताने कन्याएँ देकर धोये थे, यह मुफ्त ही धोना चाहता है। इत्यादि।

४—श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि प्रथम हँसकर लक्ष्मणजीकी तरफ देखकर उसपर अपनी प्रसन्नता सूचित की नहीं तो वे उसे मारनेको तैयार थे। भाव यह कि उसे कुछ कहना नहीं। फिर जानकीजीकी ओर हँसकर देखा कि जैसे तुमने प्रेममें आकर जनकपुरमें अहल्याकी नजीर (प्रमाण, उदाहरण) लेकर चरण-स्पर्श नहीं किया वैसे ही यह केवट भी वही प्रमाण देकर चरण धोना चाहता है। अर्थात् इसका भी प्रेम वैसा ही है जैसा तुम्हारा था। बस, इतना ही भाव लेकर कृपासिन्धु केवटसे मुसकराकर बोले। 'केवटकी प्रार्थना यदि चरण धोकर अपने तरनेकी स्पष्ट होती तो वह सूधा प्रेम कहा जाता परंतु उसने अहल्याके उदाहरणद्वारा अपनी उपासना पूरी की है, अत: उसके वचन प्रेम-लपेटे कहे गये।'

वेदान्तभूषणजीका मत है कि 'वीरवर लक्ष्मणकुमारके सामने रहते हुए भी वह केवट होकर भी बापतकपर चढ़ाई कर बैठा। यही अटपटी वाणी थी पर प्रेममें पगी हुई। इसीपर वक्तागण श्रीरामका स्वभाव वर्णन करते हैं कि श्रीरामजीने उसके 'तन' अर्थात् केवटकुलोत्पन्न शरीरको न देखकर हृदयके प्रेमका ही निरीक्षण किया। यही बात यहाँ कही जा रही है कि *'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥'* अत: करुणा-कृपाके उद्रेकसे *'बिहसे करुना अयन'* क्योंकि चितै 'जान-की' अर्थात् हृदयकी भावना प्रेमको देखते हैं और 'लख-न' तन अर्थात् किसीके शरीरकी तरफ नहीं देखते।'

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि श्रीरामजी जब अलौकिक प्रीति जानते हैं तब बिहँसते हैं, यथा—*'मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि।'* (१। २६५) वैसे ही यहाँ भी हँसे।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि—केवटका श्रीचरणोंमें बड़ा प्रेम है, श्रीचरणोंके माहात्म्यसे वह परिचित है, उसे धोकर सपरिवार चरणामृत लेने, और एवंरीत्या अपने पितरोंके तारनेकी अभिलाषा है। इस अभिलाषाको छिपाये हुए वह मजाकसे काम लेता है, कहता है कि तरनी मेरी, और हो जायगी मुनिकी घरनी! मैं बाज आया उतराईसे, मेरी नाव बची रहेगी, तो उतराई दिन-दिन मिलती रहेगी। उतराई न चाहनेके प्रमाणमें रामजीकी तथा महाराज दशरथकी शपथ ले रहा है, लक्ष्मणजीको हँसानेके लिये उनके रामप्रेम तथा रामापमानासहन स्वभावपर कटाक्ष करता हुआ कहता है कि आपका कहना न माननेसे आप तो अप्रसन्न न होंगे, पर इसे लक्ष्मणजी न सहेंगे, ये तीर मार देंगे, सो मुझे मरना मंजूर है, बिना पैर धोये नावपर चढ़ाना मंजूर नहीं। इस प्रकारकी अटपटी वाणी, पर प्रेमसे भरी हुई सुनकर रामजी हँस पड़े। उस प्रेमभरी अटपटी वाणीके आनन्दमें सम्मिलित करनेके लिये सीता और लक्ष्मणजीकी ओर देखकर हँसे कि भक्त तो मुझे बहुत मिले पर ऐसा अटपटा भक्त कोई न मिला। जो साथमें रहता है उसीको आनन्दमें सम्मिलित करनेके लिये, देखकर मनुष्य हँसता है। बहुत बड़ा आयास करके लक्ष्मण और सीताजीकी ओर देखकर हँसनेके कारण ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं है।

नोट—कवितावलीमें इन चौपाइयोंके मेलके कवित्त ये हैं—

(सवैया)—*'रावरे दोष न पायन को पग-धूरि को भूरि प्रभाउ महा है।*
पाहन ते बनबाहन काठ को कोमल है जल खाइ रहा है॥
पावन पाय पखारि कै नाव चढ़ाइहौं आयसु होत कहा है।
तुलसी सुनि केवटके बर बैन हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है॥' (२।७)

(घनाक्षरी)—*'पात भरी सहरी सकल सुत बारे बारे केवट की जाति कछू बेद न पढ़ाइहौं।*
सब परिवार मेरो याही लागि राजा जु हौं दीन वित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौं॥
गौतमकी घरनी ज्यों तरनी तरेगी मेरी, प्रभु सों निषाद ह्वैके बाद न बढ़ाइहौं।
तुलसी के ईस राम रावरी सौं साँची कहों बिना पग धोये नाथ नाउ न चढ़ाइहौं॥' (२।८)
'जिनको पुनीत बारि धारे सिर पै पुरारि त्रिपथगामिनि जसु वेद कहैं गाइ कै।
जिनको योगींद्र मुनिबृंद देव देह भरि करत बिबिध जोग जप मन लाइ कै॥
तुलसी जिनकी धूरि परसि अहल्या तरी गौतम सिधारे गृह गौनो सो लेवाइ कै।
तेई पाँव पाइ कै चढ़ाइ नाव धोये बिनु ख्वैहौं न पठावनी कै ह्वै हौं न हँसाइ कै॥' (२।९)

कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहि तव नाव न जाई॥ १॥
बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंबु उतारहि पारू॥ २॥
जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥ ३॥
सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहि जगु किए तिहुँ पगहुँ ते थोरा॥ ४॥

अर्थ—दयासागर रघुनाथजी मुसकराकर बोले कि वही कर जिससे तेरी नाव न जाय॥ १॥ जल्द पानी ला और पैर धो, देर हो रही है, (अपनेको, परिवारको, अपने पितरोंको और हमलोगोंको, सबको) पार उतार दे॥ २॥ जिसके नामका एक बार स्मरण करनेसे मनुष्य अपार भवसागर पार कर जाते हैं॥ ३॥ और, जिन्होंने जगन्मात्रको तीन पगसे भी कम कर दिया, उन्हीं कृपालु-(भगवान् रामचन्द्रजी-)ने केवटकी विनती की और उसका एहसान लिया॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'कृपासिंधु'* पद दिया क्योंकि केवटके आन्तरिक भावको समझकर उसपर कृपा कर रहे हैं। [(ख)—*'मुसुकाई'* इति। भगवान्‌को केवटकी इच्छा पूरी करनी है। मुसकानेमें भाव यह है कि गंगाजीको मोहित करना है, नहीं तो कहीं गंगाजी अपना उद्गम वा जन्मस्थान जानकर मार्ग न दे दें; जिससे केवटका मनोरथ पूर्ण न हो सके। दूसरे *'राम ते अधिक राम कर दासा'* यह वचन भरतजीके विषयमें चरितार्थ करना है (यह आगे भरतजीकी चित्रकूटयात्रामें स्पष्ट किया है। स्मरण रहे कि अरण्यकाण्डमें श्रीरामजीको अपना स्वामी जानकर नदियोंका मार्ग देना कहा है, यथा—*'सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहि बर बाटा॥'* (३। ७। ४) पर यहाँ गंगापार होनेके लिये केवटसे विनय कर रहे हैं, यह केवल उसपर समुद्रवत् कृपा करनेके लिये। आगे *'पद नख निरखि देवसरि हरषीं।·····'* में देखिये। (प० प० प्र०) (ग) *'सोइ करु जेहि तव नाव न जाई'* इतना कहनेपर भी केवट चरणप्रक्षालनके लिये जल नहीं लाया, क्योंकि वह अपने वचनपर डटा हुआ है, जो उसने पूर्व कहा है कि *'जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥'* (इसीसे फिर प्रभुको कहना ही पड़ा कि *'बेगि आनु जल पाय पखारू।'* और निहोरा भी करना पड़ा कि *'होत बिलंबु उतारहि पारू।'*) उसने अपना निश्चय शपथपूर्वक कहा है। यह है बालहठ।—*'बालक सुत सम दास अमानी।'* बालकोंके वचन तो प्रेम-लपेटे अटपटे होते ही हैं और *'जो बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥'* बालक छोटा-बड़ा, राजा-रंक कुछ नहीं जानता। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ (क)—*'जासु नाम सुमिरत एक बारा'* में नामको कहा और फिर *'जेहि जगु किए तिहुँ पगहुँ ते थोरा'* कहकर सूचित किया कि नामका ही यह माहात्म्य नहीं है, रूपकी भी ऐसी ही महिमा

है। इन्हींने वामन-अवतार लेकर दो पगमें ही तीनों लोकोंको नाप लिया था, फिर भला गंगापार होनेके लिये उन्हें नावकी अथवा केवटसे निहोरा करनेकी आवश्यकता हो सकती है? कदापि नहीं। वे तो केवटपर कृपा करना चाहते हैं और उसका मनोरथ पूरा कर रहे हैं। ***'सोइ कृपालु'*** अर्थात् वहाँ बलिपर कृपा की थी। एक पगमें उनको नापकर उनपर कृपा की, वैसे ही यहाँ चरण धुलाकर नावपर चढ़कर केवटपर कृपा कर रहे हैं। (ख) ***'किए तिहुँ पगहुँ ते थोरा'*** इति। राजा बलिने वामनरूपधारी भगवान्‌की विधिपूर्वक पूजा करके हाथमें जल लेकर तीन पग भूमिका संकल्प कर दिया तब भगवान्‌का वह वामनरूप बढ़ने लगा। वह यहाँतक बढ़ा कि पृथ्वी, आकाश, दिशाएँ, स्वर्ग, पाताल, समुद्र, पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता और ऋषि सब-के-सब उसीमें समा गये। राजा बलिने भगवान्‌के उस शरीरमें पंचभूत, इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय, अन्तःकरण और जीवोंके साथ सम्पूर्ण त्रिगुणमय जगत् देखा। उनके चरणतलमें रसातल, चरणोंमें पृथ्वी, पिण्डलियोंमें पर्वत, घुटनोंमें पक्षी और जंघोंमें मरुद्‌गणको देखा। इसी प्रकार भगवान्‌के वस्त्रोंमें सन्ध्या, गुह्यस्थानोंमें प्रजापतिगण, जघनस्थलमें अपने सहित समस्त असुरगण, नाभिमें आकाश, कोखमें सप्तसमुद्र और हृदयमें नक्षत्रसमूह देखे। इत्यादि। (भा० ८। २०। २१—२९) उन्होंने अपने एक पगसे बलिकी सारी पृथ्वी नाप ली, शरीरसे आकाश और भुजाओंसे दिशाएँ घेर लीं। दूसरे पगने स्वर्गको नाप लिया और बढ़ता हुआ सत्यलोकमें पहुँच गया।—**'क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः॥ पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपं न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि। उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपर्युपर्यथो महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः॥'** (भा० ८। २०। ३३-३४) तीसरे पगके लिये कोई भी वस्तु न बची; इसीसे ***'तिहुँ पगहु ते थोरा'*** कहा। ३० (७) भी देखिये।

नोट—***'बेगि उतारहि पारू'*** जल्दीका कारण यह है कि (१) दिन बहुत चढ़ रहा है। चैतका महीना है, धूप कड़ी पड़नेसे जानकीजीको चलनेमें कष्ट होगा और चलना बहुत है। पैदल चलनेका आज प्रथम दिन होगा। (२) सुमन्त्रजी रथ लेकर लौटतेमें रास्तेमें विक्षिप्त गिर पड़े हैं, यह प्रभु जानते हैं। कोई आकर यह खबर न दे दे, नहीं तो फिर न रुकते बनेगा, न चलते। (३) कहीं सुमन्त्र फिर लौट न आवें। और भी भाव पंजाबीजीने दिये हैं। ***'उतारहि पारू'*** में गुप्त भाव यह भी है कि अपने मनकी लालसा शीघ्र पूरी कर ले, चरणोदक लेकर अपने पितरों और कुलपरिवारको तार ले, तेरे मनकी हो गयी, उसमें विलम्ब न कर। यह भाव अगले दोहेसे पुष्ट होता है—***'पद पखारि·····'***।

पदनख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभु बचन मोह मति करषी॥ ५॥
केवट राम रजायसु पावा। पानि कठवता भरि लेइ आवा॥ ६॥
अति आनंद उमगि अनुरागा। चरन सरोज पखारन लागा॥ ७॥
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहि सम पुन्य पुंज कोउ नाहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—**करषी**=आकर्षित कर ली, खींच ली। **कठवता**=कठौता=काठका एक बड़ा बरतन, जिसकी बारी बहुत ऊँची और ढाँलुआँ होती है।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीके चरण-नखोंको देखकर (अपना उत्पत्ति-स्थान जानकर और यह समझकर कि बिछुड़े हुए चरणोंका स्पर्श होगा) गंगाजी प्रसन्न हुईं। प्रभुके वचनोंको सुनकर मोहने बुद्धिको आकर्षित कर लिया (खींच लिया)॥ ५॥ श्रीरामजीकी आज्ञा पाकर केवट कठौतेमें पानी भर लाया॥ ६॥ मारे आनन्दके प्रेमसे उमगकर वह चरणकमलोंको धोने लगा॥ ७॥ समस्त देवता फूल बरसाकर ललचा-ललचाकर उसकी प्रशंसा कर रहे हैं कि इसके समान पुण्यवान् (पुण्य-समूहवाला) दूसरा कोई नहीं है॥ ८॥

'सुनि प्रभु बचन मोह मति करषी'—

इसके दो प्रकारके भावार्थ कहे जाते हैं। एकसे तो गंगाजीका मोहित हो जाना और दूसरेसे मोहका

दूर होनेका भाव निकलता है। मोहने बुद्धिको खींच लिया वा बुद्धिने मोहको खींच लिया अर्थात् दूर कर दिया। मोहबुद्धि नष्ट हो गयी।

(१) प्रभुके प्राकृतिक वचन सुनकर मोह हो गया कि समर्थ ईश्वर होकर केवटका निहोरा इस प्रकार कर रहे हैं, यह क्या बात है? ये मनुष्य तो नहीं हैं?—(पंजाबीजी) प्रभुके चरित्र देखकर ब्रह्मा, वसिष्ठ, सती, शिव, काकभुशुण्डि आदिको मोह हो जाता है तो यदि गंगाजीको मोह हुआ तो क्या आश्चर्य?

(२) अथवा, जब प्राकृत वचन सुनकर मोह हुआ कि ये भगवान् नहीं हैं तब बुद्धिने मोहको आकर्षित कर लिया अर्थात् बुद्धिने विचारकर निश्चित किया कि नहीं ये प्रभु ही हैं, नर-लीला करते हैं, तब मोह छूट गया। ऐसा अर्थ करनेसे आगेके प्रसंगसे विरोध नहीं होगा। क्योंकि यदि मोहित रखना कायम करते हैं, यदि श्रीरामजीके ब्रह्मका अवतार होनेमें संदेह बना रहा तो आगे सीताजीका महत्त्व कैसे कह रही हैं।

गौड़जी—भगवान्के पदनखको देखकर गंगाजी प्रसन्न हुईं कि अब इन चरणोंसे जो अनन्तकालका वियोग था वह मिट गया। परंतु भगवान्के वचन सुनकर यह मोह (भ्रम) दूर हो गया और श्रीगंगाजीको यह पता लगा कि भगवान् बिना विलम्बके चले जानेवाले हैं और जबसे पदनखसे वियोग हुआ तबसे लेकर आगे कल्पान्ततक बहते रहना ही मेरे भाग्यमें बदा है। (श्रीरामजीसे विछोह होनेसे यही दशा होती है, इसके उदाहरणमें कविने विनय-पद ८७ में कहा ही है कि *'जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता तिहुँ पुर सुजस घनेरो। तजे चरन अजहूँ न मिटत नित बहिबो ताहू केरो॥'*)

रा० प्र०—गंगाजीको मोह था कि कदाचित् केवटके वचन न मानें और हमको लाँघ जायँ अथवा बिना चरण धुलाये ही पार उतर जायँ तो हमको चरणोंका स्पर्श न होगा; यह मोह प्रभुके वचन—*'बेगि आनु जल पाय पखारू'* सुनकर दूर हो गया अर्थात् उनको विश्वास हो गया कि अब अवश्य प्रभुके चरणके स्पर्शका सौभाग्य मुझे प्राप्त होगा। अथवा, रघुनाथजीने कहा था कि *'बेगि''' बिलंबु उतारहि पारू'*—इन वचनोंको सुनकर समझीं कि हमारे निकटसे शीघ्र जाना चाहते हैं। इससे मोहने मतिको खींचा। भाव कि युगोंके बीतनेपर आज पुनः मिले सो भी तुरत ही छोड़कर जाना चाहते हैं।

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि केवटसे पार उतारनेके लिये निहोरा करते देख गंगाजीको मोहने घेर लिया; यह मोह-बुद्धि आगे दूर होगी जब देवगण आकाशसे केवटके भाग्यकी सराहना करके फूल बरसावेंगे।

प०प० प्र०—गंगाजीने पहचाना कि यह अपना जन्मस्थान है, अतः पितृदर्शनसे उनको आनन्द और उत्साह हुआ कि पिताको मार्ग देकर उनकी एक बार यह अल्प सेवा कर लूँगी; यथा—*'सरिता सर गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं बर बाटा॥'* (३। ७। ४) पर भगवान्ने यह सोचा कि इससे अवतारका रहस्य प्रकट हो जायगा और केवटकी इच्छा भी पूरी न होगी। अतः जब *'कृपासिंधु बोले मुसुकाई'* तब गंगाजीकी मतिमें मोह हो गया, ऐश्वर्यभाव दब गया और माधुर्यभाव प्रकट हुआ। गंगापार होनेपर भगवान्ने अपनी मायाका आवरण दूर कर दिया, तब गंगाजीने श्रीसीताजीकी प्रशंसा की। (यह पूर्व कई बार लिखा जा चुका है कि) प्रभुकी मुसकान ऐश्वर्यभावको दबाकर माधुर्यभावको क्रियाशील कर देनेके लिये होती है (१। २१६, ७। ८, १। १९२ छन्द *'उपजा जब ग्याना''''* ' देखिये)।

श्रीबैजनाथजी—प्रभुके पदनखको देखकर अपना जन्मस्थान जानकर हर्षित हुईं अर्थात् रूपको शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म देखा। इस ऐश्वर्यको छिपानेके लिये प्रभु मनुष्योंके समान वचन बोले, जिन्हें सुनकर मोह हो गया, ऐश्वर्यदर्शीमति खिंच गयी। तब वे प्रेमसे राजकुमारकी माधुरी छबिमें मोहित (मुग्ध) हो गयीं।

नोट—१ *'पानि कठवता भरि लेइ आवा'* इति। प्रभुके वचन लिखकर फिर बीचमें प्रसंग पाकर नाम और रूपका माहात्म्य कहने लगे थे। अब फिर कथाको वहींसे उठाते हैं। प्रभुकी आज्ञा पाकर केवट कठौतामें पानी भर लाया। प्रायः केवटोंके पास नावपर छोटी कठौती पानी उलचनेके लिये रहा करती

है, अत: वह उसीको जल्दीसे ले आया। कवितावलीमें इसका बड़ा सुन्दर वर्णन है—*'प्रभु रुख पाइकै बोलाइ बाल घरनिहिं बंदि कै चरन चहुँदिसि बैठे घेरि घेरि। छोटो सो कठौता भरि आनि पानी गंगाजू को धोइ पायँ पियत पुनीत बारि फेरि फेरि॥ तुलसी सराहैं ताको भाग सानुराग सुर, बरषैं सुमन जय जय कहैं टेरि टेरि। बिबुध सनेह सानी बानी असयानी सुनि, हँसे राघौ जानकी लषन तन हेरि हेरि॥'* (क० २। १०)

नोट—२ यहाँ कठौता लानेमें दूसरा भाव लोग यह कहते हैं कि केवटने चालाकी की कि कठौती लाया जिसमें परीक्षा भी हो जायगी। यदि यह स्त्री हो गयी तो कठौती ही जायगी, नाव तो बच जायगी, विशेष हानि न होगी। (पं० रा० कु०) अथवा, भगवान् तपस्वी-वेषमें हैं। तपस्वियोंको धातुका स्पर्श न करना चाहिये। वे धातु नहीं छूते, पाषाण और काठ छूते हैं। इसीसे स्वर्णके अनेक आभूषण होते हुए भी केवटको उतराई देनेके लिये श्रीजानकीजीने मणिमुद्रिका ही पतिके हाथमें दी और लंकामें श्रीहनुमान्‌जीको श्रीरघुनाथजीको देनेके लिये चूड़ामणि दी थी; ये दोनों आभूषण पाषाणके हैं। धनुष-बाण जो धारण किये हैं (वह तो अपना क्षात्रधर्म है और फिर) वह परोपकार-हेतु लिये हैं, ऋषियोंको पीड़ा देनेवाले रावणादि राक्षसोंका वध करनेके लिये हैं। अतएव कठौता लाया। (शीलावृत्ति) भगवच्चरणामृत पान करनेके लिये जो बहाना किया है कि काठकी नाव न उड़ जाय, उसका बुद्धिपूर्वक निर्वाह करता जा रहा है, यह उसकी चतुराई है। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—यहाँ गंगाजलको *'पानी'* कहनेका भाव यह है कि यह तो रोज ही मिलता है, पर चरण अलभ्य लाभ है कि जहाँसे गंगाजी निकली हैं—**'गंगाम्भोऽपि निरादरः।'** (देखिये; रामजीने भी *'जल'* कहा—*'बेगि आनु जल'*। पर प्रभुके साक्षात् चरणोदकके आगे केवटका *'पानी'* लाना कहा। और चरण उसी पानीमें धो लेनेपर उसीको *'पुनीत बारि'* और जल कहा, यथा—*'पियत पुनीत बारि फेरि फेरि', 'जलपान करि॥'* (१०१)

नोट—३ *'अति आनंद उमगि अनुरागा।⋯⋯'* इति। (क) विवाह-समयके पादप्रक्षालनप्रसंगके *'बरु बिलोकि दंपति अनुरागे। पाय पुनीत पखारन लागे॥ लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तन पुलकावली॥'* (१। ३२४ छंद) से इस चरणके भाव स्पष्ट हो जाते हैं। श्रीजनकजी तथा श्रीसुनयनाजी *'अनुरागे'* और 'अनुराग' से उनके शरीरमें पुलकावली होने लगी और केवटके तो अति 'आनन्द' है और अनुराग उमड़ता चला आता है तब शरीरकी प्रेमपुलकावलियोंका क्या कहना! अनुराग उमड़कर प्रेमाश्रु, पुलकावली, गद्‌गद कण्ठ आदिद्वारा बाहर निकल रहा है। यहाँ *'अति'* शब्द देकर सिद्ध करते हैं कि केवट श्रीजनकमहाराजसे भी अधिक अनुरागयुक्त हृदयसे चरणसरोजको पखार रहा है। (प० प० प्र०) उसको अति आनन्द हुआ ही चाहे, क्योंकि श्रीजनकजीको तो कन्यादानके समय चरणप्रक्षालनका अधिकार ही था और यह तो केवट था, इसके भाग्यमें वह अधिकार कहाँ था। यह तो वह था कि *'जासु छाँह छुइ लेइय सींचा।'* (ख) *'चरनसरोज'* कहकर *'जे पद सरोज मनोज अरि उर सर सदैव बिराजहीं।⋯⋯मकरंद जिन्हको संभु सिर सुचिता अवधि सुर बरनईं॥ करि मधुप मन मुनि जोगि जन जे सेइ अभिमत गति लहैं। ते पद पखारत भाग्य भाजनु⋯⋯॥'* (१। ३२४ छंद) का सब भाव सूचित कर दिया। अर्थात् इन चरण-कमलोंका निवास शम्भुके उररूपी सरमें, इनके मकरन्दका निवास शंकरजीके सिरपर रहता है, और मुनिगण तथा योगिजनोंके मन इन कमलोंके भौंरे हैं; ऐसे दुष्प्राप्य चरण-कमलोंका प्रक्षालन कर रहा है। तब इसके भाग्यकी सराहना क्या की जा सकती है! *'लागा'* से यह भी जनाया कि देरतक धोता रहा।

नोट—४ *'बरषि सुमन'* इति। विवाहके समय दंपतिने जब पदप्रक्षालन किया तब *'भाग्य भाजन जनक जय जय सब कहैं।'* पर यहाँ देवता फूल बरसाने लगे और उसके भाग्यकी सराहना ईर्ष्यापूर्वक कर रहे हैं, यह बात विवाहके समय न थी। इससे इसका भाग्य दंपतिसे भी अधिक जनाया। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि *'पुन्यपुंज नहिं दूजा'* कहा; क्योंकि *'मकरंद जिन्हको संभु सिर सुचिता अवधि सुर बरनईं।'* वे इसको प्राप्त हुए—ऐसे नीचको।

दो०—पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥ १०१॥

अर्थ—चरणोंको धोकर और कुटुम्बसहित आप भी उस जल-(चरणोदक-)को पीकर अपने पितरोंको भवसागर पार करके तब प्रसन्नतापूर्वक प्रभुको गंगापार ले गया॥ १०१॥

पु० रा० कु०—'परिवारभरको चरणामृत पिलाया, यह समझकर कि फिर ऐसा योग नहीं लगनेका। ***'पितर पारु करि'*** से सूचित किया कि तर्पण किया। —यहाँ चपलातिशयोक्ति अलंकार है।'

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता। सीय रामु गुह लषन समेता॥ १॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिं* कछु दीन्हा॥ २॥
पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥ ३॥
कहेउ कृपाल लेहि उतराई। केवट चरन गहे अकुलाई॥ ४॥

अर्थ—गुह (निषादराज) और लक्ष्मणजीसहित सीताजी और रामचन्द्रजी (नावसे) उतरकर गंगाजीकी रेत-(बालू-)पर खड़े हुए॥ १॥ (तब) केवट-(नाव खेनेवाले-)ने उतरकर दण्डवत् किया। (दण्डवत् करते देख) प्रभु श्रीरामजीको संकोच हुआ कि इसे कुछ दिया नहीं॥ २॥ पतिके हृदयकी जाननेवाली श्रीसीताजीने प्रसन्न मनसे मणिकी अँगूठी (अँगुलीसे) उतारी॥ ३॥ कृपालु श्रीरामजीने केवटसे कहा कि उतराई लो। (यह सुनकर) केवटने घबड़ाकर प्रभुके चरण पकड़ लिये (और बोला)॥ ४॥

नोट—१ ***'उतरि ठाढ़ भए·····'*** इति। यहाँ उतरनेका क्रम दिखाया। प्रथम श्रीसीताजी, तब श्रीरामजी, तत्पश्चात् गुह और अन्तमें लक्ष्मणजी। वाल्मी० और अ० रा० में चढ़नेका क्रम दिया है, पर दोनोंमें भेद है। मानसमें चढ़नेका क्रम नहीं है। उतरनेपर चारोंके नाम इस क्रमसे हैं।

नोट—२ ***'केवट उतरि दंडवत कीन्हा·····'*** इति। (क) सेवा करनेके पश्चात् दण्डवत्-प्रणाम करनेकी रीति है। राजाओं, रईसोंके यहाँ इसका अर्थ यही लिया जाता है कि बखशीश मिलनी चाहिये। (ख) ***'प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा'*** इति। —श्रीरामजीकी उदारता, शील, संकोच और कृतज्ञताकी हद है। केवटके पितृगण भवपार हुए, वह स्वयं परिवारसहित मुक्त हुआ—इस मुक्ति-दानको प्रभुने उसकी खेवाईकी मेहनतके आगे 'कुछ नहीं' समझा। श्रीरघुनाथजीकी दृष्टिमें भक्तको देनेमें भुक्ति-मुक्ति कुछ पदार्थ नहीं है। देखिये, विभीषणको लंकाका राज्य देनेपर भी प्रभुको संकोच ही रहा कि हमने इन्हें कुछ न दिया—***'जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिए दस माथ। सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥'*** (५। ४९)—सोचे कि यह तो इसीके घरकी थी, दूसरे अब वह जली हुई है। वैसे ही वे सोचते हैं कि मुक्ति तो निशाचरोंको भी देते हैं, इसे मिली तो क्या बड़ी बात हुई? दूसरे, प्रभुका स्वभाव है कि दिये हुए दानको भूल जाते हैं—***'निज गुन अरिकृत अनहितो दास दोष सुरति चित रहति न दिए दान की। बानि बिसमरन सील है मानद अमान की॥'*** (विनय० ४२) ☞ सब कुछ देकर भी अपनेको अपने स्नेही भक्तका ऋणी माननेवाला प्रभु रामचन्द्रके सिवा दूसरा कौन है। यह दिखाकर गोस्वामीजी भक्तोंकी अनन्यता दृढ़ कर रहे हैं।

पंजाबीजी लिखते हैं कि प्रभुने सोचा कि मुक्ति तो शत्रुको भी देते हैं इसको अकेली मुक्ति कैसे दूँ; अतएव सोचते हैं कि इसको चारों पदार्थ दें। सीताजीने प्रभुके मनकी जानकर चिन्तामणिमयी अँगूठी उतारी, जिससे अर्थ, धर्म, काम तीनों वह प्राप्त कर सकेगा।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि प्रभु राजकुमार हैं, जानते हैं कि आज्ञापालनके बाद प्रणाम करनेपर इनाम दिया जाता है। केवटकी तो जीविका ही पार उतारकर उतराई लेना है। पार उतारकर दण्डवत् करनेपर बखशीश देना प्राप्त है। सरकार घरसे लेकर कुछ चले नहीं, अतः उतराई न देनेका संकोच है।

* कछु नहिं—रा० प्र०।

नोट—३ *'पिय हिय की सिय''''''उतारी'* इति। (क) यहाँ माताके सिखावनको कि *'पतिरुख लखि आयेसु अनुसरेहू।'* (१। ३३४। ५) को चरितार्थ किया। पतिके मनकी बात जानकर उसके अनुकूल उन्होंने सेवा की। बड़े प्रसन्न मनसे अँगूठी उतार दी, जिससे प्रभुका संकोच दूर हो गया। मणिकी मुद्रिका देनेका भाव (१०१। ६) में लिखा गया है। आजकलकी बहुत-सी स्त्रियाँ ऐसी हालतमें तो पतिपर और जल ही उठें कि रही-सही वह भी लिये लेते हैं। (ख) *'मन मुदित उतारी'* का भाव यह कि केवट अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष जो चाहे सो पत्र लिखकर इस मणिमुदरीसे छाप लगाकर अपने पास रखे या और भी जिसे देना चाहे मुहरछाप लगाकर दिया करे। (रा० प्र०) पुन: भाव कि उद्भव-स्थिति-संहार करनेवाली सीताजी मुदरी नहीं देतीं, मानो मोहर देती हैं कि अब तेरे निकट माया न आवेगी, अविद्यारूपी मोह अब कभी तुझे न होगा। (पु० रा० कु०)

नाथ आजु मइ काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥ ५॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि[1] भूरी॥ ६॥
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरें। दीन दयाल अनुग्रह तोरें॥ ७॥
फिरती बार मोहि जो[2] देबा। सो प्रसादु मइँ सिर धरि लेबा॥ ८॥

शब्दार्थ—**मइ**=मैं! दारिद (दारिद्र्य)=दरिद्रता, कंगालपन। **मजूरी**=मजदूरी। **बनि** (बन्धी)=मजूरी—यह शुद्ध अवधी शब्द है—(दीनजी) **भलि भूरी**=भली प्रकार बहुत-सी, एकदम भरपूर।=अच्छी और भरपूर।

अर्थ—हे नाथ! आज मैंने क्या नहीं पाया अर्थात् सभी कुछ तो मुझे मिल गया, अब क्या बाकी रहा? मेरे दोष, दु:ख और दरिद्रतारूपी दावानल आज मिटे॥ ५॥ मैंने बहुत काल मजदूरी की, विधाताने आज अच्छी और एकदम भरपूर मजूरी दे दी॥ ६॥ हे नाथ! हे दीनदयाल! अब आपका अनुग्रह होनेसे मुझे और कुछ न चाहिये॥ ७॥ लौटते समय जो कुछ प्रसाद आप मुझे देंगे वह मैं सिरपर धारण करके लूँगा॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा कि केवटने घबड़ाकर चरण पकड़ लिये। भाव यह कि वह लेना नहीं चाहता। चरण पकड़कर वह जनाता है कि (१)—'क्या आपके दर्शन होनेपर भी भोगकी इच्छा रहती है? अब मुझे ठगिये नहीं। इससे सूचित करते हैं कि ईश्वरकी भक्ति करनेसे मुक्ति और भुक्ति आप-ही-आप प्राप्त हो जाती है। (२) मैं शपथ कर चुका हूँ कि मैं उतराई नहीं चाहता तो आप मुझे 'मुदरी' देकर झूठा बनाना चाहते हैं। अथवा, (३)—ऐसा करके वह टालना चाहता है। इसीसे कहता है कि मैं सब कुछ तो पा गया, अच्छा, लौटती बार जो देंगे सो लूँगा।

(ख)—*'मिटे दोष दुख दारिद दावा'* इति।—दोष अनेक प्रकारके पूर्वकर्मोंका। दु:ख तीन प्रकारके—दैहिक, दैविक, भौतिक। *'दावा'* (दवाग्नि, अग्नि) दोष, दु:ख और दारिद तीनोंके साथ है। (दोष-पाप। पापसे दु:ख होता है, यथा—*'करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग।'* दोष-दु:ख मिटे अर्थात् कारण और कार्य दोनोंका नाश आपके चरणस्पर्शसे हो गया। दु:खोंमेंसे दारिद्र्य भी दु:ख है, पर इसे पृथक् भी कहा; क्योंकि इससे बढ़कर दु:ख नहीं है, यथा—*'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।'* (७। १२१। १३) दोषादिको *'दावा'* कहनेका भाव कि आजतक मैं पाप और दु:खोंसे संतप्त रहा हूँ, आज वह जलन दूर हुई।)

नोट—१ *'बहुत काल मैं कीन्ह मजूरी।'''''* इति। अर्थात् अनेक जन्मोंसे मजूरी करता दु:ख-दोषसे संतप्त रहा, आज आपकी मजूरी की तब पेट भरा, ताप दूर हुए। (पं०) साधारण भाव यह है कि केवटका जन्म लेकर आजतक नाव खेता रहा, पर भरपूरसे भी अधिक उतराई आज ही मिली है। मैं, मेरा परिवार और पुरुखे सब तर गये।

१-भरि—रा० प्र०।
२-जो कछु—रा० प्र०।

टिप्पणी—२ *'अब कछु नाथ न चाहिअ·····'* इति। केवटको श्रीरामदर्शनसे सहज स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी। प्रभुका वाक्य है कि *'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥'* अब अँगूठी लेनेसे स्वरूपमें भ्रम वा मोह हो जानेका भय है। इसीसे वह घबड़ा गया। इसी प्रकार जब श्रीसीताजीकी सुध लाकर हनुमान्‌जीने सुनायी और प्रभुने कहा कि *'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचारि मन माहीं····॥'* तब हनुमान्‌जीने घबड़ाकर चरण पकड़ लिये हैं। यथा—*'सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत। चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥'* अर्थात् हे प्रभु! आपके वचनोंसे मुझे मोह होनेका भय है, इससे मेरी रक्षा कीजिये। विभीषणजीको जब दर्शन और शरणकी प्राप्ति हो गयी तब उन्होंने भी कहा है कि *'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभुपद प्रीति सरित सो बही॥'* (५। ४९। ६) अर्थात् अब सब इच्छाएँ पूर्ण हो गयीं, वैसे ही केवट कह रहा है। *'अनुग्रह तोरे'* से यह आशय निकलता है कि आपकी कृपा होनेसे कुछ वासना नहीं रह गयी। अब यह कृपा सदैव बनाये रखियेगा।

टिप्पणी—३ (क) *'फिरती बार मोहि जो देबा।·····'* इति। न लेनेका कारण कि—(१) शपथ कर चुका है। वा, (२) ये वानप्रस्थ धर्म पालन कर रहे हैं, वनको जा रहे हैं; इस समय लेना उचित नहीं। वा, (३) हमको परिवार और पुरुषोंसमेत भवपार आपने किया, हमने गंगा-पार किया, दोनों बराबर हो गये* अब जब फिर आकर उतरेंगे तब उतराई लूँगा, क्योंकि मुझे तो एक ही बार उतरना है। वा, (४) भगवान्‌को ऋणी बनाये रखता है, जिसमें फिर इसी घाटपर आकर उतरें। (पाँड़ेजी)

(ख) *'सो प्रसादु'* का भाव यह कि मजूरी तो तब भी मुझे नहीं चाहिये, प्रसाद आपका चाहिये, सो जो प्रसाद (प्रसादस्तु प्रसन्नता) आप देंगे वह आदरपूर्वक लूँगा। *'मोहि जो देबा'* अर्थात् यदि प्रभु कहें कि लौटते समय अँगूठी न रही तो क्या देंगे, उसपर कहता है कि जो कुछ आप देंगे वही आपका प्रसाद मैं खुशीसे लूँगा।

(ग) जिनके मतानुसार यह नाविक और निषादराज एक ही हैं वे कहते हैं कि लौटनेपर राजगद्दीके बाद प्रभुने इसे वह प्रसाद दिया, यथा—*'दीन्हें भूषन बसन प्रसादा।'*

दो०—बहुत कीन्ह प्रभु लषन सिय नहिं कछु केवट लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥ १०२॥

शब्दार्थ—'**बहुत कीन्ह**'=बहुत आग्रह या उपाय किये; बहुत समझाया। '**बिमल**'=विशुद्ध, निष्काम।

अर्थ—प्रभुने,लक्ष्मणजीने और श्रीसीताजीने बहुत (आग्रह वा उपाय) किया पर केवट कुछ नहीं लेता। तब करुणाके स्थान श्रीरामचन्द्रजीने निर्मल भक्तिका वरदान देकर उसे विदा किया॥ १०२॥

☞* यहाँ दिखाते हैं कि जिसमें ऐसा वैराग्य होता है कि मूर्तिमान् लक्ष्मीके देनेपर भी नहीं लेता, जो ऐसा निष्काम होता है उसपर प्रभु, आचार्य (लक्ष्मणजी) और श्रीजी प्रसन्न होती हैं और तभी प्रभु अपनी भक्ति देते हैं। श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीजी भोगपदार्थ देते रहे, न लेनेपर भक्ति मिली। यह विशिष्टाद्वैत मत हुआ। (पुं० रा० कु०) नाव खेनेवालेको यहाँ विदा कर दिया, पर निषादराज अभी साथ हैं। प्रसादमें विमल 'भक्ति' उसे अभी मिल गयी, क्योंकि लौटती बार नावपर पार नहीं उतरना है, पुष्पक विमानसे ही आवेंगे।

'करुनायतन' विशेषण दिया क्योंकि जो विशुद्ध भक्ति नारद-सनकादिकको भी दुर्लभ है वह इसको कृपा करके दी। (पु० रा० कु०) निर्मल भक्ति भगवान्‌की कृपासे ही मिलती है। यथा—*'अबिरल भगति बिसुद्ध तब श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥'* (७। ८४)

---

* किसी कविने कहा—'तुम हो तरनि कुल पालन करनहार हमहूँ तरनि ही के पालन करैया हैं। भीम भवसागरके सुघर खेवैया आप हमहूँ सदैव देवसरिके खेवैया हैं। कौतुकी कुपंथनिको पार करवैया नाथ हौं तो जगपावनिको पार करवैया हैं। हम तुम भैया एक कर्मके करैया राम केवट सो केवट न लेत उतरैया है।' (रा० बा० दास मालवीय)

श्रीमद्भागवतमें भी यही बात यों कही गयी है—'**सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः। स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्॥**' (५।१९।२७) अर्थात् यह सत्य है कि भगवान् सकाम पुरुषोंको माँगनेपर अनेक अभीष्ट पदार्थ देते हैं, किंतु यह असली पदार्थ नहीं है, क्योंकि उन्हें फिर भी कामनाएँ होती ही रहती हैं। इसके विपरीत जो उनका निष्कामभावसे भजन करते हैं, उन्हें तो वे साक्षात् अपने चरणकमल ही दे देते हैं, जिन्हें पाकर मनुष्यकी सभी कामनाएँ सदाके लिये पूर्ण हो जाती हैं।

वि० त्रि०—सीताजीने समझ लिया कि प्रभुको उतराई न देनेका संकोच है, अतः मणिमुदरी उतारकर प्रभुको उतराई देनेके लिये दिया। प्रभुने कहा कि उतराई लो। केवट तो सुनकर व्याकुल हो गया, चरण पकड़ लिया कि सरकार क्या कर रहे हैं? मैं संसारमें कौन मुख दिखलाऊँगा? लोग कहेंगे कि ऐसा दुष्ट है कि उतराईके लिये स्त्रीका गहना उतरवा लिया। सरकारने देखा कि यह मेरे हाथसे न लेगा, तब लक्ष्मणजीसे कहा कि तुम दो, लक्ष्मणजीके भी बहुत प्रयत्न करनेपर जब उसने नहीं लिया, तब यह बात ठहरी कि जिसका गहना है वही दे। तब सीताजी देने लगीं, पर उसने नहीं ही लिया। कहने लगा कि लौटते समय जो सरकार देवेंगे, उसे शिरोधार्य करेंगे। पर नीति यह है कि '**आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्यैव कर्मणः। क्षिप्रमेव प्रकर्तव्यं कालो विवर्ति तद्रसः॥**' जो देना-लेना हो, जो करना हो, उसे तुरन्त कर डाले और केवटको बहुत प्रलोभन दिया गया पर वह लेता नहीं, अतः उसे सांसारिक भोगोंसे निःस्पृह देखकर विमल भक्ति दी।

'बिपिन गवन केवट अनुरागा'—प्रकरण समाप्त हुआ।

'सुरसरि उतरि निवास प्रयागा' प्रकरण

तब मज्जनु करि रघुकुलनाथा। पूजि पारथिव नायउ माथा॥ १॥
सिय सुरसरिहि कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरउबि मोरी॥ २॥
पति देवर सँग कुसल बहोरी। आइ करउँ जेहि पूजा तोरी॥ ३॥
सुनि सिय बिनय प्रेमरस सानी। भइ तब बिमल बारि बर बानी॥ ४॥

शब्दार्थ—**पारथिव** (पार्थिव)=पृथ्वी-सम्बन्धी, मिट्टीका शिवलिंग जिसके पूजनका बड़ा फल माना जाता है। (वि० त्रि० की टिप्पणी देखिये) **पुरउबि**=पूर्ण कीजिये। **देवर**=पतिका छोटा भाई।

अर्थ—तब(केवटको विदा करके) रघुकुलके स्वामी श्रीरामजीने स्नान करके पार्थिवपूजन करके प्रणाम किया॥ १॥ श्रीसीताजीने गंगाजीसे हाथ जोड़कर कहा—हे माता! मेरा मनोरथ पूरा कीजिये, जिसमें स्वामी और देवरके साथ कुशलसे लौट आकर फिर आपकी पूजा करूँ॥ २-३॥ सीताजीकी प्रेमरसमें सनी हुई प्रार्थना सुनकर तब उस निर्मल श्रेष्ठ जलसे यह श्रेष्ठ वाणी हुई॥ ४॥

नोट—१ मृत्तिकाके महादेव बनाकर पूजन किया—विघ्न-निवारण-हेतु; अथवा इसलिये कि शिवजी रावणके इष्टदेव हैं। रावणको वध करने जा रहे हैं, अतः शिवकी प्रसन्नताके लिये पूजन किया। (पां०) अथवा, यह भी एक दिनचर्या है। इत्यादि। (रा० प्र०, पु० रा० कु०) श्रीरामजीने पार्थिव-पूजन किया और श्रीसीताजीने गंगा-(शिवशक्ति-)की वन्दना की। (पु० रा० कु०) ☞ रामजीका पार्थिव-पूजन करना कहा, लक्ष्मणजीका पूजन न कहा, इससे जनाया कि वे श्रीरामजीके अनन्यभक्त हैं, इनके सिवा दूसरेको जानते ही नहीं। पुनः ऐतिहासिक दृष्टिसे ऐसा कहा जाता है कि रामजीसे माधुर्यमें शिवजीका पूजन लोकसंग्रह और शैववैष्णवविरोध मिटानेके लिये जहाँ-तहाँ लिखा गया है। श्रीरामजीने जब रघुवंशमें मनुष्य-अवतार लिया तब नर-राजकुमारकी हैसियतसे शिवपूजन करना भी उचित ही है—***'जस काछिय तस चाहिय नाचा'***। इसीसे पूजन करनेमें 'रघुकुलनाथ' विशेषण दिया। कुलमें शिवजीका पार्थिव-पूजन होता है, यह उस कुलके नाथ हैं, अतः इन्होंने भी किया।

वि० त्रि०—'**आयुष्मान् बलवान् श्रीमान् पुत्रवान् धनवान् सुखी। वरमिष्टं लभेल्लिङ्गं पार्थिवं यः समर्चयेत्। तस्मात्तु पार्थिवं लिङ्गं ज्ञेयं सर्वार्थसाधकम्॥**' पार्थिव-पूजनसे मनुष्य आयुष्मान्, बलवान्, श्रीमान्, पुत्रवान्, धनवान् और सुखी होता है और उसे इष्ट वर मिलता है, इसलिये पार्थिव-पूजन सर्वार्थसाधक है। सरकारने स्वयं पूजन करके गृहस्थोंके लिये अल्पायासमें महान् फल देनेवाले इस पूजनका उपदेश दिया। सरकारके इस वचनपर ध्यान देनेसे कि *'औरउ एक गुपुत मत सबहिं कहौं कर जोरि। संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि॥'* पार्थिव-पूजन सभीके लिये अति उपयोगी सिद्ध होता है। पूजन-विधि भी बहुत ही सरल है, यथा—'**हराय नमः, मृदाहरणम्। महेश्वराय नमः, संघट्टनम्। शूलपाणये नमः, स्थापनम्। पिनाकपाणये नमः, आवाहनम्। शिवाय नमः, स्नानम्। पशुपतये नमः, पूजनम्। महादेवाय नमः, विसर्जनम्।**'

'शिव-पूजन'

आदिकवि वाल्मीकिजीके ग्रन्थमें शिवपूजनका उल्लेख नहीं पाया जाता। इसी कारण कट्टर वैष्णव पार्थिव-पूजन इत्यादिपर नाक-भौं सिकोड़ते हैं और कोई-कोई तो गोस्वामीजीको शैव कह बैठते हैं। कुछ लोगोंका मत है कि इतिहासके देखनेसे पता चलता है कि गोस्वामीजीने स्थान-स्थानपर शिवजीका पूजन इत्यादि क्यों वर्णन किया है और किस आधारपर? इस विषयपर बहुत-से महानुभावोंने अपने विचार प्रकट किये हैं। वे ही यहाँ उद्‌धृत किये जाते हैं।

१—पं० यादवशंकर जामदार—(i) 'गोसाईंजीने भक्तिकी प्राप्तिके प्रधान साधन पाँच प्रकारके बतलाये हैं। उनमेंसे प्रथम चार—विप्रचरणसेवन, सत्संग, नामजप और हरिभजन तो सभी ग्रन्थों और संतोंने बताये हैं; अतः इनके सम्बन्धमें विशेष चर्चाकी आवश्यकता नहीं। पाँचवाँ साधन शिवोपासना है—इसीपर थोड़ा विचार करना है। इस मतके सम्बन्धमें गोसाईंजीने श्रीमद्भागवतका ही सहारा लिया है। '**वैष्णवानां यथा शम्भुः**' भागवतकी इस उक्तिको प्राधान्य देकर और शैव-वैष्णवोंके आपसी दुराग्रहोंपर ध्यान पहुँचाकर स्वामीजीने इस साधनपर यदि जोर दिया हो तो बड़ा ही योग्य समझना चाहिये। कारण उस द्वेषका निवारण उनके लोकशिक्षाके कार्यक्षेत्रमें एक प्रधान भाग था।

अन्तमें कथन यही है कि स्वामीजीने भक्तिकी विशेषता संक्षेपसे परंतु परिपूर्णतासे इस प्रकार कही है—

'राम भगति बिनु सब सुख कैसे। लवन बिना बहु ब्यंजन जैसे॥'

(ii)—'सेतुबंधरामेश्वर-वर्णन'—यह प्रसंग वाल्मीकीयमें नहीं है। यह अध्यात्मसे लिया गया है। परन्तु स्वामीजीने '**मद्भक्तः शंकरद्वेष्टा मद्द्वेष्टा शंकरप्रियः। तौ नरौ नरकं यातो यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥**' इस पौराणिक श्लोकका ही शब्दतः भाषान्तर करके उसमें अध्यात्मकी अपेक्षा अपनी ओरसे कुछ विशेष बातें मिला दी हैं और परस्पर द्वेष बढ़ानेवाले शैव-वैष्णवोंके कान खोल दिये हैं।

२—बाबू शिवनन्दनसहाय (आरा)—'गोस्वामीजी धन्य हैं कि ऐसे समयमें जब कि अत्याचारियोंका खड्ग चतुर्दिक् चमाचम चमकता हुआ सर्वदा हिंदुओंका विशेषतः तीर्थस्थ हिंदुओंका कलेजा कँपाया करता था, जब मत-मतान्तरके झगड़ोंसे लोगोंकी बुद्धि भ्रमित हो रही थी, जब वैष्णवगण शैवोंसे विरोध करनेहीमें ईश्वरकी प्रसन्नता समझते थे, जब शैव वैष्णवोंसे द्वेष रखनेहीमें अपनी धर्मज्ञता मानते थे, जब रामोपासक तथा कृष्णोपासकमें भी वैमनस्य आ घुसा था और लोग एक-दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे थे, केवल अपनी बुद्धि और लेखनीके बलसे अत्याचारियोंका दर्प चूर्ण और मान मर्दनकर स्वदेशियोंको सच्चे धर्ममार्गमें अटल रखनेका ऐसा दृढ़ तथा प्रबल उद्योग किया जिससे लोग आजतक लाभ उठा रहे हैं तथा आगे भी उठाते ही जायँगे; क्योंकि गोस्वामीजीके जीवित कालकी अपेक्षा आज उनकी रचनाएँ हिंदूधर्म एवं जगत्‌पर निश्चय अधिकतर प्रभाव दिखा रही हैं.....'।

तत्कालीन मत-मतान्तरकी भभकती हुई ज्वालाको आपने अपने शीतकर उपदेश-सलिलसे ऐसा ठंढा किया कि फिर वह प्रबलरूपसे कदापि प्रज्वलित नहीं होने पायी। रामायणमें जहाँ देखिये वहाँ यही पुकार है कि श्रीराम तथा शिवमें द्वेषबुद्धि नहीं, श्रीशिवजी रामजीको हृदयासनपर बिठाये हुए हैं और कह रहे

हैं—*'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ'; 'सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी।'* एवं श्रीरामचन्द्र श्रीरामेश्वरकी स्थापना करते हैं और कह रहे हैं—*'सिव द्रोही मम दास कहावइ। सो जन सपनेहु मोहि न भावइ॥'* श्रीराम तथा शिवमें उन्होंने कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलाया है वह इसी आधी चौपाईसे प्रकट है—*'सेवक स्वामि सखा सियपीके।'''''* पं० सत्यदेवजीने बहुत ठीक लिखा है कि 'जैसे अंकिल टाम्सकेबिनका उपन्यास उत्तरीय तथा दक्षिणीय अमेरिकासे हब्शी गुलामोंका वाणिज्य रोकनेका कारण हुआ, जैसे हालहीमें अपृनसिंक्लयरने अपने उपन्यासके बलसे शिकागोके कसाई-घरका सुधार कराया''''वैसे ही गुसाईंजीकी रचनाओंने शैव तथा वैष्णवोंके परस्पर द्रोह एवं रामोपासक तथा कृष्णोपासकके परस्पर वैमनस्य और राग-द्वेषको दूर कर एवं हिंदूधर्मकी श्रेष्ठता पूर्वरूपेण प्रतिपादित कर देशको महान् लाभ पहुँचाया।

३ पं० रामचन्द्र शुक्ल—रामचरितमानसके प्रसादसे उत्तर भारतमें साम्प्रदायिकताका वह उच्छृंखलरूप अधिक न ठहरने पाया, जिसने गुजरात आदिमें वर्णके वर्गको वैदिक संस्कारोंसे एकदम विमुख कर दिया था, दक्षिणमें शैवों और वैष्णवोंका घोर द्वन्द्व खड़ा किया था। यहाँकी किसी प्राचीन पुरीमें शिवकांची और विष्णुकांचीके समान और अलग-अलग बस्तियाँ होनेकी नौबत नहीं आयी। यहाँ शैवों और वैष्णवोंमें मारपीट कभी नहीं होती। यह सब किसके प्रसादसे? भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीके प्रसादसे। उनकी शान्तिप्रदायिनी मनोहर वाणीके प्रभावसे जो सामंजस्य-बुद्धि जनतामें आयी, वह अबतक बनी है और जबतक रामचरितमानसका पठन-पाठन रहेगा तबतक बनी रहेगी।

शैवों और वैष्णवोंके विरोधके परिहारका प्रयत्न रामचरितमानसमें स्थान-स्थानपर लक्षित होता है। ब्रह्मवैवर्त पुराणके गणेश-खण्डमें शिव हरिमन्त्रके जापक कहे गये हैं, उसके अनुसार उन्होंने शिवजीको रामका सबसे अधिकारी भक्त बनाया, पर साथ ही रामको शिवका उपासक बनाकर गोस्वामीजीने दोनोंका महत्त्व प्रतिपादित किया। रामके मुखारविन्दसे उन्होंने स्पष्ट कहला दिया कि—*'सिवद्रोही मम दास कहावै। सो नर सपनेहु मोहि न भावै॥'* वे कहते हैं कि *'संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास'* मुझे पसंद नहीं।

इस प्रकार गोस्वामीजीने उपासना या भक्तिका केवल कर्म और ज्ञानके साथ ही सामंजस्य स्थापित नहीं किया, बल्कि भिन्न-भिन्न उपास्य देवोंके कारण जो भेद दिखायी पड़ते थे उनका भी एकमें पर्यवसान किया। इसी एक बातसे यह अनुमान हो सकता है कि उनका प्रभाव हिंदू-समाजकी रक्षाके लिये उसके स्वरूपको रखनेके लिये कितने महत्त्वका था।

४—अन्य कुछ लोगोंका मत है कि यह कहना कि गोस्वामीजीने शैव-वैष्णव-विरोधके मिटानेके लिये स्थान-स्थानपर श्रीरामजीद्वारा शिव-सम्मान ठूँस-ठूँस दिया है, सर्वथा अनुचित है। शिवजी परम भागवत हैं, यथा—**'वैष्णवानां यथा शम्भुः।'** (भा० १२। १३। १६) उनका घरभर परम वैष्णव है, रामनाम और रामचरितमानसके वे आचार्य हैं। रामनामहीका घरभरको अवलम्ब है, नामहीसे काशीमें मुक्ति देते हैं, ऐसे परम भागवतका भजन-स्मरण यथार्थ ही है। प्रभुका उनका पूजन-स्मरण नरनाट्यमें उचित ही है और यही तो माधुर्य लीला है—यही तो *'सुरहित दनुजबिमोहनकारी'* है। पुनः, ऐश्वर्यमें भगवान् अपने भक्तको भजते हैं, यथा—*'जग जप राम राम जपु जेही।'* जो कुछ गोस्वामीजीने लिखा है उसका प्रमाण ग्रन्थान्तरोंमें पाया जाता है।

५—गौड़जी—सम्प्रदाय-भेदके जैसे झगड़े आज चल रहे हैं, भिन्नरूपसे किंतु उसी प्रकारसे गोस्वामीजीके जन्मके बहुत पहलेसे चल रहे थे। उनके सामने ही काशीजीमें शैवों, वैष्णवों, हिंदुओं, मुसलमानोंके झगड़े जोरोंपर थे। हिंदू-मुसलमानोंका झगड़ा किसी हदतक कबीरदासजीने सुलझाया था, परंतु वह अपने गूढ़ पदोंमें, जिनके और भी अर्थ लग सकते हैं, ऐसे भी वाक्य लिख गये जिनसे अवतारवादका खण्डन हो जाता है। साथ ही शैवों-वैष्णवोंका झगड़ा भी नहीं सुलझता। कबीरदासजी हिंदू-शास्त्रोंके पण्डित भी न थे और न हिंदू-मुस्लिम-एकताके लिये पण्डिताई काम आती। उन्होंने युक्तिसे ही राम और रहीमको एक सिद्ध किया।

गोस्वामीजीका जन्म ही इसीलिये हुआ कि वह शैवों, वैष्णवोंके झगड़े सुलझा दें, भगवान् शंकरके प्रकृत राम-भक्तिदाता-रूपको प्रतिपादित करें और सनातन हिंदू-धर्मकी रक्षा करें तथा अत्यन्त सुलभ और सुगमरूपमें जनताके लिये उसे बोधगम्य कर दें। इन पाँचों कामोंको रामचरितमानसके अवतारने पूरा किया, समय-समयपर लोकसंग्रहके लिये भगवद्विभूतिका आविर्भाव होता ही है। श्रीरामचरितमानसका भी अवतार इसी प्रयोजनसे हुआ।

गोस्वामीजीने समयकी आवश्यकता देखकर अपनी ओरसे शिव-विष्णुकी एकताकी चेष्टामें अनेक प्रमाण और कथाएँ गढ़ी हैं, यह कहना अपने इतिहासों, पुराणों, श्रुतियों और स्मृतियोंकी अनभिज्ञताके सिवा और कुछ नहीं है। एक तो रामचरितमानस स्वयं भगवान् शंकरकी रचना है, गोस्वामीजीने भाषाबद्धमात्र किया है। दूसरे यह कि उसमें एक भी घटना प्रमाणरहित नहीं है। अनेक स्थलोंपर तो श्लोकोंके अविकल अनुवाद हैं। युगके अनुसार जनताकी शिक्षा और लोकसंग्रहके लिये परमात्मा तदनुकूल उपायोंको अपनी विभूतिके किसी-न-किसी रूपमें प्रकट करता है। कट्टर श्रीसम्प्रदायके उन आचारियोंके लिये जिनकी रसोई त्रिपुण्ड्रके दर्शनसे वा शैवके दर्शनसे उसी तरह अपवित्र हो जाती है, जैसे चाण्डालके दर्शनसे, भगवान्ने अपने श्रीमुखसे कहा है—***'औरउ एक गुपुतमत सबहि कहौं कर जोरि। संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥'***

यहाँ भगवान् सबसे ***'कर जोरि'*** क्यों कहते हैं। प्रभुओंके महाप्रभुके इस अत्यन्त विनम्र वचनका बहुत गम्भीर आशय है। कोई भगवत्-शरणागत होकर, भगवद्भजन करके अथवा अन्य प्रकारसे योग, यज्ञ, तप, जप करके मुक्ति या मोक्ष अथवा कैवल्यपदतक भले ही पा जाय, परंतु बिना भगवान् शंकरके भजनके भगवान्‌की भक्ति नहीं पा सकता। भक्तिके पाँचों रसोंके परमदेवता, आचार्य और आदर्श भगवान् शंकर हैं। प्रत्युत वास्तवमें स्वयं परात्पर भगवान्ने शंकररूपसे भक्तिके पाँचों रूपोंका आदर्श दिखानेके लिये अवतार लिया है। शृंगाररसको शिव-शक्तिरूपमें, शान्तरसको महायोगीश्वर शंकरके रूपमें, वात्सल्यरसको जगत्पिता-माता गिरिजा-परमेश्वर तथा वत्स और कुमारके रूपमें, सख्य और दास्यको पवनसुतके रूपमें प्रकट किया है। इन रूपोंमेंसे प्रत्येकमें रामनाम और रामरूपकी भक्तिकी पराकाष्ठा दिखा दी है। नारदविमोहके प्रसंगमें श्रीमुखसे कहते हैं—***'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे। असि परतीति तजहु जनि भोरे॥ जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥ अस उर धरि महि बिचरहु जाई। अब न तुम्हहि माया नियराई॥'*** भगवान् शंकरकी नेक सलाह भगवान् नारदने नहीं मानी थी। उसीका दण्ड था। भुशुण्डिके शापानुग्रहपर भगवान् शंकर क्या कहते हैं—***'रघुपतिपुरी जन्म तव भएऊ। पुनि तइँ मम सेवा मन दएऊ॥ पुरी प्रभाउ अनुग्रह मोरे। रामभगति उपजिहि उर तोरे॥'***

अपने स्वरूपकी प्राप्ति मोक्षमें भी है और भक्तिमें भी। परंतु मोक्ष तो बन्धनसे अलग होकर ही सम्भव है। भगवान्‌की लीलासे अलग होकर ही सम्भव है। परंतु भक्तिमणिमें भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित रहते हुए स्वरूपकी प्राप्ति है। इस अनमोल मणिके खजान्ची भगवान् शंकर ही जगद्गुरु, जगत्-जनक-जननी, जगदात्मा हैं। रामचरितमानस शैवों, वैष्णवों, शाक्तों, सौरों, गाणपत्यों अर्थात् समस्त सम्प्रदायोंके भारी भ्रमके परदेको हटानेके लिये अवतरित हुआ। इसमें शिव और रामकी एकता किसी रियायतसे या किसी कूटनीतिसे नहीं रखी गयी है। जो भ्रमोच्छेदक परम सत्य है वही दिखाया गया है। भगवान् हाथ जोड़कर बड़ी नम्रतासे भक्तोंके इस सुरक्षित भ्रमके परदेको फाड़ते हैं। इस भगवद्वचनामृतके सिवा जगह-जगहपर भगवान् शंकरकी कृपाकी मानसभरमें चर्चा भरी पड़ी है। ***'ईसप्रसाद' 'शम्भुप्रसाद' 'भए ईस अनुकूल'*** इत्यादि यत्र-तत्र इसीकी घोषणा करते हैं। आरम्भमें भवानी-शंकरकी वन्दनामें ही कहा है—**'याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।'** रामचरितमानसका यह खास उद्‌देश्य है कि भक्ति-मणिके खजान्चीका ठीक पता बताये। 'रुद्रसम्प्रदाय' के वैष्णव वल्लभाचार्यजी महाप्रभु गोस्वामीजीके समकालीन थे। उनके तो साम्प्रदायिक मूल परमाचार्य भगवान् शंकर ही हैं। उनका मत भी यही है। परंतु गोस्वामीजीके तो ***'गुर-***

पितु मातु' महेश-भवानी थे। मानस उन्होंने उन्हींसे पाया और मानसके प्रतिपाद्य विषय भी भगवान् शंकरके ही हैं।

६—रघुकुलके कुल-इष्टदेव श्रीरंगभगवान् थे, यह *'निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना।'* से स्पष्ट है। (१। २०१। २) देखिये। साथ ही पंचदेवोंकी आराधना भी गोस्वामीजीके मतसे पायी जाती है। श्रीदशरथमहाराजके सम्बन्धमें मानसमें ये वचन हैं—*'इन्ह सम काहु न सिव अवराधे।'* (१।३१०।२) *'सुमिरि गजानन कीन्ह पयाना।'* (१।३३९।८) इत्यादि। श्रीभरतजीका भी शिवपूजन करना कहा गया है, यथा—*'सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना।'* (१५७। ७) दोनोंका महादेवजीको संकटके समय मनाना भी कहा है, यथा—*'सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी। बिनती सुनहु सदासिव मोरी॥ आसुतोष तुम्ह अवढर दानी। आरति हरहु दीन जनु जानी॥'* (४४। ७-८)।⋯', *'मागहिं हृदय महेस मनाई।'* (१५७। ८)

मानसमें प्राय: जो-जो विशेषण ब्रह्म, व्यापक, अन्तर्यामी आदि श्रीरामजीके लिये आये हैं वे सब विशेषण श्रीशंकरजीके लिये भी आये हैं। केवल एक ही भेद मानसमें मिलता है। वह है यह कि शंकरजी सतीजीका चरित ध्यान धरनेपर ही जान सके और श्रीरामजीने स्वत: जान लिया। जैसा, *'तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सबु जाना॥'* (१।५६।४) तथा *'सती कपट जानेउ सुरस्वामी। सबदरसी सब अंतरजामी॥'* (१। ५३। ३) ब्रह्म और भगवत्कृपाप्राप्त सिद्ध जीवोंमें भेद है। विशेष बालकाण्ड (५६ (४), ५३ (३), ५८ (८)) में देखिये।

श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि *'तुम्ह प्रेरक सबके हृदय सो मत रामहि देहु।'* (२। ४४) इन वचनोंसे शिवजीका कुल-इष्टदेव होना सिद्ध होता है, क्योंकि हर एक उपासक अपने इष्टदेवको ही ईश्वर, अन्तर्यामी, उरप्रेरक मानता है। शंकरजीकी साक्षी देना भी यही सिद्ध करता है। वे लिखते हैं कि 'शैव-वैष्णवादिका झगड़ा मिटानेके लिये श्रीमद्गोस्वामीजीने शिवभक्तिका वर्णन किया, ऐसा मानना बड़ी भूल है। इससे तो गोसाईंजीपर दाम्भिकताका ही आरोप होगा।'

नोट—२ *'सिय सुरसरिहि कहेउ कर जोरी।⋯तोरी'* इति। ऐसा ही वाल्मीकीयमें कहा है—'**मध्यं तु समनुप्राप्य भागीरथ्यास्त्वनिन्दिता। वैदेही प्राञ्जलिर्भूत्वा तां नदीमिदमब्रवीत्॥**' (२। ५२। ८२)।⋯'**चतुर्दश हि वर्षाणि समग्राण्युष्य कानने। भ्रात्रा सह मया चैव पुनः प्रत्यागमिष्यति॥ ततस्त्वां देवि सुभगे क्षेमेण पुनरागता। यक्ष्ये प्रमुदिता गङ्गे सर्वकामसमृद्धिनी॥**' (८४-८५)⋯' अर्थात् गंगाके बीचमें आकर सुन्दरी वैदेहीने हाथ जोड़कर गंगाजीसे यह कहा—चौदह वर्ष वनवासमें पूरे करके भाई और मेरे सहित ये पुन: लौटेंगे। उस समय कुशलपूर्वक लौटी हुई मैं सब मनोरथोंके पूर्ण होनेसे प्रसन्नतापूर्वक आपकी पूजा करूँगी। (ख) वाल्मीकीयमें ये वचन गंगापार होते समय बीच धारामें पहुँचनेके समय वे कहने लगीं और उस तटपर नावके पहुँचनेतक कहे गये हैं। श्लोक ८२ से ९१ तक उनके वचन हैं। मानसमें पार उतरनेके पश्चात् यह विनती की गयी है। (ग) सीताजीने लंकासे लौटकर पूजा की है, यथा—*'सुरसरि नाँघि जान तब आयो। उतरेउ तट प्रभु आयसु पायो॥ तब सीता पूजी सुरसरी। बहुप्रकार पुनि चरनन्हि परी॥'* (६। १२०। ७-८) और गंगाजीने आसिष भी दिया है—*'दीन्हि असीस मुदित मन गंगा। सुंदरि तव अहिवात अभंगा॥'*

नोट—३ *'सुनि सिय बिनय प्रेमरस सानी।⋯'* इति। इससे सूचित किया कि जब प्रार्थना प्रेमयुक्त होती है तब देवता उससे प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हैं। बालकाण्डमें गौरीजी भी *'विनय प्रेमवश'* होनेपर बोली थीं, वैसे ही यहाँ गंगाजी बोलीं। ऐसे ही ब्रह्माजीकी प्रेमभरी स्तुति सुननेपर *'गगन गिरा'* हुई थी—*'जानि सभय सुर भूमि सुनि बचन समेत सनेह। गगन गिरा गंभीर भइ⋯॥'* वैसे ही यहाँ भी प्रेमयुक्त विनय सुननेपर *'बिमल बारि बर बानी'* हुई। वीर कविजी लिखते हैं कि 'जलके जीभ नहीं है जो बोल सके। बिना जिह्वाके सुन्दर वाणीका रंजित होना 'प्रथम विशेष' अलंकार है।' यहाँ *'बिमल बारि⋯'* से नदीके अभिमानी देवताका बोलना समझना चाहिये।

सुनु रघुबीर-प्रिया बैदेही। तव प्रभाउ जग बिदित न केही॥ ५॥
लोकप होहिं बिलोकत तोरें। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें॥ ६॥
तुम्ह जो हमहिं बड़ि बिनय सुनाई। कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि बड़ाई॥ ७॥
तदपि देबि मइँ देबि असीसा। सफल होन हित निज बागीसा॥ ८॥
दो०—प्राननाथ देवर सहित कुसल कोसला आइ।
पूजिहि सब मन-कामना सुजसु रहिहि जग छाइ॥ १०३॥

अर्थ—हे रघुवीर श्रीरामजीकी प्रिया! हे विदेहनन्दिनी! सुनो। आपका प्रभाव संसारमें किसे नहीं मालूम है? ॥ ५॥ आपकी कृपा-दृष्टिसे लोग लोकपाल बन जाते हैं। सब सिद्धियाँ हाथ जोड़े आपकी सेवा करती हैं*॥ ६॥ आपने जो हमें बड़ी विनती सुनायी, यह कृपा की, मुझको बड़ाई दी॥ ७॥ तो भी, हे देवि! मैं अपनी वाणी (वाग्देवी) के सफल होनेके लिये आपको आशीर्वाद दूँगी॥ ८॥ प्राणपति और देवरसहित कुशलपूर्वक अवध लौटो, आपके सब मनोरथ पूरे होंगे, जगत्‌में सुन्दर यश रहेगा॥ १०३॥

नोट—१ ***'रघुबीर-प्रिया बैदेही'*** का भाव कि वीरोंकी स्त्रियोंको किसी प्रकार विघ्नका भय नहीं रहता और तुम तो रघुवीरकी प्रिया हो, तुमको भय और विघ्न कैसा और कहाँ? (रा० च० मिश्र) रघुवीर तो शरणागतमात्रको अभय करनेवाले हैं—***'त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर।'*** (५। ४५) ***'रघुबीर करुना सिंधु आरतबंधु जनरक्षक हरे।'*** (६। ८१) **'आपन्नानां परागतिः' 'आर्तानां संश्रयश्चैव'**, (यह वाल्मी० ४। १५ में ताराने बालिसे कहा है) इत्यादि। और आपकी सकुशल लौटनेकी विनय तो केवल मुझे बड़ाई देनेके लिये है। पुनः ***'रघुबीर-प्रिया'*** का भाव कि जिस धनुषने रावणादिका दर्पदलन किया था उसको अपने पराक्रमसे जिन्होंने सहजहीमें तोड़ डाला था उनकी आप प्रिया हैं। तब सकुशल लौटनेमें सन्देह ही क्या? आपने जो विनय की वह केवल मुझे बड़ाई देनेके लिये कि गंगाके आशीर्वादसे सब सकुशल लौटे।

नोट—२ (क) ***'रघुबीर-प्रिया'*** और ***'बैदेही'*** कहकर ***'तव प्रभाउ जगबिदित न केही'*** कहनेका भाव कि इन दोनों कारणोंसे आपका प्रभाव संसारमें प्रसिद्ध है। विदेहराजकी अयोनिजा कन्या हो। बाल्यावस्थामें शंकरजीके धनुषको सहजहीमें आपने उठाकर दूसरी जगह रखकर चौका लगाया था इत्यादि। शंकरजी आपका प्रभाव जानते हैं। उन्हींने प्रभाव जानकर जनकमहाराजसे धनुषको तोड़ना ही आपका शुल्क रखवाया था। विदेहराजका प्रभाव भी प्रसिद्ध है। उन्होंने प्रतिज्ञा करके फिर रावणका भी भय न किया। पुनः ***'बैदेही'*** सम्बोधनसे यह जनाया कि वे विनय करनेमें इतना प्रेममें मग्न हो गयीं कि देहकी सुध न रही। यह शब्द गिरिजापूजनमें आया है—***'अस कहि चरन गहे बैदेही।'*** (१। २३६। ४) गंगाजी शिवशक्ति हैं, देवी हैं, अतः ये भी प्रभाव जानती हैं। (ख) क्या प्रभाव जानती हैं वह आगे वे स्वयं कहती हैं—***'लोकप होहिं……।'*** और भी प्रभाव जो अन्यत्र कहा गया है, जैसे ***'जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ भृकुटि बिलास जासु जग होई।'*** (१। १४८) ***'परम सक्ति समेत अवतरिहौं।'*** (१। १८७) ***'उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा……।'*** (७। २४) इत्यादि, वह सब इसमें आ जाता है। (ग) ***'लोकप होहिं बिलोकत तोरें'*** अर्थात् कंगालको कृपाकटाक्षमात्रसे इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि बना देती हो। ब्रह्मादि देवता और उनकी शक्तियाँ आपकी वन्दना करती हैं और इन्द्रादि समस्त लोकपाल आपके कृपाकटाक्षकी चाह किया करते हैं, यथा—***'जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ।'*** (७। २४) (घ) ***'तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें'*** इति। यथा—***'जानी सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगटि जनाई॥ हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाई। भूप पहुनई करन पठाई॥ सिधि सब सिय आयसु अकनि गईं जहाँ जनवास।'*** (१। ३०६)

* अर्थान्तर—जो तेरी सेवा करते हैं, उनके लिये सब सिद्धियाँ हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं—(पं०)।

नोट—३ *'तुम्ह जो हमहिं बड़ि बिनय सुनाई।.....'* इति। (क) हमको बड़ी विनय सुनायी यह हमपर कृपा की। भाव कि जिसके अवलोकनमात्रसे इन्द्र, वरुण, कुबेर होते हैं, उसने हमारी विनती की तो यह कृपा नहीं तो और क्या है? इससे हमको बड़प्पन दिया। लोग कहेंगे कि सीताजी सर्वेश्वरीने भी गंगाकी पूजा और विनती की थी। (ख) *'हमहिं बड़ि बिनय सुनाई', 'मोहि दीन्हि बड़ाई'*—पूज्य कविका सँभाल देखिये। विनती बड़ेसे की जाती है, अतः गंगाजीके मुखसे विनय सुनानेके सम्बन्धसे *'हमहिं'* शब्द कहलाया और कृपा छोटोंपर होती है, अतः *'कृपा कीन्हि' 'बड़ाई दीन्हि'* के साथ अपने लिये *'मोहि'* का प्रयोग कराया। *'हमहिं'* बहुवचन बड़प्पनका सूचक है और *'मोहि'* एकवचन लघुतासूचक सर्वनाम है और छोटा भी है।

नोट—४ *'तदपि देबि मैं देबि असीसा।.....बागीसा'* इति। (क) अर्थात् आपने माधुर्यमें व्यावहारिक दृष्टिसे देवता मानकर मेरी विनती की; इसलिये मैं असीस देती हूँ और पूर्वोक्तिके अनुसार आपको सर्वेश्वरी जानकर अपनी वाणीकी सफलताके लिये आशीर्वाद देती हूँ। पहले तो कहा कि *'मैं देबि'* अर्थात् एक वचन देकर अपनी लघुता दिखायी और फिर *'बागीसा'* महत्त्वसूचक पद दिया। इसका कारण एक तो यह है कि छंद-हेतु ऐसा हुआ। दूसरे गंगाजीका आशय यह है कि ईश्वरके यशमें जो वाणी प्रवृत्त हो वही सब वाणियोंकी ईश्वरी होती है। (पं०) (ख) *'सफल होन हित निज बागीसा'* अर्थात् आप सब सकुशल तो लौटेंगी ही, पर मेरे आशीर्वाद देनेसे लोग कहेंगे कि गंगाजीके आशीर्वादसे सकुशल लौट आयीं। देखिये, वात्सल्यमें डूबी हुई माताओं और पिताने जहाँ-तहाँ श्रीरामजीके अद्भुत कार्य सुनकर उनका समाधान ऐसे ही किया है, यथा—*'मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी॥'* (१।३५७।१) *'सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे॥'* (१।३५७।६) (पु० रा० कु०)

नोट—५ *'प्राननाथ देवर.....'* इति। (क) *'प्राननाथ'* से यह भी जनाया कि तुम्हारे प्राणोंकी रक्षा ये करेंगे। शूर्पणखासे रक्षा की। मुद्रिका भेजकर लंकामें रक्षा की है। *'देवर'* शब्द जो श्रीसीताजीने कहा था वही इन्होंने कहा, नाम न लिया। (ख) *'पूजिहि सब मन कामना'*—*'सब'* से जनाया कि इस कामनाके अतिरिक्त और भी हैं, जैसे कि राक्षसोंका उद्धार, हनुमान्‌जीको भक्ति, सुग्रीव और विभीषणको राज्य, मगवासिनी पुण्यात्माओंको दर्शन प्रदान और देवांगनाओं, देवताओं आदिके दुःखहरण इत्यादि। (ग) *'सुजसु रहिहि जग छाइ'*—संसारमें यश होगा। यथा—*'रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥'* (७।२।५) *'दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाए नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सना हैं॥'* (गी० ७।१३) *'गावत गुन सुर मुनि बर बानी।'* (१।२५)

गंगबचन सुनि मंगलमूला। मुदित सीय सुरसरि अनुकूला॥ १॥
तब प्रभु गुहहि कहेउ घर जाहू। सुनत सूख मुखु भा उर दाहू॥ २॥

अर्थ—गंगाजीके मंगल उत्पन्न करनेवाले अर्थात् मांगलिक वचन सुनकर और देवनदी गंगाजीके अनुकूल (अपने ऊपर प्रसन्न) होनेसे सीताजी आनन्दित हुईं॥ १॥ तब प्रभु रामचन्द्रजीने गुहसे कहा कि घर जाओ। यह सुनकर उसका मुँह सूख गया और उसके हृदयमें जलन होने लगी अर्थात् उसको लौटनेके नामसे बड़ा शोक हुआ॥ २॥

नोट—१ *'गंग बचन.....'* इति। देवताओंके आशीर्वाद सत्य होते हैं, अतएव उससे प्रसन्नता होती ही है। इसी तरह गौरीकी असीस *'पूजिहि मन कामना तुम्हारी।'* (१।२३६।७) सुनकर *'सिय सहित हिय हरषीं अली।.....मुदित मनमंदिर चलीं॥'* श्रीभरतजी *'तनु पुलकेउ हिय हरषु सुनि बेनि बचन अनुकूल।'* (२०५) माताएँ भी आशीर्वादको प्रसन्नतापूर्वक अंचल पसारकर ग्रहण करती हैं, यथा—*'अंतर हित सुर आसिष देहीं। मुदित मातु अंचल भरि लेहीं॥'* (१।३५१।३) इस प्रमाणसे यह भी भाव ले सकते हैं कि आशीर्वाद देनेके समय श्रीजानकीजी उसे अंचल पसारकर ले रही हैं।

नोट—२ *'तब प्रभु गुहहिं.....'* इति। निषादराजके गुरु (श्रीलक्ष्मणजी) की भी यही दशा हुई। यथा—*'रहहु

तात असि नीति बिचारी। सुनत लषन भए ब्याकुल भारी॥ सिअरे बचन सूखि गए कैसे। परसत तुहिन तामरस जैसे॥'(७१। ७-८) यही सब भाव निषादराजमें उत्पन्न हो गये। (प० प० प्र०)

गौड़जी—इस प्रकरणसे और केवटको बिदा करनेके प्रसंगको मिलानेसे इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि यहाँ '*गुह*' निषादोंका वा केवटोंका राजा है और वह केवटमात्र था। केवट और गुह निषाद दो अलग-अलग व्यक्ति हैं।

दीन बचन गुह कह कर जोरी। बिनय सुनहु रघुकुल मनि मोरी॥ ३॥
नाथ साथ रहि पंथु देखाई। करि दिन चारि चरन सेवकाई॥ ४॥
जेहि बन जाइ रहब रघुराई। परनकुटी मैं करबि सुहाई॥ ५॥
तब मोहि कहँ जसि देब रजाई। सोइ करिहों रघुबीर दोहाई॥ ६॥

अर्थ—गुह हाथ जोड़कर दीनताके वचन बोला—हे रघुकुलशिरोमणि! मेरी विनती सुनिये॥ ३॥ मैं स्वामीके (आपके) साथ रहकर रास्ता दिखाकर चार (अर्थात् कुछ) दिन आपके चरणोंकी सेवा करके॥ ४॥ हे रघुराई! जिस वनमें आप जाकर रहेंगे वहाँ मैं सुन्दर पर्णकुटी बनाऊँगा॥ ५॥ हे रघुवीर! मैं आपकी कसम खाकर कहता हूँ कि तब मुझे आप जैसी आज्ञा देंगे मैं वैसा ही करूँगा॥ ६॥

नोट—(क) *'रघुकुल मनि'* का भाव कि रघुकुल सदा दीनोंकी विनती सुनता आया है और आप तो सबमें श्रेष्ठ हैं। (रा० मिश्र) अथवा, रघुकुलश्रेष्ठ होनेसे आपको वनमें प्रवास करनेका अभ्यास नहीं है और न आपका शरीर पर्णकुटी बनाने इत्यादिका कष्ट सहन करनेयोग्य है, अतः मैं जो विनती करता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनिये। *'नाथ साथ रहि'*से जनाया है कि १४ वर्ष बराबर साथ रहनेकी इच्छा है। यह *'पुनि गुह ग्याति बोलि सब लीन्हे। करि परितोषु बिदा तब कीन्हे॥'* से कविने सूचित किया है। (प० प० प्र०) (अ० रा० में स्पष्ट ही '**गमिष्यामि त्वया सह। अनुज्ञां देहि राजेन्द्र**…' (२। ६। २४) कहा है। मानस-कल्पके गुहने सम्भव है कि रुख ले जानेका न देखकर, इतना कहकर तब *'दिन चारि'* कह दिया कि जितने दिन साथ हो जाय उतने ही सही)। (ख) *'पंथु देखाई'*—भाव कि वनकी सँकड़ी बीहड़ गलियोंमें भूलने-भटकनेका डर है, हमारा दिन-रातका सब देखा है, अतः रास्ता बतानेके लिये साथ ले चलिये।

नोट—२ *'चारि दिन'*—मुहावरा है। 'कुछ दिन'। पर गुहको वस्तुतः चार ही दिन श्रीरामजीने साथ रखा, जैसा प्रसंगसे स्पष्ट होता है। प्रथम दिन *'तेहि दिन भएउ बिटप तर बासू।'* (१०५। १) दूसरे दिन—*'प्रात प्रातकृत करि रघुराई। तीरथराज दीख प्रभु जाई॥'* (१०५। २) *'……राम कीन्ह बिश्राम निसि॥'* (१०८) तीसरे दिन, *'प्रात प्रयाग नहाइ। चले सहित सिय लषन जन, मुदित मुनिहि सिरु नाइ॥'* (१०८) *'……उतरि नहाए जमुनजल॥'* (१०९) उस दिन यमुना-तीर रहे, इसीसे भरतजीने भी वहाँ निवास किया। चौथे दिन गुहको बिदा किया। पुनः, 'चार दिन' कहा, क्योंकि अधिक दिनतक साथ रहनेको कहते तो रघुनाथजी साथ ले जानेको राजी न होते। अ० रा० के गुहने सदा साथका हठ किया था—'**गमिष्यामि त्वया सह। अनुज्ञां देहि राजेन्द्र नो चेत्प्राणांस्त्यजाम्यहम्॥**' (२। ६। २४) अर्थात् यदि साथ चलनेकी आज्ञा न देंगे तो प्राण त्याग दूँगा। तभी तो श्रीरघुनाथजीने वहींसे बिदा कर दिया था।

नोट—३ (क) *'परनकुटी मैं करबि सुहाई'* से जनाया कि मैं इस कार्यमें बड़ा कुशल हूँ। (ख) 'तब' अर्थात् जब आप पर्णकुटीमें कुछ कालके लिये स्थायी हो जायँगे। यह गुहका आन्तरिक आशय जान पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है कि रघुनाथजीका रुख साथ ले जानेका अबतक उसने न पाया, तब उसने कसम खायी कि मैं उस समय हठ न करूँगा, जो आज्ञा होगी उसका पालन करूँगा। (ग) *'जस देब रजाई'*—यहाँ भी वह लौटनेकी बात नहीं कहता। इतना ही कहता है कि जैसी आज्ञा होगी वैसा करूँगा। कारण कि उसे अब भी आशा है कि श्रीरघुनाथजी उसे साथमें रहने देंगे। इसीसे उसने रघुकुलमणि, रघुराई आदि महाराजैश्वर्यसूचक शब्दोंका ही प्रयोग किया है। (प० प० प्र०) (घ) *'रघुबीर दोहाई'*—

लक्ष्मणजीने जब मेघनाद-वधकी प्रतिज्ञा की है तब ये ही शब्द कहे हैं—*'जौं सत संकर करहि सहाई। तदपि हतउँ रघुबीर दोहाई॥'*

सहज सनेह राम लखि तासू। संग लीन्ह गुह हृदय हुलासू॥ ७॥
पुनि गुह ग्याति बोलि सब लीन्हे। करि परितोषु बिदा तब कीन्हे॥ ८॥

दो०—तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु नाइ सुरसरिहि माथ।
सखा अनुज सिय सहित बन गवनु कीन्ह रघुनाथ॥ १०४॥

तेहि दिन भएउ बिटप तर बासू। लषन सखा सब कीन्ह सुपासू॥ १॥

शब्दार्थ—**सुपासू** (सं० सुपार्श्व)=सुविधा, सुख। **ग्याति** (ज्ञाति)=जातिके लोग, सम्बन्धी, बान्धवगण, भाई=बन्धु, घरके लोग।

अर्थ—गुहका स्वाभाविक प्रेम देखकर श्रीरामचन्द्रजीने उसको साथ ले लिया, जिससे गुहके हृदयमें बड़ा आनन्द हुआ॥ ७॥ फिर गुहके वा, गुहने अपनी जातिके सब लोगोंको बुला लिया और उनका अच्छी तरह संतोष करके तब उनको बिदा किया॥ ८॥ तब प्रभु श्रीरघुनाथजी गणेशजी और शिवजीका स्मरण और गंगाजीको माथा नवाकर सखा, भाई और सीताजीके सहित वनको चले॥ १०४॥ उस दिन पेड़के नीचे निवास हुआ अर्थात् ठहरे, लक्ष्मणजी और सखाने सब सुखका सामान किया॥ १॥

नोट—१ (क) *'सहज सनेह बिबस रघुराई'* यह उनका स्वभाव ही है, अत: स्वभावसे विवश होकर साथ ले लिया। (प० प० प्र०) (ख) स्नेह भीतरका है, इसको लखनेके सम्बन्धसे 'राम' पद दिया। *'हृदय हुलासू'*— घर लौटनेकी आज्ञा सुनकर मुँह सूख गया था और हृदयमें संताप हुआ था। वह संताप मिटा और अब दाहके स्थानपर हर्ष और आनन्द हुआ। प्रथम 'दाह' कहा था, इससे अब उल्लास होना कहा।

नोट २—*'गुह ग्याति बोलि सब लीन्हें।'''''* इति। इससे जान पड़ता है कि बन्धुवर्गको संदेह था कि 'यह सखा है, कहीं १४ वर्षतक साथ न रह जाय, अतएव उनको संतोष दिया कि कुछ दिनमें ही लौट आवेंगे। पुन: इस प्रकार समझाया कि ये हमारे चक्रवर्ती महाराजके पुत्र हैं, इनकी सेवासे हम सबका भला होगा। (पु० रा० कु०; पंजाबीजी) यह गुहका समझाना हुआ और यदि रामजीका उन लोगोंको बुला-बुलाकर परितोष करना कहें तो यह होगा कि चिन्ता न करो ये चार दिनके लिये साथ जाते हैं, चार ही दिनमें लौट आवेंगे। इत्यादि। (ख) यदि गुहके मनमें दो-चार दिन ही साथ रहनेका विचार होता तो इस प्रकार बिदा करनेकी आवश्यकता नहीं थी। देखिये, जब श्रीरामजी १४ वर्ष प्रवासका निश्चय करके निकले तब उन्होंने सब लोगोंका ऐसा ही 'परितोष' किया है। यथा—*'मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू। सब कर सब बिधि करि परितोषू॥'* (चले। १६६। १-२) इससे जान पड़ता है कि मनमें उसके सदा साथ रहनेकी थी। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१ *'तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु''''* 'इति। (क) 'प्रभु' अर्थात् आप समर्थ हैं तब भी आप गणेश और शिवको सुमिरकर चले—लोकशिक्षार्थ ऐसा किया। (ख) गणेश और शिवका स्मरण करना और गंगाको प्रणाम करना लिखा; क्योंकि शिवजी और गणेशजी प्रत्यक्ष नहीं हैं, उनका मानसिक स्मरण ही हो सकता है और गंगाजी सामने हैं, इससे उनको प्रणाम उचित ही है। (ग) 'वनगमन' में 'रघुनाथ' पद दिया; क्योंकि इसीसे रघुकुल सनाथ होगा, उसका सुयश सदैवके लिये स्थापित होगा, पिताका सत्य रह जायगा। (घ) वनगमनमें सबको साथ कहा, गणेशादिके स्मरण इत्यादिमें साथ न कहा। क्योंकि वे तो रामानन्य हैं। अथवा, दीपदेहलीन्यायसे *'सखा अनुज सिय सहित'* को दोनों ओर ले लें।

वि० त्रि०—शिवजीकी दो शक्तियाँ हैं—(१)उमा और (२) गंगा। सरकार जब घरसे चले तब गनपति, गौरि, गिरीशको मनाया। मनाना इसलिये कहते हैं कि तीनोंमेंसे प्रत्यक्ष कोई नहीं था। अयोध्यासे शृंगवेरपुरतककी यात्रा तो मार्गकी यात्रा थी। वनयात्रा तो गंगापार जाकर आरम्भ हुई है, अत: फिर गणेशजी

और शिवजीका स्मरण करते हैं और गंगा प्रत्यक्ष हैं, अतः उन्हें माथा नवाना लिखते हैं। ज्येष्ठा उमाका मान कर चुके हैं, अब कनिष्ठाका मान भी होना चाहिये। अतः गंगाजीको नमस्कार करते हैं। अथवा यहाँसे सीताजी गंगाजीका पूजन करके और आशीर्वाद लेकर चली हैं, अतः इन्हींको नमस्कार प्राप्त भी था। गंगा और गौरीमें अभेद-दृष्टि होनेसे गौरीके पुनः नमस्कारकी आवश्यकता न रही।

नोट—३ *'सखा लखन सिय सहित गवनु कीन्ह'* इति। सखाका नाम छन्दके लिये प्रथम दिया। अथवा, यह जंगली रास्तेका जाननेवाला है, अतः आगे है इसीसे उसको प्रथम कहा। (पं०) अथवा, सखाको प्रथम कहा,क्योंकि इनको सख्यरस बहुत प्रिय है; इसीसे श्रीमद्रामायणमें श्रीरघुनाथजीने कहा कि—**'मित्रभावेन संप्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन'** अर्थात् विभीषण मित्रभावसे प्राप्त हुआ है, हम उसे कदापि न त्याग करेंगे। (रा० प्र०) ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ मार्गमें जिस प्रकार आगे-पीछे चल रहे हैं वह क्रम भी दिखा रहे हैं। वाल्मीकीयमें श्रीरामजीका वाक्य है कि **'अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु॥' 'पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सीतां त्वां चानुपालयन्॥'** (सर्ग ५२। ९५-९६) अर्थात् लक्ष्मण! तुम आगे चलो और सीता तुम्हारे पीछे-पीछे चलें और मैं सीता और तुम्हारी रक्षा करते हुए पीछे-पीछे चलूँगा। वाल्मीकीयमें इस स्थलपर ये ही तीन हैं, इसीसे वहाँ गुहका नाम नहीं है। गुहने *'साथ रहि पंथु देखाई'* जो कहा है उसके अनुसार उसका आगे होना निश्चित ही है।

प्रात प्रातकृत करि रघुराई। तीरथराजु दीख प्रभु जाई॥ २॥
सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी। माधव सरिस मीतु हितकारी॥ ३॥
चारि पदारथ भरा भँडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू॥ ४॥
छेत्रु अगम गढ़ु गाढ़ सुहावा। सपनेहुँ नहि प्रतिपच्छिन्ह पावा॥ ५॥
सेन सकल तीरथ बर बीरा। कलुष अनीक दलन रनधीरा॥ ६॥
संगमु सिंहासनु सुठि सोहा। छत्रु अखयबटु मुनि मनु मोहा॥ ७॥
चवँर जमुन अरु गंग तरंगा। देखि होहिं दुख दारिद भंगा॥ ८॥

दो०—सेवहिं सुकृती साधु सुचि पावहिं सब मन काम।
बंदी बेद पुरान गन कहहिं बिमल गुन ग्राम॥ १०५॥

शब्दार्थ—**प्रातकृत**=प्रातःकालकी क्रियाएँ, शौच-स्नान, संध्या-वन्दन आदि। **प्रदेस**=स्थान, स्थल, भूमि, अवयव। **देस**=*'रतन खानि पशु पक्षि वसु वसन सुगंध सुदेश। नदी नगर गढ़ बरनिये भाषा भूषन देश'* (केशवदास)। **प्रतिपच्छि** (प्रतिपक्षिन्)=विरोधी, शत्रु, वैरी।

अर्थ—रघुकुलश्रेष्ठ प्रभु श्रीरामजीने प्रातःकाल ही प्रातःकालकी सब क्रियाएँ करके तीर्थराज प्रयागका जाकर दर्शन किया॥ २॥ तीर्थराजका मन्त्री 'सत्य' है, 'श्रद्धा' प्यारी स्त्री है और वेणीमाधव-सरीखा भलाई करनेवाला मित्र है॥ ३॥ चारों पदार्थ अर्थ, धर्म, काम, मोक्षसे भंडार भरा-पूरा है, वहाँका पुण्य-स्थल ही अत्यन्त सुन्दर देश अर्थात् राजधानी है॥ ४॥ वहाँकी पुण्य भूमि ही सुन्दर मजबूत और दुर्गम किला है, जिसे शत्रु स्वप्नमें भी नहीं पा सकते। (यहाँ पाप ही शत्रु हैं)॥ ५॥ सब तीर्थ उसकी श्रेष्ठ वीरोंकी सेना है, जो पापकी सेनाको दल डालनेमें धीर लड़ाका (शूरवीर) है॥ ६॥ (गंगा-यमुना-सरस्वतीका) संगम ही उसका अत्यन्त शोभायमान सिंहासन है, अक्षयवट छत्र है जो मुनियोंके मनको लुभा रहा है॥ ७॥ यमुनाजी और गंगाजीकी तरंगें (श्याम-श्वेत) चँवर हैं, जिन्हें देखकर दुःख-दरिद्र नष्ट हो जाते हैं॥ ८॥ पुण्यात्मा और पवित्र साधु उसकी सेवा करते और सब मनोरथ पाते हैं। समस्त वेद-पुराण ही भाट लोग हैं जो उनका निर्मल यश गाते हैं॥ १०५॥

टिप्पणी—१ *'प्रात प्रातकृत करि रघुराई।·····प्रभु जाई।'* (क) क्रियाके सम्बन्धसे *'रघुराई'* कहा। पुनः

चलनेके सम्बन्धसे भी *'रघुराई'* कहा—**'रंघति गच्छति इति रघुः।'** उस रघुकुलके भी ये राई (राजा) हैं; अतएव चल दिये। यथा—*'आगे चले बहुरि रघुराया। रिष्यमूक पर्वत नियराया॥'* (ख)—प्रयागराज ३ $\frac{1}{2}$ कोटि तीर्थोंके राजा हैं जिनमें एक-एक करोड़ स्वर्ग, पृथ्वी और पातालमें हैं और ५० लाख वायुमण्डलमें हैं। जैसे वे तीर्थोंके राजा, वैसे ही ये सबके प्रभु हैं, अतः तीर्थराजको देखनेमें 'प्रभु' शब्द दिया।

नोट—१ प्रयागको तीर्थराज अर्थात् तीर्थोंका राजा कहा। राजाके साथ राजाके अंग होने चाहिये; अतएव सावयव (सांग) रूपकालंकारद्वारा सब अंग यहाँ कहे गये। राजाके प्रधान सात अंग हैं, यथा—**'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च'** इति (अमरकोश) यहाँ ये सब अंग कहे गये और इनके अतिरिक्त यहाँ पाँच और अंग दिये गये हैं। अर्थात् स्वामी (राजा), अमात्य (मन्त्री), सुहृत् (मित्र),कोश (खजाना), राष्ट्र (राज्यमण्डल, देश), दुर्ग (किला) और बल (सेना) ये सप्तांग हैं। इनके अतिरिक्त जो रानी, दो चँवर, छत्र, सिंहासन और भाटादि अंग यहाँ कहे गये हैं वे राजाके सुखांग होनेसे कहे गये हैं। (वै०)

नोट—२ *'सचिव सत्य·····'* इति। (क) तीर्थराज होनेसे प्रयागजी स्वतः श्रेष्ठ राजाओंमेंसे हैं जो लोक-परलोक दोनोंकी सिद्धि देते हैं। राजाका प्रधान अंग मन्त्री है। यदि अन्य सब अंग नष्ट हो जायँ और एकमात्र यह अंग साथ रहे तो अन्य सब अंग पुनः प्राप्त हो जाते हैं, अतः राजाको कहकर उसके प्रधान अंगको प्रथम कहा। मन्त्री श्रेष्ठ होना चाहिये, मुँहदेखी ठकुरसुहाती बोलनेवाला न हो, नहीं तो वह राज्यका नाश ही कर देगा; अतः'सत्य' को मन्त्री कहा। सत्य समस्त सुन्दर सुकृतोंका मूल है। एकमात्र सत्यका ग्रहण किये रहनेसे समस्त सुकृत और गुण प्राप्त हो जाते हैं। इससे जनाया कि तीर्थसेवन करनेवालेको उसका माहात्म्य सत्य जानना चाहिये और वहाँ रहकर सत्य ही बोलना चाहिये। तभी राज्यसे उसको चारों फल प्राप्त हो सकेंगे। (ख) *'श्रद्धा प्रिय नारी'* कहकर सती पतिव्रता पटरानीको श्रद्धा बताया। बैजनाथजीका मत है कि सत्यको मन्त्री कहनेका भाव यह है कि 'मन, वचन, कर्मसे निश्छल होकर वेदकी आज्ञाका पालन करे। हर्षसहित इष्ट व्यापारका ग्रहण श्रद्धा है।' गुरुवाक्य,वेदवाक्य आदिमें विश्वास श्रद्धा है—बाल० मं० श्लो० २ देखिये। श्रद्धाको रानी कहनेका भाव कि माहात्म्य सुनकर तीर्थ-सेवनकी रुचि उत्पन्न करे। (पं०) मन्त्रीको सत्य कहा, पर यदि श्रद्धा न हुई तब सत्यका ग्रहण कैसे होगा? अतः सत्यको कहकर श्रद्धाको कहा। (ग) *'माधव सरिस मीत हितकारी'* इति। माधव=मा (लक्ष्मी)+धव (पति)=लक्ष्मीपति विष्णु श्रीमन्नारायण। मित्र वही है जो संकटमें काम आवे और अपने और अपने मित्रमें किंचित् भेद न माने। किष्किन्धाकाण्डमें मित्रके लक्षण स्वयं श्रीरामजीने सुग्रीवजीसे कहे हैं। प० पु०, स्वर्गखण्ड अध्याय ४१ में श्रीमार्कण्डेयजीने युधिष्ठिरजीसे बताया है कि भगवान् विष्णु देवताओंके साथ प्रयागके सर्वमान्य मंडलकी रक्षा करते हैं। जिस पदार्थकी उनको आवश्यकता होती है उसे देते हैं। लक्ष्मीपति मित्र हैं, अतः सदा सर्वैश्वर्यसे प्रयागराजको पूर्ण रखते हैं। पंजाबीजी माधवको मित्र कहनेका भाव यह कहते हैं कि जैसे तीर्थ अद्वितीय है, वैसे ही भगवान्‌का दर्शन महान् है।

नोट—३ *'चारि पदारथ भरा भँडारू।·····'* इति। (क) लक्ष्मीपतिको हितैषी मित्र कह चुके, अतः कोशको अर्थ, धर्म, काम और मोक्षसे भरा-पूरा कहा। धन-धान्यादि अर्थ हैं। दया, शौच, सत्य आदि धर्म हैं। स्त्री-पुत्रादिकी कामना काम है। आवागमनसे छुटकारा मिलना मोक्ष है। प्रयागराजके सेवनसे चारोंकी प्राप्ति होती है। लोक और परलोक दोनों बनते हैं। (ख) *'पुन्य प्रदेस देस·····'* इति। पुण्य प्रदेश अर्थात् वहाँका पवित्र स्थल। *'अति चारू'* से जनाया कि धनधान्यसे पूर्ण हराभरा है। (पं०) बैजनाथजी लिखते हैं कि **'प्राभृतं तु प्रदेशनमुपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा इति।'** (अमरकोश) **'अस्यार्थः प्राभृतं प्रदेशनम् उपायनम् उपग्राह्यम् उपहारः उपदा षट् नृपगुर्वादिदर्शनादौ समर्प्यमाणस्य वस्तुनः इति पुण्यप्रदेशः।'** अर्थात् पुण्यदान सुन्दर देश राज्यमण्डल है। प० पु० में लिखा है कि प्रयागमंडलका विस्तार लगभग ६० किमी० है। त्रिदेव उस मंडलकी रक्षाके लिये वहाँ उपस्थित रहते हैं। बैजनाथजी लिखते हैं कि क्षेत्रभूमि लगभग १२० किमी०की है।

नोट—४ *'छेत्र अगम·····'* इति। (क) क्षेत्र—प्रयागसे लेकर प्रतिष्ठानपुर (झूसी) तक धर्मकी हृदसे

लेकर वासुकि ह्रदतक तथा कम्बल और अश्वतर नागोंके स्थान एवं बहुमूलिक नामवाले नागोंका स्थान यह सब प्रजापतिका क्षेत्र है। (प० पु०) बैजनाथजीका मत है कि क्षेत्रभूमि लगभग १२० किमी०की है। ***'अगम'*** अर्थात् पापरूपी शत्रुकी पहुँच दुर्गम है। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं और जिनकी वहाँ मृत्यु होती है, वे फिर जन्म नहीं लेते। अतः उसे सुन्दर दृढ़ किला कहा। पापरूपी शत्रु वहाँ पराजयको प्राप्त होते हैं। (ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'गंगा-यमुनाकी जो रेणुका उड़ती है वही विषम वन है, यही अगमता है। गंगा-यमुनाकी धारा ही दृढ़गढ़ धुस है। ठौर-ठौरपर जो घाट हैं वे बुर्ज हैं। रेत परिखा है।—यह सब मिलकर सुन्दर दृढ़ अगम गढ़ है।' (ग) दुर्गम गढ़पर शत्रुका जोर नहीं चलता, वैसे ही प्रयागक्षेत्रमें पापियों वा नरकका बल नहीं चलता। (पं०)

नोट—५ ***'सेन सकल तीरथ·····'*** इति। (क) प० पु०, स्वर्गखण्डमें लिखा है कि नैमिषारण्य, पुष्कर, गोतीर्थ सिंधु-सागरसंगम, कुरुक्षेत्र, गया और गंगासागर तथा और भी बहुत-से तीर्थ एवं पवित्र पर्वत; कुल मिलाकर तीस करोड़ दस हजार तीर्थ प्रयागमें सदा निवास करते हैं। इनके अतिरिक्त हंसप्रपत्तन, कम्बल, अश्वतर आदि अनेक स्वयं वहींके तीर्थ हैं जो सब पापोंके दूर करनेवाले हैं। ये सब श्रेष्ठ वीर हैं। बैजनाथजीका मत है कि 'मथुरा, द्वारका, हरिद्वार, काशी, पुष्कर आदि सब तीर्थ सेना हैं, इनमेंसे जो श्रेष्ठ तीर्थ हैं वे सब मुखिया वीर हैं।' (वै०) पं० रामकुमारजी आदिका मत है कि समस्त तीर्थ श्रेष्ठ वीरोंकी सेना है। ***'बर बीरा'*** अर्थात् कोई रणसे हटनेवाले नहीं, बिना शत्रुको पराजित किये नहीं हटते, ये वीर अचल हैं और कभी मरते नहीं, इसीसे ***'बर बीरा'*** कहा। (पु० रा० कु०) (ख) ***'संगमु सिंहासनु सुठि सोहा।·····'*** इति। गंगा, यमुना, सरस्वती इनमेंसे एक-एककी महिमा तो कही नहीं जा सकती तो जहाँ तीनों एकत्र हैं, उसका क्या कहना? इसीसे ***'सुठि सोहा'*** कहा। जहाँपर ये तीनों मिली हैं वहींपर तीर्थराज अर्थात् उनके अभिमानी देवता विराजते हैं। राजाके सिंहासनतक पहुँचनेकी अवधि है। भाव यह है कि संगमपर स्नान करना चाहिये, वहाँ स्नान करना यही तीर्थराजतक पहुँचना है। (पं० रा० कु०)

टिप्पणी—२ अक्षयवट छत्र है। जैसे अक्षयवट महाप्रलयमें भी अचल रहता है, कितना ही जल बढ़े वह नहीं डूबता, वैसे ही इस राजाका छत्र कभी भंग नहीं होता। मुनियोंके मनको अक्षयवट मोहित कर लेता है ऐसा अक्षय है। लोमश, मार्कण्डेय आदि चिरंजीवी मुनिके मनको मोहित करनेवाला है। मुनि इसका ध्यान करते हैं, उसकी पूजा करते हैं।

टिप्पणी—३ ***'चँवर जमुन अरु गंग तरंगा·····'***। गंगा-यमुना चँवर डुलाती हैं, तरंगें चँवर हैं। गंगाजीका जल श्वेत और यमुनाजीका श्याम है, अतः इनकी तरंगें मानो श्वेत-श्याम दो चँवर हैं, एक सुरभी वा सुराके बालोंका, दूसरा मोरपंखोंका। (यमुनाजीकी तरंगें दक्षिणमें और गंगाजीकी तरंगें वाम दिशामें हैं। इससे दाहिनी ओर श्याम चँवर है और बायीं ओर श्वेत चँवरका ढुलना सूचित किया है। इनके दर्शनसे दुःख-दारिद्र्यरूपी मक्खी-मच्छड़ोंका नाश होता है। वै०)

टिप्पणी ४—***'सेवहिं सुकृती साधु सुचि·····'*** इति। गुणवान् लोग राजाकी सेवा करते हैं, गुण दिखाकर अपने मनोरथ सिद्ध करते हैं। यहाँ सुकृती आदि ही गुणी लोग हैं। अर्थात् बड़े पुण्य होते हैं, तब प्रयागराजका सेवन होता है, सब किसीको प्राप्त नहीं है। राजाओंका यश भाट गाते हैं, इनका यश निर्मल है, उसके गान करनेवाले भी वैसे ही हैं।*

नोट—६ इस रूपकमें यह भाव मुख्य है कि जिनके पास सत्य,श्रद्धा और हरिभक्ति नहीं है उनको तीर्थराजके दर्शन और सेवनसे चार पदार्थोंमेंसे एककी भी प्राप्ति न होगी। (पं० प० प्र०) प० पु०, स्वर्गखण्डमें भगवान् श्रीकृष्णजीने कहा है कि **'प्रतिगृहादुपावृत्तः संतुष्टो नियतः शुचिः। अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते॥ अकोपनश्च राजेन्द्र सत्यवादी दृढव्रतः। आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थ-**

* यथा अग्निपुराणे—'तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च मूर्तिमन्तः प्रयागके। स्तवनादस्य तीर्थस्य नामसंकीर्तनादपि।' (वै०)

फलमश्नुते॥' (४९। १०-११) अर्थात् जो किसीका दिया हुआ दान नहीं लेता, संतुष्ट रहता, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखता, पवित्र रहता और अहंकारका त्याग कर देता है, जो क्रोधहीन, सत्यवादी, दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाला तथा समस्त जीवोंमें आत्मभाव रखनेवाला है वही तीर्थके फलका उपभोग करता है।

को कहि सकइ प्रयाग प्रभाऊ। कलुष पुंज कुंजर मृगराऊ॥ १॥
अस तीरथपति देखि सुहावा। सुखसागर रघुबर सुखु पावा॥ २॥
कहि सिय लषनहि सखहि सुनाई। श्रीमुख तीरथराज बड़ाई॥ ३॥
करि प्रनामु देखत बन बागा। कहत महातम अति अनुरागा॥ ४॥
एहि बिधि आइ बिलोकी बेनी। सुमिरत सकल सुमंगल देनी॥ ५॥

शब्दार्थ—'**बन बागा**'—जो स्वत: होता है वह वन है और जो लगाया जाता है वह बाग।

अर्थ—पापसमूहरूपी हाथियोंके लिये सिंहरूप[1] प्रयागका प्रभाव (माहात्म्य, महिमा) कौन कह सकता है? ॥ १॥ ऐसे (द्वादशांगसम्पन्न) सुहावने सुन्दर तीर्थराजको देखकर सुखके समुद्र रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीने सुख पाया॥ २॥ और, अपने मुखसे तीर्थराजकी बड़ाई श्रीसीता-लक्ष्मणजी और सखासे कहकर सुनायी[2] ॥ ३॥ प्रणाम करके वन और बागोंको देखते हुए और बड़े प्रेमसे माहात्म्य कहते हुए—इस प्रकार उन्होंने आकर त्रिवेणी अर्थात् जहाँ गंगा, यमुना, सरस्वती तीनोंका संगम है उस तीर्थस्थलका[3] दर्शन किया, जो स्मरणमात्रसे सभी सुन्दर मंगलोंकी देनेवाली है॥ ४-५॥

टिप्पणी—१ (क) '***को कहि सकइ*·····' अर्थात् जब समस्त वेद-पुराण यश गाते हैं, वे नहीं कह सकते तो और कौन कह सकता है। [पाप-समूहपर हाथियोंके समूहका आरोप किया गया, क्योंकि एक सिंह अनेकों हाथियोंका दलन करनेमें समर्थ होता है। पाप बहुत वैसे ही हाथी बहुत, प्रयागराज एक वैसे ही सिंह एक।] (ख) पूर्व द्वादश अंगोंमें भी पाप-फौजका दलन करना कह आये, यथा—'***कलुष अनीक दलन रनधीरा***' और यहाँ फिर कहा। दो बार कहनेका आशय यह है कि प्रथम तीर्थराजकी सेनाका बल दिखाया था और अब जनाते हैं कि राजा स्वयं भी समर्थ हैं; कुछ फौजके ही भरोसे नहीं हैं।

टिप्पणी—२ '***सुखसागर रघुबर सुख पावा***' इति। ऐसा सुन्दर है कि सुखसागरको भी सुख हुआ। अथवा, इससे मत्सर-राहित्य दिखाया। [पुन:, जब सुखसागरको सुख हुआ तो दु:खसागरके लिये तो सुख अनिर्वचनीय होगा—(रा॰ मिश्र)।] पुन:, '***सुखसागर***' पद यहाँ साभिप्राय है; क्योंकि जो सुखका समुद्र होगा वही उसका यथार्थ अनुभव कर सकेगा, यहाँ परिकरांकुर अलंकार है—(वीरकवि)। सुखसागरको भी सुख हुआ, यह कहकर उसको परम रमणीक जनाया। यथा—'***परम रम्य आरामु येहु जो रामहि सुख देत।***' (१।२२७) श्रीरामजी सुखसागर हैं ही। यथा—'***चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥***'

टिप्पणी ३—(क) '***कहि सिय*·····' इति। भाव कि यहाँ कोई ऋषि-मुनि साथ नहीं हैं जो माहात्म्य

१-परंपरित रूपक।

२-पंजाबीजी—पद्मपुराणमें विष्णुभगवान्‌के वाक्य हैं कि—जो मेरे (वेणीमाधवके) निकट देह त्यागते हैं वे मुझमें प्राप्त होते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता। जो पितरोंके उद्देश्यसे मेरे समीप श्राद्ध करते हैं उनके पितृगण मेरे लोकको प्राप्त होते हैं। जो लोग माघ मकरमें सूर्योदयसमय इस तीर्थमें स्नान करते हैं उनके दर्शनसे पाप दूर होते हैं।

३-'बेनी के कई अर्थ होते हैं—बालोंकी लट, जूड़ा, चोटी, यथा—'कृसतन सीस जटा एक बेनी।' पर यहाँ तीर्थराजके साहचर्यसे त्रिवेणीकी अभिधा है।

कहते, अतएव स्वयं श्रीमुखसे रघुनाथजीने तीनोंका माहात्म्य सुनाया जो पुराणादिमें वर्णित है। (ख) ***'करि प्रनामु'***—तीर्थकी प्रशंसा ही मात्र नहीं की, किंतु अपने आचरण (प्रणाम) द्वारा उसको पुष्ट भी किया। केवल कहते ही नहीं, उसके अनुसार कर्तव्य भी करते हैं। (ग) ***'देखत बन बागा'***—ये वन और बाग प्रयागक्षेत्रके हैं, जो मार्गमें पड़ते हैं। ***'कहत महातम⋯'*** यह इन वन और बागोंका माहात्म्य है। अथवा, त्रिवेणीका माहात्म्य है जो कह रहे हैं।

टिप्पणी ४—***'एहि बिधि आइ⋯'*** इति। ये कविके वचन हैं। ***'एहि बिधि'*** —अर्थात् जैसा ***'अस तीरथपति देखि सुहावा'*** से ***'कहत महातम अति अनुरागा'*** तक कह आये। ***'सुमिरत सकल सुमंगल देनी'*** यह माहात्म्य है। भाव कि ऐसा माहात्म्य उसका जानकर, कहकर तब उसका दर्शन किया और तब स्नान। यह स्नानकी विधि है।

मुदित नहाइ कीन्हि सिव सेवा। पूजि जथा बिधि तीरथ देवा॥ ६॥
तब प्रभु भरद्वाज पहिं आए। करत दंडवत मुनि उर लाए॥ ७॥
मुनि मन मोद* न कछु कहि जाई। ब्रह्मानंदरासि जनु पाई॥ ८॥

अर्थ—प्रसन्नतापूर्वक (त्रिवेणीमें) स्नान करके उन्होंने शिवजीकी पूजा की और विधिपूर्वक (अर्थात् जिस तीर्थ-देवकी पूजाका जो विधान, रीति वा नियम है उसी तरह) तीर्थ-देवताओंकी पूजा की॥ ६॥ तीर्थके देवताओंकी पूजाके अनन्तर प्रभु श्रीरामचन्द्रजी श्रीभरद्वाजजीके निकट आये। दण्डवत्-प्रणाम करते ही मुनिने ठाकुरजीको हृदयसे लगा लिया॥ ७॥ मुनिका मन आनन्द वर्णनातीत है। ऐसा ज्ञात होता है, मानो उन्हें ब्रह्मानन्द-पुंज ही मिल गया हो॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'मुदित नहाइ⋯'*** इति। तीर्थस्नान प्रसन्न मनसे करना चाहिये। त्रिवेणी स्नानकी यह एक विधि भी है। यथा—***'देव दनुज किन्नर नर श्रेनी। सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी॥' 'मज्जहिं प्रात समेत उछाहा।'*** (१। ४४। ४, ८ देखिये) शिवपूजासे पार्थिवपूजन ही अभिप्रेत है। ***'पूजि जथा बिधि तीरथ देवा'***—यथाविधि अर्थात् जिस तीर्थदेवताकी पूजाका जो विधान, रीति वा नियम पुराणों आदिमें कहा गया है उसी विधिसे उनकी पूजा की। बेनीमाधव आदि तीर्थदेवता हैं, यथा—'**प्रयागं माधवं सोमं भारद्वाजञ्च वासुकीम्। वन्देऽक्षयवटं शेषं प्रयागं तीर्थनायकम्॥**' पंजाबीजीके मतानुसार वेणीमाधव ही तीर्थदेव हैं। (१। २। ११, १। ४४। ५ देखिये)

टिप्पणी—२ भारद्वाज-आश्रम—यह एक ऊँचे टीलेपर है। देखनेसे जान पड़ता है कि कुछ दिन पहले गंगा इसके नीचे बहती थीं। इसके पूर्वकी धरती जिसपर अब जार्जटाउन बसा है अब भी तरी कहलाती है और दाराशिकोहके बाँध बननेके पहले एक बड़ा ऊँचा मन्दिर था, जिसके शिखरका दीप एक मुसलमान हाकिमके महलसे देख पड़ता था, इससे तोड़वा दिया गया। अब मुख्य स्थान एक मन्दिर है, जिसमें शिवलिंग स्थापित है और उसीके पास एक गुफा है, जिसमें भरद्वाज और याज्ञवल्क्यकी मूर्तियाँ दिखायी जाती हैं। उसी टीलेपर आश्रमसे पूर्व भरतकुण्ड है, जिसको अब म्यूनिस्पिल्टीने कूड़ेसे पाट दिया है। यह स्थान तीर्थराजका मुख्य तीर्थ है, पर इसकी दशा शोचनीय है। (लाला सीताराम)

भरद्वाज बृहस्पतिके पुत्र, द्रोणाचार्यके पिता और वाल्मीकिजीके शिष्य थे। कथा है कि ये सदेह स्वर्गको प्राप्त हुए। बालकाण्डमें इनकी कथा आयी है। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि इन्हींने रामचन्द्रजीको चित्रकूटमें निवास करनेको कहा था। विशेष १। ४४ (१) में देखिये।

टिप्पणी—३-***'तब प्रभु⋯'*** इति। (क) इससे जनाया कि प्रथम स्नानके पश्चात् पूजनादिसे निवृत्त होकर तब निश्चिन्त होकर महात्माओंका दर्शन करे। (ख) ***'प्रभु'*** और ***'भरद्वाज'*** शब्दोंको साथ-साथ लिखकर जनाया कि भरद्वाजजी जानते हैं कि ये परमात्मा हैं।

---

* लाला सीतारामने 'मोह' पाठ दिया है—

टिप्पणी—४—*'भरद्वाज पहिं आए''''''* 'इति। *'करत दंडवत'* यह श्रीरामजीने माधुर्य बर्ता, और *'मुनि उर लाए'* यह मुनिने अपना प्रेम दिखाया। पूरी दण्डवत् भी न करने दी, पकड़कर हृदयसे लगा लिया। श्रीरामजीका दण्डवत् करना कहकर श्रीलक्ष्मणजी आदि सबका दण्डवत् करना भी जना दिया। (ख) दण्डवत् करते समय ही उठाना और आशीर्वाद भी देना सूचित करता है कि मुनिके हृदयमें ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों भावोंका सम्मिश्रण हुआ है। ऐश्वर्यभाव जागृत होनेसे पूरी दण्डवत् नहीं करने दी और माधुर्यके जागृत होनेपर आशीर्वाद दिया।

टिप्पणी—५—*'मुनि मन मोद''' ब्रह्मानंद रासि जनु पाई'* इति। (क) जिस ब्रह्मानन्दको मुनि प्राप्त थे वही अकथ्य है, सो वह भी इसके आगे एक दानामात्र है। यहाँ प्रभु ऐश्वर्य छिपाये हुए हैं, माधुर्यमें राजकुमाररूप प्रसिद्ध किये हुए हैं, इसीसे *'जनु'* पद देकर उत्प्रेक्षाद्वारा इस रूपमें ब्रह्मकी सम्भावना की है।' (वै०) श्रीजनकमहाराजको भी ऐसा ही अनुभव हुआ था, यह जानकीमंगलके *'अवलोकि रामहिं अनुभवत मनु ब्रह्मसुख सौ गुन दिए॥'* (२५) से स्पष्ट है। (ख) 'अबतक इनके हृदयमें ब्रह्मानन्दमात्र था, किन्तु उसकी राशि नहीं थी, कारण यह कि ब्रह्मानन्द समस्त ब्रह्माण्डोंमें फैला हुआ एकत्र कैसे हो? अब वही फैला हुआ पदार्थ साकार राममें सिमटा हुआ पाया तब राशि कहा, वस्तुतः यह सत्य ही है पर नरनाट्य-लीला-विषय जानकर *'जनु'* उत्प्रेक्षारूपमें कहा।' (रा० च० मिश्र) वा, (ग) मानो पद इसलिये दिया गया कि रामचन्द्रजीका वास्तविक स्वरूप तो परमात्मा ही है, परन्तु तनके मिलापका सुख भी ब्रह्मानन्दके समान हुआ। (पं०) (रामजी ब्रह्मानन्दकी राशि हैं, अतएव यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है।)

वि० त्रि०—'**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥**' दुःखोंमें जिसे उद्वेग नहीं है और सुखकी जिसे लालसा नहीं है, जिसमें राग, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव है, ऐसे स्थिरबुद्धि पुरुषको मुनि कहते हैं। ऐसे मुनिके हृदयमें सरकारकी प्राप्तिसे ऐसा मोद हुआ जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इष्टप्राप्तिसे ही मोद होता है। उसकी उपमा ब्रह्मानन्दराशिकी प्राप्तिसे दी जा रही है। भाव यह कि ब्रह्मानन्दकी अनुभूति तो सम्भव है, पर ब्रह्मानन्दराशि-प्राप्ति तो बिना अवतारके हो नहीं सकती। यथा—'**यस्यावताररूपाणि समर्चन्ति दिवौकसः। अपश्यन्तः परं रूपं नमस्तस्मै महात्मने॥**' विष्णुपुराणमें कहा गया है कि देवता लोग जिसके अवतारके रूपकी ही पूजा करते हैं, क्योंकि उनका परम रूप आँखोंसे नहीं देखा जा सकता, उस महात्माको नमस्कार है। अवताररूपमें वही आनन्दसिन्धु पिण्डीभूत होकर दर्शन देते हैं, अतः उन्हें ब्रह्मानन्दराशि कहते हैं। मायाद्वारा ही उस रूपका दर्शन होता है, अतः *'जनु पाई'* कहा।

दो०—दीन्हि असीस मुनीस उर अति अनंदु अस जानि।
लोचन गोचर सुकृतफल मनहुँ किये बिधि आनि॥ १०६॥

शब्दार्थ—'**गोचर**'=वह विषय जिसका ज्ञान इन्द्रियोंद्वारा हो सके, वह बात जो इन्द्रियोंद्वारा जानी जा सके; जैसे रूप, रस, गन्ध आदि।

अर्थ—मुनिराजने उनको आशीर्वाद दिया। उनके हृदयमें अत्यन्त आनन्द हुआ—यह जानकर कि (प्रभुके दर्शन क्या हुए) विधाताने हमारे समस्त पुण्योंका फल लाकर नेत्रोंका विषय कर दिया है, अर्थात् नेत्रोंसे उनके फलस्वरूप श्रीसीताराम-लक्ष्मणजीका दर्शन करा दिया॥ १०६॥

नोट—१ भरद्वाजजीने भरतजीसे कहा है कि *'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥'* *'बिधि आनि'* कहा; क्योंकि कर्मोंका फल विधाताके अधीन है, जब जिस कर्मका फल चाहें दें। पण्डित रामकुमारजी कहते हैं कि कविके मनमें भी ऐसा आनन्द उमग आया कि यथार्थकी ही उत्प्रेक्षा लिख दी, समस्त सुकृतोंके फल श्रीरामजी हैं ही। २-प्रभुने राजकुमारकी हैसियतसे दण्डवत् की, इसीसे मुनीशकी हैसियतसे आशीर्वाद दिया जाना लिखा।

कुसल प्रस्न करि आसन दीन्हे। पूजि प्रेम परिपूरन कीन्हे॥ १॥
कंद मूल फल अंकुर नीके। दिये आनि मुनि मनहुँ अमीके॥ २॥
सीय लषन जन सहित सुहाये। अति रुचि राम मूल फल खाये॥ ३॥
भये बिगत श्रम रामु सुखारे। भरद्वाज मृदु बचन उचारे॥ ४॥

शब्दार्थ—'**आसन दीन्हे**'=आदर-सत्कारके लिये बैठनेकी वस्तु पीढ़ा, आसनी, मृगछाला, कुशासन आदि रख देना और कहना कि बैठिये।=बैठना। '**कंद**'-वृक्षकी जड़ जिसमेंसे ऊपरको वृक्ष निकलते हैं। '**मूल**'—जो पतले-पतले 'सौर' हैं, इनका कुछ भाग पृथ्वीके चाहे बाहर भी हो सकता है? कंद भीतर भी होता है। '**अंकुर**'-जो प्रथम बीजसे निकलता है, जैसे चना-जौके भिगोनेपर (रा० प्र०)=जिनका मूल थोड़ा हो और जिसके पत्ते पृथ्वीसे बाहर निकलते हैं। (पंजाबीजी) कन्द आदिमें यह कल्पना कि अमृत हैं 'सिद्ध-विषय-हेतूत्प्रेक्षा' है। विशेष दोहा ६२ में देखिये।

अर्थ—क्षेम-कुशल पूछकर मुनिने बैठनेको आसन दिया और प्रेमपूर्वक पूजा करके प्रेमसे प्रभुको संतुष्ट किया॥ १॥ अच्छे-अच्छे कन्द, मूल, फल और अंकुर मुनिने लाकर दिये, जो ऐसे अच्छे थे मानो अमृतके ही हों॥ २॥ श्रीसीता-लक्ष्मणजी और अपने भक्त निषादराजके सहित रामचन्द्रजीने बड़े स्वादसे प्रेमपूर्वक सुन्दर मूल-फल खाये॥ ३॥ थकावट दूर होनेसे श्रीरामजी सुखी हुए, तब भरद्वाजमुनिने कोमल वचन कहे॥ ४॥

नोट—१ (क) स्वयं बैठनेके लिये आसन लाकर बिछा देना, स्वयं जाकर फल लाकर देना, यह सब प्रेम और आदर सूचित कर रहे हैं। (ख) ***'पूजि प्रेम'''' '*** (वाल्मी० २। ५४) के '**उपानयत धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः॥**' (१७) '**राममागतमभ्यर्च्य स्वागतेनागतं मुनिः॥**' (१९) (अर्थात् धर्मात्मा भरद्वाजजी मधुपर्कके लिये गौ और अर्घ्यके लिये जल ले आये और श्रीरामचन्द्रजीका स्वागतके द्वारा सत्कार किया), तथा अ० रा० के '**गृहीत्वार्घ्यं च पाद्यं च रामसामीप्यमाययौ।**' (२।६।३३) '**दृष्ट्वा रामं यथान्यायं पूजयित्वा सलक्ष्मणम्। आह मे पर्णशालां भो राम राजीवलोचन॥**' (३४) '**आगच्छ पादरजसा पुनीहि रघुनन्दन।**''''' (अर्थात् अर्घ्य, पाद्य लेकर उन्होंने उनकी विधिवत् पूजा की और कहा कि चरणरजसे मेरी पर्णशालाको पवित्र कीजिये।''''') के सब भाव कह दिये गये। (ग) ***'प्रेम परिपूरन कीन्हे'***—प्रेमसे श्रीरामजी विशेष संतुष्ट होते हैं। यथा—***'सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे। पूरन काम राम परितोषे॥'*** (१।३४२। ६) देखिये, शबरी भीलिनीके प्रेमसे वे उसके बैरोंसे ही कैसे संतुष्ट हुए—***'लघु भाग भाजन उदधि उमग्यो लाभ सुख चित चायके। सो जननि ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भाय के॥ प्रेमपट पाँवड़े देत सुअरघ बिलोचन बारि।'*** (गी० ३। १७)

नोट—२—***'कंद मूल'''''अमी के'*** इति। वाल्मी० (२। ५४) के '**नानाविधानन्नरसान् वन्यमूलफलाश्रयान्**' (अर्थात् वनके मूल, फल जो अनेक प्रकारके खाद्य थे। जिनमें अनेक प्रकारके रस थे) से मिलान कीजिये। शबरीजीके प्रसंगमें भी कहा है ***'दोना रुचिर रचे पूरन कंद मूल फल फूल। अनुपम अमियहुतें।'*** (गी० ३। १७) और भरद्वाजजीके मूलादि ***'मनहु अमी के'*** थे। इस शब्दसे फलादिको बहुत मीठे, रसीले और स्वादिष्ट तथा गुणकारी जनाये।

नोट—३—***'अति रुचि'''' '*** कोई-कोई कहते हैं कि कन्द-मूल-फल अंकुरमेंसे केवल मूल और फल ही श्रीरामजीने लिये और शबरीजीके दिये हुए कन्द, मूल, फल सभी लिये और खाये। यहाँ ***'अति रुचि'*** और वहाँ तो रुचिका वर्णन कुछ किया नहीं जा सका, बारम्बार प्रशंसा कर-करके खाते थे।

नोट—४—***'भये बिगत श्रम राम सुखारे'''''*** '। भाव यह कि ये तो 'राम' हैं जिनमें योगी रमते हैं। इनको तो तीनों कालमें परिश्रम नहीं, पर भक्तोंके लिये परिश्रम आदि व्यवहार भी ग्रहण करते हैं। रामजी सुखी हुए, क्योंकि वे तो प्रेमके भूखे हैं, प्रेमसे कोई पत्र-फूल जो कुछ भी अर्पण करे तो उतनेमें ही सुखी होते हैं। (पु० रा० कु०)

आज सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥ ५॥
सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू॥ ६॥
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरें दरस आस सब पूजी॥ ७॥
अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥ ८॥

शब्दार्थ—''**तप**''—अर्थात् शीत, घाम, वर्षा, व्रत-उपवास आदिका शरीरसे सहना। अथवा, शास्त्रावलोकन आदि। तीरथ-तीर्थाटन, तीर्थवास, तीर्थस्नान। त्याग-शरीरसे सब विषय पदार्थको अंगीकार न करना। जप-गायत्री, रामतारक इत्यादि मन्त्रोंका। योग—अष्टांग योग जिसके द्वारा चित्तका निरोध करते हैं। वैराग्य—तन-मन दोनोंसे विषय पदार्थका त्याग, उनमें स्नेह न रह जाना। शुभसाधनसे सूचित किया कि उपर्युक्त तप आदिके अतिरिक्त और जितने उत्तम साधन किये हैं वे सब, वा साधन-चतुष्टय इत्यादि (पु० रा० कु०, रा० प्र० पं०)☞ बालकाण्ड २२ (५), ३७ (१०) में जप, तप, योग और वैराग्यपर विशेषरूपसे लिखा जा चुका है, वहीं देखिये।

अर्थ—हे श्रीराम! आज (मेरा) तप, तीर्थ और त्याग सुफल हुआ। आज (मेरा) जप, योग, वैराग्य सुफल हुआ॥ ५॥ हे राम! आज आपके दर्शनसे ही मेरे सब कल्याण-साधनोंका ठाट-बाट (सामग्री) सुफल हुआ॥ ६॥ आपके दर्शनोंसे (मेरी) सब आशाएँ पूर्ण हो गयीं, लाभकी सीमा और सुखकी हद (आपके दर्शनकी प्राप्तिसे अन्य) कुछ और नहीं हैं॥ ७॥ अब कृपा करके यह वर दीजिये कि आपके चरणकमलोंमें स्वाभाविक प्रेम हो॥ ८॥

नोट-१—*'आजु सुफल''''''तुम्हरे दरस'''''' '*इति। (क) भाव यह कि इन सब साधनोंका फल आपका दर्शन है। यथा—***'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥'*** (२१०। ४) इससे बढ़कर न लाभ है न सुख, यही सर्वोत्कृष्ट सुख है। इसके आगे और कोई लालसा नहीं है। पुनः, (ख) ***'राम तुम्हहि अवलोकत आजू', 'लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी'*** और ***'तुम्हरे दरस आस सब पूजी'*** इन तीनों तुकोंसे भक्त, योगी (ज्ञानी) और कर्मकाण्डी इन तीनोंका पृथक्-पृथक् लाभ दिखाया—भक्तोंके लिये लाभ भगवत्‌की प्राप्ति अवधि, योगियोंके लिये लाभ ब्रह्मसुखकी प्राप्ति अवधि और कर्मकाण्डीके लिये लाभ आशाका पूर्ण होना अवधि है। इसी प्रकार पूर्व साधन जो कहे उनमें भी भक्त, ज्ञानी और कर्मकाण्डी तीनोंके साधन दिखाये। भक्तके लिये जप, ज्ञानीके लिये योगादि और कर्मकाण्डियोंके लिये समस्त शुभ साधन।—भाव यह कि कर्म, ज्ञान, उपासना तीनोंके लिये यही लाभ और सुखकी अन्तिम सीमा है। (पं० रा० कु०)।

प० प० प्र०—१ वसिष्ठजीका मत है कि ***'''''''जोग जग्य ब्रत दान। जा कहुँ करिअ सो पैहउँ धरम न एहि सम आन॥'*** (७। ४८) ***'जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥ ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन।''''''तव पद पंकज प्रीति निरंतर॥ सब साधनकर यह फल सुंदर।'*** इससे मिलान करनेसे 'सुफल' का अर्थ 'सुंदर फल' हुआ। श्रीवसिष्ठजी श्रीरामपदपंकजमें निरन्तर प्रेम होना समस्त साधनोंका सुन्दर फल बताते हैं और श्रीभरद्वाजजी ***'राम तुम्हहि अवलोकत आजू'*** अर्थात् श्रीरामदर्शनको ही सुन्दर फल कहते हैं। भेदमें भाव यह है कि भरद्वाजजी जानते हैं कि प्रभुका दर्शन अमोघ है, कुछ न माँगनेपर वे अपनी ***'पदपंकज प्रीति निरंतर'*** देंगे ही। अतः इन्होंने दर्शनको ही सुन्दर फल कहा।

नोट-२—***'सफल सकल सुभ साधन'*** इति । (क) बालकाण्डमें शम, यम, नियमको फूल कहा है और ज्ञानको फल। भरद्वाजजीके तप-तीर्थ आदि सब साधन ज्ञानकी प्राप्ति सफल तो हो ही गये थे—***'जानहि तीन काल निज ज्ञाना'*** पर उस ज्ञानरूपी फलमें ***'हरि पद रति रस'*** नहीं था, वह आज दर्शनसे उत्पन्न होगा। यही वर आगे माँगते हैं। (ख) आदिमें ***'सम जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरि पद रति रस बेद बखाना॥'*** (१। ३७। १४)। मध्यमें भरद्वाजजीके वाक्य और अन्तमें वसिष्ठजीके वाक्यद्वारा एक ही सिद्धान्त भिन्न-भिन्न शब्दोंमें कहा गया है।

नोट—३ अ० रा० में मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**अद्याहं तपसः पारं गतोऽस्मि तव संगमात्।**' (२। ६। ३६)।'''''**इतः परं त्वां किं वक्ष्ये कृतार्थोऽहं रघूत्तम॥**' **(३९)** '**यस्त्वां पश्यामि काकुत्स्थं पुरुषं प्रकृतेः परम्।**' अर्थात् आज आपके समागमसे मेरी तपस्या पूर्ण हो गयी। आपसे मैं अधिक क्या कहूँ? मैं तो कृतार्थ हो गया, जो आज प्रकृतिसे परे साक्षात् पुरुषोत्तम आपको देख रहा हूँ।

नोट—४ '***अब करि कृपा देहु*****''''**' इति। (क) भाव कि जो कुछ किया था उसका फल तो आपके दर्शनसे हो गया। यथा—'***सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसन पावा॥***' अब कुछ बचा नहीं जिसके बदलेमें और कुछ माँगूँ। अतः आप कृपा करके यह वर दें। (वि० त्रि०)। इससे यह भी जनाया कि यह रसरूपा रामभक्ति यत्नसाध्य नहीं है, कृपासाध्य है, यथा—'***राम कृपा काहू एक पाई।***' (प० प० प्र०) (ख) '***निज पद सरसिज सहज सनेहू***' अर्थात् सिद्धा भक्ति,जो साधनसे नहीं मिलती। (वि० त्रि०) पुनः, '***सहज सनेह***'—जैसे मीनका जलसे। '**उत्तमा सहजावृत्तिर्मध्यमा ध्यानधारणा।**' भाव यह कि अबतक मध्यमावृत्ति रही, अब सहज वृत्ति चाहता हूँ। यथा—'**त्वत्पादपद्मार्पितचित्तवृत्तिस्त्वन्नामसंगीतकथा च वाणी। त्वद्भक्तसेवानिरतौ करौ मे त्वदंगसङ्गं लभतां मदंगम्॥**', '***राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को। सुख जीवन ज्यों जीवको मनि ज्यों फनि को हित ज्यों धन लोभ लीन को। ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को॥***' (वि० २६९)।

दो०—करम बचन मन छाड़ि छलु जब लगि जनु न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं किये कोटि उपचार॥ १०७॥

अर्थ—जबतक मन-वचन-कर्मसे छल छोड़कर मनुष्य आपका दास नहीं होता तबतक करोड़ों उपाय करनेसे भी स्वप्नमें भी सुख नहीं॥ १०७॥

पु० रा० कु०—'***छाड़ि छलु***' इति।—अर्थात् साधन करते हैं पर आकांक्षा पेटमें लिये रहते हैं और जब भगवान् प्रसन्न होते हैं तब उनको छोड़ दूसरा फल माँगते हैं, ऐसा न करें; किंतु भक्ति करके भक्ति ही माँगें तब छल छूटे, यथा—'***उमा राम सुभाव जिन्ह जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥***' (चारों पदार्थकी वासना छल है, यथा—'***स्वारथ छल फल चारि बिहाई।***')

रा० प्र०—'***करम बचन मन छाड़ि छलु***'—श्रीरामसम्बन्धी कर्म छोड़कर अन्य शुभ कर्मोंकी आशा करना, राम-सम्बन्धी-वार्ता छोड़ अन्य वार्ताका कहना, राम-सम्बन्धी मनन छोड़ अन्य शुभ मनन करना यही छल है; क्योंकि इसमें औरोंका भी भरोसा पाया जाता है; अतएव इनका त्याग कहा।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि चारों पदार्थोंकी वासनाको छल मानना ठीक नहीं है; क्योंकि मानसमें चार प्रकारके भक्त कहे हैं। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। ये क्रमशः चारों फलोंको चाहते हैं, पर उनको कोई कपटी या छलिया नहीं कहता। सकाम भी हरिभक्त ही है। देखिये—'***ध्रुव सगलानि जपेउ हरिनाऊँ***' और उन्हींको कहा है कि '***ध्रुव हरि भगत भएउ सुत जासू॥***' (१। १४२) विभीषणजीने भी कहा है—'***उर कछु प्रथम बासना रही।***' अतएव '***मोर दास कहाइ नर आसा***' करना ही छल है। छलका अर्थ दम्भ भी हो सकता है। (सुख तो अवश्य तबतक नहीं होगा जबतक किंचित् भी सांसारिक वासना बनी रहेगी।)

सुनि मुनि बचन रामु सकुचाने। भाव भगति आनंद अघाने॥ १॥
तब रघुबर मुनि सुजसु सुहावा। कोटि भाँति कहि सबहि सुनावा॥ २॥
सो बड़ सो सब गुनगन गेहू। जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू॥ ३॥
मुनि रघुबीर परसपर नवहीं। बचन अगोचर सुखु अनुभवहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—**अघाने**=पेट और जी भर गया, संतुष्ट हो गये।

अर्थ—मुनिके वचन सुनकर श्रीरामजी सकुच गये। (मुनिके) भाव और भक्तिको देख आनन्दसे अघा गये॥ १॥ तब रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीने मुनिका सुन्दर यश अनेकों प्रकारसे कहकर सबको सुनाया॥ २॥ हे मुनिराज! वही बड़ा है और वही सब गुण-समूहका घर अर्थात् समस्त गुण-सम्पन्न है, जिसे आप आदर दें॥ ३॥ मुनि और रघुवीर आपसमें एक-दूसरेसे विनम्र हो रहे हैं और उस सुखका अनुभव कर (पा) रहे हैं, जो वाणीका विषय नहीं अर्थात् जो वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'भाव भगति आनन्द अघाने'*** इति (क)—गौड़जी—भगवान् भावके **'भूखे'** हैं। यहाँ **'भरपेट'** भाव पाकर अघा गये। (ख)—भावयुक्त भक्तिसे आनन्द हुआ, जिससे संतुष्ट हो गये और वचन सुनकर संकोच हुआ कि ये हमारा ऐश्वर्य प्रकट करते हैं। पुनः बड़ोंकी चाल है कि अपनी बड़ाई सुनकर सकुचाते हैं, यह शिष्टाचार है; अतः ये सकुचा गये।—(रा० प्र०)। (ग) भाव भीतरका, भक्ति ऊपरकी। अथवा, भाव-सम्बन्धी भक्तिसे आनन्द हुआ, उसीसे अघा गये। (पु० रा० कु०)

टिप्पणी—२—***'तब रघुबर……'*** इति। अपना ऐश्वर्य छिपानेके लिये मुनिका सुयश कहने लगे, जिसमें लोग समझें कि परस्पर बड़ाई करते हैं। वा, भक्तोंका आदर करना यह रामजीका स्वभाव है; अतएव सुयश कहने लगे। (रा० प्र०)

टिप्पणी—३ ***'सो बड़ सो सब गुन गन गेहू।…'*** इति। भाव कि आप मुनीश्वर हैं, बड़े हैं, बड़े लोग जिसका आदर करें वह बड़ा हो जाता है, आपने मुझे आदर दिया, इससे मैं भी बड़ा और सब गुणोंसे युक्त हो गया। इस प्रकार प्रभुने माधुर्यके भावसे ऐश्वर्यको छिपाया।

टिप्पणी—४ ***'मुनि रघुबीर परसपर नवहीं।'*** इति। (क) मुनि रामजीकी और रामजी मुनिकी बड़ाई करते हैं, एक-दूसरेको प्रणाम करते हैं, एक-दूसरेसे अधिक विनीत भावसे बर्ताव कर रहे हैं। यहाँ अन्योन्य अलंकार है। (ख) मुनि तो भगवान्‌के ऐश्वर्यभावको प्रकट करते हैं, परंतु भगवान् अपने माधुर्यके आवरणमें उसे छिपाते जाते हैं, इस प्रकार परस्पर विनय-वाद हो रहा है। (गौड़जी)

टिप्पणी—५ ***'बचन अगोचर सुख अनुभवहीं'*** इति। वह सुख कहा नहीं जा सकता। जब वह दशा आती है तब वह सुख मन-बुद्धिसे परे होनेसे उस दशाका अनुभव करनेवाला भक्त उसे नहीं कह सकता तो दूसरा कोई कैसे कह सके? जैसे सुतीक्ष्णजीकी दशा हुई थी—***'कहि न जाइ सो दसा भवानी'।*** और जिसकी वह दशा कभी नहीं हुई वह उसको जाने ही क्या? तो फिर कहे कैसे?—***'ताकर सुख सोइ जानै परानंद संदोह', 'सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई।'*** (७। ५) जो पावै सो जान भर सकता है, वह भी कह नहीं सकता। यहाँ मुनि स्वामीका सुख और रामजी सेवकका सुख लेते हैं?

☞भगवान् और उनके भक्त, स्वामी और सेवक, परस्पर एक-दूसरेके उपासक बन गये। यहाँ स्वामी-सेवककी परस्पर कृतज्ञताका दर्शन कीजिये। दोनों परस्पर विनम्र होते-होते प्रशंसा करते-करते परानन्दमें निमग्न हो गये हैं।—**'यतो वाचो निवर्तन्ते।'**

पं० यादवशंकर जामदारजी लिखते हैं कि इस निरूपणका तात्पर्य यह है कि भजक अपनी कृतज्ञताके योगसे जब भज्यसे सम्मिलित होता है और उसके प्रेमका प्रवाह भज्यकी ओर अविचल, अविरल, अनन्य और अहेतुक रहता है, ऐसे प्रेमकी **'भक्ति'** संज्ञा है; और इस भक्तिके परिणाममें भज्य भी भजकगुणविशिष्ट बन जाता है। स्वामीजीके भक्तिका तात्त्विक स्वरूप (हृद्‌गत) हमारी समझसे यही है।

वि० त्रि०—मुनिजीको भगवान्‌के नमन करनेसे जो सुख हो रहा है, वह कहा नहीं जा सकता, पर यहाँ तो भगवान् भी मुनिजीको नमन कर रहे हैं, और उन्हें भी वचन-अगोचर सुखका अनुभव हो रहा है, सरकारका स्वभाव है कि भक्तकी प्रशंसा करनेमें ही उन्हें आनन्द मिलता है। यथा—***'ते भरतहिं भेटत सनमानें। राजसभा रघुबीर बखानें॥'*** (१। २९)

प० प० प्र०—१ यहाँ यह दिखाया कि जहाँ श्रोता-वक्ता दोनों बड़े ज्ञानी तथा अति विनम्र होते हैं वहाँ वे वचन-अगोचर सुखका अनुभव करते हैं। जैसे, श्रीहनुमान्-विभीषणजी, काकभुशुण्डि-गरुड़जी, याज्ञवल्क्य-भरद्वाजजीको सुख हुआ।

२—श्रीभरद्वाजकृत स्तुति पुनर्वसु नक्षत्र है। दोनोंका साम्य इस प्रकार है—(क) नक्षत्रमण्डलमें पुनर्वसु सातवाँ नक्षत्र है, वैसे ही यह स्तुति भी सातवीं स्तुति है। (२) नक्षत्रका नाम पुनर्वसु है। पुनर्वसु=पुनः वसु। और, वसु=धन। श्रीरामजी *'मुनि धन जन सरबस सिव प्राना'* हैं ही। भरद्वाजजीके हृदयमें पहलेसे तो थे ही, अब पुनः प्रत्यक्ष प्राप्त हो गये। इस तरह भरद्वाज-स्तुतिका नाम भी पुनर्वसु सार्थक ही है। (३) पुनर्वसु नक्षत्रमें चार तारे हैं, वैसे ही इस स्तुतिमें छलविहीन कर्म, उपासना (साधनभक्ति), ज्ञान और भावभक्ति—ये चार तारे हैं। *'तप तीरथ त्यागू'* कर्म है,जप उपासना है, वैराग्य और योग ज्ञान है, क्योंकि वैराग्यसे योग और योगसे ज्ञान होता है। *'भाव भगति आनंद अघाने'* से भाव-भक्तिका अस्तित्व सिद्ध होता है। (४) पुनर्वसुका आकार हर्म्य-सा अर्थात् घरके समान है। और भगवान्ने कहा है कि *'सो बड़ सो सब गुनगन गेहू। जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू॥'* जिसके आदरसे दूसरे गुणगण गेह हो जाते हैं, वह स्वयं गुणगण-गेह होगा ही। यह आकार-साम्य हुआ। (५) इस नक्षत्रका देवता देवमाता अदिति हैं। कश्यप-अदिति ही दशरथ-कौसल्या *'राम पितु माता'* हुए। भाव यह कि इस स्तुतिका छलविहीन गान करनेसे यह स्तुति राम-जननी कौसल्या बन जायगी। श्रीरामजीका दर्शन इत्यादि होगा। (६) *'बीज सकल व्रत धरम नेम के'* फलश्रुति है। (१।३२।४)। वैसे ही यहाँ *'करम बचन मन''''''उपचार'* इस दोहेमें धर्म, व्रत, नेमका बीज ही तो कहा गया है, वह यह कि छलविहिन अनन्यगतिके बननेसे धर्मरूपी वृक्ष, व्रतरूपी फूल, ज्ञान फल और प्रेमा-भक्तिरसकी प्राप्ति होगी। श्रीत्रिपाठीजीने मानसप्रसंगमें लिखा है कि फलमें बीज होता है पर ऐसा अबाधित नियम नहीं है। केला, नारियल, सुपारी इत्यादि फल निर्बीज होते हैं।

नोट—*'मुनि रघुबीर परसपर नवहीं'* की जोड़में अ० रा० में '**अनुग्राह्यास्त्वया ब्रह्मन्वयं क्षत्रियबान्धवाः। इति सम्भाष्य तेऽन्योन्यमुषित्वा मुनिसन्निधौ॥**' (२।६।४१)। यह श्लोक है। अर्थात् ब्रह्मन्! हम क्षत्रियकुलोत्पन्न हैं, अतः आपकी कृपाके पात्र हैं। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरेसे कहनेके उपरान्त वे मुनिके यहाँ ठहरे।

एहि सुधि पाइ प्रयाग निवासी। बटु तापस मुनि सिद्ध उदासी॥ ५॥
भरद्वाज आश्रम सब आए। देखन दसरथ सुअन सुहाए॥ ६॥
राम प्रनाम कीन्ह सब काहू। मुदित भए लहि लोयन लाहू॥ ७॥
देहिं असीस परम सुखु पाई। फिरे* सराहत सुंदरताई॥ ८॥

अर्थ—यह खबर पाकर (कि भरद्वाज-आश्रममें राजकुमार श्रीराम, श्रीसीताजी और लक्ष्मणजी आये हैं।) प्रयागके रहनेवाले, ब्रह्मचारी, तपस्वी, मुनि, सिद्ध और उदासी सब-के-सब भरद्वाजमुनिके आश्रमपर दशरथजीके सुन्दर पुत्रोंको देखने आये॥ ५-६॥ श्रीरामजीने सबको प्रणाम किया। सब नेत्रोंका लाभ (अर्थात् दर्शन) पाकर आनन्दित हुए॥ ७॥ वे परम सुख पाकर आशीर्वाद देते हैं और उनका सौन्दर्य सराहते हुए लौट गये॥ ८॥

नोट—प्रयागनिवासीसे गृहस्थ-आश्रमवालोंको सूचित कर दिया। (पु० रा० कु०) यहाँ चारों आश्रमवाले गिनाये—*'बटु'* से ब्रह्मचर्याश्रमवाले, प्रयाग *'निवासी'* से गृहस्थ, *'तापस'* से वानप्रस्थ और *'उदासी'* से संन्यस्थाश्रमवाले।

प० प० प्र०—*'देखन दसरथ सुअन सुहाए।''''''* ' इति। *'तब रघुबर मुनि सुजसु सुहावा। कोटि भाँति कहि सबहि सुनावा॥'* इत्यादिसे श्रीरामजीका अपना ऐश्वर्य छिपानेमें जो हेतु था वह सफल हुआ,यह *'दसरथ सुअन', 'देहिं असीस'* और *'फिरे सराहत सुंदरताई'* से स्पष्ट कर दिया। इनमेंसे किसीने श्रीरामजीको प्रणाम नहीं किया, इससे भी इस ध्वनिकी पुष्टि होती है।

वि० त्रि०—प्रयागनिवासी आये, उन्हें ऐश्वर्यका ज्ञान नहीं। वे दशरथके बेटेको देखने आये थे। सरकारकी शोभा देखकर गद्गद हो गये, आशीर्वाद देने लगे। वे सुन्दरताकी सराहना करते हुए घर लौटे। इससे

* 'फिरैं—गौड़जी। अर्थ होगा—'लौट जाते हैं।'

सूचित हुआ कि उस समय भी सरकारके ऐश्वर्यके जानकार कम लोग थे। उनपर सौन्दर्यका प्रभाव पड़ता था, पर माहात्म्यके अज्ञानसे वे अपनेको कृतकृत्य न मान सके।

दो०—राम कीन्ह बिश्राम निसि प्रात प्रयाग नहाइ।
चले सहित सिय लखन जन मुदित मुनिहि सिरु नाइ॥ १०८॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने रातको (वहीं) विश्राम किया और सबेरे प्रयागस्नान करके श्रीसीता-लक्ष्मणजी और अपने जन गुहके समेत (भरद्वाजाश्रमको) चले और (वहाँ) मुनिको प्रणाम करके आनन्दित हुए॥ १०८॥

वीरकविजी—मुनिसे विदा होकर वनको चलना नीचे लिखा गया है—*'करि प्रनाम रिषि आयसु पाई। प्रमुदित हृदय चले रघुराई॥'* यहाँ त्रिवेणी-तटसे मुनिके आश्रममें आनेको कहा है। (नोट—वाल्मीकिजीने लिखा है कि प्रात:काल उठकर मुनिके पास अपने वासस्थानपर जानेकी आज्ञा लेने गये।—'**प्रभातायां तु शर्वर्यां भरद्वाजमुपागमत्। उवाच नरशार्दूलो मुनिं ज्वलिततेजसम्॥**' (२। ५४। ३६) तब उन्होंने उनको चित्रकूटमें जानेका रास्ता बताया और तब प्रभु यह कहकर कि आपके बताये मार्गसे जायँगे, वे प्रणाम करके विदा हुए। '**इति पन्थानमादिश्य महर्षिः संन्यवर्तत। अभिवाद्य तथेत्युक्त्वा रामेण विनिवर्तितः॥**' (२। ५५। १०) '......**कालिन्दीं जग्मतुर्नदीम्।**' (१२) उसीके अनुसार दो बार 'चलना' कहा गया है।—सम्पादक)

राम सप्रेम कहेउ मुनि पाहीं। नाथ कहिअ हम केहि मग जाहीं॥ १॥
मुनि मन बिहसि राम सन कहहीं। सुगम सकल मग तुम्ह कहुँ अहहीं॥ २॥

अर्थ—फिर श्रीरामचन्द्रजीने प्रेमसहित मुनिसे कहा कि हे नाथ! बताइये, हम किस मार्गसे जायँ॥ १॥ मनमें हँसकर मुनि रामचन्द्रजीसे कहते हैं कि तुम्हें सभी मार्ग सुगम है, चाहे जिससे जाओ॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) मग पूछा जिससे मुनि समझें कि हमारी आज्ञासे चलते हैं, हमपर स्नेह रखते हैं। अथवा, यह दिखाया कि भक्तके अधीन हैं, जिस राहसे चलावें उसी राहसे चलते हैं। अथवा, चित्रकूटकी सलाह मुनिसे हुई थी। इसीसे राह पूछी। (ख) *'हम केहि मग जाहीं'।* —लक्ष्मण, सीता, सखा और आप मिलकर चार साथी हैं; अत: *'हम'* पद दिया।

नोट—१ *'सुगम सकल मग तुम्ह कहुँ अहहीं'* इति।—मुनि हँसे कि आप तो परब्रह्म, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ इत्यादि होकर भी ऐश्वर्य छिपाकर हमसे साधारण मनुष्योंकी तरह पूछ रहे हैं। इसी प्रकार वाल्मीकिजी, शरभंगजी, अगस्त्यजी, शबरीजी आदि भक्तोंसे ऐश्वर्य छिपाना चाहा, तब वे हँसे हैं और प्रकट कह भी दिया है कि *'पूछहु नाथ मोहि का जानी।'* वैसे ही यहाँ मुनि हँसे और उनका ऐश्वर्य कहने लगे। अर्थात् हमें भुलावेमें न डालिये, हम आपको पहचानते हैं। और, तत्पश्चात् माधुर्यमें जैसे प्रभुने मार्ग पूछा है वैसे ही मार्ग बतानेके लिये शिष्य साथ कर दिये। इसी प्रकार वाल्मीकि आदिने ऐश्वर्य कहकर फिर प्रसंगके अनुकूल माधुर्यमें उत्तर दिये हैं।

नोट—२—अ० रा० में इसी प्रकारका प्रश्न और उत्तर महर्षि अत्रिजीसे विदा होनेके समय है। श्रीरामजीने मुनिसे कहा कि हम लोग दण्डकारण्यको जाना चाहते हैं, आप '**मार्गप्रदर्शनार्थाय शिष्यानाज्ञप्तुमर्हसि।**' (३। १। ३) मार्ग दिखानेके लिये कुछ शिष्योंको आज्ञा दीजिये। तब मुनिने हँसकर कहा—'**प्रहस्यात्रिर्महायशाः। प्राह तत्र रघुश्रेष्ठं राम राम सुराश्रय॥ ३॥ सर्वस्य मार्गद्रष्टा त्वं तव को मार्गदर्शकः। तथापि दर्शयिष्यन्ति तव लोकानुसारिणः॥**' (३-४) अर्थात् हे राम! हे देवताओंके आश्रयस्वरूप! सबके मार्गदर्शक तो आप हैं, आपका मार्गदर्शक कौन बनेगा? तथापि इस समय आप लोकव्यवहारका अनुसरण कर रहे हैं, अत: मेरे शिष्यगण आपको मार्ग दिखानेके लिये जायँगे।

मानसके *'बिहसि', 'राम'* और *'सुगम सकल मग तुम्ह कहुँ अहहीं'* क्रमश: *'प्रहस्य', 'राम राम सुराश्रय'* और '**सर्वस्य मार्गद्रष्टा त्वं**......' का भाव है। भरद्वाजजीने जो गुप्त रीतिसे कहा है, अत्रिजीने उसे खोलकर कहा है।

गौड़जी—भगवान् जो कुछ कहते हैं या पूछते हैं वह माधुर्यभावसे ही पूछते हैं, परंतु ऋषियोंके सहज-सुलभ वाक्पाटवसे भरद्वाजजी उनके सीधे प्रश्नको भी ऐश्वर्यभावमें ले जाते हैं। ऐसा ही वाल्मीकि आदि सबके प्रसंगमें हुआ है। भरद्वाजजी ऐश्वर्यभाव लेकर कहते हैं कि महाराज, क्या पूछते हैं? आपके लिये सभी मार्ग सुगम हैं, क्योंकि आप ब्रह्म हैं। हाँ, जीवोंके लिये कोई मार्ग सुगम होगा कोई दुर्गम। *'तुम्ह कहुँ'* में यही ध्वनित है। मनमें बिहँसनेका प्रयोजन भी यही व्यंग्य है। फिर व्यवहार और माधुर्य भावके निर्वाहके लिये लौकिक मार्ग बतानेवाले शिष्य साथ कर दिये।

पाण्डेजी—१ मुनिने हँसकर जो उत्तर दिया कि आपको सब मार्ग सुगम हैं और कोई राह निज ओरसे नहीं बतलायी, इससे सूचित होता है कि रघुनाथजी वह उत्तर पाकर चुप हो रहे। इससे जाना गया कि साधारण अर्थके अतिरिक्त श्लेषशब्द 'मग' के द्वारा इसमें दूसरा अर्थ भी प्रकट किया गया है, अर्थात् रामजी व्यंग प्रश्नद्वारा पूछते हैं कि हमको लोग अनेक मार्ग होकर बुलाते हैं, हम किस मार्ग होकर जायँ, उनसे किस पथसे मिलें?

२—मुनि मननशील हैं। इसीसे उन्होंने कहा कि आपको सब मग सुगम हैं, क्योंकि प्रीति चाहिये,चाहे कर्मकाण्डमें मिलो, चाहे ज्ञानकाण्डमें और चाहे उपासनाकाण्डमें, आपको सब सुलभ है। और, ***'देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥' 'जहँ न होउ तहँ देउ कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ।'*** (पा०, पं०, वै०, खर्रा)

बैजनाथजी लिखते हैं कि मुनि यह विचारकर कि अनजान बनकर हमसे पूछते हैं, हँसे और कहा कि 'सब मार्ग तुमको सुगम हैं। भाव कि आप जीव तो हैं नहीं, जो डर हो कि प्रवृत्तिमार्गसे चलनेसे भवबन्धनमें पड़ेंगे, जिससे हम निवृत्तिमार्ग बतावें। आप ब्रह्म हैं। आपको सब मार्ग सुगम हैं, यह ऐश्वर्यभाव है और माधुर्यमें यह कि सब आपकी प्रजा हैं, जिधरसे जाइयेगा सब सुपास करेंगे। वीरकविजीने भी इन भावोंको दिया है। पर स्पष्ट प्रसंग वन-मार्गका है और मुनिका हँसना ऐश्वर्य छिपानेपर है।

साथ लागि मुनि सिष्य बोलाए। सुनि मन मुदित पचासक आए॥ ३॥
सबन्हि राम पर प्रेम अपारा। सकल कहहिं मगु दीख हमारा॥ ४॥
मुनि बटु चारि संग तब दीन्हे। जिन्ह बहु जनम सुकृत सब कीन्हे॥ ५॥
करि प्रनामु रिषि आयेसु पाई। प्रमुदित हृदय चले रघुराई॥ ६॥

शब्दार्थ—**लागि**=लिये। **पचासक**=पचासके लगभग ऐसा बोलनेका मुहावरा है।

अर्थ—साथके लिये मुनिने शिष्योंको बुलाया। (साथ जानेकी बात) सुनकर आनन्दित मनसे कोई पचास शिष्य आये॥ ३॥ सभीका श्रीरामजीपर अपार प्रेम है। सभी कह रहे हैं कि मार्ग हमारा देखा हुआ है॥ ४॥ तब मुनिने चार ब्रह्मचारी साथ कर दिये, जिन्होंने अनेक जन्मोंमें सब पुण्य कर्म किये थे॥ ५॥ प्रणाम करके और ऋषिकी आज्ञा पाकर रघुराज रामजी बड़े ही आनन्दित मनसे चले॥ ६॥

टिप्पणी—मुनिने चार विद्यार्थी साथ कर दिये। इसका कारण वे स्वयं लिखते हैं कि इन चारोंने अनेक जन्मोंसे तप, तीर्थ, देवाराधन, परोपकार आदि सब प्रकारके सुकृत किये थे; अतएव इन्हीं चारको ही साथ किया। चलनेके सम्बन्धसे *'रघुराई'* पद दिया। (वाल्मीकिजीका अब दर्शन होगा अतः प्रमुदित चले। रघुराईसे यह भी सूचित किया कि वहाँ भी माधुर्य बरतेंगे। (प० प० प्र०)

नोट—चार ब्रह्मचारी क्यों दिये; एक, दो वा अधिक ही क्यों न दिये? ब्रह्मचारी सुकृती क्यों दिये औरोंको क्यों न दिया? ये प्रश्न उठाकर लोगोंने अनेक कल्पनाएँ की हैं। यद्यपि ग्रन्थकारने स्वयं कारण दिया है और यों तो दो, तीन····सभीमें शंका उठायी जा सकती थी। कुछ यहाँ दी जाती हैं। १—सम्मानार्थ एकसे अधिक दिये। २—वनमार्ग है, लौटनेमें इनको अकेले असुविधा होगी। ३—राम, लक्ष्मण, सीता,

गुह चार हैं इससे चार साथी दिये—(पंजाबीजी)। ४—इस ग्रन्थमें प्रेम प्रधान है परंतु मुनि कर्मकाण्डी हैं, इसलिये उन्होंने अपने अनुकूल कर्मकाण्डियोंको दिया। दूसरा आशय यह है कि मुनिने सोचा कि यदि प्रेमियोंको साथ करते हैं तो न जाने वे प्रेममें मग्न होकर प्रभुको कहाँ-के-कहाँ ले जायँ। जैसे प्रेमवश गुह रास्ता भूल गया था, यथा—*'सखहिं सनेह बिबस मग भूला। कहि सुपंथ सुर बरिसहिं फूला॥'*; अतएव यहाँ देशकालानुसार जो सुकृती हैं, कर्ममें निपुण हैं और मार्ग बतानेके कर्मको भी भली-भाँति जानते हैं और निबाह देंगे, ऐसे चार शिष्य दिये। चार शिष्य चार सम्प्रदायी हैं। (पाँड़ेजी) ५—वे चार अभी सुकृती और तपस्वी हैं, अभी साधन-सम्पन्न हैं, अभी पूर्ण प्रेमी नहीं; इन्हें रामजीसे प्रेम दिलाना है अतः इनको साथ किया, शेष ४६ साधनद्वारा मोक्ष पा चुके हैं। (महादेवदत्तकी मानसशंकावली) ६—ब्रह्मचर्य—उपदेश-निमित्त बटु दिये। ७—चार इससे कि ब्रह्मचर्यके चार भेद हैं।—(पंजाबीजी) ८-१८ पुराण, १८ स्मृति, ६ शास्त्र, ४ उपवेद और ४ वेद ये ही ५० शिष्यरूपसे ५० मार्गदर्शायक आये; इनमेंसे बड़े सुकृती चारों वेदोंको साथ कर दिया। (वै०)

☞ प्रज्ञानानन्दस्वामीजी ठीक ही कहते हैं कि *'सुकृती'* शब्दके आधारपर कहना कि ये चार प्रेमी नहीं थे, अनुचित है; कारण कि जो एकाएक आये थे उनके सम्बन्धमें कविने स्वयं *'सबन्हि रामपर प्रेम अपारा'* ऐसा लिखा है और ये चारों उन्हींमेंसे थे तब ये प्रेमी कैसे नहीं हैं? श्रीरामजीको मार्ग बताना है, यह भाग्य साधारण सुकृतियोंका नहीं है। जिन्होंने अनन्तों जन्मोंमें सब प्रकारके सुकृत किये हों, उन्हींको इस महत् भाग्यका लाभ होता है। उनके साथ जाना भी अनन्त सुकृतोंके फलसे ही होता है। तभी तो श्रीसुतीक्ष्णजी वाक्‌चातुरीसे साथ हुए थे। चार शिष्य क्यों दिये? क्योंकि पैदल यात्रामें चार व्यक्तियोंको साथ रहना चाहिये, यह नियम है—**'एकस्तपो द्विरध्यायी त्रिभिर्गीतं चतुष्पथः।'** कर्मकाण्डके इस नियमका पालन भरद्वाज करते और कराते हैं, क्योंकि वे कर्मकाण्डी हैं।

'सुरसरि उतरि निवास प्रयागा'-प्रकरण यहाँ समाप्त हुआ।

वाल्मीकि-मिलन-प्रकरण

ग्राम निकट जब निकसहिं जाई। देखहिं दरसु नारि नर धाई॥ ७॥
होहिं सनाथ जनम फलु पाई। फिरहिं दुखित मनु संग पठाई॥ ८॥

दो०—बिदा किए बटु बिनय करि फिरे पाइ मन काम।
उतरि नहाए जमुन जल जो सरीर सम स्याम॥ १०९॥

शब्दार्थ—दरसु (दरशु)=रूपदर्शन, यथा—*'हमहिं अगम अति दरसु तुम्हारा।'* (२५०। ७) *'यह रघुनंदन दरस प्रभाऊ।'* (२५१। ६) दरस देखना=दर्शन करना। यथा—*'भरत दरस देखत खुलेउ मग लोगन्ह कर भागु।'* (२२३)

नोट—भुशुण्डीजीकी मूलरामायणमें प्रयाग-निवासके बाद *'बालमीकि प्रभु मिलन बखाना'* प्रकरण है। प्रयागसे अब उनके आश्रमको जा रहे हैं। मार्गमें ग्रामवासियोंको सुख देते जा रहे हैं। अतः उस प्रकरणकी भूमिका यहींसे उठी।

अर्थ—जब ये किसी गाँवके पास जा निकलते हैं तब (वहाँके) स्त्री-पुरुष दौड़कर इनके रूपको देखते हैं (दर्शन करते हैं)॥ ७॥ जन्म लेनेका फल पाकर सनाथ (कृतार्थ, कृतकृत्य) हो जाते हैं और अपने मनको उनके साथ भेजकर दुःखित होकर लौटते हैं॥ ८॥ ब्रह्मचारियोंको (जो मुनिने साथ कर दिये थे) विनय करके श्रीरामजीने बिदा किया। वे अपना मनोरथ प्राप्त करके लौटे। तब यमुना पार होकर प्रभुने यमुनाजीके जलमें स्नान किया जो शरीरके समान ही श्याम था॥ १०९॥

नोट—१ *'ग्राम निकट जब·····पठाई'* इति। (क) मिलान कीजिये—*'पद कोमल स्यामल गौर कलेवर राजत कोटि मनोज लजाये। कर बान सरासन सीस जटा सरसीरुह लोचन सोन सोहाये॥ जिन देखे सखी*

सत मायहु ते तुलसी तिन्ह तो मन फेरि न पाये। यहि मारग आजु किसोरबधू बिधु बैनी समेत सुभाय सिधाये॥' 'जेहि जेहि मग सियरामलखन गए, तहँ तहँ नरनारि बिनु छर छरिगे। निरखि निकाई अधिकाई बिथकित भए बच बिय नैन-सर शोभासुधा भरिगे॥ १॥ जोते बिनु बए बिनु निफन निराये बिनु सुकृत सुखेत सुखसालि फूलि फरिगे। मुनिहु मनोरथ को अगम अलभ्य लाभ सुगम सो राम लघु लोगनि को करिगे॥ २॥ लालची कौड़ीके कूर पारस परे हैं पाले, जानत न को हैं कहा कीबो सो बिसरिगे। बुधि न बिचार न बिगार न सुधार सुधि, देह गेह नेह नाते मन से निसरिगे॥ ३॥…' (गी० अ० ३२); *'अवलोकहु भरि नयन बिकल जनि होहु करहु सुविचार। पुनि कहँ यह सोभा कहँ लोचन, देह गेह संसार॥ सुनि प्रिय बचन चितै हित कै रघुनाथ कृपासुखसागर। तुलसिदास प्रभु हरे सबन्हि के मन,तन रहि न सँभार॥'* (२९) इत्यादिसे। इनसे *'होहिं सनाथ जनम फल पाई', 'दुखित'* और *'मन संग पठाई'* के भाव स्पष्ट हो जाते हैं। (ख) *'होहिं सनाथ…'* इति। ये लोग यह तो जानते नहीं कि ये परमात्मा हैं तथापि उनका जन्म सफल हो गया। इससे सूचित किया कि भगवान् रामने उनपर कृपा की। (प० प० प्र०) (ग)☞ *'फिरहिं दुखित…'* मन हाथसे निकलकर बटोहीके साथ चला जाता है, इसीसे व्याकुलता होती है। (प्र० सं०) *'पठाई'* में भाव यह है कि साथ जानेकी इच्छा है, पर *'गृहकारज नाना जंजाला'* से छुटकारा नहीं है, (दूसरे प्रभु अपने साथ दूरतक किसीको जाने कब देने लगे), अतः वे मनसे उनके साथ हो गये। तनसे लौटते हैं। इसीसे दुःखी हैं। (प० प० प्र०) (घ)—'मिलान कीजिये गी० ३५ के *'चितवत मोहि लगी चौंधी सी जानौं न कौन कहाँ ते धौं आए। मनु गयो संग सोचबस लोचन मोचत बारि कितौ समुझाए॥ तुलसिदास लालसा दरस की सोइ पुरवै जेहि आनि देखाए।'* ग्रामवासियोंके इस वाक्यसे। और भी—*'बहुरि बिलोकिबे कबहुँक कहत तन पुलक नयन जलधार बही॥'* (गी० २। ३८)।—इनमें *'दुखित'* का भाव है। पुनश्च—*'जब तें सीता समेत देखे दोउ भाई। तब तें परै कल न कछू न बसाई॥…तन सुधि गई मन अनत न जाई।'* (गी० २। ४०) (ङ) दर्शन लेकर मन साथमें देना *'परिवृत्त अलंकार'* है। (वीर)

२—(क) *'बिदा किए बटु बिनय करि'*—इससे जनाया कि वे फिरना न चाहते थे, इसीसे विनय करके लौटाना पड़ा। (ख) *'बिनय करि'* अर्थात् कहा कि आपको बड़ा कष्ट हुआ, अब राह मिल गयी, अब हम चले जायँगे। (पु० रा० कु०) गुरु महाराज राह देखते होंगे, चिन्तित हो जायँगे, उनकी सेवामें समयसे पहुँचना चाहिये। इत्यादि। (ग) *'फिरे पाइ मन काम'* इति। वे बड़ी उत्सुकतासे साथ चलनेको आये। उनकी मनोकामना थी कि कुछ कालतक चरणोंके दर्शन होते रहेंगे। उनकी यह मनोकामना पूरी हुई। आखिर उन्हें लौटना ही था, अतः फिरे। उनके परिश्रमके बदलेमें उनके मनोरथ पूरे किये। (घ) *'उतरि नहाए जमुन जल…'* इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि श्रीराम-लक्ष्मणजीने लकड़ियाँ एकत्र करके नौका (बेड़ा) बनायी और उसके द्वारा यमुनाको पार किया—'**तौ काष्ठसंघाटमथो चक्रतुः सुमहाप्लवम्।**' (२। ५५। १५)।…'**ततः प्लवेनांशुमतीं शीघ्रगामूर्मिमालिनीम्। तीरजैर्बहुभिर्वृक्षैः संतेरुर्यमुनां नदीम्॥**' (२२) और अ० रा० में मुनिकुमारोंकी बनायी हुई डोंगीपर चढ़कर पार होना कहा है। कल्पोंमें मतभेद होनेसे यहाँ केवल *'उतरि नहाये'* कहा गया, साधनका नाम न दिया गया। *'उतरि'* अर्थात् नौकाद्वारा यमुनापार होकर नावसे उतरकर स्नान किया। नदी पारकर स्नान करना चाहिये, यथा—*'करि मज्जन सरयू जल गये भूप दरबार।'* (१। २०६) *'उतरि ठाढ़ भए सुरसरि तीरा।…तब मज्जन करि रघुकुल नाथा।'* (१०२। १, १०३। १)। इत्यादि। यह नियम है। (ङ) *'जो सरीर सम स्याम'*—शरीर उपमेय, जल उपमान है। परंतु यहाँ उपमेयको उपमान और उपमानको उपमेय कर दिया। प्रथम प्रतीप अलंकार है। भाव कि शरीरकी श्यामता यमुनाकी श्यामतासे अधिक सुन्दर और मनोहर है।

सुनत तीरबासी नर नारी। धाए निज निज काज बिसारी॥ १॥
लषन राम सिय सुंदरताई। देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई॥ २॥

अति लालसा सबहि* मन माहीं। नाउँ गाउँ बूझत सकुचाहीं॥ ३॥
जे तिन्ह महुँ बय बिरिध सयाने। तिन्ह करि जुगुति रामु पहिचाने॥ ४॥
सकल कथा तिन्ह सबहि सुनाई। बनहिं चले पितु आयसु पाई॥ ५॥
सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं। रानी राय कीन्ह भल नाहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—**तीर**=तट, किनारा। **बिरिध** (वृद्ध)=बुड्ढे, बूढ़े। **नाउँ**=नाम।

अर्थ—यमुनाके किनारे रहनेवाले स्त्री-पुरुष सुनकर (कि अत्यन्त सुन्दर दो पुरुष और एक स्त्री आ रहे हैं।) अपना-अपना काम भूलकर दौड़े॥ १॥ लक्ष्मण, राम और सीताजीका सौन्दर्य देखकर अपने भाग्यकी बड़ाई करते हैं॥ २॥ सबके मनमें (इनका नाम और घर-गाँव जाननेकी) अत्यन्त उत्कट लालसा है, पर नाम-ग्राम पूछते सकुचाते हैं॥ ३॥ उनमेंसे जो वृद्धावस्थाके और चतुर थे उन्होंने युक्तिसे रामजीको पहचान लिया॥ ४॥ उन्होंने सारा वनवास-प्रसंग सबको सुनाया। (और कहा कि) पिताकी आज्ञा पाकर ये वनको चले हैं॥ ५॥ यह सुनकर सब दु:खित हो पछताते हैं कि रानी और राजाने अच्छा नहीं किया॥ ६॥

नोट—*'सुनत तीर बासी·····'* इति। (क) इससे जनाया कि यमुनाके तीर-तीर यमुना-वनसे होते हुए जा रहे हैं। (ख) *'धाए निज निज'*—यहाँ कार्यका त्याग नहीं कहा, कार्यका बिसारना कहा है। मानसमें सर्वत्र काजका बिसारना और कामका त्याग कहा गया है। उदाहरण—*'राम भजिय सब काज बिसारी।'* (७। १२३। २), *'चले सकल गृह काज बिसारी।'* (१। २४०। ६) *'चलहिं तुरत गृह काजु बिसारी।'* (२। ११४। २) *'धाए धाम काम सब त्यागी।'* (१। २२०। २) *'सोक धाम तजि काम।'* (५। ४६) अत: जहाँ कामके साथ 'बिसारी' आया हो, वहाँ काम=गृहकार्य (प० प० प्र०)। चैत्र-वैशाखका महीना है। फसलका अन्न माड़ना कूटना है वह काम भूल गये, अथवा और भी जो घरका काम धन्धा था उसे भूल गये। यथा—*'रामपथिक छबि निरखि कै तुलसी मग लोगनि धाम काम बिसरे हैं।'* (गी० २। २५)। यहाँ भक्तोंको उपदेश है कि जब इस तरह प्रभुके लिये दौड़ोगे तब वे अवश्य प्राप्त होंगे।

२—*'देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई'*—सौन्दर्य देखकर सभी कृतकृत्य हो जाते हैं। मिलान कीजिये—*'नीके कै निकाई देखि, जनम सफल लेखि, हम सी भूरि भागिनि नभ न छोनी॥ तुलसी स्वामीस्वामिनि जोहे मोही हैं भामिनि, सोभा सुधा पिए करि अँखियाँ दोनी॥'* (गी० २। २२) *मनोहरताके मानो ऐन। स्यामल गौर किसोर पथिक दोउ सुमुखि निरखु भरि नैन॥ बीच बधू बिधु बदनि बिराजति उपमा कहुँ कोऊ है न। मानहु रति रितुनाथ सहित मुनि बेष बनाए हैं मैन॥ किधौं सिंगार सुखमा सुप्रेम मिलि चले जग चित बित लैन। अद्भुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मगलोगन्हि सुख दैन॥* (गी० २। २४। १—३) *'सीता राम लषन निहारि ग्रामनारि कहैं, हेरि हेरि हेरि हेली हिय के हरन हैं। प्रानहुँके प्रानसे सुजीवनके जीवनसे, प्रेमहू के प्रेम रंक कृपिन के धन हैं। तुलसी के लोचन चकोर के चंद्रमा से, आछे मन मोर चित चातक के घन हैं॥'* (गी० २। २६) *'रूप सोभा प्रेम के से कमनीय काय हैं। मुनि बेष किये किधौं ब्रह्म जीव माय हैं।·····धन्य ते जे मीन से अवधि अंबु आय हैं। तुलसी प्रभु सो जिन्ह हूँ के भले भाय हैं।'* (गी० २। २८) *'अवलोकहु भरि नैन बिकल जनि होहु, करहु सुबिचार। पुनि कहँ यह सोभा, कहँ लोचन, देह गेह संसार।'* (गी० २। २९) *'आली अवलोकि लेहु नयनन्हि के फलु एहु, लाभ के सुलाभ सुख जीवनसे जी के हैं। धन्य नर नारि जे निहारी बिनु गाहकहू, आपने आपने मन मोल बिनु बीके हैं॥'* (गी० ३०) *'एक कहैं बामबिधि दाहिनो हमको भयो॥'* (३४)—इन पद्योंमें *'भाग्य बड़ाई'* का ही भाव है।

३—(क) *'अति लालसा सबहिं·····'* इति। जाननेकी उत्कण्ठा है पर उनका तेज-प्रताप देख पूछ नहीं सकते। (ख) *'करि जुगुति रामु पहिचानें'* इति। उन्होंने सुना था कि दशरथमहाराजने अपने पुत्रको वनवास दिया है, उनके साथ उनका भाई और स्त्री भी हैं। और राजलक्षण देखे इससे पहचान लिया।

* बसहिं—राजापुर (लाला सीताराम, गी० प्रे०)। सबहिं—रा० प्र० इत्यादि।

वा, निषादराजसे इशारेसे पूछकर परिचय पा गये।—(रा० प्र०, वीरकवि) अथवा, युक्ति यह की कि श्रीरामजीसे प्रार्थना की कि हमारी कुटीपर चलिये, वहाँ आपको सब तरहका सुपास होगा,यहाँ बाहर आप लोगोंको कष्ट होगा। इसके उत्तरमें उन्होंने कहा कि पिताकी आज्ञा ग्राममें जानेकी नहीं है। ये लोग अयोध्याका हाल सुन चुके थे, बस उत्तरसे समझ गये कि ये राजकुमार हैं। श्रीरघुनाथजीसे चलनेका प्रस्ताव जो किया यही युक्ति है। (नं० प०) वा, युक्ति गुप्त होती है। निषादराजको एक किनारे ले जाकर उनसे पूछ लिया, कुछ-न-कुछ बहाना करके निषादराजके साथ परिचय करके तब पूछा होगा। (प० प० प्र०) अ० दी० च० का मत है कि ज्योतिष और सामुद्रिकसे चिह्न देखकर और रूप-तेजादिसे जान गये कि मनुष्य नहीं हैं और ध्यानसे पता लगा कि परमात्मा हैं।

४—(क) *'सकल कथा तिन्ह····नाही।'* इति। गी॰ अ॰ के—*'आली री! पथिक जे एहि पथ परौं सिधाए। ते तौ राम लषन अवध तें आए॥ संग सिय सब अंग सहज सुहाए। रति काम रितुपति कोटिक लजाए। राजा दसरथ रानी कौसिला जाए। कैकेयी कुचालि करि कानन पठाए॥ बचन कुभामिनीके भूपहि क्यों भाए ? हाय हाय राम बाम बिधि भरमाए। कुलगुरु सचिव काहू न समझाए। काँच मनि लै अमोल मानिक गँवाए। भाग मग लोगन्ह के देखन जे पाए।'* (गी० २। ३९) *'कैसे पितु मातु प्रिय परिजन भाई। जीवत जीवके जीवन बनहि पठाई॥'* (गी॰ २। ४०)।—इन उद्धरणोंमें इस चौपाईके भाव हैं (ख) *'सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं।'* इति—सुकुमारता, छोटी अवस्था और सौन्दर्य इत्यादि देखकर सबके चित्तको दु:ख हुआ, इसीसे वे राजा-रानीको दोष लगाते हैं। रानीके हठसे वनवास हुआ अत: उसे प्रथम कहा।

तेहि अवसर एक तापसु आवा। तेजपुंज लघु बयस सुहावा॥ ७॥
कवि अलखित गति बेषु बिरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी॥ ८॥

दो०—सजल नयन तन पुलकि निज इष्टदेउ पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि॥ ११०॥

अर्थ—इसी समय एक तपस्वी आया जो बड़ा तेजस्वी,छोटी अवस्थाका और सुन्दर था। उसकी गति कविके लिये अलखित है अर्थात् कवि नहीं जानते कि वह कौन है, विरक्तोंका वेष है और मन-वचन-कर्मसे रामजीका प्रेमी है॥ ८॥ अपने इष्टदेवको पहचानकर उसके नेत्रोंमें जल भर आया, शरीरमें पुलकावली छा गयी, वह पृथ्वीपर डण्डेकी तरह पड़ गया अर्थात् उसने साष्टांग दण्डवत् की। उसकी दशा वर्णन नहीं की जा सकती॥ ११०॥

'तापस-प्रकरण'

इस तापसके प्रसंगपर समालोचक, साहित्यज्ञ और कुछ टीकाकार बेतरह जुट पड़े हैं। वे किसी तरह भी प्रसंगको मानसमें नहीं ही रखना चाहते और इसको क्षेपक बताते हैं।

बाबू शिवनन्दन सहायजी लिखते हैं—'रामचन्द्र निषादादिके साथ यमुनापार उतरे हैं। तीरवासी नर-नारी इन लोगोंको देख और वन-यात्राकी कथा सुन पछता रहे हैं;—*'सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं। रानी राय कीन्ह भल नाहीं॥ तेहि अवसर एक तापस आवा। तेजपुंज लघु बयस सुहावा॥'*

और वह सब किसीको दण्ड-प्रणाम कर—*'पियत नयनपुट रूप-पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा॥'* इसके अनन्तर लिखा है—*'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठये बन बालक ऐसे॥'*

इस प्रकरणके देखनेसे भान होता है कि *'सुनि सबिषाद'* इत्यादि—इस चौपाईको *'ते पितु मातु'* वाली चौपाईसे सहज सम्पर्क है और दोनोंके मध्यमें ८ चौपाइयों और एक दोहामें एक अन्य कथा घुसा देना सर्वथा अनुपयुक्त है। गोसाईंजीने ऐसा कदापि नहीं किया होगा।

और इस तपसीने सिवाय दण्ड-प्रणामके कुछ किया भी नहीं है। इस तापसके सम्बन्धमें टीकाकारोंकी विचित्र कल्पनाएँ देखिये—

(१) स्वयं गोसाईंजी निवासियोंका दौड़ा आना लिखकर ध्यानमें डूबे, यमुना किनारे पहुँच दण्ड-प्रणाम कर आये और जो प्रसंग लिखकर ध्यानमें डूबे थे उसके आगे हनुमान्‌जीने उनके दण्ड-प्रणामका हाल लिख दिया और गोसाईंजी उसे मिटा न सके।

(२) रामचन्द्रका रावणवध-संकल्प शरीर धारणकर उन्हें याद दिलाने आया।

(३) चित्रकूट ही शरीर धारणकर अगुआनी करने आया।

(४) तेजपुंज और भूखा होनेके कारण लोग इसे तपस्वीतनधारी अग्नि बताते हैं। यह इस वास्ते आ धमका कि अब निषादको रामचन्द्र फेर देंगे, मार्गमें तीनका जाना अशुभ है, हम अब साथ-साथ जायँगे। और बराबर साथ रहा, इसीसे सीताजी इसे सौंपी गयीं *(तुम पावक महँ करहु निवासा)*, सुग्रीवके साथ मित्रताके समय साक्षी हुआ और लंकामें सीता अग्निमें शोधी गयी।

(५) यमुना-किनारे अगस्त्यका एक शिष्य रहता था वह दर्शन करने आया।

किसी-किसी संस्करणमें तपसीकी कथाके बाद यह चौपाई है—*'उर धरि धीर रजायसु पाई। चले मुदित मन अति हरषाई॥'* इससे तो तपसीके साथ जानेकी बात स्वयं रद्द होती है और 'मानस-मयंक' भी इसकी पुष्टि करता है। इसके अनुसार गालवका पुत्र आया था और दण्ड-प्रणामकर निषादके साथ ही लौट गया। परंतु पूर्वोक्त दोनों संस्करणों (खंग-विलास-प्रेस तथा नागरी-प्रचारिणी-सभाद्वारा प्रकाशित) में (अतएव राजापुरवाली रामायणमें) यह चौपाई नहीं है, अतः टीकाकारोंका कथन विचारणीय है।

(१) गोसाईंजीके ध्यानकी बातसे और इससे कुछ सम्बन्ध नहीं। यह घटना उस समयकी कही गयी है जब गोसाईंजीके इस संसारमें रहनेका कोई पता भी नहीं बता सकता। यदि इनके ध्यानहीकी बात है तब यह निश्चय हनुमान्‌जीकृत क्षेपक ही है। इससे तो हमारे कथनका पूरा समर्थन होता है।

(२) दूसरी व्याख्या बालकोंकी गप है। रामचन्द्रजी भुलक्कड़ थोड़े ही थे। आकाशवाणीकी बात याद रही कि मनुजशरीर धारण किया और अब स्मरण करानेकी आवश्यकता हुई। और फिर इस शरीरमें तो अभी उन्होंने प्रतिज्ञा भी नहीं की थी, आगे करेंगे।

(३) चित्रकूट अगुआनी करने आया, पंचवटी क्यों नहीं आयी? कामदनाथ आये, त्र्यम्बकनाथ क्यों नहीं आये? क्या पंचवटी तथा त्र्यम्बकनाथ इन्हें परब्रह्म परमेश्वर नहीं जानते थे?

(४) यदि पथमें तीन पथिकोंके साथ चलनेका दोष निवारण करनेके हेतु अग्नि शरीर धारणकर यहाँसे साथ हुआ तो सीता-अपहरणके अनन्तर ऋष्यमूक-पर्वतपर्यन्त जानेतक तीनका दोष कैसे निवारण हुआ? और सीताहरण इन्हीं महात्माके साथ रहनेके समय हुआ। उसे क्या शुभकार्य कहियेगा? लंकामें सीताजीके परीक्षार्थ लक्ष्मणजीने अग्नि प्रकट किया था। साक्षीके लिये अग्नि वा किसी देवताको शरीर धारणकर रामचन्द्रके साथ वन-वन घूमनेकी आवश्यकता नहीं थी। वाल्मीकिजीके अनुसार उस समय हनुमान्‌जीने दो लकड़ियोंको रगड़कर अग्नि प्रकट किया था। समयपर मन्त्रद्वारा उनका आवाहन हो सकता था और ऐसा ही आज भी विवाहादिके समय हुआ करता है। और *'तुम पावक महँ करहु निवासा'* के *'महँ'* शब्दसे यह प्रतिपादित नहीं होता कि वे किसी शरीरधारी व्यक्तिके चार्जमें दी गयीं। अग्निमें प्रवेशके लिये तो लंकाके समान वहाँ भी अग्नि प्रकट किया जा सकता था और सौंपनेके लिये भी समयपर मन्त्रद्वारा अग्निका आवाहन हो सकता था। रही अगस्त्यके शिष्यकी बात, सो स्वाभाविक तथा सम्भाविक है। परंतु तो भी इसका उत्तर नहीं मिलता कि यह कथा बेजोड़ कैसे घुसी? गोसाईंजीको तो किसी पात्रको इस कुढंगपनेसे अपनी रचनामें प्रवेश कराते कहीं नहीं देखते।'

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि तेजपुंजसे अग्नि सूचित किया। सुहावा अर्थात् सुन्दर है और अग्निसे रूप होता ही है—वह तो स्वयं अग्नि है, सुन्दर हुआ ही चाहे। उसीकी गति कविके लखनेमें नहीं आती अथवा कवि है जब जानता तब सबका साक्षी है। अथवा इससे लखनेमें नहीं आता कि अग्निकी गति कौन लख सकता है, पेटमें है, काठमें भी है, सभीमें है। पेटमें रहता है जलाता नहीं, समुद्रमें रहता

है बुझता नहीं, इसीसे अलखित गति है। वेष विरागी है अर्थात् कुछ संग्रह नहीं किये हैं—अग्नि सबको जलाकर अपना-सा कर देता है, गुण-दोष किसीका नहीं ग्रहण करता। 'यह इतिहास बटुरामायणसे, जो सोलह हजारका है, गोसाईंजीने लिखा है। उसमें लिखा है कि जब राजाने यज्ञ किया तब स्वप्नमें उनसे पूछा गया कि क्या इच्छा है? उन्होंने पुत्रकी अभिलाषा बतायी। तब उत्तर मिला कि चार पुत्र होंगे जब २७ वर्षके होंगे तब वन जायँगे वहाँ हम संग रहेंगे। वही अग्नि यज्ञ-पुरुष-स्वरूप धारण करके सीताकी रक्षा करनेके लिये आया और उनके पातिव्रत्यकी रक्षा करता है। अथवा शुक्राचार्य हैं परमहंसचर्याको प्राप्त हैं, अग्निकुण्डसे निकले हैं।'

पं० रामचरण मिश्र कहते हैं कि जब यह प्रकरण क्षेपक नहीं है तो इसकी यथार्थता अन्वेषणीय है। कोई चित्रकूट, कोई अग्नि और कोई ग्रन्थकारहीको सिद्ध करते हैं; पर चिन्तनीय है कि चित्रकूट वा अग्निका नाम जाहिर कर देनेसे कविका क्या हर्ज था जो ऐसा गुप्त रखा और जो कवि अपने लिये रखते तो 'तेजपुंज' आदि उच्च विशेषण अपने लिये न देते; क्योंकि वे कार्पण्य शरणागति दर्जेपर हैं। अतः यह गुप्त प्रकरण हनुमान्‌जीका आवेशावतारद्वारा सिद्ध हुआ प्रतीत होता है। और, सूक्ष्मस्वरूपसे अनन्यगति वायुसूनु साथ-ही-साथ रहे, आगे सुग्रीव-प्रकरणमें स्थूलरूपकी लीला ग्रन्थकार कहेंगे, यहाँ सूक्ष्मरूपकी लीला स्वयं कही। आवेश निकल जानेपर कविने अपने प्रकरणमें आरूढ़ होकर जहाँसे छोड़ा था वहींसे ले लिया कि ***'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे'*****……'** इत्यादि। वैष्णवरत्न श्रीरूपकलाजीका अनुभव भी यही है कि वे श्रीहनुमान्‌जी थे।

गौड़जी—तापसवाला प्रकरण क्षेपक अवश्य है, परंतु यह क्षेपक मानसकारकी ही लेखनीसे पीछेकी प्रतियोंमें लिखा गया है। गालवपुत्रका आना और कविके द्वारा उसकी गतिका अलखित होना बहुत सुसंगत नहीं जँचता। स्वयं गोस्वामीजीका इस प्रकार भगवान्‌के दर्शन करने आना भी सुसंगत नहीं है, क्योंकि आगे चलकर ज्ञानी भक्त वाल्मीकिके रूपमें तो स्वयं भगवान् उनके आश्रमपर पधारेंगे। यदि कहें कि आगे लेने आये तो वहाँ आश्रममें इसी क्रियाका दोहराया जाना पाया जायगा। संकल्पका रूप धरके याद दिलाने आना गुस्ताखी है। चित्रकूटका रूप धरकर बुलाने आना अनोखी बात है और कोई स्थान स्वागतार्थ नहीं आया। शंकरावतार हनुमान्‌जीका तापसरूपमें पधारना और बाल-ब्रह्मचारीरूपमें जगज्जननीकी चरण-धूलि लेना आदि सब अत्यन्त सुसंगत हैं, परंतु तापसको वापस करनेवाली अर्धालीका होना भी जरूरी है, नहीं तो जब तापस-रूपमें हनुमान्‌जी बराबर साथ रहे तो सीताहरण आदिके समय कहाँ थे? (उनके सूक्ष्मरूपमें फिर हो जानेकी चर्चा ही कहीं नहीं है।) फिर बटुरूप धरकर सरकारसे परिचय पानेका अनोखा अभिनय कैसे करते? उस अर्धालीके होनेसे तापसवाली कथा इस गुत्थीको भी सुलझा देती है कि हनुमान्‌जी प्रभुको न पहचाननेपर लज्जित क्यों होते हैं। यदि तापसको वापस भेजनेवाली अर्धाली नहीं रहती तो अग्नि-भगवान् (जो कि स्वयं भगवान् शंकरके अवतार हैं और इसीलिये भगवद्भक्तशिरोमणि हैं) तापसके रूपमें मिलते हैं फिर 'अलखित' वा अदृश्यरूपसे बराबर साथ रहते हैं। उन्हींमें सीताजीका निवास रहता है। सरकारकी वियोग-लीलाके समय भी बराबर जगज्जननी साथ ही हैं। भगवान् शंकरकी यह कार्रवाई है। ***'लछिमनहू यह मरमु न जाना।'*** जहाँ-जहाँ साक्षीकी आवश्यकता हुई स्थूल अग्नि प्रकट किया गया। तपस्(=अग्नि) का 'तापस' रूप सुसंगत है। 'तेजपुंज' 'अलखित गति' अग्निकी ही होती है। अग्नि 'विरागी' होता ही है। कुछ लोग 'शिव' जी परक अर्थ भी करते हैं परंतु तापसरूपमें 'अग्नि' हों, चाहे हनुमान्‌जी हों, शिव ही हुए।—रा० गौड़।

नोट—कुछ राजापुरकी पोथीहीमें नहीं वरन् अन्य भी समस्त रामचरितमानसकी प्रतिलिपियोंमें तापका प्रसंग ज्यों-का-त्यों मिलता है। इसपर भी इसको क्षेपक कहकर निकाल डालनेपर तुल जानेका साहस करना (और पंजाबीजी एवं विनायकी टीकाकारने तो उसपर क्षेपककी मुहर लगाकर उसे निकाल ही दिया है) अथवा उसको बेढंगा या कुढंगा कहनेका हमको क्या और किस हदतक अधिकार है यह बात पाठक

स्वयं ही विचार करें। यह तपस्वी कौन था इसके बारेमें पूज्य कवि जब स्वयं कह रहे हैं कि *'कवि अलखित गति।'* अर्थात् कवि उसको नहीं पहचान सकते, इसीसे नहीं कह सकते कि वह कौन था। जब कवि ही उसको नहीं बता सकते, तो व्यासलोग अपनी बुद्धि इस विषयमें अनुमानसे लड़ानेका परिश्रम ही क्यों करते हैं? ऐसा निश्चय है कि जिस समय सब ग्रामवासी यह कहकर पछता रहे थे कि *'रानी राय कीन्हि भल नाहीं'* ठीक उसी समय यह तापस आया है। इसको देख ग्राम-नर-नारी भी एकटक देखते रह गये, बातचीत बंद हो गयी और जब दण्डवत्-प्रणाम आदि करके उसको छुट्टी मिली तब फिर ग्रामवासी ज्यों-के-त्यों बातें करने लगे।

यह ठीक है कि इस तरह अन्यत्र कहीं कोई प्रसंग नहीं लिखा गया। पर ऐसा प्रसंग भी शायद कहीं नहीं आया कि बीचमें कोई पात्र कहीं इस तरह आ गया हो और उसके आनेसे दूसरे खामोश हो गये हों। ग्राम नर-नारी तो इसको देखकर मुग्ध हो गये, वे तो स्वयं पूर्व-प्रसंग छोड़कर इसके प्रभुसे मिलापकी प्रशंसा करने लगे थे—जैसा *'मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तन कह सब कोऊ॥'* इस अर्धालीसे स्पष्ट है। बस, जैसा-जैसा उस समय होता गया वैसा ही कवि लिखते गये।

रहा, सबसे बड़ा खटका और सबसे बड़ी अड़चन कि उसका लौटना वर्णन नहीं किया गया जिससे सब कोई इस प्रसंगपर शंकाएँ करते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि—(१) ऐसे प्रेमीका आकर प्रभुसे मिलना कहकर उसका वियोग कराना उचित न समझा गया; शिशु माता-पितासे कैसे अलग हो—*'जननि जानि सिसु दीन्हि असीसा।'* पुनः, (२)—तापसको प्रेममूर्ति और रामको परमार्थमूर्ति कहा है। प्रेम और भगवान्‌में भेद नहीं। प्रभुसे पृथक् प्रेमका अलग अस्तित्व ही नहीं। ऐसे प्रेमी और भगवान् दो नहीं—एक जान और दो कालिब—*'देखियत भिन्न न भिन्न।'* प्रेमपागल रसखानने भी कहा है—*'प्रेम हरीको रूप है वे हरि प्रेम स्वरूप। एक होय दोमें लखै ज्यौं सूरजमें धूप॥'* जब ये दोनों एक हैं जैसे सूर्य और घाम; पृथक् हो ही नहीं सकते तो जाना कैसे कहें?

नोट—☞ यहाँतक प्र० संस्करणमें लिखा गया था। ☞ स्मरण रहे कि *'उतरि नहाए जमुन जल''''' ॥'* (१०९) से *'चले ससीय मुदित दोउ भाई।'* (११२।१) तक किसी भी तीरवासी नर-नारीका लौटना नहीं कहा गया है तब इस तापसका बिदा किया जाना कैसे कहते? ये सब देखकर प्रेममें मग्न दर्शन कर रहे हैं।

सिद्धान्त तत्त्वदीपिकाकार लिखते हैं कि—*'सुनि यह पंचरात्र है कथा।' कहि बसिष्ठ रामायण यथा। कहै कृपावति अग्नि सुभक्त। सिय रघुबर पद सों अनुरक्त॥ पुत्र भाव नित हिय में राखै। जननी ज्यों सियको अभिलाषै॥ इंद्रहु यहै भाव हिय धारै। भये सु लै लवकुश अवतारै। भावी पुत्र ताहि हिय जानि। ता पर निज बालकता आनि॥ पिय सिय अग्नि बसन को कही। यहै जानि जानकि तहँ रही॥'* श्रीबैजनाथजी इस उद्धरणके आधारपर अनुमान करते हैं कि अग्नि बालरूपसे आया। श्रीसीतारामजी उसे पुत्र करके मानते हैं इसीसे बराबर संग रखा। पर उनका निज मत यह है कि कवि उसको नहीं जानते अत: कल्पना करना व्यर्थ है।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजीका मत भी 'कवि' तुलसीदासजीके पक्षमें है। वे लिखते हैं कि 'यह प्रसंग उस समयका है, जब रामजी प्रयागराजसे चित्रकूट जा रहे हैं। रास्तेमें यमुनाजी मिलीं, वहींसे बटुओंको बिदा करके भगवान् यमुनापार उतरे। यह स्थान गुरौली घाटके आस-पास रहा होगा। कविकी जन्मभूमि राजापुर यहाँसे निकट है। कौन कह सकता है कि अपनी जन्मभूमिके निकट अपने इष्टदेवका आना वर्णन करते-करते भावके आवेशमें कविके लिये भूत वर्तमानमें परिणत न हो गया हो और आप अपने इष्टदेवके चरणोंमें *'परेउ दंड जिमि अवनि तल दसा न जाइ बखानि'* की दशाको न प्राप्त हो गये हों। *'कबि अलखित गति बेष बिरागी'* से भी यही ध्वनित होता है। यहाँका कवि शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। और कहीं उल्लेख न आना, बिदाई न कहना आदि शंकाओंका समाधान सहजमें ही हो जाता है।

कैलासवासी बाबू बैजनाथदास रिटायर्ड जज (काशी) का मत कि विनय-पत्रिका २६४ वाँ पद ***'तुलसी तोको कृपाल जो कियो कोसलपाल चित्रकूट को चरित्र चेतु चित करि सो'*** इसी चरित्रका संकेत है।'

बाबा जयरामदास दीनजी भी इस तापसको तुलसीदासजी ही मानते हैं। वे लिखते हैं कि 'जब ग्रन्थकार यमुनापार होनेका चरित लिखकर वहाँके तटवासी ग्रामीण मनुष्योंके आनन्दकी कथा, जो श्रीकृपाल प्रभु (श्रीसीता-राम-लक्ष्मण) के प्राप्त होनेसे उन्हें मिल रहा था, रचने लगे तो आपकी अपने निवास-स्थानके सम्बन्धसे करुणार्द्र चित्तवृत्तिमें एक प्रेमभाव उत्पन्न हो उठा।……श्रीग्रन्थकार इस भावको स्मरणकर भगवत्प्रेममें मग्न हो गये कि 'यही भूमि है, जहाँ यह अभागा कलियुगमें प्रवासी बना; यदि कहीं त्रेतायुगमें ही इसका जन्म हुआ होता तो सम्पूर्ण ग्रामवासियोंकी भाँति यह आत्मा भी मंगलमूर्तियोंकी साक्षात् सन्निधि प्राप्त कर कृतार्थ हो गया होता।' यह अनुरागदशा इतनी गहरी तहतक पहुँची कि देहानुसंधान जाता रहा और लेखनी हाथसे छूटकर गिर पड़ी। भक्तवत्सल भगवान् सच्चे प्रेमकी आर्तदशाका निरीक्षण कर……उनके अन्त:करणमें अनुज-जानकी तथा निषादराजसहित प्रकट हो गये और जो कल्पना उनके हृदयमें स्फुरण हो रही थी, उसकी पूर्तिके लिये दूसरे ग्रामवासियोंकी ही भाँति हृदयानुसंधानद्वारा मानसिक मिलन उसी प्रकार प्रदान कर दिया, जैसा इन ८ चौपाइयों और १ दोहेमें वर्णित है। तात्पर्य श्रीविरदपाल प्रभुने अपनी भक्तवत्सलतासे इस बातका पूर्ण संतोष प्रदान कर दिया कि ग्रन्थकारको कोई पश्चात्ताप न रह जाय, उनका भी मिलना स्वीकार है। श्रीरामचरितमानसमें यह स्थल अपूर्व और दिव्य है। जब श्रीगोस्वामीजी इस आनन्दको उपलब्ध कर सचेत होते हैं तो क्या देखते हैं कि वही बातें, जो आपको ध्यानमें स्फुरित हुईं, ग्रन्थमें आपके द्वारा रचित चौपाईसे आगे ८ चौपाई और १ दोहेमें ज्यों-की-त्यों लिखी विद्यमान हैं। इस दिव्य महाप्रदानका साक्षात्कार कर गोस्वामीजी कृतकृत्य हो जाते हैं और अपनेको धन्य मान उस प्रसादको यथास्थान ज्यों-का-त्यों सुरक्षित कर उसे भी अपने ग्रन्थकी मूल संख्यामें जोड़ पहले छोड़ी हुई कथासे मिलाते हुए आगेका वर्णन आरम्भ करते हैं। एक प्रमाण ग्रन्थकारकी मुग्धहृदयताका पोषक और भी है, जो उनके आनन्दकी सीमाको स्मरण करा रहा है, वह यह है कि इस दिव्य सुखानुभूतिसे जगनेपर उस प्रेमशिथिल हृदयसे नवीन पद रचनेकी चैतन्यता भी शिथिल हो गयी और अपना ही पूर्वरचित पद जो शृंगवेरपुर पहुँचनेपर दोहा ८८ के आगे चौपाईमें शृंगवेरपुरवासी नर-नारियोंके मुखसे कहला चुके थे वही अक्षर-अक्षर फिर दोहरा उठे।

'इस तापसप्रसंगके शब्दार्थोंकी तारतम्यता विचारनेमें भी कोई खटकनेवाली बेमेल बात नहीं प्रतीत होती। विरक्त वेषको 'तापस' कहना उचित ही है। 'तेजपुंज' ब्राह्मणशरीर स्वभावकर्मानुसार होती ही है। 'लघुवयस' ***'बालक सुत सम दास अमानी'***—इस वचनसे सिद्ध ही है। ***'सुहावा'*** भजनानन्दका स्वरूप ही है। और आपके ***'मन क्रम बचन राम अनुरागी'*** होनेके बारेमें क्या कहना है! ***'कबि अलखित गति'*** तो मानो इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये कहा गया है कि सचमुच यह दैहिक मिलन न होकर केवल मानसिक सन्निधिका ही प्रकरण है। जब मानसके कवि स्वयं ही देहानुसंधानरहित (बेहोश) दशामें हैं, तभी तो उनमें लिखनेकी शक्ति नहीं है। अतएव ***'अलखित गति'*** यथार्थ संगत है। ***'सजल नयन तनु पुलक'*** आदि सात्त्विक भाव प्रेम-दशामें होते ही हैं। 'प्रेम' और 'परमार्थ' के मिलनकी उपमा भी गोस्वामीजी और सरकारके लिये सर्वथा सार्थक है। श्रीलखनलालके पग लगना तथा श्रीसीताचरणरजको मातृभावानुसार शीश धरना ग्रन्थकारके ही भावोंके द्योतक हैं। निषादराजका वर्णाश्रम-धर्मानुसार ब्राह्मण, संतवेष एवं विरक्त श्रीगोस्वामीजीको मर्यादा देना मर्यादापुरुषोत्तमको अभीष्ट ही है। ***'पियत नयन पुट रूप पियूषा। मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा॥'*** के भावनार्थ तो करुणा ही उठी थी, जो सदा अनन्तरूपसे प्रदान की गयी है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द श्रीगोस्वामीजीके ही लिये संगत हो जाता है। अतएव जिस प्रकार विनयपत्रिकाके अन्तिम पद ***'मारुति मन……मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथकी परी रघुनाथ हाथ सही है।'*** से श्रीरामदरबारकी सही प्राप्त है तथा श्रीरामगीतावली आदि अपर ग्रन्थोंके मार्मिक पदों—***'राम लषन रिपुदवन भरतके चरित***

सरित अन्हवैया। तुलसी तबके-से अजहुँ जानिये रघुबर नगर बसैया॥' 'तुलसी राम बलि जस बरनत सो समाज उर आनी॥'—द्वारा भी इस रहस्यकी पुष्टि होती है, उसी प्रकार श्रीरामचरितमानसके अन्तर्गत यह प्रसंग अनन्यभक्तिभूषण गोस्वामी तुलसीदासजीके ही प्रेम-मिलनके परमानन्दकी सही है। किसी अन्य व्यक्तिके आनेकी भिन्न कथा नहीं है। इसे भगवद्भक्त कदापि आश्चर्य न मान भगवान् शिवजीके इस वचनपर विश्वास कर मग्नचित्त होनेकी श्रद्धा करें—*'जाकें हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती॥'*

इस अनुमानकी पुष्टिमें वे लिखते हैं कि 'यदि ग्रन्थकारको किसीके भी आगमन या मिलनकी कथा रचनी होती तो उसका स्पष्ट नाम लिखनेमें क्या आपत्ति थी—चाहे वह अग्निदेव हों या वाल्मीकिजी, चित्रकूट ही हों या सूर्य, अगस्त्यके शिष्य हों या स्वयं अगस्त्यजी हों। क्या उपर्युक्त नामोंका उल्लेख न करनेका ग्रन्थमें कहीं किंचित् भी खयाल रखा गया है? कदापि नहीं।......जहाँ भी जिस किसीका रामचरितसे सम्बन्ध दिखाया गया है, उसका नाम भी आवश्यकतानुसार हर जगह अवश्य दिया है। फिर यहाँ तो ऐसा करना अति आवश्यक था, कारण कि जिसका इतने आह्लाद एवं प्रेमसे ८ चौपाई और एक दोहेमें मिलनवर्णन किया गया हो उसका नाम-पता न बताना कैसे सम्भव है? इसलिये कविके लिये तो जानकर छिपाना असम्भव है। इसी प्रकार कविको मालूम न होना उससे भी अधिक आश्चर्यमय है जब कि *'बहुरि राम अस मन अनुमाना। होइहि भीर सबहि मोहि जाना॥'* से स्वयं प्रभुके मनका अनुमानतक भी ज्ञात हो गया है। क्योंकि अन्तर्यामी सूत्रधार श्रीरामजी *'जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥'* तब उसकी जानकारीसे रचनाके प्रसंगका कौन अंग बाकी रह सकता है? अत: निश्चय मानना पड़ता है कि यह प्रसंग ग्रन्थकारका रचित होना सम्भव नहीं। परन्तु आधुनिक क्षेपकोंकी भाँति ग्रन्थरचना हो जानेके पश्चात्का भी यह प्रसंग कदापि सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि सभी प्रामाणिक प्रतियोंमें पाये जानेके अतिरिक्त सबसे बड़ा प्रमाण इसके ग्रन्थके अन्तर्गत होनेका यह है कि स्वयं ग्रन्थकारने ही इसे अपनी नियमित संख्यामें जोड़कर ग्रन्थका मूल स्वीकार कर लिया है। तात्पर्य, श्रीगोस्वामीजीके रचनाकालमें ही इस प्रसंगका बीचमें रचा जाना और किसी ऐसे पूज्यके द्वारा रचित होना सिद्ध होता है, जिसको ग्रन्थकारने हृदयसे स्वीकारकर अपने ग्रन्थमें मूलरूपसे माननेका एक आह्लादपूर्ण विषय बना लिया है। क्योंकि इसे प्रेमभावानुसार ही ग्रन्थमें ज्यों-का-त्यों भगवत्-प्रसाद मानकर अचल स्थान देकर अपने नियम-भंगकी संख्या अंकित करनेमें भी हर्ष माना गया है।

वे० भू० पं० रामकुमारदासजी लिखते हैं कि जो लोग क्षेपक नहीं मानते वे लोग अनेक प्रकारकी कल्पना करके—कामद, चित्रकूट, अग्नि, इन्द्र,गोस्वामीजी और वाल्मीकिका शिष्य आदि किसी एकको तापस सिद्ध करनेके लिये सारी तर्कबुद्धि लगा देते हैं। वैसे ही एक कल्पना यह भी हो सकती है कि 'वन-यात्रामें श्रीरामजीके अनेक प्रेमी भक्त मिले हैं। यदि केवल सबका नाममात्र लिखा जाता तो महाभारतसे भी बड़ा पोथा हो जाना असम्भव नहीं था तथा सबका नाम भी कौन जान सकता है और यदि मान लिया जाय कि जिनका नाम लिखा गया है वे ही मात्र मिले थे तो भी नहीं बनता, अत: निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अनेक ऐसे भी प्रेमी वनमें मिले थे जिनको कि श्रीसीताराम-लक्ष्मणजीके अतिरिक्त चौथा व्यक्ति उन्हें न पहचानता ही था और न उनका नाम ही जान सका था। उन्हीं प्रच्छन्न प्रेमियोंका यह तापस भी एक उदाहरणस्वरूप रहा होगा।

प्रज्ञानानन्द स्वामीजी लिखते हैं कि—(१) यदि शिवजी तपस्वीरूपमें होते तो श्रीरामजी उनको दण्ड-प्रणाम करने नहीं देते और जानकीजी भी शिशु जानि आशीर्वाद न देतीं। (२) श्रीहनुमान्जी जब विप्ररूपसे मिले तब भी श्रीरामजीको पहचान न सके। अत: हनुमान्जीका होना असम्भव-सा है। (३) अग्निदेव आदि तो प्रेमकी मूर्ति नहीं हैं, वे तो स्वार्थी हैं। अत: ध्यानमग्न तुलसीदास ही होंगे और शिवजीने दो अर्धालियाँ, एक दोहा और उसके पश्चात् छ: अर्धालियाँ गुप्तरूपसे लिख दीं यह श्रीजयरामदास 'दीन' का अनुमान उचित लगता है। कारण कि उनको जो चित्रकूटमें श्रीरामजीका दर्शन हुआ था, उसकी स्मृति होना असम्भव नहीं है।

साकेतवासी पं० बद्रीनारायण त्रिपाठी एम० ए० कहते थे कि यह तापस मूर्त्तिमान् प्रेम ही था। आगे चलकर कविको श्रीभरतजीका प्रेम लिखना है। *'जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को'* उस प्रेमकी दशाको कवि कैसे लिखेगा? उनका लक्ष्य करानेके लिये 'प्रेम' स्वयं मूर्तिमान् होकर आया। परम सुकृती अनुभवी पुरुषोंका अनुभव सत्य ही होता है। श्रीजनकजी अपना अनुभव कहते हैं—*'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥'* (१। २१६। २) इसी तरह श्रीहनुमान्‌जीका अनुभव *'की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार।'* (कि० १) है। ये ग्राम-नर-नारी भी परम सुकृती हैं जो भगवान्‌का दर्शन कर रहे हैं और उनके प्रेममें मग्न हैं। इनका अनुभव भी असत्य नहीं हो सकता। वे सब-के-सब एक स्वरसे कहते हैं—*'मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरें तन कह सब कोऊ॥'* (१११। २) इन दोनोंमेंसे श्रीरामजी तो परमार्थरूप हैं ही, यथा—*'राम ब्रह्म परमारथ रूपा।'* (९३। ७) तब दूसरा 'प्रेम' ही हुआ जो 'तन धर' कर आया है और इसीसे उसे प्रभु हृदयसे लगाते हुए पुलकित हो रहे हैं। इतना ही नहीं वरंच ऐसे सुखी हो रहे हैं *'परम रंक जनु पारस पावा॥'* जैसे परमदरिद्र पारस पानेसे सुखी हो।

तापसको तेजपुंज, लघु वयस्, वेष विरागी, मन-क्रम-वचन-राम-अनुरागी-विशेषण दिये गये हैं; वे सब प्रेममें घटित होते हैं। प्रेममें तेज होता ही है, प्रेमी प्रेममें हेमपिण्डवत् हो जाता है। महाप्रभु कृष्णचैतन्यके चरितमें प्रियादासजीने स्वयं यह बात कही है। भगवान् तेजपुंज हैं—*'रबि सत कोटि प्रकास' 'धरमकेतु सतकोटि सम'* इत्यादि। पुनः यथा—*'राजन राम अतुल बल जैसें। तेजनिधान लषन पुनि तैसें॥'* (१। २९३। ३) प्रेमका भगवान्‌से तादात्म्य होनेसे वह भी तेजपुंज हुआ ही चाहे। प्रेमको शिशु कहा गया है, यथा—*'ता पर राम पेम सिसु सोहा।'* (२८६। ६) *'जननि जनक सिय राम प्रेम के।'* (१। ३२। ४) (चरितको श्रीसियरामप्रेमका माता-पिता कहा है। नाम, रूप, लीला और धाम चारोंको भगवान्‌का विग्रह कहा गया है। इस तरह श्रीसीतारामजी प्रेमके माता-पिता हैं)। आगे श्रीजानकीजीने तापसको आशीर्वाद इसी भावसे दिया है।—*'जननि जानि सिसु दीन्ह असीसा।'*—अतः *'लघु बयस'* कहा *'बेषु बिरागी'*—प्रेमी तो परम वैराग्यवान् होता ही है।—*'रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥'* (३२४।८) प्रेमीको मन, कर्म और वचनसे श्रीरामानुरागी होना ही चाहिये; यदि इनमेंसे कोई भी त्रुटि है तो भगवान् कोसों दूर हैं, उनसे भेंट कहाँ? जबतक तीनों लोकोंके विषयोंसे वैराग्य न होगा तबतक प्रेम कहाँ? प्रेमी तो *'बचन कर्म मन राम गति भजन करहिं निःकाम'* भक्ति कामनाके लिये नहीं होती, वह तो निरोधरूपा है—**'सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्।'**(ना० भ० सू० ७) और निरोधका लक्षण है—लोक-व्यवहारका त्याग।—**'निरोधस्तु लोकव्यापारनन्यासः।'** (ना० भ० सू० ८) तथा प्रियतम प्रभुमें अनन्यता और उसके प्रतिकूल विषयमें उदासीनता—**'तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च।'** (ना० भ० सू० ९)

राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारस पावा॥ १॥
मनहुँ प्रेम परमारथु दोऊ। मिलत धरें तन कह सबु कोऊ॥ २॥
बहुरि लषन पायन्ह सोइ लागा। लीन्ह उठाइ उमगि अनुरागा॥ ३॥
पुनि सियचरन धूरि धरि सीसा। जननि जानि सिसु दीन्हि असीसा॥ ४॥
कीन्ह निषाद दंडवत तेही। मिलेउ मुदित लखि राम सनेही॥ ५॥
पिअत नयनपुट रूप पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा॥ ६॥

अर्थ—श्रीरामजीने प्रेमपूर्वक पुलकित होकर उसे हृदयसे लगा लिया (तापसको इतना सुख मिला) मानो महादरिद्री पारस पा गया॥ १॥ (इनका परस्पर मिलाप देखकर) सब कोई (देखनेवाले) कहते हैं कि ऐसा जान पड़ता है मानो प्रेम और परमार्थ शरीर धारण करके मिल रहे हैं॥ २॥ फिर वह लक्ष्मणजीके चरणोंसे जा लगा अर्थात् उनके चरणोंपर पड़ा, उनको प्रणाम किया, चरण छुए। अनुरागसे

उमगकर लक्ष्मणजीने उसे उठा लिया॥ ३॥ फिर उसने श्रीसीताजीके चरणरजको सिरपर धारण किया (लगाया)। माताने बालक जानकर उसे आशीर्वाद दिया॥ ४॥ निषादराजने उसको दण्डवत् किया और श्रीरामजीका प्रेमी जानकर वह उससे आनन्दित होकर मिला॥ ५॥ वह तपस्वी नेत्ररूपी दोनोंके द्वारा श्रीरामजीके रूपामृतको पी रहा है और ऐसा आनन्दित है जैसे कोई भूखा सुन्दर उत्तम भोजन पानेसे आनन्दित हो॥ ६॥

नोट १—यहाँ तपस्वी प्रेमकी मूर्ति है और श्रीरामजी परमार्थकी, यथा—*'राम ब्रह्म परमारथ रूपा।'* इस कथनसे दिखाया कि भगवत्-प्राप्ति प्रेमसे ही होती है।

नोट २—यहाँ दो उत्प्रेक्षाएँ की गयीं। एक परम दरिद्रके पारस पानेकी; दूसरी प्रेम-परमारथके परस्पर मिलनेकी। पहलेमें श्रीरामजी दरिद्रके स्थानपर और तपस्वी पारसके स्थानपर हैं। इससे दिखाया कि भगवान् अपने प्रेमीको पाकर कैसे आनन्दित होते हैं। यह तपस्वी श्रीरामजीको ऐसा लगता है जैसे महादरिद्रको पारस। वह पृथ्वीपर पड़ा था मानो पारस पड़ा था, उसे श्रीरामजीने उठा लिया। दरिद्रको पारस महान् दुर्लभ, वैसे ही श्रीरामजीको प्रेम महादुर्लभ। भगवान्‌को आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु, ज्ञानी भक्त तो बहुत मिलते हैं पर *'सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन', 'मन क्रम बचन राम अनुरागी', 'राम भगति रत गत मद माया'* ऐसा प्रेमी तो असंख्योंमें कोई एक मिलता है। अतएव उसे पाकर प्रभु बड़े ही आनन्दित हो जाते हैं। और दूसरीमें यह भी दिखाया कि प्रेमीके लिये तो रामजी परमार्थ भी हैं और अर्थ भी। श्रीरामजी ही उसके परम प्राप्य हैं। (किसी-किसीका मत है कि पहलेमें तपस्वी परमरंक है और राम पारस हैं। परन्तु रामजीने उसको उठाया और छातीसे लगाया, इससे यह ठीक जँचता है कि वह पारस है जो पड़ा हुआ महादरिद्रको मिल गया, उसके पास स्वयं आ प्राप्त हुआ, इसीसे उसके आनन्दकी सीमा नहीं।)

नोट ३—*'कह सब कोऊ'* अर्थात् जो स्त्री-पुरुष वहाँ खड़े थे और अभी विषाद कर रहे थे, वे इसे देखकर वह वार्ता छोड़के इसके मिलापको देखने लगे और ऐसा कहने लगे। पुनः, *'सब कोऊ'* अर्थात् कविका भी यही मत है और प्राचीन ऋषियोंने भी ऐसा ही कहा है।

नोट ४—*'लीन्ह उठाइ उमगि……'* अर्थात् तुम हृदयमें रखने योग्य हो, यह भी जनाया। परम भागवत है इसीसे लक्ष्मणजीने प्रेमसे तुरन्त उठा लिया।

नोट ५—*'जननि जानि'* यह दीप-देहलीसे दोनों ओर है। तपस्वीने माता जानकर सिरपर पदरज धारण किया और उन्होंने पुत्र जानकर आशीर्वाद दिया। ऐसा जान पड़ता है कि स्त्री जानकर चरण-स्पर्श या साष्टांग दण्डवत् नहीं किया।

नोट ६—*'कीन्ह निषाद दंडवत……लखि राम सनेही'*—भाव कि ऐसी नीच जाति होनेपर भी कि *'जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा'* उस रामभक्त निषादको तपस्वीने छातीसे लगा लिया। यह हम सबको शिक्षा है कि कोई भी भगवद्भक्त, कैसा ही नीच क्यों न हो, हमें उसको देखकर प्रसन्न होना चाहिये और उससे घृणा न करनी चाहिये। क्योंकि राम-भक्तकी कोई जाति नहीं रह जाती, वह तो अच्युत गोत्र हो जाता है। ना० भ० सूत्रमें कहा है—**'नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।'** (७२) अर्थात् उनमें (भक्तोंमें) जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादिका भेद नहीं है। जिनमें यह भेदभाव हो उन्हें रामभक्त न समझना चाहिये। यहाँ मित्रपक्षीय प्रत्यनीक अलंकार है।

नोट ७—*'पिअत नयनपुट रूप पियूषा।……'* इति। (क) पीनेके लिये पात्र चाहिये, यहाँ नेत्र पात्र हैं, रूपकी माधुरी अमृत है। भाव कि बड़े चावसे एकटक वह प्रभुकी रूप-माधुरीका अवलोकन कर रहा है। यहाँ पीनेको अमृत मिला, इससे तृप्ति हुई। (पं० रा० कु०) [अथवा, *'पिअत'* वर्तमानकालिक क्रिया देकर जनाया कि रूपामृतका पान करता है, उससे अघाता नहीं। इसी तरह प्रभुके श्रीमुख-वचनों और उनकी कथाको अमृत कहकर श्रोताओंने अपने कानों आदिका अघाना नहीं कहा है। यथा—*'प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ। तन पुलकित मन अति हरषाऊँ॥'* (७। ८८। २) *'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा*

सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर॥' (७। ५२) श्रीभरतजीने भी कहा है कि *'दरसन तृपित न आजु लगि पेम पिआसे नैन।'* (२६०) हाँ, इतनी बात अवश्य है कि श्रीभरतजीने संकोचवश कभी सिर उठाकर ऐसा दर्शन नहीं किया जैसा यह तापस एकटक दर्शन कर रहा है। श्रीमनुशतरूपाजीको भी यह सौभाग्य प्राप्त हुआ था—*'छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी॥ चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥'* (१। १४८) वैसे ही यह तापस तृप्त नहीं होता। उसे 'प्रेम' कहा है, तब प्रेमको तृप्ति कहाँ?] उत्तम भोजन पेटभर पानेसे सबको तृप्ति होती और आनन्द होता है, पर जो भूखा हो उसे मिल जाय तो आनन्दका ठिकाना नहीं वैसे ही इसके आनन्दका क्या कहना? (पं० रा० कु०) यहाँ 'परंपरित रूपक और उदाहरण अलंकार' है। देखिये, वनमार्गमें मिलनेसे नेत्रोंको दोनोंका रूपक देना कैसा उत्तम है! यहाँ पत्ते ही तो बहुत होते हैं।

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥ ७॥
राम लषन सिय रूप निहारी। होहिं सनेह बिकल नर नारी॥ ८॥
दो०—तब रघुबीर अनेक बिधि सखहि सिखावनु दीन्ह।
राम रजायसु सीस धरि भवन गवनु तेइँ कीन्ह॥ १११॥

अर्थ—हे सखि! कहो तो वे माता-पिता कैसे हैं कि जिन्होंने ऐसे(सुन्दर, सुकुमार, नेत्रोंमें रखने योग्य) बालकोंको वन भेज दिया॥ ७॥ श्रीरामलक्ष्मण-सीताजीके रूपको देखकर वे स्त्री-पुरुष स्नेहके मारे व्याकुल हो जाते हैं॥ ८॥ तब रघुवीर श्रीरामजीने बहुत तरहसे सखाको शिक्षा दीं अर्थात् समझाया। श्रीरामजीकी आज्ञा सिरपर धारणकर वह घरको चला॥ १११॥

नोट १—इन चौपाइयोंके ऊपर पं० शिवलाल पाठक एक अर्धाली और लिखते हैं—*'उर धरि ध्यान रजायसु पाई। चल्यो मुदित मन अति हरषाई॥'* पर यह अर्धाली और कहीं नहीं मिलती।

नोट २—(क) ग्रामवासियोंके सविषाद पश्चात्तापका प्रसंग अब फिर उठाया। बीचमें तपस्वीजी आ उपस्थित हुए थे तब वे सब उनके तेज, प्रेम आदिको देख ठिठककर रह गये और उनकी रामजीसे भेंटकी प्रशंसा करने लगे—*'मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तन कह सब कोऊ॥'* अब सावधान हो वे पुनः विषादके वचन कहने लगे। जैसा हुआ वैसा ही ज्यों-का-त्यों कविने लिख दिया। (ख) प्रसंग इसपर छोड़ा था कि राजा-रानीने अच्छा नहीं किया, बस वहींसे फिर प्रसंग उठाते हैं कि वे माता-पिता (रानी-राजा) कैसे कठोरहृदय हैं।

वि० त्रि०—पहले कह आये हैं कि *'सुनत तीरबासी नर नारी। धाए निज निज काज बिसारी॥',* सो पहले नर-समाजमें जो बातें हुईं उन्हें लिखा, उसके बाद तापस-प्रसंग चल पड़ा। उससे पता चला कि यह तापस भी उन्हीं तीरवासियोंमें था, पर इसे माहात्म्यका ज्ञान था, अतः इसके मिलने और अन्य लोगोंके मिलनेमें बड़ा भेद था, इसलिये यह प्रसंग ही अलग लिखा। बिदाईकी कोई बात ही नहीं थी। सभी रामजीको देखते रह गये। उसी भाँति यह तपस्वी भी *'पियत नयन पुट रूप पियूखा। मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा॥'* देखता रह गया। इसके पश्चात् नारी-समाजमें जो बातें हुईं उसे लिखते हैं। 'सखि' सम्बोधनसे ही स्पष्ट है कि ये नारी-समाजकी बातें हैं। नर-समाजमें वयोवृद्धोंसे पता चल गया था, अतः वहाँ बात हो रही है कि *'रानी राय कीन्ह भल नाहीं।'* (तथा वैसे ही) नारी-समाजमें बात हो रही है कि *'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन पठये बन बालक ऐसे॥'*

नोट—३ इस चौपाईका भाव पूर्णरूपसे कवितावलीके *'रानी मैं जानी अयानी महा पबि पाहनहूँ तें कठोर हियो है। राजहु काज अकाज न जान्यो कह्यो तिय को जेहि कान कियो है॥ ऐसी मनोहर मूरति ये बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है। आँखिनमें सखि राखिबे जोग इन्हैं किमि कै बनवास दियो है॥'* (२२। २०) इस पदमें है।

नोट ४—इस ग्रन्थमें अनेक स्थलोंपर एक ही चरण या एक ही अर्धाली जो पूर्व कही गयी है फिर दुबारा दी गयी है। उदाहरणार्थ कुछ यहाँ दिये जाते हैं—

(१)*'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥'* यह शिवजीका वाक्य (बा० ७७। २) में है; और फिर अ० २१३ (३) में भी है।

(२)*'तप बल संभु करहिं संघारा'* (१। ७२) में है और फिर (१। १६३। ३) में भी आया है। यहाँके अन्य चरण भी एक ही अर्थके हैं।

(३)*'आगें रामु लषन बने पाछें। तापस बेष बिराजत काछें॥ उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥'* अ० १२३ (१-२) की यह चौपाई (आ० ७) से मिलती-जुलती है। (३। ७। २-३) इस प्रकार है—*'आगें राम अनुज पुनि पाछें। मुनिबर बेष बने अति काछें॥ २॥ उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥ ३॥*

(४) *'कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा।'* (४। ५। ७) उसी काण्डमें पुनः दोहा (७। ११) में है।

(५) *'रामचरन पंकज उर धरहू'* यह चरण सुं० २३ (१) और लं० (१। ८) में है।

तथा यहाँ, (६) *'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे। राम लषन सिय रूप निहारी।'* के ये तीन चरण पूर्व दोहा ८९ में इस तरह हैं—*'राम लषन सिय रूप निहारी।''''' ॥ ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥'* (१-२) और *'राम लषन सिय रूप निहारी'* फिर आगे ११४। ३ में है।

बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि चन्दबरदाईने 'पृथ्वीराज रासो' में आदि पर्वमें इसी प्रकार एक छंदको दो-दो बार लिखा है।

बाबा जयरामदास 'दीन' जी कहते हैं कि दोहा ८९ की ही चौपाई यहाँ दुबारा आनेका प्रधान कारण श्रीगोस्वामीजीके मनकी मुग्धता है, जो प्रभुके साक्षात् मानसिक मिलनके समय हुई थी। दूसरा भाव यह है कि श्रीराम-लक्ष्मण-सीताकी सिर-आँखोंपर रखनेयोग्य सुकोमल मनोहर त्रिमूर्तियोंका वनके कठिन मार्गमें पैदल चलना प्रत्येक नर-नारीके लिये असह्य हो गया था, इसीसे जहाँ-तहाँ सबके मुखसे हर जगह यही शब्द निकल रहे थे—*'ते पितु मातु कहहु सखि''''' ।'* (मानस-रहस्य)

टिप्पणी—१ *'तब रघुबीर अनेक बिधि''''' '* इति। गुह साथ छोड़ना नहीं चाहता था, इसीसे उसे बहुत तरह समझाना पड़ा। वह समझाये नहीं मानता था तब रघुवीर रामजीने उससे यह कहा कि हमें किसीका भय नहीं है कि रक्षाके लिये किसीको साथ लेना पड़े। यह भाव 'रघुवीर' पद देकर सूचित किया गया है। पुनः, गुहने *'रघुबीर दोहाई'* शब्द कहकर शपथ की थी, यथा—*'तब मोहि कहँ जसि देब रजाई। सोइ करिहउँ रघुबीर दोहाई॥'* (१०४। ६) अतएव लौटानेमें भी *'रघुबीर'* पद दिया गया।

नोट—५ अध्यात्मरामायण सर्ग ६ में लिखा है निषाद प्राण त्याग करनेको कहता था—(पर मानसकल्पका निषाद ऐसा नहीं है,यहाँ सेवक-धर्मका पूरा निर्वाह है। वह रामशपथ कर चुका है कि आज्ञा मानूँगा।) तब रामजीने उसे समझाया कि १४ वर्ष ही तो बाहर रहना है, हम अवश्य लौटेंगे, हम कदापि असत्य नहीं बोलते, लौटनेमें तुम्हारे यहाँ फिर आवेंगे। (अ० रा० २। ६। २४—२६) विशेष उदासीरूपसे वनवासकी आज्ञा है, साथ रखनेमें पिताके वचनका उल्लंघन होगा, इत्यादि। और भी विधि, यथा—तुम्हारे सम्बन्धी चिन्तित होंगे। क्योंकि उनसे कह आये हो कि चार दिनमें लौटोगे। हम-तुम दोनों झूठे पड़ेंगे। पुनः तुम्हें साथ देख और भी लोग साथ रहनेका हठ करेंगे अब मार्ग मालूम हो ही गया है, हम चले जायँगे। इत्यादि।

श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'प्रेमका मूर्तिमान् स्वरूप (इसे) दिखाया गया है। यही कारण है कि इसके दर्शन पाकर निषाद यहींसे लौट जायँगे; क्योंकि प्रेमकी पूर्णता होनेपर वियोगका अनुभव नहीं होता। अन्यथा वे तो शपथ कर चुके थे कि भगवान्के लिये कुटी बनाकर ही लौटूँगा।'

टिप्पणी—२ *'राम रजायसु सीस धरि'* इति। (क)—*'रजायसु'* के साथ *'राम'* पद दिया; क्योंकि रामकी आज्ञा अटल है, सब शिरोधार्य करते हैं, यथा—*'मेटि जाइ नहिं राम रजाई।'* (९९। ७) *'राम रजाई सीस सबहीके।'* (२५४। ८) इत्यादि। (ख)—पुनः, *'राम'* पद दिया कि वे सबमें रमण करते हैं, सब कुछ जानते हैं, वे जानते हैं कि सुमन्त्रजी अभी शृंगवेरपुरहीके पास पड़े हैं, जबतक गुह न जायगा उनका अवधको लौट जाना सम्भव नहीं, ये जाकर उन्हें लौटायेंगे; अतएव उन्होंने लौटनेकी आज्ञा दी। पुनः, (ग) राजाकी आज्ञा है इससे माननीय है, अतएव लौटनेमें *'रजायसु'* पद दिया।

पुनि सिय राम लषन कर जोरी। जमुनहि कीन्ह प्रनामु बहोरी॥ १॥
चले ससीय मुदित दोउ भाई। रबितनुजा कइ करत बड़ाई॥ २॥
पथिक अनेक मिलहिं मग जाता। कहहिं सप्रेम देखि दोउ भ्राता॥ ३॥
राजलषन सब अंग तुम्हारें। देखि सोचु अति हृदय हमारें॥ ४॥

शब्दार्थ—'**रबितनुजा**' (रबि+तनया)=सूर्यकी कन्या, यमुना। *'करम कथा रबिनंदनि बरनी।'* (ब०। २। ९)। ३१ (११) देखिये। '**पथिक**'=राह चलनेवाले, मुसाफिर, यात्री, बटोही। '**राजलषन**'=राज्यलक्षण, राजचिह्न।

अर्थ—फिर श्रीसीता, राम, लक्ष्मणजी-(तीनों-) ने हाथ जोड़कर यमुनाजीको पुनः प्रणाम किया॥ १॥ सूर्यकन्या यमुनाजीकी बड़ाई करते हुए दोनों भाई श्रीसीताजीसहित प्रसन्नतापूर्वक चले॥ २॥ रास्तेमें जाते हुए अनेक राह चलनेवाले मिलते हैं। दोनों भाइयोंको प्रेमसे देखकर प्रेमसहित कहते हैं—॥ ३॥ तुम्हारे सब अंगोंमें सब राज्यलक्षण देखकर हमारे हृदयमें अत्यन्त सोच (सन्देह) होता है॥ ४॥

नोट—१ *'पुनि'* अर्थात् गुहको लौटानेपर। *'बहोरी'* से जनाया कि अभी यमुना-स्नान करनेपर प्रणाम एक बार कर चुके हैं और अभी यमुनातटपर ही थे। श्रीभरद्वाजजीके आश्रमसे चलकर यमुना पार होकर वहाँ स्नान करना अर्थात् ठहरना कहा था। वहाँसे चलना नहीं कहा था। तापस-भेंट, गुहविदाई आदि सब प्रसंग यमुना-तटपर हुए। अब वहाँसे चले तब प्रणाम करके चलना कहा—*'चले ससीय मुदित दोउ भाई।'*

नोट २—यमुनाकी बड़ाई करनेमें *'रबितनुजा'* नाम दिया। अर्थात् इनका सम्बन्ध सूर्यवंश (रघुकुल) से है। सूर्यकी पुत्री होनेसे इक्ष्वाकुकी फूफू (पिताकी बहिन) और श्रीरामजीके घरकी पुरुषिन हुईं। अतः इनकी प्रशंसा अपना धर्म है। पुनः, यह सम्बन्धी नाम देकर इनका सम्बन्ध अपने कुलसे होना भी कहा। पुनः, पवित्र नदी है, इससे पावन आदि गुणोंकी प्रशंसा की।

वि० त्रि०—*'राजलषन सब अंग''''हमारे'* इति। रास्ते चलते अनेक पथिक मिलते थे। उनमेंसे एक ज्योतिषी भी थे। सामुद्रिक शास्त्र ज्योतिषका ही अंग है। श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीजीकी सुन्दरता देखकर और उन्हें पैदल वन जाते हुए जानकर सभीको सोच होता था, पर ज्योतिषीजीको अधिक सोच हुआ, उन्होंने देखा कि राजाके जितने लक्षण शास्त्र कहता है उतने सब किसी राजामें नहीं पाये जाते, सो सब-के-सब इनमें वर्तमान हैं, अतः इन्हें तो भूमण्डलका सम्राट् होना चाहिये, ये इस दीन-हीन दशासे वन जा रहे हैं, यह हुआ क्या? क्या ज्योतिष शास्त्र झूठा हो गया? अतः ज्योतिषीजीको अधिक सोच हुआ।

वि० टी०—सामुद्रिक शास्त्रानुसार राजाओंके कुछ चिह्न ये हैं—१ लाल मांसल, पुष्ट तलुवा। २ तलुवेमें पूरी ऊर्ध्वरेखा। ३ काले, नर्म, पतले, एक-ही-एक रोम। ४ सिंहके समान कमर और पेट। ५ छाती चौड़ी, ऊँची और कड़ी। ६ बाहु घुटनेतक लम्बे और हाथीकी सूँड़के समान पुष्ट और सुडौल। ७ हाथकी अँगुलियाँ बड़ी-बड़ी। ८ हाथके पंजेकी पीठ साँपके फनके आकारकी। ९ गोल दर्शनीय मुख। १० शंखके समान त्रिरेखायुक्त गर्दन। ११ मूँगेके समान लाल ओष्ठ। १२ हरतालके रंग-सरीखे नेत्र। १३ सुडौल छोटे छेदके बड़े कान। १४ मस्तकका आकार खुले हुए छातेके आकारका-सा ऊँच-नीच। १५ ललाटमें श्रीवत्स और धनुषका चिह्न। १६ चिकने, नर्म, पतले, लम्बे और घुँघराले बाल''''इत्यादि।

वाल्मी० ५। ३५ में श्रीहनुमान्‌जीने श्रीराम-लक्ष्मणजीके शरीरोंके कुछ चिह्नोंका वर्णन किया है। कन्धे विशाल हैं, भुजाएँ बड़ी हैं, गला शंखके समान है, मुख सुन्दर मांगलिक है, गलेकी हड्डी छिपी हुई है, आँखें लाल हैं। दुन्दुभिके समान उनका कण्ठस्वर है। वर्ण सुन्दर चिकना है। सब अंग शरीरके अनुकूल और अलग-अलग मालूम पड़नेवाले हैं। तीन अंग (जंघा, गट्टा और मुष्टि) स्थिर हैं, तीन लम्बे हैं, तीन बराबरके हैं, तीन (नाभि, काँख और छाती) ऊँचे हैं, तीन (नेत्रोंके कोये, नख, हाथ, पैरके तल) लाल हैं। तीन स्निग्ध हैं, तीन (वचन,गमन और नाभि) गम्भीर हैं। उदर और कण्ठमें त्रिवली है। पैरके तलवे, पैरकी रेखाएँ और स्तनोंके चूचुक गहरे हैं। गला, पीठ, पुरुषचिह्न और दोनों जंघा छोटे हैं। मस्तकपर तीन भँवर हैं। अंगूठेमें चार रेखाएँ हैं। वे चार हाथ लम्बे हैं और उनके हाथ, जानु, जंघे और कपोल ये चारों समान हैं। उनके शरीरके चौदह जोड़े—दोनों भौंहें, दोनों नासिकापुट, दोनों आँखें, दोनों कान, दोनों ओष्ठ, स्तनोंके दोनों चूचुक, दोनों कुहनियाँ, गट्टे, जानु, अंडकोश, कमरके दोनों भाग, दोनों हाथ, पैर, स्फिक (मुखछिद्रके दोनों सिरे) समान हैं। आगेवाले चार दाँत नुकीले हैं। उनकी चाल सिंह, बाघ, हाथी और बैलके समान सुन्दर है। ओष्ठ, ठोढ़ी और नाक सुन्दर हैं। वचन, मुँह, नख, लोम और त्वचाएँ कोमल हैं। बाहु, नली, ऊरु और जंघे ये आठ लम्बे हैं। मुख, नेत्र, मुखविवर, जिह्वा, ओष्ठ, तालू, स्तन, नख, पैर और हाथ—ये दस अंग कमलके समान तथा पद्मचिह्नसे चिह्नित हैं। छाती, मस्तक, ललाट, गला, बाहु, कन्धे, नाभि, पैर, पीठ और कान—ये दस अंग विशाल हैं। यश, श्री और तेज—ये सब सर्वत्र फैले हैं। माता और पिता दोनों वंश शुद्ध हैं। बगल, कोख, छाती, नाक, कन्धे, ललाट—ये छः ऊँचे हैं। अँगुलियोंके पोर, केश, रोम, नख, त्वचा शेफ, दाढ़ीके बाल, बुद्धि, दृष्टि—ये नौ सूक्ष्म हैं और धर्म, अर्थ, कामका यथोचित सेवन करते हैं।······लक्ष्मणजी बड़े तेजस्वी हैं, अनुराग, रूप और गुणोंसे श्रीरामजीके समान हैं। ये स्वर्णके समान गोरे हैं और श्रीराम श्यामवर्ण हैं। (श्लोक १५ से २३ तक। श्लोक ८ से १४ तक इनके फल कहे गये हैं।)

मारग चलहु पयादेहिं पाएँ। ज्योतिषु झूठ हमारेंहि* भाएँ॥ ५॥
अगमु पंथु गिरि कानन भारी। तेहि महँ साथ नारि सुकुमारी॥ ६॥
करि केहरि बन जाइ न जोई। हम सँग चलहिं जो आयसु होई॥ ७॥
जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई। फिरब बहोरि तुम्हहिं सिरु नाई॥ ८॥

दो०—एहि बिधि पूँछहिं प्रेम बस पुलक गात जलु नैन।
कृपासिंधु फेरहिं तिन्हहिं कहि बिनीत मृदु बैन॥ ११२॥

शब्दार्थ—**भाएँ**=भाव, समझ, विचारमें, यथा—***'नहि भलि बात हमारे भाए'*** (ब०)। **पयादे**=पैदल।

अर्थ—(कि राज्यलक्षण होते हुए भी आप) रास्तेमें पैदल ही चल रहे हैं; (इससे) हमारी समझमें ज्योतिषशास्त्र झूठा है॥ ५॥ रास्ता एक तो कठिन फिर उसमें पहाड़ और भारी वन हैं, उसपर भी आपके साथ सुकुमारी स्त्री है॥ ६॥ वनमें हाथी और सिंह हैं, वह देखा नहीं जाता अर्थात् इनसे वन बड़ा भयानक लगता है, देखे डर लगता है। यदि आज्ञा हो तो हम साथ चलें॥ ७॥ जहाँतक आप जायँगे वहाँ पहुँचाकर फिर हम आपको प्रणाम करके लौट आवेंगे॥ ८॥ इस प्रकार प्रेमके वश होकर वे पूछते हैं, उनके शरीर पुलकित हैं, नेत्रोंमें जल भरा है। दयासागर श्रीरामजी नम्र कोमल मीठे वचन कह-कहकर उन्हें लौटाते हैं॥ ११२॥

नोट—१ ***'ज्योतिषु झूठ·····'*** से यहाँ सामुद्रिक शास्त्रसे तात्पर्य है। भाव यह कि जिसमें ये लक्षण

* हमारें—गी० प्रे०। हमारेहिं—का०, रा० प्र०, को० रा०; वि० त्रि०; ना० प्र० स०; भा० दा०।

पाये जायँ उसे राजा होना चाहिये। ऐसा न होकर आपका उदासी वेश है,सवारी, छत्र, चँवर, मुकुट आदि न होकर आप नंगे पैर, पैदल जटाजूट धारण किये और बिना सेना-सिपाहीके वनमें जा रहे हैं। यह उस शास्त्रके विरुद्ध है, यह विपरीत वैचित्र्य देख उसके सत्य होनेमें सन्देह होता है। यहाँ गम्योत्प्रेक्षा अलंकार है।

नोट २—*'फिरब बहोरि तुम्हहि सिरु नाई'* अर्थात् हम कुछ पहुँचाई नहीं चाहते, न कुछ लेंगे, पहुँचाकर प्रणाम करके चले आवेंगे। अतः संग लेनेमें संकोच न कीजिये। (वा भाव कि हम सेवक हैं आप स्वामी हैं। आप संकोच न करें। प० प० प्र०)

नोट ३—*'कृपासिंधु फेरहिं·····'* इति। लौटानेका कारण *'कृपासिंधु'* पदसे सूचित किया। क्यों लौटाते हैं? प्रभु सोचते हैं कि हमको तो कोई कष्ट नहीं, इनको व्यर्थ कष्ट होगा, दूना रास्ता नापना होगा, इनको अपना कष्ट क्यों दें। (पंजाबीजी) *'बिनीत मृदु बैन'* यह कि शिक्षित और कोमल मधुर वचन कहकर फेरते हैं कि हमको कोई कष्ट नहीं है, हमारे यहाँ हाथी, घोड़ा, रथ, सेना आदि सब कुछ है, हम अपनेसे ही पिताकी आज्ञा मानकर, सब त्यागकर इस प्रकार वनमें विचरते हैं (पं० रा० कु०)

जे पुर गाँव बसहिं मग माहीं। तिन्हहि नाग सुर नगर सिहाहीं॥ १॥
केहि सुकृतीं केहि घरीं बसाए। धन्य पुन्यमय परम सुहाए॥ २॥
जहँ जहँ राम चरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं॥ ३॥
पुन्यपुंज मग निकट निवासी। तिन्हहि सराहहिं सुरपुरबासी॥ ४॥
जे भरि नयन बिलोकहिं रामहिं। सीता लषन सहित घनस्यामहिं॥ ५॥

शब्दार्थ—**पुर**=दो-चार घरका छोटा गाँव। **नाग नगर**=वासुकी आदि नाग देवताओंका लोक जिसका भोगावती नाम है।

अर्थ—जो पुरवे और ग्राम मार्गमें बसे हैं उन्हें नागलोक और देवलोक ललचाकर देखते हैं और उनकी बड़ाई करते हैं कि॥ १॥ किस धर्मात्माने किस शुभ मुहूर्तमें इनको बसाया। ये धन्य हैं, परम पुण्यरूप ही हैं और परम सुहावने हैं॥ २॥ जहाँ-जहाँ श्रीरामजी चरणोंसे चलकर जाते हैं उनके समान तो इन्द्रपुरी अमरावती भी नहीं है॥ ३॥ रास्तेके पासके रहनेवाले पुण्यकी राशि अर्थात् बड़े सुकृती हैं, उनकी सराहना देवलोकवासी करते हैं॥ ४॥ कि जो नेत्र भरकर श्रीसीता-लक्ष्मणसहित घनश्याम श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन कर रहे हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'नाग सुर नगर·····'* इति। सुरपुरसे अधिक भोग-पदार्थ नागोंके नगरमें हैं, बलि आदि वहीं बसते हैं जो 'शतक्रतु' यज्ञकर्ता हैं; इसीसे 'नाग' को प्रथम कहा। पूर्वार्द्धमें *'पुर गाँव'* दो कहे और उत्तरार्द्धमें *'नाग सुर नगर'* दो कहे; यथासंख्यालंकारसे पुरको देखकर नागनगर और ग्रामको देख सुरनगर सिहाते हैं। वा, दोनोंको देख दोनों ललचाते हैं और सराहते हैं। क्या सराहते हैं यह आगे कहते हैं कि *'केहि सुकृतीं·····'* [कहाँ पुर और गाँव दो-चार, दस-बीस घरके और कहाँ नगर हजारों घरका और कहाँ भोगावती, अमरावती ऐसे देवताओंके भोग और ऐश्वर्यपूर्ण लोक! तब फिर भी ये सराहते हैं; इतनेहीमें कितनी प्रशंसा जना दी है। पुनः,भाव कि नागसे पाताल और सुरसे स्वर्गलोकोंके नगरोंसे प्रशंसित हैं तो इस लोकके नगरोंकी बात ही क्या जो कहें। इसीसे केवल नाग और सुरोंके नगरोंको कहा। यहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति' अलंकार है।]

नोट—१ (क) सिहाना यह कि धन्य इनके भाग्य हैं कि इनमें अप्राकृत श्रीसाकेतविहारी परात्पर ब्रह्म विहार करते विचरते हैं और हमारे यहाँ तो प्राकृत लोग निवास करते और विचरते हैं। हम मार्गपरके गाँव क्यों न हुए। (रा० प्र०)

(ख) *'गाँव-गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल कैरवचंदू॥'* (१२२। १) यह आगे कहा है। अर्थात्

जिस ग्रामके पाससे सरकार निकल जाते हैं, वहीं ऐसा आनन्द उमड़ पड़ता है। इसीलिये कहा कि *'जे पुर गाँव बसहिं मग माहीं। तिन्हहिं नाग सुर नगर सिहाहीं॥'* क्योंकि नागनगर या सुरनगरके पास सरकारका पदार्पण न हुआ न होनेकी आशा है, अत: वहाँ न ऐसा आनन्द हुआ न होनेकी आशा है। अत: आज वे उन गाँवोंसे ईर्षा कर रहे हैं। (वि० त्रि०)

(ग) नगर चेतन नहीं जो 'सिहाते' इनसे इनके अभिमानी देवताओंको समझना चाहिये। (पंजाबीजी) वस्तुत: यहाँ Personification अलंकार है। नगरोंसे उनके अभिमानी देवताओंके ग्रहणकी आवश्यकता नहीं है। इस अलंकारका भाव आगे *'तिन्ह समान अमरावति नाहीं'* से स्पष्ट है। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—२ *'केहि सुकृतीं केहि घरीं बसाए।·····'* अर्थात् यदि वह घड़ी जानी होती तो बृहस्पति और शुक्राचार्य हमको उसी शुभ मुहूर्तमें बसाते जिसमें हमारे यहाँ भी ये चरणोंसे चलकर आते। वे सुकृती धन्य हैं जिन्होंने बसाया और वह घड़ी धन्य है। वे पुण्यमय हैं अर्थात् उनके प्रचुर पुण्य हैं।

टिप्पणी—३ *'पुन्यपुंज मग निकट निवासी।·····'* इति। पहले दिखाया कि मार्गके पुर और ग्रामोंको नाग-सुर-नगर सिहाते हैं, अब बताते हैं कि गाँव-पुर-निवासियोंको नाग-सुर-नगर-निवासी सराहते हैं अर्थात् बस्ती बस्तीको और निवासी निवासीको सराहते हैं।

नोट—२ *'घनस्यामहिं'* इति। इसका भाव हरिश्चन्द्रजीके इस पदमें देखिये—*'याही सों घनश्याम कहावत। द्रवत दीन दुर्दशा बिलोकत करुणारस बरसावत॥ भीगें सदा रहत हियरससों जन मन ताप जुड़ावत। 'हरीचंद' से चातक जनके जियकी प्यास बुझावत॥'*

नोट—३ बाबा हरीदासजी—राम और घनश्याम एक ही हैं। प्रथम राम कहकर फिर घनश्याम कहा। जब मेघ बरसते हैं तब श्याम हो जाते हैं। पुन:, जब दामिनी चमकती है और पृथ्वीपर मेघ बरसते हैं तब सब जीव सुखी होते हैं। वैसे ही यहाँ मगवासी और बटोही स्त्री-पुरुष इन तीनोंको देखकर अतिसुखी हुए—श्रीरामजी घनश्यामरूप हैं, सीताजी दामिनीरूप हैं और लक्ष्मणजी धरणीधर शेष महिपालक कारणरूप हैं। नागदेवकी पूजा लोग धरणीकी प्रसन्नता-हेतु करते हैं सो महि प्रसन्न होकर पदार्थ देती है, इस प्रकार धरणी और नागका सम्बन्ध है।

जे सर सरित राम अवगाहहिं। तिन्हहि देव सर सरित सराहहिं॥ ६॥
जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाई। करहिं कलपतरु तासु बड़ाई॥ ७॥
परसि रामपद पदुम परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा॥ ८॥

दो०—छाँह करहिं घन बिबुधगन बरषहिं सुमन सिहाहिं।
देखत गिरि बन बिहग मृग रामु चले मगु जाहिं॥ ११३॥

अर्थ—जिन तालाबों और नदियोंमें श्रीरामजी स्नान करते हैं (वा, उनमें थाह लेते चलते हैं।) उन्हें देवसर (मानससर, नारायणसर, बिंदसर, पम्पासर इत्यादि) और देवनदियाँ सराहती हैं॥ ६॥ जिस वृक्षके नीचे प्रभु जाकर बैठते हैं उसकी बड़ाई कल्पवृक्ष करते हैं॥ ७॥ श्रीरामजीके चरण-कमलकी धूलिका स्पर्श करके पृथ्वी अपना बहुत बड़ा भाग्य मानती है॥ ८॥ मार्गमें बादल छाया करते हैं, देवगण फूल बरसाते और ललचाते हैं। पर्वत, वन, पक्षी और मृगादि पशुओंको देखते हुए श्रीरामजी रास्ता चले जा रहे हैं॥ ११३॥

नोट—१ *'राम अवगाहहिं'* इति। यहाँ *'अवगाहहिं'* पद सार्थक है। इसमें प्रवेश करना, थाह लेते हुए पार होना और स्नान करना सभी आ जाते हैं; क्योंकि सब नदी-तालाबोंमें नहाते तो होंगे नहीं।

देवसर और देवसरिताएँ यह सराहते हैं कि अभीतक हम अपनेको धन्य मानते थे कि देवता लोगोंसे हमारा सम्बन्ध है, वे हममें स्नान करते हैं। पर ये तो हमसे भी बड़े भाग्यवान् हैं कि इनमें देवताओंके भी देवता स्नान करते हैं। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि देवसरि गंगा सराहती हैं कि हमको तो

पदनखके स्पर्शमात्रसे इतनी बड़ाई मिली और इनको तो सारे शरीरका स्पर्श हुआ फिर इनकी पावनता और प्रशंसा कौन कह वा कर सकता है? टीकाकारोंने देव-सरितासे गंगा, यमुना, सरस्वतीका अर्थ किया है, पर यदि इससे देवलोककी नदियोंका अर्थ लिया जाय तो अधिक उत्तम जान पड़ता है; क्योंकि गंगा-यमुनामें तो प्रभुने स्नान भी किया जो इस लोकमें हैं। और, यहाँ तो पार करनेमें शरीरका थोड़ा-सा भागभर भी जलमें जानेसे ही ये भूरिभाग्य माने जाते हैं, पूर्ण स्नानकी तो बात ही दूर रही। सराहते यह हैं कि पदनखके स्पर्शमात्रसे गंगाको हम इतना पवित्र मानते हैं और यहाँ तो शरीरका अधिक भाग उसमें रहा।

नोट—२ ***'जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाई.....'*** इति। ***'जेहि'*** अर्थात् कोई भी वृक्ष हो—पीपल, बरगद आदि पवित्र वृक्ष ही नहीं। कल्पवृक्ष अर्थ, धर्म और कामका देनेवाला है; वह भी मार्गके जैसे-तैसे वृक्षोंकी सराहना करता है। पुर, ग्राम, पुर-ग्रामवासी, सर और सरित इन सबकी प्रशंसा देवताओंके नगर, नगर-निवासी, सर और सरितद्वारा कही; इसीसे मार्गके वृक्षोंकी प्रशंसा भी देवलोकके वृक्षद्वारा कही।

नोट—३ ***'मानत भूमि भूरि निज भागा'*** अर्थात् त्रिपाद-विभूतिके विचरनेवाले प्रभु हमारे ऊपर पैरों-पैरों विचर रहे हैं। अथवा, इन्होंने सब ऐश्वर्यका त्याग किया, यह सब हमारे लिये किया और हमें अपने चरणोंसे दूर नहीं किया। (रा० प्र०)

नोट—४ वाल्मी० २। ४८ के '**आपगाः कृतपुण्यास्ताः पद्मिन्यश्च सरांसि च। येषु यास्यति काकुत्स्थो विगाह्य सलिलं शुचि॥ शोभयिष्यन्ति काकुत्स्थमटव्यो रम्यकाननाः। आपगाश्च महानूपाः सानुमन्तश्च पर्वताः॥**' (९-१०).....' इत्यादिसे। अवधवासिनी स्त्रियाँ अपने पतियोंसे कह रही हैं—'उन्हीं नदियोंने पुण्य किया है, उन्हीं कमलवाले तालाबोंने पुण्य किया है, जिसके स्वच्छ जलमें श्रीरामजी वनको जाते हुए स्नान करेंगे। सुन्दर वृक्षोंवाले वन, जलवाली नदियाँ और सुन्दर शिखरवाले पर्वत अपने यहाँ आये हुए प्रिय अतिथि श्रीरामकी पूजा किये बिना न रहेंगे।' इत्यादि।

नोट—५ ☞ इन ८ अर्धालियोंसे यह बताया है कि जिस भी जड़ वा चेतन वस्तुसे भगवान्‌का सम्बन्ध होता है वह स्थान, व्यक्ति, जड़ और चेतन अत्यन्त भाग्यवान् हैं; कारण कि ***'जड चेतन मग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे। ते सब भए परम पद जोगू॥'*** (२१७। १-२) और देवता तो स्वार्थी हैं। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ (क) इस प्रशंसा-प्रसंगका भाव यह है कि जहाँ श्रीरामजीकी प्राप्ति हो वही स्थान सराहनीय है, वही वर्णन करने और बखानने योग्य है। (ख) ***'छाँह करहिं घन'***—क्योंकि ग्रीष्मकी तपन है, वैशाखका महीना है, घाम कड़ा होता है। मार्गको कोमल बनानेके लिये फूल बरसाते हैं। यथा—***'बरषहिं सुमन जनावहिं सेवा।'***

टिप्पणी—२—***'देखत गिरि बन.....'*** इति। अर्थात् वन और पर्वतोंको रामजी देखते जाते हैं और पक्षी, पशु रामजीको देखते हैं, यथा—***जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जे चितये प्रभु जे प्रभु हेरे॥'*** देवता सिहाते हैं कि धन्य इनके भाग्य हैं कि ये सब नेत्रभर देखते हैं और हम योजनभरपर यज्ञका धुआँ लेते हैं पृथ्वीपर नहीं आते। हा! हम पृथ्वीके नर-नारी, वन, पर्वत, पक्षी, पशु न हुए!—(रा० प्र०)

वि० त्रि०—***'छाँह करहिं.....जाहिं'*** इति। बादल ऊपरसे छाया कर रहे हैं, देवता पुष्पकी वृष्टि कर रहे हैं, पर रामजी उनकी ओर नहीं देख रहे हैं, वे तो ***'गिरि बन बिहग मृग'*** को देखते हुए प्रकृतिकी शोभाका निरीक्षण करते हुए चले जा रहे हैं; इसलिये देवता लोग गिरि, वन, विहंग, मृगको सिहा रहे हैं कि इस समय तो इनका भाग्य हमारे भाग्यसे कहीं अधिक हो गया।

सीता लषन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई॥ १॥
सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृह काज बिसारी॥ २॥
राम लषन सिय रूप निहारी। पाइ नयनफलु होंहि सुखारी॥ ३॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भये मगन देखि दोउ बीरा॥ ४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी श्रीसीता-लक्ष्मणजीसहित जब गाँवके पास जा निकलते हैं॥ १॥ तब उनका आगमन सुनकर बालक, बुड्ढे, स्त्री, पुरुष घर और घरके काम-काज भूलकर तुरत सब-के-सब चल देते हैं॥ २॥ श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीका रूप देखकर, नेत्रोंका फल पाकर वे सुखी होते हैं॥ ३॥ दोनों वीरोंको देखकर वे सब प्रेममें मग्न हो गये, डूब गये हैं, उनके नेत्रोंमें जल भर आया और शरीर रोमांचित हो गया॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'सब बाल बृद्ध नर नारी·······'* इति। बालक (पाँच वर्षतकका बच्चा)-को खेल ही प्यारा होता है, वह खेल छोड़कर चल देता है; बुड्ढे घर छोड़कर चल देते हैं, रह गये बीचके, युवावस्थावाले; वे घरका काम-काज भुलाकर चल दिये। [पण्डितजीने दूसरा भाव खर्रेमें यह भी दिया है कि—'बाल, वृद्ध और गृहकार्य सब 'बिसराकर' सब स्त्री-पुरुष चले। नर-नारी—'**नयति प्रापयति आत्मा सद्‌गतिं इति नरः।**' यह भाव सम्भवतः उत्तरकाण्डके *'बाल वृद्ध कहँ संग न लावहिं'* से निकाला गया है। बा० २२० (२) और २४० (६) भी देखिये।]

टिप्पणी—२ *'पाइ नयनफलु होहिं सुखारी।·····'* इति। नेत्रोंका फल राम-दर्शन है, यथा—*'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करौं उरगारी॥'* (७। ७४) सुखी होना कहकर फिर उनके सुखकी दशाका वर्णन करते हैं। (मिलान कीजिये पूर्वके *'ग्राम निकट जब निकसहिं जाई। देखहिं दरस नारि नर धाई॥ होहिं सनाथ जनम फलु पाई॥'* (१०९। ७-८) से। वे ग्रामवासी दर्शन पाकर सनाथ होते थे और समझते थे कि हमने जन्म लेनेका फल पा लिया। और ये नेत्रोंका फल पाकर सुखी होते हैं। इस भेदका कारण यह है कि वे गंगा-यमुनाके बीचके, नैमिषक्षेत्रके निवासी होनेसे इन लोगोंसे अधिक सुकृती थे। प० प० प्र०)

टिप्पणी ३—*'सब भये मगन देखि दोउ बीरा'* इति। यहाँ मग्न होनेमें 'वीर' का दर्शन कहा। भाव कि वीर हैं, इन्होंने जबरदस्ती मनको आकर्षित कर लिया।—*'तुलसिदास यह होइ तबहिं जब द्रवै ईस जेहि हतेउ सीस दस'* इति (विनय० २०४) दशशीश रावणके मारनेवाले ही दर्शककी दसों इन्द्रियोंको छेदकर (उनके) मनको वशमें कर सकते हैं।

वि० त्रि०—*'सजल बिलोचन·····बीरा'* इति। राम, लक्ष्मण और जानकीजीके रूपके दर्शनसे ग्रामीणोंके नेत्र सुफल हो रहे हैं। सुन्दरता वही है जिसके देखनेसे सुख मिले। तीनों सरकारोंके दर्शनसे उन्हें अलौकिक सुख मिल रहा है पर राम-लक्ष्मणमें कुछ विशेषता है। और वह यह है कि इनके रूपमें धीरताकी छटा है। अतः इन दोनों वीरोंको देखकर तो वे सब मग्न हो गये, तन-मनकी सुधि भूल गयी।

श्रीबैजनाथजीका मत है कि बाल-वृद्ध सब तीनोंका अनुपम रूप देखकर सुखी हुए। स्त्रियाँ दूर ही रुक गयीं, पुरुष निकट चले आये। तब श्रीजानकीजीने स्त्रियोंकी ओर मुख कर लिया। जिससे पुरुष अब दोनों वीरोंको देखकर मग्न हो गये।

बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुरमनि ढेरी॥ ५॥
एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छन एहीं॥ ६॥
रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥ ७॥
एक नयन-मग छबि उर आनी। होहिं सिथिल तन मन बर बानी॥ ८॥

दो०—एक देखि बट छाँह भलि डासि मृदुल तृन पात।
कहहि गँवाइअ छिनुकु श्रमु गवनब अबहिं कि प्रात॥ ११४॥

एक कलस भरि आनहिं पानी। अँचइअ नाथ कहहिं मृदु बानी॥ १॥

अर्थ—उनकी दशा वर्णन नहीं की जाती (ऐसा मालूम होता है) मानो दरिद्रोंको चिन्तामणिकी ढेरी मिल गयी॥ ५॥ वे एक-एकको बुलाकर उपदेश करते हैं कि इसी छन (आकर) नेत्रोंका लाभ ले लो

(क्योंकि वे चले जा रहे हैं, फिर दर्शन न होगा, पछताना पड़ेगा)॥ ६॥ कोई श्रीरामजीको देखकर ऐसे अनुरागमें भर गये हैं कि उनको देखते हुए साथ लगे चले जा रहे हैं॥ ७॥ कोई नेत्र-मार्गसे उनकी छबिको हृदयमें बसाकर तन, मन और श्रेष्ठ वाणीसे शिथिल हो जाते हैं। (अर्थात् तन-मन-वचन सबके व्यवहार बंद हो गये। तन हिलता-डोलता नहीं, मन संकल्प-विकल्परहित हो गया और मुँहसे बोला नहीं जाता।)॥ ८॥ कोई बरगदकी छाया देखकर कोमल तृण और पत्ते बिछाकर कहते हैं कि छनमात्र यहाँ थकावट दूर कर लीजिये, फिर चाहे अभी चले जाइयेगा चाहे सबेरे॥ ११४॥ कोई कलशेमें जल भरकर लाते हैं और कोमल वाणीसे कहते हैं—हे नाथ! आचमन कर लीजिये (हाथ-मुँह धो लीजिये)॥ १॥

पु० रा० कु०—१ ***'लहि जनु रंकन्ह सुरमनि ढेरी'*** इति। (क) सुरमणि चिन्तामणि, इन्द्रमणि है जो सब कामनाओंको पूर्ण करता है। यह इन्द्रके पास है और एक ही है। उस एकके पानेसे इन्द्रको आनन्द है जो देवताओंका राजा है तो भला जिसको इस मणिका ढेर-का-ढेर अकस्मात् बिना परिश्रम प्राप्त हो जाय उसके आनन्दका अनुमान कौन कर सकता है? अतएव कहा कि उनके प्रेमानन्ददशाका वर्णन नहीं हो सकता। (ख) यहाँ राम-लक्ष्मण-सीता—ये तीन हैं अतएव ***'ढेरी'*** कहा। अथवा, रामजीके जितने अंग हैं सभी चिन्तामणि हैं, रत्नवत् हैं, इससे ***'ढेरी'*** कहा। (ग) दशा वर्णन नहीं हो सकती—***'को हम कहाँ बिसरि सब गए'***, ***'कहि न जाइ सो दसा भवानी।''''''को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा।'*** (३। १०। १०-११)—प्रेमकी दशा ऐसी ही है। वर्णन नहीं हो सकती, फिर भी विषयानन्दकी उत्प्रेक्षाद्वारा कुछ कहते हैं। [(घ) मिलान कीजिये—***'लालची कौड़ीके कूर पारस पड़े हैं पाले, जानत न को हैं, कहा कीबो सो बिसरिगे। बुधि न बिचार, न बिगार न सुधार सुधि, देह गेह नेह नाते मनसे बिसरिगे॥'*** (गी० २। ३२) बैजनाथजी लिखते हैं कि यह प्रेमकी मिलित दशा है।]

नोट—१ ***'रामहिं देखि एक अनुरागे।''''''*** इति। यहाँ चार प्रकारके मगवासियोंका वर्णन किया गया है। एक वे जो अनुरक्त होकर बराबर देखते साथ लगे चले जाते हैं, दूसरे वे जो प्रभुकी छबिको हृदयमें धारणकर मनसा-वाचा-कर्मणा शिथिल हो गये हैं, तीसरे वे हैं जो इन्हें देख तुरंत आगे दौड़कर वट-वृक्षकी शीतल छायाके नीचे बड़ी शीघ्रतासे घास-पत्ते एकत्र कर बिछाते हैं और प्रभुसे कुछ देर विश्राम कर लेनेकी प्रार्थना करते हैं और चौथे वे हैं जो तुरत जाकर कलशेमें ताजा स्वच्छ मधुर जल भर लाकर प्रभुको अर्पण करते हैं। इनके अतिरिक्त वा इन्हींमेंसे एक वे हैं कि जो दूसरोंको बुलाकर दर्शन करनेका उपदेश देते हैं।

मु० रोशनलालजी लिखते हैं कि यहाँ ग्रामवासियोंके साथ तीन प्रकरण—कर्म, ज्ञान और उपासना दिखाये हैं। प्रथमवाले ***'रामहिं देखि एक अनुरागे'*** कर्मकाण्डी हैं, दूसरे अर्थात् ***'एक नयन-मग छबि उर आनी'*** वाले ज्ञानी हैं और तीसरे-चौथे—***'एक देखि बट छाँह''''''*** और ***'एक कलस भरि''''''***—जो सेवा करते हैं वे उपासक हैं। कर्मकाण्डी और ज्ञानीके यहाँ प्रभु उपस्थित न हुए और उपासकोंके यहाँ ठहरे।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि यहाँ चारों प्रकारके भक्त इन ग्रामवासियोंमें दिखाये हैं। (१) ***'एकन्ह एक बोलि सिख देहीं'*** कि तत्त्व ये ही हैं, शीघ्र दर्शन कर लो—यहाँ 'जिज्ञासु भक्त' दिखाये। (२) ***'रामहिं देखि एक अनुरागे'*** ये आर्त भक्त हैं। (३) ***'एक नयन-मग छबि उर आनी',*** जो परम धन मानकर हृदयमें धर लेते हैं, वे अर्थार्थी भक्त हैं और (४) ***'एक देखि बट छाया''''''***—वटछाया मानो रत्नमन्दिर है, वहाँ तृणपत्ररूपी आसन बिछाया। ये ज्ञानी भक्त हैं। ज्ञानी परिकरोंमें हैं, अतः इनके प्रकरणमें आसन हुआ। ये चारों भक्त गिनाकर तब पाँचवाँ प्रेमी भक्त कहा—(जैसे नाम-वन्दना-प्रकरण बालकाण्ड दोहा २२ में विस्तृतरूपसे लिखा गया है)। जो जल भर लाये—ये प्रेमी पंचम भक्त हैं।

बैजनाथजी कहते हैं कि ***'रामहिं देखि एक अनुरागे''''''*** इत्यादिमें वशीकरण, आकर्षण आदि प्रयोगोंकी एवं परा, प्रेमा और नवधा भक्तियोंकी दशाएँ पृथक्-पृथक् दिखती हैं। जिनपर वशीकरण पड़ा वे पराभक्तिकी रीतिसे रघुनन्दनको देख अनुरक्त हो गये, देखते हुए संग लगे चले जा रहे हैं। दूसरे वे हैं जिनपर मोहनी

पड़ी वे प्रेमाभक्तिकी रीतिपर छबिको हृदयमें बसाकर प्रेमकी उमंगसे विह्वल हो गये, उनका मन रूपमें आसक्त है, शरीर शिथिल पड़ गया और वाणी रुक गयी। तीसरे वे हैं जिनके चित्तका आकर्षण हुआ है वे नवधा भक्तिकी रीति बरत रहे हैं—वटकी छाँहमें कुशपल्लवादि बिछा बैठनेकी प्रार्थना करते हैं—यह आसनोपचार हुआ। इन्हींमें वे हैं जो जल लाकर आचमन करनेकी विनय करते हैं—यह नवधा भक्तिका अर्घ्यपाद्याचमनोपचार हुआ।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी कहते हैं कि सरकारका आगमन सुनकर ग्रामके लोगोंका देखनेके लिये आना कहा, यथा—*'सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृह काज बिसारी॥'* बाल-वृद्ध कहनेके बाद नर-नारी कहनेका भाव युवक-युवती है। इस भाँति चार प्रकारके लोगोंका आना कहा। रूप देखकर सबकी क्या दशा हुई इसका वर्णन करके अब पृथक् उनकी क्रिया कहते हैं। (१) बाल तो *'चितवत चले जाहिं सँग लागे।'* (२) वृद्ध *'होहिं सिथिल तन मन बर बानी।'* (३) युवक *'देखि बट छाँह भलि डासि मृदुल तृन पात। कहहिं गँवाइअ छिनुकु श्रम गबनब अबहिं कि प्रात॥'* (४) युवती *'कलस भरि आनहिं पानी। अँचइअ नाथ कहहिं मृदु बानी॥'*

गोस्वामीजीकी भावुकता

एक सुन्दर राजकुमारके छोटे भाई और स्त्रीको लेकर घरसे निकलने और वन-वन फिरनेसे अधिक मर्मस्पर्शी दृश्य क्या हो सकता है? इस दृश्यका गोस्वामीजीने मानस, कवितावली और गीतावली तीनोंमें अत्यन्त सहृदयताके साथ वर्णन किया है। गीतावलीमें तो इस प्रसंगके सबसे अधिक पद हैं। ऐसा दृश्य स्त्रियोंके हृदयको सबसे अधिक स्पर्श करनेवाला, उनकी प्रीति, दया और आत्मत्यागको सबसे अधिक उभारनेवाला होता है, यह बात समझकर मार्गमें उन्होंने ग्राम-वधुओंका सन्निवेश किया है। ये स्त्रियाँ श्रीरामजीके अनुपम सौंदर्यपर स्नेह-शिथिल हो जाती हैं, उनका वृत्तान्त सुनकर राजाकी निष्ठुरतापर पछताती हैं, कैकेयीकी कुचालपर भला-बुरा कहती हैं। सौन्दर्यके साक्षात्कारसे थोड़ी देरके लिये उनकी वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं; वे अपनेको भूल जाती हैं। यह कोमलता उपकार-बुद्धिकी जननी है—

कविकी भावुकताका सबसे अधिक पता यह देखनेसे चलता है कि वह किसी आख्यानके अधिक मर्मस्पर्शी स्थलोंको पहचान सका है या नहीं। गोस्वामीजीने ऐसे प्रसंगोंका अधिक विस्तृत और विशद वर्णन किया है, इससे निश्चय है कि उन्होंने ऐसे स्थलोंको अच्छी तरह पहचाना है। उपर्युक्त प्रसंग भी कविकी भावुकताका दृष्टान्त है—(ना० प्र० सभाकी ग्रन्थावलीसे उद्धृत)।

गौड़जी—बाल, वृद्ध, युवा, नर-नारी सबमें एक स्थायीभाव 'रति' है। यहाँ पहलेसे ही यह समाचार फैल जाता है कि अवधके राजकुमार आ रहे हैं जिन्हें वनवास हुआ है। बड़े सुन्दर हैं, बड़े वीर हैं, *'अवसि देखिये देखन जोगू।'* रूप देखकर मोह जाते हैं। सुन्दर रूपमान् वीरोंमें यह रति स्थायी भाव उनके मनमें जाग्रत् होता है। फिर अनुगामी *'सजल बिलोचन पुलक सरीरा।'* आदि सात्त्विक भाव प्रकट होते हैं। रूपपर मोहित हो कुछ संग लग जाते हैं, रूपके दर्शन करके सभी हर्षित होते हैं, कोई-कोई मुग्ध हो मार्गमें शिथिल होकर जड़तासे बैठ जाते हैं, कोई सेवाद्वारा उन्हें कुछ देर रोका चाहते हैं। इस प्रकार प्रेम-शृंगारका श्रीरघुनाथजीके विषे उनके दर्शन करनेवालोंमें पूर्ण परिपाक होता है।

सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी। रामु कृपालु सुसील बिसेषी॥ २॥
जानी श्रमित सीय मन माहीं। घरिक बिलंबु कीन्ह बट छाहीं॥ ३॥
मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा॥ ४॥
एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद्र चकोरा॥ ५॥

अर्थ—उनके प्यारे वचन सुनकर, उनका अति प्रेम देखकर, बड़े ही दयालु और सुशील श्रीरामजी मनमें सीताजीको थकी हुई जानकर कोई घड़ीभर बरगदकी छाँहमें ठहर गये॥ २-३॥ स्त्री-पुरुष आनन्दसे

शोभा देख रहे हैं, उस उपमारहित रूपने उनके नेत्रों और मनको लुभा लिया। (अर्थात् उनका जी चाहता है कि इन्हें देखा ही करें, ये हमें सदा प्राप्त रहें)॥ ४॥ सब चारों ओर टकटकी लगाये श्रीरामचन्द्रजीके मुखचन्द्रको चकोरवत् देखते हुए शोभित हो रहे हैं॥ ५॥

नोट १—*'रामु कृपालु सुसील बिसेषी'* इति। (क) *'बिसेषी'* का भाव कि कृपालुता-सुशीलता औरोंमें भी है, पर इनमें सबसे अधिक है जैसी किसी औरमें नहीं। (पु॰ रा॰ कु॰) (ख) पंजाबीजी एवं बैजनाथजी लिखते हैं कि *'कृपालु'* सीताजीके सम्बन्धसे कहा क्योंकि उनपर कृपा करनी है और 'सुशील' लोगोंका भाव रखनेके निमित्त कहा।

नोट २—*'जानी श्रमित सीय मन माहीं। घरिक·····'* इति। सीताजी थक गयीं पर उन्होंने कहा नहीं। श्रीरामजी मनमें जान गये कि थक गयीं तब बैठ गये। श्रीसीताजी कहती नहीं, क्योंकि वे पूर्व कह चुकी हैं कि *'मोहि मग चलत न होइहि हारी।'* (रा० प्र०) पण्डित रामकुमारजी कहते हैं कि 'जब श्रमित जानकर रामजी बैठे तब लोगोंपर रामजीकी कृपालुता, सुशीलता कैसे कही जाय?' और उत्तर देते हैं कि सीता जगज्जननी हैं, उनकी जीवोंपर विशेष कृपा है, इसीसे वे थकित हुईं। और राम पिता हैं। जब लड़का बोले-चाले तब पिता प्रीति करता है और माता गुण-दोष नहीं देखती। एक घड़ीके लगभग ठहरे। (श्रीसीताजीकी श्रमपर एक युक्ति कवितावलीमें देखिये। *'जल को गए लषन हैं लरिका परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े। पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े। तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानि कै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े। जानकी नाह को नेह लख्यो पुलको तन बारि बिलोचन बाढ़े॥'* (क० २। १२)

नोट ३—*'रूप अनूप नयन मनु लोभा। एकटक सोहहिं·····'* इति। (क) रूप अनूप है इससे नेत्र और मन लुब्ध हो गये। एकटक अर्थात् पलक नहीं मारते। रामचन्द्रजीके मुखपर चन्द्रमाका आरोप किया गया। इसीसे सबको चकोरकी उपमा दी। चदि आह्लादने धातु है। (पु० रा० कु०)

टिप्पणी—१ ऐसा ही दृश्य अरण्यकाण्ड दोहा १२ में अगस्त्यजीके आश्रमपर है, यथा—*'मुनि समूह महँ बैठे सनमुख सबकी ओर। सरद इंदु तन चितवत मानहुँ निकर चकोर॥'* चकोर चन्द्रमाकी ओर टकटकी लगाये देखा करता है, वैसे ही ये श्रीरामजीके मुखचन्द्रको एकटक देख रहे हैं। पुनः, जैसे चन्द्रमा सभी चकोरोंके सम्मुख वैसे ही प्रभु सबके सम्मुख हैं। यहाँ रहस्य यह है कि *'सोहहिं चहुँ ओरा'* अर्थात् चारों ओर सब स्त्री-पुरुष बैठे हुए हैं तो कुछ लोगोंकी ओर पीठ अवश्य होगी; वे मुख कैसे देख सकते? पार्वतीजीका जो प्रश्न कैलास-प्रकरण बालकाण्डमें है कि—*'औरो रामरहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका॥'* (१११। ३) वही रहस्य यहाँ वर्णन हुआ है कि सबको रामजी सम्मुख अर्थात् अपनी ओर मुँह किये देख पड़ रहे हैं। धनुषयज्ञशालामें भी ऐसा ही रहस्य है कि एक रामपर—*'जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥'* (१। २४२। ८) उत्तरकाण्डमें भरत-मिलाप-समय भी एक प्रभु—*'छन महँ सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना॥'* पुनः किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डमें भी सब बन्दर रामजीको प्रणाम करते हैं। प्रभु सबसे कुशल पूछ रहे हैं? यह गुप्त रहस्य ऐश्वर्यका द्योतक है।

२—यहाँ परम्परित रूपक अलंकार है।

तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत कोटि मदन मनु मोहा॥ ६॥
दामिनि बरन लषन सुठि नीके। नखसिख सुभग भावते जी के॥ ७॥
मुनिपट कटिन्ह कसें तूनीरा। सोहहिं कर कमलनि धनु तीरा॥ ८॥

दो०—जटा मुकुट सीसनि सुभग उर भुज नयन बिसाल।
सरद परब बिधु बदन बर लसत स्वेदकनजाल॥ ११५॥

शब्दार्थ—'**तरुन**'=नवीन, नया, युवावस्थाका। **तमाल**—यह दो प्रकारका होता है एक साधारण, दूसरा

श्याम। श्याम तमाल कम पाया जाता है। इसकी लकड़ी आबनूसकी-सी काली होती है। यह २०—२५ फुट ऊँचा और बहुत सुन्दर सदाबहार वृक्ष है जो अधिकतर पहाड़ोंपर होता है। **बिसाल** (विशाल)=चौड़े, लम्बे, बड़े। तूणीर=तरकश। **सरद परब** (शरत्पर्व)=आश्विनकी पूर्णिमा, शरदपूनो। '**स्वेदकनजाल**'=पसीनेके बूँदसमूह। '**लसत**'=शोभित है, दीप्तिमान् है।

अर्थ—(श्रीरामचन्द्रजीका) नवीन तमाल वृक्षके रंगका श्याम शरीर शोभा दे रहा है, जिसे देखते ही करोड़ों कामदेवके मन मोहित (मुग्ध) हो जाते हैं॥ ६॥ बिजलीके-से रंगके (गौरवर्ण) लक्ष्मणजी अत्यन्त भले लगते हैं, नखसे शिखा-पर्यन्त (पैरोंके नाखूनसे सिरकी चोटीतक) अर्थात् सर्वांग सुन्दर हैं और मनको भाते हैं॥ ७॥ मुनियोंके वस्त्र (कौपीन, वल्कल, चीर) पहने और उसीसे तर्कश कमरोंमें कसे हुए हैं। कमलसमान हाथोंमें धनुष-बाण (दाहिनेमें बाण, बायेंमें धनुष) शोभित हो रहे हैं (अर्थात् सन्नद्ध हैं)॥ ८॥ उनके सुन्दर सिरोंपर सुन्दर जटाओंके मुकुट हैं अर्थात् सिरपर जटाएँ मुकुटाकार बाँधे हुए हैं। छाती, भुजाएँ और नेत्र विशाल हैं। शरदपूनो (पूर्णिमा) के चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखोंपर पसीनेकी बूँदोंका समूह शोभित हो रहा है॥ ११५॥

नोट १—दोनों राजकुमारोंका, पृथक्-पृथक् वर्ण होनेसे पहले उनका रूप दो-दो चरणोंमें पृथक्-पृथक् कहा और वेष एक-सा है, इससे आगे एक ही साथ दोनोंका वेष कहा है।

नोट २—तरुण तमालसे उपमा दी क्योंकि ये भी तरुण हैं, २७ वर्षके हैं। यहाँ वाचकलुप्तोपमा और चतुर्थ प्रतीप अलंकार है।

नोट ३—'विशाल' के यहाँ तीन अर्थ तीनों अंकोंके सम्बन्धसे हैं। छाती (वक्ष:स्थल) चौड़ी और उन्नत वा ऊँची; बाहु लम्बे घुटने-पर्यन्त और नेत्र बड़े।

नोट ४—(क) मिलान कीजिये—***'आगे सोहै साँवरो कुँवर गोरो पाछे पाछे, आछे मुनिवेष धरे लाजत अनंग हैं। बान बिसिषासन, बसन बन ही के कटि कसे हैं बनाइ, नीके राजत निषंग हैं।'*** (क० २। १५) (ख) ***'सोहहिं कर कमलनि······'*** में 'परिणाम अलंकार' है। (वीर)

'जटा मुकुट······स्वेदकनजाल' इति। मिलान कीजिये—***'ठाढ़े हैं नौ द्रुम डार गहे धनु काँधे धरे कर सायक लै। बिकटी भ्रुकुटी बड़री अँखियाँ अनमोल कपोलन की छबि है। तुलसी असि मूरति आनि हिये जड़ डारि धौं प्रान निछावरि कै। श्रम सीकर साँवरि देह लसै मनो रासि महातम तारक मै।'*** (क०२। १३) रेखांकित अंश ***'लसत स्वेदकनजाल'*** का भाव है। दोहेमें वाचक लुप्तोपमा अलंकार है।

बरनि न जाइ मनोहर जोरी। सोभा बहुत थोरि मति मोरी॥ १॥
राम लषन सिय सुंदरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई॥ २॥
थके नारि नर प्रेम पिआसे। मनहुँ मृगी मृग देखि दिआ से॥ ३॥

अर्थ—यह (श्रीरामलक्ष्मणजीकी) मनोहर जोड़ी वर्णन नहीं की जा सकती (क्योंकि इसकी) शोभा (कान्ति) बहुत है और मेरी बुद्धि थोड़ी (अर्थात् क्षुद्र) है॥ १॥ सब लोग मन, चित्त और बुद्धि तीनोंको लगाये हुए श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीकी सुन्दरताको देख रहे हैं॥ २॥ प्रेमके प्यासे (मगवासी) स्त्री पुरुष (इनका सौंदर्य देख) इस प्रकार थकित हो गये (अर्थात् ठिठुककर रह गये, स्तब्ध हो गये) जिस प्रकार हरिण और हरिणी दीया देखकर ठिठककर रह जाते हैं। (मुग्ध हो जड़-सरीखे शिथिल हो जाते हैं)॥ ३॥

नोट १—(क) ***'बरनि न जाइ'*** वरणी नहीं जा सकती, इसका कारण ***'मनोहर'*** शब्दसे प्रकट कर दिया। अर्थात् इसे देखते ही मन हरण हो जाता है; जब मन ही हर लिया गया तो वर्णन कौन करे? दूसरा कारण यह देते हैं कि शोभा बहुत है, अपार है कि जिससे करोड़ों कामदेव मोहित हो जाते हैं और बुद्धि अल्प है, क्षुद्र है। थोड़ी जगहमें बड़ी वस्तु कैसे समा सकती है।'—***'सरसी सीपि कि सिंधु समाई।'*** (२५७। ४) ऐसा ही श्रीसीताजीके सौंदर्यके विषयमें कहा है, यथा—***'सिय सुंदरता बरनि न जाई।***

लघुमति बहुत मनोहरताई॥' (१। ३२२) (ख) *'मनोहर',* यथा—*'तुलसी बिलोके चित लाइ लेत संग हैं।'* (क० २। १५) *'बलकल बसन धनुबान पानि तून कटि रूपके निधान घन दामिनी बरन हैं।…औरे सो बसंत औरै रति औरै रतिपति, मूरति बिलोके तन मनके हरन हैं॥'* (क० २।१७)*'मनहुँ मनोहरता तन छाए।'* (१। २४१। १) देखिये।

नोट-२—*'राम लषन सिय सुंदरताई।……'* इति। दोनों भाइयोंकी जोड़ीकी मनोहरता कही,श्रीसीताजीकी न कही थी; अतः अब इनका भी नाम देकर जनाया कि उस मनोहर जोड़ीको ही नहीं देख रहे हैं वरन् महारानी सीताजीको भी सब देख रहे हैं। इनका भी सौन्दर्य अनुपम है। ये जगज्जननी हैं; इससे उनकी शोभाका वर्णन नहीं किया। *'राम लषन सिय सुंदरताई'* एक-ही चरणमें तीनोंको साथ कहकर सबका मनोहर होना जना दिया है। पुनः, दूसरा भाव बैजनाथजीके मतानुसार यह है कि सब पुरुष श्रीरामलक्ष्मणजीकी छबि देख रहे हैं और स्त्रियाँ तीनोंकी सुन्दरताको देख रही हैं। पुरुष सब रामलक्ष्मणजीके पास हैं और स्त्रियाँ, विशेषतः युवावस्थावाली, सीताजीके पास बैठी हैं, पर दृष्टि उधर भी है। अतएव रामलक्ष्मणजीकी छबिका वर्णन पृथक् करके फिर तीनोंको एकमें कहा।

नोट—३—*'चित मन मति लाई'* इति। (क) चित्त चिन्तनात्मिका बुद्धि है। अनुसन्धान करना, चिन्तन करना इसका काम है। मन संकल्प-विकल्प करता है और बुद्धि संकल्प-विकल्पपर विचारकर निश्चय करती है। ये तीनों अपना-अपना कर्म छोड़कर सौन्दर्यको एकटक देख रहे हैं। जबतक ये तीनों अपने व्यवहारमें लगे रहते हैं तबतक एकाग्रता नहीं आती; इसीसे अरण्यकाण्डमें लक्ष्मणजीसे प्रभुने कहा है—*'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥'* (१५। १) अर्थात् एकाग्र होकर सुनो वैसे ही ये एकाग्र होकर दर्शन कर रहे हैं?। (ख) यहाँ *'चित्त मन मति'* तीनको कहा, चौथा अहंकार है उसे न कहा; यह क्यों? क्योंकि अहंकार वस्तुकी प्राप्ति होनेपर होता है और इन्हें तो यहाँ ठहरना है नहीं। (पं० रा० कु०) अन्तःकरण चार हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। एकाग्र होनेमें मन-बुद्धि-चित्त तीनोंको ध्येयमें ऐसा लगा देते हैं कि अहंकारकी विस्मृति हो जाती है, अहंकारके लगे रहनेसे यथार्थ ज्ञान नहीं होता। आदरके साथ दर्शन तो तभी बनता है जब अहंकारका साथ न हो, यथा—*'चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥'* (वि० त्रि०)

नोट ४—*'थके नारि नर प्रेम पिआसे।…'* इति। (क) देखते-देखते वे सब जडवत् शिथिल हो गये, स्तब्ध रह गये। यहाँ ग्रामनर मृग और ग्रामनारी मृगी हैं। श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी तीनों दीपक-सदृश हैं। हरिण दीपकको देखकर मुग्ध हो जाता है, वह सौन्दर्यका उपासक जीव है। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि जब हरिण-हरिणी आते हैं तब उनको फाँसनेवाले लूक जला देते हैं, जिसे देखकर वे जहाँ-के-तहाँ ठिठककर खड़े रह जाते हैं। वैसे ही इन वनवासियोंने कभी ऐसा सौन्दर्य देखा ही न था, जब देखा तो बेहोश हो गये, ठिठुक रहे। (पु० रा० कु०) यह भी प्रसिद्ध है कि व्याधा लोग दीपक जलाकर गाते हैं, हिरन दीपक देखकर खड़े रह जाते हैं, वैसे ही ये सब इनको देखकर एकटक रह गये, अपनपौ भूल गये। (रा० प्र०) पुनः *'थके'* का दूसरा अर्थ यह है कि उनकी दृष्टि जिस अंगपर जाती है, आगे नहीं चल पाती; सर्वांगोंके रूपके पार होना असम्भव है, अतः तृप्ति नहीं होती। इसीसे कहा कि अंग शिथिल हो गये पर प्रेमकी प्यास नहीं बुझती। (ख)—यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

नोट ५—मिलान कीजिये—*'आली काहू तौ बूझौ न पथिक कहाँ धौं सिधैहैं। कहाँ तें आए हैं, को हैं, कहा नाम श्याम गोरे काज कै कुसल फिरि एहि मग ऐहैं॥ उठति बयस मसि भींजत सलोने सुठि सोभा देखवैया बिनु बित्तु ही बिकैहैं। हिय हेरि हर लेत लोनी ललना समेत लोयननि लाहु देत जहाँ-जहाँ जैहैं॥ राम लषन सिय पथि की कथा पृथुल, प्रेम बिथकीं कहति सुमुखि सबै हैं। तुलसी तिन्ह सरिस तेऊ भूरि भाग जेऊ सुनिकै सुचित तेहि समै समैहैं॥'* (गीता० २। ३७। १—३), *'रूप-दीपिका निहारि मृगमृगी-नरनारि'*

'बिथके बिलोचन निमेखैं बिसराइकै॥' (गी० १। ८२) *'तुलसी बिलोकि कै तिलोक के तिलक तीनि रहे नरनारि ज्यों चितेरे चित्रसार हैं।'* (क० २। १४)

सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूँछत अति सनेह सकुचाहीं॥ ४॥
बार बार सब लागहिं पाएँ। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाएँ॥ ५॥
राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय सुभाय कछु पूँछत डरहीं॥ ६॥
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानब जानि गँवारी॥ ७॥

शब्दार्थ—'**सुभाएँ**'=स्वाभाविक, सहज ही, वचन-रचना युक्त नहीं। '**अबिनय**'=गँवारी ढंगकी टूटी-फूटी विनय, विधिपूर्वकवाली नहीं।

अर्थ—गाँवकी स्त्रियाँ श्रीसीताजीके पास जाती हैं (परंतु) अत्यन्त स्नेहके कारण पूछते हुए सकुचाती हैं॥ ४॥ बारम्बार सब उनके पाँव लगती हैं अर्थात् चरण छूती हैं और सहज ही सीधे-सादे कोमल वचन कहती हैं॥ ५॥ हे राजकुमारी! हम कुछ विनती करना चाहती हैं, स्त्रीस्वभावसे कुछ पूछते हुए डरती हैं (अर्थात् स्त्रीस्वभाव है कि बिना पूछे जी नहीं मानता, इससे पूछती हैं; पर आप राजकुमारी हैं, हम गँवारी हैं, आपकी हम प्रजा, आप हमारी रानी हैं, इससे डर लगता है)॥ ६॥ हे स्वामिनि! हमारे अविनयको क्षमा कीजिये, हमको गँवारिन देहातिन जानकर बुरा न मानियेगा। अर्थात् हम नहीं जानती हैं कि कैसे विनती करना और पूछना चाहिये, जानती होतीं तब यदि विनय करते न बनती तो बुरा माननेकी बात थी॥ ७॥

नोट १—*'अति सनेह'* और *'तिय सुभाय कछु'* दीपदेहरीन्यायसे दोनों ओर लगेंगे। पूछनेका कारण भी *'अति सनेह'* है। इसी तरह तिय-स्वभावसे कुछ विनय करना चाहती हैं। पूछते डरना भी स्त्रीस्वभाव है। सकुचका कारण कि चक्रवर्ती महाराजकी पुत्र-वधू हैं, इनसे कैसे बात करें, हमसे बात करते बने या न बने, बात पूछने योग्य है वा नहीं।

नोट २—*'बार बार सब लागहिं पाएँ।'* हृदयमें स्नेह तो बहुत है पर बिना मन पाये कैसे पूछें, प्रतिकूलताका भय है। अतएव चतुरतासे बारम्बार पैरों पड़ती हैं, यह सब मन मिलानेके लिये, अपने अनुकूल करनेके लिये। (वै०)

राजकुअँर दोउ सहज सलोने। इन्ह तें लहि दुति मरकत सोने॥ ८॥

दो०—स्यामल गौर किसोर बर सुंदर सुखमा अयन।
सरद सर्बरीनाथ मुखु सरद सरोरुह नयन॥ ११६॥

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आँहि तुम्हारे॥ १॥

शब्दार्थ—**सलोने**=सुन्दर। **दुति**=कांति, चमकदमक,द्युति। **मरकत**=पन्ना, नीलम, नीलमणि—यह गहरे हरे रंगका होता है। प्राय: इसमें और नीलेमें कवियोंने भेद नहीं माना है। **सोने**=स्वर्ण, सोना। **सर्बरी** (शर्वरी)=रात्रि, रात। **सर्बरीनाथ**=रातका स्वामी, चन्द्रमा। **सरद**=कुआर, कार्तिक।

अर्थ—हे सुमुखि! कहो—ये दोनों सहज ही सुन्दर राजकुमार जिनसे मरकतमणि और स्वर्णने कान्ति पायी है,(अर्थात् इनकी कान्ति नीलमणि और स्वर्णसे कहीं बढ़कर है। इन्होंने अपनी कान्तिसे कणमात्र उनको दे दिया है, जिससे उनमें चमक-दमक आ गयी है)॥ ८॥ श्याम गौर (साँवले और गोरे), श्रेष्ठ किशोर अवस्थावाले, सुन्दर और परमशोभाके धाम, शरदपूनोंके चन्द्रमाके समान मुख और शरद्-ऋतुके कमलके समान नेत्रवाले॥ ११६॥ और करोड़ों कामदेवोंको (अपनी छबिसे) लज्जित करनेवाले तुम्हारे कौन हैं?॥ १॥

नोट—१(क) *'सहज सलोने'*—*'सलोने'* का अर्थ वस्तुत: लावण्ययुक्त है। लावण्य वह सौन्दर्य है जो प्राय: किशोरावस्थामें होता है। इसे फारसीमें मलाहत कहते हैं। बालकाण्डमें भी कहा है—*'साँवर*

कुँअर सखी सुठि लोना।' (२३३।८) दोनों भाई लावण्ययुक्त हैं पर साँवले अत्यन्त सलोने हैं। (ख) ***'इन्ह तें लहि द्युति'''''*** ' इति। कवितावलीमें श्रीसीताजीके सम्बन्धमें ऐसा ही कहा है—***'पथिक गोरे साँवरे सुठि लोने। संग सुतिय जाके तनु ते लही है द्युति सोन सरोरुह सोने॥'*** (२। २३) ***'संग लिये बिधुबैनी बधू रतिको जेहि रंचक रूप दियो है।'*** (क० २। २९) मिलान कीजिये—***'गोरेको बरन देखे सोनो न सलोनो लागै, साँवरे बिलोकें गर्ब घटत घटनिके।'*** (क० २। १६)—इन उद्धरणोंमें इस अर्धालीके भाव ही हैं। (ग) शरीर उपमेय, मरकतमणि और सोना उपमान हैं, परंतु यहाँ उपमानको उपमेय और उपमेयको उपमान करना 'प्रथम प्रतीप अलंकार' है।

बैजनाथजी—***'कोटि मनोज लजावनिहारे'*** कहकर अपनी आसक्ति उनमें दिखायी और गुप्तरीतिसे जनाती हैं कि ऐसे वह कामको भी लजानेवाले आपके हाथमें हैं, हमारी ओर तो भूलसे भी नहीं देखते। इस हेतु हम आपके द्वारा इनकी प्राप्ति चाहती हैं। इसीसे आगे सीताजीका सकुचकर मुसकाना कहा है। चतुराईपर हँसीं कि हमारे द्वारा प्राप्ति चाहती हैं और संकोच यह कि प्रभु एक पत्नीव्रत हैं, इससे हमसे याचना करके भी ये विमुख जाती हैं तो हमारी उदारता गयी। इन्हीं दोनों संकोचोंमें पड़ उनकी ओर देख फिर सिर नीचे करके जनाया कि हम इस दानकी समर्थ नहीं, पर कदापि राजकुमार स्वयं तुम्हें ग्रहण करें तो हम प्रसन्न हैं। इस आन्तरिक बातके उत्तरमें संकोच दिखाकर प्रत्यक्ष बातका उत्तर देनेके लिये बोली।'—(यह भाव शृंगार रसका है। रसिकोंके लिये है)।

नोट २—कवित्तरामायणमें इसके पूर्ण-गर्भित भाव देखिये—

'सीस जटा उर बाहु बिसाल बिलोचन लाल तिरीछी सी भौंहैं।
तून सरासन बान धरें तुलसी बन मारगमें सुठि सोहैं॥
सादर बारहिं बार सुभायँ चितै तुम्ह त्यों हमरो मन मोहैं।
पूँछति ग्रामबधू सिय सों कहौ साँवरो सो सखि रावरो को हैं॥

पूछनेका गुप्त आशय कैसा अनूठा है? यही तो श्रीसीताजीके मुसकानेका मुख्य कारण हुआ। विशेष लाला सीतारामजीका लेख ११७ (५—८) में देखिये।

सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी॥ २॥
तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनीं। दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनीं॥ ३॥
सकुचि सप्रेम बालमृग नयनी। बोली मधुर बचन पिक बयनी॥ ४॥

शब्दार्थ—**बर बरनीं**=श्रेष्ठ वर्णवाली।=श्रेष्ठ वर्णन करनेवाली। यह शब्द ग्रन्थमें एक ही ठौर और आया है—***'अगम सबहिं बरनत बर बरनी। जिमि जल हीन मीन गमु धरनी।'*** (२८९। १) भरतसूत्रमें वरवरणीके लक्षण ये कहे हैं, **'शीते सुखोष्णा सर्वांगी ग्रीष्मे च सुखशीतला। भर्तुर्भृत्या तु या नारी सा भवेद् वरवर्णिनी॥'**

अर्थ—(उनकी) प्रेमसे भरी हुई सुन्दर वाणी सुनकर श्रीसीताजी सकुचा गयीं और मनमें मुसकुरायीं॥ २॥ उनको देखकर पृथ्वीको (की ओर) देखती हैं। उत्तम वर्णवाली श्रीसीताजी दोनोंके संकोचसे सकुच रही हैं॥ ३॥ हिरनके बच्चेके-से नेत्रवाली और कोकिलकी-सी वाणीवाली सीताजी सकुचाकर प्रेमसहित मधुर वचन बोलीं॥ ४॥

नोट १—***'सनेहमय'***—राजकुमारि, स्वामिनि! हम गँवारी हैं विनय करना नहीं जानती, इन सब वचनोंसे प्रेम टपक रहा है। प्रेमयुक्त होनेसे मंजुल भी हैं। (पु० रा० कु०) अथवा 'रामस्वरूपकी द्योतक होनेसे सुन्दर कहा।' (पंजाबीजी)

नोट २—***'सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी'*** इति। यहाँ संकोच इससे है कि पतिकी बात पूछती हैं और मुसकुरायीं कि हैं ग्रामवासिनी पर हैं बड़ी सयानी, बात बड़ी चतुराईसे पूछी है (पंजाबीजी)। यथा—***'सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने सयानी हैं जानकी जानी भली।'*** (क०२। २२)।

'तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सँकोच'—

स्वामीकी वार्ता नगरकी स्त्रियाँ करनेमें सकुचती हैं। ग्रामवासिनियोंमें यह संकोच इस दर्जेका नहीं होता। महारानीजी सोचती हैं कि इनका मन रखनेके लिये हमको भी वैसा ही होना पड़ता है, यह संकोच हुआ। पर उनका मन भंग करना न सह सकीं, इससे इशारेसे बताती हैं। (पंजाबीजी) पहले सखियोंकी ओर देखा फिर लज्जावश सिर नीचे कर पृथ्वीकी ओर देखा, ***'दुहुँ सँकोच'*** जो कहा वह इन्हीं दोको सूचित किया। सखियोंका प्रेम देखकर न बतायें कि कौन पति हैं तो नहीं बनता और पृथ्वी माता हैं, ये भूमिजा, धरणिजा अर्थात् पृथ्वीसे प्रकट हुई हैं तो माताके सामने पतिकी चर्चा कैसे करें, लज्जाका पालन भी हो और इनका मनोभंग भी न हो! ***'धरनी'*** शब्दमें लक्षणामूलक गूढ व्यंग है।

प्राय: ***'दुहुँ सँकोच'*** का भाव यही कहा जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ महानुभावोंने लिखा है कि—***'तिन्हहिं बिलोकि'*** अर्थात् जिनको पूछा है उनकी ओर देखकर पृथ्वीको देखने लगीं। स्त्रियोंका स्वभाव है कि लज्जावाली बात सुनकर पृथ्वीकी ओर देखने लगती हैं। ***'दुहुँ सँकोच'*** एक तो पतिके समीप लज्जासे बतानेमें संकोच, दूसरे न बतानेमें प्रेमके कारण संकोच। (शिला, रा० प्र०) ११७ (१) में बैजनाथजीका दिया हुआ भाव देखिये।

प्रोफेसर पं० रामचन्द्रशुक्लजी—पवित्र दाम्पत्य-रतिकी कैसी मनोहर व्यंजना सीताद्वारा इस समय करायी है। जब ग्राम-वनिताओंने मार्गमें रामको दिखाकर उनसे पूछा कि 'ये तुम्हारे कौन हैं?' ***'कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥'*** से ***'निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि'*** तक।

☞ कुलवधूकी इस अल्पमें व्यंजनामें जो गौरव और माधुर्य है, वह उद्धत प्रेम-प्रलापमें कहाँ?

नोट ३—***'सकुचि सप्रेम बालमृग नयनी।'*** इति। संकोच और प्रेमके सम्बन्धसे मृगनयनीके नेत्रकी उपमा दी। ***'जहँ बिलोकि मृगसावक नयनी॥'*** (१। २३२। २) देखिये। और, मधुर वचनके सम्बन्धसे पिकबयनी विशेषण दिया। बालमृगके नेत्र बालमृगीके नेत्रोंकी अपेक्षा अधिक सुन्दर और चंचल होते हैं, अत: 'बालमृग' की उपमा दी। प्रज्ञानानन्द स्वामीजी कहते हैं कि इस उपमासे जनाते हैं कि सीताजी श्रीरामजीकी ओर देखकर पृथ्वीकी तरफ देखती हैं, फिर ग्रामवासिनियोंकी ओर बार-बार देखती हैं। विचार कर रही हैं कि क्या करें।

सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लषनु लघु देवर मोरे॥ ५॥
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥ ६॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि॥ ७॥
भईं मुदित सब ग्राम बधूटीं। रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं॥ ८॥

शब्दार्थ—**राय रासि**=राज्यकी राशि, बहुत-से राज्य, राजाका कोश, धनकी राशि।

अर्थ—जिनका सहज स्वभाव और सुन्दर गौर शरीर है, उनका लक्ष्मण नाम है। वे मेरे छोटे देवर हैं (वा, जिनका लक्ष्मण नाम है और जो छोटे हैं वे मेरे देवर हैं)॥ ५॥ फिर अपना मुखचन्द्र आँचलसे ढककर (छिपाकर, आँचलकी ओट करके जैसी स्त्रियोंमें रीति है) प्रिय प्रीतमकी ओर चितवनको करके (अर्थात् देखकर), भौंहें टेढ़ी करके॥ ६॥ सुन्दर खंजन पक्षीके-से सुन्दर नेत्रोंको तिरछे करके श्रीसीताजीने इशारेसे (अर्थात् कटाक्ष करके) उन स्त्रियोंसे रामजीको अपना पति बताया॥ ७॥ सब ग्रामवासिनी स्त्रियाँ ऐसी प्रसन्न हुईं मानो कंगालोंने राज्यकी राशि ही लूट ली हो॥ ८॥

पु० रा० कु०—***'सहज सुभाय सुभग……'*** इति। ***सहज***=स्वभाव। ***सुभाय***=स्वाभाविक। अर्थात् स्वभाव स्वाभाविक ही सुभग (सुन्दर) है। स्वभाव सहज ही सुन्दर है, कुछ बनावटसे नहीं। अथवा, स्वभाव सहज है और सुन्दर तन गौर है, नाम लक्ष्मण है, सो मेरे देवर हैं। ***'सहज स्वभाव'*** से यह भी जनाया कि कामनारहित हैं, वनगमनके समय अपनी स्त्रीकी ओर भी न देखा तब परस्त्रीपर दृष्टि कब करने लगे। (वै०)

नोट—१ *'लघु देवर'* इति। पहले अर्थमें *'लघु'* देवरका विशेषण माना गया, इस विचारसे कि देवर शब्दका अर्थ है—पतिका भाई। उसमें छोटे-बड़ेका विचार नहीं, यथा—**'श्यालाः स्युर्भ्रातरः पत्न्याः स्वामिनो देवदेवरा इति।'** (अमरकोश) यहाँ 'लघु देवर' में यह अभिप्राय है कि इनसे बड़े भी देवर हैं। और यदि प्रचलित अर्थ लें कि *'देवर*=पतिका छोटा भाई' तो *'लघु देवर'* का भाव यह होगा कि ये भी देवर हैं और इनसे बड़े भी हैं जो घरपर हैं। इसमें यह शंका की जाती है कि ये तो मँझले हैं, छोटे तो शत्रुघ्नजी हैं, अतएव दूसरा अर्थ पंजाबीजीने यह दिया है—'उनका लक्ष्मण नाम है, रघुनाथजीसे छोटे हैं और मेरे देवर हैं।'

नोट—२ *'बहुरि'''सयननि'*—(क) मुखसे कुछ न कहकर इशारेसे ही पतिका परिचय दिया तो भी वे इशारा समझ गयीं और प्रसन्न हुईं—यहाँ 'युक्ति' अलंकार है। (ख) यहाँ श्रीजानकीजीने चार प्रकारके सैनसे अपने मनका भाव प्रकट किया कि रामजी हमारे पति हैं—प्रथम मुसकान, द्वितीय लज्जावश मुख ढाँपना, तृतीय भौंहसे सैन करना और चतुर्थ नैनसे सैन करना। (मा० म०) (ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'प्रभुकी ओर देखकर भौंह टेढ़ी करके बताया कि ये जो श्याम-तन हैं हमारे पति हैं। भौंहें बाँकी करके जनाया कि इनको किंचित् स्त्रीकी चाह है, घूँघटसे जनाया कि लोकभरसे मन फेरकर हम इनकी हो रही हैं, इससे इन्हें भी हमारी ही चाह है। नेत्रोंकी तिरछी चितवनसे जनाया कि इसी कटाक्षके अनुकूल हैं, इसीसे और स्त्रीकी ओर नहीं हेरते।' (घ) स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि—*'सुभग तन गोरे'* कौन हैं यह उनके नामके साथ *'लघु देवर मोरे'* कहकर प्रथम बता दिया। श्याम तनवाले कौन हैं यह स्त्रियोंके स्वभावानुकूल युक्तिसे कह दिया। ☞ यह भारतीय पतिव्रताशिरोमणि स्त्रीका चरित्र-चित्रण अत्युच्च काव्यकलासे सहज मनोहर किया गया है। उसपर विवरण टीका-टिप्पणी लिखनेसे इस निसर्ग रमणीय मनोहर चित्रकी मनोहरता चली जायगी। यह तो केवल अनुभव करके आनन्द लूटने योग्य है।'

वि० त्रि०—मुखको अंचलसे ढकनेका प्रयोजन यह कि जिसमें किसी पुरुषकी दृष्टि न पड़े, साध्वी स्त्रीकी तिरछी भौंहें; और तिरछी दृष्टिका पात्र एकमात्र उसका पति ही होता है। अतः *'पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी। खंजन मंजु तिरीछे नयनन्हि'* इस मुद्रासे भगवतीने रामजीको अपना पति बतला दिया और यह इशारा ऐसा ठीक उतरा कि सब ग्राम-बधूटियाँ इसे समझ गयीं। इसके पहले *'सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे॥'* कहनेसे यह भाव और भी परिपुष्ट हो गया।

नोट—३ *'रंकन्ह राय रासि जनु लूटी।'* (क) 'रायराशि' के स्थानपर रामजी हैं। अथवा, राम-लक्ष्मण-सीता तीनोंका अब लज्जारहित होकर दर्शन करने लगीं, इससे राशि कहा और राजकुमार हैं ही। अतः 'रायराशि' लूटनेकी उत्प्रेक्षा की। पाण्डेजी कहते हैं कि लूटना कहा, क्योंकि जैसे लूटनेवाले निधिपर तड़पड़ गिरते हैं वैसे ही सैनके बिजली-समान रूपको देखने-हेतु विलम्बका सावकाश न सह सकीं, इन सबोंका मन इस शोभाको लूटने लगा। (ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'रंकोंने धनराशि लूटी अर्थात् वे रूपकी माधुरी निर्वासिक देखने लगीं। भाव कि अभीतक सकामना होनेसे रंक थीं, अब पावन मनसे रूपधनराशि नेत्रोंसे लूटने लगीं; यह प्रयोजनवती लक्षणा है।' (वै०) यहाँ 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा है'।

नोट—४ इस छटाको कवितावलीके २२वें कवित्तसे मिलान कीजिये—*'सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने सयानी हैं जानकीं जानी भली। तिरछे करि नैन, दै सैन तिन्हैं समुझाइ कछू मुसुकाइ चली॥ तुलसी तेहि अवसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन लाहु अली। अनुरागतडागमें भानु उदैं बिगसी मनो मंजुल कंजकली॥'* हनुमन्नाटकमें भी इसी प्रसंगका एक श्लोक यह है—**'पथि पथिकवधूभिः सादरं पृच्छमाना कुवलयदलनीलः कोऽयमार्ये तवेति। स्मितविकसितगण्डं व्रीडविभ्रान्तनेत्रं मुखमवनमयन्ती स्पष्टमाचष्ट सीता॥'** (३। १६) अर्थात् हे आर्ये! नील कमलके सदृश वर्णवाले तुम्हारे ये कौन हैं? इस प्रकार मार्गमें पथिकोंकी स्त्रियोंसे पूँछी हुई हँसनेसे प्रफुल्ल गण्डस्थलवाले और लज्जासे चंचल नेत्रयुक्त मुखको नीचेकी ओर करती हुई श्रीजानकीजीने मानो स्पष्ट ही श्रीरामजीको अपना पति कह दिया। अर्थात् उनका प्रश्न सुनकर लज्जासे मुख नीचे करके जब कुछ उत्तर न दिया तो स्पष्ट ही विदित हो गया कि ये इनके पति हैं।

ग्रामवासियोंका प्रेम-प्रसंग

लाला सीताराम—श्रीरघुनाथजीने सुमन्त्रजीको शृंगवेरपुरमें बिदा किया। गंगापार करके पैदल प्रयागराज आये। राहमें कोई न मिला। इसका कारण वाल्मीकिने लिखा है कि इस प्रान्तमें घना जंगल था। प्रयागराजके वासी उनके दर्शनोंको आये; उनका आना-जाना चार ही चौपाइयोंमें निपट गया। इसके पीछे यमुना उतरे। यहीं यमुना-पुरवासियोंका प्रेम उबल पड़ा। पहले तो एक तापस मिला। यह तापस गोस्वामीजी आप ही हैं। पीछे स्त्रियाँ मिलीं जिनका सीताजीसे पूछना और उनका उत्तर शृंगाररसकी साहित्यदेवीका चूड़ामणि कहिये तो भी अत्युक्ति न होगी। पर इसमें, शृंगाररस ही नहीं, नीति और इतिहास भी अन्तर्गत है। हम तीनों भावोंका अर्थ अलग-अलग लिखते हैं।

शृंगार—इस भावको समझनेके लिये पहले यात्राके स्वरूपका ध्यान कीजिये। आगे श्रीरघुनाथजी चले जाते हैं, बीचमें सीताजी हैं और उनके पीछे कुछ दाहिनी ओर दबे हुए (दाहिने लायें) लक्ष्मणजी चलते हैं। रघुनाथजी पहले सीताजीसे कह चुके हैं।—***'कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहि बिनु पद त्राना॥'*** इससे मुड़-मुड़कर सीताजीको देखते जाते हैं। इसपर गाँवकी स्त्रियाँ चकित होती हैं और कहती हैं कि—***'चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं।'***

रघुनाथजीका स्वरूप भी उनकी आँखोंमें गड़ गया। यह वही रूप है जिसने जनकपुरमें ***'……मोहनी डारी। कीन्हें स्वबस नगर नर नारी'*** इन स्त्रियोंके हृदयपर भी प्रभाव है और प्रभाव इनके इस वाक्यसे प्रकट है।—***'कोटि मनोज लजावनिहारे।'***

सुन्दर रूप देखनेमात्रसे तृप्ति नहीं होती। देखनेवालेकी सदा यह अभिलाषा रहती है कि सुन्दर पुरुष वा स्त्री हमारी ओर देखे और जो कहीं मुसका दे तो परमार्थ ही सिद्ध हो जाय।—***'नखसिखरूप भरे खरे तउ माँगत मुस्क्यान। तजत न लोचन लालची यह ललचौहीं बान'*** पर एक पत्नीव्रतधारी मर्यादा-पुरुषोत्तम उनकी ओर नहीं देखते, मुसकाना तो दूर रहा। यह स्त्रियाँ भी अपने पतिके साथ यात्रा करती हैं। पर ऐसा कभी नहीं देखा, इसीसे पूछती हैं—***'सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।'***

तुम्हारा इनका कैसा सम्बन्ध है? तुम्हारे पति हैं तो तुमने इनको कैसे बस कर रखा है? इसका उत्तर श्रीजी मुखसे नहीं देतीं, आँखोंसे देती हैं और बताती हैं कि हमने इसी कटाक्षसे इनको बस कर रखा है। स्त्रियाँ अपने जीमें समझीं कि पति-बसीकरनका हमको महामन्त्र मिल गया—***'भईं मुदित सुनि ग्रामबधूटीं। रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं।'*** यद्यपि—***'अनियारे दीरघ नयनि किती न तरुनि समान। वह चितवनि औरै कछू जा बस होत सुजान॥'*** मुखसे न कहकर आँखोंसे कहनेका कारण भी बिहारीने लिखा है—***'झूठे जानि न संग्रहे जनु मुख निकसे बैन। याही ते मानो किये बातनि को बिधि नैन॥'***

नीति—शिक्षा—प्रलोभनकी सामग्री सामने आनेपर मनुष्यको उचित है कि पहले विचार करे कि हमारे पास भी ऐसी सामग्री उपस्थित है और जिसके पास उससे बढ़कर धन है उसको दूसरेके धनका लोभ करना महा अनुचित है। श्रीरघुनाथजी यह दिखलाते हैं कि हम इसी मुखारविन्दके मकरन्दसे तृप्त हैं।

इतिहास—१०९ दोहेसे १२३ दोहेतक यमुना-तटसे वाल्मीकिका आश्रम पाँच कोससे भी कम है। विचार करनेकी बात है कि इसी प्रान्तके वासियोंमें इतने प्रेमका प्रादुर्भाव क्यों हुआ? हमने यह प्रान्त देखा है, आबादी घनी नहीं है। बीच-बीचमें वन है। वाल्मीकीयरामायण, अध्यात्मरामायण, आनन्दरामायण किसीमें यह प्रसंग नहीं है। अब भी क्या इस बातके कहनेकी आवश्यकता है कि गोस्वामीजीने यह सौभाग्य अपनी जन्मभूमिको दिया। उदाहरण इसका मेघदूतमें है। कालिदासने यह कहीं नहीं लिखा कि उज्जैनसे उसको कोई सम्बन्ध था पर मेघको रास्तेसे भटकाकर उज्जैन ले जाता है—**'वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां। सौधोत्संगप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः॥'**……(लाला सीताराम डि॰ कलेक्टर पेंशनर, प्रयाग।)*

---

* हनुमन्नाटक अंक ३ में दो श्लोक ऐसे ही प्रसंगके हैं और इसी समयके हैं। (मा॰ सं॰) मानसकल्पकी कथा

दो०—अति सप्रेम सिय पाय परि बहु बिधि देहिं असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह जब लगि महि अहिसीस॥ ११७॥

पारबती सम पति प्रिय होहू। देबि न हम पर छाड़ब छोहू॥ १॥
पुनि पुनि बिनय करिअ कर जोरी। जौं एहि मारग फिरिअ बहोरी॥ २॥
दरसनु देब जानि निज दासी। लखीं सीय सब प्रेम पियासी॥ ३॥
मधुर बचन कहि कहि परितोषी। जनु कुमुदिनी कौमुदी पोषी॥ ४॥

अर्थ—बड़े ही प्रेमसे श्रीसीताजीके पैरों पड़कर बहुत प्रकारसे आशीर्वाद देती हैं कि—तुम सदा सौभाग्यवती रहो अर्थात् तुम्हारा सौभाग्य अटल हो, जबतक कि पृथ्वी शेषजीके सिरपर है॥ ११७॥ पार्वतीके समान पतिकी प्यारी हो। हे देवि! हमपर कृपा और स्नेह न छोड़ना अर्थात् कृपा बराबर बनाये रखना॥ १॥ हम बारंबार हाथ जोड़कर विनती करती हैं कि जो आप इसी रास्ते फिर लौटें॥ २॥ तो हमें अपनी दासी जानकर दर्शन दीजियेगा। श्रीसीताजीने देखा कि ये सब प्रेमकी प्यासी हैं अर्थात् इन्हें केवल प्रेमकी चाह है॥ ३॥ अतः मीठे कोमल वचन कहकर उनका परितोष किया, संतुष्ट कर दिया। वे ऐसी प्रफुल्लित और संतुष्ट हुई मालूम होती हैं मानो कुमुदिनीको चाँदनीने खिलाकर पुष्ट कर दिया॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'सदा सोहागिनि होहु***...' इति। (क)—गिनतीकी मिति है इसीसे और कोई संख्या—***'शत, कोटि, बरस करोरी'*** इत्यादि न देकर यह कहा कि तबतक सुहाग रहे जबतक शेषके सिरपर पृथ्वी है।* (दो प्रकारसे अचल सौभाग्यका आशीर्वाद तो यह हुआ अब तीसरी प्रकारका कहते हैं) सौभाग्यवती तो हुईं, पति बना रहा पर यदि उनका प्रेम पत्नीपर न रहा तो वह भी जीवन व्यर्थ है। इससे दूसरा आशीर्वाद देती हैं कि पार्वतीजीके सदृश पति तुम्हारा प्यार करें। अर्थात् पार्वतीजी शिवजीको इतनी प्रिय हुईं कि उनको अपनी अर्द्धांगिनी बना लिया वैसे ही तुम्हारे पति तुमपर अत्यन्त प्रेम करें। (***'पारबती सम पति प्रिय होहू'***) का दूसरा भाव यह है कि शेषके सिरपर पृथ्वी भी सदैव नहीं रहतीं, पृथ्वी भी नाशवती है; अतएव अक्षय सौभाग्यके लिये ***'पारबती सम पति प्रिय होहू'*** कहा। पार्वतीका सुहाग अक्षय है क्योंकि वे शिवजीके अर्द्धांगमें ही निवास करती हैं और शिवजी अविनाशी हैं। पुनः 'पार्वती' शब्द देकर अचलता कही, पर्वत अचल है। पार्वती-तन वैसे ही अचल है। उसी प्रकार तुम अचल हो। भाव यह कि सर्वकालमें एक रस प्रिय बनी रहो। स्त्रियोंके सुहागमें परम सौभाग्य है 'पतिका प्रेम स्त्रीपर'; अतएव कहा कि पार्वतीके समान पतिको प्रिय हो। (पा०) में पूर्वोपमा है। ***'पारबती'''''***

टिप्पणी—२ ***'मधुर बचन कहि कहि परितोषी।'*** इति। सम्यक् प्रकारसे संतुष्ट किया जैसे कहा कि—तुमने हमें बड़ा सुख दिया। जल, पात्र इत्यादिसे बड़ा शिष्टाचार किया है, हम तुम्हारा बड़ा उपकार मानती हैं, लौटती बार इधरसे आये तो तुमसे बिना मिले न जायँगी, तुम्हें हम कदापि भूल नहीं सकतीं, तुम भुलानेयोग्य नहीं हो......इत्यादि।

टिप्पणी—३ ***'जनु कुमुदिनी कौमुदी पोषी'*** इति। स्त्रियोंकी उपमा कुमुदिनीसे दी, क्योंकि ये पूर्व संकुचित थीं, यथा—***'सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूँछत अति सनेह सकुचाहीं॥'*** श्रीसीताजी कौमुदी अर्थात् ज्योत्स्ना हैं और रामजी चन्द्रमा हैं, चन्द्रमाके आश्रित चाँदनी है और उससे देखने मात्रको पृथक् है, नहीं तो उससे पृथक् नहीं, यथा—***'कहँ चंद्रिका चंद तजि जाई।'*** वैसे ही ये दोनों हैं। चाँदनी पड़ते ही कोई प्रफुल्लित

वाल्मीकीय और अ० रा० से अनेक स्थानोंपर भिन्न है। 'कल्प भेद हरि चरित सुहाए'। साहित्यकी दृष्टिसे इस प्रसंगको हनु० ना० के ३। १६। १७ का विस्तार कह सकते हैं।

* पाँड़ेजी—भाव यह कि इस मार्गसे लौटना तो दर्शन देना और यदि न लौटना तो निज दासी जानना (ऐसा समझकर भूलना नहीं)।

हो जाती है, खिल उठती है, वैसे ही ये सब अब प्रफुल्लित हो गयीं, संकोच जाता रहा। अब रही रात सो यहाँ क्या है? *'राका-रजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम'* अर्थात् स्त्रियोंमें जो भक्ति है वही रात्रि है। *'लखी सीय सब प्रेम पियासी'*—प्रेमकी प्यास ही भक्ति है।

तबहिं लषन रघुबर रुख जानी। पूँछेउ मगु लोगन्हि मृदु बानी॥ ५॥
सुनत नारि नर भये दुखारी। पुलकित गात बिलोचन बारी॥ ६॥
मिटा मोदु मन भये मलीने। बिधि निधि दीन्ह लेत जनु छीने॥ ७॥
समुझि करम गति धीरजु कीन्हा। सोधि सुगम मगु तिन्ह कहि दीन्हा॥ ८॥

दो०—लषन जानकी सहित तब गवनु कीन्ह रघुनाथ।
फेरे सब प्रिय बचन कहि लिए लाइ मन साथ॥ ११८॥

अर्थ—उसी समय श्रीरामचन्द्रजीका रुख (रुचि) जानकर लक्ष्मणजीने कोमल मीठी वाणीसे लोगोंसे रास्ता पूछा॥ ५॥ स्त्री-पुरुष सुनते ही दुःखी हो गये (क्योंकि मार्ग पूछनेसे समझ गये कि अब चलना चाहते हैं), उनके शरीर रोमांचित हो गये, दोनों नेत्रोंमें जल भर आया॥ ६॥ उनके मनसे आनन्द जाता रहा, मन उदास और दुःखी हो गया। मानो विधाता दी हुई निधिको छीने लेता है॥ ७॥ कर्मकी (कठिन) गतिको विचारकर उन्होंने धैर्य धारण किया। और आपसमें निर्णय करके सीधा और अच्छा रास्ता उन्होंने बता दिया॥ ८॥ तब श्रीलक्ष्मणजानकीसहित रघुनाथजीने प्रस्थान किया अर्थात् चल दिये। (सब लोग साथ लग गये अतएव) सबको प्रिय वचन कहकर लौटाया पर उनके मनको अपने साथ लगाये लेते गये॥ ११८॥

नोट—१—*'रघुबर रुख जानी'*—यह उत्तम सेवकका धर्म है कि बिना कहे ही चेष्टा आदिसे जीकी जानकर कार्य करे, कहना न पड़े। *'पूँछेउ मगु'*—जान पड़ता है कि वाल्मीकि-आश्रम या चित्रकूटका मार्ग पूछा।

नोट—२—*'बिधि निधि दीन्ह लेत जनु छीने'* इति। श्रीराम-लक्ष्मण-सीता ये तीनों निधियाँ विधाताद्वारा प्राप्त हुई थीं, वही अब छीने लेते हैं। देने और छीननेमें दोनोंमें विधिको समर्थ दिखाया। दोनोंको विधाताके अधीन दिखाया।—*'कठिन करम गति जान बिधाता'* इसीसे विधिका देना और छीनना कहा।

नोट—३—*'समुझि करम गति धीरजु कीन्हा'* इति। अर्थात् प्रारब्ध अमिट है, कठिन है, किसीके मिटाये नहीं मिट सकता। विधाताने हमारे कर्मके अनुसार हमको इतनी देर सुख दिया, हमारे प्रारब्धमें इतनी ही देर इनके संयोगका सुख था, भाग्य होगा और शरीर रहा तो फिर दर्शन होंगे। (पाँड़ेजी कहते हैं कि 'कर्मगतिको इस प्रकार समझा कि जिस कर्मने हमें अद्भुत दर्शन दिया, वही कर्म वियोग देता है, हम क्यों सोच करें। पुनः, दूसरा भाव कि कर्मने इनको माता-पिताकी गोदसे निकाल दिया तो हम क्षणमात्रके वियोगसे क्यों विकल होते हैं।)

नोट-४—*'सोधि सुगम मगु'* से जनाया कि वहाँसे चित्रकूटको कई मार्ग फूटे थे। *'फेरे सब प्रिय बचन कहि'*—जैसे जानकीजीने ऊपर स्त्रियोंसे कहे हैं। वाल्मी० २। ५५ में श्रीभरद्वाजजीने चित्रकूटका मार्ग बताया है कि यहाँसे यमुनाके तीर-तीर आप जायँ, आगे यमुनाकी प्रखर धारा मिलेगी उसे नौकासे पार करनेपर एक श्यामवट वृक्ष मिलेगा जहाँ सिद्धगण रहते हैं। वहाँसे एक कोसपर नीलकानन मिलेगा जिसमें सल्लकी, वेर और जामुनके वन हैं। वही चित्रकूटका मार्ग है, मैं बहुत बार उस मार्गसे गया हूँ, वह बड़ा ही सुन्दर और रमणीय है—'**स पन्थाश्चित्रकूटस्य गतस्य बहुशो मया। रम्यो मार्दवयुक्तश्च दानवैश्च विवर्जितः॥**' (९)—यह सब भाव *'सोधि सुगम मगु'* में आ जाते हैं। जिस मार्गसे वे लोग स्वयं गये हैं और जो रमणीय है और निकटका है वही बताया।

नोट—५ *'लिए लाइ मन साथ'*—अर्थात् मन उनका रामजीमें अनुरक्त, उन्हींके ध्यान, वार्ता आदिमें है, और तनसे लौटते हैं। रसखानने क्या खूब कहा है—*'रसखान गोबिंदहि यों भजिए जस नागरिको चित*

गागरिमें।' तन कहीं रहे पर मनोमय शरीर श्रीरामजीहीमें रहे—यह सार है। मन साथ लिये जैसे गोपियाँ रासमण्डलमें भी रहीं और अपने पतियोंके साथ भी दूसरे तनसे रहीं, जैसे पतिव्रताका मन पतिमें रहता है पर व्यवहारमें सबकी सेवा करती है।

गीतावलीके—*'सखि जब तें सीता समेत देखे दोउ भाई। तब तें परे न कल कछू न सोहाई॥ नख सिख नीके, नीके निरखि निकाई। तन सुधि गई मन अनत न जाई॥ हेरनि हँसनि हिय लिए हैं चोराई। पावन प्रेम बिबस भई हौं पराई॥'* (२। ४०) *'बहुत दिन बीते सुधि कछु न लही। गए जो पथिक गोरे साँवरे सलोने, सखि संग नारि सुकुमारि रही॥ जानि पहिचानि बिनु आपु ते आपनेहु तें प्रानहुँ तें प्यारे प्रियतम उपही। सुधाके सनेह हू के सार लै सँवारे बिधि, जैसे भावते हैं भाँति जाति न कही॥ बहुरि बिलोकिबे कबहुँक कहत तन पुलक नयन जलधार बही। तुलसी प्रभु सुमिरि ग्राम जुबती सिथिल बिनु प्रयास परीं प्रेम सही॥'* (२। ३८) *'नीके कै मैं न बिलोकन पाए।… सुंदर बदन बिसाल बाहु उर तनु छबि कोटि मनोज लजाए। चितवत मोहि लगी चौंधी सी जानौं न कौन कहाँ तें धौं आए। मन गयो संग सोच बस लोचन मोचत बारि कितौ समुझाए॥ तुलसिदास लालसा दरस की सोइ पुरवै जेहि आनि देखाए॥'* (२। ३५)— इन उद्धरणोंको *'लिए लाइ मन साथ'* की व्याख्या समझिए।

फिरत नारि नर अति पछिताहीं। दैअहिं दोषु देहिं मन माहीं॥ १॥
सहित बिषाद परसपर कहहीं। बिधि करतब उलटे सब अहहीं॥ २॥
निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहि ससि कीन्ह सरुज सकलंकू॥ ३॥
रूख कलपतरु सागरु खारा। तेहिं पठए बन राजकुमारा॥ ४॥

शब्दार्थ—**दैअहिं**=दैवहि=दैवको। **निपट**=बिलकुल। **निरंकुस**=स्वतन्त्र, स्वेच्छाचारी। **रुज**=रोग, **रूख**=वृक्ष, सूखी लकड़ी।

अर्थ—स्त्री-पुरुष लौटते हुए अत्यन्त पछताते हैं और मनमें दैव (प्रारब्ध,भाग्य)-को दोष देते हैं॥ १॥ दुःखसे आपसमें कहते हैं कि विधिके सभी काम उलटे हैं॥ २॥ वह बड़ा ही स्वतन्त्र, निर्दयी और निडर है जिसने चन्द्रमाको रोगी और कलंकी बनाया, कल्पवृक्षको 'रूख' (वृक्ष) और समुद्रको खारा बनाया उसीने राजकुमारोंको वन भेजा॥ ३-४॥

नोट—*'पछिताहीं'*। पछताना इससे कि—ये वनके योग्य नहीं। वा, ऐसा दर्शन फिर हमें क्यों होना है। पुनः, हम नीच हैं, इनकी सेवाका अधिकार हमें नहीं। वा, ऐसा मोह हमको क्यों हुआ कि साथ छोड़कर हम वियोगमें दुःख पा रहे हैं। यथा—*'पथिक पयादे जात पंकजसे पाय हैं। मारग कठिन कुस कंटक निकाय हैं॥ मग लोग देखत करत हाय हाय हैं। बन इनको तो बाम बिधि कै बनाय हैं॥'* (गी० २। २८) *'पुनि कहँ यह सोभा कहँ लोचन देह गेह संसार।'* (गी० २। २९) *'पंकज से पगनि पानह्यौ न परुष पंथ, कैसे निबहेहैं निबहैंगे गति नई है। एही सोच संकट मगन मग नर नारि सब की सुमति राम राम रँग रई है।'* (गी० २। ३४) *'आँखिनमें सखि राखिबे जोग इन्हैं किमि कै बनवास दियो है।'* (क० २। २०)

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ *'सहित बिषाद'* कहकर दैवको दोष लगानेका कारण बताया कि आर्त-वश हैं, इससे दोष देते हैं। यथा—*'लोक रीति देखी सुनी ब्याकुल नर नारी। अति बरषे अनबरषेउ देहिं दैवहि गारी॥'* (वि० ३४)

टिप्पणी २—*'निपट निरंकुस……'* अर्थात् यदि ऐसा न होता—किसीका दबाव होता तो उसके वश रहकर उसके आज्ञानुसार करते; जैसे हाथी अंकुशके वश होकर पीलवानकी आज्ञामें चलता है। दया होती तो दूसरोंके दुःखसे पीड़ित हो दुःख न देता। किसीकी शंका होती कि कोई कुछ कहे न, तो सोच-विचारकर काम करता—सारे ब्रह्माण्डको आह्लादकारक, अमृत स्रवनेवाले, द्विजराजको रोगी और गुरु-अपमानसे कलंकित न करता। [रोग और कलंककी कथा बा० दोहा २३७ और २३८ (१) में देखिये। *'सरुज'*

अर्थात् क्षयी रोग है। चन्द्रमामें बीचमें जो स्याही झलकती है उसीपर अनेक कल्पनाएँ हैं—देखिये लं० १२ (४)-१२] पुन:, कल्पवृक्ष जो मनको जानकर अर्थ, धर्म, काम देता है, ऐसे सुजान और उदार दाताको जड़ (स्थावर) वृक्ष न बनाता। और समुद्र जिसमेंसे रत्न निकले, जिससे मेघद्वारा जीवोंका पालन-पोषण होता है, जो जलकी राशि है, ब्रह्मकुल है, उसको खारा न करता कि किसीके काम न आ सके।

टिप्पणी-३—**'*बिधि करतब उलटे*……'** अर्थात् नाम तो है विधि, पर करता है अविधि अर्थात् भलाईमें बुराई मिला देता है।

पंजाबीजी—विधाताकी अविधिके उदाहरण देते हैं कि चन्द्रमाको बड़ा सुन्दर बनाकर फिर उसमें **'*घटै बढ़ै बिरहिनि दुखदाई*……'** आदि रोग और कलंक लगाकर उसे दु:खी किया जिसमें शोभा पूर्ण न रहे। **'*सागरु खारा*'**—१४ रत्न तो क्षीरसागरसे निकले हैं वह तो खारा नहीं है, पर गोस्वामीजीने अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है। इससे जान पड़ता है कि किसी कल्पमें इससे ही लक्ष्मी आदि रत्न निकले होंगे। अथवा, रत्नखानि यह भी है, मुक्ता आदि निकलते हैं। **'*तेंहि पठए बन*'** अर्थात् राजकुमारोंके गुण न देख सका, इससे ईर्ष्यावश इनको वनमें भेज दिया।

वि० त्रि०—**'*निपट निरंकुस*……*राजकुमारा*'** इति। विधि निरंकुश है, इसका प्रमाण यह है कि **'*ससि कीन्ह सरुज सकलंकू।*'** विधि निष्ठुर हैं, इसका प्रमाण यह कि कल्पतरुको वृक्ष बना दिया। विधि नि:शंक हैं इसका प्रमाण यह कि समुद्रको खारा कर दिया। तीन पृथक्-पृथक् उदाहरण देकर ब्रह्मदेवके तीनों दोष पृथक्-पृथक् दिखलाये। अब कहते हैं कि इन राजकुमारोंको वन भेजकर अपने तीनों दोषोंको एक साथ ही व्यक्त कर दिया।

प० प० प्र०—तीनों उदाहरणोंमें कुछ-न-कुछ विशेषता है। शशि-सौन्दर्य, तापहरणशक्ति, सुधामयता आदिका निदर्शक है पर इसमें दोष है। श्रीरामचन्द्रजी हैं—**'*राकाससि रघुपति*……'**; पर उनमें चन्द्रमाके दोष नहीं है, यथा—**'*प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू।*'** (१। १६) चन्द्रमामें सोलह दोष हैं (३। २८। ६ **'*चले जहाँ रावन ससि राहू।*'** में देखिये)। सागर अपार, अगाध, निर्मल जलका निधि और रत्नादिसे युक्त है पर उसमें भी दोष है। श्रीरामजी सिंधुके समान अपार, गम्भीर आदि हैं पर इनमें दोष नहीं है। कल्पवृक्ष स्थावर है यह दोष है। श्रीरामजी कल्पतरु हैं पर उनमें उसका दोष नहीं है। इन उदाहरणोंसे दिखाया कि विधिरचना निर्दोष हो ही नहीं सकती। श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीजी गुणोंमें तीनोंके समान होते हुए भी निर्दोष हैं। अत: ये **'*आपु प्रगट भए बिधि न बनाए*'**, **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (गीता)।—यह गूढ़ भाव है। (वीरकवि—दूसरेका दोष विधातापर मढ़ना द्वितीय असंगति अलंकार है। **'*जेहिं लखि*……*कुमारा*'** में सम्भव प्रमाण अलंकार है।)

जौं पै इन्हहि दीन्ह बनबासू। कीन्ह बादि बिधि भोग बिलासू॥ ५॥
ए बिचरहिं मग बिनु पदत्राना। रचे बादि बिधि बाहन नाना॥ ६॥
ए महि परहिं डासि कुस पाता। सुभग सेज कत सृजत बिधाता॥ ७॥
तरु बर बास इन्हहि बिधि दीन्हा। धवल धाम रचि रचि श्रमु कीन्हा॥ ८॥

दो०—जौं ए मुनिपट धर जटिल सुंदर सुठि सुकुमार।
बिबिध भाँति भूषन बसन बादि किए करतार॥ ११९॥

जौं ए कंद मूल फल खाहीं। बादि सुधादि असन जग माहीं॥ १॥

अर्थ—निश्चय ही जो विधाताने इन्हें वनवास दिया तो उसने भोग-विलास व्यर्थ ही बनाया॥ ५॥ ये बिना जूतोंके रास्तेमें चल रहे हैं तो विधाताने अनेक सवारियाँ व्यर्थ ही बनायीं॥ ६॥ ये जमीनपर कुश और पत्ते बिछाकर रहते हैं तो फिर विधाता सुन्दर सेज क्यों बनाता रचता है॥ ७॥ इनको विधाताने बड़े-बड़े पेड़ोंके नीचे वास (ठहरनेका स्थान) दिया तो उसने सुन्दर स्वच्छ घर (महल) बना-बनाकर परिश्रम ही तो किया॥ ८॥ जो ये अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त सुकुमार होकर भी मुनियोंके वल्कल वस्त्र और

जटाएँ धारण करते हैं तो फिर करतार-(विधाता-)ने तरह-तरहके भूषण-वस्त्र व्यर्थ ही बनाये॥ ११९॥ जो ये कन्द, मूल, फल खाते हैं तो संसारमें अमृत आदि (के-से स्वादिष्ट) भोजन व्यर्थ ही हैं॥ १॥

नोट—*'कीन्ह बादि बिधि भोग बिलासू'* कहकर फिर आगे भोग-विलासके पदार्थोंका वर्णन है। पदत्राण, रथ, घोड़े आदि सवारियाँ, तोशक-तकिये, पलंग इत्यादि शय्याकी सामग्री, बड़े-बड़े महल, भूषण, वस्त्र, मुकुट, किरीट, कुण्डल, ५६ प्रकारके भोजन इत्यादि भोग-विलासके पदार्थ हैं। भाव यह कि जो जिस पदार्थका पात्र है, अधिकारी है, उसको वही मिलना चाहिये; अनधिकारीको न मिलना चाहिये। इनसे अधिक योग्य पात्र इन सब भोग-विलासोंका संसारमें नहीं दिखता। जब इनको वे न मिले तो व्यर्थ ही हैं। अनधिकारी इनकी कदर क्या जान सकता है—बन्दर क्या जाने अदरकका स्वाद। पात्रके लिये दोष और अपात्रके लिये गुण अविवेक ही तो है; अतएव विधाताके कर्तृत्व उलटे ही जान पड़ते हैं। यह सुनकर दूसरे बोले—।

पंजाबीजी—'रामचन्द्रजीको दु:खी मानकर ब्रह्माकी भोग-विलास आदि रचनाको इनकी प्राप्ति बिना निष्फल दिखाते हैं। १२ चरणोंमें उल्लास अलंकार है। यहाँतक उनके वचन हैं जो इनको विधाताके रचे हुए मानते हैं। आगे १२० (२) से दस चरणोंमें उनके वचन हैं जो श्रुति और युक्तिसे इनको विधातासे अकृत्रिम साधते हैं।'

वि० त्रि०—ऊपर विधिका अच्छोंके साथ बुरा व्यवहार दिखलाकर अब राजकुमारोंके साथ अनुचित व्यवहारोंकी तालिका देते हैं। ये राजकुमार भोग-विलास, वाहन, सुन्दर शय्या, धवल धाम, भूषण-वसन और सुधादि अशनके पात्र हैं। इन्हें यदि ये वस्तुएँ अप्राप्त कर दीं तो विधिने इन वस्तुओंको बनाया ही क्यों? जब बनाया तो इनसे बढ़कर योग्य उपभोक्ता कहाँ मिलेगा[1] सो इन्हें वनवास दिया, पैदल फिराया, पृथ्वीपर सुलाया, पेड़ तले ठहराया, वल्कल पहनाया और कन्द-मूल खिला रहे हैं। अत: सिद्ध है कि *'बिधि करतब उलटे सब अहहीं।'* इस भाँति ग्राम-नर पछताते हैं, और ब्रह्मदेवको दोष दे रहे हैं।

एक कहहिं ए सहज सुहाए। आपु प्रगट भए बिधि न बनाए॥ २॥
जहँ लगि बेद कही बिधि करनी। श्रवन नयन मन गोचर बरनी॥ ३॥
देखहु खोजि भुवन दस चारी। कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी॥ ४॥
इन्हहि देखि बिधि मनु अनुरागा। पटतर जोग बनावइ लागा॥ ५॥
कीन्ह बहुत श्रम अैक[2] न आए। तेंहि इरिषा बन आनि दुराए॥ ६॥

शब्दार्थ—**अैक**=अंदाज—(रा० प्र०)। '**ऐक नहिं आए**'=ढाँचा न बन सका, खाका न खिंचा—(दीनजी) ऐक=ऐक्य=समानता, सादृश्य।

अर्थ—कोई कहते हैं कि ये तो सहज ही (भूषण-वस्त्ररहित भी) सुन्दर हैं, ये आप-ही-आप प्रकट हो गये हैं, विधाताने इन्हें नहीं बनाया॥ २॥ (अब अपनी बातका प्रमाण देते हैं कि) वेदोंने जहाँतक विधाताकी करनी कही है वह कानों, नेत्रों और मन आदि इन्द्रियोंका विषय (अर्थात् इन इन्द्रियोंकी पहुँच जहाँतक है) वर्णन किया गया है॥ ३॥ चौदहों भुवनोंमें खोज (ढूँढ़) देखो—ऐसा पुरुष कहाँ है और ऐसी स्त्री कहाँ है॥ ४॥ इनको देखकर विधाताका मन अनुरक्त हो गया (मुग्ध हो गया) तब इनकी समताके योग्य (अर्थात् इनके-से) और बनाने लगा॥ ५॥ बहुत परिश्रम किया पर अटकलहीमें न आया कि कैसे बनावें। इसी ईर्ष्याके कारण इनको वनमें लाकर छिपा दिया॥ ६॥

नोट—१ (क) वक्ताने इन ग्रामवासियोंके मुखसे यहाँ इनका यथार्थ-स्वरूप कहलाया है। यथार्थ ऐसा ही है, तथा—*'इच्छामय नर वेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥'* (१।१५२।१) और *'भए प्रगट कृपाला'* इत्यादि। (ख) *'सहज सुहाए'*—मिलान कीजिये—*'रूप शोभा प्रेम के से कमनीय काय हैं। मुनि बेष किये किधौं ब्रह्म जीव माय हैं॥'* (गी० २।२८) *'तापस रूप किए काम कोटि फीके हैं।'* (गी० २। ३०)

१-गी० प्रे०। २-एक—रा० प्र०।

नोट—२ *'श्रवन नयन मन गोचर बरनी'* अर्थात् वे सुने जाते हैं, देखे जाते हैं या मनसे उनका विचार किया जाता है, अनुभव किया जाता है। सो हमने जो कुछ सुना, देखा और अनुभव किया है।

'तेहि इरिषा बन आनि दुराए'—सरस्वतीको भेजकर कैकेयीसे वर मँगवाया, वनवास कराया, बस, विधिसे इतना ही करते बना।

नोट—३ *'देखहु खोजि—नारी'* इति। बालकाण्डमें एक सखीने जो कहा है कि *'सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं॥ बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी॥ अपर देउ अस कोउ न आही। यह छबि सखी पटतरिय जाही॥—अंग अंग पर बारिअहिं कोटि कोटि सत काम।'* (२२०)और कविने जो कहा है—*'जौं पटतरिय तीय सम सीया। जग असि जुवति कहाँ कमनीया॥—'* (१। २४७) वही सब भाव ग्रामवासियोंके इन वचनोंका है। विशेष भाव वहीं देखिये। और भी मिलान कीजिये:—*'बानी बिधि गौरी हर सेषहू गनेस कही सही भरी लोमस भुसुण्डि बहुबारिषो। चारिदस भुवन निहारि नरनारि सब नारद को परदा न नारद सो पारिखो॥ तिन्ह कही जग में जगमगात जोरी एक दूजोको कहैया औ सुनैया चपु चारिखो। रमा रमारमन सुजान हनुमान कही सीय सी न तीय न पुरुष राम सारिखो॥'* (क० १। १६)

वीरकवि—ये ब्रह्माके बनाये नहीं हैं इस शुद्धापह्नुतिमें यह कारण दिखाना कि ऐसी सुन्दरता ब्रह्मा नहीं बना सकते, ये स्वयं प्रकट हुए हैं 'हेत्वापह्नुति अलंकार' है *'देखहु खोजि……'* में चतुर्थ प्रतीपकी ध्वनि है। श्रीरामजीके वनमें आनेकी बातको हेतुसूचक युक्तियोंसे समर्थन करना। 'काव्यलिंग अलंकार' है। व्यंगार्थमें 'ललितोत्प्रेक्षा अलंकार' है।

एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहि परम धन्य करि मानहिं॥ ७॥
ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे॥ ८॥
दो०—एहि बिधि कहि कहि बचन प्रिय लेहिं नयन भरि नीर।
किमि चलिहहिं मारग अगम सुठि सुकुमार सरीर॥ १२०॥

अर्थ—कोई कहते हैं कि हम बहुत अर्थात् यह सब कुछ तर्क-वितर्ककी बातें नहीं जानते, हाँ अपनेको परम भाग्यवान् और कृतकृत्य मानते हैं॥ ७॥ और हमारी समझमें[१] वे भी बड़े ही पुण्यवान् हैं जो इन्हें देख रहे हैं, देखेंगे और जिन्होंने देखा है॥ ८॥ इस प्रकार प्रिय वचन कह-कहकर नेत्रोंमें जल भर लेते हैं (अर्थात् प्रेमवार्तासे प्रेम हृदयमें नहीं अमाता, उमड़कर प्रेमाश्रुद्वारा नेत्रोंसे प्रकट हो जाता है और शोकातुर होकर वे कहते हैं) कि ये कठिन रास्तेमें कैसे चलेंगे, इनका अत्यन्त सुकुमार शरीर है॥ १२०॥

नोट—१ *'आपुहि परम धन्य……'* इति। मिलान कीजिये मिथिलावासिनियोंके *'हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनकपुरबासी॥ जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेषी॥'* (१। ३१०) इन वचनोंसे। पुनश्च यथा—*'को जानै कौन सुकृत लह्यौ है लोचन लाहु।'* (गी० १९)

नोट—२ *'लेहिं नयन भरि नीर……सरीर'* इति। मिलान कीजिये—*'पायन तौ पनहीं न पयादेहि क्यों चलिहैं सकुचात हियो है।'* (क० २। १९) *'बनिता बनी स्यामल गौर के बीच बिलोकहु री सखी मोहि सी ह्वै। मग जोग न कोमल क्यों चलिहैं सकुचाति मही पद पंकज छ्वै॥ तुलसी सुनि ग्रामबधू बिथकीं पुलकीं तन औ चले लोचन च्वै। सब भाँति मनोहर मोहन रूप अनूप हैं भूप के बालक द्वै॥'* (क० २। १८)

३ दोहेमें प्रथम विषम अलंकार है।

नारि सनेह बिकल बस होहीं। चकई साँझ समय जनु सोहीं॥ १॥
मृदु पद कमल कठिन मगु जानी। गहबरि हृदय कहइँ[२] बर बानी॥ २॥

१-पाण्डेजी—हम लेखे अर्थात् हमारी गणनामें, हमारे बराबर।
२-कहहिं-गी० प्रे०। कहइ-रा० प्र०। कहइँ-लाला सीताराम।

परसत मृदुल चरन अरुनारे। सकुचति महि जिमि हृदय हमारे॥ ३॥
जौं जगदीस इन्हहिं बनु दीन्हा। कस न सुमनमय मारगु कीन्हा॥ ४॥
जौं माँगा पाइअ बिधि पाहीं। ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं॥ ५॥

शब्दार्थ—**साँझ**=संध्या-समय, सायंकाल, शाम। **गहबरि**=गद्‌गद,व्याकुल, उद्विग्न, किसी ध्यानमें मग्न या बेसुध, यथा—***'और सब समाज कुसल न देखों आज गहबरि हिय कहैं कोसलपाल', 'सजल नयन गदगद गिरा गहबर मन पुलक सरीर','मुख मलीन हिय गहबर आवै','गहबर हिय कह कौसिला मोहि भरत कर सोच॥'*** (२८२)

अर्थ—स्त्रियाँ स्नेहके वश विकल हो जाती हैं मानो संध्या-समय चकवी (भावी वियोगके कारण दुःखित) शोभित हैं॥ १॥ चरण कमल कोमल हैं और रास्ता कठिन है ऐसा जानकर वे गद्‌गद और व्याकुल हृदयसे श्रेष्ठवाणीसे कह रही हैं—॥ २॥ इनके लाल कोमल चरणोंको छूते ही पृथ्वी वैसे ही सकुचाती है जैसे हमारे हृदय सकुच रहे हैं॥ ३॥ जो जगदीशने इनको वनवास ही दिया था तो रास्तेको पुष्पमय क्यों न कर दिया?॥ ४॥ यदि ब्रह्मासे माँगे मिले तो, हे सखी! इनको आँखोंमें रख लिया जाय॥ ५॥

नोट—१ ***'नारि सनेह बिकल बस होहीं।'*** इति। ऊपर दोहेतक पुरुषोंके स्नेहका वर्णन हुआ। अब स्त्रियोंका स्नेह और उनकी परस्पर वार्ता वर्णन करते हैं। प्रेमके वश हो वे व्याकुल हो रही हैं। इसकी उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो वे स्त्रियाँ नहीं हैं किंतु चकवी हैं जो संध्या-समयमें शोभित हो रही हैं। यहाँ अयुक्ति-युक्तालंकार है*। पतिके विक्षेपका दुःख है तो ***'सोही'*** कैसे कहा? इनकी व्याकुलताका कारण रामजीपर इनका स्नेह है इसीसे शोभित होना कहा। पुनः यहाँ वियोग शृंगाररसमें दुःखित होना है इससे ***'सोही'*** लिखा, नहीं तो यदि करुणारसका वियोग होता तो ऐसा न लिखकर लिखते कि ***'जाइ न जोही'***। (रा० प्र०, पु० रा० कु०) ***'साँझ समय'*** कहा क्योंकि अभी तो वियोग हुआ नहीं पर वियोगकी घड़ी आ रही है। पाँड़ेजी कहते हैं कि संध्या-समयसे जनाया कि वियोगका आरम्भ है जो बहुत व्याकुल करता है। चकवीका चकवेसे वियोग रात्रिमें होता है, अभी संध्या है। इस प्रकारकी चौपाइयाँ और भी हैं, तथा—***'जाइ सुमंत्र दीख कस राजा। अमिय रहित जनु चंद बिराजा॥'*** (१४८) अर्थात् रामविरहमें श्रीहत होना मनुष्यकी शोभा है इसीसे ***'बिराजा'*** कहा। पर ऐसे भी दृष्टान्त हैं जिनमें 'सोहना' इस भावसे नहीं लिखा गया। जैसे—***'भगति हीन नर सोहइ कैसा', 'भयो तेजहत श्री सब गई। मध्य दिवस जिमि ससि सोहई॥'*** इससे मिलान कीजिये। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ चकईकी उपमासे उपपतिका वियोग दर्शित होता है अतएव यहाँ परकीया प्रोषितपतिकाके लक्षण हैं, पुनः, गुणकथन दशा है'। पण्डितजी लिखते हैं कि चकवीको पतिके विक्षेपका दुःख है वैसे ही इनको रामजीके प्रति संयोगका स्नेह है, ईश्वर जीवका पति है। (श्वेताश्वतर उ० में '**तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्तात्**……।' (६। ७) जो '**पतीनाम्**' कहा है वह प्रजापतियोंके अर्थमें है। पतिका अर्थ स्वामी, रक्षक है। ईश्वर समस्त जीवोंका स्वामी है।)

टिप्पणी—१ ***'सकुचति महि जिमि हृदय हमारे।'*** स्पर्शसे पृथ्वी सकुचती है कि मैं बड़ी कठोर हूँ जैसे हमारे हृदयको संकोच हो रहा है कि हम बड़े कठोर हैं कि रामजीका विक्षेप समझ फट नहीं जाते। (कवितावलीमें भी ऐसा ही कहा है। दो० १२० देखिये।)

वि० त्रि०—सरकारके मृदुल अरुणारे चरणोंको ग्रामवधूटियाँ अपने हृदयमें स्थान देना चाहती हैं, पर स्थान देते समय उनका हृदय संकुचित होता है। ऐसे कलुषित हृदयमें ऐसी पवित्र वस्तुको कैसे रखें? इसी अनुभवके अनुसार वे कह रही हैं कि पृथ्वी भी इनके मृदुल अरुणारे चरणोंके स्पर्शसे संकुचित होती है कि मैं ऐसी कठिन हूँ इस कोमल चरणको कैसे अपने ऊपर स्थान दूँ।

---

* यह पं० रामकुमारजीका मत है। वीरकविजी 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' कहते हैं।

नोट—*'जौं जगदीस……'* इति। भाव कि वन देना नहीं चाहिये था। और यदि जगदीशने वन दिया ही था तो मार्गको पुष्पमय बना देना था। यहाँ 'वितर्क संचारी भाव' है।

'जौं माँगा पाइअ बिधि पाहीं। रखिअहिं……' इति।

१—आँखोंमें रखनेका भाव कि कभी इनका विक्षेप न होने दें, बराबर देखा ही करें। पुनः, शरीरमें आँखें सबसे कोमल मानी जाती हैं। अतएव उनकी प्राप्ति होनेपर यही स्थान उनके लिये सर्वोत्तम है। हृदयको कठोर सूचित कर चुकी हैं इससे उसमें बास उचित नहीं समझतीं। इसमें यह भी भाव है कि ध्यान करना पसन्द नहीं करतीं, नित्य आँखोंसे देखना चाहती हैं।

२—बैजनाथजी—शृंगाररसमें युवतियाँ सोचती हैं कि हम इन्हें एकान्तमें क्यों पावेंगी, यदि ब्रह्मा कभी एकान्तमें संयोग प्राप्त कर दें तो इनके लायक और कोई स्थान नहीं जँचता, आँखोंहीमें रख लें।

३—पंजाबीजी—नेत्रोंका श्याम गौर वर्ण है, वैसे ही इनका है, अतएव आँखोंसे उनका संयोग चाहती हैं अर्थात् बराबर देखती रहें यह चाहती हैं।

४—रा० प्र०—जब एकने कहा कि *'कस न सुमनमय मारग कीन्हा'* तब दूसरीने पुष्पोंको भी इनके योग्य कोमल न समझकर आँखमें रखनेको कहा।*

जे नर नारि न अवसर आए। तिन्ह सियारामु न देखन पाए॥ ६॥
सुनि सुरूप बूझहिं अकुलाई। अब लगि गए कहाँ लगि भाई॥ ७॥
समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनमफलु पाई॥ ८॥

दो०—अबला बालक बृद्ध जन कर मीजहिं पछिताहिं।
होहिं प्रेमबस लोग इमि रामु जहाँ जहँ जाहिं॥ १२१॥

अर्थ—जो स्त्री-पुरुष इस समयपर नहीं पहुँचे वे श्रीसीतारामजीको न देख पाये॥ ६॥ वे उनके सुन्दररूपकी प्रशस्ति सुनकर व्याकुल होकर पूछते हैं कि हे भाई! अबतक वे कहाँतक पहुँचे होंगे?॥ ७॥ जो समर्थ हैं (जिनके पौरुष और बल है) वे दौड़ते हुए जाकर देखते हैं और जन्म लेनेका फल पाकर बड़े ही आनन्दित हो लौटते हैं॥ ८॥ स्त्रियाँ, छोटे लड़के और बुड्ढे लोग हाथ मलते और पछताते हैं। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ रामचन्द्रजी जाते हैं वहाँ-वहाँके लोग प्रेमके वश हो जाते हैं॥ १२१॥

नोट—१ *'ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं'* १२१(५) तक दर्शकोंका हाल कहा। अब उन लोगोंका हाल कहते हैं जो समयपर न पहुँचे।

टिप्पणी—१ *'समरथ धाइ बिलोकहिं जाई……' 'अबला बालक बृद्ध जन कर मीजहिं………'* इति। *'अबला'* शब्द यहाँ साभिप्राय है। यहाँ उसका वास्तविक अर्थ भी प्रकट हो रहा है। अर्थात् 'अ+बला'=जिनमें बल नहीं। और दूसरा 'स्त्री' अर्थ भी साथ-ही-साथ है जिसमें वह प्रयुक्त हुआ करता है। इस शब्दके प्रयोगका आशय यह है कि इन ग्रामवासिनी स्त्रियोंमें भी जो बलवान् हैं वे भी *'समरथ धाइ बिलोकहिं जाई'* में आ गयीं। इसीसे प्रथम *'जे नर नारि'* पद देकर उसके साथ *'समरथ धाइ'* कहा। इस प्रकार अबलासे केवल उन स्त्रियोंसे तात्पर्य है जो असमर्थ हैं, चाहे सुकुमारता, चाहे अवस्था, चाहे रोग इत्यादि किसी भी कारणसे ऐसी हों कि दौड़कर न जा सकती हों।'

---

* पाँड़ेजी इन चौपाइयोंका दूसरी प्रकार यों भावार्थ कहते हैं—स्त्रियाँ स्नेहसे व्याकुल हो गद्‌गदहृदय हैं कि—'हे धरती! तू इनके अरुण कोमल चरणोंके स्पर्शसे ऐसी सकुचती है जैसे हमारे हृदय सकुचते हैं, जैसे तू जड़ है वैसे ही हम भी 'जड़ा' हैं। तू जगदीशसे क्यों नहीं कहती कि इनको वनवास दिया तो मार्गको पुष्पमय क्यों न बना दिया, तू इन्हें ब्रह्मासे माँगकर लायी तो ऐसी विपत्तिमें क्यों डाला है? यदि हम विधातासे माँगे पातीं तो हम इनके साथ इस विधिको वर्ततीं कि इन्हें अपनी आँखोंमें ही रख लेतीं।' पृथ्वीको 'सखि' इससे कहा कि वह भी स्त्री है और ये भी; दूसरे यह कि ये उसपर चलते हैं और इनके हृदयमें भी विचर रहे हैं, तीसरे जैसे वह जड़ वैसे ये अपनेको 'जड़ा' कहती हैं।

नोट—२ *'कर मीजहिं'''''*'—यह शोक और पश्चात्तापकी मुद्रा है। हाथ मलते हैं मानो हाथसे पदार्थ निकल जानेसे उसकी रेखाएँ मिटाना चाहते हैं।

नोट—३ समर्थ और असमर्थ दोनोंको मन, वचन, कर्म तीनोंसे प्रभुमें अनुरक्त दिखाया। समर्थ—*'बूझहि'* (वचन), *'धाइ बिलोकहिं जाई'* (कर्म) और 'प्रमुदित' (मनसे)। असमर्थ—*'कर मीजहिं'* (कर्म), *'पछिताहिं'* (वचन) और *'होहिं प्रेम बस'* (मनसे)। [इन चौपाइयोंका साधारण अर्थ तो हो चुका। दूसरा अर्थ इनमें यह है—गोस्वामीजी संसारके हितोपदेशके लिये कहते हैं कि जितने स्त्री-पुरुष इस संसारमें हुए हैं, जिन्होंने अपनेको गवाँ दिये हैं (जो परमार्थसे गये-गुजरे हैं) वे सियारामजीको नहीं देखने पाये। फिर अवसरके पीछे जो रामजीके सौन्दर्यको सुनकर और व्याकुल होकर सज्जनोंसे पूछते हैं कि 'हे भाई! *'अब लगि गए'* अर्थात् अबतक तो हम गये-गुजरे रहे, व्यर्थ अवस्था हमारी गयी, पर अब *'कहाँ लगि'* कहाँतक ऐसे ही गँवायेंगे?' सज्जनोंके उपाय बतानेपर जो यज्ञ, योग, तप आदिको समर्थ हैं वे जाकर देख लेते हैं और प्रमुदित होकर फिरा करते हैं। परंतु जो अबला हैं वे सब हाथ मीजते हैं और पछताते हैं; जहाँ-जहाँ लोग इस भाँति प्रेमवश होते हैं वहाँ रामजी स्वयं चले आते हैं—*'प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।'* (पाण्डेजी)]

पण्डितजी—*'अबला बालक बृद्धजन'* इति।—अबला अर्थात् जो कर्म, ज्ञान, उपासना तीनोंसे रहित हैं। बालक अर्थात् मूर्ख जो शास्त्रसे हीन हैं और वृद्ध अवस्थासे हीन। इन तीनोंको दर्शन तो न हुआ पर सत्संगमें विद्वानोंसे प्रभुके स्वरूपकी व्याख्या सुनकर उत्कंठित हुए और हाथ मलते हैं कि इनके (हाथोंसे) कर्म भी न बन पड़े, ताड़ना करते हैं और आत्मग्लानिसे पछताते हैं।

गाँव गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल कैरव चंदू॥ १॥
जे कछु समाचार सुनि पावहिं। ते नृप रानिहि दोसु लगावहिं॥ २॥
कहहिं एक अति भल नरनाहू। दीन्ह हमहिं जेइ* लोचन लाहू॥ ३॥
कहहिं परसपर लोग लोगाई। बातैं सरल सनेह सुहाई॥ ४॥

अर्थ—सूर्यवंशरूपी कुईंको (प्रफुल्लित करनेके लिये) चंद्र स्वरूप (रूप श्रीरामजी) को देखकर गाँव-गाँवमें ऐसा ही आनन्द हो रहा है॥ १॥ जो लोग कुछ भी समाचार (वनवास दिये जानेका) सुन पाते हैं वे राजा-रानीको दोष लगाते हैं॥ २॥ और कोई कहते हैं कि राजा बहुत ही अच्छे हैं कि जिन्होंने हमें नेत्रोंका लाभ दिया॥ ३॥ स्त्री-पुरुष सभी आपसमें एक-दूसरेसे सरल (भोली-भाली, सीधी-सादी, सौम्य) प्रेमयुक्त और सुन्दर बातें कह रहे हैं॥ ४॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ *'गाँव गाँव अस होइ अनंदू'''''*' अर्थात् कुछ एक दो ही ग्रामोंमें नहीं, किंतु जितने गाँव मार्गमें पड़ते हैं सबमें ऐसा ही आनन्द होता है (जैसा एक ग्रामका लिखा गया)।

टिप्पणी—२—*'भानुकुल कैरव चन्दू'* का भाव कि सूर्यवंशको विकसित करने और आनन्द देनेवाले तो हैं ही पर चन्द्ररूपसे ब्रह्माण्डभरको भी आनन्द देते हैं जैसे चन्द्रमा संसारभरको आनन्द देता, सबको प्रकाश देता और शीतल करता है; पर कुईंको उससे विशेष लाभ होता है। दोहा १२२ भी देखिये।

नोट—१ *'ते नृप'''''*' इति। मिलान कीजिये—*'पानही न चरनसरोजनि चलत मग, कानन पठाए पितु मातु कैसे ही के हैं।'* (गी० २। ३०) *'कैकेयी कुचालि करि कानन पठाए। बचन कुभामिनि के भूपहि क्यों भाए। हाय-हाय राय बाम बिधि भरमाए॥'''''*' (गी० २। ३९) *'कैसे पितु मातु प्रिय परिजन भाई। जीवत जीवके जीवन बनहिं पठाई॥'* (४०) जैसे अवधवासी दोष देते थे वैसे ही ये दे रहे हैं। पूर्व, दोहा ४७ (१) से ४८ (३) तक जो कहा है कि वही भाव यहाँ लगा लें।

* जेहि—रा० प्र०। जोइ—गी० प्रे०। जेइ—लाला सीतारामजी।

नोट—२—*'कहहिं परसपर लोग लोगाई।……'* अर्थात् पुरुष पुरुषसे, स्त्री स्त्रीसे कहते हैं। *'सरल'* और स्नेहयुक्त होनेसे सुहाई कहा। (पं० रा० कु०)

ते पितु मातु धन्य जिन्ह जाये। धन्य सो नगरु जहाँ तें आये॥ ५॥
धन्य सो देसु सैलु बन गाऊँ। जहँ जहँ जाहिं धन्य सोइ ठाऊँ॥ ६॥
सुखु पायेउ बिरंचि रचि तेही। ए जेहि के सब भाँति सनेही॥ ७॥
राम लषन पथि कथा सुहाई। रही सकल मग कानन छाई॥ ८॥

दो०—एहि बिधि रघुकुलकमलरबि मग लोगन्ह सुख देत।
जाँहि चले देखत बिपिन सिय सौमित्रि समेत॥ १२२॥

शब्दार्थ—**पथि**=(सं० पथिन्) पथिक, रास्ता चलनेवाले, बटोही।

अर्थ—धन्य हैं वे माता-पिता जिन्होंने इन्हें जन्म दिया; पैदा किया; धन्य है वह नगर जहाँसे ये आये हैं॥ ५॥ धन्य है वह देश, पर्वत, वन और गाँव जहाँसे होते हुए ये आते हैं। वही-वही स्थान धन्य हैं जहाँ-जहाँ ये जाते हैं*॥ ६॥ ब्रह्माने उसीको बनाकर सुख पाया है (अर्थात् अपने परिश्रमको सुफल माना, अपनेको कृतार्थ माना) जिसके ये सब प्रकारसे स्नेही हैं॥ ७॥ श्रीराम-लक्ष्मण पथिकोंकी सुन्दर कथा सब रास्ते और वनमें छा गयी है॥ ८॥ इस प्रकार रास्तेके लोगोंको सुख देते हुए रघुकुलरूपी कमलके (खिलानेको) सूर्यरूप श्रीरामचन्द्रजी श्रीसीता-लक्ष्मणजीसहित वनको देखते हुए चले जा रहे हैं॥ १२२॥

टिप्पणी—१ *'ते पितु मातु धन्य……'* इति। श्रीकौसल्याजी और श्रीदशरथजी महाराजने तपस्या, यज्ञ और भक्ति इत्यादि करके इनको प्रगट किया और हमको भी इनके दर्शनका लाभ दिया। अतएव वे धन्य हैं अर्थात् वे बड़े सुकृती हैं, पुण्यात्मा हैं—'**सुकृती पुण्यवान् धन्यः।**' ['धन्य' शब्दका अर्थ पुण्यवान् तो है ही, पर इसका प्रयोग—प्रशंसाके योग्य, कृतार्थ—इन अर्थोंमें भी ऐसे स्थलोंपर होता है। शब्दसागरमें लिखते हैं कि 'इस शब्दका प्रयोग साधुवाद देनेके लिये प्रायः होता है, जैसे किसीको कोई अच्छा काम करते देख या सुनकर लोग बोल उठते हैं—'धन्य! धन्य!' वैसा ही प्रयोग यहाँ है। श्रीरामजीके सम्बन्धसे सबका धन्य होना व्यंग्यार्थद्वारा 'प्रथम उल्लास अलंकार' है।]

टिप्पणी-२—*'सुखु पायेउ बिरंचि रचि तेही।……'* इति। ब्रह्माको सुख हुआ कि हमारी रची हुई सृष्टिमें ऐसे-ऐसे जीव हैं। (उदाहरण)—*'जिन्हहिं बिरचि बड़ भयेउ बिधाता। महिमा अवधि राम पितु माता॥'* (१। १६। ८) देखिये। [इन वाक्योंसे श्रीसीताराम-लक्ष्मणजीकी अपार सुन्दरता और सुकुमारता आदि व्यंजित होना 'वाच्यसिद्धांगगुणीभूतव्यंग' है। (वीर)] *'सब भाँति सनेही'* अर्थात् माता-पिता-भ्राता आदि सब नाते, धन-सम्पत्ति सम्पूर्ण स्वार्थ इन्हींसे है और इन्हींको मान लिया। यथा—*'स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।'* (१३०) मिलान कीजिये *'पिता रामु सब भाँति सनेही।'* (७४)(२) देखिये।

वि० त्रि०—*'सुखु पायेउ……सनेही'* इति। लोग-लोगाइयोंका भी यही मत है कि *'आपु प्रगट भये बिधि न बनाए'* क्योंकि *'बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना'* है और इनमें गुण-ही-गुण हैं, अवगुण नाएको नहीं। अतः ये विधिके बनाये नहीं हैं, आप-से-आप ही प्रकट हुए हैं। ऐसा दूसरा न बना पानेसे विधिको ईर्ष्या हुई, परंतु 'इनके जो सब भाँतिसे स्नेही हैं, वे तो मेरे बनाये हैं' यह समझकर ब्रह्मदेवको सुख हुआ अर्थात् जिनके ये स्नेही हैं, उनका इतना बड़ा माहात्म्य है कि उनके बनानेसे ब्रह्मदेव अपनेको धन्य मानते हैं, यथा—*'जिनहिं बिरचि बड़ भयेउ बिधाता।'*

---

* 'जहाँ ते आये' और 'जहँ जहँ जाहिं' को दीपदेहली माननेसे अन्वय ठीक होता है—'सो नगर धन्य जहाँ ते आये,सो देसु, सैल, वन, गाँव धन्य जहाँसे होते आये और सोई (देश,शैल, वन, गाँव इत्यादि) ठाँव धन्य जहाँ-जहाँ ये जाते हैं। बैजनाथजीने भी ऐसा ही अर्थ लिया है।

टिप्पणी—३ *'एहि बिधि रघुकुलकमलरबि……'* इति। *'रघुकुलकमलरबि'* का भाव कि ब्रह्माण्डभरके प्रकाशक हैं पर रघुकुलको विशेष सुखदाता हैं।

टिप्पणी-४—पहले श्रीरामजीको भानुकुल-कैरव-चन्द्र कहा और यहाँ रघुकुलपर कमलका आरोप करके उनको रवि कहा। दो जगह दो बातें कहीं; क्योंकि दोनों सूर्य और चन्द्र मिलकर जगत्का पालन-पोषण-रूपी हित करते हैं। यथा—*'जगहित हेतु बिमल बिधु पूषन।'* पुनः, किसीको चन्द्रमासे दुःख और किसीको सूर्यसे, अतएव दिखाया कि ये दोनों रूपसे जगत्का हित करते हैं, किसीको दुःखद नहीं। पुनः, सूर्य-चन्द्रमामें अलग-अलग जो गुण हैं वे इनमें एक ही ठौर दिखाये। पुनः चन्द्रमाका प्रकाश रातको और सूर्यका दिनमें होता है; एक बार चन्द्ररूप दूसरी बार सूर्यरूप कहकर जनाया कि श्रीरामजी सबको रातो-दिन सुख देनेवाले हैं।

नोट—बैजनाथजी लिखते हैं कि—*'कहहिं एक अति भल नरनाहू'* (१२२(३) से *'धन्य सो देसु सैल बन गाऊँ…।'* तक वृद्धा स्त्रियोंकी वार्ता है जो शान्तरसकी है। और *'सुखु पायेउ बिरंचि रचि तेही।',* यह युवतियों (युवावस्थावाली स्त्रियों) की वार्ता है जो शृंगाररसयुक्त है।

आगें रामु लषनु बनें पाछें। तापस बेष बिराजत काछें॥ १॥
उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥ २॥
बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई। जनु मधु मदन मध्य रति लसई॥ ३॥
उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥ ४॥

शब्दार्थ—'**काछे**'=काछना (सं० कक्ष) बनाना, सँवारना, पहनना, धारण करना, यथा—*'गौर किसोर बेष बर काछें। कर सर चाप रामके पाछें॥'* (१।२२१।७) *'एई राम लषन जे मुनि संग आये हैं। चौतनी चोलना काछे सखि सोहैं आगे पीछे'* (गी० १।७४) **लसना**=शोभित होना, फबना, विराजना।

अर्थ—आगे श्रीरामजी और पीछे लक्ष्मणजी शोभित हैं। तापसवेष बनाये हुए विशेष शोभायमान हैं॥ १॥ दोनोंके बीचमें श्रीसीताजी कैसी सोह रही हैं, जैसे ब्रह्म और जीवके बीचमें माया॥ २॥ इसी छबिको मैं फिरसे (उस रीतिसे) कहता हूँ जैसी कि मेरे मनमें बसी हुई है—(ऐसा मालूम होता है) मानो वसन्त और कामदेवके बीचमें रति (कामदेवकी स्त्री) शोभायमान है॥ ३॥ मनमें खोजकर फिर और उपमा कहता हूँ कि मानो बुध और चन्द्रमाके बीचमें रोहिणी सोह रही है॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'आगें रामु लषनु बनें पाछें।'* इति।—आगे श्रीरामजी, बीचमें श्रीजानकीजी और इनके पीछे लक्ष्मणजी। तपस्वी वेषके जितने चिह्न चाहिये, वे सब बनाये हुए हैं। *'बिराजत'* पद देकर जनाया कि यह न समझो कि इस वेषमें अच्छे न लगते होंगे, वे इस वेषमें भी बहुत ही शोभित हैं, देदीप्यमान हैं। यहाँ लक्ष्मणजीके प्रति *'बनें'* पद दिया, श्रीरामजीके लिये नहीं, कारण यह कि राम परब्रह्म हैं, वे स्वतःसिद्ध हैं, एकरस हैं और जीव एकरस नहीं; अतएव इसका बनना यथार्थ ही है। (बैजनाथजी—वल्कल आदि धारण किये विराजमान हैं अर्थात् वेष देखनेसे महामुनीश्वररूप दर्शित होता है।)

'उभय बीच सिय सोहति कैसें……सोही' इति।

इसपर महानुभावोंने बहुत कुछ लिखा है। कुछ यहाँ दिया जाता है—

१—बाबा हरिहरप्रसादजी—श्रीराम-लक्ष्मणजीके बीच श्रीजानकीजी सुशोभित हैं। बीचमें वे किस प्रकार शोभा पा रही हैं? बस इस बीचमें शोभित होनेमात्रपर यहाँ उपमा दी गयी है। ब्रह्मके पीछे माया रहती है अर्थात् उसके अधीन है और मायाके पीछे जीव रहता है अर्थात् उसका अनुगामी है। यहाँ कुछ यह भाव नहीं है कि लक्ष्मणजी जीव हैं और जानकीजी माया हैं; क्योंकि श्रीजानकीजीको चिद्रूपा ब्रह्मरूपा रामोपनिषद्, तारसारोपनिषद् आदिमें लिखा है जिसके अनुसार राम-जानकी एक ही तत्त्व हैं। लक्ष्मणजीको विष्णुपुराणादिमें ईश्वर-कोटिमें लिखा है। पुनः एक ही पिण्डके विभागसे चारों भाई हुए भी हैं।

यहाँ वस्तुतः ऐसा हुआ भी है। सबसे पहले रामजी पिताकी आज्ञापालन करनेको चले, प्रथम इन्हींको आज्ञा हुई थी, सीताजी इनकी अनुगामिनी हुईं, इनको पतिकी आज्ञा मिल गयी तब इनको साथ देख लक्ष्मणजी सीताजीके अनुगामी बने; अर्थात् वे भी साथ चलनेकी आज्ञा लेने आये। तब माताने आज्ञा दी कि साथ जाओ। दूसरी और तीसरी उपमाओंमें भी केवल बीचमें रहनेकी ही शोभासे तात्पर्य है, उनके सम्बन्धसे तात्पर्य नहीं।— [मदन श्याम-वर्ण वैसे ही रामजी, वसन्त और लक्ष्मणजी स्वर्ण-वर्ण, रति और सीताजी गौर-वर्ण।]

२—बीचमें उनकी शोभा बड़ी अलौकिक है यह बात अलौकिक उपमाएँ देकर जनाया है। बाबू शिवनन्दन सहाय (आरा) लिखते हैं कि पूज्य पति और प्रिय देवरके मध्य सीताजी जा रही हैं। अहा! उसकी कैसी अलौकिक शोभा हो रही है—*'जनु मधु मदन मध्य रति लसई'*,*'जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही'* और *'ब्रह्म जीव बिच माया जैसें'*। वाह! क्या ही ललित उपमाएँ हैं!

३—बैजनाथजी—'यहाँ सुन्दरता, सम्बन्ध वा स्नेहसे प्रयोजन नहीं, गमन-समय केवल वेषमात्रका दृष्टान्त है। तपस्वी-वेषके बीचमें जानकीजी कैसी शोभित हैं; अर्थात् उदासी-वेषके बीचमें स्त्री कैसी दिखती है जैसे ब्रह्म और जीवके बीचमें माया। 'माया तीन प्रकारकी है—अविद्या, विद्या और आह्लादिनी। (क) जैसे अविद्या शुभ नहीं है, जीवको ब्रह्मसे पृथक् कराती है वैसे ही माधुर्यलीलामें प्राकृत दृष्टिसे देखनेसे उदासी-वेषके बीचमें स्त्री अशोभित है। (ख) विद्यामाया जीवको ब्रह्मसे मिलाती है, अतः वह ब्रह्म-जीवके बीचमें शोभित है। वैसे ही ऐश्वर्यलीलामें विवेक-दृष्टिसे देखनेसे ये तीनों लोकोद्धारहेतु कैसे चले हैं जैसे जीव भक्तिके पीछे लगा और भक्ति जीवको लिये ब्रह्मसे मिलाने जाती है। (ग) आह्लादिनी ब्रह्म-जीवके बीचमें अति शोभित है; क्योंकि जीवके अंदर ब्रह्मका प्रकाश करती है। इसी तरह ऐश्वर्य-माधुर्य-मिश्रित लीलामें स्नेहदृष्टिसे देखनेसे वही अगुण अव्यक्त अगम…ब्रह्म राजकुमार हो लोकोद्धारहेतु तापस-वेषसे विचरते गाँवको सुख दे रहे हैं जैसे प्रेमाभक्ति जीवको सहज स्नेहसे ब्रह्ममें लगाये है।' यह दृष्टान्त न भाया क्योंकि वेष अनित्य है, इसलिये दूसरीमें नित्य-स्वरूपकी उत्प्रेक्षा करते हैं। या यों कहिये कि प्रथम वेषको दृष्टिमात्रसे कहा, अब जो छबि मनमें बसती है उसे कहते हैं—लक्ष्मणजी नहीं हैं मानो वसंत हैं, रामजी नहीं हैं मानो कामदेव हैं और सीताजी नहीं हैं मानो रति हैं। तीनों मिलकर दर्शकोंके मनको हरण कर रहे हैं—यह उपमा शृंगाररसमें कही। (३) छबि भी देहहीका गुण है। इससे ये उपमाएँ भी न भायीं अतएव तीसरी उपमा, दया आदि गुणयुक्त कही। चन्द्रमाका पुत्र बृहस्पतिकी पत्नी तारासे है, रोहिणी-स्थान जानकीजी और चन्द्र-स्थानमें रामजी। चन्द्रमा और रोहिणी दोनों शुभ नक्षत्र वैसे ही ये दोनों लोक-सुखदाता और लक्ष्मणजीको सीताजी पुत्रवत् मानती हैं यद्यपि वे सुमित्राजीके पुत्र हैं।

४ पु० रा० कु० (१) 'मायाद्वारा ही ब्रह्म-जीवका विभाग है, जैसे दोनोंके बीचमें यहाँ सीताजी। अथवा, ब्रह्म-जीव-मायाकी उपमा इससे दी कि ब्रह्मकी दृष्टिमें माया नहीं और जीवकी दृष्टिमें माया है, वैसे ही यहाँ श्रीरामजी आगे हैं, उनकी दृष्टि सीताजीपर नहीं पड़ती और लक्ष्मणजी पीछे हैं इससे उनकी दृष्टि उनके चरणोंपर है। अथवा, ब्रह्म और जीवके बीचमें जो कुछ शोभा दिख रही है वह सब मायाकी ही शोभा है, वैसे ही इन दोनोंके बीचमें सीताजीकी ही छबि देख पड़ती है। (२) ब्रह्म, जीव, माया तीनों अकथनीय हैं, मन और वाणीमें नहीं आते, यह विचार करके फिरसे छबिकी उपमा देते हैं जो मनमें बसती है, मन जहाँ पहुँचता है और वाणीमें जो आ सकती है।

५—गीतावलीमें भी बीचकी छबिपर देखिये और मिलान कीजिये—*'बीच बधू बिधुबदनि बिराजति उपमा कहुँ कोउ है न मानहु रति रितुनाथ सहित मुनि बेष बनायो है मैन॥'* (२।२४) *'किधौं शृंगार सुखमा सुप्रेम मिलि चले जग चित-बित लैन। अद्भुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मगलोगन्हि सुख दैन॥'* (२।२४) *'मानहुँ बारिद बिधु बीच ललित-अति राजति तड़ित निज सहज बिछोही।'* (२।१९) *मुनिबेष किये किधौं ब्रह्म जीव माय हैं।'* (२।२८)

६ पु०रा०कु०—(१) तीन उपमाएँ तीन विचारसे दी गयीं। तृष्णाकी उत्पत्तिके विचारसे मायाकी उपमा दी, मोहित करनेमें रतिकी और पातिव्रत्यके लिये रोहिणीकी उपमा दी। अथवा (२) पहलेमें ज्ञान, दूसरेमें भक्ति और तीसरेमें कर्मकाण्ड कहा।

७ पाण्डेजी—तीन उपमाएँ इससे कहीं कि संसार मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारसे बना है। इनमेंसे अहंकार तीनोंके साथ रहता है। यह न हो तो वे तीनों जड़ हो जावें। पहली उपमा मनकी है, दूसरी बुद्धि और तीसरी चैतन्यकी। आशय यह कि संसार इन्हींसे है। अर्थ यह है कि पहली उपमामें ऐश्वर्य वर्णन किया, दूसरीमें शृंगार और तीसरीमें सम्बन्ध—बुध-स्थानमें लक्ष्मणजी, विधुमें रघुनाथजी और रोहिणी-स्थानमें जानकीजी हैं।

बाबा जयरामदास 'दीन' जी—यहाँ ***'सोहति'*** शब्द देकर ग्रन्थकारने यहाँ बन्धनकारिणी अविद्यामाया और भेदकारी विद्या माया, इन दोनों प्रकृतिरूपी यवनिकाओंसे विलक्षण भगवान्‌की नित्य आह्लादिनी शक्ति साक्षात् श्रीदेवीजीका लक्ष्य कराया है, जिसकी तारतम्यता दिव्य वैकुण्ठकी घटनाको सूचित कर रही है। प्राकृत माया तो जीव ब्रह्मके साक्षात्कारमें आवरणरूप बनी हुई है—***'मायाछन्न न देखिए जैसे निर्गुण ब्रह्म।'*** वह तो 'मोहति' है न कि 'सोहति'। फिर श्रीलखनलालजीके लिये, जिनको यहाँ जीवकी उपमा दी गयी है, श्रीसीताजी ध्येय (सेव्य) हैं और यह संसारी माया हेय (त्याज्य) है। इसलिये भी यहाँ मायासे 'संसारी माया' नहीं समझनी चाहिये। यह उपमा तो परमधामके उस मुख्य अवसरकी है जब यह जीव संसारी मायासे मुक्त होकर नित्यधामको प्राप्त हो। (श्रीसीताजी जीवोंके लिये सरकारसे किस तरह सिफारिश करती हैं यह बालकाण्ड १८ (७-८) में कुछ विस्तारसे लिखा गया है वहाँ देखिये)। उस समय जो शोभा ब्रह्म और जीवके बीचमें श्रीजीकी होती है वही शोभा यहाँ श्रीरघुनाथजी और श्रीलखनलालजीके बीचमें श्रीसीताजीकी है।—यह प्रथम उपमा ऐश्वर्यसूचक है जिसके द्वारा श्रीसरकारके परमधामकी तारतम्यताका लक्ष्य कर यह बतलाया गया है कि ये साक्षात् वैकुण्ठनाथ, लक्ष्मीदेवी और नित्यमुक्त जीव शेषजी हैं। (रामोपासक इन्हें साकेताधीश राम, सीता और लक्ष्मण कहेंगे। मा० सं०।)

दूसरी उपमा सौन्दर्यसूचक है। श्रीरामजीका सौन्दर्य मदन-सदृश और श्रीसीताजीका रतिके समान है। श्रीलक्ष्मणजी वसंतकी भाँति प्रफुल्लित हैं। इसमें सेव्य-सेवक भाव है। मदन-रतिका सेवक वसंत है; वैसे ही श्रीसीतारामजीके सेवक लक्ष्मणजी हैं, सदा प्रफुल्लित चित्तसे सेवामें तत्पर हैं।

तीसरी उपमा माधुर्यसूचक है। श्रीलक्ष्मणजी पुत्रस्थानीय हैं और श्रीसीतारामजी माता-पिता हैं। पुत्रपर माता-पिताका जैसा स्वाभाविक स्नेह होता है वैसा ही यहाँ श्रीसीतारामजीका लक्ष्मणजीके प्रति भाव है। इस उपमासे पारस्परिक प्रीति सूचित हो रही है।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—१ ***'उभय बीच—जैसे'*** इति। यह दृष्टान्त केवल शोभाके लिये है। रूपक नहीं है। यहाँ ***'माया'*** से विद्यामायाका ग्रहण होगा। मानसमें ह्लादिनी मायाका उल्लेख नहीं है। जैसे विद्यामायाके कर्तृत्वसे ही निर्गुण ब्रह्म सगुण होता है, वैसे ही श्रीरामजीकी शोभा श्रीसीताजीसे ही है। ***'सुंदरता कहँ सुंदर करई।'*** विद्यामाया जब सृष्टिकी रचना करती है तब अविनाशी चेतन, अमल, सहज, सुखरासी ईश्वर अंश जीव-भावको प्राप्त होता है। श्रीरामजीकी अनुगामिनी श्रीसीताजी मायाके समान हैं, जीवके समान लक्ष्मणजी दोनोंके अनुगामी हैं। और श्रीसीतालक्ष्मणजी दोनों श्रीरामानुगामी हैं यह सूचित किया।

एक श्यामवर्ण और दूसरे गौरवर्ण हैं। पर दोनोंके शरीरोंपर वीर्य, शौर्य, धैर्य आदि पौरुष लक्षण प्रकट हैं। दोनोंके बीचमें अति कोमल, अति सुन्दर और स्त्रियोंके समस्त शुभगुणोंसे सम्पन्न श्रीसीताजी हैं; इससे दोनोंके पौरुष-गुण और सीताजीके स्त्रीगुण विरोध (Contrast) के कारण अधिक प्रलोभनीय और आकर्षक हो गये हैं। इस दृष्टान्तमें मुख्यतः तीनोंके स्वरूपका परस्पर सम्बन्ध जनाया है, और यह भी सूचित किया है कि श्रीराम-लक्ष्मणजीकी कीर्तिकी ख्याति होनेमें श्रीसीताजी ही मूल कारण बनेंगी। यह दृष्टान्त सामान्य मनोहरताका दर्शक है, आगे विशेषतया दो दृष्टान्त देते हैं।

२-*'जनु मधु मदन······'* इति। *'सोह मदन मुनि बेष धरि रति रितुराज समेत।'* (दोहा १३३) में भी मदन और ऋतुराजके बीचमें ही रति है। मदन, ऋतुराज और रति क्रमसे श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी हैं। मदन ऋतुराजकी सहायतासे ही मुनियोंको मोहित करता है, उसका सामर्थ्य वसन्तसे ही बढ़ता है। वसन्त मदन और रति दोनोंका सेवक है। तीनोंकी मिलकर जो मनोहरता, चित्तमोहकता है उसका वर्णन इस उत्प्रेक्षासे किया है। उत्प्रेक्षाका कारण कि ये साक्षात् मदन आदि नहीं हैं। मदनादि सदोष हैं, ये निर्दोष। वैसे ही बुध-रोहिणी आदि भी सदोष हैं।

३-*'जनु बुध बिधु······'* इति। यह उत्प्रेक्षा सौन्दर्य और तेजके लिये है। इससे जनाया कि श्रीरामजी अधिक तेजस्वी, सुधाभक्तिरसोत्पादक इत्यादि हैं। बुध ग्रह है और चल है, रोहिणी तारका स्थिर है। बुध चन्द्रका पुत्र और रोहिणी चन्द्रकी स्त्री मानी जाती है। रोहिणी नक्षत्रका चन्द्रमा उच्च और अधिक तेजस्वी होता है। बुधका वर्ण पीत है। चन्द्रमामें श्यामता है। रोहिणी गौरवर्णा है।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'उपमाके वर्णनमें कविका प्रयोजन उसके धर्मसे रहता है, शेष बातें आनुषंगिक हैं। इस अर्धालीमें श्रीसीताजीकी शोभा कहते हैं। मायाका अर्थ यहाँ 'ज्ञान' (चित्-शक्ति) और 'कृपा' का है, यथा—'**माया दम्भे कृपायां च**', '**माया वयुनं ज्ञानम्**।' श्रीजानकीजी कृपामयी एवं चिद्रूपा हैं, यथा—'**कृपारूपिणि कल्याणि रामप्रेयसि जानकि। कारुण्यपूर्णनयने कृपादृष्ट्यावलोकय॥**' (सीतोपनिषद्) तथा '**हेमाभया द्विभुजया सर्वालंकारया चिता।**' (श्रीराम पू० ता०)। यहाँ नरनाट्यकी माधुर्य-दृष्टिसे उपमा कही गयी है, अन्यथा यह यथार्थ ही है कि श्रीरामजी ब्रह्म हैं, श्रीलक्ष्मणजी नित्य-शुद्ध जीव और श्रीजानकीजी ब्रह्मकी अभिन्न शक्ति चिद्रूपा एवं कृपारूपिणी हैं। ब्रह्मके पीछे कृपाशक्ति और उसके पीछे जीव, तब उस जीवका ब्रह्मके द्वारा उद्धार करानेसे इस मायाकी शोभा है। अलौकिक शोभाके लिये अलौकिक दृष्टान्त दिया। यह दृष्टान्त शान्तरसका है।

वि० त्रि०—*'बहुरि कहउँ······लसई'* इति। यहाँ रामजीकी उपमा कामसे, सीताजीकी रतिसे और लक्ष्मणजीकी वसन्तसे दी गयी है। उपमा देनेका क्रम यह है कि *'जिमि मधु मदन मध्य रति लसई'* आगे मधु है और पीछे मदन है, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि *'आगे राम लखन बनें पाछें। उभय बीच सिय सोहति।'* प्रश्न यह है कि वस्तुस्थितिसे विपरीत उपमाका क्रम क्यों दिया गया। यही नहीं, तीसरी उपमाके क्रममें भी ऐसी ही गड़बड़ी है, यथा—*'जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही।'* यहाँ भी लक्ष्मण-स्थानीय बुधको पहले और राम-स्थानीय बिधुको पीछे कह रहे हैं।

यहाँपर यह देखना चाहिये कि कवि उस समय कहाँपर हैं? निश्चय जिस रास्तेसे सरकार आ रहे हैं, उसी रास्तेपर हैं। दूरसे ही तीनों सरकारका दर्शन हुआ। पहले रामजी दिखायी पड़े, तब सीताजी और पीछे लक्ष्मणजी। अत: कविने कहा *'आगे राम लखन बनें पाछें। उभय मध्य सिय सोहति॥'* देखते-देखते तीनों मूर्तियाँ सामने आ गयीं और फिर आगे बढ़ चलीं। अब कवि पहले लक्ष्मणजीको देखते हैं, उसके बाद सीताजीको और उसके बाद रामजीको। इसलिये कहते हैं *'जनु मधु मदन मध्य रति लसई।'* तीनों मूर्तियाँ समीप हैं। कवि शोभा भलीभाँति देख रहे हैं, इसलिये मधु, रति और मदनसे उपमा दी। धीरे-धीरे मूर्तियाँ बड़ी दूर चली गयीं, पर कविको तो पहले लक्ष्मणजी बादको सीताजी और उनके भी बाद रामजी दिखायी देते हैं अत: दूरकी वस्तुसे उपमा देते हुए कहते हैं कि *'जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही।'*

बाबा जयरामदास 'दीनजी'—तीनों उपमाओंमें क्रमसे सुलभ, सुलभतर और सुलभतमका भाव दिखाया गया है। शेष-शेषि-भावकी निष्ठा ज्ञानादि साधनोंकी अपेक्षा सुलभ है, सेव्य-सेवक-भावकी निष्ठा उसकी अपेक्षा सुलभतर है और पिता-पुत्रकी निष्ठा तो सबकी अपेक्षा सुलभतम है। क्योंकि सेवकके लिये भी सचेत रहना आवश्यक है, सावधानीसे सेवा करनेसे ही स्वामी प्रसन्न होते हैं। परंतु छोटे बालकके लिये तो अनन्यगति ही पर्याप्त है, उसका पालन-पोषण, योग-क्षेमकी चिन्ता माता-पिता स्वयमेव करते हैं।

'गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥' इसी सुलभ, सुलभतर और सुलभतमके भावको दिखलानेके लिये ही प्रथम उपमाके पदमें '*सोहति*' शब्द आया है, जो नेत्र इन्द्रियका बाह्य विषय है। दूसरीमें ***'जस मन बसई'*** कहकर मनकी टटोल की गयी है और तीसरीमें ***'उपमा कहौं बहुरि जिय जोही'*** से यह लक्ष्य कराया गया है कि तीसरी बार भी हृदयमें ढूँढ़कर अर्थात् दिलकी टटोली हुई उपमा दी जा रही है। परंतु निष्ठाओंकी साधना अवस्थामें ही सुलभताके ये भेद रहते हैं; अन्तिम परिणाम तो ***'सर्ब भाव भजु कपट तजि'*** के द्वारा भगवत्-धाममें उसी अवस्थाकी प्राप्ति है, जिसका निर्देश प्रथम उपमा ***'ब्रह्म जीव बिच माया जैसें'*** में किया गया है। तात्पर्य कि जब कभी वह जीव उपर्युक्त निष्ठाओंद्वारा मुक्त होकर परधाममें भगवान्‌के द्वारा स्वीकृत होगा तो अम्बाजीके अनुरोधसे ही होगा।

इसी महान् अनुकम्पाकी आनन्दमयी अवस्था और ऐसे अखण्ड नित्य ऐश्वर्यकी प्रामाणिकता बतलानेके लिये इस चौपाईके शब्दोंको अक्षरशः दुहराकर गोस्वामीजीने बड़े ही महत्त्वका काम किया है। यही ***'उभय बीच······'*** इस अर्धालीके अरण्यकाण्डमें दुबारा आनेका कारण है।

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥ ५॥
सीय राम पद अंक बराएँ। लषन चलहिं मगु दाहिन लाएँ॥ ६॥
राम लषन सिय प्रीति सुहाई। बचन अगोचर किमि कहि जाई॥ ७॥
खग मृग मगन देखि छबि होहीं। लिए चोरि चित राम बटोहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—**दाहिन लाएँ**=प्रदक्षिणा करते हुए, बायें ओरसे चलते हुए जिसमें अंक अपने दाहिनी ओर पड़े, यथा—***'पंचबटी गोदहिं प्रनाम करि कुटी दाहिनी लाई।'*** **बराएँ**=बचाना, जान-बूझकर अलग करना। **अगोचर**=जिसका अनुभव इन्द्रियोंसे न हो।

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके चरण-चिह्नोंके बीच-बीचमें सीताजी अपना चरण रखती हैं और मार्गमें डरती हुई चलती हैं (कि कहीं स्वामीके चरण-चिह्नोंपर हमारा पैर न पड़ जाय)॥ ५॥ श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोनोंके चरणोंके चिह्नोंको बचाते हुए श्रीलक्ष्मणजी दक्षिणावर्त चल रहे हैं॥ ६॥ श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीकी सुन्दर प्रीति वचन-इन्द्रियका विषय नहीं है तब कैसे कही जा सके?॥ ७॥ पशु-पक्षी भी छबि देखकर मग्न हो जाते हैं (उसमें डूब जाते हैं) राम-बटोही (पथिक) ने उनके भी चित्त चुरा लिये हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'प्रभु पद रेख······'*** इति। स्वामीके चरणोंपर चरण न पड़े यह पतिव्रताके लक्षण हैं। पुनः, चरण-चिह्न मिट जानेसे दूसरोंको उनका दर्शन न होगा। देखिये भरतजी जहाँ-तहाँ चरण-चिह्न देख-देख प्रेममें मग्न हुए हैं। लक्ष्मणजी भी दोनोंके चरण-चिह्नोंको देखते जा रहे हैं। सीता-लक्ष्मण दोनोंकी धर्मभीरुता यहाँ व्यंजित है। मिलान कीजिये—***'रीति चलिबेकी चाहि प्रीति पहिचानि कै। आपनी आपनी कहैं प्रेम परबस अहैं मंजु मृदु बचन सनेह सुधा सानि कै॥ साँवरे कुँअर के चरन के बराइ चिन्ह बधू पग धरति कहा धौं जिय जानि कै। जुगल कमल पद अंक जोगवत जात गोरे गात कुँवर महिमा महा मानि कै। उनकी कहनि नीकी रहनि लखन सी की तीन की गहनि जे पथिक उर आनि कै। लोचन सजल तन पुलक मगन मन होत भूरि भाग जस तुलसी बखानि कै॥'*** (गी० २। ३१)।

टिप्पणी—२ ***'प्रीति सुहाई। बचन अगोचर'***—अर्थात् देखकर मन-ही-मन भाती है, कही नहीं जा सकती। मिलान कीजिये—***'इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि। कहि न जाइ मन भाव सुहावनि॥'*** (१। २१७। ३)

टिप्पणी—३ (क) ***'खग मृग मगन··'*** कहकर गीतावलीके—***'चितवत चले जात संग मधुप मृग बिहंग। बरनौं किमि तिन की दसहि निगम अगम प्रेम रसहि तुलसी मन बसन रँगे रुचिर रूप रंग॥'*** (२। १७) तथा ***'अवनि कुरंग बिहंग द्रुम डारन रूप निहारत पलक न टारत। मगन न डरत निरखि कर कमलनि सुभग सरासन सायक फेरत॥ अवलोकत मग लोग चहूँ दिसि मनहु चकोर चंद्रमहि घेरत। ते जन भूरि भाग भूतल***

पर तुलसी राम पथिक पद जे रत॥' (गी० २। १४) इन उद्धरणोंके भाव सूचित कर दिये हैं। (ख) ***'राम बटोही'*** से सूचित किया कि चले ही जा रहे हैं। पुनः बटोहीरूप शृंगाररहित है तो भी ऐसा चित्तको चुराये लेता है कि पशु-पक्षी भी शोभा देख जड़वत् खड़े ही रह जाते हैं, टाले नहीं टलते।

पाण्डेजी—***'बटोही'*** शब्द हलका है। इसमें शंका होती है कि अपने उपास्यके लिये यह पद कैसे दिया? इसका समाधान कई प्रकारसे करते हैं। १—पक्षी सब इनकी छबिको देख मोहित होते हैं और ये अपनी बाट चलनेसे प्रयोजन रख उनकी ओर नहीं देखते। पक्षियोंका मोह इतना बढ़ गया कि गोसाईंजी उनपर ममता करके रघुनाथजीको बटोही कहते हैं (इतना मोहाधिक्य कहना वास्तवमें छबिकी प्रशंसा है)। २—बटोही होकर जब इनकी छबि है तो शृंगारके समय कितनी अधिक न होगी। ३—बटोही चोर कहनेका भाव कि जो ग्राम-नगर आदिका चोर हो तो उसके हाथमें गयी हुई वस्तुका ठिकाना भी लग जाता और जो रमता बटोही चोर है, उसकी ली हुई वस्तु नहीं मिलती। ये उनके चित्तके ऐसे ही चोर हैं। ४—बटोही चोर वह हैं जो धतूरा आदि देकर अचेत करके चुरा लेते हैं; यह धतूरा उनकी छबि है। ये छबिरूपी धतूरा पान कराके सबके चित्तरूपी धनको चुरा लेते हैं। ५—खग आदि रामबटोहीकी छबिको देखकर चित्तमें चुराकर मग्न हो गये। मिलान कीजिये—***'सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि पानि सरासन सायक लै। बन खेलत राम फिरैं मृगया तुलसी छबि सो बरनै किमि कै। अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै। न डगैं न भगैं जिय जानि सिलीमुख-पंच धरे रतिनायक हैं॥'*** (क० २। २७)

दो०—जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय सिय समेत दोउ भाइ।
भवमगु अगमु अनंदु तेइ बिनु श्रम रहे सिराइ॥ १२३॥

अजहुँ जासु उर सपनेहु काऊ। बसहुँ लषनु सिय रामु बटाऊ॥ १॥
रामधाम पथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥ २॥

अर्थ—जिन-जिन लोगोंने प्यारे पथिक श्रीसीतासहित दोनों भाइयोंका दर्शन किया उन्होंने बिना परिश्रमके आनन्दसे ही कठिन भवमार्ग (संसारमें आवागमन) का अतिक्रमण कर लिया। अर्थात् उनको पुनः इस संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ेगा, वे भवपार हो गये॥ १२३॥ आज भी जिसके हृदयमें स्वप्नमें भी कभी श्रीलक्ष्मण-सीताराम बटोही (पथिक) बसें वही रामधामके उस मार्गको पा जावेंगे कि जिस मार्गको कोई-कोई मुनि पाते हैं॥ १-२॥

नोट—***'जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय……'*** इति। (क) पथिक किसीको प्यारे नहीं होते, क्योंकि आज क्षणभरका संग हुआ थोड़ी देरमें न जाने कहाँ गये; पर ये दोनों प्यारे हैं, अर्थात् इन्हें जो देख भर लेता है वह जन्मभर नहीं भूलता। (पां०)। वा, (ख) ***'पथिक प्रिय'***=इनको केवल पंथ प्रिय है जिसके लिये अवधका ऐश्वर्य छोड़ दिया। (पां०)। वा०, (ग) जो ***'पथिक प्रिय'*** हैं अर्थात् जिनको भवकी प्रीति बनी थी, जिन्हें संसारमें ममत्व था, इस आवागमनसे निर्वेद नहीं उपजा था इनके दर्शनसे वे भी मुक्त हो गये। (पां०)।

टिप्पणी—१(क) यहाँ भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंमें जीवोंका भवसे छुटकारा बताया। ***'जिन्ह देखे'*** अर्थात् भूतकालमें, त्रेतासे साक्षात् दर्शन किये। ***'अजहुँ'*** से वर्तमानकाल (कलियुगमें भी) और ***'काऊ'*** से भविष्यकाल सूचित किया। (ख) भवमग अगम है; क्योंकि ८४ लक्ष योनियाँ हैं जिनमें भ्रमना पड़ता है, न जाने कबतक भ्रमना पड़े। यथा—***'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥'*** (७। ४४। ४-५)। ऐसा भवमार्ग अनायास कट जाता है। ***'बिनु श्रम'*** अर्थात् योग-यज्ञ-तप-जप आदि साधनोंकी आवश्यकता नहीं। (ग)—***'अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ'*** अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शनकी भी आवश्यकता नहीं, इसका नियम नहीं; सोतेमें भी कभी ऐसा

दर्शन हो जाय तो काफी है। *'जासु'* से जनाया कि वर्ण, आश्रम, जाति, ऊँच-नीच; किसीका नियम नहीं, कोई भी हो। *'काऊ'* से जनाया कि कालका नियम नहीं है, कभी भी। *'बटाऊ'* से जनाया कि वही बटोहीरूप, रास्तेमें मुनिवेषसे चलते हुए समयका ध्यान जिसमें भूषण-वस्त्र-शृंगाररहित थे, उसी रूपके भी ध्यानसे रामधाम-पथ मिल जायगा, यह जरूरत नहीं कि शृंगारयुक्त स्वरूपका ही ध्यान हो। पुनः, *'बटाऊ'* पदसे जनाया कि देशका भी नियम नहीं। अर्थात् इससे बिना परिश्रम रामधाम-पद मिल जायगा, इसमें देश, काल और वर्ष किसीका भी नियम नहीं। यहाँ सपनेहुँ, बसहुँ और बटाऊ इन तीनोंका घनिष्ट सम्बन्ध होनेसे ये शब्द दिये गये। स्वप्न सोतेमें होते हैं, सोनेके लिये रात्रि बनायी गयी है और बटोही मार्ग चलनेवाले रातको अवश्य कहीं-न-कहीं वास करते हैं, अतएव *'बसहुँ'* के साथ *'बटाऊ'* और *'सपनेहु'* शब्द सार्थक हैं।

टिप्पणी २—*'जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई'* इति।—कोई मुनि जैसे नारद-सनकादि। ज्ञान, कर्म, उपासना तीन काण्ड वेदमें हैं। इनमेंसे ज्ञानी सायुज्य, कर्मकाण्डी सालोक्य और उपासक सामीप्य मुक्ति पाते हैं।

रा० प्र०—यह कविकी उक्ति है। रामधाम-पथ अर्थात् प्रेमाभक्ति वा प्रेम और भक्ति। पुनः, रामधाम अर्थात् साकेतलोक।

☞ नोट—यह इस प्रसंगकी फलश्रुति कही।

तब रघुबीर श्रमित सिय जानी। देखि निकट बटु सीतल पानी॥ ३॥
तहँ बसि कंद मूल फल खाई। प्रात नहाइ चले रघुराई॥ ४॥

अर्थ—रघुवीर श्रीरामजीने श्रीसीताजीको थकी जाना। तब सन्निकट ही बरगदका पेड़ और ठंढा जल देखकर, वहाँ कन्दमूल-फल खाकर (रात्रिमें) निवास करके प्रातःकाल स्नान करके श्रीरामचन्द्रजी चले॥ ३-४॥

पु० रा० कु०—'रघुवीर' का भाव कि ये वीर हैं, इनको थकावट कहाँ? ये सीताजीको थकी जानकर रुक गये। चलनेके सम्बन्धसे रघुराई कहा।

नोट—*'देखि निकट बटु……'* इति। सम्भव है कि यह वही श्याम वट हो जिसकी चर्चा भरद्वाजजीने श्रीरामजीसे की थी और कहा था कि श्रीसीताजी उस वृक्षको प्रणाम करें और आशीर्वाद माँगे और आपलोग वहाँ चाहें तो ठहर जाँय—'**तस्मिन् सीताञ्जलिं कृत्वा प्रयुञ्जीताशिषां क्रियाम्। समासाद्य च तं वृक्षं वसेद्वातिक्रमेत वा॥**' (वाल्मी० २। ५५। ७) यहाँसे प्रातःकाल ही वाल्मीकिजीके आश्रमको पधारे।

(मुख्य 'वाल्मीकि-मिलन' प्रकरण)

देखत बन सर सैल सुहाये। बालमीकि आश्रम प्रभु आये॥ ५॥
रामु दीख मुनिवास सुहावन। सुंदर गिरि काननु जलु पावन॥ ६॥
सरनि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मंजु मधुप रस भूले॥ ७॥
खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥ ८॥

अर्थ—सुन्दर वन, तालाब, पर्वत देखते हुए प्रभु वाल्मीकिजीके आश्रमपर आये॥ ५॥ श्रीरामचन्द्रजीने देखा कि—मुनिका निवास-स्थान सुन्दर है, वहाँ पर्वत और वन सुन्दर हैं और जल पवित्र है॥ ६॥ तालाबोंमें कमल और वनमें वृक्ष फूले हुए हैं, सुन्दर भौंरे मकरन्दरसमें मस्त भूले हुए सुन्दर गुंजार कर रहे हैं॥ ७॥ पक्षी-पशु बहुत हैं जो बड़ा कोलाहल कर रहे हैं और वैरसे बिलकुल रहित होकर आनन्दमनसे विचर रहे हैं॥ ८॥

नोट—१ (क) *'देखत बन सर सैल सुहाये।……'* इति।—इससे जनाया कि महर्षि वाल्मीकिजीके आश्रमके पास दूरतक सुन्दर वन, तालाब और पर्वत हैं और जहाँ उनका आश्रम है वहाँ भी सुन्दर पवित्र जलाशय, वन और पर्वत हैं। शैल-सर-विपिनके विभाग कहकर दिखाया कि तपस्याके लिये जो-जो सामग्री

चाहिये वह सब यहाँ है। भजन और तपके लिये घोर निर्जन वन, भोजनके लिये फल-फूल, पूजाके लिये फूल-पत्र और स्नान-पानके लिये स्वच्छ पवित्र जल, इन सबका सुपास था; इत्यादि। विशेष ***'निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा। भयउ रमापति पद अनुरागा॥'*** (१। १२५। ३) में देखिये। (ख) वाल्मीकिजी लिखते हैं कि श्रीरामजी श्रीजानकीजीको ये सब दिखाते गये हैं। इस तरह कि देखो, वसन्त-ऋतुमें पलाशने अपने पुष्पोंकी माला धारण कर रखी है……। देखो, ये बहेड़ेके वृक्ष हैं, ये बेलके हैं जो फल-फूलसे लदे हुए हैं। देखो, मधु-मक्षिकाओंके छत्ते कैसे बड़े-बड़े हैं, ये प्रत्येक वृक्षपर लटक रहे हैं। वनभूमि पुष्पोंसे भरी हुई बड़ी रमणीय है। पक्षिसमूह बोल रहे हैं। पर्वतके शिखर बड़े-बड़े हैं। यह पर्वत बड़ा ही मनोहर है, इसमें अनेक वृक्ष और लताएँ हैं, फल-मूल भी बहुत हैं। यहाँ हमलोगोंको आहार सुगमतासे मिलेगा।' (२। ५६ श्लोक ६—१५)।—यह सब ***'देखत बन……'*** से जना दिया (ग) ***'बालमीकि आश्रम प्रभु आए'*** इति। वाल्मीकिजी ज्ञानी मुनि हैं; इससे यहाँ 'प्रभु' का आना कहा, वे इनका स्वरूप जानते हैं, अज्ञानीकी दृष्टिमें 'नर' हैं, ज्ञानीकी दृष्टिमें प्रभु। (पु० रा० कु०) पुनः सर्वज्ञ होते हुए भी माधुर्यमें मुनिसे स्थान पूछते जा रहे हैं यह समझकर 'प्रभु' प्रथम ही कह दिया।

नोट—२ ***'मुनिबास सुहावन'***—१। १२५। २ देखिये। ***'सरनि सरोज'***—यहाँ सरोज शब्द देकर जनाया कि पूर्व जो ***'देखत बन सर सैल सुहाये'*** में सर कहे थे उनमें कमल न थे, वैशाखमासमें आश्रममण्डलके सरोंमें कमल फूले हैं यह मुनिकी विशेषता है। (प० प० प्र०)। ***'सुंदर गिरि……'*** दोहा तक ***'सुहावन मुनिबास'*** की ही व्याख्या है। पर्वतमें झरने आदिका होना उसकी सुहावनता है। वनकी शोभा फूल-फल-लताओंसे सम्पन्न होनेमें है, पवित्र जलसे सरकी शोभा है। ***'सरनि सरोज……'*** आदिसे आश्रमको परम रमणीय जनाया।

नोट—३ ***'खग मृग बिपुल……'*** इति। (क) ***'खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं'*** कहकर वनको सफल कहा। जिस वनमें फलवाले वृक्ष नहीं रहते, उसमें खग-मृग भी बसेरा नहीं करते, वह झन्झन् किया करता है। इस वनमें तो सफल वृक्षोंकी बहुतायत है, इसलिये खग-मृग आनन्दसे कोलाहल कर रहे हैं। ***'बिरहित बैर मुदित मन चरहीं'*** से भगवान् वाल्मीकिकी अहिंसा-प्रतिष्ठा कही, यथा—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।'** (यो० सू०) जिसमें अहिंसा प्रतिष्ठित होता है, उसके सान्निध्यमें जीव वैर त्याग करते हैं। कुछ खगमृगोंमें जातिगत वैर होता है, जैसे काक और उलूकमें तथा महिष और अश्वमें, सो इन सबोंने भी वैरका परित्याग किया। (वि० त्रि०) (ख) 'हिंसा' के मुख्य तीन प्रकार हैं—कृता, कारिता, अनुमोदिता। इनमेंसे प्रत्येकके तीन-तीन भेद हैं—लोभजनित, क्रोधजनित और धर्मबुद्धिजनित (शास्त्रीय हिंसा)। इनमेंसे जहाँ एक प्रकारकी भी हिंसा नहीं है वहीं सहज वैरयुक्त जीव भी ***'बिरहित बैर मुदित बन चरहीं।'***(प० प० प्र०) ***'सहज बयरु सब जीवन्ह त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा॥'*** (१। ६६। २) यह तो जगदम्बा श्रीपार्वतीजीका प्रभाव था। श्रीरामराज्यमें भी ***'खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परसपर प्रीति बढ़ाई॥'*** (७। २३। २)। पर यह श्रीसीता-रामजीका प्रभाव था। मुनियोंमेंसे केवल महर्षि वाल्मीकिजीके आश्रममें यह पाया जाता है; यह मुनिके तप और भजनका प्रताप है।

दो०—सुचि सुंदर आश्रमु निरखि हरषे राजिवनैन।
सुनि रघुबर आगमनु मुनि आगे आएउ लेन॥ १२४॥

अर्थ—पवित्र और सुन्दर आश्रम देखकर अरुण कमलके समान नेत्रवाले श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्न हुए। रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीका आगमन सुनकर मुनि उन्हें लेनेके लिये अर्थात् स्वागतमें आगे आये॥ १२४॥

नोट—१ ***'सुचि सुंदर'*** इति। ***'सुंदर गिरि काननु जल पावन'*** से 'शुचि' कहा। ***'सरनि सरोज बिपिन बन फूले'*** इत्यादिसे 'सुन्दर' कहा। ऐसा सुन्दर आश्रम है कि राजीवनयनके नयनोंको भी आनन्द मिला। (वि० त्रि०) पुनः, इन्द्रियाँ स्वभावसे ही बहिर्मुख, विषयसौन्दर्यप्रिय हैं। अतः यदि सौन्दर्यके साथ शुचिता

न होगी तो मानस रोगोंकी वृद्धि ही होगी। अतः शुचि और सुन्दर दोनों कहा। पर यह दुर्लभ है जैसे विद्या और विनय, तपश्चर्या और अक्रोधता, केवल ज्ञान और निरहंकारता, प्रभुता और मदहीनता, इत्यादि। अपने परम भक्तका प्रभाव देखकर हर्ष (आनन्द) हुआ। (प० प० प्र०) पुनः कमलवत् बड़े और प्रफुल्लित नेत्र हैं जो बड़े दूरदर्शी हैं, अतः *'राजिवनैन'* कहा। (पु० रा० कु०) आश्रम सुहावन और पवित्र है, अतएव हर्ष हुआ। आश्रम पवित्र और सुन्दर होता है तो वहाँ सभीका मन लगता है और चित्त प्रसन्न होता है, यथा— *'भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिबर मन भावन॥'* (१। ४४। ६) *'आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥'* (१।१२५।२) *'बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी।'* (१।२०६।२) *'देखि परम पावन तव आश्रम। गएउ मोह संसय नाना भ्रम॥'* (७। ६४। २) विशेष बा० ४४ (६) में देखिये।

नोट—२ (क) *'सुनि रघुबर आगमनु'*-शिष्यों या कोलकिरातों आदिसे सुना होगा। मुनि त्रिकालज्ञ हैं। यह जानते हैं कि श्रीरामजी यहाँ अब आनेको हैं अतः किसी शिष्य आदिको सूचना देनेके लिये पहलेसे ही नियुक्त कर दिया होगा यह सम्भव है। *'रघुबर'* शब्दसे प्रथम ही सूचित कर दिया कि मुनि इनसे माधुर्यभावसे ही व्यवहार करेंगे। (प० प० प्र०) भरद्वाजके मिलनमें *'सुनि'* नहीं है। वि० त्रि० जी कहते हैं कि यहाँ घोर वन है। कोई आता-जाता नहीं। यहाँ किसीका आना, विशेषतः श्रीरामचन्द्रजीका आना घटनाविशेष है, अतः मुनिजीको पहले ही समाचार मिल गये। भरद्वाजजीका आश्रम प्रयागराजमें था, जहाँ लोग आया-जाया करते हैं, अतः किसीका आना कोई नयी बात नहीं थी। अतः उन्हें रामजीके आनेका समाचार नहीं मिला, इसलिये ये स्वागतके लिये आगे लेने नहीं आये। (वि० त्रि०) (ख)—मुनिने इनकी अगवानी की इससे रघुनाथजीपर उनका अपार प्रेम प्रकट होता है। इसी तरह और भी बड़े-बड़े महात्मा अत्रि आदि लेने गये थे, जिनको इनके आगमनकी खबर मिली, यथा—*'अत्रिके आश्रम जब प्रभु गएऊ। सुनत महामुनि हरषित भएऊ॥ पुलकित गात अत्रि उठि धाए।'*, *'प्रभु आगमनु श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा।''''निज आश्रम प्रभु आनि करि॥'* (३।१०) (सुतीक्ष्णजी) और *'सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए। हरि बिलोकि लोचन जल छाए॥'* (३।१२।९) (पं० रा० कु०) पुनः अगवानीका कारण यह है कि *'मुनिबर अतिथि प्रानप्रिय पाए।'* यहाँ अतिथिसत्कारकी रीति बतायी। (प० प० प्र०)

मुनि कहुँ राम दंडवत कीन्हा। आसिरबादु बिप्रबर दीन्हा॥ १॥
देखि राम छबि नयन जुड़ाने। करि सनमानु आश्रमहिं आने॥ २॥
मुनिबर अतिथि प्रानप्रिय पाए। कंद मूल फल मधुर मँगाए॥ ३॥
सिय सौमित्रि राम फल खाए। तब मुनि* आश्रम दिये सुहाए॥ ४॥

शब्दार्थ—'**अतिथि**'='**न विद्यते तिथिः यस्य स अतिथिः**'=जो अज्ञात कभी आ जाय। वा, '**अतति सातत्येन गच्छति न तिष्ठति**'=जो चलता रहे एक स्थानपर जमकर न रहे। (वि० टी०)=मेहमान।

अर्थ—मुनिको श्रीरामचन्द्रजीने दण्डवत् किया; विप्रश्रेष्ठ वाल्मीकिजीने आशीर्वाद दिया॥ १॥ श्रीरामचन्द्रजीकी छबि देखकर उनके नेत्र शीतल हुए। आदर-सत्कार करके (वे उन्हें) आश्रममें लाये॥ २॥ मुनिश्रेष्ठने प्राणप्रिय अतिथि (पाहुने) पाये। मीठे कन्द-मूलफल मँगाये॥ ३॥ श्रीसीताजी, लक्ष्मणजी और श्रीरामजीने फल खाये। तब मुनिने सुन्दर आसन दिये॥ ४॥

नोट—१ *'मुनि कहुँ राम दंडवत कीन्हा'* इति। ये मुनि हैं, अतः धर्मस्थापन, हेतु इनको प्रणाम करना कहा, यद्यपि ये प्रभुको ब्रह्म जानते हैं। रामजी प्रधान हैं इससे यहाँ बराबर केवल इन्हींका नाम देते आये हैं, यथा—*'राम दीख मुनिबास'''''*, *'सुनि रघुबर आगमन'*। तथा यहाँ *'मुनि कहँ राम'''''* कहकर जनाया

* आश्रम—राजापुर, रा० प०; पं०, गी० प्रे०। आसन-प्रायः अन्य सभीमें।

कि सभीने प्रणाम किया, केवल प्रधानका नाम दिया गया। दण्डवत् अर्थात् साष्टांग प्रणाम। पुनः, (ख) इस दण्डवत् आदिमें वात्सल्यका माधुर्य ही है। मुनिश्रेष्ठने प्रणाम आदि कुछ नहीं किया; प्रभु, नाथ आदि सम्बोधन भी नहीं किया। भगवान् भी इस वात्सल्यभावको पुष्ट करते हुए 'मुनिनाथ, मुनिराज, प्रभु' इत्यादि शब्दोंसे उनका आदर करते हैं। (प० प० प्र०)

नोट—२—*'आसिरबाद बिप्रबर दीन्हा'*। इति। *'बिप्रबर'* से जनाया कि विप्रोंमें जो गुण होने चाहिये जैसे कि अत्यन्त कृपा, अरोषता, धर्ममें अचलता, होम, यज्ञ, तप, विषयरससे रूखे इत्यादि वे सब इनमें परमोच्च कोटिके थे। यथा—*'चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी', 'तजिय बिप्रबर रोष', 'धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई', 'करिहहि बिप्र होम मख सेवा', 'तपबल बिप्र सदा बरिआरा', सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धर्म विषय लय लीना॥'* शम, दम, तप, शौच, शान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य ये नवों गुण वाल्मीकिजीमें 'वर' थे, अतः विप्रवर कहा। (प० प० प्र०) पुनः प्रचेतस् ऋषि वा ब्रह्माके दसवें पुत्र हैं इससे, वा भृगुवंशी होनेसे 'विप्रवर' कहा।

नोट—३—*'देखि राम छबि नयन जुड़ाने।······'* इति। (क) भाव कि अभीतक संतप्त थे, अब शीतल हुए। पुरुषोत्तम रामकुमारजी कहते हैं कि 'अभीतक निर्गुण स्वरूपका ध्यान करते थे अथवा श्रुतियोंको अवलोकन किये मार्ग देखते-देखते नेत्र संतप्त थे, अब उस रूपको देखा तब नेत्र शीतल हुए।' जान पड़ता है कि इनको दर्शन-लालसा बहुत थी, इसीसे नेत्र संतप्त थे; यह बात बारंबार निहारनेसे प्रकट होती है—*'देखि राम छबि······'* पुनः, *'मंगल मूरति नयन निहारी।'* इसीसे नेत्रोंका शीतल होना कहा। (ख) इससे प्रतीत होता है कि ये *'लोचन चातक जिन्ह करि राखें। रहहिं दरस जलधर अभिलाषें॥······रूपबिंदु जल होहिं सुखारे'* इस दूसरे प्रकारके भक्त हैं। रामदर्शनसे जहाँ-जहाँ आनन्दकी प्राप्ति हुई है वहाँ-वहाँ 'राम' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। श्रीभरद्वाज, अत्रि, शरभंग आदिके मिलन-प्रसंग देखिये। (प० प० प्र०) (ग) *'करि सनमान आश्रमहि आने'*— सम्मान किस भावसे किया यह आगेके *'अतिथि प्रानप्रिय'* से सूचित किया है। अन्यत्र जहाँ वात्सल्य या माधुर्यभावसे मिलन है वहाँ हृदय लगाना, कुशल प्रश्न करना, आशीर्वाद देना यह क्रम पाया जाता है, पर यहाँ हृदयसे लगाना और कुशल-प्रश्न नहीं है। इससे अनुमान होता है कि रूपविन्दुजल-पान करनेमें मुनि देहभान भूल गये। शरभंग-मिलन-प्रसंगमें कुशल-प्रश्नादि तथा कन्द-मूल-फलादिका देना इत्यादि कोई भी लौकिक व्यवहार नहीं हुए हैं। प्रेममें नेम-लोकव्यवहार नहीं रहता। (प० प० प्र०)

नोट—४ *'अतिथि प्रानप्रिय पाए'*—भाव कि ये तो प्राणिमात्रको प्राणप्रिय हैं पर आज पाहुने होकर आये हैं। विशेष भाव बालकाण्ड *'अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारिके'* दोहा ३२ (८) में देखिये।

नोट—५ *'कंद मूल फल मधुर मँगाए।······'* इति। (क) कोई-कोई व्यास अर्थ करते हैं कि श्रीरामजीने केवल फल खाये, कन्द-मूल नहीं; पर इस अर्थसे मुनिका अनादर सूचित होगा। ऐसा अर्थ करके वे लोग दिखाते हैं कि श्रीवाल्मीकिजीमें श्रीरामजीका प्रेम भरद्वाज आदिसे कम था। पर यह मत उचित नहीं है। फल-मूलादिका मँगाना तो कहा, पर उनका अर्पण करना न लिखा। [जैसा अन्यत्र लिखा है—*'कंद मूल फल अंकुर नीके। दिए आनि मुनि मनहु अमी के॥ सीय लषन जन सहित सुहाए। अति रुचि राम मूल फल खाए॥'* (१०७।२-३) *'दिए मूल फल प्रभु मन भाए।'* (३। ३। ८) (अत्रिजी), *'कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।'* (३।३४) दोहा (१०७(३) में 'मूल-फल' में भी देखिये।] मँगाना कहकर केवल *'फल खाए'* लिखनेसे पाया जाता है कि वाल्मीकिजीके आश्रममें पहुँचनेपर मुनिके निहारनेकी बात लिखते हुए कवि स्वयं भी उस दशामें मग्न हो गये और *'दिए'* लिखना भूल गये (अन्तमें जो खाया वही लिख दिया)। (प० प० प्र०)

नोट—६ *'तब मुनि आसन दिए सुहाए।······'* इति। किसी-किसीने चरणोंका क्रम यहाँ बदल दिया है। सम्भवतः इस विचारसे कि आसन पहले देकर तब भोजन कराना चाहिये, न कि भोजनके पीछे आसन। ☞ यहाँ कन्द-मूल-फल-भोजनके पश्चात् आसन देना पाया जाता है और भरद्वाजजीके आश्रमपर

प्रथम आसनोपचार है तब भोजन है। इसके कारण कई हो सकते हैं—(क) वाल्मीकि मुनिका वात्सल्यभाव है। ये सीताजीको अपनी पुत्री मानते हैं। वात्सल्यके कारण पहले खिलानेकी ही चाह रहती है। (ख) भारी आनन्दमें मग्न हैं, अतएव आसन देना भूल गये थे। (ग) भरद्वाजजीके यहाँ इनका अर्घ्यपाद्यादि पूजन हुआ, अतः वहाँ षोडशोपचार रीतिका निर्वाह है और यहाँ 'पूजा' शब्द नहीं है; क्योंकि वात्सल्यभाव है। यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि इस प्रसंगभरमें मुनिवर वाल्मीकिजीने 'रघुबर' और 'राम' छोड़ 'प्रभु' नाथ वा पर्यायवाची शब्द नहीं कहे। जनकमहाराजने भी इनकी स्तुति करते हुए भी इन शब्दोंका प्रयोग नहीं किया था (बा० ३४१) (प्र० सं०) ☞ प्रथम संस्करणमें हमने 'आसन' पाठ दिया था जो अयोध्याके महात्माओं तथा पं० रामकुमारजीकी पोथियोंका पाठ है। राजापुरका पाठ दो प्रतियोंमें और भी है। अतः प्राचीनतम समझकर उसीको इस संस्करणमें दिया है। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीने 'आसन' पाठके भावका समर्थन इस तरह किया है कि मुनिजीके यहाँ पहुँचते-पहुँचते सरकारको दोपहर हो गया। मुनिजी भी बलिवैश्वदेव करके अतिथिकी प्रतीक्षा कर रहे थे, अतः कहते हैं *'मुनिवर अतिथि प्रानप्रिय पाए।'* सरकारके आते ही पीढ़ेपर बिठाकर भोजन कराया। भोजनके लिये पीढ़ा ही प्रशस्त आसन है। सरकारको भोजन करनेके बाद सुन्दर आसन बैठनेके लिये दिया।

श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजी लिखते हैं कि—'यहाँ' 'आश्रम' शब्दका अर्थ स्थान है। आगे चलकर वाल्मीकिजीने स्थानके ही अर्थमें 'आश्रम' शब्दका प्रयोग किया है—*'कह मुनि सुनहु भानुकुलनायक। आश्रम कहउँ समय सुखदायक॥'* 'आसन' शब्द भी ठहरने या विश्राम करनेके स्थानके अर्थमें ही यहाँ बैठ सकता है, 'बैठने' के अर्थमें नहीं; क्योंकि भोजन करानेके पश्चात् बैठनेको आसन देना स्पष्ट ही अप्रासंगिक है। बैठनेके आसनका तो भोजन करानेमें आप ही अध्याहार हो गया है। 'आसन' शब्द विश्राम करने या ठहरनेके अर्थमें लोकप्रचलित भी है (सबके आसन लग गये=सब ठहर गये)। किंतु इस अर्थकी ओर ध्यान न देकर कुछ टीकाकारोंने चौपाइयोंका क्रम ही बदल दिया है। उन्होंने 'आसन' का अर्थ बैठनेका आसन ही समझा है, अतएव उनके मनमें शंका हुई कि फल खानेके बाद मुनिने श्रीराम आदिको बैठनेके लिये आसन कैसे दिये। चौपाईका भाव यह समझना चाहिये कि पहले मुनिने फल मँगवाये। भगवान्‌ने सीताजी और लक्ष्मणजीसहित फलोंका भोग लगाया (अवश्य ही बैठकर)। तब मुनिनें उन्हें थके हुए जानकर सुन्दर-सुन्दर स्थान आराम करनेके लिये बता दिये। राजपूतानेमें 'आश्रम' या 'आसराम' शब्द मकानके अंदरकी कोठरियोंके लिये भी बरता जाता है। यह भी हो सकता है कि मुनिने उनको अलग-अलग सुन्दर कुटियाएँ आरामके लिये बता दी हों। अतः यहाँपर *'आश्रम'* यह प्राचीन पाठ ही उपयुक्त जान पड़ता है।'

प० प० प्र० स्वामीजी भी 'आश्रम' पाठको उत्तम समझते हैं। वे कहते हैं कि उनको विश्राम करनेके लिये तथा उनसे एकान्तमें बातें करनेके विचारसे दो कुटियाँ दीं। *'दिए'* बहुवचन है। यहाँ दो कुटियाँ देकर जनाया कि आगे आपको कुटियाँ बनाना आवश्यक है—*'एक ललित लघु एक बिसाला'*। (प० प० प्र०) मेरी समझमें *'आश्रम'* पाठमें एक शंका यह अवश्य उपस्थित होती है कि विश्रामके लिये कुटियाँ अलग दीं तो उनको विश्राम करने देना पाया नहीं जाता। मुनि उनके साथ ही लगे हैं, मंगलमूर्तिका दर्शन कर रहे हैं, आश्रममें मुनिके सामने लेट कब सकते थे? आश्रम मिलते ही तो आगे कहते हैं *'तब कर कमल जोरि रघुराई। बोले बचन……'*।

बालमीकि मन आनंदु भारी। मंगल मूरति नयन निहारी॥ ५॥
तब कर कमल जोरि रघुराई। बोले बचन श्रवन सुखदाई॥ ६॥
तुम्ह त्रिकालदरसी मुनिनाथा। बिस्व बदर जिमि तुम्हरें हाथा॥ ७॥
अस कहि प्रभु सब कथा बखानी। जेहि जेहि भाँति दीन्ह बनु रानी॥ ८॥

अर्थ—मंगलमूर्तिको नेत्रोंसे देखकर वाल्मीकिजीके मनमें भारी आनन्द हुआ॥ ५॥ तब श्रीरामचन्द्रजी कमल-सरीखे हाथोंको जोड़कर कानोंको सुख देनेवाले वचन बोले॥ ६॥ हे मुनिनाथ! आप त्रिकालज्ञ हैं (भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंकी बातें आपको देख पड़ती हैं), सारा जगत् आपको अपनी हथेलीपर रखे हुए बेरके समान है॥ ७॥ ऐसा कहकर प्रभुने सब कथा सुनायी; जिस-जिस तरह रानी (कैकेयी) ने वनवास-दिया॥ ८॥

नोट—१ ***'बालमीकि मन आनंदु भारी।'*****……** इति। भाव कि जिस ब्रह्मानन्दसुखका अनुभव किया करते थे, जिसमें मग्न रहा करते थे उससे अधिक आनन्द प्राप्त हो रहा है। क्योंकि जिसका पहले अनुभव वा ध्यान किया करते थे वह अब साक्षात् सामने है। अथवा, पहले ब्रह्मानन्द था अब ब्रह्मानन्द-राशि मिल गयी, जैसा भरद्वाजजीके प्रसंगमें कहा है—***'मुनि मन मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानंदरासि जनु पाई॥'*** (१०६।८) और वाल्मीकिजी उनके गुरु हैं; अतएव वैसा ही यहाँ समझिये। पुनः जैसा जनकजी महाराजने अपने विषयमें कहा है वही ***'आनंदु भारी'*** और उसका कारण यहाँ भी है—***'सहज बिराग रूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥……इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥'*** (१।२१६) क्योंकि इनको भी भारी आनन्द इस मंगलमूर्तिके दर्शनोंसे ही हो रहा है। हाँ, इतना भेद अवश्य है कि श्रीजनक महाराज अभी जानते नहीं हैं कि ये ब्रह्म हैं और वाल्मीकिजी जानते हैं।

नोट—२ (क) यहाँ ***'मन आनंदु भारी'*** कार्यका उल्लेख प्रथम करके तब उसके कारण ***'मंगल मूरति नयन निहारी'*** का उल्लेख करके जनाया कि भारी आनन्दका यह एक ही कारण नहीं है, किंतु और भी कारण हैं जो पिछले चरणोंमें लिख आये। इसीसे ***'बालमीकि मन आनंदु भारी'*** को दोनोंके बीचमें रखा। (प० प० प्र०) (ख) ***'भारी'*** का भाव कि ***'देखि राम छबि नयन जुड़ाने'*** तब आनन्द हुआ और अब ***'निहारा'*** तब भारी आनन्द हुआ। फलाहार स्वीकार करने, स्वतन्त्र आश्रममें पधारनेसे आनन्दकी वृद्धि होती गयी……। (प० प० प्र०) (ग) ***'मंगल मूरति',*** यथा—***'मंगल भवन', 'मूरति मंगल मोद निधान की', 'मंगलायतनं हरिः।' 'देखि राम मुनि नयन जुड़ाने'*** से उपक्रम और ***'आनंदु भारी'*** में उपसंहार करके जनाया कि यहाँ आतिथ्य-सत्कारका समारम्भ पूरा हुआ, अब ***'तब'*** से अन्य प्रसंग चलेगा। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१ ***'बोले बचन श्रवन सुखदाई'*** इति। प्रथम नेत्रोंको सुख दिया, फिर मनको, अब तीसरी इन्द्रिय श्रवणको सुख देनेके लिये वचन बोले। वे वचन आगे दिये हैं। हाथ जोड़कर बोले, क्योंकि ऐश्वर्यको अपनी ओरसे अति गुप्त रखते हैं, दूसरे मुनिका वात्सल्यभाव है, तीसरे हाथ जोड़कर भजनका प्रभाव दिखाया कि हम भक्तोंके कैसे अधीन रहते हैं, यथा—***'जासु त्रास डर कहुँ डर होई। भजन प्रभाउ देखावत सोई॥'*** (१। २२५) [पुनः, हाथ जोड़नेसे सूचित हुआ कि कुछ विनय करेंगे। (प० प० प्र०) इससे बहुत नम्रता सूचित की। श्रवण-सुखद क्योंकि प्रशंसा सबको प्यारी होती है। (रा० प्र०) पर इस भावसे मुनिपर लांछन लगेगा कि वे संत नहीं हैं। प्रशंसाका प्रिय लगना उसका विरोधी है। संत स्वभाव है कि ***'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।'*** (प० प० प्र०)]

टिप्पणी-२—***'तुम्ह त्रिकालदरसी…हाथा'*** इति। (क) ***बदर***=बेर, यहाँ झाड़ीका बेर समझो क्योंकि पृथ्वी उसीके समान गोल है। त्रिकालज्ञ कहकर अब बताते हैं कि किस प्रकार संसारभरका सब हाल आपको मालूम रहता है जैसे हथेलीपर रखा हुआ बेर निरावरण देख पड़ता है वैसे ही तीनों कालकी बातें आप निरावरण देखते हैं। यह मुनिका ऐश्वर्य कहकर जनाया कि आप सब जानते ही हैं तथापि लोक-व्यवहारके अनुसार भक्तिवश आपसे कहता हूँ—***'तदपि भगति बस बिनवउँ स्वामी।'*** यह कहकर तब कथा आदिसे अन्ततक कह सुनायी।

[(ख) ***'जानहिं तीनि काल निज ज्ञाना। करतल गत आमलक समाना॥'*** जो बालकाण्ड दो० ३० (७) में कहा गया है उसमें आमलककी उपमा निज ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञानके लिये है जो सदा एकरस, निर्दोष, भवरोग-नाशक इत्यादि है। श्रीरामजी तो आत्मज्ञानके विषयमें कुछ पूछना चाहते नहीं, वे तो विश्वके सम्बन्धमें पूछना चाहते हैं और विश्व बदरके समान सुन्दर होनेपर भी दोषसे भरा है। अतः

विश्वके ज्ञानके लिये बदरकी उपमा ही यथार्थ है, आमलककी उपमा अनुचित होती। विश्वके ज्ञानके लिये यह उपमा इसी काण्डमें आगे आयी है—*'जिन्हहिं बिस्व कर बदर समाना।'* (१८२।१) यह वसिष्ठजीके सम्बन्धमें भरतजीका वाक्य है। (प० प० प्र०) (ग) श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सरकार वाल्मीकिजीसे कहते हैं कि आप त्रिकालदर्शी हैं और सर्वदर्शी हैं यह विश्व आपके हाथमें बेरकी भाँति है; उसे जिधरसे चाहें उधरसे अनायास सब कुछ देख सकते हैं। भाव यह है कि आपसे कोई बात छिपी नहीं है। मेरे वन आनेका कारण भी आपसे छिपा नहीं है। त्रिकालज्ञको जगत्का सब हाल मालूम करनेमें आयास नहीं होता, उनकी अबाधित दृष्टि भूत, भविष्य, वर्तमान सब कुछ देखती है, इसीलिये कहा जाता है कि विश्व आपके हाथमें बेर या आँवलेके समान है। ज्ञानीकी दृष्टिमें विश्व अपथ्य है अतः उसके लिये बेरकी उपमा है, और भक्तको विश्व पथ्य है; अतः उसके लिये आमलककी उपमा दी जाती है। वाल्मीकिजी ज्ञानी हैं; अतः कवि कहते हैं *'बिस्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा'* परन्तु रामचरितके वक्ता-श्रोता महात्मा भक्त हैं, अतः उनके लिये आमलक कहा गया, यथा—*'ते श्रोता बक्ता सम सीला। जानहि तीन काल निज ज्ञाना। करतल गत आमलक समाना॥'* कहा भी है कि '**धात्रीफलं सदा पथ्यमपथ्यं बदरीफलम्**।']

टिप्पणी-३—*'कथा बखानी'* से जनाया कि आनन्दपूर्वक कहा, कैकेयीके कर्तव्यपर दुःख मानकर नहीं कहा, किंतु कथा बखानने योग्य समझकर कही। इससे विस्तारसे कहनेका प्रयोजन था क्योंकि इन्हें रामायण बनाना है। बखानना मानसमें 'विस्तारसे कहना' अर्थमें ही आया है। प्रभुने स्वयं क्यों कहा इसपर पूर्व दोहा ५४ में लिखा जा चुका है।

प० प० प्र०—*'दीन्ह बन रानी'* इति। *'दीन्ह बन'* और *'रानी दीन्ह'* शब्दोंसे वनका राज्य देना जनाया,जैसे कौसल्या मातासे *'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू'* कहा था, वैसे ही यहाँ मुनिसे कहा *'दीन्ह बन (राजु) रानी।'* यद्यपि कौसल्याजीसे ऐसा कहनेमें भाव यह भी था कि उनके हृदयमें कैकेयीजीके प्रति तिरस्कारका भाव उत्पन्न न हो। कैकेयी शब्दमें कुटिलता आदिका भाव आरोपित होता है। *'रानी'* शब्दसे उनको निर्दोष ठहराया।

दो०—तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ॥ १२५॥

अर्थ—पिताकी आज्ञाका पालन, उसपर भी माताका भला और भरत ऐसा भाई राजा और मुझको, हे प्रभो! आपका दर्शन, यह सब मेरे पुण्योंका प्रभाव है (अर्थात् इनमें कैकेयीका दोष नहीं)॥ १२५॥

टिप्पणी—१ *'सबु मम पुन्य प्रभाउ'* अर्थात् चारों बातें मेरे पुण्यके प्रभावसे हुईं। पुत्रको सभी चाहते हैं कि माता-पिताकी आज्ञा पाले, भाईका हित करे, मुनियोंका दर्शन करे, पर ये सब बातें भाग्यसे युक्त होनेपर ही बनती हैं। पुनः, २—यहाँ चारों पदार्थोंकी प्राप्ति दिखायी—*'तात बचन'* से 'धर्म', *'मातुहित'* से अर्थ, *'भाइ भरत अस राउ'* से काम और आपका दर्शन मोक्ष, यथा—*'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता। सत संगति संसृत कर अंता', 'बड़े भाग्य पाइअ सतसंगा', 'संत संग अपवर्ग कर।'*

नोट—मयंककार शंका करके कि 'भरत तो राजा हुए नहीं फिर *'भाइ भरत अस राउ'* कैसे कहा? वचनमें विरोध पड़ता है', उसका उत्तर देते हैं कि इससे सिद्ध होता है कि भरतजी प्रेमरूपी यथार्थ राज्यके राजा हुए, प्राकृत राज्य रामजीके लिये छोड़ देंगे।

देखि पाय मुनिराय तुम्हारे। भये सुकृत सब सुफल हमारे॥ १॥
अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदबेग न पावै कोई॥ २॥
मुनि तापस जिन्ह तें दुख लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं॥ ३॥
मंगलमूल बिप्र परितोषू। दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू॥ ४॥

शब्दार्थ—**उद्वेग**=विक्षेप, दु:ख, अड़चन, व्यग्रता, खेद।

अर्थ—हे मुनिराज! आपके चरणोंका दर्शन करनेसे हमारे सब सुकृत सुफल हुए॥ १॥ अब जहाँ आपकी आज्ञा हो, तथा जहाँ किसी मुनिको कष्ट न हो॥ २॥ (क्योंकि) जिन राजाओंसे मुनि और तपस्वी दु:ख पाते हैं वे राजा बिना अग्निके ही भस्म हो जाते हैं॥ ३॥ ब्राह्मणोंका सन्तोष (प्रसन्नता) समस्त मंगलका उत्पन्न करनेवाला है और उन पृथ्वीके देवताओं अर्थात् ब्राह्मणोंका कोप करोड़ों पीढ़ियोंको जला डालता है॥ ४॥

नोट—१ (क) ***'भये सुकृत***⋯***हमारे'*** इति। ***'हमारे'*** से श्रीसीताजी, लक्ष्मणजी और अपने तीनोंके सुकृतोंका सुफल होना कहा। ऊपर दोहेमें केवल अपने पुण्योंका प्रभाव कहा है इसीसे वहाँ एकवचन प्रयोग किया है। (ख) ***'उदबेग***⋯ ***'*** इति। भाव कि यदि आप कोई रमणीक आश्रम दूसरे मुनियोंसे खाली कराकर देंगे तो उनको दु:ख होगा यद्यपि वे आपकी आज्ञा अवश्य पालेंगे। (पं०) वाल्मीकीयमें एक ऋषिने कहा है कि तुम्हारे यहाँ रहनेसे निशाचर मुनियोंको बहुत सताते हैं। यह उद्वेग है। पुन:, राजा जहाँ रहते हैं वहाँ वनमें मृगया आदि विहार करते ही हैं जिससे मुनियोंके चित्तमें खेद होता है। यह राजाओंके लिये शिक्षा दे रहे हैं। (पु० रा० कु०)

नोट—२—***'मुनि तापस जिन्ह तें दुःख लहहीं।'*** इति। (क) यहाँ उद्वेगका अर्थ स्वयं कविने स्पष्ट कर दिया। पूर्व ***'उदबेग न पावइ'*** कहकर यहाँ ***'दुख लहहीं'*** कहा। अर्थात् उद्वेग=दु:ख। (ख) मुनि दु:ख न पावें, यह संकोच क्यों है? इसका कारण अब बताते हैं ***'मुनि***⋯⋯ ***'***। (ग) ***'ते नरेस बिनु पावक दहहीं'*** अर्थात् वे राजा बिना अग्निके ही भस्म हो जाते हैं। यह साधारण शास्त्रमत कहा। 'नरेश' का भाव कि राजा हो तो यह गति हो जाय और हम तो राजा भी नहीं, राज्यसे च्युत होकर वन आये हैं तो यदि हमसे अपराध हो जायगा तो हमारा तो कहीं भी ठिकाना नहीं रहेगा। अतएव हम डरते हैं। पुन:, (घ) श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'यहाँ रामजी अपनेको नरेश क्यों कहते हैं? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। समाधान यह है कि हमारे यहाँ राजा जाति है, जिसे क्षत्रिय कहते हैं। '**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य:**'—यहाँ 'राजन्य' से क्षत्रिय जाति ही अभिप्रेत है। अत: राजधर्म क्षत्रिय मात्रपर लागू है। दूसरी बात यह है कि रामजी वनमें राजा होकर ही आये हैं, यथा—***'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥'*** अत: सरकारका अपनेको नरेश कहना सर्वथा आप्त था। (ङ) यह तो दु:ख देनेका फल कहा और आगे फिर कहते हैं कि ***'दहइ कोटि कुल***⋯ ***'*** अर्थात् यदि वे कुपित हो गये तो राजा ही नहीं वरन् उसके करोड़ों कुलों वा पीढ़ियोंतकका नाश होता है। यथा—***'बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हें।'*** (७। ११२। ३) ***'जिमि द्विजद्रोह किए कुल नासा।'*** (४। १७। ८) ***'बिप्रद्रोह पावक सो जरई'*** (७। १०९) (च) मुनियों, विप्रोंको दु:ख देनेका फल कहा। उसके उदाहरण, ५६ कोटि यदुवंशी जल मरे, भानुप्रताप कुल-समेत गया, सगर-पुत्र-दंडक गौतम वा शुक्राचार्यके शापसे बिना अग्निके भस्म हुआ, सगरके पुत्र कपिल मुनिके द्वारा भस्म हुए। सहस्रबाहुसे दु:ख पाकर परशुरामजीने उसको, उसके कुल और क्षत्रिय-कुलोंका नाश किया।

नोट—३ ***'मंगलमूल बिप्र परितोषू'*** अर्थात् मुनि, विप्र और तपस्वियोंको पीड़ित करनेका फल वह है जिसे प्रथम कह आये और उनकी प्रसन्नता मंगलकी मूलक है, जैसे वसिष्ठजीकी प्रसन्नतासे कन्या पुत्र हो गयी। और भी अनेक मंगल हुए। श्रीभरतजीने स्वयं कहा है ***'दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जगु जाना॥'*** (२५५। ७) और दशरथजीने भी कहा है—***'सब पायउँ रज पावनि पूजे***⋯ ***'***; ***'प्रभु प्रसाद सिव सबइ निबाहीं'*** (दोहा ३, ४) इससे जनाया कि हम उनकी प्रसन्नता चाहते हैं जिससे वनमें जाते हुए मंगल हो।

अस जिय जानि कहिअ सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्र सहित जहँ जाऊँ॥ ५॥
तहँ रचि रुचिर परन तृन साला। बासु करौं कछु काल कृपाला॥ ६॥

सहज सरल सुनि रघुबरबानी। साधु साधु बोले मुनि ग्यानी॥ ७॥
कस न कहहु अस रघुकुलकेतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू॥ ८॥

शब्दार्थ—**साला**=शाला, घर, कुटी। **साधु साधु**=धन्य-धन्य! वाह-वाह। बहुत खूब!—देखिये बा० १८५ (८) *'साधु साधु करि ब्रह्म बखाना'।*

अर्थ—ऐसा हृदयमें जानकर वही स्थान बताइये जहाँ सीता-लक्ष्मणसहित जाऊँ॥ ५॥ वहाँ सुन्दर तृण और पत्तोंकी कुटी बनाकर, हे दयालु! कुछ कालतक निवास करूँ॥ ६॥ रघुवरकी सहज ही सरल वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि बोले—साधु! साधु! हे रघुवंशकी ध्वजा! आप ऐसा क्योंकर न कहें! अर्थात् ऐसा कथन आपके योग्य ही है, आपको शोभता है। आप सदैव वेदकी मर्यादाके पालनेवाले हैं॥ ७-८॥

नोट—१ (क) *'अस जिय जानि'* अर्थात् जिसमें हमारा मंगल हो और हम अमंगलसे बचे रहें। (ख) *'बासु करौं कछु काल'*……'—अर्थात् एक वर्षतक—(पु० रा० कु०); समय आनेपर दंडक वन जाऊँगा। (वै०) ऐसा ही अ० रा० में कहा है—'**यत्र मे सुखवासाय भवेत् स्थानं वदस्व तत्।**' (२। ६। ५०) '**सीतया सहितः कालं किञ्चित्तत्र नयाम्यहम्।**' (५१) अर्थात् आप मुझे कोई ऐसा स्थान बताइये जहाँ सीताके साथ रहकर कुछ समय बिताऊँ। वाल्मीकीय कल्पमें महर्षि भरद्वाजजीसे स्थान पूछा गया है, वाल्मीकिजीसे नहीं।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—*'अस जिय*……'इति। (क) श्रीरामजीके शब्दोंका आशय यह है कि स्थानमें दो विशेषताएँ होनी चाहिये। एक तो यह कि वहाँ हम स्वतन्त्रतापूर्वक रहें तो भी हमारे किसी भी आचरणसे किसी मुनिको तनिक भी अशान्ति न हो। ऋषि-मुनियोंका हमपर अपार स्नेह है, वे हमसे कभी कुछ नहीं कहेंगे, पर उन्हें तनिक भी असुविधा या मनमें उद्वेग हमारे कारण हो, यह हमें सर्वथा अभीष्ट नहीं है। दूसरी विशेषता यह होनी चाहिये कि वहाँ 'रुचिर पर्णशाला' बनायी जा सके। भाव यह कि स्थान उजाड़ न हो, हरे-भरे वृक्ष हों, पुष्प हों, कन्दमूल फलादि हों, जल समीप हो और स्थान किसी प्रकार उपद्रवग्रस्त न हो। (ख) पर्णशाला रुचिर बने, इससे जनाया कि न तो स्थान घिरा हुआ हो कि वायु न लगे और न इतना खुला कि आँधीमें कुटिया ही उड़ जाय। श्रीराघवेन्द्रजीके प्रश्नका भाव यह है कि वातावरण अनुकूल हो, स्थल रम्य हो, आवश्यक वस्तुएँ समीप हों, तभी पर्णशाला रम्य होगी।

☞ स्मरण रहे कि यहाँ वाल्मीकिजीसे *'ठाऊँ'* पूछा है, क्योंकि कुछ समयतक निवास करना इष्ट है, श्रीभरतजीकी प्रतीक्षा करनी है। भरद्वाजजीसे मार्ग पूछा; क्योंकि ठहरना था। आगे अगस्त्यजीसे मन्त्र पूछेंगे; क्योंकि राक्षसोंका नाश करना वहाँ इष्ट है। इस साधारण भावके अतिरिक्त *'मग' 'ठाऊँ' 'मंत्र'* तीन पृथक्-पृथक् शब्दोंका प्रयोग तीन पृथक्-पृथक् ऋषियोंके सम्बन्धमें जो किया गया है उसकी उपयुक्तता देखिये। भरद्वाजजी *'परमारथ पथ परम सुजाना'*। (१। ४४। ३) हैं अतः उनसे *'मग'* (पथ) पूछा गया। वाल्मीकिजीके सम्बन्धमें पूर्व कहा है *'रामायन जेहि निरमयेउ'* (१। १४) और रामायण=राम+अयन=रामजीके रहनेका स्थान। 'रामायण'-रचनाके सम्बन्धसे इनसे *'ठाऊँ'* (रहनेका स्थान) पूछा। महर्षि अगस्त्यजी श्रीराममन्त्रके जापक एवं प्रचारक हैं। यथा—*'निसि दिन देव जपतहहु जेही'*। अगस्त्य-संहिता आपकी प्रसिद्ध है। अतः उनसे मन्त्र पूछा। विशेष विस्तृत लेख अरण्यकाण्ड १३ (४) में देखिये।

नोट-२—*'सहज सरल सुनि रघुबरबानी। साधु*……'इति। (क) सहज सरल है अर्थात् उक्ति-युक्तिके वचन नही हैं वरन् स्वाभाविक सरल हैं। 'साधु-साधु' ये वचन सत्य हैं, आप सर्वकालसे ब्राह्मणभक्ति करते आये हैं—वैकुण्ठमें सनकादिकके जय-विजयको शाप देनेपर आपने अपने उन प्रिय पार्षदोंको मर्त्यलोकमें गिरा ही दिया, भृगुकी लात सही। (पु० रा० कु०) श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि बात स्वाभाविक है। वनमें रहना है, अतः उस वनको भली प्रकार जाननेवाले महर्षि वाल्मीकिसे स्थल पूछ रहे हैं। पूछा भी सरल ढंगसे। अपनी आवश्यकता और दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया। महर्षिने प्रश्नकी प्रशंसा भी की। किंतु महर्षि ठहरे ज्ञानी मुनि। उनकी ज्ञान-दृष्टि कभी ढकती नहीं। अतः वे पहले तो दोनों भाइयोंकी स्तुति करते रहे और अन्तमें बोले *'चिदानंदमय*……'। (ख) पंजाबीजीका मत है कि सहज सरल *'रघुबर'* का विशेषण है। प्रज्ञानानन्द स्वामीका भी यही मत है। दो० ४२ *'सहज सरल रघुबर बचन'* देखिये।

नोट—३ वि० त्रि०—*'सहज सरल······ग्यानी'* इति। यद्यपि ज्ञानी मुनि हैं, पर हैं तो कवि। सरकारके अभिनयकी स्वाभाविकतापर फड़क उठे और 'साधु-साधु' कहने लगे। हिन्दीमें जैसे 'वाह-वाह' कहा जाता है, उसी भाँति संस्कृतमें बखान करनेके स्थलमें साधु-साधु कहते हैं, यथा—*'साधु साधु कहि ब्रह्म बखाना'।* यहाँपर *'जस काछिअ तस चाहिअ नाचा'* पर आदिकवि मुग्ध हो गये।

नोट—४—*'कस न कहहु अस रघुकुलकेतू।······'* इति। (क) रघु महाराजने वेदमर्यादाका पालन किया। उनके कुलमें सब मर्यादाकी रक्षा करते आये और आप तो उस कुलमें ध्वजारूप हैं। (पु० रा० कु०)। (ख) यहाँ रघुनाथजीके दोनों स्वरूप लक्षित कर रहे हैं। एक तो *'रघुकुलकेतू'* पदसे कि इस कुलमें ऋषियोंका मान्य सदासे चला आया है, अतएव आप उनका आदर क्यों न करें? दूसरा 'संतत' पदसे ईश्वर-पक्षका लक्ष्य कि मत्स्य,कूर्मादि अवतार लेकर आपने वेदरूपी सेतुकी सदा रक्षा की है तब इस रघुनाथरूपमें क्यों न करेंगे? (पंजाबीजी)

छंद—श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥
जो सहस सीसु अहीसु महिधरु लषनु सचराचरधनी।
सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खलनिसिचरअनी॥
सो०—राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥ १२६॥

शब्दार्थ—**अबिगत**=किसीसे पृथक् नहीं, सबमें परिपूर्ण, सर्वव्यापक=अव्यक्त [प्राकृतके नियमोंसे अ+वि+अ+क्+त का अवि+क्+अ + त हो गया। फिर क् + अ= ग हो गया, जैसे प्रकट= प्रगट। इस प्रकार अविगत=अव्यक्त। (गौड़जी)]=जो जाना न जाय। **अनी**=सेना।

अर्थ—हे श्रीराम! आप वेद-मर्यादाके रक्षक हैं, जगत्के स्वामी हैं और श्रीजानकीजी आपकी आदि शक्ति हैं जो कृपाके समुद्र-(आप-)का रुख पाकर जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार करती हैं। जो हजार सिरवाले पृथ्वीके धारण करनेवाले सर्पराज शेषनाग और चराचरमात्रके स्वामी हैं वे लक्ष्मणजी हैं। देवताओंके कार्यके लिये मनुष्योंके राजाका अर्थात् नृप-शरीर धरकर आप दुष्ट निशाचरोंकी सेनाको नाश करने चले हैं। हे श्रीराम! आपका स्वरूप वाणीका विषय नहीं, बुद्धिसे परे, अविगत, अकथनीय और अपार है। वेद निरन्तर 'नेति-नेति' कहते हैं अर्थात् इति नहीं लगाते, जितना हमने कहा इतना ही नहीं है, उसकी इन्तहा नहीं, वह ऐसा ही नहीं है, इत्यादि।

टिप्पणी—१ यहाँ ऐश्वर्य कह रहे हैं। अत: *'राम'* पद दिया अर्थात् आप सबमें रमण करते और सब आपमें रमते हैं। श्रुतिसेतु पालक हो अतएव उसको तोड़नेवालों, उसकी मार्यादाका उल्लंघन करनेवालोंका शासन करते हो, नीति और ज्ञानके अधिकरण हो, यह *'पालक'* और *'जगदीस'* से जनाया। अथवा, रघुकुलकेतु हो, राजा हो, अतएव श्रुतिसेतुपालक हो और जगदीश अर्थात् भगवान् हो अतएव माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों प्रकारसे जगत्की रक्षा और श्रुतिसेतुका पालन करते हो।

नोट—१ *'माया'*=आदि शक्ति, यथा—*'आदि शक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥'* बा० १५२ (४) में इस शब्दकी विस्तृत व्याख्या हो चुकी है। 'माया' शब्दके भयसे कुछ लोग यों अर्थ करते हैं—'और जानकीजीकी माया कृपानिधानका रुख पाकर जगत्को······', यथा—*'माया सब सिय माया माहू।'* अद्वैतवादी लोग 'माया' से यहाँ 'विद्या माया' का अर्थ करते हैं। (ख) *'सृजति······'* यथा—'**उद्भवस्थिति-संहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्। सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥**' (१ मं० श्लो० ५) *'रुख पाइ'* अर्थात्

आपको कहना नहीं पड़ता, आपकी इच्छा होते ही वे उसे जान लेती हैं और कार्य सम्पन्न कर देती हैं। बालकाण्डमें मायाका प्रभुकी आज्ञासे ब्रह्माण्डोंका रचना कहा है, यथा—*'लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥'* (१।२२५।४) 'सम्भवतः वहाँ 'माया' से विद्यामाया अभिप्रेत हो, क्योंकि विद्यामायाका भी संसाररचना करना कहा गया है, पर उसमें स्वयं बल नहीं है। यथा—*'एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥'* (३।१५) वह प्रभुके हृदयकी नहीं जान सकती और श्रीसीताजी प्रभुके हृदयकी जाननेवाली हैं, यथा—*'पिय हिय की सिय जाननिहारी।'* (१०२।३) क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। (ग) *'कृपानिधान की'* इति। बालकाण्डमें *'अतिसय प्रिय करुनानिधान की।'* (१८।७) में बताया जा चुका है कि महारानी श्रीजानकीजी श्रीरामजीको 'करुणानिधान' नामसे सम्बोधन किया करती थीं। सद्गुरुदेव श्रीरूपकलाजी महाराज कहते थे कि जहाँ-जहाँ महारानीजीका और प्रभुके सम्बन्धकी चर्चा है वहाँ-वहाँ 'करुणानिधान', 'कृपानिधान' या पर्यायी शब्दोंका प्रयोग है। कारण यह कि महारानीजी प्रभुको इसी नामसे पुकारा करती हैं। यही कारण है कि सुन्दरकाण्डमें मुद्रिका देनेपर और परिचय देनेपर भी हनुमान्‌जीपर विश्वास नहीं किया गया, पर ज्यों ही उन्होंने कहा कि *'सत्य सपथ करुनानिधान की'*, त्यों ही उनके श्रीरामदूत होनेपर विश्वास हो गया, कारण कि यह बात सबको नहीं मालूम, श्रीरामजी ही जानते थे। मानस-वन्दना-प्रकरणमें तथा विनयमें भी सिफारिश करानेकी प्रार्थनामें श्रीगोस्वामीजीने श्रीसीताजीकी कृपा-करुणाको उत्तेजित करनेके लिये इसी शब्दका प्रयोग किया है। यथा—*'अतिसय प्रिय करुनानिधान की।'* (१८। ७) *'सरल प्रकृति आपु मानिए करुनानिधानकी।'* (वि० ४२) इत्यादि। (घ) पं० रामकुमारजी *'कृपानिधानकी'* का भाव यह लिखते हैं कि उद्भव-स्थिति-संहारकी कर्त्री उनको करके उनको आपने बड़ाई दी, उनपर आपकी कृपा है।

नोट—२ इस ग्रन्थमें चार कल्पोंकी कथा मिश्रित आद्योपान्त कही गयी है; किसी कल्पमें लक्ष्मणजी शेषावतार हैं, किसीमें नित्य साकेतवासी लक्ष्मणके अवतार हैं। उसके अनुसार यहाँ दोनों अर्थ लक्ष्मणजीके सम्बन्धमें होते हैं। एक तरहसे यह अर्थ कि ये सहस्रशीर्ष शेष हैं जो चराचरके स्वामी हैं। दूसरा यह कि चराचरसहित शेषजीके या सारे संसार और शेषजी दोनोंके नियन्ता या स्वामी हैं। बालकाण्ड दोहा १७ (७) में लक्ष्मणजीके तीन स्वरूपोंका विस्तृत वर्णन किया गया है। *'सेष सहस्त्रसीस जग कारन। जो अवतरेउ भूमि भय टारन॥'* में देखिये। दोहा १८७ (२) *'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा।…'* भी देखिये। बैजनाथजीका मत है कि यहाँ लक्ष्मणजीका तीनों रूपों—शेषरूप, विष्णुरूप और नित्य लक्ष्मणरूपसे अवतार लेना कहा है।

टिप्पणी—२ *'जो सहससीस अहीस…सचराचर धनी'* इति। श्रीरामजी पालक, सीताजी कर्त्री और लक्ष्मणजी धारणकर्ता हैं; अतएव इन्हें *'सचराचर धनी'* कहा। अथवा, तीनों सचराचरधनी हैं। अथवा 'सचराचरधनी', श्रीरामजीका सम्बोधन है। *'सहससीस'* का भाव कि आपका गुणगान करनेके लिये इतने सिर हैं। उस कीर्तिको सुनकर आप श्रुतिसेतुका पालन करते हैं।

टिप्पणी—३ (क) प्रथम जगदीश-(ईश्वर-)को कहा फिर प्रधान तीनों गुणोंको पृथक्-पृथक् कहा—ब्रह्मा, विष्णु, महेश। (ख) *'दलन खल निसिचर…'* अर्थात् साधु निशाचरोंको नहीं। (ग) पूर्व श्रीरामजीने मुनिको त्रिकालदर्शी कहा था। वह यहाँ चरितार्थ है। तुम जगदीश, जानकी आदिशक्ति और लक्ष्मण *'सहससीस…धनी'*—यह भूतकाल; *'सुरकाज धरि नरराज तनु'* यह वर्तमान और *'चले दलन…'* यह भविष्य है।

नोट—३ *'सुरकाज धरि नरराज तनु'* इति। यही आकाशवाणीने देवताओंसे कहा है—*'तुम्हहिं लागि धरिहौं नरबेसा॥ अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं दिनकर बंस उदारा॥…परम सक्ति समेत अवतरिहौं॥ हरिहौं सकल भूमि गरुआई।'* (१। १८७) *'सुरकाज'* से अवतारका कारण कहा, *'धरि नरराज तनु'* से अवतार और *'चले दलन खल निसिचर अनी'* से अवतारका कार्य कहा। खल राक्षसोंको मारने चले हैं,

यही खर-दूषणके दूतोंसे श्रीरामजीने कहा भी है—*'हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥'* (३। १९। ९)

टिप्पणी—४ *'राम सरूप तुम्हार बचन'* 'इति। वाणीसे परे, यथा—'**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥**' (तैत्ति० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० ४) अर्थात् जहाँसे मनके सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है। अनुमान बुद्धिसे किया जाता है। अत: 'बुद्धि पर' से जनाया कि जितने भी अनुमान हैं उन सबोंसे आप पृथक् हैं, बुद्धिकी पहुँच आपतक नहीं है। मुण्डकोपनिषद्में भी कहा है '**न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवै:।**' (३। १। ८) अर्थात् वह न नेत्रसे ग्रहण किया जाता है न वाणीसे और न अन्य इन्द्रियोंसे। अविगत=सबमें प्राप्त, सबसे भिन्न। वाणी और बुद्धि वहाँ नहीं पहुँचती अत: अपार है। अपार है इसीसे वेद नेति-नेति कहते हैं। वेद ऐसा कहते हैं तो मैं भला कैसे कह सकता हूँ? वेद सबसे श्रेष्ठ हैं अत: उन्हें अन्तमें कहा। इन विशेषणोंसे अन्तर्यामी और द्विभुज परात्पर रूपका ऐक्य कहा।

पंजाबीजी—रघुनाथजीने रहनेका स्थान पूछा, उसके उत्तरमें उन्होंने निर्गुण, सगुण और भूपरूप तथा तीनों रूपोंके स्थान कहे। सोरठेमें शुद्धरूप और चौपाइयोंमें मायासबल और भूपरूप कहते हैं।

नोट—४ यही एक छन्द है जिसमें कविने तुलसीका भोग नहीं लगाया, अपना नाम नहीं दिया। ऐसा करके अपनेको वाल्मीकिजीका अवतार जनाया। इसी प्रकार श्री १०८ स्वामी रामानुजाचार्य महाराजजीने अपने ग्रन्थमें अपनेको शेषावतार गुप्त रीतिसे जनाया है। गीतावलीसे भी इस बातकी पुष्टि होती है, यथा—*'जनम जनम जानकीनाथके गुनगन बिमल तुलसिदास गाये।'* (गी० ६। २३) जब स्वयं वाल्मीकि रूपसे कह रहे हैं तब नाम क्यों दें, प्रत्यक्ष ही तो कह रहे हैं।

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ १॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहिं को जाननिहारा॥ २॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई॥ ३॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत भगतउरचंदन॥ ४॥

अर्थ—संसार तमाशा है। आप उसके देखनेवाले हैं। ब्रह्मा-विष्णु-महेश नचानेवाले हैं॥ १॥ वे भी आपका मर्म नहीं जानते; तब और कौन आपको जाननेवाला हो सकता है?॥ २॥ वही जानता है जिसे आप जना दें। आपको जानते ही वह आपका या आपका स्वरूप वा आप ही (ब्रह्म) हो जाता है॥ ३॥ हे रघुनन्दन! हे भक्तोंके हृदयको शीतल, आह्लादित और सुवासित करनेके लिये चन्दनरूप! आपकी कृपासे ही भक्त आपको जानते हैं॥ ४॥

नोट—यहाँ कठपुतलीके तमाशेसे रूपक बाँधा गया है। इस खेलमें कठपुतलीका नचानेवाला सूत्रधार, सूत्र या तार, कठपुतली और देखनेवाले चाहिये; वे सब निम्न टिप्पणियोंसे स्पष्ट हो जायँगे।

पुरुषोत्तम रामकुमारजी—*'जगु पेखन'* ' इति। (क) जग दृश्य है, आप द्रष्टा हैं। जग मायिक है, पंचतत्त्वमय है, जड है। आप मायिक गुणोंसे परे हैं। इसीसे आप देखते हैं, जगत् आपको नहीं देख पाता। जीव चाहे विधि, हरि, हरकी पदवी पा जाय तो भी नाचा ही करेगा—'**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।**' अथवा, (ख) जगत् तमाशा है। विधि, हरि, हर नचानेवाले हैं जो रजोगुण-सत्त्वगुण-तमोगुणरूपी डोरीपर नचाते हैं और आप देखते हैं। आपको रिझानेके लिये यह तमाशा करते हैं। अथवा, (ग) तीनोंको आप नचाते हैं और इनसे पृथक् सबके नियन्ता हैं।

प० प० प्र०—'**यद् दृष्टं तन्नष्टम्**' इसके अनुसार सर्वदृश्य जगत् नश्वर है। आप द्रष्टा हैं यह कहकर जनाया कि आप नित्य हैं, अविनाशी हैं।'

वै०—जगत् तमाशा है। आप नित्य धाममें बैठे हुए झरोखा-मार्गसे देखनेवाले हैं। ब्रह्मा-विष्णु-महेश तमाशाके करानेवाले हैं। त्रिगुणात्मक त्रिवर्णा माया नटी खेल करनेवाली है जिसने प्रथम मोहरूपी अन्धकारकी

रचना की। जीव उसमें भ्रमित हुआ। फिर उसने आकाशादि पंचभूत रचे जो जीवको बौराने लगे। फिर उसने अनेक प्रजा, चिन्ता, शब्दादि विषय और दस इन्द्रिय रचे। मनरूपी पक्षीको इन्द्रियोंका संगी बनाया। बस यह अब सूक्ष्म भूतोंसे मिलकर दसों दिशाओंमें उड़ने लगा, कहीं तृप्ति नहीं होती। फिर नटीने चौरासी योनिरूप चित्रसारी रची और कालरूप सर्प बनाया जो चित्र प्रतिमाओंको खाने लगा। इत्यादि ब्रह्मा उत्पन्न, विष्णु पालन और शम्भु संहार करते हैं। ये भी मर्म नहीं जानते।

नोट—*'तेउ न जानहिं······'* इति। (क) यही सिद्धान्त वसिष्ठजी, हनुमान्‌जी, लक्ष्मणजी और भुशुण्डीजी आदिका है। यथा—***'बिधि हरिहर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥ अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥ करि बिचार जियँ देखहु नीकें॥ राम रजाइ सीस सबही कें॥'*** (वसिष्ठवाक्य; २। २५४। ६—८) ***'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥ जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत हरत सृजत दससीसा॥ जा बल सीस धरे सहसानन।······'*** —(हनुमद्वाक्य सुं० २१) ***'राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस॥ ······'***—(श्रीमद्‌लक्ष्मणवाक्य; सुं० ५६) ***'तुम्हहिं आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता॥ तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥···'***—(श्रीभुशुण्डिवाक्य; उ० ९१-९२) (प्र० सं०) 'ब्रह्माजी स्वयं कहते हैं कि ***'सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहिं जाना।', 'पालन सुर धरनी अद्‌भुत करनी मरम न जानै कोई।'*** (१। १८६) (ख)—***'मरम तुम्हार'***—मर्म यह कि किस नाचसे आप प्रसन्न होते हैं यह कोई नहीं जानता। (पाण्डेजी) अथवा, आप कहाँ हैं, क्या करते हैं यह कोई नहीं जानता, क्योंकि इनकी दृष्टि इसी व्यापारमें रहती है। (वै०)

मिलान कीजिये—'**को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्। क्व वा कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥**' (भा० १०। १४। २१) ब्रह्माजी भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहते हैं कि आप अवतार लेकर लीला करने लगते हैं तब त्रिलोकीमें ऐसा कौन है जो यह जान सके कि आपकी लीला कहाँ, किसलिये, कब और कितनी होती है।—यह 'मर्म' शब्दका भाव है।

'**सो जानइ जेहि······भगत उर चंदन**' इति।

पंजाबीजी—नट जो खेल करता है उसे उसके शिष्य जानते हैं। यहाँ ब्रह्मादिक शिष्य ही नहीं जानते तो दूसरा क्या जाने? यह कहकर नाट्यकी अगाधता दर्शित की। इसपर प्रश्न होता है कि 'तो फिर ज्ञानप्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ हुए? उसपर कहते हैं कि ***'सो जानइ···जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई'*** और ***'तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन···।'*** अर्थात् आपकी कृपासे ज्ञानी और भक्त आपको जानते हैं। ज्ञानीको ज्ञानका फल यह मिलता है कि वह तुम्हारा स्वरूप हो जाता है, अभेदता हो जाती है। यह निर्गुणरूप कहा गया और आपके जो भक्त अधिकारी हैं वे जानते हैं। वे कैसा जानते हैं, यह ***'चिदानंदमय······'*** अगली चौपाईमें कहते हैं। वे सगुणरूपको ही विकाररहित-सच्चिदानन्द रूप जानते हैं, अन्य जीवोंकी तरह आपकी देहको जन्म-मरण आदि विकारोंसे युक्त नहीं मानते। यह सगुण रूप कहा।'

पु० रा० कु०—(क) जिसे आप जनाते हैं वही जानता है और जाननेपर आपका स्वरूप हो जाता है—ज्ञानी सायुज्य और भक्त सामीप्य सारूप्य होकर सेवकपद माने हुए हैं। भाव यह कि स्वरूपसे या पंचमुक्तिद्वारा ***'तुम्हइ होइ जाई'*** कुछ यह नहीं कि उत्पत्ति-स्थिति-संहार करना चाहे तो कर ले। (ख) ***'जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई'*** यह ज्ञानका फल है। ज्ञानी प्रभुमें मिल जाते हैं, भक्त पृथक् रहते हैं। प्रभुके स्वरूपको दोनों जानते हैं यही जनाया है। दोनों जगह 'जानत' पद दिया गया। भक्त-उर-चन्दन अर्थात् भक्तोंके उरमें चन्दनरूप—इस कथनसे भगवत् और भागवत रूपमें पृथक्ता पायी गयी, जैसे चन्दन जिसके लगा है और चन्दन ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

पाण्डेजी—तुम्हें जान लेनेपर ***'तुम्हइ होइ जाई'*** अर्थात् तुम्हारा या तुम्हारे-गुणों-मय हो जाता है। इस कथनका समाधान आगे करते हैं—***'भगत उर चंदन'।*** जो कहा कि ***'तुम्हइ होइ जाई'*** उसका दृष्टान्त चन्दनका है।

मलयागिरि-चन्दनके वृक्षकी सुगन्धसे अन्य सब वृक्ष चन्दन हो जाते हैं परंतु रूप उनका बना रहता है गुणमात्र चन्दनका आ जाता है। वैसे ही भक्त आपको जान लेनेपर आपके गुणोंसे युक्त हो जाते हैं। (*'संत भगवन्त अन्तर निरन्तर नहिं किमपि कह दास तुलसी'* इति विनये। यह भाव भगवत्-स्वरूप हो जानेका है)। भक्त उर चन्दन=भक्तोंके हृदयको चन्दनवत् शीतल और सुगन्धित करनेवाले। विरहरूपी तपनको शीतल करनेवाले। (रा० प्र०) यथा—*'देखे बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ।'* (१८२)

पं० श्रीकान्तशरणजी—ब्रह्मको जो जानता है वह ब्रह्म ही होता है। इसका भाव यह है—**'यस्यात्मा शरीरम्।'** (बृह० ३। ७। २२), (माध्य० ५। ७। २२); तथा **'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्।'** (छां० ६। ८। ७) इत्यादि श्रुतियाँ चिदचिदात्मक जगत्‌को ब्रह्मका शरीर और ब्रह्मको उनकी आत्मा प्रतिपादन करती हैं। जैसे प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) अपने शरीरके प्रति आत्मा होनेसे 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं देव हूँ' इस प्रकार अनुसन्धान करता है; वैसे परमात्मा भी आत्माओंका आत्मा है। अत: उपासक अपने शरीरी उपास्य (ब्रह्म) के लिये **'अहं ब्रह्मास्मि'** ऐसा अनुसन्धान कर सकता है। यथा—**'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते। अहं वै त्वमसि भगवो देवते॥'** इस श्रुतिका अर्थ है कि हे भगवन्! हे दिव्यगुणविशिष्ट! मैं आप हूँ और आप मैं हैं। यह अनुसन्धान प्रीतिके प्रणयभावमें होता है। *'मम तव तव मम प्रणय यह।'* कहा है; यथा—*'तोर कोस गृह मोर सब।'* (लं० ११५) इस प्रकारकी प्रणयात्मक उपासनासे जीवमें ब्रह्मके साधर्म्य (लक्षण) आ जाते हैं। यथा—**'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।'** (गीता १४। २) साधर्म्यके आठ लक्षण हैं। यथा—**'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः।'** (छा० ८। १। ५) अर्थात् यह आत्मा निष्पाप, वृद्धतारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। ये आठों लक्षण ब्रह्ममें नित्य रहते हैं और जीवमें इसके मुक्त होनेपर नित्य धाममें प्राप्त होते हैं तो यह भी ब्रह्म संज्ञासे कहा जाता है। यही बात अगली अर्धालीके *'भगत उर चंदन'* के विशेषणसे घटित होती है। मुक्त होनेपर साधर्म्य प्राप्त जीवकी ब्रह्म संज्ञा भी होती है पर जीव भाव रहता है, जैसे चन्दनसे हुए वृक्षोंका रूप कह आये। अत: जीव और ब्रह्म दो पदार्थ हैं और इनका भेद वास्तविक है। तुमको जानते ही तुम ही हो जाता है। जैसे भूतोंमें मिलकर भूत, देवोंमें मिलकर देव, वैसे ही वह तुम्हारा सजातीय समीपी हो जाता है।

बाबा हरिहरप्रसादजी—*'तुम्हइ होइ जाई'*=तुम्हारे जानते मात्र तुम्हारा हो जाता है। ☞यहाँ जानना केवल कृपासाध्य निश्चित किया।

प० प० प्र०—(क) *'तेउ न जानहिं······'* से 'अज्ञेय'—वाद सूचित होता है; इसीका आगे निरास किया है। (ख) *'जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई'*—**'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** यह निर्गुण सायुज्य-कैवल्य मुक्ति-प्रदर्शक वचन है। सरूपता मुक्ति केवल जाननेसे नहीं प्राप्त होती। कोई भी जीव ईश्वर हो नहीं सकता। ईश्वर एक है। *'जीव अनेक एक श्रीकंता'*। सरूपता मुक्तिमें भी *'बिधि हरि संभु नचावनिहारा'* न होगा। श्रीवत्स लक्ष्मी और कौस्तुभकी प्राप्ति भी सरूपतामें नहीं है। (ग) *'तुम्हरिहि कृपा······'* इति। निर्गुण वा सगुण ब्रह्मको जाननेका एकमात्र साधन भगवत्कृपा है यह यहाँ स्पष्ट किया। **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।'** जपतपादि साधन अकिंचित्कर हैं—**'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'** (गीता) ☞जो सिद्धान्त **'यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्।'** (बाल० मं० श्लो०) में उपक्रमसे कहा उसका यहाँ अभ्यास है और *'बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल।'* (७। १२२) में उपसंहार है। (घ) *'जानहिं भगत'* से जनाया कि साधनरूप नवधाभक्ति करनेसे आप कृपा करते हैं तब ज्ञान होता है—**'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥'** (गीता १०। १०)

श्रीनंगे परमहंसजी—*'तुम्हइ होइ जाई'*=आपका हो जायगा। इसके अर्थमें मतभेद है। 'तुम्हारा रूप हो जाता है', 'ब्रह्म हो जाता है' ये अर्थ लोगोंने किये हैं। परंतु ऐसा अर्थ करनेमें शब्दार्थ विरोध हो जाता है, क्योंकि शब्दार्थ करनेमें केवल पाँच अक्षर 'क, म, स, ह, न' अध्याहार लिये जाते हैं। इनमेंसे

शब्दार्थ करनेमें आवश्यकतानुसार अक्षर लेता जाय भाषा बनती चली जायगी यह नियम है। अब देखा जाय कि मूलका कोई शब्द रूपको सूचित नहीं करता। अतः शब्दविरोध है। *'तुम्हहिं' 'तुम्हइ'* ये दोनों शब्द श्रीरामजीके लिये हैं। *तुम्हहिं*=आप। अब मूलमें दो शब्द बचे *'जानत'* और *'होइ जाई'*। इनको 'आप' 'आप' दोनों शब्दोंके साथ लगा दीजिये। बस अर्थ बन जायगा कि आपको जानते आपका हो जाता है। अर्थात् संसारका नहीं रह जाता जैसे प्रह्लादजीने जब श्रीरामजीको जाना तब पिताके न रह गये। दूसरी चौपाई भी इसी भावको सूचित करती है। *'तुम्हरी कृपा''''''चंदन'* साफ द्वैतसूचक है। फिर प्रथम चरण भी यही है कि *'सो जानइ जेहि देहु जनाई।'* एक जनानेवाला हुआ दूसरा जाननेवाला है। यह द्वैत प्रत्यक्ष कहा जायगा। पुनः जनानेवाले श्रीरामजी और जाननेवाला जीव ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं? श्रीरामजी समर्थ हैं, जीव असमर्थ और परवश है, श्रीरामजी सर्वज्ञ हैं, जीव अल्पज्ञ है, श्रीरामजी विभु हैं, जीव अणु है। अतः उपर्युक्त पदका अर्थ अद्वैतपरक नहीं हो सकता क्योंकि प्रसंग अद्वैतका नहीं है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—वाल्मीकिजी कहते हैं कि जिसे आप जना देते हैं, वही आपको जान सकता है। ठीक ऐसी ही श्रुति है—**'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।'** (अर्थात् यह जिस परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा करता है उस (इच्छा) के द्वारा ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। उसके प्रति परमात्मा अपने स्वरूपको व्यक्त कर देता है। (मु० ३। २। ३) आपको जानते ही आपके स्वरूपमें मिल जाता है। यहाँ जाननेसे तात्पर्य तत्त्वतः जाननेसे है, क्योंकि इस प्रकारसे जाननेसे ही स्वरूपमें प्रवेश श्रीमद्भगवद्गीता कहती है। **'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।'** *'तुम्हहिं'* का अर्थ तुम्हारा या आपका नहीं हो सकता।' जहाँ जो अर्थ स्पष्ट है वहाँ आग्रह नहीं होना चाहिये। **'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।'** (मु० ३। २। ९) यह श्रुति कहती है। इससे भक्तिकी कार्यकारितामें भी बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि साथ ही यह भी कहते हैं कि तुम्हारी कृपासे भक्त ही तुम्हें जान सकते हैं। ठीक यही बात भगवद्गीता (१८। ५५) में है, यथा—**'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।'** (अर्थात् भक्तिके द्वारा वह मुझको, मैं जैसा और जो हूँ, तत्त्वसे जान लेता है। भाव यह कि स्वरूप और स्वभावसे मैं जो हूँ तथा गुण और विभूतिके कारण मैं जितना हूँ ऐसे मुझ परमेश्वरको इस पराभक्तिके द्वारा भक्त जान लेता है। यहाँ पराभक्तिको ही भगवान्में तत्त्वतः प्रवेश करानेमें हेतु बतलाया है। श्रीरामानुजभाष्य)

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥ ५॥
नर तनु धरेहु संत-सुर-काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥ ६॥
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥ ७॥
तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा। जस काछिअ तस चाहिअ नाचा॥ ८॥

अर्थ—आपकी देह सत्-चित्-आनन्दमय है, विकार रहित है, इस मर्मको अधिकारी ही जानते हैं॥ ५॥ सन्तों और देवताओंके कामके लिये आपने मनुष्य शरीर धारण किया है। (इसीसे) प्राकृत पंचतत्त्वरचित, साधारण राजाओंके जैसा आप कहते और करते हैं॥ ६॥ हे राम! आपके चरित्रोंको देख-सुनकर मूर्ख (आसुरी सम्पत्तिवाले) मोहित होते हैं और पण्डित (बुद्धिमान्, दैवी सम्पदावाले) सुखी होते हैं॥ ७॥ आप जो कुछ कहते हैं, जो कुछ करते हैं वह सब सत्य (यथार्थ, उचित) ही है, (क्योंकि) 'जैसा काछ काछे वैसा ही नाच नाचना चाहिये'। आपने मनुष्यका स्वाँग रचा है, नर-शरीर धारण किया है, अतः उसीके अनुकूल कहना, करना उचित ही है॥ ८॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तमरामकुमारजी—१ *'चिदानंदमय देह''अधिकारी'* इति। चित् (सम्यक् ज्ञान) और आनन्दमय है। पंचतत्त्व वा भूतमय नहीं है। किन्तु दिव्यतन है। *देह*-देही-भेदरहित है। *'बिकार'*= षट्विकार, जैसे जन्म, जरा, मरण इत्यादि। *'अधिकारी'* से तात्पर्य उनसे है जो चतुर्दश-साधन-सम्पन्न हैं (जो आगे मुनि कहेंगे)।

टिप्पणी—२ यहाँ तीसरी बार फिर जानना कहा। तीन बार पृथक्-पृथक् लोगोंका जानना कहा गया—(१) ***'सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई॥'*** (२) ***'तुम्हरी कृपा तुम्हइ रघुनंदन। जानत भगत भगत उर चंदन॥'*** और (३) ***'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥'*** पहलेमें ज्ञानियोंका जानना, दूसरेमें भक्तोंका और तीसरेमें फिर ज्ञानियोंका जानना कहा। भक्तोंके लिये कृपासाध्य और ज्ञानियोंके लिये क्रियासाध्य दिखाया; जैसे अर्जुनको दिव्य नेत्र देकर रूप दिखाया।

टिप्पणी—३ ***'देह तुम्हारी'*** का भाव कि आपका यह विग्रह यह लीलातन भी दिव्य है, सच्चिदानन्दमय है—'**विरराम महातेजाः सच्चिदानन्दविग्रहः।**' (रामस्तवराज) जीवोंकी देह ऐसी नहीं होती। उनका स्वरूप सच्चिदानन्द है।

बाबा हरिहरप्रसादजी—***'चिदानंदमय……'*** इति। चित् आनन्दमय है। यहाँ सत् पदका भी अध्याहार कर लेना चाहिये। ***'जान अधिकारी'*** अर्थात् आपकी कृपाके अधिकारी जानते हैं। देहको चिदानन्दमय कहकर देही-देह-विभाग-शून्य ठहराया; क्योंकि अवतारके पूर्व ही मनुजीको इसी स्वरूपका दर्शन हुआ था, नर-शरीर तो पहले भी था तो अब नर-तनु धरना कैसे कहा? नित्य साकेत विहारीरूप नित्य एकरस किशोर रहता है और यहाँ वह शरीर छोटा-बड़ा देख पड़ता है अर्थात् बाल-कुमार-किशोर आदि अवस्थाएँ इसी शरीरमें दिखायी हैं। इसीसे नर-तन धरना कहा। यहाँतक परस्वरूप कहा। आगे अन्तर्यामीस्वरूपको कहते हैं।

पंजाबीजी—***'चिदानंदमय……'*** इति।—***'बिगत बिकार'*** देहका विशेषण है अर्थात् देह सच्चिदानन्दरूप और जन्म-मरण आदि विकारोंसे रहित है अथवा इसे अधिकारीका विशेषण मान लें अर्थात् कामादिक विकारोंसे रहित जो भक्त हैं वे आपको जानते हैं। यह सगुण स्वरूप कहा। फिर क्षत्रिय राजारूप कहते हैं—***'नर तन……।'*** (प० प० प्र० स्वामी भी इसे दीपदेहलीन्यायसे दोनोंका विशेषण मानते हैं। जो विगत-विकार होगा वही मर्म जान सकता है। ***'षट बिकार जित अनघ अकामा'*** संतलक्षण श्रीमुखवचन है। विगत-विकारको जाननेके लिये विगत-विकार बनना ही चाहिये)।

वि० त्रि०—***'चिदानंदमय……'*** इति। आपकी देह जीवके देहकी भाँति पांचभौतिक नहीं है। '**शीर्य्यते इति शरीरम्**' यह न्याय यहाँ नहीं लगेगा। आपका देह विगत-विकार है। उसमें देह-देही भेद नहीं है। वह परिच्छिन्न दिखायी पड़ता हुआ भी अपरिच्छिन्न है, शरीर धारणके पहले जैसा सच्चिदानन्दरूप था, इस समय भी ठीक वैसा ही है, मायासे मानुषरूप मालूम हो रहा है, यथा—'**मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ**' यही आपका दिव्य जन्म है। परन्तु इस बातको अनधिकारी मूढ़ लोग नहीं जान सकते। '**अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥**' (गीता ९। ११) मैंने मनुष्यका शरीर धारण किया है। इससे मूढ़ मेरा अनादर करते हैं। मेरे लोकमहेश्वर परम भावको वे नहीं जानते।

☞ मिलान कीजिये—'**अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।**' (भा० १०। १४। २) ब्रह्माजी कहते हैं कि आपका यह श्रीविग्रह आपकी चिन्मयी इच्छाका मूर्तिमान् स्वरूप मुझपर आपका साक्षात् प्रसाद है। मुझे अनुगृहीत करनेके लिये ही आपने इसे प्रकट किया है। कौन कहता है कि यह पंचभूतोंकी रचना है। यह तो अप्राकृत शुद्ध सत्त्वमय है।—'**स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य**' ही 'चिदानन्दमय' 'इच्छामय' है।

टिप्पणी—४ ***'नरतनु धरेहु……'*** इति। अर्थात् जैसे मच्छ, कच्छ, वराह, नृसिंह आदि तन धारण किये वैसे ही अबकी संतों-देवताओंके लिये मनुष्य तन धारण किया। आप हैं तो दिव्य, पर आप जो कुछ कहते-करते हैं वह वैसा ही कहते-करते हैं जैसा प्राकृत राजा कहते-करते हैं; पर आप प्राकृत हैं नहीं। (नरतन धरनेका भाव ऊपर बाबा हरिहरप्रसादकी टिप्पणीमें देखिये। बालकाण्ड दोहा १५२ (१) ***'इच्छामय नरबेष सँवारे'*** में विस्तारसे लिखा जा चुका है वहाँ देखिये।)

टिप्पणी—५ ***'राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़……'*** इति। आँखोंसे देखकर, कानोंसे सुनकर जड़

(मूर्ख) मोहको प्राप्त होते हैं, यथा—*'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ। सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ॥'* (७। ७३) और पण्डित, बुद्धिमान् सुखी होते हैं। जैसे जगत् तो एक है पर लोभी उसे धनमय, कामी नारिमय और धीर भगवत्-मय देखते हैं, वैसे ही आपके चरितका विषय है। मूर्ख आपको प्राकृत मनुष्य मानते हैं, पण्डित संतोंके सुख देनेके लिये लीला मानते और उसीमें पगकर सुखी होते हैं। अन्यत्र भी कहा है—*'उमा रामगुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति॥'* (३ मं० सो०) *'गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुरहित दनुज बिमोहन सीला॥'* (१। ११३। ८) यही मत भुशुण्डीजीका है जैसा *'असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥'* (७। ७३। १) से स्पष्ट है। जिसे यहाँ *'बुध'* कहा है उसे वहाँ पण्डित, मुनि, सुर और जन कहा है। जिन्हें यहाँ *'मूढ़'* कहा है, उन्हींको अन्यत्र विमूढ़ और दनुज कहा है। अथवा *'बुध होहिं सुखारी'* यहाँ कहा वैसे ही *'जन सुखकारी'* उत्तरकाण्डमें कहा। इस तरह बुध (=भगवद्भक्त और पण्डित मुनि) को वैराग्य होता है।

नोट—*'तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा······'* इति। एक भाव अर्थमें ऊपर लिखा गया। और भाव ये हैं—(क) *'सब साँचा'* अर्थात् चारों पदार्थोंका देनेवाला है अतएव सत्य है। (पं० रा० कु०) (ख) *'तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा'* का भाव कि आपने मनुशतरूपाको वरदान दिया था कि *'इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥'*, पुनः ब्रह्मादिकसे भी कहा था कि *'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं दिनकर बंस उदारा॥'* (बा० १८७), उसे आप सत्य कर रहे हैं। (पं०)

यहाँतक तीनोंके स्वरूप कहकर आगे क्रमसे तीनोंके स्थान कहते हैं। निर्गुणका स्थान दोहा १२७ में कहा है।

दो०—पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ मैं पूँछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावउँ ठाउँ॥ १२७॥

सुनि मुनि बचन प्रेमरस साने। सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने॥ १॥
बालमीकि हँसि कहहिं बहोरी। बानी मधुर अमिय-रस बोरी॥ २॥

अर्थ—आपने मुझसे पूछा कि कहाँ रहूँ और मैं (यह) पूछते सकुचाता हूँ जहाँ कि आप न हों वह स्थान बता दीजिये तो मैं वही स्थान दिखा दूँ (कह दूँ)॥ १२७॥ मुनिके प्रेमरसमें साने हुए वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी सकुचाकर मनमें हँसे॥ १॥ वाल्मीकिजी हँसकर फिर मीठी, अमृतरसमें डूबी हुई वाणी बोले॥ २॥

वि० त्रि०—*'पूँछेहु······ठाउँ'* इति। आप तो ब्रह्म हैं, जीवका अभिनय करते हैं और ऐसा सच्चा अभिनय कर रहे हैं कि आपको मुझसे यह पूछनेमें संकोच नहीं है कि 'मैं कहाँ रहूँ' पर मैं तो जीव हूँ, अभिनय नहीं कर रहा हूँ; पर जानता हूँ कि आप सर्वत्र समानरूपसे व्यापक हैं अतः मुझे संकोच हो रहा है कि आपसे कैसे पूछूँ कि पहले आप वह जगह बताइये जहाँ आप न हों, तो वही जगह मैं बतला दूँ कि आप वहाँ रहिये।

प० प० प्र०—भाव कि आप एकदेशीय तो हैं नहीं। यदि मैं कहूँ कि अमुक स्थानपर रहिये तो आपमें देश परिच्छेद-दोष लगेगा। इस वाक्यसे अवतार-रहस्य खोल दिया गया। स्मरण रहे कि उस स्थानपर और कोई मुनिगण नहीं हैं। इस कथनमें गूढ़ भाव यही है कि आपने जो नाट्य आरम्भ किया है उसे आप पूर्णरूपेण निबाह रहे हैं।

नोट—१ *'मैं पूँछत सकुचाउँ'*। सकुच यह कि पूछनेमें आपकी बातका खंडन होता है, वादी-प्रतिवादी कहाऊँगा। (ख) *'जहँ न होहु'*—भाव कि अन्तर्यामी व्यापकरूपसे आप सर्वत्र हैं ही। यहाँ किया हुआ प्रश्न ही उत्तर भी है। अतः यहाँ 'चित्रोत्तर' अलंकार है। अ० रा० में भी यह प्रसंग है। मिलान यहाँ दिया जाता है।

अध्यात्म-रामायण सर्ग ६	मानस
राघवः प्राञ्जलिः प्राह वाल्मीकिं विनयान्वितः॥ ४९॥	***तब कर कमल जोरि रघुराई। बोले······।'*** (१२५। ६)
पितुराज्ञां पुरस्कृत्य	***तात बचन***
भवन्तो यदि जानन्ति किं वक्ष्यामोऽत्र कारणम्॥ ५०॥	***तुम्ह त्रिकालदरसी मुनि नाथा। बिस्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा॥'*** (१२५। ७)
यत्र मे सुखवासाय भवेत्स्थानं वदस्व तत्॥ ५०॥ **सीतया सहितः कालं किञ्चित्तत्र नयाम्यहम्।**	***अब जहँ राउर आयसु होई। अस जिय जानि कहिय सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्र सहित जहँ जाऊँ॥······बास करौं कछु काल कृपाला।'*** (१२६। २—६)
त्वमेव सर्वलोकानां निवासस्थानमुत्तमम्। **तवापि सर्वभूतानि निवाससदनानि हि॥**	***मैं पूछत सकुचाउँ। जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ॥'*** (१२७)

उपर्युक्त मिलानसे मानसके शब्दोंकी भावोत्कृष्टता प्रेमी पाठक स्वयं देख लेंगे। मानसके ***'पुनि मातु हित'*** दोहा (१२५ से ***'भूसुर रोषू'*** १२६। ४) तक, ***'सहज सरल सुनि रघुबर बानी'*** (१२६। ७) से ***'पूँछेहु मोहिं कि रहौं कहँ।'*** (१२७) तक, ये वाक्य अ० रा० में नहीं हैं। शेष दोहा १२७ की जोड़के श्लोकका अर्थ है कि आप सम्पूर्ण प्राणियोंके एक मात्र उत्तम निवासस्थान हैं और सब जीव भी आपके निवास-गृह हैं। अब पाठक देखें क्या श्लोक मानसके दोहेको पा सकता है?

नोट—२ ***'सुनि मुनि बचन······'*** इति। (क) ***'साधु-साधु बोले मुनि ज्ञानी'*** उपक्रम है। ***'सुनि मुनि बचन'*** उपसंहार है। सब वचन प्रेमसे सराबोर हैं। वाणी मधुर है, अमृतमय है, प्रेमभक्तिमय है। (ख) ***'सकुचि राम मन······'*** इति। प्रभु ऐश्वर्य गुप्त रखकर अवतारका कार्य करना चाहते हैं, यथा—***'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गए जान सब कोइ।'*** और मुनि उसे खोलते हैं, अतः मुसकराये। दूसरे, अपनी प्रशंसा सुनकर बड़े लोगोंको संकोच होता ही है। और ऐश्वर्यकी प्रशंसा भी यथार्थ ही की गयी है, इसका उत्तर क्या दें, अतः चुप रहे, यथा—***'सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।'*** (वि० १६४) (पु० रा० कु०) पुनः, मनमें मुसकाने कि प्रेमियोंसे बस नहीं चलता (वै०)। सरकार मनुष्यका अभिनय करते हुए ऐश्वर्यको ऐसा छिपा रहे हैं कि कोई जान न पाये। सर्वसाधारणसे तो वह छिप जाता है पर जहाँ स्वरूपको जाननेवाले मुनिसे काम पड़ जाता है और वे सहज स्वरूपकी कथा कहने लगते हैं, वहाँ अपनी प्रशंसा सुनकर संकोच भी होता है, यथा—***'सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई। केवट मीत कहे सुख मानत बानर-बंधु बड़ाई॥'*** और भेद खुल जानेपर मुसकराते भी हैं। वाल्मीकिजीको बड़ा मान भी रहे हैं, उनके वचनोंपर मुसकराना उनका अनादर है, अतः ***'मनमहँ मुसुकाने'***। वस्तुतः वाल्मीकिजीके प्रश्नका उत्तर नहीं है। (वि० त्रि०) (ग) यदि ***'सकुचि'*** शब्द न होता तो ***'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥'*** यह कथन श्रीरामजीपर लागू होता है। हँसनेका कारण मुनिका प्रेमरस है, यथा—***'मन बिहँसे रघुबंस मनि प्रीति अलौकिक जानि।'*** (प० प० प्र०) (घ) मुसकराना ज्ञानी मुनिका ज्ञान और प्रेम देखकर प्रसन्नता होना सूचित करता है। (रा० प्र०) वा भगवान्का हास माया है, तुरन्त मनुष्यको मोहमें डाल देती है—'**हासो जनोन्मादकरी च माया।**' किंतु महर्षिपर तो वह माया चलनेसे रही; अतः मनमें ही मुसकराकर प्रभु रह गये। (श्रीचक्रजी)

नोट—३ ***'बालमीकि हँसि······'*** इति। मुनिका हँसना यह कि अच्छा लीजिये, मुझे याद आ गया कि आप कहाँ नहीं हैं अब मैं वही स्थान बताता हूँ, सुनिये। इससे जाना कि आप वहाँ नहीं हैं यदि आप वहाँ होते तो वे तरसते क्यों? इत्यादि। पंजाबीका मत है कि संकोची स्वभाव देखकर प्रसन्न हुए। पुनः अभी संतोंके हृदयमें आपका स्थान बताना है इसलिये हँसे कि अभी और सुनिये, आप इतनेहीमें सकुच रहे हैं। श्रीसुदर्शनसिंहजीका मत है कि महर्षि हँस पड़े कि प्रभो! आप अपार करुणावरुणालय हैं। कहीं आपकी माया मुझे मोहित न करे, इसलिये वात्सल्यवश आप खुलकर हँसतेतक नहीं। अच्छा अब मैं

आपको रहनेके स्थान बतलाता हूँ। (निर्विशेषरूपसे तो) आप सर्वव्यापक हैं, सर्वरूप हैं और अन्तर्यामीरूपसे सभी जीवोंके हृदयमें रहते हैं। किंतु सविशेष निखिल सौन्दर्य माधुर्यैकधाम अपने इस दिव्य साकाररूपसे स्वयं कृपा करके किसी भाग्यवान् अपने अनन्य भक्तके हृदयको ही आप पवित्र करते हैं। विश्वेश्वर! आपने इस चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्डको बनाया और फिर स्वयं इसमें प्रविष्ट हो गये; किंतु मैं दूसरे चतुर्दश भवन बता रहा हूँ। अब अपने इस नील सुन्दर धनुर्धररूपसे छोटे भाई लक्ष्मणजी तथा महारानी श्रीजानकीजीके साथ आप मेरे बताये इन भवनोंमें निवास करें।

नोट—४ ***'बानी मधुर अमियरस बोरी'*** इति।—मधुरताके सम्बन्धसे अमियरस-बोरी कहा; कैसी मीठी है जैसे अमृत हो। अथवा प्रेममय होनेसे अमियरस सानी कहा। भाव यह है कि प्रेमपूर्वक वचन कहे; वे शुष्क ज्ञानी नहीं हैं। ***'बहोरी'*** को दीप-देहली माननेसे ***'अमियरस बोरी'*** का अर्थ 'प्रेमरस सानी' होता है। जिसे 'प्रेमरस' कहा था उसीको ***'अमियरस'*** कहा है।

'चौदह-स्थान' (मेंसे प्रथम-स्थान)

सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लषन समेता॥ ३॥
जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥ ४॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥ ५॥

अर्थ—हे श्रीरामचन्द्रजी! सुनिये। अब स्थान बताता हूँ जहाँ आप श्रीसीता-लक्ष्मणसमेत निवास करें॥ ३॥ जिनके कान समुद्रके समान आपकी कथारूपिणी अनेक सुन्दर नदियोंसे सदा (रात-दिन बिना अन्तर वा बीचके) भरते ही रहते हैं पर पूर्ण (कभी) नहीं होते अर्थात् जिनकी श्रद्धा कभी भी नहीं घटती, बराबर बनी ही रहती है,उनके हृदय आपके लिये सुन्दर घर हैं॥ ४-५॥

नोट—१ यहाँ वाल्मीकिजीने १४ स्थान बताये हैं। ये प्रभुकी प्राप्तिके चौदह साधन हैं, या यों कहिये कि ये १४ प्रकारकी भक्तियाँ हैं। प्रथम ही, स्थान बनानेके पूर्व ही कहा है कि ***'जहाँ बसहु सिय लषन समेता'*** और आगे कहीं तीनोंका बसना, कहीं दोका और कहीं अकेले श्रीरामजीका ही बसना कहा गया है। जिससे सम्भव है कि यह समझा जाय कि जहाँ एकको कहा वहाँ एकहीका वास होगा, जहाँ दो वहाँ दोका ही। अतएव पूज्य कविने आदिमें ही तीनोंका बसना कहकर इसके अनुरोधसे चौदहों स्थानोंमें इन तीनोंका निवास जना दिया है; और आगे जहाँ जिस छन्दमें जितने नामोंकी समायी देखेंगे उतने ही नाम देंगे, परंतु सब स्थानोंमें (प्रथमके अनुरोधसे) तीनोंको समझ लेना होगा। (प्र० सं०) पूर्व कहा था कि ***'जहँ न होहु तहँ…… '*** अर्थात् आप सत्तामात्र व्यापक रीतिसे सर्वत्र हैं, अब जहाँ मैं कहता हूँ वहाँ मूर्तिमान् होकर बसिये। इसीसे कहा कि ***'जहाँ बसहु सिय लषन समेता।'*** (पं० रामकुमारजी)

नोट—२ व्यापक अव्यक्त ब्रह्मके हृदयमें रहते हुए भी जीवके दुःखी रहनेका कारण मोह है। इस मोहनिशामें जीव सो रहा है। ***'जानिय तबहि जीव जग जागा जब सब बिषय बिलास बिरागा।'*** लक्ष्मणजी वैराग्यरूप हैं। हृदयमें उनका निवास होनेसे जागृति होगी। अतः लक्ष्मणजीके सहित बसना कहा। पर वैराग्य भी तो अग्नि ही है। अतः क्लेशहारिणी सर्वश्रेयस्करी शान्ति भक्ति श्रीसीताजीके सहित बसना कहा। (प० प० प्र०)

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—जब श्रीरामजीने मुनिके वचनका कुछ उत्तर न दिया, चुप रहे। तब उत्तर न पाकर मुनिजी कहते हैं कि स्थान तो ऐसा नहीं है जहाँ आप न हों, पर इस भाँति अव्यक्तरूपसे रहनेसे भक्तोंको कोई विशेष लाभ नहीं है। यथा—***'ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी॥ अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥'*** व्यक्तरूपसे रहनेके लिये मैं निकेत (घर) बतलाऊँगा। यहाँपर घर बतलानेके व्याजसे मुनिजी सम्पूर्ण रामायण कह गये। मुनिजीने १४ प्रकारके भक्तोंका वर्णन किया है और दो-दो प्रकारके भक्तोंका वर्णन क्रमसे सातों काण्डोंमें है। भक्त और भगवान्का वर्णन दो नहीं है, भक्तके वर्णनमें भगवान्का वर्णन न होगा तो और क्या होगा?

बालकाण्डके पूर्वार्धमें पहले प्रकारके भक्तका वर्णन, उत्तरार्धमें दूसरे प्रकारके भक्तका वर्णन, अयोध्याकाण्डके पूर्वार्धमें तीसरे प्रकारके भक्तका वर्णन, उत्तरार्धमें चौथे प्रकारका वर्णन। इसी भाँति सातों काण्डोंमें देखते चले जाइये।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—(क) नवधा भक्तिके वर्णनमें चाहे आप 'श्रवण-कीर्तन' मेंसे 'श्रवण' को प्रथम भक्ति मानें या *'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा'* कहें, तात्पर्य दोनोंका एक ही है। संतोके समाजमें बराबर भगवद्‌गुणानुवाद होता रहता है। यथा—'**सतां प्रसंगान् मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।**' (भा० ३। २५। २५) (ख) अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थके लिये कहे गये हैं। इनमें भी अर्थ और धर्म कोई स्वतन्त्र पुरुषार्थ पुरुषके नहीं है। अर्थ स्वयं प्रयोजन नहीं है। उसका प्रयोजन या तो कामनाओंकी तृप्तिके लिये है या धर्मके लिये। इसी प्रकार धर्मका प्रयोजन भी या तो स्वर्ग सुखरूप लोकान्तरमें कामनाओंकी प्राप्तिके लिये है या अन्तःकरणकी शुद्धि करके मोक्षका हेतु बननेके लिये। स्वतन्त्र पुरुषार्थ हैं काम और मोक्ष। इनमें काम पतनका कारण है उसमें तृप्ति नहीं है। केवल क्लेश, श्रम और अशान्ति ही उसमें है। जो भी विचारशील होगा उसे मानना पड़ेगा कि मनुष्यका सच्चा पुरुषार्थ केवल मोक्ष है। मोक्षकी प्राप्ति होती है चित्तकी पूर्णतः शुद्धि होनेपर। वैसे तो चित्तशुद्धिके अनेक साधन हैं; किंतु भगवत्कथाश्रवण-जैसा सुगम साधन दूसरा कोई भी नहीं है। यथा—'**पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्। पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्॥**' (भा० २। २। ३७) जो सत्पुरुष अपने कानोंके द्वारा भगवान्‌की कथारूप अमृतका पान करते हैं, उनका विषयोंसे दूषित चित्त पवित्र हो जाता है और वे भगवान्‌के चरणकमलोंके पास पहुँच जाते हैं। वह पुरुष तो पशुओंमें भी कुत्ता, विष्ठाकीट, ग्रामसूकर, ऊँट या गधा है, जिसके कानोंमें भगवान्‌का मंगलमय नाम नहीं पहुँचा। यथा—'**श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः। न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥**' (भा० २।३।१९)

पु० रामकुमारजी—१ (क) नवधाभक्तिमें श्रवणभक्ति प्रथम है। यथा—'**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥**' (भा० ७।५।२३) (प्रह्लादजीके वाक्य हैं), *'श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं।'* (३।१६।८) अतएव प्रथम श्रवणभक्तिसे ही प्रारम्भ किया। (ख) *'जिन्हके श्रवन समुद्र······गृह रूरे'* इति। कानपर समुद्रका आरोप हुआ अतः कथाओंपर अनेक सुन्दर बड़ी-बड़ी नदियोंका आरोप किया गया। अनेकों नदियाँ दिनरात बहकर समुद्रमें जाती हैं पर वह कभी अघाता नहीं, ऐसा कदापि नहीं होता कि वह परिपूर्ण भर गया, अब उसको जल न चाहिये। वैसे ही करोड़ों प्रकारके आपके चरित *'रामायन सतकोटि अपारा'* कानसे जो नित्य सुनते हैं पर कभी तृप्त नहीं होते, यह कभी नहीं कहते कि बस बहुत हो चुका अब न सुनेंगे, जो ऐसे गम्भीर, अलोभ हृदयके हैं, उनके हृदय सुन्दर घर हैं। सुभगसे पवित्र और बड़ी नदियोंसे तात्पर्य है जो समुद्रतक जाती हैं। *'गृह रूरे'* अर्थात् जो कुछ भी चाहिये वह सभी पदार्थ उसमें मौजूद हैं। (*'श्रवन समुद्र समाना'* में गम्भीरता धर्म लुप्त होनेसे 'धर्मलुप्तोपमा' है)। कथा-सरितमें रूपक अलंकार है।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—*'कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना'* इति। समुद्र कभी अस्वीकार नहीं करता किसी छोटी नदीको अपनेमें मिलानेसे। नदी छोटी हो या बड़ी, उथली हो या गहरी, आती जाय या मिलती जाय, न वहाँ 'ना' है, न बस है। ऐसे ही जो नहीं देखते कि वक्ता विद्वान् है या नहीं, कथाकी भाषा लच्छेदार है या नहीं, हँसाने रुलानेकी कला है या नहीं, कथामें जिन्हें यह आग्रह भी नहीं कि भगवान्‌के अमुक अवतारकी कथा हो, और अमुकको नहीं। केवल भगवान्‌की कथा हो, सांसारिक वार्ता न हो—बस; फिर जिनके कान बराबर सुननेको प्यासे रहते हैं, जिन्हें न आलस्य आता और न ऊबना आता, जो सुनना चाहते हैं—बराबर सुननेको उत्सुक रहते हैं, कोई बालक-वृद्ध, विद्वान्-मूर्ख, पढ़ा-अनपढ़ा उन्हें भगवान्‌की कथा भर सुनावे। ऐसे श्रवननिष्ठ भक्तोंके हृदय ही श्रीरामके सुन्दरतम सदन हैं। श्रीमद्भागवतमें श्रवणकी ऐसी उत्कट निष्ठा आदिराज महाराज पृथुमें वर्णित है। वे भगवान्‌से वरदान माँगते हुए प्रार्थना

करते हैं—'**न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः। महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥**' (४। २०। २४)

मेरे स्वामी! मुझे ऐसी किसी वस्तु या स्थानकी कामना नहीं जहाँ आपके श्रीचरणोंसे झरता वह अमृत जो महापुरुषोंके हृदयसे उनके मुखके द्वारा निकला न करता हो अर्थात् जहाँ सन्त सत्पुरुष निरन्तर आपके अमृतरूप लीलाचरितोंका वर्णन न करते हों। प्रभो! आपकी वह अमृतमय कथा सुननेके लिये मुझे एक सहस्र कान (मेरे कानोंमें सहस्र कानोंकी शक्ति) दे दीजिये, यही वरदान चाहिये मुझे!

प० प० प्र०—(क) ***'कथा तुम्हारि'*** अर्थात् सगुण रूपके चरित्र। निर्गुणकथा नहीं होती। अकथकी कहानी होती है। यथा—***'सुनहु तात यह अकथ कहानी'***। (ख) ***'सुभग सरि'*** इति। नदीकी सुन्दरता केवल बाह्य सौन्दर्यपर निर्भर नहीं रहती। सुभग सरितामें क्या गुण होने चाहिये यह बालकाण्ड मानस-प्रकरणमें (***'चली सुभग कबिता सरिता सो।'*** (३९। ११ से दोहा ४३। १ तक) वर्णन किया गया है और रामकथा सरितामें ये गुण किस प्रकार रहते हैं यह भी वहाँ सांगरूपकद्वारा वर्णित है। (ग) ***'गृह रूरे'*** इति। ***रूरे***=सुन्दर शुद्ध सात्त्विक। समुचित गृहमें कौन-कौन गुण होने चाहिये यह आगे सदन सुखदायक, शुभ सदन, आदि शब्दोंसे सूचित किया है। (घ) पंचज्ञानेन्द्रियोंमेंसे श्रवणेन्द्रियमात्रका ही उपयोग करके प्रेमाभक्ति और श्रीसीतारामलक्ष्मणका हृदयमें निवास प्राप्त किया जा सकता है यह यहाँ बताया।

वि० त्रि०—बालकाण्डके पूर्वार्धमें मुख्य श्रोता भरद्वाज और उमाका वर्णन है। इन्हींके प्रश्नपर पूरी रामायण कही गयी, पर पूर्वार्धमें इन्हींकी प्रश्न-सम्बन्धी बातें हैं। इनकी तृप्ति कथा सुननेसे नहीं होती। यथा—***'नाथ तवानन ससि श्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर॥'*** (७। ५२) ये दोनों प्रथम प्रकारके भक्त हैं।

भरद्वाजजीकी कथापर बड़ी लालसा बढ़ी। वे कथामें ऐसे लीन हुए कि कोई प्रश्न भी नहीं किया। ग्रन्थकी समाप्तिपर न तो भरद्वाजजीकी कृतज्ञता-प्रकाश है, न याज्ञवल्क्यजीकी बिदाई है। इससे सिद्ध हुआ कि दोनों महात्मा यावज्जीवन कथा कहते-सुनते रह गये, तृप्ति न हुई। उमाकी तृप्ति न हुई यह उन्होंने स्वयं कहा है।

नोट—३ ☞ इस निकेतनका वर्णन करके जनाया कि कानोंके सफल होनेका यही साधन है। इनका सदुपयोग निरन्तर श्रीरामचरित-श्रवण ही है अन्यथा ये सर्पके बिलके समान हैं। यथा—***'जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवनरंध्र अहि भवन समाना॥'*** (१। ११३। ३) (विशेष १। ११३। ३ में देखिये)। आगे नेत्रोंकी सफलता कहते हैं। भगवान्‌के दर्शनके लिये ही नेत्र बनाये गये हैं। उन्हींके दर्शनसे वे सफल होते हैं। यथा—***'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥'*** (७। ७५। ६) नहीं तो वे मोरपंखके समान देखनेभरके हैं पर व्यर्थ हैं, यथा—'**बर्हायिते ते नयने नराणां लिंगानि विष्णोर्न निरीक्षते ये।**' (भा० २। ३। २२)

नोट—४ सदा भरते रहनेपर भी ***'होहिं न पूरे'*** में 'विशेषोक्ति अलंकार' है। ***'समुद्र ...... पूरे'*** में दृष्टान्तका भाव है।

गौड़जी—श्रीमद्भागवतमें नवलक्षणाभक्ति इस प्रकार बतायी है—'**श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥**' और मानसकारने शबरीके प्रति श्रीमुखसे ही और ही नव प्रकार कहलवाये हैं। इन प्रकारोंमें एक-दूसरेका अन्तर्भाव भी होता है। शबरीके प्रसंगमें (१) सत्संग, (२) कथामें रति, (३) मानरहित गुरुभक्ति, (४) कीर्तन, (५) जप, भजन, (६) सन्तवृत्ति, (७) अनन्यवृत्ति, (८) संतोषवृत्ति और (९) भगवदवलम्ब—ये नौ प्रकार कहे गये हैं। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, दास्य इन चारोंका अन्तर्भाव क्रमशः कथामें रति, कीर्तन, जप-भजन तथा अनन्य-वृत्ति, इन चारोंमें हो जाता है, अन्तर्भूतको एक ही बार जोड़ें तो कुल १४ प्रकारकी भक्ति होती है। यह प्रकार भी भक्तोंके स्वभाव और वृत्तिके अनुसार रखे गये हैं, अतः एक-दूसरेमें आंशिक अन्तर्भाव तो अवश्य ही है। शायद ही कोई भक्त ऐसा हो जिसमें एक

ही प्रकारकी भक्ति हो और दूसरे किसी प्रकारका सर्वथा अभाव हो। श्रीमद्भागवतमें उन्नीस वर्गोंमें भक्तिके अनेक प्रकार बताये हैं। शाण्डिल्य और नारदके सूत्रोंमें यथा हरिभक्तिविलासमें भी अगणित प्रकारोंका वर्णन है। तीनों गुणोंको लेकर वा उत्तम, मध्यम आदि विभाग करके भारी विस्तार किया गया है। वाल्मीकिजीने जो १४ स्थान बताये हैं, उनमें भक्तिके प्राय: सभी प्रकारोंका अन्तर्भाव हो जाता है। (१) ***'जिन्हके श्रवन······रूरे',*** यह '**श्रवणम्**' हुआ (२) ***'लोचन······रघुनायक'।*** (१२७। ६। ८) यह 'रूपासक्ति, दर्शनाभिलाषा वा विरहासक्ति' हुई (जो भक्तिका एक परममहत्त्वशालीरूप है)। (३) ***'जस तुम्हार······तासु।'*** (१२८) यह ***'कीर्तनम्'*** हुआ। (४) ***'प्रभु प्रसाद······मनमाहीं।'*** (१२९। १—५) यह 'पूजासक्ति' हुई। (५) ***'मंत्रराज······दोउ।'*** (१५९। ६-१२९) यह 'नामासक्ति' हुई। (१३०। १-२) इसमें गुरुभक्ति आदि भी शामिल हैं। (६) ***'काम······रघुराया।'*** (१३०। ३। ५) यह हुई 'ज्ञानवृत्ति'। (७) ***'सबके······मनमाहीं।'*** (१३०। ३—५) यह हुई 'भगवदवलम्बवृत्ति'। (८) ***'जननी······तुम्हारे।'*** (१३०। ६—८) यह संतवृत्ति हुई। (९) ***'स्वामि······भ्रात।'*** (१३०) यह 'सर्वस्वभाव' हुआ। (१०) ***'अवगुन······नीका।'*** (१३१। १-२) यह 'तितिक्षावृत्ति' हुई। (***'गुन······वैदेही'*** (१३१। ३-४) यह 'कार्पण्य-वृत्ति' हुई। (१२) ***'जाति······रघुराई।'*** (१३१। ५-६) यह 'वैराग्य-वृत्ति' हुई। (१३) ***'सरग······डेरा।'*** (१३१। ७-८) यह 'अनन्य-वृत्ति हुई। (१४) ***'जाहि······गेहु।'*** (१३१) यह 'शुद्ध प्रेमाभक्ति' हुई। आगे चलकर टीकामें प्रत्येक स्थानकी पूरी व्याख्या दी गयी है।

नोट—५ अध्यात्मरामायण अ० सर्ग ६ श्लोक ५१ से ६३ तकमें भी वाल्मीकिजीका इसी प्रकारसे स्थान बताना लिखा है। पर वे मानससे कम मिलते हैं।

(दूसरा स्थान)

लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥ ६॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होंहि सुखारी॥ ७॥
तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक॥ ८॥

अर्थ—जिन्होंने अपने नेत्रोंको चातक बना रखा है और आपके दर्शनरूपी मेघोंके लिये सर्वदा लालायित (इच्छुक, चाहनेवाले) रहा करते हैं॥ ६॥ बड़ी-बड़ी नदियों, समुद्रों और तालाबोंका निरादर करते हैं और आपके रूपदर्शनरूपी बूँदभर जलसे ही सुखी होते हैं॥ ७॥ उनके हृदय सुख देनेवाले घर हैं। हे रघुनायक! आप भाई और सीतासहित उनमें बसिये॥ ८॥

नोट—१ (क) चातककी अनन्यता गोस्वामीजीने सतसई और दोहावलीमें गायी है। उसीसे यहाँ अनन्यभक्तोंका रूपक बाँधा गया है। चातककी अनन्यवृत्तिसूचक कुछ दोहे ये हैं—

गंगा जमुना सरसुती सात सिंधु भरि पूरि। तुलसी चातक के मते बिना स्वाति सब धूरि॥
बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक। तुलसी परी न चाहिये चतुर चातकहि चूक॥ २८२॥
उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर। चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥ २८३॥
तीन लोक तिहुँ काल जस चातक ही के माथ। तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ॥ २८८॥
जीव चराचर जहँ लगे है सबको हित मेह। तुलसी चातक मन बस्यो घन सो सहज सनेह॥ २९४॥
बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्यजल उलटि उठाई चोंच। तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥ ३०२॥
तुलसी चातक देत सिख सुतहिं बार ही बार। तात न तर्पन कीजियो बिना बारिधर धार॥ ३०४॥
उष्नकाल अरु देह खिन मगपंथी तन ऊख। चातक बतियाँ ना रुची अन जल सींचे रूख॥ ३१०॥

प० पु० पातालखण्डमें चातकवृत्तिपर पं० श्रीकान्तशरण यह श्लोक कहते हैं—'**आश्रित्य चातकीं वृत्तिं देहपातावधिं द्विज। सरः समुद्रनद्यादीन् विहाय चातको यथा॥ तृषितो म्रियते वापि याचते वा पयोधरम्।**' इन उद्धरणोंसे चातककी अनन्यता भलीभाँति समझमें आ जायगी। विशेष दोहावली आदिमें देखिये। यह गंगा-यमुना-सरस्वती आदि पावन नदियों, मानस-सरोवर आदि तालाबों और सप्त समुद्रोंतकके जलका घोर निरादर

करके शरद् ऋतुके स्वातिजलके एक बूँदमात्रको ग्रहण करता है। वैसे ही आपके अनन्यभक्त समस्त स्वर्गादितकका ऐश्वर्य ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्तिरूपिणी सरिताओं, अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म तथा अन्य सगुण स्वरूपों और अन्य देवोपासनारूपी समुद्रों और कर्मज्ञानादि नाना धर्मोंरूपी तालाबोंको छोड़कर केवल आपके निमिषमात्रके दर्शनरूपी स्वातिबूँदके प्यासे बने रहते और उसीसे तृप्त होते हैं। (ख) इस स्थानमें 'विरहासक्ति' प्रकारकी भक्ति कही गयी है। मिलान कीजिये—***'एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास। रामरूप स्वाती जलद*** (***एक राम घनश्याम हित।*** दोहावली २७७) ***' चातक तुलसीदास॥*** वै० सं०।', ***'जानकीजीवनकी बलि जैहौं। रोकिहैं नयन बिलोकत औरहि सीस ईसही नैहौं'''''' ॥'*** इति विनये। ***'तुम ओर हमारी लखो न लखो हमें रूप पयोनिधि थाहने हैं'*** (दीनजीकृत)। ***'सखा प्रिय नृपद्वार ठाढ़े बिपुल बालक बृन्द॥ तृषित तुम्हारे दरसकारन चतुर चातक दास। बपुष बारिद बरषि छबिजल हरहु लोचन प्यास।'*** (गी० १।३८) ***'बलि साँवरी सूरति मोहनी मूरति आँखिन को तनि आइ दिखावो। चातकि सी मरैं प्यासी परी इन्ह पापिन्ह रूपसुधा निज प्यावो॥'***

नोट—२ इस विरहासक्ति प्रकारकी भक्तिके मनुशतरूपाजी और सुतीक्ष्णजी उदाहरण हैं, यथा—***'बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा॥ माँगहु बर बहु भाँति लुभाए। परम धीर नहिं चलहिं चलाए॥''''''देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।'*** त्रिदेवकी ओर देखातक नहीं यह अनन्यता। पुनः परम प्रभुके दर्शनकी एकमात्र चाह थी उसको पाकर भी पूर्ण सुखी नहीं हुए बल्कि निरन्तर पानेकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये स्वयं भगवान्‌को ही पुत्ररूपमें माँगा। और इसी प्रकार सुतीक्ष्णजीने चतुर्भुजरूपतकका निरादर किया। सुतीक्ष्णजी, कुछ और नहीं तो, अगस्त्यजीके यहाँतक साथ चलनेका ही बहाना करके थोड़ी देरतक और दर्शनका लाभ उठाते रहे। यह दर्शनाभिलाषा और अनन्यता है। ***'भूपरूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप देखावा॥ मुनि अकुलाइ उठा पुनि कैसे। बिकल हीनमनि फनिबर जैसे॥'*** (३।१०।१७-१८)

नोट—३ वि० त्रि० जी लिखते हैं कि बालकाण्डके उत्तरार्द्धमें श्रीमनु, शतरूपा, महाराज दशरथ, महाराज जनक और विदेहराज समाजसम्बन्धी सब आते हैं। इन सबोंने अपने लोचनोंको चातक बना रखा है और श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनसे सुखी हैं।

श्रीमनु-शतरूपाजीका विधि-हरि-हरके प्रलोभनमें न आना सरित-सिंधु-सरका निरादर है। महाराज दशरथके लिये विख्यात है कि ***'जियत रामबिधुबदन निहारा। राम बिरह मरि मरन सँवारा॥'*** जनक महाराजजी कहते हैं कि ***'इन्हहिं देखि मन अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥'*** पुरवासी कहते हैं—***'जिन्ह निज रूप मोहिनी डारी। कीन्हें स्वबस सकल नर नारी॥ सखि हमरे आरति अति ताते। कबहुँक ये आवहिं एहि नाते॥'***

नोट—४ उपर्युक्त उद्धरणोंका निष्कर्ष यह है कि जिनके नेत्रोंमें वही प्यास है (श्रीरामकी एक झाँकी पानेके लिये) जो चातकमें स्वातीकी बूँदके लिये होती है, जिनकी प्रतीक्षा चातकके समान निरन्तर चलती है, कभी टूटती या थकती नहीं, जिनका विश्वास कभी डिगता नहीं, जिन्हें कभी निराशा नहीं घेरती, अनेकों कष्ट आनेपर भी जो न तो आराध्यमें दोष देखते और न एक क्षणके लिये भी दर्शनकी प्रतीक्षासे विचलित होते, जिनके मन एवं नेत्रोंको संसारके रूप तो भला खींच ही क्या सकते हैं, आराध्यरूपसे भिन्न भगवान्‌के भी दूसरे रूप खींच नहीं पाते, सफलता शीघ्र हो इस लोभमें स्वप्नमें भी जो इष्टरूप तथा मन्त्रके परिवर्तनकी बात सोच नहीं सकते, वे ही महाभाग ऐसे हैं कि श्रीराम उनके हृदयमें निवास करें। श्रीकोसलराजकुमारको आनन्द देनेवाला सदन तो उनका ही हृदय-मन्दिर है। (श्रीसुदर्शनसिंह)। ***'लोचन चातक करि राखे'*** में 'द्वितीय निदर्शना' और 'दरस जलधर' में 'रूपक' है।

अ० दी० चु०—यह (प्रेम उपासन) पर उपासनाका सिद्धान्त है जो प्रेमकी बारहवीं सन्तृप्त दशा है। यथा—***'साधनशून्य लिए शरणागत नैन रँगे अनुराग निशा है। पावक ब्योम जलानिल भूतल बाहर भीतर रूप बसा है॥ चिंतब नाहमें बुद्धिमई मधु ज्यों मखियाँ मन जाइ फँसा है। बैजसुनाथ सदा रस एकहि या बिधि सो संतृप्त दशा है॥'***

* 'निदरहिं सरित सिंधु सर भारी' *

भक्तोंके पक्षमें *'सरित-सिंधु-सर-भारी'* क्या है, इस विषयमें महानुभावोंने अपना-अपना मत प्रकट किया है। सब एकमत नहीं हैं। पं० रामकुमारके मतानुसार ऋद्धि-सिद्ध-सम्पत्ति भारी सरिताएँ हैं, यथा— *'रिधि-सिधि-संपति नदी सुहाई।'* (२।१।३), *'जो आनंदसिंधु सुख रासी'* (निर्गुण ब्रह्म) और *'धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना।'* (७।३१।७)

अनन्य भक्तोंने इनका निरादर किया है। इसके उदाहरण इसी ग्रन्थमें मिलते हैं। जैसे—*'जरउ सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ॥'* (१८५) ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्तिका रूपक नदीसे इस काण्डके आदिमें कविने दिया ही है और यह भी दिखाया है कि इनको पाकर भी अवधवासी सुखी नहीं हैं, यहाँ तो *'सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद मुखचंदु निहारी॥'* (२।१।६) यह ऋद्धि-सिद्धि आदिका त्याग है *'बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा।'* (१।२१६।५) और यह निर्गुण ब्रह्मरूपी समुद्रका निरादर है *'सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥'* (२९१।१) यह धर्म-कर्म-रूपी सरका त्याग है।

मानस-मयंककार कहते हैं कि अपर मतमतान्तर एवं उपासना, ज्ञानादि सरित् सिन्धु-सर हैं। पंजाबीजी लिखते हैं कि अन्य देवी-देवताओंसे सुख-जलकी इच्छा न करना सरितादिका निरादर है। और, बाबा हरिहरप्रसादजी, सांख्य, वेदान्त और योगजनित ज्ञानको सरित् आदि कहते हैं। कोई प्रभुसे भिन्न कर्म, ज्ञान और उपासनाको सर, सरित, सिन्धु कहते हैं—*'करमठ कठमलिया कहे ज्ञानी ज्ञान बिहीन। तुलसी त्रिपथ बिहाइ गो राम दुआरे दीन॥'* बैजनाथजी लिखते हैं कि ऋषि-मुनि-सिद्ध आदि सर हैं, इन्द्र आदि नदी और अवतार आदि अपर भगवद्रूप समुद्र हैं, इन सबसे मुख फेरे हैं, यह अनन्यता है।

☞ यह सिन्धुके स्थानपर निर्गुण ब्रह्मके अतिरिक्त चतुर्भुज आदि अन्य स्वरूप एवम् त्रिदेव, पंचदेव आदि अन्य सबकी उपासना ले लें तो पण्डित रामकुमारजीके भावमें सबके मतोंका भी ग्रहण हो जाता है।

इसपर कहा जाता है कि 'अन्य भगवद्रूप सगुण ब्रह्मकी अवस्था मात्र है और सब देवता अंग हैं। साधककी यह दृष्टि रहनेसे वे अनन्यताके बाधक नहीं होते।' पर जहाँ श्रीहनुमान्‌जी, श्रीलक्ष्मणजी ऐसे अनन्य भक्तोंकी अनन्यता दिखायी गयी है वहाँ शंकरादि अन्य देवताओं, ईश्वरोंकी कौन कहे अन्य भगवद्रूपोंको भी उनकी अनन्यता नहीं सह सकी है। सुतीक्ष्णजी चतुर्भुजरूपको न सह सके। यथा—*'भूप रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप देखावा॥ मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। बिकल हीन मनि फनिबर जैसे॥'* (३-१०-१७-१८) गोस्वामी तुलसीदासजीका वृन्दावनका चरित्र विख्यात ही है *'ब्रजनाथ भये रघुनाथ',* तथा—*'जौ जगदीस तो अति भलो जौ महीस बड़ भाग। तुलसी चाहत राम पद जनम जनम अनुराग॥'* इसी अनन्यतासे श्रीमद्‌गोस्वामीजीने अपनेको चातक कहा है।

श्रीनंगेपरमहंसजीका मत है कि 'सिन्धुकी उपमामें देवलोककी अप्सराएँ हैं, सरित् सरकी उपमामें मर्त्यलोककी गणिकाएँ तथा अन्य स्त्रियाँ हैं। इनके रूपोंको तुच्छ करके श्रीरघुनाथजीके रूपसे तृप्त होते हैं।'

इन दोनों वाक्योंमें बिना वाचक पदके बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव झलकनेसे यहाँ 'दृष्टान्त अलंकार' है।'

नोट—५ (क) *'रूप बिन्दु जल'* इति। दर्शनका रूपक मेघसे किया गया है यथा—*'रहहिं दरस जलधर अभिलाषे'* और यहाँ रूपको बिन्दुजल कहा है। इसका भाव यह जान पड़ता है कि यहाँ रूपकी एक झाँकी, निमिषमात्रके क्षणिक दर्शनसे तात्पर्य है। ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्ति, ब्रह्मसुख आदि और कर्म-धर्म दर्शन नहीं है; इसीसे उनसे सुखी नहीं होते और न भूलकर उनपर पग धरते हैं। अथवा, मेघ असंख्य बूँदें बरसता है और निरन्तर बरसता है। यहाँ दरसजलधरसे निरन्तर भगवद्दर्शन लाभ अभिप्रेत है।

(ख) स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि श्रीरामचन्द्रजीके ही विविध रूप जो मानसमें यत्र-तत्र वर्णित हैं (जैसे कि अवताररूप १।१९२ में, शिशुरूप १।१९९ में, बालरूप १।२०३ में, किशोररूप १।२०९ में; अहल्योद्धारक राम १।२११ में, जनकपुर-निरीक्षक राम १।२१९ में, पुष्पवाटिकानिरीक्षक राम

१।२३३ में, धनुषयज्ञशालाके राजसमाजमें विराजमान रूप १।२४३ में, दूलहरूप १।३१६ में। इसी तरह मुनिवेषधारी राम, जटायुगतिदाता, शबरीगतिदाता, सुवेल झाँकीवाले राम, सिंहासनासीन राम, इत्यादि इनमेंसे किसी भी एक रूपके लिये तृषित होते हैं और उस रूपका दर्शन पाकर सुखी होते हैं।

(ग) ***'हृदय सदन'*** में सम अभेद रूपक है। ***'सुखदायक'*** अर्थात् यहाँ आपके सुखकी सब सामग्री है। यहाँ सुखसागरको भी सुख मिलता है। (घ) यहाँ नेत्र-इन्द्रियका प्रभुमें लगाना, नेत्रेन्द्रिय द्वारा सेवासे प्रभुकी प्राप्ति कही। पर यह स्मरण रखना चाहिये कि नेत्र जब चातक बन जायँगे, जब दर्शनोंकी उत्कण्ठासे प्राण तड़पने लगेंगे तभी दर्शन होनेमें देर न लगेगी।

(तीसरा स्थान)

दो०—जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुनगन चुनइ राम बसहु हिय तासु॥ १२८॥

शब्दार्थ—**मुकताहल**=मोतियोंका समूह, यथा—***'बिछुरे नभ मुकुताहल तारा।'*** (६।१२।३)

अर्थ—आपके यशरूपी निर्मल मानस-सरोवरमें जिसकी जिह्वा हंसिनीरूप होकर आपके गुणसमूहरूप मोती समूहको चुगती है, हे राम! आप उसके हृदयमें वास कीजिये॥ १२८॥

नोट—१ (क) हंस-हंसिनी मानससरमें निवास करते हैं और मोती चुगते हैं, यथा—***'सुरसर सुभग बनज बनचारी। डाबर जोगु कि हंसकुमारी॥'*** (६०।५) उसीसे यहाँ रूपक बाँधा है। जिह्वा स्त्रीलिंग है, अतः हंसिनीकी उपमा दी। (ख) यशको मानस कहा, पर यह यश मानससरमें अधिक स्वच्छ, दिव्य, नित्य, अक्षय और अविकृत है। वहाँ मोती बहुत, यहाँ प्रभुके दिव्य गुण धैर्य, गम्भीरता, उदारता, सुशीलता, वात्सल्य, करुणा आदि अनन्त। इन्हीं गुणोंका दिन-रात गान, कीर्तन, कथन इत्यादि जिह्वासे करते रहते हैं, यही चुगना है। पंजाबीजी लिखते हैं कि मानससरमें अनेक पदार्थ हैं पर हंसिनी मोती ही चुगती है। वैसे ही निगमागममें बहुतसे प्रसंग हैं पर आपके भक्त आपके गुणोंको ही चुनकर ले लेते हैं। यहाँ 'परंपरित रूपक अलंकार' है।

पण्डित रामकुमारजी दूसरा भाव यह कहते हैं—***'जस तुम्हार मानस बिमल'*** अर्थात् आपका यश मानसके सातों काण्डोंमें है। इसीमें रहकर केवल आपके गुणगणोंको पान करते हैं। यह कीर्तन-भक्ति है।

(ग) जिह्वाके दो कार्य हैं, रसज्ञता और भाषण। भगवान्‌के अनन्त गुणोंका रस जानकर उनका कीर्तन करते हैं, इसी रसमें मस्त रहते हैं। जिह्वा रामविमलयशरूपी मानससरमें तैरा करती है और ***'जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई'*** गूढ़ भावोंको जानकर रसास्वादमें मग्न रहती है। हंसिनी नीर-क्षीर-विवरण-विवेककी निदर्शक है। (प० प० प्र०)

नोट—२ इस काण्डके पूर्वार्धमें दिन-रात श्रीरामजीके गुणशील स्वभावकी चर्चा चला करती है। चक्रवर्तीजीको सब समाचार पहुँचा करता है। अतः इन्हीं मुक्ताहल गुणगण चुननेवालोंके विषयकी कथा पूर्वार्धमें है। इस प्रकारके भक्त समुचित अवधवासी हैं, यथा—***'रामरूप गुन सील सुभाऊ। प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ॥', 'सेवक सचिव सकल पुरबासी। जे हमरे अरि मित्र उदासी॥ सबहि राम प्रिय जेहि बिधि मोही।'*** इस बातको बहुत स्पष्ट उत्तरकाण्डमें किया है। यथा—***'जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परसपर इहइ सिखावहिं॥'*** (३०।१) से ***'एहि बिधि नगर नारि नर करहिं राम गुन गान।'*** (३०) तक (वि० त्रि०)।

नोट—३ ☞ यहाँ रसनेन्द्रियमात्रसे प्रभुकी प्राप्ति कही। यह कीर्तन—भक्ति है। इस भक्तिके लिये यह भगवद्वाक्य सदा स्मरण रखना चाहिये कि '**नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥**' मैं सदैव वहाँ रहता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरा कीर्तन करते हैं। पर, हाँ! जिह्वाकी हंसिनीके समान 'नीर-क्षीर-विवरण-गति' होनी चाहिये। सांसारिक विषयवार्ताको यथाशक्य सर्वथा छोड़कर एकमात्र श्रीरामगुणगानमें निरन्तर लगी रहनी चाहिये, बिना गुणगानके जिह्वा किसी भी प्रकार रह ही न सके। यह साधन भी अपने-आपमें पूर्ण है, यह दृढ़ विश्वास रहे।

बैजनाथजी इसे 'गोप्तृत्ववर्णन' शरणागति मानते हैं।

नोट—४ ☞ रसनेन्द्रियकी सार्थकता बतायी। जिह्वा प्रभुके गुणगानमें लगनेसे ही सुफल होती है, नहीं तो मरे हुए चमड़ेके समान मुँहसे निकाल डालने योग्य है। वह मेंढककी जीभके समान है। यथा—*'जो नहिं करइ रामगुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥'* (१। ११३) **'जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥'** (भा० २। ३। २०) आगे अन्य इन्द्रियोंकी सार्थकता बताते हैं।

(चौथा स्थान)

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा॥ १॥
तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥ २॥
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी॥ ३॥
कर नित करहिं रामपद पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा॥ ४॥
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं॥ ५॥

अर्थ—जिनकी नासिका नित्य आदरपूर्वक आपका प्रसादित पवित्र-सुन्दर-सुगन्ध (इत्र-फूल-माला-तुलसी आदि) सूँघती है॥ १॥ जो आपको नैवेद्य लगाकर (वा, आपको भोग लगाया हुआ या अर्पण करके) भोजन करते हैं, आपका प्रसादस्वरूप ही वस्त्राभूषण धारण करते हैं॥ २॥[१] देवता, गुरु और ब्राह्मणको देखकर माथा नवाते और प्रेमसे बहुत विनती करते हैं; अर्थात् दीनतासहित उनकी बड़ाई करते हैं॥ ३॥ नित्य अपने हाथोंसे श्रीरामजीके (आपके) चरणोंकी पूजा करते हैं[२] और जिनके हृदयमें श्रीरामजीका ही भरोसा है, दूसरा नहीं॥ ४॥ चरणोंसे (सवारीपर नहीं) श्रीरामजीके तीर्थोंमें चलकर जाते हैं—'हे राम! आप उनके मनमें बसिये'॥ ५॥

नोट—१ यह प्रसंग विशेषतः गृहस्थोंमें ही घटित होता है। *'सीस नवहिं'''''''''''* 'यहाँतक अर्चन-वन्दन भक्ति है। *'कर नित करहिं''''''* 'यह पाद-सेवन भक्ति है। ऊपर श्रवण, नेत्र और रसना तीन ज्ञानेन्द्रियोंकी भक्ति कह आये। चतुर्थ भक्तिमें अन्य अष्ट अंगों (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों) से तथा मनसे अर्चन-भक्ति करना कहते हैं। *'लहइ नित नासा'* (नासिका), *'भोजन करहीं'* (मुख) *'पट भूषन धरहीं'* (त्वचा), *'सीस नवहिं'* (सिर), *'कर नित करहिं'* (दोनों हाथ), *'चरन राम तीरथ चलि जाहीं'* (दोनों चरण), *'प्रीति सहित'* और *'राम भरोस हृदय'* (यह मन वा अन्तःकरण)।

नोट—२ (क) *'प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा'* इति। यहाँ नासिका इन्द्रियकी चर्चा होनेसे सुगन्धित तुलसी, पुष्प, पुष्पमाला, अतर आदिकी सुगन्ध प्रसाद रूपमें अभिप्रेत हैं। प्रसाद, पुष्प, माला आदि जो भगवान्पर चढ़ाये वा निवेदित किये हुए होते हैं। निर्माल्य होने वा अर्पित होनेपर वे प्रसाद होते हैं। *'सुचि सुभग'* से बताया कि प्रसाद होनेसे वह पवित्र है, हमको पवित्र करेगा, सुन्दर ऐश्वर्यसे युक्त है, ऐसा प्रभाव जानकर वे उसे ग्रहण करते हैं। स्मरण रहे कि भगवत्-प्रसाद भगवद्रूप है—**'प्रसादं जगदीशस्य ह्यन्नपानादिकं च यत्। ब्रह्मवन्निर्विकारं हि यथा विष्णुस्तथैव तत्॥'** (ख) *'सादर जासु लहइ नित नासा'* इति। सादर अर्थात् प्रसादको मस्तकसे प्रथम लगाकर तब सूँघते हैं। *'नित'* से जनाया कि प्रसाद छोड़ अन्य कुछ नहीं सूँघते हैं। तथा प्रतिदिन भगवान्का निर्माल्य प्रसाद नियमसे सूँघते हैं।

१-विभीषणजी क्या विचारते हैं उससे मिलान कीजिये—'महाराज राम पहँ जाउँगो। सुख स्वारथ परिहरि करिहौं सोइ ज्यों साहिबहि सुहाउँगो॥ १॥ सरनागत सुनि बेगि बोलिहैं हौं निपटहि सकुचाउँगो। राम गरीबनिवाज निवाजि हैं जानिहैं ठाकुर ठाउँगो॥ २॥ धरिहैं नाथ हाथ माथे एहितें केहि लाभ अघाउँगो। सपनो सो अपनो न कछू लखि लघु लालच न लोभाउँगो॥ ३॥ कहिहौं बलि रोटिहा रावरो बिनु मोलही बिकाउँगो। तुलसी पट ऊतरे ओढ़िहौं उबरी जूठनि खाउँगो'॥ ४॥—(गी० सुन्दर ३०)

२-बाबा हरिहरप्रसादजी 'कर नित करहिं' का अर्थ यों करते हैं—'पूजा जो नित्य है उसे करते हैं। वा, नित्यकृत शौचादि करके तुम्हारी पूजा नित्य करते हैं। यहाँ प्रतिमा-पूजन कहा।'

टिप्पणी—१ *'तुमहिं निबेदित……'* इति। भाव यह कि कुछ वस्तु भोजनकी मिले उसे प्रभुको अर्पण करे, यथा—'**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये। गृहाण सुमुखो भूत्वा प्रसीद परमेश्वर॥**' भगवान्‌का भोग लगाकर तब पावे। मधुकर संत मधुकरी स्थानसे लाकर उसका भी भोग लगाते हैं। जो कोई जो कुछ वृत्ति पाता है यदि वह ईमानके धन्धेसे पाता है और अपने मनमें यह दृढ़ भावना रखता है कि मेरी सारी वृत्ति भगवान्‌का प्रसाद है तो वह भी भगवत्प्रसाद या भगवद्‌निवेदित ही भोजन करता है। '**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥**' (यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र १)

नोट—३ प्रसादको प्रसादभावसे पाना चाहिये। मालपूआ, पूरी, तस्मई, मोहनभोग, शकरपुंगल, लड्डू आदिके भावसे नहीं। प्रसादमें प्रसादका स्वाद अनुभव करे। जहाँ यह विचार हुआ कि इसमें मीठा कम है, नमक नहीं है, इत्यादि तहाँ प्रसादका भाव नहीं रह गया। भगवान्‌को निवेदित किया हुआ पदार्थ जैसा हो वैसा ही पाना चाहिये। ऊपरसे मीठा, रामरस (नमक) आदि मिलानेपर प्रसादका भाव नहीं रहता। यह भी स्मरण रहे कि भगवत्-प्रसाद सदा पवित्र है, वह किसीके स्पर्शसे या जूठा करनेसे भी अपवित्र नहीं होता। ☞ स्मरण रहे कि भाव मुख्य वस्तु है। भक्त भगवत्प्रसादके भावसे ग्रहण करता है, अतः उस प्रसादके सेवनसे उसके चित्तमें विषयबुद्धिके बदले भगवद्‌बुद्धि जाग्रत् होती है उसका चित्त शुद्ध होता है और उसे भगवत्प्राप्ति होती है। तभी तो अनेकों भक्तोंको विष भी अमृत हो गया। (ख) *'प्रभु प्रसाद पटभूषन धरहीं'* इति। भगवान्‌का पहना, ओढ़ा, बिछाया, उनकी सेवामें लाया हुआ वस्त्राभूषण प्रसाद है। इसमें भाव यह है कि उत्तम वस्त्राभूषण अपनी विषयवासनाकी पूर्तिके लिये वे कभी नहीं धारण करते। उनका उतरन ही पहननेमें सुख मानते हैं और वह भी प्रभुकी सेवाके लिये ही।

नोट—४ *'सीस नवहिं सुर……'* इति। (क) सुर अर्थात् देवमन्दिरों, देवमूर्तियोंको। गुरुमें सद्‌गुरुदेव और सन्त दोनों आ गये। द्विज=विप्र, ब्राह्मण। इन तीनोंको दर्शन होनेपर प्रणाम करते हैं। मस्तक उनके आगे झुकाना चाहिये। खड़े-खड़े प्रणाम, नमस्कार, नमस्ते करना पर्याप्त नहीं है और न केवल हाथ जोड़ना; यह *'सीस नवहिं'* से जनाया। इनको देखकर मस्तक नवाते हैं; क्योंकि हमारे इष्टदेव इन्हींकी रक्षाके लिये ही तो अवतार लेते हैं। यथा—*'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।'* (२। १९२) और स्वयं उनका सदा सम्मान किया है। मानसभरमें उनका सम्मान सर्वत्र देख लीजिये। अतः भक्त उनकी उपेक्षा न करके उनका सदा सम्मान ही करता है। (ख) सुर, गुरु, द्विज तीनोंके आगे मन, कर्म, वचनसे विनम्र होना दिखाया है। *'प्रीति सहित करि'* यह मनका धर्म है। *'शीश नवाना'* कर्म वा तनसे होता है। *'करि बिनय बिसेषी'* यह वचनद्वारा होता है। (पु० रा० कु०)

नोट—५ *'कर नित करहिं……'* इति। (क) *'नित'* शब्द बताता है कि वह जो कुछ भी करता है वह सब अपने स्वामीकी आराधनाके लिये ही करता है। प्रभुकी आराधनासे जिसका सम्बन्ध न हो ऐसा कोई कर्म उनके हाथ नहीं करते। अपने शरीरके लिये, संसारके किसी कार्यके लिये जो वह हाथ हिलाता है, वह भी इसीलिये कि शरीरसे प्रभुकी सेवा होती है, संसारके उस कामको करनेसे प्रभुकी सेवा बनेगी। उसके समस्त कर्म प्रभुकी आराधना बन गये होते हैं। वह जो कुछ करता है, वह सब *'रामपदपूजा'* ही हो चुका है। (श्रीसुदर्शनसिंहजी) रामपदपूजासे षोडशोपचारादि पूजा, तुलसी, पुष्प उतारना, मन्दिरादिमें झाड़ू देना, चौका देना, वस्त्रप्रक्षालन, पार्षद अमनिया करना, भोगसामग्री, रसोईके बरतन, रसोई करना, माँजना, पंखा झलना, भगवान्‌के भक्तोंकी सेवा करना इत्यादि सब कैंकर्य आ जाता है। आजकल तो संत-वेषमें कैंकर्यका करना अपनी तौहीन समझा जाने लगा है, उसे कहारका काम कहते हैं। अस्तु, (ख) *'नित करहिं'* पर जो ऊपर लिखा गया वह स्थिति कैसे होती है, यह *'राम भरोस हृदय नहि दूजा'* से बताया। जब हृदयमें केवल श्रीरामजीका ही भरोसा रह गया हो, जब शरीर और संसारमें कोई आसक्ति न हो और न अन्यत्र कहीं आशा-भरोसा हो। प्रभु स्वयं कहते हैं—*'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहा बिस्वासा॥'* जिसके हृदयमें केवल श्रीराघवेन्द्रका भरोसा है, वह दूसरेके लिये कोई काम क्यों करेगा?

उसे अपने स्वामीको छोड़ अन्यकी सेवाका प्रयोजन ही क्या है? (श्रीसुदर्शनसिंहजी)। ☞ इससे यह उपदेश मिलता है कि भरोसा दूसरेका कदापि न करे। पूजा करे तो इस विचारसे नहीं कि दूसरे देखकर रीझें और हमको कुछ दें। जब दूसरा कोई भरोसा हो जाता है तब भगवान् निश्चिन्त हो जाते हैं। यही कारण है कि भक्तजन सब आशा-भरोसा छोड़ एक प्रभुपर ही सब भार छोड़ देते हैं, यथा—***'एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।' 'हरिजन इव परिहरि सब आसा।'*** (४। १६। ९)

नोट—६ यहाँ ***'कर नित करहिं रामपदपूजा'*** की जगह वाल्मीकिजीने ***'कर नित करि राउरि पदपूजा'*** क्यों न कहा? अर्थात् जब वे श्रीरामजीको सम्बोधन करके कहते हैं तब मध्यम पुरुषके सर्वनामका प्रयोग क्यों नहीं करते? उत्तर—यहाँ आदिसे अन्ततक वाल्मीकिजीकी गूढ़ोक्ति है। वे बातें कर रहे हैं दाशरथि रामचन्द्रजीसे। उन्होंने स्थान पूछा है तो उसके उत्तरमें स्थान बताया जाता है कि जिनके हाथ परमात्मा रामकी पूजा करते हैं उनके हृदयमें आप दाशरथि राम जाकर रहिये।

व्यंगसे यह प्रार्थना की है कि उनका मनोरथ पूर्ण कीजिये। क्योंकि वे रामपदपूजा इसलिये करते हैं कि राम उनके मनमें आकर बसें। यदि वे राम आकर नहीं बसते तो आप दशरथके पुत्र ही जाकर बसिये। यह विनोद इसी सिलसिलेमें है कि ***'जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ।'*** याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद भी साथ-ही-साथ चल रहा है। भरद्वाजजी जो वाल्मीकिजीके शिष्य हैं याज्ञवल्क्यजीसे पूछ चुके हैं कि ***'एक राम अवधेस कुमारा।''''''प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि॥'*** (१।४६) यहाँ याज्ञवल्क्यजी वाल्मीकिजीके मुखसे अर्थात् जिज्ञासुके गुरुमुखसे दाशरथि राम और परमात्मा रामकी एकता युक्तिसे प्रतिपादित करते हैं। यह सारा प्रकरण भरद्वाजजीकी जिज्ञासाका बहुत ही अनुपम उत्तर है। (गौड़जी)

नोट—७ ***'चरन रामतीरथ चलि जाहीं'*** इति। रामतीर्थ जैसे अयोध्या, मिथिला, चित्रकूट, पंचवटी इत्यादि। विनयमें कहा है—***'चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे। राम सीय आश्रमनि चलत त्यों भये न श्रमित अभागे॥'*** (१७०) ***'चलि जाहीं'*** से पैरोंसे चलकर जाना सूचित किया, सवारीपर नहीं। तीर्थयात्रा इन्द्रियोंको सफल बनानेके लिये होती है। जब चरण चलकर तीर्थमें न जायँगे और तीर्थमें भी जाकर सवारीपर जाकर दर्शन करेंगे तब तो वह सैर-सपाटा है, उससे चरण सफल नहीं होंगे। गौड़जी कहते हैं कि यहाँ यह भाव भी है कि जिन भक्तोंके चरणोंको भगवान्‌के तीर्थमें जानेकी ऐसी बान पड़ जाती है कि जाना कहीं और भी हो तो भी भक्तको उसके चरण बरबस घसीटकर श्रीरघुनाथजीके तीर्थ (मन्दिर) में पहुँच जाते हैं।

नोट—८ ☞ इस चतुर्थ स्थानमें नासिका, त्वचा, मुख, सिर, हाथों और पैरोंकी सार्थकता बतायी है। मिलान कीजिये ***'ते सिर कटु तुंबरि सम सूला। जे न नमत हरि गुर पदमूला॥'*** (१।११३।४) **'भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्। शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकंकणौ वा॥'** (भा० २।३।२१)।''''''**पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ।** (२२) **श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्।'** (२३) अर्थात् जो सिर कभी मुकुन्दके आगे नहीं झुक सके वह पट्टे और मुकुटसे सुशोभित हो तो भी भाररूप है; तथा जो हाथ कभी हरिकी सेवा नहीं करते वे सुवर्णकंकणविभूषित होनेपर भी मुर्देके हाथोंके समान हैं। वे पैर वृक्षके समान हैं जो कभी भगवान्‌के (तीर्थ-स्थानादि) क्षेत्रोंमें नहीं जाते। जो मनुष्य भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ी हुई तुलसीकी गंध नहीं जानता वह श्वास लेता हुआ भी शवके समान है।—इस प्रकार यहाँतक बताया कि जो शरीरके अंगोंको आपकी सेवामें लगाकर सफल कर लेते हैं उनके हृदयमें श्रीरामजी निवास करते हैं।

नोट—९ बैजनाथजीका मत है कि यहाँ प्रसंगभर अनुकूल ग्रहण शरणागति है। और पण्डित रामकुमारजी व गौड़जीके मतसे यह 'पूजासक्ति' या अर्चन-भक्ति है।

नोट—१० वि० त्रि०—अयोध्याकाण्डके उत्तरार्धमें चौथे प्रकारके भक्त श्रीभरतजी हैं। उनमें क्रमसे पाँचोंके

उदाहरण ये हैं—*'तेहि पुर बसहिं भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥'*, *'जात पयादे खात फल पिता दीन्ह तजि राज। जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आज॥'*, *'करि प्रनाम पूछहिं जेहि तेही। कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा।'*, *'नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समाति।'*, *'चले रामबन अटन पयादे।'* से *'देखे थल तीरथ सकल'* तक। (और भी ये हैं—*'संपति सब रघुपति कै आही।'* (१८६।३), *'आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस।'* (१८३) *'रिषि आयसु असीस सिर राखी। करि दंडवत बिनय बहु भाषी॥'* (२१६।२)

नोट—११ महाभाग श्रीअम्बरीषजी महाराजकी भक्तिसे मिलान कीजिये। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि **'स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने। करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥'** (भा० ९।४।१८) **मुकुन्दलिंगालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसंगमम्। घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥** (१९) **पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने। कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥** (२०) **एवं सदा कर्मकलापमात्मनः।'**

उन्होंने अपने मनको श्रीकृष्णपदकमलमें, वाणीको वैकुण्ठभगवान्के गुणानुवादमें; दोनों हाथोंको भगवान्के मन्दिरकी सफाई करनेमें, कानोंको अच्युतभगवान्के साथ क्रीड़ा करनेवाली कथाओंके सुननेमें, दोनों नेत्रोंको मुकुन्दभगवान्के मन्दिरोंमें भगवान्के दर्शनोंमें, त्वक् इन्द्रियोंको भगवद्दासोंके शरीर (चरणादि) के स्पर्शमें, नासिकाको भगवान्के चरणकमलोंपर चढ़ी हुई श्रीतुलसीकी सुगन्धमें, रसनाको प्रभुको अर्पण किये हुए नैवेद्य प्रसादमें, चरणोंको भगवान्के तीर्थस्थानमें पैदल यात्रा करनेमें, सिरको भगवान्के चरणोंकी वन्दनामें लगाते हैं। भगवान्की दास्यताकी कामना रहती है, सांसारिक विषयोंकी कामना नहीं होती जैसे भगवान्के भक्तोंकी प्रीति संसारके विषयोंमें नहीं होती। इसी तरह वे अपनेको भगवत्सम्बन्धित कार्योंमें लगाये रहते हैं।

(पाँचवाँ स्थान)

मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा॥ ६॥
तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेंवाइ देहिं बहु दाना॥ ७॥
तुम्ह तें अधिक गुरहि जिअ जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी॥ ८॥

दो०—सबु करि माँगहिं एक फलु रामचरन रति होउ।
तिन्ह कें मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥ १२९॥

शब्दार्थ—**तर्पण**=कर्मकाण्डकी एक क्रिया जिसमें देव, ऋषि और पितरोंको तुष्ट करनेके लिये हाथ या अरघेसे जल देते हैं। मध्याह्न स्नानके तथा संध्याके पश्चात् तर्पण करनेका विधान है।

अर्थ—जो नित्य आपका मन्त्रराज जपते हैं, परिवारसहित आपका पूजन करते हैं॥ ६॥ अनेक प्रकार और विधिसे तर्पण और होम करते हैं। ब्राह्मणोंको भोजन कराके बहुत दान देते हैं॥ ७॥ अपने हृदयमें गुरुको आपसे अधिक जीसे जानकर सर्वभावसे आदरपूर्वक गुरुकी सेवा करते हैं॥ ८॥ यह सब करके जो (इन सबका) एकमात्र फल यही माँगते हैं कि श्रीरामजीके चरणोंमें हमारा अनुराग हो, उनके हृदयरूपी मन्दिरमें रघुकुलको आनन्द देनेवाले आप और सीताजी दोनों निवास कीजिये॥ १२९॥

नोट—१ *'मंत्रराजु नित'* इति। श्रीरामषडक्षर तारकमन्त्रको मन्त्रराज कहते हैं। *'नित'* अर्थात् नियमसे कभी कोई अन्तर न पड़े, कोई दिन नागा न हो। मन्त्रजाप नवधाभक्तिमेंसे भी एक भक्ति है। (पं० रा० कु०)

☞ मानसमें महामन्त्र, मन्त्रराज और मन्त्र ये तीन शब्द जपके साथ आये हैं। श्री 'राम' नामको महामन्त्र नामवंदनाके प्रारम्भमें ही कहा है। *'महामंत्र जोइ जपत महेसू'*। यह गोस्वामीजीका वाक्य है। *'मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा'* यह यहाँ कहा जो वाल्मीकिजीका वाक्य है जो कलिमें तुलसीदासरूपसे अवतरित हुए और जो उलटा नाम जपकर ब्रह्मसमान हो गये। मन्त्रजाप *'जे राम मंत्र जपंत संत अनंत जनमन रंजनं'* यह गृध्रराज श्रीजटायुजीके वचन हैं। और, *'मन्त्रजाप मम दृढ़ बिस्वासा।'* (३।३६।१) यह श्रीरघुनाथजीका

वाक्य है। राममन्त्रोंकी संख्या नहीं है। शंकरजीका वचन है कि सात करोड़ महामन्त्र हैं पर वे सब चित्तविभ्रमकारक हैं और '**राम एव परो मन्त्रो**', 'राम' यह सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है। षडक्षर राम-तारकमन्त्र श्रीरामतापिनीयोपनिषद्‌में कहा गया है। अतएव मन्त्रराजसे दोनोंका अर्थ होता है।

श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि मानसमें 'राम' नाम ही मन्त्रराज माना गया है। किंतु जिसकी जिस नाम या मन्त्रमें निष्ठा है उसके लिये वही मन्त्रराज है। इसीलिये यहाँ मन्त्रराज कहकर उसे स्पष्ट नहीं किया। ***'तुम्हारा'*** कहकर जनाया कि वह मन्त्र भगवान्‌का ही होना चाहिये, देवी-देवताका नहीं। क्योंकि भगवान्‌का मन्त्र जपनेवाले भगवान्‌के लोकको जाते हैं और देवताओंका यजन करनेवाले देवलोक (स्वर्ग) ही पा सकते हैं जहाँसे फिर लौटना पड़ेगा।

श्रीबैजनाथजी—***'मंत्रराजु'*** इति। अब राजार्ची मार्ग कहते हैं। मन्त्रराज, यथा—'**आदि बीज पुनः चतुर्थ्यन्तनाम पुनः नमः।**' विधिवत् गुरुसे उपदेश ले, फिर अकडम चक्रसे शोधकर सुसिद्ध बीज योजित करके ताड़न, बिमली, कर्णादि संस्कार करे। मार्गशीर्ष, फाल्गुनादि मास शुक्लपक्ष, तृतीया, सप्तमी आदि तिथि, रवि, चन्द्र, गुरुवार, अश्विनी, रोहिणी, पुष्यादि नक्षत्र, सिद्धादि योग, बालवादि कर्ण, चन्द्र, तारा, शुद्ध मीनादि दिग्वारी बली लग्न, योगिनी पीछे चन्द्र सम्मुख इति मुहूर्तमें प्रारम्भ करे। कूर्मचक्रसे भूमिको शोधकर, लीपकर कूर्मचक्र लिखकर कुशासन मृगचर्मपर दिनसे दिशा शोधकर बैठे! मुख-से-मुख, पुच्छ-से-पुच्छ मिलित मन्त्रित गुही हुई तुलसीकी माला गोमुखीमें लेकर अंगन्यास, ध्यानादि करके गोमुखीको हृदयमें लगाकर अंगुष्ठ-मध्यमासे मणिको पकड़कर मन्त्रमें मन लगाकर जपे। मधुरान्न स्वल्प भोजन करे। इस विधिसे नित्य जप करते हैं। ये अर्चनवाले भक्त हैं।

पु० रा० कु०—१ ***'पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा'*** इति।—यहाँ परिवारसे मन्त्रराजका पूजन अभिप्रेत है और ऊपर जो ***'कर नित करहिं रामपद पूजा'*** कहा गया, उससे प्रतिमापूजनका तात्पर्य है। श्रीरामजीका परिवार उनके परिकर हैं, उन्हें आवरण देवता भी कहते हैं। अवधका पूजन भी इसमें सम्मिलित है। श्रीरामतापिनी उपनिषद्, रामार्चन-चन्द्रिका, अगस्त्यसंहिता और सिद्धान्ततत्त्वदीपिका आदिमें श्रीसीतारामजीका परिवारसहित पूजन कहा गया है और उसका विधान भी दिया है।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ परिवारके प्रति भी मनुष्यका कुछ कर्तव्य है। सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है परिवारको भगवान्‌की ओर प्रवृत्त करना। अतः गृहस्थको गृहस्थ धर्मका पालन करते हुए उचित मार्ग तथा परिवारके प्रति उसका वास्तविक कर्तव्य बतलाते हुए यह 'पंचम भवन' रूप साधन कहा गया है। ***'पर उपदेस कुसल बहुतेरे'*** वाली बात न होनी चाहिये। अतः पहली बात यह बतायी कि स्वयं ***'मंत्रराज नित जपहिं'*।** जब स्वयं जपेंगे तो संगका प्रभाव परिवारपर पड़ेगा। यदि परिवार शुद्ध, सात्त्विक, भगवत्सेवापरायण हो तो हमें अपने साधनमें सहज प्रोत्साहन मिले। ऐसा परिवार तपोवनसे भी उत्तम है। अतः परिवारको पूजा, सेवामें लगाया जाय। इस प्रकार परिवारके सभी कर्म भगवत्सेवास्वरूप हो जायँगे और घर जो बन्धनका कारण है वह मोक्षदाता बन जायगा।

टिप्पणी—१ ***'तरपन होम करहिं बिधि नाना'*** इति। (क) तर्पण-होमसे पितृकर्म और देवकर्म जनाये। इन्हें करके ब्रह्म भोजन और दानकी विधि है सो कही। पुनः, (ख) मन्त्रराजका जप कहकर उसकी विधि कही। जप यज्ञ है, यथा—'**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**'। यज्ञ करके तर्पण होम (मार्जन) ब्राह्मणभोजन और दक्षिणा करनी होती है, अतएव उन्हें कहा। जपका दशांश आहुति, फिर उसका दशांश तर्पण करना चाहिये फिर इसका दसवाँ अंश विप्रभोजन। (ग)—***'सिय रघुनंदन दोउ'***—विभवकी चाह है इसीसे शक्तिसंयुक्त बसनेको कहा। भक्तिसे भक्ति माँग रहे हैं।

नोट—यहाँपर मन्त्रजापकी पूर्ति है। यह अनुष्ठानपूर्वक मन्त्रजाप कथन है, शेष सब बातें आनुषंगिक हैं। श्रीप्रज्ञानानन्दस्वामीका भी यही मत है कि यहाँ राममन्त्रका यथाविधि पुरश्चरण ही लक्षित है। ***'बिधि नाना'***—तर्पण वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक अनेक विधिसे होता है। होम अनेक विधिके अगस्त्यसंहितामें बताये हैं। (रा० पु०, वै०) वा, संध्यांग तर्पण और होम, पूजांग तर्पण होम, वैश्वदेव पंचमहायज्ञ इत्यादि। (प० प० प्र०)

श्रीचक्रजी—१ *'तरपन……'*—आजकल अनन्यताका अर्थ कर लिया गया है कि दूसरे देवताओंका विहित पूजन भी न करना, उन्हें नमस्कार न करना; किंतु यह बड़ा भारी भ्रम है। देवता और पितर आदि मनके, इन्द्रियोंके, पदार्थोंके, परिस्थितियोंके अधिष्ठाता हैं। हम सरकारी कर्मचारियों, सम्पन्नों आदिकी सेवा-सत्कार तो करते हैं और उसमें हमारी अनन्यता नष्ट नहीं होती, पर गणेश या शिवजीका व्रत, पूजन, उपवास करनेमें अनन्यता नष्ट होने लगती है। हम समझते ही नहीं कि देवता भी संतुष्ट होकर हमारी निष्ठामें, हमारी उपासनामें सहायक हो सकते हैं। गोस्वामीजी एवं उनका श्रीरामचरितमानस-शास्त्र-मर्यादाका पूरा समर्थक है। मानसकी अनन्यताका अर्थ है इष्टके अतिरिक्त अन्यत्र अनुरागका न होना। दूसरोंकी पूजा करनेमें बाधा नहीं, पर उनसे भी इष्टके प्रति प्रेमकी ही याचना करना अन्य कुछ नहीं चाहना। लेकिन शास्त्र जब जिस कार्यमें, जिस कालमें, जिस प्रकार जिस देवताके पूजनका विधान करते हैं, जब पितृ-तर्पणके समय हैं, तब तर्पण-हवनादि उन-उन विधियोंसे करना ही चाहिये।

२ *'बिप्र जेंवाइ……'* इति। भगवान्‌के दो मुख हैं—अग्नि और ब्राह्मण। भगवान् भा० ३। १६ में कहते हैं कि 'जो सम्पूर्ण कर्मफल मुझे समर्पित करके सदा संतुष्ट रहनेवाले निष्काम ब्राह्मण हैं वे जब घीसे तर पकवानोंका भोजन करते हैं तब उनके मुखमें जाते हुए एक-एक ग्राससे मैं जैसा तृप्त होता हूँ वैसा यज्ञमें अग्निरूप मुखमें यजमानकी दी हुई आहुतियोंके ग्रहणसे तृप्त नहीं होता ब्राह्मण भोजनसे भगवान्‌की तृप्ति विशेषरूपसे होती है। अतः ब्राह्मणको भोजन कराते हैं। 'बहुदाना' से जनाया कि दक्षिणामें कृपणता नहीं करते। दक्षिणाहीन कर्म निष्फल होता है।

नोट—२ *'तुम्ह तें अधिक गुरहि……'* इति। (क) गुरुको अधिक माननेका कारण यह है कि गुरु साक्षात् परब्रह्मका स्वरूप कहे गये हैं पर गुरुमें अधिकता यह है कि इनकी कृपासे भगवत्-प्राप्ति होती है—*'गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागौं पाँय। बलिहारी उन गुरूकी जिन गोविन्द दियो लखाय॥'* गुरु-दीक्षा होनेपर मनुष्यका दूसरा जन्म समझा जाता है। भक्तमालमें बल्लभसम्प्रदायके चतुर्भुज स्वामीकी कथा देखिये। पुनः *'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान?'* एवं *'बिनु गुरु भवनिधि तरै न कोई'*; अतएव गुरुको अधिक मान्य देना कहा। ☞ यहाँ गुरुसे दीक्षागुरुका अभिप्राय है।

(ख) *'सकल भाय'*—जैसे, '**ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्। शास्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥**' (गुरु गीता), '**तीर्थानि दक्षिणे पादे वेदास्तन्मुखमाश्रिताः**' इस तरह मानकर तथा 'अमानित्व-अदम्भित्वादि' सर्वलक्षणोंसे युक्त होकर, *'सद्‌गुरु बैद बचन बिस्वासा'* रखकर इत्यादि ध्यानमें रखकर सेवा करते हैं। (प० प० प्र०) वा, प्रेम, नेम, दीनता, दास्यता आदि सब भावसे। (वै०) इसके साथ यह भी ध्यान रहे कि श्रीगोस्वामीजी अन्धाधुन्ध गुरुडमके समर्थक नहीं हैं। जो ज्ञानदाता है वही गुरु है। (श्रीचक्रजी)

नोट—३ अरण्यकाण्डके पूर्वार्धमें अत्रि आदि ऋषिगण पाँचवें प्रकारके भक्त हैं। ऋषियोंमें उपर्युक्त पाँचों लक्षण घटते हैं। क्रमसे यथा, *'निसि दिन देव जपतहहु जेही,' 'जे राम मंत्र जपंत संत अनंत जन मन रंजनं'; 'भजे सशक्ति सानुजं सचीपति प्रियानुजं।' 'दिव्य बसन, भूषन पहिराए; 'करिहहिं बिप्र होम मख सेवा'* (होमादि तो ब्राह्मणोंका नित्य कर्म है) *'अब प्रभु संग जाउँ गुरु पाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं॥'; 'जोग जज्ञ जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भक्ति बर लीन्हा॥'* (वि० त्रि०)।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—*'सबु करि माँगहिं……'* इति। (क) कर्मोंका, देवपितृपूजनादिका त्याग नहीं है। उन सब शास्त्रविहित कर्मोंको वे करते हैं और सावधानीसे, उत्साहसे, श्रद्धासे करते हैं; किंतु उन्हें कर्मोंका कोई पुण्य नहीं चाहिये। उनका दूसरा कुछ फल न चाहिये। उनकी सर्वत्र एक ही चाह है, एक ही माँग है—*'राम चरन रति होउ'*। (यही पूज्यपाद गोस्वामीजीने किया और सिखाया है। सबकी वन्दना करके *'बसहु राम सिय मानस मोरे' 'तुलसी राम भक्ति बर माँगै', 'देहु रामचरन रति'* इत्यादि। और यही अवधवासियोंका मत है—*'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ रमारमनपद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥……'* (७३)। इत्यादि। (ख) *'सिय रघुनंदन दोउ'* ही क्यों कहा?

लक्ष्मणजीको क्यों छोड़ दिया? बात यह है कि लक्ष्मणजी जीवोंके परमाचार्य हैं। वे ही गुरुतत्त्व हैं। जितने भी गुरु हैं वे उन्हींके अंश हैं। अतः गुरुतत्त्वके रूपमें यहाँ इस आराधकद्वारा वे तो पहले ही इष्टसे भी अधिक माने जा रहे हैं और सब प्रकार सम्मानपूर्वक सेवित हो रहे हैं। रह गये *'सिय रघुनंदन'*। अतः इन परात्पररूप दम्पतिको महर्षि आराधकके हृदयमें निवास करनेको कहते हैं। *'रघुनंदन दोउ'* में दोनों 'रघुनन्दन' आ जाते हैं।)

(छठा और सातवाँ स्थान)

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥ १॥
जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया॥ २॥
सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥ ३॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥ ४॥
तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥ ५॥

अर्थ—जिनके न तो काम, क्रोध, मद, मान वा मोह है, न लोभ है और न क्षोभ, न किसीमें प्रेम है न किसीसे वैर॥ १॥ जिनके न कपट-दम्भ है न माया ही—हे रघुराई! उनके हृदयमें वास कीजिये॥ २॥ जो सबके प्यारे हैं, सबका भला करते हैं, जिनको दुःख-सुख, बड़ाई और गाली (स्तुति-निन्दा) दोनों एक-सी हैं॥ ३॥ जो विचारकर प्रिय और सत्य वचन बोलते हैं, जो जागते-सोते मात्र आपकी ही शरण हैं॥ ४॥ आपको छोड़ जिन्हें दूसरी गति नहीं है—हे श्रीराम! उनके मनमें निवास कीजिये॥ ५॥

बैजनाथजी—अर्धाली ७ तक हरिप्रतिकूल-त्याग-शरणागति कही यथा—*'मद कुसंग परदार धन द्रोह मान जनि भूल। धर्मराम प्रतिकूल ये अमी त्याग बिष तूल॥'*

टिप्पणी—१ *'काम कोह मद……'* इति। (क) बाह्य शुद्धि कहकर अब अन्तःकरणकी शुद्धि कहते हैं। कामादि नरकमें डालनेवाले हैं, यथा—*'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।'* (५। ३८), *'नारि नयनसर जाहि न लागा।'* (४। २१। ४) **'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥'** (गीता। १६। २१) (अर्थात् काम, क्रोध और लोभ असुरस्वभावरूप नरकके मार्ग हैं, आत्माके नाश करनेवाले और अत्यन्त घोर नरकके हेतु हैं।) पुनः, (ख) भाव कि जिसके मनमें लौकिक वा पारलौकिक किसी प्रकारके सुखकी कामना नहीं, न कामभोग, न अभिलाषा और न स्त्री ही है। कामनामें बाधा होनेसे ही क्रोध होता है। उसे कामना नहीं है, अतः कोई कैसा ही अपराध करे तो भी क्रोधको प्राप्त नहीं होता। विद्या-धन-यौवन-जाति-कुल आदिका मद नहीं। प्रतिष्ठा, पूजाकी इच्छा नहीं। [मान और मदमें थोड़ा ही अन्तर है। मान जब सीमा पार कर जाता है तो उसीका रूप मद बन जाता है। मैं द्विज हूँ, अतः मैं श्रेष्ठ हूँ और दूसरे द्विजेतर हैं, अतः निकृष्ट हैं। मैं साधन करता हूँ यह विषयरत पामर प्राणी भला मेरी तुलना कैसे कर सकता है। इस प्रकार दूसरोंसे किसी कारण अपनेको श्रेष्ठ तथा दूसरोंको निकृष्ट समझना मान है। मान रहनेपर भी व्यक्ति प्रायः सावधान रहता है। वह दूसरोंका तिरस्कार बाहर क्रियामें नहीं करता। जब वह तिरस्कार करने लगता है तब वही मान 'मद' बन जाता है (श्रीचक्रजी)। जिसे किसीका मोह नहीं है, देहतकका ममत्व नहीं और न उसमें अहंबुद्धि है। लोभ अर्थात् सुखोपभोगके पदार्थोंमें आसक्ति और क्षोभ अर्थात् अपने मान-मद-मोहमें चोट पहुँचनेपर जो व्याकुलता होती है वह नहीं है। न जिसमें 'राग' (मोहयुक्त प्रेम) है न द्रोह (द्वेष-क्षोभसे होनेवाला रोषात्मक भाव) है। ऊपर कुछ भीतर कुछ यह कपट; बाहरसे साधुवेष भीतरसे दुष्ट, लोगोंको ठगनेके लिये एवं धर्मकी आड़में आत्माकी श्लाघा दम्भ है। छलकी बातें करके वशमें करना माया है। काम-क्रोध आदि चित्तके नौ मानसिक विकार हैं। जबतक ये चित्तमें हैं, चित्त मलिन और चंचल रहेगा। अतः साधकके मनसे इन विकारोंको दूर होना ही चाहिये। इस चित्त-शुद्धिके साथ व्यवहारकी शुद्धि भी आवश्यक है। उसके

व्यवहारमें कपट, दम्भ और माया नहीं होनी चाहिये। कपट-दम्भ और माया तीनों ही छलके ही उत्तरोत्तर बड़े रूप हैं। साधारणतः जहाँ हम जानते हैं कि यहाँ छल सम्भव है, वहाँ हमारी बुद्धिको जो धोखा दिया जाता है, वह कपट है। दूकानदार ठीक भाव नहीं बतावेगा, पदार्थ हमें मिश्रित मिलेंगे, यह हम जानते हैं और सावधान रहते हैं। दूकानदार फिर भी अपने और अपने मालको जो सच्चा बताकर हमें ठग लेता है, वह उसका कपट है। धर्मका दिखावा करके अधर्म करना दम्भ है। चोर या डाकू अपनेको छिपाये रखनेके लिये यदि साधुका वेष बना लेते हैं तो यह उनका दम्भ है। मायाका रूप दम्भसे भी विलक्षण है। जहाँ अधर्मको ही तर्क, बुद्धि या कौशलसे धर्म एवं कर्तव्यका रूप दे दिया जाता है, उसे माया कहते हैं। जब कोई अपनेको 'ब्रह्म' मानकर या कहकर अपनी इन्द्रियोंके भोगसे अपनेको पृथक् बताता है और विषयासक्त बना रहता है, जब कोई अपनेको अवतार बताकर रासलीला करने लगता है तो वह माया करता है। किसीकी बुद्धिको अपने प्रबल तर्कसे मोहमें डालकर या किसीकी भावुकताका लाभ उठाकर जब अधर्म अनाचारको धर्म, उपासना, कर्तव्यादि बताया जाता है तो वह माया होती है। कपट सीधे धोखा है और दम्भ धर्मकी आड़में धोखा है; किंतु दोनों मनुष्यसे केवल आर्थिक लाभ चाहते हैं, दूसरेके धनको ठगते हैं। किन्तु माया दूसरोंके धन और धर्म दोनोंका नाश करती है। माया करनेवाला अपने साथ दूसरोंका भी पतन करता है (श्रीसुदर्शनसिंह चक्रजी)।

नोट—१ प्रथम चार स्थान (श्रवण, दर्शनेच्छा, गुणगान और अर्चा) तो विशुद्ध उपासना मार्ग हैं जिन्हें अकेला व्यक्ति भी कर सकता है। पाँचवाँ कर्मनिष्ठ साधक-मार्ग है। अब छठवेंमें इन्द्रिय एवं चित्तजयीकी बात कही जाती है। यह वीतराग योगी एवं ज्ञानी पुरुषोंके मार्गका निर्देश करता है। इसीसे यह छठा स्थान ज्ञानवृत्ति है। इसमें प्रथम भाग स्थितप्रज्ञ और दूसरा शरणागत है और तीसरा भाग इसकी संतवृत्ति आगे कहेंगे। गीता अध्याय १२ में दी हुई वृत्तियोंसे मिलान कीजिये (पण्डित रामकुमारजी, गौड़जी)। यह निवृत्ति-मार्गीय वैराग्यप्रधान साधक है।

नोट—२ यहाँ केवल कामादिक, मानसिक तथा कपटादि व्यावहारिक विकारोंके न होनेमात्रसे साधकके हृदयमें श्रीरामका निवास कहा गया। यह स्थिति चाहे जिस साधनसे प्राप्त हो। इसकी कोई अपेक्षा नहीं है कि उपासना उसने की है या नहीं और उपर्युक्त प्रथम पाँच स्थानोंके सम्बन्धमें यह कहीं भी नहीं कहा गया कि 'चित्त कामादिसे रहित हो तभी उसमें प्रभु पधारें।' यह भेद भी साभिप्राय है। पूर्व कथित पाँच उपासना-मार्ग हैं जिनमें भक्त निरन्तर भगवान्के आश्रित रहता है; वह उस दयामयका शिशु बालक है। उसका हृदय-मन्दिर तो श्रीरामजीका अपना भवन है। उसे वे स्वयं स्वच्छ कर लेंगे, क्योंकि वह स्वच्छ हो तो और मलिन हो तो उन्हें वहाँ तो रहना ही ठहरा (श्रीचक्रजी)।

नोट—३ श्रीविजयानन्द त्रिपाठी—अरण्यकाण्डके उत्तरार्धमें छठे प्रकारके भक्त श्रीनारदजी हैं। यथा—***'काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी', 'भयउ न नारद मन कछु रोषा', मृषा होउ मम श्राप कृपाला'*** (इससे मद-मानरहित दिखाया) ***'साँचेहु उनके मोह न माया', 'राम सकल नामन्ह ते अधिका। होहु……'*** (वरदानमें अपने लाभकी बात नहीं माँगी, यहाँ लोभरहित दिखाया) ***'मुनि गति देखि सुरेस डेराना'*** ('क्षोभ न' का उदाहरण है) ***'उदासीन धन धाम न जाया'*** ('राग न' का उदाहरण है) और ***'तब बिबाह मैं चाहौं कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा॥'*** (कपटरहित होना सूचित करता है)।

टिप्पणी—२ ***'सब के प्रिय……'*** इति। भाव कि सबका हित करनेसे ही सबके प्रिय हैं। (पं० प० प्र० स्वामीका मत है कि सबका प्रिय कोई हो नहीं सकता, सन्तको कोई-न-कोई अप्रिय माननेवाले हुए ही हैं और होते हैं, अतः यहाँ ***'बहु जन प्रिय'*** अर्थ लेना चाहिये। इसी तरह कोई भी अखिल विश्वका हित न तनसे कर सकता है न वचनसे, मनसे शत्रुका भी हित कर सकते हैं।)

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ ***'सब के प्रिय……'*** इति। (क) सप्तम स्थानमें प्रवृत्तिमार्गमें लगे हुए लोकोपकारी पुरुषोंकी बातें कही जा रही हैं। लोकनेता या जनसेवक अथवा आचार्य आदि उस किसी भी पुरुषको

कैसा होना चाहिये जो बृहत् समूहका अग्रणी है यह आदर्श इसमें है। (ख) ***'सब के प्रिय'*** अर्थात् अपना कोई आग्रह किसी प्रकारका रखता ही नहीं। जो अपना कोई आग्रह रखेगा, उसका किसी-न-किसीसे विरोध भी होगा। वह सबका प्रिय नहीं बन सकता। जैसे वायुका किसी गन्धके अनुकूल-प्रतिकूल भाव नहीं, जैसे आकाश सबके लिये समान है, वैसे ही सच्चा सत्पुरुष सबके ही अनुकूल होता है। वह किसीका विरोधी नहीं होता उसे सभी प्रिय लगते हैं। (ग) तब क्या वह चोरके साथ चोरी करेगा? दूसरोंके मुकदमोंमें झूठी साक्षी देगा? शराबीकी शराब पीनेमें सहायता करेगा? ऐसे संदेह न उठें, इसीके लिये ***'सब के हितकारी'*** कहा गया। सत्पुरुष सबका प्रिय इसलिये है कि वह सबका हितैषी है। वह सबकी भलाई करता है। 'हितकारी' का अर्थ दुष्कर्मोंमें सहायता करनेवाला नहीं है। सच्चा हित है—आत्माका हित। सच्चा हितकारी वही है जो शरीर और मनके विरुद्ध जाना आवश्यक हो तो ऐसा करके भी आत्महित करता है। किसीको फोड़ा हो जाय तो उसके रोने-चिल्लानेपर भी फोड़ेको चीर देना ही सच्चा हित है। रोगीके माँगनेपर भी उसे कुपथ्य न देना उसका हित है। माता कुमार्गमें जाते पुत्रको दण्ड देकर उसका सच्चा हित ही करती है। इस प्रकारका हितकारी भले ही पहले अप्रिय लगे, पर अन्ततः वह प्रिय ही लगता है। कड़वी दवा पिलानेवाले वैद्यको उस समय तो रोगी मनमें भला-बुरा कहता ही है, पर वैद्य उसे प्रिय होता है। स्वस्थ होनेपर वह वैद्यका कृतज्ञ होता है एवं उसका सम्मान करता है। अतः सबका वही वास्तविक प्रिय है जो सबका वास्तविक हितकारी है। किसीको प्रसन्न करनेके लिये उसके अनुचित कार्यमें सहायता करनेवाला उसका अप्रिय और अहित करनेवाला ही है।

२—(क) ***'दुख सुख सरिस'***—जो सबका हितैषी है, उसे सुख-ही-सुख मिलेगा, ऐसी कोई बात नहीं है। अनेक बार लोग शंका करते हैं कि अमुक भजन करता है तो उसे रोग क्यों हुआ? उसपर विपत्ति क्यों आयी? अमुक अधर्म करनेपर भी स्वस्थ, धनी और सुखी क्यों है? ये प्रश्न प्रारब्धके विधानको न जाननेके कारण होते हैं। सुख या दुःख प्रारब्धसे आता है। पिछले जन्मोंके जैसे कर्म थे, वैसे उसका फल इस जन्ममें मिल रहा है। इस जन्मके कर्मोंका फल आगेके जन्मोंमें भोगना होगा। जैसे कौन मजदूर किस प्रकार भोजनादिमें सुखी है, यह बात उसके पिछले सप्ताहके श्रमपर निर्भर है, यदि मजदूरी सप्ताहान्तमें मिलती हो। इस समयके श्रमका फल उसे सप्ताहान्तमें ही प्राप्त होगा। इसलिये प्रारब्धमें जो सुख या दुःख है, उसे तो भोगना ही पड़ेगा। सुख जैसे भगवान्का प्रसाद है, दुःख भी उन्हींका आशीर्वाद है। अतः उपासक न तो सुखमें प्रमत्त होता और न दुःखमें व्याकुल ही होता है। वह दोनोंमें समान रहता है।

(ख) ***'सरिस प्रसंसा गारी।'*** यह भी सम्भव नहीं है कि जो सबका प्रिय हो एवं सबका 'हितकारी' हो, उसे सर्वत्र प्रशंसा ही प्राप्त होगी। निन्दा करनेवाले असज्जन सबके होते हैं। ***'मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा। तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा॥'***

लेकिन जो भगवत्प्राप्तिके मार्गमें बढ़ रहा है, उसका तो आदर्श ही दूसरा है। उसके लिये तो 'प्रतिष्ठा' शूकरी विष्ठा है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुने बताया है—'**सम्मानं कलयातिघोरगरलं नीचापमानं सुधाम्।**' सम्मानको अत्यन्त भयंकर हलाहल विष समझो और नीचके द्वारा हुए अपमानको अमृतके समान लाभकारी मानो। इसीसे महात्मा कबीरने कहा—***'निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय।'***

लोक-सेवाका मार्ग ही ऐसा है कि इसमें पद-पदपर सुख-दुःख, मान-अपमान मिलता ही रहता है। जहाँ उसका जयघोष होता है, वहीं काले झंडे भी दिखाये जाते हैं। जो भी सुख-दुःख या मान-अपमानको ध्यान देने योग्य मानेगा वह अपने कर्तव्यपर स्थिर नहीं रह सकेगा; क्योंकि भगवान्ने गीतामें कहा है कि '**यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥**'

३—(क) ***'कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।'*** इति। झूठ तो साधक बोलेगा ही नहीं, पर 'खरी बात' कहनेका गर्व भी उसमें नहीं होना चाहिये। यह 'खरी बात' कहना भी दुर्गुण ही है। नीति यह है—'**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्॥**' सत्य बोले, किंतु प्रिय सत्य बोले। अप्रिय सत्य न बोले। 'मानस' में यहाँ ***'बिचारी'***

बोलनेको कहकर अधिक चमत्कार एवं उत्तमताका आदर्श उपस्थित किया गया है। जो अध्यात्ममार्गका पथिक है, उसे वावदूक (बकवादी) नहीं होना चाहिये। उसे कम-से-कम बोलना चाहिये। जब बहुत आवश्यकता जान पड़े, तभी विचार करके वह प्रिय सत्य बोले। देश, काल, परिस्थिति और पात्रका विचार किये बिना न बोले। *'बिचारी'* का यह भी भाव है कि जैसे विभीषणने रावणको समझानेके लिये अप्रिय लगनेवाला सत्य भी कहा, परंतु कहा बहुत प्रिय ढंगसे। इसी प्रकार यदि प्रिय सत्य बोलना नितान्त असम्भव हो और दूसरोंकी भलाईके लिये बोलना आवश्यक ही हो तो अप्रिय सत्य बोला जा सकता है; लेकिन उसे भी बहुत प्रिय ढंगसे बोलना चाहिये। यह विचार कर लेना चाहिये कि बोलना आवश्यक ही है या नहीं और प्रिय सत्य बोलना किसी प्रकार शक्य हो सकता है या नहीं।

टिप्पणी—३ (क) सत्य प्रायः कठोर होता है। उसे प्रिय बनाकर कहते हैं। जैसे श्रीरामजीने वनवास-समाचाररूपी कठोर सत्यको प्रिय बनाकर कहा, *'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू'* इस तरह उसे 'राज्य' का रूप देकर कहा, जिसमें माता सहम न जाय, उसे सह सके। [जिस सत्यसे दूसरेको दुःख हो उसे नहीं कहते, उससे चुप रहते हैं (रा० प्र०)। सत्य प्रायः कठोर होता है और कोमल प्रिय वचनमें कभी-कभी मिथ्यालाप भी होता है, अतः कहा कि वे सत्य बोलते हैं जिसमें कठोरता नहीं होती और कोमल प्रिय वचन बोलते हैं जिसमें किंचित् झूठ नहीं होता। (पं०)] (ख) *'जागत सोवत सरन तुम्हारी'* इति। स्वप्नमें भी दूसरेकी शरण नहीं जाते, दूसरेकी आशा नहीं करते। यह मानते-जानते हैं और निरन्तर यही धारणा, यही विश्वास रहता है कि आप हमारे रक्षक हैं, दूसरा नहीं। '**रक्षिष्यतीति विश्वासः**' यह तीसरी शरणागति है।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ *'जागत सोवत सरन तुम्हारी।'* इति। जो लोगोंका प्रिय है, लोगोंका हितकारी है, प्रिय सत्य बोलता है, और जिसकी बुद्धि सुख-दुःख, मान-अपमानमें समान रहती है, उसमें लोगोंसे सहायता पानेकी आशा और अपनी समताका गर्व शक्य है और गर्व आया कि साधन चौपट हुआ। उसे एकमात्र प्रभुकी ही शरणमें होना चाहिये; वे 'सर्वसमर्थ' ही उससे सब कार्य कराते हैं और उन्हींकी कृपासे चित्तमें समता है, यह निश्चय सदा दृढ़ रहना चाहिये।

'**धर्मस्य प्रभुरच्युतः**' धर्मके स्वामी वे पुरुषोत्तम ही हैं। यह भ्रम है कि ईश्वरको न मानकर सत्य, सदाचार, त्याग आदि सद्गुण टिके रहेंगे। ये यदि कहीं देखे भी जाते हैं तो वहाँ इनकी नींवें बालूपर हैं। देखनेमें ये चाहे जितने बलवान् दीखें, पर प्रलोभनोंके अन्धड़में कब ढह पड़ेंगे, इसका कुछ विश्वास नहीं। जिसका भगवान्पर विश्वास नहीं, वह प्रत्यक्ष धर्म ही हो, तो भी उसका विश्वास नहीं किया जा सकता। अतः लोक-नेता वही हो सकता है जिसे सोते-जागते सदा भगवान्का ही आश्रय हो। जो नित्य-निरन्तर प्रभुकी शरणमें हो। जो प्रभुके विश्वासपर ही निर्भर हो।

२—*'तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं।'* इति। परिस्थितियाँ अनुकूल बनेंगी, अमुक सहायता देंगे, लोग मेरी बात मानेंगे, अथवा मैं इतना कर लूँगा आदि आशाएँ जिसे सर्वथा मोहित नहीं करतीं। जो एकमात्र प्रभुपर विश्वास करता है। 'प्रभु जो करेंगे, वही होगा।' इस प्रकार जिसकी एकमात्र गति प्रभु ही हैं, वही सच्चा विश्वासी है। वही ठीक कर्मयोगी एवं उपयुक्त लोक-नेता है।

दूसरे क्रमसे भी देख लें। केवल भगवान्पर ही भरोसा, एकमात्र भगवान्पर निर्भरता होनी चाहिये। लेकिन इन आन्तरिक धर्मोंके साथ व्यवहारमें भी कुछ होना चाहिये। सबके प्रिय रहें, किसीका अप्रिय न करें। सबकी सेवा, सबकी भलाई करते रहनेमें लगे रहें, सुख-दुःख, मानापमानमें समान भाव रखें और प्रिय सत्य बोलें। मर्यादा-पुरुषोत्तमने स्वयं अनन्यताका लक्षण बताया है—***'सो अनन्य जाकें असि मति न टरै हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'*** ऐसे अनन्यके मनमें श्रीराम निवास तो करते ही हैं। [*'गति'* का भाव कि मन, वचन, कर्म तीनोंसे आपमें ही गमन करते हैं (पु० रा० कु०)। यह अनन्य गतिवृत्ति है। (गौड़जी)]

वि० त्रि०—किष्किन्धाकाण्डके पूर्वार्द्धमें सातवें प्रकारके भक्त श्रीसुग्रीवजी हैं। उपर्युक्त छहों लक्षण उनमें घटित होते हैं, क्रमशः उदाहरण यथा—*'दीन्हेउ मोहि राज बरिआई'* (इससे सबके प्रिय); *'बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेउ राम तुम्ह समन बिषादा॥'* (से सबके हितकारी); *'सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥'; 'बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पामर पशु कपि अति कामी॥'; 'सो सुग्रीव दास तव अहई'* तथा *'तुम्ह हनुमंत संग लै तारा। करि बिनती समुझाउ कुमारा॥'*

(आठवाँ और नवाँ स्थान)

जननी सम जानहिं पर नारी। धनु पराव बिष तें बिष भारी॥ ६॥
जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी॥ ७॥
जिन्हहिं राम तुम्ह प्रान पिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥ ८॥

दो०—स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥ १३०॥

अर्थ—जो दूसरेकी स्त्रीको माताके समान जानते हैं। जिनको पराया धन विषसे भी भारी विष है॥ ६॥ जो दूसरेका ऐश्वर्य देखकर प्रसन्न होते हैं और दूसरेकी विपत्तिको देखकर उससे भी अधिक दुःखी होते हैं॥ ७॥ और, हे राम! जिनको आप प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं—उनके मन आपके शुभ (पवित्र) भवन हैं॥ ८॥ हे प्यारे! जिनके स्वामी, सखा, पिता, माता, गुरु सब कुछ आप ही हैं, उनके मनरूपी मन्दिरमें सीतासहित दोनों भाई निवास करें॥ १३०॥

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ *'जननी सम……'* इति। (क) *'पर नारी'* और *'पर धन'* से जनाया कि इनके अपनी स्त्री भी है और अपना धन भी। इससे यह स्पष्ट हो गया कि इसमें जिस साधकका वर्णन है वह विरक्त साधु नहीं है, वानप्रस्थ या ब्रह्मचारी भी नहीं है और ऋषि-मुनियोंके समान वनमें रहनेवाला अपरिग्रही गृहस्थ भी नहीं है। यह गृहस्थ है और उसके पास अपनी सम्पत्ति है। (ख) चतुर्थ और पंचम स्थानवाले भी गृहस्थ हैं किन्तु अष्टम भवनवाले गृहस्थकी अलग विशेषता है। इसमें कर्मनिष्ठा या उपासनाका कोई बाहरी लक्षण नहीं है। इसे लोग धर्मात्मा या भगतजी नहीं जानते। यह बाहरीरूपसे अपने घरके काम-धन्धेमें ही लगा दिखायी देता है। इतनेपर भी यह परम भक्त है। (ग) *'जननी सम'* माताके समान कहनेका भाव कि अपनी माताको देखकर कामविकार उत्पन्न नहीं होता वैसे ही उनको देखकर कभी मनमें जिनके विकार नहीं आता। *'पर नारी'* से जनाया कि केवल अपनी स्त्रीको स्त्री जानते हैं। *'जानहिं'* अर्थात् हृदयसे ऐसा जानते हैं कि वह हमारी माता है, केवल मुखसे 'माता' नहीं कहते। (घ) *'बिष तें बिष भारी'* कहनेका भाव कि जैसे मनुष्य विषसे सावधान रहता है, उसके स्पर्शका किंचित् भ्रम भी सहता नहीं, वैसे ही पराये धनसे साधकको सदा सावधान रहना चाहिये। भूलसे, प्रमादसे, संकोचसे, दबावसे, किसी भी प्रकार किंचित् भी पर-धन उसके उपयोगमें न आवे, यह ध्यान रखना चाहिये। (ङ) कामिनी और कंचन—ये दो संसारमें सारे अनर्थोंकी जड़ हैं। यदि मनुष्यका मन कामसे कलुषित न हुआ तो फिर उसे अर्थ ही अपवित्र कर सकता है। अतः *'जननी सम……'* कहकर *'धनु पराव……'* कहा। '**योऽर्थे हि शुचिः स शुचिः**' (मनुः)। (च) झूठ, कपट, छल इत्यादि अधर्म और अन्यायसे प्राप्त द्रव्यसे जो पदार्थ आवे वह चाहे फल, दूध, शाक ही क्यों न हो वह मलसे भी मलिन है, वह मनको मलिन करके अनन्त जीवनको ही नष्ट कर देता है। अतएव उसे विषसे भी भारी विष कहा।

२—*'जे हरषहिं पर संपति देखी……'* इति। आत्माका नाश करनेवाले तीन विकार नरकके द्वार कहे गये हैं इसीसे भगवान्ने तीनोंका त्याग करनेका आदेश किया—'**तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्**'। इन तीनोंमेंसे काम और लोभको छोड़ देनेपर क्रोधका केवल एक ही रूप रह जाता है—अमर्ष। क्योंकि काम और लोभ

न होंगे तब उनके सम्बन्धसे क्रोध भी नहीं हो सकेगा। अमर्ष-त्यागकी बात अब कहते हैं—*'हरषहिं……।'* सत्पुरुष दूसरेके सुखको देखकर उदासीन भी नहीं रहते। उनके मनमें अमर्ष नहीं रहता, स्नेह रहता है। दूसरेको सम्पत्तिशाली देखकर वे प्रसन्न होते हैं। (ख) *'दुखित होहिं पर बिपति……'*—भाव कि विपत्ति उनपर भी पड़ती है पर उससे वे दुःखी नहीं होते, किन्तु भगवान्‌का मंगलमय प्रसाद मानकर वे शान्त, स्थिर और संतुष्ट रहते हैं। दूसरेका दुःख देखकर वे अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं, उनसे दूसरेका दुःख देखा नहीं जाता।—*'पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता'*। ☞ यहाँतक अष्टम स्थानके साधक महापुरुषोंका बाह्य आचरण कहा, आगे उनके चित्तकी प्रवृत्ति बतलाते हैं।

३—*'जिन्हहिं राम तुम्ह प्रान पिआरे……'* इति। भाव कि वे जप, तप, भजन, पूजन करते हों या न करते हों, पर उनके प्राण सदा श्रीराममें ही लगे रहते हैं। वही उनके प्राणोंके प्राण एवं जीवनके जीवन हैं। यदि ऐसा न होता तो भला काम, लोभ, अमर्ष-जैसे प्रबल शत्रुओंको वे जीत कैसे पाते?

वि० त्रि०—किष्किन्धाकाण्डके उत्तरार्धमें आठवें प्रकारके भक्त चौदहों सुभट हैं जो दक्षिण भेजे गये थे। क्रमशः लक्षणोंके उदाहरण ये हैं—*'मंदिर एक रुचिर तहँ बैठि नारि तप पुंज। दूर तें ताहि सबन्हि सिरु नावा॥'* (जननी सम जानकर), *'तेहि तब कहा करहु जल पाना। खाहु सुरस सुंदर फल नाना॥'* (आज्ञा पानेपर जल पिया), *'धन्य जटायू सम कोउ नाहीं', 'अस कहि लवन सिंधु तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई॥'* (राजा और प्रभुका कार्य न कर पानेसे), *'राम काज लवलीन मन बिसरा तन कर छोह॥'*

नोट—१ (क) *'स्वामी'* का भाव कि आप ऐसे सर्वशक्तिमान्, पूर्णकाम, षडैश्वर्यसम्पन्न, समस्त ईश्वरों और स्वामियोंके भी स्वामी, करुणा, दया, वात्सल्य, सौशील्यादि समस्त दिव्य गुणोंसे सम्पन्न स्वामीको ही अपना स्वामी जानते और मानते हुए आपकी ही सेवामें तत्पर रहते हैं। आपका सेवक होनेका अभिमान रखते हैं। यथा—*'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'* एकमात्र आपका ही आशा-भरोसा रखते हैं, भूलकर भी किसी दूसरेके द्वारपर नहीं जाते। योग और क्षेम दोनोंके लिये आपहीपर निर्भर हैं। पुनः, *'स्वामी'* कहकर यह भी जनाया कि सर्वभावसे कपट छोड़कर उनकी सेवा करते हैं, उनकी आज्ञाका पालन करते हैं यथा—*'भानु पीठ सेइअ उर आगी। स्वामिहि सर्बभाव छल त्यागी॥'* (४। २३। ४) (ख) सखा वह है जो साथ खाय, खेले, साथ रहे, अपनी सब सम्पत्तिको मित्रकी माने, गाढ़में काम आवे, इत्यादि। सखा और मित्र पर्याय हैं। मित्रके लक्षण कि० ७। १—६ में प्रभुने सुग्रीवजीसे कहे हैं। प्रभु श्रीरामजी ऐसे ही हैं। वे स्वामी होनेपर भी सेवकको सखा ही मानते हैं। वे जाति-पाँति कुछ नहीं मानते। वे तो जीवमात्रके सखा हैं—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**'। श्रीचक्रजी ठीक ही लिखते हैं कि 'उन्हें दूसरोंको अपना सेवक कहनेमें सदा संकोच होता है। वे तो बन्दर-भालुओंको भी सब राजसमाजके सामने अपना सखा कहते हैं। वे हमारे सखा हैं। ऐसी कोई बात नहीं कि वे सर्वेश्वर हैं तो सदा उन्हींका आदेश चलता है। कोई विश्वासपूर्वक कहे तो सही—'राघव! यह कार्य तो ऐसे ही होगा।' अपने सखाका अनुरोध ये निखिल ब्रह्माण्डनायक होनेपर भी कभी टालते नहीं। लेकिन ऐसे अनुरोधकी भला आवश्यकता ही क्यों हो? हमारे स्नेहमय सखा हमारे लिये सदा सचिन्त रहते हैं। जो श्रीरामको सखा बना लेगा, उसमें भय, शोक, चिन्ता, आतुरता, वासना आदि भला रह सकेंगे!' (ग) *'पितु मातु'* का भाव कि बच्चेके भरण-पोषणका पूर्ण दायित्व और भार माता-पितापर ही है। यथा—*'सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनहि प्रभु पोसे॥'* (५। ३। ४) *'तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबा के।'* (वि० २२५) प्रभुको माता-पिता माननेका भाव यह है कि रक्षण-भरण-पोषणके लिये सदा उनपर निर्भर होकर निश्चिन्त रहता है। कल क्या होगा इसकी चिन्ता कभी नहीं होती। पुनः इससे यह भी जनाया कि जो-जो आचरण पुत्रके होने चाहिये जो प्रभुने अवतार लेकर अपने द्वारा बताये हैं, जैसे कि सबेरे उठकर प्रणाम करना, आज्ञा माँग-माँगकर काम करना इत्यादि, वैसा ही आचरण करते हैं। स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि *'पितु मातु'* का भाव यह है कि '**पिता स्वर्गः पिता धर्मः पिता हि परमं तपः। पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीणन्ति देवताः॥**' (स्कं० पु०) '**नास्ति मात्रा समं तीर्थं नास्ति मात्रा समा गतिः। नास्ति मात्रा समं त्राणं नास्ति मात्रा समा प्रभा॥**' इत्यादि सब भाव

भगवान्‌में ही जानते हैं। (घ) *'गुरु'* का भाव कि भक्ति और ज्ञानके दाता वे ही हैं। जो उपदेश उन्होंने दिया है, उसपर हमें चलना चाहिये। उत्तरकाण्डमें पुरजनोपदेश है। प्रभु कहते हैं—***'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥'*** (७। ४। ३। ५) श्रीचक्रजी लिखते हैं कि 'गुरुरूपमें भी वही पूजित होते हैं। गुरुमें मनुष्यभाव रखना अपराध है। गुरुकी देह तो मूर्तिके समान पीठ है। उस पीठमें गुरुतत्त्वके रूपमें वे परम गुरु ही पूजित होते हैं। वे उदार हमारे गुरुदेव हैं। फिर हमें कहीं और भटकनेकी आवश्यकता क्या है?' ज्ञानके समस्त स्रोत उन चिद्‌घनसे ही प्रवृत्त होते हैं, अत: वे गुरु हैं। गुरु कहनेका एक तात्पर्य यह भी है कि प्रभु हमारे स्वामी-सखा आदि हैं यह सोचकर किसीको कुसेवक, कुमित्र एवं कुपुत्र नहीं बनना चाहिये। इससे किसीको मनमानी करनेकी छूट नहीं मान लेना चाहिये। अपनी वासनाओं एवं अपने दुर्गुणोंका कुतर्कके द्वारा समर्थन नहीं करना चाहिये। प्रभु गुरु भी हैं। जैसे ब्रह्मचारी गुरुके आश्रय संयम-सदाचारका सावधानीसे पालन करता है, गुरुकी आज्ञामें रहते हुए सेवा करता है वैसे ही हमको संयम-सदाचारका सावधानीसे पालन करना चाहिये। शास्त्रीय मर्यादाकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।' (ङ) ***'सब तुम्ह'*** का भाव कि और भी जितने नाते हैं वह सब आप ही हैं। यही बात पाण्डवगीता—**'त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥'** इस स्तुतिमें तथा कवित्त रामायणके ***'राम मातु पितु बंधु सुजन गुरु पूज्य परम हित। साहिब सखा सहाय नेह नाते पुनीत चित॥ देस कोस कुल कर्म धर्म धन धाम धरनि गति। जाति पाँति सब भाँति लागि रामहिं हमारि पति॥ परमारथ स्वारथ सुजस सुलभ राम ते सकल फल। कह तुलसीदास अब जब कबहुँ एक राम ते मोर भल॥'*** (छप्पय ११०) में कही गयी है।

नोट—***'स्वामि सखा''''''सब तुम्ह'*** इति। स्वामी, पालनकर्ता, सखा विश्वासपात्र, पिता पालनकर्ता उससे भी अधिक माता, गुरु, उपदेशकर्ता सब आपको ही मानता है, यथा—***'गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मो कहँ जानइ दृढ़ सेवा॥'*** (३।१६।१), ***'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँधि बरि डोरी॥'*** (सु० ४८) इसके उदाहरण श्रीलक्ष्मणजी हैं, यथा—***'गुरु पितु मातु न जानौं काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥'*** (७२।४) (प्र० सं०)

बैजनाथजी कहते हैं कि यह आत्मनिक्षेप शरणागति है।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ जीवके सर्वस्व वे ही हैं। वह समस्त विश्व उन्हींका रूप है। समस्त परिवार उन्हींकी विभूतियाँ हैं। वे ही समस्त पदार्थों एवं प्राणियोंके रूपमें हमारे सामने हैं। हमें इन पदार्थों एवं प्राणियोंके विभिन्न नामरूपोंसे प्रयोजन नहीं, हमें तो इनमें रमनेवाले श्रीरामसे प्रयोजन है।

२—***'सीय सहित दोउ भ्राता'*** के बसनेका एक भाव यह है कि स्वामी, सखा और पिता श्रीराम हैं और उनके साथ त्रिभुवनजननी श्रीविदेहनन्दिनी (माता) हैं तथा निखिल जीवोंके गुरु श्रीलक्ष्मणलालजी। इन त्रिमूर्तिके लिये ही यह दोहा कहा गया है।

३—स्वामी, सखा आदिके क्रमका भाव—दास्य सार्वभौम भाव है, सभी भावोंमें व्यापक रहता है। जीव भगवान्‌का नित्य दास है यह सभी आचार्योंने माना है। अत: प्रभुको स्वामी कहा। श्रुति परमात्माको अन्तर्यामीरूपमें जीवका सखा बतलाती है। अत: श्रुतिकी मर्यादाके लिये दूसरा सम्बन्ध सखाका कहा गया। समस्त विश्व परमात्मासे ही प्रकट हुआ है—**'जन्माद्यस्य यत:।'** अतएव वही सबके वास्तविक पिता हैं। शक्ति उनसे अभिन्न है। अतएव सबकी माता भी वही हैं। पितामें जो स्नेहकी न्यूनता होती है वह उनमें नहीं है। उनकी असीम दयालुता सूचित करनेके लिये भी उन्हें माता कहा जाता है।

वि० त्रि०—सुन्दरकाण्डके पूर्वार्धमें नवें प्रकारके भक्त श्रीहनुमान्‌जी हैं। लक्षणोंके उदाहरण क्रमश: ये हैं—***'रामदूत मैं मातु जानकी', 'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे', 'सेवक सुत पति मातु भरोसे', 'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं', 'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'*** (उपदेश होनेसे गुरु)।

(दसवाँ और ग्यारहवाँ स्थान)

अवगुन तजि सब के गुन गहहीं। बिप्र धेनु हित संकट सहहीं॥ १॥
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका। घर तुम्हार तिन्ह कर मन नीका॥ २॥
गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥ ३॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥ ४॥

अर्थ—जो अवगुणोंको छोड़ सबके गुणोंको ग्रहण करते हैं, ब्राह्मण और गौके लिये क्लेश सहते हैं॥ १॥ नीतिमें निपुण (पूरे) होनेमें जिनकी जगत्‌में लीक (मर्यादा) है, उनके अच्छे मन आपके लिये उत्तम घर हैं॥ २॥ जो आपका गुण और अपना दोष समझते हैं अर्थात् जो कुछ हमसे अच्छा बनता है वह आपकी कृपासे और जो कुछ हमसे बिगड़ता है वह सब हमारे प्रारब्धके दोष और हमारे अपराधसे, उसमें आपका कुछ दोष नहीं। जिसको सब तरहसे आपका ही भरोसा है, (कि वही होगा जो आप करेंगे; आप भला ही करेंगे)॥ ३॥ जिसे रामभक्त प्रिय लगते हैं—उसके हृदयमें वैदेहीसहित वास कीजिये॥ ४॥

टिप्पणी—१ यह प्रसंग विशेष क्षत्रियोंमें घटित होता है। *'अवगुन तजि······'*, *'बिप्र धेनु हित······'*, और *'नीति निपुन··'*, ये सब राजधर्म हैं। (ख) *'अवगुन तजि'* यथा—*'संत-हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार।'* (१।६) *'मधुकर सरिस संत गुनग्राही।'* (१।१०।६) पुनः यथा—*'गनी गरीब ग्राम नर नागर। पंडित मूढ़ मलीन उजागर॥ सुनि सनमानहिं सबहि सुबानी॥'* (१।२८) (ग) *'बिप्र धेनु हित······'*।—इनके लिये सभीको संकट सहना उचित है, ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है; पर क्षत्रियोंका विशेष कर्तव्य यही है। भगवान् स्वयं इनका कष्ट दूर करनेके लिये अवतार लेते हैं; अतः कर्तव्य-धर्म जानकर इनके लिये संकट सहते हैं।

नोट—१ दसवें निकेतनमें भी उपासनाकी कोई बात नहीं कही गयी है। ये साधक श्रवण, कीर्तन, अर्चन आदि करते हों या न करते हों, यदि इतने साधनोंमें पूर्ण हैं तो इतनेहीसे भगवान् उनके मनमें वास करते हैं। *'अवगुन तजि'* के दोनों अर्थ होते हैं, एक तो अपने अवगुणोंका त्याग करते हैं, दूसरे जो अवगुण दूसरेमें देखते हैं उनको ग्रहण नहीं करते एवं उनकी चर्चा कभी नहीं करते। इससे जनाया कि वे जानते हैं कि क्या गुण है, क्या अवगुण। यथा—*'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।'* प० प० प्र० स्वामीका मत है कि जब दूसरोंके अवगुण देखनेमें आते हैं तब, वे दोष अपनेमें हैं या नहीं इसकी जाँच करके उनका त्याग करते हैं। *'सब के गुन गहहीं'*—भाव कि *'बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना।··निगमागम गुन दोष बिभागा। जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार। संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥'* (१।६) सारी सृष्टिमें गुण और अवगुण दोनों मिले हुए पाये जाते हैं। वेदों और शास्त्रोंने इनके गुण और दोष बता दिये हैं। अतः सद्ग्रन्थोंसे उनको जानकर ये उनके गुण ले लेते हैं, जैसे भगवान् दत्तात्रेयजीने वेश्या, श्वान आदिसे भी गुण लिये और उनको गुरु माना। *'सब के'* से जनाया कि जहाँ भी गुण देखते या सुनते हैं उसे ग्रहण करते हैं। *'गहहीं'* से जनाया कि वेद-पुराण-शास्त्र पढ़े या सुने हैं तथा गुणोंको धारण करते हैं।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ (क) *'अवगुन तजि'* इति। श्रीभरतलालजीसे मर्यादापुरुषोत्तमने स्वयं कहा है—*'सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखिये देखिय सो अबिबेक॥'* भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने उद्धवजीको उपदेश करते हुए श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धमें इसे स्पष्ट किया है—'**गुणदोषदृशेर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः।**' गुण और दोष दृष्टिके दोष हैं। जिससे हमारा स्नेह है, जिसमें हमारा अपनत्व है, उसके दोष भी गुण जान पड़ते हैं और जिससे हमारा द्वेष हो जाता है, उसके गुण भी दोष प्रतीत होते हैं। दृष्टिकोणके भेदसे एक ही कार्य किसीको गुण और किसीको दोष जान पड़ता है। यह गुण-दोष देखनेवाली वृत्ति दृष्टिका दोष है। यह 'अविवेक' है। इसलिये सर्वोत्तम मार्ग तो यह है—'**अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा**

सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्॥' (भागवतमाहात्म्य ४।८०) अर्थात् दूसरोंके दोष एवं गुणका चिन्तन छोड़कर सबको भगवत्स्वरूप समझकर सबकी यथाशक्य सेवा की जाय और भगवान्‌की मंगल-कथाका रसास्वादन किया जाय।

सृष्टिकर्ताने सम्पूर्ण सृष्टिको ही गुण-दोषमय बनाया है। जड़ हो या चेतन, यहाँ कोई पदार्थ ऐसा नहीं, जिसमें गुण-ही-गुण हो, दोष न हो और कोई ऐसा भी पदार्थ नहीं, जिसमें दोष-ही-दोष हो, कोई गुण न हो। जब हम किसी वस्तु या व्यक्तिमें दोष देखते हैं तो वह दोष उस वस्तु या व्यक्तिमें हो या न हो हमारे चित्तमें दोषवृत्तिका उदय तो होता ही है। हमारा चित्त उससे मलिन होता है। इसी प्रकार हम जब किसीमें गुण देखते हैं तो वह गुण उसमें भले न हो, हमारे चित्तमें गुणवृत्ति बनती है; इसलिये दोष देखनेमें अपनी हानि-ही-हानि है और लाभ कुछ नहीं है। गुण देखनेमें अपनी हानि कुछ नहीं, केवल लाभ-ही-लाभ है। (ख) ***'बिप्र धेनु हित संकट सहहीं।'*** इति। ब्राह्मणों एवं गौओंकी रक्षाके लिये, उन्हें सुखी करनेके लिये जो स्वयं कष्ट उठाते हैं, अपनेको विपत्तिमें डालकर भी उनकी रक्षा करते हैं, वे धर्मके तत्त्वको ठीक समझते हैं। वे सच्चे धर्मात्मा हैं। स्वयं परात्पर परब्रह्म निखिल ब्रह्माण्डनायक सच्चिदानन्दघन श्रीरामजी भी ***'बिप्र धेनु हित नर तनु धरहीं।'*** ब्राह्मणोंकी रक्षा, ब्राह्मणोंकी सेवा और गायोंकी रक्षा तथा गायोंकी सेवा तो भगवान्‌का अपना काम है। जो इस काममें लगते हैं, वे भगवान्‌के निजी काममें योग देते हैं। उनके कामका महत्त्व भगवत्पूजासे किसी प्रकार कम नहीं है। जो गौ तथा ब्राह्मणोंकी रक्षा एवं सेवाके लिये विपत्ति उठा लेते हैं, उन्होंने तो ठीक उस प्रकार भगवत्कार्यके लिये अपनेको संकटमें डाला है, जैसे जटायुने रावणके हाथसे श्रीजानकीजीको छुड़ानेके लिये अपनेको संकटमें डाल दिया था। यथा— ***'अधम निसाचर लीन्हें जाई। जिमि मलेछ बस कपिला गाई॥'*** (३।२९।८) उनके कार्यको प्रभु सबसे श्रेष्ठ मानते हैं। सर्वाधिक प्रिय हैं वे पुरुष श्रीराघवके!

टिप्पणी—२ ***'नीति निपुन जिन्ह''''''लीका'*** इति। यथा—***'अति नय निपुन न भाव अनीती।'*** ऐसे निपुण कि जगत्‌में उनकी लीक है, वे नीति-मार्गको बाँध गये और चला गये हैं जो आजतक चली जाती है।

श्रीसुदर्शनसिंह—२ (क) ***'नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका।'*** इति। जो किसीका दोष नहीं देखता, सबमें गुण ही देखता है, वह सर्वत्र धोखा खाता होगा? धूर्त लोग उसे ठगते ही रहते होंगे? गौ-ब्राह्मणोंकी रक्षाके उत्साहमें वह अकारण भी अपनेको विपत्तिमें डाल लेता होगा? यहाँ इन सब शंकाओंका निवारण कर दिया गया। वे इतने नीतिकुशल होते हैं कि संसार उनके पदचिह्नोंपर चलता है। उनके द्वारा स्थापित नीतिमार्ग दूसरोंको पथ-दर्शन देता है। उदाहरण देखना हो तो महाभारतमें श्रीविदुरजीकी नीति और उनका जीवन देखना चाहिये। पितामह भीष्म भी इसके आदर्श हैं। इस विषयमें मानसमें श्रीभरतलाल एवं श्रीहनुमान्‌जीके चरित देखने योग्य हैं। अन्याय करना पाप है और अन्याय सहना भी पाप-जैसा ही है। किसीमें दोष नहीं देखना चाहिये; पर किसीके भुलावेमें नहीं आना चाहिये। दोष न देखकर गुण देखना संतका चिह्न है और ठगे जाना अज्ञानका। संत अज्ञानी नहीं होता। उसे ठगा नहीं जा सकता। जान-बूझकर वह किसीके छलको किसी कारण सह ले, उसकी उपेक्षा कर दे, यह दूसरी बात है।

गौ एवं ब्राह्मणोंकी रक्षा भी वही कर सकेगा जो नीति-निपुण होगा। केवल उत्साह एवं त्यागसे रक्षा नहीं होती। उत्साह और त्याग होनेपर भी नीतिकुशलता न हो तो रक्षाके स्थानपर अपने अटपटे व्यवहारसे रक्ष्यका संकट बढ़ जानेकी सम्भावना रहती है। अत: रक्षाका दायित्व लेनेवालेको आदर्श नीति-निपुण होना चाहिये। नीति-निपुणका अर्थ है कि वह स्वयं अन्याय नहीं करेगा और किसीके अन्यायको चलने नहीं देगा। उसे ठगा नहीं जा सकता। वह व्यवहारमें पूरा सावधान रहता है। (ख) यह दशम भवन भी लोकनेताका आदर्श रखता है, किन्तु यह लोकनेता सामान्य लोकनेता नहीं है। यह जन-साधारणका अग्रणी नहीं। यह गौ एवं ब्राह्मणोंका सेवक है। यह धार्मिक नेता है। गौ (धर्म) ब्राह्मण (शास्त्र)-का

यह संरक्षक है। ऐसे धार्मिक नेताका स्वरूप इसमें निर्दिष्ट हुआ है। (ग) इस भवनमें भी उपासनाकी आवश्यकता नहीं बतायी गयी है। यह निष्काम कर्मयोगका ही मार्ग है। कहीं किसीमें दोष न देखकर सर्वत्र सबके गुणोंपर ही दृष्टि रखता हुआ, गौ-ब्राह्मणोंकी सेवामें विपत्ति उठानेसे भी जो हिचकता नहीं और व्यवहारके क्षेत्रमें जो आदर्शनीति-निपुण है, उसका मन तो श्रीरामके लिये *'नीका'* भवन है।

वि० त्रि०—सुन्दरकाण्डके उत्तरार्धमें दसवें प्रकारके भक्त विभीषणजी हैं। उनमें ये तीनों गुण पाये जाते हैं। यथा—*'जौं कृपाल पूछेहु मोहिं बाता। मति अनुरूप कहौं हित ताता॥'* (यह *'अवगुन तजि सब के गुन गहहीं'* का उदाहरण है), *'बिप्र रूप धरि बचन सुनाए। सुनत बिभीषन उठि तहँ आए॥' 'अति नय निपुन न भाव अनीती॥'* (यह 'नीति-निपुणताका' उदाहरण है)।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—३ *'गुन तुम्हार……'* इति। अच्छे या बुरे चाहे जिससे आप मिलिये, साधारणतः मानव-मनकी एक ही प्रकृति है—कोई अच्छा काम हो गया, कोई सफलता हो गयी तो यह मैंने किया, यह मेरे अथक प्रयत्नसे हुआ, मेरी सहायतासे हुआ। इस प्रकार गुण एवं सफलता वह अपनी ही मानना चाहता है। दूसरेके गुण, दूसरेकी सफलताका भी प्रधान हेतु अपनेको बताता है। लेकिन जो दुर्गुण हैं, दोष हैं, उनके लिये कहेगा—'यह विवशता है, यह अमुककी सम्मतिका फल है, अमुकके संगसे ऐसा हुआ, मेरा विचार ऐसा नहीं था। इसी प्रकार असफलताके लिये कहेगा—'दैवने साथ नहीं दिया। अमुककी सम्मतिने काम चौपट किया। अमुकने काम बिगाड़ा। इस प्रकार अपनेमें कोई दुर्गुण, कोई दोष वह स्वीकार नहीं करना चाहता। अपनेको किसी हानि, किसी असफलताका निमित्त नहीं मानना चाहता। सब दोष भाग्य, ईश्वर, परिस्थिति, समाज या सहयोगियोंका ही बतलाता है। वहाँ यदि आप किसी चोर या हत्यारेसे बात करें तो वह अपनी चोरी या हत्याके पक्षमें इतने तर्क देगा कि वह साक्षात् धर्ममूर्ति जान पड़ेगा।

मनुष्यका अहंकार उसे निरन्तर धोखा देता रहता है। जिन कार्योंको करनेके लिये हम दूसरोंकी निन्दा करते हैं, दूसरोंसे जिन कार्योंके कारण घृणा करते हैं, अपने उन्हीं कार्योंको उचित मानते हैं और चाहते हैं कि दूसरे भी उचित मान लें। प्रकृति अधोगामिनी है। मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार तथा इन्द्रियाँ भी स्वभावसे बहिर्मुख हैं। विषयोंमें इनकी सहज प्रवृत्ति है। जैसे पके अन्नका सहज धर्म सड़ना है। वह सुरक्षित रहता है तो किसीके प्रयत्नसे रहता है, वैसे ही जीवोंकी प्रवृत्ति अधोमुखी है। उनमें संयम, नियम, सावधानी, धर्म, सत्यादि गुण भगवान्‌की कृपासे ही आते हैं। सम्पूर्ण सद्गुणोंके एकमात्र निवास परम प्रभु ही हैं। जैसे जितनी भी उष्णता है सब अग्निसे ही आती है वैसे ही जितने भी सद्गुण हैं वे प्रभुसे ही प्राणियोंमें आते हैं। जो विचारशील हैं, विवेकी हैं वे इस सत्यको समझते हैं। जितने गुण हममें हैं, वे हमारे नहीं हैं, वे तो प्रभुके गुण हैं। उनकी कृपासे हममें आये हैं। ऐसी उनकी धारणा होती है और इसके फलस्वरूप अहंकार, दर्प आदि उन्हें स्पर्श नहीं कर पाते।

बड़ी सरलतासे लोग कह देते हैं—'भगवान् ही सबके संचालक हैं, सब कार्य उन्हींकी इच्छासे होते हैं, फिर हम पाप भी उन्हींकी इच्छासे करते हैं। हमें हमारे पापका दण्ड क्यों भोगना पड़ता है? यह कहाँका न्याय है?' उनसे पूछा जाय—'भैया, जैसे तुम भगवान्‌की इच्छासे चोरी या व्यभिचार करके अपनेको निर्दोष मानते हो वैसे ही दूसरा भी तुम्हारे घर चोरी या तुम्हारी बहू-बेटीसे अनाचार क्या भगवान्‌की इच्छाके बिना ही कर लेता है। जब वह भी भगवान्‌की इच्छासे ही ऐसा करता है तो फिर आप दुःखी या क्रोधित क्यों होते हैं? उसे दोषी क्यों बताते हैं? क्यों चाहते हैं कि उसे दण्ड प्राप्त हो? देवता! जो अपराध है, पाप है, वह सबके लिये ही पाप है। उसमें बहानेबाजी नितान्त व्यर्थ है।

बात यह है कि जैसे सूर्यके प्रकाशसे ही सबके नेत्र देखनेमें समर्थ होते हैं, किंतु कहीं सद्भावपूर्ण दृष्टि डालना या कहीं कुदृष्टि डालना व्यक्तिका निजी कार्य है, वैसे ही भगवान्‌की शक्तिसे ही सम्पूर्ण विश्व सचेष्ट है, यह ठीक होनेपर भी यह भूलना नहीं चाहिये कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। जितने भी पाप हैं, जितने भी अपराध हैं, जितने भी दोष हैं, वे व्यक्तिके हैं, सर्वात्माके नहीं हैं। शरीरके, इन्द्रियोंके

तथा स्वजन-सम्बन्धियोंके सुखमें आसक्ति, मान-सम्मानमें आसक्ति ही समस्त पापोंकी जड़ है। देहासक्तिसे ही पाप होते हैं। आलस्य, प्रमाद, असावधानी आदि भी देहासक्तिके कारण ही हैं। यदि व्यक्ति अपनी देहासक्ति छोड़कर अपनेको भगवान्‌का यन्त्र बना दे तो उसमें कोई दोष रह नहीं सकता। उससे भूलसे भी कोई पाप होना शक्य नहीं; क्योंकि भूल स्वयं व्यक्तिके अहंकारतक ही रहती है।

☞ ***'गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा।'*** यह कोरी भावुकता नहीं है। यही सत्य दृष्टि है और जो सत्यसे विमुख है, उसे सत्यस्वरूप परमात्माकी उपलब्धि कैसे हो सकती है?

नोट—२ (क) ***'गुन तुम्हार……'*** इति। यथा—***'तुलसी सुखी जो राम सों दुखी सो निज करतूति। करम बचन मन ठीक जेहि तेहि न सकै कलि धूति॥'*** (दो० ८८) पुनः, ***'हरि तुम्ह बहुत अनुग्रह कीन्हो। साधन धाम बिबुध दुर्लभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हो॥ कोटिहु मुख कहि जात न प्रभुके एक एक उपकार।'*** (वि० १०२) ***'यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥'*** (ख) ***'सब भाँति तुम्हार भरोसा'*** इति। अर्थात् जो कुछ करेंगे सो आप ही। आपकी ही प्रपत्तिमें विश्वास है, कृपाहीका भरोसा है। यथा—***'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती॥'***, ***'आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस।'*** (१८३) ***'प्रनत कुटुंब पाल रघुराई'***, ***'प्रनतपालु पालिहि सब काहू। देउ दुहूँ दिसि ओर निबाहू॥ अस मोहि सब बिधि भूरि भरोसो। किये बिचारु न सोकु खरो सो॥'*** (३। १४। ४-५) ***'सब भाँति'*** अर्थात् मन-कर्म-वचनसे। वा स्वामी—सखा-माता-पिता सभी भावका भरोसा है। इससे विश्वासमें अचल दिखाया। स्वप्नमें भी दूसरेका भरोसा नहीं, यह लक्षण चौथे निकेतनमें भी कहा गया है। वे ही भाव यहाँ समझ लेना चाहिये। (ग)—***'राम भगति प्रिय……'***, यथा—***'गृही बिरति रत हरष जस……'*** (कि० १३) ***'मोहि भगत प्रिय संतत……।'*** (७। ८५) यह श्रीमुख-वचन है। अतः भगवान्‌का प्रिय कृपापात्र उनके दासको भी प्रिय लगना ही चाहिये।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—४ ***'जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा।'*** इति। जब गुण सब जगदात्माके हैं और उसीसे आते हैं और त्रुटियाँ तथा दोष सब व्यक्तिके अपने हैं तो व्यक्ति गर्व किस बातका करे? उसे अपनी शक्तिपर कैसे विश्वास रह सकता है? जो दूसरे हैं विश्वमें वे भी उसीकी कोटिके हैं। उनमें चाहे जितने सद्‌गुण हैं वे भी प्रभुसे ही आये हैं। जब प्रभुसे आये सद्‌गुणोंकी किरणोंपर ही अटकना है तो उन किरणोंके परमायन परमप्रकाशपर ही क्यों न अटका जाय। इसलिये जो सत्यदर्शी होता है, वह फिर इधर-उधर कहीं भटकता नहीं। किसी भी दशामें किसी भी बातके लिये उसकी आँख प्रभुको छोड़कर और किसीकी ओर नहीं उठती। उसे एकमात्र प्रभुका ही भरोसा रहता है। गंगा गये तो गंगादास और यमुना गये तो यमुनादासवाली बात उसमें नहीं। वह तो पर्वतके समान दृढ़ होता है—***'बनै तो रघुबर ते बनै, बिगरै तो भरपूर। तुलसी औरनि ते बनै, वा बनिबे में धूर॥'*** लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वह घमण्डी होता है, वह संतोंकी उपेक्षा करता है। इस उपेक्षाकी शंकाको दूर करनेके लिये ही कहा जाता है—***'राम भगत प्रिय लागहिं जेही।'*** जिसे भगवान् प्यारे लगेंगे, उसे भगवान्‌के भक्त भी प्यारे लगेंगे ही। अपने प्रियसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु प्रेमीको प्रिय लगती है, यह सामान्य नियम है, किंतु यहाँ तो बात ही दूसरी है। देवर्षि नारद अपने भक्तिसूत्रमें कहते हैं—'**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।**' भक्तमालमें भी यही बात कही गयी है—***'भगति भगत भगवन्त गुरु चतुर नाम बपु एक।'*** अतः श्रीरामके भक्त तो साक्षात् उन श्रीकौशलानन्दवर्धनके स्वरूप ही हैं जो श्रीरामसे अनुराग रखता है, एकमात्र उन्हींपर भरोसा रखता है, उसे श्रीरामके भक्त तो अवश्य ही अत्यन्त प्रिय लगेंगे। '**अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते। न तद्भक्तेषु चान्येषु तद्भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥**' (भा० ११। २। ४७) जो भगवान्‌की (मूर्ति आदि) की पूजा तो श्रद्धासे करता है, किंतु भगवान्‌के भक्तोंमें तथा अन्य पूज्योंमें जिसकी श्रद्धा नहीं, जो उनका सत्कार नहीं करता, वह तो प्राकृत—बहुत सामान्य कोटिका भक्त है। यह बात तो नौ योगेश्वरोंमेंसे हरि नामके योगेश्वरने कही है। महापुरुष किसीकी निन्दा नहीं करते, किसीको कटु शब्द नहीं कहते, इसलिये उन्होंने भगवद्भक्तोंकी

उपेक्षा करनेवालेको भी 'साधारण कोटिका प्राकृत भक्त' कहा; किन्तु यही बात जब श्रीकृष्णचन्द्रने कही तो श्रीमद्भागवतमें ही उन्होंने कहा—'**स एव गोखरः**' अर्थात् वह तो पशुओंमें भी गधा है।

☞ सच्ची बात तो यह है कि यहाँ आत्मसमर्पणकी सबसे ऊँची स्थिति बतायी गयी है। आत्मसमर्पण, सख्य, दास्य और अन्तमें वात्सल्य यह क्रम यहाँ जान पड़ता है। वात्सल्य अन्तमें तो महर्षि वाल्मीकि अपने भावके कारण रखते हैं; जैसे पतिव्रता स्त्री अपने प्रियतम पतिमें गुण-ही-गुण देखती है। पतिदेव जो गुण उसमें बतलाते हैं, उन्हें भी वह पतिकी उदारता ही मानती है। अपनेमें उसे त्रुटियाँ ही दीखती हैं। पतिसे हुई भूल एवं हानिको भी वह अपनी त्रुटि ही समझती है। पतिके अतिरिक्त उसका कोई आश्रय नहीं। पति ही उसका एकमात्र भरोसा है। पतिके जो प्रियजन-परिजन हैं (वे पतिके सम्बन्धसे प्रिय हैं)। ठीक यही अवस्था इस भक्तकी है।

☞इस भवनमें आत्मसमर्पण—मधुर भावका संकेत है, अतः यहाँपर ***'सीय सहित दोउ भाइ'*** को बसनेके लिये नहीं कहा गया। यहाँ छोटे भाईकी उपस्थिति मर्यादासंगत नहीं। साथ ही यहाँ ***'राम बसहु'*** कहकर एकाकी निवास करनेको भी नहीं कहा जा रहा है। यहाँ ***'तेहि उर बसहु सहित बैदेही।'*** श्रीमहारानीजीके साथ निवास करनेका अनुरोध किया गया है।

वि० त्रि०—लंकाकाण्डके पूर्वार्धमें ग्यारहवें प्रकारके भक्त समुद्रजी हैं। यथा—***'प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही'*** (यह ***'गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा'*** है) ***'प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरिहि कटकु न मोर बड़ाई॥'*** (***'जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रमहारी'***) (यह ***'राम भगत प्रिय लागहिं'*** का उदाहरण है)।

पु० रा० कु०—***'गुन तुम्हार समुझहिं……'*** से ***'तेहि बसहु……'*** तक वैश्यका धर्म वर्णन किया गया।

बैजनाथजी—प्रभुके दिव्य गुणोंको विचारते हैं और काम-क्रोध आदि अनेकों अपने दोष समझते हैं। यह कार्पण्य शरणागति है। यथा—***'कायर क्रूर कपूत खल लंपट मंद लबार। नीच अधी अति मूढ़ मैं लीजै नाथ उबार॥'*** ***'सब भाँति तुम्हार भरोसा'*** यह रक्षामें विश्वास-शरणागति है।

नोट—दसवाँ स्थान तितिक्षावृत्ति या नीतिवृत्ति है और ग्यारहवाँ कार्पण्यवृत्ति है। (गौड़जी)

(बारहवाँ-तेरहवाँ स्थान)

जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥ ५॥
सब तजि तुम्हहिं रहइ लउ लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई॥ ६॥
सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥ ७॥
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा॥ ८॥

शब्दार्थ—**पाँति** (पंक्ति)=एक साथ भोजन करनेवाले बिरादरीके लोग; समाज, परिवारसमूह। **बड़ाई**=बड़प्पन, प्रतिष्ठा, सम्मान। **लउ**=लौ=चित्तकी वृत्ति; लाग, लगन। **लाई**=लगाकर। **अपबरगु**=मोक्ष, निर्वाण। **चेरा**=दास, सेवक, गुलाम। **डेरा करना**=निवास करना, पड़ाव डालना।

अर्थ—जो जाति, पाँति, धन, धर्म, बड़ाई, प्रिय, प्यारा कुटुम्ब और सुखदायक घर यह सब छोड़कर आपहीमें लौ लगाये रहता है, उसके हृदयमें, हे रघुराई! आप रहिये॥ ५-६॥ स्वर्ग, नरक और मोक्ष जिनको (ये सब) समान हैं और जो जहाँ-तहाँ सर्वत्र सब स्थानोंमें धनुष-बाण धारण किये हुए आपको ही देखते हैं और कर्म-वचन-मनसे आपके चेरे हैं, हे राम! उनके हृदयमें डेरा कीजिये॥ ७-८॥

पु० रा० कु० १—ऊपर अर्धाली ४ तक प्रवृत्तिमार्गवालोंका वर्णन हुआ, इसीसे वैदेहीसहित वास करनेको कहा। अब यहाँ निवृत्तिमार्गवालोंका वर्णन है। जाति, उच्चवर्ण ब्राह्मण, उनमें भी अच्छे कुलवाले हों, पाँति भी अच्छी हो जिसमें इनकी पति (प्रतिष्ठा) हो, सम्पत्तिवाले हों, धर्म जो कुल-परम्पराका है और मनुष्यमात्रका है, बड़ाई अर्थात् लोगोंमें मान्य-प्रतिष्ठा इत्यादिको त्यागकर प्रभुमें अनुरक्त रहते हैं यह त्याग है, वैराग्य है। इसीसे एक रघुराईको बसनेको कहते हैं। ***'लउ लाई'***=लौ लगन लगाकर; सब वासना छोड़कर प्रभुमें आसक्त होकर, यथा—***'मन ते सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी॥'*** तैलधारावत् स्मरण रहना लौ लगना है।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ (क) *'जाति पाँति······'* इति। ☞ **'तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्। तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥'** (भा० १०। १४। ३६) जबतक पुरुष भगवान्‌की शरणमें नहीं जाता, जबतक वह उन दयाधामका जन नहीं हो जाता, तभीतक उसके हृदयमें राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर आदि शान्ति एवं आनन्दको चुरानेवाले चोर रहते हैं, तभीतक घर उसके लिये कारागारके समान बन्दी करके रखनेवाला रहता है और तभीतक मोहकी बेड़ी उसके पैरोंको जकड़े हैं। (ख) 'मैं अमुक जातिका हूँ, अमुक समाज या पार्टीका हूँ' यह मनुष्यको बाँध रखनेवाला राग है। जाति एवं समाजका गर्व कितने अनर्थ कराता है, इसे हम भारतवासी खूब भोग चुके हैं। जाति एवं पंक्ति (वर्ण) की व्यवस्था समाजको उन्नत करनेके लिये है, दृढ़ एवं संगठित करनेके लिये है। लेकिन जब कोई यह मान लेता है—'मैं दूसरोंसे बड़ी जातिका हूँ' तो वह प्रमाद करता है। उसके द्वारा अनर्थ होने लगते हैं। **'स्व एवं धर्मे न परं क्षिपेत् स्थितः।'** अपने धर्ममें स्थित रहे; किंतु दूसरेपर आक्षेप न करे। यह आदर्श है वर्णव्यवस्थाका। लेकिन जहाँ भगवान्‌की शरण लेना है, वहाँ भला जाति-पाँतिका भेद कैसा? जीवकी तो कोई जाति है नहीं। जन्मसे पूर्व और मृत्युके पश्चात् हमारी जाति तथा वर्णका क्या कुछ पता है? सर्वेश्वर प्रभुकी दृष्टिमें सब समान हैं। सब उन्हें प्राप्त करनेके अधिकारी हैं। हाँ, व्यवहारमें तो वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाका पालन होना ही चाहिये। किंतु मनमें ऊँच-नीचका भेद नहीं होना चाहिये। जातिका गर्व ही अनर्थ है। (ग) जैसे उच्च वर्ण एवं उच्च कुलमें जन्मका मद होता है। वैसे ही धनका भी मद होता है। **'श्रोत्रदृग्वाग्विहीनं कुरुते लक्ष्मीर्जनस्य को दोषः। गरलसहोदरजाता यन्न मारयति तच्चित्रम्।'** लक्ष्मी ही मनुष्यको कान, आँख एवं वाणीसे रहित करके बहिरा, अंधा, गूँगा बना देती है, इसमें मनुष्यका दोष क्या है? अरे, वह हलाहल विषकी सहोदर बहिन है, वह मार नहीं डालती यही क्या कम आश्चर्य है? ये लक्ष्मीदेवी भगवान्‌की अर्धांगिनी हैं, अतः जो भगवान्‌की शरण ले लेता है उसपर उनका मादक प्रभाव नहीं पड़ता। वह धनकी अपेक्षा ही नहीं करता। (घ) अब रही धर्मकी बात। नाना प्रकारके कर्तव्योंका आग्रह भी उपासकके मार्गमें कम बाधक नहीं है, इसीसे भगवान्‌ने **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** ऐसा कहा है। सब धर्मोंको छोड़नेका तात्पर्य यह है कि लौकिक एवं वैदिक कर्मों, आचारोंमें अपनी आराध्य-निष्ठा, उपासना-निष्ठाके अनुकूल जो कर्म हों, उनका आचरण किया जाय और जो उसके विपरीत पड़ते हों, जैसे कुल-परम्परासे आती हुई प्रेत-पूजा आदि या वैदिक सोमभाग आदि, उनसे स्वयं तटस्थ हो जाय, उदासीन हो जाय। **'लोके वेदे च तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता।'** (ना० भ० सूत्र) (ङ) *'बड़ाई'* इति। पदका गर्व, सम्मानका गर्व सबसे बड़ा होता है। सौ-दो-सौ, हजार-दो-हजार जिसे संत महात्मा विद्वान् कहने लगते हैं, वह समझ ही नहीं पाता कि मूर्खोंकी भीड़के कहनेसे कोई सन्त महात्मा या विद्वान् नहीं हो जाता। ऐसी प्रशंसा पाकर लोग अपनेको अवतार मानने लगते हैं। राम, कृष्णसे भी ऊँचे पहुँचा हुआ घोषित करने लगते हैं। बड़े-बड़े त्यागी भी बड़ाईके पीछे दौड़ते देखे जाते हैं। अपमानसे लाल भी हो जाते हैं। बड़ाई पानेकी भावना सभीमें रहती है। त्याग, सदाचार, सत्कर्मसे ही यश मिलता है, अतः यश-इच्छुक पुरुष सत्पुरुष होता है। लेकिन है यह भी वासना। वासनापर जिसकी विजय हुई वही सच्चा साधु है। (च) *'प्रिय परिवार···'* इति। इस चौपाईमें त्यागका क्रम नीचेसे ऊपरकी ओर है। पहले घर तथा परिवारकी आसक्ति जाती है तब जाति-पाँति आदिका आग्रह क्रमशः जाता है और अन्तमें यश-इच्छा। धनके लिये जाति एवं वर्णके आचारसे लोग च्युत होते प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं। यज्ञादि धर्मोंके लिये धनका त्याग आवश्यक है। जाति आदि सबका त्याग करके जो वीतराग अवधूत हो गये हैं, बड़ाई पानेकी इच्छा उनमें भी रहती है। लेकिन इस क्रमसे यह न समझ लेना चाहिये कि परिवार एवं घरको छोड़ देना बहुत सरल है। 'परिवार' इसीलिये 'प्रिय' और 'सदन' को 'सुखदायक' बताया गया। परिवारकी वासना इतनी प्रबल होती है कि साधु हो जानेपर भी चाचा गुरु, दादा गुरु, गुरुभाई, चचेरे गुरुभाई आदिका सम्बन्ध जोड़कर पूरा नया परिवार बना लिया जाता है। 'सदन' तो 'सुखदायी' ही ठहरा। बहुत थोड़े विरक्त मिलते हैं

जो आजीवन अवधूत रह सकें। कुटिया बनानेका उपक्रम वर्षों विचरण करनेवाले भी करने लगते हैं। बिना अपनी कुटिया हुए *'सुखदाई सदन'* की सुख-सुविधा कैसे प्राप्त हो! लेकिन जो प्रिय परिवार एवं सुखदायी सदनकी इस मोहमयी मायाको ठुकरा देते हैं, उनके लिये भगवान् कहते हैं—**'ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥'** (भा० ९।४।६५) जो स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, स्वजन-बान्धव एवं प्राणोंसे भी प्यारे धनको छोड़कर मेरी शरणमें आये हैं, उनको छोड़नेकी बात तो दूर रही, उनके छोड़नेकी इच्छा भी मैं कैसे कर सकता हूँ। भगवान्ने यह बात दुर्वासासे अम्बरीषकी भक्तिकी प्रशंसा करते हुए कही थी। वे गृहस्थ थे, स्त्री, पुत्र, राज्यको उन्होंने नहीं छोड़ा था। वे संन्यासी नहीं हुए थे। अतः, (छ) *'सब तजि'* का अर्थ घर-द्वार छोड़कर बाबाजी बनना नहीं है। *'सब तजि'* का अर्थ केवल सबकी आसक्ति छोड़ देना है। सब रहें तो ठीक, सब नष्ट हो जायँ तो भी ठीक ऐसी स्थिर वृत्ति यहाँ अपेक्षित है।

२—इस द्वादश भवनमें सख्यभावका वर्णन है। अपने परम प्रिय सखा श्रीरामसे भिन्न जाति, वर्ण, धर्मका कोई अहंकार जिसे नहीं है। जिसकी जाति आदि सब सखापर न्योछावर है। धन एवं मान अपना कुछ नहीं। जो अपने प्रिय सुहृद्के स्नेहमें न तो धनकी चिन्ता करता, न मानापमानकी। परिवार तथा घर चाहे जितने प्यारे एवं सुखदायी हों—अशान्तिदायी परिवार एवं असुविधापूर्ण घरकी तो बात ही छोड़िये, सब प्रकारसे अनुकूल परिवार एवं उत्तम भवन भी जिसके चित्तको खींच नहीं पाता। जैसे बालक अपने प्रिय मित्र दूसरे बालकके साथ खेलते समय जाति आदि सब भूला रहता है, ऐसे ही सब ओरसे हटकर जिसका चित्त श्रीराममें निरन्तर लगा रहता है, उसके चित्तमें कौसलकुमार निवास करते हैं। 'सख्यरस' होनेसे यहाँ केवल *'रघुराई'* को बसनेके लिये कहा। श्रीजानकीजीका नाम नहीं लिया (अप्रकाशित)।

बै०—जाति, विद्या, महत्त्व, रूप और यौवन—ये भक्तिके कण्टक हैं, अतः इनका त्याग करना चाहिये।

वि० त्रि०—लंकाकाण्डके उत्तरार्धमें बारहवें प्रकारके भक्त वानर लोग हैं। क्रमशः गुणोंके उदाहरण ये हैं—***'मम हित लागि तजे इन्ह प्राना'*** अथवा ***'जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा। हरषे देव बिलंब न कीन्हा॥' 'बनचर देह धरी छिति माहीं।……हरि मारग चितवहिं मति धीरा॥'*** देवतालोग 'जाति, पाँति, धन-धर्म, बड़ाई' आदि छोड़कर सरकारके लिये वानर बने।

प० प० प्र०—***'जाति पाँति……'*** इति। जाति-पाँति-विभाजक संस्थावाले कहेंगे कि गोस्वामीजीने भी देखो ऐसा ही लिखा है, पर यदि इस वचनका अर्थ शब्दशः लेना हो तो धन, बड़ाई, प्रिय परिवार, सदन और सुखदायी सर्वस्वका भी त्याग करना पड़ेगा। यहाँ मुख्यतः ***'मैं और मोर'*** का ही त्याग अभिप्रेत है तथा भगवान्‌को ***'उर लाई'*** रहना ही ध्येय है। जबतक अन्य किसीको हृदयमें स्थान है तबतक भगवान् हृदयमें विराजेंगे ही नहीं।

नोट—***'सरगु नरकु……'*** इति। (क) स्वर्गका सुख, नरकका दुःख और मोक्षका आनन्द—ये सब उनको एक-से हैं। नरकमें ही रहकर प्रभुको ही देख वे सुखी रहते हैं। यथा—***'औरु मेरे को है काहि कहिहौं। रंकराज ज्यों मनको मनोरथ जेहि सुनाइ सुख लहिहौं॥ १॥ यमयातना योनि संकट सब सहे दुसह अरु सहिहौं। मो को अगम सुगम तुम्ह को प्रभु तउ फल चारि न चहिहौं॥ २॥ खेलिबेको खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। एहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं॥ ३॥ इतनी जिय लालसा दास के कहत पानही गहिहौं। दीजै बचन कि हृदय आनिये तुलसी को पन निरबहिहौं॥'*** (वि० २३१) (ख) ***'जहँ तहँ देख'***—जैसे हनुमान्‌जी, यथा—***'जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर।'*** गाढ़ प्रेम होनेसे भक्तोंमें गाढ़ स्मृति अपने प्रेमपात्रमें होती है, जिससे वे सर्वत्र अपने प्रेमपात्रको देखते हैं। हमें ऐसे प्रेमियोंके दर्शन हुए हैं जिन्हें मार्गमें चलते हुए पृथ्वीके कण-कणमें 'राम' नाम अंकित देख पड़ता है, जिन्हें रास्ते चलते भी प्रभुके चरित ही नेत्रोंके सामने प्रत्यक्ष होते देख पड़ते हैं। यथा—**'भूमौ जले**

नभसि देवनरासुरेषु भूतेषु देवि सकलेषु चराचरेषु। पश्यन्ति शुद्धमनसा खलु सामरूपं रामस्य ते भुवितले समुपासकाश्च॥' (महा० रा० ४९८) कौसल्याजी अपने सम्बन्धमें स्वयं कहती हैं—***'माई री! मोहि कोउ न समुझावै। राम गवन साँचो किधौं सपनो मन परतीति न आवै॥ लगेइ रहत मेरे नैननि आगे राम लषन अरु सीता। तदपि न मिटत दाह या उर को बिधि जो भयो बिपरीता॥ दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत तनु न रहै बिनु देखे।'''...... '*** (गी० २। ५३)

मा० म०—यदि मन रामको वरण कर ले तो स्वर्ग आदि सब समान हैं, कुछ दु:ख उसको न मालूम होगा। भाव यह कि संसारको भूलकर सर्वत्र आपको ही देखते हैं।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ ***'सरग नरक''...... '*** इति। (क) **'आब्रह्मभुनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन।'** (गीता ८। १६) ब्रह्मलोकतक जितने लोक हैं, उन सबमें जानेवाले जीव जन्म-मरणके चक्करमें ही पड़े रहते हैं। इसलिये जो विचारशील हैं उन्हें स्वर्गके सुखोपभोगका कोई लोभ नहीं होता। स्वर्गमें जो सुख है वह ऐन्द्रियक सुख ही है। जिसने इसी लोकमें इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कर दिया, उस विरक्तमें क्या इन्हीं इन्द्रियोंके भोगोंके मरनेके पीछे पानेकी लालसा बाकी रह सकती है! (ख) जो इन्द्रियोंके सुखोंसे विरक्त होता है, वह कष्टकी भी चिन्ता नहीं करता। सुख और दु:ख दोनोंमें वह समान रहता है। इसीसे स्वर्गकी यदि उसे कामना नहीं तो नरकका उसे कोई भय भी नहीं। फिर जो अपने आराध्यको सर्वत्र देखता है उसे तो नरकका क्या भय! वह वहाँ रहेगा तो वहाँ भी अपने आराध्यको अपने पास देखेगा। यह बात तो यमराजके सोचनेकी है कि ऐसा कोई यहाँ आ धमके तो उसके नरक नरक रह भी सकेंगे या नहीं। इस लोक एवं परलोकके भोगोंसे विरक्त होकर प्राय: मुक्तिकी इच्छा होती है। योग, सांख्य आदि जितने साधन-मार्ग हैं, वे सब मोक्षके लिये ही हैं, अपवर्ग ही मुमुक्षुका उद्देश्य होता है। जबतक लौकिक एवं स्वर्गीय भोगों या मोक्षकी इच्छा हृदयमें है तबतक अपने हृदयमें विराजमान उस परम सुहृद्को कोई कैसे जान सकता है। ***'ताते जे हरि भगत सयाने। मुकुति निरादरि भगति लुभाने॥'*** जो भगवान्‌के चरणकमल-किंजल्करसके रसिक हैं, वे तो एक ही लालसा रखते हैं, एक ही प्रार्थना वे नित्य अपने प्राणसर्वस्व प्रभुसे करते हैं—***'जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ नाथ देहु यह हमहीं॥ सेवक हम स्वामी सिय नाहू। होउ नात यहि ओर निबाहू॥'*** अपने कर्मोंका सुख-दु:ख, स्वर्ग-नरक जो भी फल हो उसे भोग लेनेको वे सहर्ष सदा उद्यत रहते हैं। वैसे सच्ची बात तो यह है कि **'यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मी:।'** यदि भगवान्‌में आनन्दस्वरूप भक्ति हो जाय तो मोक्ष-साम्राज्यकी श्री अपने-आप चरणोंमें लोटने लगती है। ***'भगति करत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥'*** भक्त तो यही प्रार्थना करता है कि मुझे कहीं भी रहनेको मिले इसकी चिन्ता नहीं, किंतु यह चाहता हूँ कि मृत्युके समय भी आपके ही चरणकमलोंका चिन्तन करता रहूँ। यह चरणचिन्तन कभी न छूटे। अनन्य सेवक सदा सर्वत्र अपने प्रभुको ही देखता है।—***'जहँ तहँ देख धरे धनु बाना'*** जब उसके आराध्य सर्वत्र उसके पास हैं तब उसे स्वर्गकी या मोक्षकी क्या इच्छा! और नरका क्या भय? (ख) ***'करम बचन मन राउर चेरा'*** इति। कर्मसे आपका दास है। आपकी तथा आपके भक्तोंकी सेवामें लगा रहता है। आपके श्रीविग्रह एवं मन्दिरकी सेवा-टहल करता रहता है। वह निकम्मा नहीं रहता और न व्यर्थ कार्य करता है। शरीरसे सेवा करता है। वचनसे भी दास है। न वह मौनी रहता है और न उसकी वाणी सांसारिक चर्चामें लगती है। वह आपके नाम, रूप, लीला एवं गुणका गान करता रहता है। यह कर्म एवं वचनरूप सेवा वह बेमनसे नहीं करता। उसका मन भी आपका दास है। मन भी आपके चरणोंका ही चिन्तन करता रहता है।—बस यही पूर्ण जीवन है। मनुष्य-जीवनकी यही चरम साधन-स्थिति है। जो इसे प्राप्त कर चुका है, उसके हृदयमें निवास करते हैं। यहाँ दास्य-भक्तिका पूर्णरूप प्रतिपादित किया है।

प० प० प्र०—१ ***'सरग नरक अपबरग''...... '*** इति। (क) उत्तरकाण्ड १३०। १० में ***'नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी'*** यह क्रम है और यहाँ ***'सरग नरक'*** यह क्रम है। यहाँ 'नरक' को स्वर्ग और अपवर्गके बीचमें

देकर जनाया कि राम-भक्तिरहित स्वर्ग तथा रामभक्ति-हीन मोक्ष दोनों ही नरकके समान लगते हैं। स्वर्गस्थ देवगण स्वयं कह रहे हैं—*'हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ रत प्रभु भगति बिसारी॥'* तब इसका परिणाम क्या है—*'भव प्रवाह संतत हम परे।'* इन्द्र और ब्रह्मा भी यही कह गये हैं। यथा—*'मोहि रहा अति अभिमान', 'धिग जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे॥'* और मोक्षके सम्बन्धमें श्रीभुशुण्डिजी कह रहे हैं कि *'तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई॥'* (ख) *'उर डेरा'*=डेरा=तम्बू, पड़ाव। यह शब्द साभिप्राय है। यह जंगम मकान है। एक जगहसे दूसरी जगह ले जा सकते हैं। ऐसे भक्तोंका हृदय डेरा है। वे स्वर्गादि जहाँ भी जाते हैं वहाँ भगवत्कथा-श्रवण, कीर्तन आदि करते हैं। श्रीसनकादिजीके चरित्रमें *'डेरा'* शब्द भी चरितार्थ होता है।

वि० त्रि०—तेरहवें प्रकारके भक्त उत्तरकाण्डके पूर्वार्धमें श्रीसनकादिकजी हैं। इसके दोनों गुण उनमें हैं। यथा—*'समदरसी मुनि बिगत बिभेदा', 'आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥'*

(चौदहवाँ स्थान)

दो०—जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥ १३१॥

एहि बिधि मुनिबर भवन देखाए। बचन सप्रेम राम मन भाए॥ १॥

अर्थ—जिसे कभी भी कुछ न चाहिये, जो आपसे स्वाभाविक प्रेम रखता है, उसके मनमें निरन्तर वास कीजिये, वह आपका अपना (खास राजमहल) घर है॥ १३१॥ इस प्रकार मुनिने स्थान दिखाये। मुनिके प्रेमयुक्त वचन श्रीरामजीके मनको अच्छे लगे॥ १॥

नोट—१ (क) ये निष्काम प्रेमी भक्त हैं, यथा—*'सकल कामना हीन जे रामभगति रस लीन……'*। इनका हृदय निष्काम है इसीसे यह 'निज घर' है। इसमें सदा निवास करनेको कहते हैं। चार प्रकारके भक्तोंमेंसे *'ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा'* और इससे भी अधिक प्रेमी प्यारा है। (ख) *'सुनहु राम अब कहौं निकेता'* उपक्रम है और *'एहि बिधि मुनिबर भवन देखाए'* उपसंहार है। (ग) *'बचन सप्रेम राम मन भाए'* इति। श्रीरामजीको केवल प्रेम प्रिय है, वचनमें वही प्रेम भरा है; अतः वे प्रिय लगे। *'मन भाए'* से जनाया कि प्रभुने मनमें कहा कि मुनि, आपने बहुत खूब कहा, ये स्थान हमारे निवासके लायक हैं, हम इनमें अवश्य वास करेंगे। (प्र० सं०)

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ (क) श्रीमद्भागवतमें ये लक्षण श्रेष्ठ भगवद्भक्तके बताये गये हैं। यथा—**'न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः। वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः॥'** (११। २। ५०) अर्थात् जिनके मनमें विषय-सुखोंको पानेकी इच्छा, उनके लिये कर्म करनेकी प्रवृत्ति तथा उनके बीज वासनाओंका उदय ही नहीं होता, एकमात्र भगवान् वासुदेवमें जिसका चित्त निवास करता है, वह श्रेष्ठ भगवद्भक्त है। (ख) इस अन्तिम (चौदहवें) भवनमें महर्षि वाल्मीकि वात्सल्य-भक्तिका वर्णन कर रहे हैं। वाल्मीकीय रामायणके अनुसार अयोध्यासे निर्वासिता श्रीजनकनन्दिनीको पुत्रीकी भाँति अपने आश्रममें उन्होंने रखा और वहीं लव-कुशका जन्म एवं लालन-पालन तथा शिक्षण हुआ। महाराज दशरथ एवं महाराज जनकसे भी महर्षिकी मित्रता है। इसलिये श्रीराममें महर्षिका वात्सल्य-भाव है। मर्यादापुरुषोत्तमने भी इसीलिये अपने रहनेयोग्य स्थान महर्षिसे ही पूछा। क्योंकि गुरुजनोंसे पूछकर उनके बताये स्थानपर ही रहना सुशील पुरुषका कर्तव्य है। प्रधान देवकी पूजा सबसे पीछे की जाती है। इसीलिये महर्षिके लिये जो प्रधान भाव है, जो उनका अपना भाव है, उसका वर्णन वे सबसे अन्तमें करते हैं और *'सो राउर निज गेहु'* कहकर उसकी विशेषता स्पष्ट कर देते हैं।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—२ *'जाहि न चाहिअ……'* इति। (क) अपने अबोध शिशुपर माता-पिताका सहज स्नेह होता है। भला वे अपने नन्हें बच्चेसे क्या इच्छा कर सकते हैं। वह सुखी रहे, सानन्द रहे, बस यही उनकी कामना रहती है। उसके सुखमें ही उन्हें सुख है। पशु-पक्षीतक अपने शिशुओंसे स्वाभाविक स्नेह

करते हैं। बड़े होनेपर वे बच्चे माता-पिताको पहचानतेतक नहीं; किंतु माता-पिता बच्चेके लालन-पालनमें क्या यह बात कभी सोचते हैं? गोपियोंके पूछनेपर रासरात्रिको श्रीकृष्णचन्द्रने पवित्र प्रेमके उदाहरणस्वरूप माता-पिताके प्रेमका उल्लेख किया है। '**भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा। धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः॥**' (१०।३२।१८) भगवान्ने कहा—सुन्दरी गोपियो! जैसे स्वभावसे ही करुणाशील सज्जन एवं माता-पिता प्रेम न करनेवालेसे भी प्रेम करते हैं, वैसे प्रेम करनेवालोंमें ही अपवाद (त्रुटि) रहित धर्म तथा सौहार्द है।' '**तत्सुखसुखित्व**' आराध्यके सुखमें ही सुख मानना, उनकी प्रसन्नतामें ही प्रसन्न रहना, यह भक्तिका चरम स्वरूप है और वात्सल्यमें इसकी पूरी प्रतिष्ठा होती है। सेवक अपने स्वामीसे कम-से-कम अनुकूलता चाहता है, अनुग्रह चाहता है। सखा अपने सखासे समानताका व्यवहार चाहता है। आदान-प्रदान चाहता है। स्त्री अपने पतिसे ही जो कुछ चाहना होता है, सब कुछ चाहती है। इन तीनोंकी अनन्यता सच्ची होती है, प्रेम सच्चा होता है, पर वह जन्मजात (सहज) नहीं होता। सम्बन्धके पीछे होता है। उसमें कुछ-न-कुछ हेतु होता है। लेकिन माता-पिताका प्रेम सर्वथा स्वाभाविक होता है। उसमें कोई इच्छा नहीं होती। बच्चेके सुख-स्वास्थ्यमें ही उनकी प्रसन्नता होती है। बच्चेसे कभी कुछ चाहनेकी बात उनके मनमें आ ही नहीं सकती। इस प्रकार सर्वथा निष्काम स्नेह जिनका श्रीराममें है, उनका मन तो उन श्रीकौसल्याकुमारका ***'निज गेहु'*** है।

महात्माओंने ***'निज गेहु'*** का भाव निजी 'कक्ष' अर्थात् रंग सदन करके इस दोहेको मधुररस-प्रतिपादक माना है। महात्माओंके भाव नित्य सत्य होते हैं। मैं उनका विरोध करनेका साहस करूँ यह धृष्टता है। लेकिन मानस भगवत्स्वरूप है और जैसे सभी भगवान्को अपने-अपने भावके अनुसार देखते हैं, वैसे ही मैंने भी यहाँ अपने भावके अनुसार ही अर्थ देखा है। मुझे वक्ता महर्षि वाल्मीकिकी ओर दृष्टि रखना अधिक उपयुक्त लगा और ***'तुम्ह सन सहज सनेहु'*** में जो ***'सनेहु'*** है, वह भी वात्सल्यकी ओर संकेत करता जान पड़ा। स्नेह माधुर्यभावमें प्रेम कहा जाता है। बड़ोंका छोटोंके प्रति रागात्मक भाव ही स्नेह कहलाता है—***'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।'***

(ग) ***'सो राउर निज गेहु'*** का भाव वात्सल्यकी मुख्यता माननेसे यह होगा—'दूसरे स्थान तो बसनेके उपयुक्त हैं और वहाँ बसना चाहिये; किंतु यह तो तुम्हारा अपना घर है। पिताका भवन जैसे पुत्रका अपना घर है, वैसे ही यह तुम्हारा पैतृक भवन है। इसे छोड़ना तो तुम्हारे लिये किसी प्रकार उपयुक्त नहीं। इतनी सुख-सुविधा अन्यत्र कहीं तुम्हें नहीं प्राप्त होगी। पूरी स्वतन्त्रतासे अपने सभी संगी-साथियोंके साथ तुम यहीं रह सकते हो। यहाँ रहनेके लिये तुम्हें किसीसे पूछने, किसीसे अनुमति लेनेकी आवश्यकता नहीं। और यदि यह उपयुक्त नहीं तो भी यह तुम्हारा अपना घर है। इसे उपयुक्त बनाना भी तुम्हारा अपना ही कर्तव्य है।

३—***'एहि बिधि······'*** इति। मर्यादापुरुषोत्तमने मर्यादाकी रक्षा करते हुए इन भवनोंके विषयमें कुछ कहा नहीं। नरलीलाको सार्थक करते हुए वे चुप रहे; किंतु क्या महर्षिकी प्रार्थना व्यर्थ चली गयी? क्या उनके दिखलाये भवन प्रभुने स्वीकार नहीं किये? नहीं, नहीं। '**मौनं स्वीकारलक्षणम्**'। चुप रह जाना स्वीकार कर लेनेका चिह्न है। इतनेपर भी आपको संतोष न हो तो मानसके चारों वक्ता तो कह ही रहे हैं—***'बचन सप्रेम राम मन भाये।'*** ये प्रेमपूर्ण वचन श्रीरामजीको पसंद आ गये। इससे अधिक स्वीकृतके लिये और चाहिये ही क्या?

पु० रा० कु०—यहाँतक मुनिने १४ निवास-स्थान कहे। चौदह कहनेका भाव यह है कि १४ ही भुवन हैं मानो एक-एक स्थान एक-एक भुवन है। वा, १४ वर्ष वनमें रहना है; वा, धर्मके निवास-स्थान चौदह माने गये हैं, अथवा सम्पूर्ण १४ विद्याएँ हैं, इससे १४ कहे।

वि० त्रि०—१ चौदहवें प्रकारके भक्त उत्तरकाण्डके उत्तरार्धमें श्रीभुशुण्डिजी हैं। यहाँके सब गुण उनमें हैं। यथा—***'मनतें सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी॥'***

वि० त्रि०—२ भक्तोंके भजन-प्रकारमें भेद है, अतः भक्तिके चौदह भेद माने गये। सभी भक्त इन चौदहोंमेंसे किसी एक या एकाधिकके अनुयायी हैं। इन्हीं भक्तोंके प्रीत्यर्थ श्रीरामजी शरीर धारण करके उनकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं। वस्तुतः भगवान्‌की भक्तोंके साथ क्रीड़ा ही सगुण लीला है।

नोट—२ यहाँ चौदह भवनोंको कहते हुए क्रमशः *'हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे'* (१२८।५), *'हृदय सदन सुखदायक……।'* (१२८।८), *'बसहु हिय तासु।'* (१२८), *'बसहु तिन्हके मन माहीं।'* (१२९।५), *'मन मंदिर बसहु।'* (१२९), *'हृदय बसहु रघुराया।'* (१३०।२) *'तिन्हके मन माहीं।'* (१३०।५) *'मन सुभ सदन तुम्हारे।'* (१३०।८), *'मन मंदिर बसहु।'* (१३०), *'घर तुम्हार तिन्ह कर मन नीका।'* (१३०।२), *'उर बसहु सहित बैदेही।'* (१३१।४), *'हृदय रहहु रघुराई।'* (१३१।६), *'करहु तेहि के उर डेरा।'* (१३१।८) और *'सो राउर निज गेहु'* ऐसा कहा गया है! इनमेंसे दोमें 'मन्दिर', छः अथवा सातमें 'हिय, मन, हृदय, उर' शब्द खाली आये हैं, इनके साथ गृह, घर, सदन आदि कोई शब्द नहीं आया है।

अ० रा० में जो नौ स्थान बताये गये हैं। उनमें शान्त समदर्शी द्वेषहीन होकर नित्य भजन करनेवालोंके हृदयको 'अधि मन्दिर' '**त्वामेव भजतां नित्यं हृदयं तेऽधिमन्दिरम्।**' (२। ६। ५४।), धर्माधर्मको छोड़कर अहर्निश भजनेवालेके हृदयको 'सुखमन्दिर' '**सीतया सह ते राम तस्य हृत्सुखमन्दिरम्।**' (५५) और आपके ही मन्त्रको जपने तथा आपकी ही शरणमें प्राप्त द्वन्द्वहीन निःस्पृह भक्तके हृदयको 'सुमन्दिर' कहा है। इस तरह तीन बार 'मन्दिर' शब्द आया है। पाँच बार 'गृह' (एक बार शुभ गृह) और एक बार केवल '**तेषां हृदब्जे सह सीतया वस।**' (६२) आया है।

'मन्दिर' शब्दमें विशेषता अवश्य है यह सभी जानते हैं। वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि यद्यपि घर, गृह, सदन, मन्दिर आदि परस्पर पर्याय हैं तो भी श्रीवाल्मीकि-कथित भिन्न-भिन्न नामोंका भिन्न-भिन्न कारण है, उनमेंसे यहाँ दो स्थानोंपर मन्दिर कहनेका कारण लिख रहा हूँ। घर, गृह, डेरा आदिमें रहनेवाला व्यक्ति अपनी इच्छासे आने-जाने, खाने-पीने आदि सभी कार्योंमें स्वतन्त्र होता है। और मन्दिरमें अहर्निश निरन्तर बसनेवाला प्रतिष्ठित देवता होता है और वह देवता अपना सब बाह्य व्यापार अर्चकके हाथमें दिये रहकर तत्परतन्त्र बना रहता है। भगवदर्चावतारका वैभव इसीलिये सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वसुगम कहा जाता है कि भगवान् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होते हुए भी अर्चकके सर्वथा परतन्त्र रहते हैं—अर्चक जैसे चाहे वैसे रखे। इनका शयन करना, जागना, नहाना, भोजन करना आदि व्यापार अर्चकाधीन रहता है। इसका एकमात्र कारण भगवान्‌की परम कृपा ही है, महर्षिजीका कहना है कि जिसका सभी कार्यकलाप आपके चरण-रति-प्राप्त्यर्थ हो और जिसके सब कोई और सब कुछ आप ही एकमात्र हों, उस महाभागके सर्वदा और सर्वथा अधीन होकर आप तीनों मूर्तियाँ उसके मन-मन्दिरमें निवास कीजिये।

कह मुनि सुनहु भानुकुल नायक। आश्रम कहउँ समय सुखदायक॥ २॥
चित्रकूट गिरि करहु निवासू। तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू॥ ३॥
सैल सुहावन कानन चारू। करि केहरि मृग बिहग बिहारू॥ ४॥
नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रि-प्रिया निज तपबल आनी॥ ५॥

शब्दार्थ—**सुपास**=सुविधा, सुख। **बिहार**=क्रीड़ा करनेका स्थान; चलने, फिरने, घुमने आदिका स्थान।

अर्थ—मुनि कहने लगे कि हे सूर्यकुलके स्वामी! सुनिये, अब मैं समयके अनुसार सुखदायक निवास-स्थान बताता हूँ॥ २॥ चित्रकूट पर्वतपर निवास कीजिये। वहाँ आपके लिये सब तरहका सुपास है॥ ३॥ पर्वत सुहावना है और सुन्दर वन है, हाथी, सिंह, हरिण आदि पशु और पक्षियोंका वह विहार-स्थल है॥ ४॥ पवित्र नदी है जिनकी पुराणोंने प्रशंसा की है और जिसे महर्षि अत्रिजीकी प्रिय स्त्री श्रीअनुसूयाजी अपने तपोबलसे पृथ्वीपर लायी थीं॥ ५॥

पाण्डेजी, पंजाबीजी—मुनिने पहले उन भक्तोंके हृदयमें वास करनेको कहा, जिनकी एक-एक इन्द्रिय

वा कोई भी अंग प्रभुके रूप, गुण या चरित्रमें लगा है। हृदयमें वास करनेको कहना यह ऐश्वर्य-कथन है। दोहा १३१ तक ऐश्वर्य-स्वरूपके लिये स्थान बताये; अब माधुर्य स्वरूपके योग्य स्थान बताते हैं; इसीसे *'भानुकुल नायक'* सम्बोधन दिया, जैसे ऐश्वर्य-स्वरूपके निवासस्थान-कथन समय *'राम'* सम्बोधन दिया था—*'सुनहु राम अब कहउँ निकेता।'*

नोट—१ *'समय सुखदायक'* अर्थात् इस समय जैसा आपने रूप धारण किया है उसके योग्य—*'जस काछिय तस चाहिय नाचा।'* (१२७।८) पुनः, जो आजकल सुखद होगा।

नोट—२ *'सब भाँति सुपासू'* इति। वहाँ फल-फूल-कंद बहुत हैं, बेलके वृक्ष हैं, इत्यादि भोजनके साधन बहुत हैं। पर्वतका जल मीठा है। पर्वतपर अनेक वृक्ष, लताएँ और फल-मूल बहुत हैं। ऋषि-मुनियोंके आश्रम हैं। बड़े-बड़े हाथियों और मृगोंके झुंड घूमा करते हैं। कोकिल-मयूरादिकी सुन्दर ध्वनि सुनायी पड़ती है। वह पर्वत बड़ा पवित्र और रमणीय है। नदी, सोते, पर्वत-शिखर, दरीं, कन्दरा और झरने बहुत हैं। वहाँ दुष्ट लोग नहीं रहते, वह बड़ा ही सुखकर स्थान है। यह जो वाल्मीकि० २। ५४। ३८—४३ तथा २। ५६। ६—१५ में कहा है यही *'सब भाँति सुपासू'* है। यहाँ सुखपूर्वक रह सकेंगे। किसी ऋतुमें कोई कष्ट न होगा। यही बात आगे कोल-किरातोंने कही है। यथा—*'यहाँ सकल रितु रहब सुखारी'।* मृगया आदिके लिये भी सुपास है। गी० २। ४४ में भी जो वर्णन है—*'फटिक सिला मृदु बिसाल संकुल सुरतरु तमाल, ललित लता जाल हरति छबि बितान की। मंदाकिनि तटनि तीर मंजुल मृग बिहग भीर, धीर मुनि गिरा गँभीर सामगान की॥ मधुकर पिकबरहि मुखर सुंदर गिरि निर्झर झर जलकन घन छाँह छन प्रभा न मान की। सब रितु रितुपति प्रभाउ संतत बहै त्रिबिध बाउ जनु बिहार बाटिका नृप पंचबान की॥'* वह भी *'सब भाँति सुपासू'* में आ जाता है।

नोट—३ *'सैल सुहावन……'* इति। पर्वतकी सुहावनता झरनों, हरे-भरे वृक्षों इत्यादिसे है। इसकी सुहावनता आगे कविने स्वयं वर्णन की है। वनकी शोभा है कि फल-फूलसे सम्पन्न हो और करि-केहरि आदि सब उसमें विहार करें। अत: *'चारु'* कहकर इनका विहार कहा।

प० प० प्र०—*'अत्रि प्रिया'* इति। अत्रि=अ+त्रि=त्रिगुणातीत व्यतिरेक ज्ञानी। अत्रिप्रिया श्रीअनुसूयाजी हैं। अनुसूया=अन्+असूया=जिनमें असूयाकी गन्ध भी नहीं है। जो जीव त्रिगुणातीत होता है उसकी बुद्धिरूपिणी स्त्री भी असूयारहित होती ही है।

नोट—४ *'निज तप बल आनी'* इति। श्रीअनुसूयाजीकी विस्तृत कथा अरण्यकाण्ड ५ (१-२) में दी गयी है। मन्दाकिनीके लानेकी कथा संक्षेपसे यह है—एक बार सौ वर्षकी अनावृष्टिसे अकाल पड़ गया। सबको दु:खी न देख सकनेके कारण अत्रिजीने समाधि लगा ली। श्रीअनुसूयाजी उनकी सेवामें अन्न-जलादिका त्यागकर वहीं उपस्थित रहीं। दोनोंका कठिन तप देखकर देवता, ऋषि और गंगाजी उनके दर्शनको आये, सबके चले जानेपर गंगा और शिवजी वहीं ठहर गये। गंगाने सोचा कि यदि मैं ऐसी महान् सतीका उपकार कर सकूँ तो मेरे बड़े भाग्य हैं। ५४ वर्ष बीतनेपर महर्षिने समाधि छोड़ी और अनुसूयाजीसे जल माँगा। ये कमण्डलु लेकर निकलीं और चिन्ता करने लगीं कि कहाँसे स्वामीके लिये जल लाकर उन्हें संतुष्ट करूँ। गंगाजीने मूर्तिमान् होकर दर्शन दिया और पूछनेपर बताया कि तुम्हारी तपस्या आदिसे प्रसन्न होकर मैं आयी हूँ, तुम जो माँगो वही मैं दूँ। इन्होंने जल माँगा। गंगाजीने गड्ढा खोदनेको कहा। गड्ढा खुदनेपर गंगाजी उसमें उतरकर जलरूप हो गयीं। श्रीअनुसूयाजीने जल लिया और प्रार्थना की कि जबतक मेरे स्वामी यहाँ न आ जायँ तबतक आप यहीं उपस्थित रहें। जल लेकर गयीं, महर्षिने जल पीकर पूछा कि यह दिव्य स्वादिष्ट जल कहाँ मिला। सारा वृत्तान्त सुनकर महर्षिने आकर कुण्ड और गंगाजीका दर्शन पाकर प्रणाम और स्तुति करके प्रार्थना की कि अब आप यहाँसे न जायँ। गंगाजीने कहा कि तुम अपने एक वर्षकी शंकर और पार्वतीकी सेवाका फल हमें दे दो तो हम यहाँ रह जायँ। ऐसा किया गया और गंगाजी वहाँ रह गयीं। यह केवल एक वर्षके तपका प्रभाव है। (शिवपुराण चतुर्थ कोटि रुद्रसंहिता)

सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि। जो सब पातक पोतक डाकिनि॥ ६॥
अत्रि आदि मुनिबर बहु बसहीं। करहिं जोग जप तप तन कसहीं॥ ७॥
चलहु सफल श्रम सब कर करहू। राम देहु गौरव गिरिबरहू॥ ८॥
दो०—चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ।
आइ नहाये सरित बर सिय समेत दोउ भाइ॥ १३२॥

शब्दार्थ—**पातक**=पाप; कर्ताको नीचे ढकेलनेवाला कर्म। 'प्रायश्चित्त' के मतानुसार पातकके नौ भेद हैं—अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक, संकरीकरण, अपात्रीकरण, जातिभ्रंशकर और प्रकीर्णक। पोतक (सं० पोत)=पशु-पक्षी आदिका छोटा बच्चा=वह गर्भस्थ पिंड जिसपर झिल्ली न चढ़ी हो,=बालक। **डाकिनी**=डाइन।=वह टोनहाई स्त्री जिसकी दृष्टिमात्रके पड़नेसे बच्चे एवं गर्भस्थ बालक मर जाते हैं। (टिप्पणीमें भी देखिये।) **कसहीं**—(सं० कषण=कष्ट देना) कसना=क्लेश पहुँचाना, कष्ट देना। यथा—'***भरत भवन बसि तप तन कसहीं।***' **गौरव**=बड़ाई, प्रतिष्ठा, बड़प्पन।

अर्थ—यह गंगाकी एक धारा है, इसका नाम मन्दाकिनी है, जो सब पापरूपी बालकोंको खा डालनेके लिये डाइन (सी) है अर्थात् इसके दर्शन और इसमें स्नानसे जरा-सा भी पाप नहीं रह जाता॥ ६॥ अत्रि आदि बहुत-से मुनिश्रेष्ठ वहाँ बसते हैं। जो योग और जप-तप करते हैं और तपस्यासे अपने शरीरको कसते हैं॥ ७॥ हे राम! चलिये सबके परिश्रमको सफल कीजिये और इस गिरिश्रेष्ठको भी गौरव दीजिये॥ ८॥ महामुनि बाल्मीकिजीने चित्रकूटकी असीम महिमा बखानकर कही तब सीतासहित दोनों भाई यहाँ आकर श्रेष्ठ नदी मंदाकिनीजीमें स्नान किया॥ १३२॥

टिप्पणी—१ (क) '***सब पातक पोतक डाकिनि***' इति। '***सब पातक***' अर्थात् गोहत्या, ब्रह्महत्या, मातृ-पितृ-वध-हत्या इत्यादि सभी पापोंका नाश हो जाता है। बालककी उपमा देनेका भाव कि नये पैदा हुए बच्चोंके मारनेमें परिश्रम नहीं होता। मन्दाकिनीजी इन समस्त उग्र पापोंको ऐसे नाश कर डालती हैं जैसे डाइन बच्चेको, पापरूपी बालकको बढ़ने नहीं देती। [पाप मन, कर्म और वचन तीनोंसे होते हैं। यथा—'***जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥***' (१६७। ७), '***मन क्रम बचन जनित अघ जाई।***' (७। १२६) परद्रव्यका चिन्तन, किसीका अनिष्ट सोचना और झूठा अभिमान मानसिक पाप हैं। चोरी, अविहित हिंसा और परस्त्रीसेवन कायिक पाप हैं। कठोर, झूठे चुगली और भेदनशील, फूट डालनेवाले तथा अव्यवस्थित वचन वाचिक पाप हैं।' (विशेष १। ३५। १०) '***त्रिबिध दोष दुख दारिद दावन***' में देखिये। शिवपुराण उमासंहिता अ० ५ में मन, कर्म और वचनके बारह पाप कहे गये हैं यथा—'**परस्त्रीद्रव्यसंकल्पश्चेतसानिष्टचिन्तनम्। अकार्याभिनिवेशश्च चतुर्धा कर्म मानसम्॥' (३) 'अविबद्धप्रलापत्वमसत्यं चाप्रियं च यत्। परोक्षतश्च पैशुन्यं चतुर्धा कर्म वाचिकम्॥ (४) अभक्ष्याभक्षणं हिंसा मिथ्याकार्यनिवेशनम्। परस्वानामुपादानं चतुर्धा कर्मकायिकम्॥**' अर्थात् परस्त्री, परद्रव्यका संकल्प, मनसे दूसरेका अनिष्ट-चिन्तन, अकार्यमें आसक्ति—ये चार कर्म मनके पाप हैं। असम्बद्ध प्रलाप, असत्य अप्रिय बोलना, पीछे चुगली करना—ये चार वाचिक हैं। अभक्ष्य-भक्षण, हिंसा, मिथ्या कर्म करना और पराये द्रव्यादिका हरण करना कायिक पाप है। '***सब पातक***' से उपर्युक्त पापके सभी भेदों तथा सभी प्रकारोंका नाश कहा।]

नोट—१ '***चलहु***' से जनाया कि वाल्मीकिजी वहाँतक साथ गये। यथा—'**आगच्छ राम भद्रं ते स्थलं वै दर्शयाम्यहम्।**' (८८) (आइये मैं आपको रहनेका स्थान दिखाता हूँ), '**एवमुक्त्वा मुनिः श्रीमाँल्लक्ष्मणेन समन्वितः। शिष्यैः परिवृतो गत्वा मध्ये पर्वतगंगयोः॥**' (अ० रा० २। ६। ८९) (अर्थात् ऐसा कहकर शिष्योंसे घिरे हुए श्रीमान् मुनिवर लक्ष्मणके सहित गंगा और पर्वतके बीचके स्थलमें जाकर)। (ख) '***सफल श्रम सब कर करहू***' इति। भाव कि सब ऋषियोंको जो यहाँ तपस्या कर रहे हैं, दर्शन दीजिये। श्रीसीताराम-लक्ष्मणजीके दर्शनसे समस्त साधन सफल होते हैं, क्योंकि इसीलिये साधन किये जाते हैं। यथा—'***आजु सुफल तपु***

तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥' 'सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू॥' (१०७।५-६), *'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥'* (२१०।४) (ग) *'राम देहु गौरव गिरिबरहू'* इति। श्रीरामजीके सम्बन्धसे, उनके देनेसे ही सबकी बड़ाई होती है। यथा—*'नहिं अचिरिजु जुग जुग चलि आई। केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई॥'* (१९५।१), *'सकल बड़ाई सब कहाँ ते लहत।'* (वि० २५६) *'जो बड़ होत सो राम बड़ाई।'* अत: वहाँ निवास करके चित्रकूटको गौरव देनेको कहा। उसे गौरव दिया भी, यथा—*'थप्यो थिर प्रभाउ जानकीनाँह।'* (वि० २३) *'उदय अस्त गिरि अरु कैलासू। मंदर मेरु सकल सुरबासू॥ सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट जसु गावहिं तेतें*......*श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई।'* (१३८।६—८)

नोट—२ 'चित्रकूट महिमा' इति। विनय और गीतावलीमें भी कविने महिमा कही है—*'सब सोच बिमोचन चित्रकूट। कलि हरन करन कल्यान-बूट॥' (१) 'सुचि अवनि सुहावनि आलबाल। कानन बिचित्र बारी बिसाल॥ २॥ मंदाकिनि मालिनि सदा सीच। बरबारि बिषम नर नारि नीच॥ ३॥ साखा सुशृंग भूरुह सुपात। निर्झर मधु बर मृदु मलय बात॥ ४॥ सुक पिक मधुकर मुनिबर बिहारु। साधन प्रसून फल चारि चारु॥ ५॥ भव-घोरघामहर सुखद छाँह। थप्यो थिर प्रभाउ जानकी नाँह॥ ६॥' साधक सुपथिक बड़े भाग पाइ। पावत अनेक अभिमत अघाइ॥ ७॥ रस एक रहित गुन कर्म काल। सियरामलषन पालक कृपाल॥ ८॥ तुलसी जो रामपद चाहिय प्रेम। सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम॥'* (९)(वि० २३) *'अब चित चेत चित्रकूटहि चलु।*.....*जहँ जनमे जगजनक जगतपति बिधि-हरिहर परिहरि प्रपंच छलु। सकृत प्रबेस करत जेहि आश्रम बिगत बिषाद भये पारथ नलु॥ ३॥*.....*कामदमनि कामता कल्पतरु सो युग-युग जागत जगतीतल।*......*'* (वि० २४)*'चित्रकूट अति बिचित्र सुंदर बन महि पबित्र, पावन पय सरित सकल मल निकंदिनी॥'* (गी० २।४३) **'यावता चित्रकूटस्य नर: शृंगाण्यवेक्षते। कल्याणानि समाधत्ते न मोहे कुरुते मन:॥** (वाल्मी० २।५४।३०) (श्रीभरद्वाजजीने श्रीरामजीसे कहा है कि जहाँसे मनुष्य चित्रकूटके शिखर देखता है, वहींसे उसका मन पुण्यकर्ममें लग जाता है, पापकी ओर उसका मन नहीं जाता)।

प० प० प्र०—*'चित्रकूट महिमा*......*आइ नहाए'* । इति। महामुनिने चित्रकूटकी महिमा गायी इतना कहकर *'आइ नहाए'* कहते हैं। मुनिको प्रणाम करना, विदा माँगना आदि नहीं कहा। इसका भाव *'आइ'* शब्दके आधारसे प्रकट होता है कि कवि तबतक वाल्मीकि-आश्रममें थे जबतक महामुनि चित्रकूटका माहात्म्य कहते रहे। तत्काल उनका चित्त वहाँसे निकलकर चित्रकूटमें भगवान्‌के आगमनकी प्रतीक्षा करता रहा। भगवान्‌को आते देखा अत: कहा कि *'आइ नहाए'* कविका चित्त चित्रकूटमें होनेसे उसने प्रणाम आदि करते देखा नहीं, इसीसे नहीं लिखा। नहीं तो अन्यत्र प्रणाम और चलना आदि कहा है। यथा—*'चले राम लछिमन मुनि संगा। गए जहाँ जगपावनि गंगा॥' 'मुनि पद कमल नाइ करि सीसा। चले बनहि सुर नर मुनि ईसा॥' 'चले राम मुनि आयसु पाई। तुरतहिं पंचबटी निअराई॥'*

नोट—मुनिने कहा कि *'चलहु सफल श्रम सबकर करहू'* इससे अनुमान होता है कि यह कहते ही मुनिके साथ श्रीरामजी चल दिये। मार्गमें चित्रकूट-माहात्म्य कहते हुए चित्रकूट आ गये। अत: प्रणाम और विदा माँगनेकी आवश्यकता न पड़ी। अ० रा० में मुनिका साथ जाना कहा ही है। वहाँ भी प्रणाम और बिदाई नहीं कही है। वैसे ही तुलसीदासजीने भी कहा। वाल्मी० २।५६ में लिखा है कि मुनिके समीप पहुँचनेपर उन्होंने उनका स्वागत किया—'**आस्यतामिति चोवाच स्वागतं तं निवेद्य च।**' (१७) (अर्थात् बैठिये, आप लोगोंका स्वागत है)। तदनन्तर मुनिके सामने ही लक्ष्मणजीको श्रीरघुनाथजीने आश्रम बनानेकी आज्ञा दी। वहाँ भी वाल्मीकिजीसे विदा होना नहीं कहा गया है। वैसे ही यहाँ 'मानस' में भी नहीं कहा गया।

प० प० प्र०—वाल्मीकिकृत स्तुति आठवीं स्तुति है। और पुष्य नक्षत्र आठवाँ नक्षत्र है। अत: यह स्तुति 'पुष्य नक्षत्र' है। दोनोंका साम्य इस प्रकार है—(१) '**पुष्णाति कार्याणि इति पुष्य:।** कार्यका पोषण

करनेवाला होनेसे पुष्य, सिध्य, तिष्य नाम है। इस स्तुतिके कारण अत्रि आदि महर्षियोंको सन्तोष मिला, कामदमणिकी महिमा बढ़ी। (२) पुष्य सब नक्षत्रोंसे बड़ा अर्थात् श्रेष्ठ है। वैसे ही यह स्तुति सबसे बड़ी है। मुनिने कुछ माँगा नहीं, वरन्, श्रीरामजीको ही आज्ञा दी कि किस स्थानमें रहें। पुष्यमें तिथि आदिके देखनेकी आवश्यकता नहीं, कोई दोष बाधा नहीं कर सकते। मुनिने ऐसा स्थान बताया जहाँ कुछ भी बाधा न हुई। (३) पुष्यमें तीन तारे हैं। राम-लक्ष्मण-सीता भी तीन हैं। (४) पुष्यका आकार बाण-सा है। इस स्तुतिमें श्रीराम, लक्ष्मण, जानकीजीके तात्त्विक स्वरूपका भेद लक्ष्य भेद मुनिवचनोंसे हुआ है। (५) नक्षत्रका देवता वाक्पति है। इस स्तुतिके मुख्य देवता श्रीरामजी हैं जो 'गिरापति' हैं। वाल्मीकि भी वाक्पटु-संभाषण-कुशल हैं। (६) स्तुतिकी फलश्रुति है। ***'समन पाप संताप सोक के।'*** (१। ३२। ५) स्तुतिमें ***'भक्त उर चंदन', 'रघुनंदन', 'बिगत बिकार', 'बुध होहिं सुखारे', 'पातक पोतक डाकिनि'*** आदि वचन फलश्रुतिके अनुकूल हैं।

वाल्मीकि-प्रभु-मिलन-प्रकरण समाप्त हुआ।

'चित्रकूट जिमि बस भगवाना'-प्रकरण

रघुबर कहेउ लषन भल घाटू। करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू॥ १॥
लषन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥ २॥
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना॥ ३॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी॥ ४॥
अस कहि लषन ठाउँ देखरावा। थलु बिलोकि रघुबर सुख पावा॥ ५॥

शब्दार्थ—**ठाहर**=रहने या टिकनेका स्थान। **ठाटू**=डौल, तजबीज, उपाय, प्रबन्ध। **करहु ठाहर ठाटू**=ठहरनेका ठाट करो; ठहरनेकी जगह तजबीज करो। **नारा**=नाला। **अहेरी**=शिकारी। **साउज**=निशाना। **करारा**=ऊँचा किनारा (जैसा प्राय: नदीके जलसे कटनेसे बन जाता है)। **पनच**=रोदा, प्रत्यंचा, धनुषकी डोरी। **मुठभेरी**=मुठभेड़ी=भिड़कर पाससे मुक्का मारना।

अर्थ—रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे कहा कि घाट अच्छा है, अब कहीं ठहरनेका प्रबन्ध करो॥ १॥ तब श्रीलक्ष्मणजीने पयस्विनी नदीके उत्तर तटको देखा कि एक नाला धनुषकी तरह चारों ओर फिरा हुआ है॥ २॥ नदी रोदा वा प्रत्यंचारूप है, शम-दम-दान बाण हैं। कलिके समस्त पाप अनेक निशाने हैं॥ ३॥ चित्रकूट ही मानो अचल शिकारी है, जिसकी मुठभेरीकी मार-घात नहीं चूकती॥ ४॥ ऐसा कहकर लक्ष्मणजीने स्थान दिखाया। स्थल देखकर रघुवरने सुख पाया॥ ५॥

नोट—१ ***'पय उतर......'*** इति। दक्षिणसे मन्दाकिनी आयी और कामदगिरिकी मूलसे पयस्विनी। दोनोंका संगम जहाँ हुआ वह राघोप्रयाग कहलाता है। वहींपर पर्णशाला बनायी गयी। (वै०)

नोट—२ यहाँ चित्रकूटका शिकारीसे रूपक बाँधा है। चित्रकूट अहेरी, नाला, धनुष, नदी-प्रत्यंचा, शम-दम-दान-बाण, सकल-कलि-कलुष अनेक निशाने, परस्पर उपमेय-उपमान हैं। कवितावलीमें भी ऐसा ही रूपक है। उससे पाठक मिलान करें। यथा—***'मोह बन कलिमल पल पीन जानि जिय साधु गाय बिप्रनके भयको नेवारिहै। दीन्ही है रजाइ राम पाइ सो सहाइ लाल लषन समर्थ बीर हेरिहेरि मारिहै॥ मंदाकिनी मंजुल कमान असि बान जहाँ वारिधार धरि धरि सुकर सुधारिहै। चित्रकूट अचल अहेरी वैठ्यो घात मानो पातकके ब्रात घोर सावज सँहारिहै॥'*** (७। १२४)

टिप्पणी—१ (क) ***'चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा।'*** इति। धनुषपर रोदा चढ़ाकर जब वह कान-पर्यन्त ताना जाता है तो वह मण्डलाकार हो जाता है। उसी प्रकार यह नाला गोलाकार चारों ओर फिरा हुआ है। दोनों गोशे मिले हुए हैं। धनुषपर रोदा चाहिये, जिसपर बाण लगाकर चलाये जाते हैं। यहाँ

नदी (अर्थात् उसकी जलधारा) ही रोदा है, जिसपर बाण चलते हैं (इसमें त्रिकाल-स्नान आदि करते हैं)। शम-दम-दान बाण हैं। बाणसे हिंसक जीवों पशु-पक्षियोंपर निशाना किया जाता है। यहाँ कलिके समस्त छोटे-बड़े पाप—*'जे पातक उपपातक अहहीं। मन बच कर्म जनित कबि कहहीं॥'* ही निशानेवाले पशु हैं जिनका नाश किया जाता है। [अथवा, कलिके पाप और कलि दोनों इसके निशाना हैं। यह कार्य और कारण दोनोंका घातक है। कारण न रहेगा तो फिर कार्य उत्पन्न ही न होगा। (वै०) (ख)—कलिके पापोंको यहाँ निशाना कहा और युगोंके पापोंको नहीं। कारण कि *'कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जनमन मीना॥'* और अन्य युगोंके पाप बहुत सूक्ष्म हैं, उनमें इसकी अपेक्षा पाप प्रायः बहुत कम होते हैं। कलिकलुषकी उपमा देकर जना दिया कि जब ऐसे घोर कलिके पापोंको वह नष्ट कर देता है तो और युगोंके पाप किस गिनतीमें हैं। वे तो अबल निशाने हैं। कलिके पापोंकी सीमा नहीं—ये सब मानो बाराह, सिंह आदि सबल निशाने हैं, जो शिकारीपर चोट करते हैं अर्थात् तीर्थमें भी बाधक होते हैं। (वै०)]

नोट—३ *'अचल अहेरी'*—शिकारी थक भी जाते हैं पर यह अचल है, कभी नहीं थकता। पुनः, जो शिकारी चलते-फिरते शिकार करते हैं उन्हींपर व्याघ्र आदि चोट करते हैं, इसीसे *'अचल'* पद दिया। *'अचल'* शिकारी वे हैं जो ऐसी जगह ताककर बैठते हैं जहाँसे नित्य ये शिकार पानी पीने इत्यादिके लिये निकलते या बैठते हैं। कहीं-कहीं जमीन खोदकर ऊपरसे लोहेका पुष्ट खाँचा बाँधकर उसके अन्दर शिकारी बैठते हैं कि समीपसे निशानेपर वार करें। पुनः, और साधारण तीर्थ चलते शिकारी हैं क्योंकि वहाँ शम-दम-दान-रूपी बाण स्त्रीकटाक्ष आदिसे चूक जाते हैं और यह अचल शिकारी है। यहाँ वन, पहाड़, उदासीन भूमिका है; उदासीन होनेसे मन आदि इन्द्रियाँ चलायमान नहीं होतीं। *'मुठभेरी'*=अति समीपसे। (वै०)

प्रश्न—पूर्व पापोंका नाश मन्दाकिनीद्वारा जो कहा गया वहाँ *'जो सब पातक पोतक डाकिनि'* ऐसा रूपक दिया गया और यहाँ *'चूक न घात मार मुठभेरी'* कहा। प्रथममें पापको बालक और दूसरेमें पशुको निशानासे उपमा दी। दो प्रकारका रूपक देनेका क्या भाव है?

उत्तर—१ शिकारी दूरसे घात करता है और बालक घरके भीतर होते हैं। बाहरके दर्शन करनेवालोंके पापोंको शिकारी बनकर और घरके भीतरवालोंके (अर्थात् चित्रकूटके निवासियोंके) पापोंको डाकिनी बनकर मार डालता है। पुनः, २—मन्दाकिनीका जल पान करनेसे मानसिक पाप दूर होते हैं और चित्रकूटमें निवाससे कायिक पाप दूर होते हैं। इसलिये पापको पोतक और मन्दाकिनीको डाकिनीसे उपमा दी गयी है। मन्दाकिनीका पवित्र जल शरीरको प्राप्त होनेसे मानसिक (भीतरी) पाप दूर होते हैं, पर मन्दाकिनी किसीको निरन्तर प्राप्त नहीं है, जैसे बालक निरन्तर डाकिनीको प्राप्त नहीं, माता-पिता रक्षा करते रहते हैं। चित्रकूटवासकी निरन्तर प्राप्ति सम्भव है। इसीसे *'सकल कलुष', 'कायिक पाप'* वह बराबर नाश करते रहनेमें नहीं चूकता। यह कलुष पशुकी तरह बाहर खुले मैदानमें भ्रमण करते हैं, अर्थात् शारीरिक पाप छिप नहीं सकते। ऐसे कलुषोंको यह बराबर नष्ट करता रहता है।

रमेउ राम मनु देवन्ह जाना। चले सहित सुर थपति प्रधाना॥ ६॥
कोल किरात बेष सब आए। रचे परन तृन सदन सुहाए॥ ७॥
बरनि न जाहिं मंजु दुइ साला। एक ललित लघु एक बिसाला॥ ८॥

दो०—लषन जानकी सहित प्रभु राजत रुचिर निकेत।
सोह मदनु मुनि बेष जनु रति रितुराज समेत॥ १३३॥

शब्दार्थ—रमना=लगना, अनुरक्त होना, यथा—*'जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम।'* (१। ८०) **सुर थपति**=देवताओंके थवई। ☞ थपति शब्द 'स्थपति' का ही प्राकृत रूप है। स्थपति=कारीगर।

अतः सुर-थपति-प्रधान=देव करीगरका प्रधान=विश्वकर्मा। (वि० त्रि०) वा, थपति=स्थपति=त्वष्टा। रचनाके कार्यमें मुख्य त्वष्टा हैं; उनको प्रधान मुख्य नायक बनाकर। (प० प० प्र०)

अर्थ—जब देवताओंने जाना कि श्रीरामजीका मन यहाँ रम गया (लग गया) तब वे देवताओंके प्रधान कारीगरको अगुआ करके चले॥ ६॥ वे सब कोल-भीलोंके वेषमें आये तथा पत्तों और तृणके सुन्दर घर रचकर बनाये॥ ७।। सुन्दर दो निवासस्थान बनाये जो वर्णन नहीं किये जा सकते; एक सुन्दर छोटा और दूसरा बड़ा लम्बा-चौड़ा और ऊँचा॥ ८॥ श्रीलक्ष्मण-जानकीजीसमेत सुन्दर पर्णकुटी (घर)-में प्रभु विराजमान ऐसे सुशोभित हो रहे हैं, मानो कामदेव मुनि-वेष धारणकर रति (कामदेवकी स्त्री) और वसन्तसमेत सोह रहा है॥ १३३॥

नोट—१ ***'रमेउ राम मनु'''''***' इति। (क) श्रीरामजी यहाँ रमण करेंगे अतः ***'राम'*** शब्द ***'रमेउ'*** क्रियाके साथ दिया। '**राम**' का अर्थ है जो सबमें रमण करे। **रमु क्रीडायाम्** (पु० रा० कु०)। जब देवताओंने जान लिया कि जिस स्थानको वाल्मीकिजीने बतलाया था, वह सरकारको पसंद आ गया तो विश्वकर्माको साथ लेकर कोल-किरातके वेषमें वे लोग आये और तुरंत जैसा सरकार चाहते थे कि ***'तहँ रचि रुचिर परन तृन साला। बासु करउँ कछु काल कृपाला॥'*** वैसा ही सुन्दर पर्णतृणशाला बना दिया। जो देखे वह समझे कि कोल-किरात सरकारकी सेवामें लगे हुए हैं, पर वस्तुतः वे विश्वकर्मादि देवता थे। सरकारके ऐश्वर्यको छिपाये रखनेके लिये उन लोगोंने ऐसा किया। (वि० त्रि०) स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि स्थपतियोंमें मुख्य त्वष्टा हैं। उनको मुख्य नायक बनाकर चले, उनके आदेशानुसार रचना होगी। जैसे नल-नीलने सेतु बनाया। वैसे ही रचनाका काम त्वष्टा ही करेंगे, अन्य सब सामग्री ला-लाकर देंगे। नल-नील भी त्वष्टाके ही पुत्र हैं।

टिप्पणी—१ देवता कोल-भीलके वेषमें क्यों आये? उत्तर—(१) जो काम करना है उसीके योग्य शरीर धारण किया। पर्णकुटी बनाना है, इस कार्यको वहाँके कोल-भील करते हैं। अतः उस वेषसे आकर पर्णकुटी छायी। देवरूपसे आते तो रामजी कुटी न बनाने देते, उनका गुप्त ऐश्वर्य खुल जाता और अभी रावण-वध होना है। (२) स्वामी क्षत्रिय बने तो ये सेवाके लिये कोल-भील बने (३) देवता भूमिको स्पर्श नहीं करते, इससे इस वेषमें आये।

नोट—२ ***'सुहाए'*** से जनाया कि उसकी बनावट बहुत सुन्दर और विचित्र थी। वर्षा और आँधी सहने-योग्य थे। जाड़ेमें हवा आदिकी रोक भी थी और उत्तम स्थानपर बने थे। कामदेवकी विहार-बाटिका ही मानो थी। यथा—***'सब रितु रितुपति प्रभाव संतत बह त्रिबिध बाउ जनु बिहार बाटिका नृप पंचबानकी।'*** (गी०)

नोट—३ ***'एक ललित लघु एक बिसाला'*** इति। एक सुन्दर और छोटा है, दूसरा बड़ा है। दूसरा बड़ा इस विचारसे बनाया गया कि यहाँ श्रीराम-लक्ष्मण-सीता और मुनि लोग बैठेंगे। (पु० रा० कु०)

पंजाबीजी—दो पर्णशालाएँ बनायीं; एक श्रीसीतारामजीके लिये और दूसरी लक्ष्मणजीके लिये। अथवा, वनमें लक्ष्मणजीका निवास अलग कहना उचित नहीं, इसलिये छोटी पर्णशाला भण्डार, भोजन आदिके लिये जान पड़ती है और दूसरी तीनोंके निवासके लिये। यह बात दोहेसे भी पुष्ट होती है '**निकेत**' एकवचन है, दूसरे उसमें ***'लखन जानकी सहित'*** ये शब्द भी हैं। दोनोंसे एकहीमें निवास करना सूचित होता है। (यहाँ एकवचन और बहुवचन दोनों ही अर्थ आवश्यकतानुसार हो सकते हैं और दोनों अर्थ समीचीन हैं)।

नोट—४ '**गत्वा मध्ये पर्वतगंगयोः॥ ८९॥ तत्र शालां सुविस्तीर्णां कारयामास वासभूः। प्राक्पश्चिमं दक्षिणोदक् शोभनं मन्दिरद्वयम्॥ ९०॥ जानक्या सहितो रामो लक्ष्मणेन समन्वितः। तत्र ते देवसदृशा ह्यवसन् भवनोत्तमे॥ ९१॥ वाल्मीकिना तत्र सुपूजितोऽयं रामः ससीतः सह लक्ष्मणेन। देवैर्मुनीन्द्रैः सहितो मुदास्ते स्वर्गे यथा देवपतिः सशच्या॥ ९२॥**' अध्यात्मरामायण सर्ग ६ के इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि वाल्मीकिजीके बताये हुए स्थानमें एक बड़ी विस्तृत कुटी पश्चिममें (पूर्वमुख) और एक कुटी दक्षिणमें (उत्तरमुख) बनायी गयी। सीता-लक्ष्मणसहित देवसदृश उस उत्तम भवनमें रहते थे। जैसे शचीसहित इन्द्र स्वर्गमें देवता और

मुनिश्रेष्ठोंसहित आनन्दपूर्वक रहते हैं वैसे ही वाल्मीकि आदि ऋषियोंसे पूजित रामजी सीता-लक्ष्मणसहित कुटीमें रहते थे। देखिये, श्लोक ९२ को गोस्वामिपादके दोहे १४१ से मिलाइये, किसमें उत्कृष्टता है? ***'शची जयंत समेत'*** में या केवल ***'सशच्या'*** में!

नोट—५ ***'लषन जानकी सहित······'*** इति। भाव यह है कि मुनिवेष जटाजूट, वल्कल आदि धारण किये हुए भी वे अपनी माधुरीसे सबके मनको हर रहे हैं। जैसे कामदेव अपने सहायकोंसहित संसारको मोहित कर लेता है। यहाँ शृंगाररस और कामदेव श्यामवर्ण और रामजी भी श्यामवर्ण, रति गौरवर्ण वैसे ही सीताजी गौर, वसन्त पीत वैसे ही लक्ष्मणजी स्वर्णवर्णके। प्रभु जटा धारण किये हैं; अतः कामदेवका भी मुनिवेषमें होना कहा। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि काम विकारयुक्त है, मुनिवेष धरकर सोहना कहनेका भाव कि विकारको त्यागकर सोह रहा है।

अमर नाग किंनर दिसिपाला। चित्रकूट आए तेहि काला॥ १॥
राम प्रनामु कीन्ह सब काहू। मुदित देव लहि लोचन लाहू॥ २॥
बरषि सुमन कह देव समाजू। नाथ सनाथ भए हम आजू॥ ३॥
करि बिनती दुख दुसह सुनाए। हरषित निज निज सदन सिधाए॥ ४॥
चित्रकूट रघुनंदन छाए। समाचार सुनि सुनि मुनि आए॥ ५॥

अर्थ—देवता, नाग, किन्नर, दिक्पाल उस समय चित्रकूट आये॥ १॥ श्रीरामचन्द्रजीने सबको प्रणाम किया। देवता नेत्रोंका लाभ पाकर आनन्दित हुए॥ २॥ फूल बरसाकर देवसमाज कह रहा है कि 'हे नाथ! आज हम सनाथ हुए। अर्थात् अभीतक ऐसा जान पड़ता था कि हमारा कोई नाथ या रक्षक नहीं है, हम अनाथ थे, आप हमारे ही लिये अवध छोड़कर वनमें आये, इससे हमको निश्चय हुआ कि अब रावणवध होगा, हमारी उससे रक्षा करनेके लिये ही आप यहाँ आये, अतएव अब हम सनाथ हुए॥ ३॥ विनय करके उन्होंने अपने न सहे जानेवाले कठिन दुःख कह सुनाये। फिर प्रसन्न होकर खुशी-खुशी अपने-अपने घर चल दिये॥ ४॥ श्रीरघुनाथजी चित्रकूटमें छाकर रहे (पर्णकुटी बनाकर रह रहे हैं)। यह खबर सुन-सुनकर मुनि आये॥ ५॥

नोट—१ ***'अमर नाग······आए'*** इति।—देवताओंका तो एक बार आना ऊपर अभी-अभी कह आये, यथा—***'रमेउ राम मन देवन्ह जाना। चले सहित सुर थपति प्रधाना'*** उनका जाना कहा नहीं गया तो यहाँ दुबारा उनका आना कैसे लिखा गया? यह प्रश्न उठाकर पंजाबीजी यह उत्तर देते हैं कि पहले इन्द्रादि प्रधान देवताओंका कोल-किरात वेषसे आना कहा गया, जिनको रावणका बड़ा डर था और अब लघु देवताओंका आना कहा। अथवा, कुटी छानेमें सेवायोग्य शरीर धरकर आये और अब विमानपर फूल बरसाने और अपना दुखड़ा सुनानेके लिये प्रत्यक्षरूपसे आये। अथवा रावणके भयसे भीलरूप धरा, दर्शन पाकर अभय हुए तब अथवा प्रेममें कपट-वेश दूर हो गया तब प्रकट हो गये।

पंजाबीजीका पाठ ***'सुरपति परधाना'*** है। इसीसे उन्होंने यह समाधान किया है। ***'सुर थपति प्रधाना'*** पाठमें यह शंका ही नहीं उठती। क्योंकि प्रथम वे देवता आये जो स्थापत्यकारमें—रचनाकी कलामें प्रवीण थे वे ही अपने प्रधानसहित आये। जब पर्णशालाएँ बन गयीं और तीनों मूर्ति वहाँ निवास करने लगे तब शेष सब देवता आये।

नोट—२ अमर, नाग, किन्नर, दिक्पाल—ये सब आये, क्योंकि रावणसे सब सताये हुए हैं, यथा—***'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ किंनर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबहीके पंथहि लागा॥'*** (१। १८२) ***'दिगपालन्ह मैं नीर भरावा।'*** (६। २८)

नोट—३ (क) ***'राम प्रनाम कीन्ह'*** इति। श्रीरामचन्द्रजीने सबको प्रणाम किया पर इन्होंने आशीर्वाद न दिया। इसका कारण यह है कि श्रीरामजीने माधुर्यमें उनको प्रणाम किया, वे इस माधुर्य-लीलाको देखकर 'मुदित' हुए; पर वे तो इनको अपना नाथ समझकर इनकी सेवा करने और अपना दुःख सुनाने

आये हैं तो फिर आशीर्वाद कैसे देते? *'नाथ सनाथ भए हम आजू'* और *'दुख दुसह सुनाए'* इन विनम्र शब्दोंके साथ अपनेको बड़ा मानकर आशीर्वाद देना योग्य नहीं जँचता। कविने यह दिखानेके लिये कि इन्द्रादि देवता ऐश्वर्य जानते हैं, यहाँ 'राम' शब्द दिया जो ऐश्वर्यसूचक है। मुनियोंको दंडवत् करनेमें 'रघुकुलचंद' कहा, क्योंकि वे माधुर्यभाव ग्रहण किये हुए आशीर्वाद देंगे। (ख) *'मुदित देव लहि लोचन लाहू'*—दर्शन करके मुदित हुए। विवाहके समय दूलहरूपमें देखकर मुदित हुए थे, यथा—*'मुदित देवगन रामहि देखी।'* (१। ३१७) पर दूरसे देखा था, आज सामने आकर दर्शन कर रहे हैं, इससे नेत्रोंका लाभ पाना कहा। भगवान्‌का दर्शन ही नेत्रका लाभ है यह बारंबार कहा जा चुका है। पर देवता तो स्वार्थी हैं, दोनों जगह स्वार्थ सधता देखकर आये थे। (ग) *'बरषि सुमन……'* इति। प्रथम पर्णशालाएँ 'रची' फिर समीप आकर वहाँ एकान्तमें दर्शन किया, पुष्पवृष्टि की, तब विनती की, अन्तमें अपना दुखड़ा सुनाया। *'दुख दुसह'* यह कि घर रहने नहीं पाते, उर्वशी आदि अप्सराओं और पुष्पकादि सुन्दर विमानोंको तथा सब सम्पत्ति रावण छीन ले गया, यज्ञभाग नहीं मिलता, इत्यादि। यथा—*'आवत रावन सुनेउ सकोहा। देवन तके मेरु गिरि खोहा', 'सुरपुर नितहि परावन होई॥ पुष्पक जान जीति लै आवा'* (१। १७९) इत्यादि। (घ) *'सनाथ भए'* का एक भाव अर्थमें दिया गया। दूसरा भाव यह है कि ऋषि अब निर्भय होकर यज्ञ करेंगे। हम यज्ञमें अपना भाग पाकर तृप्त होंगे। अथवा कैकेयीकी मति फेरनेमें हमें डर था कि आपको दुःख न हुआ हो, आप अप्रसन्न न हों वह चिन्ता मिट गयी। (ङ) *'हरषित निज निज सदन सिधाए।'* इति। इससे जान पड़ता है कि प्रभुने उनको ढारस दिया, इसीसे वे अपने घरको प्रसन्न-प्रसन्न गये, अभीतक भागे-भागे फिरते रहे।

(ङ) *'चित्रकूट रघुनंदन छाये'* इति।—(क) *'छाये'* से जनाया कि यहाँ कुछ दिन निवास करेंगे, अभीतक पथगामी रहे, एक रातसे कहीं अधिक ठहरते न थे, कुछ ठीक न था कि आज यहाँ हैं, कल कहाँ होंगे। अब कुटी छावनी छाकर रहे हैं, इसीसे मुनि अब आ रहे हैं। छाये, यथा—*'बर्षाकाल मेघ नभ छाये'* (ख) *'सुनि सुनि'* अर्थात् जैसे-जैसे जो-जो सुनते थे वे आते-जाते थे। एक साथ सबको समाचार नहीं मिला।

आवत देखि मुदित मुनिबृंदा। कीन्ह दंडवत रघुकुल चंदा॥ ६॥
मुनि रघुबरहि लाइ उर लेहीं। सुफल होन हित आसिष देहीं॥ ७॥
सिय सौमित्रि राम छबि देखहिं। साधन सकल सफल करि लेखहिं॥ ८॥

दो०—जथा जोग सनमानि प्रभु बिदा किए मुनिबृंद।
करहिं जोग जप जाग तप निज आश्रमन्हि सुछंद॥ १३४॥

शब्दार्थ—**सुछंद**=(स्वच्छन्द) स्वतन्त्र, आजाद।

अर्थ—मुनियोंके वृन्द-के-वृन्द (झुंड, समूह) को प्रसन्नमुख आते देख रघुकुलके चन्द्र श्रीरामजीने (साष्टांग) दण्डवत् प्रणाम किया॥ ६॥ मुनि समूह रघुवरको हृदयसे लगा लेते हैं और (अपने आशीर्वादोंके) सुफल होने (अर्थात् सफलताके लिये) आशीर्वाद दे रहे हैं॥ ७॥ वे श्रीसीताजी, श्रीसुमित्राजीके पुत्र लक्ष्मणजी और श्रीरामचन्द्रजीकी छबि देखते हैं और अपने सब साधनोंको सफल करके मानते हैं॥ ८॥ प्रभुने मुनिवृन्दका यथायोग्य सम्मान करके उनको बिदा किया। वे अपने-अपने आश्रमोंमें स्वतन्त्रतासे योग, जप, यज्ञ, तप करने लगे॥ १३४॥

नोट—१ मुनियोंको दण्डवत् करनेसे रघुकुलकी मर्यादा-प्रतिष्ठाकी रक्षा तथा कुलको प्रकाशित कर रहे हैं, अतः *'रघुकुलचंद'* कहा। रघुवंशी सदा मुनियोंको दण्डवत् प्रणाम करते आये हैं। *'सुफल होन हित आसिष देहीं'* इति। इसी तरह गंगाजीने श्रीजानकीजीसे कहा है। यथा—*'तदपि देबि मैं देबि असीसा। सफल होन हित निज बागीसा॥'* (१०३। ८)

नोट—२ *'साधन सकल सफल करि लेखहिं'* इति। वाल्मीकिजीने जो रघुनाथजीसे कहा था—*'चलउ सफल श्रम सब कर करहू'* उन वचनोंको एवं प्रभुके *'मुनिगन मिलन बिसेषि बन'* इस वाक्यको यहाँ चरितार्थ किया है। सब साधनोंका फल श्रीरामदर्शन वा श्रीरामभक्ति है। यथा—*'दीन्ह मुनीस असीस उर अति अनंदु अस जानि। लोचन गोचर सुकृत फल मनहुँ किए बिधि आनि॥'* (१०६) *'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥'* (२१०।४), *'आजु सकल सुकृत फल पाइहौं। सुतन्ह सहित दसरथि देखिहौं"""। 'रामचन्द्र मुखचंद्र सुधा छबि नयन चकोरनि प्याइहौं।'* (गी० १।४८)

नोट—३ *'जथाजोग"""'* इति। जो जिस योग्य था वैसा उसका सम्मान किया। अथवा, जैसा समय था उसके अनुकूल जो सत्कार हो सकता था वह किया, समीचीन मान देकर और कहकर कि आप चिन्ता न करें विदा किया। *'सुछंद'*-स्वतन्त्र होकर अपने-अपने आश्रममें यज्ञादि करने लगे। पहले रावणके भयसे अपने यहाँ न कर सकते थे, महर्षि अगस्त्य, महर्षि पर्वत आदिके आश्रमोंमें जाकर साधन करते थे, क्योंकि उनसे रावण डरता था और इनको सताता था, यथा—*'जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा। आपुन उठि धावै रहै न पावै"""।'* अब रघुवीर-बाहुबलसे निर्भय और स्वतन्त्र हो गये। क्योंकि यह उनको मालूम है कि वे विश्वामित्रजीके यज्ञके रक्षक *'मारीच सुबाहु मद मोचन'* हैं और हमारी रक्षा करनेको कहते हैं।

यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनु नवनिधि घर आई॥ १॥
कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटन सोना॥ २॥
तिन्ह महँ जिन्ह देखे दोउ भ्राता। अपर तिन्हहिं पूछहिं मगु जाता॥ ३॥
कहत सुनत रघुबीर निकाई। आइ सबन्हि देखे रघुराई॥ ४॥
करहिं जोहारु भेंट धरि आगे। प्रभुहिं बिलोकहिं अति अनुरागे॥ ५॥
चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े। पुलक सरीर नयन जल बाढ़े॥ ६॥

शब्दार्थ—**कोल**=ब्रह्मवैवर्त पु० में कोलको लेट पुरुष और तीवर स्त्रीसे उत्पन्न एक वर्णसंकर जाति लिखा है। पद्मपु० में लिखा है कि जब यवन, पह्लव, कोल, सर्प आदि सगरके भयसे वसिष्ठजीकी शरण आये तब उन्होंने उनका सिर आदि मुड़ाकर उन्हें केवल संस्कार-भ्रष्ट कर दिया। स्कन्दपुराणके हिमवत्-खण्डमें 'कोल' को एक म्लेच्छ जाति कहा है जो हिमालयमें शिकार करती घूमती थी। हरिवंशमें कोल राज्यका नाम दक्षिणके पांड्य और केरलके साथ आया है। (श० सा०) *'नवनिधि'*, यथा—'**महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ। मुकुन्दः कुन्दनीलाश्च खर्बश्च निधयो नव॥**' पद्म, महापद्म, मकर, कच्छप, मुकुन्द, नन्दक, नील, शंख और खर्ब—ये नौ निधियाँ हैं। मार्कण्डेयपु० अ० ६५ में निधियाँ आठ ही कही गयी हैं। प्रत्येक निधिका अर्थ आदि विस्तारसे (१।२२०।२) *'मनहुँ रंक निधि लूटन लागी'* में लिखा गया है, वहीं देखिये। **निकाई**=सौन्दर्य, सुन्दरता, यथा—*'गजमनिमाल बीच भ्राजत कहि जाति न पदिक निकाई।'* (गी०) *'सकल भुवन सोभा सरबसु लघु लागति निरखि निकाई।'* (गी० १।५३) जोहार (सं० जुवन)=अभिवादन, प्रणाम। **चित्र लिखे**=तसवीरके समान।

अर्थ—कोल-भील यह खबर (कि रघुनाथजी चित्रकूटमें आकर बसे हैं) पाकर ऐसे प्रसन्न हुए मानो नवों निधियाँ घर (बैठे) आ गयीं॥ १॥ वे दोनोंमें कन्द-मूल-फल भर-भरकर चले मानो दरिद्र सोना लूटने चले जा रहे हैं॥ २॥ उनमेंसे जिन्होंने दोनों भाइयोंको देखा है उनसे और लोग रास्तेमें जाते हुए पूछते हैं॥ ३॥ रघुबीर श्रीरामजीकी सुन्दरता कहते-सुनते सबोंने आकर रघुनाथजीका दर्शन किया॥ ४॥ भेंट (कन्द-मूल-फल जो उनके लिये लाये थे)-को आगे रखकर प्रणाम करते हैं और प्रभुको अत्यन्त प्रेमसे देख रहे हैं॥ ५॥ वे जहाँ-तहाँ ऐसे खड़े हैं मानो (वे नहीं हैं किंतु) तस्वीरें खींचकर खड़ी की गयी हैं (हिलते-डोलते नहीं)। शरीरके रोएँ खड़े हैं, नेत्रोंमें अश्रुप्रवाहकी बाढ़ आ गयी है॥ ६॥

नोट—१ (क) *'ये उपही कोउ कुँवर अहेरी। स्याम गौर धनुबानतूनधर चित्रकूट अब आय रहे री॥*

इन्हहिं बहुत आदरत महामुनि समाचार मेरे नाह कहे री। बनिता बंधु समेत बसत बन पितुहित कठिन कलेस सहे री॥ बचन परसपर कहत किरातिनि प्रेम बिबस जल नयन बहे री। तुलसी प्रभुहि बिलोकति इकटक लोचन जनु बिनु पलक रहे री॥' (गी० २। ४२। १—३) गीतावलीके इस उद्धरणसे यहाँकी चौपाइयोंके भाव स्पष्ट हो जाते हैं। (ख) *'यह सुधि पाई'*—सुध किससे पायी? महामुनियोंको इनका अत्यन्त आदर-सम्मान करते देख उनसे पूछनेपर इन तीनोंका परिचय पाया। (ग) *'हरषे जनु नवनिधि घर आई'* इति। ऋषि-मुनि तपस्याके बलसे प्रभुके दर्शन पाते हैं; पर ये सब साधनहीन और नीच हैं, इन्हें दर्शनका सौभाग्य कहाँ? इनको प्रभुने स्वयं कृपा करके दर्शन दिया। विश्वामित्रजी अवध गये तब उनको यह निधि मिली थी—*'बिस्वामित्र महानिधि पाई'*—वही निधि इनको घर बैठे प्राप्त हो गयी। वे दर्शनको इस तरह बेतहासा बेधड़क चले। कौड़ी-कौड़ीको जो कंगाल है ऐसा दरिद्र सुन पावे कि कहीं सोना लुट रहा है तो जैसे दौड़कर वह चले, वैसे ही ये चले।

नोट—२ (क) *'कंदमूल……'* इति। बड़े लोगोंसे मिलनेमें भेंटकी यह प्रथा इन असभ्य जातियोंमें भी थी। भेंट लेकर जाना चाहिये, यथा—*लिए फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हिय हरषु अपारा॥ करि दंडवत भेंट धरि आगे।'* (८८। २-३) *'भरि भरि दोना'* यथा—*'भरि भरि परनपुटी रचि रूरी। कंद मूल फल अंकुर जूरी॥……'*(२५०। २-३) (ख) *'आइ सबन्हि देखे'* से जनाया कि सब-के-सब एक साथ आये (ग) *'करहिं जोहारु भेंट धरि आगे'*—यह प्रणामकी रीति दिखायी। (घ) *'प्रभुहि बिलोकहिं अति अनुरागे'* यह कहकर आगे इस अत्यन्त अनुरागकी दशा कहते हैं—*'चित्र लिखे……'*। अर्थात् एकटक खड़े देख रहे हैं; पलक नहीं मारते, हिलते-डोलते, बोलते आदि नहीं, जड़वत् हो गये, जैसे कागजपर खिंची हुई तसबीर हो। ऊपर गीतावलीका उद्धरण देखिये।

राम सनेह मगन सब जाने। कहि प्रिय बचन सकल सनमाने॥ ७॥
प्रभुहि जोहारि बहोरि बहोरी। बचन बिनीत कहहिं कर जोरी॥ ८॥
दो०—अब हम नाथ सनाथ सब भए देखि प्रभु पाय।
भाग हमारे आगमनु राउर कोसलराय॥ १३५॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने सबको प्रेममें मग्न (डूबा) जाना। प्रिय वचन कहकर सबका सम्मान (परितोष) किया॥ ७॥ बारंबार प्रभुको प्रणाम करके हाथ जोड़कर वे सब बड़े ही नम्रताके वचन कह रहे हैं॥ ८॥ हे नाथ! प्रभु (आप)-के चरणोंका दर्शन पाकर हम सब अब सनाथ हुए। हे कोसलराज! आपका आगमन (आना) हमारे भाग्यसे हुआ॥ १३५॥

नोट—१ (क) *'अब सनाथ'* इति। इनका सनाथ होना क्या है? अधर्म-वृत्तिसे धर्ममें प्रवृत्ति हो गयी, जैसा आगे ये कहेंगे। यथा—*'यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहि न बासन बसन चोराई॥ हम जड़ जीव जीवगनघाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥ पाप करत निसि बासर जाहीं।……सपनेहु धरम बुद्धि कस काऊ। यह रघुनन्दन दरस प्रभाऊ॥ जब तें प्रभुपदपदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥'* (२५१। ३—७) पुनः यथा—*'भए सब साधु किरात किरातिनि राम दरस मिटि गइ कलुषाई।'* (गी० २। ४६) (ख) *'भाग हमारे आगमनु'* इति। भाव कि ऋषि-मुनि लोगोंने तो अपने तपादि साधनके बलसे पाया और हम सब साधनहीन कुटिल जीव हैं, हमें दर्शनका सौभाग्य कहाँ हो सकता था। आपने कृपा करके दर्शन दिया। इनके भाग्यकी सराहना अवधवासियोंने भी की है। यथा—*'तिन्हके भाग सराहन लागे। लागे सराहन भाग सब अनुराग बचन सुनावहीं।……नरनारि निदरहिं नेहु निज सुनि कोल भिल्लनि की गिरा। तुलसी कृपा रघुबंसमनि की……॥'* (२५१) मुनियोंने भी इनके भाग्य सराहे हैं। यथा—*'प्रभुहि बिलोकि मुनिगन पुलके कहत, भूरि भाग भए सब नीच नारि नर हैं। तुलसी सो सुखलाहु लूटत किरात कोल, जाको सिसकत सुर बिधि हरि हर हैं॥'* (गी० २। ४५)

वि० त्रि०—सरकारके पर्णशालामें डेरा करनेपर पहले अमर, नाग, किन्नर, दिक्पाल लोग आये अपना दु:सह दु:ख सुनाने। तत्पश्चात् मुनि लोग आये—अपना साधन सफल करनेके लिये। अन्तमें कोल-किरात आये आनन्दमें मग्न होकर सरकारके स्वागतके लिये। यथा—*'कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटनु सोना॥'* श्रीगोस्वामीजीने देवताओंसे अधिक प्रीति मुनियोंमें दिखलायी और उनसे भी कहीं अधिक प्रीति कोल-किरातोंमें दिखलायी। यद्यपि सरकारके वन आनेमें स्वार्थ अधिक देवता और मुनिवृन्दका था; देवता लोग सरकारसे आश्वासन पाकर हर्षित होकर घर गये, मुनि लोग आलिंगन करके बेखटके अपने ब्रह्मकर्ममें लग गये, पर सरकारकी सेवामें अपना भाग्य तो कोल-किरातोंने माना। देवताओंने भी कहा कि *'नाथ सनाथ भए हम आजू'* और कोल-किरातोंने भी कहा कि *'अब हम नाथ सनाथ सब भए देखि प्रभु पाय'*; पर दोनोंके कहनेमें बड़ा अन्तर था। देवताओंके कथनमें स्वार्थ भरा था, उन्हें अवधका बधावा नहीं अच्छा लगा, क्योंकि उससे उनके स्वार्थको ठेस पहुँचाती, उनके वनवास होनेमें वे अपनेको सनाथ मानते हैं। इधर कोल-किरात इतनेमें ही कृतकृत्य हैं कि कोसलनाथका चरण हमारे देशमें पड़ा, *'भाग हमारे आगमनु राउर कोसलराय।'* (*'कोसलराय'* से यह भाव निकलता है कि चक्रवर्ती राजकुमार हैं, भला हमको आपका दर्शन कहाँ सम्भव था। जान गये कि राजकुमार हैं इसीसे आगे शिकार खिलानेको कहते हैं।)

धन्य भूमि बन पंथु पहारा। जहँ जहँ नाथ पाउ तुम्ह धारा॥ १॥
धन्य बिहग मृग काननचारी। सफल जनम भए तुम्हहि निहारी॥ २॥
हम सब धन्य सहित परिवारा। दीख दरसु भरि नयन तुम्हारा॥ ३॥
कीन्ह बासु भलि ठाँउ बिचारी। इहाँ सकल रितु रहब सुखारी॥ ४॥
हम सब भाँति करब सेवकाई। करि केहरि अहि बाघ बराई॥ ५॥

अर्थ—हे नाथ! वह पृथ्वी, वन, मार्ग और पहाड़ धन्य हैं (अर्थात् उनके बड़े भाग्य हैं) जहाँ-जहाँ आपने अपना पैर रखा॥ १॥ वे पक्षी, पशु वनमें विचरनेवाले धन्य हैं, आपको देखकर सबके जन्म सफल हुए॥ २॥ कुटुम्बसहित हम सब धन्य हैं कि नेत्र भरकर आपका दर्शन किया॥ ३॥ अच्छी जगह विचारकर आपने वास किया है, यहाँ सभी ऋतुओंमें आप सुखी रहेंगे॥ ४॥ हम सब प्रकारसे हाथी, सिंह, सर्प, व्याघ्रसे बचाकर आपकी सेवा करेंगे॥ ५॥

नोट—१ *'धन्य भूमि……'*—भाव कि कुछ हमारे ही भाग्य नहीं हैं किन्तु इन सबके बड़े भाग्य हैं। संसारमें जन्म पाकर प्रभुके दर्शन हों तो वह जीवन सफल हो जाता है, यथा—*'एक लालसा उर अति बाढ़ी॥ रामचरन बारिज जब दैखौं। तब निज जन्म सफल करि लेखौं॥'* (७। ११०) *'पुनि पुनि सीयराम छबि देखी। मुदित सफल जग जीवन लेखी॥'* (१। ३४९) *'आजु सुफल जग जनमु हमारा। देखि तात बिधु-बदन तुम्हारा॥'* (१। ३५७) *'फिरि फिरि प्रभुहिं बिलोकिहौं धन्य न मो सम आन।'* (३। २६)

पु० रा० कु०—*'सकल रितु रहब सुखारी'* इस पदसे सरस्वतीने भावी कह दी है। वर्षमें छ: ऋतुएँ होती हैं। चित्रकूटमें छहों ऋतु बीते हैं। इन शब्दोंसे यह जना दिया कि यहाँ एक वर्ष प्रभु रहेंगे। [वाल्मीकिजीने *'आश्रम कहौं समय सुखदायक॥……तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू'* जो कहा था वही ये कहते हैं। गीतावली—*'सब दिन चित्रकूट नीको लागत।'* *'सब रितु'* अर्थात् ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, शिशिर, हिम, बसन्त छहों ऋतुओंमें। गर्मीमें ताप नहीं, वर्षामें वृक्षोंके नीचे बूँद भी न आवेगी, जाड़ा भी न जान पड़ेगा। प्रज्ञानानन्दस्वामीजी लिखते हैं कि कोल-किरात तो जानते नहीं कि यहाँ कितने दिन निवास करना है। वे अपनी समझके अनुसार चित्रकूटकी विशेषता जनाते हैं। स्कन्दपु० में वर्षाकी समाप्तितक ही चित्रकूटमें निवास कहा गया है। २—*'करि केहरि अहि बाघ बराई'*—भाव कि मन्त्रद्वारा उनको यहाँसे बाहर कर देंगे, इनको आपके पास न आने देंगे।]

बन बेहड़ गिरि कंदर खोहा। सब हमार प्रभु पग पग जोहा॥ ६॥
तहँ तहँ तुम्हहि अहेर खेलाउब। सर निरझर भल ठाँउ देखाउब॥ ७॥
हम सेवक परिवार समेता। नाथ न सकुचब आयसु देता॥ ८॥
दो०—बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना अयन।
बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बयन॥ १३६॥

शब्दार्थ—**बेहड़**=सघन, जहाँ रास्ता नहीं, कठिन। **निर्झर**=झरना। **कंदर**=गुफा, गुहा। खोह=पहाड़के बीचका गहरा गड्ढा वा दो पर्वतके बीचकी तंग जगह।

अर्थ—हे प्रभो! वन, बेहड़, पर्वत, कंदराएँ और खोह ये सब हमारी पैर-पैर देखी हैं (अर्थात् पैरभर भी जमीन नहीं है जो हमारी घूमी देखी न हो)॥ ६॥ हम तहाँ-तहाँ आपको शिकार खिलावेंगे। तालाब, झरने आदि अच्छे-अच्छे स्थल दिखावेंगे॥ ७॥ कुटुम्बसहित हम आपके सेवक हैं। हे नाथ! आज्ञा देनेमें संकोच न कीजियेगा॥ ८॥ जो भगवान्‌के वाक्यरूपी वेदको वा वेद, वाणी और मुनियोंके मनको भी दुर्गम हैं, वे ही करुणानिधान प्रभु भीलोंके वचन इस तरह सुन रहे हैं जैसे पिता बालकके वचनको सुनता है॥ १३६॥

नोट—१ (क) ***'बन बेहड़……देखाउब'*** इति। 'कोसलराज' हैं; अतः शिकारका शौक होना स्वाभाविक है। और कोल-किरात इस वनके निवासी हैं तथा हिंसक जीवोंको मारकर पेट भरा करते हैं; अतः इनको शिकारवाले हिंसक जीवोंका पता है कि कहाँ-कहाँ छिपे रहते हैं। इसीसे वे उन सब जगहोंका नाम लेते हैं और वहाँ शिकार खेलानेको कहते हैं। (ख) ***'अहेर खेलाउब'*** इति। शिकारियोंके साथ हँकवारे होते हैं जो शिकारको खेदकर शिकारीके समीप लाते हैं। वा, जहाँ-जहाँ शिकारका मौका है वहाँ ले जाते हैं—यह सेवा हम करेंगे। (ग) वेदोंको अगम हैं, वे 'नेति-नेति' कहते हैं, अन्त न पा सके। ***'नेति नेति नित निगम कह।'*** (१२६) वाणी और मनको अगम, यथा—***'मन समेत जेहि जान न बानी।'*** (१। ३४१) मुनि वेद-शास्त्रोंके मनन करनेवाले हैं, मनको निग्रह करके चिन्तन करते हैं। जब इनके मन और वाणीकी पहुँच नहीं तो औरका क्या कहना!

नोट—२ (क) ***'ते प्रभु'***—ऐसे जो प्रभु हैं, कोई और नहीं। **कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः प्रभुः**—यहाँ 'प्रभु' पद सामर्थ्यवाचक दिया, यह दिखानेको कि वेदादिको भी अगम हैं, वे ही इनको अपनी कृपासे सुगम हो गये हैं। यथा—***'जिमि पितु बालक बयन'*** यथा—***'जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥'*** (१। ८। ९) (ख) ☞मिलान कीजिये लं० ११६ के ***'मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति नेति कह बेद। कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद॥'***

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥ १॥
राम सकल बनचर तब तोषे। कहि मृदु बचन प्रेम परितोषे॥ २॥
बिदा किए सिर नाइ सिधाए। प्रभु गुन कहत सुनत घर आए॥ ३॥
एह बिधि सिय समेत दोउ भाई। बसहिं बिपिन सुर मुनि सुखदाई॥ ४॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीको केवल प्रेम प्रिय है। जो जाननेवाला है वह जान ले॥ १॥ तब श्रीरामजीने सब वनवासी कोल-भीलोंको संतुष्ट किया और कोमल मीठे वचन कहकर, प्रेमको परिपुष्ट करनेवाले वचन कहकर उनको बिदा किया। वे माथा नवाकर चल दिये और प्रभुके गुण कहते-सुनते घर आये॥ २-३॥ इस प्रकार सुर-मुनिको सुख देनेवाले दोनों भाई श्रीसीताजीसहित वनमें बसते हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'जानि लेउ जो जाननिहारा'*** इति।—अर्थात् जिसको जाननेकी चाह हो और जो जाननेवाला

हो वह इतनेसे जान ले। तात्पर्य यह कि यह समझकर और यह मानकर कि प्रभुसे प्रेम करना हमें कर्तव्य है, प्रभुसे प्रेम करो तो वे पितृवत् तुम्हारे वचन सुनेंगे और तुम्हें पुत्रवत् मानेंगे। हमारा यह कर्तव्य है, क्योंकि जब वे कोल-भीलोंपर वात्सल्य रखते हैं तो जो वर्णाश्रममें हैं, कर्म-ज्ञान-उपासनाके अधिकारी हैं और प्रभुसे प्रेम करते हैं, प्रभु उनकी अवश्य अधिक सुनेंगे। यही बात गीतामें कही है। श्रुतियोंसे सिद्ध होता है कि जो पुरुष दुष्ट आचरणोंसे विरत नहीं है, जो शान्त नहीं है, वह इस आत्माको ज्ञानद्वारा नहीं पा सकता। (क० उ० १।२।२४) उसपर गीता कहती है कि जो अत्यन्त दुराचारी भी हो यदि वह अनन्यभाक् होकर मुझे भजता है तो वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शान्तिको प्राप्त होकर परमगतिको प्राप्त हो जाता है। यथा—'**अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।''''''क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति॥ तेऽपि यान्ति परां गतिम्।**' (९।३०—३२) तब पुण्ययोनि ब्राह्मणों और राजर्षि भक्तोंके लिये तो कहना ही क्या? '**किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।**' (३३) ये तो बेचारे कर्मज्ञानके अधिकारी ही नहीं, केवल प्रेम इनमें है।

वि० त्रि०—'केवल प्रेम' अर्थात् जिसमें ज्ञान-कर्मका संमिश्रण न हो, यथा—'***रीझत राम सनेह निसोते।***' कोल-किरातका ज्ञान और कर्मसे क्या सम्बन्ध? सो उनकी बातोंमें सरकारको बड़ा आनन्द आ रहा है, जैसे बच्चोंकी तोतली वाणी सुनकर पिताको आनन्द आवे। श्रीगोस्वामीजी महाराज पाठकोंको सावधान कर रहे हैं कि जाननेवाले लोग इतनेहीसे जान लें कि '***बेद बचन मुनि मन अगम***' जो प्रभु हैं, वह इतने आनन्दसे किरातोंकी बात सुन रहे हैं। किरातोंके पास सिवा शुद्ध प्रेमके और कौन साधन है?

प० प० प्र०—स्वामीका मत है कि यहाँ '***जाननिहारा***' से 'ज्ञानी' अभिप्रेत हैं। यथा—'***जे जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी॥***' (३। ११। १९) '***ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं।***' (७। १३) भाव यह कि श्रीरामजीको केवल ज्ञानी इतने प्रिय नहीं जितने सगुन प्रेमी। प्रौढ़ तनयसे बालक सुत (दास अमानी) अधिक प्रिय है।

मिलान कीजिये—'***राम कृपा न करहिं तसि जसि निःकेवल प्रेम***'-

टिप्पणी—२ '***राम सकल बनचर''''''परिपोषे***' इति।—सबके आन्तरिक प्रेमको पहचानकर सबका परितोष किया, क्योंकि राम हैं, सबमें व्याप्त हैं; अतः 'राम' पद दिया। मृदु वचन यह कि वनमें तो हमें तुम्हारा ही भरोसा है, जो काम लगेगा कहेंगे और कौन यहाँ हमारा काम करनेवाला है, हम कदापि संकोच न करेंगे; अपने घर अब जाओ, घरका काम देखो-भालो, जब काम लगेगा तुम्हें बुला लेंगे। यह कहकर विदा किया।

टिप्पणी—३ '***सुर मुनि सुखदाई***' पदसे जनाया कि आप कोल-भीलोंको भी सुखदाता नहीं, वरन् सुर-मुनिको भी यहाँ बसकर सुख दे रहे हैं। दुष्टोंका दलन करके इनकी रक्षा कर रहे हैं। [भाव यह कि सुर-संत-हित अवतार लेकर उन्हें सुख देनेके लिये ही वनवासका दुःख उठा रहे हैं, वनमें आकर बसे हैं। इससे अनायास वहाँके कोल-किरातोंको भी सुख मिल गया। (प० प० प्र०)]

जब ते आइ रहे रघुनायकु। तब ते भएउ बनु मंगलदायकु॥ ५॥
फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना। मंजु बलित बर बेलि बिताना॥ ६॥
सुरतरु सरिस सुभाय सुहाए। मनहु बिबुध बन परिहरि आए॥ ७॥
गुंज मंजु तर मधुकर श्रेनी। त्रिबिध बयारि बहइ सुखदेनी॥ ८॥

दो०—नीलकंठ कलकंठ सुक चातक चक्क चकोर।
भाँति भाँति बोलहिं बिहग श्रवन सुखद चित चोर॥ १३७॥

अर्थ—जबसे श्रीरघुनाथजी आकर यहाँ रहे तबसे वन मंगलदायक हो गया॥ ५॥ अनेक प्रकारके वृक्ष

अनेक प्रकारसे फूलते-फलते हैं। उनपर लपटी हुई सुन्दर बेलोंके मण्डप तने हुए हैं॥ ६॥ वे कल्पवृक्षकी तरह सहज ही सुहावने हैं, मानो देवताओंके वनोंको छोड़कर यहाँ आये हैं॥ ७॥ भौंरोंकी कतार-की-कतार अतिशय सुन्दर गुंजार कर रही हैं। सुख देनेवाली शीतल मन्द सुगन्धित तीनों प्रकारकी वायु चल रही हैं॥ ८॥ नीलकण्ठ, कोयल, तोते, पपीहे, चक्रवाक और चकोर आदि भाँति-भाँतिके पक्षी कानोंको सुख देनेवाली, चित्तको चुरानेवाली तरह-तरहकी बोलियाँ बोल रहे हैं॥ १३७॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—*'रघुनायक'* अर्थात् रघुकुलके स्वामी, एवम् 'रघु' अर्थात् जीवमात्रके स्वामी और नियन्ता। *'भयउ बनु मंगलदायक'* अर्थात् मंगलमय तो प्रथमसे था, अब दूसरोंके लिये भी मंगल प्रदान कर रहा है। अगली चौपाइयोंमें मंगलदायकका अर्थ खोला है। फल-फूल आदिसे सम्पन्न कर देना मंगलप्रद होना है।

टिप्पणी—२ *'मंजु बलित बर बेलि बिताना'* इति। —'बलित=बल खाया हुआ। आवेष्टित होकर, लपटकर। वर्तुलाकार गोल होकर लपटी हुई।

टिप्पणी—३ नीलकण्ठ मोरको कहते हैं और उस छोटे पक्षीको भी जिसका दर्शन दशहराके दिन मांगलिक माना जाता है।

नोट—१ मिलान कीजिये—*'आइ रहै जब ते दोउ भाई। तब तें चित्रकूट कानन छबि दिन दिन अधिक अधिक अधिकाई॥ १॥ सीताराम लषन पद अंकित अवनि सोहावनि बरनि न जाई। मंदाकिनि मज्जत अवलोकत त्रिविध पाप त्रयताप नसाई॥ २॥ उकठेउ हरित भए जल थल रुह नित नूतन राजीव सुहाई। फूलत फलत पल्लवत पलुहत बिटप बेलि अभिमत सुखदाई॥ ३॥ सरित सरनि सरसीरुह संकुल सदन सँवारि रमा जनु छाई। कूजत बिहँग मंजु मंजुल अलि जात पथिक जनु लेत बुलाई॥ ४॥ त्रिबिध समीर नीर झर झरननि जहँ तहँ रहे रिषि कुटी बनाई। सीतल सुभग सिलनि पर तापस करत जोग जप तप मन लाई॥ ५॥ भए सब साधु किरात किरातिनि रामदरस मिटि गइ कलुषाई। खग मृग मुदित एक सँग बिहरत सहज विषम बड़ बैर बिहाई॥ ६॥ काम केलि बाटिका बिबुधबन लघु उपमा कबि कहत लजाई। सकल भुवन सोभा सकेलि मनो रामबिपिन बिधि आनि बसाई॥ ७॥ बन मिस मुनि मुनितिय मुनिबालक बरनत रघुबर बिमल बड़ाई। पुलक सिथिल तनु सजल सुलोचनु प्रमुदित मन जीवन फलु पाई॥ ८॥ क्यों कहौं चित्रकूट गिरि संपति महिमा मोद मनोहरताई। तुलसी जहँ बसि लषन राम सिय आनंद अवधि अवध बिसराई॥'* (गी० २। ४६) आगेके पद ४७, ४८ में फागके सांगरूपकसे चित्रकूटकी शोभाका वर्णन है। ये सब *'मंगलदायक'* के भावमें आ जाते हैं।

नोट—२ वन, विटप, लता, भ्रमर आदिका वर्णन करके यह भी जनाते हैं कि प्रभु इनकी शोभा श्रीसीता-लक्ष्मणजीको दिखाते भी हैं। यथा—*'प्रिया प्रिय बंधु को दिखावत बिटप बेलि, मंजु कुंज, सिलातल, दल फूल फर हैं॥ ३॥ रिषिन्ह के आश्रम सराहैं मृग नाम कहैं, लागी मधु, सरित झरत निर्झर हैं। नाचत बरहि नीके गावत मधुप पिक, बोलत बिहंग नभ जल थल चर हैं॥ ४॥'* (गी० २। ४५)

प० प० प्र०—*'जब तें आइ रहे······मंगलदायक'* इति। श्रीरामजी जब पंचवटीमें आकर बसे तब वहाँ वनका मंगलरूप होना नहीं कहा। किष्किन्धाकाण्डमें बालिवधके पूर्व भी 'मंगल' होनेका वर्णन नहीं है। बालिवधके पश्चात् ही प्रवर्षण गिरिपर निवास होनेपर *'मंगलरूप भयउ बन तब ते। कीन्ह निवास रमापति जब ते॥'* ऐसा उल्लेख आता है। कारण कि पंचवटीके वनमें खर-दूषणादि अमंगलरूप राक्षस रहते थे, उनके रहते वन मंगलरूप कैसे हो सकता था और उनके वधके पश्चात् सीता-हरण हो गया, अत: अरण्यकाण्डमें मंगल शब्द नहीं आया। वाली भी अमंगलरूप था। अमंगलका हरण होनेहीपर मंगल हो सकता है (लंकाकाण्डमें अमंगल नाश होते ही प्रभु वहाँसे चल दिये। इससे वहाँ भी 'मंगल' शब्द नहीं है)।

करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥ १॥
फिरत अहेर राम छबि देखी। होहिं मुदित मृगबृंद बिसेषी॥ २॥

बिबुध बिपिन जहँ लगि जग माहीं। देखि राम बनु सकल सिहाहीं॥ ३॥
सुरसरि सरसइ दिनकरकन्या। मेकलसुता गोदावरि धन्या॥ ४॥
सब सर सिंधु नदी नद नाना। मंदाकिनि कर करहिं बखाना॥ ५॥

अर्थ—हाथी, सिंह, बंदर, शूकर (सूअर) और हिरन वैरको छोड़कर सब साथ-साथ विचरते हैं॥ १॥ शिकारके लिये फिरते हुए (शिकारी धनुर्धारी) श्रीरामकी छबिको देखकर पशुओंके वृंदविशेष आनन्दमें मग्न हो जाते हैं॥ २॥ जहाँतक संसारमें देवताओंके वन हैं वे सब श्रीरामजीके वनको देखकर ललचाते हुए उनकी प्रशंसा करते हैं॥ ३॥ गंगा, सरस्वती, सूर्यकुमारी यमुना, नर्मदा, गोदावरी आदि बड़ी-बड़ी महिमामयी नदियाँ और सभी अनेक तालाब, समुद्र, नदियाँ और नद (सोनभद्र, ब्रह्मपुत्र, महानद आदि) मंदाकिनीकी बड़ाई कर रहे हैं॥ ४-५॥

नोट—*'होहिं मुदित मृग बृंद बिसेषी'* अर्थात् देखकर चित्र-सरीखे खड़े रह जाते हैं, यथा—***'सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि पानि सरासन सायक लै। बन खेलत राम फिरैं मृगया तुलसी छबि सो बरनै किमि कै॥ अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै। न डगैं न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रति नायक हैं॥'*** (क० २। २७)

पु० रा० कु०—१ (क) प्रथम वनकी रमणीयता वृक्ष, बेल, तालाब और नदीद्वारा दिखायी, अब जीवोंकी निर्विषमताद्वारा रमणीकता कहते हैं। (ख) ***'सुरसरि सरसइ'''''*** ' इति। मंदाकिनीकी कौन-कौन बड़ाई करते हैं—गंगा जो सर्वतीर्थमयी हैं, ब्रह्मद्रव हैं, सरस्वती ब्रह्मरूपा; यमुना सूर्यभगवान्की कन्या, नर्मदा जिसमें शिवजी सदा निवास करते हैं और धन्या नदी जिसका भागवतमें वर्णन है अथवा ये सब धन्या अर्थात् पुण्य नदियाँ हैं और भी सब नदी-नद इत्यादि। बड़ाई यह कि इसके धन्य भाग्य कि परात्पर प्रभु इसके तटपर वास करते हैं, इत्यादि।

उदय अस्त गिरि अरु कैलासू। मंदर मेरु सकल सुरबासू॥ ६॥
सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट जसु गावहिं तेते॥ ७॥
बिंधि मुदित मन सुखु न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई॥ ८॥

दो०—चित्रकूट के बिहग मृग बेलि बिटप तृन जाति।
पुन्यपुंज सब धन्य अस कहहिं देव दिन राति॥ १३८॥

अर्थ—उदयाचल, अस्ताचल और कैलाश, मंदराचल, सुमेरु पर्वत आदि सभी देव-निवासस्थान, हिमाचल आदि जितने पहाड़ हैं वे सब चित्रकूटका यश गाते हैं॥ ६-७॥ विन्ध्याचल मनमें बड़ा प्रसन्न है, उसके मनमें सुख नहीं समाता। बिना परिश्रम ही बहुत बड़ाई पा गया है॥ ८॥ चित्रकूटके पक्षी, पशु, बेलें, वृक्ष और तृणकी समस्त जातियाँ सब महान् पुण्यशाली और धन्य हैं, दिन-रात देवता ऐसा कहते रहते हैं॥ १३८॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—चित्रकूटका यश कौन-कौन गाते हैं यह बताते हैं, जाति जातिवालोंको सिहाते हैं। वन वनको, जलाशय मंदाकिनी नदीको, पर्वत चित्रकूट-पर्वतको। उदयाचल ब्रह्माण्डका द्वार है, यहाँसे सूर्य उदय होते हैं, अस्ताचल जहाँ सूर्य संध्या-समय जाते हैं, कैलाशपर गौरीशंकरका निवास है, मंदर जिसको कच्छपभगवान्ने अपनी पीठपर धारण किया और सुमेरु स्वर्णमय है, यहाँ सब देवताओंका वास है, रावणके भयसे यहीं देवता छिपा करते थे, यथा—***'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥'*** (१। १८२। ६)

नोट—***'बिंधि मुदित''''''बड़ाई पाई'*** इति। विन्ध्याचलको सुख हुआ; क्योंकि चित्रकूट इसीका एक शृंग है, कामता इसकी कन्या है; इसे राम पति मिले; इससे कामतानाथ नाम हुआ।

महाभारत वनपर्व अ० १०४ में कथा है कि सूर्य नित्य सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं। विन्ध्याचलने

उनसे कहा कि हमारी भी प्रदक्षिणा किया करो। उन्होंने कहा कि जगत्‌के ईश्वरने जो मार्ग मेरे लिये बना दिया है उसपर मैं चलता हूँ। यह सुन विन्ध्य कुपित हो सूर्य और चन्द्रकी गति रोकनेको बढ़ चला। देवता घबड़ाकर अगस्त्यजीके पास गये और उनसे प्रार्थना की कि आप ही उसके वेगको रोकें। वे स्त्रीसहित विन्ध्याचलके पास आये और कहा कि मैं कार्यसे दक्षिण दिशाको जाता हूँ, मुझे जानेकी राह दो और जबतक मैं न लौटूँ तुम और न बढ़ना; उसने आज्ञा मान ली। अगस्त्यजी दक्षिणसे फिर लौटे ही नहीं। इस कथाके यहाँ देनेका भाव यह है कि इतना परिश्रम इसने सुमेरुका वह बड़प्पन पानेके लिये किया था सो सब व्यर्थ गया; बड़ाई न मिली। और अब श्रीरामजीकी कृपासे उसको सुमेरुतक सिहाते हैं। वाल्मीकिजीने जो कहा था—*'राम देहु गौरव गिरिबरहू'* उसका यहाँ चरितार्थ है। यह गौरव इसको मिला। पुनः, गुरु अगस्त्यकी आज्ञा मानी, उसका यह फल हुआ। [हिमालय आदि पहाड़ोंके पत्थर स्तरमय (Stratified) नहीं है, विन्ध्याचलके पत्थर स्तरमय हैं। स्तरमय पत्थर खड़े नहीं मिलते; क्योंकि ऐसी अवस्थामें वर्षा और हिम-ॠतुके परिवर्तनोंके कारण स्तरमय अवस्थामें बने नहीं रह सकते। स्तरमय पत्थर सभी पड़ी हुई अवस्थामें मिलते हैं। इस प्रकार अब भी विन्ध्यगिरिको लेटा हुआ और हिमालयको खड़ा हुआ कहा जा सकता है।]

टिप्पणी—२ *'चित्रकूटके बिहग'* इति।— चित्रकूटकी कथाको अब यहाँ समेटकर कहते हैं कि यहाँके पशु-पक्षी आदि सब धन्य हैं। *'दिन राति'*—यहाँ एक वर्ष प्रभु रहे। यह देवताओंका एक दिन एक रात हुआ, यह भी भाव निकलता है। दूसरा तो स्पष्ट है ही।

वि० त्रि०—*'चित्रकूटके······दिन राति।'* चित्रकूटके वनकी सराहना तो नन्दनादिक वन कर रहे हैं। चित्रकूटकी नदीकी सराहना गंगादिक नदियाँ कर रही हैं, वहाँके पर्वतकी सराहना सुमेरु आदि पर्वत कर रहे हैं, और कहाँतक कहा जाय वहाँके खग, मृग, तृण, तरुकी सराहना तो देवता लोग दिन-रात करते हैं, क्योंकि खग, मृग दिन-रात सरकारका दर्शन पाते हैं। तृण, तरु सरकारके चरणरजसे अलंकृत होते हैं, ब्रह्मसंस्पर्शरूपी महासुखका अनुभव करते हैं। इतना भाग्य हमारा नहीं, अतः देवताओंको दिन-रात यही चिन्ता लगी रहती है।

नयनवंत रघुबरहि बिलोकी। पाइ जनम फल होहिं बिसोकी॥ १॥
परसि चरनरज अचर सुखारी। भए परम पद के अधिकारी॥ २॥
सो बनु सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति पावन पावन॥ ३॥
महिमा कहिअ कवन बिधि तासू। सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू॥ ४॥
पयपयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लषनु राम रहे आई॥ ५॥

अर्थ—आँखवाले प्राणी श्रीरघुनाथजीको देखकर जन्मफल पाकर शोकरहित हो जाते हैं, अर्थात् आवागमनकी चिन्ता मिट जाती है॥ १॥ चरणोंकी धूलिका स्पर्श करके जड़ (पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष) सुखी हैं, सब परम पदके अधिकारी हो गये॥ २॥ वे वन और पर्वत सहज ही सुहावने, अत्यन्त मंगलमय और परम पावनको भी पवित्र करनेवाले हैं॥ ३॥ उसकी महिमा किस प्रकार कही जा सके, जहाँ सुखसिंधु श्रीरामजीने निवास किया है॥ ४॥ क्षीर-सिन्धुको छोड़कर तथा अवधको छोड़कर जहाँ श्रीसीताराम-लक्ष्मणजी आकर रहे॥ ५॥

पु० रा० कु०—१ *'नयनवंत'* अर्थात् जिनको ऊपर कह आये उनमेंसे जो नेत्रवाले हैं वे *'होहिं बिसोकी'* अर्थात् स्वस्वरूपके अधिकारी होते हैं। यथा—'**मुहूर्तमपि राम त्वां येऽनुपश्यन्ति केचन। पाविताः स्वर्गभूताश्च पूज्यास्ते त्रिदिवेश्वरैः॥**' (वाल्मी० ७। ८२। १०) रहे अचर, वे चरणरजके स्पर्शसे परमपदके अधिकारी बनते हैं। जैसे, अहल्या पाषाण रज-स्पर्शसे दिव्यरूप हो परमपदको पा गयी। प्रथम दो अर्धालियोंका मिलान आगे, *'जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ ते सब भए परम पद जोगू। भरतदरस मेटा भव रोगू॥'* (२१७। १-२) इस चौपाईसे करेंगे।

टिप्पणी—२ ***'मंगलमय अति पावन पावन'*** इति। यथा—'**पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलम्**', '**पावनं पावनानाम्**' अर्थात् पवित्रको भी पवित्रकर्ता और मंगलको भी मंगलदाता है।

टिप्पणी—३ ***'पयपयोधि तजि अवध बिहाई""""।'*** इति। ग्रन्थकर्ता कहते हैं कि चित्रकूटकी महिमा किस तरह कही जाय, वह तो क्षीरसागर और अवधसे भी अधिक सुन्दर हो रहा है, क्योंकि जो क्षीरसमुद्र शेषशायी श्रीमन्नारायण, लक्ष्मी और शेषजीका निवासस्थान है उसे छोड़कर ये तीनों श्रीरामसीता-लक्ष्मणरूपसे अवधमें आकर रहे, अब उस अवधको छोड़कर पैदल यहाँ आकर रहे। क्षीरसिन्धुसे अवध बढ़कर और उससे यह बढ़कर हुआ। ***'रहे आई'*** अर्थात् पैरों चलकर यहाँ आये।

बैजनाथजी—गोस्वामीजी मानसमें कई कल्पोंकी कथाएँ मिश्रित कर रहे हैं। जिनमेंसे विष्णुभगवान् (वा, नारायण), लक्ष्मी और शेषजी सदा कश्यप-अदितिके अवतार श्रीदशरथ-कौशल्याजीके यहाँ अवतरित हो लीला करते हैं। और मनु-शतरूपा—दशरथ-कौशल्याके यहाँ सदा साकेतसे श्रीराम-लक्ष्मण-सीता नित्यरूपका आविर्भाव होता है। क्षीरसागरसे राम-लक्ष्मण-सीता नहीं आते; वहाँसे तो लक्ष्मीनारायण-शेषजी ही आते हैं और यहाँ आकर यह नामरूप धारण करते हैं। इस अर्धालीसे भी दोनों अवतारोंकी कथा सूचित कर दी है। प्रथम चरणमें ***'पयपयोधि'*** आदि और दूसरे चरणमें ***'लषन राम सिय'*** नाम देनेसे दोनों काम हो गये। लक्ष्मीनारायण क्षीरसागरको छोड़कर और श्रीसीतारामजी अवध (साकेत)-को छोड़कर यहाँ आकर रहे।

वि० त्रि०—पयपयोधि (क्षीरसागर)-में जो मूर्ति है, वही अवतारी है, उसीके अंशसे अवतार हुआ करते हैं, यथा—'**एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्। यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः॥**' श्रीकृष्णावतारमें भी यह मूर्ति ज्यों-की-त्यों क्षीरसागरमें बनी रही। जयद्रथ-वधके समय श्रीकृष्णजी अर्जुनको शक्ति प्राप्त करानेके लिये वहीं ले गये थे (महाभारत); पर श्रीरामावतारमें स्वयं वह मूर्ति रामचन्द्ररूपमें अयोध्या चली आयी। अतः श्रीराम अवतारी हैं, अन्य अवतार उन्हींके अंश हैं। श्रीरामजी साक्षात् नारायण हैं, सीताजी महालक्ष्मी हैं, और लक्ष्मणजी शेष हैं, जैसा कि वाल्मीकिजीने वर्णन किया है। इन लोगोंने क्षीरसागर छोड़ा अयोध्यावासके लिये। उस अयोध्याजीको भी चित्रकूटके लिये छोड़ा, उस चित्रकूटकी महिमा कैसे कही जाय? (पर यह मत श्रीरामानन्दीय वैष्णवोंका नहीं है। श्रीहरिदासाचार्यका श्रीरामतापनीयोपनिषद्पर भाष्य, वाल्मीकीयके शिरोमणि टीकाकार आदिके लेख देखिये। बालकाण्डमें इस विषयमें लेख आ चुके हैं; अतः यहाँ दुहराये नहीं जाते।)

कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन। जौ सतसहस होहिं सहसानन॥ ६॥
सो मैं बरनि कहौं बिधि केहीं। डाबर* कमठ कि मंदर लेहीं॥ ७॥
सेवहिं लषनु करम मन बानी। जाइ न सीलु सनेहु बखानी॥ ८॥

दो०—छिनु छिनु लखि सियरामपद जानि आपु पर नेहु।
करत न सपनेहु लखनु चितु बंधु मातु पितु गेहु॥ १३९॥

अर्थ—जो लाखों अर्थात् अनन्त हजारमुखवाले शेष भी हों तो भी वनकी जैसी परम शोभा है उसे वे कह नहीं सकते॥ ६॥ (भला फिर) उसे मैं किस प्रकार वर्णन करके कह सकता हूँ? क्या गढ़ेका कछुआ मन्दराचल उठा सकता है?॥ ७॥ श्रीलक्ष्मणजी मन, कर्म, वचनसे श्रीसीतारामजीकी सेवा करते हैं। उनका शील और स्नेह वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ८॥ क्षण-क्षणपर श्रीसीतारामजीके चरणोंको देख-देखकर और अपने ऊपर उनका प्रेम (वात्सल्य) जानकर लक्ष्मणजी भाई, माता, पिता और घरकी ओर स्वप्नमें भी चित्त नहीं करते॥ १३९॥

* 'डाबर' का अर्थ बच्चा भी कहते हैं—'सोई बाँह गही जो गही समीर डाबरे'—(बाहुक)

टिप्पणी—*'डाबर कमठ कि मंदर लेहीं'* इति। भगवान्हीमें सामर्थ्य थी कि वे कच्छप बनकर उसे धारण कर सके, और समुद्रका भी कैसा ही कछुआ हो तो उसे नहीं धारण कर सकता, फिर भला गढ़ेके कछुवेकी क्या हकीकत? वाल्मीकि आदि समुद्रके कछुवे हैं। मैं गढ़ेका कछुआ हूँ। दोनोंकी जाति एक, दोनों कवि। हम कवि मानसके हैं और उसी सरके हम कमठ हैं। कहाँ तालाब और कहाँ समुद्र? भाव कि इसकी महिमा भगवान् ही भले कह सकें, दूसरा नहीं कह सकता। वाल्मीकिजीने कुछ कही—*'चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ।'* और यह भी कहा कि अमित है।

टिप्पणी—२ *'सेवहिं लषनु······गेहु'*—यहाँ अन्योन्य प्रीति दिखायी। श्रीसीयरामपद देखकर किसीकी सुध नहीं करते। इस दोहेमें सुमित्राजीके उपदेश इनमें चरितार्थ हैं कि लक्ष्मणजी इन चरणोंको ही माता, पिता, भाई, घर—सब कुछ मानते हैं। (यह दोहा भी लक्ष्मण-शत्रुघ्नको सहोदर भाई सूचित करता है।)

शील नेत्रमें, स्नेह मनमें। *'सील सनेह'* से भीतर-बाहर दोनोंसे सेवा जनायी। *'सीयरामपद'*—स्मरण रहे कि लक्ष्मणजीने चरण छोड़ कभी श्रीसीताजीके मुखपर दृष्टि नहीं डाली, यह वाल्मीकीयमें स्पष्ट है—'**नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले॥ नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।**' (४।६।२२-२३)

राम संग सिय रहति सुखारी। पुर परिजन गृह सुरति बिसारी॥ १॥
छिनु छिनु पिय बिधु बदनु निहारी। प्रमुदित मनहु चकोर कुमारी॥ २॥
नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी॥ ३॥
सिय मनु रामु चरन अनुरागा। अवध सहस सम बन प्रिय लागा॥ ४॥
परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा॥ ५॥
सासु ससुर सम मुनितिय मुनिबर। असनु अमिअ सम कंदमूल फर॥ ६॥
नाथ साथ साथरी सुहाई। मयन सयन सय सम सुखदाई॥ ७॥
लोकप होहिं बिलोकत जासू। तेहि कि मोह सक बिषय बिलासू॥ ८॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके साथ श्रीसीताजी अवधनगर, कुटुम्बियों और घरकी याद भुलाकर सुखी रहती हैं॥ १॥ पतिके चन्द्रमुखको क्षण-क्षणपर देख-देखकर ऐसी परम प्रसन्न रहती हैं मानो चकोरकी किशोरी है जो चन्द्रमाको देख प्रसन्न हो रही है॥ २॥ स्वामीका प्रेम अपने ऊपर नित्यप्रति बढ़ता हुआ देखकर वे ऐसी प्रसन्न रहती हैं जैसे चकवी दिनमें (चकवेके साथ प्रसन्न रहती है)॥ ३॥ श्रीसीताजीका मन श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें अनुरक्त है, अतः वन उनको हजारों अवधके समान प्रिय लगने लगा॥ ४॥ प्राणप्रियतमके साथ पत्तोंकी कुटी प्यारी लगती है, हरिण और पक्षी प्रिय और प्यारे कुटुम्बियोंके समान प्रिय लगते हैं॥ ५॥ मुनियोंकी स्त्रियों और मुनिश्रेष्ठ सास-ससुरके समान, कन्द-मूल-फल अमृत भोजनके समान प्रिय लगता है॥ ६॥ स्वामीके साथ सुन्दर साथरी (कुश और नवीन पत्तोंकी सेज) सैकड़ों कामदेवोंकी सेजके समान सुख देनेवाली थी॥ ७॥ (कवि कहते हैं कि) जिसके कृपा-कटाक्षमात्रसे लोग इन्द्र आदि लोकपाल बन जाते हैं, क्या उसको विषय-विलास (सांसारिक सुख-भोगके पदार्थ) मोहित कर (लुभा) सकते हैं॥ ८॥

नोट—*'नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी'* इति। ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों कोकीका आनन्द भी बढ़ता जाता है। यहाँ दिवस और नाहनेह क्रमशः उपमान और उपमेय हैं।

टिप्पणी—१ *'राम संग······कुमारी'* इति। अब श्रीसीताजीकी अनन्यता दिखाते हैं। आकाशमें अगणित तारागण देख पड़ते हैं, पर चकोरकुमारी चन्द्रमाकी ही ओर देखती है; वैसे ही श्रीसीताजी पुर-परिजन-गृह आदिकी सुरति बिसराकर श्रीरामचन्द्रके मुखचन्द्रको ही देखा करती हैं। चकोरकुमारीसे उपमा दी; क्योंकि ये अभी 'सुकुमारी' हैं। पुनः, इससे प्रीतिका दिन-दिन बढ़ना भी सूचित करते हैं। (श्रीजनकजीने जब प्रथम-प्रथम

श्रीरामजीको देखा तब उनकी दशा यह हुई थी—*'थकित होत जिमि चंद चकोरा।'* ये उनकी कुमारी हैं। अतः *'चकोर कुमारी'* की उपमा और भी उत्तम है।)

टिप्पणी—२ *'नाह नेहु……'* इति। (क) चकोरकुमारीकी उपमा देकर सोचे कि चकोरकी प्रीति चन्द्रमामें है; पर चन्द्रमाका प्रेम चकोरपर नहीं होता। अतएव फिर दूसरी उपमा *'कोकी'* की दी। दूसरी अर्धालीमें श्रीसीताजीका प्रेम श्रीरामजीपर कहा—*'छिनु छिनु पिय बिधु बदन निहारी'* और तीसरीमें श्रीरामजीका प्रेम श्रीसीताजीपर कहा—*'नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी।'* इस प्रकार परस्पर अन्योन्य प्रेम कहा। चक्रवाकका संग पाकर कोकी प्रसन्न है। पुनः, (ख) दो उपमाएँ देकर दिन-रात प्रसन्न होना दिखाया। *'छिनु छिनु……'* से रातका आनन्द कहा; क्योंकि चन्द्रमा रातको ही निकलता है और *'नाह नेह……'* से दिनका सुख कहा; क्योंकि कोक-कोकीका संयोग दिनमें ही रहता है। इस प्रकार निरन्तर आनन्द सूचित किया। (ग) मुख देखना यह शृंगाररसकी दृष्टि श्रीसीताजीके विषयमें कही। पुनः, चित्रकूट श्रीरामजीका विहार-स्थल है, अतः शृंगार कहा। (मिलान कीजिये, गीतावलीके *'बिरचित तहँ पर्नसाल अति बिचित्र लषनलाल, निवसत जहँ नित कृपालु रामजानकी। निज कर राजीवनयन पल्लव दल रचित सयन, प्यास परसपर पियूष प्रेम पान की॥ सिय अंग लिखैं धातु राग सुमननि भूषन बिभाग तिलक करनि का कहौं कलानिधान की॥ माधुरी बिलास हास……।'* (२।४४) इस उद्धरणसे। इसे *'नाह नेहु……'* का भाव समझिये।

टिप्पणी—३ *'लोकप होहिं……'* यथा—*'जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ। राम पदारबिन्द रति करति सुभावहि खोइ॥'* (२४) (*'लोकप होहिं बिलोकत तोरें। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें॥'* (१०३।६) में देखिये)। छोटा सुख हो तो बड़ेको देख मोहित हो और इनको तो सबसे बड़ा सुख प्राप्त है, फिर कैसे कोई मोह सके। ये चरण ऐसे ही हैं!! यहाँसे ऐश्वर वर्णन करते हैं। पूर्व श्रीसीताजीने जो कुछ साथ चलनेके लिये श्रीरामजीसे कहा था, वह यहाँ चरितार्थ है या यों कहें कि यहाँ उसका उपसंहार है—

दोहा ६४ से ६७ तक	(मिलान)	प्रस्तुत प्रसंग
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे।		**छिनु छिनु पिय बिधु बदनु निहारी।**
सरद बिमल-बिधु-बदन निहारे॥ १		**प्रमुदित मनहु चकोर कुमारी॥**
छिन छिन प्रभुपदकमल बिलोकी।		**नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी।**
रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी॥ २		**हरषित रहति दिवस जिमि कोकी॥**
बनदेवी बनदेव उदारा।		
करिहैं सासु ससुर सम सारा॥ ३		**सासु ससुर सम मुनितिय मुनिबर।**
कंद मूल फल अमिय अहारू। ४		**असनु अमिअ सम कंद मूल फर।**
खग मृग परिजन। ५		**प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा॥**
कुस किसलय साथरी सुहाई।		**नाथ साथ साथरी सुहाई।**
प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई॥ ६		**मयन सयन सय सम सुखदाई॥**
अवध सौध सत सरिस पहारू। ७		**अवध सहस सम बन प्रिय लागा।**
नाथ साथ सुरसदन सम पर्नसाल सुखमूल॥ ८		**रामलषनसीतासहित सोहत पर्ननिकेत।**
		जिमि बासव बस अमरपुर सची……॥

दो०—सुमिरत रामहि तजहिं जन तृन सम बिषय बिलासु।
रामप्रिया जगजननि सिय कछु न आचरजु तासु॥ १४०॥

अर्थ—श्रीरामजीका स्मरण करते ही (उनके) भक्त लोग विषय-विलासको तिनकेके समान त्याग देते हैं तब, श्रीसीताजी तो श्रीरामचन्द्रजीकी प्रियपत्नी और जगत्-माता हैं, उनके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं॥ १४०॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुमिरत रामहिं तजहिं……'* इति। *'रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥ राम प्रेम भाजन भरत बड़े न एहि करतूति।'* (३२४) *'रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करहिं कि तिन्हहीं॥'* (८४।८) (ख) *'राम प्रिया'* का भाव कि जिन रामका स्मरण करनेसे लोग विषय-विलाससे विरक्त हो जाते हैं उन्हीं श्रीरामकी यह 'वल्लभा' हैं, स्वयं श्रीरामजीका जिनमें प्रेम है वे भला विषयोंके वशमें कब हो सकती हैं। इसमें आश्चर्य क्या? (ग) *'जगजननि'* का भाव कि समस्त ब्रह्माण्डकी ये माता हैं, अतः विषय-भोग विलासकी जननी हैं, ये सब इन्हींके उत्पन्न किये वा बनाये हुए हैं तब वे विषयोंके बस कैसे हो सकती हैं? अन्य स्त्रीमें यह त्याग हो तो आश्चर्य हो सकता है, इनमें यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

सीय लषनु जेहि बिधि सुखु लहहीं। सोइ रघुनाथु करहिं सोइ कहहीं॥ १॥
कहहिं पुरातन कथा कहानी। सुनहिं लषनु सिय अति सुखु मानी॥ २॥
जब जब राम अवध सुधि करहीं। तब तब बारि बिलोचन भरहीं॥ ३॥
सुमिरि मातु पितु परिजन भाई। भरतु सनेहु सील सेवकाई॥ ४॥
कृपासिंधु प्रभु होहिं दुखारी। धीरजु धरहिं कुसमउ बिचारी॥ ५॥
लखि सिय लषनु बिकल होइ जाहीं। जिमि पुरषहि अनुसर परिछाहीं॥ ६॥
प्रिया बंधु गति लखि रघुनंदनु। धीर कृपाल भगत उर चंदनु॥ ७॥
लगे कहन कछु कथा पुनीता। सुनि सुख लहहिं लषनु अरु सीता॥ ८॥

अर्थ—श्रीसीता और श्रीलक्ष्मणजीको जिस प्रकार सुख प्राप्त हो, श्रीरघुनाथजी वही करते और वही कहते हैं॥ १॥ पुरानी कथा-कहानी कहते हैं, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी अत्यन्त सुख मानकर सुनते हैं॥ २॥ जब-जब श्रीरामजी अवधकी याद करते हैं तब-तब दोनों नेत्रोंमें जल भर आता है॥ ३॥ माता, पिता, कुटुम्बी, भाई और भाई भरतके प्रेम, शील और सेवाको[1] याद करके दयासागर प्रभु दुःखी हो जाते हैं, फिर कुसमय[2] समझकर धीरज धारण करते हैं॥ ४-५॥ (प्रभुको दुःखी) देखकर श्रीसीता-लक्ष्मणजी व्याकुल हो जाते हैं; जैसे मनुष्यकी परिछाहीं मनुष्यके अनुसार चलती और करती है॥ ६॥ धीर, दयालु, भक्तोंके हृदयको (शीतल करनेको) चन्दनरूप रघुकुल एवं जीवमात्रको आनन्द देनेवाले श्रीरामचन्द्रजी प्यारी पत्नी और भाईकी दशा देखकर कुछ पवित्र कथाएँ कहने लगे, जिन्हें सुनकर श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी सुख पाते हैं॥ ७-८॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—*'सोइ रघुनाथु करहिं सोइ कहहीं'* इति। यहाँ ***करहिं*** और ***कहहीं*** दो क्रियाएँ दी गयी है, एक *'करहिं'* सीताके लिये और दूसरी *'कहहीं'* लक्ष्मणजीके लिये। क्या करते हैं—पुष्पशय्या, पुष्पोंका शृंगार आदि करते हैं। पुनः, श्रीसीताजी जगज्जननी हैं, जगत्‌की उत्पत्ति करती हैं, वेदान्तीके मतमें जगत् झूठ है, यदि रामजी कुछ लीला करें तो यह सत्य हो, अतएव कुछ करते हैं। इसी प्रकार लक्ष्मणजीके लिये कुछ कहते हैं। वेद नेति-नेति करते हैं। शेष भी यश कह नहीं सकते। ये कोई भी प्रभुको नहीं बता सकते तो हम ही कुछ कहें तो कहाँतक ठीक होगा, कौन सत्य मानेगा, ऐसा शेषावतार लक्ष्मणजी सोचते हैं; अतएव इनका कथन सत्य करनेके लिये प्रभु श्रीमुखसे कुछ कहते हैं। इसी प्रकार कथा और कहानी क्रमसे लक्ष्मणजी और सीताजीके लिये कहे। कथा प्रबन्ध-कल्पनायुक्त होती है, कहानी किस्सा है।

नोट—आगे दोहेमें श्रीसीता-राम-लक्ष्मणजीको शची, इन्द्र और जयन्तकी उपमा दी है। श्रीरामजी

१-पु० रा० कु०—अथवा, यथासंख्यसे माता-पिताका स्नेह, परिजनका शील (कि एक हम हैं जो किसी कामके न हुए, हमारा जीवन व्यर्थ है) और भरतकी सेवा।

२-'कुसमय'—त्यागी-तपस्वी वेषमें ऐसा मोह उचित नहीं। लोग समझेंगे कि राज्य छूटनेका शोक है।

श्रीसीताजीका उसी प्रकार मनोविनोद करते हैं जैसे इन्द्र इन्द्राणीका करते हैं। ठीक यही बात वाल्मी० २। ९४ में कही है। यथा—'**अथ दाशरथिश्चित्रं चित्रकूटमदर्शयत्। भार्याममरसंकाशः शचीमिव पुरन्दरः॥**' (२) अर्थात् एक दिन श्रीसीताजीको खुश तथा अपना चित्त-विनोद करनेके लिये चित्रकूटकी रमणीयता बतलायी, जिस प्रकार इन्द्र शचीका मनोविनोद करते हैं। यह कहकर आगे जो कुछ कहा गया है वह सब ***'जेहि बिधि सुख लहहीं सोइ रघुनाथ करहिं', 'कहहिं'*** में आ गया।

वाल्मी० २। ९४ में पर्वतके शिखर, प्रदेश, वृक्ष, पशु, पक्षी आदि दिखलाते हुए उनकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि यहाँके प्रदेश कोई चाँदीके-से, कोई इन्द्रनीलमणिके-से, कोई पोखराज, पारा इत्यादिके समान हैं, इससे जान पड़ता है कि यह पर्वत इन सबोंका कारण है। सिंह, बाघ, हाथी भी बहुत हैं पर ये दुष्ट नहीं हैं। तुम दोनोंके साथ यहाँ वर्षों भी रहनेमें मुझे कष्ट न होगा। इस वनवाससे मुझे दो फल प्राप्त हुए—पिताका ऋण चुक गया, मैं भरतका प्रिय हुआ। हमारे बूढ़े प्रपितामहने नियमपूर्वक वनवास करनेको अमृत बताया है। इस पर्वतकी ओषधियाँ रात्रिमें अग्निशिखाके समान प्रकाशित होती हैं। बहुत मूल-फल-फूल ओषधियों, शिखरों, रंग-बिरंगकी शिलाओं और जलवाला चित्रकूट पर्वत कुबेरकी नगरी, इन्द्रकी नगरी और उत्तर कुरुको अपनी शोभासे जीत रहा है। सत्पुरुषोंके मार्गमें नियमपूर्वक स्थिर रहकर यदि मैं तुम्हारे और लक्ष्मणके साथ १४ वर्ष आनन्दपूर्वक बिता सका तो कुल और धर्मको बढ़ानेवाला आनन्द पाऊँगा। सर्ग ९५ में श्रीरामने रमणीय मन्दाकिनीकी शोभा दिखाते और प्रशंसा करते हुए कहा कि चित्रकूट तथा मन्दाकिनीका दर्शन तुम्हारे निरन्तर साथ रहनेके कारण नगरवाससे मुझे अच्छा मालूम होता है। यहाँके वनवासियोंको नगरनिवासियोंके समान, चित्रकूटको अयोध्या और मन्दाकिनीको सरयू समझो। लक्ष्मण और तुम दोनों मेरे अनुकूल हो, इससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारे साथ यहाँ तीनों काल स्नान करनेसे, मधु, फल आदि भोजनसे मैं अयोध्या या राज्यकी चाह नहीं करता, इत्यादि। फिर वे उनके साथ पर्वतपर विचरण करने लगे। यह एक दिनकी बात कही, इसी प्रकार अन्य दिनोंमें प्रसन्न करनेकी बातें किया करते हैं तथा उनको सुख देनेवाले कार्य भी करते हैं।

टिप्पणी—पु० रा० कु०—२ (क) ***'सुनहिं लषनु सिय……'*** इति। इनको रूप प्राप्त है तो भी कथा प्रिय है, यह उपदेश है। (ख) ***'जब जब राम अवध सुधि करहीं……'*** इति। पुरवासी तमसासे लौट रहे हैं, उनकी क्या दशा है—***'रथकर खोज कतहुँ नहिं पावहिं। राम राम कहि चहुँ दिसि धावहिं॥ मनहु बारिनिधि बूड़ जहाजू। भएउ बिकल बड़ बनिक समाजू॥……'*** अवधभरकी ऐसी दशा हो रही है। यह सोचते हैं तब आँसू निकल पड़ते हैं। भक्तोंके लिये प्रभु सत्य ही दु:ख उठाया करते हैं—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**' (गीता ४। ११) (ग) ***'सुमिरि मातु पितु……'*** इति। माता कौसल्याकी क्या दशा होगी, वह कैसे वियोगको सह सकेगी। पिता वृद्ध हैं, कोई पासमें नहीं है, वियोगसे वे मरणप्राय हो रहे हैं, परिजन, परिवार सभी शोकमें डूबे होंगे, इत्यादि। भरतजी भी घरमें नहीं हैं; हममें उनका बड़ा प्रेम है। वे भी वनगमन सुनकर दु:खी होंगे, कहीं वे भी वनवासी न हो जायँ। इत्यादि। (घ) ***'कृपासिंधु प्रभु होहिं दुखारी'*** इति। प्रभु अर्थात् समर्थ हैं तथापि दु:खी होते हैं, क्योंकि कृपासिंधु हैं। अपनी कृपालुता-दयालुताके कारण जनके दु:खोंमें दु:खी होते हैं—***'करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइअहिं पीर पराई॥'*** (८५। २), ***'जनके दुख रघुनाथ दुखित अति सहज प्रकृति करुनानिधानकी।'*** (गी० ५। ११) (अवधकी सुधि आनेपर ***'बारि बिलोचन भरहीं'*** और माता-पिता आदिके स्मरणसे ***'होहिं दुखारी'*** कहकर जनाया कि माता-पिता आदिको दु:ख विशेष है, उनका प्रेम विशेष है।)

टिप्पणी—३ ***'लखि सिय……परिछाहीं'*** इति। (क) मनुष्यकी परछाहीं उसका अनुकरण करती है। जो वह करता है वही परिछाहीं करती है। वैसे ही श्रीसीता-लक्ष्मणजी सहज ही व्याकुल हो ही जाते हैं, यद्यपि श्रीरामजी नहीं चाहते कि वे दु:खी हों। इसीसे पुरुष और परिछाहींका उदाहरण दिया। (ख) शंका—यहाँ पुरुष तो एक ही है और परिछाहीं दो (सीता और लक्ष्मण), ये कैसे घटित हों? समाधान—यहाँ केवल प्रतिछाहींका धर्म

लिया गया है, एक-दोसे यहाँ कोई सरोकार नहीं। अथवा, जितने प्रकाश उतना ही परिछाहीं होती हैं, जैसे शीशेके मन्दिरमें सैकड़ों परिछाहीं एक ही पुरुषकी देख पड़ती हैं, एक रवि कोटि घटमें कोटि प्रतिछाहीं।

टिप्पणी—४ *'धीर कृपाल भगत उर चंदनु॥……'* इति। हमें शोकातुर देख हमारे परम भक्त दुःखी न हों, इससे धीरज धरा, क्योंकि धीर हैं। उनका दुःख जानकर उनके हृदयको शीतल करनेके लिये धर्मोपदेशकी कथाएँ कहने लगे; अतएव कृपाल और भक्त-उर-चन्दन कहा।

दो०—राम लषनु सीता सहित सोहत परननिकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर सची जयंत समेत॥ १४१॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मण और श्रीसीतासहित श्रीरामचन्द्रजी पर्णकुटीमें ऐसे सोह रहे हैं जैसे जयंत और इन्द्राणीसहित इन्द्र अमरावतीमें बसता हुआ सोहता है॥ १४१॥

पु० रा० कु०—राज्य छूटा, वनवास हुआ, इससे अनुमान होगा कि वनमें तीनों अवश्य दुःखी होंगे; इसीसे लिखते हैं कि वे तो वनमें परम सुखी हैं, दुःखका यहाँ लेश नहीं, श्रीरामजीको वनमें अमरावतीमें वास करनेवाले सुरराज इन्द्रका-सा सुख है, श्रीसीताजीको इन्द्राणीका और श्रीलक्ष्मणजीको उनके पुत्र जयन्तका-सा सुख है कि अपने माता-पिता श्रीसीतारामजीके साथ रहते हैं। कुटी अमरपुर है, देवताओंने इसे अपने हाथोंसे बनाया है। समस्त देवता ब्रह्मा-इन्द्रादि सब हाथ जोड़े सेवामें रहते हैं; इसीसे इसे अमरपुर कहा।

वि० त्रि०—यहाँ रामजीकी उपमा वासव (इन्द्र) से, सीताजीकी शचीसे, लक्ष्मणजीकी जयन्तसे, पर्णनिकेतकी अमरावतीसे दी गयी है। भाव यह कि पर्णनिकेतमें रहते हुए भी यदि सब प्राणियोंमें प्रेम हो तो पर्णनिकेत भी अमरावती-तुल्य हो जाता है। यहाँ तो इस पर्णनिकेतमें अमरावतीका वैभव विश्वकर्माने निहित किया है। देखनेमें वह पर्णनिकेत है, पर अमरावती-सा सुखद है, यथा—*'बिभव भेद यह काहु न जाना। सकल जनक कर करहिं बखाना॥'* सरकार पर्णकुटीमें तो ठहरे हैं, पर अमर-नाग-किन्नर-दिक्पाल हाजिर हो रहे हैं, मुनि लोग पधार रहे हैं, कोल-किरात सब करबद्ध सेवाके लिये प्रस्तुत हैं। जहाँ जाते हैं वहीं उनका साम्राज्य है, चित्रकूटमें आ बसे तो वहीं साम्राज्य हो गया, इसलिये गोस्वामीजी कहते हैं कि *'जिमि बासव बस अमरपुर सची जयंत समेत।'*

बैजनाथजी—यहाँ गुप्त रीतिसे सखियोंके साथ लीला-विहार भी जना दिया है। जैसे जयन्त आज्ञाकारी, इन्द्राणी पतिव्रता और इन्द्र अनेक अप्सराओंके साथ विहार करता है—यह गोप्य रहस्य है। बृहद्रामायण चित्रकूट-माहात्म्यमें प्रसिद्ध है। यथा—'**एतत्ते कथितं विप्र माहात्म्यं पापनाशनम्। अग्रे रामरहस्यं च गोपनीयं सदा बुधैः॥ न प्रकाश्यं न प्रकाश्यं न प्रकाश्यं कदाचन॥**' पुनः, यथा—'**सिंहासने समासीनो ध्यायेन्निर्मलचेतसः। तत्र श्रीरामचन्द्रोऽसौ सीतया सहितः सुधीः॥ विमलादिसखीयुक्तो योगिनां योगसिद्धिदः**………।' नित्य विहार गुप्त है, इसीसे इन्द्रकी उपमा दी; और सबके देखनेमें तो मुनिवेषसे पर्णशालामें ही बैठे हैं।

पंजाबीजी—इन्द्रकी समतामें एक अंग ग्रहण करना चाहिये, वह यह कि वनवासीरूपमें भी वे विरूपताको नहीं प्राप्त हुए, बल्कि इन्द्रके समान सोह रहे हैं। पुनः, इन्द्र स्वर्गमें सकुटुम्ब सुखी, राघव यहाँ वैसे ही सुखी। पुनः, श्रीसीता-लक्ष्मणजी उनके आज्ञानुवर्ती हैं, जैसे शची-जयन्त इन्द्रके।

जोगवहिं प्रभु सिय लषनहि कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे॥ १॥
सेवहिं लषन सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥ २॥
एहि बिधि प्रभु बन बसहिं सुखारी। खग मृग सुर तापस हितकारी॥ ३॥
कहेउँ राम बन गवनु सुहावा। सुनहु सुमंत्र अवध जिमि आवा॥ ४॥

शब्दार्थ—**गोलक**=आँखका ढेला, आँखकी पुतली और उसके चारों तरफका सब भाग।

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीसीताजी लक्ष्मणजीकी एवं श्रीरामजी श्रीसीता-लक्ष्मणजीकी कैसे रक्षा करते हैं, जैसे नेत्रोंके पलक गोलककी रक्षा करते हैं॥ १॥ श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीता और रघुवीर श्रीरामजीकी एवं लक्ष्मण-सीताजी रघुवीरकी इस तरह सेवा करते हैं[1] जैसे अज्ञानी (ज्ञानहीन) पुरुष शरीरकी (सेवा करता है)॥ २॥ इस प्रकार पक्षी-पशु-देवता और तपस्वियोंके हितकारी[2] प्रभु वनमें सुखपूर्वक वास कर रहे हैं॥ ३॥ मैंने श्रीरामचन्द्रजीका सुन्दर वनगमन कहा; अब जिस तरह सुमन्त अवधको आये सो सुनो॥ ४॥

नोट—एक प्रकारसे लक्ष्मणजी और विलोचन गोलक, प्रभु, सिय और (ऊपर नीचेके दोनों) पलक, लक्ष्मणजी और अविवेकी पुरुष सियरघुवीर और शरीर परस्पर उपमेय, उपमान हैं। दूसरे प्रकारसे प्रभु और पलक, सियलषन और गोलक, लक्ष्मण-सीता और अविवेकी पुरुष, तथा रघुवीर और शरीर परस्पर उपमेय-उपमान हैं। दीपदेहली न्यायसे यह अर्थ किया गया है। इनमेंसे कोई अर्थ त्याज्य नहीं। इस प्रकार श्रीसीताजीकी सेवा भी आ जाती है। अविवेकी पुरुष एकवचन और बहुवचन दोनों हो सकता है, ***'सेवहिं'*** क्रियाके विचारसे 'अविवेकी पुरुष' के लिये बहुवचनकी सम्भावना अधिक है; क्योंकि यहाँ आदरार्थ माननेकी गुंजाइश नहीं है। इन दोनों उपमाओंमें संख्या अभिप्रेत नहीं है।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—आँखोंमें जब कोई बाहरी वस्तु तिनका, मिट्टी, पतंगा आदि पड़ने लगता है तो ऊपर नीचेकी पलकें तुरत उसे ढक लेती हैं कि वह वस्तु भीतर न जा सके। पलकें दो, श्रीराम-सीता दो। यहाँ दिखाया कि प्रभुको उनका दास कैसा है, जैसा पलकको गोलक।

टिप्पणी—२ ***'अबिबेकी पुरुष सरीरहिं'*** इति। (क) मोहमें लिप्त अज्ञानीको आत्माकी विस्मृति होनेसे वह शरीरको ही आत्मा मानकर इसकी खूब सेवा करता है, दिन-रात उसीके लालन-पालनमें लगा रहता है। वैसे ही श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीतारामजीकी सेवामें दिन-रात लगे रहनेमें सुख मानते हैं, सेवामें अपने तनकी सुध-बुध उनको नहीं रह गयी। तात्पर्य कि जो शरीरको सेते हैं, वे आत्माको भूले हैं और जो आत्माको सेते हैं उनको शरीरकी खबर नहीं रहती। (ख) ***'एहि बिधि'***—जैसा ऊपर कहते आये हैं—***'जिमि बासव बस'''''' '***

नोट—१ ***'कहेउँ राम बन गवनु सुहावा'*** इति। १—आदिमें मंगलाचरणमें **'न मम्ले वनवासदुःखतः'** कहा है तो फिर यहाँ ***'बन गवनु सुहावा'*** कथनसे पूर्वापर-विरोधका भान होता है। भाव यह कि वनवास दुःखदायी है पर वह दुःख प्रभुके मुखाम्बुजश्रीको मलिन न कर सका, क्योंकि प्रभु तो आनन्दघन हैं। उनको तो वनगमन सुखदायक मालूम होता था, उसे सुनकर उनका चित्त प्रसन्न हुआ। वे तो राज्यको अलानके समान समझते थे। पुनः, 'सुहावन' इससे कहा कि मगवासियोंको दर्शनका सुख मिला और मार्गभर प्रेममय-वार्तासे ही गूँज रहा था। वनगमन खग-मृग-सुर-मुनि सबको सुखदायक हुआ। वनमें प्रभु इन्द्रकी तरह सुखसे हैं इत्यादि। श्रीरामजीको वनवासहीकी चाह थी, अतएव—***'सुहावा'***। पंजाबीजीका मत है कि पितामरण, भरतागमन इत्यादि शोकमय हैं, उनकी अपेक्षा वनगमन सुहावना है।

नोट—२ ***'चले जनक जननी सिरु नाई। सजि बनसाजु समाजु सबु''''''चले॥'*** (७९) उपक्रम है और ***'कहेउँ राम बन गवनु'''''' '*** उपसंहार।

'बिपिनगमन एवं चित्रकूट जिमि बस भगवाना'-प्रकरण समाप्त हुआ।

'सचिवागमन-नगर-नृपमरना'-प्रकरण

(कहेउँ राम बन गवनु सुहावा। सुनहु सुमंत्र अवध जिमि आवा॥)

फिरेउ निषादु प्रभुहि पहुँचाई। सचिव सहित रथ देखेसि आई॥ ५॥
मंत्री बिकल बिलोकि निषादू। कहि न जाइ जस भएउ बिषादू॥ ६॥

१-प्रथम अर्थमें 'सीताराम' एक हैं।

२-पक्षी-पशु छबि देख मग्न, तपस्वी स्वतन्त्रतासे साधन करते और देवता यज्ञभाग पाकर सुखी।

राम राम सिय लषनु पुकारी। परेउ धरनितल ब्याकुल भारी॥ ७॥
देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं॥ ८॥
दो०—नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जलु मोचहिं लोचन बारि।
ब्याकुल भए निषाद सब रघुबर बाजि निहारि॥ १४२॥

अर्थ—जब निषाद (गुह) प्रभुको पहुँचाकर लौटा, तब आकर गुहने रथको मन्त्रीसमेत देखा॥ ५॥ मन्त्रीको व्याकुल देखकर निषादको जैसा दुःख हुआ वह कहा नहीं जाता॥ ६॥ हे राम! हे राम! हे सीते! हे लखन! ऐसा पुकार-पुकारकर जमीनपर बहुत व्याकुल पड़ा हुआ है। (अथवा, निषादको अकेला आया देखकर वह राम, राम-राम-सिय-लखन ऐसा पुकारकर जमीनपर गिर पड़ा॥ ७॥ दक्षिण दिशाको देख-देख घोड़े हिनहिनाते हैं) (वा हिहिनाते हैं अर्थात् दुःखका शब्द करते हैं) मानो बिना पक्षके पक्षी व्याकुल हो रहे हैं॥ ८॥ न घास चरते हैं, न पानी पीते हैं, नेत्रोंसे जल गिर रहा है, रघुवरके सब घोड़ोंको देखकर सब निषाद व्याकुल हो गये॥ १४२॥

पु० रा० कु०—*'जनु बिनु पंख······'* इति। बिना पक्षके पक्षी पराधीन होता है वैसे ही घोड़े बँधे हुए पराये वशमें हैं, नहीं तो प्रभुके पास चले जाते, जैसे पक्षीके पंख होते तो वह उड़कर जहाँ चाहे जा सकता। इससे अत्यन्त दीन होना दिखाया, यथा—*'जथा पंख बिनु खग अति दीना।'* (६। ६०। ९) (वाल्मी० २। ५९ में सुमन्तजीने अपने घोड़ोंकी दशा कही है कि श्रीरामके वन चले जानेपर जब मैं लौटा, तब मेरे घोड़े गर्म आँसू बहाने लगे और मार्गमें पहलेके समान न चले।—'**उष्णमश्रुविमुञ्चन्तो रामे संप्रस्थिते वनम्।**' (१) इनकी दशा गीतावलीमें श्रीकौसल्या अम्बाद्वारा कुछ वर्णन की गयी है।)

नोट—१ (क) *'फिरेउ निषादु······'* से जनाया कि सुमन्त कई दिनतक गंगातटपर ही पड़े रहे। निषादराजके लौटनेपर वहीं मिले। एक तो शोकसे व्याकुल थे, दूसरे घोड़े भी चलते न थे, तीसरे आशा लगी रही कि श्रीरामजी मुझे साथ चलनेके लिये कदाचित् बुला लें। यथा—'**गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान्बहून्। आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति॥**' (वाल्मी० २। ५९। ३) पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी कहते हैं कि श्रीरामजी सुमन्तको विदा करके गंगापार गये। उस दिन वृक्षके नीचे निवास हुआ, दूसरे दिन भरद्वाजजीके आश्रममें ठहरे, तीसरे दिन यमुना उतरकर सरकारने निषादराजको विदा कर दिया, चौथे दिन निषादराज घर लौटे। तबतक सुमन्तजी ठहरे रहे। चक्रवर्तीजीने कहा था कि *'जब सिय कानन देखि डराई। कहेहु मोर सिख अवसर पाई॥'* पर वह अवसर सुमन्तजीको नहीं मिला, *'बरबस राम सुमंत पठाये।'* अतः इस कार्यका भार निषादराजपर दिया कि तुम इनके संग वनमें जाओ, सीताजी कह तो सब रही हैं, पर अभी इन्होंने घोर वन देखा नहीं है। देखनेपर अवश्य डरेंगी। तब तुम कह-सुनकर सीताजीको लौटा लाना। इसी बातकी प्रतीक्षामें सुमन्तजी अयोध्या नहीं लौटे। निषादके आश्रममें ही चार दिन ठहरे रह गये। जब निषादराज लौटे और सीताजीको नहीं देखा तो विकल हो गये। बची-बचायी आशापर भी पानी फिर गया। (ख) *'बिलोकि·····बिषादू'*—(९०। ५) में निषादको विषाद होनेका भाव देखिये। विकल होना कहकर आगे *'राम राम······भारी'* से व्याकुल दशा दिखायी। (ग) *'देखि दखिन दिसि······'* इति। दक्षिण दिशाकी ओर देखकर व्याकुल हो रहे हैं, क्योंकि इसी दिशामें श्रीरामजी गये हैं। अथवा, धर्मराजका निवास दक्षिणमें है, अतः उधर देखकर मानो उनसे मृत्यु माँगते हैं। (पं०) अथवा, देखते हैं कि हमारे प्राणप्यारे हमारी दशा देखकर आ तो नहीं रहे हैं, प्राणप्यारे कहाँ चले गये।

धरि धीरजु तब कहइ निषादू। अब सुमंत्र परिहरहु बिषादू॥ १॥
तुम्ह पंडित परमारथज्ञाता। धरहु धीर लखि बिमुख बिधाता॥ २॥
बिबिध कथा कहि कहि मृदु बानी। रथ बैठारेउ बरबस आनी॥ ३॥

सोक सिथिल रथु सकै न हाँकी। रघुबर बिरह पीर उर बाँकी॥ ४॥
चरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बनमृग मनहु आनि रथ जोरे॥ ५॥
अढुकि[1] परहिं फिरि हेरहिं पीछे। रामबियोग[2] बिकल दुख तीछे॥ ६॥
जो कह रामु लषनु बैदेही। हिकरि हिकरि हित हेरहिं तेही॥ ७॥
बाजि बिरह गति कहि किमि जाती। बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती॥ ८॥

अर्थ—धैर्य धारण करके तब निषाद कहने लगा—'सुमन्तजी! अब शोक छोड़ो॥ १॥ तुम पण्डित हो, परमार्थके जाननेवाले हो। विधाता (दैव)-को विमुख (प्रतिकूल) जानकर धीरज धरो'॥ २॥ कोमल मीठी वाणीसे तरह-तरहकी अनेक कथाएँ कह-कहकर (जब इतनेपर भी धीरज न हुआ तब) जबरदस्ती उन्हें लाकर रथमें बिठाया॥ ३॥ शोकके मारे (सब अंग) शिथिल (ढीले) पड़ गये हैं, अतएव रथको हाँक नहीं सकता, हृदयमें रघुवरविरहकी बड़ी बाँकी (तीव्र, तीक्ष्ण) पीड़ा है॥ ४॥ घोड़े चड़फड़ाते-छटपटाते हैं (दु:खसे लोटना-पोटना, अति व्याकुल होना छटपटाना है), रास्तेपर चलते नहीं, मानो जंगली पशु लाकर रथमें जोड़े गये हैं॥ ५॥ ठोकर लेते हैं, गिर-गिर पड़ते हैं, फिर-फिरकर पीछे देखते हैं। श्रीरामचन्द्रजीके वियोगके तीक्ष्ण (कठिन) दु:खसे व्याकुल हैं॥ ६॥ जो कोई 'राम-लक्ष्मण-वैदेही' ऐसा कहता है अर्थात् इनका नाम लेता है तो घोड़े प्रेमसे उसकी ओर कराह-कराहकर देखते हैं॥ ७॥ घोड़ोंके विरहकी दशा कैसे कही जा सकती है? जिस प्रकार मणिके बिना सर्प व्याकुल हो (ऐसी दशा है)॥ ८॥

टिप्पणी—*'धरि धीरजु'* धैर्य धारण करनेमें ये बहुत निपुण हो गये, सम्भवत: यह आचार्य लक्ष्मणजीके उपदेशका फल है। भरतमिलाप होनेपर भी इन्हींने प्रथम धैर्य धारण किया था और श्रीरामजीको गुरु वसिष्ठादिके आगमनकी सूचना दी थी।

वि० त्रि०—*'धरि धीरजु······बिषादू।'* सुमन्तकी दशा देखकर निषादराजका भी धैर्य छूट गया, पर उसने धैर्य धारण करके सुमन्तसे कहा कि 'भाई, अब विषादको छोड़ दो। जो होना था सो हो गया। तीनों मूर्तियाँ वनको चली गयीं, चौदह वर्षतक नहीं लौटेंगी। मुझे भी पता न रहे कि कहाँपर हैं; इसलिये जहाँपर ठहरेंगे वहाँ पहुँचकर पर्णकुटी बनानेतकका अवसर नहीं दिया। यमुनापारसे ही लौटा दिया। यह कथा तो समाप्त हो गयी। अत: विषाद छोड़कर आगे जो कुछ करना हो करो।

टिप्पणी—१ *'अब सुमंत्र······'* इति। *'अब'* का भाव कि तुम तो सुन्दर मन्त्र (सलाह)-के देनेवाले हो, प्रथम ही चूक गये, सँभाल न सके, इनको वन कैसे होने दिया, फिर जब वे वनको चल ही दिये, तब तुम साथ क्यों आये, यह भी न बना। यह भगवान्‌की गति ऐसी ही है, किसीके समझमें नहीं आती। यह समझकर 'अब' धैर्य धारण करो। (पुन:, भाव कि शोक करते तुम्हें कई दिन हो गये, तुम्हें अवध जाना है, सन्देश कहना है; अत: 'अब' शोक छोड़ो। पुन:, 'अब' हमको देखकर शोक छोड़ो। हम उनके कुशल-समाचार लाये हैं। उनको कोई क्लेश नहीं है। पं०)

टिप्पणी—२ (क) *'तुम्ह पंडित परमारथज्ञाता'* इति। पण्डित अर्थात् शास्त्रवेत्ता और बुद्धिमान् हो, सोचो कि जो पिताके वचनोंको मानकर वनको चले हैं वे भला कब लौट सकते हैं? परमार्थज्ञाता हो अर्थात् जानते हो कि यह अवतार ही इसीलिये हुआ है। अतएव शोक करना व्यर्थ है। (ख) *'बरबस आनी'* से जनाया कि वे रथसे दूर पड़े थे। *'रघुकुल तिलक चले'* और ये खड़े देखते रहे, जब ओझल हो गये, तब वहीं तटपर मूर्छित हो गिर पड़े। यथा—*'रघुकुलतिलक चले एहि भाँती। देखउँ ठाढ़ कुलिस धरि छाती॥'* (१५३। २)

१—पाठान्तर—अटकि, उढ़कि। २—बियोग—राजापुर। 'राम बियोगि' पाठका अर्थ होगा—'वे रामवियोगी घोड़े'। 'वियोग' प्राय: अन्य सबोंने दिया है।

टिप्पणी—३ *'बनमृग मनहु आनि रथ जोरे'* इति। जंगलसे जैसे कोई घोड़े या और पशु लाकर रथमें जोते जायँ तो वनकी ओर भागते हैं, एड़ें मारते, चलाते हैं कि उससे छूट भागें, वे रथ चलाना क्या जानें? वैसी ही दशा इन घोड़ोंकी है। वे रथ चलाना भूल गये हैं, ठोकर लेते हैं, गिर पड़ते हैं।

टिप्पणी—४ (क) *'रामबियोग बिकल'।* देखिये सुमन्तजीके प्रसंगमें *'रघुबर बिरह'* पद दिया है और घोड़ोंके सम्बन्धमें *'रामबियोग'* शब्द प्रयुक्त हुए हैं। रघुवर रामकुमार हैं, अपने राजाके पुत्र और कुलमें श्रेष्ठ हैं; इससे उनके विछोहसे मन्त्री दुःखी है। और, ये राम हैं, सबमें रमे हैं, घोड़ोंमें भी वही राम हैं, अतः उनके वियोगसे ये छटपटाते हैं। इसी सम्बन्धसे आगे कहते हैं कि *'बाजि बिरह गति कहि किमि जाती'* अर्थात् जिसे राम मिले हों और फिर बिछुड़ें वही जान सके और चाहे कुछ कह सके, हम क्या कहें, फिर भी कुछ कहते हैं। अथवा, *'कबिहि अरथ आखर बल साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा॥'* (२४१। ४) घोड़े तो मूक हैं, कुछ कहते नहीं, तब उनके विरह-दुःखकी दशा कैसे कही जाय? (ख) *'बिनु मनि फनिक......'*—इसके सर्वस्वका नाश कहा, सर्पके लिये मणि सर्वस्व है। सर्वस्वका नाश होनेसे जो दशा होती है वही दशा है। मणिहीन हो जानेसे सर्प व्याकुल विह्वल जीवन बिताता है। *'मनि लिए फनि जियै ब्याकुल बेहाल रे।'*

दो०—भएउ निषादु बिषादबस देखत सचिव तुरंग।
बोलि सुसेवक चारि तब दिए सारथी संग॥ १४३॥

गुह सारथिहि फिरेउ पहुँचाई। बिरह बिषादु बरनि नहिं जाई॥ १॥
चले अवध लेइ रथहि निषादा। होंहिं छनहि छन मगन बिषादा॥ २॥

अर्थ—मंत्री और घोड़ोंको देखकर निषादराज शोकके वश हो गये। तब चार उत्तम सेवकोंको बुलाकर सारथी (सुमंतजी)-के साथ कर दिये॥ १४३॥ गुह सारथीको पहुँचाकर लौटा, विछोहका दुःख कहा नहीं जाता॥ १॥ निषाद लोग रथको लेकर अवधको चले। क्षण-क्षणपर दुःखमें डूब जाते हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ *'सुसेवक'* अर्थात् जो सुमन्तजी और घोड़ों दोनोंकी सेवा-शुश्रूषा कर सकें, ठीकसे अवध पहुँचा दें। चार सेवक दिये क्योंकि चार घोड़े हैं, एक-एकको थामे हुए लीकपर लिये हुए ले जायँगे। ये निषाद हैं, हिंसक जीव हैं, तथापि इनके दुःखसे दुःखी हो जाते हैं, तब दूसरोंका क्या कहना?

वि० त्रि०—*'चले अवध......बिषादा'* इति। सुमन्तकी तो यह दशा है कि *'सोक सिथिल रथ सकै न हाँकी। रघुबर बिरह पीर उर बाँकी॥'* घोड़ोंकी यह दशा है कि *'चरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बनमृग मनहुँ आनि रथ जोरे॥'* तब रथ चलता कैसे है? अतः निषादराजने चार सेवक साथ कर दिये। वे ही सेवक रथको ठेले लिये जाते हैं। सो वे भी क्षण-क्षणपर विषादमें मग्न होकर ठहर जाते हैं।

सोच सुमंत्र बिकल दुख दीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना॥ ३॥
रहिहिं* न अंतहु अधम सरीरू। जसु न लहेउ बिछुरत रघुबीरू॥ ४॥
भए अजस अघ भाजन प्राना। कवन हेतु नहिं करत पयाना॥ ५॥
अहह मंद मनु अवसर चूका। अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका॥ ६॥
मीजि हाथ सिरु धुनि पछिताई। मनहु कृपिन धनरासि गँवाँई॥ ७॥
बिरिद बाँधि बर बीरु कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई॥ ८॥

अर्थ—दुःखसे दीन और व्याकुल हो सुमन्तजी सोच रहे हैं—'रघुवीरके बिना हमारे जीनेको धिक्कार है!'॥ ३॥ आखिर तो यह पापी शरीर रहेगा नहीं (एक दिन अवश्य छूटेगा) पर इसने रघुवीरके बिछुड़नेपर

* पाठान्तर—'रहहिं', रही। रहिहि—गी० प्रे०, रा० प०, राजापुर।

यश न लिया (अर्थात् रघुवर-वियोगमें शरीर छूट जाता तो यश मिलता कि सुमन्तका कैसा सच्चा प्रेम था कि बिछुड़ते ही शरीर छोड़ दिया)॥४॥ अब तो ये प्राण अपयश और पापोंके पात्र बने हैं, (न जाने) किस कारण नहीं चल देते॥५॥ हा! उफ! ओह! (ये बड़े दुःखके शब्द हैं) यह नीच मन मौका चूक गया! अब भी तो हृदय दो टुकड़े नहीं हो जाता (अर्थात् अब भी कुछ गया नहीं है, अब भी यश ले-ले सो भी नहीं)॥६॥ हाथ मल-मलकर सिरको हाथोंसे पीटकर पछताते हैं, मानो कोई कंजूस अपनी धनराशि ही खो बैठा है॥७॥ मानो वीरका बाना बाँधकर उत्तम वीर कहलाकर कोई उत्तम योद्धा लड़ाईमें जाकर भाग चला है॥८॥

टिप्पणी—१ ***'सोच सुमंत्र······टूका'*** इति। सोचके कारण व्याकुल हैं और दुःखके कारण असमर्थ हैं। वे प्रथम 'जीव' (जीवन)—को धिक्कारते हैं, फिर शरीरकी निन्दा करते हैं और तब प्राणोंकी कि रघुवीरसे पृथक् होकर जीवको न रहना था, शरीर पांचभौतिक जड़ है, इसे छूट जाना चाहिये था और प्राण चेतन हैं, यह भी नहीं निकलते, कुछ हेतु अवश्य होगा; पर क्या कारण है, यह नहीं जान पड़ता। इसके पश्चात् मनको दोष देते हैं। कष्ट मनहीको जान पड़ता है, इसीसे उसके साथ ***'अहह'*** पद दिया। मन हृदय (अन्तःकरण)-में रहता है, इससे हृदयको दूषण देते हैं कि क्यों नहीं दो टुकड़े हो जाता, तेरे टुकड़े होनेसे मनके भी टुकड़े हो जाते। फिर जीव और प्राणोंको भी अवश्य निकलना पड़ जाय।

टिप्पणी—२ ***'भए अजस अघ······'*** अर्थात् छूट जाता तो यश प्राप्त होता, न छूटा, इससे अब अपयशका पात्र बना। ***'अहह'*** इति कष्टे, बड़े आश्चर्यकी बात है।

'मनहु कृपिन धनरासि गँवाँई॥' इति।

प्र० सं०—१ कृपण जो कौड़ी-कौड़ी जोड़-बटोरकर धन जमा करे और अपनी बेवकूफी (मूर्खता)-से जुआ आदिमें सब गँवा दे।

२—राम-लक्ष्मण-सीता तीन हैं; अतः धनकी राशि कहा। तीनों हाथसे निकल गये, यही धनराशिका खो बैठना है। रथ लेकर बिठाकर साथ लौटानेके लिये आये थे, यही बेवकूफीसे गँवाना है। अवधवासियोंको तमसापर सोतेसे न जगा दिया। इत्यादि। [पुनः, भाव कि कृपणको धन बहुत प्रिय होता है। थोड़ा धन भी खो जानेसे उसको बहुत दुःख होता है, तब यदि उसकी धनकी राशि ही खो जाय तो उसके दुःखकी सीमा नहीं हो सकती। उसी तरह सुमन्त कृपण हैं। श्रीराम-जानकी-लक्ष्मणजी धनरूप उनको बहुत प्रिय हैं। तीनोंमेंसे एकके न लौटनेसे उनको बहुत दुःख होता और जब तीनों नहीं लौटे तब उनके दुःखकी सीमा न रह गयी। (श्रीनंगे परमहंसजी)]

३—दूसरी उत्प्रेक्षा बानेबन्द वीर योद्धाको देकर जनाया कि वीर योद्धाका यश दिग्विजय करके लौटने या सन्मुख मरनेमें है, यही उसकी शोभा है। रणमें भागना हँसीकी बात है, सबके सामने लज्जित होना पड़ता है। सुमन्तजी इनको लौटानेका बाना बाँधकर चले थे। राजाने इनको लौटा लानेके लिये भेजा था, इनपर पूर्ण विश्वास था कि तीनोंको नहीं तो श्रीसीताजीको तो अवश्य लौटा ही लावेंगे। सो ये किसीको न लौटा सके। प्रभुसे वाक्यसमरमें हारकर भागना ही पड़ा (बैजनाथजी)। [यहाँ सुमन्तजी सुभट हैं। 'वीर' रूप चतुर भी कहलाते थे। समररूप श्रीरामजीको बातचीतमें हराके विजयरूप लौटा लायेंगे, इसकी उनको खुशी थी। परंतु न तो श्रीरामजीको बातचीतमें हराके लौटा सके और न मरणरूप स्वयं वनको ही साथ गये; किंतु समरसे भागनेरूप खाली रथ लेकर अयोध्याको लौटे।' (श्रीनंगे परमहंसजी)] इससे अपयश हुआ। न लौटते, साथ रह जाते तो भी यश होता।

४—पहली उत्प्रेक्षा धनहानिकी है, दूसरी यशहानिकी।

प० प० प्र०—१ (क) ***'मनहु कृपिन······'*** इति। कृपणका धनराशिपर सबसे अधिक प्रेम रहता है। ***'लोभिहि प्रिय जिमि दाम।'*** इस उत्प्रेक्षासे जनाया कि श्रीरामजी सुमन्तजीको ***'लोभिहि प्रिय जिमि दाम'*** प्रिय थे, उनका सर्वस्व थे। श्रीरामजी तो मुनियोंके धन हैं पर सुमन्तजीकी धनराशि हैं। इससे सिद्ध हुआ

कि उनका प्रेम मुनियोंसे भी अधिक था। (ख) *'सुभट पराई'* से अपयशका डर सूचित किया। और *'संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* होता ही है। इस तरह दूसरी उत्प्रेक्षासे जनाया कि उनको मरण कष्टसे भी अधिक दारुण दाह हो रहा है।

२—*'कृपिन धनरासि गँवाँई'* से *'धिग जीवन रघुबीर बिहीना'* को, *'समर सुभट पराई'* से *'भये अजस भाजन प्राना'* को और *'बिप्र बिबेकी……'* से *'भये अघ भाजन प्राना'* को स्पष्ट किया।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—*'मीजि हाथ……दाहू'* इति। यहाँ सुमन्तजीकी मानसिक व्यथाका वर्णन है। जिस प्रकार शारीरिक व्यथाके अनेक भेद हैं, सिरका दर्द दूसरे प्रकारका होता है और पेटका दर्द दूसरे प्रकारका। आँख, नाक, कान सभीकी पीड़ाओंमें अन्तर है। इसी भाँति मानसिक पीड़ाओंमें भी भेद है। धनहानिसे एक प्रकारकी पीड़ा होती है, बदनामीसे दूसरे प्रकारकी पीड़ा होती है। धर्म चले जानेकी पीड़ा तीसरे प्रकारकी होती है, अनाथ होनेमें चौथे प्रकारकी पीड़ा है। एक-एक प्रकारकी पीड़ामें महान् कष्ट है, यदि चारों साथ हों, तो उसका वर्णन कौन कर सकता है। सुमन्तजीको चारों प्रकारकी एक साथ मानसिक पीड़ा हुई।

(१) *'मीजि हाथ सिर धुनि पछिताई। मनहु कृपिन धनरासि गँवाँई॥'* कृपण धनहानिसे दीन होकर सोचता है कि धनहीन जीवनको धिक्कार है; वैसे ही *'सोच सुमंत्र बिकल दुख दीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना॥'* उनके रघुवीर ही धनसर्वस्व थे। यह उदाहरण वैश्य-सम्बन्धी है।

(२) *'बिरिद बाँधि बर बीरु कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई॥'* वह सोचता है कि अन्तमें भी तो शरीर नहीं रहेगा फिर समरमें शरीर छोड़कर यश मैंने क्यों नहीं लिया? वैसे ही सुमन्तजी सोचते हैं कि *'रहिहि न अंतहु अधम सरीरू। जस न लहेउ बिछुरत रघुबीरू॥'* यहाँ रघुवीरका बिछोह ही समर था। यह उदाहरण क्षत्रियसम्बन्धी है।

(३) *'बिप्र बिबेकी बेदबिद संमत साधु सुजाति। जिमि धोखे मद पान कर सचिव सोच तेहि भाँति॥'* वह श्रोत्रिय ब्राह्मण सोचता है कि मेरे प्राण अपयश और अघके भाजन हो गये, अब इनके छोड़ देनेमें ही भलाई है, वैसे ही सुमन्तजी सोचते हैं कि *'भये अजस अघ भाजन प्राना। कवन हेतु नहिं करत पयाना॥'* सुमन्तजी सोचते हैं कि मैं मन्त्री हूँ, मुझे समझना चाहता था कि मैं श्रीरामजीको वन पहुँचाने जा रहा हूँ, मुझे इतना बड़ा धोखा हुआ कि मैं यही समझता रहा कि मैं लौटानेके लिये जा रहा हूँ। मेरेमें मन्त्री होनेकी योग्यता नहीं रह गयी। श्रीरामजीको वन पहुँचा दिया, मुझ-सा पापी कौन है? यह उदाहरण ब्राह्मण-सम्बन्धी है।

४—*'जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पति देवता करम मन बानी। रहै करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू॥'* वह सोचती है कि 'हाय रे! मुझसे बड़ी चूक हुई, मैं पतिके साथ सती क्यों न हो गयी, वैसे ही सुमन्तजी सोचते हैं—*'अहह मंद मति अवसर चूका। अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका॥'* यह उदाहरण पतिव्रता-सम्बन्धी है।

दो०—बिप्र बिबेकी बेदबिद संमत साधु सुजाति।
जिमि धोखे मद पान कर सचिव सोच तेहि भाँति॥ १४४॥

जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पतिदेवता करम मन बानी॥ १॥
रहै करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू॥ २॥

शब्दार्थ—'**बेदबिद**'=वेदज्ञ, वेदपाठी, वेदवेत्ता। '**संमत साधु**'=साधु आचरणवाला।

अर्थ—जैसे कोई विवेकी वेदवेत्ता साधु सम्मत और उत्तम जातिका ब्राह्मण धोखेसे मदिरा पीकर पीछे पछतावे उसी प्रकार मन्त्री सोच कर रहा है॥ १४४॥ जैसे कोई उत्तम कुलवाली, साधु, सयानी, मन, कर्म और वचनसे पतिको ही देवता माननेवाली पतिव्रता स्त्रीको संस्कारवश स्वामीको छोड़कर अलग रहना पड़े तो उसे कितना कठिन दुःख होगा, वैसा ही मन्त्रीके हृदयमें कठिन दुःख है॥ १-२॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—*'बिप्र बिबेकी बेदबिद'''''* इति। जो पुरुष ब्राह्मण, विवेकी ज्ञानवान्, वेदवेत्ता, साधुसम्मत, सुजाति ऐसा पाँच श्रेष्ठ गुणयुक्त हो उसको किस प्रकारका धोखा हुआ?

ये मन्त्री हैं, राजाको उपदेश करते कि किस अपराधसे श्रीरामको वनवास देते हो। वहाँ भूले। जब वनवास हुआ। श्रीरामजीने उसे अंगीकार कर लिया। वे सत्यसन्ध पिताके वचन मानकर अपने धर्मपर आरूढ़ हैं, फिरें तो अधर्मी कहलायें, राजा भी अधर्मी कहलायें। सतीशिरोमणि श्रीसीताजी तथा सेवक धर्मनिष्ठ लक्ष्मण साथ हैं। इन सबोंको फेरना चाहते हैं; यह उनको धर्मसे च्युत करना है। फेरनेका कारण स्नेह है; यही मदिरापान है। यथा—***'रामसनेह सुरा सब छाके'*** स्नेहरूपी मदिरा पीकर सावधान न रहे। फेरकर ले चलें, यदि मदिरापान करके अचेत असावधान होना है। बड़े पायेपर चढ़कर गिरे।

'बेदबिद संमत साधु'—वेदपाठी ही नहीं हैं वरन् जो वेदविधि और पाठ हो उसमें सम्यक् मत है; साधु सन्मार्गवर्ती है। वा साधुसम्मत है।

गौड़जी—ब्राह्मणको सुरा वर्जित है। विवेकी पुरुषके नजदीक वह अपेय है। वेदवित् सौत्रामणि यज्ञमें ही सुरा और सोमयागोंमें सोमपान करेगा। शेष सब प्रकारसे सुरापान अविहित है। साधुसम्मत आचरण करनेवाला सुरापानको पातक समझेगा और अच्छी जातिका मनुष्य अविहित सुरापानको अपनी जातिकी उच्चताका बिगाड़नेवाला समझेगा। इस प्रकार एक गुणसे भी युक्त पुरुष सुरापान न करेगा। परंतु जहाँ पाँचों गुण हैं वहाँ जान-बूझकर सुरापान तो असम्भव है। यदि इन पाँचों गुणोंसे युक्त पुरुष कहीं धोखेसे मदिरापान कर जाय तो उसके मनस्तापका कुछ ठिकाना न रह जायगा। उसको जितना परिताप होगा उतना ही सुमन्तको हुआ। सुमन्त ब्राह्मण भी थे, विवेकी थे, वेदविद् थे, साधुसम्मत थे और सुजाति थे। ब्राह्मणकी दृष्टिसे वह राजा दशरथको समझाते कि आप अपने सत्यकी तो रक्षा करते हैं। परंतु श्रीरामचन्द्रजीकी कर्तव्यनिष्ठामें अपने प्रेमाग्रहसे क्यों बाधक होते हैं। विवेकी थे। अपने कर्तव्याकर्तव्यका इन्हें ज्ञान था। परंतु देवमायावश धोखेमें आ गये। इन्होंने अपने कर्तव्यका पालन न किया। वेदविद् थे। मर्यादा-पुरुषोत्तमके रहस्यसे अनभिज्ञ न थे, फिर भी कर्तव्यविमूढ़ हो गये। वे साधुसंगत थे, परंतु उन्हें किसीसे सलाह लेनेका अवसर भी न मिला। और सुजाति थे अर्थात् राजमन्त्रीके पदपर थे। वे राजाको समयपर उस झंझटसे बचनेकी सलाह दे सकते थे, परंतु न दे पाये। और अन्तमें वनसे वनको ही पहुँचाकर खाली हाथ लौटा आना इन्हें बदा था। इस प्रकार हर तरहपर धोखेमें अर्थात् देवमायामें पड़कर वे संकटापन्नभावीसे बचनेकी कोशिश न कर सके। यही धोखेसे मदिरापान हुआ। और जैसे कण्ठसे नीचे उतारनेके बाद इस तरह धोखेमें पड़ जानेवालेके लिये कोई इलाज बाकी नहीं रहता, उसी तरह सुमन्तके लिये भी कोई इलाज बाकी न रहा। होनी होकर ही रही।

बैजनाथजी—*'बिप्र बिबेकी'''''*। मदिरा पी ले, पीछे जाने कि यह मदिरा थी तो उसे मरणका-सा दु:ख होता है। सुमन्तने कैकेयीके कहनेसे रामजीको बुलाकर उसके सामने खड़ा कर दिया। पहले तिलक कर देते, तब राजाके पास ले जाते। फिर राजाके कहनेसे रथपर ले गये, तमसा-तटसे तीनोंको पुरवासियोंसे छिपाकर ले गये। यह सब धोखा ही खाते गये। यही मदिरापान है।

श्रीनंगे परमहंसजी—विवेकी अर्थात् विचारवान्। **बेदबिद**=वेदज्ञ=अपने कर्मको जाननेवाला। ऐसा विवेकी आदि गुणविशिष्ट विप्र तृषाके वेगमें जलके भ्रमसे मदपान कर जाय और पीछे सोचमें पड़े कि मुझसे धोखा हो गया। मुझको चाहिये था कि पीनेके पहले यह विचार कर लिया होता कि यह जल कैसा है, क्योंकि विचारवान् जाँच करते हैं। सुजाति भी जलकी जाँच करते हैं कि यह जल किसका लाया हुआ है। ऐसा करनेसे धोखा नहीं होता, पता चल जाता कि यह जल नहीं है, मदिरा है। उसी तरह सुमन्तजी विचारवान् और शास्त्रके ज्ञाता थे, उत्तम मन्त्री भी थे, पर तृषारूप मोहमें पड़कर जलरूप श्रीरामजीको लौटा लानेके धोखेमें मदपानरूप गंगातटपर लेकर चले आये। जब श्रीरामजी नहीं लौटे तब उसी ब्राह्मणकी तरह सोचमें पड़ गये। सोचने लगे कि मैंने प्रथम ही विचार क्यों नहीं किया कि श्रीरामजी फिरेंगे या नहीं, क्योंकि वे सत्यसन्ध हैं। वे कैसे लौटेंगे। पुन: मैं किसका

भेजा हुआ उनको लौटा लाने जा रहा हूँ? श्रीरामजीको वनमें तो कैकेयीने भेजा है, यथा—*'मुनि पट भूषन भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी॥ नृपहिं प्रानप्रिय तुम्ह रघुबीरा। सील सनेह न छाड़िहि भीरा॥ सुकृत सुजसु परलोक नसाऊ। तुम्हहि जान बन कहिहि न काऊ॥ अस बिचारि सो करहु जो भावा। राम जननि सिख सुनि सुख पावा॥'* (७९। २—५) तब राजाके बुलानेसे कैसे लौट सकते हैं? लौटनेसे कैकेयी विरोध करेगी तब फिर और न जाने क्या हो! यदि मैंने प्रथम विचार किया होता तो लौटानेके लिये कदापि न जाता और न यह धोखा होता।

'जिमि कुलीन तिय साधु सयानी।……' इति।

टिप्पणी—२ पु० रा० कु०—उत्तम कुलकी, साधु अर्थात् सन्मार्गवर्तिनी, सयानी अर्थात् पण्डिता, चतुर, पतिदेवता अर्थात् पातिव्रत्य धर्मकी जाननेवाली है, पतिको ही कर्म, मन, वचनसे अपना इष्टदेव समझती है, यथा—*'एकै धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा'*—ऐसी स्त्री जैसे कर्मवश अपने पतिको छोड़ पराये पुरुषको भजे और पीछे पछताये, वैसा ही तीव्र पश्चात्ताप मन्त्रीको हो रहा है। यह कुल प्रसंग राम-विमुख होनेका है। श्रीरामसे विमुख होना ऐसा ही है। ईश्वर जीवका पति है। राम-विमुखका प्रसंग कहकर दूषण दे रहे हैं। (पूज्य कविने *'रहे'* पद दिया है। इससे पतिव्रता स्त्रीका भाग्यवश पतिको छोड़ना जनाते हैं, जैसे मुकदमेंमें फँस जानेसे, समरमें बाहर जानेसे, रोगमें डॉक्टरकी मनाहीसे, गर्भवती होनेसे, पतिकी आज्ञासे, सती न होनेसे, इत्यादि सभी तरहका वियोग इसमें आ जाता है। पर-पुरुष-गमन कुछ भोंडा-सा जान पड़ता है, चाहे उस भावका भी समावेश उसमें हो जाय। परमसती प्राय: ऐसी दशामें प्राण दे देगी, पर-पुरुष-संग न करेगी। सुमन्तजी रामजीके मन-वचन-कर्मसे अनन्यप्रेमी हैं, संग छोड़नेपर भी अनन्य हैं।)

पंजाबीजी—*'परिहरि नाहू'* का भाव यह कि स्वामीके मरनेपर सती न हुई, पीछे पछताती है।

श्रीनंगेपरमहंसजी—कर्मवश अर्थात् पतिकी आज्ञावश पतिको छोड़कर रह गयी, पतिके साथ चितामें जलकर पतिके संग न गयी। पीछे जैसे उसको पतिके साथ न जानेसे बहुत भारी दाह उत्पन्न होता है, वैसे ही सुमन्तजीको श्रीरामजीके साथ न जानेसे हृदयमें कठिन दाह उत्पन्न हुआ। यथा—*'मेटि जाइ नहिं राम रजाई। कठिन करम गति कछु न बसाई॥'* (९९। ७)

पतिव्रता स्त्रीके लिये पतिके संग परदेश जानेमें कर्म बाधा नहीं कर सकता। पुन:, जब चोरी आदिकी सजासे पतिके जेलमें जानेपर समस्त स्त्रियोंको दु:ख होता है तो सुजान और कुलीन साधु पतिव्रता आदि विशेषण क्यों दिये? अत: पतिव्रता स्त्रीके लिये साधारण वियोगका अर्थ लगाना असंगत है। पुन: 'सती स्त्रीका परपतिमें मन जाना निज पतिको छोड़ना' अर्थ करना महा अयोग्य है। यथार्थ यह है कि पतिके मर जानेपर कर्मवश पतिकी आज्ञासे गर्भवती होनेके कारण रह गयी, पतिके संग न गयी, उसको न जानेसे कठिन दाह हुआ। प्रमाण—राजा बलिकी माता (विरोचनकी स्त्री)-को उसके पतिने मरते समय आज्ञा दी थी कि तुम सती न होना, तुम्हारे गर्भमें जो बालक है वह रामभक्त होगा। अत: वे सती न हुईं, पर इसका उन्हें कठिन दाह हुआ।

प० प० प्र०—इस दृष्टान्तसे जनाया कि रामविरहमें लंकामें श्रीसीताजीकी जैसी स्थिति हुई है वैसी ही यहाँ सुमन्तजीकी हुई। *'चलेउ समर जिमि सुभट पराई'* भी दारुण दाहसूचक है और यहाँ भी *'दारुण दाह'* का उल्लेख ही है। अत: इस पतिव्रताके दृष्टान्तसे जनाया कि लोकनिन्दापात्र बन जायँगे। इसका भी डर है, ऐसी पतिव्रताका पति स्वयं परित्याग करेगा, यह भीति भी लगती है। (पर मूलमें *'रहे परिहरि नाहू'* पाठ है)।

गौड़जी—दूसरा दृष्टान्त दारुणदाहके लिये है। पहला शोकका था। करुणारसका स्थायी भाव शोक है। यह तो स्थायीरूपसे सचिवके हृदयमें मौजूद है। साथ-ही-साथ दु:ख-दाह-ग्लानि आदिका भी संचार हो रहा है। दारुण दाहका दृष्टान्त साधुकुलीन चतुर और उस पूर्ण पतिव्रता स्त्रीसे देते हैं जिसे कर्मवश पतिसे अलग रहना पड़े। यहाँ मन्त्रीको अपने स्वामी रामचन्द्रजीको कर्मवश छोड़ आना पड़ा है। सुमन्तको उसी तरहका दारुण दाह है जैसा उस पतिदेवता स्त्रीको।

बैजनाथजी—सुमन्तजी मन-कर्म-वचनसे रामप्रेमी थे, सो भावीवश कैकेयीके धोखेमें आकर वनवासके कारण बने, अब दारुण दु:ख उठा रहे हैं।

लोचन सजल डीठि भइ थोरी। सुनइ न श्रवन बिकल मति भोरी॥ ३॥
सूखहिं अधर लागि मुँह लाटी। जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी॥ ४॥
बिबरन भएउ न जाइ निहारी। मारेसि मनहु पिता महतारी॥ ५॥
हानि गलानि बिपुल मन ब्यापी। जम-पुर-पंथ सोच जिमि पापी॥ ६॥
बचनु न आव हृदय पछिताई। अवध काह मैं देखब जाई॥ ७॥
राम रहित रथ देखिहि जोई। सकुचिहि मोहि बिलोकत सोई॥ ८॥

दो०—धाइ पूछिहहिं मोहि जब बिकल नगर नर नारि।
उतरु देब मैं सबहि तब हृदय बज्र बैठारि॥ १४५॥

शब्दार्थ—लाटी लगना=मुँह, ओष्ठ और थूकका सूख जाना।

अर्थ—नेत्रोंमें जल भरा है, दृष्टि कम हो गयी, कानोंसे सुनायी नहीं देता, व्याकुल होनेसे बुद्धि भोली बावली हो गयी अर्थात् ठिकाने नहीं रह गयी॥ ३॥ ओष्ठ सूख रहे हैं, मुँहमें लाटी लग गयी (यह बोली है। ये सब असाध्य लक्षण हैं, प्राणान्त होनेके लक्षण हैं तब भी) प्राण नहीं निकलते, क्योंकि हृदय-(रूपी कोठरी-) में अवधिरूपी किवाड़े लगे हैं, (अर्थात् १४ वर्ष बीत जानेपर फिर मिलेंगे) इस आशामें प्राण नहीं निकलते॥ ४॥ वे पीले पड़ गये हैं, देखे नहीं जाते, मानो माता-पिताको मार डाला है (वह हत्या सवार है)॥ ५॥ महान् हानि और ग्लानि वा महान् हानिकी महान् ग्लानि मनमें व्याप्त हो गयी है; जैसे कोई पापी नरकको जाते हुए मार्गमें सोच करे॥ ६॥ मुखसे वाक्य नहीं निकलता, हृदयमें पछता रहे हैं—मैं अवधमें जाकर क्या देखूँगा?॥ ७॥ जो कोई भी रथको रामसे रहित देखेगा वह मुझे देखकर सकुचेगा॥ ८॥ जब नगरके स्त्री-पुरुष व्याकुल दौड़कर मुझसे पूछेंगे तब मैं हृदयपर वज्र रखकर सबको उत्तर दूँगा॥ १४५॥

टिप्पणी—१ प्रथम नेत्रोंका सजल होना कहा, तब दृष्टिका कम होना, क्योंकि आँसू भर जानेसे आँखोंसे सुझाई नहीं पड़ता। देख नहीं पड़ता और जो कोई कुछ कहना या समझाना चाहे तो वह भी व्यर्थ, क्योंकि उसे सुनायी ही नहीं पड़ता। बावले हो रहे हैं सुनें भी तो समझेंगे कैसे? न कुछ कहनेका सामर्थ्य है, यह आगे कहते हैं।

टिप्पणी—२ ***'जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी'*** इति। अर्थात् ***'कठिन करम गति कछु न बसाई'***—कर्मवश १४ वर्षतक दु:ख भोगना पड़ेगा। जीवका स्थान हृदय है, किंवाड़े लगे हैं, इससे वह निकल नहीं सकता।

टिप्पणी—३ ***'मारेसि मनहु पिता……'*** इति। श्रीरामजीको वनमें छोड़कर अकेले अवध लौटनेपर ऐसे देख पड़ते हैं, मानो माता-पिताका वध इन्होंने किया है, पाप सवार है। श्रीरामजीसे विमुख लौटना ऐसे बड़े पापके भागी होनेके समान है। यहाँ राम पिता और सीता माता हैं। वनमें पहुँचा आना वध करना है। अधर्मीका लोग मुँह नहीं देखते, वैसे ही अधर्मीकी-सी इनकी शक्ल हो गयी है।

टिप्पणी—४ ***'जमपुर पंथ सोच……'*** इति। (क) पापीको जब यमदूत नरकको ले चले तब, यदि वह सोचे कि हमसे कुछ न बन पड़ा, अब मैं धर्मराजको क्या उत्तर दूँगा, इत्यादि। तो अब उसके सोच करनेसे क्या हो सकता है? रामरहित होनेसे अयोध्याकी यमपुरसे और सुमन्तकी पापीसे उपमा दी। ग्लानिसे अब हाथ कुछ नहीं लगनेका, ***'समय चुके पुनि का पछिताने?'***

टिप्पणी—५ ***'बचनु न आव……जाई'*** इति। सुमन्तजीके हृदयसे जो बातें उठ रही हैं; वे कही नहीं जा सकतीं। मन-ही-मन पछता रहे हैं कि न जाने कौन-कौन-सा अनर्थ अवध पहुँचनेपर देखना है। उनके सामने प्रजाके हाहाकार, माताओंका विलाप और महाराजके तन-त्यागका दृश्य खड़ा हो गया; अत: कह रहे हैं कि ***'अवध काह मैं देखब जाई'***। (वि० त्रि०)

टिप्पणी—६ *'हृदय बज्र बैठारि'*—बैठारि=बिठाकर=जड़कर, जमाकर, जैसे घर आदिके बनानेमें पत्थर बिठाया जाता है। *'बैठारि'* का भाव कि जबतक ऐसा न किया जायगा उत्तर न दे सकूँगा। अर्थात् पुरवासियोंको उत्तर दे सकूँगा पर हृदय कठोर करना पड़ेगा। कलेजेपर पत्थर रखना मुहावरा है।

पुछिहहिं दीन दुखित सब माता। कहब काह मैं तिन्हहिं बिधाता॥ १॥
पूछिहि जबहिं लषन महतारी। कहिहौं कवन सँदेस सुखारी॥ २॥
रामजननि जब आइहि धाई। सुमिरि बच्छु जिमि धेनु लवाई॥ ३॥
पूछत उतरु देब मैं तेही। गे बनु राम लषनु बैदेही॥ ४॥
जोइ पूछिहि तेहि ऊतरु देबा। जाइ अवध अब एहु सुखु लेबा॥ ५॥
पूछिहि जबहिं राउ दुख दीना। जिवनु जासु रघुनाथ अधीना॥ ६॥
देहौं उतरु कौन मुहु लाई। आएहुँ कुसल कुँअरु पहुँचाई॥ ७॥
सुनत लषन सिय राम सँदेसू। तृन जिमि तनु परिहरिहि नरेसू॥ ८॥

दो०—हृदउ न बिदरेउ पंक जिमि बिछुरत प्रीतमु नीरु।
जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि यहु जातना सरीरु॥ १४६॥

अर्थ—सब दीन-दुःखी माताएँ जब पूछेंगी, हे विधाता! (तब) मैं उनसे क्या कहूँगा?॥ १॥ जब लक्ष्मणजीकी माता पूछेंगी तब मैं कौन सुखदायी संदेश कहूँगा? ॥ २॥ जब श्रीरामजीकी माता (इस तरह) दौड़ती आवेंगी जैसे नयी ब्याई हुई गाय बछड़ेकी याद करके दौड़कर आती है॥ ३॥ उस समय उनके पूछनेपर मैं उन्हें उत्तर दूँगा कि श्रीराम-लक्ष्मण-वैदेहीजी वनको चले गये?॥ ४॥ जो भी पूछेगा उसे मैं यही उत्तर दूँगा, अवधमें जाकर अब मैं यह सुख लूँगा?॥ ५॥ जब दुःखसे दीन राजा जिनका जीवन रघुनाथजीके (दर्शनके) अधीन है, पूछेंगे तब मैं कौन मुँह लाकर उत्तर दूँगा कि कुँअरको कुशलपूर्वक पहुँचा आया॥ ६-७॥ राम-लक्ष्मण-सीताका संदेश सुनकर राजा तिनकेकी तरह शरीर छोड़ देंगे॥ ८॥ प्रियतम श्रीरामरूपी जलके बिछुड़ते ही मेरा हृदय कीचड़की तरह फट न गया, इससे जान पड़ता है कि विधाताने मुझे यह यम-यातना-शरीर (पाप भोग करनेके लिये) दिया है॥ १४६॥

टिप्पणी—१ सुमन्तजीके जीमें संदेह-पर-संदेह उठते जाते हैं; उन्हींका वर्णन कवि कर रहे हैं। एक तो यही था कि पुरवासियोंको उत्तर कैसे देंगे, पर इस संदेहका निवारण कर लेते हैं कि इनके लिये काफी जवाब है कि श्रीरामजी नहीं आये तो भरतजी तो हैं, वे तुम्हारा पालन करेंगे, यद्यपि उनको भी उत्तर देनेमें कलेजेपर वज्र रखना पड़ेगा। दूसरा संदेह सात सौ माताओंका है। उनमें भी फिर संदेह श्रीसुमित्राजीका है, जो परम भागवत लक्ष्मणजीकी माता हैं। उसपर भी फिर कौसल्याजीका सोच जिनके द्वारा श्रीरामजीका आविर्भाव ही हुआ—इतना सोचकर वे सोचते हैं कि जो ही पूछेगा उसीको उत्तर देना पड़ेगा, इससे संदेह होता है कि तो क्या हम इसीलिये साथ गये थे कि रामको वनमें पहुँचा आवें और लौटकर संदेशा सबसे कहें! छठा संदेह राजाके प्रश्नका है।

टिप्पणी—२ *'जोइ पूछिहि······'* इति। शंका—*'जोइ'* से किससे तात्पर्य है, पुरवासी सभी दोहेमें आ गये, सब माताएँ आ गयीं, फिर सुमित्रा-कौसल्याजीको पृथक् करके भी कह दिया, क्योंकि दोनोंके पुत्र वनको गये हैं, आगे राजाको भी कहा है। रहा ही कौन जिसके लिये कहते हैं कि *'जोइ पूछिहि······'*? उत्तर—यह केकयी है। इसका नाम वे नहीं लेते। ऐसी राम-विमुखाका नाम कौन ले? कैकेयीको संदेह अवश्य है कि सुमन्त लौटानेको भेजे गये हैं, वे उनको लौटाये न लाते हों। अतएव मुझे देखते ही वह अवश्य पूछेगी कि लौट आये कि गये? तब उसको भी उत्तर देना ही पड़ेगा, उससे भी बोलना ही पड़ेगा और

कहना पड़ेगा कि चले गये। उसे बड़ा सुख होगा, उसको सुखी देखकर कैसे सहा जायगा? बड़ा दारुण कष्ट होगा—वे सोचते हैं कि हा! उसको भी उत्तर देकर सुख पहुँचाऊँगा, ऐसा मेरा दुर्भाग्य है।

टिप्पणी—३ (क) ***'पूछिहिं जबहि राउ दुखदीना'*** अर्थात् राजा दुःखसे दीन हैं। उनका जीवन श्रीरामके बिना नहीं है, यथा—***'मैं न जियब रघुबीर बिहीना', 'जीवन मोर राम बिनु नाहीं', 'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना॥'*** तो उनको किस मुँहसे उत्तर दूँगा और सबसे तो कह भी दूँ, पर ये तो सुनते ही प्राण छोड़ देंगे। (ख) ***'कवन मुँह लाई'*** अर्थात् इस मुँहसे तो कहनेयोग्य नहीं कि ***'आएउँ कुसल कुँअरु पहुँचाई।'*** और मुँह नहीं जिससे कह सकूँ ***'आएउँ कुसल पहुँचाई'*** अर्थात् फिर भी मैं जीता लौटा अथवा कुँवरको पहुँचा आया, वे बड़े सुखसे हैं। (ग) ***'परिहरिहि नरेसू'*** अर्थात् पशु-पक्षी पुरवासी जब ऐसे विकल हैं तो ये तो नरश्रेष्ठ हैं, सबके स्वामी हैं, भला ये शरीर क्यों न छोड़ देंगे—***'बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ।'*** (घ) ***'तृन जिमि तनु परहरिहि नरेसू'*** तक कहा कि क्या-क्या विचारकर सोच कर रहे हैं।

टिप्पणी—४ ***'हृदउ न बिदरेउ पंक जिमि'*** इति। कीचड़ अत्यन्त नीच है, कमल, मछली आदि तो प्रथम ही चल देते हैं, मर जाते हैं, कीचड़ कुछ दिन बीत जानेपर फटता है। राम-वियोग होते हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाना चाहिये था, क्योंकि श्रीरामजीसे प्रियतम कोई नहीं है, पर वह न फटा। उत्तम कोटिका प्रेम तभी समझा जाता। खैर ऐसा न हुआ तो अब तो कई दिन हो गये, अब भी फट जाता, सो भी नहीं, यह नीच कीचड़से भी गया-गुजरा है। इससे अब यही निश्चय जान पड़ता है कि विधाता इसी शरीरसे हमें यमयातना—दण्ड-भोग कराना चाहता है। यातना-शरीर वह शरीर है जो मरनेके बाद मिलता है और जो पापकर्मोंका फल भोग करनेके लिये दिया जाता है। यह लिंगशरीर मोमका-सा होता है, काटनेपर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है और फिर ज्यों-का-त्यों हो जाता है, पर कष्ट वैसा ही दुःसह होता है जैसा स्थूल शरीरके काटने-छेदने इत्यादिसे हो।

एहि बिधि करत पंथ पछितावा। तमसा तीर तुरत रथु आवा॥ १॥
बिदा किए करि बिनय निषादा। फिरे पाय परि बिकल बिषादा॥ २॥
पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारेसि गुरु बाभन गाई॥ ३॥
बैठि बिटप तर दिवसु गँवावा। साँझ समय तब अवँसरु पावा॥ ४॥
अवध प्रबेसु कीन्ह अँधियारे। पैठ भवन रथु राखि दुआरे॥ ५॥
जिन्ह जिन्ह समाचार सुनि पाए। भूप द्वार रथु देखन आए॥ ६॥
रथु पहिचानि बिकल लखि घोरे। गरहिं गात जिमि आतप ओरे॥ ७॥
नगर नारिनर ब्याकुल कैसें। निघटत नीर मीनगन जैसें॥ ८॥

अर्थ—सुमंतजी इस प्रकार रास्तेमें पश्चात्ताप करते (हुए जा रहे) हैं। (इतनेहीमें) तुरंत तमसाके किनारे रथ आ पहुँचा॥ १॥ (तब सुमंतजीने) विनती करके निषादों-(सेवकों-) को विदा किया। वे चरणोंमें प्रणाम करके दुःखसे ब्याकुल होकर लौटे॥ २॥ नगरमें घुसते हुए मन्त्री ऐसे सकुच रहा है मानो गुरु, ब्राह्मण और गऊका वध कर दिया हो॥ ३॥ पेड़के नीचे बैठकर उसने दिन बिता दिया। संध्या समय हुआ तब मौका मिला॥ ४॥ अंधेरेमें अवधमें दाखिल हुआ, प्रवेश किया। रथको दरवाजेपर रखकर महलमें प्रविष्ट हुआ॥ ५॥ जिन-जिन लोगोंने खबर सुन पायी वे राजद्वारपर रथ देखने आये॥ ६॥ रथको पहचानकर घोड़ोंको व्याकुल देखकर उनके शरीर ऐसे गल रहे हैं जैसे गर्मीसे (बर्फके) ओले॥ ७॥ नगरके स्त्री-पुरुष कैसे व्याकुल हैं? जैसे मछलियोंका समुदाय जलके घटनेसे व्याकुल हो॥ ८॥

नोट—***'एहि बिधि करत पंथ पछितावा'*** उपसंहार है, ***'बचनु न आव हृदय पछिताई'*** उपक्रम है। सोचका

प्रसंग *'जमपुर पंथ सोच जिमि पापी।'* (१४५।६) पर उठाकर *'जानत हौं मोहि दीन्ह……जातना सरीरु।'* (१४६) पर समाप्त किया।

टिप्पणी—१ *'एहि बिधि करत पंथ……आवा'* इति। पापी इसी प्रकार सोचता हुआ तुरंत वैतरनी नदीके समीप पहुँचता है; वैसे ही ये सोचते-सोचते तमसापर पहुँच गये। तमसा मानो वैतरनी है। तम+सा=तमसे युक्त। निषाद इसे घाटतक पहुँचाकर लौटे, जैसे स्त्री-पुत्र-भाई-बन्धु घाटतक शरीरको पहुँचा देते हैं। साँसति तो इसीको सहना है। या यों कहें कि जैसे सतीको श्मशानतक पहुँचा देते हैं, सती तो उसीको होना पड़ता है। वैसे ही सुमन्तको वे पहुँचा गये, अब दारुणदाह तो इन्हींको होना है।

टिप्पणी—२ *'पैठत नगर'* इति। तमसातक पहुँचनेके बाद नगरमें प्रवेश करना कहते हैं। इससे जनाया कि तमसातक अयोध्या नगर है; उत्तर सरयू, दक्षिण तमसा। अतएव वहींसे 'नगर' पद दिया। (ख) *'सचिव'* पदका भाव कि ये सुन्दर मन्त्रके देनेवाले हैं तो भी ये ऐसा चूके हैं कि आज नगरमें प्रवेश करनेमें संकोच हो रहा है। (ग) अब 'संकोच' का स्वरूप कहते हैं। जैसे गुरु, ब्राह्मण और गायका वध करनेवाला हत्यारा पुरमें जाते सकुचे कि लोग क्या कहेंगे, मारे संकोचके वहाँ जा नहीं सकता। यहाँ राम गुरु, लक्ष्मण ब्राह्मण, सीता गऊ और तीनोंका त्याग, तीनोंको वनमें पहुँचा आना तीनोंके वधके समान है। (नोट—किसीका मत है कि राम ब्राह्मणके स्थानपर हैं, यथा—*'मम मूरति महिदेवमयी है'*। लक्ष्मण गुरु हैं, क्योंकि ये जीवोंके आचार्य हैं।)

टिप्पणी—३ *'साँझ समय तब अवसरु पावा'* इति। यह चाण्डाल समय है, न दिनमें न रातमें। गुरु-ब्राह्मण-गऊकी हत्या जिसे लगे, वह चाण्डाल है। अतएव वैसा ही समय तजबीज किया।

टिप्पणी—४ *'अवध प्रबेस कीन्ह अँधियारे। पैठ भवन……'* इति। अँधियारे, क्योंकि नगरभरमें करुणा और शोक छाया है, किसीने दीपक नहीं जलाया। पहले *'पैठ भवन……'* कहकर पीछे *'रथ राखि'* पद देकर सुमन्तकी आतुरता दिखायी; मारे लज्जाके वे शीघ्र ही महलमें घुस गये।

टिप्पणी—५ *'समाचार सुनि पाए'* क्योंकि हरकारे लगे हैं कि सुमन्त गये हैं, उनके आते ही खबर दें, उन्हींसे सुना।

टिप्पणी—६ *'गरहिं गात जिमि आतप ओरे'* अर्थात् घोड़ोंके ऐसा पसीना चल रहा है, जैसे घामके ओले गलें। अथवा इस दृष्टान्तसे यह दिखाया कि यद्यपि घोड़े पशु हैं तथापि वियोग-तापसे गले जाते हैं। इससे यह भी जनाते हैं कि घोड़े श्वेत रंगके हैं।

टिप्पणी—७ *'नगर नारि……'* इति। जब पशुओंकी दशा ऐसी है तब नगरके स्त्री-पुरुषोंकी व्याकुलता कैसी होगी? 'नगर' पदसे जनाया कि नर-नारि नागर हैं। ये प्रेम और वियोग समझते हैं। नगर लगभग १४४ किलोमीटरका है, लोग बहुत हैं, अतः मीनगणकी उपमा दी। मछलीका जीवन जलहीतक है।

दो०—सचिव आगमनु सुनत सबु बिकल भयेउ रनिवासु।
भवनु भयंकरु लाग तेहि मानहु प्रेतनिवासु॥ १४७॥

अति आरति सब पूछहिं रानी। उतरु न आव बिकल भइ बानी॥ १॥
सुनइ न श्रवन नयन नहिं सूझा। कहहु कहाँ नृपु जेहि* तेहि बूझा॥ २॥
दासिन्ह दीख सचिव बिकलाई। कौसल्यागृह गईं लवाई॥ ३॥

शब्दार्थ—**प्रेतनिवासु**=श्मशान।

अर्थ—मन्त्रीका आना सुनकर सारा रनवास व्याकुल हो उठा। उनको राजभवन ऐसा भयावन लगा, मानो प्रेतका निवासस्थान है॥ १४७॥ सब रानियाँ बड़ी आर्त होकर पूछ रही हैं; पर सुमंतजीकी वाणी

* यही पाठ प्रायः सर्वत्र मिलता है। गी० प्रे० 'तेहि-तेहि' पाठ राजापुरका बताता है।

विकल हो गयी है, कुछ उत्तर (मुँहसे) नहीं निकलता॥ १॥ कानोंसे सुनायी नहीं पड़ता न आँखोंसे कुछ सूझता है, जिस-तिससे उसने पूछा कि कहो राजा कहाँ हैं?॥ २॥ दासियाँ मन्त्रीकी व्याकुलता देखकर उन्हें कौसल्याजीके महलमें ले गयीं॥ ३॥

पु० रा० कु०—१ (क) ***'सब पूछहिं'***—सब एक साथ पूछने लगीं, क्योंकि सब दुःखसे अति आर्त हो रही हैं। (ख) ***'बिकल भइ बानी'***—वाणी अर्थात् सरस्वती ही विकल हो गयी हैं, वचन कैसे निकले जो उत्तर दें। (विकल हो गयी अर्थात् शोकके मारे कण्ठ गद्गद हो गया, वाणी रुक गयी)। (ग) ***'सुनइ न श्रवन……'*** अर्थात् उन्हें एक यही धुन लगी है कि नृप कहाँ हैं, इसीसे कुछ और न सुनायी दे न सूझे। यहाँ इन्द्रियोंकी व्याकुलता दिखा रहे हैं।

नोट—***'कौसल्यागृह गईं लवाई'*** इति। श्रीरामजीके चले जानेपर राजाने कैकेयीके महलमें रहना न स्वीकार किया। उसका त्याग तो प्रथम ही कर चुके थे—***'लोचन ओट बैठु मुहँ गोई।'*** (३६। ६) वाल्मीकीयमें स्पष्ट उल्लेख है कि रामचन्द्रजीके चले जानेपर राजा दशरथ घरसे निकल पड़े कि मैं पुत्रको देखूँगा। वे होशमें न थे, दौड़ते थे। (२। ४०। २८) जबतक रथकी धूल देख पड़ी तबतक वे बेहोशीमें उछल-उछल धूल देखते रहे, फिर व्याकुल हो पृथ्वीपर गिर पड़े। (४२। १—३) कौसल्या, कैकेयीने दाहिने-बायें जाकर उन्हें उठाना चाहा, पर कैकेयीको उन्होंने अंग स्पर्श करने न दिया। और उनका त्याग भी किया, यथा—'**कैकेयि मामकांगानि मा स्प्राक्षीः पापनिश्चये। नहि त्वां द्रष्टुमिच्छामि न भार्या न च बान्धवी॥**' (४२। ६) '**केवलार्थपरां हि त्वां त्यक्तधर्मां त्यजाम्यहम्॥**' (७) विलाप करते-करते वे बोले, रामचन्द्रकी माता कौसल्याके घर हमें ले चलो और कहीं मुझे शान्ति न मिलेगी। तब लोगोंने उन्हें उठाकर वहाँ रख दिया था। (४२। २७-२८)

जाइ सुमंत्रु दीख कस राजा। अमिअ रहित जनु चंदु बिराजा॥ ४॥
आसन सयन बिभूषन हीना। परेउ भूमितल निपट मलीना॥ ५॥
लेइ उसासु सोच यहि भाँती। सुरपुर ते जनु खसेउ जजाती॥ ६॥
लेत सोच भरि छिनु छिनु छाती। जनु जरि पंख परेउ संपाती॥ ७॥
राम राम कह राम सनेही। पुनि कह राम लषन बैदेही॥ ८॥

अर्थ—सुमन्तने जाकर राजाको कैसा देखा—'जैसे मानो अमृतरहित होनेपर चन्द्रमा शोभित हो॥ ४॥ आसन, शय्या और आभूषणोंसे रहित अत्यन्त मलीन (मैले वेषमें उदास) पृथ्वीपर पड़े हुए हैं॥ ५॥ इस प्रकार लम्बी-ऊँची श्वास लेते और सोच कर रहे हैं, मानो ययाति राजा स्वर्गसे गिरे (साँसें लेते हैं और सोचमें पड़े हैं)'॥ ६॥ क्षण-क्षणपर सोचते छाती भर-भर लेते हैं, मानो पंखके जलनेपर सम्पाती गिरा पड़ा है॥ ७॥ राजा (बारंबार) राम, राम, प्यारे सनेही राम, ऐसा कहते हैं, फिर राम-लक्ष्मण-वैदेही ऐसा कहते हैं॥ ८॥

नोट—१ ***'अमिअ रहित जनु चंदु बिराजा'***। अमृतरहित चन्द्रमामें द्युति, प्रकाश, शीतलता आदि कोई गुण नहीं रहते, क्योंकि अमृत ही उसमें सार है। वैसे ही श्रीसीतारामरहित राजाकी दशा है। वे मलिन, तेजहीन, असमर्थ पड़े हैं। राम-वियोगमें यह दशा है, इसीसे ***'बिराजा'*** पद दिया। राम-विरहमें यह दशा सराहनीय है। इस शब्दको देकर राजाके विरहकी प्रशंसा कवि कर रहे हैं, उनका सम्मान किया है। ***'चकई साँझ समय जनु सोहीं।'*** (१२१। १) देखिये।

२ ***'सुरपुर ते जनु खसेउ जजाती'***। राजा ययाति पछताते हैं कि हा! हमारी सब बुद्धि कहाँ जाती रही थी, हमसे बड़ी मूर्खता हुई, हम इन्द्रके धोखेमें पड़ अहंकारसे अपने सुकृतकी सराहना कर बैठे, इत्यादि। इसी प्रकार राजा पछताते हैं कि हम कैकेयीके धोखेमें आ गये, बड़ी मूर्खता हुई, रामशपथ हमने कैसे कर ली, अहंकारमें आकर हमने सत्यकी प्रशंसा की। उसीका फल मिला कि हम रामराज्याभिषेक (मनोरथ) रूपी स्वर्गतक पहुँचकर वहाँसे गिरा दिये गये।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि जैसे ययाति अपने पुत्र (नाती अष्टक)-के पुण्यफलसे फिर स्वर्गमें पहुँचे वैसे ही ये रामसे फिर मिलेंगे और भरतरूपी अष्टकद्वारा उनके प्रेमके पुण्य-प्रभावसे उनकी ग्लानि दूर होगी।

३ *'जनु जरि पंख परेउ संपाती'* इति। सम्पाती और जटायु अरुणके पुत्र हैं। पंखके जलनेकी कथा किष्किन्धाकाण्ड २८ (१—८)-में स्वयं संपातीने कही है। जैसे वह *'परेउ भूमि करि घोर चिकारा'*—और मूर्खतापर पछताता रहा; वैसे ही राजा बारम्बार पछताते हैं कि स्त्रीके विश्वासमें पड़कर अपने कर्तव्यसे हमारी यह दशा हुई, हा-हा कर रहे हैं। श्रीराम और श्रीसीताजी दोनों पक्ष हैं। सम्पातीके पक्ष फिर जमे, श्रीराम, सीता रावणवधपर फिर मिलेंगे (स्वर्गसे दशरथजी रावणवध होनेपर आये हैं)।

राजा ययातिकी कथा

महाभारत (आदिपर्व अ० ७०—८६)—राजा नहुषके छः पुत्रोंमेंसे ये दूसरे पुत्र थे। दक्षसे दसवीं पीढ़ीमें ये हुए। राज्य इन्हींको मिला। ये बड़े पराक्रमी और भक्त थे। वृषपर्वा दैत्यराजकी कन्या शर्मिष्ठाने देवयानीको कुएँमें गिरा दिया था। उसी समय दैवयोगसे ययाति प्याससे व्याकुल वहाँ पहुँचे। दाहिना हाथ पकड़कर उनको बाहर निकाल राजा अपने नगरको गये। इधर शुक्राचार्य और देवयानीको, बिगड़कर असुरोंको छोड़ते देख, शर्मिष्ठाने १००० दासियोंसहित देवयानीकी दासी होना स्वीकार किया। देवयानीका विवाह ययातिके साथ हुआ। इसके दो पुत्र हुए। उधर राजाने शर्मिष्ठाको अंगीकार करके उसमें तीन पुत्र उत्पन्न किये। देवयानीको जब पता लगा तब उसने शुक्राचार्यसे जाकर शिकायत की। इसपर उन्होंने राजाको शाप दिया कि तुम शीघ्र बूढ़े हो जाओ। राजा तुरंत बूढ़े हो गये। राजाके प्रार्थना करनेपर शुक्राचार्यने शापानुग्रह यों किया कि दूसरेकी जवानी तुम अपना बुढ़ापा देकर ले सकते हो। राजाने अपने पुत्रोंसे एक-एक करके जवानी माँगी। यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनुने स्वीकार न किया तब उनको राजाने शाप दे दिया और सबसे छोटे पुत्र पूरुसे १,००० वर्षके लिये विषय-भोगके लिये जवानी माँगी। इसने जवानी दे दी। राजाने आशीर्वाद दिया। १,००० वर्ष व्यतीत होनेपर राजाको वैराग्य हुआ। उन्होंने पूरुकी जवानी लौटाकर उसको राजा बनाया तब ब्राह्मणोंने आकर उनसे कहा कि राज्य बड़े पुत्रको देना चाहिये था न कि छोटेको, आपको धर्मका पालन करना चाहिये। राजाने उत्तर दिया कि पिताका विरोधी पुत्र सज्जनोंकी रायमें पुत्र ही नहीं है। माता-पिताका आज्ञाकारी भक्त पुत्र ही सच्चा पुत्र है। शुक्राचार्यने भी ऐसा ही वर दिया है। इसलिये तुम पूरुका राज्याभिषेक करनेमें विरोध न करो। सब प्रजा यह सुनकर सन्तुष्ट हुई। यवन तुर्वसुके वंशसे और म्लेच्छ अनुसे हुए। राजा ययाति १,००० वर्षसे अधिक वानप्रस्थ आश्रममें रह तप करके स्वर्गको गये।

इन्द्रने राजा ययातिसे पूछा कि वनवास करके आपने किसके समान तपस्या की? राजाने अभिमानपूर्वक कहा कि देव, मनुज, महर्षि आदिमें मुझे अपनी तपस्याके समान किसीकी तपस्या नहीं देख पड़ती। इस तरह अपनेसे उत्तम और अपने बराबरवालोंका अपमान करनेके कारण राजाके पुण्य क्षीण हो गये और वे स्वर्गसे गिरा दिये गये। नन्दनवनसे गिरते समय देवता करुण स्वरसे उनके लिए शोक प्रकट करने लगे। उनकी कृपासे राजा अष्टक राजर्षिकी यज्ञभूमिमें आ टिके। अष्टकके पूछनेपर राजाने बताया कि तपस्या, दान, शान्ति, इन्द्रियदमन, लोकलज्जा, सरलता और दया—ये सात फाटक स्वर्गके हैं, पर अपने श्रेष्ठ होनेका अहंकार करते ही ये सातों मिट्टीमें मिल जाते हैं। अपने मुँह अपनी करनीका बखान करना अनुचित है। अष्टक राजा ययातिके नाती हैं। इनके पुण्यफलसे राजा ययाति फिर स्वर्गमें पहुँच गये, भूमिपर न गिरे।

प० प० प्र०—*'राम राम कह राम······'*। इति। रामनाम अमृत है। पहले तो रामनामका उच्चारण भी नहीं कर सकते थे। *(अमिअ रहित जनु चंदु बिराजा)।* अब रामनामामृत मिला तब कुछ बोलनेकी शक्ति आ गयी, जिससे सुमन्तजीका वचन सुनते ही उठेंगे और पूछेंगे।

दो०—देखि सचिव जयजीव कहि कीन्हेउ दंड प्रनामु।
सुनत उठेउ व्याकुल नृपति कहु सुमंत्र कहँ रामु॥ १४८॥

भूप सुमंत्रु लीन्ह उर लाई। बूड़त कछु अधार जनु पाई॥ १॥
सहित सनेह निकट बैठारी। पूछत राउ नयन भरि बारी॥ २॥
राम कुसल कहु सखा सनेही। कहँ रघुनाथ लषनु बैदेही॥ ३॥
आने फेरि कि बनहि सिधाए। सुनत सचिव लोचन जल छाए॥ ४॥

शब्दार्थ—जयजीव ***'कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए।'*** (२।५।२) देखिये।

अर्थ—मन्त्रीने देखकर जयजीव कहकर दण्डवत्-प्रणाम किया। राजा सुनते ही व्याकुल हो उठे (और बोले), कहो, सुमन्त! राम कहाँ हैं?॥ १४८॥ राजाने सुमन्तको हृदयसे लगा लिया, मानो डूबते हुए कुछ सहारा पा गये॥ १॥ प्रेमसमेत उन्हें पास बिठाकर नेत्रोंमें जल भरकर राजा पूछ रहे हैं॥ २॥ हे सखा! हे स्नेही! रामका कुशल-समाचार कहो। रघुनाथ, लक्ष्मण और वैदेही कहाँ हैं?॥ ३॥ उन्हें लौटा लाये हो कि वे वनको चल दिये। सुनते ही मन्त्रीके नेत्रोंमें जल भर आया॥ ४॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—***'बूड़त कछु अधार······'*** इति।—***'कछु'*** का भाव कि परिपूर्ण आधार नहीं है, जिससे बच जायँ, कुछ अवलम्ब मिला है फिर तो डूबेंगे ही।

टिप्पणी—२ ***'सखा सनेही'*** अर्थात् तुम हमारे बराबरके हो और हमारे विश्वासपात्र हो एवं स्नेही अर्थात् प्रेमके पात्र हो।

प० प० प्र०—***'सुनत सचिव······'*** इति। राजाने तीन प्रश्न किये। एकका भी उत्तर देना अशक्य हो गया। आँखोंमें जो जल भर आया उसीने मानो तीनों प्रश्नोंका उत्तर दे दिया। राजा भी समझ गये कि तीनोंमेंसे कोई भी नहीं लौटा।

सोक बिकल पुनि पूछु नरेसू। कहु सिय राम लखनु संदेसू॥ ५॥
राम रूप गुन सील सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ॥ ६॥
राज* सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भएउ न हरषु हराँसू॥ ७॥
सो सुत बिछुरत गए न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना॥ ८॥

दो०—सखा राम सिय लखनु जहँ तहाँ मोहि पहुँचाउ।
नाहि त चाहत चलन अब प्रान कहौं सतिभाउ॥ १४९॥

अर्थ—शोकसे विकल होकर राजा फिर पूछते हैं—सीता, राम, लक्ष्मणका सन्देश (तो) कहो॥ ५॥ श्रीरामचन्द्रजीका रूप, गुण, शील-स्वभाव याद कर-करके राजा हृदयमें सोचते हैं॥ ६॥ हमने राज्याभिषेक सुनाकर वनवास दिया, यह सुनकर (रामजीके) मनमें न हर्ष ही हुआ न शोक॥ ७॥ ऐसे पुत्रके भी बिछुड़ते प्राण न निकले तो मेरे समान कौन बड़ा पापी होगा॥ ८॥ हे सखा! जहाँ राम-सीता-लक्ष्मण हैं वहीं मुझे पहुँचाओ नहीं तो, मैं सत्यभावसे कहता हूँ कि अब प्राण चलना चाहते हैं॥ १४९॥

पु० रा० कु०—१ ***'सोक बिकल पुनि पूछु'*** इति। बार-बार पूछनेका कारण व्याकुलता है। राजा समझ गये कि कोई नहीं लौटा; अतएव पूछते हैं कि नहीं लौटे तो कुछ कहा तो होगा, वही कहो।

नोट—***'रामरूप सुन······सतिभाउ'*** इति। मिलान कीजिये गीतावलीके—***'मुएहु न मिटैगो मेरो मानसिक पछिताउ। नारिबस न बिचारि कीन्हों काज सोचत राउ॥ १॥ तिलक को बोल्यो, दियो बन, चौगुनो चित चाउ। हृदय दाडिम ज्यों न बिदरयो समुझि सील सुभाउ॥ २॥ सीय रघुबीर लषनु बिनु भय भभरि भगी न आउ। मोहिं बूझि न परत यातें कौन कठिन कुघाउ॥ ३॥ सुनि सुमंत! कि आनि सुंदर सुवन सहित जिआउ। दास तुलसी नतरु मोको मरन अमिय पिआउ॥'*** (२।५७) इस पदसे। समयपर मृत्यु होना अमृतके तुल्य है।

* राउ—राजापुर, गी० प्रे०।

वि० त्रि०—*'सखा राम सिय लषनु जहँ तहाँ······'* इति। बड़ी भारी शंका यहाँ यह खड़ी होती है कि राजाकी यह दशा देखकर उन्हें राम-लक्ष्मण-सीताके पास पहुँचा क्यों नहीं दिया?—समाधान यही है कि महाराज जो इस समय कह रहे हैं, वह प्रिय प्रेम प्रमाद ही है। सुमन्तको क्यों रथ लेकर भेजा, यदि जाना था तो स्वयं क्यों नहीं चले गये? बात यह है कि ये सब बातें महाराजके दुःखमेंका कराहना है। सत्यसन्ध राजा किसी हालतमें सत्य नहीं छोड़ना चाहते। वर दिया है कि *'तापस बेष बिसेषि उदासी······'!* तब जा कैसे सकते हैं। उनके जानेपर उदासीनता कैसे रहेगी?

पुनि पुनि पूछत मंत्रिहि राऊ। प्रियतम सुअन सँदेस सुनाऊ॥ १॥
करहि सखा सोइ बेगि उपाऊ। रामु लखनु सिय नयन देखाऊ॥ २॥
सचिव धीर धरि कह मृदु बानी। महाराज तुम्ह पंडित ग्यानी॥ ३॥
बीर सुधीर धुरंधर देवा। साधु समाजु सदा तुम्ह सेवा॥ ४॥
जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभु प्रिय मिलन बियोगा॥ ५॥
काल करम बस होहिं गोसाँई। बरबस राति दिवस की नाँई॥ ६॥
सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥ ७॥
धीरजु धरहु बिबेकु बिचारी। छाड़िअ सोचु सकलु हितकारी॥ ८॥

अर्थ—राजा बारम्बार मन्त्रीसे पूछते हैं कि परमप्रिय पुत्रका सन्देश सुनाओ॥ १॥ हे सखा! तुम वही उपाय तुरंत करो (जिसमें) राम-लक्ष्मण-सीता नेत्रोंको दिखाओ॥ २॥ धीरज धरकर मन्त्री कोमल वाणी बोले—महाराज! आप पण्डित हैं, ज्ञानी हैं, वीर हैं, उत्तम धीरोंमें धुरन्धर (श्रेष्ठ) हैं, देवता और साधुओंके समाजकी आप सदा सेवा करते आये हैं॥ ३-४॥ जन्म, मृत्यु, सभी दुःख-सुखके भोग, हानि-लाभ, प्रियका मिलना और बिछुड़ना, ये सब, हे गोसाईं! काल और कर्मके अधीन रात-दिनकी तरह जबरदस्ती होते रहते हैं॥ ५-६॥ मूर्ख सुखमें प्रसन्न होते हैं और दुःखमें पीड़ित हो रोते हैं, परंतु धैर्यवान् पुरुष दोनोंको मनमें समान मानते हैं॥ ७॥ विवेकसे विचारकर धीरज धरिये। हे सबके हित करनेवाले! सोच छोड़िये॥ ८॥

नोट—१ *'पुनि पुनि पूछत······'* इति। वाल्मी० २। ५८ में राजाने पूछा है—धर्मात्मा राम कहाँ निवास करते हैं? उन्होंने तुमसे क्या कहा है? जो रामचन्द्र पैदल, सेना आदिके साथ बाहर जाया करते थे वे निर्जन वनमें कैसे निवास करेंगे? अजगर, दुष्ट पशु तथा काले नाग वनमें रहते हैं। वहाँ राम, लक्ष्मण, सीता कैसे रहेंगे। रथसे उतरकर सुकुमारी सीताके साथ वे पैदल कैसे गये? सुमन्त! रामने क्या कहा? लक्ष्मणने क्या कहा? और वनमें जाकर सीताने क्या कहा? सूत! उनके रहने, खाने, सोने आदिके सम्बन्धकी बातें कहो। (श्लोक ५ से १२ तक।) यह सब *'पुनि पुनि पूछत'* से जना दिया। बार-बार पूछना व्याकुलताका सूचक है।

टिप्पणी—१ *'सचिव धीर धरि कह मृदु बानी।······'* इति। मन्त्रीकी दशा ऊपर कह आये हैं। वह बहुत ही व्याकुल थे, उनका कण्ठ गद्गद था। राजाके बहुत भारी दुःखको देखकर सुमन्त अपना दुःख भूल गये; इसीसे उपदेश करने लगे। उपदेशके सम्बन्धसे 'सचिव' पद दिया। (ख)—'महाराज' का भाव कि राजा धीर होते हैं और आप तो चक्रवर्ती महाराज हैं, सुरराजतक जिनका रुख ताकते रहे हैं, आपको अधीर न होना चाहिये। आप पण्डित (=बुद्धिमान् और शास्त्रवेत्ता) और 'ज्ञानी' अर्थात् विवेकी, शास्त्रजन्य ज्ञानमें भी निपुण, तत्त्ववेत्ता हैं; अतः धीरज धरना चाहिये।

टिप्पणी—२ *'धुरंधर'* अर्थात् सप्तद्वीपकी पृथ्वीके धारणकर्ता और धर्मरूपी धुरीके धारण करनेवाले। *'देवा'* अर्थात् आप दिव्य हैं, सब लोकपालोंका तेज आपमें है। *'साधु समाज सकल तुम्ह सेवा'* अर्थात् सत्संगद्वारा कौन वस्तु और ज्ञान है जो आपको न प्राप्त हुआ हो। साधुसेवी दुःख-सुखको समान मानते

हैं। यथा—*'जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइए। जिन्हके मिले सुख-दुख समान अमानतादिक गुन भए॥'* (वि० १३६)

टिप्पणी—३ *'बरबस रात दिवस की नाईं'* जैसे रातके बाद दिन, दिनके बाद रात होती है; किसीके रोके यह क्रम रुक या पलट नहीं सकता। परीक्षित्ने बहुत उपाय किये पर न बचे। साँपने काटा ही। वैसे ही कर्म और कालके अनुसार जन्म, मरण, दु:ख, सुख आदि भोगने ही पड़ते हैं, किसी उपायसे बचत नहीं हो सकती। अभी दु:ख हुआ, आगे सुख होगा, हानि हुई, आगे लाभ होगा।

प० प० प्र०—(१) राम-वियोग-शोक-दु:खसे स्वयं सुमन्तजी कितने व्याकुल हो गये थे, यह *'सोच सुमंत्र बिकल दुख दीना'* से *'जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि यहु जातना सरीरु'* (१४६) तक विस्तारसे कहा गया है। (२) तथापि 'महाराजको आप स्वयं ही समझाते हैं' इससे *'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे'* के समान सुमन्तजीका व्यवहार देखनेमें आता है। यहाँ मानवस्वभावकी एक विशेषता सुचारुरूपसे बतायी गयी है। (३) पण्डित, ज्ञानी, वीर, सुधीर धुरंधर, *'साधु समाज सदा तुम्ह सेवा'* इत्यादि सब लक्षण सुमन्तजीमें भी विद्यमान हैं। वे स्वयं बुध हैं। *'यह सियराम सनेह बड़ाई।', 'यह महिमा रघुबर सनेह की'। 'राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभाँ बड़ आदर तासू॥'*

२—*'सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥'* यह वचन श्रीसीताराम-विरह दु:खको छोड़कर अन्यत्र यथार्थ है। *'राउ धीर गुन उदधि अगाधू'* हैं ही। दशरथजी जड़ नहीं हैं, न सुमन्तजी जड़ हैं। जितने धीर सुमन्त्रजी हैं उतने या उससे भी अधिक दशरथजी हैं। पर दशरथजी श्रीसीता-रामस्नेहकी व्याकुलतामें प्राण त्याग करेंगे इस डरसे सुमन्त्रजीका समझाना अति उचित ही है।

पं०—*'धीरज धरहु……'* इति। शोक, विवेक और धैर्य आदिका नाशक है। अत: उसे छोड़िये। गुरु तथा शास्त्रोंद्वारा जो विवेक प्राप्त है उससे विचार कीजिये तो धैर्य होगा।

दो०—प्रथम बास तमसा भएउ दूसर सुरसरि तीर।
नहाइ रहे जल पानु करि सिय समेत दोउ बीर॥ १५०॥

केवट कीन्ह बहुत सेवकाई। सो जामिनि सिंगरौर गँवाई॥ १॥
होत प्रात बट छीरु मगावा। जटा मुकुट निज सीस बनावा॥ २॥
रामसखा तब नाव मँगाई। प्रिया चढ़ाइ चढ़े रघुराई॥ ३॥
लखनु बान धनु धरे बनाई। आपु चढ़े प्रभु आयसु पाई॥ ४॥

शब्दार्थ—**बीर**=भाई। यथा—*'जाहु न निज पर सूझ मोहि भयउँ काल बस बीर।'* (६। ६३) *'बीते अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।'* (६। ११५) **बीर**=बहादुर। **सिंगरौर**=शृंगवेरपुर। **गँवाई**=बितायी।

अर्थ—पहला निवास तमसापर हुआ, दूसरा गंगातटपर। श्रीसीताजीसहित दोनों रघुकुलवीर भाई उस दिन स्नान करके जल पीकर रह गये॥ १५०॥ केवटने बहुत सेवा की। वह रात सिंगरौरमें ही बितायी॥ १॥ सबेरा होते ही (श्रीरामजीने) बरगदका दूध मँगाया और अपने सिरपर जटाओंका मुकुट बनाया॥ २॥ तब श्रीरामजीके सखा (निषादराज) ने नाव मँगायी। श्रीरघुनाथजी प्रिया (श्रीसीताजी) को (उसपर) चढ़ाकर (स्वयं) चढ़े॥ ३॥ लक्ष्मणजीने धनुष-बाण सँवारकर रखे (वा, धारण किये) और प्रभुकी आज्ञा पाकर आप भी चढ़े॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'प्रथम बास तमसा……सेवकाई'* इति।—वाल्मीकिजीके मतानुसार दो दिन जलपर ही रहे और गोस्वामीजीके शंकर-मानसके अनुसार एक दिन जल पीकर रहे, दूसरे दिन गंगातटपर निषादराजके फल-मूल खाकर रहे। दोनों मतोंका निर्वाह यहाँ पूज्य कविने कर दिया है। वाल्मीकिजीका मत दोहेमें आ गया। उसके अनुसार केवटकी सेवा शय्या बनाना, पहरा मुकर्रर करना है। दूसरा मानसका मत

यथासंख्यालंकारसे अर्थ करनेसे स्पष्ट हो जाता है। *'प्रथम बास तमसा भयउ'* (तहाँ) *नहाइ रहे जल पानु करि'* और 'दूसरा सुरसरितीर (तहाँ) *'केवट कीन्ह बहुत सेवकाई'* अर्थात् फल-मूल लाकर दिये जो सबने खाये, शय्या सजायी, पहरा दिया, नाव मँगायी इत्यादि।' अध्यात्मरामायण सर्ग ७ श्लो० ८ से भी शृंगवेरपुरमें निराहार ही रहना जान पड़ता है, यथा—'**गुहेन किंचिदानीतं फलमूलादिकं च यत्। स्पृष्ट्वा हस्तेन संप्रीत्य नाग्रहीद्विससर्ज तत्॥**' अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीने प्रीतिपूर्वक हाथसे स्पर्श करके लौटा दिया, ग्रहण नहीं किया। वाल्मी० २। ५० में श्रीरामजीने स्पष्ट कहा है कि '**अश्वानां खादनेनाहमर्थी नान्येन केनचित्। एतावतात्र भवता भविष्यामि सुपूजितः॥**' (४५) घोड़ेके खानेके लिये जो आप ले आये हैं उसे तो मैं ले लेता हूँ और सब चीजें मैं न लूँगा। आपकी यह वस्तु लेकर मैं आपके द्वारा सत्कृत हो जाऊँगा। आगे श्रीवाल्मीकिजी लिखते हैं कि 'जल ही पिया'— '**जलमेवाददे भोज्यम्॥**' (४८)

टिप्पणी—२ *'जटा मुकुट निज सीस बनावा'* अर्थात् गंगाक्षेत्रसे वानप्रस्थधर्म ग्रहण किया। (लक्ष्मणजीने भी सिरपर जटाएँ धारण की हैं इसके कहनेकी आवश्यकता न थी, इससे न कहा। इतनेसे ही समझ लिया जायगा।)

टिप्पणी—३ *'लषन बान धनु धरे बनाई……'* इति। इससे दिखाया कि लक्ष्मण सन्नद्ध हैं। आयुधोंको धारण किया। नावपर चढ़ना और पार जाना प्रभुके अधीन है; अतः आज्ञाकी राह देखते रहे, आज्ञा पाकर चढ़े। (पंजाबीजीका मत है कि लक्ष्मणजीने शस्त्र उतारकर रख दिये, क्योंकि नदीके भयसे तनपर शस्त्र आदि नहीं धारण किये जाते। कारण कि यदि नाव कदाचित् डूब जाय तो अस्त्र-शस्त्र बाँधे सँभलना कठिन हो जाय। अथवा इससे नावपर रख दिया कि श्रीरामजी पार उतरकर अभी स्नान करेंगे। अथवा, सुधारकर लक्ष्मणजीने धारण किया। ☞ सर्ग ६ अध्यात्मरामायणमें '**आयुधादीन् समारोप्य लक्ष्मणोऽप्यारुरोह च।**' (२०) ऐसा लिखा है। अर्थात् सब आयुधोंको रखकर तब लक्ष्मणजी चढ़े।)

बिकल बिलोकि मोहि रघुबीरा। बोले मधुर बचन धरि धीरा॥ ५॥
तात प्रनामु तात सन कहेहू। बार बार पद पंकज गहेहू॥ ६॥
करबि पाय परि बिनय बहोरी। तात करिअ जनि चिंता मोरी॥ ७॥
बन मग मंगल कुसल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे॥ ८॥

अर्थ—मुझे व्याकुल देखकर रघुवीर (श्रीरामजी) धीरज धरकर मधुर वचन बोले—॥ ५॥ हे तात! पिताजीसे प्रणाम कहना, बारम्बार (मेरी ओरसे) पदकमल पकड़ना॥ ६॥ फिर पाँव पकड़कर विनती करना—हे तात! मेरी चिन्ता न कीजिये॥ ७॥ आपकी कृपा, अनुग्रह और पुण्य-(के प्रताप)-से वनमार्गमें हमें मंगल और कुशल है॥ ८॥

वि० त्रि०—श्रीरामजीने पहले सुमन्तको विदा कर दिया, तब आप गंगातटपर आये, यथा—*'बरबस राम सुमंत पठाए। सुरसरि तीर आपु तब आए॥'* और यहाँ कहते हैं कि संवाद रामजीके नावपर सवार होनेके बाद हुआ, और संवादमें जो बातें हुई थीं वे सुमन्तजीकी कही हुई बातोंसे मेल भी नहीं खातीं। इससे मालूम होता है कि विदा होनेके बाद भी सुमन्त्रने नहीं माना, वे गंगातटपर पहुँच ही गये, वहाँ भी कुछ बातचीत हुई। दोनों संवादोंकी मिली-जुली बातें यहाँ सुमन्तजी कह रहे हैं।

टिप्पणी—१ *'बिकल बिलोकि मोहि रघुबीरा।……'* इति। वे रघुवीर हैं, स्नेहको जीते हुए हैं, तो भी वे करुणानिधान हैं। मुझे विकल देख 'रघुवीर' भी विकल हो गये, यथा—*'करुनामय रघुबीर गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराईं॥'* अतः धैर्य धारण करके बोले।

टिप्पणी—२ *'बन मग मंगल कुसल हमारे।……'* इति। वनमें मंगल है—मुनियोंका दर्शन होगा; कुशल है। सुग्रीव आदि सखा मिलेंगे। अथवा, धर्मका निर्वाह होगा, कोई बाधा न कर सकेगा, यह मंगल आपकी कृपा—अनुग्रहसे होगा और मार्गमें कुशलपूर्वक जाऊँगा यह आपके पुण्यके प्रतापसे। [कृपा, अनुग्रह दो

पर्यायशब्द विशेषता सूचित करनेके लिये हैं। *'पुन्य तुम्हारे'* का भाव कि जिनके माता-पिता धर्मात्मा होते हैं, उनकी संतान उनके सुखके लिये उनके पुण्य प्रभावसे सकुशल रहती है। (पं०)]

छं०—तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुखु पाइहौं।
प्रतिपालि आयसु कुसल देखन पाय पुनि फिरि आइहौं॥
जननी सकल परितोषि परि परि पाय करि बिनती घनी।
तुलसी करेहु सोइ जतनु जेहि कुसली रहहिं कोसलधनी॥

सो०—गुर सन कहब सँदेसु बार बार पद पदुम गहि।
करब सोइ उपदेसु जेहि न सोच मोहि अवधपति॥ १५१॥

अर्थ—हे तात! आपकी कृपासे वनमें जाते हुए मैं सब सुख पाऊँगा। आज्ञाका पूर्णरीतिसे पालन करके कुशलपूर्वक लौटकर फिर चरणोंका दर्शन करने आऊँगा। सब (सात सौ) माताओंके पैरों पड़-पड़कर उनका संतोष करके और पैरों पड़-पड़कर बहुत तरहसे विनती करना। तुलसीदासजी कहते हैं कि (श्रीरामजीने उनसे विनय करके यह कहनेकी प्रार्थना की कि) वही उपाय कीजिये जिससे कोशलनाथ कुशल रहें। बारम्बार गुरुजीके चरणकमलोंको पकड़कर यह संदेश कहना कि पिताजीको वही उपदेश दें, जिससे अवधेश महाराज मेरा सोच न करें॥ १५१॥

टिप्पणी—१ *'कानन जात……'* अर्थात् जानेभरकी ही देर है, गये कि सुख मिला। क्योंकि *'हरिमारग चितवहिं मति धीरा'* 'सब वानर सेवाके लिये राह ताक रहे हैं'।

टिप्पणी—२ *'करेहु सोइ जतनु जेहि कुसली रहहिं'* इति। अर्थात् उनका अपमान भी यह कहकर न करें कि हमारे पुत्रको वन भेज दिया, यह भी इसमें जना दिया। [यह चरण सुमन्त्रके प्रति भी लिया जा सकता है कि तुम ऐसा करना। रा० प्र०]

टिप्पणी—३ *'गुरु सन……'* इति। इससे यह भी सूचित किया कि उन्हें समझावें कि इनका तो आविर्भाव ही इसीलिये हुआ है, रावणका वध करके लौट आवेंगे।

नोट—'कोसलधनी और अवधपति' साभिप्राय हैं। कोसल वा अवधके स्वामी हैं, इनके कुशलसे पुरीका कुशल है, वे राजा अवधके हैं, अतः सोच न करना चाहिये, क्योंकि इस कुलके सभी राजा धर्मपालनमें उदार रहे हैं।

पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनाएउ[१] बिनती मोरी॥ १॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जाते रह नरनाहु सुखारी॥ २॥
कहब सँदेसु भरत के आए। नीति न तजिअ राजपदु पाए॥ ३॥
पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेएहु मातु सकल सम जानी॥ ४॥
ओर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु मातु सुजन सेवकाई॥ ५॥
तात भाँति तेहि राखब राऊ। सोच मोर जेहि करै[२] न काऊ॥ ६॥
लखन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोरि निहोरा॥ ७॥
बार बार निज सपथ देवाई। कहबि न तात लषन लरिकाई॥ ८॥

दो०—कहि प्रनामु कछु कहन लिय सिय भइ सिथिल सनेह।
थकित बचन लोचन सजल पुलक पल्लवित देह॥ १५२॥

१-सुनाएउ—रा० प्र०। सुनाएहु—गी० प्रे०। २-करै—गी० प्रे०। करइ— रा० प०। करहि—लाला सीताराम।

अर्थ—हे तात! सब पुरवासियों और कुटुम्बियोंसे निहोरा करके, मेरी विनती सुनाना॥ १॥ सब प्रकारसे वही मेरा हितकारी है, जिससे राजा सुखी रहें॥ २॥ भरतके आनेपर संदेसा कहना कि राजपद पाकर नीति न छोड़ देना* (वा, राजनीति यही है कि प्राप्त राज्यको छोड़ना न चाहिये)॥ ३॥ कर्म-मन-वचनसे प्रजाका पालन करना और सब माताओंको समान जानकर सबकी सेवा करना॥ ४॥ हे भाई! पिता, माता और सुजन-(स्वजनों, परिजनों और सज्जनों-) की सेवा करके भाईपना अन्ततक निबाहना॥ ५॥ हे तात! राजाको उसी प्रकारसे रखना, जिससे वे कभी भी मेरा सोच न करें॥ ६॥ लक्ष्मणजीने कुछ कठोर वचन कहे तब श्रीरामजीने उनको मना करके डाँट करके फिर मुझसे विनती की॥ ७॥ बार-बार अपनी कसम दिलायी कि हे तात! पितासे लक्ष्मणका यह लड़कपन न कहना॥ ८॥ प्रणाम कहकर फिर श्रीसीताजीने कुछ कहना चाहा पर वह स्नेहके कारण शिथिल हो गयी, वाणी रुक गयी, नेत्र आँसूसे भर गये, देह पुलकसे प्रफुल्लित हो गयी॥ १५२॥

टिप्पणी—१ ***'जाते रह नरनाहु सुखारी'*** इति। भाव कि तुम सब नर हो, प्रजा हो, वे तुम सबके 'नाह' पति, स्वामी हैं; अतः तुम सबको उनकी सेवा योग्य ही है।

टिप्पणी—२ ***'नीति न तजिअ राजपद पाए'*** इति। राज्य पानेपर अभिमान हो जाता है—***'जगु बौराइ राजपदु पाये'***। (२२८-८) अतएव भरतजीसे कहते हैं कि तुम नीतिका त्याग न करना, नीति छोड़नेसे नरक होता है। [***'पालेहु प्रजा कर्म मन बानी'***—भाव कि मनसे सबका शुभ चाहना, वाणीसे मीठा बोलना और तनसे सबपर कृपा-दया रखना, सबको सुख देना (पं०)]

टिप्पणी—३ ***'ओर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु मातु……'*** इति। ओर-छोर निबाहना। [शत्रुघ्नसे विरोध न करना। पिता-माताकी सेवा करके भाईपना निबाहना, यह कहकर जनाते हैं कि हमारी माता, लक्ष्मणजीकी माता और अन्य सब माताओंकी सेवा करनेसे हम दोनों भाई भी खुश होंगे, यही भायप 'निबाहना' है। अपना भाई मानकर भाईकी माताकी सेवा करना। पुनः, ***'नीति न तजिअ……'*** के दूसरे अर्थके अनुसार यह भाव भी निकलता है कि कैकेयीको वनवासका कारण समझकर उनका त्याग न करना, उनकी सेवा सब माताओंके समान करना। श्रीरामजी जैसे यह जानते हैं कि वे राज्य न ग्रहण करेंगे, उनको राजमद न होगा, वैसे ही यह भी जानते हैं कि ये माताका त्याग करेंगे (पाण्डेजी ***'भायप……पितु मातु चरन सेवकाई'*** का भाव यह लिखते हैं कि हम पिता-माताकी आज्ञाका सेवन करते हैं, तुम उनके चरणोंकी सेवा करो। इस तरह भायप निबाहो)। अतएव इसका ऐसा भाव हो सकता है।] वाल्मीकीय० सर्ग ५२ में श्रीरामजीने सुमन्तजीसे यह संदेशा कहा है—**'भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्तसे। तथा मातृषु वर्तेथाः सर्वास्वेवाविशेषतः॥ यथा च तव कैकेयी सुमित्रा चाविशेषतः। तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः॥ तातस्य प्रियकामेन यौवराज्यमवेक्षता।**

---

* साधारण अर्थ पहला है। श्रीरामजी बड़े हैं, भरत छोटे और प्रिय भाई हैं। बड़े छोटेको नीति सिखाते ही हैं। इसी काण्डमें सिखाना कहा गया है। यथा—'मुखिया मुख सों चाहिये खान पान कहुँ एक। पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥ ३१६॥ राजधरम सर्बस इतनोई। जिमि मन माहँ मनोरथ गोई॥' और उत्तरकाण्डमें भी बराबर भाइयोंको नीति सिखाना पाया जाता है। यथा—'राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती।' (७। २५। ३) वैसे उनपर प्रेम होनेसे छोटे भाई समझकर यह नीतिशिक्षाका संदेश भेजा है, यद्यपि वे जानते हैं कि इनको इस शिक्षाकी जरूरत नहीं। श्रीसीताजीको अनुसुइयाजीने पातिव्रत्य धर्मकी शिक्षा दी, यद्यपि उनको उसकी जरूरत न थी—'सुनु सीता तव नामु सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं। तोहि प्रान प्रिय राम कहिउँ कथा संसारहित' (आ० ५)। कुछ लोग इस अर्थमें शंका करते हैं और कहते हैं कि जब श्रीरामजीने स्वयं लक्ष्मणजीसे कहा है कि 'भरतहि होइ न राजमद बिधिहरिहरपद पाइ' तब ऐसा संदेसा उनके मुखसे कदापि नहीं निकल सकता। अतएव दूसरी प्रकारसे अर्थ उनके संतोषार्थ किया गया। और नीति है भी कि 'जेहि पितु देइ सो पावइ टीका'। और इसका समर्थन भरतजीके वचनोंसे भी होता है—'प्रभु पितु बचन मोह बस पेली। आएउँ इहाँ समाज सकेली'; वे प्रभु-वचन ये ही हैं। इस आज्ञाको मेटकर चित्रकूट आनेके लिये क्षमा माँगी। अतः यह अर्थ भी सुसंगत है।

लोकयोरुभयोः शक्यं नित्यदा सुखमेधितुम्॥' (३४—३६) अर्थात् 'भरतसे कहना कि जैसा राजाके साथ व्यवहार करो वैसा ही सब माताओंके साथ करना। जैसे कैकेयी और सुमित्रा (शत्रुघ्नके सम्बन्धसे) तुम्हारी माताएँ हैं वैसे ही मेरी माता कौसल्या देवी तुम्हारी माता हैं। पिताकी प्रसन्नताके लिये यौवराज्यके कर्तव्य पालन करनेसे तुम लोक-परलोक दोनोंमें नित्य सुख पा सकते हो। सर्ग ५८। २२—२५ में सुमन्तने यों कहा है—'भरतसे कहना कि सब माताओंकी यथायोग्य सेवा वे करें, युवराजपद पाकर वे राजासनपर अधिष्ठित पिताका पालन करें, राजाकी इच्छा भंग न होने दें, उनके आज्ञानुसार यौवराज्यमें संतोष करें। और मेरी माताको अपनी माताके समान समझें। इसी तरहकी अनेक बातें कहीं।'

टिप्पणी—४ ***'पुनि कछु कही लषनु कटु बानी।''''''लरिकाई'*** इति। लक्ष्मणजीने पिताको कटु वचन कहे और श्रीरामजी ऐसे पितृभक्त कि ***'पिता बचन तजि राज उदासी। दंडकबन बिचरत अबिनासी॥'*** अर्थात् इन्होंने पितापर किंचित् क्रोध न किया, किंतु उनके वचन मानकर राज्य छोड़ वनमें फिरने लगे। श्रीरामजीको लक्ष्मणजी अति प्रिय हैं, यथा—***'ते सियरामहि प्रान पियारे',*** और उनके प्रति भरतजीने भी कहा ही है कि ***'लालन जोग लषन लघु लोने'*** इत्यादि। अतएव लक्ष्मणजीके कथनकी लड़कपनमें गणना करके उन्होंने मन्त्रीसे यह कहा कि ***'कहब न तात लषन लरिकाई'।*** तब सुमन्तने क्यों कहा? इसका एक कारण ***'सकुचि राम निज सपथ दिवाई।'*** (९६। ५) में लिखा जा चुका है। दूसरे, राजा तीनोंका संदेसा पूछ रहे हैं—***'सोक बिकल पुनि पूँछ नरेसू। कहु सिय राम लषन संदेसू॥'*** अतएव इतना ही कहा कि लक्ष्मणजीने कुछ कहा था, पर श्रीरामने अपनी शपथ दिलायी है कि न कहना।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'राजा बड़े हैं, तुम बड़े हो, हम बड़े हैं, हम लोगोंके बीचमें लक्ष्मणको लड़कपन न करना चाहिये, पर फिर भी ये लड़के ही हैं; अतः ऐसी बातोंपर ध्यान देना, उनका कहना योग्य नहीं। इसको भुला दो। किसीका मत है कि राजा सत्यसंध हैं, उनका मन्त्री भी सत्यवादी हुआ चाहे। अतः मन्त्रीने सत्य न छोड़ा। राजाका उत्तर भी दिया और श्रीरामजीका वचन भी रखा। (विशेष ९६। ५ में देखिये।)

प० प० प्र०—१ श्रीरामजीकी आज्ञा है ***'लखन सँदेसु कहिअ जनु'***—सुमन्तने संदेश कहाँ कहा? किंचित् भी तो नहीं कहा। ***'लषन कहे कछु बचन कठोरा'*** कहनेकी आवश्यकता क्या थी? उत्तर—राजाके ***'कहु सिय राम लषन संदेसू'।*** पर भी सुमन्तजीने किसीका संदेसा नहीं कहा। पर जब ***'पुनि पुनि पूछत मंत्रिहि राऊ। प्रियतम सुअन सँदेस सुनाऊ॥'*** (१५०। १) तब कहना भी आवश्यक हो गया। ***'प्रियतम सुअन'*** श्रीराम लक्ष्मण दोनों हैं। यथा—***'मेरे प्राननाथ सुत दोऊ।'*** (१। २०८। १०), ***'पुनि दंडवत करत दोउ भाई।''''''सुत हित लाइ दुसह दुख मेटे।'*** (१। ३०८) अतः राजाके आज्ञानुसार लक्ष्मणका संदेश सुनाना कर्तव्य हो गया। पर श्रीरामजीकी मनाही थी। अतः सुमन्तजीने बुद्धिमानीसे दोनोंकी आज्ञाका पालन किया। फिर जो वचन कहे वे भी सन्दिग्ध ही हैं। इसमें यह नहीं कहा कि वे वचन दशरथसम्बन्धी थे या कैकेयीसम्बन्धी। कैकेयीको ही सबने बुरा-भला कहा है, यथा—***'जहँ तहँ देहिं कैकइहि गारी।'*** (५०। १) ***'देहिं कुचालिहि कोटिक गारी।'*** (५१। ४) इससे राजाने समझा होगा कि कैकेयीके विषयमें कटु वचन कहे होंगे। सुमन्तजी पूरे निर्दोष हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने अपना 'सुमन्त' नाम चरितार्थ कर दिखाया।

२ श्रीदशरथजी और श्रीसुमन्तजीके रामप्रेमविरह-अवस्थाका मिलान बड़ा आनन्ददायक होगा, श्रीमुख-वचन है ***'तुम्ह पितु सरिस'।***

नोट—१ ***'कहि प्रनाम कछु'''''*** इति। श्रीसीताजीका संदेसा क्यों न कहा? पंजाबीजी कहते हैं कि यह सोचकर सुमन्तजीने न कहा कि वह संदेश हमसे न कहा जा सकेगा। श्रीसीताजीके शीतल वचन सुनकर सुमन्तजी व्याकुल हो गये थे—***'सुनि सुमंत्र सिय सीतल बानी। भयउ बिकल जनु फनि मनि हानी॥ नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना॥'*** सुनकर यह दशा हो गयी थी तो कहते क्योंकर? पुनः इसका स्मरण करके ही वे विह्वल हो रहे हैं। पुनः राजाको विश्वास था कि वे जरूर लौटेंगी,

उस संदेशको सुनकर तो उनके प्राण क्षणभर भी न रहेंगे। हमारी यह दशा हुई तो राजाकी क्या दशा होगी, यह समझकर न कहा।

नोट—२ केवटका प्रसंग नहीं कहा गया। क्योंकि वह इनके पीछे हुआ। ***'बरबस राम सुमंत्र पठाए। सुरसरि तीर आप तब आए॥ माँगी नाव न केवट आना।'*** (९९। २-३) इन्होंने नावका चलाना दूरसे देखा। दूसरे, यह ऐश्वर्यका प्रसंग है, इससे न कहा, केवल माधुर्यका प्रसंग कह दिया। तीसरे, ऐसा वर्णन करके वाल्मीकिजीका मत भी दिखा दिया। उसमें यहाँ केवटका प्रसंग नहीं है।

नोट—३ यहाँका वर्णन अध्यात्मसे मिलता-जुलता है, यथा—**'सीता चाश्रुपरीताक्षी मामाह नृपसत्तम। दुःखगद्‌गदया वाचा रामं किंचिदवेक्षती॥ साष्टाङ्गं प्रणिपातं मे ब्रूहि श्वश्र्वोः पदाम्बुजे। इति प्ररुदती सीता गता किंचिदवाङ्‌मुखी॥'** (७।१२-१३) अर्थात् नेत्रोंमें जल भरकर कुछ-कुछ श्रीरामकी ओर देखते हुए सीताजीने दुःखसे गद्‌गदकण्ठ हो कहा—दोनों सासुओंके चरणकमलोंमें मेरा प्रणाम कहना। ऐसा कह सिर झुकाकर रोती हुई वे वहाँसे चली गयीं।

तेहि अवसर रघुबर रुख पाई। केवट पारहि नाव चलाई॥ १॥
रघुकुलतिलक चले एहि भाँती। देखउँ ठाढ़ कुलिस धरि छाती॥ २॥
मैं आपन किमि कहौं कलेसू। जिअत फिरेउँ लेइ राम संदेसू॥ ३॥
अस कहि सचिव बचन रहि गयऊ। हानि गलानि सोच बस भयऊ॥ ४॥

अर्थ—उसी समय रघुवरका रुख पाकर केवटने पार जानेके लिये नाव चलायी॥ १॥ रघुकुलशिरोमणि श्रीराम इस प्रकार चल दिये और मैं छातीपर वज्र रखकर खड़ा देखता रहा॥ २॥ मैं अपना क्लेश कैसे कहूँ कि श्रीरामचन्द्रका संदेश लेकर जीता ही लौट आया॥ ३॥ ऐसा कहकर सुमन्तकी वाणी रुक गयी और वे हानि, ग्लानि वा हानिकी ग्लानि और सोचके वश हो गये॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'कुलिस धरि छाती'*** का भाव कि वज्र न रखा होता तो वह फट जाती। २—***'किमि कहौं'*** अर्थात् यही आश्चर्य है कि मैं जीता लौटा तभी तो आकर कहा। ३—***'हानि गलानि सोच बस भयऊ'*** इति। हानि, ग्लानि और सोच तीनोंके वश हो गये, इसीसे वचन न निकला। अथवा, हानिसे ग्लानि हुई, उससे सोच हुआ, ग्लानि यह कि जीता लौटा। पूर्व सुमन्तके ग्लानिके प्रसंगमें कह आये हैं—***'मनहु कृपिन धनरासि गँवाई'।*** राम परम धन हैं, श्रीरामजीका न लौटना धनकी हानि है। उत्साह भंग हो गया, हर्ष जाता रहा, राम हाथसे निकल गये, मैं कैसे उत्तर दे रहा हूँ, जगत्‌को कैसे मुँह दिखाऊँगा, राजाका जीना कठिन है इत्यादि ग्लानि और सोच हैं।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—***'मैं आपन किमि कहौं कलेसू। जियत फिरेउँ लेइ राम संदेसू॥'*** इतना कहते ही सुमन्तजीकी वाणी रुक गयी, वे हानि, ग्लानि और शोकके वश हो गये, और ऐसे हानि-ग्लानि-शोकके वश हुए कि चौदह वर्षतक उन्होंने मुँह न दिखलाया। महाराजका स्वर्गवास हुआ, भरतजी आये, और्ध्वदैहिक कृत्य हुआ, भरत-सभा हुई, सब लोग चित्रकूट गये, महाराज जनक आये, सब कुछ हुआ, पर सुमन्तजीका पता नहीं है। जब रामजी वनवाससे लौटे तभी सुमन्तजीने घरसे बाहर पाँव दिया।

सूत बचन सुनतहि नरनाहू। परेउ धरनि उर दारुन दाहू॥ ५॥
तलफत बिषम मोह मन माँपा। माँजा मनहुँ मीन कहुँ ब्यापा॥ ६॥
करि बिलाप सब रोवहिं रानी। महा बिपति किमि जाइ बखानी॥ ७॥
सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरजु भागा॥ ८॥

दो०—भएउ कोलाहल अवध अति सुनि नृप राउर सोरु।
बिपुल बिहग बन परेउ निसि मानहु कुलिस कठोरु॥ १५३॥

शब्दार्थ—**सूत**=सारथी, पौराणिक, मन्त्री सुमन्तजी। मापना=मतवाला हो जाना, व्याकुल होना, **माँजा**=पहली वर्षाका फेन। *'माजहि खाइ मीन जनु मापी।'* (५४।४) देखिये।

अर्थ—सारथि सुमन्तके वचन सुनते ही राजा पृथ्वीपर गिर पड़े, उनके हृदयमें कठिन दाह होने लगा॥५॥ तड़प रहे हैं कठिन मोहसे मन मतवाला हो गया। अर्थात् अत्यन्त व्याकुल हो गये, मानो मछलीको माँजा व्याप गया॥६॥ सब रानियाँ विलाप कर-करके रो रही हैं, बड़ी घोर विपत्ति है, कैसे बखान की जाय॥७॥ विलाप सुनकर दुःखको भी दुःख लगा। धैर्यका भी धैर्य भाग गया॥८॥ राजमहलका शोर सुनकर अवधभरमें अत्यन्त शोर मच गया। ऐसा मालूम होता है मानो पक्षियोंके बड़े भारी वनमें रातको कठिन वज्र गिरा हो॥१५३॥

टिप्पणी—१ *'मोह मन माँपा'* इति। यमुनापार 'माप' शब्द नापके अर्थमें बोला जाता है। इस तरह अर्थ होगा—मोहने मनको नाप लिया, जहाँतक मनकी हद है वहाँतक मोह व्याप्त होगा।

टिप्पणी—२ *'दुखहू दुख लागा।'*...... इति। दुःख सबको दुःख दिया करता था, पर आज वह स्वयं दुःखी हो गया, यह दुःख अलौकिक है और वह लोककृत है। 'धीरज'—कितनी ही हानि हो धीरज बना रहता है, भागता नहीं। अपनी हानिसे दूसरेकी हानि अधिक होती है तब भी धीरज होता है। इस परमहानिसे बढ़कर हानि नहीं; इससे धीरज न रहा। (भाव, ऐसा दुःख सबको हुआ और ऐसा सबका धैर्य जाता रहा कि मूर्तिमान् दुःख और धैर्य भी दुःखी और अधीर होकर भाग जायँ। इससे दुःखकी सीमा दिखायी। अत्यन्त असीम दुःख हुआ।)

टिप्पणी—३ *'बिपुल बिहग बन'*...... इति। अयोध्या वन है, पुरवासी विहंग हैं, मन्त्रीका वचन कुलिश है। पहले वज्र राजापर गिरा, यथा—*'सूत बचन सुनतहि नर नाहू। परेउ धरनि उर दारुन दाहू॥'* वज्रसे भी दारुण दाह होता है। अथवा मन्त्री रात्रिको नगरमें आया, वही वज्र है। वनपर रातमें वज्र गिरना कहा, क्योंकि रातमें सब पक्षी बसेरा लेते हैं; कोई भी उस समय बाहर नहीं रहता, सब अपने-अपने बसेरेपर पहुँच जाते हैं।

कैकेयीसे जो सखियोंने कहा था कि *'कौसल्या अब काह बिगारा। तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा॥'* उसको यहाँ चरितार्थ किया।

प्रान कंठ गत भएउ भुआलू। मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू॥ १॥
इंद्री सकल बिकल भइँ भारी। जनु सर सरसिज बनु बिनु बारी॥ २॥
कौसल्या नृपु दीख मलाना। रबिकुल रबि अथएउ जिय जाना॥ ३॥
उर धरि धीर राम महतारी। बोली बचन समय अनुसारी॥ ४॥

अर्थ—राजाके प्राण कण्ठमें आ गये (ऐसे देख पड़ते हैं) मानो मणिके बिना सर्प व्याकुल हो रहा है॥१॥ सभी इन्द्रियाँ बड़ी व्याकुल हैं, मानो कमलवन बिना जलके तालाबमें कुम्हलाया हो॥२॥ कौसल्याजीने राजाको म्लान (बहुत दुःखी) देखा (तब) जीमें जान गयीं कि सूर्यकुलका सूर्य अब अस्त होनेवाला है॥३॥ हृदयमें धीरज धरकर श्रीरामजीकी माता समयके अनुकूल वचन बोलीं॥४॥

टिप्पणी—१ *'प्रान कंठ गत भएउ'*...... इति। *'प्रीतम सुवन सँदेस'* सुनते ही सब शरीर छोड़कर प्राण कण्ठमें आ गया।

टिप्पणी—२ राजाने वर माँगते समय जीवनके लिये दो दृष्टान्त दिये थे *'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना।'* उन दोनोंको मरणकालमें दिखाते हैं—*'माँजा मनहुँ मीन कहुँ ब्यापा'* और *'मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू।'* राजा तड़पते हैं—*'तलफत मीन मलीन ज्यों॥'* (१५४)

टिप्पणी—३ *'इन्द्री सकल बिकल भइँ भारी।'*...... इति। इन्द्रियाँ दस हैं, इसलिये बन शब्द दिया। यहाँ राजा सर, इन्द्रियाँ कमलवन और राम जल हैं। सरसे सबका काम चलता है। राजा सबका पालन करता

है। कमल पवित्र और देवताओंद्वारा पूज्य है। उनकी पूजा इससे होती है, राजा इन इन्द्रियोंद्वारा देवताओंका उपकार किया करते थे। श्रीरामजी धीरधुरंधर हैं। ये 'राम-महतारी' हैं, अतः इन्होंने धीरज धारण किया।

नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू॥ ५॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥ ६॥
धीरज धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सबु परिवारू॥ ७॥
जौं जिअ धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लषनु सिय मिलहिं बहोरी॥ ८॥

दो०—प्रिया बचन मृदु सुनत नृपु चितएउ आँखि उघारि।
तलफत मीन मलीन जनु सींचत सीतल बारि॥ १५४॥

अर्थ—हे नाथ! आप मनमें समझकर विचार कीजिये कि रामचन्द्रका वियोग अपार समुद्र है॥ ५॥ आप मल्लाह हैं, अवध जहाज है, सब प्रिय प्यारोंका समाज ही यात्री हैं जो उसपर चढ़े हुए हैं॥ ६॥ आप धीरज धरेंगे तो सब पार हो जायँगे, नहीं तो सब परिवार डूब जायगा॥ ७॥ हे प्रिय स्वामी! यदि आप मेरी विनती हृदयमें धारण करें तो राम-लक्ष्मण-सीता फिर मिलेंगे॥ ८॥ प्रिय पत्नीके कोमल वचन सुनकर राजाने आँखें खोलकर देखा, मानो तड़पती हुई दीन मछलीको ठंढ़े जलका छींटा दिया गया हो॥ १५४॥

टिप्पणी—१ *'करनधार तुम्ह……'* इति। जब राजारूपी कर्णधार अधीर हो गये तो फिर सब डूब क्यों न गये? कारण कि जब कर्णधार अधीर होकर जहाज छोड़कर चल दे तो उसके डूबनेमें संदेह ही क्या हो सकता है। पर यहाँ तो कर्णधारके चले जानेपर दूसरे कर्णधार भरतजी आ गये। यथा—***'अवसि चलिय बन रामु जहँ भरत मंत्रु भल कीन्ह। सोक सिन्धु बूड़त सबहि तुम्ह अवलंबनु दीन्ह॥'*** (१८४) चौदह वर्षतक ये कर्णधार रहे पर इस अवधिकी समाप्तिके निकट ये भी अधीर हो भागनेको हुए—***'बीते अवधि रहे जो प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥'*** तब इनको सहारा देनेके लिये हनुमान्‌जी कर्णधाररूपसे आ गये, यथा—***'राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत। बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गएउ जिमि पोत॥'*** (उ०) और श्रीरामजी स्वयं पहुँच गये।

नोट—१ इसी प्रकार वाल्मी० ५९ में राजाने अपने शोक-सागरका रूपक स्वयं कहा है। श्रीराम-वियोगका शोक उस समुद्रकी धारा है। श्रीसीताजीका विरह दूसरा पार है। श्वास लेना लहरी और भँवर है, आँसूके वेगके कारण गन्दे जलवाला है। दुःखसे हाथका पटकना मछली है, रोना गर्जन है, बिखरे केश सेवार हैं। कैकेयी बड़वाग्नि है। मेरा अश्रु धारा उत्पन्न करनेवाला है। मन्थराके वचन बड़े-बड़े ग्राह हैं, दुष्टा कैकेयीके वर इस समुद्रके तीर हैं और श्रीरामचन्द्रका वनवास इसका विस्तार है। रामचन्द्रके बिना मैं इसी समुद्रमें डूबा हुआ हूँ। मैं जीता हुआ इस शोक-समुद्रको पार नहीं कर सकता। (श्लोक २८—३१) और मानसमें यहाँ कौसल्याजीने रामवियोगरूपी समुद्रको पार करनेका रूपक कहा है।

नोट—२ श्रीरामजीके वियोगपर समुद्रका आरोप, राजापर कर्णधारका, अवधपर जहाजका, समस्त प्रिय परिवार, प्रजा आदिपर पथिक समाजका, धीरजपर पार पानेका और 'व्याकुलतासे मृत्यु' पर डूबनेका आरोप करना परंपरितका ढंग लिये 'सांगरूपक' अलंकार है। अन्तमें सम्भावनाकी ध्वनि है। (वीर)

टिप्पणी—२ *'जौं जिअ धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लषनु सिय…… ॥'* इति। अर्थात् मैं आपको शिक्षा नहीं देती, आपसे विनय करती हूँ। राम-लक्ष्मण-सीता फिर मिलेंगे। कौसल्याजीके वचन तो सभी मृदु हैं पर ये अन्तिम वचन 'राम लषन सिय मिलेंगे' ही राजाको अति मीठे और कोमल लगे। इन्हींको सुनकर राजाने आँखें खोलीं। श्रीराम जलरूप हैं। राजा मीन हैं। यही वरदान हैं। उसीका छींटा पाकर नेत्र खुल गये, जैसे कीचड़में पड़ी तड़पती-फड़फड़ाती हुई मछलीको जलका छींटा मिलनेसे प्राण रोकनेका

कुछ सहारा हो जानेसे वह आँख खोल दे। 'राम लषन सिय फिर मिलेंगे' इस वचनरूपी शीतल जलके छींटेसे कुछ देरके लिये ऐसा मालूम हुआ कि मानो वे मिल ही गये। राजा उठकर बैठ गये। यहाँ 'उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा' अलंकार है।

पंजाबीजी—*'प्रिया'* कहा क्योंकि जेठी हैं। इनके पुत्रको वन भेजा तो भी ऐसे दयामय कोमल वचन बोलीं और श्रीरामजीके मिलनेकी आशा दीं।

धरि धीरजु उठि बैठ भुआलू। कह सुमंत्र कहँ राम कृपालू॥ १॥
कहाँ लखनु कहँ रामु सनेही। कहँ प्रिय पुत्र बधू बैदेही॥ २॥
बिलपत राउ बिकल बहु भाँती। भइ जुग सरिस सिराति न राती॥ ३॥
तापस अंध साप सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा सुनाई॥ ४॥
भएउ बिकल बरनत इतिहासा। राम रहित धिग जीवन आसा॥ ५॥
सो तनु राखि करबि मैं काहा। जेहिं न प्रेम पनु मोर निबाहा॥ ६॥
हा रघुनंदन प्रान पिरीते। तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते॥ ७॥
हा जानकी लषन हा रघुबर। हा पितु हित चित चातक जलधर॥ ८॥

अर्थ—धीरज धरकर राजा उठ बैठे (और बोले) कहो सुमन्त्र, दयालु राम कहाँ हैं?॥ १॥ लक्ष्मण कहाँ हैं? प्यारे स्नेही (वा, हे स्नेही) राम कहाँ हैं? प्यारी पुत्रवधू (बहू) विदेहकुमारी कहाँ है?॥ २॥ राजा व्याकुल हैं, बहुत तरहसे विलाप कर रहे हैं। रात युगके समान बड़ी हो गयी, व्यतीत नहीं होती॥ ३॥ (राजाको) अन्धे तपस्वीके शापकी याद आ गयी। उन्होंने कौसल्याजीको सब कथा सुनायी॥ ४॥ (तपस्वीके) इतिहासको वर्णन करते-करते वे व्याकुल हो गये, (और कहने लगे कि) रामके बिना जीवनकी आशाको धिक्कार है॥ ५॥ उस शरीरको रखकर मैं क्या करूँगा जिसने मेरा प्रेमपन न निबाहा॥ ६॥ हा प्राण-प्यारे रघुकुलको आनन्द देनेवाले! तुम्हारे बिना जीते हुए बहुत दिन बीत गये॥ ७॥ हा जानकी! हा लक्ष्मण! हा रघुबर! हा पिताके चित्तरूपी चातकके हित करनेवाले मेघ!॥ ८॥

नोट—*'कह सुमंत्र कहँ राम……'* इति। रानीके वचन सुनकर उठे, पर सम्बोधन सुमन्तको कर रहे हैं। इससे जनाया कि राजा सुमन्तजीसे पूछ रहे थे, उसीमें उनका ध्यान है, श्रीरामको छोड़ उनके चित्तमें दूसरी बात नहीं है। *'कृपालू'* विशेषण दिया क्योंकि वनवासियों, देवों, ऋषियोंपर कृपा करने और मेरे वचन सत्य करनेके लिये ही वनको गये हैं और हमपर आगे भी कृपा करेंगे। (पं०)

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—*'भइ जुग सरिस……।'* दु:खकी रात है, इससे बहुत बड़ी जान पड़ती है।

टिप्पणी—२ *'भएउ बिकल बरनत इतिहासा।……'* इति। कथा कहते-कहते ग्लानि हुई कि लौकिक प्राकृत पुत्रके माता-पिताने पुत्रविरहमें शरीर छोड़ दिया, हमको धिक्कार है कि हमारा शरीर अलौकिक पुत्रके विरहमें भी नहीं छूटता! जीवनकी कौन कहे, जीवनकी आशाको भी धिक्कार है! इस आशापर जीनेकी चाह करना कि फिर मिलेंगे ऐसी आशाको धिक्कार है! (पंजाबीजी)

टिप्पणी—३ *'सो तनु राखि करबि मैं काहा……'* इति। कौसल्याजीकी प्रार्थना थी कि आप धीरज धरें, राम फिर मिलेंगे। उसीपर राजाके वचन हैं कि रामरहित जीवनकी आशाको धिक्कार है, जिस शरीरने प्रेम न निबाहा उसका रखना व्यर्थ है। राजाको ज्ञान तो है पर उनका प्रेम, उनका वात्सल्य, उसे दबाये डालता है—*'धरमधुरंधर गुननिधि ज्ञानी। हृदय भगति मति सारंगपानी॥'* (१। १८८। ८) हृदयकी भक्ति जो वहाँ कही उसका भाव यही है कि ऊपर कर्म और ज्ञान देखनेमात्रको हैं, भीतर भक्ति है—अन्धतापसका शाप कहकर कर्ममीमांसाको प्रधान रखा और दूसरी ओर फिर रामविरहको प्रधान रखा। जैसे—*'जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥'* जनकमहाराजका गूढ़ प्रेम रामदर्शनपर प्रकट हुआ वैसे ही इनका

रामवियोगपर। गी० २। ५७, ५८, ५९ से मिलान कीजिये—'"""*तिलक को बोल्यो दियो बन चौगुनो चित चाउ। हृदय दाडिम ज्यो न बिदर्यो समुझि सील सुभाउ॥*' (२) *सीय रघुबर लषन बिनु भय भभरि भगी न आउ।*""" (५७), '*हृदय समुझि सनेह सादर प्रेम पावन मीन। करी तुलसीदास दसरथ प्रीति परमिति पीन॥* (५८), '*करत राउ मन मों अनुमान। सोक बिकल मुख बचन न आवै बिछुरे कृपानिधान॥ १॥ राज देन कहँ बोलि नारिबस मैं जो कह्यों बन जान। आयसु सिर धरि चले हरषि हिय कानन भवन समान॥ २॥ ऐसे सुत के बिरह अवधि लौं जो राखहुँ यह प्रान। तौ मिटि जाइ प्रीति की परमिति अजस सुनौं निज कान॥ ३॥ राम गये अजहूँ हौं जीवत समुझत हिय अकुलान। तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परमान॥ ४॥*' (५९)

नोट—'*तापस अंध साप सुधि आई*' इति। श्रीरामजीके वनगमनके छठी रात्रिको अर्धरात्रिके समय राजाने अपने पापोंका स्मरण किया। यह कथा वाल्मीकीय० अ० सर्ग ६३-६४ में महाराजने वन जानेकी छठी रातको कौसल्याजीसे यों कही है—कल्याणि! मनुष्य जो उत्तम वा निन्दित कर्म करता है उसका फल उसको मिलता है। जो कर्मके आरम्भमें उसके फलकी गुरुता या लघुताका विचार नहीं करता वह बालबुद्धि कहा जाता है। मैंने यह प्रसिद्धि पानेके लिये कि 'कुमार शब्दवेधी हैं' ऐसा ही पाप किया है। उसी स्वयं किये हुए कर्मका फल आज मुझे मिला। उस समय तुम्हारा ब्याह नहीं हुआ था और मैं युवराज ही था। एक बार वर्षा-ऋतुमें सूर्यास्त होनेपर धनुषबाण लेकर तथा रथपर व्यायाम करनेकी इच्छासे मैं सरयूतटपर गया कि रातमें नदीतटपर जल पीनेके लिये आये हुए किसी जंगली भैंसा, हाथी, हरिण आदिका शिकार करूँ। अँधेरेमें मुझे हाथीके गर्जनके समान शब्द सुन पड़ा। मैंने हाथीके पानेके लिये तीक्ष्ण बाण चलाया, जिस जगहके लिये मैंने शब्दवेधी बाण छोड़ा था, ठीक वहींसे तपस्वीकी बोलीके शब्द सुनायी दिये। 'हा हा! हमारे समान तपस्वीपर यह शस्त्र क्यों गिरा? मैंने किसका अपकार किया, जो मुझे बाण मारा गया? मुझ अजिन-वल्कलवस्त्रधारी ऋषिके वधसे क्या लाभ मिलेगा? मुझे अपनी मृत्युकी चिन्ता नहीं पर वृद्ध माता-पिताकी चिन्ता है, वे कैसे जियेंगे?' यह दयनीय शब्द सुनकर मेरे होश उड़ गये। मैं ऋषिके पास जहाँ वे गिरे पड़े थे पहुँचा। वे बोले—'मैं अपने वृद्ध अंधे प्यासे माता-पिताके लिये जल लेने आया था। वे प्रतीक्षा करते होंगे, तुमने मुझे किस अपराधसे मारा? बाण निकाल दो और जाकर मेरे पिता-मातासे सब वृत्तान्त कह उन्हें प्रसन्न करो, जिससे वे तुम्हें शाप न दे दें।' बाण निकालनेसे मृत्यु हो जायगी, इससे मैं चिन्तित हुआ और न निकालनेसे उनको कष्ट था। ऋषि चिन्ताको समझकर बोले 'आप ब्रह्महत्याको न डरें, मैं द्विजाति नहीं हूँ। शूद्राके गर्भसे वैश्यद्वारा मेरा जन्म है'। मैंने बाण निकाला, वे बड़े कष्टमें थे, उनके प्राण निकल गये। (सर्ग ६३) मैं, पाप दूर करनेके विचारसे जलका घड़ा लेकर आश्रमपर गया। पैरकी आहट पाकर वे बोले—बेटा! बड़ा विलम्ब किया, हमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही थी, शीघ्र जल लाओ, तुम बोलते क्यों नहीं?' मैं भयभीत हो गया; मुनिको पुत्रका मृत्यु-संवाद सुनाया। 'मैं दशरथ नामका क्षत्रिय हूँ, आपका पुत्र नहीं""" इत्यादि सब वृत्तान्त कह सुनाया। फिर कहा कि 'आप प्रसन्न हों, आपकी रक्षाके लिये जो आज्ञा हो सो करूँ।' ऋषिने यह कठोर वचन सुनकर भी मुझे कठोर शाप न दिया। वे शोकातुर होकर बोले—'राजन्! यदि तुम स्वयं मुझसे अपना किया हुआ यह अशुभ कर्म न कहते तो अवश्य ही तुम्हारे सिरके लाखों टुकड़े हो जाते। तुमने जान-बूझकर यह कर्म किया होता तो सारा रघुकुल नष्ट हो जाता। तुम हमें वहाँ ले चलो जहाँ मेरा पुत्र पड़ा है, हम अन्तिम समय उसे फिर देख लें। मैं उन्हें वहाँ ले गया। वे दोनों पुत्रपर गिरकर विलाप करने लगे। पुत्र दिव्यरूप हो स्वर्गको प्राप्त हुआ और इन्द्रके साथ उस तपस्वीने पिता-माताको आश्वासित करके कहा—'आपकी सेवासे मैं इस उच्च स्थानपर पहुँचा, आप भी शीघ्र ही मेरे पास आवेंगे।' दोनोंने पुत्रको जलांजलि देकर हाथ जोड़कर मुझसे कहा—'तुम हमें भी बाणसे मार डालो। तुमने अज्ञानसे हमें अपुत्र बना डाला; अतएव मैं तुम्हें भी बहुत कठोर दुःखदायी शाप दूँगा—जिस प्रकार मैं पुत्रकी मृत्युका दुःख भोग रहा हूँ, इसी तरह तुम भी पुत्र-शोकसे ही मरोगे।

जैसी हमारी भयानक प्राण लेनेवाली दशा हो रही है वैसी ही तुम्हारी भी होगी। यथा—'**पुत्र व्यसनजं दुःखं यदेतन्मम साम्प्रतम्। एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन्कालं करिष्यसि॥**' (६४।५४) इस प्रकार शाप देकर दोनों चितामें जलकर स्वर्गको गये। उस उदार मुनिका वह वचन आज फल रहा है।

वि० त्रि०—*'तापस अंध'''''सुनाई'* इति। चक्रवर्तीजीने श्रीरामजीसे प्रश्न किया था कि *'सुनहु राम तुम्ह कहुँ मुनि कहहीं। राम चराचर नायक अहहीं॥ करै जो कर्म पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सब कोई॥ और करै अपराध कोउ और पाव फल भोग। अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानइ जोग॥'* पर माधुर्यकी रक्षा करते हुए सरकारने कोई उत्तर नहीं दिया। पर संशय हटाना इष्ट रहा; अत: अन्तिम कालमें तापस अंधकी कथा स्मृतिपथपर आरूढ़ कर दिया।

वीरकवि—शरीर सबको आदरणीय है। पर 'इसने प्रेमपन' नहीं निबाहा, इस विशेष दोषके कारण त्याग करनेका निश्चय 'तिरस्कार अलंकार' है।

दो०—राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरह राउ गयउ सुरधाम॥ १५५॥

जिअन मरन फलु दसरथु पावा। अंड अनेक अमल जसु छावा॥ १॥
जिअत राम बिधु बदनु निहारा। राम बिरह करि* मरन सँवारा॥ २॥
सोक बिकल सब रोवहिं रानी। रूपु सील बलु तेज बखानी॥ ३॥
करहिं बिलाप अनेक प्रकारा। परहिं भूमितल बारहिं बारा॥ ४॥
बिलपहिं बिकल दास अरु दासी। घर घर रुदन करहिं पुरबासी॥ ५॥
अथएउ आजु भानुकुल भानू। धरम अवधि गुन रूप निधानू॥ ६॥
गारी सकल कैकइहि देहीं। नयन बिहीन कीन्ह जग जेहीं॥ ७॥
एहि बिधि बिलपत रैनि बिहानी। आए सकल महामुनि ज्ञानी॥ ८॥

अर्थ—राम-राम कहकर (फिर) राम कहकर, फिर राम-राम कहकर फिर राम कहकर रघुवरके वियोग-दु:खमें शरीर छोड़कर राजा सुरलोक सिधारे॥ १५५॥ जीने-मरनेका फल (तो) श्रीदशरथजीने पाया। उनका निर्मल यश अनेक ब्रह्माण्डोंमें छा गया॥ १॥ जीतेजी श्रीरामचन्द्रजीका मुखचन्द्र देखते रहे और राम-वियोगमें उनके विरहसे मरकर अपना मरण सँवारा (सुशोभित कर दिया, बना लिया)॥ २॥ सब रानियाँ शोकके मारे व्याकुल रो रही हैं, राजाके रूप, शील, स्वभाव, बल और तेज-प्रतापका बखान कर-करके अनेक प्रकारसे विलाप कर रही हैं और बारम्बार जमीनपर गिरती पड़ती हैं॥ ३-४॥ दास-दासीगण व्याकुल होकर विलाप कर रहे हैं। श्रीअयोध्याजीके प्रत्येक घरमें पुरवासी रो रहे हैं॥ ५॥ (कहते हैं कि) आज धर्मकी सीमा और गुण-रूपके खजाना सूर्यकुलके सूर्य अस्त हो गये॥ ६॥ सब कैकेयीको गाली देते हैं कि जिसने संसारभरको नेत्ररहित (अंधा) कर दिया॥ ७॥ इस तरह विलाप करते रात बीती। (प्रात:काल) सब ज्ञानी महामुनि आये॥ ८॥

नोट—छ: बार 'राम' 'राम' कहकर शरीर छोड़नेके अनेक भाव लोग कहते हैं—

पु० रा० कु०—(क) षट् चक्र बेधकर प्राण छोड़े। (ख) षडंगन्यास किये (ग) षट् विकार जीते (घ) पंच विषय और मनको जीता (ङ) षडंग करके उच्चारण किये (च) पाँचों तत्त्व पाँचोंमें मिले,

---

* राजापुरकी पोथीमें 'करि' पाठ है। रा० प०, को० रा० में भी यही पाठ है। भरि—भा० दा०, वन्दन पाठक, रा० कु०। भरि—गौड़जी, प्र० सं०। 'मरण' को दीपदेहली मानकर अर्थ करनेसे 'करि' पाठका अर्थ लग जाता है। देशी भाषामें 'करि'=करके अर्थात् द्वारा, निमित्त करके।

छठा आत्मा परमात्मामें मिला। कहि, कहि, कहि तीन बार कहा; क्योंकि कर्म, ज्ञान, उपासना तीनोंका यह सिद्धान्त है। अथवा, वेदत्रयीका सिद्धान्त यही है। अथवा, 'त्रिवाचा रघुवर ये ही राम, अलख निरंजन नहीं।' (छ)—वियोग-समय श्रीराम-नामकी धारणा लगी हुई थी; दोहेकी पूर्तिके लिये छः बार कहा। वा, (ज) छठा दिन यात्राका है इससे। इत्यादि।

बैजनाथजी—'कर्म, ज्ञान, उपासना तीन मार्ग भगवत्-आराधनाके हैं। उपासनामें नवधा भक्ति नौ प्रकारकी है और प्रेमाभक्तिमें दस दशाएँ होती हैं। भक्ति, ज्ञान आदि सब महाराजमें परिपूर्ण हैं तो भी लोकोद्धारके लिये उन्होंने कर्ममार्गपर ही आरूढ़ रहना पसन्द किया। प्रभुके दर्शन हुए पर उन्होंने पराभक्ति न माँगी, पुत्र होना माँगा। इसी सवासिक कर्मग्रहणसे षडंग कर्मसे छः ही बार राम-राम कहकर कर्ममार्गसे देवलोकको गये, यह इनकी इच्छा है।

(☞ स्मरण रहे कि ***'सगुण उपासक मोक्ष न लेहीं।'*** वे तो सदा प्रभुके साथ लीलामें रहना चाहते हैं। जबतक प्रभु वहाँ हैं तबतक एक पाद विभूतिमें रहना उन्होंने पसन्द किया।)

वि० त्रि०—छः बार राम-नामके इकट्ठे उच्चारणसे मुदमंगलका उदय होता है और पाप तथा अमंगल घटता है, अतः सुरधाम यात्राके समय महाराजने छः बार राम-राम कहा। यथा—***'राम राम राम राम राम राम जपत। मंगल मुद उदित होत अघ अमंगल घटत॥ दिनकर के उदय जैसे तिमिर तोम फटत।'***

श्रीबैजनाथजी—परमधामको क्यों न गये? यह शंका व्यर्थ है। क्योंकि श्रीदशरथजी जीवकोटिमें नहीं हैं, ईश्वरकोटिमें हैं। मनुमहाराज चौबीस अवतारोंमेंसे एक हैं। वे लोकहितार्थ देह धारण करके जहाँ चाहें वहाँ रहें। वे सदा आनन्दमूर्ति हैं, मायाके बन्धनमें नहीं हैं; वे मुक्तरूप हैं। वे ही दशरथरूपसे अवधमें रहे, अब स्वर्गसे श्रीरामराज्य देखेंगे और प्रभुके साथ परधामको जायँगे।

बाबा हरिहरप्रसादजी—महाराजने मनमें विचारा कि हमने रघुनाथजीको लौटानेके बहुत उपाय किये, पर वे न लौटे और बिना उनके देखे मैं रह नहीं सकता, अतः मुझे ऐसी जगह चलना चाहिये जहाँसे बैठे-बैठे उनको देखता रहूँ। इन्द्र सखा हैं। वहीं स्वर्गमें चलूँ, यह निश्चयकर वहीं गये और शरीरको इसलिये छोड़ दिया कि इस शरीरने रामराज्य भंग कराया है, इसका रखना उचित नहीं। कोई-कोई कहते हैं कि राज्याभिषेक देखनेकी वासना थी। उसे पूरी करनेके लिये श्रीरामजीने उनको स्वर्गमें रखा।

श्रीनंगे परमहंसजी—छः बार राम-राम क्यों कहा। समाधान यह है कि ग्रन्थकारने राम ही शब्दसे दोहेका पद पूरा करके यह भाव प्रकट किया है कि श्रीदशरथजी महाराजने राम-ही-राम कहते प्राण छोड़े हैं। दूसरा शब्द नहीं उच्चारण किया है, उसी प्रकार ग्रन्थकारने भी श्रीराम-नामसे ही पदकी पूर्ति की है। अतः छः बार राम-नाम पदमें लिखा है।

दूसरी शंका यह की जाती है कि 'जो मरते समय एक बार भी राम-नाम उच्चारण करता है वह वैकुण्ठ-(परधाम-) को जाता है और दशरथ महाराज मरते समय छः बार राम-राम कहकर सुरलोकको गये। इसका क्या कारण है?' इसका समाधान यह है कि श्रीरामजी अपने भक्तोंकी पूर्व वासना पूरी करते हैं। श्रीदशरथजीको श्रीराम-राज्याभिषेक देखनेकी इच्छा थी। इसीसे श्रीदशरथ महाराजको अभी मुक्त नहीं किया, सुरलोकमें रखा। जब स्वयं वैकुण्ठ-(परधाम-) को जायँगे तब साथ ले जायँगे। प्रमाणमें ध्रुवका दृष्टान्त है। ध्रुवकी पूर्व वासना राज्यकी थी। पर जब भगवान्ने उनको दर्शन दिये तब उन्होंने राज्यकी चाह न की। तथापि भगवान्ने उन्हें ३६००० वर्ष राज्य करनेकी आज्ञा दी; क्योंकि इसी वासनासे तप प्रारम्भ किया था। इसी तरह सुग्रीव और विभीषणजीको भी उनके पूर्व वासना-अनुसार राज्य कराया गया। वही नियम दशरथजीके सम्बन्धमें लागू हुआ, नहीं तो ***'जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुति होइ श्रुति गावा॥'*** तब भला श्रीदशरथमहाराजके लिये क्या कहना? वे सुरलोकसे अवधका सारा आनन्द देखते रहे। रावणवधपर इन्द्रादिके साथ लंकामें भी प्रभुके दर्शनोंको आये थे।

कोई कहते हैं कि मोहमें शरीर छोड़ा इससे स्वर्गको गये। यह कथन उपर्युक्त श्रुति-सिद्धान्तके विरुद्ध

है, अधमाधम भी राम-नाम उच्चारण करनेसे मुक्त हो जाता है। अजामिल, यवन, गणिका आदिकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। श्रीराम-नाम मुक्ति देनेमें कर्म-ज्ञानादिकी अपेक्षा नहीं रखता।

टिप्पणी—१ *'जिअन मरन फलु दसरथु पावा······'* इति। (क) किसीका जीवन बनता है पर मरण-समय दुर्गति होती है और किसीका जीवन अनेक दुःखोंसे भरा व्यतीत होता है पर मरण बन जाता है। जीवन और मरण दोनों नहीं बनते। पर दशरथजीको दोनों फल मिले। मिलान कीजिये—***'राम बिरह दसरथ मरन मुनि मन अगम सुमीचु। तुलसी मंगल मरन तरु सुचि सनेह जलु सींचु॥'*** (२२) ***'जीवन मरन सुनाम जैसे दसरथ राय को। जियत खेलायो राम राम बिरह तनु परिहरेउ॥'*** (२२१) (दोहावली)। (ख) 'अमल यश' ऐसा है कि ब्रह्माण्डोंको पवित्र कर दे।

टिप्पणी—२ ***'राम बिरह करि मरनु सँवारा'***—भाव कि और किसी प्राकृत पुरुषका विरह होता तो दुर्गति होती, रामविरहसे सुगति हुई। [(ख) पहले जीने-मरनेका फल कहकर फिर उसी क्रमसे उसका वर्णन करना यथासंख्य अलंकार है। श्रीराम-विरहमें होनेसे मृत्युरूपी दोषको गुणरूप वर्णन करना 'लेश अलंकार' है। (वीर)]

टिप्पणी—३ (क) ***'रूप सील बल तेज बखानी'*** इति। रूप=सौन्दर्य। राजा ऐसे सुरूपवान् थे कि कैकेयीने उनसे विवाह करनेके लिये अपने पितासे हठ ठानी। 'शील' यह कि अपने मुखसे पुत्रको वन जानेको नहीं ही कहा। 'बल' ऐसा कि इन्द्र इनके बलके भरोसे रहते, लोकपाल इनका रुख रखते, दसों दिशाओंमें इनका रथ बिना रोक-टोकके जाता था, इत्यादि। 'तेज' ऐसा कि ***'आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसन देई॥'*** ये रूप, शील, बल, तेजके निधान थे; इसीसे इनके चारों पुत्र वैसे ही हुए या यों कहिये कि राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न एक-एक क्रमशः एक-एक गुण ही मानो स्वरूप धरकर पुत्र हुए। (ख) [राजा दशरथजी आलम्बन विभाव हैं। उनके मरणसे उत्पन्न हुआ शोक स्थायीभाव है। रूप-शीलादिका स्मरण उद्दीपन विभाव है। रोना, धरतीपर गिरना अनुभाव है। विषाद, चिन्ता, मोह, चपलता, आवेग, अपस्मार, उन्माद, त्रास आदि संचारी भावोंसे बढ़कर शोक पूर्णावस्थाको पहुँचकर करुणरस हुआ है। (वीर)]

नोट—१ ***'करहिं बिलाप अनेक प्रकारा।······'*** इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वे हाथ उठाकर बड़े शोक और दुःखसे रोने लगीं। महाराज सत्यप्रतिज्ञ प्रियवादी श्रीरामचन्द्रसे हीन हम लोगोंका त्याग क्यों कर रहे हैं। हम विधवाएँ दुष्टा कैकेयी सौतके पास कैसे रहेंगी? सर्वसमर्थ, हमारे तथा आपके स्वामी और धीर श्रीराम ही इस राज्यलक्ष्मीको छोड़कर वनको चले गये। आप दोनोंके न रहनेसे हम लोग दुःखविमूढ़ हो गयी हैं, हमारा कर्तव्य-ज्ञान नष्ट हो गया है। जिस कैकेयीने आपका, राजाका, रामका, लक्ष्मणका तथा सीताका परित्याग किया है, वह और किस-किसका परित्याग न कर सकेगी? इस प्रकारका बहुत-सा विलाप किया। यह तथा और भी जो जिस रामायणमें लिखा है वह सब ***'अनेक प्रकारा'*** से जना दिया। (सर्ग ६६)

नोट—२ ***'घर घर रुदन करहिं पुरबासी',*** यथा—'**आक्रन्दिता निरानन्दा सास्त्रकण्ठजनाविला। अयोध्यायामवतता सा व्यतीयाय शर्वरी॥**' (६७। १) '**बाष्पपर्याकुलजना हाहाभूतकुलांगना।**' (वाल्मी० ६६। २५) अर्थात् उस रातको अयोध्यामें सभी रोते रहे, सभी आनन्दहीन थे, सभीका गला दुःखसे भरा था, सभी स्त्रियाँ हाहाकार कर रही थीं। वह लम्बी रात्रि इस तरह व्यतीत हुई।

नोट—३ (क) ***'गारी सकल कैकइहि देहीं'*** इति। नगरकी स्त्रियाँ और पुरुष सभी दल-दलमें एकत्र होकर कैकेयीकी निन्दा करने लगे। यथा—'**नराश्च नार्यश्च समेत्य संघशो विगर्हमाणा भरतस्य मातरम्।**' (वाल्मी० (२। ६६। २९) (ख) ***'नयन बिहीन कीन्ह······'***—भाव कि राजा नेत्रोंके समान सबको प्रिय थे। उन्हींकी आँखोंसे सब देखते थे। उनके बिना इस समय संसार अन्धकारमय हो गया, किसीको कुछ नहीं सूझता। पंजाबीजीका मत है कि राजा नेत्रोंके समान सबको सुखद थे। अथवा श्रीराम-लक्ष्मण दोनों नेत्र

हैं उनसे विहीन किया। (ग) राजाको मार डाला, संसारको अनाथ कर डाला, ऐसा न कहकर उसका प्रतिबिम्बमात्र कहना 'ललित अलंकार' है। (वीर)

नोट—४ *'आए सकल महामुनि ज्ञानी'* इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यायन, गौतम और महायशस्वी जाबालि तथा वसिष्ठजी आये थे, उन्होंने सभा की। अन्तमें श्रीवसिष्ठजीके आदेशानुसार कार्य किया गया।

दो०—तब बसिष्ठ मुनि समय सम कहि अनेक इतिहास।
सोक निवारेउ सबहि कर निज बिग्यान प्रकास॥ १५६॥

तेल नाव भरि नृप तनु राखा। दूत बोलाइ बहुरि अस भाषा॥ १॥
धावहु बेगि भरत पहिं जाहू। नृप सुधि कतहुँ कहहु जनि काहू॥ २॥
एतनेइ कहेहु भरत सन जाई। गुर बोलाइ पठयेउ* दोउ भाई॥ ३॥
सुनि मुनि आयसु धावन धाए। चले बेग बर बाजि लजाए॥ ४॥

अर्थ—तब वसिष्ठ मुनिने, समयानुकूल अनेक इतिहास-(की कथाएँ) कहकर और अपने विज्ञानके प्रकाशसे सबका शोक दूर किया॥ १५६॥ श्रीवसिष्ठजीने नावमें तेल भरवाकर राजाका शरीर उसमें रखा; फिर दूतोंको बुलाकर ऐसा कहा॥ १॥ दौड़कर जल्दीसे भरतजीके पास जाओ, राजाका समाचार कहीं किसीसे मत कहना॥ २॥ भरतसे जाकर इतना ही कहना कि दोनों भाइयोंको गुरुजीने बुला भेजा है॥ ३॥ मुनिकी आज्ञा पाकर दूत दौड़ चले। अपनी तेजीसे वे उत्तम-उत्तम घोड़ोंको लज्जित करते हुए चले जा रहे हैं॥ ४॥

नोट—१ *'सोक निवारेउ।'* इति। वसिष्ठजीने कहा कि राजा सत्यसंध थे, बड़े सुकृती थे। उनकी-ऐसी मृत्यु मनुष्योंको दुर्लभ है। हरिश्चन्द्र आदिने कैसे संकट सहे और ये तो राम-विरहमें तुरंत ही शरीर छोड़ अपना प्रेम सच्चा करके परधामको गये। मृत्यु तो एक दिन सबकी होनी है वह टलती नहीं। **'चलेत्सुमेरुर्विचलेच्च मन्दरश्चलन्ति तारा रविचन्द्रमो ग्रहाः। कदापि काले पृथिवी चलेदपि चलेन्न धर्मो वचनं च सन्नृणाम्॥'** राजाने धर्म नहीं छोड़ा। यहाँ राज किया अब दिव्य हो देवलोकमें हैं। इत्यादि—शास्त्रीय ज्ञान उपदेश किया। फिर *'निज बिग्यान प्रकास'* अर्थात् अपना अनुभव कहा। जैसे महादेवजीने पहले श्रुति आदिके अनुसार जैसा सुना था कहा—*'तदपि जथा श्रुत कहौं बखानी'।* फिर अपना अनुभव कहा, यथा—*'उमा कहौं मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥'* वैसे ही वसिष्ठजीने कहा कि यह जगत् स्वप्नवत् है, एक हरिभजन ही सत्य है—यह विज्ञान है। इसी तरह भुशुण्डिजीने कहा था—*'संतन्ह सन जस कछु सुनेउँ तुम्हहिं सुनायउँ सोइ'* यह शास्त्रीय ज्ञान कह तब कहा *'निज अनुभव अब कहौं खगेसा। बिनु हरिभजन न जाहिं कलेसा॥'* यह अनुभव है। जो अपनेको देख पड़े, समझ पड़े, वह अनुभव है।

नोट—२ *'तेल नाव भरि……'* इति। पुत्रोंमेंसे कोई उपस्थित न था जो अग्नि-संस्कार करता। इसीसे राजाके शरीरको मन्त्रियों तथा राजाके मित्रोंने सर्वज्ञ वसिष्ठजीके आज्ञानुसार तेलपूर्ण नावमें सुरक्षित रखा। यथा—**'तैलद्रोण्यां तदामात्याः संवेश्य जगतीपतिम्। राज्ञः सर्वाण्यथादिष्टाश्चक्रुः कर्माण्यनन्तरम्॥'** (२। ६६। १४) **'न तु संकालनं राज्ञो विना पुत्रेण मन्त्रिणः। सर्वज्ञाः कर्तुमीषुस्ते ततो रक्षन्ति भूमिपम्॥'** (१५) **'तैलद्रोण्यां शायितं तं सचिवैस्तु नराधिपम्॥'** (१६)

नोट—३ *'दूत बोलाइ बहुरि अस भाषा'* से दूतोंसे स्वयं वसिष्ठजीका कहना पाया जाता है। ऐसा ही अ० रा० में है—**'तैलद्रोण्यां दशरथं क्षिप्त्वा दूतानथाब्रवीत्।'** (२। ७। ५०) वाल्मीकीयमें मन्त्रियोंको दूत भेजनेकी आज्ञा दी है।

* पठयउ—गी० प्रे०। पठए—पाठान्तर प्र० सं०। पठयेउ—रा० प०।

नोट—४ ***'धावहु बेगि भाई'*** इति। इसी तरह वाल्मीकीयमें वसिष्ठजीका आदेश है कि दूत तेज घोड़ोंपर जायँ। भरतसे रामवनगमन, राजाकी मृत्यु और इस कारण रघुवंशियोंका जो सर्वनाश हुआ है यह कुछ न कहें—**'मा चास्मै प्रोषितं रामं मा चास्मै पितरं मृतम्। भवन्तः शंसिषुर्गत्वा राघवाणामितः क्षयम्॥'** (६८।८) पुरोहित-(गुरु-) ने कुशल कहा है। शीघ्रतापूर्वक यहाँसे चलो, तुमसे आवश्यक काम है—बस, इतना कहना। अ० रा० में दूतोंने भरतसे कहा है कि गुरुजीने कहा है कि छोटे भाईसहित आप बिना कुछ सोचे-विचारे अयोध्यापुरीको चले जावें। वैसा ही मानसमें है।

राजहीन देश वैसा ही है जैसा बिना जलकी नदियाँ, बिना गोपालकी गौ। उसमें मनुष्यका कुछ भी अपना नहीं होता। मछलियोंके समान मनुष्य एक-दूसरेको खा जाते हैं। राजहीन राष्ट्रकी क्या दशा होती है यह मार्कण्डेय आदि महर्षियोंने वाल्मी० २।६७ में श्रीवसिष्ठजीसे विस्तारसे कहा है। यह भी कहा है कि किसीको राजा बना देना चाहिये। इसपर वसिष्ठजीने उत्तर दिया कि इसमें विचारकी बात ही क्या है; भरतको राजाने राज्य दिया है, वे शीघ्र बुलाये जावें। क्योंकि ***'जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।'*** राजाने भरतको राज्य देना स्वीकार किया है—***'सुदिन सोधि सबु साजु सजाई। देउँ भरत कहुँ राज बजाई॥'*** (३१।८) और सत्यकी रक्षाके कारण ही उन्होंने शरीर छोड़ना स्वीकार किया। अतः भरतको ही बुलाना न्याय था।

नोट—५ ***'दूत बोलाइ बहुरि अस भाषा……'*** इति। (क) देखिये, मन्त्रियोंकी नीति-निपुणता। राजहीन देश सुनकर शत्रु आ चढ़ेंगे, इससे इस बातका छिपाना परमावश्यक है। (ख) ***'सुनि आयसु धाए'*** में 'चपलातिशयोक्ति और पंचम प्रतीप अलंकार' है।

वि० त्रि०—१ (क) यद्यपि रामजी बहुत सन्निकट हैं और भरतजी बहुत दूर हैं, तथापि गुरुजी भरतके ही पास दूत भेजते हैं, क्योंकि चक्रवर्तीजी उन्हींको उत्तराधिकार दे गये हैं। रामजीको समाचार देना उन्हें धर्मसंकटमें डालना है। (प्रज्ञानानन्दस्वामीका मत है कि रामजीके आने और भरतजीको न बुलानेसे कैकेयीको शंका होगी कि गुरु और राम मिलकर भरतकी सत्ता छीनना चाहते हैं।) (ख) ***'कहेहु जनि काहू।'*** यह रियासतोंकी बड़ी पुरानी नीति है। जो आजतक चली जाती है कि जबतक राज्यका पूरा इन्तजाम न हो ले राजाकी मृत्युका समाचार छिपाया जाता है। इसलिये गुरुजी कहते हैं कि ***'नृप सुधि कतहुँ कहेउ जनि काहू।'*** इसीसे यह भी पता चलता है कि इस बातकी पूरी सावधानी रखी गयी कि यह समाचार अयोध्यासे बाहर न जाने पावे। (विशेष १५७ (५—८) में देखिये।)

'सचिवागमन नगर नृप मरना'—प्रकरण समाप्त हुआ।

द्वितीय सोपान (अयोध्याकाण्ड)-का पूर्वार्ध समाप्त हुआ।

श्रीसीताराम। श्रीभरतचरणकमलेभ्यो नमः।
श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासचरणकमलेभ्यो नमः। श्रीसन्तभगवन्तगुरुचरणकमलेभ्यो नमः।
मंगलमूर्तये श्रीहनुमते नमः।

मानस-पीयूष

अयोध्याकाण्ड उत्तरार्द्ध-श्रीभरतचरित

''भरतागमन-प्रेम-प्रकरण''

अनरथु अवध अरंभेउ जब तें। कुसगुन होहिं भरत कहुँ तब तें॥ ५॥
देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना॥ ६॥
बिप्र जेंवाइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना॥ ७॥
मागहिं हृदय महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**अनरथु** (अनर्थ)=उपद्रव, उत्पात, अनिष्ट, बुरी घटनाएँ। **अरंभेउ**=आरम्भ या शुरू हुआ। **कुसगुन**=बुरे शकुन, अपशकुन। **कलपना** (कल्पना)=अनुमान, उद्भावना, अन्त:करणमें ऐसी वस्तुओं, आशंकाओं या घटनाओंको उपस्थित करना जो उस समय इन्द्रियोंके सम्मुख उपस्थित नहीं होतीं, सोच-विचार। **जेंवाइ** (सं० जेमन)=भोजन कराके। **अभिषेक** (अभि=ऊपर+सिच्=सिंचन)=बाधा-शान्ति वा मंगलके लिये मन्त्र पढ़कर कुश और दूबसे जल छिड़कना, शिवलिंगके ऊपर तिपाईके सहारेपर जलसे भरकर एक ऐसा घड़ा रखना जिसके पेंदमें धीरे-धीरे पानी टपकनेके लिये बारीक छेद हो। (श० सा०)=पूजा, जाप, हवन, मार्जन—(बैजनाथ)

अर्थ—जबसे अवधमें अनर्थ प्रारम्भ हुआ तबसे ही भरतजीको अपशकुन हो रहे हैं॥ ५॥ वे रातमें भयंकर स्वप्न देखते हैं और जागनेपर अनेक बुरी-बुरी कल्पनाएँ किया करते हैं अर्थात् दु:स्वप्नके बुरे-बुरे फल विचारते व तर्कनाएँ करते रहते हैं॥ ६॥ (शान्तिके लिये) नित्यप्रति दिनमें ब्राह्मणोंको भोजन कराकर दान देते हैं, अनेक प्रकारसे शिवजीका अभिषेक करते हैं॥ ७॥ महादेवजीको मनमें मनाकर मन-ही-मन माता, पिता, कुटुम्बी और भाइयोंका कुशल माँगते हैं॥ ८॥

नोट—१ *'देखहिं राति भयानक सपना'* इति। वा० सर्ग ६९ में दु:स्वप्नको भरतजीने मित्रोंसे बताया है—'पिताके बाल खुले हैं, वे मुरझाये हुए पर्वतसे गोबर भरे तालाबमें गिर पड़े, तैरते और तेल पीते हँस रहे हैं। फिर उन्होंने तिल, चावल खाया, सिर नीचे हो गया है, वे तेलमें डुबाये गये। समुद्र सूख गया, चन्द्रमा भूमिपर गिर पड़ा, जगत् निशाचरोंसे पीड़ित है। राजाके हाथीके दाँत टूट गये,अग्नि सहसा बुझ गयी, पृथ्वी फट गयी, वृक्ष सूख गये, पर्वत गिर गये और उनसे धुआँ निकल रहा है। मैंने देखा कि पिता काले कपड़े पहने लोहेके पीढ़ेपर बैठे हैं और कृष्ण पिंगल रंगकी स्त्रियाँ उन्हें मार रही हैं। राजा लाल माला पहने लाल चंदन लगाये गधेके रथपर बैठे दक्षिणको जा रहे हैं। खूनके रंगके वस्त्र पहने हुए विकट मुखवाली एक राक्षसी हँसती है और राजाको खींच रही है। गधेपर जो मनुष्य गया उसकी चितासे धुआँ निकल रहा है। ऐसे ही अनेक दु:स्वप्न मैंने देखे हैं। मेरे मनमें भय बैठ गया है। मैं सोचता हूँ कि अब राजाके दर्शन न होंगे। मेरा मन चंचल है। मैं, रामचन्द्रजी, राजा या लक्ष्मण कोई अवश्य मरेगा।' (श्लो० ७—२१)

शुक्लजी—ननिहालसे लौटनेपर ही भरतके शील-स्वरूपका स्फुरण होता है। ननिहालमें जब दु:स्वप्न और बुरे शकुन होते हैं तब वे माता, पिता और भाइयोंका मंगल मनाते हैं। कैकेयीके कुचक्रमें अणुमात्र योगके संदेहकी जड़ यहींसे कट जाती है।

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ काण्डके आदिमें *'बरनौं रघुबर बिमल जस'* पद दिया था। रघुवरसे राम और भरत दोनोंका बोध कराया। दोनोंका चरित इसमें वर्णन किया है। अतएव आदिमें श्रीरामजीका नाम है—*'जब तें राम ब्याहि घर आये'* और अन्तमें भरतजीका—*'भरत चरित करि नेम'''''''''''' ।'* आदिसे यहाँतक १५६ दोहोंमें रामचरित कहा गया। अब भरतचरित प्रारम्भ होता है; परंतु यहाँ प्रथम १४ दोहोंमें *'धावहु बेगि भरत पहिं जाहू'* से *'पितु हित भरत कीन्हि जस करनी।'* (१७१। १) तक पिताकी क्रियाका प्रसंग है, मुख्य भरतचरित इसके आगेसे प्रारम्भ होकर १५६ ही दोहोंमें समाप्त हुआ है।

टिप्पणी-२—पिताकी क्रियाके प्रसंगमें १४ दोहे देकर यह भी जना दिया है कि पिताकी 'करनी' में १४ दिन लगे, तब पंद्रहवें दिन दरबार हुआ।

टिप्पणी-३—मुनिने भरतको क्यों बुलाया, वे तो बहुत दूर थे, रामचन्द्रजी निकट ही थे, इनको क्यों न बुलाकर क्रियाकर्म करा लिया? कारण यह कि पिताके निमित्त हाथी, घोड़े, मणि, पृथ्वी आदिका दान करना होगा। भरत राजा हैं, जो राजा है वही राज्यकोषसे दे सकता है, दूसरा नहीं। पुन:,जो राज्यका अधिकारी होता है,वह क्रिया करनेका भी अधिकारी होता है। (राज्यसिंहासन खाली है, राजा भरतको राज्य दे चुके हैं, अत: उनके आनेसे दोनों काम होंगे। और श्रीरामजी तो राज्य ग्रहण ही न करेंगे, उनको बुलाना व्यर्थ होगा। पुन: वे अब उदासी वेष धारण कर चुके हैं। पुन: भरतजीके आनेसे कैकेयीकी कुमति भी सुधर सकेगी;—'**अयोध्यां प्रति राजानं कैकेयीं चापि पश्यतु**।' (२। ७। ५२) अध्यात्मके इन वसिष्ठवाक्योंमें यह ध्वनि भी है।)

दो०—एहि बिधि सोचत भरत मन धावन पहुँचे आइ।
गुरु अनुसासन श्रवन सुनि चले गनेसु मनाइ॥ १५७॥

शब्दार्थ—'**धावन**'=बहुत जल्दी या दौड़कर जानेवाला, हरकारा, दूत।

अर्थ—भरतजी इस प्रकार मनमें सोच-विचार कर ही रहे थे कि दूत आ पहुँचे। गुरुकी आज्ञा कानोंसे सुनकर गणेशजीको मनाकर चले॥ १५७॥

नोट—(क) *'गुरु अनुसासन श्रवन सुनि'* इति। यहाँ दूतोंकी शीघ्रता तथा भरतकी शीघ्रता कवि लेखनीद्वारा दिखा रहे हैं। इतने ही शब्दोंसे जना दिया कि यथोचित अभिवादन करके दूतोंने सँदेसा सुनाया जो पूर्व लिखा गया, सुनते ही उन्होंने नानासे आज्ञा ली और चल पड़े।

नोट-२—भरतजीने कुशल क्यों नहीं पूछा? यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर यह देते हैं कि—(क) यहाँ इनकी गुरुभक्ति दिखायी है, शीघ्र आनेकी आज्ञा सुन तुरंत चल दिये, कुछ पूछा नहीं। (ख) इससे जनाया कि *'उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू॥'* यह नीति भरतजी जानते हैं, अत: उन्होंने अविलम्ब आज्ञाका पालन किया। (प० प० प्र०) (ग) भरत दु:स्वप्नोंसे शंकित-हृदय थे ही, गुरुकी आज्ञा और भी सुन भयसे विह्वल हो गये। अनिष्टके भयके मारे पूछनेका साहस भी नहीं हुआ। यह बात अध्यात्मसे पुष्ट होती है। यथा—'**वसिष्ठस्त्वब्रवीद्राजन् भरतः सानुजः प्रभुः॥ शीघ्रमागच्छतु पुरीमयोध्यामविचारयन्। इत्याज्ञप्तोऽथ भरतस्त्वरितं भयविह्वलः॥**' (५३-५४) अर्थात् गुरु-आज्ञा है कि बिना विचार किये शीघ्र अयोध्या आवें। अतएव वे भयसे व्याकुल हो तुरंत चल दिये। (घ) जो अपशकुन भरतजीको हुए और जो भयानक स्वप्न उन्होंने देखा, उसका उपचार करते हुए भी भरतजीको माता-पिता, परिजन और भाईके कुशलमें संदेह हो रहा है, उसी समय गुरुजीके भेजे दूत आ पहुँचे, और उन्होंने गुरुजीका अनुशासन कह सुनाया कि आप दोनों भाइयोंको गुरुजीने बुलाया है। भरतजीके मनमें संदेह दृढ़ हो गया। महाराजने न बुलाकर गुरुजीने क्यों बुलाया? दूतोंके रुखसे मालूम हो गया कि वे कुछ अधिक कहना नहीं चाहते। भरतजी सोचते हैं कि जब गुरुजीकी इच्छा है कि अवध पहुँचनेके पहले मैं कोई समाचार न जान सकूँ, इसीलिये कोई चीठी भी नहीं दी, तो मुझे भी जितना दूत कह रहा है, उससे

अधिक जाननेके लिये प्रयत्न न करना चाहिये। चलनेमें ही त्वरा कर्तव्य है। अतः तुरंत 'जय गणेश' कहकर चलनेके लिये उठ खड़े हुए। (वि० त्रि०)

नोट-३—वाल्मीकिजी कुशल-प्रश्न करना लिखते हैं। पर दूतोंने यही उत्तर दिया कि जिनका कुशल आप चाहते हैं वे सकुशल हैं। लक्ष्मी आपका वरण कर रही है, आप शीघ्र रथ जुतवाइये। (सर्ग ७०)

नोट-४—*'चले गनेसु मनाइ'* अर्थात् गुरु-आज्ञा-पालनमें इतनी शीघ्रता की कि दोघड़िया मुहूर्त भी न साधा, सिद्ध गणेशका स्मरण करके चल दिये। इससे हृदयकी शंका एवं आतुरता भी जनाये हैं।

नोट-५—यह भी जनाते हैं कि उन्होंने बिदाईका सामान साथ नहीं लिया, कह दिया होगा कि पीछे भेज देना।

नोट-६—श्रीमन्त यादवशंकरजी लिखते हैं कि 'यह वर्णन स्वयं कल्पित है। इससे सहज ही दीख पड़ेगा कि स्वामीजी स्वभावोक्ति और व्यवहार-शिक्षाकी ओर कैसी सूक्ष्मतासे ध्यान रखते थे।'

चले समीर बेग हय हाँके। नाघत सरित सैल बन बाँके॥ १॥
हृदउ* सोचु बड़ कछु न सोहाई। अस जानहिं जिअँ जाउँ उड़ाई॥ २॥
एक निमेष बरष सम जाई। एहि बिधि भरत नगर निअराई॥ ३॥

शब्दार्थ—**नाघत** (लंघन)=लाँघते हुए। लाँघना=इस पारसे उस पार उछलकर जाना। **बाँके**=विकट, टेढ़े, कठिन, दुर्गम। **जाई**=बीतता है, गुजरता है। **जानहिं**=विचार करते हैं।

अर्थ—वे हवाके समान वेगवाले घोड़ोंको हाँकते हुए दुर्गम नदियों, पर्वतों और जंगलोंको लाँघते चले जाते हैं॥ १॥ मनमें बड़ा सोच है, कुछ सोहाता नहीं (अच्छा नहीं लगता)। मनमें ऐसा विचार आता है कि उड़कर पहुँच जाऊँ॥ २॥ एक पल एक वर्षके समान बीत रहा है। इस प्रकार भरतजी नगरके निकट पहुँचे॥ ३॥

नोट—१ *'चले समीर बेग हय हाँके।…'* इति। (क) भाव कि चित्त इतना व्याकुल है कि पवनवेगी घोड़ोंपर सवार होनेसे भी उन्हें सन्तोष नहीं है, इसीसे वे उनको अधिक वेगसे चलनेके लिये हाँकते हैं। 'हाँके' से वाल्मीकिके '**भरतः क्षिप्रमागच्छत्सुपरिश्रान्तवाहनः। वनं च समतीत्याशु शर्वर्यामरुणोदये॥**' (७१। १७) का भाव भी खिंचकर आ जाता है कि घोड़ोंके थक जानेपर भी भरतजीने अन्तिम रात्रिमें वनको पार किया। (ख) *'नाघत सरित सैल……'* इति। सुदामा, ह्लादिनी शतद्रू, शिला, शिलावह, सरस्वतीगंगासंगम, कुलिंगा, यमुना, गंगा, कुटिकोष्टिका, कुटिका, कपिवती,गोमती आदि नदियाँ, अनेक पर्वत और चैत्ररथ, भारुण्ड, महारण्य, वरूथग्रामका वन, कलिंग नगरके वन इत्यादि राहमें पड़े।

नोट-२—*'हृदउ सोचु बड़ कछु न सोहाई।……'* इति। (क) यद्यपि घोड़े बड़ी त्वरासे पर्वतों, नदियोंको पार करते हुए जाते हैं तब भी श्रीभरतको संतोष नहीं। वे चाहते हैं कि उड़कर वहाँ पहुँच जाते। ये सब बातें हृदयके 'सोचु बड़' और आतुरताको जना रहे हैं। (ख) भरतजीका हृदय व्याकुल था, वे सोचते थे कि मैं शीघ्र बुलाया गया, पर कुछ कारण नहीं बतलाया गया। इससे मेरे हृदयमें अशुभकी आशंका हो रही है। मेरा जी भीतरसे गिर रहा है यथा वाल्मीकीये—'**किमहं त्वरयाऽऽनीतः कारणेन विनानघ। अशुभाशंकिहृदयं शीलं च पततीव मे॥**' (७१। ३५) अध्यात्ममें भी कहा है कि भरतजी मार्गमें यह चिन्ता करते हुए नगरमें पहुँचे कि राजा या राघवको कुछ दुःख है—'**राज्ञो वा राघवस्यापि दुःखं किंचिदुपस्थितम्। इति चिन्तापरो मार्गे चिन्तयन्नगरं ययौ॥**' (७। ५५-५६) (ग) सोचके कारण १५७(६) में लिखे गये। दुःस्वप्न, गुरुकी आज्ञा, दूतोंका चलनेके लिये शीघ्रता करना और कुछ हाल न बताना, इन बातोंने उनकी कटु कल्पनाओंको सहारा दे दिया जिससे अनिष्टकी सम्भावना अधिक होनेसे भारी सोच हो गया। प्रथम 'सोच' था, यथा—*'एहि बिधि सोचत भरत',* अब 'बड़ सोच' है। (घ) *'कछु न सोहाई'* अर्थात् खाना,

* हृदय—गी० प्रे०। हृदउ—रा० प०।

पीना, विश्राम, नींद कुछ नहीं भाता। घोड़ोंके थक जानेपर भी उन्होंने रातोंरात वन पार किये—ऐसा वाल्मीकिजी लिखते हैं।

वि० त्रि०—*'हृदउ सोचु''''''उड़ाई'* इति। काश्मीर प्रान्तसे अवध चले हैं, बड़े-बड़े सुन्दर दृश्य सामने आ रहे हैं, सुन्दर नदियाँ, मनोहर शैल और बाँके वन। पर भरतजीके हृदयमें बड़ा सोच है कि कुछ बड़ा भारी अनर्थ अवधमें निश्चय ही हुआ है, अतएव वे मनोरम दृश्य भी अच्छे नहीं लग रहे हैं, बस अवध पहुँचनेकी त्वरा है, यदि पंख होता तो उड़कर शीघ्र पहुँच जाते। अत: अवध कब पहुँचेंगे यही धुन है।

असगुन होहिं नगर पैठारा। रटहिं कुभाँति कुखेत करारा*॥ ४॥
खर सिआर बोलहिं प्रतिकूला। सुनि सुनि होइ भरत मन सूला॥ ५॥
श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगरु बिसेषि भयावनु लागा॥ ६॥
खग मृग हय गय जाहिं न जोएँ। राम बियोग कुरोग बिगोएँ॥ ७॥
नगर नारि नर निपट दुखारी। मनहुँ सबन्हि सब संपति हारी॥ ८॥

शब्दार्थ—'**पैठारा**'=प्रवेशमें, घुसते, दाखिल होते। '**करारा**' (सं० करट)=काला कौआ। '**श्रीहत**'=शोभा-रहित।' '**बिगोएँ**=नष्ट किये गये, बिगाड़े हुए, ग्रसे हुए। '**कुखेत**'=मैली जगह।

अर्थ—नगरमें प्रवेश करते हुए अपशकुन हो रहे हैं। काले कौवे बुरे स्थानों (कुठौर)-में बुरी तरह (काँव-काँवकी) रट लगा रहे हैं॥ ४॥ गधे, गीदड़ प्रतिकूल (अर्थात् अपशकुनसूचक बोली) बोल रहे हैं। जिसे सुन-सुनकर भरतके मनमें (त्रिशूल या बर्छेके लगनेकी-सी) पीड़ा होती है॥ ५॥ तालाब, नदी, वन, बाग शोभाविहीन हो गये हैं। नगर बहुत ही भयावन लग रहा है॥ ६॥ पक्षी-पशु, घोड़े-हाथी देखे नहीं जाते, रामवियोगरूपी कुरोगने उनको नष्ट कर डाला है॥ ७॥ नगरके स्त्री-पुरुष अत्यन्त दु:खी हैं, मानो सब अपनी सारी सम्पत्ति हार बैठे हैं॥ ८॥

नोट—१*'रटहिं कुभाँति कुखेत करारा'* इति। (क) बालकाण्डमें बरातके पयानके समय *'दाहिन काग सुखेत सुहावा'* यह शुभ शकुन कहा है, यहाँ 'कुखेत' से उसका विपर्यय स्थान जनाया। अर्थात् बायीं ओर, विष्ठानियुक्त अशुभ स्थानमें कौवा बैठा रट लगाये है। यह अपशकुन है। यथा अग्निपुराणे—'**विशन्ति येन मार्गेण वायसा बहवः पुरम्। तेन मार्गेण रुद्धस्य पुरस्य ग्रहणं भवेत्॥ सेनायां यदि वासार्थे निविष्टो वायसो रुदन्। वामी भयातुरस्त्रस्तो भयं वदति दुस्तरम्॥**' (वै०) (ख) कौवेकी बोली है 'करुरकरर' यथा—*'काका करत काग'* (दोहावली ४३६) वही रट बुरी तरह लगाये है। (ग) *'असगुन'* यहाँ सब उसके प्रतिकूल समझ लेना चाहिये जो बरातके समय शकुन हुए थे। ३०३(१—८) देखिये।

नोट-२—*'खर सिआर बोलहिं प्रतिकूला'* इति। (क) दीनजी लिखते हैं कि राजकुमारके नगरमें आनेके समय सलामी या मंगलवाद्य बजने चाहिये, वे नहीं बजते, वरन् गदहे और सियार करुण-स्वरसे रोते हैं। (ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि खर ग्रामवासी है सो वनमें बोलता है। और सियार वनवासी है सो ग्राममें बोलता है। यह प्रतिकूल बोलनेका भाव है। यथा—अग्निपुराणे—'**ग्रामेऽरण्यवने ग्राम्यास्तथा निन्दितपादपः॥**' (ग) पंजाबीजी कहते हैं कि वाम भागमें इनका बोलना अपशकुनसूचक है। (रा० प्र०)

नोट-३—*'श्रीहत सर सरिता बन बागा।''''''* ' इति। (क) राजाकी मृत्युके पूर्व ही पुष्प, अंकुर और कलीके साथ वृक्ष मुर्झा गये थे, नदियों तथा छोटे-बड़े तालाबोंका जल मलिन हो गया, सूख गया, वन और बागके पत्ते सूखकर गिर पड़े, वनके प्राणी चलते नहीं जहाँके तहाँ पड़े हैं, तालाबोंके कमल सूख गये। (वाल्मी० २। ५९। ४—९ यह सुमन्तने राजासे कहा है) बागोंके वृक्षोंके पत्ते गिर गये हैं। जो बाग पहले बहुत ही प्रसन्न और संतुष्ट मालूम होते थे और प्रेमियोंके मिलनेके लिये नितान्त गुणवान् थे,

* 'कराला'—(ला० सीताराम)

बहुत सुन्दर लगते थे, आज वे रोते हुए-से मालूम होते हैं। पक्षी चुप हैं (२। ७१। २५—२७)। यही सर, सरित, वन, बागका श्रीहत होना है। सर जैसे क्षीरसागर, चक्रतीर्थ, विद्याकुण्ड, सीताकुण्ड, सूर्यकुण्ड, ब्रह्मकुण्ड आदि। सरिता—तमसा, सरयू, तिलोदिका आदि। वन—प्रमोदवन, बाग अशोकादि, शीतल अमराई आदि। पूर्व जो कहा है *'बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥'* (८३। ८) वही भाव यहाँ है। (ख) *'नगरु बिसेषि भयावनु लागा'* पूर्व जो कहा है कि *'लागति अवध भयावनि भारी। मानहु काल राति अँधियारी॥'* (८३। ५—७) वही भाव यहाँ है। *'श्रीहत सर सरिता……'* कहकर *'नगरु बिसेषि……'* कहनेका भाव यह है कि जब नदी-तालाब आदि स्थावर भ्रष्ट-श्री देख पड़ते हैं तब नगरमें तो चैतन्य बसते हैं वे क्यों न विशेष भयावन लगें? नगरकी दशाका वर्णन वाल्मीकीय सर्ग ७१ में इस प्रकार है—नगरमें वेदपारग ब्राह्मण रहते हैं। धनी रहते हैं। नगरमें महान् तुमुल शब्द सुनायी देता था। स्त्री-पुरुषोंके शब्दसे नगर गूँजा करता था। वहाँ कोई शब्द नहीं सुन पड़ते। जिन उद्यानों व बागोंमें चारों ओरसे लोग दिखायी पड़ते थे, वहाँ कोई नहीं। नगर वन-सा दिखता है। कोई धनी नगरको या नगरसे सवारियोंपर आते-जाते नहीं देख पड़ते। बाग आनन्दहीन हैं, वृक्षोंके पत्ते झड़े पड़े हैं। मत्त मृगपक्षीका मधुर शब्द नहीं सुनायी पड़ता। चन्दन, अगर, धूप आदियुक्त सुगन्धित वायु नहीं बह रही है। मृदंग, वीणा आदिका शब्द क्या रुक गया? राजाओंके विनाशकालके सब लक्षण देख पड़ते हैं। घरोंमें झाड़ू नहीं लगी, देव-मन्दिरोंमें पुष्प शोभित नहीं, वहाँ कोई मनुष्य नहीं, बाजार सूना, चौक, गलियाँ सब सूनी। पशु-पक्षी आदि दुःखी बैठे हैं। स्त्री-पुरुष दीन, मलिन, आँखोंमें आँसू भरे, चिन्तामें मग्न दिखते हैं मानो उत्कण्ठित हैं कि क्या हो रहा है? अयोध्याके चौक, घर और गलियाँ सूनी हैं। धूलसे किवाड़ोंकी सिकड़ी आदि मलिन हो गयी हैं। इन्द्रपुरीके समान शोभित होनेवाली पुरीकी दशा तथा जो नगरमें कभी न देखा था उन बुरी लगनेवाली बातोंको देखकर भरतजीने दुःखसे भरकर सिर नीचा कर लिया। (श्लोक २० से ४६ तक।)

नोट-४—*'नगर नारि नर निपट दुखारी'* इति। भाव कि पशु, पक्षी और स्थावरकी जब यह दशा राम-वियोगसे हो गयी है तो स्त्री-पुरुषोंकी दशा कैसे कही जा सकती है, वे तो अत्यन्त दुःखी हैं। यह भाव 'निपट' पदसे जनाया। उत्प्रेक्षाद्वारा उनकी दशा कहते हैं। जैसे कोई जुएमें अपना घर-बार, धन-सम्पत्ति सर्वस्व हार बैठे, तब उसकी जैसी दशा हो जाती है वैसी दशा इनकी है। देखिये पाण्डवोंकी हारमें क्या दशा हुई थी। पु० रा० कु० जी कहते हैं कि 'राजाकी हारसे सबकी हार है। राजा अपनी भूलसे हारे तो ये क्या करें, इनका बस ही क्या था?' (यहाँ श्रीसीता-राम-लक्ष्मण सम्पत्ति हैं। राजाका वचन देना हारना है। १४ (७) *'मनहुँ कृपिन धनरासि गँवाई'* देखिये। यहाँ उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।)

पं० रामचन्द्रशुक्ल—भरतको यदि रामवनगमनका संवाद मिल गया होता; तो हम इसे भरतके हृदयकी छाया कहते। पर घरमें जानेके पहले उन्हें कुछ भी वृत्त ज्ञात नहीं था? इससे हम सर-सरिताके श्रीहत होनेका अर्थ उनकी निर्जनता, उनका सन्नाटापन लेंगे। लोग राम-वियोगमें विकल पड़े हैं। सरसरितामें जाकर स्नान करनेका उत्साह उन्हें कहाँ? पर, यह अर्थ हमारे-आपके लिये है। गोस्वामी ऐसे भावुक महात्माके निकट तो रामके वियोगमें अयोध्याकी भूमि ही विषादमग्न हो रही है; आठ-आठ आँसू रो रही है। (वाल्मीकिजीने भी ऐसी ही दशा लिखी है। राम-वियोगमें आश्चर्य ही क्या?)

दो०—पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गँवहिं जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं भय बिषाद मन माहिं॥ १५८॥

शब्दार्थ—'**गँवहिं**'=गँवसे, ढंगसे, युक्तिसे, चुपकेसे यथा—*'देखि सरासन गवँहि सिधारे।'* (१। २५०। २) *'पाए पालिबे जोग मंजु मृग मारेहुँ मंजुल छाला। प्रिया बचन सुनि बिहँसि प्रेम बस गँवँहि चाप सर लीन्हें॥'* (गी० ३। ३)

अर्थ—पुरवासी मिलते हैं पर कुछ कहते नहीं, चुपकेसे प्रणाम करके चलते होते हैं। भरतजी उनसे एवं वे भरतजीसे कुशल नहीं पूछ सकते क्योंकि मनमें भय और दु:ख भरा है॥ १५८॥

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ *'गँवहिं जोहारहिं जाहिं'* अर्थात् हाथ कहीं है तो मुँह कहीं, प्रणाम करते हैं पर उनके सामने देखते नहीं। दृष्टि अन्यत्र किये हैं।

टिप्पणी २—*'भरत कुसल पूँछि न सकहिं……'* इति। (क) यह दोनों ओर लगता है। भरतके मनमें इष्टहानिके भयसे शोक संचारीभाव है; अत: वे पूछते सकुचते हैं। पुरवासी शोकसे पीड़ित तो हैं ही पर भय यह है कि न जाने भरतको राज्यप्राप्तिका हर्ष हो और हम उनसे विषादकी बातें करें तो उनको बुरा लगेगा। वे समझेंगे कि हम उनके प्रतिकूल हैं, हमें उनका राजा होना नहीं सोहाता। और, यदि भरतजीको राम-वनवासका विषाद हो और हम उनको धन्यवाद दें तो भी प्रतिकूल ही पड़ेगा। इससे चुप साधे हैं। [अथवा, (ख) 'प्रजा द्वेष मानती है, उनसे असन्तुष्ट है; क्योंकि यह समझती है कि राज्य लेने आये हैं। इसीसे कोई कुछ पूछता-कहता नहीं। यह कुभाँति देख भरतजीके मनमें भय और खेद हो रहा है कि इन लोगोंको क्या दु:ख है? मुझसे क्या विरोध है?' (पं०)] अथवा, (ग) भरतजीको देखते ही पुरवासियोंको 'कैकेइ-कुटिल-करनी' की स्मृति जाग्रत् हो गयी जिससे शोकविह्वल हो जानेसे कुछ भी बोलना उनके लिये असम्भव हो गया। और कहते भी तो सब अमंगल वार्ता ही कहनी पड़ती, अत: कहनेमें संकोच भी है। (प० प० प्र०) शिष्टाचार भी यही है कि शोक-समाचार सहसा न कहना चाहिये।

हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दहँ दिसि लागि दवारी॥ १॥
आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि। हरषी रबिकुल जलरुह चंदिनि॥ २॥
सजि आरती मुदित उठि धाई। द्वारेंहि भेंटि भवन लेइ आई॥ ३॥

शब्दार्थ—**दहँ**=दस। **जलरुह**=जलसे उत्पन्न कमल। **चंदिनि**=चाँदनी, चन्द्रमाका प्रकाश।

अर्थ—बाजार और रास्ते देखे नहीं जाते, मानो नगरमें दसों दिशाओंमें वनाग्नि लगी है॥ १॥ बेटेको आता सुनकर राजा केकयकी पुत्री, सूर्यकुलरूपी कमलको चाँदनीरूप, कैकेयी प्रसन्न हुई॥ २॥ और आरती सजाकर आनन्दित हो उठ दौड़ी, दरवाजेपर ही (भरतजीको) भेंट कर उनको महलमें ले आयी॥ ३॥

नोट—१ *'जनु पुर दहँ दिसि लागि दवारी'*॥ यह दशा श्रीरामजीके वनगमन-समय ही हो गयी थी। यथा—*'नगरु सफल बनु गहबर भारी। खग मृग बिपुल सकल नर नारी। बिधि कैकई किराितिनि कीन्ही। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्ही॥ सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥'* (८५। २—४) यह दशा आज बीस दिनपर भी ज्यों-की-त्यों है। मार्गों, बाजारोंमें सन्नाटा छाया हुआ है, आजतक रामवियोग-विरहसे लोग वैसे ही व्याकुल हैं, घरसे निकलते नहीं। शोक किंचित् भी कम नहीं हुआ है। यह वही उपमा यहाँ देकर जनाया।

नोट २—(क) *'आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि।……'* इति। नगरभर दु:खी है, एक कैकेयीको ही हर्ष है। यह बात अयोग्य समझकर महाराज दशरथका सम्बन्धी नाम न देकर पिता-सम्बन्धी नाम दिया। (रा० प्र०) पुन: नैहरका सम्बन्ध दिया; क्योंकि उसको इस समय हर्ष हुआ कि हमारा पुत्र (दशरथ, कौसल्या आदिका नहीं) आया है जिसके लिये हमने सब कुछ किया है। (पु० रा० कु०) पुन:, कैकयनन्दिनि=केकयको आनन्द देनेवाली। केकयराज भरत-राज्य सुनकर प्रसन्न होंगे क्योंकि उन्होंने तो ब्याह ही इस शर्तपर किया था। अतएव *'कैकयनंदिनि'* पद दिया। पुन:, *'कैकयनंदिनि'* कहकर मन्दमति और कुटिल जनाया। विशेष *'कैकयनंदिनि मंद मति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।'* (९१) में देखिये।

(ख) *'रबिकुल जलरुह चंदिनि'* इति। यहाँ परम्परितरूपक है। सूर्यकुलपर कमलका आरोप किया, उसके सम्बन्धसे कैकेयीको चाँदनी कहा; क्योंकि चाँदनीसे कमल संकुचित हो जाता है, सिकुड़ जाता है।

नोट-३—(क) *'सजि आरती मुदित उठि धाई।……'* यह उसका हर्ष दिखाया। स्वयं उठकर दौड़ी

गयी कि कोई दशरथ-मरण आदि कह न दे। देखिये, कहाँ तो घरमें मृतक पड़ा है, सब दु:खमें डूबे पड़े हैं और कहाँ ऐसे अनर्थमें वह आरती करती है! पुनः, जब-जब राजकुमार बाहरसे आया करते थे, उनकी आरती उतारी जाती थी। इस समय शोक है, कोई क्यों आरती उतारेगा; अतः कैकेयी अपने पुत्रकी आरती करने चली। (ख)—*'उठि धाई'*—इससे कैकेयीका पुत्रमें प्रेम दिखाया। प्रेमके मारे उठ दौड़ी। यथा—'**आगतं भरतं दृष्ट्वा कैकयी प्रेमसम्भ्रमात्।**……' (अ० रा० २। ७। ५९) उस समय वह स्वर्ण-आसनपर बैठी हुई थी, सुनते ही बहुत प्रसन्न होकर वह आसनपरसे कूद पड़ी। यथा—'**उत्पपात तदा हृष्टा त्यक्त्वा सौवर्णमासनम्।**' (वाल्मी० २। ७२। २) यह भाव भी *'मुदित उठि धाई'* से जना दिया।

भरत दुखित परिवारु निहारा। मानहुँ तुहिन बनज बनु मारा॥ ४॥
कैकेई हरषित एहि भाँती। मनहुँ मुदित दव लाइ किराती॥ ५॥
सुतहि ससोच देखि मनु मारें। पूछति नैहर कुसल हमारें॥ ६॥
सकल कुसल कहि भरत सुनाई। पूँछी निज कुल कुसल भलाई॥ ७॥
कहु कहँ तात कहाँ सब माता। कहँ सिय राम लषन प्रिय भ्राता॥ ८॥

शब्दार्थ—**बनज**=वन (जल)+ज=जलज, कमल। **दव लाइ**=दावाग्नि लगाकर। **मनु मारे**=उदास, म्लान, खिन्न-हृदय, चित्तसे दु:खी। **नैहर** (प्रा० णाति, णाइ=पिता+हर=घर) स्त्रीके पिताका घर, मायका, पीहर।

अर्थ—श्रीभरतजीने परिवारको दु:खी देखा (वे ऐसे दीखते हैं) मानो कमलवनको पाला मार गया हो॥ ४॥ कैकेयी इस प्रकार प्रसन्न (दीखती) है, मानो भिल्लिनी (वनमें) आग लगाकर प्रसन्न हो रही हो॥ ५॥ पुत्रको शोचयुक्त और उदास देखकर पूछती है कि हमारे नैहरमें कुशल तो है?॥ ६॥ भरतजीने सबकी और सब तरहकी कुशल कह सुनायी और तब अपने कुलकी कुशल-भलाई (कुशल-क्षेम) पूछी॥ ७॥ कहिये, पिताजी कहाँ हैं? सब माताएँ कहाँ हैं? श्रीसीताजी और श्रीराम-लक्ष्मण प्यारे भाई कहाँ हैं?॥ ८॥

नोट—१ *'तुहिन बनज बनु मारा'* इति। पाला पड़नेसे जैसे कमल झुलस जाता है वैसे ही ये सब मुरझाये हैं, इनके मन मरे हुए हैं। बहुत लोग हैं, इससे वन कहा। सरस्वतीहीने प्रथम यह बात कही कि *'भयउँ सरोज बिपिन हिम राती।'* (१२। १) अर्थात् मुझसे जो देवता लोग करनेको कहते हैं उससे अवधकी यह दशा हो जायगी। वह यहाँ चरितार्थ हुआ। कविने कैकेयीको ऊपर *'रबिकुल जलरुह चंदिनि'* कहा ही है, पर श्रीभरतजीने जो दशा देखी उससे कैकेयीको शरद्की हिमरात्रिवाली चाँदनी जानना चाहिये।

नोट—२ *'मुदित दव लाइ किराती'*—पूरा रूपक *'बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही। जेहिं दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्ही॥'* (८४। २-३) में देखिये। अवध वन-परिवार, और पुरजन जीव-जन्तु और कैकेयी किरातिनी है। पुरवासियोंने भी ऐसा ही कहा है। यथा—*'कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंस बेनु बन आगी॥'* (४७। ४) इसके अनुसार रघुकुल बाँसोंका वन है, कैकेयी वनाग्नि है। कैकेयीके हर्षका प्रसंग चल रहा है—'कैकयनंदिनी' *'मुदित उठि धाई'* यह प्रथम कहा अब इसके हर्षका प्रकार उत्प्रेक्षाद्वारा कहते हैं। इससे जनाया कि भरतको सन्देह हो गया कि माताके किसी कर्तव्यसे परिवारकी यह दशा हो रही है।

नोट—३ *'सुतहि ससोच देखि……'* इति। ऐसा जान पड़ता है कि इनको उदास देखकर उसे यह खयाल हुआ कि यहाँ तो मैंने सब सुख साज ही रखा है,कहीं नैहरमें कुछ गड़बड़ तो नहीं है? और भरतको तो सोचका यहाँ एक कारण और यह भी हुआ कि सब तो दु:खी हैं और यह सुखी। *'हमारें'* बहुवचन पद अपने लिये प्रयुक्त कर रही है। इस प्रकार कवि जनाते हैं कि इस समय उसका गर्व कितना बढ़ गया है। सोच इससे है कि सारा नगर और परिवार दु:खी देख पड़ता है; यह प्रसन्न कैसे है?

नोट—४ *'सकल कुसल कहि'*—नानाके यहाँसे चले हुए आज मुझे सातवीं रात है। मेरे नाना सकुशल हैं, मेरे मामा युधाजित् सकुशल हैं। मुझे उन्होंने बहुत धन दिया जो पीछे आ रहा है।

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ *'कुसल भलाई'* इति। भलाई अर्थात् कुलकी भलमनसाहत तो बनी है,

कोई लांछन तो नहीं लगा है? (कुशल-भलाई=कुशल-क्षेम। भाव यह कि दूतोंके कहनेसे मैं वहाँसे तुरत चलकर आया हूँ। अत: जो मैं पूछता हूँ, उसका उत्तर मुझे दो कि यहाँ तो सब कोई सकुशल हैं? भाव यह कि मैं सबके कुशलके लिये ही चिन्तित हूँ।)

टिप्पणी—२ *'कहु कहँ तात कहाँ सब माता।.......'* इति। पहले पिताको तब माता इत्यादिको पूछा। यह क्रम साभिप्राय है। कैकेयी राजाको बहुत प्रिय थी। वे प्राय: इसीके महलमें रहते थे। आज उस भवनको उनसे खाली देख रहे हैं। यथा—**'राजा भवति भूयिष्ठमिहाम्बाया निवेशने। तमहं नाद्य पश्यामि द्रष्टुमिच्छन्निहागत:॥'** (वाल्मी० २। ७२। १२) इस उद्धरणसे यह भी सिद्ध होता है कि कैकेयीके महलमें वस्तुत: वे अपने पिताका दर्शन करनेके ही विचारसे आये थे, पिताको नहीं देखा। अत: प्रथम उन्हींको पूछा। भरतजीको कौसल्याजी बहुत प्यार करती थीं; इससे जब वे घरमें आते तब माताएँ भी वहाँ आ जाती थीं। आज वे कोई नहीं आयीं। अतएव उनको पूछा। फिर श्रीसीता-रामजीको पूछा; क्योंकि कैकेयीको ये प्राणप्रिय थे, वे प्राय: कैकेयीके पास रहते थे और लक्ष्मणजी तो उनके साथ जन्मसे ही रहे; अतएव माताओंको पूछकर इनको पूछा। पुन:, उनको आश्चर्य है कि बाहरसे हमारे आनेपर तो ये सब एकत्र मिलकर हमारे पास आते थे, आज क्यों नहीं आये? अथवा, पिता-सम्बन्धी दु:स्वप्न देखे थे, इससे पिताकी सबसे अधिक चिन्ता है। अत: उनको प्रथम पूछा।

नोट—५ कैकेयीके साथ यहाँ भरतजीको 'सुत' कहते आये—*'आवत सुत सुनि', 'सुतहिं ससोच देखि', 'सुनि सुत बचन'* इत्यादि। पर भरतजीके उत्तर और प्रश्न आदिमें 'भरत' पद दिया है, कैकेयीका सम्बन्ध नहीं दिया है। कारण कि भरतजी उसके मतमें नहीं हैं, वे उसके दोषमें शामिल नहीं हैं, वे तो निर्दोष हैं। परंतु जब कैकेयी अगवानीको गयी, आरती उतारने लगी और प्रश्न किये तब उसने तो अपना सुत जानकर यह सब किया, उसे यह अभिमान था कि ये मेरे पुत्र हैं, इनकी प्रकृति भी ऐसी ही होगी। मैंने जो किया है उसे सुनकर ये प्रसन्न होंगे।

दो०—सुनि सुत बचन सनेहमय कपट नीर भरि नयन।
भरत श्रवन मन सूल सम पापिनि बोली बयन॥ १५९॥

तात बात मैं सकल सँवारी। भै मंथरा सहाय बिचारी॥ १॥
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ॥ २॥

शब्दार्थ—**सूल** (शूल)—एक अस्त्र जो बरछेके आकारका होता था। त्रिशूल, सूली जिससे प्राचीन कालमें प्राण-दंड दिया जाता था। सँवारी=बना ली, ठीक कर ली।

अर्थ—पुत्रके प्रेममय वचन सुनकर नेत्रोंमें कपट-जल भरकर पापिनी कैकेयी भरतजीके कानों और मनको शूलके समान (पीड़ित करने और करकनेवाले) वचन बोली॥ १५९॥ हे तात! मैंने सभी बात बना ली, बिचारी मन्थरा सहायक हुई॥ १॥ पर विधाताने बीचमें कुछ थोड़ा काम बिगाड़ दिया कि राजा स्वर्ग पधार दिये॥ २॥

गौड़जी—*'तात बात.......सँवारी।'* इति। 'तुम्हारी तो बात सभी ठीक करके तुम्हारी भलाई (कुशल)-का मैंने सारा बंदोबस्त कर लिया है।' कपटके आँसू दिखाते हुए भी कैकेयीके मनमें जो भाव सबसे ऊपर थे; उसीको पहले प्रकट किये बिना न रह सकी। [*'बात मैं सकल सँवारी',* ऐसा ही अ० रा० में भरतजीके व्याकुल होनेपर कहा है, यथा—**'भद्रं ते सर्वं सम्पादितं मया।'** (२।७।६८)]

नोट—१ कवि बराबर पग-पगपर भरतजीको निर्दोष-निष्पाप दिखाते जा रहे हैं। *'सनेहमय'* सौतें और *'श्रवन मन सूल'* यही बात जनाते हैं।

नोट—२ कैकेयी तो पति, सौतें और सीता-राम-लक्ष्मण सभीको अपना शत्रु मानती है, यथा—*'राम साधु तुम्ह साधु सयाने। राममातु भलि सब पहिचाने॥'* (३३। ७) उसको पतिमरण, प्रजादु:ख, रामवनवास

तो सुख दे रहे हैं, आज उसका कलेजा ठंडा है। यथा—*'दुइ बरदान भूप सन थाती। माँगहु आज जुड़ावहु छाती॥ देहु लेहु सब सवति हुलासू।'* (२२।५-६) भरतजीको यह कुछ मालूम नहीं है। उनके प्रेममें किंचित् कमी नहीं है। वह सोचती है कि हँसकर कहूँगी तो भरतको खयाल होगा कि यह कैसी है कि पति-मरणका शोक भी इसे नहीं, कुछ इसने दुष्टता अवश्य की है। अतएव उसके आँसू कहाँ! वह कपटसे आँखोंमें आँसू भर लायी, जिससे उसको वे निर्दोष समझें। पितामरण आदि भरतके लिये अप्रिय बातें हैं, पर वह इन्हें प्रिय बातके समान बोली।

टिप्पणी—१ *'तात बात मैं सकल सँवारी……'* इति। (क) भरतजीने तो पिता आदिका कुशल-समाचार पूछा। पर वह उत्तर देती है कि मैंने सब बात सुधार ली……। भाव यह कि कुशल तो न थी, पर मैंने सब बिगड़ी बना ली; नहीं तो जैसी कुशल तुम्हारे पिता आदिके द्वारा होती वह तुम्हें मालूम पड़ती, यथा—*'भामिनि भइउ दूध कइ माखी।'* (१९। ७) अर्थात् मैं घरसे निकाल दी गयी होती और तुम कारागारमें पड़े सड़ते। हम तुम दोनों दासोंकी तरह सेवा करते तब यहाँ रह सकते। काज जो सब मैंने ही सँभाल लिया पर इसमें बेचारी मन्थराने सहायता की थी, वह न बताती तो मुझे मालूम भी न होता, तुम भी यहाँ न थे। *'बिचारी'* पद श्लेष है। अर्थात् गरीब है, दासी है, इसकी हकीकत ही क्या, इसे कौन पूछे, तो भी यह सहायक हुई। विचारमान् है, पंडिता है, यथा—*'बार बार बड़ि बुद्धि बखानी।'* (२३।१) यहाँ लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग है। अथवा, अभिमानी लोग दूसरेको *'बिचारा, बिचारी'* कहते हैं, वैसे ही इसने कहा। [(ख) मन्थराकी प्रशंसा यहाँ क्यों की? इसलिये कि वह वचन दे चुकी थी कि *'तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कर भइसि अधारा॥ जौं बिधि पुरब मनोरथ काली। करउँ तोहि चषपूतरि आली॥'* (२३।२-३)। उसकी यह प्रतिज्ञा भरतद्वारा ही पूरी हो सकेगी। अतः यहाँ लक्षित कर दिया कि यही हम दोनोंकी परम हितैषिणी है और सब शत्रु हैं। (प०)]

टिप्पणी—२ *'कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ'* इति। यह अभिमानी जीवका सहज स्वभाव है। भलाईका तो स्वयं कर्ता बनता है और बुराई विधाताके सिर लादता है। वैसे ही कैकेयी सँवारना गुण अपना बताती है और बिगाड़ना दैवाधीन करती है। अपनेको निर्दोष ठहराती है। (ख) पितामरण तो बड़ी बात है पर वह उसको थोड़ी बात बताती है। राज्यके लोभी ऐसे ही होते हैं। अपने कार्यसाधनमें कैसा ही बड़ा अनर्थ हो वह दुष्टको 'कुछ' ही जान पड़ता है। (*'कछुक काज'* से (वाल्मी० २। ७२) के '**तं प्रत्युवाच कैकेयी प्रियवद्घोरमप्रियम्। अजानन्तं प्रजानन्ती राज्यलोभेन मोहिता॥**' (१४) का भाव जना दिया कि राज्यलोभसे मोहित कैकेयी कुछ भी न जाननेवाले भरतसे घोर अप्रिय बातको प्रिय बातके समान बोली। पंजाबीजी लिखते हैं कि वह रामविरोधिनी है। उसका हृदय वज्र-सा हो गया है। अतः वह इसे *'कछुक'* कहती है। वा, भरतके आश्वासनार्थ ऐसा कहती है, जिसमें वे अधीर न हो जायँ। वा, देह क्षणभंगुर है, एक दिन अवश्य सबको मरना है, और राजा धर्मज्ञ थे उन्हें स्वर्ग प्राप्त हुआ इससे उनके लिये सोच भी करनेकी जरूरत नहीं, तीसरे वे वृद्ध होकर मरे इत्यादि कारणोंसे *'कछुक'* कहा। वा, राजा उसके शत्रुके स्नेहमें मरे; अतः *कछुक* कहा।' राज्यप्राप्ति सूचित करते हुए उसने ऐसी युक्ति बनायी थी पर इसका प्रभाव उलटा ही पड़ा।)

सुनत भरतु भए बिबस बिषादा। जनु सहमेउ करि केहरिनादा॥ ३॥
तात तात हा तात पुकारी। परे भूमितल ब्याकुल भारी॥ ४॥
चलत न देखन पायउँ तोही। तात न रामहि सौंपेहु मोही॥ ५॥
बहुरि धीर धरि उठे सँभारी। कहु पितु मरन हेतु महतारी॥ ६॥
सुनि सुत बचन कहति कैकेई। मरमु पाँछि जनु माहुर देई॥ ७॥
आदिहुँ ते सबु आपनि करनी। कुटिल कठोर मुदित मन बरनी॥ ८॥

शब्दार्थ—**मरम**=मर्मस्थल। ***'मरम ठाहरु देखई।'*** (२५ छंद) देखिये। **पाँछि**=पाछकर, चीरकर, पंछा लगाकर। पाछना—जन्तु या पौधेके शरीरपर छुरीकी धार इस प्रकार मारना कि वह दूरतक न धँसे और जिससे केवल ऊपर-ऊपरका रक्त आदि निकल जाय। छुरा या नहरनी आदिसे रक्त, पंछा या रस निकालनेके लिये हलका चीरा लगाना, चीरना। माहुर=विष।

अर्थ—यह सुनते ही श्रीभरतजी दु:खके कारण व्याकुल हो गये। मानो सिंहकी गरज सुनकर हाथी सहम (डर) गया हो॥ ३॥ तात! तात!! हा तात!!! (इस तरह) पुकारते हुए बड़े व्याकुल होकर वे पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ४॥ हा तात! मैं आपको (स्वर्ग) जाते समय न देख पाया। हा तात! आपने मुझे श्रीरामजीको न सौंपा॥ ५॥ फिर धैर्य धारण करके सँभालकर उठे (और बोले) हे महतारी! पिताके मरनेका कारण कहो॥ ६॥ पुत्रके वचन सुनकर कैकेयी कहने लगी, मानो मर्मस्थलको चीरकर उसमें विष डाल रही हो॥ ७॥ कुटिला कठोर कैकेयीने शुरूसे अपनी सब कुटिल और कठोर करनी प्रसन्न मनसे वर्णन की॥ ८॥

नोट—१ ***'तात तात''''''व्याकुल भारी'*** इति।—कई बार तात-तात व्याकुलता जनाता है। ***'भारी'*** का भाव यह कि व्याकुल तो प्रथम ही थे, दु:स्वप्न, अपशकुन और प्रजा-परिवारको दु:खी देखकर; पर पितुमरण इस प्रकट दु:खसे बहुत व्याकुल हो गये, सँभाल न सके। ***'बिबस बिषादा' 'व्याकुल भारी'*** कैसा भारी विषाद हुआ, कैसे व्याकुल हुए यह वाल्मी० २—७२ (श्लोक १६ से २८ तक) में वर्णित है।

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ ***'चलत न देखन पायउँ तोही।'''''''*** इति। (क) भाव यह कि न मुझसे ही बना न आपसे ही। मैं आपको अन्त समय न देख सका और न आपने ही मुझे रामको सौंपा।—[वाल्मी० २। ७२ में सौंपनेका कारण स्पष्ट भरतजीके इन वचनोंसे पाया जाता है—**'यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः। तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥' पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः। तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम॥'** (३२-३३) अर्थात् जो मेरे भ्राता बन्धु हैं, जिनका मैं प्रिय दास हूँ, जो सरलस्वभाव हैं, उन रामजीको शीघ्र बताओ कि कहाँ हैं, मैं उनके चरण पकड़ूँ, वही अब मेरे अवलम्ब हैं, क्योंकि धर्म जाननेवालोंमें बड़ा भाई ही पिताके तुल्य माना गया है। ☞ अ० रा० में मानससे मिलते हुए श्लोक ये हैं—**'तच्छ्रुत्वा निपपातोर्व्यां भरतः शोकविह्वलः। हा तात क्व गतोऽसि त्वं त्यक्त्वा मां वृजिनार्णवे।'** (२। ७। ६६) **'असमर्प्यैव रामाय राज्ञे मां क्व गतोऽसि भोः।'** अर्थात् यह सुनते ही भरतजी शोकाकुल होकर पृथिवीपर गिर पड़े और विलाप करने लगे—हा तात! मुझे शोकसमुद्रमें डालकर आप कहाँ चले गये? महाराज रामको मुझे सौंपे बिना ही आप कहाँ चले गये?]

टिप्पणी—२ (क) ***'बहुरि धीर धरि''''''''*** इति। (क) माताने पहले कहा है कि विधाताने बीचमें कुछ काज बिगाड़ दिया, मन्थराने मेरी सहायता की; इससे भरतजीको होश आया कि कोई इससे भी बढ़कर अनिष्ट तो नहीं हुआ। इस शंकाके निवारणार्थ मातासे पूछना 'वितर्क संचारीभाव' है। (वीर) (ख) भरतजीके मुखसे माताके लिये ***'महतारी'*** शब्द भी दैवयोगसे कैसा अच्छा निकला है, वह सत्य ही ***'महत् अरि'*** है, कुलभरका नाश उसने किया है। ४० (४),४२ (६), ४२ भी देखिये।

नोट—२ ***'मरमु पाँछि जनु माहुर देई'*** इति। मर्म वह नाजुक स्थल है जहाँ चोट लगनेसे प्राय: मृत्यु ही होती है। पाँछिका अर्थ जो ऊपर दिया गया वह हिन्दीकोश-शब्द-सागरके अनुसार है। पिताका मरण-समाचार मर्मस्थलका चीरना है, अर्थात् उसने घाव मर्मस्थानमें कर दिया, अब अपनी कुटिल कठोर करनी—***'अवध बधावा'*** (रामराज्याभिषेककी तैयारी) से लेकर शम्बरासुरके वरदान आदिकी कथाएँ, कोप-भवनमें पड़ना इत्यादि सब कही, जिससे जीना दुर्लभ हो गया। यही पूर्वकृत घावमें विषका फाया देना है। बैजनाथजीके अनुसार 'रामस्नेह' मर्म, अंग राम, वनवास पाछ,भरतका राज्य विष और हरिविमुखता मरणहेतु है।' प्रोफे० दीनजी ***'पाँछि'*** का अर्थ देते हैं—'दबा-दबाकर, विकार निकाल करके, साफ करके।' ***'माहुर देई'***= जहर भरती है, विषभरी पट्टी उसपर धरती है। यहाँ सिद्धविषयाहेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

वाल्मी० २। ७३ में भरतजीने ऐसा ही कहा है—'**दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवाददाः॥**' (३) अर्थात् तूने मुझे दुःखमें दुःख दिया, मेरे घावमें नमक छिड़का।

नोट-३—***'कुटिल कठोर'*** इति। अपनी कुकरनी बड़ी प्रसन्नतासे कह रही है, इसीसे उसको भी कुटिल-कठोर कहा। ऐसी कठोर निर्दया कि पतिमरणपर भी दया नहीं छू गयी और न पुत्रपर दया हुई कि इनको पिताका इतना शोक हुआ, वनवास सुनेंगे तब न जाने क्या होगा! कारण कि वह तो समझती है कि हमारा पुत्र खुश होगा। (पंजाबीजी)

दो०—भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।
हेतु अपनपउ जानि जिअँ थकित रहे धरि मौनु॥ १६०॥

शब्दार्थ—'**गौनु**'=गमन, जाना। '**अपनपउ**'=अपना सम्बन्ध, अपनेको। '**थकित**'=स्तम्भित, शिथिल। '**धरि मौन**'=मौन धारण करके, चुप साधकर।

अर्थ—रामवनगमन सुनते ही भरतजीको पिताका मरण भूल गया। हृदयमें कारणमें अपना सम्बन्ध (अर्थात् अपनेको वनवासका कारण) समझकर चुप साधकर वे स्तम्भित हो गये। (अर्थात् वे ऐसे व्याकुल हो गये कि सन्न-से रह गये, कुछ बोल न निकला। यह अत्यन्त विह्वलता दिखायी। पितु-मरणपर सावधान थे, इसीसे विलाप करने लगे थे; पर वनवास सुन सावधानता न रह गयी, बेसुध हो गये कि यह क्या हुआ?)

नोट—अ० रा० में जो कहा है कि '**इति मातुर्वचः श्रुत्वा वज्राहत इव द्रुमः॥**' (७६) '**पपात भूमौ निःसंज्ञस्तं**……।' अर्थात् वज्राहत वृक्षके समान अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े, वह सब भाव ***'थकित रहे*……'** से जना दिया है।

बिकल बिलोकि सुतहि समुझावति। मनहु जरे पर लोन लगावति॥ १॥
तात राउ नहिं सोचइ जोगू। बिढ़इ सुकृत जसु कीन्हेउ भोगू॥ २॥
जीवत सकल जनम फल पाए। अंत अमरपति सदन सिधाए॥ ३॥
अस अनुमानि सोच परिहरहू। सहित समाज राज पुर करहू॥ ४॥

शब्दार्थ—**बिढ़इ** (सं० वृद्धि, हि० बढ़ाना)=कमाकर, संचय करके, इकट्ठा करके, उपार्जन करके। यह पूर्वी अवधी बोली है।

अर्थ—व्याकुल देखकर पुत्रको समझाती है, मानो जलेपर नमक लगाती है॥ १॥ हे तात! राजा सोच करने योग्य नहीं हैं। उन्होंने पुण्य और यश कमाकर उसका भोग भी किया॥ २॥ जीते-जी उन्होंने जन्म लेनेका सम्पूर्ण फल पा लिया और अन्तमें इन्द्रलोकको गये॥ ३॥ ऐसा विचारकर सोचको छोड़ो और समाज-(मन्त्री, सेना आदि) सहित नगरका राज्य करो॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'मनहु जरे पर लोन लगावति'*** इति।—लवण (नमक) रस है, जलेपर घावमें लगानेकी वस्तु नहीं है, भोजनकी वस्तु है। वैसे ही राज रस है, पर रामविरहीके लिये नहीं है, भोगीके लिये है—***'लोलुप भूमि भोग के भूखे।'*** (अति कटु वचन कहकर जैसा दुःख इसने राजाको दिया था वैसा ही दुःख भरतजीको इसके वचनोंसे हुआ यह दिखानेके लिये वही उत्प्रेक्षा यहाँ की। यथा—***'अति कटु बचन कहति कैकेई। मानहुँ लोन जरे पर देई॥'*** (३०। ८) यथा—यहाँ ***'सुतहि समुझावति। मनहुँ*……।'** इससे जनाया कि इसके वचन भरतजीको अति कटु लगे, विशेष भाव वहीं देखिये।

टिप्पणी २—***'तात राउ नहिं*……'** इति। [(क) वसिष्ठजीने भी यही बात कही है। यथा—***'तात बिचारु करहु मन माहीं। सोच जोगु दसरथु नृपु नाहीं॥'*** (१७२। २) से ***'सोचनीय नहिं कोसलराऊ॥'*** (१७३। ५) तक। पर कहनेवाले वसिष्ठजीने जब यह कहा तब वे विलख उठे थे—***'बिलखि कहेउ मुनि नाथ।'*** (१७१)

पर कैकेयीको यह कहते किंचित् दु:ख भी न हुआ। *'लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे। मगह गयादिक तीरथ जैसे॥'* यह वचन यहाँ भी चरितार्थ हुआ। (प० प० प्र०)] (ख) *'बिढ़इ सुकृत जसु·······'* इति। भाव कि उन्होंने धर्म और यश इस लोक और परलोक दोनोंके लिये संचय कर लिया। इतना धर्म कमाया कि इस तनमें भोग लिया और फिर अमरपुरमें जाकर भोग रहे हैं और आगेके लिये अपना यश संसारमें छोड़ गये।

टिप्पणी ३—*'सहित समाज राज पुर करहू'* इति।—राज्यके सात अंग हैं वही समाज है। भाव कि—(क) ये सब अंग अभी मौजूद हैं, तुरंत राज्यपर बैठ जाओ, नहीं तो फिर कोई विघ्न उपस्थित न हो जाय। (ख) तुम भी सुकृत और सुयश संचय कर लो और उपभोग करो। इसी राज्यसे सबने पुण्य और यश उपार्जन किया है, तुम भी इससे ऐसा ही कर लो। (*'सहित समाज राज पुर करहू'* में यह भी भाव है कि बेटा! तुम शोक क्यों करते हो। ऐसे महान् राज्यको पानेपर दु:खका कारण ही कहाँ रह जाता है। तुम्हारे ही लिये मैंने यह सब ठाट ठटा है; अब तुम यह निष्कण्टक राज्य ग्रहण करो।' यथा—'**कैकेयी पुनरप्याह वत्स शोकेन किं तव।**' (अ० रा० २। ७। ७८) '**राज्ये महति सम्प्राप्ते दु:खस्यावसरः कुतः।**', '**त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं कृतम्।**' (वाल्मी० २। ७२। ५२)। '**मा शोकं मा च संतापं धैर्यमाश्रय पुत्रक। त्वदधीना हि नगरी राज्यं चैतदनामयम्॥**' (५३) शोक-संताप न करो, धैर्य धारण करो।) (ग) *'तात राउ नहिं सोचइ जोगू।·······सोच परिहरहू'* ये सब वचन जलेपर लोन लगानेवाले हैं। और *'सहित समाज राज पुर करहू'* यह पके हुए घावपर अंगार रखनेके तुल्य हैं, जैसा आगे कह रहे हैं—*'पाके छत जनु लाग अँगारू।'* यहाँ जलना क्या है? अपनी करनी उनसे कही कि तुम राजा हो, राम राजा न हों, इसलिये मैंने सब यत्न किया इसपर जलन हुई कि बड़े भाईके रहते छोटा राजा हो! कुलको कलंक पहुँचे! यही जलना है।

सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू। पाकें छत जनु लाग अँगारू॥ ५॥
धीरज धरि भरि लेहिं उसासा। पापिनि सबहि भाँति कुल नासा॥ ६॥
जौं पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारे मोही॥ ७॥
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीन जिअन निति* बारि उलीचा॥ ८॥

शब्दार्थ—**छत** (क्षत)=घाव। **अंगार**=आगकी चिनगारी। **कुरुचि**=कुत्सित इच्छा, बुरी रुचि, बुरा विचार। **निति**=नित्य, प्रतिदिन=निमित्त, लिये। '**उलीचा**' (सं० उल्लंघन)=पानी फेंका। हाथ या बरतनसे पानी उछालकर दूसरी ओर डालना 'उलीचना' कहलाता है। **पालउ**=पल्लव=पत्ता।

अर्थ—राजकुमार श्रीभरतजी यह सुनकर अत्यन्त सहम गये। मानो पके घावमें अंगार लग गया (पके घावपर चिनगारी पड़ जानेसे पीड़ा असह्य हो जाती है, रोगी कलपने-तड़पने लगता है वैसे ही इनको दु:सह दु:ख हो गया)॥ ५॥ धीरज धरकर वे गहरी लम्बी साँसें लेने लगे (और बोले)! अरी पापिनी! तूने सभी तरह कुलका नाश किया॥ ६॥ जो निश्चय ही तेरे (ऐसी) अत्यन्त बुरी रुचि थी, तो तूने मुझे जन्म लेते ही क्यों न मार डाला?॥ ७॥ तूने पेड़ काटकर पल्लवको सींचा, मछलीके जीवनके लिये तूने जल उलीच फेंका॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।·······'* इति। [(क) वाल्मी० २।७४ में श्रीभरतजीने जो कहा है कि 'राक्षसोंके आचरणके समान क्रूर कर्म जो तुमने किया कि सर्वलोकप्रिय श्रीरामको वन भेज दिया उससे मैं भयभीत हो उठा हूँ, मैं अपना कर्तव्य निश्चय करते डरता हूँ। तेरे कारण मेरे पिता मरे, भाई वनवासी हुए और लोकमें सर्वत्र मुझे तुमने अपयश दिया। तुम मातारूपमें मेरी शत्रु हो। तुम्हारे पापोंका फल मुझे भोगना पड़ रहा है, यह सब भाव *'सुठि सहमेउ'* में आ जाते हैं। अर्थात् ये सब बातें सोचकर वे अत्यन्त भयभीत हो गये। 'राजकुमार' का भाव कि यह बात नहीं है कि वे राज्यके योग्य न हों,

* आधुनिक प्रतियोंमें 'निति' का 'हिति' कर दिया गया है।

सब प्रकार राजा होनेके लायक हैं। (ख) पूर्व कहा था कि *'जनु सहमेउ करि केहरिनादा।'* (१६०।३) अर्थात् सहम तो पहले ही गये थे, अब *'सुठि सहमेउ।'* (ग) *'पाकें छत जनु लाग अँगारू'*॥ यहाँ राजाकी मृत्यु क्षत है, रामवनगमन उसका परिपक्व होना है, 'राज्य करो' यह कथन अंगार लगना है। अंगार देखनेमें सुन्दर है पर घावपर लगनेसे अत्यन्त दुःख देता है। वैसे ही पितुमरण और रामवनगमनपर राज्यका देना है। राज्य सुन्दर पदार्थ है पर इसीने वेदना अत्यन्त बढ़ा दी है। (पं०)]

टिप्पणी—२ *'सबहिं भाँति'*। पिताका मरण, वैधव्य, कुलमर्यादाका नाश, कलंक, रामवनगमनसे प्रिय-परिजन सब प्रजा दुःखी, इत्यादि।

नोट—१ वाल्मी० २। ७३ में श्रीभरतजीके वचन ये हैं—पिताको मार डाला और भाईको वनवासी बनाया। मेरे कुलके विनाशके लिये तुम कालरात्रि बनकर आयी हो। बिना समझे ही अनजानेमें मेरे पिताने जलती आग पकड़ ली। बुरे अभिप्राय रखनेवाली तुमने राजाको मार डाला। कुलनाशिनि! तुमने मोहसे इस कुलका सुख नष्ट कर डाला—'**सुखं परिहृतं मोहात्कुलेऽस्मिन्कुलपांसनि।**'(५) मेरे कारण मेरे पिता सत्यप्रतिज्ञ महायशस्वी राजा भयानक दुःख उठाकर मर गये।......पुत्रशोकसे पीड़ित कौसल्या और सुमित्रा तेरे साथ रहकर कैसे जीवित रह सकेंगी।......राजपुत्रोंमें जो बड़ा होता है वही राजा होता है। जिन्होंने सदा कुलधर्मकी रक्षा की है और कुलोचित आचारके पालनसे प्रसिद्ध हुए हैं, उनका वह उन्नत चरित्रवाला कुल आज तुम्हारे कारण नष्ट हुआ। यह सब *'सबहि भाँति'* है। पाँड़ेजीका मत है कि यह मानसिक कथन है, पापिनि=इस पापिनीने।

नोट—२ (क) *'कुरुचि'* इति। मेरा पुत्र राजा होवे, मैं राजमाता कहलाऊँ, सौतें मेरी सेवा करें इत्यादि राज्यलोभ, निर्मल सूर्यवंशमें कलंक लगानेवाली, *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई'* इस कुलोचित आचारके विरुद्ध बुद्धि श्रीरामजीको देशनिकाला देने और मुझे कुलकलंकी बनानेका मनोरथ ही *'कुरुचि'* है। यथा— *'हौं लहिहौं सुख राजमातु ह्वै, सुत सिर छत्र धरैगो। कुलकलंक मलमूल मनोरथ तव बिनु कौन करैगो॥'* (गी० २। ६०) (ख) *'जनमत काहे न मारे मोही'* इति। भाव कि उसी समय मार डाला होता तो तेरा नाता टूट जाता, तेरे नातेसे मुझको और कुलको कलंक न लगने पाता। अथवा, तेरी कुरुचिके कारण मैं मारा गया, मारे गयेके समान तूने मुझे दुःखी कर डाला है—'**हतस्येह मम**', '**दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवाददाः।**' (वाल्मी० २। ७३। ३)।' दुःख देकर मारा, इससे अच्छा था कि प्रथम ही मार डालती।

टिप्पणी—३ *'जौं पै कुरुचि रही अति तोही......'* इति।—क्या कुरुचि थी,सो आगे कहते हैं—पेड़ काटने और पल्लव सींचनेकी, मछली जिलानेके लिये नित्य पानी उलच फेंकनेकी। यहाँ पेड़ राजा और पल्लव भरत, (श्रीरामजीको पेड़ और भरतजीको पल्लव कह सकते हैं। पल्लवका जीवन पेड़के अधीन है। ऐसा लेनेसे भाव यह होगा कि मैं श्रीरामजीका भक्त हूँ, उनके आश्रित हूँ, स्वामीको वन भेजकर मुझे सुख देनेकी इच्छा मूर्खता है।) जल रामजी, मीन भरतजी और अयोध्या तालाब है। पुनः, सब प्रिय परिजन प्रजा भी मीन हैं, सबके जीवन रामरूपी जल हैं। भाव यह कि पेड़से सबको सुख होता है सो तूने उसे काट डाला, सबका सुख छीन लिया, एक पल्लवको सींचा अर्थात् मुझे सुख देना चाहा तो मैं सुखी कैसे रह सकता हूँ? पानी न रहनेसे मछली मर जाती है वैसे ही बिना रामके मैं भला जी सकता हूँ? 'ललित अलंकार' है।

दो०—हंस बंसु दसरथु जनकु राम लषन से भाइ।
जननी तू जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ॥ १६१॥

जब तैं कुमति कुमत जिअँ ठयेऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयेऊ॥ १॥
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥ २॥

भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही॥ ३॥
बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥ ४॥
सरल सुसील धरम रत राऊ। सो किमि जानइ तीय सुभाऊ॥ ५॥

शब्दार्थ—**हंस**=सूर्य। **जनक**=पिता। **ठयेऊ**=ठना, स्थित हुआ। दृढ़ संकल्पसे आरम्भ होना, (मनमें) जमना ठहरना ठनना निश्चित होना 'ठयना' कहा जाता है। पुनः, ठयना=करना, यथा—***'सोरह जोजन मुख तेहि ठयऊ।'***

अर्थ—(भरतजी कहते हैं कि देख मैं कैसा भाग्यवान् था कि) सूर्यवंश-ऐसा वंश (मुझे मिला अर्थात् उत्तम कुलमें मेरा जन्म हुआ), दशरथ महाराज-ऐसे पिता और श्रीराम-लक्ष्मण-सरीखे भाई मिले; पर हे जननी! तू मुझे जनने-(पैदा करने-) वाली हुई।[1] विधातासे कुछ भी वश नहीं चलता (भाव यह कि विधाताने कहाँ तो इतने ऊँचे महान् श्रेष्ठ सम्बन्ध दिये और कहाँ तुझ ऐसी नीच स्त्रीके गर्भसे मेरा जन्म कराया। यहाँ सम्बन्ध महा अयोग्य है। तुझसे मेरा जन्म न कराना चाहिये था)॥ १६१॥ हे दुर्बुद्धिनी! जब तूने मनमें यह बुरा विचार ठाना तभी तेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो गया॥ १॥ वर माँगते हुए तेरे मनमें पीड़ा न हुई, तेरी जीभ न गल गयी और तेरे मुँहमें कीड़े (क्यों) न पड़ गये?॥ २॥ राजाने तेरा विश्वास कैसे कर लिया? (जान पड़ता है कि) विधाताने मरनेका समय आनेपर उनकी बुद्धि हर ली॥ ३॥ ब्रह्माने भी स्त्रियोंके हृदयकी गति (चाल) नहीं जानी, वे सम्पूर्ण कपट, पाप और दुर्गुणोंकी खानि हैं॥ ४॥[2] फिर राजा तो सीधे-सादे, सुशील और धर्मपरायण थे, भला वे स्त्री-स्वभावको कैसे जान सकते?॥ ५॥

☞ मिलान कीजिये—***'ऐसे तैं क्यों कटु बचन कह्यो री?' 'राम जाहु कानन' कठोर तेरो कैसे धौं हृदय रह्यो री॥ दिनकरबंस, पिता दसरथ से, राम लषन से भाई। जननी! तू जननी तौ कहा कहौं? बिधि केहि खोरि न लाई?॥ 'हौं लहिहौं सुख राजमातु ह्वै, सुत सिर छत्र धरैगो। कुलकलंक मलमूल मनोरथ तव बिनु कौन करैगो॥'*** *(१—३)* ***'ऐहैं राम सुखी सब ह्वै हैं ईस अजस मेरो हरिहैं। तुलसिदास मोको बड़ो सोच तू जनम कौन बिधि भरिहै॥'*** (गी० २। ६०) इससे दोहा और कई चौपाइयोंके भाव स्पष्ट हो जाते हैं।

प० प० प्र०—हंस=निर्लोभ नृप। '**हंसः स्यान्मानसौकसि। निर्लोभनृपविष्ण्वर्कपरमात्मनि मत्सरे**' इति (अमरव्याख्यासुधायाम्) भाव कि पिता दशरथ तो निर्लोभ नृप थे, पर तू उनकी प्रियतमा पत्नी होकर भी राज्यलोभिनी हुई, यह मेरा अभाग्य है। (हंस श्लेषार्थी शब्दसे यह भी भाव निकला। गीतावलीके अनुसार 'हंस वंश' से सूर्यवंश अर्थ होता है—***'दिनकर बंस पिता दसरथ से'***) 'जननी' सम्बोधन देकर जनाया कि आजसे तू 'माता कहलाने योग्य न रह गयी, अब तू मेरी माता नहीं है। '**मान्यत्वात्**' माता कहलाती है। तू आजसे केवल 'जननी' रह गयी। (यहाँ कुल, पिता और बान्धवोंकी महान् श्रेष्ठता और माताकी अतिशय नीचता व्यंजित करना व्यंग है। व्यंग्यार्थसे अपने और मातामें अनमेलका भाव प्रकट करना 'प्रथम विषम अलंकार' है।)

टिप्पणी—१ ***'बिधि सन कछु न बसाइ'*** इति।—यह आगे-पीछे दोनों ओर लिया जा सकता है। आशय यह है कि विधिको चाहिये था कि तुझे मेरी माता न बनाते, तेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े कर डालते

१-किसी-किसीने अर्थ किया है कि, 'हे माता! तू (अपनी) माता (सरीखी) हुई।' दोहा १२ देखिये। पर यह क्लिष्ट कल्पना और प्रसंगके विरुद्ध है। (रा० प्र०) यहाँ तो भाव यह है कि विधाताने इतने सब उत्तम सम्बन्ध दिये पर माता ऐसी नीच और कुलनाशिनी दी। यहाँ व्यंग्यार्थसे अपने और मातामें अनमेल जना रहे हैं। यहाँ प्रथम विषम अलंकार है।

२-रा० प्र० में ऐसा अर्थ है—'सकल कपट अघ अवगुण खानि जो नारि है उसके हृदयकी गति विधिने भी नहीं जानी है।'

जैसे ही दुर्बुद्धि मनमें आयी थी, मनमें पीड़ा उत्पन्न कर देते, जिह्वा गला देते, तेरे मुँहमें कीड़े पड़ जाते, इत्यादि। उन्होंने कुछ न किया। उनका (और मेरा उनपर) वश नहीं, नहीं तो कुछ करते ही (वा, मैं कुछ कहता ही)। ऐसा जान पड़ता है कि वे स्वयं ही स्त्रीकी गति नहीं जान सके तो जब बनानेवालेने ही न जानी तो राजा क्या जान सकते? स्त्रीकी निन्दासे राजाकी अनभिज्ञता सूचित करना 'द्वितीय व्याजनिन्दा' अलंकार है।

नोट—१ *'बर माँगत मन भइ नहिं पीरा।……'* इति। (क) यहाँ मन, जिह्वा और मुँह तीनोंकी निन्दा की, क्योंकि बोलनेमें ये तीनों साधक हैं। पहले बात मनमें आती है, फिर जिह्वाद्वारा मुखसे बाहर निकलती है। मनमें पीड़ा न हुई। (रा० प्र०) अथवा, 'राज्य' ये वर्ण जिह्वासे ही और 'वन' होठसे उच्चारण किये जाते हैं; इसीसे जिह्वा और मुख दोनोंको दोषी ठहराया। (वै०)

नोट—२ (क) *'भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही……'* इति। प० पु०, सृष्टिखण्डमें नन्दाने अपने बेटोंसे कुछ नाम गिनाये हैं कि जिनका विश्वास न करना चाहिये। वे ये हैं—नखवाले जीव, नदी, सींगवाले पशु, शस्त्रधारी, स्त्री तथा दूत (का विश्वास न करना चाहिये)। यथा—**'नखिनां च नदीनां च शृंगिणां शस्त्रधारिणाम्। विश्वासो नैव कर्त्तव्यः स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च॥'** (१८। ३६३) जिसपर पहले कभी विश्वास न किया गया हो ऐसे पुरुषपर तो विश्वास करे ही नहीं और जिसपर विश्वास जम गया हो उसपर भी अत्यन्त विश्वास न करे, अविश्वसनीयपर विश्वास करनेसे जो भय उत्पन्न होता है वह विश्वास करनेवालेका समूल नाश कर डालता है।—**'विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि विकृन्तति।'** (३६४) इसके अनुसार भाव यह हुआ कि राजा नीति जानते थे कि स्त्रीका विश्वास न करना चाहिये तब कैसे विश्वास कर लिया। उसीका फल कुलभरका नाश सामने आया। श्रीत्रिपाठीजी कहते हैं कि भाव यह है कि महाराज जानते थे कि तू कैसे माताकी बेटी है, और यह भी जानते थे कि बेटी माँको पड़ती है, फिर तेरा विश्वास कैसे किया? यथा—**'तथा त्वमपि राजानं दुर्जनाचरिते पथि। असद्ग्राहमिमं मोहात् कुरुषे पापदर्शिनी॥' 'सत्यश्चात्र प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिभाति मे। पितॄन् समनुजायन्ते नरा मातरमंगनाः॥'** (वाल्मी० २। ३५। २७-२८) सुमन्त्रजीने कैकेयीसे कहा कि तू भी अपनी माताकी भाँति दुर्जनोंसे आचरित मार्गमें स्थित है, राजाको मोहमें लाकर असत् कार्यका ग्राहक बनाती है। यह लोक-प्रवाद सत्य मालूम होता है कि पुरुष लोग पिताका अनुगमन करते हैं, और बेटी माँका अनुगमन करती है। इसी बातको लक्ष्य करके भरतजी कहते हैं कि मरणके समय विधाताने बुद्धि हरण कर ली, नहीं तो चक्रवर्तीजी तेरा विश्वास कभी न करते। (यह कथा २। १२ में आ चुकी है।) (ख) स्त्रीके मनकी गति विधाता नहीं जानते, इसका समर्थन हेतुसूचक बातसे करना कि वह सारे कपट, अत्याचार और अवगुणोंकी खानि होती है 'काव्यलिंग अलंकार' है। स्त्रीकी निन्दासे राजा और ब्रह्मामें अनभिज्ञताका दोष प्रकट होना 'द्वितीय व्याजनिन्दा अलंकार' है। (वीर)

टिप्पणी—२ *'भूप प्रतीति तोर किमि कीन्ही।……'* इति। पहले राजाको दोष लगाया कि उन्हें स्त्रीका विश्वास करना न चाहिये था, फिर यह निश्चय किया कि उनका दोष नहीं, विधिने मरणकालमें मति ही हर ली। फिर आगे तीसरी तरह इस दोषका निवारण स्वयं करते हैं।

वि० त्रि०—*'बिधिहुँ न नारि……खानी'* इति। मायाके परिवार काम-क्रोधादिसे शिव-चतुराननके डरनेकी बात सुनी जाती है, और नारि तो इन सबोंसे भी दारुण दुःखद है, यथा—*'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥'* (३। ४३) जो जिसकी गति नहीं जानता उसीसे वह डरता है। अतः कहा जा सकता है कि विधाताको भी नारिके हृदयकी गति नहीं मालूम।

टिप्पणी—३ *'सरल सुसील धरमरत राऊ।……'* इति। (क) स्वभाव सरल है, इसीसे तुमसे कह दिया कि कल राजतिलक है, तुम मंगल सजो। धर्मरत हैं, अतः स्त्रीको जो वचन दिया उसको सत्य किया

और वरदान दिया, नहीं तो स्त्रीसे काम ही क्या था? जैसे ही सुना था कि कोपभवनमें है उसके पास न जाते। सुशील थे, नहीं तो उसे झिड़क देते। पुनः, (ख) सरल थे, इससे उसका कपट न जाना। धर्मरत हैं, अतः उसका अघ न जाना और सुशील सुन्दर स्वभाव होनेसे उसके अवगुणको न जाना। कपटकी खानि है, इससे रामशपथ कराके वचनमें बाँधकर तब वर माँगा। (ग) *'सो किमि जानइ'* में ध्वनि यह भी है कि यह तो हम ही जानते हैं। या तो रामजी जानें या उनके दास और कोई नहीं जान सकता। (घ) यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है।

आत्मग्लानि

प्रोफे० पं० रामचन्द्र शुक्ल—'आत्मग्लानि' का जैसा पवित्र और सच्चा स्वरूप गोस्वामीजीने दिखाया है, वैसा शायद ही किसी कविने कहीं दिखाया हो। आत्मग्लानिका उदय शुद्ध और सात्त्विक अन्तःकरणमें ही हो सकता है; अतः भरतसे बढ़कर उपयुक्त आश्रय उसके लिये और कहाँ मिल सकता है? आत्मग्लानि नामक मानसिक शैथिल्य या तो अपनी बुराईका अनुभव आप करनेसे होता है अथवा किसी बुरे प्रसंगके साथ अपना सम्बन्ध लोकमें दिखायी पड़नेसे उत्पन्न हीनताका अनुभव करनेसे। भरतजीकी ग्लानि थी तो दूसरे प्रकारकी, पर बड़ी सच्ची और बड़ी गहरी थी। जिन रामका उनपर इतना गाढ़ा स्नेह था, जिन्हें वे लोकोत्तर श्रद्धा और भक्तिकी दृष्टिसे देखते आये, उनके विरोधी वे समझे जायँ, यह दुःख उनके लिये असह्य था। इस दुःखके भारसे हलके होनेके लिये वे छटपटाने लगे, इस घोर ग्लानिको वे हृदयमें न रख सके—*'को तिभुवन मोहि सरिस अभागी।''''''भागी।'* वे रह-रहकर सोचते हैं कि मैं लाख अपनी सफायी दूँ पर लोकको दृष्टिमें निष्कलंक नहीं दिखायी पड़ सकता—*'जो पै हौं मातु मते महँ ह्वै हौं। तौ जननी जगमें या मुखकी कहाँ कालिमा ध्वैहौं? क्यौं हौं आज होत सुचि सपथनि? कौन मानिहै साँची? महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बल-बिसिषन बाँची? गहि न जाति रसना काहू की, कहौ तुम्हैं जो सूझै? दीनबंधु कारुण्यसिंधु बिनु कौन हिये की बूझै?'*

कैकेयीको सामने पाकर इस ग्लानिके साथ अमर्षका संयोग हो जाता है। उसकी पवित्रताके सामने माताके प्रति यह अवज्ञा कैसी मनोहर दिखायी पड़ती है—*'जो पै कुरुचि रही अति तोही।''''''को तू अहसि सत्य कहु मोही॥'*

लोग प्रायः कहा करते हैं कि अपना मन शुद्ध है तो संसारके कहनेसे क्या होता है? यह बात केवल साधनाकी ऐकान्तिक दृष्टिसे ठीक है, लोकसंग्रहकी दृष्टिसे नहीं। आत्मपक्ष और लोकपक्ष दोनोंका समन्वय रामचरितका लक्ष्य है। हमें अपनी अन्तर्वृत्ति भी शुद्ध और सात्त्विक रखनी चाहिये। जिसका प्रभाव लोकपर न पड़े उसे मनुष्यत्वका पूर्ण विकास नहीं कह सकते। यदि हम वस्तुतः सात्त्विकशील हैं, पर लोग भ्रमवश या और किसी कारण हमें बुरा समझ रहे हैं, तो हमारी सात्त्विकशीलता समाजके किसी उपयोगकी नहीं। हम अपनी सात्त्विकशीलता अपने साथ लिये चाहे स्वर्गका सुख भोगने चले जायँ, पर अपने पीछे दस-पाँच आदमियोंके बीच दस-पाँच दिनके लिये भी कोई शुभ प्रभाव न छोड़े जायँगे। ऐसे एकान्तिक जीवनका चित्रण जिसमें प्रभविष्णुता न हो, रामायणका लक्ष्य नहीं है। रामायण भरत ऐसे पुण्यश्लोकको सामने करता है जिनके सम्बन्धमें राम कहते हैं—*'मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार॥'*

अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं॥ ६॥
भे अति अहित रामु तेउ तोही। को तू अहसि सत्य कहु मोही॥ ७॥
जो हसि सो हसि मुहुँ मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई॥ ८॥

दो०—राम बिरोधी हृदय तें प्रगट कीन्ह बिधि मोहिं।
मो समान को पातकी बादि कहौं कछु तोहिं॥ १६२॥

शब्दार्थ—'**अहसि**' '**हसि**'=है। **मसि**=स्याही, कालिख। **लाई**=लगाकर।

अर्थ—संसारमें ऐसा कौन जीवजन्तु है जिसे रघुनाथजी प्राणोंसे प्यारे न हों?॥ ६॥ (सो) वे श्रीरामजी भी तुझे बड़े भारी शत्रु लगे (जान पड़े), (तो) तू कौन है? मुझसे सच-सच बता (अर्थात् स्त्री-वेशमें राक्षसी तो नहीं है)॥ ७॥ (खैर बिगड़ना था सो तो बिगड़ चुका, अतएव कहते हैं कि) तू जो है सो है, मुँहमें स्याही लगाकर मेरी आँखोंसे ओझल होकर यहाँसे उठकर (और कहीं) जा बैठ॥ ८॥ विधाताने मुझे श्रीरामसे शत्रुता माननेवाले हृदयसे पैदा किया है (इसलिये) मेरे समान दूसरा कौन पापी है, व्यर्थ ही मैं तुझे कुछ कह रहा हूँ॥ १६२॥

टिप्पणी—१ '***अस को जीव जंतु जग माहीं।*......' इति। (क) जीव तीन प्रकारके हैं, यथा—'***बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥***' (२७६। ३) इनके अतिरिक्त सब जन्तु हैं। जन्तुओंको भी रामजी प्राणप्रिय हैं, यथा—'***जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी।*......' (२६२। ८) अथवा, बड़े जीव और छोटे जन्तु अर्थात् छोटे-बड़े सभी जीवोंको वे प्राणप्रिय हैं, यथा—'***ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।***' (१। २१६। ७) तू न जीव है, न जन्तु ही है, नहीं तो तुझको भी वे प्राणप्रिय होते। (ख) '***भे अति अहित*......' का भाव कि अहित तो पहले ही हुए जब तूने उनका राज्य छीना, और 'अति अहित' हुए, तभी तो तूने उनको वनवास दिया, कि घर, ग्राम, नगरमें भी न रहने दिया। '***तेउ***' अर्थात् सर्वलोकप्रिय श्रीराम भी।

टिप्पणी—२ '***को तू अहसि सत्य कहु मोही***' इति। जब तू इस जगत्‌के जीव-जन्तुओंमें नहीं है तो आखिर है कौन? भाव कि माया तो नहीं है जो जीवोंको मोहित किया करती है, यथा—'***एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जेहि बस जीव परा भव कूपा॥***' यहाँ '***मोही***' शब्दमें दूसरा गुप्त अर्थ भी प्रकट किया है। अर्थात् जब वह इतनेपर भी न बोली, तब भरतजीने स्वयं ही उत्तर भी अपने प्रश्नका दे दिया कि '***तू मोही***' है, मायाने तुझे मोहित कर लिया है। [वै०, रा० प्र०, पं०—'***को तू अहसि***' अर्थात् पिशाचिनी, डाकिनी, माया, असूया, ईर्ष्या, अविद्यामेंसे कोई है? क्या है?]

टिप्पणी—३ '***जो हसि सो हसि मुहुँ मसि लाई।*......', अर्थात् पूछकर क्या करना? [तुझे वध कर ही नहीं सकता क्योंकि रामजी इससे अप्रसन्न होंगे। यथा—'**हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्। यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्।**' (वाल्मी० २। ७८। २२) कुबड़ी मन्थराको छुड़ाकर उन्होंने शत्रुघ्नजीसे कहा कि दुष्ट आचरणवाली इस पापिन कैकेयीको मैं स्वयं ही मारता, यदि धर्मात्मा श्रीरामजी मातृहत्या समझकर मुझसे घृणा न करते। तेरा मुँह देखने लायक नहीं है। इस तरह माताका त्याग किया। '**प्रतिकूलस्य वर्जनम्**' यह षट्शरणागतिमेंसे एक है।]

टिप्पणी—४ '***मो समान को पातकी बादि*......' इति।-जैसे गोस्वामीजीने 'विधि प्रपंच' का वर्णन, 'अवगुणों' का वर्णन और 'असाधु' का वर्णन करके फिर कहा कि '***तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धींग धरमध्वज धंधक धोरी॥***', वैसे ही भरतजी तो साधु हैं, उन्होंने पहले इतना सब कहा और फिर सब अपने ही ऊपर ले लिया। दूसरेको पापी कहा तो अपनेको धर्मात्मा कैसे कहें? (मिलान कीजिये—'***मातु मंदि मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥ फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि संबुक काली॥ बिनु समुझे निज अघ परिपाकू। जारिउँ जाय जननि कहि काकू॥***' (२६१। ३। ६) '***कैकइ सुअन जोगु जग जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई॥***' (१८१। १) '***मो समान को***' में ध्वनि यह है कि है तो तू भी पापिनी पर मैं बड़ा पापी हूँ। कैकेयीके गर्भसे जन्म लेनेके सम्बन्धसे अपनेको पापी समझना 'अर्थापत्ति प्रमाण अलंकार' है।

सुनि सत्रुघुन मातु कुटिलाई। जरहिं गात रिस कछु न बसाई॥ १॥
तेहि अवसर कुबरी तहँ आई। बसन बिभूषन बिबिध बनाई॥ २॥

लखि रिस भरेउ लषन लघु भाई। बरत अनल घृत आहुति पाई॥ ३॥
हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुहभर* महि करत पुकारा॥ ४॥

शब्दार्थ—**बरत**=जलती हुई। **हुमगि**=हूँ करके जोरसे, दूरसे ही उछलकर। **मुँह भर**=मुँहके बल। **भर**= भारसे, बलसे, द्वारा, यथा—***'सिरभर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥'*** (२०३। ७)

अर्थ—माताकी कुटिलता सुनकर श्रीशत्रुघ्नजीका शरीर क्रोधसे जलने लगा, कुछ बस नहीं चलता॥ १॥ उसी समय कुबरी अनेक प्रकारके वस्त्र और गहनोंसे अपनेको सजाये हुए वहाँ आयी॥ २॥ लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्नजी उसे देखकर रिससे भर गये, मानो जलती हुई अग्निको घीकी आहुति मिल गयी॥ ३॥ उन्होंने हुमगकर ताककर कूबड़पर लात मारी। वह मुँह (मुँहके बल) पृथ्वीपर चिल्लाती हुई गिर पड़ी॥ ४॥

नोट—१ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि पिताके क्रियाकर्मसे निवृत्त होनेपर भरतजी रामचन्द्रजीके पास जानेका विचार करने लगे तब लक्ष्मणके छोटे भाई उनसे बोले कि—श्रीलक्ष्मणजी तो वीर और बलवान् हैं, उन्होंने 'पितृनिग्रह' करके क्यों न रामको वनवाससे छुड़ाया, उन्हें पूर्व ही राजाको ऐसा काम न करने देना चाहिये था।…ठीक उसी समय मन्थरा देख पड़ी।—(सर्ग ७८ श्लोक १—५) वाल्मीकिजीने भी इस स्थलपर शत्रुघ्नजीको 'लक्ष्मणानुज' विशेषण दिया है—'**अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः। भरतं शोकसंतप्तमिदं वचनमब्रवीत्॥**' (१)……**इति संभाषमाणे तु शत्रुघ्ने लक्ष्मणानुजे। प्राग्द्वारेऽभूत्तदा कुब्जा सर्वाभरणभूषिता॥**' (५) वैसे ही पूज्य मानसकारने भी यहाँ ***'लषन लघु भाई'*** पद दिया है। लक्ष्मणजीका रोष और क्रोधी स्वभाव सबको विदित है, ये उनके छोटे भाई हैं, इनको इस अनुचित कार्यपर और रामवनवासके मुख्य कारणपर क्यों न रोष होता? वाल्मीकिजी कहते हैं कि इन्होंने सबसे कहा कि इसने मेरे भाइयों तथा पिताको बड़ा दुःख दिया है अब यह अपने क्रूर कर्मका फल पावे। पुनः, यहाँ ***'लषन लघु भाई'*** के साथ ही 'लखि' शब्द भी देकर 'लषन' का सम्बन्ध देनेका दूसरा कारण भी जना दिया है। अर्थात् इन्होंने भाँप लिया कि बस सब अनर्थका कारण यही है।

☞ देखिये, मानसमें प्रथम ही दिन और कैकेयीके समीप इस अवसरपर मन्थराका आना और उसपर क्रोधका उतारा जाना वाल्मीकीयके चौदह दिन पीछेवाली बातसे कहीं उत्तम है।

टिप्पणी—१ *'सुनि सत्रुघुन……जरहिं गात रिस……'* इति। *'सुनि'* अर्थात् कैकेयीने जब अपनी करनी वर्णन की तब सुना। क्रोध भरा है, कुछ बस नहीं चलता; क्योंकि स्वामी (भरत) की माता हैं, उनको कुछ कह नहीं सकते। पुनः, भरतजीने तो बहुत कुछ कह डाला इससे उनकी रिस तो पच गयी, शान्त हो गयी, परन्तु इनका क्रोध ज्यों-का-त्यों भरा छातीको जला रहा है। उसके उतारनेका उपाय भगवान्ने तुरत ही कर दिया। भागवतका क्रोध मिथ्या कैसे जाय?

टिप्पणी—२ (क) ***'तेहि अवसर'*** अर्थात् जब वे क्रोधसे संतप्त हो रहे थे उसी समय। [(ख) ***'बसन बिभूषन बिबिध बनाई'***—वह चन्दनका इत्र लगाये हुए थी, राजोचित वस्त्र धारण किये हुए थी। जड़ाऊ करधनी आदि अनेक आभूषणोंसे विभूषित थी। कैकेयीजीने जो कहा था कि ***'जौं बिधि पुरब मनोरथ काली। करौं तोहि चखपूतरि आली॥'*** (२३। ३) उसे यहाँ चरितार्थ किया। रानीने इसको सखी बनाकर सखीका सब शृंगार किया। वह सखियोंसे घिरी हुई आयी थी—'**सखीजनसमावृता**' (२। ७८। १२) श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि कैकेयीका वह पूरा होनेवाला मनोरथ पूर्ण हुआ, रामजी वनको गये। उसी दिन कुबरी आँखकी पुतली बनायी गयी। ऐसे आभूषण-वसन उसे मिले, जिनके पहननेका अधिकार केवल सचिव-सेनापति आदिकी स्त्रियोंको था। आज भरतजीका आना सुनकर वह उन्हीं वस्त्र-आभूषणोंसे सुसज्जित होकर भरतजीसे सत्कार पानेकी आशासे आयी।]

टिप्पणी ३—***'लखि रिस भरेउ लषन लघु भाई'*** इति। उसी समय कुबरी बनी-ठनी आयी। उसे देखकर

* भर-राजापुर (गी० प्रे०), भरि-को० रा०, रा० प०, ना० प्र०।

समझ गये कि सब इसीका किया हुआ है। दुःख और शोकके समय इसे शृंगार भाया है। रिस तो भरी थी ही, बस इसे देख क्रोधाग्नि भभक उठी। यहाँ *'लषन लघु भाई'* का प्रयोग साभिप्राय है। लक्ष्मण बड़े क्रोधी हैं, अनुचित जरा भी सह नहीं सकते—धनुषयज्ञमें जनकवचन सुनकर न सह सके। क्रोध आ गया, यथा—***'रदपट फरकत नयन रिसौहैं;'*** केवटके वचनपर रामजी हँसे पर इनकी त्योरी बदल गयी थी—***'बरु तीर मारहु लषन'''''' ।'*** लक्ष्मणजी जब-तब कुबरीको दण्ड देते ही थे, यथा—***'दीन्ह लषन सिख अस मन मोरे';*** अतएव उनके छोटे भाई भी वैसे ही हुआ चाहें। पुनः, [(२) ***'लषन लघु भाई'*** कहा; क्योंकि इन्होंने लख लिया कि सारे अनर्थकी जड़ यही कुबड़ी है। (पाँड़ेजी) लक्ष्मणजी बड़े लखनेवाले हैं, इसीसे लषन कहलाते हैं। ये छोटे भाई हैं, अतः इन्होंने भी लख लिया कि रामवनवासके उपलक्ष्यमें पाये हुए वस्त्राभूषणोंसे सजी हुई भरतके राज्य पानेका इनाम लेने आयी है। (वि० त्रि०) (३) लक्ष्मणजीने शूर्पणखाकी नाक काट ली, इन्होंने कुबरीको दण्ड दिया। (पंजाबीजी)] पुनः, (४) ***'लघु भाई'*** कहकर व्यवहारदेशमें बड़ाई की और परमार्थ-देशमें नाम धरा कि छोटे हैं, लड़के हैं, क्यों न मारें, यह काम बड़ेसे नहीं हो सकता।

टिप्पणी—४—***'करत पुकारा'***—कैकेयीकी दोहाई देती है। (वाल्मीकिजी लिखते हैं कि कैकेयीजी उसे छुड़ाने आयीं, पर शत्रुघ्नजीने उन्हें डाँट दिया। भरतके छुड़ा देनेपर वह कैकेयीके चरणोंपर गिर पड़ी और बड़े दुःखसे कैकेयीकी ओर देख रही थी। इससे जान पड़ता है कि चीत्कार करके कैकेयीकी दुहाई देने लगी थी।)

कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू॥ ५॥
आह दइअ मैं काह नसावा। करत नीक फल अनइस पावा॥ ६॥
सुनि रिपुहन लखि नख सिख खोटी । लगे घसीटन धरि धरि झोंटी॥ ७॥
भरत दयानिधि दीन्हि छुड़ाई। कौसल्या पहिं गे दोउ भाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**दलित**=टूट गये। **प्रचारू**=बह निकला, जारी हो गया। **अनइस** (अनैस। सं० अनिष्ट=बुराई, अहित=बुरा, जो इष्ट न हो। **झोंटी**=चोटी, बालोंका समूह। **फूट**=फट गया—फूटना क्रिया उन वस्तुओंके फटनेके लिये प्रयुक्त होती है जिनके ऊपर आवरण या छिलका हो और भीतर या तो पोला हो अथवा मुलायम या पतली चीज भरी हो। ऊपरका चर्म निकलकर रक्त निकलने लगना।

अर्थ—उसका कूबड़ टूट गया, खोपड़ी फूट गई (रक्त निकलने लगा), दाँत टूट गये, मुँहसे रक्त बहने लगा॥ ५॥ वह कराहती साँस भरती हुई बोली—हाय! दैव! मैंने क्या बिगाड़ा, जो भला करते बुरा फल पाया॥ ६॥ यह सुनकर और इसे नखसे शिखापर्यन्त अर्थात् सर्वांगसे दुष्टा जानकर शत्रुको मारनेवाले शत्रुघ्नजी झोंटा पकड़-पकड़कर उसे घसीटने लगे॥ ७॥ तब दयासागर भरतजीने उसको छुड़ा दिया और दोनों भाई कौसल्याजीके पास गये॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित'''''' '*** इति।—सरस्वतीने कुबरीद्वारा कहा था कि ***'फोरइ जोग कपारु अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा॥'*** (१६। २) पुनः, जो भरतजीने कैकेयीके लिये कहा है कि ***'खंड खंड होइ हृदय न गयऊ'*** इत्यादि, वह सब दशा मन्थराकी हुई। शत्रुघ्नजीने लात मारी तो कपाल फूटा, मुँहसे रुधिर गिरा (यही मानो कीड़ा पड़ना है। मुँहको दण्ड मिल चुका)। मारी गयी, यही हृदयका खंड-खंड होना है। दाँत गिरे यह मानो यमदण्ड हुआ; क्योंकि दाँतके देवता यम हैं। पृथ्वीने भी दण्ड दिया। [मन्थराने कहा था ***'जौं असत्य कछु कहब बनाई। तौ बिधि देइहि हमहि सजाई॥'*** और उसने सरासर असत्य कहा, यथा—***'भएउ पाख दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू॥'*** तथा—***'पूछा गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची॥',*** इत्यादि। **'अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते'** इसने अत्युग्र पाप किया है, अतः विधिने इसे इस लोकमें ही दण्ड दिया। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी २—*'आह दइअ मैं काह नसावा।'''''''* इति। यहाँ कविने खोला कि बन-सँवरकर आनेका क्या अभिप्राय था। यह सोचकर आयी थी कि मैंने राज्य दिलाया है, मुझे बड़ा इनाम मिलेगा। यह सुन शत्रुघ्नजी समझ गये कि यह सिरसे पैरतक खोटी है, केवल कूबड़हीमें दोष नहीं है, यथा—***'काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि। तिय बिसेषि पुनि चेरि॥'''''''*** यह सर्वांगदण्ड-दु:ख पाने योग्य है। अत: ***'लगे घसीटन''''''।'*** ***'करत नीक फल अनइस पावा'*** का सरस्वती कृत गुप्तार्थ यह भी है कि 'शत्रुघ्नजीने अच्छा किया जो मारा, बुराईका फल मिला।'

नोट—१ ***'लगे घसीटन धरि धरि झोंटी'*** इति। भाव कि बनी-ठनी आयी देखकर एक लात भर मारी थी। पर जब उसने यह कहा कि भलाई करते बुराई मिली, तब क्रोध और बढ़ गया कि सारी माया इसीकी है, इनाम लेने आयी है, अत: बार बार झोंटा पकड़कर घसीटने लगे। यह इनाम दिया। ***'धरि धरि'*** से जनाया कि एक बार घसीटकर छोड़ देते थे, फिर (सम्भवत: उसके कुछ कहनेपर) झोंटा पकड़कर घसीटने लगते थे, इत्यादि।

नोट २—***'भरत दयानिधि दीन्हि छुड़ाई'*** इति। भरतजी साधु हैं, साधु दयालु होते ही हैं, यथा—***'नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥'*** (३। २। ९) ये तो दयाके समुद्र हैं अत: छुड़ा दिया। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि कैकेयी उसे छुड़ाने आयी पर उन्होंने डाँट दिया जिससे वह डरकर भरतजीकी शरणमें गयी। भरतजीने शत्रुघ्नजीसे यह कहकर उसे छुड़ाया कि स्त्रियाँ सबके लिये अवध्य हैं, अतएव इसे क्षमा करो। दुष्टाचरण पापिन कैकेयीको मैं स्वयं मारता यदि धर्मात्मा रामजी इस मातृहत्यासे मुझसे घृणा न करते। यदि वे मन्थराका मारा जाना सुनेंगे तो वे निश्चय ही तुमसे और मुझसे बोलना छोड़ देंगे। (यथा—'**अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति। इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः॥ त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम्।**' (२। ७८। २१, २३)

दो०—मलिन बसन बिबरन बिकल कृस सरीर दुख भारु।
कनक कलप बर बेलि बन मानहुँ हनी तुसारु॥ १६३॥

भरतहि देखि मातु उठि धाई। मुरुछित अवनि परी झइँ आई॥ १॥
देखत भरतु बिकल भये भारी। परे चरन तन दसा बिसारी॥ २॥

शब्दार्थ—'**कनक कलप बर बेलि**'=सोनेकी सुन्दर कल्पलता। '**झइँ**'=आँखोंके सामने अँधेरा छा जाना, चक्कर, घुमनी, तिलमिलाहट।

अर्थ—माता कौसल्याके वस्त्र मैले हैं, शरीरका रंग बदरंग (फीका, पीला, द्युतिहीन) है, दु:खके बोझसे वे व्याकुल हैं, शरीर दुर्बल हो गया है। (ऐसी दिख रही हैं) मानो वनमें* सोनेकी सुन्दर कल्पलताको पाला मार गया हो॥ १६३॥ भरतको देखते ही माता उठ कर दौड़ीं, पर चक्कर आ गया, वे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं॥ १॥ यह स्थिति देखते ही भरतजी बड़े व्याकुल हो गये और उनके चरणोंपर गिर पड़े, तनकी दशा भूल गये॥ २॥

प० प० प्र०—***'मलिन बसन''''''उठि धाई'*** इति। (क) ***'आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि।'''''''*** इत्यादिसे मिलान करनेसे पाठक देखेंगे कि यहाँ कैसे दो विरोधी शब्दचित्र हमारे सामने खड़े कर दिये हैं। दोनों ही ***'उठि धाई'*** पर दोनोंके हृदयके भाव भिन्न-भिन्न हैं। कैकेयीके चरणोंपर भरतजीका पड़ना न लिखकर कविने प्रारम्भमें ही जना दिया कि अब वह सम्मान योग्य नहीं रह गयीं। कैकेयीने भरतजीको हृदयसे नहीं लगाया, उसके इस आचरणसे सूचित किया कि वह राज्यलोभमें सौतियाडाहसे पुत्रवात्सल्य भी खो बैठी है।

* १—यही अर्थ रा० प्र०, दीनजी, बैजनाथजी आदिने भी किया है और यही सुसंगत प्रतीत होता है। बा० श्यामसुन्दरदास और वीरकविने 'कल्पलताका बगीचा' और 'स्वर्ण निर्मित श्रेष्ठ लतासमूह' अर्थ किया है। २—पाण्डेजी कहते हैं कि बर बेलिसे नागबल्ली समझना चाहिये, इसका अग्रभाग स्वर्णके तुल्य होता है।

(ख) ***'कनक कलप बर बेलि बन……'*** इति। पूर्व अवधको गहरा वन कहा है—***'नगरु सफल बन गहबर भारी।'*** (८४। २) और श्रीभरतजीने आनेपर परिवारको ऐसा देखा ***'मानहु तुहिन बनज बन मारा।'*** (१५९। ४) परिवार कमलवन है। कौसल्याजी कल्पबेलि हैं। इससे सूचित हुआ कि नगरनिवासियोंकी अपेक्षा परिवार कोमल है और इनकी अपेक्षा श्रीकौसल्याजी अधिक कोमल हैं। कैकेयीपर पतिमरणका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, वह तो प्रसन्न है—***'मुदित उठि धाई।'***

नोट—***'परे चरन तन दसा बिसारी'*** इति। भाव कि वस्त्र कहीं गिरा, आप कहीं गिरे, चीख मारकर रोते और बातें कहते हैं। (पं०)

मातु तात कहँ देहि देखाई। कहँ सिय राम लषनु दोउ भाई॥ ३॥
कइकइ कत जनमी जग माँझा। जौं जनमि त भइ काहे न बाँझा॥ ४॥
कुलकलंकु जेहि जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रियजन द्रोही॥ ५॥
को तिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥ ६॥
पितु सुरपुर बन रघुबर केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू॥ ७॥
धिग मोहि भएउँ बेनु बन आगी। दुसह दाह दुख दूषन भागी॥ ८॥

शब्दार्थ—**लागी**=कारण। **भागी**=पानेवाला।

अर्थ—हे माता! पिता कहाँ हैं? पिताजीको दिखा दे। श्रीसीताजी और श्रीराम-लक्ष्मणजी दोनों भाई कहाँ हैं, उन्हें दिखा दे*॥ ३॥ कैकेयी संसारमें क्यों जन्मी? यदि जन्मी ही थी तो बाँझ क्यों न हुई? अर्थात् बाँझ होनेसे न संतान ही होती, न यह अनर्थ खड़ा होता॥ ४॥ जिसने कुलको कलंकित करनेवाला, अपयशका पात्र, प्रिय लोगोंका द्रोही मुझ (ऐसे पुत्र) को पैदा किया॥ ५॥ तीनों लोकोंमें मेरे समान भाग्यहीन कौन होगा कि जिसके कारण, माता! तेरी ऐसी दशा हुई॥ ६॥ पिता स्वर्गको और रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजी वनको गये, इस सब अनर्थका कारण केवल मैं केतुकी तरह हूँ॥ ७॥ मुझे धिक्कार है! मैं बाँसके जंगलके लिये अग्निरूप उत्पन्न हुआ और कठिन दाह, दुःख और दोषोंका भागी हुआ॥ ८॥

नोट—१ ***'रघुबर केतू'*** प्राचीन प्रतियोंका पाठ है। आधुनिकमें कहीं-कहीं ***'रघुकुलकेतु'*** पाठ है। 'केतु' को 'मैं' (भरत) का विशेषण मान लेनेसे अच्छा और सुसंगत अर्थ होता है—पिता स्वर्गको गये, रघुवर वनको गये। सब अनर्थका कारण मैं ही केतु हूँ। अर्थात् सबके हितमें मैं केतुसम दुःखदायी प्रकट हुआ, रामराज्यसे सबका हित था। ***'उदय केतु सम हित सब ही के।'*** (१। ३। ६) देखिये। केतुके उदयसे राजाका मरण, प्रजाको क्लेश, कलह आदि अनर्थ होते ही हैं। यथा—***'दुष्ट उदय जग आरत हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥'*** (७। १२०) यही अर्थ बाबा हरिहरप्रसादने किया है। कुछ लोगोंने यों अर्थ किया है—'रघुकुलके श्रेष्ठ पताका रामजी वनको गये।' पर जो उत्कृष्टता अनर्थके प्रसंगसे पुच्छल तारा केतुके अर्थमें है वह इस अर्थमें नहीं है। दूसरे, 'रघु' का अर्थ 'रघुकुल' लेनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती। अन्वय भी सीधा है। लोगोंने न समझकर पाठ बदल दिया है। 'रघुबरकेतू' को एक शब्द माननेसे भावकी चोखाई ही मारी जाती है।

प० प० प्र०—***'मातु'*** सम्बोधनसे उनकी माननीयता सूचित की गयी ***'कइकइ कत जनमी'***—कैकेयीको माता न कहकर ***'जननी'*** कहा था और अब उसे 'जननी' भी कहनेमें संकोच होता है, अतः ***'कइकइ'*** कहा।

पु० रा० कु०—मातासे पूछते हैं कि श्रीसीताराम-लक्ष्मण कहाँ हैं। जो वे कहें कि क्या तुम सुन नहीं चुके? उसपर कहते हैं कि कैकेयी क्यों पैदा हुई, पैदा हुई तो बाँझ होती। उससे क्या अकाज

* यहाँ 'कहँ' श्लेषपद है। 'देहि देखाई' दीपदेहरी न्यायसे दोनों ओर लगता है।

हुआ, वह कहते हैं कि मुझसे कुलको कलंक हुआ, श्रीसीताराम-लक्ष्मण, राजा, तुम, सब माताओं, कुटुम्बियों और पुरजन आदि सभी प्रियजनोंका मैं द्रोही बना। त्रिलोकीमें मेरे समान कोई अभागा नहीं है, यह कहकर उसका कारण बताते हैं कि स्वर्ण-कल्पलताके समान आपका रंग था। उसकी यह दशा हो गयी अथवा, पुत्रको वन जाना पड़ा, तुम्हें वैधव्य प्राप्त हुआ इत्यादि सभी दुःखोंका भार एकदम तुमपर आ पड़ा। अतएव कैकेयी बाँझ होती तो भला था।

नोट—२ ***'भयउँ बेनु बन आगी'—'भइ रघुबंस बेनु बन आगी।'*** (४७। ४) देखिये। बाँसके वनमेंसे ही परस्पर रगड़से अग्नि उत्पन्न होकर वनको जला देती है, वैसे ही मैं इसी कुलमें पैदा हुआ और उसीको जलाया। कैकेयीसे पैदा होनेके कारण और अपने ही लिये सब अनर्थका किया जाना समझकर जो दोष लोग कैकेयीको लगाते थे कि ***'भइ रघुबंस बेनु बन आगी'*** उसे श्रीभरतजी अपने ऊपर ले रहे हैं।

दो०—मातु भरत के बचन मृदु सुनि पुनि उठी सँभारि।
लिए उठाइ लगाइ उर लोचन मोचति बारि॥ १६४॥

सरल सुभाय माय हिय लाए। अति हित मनहुँ राम फिरि आए॥ १॥
भेंटेउ बहुरि लषन लघु भाई। सोकु सनेहु न हृदय समाई॥ २॥
देखि सुभाउ कहत सब कोई। राममातु अस काहे न होई॥ ३॥

अर्थ—श्रीभरतजीके कोमल वचनोंको सुनकर माता कौसल्या फिर सँभल कर उठीं, उनको उठाकर छातीसे लगा लिया और नेत्रोंसे आँसू बहा रही हैं॥ १६४॥ सहज ही सरल स्वभाव माताने बड़े ही प्रेमसे* उन्हें हृदयमें लगा लिया,मानो श्रीरामजी ही लौट आये हों॥ १॥ फिर लक्ष्मणजीके छोटे भाईको छातीसे लगाया। शोक और स्नेह हृदयमें नहीं समाता अर्थात् अश्रु आदिद्वारा बाहर निकल पड़ता है॥ २॥ कौसल्याजीका स्वभाव देखकर सभी लोग कह रहे हैं—ये रामकी माता हैं ऐसी क्यों न हों? अर्थात् उनका ऐसा स्वभाव होना योग्य ही है॥ ३॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० ***'पुनि उठी'*** इति। पूर्व भरतजीके आते ही कहा है कि ***'भरतहि देखि मातु उठि धाईं। मुरुछित अवनि परी झइँ आई',*** अतएव अब ***'पुनि उठी'*** कहा। ***'सँभारि'*** क्योंकि विह्वल हैं, दूसरे चक्कर आ चुका है।

टिप्पणी—२ ***'सरल सुभाय माय हिय लाए।......'*** इति। सरल स्वभाव माताका विशेषण है, अर्थात् माता जो सरलस्वभाव हैं, जिनमें छल छू नहीं गया, जो स्वभावसे ही सरल हैं। यथा—***'राममातु सुठि सरल चित......'।*** सरलता यह कि जिस कैकेयीने इनके पुत्रको वन दिया, पतिको मारा, उसीके ये पुत्र हैं, सो भी इनको अपने पुत्रकी तरह छातीसे लगा लिया। इतने बड़े अपकारपर दूसरा कोई मुँह भी न देखता। यथा—***'सिथिल सनेह कहै कौसिला सुमित्राजू सों मैं न लखी सौति सखी! भगिनी ज्यों सेई है। कहैं मोहि मैया, कहौं मैं न मैया भरत की, बलैया लेहौं भैया तेरी मैया कैकेयी है।'*** (क० अ० ३) ***'तुलसिदास समुझाइ भरत कहँ आँसु पोछि उर लाए। उपजी प्रीति जानि प्रभुके हित मनहु राम फिरि आए॥'*** (गी० २। ६३। ३)

टिप्पणी—३ ***'भेंटेउ बहुरि लषन लघु भाई।......'*** इति। (क) ***'लषन लघु भाई'*** का भाव कि इन्हींके बड़े भाई हमारे पुत्रको संकटमें काम आये, उनके साथी बने। पुनः, भाव कि श्रीभरतजीसे मिलनेमें श्रीरामजीके मिलनेका सुख प्राप्त हुआ था और इनकी भेंटसे लक्ष्मणजीका सुख मिला—यह जनाया। (ख) ***'सोक सनेह......।'*** शोक राजाकी मृत्यु और रामवनगमनका, स्नेह भरतशत्रुघ्नकी भेंटका।

टिप्पणी ४—***'राममातु अस काहे न होई'।*** ***'सब कोई'*** अर्थात् छोटे-बड़े, पण्डित-मूर्ख सभी जो वहाँ थे। रामकी माता हैं, वे ***'सरल सुभाव छुआ छल नाहीं'*** हैं। तो उनकी माताका स्वभाव ऐसा क्यों न

* यों भी अर्थ होता है—'सरल स्वभाव और बड़े प्रेमसे माताने'।

हो? हुआ ही चाहे। पुन:, जिनके उदरसे राम-ऐसे पुत्र हुए, उनका स्वभाव ऐसा हुआ ही चाहे। कारणके समान कार्यका होना 'दूसरा सम' अलंकार है।

माता भरतु गोद बैठारे। आँसु पोंछि मृदु बचन उचारे॥ ४॥
अजहुँ बच्छु बलि धीरजु धरहू। कुसमउ समुझि सोक परिहरहू॥ ५॥
जनि मानहुँ हियँ हानि गलानी। काल करम गति अघटित जानी॥ ६॥
काहुहि दोसु देहु जनि ताता। भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता॥ ७॥
जो एतेहु दुख मोहि जिआवा। अजहुँ को जानइ का तेहि भावा॥ ८॥

शब्दार्थ—**अघटित**=जो घट-बढ़ न सके, अवश्य होनेवाली, अमिट।

अर्थ—माताने भरतजीको गोदमें बिठा लिया और भरतजीके आँसू पोंछकर कोमल वचन बोलीं— ॥ ४॥ हे वत्स! मैं बलिहारी जाती हूँ, अब भी धीरज धरो, कुसमय समझकर शोकको छोड़ो॥ ५॥ काल और कर्मकी गतिको अमिट जानकर मनमें हानि-ग्लानि मत मानो॥ ६॥ हे तात! किसीको दोष मत दो, विधाता सब प्रकार मुझे प्रतिकूल हो गया है॥ ७॥ जो इतने दु:खमें भी मुझे जिला रहा है तो कौन जानता है कि उसे अब भी क्या भा रहा है?॥ ८॥

नोट—१ ***'माता भरतु गोद बैठारे।'''''''*** इति। वाल्मीकि तथा अ॰ रा॰ वाले कल्पोंकी माता कौसल्या और मानसकल्पकी कौसल्यामें बहुत अन्तर है। वाल्मीकि आदिकी कौसल्या यद्यपि जानती हैं कि भरत दीर्घदर्शी हैं तब भी उन्होंने भरतको गोदमें तभी बैठाया है जब वे शपथद्वारा अपनी सफाई दे चुके। यथा— **'इत्युक्त्वा चांकमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम्। परिष्वज्य महाबाहुं''''''।'** (२। ७५। ६३) **'इत्येवं शपथं कृत्वा रुरोद भरतस्तदा।'** (अ० रा० २। ७। ९०) **'कौसल्या तमथालिंग्य पुत्र जानामि मा शुचः।'** ***'गोद बैठारे'*** और ***'आँसु पोंछि'*** से श्रीभरतजीमें उनका पूर्वसे वात्सल्यरसका प्रेम दिखाया।

टिप्पणी—१ ***'मृदु बचन उचारे'*** इति। कैकेयीके वचन शूलके समान थे, यथा—***'भरत श्रवन मन सूल सम पापिनि बोली बैन।'*** (१५९) कौसल्याजीके वचन कोमल हैं।

टिप्पणी—२ ***'अजहुँ बच्छु बलि धीरजु धरहू।'''''''*** इति। (क) भरतजीने अपनेको 'कुलकलंक, अभागी, धिग, दाह दुख दूषन भागी' इत्यादि कहा और आँसू अबतक जारी हैं। ये अधीरके लक्षण हैं, अतएव माता कहती हैं कि धैर्य धारण करो। ***'अजहुँ'***=अब भी। अर्थात् राजाकी मृत्यु, रामवनगमन, इतनी विपत्तिपर भी सावधान होना उचित ही है। [(ख) ***'कुसमउ समुझि'*** का भाव कि आपतकाल है, आपत्ति सबपर आती है पर बीत भी जाती है, ये बुरे दिन फिरेंगे, सदा ऐसे न बने रहेंगे। (पंजाबीजी),खोटे कालमें शोक ही भर हाथ लगता है और कुछ नहीं मिलता (रा० प्र०)]

नोट—२ ***'जनि मानहु हिय हानि गलानी।'''''''*** इति। (क) नृपमृत्यु, रामवनगमन हानि है और अपने कारण यह सब हुआ, अपनेको अपराधी मानना ग्लानि है। (रा० प्र०) (ख) शुभाशुभ कर्मोंका फल काल पाकर परिपक्व होता है, उसमें कुछ घट-बढ़ नहीं होता इति। कालकर्मगतिको अमिट जानकर। ऐसे ही सुमन्त्रजीने महाराज दशरथजीको समझानेकी चेष्टा की थी। यथा—***'जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभु प्रिय मिलन बियोगा॥' 'काल करम बस होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥' 'धीरज धरहु बिबेक बिचारी। छाड़िअ सोच सकल हितकारी।'*** (१५०। ५—८) वे ही सब भाव यहाँ ***'धीरजु धरहू''''''जानी'*** के हैं। (ग) भरतजीने दो बातें कहीं। (१) मुझको धिक्कार है अर्थात् अपनेको दोष दिया। (२) कैकेयीको दोष लगाया। दोनोंका उत्तर क्रमसे माता देती हैं। पहलेका उत्तर कि अपने मनमें हानि और ग्लानि न करो और दूसरेका आगे कहती हैं कि ***'काहुहि दोसु देहु जनि ताता'*** अर्थात् न कैकेयीको दोष दो और न अपनेको धिक्कार दो। इस प्रकार कैकेयीको भी निर्दोष ठहराया। और फिर सारा दोष अपने भाग्यके मत्थे डालती हैं। (पु० रा० कु०) (घ) ***'काहुहि दोसु''''''बिधाता'*** इति। मिलान कीजिये—***'काहे को खोरि***

कैकइहि लावों। धरहु धीर बलि जाउँ तात मोहि आजु बिधाता बावों॥ सुनिबे जोग बियोग राम को हौं न होउँ मेरे प्यारे। सो मेरे नयननि के आगे रघुपति बनहिं सिधारे॥' (गी० २। ६३)

नोट—३ ***'जो एतेहु दुख मोहि जिआवा।.......'*** इति। ***'सब बिधि बाम'*** वही ***'एतेहु'*** है। पति, पुत्र, पुत्रवधू इत्यादिका सुख जाता रहा और बिछोह हुआ। क्या जाने अभी क्या-क्या न सहना पड़े, यह मुहावरा है। आगे दैवने और दिखाया ही कि भरतके सिरपर भी जटाएँ धारण करायीं और उनको भी १४ वर्षके लिये उदासी वेष दिया, नगरसे बाहर वनवासकी तरह रखा। (पु० रा० कु०)

दो०—पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर।
बिसमउ हरषु न हृदय कछु पहिरें बलकल चीर॥ १६५॥

मुख प्रसन्न मन रंग[1] न रोषू। सब कर सब बिधि करि परितोषू॥ १॥
चले बिपिन सुनि सिय सँग लागी। रहइ न राम चरन अनुरागी॥ २॥
सुनतहिं लषनु चले उठि साथा। रहहिं न जतन किए रघुनाथा॥ ३॥
तब रघुपति सब ही सिरु नाई। चले संग सिय अरु लघु भाई॥ ४॥

अर्थ—हे तात! पिताकी आज्ञासे रघुवीर श्रीरामचन्द्रजीने भूषण-वस्त्र त्याग दिये, वल्कलवस्त्र पहन लिये, उनके मनमें कुछ भी हर्ष-विषाद न हुआ॥ १६५॥ उनका प्रसन्न मुख था मनमें न किसीसे ममत्व (प्रेम), न किसीपर क्रोध, सब प्रकार सबका संतोष करके वे वनको चले। 'वनको चले' यह सुनकर सीताजी भी उनके साथ लगीं, (किसी तरह) नहीं रहतीं क्योंकि वे रामचन्द्रजीके चरणोंमें अनुरक्त हैं॥ १-२॥ यह सुनते ही लक्ष्मणजी भी उठकर साथ चले। रघुनाथजीने बहुत उपाय किये पर वे नहीं रहते[2]॥ ३॥ तब सबको माथा नवाकर रघुपति श्रीरामजी चले। साथमें सीता और छोटे भाई थे॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'तजे रघुबीर'*** से धर्म तथा त्याग-वीरता दिखायी। वल्कलवस्त्र धारण करनेमें खेद न हुआ, राज्यतिलक सुनकर हर्ष न हुआ, यथा—***'राज सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भएउ न हरष हरासू॥'*** (१४८। ७) [यह सुशील स्वभाव राजाके मनमें गड़ गया था, वैसे ही माताके हृदयमें भी इसका प्रभाव पड़ा, इसीसे इस गुणका दोनोंहीने स्मरण किया। (प्र० सं०) भूषण-वस्त्रका त्याग करके वल्कलादि पहननेकी आज्ञा पिताने अपने मुखसे तो दी नहीं, कैकेयी ही ***'मुनि पटभूषन भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी॥'*** (७९। २) पर कौसल्याजी ***'पितु आयसु'*** कहती हैं। इससे सूचित हुआ कि कौसल्याजीका हृदय राग-द्वेषादि विकाररहित और भरतप्रेमपरिप्लुत है। (प० प० प्र०) वे इसे राजाकी ही आज्ञा मानती हैं, क्योंकि वे वचनबद्ध हो चुके थे। ***'तापस बेष बिसेषि उदासी'*** यह वर कैकेयीने माँगा था। उससे भूषण-वस्त्रका त्याग वल्कलादिका धारण करना ही माँगा गया था।]

टिप्पणी—२ ***'मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू।.......'*** इति। (क) यथा—'**प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः। मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य**'। वही भाव यहाँ है। पुनः भरतजी उनको प्राणप्रिय हैं,

---

१-'रंग'—(ला० सीताराम) 'रंग' का अर्थ 'प्रसन्नता, प्रेम, अनुराग' है, यथा—'जब हम रँगी श्यामके रंगा। तब लिखि पठवा ज्ञान प्रसंगा'—(रघुनाथदास), 'ऐसे भए तो कहा तुलसी जो पै जानकीनाथके रंग न राते।' (क०), 'देखु जरनि जड़ नारि की जरत प्रेमके संग। चिता न चित फीको भयो रची जु पियके रंग।' (सूर) इत्यादि। 'रंग' और 'संग' का जोड़ना भी अच्छा है। 'राग' पाठान्तर है।

२-'रहइ' और 'रहहि' वर्तमान क्रियाएँ हैं। इन्हें देकर दिखाते हैं कि कौसल्याजी इस तरह कह रही हैं मानो अभी उनके सामने यह लीला हो ही रही है। जैसा गीतावलीमें कहा है—'लगेई रहत मेरे नयननि आगे राम लषन अरु सीता।' (५३) अतः इस दीनने उसीके अनुकूल अर्थ दिया है। टीकाकारोंने 'रही' और 'रहे' अर्थ किया है।

अतः उनके राजा होनेसे उनको परम प्रसन्नता हुई, यथा—*'भरत प्रान प्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥'* (४२। १) अतः मुख प्रसन्न है। मुख और मन दोनों प्रसन्न हैं, यथा—*'मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ।'* (५१। ८) *'बन गमन सुनि उर अनंद अधिकान॥'* (५१) 'रंगरोष' नहीं, राज देकर छीन लिया इसपर रोष नहीं, राज्यकी कुछ चाह नहीं, बटोहीकी तरह उसे त्यागकर चल दिये। (ख) *'सब कर सब बिधि करि परितोषू'* इति। जब राग-रोष नहीं तो कहा जा सकता है कि उदासीन होंगे, किसीसे कुछ प्रयोजन न होगा। उसपर कहती हैं कि *'सब कर सब बिधि करि परितोषू'* अर्थात् दास-दासियोंको गुरुके सुपुर्द किया, परिजन-पुरजन सबको समझाया कि भरत आवेंगे, दुःख किसीको न होगा, हम भी अवधि पूरी होते ही आवेंगे, इत्यादिसे सूचित किया कि सबपर प्रेम और दया भी रखते हैं।—[*'सब बिधि'* अर्थात् लोकरीति, वेदरीति, धर्म, नीति सभी तरह। (वै०)]

नोट—१ *'रहहिं न जतन किए रघुनाथा'* इति। 'रघुनाथ' शब्द देकर यत्नका प्रकार भी जना दिया कि रघुकुलकी तथा अवधकी जिसमें रक्षा हो, अवध अनाथ न हो इसलिये उनको घर रहनेको कहा था। यथा—*'मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा॥'* (७१। ३)। विशेष *'आयसु काह होइ रघुनाथा।'* (५९। ७) तथा *'मोकहुँ काह कहब रघुनाथा।'* (६०। ५) में देखिये। इससे लक्ष्मणजीका गाढ़ प्रेम दिखाया।

नोट—२ *'रहइ न'* अर्थात् हमने बहुत यत्न किया, राजाने भी समझाया और गुरुपत्नी बड़ी-बूढ़ी सभीने समझाकर रोकना चाहा। श्रीरामजीने भी समझाया पर वे न रहीं। (पु० रा० कु०)

रामु लषनु सिय बनहिं सिधाए। गइउँ न संग न प्रान पठाए॥ ५॥
एहु सबु भा इन्ह आँखिन्ह आगें। तउ न तजा तनु जीव*अभागें॥ ६॥
मोहि न लाज निज नेहु निहारी। राम सरिस सुत मैं महतारी॥ ७॥
जिअइ मरइ भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना॥ ८॥

दो०—कौसल्या के बचन सुनि भरत सहित रनिवासु।
ब्याकुल बिलपत राजगृह मानहुँ सोक निवासु॥ १६६॥

अर्थ—राम-लक्ष्मण-सीता वनको चल दिये, मैं न तो साथ गयी और न उनके साथ अपने प्राणोंको ही भेजा॥ ५॥ यह सब इन्हीं आँखोंके सामने हुआ तब भी अभागे जीवने शरीर न छोड़ा॥ ६॥ अपना प्रेम देखकर मुझे लज्जा भी नहीं आती कि कहाँ तो राम ऐसे सुत और कहाँ मुझ-सी माता! (अर्थात् मैं ऐसे प्रेममूर्ति सुशील धर्मात्माकी माता होने योग्य नहीं, मुझे धिक्कार है, व्यर्थ ही मुझे यह बड़ाई विधाताने दी, यथा—*'जिन्हहिं बिरचि बड़ भयेउ बिधाता। महिमा अवधि राम पितु माता'* ॥ ७॥ जीना और मरना तो राजाने ही अच्छी प्रकार जाना और मेरा हृदय तो सैकड़ों वज्रके समान (कठोर) है॥ ८॥ कौसल्याजीके वचनोंको सुनकर रनिवाससहित भरतजी व्याकुल होकर विलाप कर रहे हैं, मानो राजमहल शोकका निवास है (जहाँ आनन्दका बास रहता है और रहना चाहिये वहाँ शोक रह रहा है।)॥ १६६॥

नोट—१ श्रीरामजीका सुशील स्वभाव कहकर अब अपनेको धिक्कारती हैं।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० *'रामु लषनु सिय……तउ न तजा'* इति। रामवियोग होनेसे शरीरका मोह छोड़ देना था यह न कर सकी थी, तो फिर लक्ष्मण और सीताका प्रेम देखकर मुझे भी साथ हो लेना था। साथ जाती सो भी न गयी! संग न हुआ था तो प्राण दे देती, जैसे राजाने किया। दोनोंमें मेरे प्रेमकी प्रशंसा थी सो एक भी न किया। इससे जाना गया कि मेरा जीव अभागा है। रामसे विमुख होकर अभागे ही जीते हैं। यथा—*'ते नर नरक रूप जीवत जग भव भंजन पद बिमुख अभागी।'* (वि० १४०)

---

* काशिराज, राजापुर, छक्कनलाल, रा० गु० द्वि० का पाठ यही है। 'प्रान' पाठान्तर है। जीव ही शरीर धारण करता और छोड़ता है—'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय…'। 'जीव' प्राणके अर्थमें भी आता है।

टिप्पणी—२ *'जिअइ मरइ भल भूपति जाना……'*, यथा—(क) *'जिअन मरन फल दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जसु छावा॥ जिअत राम बिधु बदन निहारा। राम बिरह करि मरन सँवारा॥'* (१५६। २) अर्थात् उनके दोनों बने। और मेरा हृदय सैकड़ों वज्रके समान कठोर है कि प्राण न निकले, छाती न फटी। (ख) *'मोहिं न लाजु……'* इति। *'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे'* ऐसे कठिन हृदय और शरीरवाले राजा तो वियोग न सह सके और जिसने रात-दिन गोदमें खिलाया वह जीती रही! यह लज्जाकी बात है। उन्होंने तो पिताका भाव निबाह दिया पर मुझसे माताके भावका निर्वाह न हुआ।

नोट—२ *'राम सरिस सुत मैं महतारी', 'मोर हृदय सत कुलिस समाना'* इति। ये वचन आत्मग्लानिके हैं। इसी तरह मानसमें श्रीदशरथजी, श्रीसुमन्त्रजी तथा श्रीभरतजीके वचन हैं। गीतावलीके श्रीकौसल्याजीके वचनोंसे मिलान कीजिये—*'हाथ मींजिबो हाथ रह्यो। लगी न संग चित्रकूट ते ह्याँ कहा जात बह्यो॥ पति सुरपुर सिय राम लखन बन मुनिब्रत भरत गह्यो। हौं रहि घर मसान पावक ज्यों मरिबोइ मृतक दह्यो। मेरोइ हिय कठोर करिबे कहँ बिधि कहुँ कुलिस लह्यो। तुलसी बन पहुँचाइ फिरी सुत क्यों कछु परत कह्यो॥' 'जिन्हके बिरह बिषाद बँटावन खग मृग जीव दुखारी। मोहिं कहा सजनी समुझावति हौं तिन्हकी महतारी॥'* (२। ८४-८५) यह चित्रकूटसे लौटनेपर कहा है, पर भाव वही है।

नोट—३ *'कौसल्या के बचन सुनि……'*, यथा—*'कौसल्याके बिरह बचन सुनि रोइ उठीं सब रानी। तुलसिदास रघुबीर बिरहकी पीर न जाति बखानी॥'* (गी० ५३)

बिलपहिं बिकल भरत दोउ भाई। कौसल्या लिए हृदयँ लगाई॥ १॥
भाँति अनेक भरतु समुझाए। कहि बिबेकमय बचन सुनाए॥ २॥
भरतहु मातु सकल समुझाईं। कहि पुरान श्रुति कथा सुहाईं॥ ३॥
छल बिहीन सुचि सरल सुबानी। बोले भरत जोरि जुग पानी॥ ४॥

अर्थ—श्रीभरत-शत्रुघ्न दोनों भाई व्याकुल होकर बिलख-बिलखकर रो रहे हैं, कौसल्याजीने उनको हृदयसे लगा लिया॥ १॥ अनेकों प्रकारसे भरतजीको समझाया और विवेकमय वचन कहकर सुनाये॥ २॥ भरतजीने भी सब माताओंको वेद-पुराणकी सुन्दर कथाएँ कहकर समझाया॥ ३॥ दोनों हाथ जोड़कर भरतजी छलरहित, पवित्र, सीधी-सादी सुन्दर वाणी बोले॥ ४॥

वि० त्रि०—*'भाँति अनेक……सुनाए'* इति। यथा—*'पुत्र जन्म पितु मातु गति, हेतु होत जग जान। याते सुत पितु हेतु जनि, सोच करहु मतिमान॥ यथा दारु द्वै सरित बिच बहत कबहुँ मिलि जात। तथा मिलन जग जीवको नहि अचरज बिलगात॥ चौदह वर्ष बितातु पुनि ऐहैं रघुकुल केतु। भावी प्रबल न सकइ मिटि, जनि सोचहु तेहि हेतु॥ दुख सुख फल निज कर्मके, टारि सकै नहिं कोय। याते धरि धीरज सहित, जो कछु होनी होय॥'*

वि० त्रि० २—*'भरतहु मातु……सुहाईं'* इति। *'बड़े बड़े संकट सहत, सहि न सकत सो छोट। काँच सकै नहिं, सहि सकै हीरक घनकी चोट॥ पति दुख सुत दुख राज दुख निज दुख शैव्या रानि। सह्यौ कह्यौ काहुहि न कछु धर्म मर्म पहिचानि॥ एहि असार संसार महँ, पग पग कठिन कलेस। ईश भजन बिनु अम्ब सुनु, कतहुँ नाहिं सुखलेस॥ जहँ संयोग बियोग तहँ, कोउ सकै नहिं टारि। सब प्रकार ममता तजै बुध अस हिय निरधारि॥ सपनो सो अपनो न कछु झूठो जग ब्यवहार। भजिय राम सब काम तजि अम्ब इहै जगसार॥'*

नोट—१ *'कहि बिबेकमय बचन'* इति। इनको प्रभुका दिया हुआ अलौकिक ज्ञान है, यथा—*'मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥'* (१। १५१। ३) अतएव इनका भरतको समझाना कहा। और भरतजीने अन्य सब माताओंको समझाया। *'मातु सकल'* से कौसल्या और सुमित्राजीको छोड़ सबका तात्पर्य है। (कैकेयी तो यहाँ है नहीं और न उससे कुछ इन्हें सरोकार है।) *'बिबेकमय'*, यथा—*'हानि*

लाभ जीवन मरन जस अपजस बिधि हाथ।' (१७१) *'जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभु प्रिय मिलन बियोगा। काल करम बस होहिं गोसाईं॥'* (१५०। ५। ६) सुख-दु:ख आगमापायी हैं। यहाँकी सब उलटी रीति है। संसार वृक्षके समान है, जिसकी जड़ ऊपर और डालें नीचे हैं। सब नश्वर हैं, जीव नित्य हैं। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र उतारकर नये पहनते हैं, वैसे ही जीव एक शरीर छोड़कर दूसरा धारण करते हैं""""इत्यादि। सुमित्राजीने लक्ष्मणजीको धर्मोपदेश दिया, कौसल्याजीने भरतजीको ज्ञानोपदेश दिया। (शीला)

नोट—२ 'छल विहीन' हैं। अर्थात् माताकी करनीमें इनका सम्मत नहीं है कि भीतर कुछ हो बाहर दिखानेको कुछ। इसीसे शुचि भी हैं।

जे अघ मातु पिता सुत मारें। गाइ गोठ महिसुर पुर जारें॥ ५॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हे॥ ६॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥ ७॥
ते पातक मोहि होहु बिधाता। जौं यहु होइ मोर मत माता॥ ८॥

शब्दार्थ—**गाइ गोठ**=गो-गोष्ठ=गोशाला=गोस्थान, खरिक। **माहुर**=विष। **पातक**=बड़े पाप। **उपपातक**=छोटे पाप। मनुके अनुसार परस्त्रीगमन, गुरु-सेवात्याग, आत्मविक्रय, गोवध आदि उपपातक हैं। (श० स०) विशेष नोटमें देखिये। **भव**=उत्पन्न—भव, प्रभव, सम्भव—ये सब उत्पत्तिवाचक हैं। **मत**=सलाह, सम्मत।

अर्थ—जो पाप माता, पिता और पुत्रको मारनेसे, गोशाला और ब्राह्मणोंका नगर जलानेसे होते हैं॥ ५॥ जो पाप स्त्री और बालकका वध करनेसे तथा मित्र और राजाको विष देनेसे होते हैं॥ ६॥ मन, कर्म और वचनसे उत्पन्न (अर्थात् इनसे होनेवाले) जितने भी बड़े और छोटे पाप हैं, जिन्हें कवियोंने कहा है॥ ७॥ हे विधाता! यदि रामवनगमनमें मेरा सम्मत हो, तो हे माता! वे सब पाप मुझे लगें॥ ८॥

प्रो० पं० रामचन्द्र शुक्ल—कौसल्याके सामने जिन वाक्योंद्वारा भरतजी अपनी सफाई दे रहे हैं, उनके एक-एक शब्दसे अन्त:करणकी स्वच्छता झलकती है। उनकी शपथ उनकी अन्तर्वेदनाकी व्यंजना है। इस सफाईके सामने हजारों वकीलोंकी सफाई कुछ नहीं है, इन कसमोंके सामने लाखों कसमें कुछ भी नहीं हैं। यहाँ वह हृदय खोलकर रख दिया गया है, जिसकी पवित्रताको देख जो चाहे अपना हृदय निर्मल कर ले।

नोट—१ *'जे अघ मातु पिता""""'* इति। (क) माता-पिताका ऋण पुत्रपर रहता है। पुत्रके लिये वे पूज्य हैं। पुत्रका भरण-पोषण माता-पिताका कर्तव्य है। पुत्र उत्पन्न होनेपर उसको मार डालनेका अधिकार उनको नहीं है। गऊद्वारा यज्ञादि धर्मका निर्वाह होता है। ब्राह्मणोंद्वारा धर्मका प्रचार होता है। स्त्री और बालक अवध्य हैं। मित्रको प्रतीति है कि छल न होगा। राजाका नौकरपर भरोसा है। अतएव इनके मारनेका बड़ा भारी पाप है। (ख) ***'महीपति'***का भाव कि वह सारी पृथ्वीका धर्म और न्यायपूर्वक शासन करता है, प्रजाका पुत्रके समान पालन करता है। (ग) मिलान कीजिये—'**राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते। भृत्यत्यागे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम्॥**' (वाल्मी० ७५। ३७)

नोट—२ इस प्रकार शपथ करके सफाई देनेकी रीति ऋषियों, भक्तों आदिमें प्राचीन कालमें पायी जाती है। प० पु०, सृष्टिखण्डमें इसी तरह श्रीवसिष्ठादि सप्तर्षियोंने शपथें की हैं। शपथोंद्वारा धर्मकी बातें तथा किन-किन पापोंसे बचना चाहिये—ये बातें उन्होंने बतायी हैं। इसी तरह सृष्टिखण्डमें ही नन्दाने शपथें की हैं कि यदि मैं पुन: लौटकर न आऊँ तो मुझे वही पाप लगे, जो ब्राह्मण और माता-पिताका वध करनेसे होता है, जो व्याधों, म्लेच्छों और विष देनेवालोंको होता है, जो गोशालामें विघ्न डालने, सोते हुए प्राणीको मारने, अपनी कन्याका दुबारा कन्यादान करने, अयोग्य बैलोंसे भारी बोझ उठवाने, कथामें विघ्न डालने, घरपर आये हुए मित्रको निराश लौटा देनेवालोंको होते हैं।

वाल्मीकीयमें भी भरतजीने बहुत शपथें की हैं। सर्ग ७५ श्लोक २१ से लेकर ५८ तक शपथें दी

हैं। संक्षेपसे उसको यहाँ लिखा जाता है, क्योंकि इसमें धर्मका उपदेश भरा हुआ है।—जिसकी सम्मतिसे श्रीरामजी वन गये हों उसकी बुद्धि शास्त्रका अनुगमन न करे (श्लोक २१); वह नीचका दास हो, सूर्यके सामने लघुशंका करे, सोई हुई गौको पैरसे मारे (२२); भृत्यसे बहुत बड़ा काम कराके कुछ न दे(२३); प्रजा-वत्सल नृपसे विद्रोह करे, (२४); राजा होकर प्रजासे कर लेकर उसकी रक्षा न करे (२५); यज्ञमें तपस्वियोंसे दक्षिणा देनेकी प्रतिज्ञा करके न दे (२६); युद्धमें सज्जनोंके धर्मका पालन न करे, गुरुद्वारा उपदिष्ट शास्त्र भूल जाय (२७-२८); अनिवेदित भोजन करे, गुरुजनोंका तिरस्कार करे (३०); गौओंको पैरसे छुए, गुरुकी निन्दा करे, मित्रोंसे द्रोह करे (३१); विश्वासघात करे (३२); अकृतज्ञ, समाजद्वारा परित्यक्त, निर्लज्ज और लोकमें निंदित हो (३३); पुत्रसेवक आदिकोंको बिना खिलाये उत्तम भोजन करे (३४); पुत्रहीन तथा धार्मिक क्रियाओंका फल पाये बिना मरे (३५); पूरी आयु न पाकर मरे (३६); लाख, मधु, मांस, लोहा और विषके बेचनेसे जो धन प्राप्त हो उससे पुत्रादिका पालन करे (३७-३८); रणमें भागता हुआ शत्रुद्वारा मारा जाय (३९); हाथमें खप्पर लेकर चीथड़ा पहनकर उन्मत्तके समान घूमकर भीख माँगे (४०); शराबी, परस्त्रीगामी, जुआरी, कामी और क्रोधी हो जाय (४१); अधर्मकी सेवा करे, अपात्रको दान दे, धर्ममें उसका मन न लगे (४२); देवताओं, माता-पिता और पितरोंकी सेवा न कर सके (४६); सज्जनोंके लोककीर्ति और कर्मसे भ्रष्ट हो जाय; माताकी सेवा छोड़कर बुरे मार्गमें प्रवृत्त हो; दरिद्र होकर बहुसंतानवाला और निरन्तर ज्वरपीड़ित रहे; दीन होकर दातासे मनोरथ सुनानेपर भी दाता उसकी आशा व्यर्थ कर दे; राजासे भीत होकर छलद्वारा अपना जीवन बितावे; ऋतुस्नाता सती स्त्रीकी प्रार्थना न माने (४६—५२); ब्राह्मण होकर अपने बच्चोंको भोजन न देकर मार डाले (५३); ब्राह्मणको दी जाती हुई पूजा रोके और बालवत्सा गौको दुहे (५४); धर्मपत्नीका त्याग करे और परदारासे अनुराग करे। (५५) (भाव यह कि ये सब कर्म पाप हैं, इनसे परलोक बिगड़ता है। जो इन पापोंका फल होता है वह हमको मिले, यदि हमारा इसमें सम्मत हो।) जो पाप राजा, स्त्री, बालक और वृद्धके वधसे, दासका त्याग करनेसे; सन्ध्या तथा प्रातः दोनों सन्ध्याओंमें सोनेसे; आग लगाने, गुरुस्त्रीगामी और मित्रद्रोही होनेसे; पीनेवाले जलमें विष मिलाने एवं विष देनेसे, जल रहनेपर भी उसे प्याससे छिपा देनेसे; वादी-प्रतिवादीमेंसे एकके पक्षपातसे उसीके लाभका निर्णय करनेसे होते हैं वे सब उसको लगें। उसका सारा संचित धन चोरी चला जाय।

अ० रा० की कौसल्याजीने भरतको दोष नहीं दिया है, इसीसे उसमें एक ही श्लोकमें शपथ है— **'पापं मेऽस्तु तदा मातर्ब्रह्महत्याशतोद्भवम्। हत्वा वसिष्ठं खड्गेन अरुन्धत्या समन्वितम्॥'** (२। ७। ८९) अर्थात् मुझे सौ ब्रह्महत्याओंका पाप लगे, अथवा अरुन्धतीसहित गुरु वसिष्ठको खड्गसे मारनेसे जो पाप होता है वह लगे, यदि मैं जानता हूँ वा मेरी सम्मति हो।

नोट—३ ***'जे पातक उपपातक……'*** इति। पाप स्थूल, सूक्ष्म और अत्यन्त सूक्ष्म तीन प्रकारके होते हैं। जो स्थूल पाप नरककी प्राप्ति करानेवाले हैं, उनका अनुष्ठान मन, वाणी और कर्मोंके द्वारा होता है। इन तीनोंके भी चार-चार भेद हैं। इस प्रकार मन, कर्म और वचनसे होनेवाले बारह पाप हैं। फिर इनके भी अनेक भेद हैं। स्कन्दपुराण, मा० कु० खण्ड अ० ३६ में महापातकों और उपपातकोंका विस्तृत उल्लेख है। गोशालामें आग लगाना भी महापातक है। अहंकार,पाखण्ड, कृतघ्नता, ईर्ष्या, बिना अपराधके पुत्र, मित्र, पत्नी, स्वामी, सेवकका परित्याग करना; साधु, बन्धु, तपस्वी, गाय, क्षत्रिय, वैश्य,स्त्री और शूद्रोंको मारना-पीटना; यज्ञ, पोखरा और सन्तानको बेचना, पुण्योंका विक्रय करना, ऋण न चुकाना, झूठ बोलकर जीविका चलाना, विष तथा मारणयन्त्रोंका प्रयोग करना, उच्चाटन एवं अभिचारकर्म करना, स्वीकार किये हुए व्रतका परित्याग, असत्शास्त्रोंपर चलना, सूखे तर्कका सहारा लेना; देवता, साधु, गुरु, अग्नि, गौ, ब्राह्मण, राजाकी निन्दा करना—ये सब उपपातक हैं। इनकी अपेक्षा जो कुछ न्यून श्रेणीके पापोंसे युक्त हैं वे पापी कहलाते हैं। इस तरह महापातक, उपपातक और सामान्य पातक—ये तीन प्रकारके पाप कहे गये हैं।

नोट—४ *'करम बचन मन भव कबि कहहीं'* इति। (क) श्रीरामजीने भी इन तीन प्रकारके पापोंका होना कहा है। यथा—'**कायेन कुरुते पापं मनसा सम्प्रधार्य तत्। अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम्॥**' (वाल्मी० २। १०९। २१) अर्थात् 'मनुष्य मनमें पाप करनेका विचार करता है, फिर उस पापकर्मका कर्तव्य समझकर जिह्वासे कहता है, तदनन्तर शरीरसे करता है। अतएव पापकर्म तीन प्रकारके हैं। (ख) *'कबि कहहीं'*—मनुजी, याज्ञवल्क्यजी, शुक्रजी आदि कवियों (विद्वानों, सर्वज्ञ पण्डितों) ने स्मृतियोंमें कहे हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति प्रायश्चित्ताध्यायमें पातक और उपपातकोंका उल्लेख इस प्रकार है—

'**सखिभार्याकुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च। सगोत्रासु सुतस्त्रीषु गुरुतल्पसमं स्मृतम्॥ २३१॥ पितुः स्वसारं मातुश्च मातुलानीं स्नुषामपि। मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा॥ २३२॥ आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तु गुरुतल्पगः। लिङ्गं छित्त्वा वधस्तस्य सकामायाः स्त्रिया अपि॥ २३३॥ तथा च उपपातकानि कथ्यते—गोवधो व्रात्यता स्तेयमृणानां चानपक्रिया। अनाहिताग्निता पण्यविक्रयः परिवेदनम्॥ २३४॥ भृतादध्ययनादानं भृतकाध्यापनं तथा। पारदार्यं पारिवित्त्यं वार्धुष्यं लवणक्रिया॥ २३५॥ स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो निन्दितार्थोपजीवनम्। नास्तिक्यं व्रतलोपश्च सुतानां चैव विक्रयः॥ २३६॥ धान्यकुप्यपशुस्तेयमयाज्यानां च याजनम्। पितृमातृसुतत्यागस्तडागारामविक्रयः॥ २३७॥ कन्यासंदूषणं चैव परिविन्दकयाजनम्। कन्याप्रदानं तस्यैव कौटिल्यं व्रतलोपनम्॥ २३८॥ आत्मनोऽर्थे क्रियारम्भो मद्यपस्त्रीनिषेवणम्। स्वाध्यायाग्निसुतत्यागो बान्धवत्याग एव च॥ २३९॥ इन्धनार्थं द्रुमच्छेदः स्त्रीहिंसौषधिजीवनम्। हिंस्रयन्त्रविधानं च व्यसनान्यात्मविक्रयः॥ २४०॥ शूद्रप्रेष्यं हीनसख्यं हीनयोनिनिषेवणम्। तथैवानाश्रमे वासः परान्नपरिपुष्टता॥ २४१॥ असच्छास्त्राधिगमनमाकरेष्वधिकारिता। भार्याया विक्रयश्चैषामेकैकमुपपातकम्॥ २४२॥**'

अर्थ यह है—सखी, मित्रकी स्त्री और उत्तम जातिकी कन्या, भगिनी, चाण्डाली, सगोत्रा, पुत्रवधू (२३१); पिताकी बहिन, मौसी, मामी और स्नुषा (भाईके पुत्रों आदिकी वधू), विमाता, बहिन, आचार्यकन्या, आचार्यपत्नी, अपनी बेटी·····इनके साथ व्यभिचार करनेवाले गुरुतल्पगामीके समान महापातकी हैं, क्योंकि ये सब गुरुपत्नीके समान हैं। (२३२-३) गोवध, समयपर उपनयन न करना, चोरी, देव-ऋषि-पितरके ऋणोंको न चुकाना, अधिकार होनेपर अग्निहोत्रादि न करना, नमक बेचना, जेठेके पहले ही छोटेका विवाह करना, वेतन निश्चित कराके पढ़ाना अथवा ऐसे गुरुसे पढ़ना, व्यभिचार, छोटेका विवाह होनेपर बड़ेका अविवाहित रहना, सूद लेना, नमक बनाना, स्त्री, शूद्र और वैश्यका वध, कुमार्गसे जीवन चलाना, नास्तिकता, व्रतलोप, बच्चोंका बेचना, धान्य, सीसा आदि और पशुकी चोरी, अनधिकारीसे यज्ञ करवाना, माता-पिता-पुत्रका त्याग, तालाब और बागीचाका बेचना, कन्यासन्दूषण, परिविन्दकको लड़की देना वा उससे यज्ञ कराना, अपने ही लिये रसोई करना, मद्यपकी स्त्रीसे आसक्ति, स्वाध्याय, अग्नि और पुत्र तथा बान्धवका त्याग, लकड़ीके वास्ते पेड़ काटना, स्त्री-हिंसा और औषधिसे जीविका चलाना, घातक यन्त्र बनाना, व्यसन, अपनेको बेचना, शूद्रकी नौकरी, नीचसे सख्य करना, अनाश्रमी रहना, परान्नपर रहना, असत् शास्त्र पढ़ना, खानमें नौकरी करना, स्त्रीको बेचना—ये सब एक-एक स्वतन्त्र उपपातक हैं।

वस्तुतः महापातकी चार हैं और उनका साथी भी महापातकी कहा गया है। यथा—'**ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः। एते महापातकिनो यश्च तैः सह संवसेत्॥**' (२२७) शेष सब इन्हीं चारकी शाखाएँ हैं।

मिलान करें—*'सुर गुरु द्विज पातक परैं जो जानत यह बात। बाल बालबध अघ अयश गायगोठ पुरघात॥ गायगोठ पुरघात मीत नृप माहुर दीन्हें। परधन परतिय हानि परै अघ गोबध कीन्हें॥ गोबध निंदा बेदकी पर अपकारी अघ करै। जो जननी जानहुँ तनक सुर गुरु द्विज पातक परै॥'*

दो०—जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूतगन घोर।
तिन्ह* कइ गति मोहि देउ बिधि जौं जननी मत मोर॥ १६७॥

* तेहिं—(राजापुर)। 'जे' बहुवचनके सम्बन्धसे 'तिन्ह' पाठ ही समीचीन है, जो प्रायः सभी अन्य पोथियोंमें है।

बेचहिं बेदु धरमु दुहि लेहीं। पिसुन पराय पाप कहि देहीं॥ १॥
कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी। बेद बिदूषक बिस्व बिरोधी॥ २॥
लोभी लंपट लोलुप चारा। जे ताकहिं परधनु परदारा॥ ३॥
पावौं मैं तिन्ह कै गति घोरा। जौं जननी एहु संमत मोरा॥ ४॥

शब्दार्थ—***'बेचहिं बेदु'***—द्रव्यके लोभसे पात्र-अपात्रका विचार न करके अनधिकारीको वेद पढ़ाना या सुनाना। वा, वेद-पुराणादि पारायण, स्तोत्रपाठ-पूजा, केवल द्रव्यहेतु करना। (बैजनाथ) **'धरमु दुहि लेहीं'**=धर्मको दुह लेते हैं। धर्म अर्थात् सत्य, शौच, दया और दान आदि जो कुछ करते हैं, वह सब कुछ लौकिक प्रयोजन साधनके लिये (जैसे रुपया लेकर सच्ची गवाही दें; कन्याका ब्याह रुपयेकी लालचसे कर दें; रुपया देकर लड़की खरीदना, इत्यादि)। (वै०) वा, धर्मके बदले लोकसुख माँगना, जो धर्म परलोक-साधक है उससे जीविका करना, जैसे योगक्रियाएँ दिखाकर मेलेमें पैसा कमाते हैं, यह धर्म दुहना है। (शीला) यथा—***'सुगति साधन भई उदर भरनि।'*** (वि० १८४) शय्यादान एवं वृषोत्सर्गदान जो लेते हैं उनका धर्म नहीं रह जाता, बावली, तालाब, देवस्थान बेचते हैं, इत्यादि कर्मोंसे आगेके लिये जो धर्म उपार्जन किया था वह भी दुह लिया—(पं०, पु० रा० कु०) **'पिसुन'** (पिशुन)=चुगलखोर, इधर-की-उधर लगानेवाला। **'कलह'**=झगड़ा। **'बिदूषक'**=हँसी उड़ाने, निन्दा करनेवाले। **'लोलुप चारा**=चंचल आचरण करनेवाला यथा—**'लोलुपो लोलुभो लोलो लालसो लम्पटोऽपि चेति यादवः।'**

अर्थ—जो लोग हरिहरचरण छोड़कर घोर भूत-प्रेतोंको भजते हैं, हे माता! विधाता मुझे उनकी गति दें, यदि इसमें मेरा सम्मत हो॥ १६७॥ जो लोग वेदोंको बेचते हैं, धर्मको दुह लेते हैं, चुगलखोर हैं, पराये पापोंको कह डालते हैं॥ १॥ जो कपटी, कुटिल, झगड़ालू (एवं जिनको झगड़ा करना, कराना प्रिय है), क्रोधी, वेदोंकी निन्दा वा परिहास करनेवाले, संसारभरके विरोधी (शत्रु)॥ २॥ और लालची एवं कामियों (व्यभिचारियों) के चंचल आचरणवाले हैं; जो पराये धन और परायी स्त्रीकी ताकमें रहते हैं॥ ३॥ हे माता! मैं उनकी भयंकर गति पाऊँ जो यह मेरा सम्मत हो॥ ४॥

नोट—१ ***'भजहिं भूतगन घोर। तिन्ह कइ गति·······'*** इति। भज् सेवायां धातु है। भाव कि हरि और हर भजने योग्य हैं। इनको नहीं भजते किन्तु इन्हें छोड़कर भूत, पिशाच, बेताल, कूष्माण्ड, डाकिनी,यक्षिणी आदि दारुण तामसी जीवोंको तामसी हिंसायुक्त पूजा करते हैं। जो जिसको भजता है उसको प्राप्त होता है। यथा—**'यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः। भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥'** (गीता अ० ९ श्लो० २५)

तिलक महाराज इसका सारांश यों लिखते हैं—'यद्यपि एक ही परमेश्वर सर्वत्र समाया हुआ है तथापि उपासनाका फल प्रत्येकके भावके अनुरूप न्यून-अधिक योग्यताका मिला करता है। फिर भी इस पूर्व कथनको भूल न जाना चाहिये कि फलदानका कार्य देवता नहीं करते—परमेश्वर ही करते हैं। श्रीरामानुजाचार्य महाराजजी लिखते हैं कि 'वृत' शब्द संकल्पवाचक है। श्लोकका अर्थ है कि 'जो इन्द्रादि देवताओंके पूजनविषयक संकल्पवाले हैं वे इन्द्रादिको, जो पितृपूजनविषयक संकल्पवाले हैं वे पितरोंको और जो यक्ष, राक्षस, पिशाचादि प्राणियोंके पूजनविषयक संकल्पवाले हैं वे भूतोंको प्राप्त होते हैं। यही आशय छान्दोग्योपनिषद् अ० ३ खण्ड १४ की **'इति शान्त उपासीताथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥'** (१)। इस श्रुतिका है। अर्थात् इस प्रकार शान्त होकर उपासना करे, क्योंकि पुरुष निश्चय ही निश्चयात्मक है, इस लोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है वैसा ही यहाँसे मरकर जानेपर होता है। पुनः,महाभारत (शान्तिपर्व ३५२। ३) में भी कहा है **'यस्मिन् यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम्। स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम॥'** जो पुरुष जिस भावमें निश्चय रखता है, बस, उस भावके अनुरूप ही फल पाता है। और श्रुति भी कहती है **'यं यथा यथोपासते तदेव भवति'**।—***'तुलसी***

परिहरि हरिहरहिं पाँवर पूजहिं भूत। अंत फजीहति होहिंगे गनिका केसे पूत।' (दो० ६५) वेश्यापुत्र किसको बाप बतावे, उसके होनेपर बधाई भी नहीं होती।

नोट—२ (क) ***'बेचहिं बेदु धरमु दुहि लेहीं'*** के भाव शब्दार्थमें दिये गये हैं। (ख) ***'पिसुन पराय पाप कहि देहीं'***—चुगली करना, दूसरेके पापोंको प्रकट करना, दूसरोंसे कहना भी वाचिक महापातक है। यथा—**'परापवादं पैशुन्यं चतुर्धा कर्म वाचिकम्।'** (स्कन्दपु०, मा० कु० ३६। १९) ***'अघ कि पिसुनता सम कछु आना।'*** (७। ११२। १०) (ग) ***'पिसुन पराय पाप कहि देहीं'।*** का दूसरा गुप्तार्थ यह भी है—'कहकर दूसरेको भी दे देते हैं' अर्थात् स्वयं पापके भागी तो हुए ही, दूसरेको सुनाकर उसे भी पापका भागी कर लेते हैं। (पं० रा० कु०) यथा—**'महापातकिनस्त्वेते तत्संसर्गी च पञ्चमः।'** (स्कन्दपु०, मा० कु० ३६। २८) (घ) ***'बेद बिदूषक'*** का फल, यथा—***'सुर श्रुति निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी।'*** (७। १२१। २५) ***'बिदूषक'***=विशेष दूषण निकालनेवाले। जैसे तर्क करते हैं कि ***'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना'*** इत्यादि कैसे सम्भव है। ऐसे पापका फल है—***'कलप कलप भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका।'*** (७। १००। ४) (पं० रा० कु०) (ङ) ***'लोभी लंपट लोलुपचारा। जे ताकहिं······'*** इति। यहाँ ***'लोलुपचारा'*** विशेषण है। यथासंख्य अलंकारसे ***'लोभी जे ताकहिं परधनु'*** और लम्पट ***'जे ताकहिं परदारा'*** के लिये आये हैं। ***'ताकहिं'*** का भाव कि घात देखते हैं, कब मौका मिले कि हम हर लें, यथा—***'जिमि गवँ तकइ लेउँ केहि भाँती।'*** (१२। ४) (पु० रा० कु०) (च) ***'गति घोरा'*** से जनाया कि सब महापातकी हैं। ऐसे पापियोंकी भयंकर गति होती है।

जे नहिं साधु संग अनुरागे। परमारथ पथ बिमुख अभागे॥ ५॥
जे न भजहिं हरि नर तनु पाई। जिन्हहि न हरि हर सुजसु सुहाई॥ ६॥
तजि श्रुतिपंथु बाम पथु चलहीं। बंचक बिरचि बेष जगु छलहीं॥ ७॥
तिन्ह कै गति मोहि संकर देऊ। जननी जौं एहु जानउँ भेऊ॥ ८॥

शब्दार्थ—**भेऊ**=भेद। **'परमारथ पथ'**—जिस धर्मसे परलोक बने वही परमार्थ मार्ग है भगवत्प्राप्ति जिससे हो; क्योंकि ***'राम ब्रह्म परमारथ रूपा';*** उनका यश गाये, कीर्तन करे, कथा कहे-सुने, मन, तन, धन सब उनमें लगावे, यथा—***'कहिये को रसना रची सुनिबे कहँ किय कान। धरिबे को हित चित सहित परमारथहि सुजान।'*** 'वाममार्ग' अर्थात् जिस मार्गमें पंचमकार प्रधान हैं—मांस, मत्स्य, मद्य, मैथुन और मुद्रा। तन्त्रग्रन्थोंमें इस मार्गका वर्णन है। (गौड़जी) **'बंचक—वेष'**, यथा—'**अन्तः शाक्ताः बहिश्शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः। नाना वेषधराः कौला विचरन्ति महीतले॥**' इत्यादि। (वै०)

अर्थ—जिनका साधुसंगतिमें प्रेम नहीं है, जो अभागे परमार्थ-मार्गसे विमुख हैं॥ ५॥ जो मनुष्य-शरीर पाकर भगवान्‌का भजन नहीं करते, जिनको हरिहरका सुन्दर यश नहीं सुहाता (अच्छा लगता)॥ ६॥ जो वेदमार्गको छोड़कर वाममार्गपर चलते हैं, जो ठग हैं, सुन्दर वेष अच्छी तरह रचकर जगत्‌को ठगते हैं॥ ७॥ हे माता! मुझे शंकरजी उनकी गति देवें यदि मैं इसका भेद जानता होऊँ॥ ८॥

श्रीमन्त शंकरयादव जामदारजी—'अध्यात्मके अनुसार वसिष्ठ-हत्याकी शपथ लेकर ही भरतजी मुक्त हुए, परंतु वाल्मीकिरामायणमें उन्होंने अनेक प्रकारकी शपथें ली हैं। कुछ उनमेंसे चुनकर स्वामीजीने उनमें अपनी ओरसे भी मिला दी हैं। जान पड़ता है कि इन चौपाइयोंका शपथ-वर्णन गोसाईंजीने तत्कालीन पातकोंकी स्थिति देखकर किया है।'

टिप्पणी—१ ***'जे नहिं साधु संग अनुरागे।······'*** इति। साधुसंग करनेसे विकार दूर होते हैं, शुभ गुणोंका उदय होता है, निज और पर स्वरूपका बोध होता है; तब परमार्थ-पथपर चलकर मनुष्य भवसागर पार होता है। यथा—***'जब द्रवैं दीनदयाल राघव साधु संगति पाइए। जेहि दरसपरस-समागमादिक पापरासि नसाइए॥ जिन्हके मिले सुख दुख समान अमानतादिक गुण भए। मद मोह लोभ बिषाद क्रोध सुबोध ते सहजहि गए॥***

सेवत साधु द्वैत-भय भागै। श्रीरघुबीरचरन लय लागै॥ देह जनित बिकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै॥ छन्द॥ अनुराग सो निज रूप जो जग तें बिलच्छन देखिये। संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिये॥ निरमल निरामय एकरस तेहि हरष-सोक न ब्यापई। त्रैलोक-पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥ जो तेहि पंथ चलै मन लाई। तौ हरि काहे न होहिं सहाई॥ जो मारग श्रुति-साधु दिखावै। तेहि पथ चलत सबै सुख पावै""।' (वि० १३६। ११-१२) पर इनने सत्संग न किया, अतएव परमार्थ-पथसे विमुख कहा—*'संतसंग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।'* परमार्थसे विमुख हैं, अतएव अभागे हैं।

टिप्पणी—२ *'जे न भजहिं हरि नर तन पाई।'*"" इति। (क) *'पाई'* से जनाया कि नरशरीर प्रभुकी कृपासे मिलता है, यथा—*'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।'* (७। ४४। ६) नरतन पाकर परलोक बनाना चाहिये, ऐसा न करनेका फल यह कहा गया है *'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥ सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।'* (७। ४३) और *'सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥'* (७। ४४) (ख) *'जे न भजहिं""'* कहकर *'जिन्हहि न हरिहर सुजस सुहाई'* कहनेका भाव यह कि यदि नवधा भक्ति आदि भजन न बन पड़े तो भगवत्-भागवत-यश ही सुने। पर इन्हें यह भी नहीं सुहाता, अतः ये आत्मघाती हैं, यथा—*'ते जड़ जीव निजातम घाती। जिन्हहि न रघुपति कथा सुहाती॥'* (७। ५३। ६) यह कहकर तब *'श्रुतिपंथ'* का त्याग कहा, क्योंकि जिन्हें संतसंग, हरि-भजन, हरि-हर कथा न भावे, वे अवश्य वेदपथको छोड़कर वाममार्गी होंगे।[अथवा, भाव कि प्रथम कार्य कहकर तब उसका कारण *'तजि श्रुति पंथ'* कहा। श्रुतिमार्गपर आरूढ़ होनेसे विषयोंसे वैराग्य होता है, जिससे भगवद्धर्ममें अनुराग होता है, उससे फिर हरिभक्ति होती है। यथा—*'निज निज कर्म निरत श्रुति रीती। एहि कर फल पुनि विषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥ श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥ संत चरन-पंकज अति प्रेमा।'* (३। १६। ६—९)। जिस श्रुतिसेतुके संरक्षणके लिये भगवान्‌का अवतार होता है उसीको छोड़कर प्रतिकूल मार्गमें चलते हैं। अतः वे महापातकी हैं। (प० प० प्र०) (ग) *'बाम-पंथ'* में तन्त्र शास्त्रके वाममार्गके अतिरिक्त अन्य पाखण्ड-मत भी आ गये। **'वामं धने हरे पुंसि कामदेवे पयोधरे। लोकविपरीतत्वाद्वा वामः** (इति अमरव्याख्यासुधायाम्) **'बामे सत्ये प्रतीपे च।'** (इति विश्वः) प्रतीप=विरुद्ध। अतः वामपथ=वेद=विरुद्ध मार्ग। *'मारग सोइ जा कहँ जो भावा'* यह भी वाममार्ग ही है। तन्त्र-शास्त्रानुसार पाँच मार्ग मुख्य हैं—पूर्व, पश्चिम, वाम, दक्षिण और मध्यम। ये कुण्डलिनीके ऊर्ध्वगमनपंथसूचक नाम हैं। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ *'बंचक बिरचि बेष""'* भाव यह कि जिसमें कोई यह न जाने कि इनके आचरण वेदविरुद्ध हैं। साधु आदिका वेष बनाते हैं, जिसमें लोग समझें कि महात्मा हैं, ये जो कुछ कहें-करेंगे, वेदानुकूल ही करेंगे, इस तरह जनता उनके छलमें आ जाती है।

नोट १—*'तिन्हकर गति मोहि संकर देऊ'* इति।—पूर्व कहते आये कि विधाता ऐसे-ऐसे अधर्मियोंकी गति हमें दें, यथा—*'ते पातक मोहि होहु बिधाता', 'तिन्ह कइ गति मोहि देउ बिधि', 'पावउँ मैं तिन्ह कै गति घोरा'* पर यहाँ कहते हैं—*'तिन्ह कै गति मोहिं संकर देऊ'*। पुनः, पूर्व तीनमें कहा कि यदि हमारा सम्मत हो, यथा—*'जौं एहु होइ मोर मत माता', 'जौं जननी मत मोर', 'जौं जननी एहु संमत मोरा'* और यहाँ कहते हैं कि *'जननी जौं एहु जानउँ भेऊ'*। यह क्यों? किस अभिप्रायसे? पंजाबीजी लिखते हैं कि पूर्व तीन बार माँके मतमें अपना सम्मत होनेका निषेध शपथद्वारा किया। पर इसमें संदेह हो सकता था कि तुम्हारी सलाह न रही हो, तुम सहमत न हुए हो, पर तुम जानते अवश्य थे और मातासे विरोधके कारण ननिहालमें रहे। इस संदेहको भी निर्मूल करनेके लिये यह शपथ खायी कि यदि मैं इस भेदको जानता होऊँ तो मेरी ऐसी दुर्गति हो।

अब रहा दूसरा प्रश्न कि यहाँ 'शंकरजी' को क्यों कहा?

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि शंकर संहारकर्ता हैं, विधि उत्पत्तिकर्ता हैं। पंडितजीका आशय यह

जान पड़ता है कि शंकरजी संहारकर्ता होनेसे दण्ड देनेमें रियायत न करेंगे। दूसरे इसमें वेदमार्गको तोड़नेवालों हरिहर-विमुखों आदिकी चर्चा है और शंकरजी परम भक्त हैं, वे धर्मके विरोधियोंको कड़ा दण्ड देते हैं, जैसे भुशुण्डिजीको दिया, यथा—*'तदपि साप सठ देइहउँ तोही। नीति बिरोध सुहाइ न मोही। जो नहिं दंड करउँ खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥'* (७। १०७) अथवा '*शंकर*' हैं, कल्याणकर्ता हैं। जो इनसे वैर करे, उसका कल्याण नहीं। हरिहर-सुयश जिसको अच्छा न लगे,जो वेदमार्गको तोड़े, उसका अकल्याण इनसे बढ़कर करनेवाला नहीं। पुनः, कल्याण और साक्षी एवं मनोरथकी पूर्तिके लिये श्रीकौसल्याजी, स्वयं भरतजी, श्रीवसिष्ठजी एवं श्रीरामजीने शंकरजीका ही जहाँ-तहाँ स्मरण किया है। इनकी साक्षी सबसे अधिक अवश्य मानते हैं, तभी इनका नाम साक्षीमें अपनी बातको प्रमाणित करनेके लिये लिया गया है, यथा—*'बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाए। संकर साखि रहेउँ एहि घाए॥'* (२६२। ५) (भरतवाक्य), *'मेरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिय सो सुभ सिव साखी॥'* (२५८। ८) (श्रीवसिष्ठवाक्य), *'कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥'* (२६४। १) (श्रीरामवाक्य) वैसे ही यहाँ भी भरतजी अपनी सफाईके लिये अन्तमें इन्हींकी साक्षी दे रहे हैं।

नोट—२ प० प० प्र० का मत है कि *'जननी जौं यहु जानौं भेऊ'* का अन्वय इस प्रकार करना चाहिये—*'जौं यहु जननी भेऊ जानौं'* जो मैं अपने जन्म देनेवालीका यह भेद जानता होऊँ। क्योंकि कौसल्याजी उनकी जननी नहीं हैं और कैकेयीको उन्होंने जननी कहा है, यथा—*'जननी तू जननी भई'।* कौसल्याजी माता हैं।

दो०—मातु भरत के बचन सुनि साँचे सरल सुभायँ।
कहति रामप्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन कायँ॥ १६८॥

राम प्रानहु[1] तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥ १॥
बिधु बिष चवै श्रवइ हिमु आगी। होइ बारिचर बारि बिरागी॥ २॥
भए ग्यानु बरु मिटइ न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥ ३॥

शब्दार्थ—**कायँ**=शरीर। **चवै**=टपकावे। **श्रवइ**=गिरावे। **बिरागी**=उदासीन, राग-प्रेम इच्छा वा चाह न रखनेवाला, विमुख।

अर्थ—भरतजीके सच्चे और स्वाभाविक ही सरल (सीधे-सादे छलरहित) वचन सुनकर माता कौसल्या कहती हैं—हे तात! तुम सदा मन-वचन-तनसे रामचन्द्रजीको प्रिय हो॥ १६८॥ रामचन्द्रजीके प्राणसे तुम्हारे प्राण हैं (अर्थात् राम तुम्हारे प्राणोंके भी प्राण हैं) और तुम भी रघुपति-(राम-) को प्राणोंसे अधिक प्रिय हो॥ १॥ चाहे चन्द्रमा विष टपकावे, पाला अग्नि गिरावे[2] चाहे जलचर (मछली) जलसे प्रेम छोड़ दे॥ २॥ और ज्ञान होनेपर भी मोह भले ही न मिटे अर्थात् ये सब अनहोनी बातें चाहे भले ही हो जायँ, पर तुम रामजीके प्रतिकूल (कदापि) नहीं होनेके॥ ३॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ *'सदा बचन मन कायँ'* इति।—मन-वचन-कर्म तीनोंसे प्रियके उदाहरण, यथा—*'सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। प्रेमपात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं॥ 'लषन राम सीतहिं अति प्रीती। निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती॥ 'जाना मरमु नहात प्रयागा। मगन होहिं तुम्हरे अनुरागा॥'* (२०८। ३—५)

टिप्पणी—२ *'राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे।'''''''* इति। अर्थात् जैसे प्राण बिना शरीर मृतक वैसे ही राम-बिना तुम्हारी गति। पर ऐसा तो सभी जीवोंके लिये है। यथा—*'प्रान प्रानके जीवन जीके।'* भरतजीके

१-यह पाठ राजापुरकी पोथीका है। काशिराजकी रामायण परिचर्यामें भी यही पाठ दिया है। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'इसमें संदेह न करो ऐसी भी चौपाई होती है।' परन्तु इस पाठमें अक्षर अधिक होनेसे छन्दकी गतिमें अन्तर पड़ता है। इसीसे प्रायः लोगोंने 'हु' अक्षर उड़ा दिया है। इस अर्धालीमें 'उपमेयोपमा' अलंकार है। और भी स्थानोंमें ऐसा प्रयोग हुआ है।

२-दूसरा अर्थ—अग्निमें ताप है, उससे चाहे पाला गिरे। (वै०)

विषयमें क्या विशेषता हुई? यह उत्तरार्द्धमें कहते हैं कि *'तुम्ह रघुपतिहि प्रानहुँ तें प्यारे'* अर्थात् रघुपति भी तुम्हें अपने प्राणोंके प्राण जानते हैं, यथा—*'तुम्ह पर अस सनेह रघुबर के। सुख जीवन जग जस जड़ नर के॥'* (२०८। ६)

टिप्पणी—३ *'तुम्ह रामहिं प्रतिकूल न होहू'* इति। भाव यह कि चन्द्रमा, पाला और जलचर, ये सब विश्वके प्रपंचमें हैं और प्राकृत हैं; अतएव ये चाहे मर्यादा छोड़ दें। पर तुम परम भागवत हो, दिव्य हो; अतएव तुम प्रतिकूल नहीं हो सकते। यथा—*'भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ। कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥'* (२३१) *'बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥' 'कबि कुल अगम भरत गुन गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा॥'* (२३३। २)

मत तुम्हार एह जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुखु सुगति न लहहीं॥ ४॥
अस कहि मातु भरतु हिय लाए। थन पय श्रवहिं नयन जल छाए॥ ५॥
करत बिलाप बहुत एहि भाँती। बैठेहिं बीति गई सब राती॥ ६॥
बामदेउ बसिष्ठ तब आए। सचिव महाजन सकल बोलाए॥ ७॥
मुनि बहु भाँति भरत उपदेसे। कहि परमारथ बचन सुदेसे॥ ८॥

शब्दार्थ—'**थन**'=स्तन,। '**महाजन**'=रईस, बड़े लोग। **सुदेसे** (सुदेश)=सुन्दर, यथा—*'अति सुदेश मृदु हरत चिकुर मन मोहन मुख बगराइ। मानों प्रगट कंजपर मंजुल अलि अवली फिरि आइ॥'* (सूर), *'लटकन चारु भृकुटियाँ टेढ़ी मेढ़ी सुभग सुदेश सुहाए।'* (तुलसी)।=देशकालानुसार।

अर्थ—'यह तुम्हारा संमत है' (अर्थात् तुम्हारी रायसे वनवास माँगा गया) संसारमें जो कोई ऐसा कहते या कहेंगे वे स्वप्नमें भी सुख और शुभ गति न पावेंगे॥ ४॥ ऐसा कहकर माताने भरतजीको हृदयसे लगा लिया, उनके स्तनोंसे दूध निकलने लगा, नेत्रोंमें जल भर आया (यह दशाएँ अत्यन्त प्रेमकी हैं। ये अनुभाव या सात्त्विक भाव हैं)॥ ५॥ इस प्रकार बहुत विलाप करते-करते सारी रात बैठे-ही-बैठे बीत गयी॥ ६॥ तब वामदेव और वसिष्ठजी आये और सब मन्त्रियों और महापुरुषों—रईसोंको बुलाया॥ ७॥ मुनिने बहुत तरहसे भरतजीको देशकालानुसार सुन्दर परमार्थके वचन कहकर उपदेश दिया*॥ ८॥

नोट—१ *'मत तुम्हार यहु……'* इति। यह भरतजीको श्रीराममाताका आशीर्वाद और कलंक लगानेवालोंको शाप हुआ। *'सपनेहु सुख सुगति……'* भाव कि सदा दुखी—आपदग्रस्त रहेंगे और उनको कभी सद्‌गति न मिलेगी। इससे जनाया कि महाभागवतापराधका यह फल होता है। यही श्रीरामजीने भी कहा है पर साथ ही इस घोर शापका परिहार प्रायश्चित्त भी बता दिया है। यथा—*'उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोकु परलोकु नसाई॥' मिटिहहिं पाप……लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार॥'* (२६३) श्रीकौशल्या अम्बाजीके *'मत तुम्हार यहु'*, 'सुख', 'सुगति' ही श्रीरामजीके *'आनत तुम्ह पर कुटिलाई'*, 'लोक' और परलोक' हैं।

नोट—२—*'थन पय श्रवहिं……'* इति। पूर्व कह आये हैं कि *'सरल सुभाय माय हिय लाए। अति हित मनहु राम फिरि आए॥'* (१६५। १) श्रीरामजीको गोदमें लेते ही स्तनोंसे दुग्ध निकलने लगता था, अत: जब श्रीभरतजीको हृदयसे लगाया तो मानो राम ही गोदमें हैं इससे इस समय भी दूध निकलने लगा। इस प्रसंगमें कविके *'राम भरतु दोउ सुत सम जानी।'* (५५। ६) ये वचन चरितार्थ हुए। प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'यहाँ राममाताके भरतप्रेमकी पराकाष्ठा बता दी है। माताका इतना परमोच्च आदर्श अन्यत्र मिलना असम्भव है!'

नोट—३—*'बामदेउ बसिष्ठ तब आए।……'* इति (क) अ० रा० में भी कहा है '**एतस्मिन्नन्तरे श्रुत्वा भरतस्य समागमम्।**' (२। ७। ९१) '**वसिष्ठो मन्त्रिभिः सार्धं प्रययौ राजमन्दिरम्।**' अर्थात् भरतागमन सुनकर

* १—रा० प्र०—अर्थ—'परमार्थ-देशके सुन्दर वचन'।

मन्त्रियोंसहित वसिष्ठजी आये। (ख) वामदेवजी यज्ञकर्ताओंमेंसे हैं और ऐसे प्रतिष्ठित महर्षि हैं कि वसिष्ठजीकी भी बातकी सत्यताका विश्वास इनके कहनेसे होता था। यथा—***'बोले बामदेव सब साँची।'*** (१। ३५९। ७) (पु० रा० कु०)।

नोट—४—***'कहि परमारथ बचन सुदेसे।'*** इति। यथा—**'त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः। तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवितुमर्हसि॥'** (वाल्मी० २। ७७। २३) अर्थात् तीन द्वन्द्व (भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मृत्यु) सभी प्राणियोंको होते हैं, इनसे कोई बच नहीं सकता है; अतएव शोक न करना चाहिये। एवम् 'शोक बहुत हुआ अब शोक करना व्यर्थ है। अब राजाके प्रेतकृत्य करनेका प्रबन्ध करना उचित है।' (सर्ग ७६। २) ***'मुनि बहु भाँति भरत उपदेसे'*** इति। अ० रा० में इस अवसरपर बहुत उपदेश है। पन्द्रह श्लोकोंमें जो उपदेश है वह संक्षेपसे यह है—महाराज दशरथ वृद्ध, ज्ञानी और सत्यपराक्रमी थे। यज्ञोंद्वारा भगवान्का यजन कर साक्षात् भगवान्को रामरूपमें पाकर अन्तमें इन्द्रके अर्द्धासनके अधिकारी हुए। जीते-जी संसारके समस्त सुख भोगे। अतः शोक व्यर्थ है। आत्मा नित्य, अविनाशी, शुद्ध, जन्म-मरणादिसे रहित है। शरीर नाशवान् है। जिसका जन्म होता है, उसके लिये मृत्यु अनिवार्य है। प्राणियोंका जन्म-मरण उनके कर्मानुसार होता है, अतः बन्धु-बान्धवोंके लिये शोक मूर्ख लोग ही करते हैं, ज्ञानियोंको तो उनके वियोग-वैराग्य देखकर सुख और शान्तिका विस्तार करते हैं। आयु हिलते हुए पत्तेकी नोकपर लटकती हुई जलकी बूँदके समान क्षणभंगुर है, इसका क्या विश्वास है? पूर्व देहकृत कर्मोंसे यह शरीर मिला और फिर इसके कर्मोंसे और शरीर प्राप्त होगा। इसी प्रकार आत्माको पुनः-पुनः देहकी प्राप्ति होती है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको उतारकर नये वस्त्र पहनता है वैसे ही जीव पुराने शरीरको छोड़कर नयेको धारण कर लेता है। अतः शोकका कोई कारण नहीं है यथा—**'वृद्धो राजा दशरथो ज्ञानी सत्यपराक्रमः। भुक्त्वा मर्त्यसुखं सर्वमिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः॥ ९३॥ अश्वमेधादिभिर्यज्ञैर्लब्ध्वा रामं सुतं हरिम्। अन्ते जगाम त्रिदिवं देवेन्द्रार्द्धासनं प्रभुः॥ ९४॥ तं शोचसि वृथैव त्वमशोच्यं मोक्षभाजनम्। आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्धो जन्मनाशादिवर्जितः॥ ९५॥ शरीरं जडमत्यर्थमपवित्रं विनश्वरम्। विचार्यमाणे शोकस्य नावकाशः कथञ्चन॥ ९६॥ निःसारे खलु संसारे वियोगो ज्ञानिनां यदा। भवेद्वैराग्यहेतुः स शान्तिसौख्यं तनोति च॥ ९८॥ जन्मवान् यदि लोकेऽस्मिंस्तर्हि तं मृत्युरन्वगात्। तस्मादपरिहार्योऽयं मृत्युर्जन्मवतां सदा॥ ९९॥ स्वकर्मवशतः सर्वजन्तूनां प्रभवाप्ययौ॥ विजानन्नप्यविद्वान्यः कथं शोचति बान्धवान्॥ १००॥''''''यथा त्यजति वै जीर्णं वासो गृह्णाति नूतनम्। तथा जीर्णं परित्यज्य देही देहं पुनर्नवम्॥ १०४॥ भजत्येव सदा तत्र शोकस्यावसरः कुतः। आत्मा न म्रियते जातु जायते न च वर्धते॥ १०५॥ षड्भावरहितोऽनन्तः सत्यप्रज्ञानविग्रहः। आनन्दरूपो बुद्ध्यादिसाक्षी लयविवर्जितः॥ १०६॥ एक एव परो ह्यात्मा ह्यद्वितीयः समः स्थितः। इत्यात्मानं दृढं ज्ञात्वा त्यक्त्वा शोकं कुरु क्रियाम्॥ १०७॥'** (अध्यात्मरामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ७)—यह तथा और भी जहाँ जो लिखा है वह ***'बहु भाँति'*** में आ जाता है।

पंजाबीजी—मन्त्रियों और रईसोंको बुलानेकी क्या जरूरत थी? कारण कि भरतके आगमनपर कोई उनसे मिला नहीं, सबको उनकी ओरसे सन्देह था। यह समझकर सन्देहके निराकरणार्थ उनको बुलवाया।

'भरतागमन-प्रेमबहु-प्रकरण' समाप्त हुआ।

'करि नृपक्रिया' प्रकरण

दो०—तात हृदय धीरज धरहु करहु जो अवसर आजु।
उठे भरत गुर बचन सुनि करन कहेउ सबु साजु[१]॥ १६९॥

नृपतन बेद बिदित[२] अन्हवावा। परम बिचित्र बिमानु बनावा॥ १॥

१-किसी-किसीने 'काज' पाठ दिया है।

२-रा० प० में 'बिहित है। पं० रा० गु० द्विवेदी और भागवतदास आदिने 'बिहित पाठ दिया है। कई

गहि पद भरत मातु सब राखीं। रहीं राम* दरसन अभिलाषीं॥ २॥

शब्दार्थ—'**राखीं**'=रख लिया, सती होनेसे रोक रखा या बचा लिया, बाज रखा, बचाया। '**बिमान**'=मरे हुए वृद्ध मनुष्यकी अरथी (रथी) जो सजधजके साथ निकाली जाती है।

अर्थ—हे तात! हृदयमें धीरज धरो और आज इस समय जो करनेका मौका है (अर्थात् जो करना चाहिये) उसे करो। गुरुजीके वचन सुनकर भरतजी उठे और सब सामान तैयार करनेकी आज्ञा दी॥ १६९॥ वेदमें बतायी हुई प्रसिद्ध रीतिके अनुसार राजाके शरीरको स्नान कराया। परम विचित्र विमान बनाया गया॥ १॥ भरतजीने सब माताओंके चरण पकड़कर सती होनेसे रोक लिया। अर्थात् प्रार्थना करके जबरदस्ती सती न होने दिया। वे सब माताएँ भी रामदर्शनकी अभिलाषासे रह गयीं (सती न हुईं)॥ २॥

पु० रा० कु०—१ (क) ***'उठे भरत गुर बचन सुनि·······'*** इति। ***'गुरोराज्ञा गरीयसी'*** गुरु-आज्ञाका बड़ा गौरव है, अतः सुनते ही उठे। (ख) ***'करन कहेउ सब साजु'*** इति। किससे कहा? मन्त्रियोंसे। मन्त्रियोंद्वारा राजाके प्रेतकृत्यका प्रबन्ध कराया। सुमन्त्र इतने हानि-ग्लानिवश हैं कि यहाँ ये आये ही नहीं, नहीं तो प्रायः सब प्रबन्ध उन्हींके द्वारा कराया जाता, उनका नाम अवश्य आता। यथा—***'सेवक सचिव सुमंत्र बोलाए।·······कहेउ भूप मुनिराज कर जोइ जोइ आयसु होइ। रामराज अभिषेक हित बेगि करहु सोइ सोइ॥'*** (२०५) ***'तब मुनि कहेउ सुमंत्र सन सुनत चलेउ हरषाइ। रथ अनेक बहु बाजि गज तुरत सँवारे जाइ॥ जहँ तहँ धावन पठइ पुनि मंगल द्रब्य मगाइ।'*** (७। १०) (ग) ***'नृपतन·······'*** इति। स्नान कराना कहकर जना दिया कि पहले राजाका शरीर तेलसे निकालकर पृथ्वीपर उत्तम बिछौनोंपर रखा गया। तत्पश्चात् ऋत्विक्, पुरोहित तथा आचार्योंको बुलाकर वेदोंमें कही हुई रीतिके अनुसार स्नान कराया गया। (घ) ***'गहि पद भरत मातु सब राखीं।·······'*** इति। अर्थात् जब विमान ले चले तब ये सब सती होनेको साथ चलीं। अतएव भरतजीने चरण पकड़कर विनती की कि पिता स्वर्गको गये, श्रीराम वनमें हैं, हमारी रक्षा कौन करेगा, जो तुम भी न रहोगी। पुनः कहा कि श्रीरामजी आवेंगे, मैं उनको जाकर लाऊँगा तब रामदर्शनाभिलाषासे रह गयीं। [सती होनेका निषेध किया। कहा कि धर्मशास्त्र कहता है कि जिसका पुत्र वीर हो, उसे सती न होना चाहिये। (रा० प्र०) दर्शनाभिलाषासे ही रहीं, इससे जनाया कि उन्होंने हरिप्राप्तिको विशेष माना। (वै०)]

पंजाबीजी—'सती होनेसे तो यश और सद्गति दोनोंकी प्राप्ति थी। फिर क्यों रोका?' उत्तर—भरतजीने सोचा कि इनके सती होनेसे हमें लोग बुरा कहेंगे और माताके मतमें समझेंगे; वे कहेंगे कि सब इससे जल मरीं कि न जाने यह राजा होनेपर हम विधवाओंकी क्या दशा करें। इस कलंकके निवारणार्थ विनती की।

मानसहंस—***'पति-सहगमन'*** इति। वाल्मीकि और अध्यात्मरामायणोंमें दशरथजीके साथ उनकी स्त्रियोंके सहगमनकी इच्छा, उसपर भरतजीका निषेध और केवल रामदर्शनकी इच्छासे ही उनके वापस फिरनेके वर्णन नहीं हैं। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि ये सब वर्णन कविकल्पनासे ही उत्पन्न हुए हैं। २—स्त्रियोंके सहगमननिवारणके वर्णनसे कह सकते हैं कि उनकी सहगमनेच्छा और तैयारीको प्रथम दर्शाकर पश्चात् केवल रामदर्शनके लिये ही उनके वापस फिरनेकी कल्पना बड़ी ही प्रौढ़ और गम्भीर है। ३—पात्रोंके आचरणमें पूर्वापर विरोध न होने देनेके विषयमें गोसाईंजी कैसे सावधान थे—यह उपरिनिर्दिष्ट वर्णनसे सहज ही ध्यानमें आवेगा। यह उत्कृष्ट कविका लक्षण कहलाता है।

नोट—स्वामी प्रज्ञानानन्दजी, पंजाबीजी तथा मानसहंसके मतसे सहमत न होते हुए लिखते हैं कि 'मानसमें न जानें कितनी बातें ऐसी हैं जो वाल्मी० रा० और अ० रा० में नहीं हैं किन्तु जो किसी-न-किसी

स्थलोंमें ऐसा पाठ आया है। ला० सीतारामका 'विदित' पाठ है। गी० प्रे० में भी यही पाठ दिया है। अतः राजापुरका पाठ 'बिदित' है। 'वेद बिदित' पाठ आगे भी आया है, 'वेद बिदित संमत सब ही का। (१७५। ३) वहाँ भी भा० दा० ने 'बिहित' पाठ दिया है। 'बिदित' पाठ फिर भी आनेसे वह लेखकका प्रमाद नहीं हो सकता। विहित=विधान किया हुआ, दिया हुआ। प० प० प्र० स्वामी 'वेद बिदित' 'नृपतन' का विशेषण मानते हैं।

* रानि—गी० प्रे०। रा० प्र० राम—पं० रा० गु० द्विवेदी, भा० दा०। 'राम' पाठ सुन्दर जान पड़ता है।

रामायण, पुराण, संहिता आदिमें मिलती हैं। अतः इस वर्णनका भी कुछ-न-कुछ मूलभूत आधार मिलेगा ही। (२) भरतजीने जो निषेध किया उसका मूल तो *'आइ पाय पुनि देखिहउँ मन जनि करसि मलान।'* (५३) श्रीरामजीके इस वाक्यमें ही है। *'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन', 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई'*। उन्हींकी प्रेरणासे भरतजीने रोका और वे सती होनेसे रह गयीं। (३) *'मातु सब'* अर्थात् कैकेयीको छोड़ सब माताओंको। कैकेयीको वैधव्यका किंचित् शोक है ही नहीं, वह तो राजमाता बनना चाहती है। वह सती होना क्यों चाहेगी!' ☞ जो लोग सृष्टिका आरम्भ कुछ हजार वर्षोंसे माननेवाले हैं, जो पाश्चात्त्य विज्ञानियोंकी आँखोंसे देखते हैं, वे समझते हैं कि बस 'रामावतार' एक ही बार हुआ और जितनी रामायणें हैं वे सब इसी अवतारकी हैं, अवतार न माननेवाले साहित्यज्ञ रामायणके चरित्रोंको कविकल्पना समझकर आलोचना किया करते हैं।

चंदन अगर भार बहु आए। अमित अनेक सुगंध सुहाए॥ ३॥
सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥ ४॥
एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्ही। बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही॥ ५॥
सोधि सुमृति सब बेद पुराना। कीन्ह भरत दसगात बिधाना॥ ६॥
जहँ जस मुनिबर आयेसु दीन्हा। तहँ तस सहस भाँति सबु कीन्हा॥ ७॥

शब्दार्थ—'**अनेक**'=बहुत प्रकारके (गुग्गुल, सरस, पद्मक, केसर, कचूर, कस्तूरी, कपूर, बालछड़, इत्यादि) '**सरजु तीर**'—सरयूके तटपर विल्वहरिघाट, जिसे आजकल बेलहर घाट कहते हैं और जो नगरसे पूर्व चार कोसपर है, वहाँ। '**चिता**'=चुनकर रखी हुई लकड़ियोंका ढेर जिसपर रखकर मुर्दा जलाया जाता है। '**दाहक्रिया**'=शव (मुर्दा) जलानेका कर्म। शुद्धितत्त्वमें दाहकर्म इस प्रकार है—शवको श्मशानपर रखकर उसपर घी मलकर मन्त्रपाठपूर्वक स्नान कराकर नया वस्त्र पहनाकर दोनों आँखों, कानों, नाक-छिद्रों और मुँहमें सोना रखें। प्राचीनावीत होकर बाँया घुटना टेककर बैठे और मन्त्र पढ़कर कुशसे एक रेखा खींचे, कुश बिछाकर तिलसहित जलपात्र हाथमें लिये मृतकका नाम-गोत्रादि उच्चारण करता हुआ उसे कुशपर गिरावे। फिर तिलसहित पिण्ड लेकर कुशपर विसर्जित करे। इतना कृत्य करके चिता रचकर शवको उसपर दक्षिण ओर सिर करके लिटा दें। जो सामवेदी हों वे शवका मस्तक उत्तरकी ओर रखें, फिर हाथमें अग्नि लेकर तीन प्रदक्षिणाएँ करके, दक्षिण ओर अपना मुख करके शवके मस्तककी ओर आग लगा दें। फिर सात लकड़ियाँ हाथमें लेकर सात प्रदक्षिणाएँ करे और प्रत्येक प्रदक्षिणामें एक-एक लकड़ी चितामें डालता जाय। जब शव जल जाय तब एक बाँस लेकर चितापर सात बार प्रहार करे जिससे कपाल फूट जाय। इतना करके फिर चिताकी ओर न ताके और जाकर स्नान कर ले। (श० स०) '**तिलांजुलि**'—यह मृतक संस्कारका एक अंग है जिसमें मृतकके जल चुकनेपर स्नान करके हाथकी अँजुलीमें तिल और जल लेकर मृतक प्राणीके नामपर छोड़ते हैं। '**सोधि**'—खोज कर, विचार करके। '**सुमृति**' (स्मृति)=धर्मशास्त्र। '**दसगात**'=दशगात्र, सूतक-सम्बन्धी एक कर्म जो मनुष्यके मरनेपर दस दिनोंतक होता रहता है। इसमें प्रतिदिन पिण्डदान किया जाता है। पुराणोंमें लिखा है कि इसी पिण्डके द्वारा क्रमसे प्रेतका शरीर बनता है। पहले पिण्डसे सिर, दूसरेसे आँख, कान, नाक इत्यादि। दसवें दिन शरीर पूरा हो जाता है।—गरुड़पुराण देखिये। (श० सा०) दस दिनोंकी क्रियासे आतिवाहिक देह निर्मित होती है जिससे वह जीव कर्मानुसार लोक-लोकान्तरमें पाप-पुण्यका फल भोगनेके लिये जाता है। प्रायः प्रथम यमराजके दरबारमें उनके दूत उसे ले जाते हैं। (प० प० प्र०) '**बिधान**'=अनुष्ठान, क्रिया, कार्यका होना, रीति, विधि।

अर्थ—चन्दन, अगर और-और भी अनेक बेअंदाज सुन्दर सुगन्धित द्रव्योंके बहुत बोझ आये॥ ३॥ सरयूके तटपर रचकर चिता बनायी गयी (जो ऐसी दीखती थी) मानो स्वर्गकी सुन्दर सीढ़ी ही हैं॥ ४॥ इस प्रकार सब दाह-क्रिया की और विधिपूर्वक सबने स्नान करके तिलांजलि दी॥ ५॥ सब स्मृति, वेद

और पुराणोंको शोधकर भरतजीने दशगात्र क्रिया की॥ ६॥ मुनिश्रेष्ठने जहाँ जैसी आज्ञा दी, वहाँ सब वैसा ही भरतजीने सहस्र प्रकारसे किया॥ ७॥

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ *'सुगंध'* इति। इत्र, गुलाब, केसर आदि देहमें लगानेके लिये आये। चन्दन, अगर चिता बनानेके लिये। यथा……'**चन्दनागुरुनिर्यासान्सरलं पद्मकं तथा। देवदारूणि चाहृत्य क्षेपयन्ति तथापरे॥ गन्धानुच्चावचांश्चान्यांस्तत्र गत्वाथ भूमिपम्।**' (२। ७६। १६-१७)

टिप्पणी २—*'तहँ तस सहस भाँति सबु कीन्हा'*—इति। अर्थात् जहाँ एक गोदान बताया वहाँ हजार किये। जहाँ एक विधि उन्होंने कही वहाँ इनने सहस्र विधिसे की। इससे इनकी श्रद्धा दिखायी '……**श्रद्धाभक्तिसमन्वितः**'।

भए बिसुद्ध दिए सब दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना॥ ८॥

दो०—सिंघासन भूषन बसन अन्न धरनि धन धाम।
दिए भरत लहि भूमिसुर भे परिपूरन काम॥ १७०॥

पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी। सो मुख लाख जाइ नहिं बरनी॥ १॥

शब्दार्थ—'**लहि**'=पाकर। '**काम**'=कामनाएँ, इच्छा। '**करनी**'=मृतक क्रिया, अन्तेष्टि कर्म, मृतक-संस्कार। 'करनी करना' अवधी मुहावरा है।=मरनेपर जो दान आदि किया जाता है—(दीनजी)

अर्थ—विशेष शुद्ध होकर श्रीभरतजीने बहुत-सी गायें, घोड़े, हाथी, रथ आदि अनेक प्रकारके वाहन, सिंहासन, भूषन, वस्त्र, अन्न, पृथ्वी, धन और घर सब (प्रकारके) दान (सब ब्राह्मणोंको) दिये। ब्राह्मण दान पाकर परिपूर्ण काम हो गये (अर्थात् उनकी इच्छाएँ ऐसी भरपूर संतुष्ट हो गयीं कि उन्हें और माँगनेकी इच्छा ही न रह गयी)॥ ८। १७०॥ पिताके लिये भरतजीने जैसी करनी की वह लाखों मुखसे भी नहीं कही जा सकती॥ १॥

नोट—१ *'भए बिसुद्ध……'* इति। दस दिनतक सूतक रहता है। ग्यारहवें दिन शुद्धि होती है। बारहवें दिन सब श्राद्ध कर्म होनेके पश्चात् ब्राह्मणोंको दान दिया गया। यथा—'**द्वादशेऽहनि सम्प्राप्ते श्राद्धकर्माण्यकारयत्॥**' (१) **ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राज्ञस्तस्यौर्ध्वदैहिकम्॥**' (वाल्मी० २। ७७। ३) यह दान राजाके परलोकके निमित्त दिया जाता है।

पाण्डेजी—*'भे परिपूरन काम'* इति। भाव यह कि सब काम परिपूर्ण हुए। १—राजाकी क्रिया। २—भरतजीका मनोरथ उस क्रियाके करनेमें। और, ३—दान पानेवाले ब्राह्मणोंकी इच्छा पूर्ण हुई, वे अघा गये।

नोट—२ *'पितु हित……'* से भरतजीकी पिता तथा पितृकर्ममें अत्यन्त श्रद्धा दिखायी।

'करि नृपक्रिया' प्रकरण समाप्त हुआ।

प्रथम दरबार (श्रीअवधमें)

'संग पुरबासी। भरतु गए जहँ प्रभु सुखरासी'—प्रकरण

सुदिन सोधि मुनिबर तब आए। सचिव महाजन सकल बोलाए॥ २॥
बैठे राजसभा सब जाई। पठए बोलि भरत दोउ भाई॥ ३॥
भरतु बसिष्ठु निकट बैठारे। नीति धरम मय बचन उचारे॥ ४॥
प्रथम कथा सब मुनिबर बरनी। कइकइ कुटिल कीन्हि जसि करनी॥ ५॥
भूप धरम ब्रतु सत्य सराहा। जेहि तनु परिहरि प्रेमु निबाहा॥ ६॥

शब्दार्थ—**उचारे**=उच्चारण किया, कहे। **सुदिन**=सुन्दर दिन। दिन, तिथि, नक्षत्र, वेला इत्यादि मुहूर्त। **महाजन**=श्रेष्ठ पुरुष,धनी, कोठीवाल, प्रामाणिक आचरणवाले, रईस।

अर्थ—अच्छा दिन शोधकर मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी आये और सब मन्त्रियों और रईसोंको बुलाया॥ २॥ सब लोग आकर राजसभामें बैठे। तब श्रीभरत, शत्रुघ्न दोनों भाइयोंको बुला भेजा॥ ३॥ वसिष्ठजीने भरतजीको अपने पास बिठा लिया और नीति और धर्ममय वचन बोले॥ ४॥ जैसी कुटिल करनी कैकेयी की थी वह सब कथा मुनिश्रेष्ठने प्रथम कही॥ ५॥ फिर राजाके* सत्य-धर्मव्रतकी सराहना की, जिन्होंने शरीर त्यागकर प्रेमको निबाहा॥ ६॥

नोट—१ ***'सुदिन सोधि मुनिबर तब आए।'*** ······ 'इति। (क) 'सुदिन शोधकर आज वसिष्ठजी इसलिये आये थे कि आज श्रीभरतको राज्यका अधिकार देंगे। पर भरतजीने उनकी बात न मानी। तो मुहूर्त शोधनेका फल ही क्या हुआ?' इस शंकाका समाधान यह है कि भला दिन, लग्न और मुहूर्त वही है जिसमें सभीकी मति धर्ममें रँगी रहे और भरतजीने आज परमधर्मका निर्णय कर अपना तिलक न कराके श्रीरामजीकी सेवा ही करना और उनके पास जाना ही निश्चय किया—इस तरह शुभ दिन शोधनेका फल पूर्ण हुआ! यदि ऐसा न होता तो वसिष्ठजी क्या अपनी आज्ञाको भंग होता देख प्रसन्न होते? कदापि नहीं। पर वे तो भरतजीपर परम प्रसन्न हुए। यह नहीं सब सभाभर प्रसन्न हुई, यथा—***'भा सब के मन मोद न थोरा। भरत प्रानप्रिय भे सबही के॥'*** (१८५। २) वस्तुतः मुनि सब जानते हैं पर लोकरीति निबाहते हैं। (पं० रा० कु०) (ख) यह वैशाख शुक्ल ५, मृगशिरा, चन्द्रवार था। (वै०) वाल्मीकिजी राजाकी क्रियासे १४ वाँ दिन लिखते हैं। यथा—**'ततः प्रभातसमये दिवसेऽथ चतुर्दशे। समेत्य राजकर्तारो······'** (२। ७९। १)

नोट—२ ***'बैठे राजसभा सब जाई।'*** ······ 'इति। (क) ***'जाई'*** से जनाया कि जब सब आ गये, तब राजसभामें जाकर बैठे। जब-जब कोई राज्यकार्य होता रहा है तब-तब राजा इक्ष्वाकुजी, रघुजी, दिलीपजी, दशरथ महाराज आदि यहाँ बैठकर निर्णय करते आये हैं और आज भी राजगद्दीपर बिठानेका विचार करना है। (पु० रा० कु०) (ख) ***'पठए बोलि भरत दोउ भाई'*** इति। दोनों भाइयोंको क्यों बुलाया, राजतिलक तो भरतका निश्चय ही था? उत्तर यह है कि दूधका जला मट्ठा फूँक-फूँककर पीता है। भरतके न होनेसे रामराज्याभिषेकमें विघ्न हुआ। डरते हैं कि इसमें भी कोई उपद्रव न हो जाय। अकेले उनको बुलानेमें फिर कोई फसाद न उठ पड़े। यह सोचकर शत्रुघ्नजीको भी बुलाया। (रा० प्र०) अथवा, वसिष्ठजी जानते हैं कि ***'भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥'*** शत्रुघ्नजीको न बुलानेसे वे सेवासे वंचित रहनेसे दुखी होंगे। भरतके सिंहासनाधिष्ठित होनेपर वे चमरधारी होंगे। (प० प० प्र०) ऐसा ही अ० रा० में भी कहा है, यथा—'**तत्रासने समासीनश्चतुर्मुख इवापरः। आनीय भरतं तत्र उपवेश्य सहानुजम्॥**' (२। ८। २) अर्थात् राजसभामें ब्रह्माके समान आसनपर बैठकर श्रीवसिष्ठजीने भाईसहित भरतजीको बुलाकर आसनपर बैठाया।

नोट—३ ***'भरतु वसिष्ठ निकट बैठारे। नीति धरम मय'*** ······ 'इति। (क)—भरतको ही निकट क्यों बिठाया? यह शंका करके उसका समाधान पंजाबीजी यह करते हैं कि इनको राजाने राज्य दिया है, इनसे कोई बात गुप्त भी कहना पड़े तो पास रहनेसे धीरेसे कह सकेंगे। वा, इनको खिन्न देखकर उनका मान बढ़ानेके लिये निकट बैठाया। बाबा हरिदासजी कहते हैं कि इन्हें यह आदर दिया जिसमें ये उनकी आज्ञा मानकर

---

* अनेक प्रकारसे इसके अर्थ लोंगोने किये हैं। जैसे (क) 'प्रथम कथा'=राजाका मनोरथ और तिलककी तैयारी। और 'कइकइ कुटिल कीन्हि जसि करनी'=कुटिल कैकेयीने जैसी कुटिल करनी की कि कोपभवनमें जाकर राजाको वचनबद्ध कराके तब वर माँगा। (रा० प०। पं० रा० कु०) (ख) 'कैकेयी और कुटिला कुबरीने', 'जिस करनीने कैकेयीको कुटिल कर दिया वह देवताओंकी करनी', इत्यादि। (किला, रा० प्र०) पर सीधा अर्थ छोड़नेकी आवश्यकता जान नहीं पड़ती।

नोट—मिलान कीजिये—कैकय्या याचितं राज्यं त्वदर्थे पुरुषर्षभ। सत्यसन्धो दशरथः प्रतिज्ञाय ददौ किल॥ (अ० रा० २। ८। ४) यही 'धरम व्रतु सत्य सराहा' है।

राज्य ग्रहण करें। हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि शत्रुघ्नजी लक्ष्मणजीके भाई हैं उनके सामने गुप्त बात न कह सकेंगे। [परंतु ये धर्मपरायण लक्ष्मणजीके भाई हैं जो श्रीरामजीकी सेवामें हैं। इनके मनमें कुटिलताकी सम्भावना करना उचित नहीं। निकट बिठाना आदर-सत्कार है, यथा—*'अति आदर समीप बैठारे'* और इन्हींसे बात करना है, इन्हींको समझाना है, सभाके बीचमें सब होगा, वहाँ गुप्त कुछ नहीं।]

(ख) नीतिमय=जिसमें नीतिका ही वर्णन है। धर्ममय=जिसमें धर्मका वर्णन है। यहाँ 'नीति' पद देकर तब 'धर्म' पद दिया, क्योंकि भरतजी नीतिके अनुसार राज्यके अधिकारी हैं। नीति है कि *'जेहि पितु देइ सो पावइ टीका'* यह बात आगे वसिष्ठजी कहेंगे। धर्मशास्त्रकी रीति *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई'* के अनुसार तो श्रीरामजीको ही राज्यका अधिकार है। (शीला) पुनः धर्मको नीतिके बाद रखनेसे भरतको जवाब देनेकी राह रह जाती है, नीतिमें नहीं रह जाती (रा० प्र०) वे धर्मको ग्रहण करके राज्य स्वाकीर न करेंगे।

नोट—४ *'कइकइ कुटिल·······'* इति। कैकेयीको कुटिल कहा; क्योंकि इसकी करनी भरतजीको न सुहायी। यह विशेषण भरतजीके रुचिके अनुकूल दिया—यह नीतिमय वचन है। *'तात कैकइहि दोष नहिं'* ऐसा न कहा; क्योंकि इसका प्रभाव तुरत कुछ न होता। (पु० रा० कु०) अथवा, कैकेयीको सभी लोग कुटिल कहते हैं, यथा—*'देहिं कुचालिहि कोटिक गारी', 'कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी।'* (४७। ४) *'कारन कवन कुटिलपन ठाना।'* (४७। ६), *'लखि कुचालि कीन्हि कछु रानी।'* (३९। २) *'कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।'* (९१) इत्यादि। मुनिने लोकव्यवहारानुरूप कहा। (प० प० प्र०)

पु० रा० कु०—भूपका धर्मव्रत और सत्यव्रत सराहा। धर्मव्रत यह कि किसीकी धरोहर रखी हो तो माँगनेपर उसे तुरत दे दे। कैकेयीके दो वरदान राजाके पास थाती थे—*'दुइ बरदान भूप सन थाती। माँगहु आजु जुड़ावहु छाती॥'* (२२। ५) राजाने भी कहा है *'थाती राखि न माँगेहु काऊ।'* जब उसने माँगा तब दिया और सत्यव्रत यह कि स्त्रीके साथ क्या झूठ क्या सत्य? वह कौन दानकी पात्र है? फिर किस समय यह वर माँगा गया? उसके साथ भी सत्यव्रतको निबाहा। उससे यह कहा था कि *'सत्यमूल सब सुकृत सुहाए'* और *'प्रान जाहु बरु बचन न जाई'*। अतः प्राण दे दिये, पर सत्य न छोड़ा। [रा० प्र० का मत है कि रघुनाथजीके त्यागमें सत्यव्रत-धर्म निबाहा और तन त्यागकर रघुनाथजीके प्रेमको निबाहा। पर पण्डित रामकुमारजी कहते हैं कि 'पूर्वार्ध (चरण) वसिष्ठवाक्य है और उत्तरार्द्ध गोस्वामिवाक्य है। गुरुने धर्म और सत्यकी प्रशंसा की और ये कहते हैं कि हम तो उनको प्रेमी कहते हैं कि तन त्यागकर प्रेम निबाहा। यदि गुरु उनको प्रेमी कहें तो भरत भी कहीं तन त्याग करनेको तैयार न हो जायँ।']

नोट—५ *'भूप धरम ब्रतु सत्य सराहा'* में यह शंका होती है कि उनको सत्यमें प्रेम था, श्रीराममें उतना भी प्रेम न था। श्रीकौसल्याजीने कहा भी है—*'सुनहु राम मेरे प्रान पियारे। बारौं सत्य बचन श्रुति संमत जाते हौं बिछुरत चरन तिहारे॥ १॥ बिनु प्रयास सब साधन को फल प्रभु पायो सो तो नाहिं सँभारे। हरि तजि धरमसील भयो चाहत नृपति नारि बस सरबस हारे॥ २॥ रुचिर काँच मनि देखि मूढ़ ज्यों करतल तें चिंतामनि डारे। मुनि लोचन चकोर ससि राघव सिव जीवन धन सोउ न बिचारे॥ जद्यपि नाथ तात! माया बस सुख निधान सुत तुम्हहिं बिसारे।'* (गी० २। २) इसका निराकरण *'तनु परिहरि प्रेम निबाहा'* कहकर किया।

कहत राम गुन सील सुभाऊ। सजल नयन पुलकेउ मुनिराऊ॥ ७॥
बहुरि लषन सिय प्रीति बखानी। सोक सनेह मगन मुनि ग्यानी॥ ८॥

दो०—सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनि नाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥ १७१॥

अस बिचारि केहि देइअ दोसू। ब्यरथ काहि पर कीजिअ रोसू॥ १॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके गुण, शील और स्वभावको कहते-कहते मुनिराज वसिष्ठजीके नेत्रोंमें जल भर

आया और शरीर रोमांचित हो गया॥ ७॥ फिर लक्ष्मणजी और सीताजीकी प्रीति बखान (प्रशंसा और विस्तारसहित वर्णन) करते हुए ज्ञानी मुनि शोक और स्नेहमें डूब गये॥ ८॥ मुनिनाथ वसिष्ठजीने 'विलखकर' कहा—भरत! सुनो। भावी (होनहार, हरि-इच्छा) बड़ी बलवान् है, हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, सब विधिके हाथ है॥ १७१॥[1] ऐसा विचारकर किसे दोष दिया जाय और व्यर्थ किसपर क्रोध किया जाय॥ १॥[2]

नोट—१ *'कहत राम गुन सील सुभाऊ।……'* इति। परम प्रसन्नतापूर्वक पितु-आयसुपालन करना आदि गुण, यथा—*'सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु चरन अनुरागी॥'* शील कि कैकेयीके परम निष्ठुर निश्शील कठोर वचनोंको सुनकर भी उनको कुछ न कहा, वरन् उलटे *'राम जननि सिख सुनि सुख पावा';* स्वभाव यह सब है ही।' पुनः, *'सबकर सब बिधि करि परितोषू।……' 'तिलक को बोल्यो दियो बन चौगुनो चित चाउ। हृदय दाडिम ज्यों न बिदर्‌यो समुझि सील सुभाउ॥'* (गी० २। ५७) *'कह्यो राज बन दियो नारि बस गरि गलानि गयउ राउ। ता कुमातु को मन जुगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ॥'* (वि० १००) आदि सब शील स्वभाव है। (रा० प्र०, पं०)

नोट—२ *'बहुरि लषन सिय प्रीति बखानी।……'* इति। (क) पहले श्रीसीताजी साथ हुईं तब लक्ष्मणजी। उनकी प्रीति भी इसी क्रमसे कहनी चाहिये थी, पर प्रथम लक्ष्मणजीकी प्रीति कही। क्रमके विपर्ययका कारण *'सोक सनेह मगन मुनि ग्यानी'* है। पुनः, दूसरा भाव कि यहाँ यह क्रम देकर अन्य रामायणोंके मतकी भी रक्षा की। वाल्मीकीयमें लक्ष्मणजीका प्रथम ही कौसल्याजीके यहाँ साथ जाना वर्णित है, उससे भी उनका रामप्रेम प्रकट ही है। (ख) *'सोक सनेह मगन मुनि ग्यानी'* इति। यहाँ श्रीलक्ष्मण-जानकीजीके प्रीतिका प्राबल्य दिखाया है कि मुनि ज्ञानी हैं, ज्ञानियोंको शोक और स्नेह कैसा? पर योग-वसिष्ठके कर्ता भी शोक और स्नेहमें डूब गये। यह उनके स्नेहकी महिमा है। यहाँ यह भी दिखाया कि *'तेहि कि मोह ममता नियराई। यह सिय राम सनेह बड़ाई॥ सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू।'* (२७७। ५)

'बिलखि कहेउ मुनिनाथ…बिधि हाथ'

पाँ०—*'बिलखि'* के दो अर्थ होते हैं। एक अर्थ है—'उदास होकर, दुःखी होकर'। दुःखी होकर कहा, क्योंकि उनकी कुछ चली नहीं, दूसरे वे शोक और 'स्नेहमें मग्न हैं'। दूसरा अर्थ यहाँ यह भी है कि 'विशेष लखकर' कहा। मुनिने सोचा कि कदाचित् भरत कहें कि आप ऐसे मुनिश्रेष्ठके रहते हुए भी ऐसा अनर्थ हो गया, (चित्रकूटमें कहा है—*'सो गोसाइँ बिधि गति जेहिं छेंकी');* अतएव उसकी रोकके लिये वे पहलेसे ही अपनी असमर्थता और भावीकी प्रबलता जनाये देते हैं। *'मुनिनाथ'* शब्द देकर जनाया कि यह बात उन्होंने मनन करके विचारपूर्वक कही।

दीनजी दूसरा अर्थ ठीक मानते हैं। वे लिखते हैं कि इस शब्दका अर्थ 'व्याकुल होकर' न होना चाहिये, क्योंकि वसिष्ठजी व्याकुल होते तो ऐसे विवेकपूर्ण वचन न कह सकते। विलखि=वि+लक्ष्य=विशेष लक्ष्य करके, विवेकपूर्वक।

बाबा हरिहरप्रसादजी और-और भी अनेक महानुभावोंने 'दुःखी होकर' ऐसा अर्थ किया है। पंजाबीजी और पं० रामकुमारजी आदिने दोनों अर्थ दिये हैं।

गौड़जीका मत है कि *'बिलखि'* का अर्थ 'दुःखी होकर' ही प्रसंगानुसार अधिक उपयुक्त है और साधारण रूढ़ि भी इसी अर्थकी पोषक है। विधाताके पुत्र वसिष्ठजीकी भी एक न चली, वह भी न सँभाल सके, इसके लिये इस प्रसंगपर वह *'बिलख'* कर कहते हैं। 'विलक्ष्य' अर्थ करना विलक्षण अर्थ है।

नोट-२ मुं० रोशनलाल—यहाँ भावीको प्रबल कहकर उत्तरार्धमें उसकी प्रबलता कहते हैं कि भावी हानि-

---

१-अर्थान्तर—'प्रारब्धके प्रबल होनेसे हानि-लाभ ब्रह्माके अधीन रहती है।' (न० प०)

२-यथा—'सुखं च दुःखं च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवनं च। पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति तस्माद्धीरो नैव तुष्येच्च शोचेत्॥' (महाभारत) अर्थात् सुख-दुःख आदि सब क्रमसे प्राप्त होते हैं, पण्डितको इनसे न तो प्रसन्न होना और न इनका सोच करना चाहिये। (अज्ञात)

लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश विधि अपने हाथमें रखती है। भावी हरि-इच्छा है। भावीको ब्रह्मा भी नहीं जानते; जानते तो अपना पाँचवाँ सिर क्यों कटा बैठते। (पु० रा० कु०) विधिका अर्थ ब्रह्मा हो सकता है परन्तु पहले भावीकी प्रबलता कही है, उसे छोड़कर ब्रह्माका कहना अर्थको शिथिल करता है। और यदि कहो कि जो ब्रह्मा वही भावी है तो फिर भावीको ही क्यों नहीं प्रधान करते? ब्रह्माके कहनेका क्या प्रयोजन?

नोट—३ *'हानि लाभु जीवनु·······'* अर्थात् दैव ही बलवान् है। 'भावी' पर विशेष *'हरि इच्छा भावी बलवाना।'* (१। ५६। ६-८) और *'जेहि जस रघुपति करहिं जब·······।'* (१। १२४) में देखिये। यहाँ 'प्रबल' विशेषण देनेमें भाव यह है कि इस भावीमें हरि-इच्छा सम्मिलित है, इससे यह प्रबल हो गयी; यथा—*'हरि इच्छा भावी बलवाना।'*

☞ यहाँ मुनिने जो छः बातें कहीं—हानि-लाभ इत्यादि वे सब इस प्रसंगमें इसी कथामें घटित होती हैं। हानि अवधवासियोंकी, लाभ देवताओं और वनवासी मुनि आदिका, यथा—*'एक कहहिं भूपति भल कीन्हा। लोयन लाहु हमहि जेहि दीन्हा॥'* जीवन सुग्रीव और विभीषण आदिका, मरण रावण आदिका, यश भरत-लक्ष्मण आदिका और अपयश कैकेयी-मन्थराका। इस कथनका भाव यह है कि हमने खूब अच्छी तरह विचारकर देख लिया कि ये अवश्यमेव होंगी, इससे कुछ कर न सके।

श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि 'यद्यपि यहाँ लक्ष्य केवल श्रीरामवनगमनरूपी हानि, दशरथ-मरण और कैकेयी-अपयश—इन तीन बातोंपर है तथापि हानिके साथ लाभ, मरणके साथ जीवन और अपयशके साथ यश भी लगाकर कहा गया है। कारण कि इन शब्दोंका जोड़ा होता है। ये द्वन्द्व कहलाते हैं। यदि एक भी कहना होता तो दोनों उच्चारण किये जाते हैं। इसीसे हानि-लाभ इत्यादि कहा गया।

नोट—४ *'अस बिचारि केहि देइअ दोसु।·······'* यथा—*'दोष देहिं जननी जड़ तेई। जिन्ह गुरु साधु सभा नहिं सेई॥'* (२६३। ८) यदि भरत कहें कि हमने दोष देना और क्रोध करना छोड़ा पर पिताका शोक तो हृदयसे नहीं जाता, उसपर आगे कहते हैं—*'सोच जोग·······'*। (रा० प्र०)

तात बिचारु करहु मन माहीं। सोचु जोगु दसरथु नृपु नाहीं॥ २॥
सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लयलीना॥ ३॥
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥ ४॥
सोचिअ बयसु कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू॥ ५॥
सोचिअ सूद्र बिप्र अवमानी। मुखरु मानप्रिय ग्यान गुमानी॥ ६॥
सोचिअ पुनि पति बंचक नारी। कुटिल कलह प्रिय इच्छाचारी॥ ७॥

शब्दार्थ—'**सोचिअ**'=शोक या चिन्ता करने योग्य हैं। '**लयलीना**'=अनुरक्त, मग्न, तत्पर।=प्रेममें रँगा हुआ। '**बयसु**'=वैश्य, बनिया। '**अवमानी**'=अपमान, अनादर या तिरस्कार करनेवाला। '**मुखरु**'=कटुभाषी, अप्रिय बोलनेवाला, बहुत बकवाद करनेवाला। '**अतिथि**'=आतिथ्य-पूजा-सत्कार, अभ्यागतका सत्कार। '**गुमानी**'=घमंडी, अहंकारी, मगरूर। '**बंचक**=छल करनेवाली, ठगनेवाली। '**कलह प्रिय**'=झगड़ालू, लड़ाका। '**इच्छाचारी**'=अपनी इच्छाके अनुसार चलनेवाली, स्वतन्त्र।

अर्थ—हे तात! मनमें विचार करो (तो) राजा दशरथ शोच करने योग्य नहीं हैं॥ २॥ वह ब्राह्मण सोचने योग्य है जो वेद न जानता हो, जो अपना धर्म छोड़कर विषयोंमें लयलीन हो (भोगविलासमें आसक्त हो)॥ ३॥ शोच करना चाहिये उस राजाके लिये जो नीति न जानता हो और जिसको प्रजा प्राणके समान प्यारी न हो॥ ४॥ उस वैश्यका शोच करना चाहिये जो धनवान् होकर भी कंजूस हो और जो अतिथि-सत्कार और शिवभक्तिमें कुशल वा चतुर न हो॥ ५॥ ब्राह्मणका अपमान करनेवाला, बकवादी,प्रतिष्ठा, मान वा बड़ाईका चाहनेवाला और अपने ज्ञानका गुमान करनेवाला शूद्र सोचने योग्य है॥ ६॥ पुनः पतिसे छल करनेवाली, कुटिला, झगड़ालू और अपनी इच्छापर चलनेवाली स्त्रीके लिये शोच करना चाहिये॥ ७॥

नोट—१ (क) वसिष्ठजी दो पक्ष उठा रहे हैं। एक शोचनीय दूसरा अशोचनीय। शोचनीयका कथन करनेसे अशोचनीय आप ही अलग हो गये। (रा० प्र०) मुख्य प्रयोजन तो ***'सोचु जोगु दसरथ नृप नाहीं'*** इसीसे है, पर इसके साथ चारों वर्णों, आश्रमों और स्त्रियों सभीके धर्म कहे। इससे, कविकी लोकसंग्रह वा लोकशिक्षापर कैसी दृष्टि है, यह सूचित हो रहा है। अर्धाली ३ से ६ तक चारों वर्णोंके धर्म कहे। फिर अर्धाली ७ में चारों वर्णोंकी स्त्रियोंका धर्म कहा। सब वर्णोंकी स्त्रियोंके लिये एक ही धर्म है; अतः उन सबको एक ही अर्धालीमें कहा। अर्धाली ८ में ब्रह्मचर्य, दोहेमें गृहस्थ और संन्यास, फिर उसके बादकी एक अर्धालीमें वानप्रस्थ आश्रमके धर्म दिखाये। तत्पश्चात् सभीके धर्म एक साथ कहे गये, जो सभी वर्णाश्रमोंके लिये योग्य नहीं।

(ख) भगवद्गीतामें भगवान्ने **'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्'** कहकर अर्जुनको फटकारा कि तुम अशोच्यको सोचते हो, पर यह नहीं बतलाया कि आखिर शोच्य कौन है और न इस बातको किसी भाष्यकारने ही स्पष्ट रीतिसे दिखलाया है। श्रीरामचरितमानसमें यहाँपर शोच्योंकी तालिका प्रस्तुत कर दी गयी है! यहाँ स्पष्ट बतला दिया गया कि बारह लोग शोचनीय हैं, और इसी व्याजसे वर्णाश्रम-धर्मका संक्षिप्त तथा मार्मिक विवेचन किया गया है। (वि० त्रि०)

नोट— २ ***'सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना'''''' '*** इति। वेदाभ्याससे विशेष हीन हैं, अर्थात् गायत्री नहीं जानते, वेदकी एक ऋचा भी नहीं जानते। यह ब्राह्मणोंको उपदेश है। वेद-विहीन होनेसे न स्वयं धर्म कर सके, न दूसरोंको उपदेश दे सके।

नोट—३ ***'सोचिअ नृपति जो नीति न जाना'''''' '*** इति। (क) यह राजनीति है। राजाको नीतिमें निपुण होना चाहिये; क्योंकि ***'राज कि रहइ नीति बिनु जाने।'*** (७। ११२। ६) और प्रजा प्राणोंके समान प्यारी होनी चाहिये, क्योंकि प्रजाके दुःखी होनेसे राजा नरकगामी होता है, यथा—***'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥'*** (७१। ६) यह दोनों बातें महाराजमें थीं। अतएव वे सोच करने योग्य नहीं। यह कलिके, विशेषतः अपने समयके, राजाओंके लिये शिक्षा है कि जो प्रजाको भेड़-बकरी-सा जानते हैं, उनके खूनके प्यासे रहते हैं। दिन-दिन नया कर लगाते जाते हैं और प्रजाके प्राण और धनादिकी रक्षा भी नहीं करते। (ख) यहाँ व्यापक शब्द **'क्षत्रिय'** न देकर राजधर्म कहनेका कारण यह है कि यहाँ राजाके शोचसे भरतजीको निवृत्त करना है। दूसरे, राजा, नरेश, नृप क्षत्रियका वाचक भी होता है। ***'ते नरेस बिनु पावक दहहीं।'*** (१२६। ३) में देखिये, श्रीरामजी राजा नहीं हैं, फिर भी उन्होंने अपने लिये **'नरेश'** शब्द दिया है।

नोट—४ ***'सोचिअ बयसु'''''' '*** (क) मनुस्मृतिमें शिवभक्त होना यह लक्षण नहीं पाया जाता। लोकसंग्रहार्थ लिखा होगा। ***'पूजि पारथिव नायउ माथा।'*** (१०३। १) देखिये। (ख) शिवभक्तिसे धनकी वृद्धि होती रहेगी, यथा—***'काहे को अनेक देव सेवत जागै मसान खोवत अपान सठ होत हठि प्रेत रे। काहे को उपाय कोटि करत मरत धाय जाचत नरेस देस देस के अचेत रे॥ तुलसी प्रतीति बिनु त्यागै तैं प्रयाग तनु, धन ही के हेत दान देत कुरुखेत रे। पात द्वै धतूरे के दै भोरें कै भवेस सों सुरेस हू की संपदा सुभाय सों न लेत रे॥'*** (क० ७।१६२) उससे अतिथि-सेवा होगी। धनवान् होकर अतिथि-सेवा न करनेसे धनको अग्नि, नृप या चोर ले लेते हैं, यथा—***'लक्ष्मीके सुत चार हैं धर्म अग्नि नृप चोर। जेठेके अपमान ते तीनि करैं घर फोर॥'*** (अज्ञात)

नोट—५ ***'सोचिअ सूद्र बिप्र अवमानी'*** यथा—***'बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कछु घाटि॥'*** (७। ९९) ***'ज्ञानगुमानी',*** यथा—***'जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाँटि॥'*** (७। ९९) ***'मान प्रिय'*** यह कि हमारी प्रतिष्ठा हो, हमें लोग पूजें, ब्राह्मणों, क्षत्रियों आदिमें हमें लोग श्रेष्ठ मानें।

नोट—६ चारों वर्णोंके धर्म मनुस्मृतिमें यों कहे हैं—**'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।'** (२। १६८) **'ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधिः। सर्वस्यास्य यथा**

न्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम्।' (७।२) **'धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम्। दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः॥** (९।३३३) **'अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥' 'प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥' 'पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥' 'एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥'** (१। ८८—९१) अर्थात् जो द्विज वेद नहीं पढ़ता और अन्य विषयोंमें परिश्रम करता है वह जीते ही शूद्रत्वको प्राप्त होता है॥ (१६८) विधिपूर्वक संस्कार होनेपर क्षत्रियको न्यायके अनुसार प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये, वैश्य धर्मसे धन कमानेमें तत्पर रहे और सबको अन्न देवे। पुन:, ब्राह्मण-धर्म है—अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना-कराना, दान देना और लेना॥ (८८) क्षत्रियका धर्म है—प्रजाकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, विषयासक्त न होना॥ (२) इत्यादि। श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अ० १७ में भी वर्णाश्रमके धर्मोंका वर्णन है। प० पु०, स्वर्गखण्ड अ० ५२। ५३ में ब्राह्मण-धर्म देखिये।

नोट—७ ***'सोचिअ पुनि पति बंचक नारी।'.......'*** इति। (क) जैसे वर्णधर्म, आश्रमधर्म वैसे ही स्त्री (पातिव्रत्य) धर्म है। वर्ण-धर्मके बाद आश्रमधर्म न कहकर स्त्रीधर्म कहा गया। शूद्रके साहचर्यसे स्त्रियाँ शूद्र-तुल्य मानी जाती थीं, चाहे वह ब्राह्मणकी ही स्त्री क्यों न हो, यथा—***'सहज अपावन नारि पति सेवत सुभ गति लहइ'*** ये महातपस्विनी सती-शिरोमणि श्रीअनुसूयाजीके वचन महारानी श्रीसीताजीके प्रति हैं। पार्वतीजी अपने लिये कहती हैं—***'जदपि जोषिता अन अधिकारी।'*** शबरीजी कहती हैं—***'अधम तें अधम अधम अति नारी।'*** इनको धर्मकी शिक्षा दी कि पतिसे छल न करें, कुटिलता और कलह न करें और पतिकी आज्ञामें रहें। (पु० रामकुमारजी)

(ख) अथवा, सभी वर्णोंकी स्त्रियोंका धर्म एक है इससे वर्णधर्मके समीप ही स्त्री-धर्म कहे। (रा० प्र०, शीला०)

नोट—८-श्रीबैजनाथजीका मत है कि यहाँ पतिवंचक, कुटिल, कलहप्रिय और इच्छाचारी—ये चार विशेषण जो दिये गये वे क्रमसे उपर्युक्त चार वर्णोंकी स्त्रियोंके लिये पृथक्-पृथक् कहे गये हैं। ब्राह्मणी पतिवंचक, क्षत्रियाणी कुटिल, वैश्यकी स्त्री कलहप्रिय और शूद्रा इच्छाचारिणी। पर यह भाव ग्रन्थकारके दिये हुए मतके अनुकूल नहीं जान पड़ता।

सोचिअ बटु निज ब्रत परिहरई। जो नहि गुर आयसु अनुसरई॥ ८॥

दो०—सोचिअ गृही जो मोह बस करिअ करम पथ त्याग।
सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग॥ १७२॥

बैखानस सोइ* सोचै जोगू। तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू॥ १॥
सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी। जननि जनक गुर बंधु बिरोधी॥ २॥
सब बिधि सोचिअ पर अपकारी। निज तनु पोषक निरदय भारी॥ ३॥
सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाड़ि छल हरिजन होई॥ ४॥

शब्दार्थ—**बटु**=ब्रह्मचारी। '**अनुसरई**'=अनुसरण करता, अनुकूल आचरण करता है। '**करम पथ**'=कर्मकाण्ड। '**गृही**'=गृहस्थ। '**अपकारी**'=विरोधी, अनिष्टसाधक, बुराई करनेवाला। '**बैखानस**'=वानप्रस्थ।

अर्थ—उस ब्रह्मचारीका शोच करना चाहिये जो अपने व्रतको छोड़ देता है और जो गुरुकी आज्ञापर नहीं चलता॥ ८॥ उस गृहस्थका शोच करना चाहिये जो मोहवश कर्ममार्गको छोड़ देता है। मायामें लिप्त ज्ञान-वैराग्य-विहीन संन्यासीका शोच करना चाहिये॥ १७२॥ तपस्या छोड़कर जिसे विषय-भोग-विलास अच्छा

* 'सोचइ'—(रा० प्र०, भागवतदास)। 'सोचन'—(पं० रा० गु० द्वि०, ला० सीताराम) गी० प्रे० में 'सोचै' पाठ है। अत: इसे राजापुरका समझकर इस संस्करणमें रखा है।

लगे वह वानप्रस्थ सोचने योग्य है॥ १॥ शोच करना चाहिये चुगलखोर, बिना कारण ही क्रोध करनेवाले और माता, पिता, गुरु और भाई-बन्धुसे विरोध करनेवालेका॥ २॥ दूसरेको हानि पहुँचानेवाला, अपने ही शरीरका पालन-पोषण करनेवाला अर्थात् अपना ही पेट भरनेवाला और बड़ा कठोर हृदयवाला सब प्रकार सोचने योग्य है॥ ३॥ और वह तो सभी प्रकारसे सोच करने योग्य है जो छल छोड़कर हरिभक्त नहीं होता॥ ४॥

नोट—१ वर्ण और स्त्री-धर्म कहकर अब आश्रम-धर्म कहते हैं। सबसे पहले ब्रह्मचर्य है, फिर गार्हस्थ्य, इसके बाद वानप्रस्थ और अन्तमें संन्यास-आश्रम है। यहाँ ब्रह्मचारी और गृहस्थको कहकर वैखानसको न कहकर पहले यतीको कहा है। यह क्रमभंग भी साभिप्राय है। आगे इसके विषयमें लिखा गया है।

नोट-२—***'बटु निज ब्रतु परिहरई'...... ।'*** इति। प्राचीन कालमें उपनयन-संस्कारके उपरान्त बालक ब्रह्मचर्य-आश्रममें प्रवेश करता था और गुरुके यहाँ रहकर वेदशास्त्रका अध्ययन करता था। ब्रह्मचारीके लिये मद्य-मांस-ग्रहण, गन्धद्रव्य-सेवन, स्वादिष्ट और मधुर भोजन, स्त्रीप्रसंग,नृत्यगीतादिका अवलोकन-श्रवण इत्यादि सब प्रकारके व्यसन निषिद्ध थे। अच्छे पवित्र गृहस्थके यहाँसे भिक्षा लेना और आचार्यके लिये आवश्यक वस्तुओंका जुटाना, प्रात:सायं होम करना, भिक्षा-समय छोड़ सदा आचार्यकी आँखके सामने रहना उसका कर्तव्य था।—(श० सा०) विशेष प० पु०, स्वर्ग० अ० ५१ से ५३ तक देखिये।

नोट-३—***'सोचिअ गृही जो मोह बस'......'*** इति। (क) गृहस्थका धर्म है पंचमहायज्ञ करना—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और अतिथिसत्कार, मनुष्ययज्ञ। यही कर्मपथका तात्पर्य है—(शीला) ***'मोह बस'*** से जनाया कि नित्य, नैमित्तिक महायज्ञादि कर्मोंका संन्यास वा त्याग नहीं बन सकता। ऐसा त्याग अज्ञानमय है। जीवन-निर्वाहकी भी सफलता कर्मोंके बिना नहीं हो सकती। मनुष्यपर देव, पितृ और ऋषि तीनके ऋण हैं। शास्त्र-विहित कर्मोंद्वारा इन ऋणोंसे मुक्त होना चाहिये। यज्ञसे बचे हुए अन्नके द्वारा किया हुआ जीवन-निर्वाह यथार्थ ज्ञानका उत्पादक होता है। यज्ञरहित पापरूप अन्नसे पोषण किया हुआ मन तो विपरीत ज्ञानका उत्पादक हो जाता है। आहारकी शुद्धिसे अन्त:करणकी शुद्धि होकर स्मृति स्थिर होती है, उससे सब बन्धनोंसे छुटकारा मिलता है अत: महायज्ञादि कर्म आजीवन कर्तव्य हैं। इन कर्मोंको बन्धनकारक समझकर छोड़ देना मोह है, अज्ञान है। और अज्ञान तमोमूलक है। अत: ऐसा त्याग तामसी कहा गया है। यथा—'**नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥**' (गीता १८। ७)

नोट-४—***'सोचिअ जती प्रपंच रत'......'*** इति। (क) संन्यासियोंके लिये शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके विधान हैं जिनमेंसे बहुत-से 'विवेक' और 'वैराग्य' शब्दोंमें पूज्य कविने सूचित कर दिये। वनमें रहना, सदा विचरते रहना, कौपीन, दण्ड, कमण्डलु ही अपने पास रखना, भिक्षाद्वारा जीवन-निर्वाह करना और सदुपदेश देना इत्यादि। 'यती' का अर्थ है—इन्द्रियनिग्रहद्वारा ईश्वरप्राप्तिका यत्न करनेवाला। ऐसा न करके प्रपंच (अर्थात् लोकव्यवहार पंचविषयों) में लग जाय, यथा—***'बहु दाम सँवारहिं धाम जती। बिषया हरि लीन्हि न रहि बिरती॥'*** (७। १०१) तो वह शोचनीय है।

☞ नारदपरिव्राजकोपनिषद् पंचम उपदेशमें संन्यासियोंके धर्मादिका वर्णन मिलता है। उसमें बताया है कि जिसने काष्ठका दण्ड धारण करके भी मनमें सम्पूर्ण कामनाओंको स्थान दे रखा है और ज्ञानसे सर्वथा शून्य है वह संन्यासी महारौरवादि नरकोंमें पड़ता है। यथा—'**काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः। स याति नरकान्घोरान्महारौरवसंज्ञितान्॥**' (प० पु०, स्वर्ग० अ० ५९, ६०। २) में विस्तृत वर्णन है।

नोट-५—गृहीके बाद वानप्रस्थको न कहकर यतीके धर्म कहे—पंजाबीजी एवं रा० प्र० का मत है कि छन्द-निमित्त क्रमभंग हुआ। अत: दोष नहीं है। अर्थ करनेमें क्रमसे पाठका अन्वय कर लें, क्योंकि नियम है कि पाठसे अर्थक्रम बली है।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि—(१) कविकी दृष्टि क्रमपर नहीं है। उन्होंने चारों वर्णोंके धर्म कहे, अब चारों आश्रमोंके धर्म कह रहे हैं। इतनेसे ही काम है। दूसरे, गृहीके आश्रित तीनों ही हैं। तीनों ही प्रधान हैं, अतएव यतीको ही साथ लिख दिया, क्रमका विचार नहीं किया।

पं० रामकुमारजी—(२) मुख्य आश्रम दो ही हैं—गार्हस्थ्य और संन्यास। अन्य दो आश्रम इन्हीं दो आश्रमोंके साधक या पोषक हैं। वीर्यसंचयसे सन्तानकी प्राप्ति और विद्यासे धनका संचय होगा, जो दोनों गृहस्थके लिये आवश्यक हैं। इसी प्रकार वानप्रस्थसे संन्यासके योग्य होता है। गृह-सेवनसे शरीर पुष्ट हुआ है और इन्द्रिय प्रबल हुई है,जब वानप्रस्थ करेगा तब ये दोनों शान्त होंगे, तब संन्यास-आश्रमके योग्य होगा। अतएव दोनोंको मिलानेके लिये क्रमभंग किया। जैसे, नामकरण-संस्कारमें चारों भाइयोंकी जोड़ी मिलानेके लिये भरत-शत्रुघ्नको बीचमें रखा और आदि-अन्तमें राम-लक्ष्मणको।

किसीका मत है कि दोनोंका कर्म एक है, अत: साथ रखा। एकको कर्मत्याग निषिद्ध है, सो वह कर्मको छोड़ बैठता है कि जिसमें आगेका अधिकारी बनता। और दूसरेको कर्मत्याग चाहिये सो गृही बना है।

प० प० प्र०—स्वामीजी लिखते हैं कि गृहस्थ और संन्यासीको साथ रखनेमें अभिप्राय यह है कि गृहस्थ रहकर भी जो मोहवश कर्मपथका त्याग करता है वह गृही शोचनीय है; इससे भी अधिक वह शोचनीय है जो परमार्थसाधक संन्यासी होकर, विधिपूर्वक कर्मपथका त्याग करके भी फिर प्रपंचरत होता है; क्योंकि उसका यह व्यवहार वमनको खानेवाले कुत्तेके समान है। नारदपरिव्राजकोपनिषद्‌में भी इन दोनोंका वर्णन एक ही श्लोकमें आया है। यथा—'**द्वाविमौ न विरज्येते विपरीतेन कर्मणा। निरारम्भो गृहस्थश्च कार्यवांश्चैव भिक्षुकः॥**' (६। ३०) अर्थात् कर्म न करनेवाला गृहस्थ और कर्मपरायण भिक्षु (यती)—ये दोनों आश्रमोंके विपरीत व्यवहार करनेके कारण कभी शोभा नहीं पाते। मानसका यह दोहा मानो इस श्रुतिका अनुवाद ही है। जैसे श्रुतिमें दोनोंका अशोभित होना एक साथ कहा वैसे ही दोहेमें एक साथ कहा। यतीके पश्चात् वानप्रस्थका उल्लेख करनेमें यह भी भाव है कि ऐसे यतीसे अपना धर्म पालन करनेवाला वानप्रस्थ श्रेष्ठ है।

नोट—६ ***'बैखानस सोइ सोचै जोगू।'''''''*** इति। इस आश्रमवालेको बस्तीसे अलग वनमें रहना और वहींके फल खाना और उन्हींसे पंचयज्ञ करना चाहिये। शय्या, वाहन, वस्त्र, पलंग आदि सब त्याग देना चाहिये। जब इस आश्रममें रहकर मनुष्य पूर्ण वैराग्यसम्पन्न हो जाय तब उसे संन्यास लेना चाहिये। (श० सा०) प० पु०, स्वर्ग० अ० ५८ में वानप्रस्थके धर्म विस्तारसे कहे हैं।

नोट—७ प्रथम संस्करणमें हमने श्रीवन्दन पाठकजीकी हस्तलिखित पोथीसे ब्रह्मचारी आदिके सम्बन्धके श्लोक दिये थे। उनका पता उन्होंने बहुत अशुद्ध दिया था। उनमेंसे हमें बहुत-से मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृतिमें मिले। केवल दो-तीनका पता नहीं चला। अत: यहाँ वे अर्थसहित दिये जाते हैं—

यथा—'**मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाचलः। स ज्ञेयस्तं विदित्वेह पुनराजायते न तु॥**' (याज्ञवल्क्य० ३। १०९) '**अनन्यविषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम्। ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः॥**' (३। १११) '**यथाविधानेन पठन्सामगायमविच्युतम्। सावधानस्तदभ्यासात्परं ब्रह्माधिगच्छति॥**' (३। ११२) '**अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥**' (मनु० १०। ६३) '**यामाश्रित्येन्द्रियारातीन् दुर्जयानितराश्रमैः। वयं जयेम हेलाभिर्दस्यून्दुर्गपतिर्यथा॥**' (भा० ३। १४। १९) '**यतीनां प्रशमो धर्मः नियमो वनवासिनाम्। दानमेकं गृहस्थानां शुश्रूषा ब्रह्मचारिणाम्॥**' अर्थात् पूर्वोक्त नाड़ियोंके बीचमें जो चन्द्रसमान प्रकाशमान मण्डल है उसमें दीपवत् अचल आत्मा विराजमान है, उसको जानना चाहिये जिससे आवागमन छूट जाता है॥ (१०९) मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर दीप्तवत् प्रकाशमान आत्माका ध्यान करना चाहिये॥ (१११) शास्त्रप्रतिपादित शुद्धरीतिसे सावधानपूर्वक सामवेदका पाठ करनेसे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है॥ (११२) (यह ब्रह्मचारियोंके धर्म हैं।) अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, शौच, इन्द्रियनिग्रह—ये चारों वर्णोंके सर्वसाधारण धर्म हैं॥ १०। ६३॥ (गृहस्थधर्म प्रशंसनीय है क्योंकि) जैसे किलेका आश्रय लेकर राजा अपने शत्रुओं, चोरोंको सहज ही जीत लेता है वैसे ही हमलोग अन्य आश्रमोंमें (स्त्री आदि गृहस्थके आश्रयसे) दुर्जय इन्द्रियरूपी शत्रुको जीत लेते हैं। (भा० ३। १४। १९) मन और इन्द्रियोंको शान्त करना संन्यासियोंका धर्म है। नियममें रहना वानप्रस्थोंका धर्म है। दान देना गृहस्थोंका धर्म है और

गुरुसेवा करना ब्रह्मचारियोंका धर्म है। (अज्ञात) पुनश्च, **'चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा। कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च॥'** अर्थात् गुरुने आज्ञा दी हो या न, वह नित्यप्रति वेदाध्ययन करे और गुरुके हितमें तत्पर रहे। (मनु० अ० २। १९१) ***'सोचिअ बटु निज ब्रत……।'*** (१७२। ८) में दिये हुए उपदेशसे यह श्लोक मिलता हुआ है। और धर्म ये हैं—**'कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा। सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं तदुच्यते॥'** (अज्ञात) तथा **'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥'** (मनु० अ० ३। ७०) अर्थात् कर्म-मन-वचनसे सदा अष्टमैथुनका त्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है। अध्ययन और अध्यापनको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। तर्पणको पितृयज्ञ, होमको देवयज्ञ, बलिदानको भूतयज्ञ और अतिथिपूजनको मनुष्ययज्ञ कहते हैं॥ (७०)

नोट—८ ***'सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी।……'*** इति। (क)ये सब घोर पाप हैं, नरकमें डालनेवाले हैं, यथा—***'अघ कि पिसुनता सम कछु आना।'*** (७। ११२।१०) क्रोध कारण पाकर तो मुनियोंको भी हो जाता है, इसीसे ***'अकारन क्रोधी'*** कहा, यथा—***'सुनु प्रभु बचन अवज्ञा किए। उपज क्रोध ज्ञानिहुके हिए॥'*** (७। १११। १५) ***'क्रोध पापकर मूल'*** है, ***'जेहि बस जन अनुचित करहिं चरहिं बिस्व प्रतिकूल।'*** ***'परद्रोही कि होइ निसंका'*** यह नियम है,तो फिर जिन्होंने जन्म दिया, भगवत्पथ दर्शाया, उनके द्रोहका फल क्या कहा जा सके। ये नरकगामी होते हैं यथा—**'अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्। नीचप्रसंगः कुलहीनसेवा चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम्॥'** (चाणक्य० ७।१६) अर्थात् अत्यन्त क्रोध, कटु भाषण, निर्धनता, स्वजनोंसे वैर, नीचोंसे संगति, कुलहीनकी सेवा—ये जिस मनुष्यमें हों, उसे समझना चाहिये कि यह पूर्वजन्ममें नरकमें था। भाव यह कि फिर नरकमें जायगा, अतः शोचनीय है। तथा **'अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः।'** (मनु० २। २३४) अर्थात् जो इनका (माता-पिता-गुरुका) अनादर करते हैं उनके सभी धर्म-कर्म निष्फल हो जाते हैं। (ख) अकारण क्रोधी है इससे माता-पिता-गुरुका द्रोही है अथवा,ये सब पूज्य हैं इनके समीप जाते ही क्रोध शान्त हो जाता है पर वह इनसे द्रोह करता है। क्रोध शान्त न होनेका कारण ***'अकारन क्रोधी'*** है। कारण क्रोधीका क्रोध शान्त हो जाता है, अकारणका नहीं। (पु० रा० कु०)

नोट—९ कुछ लोग परशुरामजीका उदाहरण देते हैं कि वे भी तो ***'अकारन क्रोधी'*** थे। परन्तु वे अवतार हैं, उनका अवतार जिस कार्यके लिये हुआ उसके योग्य क्रोध भी था। ईश्वर या देवता जो करें वह सब हमारा करणीय नहीं है यथा—**'यत्कृतं जामदग्न्येन पितुरादेशवर्त्तिनाम्। तदन्येन न कर्तव्यं न देवचरितं चरेत्॥'**; **'ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।'** (भागवत १०। ३३। ३२) अर्थात् पिताकी आज्ञासे परशुरामजीने मातृवधादि किये, पर औरोंको ऐसा न करना चाहिये। बड़ोंका आचरण सर्वसाधारण लोग न करें। (अज्ञात); ईश्वरों-(समर्थों-) का उपदेश सत्य मानकर वैसा आचरण करे, परन्तु उनके सब आचरण सर्वसाधारणको नहीं करने चाहिये। विशेष ***'समरथ कहँ नहिं दोषु……।'*** (१।६९) में देखिये।

टिप्पणी—१ ***'सब बिधि सोचिअ पर अपकारी।……'*** इति। यह केवल हिंसक मनुष्यों और मांसाहारियोंके लिये कहा है। अपने तनके सुखसे इन्हें मतलब है। यथा—**'यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम्।'** (भा० ३। १४। २७) अर्थात् जो वस्त्रमाला, आभूषण और अनुलेपन आदिसे कुत्तोंके भक्ष्यरूप इस शरीरको ही आत्मा मानकर उसका लालन-पालन करते हैं। पुनश्च यथा—**'पुत्रैर्दारैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः। स एको मृष्टमश्नातु……॥'** (वाल्मी० २। ७५। ३४) यह भरतजीकी शपथोंमेंसे एक है कि जो पुत्र स्त्री-सेवक आदिके घरमें वर्तमान रहते हुए भी स्वयं अकेला उत्तम भोजन करे उसको जो पाप होता है वह मुझे लगे। इससे जनाया कि वह शोचनीय है। (म० भा०, शान्तिपर्वमें पराशरजीने भी शोचनीयोंके कुछ नाम गिनाये हैं।)

टिप्पणी—२ ***'सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाड़ि छल हरिजन होई॥'*** इति। (क) पूर्व जिनका कथन किया वे एक-एक विधिसे शोचनीय हैं और पर-अपकारी एवं हरिविमुख सब विधिसे शोचनीय

हैं, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रमका हो। (ख)—*'जो न होई......।'* *'सोई'* का भाव कि किसी वर्ण या आश्रममें हो और उनके धर्मसे युक्त हो, लौकिक धर्म सब करता हो, पर तो भी परमधर्म हरिभक्तिसे विहीन है; इससे शोचनीय है। (ग) छल क्या है? यथा—*'बंचक भगत कहाइ रामके। किंकर कंचन कोह कामके॥'* (१।१२।३) *'स्वारथ छल फल चारि बिहाई।'* (३००। २) *'होइ अकाम जो छल तजि सेइहि।'* *'मेरे जान जब ते हौं जीव होइ जनम्यों जग तब ते बेसाह्यो दाम लोभ कोह काम को। मन तिनहीं की सेवा तिनही सो भाव नीको, बचन बनाइ कहौं हौं गुलाम राम को॥'* (क० उ० ७०) पुन:, औरका भरोसा रखना, औरोंसे प्रयोजन जानना, औरोंको बन्धुवर्ग मानना छल है। (रा० प्र०) यथा—*'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ......।'*

(घ) दूसरा अभिप्राय यह भी निकलता है कि वर्णाश्रम-धर्ममें एक ही एकका अधिकार है—'**परधर्मो भयावहः**'; और हरिजन होनेमें सबका अधिकार है, यथा—*'पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ। सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥'* (उ० ८७) जैसे सब व्यंजनोंको लवण शोभित करता है, वैसे ही सब धर्मोंको हरिभक्ति सुशोभित करती है। इसके बिना सब धर्म अशोभित हैं—*'लवन बिना बहु बिंजन जैसे।'*

पंजाबीजी—जो किसीमें दोष भी हो तो वह भगवत्-शरण होनेसे पवित्र हो जाता है; अतएव जो हरिविमुख हुआ वह परम शोचनीय है।

सोचनीय नहिं कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥ ५॥
भएउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥ ६॥
बिधि-हरि-हर सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा॥ ७॥

दो०—कहहु तात केहि भाँति कोउ करिहिं बड़ाई तासु।
राम लखन तुम्ह सत्रुहन सरिस सुअन सुचि जासु॥ १७३॥

अर्थ—कोसलराज श्रीदशरथजी शोच करने योग्य नहीं हैं। चौदहों लोकोंमें उनका प्रभाव प्रकट है॥ ५॥ भरत! जैसे तुम्हारे पिता थे ऐसा राजा न तो हुआ, न है और न होनेवाला ही है[१]॥ ६॥ विधिहरिहर, इन्द्र और लोकपाल सभी श्रीदशरथजीके गुणोंकी गाथा (कथा) वर्णन करते हैं अर्थात् गुणानुवाद गाते हैं॥ ७॥ हे तात! तुम्हीं कहो, किस प्रकार कोई भी उनकी बड़ाई कर सकता है जिनके राम, लक्ष्मण, तुम और शत्रुघ्न-सरीखे पवित्र पुत्र हैं[२]॥ १७३॥

नोट—१ *'सोचनीय नहिं कोसलराऊ'* इति। अब प्रसंग मिलाते हैं। *'सोच जोग दसरथ नृप नाहीं।'* (१७२।२) उपक्रम है और *'सोचनीय नहिं कोसलराऊ'* उपसंहार।

टिप्पणी—पु० रा० कु०—बस, इतना ही कहनेके लिये यह प्रसंग उठाया था। वसिष्ठजीने भरतजीके हृदयमें पिता-मरणका ही शोच निश्चय किया, इसीसे वे इस प्रकार समझा रहे हैं। श्रीरामवनगमनका सोच जो भरतजीको है उसपर उनकी दृष्टि नहीं है; क्योंकि उसकी यहाँ सम्भावना नहीं, राज्यके वास्ते परस्पर भाई-भाई विरोध करते ही हैं तो रामके वनगमनका सोच क्यों करेंगे? अतएव उन्हें पिताके ही शोचसे निवृत्त कर रहे हैं। (पर मेरी समझमें बात ऐसी नहीं है। श्रीवसिष्ठजी त्रिकालज्ञ हैं। जानते हैं कि आगे क्या होगा। उन्होंने बड़ी युक्तिसे भाषणका इस प्रकार आरम्भ किया। महाराजकी आज्ञाका पालन करनेको कहना है। लोकरीत्यनुसार प्रथम राजाके मरणके शोकके सम्बन्धमें कहते हुए राजाकी बड़ाई करके उनकी आज्ञा सुनायी। आगे *'सौंपेहु राजु रामके आए'* से यह भी स्पष्ट कर दिया कि तुम्हारे हृदयमें जो शोक

१-भाविक अलंकार।
२-सम्बन्धातिशयोक्ति।

है और आगे जैसा होना है वह भी हम जानते हैं, अत: वही उपदेश कर रहे हैं। प्रजाको जो इनकी ओरसे शंका है, उसकी निवृत्ति भी करना है।)

३ पं०—भाव कि जो दोष ऊपर दिखा आये वे कोई इनमें नहीं हैं।

नोट—२ *'भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ'* इति। (क) भाव कि अपयशी जीते-जी ही शव-(मुर्दे-) के समान है और जिसका जगत्‌में यश है वह मृतक नहीं है। फिर जगत्‌की कौन कहे, इनका यश तो चौदहों भुवनोंमें है। (पु० रा० कु०) (ख) चौदहों भुवनवासी उपर्युक्त दोष उनमें नहीं बताते वरन् सब उनके प्रभावको ही कहते हैं। (रा० प्र०)

नोट—३ *'बिधि-हरि-हर सुरपति दिसिनाथा'''''''* इति। (क) ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, वरुण और कुबेर आदि सब अपने-अपने लोकोंमें दशरथजीके यशका गान करते हैं। इस कथनका आशय यह है कि जब बड़ा भारी यश होता है तभी ये लोग वर्णन करते हैं, नहीं तो ये तो आप ही बड़े हैं दूसरेकी बड़ाई क्यों करते? (पु० रा० कु०)। (ख) ब्रह्मा वृद्धिशक्तिमें, विष्णु पालनशक्तिमें, हर शत्रुसंहारशक्तिमें, इन्द्र राज्यसुखभोगमें और चारों दिशाओंकी प्रजाके रक्षण-पालन-पोषणशक्तिमें दिक्पाल राजाके गुणसमूहका वर्णन करते हैं। (रा० प्र०, शीला) (ग) 'मनु रूपका साहस देख ब्रह्मादि सराहते हैं कि जो रूप योगियोंके ध्यानमें अगम था उसे उन्होंने पुत्ररूपमें पाया और रामयशके साथ इन्द्रादि गाते हैं। वा, लोकोपकारमें उदार हैं यह गुण सब गाते हैं।' (खर्रा)

नोट—४ *'कहहु तात केहि भाँति कोउ'''''''* इति। यथा—*'जिन्हहि बिरचि बड़ भयेउ बिधाता। महिमा अवध राम पितु माता॥'* (१।१६।८) (ख) भगवान्‌के अवतारसे बड़ाई कई जगह लोगोंको मिली। अदितिजीको वामनजीसे, देवकी-वसुदेवजीको भगवान् कृष्ण-बलरामसे बडा़ई प्राप्त हुई और यहाँ तो चार हैं। (पु० रा० कु०) (ग) राजा स्वयं शुचि थे तभी तो ये चारों शुचि हुए। (घ) लक्ष्मणजी इस समय रघुनाथजीके समीप हैं; इसीसे यहाँ इस कथनमें भी कविने उन दोनोंको पास रखा।

सब प्रकार भूपति बड़भागी। बादि बिषादु करिअ तेहि लागी॥ १॥
एहु सुनि समुझि सोचु परिहरहू। सिर धरि राज रजायसु करहू॥ २॥
राय राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा। पिता बचनु फुर चाहिअ कीन्हा॥ ३॥
तजे रामु जेहि बचनहि लागी। तनु परिहरेउ राम बिरहागी॥ ४॥
नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना। करहु तात पितु बचन प्रवाना॥ ५॥

अर्थ—राजा सब तरहसे बड़े भाग्यवान् थे। उनके लिये व्यर्थ विषाद करना है॥ १॥ यह सुन-समझकर शोच त्यागो और राजाकी आज्ञा शिरोधार्य करके (मानकर) तदनुसार कार्य करो॥ २॥ राजाने तुमको राज्यपद दिया है। (तुम्हें) पिताका वचन सत्य करना चाहिये कि जिस वचनहीके लिये उन्होंने श्रीरामजीको त्याग दिया और रामविरहकी अग्निमें अपना शरीर भी छोड़ दिया॥ ३-४॥ राजाको वचन प्रिय थे, प्राण प्रिय न थे। (इसलिये) हे तात! पिताके वचनोंको प्रमाणित करो। अर्थात् इसे करो जिसमें वे सत्यप्रतिज्ञोंमें प्रमाण माने जायँ, ये वचन साधारण नहीं हैं कि टाल दिये जायँ॥ ५॥

नोट—१ *'सब प्रकार भूपति बड़भागी।'''''''* इति। 'सब प्रकार' अर्थात् केवल ऐसे पुत्रोंके जन्मसे ही नहीं वरन् जाति, कुल, वैभव, धर्म-कर्म आदि तथा श्रीरामविरहमें मरण इत्यादि सभी प्रकारसे। इतना करनेपर शोक दूर न देख कहते हैं कि *'एहु सुनि समुझि'* अर्थात् हमारा वचन सुनकर, मनमें विचारकर शोच छोड़ो।

नोट—२ *'राय राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा। पिता बचनु'''''''* इति। (क)—पूर्व *'राज रजायसु'* कहा, यहाँ 'पितावचन' पद दिया। भाव कि एक तो यह राजाकी आज्ञा है और उसपर भी यह पिताकी आज्ञा है, दोनों तरहसे तुमको माननीय है। वा, (ख) राजाकी आज्ञा भंग न करना चाहिये यह कहकर फिर बताया कि वह आज्ञा क्या है—*'राजपदु दीन्हा।'* यह कहकर फिर 'पितावचन' की गुरुता दिखाते हैं कि *'तजे*

रामु जेहि बचनहि लागी।'''''' ' यथा—*'तुलसी जान्यो दसरथहि, धरम न सत्य समान। राम तजे जेहिं लागि, बिनु राम परिहरे प्रान।'* (दो० २१९) राजाको वचन इतना प्यारा था कि श्रीरामको त्याग दिया पर वचनको न त्यागा। अतएव पिताके वचनोंको सत्य करो। उनके वचनका गौरव देखो और समझो। ऐसे वचनका उल्लंघन न करना चहिये।

करहु सीस धरि भूप रजाई। हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥ ६॥
परसुराम पितु अग्या राखी। मारी मातु लोक[1] सब साखी॥ ७॥
तनय जजातिहि जौबनु दयेऊ। पितु अग्या अघ अजसु न भयेऊ॥ ८॥
दो०—अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं[2] पितु बयन।
ते भाजन सुख सुजसु के बसहिं अमरपति अयन॥ १७४॥

शब्दार्थ—**राखी**=पालन किया, रक्षा की, मानी।

अर्थ—राजाकी आज्ञा सिरपर धरके करो अर्थात् आदरपूर्वक आज्ञा पालन करो। (इसमें) तुम्हारी सब तरहसे भलाई ही है॥ ६॥ सब लोग इसके साक्षी हैं कि परशुरामने पिताकी आज्ञा मानी, माताको मार डाला॥ ७॥ राजा ययातिके पुत्रने ययातिको अपनी जवानी दे दी। पिताकी आज्ञाके कारण उनको पाप और अपयश नहीं हुआ॥ ८॥ उचित-अनुचितका विचार छोड़कर जो अपने पिताके वचनोंका पालन करते हैं वे (लोकमें) सुख और सुयशके पात्र हैं और (अन्तमें) इन्द्रपुरीमें बसते हैं॥ १७४॥

नोट—१ ***'सब भाँति भलाई'*** अर्थात् लोकमें सुखभोग करोगे और परलोक भी बनेगा। इसके प्रमाणमें परशुराम और ययातिके पुत्रके उदाहरण देते हैं। एकने पिताकी आज्ञासे माताको मार डाला, दूसरेने पिताको अपनी जवानी दी जिससे पिताने इसकी मातासे सम्भोग-सुख किया। दोनों आज्ञाएँ और दोनों कार्य मातृवध और मातृगमन—अनुचित थे, तब भी दोनोंको यश ही प्राप्त हुआ। पापका भागी कोई न हुआ। क्योंकि यदि वे पापी माने जाते तो उनको अपयश अवश्य होता, यथा—***'बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।'*** (७। ११२। ७) इन उदाहरणोंका तात्पर्य यह है कि पापकर्म जो सर्वथा अनुचित है उसे भी करनेकी आज्ञा यदि पिता दे और पुत्र उसे मानकर करे तो भी उसे पाप नहीं होता। और आगे दिखावेंगे कि सुयश और सुख होता है। जब अनुचित आज्ञाके पालनमें सुख-सुयश है तब तुम्हारे पिताकी आज्ञा तो लोक और वेद सम्मत है, उसमें कैसे कोई भी बुराई आ सकती है, उसमें तो अवश्य लोकसुयश, परलोकसुख प्राप्त होंगे।

☞ श्रीभरद्वाजजीने भी यही बात कही है। यथा—***'लोक बेद संमत सबु कहई। जेहि पितु देइ राजु सो लहई॥''''''करतेहु राज त तुम्हहि न दोषू। रामहि होत सुनत संतोषू॥'*** (२०७। ३, ८) श्रीवसिष्ठजीके इन वाक्योंसे स्पष्ट है कि वे जानते हैं कि भरतजी राजाकी आज्ञाको अनुचित समझते हैं, नहीं तो अनुचित कार्य करके भी यश पानेवालोंका दृष्टान्त न देते। परशुरामजीकी कथा (१। २७६। २) ***'माता पितहि उरिन भये नीके'*** में और ययाति महाराजकी (२। १४८। ६) ***'सुर पुर तें जनु खँसेउ जजाती'*** में देखिये।

☞ पूरु ययातिका छोटा पुत्र था। उसको उनने राज्य दिया, यहाँ भरत छोटे हैं। उनको महाराज दशरथने राज्य दिया। वहाँ जवानीके बदलेमें राज्य दिया गया और यहाँ वरके बदलेमें। दोनों अनुचित थे।

१-रा० प्र० में 'लोग' पाठ है, पर अर्थमें 'लोक' है। इससे अनुमान होता है कि प्रेसवालोंने 'लोग' छाप दिया हो। को० रा०, ना० प्र०, भा० दा० ने 'लोग' पाठ दिया है। गी० प्रे० 'लोक' को राजापुरका पाठ बताता है।

२-पालिहि— राजापुर। पर 'पालिहिं' भविष्यकालिक एकवचन है। 'जे' बहुवचनके सम्बन्धसे तथा आगेके 'ते बसहिं' के अनुसार यहाँ वर्तमानकालिक बहुवचन ही ठीक जान पड़ता है। अत: इस संस्करणमें हमने 'पालहिं' पाठ रखा है जो रा० प्र० में है।

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ पहले परशुरामका उदाहरण दिया। पर इसमें भरतजीको उत्तर देनेकी राह मिलती है। वे कह सकते हैं कि वे ईश्वरावतार हैं। उनके कर्मके करनेका हमको अधिकार नहीं। यथा—**'न देवचरितं चरेत्।'** अथवा, यह कहते कि वे ब्राह्मण थे, समर्थ थे, उन्होंने फिर माताको जिला लिया, उनकी बराबरी कौन कर सकता है? अतएव दूसरा उदाहरण मनुष्य और वह भी क्षत्रिय राजकुमारका और उसी वंशका दिया। (ख) ***'सब साखी'*** अर्थात् मैं ही नहीं कहता, सब लोग जानते और कहते हैं।

टिप्पणी—२ ***'अनुचित उचित बिचार तजि……'*** इति। (क) भाव कि कुछ विचार न करो, पिताकी आज्ञाका पालन करो। इसका फल उत्तरार्धमें कहते हैं—***'ते भाजन सुख सुजसु के बसहिं अमरपति अयन।'*** सुख-सुयश उनमें भर जाता है और ऐहिक-पारलौकिक दोनों सुख बनते हैं। सुख-सुयश इस लोकमें और अमरपति-अयन परलोकमें मिलते हैं। सुख और सुयश दोनों धर्मके फल हैं, यथा—***'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।'*** (७। १०२) ***'पावन जस कि पुन्य बिनु होई।'*** (७। ११२। ७) इससे जनाया कि अनुचित आज्ञाका पालन भी धर्म माना जाता है न कि अधर्म, यदि इसकी गणना (पुण्य, सुकृतमें) न होती तो सुख-सुयश दोनों लोकोंमें कैसे प्राप्त हो सकता? ***'बसहिं अमरपति अयन'*** से जनाया कि बहुत कालतक इन्द्रलोकका सुख उनके ही यहाँ रहकर मिलता है। पितृभक्तको इन्द्रलोक प्राप्त होता है। वा, (ख)—भरतजीकी चेष्टा देखकर कि राज्यकी इच्छा नहीं है, इसे वे अनुचित समझते हैं कि बड़ेके रहते छोटा राज्य करे और इसे पाप समझते हैं, मुनिने यह वचन कहे और यही सिलसिला आगेतक गया है। ये सब आशय इस प्रसंगमें झलक रहे हैं।

अवसि नरेस बचन फुर करहू। पालहु प्रजा सोकु परिहरहू॥ १॥
सुरपुर नृपु पाइहि परितोषू। तुम्ह कहुँ सुकृतु सुजसु नहि दोषू॥ २॥
बेद बिदित* संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥ ३॥
करहु राजु परिहरहु गलानी। मानहु मोर बचन हित जानी॥ ४॥

शब्दार्थ—'**बिदित**'=जाना हुआ, अवगत, विहित, दिया हुआ।

अर्थ—राजाका वचन अवश्य सत्य करो। प्रजाका पालन करो। शोकको छोड़ो॥ १॥ इस प्रकार स्वर्गमें राजा सम्यक् प्रकारसे संतोष पावेंगे (संतुष्ट वा प्रसन्न होंगे)। तुमको पुण्य और सुन्दर यश मिलेगा, दोष नहीं लगेगा॥ २॥ वेदमें प्रसिद्ध है और सभीका (स्मृतियों, संहिताओं, पुराणों इत्यादि सबका) सम्मत है कि जिसको पिता दे वही राजतिलक पाता है अर्थात् अभिषिक्त होता है॥ ३॥ अतः तुम राज्य करो, ग्लानि छोड़ो और मेरा वचन हितकारी समझकर मानो॥ ४॥

नोट—१ राज्य ग्रहणकी आज्ञा पालन करनेमें भरतजीकी चेष्टा बराबर उदासीन देख पड़ी, इसीसे बारम्बार पिता-वचन पालनेको कहा और सब तरहसे निर्दोष दिखाकर सबको सुख और उनको भी लोक-परलोक दोनोंमें सुख-सुयशकी प्राप्ति दिखायी। यथा—(१) ***'सिर धरि राज रजायसु करहू',*** (२) ***'पिता वचन फुर चाहिय कीन्हा;'*** (३) ***'करहु तात पितु बचन प्रमाना;'*** (४) ***'करहु सीस धरि भूप रजाई;'*** (५) ***'अवसि नरेस वचन फुर करहू।'*** आगे माता, मन्त्री सभीने यही कहा है यथा—(६) ***'पूत पथ्य गुर आयसु अहई।'*** (७) ***'सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू'*** (माता), ***'कीजिय गुर आयसु……।'***

नोट—२—गुरुजीने 'पिता और राजा' का वचन माननेको कहा क्योंकि राज-आज्ञा अमेट है और पितु-आज्ञापालन बड़ा भारी धर्म है, यथा—***'पितु आयसु सब धरम क टीका।'*** अतएव बारम्बार कहा। पिता-वचन पालनेके लिये तो गुरुजी कह ही चुके। मन्त्री, महाजन और माताने देखा कि इसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ा, इससे उन्होंने सहमत होते हुए 'गुरु-आज्ञा' पालन करनेको कहा, यह समझकर कि गुरुका कहना अवश्य मानेंगे।

* रा० प्र०, राजापुर, बैजनाथमें है। 'बिहित' (भागवतदास)

नोट—३—इस प्रसंगमें यह भी दिखाया है कि प्रजा-पालन राजाका मुख्य धर्म है। राजा, मन्त्री, राजकुमार, राज्य-सम्बन्धी सभी लोगोंको प्रजाके सुखका कैसा खयाल रहना चाहिये, यह सब यहाँ स्पष्ट दिख रहा है। मुख्य धर्म जानकर इसपर बारम्बार जोर दिया गया है। यथा—(१) ***'पालहु प्रजा सोकु परिहरहू'*** (२) ***'तेउ प्रजा सुख होहिं सुखारी'*** (३) ***'परिजन प्रजा सचिव सब अंबा।' 'तुम्हहीं सुत सब कहँ अवलंबा'*** (४) ***'प्रजा पालि पुरजन दुख हरहू।'*** यह यहाँ कहा गया। अन्यत्र भी कहा है। माता श्रीरामजीसे कहती हैं—(५)***'बेगि प्रजा दुख मेटब आई'*** (६) ***'तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहिं प्रचंड कलेस।'*** श्रीरामजी भी कहते हैं। (७) ***'मैं बन जाउँ तुम्हहिं लै साथा। होइहिं सब बिधि अवध अनाथा॥ जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी',*** (८) ***'करहु प्रजा परिवार सुखारी'*** (९) ***'पालहु पुहुमि प्रजा रजधानी'*** (१०) ***'पालेहु प्रजहि करम मन बानी'*** (यह भरतजीको सन्देसा है। भरतजी कैकेयीसे इसीसे रूठे, यथा—(११) ***'दीन्हेउ प्रजहि सोक संतापू।'***

☞ आजकलके राजाओं, महाराजाओं और राज्याधिकारियोंको यह उपदेश है। ओडायर-पंजाब-हत्याकाण्ड-सी प्रजा-रक्षा, प्रजापालन कभी कविको अभिप्रेत न थी। यह आदर्शसे बिलकुल गिरी हुई दशा भारतीय राजनीतिमें न थी। हठी मिनिस्टर, डिक्टेटर अपना हठ रखनेके लिये प्रजापर गोली चलाते हैं, सारी प्रजा जिसका विरोध करती है वही वह हठपूर्वक करते हैं।

पु० रा० कु०—१ (क) ***'सोकु परिहरहू'*** में दूसरा अर्थ भी निकलता है कि प्रजाका शोक सम्यक् प्रकारसे हरो। जैसे ***परितोषू***=सम्यक् तोष। (ख) ***'संमत सबही का'***॥ छोटे-बड़े सबका यह सम्मत है। नीति, संहिता, पुराण सबमें कहा है। शुक्राचार्यने ययातिको यह आज्ञा दी थी कि जिसको चाहे राज्य दें, सबसे छोटेको उन्होंने राज्य दिया और सब ऋषि इस नीतिसे संतुष्ट रहे। शुक्राचार्यजी नीतिके आचार्य हैं। (ग) ***'करहु राजु परिहरहु गलानी।'''''' '*** अर्थात् हर्षपूर्वक राज्य करो।

टिप्पणी—२—***'मानहु मोर बचन'''''' '*** इति। भाव कि एक तो राजाज्ञा, दूसरे पितु-आज्ञा है, तीसरे हम गुरु हैं। हम भी पिताका वचन माननेको कहते हैं, मेरे इस वचनको मानो। 'वचन' का भाव कि आज्ञा तो राजाकी ही है और कहता मैं हूँ कि करो। अतएव करो। हमारे वचन तुम्हारे लिये हितकर हैं।

नोट—४ ***'मानहु मोर बचन'*** इसीको माता, मन्त्री सबने गुरु-आज्ञा माना है। यथा—***'कीजिअ गुरु आयसु', 'पूत पथ्य गुर आएसु अहई।'*** पर भरतजीने इसे उपदेश ही माना है। यथा—***'मोहि उपदेस दीन्ह गुरु नीका', 'तुम्ह तौ देहु सरल सिख सोई। जो आचरत मोर भल होई॥'***

सुनि सुखु लहब राम बैदेहीं। अनुचित कहब न पंडित केहीं॥ ५॥
कौसल्यादि सकल महतारीं। तेउ प्रजा सुख होहिं सुखारीं॥ ६॥
मरम[1] तुम्हार राम कर जानिहि। सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि॥ ७॥
सौंपेहु राजु राम कें आएँ। सेबा करेहु सनेह सुहाएँ॥ ८॥

दो०—कीजिअ गुर आयसु अवसि कहहिं सचिव कर जोरि।
रघुपति आए उचित जस तस तब करब बहोरि[2]॥ १७५॥

शब्दार्थ—**केहीं**=कोई भी।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी और श्रीजानकीजी इस कार्यको सुनकर सुख पावेंगे। कोई भी पण्डित (बुद्धिमान् एवं विद्वान्) इसे अनुचित न कहेगा॥ ५॥ कौसल्या आदि सभी माताएँ भी प्रजाके सुख-(पाने-) से सुखी होंगी॥ ६॥ जो तुम्हारे और श्रीरामचन्द्रजीके मर्मको जानता है या जानेगा वह सब प्रकार तुमसे भला मानेगा॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजीके आनेपर राज्य उन्हें सौंप देना और सुन्दर स्नेहसहित उनकी

१-परम—राजापुर
२-'तब बहोरि'=तब फिर, तब पुनः। पुनरुक्तिवदाभास अलंकार।

सेवा करना॥ ८॥ मन्त्री हाथ जोड़कर कह रहे हैं कि गुरुजीकी आज्ञाका अवश्य ही पालन कीजिये और श्रीरघुनाथजीके आनेपर जैसा उचित हो तब फिर वैसा कीजियेगा॥ १७५॥

नोट—१ यदि सोचते हों कि श्रीरामजीको बुरा न लगे; क्योंकि उनको वन देकर राज्य लिया जा रहा है, तो उसपर कहते हैं कि पितु-आज्ञा-पालन और तुम्हारा राज्य सुनकर ***'सुखु लहब राम बैदेहीं।'''''''*** पहले भी सुख माना है यथा—***'भरत प्रान प्रिय पावहिं राजू', 'भाइ भरत अस राउ।'*** पिताको कैकेयीसे उऋण देखकर, अपनी आज्ञाका पालन देखकर (***'तजब न नीति राज पद पाए।'*** भरतजीके वचनसे भी यह भाव निकलता है—***'प्रभु पितु बचन मोह बस पेली। आयउँ इहाँ समाज सकेली॥'***) तथा प्रजाको सुखी देखकर इत्यादि बातोंसे उनको सुख प्राप्त होगा। सब पण्डित प्रशंसा करेंगे। श्रीरामजीके सम्बन्धकी शंका दूर की। अब दूसरी शंका हो सकती है कि 'श्रीसीतारामजी भले ही सुखी हों, पर सब माताओंको दुःख होगा कि 'हमारे पुत्रोंको वन भेजकर राज्य करते हैं।' उस सन्देहको मिटाते हैं कि वे सब प्रजाके दुःखसे दुःखी हैं, प्रजाको सुखी देखकर वे भी सुखी होंगी। वे प्रजाको पुत्र-समान मानती हैं।

नोट—२ ***'मरम तुम्हार राम कर जानिहि।'''''''*** इति। (क) पंजाबीजी एवं पं० रामकुमारजीने यह अर्थ किया है कि 'वे (माताएँ) तुम्हारे और रामके मर्मको जानती हैं, इससे वे सुख मानेंगी। सब प्रजा जानती है।' क्या मर्म? कि दोनोंमें परस्पर प्रेम है, दोनोंका एक-सा स्वभाव है, तुम उनके प्रतिकूल नहीं हो। इसपर भी यदि वे कहें कि सब सुख मानें,पर हम राज्य न लेंगे, उसपर कहते हैं—***'सौंपेहु राजु राम के आए। सेवा करेहु सनेह सुहाए॥'*** (ख) बाबा हरिदासजी कहते हैं कि भाव यह है कि 'फिर राज सौंप देना, सेवा करना, यह स्नेहकी शोभा है और जो सदैव राज्य करो तो धर्मकी शोभा है, क्योंकि पितादत्त राज है।

'वसिष्ठ-भाषण'—'कीजिय गुरु आयसु'

पं० यादवशंकर जामदार—इस भाषणकी सजावट बड़ी ही मोहक है। इसकी कारण-परम्परा जितनी सरल और सादी है, उतनी ही वह परिणामकारक भी है। इस भाषणको सुनकर सभी सभासदोंको वह ***'गुरु आयसु'*** गुरुजीका आज्ञा पत्र-सा ही प्रतीत हुआ। पर यहाँ प्रश्न तो यह है कि क्या यह भाषण आज्ञात्मक हो सकेगा? यदि यह भाषण आज्ञात्मक होता तो क्या भरतजी उसका विरोध अपने भाषणमें कर सकते? करते ही, तो क्या वसिष्ठजी ऐसा अपमान सह लेते? जो सहन न कर सकते तो क्या उसका परिणाम भरतजीको भुगतना न पड़ता? इन सब विचारोंसे यह कहनेमें शंका ही होती है कि भाषण आज्ञात्मक था। इसके अतिरिक्त यदि वसिष्ठजी भरतजीको अपनी आज्ञाका भंग करनेवाला समझते तो वे स्वयं भरतजीके साथ वन न गये होते और श्रीरामजीके सामने चित्रकूटपर भरतकी प्रशंसा भी न करते।

इन सब कारणोंसे हमें जान पड़ता है कि वसिष्ठजीका भाषण केवल लोकरंजनार्थ था। यथार्थमें उनको भरतजीकी परीक्षा ही लेनी थी और देखना था कि वे कैकेयीके पक्षमें शामिल तो नहीं हैं, जो शामिल होंगे तो वे उनके (वसिष्ठजीके) रसभरित भाषणका आधार लेकर राज्य करेंगे और यदि ऐसा न होगा तो कम-से-कम उनके आगेके विचार तो उनके मुखसे बाहर आ ही जायँगे। इस तरहसे हम इस भाषणको दो अर्थवाला प्रयोजन समझते हैं और वसिष्ठजीको सच्चे-सच्चे राजनीतिनिपुण समझते हैं।

बैजनाथजी—***'मानहु मोर बचन हित जानी'*** ये गुरुवाक्य शुद्ध आयसु नहीं हैं। केवल उपदेशमात्र हैं। भरतजी भी यही कहते हैं—***'गुरु उपदेसु दीन्ह मोहि नीका।'***

प० प० प्र०—वसिष्ठजी त्रिकालज्ञ हैं, यथा—***'तुम्ह त्रिकाल दरसी मुनिनाथा। बिस्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा॥'*** मन्त्री तथा अवधवासी श्रीभरतजीके विषयमें सशंक हैं। उनका भाव सबपर प्रकट करनेके लिये यह उपदेशात्मक भाषण किया गया। आगे चित्रकूटमें भी वसिष्ठजी परीक्षाके हेतुसे ही कहते हैं कि ***'सकुचउँ***

तात कहत एक बाता।'''''''तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई'''''''।' वहाँ भरतजी भी इस बातको जान गये, इसीसे कहते हैं—*'जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिअ बचन प्रवान।'* (२५६) भरतजीका अनुपम परमोच्च आदर्श चित्रण करनेका सच्चा प्रारम्भ इस भाषणसे हुआ।

वि० त्रि०—*'सौंपेहु राजु राम कें'''''''सुहाए'* इति। इस प्रसंगमें जो कुछ वसिष्ठजीने मन्थन करके कह दिया, अन्तमें वही हुआ। साथमें इस बातको आज्ञाकी भाँति गुरुजीने नहीं कहा, केवल अपनी सम्मति दी। यथा—*'करहु राज परिहरहु गलानी। मानहु मोर बचन हित जानी॥'* इसका भाव ही यह है कि मैं आज्ञा नहीं देता, मैं भलेके लिये कहता हूँ, इसलिये मानो। आज्ञामें हेतु नहीं दिया जाता। हेतु दिया गया तो वह आज्ञा नहीं सलाह है। श्रुति **'सत्यं वद'**, **'धर्मं चर'** इत्यादि विधि-(आज्ञा-) में हेतु नहीं देती। यद्यपि सचिव तथा माता भरतजीपर अधिक दबाव डालनेके लिये उसे आज्ञाके रूपमें ग्रहण करनेको कहते हैं, यथा—*'कीजिअ गुरु आयसु अवसि कहहिं सचिव कर जोरि'* तथा *'पूत पथ्य गुरु आयसु अहई'* परन्तु भरतजीने उसे वैसा नहीं माना। वे कहते हैं *'गुरु उपदेस दीन्ह मोहि नीका। प्रजा सचिव संमत सबही का॥'* अतः भरतजीको कुछ कहने-करनेका अवसर मिल गया। नहीं तो वहींपर कथाकी समाप्ति थी।

नोट—३ (क) रा० प्र०, शीला, पु० रा० कु०—गुरुजीके वचन तो स्पष्ट हैं, पर मन्त्रियोंके वचन संदेहात्मक हैं। इन्होंने लगी-लपटी कही कि *'तब तस करब।'* इससे यह सिद्ध है कि मन्त्रियोंको अभीतक भरतजीके अन्तःकरणका कुछ भेद नहीं मिला। पुनः उनको संदेह है कि कैकेयी न कहे कि राम क्यों राज्य करें। भरत ही क्यों न करें? इसीसे अपनेको बचाते हुए कहते हैं। सम्भव है कि सोचते हों कि १४ वर्ष बीत जानेपर फिर ये राज्य न छोड़ना चाहें, प्रजा भी इनके अनुकूल हो जाय; तब अभीसे कैसे कह दें कि श्रीरामको राज्य दे देना।

(ख) 'अवसि' पदसे गुरु-आज्ञाका गौरव दिखाया, यह अवश्य कर्तव्य है—'**अवश्यमेव कर्तव्यं गुरोराज्ञा गरीयसी।**'—(पं०)

(ग) *'कर जोरि'* अर्थात् विनयपूर्वक, क्योंकि सब प्रजा पीड़ित है। बाबा हरिदासजी कहते हैं कि 'व्यवहार बिगड़ गया और इनसे कुछ बना नहीं, इससे वे अपनी ओरसे कुछ नहीं कह सकते।' बैजनाथजी कहते हैं कि 'गुरुवचन प्रभुसम्मित अर्थात् साथ हुक्मके हैं और सचिवके वचन सुहृद्सम्मित अर्थात् मनमिलानके साथ हैं, इससे वे हाथ जोड़कर मनकी चाहके अनुकूल कहते हैं।'

पु० रा० कु०—गुरु वसिष्ठका मन्त्रियोंमें इतना मान था कि इनकी रायपर सभी सही करते थे। यह बात वाल्मीकीयमें स्वयं मन्त्रियों और ऋषियोंने कही है, यथा—'**जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम्। नातिक्रमामहे सर्वे बेलां प्राप्येव सागरः॥**' (२। ६७। ३७) अर्थात् राजाके जीवनकालमें भी हमलोग आपकी बातोंका उल्लंघन नहीं करते थे,जैसे समुद्र तटका अतिक्रमण नहीं करता। पूर्व जब राजाने मन्त्रियोंसे कहा कि *'प्रमुदित मोहि कहेउ गुरु आजू। रामहि राय देहु जुबराजू॥ जो पाँचहि मत लागइ नीका।'* (२। ५। ३-४) तब भी उत्तरमें *'बिनती सचिव करहिं कर जोरी'''''''बेगिय नाथ न लाइय बारा'* कहा था, वैसे ही यहाँ गुरुवचनका समर्थन हाथ जोड़कर करते हैं।

नोट—४ गुरुके भाषणका उपक्रम—*'नीति धरममय बचन उचारे'*। (१७१। ४) और उपसंहार *'कीजिअ गुरु आयसु॥'* (१७५) है।

गुरु-उपदेश समाप्त हुआ।

राज्य-प्रणाली

पं० रामचन्द्र दूबे—गुसाईंजीकी राज्य-प्रणाली एकतन्त्र शासनका एक रूप है, पर वह निरंकुश नहीं। मन्त्रियों तथा विद्वान्-मण्डली, ऋषि-महर्षियोंका अंकुश राजाके सिरपर सदा लटका रहता है। पहले आश्रमधर्म ही नरेशको मार्ग विचलित होनेसे रोकता है। पुत्रके वयस्क होनेपर राजा वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश करनेपर बाध्य होता है। श्रीरामचन्द्रजीके वनवास-गमनके समाचार सुनकर माता कौसल्याजी कहती हैं—***'अंतहु उचित नृपहि बनबासू। बय बिलोकि हिय'****······ ।'*

यह आश्रम-विभाग ही एक बड़ा अकुंश था। मानो राज्य एक प्रकारकी धरोहर थी। एक नियत समयके लिये शासनकी बागडोर राजाके हाथमें रहती थी। सुयश और सुकीर्ति उपार्जन करना ही उसका उद्देश्य था। आजकलका समय न था कि मृत्युशय्यापर पड़े हैं, पर फिर भी राज्यशासनकी लालसा पिण्ड नहीं छोड़ती। स्वायम्भुव मनुको राज्य करते हुए बहुत दिन हो गये। वृद्धावस्थाके आगमनकी सूचना मिली।—***'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपनु। हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु॥ बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा। नारि समेत गमन बन कीन्हा॥'*** महारानी मन्दोदरी कहती हैं ***'बेद कहहिं अस नीति दसानन। चौथेपन जाइअ नृप कानन॥'***

ज्येष्ठ पुत्र साधारणतः राज्यका उत्तराधिकारी होता था।····पर उसमें भी मन्त्रियों तथा प्रजाजनकी सम्मतिकी आवश्यकता थी। महाराज दशरथ वृद्ध हो चले। वानप्रस्थ आश्रमका समय आ गया। युवराजकी नियुक्ति आवश्यक हुई। ज्येष्ठ पुत्र होनहार है।····***'भये राम सब बिधि सब लायक।'****······ '* यह सब कुछ है, पर राजाज्ञा घोषित नहीं होती। पहले गुरुमहाराज वसिष्ठजीका मन टटोला जाता है और सकुचाते हुए महाराज अपना उद्देश्य प्रकट करते हैं। गुरुकी सम्मति मिलनेपर भी राजाज्ञा एकदम नहीं हो जाती। मन्त्रियोंकी सभा होती है और उसमें प्रस्ताव उपस्थित होता है।····पंच और सचिव स्वयं ही राजकुमारके सदाचारपर मुग्ध हैं। प्रस्ताव सुनते ही—***'अभिमत बिरव परेउ जनु पानी।'*** वे निवेदन करते हैं—***'जगमंगल भल काज बिचारा। बेगिअ नाथ न लाइअ बारा॥'*** इतना होनेपर तब कहीं राजाज्ञा होती है।

२ आजकल कम-से-कम भारतमें राजपद वास्तविक रूपमें कोई भार नहीं समझा जाता। धार्मिक विचार तो जाते ही रहे। उत्तराधिकारीको सिंहासनपर बैठा, एक-दो मन्त्र पढ़ टीका कर दिया, बस समाप्ति हो गयी।

राज्याभिषेकको तैयारियाँ हो रही हैं। पर—***'तब नरनाह बसिष्ठ बुलाए। रामधाम सिख देन पठाए॥'*** और गुरुजी जाकर रामको शिक्षा देते हैं। यह तो हुआ; पर श्रीरामचन्द्रजी वनको गये। महाराज स्वर्गको सिधारे। महारानी कैकेयी स्वपुत्रको सिंहासनासीन देखनेकी कामनामें है। महाराजकुमार भरत ननिहालसे आते हैं। स्वर्गीय नरेशके मृतक संस्कारसे निवृत्त होकर राजपरिवार शुद्ध होता है। राजसिंहासन खाली है। उत्तराधिकारीका प्रश्न तै करना है। सभा बैठती है। पर कौंसिल अकेले इस गुत्थीको सुलझानेमें अपनेको असमर्थ समझती है। अतएव ***'सचिव महाजन सकल बुलाए।'*** मन्त्रिमण्डलद्वारा साम्राज्यके सब गणमान्य नागरिक निमन्त्रित किये गये।

श्रीरामचन्द्रजी युवराज-पदके लिये स्वीकृत हो चुके हैं। अतएव स्वर्गीय नरेशके उत्तराधिकारी भी माने जा चुके हैं। इसलिये वसिष्ठजी यह कहते हुए भी कि ***'बेद बिहित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावहिं टीका॥'*** प्रस्तावमें केवल एक प्रकारकी रीजेंसी (Regency) स्थापनाका संकेतकर महाराज पुत्र भरतको रीजेन्ट बनाना चाहते हैं—***'सौंपेहु राज रामके आए। सेवा करेहु'****······ '।* मन्त्रिमण्डल प्रस्तावका समर्थन करता है—***'कीजिअ गुर आयसु।'***

तो क्या नागरिक प्रतिनिधि केवल तमाशा देखनेको बुलाये गये थे? नहीं, नहीं, उनकी सम्मति आवश्यक थी। सम्मति ली गयी और उन्होंने भी उसी प्रस्तावका अनुमोदन किया। अन्तमें यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। महाराजपुत्र सिंहासनासीन तो नहीं हुए, पर राजर्षिके समान जीवन व्यतीत करते हुए रीजेन्टका कार्य करते रहे।

पाठक देख चुके कि राजसिंहासनपर किसी व्यक्तिको बैठानेमें प्रजाका कितना अधिकार था। या यों कहिये कि गुसाईंजीकी रायमें राज्य-अधिकार वंशपरम्परागत होते हुए भी प्रजाको उसमें बोलनेका स्वत्व था, जो साधारणसे कुछ विशेष था। अब यह देखना है कि कविकी दृष्टिमें राजाका कर्तव्य क्या है। वह प्रजाका कर्ता, धर्ता, हर्ता, विधाता और स्वामी ही है अथवा सेवक या माँ-बाप भी?—(***'मुखिया मुखसों चाहिये'*****……** ३१५ में देखिये।) (ना० प्र० ग्रन्थावलीसे)

कौसल्या धरि धीरजु कहई। पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥ १॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ बिषादु काल-गति जानी॥ २॥
बन रघुपति सुरपुर* नरनाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू॥ ३॥
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा॥ ४॥

शब्दार्थ—**पथ्य**=चिकित्साके कार्य अथवा रोगीके लिये हितकर वस्तु, विशेषत: आहार; हित, कल्याणकारक, करने योग्य। **काल-गति**=समयका हेर-फेर, दिनोंका फेर, जमानेकी गर्दिश।

अर्थ—श्रीकौसल्याजी धीरज धरकर कह रही हैं—बेटा! गुरुजीकी आज्ञा पथ्य है अर्थात् इस कुरोगमें सेवन करने योग्य है, इसके पालनसे कल्याण होगा॥ १॥ उसका आदर करना चाहिये, उसे हित (भला, हितकर) मानकर करो, समयका फेर समझकर शोकको छोड़ो॥ २॥ श्रीरघुनाथजी वनमें हैं, मनुष्योंके स्वामी (राजा दशरथ) देवताओंके लोकमें हैं और हे तात! तुम इस प्रकार हिचकिचा रहे हो॥ ३॥ हे पुत्र! सब माताओं, कुटुम्बियों, प्रजा और मन्त्रियों सभीके लिये तुम ही एकमात्र अवलंब हो॥ ४॥

पु० रा० कु०—१ ***'कौसल्या धरि धीरजु'*****……'** इति। (क) कौसल्या अर्थात् कुशला (पण्डिता) हैं, उनको अलौकिक विवेक प्राप्त है; अत: धैर्य धारण करके बोलीं। (ख) ***'पथ्य गुर आयसु'*** यथा—'**गुरूणां वचनं पथ्यं कवीनां रसवद्वच:।**' पूर्व कहा है कि ***'खग मृग हय गय जाहिं न जोए। राम बियोग कुरोग बिगोए॥'*** (१५८। ७) और आगे भरतजी भी कहते हैं—***'एहि कुरोग कर औषध नाहीं।'*** (२१२। २) इस सम्बन्धसे ***'पथ्य'*** शब्द बड़ा उत्तम है। श्रीभरतजी श्रीरामवियोगरूपी कुरोगसे पीड़ित हैं। रोगीको पथ्य दिया ही जाता है। अत: माता उनको पथ्य बताती हैं। पथ्य है अर्थात् करने योग्य है। पुन:, (ग) ***'पथ्य'*** से कटु जनाया। पथ्य अच्छा नहीं लगता, वैसे ही यह तुमको कड़ुवा लगता है, पर अभी नहीं आगे हितकारी होगा। अथवा, (घ) ***गुर आयसु पूत*** अर्थात् पवित्र है और पथ्य है। भाव यह कि ऐसा भी हो सकता है कि सेवने योग्य हो, दु:ख हरण करता हो, पर पवित्र न हो; जैसे माता-वधकी आज्ञा, पुत्र-यौवनसे मातृ-संभोग—ये पथ्य तो हैं पर पवित्र नहीं, और यह आज्ञा पथ्य है, इससे लोकमें दु:ख न होगा और परलोक बनेगा; अतएव पवित्र भी है।

नोट—१ (क) माता प्रेममें भूलकर रोगमें पथ्य दे रही है, वह नहीं देखती कि शरीरमें रोग रहते पथ्य देना उचित नहीं। पर रोगी समझदार है, वह अपनी व्यवस्था समझकर उसे नहीं ग्रहण

* 'सुरपति'—राजापुर। 'सुरपुर' पाठान्तर है। आगे बराबर इस प्रसंगमें 'सुरपुर' शब्द आया है। यथा—'पितु सुरपुर।' (१७७) 'बिछुरत गमनु अमरपुर कीन्हा।' (१७९। ४) 'पठइ अमरपुर पति हित कीन्हा।' (१८०। ३) अत: 'सुरपुर' पाठ ही समीचीन जान पड़ता है। राजा सुरपति हो गये ऐसा कहना कहाँतक उचित होगा। इन्द्र तो दूसरा बना हुआ है। प्रथम संस्करणमें हमने 'सुरपति' पाठ ही रखा था और अर्थ यह किया था कि 'राजा देवताओंके स्वामी हुए हैं। अर्थात् इस लोकका राज्य त्यागकर स्वर्गको पधारे कि अब देवताओंका पालन करें।' श्रीकौसल्याजी पतिके सम्बन्धमें इस शब्दका प्रयोग कर सकती हैं। अ० रा० में कुछ ऐसा ही वसिष्ठजीने कहा है। यथा—'अन्ते जगाम त्रिदिवं देवेन्द्रार्द्धासनं प्रभु:।' (२। ७। ९४) अर्थात् स्वर्गलोकमें जाकर देवराज इन्द्रके आधे आसनके अधिकारी हुए। वैसे ही 'सुरपति' का भाव यह हो सकता है कि इन्द्रासनके अधिकारी हुए हैं।—फिर भी मुझे 'सुरपुर' पाठ ही विशेष ठीक जँचता है। अत: उसे रखा है।

करेगा। (प्र० सं०) (ख) माताजी पथ्य बताती हैं, पर भरतजीकी भावनानुसार तो *'एहि कुरोग कर औषध नाहीं।'* जब औषध ही नहीं है, तब केवल पथ्य-सेवनसे क्या लाभ! हाँ, माताका भाषण, *'राम भरत दोउ सुत सम जानी'* के अनुसार यथार्थ ही है। यहाँ भी माता कौसल्याके हृदयकी परमोदारताका दर्शन होता है। (प० प० प्र०)

नोट—२-*'कालगति'* इति। जो जिस समय होनहार है उस समय होकर रहता है। जैसे वैशाख-ज्येष्ठमें धूप, माघ-पूसमें जाड़ा, श्रावण-भादोंमें वर्षा इत्यादि कालगति है; जब जैसा समय आता है वैसा होता है। विशेष *'जनम मरन सब दुख सुख भोगा।"""काल करम बस होहिं गोसाईं॥'* (१५०। ५-६) में देखिये।

नोट—३ *'तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू'* इति।—लक्ष्मणजीके कदरानेसे इनका कदराना भी जाना। वे सिखावन सुनकर सुखी न हुए थे। उसी प्रकार ये भी कादर हो रहे हैं, इनको भी इससे सुख न हुआ। (पं० रा० कु०)

लखि बिधि बाम कालु कठिनाई। धीरजु धरहु मातु बलि जाई॥ ५॥
सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन* दुखु हरहू॥ ६॥
गुर के बचन सचिव अभिनंदनु। सुने भरत हिय हित जनु चंदनु॥ ७॥
सुनी बहोरि मातु मृदु बानी। सील सनेह सरल रस सानी॥ ८॥

शब्दार्थ—**अभिनन्दनु**=विनीत प्रार्थना, अनुमोदन, प्रोत्साहन, प्रसन्नताका प्रकाशन, समर्थन, ताईद। **हित**=लिये, हितकर। **अनुसरहू**=अनुकूल करना, पीछे-पीछे चलना,पालन करना।

अर्थ—विधाताकी प्रतिकूलता (अपने खिलाफ, टेढ़ा वा विपरीत होना) और कालकी कठोरता देखकर धीरज धरो, माता तुम्हारी बलिहारी जाती है॥ ५॥ गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य कर उसके अनुसार करो। प्रजाका पालन करके कुटुम्बका दुःख हरो॥ ६॥ भरतजीने गुरुके वचन और मन्त्रियोंका अनुमोदन तथा विनीत प्रार्थना सुनी जो उनके हृदयके लिये मानो चन्दन थे अर्थात् हृदयको शीतल करनेवाले थे॥ ७॥ फिर उन्होंने माताकी शील-स्नेह-सरल-रसमें सनी हुई कोमल मीठी वाणी सुनी॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'लखि बिधि बाम"""'* इति। अर्थात् जब विधाता रूठे होते हैं तब कितना ही उपाय करो कुछ बन नहीं पड़ता और जब वह दाहिना होता है तब बिना परिश्रम सब कुछ बन जाता है। *'कालु कठिनाई'* अर्थात् काल जबरदस्ती सब करता-कराता है; देखो कठिनता उसकी गर्मीमें पसीना टपके,जाड़ेमें आग तापना पड़े, किसीका बस नहीं चलता। कालकी गतिको कोई रोक नहीं सकता। (इस चरणमें गुरु वसिष्ठके *'हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ'* इन वचनोंका भाव और अनुमोदन है। ये टल नहीं सकते अतः धैर्य धारण करनेके सिवा और क्या किया जा सकता है।) यहाँ श्रीरामजीका वनगमन विधिकी वामता है और राजाकी मृत्युमें कालकी कठिनाई कारण है।

टिप्पणी—२ *'आयसु अनुसरहू'* कहकर तब आयसु कहा कि *'प्रजा पालि"""'* यह जो आज्ञा है, इसे करो।

नोट—१(क) *'गुरु के बचन सचिव अभिनंदनु'* इति। 'अभिनन्दन' शब्द देकर जनाया कि गुरुजीके वचनोंसे मन्त्रियोंको आनन्द हुआ, इसीसे उन्होंने उनका अनुमोदन किया। (पं० रा० कु०) (ख) *'भरत हिय हित जनु चंदनु'* इति। अर्थात् ये वचन श्रीभरतजीके हृदयको चन्दनके समान हित करनेवाले हैं। क्योंकि इनमें पिताकी तथा गुरुकी आज्ञाका पालन कहा गया है जो सब धर्मोंमें शिरोमणि होनेसे लोक-परलोक दोनोंका सुख प्राप्त कर देनेवाले हैं। (पं० रा० कु०) (ग) *'चंदनु'* की उपमाका भाव यह है कि जैसे चन्दनमें दो गुण हैं—सुगन्ध और शीतलता; वैसे ही इन वचनोंमें परलोक-सुख शीतलता है। (रा० प्र०) अथवा, राज-व्यवहारमें ताप मिट जायगा यह शीतलत्व है, लोकमें सुयशका होना कि पिता और गुरुकी

* पुरजन—रा० प्र०।

आज्ञा मानकर इन्होंने राज्य स्वीकार किया और प्रजाका पालन किया यही सुगन्ध है। (शीलावृत्त) बैजनाथजी लिखते हैं कि चन्दन श्वेत, पावन, शीतल और सुगन्धित होता है। यहाँ पिताकी आज्ञा श्वेतता, कुसमयमें प्रजापालन पावनता, श्रीरघुनन्दनके आनेपर राज्य सौंप सेवा करना शीतलता और मन्त्रियोंका अनुमोदन सुगन्ध है। चन्दन पान करनेमें कड़वा लगता है वैसे ही ये वचन श्रीभरतजीको कड़वे लगे।

नोट—२ चन्दन है तो व्याकुल क्यों हुए? उत्तर—(क) अन्त:करणमें ताप, ऊपर लगे चन्दन! तो निवारण कैसे हो? वाणी हितकर है पर भीतर तो विरहाग्नि है इससे विपर्यय हुआ। आगे छन्दमें भी देखिये। (पं० रा० कु०) (ख) श्रीभरतजी जानते हैं कि *'भगत उर चंदनु'* तो एकमात्र श्रीरामजी ही हैं, अत: उस चन्दनके बिना उनका हृदय कब शीतल हो सकता है। राज्यारोहणरूपी चन्दन शोकरूपी कराल सर्पोंसे वेष्टित है, इसीसे वे आगे कहते हैं—*'सोक समाजु राजु केहि लेखें। लषन राम सिय पद बिनु देखें॥'* (१७८। ३) (प० प० प्र०)

नोट—३ *'सील सनेह सरल रस सानी'* इति। शील यह कि प्रतिकूल सौत कैकेयीके पुत्रका पक्ष लेती हैं, उनको राज्य पानेमें सहारा होती है। *'मातु बलि जाईं'* स्नेह है। मन सौम्य है, निश्छल है, यह नहीं कि भीतर कुछ, बाहर कुछ, यह सरलता होती है। (पं० रा० कु०) वा, वात्सल्य रसकी होनेसे *'सरल रस सानी'* कहा। (वै०)

छं०—सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरत ब्याकुल भए।
लोचन सरोरुह स्त्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नए॥
सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की।
तुलसी सराहत सकल सादर सींव सहज सनेह की॥

सो०—भरतु कमल कर जोरि धीर धुरंधर धीर धरि।
बचन अमिअ जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहि॥ १७६॥

अर्थ—सरलतारूपी रसमें सनी हुई (अर्थात् अत्यन्त सीधी-सादी छलरहित) माताकी वाणी सुनकर भरतजी व्याकुल हो गये। कमल-समान नेत्र आँसू बहाते हैं और हृदयके नये विरहके अँखुयेको सींच रहे हैं अर्थात् जो विरह उनके हृदयमें था उसको इन्होंने हरा-भरा कर दिया, उनके वियोगजनित दु:खको बढ़ा दिया। उनकी वह दशा देखकर उस समय सभीको अपने शरीरकी सुध भूल गयी। तुलसीदासजी कहते हैं कि सब लोग स्वाभाविक प्रेमकी सीमा श्रीभरतजीकी आदरपूर्वक सराहना कर रहे हैं। कमल-समान हाथोंको जोड़कर धीर (धैर्यवानों और बुद्धिमानोंमें) श्रेष्ठ श्रीभरतजी धैर्य धारण करके मानो अमृतमें वचनोंको डुबाकर सबको उचित उत्तर देने लगे॥ १७६॥

नोट—१ *'सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरत ब्याकुल……'* इति। सरल वाणी सुनकर व्याकुल होनेके कुछ कारण ऊपर चौपाईमें लिखे गये और भाव ये कहे जाते हैं—(क) व्याकुल होनेका भाव कि माता भी श्रीरघुनाथजीसे विमुख करना चाहती हैं। शील, स्नेह और सरलता—ये तीनों दोष हैं क्योंकि इनमें पड़नेसे श्रीरामविमुख हो जायँगे; दु:ख कुछ और, दवा कुछ और! (रा० प्र०, पु० रा० कु०) नेत्रकमल जल नहीं गिराते मानो हृदयमें जो नवीन विरहांकुर हैं उन्हें सींचते हैं। यहाँ लुप्तोत्प्रेक्षा है। (ख) कोई कुटिलके साथ कुटिलता करे तो उसे दोषी न कहेंगे, पर यदि सरलस्वभाव मनुष्यके साथ कोई कुटिलता करे तो बड़ा पाप है। भरतजी यह सोचकर कि ऐसी अत्यन्त सरल सुशील माताके साथ कैसी कुटिलता की गयी, व्याकुल हो गये। (पं०)(ग) वे इस सरलताको अपनी माताकी कुटिलतासे मिलाकर श्रीरामवनवास आदि अनर्थोंका स्मरण करने लगे। उस स्मरणके साथ कमलनेत्रसे जल बहाकर हृदयमें विरहके नये अंकुरोंको सींचते हैं। वा, नये अंकुरोंको ये नेत्र सींचते हैं और श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीजीका वनगमन और नृपमृत्यु

आदि वे अनेक विरह-अंकुर हैं। (पां०) (घ) कैकेयीके वचनसे रामवियोग-बीज हृदय-थलमें पड़े थे, वे इस जलको पाकर अंकुर होने योग्य हुए। (वै०)

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ (क) कमललोचनसे जल गिरता है मानो वे जलसे हृदयमें जो विरहके नवीन अंकुर हैं उन्हें सींचते हैं, विरहांकुर जो हृदयमें था वह अब अँखुआ हो गया। यदि अब यह बढ़ा तो १४ वर्षका विक्षेप पड़ जायगा। गर्मी-सर्दी पाकर अँखुए निकलते हैं। यहाँ अन्त:करणमें ताप था और ऊपरसे वर्षा हुई उसकी, अथवा चन्दनकी शीतलता पाकर अँखुए निकले। [वे राज्य देकर विरहको शान्त करना चाहते हैं, इसीसे ये आँसू बहाकर विरहको बढ़ाते हैं। इसमें अलंकार है। श्रीरामविरहका बढ़ाना गुण है, राज्य पाकर श्रीरामविरहका शान्त होना दोष है। (खर्रा)]

टिप्पणी—२ *'सो दसा देखत……'* इति। उस (ऐसे भी) कष्टके समय भरतजीकी यह दशा अर्थात् रामजीमें उनकी ऐसी प्रीति, ऐसी सावधानता देखकर सब प्रेममें मग्न हो गये, देह-सुध भूल गये। जब सावधान हुए तब सराहने लगे कि भरत सहज स्नेहकी मर्यादा हैं। प्रभु-प्रतिकूल वार्ता न सहन कर सके—ऐसे प्रेमी! इसीका स्वरूप कवि सभा समाप्त होनेपर लिखते हैं—*'मातु सचिव गुरु पुर नर नारी। सकल सनेह बिकल भै भारी॥ भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥'*

टिप्पणी—३ *'धीर धुरंधर धीर धरि'* इति। व्याकुल थे, अतएव *'धीर धुरंधर धीर धरि'* कहा। अर्थात् कोरे प्रेमी ही नहीं हैं, उत्तर देनेमें भी समर्थ हैं, धीरज धरकर उत्तर देने लगे।

नोट—२ *'बचन अमिअ जनु बोरि देत उचित उत्तर'* इति। उत्तर कड़ा होता है, गुरु, माता, वृद्ध मन्त्रियोंको उत्तर देना है। ऐसा उत्तर दिया कि किसीको दु:ख न हो, यह *'उचित'* उत्तर है। ऐसी बातका उत्तर कड़ा होगा, पर इनका उत्तर अमृतरसमें मानो डूबे हुए शब्दोंमें दिया गया कि मधुर लगे। (शीला, पु० रा० कु०)

मोहि उपदेसु दीन्ह गुर नीका। प्रजा सचिव संमत सबही का॥ १॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहौं कीन्हा॥ २॥
गुर पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥ ३॥
उचित कि अनुचित किएँ बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥ ४॥

शब्दार्थ—'**धरि**'=ठहराकर, निश्चय करके।

अर्थ—श्रीगुरुजीने मुझे अच्छा उपदेश दिया (उसपर भी) उसमें प्रजा, मन्त्री आदि सबका सम्मत है॥ १॥ माताने भी उसे उचित ठहराकर (समझकर) (वही) आज्ञा दी। मैं उसे अवश्य सिरपर धरकर करना चाहता हूँ॥ २॥ (क्योंकि) गुरु, पिता, माता, स्वामी और मित्र (हितैषी) के वचनोंको सुनकर भला जानकर प्रसन्न मनसे करना चाहिये*॥ ३॥ उचित है या अनुचित, ऐसा विचार करनेसे धर्म नष्ट हो जाता है और सिरपर पापका भार लदता है॥ ४॥

नोट—१ (क) *'मोहि उपदेसु……'* इन वचनोंद्वारा पहले सब वचनोंकी बड़ाई करते हैं। (ख) *'मातु उचित धरि आयसु दीन्हा'* इति।—माताने कहा था कि *'तुम्ह ही सुत सब कहँ अवलंबा'* अर्थात् घरमें कोई और नहीं है, जो घरमें हो वही सबको सँभालता है। यह विचार उनका उचित है। बैजनाथजी लिखते हैं कि इससे यह भी व्यंजित किया कि औरोंके वचन अनुचित हैं।

नोट—२ (क) *'उचित कि अनुचित किए बिचारू'* से जनाया कि इसमें कुछ अनुचित है। क्या है? इसपर काष्ठ जिह्वास्वामी कहते हैं कि पिताके वचनको पालन करनेको कहते हैं। पिताने तो युवराज दिया है, न कि राज। राजा अब हैं नहीं,जब कोई राजा हो तब तो हम युवराज हों। इन्होंने सोचा नहीं कि बिना श्रीरामजीके राजा हुए हम युवराज कैसे हो सकते हैं—ऐसा उचित-अनुचित विचार

* पं० रामकुमारजी 'हित' को वाणीका विशेषण मानकर अर्थ करते हैं और कहते हैं कि इसमें यह भी अर्थ निकलता है कि गुरु-पितु-मातु और स्वामीकी वाणीको अवश्य मानकर करना चाहिये। पर यहाँ तो तीनकी ही आज्ञा हुई, एक 'स्वामी' बाकी हैं, उनकी भी मिले तब तो करें।

करनेसे भी गुरु आदिका अपमान होता है यह धर्मसंकट रामचरण छोड़ और कौन निवारण कर सकता है? भाव कि जब पादुकाएँ आवें तब ये युवराज हों। गीतावलीमें भरतजी कहते हैं—*'मेरो अवध धौं कहहु कहा है। करहु राज रघुराज चरन तजि लै लटि लोगु रहा है॥ धन्य मातु हौं धन्य लागि जेहि राज समाज ढहा है। तापर मोको प्रभु करि चाहत सब बिनु दहन दहा है॥ राम सपथ कोउ कछू कहै जनि मैं दुख दुसह सहा है। चित्रकूट चलिए सब मिलि बलि छमिये मोहि हहा है॥'* (२। ६४। १—३)। (ख) *'धरमु जाइ सिर पातक भारू'* इति। भारी पाप होता है तो अंगीकार क्यों न किया? क्योंकि यह लौकिक धर्म है और रामसम्मुख होना परमधर्म है। परमधर्मके लिये इनका त्याग उचित है, यथा—*'सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥'* (२९१। १) **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'** (गीता १८। ६६)

तुम्ह तउ देहु सरल सिख सोई। जो आचरत मोर भल होई॥ ५॥
जद्यपि यह समुझत हउँ नीकें। तदपि होत परितोष न जी कें॥ ६॥
अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावनु देहू॥ ७॥
ऊतरु देउँ छमब अपराधू। दुखित दोष गुन गनहिं न साधू॥ ८॥

शब्दार्थ—**'आचरत'**=आचरण करनेसे, चलनेसे। **'अनुहरत'**=योग्य, अनुसरण करने योग्य, यथा—*'सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही।'*

अर्थ—आप तो मुझे वही सरल शिक्षा दे रहे हैं जिसपर चलनेसे मेरा भला होगा॥ ५॥ यद्यपि मैं यह अच्छी तरह समझता हूँ तो भी मेरे जीको सन्तोष नहीं होता॥ ६॥ अब आप मेरी विनती सुन लीजिये और मेरे योग्य शिक्षा दीजिए॥ ७॥ मैं आपको उत्तर दे रहा हूँ, अपराध क्षमा कीजिए, (क्योंकि) साधु (महात्मा, सज्जन, अच्छे लोग) दु:खी मनुष्यके गुण-अवगुणको नहीं गिनते अर्थात् उसपर ध्यान नहीं देते, उसका बुरा नहीं मानते॥ ८॥

नोट—१ *'जद्यपि यह समुझत हउँ नीकें।……'* इति। इस तरह सबके वचनोंका समर्थन किया कि आप लोगोंने जो कहा कि इसको माननेसे हित होगा यह ठीक है, इसमें संदेह नहीं। मैं अवश्य मान लेता। पर मेरे हृदयको इससे सन्तोष नहीं हो रहा है। अत: माननेसे लाचार हूँ।

नोट—२ *'अब तुम्ह बिनय……'* इति। (क) भाव कि आपने उपदेश दिया है, मैं विनती करता हूँ, उसे सुन लीजिये, सुननेके पश्चात् फिर मुझे जो उपदेश दें वह मैं करूँ। (ख) *'मोहि अनुहरत'* कहकर जनाया कि जो उपदेश आपने दिया है वह मेरे योग्य नहीं है। क्योंकि उससे जीको सन्तोष नहीं हो रहा है। किस तरह हृदयको सन्तोष होगा यह मैं विनयमें कहूँगा, उसके अनुकूल मुझे उपदेश दें, मैं उसे करूँगा।

नोट—३ *'ऊतरु देउँ……'* इति। (क) उपदेशको शिरोधार्य न करके उसपर कुछ कहना यही उत्तर देना है। गुरुजनोंकी इच्छा सुनकर उत्तर देना पाप है। यथा—*'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवकु लखि लाज लजाई॥'* (२६९। ५), *'धरम जाइ सिर पातक भारू।'* अत: क्षमाकी प्रार्थना करते हैं। (ख) *'दुखित दोष……'* इति। *'दुखित'* कहकर उत्तर देनेका कारण बताया। दु:खमें सेवक स्वामीको उत्तर दे बैठता है, उसे विचार नहीं रह जाता, यथा—*'कटु कहिए गाढ़े परे।'* (वि० ३५) पर सज्जन लोग दु:खी सेवक आदिके इस दोषपर ध्यान नहीं देते, यथा—*'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिए बोलहिं न बिचारी॥ नाकहिं आए नाथ सों भय साँसति भारी। कहि आयो कीबी क्षमा निज ओर निहारी॥'* (वि० ३४), वैसे ही मैं बहुत दु:खी हूँ, अत: मेरे वचनका बुरा न मानियेगा, उसे क्षमा कीजियेगा। (ग) *'दोष गुन'*—यहाँ दोषको प्रथम कहा क्योंकि यहाँ *'दोष'* ही अभिप्रेत है। नहीं तो मुहावरा है *'गुण-दोष'* बोलनेका। द्वन्द्व बोलनेकी रीति है इसीसे दोष-गुण दोनों साथ कहे गये।

* यही राजापुरका पाठ है। वस्तुत: 'दीख' होना चाहिये।

अथवा, आर्त मनुष्यके मुखसे यदि गुण (अच्छी बात) भी कोई निकल जाय तो भी यही समझा जायगा कि वह उसे ऐसा जानकर नहीं बोल रहा है।

दो०—पितु सुरपुर सियरामु बन करन कहहु मोहि राजु।
एहि तें जानहु मोर हित कै आपन बड़ काजु॥ १७७॥

हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई॥ १॥
मैं अनुमानि दीखि मन* माहीं। आन उपाय मोर हित नाहीं॥ २॥

अर्थ—पिता तो स्वर्गमें हैं और श्रीसीतारामजी वनमें, और मुझसे राज्य करनेको कहते हो! इससे आप मेरा भला समझते हैं या कि अपना कोई बड़ा काम निकलना समझ रहे हैं? (दोनोंमें आपकी भूल है क्योंकि)॥ १७७॥ हमारा भला तो श्रीसीतापति रामचन्द्रजीकी सेवामें ही है; सो उसे माताकी कुटिलताने हर लिया॥ १॥ मैंने मनमें विचारकर देख लिया कि किसी और उपायसे मेरी भलाई नहीं है॥ २॥

रा० प्र०—१ *'पितु सुरपुर……'* इति। भाव यह कि—(क) जिसको हमारे बड़े त्याग गये उसको हम ग्रहण करें, यह उचित नहीं। वा, (ख) जिस राज्यके कारण ये दो अनर्थ हुए कि श्रीरामजी वनको गये और पिता सुरपुरको, वही राज्य हमें देकर हमको कहाँ भेजना चाहते हो? पातालको, नरकको या कहाँ? वा, (ग) इस राज्यकी चर्चामात्रसे ये अनर्थ हुए तो ग्रहण करनेसे न जाने क्या आफत ढा पड़े!

२—*'मोर हित'* से गुरुके *'हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई', 'मानहुँ मोर बचन हित जानी'* इन वचनों और माताके *'सो आदरिय करिअ हित जानी'* इस वचनपर लक्ष्य है। *'आपन बड़ काज'* से *'पालहु प्रजा सोक परिहरहू', 'तेउ प्रजा सुख होहिं सुखारी', 'प्रजा पालि परिजन दुख हरहू'* और *'तुम्हहीं सुत सब कहँ अवलंबा'* इत्यादिपर लक्ष्य है।

नोट—१ *'हित हमार सियपति सेवकाई'* में *'हमार'* बहुवचन अपने लिये प्रयुक्त किया है। यह अहंकारवाचक शब्द है। मेरे जानमें यह और जगह दोष है पर श्रीरामजीके सम्बन्धमें अभिमान प्रशंसनीय है, यथा—*'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'* (प्र० सं०) अथवा, *'हमार'* से सचिवादि प्रजा और अपना सभीका हित इसीमें सूचित किया। इस तरह यह *'मोर हित'* और *'आपन बड़ काज'* का ही उत्तर है। पर *'आपन'* में स्वयं अपना अन्तर्भाव करते हैं और पश्चात् *'मोर हित'* का जो एक ही उपाय है उसे बताते हैं।' (प० प० प्र०) किसीका मत है कि *'हमार'* से माण्डवीजीसहित अपनेको कहा, वे श्रीसीताजीकी सेवामें रहेंगी। पर यह क्लिष्ट कल्पना है।

पाँड़ेजी—इस सभामें चार सूत्र हैं, दो (नीति और धर्म) वसिष्ठजीके वाक्यमें और दो (हमारा हित और सबका काज) भरतजीके वाक्यमें; इन्हीं दोनोंकी व्याख्या इनमें है।

नोट—२ *'सो हरि लीन्ह……'*। भाव कि जब अपना हर लिया हुआ धन फिर मिले तब अपना हित हो सकता है, अन्यथा नहीं। (रा० प्र०)

पु० रा० कु०—*'मैं अनुमानि दीखि मन माहीं'* इति। गुरुने कहा था कि *'यह सुनि समुझि……सिर धरि राज रजायसु करहू'* उसीका उत्तर यहाँ है कि हमने मनमें विचार कर देखा कि सीतापतिकी सेवासे ही हमारा हित है, दूसरे उपायसे हित नहीं; दूसरोंका हित भले ही हो पर मेरा तो नहीं है।

सोक समाजु राजु केहि लेखें। लषन राम सिय बिनु पद देखें* ॥ ३॥
बादि बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू॥ ४॥
सरुज सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरिभगति जाँय जप जोगा॥ ५॥

* किसी-किसीने 'पद बिनु' पाठ दिया है।

जाय जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सबु बिनु रघुराई॥ ६॥
जाउँ राम पहिं आयेसु देहू। एकहि आँक मोर हित एहू॥ ७॥

शब्दार्थ—**सोक समाजु**=जो शोकका समुदाय है, शोकसे पूर्ण है। **आँक**=बात, दृढ़ निश्चय, निश्चित सिद्धान्त, यथा—***'एकहि आँक इहइ मन माहीं'।***

अर्थ—शोकका समुदाय यह राज्य बिना श्रीसीताराम-लक्ष्मणजीके चरणोंको देखे किस गिनतीमें है (अर्थात् चरणोंमें यदि प्रेम नहीं तो राज्य भी व्यर्थ ही है)॥ ३॥ जैसे बिना कपड़ेके बोझभर गहने (पहने होना भी) व्यर्थ हैं, बिना वैराग्यके (कोरा) ब्रह्मविचार व्यर्थ*॥ ४॥ रोगी शरीरके लिये बहुत-से विषयभोग-विलास व्यर्थ, बिना भगवद्भक्तिके जप-योग व्यर्थ और बिना जीवके सुन्दर देह व्यर्थ हैं॥ ५॥ वैसे ही बिना रघुराई श्रीरामजीके मेरा सब कुछ व्यर्थ है। अर्थात् और जिस-जिससे मेरा हित कहा जाता है वह सब व्यर्थ है॥ ६॥ मैं श्रीरामजीके पास जाऊँ, आप मुझे आज्ञा दें। मेरे हितका तो यह एक ही ***'आँक'*** है (भाव यह कि ब्रह्माने मेरे हितमें यही एक अंक लिखा है, और जिस राज्य आदिमें मेरा हित आप मानते हैं वे शून्य हैं, उनसे मेरा हित कदापि नहीं) निश्चय एक यही है, इसीमें मेरा भला है॥ ७॥

नोट—१ ***'सोक समाजु राजु केहि लेखें……'*** इति। (क) ***'केहि लेखें'*** अर्थात् इससे अपना हित नहीं हो सकता। रा० प्र० कार यह भी अर्थ करते हैं कि 'शोक-समाजमें राज किस गिनतीमें है'। भाव कि शोकमें सुखदाई वस्तु भी दु:खदाई होती है। हमारे ही कारण श्रीदशरथ महाराज मारे गये, हमारे ही लिये श्रीसीता-राम-लक्ष्मणको वन भेजा गया। हमारे ही लिये तीनों वनको गये। यह सब इस राज्यके कारण हुआ। कैकेयीने राजमाता बननेके लिये यह सब ठाट ठटा। यथा—***'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू।'……जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिय मोहि मूढ़ समाजा॥'*** (४२। १-२) ***'तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ।'*** (१२५) सारी प्रजाको इसीसे शोक-संताप हुआ कि श्रीरामजीको वनवास हुआ। मुझे भी यही शोक जला रहा है। यही बात श्रीभरतजीने भरद्वाजजीसे कही है—***'राम लषन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनिबेष फिरहिं बन बनहीं॥'……एहि दुख दाह दहइ दिन छाती।'*** (२११। ८, २१२। १) अत: यह राज्य भी दु:खद है। अथवा, भाव कि श्रीरामजीके न होनेसे राज्यको ***'सोक समाजु'*** कहा जैसे श्रीसीताजीने कहा है। यथा—***'तनु धनु धाम धरनि पुर राजू। पति बिहीन सब सोक समाजू॥'*** (६५। ४) अथवा, (बैजनाथजीके मतानुसार) भाव कि 'जिसे आप मेरे लिये सुखका समाज समझते हैं वह सब दु:खका समाज है। सुखद समाज तब हो जब शत्रुघ्न लक्ष्मणकी, माण्डवी सीताजीकी और मैं श्रीरामजीकी सेवा करूँ। इसीसे ***'लषन राम सिय'*** तीनोंको कहा।' (वै०)

नोट—२ (क) यहाँ पहले लक्ष्मणजीका नाम लेकर जनाया कि—भगवान्‌की अपेक्षा भागवतका आदर करना प्रथम उचित है क्योंकि ***'राम तें अधिक रामकर दासा।'*** (७। १२०) (रा० प्र०) वा, भागवत-दर्शन बिना भगवत्-दर्शनका अधिकारी नहीं होता—(पु० रा० कु०) प्रज्ञानानन्द स्वामीजी कहते हैं कि मानसमें प्राय: ***'राम लषन सिय'*** या ***'लषन राम सिय'*** यही अनुक्रम मिलता है। ***'लषन राम सिय'*** यह क्रम श्रीभरतजीके वचनोंके अतिरिक्त अन्यत्र भी मिलता है। यथा—***'लषन राम सिय जाहु बन भल परिनाम न पोच।'*** (२८२) (श्रीकौसल्यावाक्य), ***'लषन राम सिय पंथ कहानी। पूछत सखहि कहत मृदु बानी॥'*** (२१६। ६) ***'लषन राम सिय सुनि सुर बानी। अति सुखु लहेउ न जाइ बखानी॥'*** (२३३। ३) (कविवाक्य) अत: ***'लखन'*** शब्दमें विशेष भाव निकालना क्लिष्ट कल्पना है। (ख) शंका—श्रीलक्ष्मणजी श्रीभरतजीसे छोटे हैं, तब उन्होंने उनके साथ ***'पद'*** शब्दका प्रयोग क्यों किया? समाधान—श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीतारामसेवापरायण होकर उनके साथ वनको गये। इससे श्रीभरतजी उनको बड़भागी और अपनेको अभागी मानते हैं। यथा—***'अहह धन्य लछिमन बड़भागी। रामपदारबिंदु अनुरागी।'*** (७। १। ३) ***'को***

* इसका अर्थ किसी-किसीने ऐसा किया है—'बिना ब्रह्मज्ञानके वैराग्य व्यर्थ है'।

तिभुवन मोहि सरिस अभागी।' (१६४। ६) जैसे वयोवृद्ध, तपोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध आदि वृद्धके अनेक प्रकार हैं वैसे ही 'राम सेवा' वृद्ध भी पूजनीय और आदरणीय है। (प० प० प्र०) अथवा, ***'राम सिय'*** शब्द अन्तमें आये हैं, उन्हींके लिये ***'पद'*** शब्द है। अर्थ करनेमें बचाकर अर्थ कर लेना चाहिये, जैसे ***'हृदय सराहत सीय लुनाई। गुर समीप गवने दोउ भाई॥'*** (१।२३७।१) में ***'दोउ भाई'*** कहा, परन्तु श्रीसीताजीकी सुन्दरताकी सराहना केवल श्रीरामजी कर रहे हैं, न कि दोनों भाई।

पु० रा० कु०—'यहाँ वस्त्र बिना ऊपरका दुःख, वैराग्य बिना हृदयका दुःख, समस्त भोगसुख भी दुःख, जपयोग गये (हरिभक्ति बिनु?) धर्म-दुःख, जीव बिनु देह-दुःख, राम बिना 'मोर समस्त दुःख'।

पाँड़ेजी—यहाँ दशरथजी वसन और राज्य भूषण हैं; राज्य ब्रह्मविचार और लक्ष्मणजी वैराग्य; राज्य भोग और भरत रामविरहके रोगी; राज्य जपयोग और श्रीजानकीजी हरिभक्ति; राज्य सुन्दर शरीर है और रघुनाथजी जीव। मेरा सब कुछ रघुराई बिना व्यर्थ है। बाबा हरिहरप्रसाद पाँड़ेजीके इस भावका यह आशय कहते हैं कि—'रघुनाथजीके रहनेपर राजारूपी वस्त्र बिना भी राज्य भूषण व्यर्थ न होता, लक्ष्मणरूप वैराग्यके सहित राज्यरूप ब्रह्मविचार बना रहता, श्रीरामवियोगरूप-रोगरहित राज्यरूप भोग बना रहता, हरिभक्तिरूप श्रीजानकीसहित राज्यरूप जप-योग बना रहता। जीवरूप श्रीरघुनाथजीसहित राज्यरूप सुन्दर शरीर बना रहता। पर यह अर्थ प्रकरणके उपयोगी नहीं।' (रा० प्र०)

प० प० प्र०—समस्त विभूषणोंसे विभूषित शरीर शोभाहीन होता है, उससे शरीरकी विडम्बना और भूषणोंका अपमान ही होता है। बिना वैराग्यका ब्रह्मविचार उपहासास्पद और शोक-मोह बढ़ानेवाला होता है, यथा—***'सब नृप भए जोग उपहासी। जैसे बिनु बिराग संन्यासी॥', 'पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोहि बिटप नहिं सकहिं उपारी॥'*** (६।६३।१४) रोगमें भोग-सामग्रीके सेवनसे दुःख बढ़कर विनाशका कारण होता है। बिना हरिभक्तिके जप-योगादि साधनोंद्वारा मोक्षलाभ होनेपर भी वह मोक्षसुख अविनाशी नहीं होता, यथा—***'तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभक्ति बिहाई॥'*** जीव बिना शरीर अपवित्र, स्थान अपवित्र और वह कुलमात्र अपवित्र होता है। इन पाँचों उपमाओंमें जो दोष बताये हैं वे सब राज्य-ग्रहण करनेसे अपनेमें हो जायँगे यह सूचित किया। अर्थात् मेरी विडम्बना होगी और मैं पृथ्वीके लिये भार हो जाऊँ, राज्यग्रहण मेरे लिये उपहासास्पद और शोक बढ़ानेवाला होगा, रामवियोगरूपी कुरोगमें राज्यरूपी भोगसे मेरा विनाश होगा, मेरा दुःख बढ़ जायगा, राज्य स्वीकार करनेसे रामविमुख हो जाऊँगा और वह मुझको तथा पृथ्वीको भी सुखदायक न होगा। (यही भाव आगे ***'मोहि राज हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं॥'*** से स्पष्ट किया है) राजा बननेसे मैं अपवित्र अर्थात् अधर्मबुद्धि हो जाऊँगा। ***'बादि मोर सब बिनु रघुराई'*** का ही विस्तार आगे ***'मोहि नृप करि भल आपन चहहू'*** से ***'जेहि लगि सीय राम बनवासू।'*** (१७९। ३) तक है।

नोट—३ इन उदाहरणोंसे दिखाया कि एकके बिना एक ही व्यर्थ है और फिर अन्तमें कहा कि मेरा तो 'एक' बिना लोक-परलोक, तन-धन 'सब कुछ' व्यर्थ है। वहाँ तो एक-एकको एक-ही-एक दुःख और मुझको समस्त दुःख।

नोट-४ ☞श्रीसीताजीने भी तीन उपमाएँ यही दी हैं। दोनोंका मिलान इस प्रकार है—

श्रीसीताजी		श्रीभरतजी
तनु धन धाम धरनि पुरराजू।	१	***सोक समाजु राजु केहि लेखें।***
पति बिहीन सब सोक समाजू॥		***लषनु राम सिय बिनु पद देखें॥***
भोग रोग सम	२	***सरुज सरीर बादि बहु भोगा।***
भूषन भारू	३	***बादि बसन बिनु भूषन भारू***
जिय बिनु देह	४	***जाय जीव बिनु देह सुहाई***
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं।	५	***बादि मोर सब बिनु रघुराई***

मो कहुँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। ६ *एकहि आँक मोर हित एहू। जाउँ राम पहिं*......

जोड़की चौपाइयोंमें जो भाव हैं वैसे ही भाव यहाँकी चौपाइयोंके हैं। जैसे वहाँ (पति श्रीराम) बिना सब व्यर्थ, अशोभित और दु:खद, वैसे ही यहाँ श्रीराम बिना राज्य व्यर्थ और दु:खद। अन्तके ***'सब बिनु रघुराई'*** के सम्बन्धसे वस्त्र, विरति, स्वस्थ शरीर, हरिभक्ति और जीव श्रीरामजीके स्थानपर हैं और भूषणभार, ब्रह्मविचार,भोग, जपयोग और देह राज्य एवं सर्वस्वके स्थानमें हैं। उपर्युक्त उदाहरण देकर अन्तमें ***'बादि मोर सब बिनु रघुराई'*** कहनेसे यहाँ दृष्टान्तकी झलक आ जाती है। एकके बिना दूसरेको व्यर्थ कहनेमें 'विनोक्ति अलंकार' हुआ। यहाँ 'विनोक्ति माला है।'

***'एकहि आँक मोर हित एहू' इति।**

पाँड़ेजी—भाव यह कि आपने बहुत ***'आँक'*** कहे पर यदि आप यह एक आँक (अक्षर) कह दें कि ***'जा'*** तो मेरा हित इस एक ***'आँक'*** में है।

पण्डित रामकुमारजी कहते हैं कि ***'आँक'*** का अर्थ है 'बात' वा 'निश्चय'। ऊपर किया हुआ अर्थ संगत नहीं है। आगे फिर यह शब्द आया है, यथा—***'एकहि आँक इहै मन माहीं।'*** (१८३। २) वहाँ उस अर्थका निर्वाह कैसे करेंगे? ***'एकहि'***=एक यही।'

रा० प्र०—'हमारे हितमें यह एक ही आँक है। भाव कि ब्रह्माजीने एक यही अंक हमारे हितमें लिखा है, दूसरा नहीं। वा, निश्चय एक यही है, दूसरा नहीं। यहाँतक आपने राज्यादि हितका निराकरण करके श्रीरामजीके पास जाना हित ठहराया। आगे ***'कै आपन बड़काज'*** का निराकरण करते हैं।'

नोट—इसी ***'एकहि आँक'......'*** को शेष सम्पूर्ण भाषणमें पुष्ट किया है।

भरतजीका प्रत्युत्तर

मानस हंस—भरतजीके भाषणके प्रारम्भ, मध्य और समाप्ति कैसी चतुराईसे भरे हैं; यह ध्यानमें आते ही समझ पड़ जाता है कि गोसाईंजी किस दर्जेके व्यवहार-निपुण थे। २—भरतजीके भाषणका मुख्य इंगित यह है—***'यहि ते जानहु मोर हित कै आपन बड़ काज।'***

इस प्रश्नसे उन्होंने सभीको उलझनमें डाल दिया और सभीकी बुद्धिको कुण्ठित कर दिया। औरोंकी तो क्या बल्कि वसिष्ठजीको भी इस पेंच भरी उलझनसे निकलनेकी न सूझी, इसी कारण वे मौन साध रहे। इस प्रश्नात्मक भाषणपर किसीकी भी बुद्धि न चल सकनेके कारण सभीको चुप होकर भरतजीका ही आसरा ताकना पड़ा। अन्तमें इन सबका निर्णय भरतजीने स्वयं ही इस प्रकार किया—***'जाउँ राम पहिं आयसु देहू। एकहि आँक मोर हित एहू॥ मोहि नृप करि भल आपन चहहू। सोउ सनेह जड़ता बस कहहू॥'***

इतना कहते ही विचारणीय प्रश्नका पक्ष एकदम उलट गया और वहाँके सभी उपस्थित सभासदोंपर बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ी। यदि किसीने जरा भी विरोध किया होता तो वह तुरंत ही कैकेयीके पक्षमें शामिल समझा जाता। भरतजी कैसे उच्च श्रेणीके राजनय-निपुण थे, यह अब देख लीजिये।—इसको कहते हैं सेरको सवासेर।

मोहि नृप करि भल आपन चहहू। सोउ सनेह जड़ता बस कहहू॥ ८॥

दो०—कैकेई सुअ[1] कुटिल-मति राम बिमुख गत लाज।
तुम्ह चाहत सुख मोह बस मोहि से अधमु के राज॥ १७८॥

कहौं साँचु सब सुनि पतिआहू। चाहिअ धरम सील नरनाहू॥ १॥
मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा[2] रसातल जाइहि तबहीं॥ २॥

१-'कैकेइ सुअन'—(रा० प्र०), 'कैकेई सुअ'-(ला० सीताराम)।

२-'राज'—(लाला सीताराम)। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि राजापुरकी पोथीमें दोनों पाठ दिये हुए हैं। 'राज रसातल' और 'रसा रसातल'। रसा रसातलमें यमक अलंकार है।

शब्दार्थ—**रसा**=पृथ्वी। **रसातल**—पुराणानुसार पृथ्वीके नीचेके सात लोकोंमेंसे छठा लोक। कहते हैं कि इसकी भूमि पथरीली है और इसमें दैत्य, दानव तथा पाणि नामके असुर रहते हैं=पाताल। रसातलमें पहुँच जाना मुहावरा है—बरबाद होने, नष्ट होनेके अर्थमें। धर्मशील=धर्ममें परिपूर्ण, धर्मपरायण, धर्ममें है स्वभाव जिसका।

अर्थ—आप मुझे राजा बनाकर अपना भला चाहते हैं। यह भी आप स्नेहकी जड़ता (वा स्नेहरूपी जड़ता) के वश ऐसा कह रहे हैं॥ ८॥ कैकेयीका पुत्र, कुटिलबुद्धि, रामविमुख (उनके प्रतिकूल, द्रोही) और निर्लज्ज ऐसे मुझ अधमके राज्यसे आप मोहके वश होनेसे सुख चाहते हैं अर्थात् मेरे राज्यसे सुख चाहना भ्रममात्र है॥ १७८॥ मैं सत्य कहता हूँ। आप सब सुनकर विश्वास करें। धर्मिष्ठको राजा होना चाहिये॥ १॥ ज्यों ही आप मुझे हठ करके राज्य देंगे, (अर्थात् मैं तो बसभर लूँगा नहीं, जो जबरदस्ती ही सब मेरे मत्थे मढ़ेंगे तो) त्यों ही पृथ्वी पातालको चली जायगी॥ २॥

☞ इन चौपाइयोंमें राजनीति है, राजा कैसा होना चाहिये यह बताया है। इनका भाव यह है कि यदि कहो कि राज्यसे अवध भरको लाभ है और इसमें केवल तुम्हारा लाभ है तो इसपर कहते हैं कि यह आपकी भूल है। मेरे राजा होनेमें सबकी हानि है, किसीका लाभ उससे नहीं हो सकता। राजा धर्मात्मा होना चाहिये, अधर्मी राजा होनेसे राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। राज्यमें दुकाल आदि जितनी आपत्तियाँ प्रजापर पड़ती हैं वे सब राजाके अधर्मसे। अधर्मीको राजा न बनावे, यह प्रजा, मन्त्री आदिको उपदेश है।

गौड़जी—राजापुरकी पोथी ग्रन्थकारकी लिखी है इस बातका एक प्रमाण यह भी दिया जाता है कि उसमें इस स्थलपर रसापर हरताल देकर 'राजु' बनाया गया है, यह पाठान्तर ग्रन्थकारका ही किया हुआ हो सकता है। परंतु यह धारणा सहज ही भ्रमात्मक सिद्ध हो जाती है। 'राजु' पाठ कर देनेसे एक ही अर्धालीमें एक ही वाक्यमें बिना प्रयोजन ही पुनरुक्ति आ जाती है। 'रसा' पाठ रहनेसे यह दोष भी नहीं होता और यमकालंकार भी सहज ही आ जाता है। यदि पहले 'राज' लिखा होता और पीछे 'रसा' बनाया जाता तो अवश्य ग्रन्थकारद्वारा संशोधन समझनेके लिये प्रबल कारण थे। यह संशोधन तो ऐसे लेखकका किया जान पड़ता है जो शायद 'रसा' का अर्थ भी नहीं समझता था और काव्यका 'रसिक' भी न था, जो रसाको बदलनेमें आपन्न दोषसे बचनेका भी यत्न कर सकता। 'रसा' न रुचा या सारी पृथ्वीके रसातल जानेमें शंका थी तो 'देस' रखा जा सकता था। अनुप्रास न बनता तो भी पुनरुक्ति दोष न आता।

* 'सोउ सनेह जड़ताबस कहहू' *

पाँड़ेजी—*'जड़ता'* शब्द गुरु आदिके लिये कठोर है, इसीसे पूर्व *'अमियरस बोरी'* कह आये। 'स्नेहके वश' इस पदरूपी अमृतमें डुबोकर कहते हैं। जिसका भाव यह है कि आप सब मेरे स्नेहवश जड़ हो गये हैं।

पु० रा० कु०—स्नेह जड़ है। कथनका भाव यह है कि स्नेहवश वह न कीजिये जिसमें परलोक बिगड़े।

रा० प्र० (क) स्नेहवश गुरु और माता, जड़तावश मन्त्री आदि। वा,(ख) सबने रामविमुख करानेवाला वचन कहा है, इसीसे सबको यह कटु वचन कहा। जैसा *'तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषण बंधु भरत महतारी। हरि हित गुरु बलि पति ब्रजबनितनि भये मुद मंगलकारी॥'* (वि० १७४) इस पदसे स्पष्ट है। [नोट—यह साधारण बात सबके लिये कही गयी। गुरु और माताके लिये कुछ, औरोंके लिये कुछ, ऐसा नहीं। इसके आगे गुरु और माताको पृथक्-पृथक् भी कहते हैं।]

नोट—१ *'कैकेई सुअ कुटिल मति……'* इति। (क) भाव कि जिसमें एक भी दोष हो उसके राज्यमें सुख नहीं होता और मुझमें तो चार दोष हैं—कैकेयीका पुत्र, कुटिलमति, रामविमुख और निर्लज्ज। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि 'कुटिलबुद्धि रामविमुख और निर्लज्ज कैकेयीका मैं पुत्र हूँ' जिससे जो उत्पन्न होता है वह भी वैसा ही होता है। अतएव मुझ ऐसे अधमके राज्यसे क्या सुख हो सकता है? (रा० प्र०) (ख) कुटिलमति है। अतः वन देकर राजाके प्राण लिये; रामविमुख है अतः उनको वन दिया। (बै०) *'गत लाज'* हूँ इससे सभामें सबको उत्तर देता हूँ और मुँह दिखा रहा हूँ, बातें सुनता हूँ। (पाँड़ेजी, बै०) पुनः, कैकेयीका सुत हूँ अतः कुटिल हूँ, मेरे हेतु वन हुआ, अतः रामविमुख हूँ।

(ग) *'तुम्ह चाहत सुख……'*—भाव कि अधर्मीके राज्यमें प्रजाको सुख नहीं मिल सकता, यथा—दोहावली—*'चढ़े बधूरे चंग ज्यों ज्ञान ज्यों सोक समाज। करम, धरम, सुख, संपदा त्यौं जानिबे कुराज।'* (५१३) (घ) दोहेमें 'दूसरा समुच्चय' और 'सार' अलंकार हैं।

नोट-२—*'रसा रसातल जाइहि'* अर्थात् हमारे लिये कैकेयीने राज्य माँगा। इतनेका तो यह फल सबको मिला और जो राज्य मिलेगा तब तो पृथ्वी मेरे पापके भारसे पातालको अवश्य ही चली जायगी। न जाने कैसा भारी अनर्थ न हो जाय। (बै०) अधर्मके राज्यसे पृथ्वीपर भार होता है, यथा—*'अतिसय देखि धर्म कै हानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥ गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक पर द्रोही॥'* (१। १८४) (ख) यह *'रसा'* है, रसको पैदा करनेवाली है, इससे 'अनरस' न सहा जायगा कि बड़ेके रहते छोटा राजा हो। आगे बताते हैं कि प्रतिज्ञा-बद्ध होनेसे राजाने श्रीरामको वन दे दिया पर छोटेको राज्य, यह अनर्थ वे भी न सह सकते थे; इसीसे वे स्वर्गको चले गये। (पाँड़ेजी)

वि० त्रि०—*'मोहि राज हठि……'* इति। भरतलाल कहते हैं *'कहौं साँचु सब सुनि पतिआहू। चाहिअ धरम सील नरनाहू॥'* **'राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः। राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा॥'** राजा धार्मिक हो तो प्रजा धार्मिक होती है। राजा पापी हो तो प्रजा पापी होती है, राजा सम हो तो प्रजा सम होती है। प्रजा राजाका अनुसरण करती है, जैसा राजा होता है, वैसी प्रजा होती है। अतः यदि आप लोग हठ करके मुझे राज्य स्वीकार करनेके लिये बाध्य करेंगे तो समझ लीजिये कि राज्य रसातलको चला जायगा। प्रजाके सामने यह आदर्श खड़ा हो जायगा कि पिताको मारकर भाईको निकाल बाहर करके, जैसे हो तैसे धनको हथियाना चाहिये, फिर सौ धर्मशास्त्र और हजार कानूनके रोके महा अनर्थ नहीं रुकेगा; और राज्य रसातलको चला जायगा। भरतजीकी यह भावना ऐसी मार्मिक थी कि स्वयं रामजीको इसका अनुमोदन करना पड़ा, यथा—*'कहहुँ सुभाव सत्य सिब साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥'*

मोहि समान को पाप निवासू। जेहि लगि सीयराम बनबासू॥ ३॥
रायँ राम कहुँ काननु दीन्हा। बिछुरत गमनु अमरपुर कीन्हा॥ ४॥
मैं सठु सब अनरथ कर हेतू। बैठि बात सब सुनउँ सचेतू॥ ५॥
बिनु रघुबीर बिलोकि अबासू। रहे प्रान सहि जग उपहाँसू॥ ६॥

शब्दार्थ—**सठ**=दुष्ट। **अबासू**=(सं० आवास)=निवास-स्थान, घर यथा—*'बाजत नन्द अवास बधाई'*—*'कबिरा कहा गरबिया ऊँचा देखि अवास। काल परे भुँइ लोटना ऊपर जमिहै घास॥'*

अर्थ—मेरे समान कौन पापका स्थान अर्थात् बड़ा पापी होगा कि जिसके कारण श्रीसीतारामजीको वनवास हुआ॥ ३॥ राजाने श्रीरामजीको वन दिया और उनके बिछुड़ते ही स्वर्गको चल दिये॥ ४॥ मैं ही दुष्ट सब अनर्थोंका कारण हूँ, बैठा हुआ सावधान सब बातें सुन रहा हूँ॥ ५॥ बिना रघुवीर श्रीरामजीके घरको देखकर तथा जगत्‌में हँसी और निन्दा सहकर भी प्राण बने रहे*॥ ६॥

नोट—१*'बिछुरत गमनु अमरपुर कीन्हा'* इति। भाव यह कि यदि छोटेको राज्य उचित होता, यदि मेरे राज्यसे सुख होता तो वे जीते रहते, पर यथार्थ ऐसा है नहीं। मेरा राजा होना अधर्म है, वे इस अधर्मको कैसे सह सकते थे? इसीसे उन्होंने मेरा तिलक देखना भी अनुचित समझा। हमारे राज्यसे उन्हें मृत्यु प्यारी लगी। राजाने कैकेयीसे कहा है कि नीतियुक्त इक्ष्वाकुकुलमें यह बहुत बड़ा नीतिविरुद्ध काम होने जा रहा है—**'इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्प्राप्तः सुमहानयम्। अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः॥'** (वाल्मी० २। १२। १९) कुलपरम्परासे आया हुआ और गुणवानोंद्वारा प्रशंसित तथा

* यहाँ लक्षणामूलक प्रस्ताव विशेष व्यंग है कि जब इतनी बड़ी निन्दा सहकर प्राण बने हैं तब लोगोंका राज्य भोगनेके लिये आग्रह करना उससे बढ़कर अपवाद नहीं है—(वीरकवि)।

सुव्यवस्थित इक्ष्वाकुकुलका पालन अव्यवस्थित हो गया। इत्यादि (श्लोक ९१ इ०) मानसमें भी कहा है—*'मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति।'*

नोट-२—*'मैं सठु सब अनरथ कर हेतू।.......'* इति। शठ, यथा—'**निकृतस्त्वनृजुशठः**' **(इत्यमरः)** *'सचेतू'* का भाव कि इतना अनर्थ होनेपर भी मैं चैतन्य-सावधान बैठा सब सुन रहा हूँ, मृत्युकी कौन कहे, मूर्छा भी नहीं आती।

नोट—३ *'सहि जग उपहाँसू'* अर्थात् प्राण रह गये तो जगत्में उपहास सहेंगे। लोग हँसेंगे कि एक राम दशरथ-पुत्र हुए कि उनके वचनको मानकर एवं भाई भरतके लिये वनको गये और एक ये राजाके पुत्र हैं कि अपने बड़े भाईके रहते धर्मके विरुद्ध राज्य स्वीकार किया। पुनः रामके विरहमें राजाने शरीर छोड़ दिया और ये उनके पुत्र होकर राज्य भोग कर रहे हैं, इत्यादि।

राम पुनीत बिषय रस रूखे। लोलुप[1] भूमि भोग के भूखे॥ ७॥
कहँ लगि कहौं हृदय कठिनाई। निदरि कुलिसु जेहिं लही बड़ाई॥ ८॥

दो०—कारन तें कारजु कठिन होइ दोसु नहिं मोर।
कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर॥ १७९॥

कैकेई भव तनु अनुरागे। पावँर[2] प्रान अघाइ अभागे॥ १॥
जौं प्रिय बिरह प्रान प्रिय लागें। देखब सुनब बहुत अब आगें॥ २॥

शब्दार्थ—'**अस्थि**'=हड्डी। **उपल**=पत्थर। **अनुरागे**=प्रेम करनेसे।

अर्थ—(मेरे प्राण) श्रीरामरूपी पवित्र विषयके रससे उदासीन हैं। लोलुप हैं। पृथ्वी और विषय-भोगके भूखे हैं[3]॥ ७॥ अपने हृदयकी कठोरता कहाँतक कहूँ कि जिसने वज्रका निरादर करके बड़ाई पायी है। अर्थात् यह वज्रसे भी अधिक कठोर है॥ ८॥ कारणसे कार्य कठोर होता है। इसमें मेरा दोष नहीं। हड्डीसे वज्र और पत्थरसे लोहा भयंकर (घोर, भीषण) और कठोर होता है॥ १७९॥ कैकेयीसे उत्पन्न हुए इस शरीरसे नीच अभागे प्राण भरपेट भोगमें लगे हुए हैं॥ १॥ जो प्यारेके वियोग-दुःखमें भी प्राण अधिक प्यारे लगे हैं तो आगे अब और भी बहुत कुछ देखूँ सुनूँगा॥ २॥

टिप्पणी—१ *'राम पुनीत बिषय रस रूखे।...'* इति। ऊपर जो कहा कि प्राण उपहास सहकर भी रहे, उसका यहाँ कारण कहते हैं कि रामरूपी पुनीत विषय रससे रूखे और लोलुप हैं, भूमि-भोग विषयके भूखे हैं, इसीसे शरीरमें बने हैं।

टिप्पणी २—*'कहँ लगि कहौं हृदय कठिनाई।...'* इति। अर्थात् मेरा हृदय वज्रसे भी अधिक कठोर है, यह कहकर फिर दृष्टान्त देकर बताते हैं कि ऐसा तो होना स्वाभाविक है। पिताने रामवियोगमें शरीर

१-लोलप—(ला० सीताराम)।

२-राजापुर और काशीकी प्रतिमें 'पाव न' पाठ है 'पाँवर' पाठसे टीकाकारोंने ये अर्थ किये हैं—'नीच प्राण परिपूर्ण अभागे हैं।' वा, 'नीच और अभागे प्राण अघा लें।' वा, 'नीच प्राण दुर्भाग्यसे अघावेंगे।' 'पाव' एक वचन है 'अभागे' बहु वचन है। अतः 'पाव' क्रियाका कर्ता अभागे शब्द नहीं हो सकता। पावन प्रान पाठसे क्लिष्ट और असम्भव अन्वय होता है। शुद्ध पाठ 'पाँवर' [=पामर=नीच] है, 'पावन' नहीं है। गोस्वामीजीकी लिपिमें 'र' दोनों तरहसे लिखा देखा गया है। परंतु राजापुरवालीमें एक ही प्रकारसे है, जिसमें 'र' और 'न' में अत्यन्त कम अन्तर है, जिस कारणसे 'पावर' को 'पावन' और 'पावन' को 'पाँवर' पढ़ना सहज है। संदिग्ध पाठ और लिपि दोनोंका कारण अक्षरकी समानता है। अन्वय इस प्रकार है 'पावँर अभागे प्रान अघाइ (कै) कैकेयी भवतनु (महँ) अनुरागे हैं।' (गौड़जी)

३-वीरकवि—यहाँ भी लक्षणामूलक प्रस्ताव विशेष व्यंग है कि स्वामी राजसे उदासीन हैं और मैं उसका लोभी हूँ। इसीसे सभी हितचिन्तक एक स्वरमें राज्य भोग करनेको कहते हैं। यह सुनकर भी छाती नहीं फटती....।

छोड़ दिया और मेरे प्राण न छूटे, इससे मैं पितासे कठिन हूँ कठोर हूँ। प्रमाण, यथा—*'रायँ राम कहुँ काननु दीन्हा। बिछुरत……',* और *'मैं सठु सब अनरथ कर हेतू। बैठि बात सब सुनउँ सचेतू॥'* यह अर्थ प्रसंगके अनुकूल है।

नोट—१ यही भाव रा० प्र० ने लिखा है। पर पंजाबीजी और बैजनाथजीने 'कारण' से कैकेयीको लिया है। अर्थात् कैकेयीसे मैं पैदा हुआ अतएव उसके हृदयसे कठोर मेरा हृदय होना ही चाहिये। इसकी पुष्टि फिर आगेकी चौपाईसे करते हैं।

नोट—२ *'लोह कराल कठोर'* इति। मैं कुल-परम्परा-धर्मको काटनेवाला भयंकर तलवाररूप हुआ। ऐसा भाव पाँड़ेजीने दिया है पर यहाँ इसकी चर्चा नहीं। यहाँ केवल सहन करनेमें 'कठोरता' दिखानेका प्रसंग है। हड्डीसे वज्र अधिक कठोर होता है। दधीचि महर्षिकी कथामें कह आये हैं कि उनकी हड्डियोंसे वज्र निकाला गया और उसका धनुष बनाया गया। पत्थरसे लोहा होता है जो पत्थरसे कठोर होता है। पत्थर घनकी चोट नहीं सह सकता और लोहा सह लेता है इसी तरह हम सबके उपहासके वचन क्यों न सह सकें।

टिप्पणी—३ *'कैकेई भव तनु अनुरागे।……'* इति। भाव कि हमारा जन्म होनेको क्या यही माता थी, और भी तो थीं उनसे होता, इसमें क्यों प्राण आकर टिके। अत: ये भरपूर अभागे हैं।

टिप्पणी—४ *'देखब सुनब बहुत अब आगें'* इति। अर्थात् अभी तो यही देखा है जो आगे कहते हैं। अर्थात् लक्ष्मणरामसीताको वन, पतिहित, अपनेको वैधव्य और अपयश, प्रजाको शोकसंताप और मुझको सुख-सुयश; आगे १४ वर्षतक न जाने क्या-क्या देखनेको मिलेगा।

लषन राम सिय कहुँ बनु दीन्हा। पठइ अमरपुर पति हित कीन्हा॥ ३॥
लीन्ह बिधवपन अपजसु आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोकु संतापू॥ ४॥
मोहि दीन्ह सुखु सुजसु सुराजू। कीन्ह कैकई सब कर काजू॥ ५॥
एहि तें मोर काह अब नीका। तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका॥ ६॥

शब्दार्थ—'**बिधवपन**'=विधवापन, वैधव्य, रँड़ापा।

अर्थ—श्रीसीतारामलक्ष्मणजीको वन दिया। स्वर्ग भेजकर पतिका भला किया॥ ३॥ वैधव्य और अपयश स्वयं लिया। प्रजाको शोक और संताप (दाह दु:ख) दिया॥ ४॥ मुझे सुख, सुयश और सुन्दर राज्य दिया—इस प्रकार कैकेयीने सबका काम किया॥ ५॥ अब इससे भी मेरा और क्या भला होगा? उसपर भी आप लोग राज्यतिलक देनेको कहते हैं॥ ६॥

दीनजी—१ *'मोहि दीन्ह सुखु सुजसु सुराजू।……'* अर्धाली ५ में बहुत ही उत्तम लक्षणामूलक अविवक्षित वाच्य ध्वनि है।

२—पाठकोंको स्मरण रखना चाहिये कि आगे *'घालेसि सब जग बारह बाटा'* कहा जायगा। वे बारह रास्ते यही हैं। (१) रामको वनका रास्ता, (२) सीताको वनका रास्ता, (३) लक्ष्मणको वनका रास्ता, (४) दशरथको अमरपुरका रास्ता, (५) अपनेको विधवापनका रास्ता, (६) अपयशका रास्ता, (७) प्रजाको शोकका, (८) प्रजाको संतापका, (९-१०-११) मुझको सुखका, सुयशका, सुराजका रास्ता और (१२) सबको सुकाजका रास्ता।

नोट—वीरकवि—यहाँ वाच्यार्थ अर्थान्तरद्वारा भासित होता है कि जिस राज्यके लोभमें पड़कर कैकेयीने सारे अनर्थोंको कर डाला, उसीको आप सब मुझे स्वीकार करनेको कहते हैं, बड़े खेदकी बात है। यह 'लक्षणामूलक अविवक्षित वाच्य ध्वनि' है।

नोट—*'एहि तें मोर काह अब नीका।……'* इति। (क) गुरुने यह कहकर कि *'हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥'* (१७१) *'अस बिचारि केहि देइअ दोसू।'* कैकेयीको निर्दोष ठहराया था,

उसका यहाँ उत्तर देते हैं। (ख) भाव कि कैकेयीने सबोंको पदार्थ बाँटे हैं, मुझें सुख-सुयश-सुराज्य दिया और सबका कार्य उसने ही कर डाला। किसीका भी कुछ काम बाकी नहीं रहा। (रा० प्र०) (ग) ***'सब कर काजू'*** में अवधके बाहरवाले भी आ गये। जैसे, जनकमहाराजको सुनकर ह्रास हुआ, देवताओंका कार्य हुआ, वनवासियोंका भला, सुग्रीव विभीषणादिका काम, रावणको सद्गति। काजका अर्थ है भलाई, पर यहाँ व्यंगसे बुराईका अर्थ होगा। (घ) ***'काह अब नीका तेहि पर……'*** अर्थात् इससे बढ़कर मेरी भलाई क्या हो सकती है सो उसने कर ही दी, अब कुछ रह ही नहीं गया तो भी आप……।

कैकइ जठर जनमि जग माहीं। एह मोहि कहँ कछु अनुचित नाहीं॥ ७॥
मोरि बात सब बिधिहिं बनाई। प्रजा पाँच कत करहु सहाई॥ ८॥

दो०—ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि[1] पिआइअ बारुनी कहहु काह[2] उपचार॥ १८०॥

शब्दार्थ—'**जठर**'=पेट, कोख, कुक्षि। **पाँच**=पंच, यथा—***'जो पाँचहिं मत लागै नीका।'*** (२। ५। ३) '**ग्रहीत**'=गृहीत, ग्रसा हुआ, जकड़ा हुआ, पीड़ित, क्रूर ग्रहोंके फेरमें पड़ा हुआ। **बात**=सन्निपात, वात रोग। (१। ११५। ७) देखिये। **उपचार**=चिकित्सा, दवा, इलाज, तीमारदारी।

अर्थ—कैकेयीके गर्भसे संसारमें जन्म लेकर यह मेरे लिये कुछ अनुचित नहीं है॥ ७॥ मेरी बात तो सबकी सब विधाताने ही बना दी फिर (आप सब) प्रजा और पंच क्यों मेरी सहायता कर रहे हैं?॥ ८॥ जो (क्रूर) ग्रहोंसे ग्रसा हो, फिर वात रोगके वश हो, फिर उसे बिच्छूने भी डंक मारा हो,[3] उसे यदि मदिरा पिलाइये तो भला बताइये कि यह कौन इलाज है? (वा, फिर उसका क्या इलाज हो सकता है? अर्थात् कुछ नहीं, वह तो मर ही जायगा)॥ १८०॥

नोट—१ ***'एह मोहि कहँ……'*** इति। (क) ***'एह'*** अर्थात् कैकेयी ही सब कुछ मेरे लिये कर चुकी तो भी आप तुरत टीका देकर मुझे राजा देखना चाहते हैं, अधर्मी बनाना चाहते हैं जो मरणके तुल्य है। यह कुछ अनुचित नहीं, कैकेयीके पुत्रके योग्य ही है। (ख) ***'कत करहु सहाई'***—भाव कि आपकी सहायताकी तो जरूरत ही नहीं थी। व्यंग है कि आप मरतेको क्यों मारते हैं, गिरतेको धक्का क्यों देते हैं। (रा० प्र०) (ग) यहाँ बहुत अच्छा तुल्य-प्रधान-गुणीभूत व्यंग है। (घ) इसमें गुरुपर भी व्यंगसे कटाक्ष है कि आपके पिता ब्रह्माने पहले ही यह साज सज दिया, अब आप उसपर मेरे माथेपर नीला कलंकका टीका लगाना चाहते हैं कि भरतने ऐसे अनर्थका राज्य लिया। (पु० रा० कु०)

'ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस……'

यहाँ ग्रह, बात, बिच्छूका डंक मारना और मदिरा क्या है? इसमें मतभेद है।

देवता, सरस्वती और कुबरी ग्रह हैं, यथा—***'अवध साढ़साती तब बोली'*** (कुबरी), ब्रह्मा और देवताओंने सरस्वतीको भेजा था जो ***'हरषि हृदय दसरथपुर आई। जनु ग्रहदसा दुसह दुखदाई॥'*** (१२। ८) अतएव ये सब ग्रहदशा हैं। राजाकी मृत्युसे ***'भे सब लोग सोक बस बौरा।'*** सब बावले-से हो गये—यही वातवश होना है। रामवनवास बीछीका डंक मारना है, यथा—***'नगर ब्याप गइ बात सुतीछी। छुअत चढ़ी जनु सब तनु बीछी॥'*** और राज्य-तिलक करना वारुणी है। राज्यसे मद होता है, अतएव उसे मदिरा समझें, यथा—***'केहि न राजमद दीन्ह कलंकू', 'सबतें कठिन राजमद भाई॥ जो अँचवत नृप मातहिं तेई।'*** (२३१। ७) उससे कलंक लगता है और कलंक लगना प्रतिष्ठितके लिये मरणसे भी अधिक दारुण है, यथा—***'संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटि सब दारुन दाहू।'*** (९५। ७) (पु० रा० कु०, रा० प्र०) किसीने यह भी लिखा है कि राजाकी मृत्युसे एक वर्षके लिये प्रेत चढ़ा यही बाई है।

१-ताहि।
२-कौन—(भा० दा०)।
३-दूसरा समुच्चय।

नोट—२-प्राय: बात, बीछी और मदिरा इन तीनोंके विषयमें सब एकमत हैं। मुख्य भेद *'ग्रहग्रहीत'* में है। बैजनाथजी कैकेयीको भी शामिल करते हैं। (वे लिखते हैं कि देवता, सरस्वती, कुबरी और कैकेयी क्रमश: जन्मके सूर्य, चन्द्रमा,साढ़साती शनिश्चर और मंगल ग्रह हैं। रामवनवास ज्वरमें श्रीसीतालक्ष्मणका संग कुपथ्य पाकर वात हो गया, नृपमृत्यु बीछीका मारना है।) क्योंकि इसके द्वारा सब काम देवताओंने कराया। पाँड़ेजी और पंजाबीजी केवल कैकेयीको *'ग्रह'* मानते हैं। कैकेयीके उदरमें नौ मास बास नवग्रहोंसे ग्रसित होना है।

बाबा हरीदासजी—यह अभूत उपमा कहकर जनाया कि हमारे समान कोई भी दु:खी नहीं! तीन व्यथाएँ तो देहमें प्राप्त ही हैं, मदिरासे मन भी हाथसे गया अर्थात् वनवास, नृपमृत्यु, कैकेयीद्वारा मेरा ही सब अनर्थका कारण होना ये सब दु:ख मुझपर हैं। इनके निवारणार्थ राजमद पीनेको कहते हो जिससे राम-विमुख भी हो जाऊँ। राम-विमुख होना मरण-तुल्य है। यथा—*'बिष्नु बिमुख······जीवत सव सम चौदह प्रानी॥'* (६। ३०। ३-४)

श्रीनंगे परमहंसजी—(क) यह सब श्रीभरतजी अपनेपर ही आरोपण करके बता रहे हैं, अर्थात् मैं ऐसी दशाको प्राप्त हूँ। दु:खपूर्ण माताओंका दु:ख मुझको ग्रहोंकी भाँति ग्रसे हुए है। श्रीरामलक्ष्मणसीताजीका वनगमनजन्य दु:ख मुझे कफ,वात, पित्तके प्रकोपकी तरह सन्निपात हो गया है। उसपर पिताका मरण बीछीका मारना है। इन दु:खोंसे तो मेरी व्यग्रताका ठिकाना नहीं, उसपर पुन: मदिरारूप राज्याभिषेक मुझे दिया जा रहा है। अब मेरे बचनेका कौन उपाय हो सकता है? (ख) *'ग्रह ग्रहीत'* में देवमायाका अर्थ लागू नहीं है, क्योंकि उस देवमायाका प्रभाव भरतपर नहीं है, उसका प्रभाव मन्थरा या कैकेयीतक है। यहाँ भरतजी अपनेपर ही दु:खोंका सम्बन्ध बता रहे हैं जो बिच्छूको वनगमनकी तारतम्यतामें रखते हैं। वह भरतजीके लिये इस कारण अनुपयुक्त है कि *'भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।'* (१६०) सन्निपातका दरजा बिच्छूसे कहीं अधिक भयंकर और दु:खद है। उससे मरण होनेकी सम्भावना है, बिच्छूसे मरण नहीं होता, उसका विष तीसरे दिन उतर जाता है। अत: भरतजीका श्रीराममें गाढ़ प्रेम होनेसे वनगमनजन्य दु:ख ही वातकृत सन्निपात है जिससे मरणकी सम्भावना है। यथा—*'गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥'* (२८४।४)*'जाय जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सब बिनु रघुराई॥'* (१७८। ६) राजाके मरणका दु:ख बिच्छूकी उपमामें ठीक संगत है।

(श्रीनंगे परमहंसजीने माताओंके दु:खको ग्रह कहा है। माताओंके दु:ख-का-दु:ख भरतजीको है, यह उनके *'देखि न जाहिं बिकल महतारी।'* (२६२।२) इस वचनसे स्पष्ट है। अनेक माताओंके दु:ख अनेक ग्रह हैं।)

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—ऊपर कह आये हैं कि (१) *'लखन रामसिय कहुँ बन दीन्हा'* (२) *'पठइ अमरपुर पति हित कीन्हा। लीन्ह बिधवपन अपजस आपू'* (३) *'दीन्हेउ प्रजहिं सोक संतापू'* (४) *'मोहि दीन्ह सुखु सुजसु सुराजू। कीन्ह कैकई सब कर काजू॥'* इसी प्रसंगके उपसंहारमें यह दोहा कहा गया है। इसमें भी चार बातें हैं—(१) ***ग्रह ग्रहीत*** (२) ***बात बस*** (३) ***तेहि पुनि बीछी मार।*** (४) ***तेहि पिआइअ बारुनी कहहु काह उपचार॥*** इससे स्पष्ट है कि पहली कही हुई चार बातोंके दोषोंको दिखलाते हुए पिछली चार बातें उदाहरणके रूपमें कही गयी हैं।

(१) लखन-राम-सियका वन जाना ही ग्रह-ग्रहीत होना है, यथा *'हरषि हृदय दसरथपुर आई। जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई॥'* (२) पतिको अमरपुर भेजना और बिधवपन लेना एक ही बात है, इसका प्रभाव भरतजीपर सन्निपात-सा पड़ा, भरतजी-ऐसे धीरने माताको दुर्वाद कहा। (३) प्रजाको बीछीसे मारे जाने-सा कष्ट है, यथा—*'नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी। छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी॥'* भरतजी इसका ठीक अनुभव करते हैं, अत: भरतजीको वैसी ही पीड़ा हो रही है। (४) राजका मिलना वारुणी-सेवनके समान समझ रहे हैं, यथा—*'सबते कठिन राजमद भाई।'*

सबका निर्गलितार्थ यह है कि भरतजी कह रहे हैं कि मैं तो इतना दु:खी हूँ; और आपलोग उस

दु:खको मिटानेके लिये मुझे राजरूपी वारुणी दिला रहे हैं, जिसमें उसके नशेमें यह सब दु:ख भूल जाय। यह नहीं समझ रहे हैं कि ऐसे रोगीको वारुणी घातक है, उसके लोक-परलोक दोनोंको नष्ट करेगी।

कैकइ सुअन जोगु जग जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई॥ १॥
दसरथ तनय राम लघु भाई। दीन्हि मोहि बिधि बादि बड़ाई॥ २॥
तुम्ह सब कहहु कढ़ावन टीका। राय* रजायसु सब कहँ नीका॥ ३॥
उतरु देउँ केहि बिधि केहि केही। कहहु सुखेन जथा रुचि जेही॥ ४॥

शब्दार्थ—'**कढ़ावन**'=लगवाना, कराना।

अर्थ—कैकेयीके पुत्र (होनेके) योग्य संसारमें जो कुछ है चतुर विधाताने मुझे वही सब दिया है॥ १॥ परंतु 'दशरथ महाराजका पुत्र' और 'रामका छोटा भाई' यह बड़ाई मुझे विधाताने व्यर्थ ही दी। अर्थात् कैकेयीके पुत्रको 'दशरथ-तनय' और 'रामका छोटा भाई' न बनाना था॥ २॥ आप सब लोग टीका करनेको कहते हैं। राजाकी आज्ञा है और सबको भली लग रही है॥ ३॥ (जब सबको यही अच्छा लगता है तो अकेला) मैं किस प्रकार और किस-किसको उत्तर दूँ। जिसकी जो इच्छा हो वह सुखपूर्वक कहे॥ ४॥

नोट—१ '*कैकइ सुअन जोगु जग जोई।*……' इति। (क) इसके दो प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं। एक यह कि विधाताने विचारा कि कैकेयीका पुत्र किसे बनावें तो उन्होंने संसारमें सिवाय मेरे और किसीको उसका पुत्र होनेके योग्य न पाया, अतएव चतुर विधाताने मुझे ही उसको (पुत्ररूपसे) दिया। अक्षरार्थ—कैकेयीका पुत्र होने योग्य संसारमें जो था (वा सारे संसारमें देखकर) चतुर विरंचिने वही मुझको दिया (उसका पुत्र बनाया)। दूसरा अर्थ यह है कि 'कैकेयीके पुत्रके योग्य संसारमें जो-जो बातें (चाहिये) हैं वही-वही चतुर ब्रह्माने मुझको दिया है।' अर्थात् कुलकलंकी, गुरुस्वामिद्रोही, बन्धुविरोधी, निर्लज्ज इत्यादि होना चाहिये। यह सब बातें मुझमें दी हैं। (ख) '***बिरंचि***' शब्द बहुत उपयुक्त है। अर्थात् वे खूब रचकर बनानेवाले हैं। '***चतुर***' क्योंकि जैसा योग्य पुत्र चाहिये, ठीक वैसा ही रचा, किंचित् भूल-चूक नहीं हुई। आगेकी अर्धालीमें यह शब्द नहीं दिया, क्योंकि वहाँ वे चूक गये कि हमें दशरथपुत्र और श्रीरामजीका छोटा भाई बना दिया, यह सम्बन्ध न देना था। (ग) '***दीन्हि मोहि बिधि बादि बड़ाई***', इसमें व्यंगसे यह अर्थ है कि यह बड़ाई मुझे कुलकलंकी न होने देगी, नहीं तो मैं कैकेयीके योग्य था ही। (पु० रा० कु०) ☞ इससे यह भाव भी ध्वनित होता है कि धर्मात्मा राजाके पुत्रको धर्मपर आरूढ़ रहना चाहिये। ज्येष्ठ पुत्र ही राज्याधिकारी होता है, यह इस कुलकी रीति है तब भला धर्मात्माका पुत्र दूसरेका राज्य कैसे ले सकता है, अतः मैं न लूँगा। मैं और यह राज्य दोनों श्रीरामके ही हैं। यथा—'**कथं दशरथाज्जातो भवेद्राज्यापहारकः। राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि॥**' (वाल्मी० २। ८२। १२) '**ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता हि कुलस्य नः। नैवं भवन्तो मां वक्तुमर्हन्ति कुशला जनाः॥**' (२। ७९। ७) भाव यह कि आपको हमसे राज्य ग्रहण करनेवाली अधर्मकी बात न कहनी चाहिये थी।

नोट—२ '***तुम्ह सब कहहु***……' इति। यथा—'***राय राजपदु तुम्ह कहँ दीन्हा। पिता बचन फुर चाहिय कीन्हा॥***' (१७४। ३) (गुरुवाक्य), '***कीजिअ गुर आयसु।***' (१७५) (सचिव वचन), '***सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू***' (१७६। ६) (कौसल्यावचन); अतः '***तुम्ह सब***' कहा। पुनः यथा—'***करहु राज रघुराज चरन तजि लै लटि लोगु रहा है।***' (गी० २। ६४)

नोट—३ '***कहहु सुखेन जथा रुचि जेही***' इति। भाव कि मैं किसीकी जिह्वा तो पकड़ नहीं सकता,

* पं० रामकुमारजी 'राय राज सबही कहँ नीका' पाठ देते हैं। और यह अर्थ करते हैं—'राजाकी राजभरमें सबको' वा 'राजाकी राय सबको'। (भा० दा०)

जो जिसको अच्छा लगता है वह कहता है और कहे, इसमें मेरा वश ही क्या है। यथा—*'गहि न जाति रसना काहू की कहौ जाहि जोइ सूझै।'* (गी० २।६२) पुनः भाव कि अब मैं कुछ उत्तर न दूँगा।

मोहि कुमातु समेत बिहाई। कहहु कहिहि के कीन्ह भलाई॥ ५॥
मो बिनु को सचराचर माहीं। जेहि सियरामु प्रानप्रिय नाहीं॥ ६॥
परम हानि सबु कहँ बड़ लाहू। अदिनु मोर नहि दूषन काहू॥ ७॥
संसय सील प्रेम बस अहहू। सबुइ उचित सबु जो कछु कहहू॥ ८॥

दो०—राम मातु सुठि सरल चित मो पर प्रेम बिसेषि।
कहइ सुभाय सनेह बस मोरि दीनता देखि॥ १८१॥

अर्थ—मेरी कुमातासहित मुझे छोड़कर, कहिये तो, कौन कहेगा कि यह काम अच्छा किया गया॥ ५॥ मेरे सिवा जड़-चेतन-मात्रमें कौन है जिसको श्रीसीतारामजी प्राणप्रिय न हों॥ ६॥ जो सबसे बड़ी भारी हानि है, वहीं सबको बड़ा लाभ (सूझ रहा) है, मेरे दिनोंका फेर (दुर्दिन, दुर्भाग्य, बुरे दिन) है, किसीका दोष नहीं॥ ७॥ आप सब लोग संशय, शील और प्रेमके वश हैं, (अतएव) आप सब जो कुछ कहें वह सब उचित ही है॥ ८॥ श्रीरामजीकी माता अत्यन्त सरलचित्त हैं और मुझपर उनका बड़ा प्रेम है, वे मेरी दीनता देखकर स्वाभाविक प्रेमके वश हो ऐसा कहती हैं॥ १८१॥

नोट—१ पूर्व कहा कि जिसकी जो इच्छा हो सो कहे, मैं न बोलूँगा। क्यों, सो अब कहते हैं कि *'मोहि कुमातु……'*। अर्थात् संसारमें कोई ऐसा नहीं, सिवाय मेरे और मेरी माँके जो राज्य लेनेपर कहे कि मैंने भला किया। सब मेरी निन्दा करेंगे, एक तो कैकेयी कहेगी कि अच्छा किया, दूसरे मैं अपनेको अच्छा कहूँगा कि मैंने अच्छा किया कि राज्य ग्रहण किया। और कोई भला क्यों न कहेगा? इसका कारण आगे बताते हैं कि *'मो बिनु को……'*। अर्थात् श्रीसीतारामजी सबको प्राणप्रिय हैं। उन प्राणप्रियका राज्य मैंने ले लिया, उनका मैंने अनभल ताका, तब कोई कैसे भला कह सकता है? दोको वे अप्रिय हैं, इससे वे ही दो भला कहेंगे। *'को सचराचर माहीं'*, यथा—*'जगदात्मा प्रान पति रामू।'* (६। ३४। ६), ऐसा ही कैकेयीसे कहा है, यथा—*'अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं॥'* (१६२। ६), पुनः यथा—*'को नर नारि अवध खग मृग जेहि जीवन राम तें प्यारो।'* (गी० २। ६७)

नोट—२ *'परम हानि सबु कहँ बड़ लाहू……'* इति। इसके दो तरह अर्थ करते हैं। एक यह कि (क) जिसमें मेरी परम हानि है, उसमें सबको बड़ा लाभ दीखता है। सबको राम प्राणप्रिय और मैं रामविमुख, हमको वे प्रिय नहीं, यह हमारी हानि है, यथा—*'हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्हि मातु कुटिलाई॥'* और इसीमें सब लोग अपना बड़ा लाभ मानते हैं। अर्थात् राम-विरहमें हमारे प्राण नहीं निकलते, इसीसे सब टीका करानेको कहते हैं, मर जाता तो कोई ऐसा क्यों कहता? कठोर हृदय होनेके कारण ऐसा कहते हैं। (पु० रा० कु०) (ख) राज लेनेमें हमारी परम हानि है पर उसीमें सब *'आपन बड़ काज'* मानते हैं, इसलिये सबका बड़ा लाभ है। दूसरा यह कि रामवनगमन और नृपमरण (रूपी अनर्थ जो मेरे कारण हुए हैं) परम हानि है जिससे सब शोक-निमग्न हैं, वही बड़ा लाभ है अर्थात् हमारे राज्यका कारण है। (पं०, रा० प्र०)

नोट—३ *'संसय सील प्रेम बस अहहू।……'* इति। (क) *'संसय'* का कारण वाल्मीकीय सर्ग ६७ में विस्तारपूर्वक कहा गया है। राजाके स्वर्गवास होनेपर सबेरे ही सब मन्त्री और ऋषिगण एकत्र हो सोचने लगे थे कि किसीको तुरत राजा बनाना चाहिये; क्योंकि 'राजहीन देशका राष्ट्र नष्ट हो जाता है, उसमें खेत नहीं बोये जा सकते, पिता-पुत्र-स्त्री आदि सभी स्वेच्छाचारी हो जाते हैं। धनिक, वणिक्, ब्रह्मचारी,

यज्ञ करनेवाले इत्यादि कोई निश्चिन्त होकर अपने धर्म-कर्म नहीं कर सकते; अराजकताके कारण कोई अपनेको सुरक्षित नहीं समझता। कथा, वार्ता, सभाएँ और उत्सव सब बन्द हो जाते हैं। इत्यादि।' ***सील***=मुलाहिजा। राजा इनको राज्य दे गये हैं, इससे कैसे कहें कि न लो, श्रीरामको राजा होने दो। ***'सौंपेहु राज राम के आए।'*** एवं ***'तब तस करब बहोरि'***—ये शीलसूचक वचन हैं और प्रेम यह कि हमारा भला हो। (ख) भाव यह कि संशय, शील और प्रेम ये तीनों ऐसे हैं कि इनमें विचार नहीं रह जाता। यथा— ***'अस संसय मन भएउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥'*** (१। ५१) ***'कह मुनि राम सत्य तुम्ह भाषा। भरत सनेहु बिचार न राखा॥ तेहि ते कहेउँ बहोरि बहोरी। भरत भगति बस भइ मति भोरी॥'*** (२५८। ६-७) और आप सब इनके वश हैं तब आपके विचार कहाँ? जो चाहे कहिये। (पु० रा० कु०) तात्पर्य कि आप अपने वशमें नहीं हैं, पराये वशमें हैं। इससे आपका कहना अनुचित है—यह व्यंग्यसे जनाया। अथवा, गुरु शीलवश हैं, मन्त्री संशय एवं शीलवश हैं, ☞ गुरुजीने तो स्पष्ट कह दिया कि ***'मरम तुम्हार राम कर जानिहि। सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि॥ सौंपेहु राजु राम के आए। सेवा करेहु सनेह सुभाए॥'*** (१७५। ७-८) क्योंकि वे उनका भाव, उनका रामप्रेम, उनकी धर्मपरायणता जानते हैं, तथा सर्वज्ञ हैं, जानते हैं कि आगे क्या होना है। पर मन्त्रियोंने लगी-लपटी कही, उन्हें संदेह है, यह उनके ***'रघुपति आए उचित जस तब तस करब।'*** (१७५) इस वचनसे स्पष्ट है। और माताकी वाणी शील और स्नेह दोनोंसे युक्त है, यथा—***'सुनी बहोरि मातु मृदु बानी। सील सनेह सरल रस सानी॥'*** (१७६। ८)

टिप्पणी—१ भरतजीका भाषण भी कैसा विलक्षण है? कहते भी जाते हैं और आश्वासन भी करते जाते हैं।

टिप्पणी—२ ***'रामु मातु सुठि सरल चित……'*** इति। वे श्रीरामकी माता हैं और श्रीरामजीका स्वभाव अत्यन्त सरल है, यथा—***'सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं।'*** (१। २३७। २) ***'सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ।'*** (१८३। ५) अत: उनकी माता भी अत्यन्त सरल हुआ ही चाहें। दीनता यह कि पिता मरे और भाई श्रीराम-लक्ष्मण वनको गये। (भरतजीने स्वयं अपनी दीनता आगे कही है, यथा—***'आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ। देखे बिनु रघुनाथपद जिय कै जरनि न जाइ॥'*** (१८२) पहले भूषण अर्थ किये अब दूषण अर्थ करते हैं—***'सुठि सरल चित'*** नहीं चाहिये—**'अति सर्वत्र वर्जयेत्'**। मुझपर विशेष प्रेम है, सो ऐसा भी लट्टू न होना चाहिये कि जिसमें मेरा अहित हो। ऐसा स्नेह दूषित है।

प० प० प्र०—***'सुठि सरल चित'*** का भाव कि गुरु, सचिव और महाजन सब सरल चित्तवाले हैं,पर श्रीराममाताजी 'अत्यन्त सरल चित' हैं। ***'सुठि सरल चित……'*** कहकर यह भी जनाया कि केवल माता ***'संसय बस'*** नहीं हैं। वे केवल अत्यन्त प्रेमके कारण ऐसा कहती हैं। प्रेममें विवेक-नेत्र अंधे हो जाते हैं। यथा— ***'तुलसी बैर सनेह दोउ रहित बिलोचन चारि।'*** (दो० ३२६) ***'बैर अंध प्रेमहि न प्रबोधू।'*** सुठि सरल चित होनेको दोष माननेसे श्रीरामजी भी दोषी ठहरेंगे, क्योंकि आगे भरतजी उनको भी ऐसा ही कहते हैं, यथा—***'सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥'*** (१८३। ५)

गुर बिबेक सागर जगु जाना। जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना॥ १॥
मो कहँ तिलक साज सज सोऊ। भयें बिधि बिमुख बिमुख सबु कोऊ॥ २॥
परिहरि रामु सीय जग माहीं। कोउ न कहहि* मोर मत नाहीं॥ ३॥
सो मैं सुनब सहब सुख मानी। अंतहु कीच तहाँ जहँ पानी॥ ४॥

शब्दार्थ—**सज**=सजाते, तैयार कराते, सँवारते, रचते हैं।

---

* राजापुर, रा० प्र० में 'कहहि' ही है। कहिहि—१७२१, १७६२, छ०। 'कहहि' पाठका भाव पं० वि० त्रि० के टिप्पणीसे स्पष्ट हो जायगा।

अर्थ—गुरुजी ज्ञानके समुद्र हैं, यह सारा संसार जानता है कि जिनके लिये संसार हथेलीपर रखे हुए बेरके समान है (अर्थात् उनको संसारकी भूत, भविष्य, वर्तमानकी बातें निरावरण देख पड़ती हैं)॥ १॥ वे भी मेरे लिये तिलकका साज सज रहे हैं, (उचित समझते हैं) विधाताके रूठनेसे (विपरीत होनेसे) सभी कोई रूठ (प्रतिकूल हो) जाते हैं॥ २॥ श्रीसीतारामजीको छोड़कर जगत्‌में कोई नहीं कहेगा कि मेरा संमत (वनवासमें) नहीं था॥ ३॥ सो मैं उसे सुखपूर्वक सुनूँगा और सहूँगा, क्योंकि जहाँ पानी होता है वहाँ अन्तमें कीचड़ होता ही है॥ ४॥

नोट—१ *'गुर बिबेक सागर जगु जाना।……'* इति। (क) भाव कि कुछ मैं ही नहीं ऐसा कहता, संसारभर इसे जानता है। उन्हें विश्व हथेलीपर रखे हुए बेरके समान है अर्थात् वे त्रिकालज्ञ हैं। वाल्मीकीयमें गुरुकी निन्दा की है, यथा—'**विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम्।**' (२। ८२। १०) अर्थात् श्रीभरतजी सभाके बीचमें विलाप और वसिष्ठजीकी निन्दा करने लगे,उसको यहाँ बहुत सुधारकर लिखते हैं। साथ-ही-साथ इन शब्दोंके भीतर निन्दा (व्यंगसे) भरी है, बाहरसे प्रशंसा है। (पु० रा० कु०) (ख)—जिन्हें त्रिकालकी बातें इस तरह प्रत्यक्ष देख पड़ती हैं जैसे हथेलीपर रखा हुआ बेर, इसमें भाव यह है कि गुरुजी जानते हैं कि मैं माताकी कुचालको जानता भी न था और न मेरा उसमें सम्मत है, तथापि वे भी भविष्यत् देखते-जानते हुए भी मेरे सच्चे, परमार्थके सहायक न होकर, मेरे लिये कलंकका घररूप तिलक सजाते हैं। यह मेरा अभाग्य है। उनका इसमें दोष क्या? जब खोटे दिन आते हैं तो माता-पिता-गुरु-बन्धु-मित्र सब ही उलटे हो जाते ही हैं,यथा—*'भरद्वाज सुनु जाहि जब होइ बिधाता बाम। धूरि मेरु सम जनक जम ताहि ब्याल सम दाम॥'* (१७५) अत: उनका प्रतिकूल हो जाना आश्चर्य क्या? विधि प्रतिकूल हैं, ये उनके पुत्र हैं, अत: प्रतिकूल हुआ ही चाहें। यह सब व्यंग हैं।

प० प० प्र०—*'जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना।' 'मो कहँ तिलक साज सज सोऊ'* से स्पष्ट है कि भरतजी निष्कलंक हैं यह सबको विदित हो जाय इसी विचारसे गुरुने ऐसा उपदेश किया जिसको सब मन्त्री *'गुरु आयसु'* समझें।

☞ *'कर बदर'* यहाँ साभिप्राय है। माता कौसल्याने कहा था कि *'पूत पथ्य गुर आयसु अहई।'* गुरुकी आज्ञा इस कुरोगमें पथ्य है। उसीका यह मानो उत्तर है कि हमारे लिये सारा संसार बेरके सदृश है। बेर रोगीके लिये कुपथ्य है। इसी प्रकार राज्य ग्रहण करना हमारे लिये कुपथ्य है। पूर्व *'करतलगत आमलक समाना'* का दृष्टान्त दिया गया था वह यहाँ नहीं दिया गया क्योंकि वह कुपथ्य नहीं है। विशेष *'तुम्ह त्रिकालदरसी मुनिनाथा। बिस्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा॥'* (१२५। ७) और *'जानहिं तीनि काल निज ग्याना। करतलगत आमलक समाना॥'* (१। ३०। ७) में देखिये। विश्व बेरके समान दोषोंसे भरा हुआ है अत: विश्वके ज्ञानके लिये उसकी उपमा दोनों जगह दी गयी। आमलेकी उपमा आत्मज्ञानकी है। पुन: ज्ञानीकी दृष्टिमें विश्व कुपथ्य है और भक्तकी दृष्टिमें वह पथ्य है, अत: वाल्मीकि और वसिष्ठ ज्ञानियोंको विश्व बेरके समान कहा और श्रीरामचरितके श्रोता-वक्ता भक्तोंके लिये *'आमलक'* समान कहा। श्रीरामचरित-सम्बन्धी बातोंका ज्ञान प्राप्त करनेमें वाल्मीकिजीके सम्बन्धमें भी आमलकका ही दृष्टान्त (वाल्मी० १। ३। ६) में दिया गया है। यथा—'**ततः पश्यति धर्मात्मा तत्सर्वं योगमास्थितः। पुरो यत्तत्र निर्वृत्तं पाणावामलकं यथा॥**' अर्थात् धर्मात्मा वाल्मीकिजीने इन बातोंके अतिरिक्त चरितसम्बन्धी अन्य बातें जो पहले हो चुकी थीं योगबलके द्वारा इस प्रकार जान लीं, जैसे हाथमें रखे हुए आँवलेका ज्ञान मनुष्यको होता है।

वीरकवि—यहाँ भरतजी कहते तो गुरुहीसे हैं परन्तु विमुख होनेकी बात दूसरोंके प्रति कहकर गुरुजीको सूचित करना 'गूढ़ोक्ति' अलंकार है। भाव यह है कि गुरुका ऐसा कहना आश्चर्यजनक है कि ईश्वरके विपरीत, शिष्यको संसारकी ओर लगनेको कहें—'तुल्य प्रधान गुणीभूत व्यंग' है।

नोट—२ *'परिहरि रामु सीय जग माहीं……अंतहु कीच……'* इति। श्रीसीतारामजीको अन्तर्यामी जनाया। यही कहेंगे कि हमारा मत माताकी करनीमें नहीं है बाकी सभी कहते हैं और कहेंगे कि मेरा सम्मत

उसमें था, यथा—*'एक भरत कर संमत कहहीं'।* यह लोकापवाद सहनेके लिये ही मैं पैदा हुआ हूँ, अतएव सहना ही पड़ेगा। मुझे बुरा माननेकी जगह है ही नहीं; क्योंकि यह कहावत प्रसिद्ध ही है कि जहाँ पानी रहता है वहाँ अन्तमें कीचड़ होती ही है। जहाँ कुछ दोष होगा, वहाँ पीछे बदनामी अवश्य होती है। सब उत्पात मेरे लिये हुआ। शोकसमाज-राजके ग्रहण करनेको मुझसे कहा जाता है, मेरा मत लोग समझते ही हैं इत्यादि, अपयशके पात्र हम कैसे न बनें?

वि० त्रि०—*'परिहरि रामु सीय''''''नाहीं'* इति। भरतजी कहते हैं कि जो लोग मुझे राज्य लेनेको कहते हैं, वे दूसरे शब्दोंमें यह कह रहे हैं कि यह सब मेरी सम्मतिसे हुआ। उन्हें संशय है कि मेरी सम्मति अवश्य रही होगी, यथा—*'संसय सील प्रेम बस अहहू। सबुइ उचित सबु जो कछु कहहू॥'* 'रामजीकी माता सरल चित्त हैं उन्हें संशय नहीं है। वे मेरी दीनता देखकर स्नेहवश कह रही हैं। गुरुजी सर्वज्ञ हैं। उन्हें भी संशय नहीं है पर वे ब्रह्मदेवके विमुख होनेसे तिलकका साज सज रहे हैं। अब मुझे दूसरी शरण नहीं है। इस अनर्थ-व्यापारमें मेरी सम्मति नहीं थी। इस बातको सिवा श्रीराम-जानकीजीके और कोई कहनेवाला नहीं है। अतः मैं उन्हींके पास जाऊँगा। वहींसे मेरी सफाई होगी और कहींसे नहीं।

मिलान कीजिये—*'को भरि है हरिके रितये रितवै पुनि को हरि जो भरि है। उथपै तिहि को जिहि राम थपैं थपि है पुनि को हरि जौ टरि है॥ तुलसी यह जानि हिये अपने सपने नहिं कालहुँ तें डरिहै। कुमया कछु हानि न औरन की जुपै जानकीनाथ मया करिहै॥'* (क० ७। ४७), *'दीनबंधु कारुन्यसिंधु बिनु कौन हिये की बूझै।'* (गी० २। ३)

प० प० प्र०—*'अंतहु कीच तहाँ'''''''* इति। भाव कि मेरी माता *'कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी'* और रामद्रोही है, बेटा होनेसे मैं भी वैसा कहा ही जाऊँगा, यदि राज्यको स्वीकार करूँ और स्वीकार न करूँ तो भी कुटिल और अभागी तो लोग कहेंगे ही।

☞ अन्तरंग-बहिरंग, भीतर-बाहर, दोनों ही साफ होने चाहिये, इस लोक-शिक्षाके लिये भरतावतार है। जीव कैसे ही स्वच्छ आचरणवाला हो उसे अपनेको सदोष मानना ही चाहिये।

प्रो० पं० रामचन्द्र शुक्ल—एक बार तो संसारकी ओर देखकर भरतजी अयश छूटनेसे निराश होते हैं, पर फिर उन्हें आशा बँधती है। वे समझते हैं कि रामके आते ही मेरा अयश दूर हो जायगा। उनको विश्वास है कि सारा संसार मुझे दोषी माने पर सुशीलताकी मूर्ति राम मुझे दोषी नहीं मान सकते।—*'परिहरि रामु सीय जग माहीं'''''''*'। रामकी सुशीलतापर भरतको इतना अविचल विश्वास है। वह सुशीलता धन्य है जिसपर इतना विश्वास टिक सके और वह विश्वास धन्य है जो सुशीलतापर इस अविचल भावसे जमा रहे। भरतकी आशाका एकमात्र आधार यही विश्वास है।

डरु न मोहि जग कहहि* कि पोचू। परलोकहु कर नाहिन सोचू॥ ५॥
एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सिय राम दुखारी॥ ६॥
जीवन लाहु लषन भल पावा। सबु तजि रामचरन मनु लावा॥ ७॥
मोर जनम रघुबर बन लागी। झूठ काह पछिताउँ अभागी॥ ८॥

दो०—आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखे बिनु रघुनाथ पद जिअ कै जरनि न जाइ॥ १८२॥

शब्दार्थ—**पोचू**=बुरा, नीच, यथा—*'कहिहै जग पोच न सोच कछू फल लोचन आपनो तो लहिहैं।'* (१-२-२३)

अर्थ—मुझे इसका डर नहीं कि संसार मुझे बुरा कहता है और न परलोकका ही शोच है॥ ५॥

* पाठान्तर 'कहिहि' (भा० दा०)।

हृदयमें एक यह ही असह्य दावाग्नि बस दहक रही है कि मेरे कारण श्रीसीतारामजी दुःखी हुए॥ ६॥ जीवनका लाभ लक्ष्मणजीने भली प्रकार पाया कि सब कुछ त्यागकर श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें ही मन लगाया॥ ७॥ और मेरा जन्म (तो) रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीको वन भेजनेके लिये हुआ (फिर) मैं अभागा झूठ ही क्या पछताता हूँ॥ ८॥ सबको माथा नवाकर मैं अपनी कठिन दीनता कहता हूँ कि बिना रघुनाथजीके चरणोंके देखे मेरे जीकी जलन न जायगी॥ १८२॥

रा० प्र०—*'जग कहहि कि पोचू"।'* जग कहेगा कि आज सारे पृथ्वीका राज्य पाते थे, लेते न बना, बड़े ही मन्दबुद्धि हैं। परलोक बिगड़ेगा; क्योंकि पिता-माताकी आज्ञा नहीं मानी। मेरा हृदय तो इस बड़े भारी शोकसे संतप्त हो रहा है कि हमारे स्वामी हमारे कारण दुःख उठा रहे हैं। मैं उनको वनवास करानेके लिये ही पैदा हुआ!

☞ जहाँ लौकिक-पारलौकिक धर्म भगवत्-भागवतधर्मके प्रतिकूल पड़ते हों, वहाँ भगवद्धर्मपर आरूढ़ मनुष्यको लोक-परलोक दोनोंका त्याग कर्तव्य है, यह परमभागवत भरतजीका उपदेश है। यथा—'**लौकिका वैदिका धर्मा उक्ता ये गृहवासिनाम्। त्यागस्तेषां तु पातित्यं सिद्धौ कामविरोधिता॥**' इति शिवसंहितायाम्।

नोट—*'बस'* बड़ा चोखा (उत्कृष्ट) शब्द यहाँ पड़ा है। दावानल समुद्रमें रहकर उसे जलाया करता है, वैसे ही हमारे हृदयसिन्धुमें यह दावाग्नि बसी हुई उसे निरन्तर जलाती रहती है। पानीरूपी राज्य वा माताने जो सुख मेरे लिये संचय किया, वह उसे बुझा नहीं सकता, किन्तु उसे भी यह जलाता है।

टिप्पणी—१ *'जीवन लाहु लषन।'''''''* इति। (क) *'लषन'* हैं, उन्होंने लख लिया कि जीवनका लाभ यही है और कुछ नहीं—*'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।'''''''जहँ लगि जगत सनेह सगाई'' मोरे सबुइ एक तुम्ह स्वामी।'* मुझसे कुछ बन न पड़ा, मैं अभागी हूँ, झूठे ही पछता रहा हूँ। (अपने भाग्यकी हीनता दर्शित करनेको लक्ष्मणके भाग्यकी सराहना ठौर-ठौरपर की है। यथा—*'अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥ कपटी कुटिल मोहिं प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥'* (७। १) *'भे न भाइ अस अहहिं न होने।'* (२००। १) *'मैं धिग धिग अघ उदधि अभागी।'* (२०१। ५) इत्यादि। (ख) [इसमें ध्वनित अर्थ यह है कि मैंने जीवनका लाभ खो दिया। उन्होंने तो सब छोड़ श्रीरामपदारविन्दमें मन लगाया और मैं श्रीरामचरणोंको त्यागकर *'लोलुप, भूमि भोगका भूखा'* हो रहा हूँ और आप सब मेरी सहायता कर रहे हैं। (प० प० प्र०) (ग) श्रीरामजीके चरणोंमें परम अनुराग होना जन्मका परम लाभ है। यथा—*'पावन प्रेम राम चरन जनम लाहु परम।'* (वि० १३१)।]

टिप्पणी—२ *'आपनि दारुन दीनता कहउँ''''''* इति। पूर्व कहा था कि *'मोहि अनुहरत सिखावन देहू।'* (१७८। २) अब कहते हैं कि मैं स्वयं कहता हूँ कि मेरे रोगकी क्या औषधि है। मैं अपनी दारुण दीनता भी कहता हूँ अर्थात् यह ऐसी है कि कोई इसे देख भी नहीं सकता, बड़ी असहनीय है। माथा नवाकर, अर्थात् विनम्र निवेदन करता हूँ, आप इसे स्वीकार करें, मेरी अवज्ञाको क्षमा करें। *('देखे बिनु'''''''न जाइ'* का भाव कि उनके दर्शन होनेपर मैं उनको लौटाकर लाऊँगा, स्वयं वनवासी बनूँगा, मेरा कलंक दूर होगा। धर्मानुकूल श्रीरामजी राजा होंगे, तब मेरे हृदयकी जलन जायगी। यथा—*'ऐहैं राम सुखी सब ह्वै हैं ईस अजस मेरो हरि हैं।'* (गी० २। ६०)

पाँड़ेजी—षट्शरणागतिमें मुख्य विश्वास है। वही यहाँ कहते हैं।

मयंक—भरतजी कैकेयीके वचनोंसे कैसे दुःखी हुए—*'मरम पाँछि जनु माहुर देई' 'मनहुँ जरे पर लोन लगावति।'* ऐसे अत्यन्त दुःखपर लोग राज्य देते हैं; इससे दुःख और दूना हो गया। आठों मर्मस्थलोंकी पीड़ा, फिर ग्रह-ग्रहीत, वातवश, तेहि पुनि बीछी मार—इस प्रकार ग्यारह तापोंसे वे संतप्त हैं, मानो त्रितापसे व्याकुल हैं; इसीसे राज्य अच्छा नहीं लगता। इस 'ताप' को मिटानेके लिये रामस्नेहसिन्धुमें शीतल होनेके लिये जा छिपे।

आन उपाउ मोहि नहिं सूझा। को जिअ कै रघुबर बिनु बूझा॥ १॥
एकहि आँक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहों प्रभु पाहीं॥ २॥

जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी॥ ३॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेखी॥ ४॥

अर्थ—मुझे दूसरा कोई उपाय नहीं सूझ पड़ता, बिना रघुवरके हृदयकी कौन जान सकता है?॥ १॥ एक यही निश्चय मनमें है कि प्रातःकाल प्रभुके पास मैं चल दूँगा॥ २॥ यद्यपि मैं बुरा और अपराधी हूँ, तथा मेरे ही कारण यह सब उपद्रव हुआ है तो भी मुझे शरणागत और सन्मुख देखकर सब अपराध क्षमा करके प्रभु मुझपर विशेष कृपा करेंगे॥ ३-४॥

टिप्पणी—१ *'आन उपाय मोहि नहिं सूझा।.......'* इति। भाव कि और भी बहुत उपाय होंगे; पर मुझे तो और कोई नहीं सूझते, यही एक उपाय निश्चय जान पड़ता है। यहाँ *'रघुबर'* के दोनों अर्थ हैं, एक तो रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजी दूसरे अन्तर्यामी। भूषणकारने *'रघुबर'* शब्दका यह अर्थ दिया है, वही वहाँ प्रसंगके अनुकूल है। *'रघुबर सब उर अंतरजामी'* हैं। (१। ११९। २) अतः वे जानते हैं, दूसरा नहीं जान सकता। जब वसिष्ठ आदि न जान सके तो कहना उचित ही है कि सिवा रघुवरके और कौन जान सके? दूसरा कोई रोगका निदान ही नहीं पाता तो उपचार क्या बतावेगा? अतएव प्रभुके पास चलूँगा। *'प्रभु'* अर्थात् समर्थ हैं। वे इस रोगको छुड़ा देंगे। *'अनभल'* का भाव कि मुझसे कुछ भलाई न होकर उलटे बुराई ही हुई। (नोट—श्रीभरतजीने प्रथम तो आज्ञा माँगी थी कि मुझे श्रीरामजीके पास जानेकी आज्ञा दीजिये, यथा—*'जाउँ राम पहिं आयसु देहू। एकहि आँक मोर हित एहू॥'* (१७८। ७) यह केवल अपने लिये कहा था। और यहाँ (१८३। २) में अपना निश्चय कहा कि *'प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं।'* यहाँ *'चलिहउँ'* शब्द देकर जनाया कि मैं तो जाऊँगा ही, आपलोग भी चलना चाहें तो चल सकते हैं। प्रातःकाल ही चल देनेकी सूचना सबको दे दी। इसीसे *'जैहउँ'* न कहकर *'चलिहउँ'* कहा। इसमें अ० रा० के '**तच्छ्वोभूते गमिष्यामि पादचारेण दण्डकान्।**' (२। ८। ८) **शत्रुघ्नसहितस्तूर्णं यूयमायात वा न वा। रामो यथा वने यातस्तथाहं वल्कलाम्बरः॥' (९)**.......' इन श्लोकोंका भाव भी जना दिया है कि प्रातःकाल ही मैं शत्रुघ्नसहित वल्कलधारी होकर पैदल ही दण्डकारण्यको जाऊँगा, आपलोग चलें या न चलें।)

टिप्पणी—२ *'छमि सब करिहहिं कृपा बिसेखी'* इति। भाव यह कि कृपा तो सदैव करते आये हैं, अब शरण जानेपर विशेष कृपा करेंगे, यथा—*'निज पन तजि राखेउ पन मोरा।'* चरणपादुकाएँ दीं यह विशेष कृपा है। मिलान कीजिये—*'सरन गये मोसे अघरासी। होहिं सुद्ध नमामि अबिनासी॥'* (७। १२४। ७) *'सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। विश्वद्रोह कृत अघ जेहि लागा॥'* (५। ३८) *'नाथ दीनदयाल रघुराई। बाघउ सनमुख गये न खाई॥'* (६। ७। १)

नोट—यहाँ मुहूर्त विचार नहीं किया गया। भगवत्सम्मुख होनेके लिये मुहूर्तके विचारकी जरूरत नहीं, सब दिन शुभ हैं। यथा—'**तदेव लग्नं सुदिनं तदेव ताराबलं चन्द्रबलं तदेव। विद्याबलं दैवबलं तदेव सीतापतेर्नाम यदा स्मरामि॥' (सुश्रुतसंहिता),** *'रामकी शरण जाय सुदिन न हेरिये', 'बिगरी जन्म अनेकको सुधरै अबहीं आजु। होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु', 'बेगि बिलंबु न कीजिय लीजिय उपदेस'*—(विनय०)।

सीलु सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥ ५॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥ ६॥
तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयेसु आसिष देहु सुबानी॥ ७॥
जेहि सुनि बिनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि रामु रजधानी॥ ८॥

दो०—जद्यपि जनमु कुमातु तें मैं सठु सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहहि मोहि रघुबीर भरोस॥ १८३॥

शब्दार्थ—'**पै**'=परंतु,=निश्चय। '**बहुरि**'=लौटकर। 'बहुरना'=फिरकर आना, लौटना।

अर्थ—श्रीरघुनाथजी अत्यन्त शीलवान्, संकोची और सरल स्वभावके हैं और कृपा तथा प्रेमके घर हैं॥ ५॥ श्रीरामजीने तो शत्रुका भी बुरा नहीं किया। यद्यपि मैं टेढ़ा हूँ तो भी मैं उनका तो शिशु और सेवक ही हूँ। अर्थात् फिर मेरा अपराध क्यों मनमें धरने लगे॥ ६॥ पर आप सब पंच निश्चय मेरा भला मानकर सुन्दर वाणीसे आज्ञा और आशीर्वाद दें॥ ७॥ जिससे मेरी विनती सुनकर मुझे अपना दास जानकर श्रीरामचन्द्रजी राजधानीको लौट आवें॥ ८॥ यद्यपि मेरा जन्म कुमातासे है, मैं दुष्ट और सदा दोषी हूँ तो भी अपना जानकर वे मुझे न त्यागेंगे, मुझे रघुवीर श्रीरामजीका भरोसा (पूरा विश्वास) है॥ १८३॥

टिप्पणी—१ ***'सीलु सकुच सुठि सरल सुभाऊ।'''''' '*** इति। आगे चित्रकूटमें सबके उदाहरण हैं। (१) शील ऐसा कि—***'साहिब होत सरोष सेवक को अपराध सुनि। अपने देखे दोष सपनेहु राम न उर धरेउ॥'*** दोहावली॥ ४७॥ बहुत-से दोष देख भी लें तो भी उनपर कभी ध्यान नहीं दें। कैकेयीकी करनीपर कैसा शीलका व्यवहार है, बस हद है—बार-बार उससे मिलते हैं। सबसे पहले इसी मातासे चित्रकूटमें और लंकासे लौटनेपर मिले हैं—(२४४। ६-७) और (७। १०) देखिये। यही नहीं जो कोई उनको दोष देता था उसपर बिगड़ जाते थे—***'दोष देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥'*** (२६२। ८) विशेष ***'तुलसी कहूँ न रामसे साहिब सील निधान'*** (१। २९) में देखिये। ***'संकोची'***, यथा—***'सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची'*** (३१३। ३-४) देखिये। कैसा गजबका संकोच है। यह न कह सके कि अब लौट जाइये। (२) ***'सुठि सरल'*** ऐसे कि विश्वामित्रसे पुष्पवाटिकामें श्रीसीताजीका मिलनप्रसंग और मनका क्षोभ सब कह दिया। यथा—***'राम कहा सबु कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं॥'*** (१। २३७। २) कैकेयीके प्रसंगभरमें सरलता भी देख लीजिये। (३) कृपा और स्नेहके तो घर ही हैं। यथा—***'को साहिब सेवकहि निवाजी। आपु समान साज सब साजी॥'*** (२९९। ५) से ***'को कृपालु बिनु पालि है बिरिदावलि बरजोर।'*** (२९९) तक। स्नेहसदन ऐसे कि गीधको पितासे और भीलनीको मातासे अधिक माना। इन सब विशेषणोंमें भाव यह है कि वे इन गुणोंके कारण मुझे शरणमें रखेंगे, मेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगे। यथा—***'सनमुख गये सरन राखहिंगे रघुपति परम सँकोची।'*** (गी० २। ६५)

टिप्पणी २—***'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।'*** इति। (क) भाव कि अनहित करनेवालेके साथ कोई भलाई नहीं करता, उसका समूल नाश करनेका उपाय करते हैं। ***'रिपु रिन रंच न राखब काऊ।'*** (२२९। २) यह नीति है। पर श्रीरामजी शत्रुके भी अनुकूल रहते हैं, उसका भला ही करते हैं, उसका बुरा तो कभी मनसे भी नहीं सोचते। ***'जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला।'*** (३२। ८) देखिये (ख) ***'मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा'*** का भाव यह कि शत्रुका भी भला ही वे करते हैं, बुराई उसके साथ भी कदापि नहीं करते और मैं तो बच्चा हूँ, उनका छोटा भाई हूँ, मेरा अनभला कब करने लगे! पुन:, ***'सिसु सेवक'*** अर्थात् बचपनसे ही उनका सेवक हूँ यद्यपि अब वाम हो गया हूँ ('शिशुसेवक' की रक्षा स्वयं प्रभु करते हैं यथा—***'बालक सुत सम दास अमानी।', 'सदा करउँ तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥'*** (३। ४३) ***'सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥'*** (४। ३। ४) इसीसे श्रीभरतजी अपनेको शिशु और सेवक कह रहे हैं और छोटे तो हैं ही। श्रीलक्ष्मणजीका भी यही भाव है। यथा—***'मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला।'*** (७२। ३) ***'नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह॥'*** (७१)

टिप्पणी ३—***'तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी'''''' '*** इति।—यह निश्चय समझकर कि मेरा इसमें हित है इसमें विरोध न मानकर आज्ञा (चलनेकी) और आशीर्वाद सुन्दर वचनोंसे दीजिये जिसमें वे अवश्य लौट आवें। ***'पै'*** का भाव कि श्रीरामजी तो भला करेंगे ही यह आप निश्चय जानिये पर आप भी आशीर्वादसे सहायक हूजिये।

वि० त्रि०—भारतवर्षके एकतन्त्रराज्यमें पंचकी सम्मतिसे ही कार्य होता था। महाराज दशरथ रामजीके लिये कहते हैं ***'जौ पाँचहि मत लागै नीका। करहु हरषि हिय रामहिं टीका॥'*** यहाँ रामजीके पास जानेकी अनुमति भरतजी पंचसे माँग रहे हैं कि पंचकी आज्ञा मैं नहीं हटा सकता। अत: आप लोग इस समय

तिलककी बात रहने दीजिये, मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं रामजीको लौटानेके लिये उनके पास जाकर प्रार्थना करूँ और मेरी सफलताके लिये आशीर्वाद दीजिये और ऐसा यह समझकर कीजिये कि इससे भरतका भला होगा, यथा—*'हित हमार सियपति सेवकाई।'*

नोट—१ (क) *'जद्यपि जनमु कुमातु तें……'* इस दोहेभरमें षट्शरणागतिमेंकी तीसरी शरणागति **'रक्षिष्यतीति विश्वासः'** रक्षामें पूर्ण विश्वास शरणागति है। आशीर्वाद देना यहाँ नहीं पाया जाता। कारण कि गुरु जानते हैं कि श्रीरामजी न लौटेंगे इसीसे आशीर्वाद न दिया। पर श्रीभरतजीकी प्रतिज्ञा भी झूठी नहीं हुई। वे चरणपादुका लेकर आये, उनसे उन्हें वही सुख हुआ जो श्रीरघुनाथजीके साथ लौटनेसे होता, यथा—*'भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सियराम रहे तें॥'* (३१६। ८) इन्हींको उन्होंने सिंहासनपर विराजमान कराया। (वि० त्रि० का टिप्पण दोहा १८४ में भी देखिये) (ख) *'रघुबीर भरोस'*—यहाँ श्रीरघुनाथजीकी दयावीरता और धर्म (शरणागतवत्सलता) वीरताके विचारसे *'रघुबीर'* पद दिया—**'त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रममहावीरो धर्मवीरः सदा स्वतः॥ पञ्चवीराः समाख्याता राम एव स पञ्चधा। रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥'** स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि त्यागवीरता और विद्यावीरता भी सूचित की हैं। भरोसा है कि अपनी प्रतिज्ञा तथा पिताकी आज्ञाका त्याग करके *'आवहिं बहुरि राम रजधानी।'* *'को जिय कै रघुबर बिनु बूझा'* यह विद्यावीरता है। *'छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी।'* दयावीरता है। *'आपन जानि न त्यागिहहिं'* यह धर्मवीरता है। (ग)—भरत-भाषणका उपक्रम *'बचन अमिय जनु बोरि…… ॥'* (१७६) है और *'भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। राम सनेह सुधा जनु पागे॥'* (१८४। १) उपसंहार है।

नोट २—मिलान कीजिये—गीतावलीमेंके भरतजीके—*'रामसपथ कोउ कछु कहै जनि मैं दुख दुसह सहा है। चित्रकूट चलिये सब मिलि बलि छमिये मोहि हहा है।…… जानहिं सियरघुनाथ भरतको सील सनेह महा है।'* (२। ६४) पुनः, *'भाई! हौं अवध कहा रहि लैहौं। रामलषनसिय चरन बिलोकन काल्हि काननहिं जैहौं। जद्यपि मोते कै कुमात तें ह्वै आई अति पोची। सनमुख गए सरन राखहिंगे रघुपति परम सकोची॥'* (२। ६५) इन वचनोंसे।

☞ कैकेयी-दशरथ, कैकेयी-भरत और अवधवासियोंके वचनोंका मिलान करनेसे बहुत-सी चौपाइयोंके भाव स्पष्ट हो जायँगे—

श्रीदशरथजी	श्रीभरतजी	अवधवासी
कपट सनेह बढ़ाइ बहोरी (२६)	*१ सुनि सुत बचन सनेहमय कपटनीर०*	
एकहि बात मोहि दुख लागा (३१)	*२ भरत श्रवन मन सूल सम पापिन०*	
सोक बिबस कछु कहइ न पारा।	*३ सुनत भरत भए बिबस बिषादा-*	*१ अति बिषाद बस लोग लोगाई*
माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन।……	*४ सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।*	
गएउ सहम नहिं कछु कहि आवा	*५ जनु सहमेउ करि केहरिनादा*	
परेउ धरनि धुनि माथ……ब्याकुल	*६ परे भूमितल ब्याकुल भारी-*	*२ सुनि भे बिकल सकल नर नारी*
मनहु धाय महँ माहुर देई (३४)	*७ मरम पाँछि जनु माहुर देई*	
मानहुँ लोन जरे पर देई	*८ मनहु जरे पर लोन लगावति*	
अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा	*९ पाके छत जनु लाग अँगारू*	
सिर धुनि लीन्ह उसास……	*१० धीरजु धरि भरि लेहिं उसासा*	
जनि दिनकर कुल होसि कुठारी (३३)	*११ पापिनि सबहि भाँति कुल नासा-*	*३ एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ*
जीवन मोर राम बिनु नाहीं।	*१२ मीन जियन निति बारि उलीचा*	*छाइ भवनपर पावक धरेऊ*
लोचन ओट बैठु मुह गोई (३५)	*१३ आँखि ओट उठि बैठहि जाई-*	*४ व्याधि असाधि जानि तिन्ह त्यागी*
लागेउ तोहि पिशाच जिमि……	*१४ जो हसि सो हसि*	
बिधि बस कुमति बसी उर तोरे (३५)	*१५ जबते कुमत कुमति जिय ठयऊ*	

मरम बचन सुनि राउ कह	१६ राम बिरोधी…मो समान को	
कहु कछु दोष न तोर (३५)	पातकी बादि कहउँ कछु तोहि।	
सब कोउ कहहिं राम सुठि साधू	१७ अस…जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं।	
जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला	१८ अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा	
लोभ न रामहि राज कर	१९ राम पुनीत विषय रस रूखे (१)	५ नाहिं न राम राजके भूखे
अब सुनि मोहि भयेउ संदेहू	२० बिधिहु न नारि हृदय गति जानी—	६ जानि न जाइ नारि गति भाई
सो सब मोर पाप परिनामू (३५)	२१ मोहि समान को पापनिवासू	
भयेउ कुठाहर जेहि बिधि बामू	२२ मरन समय बिधि मति हरि लीन्हा-	७ अबला बिबस ज्ञान गुन गा जनु
देखि ब्याधि असाध नृप	२३ एहि कुरोग कर औषध नाहीं	
बिलपत नृपहि भयउ भिनुसारा	२४ करत बिलाप बहुत एहि भाँती बैठेहि बीत गई सब राती	
अजस होउ जग सुजस नसाऊ	डरु न मोहि जग कहहि कि पोचू	८ सबहि बिचारु कीन्ह मन माहीं।
नरक परउँ बरु सुरपुर जाऊ। २५	परिलोकहु कर नाहिंन सोचू	राम लषन सिय बिनु सुखु नाहीं।
लोचन ओट राम जनि होहू	देखे बिनु रघुबीर पद जियकै जरनि न जाइ	बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू।
	बिलपत राजगृह मानहुँ सोक निवासु	९ मनहु करुन रस कटकई उतरी…
	भूप प्रतीति तोर किमि कीन्हा	१० एक कहहिं भल भूप न कीन्हा
	भे अति अहित राम तेउ तोही	११ राम सरिस सुत कानन जोगू
	सरल सुसील धरमरत राऊ	१२ एक धरम परमिति पहिचाने
	सो किमि जानइ नारि सुभाऊ	१३ नृपहि दोषु नहिं देहिं सयाने
	पेड़ काटि तैं पालउ सींचा	१४ पालव बैठि पेड़ एहि काटा
	धिग मैं भयउँ बेनु बन आगी	१५ भइ रघुबंस बेनु बन आगी
	एकहि आँक इहै मन माहीं। प्रातकाल	१६ चले साथ अस मंत्र दृढ़ाई

भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। राम सनेह सुधा जनु पागे*॥ १॥
लोग बियोग बिषम बिष दागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे॥ २॥
मातु सचिव गुर पुर नर नारी। सकल सनेह बिकल भये भारी॥ ३॥
भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥ ४॥

शब्दार्थ—**पागे**=शीरे, चाशनी या किबाममें साने, लपेटे या डुबोये हुए। **सबीज**=तान्त्रिकोंके अनुसार एक प्रकारके मन्त्र जो बड़े-बड़े मन्त्रोंके मूलतत्त्वके रूपमें माने जाते हैं, उन्हें बीज-मन्त्र कहते हैं। प्राय: मन्त्रका प्रथम वर्ण बिन्दुसहित उस मन्त्रका बीज होता है। पूरे मन्त्रका अर्थ बीजमें निहित रहता है। बीजयुक्त मन्त्र बड़ा प्रभावशाली होता है।=बड़े प्रभावशाली। **जागे**=चैतन्य हो गये। **दागे**=दग्ध, जले हुए।

अर्थ—श्रीभरतजीके वचन सबको प्रिय लगे (ऐसे मालूम होते थे) मानो वे श्रीराम-प्रेमामृतमें पगे हुए थे॥ १॥ श्रीरामजीके वियोगरूपी भीषण विषसे सब लोग दग्ध थे वे मानो बीजयुक्त मन्त्र सुनते ही चैतन्य हो गये॥ २॥ माता, मन्त्री, गुरु, पुरवासी, स्त्री-पुरुष सभी प्रेमके कारण अत्यन्त व्याकुल हो गये॥ ३॥ सब भरतजीको सराह-सराहकर उनसे कहते हैं कि तुम्हारा शरीर रामप्रेमकी मूर्ति ही है, अर्थात् ऐसा जान पड़ता है कि श्रीरामचन्द्रजीका प्रेम भरतका शरीर धरकर मूर्तिमान् हो रहा है। वा, कह रहे हैं कि रामप्रेमकी मूर्ति हैं, रामप्रेमके तन ही हैं॥ ४॥

* इस चौपाईका दूसरा और तीसरा चरण राजापुरकी पोथीमें नहीं है।

टिप्पणी—१ भरतजीके वचन सबको प्रिय लगनेका कारण उत्तरार्धमें दिया कि वचन श्रीरामजीके स्नेहरूपी अमृतमें सने हुए जान पड़ते हैं। अमृत सबको प्रिय है। अवधवासी सब रामस्नेही हैं; अतएव ये वचन सबको प्रिय लगे। उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें अमृतवाची विशेषण दिया है। उपक्रम है—*'बचन अमिअ जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहि।'* (१७६)

उत्तर अप्रिय होता है, इसीसे पूर्व इन्होंने क्षमा माँगी—*'ऊतरु देउँ छमब अपराधू।'* उत्तर अप्रिय होता है, प्रमाण यथा—*'उतर देत छाँड़ौं बिनु मारे।'* (१। २७५) *'उत्तर प्रतिउत्तर मैं कीन्हा। मुनि तन भये क्रोध के चीन्हा॥'* (७। १११। १४) पर भरतका उत्तर सबको प्रिय लगा। यह उनकी बुद्धिकी विशेषता है। *'जनु'* पद देकर उत्प्रेक्षा की। रामस्नेह तो श्रीराम ही जानेंगे, दूसरा कैसे जाने?

टिप्पणी—२ *'लोग बियोग बिषम बिष दागे। मंत्र सबीज'*''' इति। रामवियोग विषम विष है उससे लोग दग्ध थे। अर्थात् वियोगविषके कारण मूर्छित दशाको प्राप्त थे। विष मन्त्र-श्रवणसे शान्त होता है। यहाँ भरतजीके *'एकै आँक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं॥'* यह वचन बीजयुक्त मन्त्र है। इसीको सुनकर सबका वियोग दुःख नष्ट हुआ। वचन *'अमिअ जनु बोरि'* है, इसीसे *'मंत्र सबीज सुनत जनु जागे'* कहा; जीवित करना दोनोंका धर्म है। मन्त्रका पहला अक्षर अनुस्वारसहित हो, वही बीज है।

बैजनाथजी लिखते हैं कि तीक्ष्ण हालाहल बदरिकाश्रमके वन और पहाड़ोंमें होता है जिसका स्पर्शित पवन कोसोंतक शरीरमें लगनेसे 'प्रथम तोरति' (शरीर टूट-सा जाता है) और अन्तमें ऐसा अपूर्वसुख देहमें प्राप्त होता है कि तुरत उसकी दवा यवके सत्तू और शहद मिलाकर भोजन न कर ले तो वह मूर्छित होकर गिर पड़ता है, तब *'गंगा गौरी बे द्वौ रानी। ठोकर मारि करो बिष पानी॥ गंगा बाँटैं गौरा खाई। अठारह मार विष निर्बिष ह्वै जाई। गुरुकी शक्ति मेरी भक्ति फुरो मंत्र ईश्वरोवाच ठः ठः ठः॥'* यह मन्त्र सुनाये जानेसे सचेत होता है। उसीका यहाँ रूपक है।

वि० त्रि०—भरतजीके वचनमें सबपर आक्षेप था, परन्तु *'बचन अमिअ जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहि'* प्रेमामृतसे डूबाडूब वचन थे, इसलिये किसीको बुरा नहीं मालूम हुआ, सबको वचन प्रिय लगे। भरतजीके तिलकके प्रस्तावपर गुरुजी बोले, मन्त्री बोले, माताएँ बोलीं, पर प्रजावर्ग कुछ न बोले, वे मानो सो रहे थे। जब रामजी राजा न हुए, वन चले गये तो जो चाहे सो हो, इस विचारसे उनकी ओरसे पूरी उपेक्षा थी। सो जैसे देवता सबीज मन्त्रसे जाग उठते हैं, जपकर्ताके उन्मुख होते हैं, उसी भाँति प्रजा जागकर भरतजीकी ओर उन्मुख हुई, उनकी उपेक्षा जाती रही, यथा—*'भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही—'* (इसके अनुसार 'लोग' से प्रजावर्ग अभिप्रेत है)।

मयंक—वचन मन्त्रमें *'जाउँ राम पहिं आयसु देहू'* यह कील है, *'प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं'* यह अखण्ड शक्ति है *'आवहिं राम बहुरि रजधानी'* यह बीज है और प्रेमपूर्वक रामजीको दण्डवत् करना न्यास है—*'पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं'*॥

टिप्पणी—३ (क) *'लोग बियोग बिषम बिष दागे''''''।'* यह साधारण लोगोंकी व्यवस्था कहकर तब *'मातु सचिव गुर पुर नर नारी'''''* विशेष जनोंकी बात कही कि ये सब स्नेहके कारण भारी व्याकुल हुए। भरतजीके वचन सुनकर रामविरहकी अग्नि भड़क उठी और सब भरतजीकी बारंबार प्रशंसा करने लगे। (ख) *'सनेह बिकल भये भारी'* इति। जबतक विष चढ़ा रहा, तबतक अचेत रहे। अब सबीज मन्त्र सुननेसे विष उतरा और चेतना आयी तब व्यथा मालूम हुई। [वा, श्रीभरतजीकी दीनता और भक्ति देखकर ऐसा करुणामय स्नेह उमड़ा कि सब भारी व्याकुल हो गये, किसीको देहकी सुध न रह गयी (वै०)। इन शब्दोंसे वाल्मी० (२। ८२। १७) के '**तद्वाक्यं धर्मसंयुक्तं श्रुत्वा सर्वे सभासदः। हर्षान्मुमुचुरश्रूणि रामे निहितचेतसः।**' का भाव आ गया कि भरतजीके धर्मयुक्त वचन सुनकर श्रीराममें प्रेम रखनेवाले सभी सभासद् हर्षसे रोने लगे।]

टिप्पणी—४ *'राम प्रेम मूरति तनु आही'* इति। मूरति और तन दो शब्द दिये। बहुत लोग हैं। *'सराहि*

सराही' दो बार इसीसे कहा अर्थात् बारंबार। दो शब्द देकर जनाया कि कोई कहता है कि रामप्रेमकी मूर्ति हैं और कोई कहता है कि रामप्रेमका तन (शरीर) ही हैं।

तात भरत अस काहे न कहहू। प्रान समान रामप्रिय अहहू॥ ५॥
जो पाँवरु अपनी जड़ताई। तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाई॥ ६॥
सो सठु कोटिक पुरुष समेता। बसहिं कलप सत नरक निकेता॥ ७॥
अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई॥ ८॥

शब्दार्थ—'**सुगाइ**'—'सुगाना'=संदेह करना, शक करना।=दोष लगाना। यथा—***'आजुहि ते कहुँ जान न देहौं मा तेरी कछु अकथ कहानी। सूर श्यामके सँग ना जैहौं जा कारण तू मोहि सुगानी।'*** '**पुरुष**'=पूर्वज, पुरुषा, पीढ़ी।

अर्थ—हे तात! हे भरत! तुम ऐसा क्यों न कहो? तुम श्रीरामचन्द्रजीको प्राणोंके समान प्रिय हो॥ ५॥ जो नीच अपनी मूर्खतासे तुमपर माताकी कुटिलताका संदेह करके बिगड़े वह मूर्ख करोड़ों पुरुषाओंसहित सैकड़ों कल्पतक नरकरूपी घरमें वास करेगा॥ ६-७॥ सर्पका पाप और अवगुण मणि नहीं ग्रहण करता (वरन्) वह विष, दु:ख और दरिद्रको जला डालता है (दूर कर देता है)॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) ***'तात भरत……'*** से ***'अवसि चलिय बन……'***। (१८४) तक गुरुके वचन हैं। (ख) ***'प्रान समान रामप्रिय',*** यथा—***'रामहि बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती॥'*** (२।७।८) ***'तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु ते प्यारे।'*** (१६९। १), ***'तुम्ह पर अस सनेह रघुबर कें। सुख जीवन जग जस जड़ नर कें॥'*** (२०८। ६) (ग) ***'जो पाँवरु……निकेता'*** इति। मिलान कीजिये—***'एक भरत कर संमत कहहीं। एक उदास भाय सुनि रहहीं। कान मूँदि कर रद गहि जीहा। एक कहहिं यह बात अलीहा। सुकृत जाहिं अस कहत तुम्हारे। रामु भरत कहुँ प्रान पिआरे॥'*** (४८।६।८) और ऐसा ही श्रीकौसल्याजीने कहा—***'मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहु सुख सुगति न लहहीं॥'*** (१६९।४) (घ) ***'नरक निकेता'*** से जनाया कि नरक ही उनका घर बन जायगा कि कभी छूटे नहीं।

टिप्पणी—२ ***'अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई।……'*** इति। सर्पमें विष, मणि और विषद्वारा प्राणघात वा हिंसा ये तीन बातें हैं। मणि विषके साथ ही रहता है पर विष उसमें नहीं लगता। उसे धोकर पिलावे या धारण करावे तो जिसको सर्पने काटा हो उसका विष उतर जाता है। सर्पके हिंसाका दोष मणिपर नहीं लगता। कैकेयी सर्प है, यथा—***'मानहुँ सरोष भुअंगभामिनि बिषम भाँति निहारई। दोउ बासना रसना दसन बर……।'*** (२५) कैकेयीने रामवनवासद्वारा पतिको मारा और सब अवधवासियोंको अचेत कर दिया, यह पाप तुमपर नहीं लगाया जा सकता। तुम मणि हो। रामवनगमनजनित वियोग-दु:खरूपी विषके हरनेवाले हो, सब लोग विषसे दागे हुए थे, तुमने सबको आनन्द दिया।

[मणि विष, दु:ख और दरिद्रताको हरता है। भाव कि पिता-माताका दोष पुत्रमें हो यह जरूरी नहीं। सब पुरवासी रामधन गँवाकर दरिद्र हो गये थे, यथा—***'मनहुँ बारिनिधि बूड़ जहाजू। भयउ बिकल बड़ बनिक समाजू॥'*** (८६। ३) ***'फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई।'*** (९९। ८) वह धन प्राप्त कर देनेको भरतजी चल रहे हैं।]

नोट—***'जो पाँवरु अपनी जड़ताई…नरक निकेता'*** यह मानो शाप है। इसपर यह शंका होती है कि मगवासियों और निषाद आदिने भी तो शंका की है? उसका समाधान यह है कि वे सब रामानन्य हैं इससे उन्होंने ऐसा कहा। दूसरे इसका उद्धार भी श्रीरामचन्द्रजीने कर दिया है, यथा—***'मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार॥'*** (२६३) और ***'अहि अघ अवगुन'*** इसमें भी इसका निर्वाह कर दिया गया है। मणि विषको दूर करता है, भरतका स्मरण उस पापका हरण करेगा।

दो०—अवसि चलिअ बन रामु जहँ भरत मंत्र भल कीन्ह।
सोकसिंधु बूड़त सबहि तुम्ह अवलंबनु दीन्ह॥ १८४॥

शब्दार्थ—**कीन्ह**=किया, विचारा है, सोचा है।

अर्थ—हे भरत! अवश्य ही वनको चलिये जहाँ श्रीरामजी हैं। तुमने बहुत अच्छी सलाह विचारी है। तुमने शोकसमुद्रमें डूबते हुए सबको सहारा दिया है॥ १८४॥

पाँड़ेजी—१ यदि वे कहें कि पहले क्यों इसके विपरीत कहते थे, उसका उत्तर है कि हम शोकसमुद्रमें डूब रहे थे, कोई बचनेका सहारा न देख पड़ता था, इससे सब अचेत थे। अब अवलंब मिला तब सचेत हुए। श्रीदशरथ-विलाप-समय कौसल्याजीने कहा था—*'धीरज धरिय त पाइय पारू। नाहिं त बूड़िहि सब परिवारू॥'* धीरज न धरा तो चाहिये था कि सब डूब जाते। उसका उद्धार इस दोहेमें है।

२—शोकका समुद्रसे रूपक यहाँ है पर उसके और कोई अंग नहीं कहे गये। यह 'निरंग रूपक' है।

नोट—श्रीभरतजीने अपने सम्बन्धमें ही कहा था कि *'प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं'*। अपने चलनेका समय बता दिया था; अब सब एक स्वरसे *'अवसि चलिअ'* कहकर जना देते हैं कि हम सब भी साथ चलेंगे।

वि० त्रि०—प्रजा बोल उठी *'भरत मंत्र भल कीन्ह'*। उसे गुरुजीका, सचिवका तथा माताका मन्त्र पसंद नहीं था, परंतु भरतलालमें कोई दोष भी नहीं था, अतः प्रजाने विरोध भी नहीं किया, उपेक्षा किये बैठी रही, मानो सो रही है। अब सबीज मन्त्र सुनकर देवताकी भाँति जागी है, तो भरतजीकी माँगी हुई आज्ञा दे रही है *'अवसि चलिअ बन राम पहँ'*। आशीर्वादके स्थानपर कह रही है कि हमलोग तो शोकसिन्धुमें डूब रहे थे तुम ही हमलोगोंके आधार हुए। इस भाँति जो आधार होता है; उसे क्या आशीर्वाद माँगना पड़ता है? उसे रोम-रोम आप ही आशीर्वाद देता है। दोहा १८३ नोट भी देखिये।

भा सब कें मन मोदु न थोरा। जनु घन धुनि सुनि चातक मोरा॥ १॥
चलत प्रात लखि निरनउ नीकें। भरतु प्रानप्रिय भे सब ही कें॥ २॥
मुनिहिं बंदि भरतहि सिरु नाई। चले सकल घर बिदा कराई॥ ३॥
धन्य भरत जीवनु जग माहीं। सीलु सनेह सराहत जाहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—**निरनउ**=निर्णय, निश्चय, फैसला।

अर्थ—सबके मनमें कुछ थोड़ा आनन्द नहीं (अर्थात् बहुत) हुआ, मानो मेघोंका शब्द सुनकर चातक और मोर आनन्दित हो रहे हैं॥ १॥ 'प्रातःकाल चलते हैं' यह निश्चय निर्णय अच्छी तरह लखकर श्रीभरतजी सभीको प्राणप्रिय हो गये॥ २॥ मुनिकी वन्दना करके और श्रीभरतजीको माथा नवाकर सब लोग बिदा माँगकर घर चले॥ ३॥ श्रीभरतजीके शील और स्नेहको सराहते जाते हैं और कहते हैं कि संसारमें भरतजीका जीवन धन्य है॥ ४॥

नोट—१ *'भा सब कें मन मोदु न थोरा।……'* इति। (क) सब शोक-समुद्रमें डूबनेसे बचे, जान बची, शोक-दुःखका निवारण हुआ, अतएव हृदयमें बड़ा आनन्द हुआ। वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि **'ऊचुस्ते वचनमिदं निशम्य हृष्टाः सामात्याः सपरिषदो वियातशोकाः।'** (२।७९।१७) **'प्रहर्षजास्तं प्रतिबाष्पबिन्दवो निपेतुरार्याननेत्रसम्भवाः'**॥ १६॥ सभी सभासद् शोकहीन होकर पुलकित हो गये, उनके नेत्रोंसे हर्षके मारे अश्रु गिरने लगे। कैसा आनन्द हुआ यह उत्प्रेक्षाद्वारा कहते हैं—*'जनु घन सुनि धुनि चातक मोरा'*। चातक और मोर दोनों मेघके अनुरागी हैं। (पु० रा० कु०) (ख)—यहाँ श्रीभरतजी मेघ, उनके शब्द कि *'प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं'* मेघकी गर्जन, श्रीरामजी जल, सभाके सब लोग चातक और मोर हैं। (ग) चातक और मोर दोकी उत्प्रेक्षा करनेके भाव—(१) श्रीरामरूप जलकी प्राप्तिकी आशाके सम्बन्धसे

चातक कहा और श्रीरघुनाथजीके संयोगके वचन सुनकर प्रसन्नता और प्रफुल्लित होनेसे मोरकी उपमा दी। (२) श्रीरामजीके अनन्य भक्त चातक हैं, यथा—*'जानत हौ सबहीके मनकी। तदपि कृपालु करौं बिनती सोइ सादर सुनहु दीनहित जन की॥'* (१) *ये सेवक संतत अनन्य अति ज्यों चातकहि एक गति घनकी। यह बिचारि गवनहु पुनीत पुर हरहु दुसह आरत परिजन की॥'* (गी० २। ७१) (यह श्रीभरतजीने श्रीरामजीसे चित्रकूटमें कहा है) और ईश्वरकी प्राप्तिके लिये जो सब देवताओंको पूजते हैं वे मोर हैं (पु० रा० कु०) (३) चलनेकी खुशीमें मोरकी तरह नाचने लगे और श्रीरामदर्शनकी आशासे भावी आनन्दका सुख हुआ। (वि० टी०) भावी आनन्द प्रभुका दर्शन होनेपर कविने दिखाते हुए सबको मोरकी उपमा दी है। वहाँ उत्प्रेक्षा की है और यहाँ आनन्द मिलनेपर उपमा दी। यथा—*'बिहरहिं बन चहुँ ओर प्रति दिन प्रमुदित लोग सब। जल ज्यों दादुर मोर भये पीन पावस प्रथम॥'* (२५१)

नोट—२ *'चलत प्रात लखि निरनउ नीके।…'*, यथा—*'एकहि आँक इहै मन माहीं। प्रातकाल चलिहौं……'*। यह भरतजीका निश्चित निर्णय है, यह जानकर सब कहने लगे कि भरतजी धन्य हैं, बड़े सुकृती हैं, इनका जीवन धन्य है, इत्यादि; इसीसे उनका सबको प्राणप्रिय होना कहा। देखिये, जब श्रीभरतजी ननिहालसे आये थे तब कोई उनसे बोलता भी न था; क्योंकि उनको संदेह हो गया था कि ये रामविरोधी न हों एवं इससे कि वे सब रामवियोगसे दु:खी थे। यह जानकर कि ये श्रीरामजीको लौटाने तथा उन्हींको राज्य देनेके लिये चल रहे हैं, सबका संदेह और शोक दूर हुआ, रघुकुलके धर्मकी रक्षा हुई; क्योंकि धर्मानुकूल श्रीरामजीको ही राजा होना चाहिये था और प्राप्त राज्य छोड़कर भाईको देंगे, इससे भरतजीका श्रीरामप्रेम, त्याग और धर्मधुरंधरता प्रकट हुई। अत: सबको वे प्राणप्रिय हो गये। वाल्मी० २। ७९। १५ में सभासदोंने कहा कि आप भाईको राज्य देना चाहते हैं अत: पद्मचिह्नयुक्त लक्ष्मी आपको प्राप्त हो। यह भाव भी इसमें आ गया।

नोट—३ (क) *'मुनिहि बंदि……बिदा कराई।'* दोनोंको प्रणाम करके, बिदा माँगकर चले। आज्ञा लेकर जाना यह शिष्टाचार है, यथा—*'माँगत बिदा राउ अनुरागे।'* (१। ३६०। ५) *'रामहि देखि रजायसु पाई। निज निज भवन चले सिरु नाई॥'* (१। ३५५) *'चलेउ पवनसुत बिदा कराई।'* (५। ८। ५) (ख) मुनिके लिये *'बंदि'* और भरतके लिये *'सिरु नाई'* पद देकर जनाया कि मुनिकी स्तुति भी की कि आप-सरीखे जिस कुलमें गुरु हों उसके शिष्य ऐसे क्यों न हों (पं०)। (ग) यहाँतक समाजका मन, कर्म, वचनसे प्रेम दिखाया—मनमें मोद, प्रणाम कर्म है और वचनसे सराहते हैं। (घ) *'सीलु सनेह'* —शीलअस्मदादिक (अपने सबके) प्रति, स्नेह श्रीरामजीके प्रति।

नोट—४ सभाकी समाप्ति हुई। *'सुदिन सोधि मुनिबर तब आये। सचिव महाजन सकल बोलाए॥ बैठे राजसभा सब जाई।'* (१७१। २। ३) उपक्रम है। *'चले सकल घर बिदा कराई।'* (१८४। ३) उपसंहार है।

प्रथम (अवध) दरबार समाप्त हुआ

कहहिं परस्पर भा बड़ काजू। सकल चलइ कर साजहिं साजू॥ ५॥
जेहि राखहिं रहु घर रखवारी। सो जानइ जनु गरदन मारी॥ ६॥
कोउ कह रहन कहिअ नहिं काहू। को न चहइ जग जीवन लाहू॥ ७॥

दो०—जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करइ न सहस सहाइ॥ १८५॥

शब्दार्थ—**गरदन मारी**—(मुहावरा है) गला काट डालना, गलेपर तलवार चलाना, मार डालना, बुराई करना, बड़ी हानि पहुँचाना। **सहस**=सहस्त्र=हजार। हँसते हुए, हर्षसहित।

अर्थ—सब आपसमें कहते हैं कि बड़ा काम हुआ। सभी चलनेका सामान ठीक कर रहे हैं॥ ५॥

जिसको रखते हैं कि रखवालीके लिये घर रहो वह समझता है कि मानो मेरी गरदन मारी गयी॥ ६॥ कोई-कोई कहते हैं कि किसीको रहनेको न कहो, कौन संसारमें जीनेका लाभ नहीं लेना चाहता? अर्थात् सभी रामदर्शनसे जन्मका लाभ चाहते हैं॥ ७॥ वह सम्पत्ति, घर, सुख, मित्र, माता, पिता और भाई जल जायँ। (अर्थात् व्यर्थ हैं त्याज्य हैं) जो श्रीरामचरणके सम्मुख होनेमें सहस्रों प्रकारसे एवं हँसते हुए प्रसन्नतापूर्वक सहायता न करें॥ १८५॥

नोट—१ (क) ***'कहहिं परस्पर भा बड़ काजू।······'*** इति। बड़ा काम (लाभ) सब प्रकारसे है—श्रीभरतजीकी ओरसे कुटिलताका संदेह मिटा, उनको राज्य देनेका निश्चय करके आये और निश्चय हुआ श्रीरामदर्शन और श्रीरामजीका लौटना। रामवियोगसे परम हानि हुई थी और रामप्राप्ति बड़ा लाभ हुआ। श्रीरामजीकी प्राप्ति, उनका दर्शन, उनका साथ सब परम लाभ है। श्रीलक्ष्मणजीने भी इसे बड़ा लाभ माना है। यथा—***'आवहु बेगि चलहु बन भाई। मुदित भए सुनि रघुबर बानी। भयउ लाभ बड़ गइ बड़ि हानी॥'*** (७२। १-२) (ख) ***'साजहिं साजू'*** का दूसरा भाव भी यहाँ है कि स्वयं सब तैयारी करने लगे और औरोंसे कहते हैं कि 'सभी चलनेका सामान ठीक करें।' (पु० रा० कु०)

नोट—२ ***'जेहि राखहिं·····जनु गरदन मारी'*** इति। गर्दन मारी, यह कविकी उक्ति है। श्रीरामशरणमें बाधा करनेवाला पूरा शत्रु है। (वै०)

नोट—३ ***'जरउ सो संपति·····'*** इति। ☞श्रीरामशरणमें बाधा करनेवालेके लिये यह उपदेश है। ***'जाके प्रिय न राम बैदेही······'*** विनयके इस पदसे तथा ***'गज बाजि घटा भलि भूरि भटा, बनितासुत भौंह तकै सब वै। धरनी धन धाम सरीर भलो सुरलोकहु चाहि इहै सुख स्वै॥ सब फोटक साटक है तुलसी अपनो न कछू सपनो दिन द्वै। जरि जाउ सो जीवन जानकिनाथ जियै जग में तुम्हरो बिनु ह्वै॥'*** (क० उ० ४१) मिलान करें यहाँ तिरस्कार अलंकार है। यह 'प्रतिकूलका' त्याग शरणागतिका लक्षण है। ***'सहस सहाइ'*** का चरितार्थ आगे है।

वि० त्रि०—घरकी रखवारीके लिये सुहृद्, माता, पिता और भाई कह रहे हैं कि सब लोग यदि रामजीके पास ही चले जायँगे तो घरकी रक्षा कौन करेगा, सम्पत्ति लुट जायगी, इसपर कहते हैं कि राम-सम्मुख होनेमें जो सम्पत्ति और गृह-सुख बाधा कर रहे हैं; उन्हें जलने दो, वे बड़े अहितकर हैं और वे सुहृद्, माता-पिता, भाई भी सर्वथा त्याज्य हैं। सम्पत्ति, सदन-सुख, सुहृद्, माता-पितादि वे ही माननीय हैं जो रामजीके सम्मुख होते हुएको यावद्बुद्धिबलोदय सहायता करें, अत: किसीको रहनेको न कहो, जो चलें सबको चलने दो, घरकी चिन्ता छोड़ो, राम-सम्मुख जानेवालेको घरकी कौन चिन्ता है **'सर्वं त्यक्त्वा हरिं भजेत्।'**

नोट—४ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि मणिकार, कुम्हार, जुलाहे, हथियार बनानेवाले, मायूरक, आराकश, वेधक, रंगसाज, दन्तकार, वैद्य, चूना पोतनेवाले, गंधी, सुनार, धोबी, दरजी, नट, मल्लाह, योगी, वेदज्ञ, सदाचारी, ब्राह्मण आदि सभी श्रीराम-दर्शनके लिये प्रसन्नतापूर्वक चले। (२। ८३। ११—१६) यह सब ***'रहन कहिय न काहू।······'*** से जना दिया है।

☞ इस दोहेमें सात ही अर्धालियाँ सब प्राचीन पोथियोंमें मिलती हैं। ***'सबके मन मोद न थोरा',*** अत: जान पड़ता है कि कवि भी मग्न हो आठका क्रम भूल गये। हाँ! पंजाबीजीने आठवीं अर्धाली यह दी है—***'प्रात गमन सुनि सभै अनंदू। बिसर गये दुख दारिद दंदू॥'***

मा० हं०—'अध्यात्म और वाल्मीकिरामायणोंमें भरतजीका वर्णन है तो सही, परंतु गोस्वामीजीके भरत-वर्णनकी तुलनामें उस वर्णनका होना-न-होना बराबर ही है। स्वामीजीका वर्णन जिस उत्कृष्टतासे अंकित हुआ है उससे पाठकोंको यहाँतक भ्रम हो जाता है कि अयोध्याकाण्डके नायक कौन कहे जायँगे, भरतजी या रामजी?······पाठकको इतना विश्वास हुए बिना तो रहता ही नहीं कि स्वामीजीका भरतचरित यदि इतनी उत्कृष्टताको न पहुँचा होता तो इस रामचरितमानसका आज-जैसा वर्तमान प्रचार कदापि न दिखायी

देता। हमारी दृष्टिसे रामचरितमानसका प्राण नि:संशय भरतजी ही हैं और वह यदि न होता तो उसका आत्मा रामजी '**एकाकी न रमते**'। इस प्रकार बड़ी ही बिमनस्कतासे दिखायी देते।'.....इसमें किंचित् भी संदेह नहीं कि स्वामीजीका लोक-शिक्षाका उद्देश्य उनके रामजीसे यदि अधिकसे न हो तो निश्चयसे उनके बराबरीसे तो भी उनके भरतजीने सुफलित किया है।

'भरतजीके कारण स्वामीजीका परिचय अथवा स्वामीजीके कारण भरतजीका परिचय इस प्रकारके उपस्थितितक अयोध्याकाण्डके सौष्ठवकी मंजिल आ पहुँची है इसमें कुछ भी शंका नहीं। इसका कारण यही दीखता है कि इस रामायणके भरत-भागमें रामरसका अविच्छिन्न पानकर मत्त होनेको जितना अवसर मिलता जाता है उतना अन्य किसी भी रामायणमें नहीं मिल सकता। यह सब गोस्वामीजीके आन्दोलनका ही परिणाम समझना चाहिये। उनके आन्दोलनद्वारा भरतजीका हृदय यदि इस प्रकार स्पष्ट न होता तो सेवाधर्मका हृदय भी कदापि इतना व्यक्त न होता; और मुख्यत: लोक-शिक्षाके सम्बन्धमें भाषाकी अप्रवृत्तिके कारण सेवाधर्म जो बिलकुल ही अनाथ हुआ जाता था वह कभी भी ऐसा सनाथ होता हुआ न दिखायी देता। इस कारणकी दृष्टिसे यदि देखो तो भरतजी और तुलसीदासजीका '**यत्तदो:**' के सदृश नित्य सम्बन्ध क्यों न समझा जावे?

'अस्तु! स्थूलदृष्टिसे देखनेपर भी गोस्वामीजीके अयोध्याकाण्डके दो विभाग होते हैं—दशरथनिधनतक पूर्वार्द्ध और अवशेष (यानी भरत-चरित) उत्तरार्ध। पूर्वार्धके रामप्रेमको अन्धप्रेम कहना कदाचित् समुचित होगा, क्योंकि उसमें रामजीका सत्य (अर्थात् आध्यात्मिक) स्वरूप आत्मानुभवी महात्माओंके व्यतिरिक्त प्राय: सभी सामान्य जनताको अविदित था। उस स्वरूपका सर्वसामान्य बोध उत्तरार्धमें हुआ; और रामविषयक अन्धप्रेमका रूपान्तर प्रबुद्ध वा विवेकी प्रेममें। इस कारण उक्त काण्ड-विभागोंको क्रमश: ज्ञानपूर्वक भक्तियोगका भाग और ज्ञानोत्तर भक्तियोगका भाग कहना अनुचित न होगा।

'उक्त विभाग-कल्पनाका प्रादुर्भाव भरतजीके ही कारण हुआ है, इसमें कुछ संदेह नहीं। अयोध्याकाण्डके रंगभूमिपर यावत् भरतजीका पाँव न था तावत् वहाँ रामविषयक-प्रेममें मोहका ही साम्राज्य फैल रहा था। परंतु भरतजीका पाँव उसे लगनेकी ही देर थी कि मोहका साम्राज्य एकदमसे नष्ट होकर रामजीके सत्य-स्वरूपरूपी स्वराज्यकी प्रभा सभीकी आँखोंमें भरने लगी और तुरंत ही मोहकी जगह आनन्द छाकर शोकाकुलित सारी अयोध्या '***जरउ सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ॥***' इस प्रकार घर-द्वारसे उदासीन होकर भरतजीके छत्रके नीचे आनन्दसे अचल बनकर रामदर्शनके लिये लौट पड़ी।

'अयोध्या छोड़नेतकका वर्णन हमारी समझसे भरतचरितका पूर्वरंग है। इस पूर्वरंगका दिग्दर्शन हमने करा दिया। अब भरत-चरित्रके उत्तररंगकी ओर चलेंगे।'—२०५ (१—५) में देखिये।

प० प० प्र०—भरत-भाषण अनुपम वक्तृत्वशैलीका बेजोड़ उदाहरण है। सभा तो जुड़ी थी भरतको राज्याभिषेक देनेके लिये, पर भरतजीका सम्भाषण कैसा प्रभावशाली था कि सभी उनके साथ वन-गमनके लिये ऐसे आर्त हो गये कि उनके मुखसे '***जरउ सो***.....' ये शब्द निकल पड़े। शैक्सपीयरके '***जूलियस सीजर***' नाटकमें सारी सभा जो जूलियस सीजरकी विरोधी (ब्रूटसका भाषण सुनकर) हो गयी थी, वही मार्क ऐन्टनीका भाषण सुनकर सीजरकी भक्त बन गयी। पर उसमें केवल व्यावहारिक बोध है। वहाँ भक्त और भगवान्के सम्बन्धका ऐसा परमोच्च आदर्श नहीं है।

घर घर साजहिं बाहन नाना। हरषु हृदयँ परभात पयाना॥ १॥
भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू। नगरु बाजि गज भवन भँडारू॥ २॥
संपति सब रघुपति कै आही। जौं बिनु जतनु चलौं तजि ताही॥ ३॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई। पाप सिरोमनि साँइ दोहाई॥ ४॥

करइ स्वामिहित सेवकु सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥ ५॥

शब्दार्थ—**परभात**=प्रभात, सबेरे। **परिनाम**=फल,नतीजा, अन्तमें। पापशिरोमणि=पापोंमें सबसे बड़ा पाप। = पापियोंमें शिरोमणि, यद्यपि '**नृशंसो घातुकः क्रूरः पापः ३। १। ४७ इत्यमरकोषे**', '**चत्वारि परद्रोहकारिणः' इति अमरव्याख्यासुधायाम्**' (प० प० प्र०), इन प्रमाणोंसे पापिशिरोमणि अर्थ हो सकता है तथापि यहाँ प्रथम साधारण अर्थ ही संगत है। '**पापं किल्बिषं कल्मषम्।**' (अमर० १। ४२६)। **दोहाई**=द्रोह करना, यथा—***'साँइ दोह मोहि कीन्ह कुमाता।'*** (२०१। ६) ***'हौं तो साँइ दोही पै सेवकहित साँई'***—(विनय०)

अर्थ—घर-घर लोग अनेक प्रकारकी सवारियाँ सजा रहे हैं, हृदयमें हर्ष है कि सबेरे चलना है॥ १॥ श्रीभरतजीने घर जाकर विचार किया कि नगर, घोड़े, हाथी, महल, खजाना॥ २॥ सब सम्पत्ति रघुनाथजीकी है। जो इसकी रक्षाका उपाय किये बिना इसे छोड़कर चल दूँ॥ ३॥ तो परिणाम (अन्तमें) मेरी भलाई नहीं। स्वामिद्रोह पापोंमें शिरोमणि (सबसे बढ़कर पाप) है॥ ४॥ सेवक वही है जो स्वामीका हित (भलाई) करे, चाहे कोई उसे करोड़ों दोष क्यों न लगावे॥ ५॥

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ ***'घर घर साजहिं······'*** (क) सभाके लोग मार्गमें भरतकी प्रशंसा करते और सबसे चलनेको कहते जाते थे। इस तरह एक-दूसरेसे घर-घर खबर पहुँच गयी। सब अनेक सवारियाँ सजा रहे हैं, इससे उनका उत्साह और परस्पर प्रेम और ***'करइ सहस सहाइ'*** का चरितार्थ दिखा रहे हैं। अपने ही लिये नहीं सजाते परंच औरोंके लिये भी कि जो चाहे सवार होकर चले। रातोंरात सवारियाँ सजीं कि पिछड़ न जायँ, यह बात ***'हरषु हृदय परभात पयाना'*** से जना दी है।

टिप्पणी २—***'भरत जाइ घर······'*** (क) सभाके आरम्भमें ***'पठये बोलि भरत दोउ भाई'*** कहा अब उनका घर जाना कहा। जब सभाके सब लोग चले गये तब ये दोनों भाई भी घर गये।

*** संपति सब रघुपति कै आही।······' ***

'भरतजीके चरित्रका तात्पर्य निकालना कुछ साधारण बात नहीं है। स्वयं स्वामीजी ही कह गये हैं कि कविजन भी भरतचरित्रमें चकित हुए हैं और हो रहे हैं। हमारी स्थूल दृष्टिको उसका तात्पर्य यही दीखता है कि मनुष्यमात्रको जो कुछ मिला है, वा मिलता जाता है, वह सब परमेश्वरका है। मनुष्यमात्र उसका केवल वहिवाटदार (ट्रस्टी) है। ऐसी भावना दृढ़ करना यही उसका आद्यकर्तव्य (पहली श्रेणी) है। इस कर्तव्यताके करनेपर उसका सारा जीवनक्रम ही परमार्थ हो सकता है। मनुष्य ऐसी (ईश्वरसेवाकी) भावनाको जब भूल जाता है तब उसकी अहंममादि भावना बढ़ती जाती है। वही उसका प्रपंच कहलाता है, जिसके कारण उसका सारा ही जीवन दुःखमय हो जाता है। इ० इ०। इस प्रकार काँटेके तोलपर सदैव जाग्रत् रहनेवाला पात्र स्वामीजीके भरतजीके अतिरिक्त उनकी या अन्य किसी भी रामायणमें उपलब्ध नहीं है'—(मा० हं०) २०५ (१—५) भी देखिये।

श्रीभरतजीके गूढ़ चरितका मर्म प्रायः बहुतोंने नहीं पाया, इसके उदाहरणमें एक महात्मा (वाल्मी० २। ६१) के '**एवं कनीयसा भ्रात्रा भुक्तं राज्यं विशाम्पते। भ्राता ज्येष्ठो वरिष्ठश्च किमर्थं नावमन्यते॥**' (१५) श्रीकौसल्याजीके इन वचनोंको प्रमाणमें देते हैं। यह वचन उन्होंने श्रीदशरथजीसे कहे हैं। वे कहती हैं कि इसका एक तो विश्वास ही क्या कि पन्द्रहवें वर्ष रामके लौटनेपर भरत राज्यको छोड़ देंगे और कदापि छोड़ भी दें तो छोटे भाईके भोग किये हुए राज्यका राम क्यों न तिरस्कार करेंगे। नरव्याघ्र राम दूसरेका भोगा हुआ राज्य स्वीकार न करेंगे।—पर वह स्मरण रखना चाहिये कि मानसकी श्रीकौसल्यादेवी और वाल्मी० की कौसल्या देवीमें धरती और आकाशका अन्तर है। मानसकी कौसल्याजी आदर्श माता और आदर्श धर्मपत्नी हैं।

अतः यह भी कहना कि 'इसीसे श्रीभरतजी राज्य एवं सम्पत्तिके स्वामी नहीं बने, यह भी कहाँतक संगत होगा पाठक स्वयं विचार कर लें। श्रीभरतजी आदर्श भ्राता, आदर्श राम-सेवक, आदर्श धर्मात्मा हैं। वे स्वाभाविक ही सब कुछ श्रीरामजीका जानते-मानते हैं और ऐसा ही समझकर वे कह रहे हैं—

'संपति"""।' मानसकी कौसल्याजी श्रीभरतका प्रेम जानती हैं। हाँ! निषादराज और उनके गुरु लक्ष्मणजी इनके साथ सेना आदि देखकर भुलावेमें पड़ गये और दोष भी दे डाला।

*** 'पापसिरोमनि साँइ दोहाई' ***

'दोहाई' का अर्थ जिनने सौगंद किया है उन्होंने अनर्थ किया है। यहाँ सौगंदका प्रयोजन भी नहीं, दूसरे अर्थ प्रसंगानुकूल संगत नहीं है। 'दोह' शब्द कई ठौर आया है। इसी प्रकार 'प्रेम' की ठौर *'पेम'* और *'प्रयाग'* की ठौर *'पयागा'* अनेक स्थलोंमें आया है। विनायकी और अन्य भी कुछ टीकाओंने *'पापसिरोमनि'* का अर्थ— 'पापियोंमें शिरोमणि', ऐसा किया है; पर वह अर्थ ठीक नहीं; यहाँ 'पाप' पाठ है, 'पापि' पाठ नहीं है। 'पाप' का अर्थ पापी लिया है इसीसे *'दोहाई'* का अर्थ सौगंद किया है; क्योंकि उस समय यह अर्थ कुछ संगत हो जाता है। यहाँ भाव यह है कि यदि उसकी रक्षाका उपाय न कर दूँ और ऐसे ही छोड़कर चल दूँ तो मैं स्वामिद्रोही कहलाऊँगा जिससे बढ़कर पाप नहीं है। आगेके *'करइ स्वामिहित'* भी इसी अर्थका पोषक है।

नोट—*'करइ स्वामिहित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ"""'* इति। यदि कोई कहे कि भरतजी ऊपरसे अपनी हृदयकी सफाई दिखानेके लिये श्रीरामजीके पास जाते या गये हैं, भीतरसे राज्यका लोभ है, नहीं तो सब राजसम्पत्ति आदिका बंदोबस्त क्यों करके जाते; तो उसपर कहते हैं कि सेवक वही है जो स्वामीका हित करे, चाहे कोई उसे अगणित दोष क्यों न लगावे—(रा० प्र०) ऐसा ही हनुमान्‌जीने रावणसे कहा है—*'मोहि न कछु बाँधे कर लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा॥'* एक दूषण क्या करोड़ों भी दें तो भी उसपर ध्यान न दे। दूषण कि कहाँ तो अभी-अभी वैराग्य बकते थे और कहाँ अब सब बन्दोबस्त करते हैं। बड़े अचूक हैं, कब चूकनेवाले—(पु० रा० कु०) पर अवधवासियोंमें कोई ऐसी शंका करनेवाला नहीं है, आजकलके आलोचक ही भले कहें।

अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धरमु न डोले॥ ६॥
कहि सबु मरमु धरमु भल भाषा। जो जेहि लायक सो तेहि* राखा॥ ७॥
करि सबु जतनु राखि रखवारे। राम मातु पहिं भरत सिधारे॥ ८॥

दो०—आरत जननी जानि सबु भरत सनेह सुजान।
कहेउ बनावन पालकी सजन सुखासन जान॥ १८६॥

शब्दार्थ—**सुजान**=सुन्दर रीतिसे जाननेवाले, चतुर प्रवीण। **सनेह सुजान**=प्रीतिकी रीतिको भली प्रकार जाननेवाले। **आरत**=बेतरह चित्त लगा हुआ; दर्शनके लिये बड़ी उत्कट लालसा, आकुलता एवं उत्साहयुक्त। यथा—*'सखि हमरे अति आरति तातें। कबहुँक ए आवहिं एहि नाते॥'* (१। २२२। ८)=दुःखी। यहाँ दोनों अर्थ हैं।

अर्थ—ऐसा विचारकर पवित्र (विश्वासपात्र) सेवकोंको बुलाया जो स्वप्नमें भी कभी अपने धर्मसे डिगे न थे॥ ६॥ श्रीभरतजीने सब मर्म कहकर धर्मका अच्छी तरह वर्णन किया और जो व्यक्ति जिस कार्यके योग्य था उसे उस कार्यमें नियुक्त किया॥ ७॥ सब यत्न करके, रक्षकोंको रखकर (नियुक्त या मुकर्रर करके) श्रीभरतजी श्रीकौसल्याजीके पास गये॥ ८॥ सब माताओंको श्रीरामजीके दर्शनके लिये आतुर (बेतरह चित्त लगा हुआ) एवं दुःखी जानकर प्रेममें सुजान श्रीभरतजीने पालकी सँवारने और सुखासन (तामदान, झंपान) और रथोंको सजानेको कहा॥ १८६॥

नोट—१—*'सुचि सेवक'*—सेवकधर्मसे न चूकनेवाले, भरोसेवाले, विश्वासपात्र, निष्कपट। *'सुचि सेवक*

---

* राजापुर, रा० प्र०, रा० गु० द्वि०, और भा० दा० में यह पाठ है। अन्यमें 'तहँ'। जो सो, जेहि तेहिका जोड़ अच्छा है। दूसरा अर्थ—'जो जिस लायक था उसने उसको रखा अर्थात् उसकी रक्षाका भार लिया (दीनजी)।

सब लिए हँकारी।' (१।२४०।७)। देखिये। दूसरा चरण 'शुचि' की व्याख्या ही है। ***'मर्म धर्म'***—धर्म बतलाया कि स्वामीके हितमें अपना स्वार्थ भी बिगड़ जाय तो उसकी भी चिन्ता न करना चाहिये, स्वामी जिसमें सुख पावें, स्वामीका जिसमें भला हो वही करना सेवकका परम धर्म है। इत्यादि। यथा—***'स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू।'*** (२९३।८) 'मर्म-शत्रु आ जायँ तो कैसे काम करना चाहिये, खजाना आदिका भेद और भी राज्य-सम्पत्तिकी रक्षाका गुह्य रहस्य।

नोट—२ ***'जो जेहि लायक सो तेहि राखा'*** अर्थात् जो नगरकी रक्षाके योग्य थे उनको नगरकी रक्षापर, घोड़ोंकी रक्षामें जो निपुण थे उनको घोड़ोंकी रक्षामें, इसी तरह हाथी, रथ, खजाना, महल इत्यादिकी रक्षामें जो जिसके योग्य था उसको उसीपर नियुक्त किया। (रा० प्र०)

गौड़जी—'दीन' जीका ही अन्वय समीचीन है। यहाँ ***'राखा'*** क्रियाके कर्ता ***'भरत'*** जी नहीं हैं। 'सो' कर्ता है। अन्वय इस प्रकार होगा ***'जो जेहि (राखन) लायक (रहा) सो तेहि राखा।'*** भरतको ***'राखा'*** का कर्ता मानना एक तो पद-विन्याससे असंगत है, दूसरे 'भरत' शब्दकी किसी प्रकारसे विवक्षा भी कर लें तो आगे ***'राखि रखवारे'*** में पुनरुक्ति हो जाती है। ***'तहँ राखा'*** पाठ लेनेमें भी यही दोष आता है। इसीलिये ***'तेहि'*** पाठ ही ठीक है। ***'तहँ'*** ठीक नहीं है।

नोट—३ ***'करि सब जतन……'*** अर्थात् जैसा ऊपर कह आये एवं और भी जो जहाँ काम करना था वह सब करके—जैसे खजानेके ताले देखे, फाटक आदिको मजबूत कराये, इत्यादि। (रा० प्र०)

नोट—४ ***'आरत जननी जानि सबु'*** इति। पतिके न रहनेसे भारी दुःख है। उनके न तो पति ही हैं, न पुत्र ही; इससे सभी आर्त हैं। सबपर दुःखका भार है। माता कौसल्याजी उपवाससे कृश भी हो गयी हैं। यथा—**'उपवासकृशा दीना भर्तृव्यसनकर्शिताः।'** (वाल्मी० २।८७।६) कौसल्याजीके आश्रित भरतजी चलना ही चाहते थे। इन सबका दुःख और उत्साह देख इन्हें भी साथ लिया। अथवा, सोचे कि हमने सबको सती होनेसे रोका और ये सब रामदर्शनाभिलाषासे ही सती होनेसे रुकीं; अतः सबसे चलनेको कहा और उनके लिये पालकी आदि सजानेको कहा।—(पं०) या, उन्हींसे कहा कि अपनी-अपनी पालकियाँ तैयार कराइये। (पु० रा० कु०) ***'सनेह सुजान'***—जानते हैं कि किसके साथ कैसा स्नेह करना चाहिये, प्रेमकी रीतिको जानते हैं। ***'सनेह सुजान'*** हैं। समझ गये कि ये सब राम-दर्शनके लिये उत्सुक हैं; अतः उनसे साथ चलनेके लिये निवेदन किया। और पीड़ित जानकर उनके लिये आरामकी सवारीका इन्तजाम कराया—यहाँ 'परिकरांकुर' अलंकार है (वीर)।

चक्क चक्कि जिमि पुर नरनारी। चहत[1] प्रात उर आरत भारी॥ १॥
जागत सब निसि भएउ बिहाना। भरत बोलाए सचिव सुजाना॥ २॥
कहेउ लेहु सब तिलक समाजू। बनहिं देब मुनि रामहिं राजू॥ ३॥
बेगि चलहु सुनि सचिव जोहारे। तुरत तुरग रथ नाग सँवारे॥ ४॥
अरुंधती अरु अगिनि समाऊ। रथ चढ़ि चले प्रथम मुनिराऊ॥ ५॥
बिप्रबृंद चढ़ि बाहन नाना। चले सकल तप तेज निधाना॥ ६॥
नगर लोग सब सजि सजि जाना। चित्रकूट कहँ कीन्ह पयाना॥ ७॥
सिबिका सुभग न जाँहि बखानी। चढ़ि चढ़ि चलत भईं सब रानी॥ ८॥

दो०—सौंपि नगर सुचि सेवकनि सादर सकल[2] चलाइ।
सुमिरि रामसियचरन तब चले भरत दोउ भाइ॥ १८७॥

१-लाला सीतारामजीने 'चलत' पाठ दिया है। पर यह पाठ और कहीं नहीं है।
२-सबहि-भा० दा०।

शब्दार्थ—**अगिनि समाऊ**=अग्निहोत्रकी सब सामग्री। वेदोक्त मन्त्रोंसे अग्निमें आहुति देते हैं। यह क्रिया दो प्रकारकी कही गयी है—नित्य और नैमित्तिक वा काम्य। अग्न्याधानपूर्वक प्रतिदिन जीवनभर प्रातः-सायं अग्निमें घृतादिसे आहुति देना 'नित्य', और किसी नियत समयतक किसी नियत उद्देश्यसे इस विधानको करना 'काम्य' है। कुण्ड, पात्र, कुश, घृत, श्रुवा आदि जो-जो यज्ञके लिये जरूरी हैं वह सब सामान। पर श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामीजी कहते हैं कि यहाँ 'दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि और आहवनीयाग्नि ये तीनों अग्नि और होमकी सामग्री' ही *'अगिनि समाऊ'* से अभिप्रेत हैं। कारण कि अग्नि समारोप करके फिर दम्पति तेरह दिनसे अधिक बाहर रह नहीं सकते। और यहाँ यह निश्चित नहीं है कि कितने दिन बाहर लग जायँ। चित्रकूटकी यात्रामें ऐसे बहुत लोग होंगे जो आहिताग्नि थे। एक श्रोत्रियके अग्निसे अग्नि लेकर दूसरा श्रोत्रिय अपना औपासन होम कर सकते हैं। अतः वसिष्ठजी ही अपने सब-के-सब अग्नि साथ लेकर चले। विनायकरावजी लिखते हैं कि अग्निहोत्रकी सामग्री साथ लेकर चलनेका कारण मनुस्मृतिमें यों दिया है—'**अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा। दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि॥**' (अ० ४ श्लो० २५) '**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥**' (अ० ३ श्लो० ३६) अर्थात् उदित होम करनेवाले, दिन और रात्रिके समय प्रथम तथा शेषमें सदा अग्निहोत्र यज्ञ करें। अमावसको दर्श और पूर्णमासीको पौर्णमास नाम यज्ञ करें। अग्निमें आहुति देनेसे वह सूर्यदेवको पहुँचती है, वही रस सूर्यसे वृष्टिरूप होकर गिरता है, वृष्टिसे अन्न होता और अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है। '**समाऊ**'=समाजू, जैसे '**राऊ**'=राजू। '**निधान**'=आधार, खजाना, समुद्र, घर। '**चलाई**'=रवाना करके। '**अरुन्धती**'=ये वसिष्ठजीकी धर्मपत्नी और दक्ष प्रजापतिकी कन्या हैं।

अर्थ—चकवा-चकवी-जैसे नगरके स्त्री-पुरुष प्रातःकाल होनेकी कामना कर रहे हैं। हृदयमें बहुत आतुर हैं॥ १॥ सारी रात जागते सबेरा हो गया। श्रीभरतजीने चतुर मन्त्रियोंको बुलवाया॥ २॥ और, कहा कि 'सब तिलकका सामान ले लो, वनहीमें मुनि श्रीरामजीको राज्य देंगे॥ ३॥ शीघ्र चलो'; यह सुनकर मन्त्रियोंने प्रणाम किया, तुरत घोड़े, रथ और हाथी सजाये॥ ४॥ अरुन्धती और अग्निहोत्रकी सामग्रीसहित रथपर चढ़कर पहले मुनिराज वसिष्ठजी चले॥ ५॥ अनेक सवारियोंपर ब्राह्मणवृन्द चढ़कर चले। वे सभी तप और तेजके खजाना हैं॥ ६॥ नगरके सब लोगोंने रथों और सवारियोंको सज-सजकर चित्रकूटके लिये प्रस्थान किया (चले)॥ ७॥ सुन्दर पालकियोंपर, जो वर्णन नहीं की जा सकतीं, सब रानियाँ चढ़-चढ़कर चलती हुईं॥ ८॥ नगर विश्वासपात्र सेवकोंको सौंपकर, सबको आदरपूर्वक रवाना करके तब श्रीसीतारामजीके चरणोंका स्मरण करके भरत-शत्रुघ्न दोनों भाई चले॥ १८७॥

नोट—१ *'चक्क चक्कि जिमि······'* इति। (क) चकवा-चकवी दोनोंको रात्रिमें वियोग होनेसे व्याकुलता रहती है, वे कामना करते हैं कि कब सबेरा हो कि संयोग हो, वैसे ही रामदर्शनके लिये प्रस्थान करनेमें रात्रि बीचमें रुकावट हो रही है इससे सब बड़े उत्कण्ठित हैं; कब यह वियोगकी रात्रि मिटे, सबेरा हो, हम सब दर्शनको चलें। वियोगके कारण आर्त हैं। पुनः, (ख) चक्क-चक्किकी उपमासे दिखाया कि कैसा दुःख हृदयमें है। जैसा पतिको स्त्रीके और स्त्रीको पतिके वियोगसे होता है (पु० रा० कु०)।* सबेरा होनेके लिये सब ऐसे ही व्याकुल हैं।

नोट—२ *'कहेउ लेहु सब तिलक समाजू।······'* इति। (क) यहाँ श्रीभरतजी तिलककी सब सामग्री

* मयंक—'चक-चकईकी उपमा इस कारण दी कि रातको दोनोंका वियोग होता है वैसे ही अवध-नर-नारी चलनेका साज सज रहे हैं, अतः रात्रिको वियोग रहा, सबेरे पन्थमें योग होगा। यदि वह भाव ठीक होता तो भोरे नर-नारी क्यों दुःखित होते। अतएव यह भाव होगा कि चकई-रूपी नर-नारी प्रात होना चाहते हैं जिसमें राघवरूपी चकवाकका संयोग हो।'

साथ ले चलनेकी आज्ञा दे रहे हैं और चित्रकूटमें श्रीभरतजी गुरुकी आज्ञा लिखते हैं, यथा—*'देव देव अभिषेक हित गुरु अनुसासन पाइ। आनेउँ सब तीरथ सलिल तेहि कहँ काह रजाइ॥'* (३०७) अतएव वहाँके अनुसार यहाँ भी समझ लेना चाहिये कि गुरुकी आज्ञा पाकर उन्होंने यहाँ आज्ञा दी है। (पु० रा० कु०) (ख) *'बनहिं देव'* वनमें राज्याभिषेक करेंगे, यह क्यों? इसलिये कि उत्तम कार्यमें देर न करना चाहिये, अयोध्याजीतक आनेभरका विलम्ब भी नहीं सहा जा सकता। पुनः, घरमें अमंगल हुआ, विघ्न हुआ, अतः अब वहीं वनमें देंगे। (रा० प्र०) पुनः भाव कि श्रीरामजीने मातासे कहा है कि *'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।'* अतः गुरुजी काननमें ही उनका अभिषेक करें। वे अयोध्यासे तापस वेषसे वनको गये हैं तो अब राजसी ठाट-बाटसे घर लौटें। (वि० त्रि०) (ग) *'मुनि रामहिं राजू'* का भाव कि पिता उनको यौवराज्य दे चुके ही हैं,वे बड़े हैं, तिलकका सरजाम भी उन्हींके लिये हुआ, अतएव वही राजा होंगे। पिता नहीं हैं तो गुरु तो तैयार ही हैं, वे ही राजा बनावेंगे। (पं०, रा० प्र०)

नोट ३—*'अरुंधती अरु अगिनि समाऊ।'''' '*से प्रवृत्तिके आचार्य्य होना जनाया। (पु० रा० कु०) काशिराजजी लिखते हैं कि ये मुनि लवकुश महाराजकी बहुत पीढ़ियोंतक रहकर तब संन्यासी हुए। (रा० प० प्र०)

नोट ४—*'चित्रकूट कहँ कीन्ह पयाना'* इति। चित्रकूटको प्रस्थान किया, यह कहकर जना दिया कि यह समाचार श्रीभरतजीको तथा पुरवासियोंको मिल चुका था कि श्रीरघुनाथजी चित्रकूटमें हैं। गीतावलीमें भी भरतजीके वचन हैं *'चित्रकूट चलिये सब मिलि'''' यों कहि भोर भरत गिरिबर को मारग बूझि गहा।'* (२। ६४) इनसे यह स्पष्ट है कि यह समाचार सबको मिल चुका है। किससे मिला इसका पक्का प्रमाण नहीं मिला। यही जान पड़ता है कि निषादराजद्वारा यह समाचार अवधमें आया। वह जानता है कि प्रभु कहाँपर हैं, उसके दूत बराबर उसे खबर देते रहे हैं। चित्रकूटके लौटनेके पश्चात् भी निषादराजद्वारा समाचार मिलता रहा है। यथा—*'सुभ पत्रिका निषादराजकी आजु भरत पहँ आई। कुँवर सो कुसल छेम अलि तेहि पल कुलगुरु कहँ पहुँचाई॥ गुरु कृपालु संभ्रम पुर घर घर सादर सबहि सुनाई॥'* (गी० २। ८९) इससे अनुमानित होता है कि श्रीवसिष्ठजीके यहाँ समाचार आया हो। अथवा उन्होंने दूत भेजकर शृंगवेरपुरसे समाचार मँगाया हो। निषादराज वह स्थान जानता था तभी तो उसने भरतजीसे कहा—*'नाथ देखिअहि बिटप बिसाला।''''ए तरु सरित समीप गोसाईं। रघुबर परन कुटी जहँ छाईं॥'* (२३७। २—८)

नोट ५—*'सौंपि नगर सुचि सेवकनि सादर सकल चलाइ।'''''' '*इति। (क) नगरको शुचि सेवकोंके सुपुर्द करके चले। यहाँ यात्राका क्रम दिखाते हैं। प्रथम गुरु चले, उनके पीछे तपस्वी, तेजस्वी ब्रह्मर्षि, फिर पुरवासी और उनके पीछे सब रानियोंकी सवारियाँ हैं। सबके पीछे भरतजी हैं। (ख) *'सुमिरि राम सिय चरन'* यह मंगलाचरण किया। (पु० रा० कु०) अपना कलंक मिटाना है। इससे चरणोंका स्मरण किया जिनकी रज-स्पर्शसे अहल्या पावन हुई। (वै०)

राम दरस बस सब नर नारी। जनु करि करिनि चले तकि बारी॥ १॥
बन सियरामु समुझि मन माहीं। सानुज भरत पयादेहिं जाहीं॥ २॥
देखि सनेहु लोग अनुरागे। उतरि चले हय गय रथ त्यागे॥ ३॥
जाइ समीप राखि निज डोली। राममातु मृदु बानी बोली॥ ४॥
तात चढ़हु रथ बलि महतारी। होइहि प्रिय परिवारु दुखारी॥ ५॥
तुम्हरे चलत चलिहि सबु लोगू। सकल सोक कृस नहिं मग जोगू॥ ६॥

शब्दार्थ—**बस**=वश, इच्छा, चाह, काबू।=हेतु, लिये—(रा० प्र० दीनजी)

अर्थ—श्रीराम-दर्शनकी चाहमें सब स्त्री-पुरुष ऐसे (आतुरतासे, झपटे)चले (जा रहे हैं) मानो (प्यासे)

हाथी-हथिनी जल देखकर (उसकी ओर लपके हुए तेजीसे) चले जा रहे हैं॥ १॥ श्रीसीतारामजी वनमें हैं (राजविभव छोड़े हुए हैं, हम सवारीपर चलें, यह उचित नहीं) यह मनमें समझ-विचारकर भरतजी भाईसहित पैदल ही जा रहे हैं॥ २॥ उनका प्रेम देखकर लोग अनुरागमें भर गये और घोड़े-हाथी और रथोंको त्यागकर (उनसे उतरकर) पैदल चलने लगे॥ ३॥ श्रीरामजीकी माता पास जाकर अपनी डोली भरतजीके समीप रखकर कोमल वाणीमें बोलीं॥ ४॥ बेटा! माता बलिहारी जाती है। तुम रथपर चढ़ो नहीं तो प्रिय और परिवार दु:खी होंगे॥ ५॥ तुम्हारे पैदल चलनेसे सब लोग पैरों चलेंगे, सब शोकसे दुर्बल हो गये हैं, रास्तेके योग्य नहीं हैं॥ ६॥

नोट—१ ***'राम दरस बस……'*** इति। मिलान कीजिये वाल्मी० (२। ८३) के **'प्रयाताश्चार्यसंघाता रामं द्रष्टुं सलक्ष्मणम्। तस्यैव च कथाश्चित्राः कुर्वाणा हृष्टमानसाः॥' 'मेघश्यामं महाबाहुं स्थिरसत्त्वं दृढव्रतम्। कदा द्रक्ष्यामहे रामं जगतः शोकनाशनम्॥'** (७-८) अर्थात् सज्जनोंका समूह श्रीरामलक्ष्मणको देखनेको चला। वे सब प्रसन्नतापूर्वक उन्हींके सम्बन्धकी बातें करते थे! मेघवत् श्यामवर्ण, महाबाहु, दृढ़व्रत और जगत्के शोकको दूर करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीको हमलोग कब देखेंगे। उनका दर्शन पाते ही हमारे शोक दूर हो जायँगे।-ये सब भाव ***'राम दरस बस'*** से सूचित कर दिये।

टिप्पण—१ पु० रा० कु० ***'जनु करि करिनि चले तकि बारी'*** इति। (क) बारी=जल, =बगीचा, यथा—***'कानन बिचित्र बारी बिसाल। मंदाकिनि मालिनि सदा सींच'***—(विनय २३) दर्शनकी प्यास है इससे झपटते जाते हैं। हाथीका पेट भारी इसीसे उसे प्यास भी भारी, वैसे ही अवधवासियोंको भारी विरह है इससे दर्शनकी चाह तीव्र है। यहाँ पशुकी उत्प्रेक्षा करके यह भी जनाया कि इनके आचरण पशुके-से हैं, कुछ विचार नहीं कि हम चले तो हैं रामतीर्थको, राम-दर्शनको और चढ़े हैं सवारियोंपर। वनमें श्रीसीतारामजी वाहन, पात्र और वस्त्र आदिके बिना हैं, यह समझकर अनुजसहित भरतजी पयादा पा जा रहे हैं। किसीने उन्हें इसकी शिक्षा नहीं दी। वे अपने मनसे समझकर पैदल जाते हैं; इसीसे उन्हें मनुष्य लिखा, यह बात ***'सानुज'*** पदसे जना दी है। यहाँ ***'पयादेहि जाहीं'*** मनुष्यका आचरण दिखाया और वहाँ पशुका। (ख) ***'सब नर नारी'*** से पुरवासियोंसे तात्पर्य है। गुरु, माताओं आदिसे नहीं। गुरु और माताओंका सवारीपर चलना उचित है, श्रीराम इनके लड़के हैं, ये सब पूज्य हैं।

नोट २—***'देखि सनेह लोग अनुरागे……।'*** इति। इनका स्नेह देखकर होश हुआ, उनको भी प्रेम हुआ। पुन: यह भी विचार हुआ होगा कि राज्यके मालिक पैदल और हम सवारीपर, यह अयोग्य है। अतएव वे भी उतर पड़े।

☞ महात्माके संगसे उत्तम बुद्धि उपजती है।

नोट ३—***'जाइ समीप राखि निज डोली……।'*** इति। यहाँ बड़ा हलका शब्द कविने दिया है। पूर्व तो कहा कि ***'सिबिका सुभग न जाहिं बखानी। चढ़ि चढ़ि चलत भईं सब रानी॥'*** इसमें विरोधाभास है। इसका समाधान यों करते हैं कि—(क) उत्तम सवारी कहनेका समय नहीं है। (ख) बड़े लोग अपने लिये दीनताके वचनका प्रयोग करते हैं, यह उनकी बड़ाई है।—(पाँड़ेजी)। अथवा, शोकातुर होनेके कारण ये डोलीमें ही चलीं, नालकी या पालकी आदिपर नहीं चढ़ीं-(रा० प्र०) अथवा, शिविकाके लिये ही यहाँ डोली शब्द दिया। (ग) डोली रखने और बलिहारी होनेका भाव यह कि हम क्या ब्याहने या गौने चली हैं जो हम डोलीमें चलें, हम भी पैदल ही चलेंगी। तुम सवारीपर चलो, जो दोष तुमको लगे वह सब मैं अपने सिर लेती हूँ। (पु० रा० कु०)

नोट ४ —***'सकल सोक कृस नहिं मग जोगू।'*** अर्थात् पैदल चलना तो अच्छा ही है पर लोग चल न सकेंगे, बहुत समय लगेगा, सब लोग शीघ्र दर्शनके लिये आतुर हैं।

प० प० प्र०—श्रीकौसल्याजीके इन वचनोंसे उनका कैसा प्रजापर वात्सल्य और भरतपर प्रेम है यह दरसाया है। साथ ही यह भी दिखाया है कि श्रीराम-वियोगका अवधवासियोंपर क्या परिणाम हुआ। जो पूर्व ***'तन कृस मन दुख बदन मलीने।'*** (७६। ४) कहा था उसीको यहाँ स्पष्ट किया है।

सिर धरि बचन चरन सिरु नाई। रथ चढ़ि चलत भए दोउ भाई॥ ७॥
तमसा प्रथम दिवस करि बासू। दूसर गोमति तीर निवासू॥ ८॥
दो०—पय अहार फल असन एक निसि भोजन एक लोग।
करत रामहित नेम ब्रत परिहरि भूषन भोग॥ १८८॥
सई तीर बसि चले बिहाने। शृंगबेरपुर सब निअराने॥ १॥

शब्दार्थ—'**असन**' '**अहार**'=भोजन। **बिहान** (सं० विभान)=प्रातःकाल, सबेरे। **सई**=स्यंदिकाका अपभ्रंश है। यह रायबरेली होकर बेलाप्रतापगढ़के सामने बही है।

अर्थ—माता कौसल्याके वचनोंको शिरोधार्य (मान) कर और चरणोंमें माथा नवाकर दोनों भाई रथपर चढ़कर चलने लगे॥ ७॥ पहले दिन तमसा तटपर वास करके दूसरे दिन गोमतीतटपर निवास किया॥ ८॥ कोई तो दूध और कोई फलाहार करते हैं और कुछ लोग रात्रिमें ही एक बार भोजन करते हैं*। सब लोग भूषण और भोग-सुखको त्यागकर श्रीरामचन्द्रजीके लिये नेम और व्रत करते हैं॥ १८८॥ रातभर सई नदीके किनारे वास करके सबेरे चल दिये और शृंगवेरपुरके समीप पहुँचे॥ १॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ ***'सिर धरि बचन******'*** इति। श्रीभरतजीने माताकी आज्ञा मानी। जैसे श्रीरामजी पिताकी आज्ञा मानकर शृंगवेरपुरतक रथपर गये वैसे ही ये भी वहाँतक रथपर चले। [भरतजीने माता कौसल्याका वचन शिरोधार्य किया। समझा कि वहाँतक श्रीरामजानकीजी और लक्ष्मणजी पैदल चले थे, वहाँतक हम भी पैदल चल चुके, इसके बाद पिताजीकी आज्ञासे सरकार रथपर ही शृंगवेरपुरतक गये हैं, यथा—***'तब सुमंत्र नृप बचन सुनाए। करि बिनती रथ राम चढ़ाए॥ चढ़ि रथ सीय सहित दोउ भाई। चले हृदय अवधहिं सिर नाई॥'*** अतः माताकी आज्ञासे वहाँतक हमारा भी रथपर जाना अनुचित नहीं है, अतः ये दोनों भाई भी रथपर चढ़कर चले। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी-२ ***'तमसा प्रथम दिवस करि बासू******'*** इति। (क) श्रीरामजी दूसरे दिन शृंगवेरपुर गये और ये चौथे दिन पहुँचे। (कारण कि नगरभर साथ है) (ख) चित्रकूटको जानेमें भरतजीकी शीघ्रता पूज्य कवि अपनी लेखनीद्वारा दिखाते हैं। चले क्रिया देकर, बीचमें अपूर्ण क्रियाएँ दी हैं। इससे जनाते हैं कि कहीं अच्छी तरह निवास नहीं किया। प्रथम दिन तमसापर बसकर, दूसरे दिन गोमतीपर ठहरकर फिर सईपर विश्राम करके चले—यहाँ प्रथम-प्रथम पूर्ण क्रियापर आकर रुके।

टिप्पणी-३ ***'पय अहार फल असन एक******'*** इति। (१) जो कुछ भूख सहनेमें समर्थ हैं वे दूध पीकर रहते हैं, जो उनसे निर्बल हैं वे फलाहार करते हैं, जो इनसे भी निर्बल हैं वे रात्रिमें भोजन करते हैं। वा, (२) कोई दूध, कोई फल असन अर्थात् फलाहार करते हैं, पर 'एक', अर्थात् एक ही प्रकारका, एक ही जातिका फल पेटभर खाते हैं और कोई अन्न भोजन करते हैं पर एक ही अन्न। रातको अर्थात् पाँचवें पहर भोजन करते हैं। वा, कोई रातमें, कोई दिनमें पर एक ही बार। (पु० रा० कु०) वा, (३) कोई पयाहार, कोई फलाहार, वह भी रात्रिमें; एक बार भोजन करते हैं दिनमें कुछ नहीं। रामजीकी प्राप्ति-हेतु अन्न, भूषण, पात्र आदि सब भोगके सामान त्याग दिये। (वै०)

नोट १—रातमें भोजन करते हैं, इस विचारसे कि अब श्रीरामजी अवश्य भोजन कर चुके होंगे। ☞ स्मरण रहे कि पुरवासी ***'नेम ब्रत'*** तो वियोग होनेके बादसे ही करने लगे थे,यथा—***'राम दरस हित नेम ब्रत लगे करन नर नारि'***॥ ८६॥ अब केवल एक ही समय आहार कर रहे हैं। अथवा, पहले ***'नेम ब्रत'*** मात्र कहा था, अब उसको यहाँ स्पष्ट किया।

नोट २—'शृंगबेरपुर' का नाम यह क्यों पड़ा यह (८७। १) ***'शृंगवेरपुर पहुँचे जाई।'*** में लिखा जा चुका है। पु० रा० कु० कहते हैं कि सरहदपर पाषाणके मृग बने हैं, उनपर मृगोंके सींग लगे हैं जिसमें हिरन इन्हें देखकर आवें तो उनका शिकार किया जाय। अतः शृंगवेरपुर नाम पड़ा।

---

* बंदन पाठकजी—'नक्त चान्नं समश्नीयाद्दिवा वाऽऽहृत्य शक्तितः। चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः।' इति (मनुस्मृतौ। ६। १९) दिनमें एक बार भोजन करे वा दिनमें न करके रातमें करे वा एक दिन उपवास करके दूसरे दिन रातमें भोजन करे वा तीन दिन उपोषण करके चौथे दिन रातमें भोजन करे।

समाचार सब सुने निषादा। हृदयँ बिचार करै सबिषादा॥ २॥
कारन कवन भरतु बन जाहीं। है कछु कपट भाउ मन माहीं॥ ३॥
जौं पै जियँ न होति कुटिलाई। तौ कत लीन्ह संग कटकाई॥ ४॥
जानहिं सानुज रामहि मारी। करौं अकंटक राजु सुखारी॥ ५॥

शब्दार्थ—'**पै**'=निश्चय, अवश्य। '**जौं पै**'=निश्चय ही।=यदि। '**अकंटक**'=कंटक (काँटा) रहित, निर्विघ्न, बेखटकेका, बाधारहित, शुत्ररहित, निरुपाधि।

अर्थ—निषादराजने सब समाचार सुने तो दुःखपूर्ण हृदयसे विचार करने लगा॥ २॥ क्या कारण है कि भरतजी वनको जा रहे हैं? मनमें कुछ कपट-भाव (अवश्य) है॥ ३॥ यदि मनमें कुटिलता न होती तो साथमें सेना क्यों ली है?॥ ४॥ समझते हैं कि भाईसहित श्रीरामजीको मारकर सुखसे अकण्टक राज्य करूँ॥ ५॥

पु० रा० कु०—***'समाचार सब सुने निषादा।'''''*** इति। (क) निषादोंका राजा है तो भी अपने राज्यमें कैसा चौकस है कि उधर भरतजी समाजसहित पुरके निकट पहुँच रहे हैं और इसके दूतोंने इसे आकर खबर दे दी। (ख) ***'सबिषादा'*** यह शब्द आदिमें देकर सूचित कर दिया कि इसका विचार ठीक नहीं है। विषादमें विचार नहीं रहता, इसी तरह श्रीसीतारामजीको रोते देख ***'भएउ प्रेमबस हृदय बिषादा'***। वहाँ भी उसके विचारोंको लक्ष्मणजीने ठीक किया था।

टिप्पणी-३ ***'करौं अकंटक राजु'***—क्योंकि नीति है कि ***'रिपु रिन रंच न राखब काऊ।'***

नोट—राजापुरका पाठ है—***'बिषाद करै सबिषादा।'*** भा० दासजीने ***'बिषाद'*** पर हरताल देकर ***'बिचार'*** बनाया है। ***'बिषाद'*** पाठमें अर्थ यों करना होगा—'विषादयुक्त निषादने सब समाचार सुने तो वह हृदयमें विषाद करने लगा। श्रीरामवनगमनके कारण वह पूर्व ही विषादयुक्त हो चुका है।'

गौड़जी—***'बिषाद करै'*** पाठ लेख प्रमाद है। ***'बिचार करै'*** ही होना चाहिये। ***'बिषाद'*** के साथ विवाद करना व्यर्थ है। राजापुरकी प्रतिमें लेख-प्रमादकी भरमार होनेसे भी उसका अन्य किसीका लिखा होना सिद्ध होता है।

भरत न राजनीति उर आनी। तब कलंकु अब जीवनु हानी॥ ६॥
सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहि समर न जीतनिहारा॥ ७॥
का आचरजु भरतु अस करहीं। नहिं बिषबेलि अमिअ फल फरहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—'**जुझारा**' (सं० युद्धालु)=जूझ मरनेवाले, लड़ाका, सूरमा, वीर बाँकुरे। '**जुरहिं**=एकत्र या इकट्ठे हो जायँ, जुट जायँ, मिल जायँ।

अर्थ—भरतजी राजनीति मनमें नहीं लाये (राजनीतिपर ध्यान न दिया, विचार न किया), तब तो कलंक ही मात्र था और अब तो प्राण जायँगे॥ ६॥ समस्त वीर-बाँकुरे देवता और असुर जुट जायँ तो भी श्रीरामजीको समरमें जीतनेवाला कोई नहीं है॥ ७॥ क्या आश्चर्य है जो भरत ऐसा कर रहे हैं? विषकी लता अमृतफल नहीं फलती अर्थात् विष ही फल फलती है॥ ८॥

वि० त्रि०—***'जौं पै जिय'''कटकाई'*** इति। राजा लोग जहाँ जाते हैं, वहाँ कुछ अंगरक्षक तो साथ रहते ही हैं, पर पूरी सेना साथ नहीं रहती। पूरी सेनाके साथ प्रयाण तो युद्धके लिये ही होता है। इधर कोई शत्रु राजा भी नहीं है, जिससे युद्धके लिये सेनाकी आवश्यकता हो, रामलक्ष्मण विश्वविख्यात धनुर्धर हैं। यथा—***'कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता॥'*** इनसे युद्ध करनेकी कामनासे ही सेना संग लेनेकी आवश्यकता पड़ सकती है। दूसरा कारण है नहीं और कारण बिना कार्य नहीं होता। अतः भरतके मनमें कुटिलता है, इसमें संदेह नहीं मालूम होता।

पु० रा० कु०—*'भरत न राजनीति उर आनी।…… '* इति। *'मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति', 'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥',* इस राजनीतिपर विचार न करके राज्य ग्रहण किया। ऐसा करनेसे उनके नामपर धब्बा ही लगता और प्राण तो बचे रहते; पर अब ये लड़कर अपने राज्यको कण्टकरहित करनेके विचारसे चले हैं, इसमें प्राण जायँगे। प्राण क्यों जायँगे? इसका कारण देते हैं— *'सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर…… '॥* भाव यह है कि एक लक्ष्मणजी ही सबके लिये बहुत हैं, यथा—*'जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते॥'* (५। ४४। ७) *'जौं सत संकर करहिं सहाई। तदपि हतउँ रघुबीर दोहाई॥'* (६। ७४। १४) *'जौं सहाय कर संकर आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥'* (२२९। ८) इनका रोष देखकर त्रैलोक्य काँप उठता था, युद्धमें कौन सामने आ सकता है, यथा— *'अति सरोष माखे लखन लखि सुनि सपथ प्रमान। सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान॥'* (२३०) और श्रीरामजीका तो कहना ही क्या? (यही बात श्रीहनुमान्‌जीने रावणसे कही है। **'देवाश्च दैत्याश्च निशाचरेन्द्र गन्धर्वविद्याधरनागयक्षाः। रामस्य लोकत्रयनायकस्य स्थातुं न शक्ताः समरेषु सर्वे॥'** (वाल्मी० ५। ५१। ४३) **'ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥'** (४४) हे रावण! त्रिलोकीके स्वामी श्रीरामजीके सामने देवता, दैत्य, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, यक्ष (की कौन कहे), स्वयम्भू चतुरानन ब्रह्मा, त्रिपुरके नाशक त्रिनेत्र रुद्र, सुरनायक महेन्द्र इन्द्र सब मिलकर भी युद्धमें नहीं ठहर सकते। मानसमें भी कहा है—*'संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥'* (५। २३। ८) (वाल्मी० २। ८६) में गुहने (लक्ष्मणजीका कहा हुआ) भरतजीसे ऐसा ही कहा है—**'यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि॥'** (११) अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीको युद्धमें देवता और असुर भी नहीं सह सकते।—वैसे ही यहाँ *'सकल सुरासुर…… '* कहा है)।

पंजाबीजी—उत्तम नीति यह थी कि यद्यपि राजाने कैकेयीके वशमें होकर राजनीति छोड़ इनको राज्य दिया तो भी ये न लेते। मध्यम नीति यह थी कि पिताका कहा करते। और कनिष्ठ यह थी कि जब रामजी लौटते तब जैसा होता देखा जाता। सो कोई नीति न विचारी। इतनी सेना लेकर साथ आये, इसपर कहते हैं कि ये क्या, सारे देवता दैत्य भी आ जायँ तो न जीतें (ये तो मनुष्य ही हैं)। यह अनुमान क्यों किया कि लड़ने आये हैं, इसपर कहते हैं *'का आचरज भरत अस करहीं।'* अर्थात् ये कैकेयीके पुत्र हैं जिसने श्रीरामजीको वन दिया तो ये युद्धके विचारसे चलें तो उचित ही है।[१]

र० ब० सिंहजी—*'का आचरज भरत अस करहीं।'* इसमें दृष्टान्तालंकार है। निषाद कहता है कि भरतजी सेना लिये हुए असहाय श्रीरामचन्द्रजीसे लड़नेको जा रहे हैं सो ठीक है, क्योंकि बिषबेलिमें अमृत फल नहीं लगते। यह उदाहरण वैधर्म्य दृष्टान्तका है। यहाँ 'बिषबेलिमें विषहीके फल लगते हैं' ऐसा न कहकर बिषबेलिमें अमृत फल नहीं लगते ऐसा दृष्टान्त दिया है।'

दो०—अस बिचारु[२] गुह ग्याति सन कहेउ सजग सब होहु।
हथबाँसहु बोरहु तरनि कीजिअ घाटारोहु॥ १८९॥

होहु सँजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरइ के ठाटा॥ १॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥ २॥
समरु मरनु पुनि सुरसरि तीरा। रामकाजु छनभंगु सरीरा॥ ३॥
भरत भाइ नृपु मैं जन नीचू। बड़े भाग असि पाइअ मीचू॥ ४॥

१-बैजनाथजी यह अर्थ करते हैं—'भरतजीकी यह राजनीति—कि शत्रुको मारकर निश्चिन्त हो लें तब राज्य करें—नहीं मनमें लाये (वरन्) अपना काल ही मोल लिया।'

२-राजापुर और काशिराजका यही पाठ है और पं० रा० गु० द्वि० का। भा० दा० में 'बिचारि' पाठ है।

शब्दार्थ—**ग्याति**=जातिके लोग। **सजग**=सचेत, सावधान। **हथबाँसहु-हथबाँस**=डाँड़, पतवार जो हाथमें लेकर खेते हैं। **तरनि**=नाव, घाटारोह (घट्टावरोध)=घाटका छेंकना—१९०(१) देखो। **सँजोइल**=सामग्रीयुक्त, सुसज्जित, अच्छी तरह सजा हुआ, यथा—***'सूर सँजोइल साजि सुबाजि सुसेल धरे बगमेल चले हैं। भारी भुजा भरि भारी शरीर बली बिजयी सब भाँति भले हैं॥'*** **ठाटना**=सजना, प्रबन्ध करना, बँधान बाँधना। **ठाट**=सामान। **लोहा लेना**=लड़ना, युद्ध करना (मुहावरा है)। **छनभंगु**=क्षणभंगुर क्षणभरमें नष्ट होनेवाला।

अर्थ—गुहने ऐसा विचार जातिवालोंसे कहा और कहा कि सब लोग सावधान हो जाओ। डाँड़ पतवार और नावोंको डुबा दो और घाटोंकी राह छेंक दो*। १८९। (लड़ाईके सामानसे) सुसज्जित होकर घाटोंको रोको, सब कोई मरनेका पूरा बँधान बाँध लो। अर्थात् लड़कर मरनेके लिये पूरे तैयार हो जाओ॥ १॥ मैं भरतके मुकाबले होकर उनसे युद्ध करूँगा, जीतेजी गंगापार न होने दूँगा॥ २॥ (यदि कहो कि व्यर्थ जान क्यों देते हो तो उसपर कहता है कि इसमें बड़ा लाभ है) एक तो समरमें मरण, दूसरे गंगातटपर,(तीसरे) श्रीरामजीके कार्यमें (अर्थात् क्षणभंगुर शरीरसे रामकाज होगा) और शरीर तो क्षणभंगुर है ही (न जाने कब नष्ट हो जाय, इससे इसमें काम आना ही उत्तम है)॥ ३॥ (चौथे) श्रीभरतजी श्रीरामजीके भाई और राजा हैं और मैं नीच जन हूँ, (उनके हाथसे मरना) बड़े भाग्यसे ऐसी मृत्यु मिलती है। (सत्पुरुषके हाथसे मरनेसे मोक्ष होता है)॥ ४॥

पु० रा० कु०—***'ठाटहु सकल मरइ के ठाटा॥''''*** इति। अर्थात् लड़ने-मरनेको तैयार हो जाओ। यहाँ अपने सुभटोंको लड़ाईके लिये उत्तेजित करनेमें तीन-चार उत्तरोत्तर अधिक उत्तम योग दिखाते हैं—समरमरण, गंगातट, श्रीरामकार्य और श्रीरामभ्राताके हाथ मृत्यु।

नोट—१ ***'समर मरन पुनि सुरसरि तीरा'*** इति। महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म अ० २९७ में इस सम्बन्धके श्लोक ये हैं—**'रणाजिरे यत्र शराग्निसंस्तरे नृपात्मजो घातमवाप्य दह्यते। प्रयाति लोकानमरैः सुदुर्लभान्निषेवते स्वर्गफलं यथासुखम्॥ (३) तुल्यादिह वधः श्रेयान्विशिष्टाच्चेति निश्चयः। निहीनात्कातराच्चैव कृपणाद् गर्हितो वधः॥ (६) पापात्पापसमाचारान्निहीनाच्च नराधिप। पाप एव वधः प्रोक्तो नरकायेति निश्चयः॥ (७) गृहस्थानां तु सर्वेषां विनाशमभिकांक्षताम्। निधनं शोभनं तात पुलिनेषु क्रियावताम्॥ (१०) आपन्ने तूत्तरां काष्ठां सूर्ये यो निधनं व्रजेत्। नक्षत्रे च मुहूर्ते च पुण्ये राजन् सपुण्यकृत्॥ (२३) अयोजयित्वा क्लेशेन जनं प्लाव्य च दुष्कृतम्। मृत्युनात्मकृतेनेह कर्म कृत्वात्मशक्तिभिः॥ २४॥ विषमुद्बन्धनं दाहो दस्युहस्तात्तथा वधः। दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च प्राकृतो वध उच्यते॥ (२५) ऊर्ध्वं भित्त्वा प्रतिष्ठन्ते प्राणाः पुण्यवतां नृप। मध्यतो मध्यपुण्यानामधो दुष्कृतकर्मणाम्॥ २७॥ दानं त्यागः शोभना मूर्तिरद्भ्यो भूप प्लाव्यं तपसा वै शरीरम्। सरस्वतीनैमिषपुष्करेषु ये चाप्यन्ये पुण्यदेशाः पृथिव्याम्॥ (३७) गृहेषु येषामसवः पतन्ति तेषामथो निर्हरणं प्रशस्तम्। यानेन वै प्रायणं च श्मशाने शौचेन नूनं विधिना चैव दाहः॥ (३८)'** पराशरजी कहते हैं कि मरनेकी इच्छावाले गृहस्थोंके लिये तो यही मृत्यु सर्वोत्तम मानी गयी है जो किसी पवित्र नदीके तटपर शुभकर्मोंका अनुष्ठान करते हुए प्राप्त हो। अपनेसे बड़े वीरके हाथसे मरना, धर्मात्माके हाथसे मरना उत्तम माना गया है, कौन मृत्यु उत्तम या कैसी है इसके विषयमें पराशरजीका वचन श्रीजनकप्रति है—(१) अपनेसे हीन कातर अथवा दीन पुरुषके हाथ होनेवाली मृत्यु निन्दित है क्योंकि पाप करनेवाले पापी और अधम श्रेणीके मनुष्यके हाथ जो वध होता

---

* 'नंगे परमहंसजी 'हथवाँसहु' का अर्थ डाड़ोंको घर ले चलो' ऐसा लिखा है। वीरकविजी अर्थ करते हैं—'डाँड़को पानीमें गाड़ दो और नावोंको अवघटमें घाटके ऊपर चढ़ा दो।' वे इस विचारसे यह अर्थ करते हैं कि इससे सहसा पार होनेका साधन नष्ट हो जायगा और नाव डुबोनेसे निकालना कठिन हो जाता है, इससे निषादराज नौकाओंको डुबानेके लिये नहीं कहता।

पर, जो श्रीरामजीके लिये प्राणोंको ही निछावर करनेको तैयार है वह नावके कठिनतासे निकलनेका विचार कब करेगा—'जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ।' 'जान' की बाजी है। मर जायगा तो नाव किस काम आवेगी; स्वामीका काम बढ़कर बने, जैसे हो तैसे—यह सच्चे प्रेमी और भक्तका लक्षण है।

है, वह पापरूपी ही माना जाता है तथा वह नरकमें गिरानेवाला है—यही शास्त्रका निश्चय है। (२) विष खा लेनेसे, गलेमें फाँसी लगा लेनेसे, आगमें जलनेसे, लुटेरोंके हाथसे तथा दाढ़वाले पशुओंके आघातसे जो वध होता है वह भी अधम श्रेणीका माना जाता है। पुण्य कर्मवाले मनुष्य इस तरहके उपायोंसे प्राण नहीं देते तथा ऐसे ही दूसरे-दूसरे अधम उपायोंसे भी उनकी मृत्यु नहीं होती।

सूर्यके उत्तरायण होनेपर उत्तम नक्षत्र तथा पवित्र मुहूर्तमें मरनेवालोंको पुण्यवान् समझना चाहिये। ब्रह्मरंध्रको भेदकर जिनके प्राण निकलते हैं वे पुण्यात्मा हैं। जो पाप और पुण्य दोनोंसे युक्त हैं उनके प्राण मध्यम द्वार (मुख, नेत्र आदि) से बाहर होते हैं और जिन्होंने केवल पाप ही किया है उनके प्राण अधोमार्ग (गुदा या शिश्न) से निकलते हैं। गृहस्थोंके लिये वही मृत्यु सर्वोत्तम है जो पवित्र नदीके तटपर शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए प्राप्त हो।

निषादराज तो गंगातटपर रहता है और व्यासजी तो गंगाका माहात्म्य कहते हुए बताते हैं कि '**क्रोशान्तरमृता ये च जाह्नव्या द्विजसत्तमाः। मानवा देवतास्सन्ति इतरे मानवा भुवि॥** प० पु० सृष्टि, अ० ६४। ७१।' गंगाजीसे एक कोसके भीतर जो मनुष्य मरते हैं वे देवता हैं, शेष सब मानव हैं।

नोट—२ श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्ने अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये उत्साहित करते हुए कहा है कि मरोगे तो स्वर्ग होगा, जीतोगे तो पृथ्वीको भोगोगे, अतएव युद्ध करो। शरीरधारी नित्य आत्माके कर्मानुसार प्राप्त शरीर क्षणभंगुर हैं। आत्मा अप्रमेय और अविनाशी है। अतः युद्ध करो। '**हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥**' (२। ३७) '**अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥**' (२। १८) मनुजी भी कहते हैं '**आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः। युद्ध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥**' (मनु० ७। ८९) अर्थात् राजा लोग रणमें परस्पर मारनेका इच्छा करनेवाले अपनी शक्तिभर सम्मुख युद्ध करके स्वर्गको जाते हैं पुनः, यथा पञ्चतन्त्रे—'**होमार्थैर्विधिवत्प्रदानविधिना सद्विप्रवृन्दार्चनैः यज्ञैर्भूरि सुदक्षिणैः सुविहितैः सम्प्राप्यते यत्फलम्। सत्तीर्थाश्रमवासहोमनियमैश्चान्द्रायणाद्यैः कृतैः पुंभिस्तत् फलमाहवे विनिहतैः संप्राप्यते तत्क्षणात्॥**' (१। २५६) अर्थात् दान, होम, विप्रपूजा, बड़े यज्ञके करने, तीर्थवास, चान्द्रायणव्रत आदिका फल, समर-सम्मुख मरनेसे तत्काल प्राप्त होता है। गंगातटपर शरीर छूटनेसे मुक्ति होती है। यथा—'**गंगायां त्यजतो देहं भूयो जन्म न विद्यते।** 'इति पाद्मे'। (वै०) और सत्पुरुषोंद्वारा मृत्यु होनेसे भी मनुष्य तर जाता है। यथा—'**सत्संगजानि निधनान्यपि तारयन्ति**' (उत्तररामचरित)

नोट—३ '***जन नीचू***' अर्थात् मैं दास हूँ और जातिसे नीच हूँ। '***मरनेका ठाट***' रचनेको कहा, क्योंकि जीतना असम्भव है।

स्वामिकाज करिहहु* रन रारी। जस धवलिहउ भुवन दसचारी॥ ५॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें॥ ६॥
साधु समाज न जाकर लेखा। रामभगत महुँ जासु न रेखा॥ ७॥
जायँ जिअत जग सो महि भारू। जननी जौबन बिटप कुठारू॥ ८॥

दो०—बिगत बिषाद निषादपति सबहि बढ़ाइ उछाहु।
सुमिरि राम माँगेउ तुरत तरकस धनुष सनाहु॥ १९०॥

शब्दार्थ—**धवलिहउ**=धवल (उज्ज्वल) करूँगा। **धवलना**=निखारना, चमकाना, प्रकाशित या निर्मल करना। **जस धवलिहउँ**=यशकी चूनाकारी कराऊँगा, यश विस्ताऊँगा—(दीनजी)। **निहोरे**=अनुग्रह, एहसान, कृतज्ञता,

* राजापुर और काशिराजका यही पाठ है। निषादराज योधाओंका उत्साह बढ़ा रहा है। अतएव उपर्युक्त वचनोंके साथ भी ये जाते हैं। साथ ही अपने लिये भी वही बात है। पाठान्तर—'करिहउँ, धवलिहउँ।'

उपकारके लिये।=कारणसे, यथा—*'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरेउँ देह नहिं आन निहोरे॥'*=के लिये, निमित्त, यथा—*'तुम बसीठ राजाकी ओरा। साख होहु यहि भीख निहोरा'*—(जायसी)। *'मुद मोदक'* आनन्दके लड्डू। 'दोनों हाथोंमें लड्डू' यह मुहावरा है। दोनों प्रकारसे भलाई है; इस लोक और परलोक दोनोंमें। इस मुहावरेका प्रयोग लोक-परलोक दोनों सध जानेके समय किया जाता है। इसकी उत्पत्ति इस प्रकार हुई है कि जब कोई सौभाग्यवती स्त्रीकी मृत्यु होती है तब श्मशानको ले जाते समय उसके दोनों हाथोंमें लड्डू दे दिये जाते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि इसने इस लोकमें भी पतिकी सेवा करके आनन्द भोग किया और पतिके सम्मुख ही इहलोक छोड़ परलोक चल बसी, इसलिये परलोक भी बन गया। गुह सोचता है कि भरतको परास्त किया तो यश और मारा गया तो भी यश (दीनजी)। **सनाहु**=शरीरत्राण, जिराबख्तर। **रेखा**=चिह्न, गणना शुमार, लकीर, स्थान।=लेखा।

अर्थ—स्वामीके कामके लिये रणमें लड़ाई करोगे (एवं मैं करूँगा), चौदहों लोकोंको यशसे प्रकाशित करोगे (एवं मैं करूँगा) अर्थात् उनमें निर्मल यश फैलाओगे (वा फैलाऊँगा)॥ ५॥ श्रीरघुनाथजीके निमित्त प्राणोंको दे दूँगा (देने जा रहा हूँ), मेरे दोनों हाथोंमें आनन्दके लड्डू हैं। (अर्थात् जय और पराजय दोनोंमें आनन्द है, वाह-वाह होगी)॥ ६॥ जिसकी साधु-समाजमें गिनती नहीं, न रामभक्तोंमें ही जिसका स्थान (गणना) है, वह संसारमें व्यर्थ ही जीता है, वह पृथ्वीके लिये भार है और माताके यौवनरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुल्हाड़ीरूप है (अर्थात् उसके जन्मसे उसकी माताका यौवन व्यर्थ नष्ट हुआ)॥ ७-८॥ विषादरहित हो निषादराजने सबका उत्साह बढ़ाकर श्रीरामजीको स्मरणकर तुरंत तरकश, धनुष और कवच माँगा। (लानेको कहा)॥ १९०॥

नोट—१ *'स्वामिकाज……'* इति। भाव कि *'परहित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥'* (१। ८४। २) और यह मरण तो प्रभुके निमित्त होगा; अतः चौदहों लोकोंमें हम सबकी प्रशंसा अवश्य होगी। हमारी संतोमें गणना हो जायगी।

नोट-२—*'दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे।……रेखा'* इति। निषादराज भरतजीसे युद्ध करके जयलाभका ध्यान भी मनमें नहीं लाते, युद्धमें अपनी मृत्युको ध्रुव मानते हुए ही विचार करते हैं, यथा—*'जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ। समर मरन पुनि सुरसरि तीरा। बड़े भाग अस पाइअ मीचू'* इत्यादि और ऐसी मृत्युसे अपने दोनों हाथोंमें मुदमोदक मानते हैं। एक यह कि साधु-समाजमें मेरी लेखा हो जायगी, यथा—*'परहित लागि तजहिं जे देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥'* और दूसरे यह कि रामभक्तोंमें मेरी रेखा हो जायगी, मैं तदीय हो जाऊँगा। *'तजहुँ प्रान रघुनाथ निहोरे'*, रामजीके लिये प्राण त्याग करनेसे रामजीको भी मुझे अपना मानना पड़ेगा। यथा—*'सुनु सुरेस कपि भालु हमारे। परे भूमि निसिचरन्हि जे मारे। मम हित लागि तजे इन्ह प्राना।'* इत्यादि (तथा *'मम हित लागि जन्म इन्ह हारे।' 'भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥'* (७।८।८) और मेरा जीवन सफल हो जायगा। (वि० त्रि०)

पु० रा० कु०—*'साधु समाज न जाकर लेखा।……'* इति।—जो पराया काज साधे सो साधु; **'साध्नोति परकार्यमिति साधुः'** यथा—*'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥'* (७। १२१। १४) साधुमें जिसकी गणना नहीं उसका जीवन व्यर्थ है, अतएव इस कार्यको करके साधुकी गिनतीमें आवेंगे।

नोट—३ *'जननी जौबन बिटप कुठारू'* अर्थात् उसने माताकी जवानी (युवावस्था) नष्ट कर दी। बालक उत्पन्न होनेसे यौवन उतर जाता है। यदि पुत्र भगवद्भक्त पैदा हुआ तो वह माताके यशको बढ़ाता है जिससे यौवनकी पूर्ति हो जाती है। श्रीसुमित्रा अम्बाजीके वचनसे मिलान कीजिये—*'पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई॥ नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। रामबिमुख सुत ते हित जानी॥'* (७५। १-२) यहाँ 'द्वितीय विनोक्ति' और 'परम्परित रूपक' अलंकार है।

मा० हं०, वन्दन पाठकजी—जान पड़ता है कि इसमें (गुहका अपने सैनिकोंको प्रोत्साहन) भर्तृहरिजीके वैराग्यशतकके निम्नगत श्लोककी पारमार्थिक कल्पनाकी छटा ली गयी है और अपनी कल्पनासे कविने

कुछ मिश्रण किया है—श्लोक—'**न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छित्तये स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुधर्मोऽपि नोपार्जितः।''''''मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम्॥**' (अर्थात् हम लोगोंने संसारसे पार होनेके लिये ईश्वरका ध्यान नहीं किया अथवा जिससे स्वर्गकी प्राप्ति हो ऐसा धर्म भी नहीं किया इसलिये हमलोग माताके यौवनरूपी वनका नाश करनेवाली कुल्हाड़ी हो गये हैं। यह वर्णन अत्यन्त राम-प्रेमपुष्ट और वीररसोद्दीपक हुआ है। स्वयं सैनिक तथा देशकी अगुआ मण्डली (किं बहुना सभी हिंदी जनता) इस वर्णनके विषयकी उपयुक्तताका विचार कर सकती है।

नोट—४—'*बिगत बिषाद निषादपति''''''* ' इति। (क) पहले 'सविषाद' था, यथा—'*हृदयँ बिचार करै सबिषादा',* अब (जब ऐसे विचार मनमें आकर उसने लड़नेका निश्चय कर लिया तब उसका मन शान्त हुआ) विषादरहित हुआ। (पु० रा० कु०) '*सुमिरि राम'* यह गुहका मंगलाचरण है। श्रीरामजीका स्मरण किया जिसमें युद्धमें पूरा पड़े—(रा० प्र०) (ख) यहाँ विषाद संचारी भावकी शान्ति युद्धानुरागरूपी उत्साहके अंगसे हुई, यह समाहित अलंकार है—(वीर)। (ग) पहले स्वयं तैयार हुआ जिसमें सब तैयार हो जायँ।

बेगहु भाइहु सजहु सँजोऊ। सुनि रजाइ कदराइ न कोऊ॥ १॥
भलेंहि नाथ सब कहहिं सहरषा। एकहि एक बढ़ावइ करषा॥ २॥
चले निषाद जोहारि जोहारी। सूर सकल रन रूचै रारी॥ ३॥
सुमिरि राम पद पंकज पनहीं। भाथी बाँधि चढ़ाइन्हि धनहीं॥ ४॥
अँगरी पहिरि कूँडि सिर धरहीं। फरसा बाँस सेल सम करहीं॥ ५॥
एक कुसल अति ओड़न खाँड़ें। कूदहिं गगन मनहुँ छिति छाँड़ें॥ ६॥
निज निज साजु समाजु बनाई। गुह राउतहिं जोहारे जाई॥ ७॥

शब्दार्थ—'**सँजोऊ**'=सामग्री, सामान, साज। करषा (कर्षण)=क्रोध, उत्साह, हौसला, जोश। '**रूचै**'=रुचिकर है, अच्छी लगती है। '**अँगरी**'=कवच, जिराबख्तर-(अंग-रक्षक)। '**कूँड़ि**'—लोहेकी ऊँची टोपी सिर बचानेके लिये पहनी जाती थी उसे 'कूँड़' कहते हैं। 'फरसा' (परशु) पैनी और चौड़े धारकी एक प्रकारकी कुल्हाड़ी, जैसे परशुरामजीका। '**बाँस**'=भाला, बल्लम। '**सेल**'=बरछा। 'ओड़न' (सं० ओणन=हटाना। हिं० ओट)=वार रोकने वा आड़ करनेकी वस्तु, ढाल, फरी। '**खाँड़े**'=खड्ग, तलवार। '**सम करहीं**'=ठीक करते वा सुधारते हैं अर्थात् लकड़ीको सीधा करते, धारको पैनी करते इत्यादि। **राउत** (रावत)=राजा।=वीर।

अर्थ—हे भाइयो! शीघ्र ही सब सामग्री सजाओ, हमारी आज्ञा सुनकर कोई कायरता न मनमें लावे॥ १॥ सब हर्षपूर्वक कहते हैं—'बहुत अच्छा सरकार!' और परस्पर एक-दूसरेका उत्साह और जोश बढ़ाते हैं॥ २॥ निषादराजको प्रणाम कर-करके (सब) निषाद (अस्त्र-शस्त्र लेनेको) चले। सभी रणमें वीर हैं, सभीको संग्राममें लड़ना ही अच्छा लगता है॥ ३॥ श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंकी जूतियोंका स्मरण करके उन्होंने तरकश बाँधकर अपने छोटे-छोटे धनुषोंको चढ़ाया अर्थात् उनपर प्रत्यंचा चढ़ायी॥ ४॥ कवच पहनकर सिरपर लोहेके टोप धारण करते हैं, फरसों, बाँसों, बरछोंको सीधा करते वा सुधारते हैं॥ ५॥ कोई तो ढाल-तलवार (की कला) में अत्यन्त निपुण हैं। (ऐसे उत्साहसे भरे हैं) मानो पृथ्वी छोड़ आकाशमें उछल रहे हैं॥ ६॥ अपना-अपना साज-समाज (लड़ाईका सामान और अपनी टोली) बनाकर सबने गुह राउतको अर्थात् निषादराजको जाकर प्रणाम किया॥ ७॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—'*बेगहु भाइहु''''''कोऊ'* इति। निषादराजकी सेना उनके भाई लोग हैं, उन्हींको निषादराज शीघ्रताके लिये कह रहे हैं कि कहीं ऐसा न हो कि हम लोग तैयारी करते ही रह जायँ तबतक भरतकी सेना आकर घाटपर कब्जा कर ले और हमारी ही नौकाओंको लेकर गंगापार चली जाय तब तो बिना चाहे भी हमारी भरतके सहायकोंमें गिनती हो जायगी, अतः एक क्षण खोनेलायक नहीं

है। दूसरी बात यह है कि मेरी बात सुनकर कोई कादरपनको मनमें स्थान न दे। जिस युद्धमें जूझ जाना ही ध्रुव है, जयकी आशा ही नहीं, ऐसे युद्धसे विरत होनेके लिये यथेष्ट कारण है, परन्तु जैसी मृत्यु होनेवाली है, वैसी बड़े भाग्यसे होती है। यह शरीर तो एक दिन छूटेगा ही, इस समय कीर्तिमयी शरीरके अमर करनेका अवसर है, यथा ***'जस धवलिहौं भुवन दस चारी।'*** अत: किसीको कदराना उचित नहीं है।

नोट—१ (क) ***'बढ़ावहिं करषा',*** जैसे—आज देखें कौन स्वामीका नमक अदा करता है। जन्मभर इनका नमक खाया है, देखें कौन मर्दाना है, हम अकेले ही यह कर डालेंगे, इत्यादि (ख) ***'सम करहीं'***= सीधा या बराबर करते हैं। फरसाकी धार सीधी करते हैं; भाले, बर्छे या साँगके बाँसकी टेढ़ाई निकालते हैं।

* सुमिरि रामपद पंकज पनहीं *

र० ब० सिंह—१ निषाद श्रीरामचन्द्रजीके बड़े भक्त थे। इसमें प्रमाण यही है कि उन्होंने श्रीभरतजीसे लड़नेके लिये श्रीरामचन्द्रजीकी पनहीका स्मरण किया। पनहीके स्मरण करनेका कारण यही है कि वे निषादलोग अपनी नीचातिनीचता प्रकट करते हैं और दैन्यभावसे ही भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसके भी उदाहरणस्वरूप निषाद, शबरी, गृद्ध और कोल-किरात आदि हैं। आजकल भी जो भक्त अपनी नीचता या दीनता बड़े लोगोंके सामने दिखाते हैं, उसमें भी वे 'हम आपके पायनकी पनही हैं' यही कहते हैं। निषादोंका दैन्यभाव अत्युच्च कोटिका था जो वे स्वयं पनहीं बनते थे वरन् पनहीको अपना इष्टदेव समझते थे, और उसीपर उनकी सफलता निर्भर थी। २—दूसरा भाव यह है कि सब हथियारोंका वर्णन तो है कि वे सब उनके पास थे; परंतु ढाल चामकी होती है और पनही भी चामकी होती है; इससे उन्होंने श्रीरामचन्द्रकी पनहीको ढाल बनाया। कारण कि वार ढालहीपर रोका जाता है, और उन्होंने समझा कि हमारे पास जो फरसा, बाँस और कूँड़ि आदि हथियार हैं इससे हम क्या कर सकते हैं। हमको अपनी ओड़नेकी चीज ढाल ही पोढ़ी चाहिये। इसी कारण उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीकी पनहींको ढाल बनाया, और इसीसे अपना विजयलक्षण प्रकट किया।—(रा० प्र० में यही भाव दिया है)। ३—स्वामीके अनुसार ही सेवक काम करते हैं। निषादके स्वामी तो श्रीरामचन्द्रजी ही हैं। उन्होंने भी तो रावणसे लड़नेके समय विभीषणसे धर्ममय रथका वर्णन किया है, और अन्तमें कह दिया है कि ***'कवच अभेद बिप्रपद पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥'*** श्रीरामचन्द्रजी महाराज-कुमार थे, वे सब बातोंमें चतुर महापण्डित थे; इससे उन्होंने विजयरथका सांगरूपक कहा है। निषाद शूद्र महामूर्ख था, इससे वह पूर्ण वर्णन नहीं कर सका परंतु ढाल तो उसने बहुत ही दृढ़ धारण की थी। ४—निषाद भरतजीसे लड़ने चला। यह युद्ध योग्य था। क्योंकि श्रीभरतजीने भी तो कहा था ***'मोरे सरन रामहिकी पनहीं॥'*** (२३४। २) और निषादोंके विषयमें भी कविने यही कहा ***'सुमिरि रामपद पंकज पनहीं'।***

पाण्डेजी—दूसरा भाव इसमें यह भी हो सकता है कि उस 'पद' का जो 'पन' ही है उसीको स्मरण किया कि नीचकी आप सदैव सहायता करते आये हैं, हमारी भी सहायता करेंगे। यथा—***'पन हमार सेवक हितकारी' 'गरीब निवाज'।***

पु० रा० कु०-१ यह निषादोंका मंगलाचरण है। श्रीरामचरणारविन्दके अधिकारी ब्रह्मा-शिव आदि हैं, यथा—***'शिव अज पूज्य चरन रघुराई।'*** (७। १२४। ३) अत: उनके चरणका अधिकारी अपनेको नहीं समझता। इससे पनहीं सुमिरीं।

प० प० प्र०—१ ***'अँगरी पहिरि…'*** इति। कोई-कोई समालोचक यहाँ 'अँगरी' के प्रयोगमें शब्दगत 'अप्रयुक्त' दोष कहते हैं। पर वे भूल जाते हैं कि मानस नाट्य महाकाव्य है। नाटकमें जिस प्रकारका पात्र हो उसी प्रकारकी भाषाका प्रयोग दोष नहीं, प्रत्युत काव्य-सौन्दर्य है। यहाँ निषादोंका प्रसंग है, अत: निषादोंकी भाषाके ही अनेक शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। यह स्वभावोक्ति अलंकार है। गोस्वामीजी निषादोंकी भाषासे कैसे सुपरिचित थे यह भी यहाँ दृष्टिगोचर हो रहा है।

२ मन्थराकी शब्दकला, श्रीभरतजीके भाषण और निषादराजके इस प्रसंगमें तीन रसोंकी निर्मित भी परमोच्च और परम श्रेष्ठ है।

देखि सुभट सब लायक जाने। लै लै नाम सकल सनमाने॥ ८॥

दो०—भाइहु लावहु धोख जनि आजु काज बड़ मोहि।
सुनि सरोष बोले सुभट बीरु अधीरु न होहि॥ १९१॥

रामप्रताप नाथ बल तोरें। करहिं कटकु बिनु भट बिनु घोरें॥ १॥
जीवत पाउ न पाछें धरहीं। रुंड मुंड मय मेदिनि करहीं॥ २॥

शब्दार्थ—धोखा लाना या लगाना=चूक, कसर, त्रुटि या कमी करना—यह मुहावरा है। इसका प्रयोग प्रायः निषेधवाक्य या काकुसे प्रश्नमें ही होता है। **सरोष**=रोषपूर्वक, दर्प, अभिमान, गौरव वा उत्साहपूर्वक, कुपित। **रुंड**=बिना सिरका धड़, बिना हाथ-पैरका शरीर। **मुंड**=सिर, खोपड़ी, गर्दनसे ऊपरका सब भाग। मेदिनी-मधु-कैटभके मेद-मज्जासे बनी होनेसे पृथ्वीका यह नाम पड़ा।

अर्थ—सब सुन्दर योद्धाओंको देखकर उन सबको युद्धके योग्य जानकर निषादराजने सबका नाम ले-लेकर सबका सम्मान किया॥ ८॥ (और कहा कि) हे भाइयो! धोखा न लगाना, कसर न रखना, आज मेरा बड़ा काम है। यह सुनकर वीर योद्धा उत्साह और रोषसहित बोले—हे वीर! अधीर न हो (धीरज धरो)॥ १९१॥ हे नाथ! श्रीरामजीके प्रतापसे और आपके बलसे हम सेनाको बिना योद्धा और बिना घोड़ेका कर देंगे अर्थात् सबको मार गिरायें या भगायेंगे, एक भी न बचेगा॥ १॥ जीतेजी हम पैर पीछे न हटावेंगे। पृथ्वीको रुण्ड-मुण्डमय कर देंगे अर्थात् सबके सिर और धड़ ही समरभूमिमें पड़े दिखायी देंगे॥ २॥

नोट—१ ***'लै लै नाम सकल सनमाने'***। इससे जान पड़ता है कि सेनापति और सेना बहुत थोड़ी थी; नहीं तो सबका नाम ले-लेकर सम्मान करनेका मौका कहाँ? पुनः, सबका नाम लेनेसे अधिक आदर सूचित होता है, सबका अधिक उत्साह बढ़ता है। आगे ***'भाइहु'*** सम्बोधन है—यह भी सम्मानका द्योतक है (ये सब इसके जातिके ही हैं। इससे भी भाई कहा)।

☞ राजाका आदर्श—राजाके लिये उत्साहित करना, उत्तेजना देना, आदर-मान करना, अच्छी सेवापर शाबाशी देना, कृतज्ञता प्रकट करना जरूरी है। वही यहाँ देख लीजिये निषादपतिको सन्देह होता है कि भरतजी युद्ध करने न जाते हों। वह तुरंत मार्ग रोकनेका विचार प्रकट करता है। उसके सरदार तैयार होते हैं—***'देखि सुभट सब लायक जाने……।'*** इस उत्तेजना और सम्मानका कैसा अच्छा प्रभाव पड़ता है—***'सुनि सरोष बोले'***। (तुलसीग्रन्थावली)

नोट—२ ***'लावहु धोख जनि आजु……।'*** (क) अर्थात् फिर ऐसा मौका न हाथ लगेगा; इसलिये कुछ कसर न रख छोड़ना, उठा न रखना। (ख) बड़ा काम है, सेर-सुमेरका मुकाबला है, स्वामीका काम है। (ग) ***'बीर अधीर न होहि'*** अर्थात् तुम वीर हो, तुमको तो यह कहना चाहिये था कि तुम लोग देखोगे कि हम अकेले ही सारी फौजको नष्ट कर देंगे, भरतजीको जीतकर कैद कर लेंगे, ऐसा न कहकर आप कायरताके वचन कह रहे हैं—(रा० प्र०)।

नोट—३ (क) ***'रामप्रताप'*** अर्थात् उनके स्मरणमात्रसे रिपुका हृदय विदीर्ण हो जायगा। पाँड़ेजी एक अर्थ यह भी करते हैं कि 'रामप्रताप ही आपका सहायकारक कटक है, वह भरतके कटकको बिना भट और बिना घोड़ेका कर देगा।' (ख) ***'बिनु घोरें'*** इति।—सेनामें घोड़े-हाथी सभी हैं। यहाँ घोड़ा उपलक्षण है, समस्त वाहनोंसे तात्पर्य है। चतुरंगिणी सेनामें प्रायः घुड़सवार ही आगे रहते हैं इससे उन्हींका नाम दिया।

नोट—४ *'रुंड मुंडमय मेदिनि करहीं'*—यहाँ रुण्ड-मुण्डमयके साथ मेदिनी बड़ा ही उपयुक्त है। विष्णुभगवान्‌ने आदि सृष्टिके समय मधु-कैटभ दैत्योंको मारा था। उनके मांस-चर्बी आदिसे ही पृथ्वी बनी। अतएव उसका नाम मेदिनी पड़ा; योद्धाओंके कहनेका तात्पर्य यह जनाया कि हम आज इस पृथ्वीके नामको सार्थक कर देंगे, उसका पूर्वरूप जो था वही आज सबको देख पड़ेगा। अर्थात् कहीं भी सिवाय रुण्ड-मुण्ड, मज्जा-मांस आदिके मिट्टी तो दिखायी ही न पड़ेगी। भरतजीकी सेनाका कोई योधा आज जीता न देख पड़ेगा।

दीख निषादनाथ भल टोलू। कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू॥ ३॥
एतना कहत छींक भइ बाएँ। कहेउ सगुनिअन्ह खेत सुहाएँ॥ ४॥
बूढ़ु एकु कह सगुन बिचारी। भरतहि मिलिअ न होइहि रारी॥ ५॥
रामहि भरतु मनावन जाहीं। सगुन कहइ अस बिग्रहु नाहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—टोली, **टोलू**=समूह, झुण्ड, जत्था, मण्डली, गोल, समाज, गुट्ट। **जुझाऊ**=लड़ाईके मारू रागवाले। **खेत** (क्षेत्र)=रणक्षेत्र, समरभूमि, यथा—*'हतौं न खेत खेलाइ खेलाई।'* (६। २४। ११)।=मैदान। पुनः **खेत सुहाएँ**=क्षेत्र सुन्दर है, सुन्दर दिशामें छींक हुई है। **बिग्रह**=लड़ाई, झगड़ा, विरोध।

अर्थ—निषादराजने देखा कि अपना जत्था अच्छा है। (तब) कहा कि लड़ाईका सूचक (उत्तेजक) ढोल बजाओ॥ ३॥ इतना कहते ही बायीं ओर छींक हुई। शकुन विचारनेवालोंने कहा कि 'खेत सुन्दर' है (जीत होगी)॥ ४॥ एक बुड्ढेने सगुन विचारकर कहा कि 'भरतसे मिलाप होगा, उनसे मिलिये, लड़ाई न होगी॥ ५॥ 'भरतजी श्रीरामजीको मनाने जाते हैं'—सगुन ऐसा कह रहा है कि विरोध नहीं है, लड़ाई-झगड़ा न होगा॥ ६॥

पाँड़ेजी—*'कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू'* इति। कविने केवटोंका समाज समझकर उसके अनुकूल 'ढोल' शब्द दिया। राम-रावण-युद्धमें 'बाजा', 'निशान' आदि शब्द आये हैं, यथा—*'बाजे सकल जुझाऊ बाजा'* (६।७७) *'कहेसि बजावहु जुद्ध निसाना।'* (६।८५।२)

पु० रा० कु०—*'एतना कहत छींक भइ बाएँ।⋯'* इति। हरि-इच्छासे यह शकुन हुआ। इधर ये सब रामकार्यमें तत्पर थे और उधर भी कोई चूक न थी। वे भी श्रीरामदर्शनार्थ ही जा रहे थे। बड़ा अनर्थ हो गया होता। कुछ शकुन विचारनेवालोंने विचारकर निश्चय किया कि बायीं दिशामें छींक हुई, यह अच्छा शकुन है, बायीं दिशामें होना 'सुखेत' वा 'सुहाये खेत' में होना निश्चय किया। 'खेत'=क्षेत्र, स्थान, यथा—*'दाहिन काग सुखेत सुहावा।'* (१। ३०३) (सुन्दर दिशा है, अतएव जीत होगी)।

बैजनाथजी—निषाद उत्तर मुख बैठे हैं, उनका बायाँ पश्चिम होगा या वायव्य। ये दोनों स्थान शुभ हैं। यथा—*'उत्तर छींक करै कलही ईशान दिशा धन कोटि बढ़ावै। पूरब मित्र मिलै अपनो आग्नेय अचानक मृत्यु जनावै॥ दक्षिण हानि करै धनको नैर्ऋत्य नवो ऋद्धि सिद्धि जनावै। पश्चिम भोजन मीठ मिलै बायव्य उचासन बैठक पावै॥'* '**औषधे वाहनारोहे विवादे शत्रुनाशने। विद्यारम्भे बीजवापे छिक्का सप्त शुभा भवेत्॥**' अर्थात् औषध-सेवन, सवारीपर चढ़ते, विवाद, शत्रुके नाश, विद्यारम्भ और बीज बोनेके समय छींक शुभ होती है।

पु० रा० कु० *'बूढ़ु एकु कह सगुन बिचारी⋯'* इति।—*'बूढ़ु* शब्दसे जनाया कि पहले जिन्होंने विचार किया था, वे जवान थे, जिनको लड़ाई ही प्रिय है। *'सगुन कहइ अस'* अर्थात् हम अपने मनसे नहीं कहते, सगुन ही ऐसा बता रहा है। *'बिग्रहु नाहीं'* अर्थात् जो तुम समझे थे कि *'है कछु कपट भाउ मन माहीं।', 'जानहिं रामहिं सानुज मारी।⋯',* सो बात नहीं है, उनमें विरोधभाव नहीं है। *'विग्रह नाहीं'* अर्थात् सगुन विरोध नहीं बताता। *'भरतहि मिलिय'* उनसे मिलिये, लड़ाई न होगी।

गुहका शकुन

'इसमें स्वभावनिरीक्षण श्रेष्ठ कोटिका है। स्वामीजीका प्रवेश ऐसे समाजमें भी था यह इस वर्णनसे दिखता है। लोकशिक्षा सचमुच ऐसे ही समाजोंमें प्रथम होनी चाहिये। उससे दूर रहकर वह कभी भी हो नहीं सकेगी।'—(मा० ह०)

नोट—दो स्थानोंको छोड़ यह सम्पूर्ण सोपान करुणारससे प्लावित है। दोमें वीररसकी झलक है—एक तो यहाँ निषादराजके वचनोंमें, दूसरे भरतका ससैन्य आगमन सुननेपर लक्ष्मणजीके वचनोंमें।

सुनि गुह कहइ नीक कह बूढ़ा। सहसा करि पछिताहिं बिमूढ़ा॥ ७॥
भरत सुभाउ सीलु बिनु बूझें। बड़ि हित हानि जानि बिनु जूझें॥ ८॥

दो०—गहहु घाट भट समिटि सब लेउँ मरम मिलि जाइ।
बूझि मित्र अरि मध्य गति तब तस करिहउँ आइ॥ १९२॥

लखब सनेहु सुभायँ सुहाएँ। बैरु प्रीति नहिं दुरइँ दुराएँ॥ १॥

शब्दार्थ—'**सहसा**'=एकदमसे, अकस्मात्, जल्दीबाजी। '**जूझें**'=लड़नेसे' युद्ध करनेसे, लड़ मरनेसे। '**घाट गहहु**'=(घाट-घाट मत छेंको) घाटकी राह छेकों। *'घाट धरना'*=राह छेंकना, जबरदस्तीके लिये राहमें खड़े होना। इसीको पूर्व 'घाटारोह' कह आये हैं, यथा—*'हथबाँसहु बोरहु तरनि कीजै घाटारोह'* अर्थात् घाटको रोको, किसीको उतरने न दो। '**घाट गहहु**'=घाटपर एकत्र रहो—(दीनजी)। '**गति**'=चलन, ढंग, भाव। '**बूझि**'=जानना, समझना अक्लसे पहचानना।

अर्थ—यह सुनकर गुह कहने लगा कि बुड्ढा ठीक कहता है, मूर्ख लोग जल्दीबाजी करके पीछे पछताते हैं॥ ७॥ भरतजीका शील-स्वभाव बिना समझे, बिना जाने युद्ध करनेसे बड़ी हितकी हानि है॥ ८॥ अतः सब भट एकत्र होकर घाटको छेंको; मैं जाकर उनसे मिलकर उनका भेद लूँ कि उनका मित्र-भाव है या शत्रु-भाव है या मध्यस्थ, यह जानकर तब आकर तदनुसार कार्य करूँगा॥ १९२॥ उनका प्रेम और सुन्दर स्वभाव (वा उनके सुन्दर स्वभावसे उनका प्रेम) मैं समझ लूँगा, क्योंकि वैर और प्रेम छिपायेसे नहीं छिपते॥ १॥

नोट—१ *'सुनि गुह कहइ नीक कह बूढ़ा'* इति। (क) निषादराज स्वयं शकुन-विचारनेमें बड़े कुशल हैं। यथा—*'लगे होन मंगल सगुन सुनि गुनि कहत निषाद।'* (२३४)। दूसरे यह बुड्ढा है इसकी उम्र विचारमें बीती है। अतएव उसकी बातकी प्रशंसा की। (ख) *'सहसा करि'* यथा—*'अनुचित उचित काज किछु होऊ। समुझि करिय भल कह सब कोऊ॥ सहसा करि पीछे पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥'* (२३१। ३। ४) यथा—'**अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः**' अर्थात् सहसा किये हुए कर्मोंका परिणाम विपत्तितक छातीमें गड़े हुए खूँटेकी तरह दुःखदायी होता है' इति। सुभाषितरत्नभाण्डागारे (र० ब०)

पु० रा० कु०—*'लखब सनेह……'* स्नेह हो या वैर, वह मुख, नेत्र आदिसे प्रकट हो ही जाता है, छिपता नहीं; स्वभावसे आप-ही-आप प्रकट हो जाता है। जैसे स्नेह होगा तो बोली वैसे ही सरल और मृदु होगी। वैरके वचन व्यंगयुक्त होंगे। यथा—*'कपट सार सूची सहज बाँधि बचन परबास। कियो दुराउ चह चातुरी सो सठ तुलसीदास॥'*—(दोहावली)

अस कहि भेंट सँजोवन लागे। कंद मूल फल खग मृग मागे॥ २॥
मीन पीन पाठीन पुराने। भरि भरि भार कहारन्ह आने॥ ३॥
मिलन साजु सजि मिलन सिधाए। मंगल मूल सगुन सुभ पाए॥ ४॥

देखि दूर तें कहि निज नामू। कीन्ह मुनीसहि दंड प्रनामू॥ ५॥
जानि रामप्रिय दीन्ह असीसा। भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा॥ ६॥

शब्दार्थ—'**सँजोवन**'=सुसज्जित करने, सजाने—(श० सा०)।=इकट्ठी करने या जुटानेकी क्रिया—(रा० प्र०)। '**पीन**'=मोटी, पुष्ट। '**पाठीन**'=पहिना मछली—जिसका पेट चाँदीका-सा उजला और श्याम मुख और उसमें एक लकीर होता है। *'मीन मनोहर ते बहु भाँती।'* (१। ३७। ८) देखिये। मयंकाकार लिखते हैं कि *'मीन पीन'* गोदधिको कहते हैं और पाठीन मत्स्यपति बड़ी मछलीको कहते हैं, यथा—'**नलमीनश्चिलिचिमः प्रोष्ठी तु शफरी द्वयोः।**' (अमरकोष १। १०। १८) भार—८८-२ देखिये।

अर्थ—ऐसा कहकर वह भेंटकी सामग्री सजाने लगा। कंद, मूल, फल, पक्षी और हिरन मँगवाये॥ २॥ पुरानी मोटी पहिना मछलियाँ भार भर-भरकर कहार लोग ले आये॥ ३॥ भेंटका सामान सजाकर (निषादराज) मिलनेको चले। (मार्गमें उनको) मंगलदायक शुभ शकुन मिले॥ ४॥ मुनीश्वर वसिष्ठजीको देखकर (क्योंकि ये सबके आगे थे) दूरहीसे अपना नाम कहकर उसने उनको दण्डवत्-प्रणाम किया॥ ५॥ श्रीरामजीका प्रिय जानकर मुनिने उसे आशीर्वाद दिया और भरतजीसे समझाकर कहा (कि यह रामका सखा है)॥ ६॥

रा० प्र०—१ *'कंद'* जैसे शकरकंद, कमलगट्टा, कमल आदिकी जड़ें। मूल जैसे सुथनी, बंडा, कसेरू आदि। ***फल***—केला, तेंदू, कटार, बेर आदि। ***खग*** जैसे बहरी, जुर्रा, नरूक, शिकरा, कूकी, धूती आदि और मृग चीतर, साँबर, झाँक, ठय्या, रोज, गुण्ड, चिकारा, चीता, स्याहगोश आदि। (कंद-मूल-फलके भेद पूर्व लिखे जा चुके हैं। १२५। ३, १०७। २ देखिये।)

* ***'मिलन साजु सजि मिलन सिधाये'*** इति।*

मित्र, शत्रु और उदासीन भावोंकी परीक्षाके लिये कैसा विचित्र उपाय किया है। आखिर राजा ही तो ठहरे। अपने सम्राट्से मिलने जाना है; अतएव भेंट ले जाना जरूरी है। भेंटसे अपने धर्मका निर्वाह भी हुआ और उधर राजनीति भी बरती गयी। भेंट तीन प्रकारकी है—***'कंद मूल फल'*** यह सात्त्विक है, ***'खग मृग'*** यह राजसी है और ***'मीन पीन पाठीन पुराने'*** यह तामसी है और तीन ही भाव भी जानना है। सात्त्विक भेंट स्वीकार करें या उसपर उनकी दृष्टि जाय तो मित्र समझिये। राजसीपर जाय या राजसी भेंट स्वीकार करें तो उदासीन जानिये और यदि तामसी भेंट स्वीकार करें या उसपर अधिक रुचि देख पड़े तो शत्रुभाव जानिये। यह भाव बैजनाथजी, बाबा हरिहरप्रसादजी, बाबा हरिदासजी, मुं० रोशनलाल आदि प्राचीन तिलककारोंने दिया है।

२ लाला सीतारामजीने (यथा संख्यालंकारसे जान पड़ता है) राजसीसे शत्रु और तामसीसे उदासीन भाव माना है। वे लिखते हैं कि 'इसी रामायणमें सिद्ध कर दिया गया है कि प्रभुके अरिको भी सुगति हो जाती है। उदासीन जो प्रभुसे विरक्त हैं, न उनके मित्र हैं न शत्रु, महा अधम हैं। अतएव तामसीमें वे दिये गये।'

३—शीला—भरतजी तीनों गुणोंसे परे हैं। उन्होंने किसी भी भेंटपर दृष्टि न डाली। वे तो 'राम-सखा' शब्द सुनते ही रथसे उतरकर उससे प्रेमसे गले लगकर मिलने लगे। (बस, इतनेसे गुहको उनके भावका पता चल गया। दण्डवत्-प्रणाम करके भेंट अर्पण करता वह अवसर भी अभी न आने पाया। श्रीरघुनाथजीके आगमनपर ***'करि दंडवत भेंट धरि आगे'*** यह क्रम कहा गया है।)

पाँडेजी—भेंटकी रीति है कि जिसको जिस वस्तुका अधिकार है वही देता है। निषाद वन और नदीका राजा है; अतएव अपने अधिकारानुसार ऐसी भेंट लेकर चला। और पूर्व ***'मित्र अरि मध्यगति'*** बूझनेके लिये जानेको कहा ही है, अतएव तीन प्रकारकी भेंट लेकर गया। जो लोग गंगाजल भरकर उसमें मछली ले जाना कहते हैं उनका मत ठीक नहीं है। इसका न यहाँ प्रयोजन है और न उसको अधिकार है।

पु० रा० कु०—श्रीरामजी उदासी वेषमें थे, अतः उनको फल-मूल भेंट दी। इनका सब राजसी ठाट है, इससे इनके योग्य भेंट एकत्र की।

वीर—यहाँ निषादराज युद्धकी तैयारीको भेंटकी वस्तुओंद्वारा, भरतसे छिपानेकी क्रिया करता है जिसमें उन्हें यह बात प्रकट न हो; यह 'युक्ति अलंकार' है।

श्रीनंगे परमहंसजी—१ कोई-कोई महानुभाव शंका करते हैं कि 'भरतजी तो भगवद्भक्त थे, उनके लिये मछली, खग, मृग आदि तामसी पदार्थोंको क्यों ले गया?' समाधान यह है कि श्रीभरतजी राजकुमारके स्वरूपमें हैं, क्योंकि संगमें चतुरंगिणी सेना है। हयदल, रथदल, गजदल और पैदल। इससे भेंटमें सब प्रकारकी चीजें ली हैं, क्योंकि नजरमें सब चीजें ली जाती हैं। इसलिये स्वरूपानुकूल भेंटमें मछली आदि भी लीं तो क्या बेजा किया? गुह तो नीतिका पालन कर रहा है और राजकुमारोंके साथ नीति बरती ही जाती है। ऐसे ही भरद्वाजने भी भरतजीके साथ नीतिका बर्ताव किया है। सब प्रकारके भोग तैयार कराये थे (यथा—*'स्रक चंदन बनितादिक भोगा।'* (२१५। ८) अतः भरतजीकी भेंटमें मछली आदिकी शंका करनी वृथा है।

२—'शत्रु, मित्र, मध्यस्थ तीनोंको जाननेके लिये कन्द-मूल आदि लेकर गया', यह कहना भी यथार्थ नहीं है। कारण कि कन्द-मूलादि सब चीजें तो मिलनेके साज हैं और मिलनेसे यह पता चल गया कि भरतजी मित्रभावमें हैं, शत्रु या मध्यस्थमें नहीं हैं। प्रमाण है यह चौपाई—*'राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥'* (१९३। ७) अतः मिलनेसे ही शत्रु, मित्र, मध्यस्थका पता चलता है। भेंटसे पता नहीं चलता है। भेंट तो मिलनेका स्वरूप है कि इस स्वरूपसे मिला जाता है।

वि० त्रि०—जब रामजीके आनेका समाचार सुना तब निषादराज फल-मूल भेंट लेकर गये। यथा—*'लिए फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हिय हरष अपारा॥'* (८८। २) पर भरतजी सेनाके सहित आ रहे हैं। सेनामें राजस-तामस बुद्धिवाले लोग भी रहते हैं, अतः कन्द-मूल-फलके साथ खग, मृग, मत्स्य भी भेंटके लिये लेकर चले। भरतजीके स्नेह और शीलका पता भेंटसे लगना किसी तरह सम्भव नहीं था और न निषादराजने ही उसे मित्र, शत्रु और उदासीन भावके पता लगानेका साधन माना। वह स्पष्ट कहता है *'लखब सनेह सुभाय सुहाए। बैर प्रीति नहिं दुरइ दुराए॥'*, और वही हुआ। *'राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥'*

नोट—१ *'मंगल मूल सगुन सुभ नाना'* इति। मंगल मूल शकुनोंका विस्तृत वर्णन कविने बालकाण्ड ३०३ (२) से दोहा ३०३ तक किया है। वहाँ भी शुभ और मंगल विशेषण आये हैं। *'होहिं सगुन सुंदर सुभ दाता॥'* (३०३। १) उपक्रम है और *'मंगलमय कल्यानमय······सगुन।'* (३०३) उपसंहार है। उन्हींमेंसे अनेक शकुन यहाँ निषादराजको हुए।

नोट—२ *'देखि दूर तें कहि निज नामू।······'* इति। (क) अपनी नीच जातिके विचारसे दूरसे प्रणाम किया। नाम कहकर प्रणाम करना यह रीति है। बाबा हरिदासजीका मत है कि 'मुनीश' कहकर जनाया कि मननशील, विचारवान् और त्रिकालज्ञ हैं। इससे सब हाल गुहका जान गये। इसीसे उन्होंने भरतजीसे समझाकर कहा कि यह रामसखा है। यह जानते हैं कि वह आत्मसमर्पण धर्ममें प्रवीण और दीन है; अतएव *'जानि रामप्रिय'* कहा और आशीर्वाद दिया। (शीला) श्रीवसिष्ठजीको सुमन्त्रजीके लौटनेपर निषादराजकी सेवाका समाचार मिल चुका है, नाम भी मालूम हो चुका है। अतः जब निषादराजने नाम लेकर प्रणाम किया तब वे समझ गये कि यही वह रामसखा है। और भरतसे समझाकर कहा। सर्वज्ञतासे जानना विशेष संगत नहीं है।

(ख) वसिष्ठजी रथपर हैं; और निषादराज दूर है, इसीसे वे उससे यहाँ न मिले। और, चित्रकूटमें समीपसे प्रणाम किया था और मुनि भी पैदल थे, रथपर न थे, इसीसे वहाँ रामप्रिय जान छातीसे लगाकर मिले। (पु० रा० कु०) विशेष २४३ (६) में देखिये। (ग) *'बुझाइ'* का भाव कि यही

रामसखा निषादराज है। (रा० प्र०), यह श्रीरामजीका प्यारा है, इसीने उनकी सेवा सिंग्रौरमें की, इत्यादि। बुझानेका कारण भी है कि भरतजी विह्वल हैं। (घ) सबके आगे मुनि थे, अतः प्रथम उनको दण्डवत् की।

वाल्मीकीयमें श्रीसुमन्त्रजीने भरतजीसे कहा है कि यह श्रीरामजीका सखा निषादराज गुह है। पर मानसकल्पके चरित्रमें सुमन्त्रजीका नाम राजाको रामसंदेश सुनानेके पश्चात् रामराज्याभिषेकके समय ही आया है। हानि-ग्लानिवश वे घरसे १४ वर्ष निकले ही नहीं।

राम सखा सुनि संदनु* त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥ ७॥
गाउँ जाति गुह नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई॥ ८॥

दो०—करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लषन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदय समाइ॥ १९३॥

शब्दार्थ—**संदनु** (स्यंदन)=रथ। **जोहारु**=प्रणाम।

अर्थ—'रामसखा' यह (शब्द) सुनकर ही श्रीभरतजीने रथ त्याग दिया। रथसे उतरकर वे प्रेममें उमड़ते हुए चले॥ ७॥ गुह निषादराजने अपना गाँव, अपनी जाति और अपना नाम *'गुह'* सुनाकर पृथ्वीसे माथा लगाकर प्रणाम किया॥ ८॥ उसको दण्डवत् करते देखकर श्रीभरतजीने उसे छातीसे लगा लिया। हृदयमें प्रेम नहीं समाता, मानो लक्ष्मणजीसे भेंट हो गयी हो॥ १९३॥

नोट—१ ***'चले उतरि उमगत अनुरागा'*** इति। यहाँ भागवतदर्शनकी रीति दिखायी। सवारीसे उतरकर प्रणाम आदि करना चाहिये। यह राम-प्रिय है और ***'राम कहहिं जेहि आपनो तेहि भजु तुलसीदास।'*** (दोहावली १४१), अतएव सवारीसे उतर पड़े, उससे मिलने चले। 'रामप्रिय', 'रामसखा' के दर्शन होंगे, यह समझकर प्रेम उमड़ा चला आता है, हृदयमें रोके नहीं रुकता; जैसे-जैसे आगे पैर पड़ता है तैसे-तैसे अनुराग बढ़ता जाता है। निषादराज उनको अपनी ओर बढ़ते देख समझते हैं कि ये हमारी जाति, कुल और स्वभाव नहीं जानते; इसीसे बढ़े हुए मिलने आते हैं, ऐसा न हो कि पीछे उन्हें और मुझे दोनोंको पछताना पड़े; अतएव वह ग्रामका नाम (सिंग्रौर), जाति (निषाद हिंसक), नाम (गुह अर्थात् जो पराया धन हरण करता है) सब बताकर पृथ्वीपर माथा रखकर प्रणाम करता है। उसने यह सब कह दिया कि जिसमें उन्हें धोखा न हो।

नोट—२ ***'मनहुँ लषन सन भेंट भइ—'*** इति। लक्ष्मणजी भाई और यह सखा दोनों बराबर। लक्ष्मणजीने सर्वस्व प्रभुको समर्पण कर दिया, श्रीरामजी ही उनके सर्वस्व हैं, यथा—***'गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥ जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥ मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी॥'*** (७२। ४—६) और इसने भी अपना सर्वस्व प्रभुको अर्पण किया—***'देव धरनि धन धाम तुम्हारा। मैं जन नीच सहित परिवारा॥'*** (८८। ६) दोनों परम भागवत और दोनों रामजीको परम प्रिय हैं। अतएव लक्ष्मणसे ही भेंट होनेसे जैसा सुख होता वैसा ही हुआ, उसको भाई लक्ष्मण-सरीखा ही मानकर उससे अनुरागपूर्वक मिले। भरतजी लक्ष्मणजीसे कैसे मिलते हैं यह ***'भूरि भाय भेंटे भरत।'*** (२४१), ***'मिले प्रेम परिपूरित गाता॥'*** (१। ३०८), ***'लछिमन भरत मिले तब परम प्रेम दोउ भाइ।'*** (७। ५) इन उद्धरणोंसे समझ लीजिये। इसी प्रकार श्रीभरतजी गुहसे मिले।

नोट—३ अ० रा० में मिलता-जुलता श्लोक यह है—'**ननाम शिरसा भूमौ गुहोऽहमिति चाब्रवीत्।**' (२। ८। २१) '**शीघ्रमुत्थाप्य भरतो गाढमालिंग्य सादरम्।**' ***'कीन्ह जोहारु माथ महि लाई'*** ही '**ननाम शिरसा भूमौ**' है। ***'गुह नाम सुनाई'*** ही '**गुहोऽहमिति अब्रवीत्**' है। ***'करत दंडवत देखि'*** में शीघ्रका भाव

* स्यंदनु-को० रा०।

और *'लीन्ह उर लाइ'* में **'उत्थाप्य……'** का भाव जना दिया कि तुरत उठाकर सादर प्रेमपूर्वक हृदयसे लगा लिया।

भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥ १॥
धन्य धन्य धुनि मंगल मूला। सुर सराहि तेहि बरिसहिं फूला॥ २॥
लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाहँ छुइ लेइअ सींचा॥ ३॥
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता॥ ४॥
राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं॥ ५॥
एहि तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जगु पावन कीन्हा॥ ६॥
करमनास जलु सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहि धरई॥ ७॥
उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भये ब्रह्म समाना॥ ८॥

दो०—स्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात।
रामु कहत पावन[1] परम होत भुवन बिख्यात॥ १९४॥

नहिं अचिरिजु जुग जुग चलि आई। केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई॥ १॥
राम नाम महिमा सुर कहहीं। सुनि सुनि अवधलोग सुखु लहहीं॥ २॥

शब्दार्थ—**'सींचा'**=(पंजाबीमें) जल। **'लेइअ सींचा'**=स्नान या मार्जन करना पड़ता है वा करना चाहिये। **'जमुहाहीं'**=जँभाई लेते हैं—(सं० जृम्भा)। **जँभाई**—मुँहके खुलनेकी एक स्वाभाविक क्रिया है जो निद्रा या आलस्य मालूम पड़ने या दुर्बलता आदिके कारण होती है। इसमें मुँहके खुलते ही साँसके साथ बहुत-सी हवा धीरे-धीरे भीतरकी ओर खिंच जाती है और कुछ क्षण ठहरकर धीरे-धीरे बाहर निकलती है। **'भरि अंक'**=दोनों हाथोंसे घेरकर छाती और गले लगाकर प्यारसे। **'समुहाहीं'**=सामने आते, सामना करते हैं। **'खस'** वर्तमान गढ़वाल और उसके उत्तरवर्त्ती प्रान्तके रहनेवाले ब्रात्य क्षत्रियसे उत्पन्न एक प्राचीन जाति जिसका वर्णन महाभारत और राजतरंगिणीमें आया है। इसके वंशज अबतक नेपाल और काश्मीरमें इसी नामसे विख्यात हैं। इन्हें खासिया भी कहते हैं। **सबर**—दक्षिणमें रहनेवाली जंगली या पहाड़ी जाति; शूद्र तथा भीलसे उत्पन्न संतान।

अर्थ—श्रीभरतजी उसे अत्यन्त प्रेमसे कंठसे लगा रहे हैं। लोग इस प्रेमकी रीतिकी ईर्ष्यापूर्वक बड़ाई करते और ललचाते हैं॥ १॥ मंगलमूल 'धन्य-धन्य' शब्दोंकी ध्वनि हो रही है। देवता उसकी सराहना कर-करके फूल बरसाते हैं॥ २॥ (क्या सराहते हैं कि—) यह लोक और वेद दोनोंमें सब तरहसे ही नीच है जिसकी परिछाहीं छू जानेसे मार्जन वा स्नान करना पड़ता है॥ ३॥ उसे ही अँकवार भरकर (गले और हृदयसे लगाकर) श्रीरामजीके छोटे भाई (श्रीभरतजी) मिलते हुए शरीरसे भरपूर पुलकायमान हो रहे हैं॥ ४॥ जो लोग राम-राम कहकर जँभाई लेते हैं। (आलससे भी जिनके मुखसे रामनाम निकल पड़ता है) पापसमूह उनके सामने नहीं आते॥ ५॥ और इसे तो साक्षात् श्रीरामजीहीने (और इसने श्रीरामजीको) हृदयसे लगा लिया और कुलसमेत इसे जगत्‌में पवित्र बना दिया अर्थात् जब श्रीरघुनाथजीने इसे पवित्र मान लिया तो जगत्‌में कौन इसको और इसके कुलको पवित्र न मानेगा और तब श्रीभरतजी इसका इतना सम्मान क्यों न करें[2]॥ ६॥ कर्मनाशानदीका जल गंगाजीमें पड़ता है तब कहिये तो कौन उसे सिरपर धारण नहीं करता? अर्थात् तब उसे सभी पवित्र मानकर मस्तकपर चढ़ाते हैं॥ ७॥ जगत् जानता है कि

१-राजापुरमें 'पाँवर' पाठ है। अर्थात् जो परम नीच हैं वे सब।

२-'जग पावन कीन्हा' के और भी अर्थ ये हो सकते हैं—(क) कुलसमेत इसको जगत्‌का पावन करनेवाला

उलटा नाम (मरा-मरा) जपते-जपते वाल्मीकिजी ब्रह्मके समान हो गये॥ ८॥ श्वपच, शबर, खस, यवन, कोल, किरात आदि मूर्ख (असभ्य) और नीच लोग भी राम-नाम कहते ही परम पवित्र और लोकोंमें प्रसिद्ध हो जाते हैं॥ १९४॥ इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, यह बात तो युग-युगान्तरसे चली आ रही है; रघुबीर श्रीरामचन्द्रजीने किसको बड़प्पन नहीं दिया? अर्थात् सभीको इनके सम्बन्धसे बड़प्पन मिला॥ १॥ इस तरह देवता श्रीराम-नामकी महिमा कह रहे हैं और अवधवासी सुन-सुनकर सुख पा रहे हैं॥ २॥

वि० त्रि०—*'भेंटत भरत ताहि अति प्रीती।.........'* इति। भरतजी पुलकित होकर अंक भरकर अत्यन्त प्रेमसे निषादसे मिल रहे हैं, जिसकी छाया छू जानेसे मार्जनका विधान है, परन्तु प्रीतिकी रीति ऐसी है कि वह भेद सहन नहीं कर सकती। (श्रीरामजीने कहा है कि '**हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा। इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः**' (हनुमन्नाटक ५। २५) जानकीजीके विश्लेषके भयसे मैंने हार नहीं पहना; सो आज हमारे उनके बीचमें पर्वत, नदी और वृक्ष आ गये हैं) यह प्रेमकी महिमा है कि अयोध्यावासी इस प्रकारके मिलनके लिये तरसते हैं।

टिप्पणी—१ *'लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥.........'*। (क) 'सिहाते हैं' कि हममें भी ऐसा प्रेम उत्पन्न होता तो भरतजी रथ छोड़ दौड़कर हमसे भी मिलते। पुनः, प्रेमकी रीति देखकर कहते हैं कि प्रेम ऐसा ही पदार्थ है, इसमें बड़ेकी बड़ाई न छोटेकी छोटाई, दोनोंमेंसे कोई भी नहीं रह जाती, छोटे-बड़ेका नियम और विचार जाता रहता है। मिलान कीजिये—*'जानत प्रीति रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई॥ नेह निबाहि देह तजि दसरथ कीरति अचल चलाई। ऐसेहुँ पितु तें अधिक गीधपर ममता गुन गरुआई॥ तिय बिरही सुग्रीव सखा लखि परानप्रिया बिसराई। रन पर्‌यो बंधु बिभीषनही को सोचु हृदय अधिकाई। घर गुरगृह प्रियसदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई। तब तहँ कहैं सबरीके फलनि की रुचि माधुरी न पाई। सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई। केवटमीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई॥ ५॥ प्रेम कनौड़ो राम सो प्रभु त्रिभुवन तिहुँ काल न भाई। तेरो रिनी हौं कह्यो कपि सों ऐसी मानिहि को सेवकाई॥ तुलसी राम सनेह सील लखि जो न भक्ति उर आई। तौ तोहि जनमि जाय जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई॥'* (विनय० १६४) *'श्रीरघुबीर की यह बानि। नीचहू ते करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि॥ परम अधम निषाद पाँवर कौन ताकी कानि। लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेमको पहिचानि॥'* (विनय० २१५) (ख) *'लोग'*—ये अवधपुरवासी हैं जो फल-मूल-दूध पीकर व्रत कर रहे हैं, नियमसे रह रहे हैं, उनका सिहाना कहा। और, *'धन्य धन्य धुनि.......'*, यह देवताओंके शब्द हैं, ब्रह्मादि, इन्द्रादि देवता इन शब्दोंसे उसकी सराहना करते हैं, फूल बरसाते हैं मानो पूजा देते हैं (मारे आनन्दके फूलोंकी वृष्टि करते हैं) और कहते हैं—*'लोक बेद.......।'* यह देवताओंका सराहना है। इसके द्वारा कवि सबको उपदेश दे रहे हैं। [(ग) 'बेदसे नीचा' का भाव कि प्रतिमार्चनादिका भी अधिकार नहीं। *'छाँह छुइ'* का भाव कि जिस जातिकी परिछाहींतक अपावन मानी जाती है, तनका तो कहना ही क्या? (वै०)] पुनः, *'सब भाँतिहि नीचा'* यह निषाद है और वे क्षत्रिय, यह प्रजा वे सार्वभौम सम्राट् इत्यादि।

टिप्पणी—२ *'तेहि भरि अंक.......'* इति। देहसे मिलते हैं और भीतर प्रेमसे शरीर परिपूर्ण भरा है; इसीसे शरीरभरमें प्रेमकी पुलकावली हो रही है।

मा० हं०—इस वर्णनका प्रेम प्रेक्षणीय है। प्रेमकी लहरोंमें गोसाईंजी कैसे रँग जाते थे, यह दिखलानेवाले प्रसंगोंमेंसे यह भी एक प्रसंग है। गोसाईंजीके धर्म-सम्बन्धी मतका निश्चय करनेके लिये यह वर्णन हमारी समझसे बहुत ही उपयुक्त होगा।

बना दिया। परम भागवत होनेसे लोग इसका नाम लेकर पवित्र हो जायँगे। इसका चरित तथा इसके कुलके नाविक केवटके प्रेममय चरितको पढ़-सुन-कहकर लोग पवित्र होंगे। (पं० रा० कु०) प० प० प्र० स्वामी और भी अर्थ ये कहते हैं—(ख) जग=देह। भा० १०। १४ ब्रह्मस्तुतिमें 'जगदेतत्तवार्पितम्' के 'जगत्' का अर्थ 'देह' है। निषाद जातिकी देह अपवित्र थी—*'जासु छाँह छुइ लेइय सींचा'*। उसको पवित्र बना दिया।

टिप्पणी—३ *'न पापपुंज समुहाहीं'* अर्थात् पापसमूह आते भी हों तो लौट जायँ। [यथा—**'अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः। पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव॥'** अर्थात् जैसे सिंहको देखकर मृग डरकर भागे वैसे ही विवश होकर भी नाम लेनेसे सब पाप दूर होते हैं (विष्णुपुराण—वै०)] और इसे तो जिनके नामका ऐसा महत्त्व-परत्व है उन्हीं श्रीरामने स्वयं हृदयसे लगा लिया तो इसमें पाप कहाँ रह सकता है? (शबरके प्रसंगमें विष्णुदूतोंने शालग्रामशिलाका माहात्म्य यह कहा है कि उसका स्पर्शमात्र सब पापोंको क्षणभरमें जला डालता है। उसके अनुसार *'राम लाइ उर लीन्हा'* का भाव यह है कि जिनके स्वयं अर्चावतारके स्पर्शका यह प्रभाव है उनके स्वयं स्पर्शका तथा जिसको उन्होंने स्वयं उसके यहाँ आकर हृदयसे लगाया उसके भाग्यका तथा इस आलिंगनके प्रभावको कौन कह सकता है? पहले साधारण बात कहकर फिर उसका विशेष सिद्धान्तसे समर्थन करना 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है)। इसके तो कुल और जातितकको उन्होंने पावन बना दिया एवं कुलसमेत इसे जग-पावन, जगत्को पवित्र करनेवाला बना दिया। इसीकी पुष्टि आगे करते हैं कि *'करमनास जल०'*।

प० प० प्र०—*'यह तो राम लाइ उर लीन्हा'* इति। जब निषादराज श्रीरघुनाथजीसे मिलने आया था तब उसका हृदयसे लगाया जाना नहीं कहा गया है। यथा—*'सहज सनेह बिबस रघुराई। पूछी कुसल निकट बैठाई॥'* (८८। ४) तब यहाँ *'लाइ उर लीन्हा'* कैसे कहा?

समाधान—निकट बैठाना कहकर ही जना दिया कि ऐसा करनेके पूर्व उसे हृदयसे लगाया था। यह नियम देखनेमें आता है कि जहाँ-जहाँ श्रीरामजीने किसीको निकट बिठाया है वहाँ-वहाँ प्रथम उसको हृदयसे लगाया है, पर यह नियम नहीं है कि जहाँ हृदयसे लगाया है वहाँ अवश्य निकट बिठाया हो। उदाहरण लीजिये—(१) *'करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई॥ स्वागत पूछि निकट बैठारे।'* (३। ४१। १०-११; श्रीनारदजीको), *'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥'* (५। ३३। ४) (श्रीहनुमान्‌जीको), *'अस कहि करत दंडवत देखा।.........भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥ अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी।'* (५। ४६। १—३) (श्रीविभीषणजीको), *'सुनत गुहा धाएउ प्रेमाकुल।.........परेउ अवनि तन सुधि नहिं तेही। प्रीति परम बिलोकि रघुराई। हरषि उठाइ लियो उर लाई॥ लियो हृदय लाइ कृपानिधान सुजान राय रमापती। बैठारि परम समीप बूझी कुसल सो कर बीनती।'* (६। १२० श्रीनिषादराजजी)।—ये उदाहरण इसके हैं जहाँ निकट बैठानेके पूर्व हृदयसे लगाया है। (२) जहाँ हृदयसे लगाया है पर निकट नहीं बैठाया है उसके उदाहरण ये हैं—*'तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥'* (४। ३। ६ श्रीहनुमान्‌जीको), *'सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेटेउ अनुज सहित रघुनाथा॥'* (४। ४। ७ श्रीसुग्रीवजी) श्रीसनकादिकजीको न तो हृदयसे लगाया और न निकट ही बैठाया। केवल बैठाना वहाँ कहा है। यथा—*'कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे।'* (७। ३३। ६) ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है जहाँ निकट बैठाया हो पर हृदयसे न लगाया हो, अतः यहाँ भी हृदयसे गुहको अवश्य लगाया था यह सिद्ध होता है। [वहाँ यह बात न कही थी क्योंकि उस प्रसंगकी बात यहाँ फिर कहनी थी। अतः एक बात वहाँ कही और दूसरी यहाँ कही। यह कविकी शैली है। वाल्मी० और अ० रा० में भी शृंगवेरपुरमें गुहको हृदयसे लगाना कहा है। यथा—'**गुहमुत्थाप्य तं तूर्णं राघवः परिषस्वजे।**' (अ० रा० २। ५। ६३), '**तमार्तः सम्परिष्वज्य गुहो राघवमब्रवीत्।**' (वाल्मी० २। ५०। ३६) अतः गुहको हृदयसे लगानेमें संदेह नहीं है]।

नोट—१ *'करमनास जलु.........'* इति। (क) कर्मनाशाके जलमें स्नान करनेसे किये हुए शुभकर्म नष्ट होते हैं—[वा० ६ (८) देखिये] वही जल जब गंगाजीमें मिल जाता है तब उसे सभी मस्तकपर चढ़ाते हैं। (ख)—यहाँ राम गंगा और गुह कर्मनाशा हैं। अधिकता यहाँ यह है कि वहाँ कर्मनाशा जाकर गंगामें मिलकर पावन होती है और यहाँ गंगा स्वयं जाकर कर्मनाशाको पावन करती हैं। वहाँ कर्मनाशाका कुछ जल पवित्र होता है यहाँ कुलसमेत निषादरूपी पूरी कर्मनाशा पवित्र हो जाती है।

(पु० रा० कु०)(ग) कुब्जाको अपनानेसे उसके सम्बन्धमें भी गोपियोंने ऐसा ही कहा है। मिलान कीजिये—*'प्रिय सम प्रिय सनेह भाजन सखि, प्रीति रीति जग जानी॥ भूषन भूमि गरल परिहरि कै हर मूरति उर आनी। मज्जन पान कियो कै सुरसरि कर्मनास जल छानी॥'* (कृष्ण गी० ४९) (घ) बालकाण्डके *'सुरसरि जलकृत बारुनि जाना। कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना॥' 'सुरसरि मिलें सो पावन जैसें। ईस अनीसहि अंतरु तैसें॥'* (७०। १-२) से मिलान कीजिये। यहाँ स्पृश्यास्पृश्यताविषयक मत गोस्वामीजीका क्या है यह उन्होंने स्पष्ट बता दिया है कि आज भी अस्पृश्य जातिका व्यक्ति परम भागवत बन जानेसे अस्पृश्य नहीं रह जाता। (प० प० प्र०) ☞अस्पृश्य जातिके लिये कितना सुगम उपाय है जिससे वे अपनी अस्पृश्यता हटा सकते हैं। (घ)—*'एहि तौ राम लाइ उर लीन्हा।……'* के भाव टिप्पणी ३ आदिमें आ चुके हैं। (ङ) *'एहि तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जगपावन कीन्हा॥'* अर्थात् श्रीरामजीके स्पर्शसे निषाद पवित्र हुआ, यह उपमेय वाक्य है। *'करमनास जलु……धरई'* उपमान वाक्य है। दोनों वाक्योंमें बिना वाचकपदके बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है। (च) अ० रा० में श्रीभरतजीने स्वयं निषादराजसे कहा है कि '**भ्रातस्त्वं राघवेणात्र समेतः समवस्थितः। रामेणालिङ्गितः सार्द्रनयनेनामलात्मना॥**' '**धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि यत्त्वया परिभाषितः। रामो राजीवपत्राक्षो लक्ष्मणेन च सीतया॥**' (२। ८। २३-२४) अर्थात् 'तुम यहाँ श्रीरामचन्द्रजीके साथ रहे थे और निर्मलहृदय श्रीरामजीने नेत्रोंमें जल भरकर तुम्हारा आलिंगन किया था।' तुमसे श्रीसीता-लक्ष्मणसहित श्रीरामजीने वार्तालाप किया था, अतः तुम धन्य हो, तुम्हारा जीवन सफल है।' वही मानसकल्पमें देवताओंने कहा है। *'तेहि को कहहु'* से जनाया कि यह सभी जानते हैं।

नोट—२ *'उलटा नामु जपत जगु जाना!……'* इति। भाव कि कुछ हम ही नहीं कह रहे हैं जगत्भरमें विख्यात है। उलटा नाम 'मरा-मरा' जपनेका प्रमाण, यथा—'**इत्युक्त्वा राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षरपूर्वकम्। एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा॥**' (अ० रा० २। ६। ८०) १। ३(३) और १८९ (५) देखिये। (ख) *'ब्रह्म समाना'* अर्थात् ब्रह्माके दसवें मानसिक पुत्र हुए। पुनः ब्रह्माके मुखसे वेद प्रकट हुए और इनके मुखसे वेदका उपबृंहणरूप रामायण हुआ, अतः ब्रह्मसमान कहा। अथवा, ब्रह्म अर्थात् ईश्वर ही रूप हो गये, त्रिकालज्ञ हुए—'**ततश्च वर्णयामास राघवं ग्रन्थकोटिभिः रावणकं वधः**'; इन्होंने रावणवधतक छः काण्ड भूतकालके कहे, (क्योंकि इन्होंने रामायण उस समय प्रारम्भ की जब रामचन्द्रजी गद्दीपर बैठ गये और राज्य करने लगे), श्रीरामराज्य वर्तमान कहा और अवधवासियोंसहित साकेतयात्रा यह भविष्य कहा—यह उलटे नामके जपका प्रभाव है और इसे तो स्वयं मिलकर उन्होंने गले लगाया। (पु० रा० कु०) यहाँ 'प्रथम उल्लास अलंकार' है।

नोट—३ *'श्वपच सबर खस जमन……'* इति। द्वापरमें वाल्मीकि नामक श्वपच भक्त हुए, जिनके प्रसाद सेवन करनेपर युधिष्ठिर महाराजका यज्ञ पूर्ण हुआ। कथा भक्तमालमें प्रसिद्ध है। प० पु० सृष्टिखण्डमें पितृभक्त मूक चाण्डालकी कथा है जिसके यहाँ भगवान् मनोहर ब्राह्मणका रूप धारण किये हुए नित्य क्रीड़ा किया करते थे। (ख) *'सबर'* इति। पद्मपुराण, पातालखण्डमें राजा रत्नग्रीवसे शालग्रामकी महिमाके वर्णनमें एक 'शबर' नामक पुल्कस जातिके एक मगधनिवासी मनुष्यकी कथा आयी है जो नित्य ही जीवोंकी हत्या करता और लोगोंका धन लूटा करता था, राग-द्वेष और काम-क्रोधादिका तो वह भण्डार ही था। वह सदा तीर्थयात्रियोंको लूटता और परस्त्रियोंका सतीत्व नष्ट करनेमें तत्पर रहता था। एक बार जब वह प्राणियोंको भय देता हुआ विचर रहा था उसका अन्तकाल आ गया और यमदूत उसे रौरवनरकमें ले जानेके लिये वहीं पहुँच गये, एक परमदयालु भगवद्भक्त महात्माने यमदूतोंको देखा कि वे शबरको बाँधकर ले जाना चाहते हैं तो उनको करुणा आ गयी। उन्होंने शबरको यमयातनासे बचानेके लिये तुरत शालग्रामशिला हाथमें ली और शबरके पास आकर भगवान् शालग्रामका तुलसीदलमिश्रित चरणामृत उसके मुखमें डाल दिया और कानमें राम-नाम सुनाया, मस्तकपर तुलसी रखी और छातीपर शालग्रामशिला रखकर कहा—'यमयातना

देनेवाले यमदूत यहाँसे चले जायँ। शालग्रामशिलाका स्पर्श इसके पातकोंको भस्म कर डाले।' उसी समय एक बहुत ही मनोहर विमान आया जो शबरको स्वर्ग ले गया। वहाँ प्रचुर भोगोंका उपभोग करके वह काशीपुरीमें ब्राह्मणकुलमें पैदा हुआ और अन्तमें परमपदको प्राप्त हुआ। (अध्याय २०) 'शबर' भीलको भी कहते हैं। श्रीशबरीजीकी कथा इसी ग्रन्थमें है। उसकी भक्तिसे श्रीरामजीने उसका दण्डकारण्यके ऋषियोंसे भी अधिक आदर किया। उसकी गणना 'हरिवल्लभों' में कमला, गरुड़, सुनन्द आदि षोडश पार्षदों तथा श्रीहनुमान्‌जी, जाम्बवान्, सुग्रीव और विभीषणजीके साथ की गयी है। भक्तमाल देखिये। (ग) *'खस'*—इसकी कथा महाभारतमें तथा सत्योपाख्यानमें पंच-चोरोंकी कथामें है। श्रीमद्भागवतके (आगे दिये हुए) श्लोकमें इसका नाम आया है। (घ) *'जमन'*—एक यवनकी कथा वराहपुराणमें आयी है। अन्त समय इसके मुखसे जो शब्द निकला उसके अन्तिम अक्षर 'राम' थे, इतनेहीसे उसके सब पाप नष्ट हो गये और उसकी मुक्ति हो गयी। यह 'राम' नामके आभासमात्रका फल है। यथा—'**दैवाच्छूकरशावकेन निहतो म्लेच्छो जराजर्जरो हा रामेण हतोऽस्मि भूमिपतितो जल्पंस्तनुं त्यक्तवान्। तीर्णो गोष्पदवद्भवार्णवम्**.......।' (वराहपुराण), *'आँधरो अधम जड़ जाजरो जरा जवन सूकर के सावक ढकाँ ढकेल्यो मग्गमैं। गिरो हिये हहरि हराम हो हराम हन्यो हाय हाय करत परीगो काल फग्गमैं॥ तुलसी बिसोक ह्वै तिलोकपति लोक गयो नामके प्रताप बात बिदित है जग्गमैं........।'* (क० ७। ७६) (ङ) *'जड़'*—इसे पूर्वोक्त श्वपचादिका विशेषण मान सकते हैं। (क० ७। ७६) में 'जड़' शब्द यवनके विशेषणमें आया ही है। अथवा भाव कि ऐसे ही जो और भी शास्त्रज्ञानविहीन मूढ़ मनुष्य हैं उनका भी नामके स्मरणसे परमपदको पाना कहा है। यथा—'**त्वन्नामस्मरणान्मूढः सर्वशास्त्रविवर्जितः। सर्वपापाब्धिमुत्तीर्य स गच्छेत्परमं पदम्॥**' (प० पु० पाताल० ३७। ५०) इस श्लोकका 'मूढ़' शब्द ही यहाँका 'जड़' है। अर्थात् मूर्ख, शास्त्रज्ञान और बुद्धि-विचारसे रहित मनुष्य। (च) *'पाँवर'*=नीच। यह कोलकिरातका विशेषण है। 'जड़' को इनका भी विशेषण मान सकते हैं। ये सब भी जड़ कहे गये हैं। यथा—*'हम जड़ जीव जीवगन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥'* (२५१। ४) पाँवरको अलग भी ले सकते हैं अर्थात् और भी जो ऐसे नीच हैं। (छ) कोल-किरात तो प्रसिद्ध ही हैं। यहाँ एक-एक उदाहरण दिया गया। ऐसे ही न जाने कितने पवित्र हुए।

नोट—४ *'पावन परम होत'* इति। यथा—*'पाई न केहि गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना। गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना॥ आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम बारक तेपि पावन होत राम नमामि ते॥'* (७। १३०) '**किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकंका यवनाः खशादयः। येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रया शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥**' (२) '**श्वपाकोऽपि हि संस्मृत्य रामं याति परां गतिम्। ये वेदशास्त्रनिरतास्त्वादृशास्तत्र किं पुनः॥**' (प० पु० पाताल० ३५) (अर्थात् श्वपच चाण्डाल भी श्रीरामका स्मरण करके परम गतिको प्राप्त होता है तब आप-जैसे वेदशास्त्रपरायण पुरुषोंके लिये तो कहना ही क्या है?) *'रामनाम सुमिरत सुजस भाजन भये कुजाति। कुतरुक सुरपुर राजमग होत भुवन बिख्याति॥'* (दोहा १६) पुनः, *'परम पावन'* का भाव यह कि जो स्वाभाविक पवित्र हैं उनसे भी अधिक पवित्र हो जाते हैं।

नोट—५ *'भुवन बिख्यात'* इति। इसके दो अर्थ होते हैं। वे परम पावन और संसारमें प्रसिद्ध हो जाते हैं। पुराणों, इतिहासों, भक्तमालाओं इत्यादिके द्वारा लोग सर्वत्र जानते हैं। दूसरा अर्थ है कि यह सिद्धान्त संसारभर जानता है। क्योंकि यही सब वेदों, इतिहासों, शास्त्रों आदिका स्पष्ट सिद्धान्त है। यथा—'**सर्ववेदेतिहासानां सारार्थोऽयमिति स्फुटम्। यद्रामनामस्मरणं क्रियते पापतारकम्॥ तावद्गर्जन्ति पापानि ब्रह्महत्यासमानि च। न यावत्प्रोच्यते नाम रामचन्द्र तव स्फुटम्॥ त्वन्नामगर्जनं श्रुत्वा महापातककुञ्जराः। पलायन्ते महाराज कुत्रचित्स्थानलिप्सया॥ तावत्पापभियः पुंसां कातराणां सुपापिनाम्। यावन्न वदते वाचा रामनाममनोहरम्॥**' (प० पु० पाताल अ० ३७। ५१—५३, ५६) अर्थात् समस्त वेदों और इतिहासोंका यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि रामनाम-स्मरण पापोंसे उद्धार करनेवाला है। ब्रह्महत्यादि पाप तभीतक गर्जते हैं जबतक

आपका नाम स्पष्ट रूपसे उच्चारण नहीं किया जाता। नामका गर्जन सुनकर महापातकरूपी गजराज छिपनेका स्थान ढूँढ़ते हुए भाग खड़े होते हैं। महान् पापीको तभीतक भय बना रहता है जबतक वह परम मनोहर रामनामका उच्चारण नहीं करता।

नोट—६ *'नहिं अचिरिजु·······'* इति। यह एक, दो उदाहरण दिये हैं, ऐसे ही न जाने कितने इन जातियोंमें पवित्र हुए। यह सुनकर लोग आश्चर्य करेंगे, इसीसे कहते हैं कि आश्चर्य न करो—*'नहिं अचिरिजु जुग जुग चलि आई·······'*। प्रत्येक युगमें ऐसा होता चला आया है जैसे सत्ययुगमें यवन तथा प्रह्लादादिने श्रीरामनामसे बड़ाई पायी, भक्तशिरोमणि माने गये। त्रेतामें शबर, शबरी, विभीषणादि। विभीषणजीकी रामनामकी भक्ति भक्तमालमें प्रियादासजीने दिखायी है यथा—*'राम नाम लिखि शीशमध्य धरि दियो याके यही जल पार करै भाव साँचो पायो है।'* (कवित्त ३०) शबरके कानमें रामनाम सुनाया गया। द्वापरमें वाल्मीकि, श्वपचादि और कलिमें कबीर, रविदास आदि असंख्योंने रामनामसे बड़ाई पायी। विशेष *'चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ'* (बा० २२। ८) देखिये। आश्चर्य तब करनेकी बात है जब यह बात नयी हो, पहले न हुई हो। *'रघुबीर'* पद अन्तमें देकर जनाया कि राम कोई इनसे परे ब्रह्म नहीं हैं, यही हैं, जिनका 'राम' नाम सबने लिया।

नोट—७ *'राम नाम महिमा सुर कहहीं·······'* इति। (क) यहाँतक देवताओंकी वाणी हुई। *'सुर सराहि तेहि बरिसहिं फूला।'* (१९४। २) उपक्रम है और *'राम नाम महिमा सुर कहहीं।'* (१९५। २) उपसंहार है, बीचमें देवताओंके वचन हैं। *'राम नाम महिमा·······'* ये वचन कविके हैं कि महिमा सुनकर अवधवासियोंको सुख प्राप्त हो रहा है। (ख) सुख यह कि हमारे ही रघुनाथजी हमारे ही 'श्रीरामजी' की महिमा ये कह रहे हैं, इनसे परे कोई अलख, अगुण, निरंजन, आदि दूसरा 'राम' नहीं है। हमारे प्यारे श्रीरघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामके ही उपासक सब देवता हैं। पुनः, (रा० प्र०—इनसे सुना कि अधम भी जो सम्मुख हुए उनके भी अभीष्ट पूर्ण हुए तब हम अवधवासियोंके अभीष्ट क्यों न पूरे होंगे। वा, हम तो इन्हें राजकुमार ही जानते रहे पर ये ब्रह्म हैं, अतएव और भी बन गया। हमारी आशा अवश्य पूर्ण करेंगे, यथा—*'जौं जगदीस तो अति भलो जौं महीस बड़ भाग। तुलसी चाहत जनम भरि रामचरन अनुराग॥'* (दो० ९१) वा, अपने स्वामीकी दीन-दयालुता सुनकर सुखी होते हैं।)

नोट—८ *'भेंटत भरत ताहि अति प्रीती'* यह कहकर भेंटका प्रसंग छोड़ लोगों एवं देवताओंकी बातें कहने लगे थे। *'लोग सिहाहिं प्रेमकै रीती'* उपक्रम और *'सुनि सुनि अवध लोग सुख लहहीं'* उपसंहार है। *'धन्य धन्य······· सुर सराहिं'* से *'राम नाम महिमा सुर कहहीं'* तक देवताओंद्वारा प्रशंसा और रामनाम-महिमा है। अब फिर पूर्वसे प्रसंग मिलाते हैं—*'भेंटत भरत ताहि अति प्रीती'* और *'राम सखहि मिलि भरत सप्रेमा'*। जितनी देर गले लगे रहे उतनेहीमें यह वार्ता भी हो गयी ऐसा जान पड़ता है।

रामसखहिं मिलि भरतु सप्रेमा। पूँछी कुसल* सुमंगल खेमा॥ ३॥
देखि भरत कर सीलु सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥ ४॥
सकुच सनेहु मोदु मन बाढ़ा। भरतहि चितवत एकटक ठाढ़ा॥ ५॥
धरि धीरजु पद बंदि बहोरी। बिनय सप्रेम करत कर जोरी॥ ६॥
कुसलमूल पदपंकज पेखी। मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी॥ ७॥
अब प्रभु परम अनुग्रह तोरें। सहित कोटि कुल मंगल मोरें॥ ८॥

अर्थ—श्रीभरतजीने प्रेमसहित श्रीरामसखासे मिलकर उनका कुशल, क्षेम और मंगल-समाचार पूछा॥ ३॥ भरतजीका शील-स्वभाव और प्रेम देखकर निषाद उस समय विदेह हो गया अर्थात् प्रेममें मग्न

* 'सकल।'—भा० दा०।

होकर देहकी सुध भूल गया॥ ४॥ उसके मनमें संकोच, स्नेह और आनन्द बहुत बढ़ा (इनकी बाढ़ आ गयी) और वह खड़ा-खड़ा टकटकी लगाये श्रीभरतजीको देख रहा है॥ ५॥ फिर धीरज धरकर उनके चरणोंकी पुनः वन्दना करके हाथ जोड़कर प्रेमसहित विनती करने लगा॥ ६॥ कुशलके मूल आपके चरणकमलोंको देखकर मैंने तीनों कालोंमें अपना कुशल मान लिया है॥ ७॥ प्रभो! अब आपके परम अनुग्रहसे करोड़ों कुलों (पीढ़ियों)-सहित मुझे मंगल प्राप्त हो गया॥ ८॥

नोट—१ *'राम सखहि मिलि भरत सप्रेमा।.......'* इति। *'सप्रेमा'* वही है जो ऊपर कह आये हैं कि *'करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ। मनहुँ लषन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदय समाइ॥'* (१९३) *'भेंटत भरत ताहि अति प्रीती।'* इससे जनाया कि गाढ़ आलिंगन किया, देरतक उसे हृदयसे लगाये रहे। यथा— **'शीघ्रमुत्थाप्य भरतो गाढमालिंग्य सादरम्।'** (अ० रा० २। ८। २२)

नोट—२ *'पूछी कुसल सुमंगल खेमा'* इति। यहाँ कुशल, सुमंगल और क्षेम तीन शब्द आये हैं। इसपर महानुभावोंने ये विचार लिखे हैं—(क) कुशल मंगल क्षेम पर्यायवाची शब्द हैं। यथा—'अमरकोशे, **'श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मंगलं शुभम्। भावुकं भविकं भव्यं कुशलं क्षेममस्त्रियाम्॥'** अत्यन्त प्रेमके कारण अथवा उसे अत्यन्त कुशलके योग्य समझकर तीनोंको एक साथ कहा। (रा० प्र०) अथवा, (ख) तीन संख्या बहुवचन है। तीन बारसे बारम्बार पूछना जनाया। बारम्बार पूछना अति सम्मान है। कुशल तो है! सुमंगल तो है! क्षेम तो है! इस तरह पूछा। (पं०) अथवा, (ग) मन, वचन और कर्म तीनोंका कुशल पूछना जनाया। अर्थात् तीनोंसे तुम श्रीरामजी और उनके भक्तोंकी सेवामें लगे रहते हो, कोई विक्षेप तो नहीं होता। (पं)) अथवा, (घ) इन तीनोंसे उसको ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके समान ऊँचा मानकर तीन शब्दोंसे कुशल पूछा जो शब्द पृथक्-पृथक् एक-एक वर्णके लिये प्रयुक्त किये जाते हैं, यथा—**'ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम्। वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च**—इति मनुः।' इसको ब्राह्मण पदवी दी क्योंकि ब्रह्मवेत्ता है—*'राम ब्रह्म परमारथ रूपा।'*; क्षत्रिय पदवी दी क्योंकि रामसखा है और वैश्यपदवी क्रियादिक सम्बन्धसे। *'अनामय'* का अर्थ मंगल ले लें। शूद्र पदवी इसकी हटा दी। (पं०) (वैराग्य संदीपनीमें भी कहते हैं— *'जदपि साधु सब ही बिधि हीना। तद्यपि समता के न कुलीना॥'* (४१), *'तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैनि दिन राम। ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम॥'* (३८) अ० रा० में *'अनामय'* शब्दसे कुशल पूछा है। यथा—**'पृष्ट्वानामयमव्यग्रः।'** (२। ८। २२) (ङ) कुशल अर्थात् अपने कर्तव्यमें कुशल हो, मंगल अर्थात् श्रेयकी वृद्धि होती है और उसका क्षेम अर्थात् रक्षा बनी चली जाती है। (पु० रा० कु०) अथवा, (च) सबका कुशल शब्दसे राष्ट्र, मित्रों और वनोंका भी कुशल सूचित कर दिया। यथा—**'अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च वनेषु च।'** (वाल्मी० २। ५०। ४२), शरीरकी आरोग्यता, राज्यकी रक्षा। (छ) पं० विजयानन्द त्रिपाठी लिखते हैं कि कुशल, मंगल और क्षेम यद्यपि पर्यायवाची समझे जाते हैं, फिर भी उनमें सूक्ष्म भेद है जो आज भी प्रयोगमें देखे जाते हैं। कुशलमें निर्विघ्नताका भाव है, मंगलमें इष्ट-प्राप्तिका भाव है और क्षेममें प्राप्तके संरक्षणका भाव है। भरतजीने निषादराजसे तीनों पूछा और निषादराज तीनोंका क्रमसे उत्तर देता है। कुशलके उत्तरमें कहता है *'कुसलमूल पद पंकज पेखी। मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी॥'* और मंगलके उत्तरमें कहता है कि *'अब प्रभु परम अनुग्रह तोरे। सहित कोटि कुल मंगल मोरे॥'* क्षेमके उत्तरमें कहता है कि *'राम कीन्ह आपन जबही तें। भयउँ भुवन भूषन तबही तें॥'* भाव यह कि तब मैं भुवन-भूषण बना और आजतक बना हूँ।

दीनजी—*'सब मंगल मोरे'*=सब मंगल मेरे हो चुके। भाव कि मेरा तो कुशल ही है, आपकी इस कृपासे करोड़ों पीढ़ियोंतक मेरे वंशमें मंगल होता रहेगा—सदैव सब लोग कहेंगे कि यह उसी निषादका वंश है जिसे भरतने भेंटा था।

नोट—३ *'देखि भरत कर सील सनेहू.......'* इति। (क) बड़े होकर छोटेका अति आदर-सम्मान करना शील है। शीलका अर्थ स्वभाव भी है। शील केवट और नीच जातिसे मिलनेमें और स्नेह रामजी

एवं रामदासोंमें। (ख) ***'निषाद'*** पद देकर जनाया कि यह हिंसक जीव है। इसपर भी श्रीभरतजीके शील और स्नेहका प्रभाव पड़ा कि तनवदनकी सुध जाती रही, स्वयं मग्न हो गया। (ग) निषाद छींक होनेपर सावधान हो ***'मित्र अरि मध्य गति' 'भरत सुभाउ सील'*** और ***'सनेह सुभाय सुहाए'*** के पता लगानेको चला था—(१९२। १९३ (८)। यहाँ 'सील' और 'स्नेह' दोनों देख लिये; अब अरि मध्यकी बात ही न रह गयी। जिस कार्यसे आया था वह तो आते ही हो गया। और साथ ही विशेषता यह हुई कि आप भी उनके प्रेमके बलिहारी हो गये—***'गईं दधि बेचन आपुइ हाथ बिकानी।'*** और अपनी करनीपर बड़ा संकोच हुआ, लज्जित हुए।

नोट—४ ***'सकुच सनेह मोदु मन बाढ़ा……'*** इति। (क) 'संकोच' हुआ क्योंकि एक तो अपने सब विचार गलत निकले जो मनमें उठे थे—***'है कछु कपट भाउ मन माहीं,' 'नड़िं बिष बेलि अमिय फल फरहीं';*** फिर विचार उठनेपर पहले ही आकर जाँच न कर ली, लड़नेकी तैयारी कर दी और ***'जुझाऊ ढोल'*** बजानेकी आज्ञा दे दी थी, बड़ा अनर्थ हो गया होता।' तीसरे, यहाँ देखा कि उनके प्रेमके पासंग भी हम नहीं ऐसे प्रेमी भक्तपर हमने दोषारोपण किया। चौथे कि कहाँ मेरा कर्तव्य और कहाँ इनका शील-स्नेह कि मुझे अंक भरकर मिले। मुझसे बड़ा पाप हुआ। (ख) ***'स्नेह'*** भरतजीमें उनका शुद्ध भागवत प्रेम-सम्बन्धी आचरण देखकर हुआ, एवं उनका स्नेह अपने ऊपर देखकर मनमें आनन्दकी बाढ़ आ गयी। आनन्द ऐसा बढ़ा कि खड़े-खड़े टकटकी लगाये उनको देखता रह गया। कुशल-प्रश्नका उत्तर भी प्रेमानन्दके मारे शीघ्र न दे सका। (ग) पंजाबीजीका मत है कि ***'मोदु'*** इससे हुआ कि इनके संयोगसे फिर श्रीरामजीके दर्शन होंगे। इनका रूप श्रीरामजीका-सा देखकर एकटक देखने लगा। यथा—***'भरतु राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥'*** (१। ३११। ६) (रा० प्र०) अथवा, मोद इससे हुआ कि अच्छा हुआ मैं इनसे आ मिला, इनको मालूम भी न हुआ। (पां०)

☞ वाल्मी० रा० का निषादराज केवल मिलापसे श्रीभरतजीका शील-स्नेह न जान पाया, इसीसे उसने अपना संदेह श्रीभरतजीसे कह डाला है—**'इयं ते महती सेना शंकां जनयतीव मे।'** (२। ८५। ७) निषादराजके मनमें संकोच, स्नेह और आनन्द तीनों भाव एक साथ उदय हुए, अतः यहाँ प्रथम समुच्चय 'अलंकार' है।

नोट—५ ***'धरि धीरजु पद बंदि बहोरी……'*** इति। (क)—ऊपर कहा कि ***'भा निषाद तेहि समय बिदेहू'***; अतः उसका सावधान होना कहा—***'धरि धीरज'***। चरणोंको प्रणाम और बड़ोंसे हाथ जोड़कर विनती करना, उनके प्रश्नका उत्तर देना, यह शिष्टाचार है, भले आदमियोंकी रीति है। ये राजकुमार हैं और परम भागवत भी। किसीका मत है कि अपराध क्षमाहेतु अथवा राम-समान रूप जानकर दुबारा प्रणाम किया।

(ख) पु० रा० कु०—भरतजीने कुशल-प्रश्न किया और निषाद विदेह हो गया, जवाब कौन देता? सातवें तुक (चरण) में जाकर उत्तर देना लिखा गया जब वह सावधान हुआ।

नोट—६ ***'कुसलमूल पदपंकज पेखी।……'*** इति। (क) इसका अर्थ दो प्रकारसे लोगोंने किया है। एक तो अर्थमें दिया गया, दूसरा यह कि कुशलके मूल रामचन्द्रजीके चरण-कमलोंको देखकर मैं तीनों कालोंमें अपनी कुशल मानता हूँ और अब आपने परम कृपा की इससे मैं करोड़ों पीढ़ियोंसहित अपना मंगल मानता हूँ। इस प्रकार भगवत्‌से भागवतकी महिमा विशेष दिखायी—(पं०) ऐसा ही भरद्वाजजीने आगे कहा है—***'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥ तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥'*** (२७०। ४-५) रामजीने अनुग्रह किया और आपने परम अनुग्रह। उन्होंने कुशल पूछी और आपने कुशल-सुमंगल-क्षेम पूछा।

प० प० प्र०—स्वामीजी पंजाबीजीसे सहमत हैं। वे कहते हैं कि ***'पेखी'*** और ***'लेखी'*** से भूतकाल सूचित होता है और ***'अब'*** से वर्तमानकाल। भरतजीकी विशेषता बहुत जगह स्पष्ट भी कही गयी है। जैसे, ***'तस मग भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात।'*** (२१६), ***'जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥' 'ते सब भए परम पद जोगू। भरत दरस मेटा भवरोगू॥'*** (२१७। १-२) इत्यादि।

(ख) पहले अर्थके अनुसार यह भाव है कि आपके चरणकमलोंके दर्शनसे तीनों कालमें मेरी कुशल हुई और आपके *'परम अनुग्रह'* से मेरी अगणित पीढ़ियोंका मंगल हुआ। अभिप्राय यह कि इससे बढ़कर कुशल-मंगल क्या हो सकता है कि परमभागवत रामभ्राता हमारे राजाके पुत्रने घरपर आकर दर्शन ही नहीं दिये वरन् हमको ब्राह्मणोंके समान आदर दिया। यहाँ व्यंगार्थ वाच्यार्थके बराबर होनेसे 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग्य' है।

पु० रा० कु०—*'तिहुँ काल'* अर्थात् भूतकालमें था, इससे आपका दर्शन वर्तमानमें हुआ और इससे अब भविष्यमें भी होगा, यह लेखा लगा।

पं०—*'सहित कोटि कुल'* इति। भाव कि श्रीरामजीकी सेवा तो कुछ लोगोंने की थी और आपकी सेवा परिवार, पुरजन सब मिलकर करेंगे यह समझकर *'सहित कोटि कुल······'* कहा। वा भागवतकी महिमा दिखायी।

वै०—भाव कि यदि मैं दर्शनको न आता तो वैरभावके कारण भागवतापराध होनेसे तीनों कालकी कुशल नष्ट हो गयी होती, यह केवल आपके दर्शनका फल है कि बच गया।

दो०—समुझि मोरि करतूति कुलु प्रभु महिमा जिअ जोइ।
जो न भजइ रघुबीर पद जग बिधि बंचित सोइ॥ १९५॥

कपटी कायरु कुमति कुजाती। लोक बेद बाहेर सब भाँती॥ १॥
राम कीन्ह आपन जब ही तें। भयउँ भुवन-भूषन तबहीं तें॥ २॥

अर्थ—मेरी करतूत और मेरा कुल समझकर, और प्रभुकी महिमाको मनमें विचार—देखकर जो रघुवीर श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंकी सेवा न करे वही संसारमें विधाताद्वारा ठगा गया है अर्थात् वह बड़ा अभागा है॥ १९५॥ मैं कपटी, कादर, दुर्बुद्धि, नीचजाति, सब प्रकारसे लोक और वेद दोनोंसे बाहर हूँ॥ १॥ (ऐसे मुझको भी) जबसे श्रीरामचन्द्रजीने अपनाया, तभीसे मैं सब लोकोंमें भूषणरूप हो गया॥ २॥

नोट—१ *'समुझि मोरि करतूति······'* इति। (क) मिलान कीजिये—*'तुलसी जाके होइगी अंतर बाहर दीठि। सो कि कृपालुहि देइगो केवट पालहि पीठि॥'* (दो० ४९) (ख) *'करतूति'* करनी, चोरी, हिंसा और *'कुलु'* अधम महानीच जिसकी परिछाहीं लोग नहीं छूते। कहाँ तो ऐसा मैं इसको समझें, विचारें और कहाँ प्रभु कि जिनकी सेवाके लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि तरसते हैं, जिनको वे ध्यानमें भी नहीं पाते, जिनकी वे सदा वन्दना और ध्यान आदि करते रहते हैं फिर भी प्रत्यक्ष दर्शन और चरणसेवा नहीं पाते, जिनकी बड़ाईसे ही त्रिदेव बड़े हुए हैं; अन्य तुच्छ देवताओंकी कौन कहे, वे ही प्रभु मुझ अधमको गले लगाकर मिले। यथा—*'हरिहि हरिता बिधिहि बिधिता सिवहि सिवता जेहि दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई॥ ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहूँ भेंट्यो केवट उठि॥ भरि अंक भेंट्यो सजल नयन सनेह सिथिल सरीर सो।'* (वि० १३५), *'ऐसे राम दीन हितकारी। हिंसारत निषाद तामस बपु पसु समान बनचारी। भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेम बस नहिं कुल जाति बिचारी॥'* (१६६) *'सिव बिरंचि सुर जाके सेवक।'* (६। ६२। ५) *'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥'* (६। २२। १) *'देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा।'* (१। ५४। ७-८) इत्यादि। (ग) *'प्रभु महिमा जिय जोई'* इति। भाव कि प्रभुकी महिमाको हृदयके नेत्रोंसे देखें कि ऐसे मुझ कपटी, कायर, दुर्बुद्धि और नीचको चौदहों भुवनोंमें भूषणरूप बना दिया कि श्रीभरतजी गले लपटकर मिले, देवता और मनुष्य सब ही आज मेरे भाग्यको देखकर ललचा रहे हैं, यह जीसे देखकर सबको विश्वास होना चाहिये कि जब ऐसे नीचको अपनाया तो हमें क्यों न अपनायेंगे और उनका ही भजन करना चाहिये, उनके चरणोंकी सेवा करनी चाहिये। एक तो यह समझ देखकर कोई विमुख होगा नहीं और यदि हो तो समझना चाहिये कि विधाताने उसे ठग

लिया। —*'कर ते डारि परसमनि देहीं।'* (घ) विचार करनेका फल बताया कि विचार करनेवाला अवश्य भजनमें लग जायगा और उससे जीवनका फल पायेगा। विनयमें उपर्युक्त उद्‌धृत प्रसंगमें भी विचारका फल कहा गया है। मिलान कीजिये—*'खग सबरि निसिचर भालु कपि किए आपु तें बंदित बड़े। तापर तिन्ह कि सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गड़े॥ स्वामीको सुभाउ कह्यो सो जब उर आनिहै। सोच सकल मिटिहैं राम भलो मन मानिहैं॥ भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। तत्काल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहै॥ जपि नाम करहिं प्रनाम कहि गुन ग्राम रामहिं धरि हिये। बिचरहि अवनि अवनीस चरन सरोज मन मधुकर किये॥'* (वि० १३५) इसमें जो अन्तमें बताया है यही भजन है। यदि यह महिमा देखकर भी उसने भजन न किया तो फिर वह किसीके भी उपदेशसे सुधर नहीं सकता। यथा—*'बालमीकि केवट कथा कपि भील भालु सनमान। सुनि सनमुख जो न राम सों तिहिं को उपदेसै ज्ञान॥'* (वि० १९३) भजन न करना ही विधिद्वारा ठगा जाना है। यथा—*'जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन बंचित किए बिधाता॥'* (१। २०४। २) (ङ) दोहेके पूर्वार्द्धमें प्रथम विषम अलंकार है। दोहेमें 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है।

२—*'भयउँ भुवन-भूषन'* अर्थात् पहले दूषणरूप था, पृथ्वीके लिये भार था और अब प्रभुके अपनानेसे मैं नीच निषादसे रामसखा हो गया। विनयमें भी कहा है—*'जाको हरि दृढ़ करि अंग कर्‌यो। सोइ सुसील पुनीत बेदबिद बिद्या गुननि भर्‌यो॥'* (२३९)

पु० रा० कु०—(क) भाव यह कि मैं तो प्रत्यक्ष प्रमाण प्रभुकी महिमा और *'कपटी कायरु कुमति कुजाती'* का हूँ; कोई वेद-पुराण पढ़कर प्रमाण देनेकी जरूरत नहीं। हमको देखकर बस विचार कर लो। (ख) *'कपटी कायरु कुमति कुजाती……',* इति। भीतर कुछ बाहर कुछ, यह कपट है। कपटीको कोई उपदेश भी नहीं देता जिससे उसके आचरण सुधर जायँ। पुनः, कोई उपदेश दे भी तो व्यर्थ जाय क्योंकि मैं कायर हूँ। परिश्रम करके उपदेशपर चलकर अपनेको सुधार लूँ सो भी नहीं हो सकता। उसपर न बुद्धि ही अच्छी और न जाति। सब प्रकार बिगड़ा-बिगड़ाया हूँ, बननेकी एक बात नहीं।

देखि प्रीति सुनि बिनय सुहाई। मिलेउ बहोरि भरत लघु भाई॥ ३॥
कहि निषाद निज नाम सुबानी। सादर सकल जोहारी रानी॥ ४॥
जानि लषन सम देहिं असीसा। जियहु सुखी सय लाख बरीसा॥ ५॥
निरखि निषाद नगर नर नारी। भये सुखी जनु लषनु निहारी॥ ६॥
कहहिं लहेउ एहि जीवन लाहू। भेंटेउ रामभद्र भरि बाहू॥ ७॥

शब्दार्थ—'**जोहार**'=अभिवादन, वन्दन, प्रणाम, नमस्कार। **सय**=सौ।

अर्थ—(निषादराजकी) प्रीति देखकर और सुन्दर विनय सुनकर तब भरतजीके छोटे भाई उनसे मिले॥ ३॥ निषादराजने अपना नाम कहकर सुन्दर (विनम्र) वचनोंद्वारा आदरपूर्वक सब रानियोंको प्रणाम किया॥ ४॥ लक्ष्मणजीके समान जानकर सब आशीर्वाद देती हैं कि सौ लाख वर्ष तुम सुखपूर्वक जियो॥ ५॥ अवधपुरीके स्त्री-पुरुष निषादको देखकर ऐसे सुखी हुए मानो लक्ष्मणजीको ही देख लिया हो॥ ६॥ सब कहते हैं कि इसने जीवनका लाभ पाया, क्योंकि कल्याणस्वरूप श्रीरामचन्द्रजीसे यह और श्रीरामभद्रजी इससे बाहु भरके (पूरी भुजा फैलाकर) हृदयसे लगाकर भेंटे हैं॥ ७॥

नोट—१ *'मिलेउ बहोरि भरत लघु भाई'* प्रथम श्रीरामजीने अंगीकार किया, फिर भागवत भरतने, तब भागवताश्रयी शत्रुघ्नजीने (पं० रा० कु०)। जिसको श्रीरामजी अपनाते हैं उसको फिर सभी अपनाते और आदर देते ही हैं। *'तुलसी राम जो आदर्‌यो खोटो खरो खरोइ।'* (दो० १०६)

नोट—२ *'जानि लषन सम……'* इति। (क) श्रीभरतजी जिस भावसे मिले वह पूर्व लिख आये—*'मनहु लषन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदय समाइ।'* (१९३) माताओंने भी उसी भावसे देखा। भरतजी लक्ष्मण-

समान जानकर प्रेमसे मिले जैसे लक्ष्मणजीसे मिलते हैं। यथा—*'भूरि भाय भेंटे भरत लछिमन……।'* (२४१) *'लछिमन भरत मिले तब परम प्रेम दोउ भाइ।'* (७। ५) रानियाँ माताके समान हैं। अतः उन्होंने आशीर्वाद दिया। (ख) *'जिअहु सुखी सय लाख बरीसा'* अर्थात् दीर्घायु हो। विशेष *'जिअहु जगतपति बरिस करोरी।'* (२। ५। ५) में देखिये। (ग) अवधवासियोंने भी श्रीलक्ष्मणजीके भावसे निषादको देखा—*'भये सुखी जनु लषनु निहारी।'* श्रीलक्ष्मणजी राजकुमार हैं, अतः अवधवासियोंके स्वामिपुत्र हुए इससे उनका देखकर सुखी होना कहा। (घ) *'रामभद्र'*—रामजी जो कल्याणकी मूर्ति हैं। अतएव इनसे जन्मका फल पाया (काव्यलिंग अलंकार) *'भेंटेउ भरि बाहू'*—*'एहि तौ राम लाइ उर लीन्हा।'* (१९४। ६) देखिये। यथा—*'जेहि कर कमल उठाइ बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो'* (विनय० १३८), *'भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेम बस……।'* (वि० १६६)

सुनि निषाद निज भाग बड़ाई। प्रमुदित मन लइ चलेउ लेवाई॥ ८॥

दो०—सनकारे सेवक सकल चले स्वामि रुखु पाइ।
घर तरु तर सर बाग बन बास बनाएन्हि जाइ॥ १९६॥

शब्दार्थ—'**सनकारे**' (सैन करना)=संकेत किया, इशारेसे बुलाया, कामके लिये इशारा किया, यथा—*'तुलसी सभीतपाल सुमिरे कृपालु राम समय सुकरुना सराहि सनकार दी।'* **बास**=निवासस्थान।

अर्थ—अपने भाग्यकी बड़ाई सुनकर निषादराज प्रसन्न मनसे सबको लिवा ले चले॥ ८॥ सब सेवकोंको इशारेसे जना दिया। वे सब स्वामीका रुख पाकर चले और घरोंमें, वृक्षोंके नीचे, तालाबोंपर, बागों और वनोंमें जाकर ठहरनेके योग्य स्थान बनाये (अर्थात् स्थानोंको झाड़-बुहार साफकर साथरी आदि बनाकर बिछा दिये)॥ १९६॥

नोट—१ *'सनकारे सेवक……।'* इति।—इशारा या संकेत (जो पहले ही सम्भवतः बता रखा था) दिया जिससे वे जान जायँ कि वे श्रीरामजीको लेने जा रहे हैं, लड़ाई करने नहीं, जो बुड्ढेने कहा था—*'रामहिं भरत मनावन जाहीं'* वही ठीक है।

नोट—२ *'घर तरु तर सर……।'*—रानियोंके लिये घर, मुनियोंके लिये वृक्षके तले, प्रजाके लिये बगीचे, बैल, हाथी, घोड़े, ऊँट आदिके लिये वनमें रहनेके लिये स्थान साफ किये या बनाये। (पु० रा० कु०)

नोट—३ यहाँ इशारेसे काम लिया कि भरतजीको न मालूम हो कि हमने लड़नेकी तैयारी की थी, नहीं तो डूब मरनेकी बात होगी। यहाँ 'युक्ति अलंकार' है। पर भरतजी राजकुमार ही ठहरे, राज्यनीतिमें बड़े निपुण हैं, वे सब जान गये, यह बात उनके चित्रकूट-भाषणसे सिद्ध होती है, यथा—*'बहुरि निहारि निषाद सनेहू। कुलिस कठिन उर भयउ न बेहू॥'* (२६१। ६) यद्यपि इस वचनसे उन्होंने गुहके श्रीरामप्रेमकी प्रशंसा ही की है।

शृंगबेर पुर भरत दीख जब। भे सनेह सब[१] अंग सिथिल तब॥ १॥
सोहत दिए निषादहि लागू। जनु तनु[२] धरें बिनय अनुरागू॥ २॥
एहि बिधि भरत सेनु सब संगा। दीखु जाइ जग पावनि गंगा॥ ३॥
रामुघाट कहँ कीन्ह प्रनामू। भा मनु मगनु मिले जनु रामू॥ ४॥

१-राजापुर, काशिराज, १७२१ और भा० दा० की प्रतिमें 'सब' है। पं० रा० गुलाममें 'बस' है।

२-राजापुर और १७२१ वाली प्रति एवं भा० दासजीने 'धनु' पाठ दिया और काशिराजमें भी यही है। रा० गु० द्वि०, वन्दन पाठकजीने 'तनु' पाठ दिया है। 'धनु' पाठसे रा० प्र० कार यह अर्थ करते हैं—'निषादको लागू दिये अर्थात् कन्धेपर हाथ दिये सोह रहे हैं मानो विनय और अनुराग धनुष धारण किये सोहते हैं। यहाँ विनयरूप निषाद और अनुरागरूप श्रीभरतजी हैं। गलबाँही धनुष है। भरतजीका निषादका सहारा दिये चलना उत्प्रेक्षाका विषय है।'

शब्दार्थ—**लागू**=सम्बन्ध, सहारा, लगाव। **दिए निषादहि लागू**=हाथ कन्धों या गर्दनपर रखकर निषादका सहारा लिये मिले हुए, यथा—*'रामसखा कर दीन्हे लागू'*। (२१६। ४)

अर्थ—जब श्रीभरतजीने शृंगवेरपुरको देखा तब उनके सब अंग प्रेमसे शिथिल हो गये॥ १॥ वे निषादराजके कन्धेपर हाथ दिये सहारा लिये चलते ऐसे शोभित हो रहे हैं मानो विनय और अनुराग ही शरीर धारण किये हुए शोभित हों॥ २॥ इस प्रकार भरतजीने सब सेनाके साथ जाकर जगपावनी[१] गंगाजीका दर्शन किया॥ ३॥ श्रीरामघाट (जहाँपर श्रीरामजीने संध्या और स्नान किया था) को प्रणाम किया। उनका मन (आनन्दमें ऐसा) मग्न हो गया मानो श्रीरामजी ही मिल गये॥ ४॥

नोट—१ *'शृंगबेर पुर भरत दीख जब·······'* इति। यहाँ दो उपवासपर फल खाये, जटा बनाये, रथ छोड़ा, विश्राम किया, सुमन्त्रको लौटाया, इत्यादि समस्त बातें स्मरण हो आयीं, इसीसे शरीर सर्वांगसे शिथिल हो गया। (रा० प्र०)

पु० रा० कु०—*'सोहत दिए निषादहि लागू।'* सारा शरीर प्रेमके मारे शिथिल पड़ गया है, वे विह्वल हो गये हैं, चलनेका सामर्थ्य नहीं, पैर डगमगाते हैं अतएव निषादराजके कन्धेपर हाथ धरकर सहारा लिये चल रहे हैं। इसकी उत्प्रेक्षा करते हैं।

यहाँ विनयका शरीर निषाद है क्योंकि यह अपनी दीनता प्रकट कर रहा है, अपने दोष कह रहा है—*'कपटी कायरु कुमति कुजाती।'* और, अनुरागका तन भरत हैं क्योंकि प्रेमसे ही इनके अंग शिथिल हैं। जिसको विनय और अनुरागकी मूर्ति देखना हो वह इन्हें देख ले। भाव यह कि विनती और अनुराग सर्वांगमें परिपूर्ण है। (सभीने इन्हें रामप्रेमकी मूर्ति जाना है। अवधपुरवासियोंका वचन है कि *'राम प्रेम मूरति तनु आही।'* (१८४। ४) भरद्वाजजीने भी कहा है *'तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥'* (२०८। ८) विनय और अनुराग तनधारी नहीं होते, यह कविकी कल्पना है। अत: यहाँ 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।)

करहिं प्रनाम नगर नर नारी। मुदित ब्रह्ममय बारि निहारी॥ ५॥
करि मज्जनु माँगहिं कर जोरी। रामचंद्र पद प्रीति न थोरी॥ ६॥
भरत कहेउ सुरसरि तव रेनू। सकल सुखद सेवक सुरधेनू॥ ७॥
जोरि पानि बर माँगउँ एहू। सीयरामपद सहज सनेहू॥ ८॥

दो०—एहि बिधि मज्जनु भरतु करि गुर अनुसासन पाइ।
मातु नहानीं जानि सब डेरा चले लवाइ॥ १९७॥

शब्दार्थ—**ब्रह्ममय बारि**=ब्रह्मरूप जल, ब्रह्मद्रव। भगवान्‌के सर्वांग चिदानन्दमय हैं अतएव उनके नखोंसे निकला हुआ जल भी भगवद्रूप ही माना जायगा; इसीसे *'ब्रह्ममय'* कहा। **नहानीं**=स्नान की हुई, स्नान कर चुकीं।

अर्थ—नगरके स्त्री-पुरुष प्रणाम करते हैं और ब्रह्ममय गंगाजलको देख-देखकर प्रसन्न होते हैं॥ ५॥ गंगाजीमें स्नान करके हाथ जोड़कर वरदान माँगते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें हमारा बहुत प्रेम हो[२]॥ ६॥ भरतजीने कहा कि हे सुरसरि! आपकी रेणु सबको सुखद है और सेवकको तो कामधेनुके

१-प० प० प्र० स्वामीका मत है कि यहाँ 'जग' का अर्थ गर्हित वा निन्दित है। संतोंके चरणस्पर्शसे गंगा स्वयं पवित्र होती हैं अत: जगका अर्थ लोक वा विश्व करना उचित नहीं। इसमें 'अति व्याप्ति दोष होगा।'

२-इसका दूसरा अर्थ यह भी होता है कि 'हमारा प्रेम कभी कम न हो'। 'न थोरी' पद बहुत जगह आया है—'अधिक' अर्थमें। १९९ (५) 'सिथिल सरीर सनेह न थोरे।'

समान समस्त सुखोंको देनेवाली है॥ ७॥ मैं हाथ जोड़कर यही वर माँगता हूँ कि श्रीसीतारामजीके चरणोंमें मेरा स्वाभाविक स्नेह हो॥ ८॥ इस प्रकार भरतजी स्नान करके गुरुजीकी आज्ञा पाकर और यह जानकर कि सब माताएँ स्नान कर चुकीं, डेरा लिवाकर चले॥ १९७॥

नोट—१ ***'ब्रह्ममय बारि'*** अर्थात् ब्रह्मद्रव। ब्रह्म ही गंगा-रूपसे जीवोंपर करुणा करके अवतरित हुआ है। यह कवितावलीके इस उद्धरणसे स्पष्ट है ***'ब्रह्म जो ब्यापक बेद कहैं गम नाहीं गिरा गुन ज्ञान गुनी को। जो करता भरता हरता सुर साहिब साहिब दीन दुनी को॥ सोइ भयो द्रवरूप सही जु है नाथ बिरंचि महेस मुनी को। मानि प्रतीति सदा तुलसी जल काहे न सेवत देवधुनी को॥'*** (७। १४६) (ख)—यहाँ उपमान ब्रह्मका प्रधान गुण आनन्दको जलपर आरोप करना 'निरंगरूपक अलंकार' है। (वीर)

टिप्पणी—१ ***'करहिं प्रनाम नगर नर नारी.......'*** इति। ब्रह्ममय जलको देखकर सब लोग आनन्दित हैं। इनके दर्शनसे अवधवासियोंको ब्रह्मकी प्राप्ति दिखायी और भरतजी तो श्रीरामघाटको देखकर ऐसे मग्न हो गये मानो श्रीरामजी ही मिल गये। पुरवासी मुदित हुए, ये मग्न हुए। दोनोंमें भेद दिखाकर सिद्ध किया कि ब्रह्म-सुख (प्राप्तिके) से रामप्राप्तिमें अधिक सुख है, तभी तो जनक महाराजको रामदर्शन होते ही ***'बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा', 'अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्मसुख सौ गुन दिए॥'*** (जानकीमंगल २५) ***'देखि मनोहर मूरति मन अनुरागेउ। बँधेउ सनेह बिदेह बिराग बिरागेउ। बिषय बिमुख मन मोर सेइ परमारथ। इन्हहिं देखि भयो मगन जानि बड़े स्वारथ॥'*** (२८) अवधवासियों और भरतजीमें इतना बीच (अन्तर) है। (ख) प्रभु सर्वत्र व्यापक हैं, प्रेमसे प्रकट हो जाते हैं, यथा—***'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भवभीरा॥'*** यहाँ भरतका अतिशय प्रेम घाटपर देखकर श्रीरामजीकी मूर्ति उनके हृदयमें आ गयी, अतएव उनके सम्बन्धमें ***'मिले जनु रामा'*** कहा।

नोट—२ ***'भरत कहेउ सुरसरि तव रेनू.......'*** इति। (क) भरतजी श्रीरामजीके ध्यानमें जबतक मग्न रहे तबतक बीचमें, अवधवासियोंका गंगाजीको प्रणाम, उसमें स्नान और उनसे वरदान माँगना वर्णन किया। इतना कर चुकनेपर भरतजी सावधान हुए। तब देवनदीकी स्तुति करने लगे कि आपकी रज सेवकको समस्त प्रकारके सुख देनेके लिये सुरधेनु कामधेनुके समान है, जो कुछ वह इच्छा करे वही पावे, पुनः, सबको सुखद है और सेवकको तो कामधेनु है ही। (ख) ***'सकल सुखद सेवक सुरधेनू'*** से ***'ब्रह्ममय बारि'*** शब्दोंको चरितार्थ किया। श्रीरामजी ब्रह्म हैं और ***'प्रनत काम सुरधेनु कलपतरु।'*** (७। ३५। २) तथा ***'सेवत सुलभ सकल सुखदायक'*** हैं। वे ही गुण ब्रह्मद्रवमें हैं। (प० प० प्र०)

नोट—३ ***'सीय राम पद सहज सनेहू'*** इति। (क) 'सहज सनेह'=उत्तम सहजा वृत्ति। जैसे स्वाभाविक ही विषयोंमें मन लगा रहता है, कामीको स्त्री, चातकको स्वाती, लोभीको धन, मछलीको जल, मनुष्यको सुख-जीवन जैसे स्वाभाविक प्रिय वैसा ही प्रेम सहज प्रेम है। यथा—***'जेहि सुभाय विषयन्हि लगेउ तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै।'*** (वि० २६८) (ख) निषादराज 'सहज सनेही' हैं, यथा—***'सहज सनेह बिबस रघुराई। पूँछी कुसल निकट बैठाई॥'*** (८८। ४) ***'सहज सनेह राम लखि तासू। संग लीन्ह गुह हृदय हुलासू॥'*** (१०४। ७) अतः श्रीभरतजीके ***'सीय राम पद सनेहू'*** वर माँगनेसे उनके हृदयका भाव यह प्रतीत होता है कि निषादराजके हृदयमें 'सहज सनेह' है और मैं भाई हूँ तब भी मेरे हृदयमें वैसा स्नेह नहीं है अतएव वे श्रीरामरूप ब्रह्मवारि गंगाजीसे 'सहज सनेह' माँग रहे हैं। इससे श्रीभरतजीकी दीनता प्रकट हो रही है। नही तो वे तो श्रीरामानुरागकी मूर्ति ही हैं। (प० प० प्र०)

नोट—४ ***'एहि बिधि मज्जनु भरतु करि गुर.......'*** इति।—***'गुरु अनुसासन पाइ'*** दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर लग सकता है—भरतजीमें और मातामें भी और डेरा ले जानेमें भी। स्नान और डेरा लिवा जाना दोनों आज्ञासे हुए।

जहँ तहँ लोगन्ह डेरा कीन्हा। भरत सोधु सबही कर लीन्हा॥ १॥
सुर* सेवा करि आयसु पाई। राममातु पहिं गे दोउ भाई॥ २॥
चरन चापि कहि कहि मृदु बानी। जननीं सकल भरत सनमानी॥ ३॥
भाइहि सौंपि मातु सेवकाईं। आपु निषादहि लीन्ह बोलाईं॥ ४॥

शब्दार्थ—**डेरा**=थोड़े कालके लिये निवास, ठहरनेका सामान, टिकनेका आयोजन, पड़ाव। **'सोधु'** (शोध)=खोज, ढूँढ़, जाँच-पड़ताल, खबर।

अर्थ—जहाँ-तहाँ लोगोंने डेरा डाला (ठहर गये), श्रीभरतजीने सबकी जाँच-पड़ताल कर ली (कि सब आ गये और आरामसे टिक गये)॥ १॥ फिर देवपूजन करके आज्ञा लेकर दोनों भाई कौसल्याजीके पास गये॥ २॥ चरण दबाकर और मीठी वाणी कह-कहकर भरतजीने सब माताओंका सम्मान किया॥ ३॥ फिर भाईको माताओंकी सेवा सौंपकर स्वयं निषादको बुला लिया॥ ४॥

वि० त्रि०—***'सुर सेवा करि·······दोउ भाई'*** इति। देवसेवा करके, आज्ञा पाकर कौसल्याजीके पास दोनों भाई गये। प्रश्न उठता है कि किसकी आज्ञा पाकर गये? सीधा अर्थ है कि कौसल्याजीकी आज्ञा पाकर। राजाओंके यहाँका कायदा है, बड़े हो जानेपर बेटा भी इत्तला कराकर आज्ञा पाकर ही माताके पास जाता है। यहाँ भी माताके डेरेमें भरतजी आज्ञा पाकर ही जा रहे हैं। ***'दोउ भाई'*** कहनेका भाव यह कि दोनों भाइयोंने कौसल्याजी तथा अन्य रानियोंके पैर दबानेमें भाग लिया। केवल कैकेयीकी सेवा भरतजी शत्रुघ्नको सुपुर्द करके आप साथ ही देखने चले। ***'कैकेयी जौ लौं जियत रही। तौ लौं भरत मातु सों मुख भरि भूलि न बात कही।'***

पं०—भरतजी अकेले गये, भाईको यहाँ छोड़ गये। कारण यह कि वे रामप्रेममें व्याकुल हो रहे हैं। उनको कुछ शान्ति श्रीरामवासस्थल आदि देखकर होगी और नीति अनुसार यहाँ भी किसीको छोड़ना जरूरी है। श्रीशत्रुघ्नजी भी सबके लड़के हैं और सबकी सेवा करने योग्य हैं। दूसरे, जैसे भरतजी परमभागवत वैसे ही शत्रुघ्नजी परमभागवताश्रयी, उनको भरतजीकी आज्ञामें ही सब प्रकार सुख है।

नोट—यहाँ प्रेमसे विह्वल होनेपर भी भरतजीकी सावधानता, गुरुभक्ति (जहाँ 'गुरु' पाठ है), मातृभक्ति और इन सबसे बढ़कर रामभक्ति दिखायी है। सबकी खबर ले ली कि सब आकर ठहर गये, कोई पिछड़ तो नहीं गया यह सावधानता; सुर वा गुरुसेवा और उनकी आज्ञा पानेपर माताके पास जाना यह देवार्चन वा गुरुभक्ति हुई। कौसल्याजीके चरण दबाना, सबसे कोमल वाणीसे बोलकर सबका सम्मान करना और फिर छोटे भाईको उनकी सेवा सुपुर्द करना कि देखो किसीको कोई कष्ट न हो, सेवामें चूक न पड़े, यह मातृभक्ति हुई। आप निषादराजको स्वयं बुलाकर उनके साथ हुए। (प्र० सं०) श्रीरामजीके संदेशरूप

---

* ला० सीतारामजीने 'सुर' पाठ दिया है। और ना० प्र० सभाने यही पाठ दिया है एवं भा० दासजी और गौड़जीने। १७२१ की प्रतिमें भी 'सुर' है। रा० प०, पं० रा० गु० द्वि, वंदनपाठकजी, छक्कनलालजीने 'गुरु' पाठ दिया है। वीरकविजी लिखते हैं कि इस पाठसे आगेका 'आयेसु पाई' निरर्थक हो जाता है और प्रसंग यही पुकार रहा है कि गुरुसेवा करके माताकी सेवाको गये। गौड़जी कहते हैं कि 'गुर' पाठ ही ठीक है। 'गु' का लेख-प्रमादसे 'सु' बन जाना और फिर प्रतिलिपिकी अन्धपरम्पराका हो जाना सहज है। प० प० प्र० स्वामीजी इनसे सहमत हैं। श्रीपोद्दारजी लिखते हैं कि यद्यपि 'गुरु' पाठ अधिक समीचीन प्रतीत होता है,·····किन्तु अर्थकी संगति 'सुर सेवा' पाठसे भी बैठ जाती है। श्रीरामजीके द्वारा 'पार्थिवपूजन' आदिका प्रसंग पहले भी आ चुका है—'पूजि पारथिव नायउ माथा'। बहुत सम्भव है भरतजीके पास देवताओंके विग्रह रहे हों, जिन्हें वे बराबर अपने साथ रखते हों और उनकी नियमित रूपसे प्रात:काल सेवा-पूजा करते तथा उनकी आज्ञा लेकर सब कार्य करते हों। देवताओंसे प्रकटरूपमें आदेश मिलना भी कोई असम्भव बात नहीं कही जा सकती क्योंकि मानसमें देवप्रतिमाओं तथा गंगा आदिक नदियोंकी अधिष्ठात्री देवताओंसे आशीर्वाद आदि प्राप्त होनेके अनेकों प्रसंग आये हैं।' श्री वि० त्रि० जीकी टिप्पणी देखिये।

आज्ञामें कैसे तत्पर हैं, यह भी यहाँ प्रत्यक्ष देख लीजिये। श्रीरामका संदेश था कि ***'पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेयेहु मातु सकल सम जानी॥'*** (१५२। ४) (प० प० प्र०)

चले सखा कर सों कर जोरें। सिथिल सरीरु सनेहु न थोरें॥ ५॥
पूँछत सखहि सो ठाउँ देखाऊ। नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ॥ ६॥
जहँ सिय रामु लषनु निसि सोए। कहत भरे जल लोचन कोए॥ ७॥
भरत बचन सुनि भएउ बिषादू। तुरत तहाँ लइ गएउ निषादू॥ ८॥

दो०—जहँ सिंसुपा पुनीत तरु* रघुबर किय बिश्रामु।
अति सनेह सादर भरत कीन्हेउ दंड प्रनामु॥ १९८॥

शब्दार्थ—'**कोया**' (सं० कोण)=आँखका कोना, आँखका ढेला। **सिंसुपा**=शीशम, अशोक (श० सा०)।

अर्थ—सखाके हाथ-से-हाथ मिलाये (पकड़े, जैसे एकको उँगलियाँ दूसरेकी उँगलियोंके बीचमें पड़ें) हुए चले। प्रेम कुछ थोड़ा नहीं है अर्थात् अत्यन्त स्नेह है जिससे शरीर शिथिल हो गया है॥ ५॥ श्रीभरतजी सखासे पूछते हैं कि वह स्थान दिखाओ—जिससे मेरे नेत्र और मनकी जलन कुछ ठंढी हो—जहाँ श्रीसीता-राम-लक्ष्मणजी रातको सोये थे—ऐसा कहते-कहते उनके नेत्रोंके कोनोंमें जल भर आया॥ ६-७॥ श्रीभरतजीके वचन सुनकर निषादराजको बड़ा दुःख हुआ। वह उन्हें तुरत वहाँ ले गया जहाँ पवित्र शीशम वा अशोक वृक्षके नीचे रघुवरने विश्राम किया था। श्रीभरतजीने अत्यन्त स्नेहसे आदरपूर्वक प्रणाम किया॥ ८। १९८॥

नोट—१ ***'पूँछत सखहि''''''''कोए'*** इति। अ० रा० में भी ऐसा ही है—'**यत्र रामस्त्वया दृष्टस्तत्र मां नय सुव्रत। सीतया सहितो यत्र सुप्तस्तद्दर्शयस्व मे॥''''''''इति संस्मृत्य संस्मृत्य रामं साश्रुविलोचनः॥**' (२। ८। २५-२६) अर्थात् तुमने जहाँ श्रीरामजीको देखा था मुझे वहीं ले चलो। जहाँ वे श्रीसीताजीके सहित सोये थे वह स्थान मुझे दिखाओ।'''''''' श्रीरामजीका स्मरण करनेसे उनके नेत्रोंमें जल भर आया।

टिप्पणी—१ ***'नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ'*** इति। ***'नेकु'*** का भाव कि हृदयका संताप तो तभी जायगा जब श्रीरामजीके दर्शन होंगे। हाँ, इससे कलेजा कुछ ठंढा अवश्य होगा। शान्ति श्रीरामदर्शन होनेपर हुई भी। यथा—***'गुर प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मन कलपित सूला॥'*** (२६७। २), ***'लखि सब बिधि गुर स्वामि सनेहू। मिटेउ छोभु नहि मन संदेहू॥'*** (२६८। १), पहले मनका संताप मिटा। फिर शान्ति और सुख प्राप्त हुए—***'भरतहि भएउ परम संतोषू। सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू॥' ''''''''''नाथ भएउ सुख साथ गये को॥'*** (३०७। ३, ६) ***'भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय रामु रहे तें॥'*** (३१६। ८) यहाँ ***'नेकु जुड़ाऊ'*** कहा क्योंकि पूर्व ***'बिनु देखे रघुबीर पद जिय कै जरनि न जाइ'*** ऐसा कह चुके हैं।

टिप्पणी—२ ***'नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ'*** इति। (क) पूर्व दरबारमें कहा था ***'देखें बिनु रघुबीर पद जिय कै जरनि न जाइ।'*** (१८२) अतएव स्थान देखकर नेत्र और हृदयको कुछ (नेकु) शीतल करेंगे। किस स्थानके दर्शनसे शान्ति होगी सो बताते हैं—जहाँ प्रभु रातमें साथरीपर सोये थे। यह कहते-कहते अनुरागमें भर गये, आँसू भर आये। अतएव ***'तुरत तहाँ लइ गएउ निषादू।'*** इनका दुःख उस कठोर हृदय जातिवालेसे भी न देखा गया।

टिप्पणी—३ ***'पुनीत तरु'***—श्रीरामजीके विश्रामके सम्बन्धसे 'पुनीत' विशेषण दिया गया। ***'जेहि तरुतर प्रभु बैठहिं जाई। करहिं कलपतरु तासु बड़ाई॥'*** (११३। ७) और यहाँ तो ***'रघुबर किय बिश्राम'*** फिर इसकी पुनीतताका क्या कहना? यह स्थान श्रीरामचौरा नामसे प्रसिद्ध है।

नोट—२ ☞ इस प्रसंगमें देखते चलिये कि भक्त अपने परमप्रिय प्रभुके सम्बन्धसे छोटी-छोटी वस्तुओंका भी कैसा उच्च सम्मान करते हैं; क्योंकि ये प्रभुके स्मारक हैं; उनका स्मरण कराते हैं और इनसे कुछ देरतक

* तर- गी० प्रे०।

उनके साक्षात्कारका-सा सुख होता है। यथा—*'हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहु पारस पायउ रंका॥ रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥'* (२३८। ३-४)। उपासक अपने उपास्यकी कोई वस्तु पाता है तो उसे उपास्यका ही रूप मानकर उसका वैसा ही आदर-सम्मान करता है।

वि० त्रि०—*'जहँ सिंसुपा"""प्रनाम'* इति। *'सिंसुपा'* का अर्थ शीशम किया जाता है, परन्तु कोषमें मुझे 'सिंसिपा' का अर्थ अशोक मिला है। छायेदार वृक्ष अशोक ही है, सीसम नहीं है। वहाँ वृक्षोंका क्या घाटा था जो सरकारको सीसमके पेड़ तले टिकाया। पहले कह आये हैं कि *'तरु सिंसिपा मनोहर जाना।'* सो मनोहरतामें ख्याति अशोकको है सीसमकी नहीं।

(१) परमस्नेही रामजीने इस विटपके नीचे विश्राम किया है, इसलिये उसपर भरतजीकी प्रीति हुई, और (२) सरकारके निवाससे वह महातीर्थ हो गया था, अत: उसपर पूज्य बुद्धि हुई, इसलिये भरतजीने उसको (१) अतिस्नेहसे (२) अति आदरके साथ दण्ड-प्रणाम किया।

कुस साँथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई*॥ १॥
चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥ २॥
कनकबिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे॥ ३॥
सजल बिलोचन हृदय गलानी। कहत सखा सन बचन सुबानी॥ ४॥

शब्दार्थ—'**रेख**'=रेखाएँ, लकीरें, चिह्न। **लाई**-लाना=लगाना। यथा—*'करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।'* (१९३), *'यह तौ राम लाइ उर लीन्हा।'* (१९४। ६) '**बिन्दु**'=छोटे टुकड़े, कण, कनी, बिन्दी, रवा, बून्दा, बिन्दुली—(रा० प्र०) '**दुइ चारिक**'=कोई दो चार। मुहावरा है—*'कुछ थोड़ेसे'* के लिये।

अर्थ—कुशकी सुन्दर साथरी देख उन्होंने प्रदक्षिणा करके प्रणाम किया॥ १॥ और प्रभुके चरणचिह्नोंकी रज आँखोंमें लगायी, (उस समयकी उनकी) प्रीतिकी अधिकता कहते नहीं बनती॥ २॥ कोई दो-चार कनकबिन्दु (जो श्रीसीताजीके वस्त्र या भूषणसे झड़कर गिर पड़े थे) देखे तो उनको सीताजीके समान समझा और मस्तकपर रख लिया॥ ३॥ दोनों नेत्रोंमें आँसू भरे हैं, हृदयमें ग्लानि है, वे सखासे सुन्दर वाणीमें वचन कह रहे हैं॥ ४॥

नोट—१ *'साथरी सुहाई'*—श्रीरामजीके विश्रामके सम्बन्धसे सुहाई कहा।

नोट—२ *'चरन रेख रज आँखिन्ह लाई"""।'*—नेत्रोंका संताप मिटानेके लिये आँखोंमें चरणचिह्नांकित रजको लगाया। प्रेम इतना बढ़ा कि वर्णन नहीं हो सकता, कारण, यथा—*'रज सिर धरि हिय नयनन्ह लावहिं। रघुपति मिलन सरिस सुख पावहिं॥'*

नोट—३ *'कनकबिंदु दुइ"""'* इति। (क) श्रीरामजीका चिह्न कहकर अब श्रीजानकीजीका चिह्न कहते हैं। साड़ीमें डाक, सलमा, सितारा, भोगली, गोखरू, लंदनी आदि लगे थे। वे रगड़से झड़ पड़े, या आभूषण पहुँची, बेंदी आदिमेंसे छोटे-छोटे दाने गिर गये। वाल्मीकीयमें भी '**कनकबिन्दव:**' है—'**मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिन् शयने शुभा। तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ता: कनकबिन्दव:॥**' (अ० ८८ श्लो० १४) और अध्यात्ममें कहा है कि कठोर साथरीके कारण आभूषणोंसे कुछ स्वर्णके छोटे-छोटे टुकड़े झड़ गये, यथा—'**सीताऽऽभरणसंलग्नस्वर्णबिन्दुभिरर्चितम्।**' (२। ८। २८) (ख) इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीजानकीजी

* ना० प्र० में 'लाई' है। प्राय: साधारण बोलचालमें प्रदक्षिण शब्दके साथ केवल 'करना' क्रियाका ही प्रयोग होता है परन्तु विशेषत: कवितामें और अन्यत्र भी कहीं-कहीं इसके साथ 'लगाना' 'देना' आदि क्रियाओंका भी व्यवहार होता है, यथा—'उभय घरी महँ दीन्ह मैं सात प्रदच्छिन धाइ।' वैसा ही यह 'प्रदच्छिन जाई' का प्रयोग 'प्रदक्षिणा' करके इस अर्थमें हुआ है अथवा, यों अर्थ कर लें कि पास 'जाकर प्रदक्षिणा और प्रणाम किया।' प० प० प्र० स्वामीजी भी वही अर्थ लेते हैं कि जहाँसे शिंशपा वृक्षका दर्शन हुआ वहींसे दण्डवत् की और समीप जाकर उस साथरीकी प्रदक्षिणा की और प्रणाम किया।

वस्त्राभूषण धारण किये हुए वनको गयीं। यही वाल्मीकिजीका कथन है। वसिष्ठजीने उन्हें सब पहनवा दिया था। (ग) ***'सीय सम लेखे'।*** उपासक और प्रेमियोंकी रीति यहाँ दिखायी। श्रीसीताजी स्वर्णवर्णा हैं और ये भी स्वर्णबिन्दु हैं। पुनः ये सीताजीके हैं; अतएव उन्हें श्रीसीताजीके समान माना और वैसा ही आदर किया। (पं०)

नोट—४ ***'सजल बिलोचन हृदय गलानी.......'*** इति। (क) ***'एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सियराम दुखारी॥'*** इस ग्लानि और वियोग-विरहसे करुणारस प्रबल हो आँसू आ गये। करुणामें वाणी बहुत कोमल हो जाती है। (ख) शृंगवेरपुरमें आनेसे श्रीसीता-राम-लक्ष्मण तीनोंके मिलापका-सा सुख भरतजीने पाया। यथा—***'रामघाट कहँ कीन्ह प्रनामू। भे मन मगन मिले जनु रामू॥', 'राखे सीस सीय सम लेखे।'*** और ***'मनहुँ लषन सन भेंट भइ' 'जानि लषन सम देहिं असीसा'***—(माताएँ) (पु० रा० कु०)

नोट—५ वाल्मी० रा० में भरतजी मन्त्रियों और माताओंके साथ ***'साथरी'*** के पास गये हैं। अ० रा० में गुहके साथ श्रीभरतजी वहाँ गये हैं। कनकबिन्दु देखकर उनका हृदय दुःखसे भर गया और वे विलाप करने लगे हैं। ***'हृदय गलानी'*** यह कि अत्यन्त सुकुमारी जनकदुलारी राजमहलमें कोमल बिछौनोंसे युक्त अति सुन्दर रत्नपर्यंकपर श्रीरघुनाथजीके साथ शयन किया करती थीं, वे ही मेरे दोषसे श्रीरामचन्द्रजीके साथ इस कुशाओंकी साथरीपर किस प्रकार क्लेशपूर्वक सोती होंगी? मैं समझता हूँ कि पतिकी शय्या सुखकारी होती है, अतएव सुकुमारी बेचारी सती सीताको इस स्थानपर भी दुःख मालूम नहीं पड़ा। मैं बड़ा ही क्रूर हूँ, मैं मारा गया, क्योंकि मेरे ही कारण अपनी स्त्रीके साथ ऐसी शय्यापर श्रीरामजी अनाथके समान सोते हैं। इत्यादि। अ० रा० के **'अहोऽतिसुकुमारी या सीता जनकनन्दिनी। प्रासादे रत्नपर्यङ्के कोमलास्तरणे शुभे॥ रामेण सहिता शेते सा कथं कुशविष्टरे। सीता रामेण सहिता दुःखेन मम दोषतः॥'** (२। ८। २९-३०) और (वाल्मी० २।८८) के **'मन्ये भर्तुः सुखा शय्या येन बाला तपस्विनी। सुकुमारी सती दुःखं न विजानाति मैथिली॥ हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत्सभार्यः कृते मम। ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत्॥'** (१६-१७) का उपर्युक्त भाव ***'हृदय गलानी'*** से सूचित कर दिया है। यह बात आगे दोहेमें कही है।

श्रीहत सीय बिरह दुति हीना। जथा अवध नर नारि बिलीना[1]॥ ५॥
पिता जनक देउँ पटतर केही। करतल भोगु जोगु जग जेही॥ ६॥
ससुर भानुकुल भानु भुआलू। जेहि सिहात अमरावति पालू॥ ७॥
प्राननाथु रघुनाथ गोसाँई। जो बड़ होत सो राम बड़ाई॥ ८॥

दो०—पति देवता सुतीयमनि सीय साँथरी देखि।
बिहरत हृदउ न हहरि हर पबि तें[2] कठिन बिसेषि॥ १९९॥

शब्दार्थ—**श्रीहत**=शोभारहित, प्रभाहीन, निस्तेज। **'दुति'** (द्युति)=चमक-दमक। **'गोसाँई'**=पृथ्वी, स्वर्ग, गऊ, इन्द्रिय सभीके स्वामी। **'हहरि'**=घबड़ाकर, हाहा करके, हहराकर। यथा—***'गिर्‌यो हिय हहरि हराम हो हराम हन्यो हाय हाय करत परीगो काल फग्ग मैं।'*** (क० उ० ७६), ***'हहरि हिय मैं सदय बूझ्यो जाइ साधु समाज। मोहु से कहुँ कतहुँ कोऊ तिन्ह कह्यो कोसलराज॥'*** (विनय० २१९) **'बिहरत'**=फटती, दरकती, विदीर्ण होती—(सं० विघटन, प्रा० विहडन)। यथा—***'ऐसेहु मति उर बिहरु न तोरा।'*** (६। २२। २), ***'बल बिलोकि बिहरति नहिं छाती।'*** (६। ३२। ४)

१-'बिलीना'—(ला० सीताराम)। अन्य प्रतियोंमें 'मलीना' पाठ है। 'विलीन'=नष्ट, क्षयप्राप्त। प० प० प्र० स्वामीजीका मत है कि 'मलीन' पाठ उत्तम है; कारण कि मलीन होना पूर्व भी कह चुके हैं। यथा—'तन कृस मन दुख बदन मलीने। बिकल मनहु माखी मधु छीने॥' (७६। ४) विलीन होना कहीं नहीं कहा है। 'मलीन' का अर्थ 'म्लान' भी ले सकते हैं।

२-राजापुरकी और काशिराजकी रामायण-परिचर्यामें 'पति तें' पाठ है। क्या अर्थ है समझ नहीं पड़ता।

अर्थ—श्रीसीताजीके विरहसे ये स्वर्णकण भी शोभाहीन और चमक-दमकरहित हो गये हैं जैसे श्रीरामवियोगमें अवधके स्त्री-पुरुष शोकसे कृश हो गये हैं॥ ५॥ योग और भोग दोनों इस संसारमें जिनकी हथेलीमें हैं ऐसे राजा जनक पिता हैं। उनकी समता किससे करूँ॥ ६॥ सूर्यकुलके भी सूर्य राजा दशरथ ससुर हैं जिनको अमरावतीका स्वामी इन्द्र भी सिहाता था (उनका-सा ऐश्वर्य और प्रताप पानेको ललचाता और उनके भाग्यकी सराहना स्पर्द्धासे करता था)॥ ७॥ गोस्वामी प्रभु रघुनाथजी प्राणपति हैं—जो बड़ा होता है वह श्रीरामजीकी (दी हुई) बड़ाईसे ही बड़ा होता है॥ ८॥ पतिव्रता स्त्रियोंमें शिरोमणि सीताजीकी साथरी (कुश-शय्या) देखकर मेरा हृदय हहरकर फट नहीं जाता। हे हर! यह वज्रसे भी अधिक कठोर है॥ १९९॥

टिप्पणी—१ ***'श्रीहत सीय बिरह दुति हीना।……'*** इति। (क) वस्त्रसे च्युत हुए; श्रीजानकीजीके अंगमें थे वहाँसे च्युत हुए; अतएव श्री अर्थात् ऐश्वर्यसे हीन हुए। पुनः, श्रीसीताजीसे विक्षेप पड़ा इससे विरहके कारण द्युति अर्थात् शोभासे हीन हुए। पुनः धूलमें पड़े हैं अतएव मलिन या विलीन हैं।—(ये जड़ हैं तब भी मलिन हो गये। वैसे ही मलिन हैं जैसे चेतन अवधवासी वियोग-विरहसे मलिन हैं, इनसे कम नहीं। (पं०) (ख) ***'कनकबिन्दु'*** की मलिनता जिनके विरहसे हुई अब उनको बताते हैं कि वे कैसी हैं। [(ग) कविकल्पनानुसार जड़ वस्तु भी विनती कर सकती है। ***'मनहुँ प्रेमबस बिनती करहीं। हमहि सीय पद जनि परिहरहीं॥'*** (५८। ६) यह उदाहरणमें दे सकते हैं। गीतावलीमें मुद्रिकासे श्रीसीताजीने प्रश्न किया है और उसने उत्तर दिया है। अतः यहाँ भाव यह होता है कि कनकबिन्दु मनसे म्लान और तनसे मलीन हो गये हैं। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ ***'पिता जनक देउँ पटतर केही……'*** समता नहीं देनेका कारण दूसरे चरणमें देते हैं कि इनके हाथमें योग और भोग दोनों ही हैं। एक ही होता तो चाहे उपमा दे सकते कि सनकादिकके-से योगी हैं, शुक और सनकादिक सिद्ध योगी हैं, यथा—***'सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी॥'*** (१। २६। २) या इन्द्रके सदृश भोगविलासवाले हैं, (यथा—***'मघवासे महीप बिषयसुख साने।'*** (क० ७। ४३), ***'भोगेन मघवानिव।'*** इन्द्र विषयसुख-भोगकी अवधि है)। पर सनकादिकमें भोग नहीं इन्द्रके योग नहीं। योग-भोग दोनोंका परस्पर विरोध है। जो भोगी हैं उनसे योग नहीं सध सकता और जो योगी हैं वे भोगकी ओर दृष्टि नहीं कर सकते—***'सकुचात यमी से'***। दोनों परस्पर विरोधी बातें इनमें एकत्र हैं ब्रह्माण्डभरमें दूसरा ऐसा नहीं है यथा—***'रागी औ बिरागी बड़भागी ऐसो आन को? भूमि भोग करत अनुभवत जोगसुख, मुनिमन अगम अलख गति जान को॥'*** (गी० १। ८६)

टिप्पणी—३ ***'ससुर भानुकुल भानु भुआलू—'*** इति। (क) भाव कि किसीके माता-पिता (मायका) अच्छा होता है तो ससुराल नहीं, ससुराल भी उत्तम हुई तो पति गुणवान् या सुन्दर नहीं, यह भी कदाचित् हुआ तब भी अपनेहीमें कोई-न-कोई त्रुटि रह जाती है। यहाँ दिखाते हैं कि पितुकुल, पतिकुल, पति, सब सर्वोत्कृष्ट और स्वयं भी वैसी ही हैं। (ख) ससुरालकी उत्तमता कि 'सूर्यकुलके' जिसमें रघु, इक्ष्वाकु, मान्धाता, हरिश्चन्द्र, दिलीप आदि राजा हुए, सब चक्रवर्ती हुए। उस सूर्यकुलके भी प्रकाशक महाराज दशरथजी हुए जो ससुर हैं और जिनके भाग्यको इन्द्र भी ललचाते हैं। पति कैसे हैं सो देखिये—***'प्राननाथु रघुनाथ गोसाँई। जो बड़ होत सो राम बड़ाई॥'***

टिप्पणी—४ ***'प्राननाथु रघुनाथ गोसाँई……।'*** इति। (क) ***'प्राननाथ'***=पति। प्राणोंके स्वामी, रक्षक हैं। ***'रघुनाथ'***=रघुकुलके नाथ हैं, बिना इनके अवधको अनाथ देख रहे हो। पुनः, ***'रघु'*** अर्थात् जीवमात्रके ये नाथ हैं—***'प्रान प्रानके जीवन जी के।'*** (वाल्मी० २। ८८ में भरतजी कहते हैं '**अकर्णधारा पृथिवी शून्येव प्रतिभाति मे॥**' (२२) श्रीरामजीके वन जानेसे पृथ्वी मुझे स्वामिहीन और शून्य जान पड़ती है)। और गो अर्थात् पृथ्वी इन्द्रिय आदि सभीके स्वामी हैं, चैतन्यकर्ता हैं। (ख) ***'जो बड़ होत सो राम बड़ाई'*** यथा—***'केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई।'*** (१९५। १) ब्रह्मादिकको जो बड़ाई प्राप्त है वह इन्हींके देनेसे।

यथा—*'हरिहि हरिता बिधिहि बिधिता सिवहि सिवता जेहि दई। सोइ जानकीपति।'* ·········(वि० १३५) तब भला इनकी बड़ाईका पारावार कहाँ?

टिप्पणी—५ *'पति देवता सुतीयमनि '* इति। (क) पतिहीको देवता (इष्टदेव) माननेवाली सुन्दर पतिव्रताएँ जैसे अनसूयाजी, अरुन्धतीजी, उमा, रमा, ब्रह्माणी, शची, सावित्री, शुभी, शैव्या, वृन्दा, तुलसी, रोहिणीजी इत्यादि। इनकी भी शिरोमणि सीताजी हैं। ऐसी सब प्रकारसे श्रेष्ठ सीताजी ऐसी कुशपल्लवकी शय्यापर सोयीं यह देखकर हृदयको हाहा करके विदीर्ण हो जाना चाहिये था पर वह नहीं फटता। *'हर'* शब्द यहाँ कष्टवाची है जैसे हा भगवन्! हा राम ! वैसे ही यहाँ हा हर! ऐसा अर्थ होगा 'हर' को स्मरण करते हैं कि आप संहारकर्ता हैं आप इसे विदीर्ण कर दें। (ख) वज्रसे भी अधिक कठोर है। भाव कि वज्र भी अपना अपमान नहीं सह सकता, यथा—*'जब चेरी पायँन परो तब न उठी तन पीर। जानि जौहरी पग धरेउ तब फाटेउ नग हीर॥'* अर्थात् जब दासीके पैरोंमें पड़ा तब उसे दुःख न हुआ क्योंकि वह उसे क्या जाने? पर जब जौहरीने जानकर उसका निरादर किया कि उसपर पैर रखा तो वह चूर-चूर हो गया कि जो घनकी चोट सह लेता है और मैं सम्मुख दुःखको देख रहा हूँ तब भी सहन करता हूँ। (ग) वज्र उपमानकी अपेक्षा हृदयको अधिक कठोर कहना 'व्यतिरेक अलंकार' है।

नोट—निषादराजके हृदयमें प्रेमवश ऐसा ही विषाद हुआ था। मिलान कीजिये—*'पिता जनक जग बिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ॥ रामचंदु पति सो बैदेही। सोवत महि बिधि बाम न केही॥'* (९१। ६, ७) उसने विधाताको दोष दिया और श्रीभरतजी अपनेको कारण मानकर अपनेको दोष दे रहे हैं। पूरा प्रसंग इस प्रसंगसे मिलाने योग्य है। श्रीसीताजीने भी पिता और श्वशुरके सम्बन्धमें ऐसा ही कहा है—*'पितु बैभव बिलास मैं डीठा।·········सुखनिधान अस पितु गृह मोरे।·········ससुर चक्कवइ कोसलराऊ।·········आगे होइ जेहि सुरपति लेई । अरध सिंघासन आसनु देई॥'* (९८। १—५)

लालन जोगु लषन लघु लोने। भे न भाइ ऐसे* अहहिं न होने॥ १॥
पुरजन प्रिय पितु मातु दुलारे। सिय रघुबीरहि प्रान पिआरे॥ २॥
मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। ताति बाउ तन लाग न काऊ॥ ३॥
ते बन सहहिं बिपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस एहि छाती॥ ४॥

शब्दार्थ—**दुलारे**=जिसका बहुत दुलार या लाड़-प्यार हो, लाड़ला। दुलार (सं० दुर्लालन)=प्यार करनेकी वह चेष्टा जो प्रेमके कारण लोग बच्चों या प्रेमपात्रोंके साथ करते हैं, जैसे कुछ विलक्षण सम्बोधनसे पुकारना, शरीरपर हाथ फेरना, चूमना इत्यादि। लाड़-प्यार। **मूरति**=मूर्ति, शरीर, देह।

अर्थ—सुन्दर, छोटे और दुलार करनेयोग्य लक्ष्मणजी ऐसे (सरीखे, समान) भाई न हुए, न हैं और न होनेवाले हैं॥ १॥ जो अवधपुरवासियोंके प्यारे, माता-पिताके लाड़ले और श्रीसियरघुवीरके प्राणप्यारे हैं॥ २॥ जिनका शरीर कोमल है, स्वभाव बड़ा कोमल और नाजुक है, जिनके शरीरमें गर्म हवा भी कभी नहीं लगी, अर्थात् जो कभी बाहर नहीं निकले॥ ३॥ वही लक्ष्मणजी वनमें सब प्रकारकी विपत्तियाँ (आफतें, कष्ट, दुःख) सब तरह झेल रहे हैं—इस मेरी छातीने कठिनतामें करोड़ों वज्रोंका भी तिरस्कार कर दिया। अन्यथा यह विदीर्ण हो जाती॥ ४॥

नोट—१ *'लालन जोगु·········'* इति। भरतजीका प्रेम, भाईपना देखने ही योग्य है। लक्ष्मणजी कितने बड़े हैं, विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा, धनुर्भंगपर परशुरामजीके गर्व-हरण, इत्यादि सब जानते ही हैं, अवस्था भी अपनी ही है, कुछ घंटोंकी छोटाई-बड़ाई है, पर इनके लिये वे हैं तो छोटे ही।

* 'अस' पाठ अधिक प्रतियोंमें है। राजापुरकी पोथीमें 'ऐसे' हैं। इससे मात्राएँ बढ़ जाती हैं। पढ़नेमें इसके दोनों वर्णोंका लघु उच्चारण करना पड़ेगा। इस समय श्रीभरतजीकी अत्यन्त विह्वल दशा दिखानेके लिये सम्भव है कि छन्दोभंग किया हो। सामान्यत: 'अस' ही होना चाहिये था।

उनको बच्चा ही समझते हैं। इसमें आश्चर्य क्या? प्रेम ऐसा ही पदार्थ है। प्रेममें माता-पिता बूढ़े लड़कोंको भी बच्चा ही समझते हैं, कोई उनसे कहे कि उसकी इतनी अवस्था हो गयी तो वे विश्वास भी नहीं करते यही कहते हैं, नहीं-नहीं अभी तो वह बच्चा है। वैसा ही यहाँ प्रत्यक्ष है। गोस्वामीजी स्वभाव-निरीक्षणमें कैसे कुशल थे, यह प्रसंग भी इसका प्रमाण है। [इन वचनोंमें भ्रातृवत्सलताकी परमावधि बतायी गयी है। (प० प० प्र०)]

नोट—२ (क) श्रीरामजीकी साथरी देखी, श्रीसीताजीकी देखी। पर श्रीलक्ष्मणजीकी साथरी नहीं देखी, इसीसे विशेष शोकाकुल हो ऐसे वचन कह रहे हैं। श्रीभरतजी कहते हैं कि वे तो अभी झूलामें झूलते तथा गोदमें लेकर प्यार करने इत्यादिके योग्य थे, न कि काँटे-कंकड़पर नंगे पैर चलनेके, वे तो 'लघु' अर्थात् छोटे बच्चे हैं, यही नहीं बड़े सुन्दर हैं। बाहरके योग्य नहीं; कोमल अवस्था है, नजर न लग जाय। सवारीपर ऐसे सुन्दर कुमारको जाना योग्य है पर वे सब छोड़ भाईका साथ देने वनको गये; सोचे होंगे कि ***'भोजन सयन केलि लरिकाई।……'*** इत्यादि सब कार्योंमें साथ रहे तो वनमें क्यों न साथ जायँ, सुख-दुःख सबमें साथी बने, भोजन-शयन सब भुलाकर सेवा करते हैं—ऐसा भाई न सुननेमें आया, न वर्तमान कालमें है, न आगे हो सकता है। अतः मुझे प्यारे हैं। (ख) छोटे और सुन्दर होनेसे ***'लालन'*** योग्य हैं, अवगुण और अनीति छू नहीं गयी इससे पुरजनको प्रिय हैं; माता-पिताके 'दुलरुवा' हैं और श्रीसीतारामजीको तो वे प्राणोंके समान प्यारे हैं अर्थात् ऐसा कोई नहीं जिसको वे प्रिय न हों। यहाँ उत्तरोत्तर एकसे दूसरेका अधिक प्रियत्व दिखाया—***'प्रिय दुलारे प्रानते प्यारे।'*** इससे यह भी जनाया कि संसारमें सर्वप्रिय कोई नहीं होता पर इनमें वे सब गुण हैं जिससे ये सभीके प्रिय हैं। (ग) ***'रघुबीरहि'*** पद देकर जनाया कि इनपर मजाल नहीं कि कोई इनका कुछ बिगाड़ सके क्योंकि रघुवीरको ये प्यारे हैं। पुनः भाव कि ये रघुवीरके भी प्राणोंके रक्षक हैं, उनपर कोई आघात करे तब इनको देखिये। (घ) ***'मृदु मूरति'*** अर्थात् कष्ट सहने योग्य नहीं, जरामें कुम्हला जायँ। ***'सुकुमार'*** अर्थात् नाजुक, किसीका दुःख न देख सकें न स्वयं ही कोई कष्ट सह सकें। यह स्वभाव है कुछ देखकर अभ्याससे ऐसा नहीं बने हैं। जन्मसे ऐसे हैं। गर्म हवा कभी न लगी अर्थात् सदा घरमें रहे जहाँ सदा गुलाब, खस आदिसे सम्बन्धित शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन जाता था।

नोट—३ (क) ***'ते बन सहहिं बिपति सब भाँती'*** इति। वाल्मी० रा० में निषादराजने श्रीलक्ष्मणजीके रातभर जागने और पहरा देनेका वृत्तान्त श्रीभरतजीसे कहा है। पर मानसमें श्रीभरतजी साथरी न देखकर स्वयं ही सब समझ गये, उन्हें पूछना नहीं पड़ा। (ख) ***'निदरे कोटि कुलिस'*** इति। श्रीसीताजीकी साथरी देख हृदयको ***'पबि तें कठिन'*** कहा। इनकी साथरी न देख ग्लानि अधिक हुई कि हा! ये सोये भी नहीं, पहरा ही देते रहे……। अतएव ***'कोटि कुलिस'*** का निरादर करना कहा। अवधके दरबारमें श्रीभरतजीने ***'बिनु रघुबीर बिलोकि अबासू। रहे प्रान सहि जग उपहासू॥'*** (१७९। ६) यह कहकर तब उसके सम्बन्धसे कहा था कि—***'कहँ लगि कहौं हृदय कठिनाई। निदरि कुलिस जेहि लही बड़ाई॥'*** (१७९। ८) और यहाँ सीय-साथरी देखनेपर भी प्राण रहे, हृदय विदीर्ण न हो गया अतः यहाँ भी ***'पबि तें कठिन बिसेषि'*** कहा। कुलिशका निरादर करना ही उससे विशेष कठिन होना है। और यहाँ लक्ष्मणजीका वनमें ***'बिपति सब भाँती'*** सहना जानकर कहते हैं ***'निदरे कोटि कुलिस एहि छाती।'*** भाव कि ऐसे कोमल बच्चेको ऐसा कष्ट मेरे कारण सहना पड़ा यह समझकर तो अवश्य ही प्राण निकल जाने थे फिर भी प्राण नहीं निकलते। यहाँ 'पंचम प्रतीप अलंकार' है। 'यह छाती'—'अंगुल्यानिर्देशात्मक' वचन है, छातीपर हाथ धरकर शोकसे कहा।

राम जनमि जगु कीन्ह उजागर। रूप सील सुख सब गुन सागर॥ ५॥
पुरजन परिजन गुर पितु माता। राम सुभाउ सबहि सुखदाता॥ ६॥

बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥ ७॥
सादर* कोटि कोटि सत सेषा। करि न सकहिं प्रभु गुनगन लेखा॥ ८॥
दो०—सुखस्वरूप रघुबंसमनि मंगल मोद निधान।
ते सोवत कुस डासि महि बिधि गति अति बलवान॥ २००॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने संसारमें जन्म लेकर संसारमें प्रकाश (उजाला) कर दिया। वे रूप, शील, सुख और समस्त गुणोंके समुद्र हैं॥ ५॥ पुरवासी, कुटुम्बी, गुरु, पिता और माता सभीको श्रीरामजीका स्वभाव सुख देनेवाला है॥ ६॥ शत्रु भी श्रीरामजीकी बड़ाई करते हैं। उनकी बोल-चाल, मिलनसारी और विशेष नम्रता मनको हर लेती है॥ ७॥ करोड़ों अरबों (अर्थात् असंख्य, अगणित) शेष भी आदरपूर्वक प्रभुके गुणसमूहोंका लेखा (गिनती) किया चाहें तो नहीं कर सकते (तो भला मैं क्या कह सकता हूँ)॥ ८॥ जो सुखके स्वरूप मंगल और आनन्दके खजाना रघुकुलशिरोमणि हैं वे ही कुशा बिछाकर पृथ्वीपर सोते हैं; विधाताकी गति (चाल) अत्यन्त बलवान् है॥ २००॥

नोट—१ *'रूप सील सुख सब गुन सागर'* क्रमसे इनके प्रमाण ये हैं—*'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे·······'* (मनुजी); *'सीलसिंधु सुनि गुरु आगमनू'*—(चित्रकूटमें); *'सुखसागर रघुबर सुख पावा'*—(पंपासरपर); *'गुनसागर नागर बर बीरा'*। (१। २४१। २)

नोट—२ वाल्मीकीय अध्याय २ श्लोक २६ से अन्ततक श्रीरामजीके गुणोंका वर्णन राजाओंने किया है उसे देखिये। पूर्व कुछ लिखा भी गया है। रूपसमुद्र तो है ही कि विश्वामित्र और जनक ऐसे महर्षि एकटक देखते ही रह गये, जनकपुरमें *'मोहे सकल नगर नरनारी',* खरदूषण, शूर्पणखा निशाचर जिनपर मोहित हो गये औरोंका क्या कहना? शील ऐसा कि किसीने सैकड़ों ही अपकार क्यों न किये उनपर ध्यान ही न दिया—कहते कि *'बैरभाव सुमिरत मोहि निसिचर।'* कठोरभाषीसे भी प्रेमपूर्वक कोमल भाषण करते। सुखसागर हैं अतएव सबको सुख देते हैं—सत्य और वह भी प्रियवादी, कृतज्ञ, इन्द्रियजित्, सबके दुःखमें दुःखी, सुखसे सुखी—इस तरह सबको सुखद। गुणसागर अर्थात् क्षमाशील, बुद्धिमान्, पराक्रमी, सत्यप्रतिज्ञ, शरणागतवत्सल, करुणामय, कृपालु इत्यादि गुणोंसे युक्त होनेसे सर्वप्रिय हैं, लोग सबेरे-शाम इनके कल्याणके लिये देवताओंको मनाते हैं। गुणसागर हैं अतएव गुणियोंके गुणोंका आदर करते हैं। सबको सुखद इस तरह कि ब्राह्मणों, वृद्धोंकी सेवा करते हैं, उनके उपदेशको सुनते हैं। बाहरसे आनेपर जो कोई मिलता उससे उसका कुशल-समाचार पूछते जैसे पिता पुत्रसे। (वा० अ० २)

पुरजन=प्रजा; अवधवासी। प्रजाके लिये स्वयं कहा है—*'अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।'* कैसे प्रिय कि *'सियनिंदक अघओघ नसाये। लोक बिसोक बनाइ बसाये॥'* जिनपर ऐसी ममता है वे क्यों न सुख मानेंगे।

पं०—श्रीरामचन्द्रजीने प्रकट होकर सारे जगत्को अपने रूप, शील, सुख और गुणोंसे प्रकाशित कर दिया। इन सबके वे आदर्श हुए। और जितने हुए उन्होंने वेदोंद्वारा बड़ाई पायी और इनसे वेदादिने ही बड़ाई पायी।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—प्रजा, कुटुम्बी, गुरु, माता, पिता कोई भी सम्बन्ध श्रीरामजीसे कर लो; वे सुख देंगे। अथवा, उनका यह स्वभाव ही जान लो, स्मरण किया करो तो भी सुख मिले, यथा—*'उमा राम सुभाउ जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥'* (५। ३४। ३)

टिप्पणी—२ (क) *'बैरिउ राम बड़ाई करहीं।·······'* इति। जैसे मारीचने रावणसे कहा—*'जौं नर तात*

* ना० प्र० की प्रतिमें 'सारद' है। राजापुरका पाठ 'सादर' है। अर्थ तो लग जाता है पर 'सारद' पाठ विशेष उत्तम जान पड़ता है। 'सारद' पाठमें एक 'कोटि' शारदाका विशेषण हो जायगा अथवा 'कोटि सत' दीपदेहलीन्यायसे 'सारद' और 'शेष' दोनोंके साथ जायगा।

तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा॥' (३। २५। ८) बालिने समदर्शी कहा, खर-दूषणने कहा कि ***'बध लायक नहिं पुरुष अनूपा।'*** शूर्पणखा नाक-कान कटनेपर भी उनकी बड़ाई करती है,—***'अवधनृपति दसरथ के जाये। पुरुषसिंघ बन खेलन आये॥' '……परम धीर धन्वी गुन नाना।' '……सोभा धाम राम अस नामा।'*** (३। २२) रावणकी स्त्री भी कहती है—***'अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहिं आन।'*** (६। १०३); शुकसारन भी ***'प्रभु गुन हृदय सराहहिं सरनागत पर नेह।'*** (५। ५१) इत्यादि।

(ख) ***'बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं।……'*** इति। भाव कि कदाचित् उनसे बोलने, मिलने और विनय करनेका अवसर आवे तो उनका बोलना, मिलना और विनम्रता मनहीको हर लेती है। यथा—***'बारबार कर दंड प्रनामा। मन अस रहन कहहिं मोहि रामा॥ रामबिलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी॥'*** (उ० १९) ***'भाई सों कहत बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोरसे बोलत थोर थोर हैं।'*** (गी० १। ७१) इस तरहका उनका बोलना है। इससे श्रोताको सुख मिलता है। यथा— ***'सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ कल आपुसमें कछु पै कहिहैं।'*** (क० २। २३) (ये मगवासिनियोंके वाक्य हैं)। पुनः, क्रमसे इनके उदाहरण और भी सुनिये—विभीषणसे बोलनि, यथा—***'कहु लंकेस सहित परिवारा।……'***। (५। ४६) शबरी, गीधराज और हनुमान्‌जीसे मिले तो एकको माता, दूसरेको पिता मानकर मिले। तीसरेसे ***'तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥ सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना॥'*** (४।३) इस तरह मिले। अत्रिसे विनय, यथा—***'संतत मोपर कृपा करेहू। सेवक जानि तजेउ जनि नेहू॥'*** पुनः, विनयसे परशुरामका मन हरण किया—***'बिनय सील करुना गुन सागर। जयति बचन रचना अति नागर॥'*** (१। २८५। ३) इनको कोई (रामायण आदिकी कथासे भी) स्मरण करे तो उसका मन मुग्ध हो जाय।

टिप्पणी—३ ***'सादर कोटि कोटि सत सेषा।……'*** इति। भाव कि इतने ही गुण नहीं हैं, अनन्त गुण हैं; अतः ये भी पार नहीं पा सकते। यथा—***'राम अमित गुन सागर थाह कि पावइ कोइ।'*** (७। ९२ भुशुण्डिवाक्य), ***'राम अनंत अनंत गुनानी।……रघुपति चरित न बरनि सिराहीं।'*** (७। ५२। ३-४ शंकरवाक्य), ***'होहिं सहस दस सारद सेषा। करहिं कल्प कोटिक भरि लेखा॥ मोर भाग्य राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥'*** (१। ३४२ श्रीजनकवाक्य), ***'सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरन्तर गान॥'*** (१। १२)

टिप्पणी—४ ***'सुखस्वरूप रघुबंसमनि मंगल……'*** इति। (क) सुखके स्वरूप हैं, जो सुखका स्वरूप देखना चाहे वह इनको देख ले। ऊपरसे देखनेमें ऐसे हैं, भीतर सुख न हो सो नहीं, भीतर मंगलमोदके समुद्र हैं। भीतर-बाहर एक-से हैं। पुनः, भाव कि इनका बोलना आदि मनको हरनेवाले हैं और जो कहीं ये ही मिल जायँ तो सुखस्वरूप हैं तभी तो शिवजी ध्यानमें इन्हें पाकर सतासी हजार वर्ष पलक लगाये बैठे ही रह गये ऐसा सुख उनको हुआ। और समाजसहित श्रीजनकजीकी भी इनको पाकर क्या दशा हुई?—***'सुखके निधान पाये हियके पिधान लाये, ठगकेसे लाडू खाये प्रेम मधु छाके हैं। स्वारथ रहित परमारथी कहावत हैं, भे सनेह बिबस बिदेहता बिबाके हैं। एक रस रूप चित्त सकल सभाके हैं।'*** (गी० १। ६२) (ख) ***'ते सोवत……बिधि गति अति बलवान'*** इति। प्रेम और विरहकी विह्वलतामें ऐश्वर्य भूलकर ***'बिधि गति……'*** कह गये।—यही भक्तिपक्ष है। देखो, जिसके रोम-रोममें कोटि ब्रह्माण्ड देखे उन्हींको माता सोचती हैं कि भूखे न हों,……।

नोट—३ वाल्मीकीय अध्याय ८८ से मिलान कीजिये **'महाराजकुलीनेन महाभागेन धीमता। जातो दशरथेनोर्व्यां न रामः स्वप्तुमर्हति॥ ३॥ अजिनोत्तरसंस्तीर्णे वरास्तरणसञ्चये। शयित्वा पुरुषव्याघ्रः कथं शेते महीतले॥ ४॥…… न नूनं दैवतं किञ्चित्कालेन बलवत्तरम्। यत्र दाशरथी रामो भूमावेवमशेत सः॥ ११॥ यस्मिन् विदेहराजस्य सुता च प्रियदर्शना। दयिता शयिता भूमौ स्नुषा दशरथस्य च॥ १२॥'** श्रीभरतजी कहते हैं कि महाभाग, बुद्धिमान्, महाराजकुलमें उत्पन्न, दशरथजीके पुत्र पृथ्वीपर सोने योग्य नहीं। सुन्दर मखमली

नर्म बिछौनोंपर सोनेवाले जमीनपर कैसे सो सकते हैं? कालसे बढ़कर कोई बलवान् नहीं, जिसके कारण दशरथपुत्र रामजी और विदेहतनया रामभार्या दशरथवधू प्रियदर्शना सीताजी जमीनपर सोये।

राम सुना दुख कान न काऊ। जीवनतरु जिमि जोगवइ राऊ॥ १॥
पलक नयन फनि मनि जेहि भाँती। जोगवहिं जननि सकल दिनराती॥ २॥
ते अब फिरत बिपिन पदचारी। कंद मूल फल फूल अहारी॥ ३॥
धिग कैकई अमंगल मूला। भइसि प्रानप्रियतम प्रतिकूला॥ ४॥
मै धिग धिग अघ उदधि अभागी। सबु उतपातु भएउ जेहि लागी॥ ५॥
कुलकलंकु करि सृजेउ बिधाताँ। साँइदोह मोहि कीन्ह कुमाताँ॥ ६॥

शब्दार्थ—**जीवनतरु**=प्राण-वृक्ष। ५९ (६) ***'जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ'*** से मिलान कीजिये। **पदचारी**=पैदल चलनेवाला। **सृजेउ**=उत्पन्न या पैदा किया, बनाया, रचा। **साँइ**=स्वामी। **दोह**=द्रोही।

अर्थ—श्रीरामजी कानोंसे भी कभी दु:खका नाम सुनातक न था (देखना और सहना तो दूर ही रहा, सो आज दु:ख झेल रहे हैं)। राजा उनकी सारसँभार जीवन-वृक्षकी तरह करते रहते थे॥ १॥ जिस प्रकार पलक नेत्रकी और सर्प मणिकी रक्षा करते हैं वैसे ही सब माताएँ रात-दिन उनकी रक्षा करती थीं॥ २॥ वे ही श्रीराम अब जंगलोंमें पैदल फिर रहे हैं और कंद-मूल-फल भोजन करते हैं॥ ३॥ अमंगलकी जड़ कैकेयीको धिक्कार है कि प्राणोंसे भी प्यारे (स्वामी) के प्रतिकूल हो गयी॥ ४॥ मुझ पाप-समुद्र और अभागेको धिक्कार है, धिक्कार है कि जिसके कारण यह सब उपद्रव हुआ॥ ५॥ विधाताने मुझे कुलके लिये कलंकरूप बनाकर पैदा किया और कुमाताने मुझे स्वामिद्रोही बनाया॥ ६॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० (क) ***'राम सुना दुख कान न काऊ।'***, यथा—***'प्रथम दीख दुख सुना न काऊ।'*** (४०। ३) (ख) ***'जीवनतरु जिमि.......'*** इति। भारतमें कथा है कि जीवन-वृक्ष एक वृक्ष होता है जिसको उखाड़ डालनेसे मृत्यु होती है। इसीसे यहाँ जीवनतरुकी उपमा श्रीरामजीसे दी। इनके हटते ही मृत्यु हुई।—५८ (६) देखिये। [जीवनतरु संजीवनी है। प्राणका रक्षक है, मरेको भी जिला दे। अतएव जिसके पास वह हो वह उसकी बड़े प्रेमसे रक्षा और लालन-पालन करता है। वैसे ही राजा इनको अपने प्राणोंके रक्षक जानकर इनका अत्यन्त प्रेमसे लालन, पालन, रक्षा करते थे। (पं०) और सत्य ही जीवनतरु श्रीरघुनाथजीहीने उनके सत्यकी रक्षा करके उनको अमर कर दिया, अचल कीर्ति दी।]

टिप्पणी—२ ***'पलक नयन फनि मनि जेहि भाँती।........'*** इति। (क) [पलकें नेत्रपर धूल, तिनका आदितक नहीं पड़ने देतीं, अपने ही ऊपर ले लेती हैं। (पं०) माताएँ बराबर इनकी बलैयाँ लेती हैं, कुर्बान जाती हैं, इनके कल्याणके लिये मन्नत मानती रहती हैं। ***'सकल'*** अर्थात् कौसल्या ही नहीं, किंतु सातो सौ रानियाँ अपना ही पुत्र मानती हैं। पलक नयन सम रक्षा करना कहकर यह भी जनाया कि जो नयनमें थे (नयन थे) वे वनको गये, वहाँ नंगे पैरोंमें काँटे गड़ते हैं, इत्यादि। वह उनका क्लेश माताओंके नेत्रोंमें चुभ रहा है, करक रहा है। पलकें दिनमें नेत्रोंके खुले रहने और रातमें सोनेपर भी रक्षा करती हैं; वैसे ही माताएँ दिन-रात रक्षा करती थीं। श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि दो उपमाएँ देकर दिन और रातका रक्षा करना स्पष्ट किया गया है। नेत्रका व्यवहार प्रकाश दिनमें ही होता है अत: प्रथम उपमासे दिनका और मणिको सर्प रातमें ही प्रकटकर उससे कार्य साधता है। अत: दूसरी उपमासे रातका 'जोगवना' सिद्ध किया।] रानियोंके सम्बन्धमें रामको सर्पका मणि कहा—***'मनि गए फनि जियै ब्याकुल बिहालरे'।*** वैसे ही रामवियोगमें इनकी दशा हो रही है। विशेष ***'निज मन फनि मूरति मनि करहू।'*** (१। ३३५। ७), ***'फनिकन्ह जनु सिर मनि उर गोई।'*** (१। ३५८। ४), ***'राखहु पलक नयन की नाईं।'*** (५७। १), ***'नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई।'*** (५९। २) और ***'पलक बिलोचन गोलक जैसे।'*** (१४२। १) देखिये।

नोट—१ ***'मैं धिग धिग अघ उदधि अभागी'*** इति। कैकेयीने जो कुछ किया वह हमारे लिये किया, अतएव सब अनर्थके कारण हम ही हैं, यह समझकर अपनेको बारम्बार धिक्कार देते हैं। यह सूचित करनेके लिये ही अपने लिये दो बार यह शब्द प्रयुक्त किया और कैकेयीके लिये एक बार। क्योंकि वे सोचते हैं कि न मैं होता न ये अनर्थ होते।

यहाँ तीनको दोष देते हैं, ब्रह्माको, कैकेयीको और अपनेको; और उत्तरोत्तर एकसे दूसरेका दोष अधिक दिखाते हैं। ब्रह्माने कुलका कलंक बनाया, माताने स्वामिद्रोही बनाया और मैं पापोंका समुद्र हूँ, हतभाग्य हूँ। सब अनर्थ मेरे लिये हुए। माताको प्रथम कहा क्योंकि वह प्रथम इसकी कारण बनी। पंजाबीजी लिखते हैं कि यदि कोई कहे कि यह सब दैवाधीन हुआ इसमें कैकेयीका दोष क्या? उसपर कहते हैं कि कारण दो प्रकारका होता है—सामान्य और विशेष। दैव सामान्य कारण है और यह विशेष।

नोट—२ ***'मैं धिग धिग……'*** इति। मिलान कीजिये—'**धिङ् मां जातोऽस्मि कैकेय्यां पापराशिसमानतः। मन्निमित्तमिदं क्लेशं रामस्य परमात्मनः॥**' (अ० रा० २। ८। ३१) अर्थात् मुझे धिक्कार है जो मैं मूर्तिमान् पापपुंजके समान कैकेयीके गर्भसे उत्पन्न हुआ हूँ। मेरे लिये ही परमात्मा रामको यह क्लेश उठाना पड़ा। (वाल्मीकीय अ० ८८ श्लो० १७) से भी मिलान करें। वहाँ कहा है—हा! मैं मारा गया, मैं बड़ा ही क्रूर हूँ, मेरे ही कारण भार्यासहित रघुनाथजी अनाथकी तरह इस शय्यापर सोये। यथा—'**हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत्सभार्यः कृते मम। ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत्॥**'

नोट—३ प्रथम श्रीसीताजीके कनकबिन्दु और साथरी देख शोक प्रकट किया। छः अर्धाली और एक दोहेमें—***'कनकबिंदु दुइ चारिक देखे'*** से ***'पबितें कठिन बिसेषि॥'*** (१९९ तक)। फिर ***'लालन जोग लषन सुठि लोने'*** से ***'निदरे कोटि कुलिस एहि छाती'*** तक चार अर्धालियोंमें लक्ष्मणजीके कारण शोक किया अन्तमें ***'राम जनमि जगु……'*** से ***'कंद मूल फल फूल अहारी'*** तक सात अर्धालियों और एक दोहेमें श्रीरामजीके सम्बन्धसे शोक प्रकट किया। सबके कष्टका कारण अपनेको जानकर अपनेको धिक्-धिक् करने लगे।

अलंकार—***'राम सुना दुख……जोगवहिं जननि'*** में उदाहरण अलंकार है।

सुनि सप्रेम समुझाव निषादू। नाथ करिअ कत बादि बिषादू॥ ७॥
राम तुम्हहिं प्रिय तुम्ह प्रिय रामहिं। एह निरजोसु दोसु बिधि बामहिं॥ ८॥

छं०—बिधि बाम की करनी कठिन जेंहि मातु कीन्ही बावरी।
तेहि राति पुनि पुनि करहिं प्रभु सादर सरहना रावरी॥
तुलसी न तुम्ह सों राम प्रीतमु कहतु हों सोहैं किए।
परिनाम मंगल जानि अपने आनिए धीरजु हिए॥

सो०—अंतरजामी रामु सकुच सप्रेम कृपायतन।
चलिअ करिअ बिश्रामु एह बिचार* दृढ़ आनि मन॥ २०१॥

शब्दार्थ—'**निरजोसु**' (निर्यास)=निचोड़, निर्नय, दृढ़ निश्चय, सिद्धान्त; यथा—***'संभु सिखवन रसनहू नित रामनामहि घोषु। दंभहू कलि नाम कुंभज सोचसागर सोषु॥ मोदमंगलमूल अति अनुकूल निज निरजोषु। रामनाम प्रभाव सुनि तुलसिहुँ परम संतोषु॥'*** (विनय० १५९) '**सोहैं**'=सौगन्ध, कसम। '**सकुच सप्रेम**'-संकोचयुक्त और प्रेमयुक्त वा, प्रेमसहित (करुणाके स्थान)।

अर्थ—यह सुनकर निषादराज प्रेमपूर्वक समझा रहे हैं कि हे नाथ! आप क्यों व्यर्थ विषाद (दुःख, शोक) कर रहे हैं॥ ७॥ श्रीरामजी आपको प्यारे हैं और आप श्रीरामचन्द्रजीको प्रिय हैं यह दृढ़ निश्चय है और निश्चय ही दोष तो कुटिल विधाता (एवं विधिकी वामा सरस्वती) का ही है॥ ८॥ वाम विधाता (एवं विधिकी स्त्री सरस्वती) की करनी कठिन है कि जिसने माता कैकेयीको बावली बना दिया।

* 'बिचारि'—(ला० सीताराम)। अर्थ—यह विचारकर, दृढ़पूर्वक मनमें लाकर।

उस रात प्रभु बारंबार आदरपूर्वक आपकी बड़ाई करते रहे। तुलसीदासजी कहते हैं कि वह कहता है कि आप सरीखा कोई रामजीका अतिशय प्रिय नहीं है, मैं शपथ करके यह कहता हूँ। अन्तमें मंगल होगा यह जानकर अपने हृदयमें धीरज धारण कीजिये। श्रीरामचन्द्रजी अन्तर्यामी, प्रेमसहित संकोच और कृपाके धाम हैं, यह विचार अपने मनमें पक्का निश्चय करके चलिये और आराम कीजिये॥ २०१॥

नोट—१ *'समुझाव निषादू'* इति। *'निषाद'* पद दिया कि बड़े तर्ककी बात है कि एक हिंसक अधर्मी जातिवाला वह समझावे और किसे? भक्तशिरोमणि राजकुमार भरतजीको। इससे उनके विषादकी सीमा दर्शित की।

नोट—२ बहुत-से लोगोंने अर्थ न समझनेके कारण 'निरजोस' का 'निर्दोष' पाठ कर दिया है।

पु० रा० कु०—*'करनी कठिन जेहि मातु कीन्हीं बावरी।'* भाव कि तुम्हीं सोचो कि ऐसा न होता तो क्या कैकेयीके समान कोई और माता थी कि जो श्रीरामको और जिसे श्रीरामजी अत्यन्त प्रिय रहे हों—*'जौं विधि जनम देह करि छोहू। होहु रामसिय पूत पतोहू॥ प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें……॥'* (१५। ७-८) *'मोपर करहिं सनेह बिसेषी। मैं करि प्रीति परीछा देखी॥'* (१५। ६)। श्रीरामजीने भी वाल्मी० (२। २२) में लक्ष्मणजीको समझाते हुए ऐसा ही कहा है कि कैकेयीका व्यवहार भरत और मेरे विषयमें समान रहा है—'**तस्या मयि सुतेऽपि वा॥**' (१७)। यदि कालके द्वारा उसकी बुद्धि बिगाड़ न दी गयी होती तो वह ऐसा कदापि न करती—'**यदि तस्या न भावोऽयं कृतान्तविहितो भवेत्॥**' (१६) प्रयत्नोंके द्वारा प्रारम्भ किये हुए कामको रोककर अनचाहा काम जो अनायास ही हो जाता है वह देवका काम है।—'**असंकल्पितमेवेह यदकस्मात्प्रवर्तते। निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत्॥**' (२४) उसको दोष नहीं देना चाहिये जैसे परीक्षित्‌को किसीने दोष न लगाया।

नोट—३ *'बिधि बामहिं'*—*'बिधिबाम'* ये शब्द और भी बहुत ठौर इसी प्रसंगमें और अन्यत्र भी आये हैं। जहाँ बाम विधाता वा विधाताकी प्रतिकूलताका अर्थ स्पष्ट है। पर यहाँ ये शब्द श्लिष्ट हैं। यहाँ वह भाव तो है ही पर दूसरा गुप्त और गम्भीर एवं प्रसंगानुकूल अर्थ 'विधिकी वामा' (=सरस्वती) भी निकलता है। इस अर्थसे भरद्वाज मुनिका कथन भी संगत है, यथा—*'तात कैकइहि दोषु नहि गई गिरा मति धूति।'* दोनों अर्थ सुसंगत हैं। भरद्वाजजीने भी दोनोंहीको दोष दिया है—विधि और सरस्वतीको, यथा—*'बिधि करतब पर कछु न बसाई'* और *'गई गिरा मति धूति।'* (पां०) इसपर वीरकविजी कहते हैं कि 'यह निश्चय है कि दोष ब्रह्माकी स्त्रीका है' 'समासोक्ति अलंकार' है।

श्रीपं० रामकुमारजी लिखते हैं कि सरस्वतीका अर्थ करना ठीक नहीं है; क्योंकि निषाद ऐसा ज्ञाता नहीं है कि शारदाका मति फेरना आदि वह जान सके। ऐसा कथन तो भरद्वाजके ही मुखसे शोभा देता और पाता है क्योंकि वे त्रिकालज्ञ हैं।

नोट—*'तेहि राति'*=जिस रात्रिमें यहाँ विश्राम किया था। *'सादर सरहना'* का भाव कि किसीके डर, लिहाज, खुशामदसे जो प्रशंसा की जाती है वह 'सादर' नहीं होती और न वह पीठ-पीछे की जाती है और तुम्हारे प्रेमकी प्रशंसा वे तुम्हारे पीछे सादर करते रहे, रात इसीमें बीत गयी। (पं०) *'सोहैं'* बहुवचन है। इससे जनाया कि भरतजीका शोक दूर करनेके लिये और उनके विश्वासके लिये बहुत शपथें कीं। (रा० प्र०, पु० रा० कु०)

नोट—५ *'तुलसी न तुम्हसो राम प्रीतम……।'*—एक गुप्त भाव इस *'तुलसी'* पदसे पंजाबीजीने और निकाला है। तुलसी भगवान्‌को बहुत प्रिय है, यथा—*'रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी॥'* (१। ३०) निषादराज कहते हैं कि तुलसीजी भी तुम्हारे समान उनको प्रिय नहीं। यहाँ कविने अपना नाम कैसे उत्तम स्थलपर रखा है।

नोट—६ *'परिनाम मंगल जानि'* इति। जिस कार्यका अन्तिम फल अच्छा हो जिसके अन्तमें मंगल हो वह कार्य, यदि आदिमें शोक और दुःखका भी कारण हो तो भी, उत्तम ही समझना चाहिये। तुम मिलोगे, तुम्हारा शोक दूर हो जायगा; निशाचर वध, रावणवधसे राज्य निष्कण्टक हो जायगा, त्रिलोकीको सुख होगा, इत्यादि।

नोट—७ धैर्य धारण करनेको कहा, अब कहते हैं कि शोक न कीजिये, निश्चिन्त होकर आराम कीजिये; क्योंकि *'अंतरजामी रामु सकुच सप्रेम कृपायतन'* हैं। वे सबके हृदयकी जानते हैं, अतएव तुम्हारे हृदयकी शुद्धताको वे जानते हैं। वे बड़े संकोची हैं, वे किसीके दोषपर कदापि ध्यान नहीं देते और तुममें तो दोष है ही नहीं, जिनमें दोष भरे हैं वे एक बार प्रणाम भी कर देते हैं तो आप उनके कृतज्ञ हो जाते हैं। प्रेमायतन हैं, वे प्रीतिरीति जानते हैं, नीचपर भी उसका प्रेम देखकर प्रेम करते हैं और आप तो प्यारे भाई ही हैं। कृपालु हैं; कोई उनका अपराध भी करे और उनके पास जाय तो भी कृपा करते हैं। अतएव सब तरहसे आपको चिन्ता छोड़ देनी उचित है।

सखा बचन सुनि उर धरि धीरा। बास चले सुमिरत रघुबीरा॥ १॥
एह सुधि पाइ नगर नर नारी। चले बिलोकन आरत भारी॥ २॥
परदखिना करि करहि प्रनामा। देहिं कैकइहिं खोरि निकामा॥ ३॥
भरि भरि बारि बिलोचन लेहीं। बाम बिधातहिं दूषन देहीं॥ ४॥
एक सराहहिं भरत सनेहू। कोउ कह नृपति निबाहेउ नेहू॥ ५॥
निंदहिं आपु सराहि निषादहि। को कहि सकइ बिमोह बिषादहि॥ ६॥

शब्दार्थ—**आरत**=उत्सुक एवं दुःखी होकर। आतुर। **परदखिना**=प्रदक्षिणा, परिक्रमा, पैकर्मा चारों ओर दक्षिणावृत्त फेरी लगाना। **निकामा**=बहुत, अत्यन्त, अतिशय, यथा—'**निकाम श्याम सुंदरं भवाम्बुनाथमंदरं**= निकम्मी, बुरी।' **बाम**=अहितमें तत्पर, टेढ़ा, कुटिल, प्रतिकूल। **बिमोह**=विशेष मोह। मोह=प्रेम, बेसुधी, बेहोशी।—साहित्यमें ३३ संचारी भावोंमेंसे मोह भी एक भाव है—भय, दुःख, घबराहट, चिन्ता आदिसे उत्पन्न चित्तकी विकलता मोह है।

अर्थ—सखाके वचन सुनकर हृदयमें धीरज धरकर रघुवीर श्रीरामजीका स्मरण करते हुए श्रीभरतजी डेरेको चले॥ १॥ नगरके स्त्री-पुरुष यह खबर पाकर बड़ी व्याकुलताके साथ देखने चले॥ २॥ परिक्रमा करके प्रणाम करते हैं और कैकेयीको बहुत दोष* देते हैं॥ ३॥ दोनों नेत्रोंमें आँसू भर-भर लेते हैं। वे वाम विधाताको दूषण देते हैं॥ ४॥ कोई-कोई भरतजीके प्रेमकी प्रशंसा करते हैं। कोई कहते हैं राजाने अपना प्रेम (खूब) निबाहा॥ ५॥ निषादकी सराहना कर-करके सब अपनी निन्दा करते हैं, उस विमोह और विषादको कौन कह सकता है? (बहुत है, वर्णन नहीं हो सकता)॥ ६॥

नोट—१ *'सखा बचन सुनि उर धरि धीरा।' 'सखा'* पद विश्वासास्पद है, यथा—*'सुत की प्रीति प्रतीति मीत की……।'* (वि० २६८) उसका विश्वास करके वहाँसे लौटे, अतः *'सखा'* कहा। यह रामसखा है जो इसने कहा वह अवश्य सत्य होगा। (पु० रा० कु०, पं०)

नोट—२ *'यह सुधि पाइ……'* —अर्थात् यह समाचार पाकर कि भरतजी रामशय्या देखने गये हैं, शिंशपावृक्षके नीचे श्रीरामजी विश्राम किया था। अतएव भारी दुःखी हुए। उसकी प्रदक्षिणा करके उसको प्रणाम करते हैं। (रा० प्र०, दीन) *'नगर'* से अयोध्या जानिये। प्रसंगानुकूल यही है। बैजनाथजीने

---

* ठीक अर्थ यही है। ऐसा भी लोग अर्थ करते हैं कि 'निकम्मे लोग कैकेयीको दोष देते हैं। श्रीरामजीके वचनके आधारपर ऐसा अर्थ करते हैं, यथा—'जननिहिं दोषु देहूँ जड़ तेई।' इससे प्रेमकी शिथिलता जान पड़ती है, ये तो अनर्थके प्रारम्भसे बराबर दोष देते आये हैं और अब तो प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि कैसे कष्टसे रात यहाँ बीती होगी।

'अथवा' पद देकर दोनोंको लिया है। अयोध्या और शृंगवेरपुर दोनों ही साथ-साथ मान लें तो भी अर्थ असंगत न होगा।

बै०—***'एक सराहहिं भरत सनेहू·······'*** इति।—उपासक भरतके प्रेमकी प्रशंसा करते हैं कि वे धन्य हैं उन्होंने दूषणको भी भूषण बना लिया। धर्मनिष्ठ राजाके सत्यधर्म और सत्यप्रेमको सराहते हैं कि एकरस ओर-छोर निबाह दिया। और जिन्होंने विधाताको दोष दिया था वे कर्मकाण्डी हैं, वे कर्मकी विपरीतता मानते हैं।

नोट—३ ***'निंदहिं आपु सराहि निषादहिं।'*** अर्थात् धन्य है यह कि इसके घर आकर इसे साथ लिया, हमको त्याग दिया, इत्यादि। मिलान कीजिये—'**भ्रातस्त्वं राघवेणात्र समेतः समवस्थितः। रामेणालिङ्गितः सार्द्रनयनेनामलात्मना॥ धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि यत्त्वया परिभाषितः।**' (अ० रा० २। ८। २३-२४) अर्थात् तुम श्रीरामजीके साथ रहे, उन्होंने तुम्हारा आलिंगन किया, तुमसे बातें कीं। अतः तुम धन्य हो (यह भरतजीने कहा है)।

एहि बिधि राति लोगु सबु जागा। भा भिनुसार गुदारा लागा॥ ७॥
गुरहि सुनाव चढ़ाइ सुहाई। नई नाव सब मातु चढ़ाई॥ ८॥
दंड चारि महँ भा सबु पारा। उतरि भरत तब सबहिं संभारा॥ ९॥
दो०—प्रातक्रिया करि मातुपद बंदि गुरहि सिरु नाइ।
आगें किये निषादगन दीन्हेउ कटक चलाइ॥ २०२॥

शब्दार्थ—**भिनुसारा** (विनिशा। वा, भानु+सरण)=प्रातःकाल। **गुदारा** (गुजारा फारसी शब्द)=उप्तारा, नावपर नदी पार उतारनेकी क्रिया। **गुदारा लागा**=उतराई होने लगी। **गुदारा**=गुजारा=चलाचली।

अर्थ—इस प्रकार सब लोग सारी रात जगे। सबेरा हुआ कि उतराई होने लगी॥ ७॥ गुरुजीको सुन्दर नावपर चढ़ाकर सुन्दर नयी नावपर सब माताओंको चढ़ाया॥ ८॥ चार दण्ड (घड़ी) में सब पार उतर गये। तब भरतजीने उतरकर सबकी देखभाल की (कि सब लोग और सामान आ गया)॥ ९॥ श्रीभरतजीने सबेरेकी शौच आदि सब क्रियाओंसे निवृत्त होकर माताके चरणोंकी वन्दना करके गुरुको माथा नवाकर निषाद लोगोंको (राह दिखानेके लिये) आगे करके सेनाको चला दिया।

नोट—१ ***'गुरहि सुनाव चढ़ाइ·······'*** इति। गुरुके विशेष सम्मानार्थ उनको सुन्दर रँगी-चगी नावपर चढ़ाया। एक ही नावपर सब माताओंको चढ़ाया। (रा० प्र०) ***'सुनाव सुहाई'*** कहकर जनाया कि इनका '*स्वस्तिक*' नाम था। इनपर घण्टे और पताकाएँ लगी हुई थीं, ये बहुत दृढ़ और सुन्दर थीं। इनमें चित्र बने थे। इत्यादि।

नोट—२ ***'दंड चारि महँ भा सबु पारा·······'***। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि ५०० से अधिक नावें थीं—। '**पञ्चनावां शतान्येव समानिन्युः समन्ततः॥**' (१०) '**अन्याः स्वस्तिकविज्ञेया महाघण्टा धराधराः।·······**' (अध्या० ८९) दो मुहूर्तमें पार हुए। तीसरे मुहूर्तमें प्रयागके लिये प्रस्थान हो गया। प्रमाणं यथा—'**मैत्रे मुहूर्ते प्रययौ प्रयागवनमुत्तमम्।**' (२१) ***'सँभारा'***—जैसे पूर्व शृंगवेरपुरमें ***'भरत सोध सबही कर लीन्हा'*** । वैसे ही यहाँ भी उन्होंने ही देखभाल की। इससे उनका सबपर प्रेम दर्शित हो रहा है।

नोट—३ ***'आगें किये निषादगन दीन्हेउ कटक चलाइ'*** इति। (क) सरस्वती नदीको छोड़ अन्य नदियोंके पार जाना हो तो पार ही स्नानादि करना धर्मशास्त्रकी आज्ञा है; अतएव पार आकर सब प्रातः क्रियाएँ कीं। (रा० प०) (ख)—निषादराजके नौकरोंको आगे किया, क्योंकि अब जंगली रास्ता मिलेगा, जहाँ तहाँ रास्ता बनाना पड़ेगा। और रास्ता भी उनका जाना हुआ है। पुनः, सेना बहुत है, इससे बहुत-से सिपाही साथ किये कि रास्तेमें सेना भरतके सुखका सामान कर सकें। (पु० रा० कु०) फिर निषादराजको आगे करके उनके साथ माताओंकी पालकियाँ कर दीं। इनकी रक्षा और सुखकी देखभाल राजा (निषादराज) करें। फिर गुरु और सब विप्रवृन्द चले। उनकी सेवाके लिये शत्रुघ्नजीको साथ किया, जो बड़े आज्ञाकारी हैं।

कियेउ निषादनाथु अगुआईं। मातु पालकीं सकल चलाईं॥ १॥
साथ बोलाइ भाइ लघु दीन्हा। बिप्रन्ह सहित गवनु गुर कीन्हा॥ २॥
आपु सुरसरिहि कीन्ह प्रनामू। सुमिरे लषन सहित सियरामू॥ ३॥
गवने भरत पयादेहिं पाएँ। कोतल संग जाहिं डोरिआएँ॥ ४॥

शब्दार्थ—**अगुआईं**-अगुआ=आगे चलनेवाला, पथप्रदर्शक, अग्रसर। इस प्रकार अगुआई=मार्ग-प्रदर्शन, रहनुमाई; रास्ता दिखलाना, अग्रणी होनेकी क्रिया। अगुआई कियेउ=अगुआका काम किया, अगुआ बने। परंतु ऊपर प्रसंगके अनुकूल भरतका इसे अगुआ करना ऐसा अर्थ अधिक संगत जान पड़ता है। उस हालतमें छन्दके कारण 'ई' का बढ़ा लेना समझकर 'अगुआईं' का अर्थ 'अगुआ' लेना होगा जैसा रा० प्र० और दीनजीने किया है। **कोतल**=सजा-सजाया राजाकी सवारीका घोड़ा, वह घोड़ा जो जरूरतके वक्तके लिये साथ रहता है, बिना सवारीका (यह फारसी शब्द है)। **'डोरिआएँ'**—बागडोर लगाये, हाथमें बागडोर पकड़े हुए।

अर्थ—निषादराजको अगुआ बनाया (वा, निषादराजने अगुआई की), सब माताओंकी पालकियाँ चलायीं॥ १॥ छोटे भाईको बुलाकर साथ कर दिया। ब्राह्मणोंसहित गुरुजी चले॥ २॥ तब स्वयं श्रीभरतजीने गंगाजीको प्रणाम किया, लक्ष्मणसमेत श्रीसीतारामजीका स्मरण किया॥ ३॥ श्रीभरतजी बिना पाद-त्राणके पैदल ही चले। साथमें कोतल घोड़े खाली 'डोरियाये' हुए चले जा रहे हैं (सेवक बागडोर थामे लिये जा रहे हैं)॥ ४॥

नोट—१ अवधसे चलनेपर जो क्रम था वह यहाँ बदल गया। वहाँ प्रथम गुरु, फिर विप्र, फिर पुरवासी तब माताएँ और यहाँ सेना, माताएँ, विप्रवृन्दसहित गुरु यह क्रम रखा। निषादराज और भाईको उनके साथ कर दिया कि वे लोग निश्चिन्त रहें। यह क्रम बदलनेका और सबको पहले ही रवाना कर देनेका आशय यह है कि यहाँसे श्रीरघुनाथजी पैदल ही गये हैं। मैं सवारीपर जाऊँ तो सेवाधर्मसे च्युत हो जाऊँगा, और ***'मिटै भगति पथ होइ अनीती'***। यदि माताएँ पीछे रहीं तो वे सवारीपर चलनेका आग्रह अवश्य करेंगी। उनकी आज्ञाका उल्लंघन भी अधर्म है। दूसरे, सब पुरवासी भी सवारीसे उतर पड़ेंगे, वे शोकसे कृश हैं, सबको कष्ट होगा—यह भी नहीं देखा जायगा कि हमारे कारण सारे अवधको कष्ट हो। इससे पहले ही चलता कर दिया। पर सम्भव है कि उन लोगोंको सन्देह हो कि हम पैदल ही न चल रहे हों और इसीसे वे राहमें रुक जायँ, इस विचारसे उन्होंने सवारीके घोड़े साथ रख लिये कि हम पीछे आयँगे।

नोट—२ ***'आपु सुरसरिहि कीन्ह प्रनामू'''''''*** इति। (क) गंगाजीको प्रणाम किया और श्रीसीताराम-लक्ष्मणको स्मरण किया। भाव यह कि गंगाजीसे मनमें प्रार्थना की कि शीघ्र उनके दर्शन मुझे कराइये। (पं०) अथवा, गंगा भगीरथनन्दिनी हैं, अतएव कुलकी पुरुषा हैं; इससे उनको प्रथम प्रणाम किया तब इनका स्मरण किया। (रा० प्र०) वा, तीर्थपरसे चले तो प्रणाम करना उचित ही है; अतः गंगाजीको प्रणाम किया। पयान-समय स्वामीका भागवतसहित स्मरण करके चले।

कहहिं सुसेवक बारहिं बारा। होइअ नाथ अस्व असवारा॥ ५॥
रामु पयादेहिं पाय सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥ ६॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥ ७॥
देखि भरतगति सुनि मृदु बानी। सब सेवकगन गरहिं गलानी॥ ८॥

अर्थ—उत्तम सेवक बारम्बार कह रहे हैं—हे नाथ! घोड़ेपर सवार हो लें॥ ५॥ भरतजी उत्तर देते हैं कि श्रीरामजी तो बिना पाद-त्राणके पैदल ही गये और हमारे लिये रथ, हाथी, घोड़े बनाये गये है?॥ ६॥

मुझे तो ऐसा उचित है कि (जिस रास्ते स्वामी पैरोंसे गये हैं उसपर मेरा पैर न पड़े) मैं सिरके बल जाऊँ। सेवक-धर्म सबसे कठिन धर्म है॥ ७॥ भरतजीकी दशा देखकर और कोमल वाणी सुनकर सब सेवक लोग ग्लानिसे गले जाते हैं॥ ८॥

नोट—१ *'कहहिं सुसेवक बारहिं बारा।.......'* इति।—गंगाजीपर ही क्यों न कहा? वे समझे कि गंगातटपर सवार न होंगे, जिनको प्रणाम करें उनके सामने सवारीपर कैसे चढ़ेंगे? अतः कुछ दूर *'कोतल संग जाहिं डोरिआएँ।'* जब आगे भी न चढ़े तब कहा। पहले उत्तर न दिया, इसीसे बारंबार कहना लिखा। पुनः अच्छे सेवकका यही धर्म है। इसीसे *'सुसेवक'* कहा। एक बार कहकर चुप हो रहते, यह उत्तम सेवकका धर्म नहीं।

नोट—२ *'रामु पयादेहिं पाय सिधाए.........'* इति। भाव कि हमारे लिये घोड़े आदि सजाये और श्रीरामजी पैदल गये? तब तुम कहाँ थे? क्या हमें उचित है कि स्वामी तो इसी मार्गपर पैदल गये और हम सवारीपर जायँ? हम पैदल पैरों-पैरों उसी पृथ्वीपर चल रहे हैं जिसपर स्वामीके चरण पड़े, उनके चरणसे स्पर्शित रज हमारे पैरोंतले पड़े यह भी अयोग्य है, यह भी अनुचित है कि मैं पैदल चल रहा हूँ, उचित यह था कि जहाँ स्वामीका चरण पड़ा वहाँ मेरा सिर पड़े, वह रज मेरे मस्तकपर चढ़ती। और, सवारी तो अत्यन्त अनुचित है। सेवकका धर्म बड़ा कठिन है, इसके आगे अन्य सब धर्म सुगम देख पड़ते हैं। (पु० रा० कु०), यथा, भर्तृहरिनीतिशतके **'मौनान्मूकः प्रवचनपटुश्चाटुलो जल्पको वा धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः। क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥'** (५८) अर्थात् मौन रहे तो गूँगा, बोले तो पागल और बकवादी, पास रहे तो ढीठ, दूर रहे तो मूर्ख, क्षमासे डरपोक, न सह सके तो अकुलीन कहलाता है—सेवा-धर्म ऐसा कठिन है, योगियोंको भी अगम है।

नोट—३ *'सब सेवकगन गरहिं गलानी'* इति। अर्थात् हमको धिक्कार है। (पु० रा० कु०) भरतजीने सेवकोंसे नहीं कहा कि तुम भी जूते उतार डालो। परन्तु उनकी क्रियामात्रसे सेवकोंको मनस्ताप होना कि राजकुमार उबेने पाँव पैदल चलें और हमलोग जूते पहनें, हमें धिक्कार है। यह 'लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्यध्वनि' है। (वीर) ग्लानि कि देखो भरतजी कैसा सेवक-धर्मका पालन कर रहे हैं, हम लोगोंसे नहीं बन पड़ता। (दीनजी) पुनः भाव कि जब वे पैरों चले तो ये सिरके बल चलनेको तैयार हैं, तब हम अब अपनेको किस अंगसे चलनेको कहें। (रा० प्र०)

दो०—भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग॥ २०३॥

झलका झलकत पायन्ह कैसें। पंकजकोस ओसकन जैसें॥ १॥
भरत पयादेहि आए आजू। भएउ दुखित सुनि सकल समाजू॥ २॥
खबरि लीन्ह सब लोग नहाए। कीन्ह प्रनामु त्रिबेनिहि आए॥ ३॥
सबिधि सितासित नीर नहाने। दिए दान महिसुर सनमाने॥ ४॥

शब्दार्थ—**पहर**=तीन घण्टेका समय। दिन-रातमें आठ पहर होते हैं। दो पहर १२ बजे दिनको समाप्त होता है फिर ३ घण्टेतक तीसरा पहर होता है। **उमगि उमगि**=उमड़-उमड़कर, उत्साहित होकर, मग्न होकर। उमगना= उल्लासमें होना, हुलसना, जोशमें आना, उत्साहित होना, हदसे बाहर निकल पड़ना। **झलका** (सं० **ज्वल**=जलना। झल=ताप)=चलने या रगड़ लगने आदिके कारण शरीरमें पड़ा हुआ छाला, फफोला। झलकना=दिखायी पड़ना, चमकना। **पंकज**=कीचड़में उत्पन्न होनेवाला, कमल। **कोस** (कोष, कोश)=सम्पुट, फूलोंकी बँधी कली, खोल, समूह। 'पंकजकोश'=परिपुष्ट कमलकी कली, यथा—'**सजातयोः पंकजकोशयोः**

श्रियम्'—(रघुवंश)। पुनः, यथा—'***पंकजकोशमें भृंग फँसेउ अपने मन यों करतो मनसूबा। होइगो प्रात उगैंगे दिवाकर जाउँगो धाम पराग लै खूबा***'—(बेनी)। कन=कण, बूँद। **सितासित**=सित+असित=उज्ज्वल और श्याम। **नीर**=जल। ओस=हवामें मिली भाप जो रातकी सरदीसे जमकर और जलबिन्दुके रूपमें हवासे अलग होकर उन पदार्थोंपर लग जाती है जिनमें गर्मी निकालनेकी शक्ति अधिक होती है, धारण करनेकी कम, जैसे घास आदि।

अर्थ—श्रीभरतजीने तीसरे पहर प्रयागमें प्रवेश किया। प्रेममें उमड़-उमड़कर सीताराम, सीताराम कहते जाते हैं॥ २०३॥ उनके पैरोंमें छाले कैसे झलक रहे हैं जैसे कमलकोशमें ओसके कण झलकते हैं॥ १॥ श्रीभरतजी आज पैदल ही आये हैं, यह सुनकर सब समाज दुःखी हुआ॥ २॥ भरतजीने पता लिया कि सब लोग स्नान कर चुके। तब त्रिवेणीपर आकर प्रणाम किया॥ ३॥ विधिपूर्वक श्यामल (यमुनाके) और गौर (गंगाके) जलमें अर्थात् गंगा-यमुनासंगमपर स्नान किया और ब्राह्मणोंको दान देकर उनका सम्मान किया॥ ४॥

नोट—१ '***भरत तीसरे पहर*** ......' इति। सब सवारीपर आये, ये पैदल। इसीसे वे दोपहरको पहुँचे, स्नान कर चुके तब ये पहुँचे, यह बात '***खबरि लीन्ह सब लोग नहाए***' से सिद्ध होती है। पुनः, यहाँ यह भी दिखाया कि प्रेममें नेम नहीं रहता! 'सियराम' कहनेका नियम वा क्रम है, प्रेममें उलटा 'रामसिय' कह रहे हैं। यह प्रेमकी दशा है—(पु० रा० कु०)। अथवा, भरतजीके मनमें तो रामजीका नित्य स्मरण होता ही है। पर तीर्थयात्राका विधान है कि सम्पूर्ण मार्गमें नाम-स्मरण करता चले। अतः उनका स्मरण करना लिखा गया। (पं०)

नोट—२ '***पंकजकोस ओसकन जैसें***'। कमलपत्रोंके भीतर जैसे ओसके कण हों। छालेके भीतर जल रहता है; इससे कोशके भीतर ओसकणकी उपमा दी। (पु० रा० कु०) जो झलका पड़ गया वह फूटता नहीं है। इसपर दीपककार कहते हैं कि झलकेका आधार श्रीभरतजी हैं और पृथ्वी आधेय है। श्रीभरतजीकी विरहाग्नि ही झलकारूपसे शोभित हो रही है। वह यदि फूट जायगा तो सीताजीकी माता पृथ्वीको वह विरहज्वाला दुःख देगी, अतः वह फूटता नहीं। (अ० दी० च)

नोट—३ '***भएउ दुखित सुनि सकल समाजू***' इति। भरतजीके कष्टको और अपनी भूलको समझकर सारा समाज दुःखी हुआ कि जिस मार्गमें श्रीरामजी पैदल गये हैं उसमें हमलोग सवारियोंपर बैठकर आये; बड़ी भूल हुई। यहाँ भी 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' है। (वीरकवि)

नोट—४ '***खबर लीन्ह*** ......' इति। भरतजी पैदल थे; इससे सबके पीछे पहुँचे। सब लोग प्रथम ही आ गये थे; इससे प्रथम ही स्नान कर चुके।

नोट—५ '***सबिधि सितासित नीर नहाने***'।—स्नानकी विधि पद्मपुराण और प्रयागमाहात्म्यमें दी है—(वै०) त्रिवेणीमें सरस्वतीका लाल रंग भी है पर वह इतना सूक्ष्म है कि दो ही रंग, श्वेत गंगाजीका और श्याम यमुनाजीका प्रत्यक्ष देख पड़ता है। इसीसे दो रंग कहे और यहाँ दो ही रंगोंका प्रयोजन है। श्यामरंगसे श्रीरामजीके रूपका स्मरण और श्वेतसे श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीका स्वरूप ध्यानमें आ गया।

देखत स्यामल धवल हलोरे। पुलकि सरीर भरत कर जोरे॥ ५॥
सकल कामप्रद तीरथराऊ। बेद बिदित जग प्रगट प्रभाऊ॥ ६॥
मागउँ भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करइ कुकरमू॥ ७॥
अस जिय जानि सुजान सुदानी। सफल करहिं जग जाचक बानी॥ ८॥

शब्दार्थ—'**धवल**'=उज्ज्वल, सफेद। '**हलोरे**'=लहरें, तरंगें। **कुकर्म**=बुरा कर्म, '**कामप्रद**'=मनकी कामनाओंको देने वा पूर्ण करनेवाले। '**सुजान**'=समझदार, चतुर, मनकी जाननेवाले। '**सफल करना**'=व्यर्थ वा खाली न जाने देना, पूरी करना।

अर्थ—श्रीयमुना एवं श्रीगंगाजीकी श्याम और श्वेत लहरोंको देखते ही श्रीभरतजीका शरीर पुलकित हो गया। उन्होंने हाथ जोड़े (और कहा कि)॥ ५॥ हे तीर्थराज! आप सब कामनाओंके पूर्ण करनेवाले हैं, आपका प्रभाव वेदोंमें प्रसिद्ध है और संसारमें प्रकट है॥ ६॥ अपना धर्म त्यागकर आज भिक्षा माँगता हूँ। आर्त क्या कुकर्म नहीं करता? अर्थात् दु:खी लोगोंको सभी कुकर्म करने पड़ते हैं॥ ७॥ ऐसा जीसे जानकर सुजान उत्तम दानी संसारमें याचकोंकी वाणी सफल करते हैं। अर्थात् जो वे माँगते हैं वही उनको देते हैं, अतएव आप भी जो भिक्षा मैं माँगता हूँ वही दें॥ ८॥

नोट—१ ***'देखत स्यामल धवल हलोरे········'*** इति। (क) श्याम और श्वेत रंग एक ही साथ देखकर उद्दीपन हुआ। साँवली गोरी जोड़ी—श्रीसीताराम, श्रीरामलक्ष्मण—का ध्यान उपस्थित हो आया, इससे शरीर पुलकित हो गया, नहीं तो रामानन्य भक्त अन्य पदार्थोंको देखकर कभी पुलकित नहीं होते। रा० प्र० का मत है कि तीर्थके दर्शनसे भी पुलकित होना तीर्थमें भक्तिका द्योतक है। (ख) श्रीनंगेपरमहंसजी सितासितका अर्थ ठंढा और गर्म करते हुए लिखते हैं कि 'नहाने क्रियाके साथ ठंढा-गर्म जल इसलिये दिया है कि सर्द-गर्मकी प्रतीति स्पर्शसे होती है जो त्वचा इन्द्रियका विषय है। गंगा-यमुना दोनों नदियोंके जलमें एक ठंढा और दूसरा गर्म अवश्य रहता है, यह नहाते समय शरीरको मालूम पड़ता है। इसीसे संगमकी पहचान होती है। आज भी मर्मी महात्मा लोग बरसातमें जब दोनों नदियोंका रंग एक-सा हो जाता है तब संगमकी पहचान ठण्ढे और गर्म जलके शरीरमें स्पर्शसे करके स्नान करते हैं। ***'देखत'*** क्रियाके साथ श्यामल और धवल रंगका निर्णय दिया गया है जो नेत्रका विषय है। वर्षाकालके अतिरिक्त सदा यमुनाजल श्यामल और गंगाजल धवल बना रहता है। अतएव ***'सितासित'*** स्नानके विषय और श्यामल धवल देखनेके विषयमें दो लक्ष्य दिये गये हैं।'

नोट—२ ***'सकल कामप्रद तीरथराऊ·······'*** इति।—सबकी और सब कामनाओंके देनेवाले हैं, यथा—***'चारि पदारथ भरा भँडारू········'*** ***'सेवहिं सुकृती साधु सुचि पावहिं सब मनकाम।'*** (१०५)। त्रिविध प्रकारके जीवोंमें कोई भी ऐसा नहीं जिसकी इच्छा न पूर्ण करते हों। सभी तीर्थ कामप्रद हैं पर आप तीर्थोंके राजा हैं; अतएव ***'सकल कामप्रद'*** और ***'बेद बिदित········'*** हैं।'

नोट—३ ***'बेद बिदित जग प्रकट प्रभाऊ'*** अर्थात् वेद कहते हैं और संसारमें देखनेमें आता है, यथा—***'देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ।'*** (१। २। १३) वा, आपका प्रकट प्रभाव लोक और वेदमें विदित है। यथा—***'बंदी बेद पुरान गन कहहिं बिमल गुनग्राम।'*** (१०५) प० पु०, स्वर्गखण्डमें विस्तारसे माहात्म्य कहा गया है।—प्रयागमें ब्रह्मादि देवता एकत्रित होकर प्राणियोंकी रक्षा करते हैं। स्वयं इन्द्र विशेषरूपसे प्रयागतीर्थकी रक्षा करते हैं तथा विष्णुभगवान् प्रयागके सर्वमान्य मण्डलकी रक्षा करते हैं। भगवान् शंकर वटवृक्षकी रक्षा करते हैं। दर्शन-स्मरणसे पाप छूट जाते हैं। कहीं भी प्रयागका स्मरण करते हुए मरनेसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। जो सत्यवादी, क्रोधजयी, अहिंसा-धर्ममें स्थित, धर्मानुरागी, तत्त्वज्ञ तथा गौ और ब्राह्मणोंके हितमें तत्पर होकर गंगा-यमुनाके बीचमें स्नान करता है, वह सारे पापोंसे छूट जाता है तथा मनचीते समस्त भोगोंको पूर्णरूपसे प्राप्त कर लेता है। यथा—'**गंगायमुनयोर्मध्ये स्नातो मुच्येत किल्बिषात्। मनसा चिन्तितान् कामान् सम्यक् प्राप्नोति पुष्कलान्॥**' (प० पु०, स्वर्ग० ४१। १७)

'मागऊँ भीख त्यागि निज धरमू'*

'निजधर्म' के दो अर्थ कहे गये हैं। १ क्षत्रियधर्म—यह कि क्षत्रिय किसीसे माँगते नहीं। २—अनन्य भक्तोंका धर्म कि अपने स्वामीको छोड़ कदापि दूसरेसे याचना न करे। यथा—***'जग जाँचिये कोउ न जाँचिये जो जिय जाँचिये जानकीजानहि रे। जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ जो जारति जोर जहानहि***

* 'नरेन्द्रयाच्ञा कविभिर्विगर्हिता राजन्यबन्धोर्निजधर्मवर्तिनः। तथाऽपि याचे तव सौहृदेच्छया कन्यां त्वदीयां नहि शुल्कदा वयम्॥' (भागवत १०। ५८। ४०)

रे॥ गति देखु बिचारि बिभीषन की अरु आनु हिये हनुमानहि रे। तुलसी भजु दारिद-दोषदवानल संकट कोटि कृपानहि रे।' (क० उ० २८) *'जानकी जीवनको जन ह्वै जरि जाउ सो जीह जो जाचत औरहि'*—(क० ७। २७)

रा० प्र० कार कहते हैं कि—माँगना धर्म ब्राह्मणका है, क्षत्रियका नहीं। इस अर्थमें दोष आता है क्योंकि ईश्वर, देवता, तीर्थादिसे माँगना सब वर्णोंका धर्म है। श्रीचक्रवर्ती महाराजने भी माँगा है, यथा—*'बिधिहि मनाव राउ मन माहीं। जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं॥' 'सुमिरि महेसहि कहहिं बहोरी। बिनती सुनहु सदासिव मोरी॥ आसुतोष तुम्ह औढर दानी। आरति हरहु दीनजन जानी॥'* और भरतजीने भी माँगा है, यथा—*'माँगहिं हृदय महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥'* इस प्रकार अनेक स्थानोंमें क्षत्रियोंका माँगना पुराणोंमें लिखा है। दूसरा दोष यह आता है कि सर्व-धर्म त्यागपूर्वक प्रभुकी शरण जाना यह परमधर्म है जैसा स्वयं भगवान्‌ने कहा है—**'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज',** इस परमधर्मकी याचना करनेमें *'आरत काह न करै कुकरमू'* कहना क्योंकर योग्य होगा? वह तो परमधर्म है न कि कुकर्म। अतएव पहला अर्थ ठीक नहीं है। बैजनाथजीका भी यही मत है।

अ० दी० कारका मत है कि श्रीरामजीको छोड़ अन्यसे माँगना कुकर्म है। भरतजीके कथनका आशय यह है कि मैं अपने कर्तव्यके कारण डरता हूँ कि प्रभु मुझे कुटिल समझेंगे और उनके स्वभावको सोचता हूँ तो ऐसा मनमें उत्पन्न नहीं होता, इसी भयसे मैं उनसे याचना न करके आपसे भीख माँगता हूँ यही कुकर्म करता हूँ। अपने प्रभुको छोड़ दूसरेसे माँगना यह आर्त भक्तोंका लक्षण है। भरतजीके वाक्योंका भाव यह है कि मैं नीच भक्तोंके लीकपर चलकर आपसे माँगता हूँ यह कुकर्म है। श्रेष्ठ भक्तका जो धर्म है कि किसीसे न माँगे—*'होइ अधीन जाँचै नहीं सीस नाइ नहिं लेइ',* उसे मैं छोड़ रहा हूँ।

प० प० प्र० स्वामीजी कहते हैं कि 'भरतजीने महेशजीसे जो याचना की *'कुसल मातु पितु परिजन भाई'* वह परमधर्मकी याचना नहीं थी, प्रत्युत साधारण लौकिक धर्मकी थी, पर वहाँ *'आरत काह न करै कुकरमू'* नहीं कहा। परमधर्मकी याचना श्रीसीताजीने भी देवताओं, गणेशजी, शिवधनु, भवानी आदिसे की है। गोस्वामीजीने विनयमें सभी देवोंसे याचना करके *'राम चरन रति'* की याचना की है। किसीसे परमधर्मकी याचना करना कुकर्म नहीं हो सकता। अत: यहाँ *'तीरथराऊ'* में के *'राऊ'* शब्दपर कटाक्ष है। तीर्थराज तो राजा ही हैं। भरतजी राजपुत्र हैं। राजपुत्र वा क्षत्रियको राजासे माँगना कुकर्म है?

श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि—(क) भरतजीने वर्णधर्मके धर्मी बनकर श्रीरामजीकी सेवकाईके लिये उस अपने क्षत्रियवर्णधर्मको छोड़ा है। क्षत्रियके लिये याचक बनकर भीख माँगना धर्म नहीं है और भरतजी याचक बनकर भीख माँग रहे हैं—*'माँगउँ भीख', 'सफल करहिं जग जाचक बानी।'* अत: निज धर्म छोड़ना कहा। परमधर्मके लिये क्षत्रियधर्मका त्याग करनेसे दोष नहीं लगता, क्योंकि भगवान् स्वयं उस दोषको छुड़ा देते हैं। प्रमाण—**'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥'** (गीता १८। ६६) (ख) 'भरतजीने शृंगवेरपुरमें गंगाजीसे वर माँगा है। वहाँ धर्म छोड़ना क्यों नहीं कहा?' इसका उत्तर यह है कि वहाँ वर माँगा है, भीख नहीं। वर माँगना क्षत्रियका भी धर्म है। भानुप्रतापने कपटी मुनिसे वर माँगा—*'प्रभुहि तथापि प्रसन्न बिलोकी। माँगि अगम बर होउँ असोकी॥'* (१। १६४। ८) *'जरा मरन दुख रहित तनु समर जितौ जनि कोउ। एक छत्र रिपु हीन महि राज कलप सत होउ॥'* फिर वहाँ तो गंगाजी ब्रह्मरूपा हैं, यथा—*'मुदित ब्रह्ममय बारि निहारी'* और प्रयागराजमें तो राजासे भीख माँगी है (प्रयागराज तीर्थोंके राजा हैं)। अत: गंगाजीसे माँगनेमें दोष नहीं राजासे माँगनेमें दोष है। (ग) किसी-किसीने अनन्यताको निजधर्म कहा है; पर ऐसा अर्थ करनेसे सेवकपनेमें कोई लाभ नहीं हुआ, क्योंकि जब अनन्यता छोड़ी तब प्रीति मिली, अत: अनन्यता छोड़नेकी हानि, प्रीति मिलनेका लाभ ये दोनों बराबर हो गये।'

वि० त्रि०—*'सकल कामप्रद तीरथराऊ।'* प्रयागराज स्वयं सब कामनाके देनेवाले हैं। मज्जन करनेवालेको

चारों फलकी प्राप्ति होती है। तीर्थराजमें अपना धर्म त्याग करके भरतजीको भीख माँगनेकी क्या आवश्यकता पड़ी? बात यह हुई कि जिस वस्तुकी भरतजीको कामना है, वह उनके दानके भण्डारमें नहीं है, यथा—*'चारि पदारथ भरा भँडारू।'* और भरतजीको उनकी रुचि नहीं, वे स्पष्ट कहते हैं कि *'अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहौं निर्बान'*। उन्हें *'रामपद रति'* की आवश्यकता है, और उसके लिये आर्त हैं, अतः प्रयागराजको सुजान सुदानी समझकर कि ये जैसे होगा तैसे याचककी वाणी निष्फल न होने देवेंगे, उनसे *'रामचरन रति'* की भिक्षा माँग रहे हैं।

बाबा हरिदासजीका मत है कि 'यमुनाजी सूर्यकन्या हैं, भरतजी सूर्यकुलके हैं, निजकुलकी सुतासे भीख माँगना कुकर्म है। और गंगा भी भगीरथनन्दिनी हैं, इसीलिये उन्होंने वर न दिया, समझा भर दिया कि तुम आर्त हो, रामविमुख नहीं हो, फिर भी रामचरणमें रति माँगते हो। यह सुनकर भरतको बोध हो गया।' अथवा, २—हमारे धर्म जो त्याग ही गये उसे माँगते हैं—*'हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई॥'* वा निज धर्म माता-पिता-गुरुकी आज्ञा मानना है। उसको त्यागकर परमधर्म रामप्रेम माँगते हैं। (शीलावृत्त)

नोट—४ *'आरत काह न करइ कुकरमू'* यथा—*'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इन कहँ बिलग न मानिए बोलहिं न सँभारी॥'*—(विनय०)

नोट—५ पं०—*'अस जिय जानि सुजान सुदानी'*...... ' इति। सुजान हैं, मनकी जानते हैं; अतएव उसकी इच्छानुकूल दान देते हैं। सुदानी—अर्थात् और तीर्थादि भी दानी हैं, आप *'सुदानी'* अर्थात् उदार दाता हैं। यह भी नहीं विचार करते कि इसके पास तो है, इसे न देना चाहिये।

दो०—अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रति रामपद यह बरदानु न आन॥ २०४॥

जानहु रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥ १॥
सीता राम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥ २॥
जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जल पबि पाहन डारउ॥ ३॥
चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़ें प्रेम सब भाँति भलाई॥ ४॥
कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पदु नेम निबाहें॥ ५॥

शब्दार्थ—**निरबान गति**=मोक्ष, अपवर्ग, निःश्रेयस्, मुक्ति, स्वर्गप्राप्ति कैवल्य, भवसंततिका उच्छेद; अस्ति नास्ति, उभय और अनुभव इस चतुष्कोटिसे विनिर्मुक्ति। **बान** (वर्ण)=रंग, आब, कान्ति। **अनुदिन**=प्रतिदिन, नित्यप्रति, दिन-दिन। **घटि जाई**=हीनता, न्यूनता, अप्रतिष्ठा वा रुसवाई हो जायगी; कदर कम हो जायगी; घट जायगा; छोटा पड़ जायगा। **प्रियतम**=परम प्यारा स्वामी।

अर्थ—मुझे न अर्थकी, न धर्मकी, न कामकी इच्छा है और न मोक्ष ही चाहता हूँ, 'जन्म-जन्म श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम हो' यही वरदान चाहता हूँ, दूसरा कुछ नहीं॥ २०४॥ श्रीरामजी मुझे कुटिल भले ही जानें, लोग मुझे गुरु और स्वामि-द्रोही (भले ही) कहें॥ १॥ पर श्रीसीतारामजीके चरणोंमें मेरा प्रेम दिन-दिन आपकी कृपासे बढ़ता जाय (मैं यही चाहता हूँ)॥ २॥ (चातककी) सुध चाहे मेघ जन्मभर भुला दे, जल माँगनेपर चाहे वह वज्र और पत्थर (ओले) गिरावे॥ ३॥ पर चातककी रट घटनेसे उसकी प्रतिष्ठा चली जायगी, सबकी दृष्टिसे वह उतर जायगा, प्रेम बढ़नेसे ही सब तरह (उसकी) भलाई है॥ ४॥ जैसे तपानेसे सोनेकी आब-ताब-चमक-दमक बढ़ती है वैसे ही परम प्यारे स्वामीके चरणोंमें प्रेम-नेम निबाहनेसे (सेवककी प्रतिष्ठा बढ़ती है)॥ ५॥

पु० रा० कु०—१*'अरथ न धरम न काम रुचि'*...... ' इति। अर्थ-धर्म-कामके लिये रुचि नहीं अर्थात् ये तो प्राप्त ही हैं, इससे इनकी ओरसे रुचि नहीं, निर्वाणगतिकी चाह नहीं कि मिले। पुनः चारों पदार्थोंका

निषेध प्रथम ही कर दिया कि कहीं यही न हमको दे दें, यहीं इनके भण्डारमें भरा हुआ है। मुक्ति नहीं चाहते तो जन्म अवश्य होगा, सो हो और बारम्बार हो, पर सब जन्मोंमें श्रीरामपदमें प्रेम हो यही वरदान चाहता हूँ, अन्य कुछ नहीं। भक्ति चाहते हैं यह सिद्धान्त है। यह भक्ति किस लिये माँगते हैं, क्या इसलिये कि श्रीराम प्रसन्न हों या लोग बड़ाई करें? नहीं, हमारी एकांगी प्रीति हो, इसकी हमको चिन्ता नहीं कि वे हमपर प्रसन्न रहें चाहे वे हमें सदैव क्रूर कुटिल ही समझते रहें, लोकमें हमारी निन्दा क्यों न होती रहे कि यह गुरु-साहिब-द्रोही है—इसकी फिक्र नहीं, यह सब हो पर हमारा प्रेम नित्यप्रति उनमें बढ़ता ही जाय। फिर ऐसे प्रेमियोंके दृष्टान्त देते हैं।

चार पदार्थके अतिरिक्त तो कुछ है ही नहीं फिर ***'न आन'*** का क्या भाव? भागवतमें ५ प्रकारकी मुक्तियाँ कही गयी हैं, वह पाँचवीं 'सार्ष्टि' है, अर्थात् समान ऐश्वर्य, सो भी नहीं चाहते।

अ० दी० कार ***'जनम जनम रति राम पद'*** का भावार्थ यह लिखते हैं कि श्रीभरतजी यह वर माँगते हैं कि 'श्रीरामजीहीके साथ मेरा जन्म हो अर्थात् मेरा जन्म भी हो तो श्रीरामजी साथ रहें, उनमें प्रेम बना रहे और श्रीरघुबीर बिना टेकपूर्वक मैं सब वस्तुओंसे रहित समझता हूँ।' (अ० दी० च०)

नोट—१ दीनजीकी रायमें अर्धाली ३, ४, ५ ग्रन्थकारके वचन हैं। वे कहते हैं कि इसी कारणसे (जो ३, ४, ५ में बताया गया) भरतजीका वर माँगना अति उत्तम बात हुई। यही मत पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीका है। वे कहते हैं कि यहाँ कवि पाठकोंको शिक्षा देता हुआ भरतजीको चातक और सुवर्णसे उपमित करता है। चातकप्रिय पयोदके दोषको नहीं देखता, और सुवर्ण जलानेसे और चमकता है। इसी भाँति भरतलाल रामचरणरति चाहते हैं; भले ही रामजी चाहे उन्हें कुटिल ही समझें। और लोगोंके, उन्हें 'गुरुसाहिब द्रोही' कहकर, जलानेपर भी उनका मन प्रेमपथसे नहीं मुड़ता, बल्कि और भी अग्रसर होता है। इसी भाँति भक्तोंको प्रियतम-पदप्रेमके निर्वाहमें कटिबद्ध रहना चाहिये। यही शिक्षा गोस्वामीजीकी प्रेमपथके पथिकोंके लिये है।

नोट—२ बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि यहाँ मेघ और अग्निके स्थानपर श्रीरामजी हैं, चातक और स्वर्णके स्थानमें श्रीभरतजी अपनेको कहते हैं। अर्थात् (जैसे) अपमान सहकर चातक बड़ाई पाता है और कष्ट सहकर कनक रंगदार होता है वैसे ही हम हो जावें—यह त्रिवेणीसे प्रार्थना है। ***'गुरु'*** से वे यहाँ पिताका भाव लेते हैं परंतु और सबोंका मत है कि गुरु-उपदेश न स्वीकार किया था; उसीपर यहाँ लक्ष्य है। पुनः ***'गुरु'*** में माता-पिता-गुरु और सभी बड़ोंका समावेश है, सभीको क्यों न ले लें—यह और भी उत्तम होगा।

पु० रा० कु०—२ ***'जानहु राम कुटिल.......'*** इति। (क) यदि कहा जाय कि ऐसा भी कहीं होता है कि जिसमें कोई प्रेम करे वह प्रेमीको कुटिल समझे, उसपर दृष्टान्त देते हैं चातक और स्वर्णका। चातक मेघसे प्रेम करता है, एक स्वातिबुन्द भर चाहता है; पर वह उसपर वज्र गिराता, पत्थर बरसाता है तो भी वह अपना प्रेम नहीं छोड़ता। उसका नेम है—रट लगाये रहना। उस नियमको घटने नहीं देता चाहे कितना ही कष्ट मेघ क्यों न दे। ***'जलद सुरति बिसारे'*** और ***'राम कुटिल जानें', 'जाचत जल पबि पाहन डारउ'*** और ***'लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही'*** परस्पर उपमान, उपमेय वाक्य हैं। इसमें भी गुरुद्रोही कहना वज्र डालना और स्वामिद्रोही कहना पत्थर गिराना है। निषादराज और लक्ष्मणजीका सन्देह करना नाम धरना है। (ग) जैसे वज्र और पत्थर गिरानेपर चातक रटन छोड़ दे या कम कर दे तो उसकी प्रीति न ठहरी, वह प्रेमी नहीं कहा जा सकता, वैसे ही श्रीरामजीके कुटिल जाननेसे या लोगोंके अपवादसे मुझमें प्रेम कम हो जाय तो वह प्रेम नहीं कहा जा सकता, वह प्रेम आदर्श नहीं, वैसा प्रेम मुझे न चाहिये। मेरा प्रेम दिन-दिन वृद्धिको प्राप्त होता रहे, इसीमें मेरा भला है। सोना जैसे-जैसे आगमें तपाया जाता है तैसे-तैसे दूना रंग चढ़ता है वैसे ही प्यारेके पदमें कष्ट सहनकर प्रेम निबाहनेमें ही प्रेमीकी शोभा है और असलियत (सचाई) जान पड़ती है। चातकके प्रेम निर्वाहहीमें भलाई है। मुझे भी ऐसा प्रेमका निर्वाह दीजिये।

☞अनन्यताका सिद्धान्त दोहावली *'चातक छत्तीसा'* (दोहा २७७ से ३१२) में विस्तारपूर्वक कविने वर्णन किया है। उद्धरण पूर्व दिये जा चुके हैं।

नोट—३ (क) पहले केवल *'रति रामपद'* यही माँगा, फिर उस प्रेमकी वृद्धि माँगी, उस प्रेमका एकांगी निर्वाह माँगा। निरादर अर्थात् अपमान, लोकापवाद भी सहनेपर एवं कैसा ही कठिन कष्ट क्यों न पड़े तब भी प्रेम न घटे वरन् ऐसा होनेपर ही नित्यप्रति प्रेम बढ़ता ही रहे और इसके दृष्टान्त देकर बताया कि किस तरहका प्रेम-निर्वाह चाहते हैं। (ख) पहले *'रामपद'* और दूसरी बार *'सीता रामचरन'* पद देनेसे जान पड़ता है कि दोनोंके चरणोंका प्रेम अभीष्ट है पर छन्दके कारण पहले एक ही नाम दिया था। (ग) *'अनुग्रह तोरें'* अर्थात् आपकी कृपासे यह प्राप्त हो सकेगा।

भक्तिका तात्त्विक स्वरूप

मा० हं०—हम समझते हैं कि स्वामीजीने भागवतकी भक्तिका तत्त्व अपनी रामायणमें लिया है। इसलिये प्रथम यहाँ भागवतकी भक्तिका स्वरूप स्पष्ट होना चाहिये। २-भगवान् श्रीनृसिंहजीने प्रह्लादजीसे वर माँगनेको कहा उसपर प्रह्लादजी कहते हैं—'**यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥ आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः। न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन्यो राति चाशिषः ॥ अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः। नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥ यदि रासीश मे कामान्वरांस्त्वं वरदर्षभ। कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥**' (स्कं० ७। १०। ४—७) अर्थात्—जो आपसे वैभवकी आशा रखता हो वह भृत्य ही नहीं, बनिया है। अपने स्वामीसे वर (कृपा) की इच्छा रखनेवाला भृत्य ही नहीं है, और भृत्यपर अपना स्वामित्व स्थापित करनेके हेतुसे वैभव देनेकी इच्छा करनेवाला स्वामी ही नहीं है। मैं आपका निष्काम भक्त हूँ और आप मेरे निष्काम स्वामी हैं। राजा-सेवकका सम्बन्ध जैसा अर्थापेक्षी होता है वैसा आपका और मेरा कदापि न हो। हे वरदश्रेष्ठ भगवन्! जो आप मुझे कामपूरक वर देना ही चाहते हैं तो मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मेरे चित्तमें कोई भी वासना अंकुरित न हो।

इस भाषणका हृद्गत हमारी दृष्टिसे '**अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः**' में ग्रथित है। '**अहं त्वकामस्त्वद्भक्तः**' इस पदके अनुसार सेवकको स्वामीसे स्वामिभक्तिके अतिरिक्त दूसरी कोई भी आशा न रखनी चाहिये। अर्थात् निरपेक्षता ही सेवकका परमधर्म हुआ। सेवकको स्वामीकी कृपा अथवा अकृपा दोनोंकी भी परवा न करनी चाहिये। उसी तरह स्वामी भी सेवकपर निरपेक्ष प्रेम करनेवाला ही होना चाहिये। '**अनपाश्रयः**' शब्दके अनुसार स्वामीको सेवकसे सेवाकी भी इच्छा मनमें नहीं रखनी चाहिये। इसका अर्थ यही हुआ कि स्वामी और सेवक दोनों पूर्ण स्वावलम्बी बने रहें और परस्पर एक-दूसरेपर निःस्वार्थ प्रेम करते हैं।""""ऐसे सेव्य-सेवकोंमें एक विलक्षण सामान्य धर्म रहता है, जिसका बलिष्ठ प्रभाव दोनोंको दबाये रहता है। यह सामान्य धर्म उनकी परस्पर विषयक कृतज्ञता है। इसी कृतज्ञताके कारण सेव्य-सेवक सहृदय (समरस) बन जाते हैं। इस बातके प्रमाणमें स्कं ९ अ० ४ का निम्न श्लोक विचारणीय हैं। '**अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥ नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन्येषां गतिरहं परा ॥ ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥**' (९। ४। ६३—६५)

'**अहं भक्तपराधीनः**' और '**कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे**' से सेव्यकी कृतज्ञता और '**येषां गतिरहं परा**' एवं '**ये दारागार**' इत्यादिसे सेवककी कृतज्ञता पूर्णतासे स्पष्ट होती है।

ऊपरका भक्तिरहस्य स्वामीजीने इन प्रकारोंसे अपनी कवितामें उतारा है—

१—सेवकका *'नैरपेक्ष्य'* प्रयागराजको भरतजीकी विज्ञप्ति—*'जानहु राम कुटिल करि मोही'* से *'तिमि प्रियतमपद नेम निबाहे'* में है। यह वर्णन सेवककी निरपेक्षता बतलाकर उसकी अनन्यता, अहेतुकता और अविरल तथा अविचल स्निग्धता जतलाता है, इसपर विशेषतासे ध्यान देना चाहिये।

२—सेव्यका नैरपेक्ष्य सुतीक्ष्णजीकी रामजीसे वरयाचना *'अनुजजानकीसहित प्रभु चाप बान धर राम। मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निःकाम॥'* में देखिये। और,

३—सेव्य-सेवककी परस्पर कृतज्ञता श्रीरामभरद्वाज-संवादमें देख लीजिये। भरद्वाजजी कहते हैं—*'करम बचन मन छाँड़ि छल जब लगि जन न तुम्हार। तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं किये कोटि उपचार॥'* रामजीका उत्तर *'सो बड़ सो सब गुनगन गेहू। जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू॥'* ऐसा संवाद होते-होते *'मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं। बचन अगोचर सुख अनुभवहीं॥'* देव और भक्त परस्परोंसे देवतार्चन बने और **'यतो वाचो निवर्तन्ते'** ऐसे आनन्दसमाधिमें निमग्न हो गये।—(अ० १०८। १—४) देखिये।

पं० यादवशंकर जामदार—भरतजीका मुख्य-से-मुख्य तत्त्व जो स्वामीजीने सामने उपस्थित किया है वह *'साधन सिद्ध राम पगु नेहू'* है। यह केवल सूत्ररूपसे है। इसका उत्तानार्थ भरतजीका साधन और सिद्धि दोनों रामपदप्रेम है। देखनेमें यह बहुत ही सरल है, परंतु यथार्थमें बड़ा ही गम्भीर अर्थ है उसमें हमें निम्नांकित बड़े ही महत्त्वके प्रमेय निष्पन्न होते हुए दिखाते हैं।—

(१) साध्य *'रामपद प्रेम'* ही है, न कि रामपद (२) भक्तिमें साध्यसाधन (यानी प्राप्य-प्रापक) भावका भाग है ही नहीं। (३) रामप्रेम जितना उजृम्भित हो उतनी ही सिद्धि प्राप्त होती जाती है इस कारण असमाधानको स्थान ही नहीं। (४) रामप्रेम ज्यों-ज्यों वृद्धिगत हो त्यों-त्यों रामपदका सान्निध्य आप-ही-आप सुलभ होता जाता है।

भरतजीके आचरणमें स्वामीजीने समय-समयपर ये प्रमेय दिखलाये हैं। इन सबका मन्थन करना यहाँ सम्भव नहीं। बाध्यताके कारण यहाँ केवल उस खास प्रसंगको देते हैं जिसमें कि ये प्रमेय संकलित-रूपसे आ चुके हैं। वह प्रसंग प्रयागराजसे भरतजीकी विज्ञप्ति है—*'माँगउँ भीख त्यागि निज धरमू।……'*

ये विचार बड़ी ही उच्च श्रेणीके होनेसे सामान्य जन-शिक्षाके लिये उनका विशेष उपयोग हो नहीं सकता। बहुधा इस विचारसे ही स्वामीजीने भरतचरित्रमें प्राथमिक शिक्षाके पाठ दिये हैं। उनमेंके विशेष महत्त्वके तीन पाठ हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

(पाठ पहला)—*'गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिय भल जानी॥ उचित कि अनुचित किए बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू॥'* यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इस पाठका बरतना **'स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः'** पाठ भागवतीय नियमके अनुसार होता रहे। आशा है कि भरतजीके भाषणके पूर्वोत्तर सन्दर्भके और उनके अधिकारके विचारसे यह पाठका बरतना समझमें आ जायगा।

(पाठ दूसरा)—*'जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥ सेवक हित साहिब सेवकाई। करइ सकल सुख लोभ बिहाई॥ स्वारथ नाथ फिरे सबही का। किये रजाइ कोटि बिधि नीका॥ यह स्वारथ परमारथ सारू। सकल सुकृत फल सुगति सिंगारू॥'*

इस पाठमें सेवाधर्मका हृदय बतलाया है। उसे विचारपूर्वक देखना चाहिये।

(पाठ तीसरा)—*'आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा धरम कठिन जग जाना॥ स्वामिधरम स्वारथहि बिरोधू। बैर अंग प्रेमहि न प्रबोधू॥ राखि रामरुख धरमब्रत पराधीन मोहि जानि।'* ऐसी स्थितिमें *'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।'*

इस पाठमें सेवाधर्मका स्वरूप और आचार बतलाया गया। परंतु साथ-ही-साथ यह भी कह दिया है कि **'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।'**

इन पाठोंका उपयोग भरतजीद्वारा कविने किस प्रकार किया हुआ दिखलाया है इस बातके निदर्शक प्रसंग ये हैं—अयोध्या छोड़ते समय भरतजीने सारे राज्यकी व्यवस्थाकी उस समयके उनके उद्गार॥ १८५-१८६॥ भरतजी शृंगवेरपुरसे प्रयागको पैदल आये, राहमें उनका और उनके सहीसोंका भाषण इत्यादि—२०३ (५—८) १८५ (१—५) देखिये।

भरत बचन सुनि माँझ त्रिबेनी। भइ मृदु बानि सुमंगल देनी॥ ६॥
तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू। राम चरन अनुराग अगाधू॥ ७॥
बादि गलानि करहु मन माहीं। तुम्ह सम रामहि कोउ प्रिय नाहीं॥ ८॥
दो०—तनु पुलकेउ हियहरषु सुनि बेनि बचन अनुकूल।
भरत धन्य कहि धन्य सुर हरषित बरषहिं फूल॥ २०५॥

शब्दार्थ—**देनी** (दायिनी)=देनेवाली। **बेनि**=बेनी (त्रिवेणी) के। अनुकूल=अपने मुआफिक, अपने पक्षके सहायक, हितकर, प्रसन्नतासे कहे हुए।

अर्थ—श्रीभरतजीके वचन सुनकर त्रिवेणीके मध्य (बीच जलधारा) से सुन्दर मंगलकी देनेवाली मीठी कोमल वाणी हुई॥ ६॥ हे तात भरत! तुम सब प्रकारसे साधु हो। श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें तुम्हारा अथाह प्रेम है॥ ७॥ तुम मनमें व्यर्थ ग्लानि कर रहे हो। तुम्हारे समान श्रीरामजीको कोई भी प्यारा नहीं है॥ ८॥ त्रिवेणीके अनुकूल वचन सुनकर उनका शरीर पुलकित हो गया, हृदयमें हर्ष हुआ। भरतजीको (बारम्बार) 'तुम धन्य हो! धन्य हो!' कहकर देवता प्रसन्न होकर फूल बरसाते हैं॥ २०५॥

पु० रा० कु०—१(क) ***'माँझ त्रिबेनी।'*** त्रिवेणीके मध्यमें सरस्वती विराजमान हैं ही, अतएव ***'माँझ'*** शब्द बड़ा उत्तम है। सरस्वतीजी ही बोलीं। (ख) ***'तुम्ह सब बिधि साधू……'*** अर्थात् स्वयं सन्मार्गवर्त्ती हो और पराये कार्यके साधक हो, मन-कर्म-वचन सब प्रकारसे साधु हो। अनुराग ***'अगाधू'*** अर्थात् अथाह है; गुरु, निषादराज, लक्ष्मणजी, जनकमहाराज, देवगण इत्यादि किसीको थाह न मिली। यहाँ ☞ ***'तुम्ह सब बिधि साधू'*** कहकर जनाया कि तुम्हारा जन्म धन्य है, जीवन सफल है; क्योंकि ***'साधु समाज न जाकर लेखा। रामभगत महँ जासु न रेखा॥ जाय जियत जग सो महि भारू।'*** (१९०। ७। ८) जिनमें ये लक्षण हों वे ही धन्य हैं। तुममें दोनों लक्षण हैं। (कहनी रहनी सब साधुकी है। रा० प्र०)

नोट—१ ***'बादि गलानि करहु……'*** इति। अपने ऊपर कुटिलता और गुरुस्वामि-द्रोहका आरोपण करना ही ग्लानि है। इसीके निराकरणार्थ कहा कि ***'सब बिधि साधू'*** हो, कुटिल नहीं हो, न गुरुस्वामिद्रोही हो; अतः व्यर्थ ही ग्लानि करते हो। ग्लानिका कारण ही नहीं है, उसे छोड़ो। पहले कहा कि तुम्हारा श्रीरामचरणमें अगाध प्रेम है, यह भी साधुका लक्षण है, पर इससे यह न समझो कि श्रीरामजी तुम्हें न चाहते होंगे— ***'तुम्ह सम रामहिं कोउ प्रिय नाहीं'*** जितना तुमपर उनका प्रेम हैं ऐसा किसीपर नहीं।—इस प्रकार जो वचन उन्होंने ग्लानिके कहे थे, उनका उत्तर देकर ग्लानि दूर की।

नोट—२ ***'धन्य कहि धन्य सुर……।'*** 'धन्य-धन्य' में आदरकी वीप्सा है। सरस्वतीजी मृदु वाणीसे बोली थीं। देवताओंने उच्च स्वरसे धन्यवाद दिया। दोनोंके मुखसे भरतजीकी रामभक्ति सिद्ध हुई।

त्रिवेणीने यह कहकर कि ***'तुम्ह सब बिधि साधू। रामचरन अनुराग अगाधू॥ तुम्ह सम रामहि कोउ प्रिय नाहीं॥'*** जना दिया कि जो तुम माँगते हो वह सब तुममें है, इससे अधिक कोई क्या दे सकता है? यही कहकर मानो अपनी वाणीको सरस्वतीने सफल किया।

प्रमुदित तीरथराज निवासी। बैखानस बटु गृही उदासी॥ १॥
कहहिं परसपर मिलि दस पाँचा। भरत सनेहु सीलु सुचि साँचा॥ २॥
सुनत राम गुनग्राम सुहाए। भरद्वाज मुनिबर पहिं आए॥ ३॥
दंड प्रनामु करत मुनि देखे। मूरतिमंत* भाग्य निज लेखे॥ ४॥
धाइ उठाइ लाइ उर लीन्हें। दीन्हि असीस कृतारथ कीन्हें॥ ५॥

* 'मूरतिवंत'।

शब्दार्थ—'**दसपाँच**'—मुहावरा है। **सीलु**=शिष्टाचार।

अर्थ—तीर्थराज प्रयागमें रहनेवाले वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी, गृहस्थ और विरक्त संन्यासी बड़े प्रसन्न हैं॥ १॥ दसपाँच मिलकर आपसमें कहते हैं कि श्रीभरतजीका प्रेम और शील पवित्र और सच्चा है॥ २॥ श्रीरामजीके सुन्दर गुण-समूह सुनते हुए वे मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजीके पास आये॥ ३॥ श्रीभरतजीको प्रणाम करते हुए मुनिने देखा तो अपने भाग्यको मूर्तिमान् समझा* अर्थात् उन्हें देखकर अपनेको धन्य माना, सोचा कि यह तो हमारे भाग्य ही मानो मूर्तिमान् होकर प्रकट हो गये हैं॥ ४॥ और दौड़कर उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया। आशीर्वाद देकर उन्हें कृतकृत्य, संतुष्ट, सफल मनोरथ किया॥ ५॥

नोट—१ ***'प्रमुदित तीरथराज निवासी।……'*** इति। देववाणी सुनकर सब श्रीभरतजी तथा उनके प्रेमको जान गये और भरतजीकी दशा देखकर एवं दर्शन पाकर बड़े ही आनन्दित हैं। तीर्थराजनिवासीसे चारों वर्णोंके लोगोंको और वैखानस, ब्रह्मचारी, गृहस्थ और संन्यासीसे चारों आश्रमवालोंको आनन्द होना जनाया। चारों दर्शनको आये थे, इसीसे क्रमका विचार नहीं किया गया। अथवा, छन्दके अनुरोधसे क्रमभंग करके प्रथम ***'बैखानस'*** को लिखा। (पु० रा० कु०, प० रा० प्र०)

नोट—२ ***'कहहिं परसपर मिलि दस पाँचा।……'*** इति। (क) दसपाँच उपलक्षण है, कहीं दस कहीं पाँच (पु० रा० कु०) वा, कुछ-कुछ लोग प्राय: दससे अधिक नहीं प्रत्येक वर्ण और आश्रमके दस-दस पाँच-पाँच लोग मिलकर आपसमें कहते हैं। (ख) ***'सनेहु सीलु सुचि साँचा।'*** यहाँ यथासंख्यालंकारसे अर्थ होता है कि प्रेम पवित्र है और शील सच्चा है अर्थ, काम, मोक्ष कुछ नहीं चाहते। इससे पवित्र और निश्छल प्रेम कहा, यथा—***'सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥'*** (३०१। ३) शील-स्वभाव सच्चा है इसीसे धर्मनीतिके सब गुण इनसे भूषित हो रहे हैं, धर्मरूपी धरणीको स्वभावसे ही धारण किये हैं, यथा—***'जो न होत जग जनम भरत को। सकल धरमधुर धरनि धरत को॥'*** (२३३। २) अथवा दोनों ही पवित्र और सच्चे हैं। (पु० रा० कु०) त्रिवेणी तथा देवताओंकी वाणी असत्य नहीं हो सकती। देवता झूठ नहीं बोलते। अत: वे कहते हैं कि इनका शील (साधु-स्वभाव) तथा प्रेम दोनों पवित्र और सच्चे हैं।

नोट—३ ***'सुनत रामगुन ग्राम सुहाए।……'*** इति।—पूर्व रामयश कथन नहीं लिखा गया, केवल भरतजीकी प्रशंसा किये जानेका उल्लेख है। और यहाँ लिखते हैं कि ***'सुनत राम गुन ग्राम।'*** पूर्वापरका मिलान यों किया जाता है कि (क)—एक जगह एक बात और दूसरी जगह दूसरी बात देकर जना दिया कि दोनोंके गुणोंका वर्णन साथ-साथ लोग कर रहे हैं। श्रीभरतजी रामरंगमें रँगे हैं, वे अपनी प्रशंसापर कान नहीं देते, रामयश सुनते जाते हैं। (पं०) वा, (ख) भरतजी रामरंगमें रँगे हैं, वे अपनी प्रशंसाको भी श्रीरामजीका ही यश समझते हैं, इसमें प्रभुकी कृपा, अनुकम्पा, सुशीलता, भक्तवत्सलता आदि गुणोंको ही अपनी बड़ाईका कारण मानते हैं, यथा—***'हौं तो सदा खर को असवार तिहारोइ नाम गयंद चढ़ायो'*** (श्रीरूपकलाजी, वै०)। वा, (ग) त्रिवेणी तटपर ठौर-ठौर रामचरित हो रहा है, उसे सुनते हैं—(वै०, राम० प्र०)।

नोट—४ ***'दीन्हि असीस कृतारथ कीन्हें'*** का ***'कृतारथ कीन्हें'*** दो तर्फी है, भरतजीको एवम् अपने और अपने आशीर्वादको कृतार्थ किया। यथा—***'सफल होन हित निज बागीसा।'*** (वै०, रा० प्र०)

आसनु दीन्ह नाइ सिरु बैठे। चहत सकुच गृह जनु भजि पैठे॥ ६॥
मुनि पूछब कछु एह बड़ सोचू। बोले रिषि लखि सीलु सँकोचू॥ ७॥
सुनहु भरत हम सब सुधि पाई। बिधि करतब पर किछु न बसाई॥ ८॥

* भाग्य उपमान, भरत उपमेय हैं। उपमानका गुण उपमेयमें स्थापित किया गया। 'दूसरी निदर्शना' है।

दो०—तुम्ह गलानि जिय जनि करहु समुझि मातु करतूति।
तात कैकइहि दोसु नहिं गई गिरा मति धूति॥ २०६॥

यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ। लोकु बेदु बुध संमत दोऊ॥ १॥

शब्दार्थ—'**धूति**'=चलायमान करके, छलकर वा ठगकर। '**धूतना**'=धूर्तता करना, धोखा देना, ठगना, यथा—***'तुलसी रघुबर सेवकहि सकहि न कलियुग धूति', 'तुलसी गरीब की गई बहोर रामनाम जाहि जपि जीह रामहूँ को बैठो धूति हौं।'*** (क० ७। ६९)।

अर्थ—मुनिने आसन दिया। वे मुनिको मस्तक नवाकर सिर नीचा करके बैठ गये। वे ऐसे देख पड़ते हैं मानो वे संकोचरूपी घरमें भागकर जा बैठना चाहते हैं। अर्थात् उनको बड़ा ही संकोच और लज्जा है॥ ६॥ उनको बड़ा भारी सोच यह है कि मुनि कुछ पूछेंगे (तो मैं क्या उत्तर दूँगा)। उनके शील और संकोचको लखकर ऋषिजी बोले—॥ ७॥ हे भरत! सुनो, हमें सब खबर मिल चुकी है। विधाताकी करनीपर कुछ जोर नहीं चलता॥ ८॥ तुम माताकी करनी समझकर मनमें ग्लानि मत करो। हे तात! कैकेयीका दोष नहीं। सरस्वती उसकी बुद्धि ठग ले गयी॥ २०६॥ यह भी कहते हुए कोई भला न कहेगा। लोक और वेद दोनों ***'बुध संमत'*** हैं। (पण्डित लोगोंको लोक और वेद दोनों ही मान्य हैं)॥ १॥

नोट—१ ***'चहत सकुच गृह जनु भजि पैठे'*** इति।—यहाँ सिर झुकाये (मारे संकोचके) बैठना उत्प्रेक्षाका विषय है। सिर झुकाये नहीं बैठे हैं मानो संकोचरूपी घरमें भागकर घुस बैठना चाहते हैं। यह 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है। संकोचका कारण आगे कहते हैं—***'मुनि पूछब कछु'।*** यही बड़ा सोच है कि पूछेंगे तो क्या जवाब दूँगा? क्या पूछेंगे इसपर लोगोंने अपना-अपना अनुमान लिखा है। यथा—(क) किस अपराधसे वन दिया? (पु० रा० कु०)। (ख)—माताकी करनीका वृत्तान्त कि यह बात कैसे उठी—(पं०) इत्यादि। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि श्रीरामजीमें प्रेम होनेसे एवं भरतजीकी कीर्ति बढ़ानेके लिये भरद्वाजजीने उनसे प्रश्न किये थे कि—'तुम तो राजा हुए हो यहाँ क्यों आये? अकंटक राज्य करनेकी इच्छासे तुमने राम या लक्ष्मणके प्रति कुछ अनिष्ट तो नहीं विचार किया है?' अ० रा० में भरद्वाजजीने पूछा है कि 'राज्यशासन करते हुए तुम वल्कलादि धारणकर इस तपोवनमें कैसे आये हो?' उन्हीं प्रश्नोंको सूचित करनेके लिये यहाँ कविने ***'मुनि पूछब कछु'*** पद देकर सब आशय वाल्मीकिजीका भी प्रकट कर दिया। उत्तरमें वहाँ भरतजीने कहा कि सर्वज्ञ होकर आप ऐसा कहते हैं तो हमारा जन्म ही व्यर्थ गया। (वा० सर्ग ९०, श्लोक १०—२१)। मुनि सर्वज्ञ हैं, इसी बातको लेकर कविने परीक्षाकी बातें इतनेमें ही टाल दी। पुनः, अन्तमें जब माताएँ चलनेके समय प्रणाम करने गयीं तब मुनिने पूछा कि तुम्हारी माता कौन है? उसका लक्ष्य लेकर ***'सोचू'*** कहा—हम कैसे कहेंगे कि यह हमारी माता है। पुनः घरका दुश्चरित कहना धर्मनीतिमें मना है। (पु० रा० कु०)

वीरकवि—भरतजीने कुछ कहा नहीं। मुनिजी इस छिपे हुए वृत्तको समझ गये और विधिकी करनीपर ढारकर उन्हें समझाने लगे—'पिहित अलंकार' है। परन्तु पिहितमें क्रियाद्वारा समाधान होता है, यहाँ मुनिजी वचनद्वारा समाधान करते हैं। इसलिये यहाँ गूढ़ अभिप्रायसहित उत्तर देना कल्पित प्रश्नका 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है।

नोट—२ ***'तुम्ह गलानि जिय जनि········'*** इति। (क) भरतजीको माताकी करनीके कारण ग्लानि है, इसीसे मुनि उसे निर्दोष करार देते हैं जिसमें इनकी ग्लानि दूर हो। सबके सामने यह कहा जिसमें कोई भी दोष न दे और भरतजीकी भी सफाई हो जाय। ***'गिरा मति धूति'*** का भाव कि भावी, होनहार वा दैवाधीन जो कार्य होता है वह टलता नहीं, उसमें किसीका वश क्या? यथा—***'मोरिउ कछु न बसाई', 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा'।*** वैसे ही कैकेयीने परवश यह किया तब उसका दोष क्या? (ख) ***'तात कैकइहि दोसु नहिं गई गिरा मति धूति'*** इति। पूर्व केवल मन्थराकी मतिका फेरा जाना कहा है, यथा—***'अजस पेटारी***

ताहि करि गईं गिरा मति फेरि' (१२) और यहाँ कैकेयीकी मतिका छला जाना कहते हैं। कैकेयीकी मति मन्थराके साथ ही फिरी होती तो कैकेयी यह कदापि न कहती कि ***'प्रान ते अधिक राम प्रिय मोहीं।' 'होहु रामसिय पूत पतोहू'*** इत्यादि। कैकेयी-मन्थरा-संवादमें ही आगे कहा है कि ***'सुरमायाबस बैरिनिहि सुहृद जानि पतियानि।'*** (१६) अतएव पूर्वापरका समानाधिकरण यों हो सकता है कि सरस्वतीने मन्थराकी मति फेरी और मन्थराद्वारा कैकेयीकी मति फिरी। इस तरह गिराका ही मति फेरना कहा गया। जैसे शिवजीने लोमशजीको रामचरित दिया, लोमशजीने भुशुण्डिजीको और इस क्रमसे शिवजीका ही भुशुण्डिजीको देना कहा गया—***'सो सिव कागभुशुण्डिहि दीन्हा।'*** या यों समझ लें कि सुरमाया सरस्वती माया है इसने अपनी माया कैकेयीपर पीछे डाल दी हो। दोहा १६ में देखिये। (ग) मिलान कीजिये—**'वत्स ज्ञातं पुरैवैतद्भविष्यं ज्ञानचक्षुषा। मा शुचस्त्वं·······'** (अ० रा० २। ८। ५३)। ज्ञानचक्षुसे सब बातें मैं पहले ही जान गया। तुम शोक न करो।

नोट—३ ***'यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ·······'*** इति। भाव कि जो हमने कहा कि कैकेयी निर्दोष है, ग्लानि न करो; इससे यह आशय निकलता है कि वह दोषी होती तो ग्लानि करना उचित था सो इसे भी कोई अच्छा नहीं कहेगा। और यदि सरस्वतीको दोष दें तो भी कोई भला न कहेगा क्योंकि वह भी तो ईश्वराधीन है, स्वामीकी जो इच्छा होगी वही उसका कर्तव्य है। अतएव न तुम्हारा कोई दोष है न सरस्वतीका, कैकेयी दूषित होती तो भी तुम तो पाक ही हो। किसीका दोष नहीं (न तुम्हारा, न सरस्वतीका), यह हरि-इच्छा ही थी, पण्डित लोग लोक और वेद दोनों मानते हैं—कैकेयी दोषी हो वा निर्दोष तुम दोनों हालतोंमें पाक हो। तुम्हारा तो यश गाकर लोक और वेद दोनों बड़ाई पावेंगे, तब तुममें दोषारोपण कभी भी कोई कैसे कर सकता है? (पु० रा० कु०) 'लोक और वेद दोनों बुधसम्मत हैं' इस कथनका भाव यह है कि यद्यपि वेदमतसे कैकेयी निर्दोष है पर लोकमतसे नहीं। (रा० प्र०) मयंककार लिखते हैं कि 'शारदा मति फेर गयी अत: कैकेयीका दोष नहीं' यह सुनकर अवधवासियोंका रुख बदल गया, वे रुखसे बेरुख हो गये कि ये दोषीको निर्दोष बताते हैं। मुनिने इसे लख लिया तब आगे यह कहा कि इस वचनको भी कोई भला न कहेगा, यद्यपि वेद और बुधमतसे कैकेयी निर्दोष है; परन्तु वह लोकमें सदोष है; इस वचनसे निर्दोषिताका लोप किया और सदोष सिद्धकर लोगोंको सुख दिया।

वै०—लोकरीतिसे बुद्धिमान् कैकेयीका दोष कहते हैं कि यह नीच कुबरीके बहकानेमें क्यों आयी और वेदरीतिसे वे इसे निर्दोष और सरस्वतीको दोषी कहते हैं। पर ये दोनों सम्मत भी कहनेपर कोई-कोई इन्हें भी भला नहीं कहते अर्थात् इन्हें भी यथार्थ नहीं मानेंगे क्योंकि ***'राम कीन्ह चाहैं सोइ होई। करइ अन्यथा अस नहिं कोई॥'*** अर्थात् दूसरा तो कोई करनेवाला है ही नहीं तब किसीका भी दोष क्या?

तात तुम्हार बिमल जसु गाई। पाइहि लोकउ बेद बड़ाई॥ २॥
लोक बेद संमत सबु कहई। जेहि पितु देइ राजु सो लहई॥ ३॥
राउ सत्यब्रत तुम्हहिं बोलाई। देत राजु सुख धरमु बड़ाई॥ ४॥
राम गवनु बन अनरथ मूला। जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला॥ ५॥
सो भावी बस रानि अयानी। करि कुचालि अंतहु पछितानी॥ ६॥
तहउँ तुम्हार अलप अपराधू। कहइ सो अधमु अयान असाधू॥ ७॥

शब्दार्थ—**'अयानी'**=अजान, बुद्धिहीन, अज्ञानी, यथा—***'रानी मैं जानी अयानी महा पबि पाहनहू ते कठोर हियो है।'***

अर्थ—हे तात! तुम्हारा निर्मल यश गाकर लोक और वेद भी बड़ाई पावेंगे*॥ २॥ लोक और वेदका यह सम्मत है। सब कहते हैं कि पिता जिसे राज्य दे वही पाता है॥ ३॥ राजा सत्यप्रतिज्ञ थे, वे तुमको बुलाकर राज्य देते (इससे दोनोंको) सुख, धर्म और बड़ाई होती॥ ४॥ रामवनगमन ही अनर्थकी जड़ है जिसे सुनकर सारे संसारको पीड़ा हुई॥ ५॥ वह भी हरि-इच्छावश हुआ। रानी अज्ञानी हो गयी। कुचाल करके अन्तमें पछिताई (क्योंकि उसके भी शोक ही हाथ लगा, उसका सब किया व्यर्थ ही हुआ)॥ ६॥ वहाँ (उस सम्बन्धमें) भी जो तुम्हारा जरा-सा भी अपराध कहे वह नीच, अज्ञानी और असाधु है॥ ७॥

नोट—१ ***'पाइहि लोकउ बेद बड़ाई'*** इति। कैसे पावेंगे यह आगे दोहेतक विस्तारपूर्वक कहा है। अर्थात् तुमको राज्य मिला इसमें सब सहमत हैं। पर यह श्रीरघुनाथजीके (परमधर्मके) प्रतिकूल है। इससे तुमने उसका त्याग किया, यह यश गाकर दोनों क्यों न बड़ाई पावें? (रा० प्र०) इससे जनाया कि तुम्हारी क्रिया लोक-वेदसे भी ऊपर है, भिन्न है। (पु० रा० कु०)

नोट—२ ***'देत राजु सुखु धरमु बड़ाई'*** इति। भाव कि—सत्यव्रत हैं उसके निर्वाहके लिये बुलाकर राज्य देते तो धर्म भी रहता और सुख और बड़ाई भी होती अर्थात् सब कहते कि पूर्वसे प्रतिज्ञाबद्ध थे उन्होंने ठीक किया। (वै०) वा तुमको बुलाकर राज्यसुख देते तो धर्मकी बड़ाई ही होती। (रा० प्र०), वा राज्यसुख देते, इससे तुम्हारी और राजा दोनोंकी धर्ममें प्रशंसा ही होती। इसमें उनके धर्मकी बड़ाई होती थी, कुछ अधर्म न था और तुमको भी सुख होता, धर्म भी रहता और बड़ाई भी थी, दोष नहीं था। (पु० रा० कु०)

नोट—३ ***'रामगवनु बन अनरथ मूला.......'***। पु० रा० कु०—कैकेयीने स्वयं कहा है कि ***'कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ'*** कि राजाकी मृत्यु हुई। वनगमनसे यह अनर्थ हुआ, और जड़-चेतन सभीको शोक हुआ, नहीं तो तुम्हें बुलाकर राज्य देते ही।

नोट—४ ***'सो भावी बस.......'*** इति। (क) पहले विधातापर दोष धरा—***'बिधि करतब पर कछु न बसाई'*** फिर सरस्वतीपर—***'गई गिरा मति धूति'*** फिर लोकमतमें कैकेयीपर—***'यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ'***। सिद्धान्तमें भावीपर दोष रखा—***'सो भावी बस रानि अयानी।'*** (रा० प्र०)

नोट—५ ***'तहउँ तुम्हार अलप अपराधू। कहइ.......'*** इति। अर्थात् भावीवश कैकेयीने कुचाल की, पर उस कुचालमें तुम्हारा किंचित् भी सम्मत नहीं था। जो सम्मत कहे वह अधम.......है। अधम अर्थात् नीच तमोगुणी राक्षसोंके समान, अज्ञानी और असाधु असत्-मार्गी। भाव यह है कि वह उत्तम पुरुषों, ज्ञानियों और सन्मार्गवर्त्तियोंमें बैठने न पावेगा। अथवा, मनुष्योंमें अधम, ज्ञानियोंमें अज्ञानी और साधुओंमें असाधु माना जायगा। वा, कर्मकाण्डसे अधम, ज्ञानमें अज्ञानी, उपासनामें असाधु है। वा, त्रिवाचा कहा। (पु० रा० कु०)

करतेहु राजु त तुम्हहि न दोषू। रामहि होत सुनत संतोषू॥ ८॥

दो०—अब अति कीन्हेहु भरत भल तुम्हहि उचित मत एहु।
सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु॥ २०७॥

सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना। भूरि भाग को तुम्हहिं समाना॥ १॥
यह तुम्हार आचरजु न ताता। दसरथ सुअन राम प्रिय भ्राता॥ २॥

अर्थ—यदि तुम राज्य करते तो तुम्हें दोष न होता, सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको संतोष होता॥ ८॥ और अब तो हे भरत! तुमने बहुत ही अच्छा किया। यह मत तुम्हारे योग्य ही है। रघुवरचरणमें प्रेम

* 'जो यश गायेगा वह लोकवेद दोनोंमें बड़ाई पावेगा'—(पु० रा० कु०)

होना संसारमें समस्त सुन्दर मंगलोंका मूल है॥ २०७॥ सो वह तो तुम्हारा धन, जीवन और प्राण ही हैं*, तुम्हारे समान कौन अत्यन्त बड़भागी है?॥ १॥ हे तात! तुम्हारे लिये यह आश्चर्यकी बात नहीं है, (क्योंकि तुम) दशरथके पुत्र और श्रीरामजीके प्यारे भाई हो॥ २॥

नोट—१ ***'करतेहु राज·······'*** इति। (क) दोष न होनेका कारण पूर्व कह चुके हैं कि लोकवेद सबका सम्मत है कि पिता जिसको राज्य दे वही पाता है। तुमको पिताने दिया ही है। (ख) ***'रामहि होत संतोषू'*** श्रीरामजीने कैकेयी और वाल्मीकिजीसे कहा ही है ***'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥'*** (४२। १), ***'भाइ भरत अस राउ।·······सब मम पुन्य प्रभाउ॥'*** (१२५) और भरतजीको सँदेसा भेजा ही है कि ***'नीति न तजिअ राजपदु पाए॥ पालेहु प्रजहि करम मन बानी।'*** (१५२। ३, ४) अतः वे प्रसन्न होंगे ही।

पु० रा० कु०—१ ***'अब अति कीन्हेहु भरत भल·······'*** इति। अर्थात् राज्य करते तो ***'भल'*** था और श्रीरामचरणानुराग किया, उसे छोड़ दिया, यह ***'अतिभल'।*** राज्य-पितृभक्ति सामान्यधर्म था और यह भागवत धर्म विशेष है, अतः ***'अतिभल'*** है। पुनः रामचरणानुराग सम्पूर्ण सुन्दर मंगलोंका मूल है, अतएव यह कर्तव्य अत्यन्त भला है।

नोट—२ ***'सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना'*** इति। जीवन और प्राण प्रायः एक ही अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। जीवन हैं, प्राण हैं, अर्थात् परमप्रिय हैं, प्राणाधार हैं। पर यहाँ दोनोंका एक साथ प्रयोग होनेसे इनके भावमें कुछ सूक्ष्म भेद अवश्य होना चाहिये। 'जीवन'=जिसके कारण कोई जीता रहे, जीवित रखनेवाली वस्तु प्राणका अवलम्ब, प्राणका आधार। 'प्राण'=शरीरकी वह वायु जिससे मनुष्य जीवित रहता है, वह जो प्राणोंके समान प्यारा हो, परम प्रिय। भाव यह कि रामपदप्रेम ही तुम्हारे प्राण और प्राणोंका अवलम्ब है। तुम रामप्रेममय हो। विशेष भाव आगे टिप्पणियोंमें हैं।

पु० रा० कु०—२ (क) संसारमें धन, जीवन और प्राण तीन ही प्यारे हैं; इससे इन्हीं तीनोंको कहा। रघुवरपदप्रेम ही तुम्हारे जीवन, धन, प्राण हैं यह तुम्हारे लिये आश्चर्यकी बात नहीं। दशरथके पुत्र हो जिन्होंने रामके लिये प्राण दे दिये, तुमने राज्य छोड़ दिया तो क्या आश्चर्य? उन्हींके पुत्र तो हो! पुनः, ***'दशरथ सुअन'*** अर्थात् ***'जासु सनेह सकोचबस राम प्रगट भे आइ',*** उनके पुत्र होकर तुम रामानुरागी क्यों न हो? फिर रामके भाई और वह भी 'प्रिय'। श्रीरामजी पिताकी आज्ञा मानकर राज्य छोड़कर वनको चल दिये, तुम दिया हुआ राज्य छोड़ उनके लिये वनको जाते हो। श्रीरामजीको अच्छा न लगा कि ***'बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू'*** और तुमको अच्छा न लगा कि ***'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई'*** को तोड़कर तुम राज्य लो। (ख) प्राणके हेतु जीवन है और जीवनके हेतु धन है। धनसे अधिक जीवन, जीवनसे प्राण। धनसे जीवन अर्थात् अन्न होता है और अन्नमें प्राण हैं। उत्तरोत्तर अधिक कहा। यहाँ भरतका प्रेम समस्त मुनियों, भक्तों तथा शिवजीके प्रेमसे भी अधिक दिखाया, यथा—***'मुनि जन धन सरबस सिव प्राना।'*** मुनियोंके धन हैं, भक्तजनोंके सर्वस्व हैं और शिवजीके प्राण हैं और आपके तो धन, जीवन और प्राण सभी कुछ हैं।

नोट—३ श्रीरामचरणानुरागरूपी पदार्थ बड़े भाग्यसे मिलता है, यथा—***'तुलसी कहत सुनत सब समुझत कोय। बड़े भाग अनुराग राम सन होय॥'*** (बरवै० ६३) और तुमको तो रामचरणस्नेहरूपी धन-जीवन-प्राण प्राप्त है; तब तुमसे भारी भाग्यवान् कौन हो सकता है? यथा—***'भूरि भाग भाजन भयहु·······। जौं तुम्हरे मन छाड़ि छल कीन्ह रामपद ठाउँ॥'*** (७४) [शिवजीके प्रेमसे भी तुम्हारा प्रेम श्रेष्ठ है अतः तुमसे भूरिभाग्यवान् दूसरा नहीं (प० प० प्र०)]

---

* अथवा, तुम्हारा सर्वस्व धन है और प्राणोंका जीवन है—(पं०)। वा, धन जीवनका हेतु है, जीवन प्राणका हेतु है। (पु० रा० कु०) वा, ऋणोंका जीवन धन है। (वि० टी०)

सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं॥ ३॥
लषन राम सीतहिं अति प्रीती। निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥ ४॥
जाना मरमु नहात प्रयागा। मगन होंहि तुम्हरे अनुरागा॥ ५॥
तुम्ह पर अस सनेहु रघुबर कें। सुख जीवन जग जस जड़ नर कें॥ ६॥
यह न अधिक रघुबीर बड़ाई। प्रनत कुटुंब पाल रघुराई॥ ७॥

शब्दार्थ—**पात्र**=बरतन=वह व्यक्ति जो किसी विषयका अधिकारी हो, जो किसी वस्तुको पाकर उसका उपभोग कर सकता हो। '**सुख जीवन**'—जीवन सुखसे व्यतीत हो, दुःख न हो, यही सुखपूर्वक जीवन है, यथा—'***सुख जीवन ज्यों जीवको मणि ज्यों फणिको हित ज्यों धन लोभलीन को***'। वा, सुख और जीवन। (रा० प्र०)

अर्थ—हे भरत! सुनो, रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीके मनमें तुम्हारे समान कोई भी प्रेमका पात्र नहीं॥ ३॥ लक्ष्मण, राम और सीताजीको अत्यन्त प्रीतिसे सारी रात तुम्हारी सराहना करते-करते बीत गयी॥ ४॥ प्रयागमें स्नान करते समय हमने इस भेदको जाना। वे तुम्हारे प्रेममें डूब जाते थे॥ ५॥ तुम्हारे ऊपर रघुबरका ऐसा ही स्नेह है जैसा कि संसारमें मूर्ख (देहाभिमानी) लोगोंको सुखपूर्वक जीवनपर स्नेह होता है*॥ ६॥ यह रघुनाथजीकी कुछ अधिक (अतिशयोक्ति)बड़ाई नहीं है,क्योंकि रघुराई (रामजी) तो शरणागतके कुटुम्बभरके पालनेवाले हैं (तो फिर तुमसे प्रणतशिरोमणिपर ऐसा स्नेह रखें तो क्या बड़ी बात है?)॥ ७॥

नोट—१ (क) ऊपरतक श्रीभरतजीकी प्रीति श्रीरामजीमें कही, अब श्रीरामजीका इनमें प्रेम कहते हैं। (ख)'***प्रेमपात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं॥***'.........अर्थात् प्रेमपात्र श्रीसीता और लक्ष्मणजी भी हैं पर उनके रहते हुए भी तुम्हारी यादमें सारी रात व्यतीत कर दी, इससे जान पड़ा कि तुम्हारे समान वे भी प्रिय नहीं और न कोई और ही है। श्रीरघुनाथजीहीका प्रेम तुमपर है, श्रीसीतालक्ष्मणजी रुष्ट न हों, यह भी सन्देह न करो; क्योंकि वे बड़े प्रेमसे तुम्हारी प्रशंसा रातभर करते रहे, इससे उनका भी तुमपर प्रेम होना सिद्ध है। (पं०) (ग) श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी रामानन्य हैं, इसीसे पूर्वार्धमें इनको 'रघुबर' के साथ नहीं रखा; क्योंकि इनके मनमें तो '***प्रेमपात्र राम सम कोउ नाहीं।***' (घ) यहाँ लक्ष्मणजीका नाम प्रथम कहनेका भाव यह भी है कि ये शुद्ध रामानुरागी हैं। यदि भरतजी रूखे रामानुरागी होते, उनका सच्चा स्नेह श्रीरामजीमें न होता या जरा भी कसर होती तो कदापि न सराहना करते, सो उन्होंने ही प्रथम तुम्हारी प्रशंसा की। (वै०, रा० प्र०) प्रेम होना वचनद्वारा जाना। पुनः मनमें प्रेम होनेका एक और भी सबूत (प्रमाण) पाया।

नोट—२ '***जाना मरम नहात प्रयागा।***.......' इति। अर्थात् मनका मर्म स्नान करनेके समय भी मिला वह यों कि—(क) प्रयाग-स्नानपर जब पण्डोंने संकल्प पढ़ा—'**जम्बूद्वीपे भरतखण्डे**.......' तो ज्यों ही '***भरत***' शब्द कानमें पड़ा त्यों ही वे तुम्हारे प्रेममें डूब गये। '***होहिं***' बहुवचन है। इससे जनाया कि बारम्बार प्रेममें मग्न हो जाते थे। यहाँ संकल्प भी तो कई बार पढ़ा गया, क्योंकि लक्ष्मणजी और निषादराजजी भी साथ थे एवं और यात्री भी स्नान करनेको रहे होंगे। अनुरागमें डूबना यह कि रोमांच, प्रेमाश्रु, गद्‌गदस्वर, शिथिल तन, इत्यादि दशा हो जाती थी। पुनः '***जाना मरम नहात प्रयागा***' का यह भी भाव है कि प्रयागभरने इस मर्मको जाना कुछ हमने ही नहीं। (पु० रा० कु०) बाबा हरिहरप्रसादका मत है कि भरतजीका नाम ले-लेकर गोता लगाते थे और आनन्दमें मग्न हो जाते थे। पाँड़ेजी एवं रा० प्र०—कारने यह अर्थ दिया है—'तुम्हारे अनुरागरूप प्रयागमें नहाकर मग्न हो जाते थे अर्थात् कहते-कहते वाणी रुक जाती थी, बोल बंद हो जाता था, कण्ठ गद्‌गद हो जाता था, इससे मर्म जाना। यहाँ प्रशंसा करना नहाना है और

* उदाहरण अलंकार है।

चुप हो जाना मग्न होना है।' [त्रिवेणीस्नानके समय मर्म जाननेमें यह शंका उठाकर कि 'भरद्वाजजी तो वहाँ नहीं थे?' उन्होंने इसका समाधान यह किया है कि 'शिष्य साथ रहे होंगे, उनके द्वारा जाना; या सर्वज्ञ हैं, अत: जान गये।' पर इसका क्या सबूत कि साथ न थे, प्रात:काल साथ ही स्नानको गये हों, यह भी सम्भव है; क्योंकि वे जानते हैं कि ये परब्रह्म हैं और इनका उनमें बड़ा प्रेम कह ही आये हैं।] पुन: यमुनाजीको देखते ही स्मरण हुआ और वे प्रेममें मग्न हो गये। इससे हमने जाना। (खर्रा)। अ० दी० कार कहते हैं कि 'श्रीयमुनाजीका श्याम रंग देखकर जलमें डूबने लगे अर्थात् बार-बार गोता लगाने लगे। उस समय लक्ष्मणजीने बाँह पकड़कर उनको स्थिर किया, डूबनेसे बचाया। उनका आपमें ऐसा अगाध प्रेम है। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी कहते हैं कि 'भरद्वाजजीने श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजीद्वारा सारी रात भरतजीकी सराहना करते हुए सुनकर यह तो निश्चय कर ही लिया कि भरतके समान श्रीरामजीका प्रेमपात्र दूसरा नहीं है; क्योंकि भरत उनको भी प्यारे हैं और उनके प्रिय लक्ष्मण और सीताजीको भी प्रिय हैं, तब प्रयाग नहाते हुए कौन-सी नयी बात जानी जो कहते हैं कि *'जाना मरमु नहात प्रयागा?'* उत्तर यही है कि मुनिजीने सोचा कि भरतके रंग-सा यमुनाजलको देखनेसे जब इनको इतनी प्रीति हो रही है कि भरतके अनुरागमें मग्न हुए जाते हैं, तब तो जैसे जड मनुष्यको सुख-जीवनपर प्रीति होती है वैसी प्रीति भरतपर है। यह मर्म मुनिजीको उस समय मालूम हुआ, जब कि दूसरे दिन मुनिजीके साथ त्रिवेणी-स्नानको गये, यथा—*'राम कीन्ह बिश्राम निसि प्रात प्रयाग नहाइ।'*

नोट—३ *'सुख जीवन जग जस जड़ नर कें'* इति। भाव कि—मूर्ख, अज्ञानी, देहाभिमानी, इन्द्रियविषयमें आसक्त जो लोग हैं, वे सुखपूर्वक जीवन हो अर्थात् भोजन, वस्त्र, शय्या, आरोग्यता आदिका शरीरको सुख हो, बस यही उनका जन्म लेनेका उद्देश्य है, चाहे धर्म जाय, अपमान हो, इसकी परवा नहीं। (पु० रा० कु०) देहाभिमानियोंको शरीरसुख और जीवन (आयु) प्रिय होता है। वे तीर्थमें जाकर सुख और आयुकी वृद्धि ही माँगते हैं। वैसे ही श्रीरामजी तुम्हारे प्रेमकी एवं तुम्हारी वृद्धि माँगते थे। (मा० म०) ☞ मिलान कीजिये—*'सेवहिं लषन सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥'* (१४२। २) (ख) दु:खका जीवन तो ज्ञानी या अज्ञानी किसीको भी प्रिय नहीं, फिर ऐसा उदाहरण क्यों दिया? उत्तर—ज्ञानी न सुखमें सुखी न दु:खमें दु:खी। मूर्ख सुखमें सुखी और दु:खमें दु:खी होता है। यथा—*'सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥'* (१५०। ७) इसीसे वह सुखकी चाहना करता है। ज्ञानी किसीकी चाहना या उपेक्षा नहीं करते। बस यही दोनोंमें अन्तर है। (वीर)

नोट—४ *'यह न अधिक रघुबीर बड़ाई'* इति। पूर्व भरतजीके सम्बन्धमें कहा था—*'यह तुम्हार आचरज न ताता',* उसीकी जोड़में यहाँ रामजीके सम्बन्धमें यह कहा।

तुम्ह तउ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥ ८॥

दो०—तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु॥ २०८॥

शब्दार्थ—**रस**=वैद्यकमें धातुओंको फूँककर तैयार किया हुआ भस्म जिसका व्यवहार औषधके रूपमें होता है, जैसे, मृगांक, सेंदूर-रस इत्यादि। 'श्रीगणेश होना' मुहावरा है—प्रारम्भ होना, प्रथम-प्रथम किया जाना।

अर्थ—हे भरत! मेरा मत तो यह है कि तुम तो मानो शरीर धारण किये हुए (मूर्तिमान्) रामप्रेम ही हो॥ ८॥ हे भरत! तुम्हारे लिये (समझमें) यह कलंक है पर हम सबके लिये यह उपदेश है। श्रीराम-भक्तिरसकी सिद्धिके लिये यह समय ही श्रीगणेश हुआ अर्थात् राम-भक्तिकी प्राप्तिका पाठ आज हमने तुमसे श्रीगणेश किया है, सीखा है॥ २०८॥

नोट—१ *'तुम्ह तउ भरत मोर मत एहू.......'* इति। (क) यह मेरा मत है, दूसरेका कहा-सुना नहीं कहता, अपना अनुभव कहता हूँ। (पु० रा० कु०)। (ख) रामस्नेह ही शरीर धारण करके प्रकट हुआ

है। भाव कि और लोग प्रेमको धारण करते हैं और तुम साक्षात् रामप्रेम हो। (पं०, रा० प्र०) अर्थात् जिसको *'रामप्रेम'* देखनेकी चाह हो वह तुम्हारा ध्यान कर ले, तुम्हारे प्रेमका ध्यान कर ले तो वह जान जायगा कि रामप्रेम कैसा होता है, उसको कैसा प्रेम करना चाहिये। (ग) यहाँ अवधवासियोंके मतसे मुनिके मतको मिलान करके देखिये कि दोनोंमें कौन सरस है। वहाँ ***'भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥'*** (१८४। ४) और यहाँ ***'धरे देह जनु रामसनेहू'***; वहाँ वाचक ***'जनु'*** नहीं है।

नोट—२ ***'तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु।'*******''''''*** इति। (क)***'तुम्ह कहँ कलंक यह'*** अर्थात् जिसको तुम कलंक मान रहे हो, वही हमको उपदेशरूप है, हमको शिक्षाप्रद है। अर्थात् इसके द्वारा तुम हमारे उपदेशकर्ता (उपदेष्टा) हुए। (पु० रा० कु०) (ख)—***'यह'*** से क्या कलंक जनाया? (उत्तर)— भरतजीकी माताने कुलपरम्पराको तोड़कर अपने स्वार्थके लिये श्रीरामजीको वन और श्रीभरतजीको राज्य दिलाया। इस सब अनर्थके कारण हम ही हैं। अथवा पिता, माता, गुरु और स्वामीकी आज्ञा न मानी, यह कलंक है। (पु० रा० कु०) अथवा राज्य कलंक है; अथवा माताके त्यागका कलंक। (पं०)

☞ 'इनसे उपदेश क्या और कैसे हुआ?' सो क्रमसे सुनिये—

(१) कैकेयी स्वार्थपरायणा हो राम-विमुख हुई। फल यह हुआ कि लोक-परलोक दोनों बिगड़े। लोकमें अपयश मिला और जिनके लिये उसने सुख चाहा उनका अपना पूर्व सुख भी गया, वे वनमें कष्ट पा रहे हैं। परलोक यह कि पतिसे विमुख हुई, पुत्रने भी त्याग दिया। इससे हमको यह उपदेश हुआ कि कभी भूलकर भी स्वार्थमें न रत हों, नहीं तो भगवद्विमुख हो जायँगे। (वै०)

(२) पिता, गुरु आदिकी आज्ञा मानना सब धर्मोंमें शिरोमणि है, यथा—***'पितु आयसु सब धरमक टीका।'*** आज्ञा न पालन करना अधर्म है, पाप है, उससे अपयश होता है। पर तुमने इसे रामसम्मुखताका बाधक जानकर इनकी आज्ञाका तिरस्कार किया और राज्य न ग्रहण किया, आज्ञा-पालनको ***'परम हानि'*** समझा, अपयशको न डरे—***'लोक कहउ गुरु साहिब द्रोही'।*** आपका सिद्धान्त यही रहा कि ***'बादि मोर सब बिनु रघुराई'।*** तुम परमार्थपरायण हुए। तुमने लौकिक धर्मोंका त्याग करके भगवत्-शरणागति परमधर्मको ही ग्रहण किया। फल यह हुआ कि तुम्हारा वह 'कलंक' 'भूषण' हो गया। हमको यह शिक्षा हुई कि प्रभुकी शरणागतिमें जो कोई बाधक हो वह सर्वथा त्याज्य है, चाहे वह कैसा ही पूज्य क्यों न हो। भगवत्परायण होनेमें लोक और परलोक दोनों बनते हैं, यथा—***'मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार॥'*** (२६३) जिनका नाम-स्मरण करनेवालेको यह फल प्राप्त होगा उसको स्वयं वह फल क्यों न प्राप्त होगा?

(३) भाव कि तुमने राज्यको कलंक माना तभी उसका त्याग किया। हमें उपदेश हुआ कि रामप्रेमी भरतने ऐसा ऐश्वर्य, ऐसा धर्मनीतिसे प्राप्त 'पितादत्तराज्य' तक त्याग दिया तो हमलोगोंको आश्रम आदिमें भी ममता न करनी चाहिये। माताके त्यागसे उपदेश मिला कि रामविरोधी पूज्यका भी त्याग उचित है। (पं०)

नोट—दूसरा अर्थ यह है कि तुमको कलंक हुआ इसीसे हमको रामभक्तिके लिये आज उपदेश हुआ। न कलंक लगता, न तुम यहाँ आते, न लोगोंको शुद्ध प्रेमाभक्तिका मार्ग मालूम होता।

(४) यह कलंक हमको उपदेश हुआ; क्योंकि उससे हमें प्रेमलक्षणाभक्तिकी प्राप्ति हुई, यथा—***'पेम अमिय मंदरु बिरहु भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥'*** (२३८) यह समय गणेश हुआ; क्योंकि तुम्हारे वैराग्यको, तुम्हारे प्रेमको देखकर यह भक्ति हुई। इसी तरह जो कोई तुम्हारे वैराग्य, तुम्हारे अनन्य प्रेम, शुद्ध शरणागति तथा तुम्हारी इस समयकी दशाका स्मरण करेंगे और उसका अनुकरण करते हुए रामभक्तिपथपर आरूढ़ होंगे वे अवश्य रामभक्ति पावेंगे, और उन्हें लोक-परलोक दोनोंमें लोक-धर्म-त्यागसे अपयश न होकर यश और सुख ही प्राप्त होंगे। यथा—'**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥**' (गीता) (पु० रा० कु०)

वे० भू० पं० रामकुमारदासजी एक महानुभावकी इस शंकाका, कि 'श्रीभरद्वाज तो श्रीभरतजीको सर्वथा

निर्दोष मानते हैं तब *'तुम्ह कहँ भरत कलंक यह'* से किस कलंकपर लक्ष्य है?', समाधान इस प्रकार करते हैं कि 'कलंक' शब्दका एक अर्थ 'सिद्धि' भी है, यथा—*'करत न समुझत झूठ गुन सुनत होत मति रंक। पारद प्रगट प्रपंचमय सिद्धिहि नाउँ कलंक॥'* (दो० २६०) श्रीभरद्वाजजी कह रहे हैं—*'तुम्ह तउ भरत मोर मत एहू""""गनेसु॥'* अर्थात् औरोंके मतसे तो आप *'राम प्रेम मूरति तनु आही',* श्रीरामप्रेमकी साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं ही। आपके मतको जगद्विख्यात ज्ञानी ऐसा मानते ही हैं कि *'परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहु मनहु निहारे॥ साधन सिद्धि राम पग नेहू। (मोहि लख परत) भरत मत एहू॥'* (२८९। ७-८) और मेरे मतसे भी आप साक्षात् श्रीरामस्नेह (प्रेम) के अवतारविग्रह ही हैं। अत: आपको तो यह रामभक्ति 'कलंक' अर्थात् सिद्धि ही है, परन्तु (आपका यह रामप्रेममय आचरण व्यवहार) हम सबको (माया-त्यागका) उपदेश (दे रहा) है। आगे वसिष्ठजीने भी कहा ही है—*'समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सार जग होइहि सोई॥'* आत्यन्तिक मोक्ष अर्थात् अक्षुण्ण नित्य भगवत्कैंकर्य-सान्निध्य-प्राप्ति ही रामभक्ति-रसकी सिद्धि है। (वे० भू०)

*** 'राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु'***

गणेशजी सिद्धिके देनेवाले हैं। कार्यसिद्धिके लिये उनका स्मरण किया जाता है, यथा—*'जो सुमिरत सिधि होइ""""'* । प्रारम्भमें '**श्रीगणेशाय नमः**' करते हैं, यह लोकरीति है। वैसे ही रामभक्तिरसके सिद्ध करनेके लिये 'यह समय' गणेशरूप है। भाव कि जो भक्ति चाहे वे तुम्हारे इस समयकी भक्तिका स्मरण करके भक्तिपथमें पैर रखें तो उन्हें सब प्रकारकी भक्तियाँ प्राप्त हो जायँगी। *'भक्तिरस'* से भक्तिके पाँचों रस 'शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगाररसका अर्थात् पंचरसात्मिका प्रेमलक्षणा रसरूपा भक्ति' अर्थ यहाँ लिया गया। दूसरा अर्थ आगे देते हैं। (पं० वै०) पारा, सोना, चाँदी, मूँगा इत्यादि जो फूँके जाते हैं उनको भी रस वा रसायन कहते हैं। 'रस' और 'सिद्धि' शब्दोंसे जान पड़ता है कि रसायन-सिद्धिसे यह रूपक बाँधा गया है। मारे हुए पारेका नाम 'कलंक' है और यहाँ भी 'कलंक' शब्द है। उस 'कलंक' (पाराकी राख) से स्वर्ण (रस) की सिद्धि होती है—ताँबेसे सोना बन जाता है, वैसे ही इस 'कलंक' से *'राम भक्तिरस'* की प्राप्ति हुई। (वै०)

श्रीगौड़जी कहते हैं कि गंधकके साथ पारेको खरल करनेसे काली कज्जली बनती है। वही कलंक है। 'रस' बनानेमें कज्जलीसे ही आरम्भ होता है। भक्तिरसकी सिद्धिके लिये भी गुरुके उपदेशसे आरम्भ होता है। यहाँ रस शब्दके भी वैद्यक और साहित्यिक दोनों अर्थ लिये गये हैं। भरतजीके चरित विशेष अर्थात् राजत्याग और रामपदानुरागका यह समय, यह शुभ मुहूर्त, *'राम भगतिके बाधक'* विघ्नोंको दूर रखनेवाले और शुभारम्भ करानेवाले गणेशके समान हैं।

वि० त्रि०—*'तुम्ह कहँ भरत कलंक""""'* इति। तुम राज्य-ग्रहणको वारुणी-ग्रहणके समान (कलंक) मान रहे हो। भरद्वाजजी कहते हैं कि यही बात हम 'तपस्वियोंके लिये उपदेश है कि रामानुरागी रमाविलासको वमनकी भाँति त्याग करें। इतना ही नहीं और भी एक बड़ी भारी बात हुई। प्राचीन कवियोंने भक्तिको भाव माना। आलम्बन-उद्दीपनादिके स्पष्ट न होनेसे उसे रस नहीं माना। भरद्वाजजी कहते हैं कि तुम्हारे कारण अब राम-भक्तिकी इसमें गणना हो गयी, अत: रामभक्तिरस सिद्धिके लिये यही समय श्रीगणेश हो गया। अब भक्ति रस मानी जायगी।

मा० हं०—*'भा यह समउ गनेसु'* इन शब्दोंमें साफ झलक रहा है कि महात्मा भरद्वाजजी भरतजीको अपना गुरु समझने लगे; और *'सब कहँ उपदेसु'* इन शब्दोंसे प्रतीत होता है कि भरतजीकी दीक्षाका उन्होंने वह एक प्रचार-सा डाल दिया। प्रचार कहनेका कारण यह है कि स्वयं रामजी भी भरी सभामें *'भरत कहहि सोइ किये भलाई'* ऐसा प्रथम कहकर थोड़ी ही देरके बाद *'कहहु करउँ सोइ आजु'* ऐसी प्रतिज्ञा कर गये हैं। यह रामजीका भरतजीके अंकित हो जानेका निश्चित प्रमाण है। रामजीके पश्चात् शुकगुरु जनकजी भी *'जो आयसु देहु'* कहकर भरतजीके अधीन हो गये हैं। इसके परिणाममें चित्रकूटपर

उपस्थित सब ऋषि-मुनियोंकी जमात भरतजीकी अनुगामी बन गयी। योगवासिष्ठके नियन्ता महात्मा रामगुरु वसिष्ठजीकी तो कुछ पूछो ही मत; उन्होंने *'समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धर्मसार जग होइहि सोई॥'* [तुम्हारे (भरतजीके) विचार, उच्चार और आचार सब संसारके लिये केवल धर्म-रहस्य ही हैं] ऐसा प्रथित करनेसे भरतजीका जगद्‌गुरुत्व स्वयं स्वीकृत किया और सब संसारमें प्रस्थापित कर दिया—ऐसा ही समझना चाहिये। भरतजीका 'लोकशिक्षकत्व' सिद्ध करनेके लिये अधिक प्रमाणोंकी अपेक्षा क्या अभी भी उर्वरित रह सकती है?

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥ १॥
उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥ २॥
कोक तिलोक प्रीति अति करिहीं। प्रभु प्रताप रबि छबिहि न हरिहीं॥ ३॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ करतब राहू॥ ४॥
पूरन राम सुपेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहिं दूषा॥ ५॥
रामभगत अब अमिअ अघाहूँ। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहूँ॥ ६॥

शब्दार्थ—'**उदित**'=जो उदय हुआ हो, निकला हुआ, प्रकट। '**बसुधा**' (वसु=धनदाता+धा-प्रत्यय)=पृथ्वी।

अर्थ—तात! तुम्हारा यश निर्मल नवीन चन्द्रमा है। रघुवर (श्रीरामजी) के दास कुमुद (कुईं पुष्प) और चकोर हैं॥ १॥ यह सदा उदित रहेगा, कभी भी अस्त न होगा। संसाररूपी आकाशमें यह घटेगा नहीं (किंतु) दिन-दिन दूना होगा॥ २॥ त्रिलोकीरूपी चक्रवाक इससे अत्यन्त प्रीति करेंगे, श्रीरामचन्द्रजीका प्रतापरूपी सूर्य इसकी छबिको न हरेगा॥ ३॥ दिन-रात, सदा और सब किसीको यह सुखदायक होगा। कैकेयीका कर्तव्यरूपी राहु इसे न ग्रसेगा। कैकेयीकी करनीसे इस यशमें धब्बा न लगेगा॥ ४॥ श्रीरामचन्द्रजीके सुन्दर प्रेमरूपी अमृतसे यह पूर्ण है। यह गुरुके अपमानरूपी दोषसे दूषित नहीं हुआ है॥ ५॥ तुमने पृथ्वीको भी अमृत सुलभ कर दिया—अब रामभक्त इस अमृतसे भरपेट पूर्ण होवें!॥ ६॥

नोट—१ (क) ऊपर जो *'तात तुम्हार बिमल जस गाई। पाइहि लोकउ बेद बड़ाई॥'* (२०७। २) कहा था, वह बीजरूप था। उसीकी विस्तृत व्याख्या यहाँतक चली आयी और मुख्य व्याख्या यहाँ है। (ख) यहाँ अधिक अभेद रूपक है। आकाशमें जो चन्द्रमा है उससे इस यशरूपी चन्द्रमामें सर्वत्र अधिक गुण दिखाये हैं। उसमें बहुत अवगुण हैं। इसमें सब गुण-ही-गुण हैं।

नोट—२ *'रघुबर किंकर कुमुद चकोरा।'* इनसे दो प्रकारके भक्त जनाये—प्रवृत्तिमार्गवाले और निवृत्तिवाले। अथवा, कुमुदसे स्थायी (स्थावर) और चकोरसे संचारी (जंगम) जैसे लोमश स्थायी और नारद विचरनेवाले हैं। अथवा, कुमुद पुरीके लोग और चकोर वनवासी ऋषि-मुनि। (पु० रा० कु०) वा, बहिरंग और अन्तरंग भक्त जनाये—*'अंतरंग भक्त हरिजूके जो इनको यश गावे'*—(भक्तमाल) अथवा, कुमुद स्त्रीलिंग और चकोर पुँल्लिंगकी उपमा देकर स्त्री-पुरुष दोनों प्रकारके भक्त सूचित किये। (नं० प०) चन्द्रमासे कुमुद प्रफुल्लित और चकोर आनन्दित होता है, वैसे ही रामभक्त प्रफुल्लित और आनन्दित होगा।

नोट—३ *'कोक तिलोक प्रीति अति·······।'* इति। तीनों लोक ही चक्रवाक हैं। अथवा, लोक=लोग, यथा—'**लोकस्तु भुवने जने।**' त्रिलोक=विषयी, मुमुक्षु और मुक्त तीन प्रकारके जीव—(पां०, पु० रा० कु०)

नोट—४ *'गुर अवमान'* इति। चन्द्रमाको गुरु-अपमानका दोष लगा था। यथा—'**ससिगुरतियगामी·······।**' गुरुसे गुरु और गुरुजन दोनों अभिप्रेत हैं। भरतजीने पिता और गुरु दोनोंका कहा न किया।

नोट—५ यह रूपक निम्न मिलानसे स्पष्ट समझमें आ जावेगा।

भरत यश-चन्द्रका प्राकृत चन्द्रसे मिलान

चन्द्रमा	भरत यश-चन्द्र
१—यह पुराना है, इसमें अवगुण बहुत हैं अतएव समल है—बा० २३७ देखिये।	१—***'नव बिधु बिमल तात जस तोरा'*** यह नया है और उपमारहित—***'कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा।'***
२—***'जनम सिंधु'***—भयानक जीवोंसे भरे हुए समुद्रसे जन्म।	२—पिता दशरथ ***'जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भे आइ'*** पुनः, रघुकुलमें जन्म जहाँ इक्ष्वाकु, रघु, मान्धाता, भगीरथ, हरिश्चन्द्र आदि प्रतापी यशस्वी राजा हुए।
३—बंधु, विष और वारुणी।	३—***'राम लषन से भाइ।' 'जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी॥'*** (२६२। ८)
४—***'दिन मलीन'***। सूर्य छवि हरता है। ***ससिछबि हर रविसदन तउ मित्र कहत सब कोइ।'*** (दो० ३२२)	४—***'प्रभु प्रताप रबि छबिहि न हरिही',*** यह चन्द्रयश सदैव रामप्रतापरविके साथ चमकता देख पड़ेगा।
५—***'सकलंक'***। गुरुद्रोही है।	५—***'गुरु अवमान दोष नहिं दूषा'***
६—***'घटइ बढ़इ'***। नित्य उदय-अस्त होता। अमावस-प्रतिपदाको उदय नहीं होता।	६—***'उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटइ न जग नभ दिन दिन दूना॥'***
७—यह नभमें है (सबको सुलभ नहीं)।	७—यह जगत्‌में (सबको सुलभ)
८—***'बिरहिनि दुखदाई।'*** सुख केवल कुछको, वह भी रातमें और सबको दुःखद। दिनमें किसीको सुख नहीं।	८—यह ***'निसि दिन सुखद सदा सब काहू।'*** रामबिरहीको *ये प्राणप्रिय* ***'भा सब कें मन मोदु न थोरा।''''' भरतु प्रानप्रिय भे सब ही कें॥'*** (१८५। १-२) और ***'रघुबर किंकर'*** को विशेष सुखद।
९—***'ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई'*** (बा० २३८। १)	९—***'ग्रसिहि न कैकइ करतब राहू।'*** यथा—***'जो पाँवरु अपनी जड़ताई। तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाई॥ सो सठु कोटिक पुरुष समेता। बसहिं कलप सत नरक निकेता॥'*** (१८४। ६-७)
१०—***'कोक सोकप्रद पंकज द्रोही'***	१०—***'कोक तिलोक प्रीति अति करिहीं।'***
११—चन्द्रमामें मृग सदा (***'ससि महँ प्रगट भूमि कै झाँई')*** यह रोग है।	११—***'जहँ बस राम प्रेम मृगरूपा।'*** यह भवरोगका नाशक है।
१२—इसमें अमृत घट जाता है। चन्द्रमाकी १६ कलाएँ जैसे-जैसे घटती हैं तैसे-तैसे अमृत भी घटता है।	१२—***'पूरन राम सुपेम पियूषा।'*** यथा ***'सियराम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरत को।'***
१३—आकाशमें टँगा, इससे पृथ्वीपर अमृत सुलभ नहीं।	१३—यह जगत्‌में भी सबको रामप्रेमामृत प्राप्त कराता है—***'भरतचरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयरामपद प्रेम अवसि होइ भवरस बिरति॥' 'रामभगत अब अमिय अघाहूँ। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहूँ॥'*** (२०९। ६)
१४—यहाँ देवता अमृत पीते हैं।	१४—यहाँ रामभक्त प्रेमसे पूर्ण होते हैं।

'भरतजीका भरद्वाजसत्कार'

श्रीजामदारजी १—इस प्रसंगका सम्पूर्ण भाग बड़ा ही रमणीय है। उसमें भरद्वाजजीके मुखसे भरतजीके

विषयमें जो प्रशंसा-वचन निकले हैं उनकी रमणीयता **'यतो वाचो निवर्तन्ते'** ऐसी ही है। यह कहना सम्भवतः अतिशयोक्ति मालूम हो, इसलिये हम भरद्वाजजीके भाषणके बिलकुल अन्तकी चौपाइयों (अर्धाली ३ से ६ तक) पर योग्य विचार करनेकी ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। ***'सुनहु भरत·······कहि अस प्रेम मगन मुनि भयऊ।'*** इसमें देखिये कि भरतजीकी स्तुति करते हुए भरद्वाजजीको प्रेमसमाधि लग गयी, फिर **'यतो वाचो निवर्तन्ते'** कहनेमें कौन-सी हानि है?

२—***'कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा। जहँ बस रामप्रेम मृगरूपा॥'*** इति। भरद्वाजजीके भाषणमें कीर्तिचन्द्रका रूपक बहुत ही उत्कृष्ट हुआ है। इस चौपाईमें उस रूपकका हृदय है। भरतजीको चन्द्र बनाकर श्रीरामजीको उसमेंका मृग बना देनेसे रामकीर्ति गौण और भरतकीर्ति प्रमुख हुई। इस रूपकका भाव ऐसा देख पड़ता है कि दशरथादिकोंके यशचन्द्रसे श्रीरामजी भिन्न ही रह सकते थे, परन्तु वे भरत-यशचन्द्रसे भिन्न नहीं रह सकते। इतना ही नहीं किन्तु वे उसमें इतने निमग्न हो गये हैं कि उनका अब बाहर आना ही सम्भव नहीं। फिर भी विशेषता यह है कि वे उसके सामने बिलकुल ही फीके हो गये हैं।

☞ राम-भरद्वाज-संवादकी तुलना करनेपर जो सिद्धान्त निकलते हैं, वे बहुत ही बोधप्रद हैं। इसलिये उन्हें हम यहाँ देते हैं—

(क) भरद्वाजजीको रामजीने भक्तिका वर दिया—***'अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥·······सुनि मुनि बचन रामु सकुचाने। भाव भगति आनंद अघाने॥'*** (१०७। (८)-१०८। १) परन्तु उन्हें रामजी स्वयं भक्ति सिखला न सके। वह सिखलानेवाले उनके गुरु भरतजी ही हुए।

(ख) ईश्वरकी कृपा यहींतक समझना चाहिये कि उसको गुरु और संतसे भेंट होती है। इसके बादका कार्य उसके शक्तिके बाहर है। वह कार्य भक्ति है, और वह केवल संत और गुरुके ही कृपादानसे मिल सकती है। ईश्वर उनके माध्यमके बिना स्वयं नहीं दे सकते।

(ग) रामदर्शनकी अपेक्षा संतदर्शन ही श्रेष्ठ है। क्योंकि यह सिद्धान्त है कि सत्संगके बिना चित्तशुद्धि नहीं होती।

३—***'रामभगत अब अमिय अघाहूँ।·······'*** इति। इस संवादमें गोसाईंजीने यह वाक्य दिया है—***'रामभगत अब·······'।*** यहाँ इस ***'अब'*** शब्दसे तत्पूर्वकालमें भरतजीके प्रेमरूप अमृतका अभाव निदर्शित होता है। यह अभाव वाल्मीकि-रामायणमें स्पष्ट ही देख पड़ता है। इसलिये ***'अब'*** शब्दसे हमें ऐसी ध्वनि निकलती हुई मालूम होती है कि वाल्मीकि ही तुलसीदास हुए और उन्होंने अपनी रामायणकी भक्तिकी न्यूनताको हटा दिया।

भूप भगीरथ सुरसरि आनी। सुमिरत सकल सुमंगल खानी॥ ७॥
दसरथ गुनगन बरनि न जाहीं। अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं॥ ८॥

दो०—जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ।
जे हर हिय नयननि कबहुँ निरखे नहीं अघाइ॥ २०९॥

अर्थ—(आपके पूर्वज कैसे थे सो सुनिये) भगीरथजी महाराज गंगाको लाये, जिनका स्मरण करते ही सम्पूर्ण सुन्दर मंगलोंकी खानि प्राप्त हो जाती है॥ ७॥ दशरथमहाराजके गुणसमूह वर्णन नहीं किये जा सकते। अधिककी तो चर्चा ही क्या? जिनके समान भी संसारमें कोई नहीं है॥ ८॥ जिनके प्रेम और संकोचके वश ***'राम'*** आकर प्रकट हो गये कि जिनको भगवान् शंकरजी अपने हृदयके नेत्रोंसे कभी अघाकर नहीं देख पाये॥ २०९॥

नोट—१ ऊपर जो कहा था—***'कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहूँ',*** उसीपर अब दृष्टान्त देते हैं कि तुम्हारे कुलकी यह परम्परा चली आयी है। हमने मुँहदेखी-सी तुम्हारी बड़ाई नहीं की है। तुम्हारा कुल ऐसा ही उपकार करता आया है। भगीरथजी गंगाजीको लाये, वे आपसे न आतीं।

नोट—२ *'जासु सनेह सकोच बस'*—मनुप्रकरणमें स्पष्ट है। स्नेहवश, यथा—*'दंपति बचन परम प्रिय लागे। मृदुल बिनीत प्रेम रस पागे॥ भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥'* (१। १४६। ७-८) *'देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥ आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥'* संकोच, यथा—*'सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही॥'* (१। १४९। ८) *'आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥'* (१। १५०। २) यही संकोच प्रकट करता है।

नोट—३ उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन करते जाते हैं। गंगासे श्रेष्ठ रामजी, श्रीरामजीसे श्रेष्ठ राममें प्रेम; क्योंकि वह रामभक्ति-रसायन सब दिन प्रत्यक्ष रहता है। गंगामें देशका नियम है, जहाँ हैं, वहाँ जाकर स्नान करे तब पावन हो और राममें कालका नियम है, क्योंकि ११ हजार वर्षके लिये वे प्रकट हुए; पर रामप्रेमके लिये देश-कालका नियम नहीं। महादेवजी हृदयके नेत्रोंसे ही ध्यान लगाये देखा करते हैं, तृप्त नहीं होते। आपने कीर्तिचन्द्रमाको प्रकट किया, जहाँ रामप्रेम नित्य प्राप्त है। (२१०। १) भी देखिये।

कीरति बिधु तुम्ह कीन्हि अनूपा। जहँ बस राम पेम मृगरूपा॥ १॥
तात गलानि करहु जिय जाए। डरहु दरिद्रहि पारसु पाए॥ २॥
सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥ ३॥
सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥ ४॥
तेहि फल कर फलु दरसु तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥ ५॥
भरत धन्य तुम्ह जस जगु जएऊ। कहि अस पेम मगन मुनि भएऊ॥ ६॥

शब्दार्थ—**पेम**=प्रेम। **जएऊ**=जीत लिया—(सं० जयन्से)=उत्पन्न किया—(रा० प्र०, पु० रा० कु०)

अर्थ—(और) तुमने कीर्तिरूपी अनुपम (उपमारहित, अनोखा, अनूठा) चन्द्रमाको उदित किया जिसमें रामप्रेमरूपी हिरन बसता है॥ १॥ हे तात! तुम व्यर्थ मनमें ग्लानि करते हो, पारसको पाकर भी दरिद्रतासे डरते हो॥ २॥ हे भरत! सुनो, हम झूठ नहीं कहते (क्योंकि) हम विरक्त हैं, तपस्वी हैं और वनमें रहते हैं॥ ३॥[1] सब साधनोंका परमोत्तम फल श्रीसीता-राम-लक्ष्मणका दर्शन (है सो) हमने पाया॥ ४॥ इस फलका चरम फल तुम्हारा दर्शन हुआ, प्रयागसहित यह हमारा सौभाग्य है॥ ५॥ हे भरत! तुम धन्य हो, तुमने अपनी कीर्तिसे जगत्‌को जीत लिया अर्थात् तुम्हारा-सा यश संसारमें किसीको प्राप्त नहीं हुआ[2] ऐसा कहकर मुनि प्रेममें मग्न हो गये॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'कीरति बिधु तुम्ह कीन्हि अनूपा।……'* इति। (क) एकने गंगाको प्रकट किया, दूसरेने उन्हींको प्रकट किया कि जिनसे गंगाकी उत्पत्ति है और तुमने यह कीर्तिचन्द्र प्रकट किया जिसकी उपमा है ही नहीं। यह कार्य उन दोनोंसे भी बढ़कर हुआ—२०९ देखिये। क्योंकि तुम्हारे कीर्तिचन्द्रमें रामप्रेमका नित्य निवास है, जैसे चन्द्रमामें मृगका, जिससे उसका नाम मृगांक पड़ा। (ख) प्रेमका रंग श्याम, मृगांक श्याम। चन्द्रमा और मृगांकका नित्य सम्बन्ध, वैसे ही तुम्हारी कीर्ति और रामप्रेमका नित्य सम्बन्ध। भाव यह है कि तुम्हारी कीर्तिके गानसे रामप्रेमकी प्राप्ति सब देशों और सब कालोंमें होगी, यथा *'भरत चरित करि नेम तुलसी जो सादर सुनहिं। सीय राम पद प्रेम अवसि होइ भव रस बिरति॥'* (३२६) यह विशेषता दोनों महाराजोंसे भी आपमें अधिक है। [लांछनकी श्यामता ही प्रेम है। मृग वाहन है, जहाँतक चाहो ले जाओ—(खर्रा)। चन्द्रमा गगन-मण्डल अर्थात् एक बनी हुई दिशामें ही घूमता है, उनके वाहन ऐसे तेज नहीं हैं और रामप्रेम जो तुमपर है वह इस कीर्तिचन्द्रको पलमात्रमें चौदहों भुवनोंमें घुमानेवाला है। (वै०)]

१-दूसरा समुच्चय अलंकार है।
२-कारणमाला और सारकी संसृष्टि है।

श्रीनंगे परमहंसजी—भरतजीके कीर्तिचन्द्रमें उनका जो श्रीरामविषयक प्रेम है वही मृग है। उसी प्रेमको भरद्वाजजी पारस कह रहे हैं। यदि कोई शंका करे कि पूर्व तो कहा है—***'पूरब राम सुपेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहिं दूषा॥'*** तब यहाँ पुनः भरतजीके रामप्रेमको ही मृग कहनेसे पुनरुक्ति होगी; तो समाधान यह है कि पूर्वप्रसंगमें चन्द्रमाके सब अंगोंका रूपक ग्रन्थकारने भरतयशमें घटाया है। उस प्रसंगको समाप्त करके फिर दूसरा प्रसंग भरतजीकी वंशावलीको उठाकर भरतजीकी कीर्तिकी बड़ाई की है—***'भूप भगीरथ·······मृगरूपा'*** तक। अतः भरतप्रेमके दो प्रसंग हैं—***'नव बिधु बिमल तात जस तोरा।'*** और ***'कीरति बिधु तुम्ह कीन्हि अनूपा।'*** दो प्रसंग होनेसे पुनरुक्ति नहीं है।

टिप्पणी—२ ***'डरहु दरिद्रहि पारसु पाए'*** इति। यहाँ रामप्रेम पारस और कलंक दारिद्र्य है, कलंकका शोच और डर है। पारस जिसके पास हो उसे दारिद्र्यका भय नहीं, क्योंकि वह तो जितना सोना चाहे उतना बना ले और सहज ही, लोहामें स्पर्श हुआ कि वह सोना हो गया। भाव यह कि इस रामप्रेमद्वारा जो-जो कलंक तुमको लग सकता है, वह सब सुवर्णवत् भूषणरूप हो गया। इससे यह भी जनाते हैं कि भरतजीके पास पारस है, पर वे भूले हुए हैं अथवा उसके गुणको भूले हैं। उसीको भरद्वाजरूपी जौहरी वा ज्योतिषीने बतला दिया।

नोट—१ ***'सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं।·······'*** इति। झूठ नहीं कहते इसका कारण देते हैं कि हम उदासी इत्यादि हैं। हमारे शत्रु या मित्र नहीं, किसीके शत्रु हों और किसीके मित्र तो मित्रके लिये लोग झूठ बोल देते हैं। पुनः तपस्वी हैं। तपस्वियोंका एक नियम यह है कि झूठ न बोलें। उसपर भी हम वनमें रहते हैं, यहाँ बसनेसे हमें किसीका भय नहीं, किसीसे भोजन भी नहीं लेना; यहाँ स्वतः फल-फूल सब मिलते हैं; अतएव किसीसे झूठ बनाकर कहनेका प्रयोजन ही क्या? (मुं० रोशनलाल)

टिप्पणी—३ ***'सब साधन कर सुफल सुहावा।·······'*** इति। सर्व (चतुष्टय आदि) साधनोंका फल मुनि स्वयं श्रीरामजीसे कह चुके हैं—१०७ (५—७) देखिये। कौन-कौन साधन सफल हुए यह भी वहाँ कहे—तप, तीर्थ, त्याग, जप, योग, वैराग्य इत्यादि ***'सकल सुभ साधन।'—'सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू॥'*** [किसीका ऐसा मत है कि वहाँ तीन बार सुफल कहा—***'आज सुफल तप तीरथ त्यागू', 'आज सुफल जपजोग बिरागू'*** और ***'सफल सकल सुभ साधन साजू।'*** प्रथम तप-तीर्थ-त्याग-कर्मकाण्डसे श्रीलक्ष्मणदर्शन, जप-योग-वैराग्य और उपासनाका फल श्रीसीताजीका दर्शन और सकल शुभ साधनका फल रामदर्शन।]

टिप्पणी—४ ***'तेहि फल कर फलु·······।'*** फलका फल क्या है? फलका भोग करना। श्रीरामदर्शनरूपी फल मिला। उस फलका भोग है उनकी भक्ति करना, उनमें प्रेम करना। फल प्राप्त हुआ और उसे खाया नहीं तो वह फल निष्फल होता है। तात्पर्य कि श्रीरामजीमें कैसा प्रेम करना चाहिये वह आपसे मिला। आपका दर्शन उनके दर्शनफलका भी फल है, आपने हमें दिखा दिया कि इस प्रकारसे भक्ति करनी चाहिये। उस फलका स्वाद हमको आपके द्वारा मिला, हमने जान लिया कि श्रीरामजी ऐसे प्रेमके वश हैं।

नोट—२ ***'सहित पयाग सुभाग हमारा'*** अर्थात् कुछ हम ही नहीं कृतार्थ हुए; किंतु प्रयाग जो दूसरोंको कृतार्थ करनेवाला है, स्वयं भी आपके दर्शनसे अपनेको कृतार्थ मानता है। यह भागवतदर्शनका गौरव दिखाया। (रा० प्र०) भगवत्से भागवत अधिक है, यह सिद्धान्त यहाँ दिखाया, यथा—'**गीतादिस्तवपाठेन गोविन्दस्य च कीर्तनात्। साधोर्दर्शनमात्रेण कोटितीर्थफलं लभेत्॥ तिस्त्रः कोट्यर्द्धकोटीश्च तीर्थानि भुवनत्रयम्। वैष्णवाङ्‌घ्रिजलात्पुण्यकोटिभागेन नो समः॥**' (स्कन्द० १। २) पुनः ***'मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा।'*** (१२०) (वै०)

वि० त्रि०—***'सुनहु भरत·······सुभाग हमारा॥'*** इति। भाव यह कि जो बात हम कहनेवाले हैं, उसपर एकाएक लोगोंका विश्वास न होगा, समझेंगे कि ठकुरसोहाती कहते हैं, स्तुति कर रहे हैं, परंतु ऐसी बात तो सांसारिक लोग करते हैं, जिन्हें दूसरोंसे भय या आशा रहती है, हम लोग तो निरपेक्ष

हैं, संसारको छोड़कर वनमें रहते हैं, हमें न किसीसे भय है और न आशा है, हमारा तो सत्य ही धन है, सत्यसे विचलित हों तो तपस्या ही निष्फल हो जाय, यथा—'**सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।**' सत्यमें प्रतिष्ठा होनेसे ही क्रियाके फलको आश्रय मिलता है, अत: जो मैं कहता हूँ उसमें मिथ्याका लेश भी नहीं है।

श्रीरामजीके दर्शनके महत्त्वसे बढ़कर किसीके दर्शनका महत्त्व हो नहीं सकता, क्योंकि जन्मका साफल्य तो उन्हींके दर्शनसे है, यथा—*'राम चरन बारिज जब देखौं। तब निज जन्म सफल करि लेखौं॥'*, सो मुझे प्राप्त हुआ, मैंने समझ लिया कि मेरे सब साधन सफल हो गये, यथा—*'आज सुफल तप तीरथ त्यागू। आज सुफल जप जोग बिरागू॥ सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहि अवलोकत आजू॥'* (१०७। ५-६)

सो श्रीरामजीका दर्शन सब साधनोंका फल था, पर उस दर्शनका भी तो कोई फल होना चाहिये, वह स्वयं क्या निष्फल होगा? तो उसका फल तुम्हारा दर्शन है, क्योंकि तुम शरीरधारी रामप्रेम हो। (यथा—*'तुम्ह तउ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू'*) तुम्हारी कीर्तिरूपी चन्द्रसे जगत्‌का इतना बड़ा उपकार हुआ, जितना न तो गंगाजीसे हुआ और न स्वयं रामावतारसे हुआ, तुम्हारे कीर्तिचन्द्रद्वारा सब देशमें, सब कालमें रामचन्द्रके प्रेमका दर्शन सुलभ हो गया। '**परोपकारकैवल्ये तोलयित्वा जनार्दनः। गुर्वीमुपकृतिं मत्वा अवतारान् दशागृहीत्॥**' परोपकार और कैवल्य मोक्षको जनार्दनभगवान्‌ने तौला, तो परोपकारका पलड़ा भारी पड़ा, अत: उन्होंने दस बार अवतार धारण किया। सो तुम्हारा दर्शन भगवद्दर्शनका भी फल है।

तुम्हारे दर्शनसे मैं तो कृतार्थ हुआ ही, स्वयं तीर्थराज कृतार्थ हो गये। यथा—'**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि**' (ना० सू०), *'सुरतीरथ ताहि मनावत आवत पावन होत हैं ता तन छै।'* (क० ७। ३४)

नोट—३ पूर्व कहा था कि *'राम तुम्हहिं अवलोकत आजू'* और यहाँ कहते हैं—*'लषन राम सिय दरसन पावा।'* दोनोंका समन्वय यों होता है कि वहाँ श्रीलक्ष्मण-सीताजी साथ थे। *'राम तुम्हहिं'* से तीनोंका भाव लेना चाहिये। जैसे वाल्मीकिजीने १४ स्थानोंमेंसे बहुत स्थानोंपर *'राम बसहु'* ही कहा, पर उससे तीनोंको सूचित करते रहे हैं और यहाँ वे तीनों सामने प्राप्त नहीं, इससे यहाँ तीनोंका नाम दिया।

नोट—४ *'भरत धन्य तुम्ह जगु जस जएऊ।……'* इति। (क) जगत्‌को अपने यशसे जीत लिया, यथा—*'तीन काल तिभुवन मत मोरे। पुन्यसिलोक तात तर तोरे॥'* (२६३। ६) (पं० रा० कु०) तुमने जगत्‌में यश (कीर्तिचन्द्र) को उत्पन्न किया। (रा० प्र०) धन्य अर्थात् तुम धन्य हो, सुकृती हो, पुण्यवान् हो, तुम्हारा जीवन सफल है इत्यादि। (ख) *'कहि अस प्रेम मगन मुनि भयऊ'* अर्थात् यश कहते-कहते प्रेमकी समाधि लग गयी—'**यतो वाचो निवर्तन्ते**' चरितार्थ हुआ। (श्रीजामदारजी २०९। ४—६ देखिये)

टिप्पणी—५ इस प्रकरणका उपक्रम *'नवबिधु बिमल तात जस तोरा।'* (२०९। १) और उपसंहार यहाँ *'भरत धन्य तुम्ह जगु जस जएऊ'* है।

मा० हं०—'भरतचरित्रका उत्तर रंग तुलसीदासजीके भाव और भाषारूपी जादूगरीका एक अपूर्व दृश्य है, जिसमें प्रवेश करते कुशल-बुद्धिको भी बिलकुल विवश होना पड़ता है, इस समझसे यहाँ भरतचरित्रके उत्तर रंगका अल्प-सा दिग्दर्शन करा देते हैं। रामजी प्रभृति महानुभावोंपर भरतजीके विचार और आचारका जो परिणाम होता रहा उसका वर्णन इस भागमें है। थोड़े ही यत्नसे देखनेपर इस परिणामका मूलतत्त्व रामजी और भरतजीकी परस्पर कृतज्ञताकी भावनाके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, यही प्रतीत होगा। पश्चात् ऐसा विदित होगा कि उसी भावनाके कारण रामजी और भरतजीके सभी परस्पर व्यवहारोंको वे परस्परोंका ऋण समझते गये और उस ऋणके उत्तीर्णतामें (रामजी और भरतजी) परस्परोंको प्रकाशमें लाते गये। सारांश इस भागमें भरतजी और रामजीका परस्पर सम्बन्ध और व्यवहार ध्वनि-प्रतिध्वनि, क्रिया-प्रतिक्रिया अथवा पदार्थ और उसकी छाया ऐसे ही प्रतीत होते जाते हैं। यही इस उत्तर रंगका अद्भुत रस है, जिससे पाठकोंको केवल मन्त्रमुग्धता प्राप्त होती है।

हमारे कथनकी सत्यता जिसे देखनी हो उसे विशेष करके भरत-भरद्वाज-संवादसे आलोचना करनी

चाहिये। हमारी दृष्टिसे स्वामीजीने इस संवादकी रचना भरतजीके वनचरितकी प्रस्तावना समझके ही की है, जिससे कि राम-भरतजीके आगामी चरित्रोंपर प्रकाश होता जावे। इस संवादमें उन्होंने रामजीका जगत्कर्तृत्व और भरतजीका जगद्गुरुत्व इन दोनों गोप्यचरित्रोंका प्राकट्य बड़े ही प्रेममें मग्न होकर कर दिया, जिसके कारण सारे संसारको उन्होंने चिरंतन उपकृत कर रखा है।

प्रस्तुतमें हमें भरतजीके जगद्गुरुत्वसे ही प्रयोजन है। इसलिये उसीका विचार यहाँ किया जायगा। भरतजीकी प्रशंसा भरद्वाजजीने इस प्रकार की है—*'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥' 'तेहि फल कर फलु दरसु तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥'* इसमें भरद्वाजजीने भरतजीको रामजीसे भी अधिकतर मान्यवर समझा है और इसी कारण उन्होंने उनकी (भरतजीकी) निम्न प्रकारसे दीक्षा ली-सी दिखाती है—*'तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु।'*........ '

सुनि मुनि बचन सभासद हरषे। साधु सराहि सुमन सुर बरषे॥ ७॥
धन्य धन्य धुनि गगन पयागा। सुनि सुनि भरतु मगन अनुरागा॥ ८॥
दो०—पुलक गात हियँ रामु सिय सजल सरोरुह नयन।
करि प्रनामु मुनि मंडलिहि बोले गदगद बयन॥ २१०॥

शब्दार्थ—**सभासद**=जो सभामें सम्मिलित हो और जिसे वहाँ बोलनेका अधिकार हो, सदस्य, सामाजिक लोग।

अर्थ—मुनिके वचन सुनकर सब सभासद् प्रसन्न हुए, साधुवाद (शाबाश-शाबाश, धन्य हो, धन्य हो, सत्य है, सत्य है) द्वारा सराहना करके देवताओंने फूल बरसाये॥ ७॥ आकाश और प्रयागमें 'धन्य-धन्य' का शब्द सुन-सुनकर भरतजी प्रेममें मग्न हैं॥ ८॥ शरीरमें पुलकावली हो रही है, हृदयमें श्रीसीतारामजी हैं, कमल-समान नेत्रोंमें जल भरा है—मुनिमण्डलीको प्रणाम करके वे गद्गद वचन बोले॥ २१०॥

नोट—१ *'सुनि मुनि बचन सभासद हरषे।'* (क) चारों वर्णाश्रमके लोग वहाँ एकत्रित थे, ये वे ही हैं जिनका आना पूर्व कहा जा चुका है। यथा—*'प्रमुदित तीरथराज निवासी। बैखानस बटु गृही उदासी॥'* (२०६। १) वे ही *'सभासद'* हैं। (पु० रा० कु०) हर्षका कारण मुनिका सत्य भाषण, उसमें भी विशेषत: *'सहित पयाग सुभाग हमारा'* और *'धन्य तुम्ह जस जगु जएऊ'* ये अन्तिम वचन हर्षके कारण हुए। इस हर्षसे *'सहित पयाग सुभाग'* को उन्होंने सत्य कर दिखाया, मुनिके वचनोंकी दाद दी। देवताओंने भी फूल बरसाकर मुनिके वचनोंकी सत्यता प्रकट की। बैजनाथजी सभासद्से केवल मुनिसमाजको लेते हैं—'सत् महात्माओंकी सभा भक्तिरस-साने वचन सुनकर प्रसन्न हुए।'

(ख) 'साधु-साधु' इस पदका व्यवहार किसीके बहुत उत्तम कार्य करनेपर किया जाता है। यथा—*'मोर बचन सबके मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥'* (१।१८५।८) *'सहज सरल सुनि रघुबर बानी। साधु साधु बोले मुनि ग्यानी॥'* (१२६।७) *'स्तुति सुनि मन हर्ष बढ़ायो। साधु साधु कहि सुरन सुनायो॥'* (सूर) वही *'सबके मन माना'* वाला भाव यहाँ है।

नोट—२ *'धन्य धन्य धुनि गगन पयागा।*........ 'इति।—आकाशमें देववृन्द और प्रयागमें सभी लोग जो वहाँ थे, वे सब-के-सब धन्य-धन्य कह रहे हैं; अतएव पृथ्वीसे आकाशतक ध्वनि फैली है। भरतजी इसे प्रभुकी कृपा समझ उनके प्रेममें मग्न हो जाते हैं—प्रभु धन्य हैं कि मुझ-से अपराधीको बड़ाई दिला रहे हैं। उनको किंचित् अहंकार नहीं हुआ—(पं०)। प्रेममें मग्न हैं (वह दशा दोहेमें दिखाते हैं), इसीसे गद्गद वचन बोले, कण्ठ भर आनेसे स्पष्ट वचन नहीं निकलते।

मुनि समाजु अरु तीरथराजू। साँचिहु सपथ अघाइ अकाजू॥ १॥
एहि थल जौं किछु कहिअ बनाई। एहि सम अधिक न अघ अधमाई॥ २॥
तुम्ह सर्बग्य कहउँ सतिभाऊ। उर अंतरजामी रघुराऊ॥ ३॥

मोहि न मातु करतब कर सोचू। नहि दुखु जियँ जग जानहि[1] पोचू॥ ४॥
नाहिन डरु बिगरहि[2] परलोकू। पितहु मरन कर मोहि[3] न सोकू॥ ५॥

अर्थ—मुनियोंके समाज और (उसपर भी) तीर्थराज प्रयाग (ऐसे स्थल) में सच्ची कसम भी खानेसे भरपूर अनर्थ होता है॥ १॥ फिर यदि इस स्थानपर कुछ झूठ बनाकर कहा जाय तो इसके समान कोई बड़ा पाप और नीचता या अधर्म न होगा॥ २॥ मैं सत्य भावसे कहता हूँ, आप सर्वज्ञ हैं और रघुराई श्रीरामजी हृदयके भीतरकी जाननेवाले हैं अर्थात् यदि मैं झूठ कहूँ तो आपसे और श्रीरामजीसे छिप नहीं सकता[4]॥ ३॥ मुझे माताकी करनीका सोच नहीं, जीमें इसका भी दुःख नहीं कि संसार मुझे पोच (नीच, बुरा) समझेगा॥ ४॥ न इसका ही डर है कि मेरा परलोक बिगड़ जायगा और पिताके भी मरनेका मुझे शोक नहीं॥ ५॥

नोट—१ ***'मुनि समाजु अरु तीरथराजू।'''''' '*** इति। भाव कि सत्य शपथ करनेसे ही जब भरपूर अनिष्ट वा अकल्याण होता है तो झूठ भाषणमें न जाने क्या होगा? उसके समान पाप और अधर्मका अनुमान भी कोई नहीं कर सकता। और यहाँ दोनों मौजूद हैं—मुनियोंका समाज भी है और तीर्थराज भी।

पु० रा० कु०—१ (क) अकाज यह कि और किसीकी शपथसे दोनोंका अपमान होता है। उससे सिद्ध होता है कि शपथ करनेवालेने इनको कुछ समझा ही नहीं। (ख) किसी ब्राह्मणसे भी झूठ न बोलना चाहिये, फिर भला मुनिसमाजमें उसपर भी तीर्थ और तीर्थ ही नहीं तीर्थोंके राजाके यहाँ तो शपथ ही न करना चाहिये। ***'एहि सम अधिक'***=न इसके समान कोई पाप है और न इससे बड़ा[5]। ***'अघ अधमाई'*** दो शब्द देकर लोक-परलोक दोनोंको बिगाड़नेवाला इससे बढ़कर नहीं है, यह जनाया। अघसे परलोक नष्ट हुआ, नरकमें पड़ा और इस लोकमें अधर्मी कहलाया। इसपर भी आप सर्वज्ञ हैं। बनाकर कहें भी तो उससे जो जान न सके और जिससे झूठ छिप नहीं सकता उससे कैसे कोई बात बनाकर कहेगा। अतएव सच्चे भावसे कहता हूँ, इसे आप जान सकते हैं। और रहा अन्तःकरणमें कपट तो नहीं है, यह ***'रघुराऊ'*** जानते हैं, वे अन्तर्यामी हैं।

नोट—२ मुनिने कहा था ***'सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥'*** उसीको लक्ष्यकर भरतजीने ये वचन कहे। उन्होंने अपने सत्य-भाषणमें तीन कारण दिये—उदासीनता, तपस्या और वनवास। इन्होंने भी तीन अथवा एक और अधिक कारण दिये—मुनि समाज और तीर्थराज, तुम्ह सर्वज्ञ, अन्तर्यामी रघुराऊ। वहाँ ***'हम झूठ न कहहीं'*** यहाँ ***'जौं किछु कहिअ बनाई। एहि सम अधिक न अघ अधमाई॥'*** विशेषता यहाँ यह भी है कि मुनिने कहा था कि हम 'झूठ' नहीं बोलते और आप कहते हैं कि 'सत्यकी शपथ' भी करना हम पाप समझते हैं। मुनिने जो-जो कहा सबका उत्तर यहाँ दिया है।

मुनिके वचन	उत्तर
गलानि जनि करहु समुझि मातु करतूति	***मोहि न मातु करतब कर सोचू।***
तुम्हार अलप अपराधू कहइ सो अधम०	***नहिं दुख जग जानहि पोचू।***
तुम्हार बिमल जस गाई पाइहि लोकहु०	***नाहिन डरु बिगरहि परलोकू।***
रामगवन बन अनरथमूला	***पितहु मरन कर नाहिन सोचू।***

बै०—***'जो बोवै सो काटै'*** अतः माताकी करनीका सोच नहीं, उसका पुत्र मानकर कोई बुरा कहे तो उसकी भी चिन्ता नहीं। माताके सम्बन्धसे नरक जाना पड़े इसका डर नहीं, प्रभुकी इच्छा ही होगी। पिताका सोच नहीं क्योंकि श्रीसीतारामजी माता-पिता बने हुए हैं—परमार्थ देशमें।

१-जानिहि—गी० प्रे०।
२-बिगरिहि—गी० प्रे०।
३-पाठान्तर—नाहिन।
४-परिकरांकुर अलंकार है।
५-वा, यथासंख्यसे—'पहलेके समान और इससे बड़ा'-(खर्रा)

सुकृत सुजस भरि भुवन सुहाए। लछिमन राम सरिस सुत पाए॥ ६॥
राम बिरह तजि तनु छनभंगू। भूप सोच कर कवन प्रसंगू॥ ७॥
राम लषन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनिबेष फिरहिं बन बनहीं॥ ८॥
दो०—अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात।
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥ २११॥

शब्दार्थ—'**छनभंगू**' (क्षणभंगुर)=क्षण या पलभरमें नष्ट होनेवाला। 'भंगुर'=भंग होनेवाला, नाशवान्। '**अजिन**'=छाल,कृष्णमृग और व्याघ्र आदिका चर्म, वल्कल।

अर्थ—उनका सुन्दर पुण्य और सुयश लोकोंमें भरपूर सुशोभित हो रहा है[1] (कि उन्होंने) श्रीराम-लक्ष्मण-सरीखे पुत्र पाये और श्रीरामचन्द्रजीके विरहमें इस नाशवान् शरीरको छोड़ दिया (अतएव) राजाके लिये सोच करनेकी बात या चर्चा ही क्या?॥ ६-७॥ श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी बिना जूतीके, मुनिवेष बनाये हुए वन-वनमें फिर रहे हैं॥ ८॥ वल्कलवस्त्र पहने, फल खाते, पृथ्वीपर कुश और पत्ते बिछाकर सोते और वृक्षोंके नीचे बसकर नित्य ही जाड़ा-पाला, गर्मी, वर्षा और पवन (के झँकोरे) सहते हैं॥ २११॥

नोट—१ ***'लछिमन राम सरिस।'*** यहाँ अपनेको नहीं कहते; क्योंकि अपनेको तो ***'महीं सकल अनरथ कर मूला।'*** (२६२। ३), ***'मैं सठु सब अनरथ कर हेतू।'*** (१७९। ५) कहते हैं। पुनः, उन्होंने आज्ञा मानी, मैंने आज्ञा न मानी, तो मैं कैसा पुत्र! मुनिजीने तो केवल 'रामजी' को कहा था, इन्होंने लक्ष्मणजीको भी कहा। यह विशेषता है। शत्रुघ्न अपने अनुगामी हैं इससे उनको भी न कहा। बैजनाथजीका मत है कि ***'सरिस'*** पदसे चारोंको कह दिया—'लक्ष्मण-सरिस शत्रुघ्न, राम-सरिस भरत'—पर यह अर्थ सुसंगत नहीं है।

नोट—२ ***'भूप सोच कर ·······'*** इति। ***'कवन प्रसंगू'*** का भाव कि जीते-जी यश रहा, मरनेपर भी 'सत्यप्रेम' आदिका यश पाया। यथा—***'बंदौं अवध भुआल सत्यप्रेम जेहि राम पद। बिछुरत दीन दयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥'*** (१। १६) और शरीर तो एक-न-एक दिन छूटता ही, अतः मृत्युका भी सोच क्या? मिलान कीजिये ***'सोच जोग दसरथ नृप नाहीं।'*** (१७२। २) से ***'सब प्रकार भूपति बड़भागी।'*** (१७४। १) तक। वही सब भाव यहाँ लगा लीजिये। ***'छनभंगु सरीरा'***—(१९०) (३) देखिये। यहाँतक बताया कि हमारे सोचका जो कारण आप समझते हैं वह नहीं है।

नोट—३ ***'राम लषन सिय बिनु पग पनहीं······· ।'*** इति। (क) अब बताते हैं कि हमें क्या सोच है, क्या दुःख है। एक अर्धाली और दोहेमें इसे कहकर फिर कहा है—***'एहि दुख दाह दहइ दिन छाती।'*** पवन तीनों ऋतुओंकी दुःखद होती है, इसीसे अन्तमें 'बात' पद दिया अर्थात् जाड़ा-पालाकी हवा, गर्मीकी लू और वर्षाकी झकोरें, जिसमें बूँदें बर्छी-सी देहमें लगती हैं। वा, (ख) हिममें जाड़ा-पाला, ग्रीष्ममें तीक्ष्ण घाम और वर्षामें जल। (वै०)

एहि दुख दाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नीद न राती॥ १॥
एहि कुरोग कर औषधु नाहीं। सोधेउँ सकल बिस्व मन माहीं॥ २॥
मातु कुमत बढ़ई अघमूला। तेहि हमार हित कीन्ह बँसूला॥ ३॥
कलि कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रू। गाड़ि अवधि[2] पढ़ि कठिन कुमंत्रू॥ ४॥
मोहि लगि यहु कुठाटु तेहिं ठाटा। घालेसि सबु जगु बारहँ बाटा॥ ५॥
मिटइ कुजोगु राम फिरि आएँ। बसइ अवध नहिं आन उपाएँ॥ ६॥

१-दूसरा अर्थ—'उनके पुण्य और सुयशसे भरकर सब लोक सुशोभित हो रहे हैं।'
२-पाठान्तर—'अवध'।—(भ० दा०)।

शब्दार्थ—'**दिन**'=प्रतिदिन, नित्यप्रति। '**बँसूला**'=बढ़ईका एक औजार जिससे वह लकड़ी काटता, छीलता और बनाता है। '**कलि**'=कलह, आपसकी फूट या बिगाड़। '**कुजंत्र**'=बुरा यन्त्र, बुरी खूँटी, अभिचार, टोटका। 'बारह घाट घालना वा करना'—(यह मुहावरा है)=भिन्न-भिन्न करना, तितर-बितर या नष्ट-भ्रष्ट कर देना, यथा—***'लंक असुभ चरचा चलति हाट बाट घर घाट। रावन सहित समाज अब जाइहि बारह बाट॥'*** (रामाज्ञाप्रश्न सर्ग ५। ३७) ***'राज करत बिनु काजहीं ठटहिं जे कूर कुठाट। तुलसी ते कुरुराज ज्यौं जैहैं बारह बाट॥'*** (दो० ४१७) '**बाट**'=रास्ता। '**घालेसि**'=कर डाला, चलाया, फेंका, यथा—***'केहिके बल घालेसि बन खीसा।'***

अर्थ—इसी दुःखकी जलनसे नित्य मेरी छाती जलती है, न दिनमें भूख (लगे) न रातमें नींद (आवे)॥ १॥ इस कुरोगकी दवा नहीं, मैंने अपने मनमें सारा ब्रह्माण्ड खोज डाला॥ २॥ माता (कैकेयी) का कुमत (बुरा विचार, बुरा मन्तव्य) पापका मूल (अर्थात् बड़ा पापी वा पापकी जड़) बढ़ई है। उसने हमारे हितको अपना बसूला बनाया॥ ३॥ और कलहरूपी कुत्सित (बबूर-बहेड़ेकी) लकड़ीका कुयन्त्र बनाया और कठिन कुमन्त्र पढ़कर अवधमें अवधिभरके लिये उस 'जोग' को गाड़ दिया॥ ४॥ उसने वह सब कुठाट मेरे लिये सजा और सारे संसारको 'बारह बाट किया'॥ ५॥ यह कुयोग श्रीरामचन्द्रजीके लौट आनेसे ही मिटेगा और तभी अयोध्या बस सकती है, दूसरे किसी भी उपायसे नहीं बस सकती॥ ६॥

नोट—१ ***'एहि दुख दाह दहइ दिन छाती।……'*** इति। छातीका जलना इससे समझते हैं कि न तो भूख ही लगती है और न नींद ही आती है। अन्तःकरणमें गर्मी होनेसे ऐसा होता ही है। यहाँ दिखाते हैं कि भरतजी श्रीरामजीके दुःखमें दुःख मानते हैं और उनके सुखमें सुख। इसीसे कहते हैं कि ***'एहि कुरोग कर औषधु नाहीं।'*** साधारण रोग हो जिससे भूख न लगे, नींद न पड़े तो दवा भी हो जाय, पर यह असाध्य है; क्योंकि वनमें रहनेपर उनको सुख मिल नहीं सकता और हमारा दाह जा नहीं सकता।

वि० त्रि०—***'अजिन बसन……नीद न राती……मनमाहीं।'*** इति। भरतजी भी जो कहनेवाले हैं, उसपर भी सहसा सामान्य लोगोंका विश्वास न होगा। अतः वे शपथ लेकर कहते हैं कि आपने माताकी करतूत तथा मेरे कलंकका निराकरण किया तो उन बातोंका मुझे सोच नहीं है। मेरे ऊपर जो बीते मुझे मंजूर है। अपयश होनेसे यह लोक बिगड़े, पिताका वचन न माननेसे परलोक बिगड़े, इसका भी मुझे डर नहीं है। मेरा कलेजा तो राम-जानकीके दुःखको समझकर जला जाता है।

इस संसारमें अन्न-वस्त्रका दुःख सबसे बड़ा दुःख है। जाड़ा-गर्मी-बरसातसे अपनेको बचानेके लिये दीन-हीन प्राणी भी उपाय करता ही है। रात्रिके विश्रामके लिये उसे भी टूटी खाट मिल ही जाती है, पर मेरे प्रभुको आज इन सब वस्तुओंका घाटा है। रूखा तथा कठिन स्पर्श मृगचर्म पहनते हैं, कटु कषाय वन्यफल खाते हैं, रातको कुश और पत्तोंपर सोते हैं। गर्मी, सरदी और बरसातसे बचनेका कोई उपाय नहीं है। यह दुःख मुझे बड़ा भारी है। इसकी दवा नहीं है। सारे विश्वमें मन दौड़ाया, कहीं ठहरता नहीं।

भाव यह कि मुझे तो मिला नहीं, सम्भव है कि आप-जैसे महात्माके पास हो, इसी बातको लक्ष्य करके महात्मा भरद्वाजने कहा कि ***'तात करहु जनि सोच बिसेषी। सब दुख मिटिहि राम पद देखी॥'***

नोट—२ यहाँ शत्रुदमन अभिचार-प्रयोगका रूपक बाँधा गया है। वह उत्सादन या उन्मादन प्रयोग है। 'अभिचारकल्पसूत्र' एवं तन्त्रशास्त्रमें प्रयोगोंका विवरण है। बैजनाथजीने विस्तृत रूपसे दिया है—'उन्मादन-यन्त्रकी रीति यह है कि शत्रुके अनिष्टके लिये निकृष्ट मासमें जब कृष्णपक्षकी षष्ठी, अष्टमी, रिक्ता आदि तिथि, भरणी, श्लेषा आदि कुत्सित नक्षत्र, शनि या मंगलके दिन, वज्रादि कुत्सित योग, विष्टि आदि कर्ण, क्रूरग्रहयुक्त लग्न, सम्मुख योगिनी और चन्द्रमा पृष्ठपर हों तथा जब शत्रुके सूर्य-चन्द्रादि ग्रह घातक हों, तब (ऐसे मुहूर्तमें भिलावाँ अथवा बहेड़ेकी लकड़ीका कोल्हू बनवाकर और शत्रुके पैरोंके नीचेकी मिट्टी लेकर उसका पुतला बनाकर प्राणप्रतिष्ठा करके उसकी छातीमें शत्रुका नाम लिखकर उस पुतलेको कोल्हूमें दबाये। फिर '**ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः ओं नमो भूतनाथाय अमुकस्य**

मर्दय मर्दय छेदय छेदय उच्चाटय उच्चाटय उन्मादनं कुरु कुरु ओं हुं फट् स्वाहा' इस (पूर्व ही सिद्ध किये हुए) मन्त्रको १०८ बार पढ़कर उपर्युक्त मुहूर्तके समय पृथ्वीमें गाड़ दे तो इससे शत्रु शीघ्र ही विनाशको प्राप्त हो जायगा।

लाला भगवानदीनजी लिखते हैं कि तन्त्रविद्यामें एक प्रयोग होता है कि अमुक नक्षत्रमें नंगे होकर बहेड़ेकी लकड़ी ले आवे फिर उस लकड़ीकी खूँटी बनाकर उच्चाटन-मन्त्र पढ़कर जहाँ गाड़ दे वहाँके निवासी वहाँसे भाग जाते हैं और वह स्थान उजाड़ हो जाता है। इसी प्रयोगका रूपक यहाँ है।

किसीका मत है कि उत्सादन-यन्त्र बनाकर शत्रुके पुरमें गाड़ते हैं। बबूल आदि कुकाष्ठका यह यन्त्र बनाते हैं। शत्रु और जिसका शत्रु है, दोनोंके पुतले मुहूर्त विचारकर मन्त्रित करके बनाये जाते हैं। रातको गड्ढा खोदकर (शत्रुके पुरमें) उसको उसमें लिटाकर दूसरे पुतलेको उसके ऊपर चढ़ा हुआ खड़ा करते हैं, जो शत्रुकी छाती बर्छीसे छेदता है। इस रीतिसे स्थापित कर मिट्टीसे तोप देते हैं।

अ० दी० कारका मत है कि यन्त्र बैरकी लकड़ीका बनाया जाता है, जिससे उजाड़ होता है और गूलरकी लकड़ीकी कील बनानेसे पुनः बस जाता है। अथर्ववेदान्तर्गत '**अभिचारकल्पसूत्र**' में अभिचारक्रियादिके विवरण लिखे हैं और हिंसामूलक यागादि क्रिया तन्त्रमें मारण, मोहन, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, वशीकरण—षट् प्रकारके अभिचारोंका उल्लेख है। इन अभिचारोंके करनेवाले दण्डनीय करार दिये गये हैं। वि० टीकाकारका मत है कि यहाँ उच्चाटन अभिचारसे कविका अभिप्राय है। जिससे उन्मादन उत्पन्न हो लोगोंके चित्त अस्थिर हो जायँ।

प० प० प्र० स्वामीका भी यही मत है। वे लिखते हैं कि '(क) श्रीरामजीका अवधसे उच्चाटन करना यहाँ हेतु है। उच्चाटनमें काष्ठकी भी आवश्यकता नहीं रहती। भोजपत्रादिका भी उपयोग किया जाता है। अभिचारप्रयोग रामनाममन्त्र, वैदिक मन्त्रोंसे भी हो सकते हैं। कोई भी मन्त्र सिद्ध होनेपर अभिचारप्रयोग-विध्यनुसार करनेसे काम मन्त्रोंसे भी सिद्ध होते हैं—रामार्चनचन्द्रिका देखिये। ***'बसइ अवध नहिं आन उपाए'*** से भी उच्चाटन-प्रयोग ही सूचित किया है। ऐसे प्रयोगोंका दृष्ट परिणाम ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तिपर, उसकी इच्छा न हो तो, हो ही नहीं सकता, प्रत्युत प्रयोग करनेवालेपर ही वह प्रयोग उलटता है। भागवत दशम स्कन्धमें ऐसा उल्लेख है। यह प्रयोग कैकेयीपर ही उलट पड़ा है।'

नोट—३ ***'मातु कुमत······उपाए'*** इति। (क) प्रयोगके लिये पहले प्रयोगकर्ता चाहिये। यहाँ कैकेयी प्रयोगकर्त्री है। लकड़ी काटने, पुतला बनाने आदिके लिये बढ़ई चाहिये। यहाँ कैकेयीका कुमत जो पापका मूल है वही बढ़ई है। बढ़ई पुँल्लिंग है, इसीलिये दुर्बुद्धिके लिये ***'कुमत'*** पुँल्लिंग शब्द किया है। उसका कुमत ***'परउँ कूप तुअ बचन लगि सकौं पूत पति त्यागि'*** (२१)। उसके ये वचन हैं। (पं० रा० कु०)। श्रीभरतजीके लिये राज्यका विचार करना चाहे पति मर ही क्यों न जायँ यही दुर्बुद्धि है। भरतजीने भी कहा है—***'पापिनि सबहि भाँति कुल नासा। जौं पै कुरुचि रही अति तोही॥ ······जब तैं कुमति कुमत जिय ठयऊ। ······बर माँगत भइ नहिं पीरा॥'*** यह दुर्बुद्धि सारे पापकी जड़ है। अतः उसे बढ़ई कहा, क्योंकि वही कोल्हू और पुतला आदि बनाता है, जिससे प्रयोगका आरम्भ होता है। बढ़ई बसूलासे लकड़ीको गढ़ता है। यहाँ ***'हमार हित'*** बसूला है अर्थात् राज्यसे भरतका हित होगा, भरतको राज्य मिले इससे भरतको सुख होगा—यह जो कैकेयीने सोचा था यही बसूला है। कुयन्त्र और पुतला भिलावा, बहेड़ा आदि कुत्सित काष्ठका बनाया जाता है। यहाँ ***'कलि'*** अर्थात् कलह, यथा—***'नैहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति सेवकाई॥'*** (२१। १) ***'होत प्रात मुनि बेष धरि जौं न रामु बन जाहिं। मोर मरन राउर अजसु नृप समुझिअ मन माहिं॥'*** (३३) कैकेयीने यह जो दुर्भाव प्रकट किया है यही कुकाठ है। (श्रीनंगे परमहंसजीके मतानुसार राज्य कुकाठ है। पर उन्होंने ***'कलि'*** का अर्थ नहीं दिया है। अर्थमें उस शब्दको छोड़ दिया है।) बसूलेसे उस कुकाष्ठको गढ़कर कोल्हू अथवा पुतला आदि कुयन्त्र बनाया जाता है। यहाँ 'हमार (भरत) हित' को लेकर जो कैकेयीने भरतके लिये राज्य माँगनेका निश्चय किया (नं० प०), अथवा जो

विरोधको पुष्ट किया। यथा—*'भरत कि राउर पूत न होहीं। आनेहु मोल बेसाहि कि मोहीं॥'* (३०। २) इत्यादि वही कुयन्त्र है। (बै०) बारंबार हठ करना ही गढ़ना है। (ख) कुमन्त्र पढ़कर कुयन्त्र भूमिमें गाड़ा जाता है। रात्रिमें सन्नाटेके समय एकान्तमें यह काम किया जाता है। यहाँ कैकेयीने रात्रिमें एकान्तमें कोपभवनमें कुमन्त्र पढ़ा। *'कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू। जिमि न नवइ फिरि उकठ कुकाठू॥'* (२०। ४), *'भूपति राउ सपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचनु न टरई॥'* (२२। ७) इत्यादि जो मन्थराने पाठ पढ़ाकर कठिन कर दिया था यही कुमन्त्रकी कठिनता है। वनवासका वरदान कुमन्त्र है और उस वरदानका माँगना कठिन कुमन्त्रका पढ़ना है। (नं० प०) अथवा, *'तनु तिय तनय धामु धन धरनी। सत्यसंध कहुँ तृन सम बरनी॥'* (३५। ८) इत्यादि कठिन कुमन्त्र है, जो निश्चय ही प्राणघातक, कुलनाशक है। (बै०) (ग) कुयन्त्र गाड़ा जाता है। यहाँ श्रीभरतजीके लिये राज्य माँगना कुयन्त्रको श्रीअवधमें गाड़ना है। (नं० प०), अथवा हठ करना कि मेरी बात टल नहीं सकती, किसीके समझाये भी हठ न छोड़ना, धर्मको दबा देना ही कुयन्त्रका 'गाड़ना' है। *'भरत कि राउर पूत न होहीं।.......'* इत्यादिमें धर्मकी प्रतिमाको दबा दिया। यथा—*'देहु कि लेहु अजस करि नाहीं। मोहि न बहुत प्रपंच सोहाहीं॥'* (३६। ६) (घ) *'गाड़ि अवधि'* इति। को० रा० का पाठ *'गाड़ि अवध'* है। उसमें गाड़नेकी भूमि 'अवध' स्पष्ट है। पर राजापुर आदिकी पोथियोंमें 'अवधि' पाठ है। यहाँ भी 'अवध' अथवा 'कोपभवन' (जो अवधमें ही है) भूमि है। टोटका गाड़नेमें 'अवधि' (समय) नियत कर दी जाती है। यहाँ चौदह वर्षके लिये गड़न्त हुआ है, यथा—*'तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनबासी॥'* (२९। ३) अतएव 'अवधि' पाठ ही समीचीन है। (ङ) मन्त्र पढ़नेवाली यहाँ कैकेयी है।

प्रयोगका रूपक

प्रयोगकर्ता	कैकेयी
पापमूलक बढ़ई	माताकी कुमत *'परौं कूप तव बचन लगि सकौं पूत पति त्यागि'* (बढ़ई पुँल्लिंग अतः कुमत पुँल्लिंग)
वसूला	हमार हित (राज्य मिले) *'कस न करब हितु लागि'* [एक वर बढ़ई, एक बसूला—बै०]
बहेड़ा बबूल.......	कलह *'नैहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करब'* वा, *'प्रात होत मुनि बेष धरि जौ न.......'* (बै०)
* गढ़ना (बै०)	बारंबार हठ
कुजन्त्र	*'भरत कि राउर पूत न होहीं.......'*
कोल्हू (वै०); पुतला (पु० रा० कु०) विरोधकी पुष्टता	
*कुजंत्रका गाड़ना	धर्मको दबाना—*'देहु कि लेहु अजस करि नाहीं'* (वै०)
*गाड़ना (वै०)	*'हठ जो टले नहीं'* वा, वल्कलवस्त्र पहनाकर बाहर करना। (पं०)
भूमि	अवध, कोपभवन
*रात्रि कुत्सित मुहूर्तमें एकान्तमें	*'तापस वेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस राम बनबासी॥'* (पु० रा० कु०)।
पढ़ि कठिन कुमंत्र	*'कीन्हिसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू। जिमि न नवै फिरि उकठ कुकाठू॥'*
'ओं ह्रीं....... ' (वै०)	*'भूपति रामसपथ जब करई।.......'* (पं०)। (वै०)—*'तन तिय तनय धाम धन धरनी। सत्यसंध.......'* जो निश्चय प्राणघातक है।
मन्त्र पढ़नेवाला	कैकेयी वा मंथरा (पु० रा० कु०)

अर्थ—३ *'मोहि लगि यह कुठाट तेहि ठाटा।.......'* इति। (क) *'कुठाट'*=बुरा साज-सामान, बुरा प्रबन्ध, बुरा आयोजन। यहाँ कुठाटसे उपयुक्त प्रयोग अभिचार ही अभिप्रेत है। उत्सादनयन्त्र जिसके घरमें गाड़ा

जाता है उसका घरभर नष्ट-भ्रष्ट होता है। (ख) यह यन्त्र चक्रवर्ती महाराजके पुरमें गाड़ा गया, ये सम्राट् हैं, अतएव *'सब जग बारह बाटा'* कहा। यथा—*'मिथिला अवध बिसेषि तें जग सब भयउ अनाथ॥'* (२७०) यह पंजाबीजीका मत है। बैजनाथजी लिखते हैं कि यन्त्र अयोध्यामें गड़ा, अयोध्या सारे जगत्का मस्तक है और महाराजका धर्म उसमें दबा है, पर उसमें राम सम्बन्ध है और राम सब जगत्के आत्मा हैं, अतएव सब जग दु:खमें पड़ा।'—ये दोनों मत '**मोहं दैन्यं**.......' आदि जो बारह बाट आपदाके कहे गये उसके अनुकूल संगत हैं।

नोट—४ *'सब जग बारह बाट हुआ'* यह मुहावरा है, बोलचालमें ऐसा कहते ही हैं। इससे सारी दुनियाका आशय नहीं लिया जाता, उससे वही जनसमुदाय, जहाँतक कि अपना सम्बन्ध है, अभिप्रेत होता है। कुल, परिजन, प्रजा, पुर आदि और सभी सम्बन्धी इसमें आ गये। जैसे मुहावरा है 'आप मरे तो जग मरा।' दीनजीका भी यही मत है—'मनुष्यका संसार वहींतक है जहाँतक उससे सम्बन्ध रखनेवालोंकी सीमा है' और यह भाव उनके अर्थके अनुकूल है। इसकी पुष्टि चौपाईके चौथे चरण *'बसइ अवध नहि आन उपाए'* से भी होती है। एवं—*'अवध उजार कीन्ह कैकेई। दीन्हिसि अचल बिपति कै नेई॥'* (२९। ८)

☞ *'घालेसि सब जग बारह बाटा'* इति। 'बारह बाट करना' मुहावरा है नष्ट-भ्रष्ट करनेका। परंतु यहाँ दूसरा भाव 'बारह मार्गोंमें कर डाला या बारह मार्गोंसे नष्ट किया' इस अक्षरार्थके लेनेसे भी निकलता है, जैसा पूर्व *'कीन्ह कैकई सब कर काजू।'* (१८०। ५) में दिखा आये हैं। कुछ लोगोंने १२ की संख्या (जिससे लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं) यों कही है—(क) '**मोहो दैन्यं भयं ह्रासो हानिर्ग्लानिः क्षुधा तृषा। मृत्युः क्षोभो व्यथाकीर्तिर्वाटो ह्येते हि द्वादशः॥**'

उसीको सोरठेमें यों कहा है—*'दैन्य मोह भय ह्रास, छुधा लोभ पीड़ा मरन। हानि गलानि पियास अपजस बारह बाट ये॥'* और इनके उदाहरण राजा-रानी, परिजन-प्रजामें स्थल-स्थलसे देते हैं। रामायणी श्रीरामसुन्दरदासजी कहते हैं कि इस भावके अनुसार—१ मोह, २ दीनता, ३ हानि, ४ ग्लानि अवधवासियोंको, ५ भय रावणको, ६ ह्रास जनक महाराज आदिको, ७-८ क्षुधा-प्यास लक्ष्मण-जानकीको, ९-१० क्षोभ देवताओंको, मृत्यु महाराजको, ११ व्यथा कुबरी आदिको और १२ अकीर्ति कैकेयीको प्राप्त हुई। उदाहरणक्रमसे ये हैं—१—*'कछुक देवमाया मति मोई।'* (८५। ६) २—*'राम राम कहि चहुँ दिसि धावहिं।'* (८६। २) *'मनहु कोक कोकी कमल दीन बिहीन तमारि।'* (८६) ३—*'मनहुँ बारिनिधि बूड़ जहाजू।'* (८६। ३) *'फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई।'* (९९। ८) *'मनहुँ सबन्हि सब संपति हारी।'* (१५८। ८) ४—*'रहिहि न अंतहु अधम सरीरू। जस न लहेउ बिछुरत रघुबीरू॥'* (१४४। ४) *'निंदहिं आपु सराहहिं मीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना॥'* (८६। ५) ५—*'दसमुख बोल उठा अकुलाना।'* (६। ५। १०) *'कुसगुन लंक।'* ६—*'भरत राज रघुबर बनबासू। भा मिथिलेसहि हृदय हरासू॥'* (२७०) *'राम बिमुख सुख सपनेहु नाहीं।'* ७—*'जलको गये लष्षन हैं लरिका परिखौ पिय छाँह धरीक ह्वै ठाढ़े.......।'* (क० ३। १२) ८—*'पुर ते निकसी रघुबीर बधू धरि धीर दए मगमें डग द्वै। झलकीं भरि भाल कनी जल की पुट सूखि गए अधराधर वै। फिर बूझति हैं चलनो अब केतिक.......।'* (क० ३। ११) ९—*'कह गुरु बादि छोभु छल छाँडू। यहाँ कपट करि होइहि भाँडू'* १०—*'राम राम कहि राम कहि राउ गयउ सुरधाम'* ११—*'कूबर टूटेउ फूट कपारू'* १२—*'तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुयेहु न मिटिहि न जाइहि काऊ॥'* (३६। ५)

(ख) काष्ठजिह्वा स्वामीका मत है कि 'मन, बुद्धि और दस इन्द्रियाँ ये पूर्ण आत्माके बारह बाट हैं। जब ये बिखर जाते हैं, मालिकके ताबे नहीं रहते तब जन्म-जन्म खराब होते हैं! इनको समेटकर भले मार्गमें लगा देनेको रामजीके चरणोंका दर्शन ही समर्थ है, योग ज्ञान आदिक नहीं।' और बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि राशि बारह हैं। संसारके सब जीव इन्हीं राशियोंमें हैं। इन राशियोंपर नवग्रहका प्रयोग सदा होता रहता है। यही बारह बाट हैं, जिनमें जीव पड़े सुख-दु:ख भोगते हैं। (शीलावृत्त)

☞ इन टिप्पणियों और पाद-टिप्पणियोंसे केवल यही आशय समझना चाहिये कि 'बारह बाट जाना' मुहावरेकी व्युत्पत्ति क्या है। अर्थ तो केवल यही है कि सर्वनाश किया, सबको दु:ख दिया।

नोट—५ ***'मिटइ कुजोगु राम फिरि आए।'''''''*** इति। ***'कुजोगु'***=बुरी अवस्था, बुरा संयोग। यन्त्र-प्रयोग होनेपर यदि कोई पण्डित इस विद्यामें प्रयोगकर्तासे भी अधिक कुशल हों और उसका उखाड़ना जानते हों तो ऐसा करनेपर वह प्रयोग निष्फल हो जाता है और दु:ख नष्ट हो जाता है। यहाँ किसी प्रकारसे श्रीरामजी लौटें तो दु:ख दूर हो, उजाड़ा हुआ अवध बसे। इससे यह भी सूचित होता है कि 'यन्त्रका गाड़ना' श्रीरामजीको वनको भेज देना ही है और श्रीरामजीका वनसे लौटकर आना उसका उखाड़ना है तो इसका कोई उपाय क्यों नहीं करते? इसका उत्तर पूर्व आ गया—***'एहि कुरोग कर औषध नाहीं। सोधेउँ सकल बिस्व मन माहीं॥'*** शोधना आगे फिर कहना है, यथा—***'केहि बिधि होइ राम अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाउ न एकू॥''''''''अवसि फिरहिं गुर आयसु मानी। मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी॥ मातु कहेहु बहुरहि रघुराऊ। राम जननि हठि करबि कि काऊ॥ मोहि अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमउ बाम बिधाता॥ जौं हठ करउँ त निपट कुकरमू। हर गिरि तें गुरु सेवक धरमू॥ एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहि रैनि बिहानी॥'*** (२५३। २—७) इससे यहाँ नहीं कहा। यहाँ प्रत्यक्ष मुनिसे वर नहीं माँगा, जैसे दरबारमें आशीर्वाद माँगा था तो भी अभिप्राय कथनका यही है कि आप कृपा करके आशीर्वाद दें कि वे लौटें, यह कुयोग मिटे, अवध बसे।

मा० म०—इस दोहेमें कील (का गाड़ना) और उत्कील (कीलका उखाड़ना) दोनों दिखाये। गाड़नेसे उजड़ना और उखाड़नेसे सुख-सम्पादन होता है। यहाँ ***'कलि कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रू। गाड़ि अवधि पढ़ि कठिन कुमंत्रू॥'*** यह गाड़ना है और उसका फल ***'घालेसि सब जग बारह बाटा'*** यह उजाड़ना है। और, ***'मिटइ कुजोग राम फिरि आए'*** यह उत्कील है; उसका फल ***'बसइ अवध'''''''*** यह सुख-सम्पादन है।

प० प० प्र०—***'भरत भरद्वाज संवाद'*** इति। इस संवादमें श्रीभरतजीकी महत्ता और उनके रामप्रेमका जो निदर्शन किया गया है इसकी जोड़का एकांगी अनन्यप्रेमके लिये किसी भी ग्रन्थमें तुल्यवर्णन न मिलेगा। चातकका अनन्य प्रेम भी इनके राम-प्रेमके आगे फीका पड़ जाता है। इसका सार-सर्वस्व ***'मोहि न मातु करतब कर सोचू'*** (२११। ४) से ***'एहि कुरोग कर औषधु नाहीं।'*** (२१२। २) तक और ***'मिटइ कुजोग राम फिरि आए।'*** में कह दिया गया है। इन वचनोंपर टीका-टिप्पणी लिखना असम्भव बात है। अमृतके स्वादका बखान कौन कर सकेगा? बस, उसका आस्वादन लेकर उस भक्तिरसामृतमें मत्त, मग्न होना ही कर्तव्य है।

भरत बचन सुनि मुनि सुख पाई। सबहिं कीन्हि बहु भाँति बड़ाई॥ ७॥
तात करहु जनि सोचु बिसेषी। सब दुख मिटिहि राम पग देखी॥ ८॥

दो०—करि प्रबोधु मुनिबर कहेउ अतिथि पेमप्रिय होहु।
कंद मूल फल फूल हम देहिं लेहु करि छोहु॥ २१२॥

शब्दार्थ—'**प्रबोधु**'=पूर्ण बोध, सान्त्वना, आश्वासन, दिलासा।

अर्थ—श्रीभरतजीके वचन सुनकर मुनियोंने सुख पाया, सभीने उनकी बहुत तरहसे बड़ाई की॥ ७॥ (भरद्वाजजी बोले—) हे तात! तुम इतना अधिक सोच मत करो। श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंका दर्शन पाते ही सब दु:ख दूर हो जायगा॥ ८॥ खूब ढाढस देकर मुनिश्रेष्ठने भरतजीसे कहा कि आप हमारे प्रेमके प्यारे अतिथि बनें और हम कन्द, मूल, फल, फूल जो कुछ दें उसे कृपा करके स्वीकार करें॥ २१२॥

नोट—१ यह निमन्त्रण भरतजीके ***'भूख न बासर नींद न राती'*** इन वचनोंकी परीक्षा भी है। २१५ में देखिये।

नोट—२ ***'सब दुख मिटिहि राम पग देखी'*** इति। (क) भरतजीने पूर्व दरबारमें कहा था कि ***'बिनु***

देखे रघुबीरपद जिय कै जरनि न जाइ।' (१८२) यहाँ मुनि उसी बातका आशीर्वाद दे रहे हैं कि श्रीरामचरणारविन्दके दर्शन होते ही सब '**दुखदाह**' जो नित्य छाती जला रहे हैं मिट जायँगे। इस आशीर्वादकी सफलता आगे हुई—***'हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारस पायेउ रंका॥ रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥'*** (२३८। ३-४) और अन्तमें '**चरणपादुका**' पाये जिनसे साथका-सा सुख मिला। (पु० रा० कु०) भरद्वाजमुनिने 'फिरि आने' का आशीर्वाद नहीं दिया। वे सर्वज्ञ हैं, जानते हैं कि लौटेंगे नहीं, इससे आश्वासनमात्र किया। जो होना है उतना ही कहा (पं०)। (ख) चरणदर्शनसे निषादराज, विभीषणजी, कोल-भील, कबंध, केवट, अहल्या आदि सभीके दुःख मिटे? क्रमसे उदाहरण ये हैं—***'नाथ कुसल पद पंकज देखे। भयउँ भाग भाजन जन लेखे॥'*** (८८। ५) (गुह), ***'अब हम नाथ सनाथ सब भये देखि प्रभु पाय।'*** (१३५) (कोल-किरात), ***'दुर्बासा मोहि दीन्ही सापा। प्रभु पद देखि मिटा सो पापा॥'*** (आ० ३३) (कबन्ध), ***'अब पद देखि कुसल रघुराया। जो तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया॥'*** (५। ४६), ***'अब मैं कुसल मिटे भय भारे। देखि रामपद कमल तुम्हारे॥'*** (५। ४७) (विभीषण), ***'नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥'*** (१०२। ५) (केवट), ***'परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही।…… ।'*** (१। २११) (अहल्या), और भरतजीमें विशेषता यह है कि चरण-अंक ही देखकर दुःख मिट गये।

नोट—३ ***'अतिथि पेमप्रिय होहु'*** इति। (क) भगवत्-भागवत दोनोंको प्रेम ही प्रिय है, यथा—***'सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिए।'*** हम आपकी पहुनाई-मेहमानी करनेके योग्य नहीं, हमारे पास एक प्रेम ही है, इसीको अतिथिरूपसे स्वीकार कीजिये। (पु० रा० कु०) अथवा, (ख)—'प्रिय' को सम्बोधन मानकर यों अर्थ करते हैं—'हे प्रिय! हमारे प्रेमके अतिथि हो'। (रा० प्र०) भाव कि हम प्रेमसे देते हैं, प्रीतिदानमें दोष नहीं है, अतः इसे लो।

नोट—४ मुनिने कन्द-मूल, फल-फूल देनेको कहा पर किया सामान कैसा। इसे झूठ बोलना नहीं कहना चाहिये। यह शिष्टाचार है। ऐसा कथन बड़े लोगोंकी रीति है। (पं०) अथवा, दूसरे ***'हम देहिं'*** का अर्थ यह कर लें कि कन्द आदि तो शिष्य लावेंगे और मैं भी कुछ दूँगा; सब स्वीकार कीजिये। हम बहुवचन है। शिष्य और मैं सब उसमें आ गये।

सुनि मुनि बचन भरत हियँ सोचू। भयेउ कुअवसर कठिन सँकोचू॥ १॥
जानि गरुइ गुर गिरा बहोरी। चरन बंदि बोले कर जोरी॥ २॥
सिर धरि आयेसु करिअ तुम्हारा। परम धरम येहु नाथ हमारा॥ ३॥

शब्दार्थ—'**गरुइ**' (गुर)=भारी महत्त्वपूर्ण।

अर्थ—मुनिके वचन सुनकर श्रीभरतजीके हृदयमें सोच (चिन्ता) हुआ कि बुरे बेमौके बड़ा संकोच आ पड़ा है॥ १॥ फिर गुरुकी वाणीको गौरवकी समझकर वे चरणोंको प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले—॥ २॥ हे नाथ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके करना, यह हमारा सबसे बड़ा धर्म है॥ ३॥

नोट—१ ***'सुनि मुनि बचन भरत हियँ सोचू।……'*** इति।—सोचका कारण कि ***'पय अहार फल असन एक निसि भोजन एक लोग। करत नेम ब्रत राम हित परिहरि भूषन भोग'***—यह हमलोगोंका व्रत है। दूसरे यह तीर्थस्थल है। यहाँ हम क्षत्रिय होकर ब्राह्मणका अन्न कैसे लें। पर यह भाव शिथिल है, क्योंकि सहस्रार्जुन और कौशिक आदि भी तो क्षत्रिय राजा थे। किसीने ऐसा संकोच नहीं किया। आतिथ्य-सत्कार स्वीकार करना पाप नहीं है, यह समझकर उन्होंने निमन्त्रण स्वीकार किया। [दैवयोगसे परिणाम अनिष्ट हुए यह बात दूसरी है। (प० प० प्र०)] तीसरे, श्रीरामजी तो भोग-विलासको छोड़ वनमें कन्द-मूल-फल खाएँ, हम महर्षिकी मेहमानी स्वीकार करें, क्या यह उचित है? इत्यादि। और दूसरी ओर यह अंदेशा कि आज्ञा न मानें तो मुनिको बड़ा दुःख होगा, मुनिकी अवज्ञा होगी। सेनाभरके लिये उनको प्रबन्ध करनेमें कष्ट होगा। महर्षि और ब्राह्मणको कष्ट देना

उचित नहीं है। ऐसा ही संकोच सहस्रार्जुन और विश्वामित्रको हुआ था जब महर्षि जमदग्निने सहस्रार्जुनसे और वसिष्ठजीने कौशिकजीसे आतिथ्य-सत्कार स्वीकार करनेको कहा था। पर पुनः कहनेपर उन्होंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। यही कहा कि—'**यथाप्रियं भगवतस्तथास्तु मुनिपुंगव॥**' (वाल्मी० १। ५२। १९) मुनिश्रेष्ठ जैसी आपकी रुचि है आप वैसा ही करें।

नोट—२ *'जानि गरुइ गुर गिरा बहोरी।'''''' '* इति।—*'बहोरी'* अर्थात् पुनर्विचार करनेपर कि जैसे कौशिक विश्वामित्र राजकुमारने ससैन्य वसिष्ठजीका आतिथ्य-सत्कार ग्रहण किया, सहस्रबाहुने जमदग्निजीका तथा हमको इनका आतिथ्य-सत्कार स्वीकार ही करना चाहिये—'**गुरोराज्ञा गरीयसी।**' जैसे संकोच कठिन वैसे ही यहाँ गुरु-आज्ञागुरु, दोनोंमें यह विशेष भारी है। महर्षिकी कामनाको पूरी करना धर्म है, ऐसा समझकर आतिथ्य-सत्कार स्वीकार किया।

नोट—३ (क) *'सिर धरि आयेसु'''''''' '* ये पूरी अर्धाली ज्यों-की-त्यों बा० ७७ (२) में है। वहाँ शिवजीने यही शब्द प्रभु श्रीरामचन्द्रजीसे कहे हैं। वही भाव यहाँ भी ले सकते हैं—***'कह सिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं॥ सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥ मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिय सुभ जानी॥ तुम्ह सब भाँति परम हितकारी। आज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी॥'*** (१—४) वहाँ ***'प्रभु तोषेउ सुनि संकर बचना'***, यहाँ ***'भरत बचन मुनिबर मन भाये॥'*** इनसे संकोच भी जना दिया और गुरुके वचनकी गुरुता भी।

(ख) पूर्व जो विचार और संकोच था वह धर्म था और गुरु-आज्ञा मानना परमधर्म। (पु० रा० कु०)

वे० भू० पं० रामकुमारदासजी वही चौपाई यहाँ पुनः दुहरानेका कारण यह लिखते हैं कि— 'देवलोकमें सर्वश्रेष्ठ देवता श्रीशिवजी हैं। वे देवाधिदेव महादेव जिसको अपना पूज्य मानें उसकी सर्वश्रेष्ठतामें तो कोई कोर-कसर ही नहीं रह सकती। श्रीशिवजीका वाक्य श्रीरामजीसे है कि आपकी आज्ञामें उचित-अनुचित, कार्याकार्य, विकार्य आदिका विचार करना महान् अधर्म है। अतः *'सिर धरि'''''''* '। इसी तरह मनुष्योंमें सर्वश्रेष्ठ राजा है, यथा—'**नराणां च नराधिपः**'; क्योंकि वह *'ईश अंश भव परम कृपाला'* है, और विरक्त तपस्वी, विरक्त ब्राह्मण राजासे भी श्रेष्ठ है; क्योंकि ब्राह्मण भगवान्‌की मूर्ति ही है। यथा—'**अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः।**' (गर्गसंहिता), *'मम मूरति महिदेवमई है'* (हि०)। कुटुम्बी विप्र राजासे वर्णानुसार आंशिक श्रेष्ठ है—और विरक्त तपस्वी विप्रवर्ण एवं आश्रम सर्वप्रकारेण राजासे सर्वथा श्रेष्ठ है। अतएव भरतजीने महर्षिके सत्कारको स्वीकार करते हुए कहा—*'सिर धरि'''''''' '।* इसपर यदि कहा जाय कि शिवजीने तो आज्ञाका पालन किया, पर भरतजीने तो कहा भर किंतु उनकी दी हुई वस्तु अपने शारीरिक व्यवहारमें न लाये। तो उत्तर यह है कि शिवजीको आज्ञा दी गयी कि *'जाइ बिबाहहु सैलजहि'* और शिवजीने जाकर विवाह किया। और महर्षिकी आज्ञा थी कि ***'कंद मूल फल फूल हम देहिं लेहु करि छोहु।'*** ***'लेहु'*** कहा और भरतजीने ले लिया। बस, इतनी ही तो आज्ञा थी। पुनः कहा तो था कि हम *'कंद मूल फल फूल'* देते हैं और दिया क्या?—***'स्रक चंदन बनितादिक भोगा।'*** अतः भरतजीने लिया तो पर उनको व्यवहारमें नहीं लाये। ☞ निष्कर्ष यह कि देवलोकमें जैसे भगवान् श्रीराम सर्वश्रेष्ठ हैं वैसे ही परलोकमें विरक्त तपस्वी ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है, इसीसे दोनों जगह एक ही चौपाई रखी गयी।'

इसी तरह *'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥'* यह चौपाई ८८ (२) और १११ (७) में आयी है। ८८ (२) में यह वाक्य शृंगवेरपुर राजधानीके निवासियोंका है और १११ (७) में वही ग्रामवासिनियोंका है। नगरके लोग सभ्य होते हैं, उनमें बनावट बहुत होती है, उन्हें मर्यादाका बड़ा ध्यान रहता है। ग्रामीण भोले-भाले सरलस्वभाव होते हैं। ये अपरिचितके साथ भी आत्मीयताका व्यवहार करते हैं। यद्यपि नागरिक और ग्रामीणके व्यवहार भिन्न-भिन्न हैं तथापि श्रीरामजीके लिये दोनोंमें प्रेम एक ही तरहका है। इसीसे दोनोंके मुखसे एक ही तरहके शब्द निकलते थे।

'उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥' यह तीसरी चौपाई है जो इस काण्डमें १२३ (२) में और आ० ७ (३) में आयी है। यहाँ *'सिय सोहति'* है और अरण्यमें *'श्री सोहइ'* केवल इतना अन्तर है।

श्रुतियोंमें ब्रह्म, जीव और प्रकृति—ये तीन तत्त्व अनादि बताये गये हैं—**'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म चैतत्।' 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोग्यामजोऽन्यः॥'** इत्यादि। प्रकृति-तत्त्वका प्रसिद्ध पर्याय 'माया' है **'मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्।'** (इति श्रुतिः)। सूक्ष्म और स्थूल-भेदसे प्रकृतिकी दो अवस्थाएँ हैं। माया सदा ब्रह्मके पीछे ही रहती है; परंतु जीवसे स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही अवस्थाओंमें प्रबल रहती है। अतएव वह जीवके आगे ही रहती है। श्रीसीताजी प्रकृति माया नहीं हैं, वे तो ब्रह्मसे अभिन्नविग्रहा हैं। लक्ष्मणजी भी जीव नहीं हैं, किंतु क्षीराब्धीश शेषाधिप शेषशायी हैं। ('मानससिद्धान्त' देखिये) श्रीरामजी ब्रह्म हैं। उनके अवतारकालमें उस चिन्मयानन्दविग्रहमें माधुर्यैश्वर्यका सम्मिश्रण होकर ही लीलाका प्रदर्शन होता है। बाल और अयोध्याकाण्डकी लीलाएँ मुख्यतः माधुर्यमय हैं, जहाँ ऐश्वर्यव्यंजक लीलाएँ हैं वहाँ साथ-ही-साथ माधुर्यका पुट भी देखनेमें आता है। 'सिय' और 'लषन' दोनों नाम माधुर्यके हैं जो इन्हीं दो काण्डोंमें आये हैं। अरण्यकाण्डमें ऐश्वर्यद्योतक 'श्री' नाम और यहाँ 'सिय' दिया, क्योंकि ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों दशाओंमें (लीलाके समय) श्रीजानकीजी सदैव श्रीरामजीके पीछे, लक्ष्मणजीके आगे वैसे ही रहती हैं जैसे कि स्थूल और सूक्ष्म दोनों अवस्थाओंमें अचित् (माया) ब्रह्मके पीछे (ब्रह्मके अधीन) और जीवके आगे (जीवपर प्रबल) रहती है। यही वेदवेद्यतत्त्व इसमें निहित है, जिससे कि दोनों जगह एक ही चौपाई केवल एक शब्दके परिवर्तनके साथ हैं।*

भरत बचन मुनिबर मन भाए। सुचि सेवक सिष निकट बोलाए॥ ४॥
चाहिअ कीन्हि भरत पहुनाई। कंद मूल फल आनहु जाई॥ ५॥
भलेंहि नाथ कहि तिन्ह सिर नाए। प्रमुदित निज निज काज सिधाए॥ ६॥
मुनिहि सोच पाहुन बड़ नेवता। तसि पूजा चाहिअ जस देवता॥ ७॥
सुनि रिधि सिधि अनिमादिक आईं। आएसु होइ सो करहिं गोसाईं॥ ८॥

अर्थ—भरतजीके वचन मुनिश्रेष्ठके मनको अच्छे लगे। उन्होंने पवित्र सेवकों और शिष्योंको पास बुलाया॥ ४॥ और कहा कि भरतजीकी मेहमानी करनी चाहिये! जाकर कन्द-मूल-फल लाओ॥ ५॥ 'हे नाथ! 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उन्होंने माथा नवाया और बड़े आनन्दपूर्वक अपने-अपने कामको चल दिये॥ ६॥ मुनिको चिन्ता हुई कि मेहमान तो बड़ा भारी नेवता है (निमन्त्रित किया है), जैसा देवता हो वैसी ही उसकी पूजा चाहिये। अर्थात् भरतजी बहुत बड़े अतिथि हैं, उनके योग्य उनका सत्कार होना चाहिये॥ ७॥ यह (मुनिका सोच) सुनकर अणिमा आदि सिद्धियाँ और ऋद्धियाँ आयीं और कहने लगीं कि हे गोस्वामी! जो आज्ञा हो सो हम करें॥ ८॥

नोट—१ *'सुचि सेवक सिष निकट बोलाए।'* शुचि सेवक और शुचि शिष्य। शिष्य जो चेले हैं और सेवक वे हैं जो सेवा करते हैं, शिष्य नहीं हैं। ☞ विदित हो कि पहले ऋषि तुरत ही किसीको चेला नहीं कर लेते थे। सेवाद्वारा कठिन परीक्षा लेकर तब कहीं शिष्य जो विद्या पढ़ते थे वा जो मन्त्र पाये थे, दोनों कहलाते हैं। शुचि जो आज्ञा न टालें, यथा—*'करइ स्वामि हित सेवक सोई' 'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥'* (२६९। ५), *'भानु पीठि सेइय उर आगी। स्वामिहि सर्वभाव छल त्यागी॥'* (४। २३। ४)।—१८६ (६), १८७ देखिये।

---

* पूर्व भी इस विषयपर लिखा जा चुका है। १२३ (१—४) में देखिये।

नोट—२ *'कंद मूल फल आनहु जाई।·······'* इति। जो स्वयं खाये वही देव, पितर आदिको देना चाहिये। अतः कन्दादि मँगाये। श्रीरामचन्द्रजीने पिताका मरण सुनकर उनको इंगुदी और बेरके फलसे ही पिण्डदान करते हुए कहा है—'**इदं भुङ्क्ष्व महाराज प्रीतो यदशना वयम्। यदन्नः पुरुषो लोके तदन्नास्तस्य देवताः॥**' (वाल्मी० २। १०३। ३०) महाराज प्रसन्नतापूर्वक यह भोजन कीजिये, क्योंकि हमलोगोंका यही भोजन है। मनुष्य जो अन्न खाता है, उसके देवता भी वही अन्न खाते हैं। पर यह भी न्याय है कि जैसा देवता हो वैसी भेंट-पूजा देनी चाहिये, पात्र देखना भी उचित है। यह समझकर मुनि सोचमें पड़ गये। चक्रवर्त्ती राजकुमारका ससैन्य निमन्त्रण है, उनको फल-मूल क्या दें, यह तो तपस्वियोंके ही योग्य है, राजाओंके योग्य नहीं। इनके सोचको देखकर सिद्धियाँ आयीं!

नोट—३ *'प्रमुदित निज निज काज सिधाए।'*—गुरु एवं स्वामीकी आज्ञामें हर्ष होना ही चाहिये। *'सुचि सेवक'* वहाँ चरितार्थ है। *'निज निज'* अर्थात् जो जिसको कार्य सौंपा गया। कोई कन्द, कोई फल, कोई मूल इत्यादि लेने गये, जो जिसकी पहचानमें कुशल थे।

नोट—४ *'सुनि रिधि सिधि'* में *'सुनि'* शब्दसे जान पड़ता है कि मुनिने उनको बुलाया, आज्ञा सुनकर वे आयीं—दोहा २१४ में देखिये। श्रीनंगे परमहंसजी भी आवाहन करके ऋद्धि-सिद्धिको बुलाना कहते हैं और लिखते हैं कि शंका की जाती है कि 'मुनिजीका बुलाना कैसे माना जाय?' इसका समाधान यह है कि 'जब कर्ता मुनिजी लिखे गये हैं—*'मुनिहि सोचु पाहुन बड़ नेवता'* और क्रिया भी मुनिजीके लिये लिखी है कि सुनिके मुनिके पास सब आयीं। सुनिके आना क्रिया है तब बोलाना कर्म है, उस कर्मके कर्ता मुनिजी होंगे, क्योंकि यह नियम है कि जब क्रिया लिखी है तब कर्मका अध्याहार लेकर अर्थ किया जाता है। बिना कर्मके क्रिया कैसे सिद्ध होगी? सिद्धियोंका बुलाना जो कर्म है वह भरद्वाज मुनिका है।'

वाल्मी० २। ९१ में लिखा है कि मुनिने विश्वकर्मा आदिका आह्वान किया कि वे सब आतिथ्य-सत्कारमें सहायता करें और अ० रा० में कामधेनुका स्मरण किया है। इत्यादि सबके मतोंकी रक्षाके लिये कविने यहाँ केवल *'सुनि'* शब्द दे दिया। मुनिके ध्यान करते ही सब देवता आ गये—'**मनसा ध्यायतस्तस्य प्राङ्मुखस्य कृताञ्जलेः। आजग्मुस्तानि सर्वाणि देवतानि पृथक् पृथक्॥**' (२। २१। २३) इसके अनुसार आह्वान सुनकर ऐसा अर्थ होता है। अथवा, ऋद्धि-सिद्धि सदा मुनिजीके आश्रममें उपस्थित रहती थीं कि कभी हमलोगोंको सेवाका सौभाग्य प्राप्त हो, पर मुनिजीने कभी सेवा नहीं ली। जब सब सेवक-शिष्य कन्द-मूल-फल लेने चले, तो उनसे पूछा तो मालूम हुआ कि मुनिजीको भरतजीकी पहुनाईकी चिन्ता है। यह सुनकर उन्होंने विचारा कि आज हमलोगोंको सेवाका सौभाग्य मिल जायगा, अतः आज्ञा माँगने मुनिजीके पास आयीं कि हमलोगोंको जो आज्ञा हो वह हम करें। आगे कहेंगे कि *'रिधि सिधि सिर धरि मुनिबर बानी। बड़भागिनि आपुहिं अनुमानी॥'* (वि० त्रि०) मुनिका शोच तब मिटा और वे 'मुदित हुए' कि अब योग्य आतिथ्य-सत्कार होगा।

'सिद्धि'—२। १। ३ एवं बा० २२ (४) देखिये। ऋद्धि-सिद्धि गणेशजीकी दासियाँ मानी जाती हैं। दोनोंका एक ही अर्थ होता है, ऋद्धिके अनेक नाम हैं—संपदाह्वया, योग्या, सिद्धि, लक्ष्मी इत्यादि।

दो०—राम बिरह ब्याकुल भरतु सानुज सहित समाज।
पहुनाई करि हरहु श्रम कहा मुदित मुनिराज॥ २१३॥

रिधि सिधि सिर धरि मुनिबर बानी। बड़भागिनि आपुहि अनुमानी॥ १॥
कहहिं परसपर सिधि समुदाई। अतुलित अतिथि राम लघु भाई॥ २॥
मुनिपद बंदि करिअ सोइ आजू। होइ सुखी सब राजसमाजू॥ ३॥

शब्दार्थ—'**अतुलित**'=जिसकी तुलना या समताका दूसरा न हो, अद्वितीय, बेजोड़।

अर्थ—मुनिश्रेष्ठने प्रसन्न होकर कहा कि छोटे भाई शत्रुघ्नजी और समाजसहित भरतजी श्रीरामजीके विरहसे व्याकुल हैं। उनकी मेहमानी (आतिथ्य-सत्कार) करके उनके श्रमको दूर करो॥ २१३॥ ऋद्धि-सिद्धियोंने मुनिश्रेष्ठके वचनको शिरोधार्यकर अपनेको बड़ी भाग्यवती समझा॥ १॥ सब सिद्धियाँ आपसमें कहती हैं कि श्रीरामजीके छोटे भाई अद्वितीय मेहमान हैं॥ २॥ मुनिके चरणोंकी वन्दना करके आज वही करना चाहिये जिससे सब राज-समाज सुखी हो॥ ३॥

नोट—१ ***'कहा मुदित मुनिराज'*** इति। प्रथम सोच बड़ा था वह दूर हुआ अतः, ***'मुदित'*** पुनः, संत पराये सुखसे सुख मानते हैं, भरत ससमाज सुखी होंगे यह समझकर सुखी हुए। (पं०) भरत राजा और ये मुनिराज, राजाका अतिथि-सत्कार राजा ही खूब कर सकता है।

२ ***'बड़भागिनि आपुहि अनुमानी'*** से जनाया कि इनकी सदैव यह लालसा रहती थी कि मुनि हमें कुछ आज्ञा दें, हमारी ओर देखें पर इस दरबारमें सदा अनादर ही रहा, आज हमें सेवाका मौका हाथ लगा। (प्र० सं० में लिखा था कि और आज अपनेसे ही बुलाया।) पुनः, भागवतशिरोमणि धर्मधुरन्धर रामानुज ऐसे अतुलित अतिथिका सत्कार करनेको मिला। अतएव अपने बड़े भाग्य मानती हैं। ***'सिर धरि'*** से आज्ञापालन स्वीकार करना जनाया।

३ ***'अतुलित अतिथि राम लघु भाई।'''''' '*** इति। यह दीपदेहरी-न्यायसे दोनों ओर लगता है। इसीसे अपनेको बड़भागिनी माना और इसीसे अपना संकोच भी प्रकट करती हैं कि इनके योग्य हम समृद्धि एकत्र कर सकेंगी? श्रीरामजी उस राज्यको तिनकेकी तरह छोड़ गये जिस 'अवधराज' को ***'सुरराज सिहाहीं'।*** उनके ये भाई हैं। पुनः, इन्होंने भी उसे त्याग दिया, ऐसे वैराग्यवान् हैं। ऐसे बड़े भारी मेहमान हैं। हमारी सेवासे सुखी हो सकेंगे यह सन्देह है, ये सुखी हों तो हमारा बड़ा भाग्य है। इसीसे उन्होंने मुनिके चरणोंकी वन्दना करके कार्य प्रारम्भ करनेकी ठानी, उनके चरणोंके प्रतापसे राजसमाजको सुखी कर सकें। (वै०, रा० प्र०)

मा० म०—मुनि भरतजीका प्रेम यथार्थ न जान पाये, नहीं तो इतना तूल न करते। क्योंकि रामविरहका ताप पहुनाईसे नहीं शमन हो सकता और संसारी सुख भक्तको सुखी नहीं कर सकता; यथा—***'रमाबिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥'*** (३२४। ८) परंतु सिद्धियोंने जान लिया। इसीसे उन्होंने कहा कि रामानुज अतुलित अतिथि हैं। पुनः कहा कि ***'मुनि पद बंदि करिअ सोइ आजू। होहि सुखी सब राजसमाजू॥'*** तात्पर्य कि भरतजीका तोष करना तो दुर्लभ है, परंतु समाज सुखी हो सकता है।

अस कहि रचेउ रुचिर गृह नाना। जेहि बिलोकि बिलखाहिं बिमाना॥ ४॥
भोग बिभूति भूरि भरि राखे। देखत जिन्हहिं अमर अभिलाषे॥ ५॥
दासी दास साजु सब लीन्हे। जोगवत रहहिं मनहि मनु दीन्हे॥ ६॥
सब समाजु सजि सिधि पल माहीं। जे सुख सुरपुर सपनेहु नाहीं॥ ७॥
प्रथमहिं बास दिये सब केही। सुंदर सुखद जथा रुचि जेही॥ ८॥

शब्दार्थ—'**बिलखाहिं**'=रोते हैं, झखमारते हैं, लज्जित होते हैं। पुनः, '**बिलखाहिं**' (वि=अंतर+लखाहिं=दिखते हैं)=अलग दिखते हैं, बेढंगे दिखते हैं। इसका संस्कृतरूप विलक्षण है'। (वि० टी०) विमान (विमान)=वायुयान; सतखण्डे महल। (श० सा०)के ही=किसीको, को।

अर्थ—ऐसा कहकर उन्होंने अनेक सुन्दर घर रचकर बनाये, जिन्हें देखकर विमान भी लज्जित होते हैं॥ ४॥ और उनमें बहुत-सा भोग और ऐश्वर्य भर रखा जिन्हें देखकर देवता उनकी इच्छा करने लगे॥ ५॥ दास और दासियाँ सब तरहकी सामग्री लिये हुए लोगोंके मनसे मन लगाकर उनके मनको ताकते रहते हैं (कि जिसकी जो रुचि हो वही बिना माँगे हम दे दें)॥ ६॥ जो सुखका सामान देवलोकमें

स्वप्नमें भी नहीं है, वह सब सामान सिद्धियोंने पलभरमें उत्पन्न कर दिये॥ ७॥ सबके पहले सब किसीको सुन्दर, सुखदायक और जिसको जैसी रुचि थी वैसे ही निवासस्थान दिये॥ ८॥

नोट—बिलखाहिं अर्थात् अपनेको तुच्छ मानते हैं। वे घर खाली नहीं हैं, भोग-पदार्थसे भरे हैं जिन्हें देवताओंने कभी देखा भी नहीं; अत: वे ललचाते हैं कि हम भी समाजमें जा मिलें जिसमें हमें भी नसीब हों। स्वयं कवि कहते हैं—*'जे सुख सुरपुर सपनेहु नाहीं।'*

दो०—बहुरि सपरिजन भरत कहुँ रिषि अस आयेसु दीन्ह।
बिधि बिसमय दायकु बिभव मुनिबर तपबल कीन्ह॥ २१४॥

अर्थ—फिर भरतजीको कुटुम्बसहित मुनिने यह आज्ञा दी (जो ऊपर औरोंके लिये कह आये कि पहले सबको निवासस्थान दिये अब इनको निवासस्थानमें ठहरनेकी आज्ञा दी।) ब्रह्माको भी आश्चर्यमें डालनेवाला ऐश्वर्य मुनिश्रेष्ठने अपने तपोबलसे किया॥ २१४॥

नोट—१ ऋद्धि-सिद्धि सेवा करनेवालोंने समाजको घरोंमें रहनेको कहा और भरत राजा हैं अतएव इनको स्वयं मुनिराजने महलमें चलकर ठहरनेको कहा।

नोट—२ मयंककार कहते हैं कि *'आयेसु'* शब्दका अर्थ निमन्त्रण है। भोजनार्थ निमन्त्रणके लिये अवधप्रान्तमें 'आयसु' बोलते हैं। यहाँ *'रिषि'* वसिष्ठजी और *'मुनिबर'* भरद्वाजजी हैं। वसिष्ठजीने आयसु दिया कि 'मुनिने तुमलोगोंके सम्मानार्थ विधिविस्मयदायक विभव तपबलसे किया है।'

नोट—३ बाबा हरिहरप्रसादजी यों अर्थ करते हैं—'फिर ऋद्धि-सिद्धियोंने कुटुम्बसहित भरतजीको निमन्त्रण दिया कि जैसा भरद्वाज ऋषिने दिया था कि प्रेमके अतिथि हूजिये, यह कन्द-मूल-फल लीजिये, यद्यपि मुनिवरने तपबलके प्रभावसे विधिविस्मयदायक विभव रचा था। भाव यह कि विनम्र भावसे यही कहा कि यह फल-फूल है, लीजिये। *'आयेसु'* का निमन्त्रण अर्थ पं० शिवलाल पाठकजी एवं पं० रामकुमारजीने भी लिखा है।

भरद्वाजगुरु वाल्मीकिजी लिखते हैं कि भरद्वाजजीने त्वष्टा विश्वकर्मा, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक आदिकी अप्सराओं, नदियों, चित्ररथ आदि वनों, इत्यादिका आवाहन किया। वे सब आये। बीस कोशतक वैदूर्यमणिकी भूमि रच गयी……।' महर्षिकी आज्ञा पाकर रत्नोंसे भरे घरमें मन्त्री पुरोहितसहित भरतजी गये।—'**प्रविवेश महाबाहुरनुज्ञातो महर्षिणा। वेश्म तद्रत्नसंपूर्णं भरतः कैकयीसुतः॥**' (३६) तदनन्तर भरद्वाजकी महिमासे वहाँ तेजस्वी गन्धर्वराज, अलम्बुशी, मित्रकेशी आदि अप्सराएँ गाने-नाचने लगीं, बेलके वृक्ष मृदंग बजाते, इत्यादि वैभव प्रकट हुआ।……स्वप्नके समान अद्‌भुत, महर्षिका किया हुआ आतिथ्य देख सभी विस्मित हो गये।—(सर्ग ९१)

इसके अनुसार भी ये दोनों अर्थ बहुत खींचे हुए और असंगत जान पड़ते हैं। आज्ञा महर्षि भरद्वाजने घरमें ठहरनेकी दी और अपने तपोबलसे उनके लिये ऐसा विभव एकत्र कर दिया।

नोट—४ मयंककार—भरद्वाजजीको सेवक, शिष्य और सिद्धियोंकी पहुनाईमें सन्देह ही रहा। क्योंकि प्रथम सेवक शिष्योंको आज्ञा दी। फिर विचार किया कि इससे पूरा न पड़ेगा तब ऋद्धि-सिद्धियोंको बुलाया। जब देखा कि इनसे भी उनके योग्य सामग्री नहीं हो सकी तब अपने तपोबलसे विधिविस्मयदायक वैभव उत्पन्न किया। तथापि भरतने दु:खसे ही रात गँवाई। इससे सिद्ध हुआ कि भरतकी पहुनायी किसीसे न हो सकी। (नोट—यही मत पंजाबीजीका भी है।)

वि० त्रि०—भरतजीके साथ ऋषि लोग भी थे, कुछ अयोध्यावासियोंने 'फल अशन' का व्रत लिया था, उनके लिये कन्द-मूल-फल लेनेको शिष्य सेवकोंको भेजा। तत्पश्चात् ऋद्धि-सिद्धिको सानुजसहित समाज भरतजीकी पहुनाई करके श्रम-हरणका आदेश दिया, परंतु भरतजीकी पहुनाई करके श्रमहरणमें अपनेको असमर्थ पाकर ऋद्धि-सिद्धियाँ आपसमें कहने लगीं कि रामजीके लघु भाई तो अतुलित अतिथि हैं, अत:

'मुनिपद बंदि करिअ सोइ आजू। होइ सुखी सब राज समाजू॥' हमलोग राजसमाजको सुखी कर लेवेंगी। मुनिजीने यह जानकर *'बिधि बिस्मयदायक बिभव'* अपने तपोबलसे रच डाला। अर्थात् मुनिजीने भरतके श्रमापनोदनके लिये कोई बात उठा न रखी, ब्रह्मलोकका ऐसा वैभव है कि वहाँ शोकश्रमादिकी गति नहीं। विधिविस्मयदायक विभवमें शोक-श्रमादि कैसे रह सकता है? पर भरतजीको बिना रामके विश्राम नहीं।

मुनि प्रभाउ जब भरत बिलोका। सब लघु लगे लोकपति लोका॥ १॥
सुख समाजु नहिं जाइ बखानी। देखत बिरति बिसारहिं ग्यानी॥ २॥
आसन सयन सुबसन बिताना। बन बाटिका बिहग मृग नाना॥ ३॥
सुरभि फूल फल अमिअ समाना। बिमल जलासय बिबिध बिधाना॥ ४॥
असन पान सुचि अमिअ[1] अमी से। देखि लोग सकुचात जमी से॥ ५॥
सुर सुरभी सुरतरु सबही कें। लखि अभिलाषु सुरेस सची कें॥ ६॥
रितु बसंत बह त्रिबिध बयारी। सब कहँ सुलभ पदारथ चारी॥ ७॥
स्त्रक चंदन बनितादिक भोगा। देखि हरष बिसमय बस लोगा॥ ८॥

शब्दार्थ—'**सुरभि**'=सुगन्धित, सुगन्ध। '**जलासय**'=वह स्थान जहाँ पानी जमा हो; जैसे तालाब, बावली, कुआँ, नदी, गड्ढा। '**पान**'=पेय द्रव्य, पीनेके पदार्थ; जैसे शर्बत, जल। '**सुलभ**'=सुगमतासे मिलने योग्य, सहजमें मिलनेवाला, आसान। '**अमिअ अमी से**'=अमृतके भी अमृतसार। वा, अमृत-सा मीठा और तोष देनेवाला जल। '**अमिअ**'=जल—(रा० प्र०)। 'भोग' आठ प्रकारके हैं; यथा—'**स्त्रग्गन्धो वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूलभोजनम्। भूषणं वाहनं चेति भोगस्त्वष्टविधः स्मृतः॥**' (कामदर्पण)

अर्थ—जब भरतजीने मुनिका प्रभाव देखा तो उसकी तुलनामें उन्हें सभी लोकपालोंके लोक तुच्छ लगे[2]॥ १॥ सुखकी सामग्रियाँ वर्णन नहीं की जा सकतीं, उन्हें देखकर ज्ञानी लोग अपना वैराग्य भुला देते हैं॥ २॥ आसन (बिछौने), सेज, सुन्दर वस्त्र, चँदोवे, वन, फुलवाड़ी, अनेक पक्षी और पशु॥ ३॥ सुगन्ध (अतर-फुलेल), सुगन्धित फूल, अमृतके समान फल, अनेक प्रकारके॥ ४॥ निर्मल जलाशय, पवित्र और अमृतके भी अमृत-सरीखे खाने और पीनेके पदार्थ जिन्हें देखकर संयमी लोग भी (वा, संयमीकी तरह लोग) सकुचा रहे हैं॥ ५॥ सभीके यहाँ कामधेनु और कल्पवृक्ष हैं जिन्हें देखकर इन्द्र और इन्द्राणीको भी अभिलाषा होती है (कि हमें ऐसा ऐश्वर्य कभी प्राप्त न हुआ, अच्छा होता कि हम भी यहीं आ बसें, हमें भी दस-पाँच मिल जाते)॥ ६॥ वसन्त-ऋतु है, (शीतल-मन्द-सुगन्ध) तीनों प्रकारकी हवा चल रही है। सभीको चारों पदार्थ (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष-सुख) सुलभ हैं॥ ७॥ माला, चन्दन, स्त्री आदि सब भोगविलासके पदार्थोंको देखकर सब लोग हर्ष और विस्मयके वश हो गये—(हर्ष मुनिके इस प्रभाव और भोगविलासकी सामग्री देखकर और डर है कि हम संयमी हैं, रामवियोगी होकर इनका भोग अनुचित है। आश्चर्य है कि अभी कुछ न था, एकदमसे कहाँसे आ गये, लानेवाले देख नहीं पड़ते""इत्यादि)॥ ८॥

नोट—*'सुख समाज""बिरति बिसारहिं ग्यानी'* इति। (क) (ज्ञानी ब्रह्मसुखका स्वाद लेते हैं, प्रपंचसे वियोगी होते हैं—सांसारिक सुखोंका सर्वथा त्याग किये रहते हैं, यथा—*'परमारथी प्रपंच बियोगी। ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा॥""'* जब इस सुखके सामानको देखकर वे उसे भूल जाते हैं तो इस सुखसमाजकी अतिशय सुन्दरता आप समझ लें। इस सम्बन्धसे इसकी अतिशय बड़ाई सूचित हुई। (ख) *'बिरति बिसारहिं ग्यानी'* इति। पंजाबीजी शंका करते हैं कि 'ज्ञानीका वैराग्य त्यागना तो असंगत है। वैराग्य ज्ञानीकी क्रिया

१-आधुनिक पाठ 'अमित अमीसे'
२-दीनजी अर्थ करते हैं—'सम्पूर्ण लोकोंमें लोकपति (मुनिके समक्ष) छोटे जान पड़े।'

नहीं है, जिसे वह त्याग करे। अपनी क्रियाका त्याग होता है न कि दूसरेकी क्रियाका?' और फिर समाधान करते हैं कि-(१) *'ग्यानी'* का अन्वय सबमें है, जिसको जिसका ज्ञान है वही उसका ज्ञानी है। वैराग्यके ज्ञाता वैराग्यको त्यागते हैं। अथवा, (२) वैराग्य ज्ञानीका परिपक्व लक्षण है। इस प्रकार ज्ञानीका त्याग भी ठीक है।' मेरी समझमें कविने स्वयं दिखाया है कि ज्ञानीके लिये वैराग्य अति आवश्यक है, यदि वैराग्य नहीं है तो वह ज्ञानी कैसा? यथा—*'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।'* (७। ८९) *'बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू।'* (१७८। ४) *'नाम जीह जपि जागहि जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥ ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा॥'* (१। २२। १-२) इत्यादिसे सिद्ध है कि वैराग्य आवश्यक है।

इस कथनका भाव आगे कवि जनाते हैं कि यहाँ ज्ञानीका वैराग्य भुलाना क्यों कहा। वह यह कि जिस भोगविलासको देखकर ज्ञानी आसक्त हो गये उसकी ओर भक्तशिरोमणि भरतजीने दृष्टि भी न डाली। इससे भक्तिका महत्त्व और भरतजीका मनसे वैराग्य दिखाया। (पं०)

नोट—२ *'बन बाटिका बिहग मृग'* एक चरणमें देकर जनाया कि वनमें मृग हैं, वाटिका सुगन्धित फूलोंसे लहलहाती है उसमें पक्षी हैं, दोनों तरह-तरहके हैं और बहुत हैं।

नोट—३ *'असन पान सुचि अमिअ अमी से।'* *'अमी से'*=अमसे, मिलाये, मिश्रित। अमृत सब पदार्थोंमें मिला हुआ है। अथवा, अमृतके भी अमृत। अमृत स्वर्गमें भी रहता है और यहाँकी सिद्धिरचित भोगविभूति ऐसी है कि *'देखत जिन्हहिं अमर अभिलाषे। जे सुख सुरपुर सपनेहुँ नाहीं॥'* (यह तो सिद्धियोंकी करतूत है) और मुनिने अपने तपोबलसे जो विभव निर्मित किया वह तो 'विधिविस्मयदायक' था तब *'असन पान'* का अमृतका होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। (पु० रा० कु०) अथवा, *'असन पान सुचि अमिअ अमी से'*=भोजन-पान सब पवित्र थे और अमृत-सा जल था। अमृत नाम जलका भी है। यथा—'**पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्।**' (वि० त्रि०) इसपर प० प० प्र० स्वामीजी कहते हैं कि यद्यपि अमृतका अर्थ जल भी है तथापि यहाँ *'अमिअ अमी से'* असन और पान दोनोंका विशेषण होनेसे 'जल' अर्थ सुसंगत नहीं; कारण कि उसका अन्तर्भाव *'पान'* में हो गया है। '**अमृतं यज्ञशेषे स्यात्पीयूषे सलिले घृते**' इति मेदिनीकोशे। अत: *'अमिअ अमी से'*=जो अमृतको भी अमृतके समान थे। अर्थात् अमृतसे भी अधिक स्वादिष्ट और तोषदायक थे। *'पान'* शब्दमें दूध, शर्बत, मट्ठा, जल, पीयूष, घृत इत्यादि विविध पेय पदार्थोंका अन्तर्भाव है। *'सकुचात जमी से'*—भाव यह कि अवधवासी तो श्रीरामजीके वियोगमें नेम-व्रत कर रहे हैं, अत: भोगविलासके इन दिव्य पदार्थोंको देखकर उनको इनके उपभोगका साहस नहीं पड़ रहा है, वे संकुचित हो रहे हैं कि कहीं ये हमारा व्रत न भंग कर दें; जैसे संयमी व्रतभंगके भयसे संकुचित होते हैं। मुख्य भाव यही है। पर दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि संयमी लोग पछताते हैं कि हमने व्यर्थ संयम किया, इन पदार्थोंको तो अवश्य भोग करना चाहिये था। पंजाबीजी *'जमी से'* का अर्थ यमराज (यमईश) करते हैं, पर यमराजका ऐश्वर्य कहीं ऐसा वर्णन नहीं हुआ कि वह प्रशंसायोग्य हो।

नोट—४ *'अभिलाष सुरेस सची के'* इनके सम्बन्धसे उनकी अतिशय बड़ाई की। सुरतरु और सुरसुरभी इससे सबके यहाँ रखीं कि कोई पदार्थ हम भूली भी हों तो ये पूरी कर दें।

नोट—५ *'सब कहँ सुलभ पदारथ चारी'* इति। (क) सुरतरु और कामधेनुके सम्बन्धसे ऐसा कहा। (ख) भाव यह कि जैसा मोक्ष होनेपर जीवको सुख होता है वैसा ही सुख सबको उस समय हुआ। यहाँ *'चारी'* से चारों प्रकारके सुखके भेद जनाये, कामसे अधिक सुख अर्थमें है, अर्थसे अधिक धर्ममें और धर्मसे मोक्षमें अधिक सुख है। और उत्तरोत्तर अधिक रहनेवाले भी हैं। इन चारों पदार्थोंके उपभोगका सुख अवधवासियोंको मिला, यथा—*'अर्थ धर्म कामादि सुख सेवै समय नरेस।'* (१। १५४) (पु० रा० कु०) अथवा, (ग) यहाँ अर्थ और काम ये दो पदार्थ प्राप्त ही हैं क्योंकि भोगविषयक जितने पदार्थ हैं वे अर्थ और कामके देनेवाले हैं। श्रीरामचरणानुरागमें मनके आसक्त होनेके कारण, इन सब पदार्थोंमें, भरतादिकी

रुचिका न जाना धर्म और मोक्ष है। (पं०) अथवा, मुनिकी आज्ञाका पालन धर्म है और स्वामिव्रतपालनमें उस ऐश्वर्यमें रहकर भी उसे न भोगनेमें मोक्ष है। (वीर) अथवा, अवधवासी सब मोक्षके अधिकारी हैं पर श्रीराम बिना मोक्षका भी निरादर करते हैं। इस प्रकार जो सामग्री मुनिने एकत्र की वह चार पदार्थकी देनेवाली कही गयी।

प० प० प्र० स्वामीका मत है कि सुरधेनु और सुरतरु मोक्षप्रदान करनेमें असमर्थ हैं, मोक्षप्रद एकमात्र ईश्वर ही है—***'बंधमोच्छप्रद सर्वपर मायाप्रेरक सीव'।*** अतः यहाँ ***'पदारथ चारी'*** से 'चार प्रकारके भोजन' यह अर्थ लेना चाहिये। मोक्ष सुलभ होता तो ***'देखि लोग सकुचात'*** की जरूरत ही नहीं रहती तथा ***'बिरति बिसारहिं ग्यानी'*** यह वचन भी विरोधक हो जाता। यहाँ तो ज्ञानियोंके भी वैराग्यका नाश होता है, अतः ये सब पदार्थ मोक्षहानिकर ही हैं इसीसे तो ***'सकुचात जमी से'।***

पं० श्रीकान्तशरणजीका मत है कि—यहाँ मोक्षसुख सत्संगमें अन्तर्भूत है, यथा—***'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिय तुला एक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥'*** (५। ४)

वे० भू०—***'स्त्रक चंदन बनितादिक भोगा'*** इति। (शंका) यहाँ अन्य भोगोंके साथ वनिताएँ क्यों उपस्थित की गयीं जबकि अवधवासी परस्त्रीकी तो बात ही क्या, वेश्यागामी भी नहीं हो सकते? इसका समाधान कविने स्वयं ही अगले चरण ***'देखि हरष बिसमय बस लोगा'*** से कर दिया है। श्रीभरतजीके साथ अवधवासियोंके अतिरिक्त ***'सेन संग चतुरंग न थोरी'*** थी। इनमें बाहरके भी सैनिक अधिक रहे होंगे। सैनिकोंके सस्त्रीक रहनेकी प्रथा एवं युद्धनियम नहीं था। अतः उनकी स्त्रियाँ अपने-अपने घर रहीं। महर्षिके प्रभावसे जब सैनिकोंने अपनी-अपनी स्त्रियोंको अपने-अपने पास पाया तो हर्ष और विस्मयके वश हो गये। अपनी स्त्रीको देख हर्ष हुआ और महर्षिका ऐसा आश्चर्यजनक प्रभाव देखकर विस्मय हुआ। अर्थात् आश्चर्य तो हुआ ही साथ ही दुःख हुआ कि हमारे संयममें बाधा न पड़े। ***'देखि लोग सकुचात जमी से'।***

पुरुषोंमें बहु विवाहका प्रचार सदैवसे रहा है। अतः महर्षिने बहुत सुन्दर स्त्रियाँ प्रकट करके लोगोंको अर्पित कीं जो सर्वथा कुमारी थीं, तभी तो कहा है कि ***'जे सुख सुरपुर सपनेहुँ नाहीं।'*** और स्त्रियोंके लिये एकपतित्वका नियम होनेसे उनके लिये 'पुरुषादिक भोगा' नहीं उत्पन्न किये। पुनः अन्तके ***'मुनि आयसु खेलवार'*** शब्द सूचित करते हैं कि ***'स्त्रक चंदन बनितादिक भोग'*** आतिथ्यधर्मपालनार्थ नहीं किंतु ***'खेलवार'*** (कुतूहल किंवा) के लिये ही उपस्थित किये थे। पर अवधवासी श्रीरामप्रेममें पगे हुए थे, वे देखकर डर गये। किसीने भोगा नहीं।

इस पूरे प्रसंगकी पंक्ति-पंक्तिके अक्षरोंपर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि आतिथ्य-सत्कारमें स्त्रियोंके देनेकी विधि नहीं थी। वह भरद्वाजकृत विलक्षण स्वागत था और भरद्वाजप्रदत्त स्त्रियोंके ग्रहण कर लेनेमें परस्त्रीगमनजन्य पापकी भी आशंका नहीं थी। परंतु मुनिने 'कन्द-मूल-फल' देनेको कहकर 'विधि विस्मयदायक विभव' दिया; इसीसे सत्पथके पथिक अवधेशके अनुयायियोंने उन्हें ग्रहण न किया अपितु देखकर ही रह गये।

नोट—६ ***'हरष बिसमय बस लोगा'*** इति। मिलान कीजिये—**'व्यस्मयन्त मनुष्यास्ते स्वप्नकल्पं तदद्भुतम्। दृष्ट्वातिथ्यं कृतं तावद्भरद्वाजमहर्षिणा॥'** (वाल्मी० २। ९१। ८०) अर्थात् स्वप्नके समान अद्भुत महर्षि भरद्वाजका किया हुआ वैसा आतिथ्य देखकर सभी मनुष्य विस्मित हो गये।

दो०—संपति चकई भरतु चक मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिजराँ राखे भा भिनुसार॥ २१५॥

शब्दार्थ—**'खेलवार'**=खेलाड़ी, खेल करनेवाला।=खेल **'चक'**=चकवा, चक्रवाक।

अर्थ—सम्पत्ति (भोग-विलासकी सारी सामग्री) चकवी है। श्रीभरतजी चकवा हैं। मुनिकी आज्ञा

(निमन्त्रण) 'खेलवाड़' है* जिसने उस रातको आश्रमरूपी पिंजड़ेमें दोनोंको बन्द कर रखा। रखे-ही-रखे सबेरा हो गया॥ २१५॥

नोट—१ यहाँ सम-अभेदरूपक है। प्रकृतिका यह नियम है कि चकवा-चकवीका रातमें कभी भी संयोग नहीं होता। रातमें वे परस्पर वियोगी ही रहते हैं। यदि कोई उन्हें जबरदस्ती एक पिंजड़ेमें बन्द भी कर दे तो भी वे एक पिंजड़ेमें रहते हुए भी रातमें कदापि न मिलेंगे बल्कि एक-दूसरेसे मुँह फेरे हुए सबेरा कर देंगे। इस प्रकार यहाँ मुनिने अपने तपोबलसे सब सुखका साज रचकर भरतजीको आज्ञा दी कि अतिथि हों, उनकी आज्ञा मानकर वे रातभर उस आश्रममें इस भोग-विलासकी सामग्रीके पास बैठे रहे पर उन्होंने इस अपूर्व सम्पत्तिकी ओर मनको भी न जाने दिया। सम्पत्तिसे विमुख या वियोगी बने बैठे रहे। मुनिकी आज्ञा खेलाड़ी है; क्योंकि आज्ञाके कारण ही आतिथ्य स्वीकार करना पड़ा था।

नोट—२ भरत और सम्पत्तिको चकवा-चकवीकी उपमा देकर वाल्मीकीयका मत भी जना दिया है कि ये ही बचे और सब सुखमें मग्न हो गये। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि भरतजीने घरमें सिंहासन, पंखा छत्र देखकर उनको प्रणाम किया। जैसे राजाको प्रणाम किया जाता है। इस प्रकार रामचन्द्रजीको प्रणाम करके वे चँवर लेकर मन्त्रीके आसनपर बैठ गये, यथा—'**तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च। भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत्॥**' (३८) '**आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च। बालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने॥**' (३९) ☞ क्या उत्कृष्ट भाव है। इसके आगे देवलोकका ऐश्वर्य क्या भक्तको मोहित कर सकेगा? ***'संपति सब रघुपति कै आही',*** उनका महल है, वे अदृश्यरूपसे विराजमान हैं, हम सेवक हैं। यद्यपि वाल्मीकीयका मत भी इस रूपकसे लक्षित हो जाता है तथापि मानसकल्पके अवधवासी भी इस भोगसामग्रीसे दूर ही रहे थे यह ***'देखि लोग सकुचात जमी से'*** इस चरणसे स्पष्ट कह दिया है। भेद इतना अवश्य है कि उन लोगोंने देखा और उससे डरते रहे और श्रीभरतजी तो उससे पीठ ही फेरे रहे।

पु० रा० कु०—यहाँ दो बातें दिखायीं। १—मुनिने परीक्षार्थ नेवता दिया। इस लोकके भोग इन्होंने त्याग दिये तो देवलोकके पदार्थ दिखाते हैं। देखें उसे ग्रहण करते हैं या नहीं। यह अनुमान 'खेलवार' और 'चकवा-चकवी' के रूपकसे होता है। खेलाड़ी परीक्षा करनेके लिये दोनोंको साथ बन्द करता है कि देखें दोनों मिलते हैं कि नहीं, वैसे ही यह निमन्त्रण भरतजीकी परीक्षा-हेतु है। पर उन्होंने उसकी ओर दृष्टि भी न डाली। चकवाकी उपमासे यह भी जनाते हैं कि भरतजी इस वैभवसे दुःखी हुए, सुखी न हुए, यथा—***'चक्क चक्कि जिमि पुर नर नारी। चहत प्रात उर आरत भारी॥'*** पुनः, गीतावलीके ***'घोर घामके लागे'*** से भी यही सिद्ध होता है कि मुनिकी पहुनाई तापदाता हुई, सुखदाता नहीं। २—रामानुरागियोंको आनुषंगिक भोग रास्ते चलते मिलते हैं। [(नोट)—मेरी समझमें, यह भी सम्भव है कि भरतजीका वैराग्य संसारमें (शिक्षार्थ) प्रसिद्ध करनेके लिये यह सब खेल रचा गया। महर्षि उनके प्रेम और वैराग्यको जानते हैं]

वै०—जब भरतजीको ग्रहण न करना था तो मुनिने इतना वैभव क्यों रचा और उन्होंने निमन्त्रण क्यों स्वीकार किया? उत्तर—भक्तशिरोमणि भरतजीकी सेवामें मुनिने अपना सुकृत लगाकर उसे सुफल किया और उनके वैराग्यकी परीक्षा भी हो गयी। निमन्त्रण व्यर्थ नहीं गया। भरतजीने आज्ञा मानी, कन्द-मूल-फलमात्र ग्रहण किये और विभवपर दृष्टि न डाली।

वि० त्रि०—भरतजी विधि विस्मयदायक विभवको देखकर संकुचित नहीं हुए; क्योंकि वे ऐसे विभवके भोगनेके योग्य थे, इसीसे सम्पत्तिको चकई और भरतजीको चक कहा। परंतु बिना भानुकुलभानुके भरतजीने वैभवका उपयोग त्याग दिया था, अतः ***'तापस शमदम दयानिधान परमारथपथ परम सुजान'*** महामुनि भरद्वाजजीके आदेशका मूल्य खिलवाड़मात्र रह गया। वह कोक-कोकीको रातके समय एक पिंजड़ेमें बन्द करनेके कौतुक-सा हो गया। मुनिजी भरतकी परीक्षा लेने नहीं चले थे, यथा—***'मुनिहि सोच पाहुन बड़ नेवता। तस पूजा***

* किसी-किसीने 'मुनि आयसु' को 'खेलवाड़' (खेल) और मुनिको खेलाड़ी माना है।

चाहिय जस देवता॥' इत्यादि। भरतको राजसमाजके सहित मुनिजीने न्योता दिया था, और भरतजी विरह-विकल भी थे, अतः उनका मन बहलानेके लिये मुनिजीको इतनी तैयारी करनी पड़ी। रामजीको नेवता नहीं दिया था, और वे प्रसन्न भी थे, अतः ईश्वरकी भाँति जो सामग्री मौजूद थी, उसीसे उनका पूजन किया।

कीन्ह निमज्जनु तीरथराजा। नाइ मुनिहि सिरु सहित समाजा॥ १॥
रिषि आयसु असीस सिर राखी। करि दंडवत बिनय बहु भाषी॥ २॥
पथगति कुसल साथ सब लीन्हे। चले चित्रकूटहि चितु दीन्हे॥ ३॥

शब्दार्थ—**निमज्जनु**=डूबकर किया जानेवाला स्नान, अवगाहन, गोता लगाकर स्नान करना। **भाषी**=कही। **पथगति कुसल**=मार्गकी चालें, कौन रास्ता किधर गया है, कौन सीधा है, कौन मार्ग कैसा है इत्यादि जाननेमें प्रवीण=पथप्रदर्शक।

अर्थ—(श्रीभरतजीने) तीर्थराज प्रयाग त्रिवेणीमें स्नान किया, समाजसहित मुनिको माथा नवाकर॥ १॥ ऋषिकी आज्ञा और आशीर्वाद सिरपर धारणकर दण्डवत् करके बहुत विनती की॥ २॥ रास्तोंको अच्छी तरह जाननेवाले पथप्रदर्शकों और सबको साथ लिये हुए चित्रकूटपर चित्त लगाये हुए वे चले॥ ३॥

नोट—१ ***'नाइ मुनिहि सिरु……बिनय बहु भाषी'*** इति। (क) **'तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा भरतोऽभिप्रणम्य च।……सुखोषितोऽस्मि भगवन्समग्रबलवाहनः। बलवत्तर्पितश्चाहं बलवान्भगवंस्त्वया॥ अपेतक्लमसंतापाः सुभिक्षाः सुप्रतिश्रयाः। अपि प्रेष्यानुपादाय सर्वे स्म सुसुखोषिताः॥ आमन्त्रयेऽहं भगवन्कामं त्वामृषिसत्तम। समीपं प्रस्थितं भ्रातुर्मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा॥'**……(वाल्मी० २। ९२। ५—७) यही सब ***'बहु बिनय'*** है। श्रीभरतजीने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और (ऋषिके पूछनेपर) कहा कि भगवन्! अपने समस्त सैनिक तथा हाथी-घोड़े आदि वाहनोंके साथ मैंने सुखपूर्वक निवास किया, आपने हम सबोंको खूब तृप्त किया। हम सब लोगोंने यहाँ अपना संताप दूर किया। ठहरनेके लिये खूब उत्तम स्थान मिले। सबने सुखपूर्वक निवास किया। भगवन्! आपसे मैं निवेदन करता हूँ कि भाईके समीप जानेवाले मुझपर आप अधिक कृपादृष्टि रखें। उन धर्मात्माके आश्रमका कौन मार्ग है और वह यहाँसे कितनी दूर है? (ख) ***'सहित समाज सिर नाइ'*** कहकर जना दिया कि माताओंने भी सवारियोंसे उतरकर वहाँ जाकर प्रणाम किया।

नोट—२ ***'चले चित्रकूटहि चितु दीन्हे'*** इति। उपदेश है कि तीर्थको चले तो उसीपर ध्यान रहे, न कि घरपर। (पु० रा० कु०) २ श्रीरामचन्द्रजी सीधे न जाकर वाल्मीकिजीके आश्रमपर गये थे। पर ये वहाँ न गये। इसका कारण मुख्यतः यही प्रतीत होता है कि—(क) इस समय उनको श्रीरामदर्शनकी उत्कट लालसा है। वे शीघ्रातिशीघ्र दर्शनके लिये आतुर हैं, यह ***'चले जनु तक्यो तड़ाग तृषित गज।'*** (गी० २। ६८) से भी सिद्ध होता है। अथवा, (ख) वे भरद्वाजजीके गुरु हैं, चेलेने ऐसा आतिथ्य किया तो गुरु न जानें क्या करें। यही कठिन संकोच था, तो वह काम क्यों करें। अतएव सीधे चले। ***'चले जनु तक्यो तड़ाग तृषित गज घोर घामके लागे'*** के ***'घोर घाम'*** से भरद्वाजकी मेहमानीका भी संकेत लिया जा सकता है। दूसरे, सम्भवतः मुनिसे मालूम हुआ होगा कि वे आश्रमपर नहीं हैं। (शिला)

वि० त्रि०—***'पथगति कुसल……दीन्हे'*** इससे मालूम होता है कि उस समय आगे घोर जंगल था। रामजीको भी रास्ता दिखानेके लिये मुनि शिष्योंको लेना पड़ा, भरतजीको भी पथ-गति कुशलोंको साथ लेना पड़ा। भरतजीको रामजीके पास पहुँचनेकी जल्दी थी, अतः वे सीधे चित्रकूट गये। रामजीको बसनेके लिये स्थान पूछना था, इसलिये उन्हें वाल्मीकिजीसे मिलना आवश्यक था। रामजीको किसी विशेष स्थानपर पहुँचनेकी जल्दी न थी, ***'मुनिगण मिलन'*** का बड़ा चाव था, वाल्मीकिजी प्रधान थे, अतः मिलने गये।

नोट—३ यहाँ मन-कर्म-वचन तीनोंसे रामजीमें लीन दिखाया ***'चित दीन्हें',*** (मन), 'चले' (कर्म), ***'पंथ कहानी पूछत'*** (वचन)। (वै०)

नोट—४ पु० रा० कु०—पार उतरकर स्नान करना चाहिये था पर इन्होंने इसी पार स्नान कर लिया।

कारण कि उस पार स्नान करनेसे प्रयागतीर्थस्नान न मिलेगा। तीर्थस्नान करके चलना उचित समझा। (नोट—पूर्व लिखा गया है कि सरस्वती नदीके लिये यह नियम नहीं है, यहाँ सरस्वती हैं। इससे इसी पार स्नान किया)।

रामसखा कर दीन्हे लागू। चलत देह धरि जनु अनुरागू॥ ४॥
नहि पदत्रान सीस नहिं छाया। पेमु नेमु ब्रत धरमु अमाया॥ ५॥
लखन राम सिय पंथ कहानी। पूछत सखहि कहत मृदु बानी॥ ६॥
राम-बास-थल-बिटप बिलोकें। उर अनुराग रहत नहिं रोकें॥ ७॥
देखि दसा सुर बरिसहिं फूला। भइ मृदु महि मगु मंगलमूला॥ ८॥

शब्दार्थ—'**कर दीन्हे लागू**'=हाथ पकड़े हुए, सहारा लिये हुए जैसे कंधेपर हाथ रखकर लोग प्रेमसे चलते हैं। '**अमाया**'=कपट-छलरहित, नि:स्वार्थ, निश्छल, निष्कपट। '**थल**'=स्थान, जगह, ठिकाना। '**मंगलमूला**'=मंगलकी जड़, मंगलका उत्पन्न करनेवाला, मंगलमय।

अर्थ—श्रीरामजीके सखा निषादराजके हाथका सहारा लिये हुए चल रहे हैं मानो प्रेम ही शरीर धारण करके चल रहा है॥ ४॥ न तो पैरोंमें जूते हैं और न सिरपर छाया (अर्थात् छत्र या छाता भी नहीं लगाये हैं)। उनका प्रेम, नेम, व्रत और धर्म छल-कपटरहित है॥ ५॥ श्रीलक्ष्मण, राम और सीताके मार्गकी कथा सखासे पूछते हैं और वह कोमल वाणीसे कहता है॥ ६॥ श्रीरामचन्द्रजीके निवासके स्थान (जहाँ-जहाँ वे ठहरे थे) और वृक्षोंको देखते ही हृदयमें प्रेम रोके नहीं रुकता। (अर्थात् प्रेम रोमांच, अश्रु आदि रूपमें उमड़ पड़ता है)॥ ७॥ श्रीभरतजीकी यह दशा देखकर देवता फूल बरसाते हैं, पृथ्वी कोमल हो गयी और मार्ग मंगलदायक हो गया॥ ८॥

नोट—१ ***'चलत देह धरि जनु अनुरागू।'*** श्रीरामविरह एवं दर्शनाभिलाषाके कारण शिथिल हैं; इससे पकड़े हुए चलते हैं। अनुरागमें अंग शिथिल पड़ते ही हैं, अत: 'अनुराग' की उपमा दी। श्रीभरतजीको श्रीरामप्रेमकी मूर्ति आदि पूर्व भी कह आये हैं—***'रामप्रेम मूरति तनु आही।'*** (१८४। ४) यह अवधके सभासदोंके वाक्य हैं। जब शृंगवेरपुरमें श्रीरामवास, स्नान स्थलोंको देखने गये, तब भी प्राय: ऐसा ही कहा है—***'सोहत दिए निषादहि लागू। जनु तनु धरें बिनय अनुरागू॥'*** (१९७। २) भेद केवल इतना है कि वहाँ विनय और अनुरागका तन धरना कहा है (जो साभिप्राय हैं) और यहाँ केवल 'अनुराग' कहा है। दोनों जगह कविके वाक्य हैं। भरद्वाजजीने भी यही मत प्रकट किया है—***'तुम्ह तो भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥'*** (२०८। ८) और अन्तमें भी इनको प्रेममूर्ति कहा है—***'जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही।'*** (७। ५)—इसी तरह आदि-मध्य-अन्त सर्वत्र इनको रामप्रेममूर्ति वा रामप्रेमका अवतार ही कहा है। चित्रकूटमें श्रीवसिष्ठजीने जब निषादराजको उठाकर छातीसे लगाया है तब उसे भी 'स्नेह' कहा है। यथा—***राम सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥'*** (२४३। ६) श्रीभरतजी निषादराजका सहारा लिये चलते हैं। यह यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय है। यहाँ 'अनुक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा' अलंकार है।

नोट—२ ***'नहिं पदत्रान''''''***' इति। नंगे पैर, पैदल, बिना छत्रछायाके ऐसा कठिन नियम, फलाहार व्रत, सेवकधर्म निबाहते हुए और प्रेमकी तो मूर्ति ही हैं।

नोट—३ ***'लषन राम सिय पंथ कहानी।''''''*** ' इति। (२) ***'पंथ कहानी'*** मार्गकी कथाएँ। ये कथाएँ प्राय: वह हैं जो भरद्वाजाश्रमसे चलनेपर आगेके मार्गकी हैं। ***'ग्राम निकट जब निकसहिं जाई। देखहिं दरसु नारिनर धाई॥'*** (१०९। ७) से लेकर ***'राम लषन पथि कथा सुहाई। रही सकल मग कानन छाई॥'*** (१२२) इत्यादितक। जो सम्पूर्ण मार्ग और वनमें ग्राम-ग्राम चर्चा हो रही है, वही सब कथाएँ कहीं। 'पथिकथा' ही '**पंथ कहानी**' है। मार्गमें जहाँ-तहाँ थोड़ी-ही-थोड़ी देर विश्राम किया इससे प्रत्येक जगहकी कथा थोड़ी-ही-थोड़ी है। अत:

उसे *'कहानी'* कहा। प्रज्ञानानन्द स्वामीका मत है कि 'मानसमें *'कहानी'* शब्दका प्रयोग 'कल्पित कथा जो ज्ञान-सिद्धान्त समझानेके लिये कही जाती है' अथवा 'अकथ्य अनिर्वचनीयकी कथा' के अर्थमें किया गया है। यथा—*'उदभवपालन प्रलय कहानी। कहे अमित आचरण बखानी॥'* (१। १६३। ६) *'ममतारत सन ज्ञान कहानी।'* (५। ५८। ३), *'सुनहु तात यह अकथ कहानी।'* (७। ११७। ३) अतः यहाँ भाव यह है कि यद्यपि श्रीराम-लक्ष्मण सीताजीके चरित अगाध, अनिर्वचनीय अनन्त हैं तथापि पूछते हैं। *'यद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥ अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्मरति मानउँ॥'* सगुण ब्रह्मका निदर्शन करनेके लिये यहाँ *'कहानी'* शब्द प्रयुक्त किया गया है।

नोट—४ (क) *'पूछत सखहि कहत मृदु बानी'* इति। सखासे पूछते हैं क्योंकि वह मार्गमें बहुत दूरतक साथ रहा है और आगेके समाचार भी उसे मिलते रहे हैं। सखासे पूछा अतः सिद्ध हुआ कि सखाने कहा। बैजनाथजीका मत है कि सखासे पूछते हैं और स्वयं कहते भी हैं। (ख) *'कहत मृदु बानी'* इति। मृदु वाणी बोलना भक्तोंका स्वभाव ही होता है, वे मीठे कोमल वचन बोलते ही हैं। श्रीलक्ष्मणजीसे उसे यह ज्ञात हो चुका है कि *'राम ब्रह्म परमारथ रूपा'* हैं, इससे उसका स्नेह अधिक हो गया। फिर भक्तशिरोमणि रामप्रेममूर्ति भरतका इस समय संग है, उनके प्रेमकी दशा देखकर पशु-पक्षी जड़ जीव भी प्रेममें मग्न हो जाते हैं, यथा—*'देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेममगन खग मृग जड़ जीवा॥'* (२३८। ५) वैसे ही गुह भी प्रेममें डूबे हुए हैं। अनुरागके समय वाणी कोमल हो ही जाती है। अतः *'कहत मृदुबानी'* कहा। पुनः *'मृदुबानी'* से यह भी सूचित किया कि वह श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीको मार्गमें जो कष्ट हुए, उनकी चर्चा नहीं करते, कष्टकी कोई बात नहीं कहते जिसमें श्रीभरतजीको संताप न हो, मगवासी-वासिनियोंके प्रेमकी कथाएँ ही कहीं, इत्यादि। (ग) *'राम-बास-थल······'* इति। भाव कि विश्रामके स्थान देखकर वैसा ही प्रेम उमड़ पड़ता था मानो श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीको ही देखा हो जैसा पूर्व दोहा १९८-१९९ में कह आये हैं—*'चरनरेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥'* (१९९। २) *'रहत नहिं रोके'* से जनाया कि रोकना चाहते हैं पर रुकता नहीं, प्रेमाश्रु, गद्गदकण्ठ, रोमांच आदि सात्त्विक भावोंद्वारा बाहर उमड़ा आता है। (घ) *'देखि दसा सुर बरिसहिं फूला।······'* इति। श्रीभरतजीकी अनुरागमें ऐसी दशा हो गयी कि उसका प्रभाव आकाश और पृथ्वी दोनोंपर पड़ा। आकाशसे देवताओंने फूल बरसाये और पृथ्वी भी मृदु हो गयी—यह सोचकर कि एक दिनकी यात्रासे तो चरणोंमें झलके (छाले) पड़ गये और अब तो वनमार्गमें और भी कष्ट होगा। (वि० त्रि०) (ङ) *'भइ मृदु महि मगु मंगलमूला'*—यह आगे *'किये जाहिं छाया······'* इस दोहेमें दिखाते हैं। पृथ्वीपर काँटे-कंकर आदि दुःख देनेवाली वस्तुएँ न रह गयीं।

दो०—किये जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।
तस मगु भयेउ न राम कहँ जस भा भरतहिं जात॥ २१६॥

जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ १॥
ते सब भए परमपद जोगू। भरत दरस मेटा भवरोगू॥ २॥
एह बड़ि बात भरत कइ नाहीं। सुमिरत जिनहिं रामु मन माहीं॥ ३॥
बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥ ४॥
भरतु रामप्रिय पुनि लघु भ्राता। कस न होइ मगु मंगलदाता॥ ५॥
सिद्ध साधु मुनिवर अस कहहीं। भरतहिं निरखि हरषु हिय लहहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—'**बहइ**'—'बहना'=वायुका संचरित होना, हवाका चलना, यथा—'**त्रिबिध बयारि बहइ सुख देनी**'। '**बात**'=वायु, हवा। '**घनेरे**'=बहुत-से, अगणित। '**बारक**'=एक बार, एक दफा। '**तरन तारन**'—तरण=तैरकर

पार हो जानेवाला, भवसागर पार होनेवाला। '**तारन**'=दूसरेको भवसागर पार कर देनेवाला। '**तरन तारन**'=जो स्वयं भवसागर पार हो जायँ और दूसरोंको पार कर दें।

अर्थ—बादल छाया किये जा रहे हैं, सुख देनेवाली सुन्दर (शीतल, मन्द, सुगन्ध) हवा बह रही है। जैसा (सुखदायक) मार्ग श्रीभरतजीके जाते समय हुआ वैसा श्रीरामचन्द्रजीके लिये नहीं हुआ था॥ २१६॥ मार्गके अगणित जड़ और चेतन जीव जिन्होंने प्रभु श्रीरामचन्द्रजीको देखा या जिन्हें प्रभुने देखा वे सब परमपदके अधिकारी हो गये थे, परन्तु अब भरतजीके दर्शनने तो उनका भवरोग ही (बारंबार जन्म-मरण) मिटा दिया[१]॥ १-२॥ श्रीभरतजीके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है, जिन्हें श्रीरामचन्द्रजी स्वयं मनमें स्मरण करते रहते हैं॥ ३॥ संसारमें जो कोई भी मनुष्य एक बार ***'राम'*** (ऐसा) कहते हैं अर्थात् रामनाम लेते हैं वे स्वयं तर जाते हैं और दूसरोंको तार देनेवाले हो जाते हैं[२]॥ ४॥ और, श्रीभरतजी तो श्रीरामजीके प्यारे हैं और फिर उनके छोटे भाई भी हैं तब भला मार्ग उनके लिये मंगलदायक कैसे न हो? अर्थात् होना ही चाहिये॥ ५॥ सिद्ध साधु श्रेष्ठ मुनि ऐसा कह रहे हैं और भरतजीको देखकर हृदयमें हर्षित होते हैं॥ ६॥

श्रीजामदारजी—इस वर्णनमें रामजी और भरतजीके माहात्म्योंकी तुलना करके गोसाईंजीने भरतजीको ही श्रेष्ठत्व दिया। यह वर्णन बहुत ही मार्मिक है। इसमें रामजीकी अपेक्षा संतोंको ही श्रेष्ठ ठहराया। (***'राम तें अधिक राम कर दासा'*** यहाँ फिर चरितार्थ हुआ।)

इस तुलनाका भाव ऐसा दिखता है कि जीवोंको रामदर्शन परमपदके लिये पात्र बनाता है। परन्तु उसकी संसार-यात्राकी समाप्ति हुए बिना उसके लिये परमपदप्राप्ति सम्भव नहीं है; परंतु संतदर्शन (अथवा गुरुदर्शन) जीवोंके संसारकी ही समाप्ति करता है। अर्थात् संतकृपा ऐसी है कि उसके योगसे संसार ही परमपद बन जाता है। गीताकी भाषामें इसीको हम कह सकते हैं कि **'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः'** (५। १९) इसी आशयको श्रीमुकुन्दराज महाराजने अपनी 'परमामृत' में कहा है कि ***'याचि देहीं याचि डोलां। भोगूँ मुक्तीचा सोहला॥'*** [अर्थ—इसी देहमें (जन्ममें) और इसी नेत्रसे मुक्तिका आनन्दोत्सव चखेंगे।]

पु० रा० कु०—१ ***'ते सब भए परमपद जोगू……'*** इति। अर्थात् जब शरीर छूटेगा तब परमपद पावेंगे। श्रीरामजीका दर्शन निष्फल नहीं जाता, यह उन्होंने स्वयं विभीषणजीसे कहा है, यथा—***'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघ जग माहीं॥'*** (५। ४९। ९) जो भक्तकी वासना मिलते समय होती है उसकी भी पूर्ति होती है और उसे सहज स्वरूपकी प्राप्ति होती है। यथा—***'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥'*** (३। ३६। ९) सहजस्वरूपकी प्राप्ति हो जानेसे परमपद-प्राप्तिके योग्य हो जाता है। प्रारब्ध शरीरके नाशपर ही परमपदकी प्राप्ति होगी। जबतक शरीर है तबतक भवरोग बना है। वह भवरोग मिटा। अर्थात् जीवन्मुक्त हो गये। अहंबुद्धि जाती रही। [उनका मन समतामें स्थित हो गया। इससे उन्होंने शरीर रहते ही संसारको जीत लिया, क्योंकि वह सम आत्मतत्त्व है, वह ब्रह्म ही है। आत्मसमतामें स्थिति ब्रह्ममें ही स्थिति है। ब्रह्ममें स्थित होना ही संसार (भव) पर विजय पा लेना, भवका मिटना है। यह भाव उपर्युक्त गीता-उद्धरणका है। संतोंके दर्शनसे इसकी शीघ्र प्राप्ति हो जाती है।] इस दोहेमें भगवत्से भागवतमाहात्म्य अधिक दिखाया है। समुद्रने रामजीकी सेवकाई न की और सेवक हनुमान्‌जीकी की, यथा—***'जलनिधि रघुपति दूत……॥'***

पाँड़ेजी—जिनके नेत्र नहीं, जैसे वृक्ष, पत्थर आदि, उनको रामजीने देखा और जिनके नेत्र थे उन्होंने रामदर्शन किया। इस प्रकार सब चर-अचर जीव परमपदके योग्य हुए। पर जब उन्होंने सुना कि भरतको राज्य देनेके लिये इनको वनवास दिया गया तब उनको राज्यसुख ही प्रधान आदरणीय पदार्थ जान पड़ा। [श्रीरामजीमें उनकी ईश्वर-बुद्धि न हुई। (रा० प्र०)] इस कारण उनको भवरोग लग गया, वे केवल परमपदके

१-उत्तरोत्तर उत्कर्ष 'सार अलंकार' है।

२-अर्थान्तरन्यास।

अधिकारी मात्र रह गये। परंतु जब भरत-दर्शन हुआ और उन्होंने देखा कि जिस राज्यके कारण एकको वन हुआ उसीको ये तुच्छ मानकर और त्याग करके श्रीरामजीके अनुरागमें रँगे चले जा रहे हैं, तब इन्हें निश्चय हो गया कि रामप्रेम ही मुख्य है, राज्य आदि विभव कुछ नहीं है [भरतदशा देखनेपर श्रीरामजीमें ईश्वर-बुद्धि आ गयी। (रा० प्र०)] अतः इनका भवरोग मिट गया।

मयंक—(क) भव कुटुम्बको भी कहते हैं। जिनको दर्शन हुआ वे परमपद पावेंगे, पर उनके कुटुम्बका तरना न कहा था। इनके दर्शनसे परिवारको परमधामकी प्राप्ति हो गयी। यथा—***'सहित कोटि कुल मंगल मोरे' 'सहित प्रयाग सुभाग हमारा।'*** पुनः (ख) परमपदके योग्य हुए पर मत-मतान्तरकी शूल किंचित् रह ही गयी थी, क्योंकि यह बोध न हुआ था कि ये परतम हैं। भरतजीके पर-प्रेमको देखकर रामप्रेमका अटल बोध हुआ, ज्ञान आदि अपर साधन तुच्छ जान पड़े।

नोट—१ टीकाकारोंने यहाँ यह शंका उठायी है कि ग्रन्थकार पूर्व कह आये हैं कि ***'झलका झलकत पायन्ह कैसे'*** अर्थात् उनको (भरतजीको) मार्गमें बहुत कष्ट हुआ और यहाँ कहते हैं कि ***'तस मग भयउ न राम कहँ जस भा भरतहिं जात',*** अर्थात् श्रीरामजीको भी मार्ग ऐसा सुखदायी न हुआ था जैसा इनको हो रहा है। इस तरह पूर्वापर विरोध-सा जान पड़ता है। और इस शंकाका समाधान भी सभीने किया है—

मुं० रोशनलाल—प्रथम दरबार जो अवधमें हुआ उसमें भरतजीने सबसे आशीर्वाद माँगा कि ***'तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥ जेहि सुनि बिनय मोहि जन जानी। आवहिं बहुरि राम रजधानी॥'*** सदैव स्वार्थमें रत देवताओंको इससे सन्देह हुआ कि श्रीरामचन्द्रजीको लौटाने जाते हैं, इससे अपने कार्यकी हानि समझ उन्होंने मार्गमें अनेक प्रकारकी कठिनाइयाँ डालीं। पृथ्वी कठोर और गर्म, वायु गर्म, घाम कड़ा, काँटे-कंकड़ आदिसे पैरोंमें छाले पड़ गये। पर जब प्रयागराजसे उन्होंने वर माँगा कि ***'जनम जनम रति रामपद यह बरदान न आन'*** दीजिये तब उनका अन्तःकरण शुद्ध समझ उनका सन्देह दूर हुआ, वे प्रसन्न हो फूल बरसाने लगे, पृथ्वी कोमल और मंगलदायक बन गयी, मेघोंकी छाया हो गयी, इत्यादि। इससे अब मार्ग सुखद हो गया। (पाँड़ेजी)

नोट—२ पं०—भरतजीका प्रेम श्रीरामजीमें उमगा इसलिये चराचरका स्नेह भरतमें हो गया और वे सुखदायक हो गये। यथा—***'जबहिं रामु कहि लेहिं उसासा। उमगत पेमु मनहु चहुँ पासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना॥'*** (२२०। ६-७) भरत संतप्त हैं, मगकी कठिनता होगी तो वे और दुःखी होंगे, हम सब सुख देंगे तो वे श्रीरामजीके लौटानेमें हठ न करेंगे, यह सोचकर वे सेवा कर रहे हैं, मानो विनय करते हैं कि हमारे कष्टका हरण करने दीजिये। श्रीरामजीको दुःख नहीं है, वे अपनी खुशीसे आये हैं और भरतजी उनको दुःखी समझते हैं।'

☞ ग्रन्थकार यहाँ इनका मार्ग रामजीकी अपेक्षा अधिक सुखद लिख रहे हैं। वे यह नहीं कहते कि श्रीरामजीको मार्गमें कष्ट नहीं हुआ। गीतावली और कवितावलीमें तो खूब स्पष्ट है कि श्रीसीता-लक्ष्मण-राम तीनोंको कष्ट हुआ, छाले पड़े, काँटे गड़े, श्रम हुआ और मानसमें भी पन्थ-कथा आप पढ़ ही आये हैं।

राजकुमार भरतजी रामजीका वनवास, उनका शृंगवेरपुरसे सवारीका त्याग और सबका पादत्राणविहीन पैदल चलना याद करके स्वयं नंगे पाँव, पैदल चले। कभी क्यों ऐसा कुअवसर प्राप्त हुआ होगा। उसपर भी रामदर्शनकी उत्कण्ठामें उन्होंने इतनी बड़ी मंजिल तय की। इससे फफोले तो पड़े पर तो भी क्या यह मार्ग उनको दुःखद हुआ? कदापि नहीं। इसे प्रेमीका ही हृदय जान सकता है। उनके हृदयमें जो ग्लानि और प्रेम भरा है उससे छालेकी ओर तो उनका स्वप्नमें भी ध्यान न गया होगा। प्रेमीकी चाहमें मार्ग सुखद ही लग रहा होगा। चाहे देवताओंने उस समय कुछ भी सहायता न की हो, कविने छालोंके झलकनेकी उपमा ऐसी उत्तम न दी होती जैसी यहाँ दी है—***'पंकजकोस ओसकन जैसे',*** यदि वे दुःखद प्रतीत होते। वे छाले भी ओसकणकी तरह ठण्ढे ही लगते रहे। इस प्रकार विरोधाभास नहीं है। यहाँ कवि मार्गके अधिक सुखद होनेका कारण देते हैं कि ***'भरत रामप्रिय***

पुनि लघु भ्राता। कस न होइ मगु मंगलदाता॥' प्रभु अपने भक्तपर कृपा करते ही हैं इससे उनका मार्ग अधिक सुखद कर दिया।

भरतजीका अनुराग उमड़-उमड़कर निकल पड़ता था। इस दशाको देखकर देवता भी प्रेममें मग्न हो गये और वे फूल बरसाने लगे……इत्यादि। आगे यह देवगुरुसे सुनकर कि रामचन्द्रजी ***'मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैरु बैर अधिकाई॥'…… भरत राम आयसु अनुसारी।'*** उनका संदेह दूर हुआ और वे मार्गको भरतके लिये मंगलमय बनाते चले गये।

पुनः, यहाँ यह भी दिखाया कि सन्मार्गमें प्रथम कष्ट होता है, कठिन परीक्षा होती है; पर आगे सुख होता है।

देखि प्रभाउ सुरेसहि सोचू। जगु भल भलेहि पोच कहुँ पोचू॥ ७॥
गुर सन कहेउ करिअ प्रभु सोई। रामहि भरतहि भेट न होई॥ ८॥
दो०—राम सकोची प्रेम बस भरत सुपेम[1] पयोधि।
बनी बात बेगरन चहति करिअ जतनु छलु सोधि॥ २१७॥

अर्थ—श्रीभरतजीके प्रेमका प्रभाव देखकर देवराज इन्द्रको सोच हुआ। (कि इनके संकोचसे रामजी लौट न जावें, बना-बनाया खेल बिगड़ न जाय)। संसार भलेको भला और बुरेको बुरा ही दीखता है॥ ७॥ उसने गुरु बृहस्पतिजीसे कहा कि 'हे प्रभो! वही (उपाय) कीजिये जिससे रामजीसे भरतकी भेंट न हो॥ ८॥ श्रीरामचन्द्रजी संकोची और प्रेमके वश हैं और भरतजी सुन्दर एवं अत्यन्त प्रेमके समुद्र हैं। बनी-बनायी बात बिगड़ना चाहती है, इसलिये कोई छल खोजकर उसका उपाय कीजिये॥ २१७॥

नोट—१ ***'जगु भल भलेहि……'***, यह लोकोक्ति है। कविकी यह उक्ति लोकशिक्षार्थ है कि जग भलेको भला और बुरेको बुरा है। उसी प्रेम-प्रभावको देखकर सिद्ध साधु मुनिवर प्रशंसा कर रहे हैं और उसीसे इन्द्रको चिन्ता हो गयी। इन्द्र स्वयं छलिया है इससे उसको सब छलिये और विघ्नकर्ता ही सूझते हैं। दुर्योधन और युधिष्ठिरजीकी कथा प्रसिद्ध ही है कि उसको संसारमें कोई साधु न मिला और इन-(युधिष्ठिरजी-) को खोजे कोई दुष्ट न मिला।

नोट—२ (क) ***'सकोची प्रेम बस'***, यथा—***'तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे।'*** (१। ३४२। ४), ***'चुपहि रहे रघुनाथ सँकोची।'*** (२७०। ३), ***'तेहि तें अधिक तुम्हार सकोचू।'*** (२६४। ७), ***'अस कहि अति सकुचे रघुराऊ।'*** (२९०। ७), ***'कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची।'*** (३१३। ४) और भरतजी तो प्रेमके समुद्र हैं फिर उनके वश क्यों न होंगे? (ख) ***'बनी बात'*** यह कि माता-पिता और अवध सबको छोड़कर किसी तरह वनको आये, रावण-वधकी आशा हुई। (ग) ***'बेगरन चहति'***—भाव कि यदि अब ये लौट गये तो सरस्वतीका अवध जाना व्यर्थ हुआ, रावणवध भी न हुआ, हम सब जैसे-के-तैसे उससे पीड़ित बने रहेंगे। यही बातका बिगड़ना है। 'बात बनना' 'बात बिगड़ना' मुहावरे हैं—कार्य सिद्ध होना, कामका चौपट होना, विफल होना। (घ) ***'छलु सोधि'***—भाव कि ऐसा बड़ा छल सोचा जाय कि काम बन जाय।

बचन सुनत सुरगुरु मुसुकाने। सहसनयन बिनु लोचन जाने॥ १॥
कह[2] गुर बादि छोभ छल छाँड़ू। इहाँ कपट करि होइहि भाँड़ू॥ २॥
मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया॥ ३॥
तब किछु कीन्ह रामरुख जानी। अब कुचालि करि होइहि हानी॥ ४॥

१-'सुप्रेम'—रा० प०, भा० दा०, रा० गु० द्वि०।
२-राजापुरमें नहीं है।

शब्दार्थ—'**सुरगुरु**'—ब्रह्माके पुत्र वृद्धतम अंगिराके पुत्र बृहस्पति हुए। देवासुर-संग्राममें देवताओंने इनको अपना आचार्य बनाया। इनकी माताका नाम श्रद्धा और स्त्रीका तारा था। शुक्राचार्यके साथ इनकी स्पर्द्धा रहती थी। ये बुद्धि और वक्तृत्वके देवता और देवताओंके गुरु माने गये हैं। जो कष्ट देवताओंपर पड़ता है उसके निवारणके उपाय ये ही बताया करते हैं।—(महाभारत, आदिपर्व अ० ६९) '**भाँडू**'=भंडाफोड़, रहस्योद्घाटन, हँसी, सत्यानाश, बरबादी, नष्ट-भ्रष्ट, यथा—***'कहेकी न लाज, प्रिय! अजहुँ न आए बाज, सहित समाज गढ़ राँड़-कैसो भाँड़िगो॥'*** (क० ६। २४) '**बादि**'=व्यर्थ, निष्प्रयोजन, फजूल। '**उलटि परइ**'—उलट पड़ना मुहावरा है।=अपने ही ऊपर आ पड़ती है, अपने ही विरुद्ध पड़ती है।

अर्थ—इन्द्रके वचन सुनते ही देवगुरु मुसकराये। हजार नेत्र होनेपर भी उसको बिना नेत्रोंका अर्थात् अन्धा ही जाना॥ १॥ गुरुने कहा कि व्यर्थका शोच और छल छोड़ो। यहाँ (इस समय) कपट करनेसे भण्डा फूट जायगा। (भेद खुल जायगा, हँसी होगी और दुर्दशा)॥ २॥ हे देवराज! मायाके स्वामी श्रीरामचन्द्रजीके सेवकके साथ माया (छल) करनेसे वह उलटकर अपने ही सिर पड़ती है॥ ३॥ तब (पिछली बार) जो कुछ किया था वह श्रीरामजीकी मर्जी समझकर किया था और इस समय कुचाल करनेसे हानि ही होगी॥ ४॥

नोट—***'सुरगुरु मुसुकाने। सहसनयन बिनु लोचन जाने'*** इति। (क) मुसुकाना निरादरसूचक है। दूसरे यह कि अच्छा हुआ जो हमसे कहा, नहीं तो और किसीसे कहता तो इसकी दुर्दशा ही होती, क्योंकि वह ठकुरसोहाती ही कहता। (ख) यह बृहस्पतिजीके मनका विचार है कि कहनेको तो इसके सहस्र नेत्र हैं तो भी इसको भरतजीकी महिमा न सूझी, यह बिलकुल विवेकहीन है, ऊपरी आँखें होनेपर भी अंधा-सा है। मिलान कीजिये—***'अंधउ बधिर न अस कहहिं नयन कान तव बीस।', 'बीसहु लोचन अंध धिग तव जन्म कुजाति जड़।'*** (६। ३२) स्वार्थपरायण लोगोंका यही हाल है, उन्हें अपनी ही सूझती है।

नोट—२ ***'मायापति सेवक……उलटि परइ सुरराया।'*** (क)—भाव कि प्रयोग उलटकर तुम्हारे सिर पड़ेगा। जैसे प्रह्लाद बचे, होलिका भस्म हो गयी (ख) ***'मायापति'*** का भाव कि जिनकी माया ऐसी है कि ***'सिव चतुरानन जाहि डेराहीं।'*** (७। ७१। ८) उनके सेवकसे माया कौन कर सकता है? ***'रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥'*** (७। ११६। ६-७) जब वहाँ कुछ न चली तब मूठके प्रयोगकी तरह उलटकर करनेवालेको ही खायेगी। (ग) ***'सुरराया'*** पद साभिप्राय है। भाव कि तुम ऋषि, देव, मुनि सबके साथ सदासे छल (माया) करते आये पर ये सब मायाओंके स्वामीके सेवक हैं। इनपर किसीकी माया नहीं चल सकती, तुम्हारा राज्य जायगा। जो कहो कि 'हमने मायापतिके साथ माया की थी, उनको वन कराया, तब इनके साथ माया करना क्या बात? तो उसपर कहते हैं—***'तब किछु…… '।*** (पं०)

नोट—३ ***'तब किछु कीन्ह रामरुख…… '।*** दो बार देवमायासे काम लिया गया। एक तो जब ***'राम हृदय अस बिसमय भयऊ।……बिमल बंस यह अनुचित एकू॥……प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई।'*** (२। १०। ४—८), तब सरस्वतीको भेजकर वनवास कराया—***'सुर माया बस बैरिनिहि सुहृद जानि पतियानि।'*** दूसरे जब तमसापर भी अवधवासी लौटाये नहीं लौटते थे तब ***'कछुक देव माया मति मोई।'*** दोनों अवसरोंपर श्रीरामजीकी इच्छा थी। पर अब श्रीरामजीकी इच्छा यह नहीं है कि भरतजीसे भेंट न हो वरन् मिलनेकी इच्छा है। तो अवश्य हमारी माया वहाँ कुछ न कर सकेगी।

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥ ५॥
जो अपराधु भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥ ६॥
लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरबासा॥ ७॥
भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जपु जेही॥ ८॥

अर्थ—हे देवराज! श्रीरघुनाथजीका स्वभाव सुनो। वे कभी भी अपने अपराधसे रुष्ट नहीं होते॥ ५॥ (पर) जो उनके भक्तका अपराध करता है, वह श्रीरामचन्द्रजीकी क्रोधाग्निमें जलता है। अर्थात् भक्तका अपराधी उनके क्रोधसे बच नहीं सकता है॥ ६॥ लोक और वेद दोनोंमें यह इतिहास (कथा) प्रसिद्ध है। इस महिमाको दुर्वासाजी जानते हैं॥ ७॥ समस्त संसार तो रामको जपता है पर रामजी जिनको जपते हैं उन भरतजीके सदृश श्रीरामजीका कौन प्रेमी है? अर्थात् कोई नहीं॥ ८॥

नोट—१ *'निज अपराध''''''''काऊ'*—नोट ३ देखिये।

* यह महिमा जानहिं दुरबासा *

अम्बरीषजी बड़े भारी भक्त थे। एक बार परम वैष्णव भक्तराज अम्बरीषजीके यहाँ दुर्वासा ऋषि शिष्योंसहित द्वादशीको आ पहुँचे। भक्तराजने उनको निमन्त्रित किया। उन्होंने कहा कि स्नान करके आते हैं। जीमें तो दूसरी ही बात थी। वे स्नानके बहाने गये और द्वादशी वहीं बिता दी। वैष्णवोंको शास्त्राज्ञा है कि एकादशीव्रत करके द्वादशीमें अवश्य पारण कर लें। यदि त्रयोदशीमें पारण हुआ तो यह व्रत व्यर्थ गया। उस दिन द्वादशी दो ही दण्ड थी। द्वादशी बीतते देख भक्तराजको बड़ी चिन्ता हुई कि बिना अतिथिको भोजन कराये कैसे भोजन करें? और नहीं करते तो व्रत जाता है। पण्डितोंने आज्ञा दी कि चरणामृत ले लीजिये। यह भोजन भी नहीं है और पारण भी हो जायगा। राजाने ऐसा ही किया। तत्पश्चात् ऋषि आये और यह जानकर अपना अपमान मान उन्होंने कुपित होकर राजाको भस्म करनेके लिये जटाओंको भूमिमें पटककर ***'कालकृत्या'*** को उत्पन्न किया। राजा हाथ जोड़े खड़े रहे। कालकृत्या अग्नि ज्यों ही राजाकी ओर बढ़ी सुदर्शनचक्रजीने, (जो भगवान्‌की आज्ञासे उनकी रक्षाके लिये सदा वहीं रहते थे), तुरत उस अग्निको अपने तेजसे राख कर दिया और ऋषिके दुष्टाचरणसे दुःखित हो उनकी ओर बढ़े—फिर क्या था!—***'भाज्यो दिशा दिशा सब लोक लोकपाल पास गयो नयो तेज चक्र चून किये डारै है। ब्रह्मा शिव कही यह गही तुम देव बुरी दासनको भेव नहीं जानो बेद धारे हैं। पहुँचे बैकुण्ठ जाय, कह्यो, दुःख अकुलाय हाय हाय! राखौ प्रभु! खरौ तन जारे है। मैं तौ हौं अधीन, तीन गुनको न मान मेरे 'भक्तवात्सल्य' गुण सबहीको टारै है॥'*** (४०) इति। भक्तिरसबोधिनीटीका) सब लोकोंमें भागते फिरे किसीने शरण न दी। सब चक्रका तेज देख भयभीत हो गये। तब हार मानकर वैकुण्ठमें प्रभुकी शरणमें जा '*त्राहि-त्राहि*' किया और कहा आप शरणागतपालक हैं, मैं शरण हूँ, आप आर्तिहरण हैं मैं आर्त हूँ, आप ब्रह्मण्यदेव हैं, मैं ब्राह्मण हूँ—अतएव मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। भगवान्‌ने उत्तर दिया कि ये तीनों गुण मेरे अवश्य हैं पर **'अहं भक्तपराधीनः'** मैं तो भक्तके अधीन हूँ, भक्तवात्सल्यगुणने मेरे उन तीनों गुणोंका अभिमान मुझमें नहीं रहने दिया। साधु मुझको अत्यन्त प्यारे हैं। धन-धाम-धरणी सब छोड़ वे मुझसे ही दिन-रात सरोकार रखते हैं। अतएव मेरे भी संतोंको छोड़ और कुछ नहीं है। यदि तुम चक्रसे रक्षा चाहते हो तो उन्हींकी शरण जाओ, संत बड़े दयालु होते हैं। उनसे अपराध क्षमा कराओ। वे ही बचा सकते हैं। तब अभिमान दूर करके वे राजाकी शरण आये—***'ह्वै करि निरास ऋषि आयो नृपपास, चल्यो, गर्व सों उदास चरण गहे, दीन भाख्यो है। राजा लाज मानि, मृदु कहि सनमान कर्‌यो, ढर्‌यो चक्र ओर कर जोरि अभिलाष्यो है। भक्त निष्काम कभू कामना न चाहत हैं, चाहत हौं बिप्र दूरि करो दुःख चाख्यो है। देखि कै बिकलताई, सदा संत सुखदाई, आई मन माँझ सब तेज ढाँकि राख्यो है।'***—(कवित्त ४२) राजाके पैरों पड़े। उन्होंने प्रार्थना की, तब चक्रजीने अपने तेज छिपा लिया।

२—इसी प्रकार दुर्वासाजीने पाण्डवोंके साथ किया था कि ऐसे समय वनमें पहुँचे जब द्रौपदीजी भी भोजन करके सूर्यभगवान्‌की दी हुई बटलोईको धो चुकी थीं और युधिष्ठिरजीने उनको निमन्त्रित कर दिया था। तब भगवान् कृष्णने आकर रक्षा की; दुर्वासा डरे हुए नदी-तटसे उनके यहाँ लौटकर आयेतक नहीं। (महाभारत, वनपर्व अ० २६१—२६३ में विस्तृत कथा है।)

नोट—२ (क) ये हरिभक्तोंसे द्वेष रखा करते थे, क्रोधी थे, इसीसे इन्हें ऐसे अवसर बहुत पड़े।

इसीसे इनका दृष्टान्त दिया कि ये खूब जानते हैं। ऐसा कोई भी छका न होगा जैसा ये छके। पुन: भाव कि वे एक तो मुनि दूसरे ब्राह्मण, फिर महादेवजीके अवतार और अपराध किसका कि जो राजा, मनुष्य और उसपर भी क्षत्रिय सब प्रकारसे छोटा तो भी उनकी रक्षा ब्रह्माण्डभरमें किसीने न की, एक वर्षतक वे भागते ही फिरे। इससे बढ़कर दूसरा भक्तकी महिमा नहीं जान सकता। (पु० रा० कु०) (ख) यदि इन्द्र कहना चाहे कि 'अम्बरीष बड़े भक्त थे उनके लिये ऐसा हुआ पर सबके लिये ऐसा थोड़े ही हो सकता है।' तो उसपर कहा है कि *'भरत सरिस को·······'*। (रा० प्र०) (ग) *'जगु जप राम रामु जपु जेही'* इति। भाव यह है कि जो संत रामनामके जापक हैं उनकी महिमा तो अकथनीय है। भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं कि **'फलं तेषां न पश्यामि भजामि तांश्च पार्थिव॥' 'गायन्ति रामनामानि सततं ये जना भुवि। नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यः पुनः पुनः॥'** (श्रीसीतारामनामप्रतापप्रकाश) तब भला जिसको राम जपैं उसकी महिमा कौन कह सकता है? यहाँ मालादीपक अलंकार है। मिलान कीजिये—*'जो पै कृपा रघुपति कृपाल की बैर और के कहा सरै। होइ न बाँको बार भक्त को जो कोउ कोटि उपाय करै॥ तकै नीचु जो मीचु साधु की सो पामर तेहि मीच मरै। बेद बिदित प्रह्लाद कथा सुनि को न भक्ति पथ पाउँ धरै॥ गज उधारि हरि थप्यो बिभीषन ध्रुव अबिचल कबहूँ न टरै। अंबरीषकी साप सुरति करि अजहुँ महामुनि ग्लानि गरै॥ सो धौं कहा न कियो सुयोधन अबुध आपने मान जरै। प्रभु प्रसाद सौभाग्य बिजय जस पांडुतनय बरिआइ बरै॥ जो जो कूप खनैंगो पर कहँ सो सठ फिरि तेहि कूप परै। सपने सुख न संतद्रोही कहँ सुरतरु सो बिष फरनि फरै॥ हैं काके द्वै सीस, ईसके जो हठि जनकी सीम चरै। तुलसिदास रघुबीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै॥'* (१—६) (विनय० १३७)

नोट—३ ग्रन्थकारने *'जो अपराध भगत कर करई।·······'* का उदाहरण तो दिया, पर *'निज अपराध रिसाहिं न काऊ'* इसका उदाहरण न दिया; क्योंकि इसका प्रयोजन न था। प्रसंग यहाँ भक्त भरतजीके साथ छल करनेका है; अत: उसीका दृष्टान्त दिया। निज अपराधका दृष्टान्त पाठकोंके लिये लिखा जाता है—भृगुजीने लात मारी, नारदजीने शाप दिया, परशुरामने दुर्वचन कहे, इत्यादि। कवितावलीमें भी कहा है—*'बेद बिरुद्ध मही मुनि साधु ससोक किये सुरलोक उजार्‌यो। और कहा कहौं तीय हरी तबहूँ करुनाकर कोप निवार्‌यो (न धारो)। सेवक छोह ते छाँड़ी छमा तुलसी लख्यो राम सुभाव तिहार्‌यो। तौ लौं न दाप दल्यो दसकंधर जौं लौं बिभीषन लात न मार्‌यो॥'* (क० ७। ३)

मा० हं०—श्रीशुकदेवजीने अपने भागवतमें **'नोद्धवोऽण्वपि मन्यूनः'** इस वाक्यद्वारा जैसी श्रीकृष्णजी और उद्धवजीकी जोड़ी दिखलायी है, तद्वत् ही *'भरत रामही की अनुहारी'* इस उक्तिद्वारा स्वामीजीने भरतजीकी और रामजीकी जोड़ी अपनी रामायणमें दर्शायी है। हमारे मतसे रामजीकी जोड़ीमें भरतजीको बिठलाना यही उनके भरतजीके पात्रकी अप्रतिम श्लाघिष्ठता दर्शाना है।

स्वामीजीने अपने भरतजीका पात्र अत्यन्त संक्षेपमें परंतु परम परिपूर्णतासे और स्वतन्त्रतासे इस तरह दर्शाया है—*'भरत सरिस को राम सनेही। जग जप राम रामु जप जेही॥'* और ऐसा होनेका कारण यही है कि **'परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'** ऐसा जो 'सेवाधर्म' उसकी प्रत्यक्ष मूर्ति स्वामीजीके भरतजी हैं।

दो०—मनहुँ न आनिअ अमरपति रघुबर भगत अकाजु।
अजसु लोक परलोक दुख दिन दिन सोक समाजु॥ २१८॥

सुनु सुरेस उपदेसु हमारा। रामहिं सेवक परम पिआरा॥ १॥
मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैरु अधिकाई॥ २॥

अर्थ—हे देवराज! रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीके भक्तका अनिष्ट (बुरा) मनमें भी न लाना (विचारना, चेतना)। (नहीं तो) लोकमें अपयश, परलोकमें दु:ख और नित्यप्रति शोकका समाज बढ़ता जायगा॥ २१८॥ हे सुरेश! हमारा उपदेश सुनो। श्रीरामजीको सेवक परम प्रिय है॥ १॥ वे सेवककी सेवासे सुख मानते हैं और सेवकसे

वैर करनेसे बड़ा भारी वैर मानते हैं। अर्थात् अपनेको उस वैरीका बड़ा भारी शत्रु मानते हैं, एवं यह कि वह सेवकसे नहीं वैर कर रहा है बल्कि हमसे बड़ा भारी वैर विसाह रहा है॥ २॥

नोट—१ *'मनहुँ न आनिअ·······'* इति। (क) भाव कि मनमें ऐसा विचार उठनेसे ही इतना बुरा फल मिलता है तो 'अकाज' करनेपर न जाने क्या दशा हो! *'दिन दिन सोक समाज'* अर्थात् शोकोंकी तादाद बढ़ती जावेगी, समाजसहित सांगोपांग शोक होगा। पुन: (ख)—भाव कि लोकमें भी लोग सीधे निश्छल मनुष्यको कहते हैं कि अमुक बड़े देवता हैं और तुम तो 'अमर' के 'पति' हो। तुमको तो और भी निश्छल होना चाहिये, तुम जो करना चाहते हो वह तुम्हारे योग्य नहीं—(ज० श०)।

नोट—२ *'सेवक परम पिआरा',* यथा—*'पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥·······'* *'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी·······॥'* (७। ८६। ८—१०) *'·······सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥'* (८७) 'परम प्यारा' का भाव कि प्रिय तो सभी हैं, देवता भी प्रिय हैं पर सेवक परम प्यारा है। *'मानत सुख सेवक सेवकाई'* अर्थात् सेवककी कोई सेवा करे तो उसमें सुख मानते हैं, यथा—*'सेवक सेवकाई जानि जानकीस मानै कानि सानुकूल सूलपानि नवै नाथ नाक को, देबी देव दानव दयावने ह्वै जोरैं हाथ बापुरे बराक और राजा राना राँक को॥'*—(बाहुक) सेवक सेवकाईसे सुख, वैरसे अधिक वैरमें 'प्रत्यनीक' अलंकार है।

जद्यपि सम नहि राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु* गुन दोषू॥ ३॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥ ४॥
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥ ५॥

शब्दार्थ—**पूनु**=पुन्य। **चाखा**=स्वाद लिया, चीखा, मजा पाया। **बिहारा** (विहार)=विचरण, क्रीड़ा, व्यवहार। **विषम**=विरोधात्मक, कठोर, समानका उलटा।

अर्थ—यद्यपि प्रभु सम हैं, किसीपर न राग (ममत्व, प्रेम) है न रोष, न किसीका पाप, पुण्य, गुण-दोष ग्रहण करते हैं। (तो फिर जगत्‌का व्यवहार कैसे चल रहा है? उसके लिये उन्होंने) संसारमें कर्मको प्रधान कर रखा है। जो जैसा करता है वैसा फल पाता है॥ ३-४॥ तो भी (ऐसा होनेपर भी) वे भक्त और अभक्तके हृदयके अनुसार सम और विषम व्यवहार करते हैं अर्थात् जो अभक्त हैं एवं भक्तके विरोधी हैं उनके साथ विषम विहार करते हैं॥ ५॥

नोट—१ *'गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू'* इति। वे किसीका पाप या दोष नहीं ग्रहण करते, इसका अधिकार उन्होंने यमराजको दे रखा है। पुण्य और गुण नहीं ग्रहण करते, इनका अधिकार उन्होंने ब्रह्माको दे रखा है। (वै०) वे जीवोंके कर्मोंके अनुसार उसे दण्ड अथवा सुख देते हैं—*'निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।'* (९२। ४) यही बात देवगुरु आगे कहते हैं—*'करम प्रधान बिस्व करि राखा। ·······'*। इसीसे वे पाप-पुण्यसे अलग सदा एकरस रहते हैं। व्यासजीने वेदान्तदर्शनमें भी कहा है—'**वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्।**'

श्रीभर्तृहरिजीने भी खूब कहा है—'**ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे विष्णुर्येन दशावतारग्रहणो क्षिप्तो महासंकटे। रुद्रो येन कपालपाणिपुटको भिक्षाटनः कारितः सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेष गगने तस्मै नमः कर्मणे॥**' (नीतिशतक ९५) अर्थात् जिस कर्मने ब्रह्माको कुम्हारकी तरह निरन्तर ब्रह्माण्डरचनामें लगा रखा है, विष्णुको बारंबार दस अवतार ग्रहण करनेके संकटमें डाला है, रुद्रको हाथमें कपालपात्र लेकर भिक्षाके लिये फिराता है और सूर्यको आकाशमें नित्य भ्रमणके चक्रमें डाला है उस कर्मको प्रणाम है—यह सब *'कर्म प्रधान·······'* की ही व्याख्या है।

गीतामें आत्माके सम्बन्धमें भगवान्‌ने ऐसा ही (*'लहहिं न पाप पूनु·······'*) कहा है—'**नादत्ते कस्यचित्पापं**

* पाठान्तर-पुन्न।

न चैव सुकृतं विभुः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥' (५। १५) यह विभु न तो किसीके पापको ग्रहण करता है और न किसीके पुण्यको ही। अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है उसीसे जीव मोहित हो रहे हैं। भाव कि यह आत्मा किसी भी अपने सम्बन्धियोंके रूपमें माने हुए पुत्रादिके पापको—दु:खको ग्रहण नहीं करता—दूर नहीं करता है और न किसी भी प्रतिकूलरूपमें माने हुए विरोधी पुरुषके सुकृत—सुखको ग्रहण करता है। क्योंकि यह विभु है, किसी एक ही देशसे सम्बन्ध रखनेवाला नहीं है, देवादिके शरीररूप किसी एक स्थानमें रहनेवाला नहीं है, इसीलिये वह न किसीका सम्बन्धी है और न किसीका विरोधी। ये सब (अनुकूल-प्रतिकूल) भाव वासनाके ही रचे हुए हैं।

इस प्रकारके स्वभाववाले आत्मामें यह विपरीत वासना कैसे उत्पन्न हो जाती है? इसपर कहते हैं कि अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है—ज्ञानके विरोधी पूर्व कर्मोंके द्वारा अपने फलोंका अनुभव करानेकी योग्यता सम्पादन करनेके लिये इसके ज्ञानको संकुचित कर दिया गया है। उस ज्ञानावरणरूप कर्मसे इसका देवादि शरीरोंसे संयोग और उन-उनमें आत्माभिमानरूप मोह भी हो जाता है। उससे फिर वैसे ही आत्माभिमानरूप वासना और उसीके अनुरूप कर्मोंकी वासना उत्पन्न होती है। उस वासनासे विपरीत आत्माभिमान और कर्मोंका आरम्भ होता रहता है। (श्रीरामानुजभाष्य)

नोट—२ ***'करम प्रधान बिस्व करि राखा ·········'*** इति। महाभारत, शान्तिपर्वमें इस विषयपर श्रीपराशरजी तथा भीष्मपितामह आदिके वाक्य पढ़ने योग्य हैं। अत: हम उनमेंसे कुछका अनुवाद यहाँ उद्धृत करते हैं। इनसे कर्मके सिद्धान्तपर बहुत प्रकाश पड़ेगा।

श्रीपराशरजी कहते हैं—'अपना किया हुआ पाप पापरूप ही फल देता है। पापका फल बड़ा ही कष्टप्रद है। उससे प्रभावित मनुष्य अनात्मामें ही आत्मबुद्धि करने लगता है। बिना रँगा हुआ वस्त्र धोनेसे स्वच्छ हो जाता है, किंतु जो काले रंगमें रँगा हो वह सफेद नहीं होता। इसी तरह पापको भी काले रंगके समान ही समझना चाहिये। जो स्वयं जान-बूझकर पाप करनेके पश्चात् उसका प्रायश्चित्त करनेके लिये पुन: शुभकर्मका अनुष्ठान करता है, वह दोनोंका पृथक्-पृथक् फल भोगता है।·········ऐसा वेद-शास्त्रोंके ज्ञाताओंका कथन है। मेरे मतसे तो पुण्य या पाप जान-बूझकर हो या अनजानमें उसका कुछ-न-कुछ फल होता ही है।'

'जिसकी बुद्धि दूषित होती है वह विषयोंके निकट न होनेपर भी सदा उन्हींमें रहता है। जैसे पानी कमलके पत्तेमें नहीं सटता उसी प्रकार अधर्म ज्ञानी पुरुषको नहीं लिप्त कर सकता। किंतु जिस तरह लाह काठमें अधिक चिपट जाती है, वैसे ही पाप अज्ञानी मनुष्यको विशेषरूपसे बाँधता है। अधर्म केवल फल प्रदानके अवसरकी प्रतीक्षा करता रहता है, वह कर्ताका त्याग नहीं करता। कर्ताको समय आनेपर उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है।'

श्रीभीष्मपितामहजी कहते हैं—धर्मकी ऐसी गति है कि वह सोते-बैठते, चलते-फिरते और क्रिया करते समय छायाके समान कर्ताके साथ लगा रहता है। जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणा बिना ही अपने समयपर आ जाते हैं, वैसे ही पूर्वकृत कर्म भी अपने परिपाकके समयका अतिक्रमण नहीं करते। जैसे बछड़ा हजारों गौओंमें अपनी माँको पहचान लेता है, वैसे ही पहले किया हुआ कर्म भी अपने करनेवालेके पीछे लगा रहता है।

जिसने पूर्वजन्ममें शुभकर्मोंका अनुष्ठान नहीं किया है, उसे सुख नहीं मिलता। देह-त्यागके पश्चात् मनुष्यको पुण्यकर्मोंसे ही सुखकी प्राप्ति होती है·········जीव दूसरेके किये हुए शुभ कर्मोंको नहीं भोगता। (पराशरगीता)

जैसे कुम्हार मिट्टीके लोंदेसे जो बर्तन चाहता है, बना लेता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने किये हुए कर्मके अनुसार ही नाना फल भोगता है। जैसे धूप और छाया दोनों एक-दूसरेसे मिले रहते हैं वैसे ही कर्म और कर्ता भी एक-दूसरेसे संबद्ध होते हैं।

अपना किया हुआ दान ही परलोकके मार्गमें पाथेयका काम देता है। प्रत्येक जीव अपने कर्मका

ही फल भोगता है। पूर्व जन्मके किये हुए कर्म जीवका अनुसरण करते हैं। कर्मफलको उपस्थित जानकर अन्तरात्मा अपनी बुद्धिको तदनुकूल प्रेरणा देता है। जो पूर्ण उद्योगका सहारा लेकर तदनुकूल सहायकोंका संग्रह करता है; उसका कोई भी कार्य अधूरा नहीं रहता।

जीव जगत्‌में जन्म लेकर अपने पूर्वकृत कर्मोंका ही फल भोगता है। पूर्वजन्ममें कुछ किये बिना यहाँ किसीको इष्ट या अनिष्टकी प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य सोता हो या बैठा हो, चलता हो या विषय-भोगमें लगा हो, उसके शुभाशुभ कर्म हर समय साथ लगे रहते हैं। (पराशरगीता)

कर्मका फल पराधीन है। यदि ऐसा न होता तो जीव जो चाहता वही उसकी कामना पूरी होती। बड़े-बड़े संयमी, चतुर और बुद्धिमान् पुरुष अपने कर्मोंके फलसे वंचित देखे जाते हैं तथा गुणहीन, मूर्ख और नीच पुरुष भी किसीके आशीर्वाद बिना ही समस्त कामनाओंसे सम्पन्न दिखायी देते हैं। हिंसामें रत, संसारको धोखा देनेवाला कभी-कभी सुख भोगता दिखायी पड़ता है। कोई चुपचाप घर बैठे रहते हैं; उनके पास लक्ष्मी स्वयं पहुँच जाती है, और कोई परिश्रम करनेपर भी भूखे रहते हैं।—यह सब प्रारब्धका दोष है। देखो, वीर्य अन्यत्र पैदा होता और अन्यत्र जाकर संतान पैदा करता है। कभी वह गर्भ धारण करानेमें समर्थ और कभी असमर्थ होता है। कहीं यत्न करनेसे भी संतान नहीं होती और बहुतेरे जो उससे भागते हैं उनके यहाँ अनेक संतानें उत्पन्न होती हैं। कितने ही बहुत तपस्यासे होते हैं पर कुपूत निकलते हैं। बहुत लोग दवा करनेपर भी अच्छे नहीं होते और बहुत-से बिना दवा अच्छे हो जाते हैं। मृग, पक्षी, दरिद्रकी कौन चिकित्सा करता है? प्रायः उन्हें रोग होता ही नहीं।

☞ देहधारी मनुष्य धन, राज्य तथा कठोर तपस्याके प्रभावसे प्रकृतिका उल्लंघन नहीं कर सकते। यदि प्रयत्नका फल अपने हाथमें होता तो कोई भी मनुष्य बूढ़ा न होता, न मरता। सब-की-सब कामनाएँ पूरी हो जातीं और किसीको अप्रिय नहीं देखना पड़ता।—कर्मोंके फलमें बड़ी भारी विषमता देखनेमें आती है। (श्रीनारद-शुकदेवजी)

पु० रा० कु०—(क) ***'भगत अभगत हृदय अनुसारा'*** इति। यहाँ भक्तका भक्त और भक्तका अभक्त यह अर्थ विशेष संगत प्रतीत होता है, क्योंकि 'रामजीका भक्त और रामजीका अभक्त' अर्थ करनेसे ***'निज अपराध रिसाहिं न काऊ'*** से विरोध पड़ता है। प्रकरणके अनुकूल यह अर्थ नहीं है क्योंकि ***'मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैरु अधिकाई॥'*** इसीपर जो शंकाएँ हो सकती हैं उन्हींका यहाँ समाधान है। (ख)—'भक्त और अभक्त' ऐसा अर्थ लेनेका भाव यह है कि ***'समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥'*** (४। ३। ८) भक्त अनेक भावनाओंसे प्रभुका स्मरण हृदयमें करते हैं। उनके हृदयमें सम हैं और अभक्त शत्रु मानते हैं। इसलिये उनके हृदयमें शत्रु बनकर विहार करते हैं। [भक्त प्रह्लादकी रक्षा की, हिरण्यकशिपुको मारा। (शीला)]

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—***'तदपि करहिं''''''अनुसारा'*** इति। **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'** (गीता ४। ११) **'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥'** (७। १५) यथा—**'मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥'** (गीता १६। १८-१९) भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं कि 'जो जिस भाँति मेरे शरण आता है मैं उसी तरहसे उसको भजता हूँ। पापी, मूढ़, नराधम, मायासे जिनके ज्ञानका अपहरण हो गया है, जो आसुर भावमें स्थित हैं, वे शरणमें नहीं आते। तथा—वे अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ ईश्वरसे द्वेष रखते हैं। उन द्वेष करनेवाले क्रूर अशुभ नराधमोंको मैं संसारमें निरन्तर आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ। यही भाव इस अर्धालीका है। ***'निज अपराध रिसाहिं न काऊ'*** इस पदसे भी विरोध नहीं पड़ता, क्योंकि अपराध और वैरमें भेद है। अपराध सबसे हो पड़ता है, उससे सरकार अप्रसन्न नहीं होते, यथा—***'रहत न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरत सय बार हिये की॥'*** अभक्त तो दिन-रात ही अपराध करता है, उसे अन्तमें आसुरी

योनिमें जाना है, उसके अपराधविशेषपर क्रोध करनेका कारण नहीं है। पर वह भी यदि भक्तका अपराध करे तो सरकार नहीं सह सकते। सद्यः दण्ड देते हैं, यथा—*'तौ लों न दाप दल्यौ दसकंधर जौं लौं बिभीषन लात न मार्यो।'* [(प० प० प्र०—गीता ४। ११) (उपर्युक्त) का गर्भितार्थ ही यहाँ स्पष्ट किया है। मिलान कीजिये—*'जो अगम सुगम सुभाउ निर्मल असम सम सीतल सदा।'* (३। ३२ छंद ४)]

मा० हं०—'इन चौपाइयोंमें क्रमशः ज्ञानी, कर्मकाण्डी और भक्तकी ईश्वरविषयक भावना दर्शायी है। पहली भावनासे ईश्वर सर्वसाक्षी हैं, परन्तु पूर्ण निष्क्रिय बना रहता है। दूसरी भावनामें ईश्वर न्याय करनेमें पूर्णतासे दक्ष होनेके कारण उसे किसी प्रकारकी मुरव्वत छू नहीं सकती। तीसरी भावना परमेश्वरको प्रेम, कृतज्ञता और औदार्यप्रवण बनाती है। अर्थात् ज्ञानियोंका ईश्वर जो निरुपद्रवी है, तो भी जगत्के लिये बिलकुल ही निरुपयोगी है। कर्मकाण्डियोंका परमेश्वर जो बड़ा ही सजावटवाला है, तो भी अन्तमें व्यवसायी (बनिया) ही दिखायी देता है। रहा तीसरा, भक्तोंका, जो स्वभावतः ही दयालु और दिलदार होनेके कारण सभीको सदैव सहायता पहुँचानेका *'राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सब साखी॥'* इस प्रकार अपना विरद सँभालता ही रहता है।'

अगुन अलेप* अमान एक रस। रामु सगुन भए भगत पेम बस॥ ६॥
राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥ ७॥
अस जिय जानि तजहु कुटिलाई। करहु भरतपद प्रीति सुहाई॥ ८॥

दो०—रामभगत परहित निरत परदुख दुखी दयाल।
भगत सिरोमनि भरत तें जनि डरपहु सुरपाल॥ २१९॥

शब्दार्थ—**अलेप**=लगाव या सम्बन्धरहित, निर्लिप्त, राग-द्वेष आदि विषयोंसे अलग, बेलौस, किसीसे सम्बन्ध न रखनेवाला। मायारहित। **अमान**=निरभिमान, निरहंकार, अप्रमेय, परिमाणरहित। **मान**=नापतोल, प्रमाण=अभिमान, गौरव।

अर्थ—श्रीरामजी निर्गुण (तीनों मायिक गुणोंसे परे, गुणातीत, अव्यक्त), निर्लेप, अमान और एकरस हैं। वे ही भक्तके प्रेमके वश सगुण हुए॥ ६॥ श्रीरामजीने सदा सेवककी रुचि रखी है। वेद, पुराण, साधु और देवता इसके साक्षी हैं॥ ७॥ ऐसा जीसे जानकर कुटिलता छोड़ो और श्रीभरतजीके चरणोंमें सुन्दर प्रीति करो॥ ८॥ हे सुरपाल! रामभक्त पराये हितमें तत्पर रहते हैं, पराये दुःखसे दुःखी और दयालु होते हैं। फिर भरतजी तो भक्तशिरोमणि हैं, उनसे मत डरो॥ २१९॥

टिप्पणी—१ *'अगुन अलेप अमान एकरस।.........'* इति। भक्तोंके प्रेमवश सगुण होते हैं। 'निर्गुण' थे पर अवतीर्ण होकर सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंका व्यवहार किया, दिव्य गुणों-(करुणा, भक्तवत्सलता, दया आदि-) को धारण किया। *'अलेप'* थे, पर यहाँ आकर सम्बन्ध जोड़ा—माता, पिता, पुत्र, भ्राता आदि हुए; मायाको धारण किया, यथा—'**मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ।**' *'अमान'* अर्थात् अपरिमित, परिमाणरहित, इयत्ताशून्य हैं, यथा—*'माया गुन ज्ञानातीत अमाना बेद पुरान भनंता।'* (१। १९२) वे देश-काल वस्तु-परिमाणसे रहित थे सो वे देश-काल आदिके परिमाणमें आ गये, कभी अवधमें, कभी मिथिलामें, कभी वनमें ही कहे जाने लगे, सर्वव्यापक हैं सो एक ठौर दिखायी देने लगे। यथा—*'व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥'* (१। १९८) [*अमान*=अहंकाररहित। (रा० प्र०) भक्तोंके लिये मत्स्य, शूकर, नृसिंह आदि रूप धारण करनेमें भी संकोच नहीं करते।] एकरस हैं, सो उन्होंने अनेक रस धारण किये—वात्सल्य, सख्य, दास्य, शृंगार और शान्त सभी रसोंमें विचरण किया। पुनः शत्रु, मित्र सभी कुछ बने। जनकपुरमें नवों रस धारण किये—*'जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी*

* राजापुर, रा० गु० द्वि० का यही पाठ है। रा० प्र० और ना० में 'अलेष' है।

तैसी॥' (१। २४१। ४) देखिये। यह क्यों? 'भक्तके प्रेम' के अधीन हैं, जो नाच वह नचावे वही नाच नाचते हैं। यथा—*'जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ।'* (२०९) मिलान कीजिये—*'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन्ह हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥'* (१। १३। ३—५) तथा—*'सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुल मनी॥'* (१। ५१) से

टिप्पणी—२ *'भगत पेम बस'* का भाव यह है कि भक्तका प्रभाव ऐसा है कि वह भगवान्‌की प्रकृति-(स्वभाव-) को छुड़ा देता है। *'प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी।'* (१। १८५। ७) देखिये। मिलान कीजिये—*'नरतनु धरेहु संत सुरकाजा।'* (१२७। ३) *'जिन्ह के हों हित सब प्रकार चित नाहिं न और उपाउ। तिन्हहि लागि धरि देह करउँ सब डरउँ न सुजस नसाउ।''''''''नहि कोउ प्रिय मोहिं दास सम'''''''' ।'* (गी० ५। ४५), *'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहिं आन निहोरें॥'* (५। ४८। ८), *'भगति अबसहि बस करी।'* (३। २६ छन्द) इत्यादि।

टिप्पणी—३ *'राम सदा सेवक रुचि राखी'''''''' '* इति। [यदि इन्द्र कहें कि जब विषम विहार करते हैं तो हमारा अधिक संकोच मानेंगे क्योंकि हम लोकपाल हैं। उसपर कहते हैं कि *'राम सदा सेवक रुचि राखी।'* वे सदा सेवककी ही रुचि रखते हैं, देवताओंकी कभी-कभी। (रा० प्र०)] यथा—*'तुलसी रामहिं आपु तें सेवक की रुचि मीठि। सीतापति से साहिबहिं कैसे दीजै पीठि॥'* (दो० ४८) अर्थात् सेवककी रुचि पूरी करनेके लिये अपनी प्रतिज्ञा, अपने नियम, अपनी रुचिको छोड़ देते हैं। विदुरकी भाजी, केलेके छिलके खाये, लक्ष्मणजीको साथ लिया, भीष्मपितामहका प्रण रखा, हाथमें चक्र धारण किया, विश्वामित्रके चरण दबाये, शबरीके बैर खाये, इत्यादि। भक्तमाल तो इसका उदाहरण ही है। प्रह्लादके लिये सबमें विकरालरूपसे आ विराजते थे, खम्भेहीसे उन्होंने प्रकट कर लिया। (आगे श्रीभरतजीसे कहा ही है—*'राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेमपन लागी॥ तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि ते अधिक तुम्हार सँकोचू॥ ता पर गुर मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा॥ मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।'* (२६४) इसीपर श्रीभरतजीने कहा है *'निजपन तजि राखेउ पनु मोरा। छोह सनेहु कीन्ह नहिं थोरा॥'* (२६६। ८) (ख)—*'सब साखी'*—इसके अनेक उदाहरण जगत्‌में प्रसिद्ध हैं।

टिप्पणी—४ *'करहु भरतपद प्रीति सुहाई'* इति। *'सुहाई'* का भाव कि यह नहीं कि ऊपरसे प्रीति दिखाओ और भीतरसे विरोध मानो। भीतरसे पवित्र प्रीति करो। यदि वह कहे कि वे तो काम बिगाड़ने जाते हैं, हम प्रीति कैसे करें? तो उसपर कहते हैं—*'रामभगत'''''''' '* । इसपर भी धीरज नहीं होता उसपर कहते हैं कि *'स्वारथ बिबस'''''''' '*।

टिप्पणी—५ *'रामभगत परहित निरत'''''''' '* इति। दयालु हैं, अतः पराये दुःखसे दुःखी हो जाते हैं। दुःखी होते हैं, अतः उनका भला करते रहते हैं। *'परदुख द्रवहिं सुसंत सुपुनीता।'* (७। १२५। ८), *'लागि दया कोमल चित संता।'* (३। २), *'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥'* (७। १२१), *'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्ह कै करनी॥'* (७। १२५। ६) ये सभी सन्तों और भक्तोंके लक्षण हैं और भरत तो भक्तशिरोमणि हैं; उनमें यह गुण किस दर्जेके होंगे यह कौन अंदाजा कर सकता है।

टिप्पणी—६ *'सुरपाल'*—भाव कि यदि देवताओंका पालन किया चाहते हो तो न डरो। भरत भी उनका पालन ही करेंगे, वे तुम्हारे दुःखको जानते हैं। [पुनः यदि छल करोगे तो देवताओंकी और अपनी खैरियत वा रक्षा न समझो। (प्र० सं०) भरतजीसे तुम्हारे कार्यकी हानि न होगी; अतः डरनेका कुछ भी कारण नहीं। *'भरत नीतिरस साधु सुजाना'* हैं और *'साधु ते होइ न कारज हानी'* यह अटल सिद्धान्त है। (प० प० प्र०)]

☞ डॉक्टर सर जार्ज ग्रियर्सन—तुलसीदासने यह भी शिक्षा दी है कि ईश्वर शरीरधारी है। उपनिषद्‌के निर्गुण ब्रह्मको मानते हुए जो सभी गुणोंसे हीन है तथा जिसके बारेमें केवल यही कहा जा सकता

है कि वह 'यह नहीं है, वह नहीं है' इन्होंने यही निश्चय किया कि ऐसे पुरुषका विचार मनुष्यके मस्तिष्ककी शक्तिके बाहर है और केवल उसी ईश्वरका पूजन हो सकता है जो निर्गुणसे सगुण हो गया हो।'

रेवरेण्ड एडिविन ग्रीव्स—गोसाईंजीका अभिप्राय यह नहीं था कि वह किसी विशेष मतका वर्णन करें, पर यह कि वह रामकी कथा लिखें। अद्वैतकी शिक्षा हो तो हो, अगुणकी चर्चा हो तो हो, पर इन सब बातोंको त्यागकर तुलसीदास फिर अपना मन रामकी ओर लगाके उनकी स्तुति और प्रशंसा करने लगते। वेदान्ती मत कहनेकी बात है, दिन-प्रतिदिन जीवन व्यतीत करनेके लिये कुछ कामका नहीं। कदाचित् तुलसीदासका मत संक्षेपमें बालकाण्डमें लिखा है—*'हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥ अग जग मय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥ मोर बचन सब के मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥'* अगुण ईश्वर केवल शब्दमात्र है। प्रेममय ईश्वर वही हैं जिनपर हम भरोसा रख सकते हैं और जिनसे हम प्रेम रख सकते हैं। (ना० प्र०, निबन्धावली)

देवताओंको गुरु-उपदेश

मा० हं०—इस वर्णनमें भरतजीकी योग्यता दिखायी गयी है। वर्णन बड़ा ही आह्लादकारक है। *'भरत सरिस को रामसनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥'* (२१८। ८) इस वर्णनका प्राण है। *'अगुन अलेप अमान एकरस। राम सगुन भए भगत प्रेमबस॥'* उसका देह है *'करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥'* उस देहका व्यवहार है। *'तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥'* उसका हृदय है। और *'राम सदा सेवक रुचि राखी'* यह उसके प्रिय विलास हैं।

सत्यसंध प्रभु सुर हितकारी। भरत राम आयसु अनुसारी॥ १॥
स्वारथ बिबस बिकल तुम्ह होहू। भरत दोसु नहिं राउर मोहू॥ २॥
सुनि सुरबर सुरगुर बर बानी। भा प्रमोदु मन मिटी गलानी॥ ३॥
बरषि प्रसून हरषि सुरराऊ। लगे सराहन भरत सुभाऊ॥ ४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजी सत्यप्रतिज्ञ हैं, समर्थ हैं और देवताओंका हित करनेवाले हैं और भरतजी श्रीरामजीकी आज्ञाका अनुसरण (उसके अनुसार चलनेवाले) करनेवाले हैं॥ १॥ तुम स्वार्थके विशेष वश होकर व्याकुल हो रहे हो। इसमें भरतजीका दोष नहीं, यह तुम्हारा मोह (अज्ञान) है॥ २॥ देवगुरु बृहस्पतिकी श्रेष्ठ वाणी सुनकर देवश्रेष्ठ इन्द्रके मनमें बड़ा आनन्द हुआ और दुःख और सोच मिट गया॥ ३॥ तब प्रसन्न होकर देवराज फूल बरसा-बरसाकर भरतस्वभावकी प्रशंसा करने लगे॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'सत्यसंध प्रभु……'* इति। सत्यसंध हैं, अतएव *'हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निरभय होहु देव समुदाई॥'* (१। १८७) इन अपने वचनोंको अवश्य सत्य करेंगे। पुनः, चित्रकूटमें भी उन्होंने ढाँढस दिया है—*'करि बिनती दुख दुसह सुनाए। हरषित निज निज सदन सिधाए॥'* (१३४। ४) देखिये। पुनः, *'सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥……जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥'* (४२। २) *'बरष चारिदस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान।'* (५३) इत्यादि वचन झूठे नहीं करेंगे। महाराजने भी सुमन्त्रसे कहा था—*'जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई॥'* (८२। १) वही भाव यहाँ है, वे सत्यसंध हैं, लौटेंगे नहीं। 'प्रभु' हैं अर्थात् रक्षा करने और प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये समर्थ हैं, असमर्थ होते तो चाहे लौट भी जाते। *'सुर हितकारी'* हैं, सदासे देवताओंके हितैषी हैं, न लौटनेमें ही देवकार्य हो सकता है; अतः न लौटेंगे। जो कहें कि भरतके प्रेमसे लौटेंगे; उसपर कहते हैं कि वे तो श्रीरामजीके आज्ञानुवर्ती हैं, जैसी रामजी आज्ञा देंगे वैसा ही ये करेंगे, अपना हठ नहीं करेंगे। यह तुम्हारे मोहका दोष है कि तुम भरतजीसे डरते हो।

टिप्पणी—२ (क) *'सुनि सुरबर सुरगुर बर बानी'* इति। देवगुरुकी उत्तम सलाह सुनकर मान ली; अतः *'सुरबर'* कहा। उन्होंने कहा था कि *'छोभु छल छाँड़।'* यहाँ उसका चरितार्थ है—*'भा प्रमोद मन मिटी गलानी।'* सुरगुरुका उपदेश २१८ (२) *'कह गुर बादि छोभ छल छाँड़ू'* से *'भरत दोसु नहिं राउर मोहू'* तक है। रामस्वभाव २१८ (५) *'सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ।'* से *'सत्यसंध प्रभु सुर हितकारी।'* (२२०। १) तक है। उपक्रम *'कह गुर·······'* और उपसंहार *'सुनि सुरबर सुरगुर बर बानी।·······'* है। (ख)—इसे 'वर वाणी' कहा, क्योंकि इसमें श्रीरामस्वभाव, श्रीभरतस्वभाव और भक्तका महत्त्व वर्णन है। इन्द्रके प्रयोजनकी सिद्धि है। उसने सोचा कि भला हुआ कि माया न रची, नहीं तो दुर्गति होती; अतः प्रमोद हुआ। (पं०)

एहि बिधि भरत चले मग जाहीं। दसा देखि मुनि सिद्ध सिहाहीं॥ ५॥
जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमगत पेमु मनहुँ चहुँ पासा॥ ६॥
द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन पेमु न जाइ बखाना॥ ७॥
बीच बास करि जमुनहिं आए। निरखि नीरु लोचन जल छाए॥ ८॥

दो०—रघुबर बरन बिलोकि बर बारि समेत समाज।
होत मगन बारिधि बिरह चढ़ें बिबेक जहाज॥ २२०॥

शब्दार्थ—'**पासा**'=दिशा, यथा—*'नगर सँवारहु चारिहु पासा'* (१। २८। ७। ४)। पषान (पाषाण)=पत्थर। द्रवना=पिघलना।

अर्थ—इस प्रकार भरतजी मार्गमें चले जा रहे हैं। उनकी (प्रेमकी) दशा देखकर मुनि और सिद्ध ललचाते और सराहते हैं (कि ऐसी दशा, ऐसा अनुराग हममें भी कभी होगा? हम मननशील और सिद्ध व्यर्थ हुए जब यह अनुराग हमें न नसीब हुआ)॥ ५॥ जभी जिसी समय वे 'राम' कहकर ऊँची लम्बी साँस लेते हैं तभी मानो चारों ओर आस-पास प्रेम उमड़ पड़ता है॥ ६॥ उनके स्नेहमय वचन सुनकर वज्र और पत्थर भी द्रवीभूत हो (पिघल) जाते हैं। पुरवासियोंका प्रेम वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ७॥ बीचमें (एक जगह) निवास करके यमुनातटपर आये। जल देखकर नेत्रोंमें आँसू भर आये (अर्थात् श्यामवर्ण जल देखनेसे श्यामवर्ण प्रभुका रूप ध्यानमें आ गया)॥ ८॥ श्रीरघुनाथजीके श्याम रंगका सुन्दर जल देखकर समाजसहित रामविरह-समुद्रमें भरतजी डूबते-डूबते विवेकरूपी जहाजपर चढ़ गये। (अर्थात् विरह करुणामें बहुत विह्वल होने लगे थे तब यह विचार मनमें आ गया कि अरे! अभी तो यह नकली रंगमात्र देखकर इसीमें मग्न हुए जाते हैं तो आगे क्या होगा? अभी तो रामदर्शन करना है, यहीं रुक जाना ठीक नहीं।)

नोट—*'एहि बिधि·······'* इति। (क) *'एहि बिधि'* अर्थात् जैसा ऊपर *'राम सखा कर दीन्हे लागू। चलत·······॥'* (२१६। ४) से यहाँतक कह आये। रामसखाके हाथका सहारा लिये हुए, नंगे पैर, बिना छातेके चले जा रहे हैं, श्रीरामजीके मार्गकी कथाएँ पूछते और सुनते जाते हैं, विश्रामके स्थानों, वृक्षों आदिको देखकर प्रेम उमड़ पड़ता है। इस दशाका प्रभाव देवतादि चेतन और पृथ्वी मेघादि जड़ जीवोंपर भी पड़ता है, वे फूल बरसाते हैं, पृथ्वी कोमल हो जाती है, मेघ छाया करते हैं। सुरपतिको चिन्ता होती है, देवगुरुके समझानेसे उसे शान्ति प्राप्त होती है—इत्यादि *'एहि बिधि'* है। (ख) *'दसा देखि मुनि सिद्ध सिहाहीं'*— आगे चित्रकूटसे लौटनेपरके नेम व्रतादिपर कहा है कि *'सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं॥'* (३२६। ४) प्रायः यही भाव यहाँ भी है।

नोट—२ *'उमगत पेमु·······'* अर्थात् जब प्रेम इतना बढ़ जाता है कि हृदयमें नहीं समाता तब वे ऊर्ध्व श्वास लेते हैं। इस श्वासके द्वारा वह प्रेम उमड़कर बाहर निकलकर चारों ओर फैल जाता है। जैसे नदियाँ बहुत बढ़ती हैं तब उमड़कर बाहर चारों ओर उनका जल फैल जाता है। जो लोग देखते, वे भी प्रेमसे भर जाते थे। सभी 'राम-राम' प्रेमसे कहने लगते थे।

पं०—चारों ओर प्रेम कैसे उमड़ सकता है? उसपर कैमुतिकन्यायसे कहते हैं कि जब वज्र-पत्थर-से वनवासी पिघल जाते हैं तो पुरजनका प्रेम कैसे कहा जाय?

नोट—३ ***'द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना।'***—यहाँ कुलिश और पाषाणसे यह अर्थ भी ले सकते हैं कि कुलिश धारण करनेवाले इन्द्र और पत्थर वज्र हृदयवाले कोल-भील आदि जो कोई भी थे, वे भी पिघल जाते थे। पुनः भाव कि वज्र पाषाण ऐसे कठोर जड़ भी जब पिघल जाते थे तो मनुष्यकी क्या कहें? श्रीभरतमिलापके समय चित्रकूटके पाषाण भी पिघल गये थे यह प्रसिद्ध है। कामदगिरिकी परिक्रमामें वह स्थान इस बातकी साक्षी दे रहा है। हम जामदारजीसे सहमत हैं कि ☞ 'इसमें कविने भरतजीके प्रेमका प्रभाव दिखाया है। इसको जो अतिशयोक्ति समझें उनके लिये कहा जा सकता है कि उन्हें भक्तिकी कल्पना ही नहीं। कदाचित् कोई ऐसा भी कह सकेंगे कि उनके लिये कविने यह ग्रन्थ ही निर्माण नहीं किया। पर हम यही कहेंगे कि उनकी प्रकृतिके लिये भारतवर्षकी हवा ही अनुकूल नहीं।'

नोट—४ ***'निरखि नीरु लोचन जल छाए'***—भाव कि नील वर्ण देखकर श्रीरामजीके कोमल शरीरकी स्मृति हो आयी। ऐसे सुकुमार होकर ***'सहत दुसह बन आतप बाता' 'अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुसपात।……'*** इत्यादि दुःख कैसे सहते होंगे, यह विचार आते ही दुःखी हो गये, अश्रु निकल पड़े। ☞ विरही भगवत्प्रेमीकी यही दशा होती है। नील श्याम वर्णसे शरीरकी, पीतसे पीताम्बरकी, लालसे अरुण चरणोंकी या ओष्ठोंकी, भृंगपुंजसे अलकावलीकी इत्यादिसे अंग-अंगकी स्मृति जाग्रत् होती है और विरह-व्यथा बढ़ती है।

'रघुबर बरन', यथा—***'उतरि नहाए जमुन जल जो सरीर सम स्याम॥'*** (१०९) मग्न होनेका भाव कि देहकी सुधि न रहती थी, आगे चलना है यह भी भूल जाते थे—(शिला)। मनको समझाया कि अब पहुँचे, वियोगके दिन कटे, अब सुस्ताओ मत, न विकल ही हो, धैर्य धारण करो। (बै०)

वि० त्रि०—***'रघुबर बरन……जहाज।'***—जितना आगे बढ़ते जाते हैं, विरहकी उत्कण्ठा बढ़ती जाती है। ***'राम बास थल बिटप बिलोके। उर अनुराग रहत नहिं रोके॥'*** अब तो प्रभुके शरीर-सम-श्याम यमुनाजल देख लिया। बस विरहके समुद्रमें मग्न होने लगे। मग्न होनेका भाव यह है कि अपनेको ही भूलने लगे। समुद्रमें डूबनेवाला यदि जहाजपर चढ़ जाय तो बच जाता है। भरतजी भी समाजसहित विवेक जहाजका आश्रयण लेकर ही डूबनेसे बचे, अपनेको सँभालना ही विवेक है, यथा—***'प्रेम मगन मन जानि नृप करि बिबेक धरि धीर।'*** इसी भाँति भरतजीने समाजसहित अपने (स्वरूप) को सँभालकर धैर्य धारण किया।

जमुन तीर तेहि दिन करि बासू। भयेउ समय सम सबहि सुपासू॥ १॥
रातिहिं घाट घाट की तरनी। आईं अगनित जाहिं न बरनी॥ २॥
प्रात पार भए एकहि खेवा। तोषे रामसखा की सेवा॥ ३॥
चले नहाइ नदिहि सिर नाई। साथ निषादनाथ दोउ भाई॥ ४॥

शब्दार्थ—'**खेवा**'=नावद्वारा नदी पार करनेका काम, बार, दफा, अवसर, लदाई, उतारा।

अर्थ—उस दिन यमुनाजीके किनारे निवास किया, समयानुकूल सबका सुपास हुआ। अर्थात् समयानुसार भोजन-शयनका सुख सबको मिला॥ १॥ रात-ही-रात घाट-घाटकी अगणित नावें आयीं, जो वर्णन नहीं की जा सकतीं॥ २॥ सबेरे एक ही खेवेमें (सब) नदी पार हुए, रामसखा निषादराजकी इस सेवासे संतुष्ट और प्रसन्न हुए (कि बड़ी जल्दी यह काम हो गया)॥ ३॥ नदीमें स्नान और उसको प्रणाम करके दोनों भाई निषादराजके साथ चले॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'जमुन तीर तेहि दिन करि बासू।……'*** इति। यहाँ भरतजी और समाजकी रामदर्शनकी उत्कण्ठा-आतुरता कवि शब्दोंद्वारा दिखा रहे हैं। पूर्व कहा था कि प्रयोगसे ***'चले चित्रकूटहिं चितु***

दीन्हें।' मार्गमें ठहराते हैं पर सब स्थानोंपर ठहरनेमें अपूर्ण क्रिया देते हैं—***'बीच बास करि जमुनहिं आए', 'जमुन तीर तेहि दिन करि बासू',*** पुनः आगे दोहा २२४ में ***'तेहि बासर बसि प्रातहीं चले·······'***। क्योंकि रामदर्शनकी उत्कण्ठा है। पुनः यथा—***'जल थल देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवन······· ॥'*** (२२६। २) बसनेकी क्रिया सब जगह अपूर्ण देकर ***'चले'*** या पर्यायवाची पूर्ण क्रिया देते जाते हैं। ***'बास'*** से रातको ठहरना सूचित करते जाते हैं। (२२६। २ में ***'बसे'*** पूर्ण क्रिया है पर उसके साथ ही ***'निसि बीते कीन्ह गवन'*** कहा है।)

नोट—***'अगनित जाहिं न बरनी'*** इति। (क) शृंगवेरपुर राजधानी थी, इससे वहाँ बहुत केवट और बहुत नावें थीं ही, इससे विशेष प्रबन्ध न करना पड़ा था। जितनी नावें थीं उन्हींपर सवार कराके चार दण्डमें सबको पार करा दिया था—***'दंड चारि महँ भा सबु पारा।'*** (२०२। ८) उतनी नावोंसे पार करनेमें विशेष समय लगा था। यह सोचकर निषादराजने रातभरमें बहुत दूर-दूरके घाटोंसे सब नावें मँगाकर एकत्र कर लीं। कितनी नावें थीं इसका पता नहीं पर इतनी थीं कि सारी सेना और समाज उनमें आ जाय। इसीसे ***'अगनित'*** कहा। ***'जाहिं न बरनी'*** से उनकी सजावट भी कह दी। पताका, घण्टियाँ, सुन्दर बैठकों, इत्यादिसे सुसज्जित थीं। (ख) ***'प्रात पार भए एकहि खेवा'*** इति। यहाँ ***'एकहि खेवा'*** कहकर जनाया कि पूर्व कई खेवेमें, कई बार नावें आयीं-गयीं तब पार हुए थे। पहली बार चार दण्डका समय लगा था, अबकी प्रातःकाल ही दूसरी तरफ पहुँच गये। इससे सिद्ध होता है कि निषादराज भी आतुर थे कि सब शीघ्र पहुँचकर दर्शन प्राप्त करें। (ग) ***'तोषे राम सखा की सेवा'***—प्रसन्नता हुई क्योंकि प्रातःसे कई घण्टे चलनेके लिये मिलेंगे, समय नष्ट नहीं हुआ, प्रथम बार चार दण्ड समय नष्ट हो गया था। इससे यह भी अनुमान होता है कि प्रथम बार प्रसन्नता नहीं हुई थी।

टिप्पणी—२ यहाँसे अब मार्गमें चलनेका क्रम फिर बदला। एक बार शृंगवेरपुरपर बदला था। यहाँ शत्रुघ्नजी और निषादराज दोनोंको साथ रखा।

श्रीअवधसे चलते समय सबके आगे गुरुजी थे, उनके पीछे विप्रवृन्द, तब पुरवासी और उनके पीछे रानियाँ थीं। श्रीभरत-शत्रुघ्नजी दोनों भाई साथ थे। वह क्रम प्रथम वास तमसातट, द्वितीय निवास गोमतीतट और तृतीय मंजिल शृंगवेरपुरतक रहा। यहाँतक माता कौसल्याकी आज्ञाके अनुकूल दोनों भाई रथपर आये। शृंगवेरपुरसे पयान करते समय क्रम बदला। पहले निषादराज सबसे आगे, फिर माताएँ और उनके साथ शत्रुघ्नजी; फिर विप्रवृन्दसहित श्रीवसिष्ठजी और सबके पीछे सेवकों और घोड़ोंसहित श्रीभरतजी। यह क्रम इससे बदला कि कहीं फिर माता रथपर चलनेका हठ न करें तो धर्म-संकटमें पड़ जायँ, इसीसे सबको चलता कर देनेके कुछ देर बाद स्वयं चले जिसमें लोग न जानें कि पैदल चल रहे हैं, किंतु समझें कि घोड़ेपर पीछे आयेंगे। प्रयागमें पहुँचनेपर सबको पता चला कि वे पैदल ही आये। अब सबको सेवकोंद्वारा इनका दृढ़ भाव और निश्चय ज्ञात हो गया कि ये सवारीपर न जायँगे, इन्होंने कहा है—***'राम पयादेहि पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥ सिर भर जाउँ उचित अस मोरा।'*** अतएव सभी सेवक-सखाओंको ग्लानि हुई कि ये ठीक कहते हैं, हम सेवक और सखा होकर सवारीपर चल रहे हैं, पर बड़ा अनुचित है अतएव अब वे भी इनके साथ हुए। बात उचित है, इनका सच्चा प्रेम है, अतः अब कोई हठ नहीं करता। अतः फिर पहला क्रम हो गया—गुरु, विप्रवृन्द सब राजसमाज। केवल इतना भेद हुआ कि अब सेवक, सुहृद्, मन्त्रिपुत्र और निषादराज भी दोनों भाइयोंके साथ चल रहे हैं।

टिप्पणी—३ ***'नहाइ नदिहि'***—यहाँ नदी सामान्य पद दिया। पूर्व वर्ण देखकर मग्न हुए थे फिर विचार किया कि कहाँ राम कहाँ यह, नदी नदी ही है। अतएव यहाँ लघु पद दिया।

आगें मुनिबर बाहन आछें। राजसमाज जाइ सबु पाछें॥ ५॥
तेहि पाछें दोउ बंधु पयादें। भूषन बसन बेष सुठि सादें॥ ६॥

सेवक सुहृद सचिवसुत साथा। सुमिरत लषनु सीय रघुनाथा॥ ७॥
जहँ जहँ राम बास बिश्रामा। तहँ तहँ करहिं सप्रेम प्रनामा॥ ८॥
दो०—मगबासी नरनारि सुनि धामकाम तजि धाइ।
देखि सरूप सनेह सब मुदित जनम फलु पाइ॥ २२१॥

अर्थ—आगे मुनिश्रेष्ठ अच्छी-अच्छी सवारियोंपर हैं, उनके पीछे सब राजसमाज जा रहा है॥ ५॥ उसके पीछे बहुत ही सादे भूषणवस्त्र और वेषसे दोनों भाई पैदल हैं॥ ६॥ सेवक, मित्र और मन्त्रीका पुत्र साथ है। लक्ष्मणजी, सीताजी और रघुनाथजीका स्मरण करते जाते हैं॥ ७॥ जहाँ-जहाँ श्रीरामजीने निवास या विश्राम किया था, वहाँ-वहाँ प्रेमपूर्वक प्रणाम करते हैं॥ ८॥ रास्तेके रहनेवाले स्त्री-पुरुष (यह) सुनकर धाम-कामको छोड़ दौड़ पड़ते हैं और उनके सुन्दर स्वरूप और प्रेमको देख जन्मका फल पाकर सब आनन्दित होते हैं॥ २२१॥

नोट—*'बाहन आछें'* इति। इससे जनाया कि गुरुजी अत्यन्त सुन्दर तेजपुंज रथपर हैं जिनमें उसीके अनुकूल सूर्यके घोड़ोंको मात करनेवाले घोड़े जुते थे। यथा—*'तब सुमंत्र दुइ स्यंदन साजी। जोते रबिहय निंदक बाजी॥'''''''दूसर तेजपुंज अति भ्राजा॥ तेहि रथ रुचिर बसिष्ठ कहँ हरषि चढ़ाइ नरेस॥'* (१। ३०१) *'सुठि सादे'* से जनाया कि राजसी ठाट-बाटसे नहीं हैं। बिलकुल सादा पहनाव है, क्योंकि मनमें विचार है कि स्वामी तो वल्कलधारी हैं, हम ठाट-बाटसे रहें यह महा अनुचित है। अ० रा० के भरतजी वल्कलधारी होकर चले हैं। पर मानसकल्पमें ऐसा नहीं है, वे अभी वल्कलधारी नहीं हुए; क्योंकि आशा है कि श्रीरामजीका वनमें ही राज्याभिषेक कराके ठाट-बाटसे वनसे लौटा लावेंगे। आगेके *'बेषु न सो सखि सीय न संगा'* से भी इसकी पुष्टि होती है।

पु० रा० कु०—*'सेवक सुहृद सचिवसुत साथा'* इति। शृंगवेरपुरसे प्रयागतककी मंजिलमें किसीने न जाना था कि ये पैदल जा रहे हैं, अब सबको मालूम है। अतएव जो उनके बराबरीके हैं, वे साथ हो गये।

नोट—*'सुमिरत लषनु सीय रघुनाथा'* इति। कोई-कोई कहते हैं कि साथ लेनेका कारण यह है कि शत्रुघ्नजी लक्ष्मणजीके छोटे भाई हैं; इनको देखकर वे प्रसन्न होंगे और गुहको देखकर रामजी प्रसन्न होंगे, अत: हमपर अवश्य कृपा करेंगे। २२१ (७) देखिये। पर इसके पूर्व भी तीनोंका स्मरण करना कह आये हैं, यथा—*'आपु सुरसरिहि कीन्ह प्रनामू। सुमिरे लषन सहित सिय रामू॥'* (२०३। ३) श्रीलक्ष्मणजीको परम बड़भागी जानकर उनका स्मरण करते हैं, तीनोंके दु:खका कारण अपनेको बार-बार समझते हैं, इससे भी तीनोंका बारंबार स्मरण करना सम्भव है, प्राय: जो लोग भगवान् और उनके भक्तोंका स्मरण करते हैं भगवान् और भक्त भी उनका स्मरण करते हैं और श्रीरामलक्ष्मण-सीताजीने तो रात-रातभर स्वयं भरतजीका स्मरण किया है। तब भरतजी तीनोंका स्मरण क्यों न करेंगे। भरद्वाजजीने स्वयं उनसे कहा है—*'लषन राम सीतहि अति प्रीती। निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती॥'* (२०८। ४) अत: तीनोंका स्मरण स्वाभाविक है।

'धामकाम' और *'जनम फलु'* पर भाव लिखा जा चुका है। ११४ (२) *'चलहिं तुरत गृह काज बिसारी'* और बा० २२० (२) *'धाए धाम काम सब त्यागी'* देखिये। सचिवसुत सुमन्त्रका पुत्र अभिनन्दन है, प्रतापी और चित्रसेन आदि सुहृद् हैं।

कहहिं सपेम एक एक पाहीं। रामु लषनु सखि होहिं कि नाहीं॥ १॥
बय बपु बरन रूपु सोइ आली। सीलु सनेहु सरिस सम चाली॥ २॥
बेषु न सो सखि सीय न संगा। आगे अनी चली चतुरंगा॥ ३॥
नहि प्रसन्न मुख मानस खेदा। सखि संदेहु होइ एहि भेदा॥ ४॥

शब्दार्थ—**पाहीं**=से। **बपु**=शरीर, डील-डौल। **बय**=अवस्था, उम्र। **रूपु**=सौन्दर्य। **चाली**=चाल। **अनी**=सेना। **चतुरंगा**=चतुरंगिणी।

अर्थ—ग्रामीण स्त्रियाँ एक-एकसे प्रेमसे कहती हैं—हे सखि! ये राम-लक्ष्मण हैं कि नहीं॥ १॥ हे सखी! अवस्था, शरीर, डील-डौल, रंग, रूप वैसा ही है। शील-स्नेह भी उन्हींके सदृश हैं और चाल भी वैसी ही है॥ २॥ (परंतु) हे सखि! इनका न तो वह वेष है और न सीताजी संगमें हैं और इनके आगे चतुरंगिणी सेना चल रही है॥ ३॥ इनका मुख प्रसन्न नहीं है। मनमें खेद है। हे सखी! इस भेदके कारण सन्देह होता है॥ ४॥

नोट—१ ***'रामु लषनु सखि होहिं कि नाहीं'''''''*** इति। (क) ***'सखि'*** सम्बोधनसे सूचित होता है कि आगेकी सब वार्ता स्त्रियोंमें ही हो रही है। यद्यपि मार्गनिवासी स्त्री-पुरुष सभी समाचार सुनकर दर्शनोंके लिये गृहकार्य छोड़-छोड़कर चले हैं तथापि पुरुष लोग तो दर्शन पाकर अपना जन्म सफल समझकर आनन्दित हुए। बस इतनेसे ही वे तृप्त हो गये पर स्त्रियाँ इतनेसे तृप्त नहीं हुईं। वे आपसमें इनके सम्बन्धकी वार्ता भी कर रही हैं। ***'एक एक पाहीं'*** अर्थात् एक स्त्री दूसरेसे कहती है, इस तरह परस्पर बातें कर रही हैं। प० प० प्र० स्वामीजी ठीक ही कहते हैं कि 'इससे यह भी जान पड़ता है कि स्त्रियोंमें रामप्रेमभावना और निरीक्षणचातुरी अधिक थी'। (ख) ***'रामु लषनु सखि होहिं कि नाहीं'*** से यह भी सिद्ध होता है कि इन्होंने प्रथम बटोही श्रीराम-लक्ष्मण-सीताके दर्शन किये थे। ***'सखि'*** सम्बोधनसे यह भी सूचित किया कि पुरुषोंको संदेह नहीं हुआ, वे सब बात जानते हैं। स्त्रियोंमें ही किसी-किसीको संदेह हो गया है, इससे अपनी शंका दूसरेसे कहती हैं। इसी बहाने परस्पर चर्चा होने लगी। इसमें संदेहालंकार है। (ग) इसी प्रकार जनकपुरमें स्त्रियोंको और हनुमान्‌जीको अवधमें सन्देह हुआ था।—***'सखि जस राम लषन कर जोटा। तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा॥ श्याम गौर सब अंग सुहाए। ते सब कहहिं-देखि जे आए॥ कहा एक मैं आजु निहारें। जनु बिरंचि निज हाथु सँवारें॥ भरत रामही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥ लषन सत्रुसूदन एक रूपा। नखसिख ते सब अंग अनूपा॥'*** (१। ३११। ३—७) ***'भरत सत्रुसूदन बिलोकि कपि चकित भयो है। राम लषन रन जीति अवध आये कैधों मोहि भ्रम कैधौं काहू कपट ठयो है॥'*** (गी० ६। ११)

नोट—२ ***'बय बपु बरन रूप सोइ आली।'''''''*** इति। (क) इससे ***'भरत राम ही की अनुहारी।''''''सहसा लखि न सकहिं''''''''।'*** (१। ३११) को चरितार्थ किया। अवस्था, शरीर, रंग, रूपादिमें भेद न देख पड़ना 'मीलित अर्थात् सामान्य' अलंकार है। सब एक ही दिन अथवा तीन दिनके भीतर पैदा हुए; अतः अवस्था एक है, कुछ घंटोंकी छुटाई-बड़ाई है। सबका सत्ताईसवाँ वर्ष है। श्रीराम-लक्ष्मण श्याम-गौरकी जोड़ी हैं वैसे ही श्रीभरत-शत्रुघ्न श्याम-गौरकी जोड़ी हैं। रूप, शील भी एक-सा है। यथा—***'चारिउ रूप सील गुनधामा।'*** (१। १९८। ६) जैसा स्नेह श्रीरामलक्ष्मणमें है, वैसा ही श्रीभरतशत्रुघ्नमें है। यथा—***'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥'*** तथा—***'भरत शत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥'*** (१। १९८। ३-४)

नोट—३ ***'बेषु न सो सखि''''''''*** इति। वे वल्कल धारण किये थे, ये राजकुमार वेषमें हैं। उनके साथ श्रीसीताजी थीं, किन्तु यहाँ वे नहीं हैं। वे प्रसन्नमुख थे, ये उदास हैं। इन कारणोंसे भेद ज्ञात होना 'विशेषकोन्मीलित अलंकार' है।

तासु तरक तिय गन मन मानी। कहहिं सकल तोहि* सम न सयानी॥ ५॥
तेहि सराहि बानी फुरि पूजी। बोली मधुर बचन तिय दूजी॥ ६॥
कहि सपेम सब कथा प्रसंगू। जेहि बिधि रामराज रस भंगू॥ ७॥

* 'तेहि'—(ला० सीताराम)। अर्थात् इसके समान।

भरतहि बहुरि सराहन लागी। सील सनेह सुभाय सुभागी॥ ८॥

दो०—चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राजु।
जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आजु॥ २२२॥

शब्दार्थ—**तरक** (तर्क)=हेतुपूर्वक युक्ति, दलील, किसी वस्तुके विषय अज्ञात तत्त्वको कारणोपपत्ति द्वारा निश्चित करनेवाली उक्ति या विचार। **मन मानी**=मनमें जँची, पसन्द पड़ी, अच्छी लगी, यथा—***'मन माना कछु तुम्हहि निहारी।'*** (३। १७। १०), ***'कौसिक कहेउ मोर मनु माना। इहाँ रहिअ रघुबीर सुजाना॥'*** (१। २१४। ६) **फुरि**=सत्य, सच्ची। **पूजी**=सम्मान किया।—विशेष नोट १ में देखिये। **दूजी**=दूसरी। **प्रसंग**=सम्बन्ध, वार्ता, विषय, प्रकरण, प्रस्तावना। **कथाप्रसंगू**=कैसे-कैसे वर माँगा गया, किस तरह वनवास हुआ, इत्यादि सब प्रकरणसहित कथा=समाचार। **कथा-प्रसंग**=कथाका प्रसंग; सब विषय वार्ता। विशेष ***'औरौ कथा अनेक प्रसंगा।'*** (१। ३७। १५) में देखिये। **रस**=आनन्द। भंग=विनाश, विध्वंस, बाधा, रुकावट। **सुभागी**=सुभागको, सौभाग्यको।

अर्थ—उसका तर्क दूसरी स्त्रियोंके मनको भाया (वा, उन्होंने उनको मान लिया)। सब कहने लगीं कि तेरे समान कोई चतुर नहीं है॥ ५॥ उसकी प्रशंसा करके, 'तेरी वाणी सत्य है' इस तरह उसका आदर सम्मान करके दूसरी स्त्री मीठे कोमल वचन बोली॥ ६॥ प्रेमसहित सब कथा-प्रसंग कहकर कि जिस प्रकार रामराज्याभिषेकका आनन्द नष्ट हुआ॥ ७॥ फिर भरतजीके शील, स्नेह, स्वभाव और सौभाग्यकी* सराहना करने लगी॥ ८॥ पैदल चलते फल खाते, पिताका दिया हुआ राज्य त्यागकर रघुवर रामजीको मनाने जा रहे हैं। आज भरतजीकी समताका कौन (वैरागी, अनुरागी और त्यागी) है? अर्थात् कोई भी नहीं॥ २२२॥

नोट—१ ***'बानी फुरि पूजी'***—(क) देवी-देवताके प्रसन्न करनेके लिये कोई कर्म—फूल-पत्ती चढ़ाना आदि—'पूजना' कहलाता है। इस कृत्यसे उसमें पूजककी श्रद्धा, सम्मान प्रकट होता है। इसी भावसे इसका अर्थ 'आदर-सत्कार करना' लिया जाता है। (ख) 'फुरना' सं० स्फुरणासे बना है। इसका अर्थ है 'पूरा उतरना, सत्य ठहरना, ठीक निकलना, सच होना', यथा—***'सुनु मंथरा बात फुरि तोरी। दहिनि आँखि नित फरकइ मोरी॥'*** (२०। ६) ***'फुरी तुम्हारी बात कही जो मोसों रही कन्हाई'***—(सूर)। यहाँ प्रशंसारूपी फूलोंसे उसकी पूजा की। दीनजी कहते हैं कि यह अवधी मुहावरा है। ***'पूजी'***=तेरी वाणी सत्य है, पूजनेयोग्य है, तू ठीक कहती है।

नोट—२ ***'चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि·······'***, यहाँ तीन बातें दिखायीं। इन्हींके विचारसे फिर कहती हैं कि ***'सरिस को आजु'।*** पैदल चलना मनाने जाना यह अनुराग, फल खाना यह त्याग (ऊपरका), (भीतरसे) वैराग्य कैसा कि पिताने राज्य दिया, उसको न लिया छोड़ दिया। अथवा, जो दशा उनकी इस समय प्राप्त है उस सबके लिये ***'को आजु'*** कहा। ऐसा सौभाग्य, ऐसा अनुराग किसका होगा? (पु० रा० कु०), (ख)—यहाँ पैदल चलनेसे विषयरस रूखे, प्राप्त राज्यको कुलकलंक समझ त्याग देनेमें धर्म और नीतिमें निपुण जनाया। (वै०) पूर्व कहीं भरतजीका फलाहार करना नहीं लिखा। यहाँके उल्लेखसे सर्वत्र फलाहार करना समझ लें।

प० प० प्र०—इन स्त्रियोंके वचनोंसे यह भी सूचित करते हैं कि रामदर्शनका परिणाम यह हुआ कि इन वनवासी स्त्रियोंमें भी त्याग, वैराग्य, रामप्रेम इत्यादिकी रुचि बढ़ गयी है। ***'ते सब भए परमपद जोगू।'*** को यहाँ चरितार्थ किया। विषयी, बद्ध जीवोंके मुखसे ऐसे वचन कभी नहीं निकलेंगे—***'यह रघुनंदन दरसप्रभाऊ'*** है।

---

* रा० प्र० ने 'सुभागी' को उस स्त्रीका विशेषण माना है। भरतजीके शील-स्नेह आदिका वर्णन कर रही है, अतः सुन्दर भाग्यवाली है। पर, 'सुभाग्य' का प्राकृतरूप 'सुभागि' है। यहा दीर्घ ईकार स्त्रीलिंगका चिह्न नहीं है।

भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूषन हरनू॥ १॥
जो किछु कहब थोर सखि सोई। राम बंधु अस काहे न होई॥ २॥
हम सब सानुज भरतहिं देखें। भइन्ह धन्य जुबतीजन लेखें॥ ३॥
सुनि गुन देखि दसा पछिताहीं। कैकइ जननि जोगु सुतु नाहीं॥ ४॥

अर्थ—श्रीभरतजीका भाईपना, भक्ति और आचरण कहने-सुननेसे, दुःख दोषके हरनेवाले हैं॥ १॥ हे सखि! इनके विषयमें जो कुछ भी कहा जाय वह थोड़ा ही है। ये श्रीरामजीके भाई हैं, ऐसे क्यों न हों?॥ २॥ छोटे भाईसहित भरतजीको देखकर हम सब स्त्रियोंकी गिनतीमें धन्य एवं धन्य स्त्रियोंकी गणनामें हुई हैं॥ ३॥ श्रीभरतजीके गुण सुनकर और उनकी दशा देखकर सब स्त्रियाँ पछताती हैं (और कहती हैं कि) यह पुत्र कैकेयी (ऐसी) माताके योग्य नहीं॥ ४॥

नोट—१ *'भायप भगति भरत आचरनू·········'* इति। (क)—भरतजीमें भाईपन बहुत है, इसलिये उसे प्रथम कहा, यथा—*'भयउ न भुअन भरत सम भाई।'* (२५९। ४) *'भायप'*=भाइयोंके प्रति भाव, अनुराग। भक्ति ज्येष्ठ (अपनेसे बड़े) में और आचरण माता-पिता-भाई-स्वामी-सेवक इत्यादि सबके प्रति। यथा—*'पितु हित भरत कीन्ह जसि करनी',* इत्यादि। (पु० रा० कु०) अथवा, 'भाईपनकी भक्ति और आचरण'। राज्य त्याग दिया, भाईपना न त्याग किया। फल खाते, 'रामसिय, रामसिय' कहते जाते, यह भक्ति है, पैदल जाते हैं यह आचरण है। (रा० प्र०) मेरी समझमें माता-पितामें भक्ति होना तो स्वाभाविक है पर भाईमें माता-पितासे भी अधिक भक्ति होना स्वाभाविक नहीं है, उसपर भी राजकुमारोंमें परस्पर प्रेम और भी कठिन होता है, क्योंकि वे तो राज्यमें परस्पर विरोधी होते ही हैं, मनाते हैं कि मरे और कभी-कभी तो विष भी दे देते हैं। राज्यके पीछे तो अपने पिताके भी नहीं होते, भाईकी क्या चली? इस विचारसे *'भायप'* को प्रथम कहा।

(ख) यह भरतचरितका माहात्म्य वा भायप, भक्ति और आचरणकी फलश्रुति ग्रामवासिनियोंके द्वारा कही और स्वयं मानसप्रकरणमें तथा इस काण्डके अन्तमें कहा है। यथा—*'समन अमित उतपात सब भरत चरित जपजाग।'* (१। ४१), *'परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥ हरन कठिन कलि कलुष कलेषू।·······समन सकल संताप समाजू।'* (३२६। ५—७) मानसप्रकरणमें चारों भाइयोंके भायप आदिको श्रीसीयरामयश जलका मीठापन और सुगन्ध कहा है। यथा—*'भायप भलि चहुँ बंधु की जल माधुरी सुबास।'* (१। ४२) (प० प० प्र०) स्वामीजी कहते हैं कि 'भरतजीके भ्रातृप्रेम तथा भ्रातृप्रेमानुकूल आदर्श आचरणसे ही राम-कीर्ति-सरयूकी माधुरीमें सुवास पैदा हो गया है। यह इन स्त्रियोंके वचनोंसे चरितार्थ किया'। भायप और आचरणकी महिमा ऊपर दिखायी। भक्ति आदि तथा उनकी महिमा अकथ्य है। यथा—*'भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥ बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥'* (३२५) *'दुख दूषन हरनू',* यथा—*'दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।'* (३२६)

२—*'जो किछु कहब थोर·······'* इति। (क) मिलान कीजिये—*'मोहिं भावति कहि आवति नहिं भरतजू की रहनि। सजल नयन सिथिल बयन प्रभु गुन गन कहनि॥ आसन बसन अयन सयन धरम गरुअ गहनि। दिन दिन पन प्रेम नेम निरुपधि निरबहनि॥ सीता रघुनाथ लषन बिरह पीर सहनि। तुलसी तजि उभय लोक रामचरन चहनि॥'* (गी० २। ८१) शेष-गणेश गिराको भी अगम है, तब कौन कह सकता है? (ख)*'राम बंधु अस काहे न होई'*—कारणके समान कार्यका वर्णन 'दूसरा सम अलंकार' है। मिलान कीजिये—*'अब अति कीन्हेहु भरत भल तुम्हहि उचित मत एहु।········'* (२०७) *'यह तुम्हार आचरजु न ताता। दसरथ सुअन राम प्रिय भ्राता॥'* (२०८। २) (ये भरद्वाजजीके वचन हैं)।

(ग) *'राम बंधु अस·······'* से शंका होती है कि 'उसने श्रीरामजीका प्रभाव कैसे जाना?' समाधान यह है कि उसके कुछ पूर्वके पुण्य-संस्कार उदय हो गये। इससे जान गयी। अथवा, श्रीरामदर्शन तथा

भरत-दर्शनसे बुद्धि निर्मल हो गयी है अथवा लोगोंसे सुना है। (पं०) स्मरण रहे कि ये सब वही ग्रामवासिनियाँ हैं जिन्होंने पूर्व श्रीरामबटोहीके दर्शन किये हैं, अपने पति आदिसे उनकी कथा सुनी है और स्वयं श्रीसीतारामजीके शील स्वभावका परिचय प्राप्त कर चुकी हैं। अतः कहती हैं *'राम बंधु अस काहे न होई।'*

३—*'भइन्ह धन्य जुबतीजन लेखें'*—यहाँ वही भाव समझिये जो *'भयउँ भागभाजन जन लेखें।'* (८८। ५) में कहे गये हैं। धन्य स्त्रियोंकी गणनामें आजसे हम भी हुईं। 'धन्य'=पुण्यवान्, सुकृती, श्लाघ्य, प्रशंसायोग्य, कृतार्थ। हम भी आजसे सुकृती मानी जायँगी, सब हमारे भाग्यकी बड़ाई करेंगे। पुनः, सुकृती, स्त्रियाँ शची, शारदा, भवानी, इत्यादिकी गणना जहाँ होगी वहाँ हमारी भी होगी। इसी भाग्यकी प्रशंसा आगे करती हैं। मिलान कीजिये—*'एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहि परम धन्य करि मानहिं॥'* (१२०। ७)

४—*'सुनि गुन.........कैकइ जननि.........'* इति। मिलान कीजिये—*'जननी तू जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ।'* (१६१) पुत्र-माताका अनमेल वर्णन 'प्रथम विषय अलंकार' है।

कोउ कह दूषन रानिहि नाहिन। बिधि सबु कीन्ह हमहि जो दाहिन॥ ५॥
कहँ हम लोक बेद बिधि हीनी। लघु तिय कुल करतूति मलीनी॥ ६॥
बसहिं कुदेस कुगाँव कुबामा। कहँ येह दरसु पुन्य परिनामा॥ ७॥
अस अनंदु अचिरिजु प्रति ग्रामा। जनु मरुभूमि कलपतरु जामा॥ ८॥

दो०—भरतदरसु देखत खुलेउ मगलोगन्ह कर भागु।
जनु सिंघलबासिन्ह भयेउ बिधिबस सुलभ प्रयागु॥ २२३॥

शब्दार्थ—**दाहिन**=अनुकूल। दाहिने होना मुहावरा है—अनुकूल वा प्रसन्न होना, हितकी ओर प्रवृत्त होना **कुबामा**=खोटी बुरी स्त्री, कुत्सित, कुमार्गमें चलनेवाली। **मलीनी**=दूषित, मैली, अपवित्र, अस्वच्छ। **मरु**=वह भूमि जहाँ जल न हो और केवल बलुआ मैदान हो। मारवाड़ और उसके आस-पासके देशका यह नाम है।—*'मरु मारव महिदेव गवासा।'* (१। ६। ८) **सिंघल**=यह एक द्वीप है जो भारतवर्षके दक्षिणमें है। रामेश्वरके ठीक दक्षिणमें यह द्वीप है। सिंघलके दो इतिहास पाली भाषामें मिलते हैं—महाबंसो और दीपबंसो जिनसे वहाँ किसी समय यक्षोंकी बस्ती होनेका पता लगता है। ऐतिहासिक कालमें यह द्वीप स्वर्णभूमि या स्वर्णद्वीपके नामसे प्रसिद्ध था जहाँ दूरदेशोंसे व्यापारी मोती, मसाला आदि लेने आते थे। रत्नपरीक्षाके ग्रन्थोंमें सिंहल मोती, माणिक्य और नीलमके लिये प्रसिद्ध पाया जाता है। भारतवर्षके कलिंग, ताम्रलिप्ति आदि प्राचीन बन्दरगाहोंसे भारतवासियोंके जहाज बराबर सिंहल, सुमात्रा, जावा आदि द्वीपोंकी ओर जाते थे। वास्तवमें सिंहलनिवासी बिलकुल काले और भद्दे होते हैं। वहाँ इस समय दो जातियाँ बसती हैं—उत्तरकी ओर तो तामिल जातिके लोग और दक्षिणकी ओर आदिम सिंहली निवास करते हैं।—(श० सा०) त्रेतामें उस समय यहाँका राजा चन्द्रसेन था—(वि० टी०)।

अर्थ—कोई कहती है कि रानीका भी दोष नहीं है, यह सब विधाताने किया है जो हम सबको दाहिने हैं॥ ५॥ कहाँ तो हमलोग लोक और वेद दोनोंकी रीतिसे हीन; तुच्छ, स्त्री, कुल और करनी दोनोंसे दूषित॥ ६॥ बुरे देश, बुरे गाँवमें बसनेवाली (एवं स्त्रियोंमें भी) खोटी स्त्रियाँ, और कहाँ यह पुण्योंका फल स्वरूप दर्शन!* अर्थात् ऐसे महात्माओंका दर्शन बड़े सुकृतोंसे होता है। हममें सुकृत कहाँ, हम इनके दर्शनके योग्य नहीं, पर विधाताने हमपर कृपा करके हमें इनका दर्शन कराया॥ ७॥ ऐसा ही आनन्द और आश्चर्य प्रत्येक गाँव (गाँव-गाँव) में हो रहा है। मानो मरुभूमिमें कल्पवृक्ष जम आया

* अर्थान्तर—'जिस दर्शनका फल हमको बड़े पुण्य लोकोंकी प्राप्ति है।' (पं०)

है॥ ८॥ भरतजीका दर्शन करते ही मगवासियोंके भाग्य खुले (उदय हुए) मानो दैवयोगसे सिंहलवासियोंको प्रयाग तीर्थराज आसानीसे प्राप्त हो गये॥ २२३॥

नोट—१ मगवासिनी स्त्रियोंका परस्पर संवाद ***'रामु लषनु सखि होहिं कि नाहीं।'*** (२२२। १) से ***'कहँ यह दरस पुन्य परिनामा।'*** (२२३। ७) तक है। ब्रह्माकी अनुकूलता अपने ऊपर दिखाना अभीष्ट होनेसे कैकेयीके दोषका निवारण किया और उत्तरोत्तर अपना अपकर्ष कहकर दर्शनका महत्त्व कहा। यहाँ 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' और 'सार अलंकार' है।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० ***'कोउ कह दूषन रानिहि नाहिन।'*** ……… इति। भाव कि दोष कैसे दें, हमें तो उनकी बदौलत यह दर्शन मिले। मिलान कीजिये—***'जे कछु समाचार सुनि पावहिं। ते नृप रानिहि दोसु लगावहिं॥ कहहिं एक अति भल नरनाहू। दीन्ह हमहि जोइ लोचन लाहू॥'*** (१२२। २-३) हमें तो उनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिये, यह बड़ा उपकार उन्होंने हमारे साथ किया है।

टिप्पणी—२ ***'कहँ हम लोक बेद बिधि हीनी।'*** ……… इति। [(क) ***'लोक बेद बिधि हीनी'*** कहकर जनाया कि ये कोल-किरातादि अस्पृश्य जातिकी स्त्रियाँ हैं। यथा—***'लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइय सींचा॥'*** (१९४। ३) (प० प० प्र०)] (ख) ***'लघु तिय कुल'*** ……… अर्थात् हमारा कुल लघु और हम लघुकुलकी स्त्रियाँ हैं। इससे जनाया कि ब्राह्मणी आदि उच्चकुलकी नहीं हैं। करनी मलिन है। [कमाना-खाना शुद्धाचरण नहीं—(वै०) ***'कुल करतूति मलीनी'***—मिलान कीजिये—***'समुझि मोर करतूति कुल।'*** (१९५), ***'यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥ हम जड़ जीव जीव गन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥ पाप करत निसि बासर जाहीं। नहि पट कटि नहिं पेट अघाहीं॥ सपनेहु धरम बुद्धि कस काऊ।'*** (२५१। ३—६) यही कुल और करतूतकी मलिनता है। भाव कि न तो हम पूर्वके सुकृती हैं और न इस जन्ममें पुण्य कर रहे हैं। पूर्वके सुकृती नहीं हैं इसीसे ऐसे पापी कुलमें जन्म हुआ और अब भी हमारी पापमें ही प्रवृत्ति रहती है। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ ***'कहँ येह'*** अंगुल्या निर्देश है, उँगलीसे इशारा करके कहा। ***'पुन्य परिनाम'***=पुण्यकी परिपक्व अवस्था। यथा—***'ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जे देखे॥'*** (१२०। ८) ये बेचारी नहीं जानती हैं कि यह दर्शन श्रीसीतारामलक्ष्मणजीके दर्शनका फल है—***'तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा।'*** (२१०। ५) (यह भरद्वाजजीका वाक्य है)।

किसी-किसीने ***'पुन्य परिनामा'*** का यह अर्थ किया है कि यह हमारे पूर्व-पुण्योंका फल है। पर इस अर्थमें वह खूबी नहीं रह जाती जो उत्तरोत्तर अपकर्ष और 'बिधि दाहिन' की है। यह अर्थ असंगत-सा प्रतीत होता है। यहाँ प्रथम विषम अलंकार है।

नोट—२ (क) ***'अस अनंदु अचिरिजु'*** ……… इति। ***'अनंदु'*** का उपक्रम ***'देखि सरूप सनेह सब मुदित जनम फलु पाइ।'*** (२२१) है। परस्पर वार्ता करके दर्शनका आनन्द लूट रही हैं। ***'अचिरिजु'*** यह कि हमारे भाग्य कहाँ थे कि दर्शन होते सो घर बैठे दर्शन मिले; विधाता हमारे कैसे अनुकूल हो गये, इत्यादि, जो ***'कहँ हम लोक बेद बिधि हीनी'*** से ***'पुन्य परिनामा'*** तक कहा। यही ***'अचिरिजु'*** है। इसी तरह श्रीरामबटोहीके दर्शनसे ग्राम-ग्राममें आनन्द कहा है—***'गाँव गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल कैरव चंदू॥'*** (१२२।१) (ख) ***'जनु मरुभूमि कलपतरु जामा'*** अर्थात् असम्भव बात सम्भव हो गयी। मरुभूमिमें कोई वृक्ष नहीं लगता वहाँ वृक्ष लगे एक तो यही असम्भव और फिर कल्पवृक्ष जो देवलोकमें ही रहता है, पृथ्वीपर भी नहीं, वह यहाँ आकर लगे और किसी पुण्यभूमिमें भी नहीं वरन् मरुदेशकी भूमिमें परम आश्चर्य है! (पु० रा० कु०) भाव कि इनका दर्शन हमको अत्यन्त दुर्लभ था। यथा—***'हमहिं अगम अति दरस तुम्हारा। जसु मरु धरनि देवधुनि धारा॥'*** (२५०।७) यहाँ अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

टिप्पणी—४ पं० रा० कु०—*'भरत दरस देखत खुलेउ·······'* इति। *'दरस'*= स्वरूप। *'दरस देखत'*=दर्शन करते ही। यहाँ पुनरुक्ति नहीं है। भाव यह कि जहाँ किसी सामान्य तीर्थका भी दर्शन अप्राप्य है वहाँ ३½ करोड़ तीर्थोंके राजाका घर बैठे दर्शनका सुखपूर्वक लाभ हो तो आश्चर्य ही है। वैसे ही यमुनापारके लोगोंको सामान्य भक्तोंके ही दर्शन दुर्लभ थे सो उन्हें भक्त-शिरोमणि भरतजीके दर्शन हो गये कि जिनके दर्शनसे भरद्वाजमुनि और तीर्थराजतक अपनेको कृतार्थ मानते हैं।

पं०—इन लोगोंका संचित पुण्य तो बहुत बड़ा था परंतु कालकी गतिने उसे मुहरबन्द कर रखा था। श्रीरघुनाथजीके दर्शनसे वह कलीके समान खिला और श्रीभरतजीके दर्शनके प्रभावसे वह पूरा खुल गया। जैसे सिंहलद्वीपवासियोंका भाग्य अति दुर्लभ तीर्थराजके दैवयोगसे घरमें ही आ प्राप्त होनेसे उदित हो जावे।

नोट—३ *'सुलभ'* से दिखाया कि इनको बड़ा दुर्लभ था। दैवयोगसे ही दर्शन मिलते होंगे। गोस्वामीजीके समयमें रेल न थी। उस समयके अनुसार यह लिखा गया था। ऐसा कहा जा सकता है। पर यदि *'सुलभ'* से यह भाव लें कि घर बैठे प्राप्त हो गया तो अब भी यह उत्प्रेक्षा बिलकुल ठीक है। और यही भाव पं० रामकुमारजीने लिया है।

नोट—४ (क)—*'अस अनंद अचिरिजु'* ये कविके वचन हैं। अर्थात् स्त्रियाँ प्रत्येक ग्राममें इसी तरहकी बातें करती और आनन्दित होती हैं। पर प्रथम ही दोहा २२१ में *'मगवासी नर नारि सुनि'* ऐसा कहा था और यहाँ मनुष्योंकी चर्चा ही नहीं की गयी। अतएव अन्तमें *'मगलोगन्ह'* शब्द देकर सूचित कर दिया कि स्त्री-पुरुष सभीके भाग्य खुले। (ख)—*'मगलोगन्ह'* और *'प्रतिग्रामा'* एवं *'मगवासी नर नारि'* पदोंसे जनाया कि भरतजीका दर्शन बूढ़े-बच्चे सभीको हो रहा है। क्योंकि ये सबसे पीछे हैं, सेना आदिक लम्बी दूरतक आगे है। जबतक वह ग्रामके आगे बढ़े तबतक सभी पहुँच जाते थे। श्रीसीतारामलक्ष्मणजीके दर्शन सबको न हो पाते थे। बुड्ढे और बच्चे आदि जो पीछे पहुँचते थे उन्हें पछताना पड़ता था। यथा—*'अबला बालक बृद्धजन कर मीजहिं पछिताहिं।'* (१२१) और श्रीभरतदर्शनके लिये किसीको पछताना न पड़ा। (ग)—*'मगवासी·······देखि सरूप·······जनम फल पाई।'* (२२१) उपक्रम है और *'भरत दरस देखत खुलेउ मगलोगन्ह कर भाग'* उपसंहार है। भाग खुला अर्थात् जन्म सफल हुआ।

नोट—५ प्रयागकी उत्प्रेक्षा की गयी जो चारों पदार्थोंको देनेवाला है। इनके दर्शनसे चारों फलोंकी प्राप्ति जनायी।

पं०—प्रयाग तो त्रिवेणी है, यहाँ सादृश्य कैसे? उत्तर—दृष्टान्तका एक देश ग्राह्य है, किंवा प्रयाग पद एक है। २—त्रिवेणीकी समता भी बनती है। भरत श्याम यमुना, शत्रुघ्न गंगा और वसिष्ठ सरस्वती हैं। इनका दर्शन जो बड़े पुण्योंके उदयसे हुआ वही त्रिवेणी स्नान है। अथवा, ३—भरतदर्शनको रामचन्द्रादिके दर्शनका उपलक्षक जान लें तो श्रीरामचन्द्र-भरत यमुना, लक्ष्मण-शत्रुघ्न गंगा, सीताजी सरस्वती हैं।

बैजनाथजी यहाँ 'असिद्धविषयावस्तूत्प्रेक्षा' मानते हैं और वीरकवि 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' कहते हैं।

निज गुन सहित रामगुनगाथा। सुनत जाहिं सुमिरत रघुनाथा॥ १॥
तीरथ मुनि आश्रम सुरधामा। निरखि निमज्जहिं करहिं प्रनामा॥ २॥
मनहीं मन मागहिं बरु एहू। सीयराम पद पदुम सनेहू॥ ३॥
मिलहिं किरात कोल बनबासी। बैषानस बटु जती उदासी॥ ४॥
करि प्रनामु पूछहिं जेहि तेही। केहि बनु लषनु राम बैदेही॥ ५॥

शब्दार्थ—'**उदासी**'=विरक्त पुरुष, त्यागी, यथा—*'वह पथ जाय जो होय उदासी। योगी जती तपी संन्यासी॥'* (जायसी) ये संन्यासियोंके समान रहते हैं। पंजाबीजी लिखते हैं कि *'उदासी'* वे हैं जिनको संन्यासमें मुख्य अधिकार नहीं, जैसे क्षत्रिय आदि विरक्त।

अर्थ—अपने गुणसहित श्रीरामजीके गुणोंकी कथा सुनते और श्रीरघुनाथजीका स्मरण करते हुए भरतजी चले जा रहे हैं॥ १॥ वे तीर्थ देखकर स्नान और मुनियोंके आश्रमों और देवमन्दिरोंको देखकर प्रणाम करते हैं॥ २॥ मन-ही-मन यह वरदान माँगते हैं कि श्रीसीतारामजीके चरणकमलोंमें स्नेह हो॥ ३॥ किरात, कोल आदि वनवासी, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी, यती और उदासी मिलते हैं॥ ४॥ (उनमेंसे) जिस-तिससे प्रणाम करके पूछते हैं कि श्रीलक्ष्मण-राम-सीताजी किस वनमें हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ ***'निज गुन सहित राम गुनगाथा'*** इति। (क) ***'सहित'*** से अपना गुण गौण और रामगुण मुख्य जनाया। ***'निज'*** के साथ, एकवचन ***'गुन'*** दिया और श्रीरामजीके साथ ***'गुनगाथा'*** पद दिया। ***'गाथा'*** शब्द बहुवचनसूचक है। यहाँ ***'रामगुन गाथा'*** कही भी गयी है, यथा—***'कहि सप्रेम सब कथा प्रसंगू। जेहि बिधि रामराज रस भंगू॥'*** और फिर भरतजीके गुण कहकर, (यथा—***'भरतहि बहुरि सराहन लागी। सील सनेह सुभाय सुभागी॥' 'चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राज। जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आजु॥'*** (२२२) ***'भायप भगति भरत आचरनू।''''''''जो किछु कहब थोर सखि सोई॥')*** वे कहती हैं ***'रामबंधु अस काहे न होई।'*** इनकी बड़ाई भी की गयी और रामसम्बन्ध उसमें लगाया गया। अतः श्रीभरतजी उसे रामगुणगाथा ही मानते हैं।

(ख) ***'सुनत जाहिं सुमिरत''''''''*** '—सुनत और सुमिरत कहकर जनाया कि श्रवण, कीर्तन दोनों भक्तियाँ साथ-साथ करते जा रहे हैं। कथा सुनते हैं, नामका स्मरण करते हैं।

नोट—१ उत्तम लोग अपने गुण सुनते सकुचते हैं और भरतजी तो परम साधु हैं, यथा—***'तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू। रामचरन अनुराग अगाधू॥'*** (२०५। ७) (यह त्रिवेणी-वाक्य है।) तब ये क्यों सुनते हैं? उत्तर—भरतजीका हृदय ग्लानिसे पूर्ण है, वे समझते हैं कि सृष्टिभर हमको निकृष्ट कहता होगा। जब इनके मुखसे सुना कि ये धन्य हैं, रामभक्त हैं, तब यह समझते हैं कि रामजी तो सबके आत्मा हैं, जब ये ऐसा कहते हैं तो वे मुझे दास मानते होंगे और कृपा भी करते होंगे। यह समझकर रुचिपूर्वक सुनते हैं। (पं०) भरतजीके जो गुण वे कहते हैं वे श्रीरामजीके गुणानुवादसे मिश्रित हैं। वे भरतजीके सेवक भावकी प्रशंसा करते हैं, जिसमें प्रभु श्रीरामजीके कृपा, दया, वात्सल्य आदि गुण लक्षित होते हैं। भरतजी इस प्रशंसामें अपनी प्रशंसाका अनुभव नहीं कर रहे हैं, किंतु इसमें वे प्रभुके ही कृपा आदि गुणोंका अनुभव कर रहे हैं। अथवा यह समझकर अपना गुण भी सुनते हैं कि इसके द्वारा वे प्रभुका गुणानुवाद करते हैं, अर्थात् अपने गुणोंको श्रीरामगुणगाथाका अंग मानकर सुनते हैं, नहीं तो न सुनते। (पं०, पं० रा० कु०) ऊपर टि० १ (क) भी देखिये।

नोट—२ ***'तीरथ मुनि''''''''। ''''''''निमज्जहिं करहिं प्रनामा। मन ही मन माँगहिं बरु एहू। सीयराम पद पदुम सनेहू॥'*** इति। (क) यहाँ तीर्थस्नान, मुनियों तथा उनके आश्रमोंको प्रणाम, देवमन्दिरोंमें देवताओंको प्रणाम इत्यादि कई कर्मोंको करके उनका फल एकमात्र श्रीसीतारामजीके चरणकमलोंका अनुराग माँगनेका भाव यह है कि उन्होंने किसी धर्मका त्याग नहीं किया, केवल उन धर्मोंके फलोंका त्याग किया है। वे सब धर्म मानते और करते हैं, पर सब श्रीरामजीके लिये और श्रीरामजीकी आज्ञा समझकर। उन सब कर्मोंको करके वे केवल श्रीसीतारामचरणानुराग ही एकमात्र फल चाहते हैं, ऐसा करनेवालोंके मन-मन्दिरमें श्रीसीतारामजी बसते हैं। यथा—***'सबु करि माँगहिं एक फलु रामचरन रति होउ। तिन्हके मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥'*** (१२९) (वाल्मीकिजीका यह वाक्य यहाँ चरितार्थ हुआ।) (ख) 'मन-ही-मन' वर माँगनेका भाव कि—चलने और शीघ्र चित्रकूट पहुँचनेकी आतुरता है, इससे मनमें ही माँगते चले जाते हैं, रुकते नहीं। अथवा, देवता अन्तर्यामी हैं, वे मनकी जान लेंगे, यह समझकर मनमें ही माँगते हैं। अथवा, मनके विनीत भावका फल विशेष है, इससे मनमें ही माँगा। (पं०) अथवा, दूसरेके सुन लेनेसे फल जाता रहता है, गुप्त रीतिसे वर माँगना विशेष फलप्रद है। (रा० प्र०) स्मरण रहे कि जब त्रिवेणीपर स्नान करके वर माँगा था तब साथमें और मित्र आदि न थे, वे पहले ही पहुँचकर स्नान कर चुके थे, इससे

वहाँ प्रकट माँगा था और यहाँ *'सेवक सुहृद सचिव सुत'* आदि साथ पैदल चल रहे हैं, इससे अपने भावको गुप्त रखे हुए मनमें वर माँगते हैं।

वि० टी०—*'सातों स्वर सातों सर्ग सातों रसातल सिंधु सातों दीप सातों पुरी मुनि मनमें। चारों दिग चारों मुख चारों वेद चारों धाम 'लछिराम' चारों फल चारों जुग जन में॥ नवो रात्रि नवो देवि नवो रस नवो ग्रह नवो खंड नवो भक्ति भाग नौ रतन में। मालाकार मंगल असीसनकी कौंधि भरैं रामजानकीके चरणाम्बुज लषन में॥'* (७+९+४=२० चरणनख)

नोट—३ *'मिलहिं किरात……। बैषानस बटु जती उदासी'* इति।—यती उदासी तो एक हुए, क्योंकि वनवासीसे गृहस्थ कहा, फिर बैषानस बटु ये दो आश्रम कहे, अब एक आश्रम रह गया संन्यासी, सो 'यती' है। अतएव *'उदासी'* उसका विशेषण जान पड़ता है—'उदासीन वृत्तिवाले संन्यासी' अथवा, उदासीसे और भी विरक्त साधु इन तीनोंसे पृथक् जो मिलते हैं, उनको जनाया। (पु० रा० कु०) प्रज्ञानानन्द स्वामीजीका मत कि 'यहाँ 'यती=परमार्थसाधक गृही।' यथा—*'प्रमुदित तीरथराज निवासी। बैखानस बटु गृही उदासी॥'* (२०६। १) जीव तीन प्रकारके कहे गये हैं—*'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥'* उनमेंसे यहाँ केवल दो ही प्रकारके जीव हैं, विषयी यहाँ नहीं हैं—*'रघुनंदन दरस प्रभाऊ'* इसका कारण है।—यह भाव दिखानेके लिये यहाँ *'गृही'* के स्थानपर *'जती'* शब्द दिया गया। यती=प्रयत्न करनेवाला; यथा—'**ये निर्जितेन्द्रियग्रामा यतयो यतिनश्च ते**' इति। (अमरकोष)

नोट—४ *'करि प्रनामु पूछहिं जेहि तेही।……'* इति। (क) कोल, किरात, वनवासी आदि कोई भी हो उसे प्रणाम करके तब पूछते हैं, क्योंकि श्रीरामजी इसी मार्गसे गये हैं, ये सब श्रीरामदर्शनसे पावन और पूज्य हो गये हैं अथवा, ये सब तीर्थवासी हैं इससे पूजनीय हैं। (पं० रा० कु०) जिस किसीसे भी पूछना उनके प्रेमका आधिक्य सूचित करता है। (पं०) प्रियमिलनकी आतुरतामें ऐसा ही होता है, आदर देकर प्रणाम करके प्रेमसे पूछनेसे वे बतायेंगे भी जो कुछ भी जानते होंगे। कोल, किरातको प्रथम कहा, क्योंकि वनमें प्रायः ये ही विशेष मिलते थे। (ख) *'लषन राम बैदेही'*—लक्ष्मणजीको प्रथम कहनेका भाव यह है कि ये सेवामें रहते हैं, फल, फूल, जल आदि लेनेके लिये ये वनमें बराबर जाते होंगे। अतः इनको देखनेका विशेष अवसर मिला होगा अथवा, तीनोंका दुःख हृदयमें है, तीनोंका स्मरण करते हैं; वैसे ही तीनोंको एक साथ पूछते हैं।

ते प्रभु समाचार सब कहहीं। भरतहि देखि जनमफलु लहहीं॥ ६॥
जे जन कहहिं कुसल हम देखे। ते प्रिय राम लषन सम लेखे॥ ७॥
एहि बिधि बूझत सबहि सुबानी। सुनत राम बनबास कहानी॥ ८॥

दो०—तेहि बासर बसि प्रातहीं चले सुमिरि रघुनाथ।
रामदरस की लालसा भरत सरिस सब साथ॥ २२४॥

अर्थ—वे प्रभुका सब समाचार कहते हैं और भरतजीको देखकर जन्मका फल पाते हैं॥ ६॥ जो लोग कहते हैं कि हमने उन्हें कुशलपूर्वक देखा है, उनको वे श्रीराम-लक्ष्मणजीके समान प्यारा मानते हैं॥ ७॥ इस प्रकार सबसे सुन्दर वाणीसे पूछते हैं और श्रीरामचन्द्रजीके वनवासकी कहानी सुनते हैं॥ ८॥ उस दिन (बीचमें) ठहरकर प्रातःकाल ही श्रीरघुनाथजीका स्मरण करके चले, सब साथके लोगोंको भरतजीकी-सी लालसा श्रीरामदर्शनकी (और वैसी ही विह्वल दशा) है॥ २२४॥

नोट—*'ते प्रभु समाचार सब कहहीं।…'* इति। (गी० २। ६८) यथा—*'बूझत चित्रकूट कहँ जेहि तेहि मुनि बालकनि बतायो। तुलसी मनहुँ फनिक मनि ढूँढ़त निरखि हरषि हिय धायो॥*

पु० रा० कु० १—*'ते प्रिय राम लषन सम लेखे'* इति।—भरतजीको देखकर जन्मफल पाते, क्योंकि यद्यपि ये गृहस्थाश्रममें हैं पर भक्तिसे युक्त हैं। कैसी भक्ति है, वह भी देखिये कि जो कहते हैं कि हमने देखा है,

कुशल हैं, वे श्रीरामलक्ष्मणके समान प्रिय लगते हैं। जो अवस्थामें अधिक हैं, एवं जो वानप्रस्थ, बटु और यती, उदासी हैं, वे रामसम और छोटे एवं कोल-भील आदि लक्ष्मणसम प्रिय हैं। २—*'बूझत सबहि सन'* प्रेमकी अधिकता जनाता है। *'कहानी'*—*'लषन राम सिय पंथ कहानी।'* (२१६। ६) देखिये। ३—[*'सुमिरि रघुनाथ'* इति *'रघुनाथ'* शब्द देकर जनाया कि श्रीभरतजी श्रीरामजीको रघुवीर, रघुबर, रघुराज, रघुपति, रघुनाथ मानते हैं, उन्हींको राजा मानते हैं, अपनेको नहीं; और उनके वियोगमें अपनेको तथा सबको अनाथ समझते हैं। (प० प० प्र०)] ४—*'भरत सरिस सब साथ'* से जनाया कि जैसी उनकी दशा है वैसी ही सबकी हो रही है।

मंगल सगुन होहिं सब काहू। फरकहिं सुखद बिलोचन बाहू॥ १॥
भरतहि सहित समाज उछाहू। मिलिहहिं रामु मिटिहि दुख दाहू॥ २॥
करत मनोरथ जस जिय जाकें। जाँहि सनेह सुरा सब छाकें॥ ३॥
सिथिल अंग पग मग डगि डोलहिं। बिहबल बचन पेम बस बोलहिं॥ ४॥

शब्दार्थ—'**डगि डोलहिं**'='डगडोलना'=डगमगाना, लड़खड़ाना, हिलना, काँपना। डगना और डोलना पर्यायवाची हैं, दोनोंका अर्थ 'हिलना, खसकना, जगह छोड़ना' है। पुन: 'डगना'=चूकना, भूल करना। '**छाकें**'= नशेमें चूर, मस्त, शराब आदि पीकर मस्त, मतवाले—*'सुखके निधान पाए, हियके पिधान लाये, ठग के से लाडू खाये प्रेम मधु छाके हैं।'* (गी० १। ६४)

अर्थ—सबको मंगल शकुन हो रहे हैं, सुख देनेवाले नेत्र और भुजाएँ (अर्थात् स्त्रियोंके वामनेत्र और बाहु एवं पुरुषोंके दाहिने) फड़क रही हैं॥ १॥ समाजसहित भरतजीको उत्साह हो रहा है कि श्रीरामजी अवश्य मिलेंगे और दु:ख तथा (जीका) संताप (वा, दु:खका दाह) मिटेगा॥ २॥ जिसके जीमें जैसा भाव है वह वैसा ही मनोरथ करता है। सब स्नेहरूपी मदिरासे छके हुए (मतवालेकी तरह) चले जा रहे हैं॥ ३॥ (सबके) अंग शिथिल हैं, रास्तेमें पैर डगमगाते हैं, सब प्रेमवश विह्वल वचन बोल रहे हैं॥ ४॥

नोट—*'जाहिं सनेह सुरा सब छाकें।'* इति।—यहाँ सम अभेद रूपक है। यहाँ स्नेहका मदिरासे रूपक बाँधकर फिर मदिराके नशेका स्वरूप कहते हैं—*'सिथिल अंग·······'।* मतवालेके अंग ढीले पड़ जाते हैं, चलनेमें पैर लड़खड़ाते हैं, मुँहसे शब्द ठीक नहीं निकलते इत्यादि। वही हाल इन लोगोंका है। *'सनेह सुधा'* पाठ जिन लोगोंने कर लिया है वह गलत है, उसका यहाँ रूपक नहीं है और न यह दशा अमृतपानकी होती है। शराबियोंके मनमें मनोरथ भी खूब उठते हैं। *'जस जिय जाकें'*—अर्थात् शृंगार, वात्सल्य, सख्य आदि जैसा भाव मनमें है, उसीके अनुकूल मनोरथ हो रहे हैं। हम प्रभुसे इस तरह मिलेंगे, इस तरह बोलेंगे इत्यादि।

गौड़जी—आखिरी मंजिल है। इसीको तय करके भगवद्दर्शन होने हैं। इसीलिये मंगल शकुन हो रहे हैं। आज मन्दाकिनीतीर पहुँच जायँगे। जब श्रीरघुनाथजीका आश्रम पाँच-छ: कोस रह गया था, दिन ढल रहा था तभी कामद गिरिके शिखर दीखने लगे। निषादने दिखाया तो लोग प्रेमसे विह्वल हो गये। थके भी हैं तो भी चले जा रहे हैं। मन्दाकिनीतीर पहुँचनेमें दो कोस और बाकी थे कि सूर्यास्त हो गया। लोग थके थे तो भी रुके नहीं, सीधे चले गये। मन्दाकिनीतीर पहुँचकर ही दम लिया।

रामसखा तेहि समय देखावा। सैलसिरोमनि सहज सुहावा॥ ५॥
जासु समीप सरित पय तीरा। सीय समेत बसहिं दोउ बीरा॥ ६॥
देखि करहिं सब दंड प्रनामा। कहि जय जानकिजीवन रामा॥ ७॥
प्रेम मगन अस राज समाजू। जनु फिरि अवध चले रघुराजू॥ ८॥

दो०—भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि सकइ न सेषु।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुखु अह मम मलिन जनेषु॥ २२५॥

शब्दार्थ—'**सरिता पय**'=पयस्विनी गंगा नदी। '**बीरा**'=भाई, भ्राता, यथा—*'सबै ब्रज है यमुना के तीर। काली*

नाग के फनपर निर्तत संकर्षणको बीर'—(सूर), ***'चिरजीवो जोरी जुरे क्यों न सनेह गभीर। को घटि ये बृषभानुजा वे हलधरके बीर'***—(बिहारी), ***'बीतें अवधि जाउँ जौं जियत न पावउँ बीर'***— (लं० ११५)।= योधा। '**फिरि**'=लौटकर। '**अह मम**'=अहंकार और ममता, मैं और मेरा। '**जनेषु**'=जनेश=मनुष्योंका स्वामी= राजा। यथा—***'जेहि जनेसु देइ जुबराजू।'*** (१४। २) (शीला)।=जनों वा लोगोंमें। (गौड़जीका टिप्पण देखिये) '**अगम**'=जहाँ गुजर भी न हो सके, पहुँचके बाहर, कठिन, दुर्लभ।

अर्थ—श्रीरामसखा निषादराजने उसी समय सहज ही सुहावना सुन्दर पर्वतशिरोमणि (कामदगिरि) उनको दिखाया॥ ५॥ जिसके निकट ही पयस्विनी नदीके तटपर श्रीसीतासहित दोनों वीर भाई निवास करते हैं॥ ६॥ सब लोग दर्शन करके 'जय श्रीजानकीजीवन रामचन्द्रजीकी' ऐसा कहकर दण्डवत् (साष्टांग) प्रणाम करते हैं॥ ७॥ राजसमाज प्रेममें ऐसा मग्न है मानो रघुराजरामचन्द्रजी लौटकर अवधको चले हों॥ ८॥ भरतजीमें जैसा प्रेम उस समय हुआ वैसा शेषजी भी नहीं कह सकते और मुझ कविको तो वह ऐसा अगम है जैसा अहंता, ममतासे मलिन मनुष्योंको ब्रह्मानन्द॥ २२५॥*

नोट—१ ***'रामसखा तेहि समय देखावा।'''''''*** ' इति। (क) सब स्नेहसुरामें मस्त हैं, आगे नहीं चल सकते। तब निषादराजने उस मदको उतारनेके लिये चित्रकूटका दर्शन कराया जिसमें किसी प्रकार वहाँ पहुँचें। (मा० म०) (ख) प्रेम अत्यन्त हुआ तब दर्शन हुआ और सुख भी वैसा ही हुआ ***'जनु फिरि चले''''''''*** '। 'शैल शिरोमणि'—यह पर्वत श्रीरामजीके निवाससे 'शिरोमणि' हुआ। वाल्मीकिजीने जो ***'सैल सुहावन कानन चारू।'*** (१३२। ४) कहकर ***'राम देहु गौरव गिरिबरहू।'*** (१२२। ८) कहा था, उसको यहाँ चरितार्थ किया। यहाँ ***'सैल सुहावन' 'सैलसिरोमनि सहज सुहावा'*** हो गया, 'शिरोमणि' और 'सहज' दो विशेषण बढ़ गये। यही है ***'श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई'*** और 'गौरव' जो श्रीरामजीके निवाससे उसको मिला। (पु० रा० कु०)

नोट—२ ***'बीरा'***—वनमें वीर ही बस सकते हैं। ***'जनु फिरि अवध चले रघुराजू'*** में ***'रघुराजू'*** पद देकर जनाया कि मानो राज्यतिलक भी करा लिया—***'बनहिं देव मुनि रामहिं राजू'*** यह जो भरतजीने अवधमें निश्चय किया था वह मानो हो गया और ***'आवहिं बहुरि अवध रघुराई'*** यह जो श्रीभरतजीने अवधमें दरबारके सभासदोंसे आशीर्वाद माँगा था, यथा—***'तुम्ह पैं पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥'*** (१८३। ७) वह भी मानो हो गया—यह तो सब समाजकी प्रेमदशा कही। इनसे पृथक् भरतजीकी दशाके विषयमें दोहेमें कहते हैं कि इनकी तो उत्प्रेक्षा की गयी, पर भरतप्रेमकी उत्प्रेक्षा भी नहीं की जा सकती; क्योंकि वहाँतक बुद्धिकी पहुँच नहीं है, वह प्रेम प्रकृतिसे बाहर है। (पु० रा० कु०)

'कबिहि अगम जिमि''''''अह मम मलिन जनेषु।'

गौड़जी—यहाँ ***'जनेषु'*** को संस्कृतका तत्सम ***'जन'*** शब्दके बहुवचन सप्तमीका रूप मानना चाहिये। मूर्द्धन्य 'ष' कार, जिसे मानसमें 'ख' बोलते हैं ***'सेषु'*** और ***'जनेषु'*** दोनोंमें है, और शुद्ध है। ***'अह मम मलिन जनेषु'*** मैं-मेरा आदि अहंकार और ममताके भावसे जिन साधारण लोगोंका मलिन है, उनके हृदयमें जैसे ब्रह्मसुख अगम है, नहीं अनुभूत हो सकता, यथा—***'तुलसीदास मैं मोर गएँ बिनु जिव सुख कबहुँ न पावै।'*** (वि० १२०), उसी तरह कविके मलिनता भरे अस्वच्छ हृदयमें भरतके प्रेमकी पवित्र कल्पना पैठ नहीं सकती। शेष भगवान्के पवित्र हृदयमें, लक्ष्मणके पवित्र हृदयमें तो आ सकती है, रह सकती है, परंतु वह इतनेपर भी अनुभव रखते भी सहस्रमुख होते हुए कह नहीं सकते, तब कवि जिसकी कल्पनासे भी वह अनुभव दूर है, वह सोच-समझ ही नहीं सकता तो कहेगा क्या?

प० प० प्र०—***अह मम मलिन***=मैं और मोर अर्थात् मायासे ***मलिन***=मायावश। ***'मायाबस्य जीव अभिमानी'*** लोग।

बै०—(१) ***'कहि सकइ न सेषु'*** इसे उपमामात्र ही न जानिये। आगे इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। देखिये लक्ष्मणजी क्या कहते हैं—***'कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी।'''''''*** ' इत्यादि। यथार्थकी कौन कहे। उन्होंने तो

* अर्थान्तर—'कवि तो अहंममसे मलिन मनुष्योंका राजा है, उसके लिये तो ब्रह्मसुख समान अगम है—(शीला)।'

उनके प्रेमके प्रतिकूल वचन कहे। अतः ***'कहि सकइ न सेषु'*** यथार्थ ही है। (२) ***'अह मम मलिन जनेषु'*** इति।—'अहं मम ग्रस्त हैं, मैं और मेरा यह अहंकार है। मैं ऐसा राजा, मैं ऐसा धनी, मैं ऐसा कुलीन, मैं ऐसा विद्वान् इत्यादि हूँ कि किसी बातमें मेरी समताका कोई नहीं। यह मेरा है, वह मेरा है, ऐसा ममत्व सब पदार्थोंमें है। इससे जिन लोगोंका मन मलिन (मैला, अपवित्र) हो गया है उनको ब्रह्मसुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती, वहाँतक उनकी पहुँच नहीं हो सकती।'

टिप्पणी १ पु० रा० कु०—अहंकार ममकारसे ग्रसित मलिन लोगोंको ब्रह्मसुख अगम है, वैसे ही कविको कविपदकी आड़ है, छन्द, प्रबन्ध, भावार्थ, शब्द, पदार्थ, उपमेय-उपमान आदिमें उसका मन लीन रहता है, वह भरतका प्रेम कैसे जाने और जब जानता नहीं तो कहे कैसे? आगे श्रीभरतजीके प्रेमकी अगमता इस प्रकार कही है—***'अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधिहरिहर को।'*** (२४१। ५) यहाँ भरत-ब्रह्म भरतप्रेम-ब्रह्मसुख और कवि मलिन जन परस्पर उपमेय-उपमान हैं। ***'अह'***=अहमिति, एक मैं ही हूँ '**द्वितीयो नास्ति**' दूसरा नहीं है ऐसे अहंकारसे युक्त।

टिप्पणी—२ आगे चलकर भरतजीके प्रेममें लक्ष्मणजीको भ्रम कहेंगे, इसीसे उपक्रममें यहाँ शेषका भ्रम कहा। [खर्रा—यहाँ कवि शेष हैं, यथा—'**कवयः शेषादयः**' और शेष लक्ष्मण हैं।']

बाबा हरिदासजी—भाव कि 'कवि तो सब कुछ कहता है पर ब्रह्मसुखका वर्णन उसे भी अगम है। और मैं तो मलिन जनोंका राजा हूँ, कैसे कह सकता हूँ।'

मयंक—***'काव्यरसिक रंचक न लह रंचक जाने शेष। सोऊ मनहीं माँझ रह वाणी चढ़े न लेष'॥*** अर्थात् कविताके रसिक तो कुछ भी नहीं जानते, शेषजी कुछ जानते हैं सो वह भी उनके मनका ही विषय है, न तो वाणीसे प्रकट हो सकता है, न लेखबद्ध हो सकता है। तब मैं कैसे कह सकूँ।

वि० त्रि०—सब राजसमाज प्रेममें डूबाडूब है, किसीको अपनी सुधि नहीं है, श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि इस भाँति मैंने राजसमाजके सुखका तो वर्णन कर दिया, पर उस समयके भरतजीके प्रेमका तो शेषजी भी वर्णन नहीं कर सकते, भले ही मन-ही-मन वे अनुभव करते हों, परंतु वह प्रेम कवि (मुझ) को अगम है, वहाँ मनकी पहुँच ही नहीं, जैसे अहंता-ममतासे मलिन लोगोंमें ब्रह्मानन्द अगम वस्तु है। उन लोगोंमें ब्रह्मानन्दकी भावना ही सम्भव नहीं। यहाँ नहीं कह सकते ***'कहि सकइ न'*** पर बल देकर कविने सब कुछ कह डाला।

सकल सनेह सिथिल रघुबर कें। गये कोस दुइ दिनकर ढरकें॥ १॥
जलु थलु देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवनु रघुनाथ पिरीते॥ २॥
उहाँ रामु रजनी अवसेषा। जागें सीय सपन अस देखा॥ ३॥
सहित समाज भरत जनु आए। नाथ बियोग ताप तन ताए॥ ४॥
सकल मलिन मन दीन दुखारीं। देखीं सासु आन अनुहारीं॥ ५॥

शब्दार्थ—**ढरकें**—ढरकना=किसी द्रवपदार्थ (पानी आदि) का नीचे गिर पड़ना, ढलना, नीचेकी ओर जाना। दिन ढरकना=सूर्यास्त होना। **दिनकर ढरकें**=सूर्य डूबे। **अवसेषा** (अवशेष)=बचा हुआ, शेष, अन्त, समाप्ति। **पिरीते**=प्यारे। ***'रजनी अवसेषा'*** कुछ रात रहते, रात्रिके अन्त-समय। **ताए**=ताव खाये हुए, तपे हुए; संतप्त। **ताप**=आँच, मानसिक कष्ट। **अनुहारीं**=चेहरा, आकृति, रूप, प्रकार।—***'भालतिलक सर सोहत भौंह कमान। मुख अनुहरिया केवल चंद समान॥' 'ज्यों मुख मुकुर बिलोकिए चित न रहै अनुहारि। त्यों सेवतहु निरापने मातु पिता सुत नारि'***—(विनय०)।

अर्थ—सब लोग रघुबर श्रीरामजीके प्रेमके कारण शिथिल हैं, (इसीसे) सूर्य डूबनेतक दो ही कोस चल पाये (अर्थात् दो ही कोस गये कि सूर्य डूबने लगे) वा, सूर्यास्त होनेपर भी दो कोस और चले॥ १॥ तब जल और टिकनेके स्थल (का सुपास) देखकर ठहर गये और रात बीतते ही श्रीरघुनाथजीके प्यारे (भरतजी)

वहाँसे चल दिये॥ २॥ वहाँ (उधर) श्रीरामचन्द्रजी रात रहे जागे, (एवं सीताजी भी जगीं और रात रहते ही उठनेके पूर्व) श्रीसीताजीने ऐसा स्वप्न देखा (जिसे वे प्रियतमको सुनाती हैं)॥ ३॥ मानो समाजसहित भरतजी आये हैं। प्रभुके वियोगाग्निकी तपनसे उनका शरीर संतप्त हो रहा है॥ ४॥ सब लोग मनमें उदास, दीन और दुःखी हैं। सासुओंकी और ही आकृति (वा रूपमें) देखी। अर्थात् सौभाग्यहीन विधवारूपमें देखा॥ ५॥

गौड़जी—भगवद्दर्शनकी अपार उत्कण्ठा है। इतना पैदल चलते-चलते थक गये हैं, पर शिथिल होते हुए भी दिन ढरक जानेपर भी बराबर चले गये। दो कोस और चलकर मन्दाकिनीके किनारे जल-स्थल देख, बिना खाये-पिये किसी तरह रात काट दी। सबेरे मन्दाकिनीमें नहाकर भरतजीने वहीं सबको छोड़ दिया और बड़ोंकी आज्ञा ले दोनों भाई निषादके साथ श्रीरघुनाथजीके पास चले। यमुनाजीसे दो मंजिलसे कुछ अधिक ही चलना था। अतः दूसरे दिन सूरज छिपे पर भी दो कोस चलकर मन्दाकिनीपर पहुँचकर ही दम लिया। भोजनादिकी परवा नहीं की। दर्शनकी उत्कण्ठासे थके होनेपर भी ज्यादा चले। [नोट—यही मत पंजाबीजीका है। पूर्व २२५ (१—४) में गौड़जीका टिप्पण इसके समर्थनमें देखिये।] श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामी गौड़जीसे सहमत होते हुए लिखते हैं कि यही अर्थ उचित है, क्योंकि इस अर्थमें अनेक शब्दोंको अध्याहृत करना नहीं पड़ता और 'गये' के 'ये' पर अनुस्वार भी नहीं है। इस अर्थमें मिलनकी उत्कण्ठा भी प्रतीत होती है। दूसरे अर्थमें ***'सकल सनेह'''''' कें'*** के साथ है, क्रिया-पद और ***'गये कोस दुइ'*** के अनन्तर 'तब' को अध्याहृत लेना पड़ेगा। भाव-लघुता दोष भी होगा। इसी तरह ***'निसि बीते'*** को दीपदेहली मानकर अर्थ करना चाहिये। ***'जलु थलु देखि बसे निसि'*** अँधेरा हो जानेपर जल-थल देखकर बसे और ***'निसि बीते कीन्ह गवनु।'*** इसीसे कन्द-मूल-फलादिके पानेका उल्लेख भी नहीं है। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—***'गये कोस दुइ''''''।'*** अर्थात् चले दिनभर, पर दो ही कोस चल पाये। कारण पूर्वार्द्धमें दिया। पूर्व जो ***'जाहिं सनेह सुरा सब छाके। सिथिल अंग पग मग डगि डोलहिं॥ बिहवल बचन पेम बस बोलहिं॥'*** (२२५। ३-४) यह कह आये हैं। वही यहाँ ***'सनेह सिथिल'*** से कहा है।

टिप्पणी—२ ***'जलु थलु देखि'*** से यह भी जनाया कि भोजन भी न किया। (रा० प्र० का मत है कि तीर्थमें पहुँचकर पूर्व दिन उपवास चाहिये। अतः भोजन न किया।)

टिप्पणी—३ ***'रघुनाथ पिरीते'*** का भाव कि जो रघुनाथजीके प्यारे हैं, यथा—***'हा रघुनंदन प्रान पिरीते'*** में ***'प्रान पिरीते'***=प्राणके प्यारे। पुनः, जिनको रघुनाथ प्रिय हैं एवं रघुनाथजीके प्रीत्यर्थ गमन किया।

नोट—१ ***'उहाँ रामु रजनी अवसेषा।'''*** इति। (क) कविके ***'इहाँ' 'उहाँ'*** का प्रयोग बड़ा साभिप्राय है। इन शब्दोंद्वारा वे जनाते हैं कि हम किसके साथ हैं। ***'उहाँ'*** पदसे जनाया कि हम भागवत-शिरोमणिके साथ थे और साथ ही ठहरे हैं और अब यहींसे वहाँ चित्रकूट पर्णकुटीके समाचार कहते हैं। सुन्दर और लंकामें इन शब्दोंका प्रयोग बहुत है। (ख)—कविने श्रीसीताराम-लक्ष्मणजीका पर्णकुटीमें निवास कहकर वहाँकी कथाको ***'एहि बिधि प्रभु बन बसहिं सुखारी। खग मृग सुर तापस हितकारी॥'*** (१४२। ३) पर छोड़ा था और फिर ***'सुनहु सुमंत्र अवध जिमि आवा'*** से यहाँतक सुमन्त्रका लौटना, राजाकी मृत्यु, भरतागमन और चित्रकूट-प्रस्थान एवं यहाँतक पहुँचना कहकर अब फिर जहाँ श्रीरामजीको पर्णकुटीमें छोड़ा था वहीं चले, वहाँकी कुछ कथा उठायी जो बहुत सूक्ष्म है। केवल श्रीजानकीजीका स्वप्न और लक्ष्मणजीके कुछ विचारों तथा देवताओं एवं श्रीरामद्वारा श्रीभरतजीकी प्रशंसा लिखकर जो केवल सात दोहेमें है, फिर इसी (भरत) प्रसंगको ही कहना है; अतएव उस थोड़ेसे प्रसंगको बीचमें लिखनेके कारण उसको ***'उहाँ'*** से आरम्भ किया।—***'उहाँ राम''''''।'*** (ग) ***'रजनी अवसेषा'***—यह सदा उठनेका समय है। चार-पाँच दंड रात रहे, प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उठा करते हैं वैसे ही यहाँ। यथा—***'प्रात पुनीत काल प्रभु जागे। अरुनचूड़ बर बोलन लागे॥'*** (१। ३५८। ५)

नोट—२ (क) ***'सीय सपन अस देखा।'*** जगज्जननी हैं, ये न स्वप्न देखें तो और कौन देखे? माताकी सुरति पुत्रमें लगी ही रहती है। श्रीजानकीजी चिद्रूपा ब्रह्मस्वरूपा हैं, उनको स्वप्न कहाँ? 'वे सब कुछ निरावरण देखती जानती हैं। माधुर्यमें स्वप्न देखना कहा है। (ख) ***'नाथ बियोग'*** अर्थात् ममनाथ, भरतनाथ

एवं हे नाथ! आपके वियोगमें ***'सकल'*** अर्थात् मनुष्य एवं पशु। ***दीन***=असमर्थ। ***'आन अनुहारीं'***—जैसी छोड़ आयी थीं वैसी नहीं वरन् वैधव्यको प्राप्त, भूषणहीन, सावित्री-शृंगाररहित। ☞ कवि नृपमृत्यु आदिकी बात अभी खोलना नहीं चाहते, क्योंकि अभी वह गुप्त है, माधुर्यमें अभी श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीको मालूम नहीं है। पिताका मरण प्रथम-प्रथम वसिष्ठजीसे मालूम होगा, तब विलापादि भी होगा। इसीसे स्वप्नमें भी मृत्यु और वैधव्यकी बात नहीं कही, ***'आन अनुहारीं'*** कहा।

नोट—३ यह स्वप्न वाल्मीकीय और अध्यात्ममें नहीं है।* जामदारजी लिखते हैं कि 'यह कवि-कल्पना ही जान पड़ती है। लक्ष्मणजीके कोपकी वह प्रस्तावना-सी होनेके कारण उसकी उपयुक्तता स्पष्ट ही दिखाती है। कविके ऐसे स्वप्नोंको कौन महत्त्व न देवेगा।' इसपर स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि जो कथाएँ वाल्मी० या अ० रा० में नहीं हैं उनको कवि-कल्पना मानना भ्रम है। ऐसा कहनेका अधिकार उसी व्यक्तिका हो सकता है जिसने गोस्वामीजीके समयमें उपलब्ध सभी संस्कृत, इतिहास, पुराण स्मृति, संहिता और नब्बेसे अधिक संस्कृत रामायणों तथा अन्य सब साहित्यका परिशीलन करके मानससे मिलान किया हो। गोस्वामीजीकी हस्तलिखित मानसकी एक प्रति भी जब आज उपलब्ध नहीं है तब अन्य उपर्युक्त ग्रन्थोंकी तो चर्चा ही क्या है!

नोट—४ आजतक भरतजीके नौ मुकाम हुए।

सुनि सिय सपन भरे जल लोचन। भये सोच बस सोच बिमोचन॥ ६॥
लषन सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाह सुनाइहि कोई॥ ७॥
अस कहि बंधु समेत नहाने। पूजि पुरारि साधु सनमाने॥ ८॥

शब्दार्थ—**कुचाह**=अमंगल, अशुभ बात, यथा—***'जातुधानतिय जानि बियोगिनि दुखई सीय सुनाइ कुचाहैं।'*** (गी० ७। १३) यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है। **चाह**=खबर, समाचार, यथा—***'राव रंक जहँ लग सब जाती। सबकी चाह लेइ दिन राती॥'***—(जायसी), ***'पुर घरघर आनंद महा सुनि चाह सुहाई।'***

अर्थ—श्रीसीताजीका यह स्वप्न सुनकर नेत्रोंमें जल भर आया और संसारको शोचसे छुड़ानेवाले प्रभु भी शोचके वश हो गये॥ ६॥ (और लक्ष्मणजीसे बोले—) लक्ष्मण! यह स्वप्न अच्छा नहीं होगा। कोई बहुत ही अशुभ बात सुनायेगा॥ ७॥ ऐसा कहकर भाईसहित (उन्होंने) स्नान किया और त्रिपुरके शत्रु महादेवजीका पूजन करके साधुओंका सम्मान किया॥ ८॥

नोट—१ ***'भये सोच बस'*** यह माधुर्य है, इसमें लोग भूल न जायँ; अत: ***'सोच बिमोचन'*** पद तुरंत ही दिया। इन्हें सोच कहाँ! यह तो नरनाट्य है। माधुर्यमें लीलाहेतु चिन्ता होना कहा। ऐसे ही मारीचवधके पश्चात् सीताजीको अकेली छोड़कर लक्ष्मणजीके आनेपर ***'बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी।'*** (३। ३०। १) कहा है। ***'बाहिज'*** में चिन्तारूपी दोषका परिहार है।

नोट—२ (क) ***'कठिन कुचाह सुनाइहि कोई'*** इति। काशीमें ***'चाह'*** मृत्यु या गमीको कहते हैं और यहाँ भी मृत्युकी खबर मिलेगी; इसीसे गमीसूचक पद दिया। (ख) ***'बंधु समेत नहाने'*** से नित्यप्रति स्नानकी विधि दिखायी। सदा साथ नहाते हैं। (पु० रा० कु०)

नोट—३ ***'पूजि पुरारि साधु सनमाने'*** इति (क) दु:स्वप्नके उत्पातकी शान्तिके लिये शिव-अभिषेक और साधुसम्मान किया। जैसे भरतजीका भयानक स्वप्न देखनेपर ***'बिप्र जेंवाइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना॥ मागहिं हृदय महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥'*** (१५७। ७-८) ऐसा करना कहा था। (ख) ***'पूजि पुरारि'***—त्रिपुरके घातक हैं, इनके आगे कोई भी विघ्न भला कब ठहरेगा। सब विघ्नोंका नाश करनेका सामर्थ्य दिखानेके लिये 'त्रिपुरारि' नाम दिया।

---

* वसिष्ठसंहितामें इससे मिलते-जुलते ये श्लोक पाये जाते हैं—'ददर्श जानकी स्वप्नं निशान्ते भरत: प्रिय:। आगतो रामविरहतापतप्ततनुं महत्॥ समाजसहित: श्वश्रूगणमत्यन्तदु:खितम्॥'—(र० ब०)। पर हमको संदेह है कि ये श्लोक व० सं० में हैं या नहीं। र० व० वाली टीकामें कोई ८० प्रतिशत श्लोक गढ़े हुए हैं।

छं०—सनमानि सुर मुनि बंदि बैठे उतर दिसि देखत भये।
नभ धूरि खग मृग भूरि भागे बिकल प्रभु आश्रम गये॥
तुलसी उठे अवलोकि कारनु काह चित सचकित[1] रहे।
सब समाचार किरात कोलन्हि आइ तेहि अवसर कहे॥

दो०—सुनत सुमंगल बैन मन प्रमोद तन पुलक भर।
सरद सरोरुह नैन तुलसी भरे सनेह जल॥ २२६॥

शब्दार्थ—**सचकित**-आश्चर्यान्वित, विस्मित, हक्का-बक्का, दंग, चकपकाया, हैरान। **भर**=पूर्ण।

अर्थ—देवताओंका सम्मान और मुनियोंकी वन्दना करके बैठे और उत्तर दिशाकी ओर देखने लगे। आकाशमें धूल है, पक्षी-पशुसमूह व्याकुल होकर भागे और घबराये हुए प्रभुके आश्रममें गये। तुलसीदासजी कहते हैं कि यह देखकर प्रभु उठ खड़े हुए (और विचार करने लगे) कि क्या कारण है? आश्चर्यान्वितचित्त हो गये[2]। उसी समय कोल-भीलोंने आकर सब समाचार कह सुनाया। तुलसीदासजी कहते हैं कि सुन्दर मंगल वचन सुनते ही उनके मनमें बड़ा ही आनन्द हुआ, शरीरमें पुलकावली छा गयी और शरद्-ऋतुके कमलके समान नेत्र प्रेमाश्रुसे भर गये॥ २२६॥

पु० रा० कु०—१ (क) ***'उतर दिसि देखत भये'*** इति। ***'चले हृदय अवधहि सिरु नाई।'*** (८३। २) जबसे अवधको प्रणाम किया तबसे आज उत्तर दिशाकी ओर ताका, नहीं तो अबतक कभी उधर दृष्टि भी न की थी। (उसी दिशाकी ओर देखा, क्योंकि श्रीसीताजीने स्वप्न देखा था कि ***'सहित समाज भरत जनु आए। नाथ बियोग ताप तन ताए॥'***, अतः बैठे तो स्वाभाविक ही उधर दृष्टि गयी कि सत्य ही भरतजी आ तो नहीं रहे हैं। दृष्टि डालते ही धूलि आकाशमें दिखायी दी।)

नोट—१ (क) ***'नभ धूरि खगमृग भूरि भागे बिकल'*** इति। वाल्मीकीयमें श्रीरामजी श्रीजानकीजीको चित्रकूट पर्वत तथा मन्दाकिनीकी रमणीयता दिखाकर उनको प्रसन्न करते हुए उनके साथ बैठे हुए थे। उसी समय आकाशमें धूल और उद्विग्न यूथपति हाथी, मृग, भैंसे आदि भागते हुए दिखायी पड़े—**'सैन्यरेणुश्च शब्दश्च प्रादुरास्तां नभस्पृशौ।'** (२। ९६। ३) **'गजयूथानि वारण्ये महिषा वा महावने। वित्रासिता मृगाः सिंहैः सहसा प्रद्रुता दिशः॥'** (८) (ख) ***'कारनु काह'***—क्या कोई राजा या राजपुत्र इस वनमें आखेट करनेके लिये आया है? अथवा, अन्य कोई जंगली हिंस्र पशु भ्रमण कर रहा है? इस पर्वतपर तो पक्षियोंका भी आना कठिन है।—**'राजा वा राजपुत्रो वा मृगयामटते वने। अन्यद्वा श्वापदं किंचित्सौमित्रे ज्ञातुमर्हसि॥ ९॥ सुदुश्चरो गिरिश्चायं पक्षिणामपि लक्ष्मण।'** ☞ यह जो वाल्मीकीयमें उन्होंने लक्ष्मणजीसे पता लगानेको कहा है वही यहाँके ***'कारनु काह चित सचकित रहे'*** से सूचित किया है।

नोट—२ (क) भरतजीकी सेना इतनी भारी थी कि पशु-पक्षी, हाथी, भालू सभी उससे भयभीत होकर वनों-पर्वतों और नदियोंमें भागकर जा छिपे। यथा—**'सा सम्प्रहृष्टद्विपवाजियूथा वित्रासयन्ती मृगपक्षिसंघान्।'** (वाल्मी० २। ९२। ४०) **'तया महत्या यायिन्या ध्वजिन्या वनवासिनः। अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाः सम्प्रदुद्रुवुः॥** (९३। १)...' (ख) ***'प्रभु आश्रम गये'***। [***'प्रभु'*** शब्दसे जनाया कि पशु-पक्षी भी जानते हैं कि ये सर्वसमर्थ हैं, शरण जानेसे हमारी रक्षा अवश्य करेंगे। यथा—***'मुनिगन निकट बिहग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं॥'*** (२६४। ३) (प० प० प्र०)] यहाँ दिखाया कि दासोंकी ही रक्षा नहीं करते, पशु-पक्षियोंकी भी करते हैं; इसीसे वे यहाँ आये। ***'हित अनहित***

१-'सकचित'—(ला० सीताराम)

२-(अर्थ)—'इस कारणको देखकर रामचन्द्रजी उठे और विचारने लगे कि सब जीव-जन्तु क्यों चकपकाये हैं।' (पं०, प० प० प्र०)

पसु पच्छिउ जाना' यहाँ चरितार्थ हुआ। (ग) ***'अवलोकि'*** अर्थात् खग-मृगादि भयभीत होकर आश्रममें दौड़े चले आते हैं यह देखकर। इनके डरकर भागनेका कारण क्या है यह विचार करने लगे। चित चकित हो रहा है। (घ) ***'सब समाचार'***—भरतजी आते हैं, चतुरंगिणी सेना साथ है। यहाँ कोलादिकी प्रभुके कार्यमें सावधानता दिखायी। पूर्व जो कोल-किरातोंने कहा था कि ***'हम सब भाँति करब सेवकाई', 'हम सेवक परिवार समेता'*** (१३६। ५—८) वह यहाँ चरितार्थ हुआ।

नोट—३ ***'सुनत सुमंगल बैन'''''' '***—भरतजीका आगमन मंगल समाचार है, यथा—***'पुलकि सप्रेम परस्पर कहहीं। भरत आगमन सूचक अहहीं॥''''''रामहि बंधु सोचु दिन राती।'*** (२। ७। ४—८) जो हमें पूर्व मंगल शकुन हुए थे, हम भरतागमनसूचक समझ रहे थे वे ठीक हुए। वे ही हमारे प्यारे भरत आते हैं। यह सोचकर प्रेम उमड़ आया। यहाँ प्रभुका भक्तोंपर प्रेम दिखाया। ***'तनु पुलक भर'***=शरीर पुलकसे पूर्ण है, शरीरभरमें पुलक है। (पु० रा० कु०)

नोट—४ इस काण्डमें हर २५ दोहेपर एक छन्द और एक सोरठा रहता है तथा दोहा १२६ को छोड़कर सभी छन्दोंमें कविका नाम है। सोरठामें नाम प्राय: दो स्थलोंको छोड़कर कहीं नहीं है—एक तो यहाँ दूसरे सोपानकी समाप्तिपर। दोहा १२६ में नामके न होनेका कारण बताया जा चुका है कि वाल्मीकि स्वयं तुलसीदास हैं। इसका प्रमाण बृहद्ब्रह्मरामायणके सिद्धान्तखण्डमें '**वाल्मीकिस्तुलसीदासो भविष्यति कलौ युगे**' तथा महाकालसंहितामें '**वाल्मीकिस्तुलसीदासः कलौ देवि भविष्यति**' यह भी है। (विशेष पूर्व १२६ छन्दमें देखिये।) पर यहाँ और अन्तिम सोरठेमें नियमके प्रतिकूल नाम क्यों दिये गये? इसमें क्या रहस्य निहित है? वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि 'प्रसंगके पूर्वमें यह कह चुके हैं कि प्रात:काल जागते ही श्रीमहारानीजीका स्वप्न सुनकर श्रीरामजीने कहा कि ***'लषन सपन यह नीक न होई'*** तत्पश्चात् ***'अस कहि बंधु समेत नहाने'*** और ***'सनमानि सुर मुनि बृंद बैठे उतर दिसि देखत भये।'*** उस समय श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी तीनों व्यक्ति साथ ही बैठे थे, जबकि कोल-किरातोंने श्रीभरतलालजीके आगमनकी सूचना दी, जिसे सुनकर तीनों व्यक्ति प्रमुदित हुए और तीनों ही व्यक्तियोंके नयनाम्बुजमें प्रेमजल भर आया, इसीके बतानेके लिये उस सोरठेमें ***'तुलसी'*** शब्द रखकर बताया कि '***तु***' से '**तुरीयो रघुनन्दनः**' श्रीरामजी, '***ल***' से लक्ष्मणजी और '***सी***' से सीताजी तीनोंकी प्रेमाकुल दशा हो गयी। इसकी पुष्टि बहुरि ***'सोच बस भे सियरवनू'*** से हो रही है कि पहले तीनों व्यक्तियोंकी एक दशा थी।

और अन्तिम सोरठेमें जो तुलसी शब्द है, वह तो काण्डान्तका परिचायक है।

बहुरि सोचबस भे सियरवनू। कारन कवन भरत आगमनू*॥ १॥
एक आइ अस कहा बहोरी। सेन संग चतुरंग न थोरी॥ २॥
सो सुनि रामहिं भा अति सोचू। इत पितु बच इत बंधु संकोचू॥ ३॥
भरत सुभाउ समुझि मन माहीं। प्रभु चित हित थिति पावत नाहीं॥ ४॥
समाधान तब भा यह जानें। भरत कहे महुँ साधु सयानें॥ ५॥

शब्दार्थ—**रवनू** (रमण)=पति, स्वामी। **बच**=वचन। **इत**=इधर, एक ओर **थिति**=ठहराव, स्थायित्व, विश्राम करनेका स्थान। **समाधान**=मनके सन्देहकी निवृत्ति, निराकरण। सन्तोष। **कहे महुँ**=आज्ञाकारी। कहनेमें हैं। **कहे**=आज्ञा। **साधु**=धर्मात्मा, सदाचारी, सुशील, परोपकारी; सद्‌गुण-सम्पन्न, सज्जन।

अर्थ—श्रीसीतापति रामचन्द्रजी फिर शोचके वश हुए कि भरतजीके आनेका क्या कारण है?॥ १॥ फिर एकने आकर ऐसा कहा कि साथमें चतुरंगिणी सेना बहुत बड़ी है॥ २॥ यह सुनकर श्रीरामजीको अत्यन्त शोच हुआ, इधर तो पिताकी आज्ञा और इधर भरतका संकोच (शील, लिहाज, मुलाहजा)॥ ३॥

* 'आगवनू' पाठान्तर है।

मनमें भरतजीका स्वभाव समझकर प्रभु चित्तके लिये ठहरनेका स्थान नहीं पाते॥ ४॥ तब यह जानकर संतोष हुआ कि भरत हमारे आज्ञाकारी, साधु और चतुर हैं॥ ५॥

नोट—१ *'सियरवनू'* का भाव—सीताके रमण हैं। **'रमु क्रीडायाम्'**। सोच हुआ यह क्रीड़ा है। (पु० रा० कु०) *'सिय'* माधुर्य नाम है, माधुर्यलीलामें सोच दिखाया। नहीं तो उन्हें सोच कैसा? मयंककार कहते हैं कि 'सोच हुआ कि हमने सीतासहित वनवास निश्चय किया, कहीं उसमें बाधा तो न होगी। अतः *'सियरवनू'* कहा।'

नोट—२ *'कारन कवन भरत आगमनू'* इति। ☞ वाल्मीकीयमें श्रीरामजीने कहा है कि मैं समझता हूँ कि मेरे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय भ्रातृवत्सल भरत अयोध्यामें आये होंगे और कुलधर्मका स्मरण करके तथा यह जानकर कि हम लोग जटा-वल्कल धारण करके वनमें चले गये हैं, स्नेह-परवश तथा शोकसे व्याकुल होकर वे मुझे देखनेके लिये आये हैं। (२। ९७। ९—११) वे अप्रिय वचनोंद्वारा कैकेयीको अप्रसन्न और पिताको प्रसन्न करके मुझे राज्य देनेके लिये आये हैं—**'अम्बां च केकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन्। प्रसाद्य पितरं श्रीमान्राज्यं मे दातुमागतः॥'** (१२) अथवा हम लोग सुखके अभ्यासी हैं, यह जानकर तथा वनके कष्टोंको सोचकर ये हम लोगोंको घर लौटा ले जायँगे—**'अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्यमानः सुखोचितौ। वनवासमनुध्याय गृहाय प्रतिनेष्यति॥'** (२२)—यह सब *'कारन कवन भरत आगमनू।'* तथा *'इत पितु बच इत बंधु सँकोचू'* के भावको स्पष्ट कर देते हैं। इन दोनोंमेंसे ही कोई एक कारण है यह 'अथवा' से जना दिया। इसीसे *'कारन कवन'* कहा। आनेका और कोई प्रयोजन नहीं है—**'नान्यथागतः।'** (श्लो० ११)

अनेक कारण लोगोंने अनुमान करके लिखे हैं। यथा—(क) राज्य पानेमें तो कोई विघ्न नहीं हुआ। (ख) बीच पाकर किसी राजाने तो नहीं दबा लिया। वसिष्ठजीने दूतोंको जो यह आज्ञा दी थी कि *'यह सुधि कतहुँ कहेउ जनि कोई'* वह इस सन्देहको जगह देती है। (खर्रा) (ग) हमारा वनवास जानकर उन्होंने भी तो न वनवास लिया हो, या हमारे लौटानेको तो नहीं आते। (रा० प्र०) (घ) हमारी माता या प्रजा न बिगड़ गयी हो, दोनों भाइयोंमें तो भेद नहीं हो गया इत्यादि। (वै०, पां०)

नोट—३ *'सो सुनि रामहिं भा अति सोचू।.......'* इति। (क) इससे जान पड़ता है कि पूर्व यह खबर न मिली थी कि सब सेना आ रही है। इस किरातने आकर यह खबर दी तब चिन्ता बढ़ गयी। पहले 'सोच' मात्र था, अब *'अति सोच'* हो गया। अब क्या बड़ी चिन्ता हुई, यह कवि स्वयं कहते हैं कि *'इत पितु बच इत बंधु सँकोचू।'* अर्थात् पहलेके सोच जाते रहे। क्योंकि जब सुना कि चतुरंगिणी सेना साथ है तब यह निश्चय हुआ कि हमको मनाने ही आते हैं दूसरी बात नहीं है, यदि राज्यमें उपाधि हुई होती तो चतुरंगिणी सेना वहीं युद्ध और रक्षामें रहती। सेनासहित आनेसे राज्यमें क्षेमकुशल निश्चय है। (ख)—*'अति सोच'* का भाव कि वे जान गये कि सब सेना सौंपने और वनमें ही राज्य देकर लौटानेके लिये आये हैं। सो इधर तो पिताका वचन १४ वर्ष वनवासकी आज्ञा और इधर भाईका संकोच कि इनसे कैसे कहेंगे कि न फिरेंगे अथवा, सब सेना है तो वसिष्ठजी आदि भी आये होंगे, ये अकेले होते तो समझा-बुझा देते, क्योंकि ये छोटे हैं पर अब जो कहेंगे, उसे न माननेमें बहुतोंका अपमान है—(रा० प्र०) पर इस भावसे बन्धुप्रेम, 'बंधु-संकोच' में कसर पड़ जाती है जो कविके वचनोंसे अभिप्रेत नहीं जान पड़ता। यह धर्म-संकट उपस्थित हो जानेसे *'अति सोच'* है *'रामहिं भा'*—यहाँ राम शब्द दिया। रामको सोच हुआ यह आश्चर्य है। बड़े तर्ककी बात है। पर ये राम हैं, रमण करते हैं, यह क्रीड़ा है। (पु० रा० कु०)

वि० त्रि०—*'बहुरि सोच बस.......संकोच।'* इति। प्रभु सोचते हैं, बिना कारणके कार्य होता नहीं। अतः भरतके आनेका कारण होना चाहिये। यदि यह मानें कि हमलोगोंका समाचार लेनेके लिये चक्रवर्तीजीने भेजा है, इसलिये आ रहे हैं, तो यह भी सम्भव नहीं, महाराज इसके लिये किसी मन्त्रीको भेजते या शत्रुघ्नको भेजते, भरतके ऊपर नया बोझ राज्यका पड़ा है, उनको महाराज ऐसे अवसरपर नहीं भेज सकते।

कोल-किरातोंने कह रखा है कि *'हम सब भाँति करब सेवकाई। करि केहरि अहि बाघ बराई॥'*

उन्होंने भरतका आगमन सुना, तो सुनते ही सरकारको खबर दी। जब देखा कि साथमें सेना है, तो सशंक हो उठे, तुरंत खबर दी कि *'सेन संग चतुरंग न थोरी।'* श्रीरामजीने समझा कि पिताके गौरवसे स्वीकार किये हुए राज्यको मुझे अर्पण करनेके लिये आ रहे हैं। वनमें ही अभिषेकके समय सलामीके लिये सेना साथ है। कारण मालूम हो गया। सामंजस्य बैठ गया। अब अत्यन्त सोच हुआ। क्योंकि दूसरा असामंजस्य उपस्थित हुआ, न तो पिताका वचन छोड़ते बनता है और न भरतका संकोच छोड़ना सम्भव है।

नोट—४ ☞ यहाँ *'इत इत'* पद दिया यद्यपि मुहावरा है *'इत उत'* बोलनेका। *'इत इत'* दोनों जगह देकर जनाया कि जैसा हमें पिताके वचनके पालन करनेमें प्रेम और उसके मेटनेमें संकोच है, उससे कम भरतका संकोच नहीं, उनकी बात भी रखनेमें हमारा प्रेम कम नहीं है वरन् अधिक ही है। और दोनों बातोंमेंसे किसीको भी नहीं छोड़ सकते।

यहाँ *'इत इत'* के साथ ही एक चमत्कार और भी है। यहाँ 'वचन' पूरा शब्द न देकर *'बच'* ही छोटा पद दिया है और भरतके साथ *'संकोचू'* बड़ा और पूरा शब्द दिया है। इससे भी जनाया कि पिताके वचनसे भरतका संकोच भारी है, यथा—*'तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि ते अधिक तुम्हार संकोचू॥'* (२६४। ७) यदि दोनोंमें बराबरी होती तो एकमें *'इत'* दूसरेमें *'उत'* देते।

पुन:, दूसरा भाव कि कवि जिधर प्रेम देखते हैं उधर ही रहते हैं—जब रामजीका प्रेम भक्तपर देखा तब रामजीके पास और जब भक्तका प्रेम रामजीमें देखा तब भक्तके पास, श्रीरामजीको भक्त पिताके वचनका सोच कि इनके वचन न मानें तो धर्म गया और मानें तो भरतका संकोच न रहा।

नोट ५—*'भरत सुभाउ समुझि मन माहीं।'*''''''*'* इति। (क) भरत स्वभाव यथा—*'हारे हरष होत हित भरतहि जिते सकुच सिर नयन नये। तुलसी सुमिरि सुभाव सील सुकृती तेइ जे एहि रंग रये॥'* (गी० २। ४३) (अर्थात् श्रीरामजीसे हार जानेपर प्रसन्न होते हैं और जीतनेसे संकोच होता है—*'महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कही न बैन॥'* (२६०) श्रीभरतजीका स्वभाव तो वेदोंको भी अगम्य है, यथा—*'भरत सुभाउ न सुगम निगमहू।'* (३०४। १) लक्ष्मणजी भी न जान पाये। एकमात्र श्रीरघुनाथजी ही जानते हैं, यथा—*'तात तुम्हहिं मैं जानउँ नीकें। करौं काह असमंजस जीकें॥'* (२६४।५) *'कहत भरत गुन सील सुभाऊ। पेम पयोधि मगन रघुराऊ॥'* (२३२। ८), *'कबिकुल अगम भरत गुनगाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा॥'* (२३३। ३) लक्ष्मणजीको समझाते हुए भरतजीका स्वभाव कुछ दोहा २३१-२३२ में कहा है, यह भरतका शील-संकोची स्वभाव समझकर प्रभुका चित्त हितकी वा हितके विषयमें स्थिति नहीं पाता कि इस प्रकार हमारा हित होगा, दोनोंका संकोच निबह जायगा। (पु० रा० कु०) अथवा *'हित*=प्रेम। चित्त प्रेमकी स्थितिको पाता ही नहीं कि किसका प्रेम निबाहें। पिताकी आज्ञा मानें या भरतका कहना।' (दीनजी) वा, हितपर थिति नहीं पाता अर्थात् मनचाही बातपर चिन्तवन थिर नहीं होता। (वै०) वा, प्रभुका चित्त अपने हितके लिये स्थिर नहीं होता है। (नं० प०) मेरी समझमें *'हित'* का अर्थ यहाँ 'लिये' है। इससे अर्थमें कोई अड़चन नहीं पड़ती, अन्वय तथा अर्थ सीधा और सरल है। गी० प्रे० ने भी प्राय: मा० पी० का ही भावार्थ रखा है।—'प्रभु अपने चित्तको ठहरानेके लिये स्थान नहीं पाते'—(गी० प्रे०)।

नोट—६ *'भरत कहे महँ साधु सयाने।'* इति। जो हम कहेंगे वही करेंगे, साधु हैं, पराया कार्य साधनेवाले हैं और पण्डित हैं; जिसमें हमारा धर्म जाय वह न करेंगे, *'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा'* *'निजहित चहइ तासु मति पोची'* यह सब वे जानते हैं, साधु हैं, यथा—*'तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू॥'* (२०५। ७) और *'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥'* (७। १२१। १४) तथा *'साधु ते होइ न कारज हानी।'* (५।६।४) यही बात सुरगुरुने कही है—*'रामभगत परहित निरत परदुख दुखी दयाल। भगत सिरोमनि भरत ते जनि डरपहु सुरपाल॥'* (२१९) *'सत्यसंध प्रभु सुर हितकारी। भरत राम आयसु अनुसारी॥'* अत: श्रीभरतजी यह कभी न करेंगे कि जो प्रतिज्ञा हम कर चुके हैं वह व्यर्थ हो

जाय। हमारी सत्यसन्धतामें बट्टा लगे; हमें संकोच हो, इत्यादि।—यह समझनेपर चित्त स्थिर हो गया, मनको संतोष हो गया।

नोट—७ पंजाबीजीने यह शंका करके कि—'स्वामीके हृदयकी लख लेना ठीक ही है पर लक्ष्मणजी सर्वज्ञ हैं, उन्होंने समाधान न लखकर क्षोभ कैसे लखा और भरतपर कोप क्यों किया? इसका समाधान यों किया है कि मंगल समाचार भरतागमन सुनकर प्रसन्न हुए; फिर यह समझकर चिन्तित हुए कि उनको तो राज्य करना था न कि यहाँ आना। यहाँ 'सियरमण' का भाव यह है कि इसीसे बुद्धिमान् लोग विदेशमें स्त्रियोंको साथ नहीं ले जाते कि न जाने कैसा अवसर आ पड़े, उनके सामने युद्धादिमें बड़ी चिन्ता हो जाती है। इतनेहीमें सेनाकी खबर मिली तब अति व्यग्र हुए—*'इत पितु बच'* वनवासकी आज्ञा है। यदि कोई कहे कि युद्ध करके फिर वनवास करना (अवध न जाना) तो उसपर कहते हैं कि *'उत बंधु संकोचू'* अर्थात् कुलघात होगा। भरतका पूर्वस्वभाव जानकर प्रेम होता है पर फौज लानेसे शंका होती है। इस द्विचित्तीमें चित्तका आशय स्थित नहीं होता तब यह समाधान किया कि भरत कहनेको साधु हैं…।'

पर यह भाव प्रसंगानुकूल नहीं है। रा० प्र० कार इसपर लिखते हैं कि यह अर्थ ठीक नहीं है। इससे श्रीरामजीमें एक तो अल्पज्ञताका आरोपण होता है। दूसरे, यदि कहो कि नरलीलामें इसका विचार न करना चाहिये तो भी ठीक नहीं; क्योंकि आगे रघुनाथजी जो कहेंगे कि *'भरतहिं होइ न राजमद'* इत्यादि इससे विरोध होगा। व्यवहारमें भी प्रामाणिक लोग क्षण-क्षणमें कुछ-का-कुछ नहीं कहते, अभी कुछ और थोड़ी देरमें फिर कुछ और, ऐसा नहीं कहते; तब मर्यादापुरुषोत्तम कैसे कहेंगे?

लषनु लखेउ प्रभु हृदयँ खभारू। कहत समय सम नीति बिचारू॥ ६॥
बिनु पूछें कछु कहउँ गोसाईं। सेवकु समयँ न ढीठु ढिठाई॥ ७॥
तुम्ह सर्बग्यसिरोमनि स्वामी। आपुनि समुझि कहउँ अनुगामी॥ ८॥

दो०—नाथ सुहृद सुठि सरलचित सील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जियँ जानिअ आपु समान॥ २२७॥

शब्दार्थ—**खभारू** (प्रा० खोभ। सं० क्षोभ)=खलबली, क्षोभ, चिन्ता, अन्देशा, घबराहट। बिचार=निश्चय की हुई बात। **सुहृद** (सुहृत्)=अच्छे हृदयवाला, सहृदय, स्नेहशील। **सरल**=सीधे-सादे, भोले-भाले, निष्कपट।

अर्थ—लक्ष्मणजीने लख लिया कि प्रभुका हृदय क्षुब्ध है तब वे समयके अनुसार नीतिके विचार कहने लगे॥ ६॥ हे गोस्वामी! आपके बिना पूछे ही मैं कुछ कहता हूँ। सेवक समयपर ढीठ हो तो वह ढिठाई नहीं है—(अर्थात् यह समय ही ऐसा आ पड़ा है कि आपके पूछनेकी राह न देखना चाहिये, आपसे कह देना ही चाहिये। सेवकका यह धर्म है। इस धृष्टताको आप क्षमा करें)॥ ७॥ हे स्वामी! आप सर्वज्ञोंमें शिरोमणि हैं[१] अर्थात् आप (तो) सब जानते ही हैं। मैं आपका सेवक अपनी समझ (के अनुसार) कहता हूँ॥ ८॥ हे नाथ! आप अत्यन्त सहृदय, अत्यन्त सरलचित्त और अत्यन्त शील और प्रेमके समुद्र हैं। सबपर आपका प्रेम और विश्वास है[२] आप सबको हृदयमें अपने ही समान जानते हैं॥ २२७॥

*** 'लषनु लखेउ प्रभु हृदयँ खभारू……' ***

रा० प०—भाव यह कि क्षोभको लखा; पर समाधान होना न लख पाये। लक्ष्मणजी भी तो सर्वज्ञ हैं फिर क्यों न लक्ष्य किया? क्योंकि भगवान् रामचन्द्रजी जिस बातका किसीको लक्ष्य न कराया चाहें वह उस बातको नहीं जान सकता—*'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई॥'* (१२७। ३) इससे अरण्यकाण्डमें

१-'आप सर्वज्ञशिरोमणिके भी स्वामी हैं'—(रा० प्र०)। नारद-सनकादि सर्वज्ञ हैं, उनके शिरोमणि विधि-हरि-हर हैं और आप इनके भी स्वामी हैं।

२-'सबपर प्रीतिकी प्रतीति जीमें है'—(रा० प्र०)। 'सबको एक समान देखते हैं…' (पु० रा० कु०)।

'माया सीता' वाला चरित न जाना, यथा—*'लछिमनहूँ यह मरमु न जाना।'* (३।२४।५) (इस विषयमें पूर्व कई बार विस्तारसे लिखा जा चुका है कि कोई भी जीव चाहे वह ईश्वरकोटिहीमें क्यों न हो पूर्ण सर्वज्ञ, निरावरण सर्वदा सर्वदर्शी नहीं है। केवल परमात्मा परब्रह्म राम ही ऐसे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं। ब्रह्मकी पदवी पानेपर भी जीवकी सर्वज्ञता परिमित ही है। ***'तब संकर देखेउ धरि ध्याना।'*** (१।५६।४); ***'लछिमन दीख उमाकृत बेषा। चकित भए भ्रम हृदय बिसेषा॥ सती कपट जानेउ सुर स्वामी। सबदरसी सब अंतरजामी॥'*** (१।५३।१—३) देखिये) २ (क) रामजीके हृदयकी न जानी पर भरतके हृदयकी बात तो जाननी थी, उसे न जाना। इसका समाधान महाराज जनकजीके वचनोंसे कर लें—***'भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहिं बखानी॥'*** (२८९।२) (प्रभु इनकी अनन्यता दिखलाकर लोकको उपदेश दे रहे हैं।) (ख) लषनके साथ लखना शब्द भूषणरूप है। ***'लषन'***=लखनेवाला। लखनेवाला ही लख सकता है यह 'परिकरांकु अलंकार' है। जब एकने आकर यह कहा कि ***'सेन संग चतुरंग न थोरी'*** तब ***'सो सुनि रामहिं भा अति सोचू।'*** बस, इसी समय उन्होंने देखा कि चित्त क्षुब्ध हो गया, इसीसे उन्होंने यह समझ लिया कि प्रभुके हृदयमें यही अंदेशा है कि वे युद्धके लिये तो नहीं आ रहे हैं। लक्ष्मणजी प्रभुके प्रेममें ऐसे पगे हैं कि उनके चित्तका भी किंचित् क्षोभ नहीं सह सकते। यद्यपि प्रभुके जीमें खलबली बहुत थोड़ी देर रही, शीघ्र ही समाधान हो गया।

गौड़जी—प्रभुने मनमें सारी बातें विचार ली। भरतजी सहितसहाय राजतिलकको आ रहे हैं। परंतु समझा-बुझाकर लौटाये जा सकेंगे। 'सर्वज्ञशिरोमणि' तो यह सब जानते ही थे। दोहरे संकोचके कारण जो मुखाकृतिसे कुछ क्षोभ प्रकट हुआ उसीपर सर्वज्ञ लक्ष्मणजी ऐश्वर्यभावकी ओर संकेत करके अपने इस लीलाविग्रहके प्रत्यक्ष स्वभाव और चरितके अनुकूल वचन कहते हैं। यह अभिनय भी कैसा सुन्दर है। साफ कहते हैं कि आप सर्वज्ञशिरोमणि हैं। (असलियत तो जानते ही हैं।) परंतु, मैं तो अपनी अनुगामिनी छोटी ***'समुझि'*** (समबुद्धि) कहता हूँ। [इस अवसरपर जैसा अभिनय मेरा कर्तव्य है वैसा ही आपके अनुगमनपूर्वक करता हूँ। सबके देखनेमें आप कुछ चिन्तित हो गये हैं, उसका निर्वाह करनेके लिये, उसका वास्तविक तात्पर्य खोलनेके लिये यदि यहाँके लोगोंके मनमें भरतसे आपको आशंकित होनेका सन्देह हो तो उसके निवारणार्थ कहता हूँ।] लक्ष्मणजीका इस अवसरका विलक्षण क्रोधावेश मानसमें चित्रित उनके चरितके, उनकी रामभक्तिकी भावनाके सर्वथा अनुकूल है। माधुर्यभावसे लाड़िले लखनलाल, प्रभुके लिये परशुराम, जनक, दशरथ आदिकी भी अवहेलना करनेवाले भरतादिपर अत्यन्त क्रोध करें, तो क्या आश्चर्य है? चारों भाई पुरुषोत्तमके आदर्शके पूर्ण चित्रके कई पहलू हैं। लक्ष्मणजीका पुरुषोत्तमपक्ष यहाँ पूर्णतया चरितार्थ है।

खर्रा—हृदयका खँभार लक्ष्मणजी न लख पाये, अत: 'लख न' कहा। जैसे ***'लषन लखेउ भा अनरथ आजू। यह सनेह बस करब अकाजू॥'*** सुमित्राजीका स्नेह श्रीरामजीपर है। उसे लक्ष्मणजीने अपने ऊपर समझ लिया और डरे कि हमपर प्रेम करके हमारा काम ये बिगाड़ेंगी, इसलिये वहाँ भी ***'लषन लखेउ'*** कहा। दोनों जगह ये ठीक न लक्ष्य कर पाये। श्रीरामजीके हृदयमें तो 'खँभार' है कि ***'इत पितु बच इत बंधु संकोचू'*** और वे समझे कि सेना सुनकर सोचवश हुए कि इतनी बड़ी सेनासे युद्ध करना पड़ेगा।

पु० रा० कु०—(१) लक्ष्मणजीने ज्योंही यह जाना कि प्रभुके हृदयमें सोच है त्योंही वे अपनी सेवाके लिये सावधान हुए। (२) ***'कहत समय सम नीति बिचारू।'*** अर्थात् धर्मविचार नहीं कहते हैं, केवल समयानुसार नीति जैसी है वह कहते हैं। इस समय सेनासहित भरतजी आ रहे हैं; इससे शत्रुभाव जान पड़ता है—[नोट—***'समय सम'*** पद लक्ष्मणजीके क्रोधाभिनिवेशका समाधान है। पाँड़ेजीका भी मत है कि इससे जनाया कि अपने अनुकूल नहीं कहा, समयके अनुकूल कहा।] (३) ***'सेवकु समय न ढीठ ढिठाई'*** इति।—स्वामीके बिना कुछ पूछे अपनी ओरसे कुछ कहना धृष्टता है—**'न पृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' इति न्यायेन।** बिना पूछे न बोलना न्याय है; इसीलिये धृष्टताके निवारणार्थ ऐसा कहकर उसके लिये क्षमा माँगी।*

* १—कुण्डलिया-रामायणमें मंथराके वचन इस विषयमें देखिये—'इन ठौरनि पूछे बिना कहै स्वामि सों दास।

(४) *'नाथ सुहृद सुठि सरलचित''''''* ' इति। आप सुहृद् हैं अतः सबपर प्रीति है। सरलचित हैं अतः प्रतीति मानते हैं। शील और स्नेह वा स्वभावसे ही स्नेहके पात्र हैं, अतः आप सबको समान मानते हैं, अर्थात् समझते हैं कि संसार सब एक तरहका है, विषम नहीं है। मिलान कीजिये लंकाकाण्ड वाल्मीकीयमें विभीषण-शरणागतिपर सुग्रीवके वचनोंसे।

बिषई जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोहबस होंहि जनाई॥ १॥
भरतु नीतिरत साधु सुजाना। प्रभु पद प्रेम सकल जगु जाना॥ २॥
तेऊ आजु राजपदु* पाई। चले धरम मरजाद मिटाई॥ ३॥
कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी। जानि राम बनबास एकाकी॥ ४॥
करि कुमंत्रु मन साजि समाजू। आये करइ अकंटक राजू॥ ५॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आये दल बटोरि दोउ भाई॥ ६॥
जौं जियँ होति न कपट कुचाली। केहि सोहाति रथ बाजि गजाली॥ ७॥

शब्दार्थ—**प्रभुताई**=स्वामित्व, बड़प्पन, बड़ाई, महत्त्व, साहिबी, हुकूमत, शासनाधिकार। '**नीतिरत**'=नीतिमान्, सदाचारी, धर्मनीतिपर चलनेवाले। **सुजान**=विज्ञ, ज्ञानवान्, चतुर। '**एकाकी**' (सं० एकाकिन)=अकेला, तनहा। '**कलपि**'=कल्पना करके, रचकर, भावना, अनुमान या फर्ज करके, मनगढंत करके। 'कल्पना' वह शक्ति है जो अन्तःकरणमें ऐसी वस्तुओंके स्वरूप उपस्थित कर देती है, जो उस समय इन्द्रियोंके सम्मुख उपस्थित नहीं होतीं। **गजाली**=गज+आली। **आली**=पंक्ति, झुंड, कतार। **कुमंत्रु**=कुमन्त्रणा, बुरी सलाह, बुरा विचार।

अर्थ—मूर्ख विषयी प्राणी प्रभुता पाकर मोहवश प्रकट हो जाते हैं, अर्थात् उनका असली स्वरूप प्रकट हो जाता है (वा, उस प्रभुताको) प्रकट करनेवाले होते हैं॥ १॥ भरत नीतिपरायण, साधु और समझदार हैं, प्रभु (आप) के चरणोंमें उनका प्रेम है, यह सारा संसार जानता है॥ २॥ सो वे भी आज राजाका पद (पदवी, दरजा, ओहदा) पाकर धर्ममर्यादाको मिटाकर चल रहे हैं॥ ३॥ कुटिल, खोटा भाई (भरत) कुअवसर ताककर और यह जानकर कि रामजीका वनमें वास है और वे अकेले हैं, मनमें बुरा विचार (दृढ़) करके समाज सजाकर अकंटक (शत्रुरूपी काँटारहित) राज्य करने आये हैं॥ ४-५॥ (जो कहा जाय कि रामजीको तो राज्यकी चाह नहीं फिर वे ऐसा विचार करके क्यों आयेंगे, उसपर कहते हैं कि) करोड़ों प्रकारकी कुटिलताकी कल्पना करके सेना एकत्र करके दोनों भाई आये हैं॥ ६॥ यदि इनके मनमें कपट और कुचाल न होती तो रथों, घोड़ों और हाथियोंका समूह इस समय किसे अच्छा लगता? अर्थात् शुद्ध हृदयवाला सेना आदिको साथ कदापि न लाता॥ ७॥

नोट—*'मूढ़ मोहबस होंहि जनाई'* इति। इस चरणके अर्थ लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किये हैं। (१) मूढ़ और मोहवश हो जाते हैं ऐसा जान पड़ता है। (रा० प्र०) (२) वे मूढ़ मोहवश होकर अपनेको जना देते हैं कि हम ऐसे हैं। (शिला) (३) मोहवश मूढ़ हो जाते हैं अर्थात् उनको फिर अपनी हानि-लाभ नहीं सूझती, वे अपने ऐश्वर्यको प्रगट करके जनाना चाहते हैं। (वै०) (४) मोहके

सर्प अस्त्र अरि विष अनल अनिल कंट दुर्वास॥ १॥ अनिल कंट दुर्वास असन पथ अपथ जनावे। लाभ हानि दुःखदानि कहत पातकनहिं आवै॥ २॥ लाभ हानि नहिं बोलई, प्रभु आयसु रुख निसि दिना। स्वामि सुहागिलि देहि सिख इन ठौरन पूछे बिना'॥ ३॥

२—'समयपर ढीठ न हुआ अकाज होने दिया तो ढिठाई है, नमकहरामी है' ऐसा अर्थ भी लोग करते हैं पर ठीक नहीं है।

* रामपदु—ला० सीताराम। यद्यपि यह राजापुरका पाठ है और रामको सम्बोधन मानकर अर्थ लगा सकते हैं, फिर भी आगेके 'जग बौराइ राजपद पाएँ', 'केहि न राजमदु दीन्ह कलंकू' इत्यादिके साहचर्यसे यहाँ 'राजपदु' ही पाठ समीचीन है।

कारण प्रकट हो जाते हैं अर्थात् उनकी बुराई खुल जाती है—(दीनजी)। (५)—अज्ञानवश मूर्खतामें जाहिर हो जाते हैं। (६)—मूर्खतासे अज्ञानवश हो अभिमान करने लगते हैं। इत्यादि।

अनेकार्थका कारण *'जनाई'* वा *'होंहि जनाई'* है। अत: इन्हीं शब्दोंको और प्रसंगको विचार करना चाहिये। *'जनाई'*=जनाने, प्रकट या जाहिर करनेवाले जान पड़ता है।=जनाकर, प्रकट करके (मूढ़ होंहिं, मूर्ख बन जाते हैं।) अथवा, *जनाई*=प्रकट।

प्रसंग क्या है? लक्ष्मणजी लोकरीति कह रहे हैं। बस, इसके अनुसार 'प्रभुत्व' का जनाना वा प्रकृतिका प्रकट होना ही संगत है।

पु० रा० कु०—*'बिषई जीव पाइ प्रभुताई।……'* इति। जीव तीन प्रकारके हैं, यथा—*'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥'* (२७७। ३) भाव यह है कि भरत न साधक हैं न सिद्ध, किंतु विषयी हैं, इसीसे वे *'जनाई'* हुए। (*'पाइ'* से जनाया कि बिना परिश्रमके अनायास पा जाते हैं तब मोहवश हो जाते हैं। प० प० प्र०) नीतिरत थे, नीतिपरायण थे, अच्छी नीति जानते थे, साधु थे अर्थात् सदाचारी थे, मृदु मधुर स्वभाव था, किसीका अनिष्ट नहीं ताकते थे, सुजान थे अर्थात् ज्ञान भी अच्छा था।

नोट—१ *'चले धरम मरजाद मिटाई'*—भाव कि धर्मनीति यह थी कि कुलकी रीतिपर चलते। *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥'* (१५। ३; कैकेयीवाक्य), *'यह कुल उचित राम कहुँ टीका।'* (१८। ७; मंथरावाक्य), *'मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति।'* (३१; दशरथवाक्य)। चाहिये था कि राज्य ग्रहण न करते, किंतु ऐसा न करके राज्य लिया। यह धर्मविरुद्ध कार्य हुआ। यथा—**'इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्प्राप्तः सुमहानयम्। अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः॥'** (वाल्मी० २। १२। १९) (राजाने कैकेयीसे कहा है कि तुम्हारी बुद्धि दूषित हो गयी है, तुम्हारे कारण नीतियुक्त इक्ष्वाकुकुलमें नीतिविरुद्ध कार्य होने जा रहा है।) उसपर भी अब बड़े भाईको मारकर अकंटक राज्यकी इच्छा करके आ रहे हैं। अत: कहा *'चले धरम मरजाद मिटाई।'* बड़ा भाई पिताके तुल्य है। यथा—*'तुम पितु सरिस भलेहि मोहिं मारा।'*

२ *'कुटिल कुबंधु कुअवसरु⋯'* इति। (क) नीति और साधुता गयी, अतएव कुटिलता आ गयी, कुटिल हो गये। रामपदप्रेम जानेसे सुहृदता गयी, कुबन्धुता आयी। 'सुबंधु' से 'कुबंधु' हो गये। (पं०) (ख) 'कुअवसर' रामके लिये कि वे अकेले वनमें बसते हैं और अपने लिये अच्छा मौका है। *'बनबास एकाकी'* अर्थात् वनमें बसनेसे उनका कोई सहायक नहीं है।

३—(क) *'करि कुमंत्रु मन'* इति। भाव कि कैकेयीने चौदह वर्षकी अवधिके लिये कुमन्त्र पढ़ा था, यथा—*'कलि कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रू। गाड़ि अवधि पढ़ि कठिन कुमंत्रू॥'* (२१२। ४) भरतजीने सोचा कि माताने भूल की। अत: उन्होंने माता तथा भाईके साथ सलाह करके यह कुमन्त्र निश्चित किया कि राज्यको अकंटक कर लेना चाहिये। (ख) *'आये करइ अकंटक राजू'* इति। राम काँटा हैं, १४ वर्षमें फिर लौटकर अवध आवेंगे तब न जाने फिर राज्य ले लें; क्योंकि वर तो १४ वर्षके लिये है। काँटाको जड़से उखाड़ दें फिर रहे ही न और न गड़े। इनको मार डालें, निश्चिन्त हो जायँ। यदि कहिये कि कैसे जाना कि कुटिल भावसे आ रहे हैं तो उसपर कहते हैं—*'जौं जियँ होति न……।'* कपट और कुचाल या कपटसम्बन्धी कुचाल। कुचाल=बुरा आचरण।

४ *'कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई……'* यथा—वनमें ही कोई सहायक उत्पन्न कर लें, तपसे बली हो जायँ, अभी पिताकी आज्ञा ली है, लौटनेपर इसकी कसर निकालेंगे। लोक-वेद दोनोंके अनुसार राज्याधिकारी हैं ही, सबल भी हैं। मन्त्री, सेना और प्रजाको अवधमें रहकर मिला लेंगे, हमें निकाल देंगे इत्यादि। (पं०, वै०) *'दोउ भाई'*—शत्रुघ्नजीको भी कहा, क्योंकि यदि वे सम्मतमें न होते तो पहले ही साथ छोड़कर यहाँ आ जाते। [शत्रुघ्नजीका नाम न लिया। क्योंकि रामविरोधी हैं—(पं०)] *'केहि सोहाति'*— विरहमें रथ, घोड़े आदिपर न चलते, पैदल आते।

५ मिलान कीजिये—*'है कछु कपट भाउ मन माहीं॥ जौं पै जिय न होति कुटिलाई। तौ कत लीन्ह संग कटकाई॥ जानहिं सानुज रामहि मारी। करउँ अकंटक राजु सुखारी॥ भरत न राजनीति उर आनी॥'* (१८९। ३—६) निषादराजके वाक्यसे। (वाल्मी० २। ९६) में *'आये करै अकंटक राजू'* की जोड़का श्लोक यह है—'**सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम्। आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः॥**' (१७) अर्थात् राज्य पाकर उसे शत्रुहीन बनानेकी इच्छासे कैकेयीका पुत्र भरत हम दोनोंको मारनेके लिये आ रहा है।

भरतहि दोसु देइ को जाएँ। जग बौराइ राजपदु पाएँ॥ ८॥

दो०—ससि गुरतियगामी नहुषु[1] चढ़ेउ भूमिसुरजान।
लोक बेद तें बिमुख भा अधम न बेन समान॥ २२८॥

सहसबाहु सुरनाथु त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥ १॥

शब्दार्थ—**बौराइ**=बावला, पागल, मदान्ध वा उन्मत्त हो जाता है।

अर्थ—परन्तु भरतको ही व्यर्थ कौन दोष दे? राजपद पाकर तो संसार ही (अर्थात् संसारमें सभी लोग) बावला हो जाता है॥ ८॥ चन्द्रमा गुरुपत्नीगामी हुआ, नहुष ब्राह्मणोंको सवारीमें लगाकर उसपर चढ़ा और वेन लोक तथा वेद दोनोंसे विमुख हो गया (दोनोंमेंसे किसीको न माना) उसके समान तो कोई अधम नहीं होगा॥ २२८॥ सहस्रबाहु, देवराज इन्द्र और त्रिशंकु आदि किसको राजमदने कलंक नहीं दिया अर्थात् सभी कलंकित हुए[2]॥ १॥

नोट—यहाँ छ:का प्रमाण दिया।

१—'चन्द्रमा'—बृहस्पतिजी सब देवताओंके और इसके भी गुरु हैं। एक समय इसने राजसूय यज्ञ किया। उसमें गुरुकी पत्नीको देख उसपर आसक्त हो गया, गुरुसे उसको छीन लिया और उसके साथ व्यभिचार किया। गुरुने इन्द्रसे पुकार की पर चन्द्रमा इन्द्रके कहनेपर तारा (गुरुपत्नी) को लौटा देनेपर तैयार न हुआ। तब घोर युद्ध हुआ, जिसमें राक्षसोंने चन्द्रमाका साथ दिया। निदान ब्रह्माने बीचमें पड़कर तारा बृहस्पतिको दिला दी। चन्द्रसे ताराके गर्भसे बुध पैदा हुआ जो चन्द्रमाका ही पुत्र कहलाया। मदान्धता ही इस कुकर्मका कारण हुई।

२—'वेन'—ध्रुवके वंशज महात्मा अंग राजाके सुनीथा रानीसे पुत्रेष्टियज्ञद्वारा यह पुत्र हुआ। अंग राजा बड़े ही साधु, सुशील, ब्रह्मण्य और महात्मा थे, पर सुनीथा मृत्युकी कन्या थी। वेन जन्मसे ही अपने नानाके स्वभावको पड़ा। बड़ा निर्दयी था, वनमें जाकर निराश्रय मृग आदि जीवोंको निठुरपनेसे मारता, साथके खेलनेवाले बालकोंको पकड़कर कठोर मार मारता। राजाको नित्य उलाहना मिलता। जब ये साम, दाम, दण्ड, भेद सब करके हार गये, वह न समझा तब इस कुपुत्रके कारण उनको वैराग्य हो गया और वे अर्द्धरात्रिमें घरसे निकल वनको चल दिये। सबेरे सबको खबर हुई। जैसे मायासे ढँके हुए ईश्वरको कुयोगी ढूँढ़नेपर नहीं पाते वैसे ही राजा अंगको न ढूँढ़ पाये। हताश होकर मन्त्री आदिने ऋषियोंको एकत्र कर सारा वृत्तान्त कहा। भृगु आदि ऋषियोंने उस दुष्टको पृथ्वीमण्डलका सम्राट् किया, क्योंकि कुलमें और कोई अधिकारी न था। वेन अब तो राज्य पाकर अभिमानसे अत्यन्त उन्मत्त होकर स्वर्ग और मनुष्यलोकोंको कम्पित करने लगा। यज्ञादि सब कर्म-धर्म बंद कर दिये, स्वयं ईश्वर बन बैठा। उस दुष्टचरित्रके आचरणसे सारी प्रजाको संकटमें देख ऋषियोंने आपसमें सम्मति करके उसको समझाकर कुकर्मसे निवृत्त करनेका

१-'नघुषु'—रा० प्र०, गी० प्रे०।

२-सहस्रबाहुकी कथा—बा० १। ४। ३, २७२ (८), वा० २७ (२) में। त्रिशंकुकी बा० ६ (८) में। इन्द्रकी बा० दोहा २१०, बा० ३१७ (६) में। नहुषकी अ० ६१ में देखिये।

विचार ठान उसके पास जाकर उसको धर्मोपदेश किया कि धर्मके नाशसे राजा राज्यलक्ष्मीसे शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाता है, धर्मसे भगवान् प्रसन्न होकर सब कामनाएँ पूर्ण करते हैं, ब्राह्मणोंद्वारा धर्म होते हैं, उनका अनादर उचित नहीं इत्यादि। दुर्बुद्धि वेनने उनको दुर्वचन कहे और कहा कि राजा ईश्वर है, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र आदि दिग्पाल, पृथ्वी, जल आदि सब राजाके शरीरमें रहते हैं; ऐसे मुझ यज्ञपुरुषको छोड़कर तुम व्यभिचारिणीकी नाईं जारके समान दूसरेकी उपासना करते हो⋯तुम मेरी ही पूजा करो। सब मुनि ईश्वरकी निन्दा सुन उसपर अत्यन्त कुपित हुए और 'हुंकार' करके उसे मार डाला।—(भा० स्क० ४ अ० १३-१४)

प० पु० भूमिखण्डमें सूतजीने बताया है कि अंग नामके एक प्रजापति अत्रिवंशमें पैदा हुए थे। ये अत्रिपुत्र महातेजस्वी राजा हुए। उन्होंने इन्द्रसमान वैभवशाली पुत्रकी लालसासे अपने पिता अत्रिजीकी आज्ञा लेकर सुमेरु-शिखरकी एक रत्नमय कन्दरामें जाकर भगवान्‌की आराधना करने लगे। संयम, नियम और उपवास आदि करते सौ वर्ष बीतनेपर भगवान्‌ने दर्शन देकर वर माँगनेको कहा। राजाने स्तुति करके वर माँगा कि—'जैसी शोभा स्वर्गमें सम्पूर्ण तेजसे सम्पन्न इन्द्रकी है वैसी ही शोभा पानेवाला एक सुन्दर पुत्र मुझे देनेकी कृपा करें। वह पुत्र सम्पूर्ण लोकोंका रक्षक, देवताओंका प्रिय, ब्राह्मणभक्त, दानी, सत्यधर्मपालक, यजमानोंमें श्रेष्ठ, त्रिभुवनकी शोभा बढ़ानेवाला, अद्वितीय शूरवीर, वेदोंका पण्डित, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, शान्त, तपस्वी और सर्वशास्त्रविशारद हो।' भगवान् 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये।

मृत्युकी कन्या सुनीथा वनमें जाकर गन्धर्व महाभाग सुशंखको, जो भारी तपस्यामें लगे हुए थे; नित्य सताती पीटती थी। अस्तु, एक दिन उन्होंने उसको शाप दे दिया कि 'गृहस्थधर्ममें प्रवेश होनेपर जब तुम्हारा अपने पतिके साथ सम्पर्क होगा तब तुम्हारे गर्भसे देवताओं और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाला, पापाचारी और दुष्ट पुत्र उत्पन्न होगा।' यह जानकर कि महात्मा अंगको धर्मात्मा पुत्रकी प्राप्तिका वरदान मिला है, सुनीथाको चिन्तातुर देखकर उसकी सखियोंने उसे मोहिनी विद्या सिखाकर महाराज अंगको मोहित करनेको कहा। अंग महाराजने उससे गान्धर्व-विवाह किया। इस तरह सुनीथा उनकी रानी हुई। उससे वेन उत्पन्न हुआ। वह पुत्र सज्जनोचित आचारसे रहकर क्षत्रियधर्मका पालन करने लगा। उसे सर्वलक्षणसम्पन्न देख प्रजाने ब्रह्माजीसे कहकर उनको प्रजापति-पदपर अभिषिक्त करा दिया। उनके राज्यमें सर्वत्र धर्मका प्रभाव छा रहा था।

एक समय कोई पुरुष छद्मवेष धारण किये उनके दरबारमें आया। राजाने उससे उसका परिचय, उसका धर्म, उसका शास्त्र और उसका आचार पूछा। तब उसने कहा—'मुझे जिनस्वरूप जानो। सत्य और धर्म मेरा कलेवर है। जहाँ 'अर्हन्' देवता, निर्ग्रन्थ गुरु और दयाको ही परमधर्म बताया गया है, वहीं मोक्ष देखा जाता है—यह जैनदर्शन है। अब अपने आचार बताता हूँ। मेरे मतमें यजन, याजन, वेदाध्ययन, संध्योपासन, तपस्या, दान, स्वधा (श्राद्ध), स्वाहा (अग्निहोत्र), हव्य-कव्य, यज्ञ-यागादि, तर्पण, अतिथि-सत्कार, बलिवैश्वदेवादि कर्म नहीं हैं। ये समस्त विधान निरर्थक हैं।' इत्यादि।

इस प्रकार उसने वेद, दान, पुण्य, तीर्थ तथा यज्ञरूप समस्त धर्मोंकी निन्दा करके पापके भावोंद्वारा बहुत कुछ समझा-बुझाकर वेनके हृदयमें पापभावका उदय कर दिया। अब वेनने वैदिक धर्म तथा सत्यधर्म आदिकी क्रियाओंका त्याग कर दिया। उसके शासनसे अब संसार पापमय हो गया। अंगके समझानेपर भी वह न माना।

तदनन्तर एक दिन सप्तर्षियोंने उसके पास आकर कहा—'वेन! दु:साहस न करो। यह सारा जगत् तुमपर ही अवलम्बित है, धर्म-अधर्मरूप सम्पूर्ण विश्वका भार तुम्हारे ही ऊपर है। राजाको धर्मका मूर्तिमान् स्वरूप माना गया है। राजाका कर्तव्य है कि वह धर्मकी रक्षा करे। तुमने प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं राजा होकर धर्मका पालन करूँगा,' अत: उस प्रतिज्ञाके अनुसार धर्म करो और सत्य एवं पुण्यको आचरणमें लाओ।'

उनके वचन सुनकर वह हँसकर बोला—'मैं ही परम धर्म हूँ और मैं ही सनातन देवता अर्हन् हूँ। धाता, रक्षक और सत्य भी मैं ही हूँ। मैं परम पुण्यमय सनातन जैनधर्म हूँ। मैं ही सम्पूर्ण भूतों और विशेषत: सब धर्मोंकी उत्पत्तिका कारण हूँ। ज्ञान, पराक्रम, तपस्या और सत्यके द्वारा मेरी समानता करनेवाला पृथ्वीपर दूसरा कौन है; तुमलोग मुझ धर्मरूपी देवताका ही भजन करो⋯⋯।'

ऋषियोंने फिर और भी समझाया और यह भी बताया कि 'जैनधर्म सत्ययुग, त्रेता और द्वापरका धर्म नहीं है। कलियुगका प्रवेश होनेपर ही कुछ मनुष्य इसका आश्रय लेंगे और वैदिक धर्मका आचार त्यागकर पाप बटोरेंगे।…तुम कलियुगके व्यवहारको त्याग दो और पुण्यका आश्रय लो।'

वेनको बहुत बढ़-बढ़कर बातें करते देख सप्तर्षि कुपित हो उठे। उनके शापके भयसे वेन एक बाँबीमें घुस गया। किन्तु ब्रह्मर्षि उस क्रूर पापीको वहाँसे बलपूर्वक पकड़ लाये और क्रोधमें भरे हुए वे उसकी बायीं जंघा (वा, बायाँ हाथ?) मथने लगे। निषाद, किरात, भील, नाहलक, भ्रमर, पुलिन्द तथा और भी जितने म्लेच्छजातिके पापाचारी मनुष्य हैं, वे सब वेनके उसी अंगसे उत्पन्न हुए। तब यह जानकर कि वेनका सब पाप निकल गया, वे प्रसन्न हुए और अब दाहिना हाथ मथने लगे। उससे महान् तेजस्वी एक पुरुष उत्पन्न हुआ जिसके सिरपर मुकुट, कानोंमें कुण्डल, हाथमें अजगव नामक आदिधनुष और दिव्य बाण और शरीरपर कवच था। मन्थनसे उत्पन्न होनेसे पृथु नाम रखा गया। ब्रह्मादि सभीने महाराज पृथुका अभिषेक किया। प्रजाका अनुरंजन करनेसे उनका नाम 'राज-राज' हो गया।

भरत कीन्ह यह उचित उपाऊ। रिपु रिन रंच न राखब काऊ॥ २॥
एक कीन्हि नहिं भरत भलाई। निदरे रामु जानि असहाई॥ ३॥
समुझि परिहि सोउ आजु बिसेषी। समर सरोष राम मुखु पेखी॥ ४॥
एतना कहत नीति रस भूला। रनरस बिटप पुलक मिस फूला॥ ५॥

शब्दार्थ—'**उचित**'=करनेयोग्य, मुनासिब, ठीक। '**रिन**' (ऋण)=कर्ज। '**रंच**'—(सं० न्यंच)=थोड़ा-सा भी, किंचित् भी, अल्प, तनिक, '**असहाई**'=असहाय, नि:सहाय, जिसे कोई सहारा न हो, जिसका सहायक न हो। '**रनरस**'=वीररस।

अर्थ—भरतजीने यह उपाय उचित ही किया है; क्योंकि शत्रु और ऋण थोड़ा भी कभी न (शेष) रखना चाहिये अर्थात् यह नीति है, उसीपर चले, यह चाहिये ही; पर॥ २॥ भरतने एक काम अच्छा नहीं किया, कि 'राम' को नि:सहाय जानकर उनका निरादर किया। (अर्थात् वनमें उनके पास सेना आदि न समझकर उनसे लड़ने आ रहे हैं)॥ ३॥ सो वह भी आज उन्हें खूब अच्छी तरह (खास तौरपर) समझ पड़ेगा जब वे संग्राममें श्रीरामजीका क्रोधपूर्ण मुख देखेंगे॥ ४॥ इतना कहते ही वे (लक्ष्मणजी) नीतिरस भूल गये। वीररसरूपी वृक्ष पुलकके बहाने फूल उठा अर्थात् नीतिकी बात कहते-कहते उनके हृदयमें वीररस उदय हो आया, वीररसकी पुलकावली शरीरमें हो आयी॥ ५॥

नोट—१ ***'रिपु रिन रंच न राखब काऊ'*** यह नीति है*। ये बारंबार बढ़ जाते हैं, यदि किंचित् भी रह गये। इससे इन्हें नि:शेष ही करके छोड़े। अरण्यकाण्डमें छ: गिनाये हैं, पर यहाँ नि:शेषका प्रयोजन है और वहाँ इतना ही है कि इन्हें छोटा न मानना चाहिये। छोटा समझकर उनका निरादर न करे—***'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिय न छोट करि।'*** (आ० २१)

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ ***'रिपु रिन रंच न राखब'***—यहाँ राम रंचमात्र हैं, क्योंकि असहाय हैं, राज्यके जो सात अंग हैं उन सबसे हीन हैं और भरत पूर्ण अंगसम्पन्न हैं—मन्त्री, सेना, कोश, राज्य आदि सभी उनके हाथमें हैं।

टिप्पणी —२ ***'निदरे राम जानि असहाई'***—उन्होंने एक तो शत्रु माना, दूसरे सहायताहीन समझा, यह बुरा किया। व्यंगसे जनाया कि राम तो सबके सहायक हैं, इनकी सहायता कौन करे? उनको सहायताकी अपेक्षा ही नहीं है।

---

* यथा—'ऋणशेषश्चाग्निशेषः शत्रुशेषस्तथैव च। पुनः पुनः प्रवर्तन्ते तस्मान्निःशेषमाचरेत्' इति सुभाषितरत्नभाण्डागारे। ऋण, अग्नि, शत्रु ये बार-बार बढ़ जाते हैं, इनको नि:शेष कर दे।

टिप्पणी—३ *'समर सरोष राम मुखु देखी'*—जैसे कपिलदेवने सरोष दृष्टिसे देखा तो सगरके साठ हजार पुत्र भस्म हो गये। ये तो दो ही भाई हैं।

टिप्पणी—४ *'एतना कहत नीति रस भूला।'* इति। पु० रा० कु०—*'एतना कहत'* अर्थात् *'समर सरोष राम रुखु देखी'* ये शब्द ज्यों ही मुखसे निकले त्यों ही यह खयाल आ गया कि अरे यह क्या हमने कहा, हमारे (सेवकके) रहते हुए भी हमारे स्वामीको समरमें सरोष होना पड़े, तो हमको धिक्कार है, हम किस दिन काम आवेंगे। बस, कहाँ तो नीति कह रहे थे, कहाँ वीररस जाग उठा कि हमारे जीते-जी स्वामीको क्यों युद्धका कष्ट हो? हम ही संग्राम करेंगे, यह उत्साह हो आया। '**उत्साहवर्द्धनो वीरः।**' यहाँ वीररसको वृक्ष कहा। पुलकावलीका होना उसका फूलना है। दोनों भाइयोंका मारना फल है।

शीला—*'पुलक मिस'* का भाव यह है कि वृक्ष समयपर फूलता है, यहाँ वीररसके उदयका अवसर नहीं है।

वै०—अभीतक क्रोध स्थायीसे रौद्ररस रहा, क्रोधपूर्वक नीतिकी वार्ता कहते रहे। जब कहा कि *'समर सरोष राम मुख पेखी'* भरतको विमुखताका फल समझ पड़ेगा और इसपर भी रघुनाथजी न बोले तब जान लिया कि उनकी यही इच्छा है, नहीं तो हमको रोकते। यह विचार आते ही क्रोध स्थायी जाता रहा, वीररस उदय हो गया, उत्साह स्थायी हो गया। यहाँ रौद्ररस और वीररसका भेद वर्णन किया है।

प० प० प्र०—*मिस*=व्याज, दंभ, अपदेश। (अमरकोश)। अन्वय यह है—*'रस रणविटप मिस पुलक फूला।'* *रस*=दास्यरस। अर्थ यह है—'दास्यरस रणविटपके व्याजसे पुलकरूपमें फूला'। भाव कि जब विचार आ गया कि नीतिरस पिलाना सेवकका धर्म नहीं है तब उस सेवाभावने वीररस-रणविटपके व्याजसे पुलकरूपी फूल धारण किये। अर्थात् यह सेवाका सुअवसर जानकर आनन्द हुआ।

नोट—२ *'मनहुँ बीररस सोवत जागा'* इति।—वीररसमें उत्साह और वीरता आदिकी परिपुष्टि होती है। इसका वर्ण पीत (वा रक्त) और देवता इन्द्र माने गये हैं। उत्साह इसका स्थायीभाव है और धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क और रोमांच आदि इसके संचारी भाव हैं। भयानक, शान्त और शृंगाररसका यह रस विरोधी है।

प्रभु पद बंदि सीस रज राखी। बोले सत्य सहज बलु भाखी॥ ६॥
अनुचित नाथ न मानब मोरा। भरत हमहिं उपचार[1] न थोरा॥ ७॥
कहँ लगि सहिअ रहिअ मनु मारें। नाथ साथ धनु हाथ हमारें॥ ८॥

दो०—छत्रि[2] जाति रघुकुल जनमु राम अनुग[3] जगु जान।
लातहुँ मारें चढ़ति सिर नीच को धूरि समान॥ २२९॥

शब्दार्थ—**उपचार** (सं०)=व्यवहार, अभ्यास, इलाज, यथा—*'ग्रह गृहीत…कवन उपचार।'* **मन मारें**= मनके वेग या किसी विकारको दबाये या रोके रखना, खिन्नचित्त वा उदास रहना, मनकी इच्छाको दबाकर उसे वशमें रखना मन मारे रहना है। यहाँ मारे=दबाये।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी प्रभुके चरणोंको प्रणाम करके और चरणरजको सिरपर रखकर अपना सच्चा और स्वाभाविक बल कहते हुए बोले॥ ६॥ हे नाथ! मेरे कहनेका बुरा न मानियेगा, भरतसे हमसे कुछ थोड़ा

१-उपचरा—ना० प्र०, वि० त्रि०। (त्रिपाठीजी इसे प्राचीन पाठ कहते हैं)। लाला भगवानदीनजीने भी 'उपचरा' पाठ दिया है। पर गी० प्रे० और लाला सीताराम 'उपचार' पाठ राजापुरका बताते हैं। रा० प० में भी 'उपचार' है अतः हमने 'उपचार' ही रखा है।

२-'छत्रजाति'।

३-'अनुज'—(रा० प्र०)।

व्यवहार नहीं है (अर्थात् बहुत दिनोंसे और बड़ा बुरा व्यवहार चला आ रहा है।)* एवं भरतजीके लिये हमारे पास कुछ कम दवा नहीं है॥ ७॥ कहाँतक सहा जाय? और कहाँतक मन मारे रहा जाय? एक तो, हे नाथ! स्वामीका (आपका) साथ, (दूसरे) हमारे हाथमें धनुष है॥ ८॥ जातिका क्षत्रिय (उसपर भी) रघुकुलमें मेरा जन्म और (सबसे विशेष यह कि) श्रीरामजीका अनुगामी हूँ, यह संसार जानता है (फिर भला कैसे सह सकूँ। देखिये) धूलके समान कौन नीच है (अर्थात् वह अति नीच है, पैरों तले सदा रहती है, इससे नीचा और कोई नहीं हो सकता) सो वह भी लात मारनेसे सिरपर ही चढ़ती है, (अर्थात् फिर भला जो ऊँचा होगा वह अपमान कब सह सकता है?)॥ २२९॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० ***'प्रभुपद बंदि सीस रज राखी'*** इति। यह मंगलाचरण किया। भाव कि जो कुछ मैं करूँगा वह इन्हीं चरणोंके प्रतापसे, ये ही हमारे रक्षक हैं। दूसरे, ऐसा करके अनुचितकी क्षमा चाही।

टिप्पणी—२ ***'बोले सत्य सहज बल भाषी।'*** अर्थात् जो कहा वह सत्य है, इनका बल ऐसा ही है, इन्होंने कुछ घमण्ड या आवेशमें आकर कुछ बनाकर या झूठ नहीं कहा है। [पुनः, इसका अन्वय ***'सत्य भाषी सहज बल बोले'*** यह करनेसे अर्थ होता है कि 'जो (उनकी कल्पनानुसार) सत्य था, वह अपना सहज बल कहने लगे।' ***'अनुचित नाथ न मानब मोरा।'''''' थोरा॥'*** (७) यह सत्य कहा और ***'कहँ लगि'''''' धूरि समान'*** यह बल कहा। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ ***'भरत हमहिं उपचार न थोरा'*** इति।—हमसे भरतसे थोड़ा उपचार नहीं है, बहुत बड़ा है, हमारे प्राण (लेने) के बहुत उपाय करते आये, वनवास कराया, अब यहाँ भी पीछा करते आये, प्रचारते ही आये हैं और हम सहते ही गये। अब कहाँतक सहें? सहा नहीं जाता, न मन मारे रह सकें। (मिलान कीजिये—**'अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महत्।'**(वाल्मी० २। ९६। २१)। **''''''' यन्निमित्तं भवान्राज्याच्च्युतो राघव शाश्वतम्।'** (२२) **'पूर्वापकारिणं हत्वा न ह्यधर्मेण युज्यते।'** (२४) अर्थात् जिसके कारण इतने कष्ट उठाने पड़ते हैं उन भरतको मैं देखूँगा। जिसके कारण आप सनातन राज्याधिकारसे वंचित किये गये। जिसने पहले अपना अपकार किया है, उसका वध करनेमें अपकार नहीं होता किन्तु धर्म ही होगा।—ये सब भाव ***'अनुचित नाथ न मानब मोरा।''''''''*** में आ जाते हैं।)

यदि इसपर कहें कि हमको सर्वथा शान्त ही रहना चाहिये, इस वेषका धर्म ही है—क्षमा, शील, शान्ति। उसपर कहते हैं कि ***'कहँ लगि सहिअ'''''''*** अर्थात् हमारी चलती तो आप भला राज्य छोड़ सकते, वनवास करते? हमें अपना मन मारना पड़ा था, अब भी पीछा नहीं छूटता। फिर वेष वह है पर धनुष भी तो हाथमें है, क्षत्रियधर्म तो नहीं छोड़ा है।

गौड़जी—'भरतजीके लिये हमारे पास थोड़ा इलाज नहीं है। आप साथ हैं और हाथोंमें धनुष है। इतना इलाज बहुत है।' उपचार शब्दका प्रयोग मानसमें ही अन्यत्र इलाजके अर्थमें हुआ है।

वि० त्रि०—***'अनुचित नाथ'''''' थोरा'*** इति। लक्ष्मणजी रामनिरादर सह नहीं सकते। भरतजीकी ओरसे रामनिरादरकी भावना समझकर आपेसे बाहर हो गये। भरतजीसे युद्ध करनेको तैयार हैं। कहते हैं कि मुझे सरकारसे भय है कि मेरी प्रवृत्तिको आप अनुचित ठहरावेंगे, परन्तु अनुचित है नहीं। भरतने हम-लोगोंकी थोड़ी पूजा नहीं की है (अर्थात् थोड़ा दुःख नहीं दिया है) षोडशोपचारसे पूजन किया है। हमलोगोंका सर्वस्व हरण किया है, देशसे निकाला, वन भेजा। माँ छूटी, बाप छूटे, कुटुम्ब छूटा, जंगल-जंगल मारे-मारे फिरते हैं। इतनेपर भी संतोष नहीं है। सरकारको अकेला जानकर निरादर करने चले हैं।

---

* इसके अर्थ लोगोंने यों किये हैं—१—भरतसे हमारे पास कम सामान नहीं है—(वीर)। २—हमपर जब थोड़ा नहीं किया, दुःख देनेका उपाय बहुत किया—(रा० प्र०)। ३—भरतने हमारे साथ कम (कु) व्यवहार नहीं किया—(दीन)।—पर, यह अर्थ 'उपचरा न थोरा' पाठका किया गया है। ४—भरतके और हमारे बीच परस्पर व्यवहार थोड़ा नहीं है।—[उपचार=व्यवहार]। परन्तु उपचारका अर्थ 'अभ्यास' लिया जाय तो 'भरतकी अपेक्षा हमलोगोंका युद्धका अभ्यास कम नहीं है' यह अर्थ होता है—(गौड़जी)। ५—'भरतने हमें कम नहीं प्रचारा है (हमारे साथ कम छेड़-छाड़ नहीं की है)। (गी० प्रे०)।

प्राचीन पाठ *'उपचरा'* है, और यही ठीक है। व्यंजनामें आज भी 'पूजा' का प्रयोग निरादरके अर्थमें होता है।

प० प० प्र०—*'कहँ लगि सहिअ'* से स्पष्ट है कि भरतजीने जो उपचार किया उसका सहना कठिन था] पर आजतक मन मारकर सहा गया, अब असह्य हो गया। इससे 'उपचार' का 'दुर्व्यवहार, सताना' अर्थ ही संदर्भानुकूल है। इससे सम्बन्धित दूसरा श्लिष्टार्थ यह भी निकलता है कि इसका बदला देनेको हमारे पास भी उचित उपचारका सामर्थ्य है।—*'भले भवन अब बायन दीन्हा।'*

रा० प्र०—*'नाथ छत्रिजाति रघुकुल जनम राम अनुग'* इति। भाव कि शूरोंके साथ कादर भी शूर हो जाता है। आपके समान संसारमें कोई वीर नहीं, ऐसे स्वामीके साथ कैसा ही प्रबल शत्रुका सामना पड़े तो डर नहीं हो सकता; हाथमें धनुष है अर्थात् अस्त्र-शस्त्र धारण करनेपर, शूर न भी हो तो भी, भागनेकी लज्जा होती है। जाति है क्षत्रियकी, जो न सहनेवाली प्रसिद्ध है; बनिया होते तो सह जाते। रघुकुल जन्म कि जिस कुलका सहज-स्वभाव है कि *'जो रन हमहिं प्रचारइ कोई। लरहिं सुखेन काल किन होई॥', 'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।'* जनक महाराजतकको भरी सभामें डाँट दिया, परशुरामका तिरस्कार किया। फिर जगत् जानता है कि आपका छोटा भाई हूँ। भाव कि आप महारणधीर हैं तो आपका भाई होकर मैं क्योंकर रणधीर न हूँगा।

नोट—१ (क) धूल पैरके नीचे सदा रहती है पर वह पैर जब जरा अपना क्रोध दिखलाता है तो वही धूल उसे नहीं सह सकती। यहाँ *'धूरि'* स्त्रीलिंग पद दिया। भाव यह कि वह अबला है, बलहीन है, सो भी अपना अपमान नहीं सह सकती फिर जिसमें बल हो वह कैसे सहे? (ख) *'नीच को धूरि समान',* यथा—*'रज मग परी निरादर रहई। सब कर पग प्रहार नित सहई॥'* (७। १०६) पर जब कोई क्रोधसे या जोरसे उसपर पैर पटकता है तब वह भी नहीं सहती। अबतक वे कुचलते आये हम सहते गये, सेना लेकर यहाँ आये मानो लात चलायी तो अब हम उनके सिरपर ही चढ़ बैठेंगे।

नोट—२ *'कहँ लगि सहिअ'* के कारण इतने बताकर जनाया कि इनमेंसे कोई भी एक गुण होनेसे निरादर कोई सह नहीं सकता और यहाँ तो इतने गुण एकत्र हैं, तब कैसा होना चाहिये यह समझ लें। 'दूसरा समुच्चय' अलंकार है।

लक्ष्मण-क्रोधाभिनिवेश

१—मा० हं०—'यह वर्णन तो बड़ा ही आवेशपूर्वक किया हुआ दिखता है। लक्ष्मणजीका स्वभाव इसमें अच्छी तरहसे निर्दिष्ट किया है। विकारवश हो जानेवाले स्वभावके कारण, दूसरोंकी सारी जन्मकी कमाईकी, छोटा-सा भी कारण आ जानेपर, एक क्षणमें अवहेलना हो जाती है, यह बात कविने *'भरत हमहिं उपचार न थोरा'* इतनेहीमें बड़ी सुन्दरतासे दिखलायी है। लक्ष्मणजीके ऐसे अपस्मारी बननेके पहले बेचारे भरतजी उन्हें कैसे अच्छे दीखते थे, परन्तु विकारवशताके एक ही झटकेसे वे ही भरतजी उन्हें कुछ-के-कुछ दिखायी देने लगे। कविका यह स्वभाव निरीक्षण बहुत ही मार्मिक हुआ है। अध्यात्म और वाल्मीकिमें यह इतना सुन्दर नहीं है।

प० प० प्र०—लक्ष्मणस्वभावका यह शब्दचित्र (जो दोहा २३० तक है) मानवी मानसका तथा अनन्य सेवक-दास्यभक्तका एक उत्कृष्ट नमूना है। जिसमें अपने सेव्यको दुःख देनेवाले अपने सहोदरको भी एक क्षणमें सुहृद्के बदले महान् शत्रु मानने लगता है। लक्ष्मणजीके—*'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥ मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।'* (७२। ४—६)—ये वचन यहाँ अक्षरशः चरितार्थ करके बताया है कि—(१) सौतेले भाईके प्रेमवश सहोदर भ्राताको भी मारनेको तैयार होना पूर्ण निर्ममत्वका ही द्योतक है। प्रेम अंधा होता है। इससे कभी-कभी विवेक विलोचन भी कैसा और कितना मलिन हो जाता है यह भी बड़ी रमणीय और रोमांचकारी भाषा-शैलीसे सुचित्रित किया है। श्रीलक्ष्मणजीके ये दो चित्र एक ही पटपर चित्रित करनेसे बड़ा सुन्दर भावोद्बोधक चित्र बन जायगा

और उसके नीचे Look at this picture and that (इस चित्रको देखो और उसे भी) लिखना भी उचित होगा।

३—गौड़जीका लेख २२७ (६—८) में देखिये।

उठि कर जोरि रजायसु मागा। मनहु बीररस सोवत जागा॥ १॥
बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासनु सायकु हाथा॥ २॥
आजु रामसेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावनु देऊँ॥ ३॥
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहु समर सेज दोउ भाई॥ ४॥

शब्दार्थ—**सिखावनु**=शिक्षा, किसी अनुचित कार्यका बुरा परिणाम जिसमें फिर वैसा काम न करे, सबक, दण्ड। सिखावन देना=सबक देना, मजा चखाना, दण्ड देना। **सोवहुँ**=सोवें। महाकवि तुलसीदासजीने ऐसा प्रयोग बहुत स्थानोंमें किया है। उदाहरण—***'जानहु राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥'*** (२०५। १) ***'लषन राम सिय जाहु बन भल परिनाम न पोचु।'*** (२८२)। इत्यादि। ***'सोवहुँ'*** लोट्लकारका अपभ्रंश है और ***'सोवहिं'*** लट्लकारका। रा० प्र० कार इसे वर्तमान क्रिया मानते हैं। पूर्व इस सम्बन्धमें लिखा जा चुका है।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी उठकर हाथ जोड़कर आज्ञा माँगी मानो वीररस सोतेसे जग पड़ा हो॥ १॥ जटाएँ सिरपर बाँधकर कमरमें तरकस कसकर, धनुषको सजाकर, हाथमें बाण लेकर बोले—॥ २॥ आज मैं रामसेवक होनेका यश लूँ (प्राप्त करूँ), भरतको रणमें सबक दूँगा (कि रामविमुखकी कैसी दुर्गति होती है)॥ ३॥ श्रीरामजीके अपमानका फल पाकर दोनों भाई रणशय्यापर सोवें॥ ४॥

नोट—१ ***'उठि कर जोरि रजायसु मागा।'*** इति। ***'उठि'*** का भाव कि अभीतक बैठे-बैठे कह रहे थे। ***'कर जोरि रजायसु मागा'*** इससे स्पष्ट है कि वे जो जिस समय उचित समझते हैं कह डालते अवश्य हैं, किन्तु प्रभुकी आज्ञा बिना वे कुछ करते नहीं, आज्ञाके विरुद्ध तो कुछ करेंगे ही नहीं। जानते हैं कि उचित होगा तो प्रभु आज्ञा देंगे, नहीं तो नहीं। सरकारका वाक्य है—***'सदा करौं तिन्ह कै रखवारी।'''''''।'*** धनुषयज्ञ तथा परशुरामप्रसंगमें भी देख लीजिये। वहाँ भी ***'नाइ राम पद कमल सिरु बोले गिरा प्रमान।'*** (१। २५२) और आज्ञा माँगी है। यथा—***'जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥''''''' नाथ जानि अस आयसु होऊ। कौतुक करौं बिलोकिअ सोऊ॥'*** यहाँ ***'बीररस सोवत जागा'*** चेतनता द्योतक पद दिया है। ***'मनहुँ बीररस सोवत जागा'*** अर्थात् मानो लक्ष्मणजी नहीं उठे किंतु वीररस सो रहा था सो उठा। स्त्राविक काव्यकी यह रीति है कि शान्तरसके उदयपर सब रस सो जाते हैं और जब वह नहीं रहता तब शेष आठों रस विलास करते रहते हैं। वनवासके समयसे बराबर शान्तरस उदित रहा, जब भरतजीको प्रतिकूल जाना तब वीररस जो सो रहा था वह जग उठा। (वै०) (ख) शरीर रक्तवर्ण हो गया, अतः वीररस जागना कहा। (पं०)

प० प० प्र०—***'बीररस सोवत जागा'*** इति। (क) ***'कहँ लगि सहिअ रहिअ मन मारे'*** से मिलान कीजिये। यह वीररस तो वनगमन समयसे ही क्रियाशील हो जानेको था किंतु श्रीराम इच्छारूपी माताने उसे नीतिमर्यादापालनरूपी पर्यंकपर सुला रखा था। अब ससैन्य भरतागमनवार्तारूपी रणदुन्दुभिघोषणाने उसको जगा दिया। जागनेके लक्षण देखिये—***'अरुन नयन भृकुटी कुटिल।'*** जागनेके बाद क्रियाशीलता होती है, वह यहाँ ***'बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा।'''''''*** ' इत्यादिसे सूचित की गयी। (ख) बालक प्रथम जाग्रत् होता है तब हाथ-पैर हिलाने लगता है, फिर 'मा' आदि शब्द उच्चारण करता है। वही क्रम यहाँ है—***'मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला।'*** ही लक्ष्मणजी हैं। माताका कष्ट देखकर बालकमें भी वीररस जाग्रत् होना ही चाहिये। यहाँ 'हेतुरहित उपकारी आनन्दसिंधु' ही माता हैं।

नोट—२ (क) ***'साजि सरासनु सायकु हाथा'*** अर्थात् धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ाकर संग्रामके लिये सन्नद्ध हो गये। (ख) ***'आजु रामसेवक जसु लेऊँ'*** इति। मिलान कीजिये—***'स्वामि काज करिहहुँ रनरारी। जस***

धवलिहउँ भुवन दसचारी॥' 'सुमिरि राम माँगेउ तुरत तरकस धनुष सनाह।' (१९०), निषादराजने भी तरकस धनुष, कवच धारण किये और कहा कि स्वामीके कार्यके लिये लड़ूँगा। जिससे चौदहों लोकोंमें उज्ज्वल यश होगा। श्रीलक्ष्मणजीके वाक्यमें भी वही भाव है। स्वामीका काम करनेसे सेवकको यश प्राप्त होता ही है। निषादराज जानता था कि जीतूँगा नहीं, मेरे प्राण जायँगे पर जीते जी पार न होने दूँगा। इसीसे उसने कहा था कि *'बड़े भाग असि पाइअ मीचू।'* और लक्ष्मणजीको विश्वास है कि मैं अकेला सबको मार गिराऊँगा। इसीसे कहते हैं कि *'भरतहि समर सिखावनु देऊँ।'* अर्थात् आज सबको मार डालूँगा। जबतक वे मारे न जायँगे तबतक शिक्षा न होगी। (पु० रा० कु०) ऐसा करनेसे आज सच्चा सेवक कहलाऊँगा। (ख) *'सोवहु सेज⋯'* इति। रा० प्र० का मत है कि यहाँ भविष्य क्रिया न देकर वर्तमान क्रिया देकर वीररसकी पूर्णता दिखायी है। *'समर सेज'*— *'सोवहु'* के सम्बन्धसे समरको शय्यासे रूपित किया क्योंकि शय्यापर राजा लोग सोते ही हैं।

आइ बना भल सकल समाजू। प्रकट करउँ रिस पाछिल आजू॥ ५॥
जिमि करि निकर* दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥ ६॥
तैसेहिं भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥ ७॥
जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥ ८॥

दो०—अति सरोष माषे लषनु लखि सुनि सपथ प्रवान।
सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान॥ २३०॥

शब्दार्थ—'**आइ बना**'=एकत्र हुआ। 'आ बनना'=किसीको लाभ उठाने या स्वार्थ-साधनका मौका हाथ लगता—पर यह अर्थ यहाँ नहीं संगत है। '**लवा**'—'**तित्तिरः ककुभो लावः**' (**अमरकोष**) *तीतर। 'जनु सचान बन झपटेउ लावा॥'* (२९। ४) देखिये।' '**भभरि**'=भयभीत होकर, घबड़ाकर, डरकर। 'लपेट लेना'=पकड़में कर लेना, अंगोंको चारों ओर सटाकर घेरेमें कर लेना; ग्रसना। '**निदरि**'=निडर होकर वा निरादर करके। '**दलइ**'—दलना=टुकड़े-टुकड़े कर डालना, नष्ट करना, विदीर्ण करना। '**प्रवान**' (प्रमाण)= निश्चय, दृढ़ धारणा, प्रतीति, यथा—*'सुनु सठ अस प्रमान पन मोरा।'*=मर्यादा, थाप, साख—*'तीनि जनम द्विज बचन प्रवाना।'* (१। १२३। १) विशेषण माननेसे अर्थ होगा—सत्य, प्रमाणित, ठीक घटता हुआ—*'बरष चारिदस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान॥'* (५३) मान्य, प्रामाणिक, मानने योग्य, ठीक—*'नाइ रामपद कमल सिर बोले गिरा प्रमान।'* (१। २५२)

अर्थ—अच्छा हुआ जो सारा समाज इकट्ठा आ जुटा। आज मैं पिछला क्रोध प्रकट करता हूँ॥ ५॥ जैसे सिंह हाथियोंके समूहको दल डालता है, जैसे बाज लवाको (चंगुलमें) लपेट लेता है॥ ६॥ वैसे ही भरतको भाईसहित और सेनासमेत तिरस्कार करके रणके मैदानमें मार गिराता हूँ॥ ७॥ जो शंकरजी भी आकर उनकी सहायता करें तो श्रीरामजीकी कसम है! उन्हें भी (वा, तौ भी भरतको) रणमें मार गिराऊँगा॥ ८॥ लक्ष्मणजी अत्यन्त क्रोधपूर्वक रुष्ट हुए, यह देखकर और सत्य प्रामाणिक शपथ सुनकर सब लोक भयभीत हो गये और सब लोकपाल घबड़ाकर अपने लोकोंको छोड़कर भागना चाहते हैं॥ २३०॥

नोट—१ *'आइ बना भल'* अर्थात् बड़ी अच्छी बात बन गयी कि सारा समाज एकट्ठा ही मिल गया, नहीं तो किस-किसको ढूँढ़ते। दूसरे यह भी जान गये कि ये सब शत्रुपक्षके हैं, वैसे पता भी न चलता। (पु० रा० कु०)

नोट—२ *'प्रकट करउँ रिस पाछिल आजू'* इति। यह वह क्रोध है जिसका उल्लेख वाल्मीकीयमें है। वाल्मी० २। २१ में श्रीकौसल्या अम्बाको दुःखित देखकर उन्होंने श्रीरामजीसे कहा है कि 'आप

* 'निकरि'—(ला० सीताराम)

राज्यपर अधिकार कर लें। मैं धनुष लेकर आपकी रक्षामें तत्पर रहूँगा! यमराजके समान मेरे रहते किसकी शक्ति है कि आपके विरोधमें खड़ा हो? यदि कोई विरोधमें खड़ा होगा तो मैं अपने तीखे बाणोंसे समूची अयोध्याको मनुष्यहीन कर दूँगा। जो कोई भी भरतके पक्षमें हो अथवा उनका हितकारी हो, उन सबको मैं मारूँगा, शान्त रहना अच्छा नहीं। यदि पिता शत्रुपक्षका साथ दें तो वे भी निस्संदेह कैद कर लिये जायँगे। गुरु भी यदि अहंकारमें आकर कार्य-अकार्यका ज्ञान खो दें, मर्यादाका उल्लंघन करके मन-माना काम करने लगें तो उनका भी शासन करना चाहिये, उन्हें भी दण्ड देना चाहिये!' इत्यादि। (श्लोक ८—१५) **'निर्मनुष्यामिमां सर्वामयोध्यां मनुजर्षभ। करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये॥'** (१०) इत्यादि ही वह ***'रिस'*** है।

सर्ग २३ में भी उनका क्रोध वर्णित है। उन्होंने कहा है—जिन लोगोंने दैवके कारण अभिषेकमें विघ्न देखा है, वे आज मेरे पुरुषार्थद्वारा भाग्यको भी नष्ट देखेंगे। तीनों लोक और समस्त लोकपाल भी मिलकर रामचन्द्रजीके अभिषेकको नहीं टाल सकते। मैं पिताकी आज्ञा तथा उसकी भी आशाको जला दूँगा जो आपके अभिषेकमें विघ्न डालकर अपने पुत्रके राजा होनेकी कामना करती है। ⋯मेरी भुजाएँ शोभाके लिये नहीं हैं और न धनुष मेरा आभूषण है। ये शत्रुके मथन करनेके लिये ही हैं। मैं इन्द्रको भी मार सकता हूँ। धनुष ग्रहण करनेपर संसारमें कौन पुरुष योद्धा बनकर मेरे सामने खड़ा हो सकता है। आपका प्रभुत्व स्थापित करनेके लिये मेरा अस्त्र-सम्बन्धी पराक्रम प्रताप अपना प्रभुत्व फैलावेगा। मैं आपका सेवक हूँ। आप मुझे आज्ञा दें। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि राम-राज्याभिषेकमें विघ्न पड़नेके दुःखसे लक्ष्मणजीको सबसे अधिक क्रोध हुआ था, वे क्रोधित हाथीके समान हो गये थे, उनकी आँखें चढ़ आयी थीं।—**'सरोषमिव नागेन्द्रं रोषविस्फारितेक्षणम्।'** (२। २२। १) वे क्रोध दिलाये हुए बिलस्थ सर्पके समान साँसें ले रहे थे। उस समय उनका दुष्प्रेक्ष्य मुख क्रोधित सिंहके मुखके समान था—**'निशश्वास महासर्पो बिलस्थ इव रोषितः॥ तस्य दुष्प्रतिवीक्ष्यं तद् भृकुटीसहितं तदा। बभौ क्रुद्धस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम्॥'** (२। २३। २-३)

जैसे मानसमें ***'प्रकट करउँ रिस पाछिल आजू'*** शब्द हैं इसी तरह वाल्मी० (२। ९६) में **'अद्येमं संयतं क्रोधमसत्कारं च मानद॥'** (२७) **'मोक्ष्यामि⋯।'** ये वचन हैं। अर्थात् आज अपने रोके हुए क्रोध तथा तिरस्कारको शत्रुसेनापर छोड़ूँगा। इसपर श्रीरामजीने उनसे कहा है कि 'तुम्हारी मुझमें जो भक्ति है और तुम्हारा जो पराक्रम है उसे मैं जानता हूँ।—**'अहं हि ते लक्ष्मण नित्यमेव जानामि भक्तिं च पराक्रमं च।'** (२। २१। ५६) और उनको बारंबार समझानेपर भी जब उनको संतोष न हुआ तब यही कहा कि 'मैं पिता-माताकी आज्ञाके अधीन हूँ ऐसा समझो, यही सन्मार्ग है।—**'उवाच पित्रोर्वचने व्यवस्थितं निबोध मामेष हि सौम्य सत्पथः।'** (२। २३। ४२) तब वे क्या करते, मन मारकर रह गये। पर मानसमें उसका लेशमात्र नहीं कहा था क्योंकि लोकशिक्षाके अनुकूल नहीं है। यहाँ इतना जना दिया कि इनको क्रोध हुआ था कि राज्याभिषेक कहकर वन क्यों दिया गया; पर श्रीरामजीके संकोचसे वहाँ कुछ न कह सके थे। किंचित् इशारा सुमंतजीको उस क्रोधका दिया था। जो ***'पुनि कछु लषन कही कटु बानी। प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी॥'*** (९६। ४) और सुमन्त्रजीके ***'लषन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोहि निहोरा॥'*** (१५२। ७) इन वचनोंसे लक्षित होता है। कठोर वचन क्रोध होनेपर ही निकलते हैं—***'क्रोध के परुष बचन बल।'*** आज कैकेयीके वनवास दिलानेका बदला लूँगा। यहाँ वाल्मीकिजीका भी मान एक चरणसे रख दिया। किसी कल्पमें वैसा ही हुआ होगा। जो यहाँ कहा ऐसा ही क्रोध वहाँ मनमें था, यह यहाँ समझ लें।

वे० भू० जीका मत है कि शृंगवेरपुरवाली रिसको यहाँ ***'पाछिल रिस'*** कहा है। क्योंकि पिछली बार रिस शृंगवेरपुरमें ही हुई थी।

किसी-किसीने—(पां०, वि० टी०) —यहाँ ***'पाछिल रिस'*** से 'प्रलय समयका क्रोध' ऐसा अर्थ

किया है। अर्थात् जैसे प्रलयकालमें हजार मुखसे ज्वाला निकालकर ब्रह्माण्डका प्रलय करता हूँ, वैसे धनुष-बाणसे आज इन सबको नष्ट करूँगा। पर यह क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं जो प्रसंगानुकूल नहीं हैं।

'यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितू रविकान्तः। तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतविकृतिं कथं सहते॥' इति नीतिः॥ (वंदन पाठकजी)

नोट—३ ***'जिमि करि निकर दलइ मृगराजू······'*** इति। अवधमें जीमें कैकेयीपर बड़े कुढ़े थे। यहाँ दो दृष्टान्त दिये। भाव यह कि संसारमें यदि दो वीर लड़ें और करनी करके कोई भी मरे तो उसे भी यश होता है। कहनेका आशय यह है कि यहाँ उनको यश भी न प्राप्त होने देंगे, नामका भी निशान न रहने देंगे। इसी विचारसे दो दृष्टान्त दिये। भरतको लड़नेका मौका ही न देंगे, उनकी ओरसे एक हथियार भी न चलने पावेगा, हम पहले ही मार डालेंगे। सिंह देखते ही झुंडपर वार करता है, हाथियोंके समूहको विदीर्ण करता है। वैसे ही मैं पहले सेनाको दल डालूँगा, उनका जोर न चलने पावेगा। फिर जैसे लवाको बाज लपेट ले, लवा एक चोंच भी नहीं मार सकता वैसे ही भरत-शत्रुघ्नको लपेट लूँगा। वे भागने न पावेंगे। श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि 'यहाँ दो उपमाएँ दीं। एक करिनिकर और मृगराजकी, दूसरी लवा और बाजकी। सेनाको भगानेके लिये सिंहकी उपमा दी और दोनों भाइयोंको पकड़नेके लिये बाजकी। जैसे सिंह हस्तिसमूहको दल डालता है वैसे ही मैं उनकी चतुरंगिणी सेनाको दल डालूँगा। जैसे बाज पंजेमें लवाको जिन्दा लपेट लेता है वैसे ही मैं दोनों भाइयोंको, एक हाथसे भरतको और एकसे शत्रुघ्नको पकड़ लूँगा। भाव यह है कि जैसे लवाके समूहमेंसे बाज दोनों पंजोंमें लवाको पकड़ लेता है और शेष लवा-समूह भाग जाता है, उसी तरह सेनाके भाग जानेपर दोनों भाइयोंको भागने भी न दूँगा। बाजकी तरह बिना प्रयास दोनों हाथोंसे पकड़ लूँगा। ***'निदरि'*** का भाव यह भी निकलता है कि 'शत्रुहन' आजसे 'शत्रु भागा' कहलायेंगे। उनको थोड़ी दूर भगाकर मारूँगा। (शीला) [(नोट—निदरिका यह भाव पूर्वसे संगत नहीं जान पड़ता। बिरथ आदि दुर्गति करके मारूँगा यह निरादर है। (पं०)]

यदि कोई कहे कि वे बहुत हैं, तुम अकेले क्या कर सकोगे, उसपर ये दृष्टान्त देकर जनाया कि हम अकेले सिंह और बाजके समान हैं, वे करिनिकर और तित्तरके सदृश हैं। मेरे सामने औरकी क्या गिनती जो त्रिपुरान्तक त्रिशूल लेकर आ जायँ तो उनको भी मारूँ। (वै०, रा० प्र०) विशेष ***'जनु सचान बन झपटेउ लावा॥'*** (२९। ४) में देखिये।

नोट—४ ***'जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारउँ रन'*** इति। भाव कि (क) शंकरजी संहारकर्ता हैं वे सहायता करने आवें तो उनको भी मारूँगा। रामजीके लिये ऐसा करनेकी भी शपथ लेते हैं। भाव यह कि किसी पक्षपातीको न छोड़ेंगे चाहे वह काल ही क्यों न हो। वे संहार करना भूल जायँगे, उन्हें अपनी जानके लाले पड़ेंगे। (शीला)

(श्रीप्रज्ञानानन्दजीका मत है कि 'यहाँ शंकर' का अर्थ 'संहारकर्ता' करना वदतो व्याघात है। उस अर्थके वाचक रुद्र, हर और ईश हैं। 'शिव' शब्द भी ईश्वरवाची होनेसे संहारकर्ताके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यथा—***'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥' 'देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका', 'रुद्रहि देखि मदन भय माना'*** (१। ८६। ४), ***'बिधि हरिहर पद पाइ।'*** इत्यादि। और शंकर नाम आया है सहज स्वरूप आदिके साथ। यथा—***'संकर सहज सरूप सँभारा।')*** भरतजी शंकरजीका पूजन करते हैं, अतएव कहा ***'जौं सहाय······'***। अपना इष्ट रघुवीरको समझते हैं और भरतके इष्ट शंकरको (खर्रा)। आशय यह है कि वे शंकरजीका पूजन किया करते हैं। इससे सम्भव है कि वे सहायताको आवें, इसीसे ***'जौं सहाय कर संकर आई'*** कहा। (नं० प०) शंकर (कल्याण करनेवाले) आकर भी उनका कल्याण चाहें तो भी कल्याण नहीं हो सकता। (ख) शंकरजीके लिये तो ऐसा न कहना चाहिये, उनकी पूजा रामजीद्वारा देखते हैं, ऐसा विचार कर दूसरा अर्थ भी दिया गया। पर यह खयाल रहे कि इनका-सा रामानन्य भी कोई नहीं। ये श्रीरामके विरोधीको शत्रु ही मानते हैं, माता-पिता, गुरु आदि किसीकी भी

चिन्ता उन्होंने न की। इन्होंने कभी किसी देवताको नहीं मनाया। *'जौं'* का भाव कि वे आवेंगे नहीं और आये तो फल पायेंगे।

पु० रा० कु०—मेघनादवधकी प्रतिज्ञामें *'जौं सत संकर करइ सहाई। तदपि हतउँ रन राम दोहाई॥'* ऐसा कहा है और यहाँ केवल *'संकरु'* अर्थात् एकहीको कहा। यह भेद क्यों? इससे कि वहाँ श्रीरामजीकी आज्ञा हो चुकी है कि मेघनादको जाकर मारो, इससे वहाँ और भी कड़ी शपथ की और यहाँ *'रजायसु माँगा'* पर अभी मिली नहीं है।

वि० त्रि०—शंकरभगवान् संहारकर्ता हैं, अतः इनका सामना कोई नहीं कर सकता, तो यदि शंकरजी भी भरतकी सहायता करें, तो भी राम दोहाई, मैं रणमें भरतको मार ही डालूँगा। दूसरे स्थानपर भी लक्ष्मणजीने इन्हीं शब्दोंमें शंकरजीको स्मरण किया है, यथा—*'जौं सतसंकर करहिं सहाई। तदपि हतौं रन राम दोहाई॥'* परशुराम संवादमें भी *'अब आनिय ब्यौहरिआ बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली॥'* (१। २७६)। से शंकरजीपर ही आक्षेप मालूम होता है। अतः यह शंका उठनी स्वाभाविक है कि 'रामजीके अत्यन्त प्रिय शंकरजीपर लक्ष्मणजी इस भाँति आक्षेप क्यों करते हैं?' सरकार स्वयं कहते हैं *'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे। अस बिस्वास तजिअ जनि भोरे॥ संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मंद मति थोरी॥ संकर प्रिय मम द्रोही सिवद्रोही मम दास। सो नर करइ कल्प भर घोर नरक महँ बास॥'* उन तीनों स्थलोंमें शंकरजीका कोई प्रसंग भी नहीं था, फिर नाहक उनका नाम लेकर उन्हें अपमानित करनेसे क्या लाभ?

बात यह है कि तीनों स्थलोंमें शंकरसम्बन्धी आक्षेपसूचक शब्दोंमें वक्ताका तात्पर्य ही नहीं है, तात्पर्य तो इस बातपर जोर देनेमें है कि मैं शत्रुका वध अवश्य करूँगा, क्योंकि शंकरभगवान्‌का इन स्थलोंमें कोई प्रसंग नहीं है। मीमांसाके बलाबलाधिकरणमें **'सा वैश्वदेव्या आभिक्षा वाजिभ्यो वाजिनमिति'** (वह विश्वेदेवसम्बन्धी छेना है, 'छेनाका पानी वाजी देवताके लिये हैं) स्पष्ट कह दिया गया है कि यहाँ वाजी देवताका प्रकरण नहीं है, अतः छेनाका पानी वाजी देवताके लिये है', इन शब्दोंमें वाक्यका तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य इतना ही है कि छेना विश्वेदेवका आहार है। इसी भाँति शंकरभगवान्‌का प्रसंग न होनेसे, तत्सम्बन्धी वाक्यमें तात्पर्य नहीं है, **'न निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवृत्ता किन्तु विधेयं स्तोतुम्।'** निन्दाका निन्द्यके निन्दा करनेमें तात्पर्य नहीं है किन्तु विधेयकी स्तुतिमें तात्पर्य है। शास्त्रोंमें जहाँ तुलसीमाला और ऊर्ध्वपुण्ड्र धारणकी महिमा है, वहीं भस्म, रुद्राक्ष धारणकी निन्दा है, और जहाँ भस्मरुद्राक्ष धारणकी महिमा कही गयी है, वहाँ तुलसीमाल-धारण और ऊर्ध्वपुण्ड्रकी निन्दा की गयी है। ऐसे वाक्योंमें मोह उन्हींको होता है जो तात्पर्य निर्णयकी विधिसे अनभिज्ञ हैं। जहाँ ऊर्ध्वपुण्ड्र तुलसीमाला धारणकी महिमा कही जा रही है वहाँ भस्मरुद्राक्ष धारणका कोई प्रसंग नहीं है, अतः वह निन्दा तुलसीमाल और ऊर्ध्वपुण्ड्रके स्तुतिके लिये है, भस्मरुद्राक्षकी निन्दाके लिये नहीं। इसी भाँति जहाँ भस्मरुद्राक्षकी महिमा गायी जा रही है, वहाँ तुलसीमाल और ऊर्ध्वपुण्ड्रकी निन्दा भस्मरुद्राक्षकी स्तुतिके लिये है; तुलसी ऊर्ध्वपुण्ड्रकी निन्दाके लिये नहीं। इस बातको न समझकर लोग व्यर्थ बड़ा भारी विवाद उपस्थित करते हैं।

उपर्युक्त स्थलोंपर शंकरजीपर आक्षेप केवल शत्रुवधके निश्चयपर जोर देनेके लिये है, न कि शंकरजीकी निन्दाके लिये। आज भी लोग कह बैठते हैं कि ब्रह्मा आवें तो भी मैं नहीं मानूँगा। उनका तात्पर्य न माननेपर रहता है। ब्रह्मदेवके आज्ञा भंगपर नहीं।

नोट—५ *'राम दोहाई'* (क) रामकी शपथ की, इसीसे रण न हुआ। रण होता तो अवश्य मारते। (पु० रा० कु०) पुनः, देवताकी दुहाईसे मन्त्र शक्तिमान् होता है इसीसे *'राम दोहाई'* से अपनी प्रतिज्ञाको शक्तिमान् किया है। (वै०) (ख) लक्ष्मणजी प्रभुको छोड़ दूसरेकी शपथ नहीं करते। मेघनादवधमें भी 'रामदोहाई' है। जनकपुरमें भी *'जौं न करउँ प्रभुपद सपथ'* कहा है। औरोंने तो पिता, शंकर, गुरु आदिकी शपथें भी की हैं। इष्टकी शपथ प्रमाण है ही। (श्रीप्रज्ञानानन्दजी 'रामदोहाई' का अर्थ 'रामद्रोही' भी करते हैं। यथा—*'पापसिरोमनि साँइ दोहाई।'*)

लक्ष्मण-गुहका मिलान

श्रीरामसखा निषादराज	श्रीरामानुज लक्ष्मणजी
है कछु कपट भाउ मन माहीं। १८९ (३)।	*कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आये दल बटोरि*
जौं पै जिय न होति कुटिलाई—	*जौं जिय होति न कपट कुचाली*
तौ कत लीन्ह संग कटकाई—	*केहि सोहाति रथ बाजि गजाली।* (२२८। ७)
जानहिं सानुज रामहिं मारी।	*जानि राम बनबास एकाकी।*'''''' *। आए करइ अकंटक*
करउ अकंटक राज सुखारी	*राजू।* (२२८। ५) *निदरे राम जानि असहाई।* (२२९। ३)
भरत न राजनीति उर आनी—	*चले धरम मरजाद मिटाई*
तब कलंक अब जीवन हानी	*केहि न राजमद दीन्ह कलंकू*
सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीतनिहारा	*समुझि परिहि सोउ आजु बिसेषी। समर सरोष राम मुख पेषी॥*
का आचरज भरत अस करहीं	*भरतहिं दोष देइ को जाये*
नहिं बिषबेलि अमिय फल फरहीं	*जग बौराइ राजपद पाये*
स्वामिकाज करिहउँ रनरारी। जस धवलिहउँ भुवन दसचारी	*आजु रामसेवक जसु लेऊँ*
(१९०) *सुमिरि राम माँगेउ तुरत तरकस*	*प्रभुपद बंदि सीस रज राखी॥ कसि कटि भाथा। साजि*
धनुष सनाह।	*सरासन सायक हाथा॥*
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ	*'भरतहिं समर सिखावन देऊँ।'''''मारउँ रन रामदोहाई'*
एतना कहत छींक भइ बाएँ—	*गगन भइ बानी*
सहसा करि पछिताहिं बिमूढ़ा	*सहसा करि पाछे पछिताहीं।*
बूढ़ एक कह'''''सगुन कहइ अस बिग्रह नाहीं	*कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥*
भरत सुभाउ सील बिनु बूझे। बड़ि हित हानि	*'अनुचित उचित काज कछु होऊ। समुझि करिय''*
सुनि गुह कहइ नीक कह बूढ़ा	*सुनि सुरबचन लषन सकुचाने*

नोट—**'*सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान।*'**—लक्ष्मणजीका क्रोध ऐसा ही है। त्रैलोक्यको कँपा देता है। यथा—**'*लषन सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥*'** **'*सकल लोक सब भूप डेराने।*'** (१। २५४) इससे जान पड़ता है कि इनके प्रभावको सब जानते हैं। समस्त लोकोंमें हलचल मच गयी। कुछ लोगोंने **'*लोक*'** का अर्थ 'लोग' किया है पर वे लक्ष्मणजीके मानसमें कथित प्रभावको नहीं जानते, यथा—**'*सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारइ भुवन चारि दस आसू॥*'** (लं० ५४) यहाँ लक्ष्मणजीके क्रोधका स्वरूप दिखाया कि क्रोध तो एकपर है और डरते अनेक हैं, आतंक तीनों लोकोंपर छा गया है। **'*चाहत भभरि भगान*'**—भाव कि वे डरे कि यह असमय प्रलय कैसा? क्या प्रलयका समय आ तो नहीं गया?

जगु भय मगन गगन भइ बानी। लषन बाहुबल बिपुल बखानी॥ १॥
तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा। को कहि सकइ को जाननिहारा॥ २॥
अनुचित उचित काजु किछु होऊ। समुझि करिअ भल कह सबु कोऊ॥ ३॥
सहसा करि पाछें पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—'**प्रताप**'= बल, पराक्रम आदि महत्त्वका ऐसा प्रभाव जिसके कारण उपद्रवी शान्त रहें, तेज, इकबाल। 'प्रभाव'= शक्ति, कोई बात पैदा कर देनेकी ताकत, ऐसा अधिकार या मान कि जो बात चाहे करा ले।

अर्थ—संसार भयमें डूब गया। (तब) लक्ष्मणजीके बाहुबलकी बहुत-बहुत प्रशंसा करती हुई आकाशवाणी हुई॥ १॥ हे तात! तुम्हारे प्रताप और प्रभावको कौन कह सकता है और कौन जाननेवाला है?॥ २॥ पर अनुचित या उचित कुछ भी कार्य हो (वा, कोई भी कार्य हो वह उचित है या अनुचित) उसे समझ-

बूझकर कीजिये तो सब कोई अच्छा कहते हैं॥ ३॥ वेद और बुद्धिमान् पण्डित लोग कहते हैं कि जो बिना सोचे किसी कार्यको सहसा करके फिर पछताते हैं, वे बुद्धिमान् नहीं हैं॥ ४॥

पु० रा० कु० १— ***'जगु भय मगन'*** अर्थात् जगत्‌की यह दशा हुई तब यह डर हुआ कि इनके कर्तव्यसे इसका नाश न हो जाय। अतएव तब उसी समय देववाणी हुई।

'आकाशवाणी'

मा० हं०—यह आकाशवाणी कविके हृदयाकाशमें ही प्रथम प्रकट हुई-सी दीख पड़ती है, क्योंकि कहीं इधर-उधर उसका नामतक नहीं सुनायी देता,* परंतु संविधानकी दृष्टिसे वह कविके सप्रेम कल्पना-चातुर्यकी ही द्योतक है। कविने इसमें यह दिखलाया है कि लक्ष्मणजीकी क्रोधाग्नि श्रीरामजीके शान्त पाठोंसे भी शान्त न होती।

शिला—रामजी कुछ न बोले। पहले देववाणी सुनाकर तब बोले। कारण कि लक्ष्मणजी आचार्य हैं, रामजीके अनन्य भक्त हैं। उनके मुखसे जो वचन निकल रहे हैं वे सब सच्चे अनन्य भक्तोंके लिये उदाहरण हैं। वे लोग जान जायँ कि रामभक्ति कैसी होनी चाहिये। कोई भी कैसा ही घनिष्ठ सम्बन्धी, सगा भाई, जगत्‌का आचार्य भी क्यों न हो यदि वह रामविमुख हो, रामविरोधी हो, तो उसके वध या त्यागमें दोष नहीं।

रा० प्र०—देवताओंद्वारा भरतजीके निरपराध होनेकी साक्षी दिलानेके लिये प्रथम न कहा।

नोट—१ ☞ संसारको भयमग्न देखकर देवताओंने आकाशवाणी की। रामजीने लक्ष्मणजीको क्यों नहीं रोका? आकाशवाणी हो जानेपर समझानेका मूल्य बहुत घट जाता है। श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'इसमें बात यह है कि सरकार लक्ष्मणजीका पूरा हृद्‌गतभाव जानना चाहते थे और सभ्यताका नियम भी नहीं है कि किसीकी बातको पूरा न सुनकर बीचमें ही काट दे और लक्ष्मणजीकी बात समाप्त होनेपर जो आकाशवाणी हुई, उसे लक्ष्मणजी, सीताजी और रामजी तीनोंने सुनी। लक्ष्मणजी तो संकुचित हुए कि अवश्य मेरे समझनेमें भूल हुई, मालूम होता है कि भरतजी युद्धके लिये नहीं आ रहे हैं। तब तो जो कुछ मैंने कहा, बड़ा अनुचित कहा। आकाशवाणीके आरम्भ हो जानेसे रामजीको कहनेका अवसर नहीं मिला। अब आकाशवाणी समाप्त हो गयी, और लक्ष्मणजी संकुचित हो गये, तो उनके संकोचको मिटानेके लिये श्रीरामजानकीजीने उनका सादर सम्मान किया और कहा कि तुम्हारा कहना अनुचित नहीं था, नीतिके अनुकूल था। सामान्य लोक-व्यवहारमें ऐसा ही होता है। जैसा कहते हो, पर भरतजीकी बात ही दूसरी है।'

नोट—२ ***'तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा'*** में यथासंख्यसे अर्थ होगा कि प्रताप कौन कह सकता है और प्रभाव कौन जान सके।

नोट—३ अनुचित शब्द प्रथम देकर जनाया कि आप अनुचित कह रहे हैं और उचित भी होता तो भी समझ-बूझकर करे तभी लोग भला कहते हैं। ***'उतावला सो बावला धीरा सो गँभीरा'*** लोकोक्ति है। (पु० रा० कु०) श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि—'यहाँ उचित कार्य क्या है तथा अनुचित क्या है? लक्ष्मणजी स्वामीके लिये युद्ध करनेको तैयार हैं यह उचित है। अर्थात् सभी वचन जो उन्होंने कहे उचित हैं। बिना समझे जो भरतजीसे लड़नेको तैयार हैं, यही थोड़ा अनुचित है। इसीलिये आकाशवाणी हुई कि इस कामको करनेके पूर्व सोच लीजिये। इसीपर उदाहरणरूपसे शिक्षा दी जा रही है कि ***'सहसा करि पाछे पछिताहीं'*** ऐसे लोग बुद्धिमान् नहीं कहे जाते। देवताओंका वचन प्राय: उपदेश मार्गमें नहीं है, वह केवल लक्ष्मणजीके रोकनेके लिये। क्योंकि यदि वे रोके न जायँगे तो भरतजीपर सहसा वार कर देंगे। जैसे सिंह हाथीपर और बाज लवापर अपनी ही ओरसे शीघ्र वार कर बैठते हैं वही हाल होगा। अत: देवताओंने रोका है और शिक्षा दी है। भाव यह है कि यदि आप सहसा ऐसा करेंगे तो पीछे पछतावेंगे अतएव जाँच कर लीजिये।

---

* पर ऐसा अनुमान भी तो निराधार कल्पना ही है। विशेष, २२६ (३) का नोट ३ देखिये। (प० प० प्र०)

मिलान कीजिये—'**गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन। अतिरभसकृता वा कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥**' इति (नीतिशतक) अर्थात् गुणवान् हो अथवा गुणहीन कार्य हो, पण्डितको पहले ही उसका फल विचार लेना चाहिये। बड़े वेगसे बिना विचारे काम करनेसे विपत्तिपर्यन्त हृदयको बाणकी तरह दाह होता है। इसके अनुसार अनुचित-उचित दोनों कार्यके विशेषण हैं। कोष्ठकान्तर्गत अर्थमें उचित-अनुचित समझानेके साथ हैं।

सुनि सुरबचन लषन सकुचानें। राम सीय सादर सनमानें॥ ५॥
कही तात तुम्ह नीति सुहाई। सब तें कठिन राजमदु भाई॥ ६॥
जो अँचवत मातहिं नृप* तेई। नाहिन साधुसभा जेहि सेई॥ ७॥
सुनहु लषन भल भरत सरीसा। बिधिप्रपंच महँ सुना न दीसा॥ ८॥

दो०—भरतहि होइ न राजमदु बिधिहरिहरपद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥ २३१॥

शब्दार्थ—'**अँचवत**' (सं० 'आचमन'। आचवना)= पान करना, पीना, यथा—***'सुनु रे तुलसीदास प्यास पपीहहिं प्रेमकी। परिहरि चारिउ मास जो अचवै जल स्वातिको॥'*** ***'मातहिं'*** उन्मत्त, बावले, मस्त हो जाते हैं। '**सेई**'=सेवन किया, सत्संग किया, उनमें बैठे उठे। '**काँजी**'=एक प्रकारका खट्टा रस जो कई प्रकारसे बनाया जाता है और जिसमें अचार और बड़े आदि भी पड़ते हैं। जैसे, राई पीसकर पानीमें घोलकर नमक, जीरा, सोंठ, सोडा, पिपरामूल आदि मिलाकर रख दें। ६-७ दिनमें काँजी बन जाती है। दहीके पानीमें नमक मिलाके रखनेसे भी बनता है। मट्ठेके धोवनको भी काँजी कहते हैं। छाँछ, मट्ठा।—'**मरिचं जीरकं शुण्ठीं ग्रन्थी सुरी। मर्दितं वारि संयोज्य धृत्वा भवति कांजिके** (धन्वन्तरि) (प्र० सं०)। '**काँचिकं काँजिकं वीरं कुल्माषाभियुतं तथा। अवन्ति सोमं धान्याम्लमारनालं महारसम्। सौवीरं च सुवीराम्लं तथा शुक्लं तुषोदकम्।** (धन्वन्तरिः। अमरव्याख्यासुधा) अधकच्चे (पक्के) भिगोये धान्यादिसे बनाया हुआ आम्ल (acid)।— (प० प० प्र०)। तीन दिनके बाद जो मट्ठा बहुत खट्टा हो जाता है उसे काँजी कहते हैं। (नं० प०) ***'बिनसाना'***= विनष्ट होना, बिगड़ जाना, यथा—***'जगमें घरकी फूट बुरी। घरकी फूटहिं सो बिनसाई सुबरन लंकपुरी'***—(हरिश्चन्द्र)।

अर्थ—देववाणी सुनकर लक्ष्मणजी सकुचा गये। श्रीरामचन्द्रजी और श्रीसीताजीने उनका आदरपूर्वक सम्मान किया॥ ५॥ (श्रीरामजी बोले—) हे तात! तुमने उत्तम नीति कही है। हे भाई! राज्यमद सब (मदोंसे) कठिन मद है॥ ६॥ जिसे (पर उसे) पीकर वे ही राजा मतवाले हो जाते हैं जिन्होंने साधुसमाज-(सत्पुरुषोंकी सभा-) का सेवन नहीं किया॥ ७॥ हे लक्ष्मण! सुनो, भरतसरीखा उत्तम पुरुष ब्रह्माकी सृष्टिमें कहीं न सुना है और न देखा ही॥ ८॥ ब्रह्मा-विष्णु-महेशका पद भी पाकर भरतको राजमद नहीं होनेका (तो अयोध्याका राज्य पाकर कब होगा?)। क्या कभी भी काँजीके कणसे क्षीरसमुद्र बिगड़ सकता है? कदापि नहीं॥ २३१॥

☞ 'प्रजासत्तात्मक राज्यमें भी एक समय ऐसा आता है जब घटनाचक्रके कारण शासनकी शक्तियाँ किसी एक नेताके हाथमें केन्द्रस्थ हो जाती हैं। ऐसे अवसरोंपर उनको धरोहर समझकर उनका सदुपयोग करना और आवश्यकता न रहनेपर उनसे किनारा खींच लेना किसी माईके लालका ही काम होता है।' (ना० प्र०), यही कारण है कि मन्त्रियोंने ***'तब तस करबि बहोर'*** कहा। और श्रीरामजीने लक्ष्मणजीसे कहा कि ***'कही तात तुम्ह नीति सुहाई। सब तें कठिन राजमद भाई॥'***

नोट—१ ***'सुनि सुरबचन लषन सकुचानें।……'*** इति।—संकोच यह कि हमसे अवश्य अनुचित हो गया।

* नृप मातहिं—(भ० दा०)।

बिना सोचे-समझे क्षणमात्रमें भरतकी भक्ति, भाईपन, प्रेम आदिकी अवहेलना कर दी, यह बड़ा भारी भागवतापराध हुआ, इसे तो प्रभु भी क्षमा न करेंगे। नाहक इतना कुपित हुए। यह ग्लानि आते ही प्रभुसे न सहन हो सका और श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोनोंने उनका संकोच मिटानेके लिये भक्तवत्सल वाणीसे उनका सम्मान किया, पास बिठाया और कहा कि तुमने सेवाधर्मके अनुकूल ही बात की, इत्यादि। (बै०) वाल्मीकिजी लिखते हैं कि लक्ष्मणजी लज्जासे ऐसे संकुचित हो गये मानो अपने शरीरके अंगोंमें समा गये हों—'**लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया।**' (२। ९७। १९)

नोट—२ ***'कही तात तुम्ह नीति सुहाई।'......'*** मद कई प्रकारके हैं। कोई छः कोई आठ कहते हैं। यथा—'**जातिविद्यामहत्त्वं च रूपं यौवनमेव च। यत्नेन परित्यज्य पञ्चैते भक्तिकण्टकाः॥**', पुनः '**विद्यातपोवित्तवपुः कुले वयः।**' पुनः ***'कुल जाती वय रूप अरु ज्ञान ध्यान मद होइ। विद्या धन अष्टम मदहि कहत राजमद कोइ॥'***—(वि० टी०)

नोट—३ ***'नाहिन साधुसभा जेहि सेई'*** अर्थात् जो साधुसमाजका सेवन अर्थात् सत्संग करते हैं वे उन्मत्त नहीं होते, वे तो सुशील होते हैं, अपने स्वरूपको पहचानते हैं, और जानते हैं कि यह राज्य तो एक धरोहर है, हमारा नहीं है, इत्यादि। साधुसंगका फल विनयमें यों कहा है—***'जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइए॥ जिन्ह मिले सुख दुख समान अमानतादिक गुन भए। मद मोह लोभ बिषाद क्रोध सुबोध ते सहजहि गए॥'***—(१३६)। जो सत्पुरुषोंका संग नहीं करते, वे ही मदान्ध होते हैं, यथा—***'सील कि मिलि बिनु बुध सेवकाई।'*** (७। ९०) ***'काहू सुमति कि खल सँग जामी।'***

नोट—४ ***'सुनहु लषन भल भरत सरीसा।'......'*** भाव कि भरतके समान भरत ही हैं। पुनः इससे भरतजीका भलप्पन एकपादविभूतिसे विलक्षण (परे) सूचित किया।—(रा० प्र०)।

नोट—५ (क) ***'बिधिहरिहरपद पाइ'*** अर्थात् उत्पत्ति-पालन-संसारका अधिकार एक इन्हींको दे दिया जाय तो भी मद न हो। यहाँ भरतको क्षीरसिन्धु और विधि-हरि-हर तीनोंकी मिलाकर जो एक पदवी बनी उसको काँजीके एक कणके (=सींक जलमें डुबोकर छिड़कनेसे जो छोटा-सा बूँद बनता है) बराबर कहा। यहाँ पूर्वार्द्ध उपमेय और उत्तरार्ध वक्रोक्तिद्वारा उपमान है। दृष्टान्त अलंकार है। कोई कहते हैं कि वाल्मीकीयमें भी कहा है '**विकृतिं नैव गच्छन्ति संगदोषेण साधवः। क्षीरोदधेस्तु नाद्यापि महतां विकृतिः कुतः॥**' अर्थात् महात्मा पुरुषोंको विकार नहीं होता। पर हमको यह श्लोक मिला नहीं। (ख) लक्ष्मणजीने कहा था ***'तेऊ आजु राजपद पाई। चले धरम मरजाद मिटाई॥'*** उसीका यह दृष्टान्तालंकारमें उत्तर है। आशय यह है कि नदी-तालाब मर्यादा छोड़ देते हैं, समुद्र मर्यादा नहीं तोड़ता। भरतजी समुद्रवत् हैं—(पं०)। पुनः, जैसे क्षीरसिन्धु स्वच्छ स्निग्ध वैसे ही ***'भरत हृदय सियराम निवासू'***—(वै०)।

श्रीलक्ष्मणजी

श्रीलक्ष्मणजीके यत्र-तत्र योग्य स्थानोंपर क्रोधाभिनिवेशके कारण कुछ आलोचनाओंमें एक प्रकारका दोष, धब्बा या न्यूनताका आरोपण उनपर किया गया है अतएव उनके सम्बन्धमें यहाँ कुछ लिखनेकी मुझे आवश्यकता हुई है। मेरी समझमें वे इन दोषोंसे सर्वथा मुक्त या रहित हैं। बाबू शिवनन्दनसहाय (आरा) एवं (कल्याणमें दिये हुए) ब्रह्मचारी पं० प्रभुदत्तशर्माके विचारोंसे मैं सहमत हूँ।

'ये मौनी भ्राताभक्त, स्नेहपूर्ण संयमी, संन्यासी भ्रातृस्नेहमें आत्मविस्मृत और संसारविस्मृत हो रहे थे। इनका स्नेह सर्वत्र मौनरूपसे प्रकट होता गया है। अपने स्नेहमय वाक्योंसे इन्होंने उसे कभी प्रकट नहीं किया है। ये रामचन्द्रजीके छायास्वरूप थे, रामजीके बिना इन्हें एक क्षण भी कल नहीं पड़ती थी।' वे उनके बिना जीवित नहीं रह सकते थे। ये तो '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' के पक्षपाती, बल्कि यों कहिये कि स्वरूप ही थे। 'ये तो सर्वतोभावेन रघुनाथजीकी शरणमें प्राप्त हो चुके थे। इनका अपना जीवन होता, तो कोई छिद्र इनमें कहा भी जा सकता, इन्होंने तो जीवनको अपना समझा ही नहीं।' संसारमात्रमें आपका और कोई सम्बन्धी था ही नहीं।

'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू । कहउँ सुभाव नाथ पतियाहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई । प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरे सबुइ एक तुम्ह स्वामी । दीनबन्धु उर अंतरजामी॥'

ये आपके वचन हैं। आप सबका दर्शन प्रभुमें ही करते हैं। इस अनन्यताकी जय, जय, जय!!! आप अनन्य सेवक हैं।

भरतजी और लक्ष्मणजी दोनों ही आदर्श भ्रातृभक्त और स्वामिभक्त हैं। स्वार्थत्याग और आत्मत्याग दोनोंमें ही पल्ले दर्जेका था। किसीको भी एक-दूसरेसे न्यून कदापि नहीं कहा जा सकता। बाबू शिवनन्दनसहायजी लिखते हैं कि 'एक कोई सुन्दर अलभ्य मधुर फलके समान है और एक नित्यके पुष्टिकर खाद्य पदार्थके तुल्य है। जब हम एकको पिता-प्रदत्त राजको परित्यागकर तपस्वीरूप धारण किये, नन्दीग्राममें रामके ध्यानमें मग्न देखते हैं और दूसरेको निज इच्छासे वनवास स्वीकारकर धनुष-बाण लिये योगीवेषमें भ्राताके पीछे वन-वन घूमते उनके दु:ख और कष्टके भागी होते, अपनी जानको हथेलीपर रखे उनके कार्यसाधनके लिये प्रबल शत्रुओंके साथ लड़ते, निरीक्षण करते हैं, तो हमारी बुद्धि चकरा जाती है।' ऐसी उज्ज्वल तथा प्रबल भ्रातृभक्ति होनेसे ही कविने भरतके विषयमें कहा है—

'अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरिहर को॥'

और राम-लक्ष्मण ऐसे ***'एक जान दो कालिब'*** हो गये हैं कि सीता तथा भरतके बिना रामकी कल्पना हो सके तो हो, परंतु लक्ष्मणके बिना राम कहाँ?……ये उनके नित्यके कार्यमें मिल गये हैं।

लक्ष्मणजी तो सेवकधर्म ही मानो मूर्तिमान् थे। भरतजीके ***'सब तें सेवक धरम कठोरा'*** वाले धर्मका निर्वाह इन्हींको करते हम रामायणभरमें पा रहे हैं। स्वामीका आज्ञाकारी तो इनके समान दूसरा हुआ ही नहीं। स्वामीकी आज्ञामें उन्होंने उसी नीतिका पालन किया जिसको भरतजीने निरूपण किया है—***'उचित कि अनुचित किए बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू॥'*** हम उनको वे-वे कठिन काम करते पा रहे हैं, जिसके करनेमें और भ्राता संकुचित हो गये थे। हम उन्हें वनमें तुच्छ-अतुच्छ काम करते देखते हैं। प्रभुकी आज्ञापालन और प्रेममें हम उन्हें शास्त्रोंके नियमोंकी भी अवहेलना करते देखते हैं। शूर्पणखाकी नाक-कान काटते देखते हैं। इत्यादि-इत्यादि।

आप रामजीके ऐसे सच्चे और उत्कट भक्त थे कि नामको भी रामजीका अपमान या अपराध किसीके द्वारा क्षणमात्र नहीं सहन कर सकते थे। 'अपना अपराध भले ही सह लें पर राम-अपराध क्षमा करनेको तैयार न थे।' इसीसे सीताजीके मर्मवाक्य तो उन्होंने सह लिये परंतु सुमन्तसे दशरथजीके विषयमें कटु वचन कहनेमें उन्हें किंचित् संकोच न हुआ। अपने पौरुष और बलपर, रामप्रतापके भरोसे, इनको पूरा भरोसा था। चौदहों लोकोंमें ये किसीको न डरते थे, स्वामिकार्य करनेमें विधिहरिहरका भी मुकाबला करनेको तैयार रहते। जनकद्वारा धनुषयज्ञमें अपमान न सह सके। उनको भी खरी-खरी सुना दी। रामजीका अपमान परशुरामने आते ही जो किया, बस, इन्होंने वहीं उन्हें आड़े हाथों लिया और धर दबाया। पिताको जा-बेजा कह डाला! सुग्रीवपर गजबका क्रोध किया। फिर ऐसे आज्ञाकारी थे और रामजीका ऐसा डर और संकोच मानते थे कि इशारा भर हुआ कि आप कटुवाणी और सब छोड़ शान्त देख पड़ते थे।

ये सब बातें केवल सच्चे अनन्य प्रेम और अनन्य स्वामिभक्तिके लक्षण हैं। ये सब कार्य रामजीकी सेवा और उनके सुखके लिये ही उन्होंने किये। शर्माजीने ठीक लिखा है कि 'लक्ष्मणजी ऐसे सच्चे सेवक ही इस दु:खमय जगत्को स्वर्गसे भी अधिक आनन्दमय बना लेते हैं। सेवाका सच्चा रहस्य आपने ही जाना है; यही कारण है कि प्रभुके चित्तको परेशान न देख सके। उनका अनुमान गलत ही सही, पर इस समझके अनुकूल 'सच्चे सेवक' का धर्म क्या यह नहीं था जो उन्होंने किया? अपने स्वामीके सुखके लिये वे पिता, भाई सभीके शत्रु बन सकते थे। ऐसे सच्चे सेवक आप धन्य हैं! धन्य हैं!! थोड़ेसे सन्देहके

ऊपर ही भरतजीको, अपने सहोदर भ्राता शत्रुघ्नजीको, सारी सेना गरज कि सभीको मार डालने, सभीकी हत्या सिरपर लेनेको तैयार हो गये, क्यों? उसी सच्चे प्रेमके कारण, उसी सच्चे सेवक-धर्मके कारण। इसीसे वे प्रसन्न हैं—

'आजु रामसेवक जस लेऊँ'

अर्थात् अभीतक मुझसे ऐसी कोई सेवा नहीं हुई जिससे सेवाधर्ममें मैं प्रमाण माना जाऊँ, उसका आचार्य समझा जाऊँ, उसका आदर्श बनूँ; आज ही ऐसा अवसर आपसे ही आ प्राप्त हुआ है।

पिताने वनवास दिया तब मैं चूका—(वाल्मीकीयमें भरत, शत्रुघ्नका यह सोचना पाया जाता है कि लक्ष्मणजीने क्यों न बलपूर्वक रामजीको राज्यपर बिठाया और पिताको इस अनुचित कार्यसे रोका।) खैर! आज मालूम हुआ कि इतने लोग रामविरोधी हैं। आजका-सा अवसर फिर हाथ नहीं लगनेका। बस, अब आज अपना सेवाधर्म जगत्को दिखा देना है।

शर्माजीका अनुमान ठीक है कि 'लक्ष्मणजीकी भक्ति बखान करनेकी सामर्थ्य किसमें है।...लक्ष्मण न होते तो सीताजी हरी जातीं या नहीं? रावण मारा जाता या नहीं? सीताजी रावणके यहाँसे मिलतीं कि नहीं? रामजी वनसे लौटकर अवधपुरी आते या नहीं? इन प्रश्नोंका उत्तर सर्वांशमें दिया ही नहीं जा सकता। उत्तर देना तो अलग रहा, हम अयोध्यासे आगेकी कल्पना नहीं कर सकते।

सच्चा सेवक-स्वामी-सम्बन्ध दिखलानेके लिये ही मेरी समझमें परशुराम-गर्वहरण, राम-लक्ष्मण-संवाद, सुग्रीवपर क्रोध, भरतपर क्रोध इत्यादि चरित्र किये गये हैं। दोनोंका आदर्श प्रेम है, दोनों अपने-अपने ढंगके आप ही मिसाल (उदाहरण, उपमा) हैं, दूसरी कोई उपमा नहीं। इनमें मुझे ऐसा जान पड़ता है कि ये दोनों दो तरहके प्रेमी हैं जिनका वर्णन श्रीमुखसे प्रभुने किया है।

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुतसम दास अमानी॥'　(आ० ४३)

पुनः,　*'कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहु जान न दूसर धर्मा॥*

सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥'　(उ० ८७)

श्रीलक्ष्मणजी ऐसे ही भक्त थे जैसा स्वयं उन्होंने रामवियोगके भयसे घबराकर कहा है—

'मन क्रम बचन चरनरति होई। कृपासिंधु परिहरिय कि सोई॥'

और,　*'नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह तजहु त कहा बसाइ'*

तभी तो श्रीरामजीको उन्हें साथ लेना ही उचित जान पड़ा। यद्यपि भरतजीसे वे कहते हैं कि ***'मन प्रसन्न करि सकुचि तजि कहहु करउँ सोइ आजु'*** (२६४) तो भी साथ ही इसके पहले ही यह भी कह दिया है—

'तात तुम्हहिं मैं जानउँ नीके। करउँ काह असमंजस जी के॥

राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी॥

तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥'

यहाँ तो पितावचन मेटनेमें सोच है पर दूसरी ओर ***'पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू'*** है। भरतजीने साथ जानेका प्रस्ताव किया, पर उनको साथ लेना न स्वीकार किया। एक ज्ञानियोंकी तरह अलग बैठे ध्यान कर सकता है तो दूसरा साक्षात् अहर्निशके संयोगहीमें जीता रह सकता है, दूसरी तरह नहीं, उसे अलग रहकर ध्यान, तपस्या आदि पसंद नहीं, एक ज्ञानी भक्तोंका आचार्य है तो दूसरा उपासकोंका आचार्य है।

यही तो उन कारणोंसे कुछ कारण जान पड़ते हैं कि जो सहस्रों, लाखों वर्षोंके बीत जानेपर भी आज दिन श्रीलक्ष्मण-श्रीरामसीता त्रयमूर्ति जहाँ देखिये तहाँ आचार्योंने एक साथ ही रखे हैं। तीनोंका पूजन एक साथ होता है। यही तीन सर्वत्र भारतवर्षमें मन्दिरोंमें श्रीरामोपासकोंके यहाँ पूजे जाते हैं।

तिमिर तरुन तरनिहि* मकु गिलई। गगनु मगन मकु मेघहि मिलई॥ १॥
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी। सहज छमा बरु छाड़इ छोनी॥ २॥
मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमदु भरतहि भाई॥ ३॥
लषन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबंधु नहि भरत समाना॥ ४॥

शब्दार्थ—**मगन**=लीन, तन्मय, डूबकर, समाकर। मगना क्रिया है, केवल पद्यमें आता है और प्रान्तिक है। **गिलई**=निगल जाय, समूचा खा ले। **गोपद**=गौके खुर (के समान)। गौके चलनेपर जो नर्म जमीनमें छोटा-सा गड्ढा बन जाता है उसके जलको '**गोपद जल**' कहते हैं। **घटजोनी**=अगस्त्यजी। (१।३।३) ***'बालमीक नारद घट जोनी', 'कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा।'*** (१।२५६।७) देखिये। गिलना (सं० गिरण)=बिना दाँतसे तोड़े गलेसे उतार जाना। **तरुन**=जवान, पूर्णावस्थाका अर्थात् मध्याह्नका, दोपहरका। **तरनि**=सूर्य। तरणिके साथ तरुणका अर्थ 'दोपहर' होता है। आना (सं० आणि=मर्यादा)=शपथ।

अर्थ—अन्धकार चाहे दोपहरके सूर्यको भले ही निगल जाय, आकाश जिसमें सब समा जाते हैं, वह चाहे मेघमें तन्मय होकर मिल जाय (वा, आकाशमें मेघोंको मार्ग न मिले—वीर, दीनजी)॥ १॥ (जो समुद्रको तीन आचमनमें पी गये वे) अगस्त्यजी चाहे गौके खुर इतने जलमें डूब जायँ, चाहे पृथ्वी अपनी स्वाभाविक क्षमा त्याग दे॥ २॥ मच्छड़की फूँकसे चाहे सुमेरु भले ही उड़ जाय, परंतु हे भाई! भरतको राजमद नहीं हो सकता॥ ३॥ हे लक्ष्मण! तुम्हारी शपथ और पिताकी सौगन्ध (खाकर कहता हूँ)। भरतके समान पवित्र उत्तम भाई (संसारमें) नहीं है॥ ४॥

नोट—१ ***'गगनु मगन मकु मेघहि मिलई'*** इति। वीरकवि—'राजापुरकी पोथीमें शब्दोंका अलगाव, 'मग न' ऐसा नहीं है। 'मगन' और 'मग न' मानना पाठकोंकी इच्छापर निर्भर है। परन्तु यदि कविजीको ऐसा (आकाश चाहे बादलोंसे मिल जाय) कहना होता तो विशेषता यह थी कि लघु तारामें आकाशका मिलना कहते। यहाँ तो उनके कहनेका तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि चाहे इतने बड़े अनन्त आकाशमें मेघोंको चलनेका रास्ता न मिले।' यहाँ असम्भवसे पुष्ट अर्थान्तरन्यास है।—(पाँड़ेजी भी यही भाव लिखते हैं)। प्र० स्वामीजी कहते हैं कि 'मगन' होना और 'मिलना' समानार्थक शब्द हैं। अत: 'मग न' पाठ ही उचित है।

'तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई····'

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ (क) जहाँ सूर्य होगा वहाँ अन्धकार रह ही नहीं सकता, वह तो सूर्यके उदयके भयहीसे चल देता है—***'उदय तासु तिभुवन तम भागा।'*** (१।२५६) दोनोंका एक ठौर होना ही असम्भव है—***('होंहि कि रबि रजनी इक ठाम।')*** उसपर भी यह कि वह सूर्यको निगल जाय, अपने पेटमें रख ले यह तो महा असम्भव है। भुशुण्डिजीने भी कहा है—***'अंधकारु बरु रबिहि नसावहि'*** अर्थात् सूर्य अन्धकारका नाश करता है—***'उयेउ भानु बिनु स्रम तम नासा।'*** (१। २३९।४), सो न होकर अन्धकार सूर्यका नाश कर दे, ऐसा आश्चर्य भले ही हो जाय। (ख) दूसरा दृष्टान्त आकाश और मेघका देते हैं। आकाशकी थाह नहीं, यथा—***'तुम्हहिं आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहि नहिं पावहिं अंता॥'*** (७।९१। ५) इसके अन्तर्हित ही अनेक ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं, कहीं एक कोनेमें, मेघ पड़े रहते हैं, आकाशके भीतर मेघ सदा डूबे रहते हैं सो ऐसा बृहत् आकाश चाहे मेघोंके भीतर डूब जाय, उसमें मिल जाय, लीन हो जाय या आकाश सबको अवकाश देता है सो उसमें चाहे मेघोंको रास्ता न मिले। (ग)—तीसरा कुम्भज ऋषि और गोपदजलका दृष्टान्त है। जो अंजलिमें समुद्रको लेकर पी जाय, उसको सोख ले, वह ही गोखुर इतने जलमें डूब जाय यह असम्भव ही तो है! ***'कुंभज'*** पद बड़ा मजेदार है, डूबनेकी सम्भावनाके साथ घटसे उत्पन्न ऐसा नाम बड़ा ही युक्त है। (घ)—चौथा दृष्टान्त पृथ्वीकी क्षमाका है। पृथ्वीका नाम ही

* रा० प०—'तरनि'

है 'सर्वसहा' 'क्षमा'। कितना ही अपमान इसका प्राणी करते हैं पर यह अपनी क्षमा नहीं छोड़ती, सब सहती है। क्षमा इसका सहज स्वभाव है। अपना वह सहज स्वभाव छोड़ दे। यहाँ 'बरुक' पद देकर 'मकु' का अर्थ स्पष्ट कर दिया। क्षोणीके साथ क्षमा पद अति उत्तम है। (ङ) पाँचवाँ दृष्टान्त सुमेरु या मेरु (पर्वत) और मच्छड़का है। पर्वत अचल है जिसे प्रचण्ड पवनका वेग भी नहीं उड़ा सकता और सुमेरु कई लक्ष योजनका लम्बा, ऊँचा—इन्हें चाहे मच्छड़ फूँकसे उड़ा दे। यहाँ तरुण सूर्य, आकाश, अगस्त्यजी, पृथ्वी और मेरु भरतकी उपमाएँ हैं और अंधकार, मेघ, गोपद, उद्वेग, मसकफूँक राजमदकी।

टिप्पणी—२ (क) ये पाँच दृष्टान्त पाँच तत्त्वके हैं। ***'छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित यह अधम सरीरा॥'***—इन पाँचोंमेंसे यहाँ पृथ्वी (छोनी), जल, गगन और समीर (फूँक स्वासा पवन ही है) स्पष्ट है। रहा पावक-तत्त्व सो 'तरुण तरणि' से जनाया, सूर्यमें अग्नि वा तेजस गुण है, यथा—***'गगन गये रबि निकट उड़ाई॥ तेज न सहि सक सो फिरि आवा। मैं अभिमानी रबि नियरावा॥ जरे पंख अति तेज अपारा'***—(कि० २८)। तेज अग्निका गुण है। (ख)—इन सबके दृष्टान्त देकर जनाया कि इनसे सृष्टिकी रचना होती है, ये सृष्टिके मूल हैं। ये अपनी मर्यादाको नहीं छोड़नेके; छोड़ें तो सृष्टि ही न रह जाय पर ये भी चाहे मर्यादा छोड़ दें; किंतु भरतजी धर्मकी मर्यादाको कदापि नहीं छोड़नेके। (ग)—पुनः, इन दृष्टान्तोंको देकर श्रीभरतजीको पंचतत्त्वोंसे परे अप्राकृत जनाया। (घ)—***'बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा'*** कहा था। अतः विधि-प्रपंचकी जो जड़ है, मूल है—पंचतत्त्व, उसके ही दृष्टान्त दिये। पंचतत्त्वकी समानता नहीं दी उनके समान वही कहा, किंतु यह दिखाया कि भरत तो इन सबसे बड़े हैं, परे हैं।

टिप्पणी—३ पुनः, क्षीरसमुद्रकी उपमा दी थी क्योंकि जैसे वह प्राकृत नहीं, वैसे ही ये प्राकृत नहीं। क्षीरसिन्धुको मिलाकर यहाँतक छः उदाहरण हुए। विचार कीजिये कविका कौशल। देखिये लक्ष्मणजीने राजमदके छः उदाहरण दिये हैं—***'जग बौराइ राजपद पाये॥'*** यह कहकर 'शशि, नहुष, वेन, सहस्रबाहु, इन्द्र और त्रिशंकु—इन छः को गिनाकर कहा ***'केहि न राजमद दीन्ह कलंकू।'*** (२२८।१) प्रभुने भी उसी जोड़का उत्तर दिया। ***'भरतहि होइ न राजमदु।'*** (२३१) से उठाकर छः ही उदाहरण देकर अन्तमें कहते हैं कि ***'होइ न नृपमदु भरतहि भाई'।*** यहाँ ***'भरतहि होइ न राजमदु'*** का ही सम्पुट दिया है। लक्ष्मणजीके वचनोंमें ***'जग बौराइ'*** का सम्पुट है; ***'केहि न'*** से भी जगत्का ही तात्पर्य है। प्रभु कहते हैं कि तुमने जो कहा सो ठीक है, जगत्भर उन्मत्त हो जाय, तो हो जाय संदेह नहीं, पर इनको राजमद नहीं होनेका—इनको जगत्से विलक्षण ही देखो।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि—(क) इन पाँच दृष्टान्तोंसे श्रीभरतजीमें मोह, काम, क्रोध, लोभ और मदका निरास किया है। (ख) ***'तिमिर तरुन तरनिहि......'*** से मोहका निराकरण किया। ***तिमिर***=मोह। तरणि=ज्ञान। श्रीकौसल्याजीने भी कहा है···***'भये ज्ञान बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥'*** (१६९।३) मोह ज्ञानको हर लेता है, सुग्रीवजीने कहा ही है—***'बिषय मोर हरि लीन्हेउ ग्याना।'*** (४। १९। ३) इस दृष्टान्तसे जनाया कि दूसरोंमें यह भले ही घट जाय पर भरतका ज्ञान राज्यमदरूपी विषयसे नष्ट न होगा। कल्पान्तमें अन्धकार सूर्यको निगलता है। (ग) ***'गगनु मगन मकु मेघहि मिलई'*** से जनाया कि बादलोंको आकाशमें स्थान भले ही न मिले पर भरतजीके हृदयाकाशसे रामप्रेमको रामघनश्यामको हटानेका सामर्थ्य राज्यपदमें नहीं है। (घ) ***'गोपद जल बूड़हिं घटजोनी'***—यह दृष्टान्त लक्ष्मणजीके ***'सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू'*** को लक्ष्य करके कहा है। भाव कि राज्यमदमें बड़े-बड़े राजा डूब गये, यह सत्य है। रामभक्तोंको भवसागर गोपदजलके समान हो जाता है, तब भक्तशिरोमणि भरत राज्यपदसागर पान करनेपर भी कभी मत्त नहीं हो सकते। अगस्त्यजीको क्रोध हुआ है, उन्होंने लोगोंको शाप दिया है, तथा—***'रिषि अगस्ति कर साप भवानी। राच्छस भएउ रहा मुनि ज्ञानी॥'*** अतः इस दृष्टान्तसे क्रोधका निरास किया। (ङ) ***'सहज क्षमा......'*** से बताया कि तुम्हारे इतना क्रोध करनेपर भी भरत तुमको क्षमा ही करेंगे। अक्षमाका जन्म लोभसे होता है। अतः इस दृष्टान्तसे लोभका निरास किया। (च) ***'मसक फूँक......'*** से मदका निरास किया, कारण कि मदोन्मत्त ही अपनी शक्तिके बाहरका कार्य करने लगता है। अतः इसके साथ ही कहा कि ***'होइ न नृपमद***

भरतहिं भाई।' इस दृष्टान्तसे सिद्धान्त कहा और पूर्व दृष्टान्तोंमें मद न होनेके कारण परम्परा बतायी। मोह, काम, क्रोध और लोभ न होनेपर भी कभी-कभी मद (अहंकार) होता है। अतः इस शंकाके निरासके लिये भरतजीके हृदयाकाशमें श्रीरामचन्द्रजीका निवास होना सूचित किया, यथा—***'भरत हृदय सियराम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू॥', 'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मतसर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा।'*** इत्यादि।

नोट—२ ***'लषन तुम्हार सपथ पितु आना'*** इति।—राजमदका उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि ***'कुटिल कुबंधु'*** उसपर कहते हैं कि ***'सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना।'*** ये कुटिल नहीं किन्तु परम पवित्र हृदय हैं। कुबन्धु नहीं हैं, सुबन्धु हैं। इसपर विश्वास दिलानेके लिये पहले लक्ष्मणजीकी शपथ खायी; क्योंकि इससे अधिक विश्वास दूसरेकी शपथमें नहीं हो सकता था। फिर पिताकी भी कसम खायी। यद्यपि शपथ और आन दोनों पर्यायवाची हैं तो भी यहाँ सूक्ष्म भेद यह कह सकते हैं कि शपथसे जनाया कि यदि यह असत्य हो तो हमें तुम्हारे वधका-सा पाप हो और पिताकी 'आन' कही, अर्थात् पिता सत्यसन्ध ऐसे कि उसके निर्वाहके लिये हमारा भी त्याग किया; यदि मैं झूठ कहता हूँ तो उनकी सत्यकी 'आन' मर्यादाके नाश करनेका पाप मुझे हो। केवटके प्रसंगमें भी ये ही दोनों शब्द हैं, यथा—***'मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहउँ॥'*** (१००) वही भाव यहाँ है कि इसमें किंचित् सन्देह न करो, सब सत्य ही कहता हूँ।

नोट—३ ***'होइ न नृपमद भरतहि भाई'***— यहाँतक तो यह बताया कि भरतजीको राज्य पानेपर भी मद नहीं हो सकता। यह नहीं कहते कि उन्होंने राज्य ग्रहण नहीं किया। माधुर्यमें इसकी जानकारी कैसे कहते? ***'केहि न राजमद दीन्ह कलंकू'*** और ***'तेऊ आज राजपद पाई'*** का यहाँतक उत्तर हुआ। आगे श्रीभरतजीका स्वभाव और राज्यमद न होनेका कारण कहते हैं। ***'सुचि सुबंधु'*** कहकर जनाया कि वे हमलोगोंके विषयमें मनसे भी कुछ विपरीताचरण नहीं कर सकते, तुम्हें उनके प्रति ऐसी शंका न करनी चाहिये और न ऐसे वचन कहने थे—**'अस्मासु मनसाप्येष नाहितं किंचिदाचरेत्।'** (वाल्मी० २। ९७। १३) **'ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं यद्विशंकसे॥'** (१४) **'नहि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः॥'** (१५) वाल्मीकीयका यह सब भाव 'शुचि' शब्दसे जना दिया। ***'सुबंधु नहिं भरत समाना'*** से सूचित किया कि वे भ्रातृवत्सल हैं और हमारे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं। अतएव वे मेरे प्रेमपरवश तथा मेरे वनगमनके कारण शोकसे व्याकुल हो मुझे देखने आ रहे हैं।—**'मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः। मम प्राणैः प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन्॥'** (वाल्मी०। २। ९७। ९) **'स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः। द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः॥'** (११) का भाव इस शब्दमें आ गया। 'शुचि' तथा आगेके ***'भरत हंस रबिबंस तड़ागा'*** इस वचनसे **'कुलधर्ममनुस्मरन्'** का भाव जना दिया अर्थात् वे सूर्यवंशका जो धर्म है उसपर दृढ़ हैं, उस धर्मके पालनार्थ यहाँ आ रहे हैं।

सगुनु षीरु अवगुन जलु ताता। मिलइ रचइ परपंचु बिधाता॥ ५॥
भरतु हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥ ६॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उजियारी॥ ७॥
कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ। पेम पयोधि मगन रघुराऊ॥ ८॥

शब्दार्थ—**सगुनु**=सुन्दर या शुभ गुण। **षीरु** (क्षीर)=दूध। विभाग करना=भाग या हिस्से कर देना, यह बताना कि किसका कितना हिस्सा है, अलग करना, पृथक्-पथक् कर देना।

अर्थ—हे तात! शुभ गुणरूपी दूध और अवगुणरूपी जलको मिलाकर विधाता संसारको रचता है॥ ५॥ भरतरूपी हंसने सूर्यवंशरूपी तालाबमें जन्म लेकर गुण और दोषका विभाग कर दिया, अर्थात् दोनोंको अलग-

अलग करके दिखा दिया॥ ६॥ गुणरूपी दूधको ग्रहण और अवगुणरूपी जलको त्यागकर उन्होंने अपने यशसे जगत्‌में उजाला कर दिया॥ ७॥ भरतजीका गुण, शील और स्वभाव कहते-कहते रघुनाथजी प्रेमसमुद्रमें मग्न हो गये॥ ८॥

☞ '*स*' उपसर्गका प्रयोग शब्दोंके आरम्भमें कुछ विशिष्ट अर्थ उत्पन्न करनेके लिये होता है। गोस्वामीजीने भी इसका प्रयोग प्रायः इन सभी अर्थोंमें किया है। जैसे—बहुव्रीहि समासमें '*सह*' के अर्थमें, यथा—सपरिजन, सजीव, सचराचर, सप्रेम। '*सु*' के स्थानमें, यथा—'*सरस*' '*सगुन*'। इसे पाठक याद रखें, इससे बहुत सहायता मिलेगी। २—'*प्रेम*' का पेम, '*द्रोह*' का '*दोह*', '*प्रयाग*' का '*पयाग*' ऐसा स्थल-स्थलपर प्रयोग है। पंडितोंने न समझकर पाठ बदल दिये हैं, और अर्थमें भी गड़बड़ी कर दी हैं।

नोट—१ *'सगुनु षीरु अवगुन जलु ताता।'''''''* इति। ठीक ऐसा ही बा० ५ (४)—६ में कहा है—***'भलेउ पोच सब बिधि उपजाये। गनि गुन दोष बेद बिलगाये॥ कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना॥''जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार। संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥'*** (६)

वहाँ विधाताका गुणदोष मिलाना नहीं कहा, किंतु विधिप्रपंचमें गुणदोष मिले हुए हैं यह कहा है। वैसा ही अर्थ यहाँ भी लेना ठीक होगा नहीं तो पूर्वापरमें विरोध आता है। हंसमें ही यह विवेक है कि दूध-पानी मिला हो तो वह दूध-दूध पी लेता है, जलको छोड़ देता है। इसीसे सन्तोंको और भरतको हंसकी उपमा दी। विशेष बालकाण्ड देखिये।

नोट—२ ***'हंस'*** श्लिष्ट पद है। हंसपक्षी जो मानससरमें रहते हैं और हंसका अर्थ सूर्य भी है; यथा—***'हंसबंस दसरथ जनक॥'*** (१६१) यहाँ दोनों ही अर्थमें इसका प्रयोग हुआ है। गुण-अवगुणका विभाग करनेमें हंसरूप हैं और अपने उज्ज्वल यशसे जगत्‌को प्रकाशित करनेमें सूर्यरूप हैं। (पां०)

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ (क) ***'जनमि'*** का भाव कि कोई शिक्षा नहीं देता है कि गुण-अवगुण इस प्रकार अलग करो, जन्ममात्रसे ही हंस दूध और जलको अलग कर देता है वैसे ही भरत स्वभावसे ही ऐसे हैं। अनन्तकालसे सृष्टि गुणदोषयुक्त चली आ रही है, उसको भरतने अलग किया। ईश्वरतत्त्व जानना, भगवद्भक्ति करना जीवका कर्तव्य है, सप्तद्वीपका राज्य मिल जाय तो वह भी तुच्छ है, यह उन्होंने जगत्‌को दिखाया। [(ख) ***'निजजस जगत कीन्हि उजियारी'*** इति। ***'कीन्हि उजियारी'*** से जनाया कि इनका यश चन्द्र है जिसकी चन्द्रिकासे जगत् प्रकाशमान है। मिलान कीजिये। भरद्वाजवाक्यसे ***'नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥ उदित सदा अथइहि कबहू ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥ कोक तिलोक प्रीति अति करिही। प्रभु प्रताप रबि छबिहि न हरिही॥'*** (२०८। १—३)'''' ***कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा॥'*** (२०९। १)]

टिप्पणी—२ ***'पेम पयोधि मगन रघुराऊ।'*** इति।—पूर्व इन्द्रने कहा है कि भरत प्रेमपयोधि हैं, यथा—***'राम सकोची प्रेम बस भरत सुपेम पयोधि॥'*** (२१७) उसी प्रेमसमुद्रमें रामजी मग्न हो गये।

टिप्पणी—३ 'गुण, शील और स्वभाव' तीन बातें कहीं। ***'सब ते कठिन राजमद भाई। जो अँचवत मातहिं नृप तेई'*** से यह प्रसंग प्रारम्भ होकर ***'निज जस जगत'''''''*** तक आया। इसमेंसे ***'साधु सभा जेहि सेई।'*** और ***'सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना'*** में शील कहा, क्योंकि शीलकी प्राप्ति बुद्धिमानों, सज्जनोंके संगसे होती है। यथा—***'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई।'*** (७। ९०। ६) इन्होंने साधुसंग किया, इसीसे शुचि और सुबन्धु हैं, कुटिलता नहीं है। गुण, यथा—***'गहि गुन पय तजि'''''''*** '। हंसके-से विवेकी। स्वभाव तो पूरा प्रसंगभर है। ***'सुनहु लषन भल भरत सरीसा'*** में ***'भल'*** स्वभाव जनाता है, इसीकी व्याख्या आगे की गयी। पुनः, ***'जनमि कीन्ह'*** से सहज स्वभाव कहा।

दो०—सुनि रघुबर बानी बिबुध देखि भरत पर हेतु।
सकल सराहत राम सो प्रभु को कृपानिकेतु॥ २३२॥

जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥ १॥
कबिकुल अगम भरत गुनगाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा॥ २॥
लषन राम सिय सुनि सुरबानी। अति सुखु लहेउ न जाइ बखानी॥ ३॥

शब्दार्थ—**धुर** (सं० धुर्)=गाड़ीका धुरा, भार, बोझ।

अर्थ—श्रीरघुवरकी वाणी सुनकर और भरतजीपर उनका प्रेम देखकर सब देवता उनकी प्रशंसा करते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीकी तरह कृपालु प्रभु एवं समर्थ और कृपाधाम और कौन होगा?॥ २३२॥ यदि संसारमें श्रीभरतजीका जन्म न होता तो पृथ्वीपर समस्त धर्मोंकी धुरीको कौन धारण करता?॥ १॥ कविकुल (कविसमुदाय) के लिये भी अगम्य भरतजीके गुणोंकी कथा, हे रघुनाथजी! आपके सिवा और कौन जाने?॥ २॥ देवताओंकी वाणी सुनकर श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजीने अतीव सुख पाया जो वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ३॥

अर्थ—१ ***'को प्रभु कृपानिकेत'*** का भाव कि कैकेयीकृत अपराधका किंचित् भी स्मरण न किया। कौन है अर्थात् कोई भी नहीं है।

पु० रा० कु०—***'सकल धरम धुर धरनि धरत को'*** इति।—(क) दूसरा अर्थ—समस्त धर्मोंका भाररूपी धरणीको (वा, सब धर्मोंके भार और पृथ्वीको) कौन धारण करता? भाव कि भरतहीने धारण किया, दूसरेकी सामर्थ्य न थी। ***'सकल धरम'***—वर्णाश्रमधर्म, भ्रातृधर्म, भगवत्धर्म, राजधर्म, भागवतधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म इत्यादि। पृथ्वीके धारण और भरण-पोषण करनेका प्रमाण—***'भरत भूमि रह राउरि राखी।'*** (२६४। १) ***'बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥'*** (१। १९७) धर्म धारण, यथा—***'पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी। सो मुख लाखि जाइ नहिं बरनी॥'*** (१७१। १) [(ख) रा० प्र०—यहाँ सकल धर्मरूप बोझ प्रपत्ति है।]

☞ वन्दनाप्रकरण बालकाण्डमें भरतजीके दो गुण विशेष लिखे, एक धर्म दूसरा प्रेम। यथा—***'जासु नेम ब्रत जाइ न बरना'*** नेम व्रत धर्म हैं, सो इनमें भरतजी निपुण हैं। और दूसरा, यथा—***'रामचरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥'*** यह प्रेम है, सो भी वर्णन नहीं हो सकता। वे ही दोनों, धर्म और प्रेम, इस प्रसंगमें लिखे गये हैं। ***'सकल धरमधुर······'*** यह धर्म है और आगे चलकर प्रेमका उल्लेख करते हैं कि ***'अचर सचर चर अचर करत को।'*** (२३८। ८)

(ग) ***'को जानइ तुम्ह बिनु······'***—भाव कि लक्ष्मणजी ही जो शेषके नियन्ता एवं कवि हैं, नहीं जानते तो दूसरा कौन जान सके? [नोट-कविकुलसे शुक्राचार्य ऋषि, ब्रह्मा, बृहस्पति, शेष, वाल्मीकि, उशना कवि आदि सबको सूचित कर दिया] भागवतके गुण भगवान् ही जानते हैं।

नोट—***'लषन राम सिय सुनि······'*** इति।—यहाँ देखिये लक्ष्मणजीके हृदयकी स्वच्छता, निर्मलता। आजकलके भाई तो जल ही उठते। निर्मत्सर हैं। उनको बुरा समझकर क्या कह डाला था पर उसके विरुद्ध उनके गुण सुनकर परम प्रसन्न हुए। इसीसे कविने इनका नाम प्रथम दिया। इनको सुख भी सबसे अधिक हुआ ही चाहे कि हम बड़े अनर्थसे बचे। क्याका क्या हम समझे थे। गुण तो पहलेसे भी जानते थे पर 'रामविरोध' का खयाल बीचमें आकर बाधक हो गया था, अब वे विचार हृदयपरसे धुल गये।

इहाँ भरतु सब सहित सहाए। मंदाकिनी पुनीत नहाए॥ ४॥
सरित समीप राखि सब लोगा। माँगि मातु गुर सचिव नियोगा॥ ५॥
चले भरत जहँ सिय रघुराई। साथ निषादनाथु लघु भाई॥ ६॥
समुझि मातु करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मन माहीं॥ ७॥
रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥ ८॥

शब्दार्थ—**सहाए**=सेना, सहायता करनेवाले। **राखि**=ठहराकर, निवास देकर, डेरा कराके, रोककर। **नियोगा**=आज्ञा।

अर्थ—यहाँ भरतजीने सब परिकरसमेत पवित्र मन्दाकिनीमें स्नान किया॥ ४॥ नदीके समीप सब लोगोंको ठहरा, माता, गुरु और मन्त्रियोंकी आज्ञा माँगकर, निषादराज और छोटे भाईको साथ लेकर भरतजी वहाँको चले जहाँ श्रीसीताजी और श्रीरघुनाथजी हैं॥ ५-६॥ अपनी माताकी करनी समझकर सकुचते हैं और मनमें अनेक कुतर्क करते हैं॥ ७॥ श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी मेरा नाम सुनकर स्थान छोड़कर कहीं दूसरी जगह न उठकर चले जायँ॥ ८॥

नोट—१ *'इहाँ भरतु सब सहित सहाए'*'''''' 'इति। (क)—भरतजी प्रसंग लिखते-लिखते बीचमें राम-लक्ष्मण-सीताका प्रसंग आ गया तब कवि वहाँकी कथा लिखने लगे। उसे समाप्त करके अब फिर यहाँ अपने पूर्व प्रसंगको उठाते हैं। ***'जल थल देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवन रघुनाथ पिरीते॥'*** (२२६। २) पर प्रसंग छोड़ा था। उसीको फिर *'इहाँ भरतु सब सहित सहाए''''''* ' से उठाया। बीचमें ***'उहाँ राम रजनी अवसेषा'*** से ***'अति सुख लहेउ न जाइ बखानी।'*** २२६(३) से २३३ (३) तक, 'उहाँ' और 'इहाँके' बीचका प्रसंग कहा। (ख)—इसीसे यह भी जनाया कि जिस समय भरतजी पिछले वासस्थानसे चले और मन्दाकिनी-तटपर पहुँचे, इतनी ही देरमें ये सब बातें हो गयीं जो बीचमें कही गयीं।

नोट—२ ***'साथ निषादनाथु लघु भाई।'*** निषादराजको प्रथम कहा, क्योंकि ये रास्तोंके ज्ञाता हैं। इन्हींको साथ लिया। दोनों भाइयोंको जाना चाहिये ही। वे सदा साथ रहते हैं जैसे लक्ष्मणजी रामजीके साथ। तीसरे लक्ष्मणजीके भाईके साथ जानकर हमपर कृपा करेंगे। और निषादराज रामजीका सखा है, उसे देखकर प्रभु प्रसन्न होंगे, हमपर कृपा करेंगे, हमारे अपराध क्षमा करेंगे। इस तरह जाकर पहले पता लगा लें तब औरोंको भी ले जायँगे, सबको भटकना और व्यर्थ कष्ट न पड़ेगा; सब थके हैं, सुस्ता भी लेंगे। हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि गुरु आदिको इससे न ले गये कि रघुनाथजी उन्हींके सत्कारमें लग जायँगे, हमसे भली प्रकार बातें न कर सकेंगे। (प्र० सं०)

श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि भरतजीने सब लोगोंको मन्दाकिनीके तटपर छोड़ा और शत्रुघ्न तथा निषादराजके साथ सरकारके पास चले; इसका कारण यह है कि भरतजी अपनेको अपराधी मानते हैं, क्षमापनके लिये सरकारके पास जाते हैं। शरणागत होनेमें किसीको सिफारशके लिये साथ ले जानेका नियम नहीं है, यथा—***'आवै सभय सरन तकि मोही।'*** जयन्तको भी नारदजीने अकेले ही शरणमें भेजा। सिफारशके लिये स्वयं उसके साथ नहीं गये। इसीलिये भरतजी भी अकेले गये। माता, गुरु, सचिव किसीको साथ नहीं लिया। छोटे भाईको साथ लेनेका कारण यह था कि वे भी अपराधमें शरीक समझे जा सकते थे। क्योंकि उनका स्वामि-सेवककी भाँति दृढ़ प्रेम था और सदा भरतजीके साथ थे। अतः अपराध क्षमापनके लिये उन्हें भी शरण जाना था। निषादराजका जाना न जानेके बराबर था, क्योंकि वह रास्ता दिखानेके लिये साथ था, न तो वह भरतजीकी सिफारशके लिये गया था और न रामजीको मनाने गया था। वह रामसखा था, रामजीके लिये लक्ष्मणजीकी भाँति भरतलालसे लड़नेको तैयार था। भरतजीसे मिलनेके बाद जब रामजी गुरुजीसे मिलने आये, तब रामजीके साथ होकर उनके साथ गुरुजीको दण्ड प्रणाम करता है, यथा—***'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥'*** और गुरुजी भी उसे लक्ष्मणकी भाँति रामजीके वनका संगी समझकर राम-लक्ष्मणसे मिलनेके बाद उसीसे मिलते हैं। अतः भरतलालके लिये सबको मन्दाकिनीके तीरपर ही छोड़ देनेका यथेष्ट कारण है।

नोट—३ ***'समुझि मातु करतब''''''*** '—देखिये, जिनके गुण श्रीरामजी अपने मुखारविन्दसे कहते हैं उन भरतजीके हृदयको देखिये, उनके विचारोंको देखिये, उनकी दीनता, उनका कार्पण्य देखिये—वे क्या कहते हैं? क्या सोचते हैं? मैं कैसे प्रभुको मुख दिखाऊँगा?

श्रीभरतजी ऐसे सज्जन पुरुष थे कि गोस्वामीजी लिखते हैं कि ***'भरतचरित करि नेम तुलसी जे सादर***

सुनहिं। सीय राम पद प्रेम अवसि होइ भवरसबिरति॥' इससे विदित है कि वे सर्वगुणसम्पन्न थे। उनके कर्तव्यका अनुसरण करनेसे मनुष्य कैसा चरित्रवान् हो सकता है। वे त्याग और भ्रातृस्नेहकी तो सीमा ही थे। श्रीरघुनाथजी स्वयं उनके विषयमें कहते हैं ***'सुनहु लषन भल भरत सरीसा। बिधिप्रपंच महुँ सुना न दीसा॥'*** यद्यपि श्रीभरतजीका सम्मत कैकेयीजीके विचारमें, उनके वरदानमें नहीं था और न उनको कभी स्वप्नमें भी यह कांक्षा उत्पन्न हुई थी कि मैं राजा होऊँ, तथापि मातृकर्तव्यद्वारा उन्हें भी लज्जित होना पड़ा। जो महानुभाव (श्रीभरतजी) श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें कहते थे कि ***'सिसुपन तें परिहरेउ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥'*** इत्यादि वे ही आज ***'समुझि मातु……'*** इत्यादि विचारोंसे अपने चित्तमें द्विविधाको स्थान दे रहे हैं।

भक्त शिरोमणि श्रीभरतजीका माताके कर्तव्यद्वारा द्विविधामें पड़ना लिखकर कवि हमें उत्तमोत्तम उपदेश दे रहे हैं। वे बता रहे हैं कि एकके सच्चरितद्वारा समाजका अधिक उपकार तथा दुश्चरित होनेसे परम हानि होती है। देशकी भलाई तथा आदर भी जनसमुदायकी क्रियापर निर्भर है तथा हर्ष और विषाद प्राप्त होनेका भी यही कारण है। यदि जनसमूहमें कोई पुरुष उत्तम कार्य करे तो समाजको प्रसन्नता प्राप्त होती है तथा इसके प्रतिकूल हो तो उससे समाज अधोगतिको पहुँचता है।

यदि कैकेयीजीके कर्तव्यसे श्रीरामचन्द्रजीको वनवास नहीं करना पड़ता तो श्रीभरतजीको यह द्विविधा प्राप्त नहीं होती। वैसे ही यदि श्रीरामजी भी पितावचन मान राज्य तज्ज भातृस्नेहको चरितार्थकर, सस्त्रीक, वनगमन नहीं करते तो ***'अघ अवगुन छमि आदरहिं'*** आदि बातोंसे श्रीभरतजी चित्तको स्थिर न कर सकते।

उपर्युक्त विषयोंसे स्पष्ट है कि समाजका अच्छा या बुरा प्रभाव जनसाधारणपर अवश्य पड़ता है। अतएव चरित्रवान् होना तथा उदाहरण बनना आवश्यक है।

दो०—मातु मतें महुँ मानि मोहि जो कछु कहहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर॥ २३३॥

जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी। जौं सनमानहिं सेवकु मानी॥ १॥
मोरें सरन रामहिं* की पनहीं। राम सुस्वामि दोसु सब जनहीं॥ २॥
जग जस भाजन चातक मीना। नेम पेम निज निपुन नबीना॥ ३॥

शब्दार्थ—'**सरन**'—शरणके तीन अर्थ हैं। शरण (पनाह, आश्रय, रक्षा) में, शरणागत (शरणकी लाज, शरण हूँ) और, शरण्य अर्थात् शरणमें आये हुएकी रक्षा करनेवाला, रक्षक जैसे यहाँ। आश्रयका स्थान।

अर्थ—माताके मत (सलाह)में मानकर मुझे जो कुछ भी वे कहें सो थोड़ा ही है। (अथवा) अपने शील और स्वभावकी ओर देखकर मेरे पापों और अवगुणोंको क्षमा करके आदर करें (तो अपनी ओरसे समझकर ऐसा करेंगे)॥ २३३॥ चाहे मलिन मन जानकर त्याग दें, चाहे अपना सेवक मानकर मेरा सम्मान करें (दोनोंमेंसे जो रुचे सो करें पर)॥ १॥ मेरे लिये तो श्रीरामजीकी जूतियाँ ही शरण हैं, रामजी सुस्वामी हैं और दोष तो सब दासका ही है॥ २॥ जगत्‌में चातक और मछली ही यशके पात्र हैं जो अपने नेम और प्रेममें निपुण और नित्य नये हैं॥ ३॥

नोट—१ ***'जौं परिहरहिं'*** इति। ***'जौं'*** शब्दका अर्थ प्राय: 'जो, यदि, अगर' ही होता है और इसी अर्थमें इस ग्रन्थमें भी आया है पर यहाँ 'चाहे' अर्थ हो तो ठीक जँचता है पर इसके उदाहरण अभी कोई याद नहीं आते। पं० रामकुमारजी यों अन्वय करते हैं—***'मलिन मन जानके जो परिहरें तो परिहरें, सेवक मानि जो……तो सन्मानें।'*** और एक खर्रेमें यों अन्वय किया है—'जो परिहरेंगे तो मलिन मन जानकर परिहरेंगे, और यदि सम्मान करेंगे तो सेवक मानकर करेंगे।

* 'रामकी पनहीं'।

नोट—२ दोहेमें दो बातें कहीं—माताकी सलाहमें जानें अथवा अपनी ओर समझें, तो पहलेमें जो कुछ कहें अनुचित नहीं होगा और दूसरेमें क्षमा करके आदर दें तो यह उनके योग्य ही है; उसी बातके सिलसिलेमें प्रथम अर्धाली है। माताके मतमें जाननेसे मुझे मलिनमन जानेंगे और त्याग देंगे। क्योंकि पापीका संसर्गी भी पापी माना गया है—*('जे पातक उपपातक अहहीं।'* (१६७। ७) तथा (१३२। ६) *'जो सब पातक……'* में देखिये। अपनी ओर समझेंगे तो मुझे दास जानेंगे और आदर करेंगे। *'जौं परिहरहिं'* अर्थात् त्याग करना प्रथम कहा क्योंकि डर यही है कि माताके मतमें न मान लें। जब प्रभुका स्वभाव याद आता है तब यह सोच दूर होकर ढारस आता है तब दूसरी बात कहते हैं। क्योंकि *'आपनी भलाई भलो कियो नाथ सबही को।'* (गी० ५। ७) दोनों हालतोंमें हमारे लिये दूसरी शरण नहीं। श्रीरामजीकी जूतीहीकी शरण हूँ। वे जो चाहें करें, क्योंकि *'राम सुस्वामि दोष सब जनहीं।'* दोष तो सदा दासका होता ही है; पर श्रीरामजी सुन्दर उत्तम स्वामी हैं, दूसरा वैसा कोई स्वामी ही नहीं। मिलान कीजिये—*'जो तुम त्यागौं राम हौं नहिं त्यागौं, परिहरि पाय काहि अनुरागौं। सुखद सुप्रभु तुमसों जग माहीं, श्रवन नयन मन गोचर नाहीं। हौं जड़ जीव ईस रघुराया, तुम्ह मायापति हौं बस माया। हौं तो कुजाचक स्वामि सुदाता, हौं कपूत तुम्ह पितु हित माता। जौं पै कहुँ कोउ बूझत बातो, तौ तुलसी बिनु मोल बिकातो।'* (वि० १७७), *'भयेहूँ उदास राम मेरे आस रावरी, आरत स्वारथी सब कहै बात बावरी। जीवन को दानी घनु कहा ताहि चाहिए, पेम नेमके निबाहे चातक सराहिए। मीन तें न लाभ लेस पानी पुन्य पीन को। जल बिनु थल कहाँ मीचु बिनु मीन को। बड़ेही की ओट बलि बचि आए छोटे हैं, चलत खरे के संग जहाँ तहाँ खोटे हैं। एही दरबार भलो दाहिनेहू बाम को, मोको सुभदायक भरोसो रामनाम को। कहत नसानी होइहै हिये नाथ नीकी है, जानत कृपानिधि तुलसी के जी की है।'* (१७८), *'नाहिंन और कोउ सरन लायक दूजो श्रीरघुपति सम बिपति निवारन। काको सहज सुभाउ सेवक बस काहि प्रनत पर प्रीति अकारन। जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन। परम कृपालु भक्त चिंतामनि बिरद पुनीत पतित जन तारन॥'* (वि० २०६) *'दोष सब जनहीं'*—*'सबतें सेवक धरम कठोरा।'* (२०३। ७) देखिये। *'सरन रामहि की पनहीं'*—मिलान कीजिये—*'सुमिरि रामपद पंकज पनही।'* (१९१। ४) से।

नोट—३ यहाँ 'रामकी पनहींकी शरण' कहनेमें एक खूबी और है। जूती दोनों हालतमें सेवकके सिरपर ही रहती है। उसका निरादर है तो सिरपर पड़ती है और आदर होता है तो सेवक स्वयं उसे आदरपूर्वक सिरपर रख लेता है। अतः यहाँ भी कहा कि निरादर हो चाहे आदर, हमारे तो सदा शिरोधार्य हैं।

पु० रा० कु०—*'जग जस भाजन चातक मीना।'……।'* भाव कि इनमेंसे एक—(क) पक्षी है, दूसरा जलचर। इनका-सा भी नेम-प्रेम हममें नहीं है। नेम होता तो स्वातिविन्दु रामरूपको छोड़ ननिहाल क्यों जाते और प्रेम होता तो वनगमन सुनकर प्राण क्यों न छूट जाते; जैसे राजाने छोड़ दिये। (ख)—मछली निज प्रेममें प्रवीण है, चातक निज नेममें प्रवीण है। यथा—*'नेम तो पपीहा ही के प्रेम प्यारो मीनही को।'* (गी० ५। ७) दोनोंका अपना प्रेम-नेम नवीन है अर्थात् नित्य नया-सा बना रहता है; ऐसा नहीं कि निरादरसे घट जाय, जल साथ छोड़े तो मछली तो साथ न छोड़ेगी, साथ ही प्राण पठावेगी, मेघ वज्र गिरावेंगे पर यह रटनसे बाज न आवेगा, इत्यादि। अतः वे दोनों नेम-प्रेममें यशके पात्र हैं, मेरा न तो नेम निभा और न प्रेम ही। मैं इनमें अपयशका ही पात्र हूँ। भाव कि मुझसे सब बिगड़ा, बना कुछ नहीं—*'मोहि सोच मोते सब बिधि नसानि।'* (चातक आदिके प्रसंगपर बहुत लिखा जा चुका है।) [वीर—चातक मेघ छोड़ किसीसे माँगता नहीं, मैंने सबसे वर माँगा।] (ग)—भरतजीमें नेम-प्रेम दोनों हैं, यथा—*'असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा॥' भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तृन तूरी॥'*…'रामप्रेमभाजन…' *'नित नव राम प्रेमपन पीना'* (३२३-५) एवं *'रामराम रघुपति जपत श्रवत नयन जलजात'* यह नवीन प्रेम है, अवधिकी समाप्तिपरकी यह दशा है। यहाँ कार्पण्य शरणागति है।

अस मन गुनत चले मग जाता। सकुच सनेह सिथिल सब गाता॥ ४॥
फेरति मनहुँ[१] मातुकृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥ ५॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥ ६॥
भरत दसा तेहि अवसर कैसी। जल प्रबाह जल अलि गति जैसी॥ ७॥
देखि भरत कर सोचु सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥ ८॥

शब्दार्थ—'**धोरी**'=बैल। वह तीसरा बैल जो गाड़ीमें अधिक बोझा होनेपर सबसे आगे लगाया जाता है। बा० २ (४) देखिये। **उताइल**=(सं० उत्+त्वरा) 'जल्दी, शीघ्र, तेज। **जल अलि**=पानीका भँवर। यह एक काला कीड़ा होता है जो पानीपर तैरा करता है, इसकी बनावट खटमलकी-सी होती है पर आकारमें उससे बहुत बड़ा होता है। वह प्राय: एक ही ओर घूम-घूमकर तैरता है और जल-प्रवाहके विरुद्ध यह बड़ी तेजीसे तैर सकता है। इसे पैरौवा, भौंतुआ भी कहते हैं। यथा—'***कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहि कियो भौंतुवा भौंर को हौं।***' (वि० २२९) (श० सा०) वीरकविजी लिखते हैं कि जलभ्रमर वह भी कहलाता है जो बहते हुए जलमें छोटा, बड़ा, गोलाकार उत्पन्न होता है। दोनोंकी चाल एक-सी होती है, कभी एक स्थलपर रुक जाते, कभी तेजीसे आगे चलते।

अर्थ—श्रीभरतजी इस प्रकार मनमें विचारते हुए रास्ता चले जाते हैं, संकोच (माताके सम्बन्धसे अपराधका) और प्रेम (रामस्वभाव समझने) से सारा शरीर शिथिल है॥ ४॥ माताकी की हुई खोटाई मनको (पीछे) लौटाती है, पर वे भक्ति और धैर्यरूपी धोरीके बलसे आगे चलते हैं॥ ५॥[२] जब श्रीरघुनाथजीका स्वभाव याद पड़ता है तब मार्गमें पैर जल्दी-जल्दी (तेज) पड़ने (बढ़ने) लगते हैं॥ ६॥ उस समयकी भरतजीकी दशा कैसी है जैसे जलके बहाव (धारा) में जलभ्रमरकी चाल होती है॥ ७॥ श्रीभरतजीका सोच और प्रेम देखकर उस समय निषाद विदेह हो गया अर्थात् देहकी सुध-बुध भूल गया॥ ८॥

* 'जल प्रबाह जल अलि गति जैसी' *

नोट—१ यहाँ भरतजीकी दशाकी समता जलभ्रमरकी चालसे दीं है। जलभ्रमर भी धाराका झोंका पाकर पीछे हट जाता है, कभी रुक जाता है, फिर चलने लगता है और कभी प्रवाहके सम्मुख तेजीसे चलता है। वही दशाएँ यहाँ भरतजीकी दिखायी हैं। श्रीनंगे परमहंसजी भी जलभ्रमरकी तीन चालें कुछ भेदसे मानते हैं—'प्रथम तो जलमें भँवरा चलता है। जब जलका वेग होता है तो भँवरेको जल चलनेसे रोकता है, परंतु भँवर चलनेमें कुशल है, वह कुशलताके बलसे चलता है, रुकता नहीं और जब कभी अपने स्वभावपर आ जाता है तब तो उछाल मारके चलता है।'

'***फेरति मनहुँ मातुकृत खोरी***'—'माताकी करनी सोचना प्रवाहका झोंका है जो पीछे हटाता है एवं रोक देता है।' अपराध समझकर संकोच हो जाता है कि कैसे मुँह दिखावें। भक्तिका बल-भरोसा पाकर चलने लगते हैं—'***चलत भगति बल धीरज धोरी।***' और जब रामजीका स्वभाव याद करते हैं तब तो कदम तेज पड़ने लगते हैं। धारका झोंका हटा कि भ्रमर तेज हुआ—'***जब समुझत******'। भक्ति बल, यथा—

'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय अस मम बानी॥' (७।८६)
'क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए॥

'***देखि दोष कबहुँ न उर आने।***' (२९९। २—४) (यह स्वभाव है। पुन:, स्वभाव, यथा—'***जन अवगुन***

१-पाठान्तर 'मनहिं'। अर्थ एक ही है।

२-अर्थ—(१) धीरजरूपी भारके धारण करनेवाले भरतजी भक्तिके बलसे बढ़ते हैं अर्थात् धीरज धरकर आगे चलते हैं—(खर्रा)। (२) पर भक्तिका बल उन्हें धीरजसे इस बोझका उठानेवाला बना आगे चलता है—(वीर)।

प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥' (७। १), *'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥ जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥·······'* (५। ४८)।, *'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहि तबहीं॥'* (५। ४४) कुछ लोगोंने पीछे हटना और तेज चलना दो ही दशाएँ मानी हैं। पाँड़ेजीका मत भी यही है कि तीन चरणोंमें तीन दशाएँ दिखायीं!

नोट—२ निषाद और विदेहके भाव पहले आ चुके हैं—*'देखि भरत कर सील सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥'* (११५। ४) देखिये। दोनों अर्धालियाँ लगभग एक ही हैं। वहाँ *'सील'* है, यहाँ उसकी जगह *'सोच'* है, केवल इतना ही अन्तर है। वहाँ भरतजीका शील देखा कि *'जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा'* ऐसे मुझ निषादसे *'मिलत पुलक परिपूरित गाता।'* यहाँ सोच है कि कहीं मेरा आगमन सुनकर प्रभु अन्यत्र न चले जायँ, इत्यादि। *'देखि भरत कर सोच सनेहू'* यह *'समुझि मातु करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मन माहीं॥'* (२३३। ७) से *'तब पथ परत उताइल पाऊ।'* (२३४। ६) तक कहा। कुतर्क करना ही सोच है और 'प्रेम' तो सभी चौपाइयोंमें भरा है। *'देखि'* से सूचित किया कि उनकी दशासे ही उनके आन्तरिक शोचको उसने जान लिया।

दो०—लगे होन मंगल सगुन सुनि गुनि कहत निषादु।
मिटिहि सोच होइहि हरषु पुनि परिनाम बिषादु॥ २३४॥

सेवक बचन सत्य सब जानें। आश्रम निकट जाइ निअरानें॥ १॥
भरत दीख बन सैल समाजू। मुदित छुधित जनु पाइ सुनाजू॥ २॥
ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिबिध ताप पीड़ित ग्रह मारी*॥ ३॥
जाइ सुराज सुदेस सुखारी। होहि भरत गति तेहि अनुहारी॥ ४॥

शब्दार्थ—**समाज**=श्रेणी, पंक्ति, समुदाय, सिलसिला। अथवा, शैलका समाज, अनेक रंगके पर्वत, झरने, शिखर आदि—(पु० रा० कु०)। **ईति**=खेतीको हानि पहुँचानेवाले उपद्रव। ये ६ प्रकारके हैं—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी पड़ना, चूहे लगना, पक्षियोंकी अधिकता और दूसरे राजाकी देशपर चढ़ायी। कोई-कोई सात कहते हैं। यथा—'**अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः॥**' उत्तरार्ध ऐसा भी है—'**स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः॥**' '**भीति**'= भय, डर। **सुदेस**= अच्छा सुन्दर देश, उपयुक्त स्थान, सुखी मुल्क। **मारी**= वबाई बीमारी, जैसे प्लेग, हैजा, आदि। **सुनाज**=उत्तम भोजन, यथा—*'तुलसी निहारि कपि भालु किलकत किलकत लखि ज्यों कँगाल पातरी सुनाज की'*। **सुराज** (सुराज्य)= वह राज्य या शासन जिसमें सुख-शान्ति विराजती हो। उत्तम और अच्छे राज्यका राजा।

अर्थ—मंगल सगुन होने लगे, उन्हें सुनकर सगुन विचारकर निषाद कहता है कि शोक मिटेगा, हर्ष होगा, (पर) अन्तमें दुःख होगा॥ २३४॥ भरतजीने सेवकके सब वचन सत्य समझे। वे आश्रमके पास पहुँचे॥ १॥ वन और पर्वतोंकी श्रेणी देखकर भरतजीको ऐसा आनन्द हुआ मानो भूखा सुन्दर अन्न (उत्तम भोजन) पाकर प्रसन्न हो रहा हो॥ २॥ मानो ईतिके भयसे भारी दुःखी हुई और तीनों तापों और भारी क्रूर ग्रहदशाओंसे (ग्रसित) और महामारीसे अत्यन्त सतायी हुई प्रजा अच्छे और उत्तम राज्यके सुन्दर देशमें पहुँचकर सुखी हो, (ठीक) उसी प्रकारकी दशाएँ भरतजीकी हो रही हैं॥ ३-४॥

नोट—१ (क) निषाद पथप्रदर्शक है। वह भरतके शोच और प्रेमको देख जब विदेह हो गया तो रास्ता कौन बतावे? यह देख प्रकृति स्वयं सहायक हुई, चारों ओरसे मंगल शकुन होने लगे। यहाँ शरीरकी सुध-बुध नहीं है, इससे शकुन ऐसे हुए कि उन्हें होश आ जाय। कुछ विशिष्ट पक्षियोंकी बोली शुभ मानी

* भारी-पाठान्तर है=भाषण, क्रूर, प्रबल। कठिन।

जाती है, वे शकुन-पक्षी हरि-इच्छासे बोलने लगे और वे शुभसूचक स्थानोंमें बैठे दिखायी देने लगे। यह बात *'सुनि'* शब्द देकर कविने सूचित की है। बोली सुनकर निषादराज होशमें आ गये, सावधान हो गये और शकुनका विचार करने लगे। शृंगवेरपुरमें दिखा आये हैं कि यह एवम् और भी निषाद शकुन-विचारमें कुशल हैं। (ख) पांडेजी कहते हैं कि यह कनसुई सगुन कहलाता है, यथा—*'लेत फिरत कनसुई सगुन सुभ बूझत गनक बुलाइ कै। सुनि अनुकूल मुदित मन मानहुँ धरत धीरजहिं धाई कै।'* (ग)—*'लगे होन'* और *'सुनि'* दोनों पद देकर एक तो यह जनाया ही कि पशु-पक्षीके मांगलिक शब्द सुनायी दिये पर साथ ही यह भी जनाया है कि और भी शकुन हुए जिनका दर्शन भी शुभ है। बोलियाँ सुनीं, दिशा आदि देखे, इत्यादि। (घ) 'परिणाम विषाद' अर्थात् रामजी अभी लौटेंगे नहीं।

नोट—२ *'सेवक बचन सत्य सब जाने'* इति। *'सेवक'* अर्थात् श्रीरामजीका भक्त वा दास है। एवं सेवकका अर्थ है केवट, यथा—'**कैवर्तो दासधीवरः**' '**इत्यमरः**', अर्थात् केवटका वचन है और केवट शकुनिये होते हैं। अतएव सगुनका विचार सत्य माना। यहाँ *'सेवक'* पद दोनों भावोंको प्रकट करता है। (पु० रा० कु०) निषादने तीन विचार कहे वे तीनों सत्य हुए। *'मिटी मलिन मन कलपित सूला।'* (२६७। २), *'मिटेउ छोभ नहिं मन संदेहू।'* (२६८। १) और ये *'सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता॥'* (२४२। ६) *'मिटिहिं सोच'* के उदाहरण हैं। दूसरा विचार है *'होइहि हरषु'*। *'भरतहिं भयउ परम संतोषू। सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू'॥ मुख प्रसन्न मन मिटा विषादू।' (नाथ भयेउ सुख साथ गये को)।'* (३०७। ३—६) और *'भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सियाराम रहे तें।'* (३१। ६। ८) ये इस दूसरे विचारकी सत्यताके प्रमाण हैं। शकुनका अन्तिम फल *'परिणाम विषादू'* शब्दोंमें कहा है। ये चित्रकूटसे बिदा होते समय तथा उसके पश्चात् चरितार्थ हुए हैं यथा—*'मुनि महिसुर गुर भरत भुआलू। रामबिरह सब साज बिहालू॥'* (३२२। १)॥' *'लषन रामसिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तनु कसहीं॥'* (३२६। २) इत्यादि।

नोट—३ *'भरत दीख बन सैल समाजू। मुदित……'* इति। (क)—जबसे अयोध्याजीमें अनर्थ प्रारम्भ हुआ तभीसे भरतजी दुःखित हो रहे हैं। अयोध्यामें आकर दुःख और बढ़ गया। अबतक दुःख बहुत रहा। आज रामवनशैल समाज देखकर प्रसन्न हुए, दुःख जाता रहा। (ख) कैसा सुख हुआ जैसे भूखेको उत्तम भोजनसे, भाव कि भूखमें चना-चबेना सड़ा-गला जो मिल जाय वही बड़ा अच्छा लगता है तो जब उत्तम पदार्थ भोजनके मिलेंगे तो न जाने कितना सुख होता होगा। यहाँ भरत क्षुधित हैं, यथा—*'यहि दुख दाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती।'* (२११। १), *'निसि न नींद नहिं भूख दिन भरत बिकल सुचि सोच।'* (२५२) वनशैल-समाजका दर्शन *'सुनाज'* है। (ग) 'वन—शैल—समाजा' के दो प्रकारके अर्थ हैं।

* 'ईति भीति जनु प्रजा दुखारी।……अनुहारी' *

१—राम-राज्यमें भरतजीको पहुँचनेपर जो दशा आनन्दकी प्राप्त हो रही है वह यहाँ उत्प्रेक्षाकी विषय है। उस राज्यके दुःखका अनुमान कीजिये जिसमें छहों ईतियोंने प्रजाके खेतोंको नष्ट कर दिया हो, पेटके लाले पड़ गये हों, प्रजा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों तापोंसे सतायी हो, उसपर भी साढ़ेसाती शनैश्चर आदि क्रूर ग्रहोंने भी आ दबाया हो और महामारी फैली हो। ऐसी दुःखित प्रजा यदि वहाँसे भागकर ऐसे सुन्दर राज्यमें पहुँच जाय जहाँ सुख और शान्ति विराजमान है, ईति, तापत्रय और क्रूरग्रह उस धर्मात्मा राजाके प्रतापसे सिर न उठाते हों, देश भी बड़ा सुन्दर हो तो उसको कैसा सुख होगा इसको अनुमान कीजिये। बस इसी प्रकार भरतके सुखकी दशा है।

२—अब यहाँ देखना है कि ईति, भीति आदि यहाँ क्या हैं?

मुं० रोशनलाल—अयोध्याका राज्य खेती है जो रामराज्याभिषेक होनेकी तैयारीके समय पक गयी थी। फसल सबेरे कटनेको ही तैयार थी कि कैकेयीकी कुमति और कुचालरूपी टिड्डी, तोते आदिने आकर बालियोंको चुग लिया, यही अवधवासियोंके लिये ईति हुई, यथा—*'कीन्हि मातु मिस काल कुचाली। ईति*

भीति जस पाकत साली॥' (२५३। १)। रा० प्र० ने देवता, सरस्वती और मन्थराकी कुचाल भी इसमें शामिल कर दिया है। और यदि दो वरदानोंको भी ले लें तो पूरी छः की संख्या क्यों न कर लें? श्रीराम-लक्ष्मण-सीता तीनोंका विरह (वनगमनके कारण) त्रिताप है, यथा—***'नाथ बियोग ताप तन ताये।'*** (२२६[1]। ४) और भारी ग्रह शनैश्चरकी दशा जिसका फल नृपकी मृत्यु हुई—***'अवध साढ़ेसाती तब बोली'***।

श्रीनंगेपरमहंसजीका मत है कि 'यहाँ समाजसहित श्रीभरतजीके दुःखके लिये प्रजाका रूपक दिखाया है। यहाँ राजाका मरण अकाल (ईति) है। तीनों मूर्ति श्रीराम-सीता-लक्ष्मणका वनगमन त्रिताप है। माताओंका वैधव्य दुःख भारी ग्रह है। चित्रकूट पर्वतपर पर्णकुटी सुराज है और चित्रकूटका वन सुदेश है।'

पं० रामकुमारजीका मत है कि आपदा, राजमृत्यु और वनगमन त्रिताप हैं, रामराजभंग भारी ग्रह संकटादशा है। अथवा, तीनका वियोग है, उसमें सीतावियोग ईति, रामवियोग त्रिताप और लक्ष्मणवियोग भारी ग्रह।

नोट—१ भरत तीनोंसे पीड़ित हुए हैं—पिताकी मृत्युसे यथा—***'सुनत भरत भये बिबस बिषादा।***···***परे भूमितल ब्याकुल भारी'***। रामवनगमनसे और माताकी कुटिल करनीसे तो सर्वत्र प्रत्यक्ष है।

नोट—२ यहाँ 'सुराज' कहा, आगे राज्यके अंग कहते हैं।

रामबास बन संपति भ्राजा। सखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥ ५॥
सचिव बिरागु बिबेकु नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥ ६॥
भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी॥ ७॥
सकल अंग संपन्न सुराऊ। रामचरन आश्रित चित चाऊ॥ ८॥

शब्दार्थ—'**संपन्न**'=पूर्ण, युक्त, भरापूरा, यथा—***'ससि सम्पन्न सोह महि कैसी'***; कुछ भी कमी नहीं।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके निवाससे वनकी सम्पत्ति शोभायमान है मानो अच्छा राजा पाकर प्रजा सुखी है॥ ५॥ वैराग्य मन्त्री है। ज्ञान राजा है, सुहावना हरा-भरा पवित्र वन पवित्र देश है॥ ६॥ यम-नियम योद्धा हैं। पर्वत राजधानी है। शान्ति और सुमति पवित्र और सुन्दर रानियाँ हैं[2]॥ ७॥ यह उत्तम राजा (राज्यके) सम्पूर्ण अंगोंसे भरापूरा है। श्रीरामजीके चरणोंके भरोसे रहनेसे सबके चित्तमें चाव (उत्साह एवं प्रसन्नता) है॥ ८॥

टिप्पणी—१ यहाँ राज्यका सांगरूपक है। राज्यमें खजाना (सम्पत्ति), मन्त्री, राजा, रानी, देश, राजधानी, सुभट और मित्र ये प्रधान अंग चाहिये—। १०५ (२—८) देखिये। इन्हें क्रमसे बताते हैं। वनमें रामवास है, यही सम्पत्ति है जो शोभा दे रही है, राम सम्पत्ति हैं। ***'तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी'*** ऐसा वैराग्य मन्त्री है। षट्शास्त्र-जन्य निपुण ज्ञान अथवा ***'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं'*** ऐसा ज्ञान नरेश है। मन्त्रीके बिना राजा किस कामका वैसे ही वैराग्य बिना ज्ञान नहीं, यथा— ***'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।'*** इसीसे मन्त्रीको कहकर तब राजाको कहा। सुन्दर वन ही देश है। योद्धा बहुत चाहिये वैसे ही यम और नियम बहुत[3]।

१-सांख्यशास्त्रके अनुसार दुःख तीन प्रकारके हैं। आध्यात्मिकके अन्तर्गत रोग आदि शारीरिक और क्रोध आदि मानसिक दुःख हैं। आधिभौतिक वह है जो स्थावर, जंगम (पशु, पक्षी, सर्प, मच्छड़ आदि) भूतोंके द्वारा हों। आधिदैविक जो प्राकृतिक शक्तियोंद्वारा पहुँचता है; जैसे आँधी, वज्रपात, शीत, ताप आदि। इनको दैहिक, भौतिक और दैविक ताप भी कहते हैं।

२-अर्थ—शान्ति सुमति-शुचि-सुन्दर रानी है—(खर्रा)। शान्ति, सुमति और पवित्रता रानियाँ हैं। (नं० प०)

३-(श० सा०) मनुसंहितामें अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अकल्कता और अस्तेय पाँच यम कहे हैं पर पारस्कर गृह्यसूत्रमें तथा और भी दो एक ग्रन्थोंमें ५ और कहे हैं, यथा—दया, शान्ति, ध्यान, माधुर्य और यम। यम अष्टांग-योगमेंसे प्रथम अंग है। पु० रा० कु० १२ यम, १२ नियम कहते हैं। शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान इन नियमोंका पालन नियम है। याज्ञवल्क्यस्मृतिमें १० नियम गिनाये गये हैं—स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, वेदपाठ, इन्द्रियनिग्रह, गुरुसेवा, शौच, अक्रोध और अप्रमाद। जैनशास्त्रमें गृहस्थधर्मके अन्तर्गत १२ नियम कहे हैं। 'सम जम नियम फूलफल ज्ञाना।' (१। ३७। १४) देखिये।

देश (मुल्क) में एक प्रधान नगर होता है जहाँ राजा रहता है, उसे राजधानी कहते हैं। राजधानी कामदगिरि चित्रकूटका मुख्य पर्वत है। 'रामचरण आश्रित' से मित्र कहा। 'सकल अंग सम्पन्न' अर्थात् प्रधानके अतिरिक्त और भी अंग होते हैं वे सब अंग इसके हैं—यहाँ कुछ कहे जाते हैं।

टिप्पणी—२ *'राम चरन आश्रित चित चाऊ'* इति। (क)—जैसे कोई राजा बड़े सम्राट् राजाके आश्रित होनेसे बेखटके निर्भय रहता है वैसे ही रामचरणाश्रित होकर विवेक राजा निर्भय है; इसीसे प्रसन्न है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि जहाँ केवल विवेक है, श्रीरामचरणका आश्रय नहीं है वहाँ अनेक भय हैं और वहाँ शोभा नहीं रह सकती —*'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जल जानू॥'* वह ज्ञान पार नहीं कर सकता, उसमें नाव डूब जानेका भय है। प्रभुने स्वयं नारदजीसे कहा है—*'यह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥'* (आ० ४३) (ख) मानस प्रकरणमें कहा है—*'सम जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद रति रस बेद बखाना॥'* (१३७। १४) वैसे ही यहाँ कहा है। ज्ञान फल है, हरिपदरति उसका रस है। बिना हरिपद प्रेमके ज्ञान शुष्क है। रूखा-सूखा ज्ञान यहाँ नहीं है इसीसे चितमें चाव है।

नोट—उपर्युक्त रूपकका भावविशेष—वैराग्यको मन्त्री कहा क्योंकि यदि समस्त अंग नष्ट हो गये हों किंतु वैराग्य बना रहे तो विवेकीको फिर सब अंग प्राप्त हो सकते हैं। वैराग्य ही विवेकको सन्मार्गमें स्थित रख सकता है, मोहके वश न होने देगा। *'कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥'* (३। १५। ८) ऐसा वैराग्य सदा साथ रहे तो विवेकका राज्य सदा बना रहेगा। यथा—*'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।'* (७। ८९) विवेक राजाका देश सुहावना वन है। यह कहकर जनाया कि विवेकीके लिये प्रवृत्तिसे अलग रहना उचित है, वनमें निर्जन स्थानोंमें विवेकका राज्य स्थिर रहता है। वहाँ रहकर वह यम-नियम आदिमें बराबर दृढ़ रहे। राजाके पास जब सुन्दर देश और राजधानी होती है तब अनेक सुन्दर स्त्रियाँ रानी बनना चाहती हैं। वैसे ही विवेकी पुरुषके पास वैराग्य, यम-नियमादि होनेपर 'सुमति और शान्ति' रानियाँ प्राप्त होती हैं। ज्ञानके सम्पूर्ण अंग सम्पन्न होनेपर भी उसे गिरनेका डर है—*'ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥'* (७। ११९। १), *'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञान धाम मन करहिं निमिष महँ छोभ॥'* (३। ३८) *'सोउ मुनि ज्ञान निधान मृगनयनी बिधुमुख निरखि। बिबस होइ हरिजान नारि बिष्नु माया प्रकट।'* (७। ११५) यदि वह ज्ञानी रामभक्तिमें भी दृढ़ रहे तो श्रीरामजी उसकी रक्षा करते हैं, उसके पास माया फटकने नहीं पाती। यथा—*'राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥ अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥'* (७। ११६), *'जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥ यह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पाएहुँ ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥'* (३। ४३) अत: *'राम चरन आश्रित'* कहा, बिना इसके *'करनधार बिनु जिमि जल जानू'* की दशा होती है।

* गोस्वामीजीका मत 'सुराज्य' पर *

गोस्वामीजीका मत सुराज्य-सम्बन्धमें क्या है। यह इस प्रकरणमें उन्होंने कह दिया है। जिसमें प्रजा सुखी हो वही सुराज्य है—*'सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजू', 'पाइ सुराज सुदेस सुखारी।'* प्रजा सुराज्य पाकर बढ़ती है, यथा—*'बिबिध जंतु संकुल महि भ्राजा। बढ़इ प्रजा जनु पाइ सुराजा॥'* सुराज्यमें आये दिन दुर्भिक्ष, आये दिन अगणित नये-नये रोग नहीं होते...यह सब रामराज्यमें कविने स्पष्ट दिखाया है। सुराज्यके आदर्शका पूर्ण चरितार्थ रामराज्यमें देखिये, जो इतिहास है, किसी कविकी गढ़ंत नहीं है। होती तो असंख्यों रामायणोंमें, जो भिन्न-भिन्न ऋषियोंद्वारा प्रणीत हुई हैं, एक-सा चरित्र न गाया जाता। और कोई ऐसा करता ही क्यों? एक गढ़ा हुआ किस्सा दूसरेका लेकर उसीको दूसरा कभी कोई कहेगा? या कभी कहता और कहा है? फिर यदि कल्पित ही कथा होती तो इसी प्रकारकी अनेक कल्पित कथाएँ लिखी जा सकती थीं जिनमें आदर्श सुराज्यका प्रतिपादन होता। होमरने इलियड नामकी कल्पित कहानी लिखी सही, परंतु सुराज्यका

आदर्श न रख सका। रामराज्यके आदर्श सुराज्य होनेकी कल्पना उसके मनमें रामायणकी वस्तु लेनेमें शायद न आ सकी। उसने वस्तु (प्लाट) सुन लिया होगा। रामायण महाकाव्य सुन न पाया होगा।

दो०—जीति मोह महिपालु दल सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राजु पुर सुख संपदा सुकालु॥ २३५॥

बन प्रदेस मुनिबास घनेरे। जनुपुर नगर गाउँ गन खेरे॥ १॥
बिपुल बिचित्र बिहग मृग नाना। प्रजा समाजु न जाइ बखाना॥ २॥
खगहा करि हरि बाघ बराहा। देखि महिष बृष साजु सराहा॥ ३॥
बयरु बिहाइ चरहिं एक संगा। जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा॥ ४॥

शब्दार्थ—**खगहा**=गैंडा। (खाँग=निकला हुआ पैना दाँत)। **चरहिं**=घूमते-फिरते, विचरते हैं, यथा-*'दुखमें सुख मान सुखी चरिये।'*

अर्थ—मोहरूपी राजाको सेनासहित जीतकर ज्ञानरूपी राजा नगरमें अकंटक (शत्रुहीन) राज्य कर रहा है जहाँ सुख, सम्पत्ति और सुकाल (सुन्दर समय अकाल दुर्भिक्षरहित) वर्तमान हैं॥ २३५॥ वनरूपी प्रान्तमें जो बहुत-से मुनियोंके आश्रम हैं वे मानों पुरो (शहरों), नगरों (कस्बों), ग्रामों और पुरवोंके समूह हैं॥ १॥ बहुत तरहके रंग-बिरंगके अनेक जातिके बहुत पक्षी-पशु प्रजाका समाज है जिसका वर्णन नहीं हो सकता॥ २॥ गैंडा, हाथी, सिंह, बाघ, वराह (शूकर), भैंसे और बैलोंका साज (अंग-प्रत्यंगकी बनावट) देखकर सराहते ही बनता है॥ ३॥ ये सब वैर छोड़कर एक साथ जहाँ-तहाँ विचर रहे हैं; यही मानो चतुरंगिनी सेना है॥ ४॥

टिप्पणी १ पु० रा० कु०—*'जीति मोह महिपालु दल……'* इति। (क) यहाँ चित्रकूटका माहात्म्य दिखाया कि मोहादि नाशको प्राप्त होते हैं और विवेकादि बढ़ते हैं। विनय और गीतावली एवं वाल्मीकीयमें स्पष्ट कहा है जैसा कि पूर्व श्रीरामजीके वहाँ निवास होनेपर लिखा गया है। दोहा १३२ में देखिये विवेक राजा और मोह महिपालकी लड़ाई प्रबोधचन्द्रोदय नाटकमें है. (ख) *'अकंटक राजु'*—मोह ज्ञानका शत्रु है, वही कंटक था जो निकल गया; इसीसे अकंटक हो गये। (ग) *'सुख संपदा सुकालु'*—सुख ब्रह्मानन्द और सम्पत्ति रामवास है, इसीसे सदा सुन्दर काल है। यथा—*'चित्रकूट सब दिन बसत प्रभु सिय लषन समेत। राम नाम जप जापकहि तुलसी अभिमत देत॥'* (दो० ४), *'रस एक रहित गुन करम काल। सिय राम लषन पालक कृपाल॥'* (वि० २३), *'कामदमनि कामता कल्पतरु सो जुग-जुग जागति जगतीतलु।'* (वि० २४)' इत्यादि। अथवा, सुख और सम्पदाके लिये सुन्दर काल है।

टिप्पणी—२ प्रधान अंग कहे अब जो साधारण अंग बाकी हैं उन्हें कहते हैं।

रा० प्र०—चतुरंगिनी सेनामें रथ, पैदल, हाथी, घोड़े होते हैं। यहाँ रथ गैंडा है क्योंकि इसकी पीठ चौड़ी होती है, वराह, महिष, बैल, पैदल, हाथी और सिंह-बाघ घोड़े हैं।

'मुनिबास घनेरे'—वाल्मीकि, अत्रि आदि मुनि रहते हैं, यथा—*'अत्रि आदि मुनिबर बहु बसहीं।'* (१३२। ७) (ख) *'बिपुल बिचित्र बिहग मृग नाना।'* यथा—*'करि केहरि मृग बिहग बिहारू।'* (१३२। ४)

प्रबोधचन्द्रोदय नाटकमें इसी प्रकारका एक रूपक है जिसमें 'महामोह' को राजा, कामको मन्त्री और प्रधान सेनापति कहा गया है। दूसरी ओर विवेकको राजा कहकर उसके भी कटकादिका वर्णन है। दोनोंके समाजकी तालिका मिलानके लिये यहाँ दी जाती है।

प्रबोधचन्द्रोदय		मानस	शत्रु (प्र० ना०)	शत्रु (मानस)
राजा	विवेक	विवेक	महामोह	मोह
रानी	मति		मिथ्यादृष्टि	ज्ञानेन्द्रिय

(शान्ति राजाकी बहिन है)		सुमति और शान्ति	***राज करै निजमन्त्र***
मन्त्री	वैराग्य	वैराग्य	काम क्रोध लोभ ***'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल***
सेना (भट)	निदिध्यासन सत्संकल्प, ब्रह्मचर्य व्रत आदि	यमनियम	दंभ अहंकारादि ***मोह कै धारि।'*** (३। ४३)।', मन्त्री और सेनापति ***सेनापति कामादि भट दंभ कपट*** है। ***पाखंड।'*** (७। ७१)।'

प्र० नाटकमें राजाकी बहिन और रानी आदिकी सखियोंका वर्णन है। श्रद्धा सुमति रानीकी सखी और शान्तिकी माता है। करुणा शान्तिकी सखी है। मैत्री श्रद्धाकी सखी है। क्षमा विवेककी दासी है। वस्तु विचार (ज्ञान-विज्ञान) विवेकके किंकर हैं। और 'संतोष' वस्तु विचारका साथी है।

☞ प्र० नाटकमें रानीकी सखी विभ्रमावती है। काम, क्रोध, लोभकी स्त्रियाँ क्रमसे रति, हिंसा और तृष्णा हैं। अहंकारका पुत्र लोभ और मोहका पुत्र दंभ है। ☞विनय पद ५९ मोहका रावणसे रूपक देकर कुम्भकर्णको अहंकार, मेघनादको काम, अतिकायको लोभ, महोदरको मत्सर और देवान्तको क्रोध इत्यादि कहा है।

मित्र	भक्ति। विवेककी विजयश्री सरस्वती भक्तिकी सखी है।	*'जय पाइय सो हरिभगति।'* (७। १२०) रामचरन आश्रित		चार्वाक
देश (राजधानी)	×	निवृत्ति	×	प्रवृत्ति

झरना झरहिं मत्त गज गाजहिं। मनहु निसान बिबिध बिधि बाजहिं॥ ५॥
चक चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंजु मराल मुदित मन॥ ६॥
अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराजु मंगल चहुँ ओरा॥ ७॥
बेलि बिटप तृन सफल सफूला। सबु समाज मुद मंगल मूला॥ ८॥

दो०—रामसैल सोभा निरखि भरतु हृदय अति पेमु।
तापस तप फलु पाइ जिमि सुखी सिराने नेमु॥ २३६॥

शब्दार्थ—**झरना**=पहाड़ोंके भीतरसे जहाँसे पानी बाहर गिरता है वह स्थान; पर्वतसे निकला हुआ जलप्रवाह; निर्झर; आबशार। पहाड़ या ऊँचे स्थानसे पानीकी धाराका गिरना। **तृन**=घास। अर्कप्रकाश नामक वैद्यकग्रन्थमें तृणगणके अन्तर्गत तीन प्रकारके बाँस, कुश, काँस, तीन प्रकारकी दूब, गाँडर, नरकट, गूदी, मूँज, डाभ, मोथा इत्यादि माने गये हैं। अथवा, बहुतसे घासके समान पौधे जो फूलवाले होते हैं उनसे यहाँ तात्पर्य है।

अर्थ—झरने झर रहे हैं, मतवाले हाथी गर्ज रहे हैं, मानो अनेक प्रकारके डंके-नगाड़े बज रहे हैं॥ ५॥ चक्रवाक, चकोर, चातक, तोते, कोयलोंके समूह और सुन्दर हंस प्रसन्न मनसे (अपनी-अपनी सुन्दर बोली) बोलते चहचहाते हैं॥ ६॥ भ्रमरोंके समूह गाते हैं, मोर नाचते हैं, मानो सुराज्यमें चारों ओर मंगल हो रहा है॥ ७॥ बेलें, वृक्ष और तृण सब फलफूलयुक्त हैं। सारा समाज आनन्द-मंगलका मूल है॥ ८॥ श्रीरामजीके पर्वतकी शोभा देखकर भरतजीके हृदयमें अतीव प्रेम हुआ, जैसे तपस्वी तपस्याका फल पाकर नियमकी समाप्ति होनेपर सुखी होता है॥ २३६॥

नोट—१ (क) शहर, कस्बे, ग्राम, खेरे कहे, उनमें प्रजा चाहिये सो कही। फिर रक्षाके लिये चतुरंगिनी सेना कही। फौजमें डंका, नगाड़ा चाहिये; उन्हें तथा और-और भी अंग यहाँ कहते हैं। (ख) ***'चक चकोर'*****......**इति। मुदित मनसे इनका अपनी-अपनी बोली बोलना ताल, सारंगी, पखावज, वीणा, मृदंग, सितार, तबला इत्यादिका बजना है—(रा० प्र० का मत है कि ये कौतुकी अर्थात् तमाशायी हैं)। भौंरे गायक हैं। मोर नाचनेवाले हैं। इन चार चरणोंमें महफिलका समाज कहा। नाच, गान, वाद्य ये सब मंगल-समयमें होते हैं। अतः कहा कि जैसे सुराज्यमें चारों ओर मंगल मनाया जाता है वैसे ही यहाँ चहुँदिशि

मंगलमोद उत्पन्न हो रहा है (पु० रा० कु०)। मिलान कीजिये गीतावली पद १५७ से—*'झिल्लि झाँझ झरना डफ पणव मृदंग निसान। भेरि उपंग भृंग रव ताल कीर कलगान॥ हंस कपोत कबूतर बोलत चक्क चकोर। गावत मानहु नारिनर मुदित नगर चहुँ ओर······'*, पर यह फागका रूपक है और यहाँ राज्यका।

पा०, रा० प्र०—*'बेलि बिटप तृन······'* इति। फल-फूलसहित लता, वृक्ष, तृण जो सब आनन्दमंगलमूल हैं वे ही सब समाज हैं अर्थात् नाच-रंग जलसा देखनेवाले हैं। भाव यह कि विटप पुरुष हैं, बेलि स्त्री हैं और तृण लड़के हैं। पुरुष इनको लिये नाच देख रहे हैं। फूल-फलसे इनका झुकना वाह-वाह करना अर्थात् गाने-नाचनेवालोंकी दाद देना है।

खर्रा—भाव यह कि मंगल-समयमें फूल-फल एकत्र किये ही जाते हैं, सो यहाँ वे स्वयं ही इकट्ठे हो रहे हैं। बेलि, विटप, तृण ये सब फूल-फलसहित हो रहे हैं, इसीसे यह सब समाज मुदमंगलका मूल है। फूलफल सम्पन्न होना 'मुदित' होना है।

नोट—२ (क)—*'रामसैल सोभा निरखि······'* इति। यहाँ रामशैल-शोभा देखकर जो अतीव प्रेम बढ़ा उसका उदाहरण देते हैं। भरत तपस्वी हैं, तपका फल राम-आश्रम-प्राप्ति है। (तपका फल अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष है। अभी श्रीरामजीके दर्शन नहीं हुए, केवल रामशैलके दर्शन हुए हैं; इसीसे *'तप फल'* मात्र कहा गया। रामदर्शन तो समस्त शुभ साधनोंका 'सुहावना सुफल' है, जो अभी प्राप्त नहीं हुआ। यथा—*'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥'* (२१०। ४)। यह आगे प्राप्त होगा। तबका सुख तो उत्प्रेक्षाका भी विषय नहीं रह जायगा)। (ख)—*'सुखी सिराने नेम'* इति। जो *'निसि भोजन इक लोग'* इत्यादि नेम-व्रत सब करते आये वह आज सफल हुआ, वह श्रम छूटा।

☞ ज्यों-ज्यों भरतजी प्रभुके निकट होते जाते हैं त्यों-त्यों उनका प्रेमानन्द *'अधिक अधिक अधिकात।'* यह बात नीचेके मिलानसे स्पष्ट समझमें आ जावेगी।

(१) जब श्रीरामशैल कामदगिरिका दर्शन हुआ तब हृदयमें जो अति प्रेम हुआ उस सुखकी उपमा *'तापस तप फल पाइ जिमि सुखी सिराने नेम'* की दी।

(२) जब आश्रम देख पड़ा और वे उसमें प्रविष्ट हुए तब *'सब दुख दावा'* दूर हुआ। यथा—*'भरत दीख प्रभु आश्रम पावन। सकल सुमंगल सदन सुहावन॥ करत प्रबेस मिटे दुख दावा।'* (२३९। २-३) इसकी उत्प्रेक्षा *'योगी परमारथ पावा'* की की।

(३) जब श्रीसीताराम-लक्ष्मणजीके दर्शन हुए तब *'हर्ष शोक सुख दुख गन'* सभी भूल गये। यथा—*'देखे भरत लषन प्रभु आगे।······बेदी पर मुनि साधु समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू॥···'* (२३९। ४, ६), *'····सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष सोक सुख दुख गन॥'* (२४०। १) इसकी कोई उत्प्रेक्षा भी नहीं कह सके। यह शुभ साधनोंका सुन्दर सर्वोत्कृष्ट फल है।

(४) जब *'पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं।'* और *'बरबस लिये उठाइ उर लाए कृपानिधान।'* (२४०)। तब तो *'परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥'* मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार चारोंकी विस्मृति दोनोंको हो गयी। और जितनी मुनि-मण्डली आदि वहाँ थी सभी इनका परस्पर मिलन देखकर अपनी देहसुध भूल गयी। उस *'अगम सनेह'* तक पहुँचनेकी शक्ति तो विधि, हरि और हरके मनमें भी नहीं है। और उसका कथन *'कविकुल'* को भी *'अगम करम मन बानी'* है।

उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता गया। यहाँ मिलनेपर पूर्ण हुआ। श्रीरामजीके मिलापसे अधिक आनन्द कुछ नहीं है। इसीसे मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारका *'बिसराना'* कहा। भाव कि मन आदि ही सुख-दुःखके हेतु हैं सो वे इधर ही रह गये फिर *'बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही'*।

तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई॥ १॥
नाथ देखिअहिं बिटप बिसाला। पाकरि जंबु रसाल तमाला॥ २॥

जिन्ह तरुवरन्ह मध्य बटु सोहा। मंजु बिसाल देखि मनु मोहा॥ ३॥
नील सघन पल्लव फल लाला। अबिरल छाँह सुखद सब काला॥ ४॥
मानहुँ तिमिर अरुनमय रासी। बिरची बिधि सँकेलि सुषमा सी॥ ५॥

शब्दार्थ—**अबिरल**=जो भिन्न न हो, घनी, अव्यवच्छिन्न, सघन।

अर्थ—तब केवटने दौड़कर ऊँचेपर चढ़कर हाथ उठाकर भरतजीसे कहा॥ १॥ हे नाथ! उन विशाल वृक्षोंको देखिये—वे पाकर, जामुन, आम और तमालके वृक्ष हैं॥ २॥ जिन श्रेष्ठ वृक्षोंके बीचमें सुन्दर विशाल बरगदका वृक्ष शोभा दे रहा है, देखकर मन मोहित हो जाता है॥ ३॥ उसके पत्ते नीले और सघन हैं, फल लाल हैं, छाँह सघन है जो सब ऋतुओंमें सब समयमें सुख देनेवाली है (अर्थात् गर्मीमें धूपसे, वर्षामें जलसे, जाड़ेमें ठंढ और हवासे बचाती है)॥ ४॥ मानो ब्रह्माने अन्धकार और अरुणमयराशिको एकत्र करके परमाशोभा-सी खूब रचकर बना डाली है।

नोट—१ ***'तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई।.......'*** इति। (क) वाल्मीकीयकल्पमें श्रीभरतजीने शत्रुघ्नजी तथा निषादराजको बहुत साथियोंको लेकर वनमें श्रीरामजीका आश्रम ढूँढ़नेके लिये नियुक्त किया और स्वयं भी ब्राह्मणों आदिको साथ लेकर ढूँढ़ा है। उस समय वह बड़ा भयानक वन था। उसमें प्रवेश करके श्रीभरतने पर्वतपरके एक साल वृक्षपर चढ़कर आश्रमसे निकलते हुए धुएँको देखा। तब अन्य सब साथियोंको जो ढूँढ़नेमें लगे थे वहीं ठहराकर वे दोनों भाई गुहके साथ आश्रममें गये। (वाल्मी० २। ९८। १—१८)। '**गुहेन सार्धं त्वरितो जगाम.......**।' (१८) २३८(१) में भी देखिये। (ख) ***'धाई'*** से जनाया कि निषादको भी शीघ्र दर्शन प्राप्तिकी आतुरता थी और भरतजीकी आकुलता दूर करनेके लिये भी उसने ऐसा किया।

रा० प०—पाकर, जामुन, आम और तमालके बीचमें वटवृक्ष है। मानो शिवपंचायतन है—***'प्राकृतहू बट बूट बसत पुरारी हैं'।*** वा, वट जटाधर हर हैं, जो पंचमुख होकर रामजीकी सेवाके लिये यहाँ विराजमान हैं।

पु० रा० कु०—चार वृक्ष मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार हैं, वट आत्मा है, जहाँ आत्मा वहाँ परमात्मा।

नोट—२ ***'मानहु तिमिर अरुनमय रासी।.......'*** इति। इसके अर्थ प्रत्येक टीकाकारने पृथक्-पृथक् किये हैं।

(१) पत्ते नीले एवं सघन हैं इससे अन्धकारकी प्रधानता दिखायी और फल लाल हैं और बहुत हैं इससे ललामीकी प्रधानता दिखायी। वृक्षमें ये दोनों प्रधान हैं और एकत्र हैं। इससे जो शोभा उत्पन्न हुई देख पड़ती है वही यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय है। भाव यह कि ये पत्ते और फलसहित वटवृक्ष नहीं है वरन् मानो अन्धकारकी राशि और अरुणमयराशि है जिसे विधाताने सब जगहसे समेटकर एक परमाशोभा-सी रचकर बना डाली है। भाव यह कि इन दोनोंसे परमाशोभा वहाँ छा रही है। ***मय***=परिपूर्ण, तद्रूप। (पु० रा० कु०)

(२) मानो अन्धकार और अरुण अर्थात् सूर्य दोनोंको मिलाकर और त्रिलोककी शोभाको बटोरकर ब्रह्माने एक राशि (सी) कर दी है। (पाँड़ेजी)

(३) 'मानो अन्धकार (श्यामता) और ललाई मिली हुई शोभाकी राशिके समान इकट्ठी करके ब्रह्माने बनायी हो।' (वीर)

(४) मानो तम और रक्तवर्ण सब शोभा विधाताने एकत्र करके इस वटमें धर दी है। (पं०)

(५) मानो वटवृक्ष नहीं है तिमिर और अरुणमयराशि है। विधाताने परमाशोभा-सदृश बटोरकर रची है। (रा० प्र०)

(६) ***'मानो तिमिर और अरुनमय सुखमासी राशि सकेलि बिधि रची है'*** (श्रीनंगेपरमहंसजी)।

(७) मानो ब्रह्माजीने परमाशोभाको एकत्र करके अन्धकार और लालिमामयी राशि-सी रच दी है। (मानसांक)।

अर्थमें झगड़ेकी जड़ ***'सी'*** शब्द है। ***'सी'*** का अर्थ सदृश है। ***'सी'*** को क्रिया भी मान सकते हैं। सी=है। इस अर्थमें इसका प्रयोग बालकाण्डमें आया है।

ए तरु सरित समीप गोसाईं। रघुबर परनकुटी जहँ छाई॥ ६॥
तुलसी तरुबर बिबिध सुहाए। कहुँ कहुँ सिय कहुँ लषन लगाए॥ ७॥
बट छायाँ बेदिका बनाई। सिय निज पानि सरोज सुहाई॥ ८॥
दो०—जहाँ बैठि मुनिगन सहित नित सियरामु सुजान।
सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान॥ २३७॥

अर्थ—हे गोसाईं। ये वृक्ष नदीके समीप हैं जहाँपर श्रीरघुनाथजीकी पर्णकुटी छायी हुई है॥ ६॥ अनेक प्रकारके बहुत-से सुन्दर तुलसीके वृक्ष कहीं-कहीं श्रीसीताजीने और कहीं-कहीं लक्ष्मणजीने लगाये हैं॥ ७॥ बरगदकी छायामें श्रीसीताजीने अपने हस्तकमलोंसे सुन्दर वेदी बनायी है॥ ८॥ जहाँ नित्य ही सुजान श्रीसीतारामजी मुनिसमाजसहित बैठकर शास्त्र, वेद, पुराण, इतिहास सबकी कथाएँ सुनते हैं॥ २३७॥

नोट—१ (क) *'परनकुटी जहँ छाई'*—यह सुन्दर विशाल पर्णशाला साल, ताल और अश्वकर्ण नामक वृक्षोंके बहुत पत्तोंसे ढकी हुई थी जैसे यज्ञवेदी कुशोंसे ढक दी जाती है। यथा—'**सालतालाश्वकर्णानां पर्णैर्बहुभिरावृताम्। विशालां मृदुविस्तीर्णां कुशैर्वेदिमिवाध्वरे॥**' (वाल्मी० २। ९९। १९) (ख)—यहाँ यह शंका लोग करते हैं कि निषादराज तो यमुनातटसे लौटा दिये गये थे। उनको पर्णकुटीकी व्यवस्था कैसे मालूम हुई? इसका समाधान यह है कि ये सब आसपासके वनसे वाकिफ हैं, इनके सेवक और जातिके लोग सब यहाँ बसते हैं और बराबर उनके द्वारा यह सब समाचार मिलता ही है। इसीसे वे पूरा पता जानते हैं। यद्यपि प्रभुके पास उनके संकोचसे नहीं जाते रहे हैं। इसकी पुष्टि गीतावलीसे भी होती है। वे बराबर खबर भरतजीको देते गये हैं यथा—*'सुनी मैं सखि मंगल चाह सुहाई। सुभ पत्रिका निषादराजकी आजु भरत पहँ आई॥ कुवँर सो कुसल छेम अलि तेहि पल कुलगुरु कहँ पहुँचाई। गुरु कृपालु संभ्रम पुर घरघर सादर सबहि सुनाई॥ बधि बिराध सुरसाधु सुखी करि रिषि सिख आसिष पाई। कुंभज सिष्य समेत संग सिय मुदित चले दोउ भाई॥ रेवा बिंधि बीच सुपास थल बसे हैं परन गृह छाई। पंथ कथा रघुनाथ पथिक की तुलसिदास सुनि गाई॥'* (गीता० २। ८९। १—४)

नोट—२ *'तुलसी तरुवर……'* इति।—यहाँ श्रीसीताजीकी सेवा भी दिखा दी है। इसी तरह जहाँ-जहाँ ठहरते थे वहाँ ये सेवा करती रहीं। और यह भी दिखाया है कि समय किस प्रकार व्यतीत करते हैं।

नोट—३ *'बट छाया बेदिका बनाई··'* इति। यह बेदी ईशानकोणकी ओर कुछ नीची थी। इसपर आग जलती रहती थी। यथा '**प्रागुदक्प्रवणां वेदिं विशालां दीप्तपावकाम्।**' (वाल्मी० २। ९९। २४) यहाँके वर्णनसे जान पड़ता है कि पर्णकुटीके आगे अनेकों तुलसीके पौधे लगे हैं, उसके बाद वेदिका है। उसी क्रमसे लिख रहे हैं।

नोट—४ *'जहाँ बैठि मुनि गन सहित……'* इति। (क) श्रीरामजीका आश्रम मुनियों-तपस्वियोंसे युक्त था यह (वाल्मी० २। ९८) १८के '**स चित्रकूटे तु गिरौ निशम्य रामाश्रमं पुण्यजनोपपन्नम्।**' (१८) इस अर्ध श्लोकसे सिद्ध होता है। अ० रा० में भी आश्रमको मुनिवृन्दसेवित कहा है—'**ददर्श दूरादतिभासुरं शुभं रामस्य गेहं मुनिवृन्दसेवितम्।**' (२। ८। ६६) ये मुनिगण वहाँ क्या करते थे यह बात तुलसीदासजीने बतायी है कि वे *'कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान'* कहा करते थे। और श्रीसीतारामजी सुना करते थे। *'नित'* से जनाया कि कथा नित्य-प्रति सबेरे, तीसरे पहर तथा रात्रिमें तीनों समय हुआ करती थी। (ख) कथा सुननेमें *'सुजान'* विशेषण दिया है। भाव यह कि यद्यपि वे सब जानते हैं तो भी लोक-संग्रहके विचारसे सुनते हैं, हमारे सुननेसे इनका आदर सब करेंगे; दूसरे *'सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय'* इस अपनी कही हुई नीतिको चरितार्थ करके दिखा रहे हैं। ३। ३६। ८ देखिये; तीसरे इससे सबका मन बहलेगा, घरकी सुधिमें मन न जायगा। (ग) कथा-इतिहास पर्यायवाची हैं पर जो अर्थ यहाँ है उससे पुनरुक्ति नहीं होती। यदि 'कथा और इतिहास' ऐसा अर्थ करें तब पुनरुक्तिका भास हो सकता है। उस अर्थके करनेवाले

यह भेद कहते हैं कि कथा धर्मविषयक व्याख्यान है। और इतिहास=बीती हुई प्रसिद्ध घटनाएँ और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषोंके कालक्रमका वर्णन। वा, कथा प्रबन्धसहित और इतिहाससे पुरवृत्त (पुराना चरित) अभिप्रेत है। इतिहास—(१। ६। ४) *'कहहिं बेद इतिहास पुराना'* में देखिये। आगम, निगम, पुराण बा० मं० श्लो० ७ '**नाना पुराणनिगमागमसंमतं**......' में देखिये। (घ) बहुत-से मुनि आकर बैठते हैं। इससे ज्ञात होता है कि जो जिस ग्रन्थका विशेष ज्ञाता है उससे ही वह ग्रन्थ सुनते हैं।

सखा बचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी॥ १॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद* सकुचाई॥ २॥
हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायेउ रंका॥ ३॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥ ४॥

शब्दार्थ—**उमगना**=उमड़ना, भरकर ऊपर उठना, बढ़ चलना, बाढ़ आना। **बिलोचन**=दोनों नेत्र। **अंका**=(चरण) चिह्न।

अर्थ—सखाका वचन सुनकर, वृक्षोंको देखकर श्रीभरतजीके दोनों नेत्रोंमें (मारे आनन्दके) जल उमड़ आया॥ १॥ दोनों भाई प्रणाम करते हुए चले। उनकी प्रीतिको कहनेमें सरस्वती भी सकुचाती हैं (क्योंकि यथार्थ नहीं कह सकतीं)॥ २॥ श्रीरामचरणचिह्नों (ध्वज-अंकुश-कुलिशादिक) को देखकर हर्षित होते हैं मानो दरिद्रने पारस पा लिया हो॥ ३॥ पदरजको सिरपर रखकर हृदय और नेत्रोंमें लगाते हैं और रघुनाथजीकी भेंटका-सा सुख पाते हैं। अर्थात् रजमें राम-भाव ही आ गया॥ ४॥

नोट—१ *'सखा बचन सुनि......'* इति। (क) वाल्मीकीयसे इसका समन्वय इस प्रकार हो सकता है कि प्रथम केवटने चढ़कर देखा और इनसे कहा तब इन्होंने भी सालके वृक्षपर चढ़कर देखा। (ख) *'उमगे भरत बिलोचन बारी'* कहकर जनाया कि वटवृक्ष देखकर यह जानकर कि श्रीरामजी यहाँ हैं उन्हें अपार-अथाह समुद्रसे पार जानेका-सा आनन्द हुआ, यथा—'**तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान् मुमोद सहबान्धवः। अत्र राम इति ज्ञात्वा गतः पारमिवाम्भसः॥**' (वाल्मी० २। ९८। १७) अतः दोनों नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर आये। (ग) *'उमगे'* से जनाया कि प्रेमाश्रुकी बाढ़ आ गयी, उनका वक्षःस्थल आनन्दाश्रुसे भीग गया। यह भी जनाया कि वट-विटप देखकर उनका हृदय श्रीरघुनाथजीकी भावनामें डूबा हुआ है। यथा—'**इत्यद्भुतप्रेमरसाप्लुताशयो विगाढचेता रघुनाथभावने। आनन्दजाश्रुस्नपितस्तनान्तरः**' (अ० रा० २।९।४)

नोट—२ *'करत प्रनाम चले......'* इति। जहाँसे देखा वहींसे साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करते जा रहे हैं। श्रीरामजीके चरणचिह्नोंसे अंकित पृथ्वीको देखते हैं तो वहाँकी रजको जिसपर चिह्न बना हुआ है सिर और आँखों तथा हृदयमें लगाते हैं और रजमें लोटने भी लगते हैं यह सब *'प्रनाम'* से जना दिया। जिस प्रेमसे वे यह सब करते हैं उसे सरस्वती कहते सकुचाती हैं। सरस्वती ही जिह्वा और हृदयमें बैठकर कहलाती है, वह इस समय नहीं कहला रही है, इससे जाना कि वह कह नहीं सकती, उसकी वहाँतक पहुँच नहीं है। इसीसे अ० रा० ने '**अद्भुतप्रेमरसाप्लुत**' शब्द दिये हैं।

नोट—३ (क) *'हरषहिं निरखि......'*—हर्षसे जनाया कि सारा शरीर प्रेम, आनन्दसे पुलकित हो रहा है। अ० रा० के '**अहो सुधन्योऽहममूनि रामपादारविन्दांकितभूतलानि। पश्यामि यत्पादरजो विमृग्यं ब्रह्मादिदेवैः श्रुतिभिश्च नित्यम्॥**' (२। ९। ३) इस श्लोकके भावको *'हरषहिं'* शब्दसे जना दिया है। हर्ष मनका विषय है। वे मन-ही-मन कहने लगे—'अहो! मैं परम धन्य हूँ जो आज मैं श्रीरामचन्द्रजीके उन चरणारविन्दोंके चिह्नोंसे सुशोभित भूमिको देख रहा हूँ, जिनकी चरण-रजको ब्रह्मा आदि देवगण और सम्पूर्ण श्रुतियाँ भी सदा खोजती रहती हैं।' (ख)-*'रामपद अंका'*-श्रीरामजीके चरणोंमें अड़तालीस चिह्न हैं। प्रत्येकमें २४-२४ हैं। ग्रन्थकारने प्रायः चार चिह्नोंको ध्यानके लिये विशेष उपयोगी जानकर उन्हींको यत्र-तत्र कहा है। यथा-*'ध्वज कुलिस अंकुस*

* सादर—ला० सीतारामजी।

कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे। पद कंज द्वंद्व मुकुंद रामरमेस नित्य भजामहे।' (७। १३)। इत्यादि। अतः कविके मतानुसार यहाँ उपर्युक्त चार अथवा ऊर्ध्वरेखासहित पाँच चिह्न पृथ्वीमें अंकित देखे। अ० रा० ने चारके नाम दिये हैं—'**स तत्र वज्राङ्कुशवारिजाञ्चितध्वजादिचिह्नानि पदानि सर्वतः। ददर्श रामस्य भुवोऽतिमंगलान्यचेष्टयत्पादरजःसु सानुजः।**' (२। ९। २) अर्थात् वहाँ उन्होंने सब ओर श्रीरामजीके वज्र, अंकुश, कमल और ध्वजा आदिके चिह्नोंसे सुशोभित तथा पृथ्वीके लिये अति मंगलमय चरणचिह्न देखे। उन्हें देखकर शत्रुघ्नसहित वे रजमें लोटने लगे।—'चरण-चिह्न' पर १। १९९। ३, ३। ३०। १८ देखिये। (ख) *'मानहु पारस पायेउ रंका'* इति। चारों भाई जब विवाह करके अवधमें आये तब माताओंको जो सुख हुआ उसे भी ऐसा ही कहा है—*'जनम रंकु जनु पारस पावा।'''''''एहि सुख तें सत कोटि गुन पावहि मातु अनंदु'* (१। ३५०) और श्रीरामजीने जब मार्गके गुप्त तापसको हृदयसे लगाया तब श्रीरामजीके विषयमें भी ऐसा ही कहा है—*'परम रंकु जनु पारस पावा।'* (१११। २)। वही आनन्द सूचित करनेके लिये यहाँ भी वही उत्प्रेक्षा की गयी।

नोट—४ *'रज सिर धरि हिय''''''* ' इति। मिलान कीजिये—*'चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥ कनकबिंदु दुइ चारिक देखे।'* (१९९। २-३)।' भाव कि रजमें भी श्रीरघुनाथ-भावना है, इसीसे राममिलनका सुख होता है।

देखि भरत गति अकथ अतीवाँ। प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवाँ॥ ५॥
सखहिं सनेह बिबस मग भूला। कहि सुपंथ सुर बरषहिं फूला॥ ६॥
निरखि सिद्ध साधक अनुरागे। सहज सनेहु सराहन लागे॥ ७॥
होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥ ८॥

दो०—पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥ २३८॥

शब्दार्थ—**अतीव**=अतिशय, अत्यन्त अधिक। अमरकोषसे ज्ञात होता है कि 'इव', 'सु' आदि अतिशयका अर्थ देते हैं। जैसे सुकर्कश=अतिशय कर्कश। (पु० रा० कु०) अनुरागना=प्रेम करना, आसक्त होना—*'अस कहि भले भूप अनुरागे।'* (१। २४६। ७)। 'भाउ' (सं० भवसे)=अस्तित्व, जन्म, उत्पत्ति।=प्रेम।

अर्थ—श्रीभरतजीकी अतिशय अकथ्य दशाको देखकर पशु, पक्षी और जड़ (वृक्ष आदि) जीव प्रेममें मग्न हैं॥ ५॥ प्रेमके विशेष वश हो जानेसे सखाको रास्ता भूल गया (राह दिखाने चला तो आप ही राह भूल गया) तब देवता सुन्दर रास्ता बताकर फूल बरसाते हैं॥ ६॥ इस प्रेमकी दशाको देखकर सिद्ध और साधक अनुरक्त हो गये (प्रेममें भर गये) और उनके स्वाभाविक प्रेमकी प्रशंसा करने लगे (कि)॥ ७॥ यदि इस पृथ्वीपर श्रीभरतजीका जन्म एवं प्रेम न होता तो अचरको सचर और चरको अचर कौन करता?॥ ८॥ दयासागर रघुबीर रामचन्द्रजीने साधुरूपी देवताओंके लिये भरतरूपी गहरे समुद्रको विरहरूपी मन्दराचलद्वारा मथकर प्रेमरूपी अमृत प्रकट किया॥ २३८॥

नोट—१ *'प्रेम मगन मृग खग जड़'* अर्थात् पशु-पक्षी-पाषाण आदिका यह हाल है तब निषाद तो मनुष्य ही है, वह स्नेहके विशेष वश क्यों न हो जाता?

नोट—२ *'कहि सुपंथ सुर बरषहिं फूला'* इति। श्रीभरतके प्रेमका प्रभाव है कि इन्द्रादि देवगण जो स्वार्थरत हैं वे ही मार्ग बताते हैं। कहते हैं कि यह मार्ग है और उस मार्गपर फूल बरसा देते हैं, जिससे मार्ग खोजना न पड़े, जहाँ फूल पड़े हैं उसी मार्गसे चल आवें। इस प्रकार पृथ्वीको कोमल भी कर रहे हैं और यह भागवत-सेवा भी करते जाते हैं—*'बरषहिं सुमन जनावहिं सेवा';* क्योंकि देवगुरु उपदेश कर चुके हैं कि प्रभु *'मानत सुख सेवक सेवकाई।'* (२१९। २)।

नोट—३ *'निरखि सिद्ध साधक अनुरागे।......'* इति। सिद्ध जैसे कपिलदेव, सनकादिक और साधक जैसे शौनकादि। (पु० रा० कु०) वा, अणिमादि सिद्धियाँ जिनको प्राप्त हैं वे सिद्ध और ज्ञान, भक्ति वा जप-तपादि साधनमें लगे हैं वे साधक (वै०)।

नोट—४ *'होत न भूतल भाउ भरत को।......'* इति।—यहाँ *'भाउ'* के दोनों अर्थ (जन्म और प्रेम) मेरी समझमें गृहीत हैं। *'भव'* से यह बना है। यहाँ सिद्धसाधकका सराहना कहा और पूर्व जब श्रीरामजी उनके प्रेमपयोधिमें मग्न हो गये थे तब देवताओंने कहा था कि *'जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को'।* (२३३।१) बालकाण्ड वन्दना-प्रकरणमें भरतजीके दो गुण विशेष (धर्म और प्रेम) जो कहे हैं, यथा—*'प्रनवों प्रथम भरतके चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥ रामचरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजै न पासू॥'* (१।१७।३-४)। (नेम-व्रत धर्म है), वे ही इनमें यहाँ चरितार्थ कर दिखाये हैं। जन्म न होता तो धर्मको कौन धारण करता। *'सकल धरम धुर धरनि धरत को'* में धर्म, गुण चरितार्थ हुआ और यहाँ जन्म तथा प्रेम दोनों न होते तो अचरको सचर और चरको अचर कौन करता। इस तरह जन्म होनेपर दोनों काम हुए। *'अचर सचर......'* में जन्मके साथ ही विशेष प्रेम भी आवश्यक है। *'भाउ'* का यह अर्थ शब्दसागरमें भी दिया है और उदाहरणमें यही अर्धाली है। दीनजी भी इस अर्थको ठीक समझते हैं। पर प्राय: समस्त टीकाकारोंने 'प्रेम' अर्थ लिया है। [(प्र० सं०) पर अब मेरी समझमें 'प्रेम' होना स्वयं 'जन्म' भी सिद्ध करता है।] श्रीबैजनाथजी *'भाउ'* का अर्थ भाव (भावना) करते हुए लिखते हैं कि 'जबतक श्रीरामजी घरमें रहे तबतक भरतजी बन्धु-सखा-भावयुक्त, सेवकभाव रखते थे; पर जबसे इनको निमित्त बनाकर श्रीरामजीको वन दिया गया तबसे इन्होंने बन्धु और सखाभाव त्याग करके केवल शुद्ध सेवकभाव ग्रहण कर लिया और राज्यकी तो बात ही क्या, इन्होंने भूषण-वाहनतकका त्याग किया, पैदल चलने लगे। यदि यह भाव भरतजीका न होता तो *'अचर सचर चर अचर करत को।'* (वै०)

नोट—५ *'अचर सचर चर अचर करत को'।* —जिस स्थानपर यह कहा जा रहा है वहीं हमें इसके उदाहरण ढूँढ़ना चाहिये। वृक्ष आदि जड़ हैं, दूसरे देवता भी स्वार्थवश जडवत् हो रहे थे, यथा—*'समुझाए सुरगुर जड़ जागे।'*, *'बिबुध बिनय सुनि देवि सयानी। बोली सुर स्वारथ जड़ जानी॥'* (२४१।८, २९५।३) ये चेतनका काम करने लगे—प्रेममें मग्न होनेसे ये प्रफुल्लित हो गये। पत्थर भी पसीजने लगे। स्वारथी देवता रास्ता बताते और पुष्पोंकी वर्षा करते हैं। और पशु-पक्षी मनुष्य ये चेतन हैं, जो चलते-फिरते बोलते हैं इत्यादि। वे जड़की तरह हो गये, देहसुध भूल गये, न हिले-डोले। मार्गप्रदर्शक निषाद जड़वत् हो गया। जड़ पदार्थोंकी चेतना पूर्व भी लिख आये हैं और आगे भी दिखायी है। यथा—*'द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना।'* (२२०।७), *'भइ मृदुभूमि सकुचि मन मनहीं।'* (३११।४), *'बिटप फूलि फलि तृन मृदुताहीं।'* (३११।७)

नोट—६ *'पेम अमिअ मंदरु बिरहु......'* इति। यहाँ क्षीरसिंधुसे सम-अभेदरूपक बाँधा गया है। समुद्र देवताओंके हितार्थ मथा गया कि उससे अमृत निकले जिसे पीकर ये दैत्योंको जीत सकें। मन्दराचल पर्वत मथानी बनाया गया था। इतने अंगोंमें सम-अभेदरूपक है। श्रीभरतजी क्षीरसिंधु, रामविरह मन्दराचल, साधु देवता, प्रेम अमृत, मथनेवाले यहाँ रघुवीर, वहाँ देवता-दैत्य, ये परस्पर उपमेय-उपमान हैं। (श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि भरतजीने अपने हृदय-समुद्रको स्वयं विरहरूप मन्दरसे मन्थन किया है।)

पु० रा० कु०—१ (क) यहाँ विशेषता यह है कि वहाँ बहुत-से मथनेवाले थे, यहाँ रघुनाथजीने कृपा करके स्वयं ही उसे प्रकट किया। पुन:, देवताओंने स्वार्थके लिये मथा और प्रभुने नि:स्वार्थ पराये हितके लिये मथा और प्रेमामृतको प्रकट किया। इसीसे *'कृपासिंधु'* कहा। प्रभुने अकेले ही मथकर प्रेमको प्रकट कर दिया, दूसरेकी सहायता न ली। अत: *'रघुबीर'* कहा। पुन:, यत्नपूर्वक प्रकट किया, जिसमें भरतजीको दु:ख भी न हुआ, अत: *'कृपासिंधु'* कहा। (ख) *'मथि प्रगटेउ'* कहकर जनाया कि प्रेमामृत उनके हृदयमें मौजूद था, पर गुप्त पड़ा था, लोग उसे जानते न थे, जब श्रीरामविरहद्वारा हृदय-सिंधु मथा गया तब वह प्रकट हुआ और सबके दृष्टिगोचर हुआ। *'साधुहित'* अर्थात् जो सन्मार्गी हैं वे ही प्रेमके अधिकारी हैं।

'कृपासिंधु प्रगटे' इति। भाव कि प्रेमामृत सबको सुलभ नहीं, जिसपर सिंधुवत् अगाध कृपा होती है उसीको मिलता है। वे ही कृपा करके दें तभी मिले। यथा—*'सो मनि जदपि प्रगट जग अहई।' 'राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।'* (७। १२०) *'पेम अमिअ'* अर्थात् रामजीमें प्रेम करनेसे अमर हो जायँगे। भरत समुद्र और रघुवीर भी समुद्र, उनमें प्रेम है, इनमें कृपा है। यथा—*'भरत सुपेम पयोधि।'* (२१७), *'कृपासिंधु रघुबीर'।* अमृत ही वहाँ मुख्य था उसकी देवताओंको जरूरत थी, यहाँ साधुओंके लिये प्रेम ही मुख्य है और वैसे तो गुण बहुत हैं। इसलिये इन्हींके लिये प्रकट किया गया, यही बात भरद्वाजजीने कही है। यथा—*'हम सब कहँ उपदेसु। रामभगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु॥'* (२०८)

सखा समेत मनोहर जोटा। लखउ न लषन सघन बन ओटा॥ १॥
भरत दीख प्रभु आश्रमु पावन। सकल सुमंगल सदनु सुहावन॥ २॥
करत प्रबेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथु पावा॥ ३॥
देखे भरत लषन प्रभु आगें। पूँछे बचन कहत अनुरागें॥ ४॥
सीस जटा कटि मुनिपट बाँधें। तून कसें कर सरु धनु काँधें॥ ५॥

अर्थ—सखासहित भरत-शत्रुघ्नजीकी सुन्दर जोड़ीको घने जंगलकी आड़के कारण लक्ष्मणजी नहीं देख पाये॥ १॥ भरतजीने श्रीरामजीका सुहावना और समस्त सुमंगलोंका धाम पवित्र आश्रम देखा॥ २॥ आश्रममें प्रवेश करते ही भरतजीके दुःखकी दावाग्नि मिट गयी, मानो योगीको परमार्थकी प्राप्ति हो गयी हो॥ ३॥ भरतजीने देखा कि लक्ष्मणजी प्रभुके आगे हैं, प्रभुके पूछे हुए वचनका उत्तर वा, पूछनेपर प्रेमसे वचन कह रहे हैं॥ ४॥ सिरपर जटा, कमरमें मुनियोंके-से वल्कल वस्त्र बाँधे और उसीमें तरकस कसे हैं, हाथमें बाण और कंधेपर धनुष है॥ ५॥

नोट—१ (क) *'मनोहर जोटा'* —भरत-शत्रुघ्नकी जोड़ी भी सुन्दर मनोहर है। यथा—*'श्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहि छबि जननी तृन तोरी॥'* (१। ११८। ५), *'सखि जस राम लषन कर जोटा। तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा॥ स्याम गौर सब अंग सुहाए।'* (१। ३११)।' *'मनोहर'* से सब अंग सुडौल और सुन्दर, देखते ही मन हरनेवाले जनाया। (ख) *'लखउ न लषन'* अर्थात् 'यथा नाम तथा गुण' यहाँ चाहिये था सो न रहा। उसका कारण और कुछ नहीं है, केवल 'सघन वन ओट' है; नहीं तो अवश्य लख लेते। अथवा, लख न सके इससे 'लष-न' नाम यहाँ सार्थक हुआ। *'मिटे दुख दावा'*—पूर्व जो कहा था कि *'येहि दुख दाह दहइ दिन छाती'* वह जलन शान्त हुई।

पु० रा० कु०—*'जनु जोगी परमारथु पावा'।* योगीसे यहाँ अष्टांगयोग-साधन करनेवाला अभिप्रेत है, जिसने योगके आठों अंगोंका साधन करके सिद्धि प्राप्त की हो। अन्तमें परम तत्त्व, कैवल्य मुक्ति प्राप्त होती है। योगदर्शनकार पतंजलि ऋषि इसके आचार्य हैं। जैसे योगी बहुत कष्ट पाकर तब परमार्थकी प्राप्ति करके सब कष्टोंसे मुक्त हो जाता है वैसे ही भरतजीको बहुत कष्ट उठानेपर राम-आश्रमकी प्राप्ति हुई, जिससे सब दुःख मिटे और भरतजीको बड़ा आनन्द हुआ; जैसे योगीको परमार्थ प्राप्तिपर आनन्द होता है। यथा—*'परमारथी प्रपंच बियोगी। ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥'* [ब्याहकर घर आनेपर माताओंका भी ऐसा ही आनन्द कहा है—*'भरी प्रमोद मातु सब सोहीं। पावा परमतत्त्व जनु जोगी। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी॥ जनमरंकु जनु पारस पावा······।'* (१। ३५०) (५—८) से मिलान कीजिये। वहाँ प्रमोद वैसे ही यहाँ इनको 'प्रमोद' अतीव आनन्द]

नोट—२ *'देखे भरत लषन प्रभु आगें। पूँछे······'* इति। (क) प्रभुने प्रश्न किया है, उसका उत्तर प्रेमपूर्वक दे रहे हैं। यहाँ दिखाया कि जब प्रभु कुछ पूछते हैं तभी कुछ कहते हैं और सदा प्रेमसे बोलते हैं, यह सेवक-धर्म है। जब बिना पूछे बोलना पड़ता है तब क्षमा माँगकर बोलते हैं। अथवा, सेवाका अवसर आ पड़नेपर आवश्यक समझकर ही बिना पूछे बोलते हैं, अन्यथा नहीं। यथा—*'बिनु पूछे कछु कहउँ*

गोसाईं। सेवक समय न ढीठ ढिठाईं॥' (२२७। ६), *'……प्रभु पद बंदि सीस रज राखी। बोले सत्य सहज बल भाषी॥ अनुचित नाथ न मानब मोरा।'* (२२९। ६-७) (ख)—प्रथम भागवत लक्ष्मणका दर्शन हुआ तब भगवत्-दर्शन हुआ। लक्ष्मण आसन छोड़े हुए प्रभुके सम्मुख सेवामें आरूढ़ हैं। (ग) *'सीस जटा……'*—जटाएँ शृंगवेरपुरमें ही बना ली थीं। यहाँ दिखाया कि लक्ष्मणजी भी पूरे मुनिवेष-से हैं। *'कटि मुनिपट बाँधे'* से जनाया कि फेंटा-सरीखा बाँधे हैं, क्योंकि उसमें तरकस बाँधना है। *'कर सर'* अर्थात् दाहिने हाथमें बाण है। *'धनु काँधें'*—अर्थात् बाएँ काँधेपर धनुष है। इससे सेवामें सन्नद्ध जनाया।

बेदी पर मुनि साधु समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू॥ ६॥
बलकल बसन जटिल तनु स्यामा। जनु मुनि बेष कीन्ह रति कामा॥ ७॥
कर कमलनि धनु सायकु फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥ ८॥

दो०—लसत मंजु मुनिमंडली मध्य सीय रघुचंदु।
ग्यानसभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानंदु॥ २३९॥

शब्दार्थ—**जटिल**=जटाधारी। **फेरना**=चारों ओर चलाना, मण्डलाकार गति देना, घुमाना। **'लसना'**=शोभित होना, विराजना, विद्यमान होना।

अर्थ—(श्रीभरतजीने देखा कि) वेदीपर मुनि-साधु-मण्डली और श्रीसीताजीके सहित श्रीरघुनाथजी विराजमान हैं॥ ६॥ वल्कल वस्त्र (पहने), जटा धारण किये हुए, श्याम शरीर है। मानो रति और कामदेव ही मुनिवेष बनाये हुए (बैठे) हैं॥ ७॥ (श्रीरामजी) करकमलोंसे धनुष-बाण फेर रहे हैं, (जिसकी ओर एक बार भी) हँसकर देखते हैं उसके जीकी जलनको हर लेते हैं॥ ८॥ सुन्दर मुनिमण्डलीके बीचमें श्रीसीताजी और रघुकुलचन्द्र ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो ज्ञानसभाके बीचमें शरीर धारण किये हुए भक्ति और सच्चिदानन्द विराजमान हैं॥ २३९॥

नोट—१ पूर्व कहा था—*'देखे भरत'* वही क्रिया यहाँ चली जा रही है। *'मुनि साधु'* दो शब्द देनेसे मुनिसे शास्त्रादिके मननकर्ता और साधुसे साधुस्वभाव सज्जन सूचित किये। आगे दोहेमें केवल *'मंजु मुनि मंडलीं'* कहा है और पूर्व भी केवल 'मुनि' शब्द आया है—*'जहाँ बैठि मुनिगन सहित नित सियराम सुजान। सुनहिं कथा…… ॥'* (२३७) अत: यहाँ भी वैसा ही समझना चाहिये।

नोट—२ *'रघुराजू'* शब्द देकर जनाते हैं कि भरतजी श्रीरामजीको उसी भावसे देख रहे हैं। उनके चित्तमें शोक हो रहा है कि जो श्रीराम सागरपर्यन्त समस्त पृथ्वीके स्वामी हैं वे मेरे कारण वल्कल वस्त्र और जटाएँ धारण किये हुए हैं। जो राजसभामें राजकर्मचारियों और प्रजाके द्वारा उपासना करनेयोग्य हैं वे वनवासियों तथा जंगली पशुओंद्वारा उपासित हो रहे हैं। जो उत्तम-उत्तम वस्त्र धारण करते थे वे वल्कल धारण किये हैं। जो सुन्दर पुष्पमालाएँ धारण करते थे वे आज जटाओंका भार सिरपर ढो रहे हैं। जो सिंहासनपर राजते थे वे वेदिकापर कुशोंपर बैठे हैं।—**'पृथिव्याः सागरान्ताया भर्तारं धर्मचारिणम्।' (२७) यः संसदि प्रकृतिभिर्भवेद्युक्त उपासितुम्। वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः॥' (३१) वासोभिर्बहुसाहस्त्रैर्यो महात्मा पुरोचितः।…'** इत्यादि। जो वाल्मी० (२। ९९) में कहा है वह सब *'बेदी पर……रघुराजू। बलकल बसन जटिल'* से यहाँ सूचित कर दिया है।

नोट—३ *'बलकल बसन जटिल तनु स्यामा'*—अ० रा० में इसकी जोड़में **'दूर्वादलश्यामलमायतेक्षणं जटाकिरीटं नववल्कलाम्बरम्॥'** (२। ९। ५) है।

नोट—४ *'जनु मुनि बेष कीन्ह रति कामा'* इति। यहाँ जनाते हैं कि श्रीसीताजी भी मुनिवेष—तपस्विनी वेषमें हैं, यही आगे भी चलकर स्पष्ट किया है—*'तापस बेष जानकी देखी।'* (२८६। २)', *'तापस बेष जनक सिय देखी। भयउ पेमु परितोष बिसेषी॥'* (२८७। १) काम श्यामवर्ण वैसे ही रामजी, रति और जानकीजी गौरवर्ण। (ख)—*'रति काम'* का दृष्टान्त देकर शृंगाररूप सूचित किया। मुनियोंके मनको काम मोहित न कर सका मानो उसने सोचा कि रतिसहित हम मुनिवेष धरें तभी ये मोहित होंगे, इससे मानो

मुनि बनकर मुनियोंका मन हरण करने आया है। (ग)—पाँड़ेजी कहते हैं कि गुसाईंजी श्रीराम-जानकीका वर्णन एक स्थानमें प्रकट और एकमें गुप्त कहते हैं—*'सीय सहित राजत रघुराजू।'* में प्रकट है। पर *'बलकल बसन जटिल तनु स्यामा'* में रामजीका वर्णन प्रकट है, जानकीजीका वर्णन यहाँ भी है पर गुप्त है, इस तरह कि 'ल' और 'र' की सवर्ण संज्ञा है; 'ल' का 'र' और 'र' का 'ल' कर लिया जाता है। इस ढंगसे 'बलकल' को 'बर' कल मानकर सीता-पक्षका अर्थ करेंगे। अर्थात् श्रेष्ठ सुन्दर वसन धारण किये हैं। 'जटिल' अर्थात् बड़े-बड़े केश छूटे हुए। 'श्यामा' अर्थात् षोडश वर्षकी अवस्था है इसी प्रकार *'कर कमलनि……'* में गुप्तार्थ है कि हाथोमें कमलोंको घुमा रही हैं जैसे श्याम धनुषबाण घुमा रहे हैं।'

इस प्रकारसे गुप्तार्थ निकालनेका कारण यह है कि *'बलकल बसन जटिल तनु स्यामा'* में उपमेय एक ही है और उत्प्रेक्षामें उपमान रति और काम दो हैं।

नोट—५ मेरी समझमें *'बलकल'* के बदलनेकी आवश्यकता नहीं; इस ग्रन्थके मतसे चित्रकूटमें तपस्वी वेष अवश्य रहा, श्यामा यह श्लिष्ट पद है, दोनोंमें घटित होता है।

☞ विनायकी टीकाके देखनेसे जान पड़ता है कि उन्होंने मु० रोशनलालकृत टीकाके प्रायः सभी भाव लिये हैं। यद्यपि उनका नाम कहीं नहीं है और टीका भी अब उपलब्ध नहीं है।

नोट—६ *'कर कमलनि धनु सायकु……'* इति। (क) इसीको गी० २। ६९ में *'करनि धुनत धनु तीर'* इस तरह कहा है। (ख) *'जियकी जरनि हरत हँसि हेरत'* इति। अ० रा० में श्रीसीताजीकी ओर निहारना कहा है। यथा—'**विलोकयन्तं जनकात्मजां शुभाम्।**' (२। ९। ६) इसके अनुसार भाव यह होगा कि जिस तरह वे श्रीजानकीजीकी ओर निहार रहे हैं, वह हँसकर निहारना भक्तोंके जीकी जलनको हर लेता है। दूसरा साधारण अर्थ तो स्पष्ट ही है कि जिसकी ओर वे हँसकर दृष्टिपात करते हैं उसके हृदयका संताप मिट जाता है। यहाँ यह कहकर जनाया कि प्रभुका हँसकर निहारना देखकर श्रीभरतजीके हृदयकी जलन मिट गयी। (ग) भरतजीने जो कहा था कि *'देखे बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥'* (१८२) वह यहाँ चरितार्थ हुआ। एक और मजेदार अर्थ यों कर सकते हैं—'जी की जलनको हँसकर हेरते हैं' कि देखें कहाँ है और हेरते ही उसको हर लेते हैं।

मिलान कीजिये—*'बिलोके दूर ते दोउ बीर। उर आयत आजानु सुभग भुज स्यामल गौर सरीर॥ सीस जटा सरसीरुह लोचन बने परिधन मुनिचीर। निकट निषंग संग सिय सोभित करनि धुनत धनु तीर॥ मन अगहुँड़ तनु पुलक सिथिल भयो नलिन नयन भरे नीर। गड़त गोड़ मानहुँ सकुच पंक महँ कढ़त प्रेम बल धीर॥ तुलसिदास दसा देखि भरतकी उठि धाए अतिहि अधीर। लिये उठाइ उर लाइ कृपानिधि बिरह जनित हरि पीर॥'* (गी० २। ६९। १—४)

पु० रा० कु०—*'लसत मंजु मुनिमंडली……'* इति। (क) मुनिमंडली ज्ञानसभा है, मानो ज्ञानने बहुत-से शरीर धारण किये हैं। वहाँ मुनि बहुत हैं इससे बहुत शरीर धरना पड़े। भक्ति जानकीजी, राम सच्चिदानन्द हैं। अथवा, तीनों शरीर धारण करके बैठे हैं, जो सर्वदेशी थे वे एक देशमें (वेदीपर) आ विराजे, जो निराकार हैं वही देह धरकर बैठे हैं।

नोट—७ यहाँ मुनि-समाजके बीचमें राम-जानकीजीकी शोभा उत्प्रेक्षाका विषय है। पर बाबा हरिहर-प्रसादजीका मत है कि 'यहाँ मुनिमण्डलीमात्रमें उत्प्रेक्षा समझनी चाहिये। मुनिमण्डली नहीं है मानो ज्ञानकी सभा है। उनके मध्यमें शरीर धरे सिय रघुचन्द भक्ति सच्चिदानन्दरूपसे शोभित हैं—ऐसा अर्थ है।' ज्ञान, भक्ति, सच्चिदानन्द स्वरूपाकार नहीं होते, यह केवल कल्पनामात्र है।

सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष सोक सुख दुख गन॥ १॥
पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥ २॥
बचन सपेम लषन पहिचाने। करत प्रनाम भरत जिय जाने॥ ३॥

बंधु सनेह सरस एहिं ओरा। इत[1] साहिब सेवा बर[2] जोरा॥ ४॥
मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई। सुकबि लषन मन की गति भनई॥ ५॥
रहे राखि सेवा पर भारू। चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू॥ ६॥

शब्दार्थ—**लकुट**=पतली लाठी, छड़ी। **सरस**=रसीला, सुन्दर, भीगा हुआ।=बढ़ा हुआ (सरसनासे)। बरजोर=प्रबल, जबरदस्त। **गुदरना**=अलग होना, त्याग करना।=निवेदन करना, हाल कहना; यथा—***'चीन्हों चोर जिय मारिहै प्रभु सों कहि गुदरि निबरयो हौं';*** अलग रहना, छोड़ना। **भनई**=[सं० भण=कहना] कहता है। **चंग**=पतंग गुड्डी, कनकौवा।

अर्थ—छोटे भाई श्रीशत्रुघ्न और सखासहित भरतजी मनमें मग्न हैं, हर्षशोक और सुख-दु:ख समूह सब भूल गया॥ १॥ ***'पाहि नाथ! पाहि गोसाईं!'*** (अर्थात् हे नाथ! रक्षा कीजिये, हे गुसाईं! रक्षा कीजिये) ऐसा कहकर पृथ्वीपर लकुटकी तरह गिर पड़े॥ २॥ (यह घटना लक्ष्मणजीके पीठके पीछे हो रही है, इसलिये) प्रेममय वचनोंसे लक्ष्मणजीने पहचान लिया और जीमें जान लिया कि भरतजी प्रणाम कर रहे हैं॥ ३॥ इस तरफ (इधर) तो भाईका सरस प्रेम अधिक और इधर स्वामीकी सेवा प्रबल॥ ४॥ न तो जाकर मिला ही जाय और न छोड़ते ही (उपेक्षा करते) बने। सुकवि लक्ष्मणजीके मनकी दशा यों कहते हैं॥ ५॥ वे सेवापर भार रखकर रह गये, मानो चढ़ी हुई पतंगको खिलाड़ी खींच रहा हो॥ ६॥

नोट—१ ***'बिसरे हरष सोक सुख दुख गन'*** इति।—'**गण**' पद देकर अनेक हर्ष, अनेक शोक, अनेक सुख और अनेक दु:ख सूचित किये। ये सब-के-सब विस्मरण हो गये। यह तुरीयावस्था है। रामशैलके दर्शनपर, राम-आश्रम प्रवेशपर, चरण चिह्न देखनेपर इत्यादि अनेक हर्ष और सुख (क्योंकि हर्षसे सुख होता है) हैं और पितामरण, मातुकुटिलाई, रामवनगमन इत्यादि शोक और शोकजनित दु:ख मिटे। (पं० रा० कु०) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'वियोगके कारण करुणरस था। इस रसका स्थायी भाव शोक है। शोकसे शंका, दीनता, चिन्ता, स्मृति, लज्जा और विषादादि दु:ख उत्पन्न हुए। ये सब भूल गये। पुन: रामस्नेह दृढ़ होनेसे त्यागवीरता आ गयी। इसका स्थायी भाव उत्साह है। उत्साहसे निर्वेद, चपलता, सुमिरण, धृति, हर्ष, सुख हुआ। प्रभुके दर्शनसे करुणरस जाता रहा इससे विषादादि दु:खगण शान्त हुए। प्रभुका मुनिवेष देख सुखगण हर्षादि भाव शान्त हुए। यद्यपि पूर्व रस रहे परंतु शान्त भाव सबल है इससे उसीकी प्रधानता हुई।'

पु० रा० कु०—***'भूतल परे लकुट की नाईं'*** इति। (क) आजकल 'दण्डवत्' साधारण 'प्रणाम' का पर्याय-सा हो गया है, अर्थात् मुँहसे 'दण्डवत्' कह देना ही बस काफी समझने लगे हैं। कहनेहीसे वे समझते हैं कि दण्डाकार पड़कर दण्डवत्-प्रणाम पूरा हो चुका। इसीसे ***'लकुट की नाईं'*** लिखकर कविने दण्डवत्-प्रणामकी क्रिया दिखायी है। (ख) मनुजीकी दण्डवत् और इनकी दण्डवत्का मिलान कीजिये। वहाँ ***'परे दंड इव'*** और यहाँ ***'लकुट की नाईं'*** कहा। दण्डा मोटा और लकुटी पतली होती है। मनुजीने जब दण्डवत् की तब उनके तन हृष्ट-पुष्ट, मोटे-ताजे थे। यथा—***'हृष्ट पुष्ट तन भये सुहाए। मानहुँ अबहि भवन ते आए॥'*** (१। १४५) यह दशा आकाशकी ब्रह्मवाणी सुननेपर हो गयी थी। दर्शन पीछे हुआ। अत: यहाँ कहा था कि ***'परे दंड इव गहि पद पानी।'*** (१४८। ७) श्रीभरतजी श्रीरामविरहसे व्याकुल हैं, कठिन नियम व्रत कर रहे हैं इससे उनका शरीर सूख गया है। यथा—***'राम बिरह व्याकुल भरत सानुज सहित समाज।'*** (२१३), ***'सकल सोक कृस।'*** (१८८। ६) और लोग तो कुछ आहार करते भी हैं पर इनको तो ***'भूख न बासर नींद न राती।'*** (२१२। १) इनका हृदय निरन्तर संतप्त रहता है। ये ***'कृस तन राम बियोग'*** हैं। अत: इनको ***'लकुटी'*** की उपमा दी। १। १४८ (७) भी देखिये। (ग) शृंगवेरपुरमें श्रीसीतारामजीका विश्रामस्थल देखकर ***'अति सनेह सादर भरत कीन्हेउ दंड प्रनाम॥'*** (१९८) वहाँ 'दण्डवत्-

१-'उत'—रा० प्र०। 'इत'—राजापुर, पु० रा० कु०, भा० दा०।
२-'बस जोरा'—(ला० सीताराम)। यह पाठ है तो 'अधिकबस' या 'भरपूर जोर' अर्थ होगा।

प्रणाम' से साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम अभिप्रेत है। इससे स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते गये त्यों-त्यों आकुलता बढ़ती गयी। उस समय श्रीसीताराम-स्मारक चिह्न प्रथम-प्रथम देखे थे। साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम करनेसे उस समय उनकी सावधानता प्रकट होती है और इस समय जटिल मुनिवेष देख आकुलता अत्यन्त बढ़ गयी, वे अपनेको सँभाल न सके, ***'पाहि नाथ! पाहि गोसाईं!'*** इतना कहते-कहते पतली छड़ीकी तरह गिर पड़े। इस प्रसंगमें वाल्मीकिजी लिखते हैं कि श्रीसीतारामजीको इस अवस्थामें देखकर भरतजी शोक और मोहसे व्याकुल हो गये और टूटी आवाजसे विलाप करने लगे, दुःखको रोक न सके, उनका मुँह पसीनेसे भर आया, वे श्रीरामजीकी ओर दौड़े, पर उनके पैर न पा सके, रोते-रोते पृथ्वीपर गिर पड़े—**'अभ्यधावत धर्मात्मा भरतः केकयीसुतः॥' ……इत्येवं विलपन्दीनः प्रस्विन्नमुखपंकजः॥ पादावप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन्।'** (वाल्मी० २। ९९। २९, ३७)। ये सब भाव इस अर्धालीसे सूचित कर दिये गये हैं। दोहा १९८ में दण्डेके समान पड़ना नहीं है, किंतु दण्डवत् प्रणाम करना कहा गया था। यदि 'दण्डेके समान' अर्थ लें तो यह भी भाव निकलेगा कि शृंगवेरपुरसे यहाँतक पैदल नंगे पैर, घोर घामादि सहते हुए और विशेष विरहके नित्यप्रति अधिक होनेसे वे लकुटकी तरह कृश हो गये। (घ) दण्ड और लकुट दोनोंसे निराधार जनाया। जैसे लकड़ीको अकेली खड़ी करो तो वह गिर पड़े, वैसे ही ये निराधार गिरे।

नोट—२ ***'पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं'*** इति। (क) ***'नाथ'*** का भाव कि आज हम सनाथ हुए, हमारी अनाथता आज गयी—(रा० प्र०)। पुनः आप नाथ हैं मैं सेवक हूँ, सेवककी रक्षा स्वामीका कर्तव्य है, अतएव सेवककी रक्षाके विचारसे ***'नाथ'*** सम्बोधन किया—(पां० ख०)—***'गोसाईं'*** अर्थात् आप इन्द्रियोंके स्वामी हैं, उनकी गति जानते हैं, मैं आपके परतन्त्र हूँ, मेरी रक्षा कीजिये—(रा० प्र०, पां०)।

नोट—३ ***'जिय जाने'*** से ज्ञात होता है कि उनको अभी देखा नहीं है उधर पीठ थी ऐसा अनुमान होता है। अथवा वृक्षकी ओटमें भरतजी हैं।

नोट—४ ***'बंधु सनेह सरस एहिं ओरा। इत……'।*** इति। यहाँ भी ***'एहिं ओरा'*** और ***'इत'*** का प्रयोग वैसे ही है जैसे ***'इत पितु बच इत बंधु सँकोचू'*** में था। दूसरा पल्ला अधिक ही है, कम नहीं—२२७ (३) देखिये, बिछुड़े हुएमें स्नेह अधिक हो ही जाता है, दूसरे ये भरतजीको बुरा-भला भी कह चुके थे, उसकी ग्लानिके कारण भी स्नेह अधिक हो गया होगा। इधर प्रभुकी सेवा भी जबरदस्त है। सेवा छोड़कर चल देना बिना आज्ञाके, यह सेवाधर्मके विरुद्ध है।

बैजनाथजीका मत है कि ***'बंधु सनेह सरस……'*** का भाव यह है कि भरतजीसे जाकर मिलनेसे ***'सनेह रस'*** रहता है और मिलने न जानेसे स्नेह नीरस हुआ जाता है अर्थात् बड़े भाईको देखकर उससे मिलकर उसे प्रणाम करना चाहिये यह धर्म है, न मिलनेसे प्रसिद्ध होगा कि लक्ष्मणजी भरतजीसे विमुख हैं इसीसे उन्होंने बड़े भाईको जाकर प्रणाम नहीं किया। ***'इत साहिब सेवा बरजोरा'*** अर्थात् सेवकका धर्म है कि स्वामीकी सेवा मन, कर्म, वचनसे करे।

'इत साहिब सेवा बरजोरा'

क्या सेवा है जिसके कारण ***'मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई'?***

(खर्रा)—साहिबकी सेवा वरजोर यह है कि ***'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।'*** बिना स्वामीकी आज्ञाके मिल नहीं सकते—***'मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई।'*** गुदरत (=कहते) नहीं बनता। अर्थात् श्रीरामजीसे यह कहते नहीं बनता कि भरतजी आये हैं क्योंकि कहनेसे विलम्ब होगा और भरतजीसे तुरंत भेंट करना चाहते हैं, कहने और आज्ञा लेनेका विलम्ब भी नहीं सह सकते। मनकी जब यह दशा हुई तब सेवा-धर्मपर बोझ रखकर अर्थात् इसका गौरव अधिक मानकर, इसका पल्ला भारी समझकर रह गये, मिलने न गये। यही उचित समझा कि स्वामीसे कहेंगे जब उनकी आज्ञा हो तब मिलेंगे, पहले नहीं।—***'यह छर भारु ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।'***—(विनय०)

वै०—इधर 'स्वामीकी सेवा उत्तम सबल है; क्योंकि यह उचित है कि यदि किसीको आते देखे तो तुरत स्वामीके पास जाकर उसकी सूचना दे दे।'

पाँड़ेजी—इधर भरतका स्नेह चित्तको खींचता है, उधर जो रघुनाथजीने पूछा था उसके उत्तर देनेमें उनकी सेवा खींचती है। इससे न उनसे मिल सके न उत्तर देते बने; तब सेवाको अधिक मानकर उधरसे स्नेहको खींचा (पूर्व पक्षवाले उत्तरमें कहते हैं कि 'परंतु यहाँ शंका होती है कि फिर उत्तर देनेकी या सुननेकी जो सेवा करते थे वह कहाँ की, वे तो भरतका आगमन कहने लगे? इससे सेवा वही जान पड़ती है कि स्वामीकी आज्ञा बिना उनको छोड़कर जाना धर्म-विरुद्ध है)।

३—रा० प्र० का मत है कि वचनका सुनना सेवा है। इससे जान पड़ता है कि ***'पूछें बचन कहत अनुरागे'*** का अर्थ वे यह लेते हैं कि लक्ष्मणजीने कुछ पूछा उसका उत्तर रामजी दे रहे हैं। श्रीरामजी कहनेमें लगे हैं इससे उन्होंने न सुना और ये श्रोता हैं। पुनः इनकी वृत्ति उधर इससे भी है कि हृदयमें ग्लानि है (इसमें भी वही शंका होती है जो ऊपर लिखी गयी है)।

४—शिला—एक ओर भरत-स्नेह, एक ओर राम-सेवा, न चलकर मिलते बने न खड़े रहते बने, सेवापर भार धरकर खड़े रहे। जैसे पतंग जब बहुत चढ़ जाती है तब यत्नपूर्वक खेलाड़ी लोग खींच लेते हैं, नहीं तो टूट जाय। यत्नसे खींचना, सेवापर भार धरकर खड़े रहना है।

गौड़जी—पतंग चढ़ी हुई है। बिना उसे खींचकर उतारे खिलाड़ी उसे छोड़कर और काम कर ही नहीं सकता। लक्ष्मणजी प्रभुकी सेवामें हैं। बीचमें छोड़ कैसे सकते हैं। इसलिये न तो आप सेवा छोड़ मिल सकते हैं और न उपेक्षा करते बनता है। सेवा यह है कि पूछी बातोंका अदबसे अनुरागसे उत्तर दे रहे हैं। यही चढ़ी हुई चंग है। इसे ही खींचकर उतारते हैं। अर्थात् तुरंत अपनी बात खतम करके प्रेमपूर्वक सिर धरतीसे लगाकर कहते हैं, नाथ! भरतजी प्रणाम कर रहे हैं।

मा० हं०—इन चौपाइयोंका भाव बड़ा ही हृदयग्राही है। कुछ देरतक भरतजी जमीनपर वैसे ही पड़े रहे, तो भी श्रीरामजीने जरा भी 'हूँ या हाँ' न किया। मानो उन्होंने भरतजीके ***'पाहि नाथ, पाहि गुसाईं।'*** इस आकुलित पुकारको सुना ही नहीं। इस समय वे केवल लक्ष्मणजीकी स्थिति लक्षपूर्वक देख रहे थे। लक्ष्मणजीको रामजीकी मर्यादाने जकड़ लिया था। परंतु अन्तमें उनसे न रहा गया, और थोड़ी देर बाद ही रामजीको उन्होंने प्रणाम कर धरतीपर पड़े हुए भरतजीको दिखलाया। इस तरह यह प्रसंग भरत-भेंटका पूर्व रंग कहना चाहिये। इसके पश्चात् भरतजीसे मिलनेके लिये रामजीकी व्याकुलता देखने योग्य है।

यहाँपर यह प्रश्न होता है कि रामजीने उस समय भरतजीपर इतनी निष्ठुरता क्यों दिखायी।

हमारे मतसे वह भरत-सम्बन्धी निष्ठुरता नहीं थी। लक्ष्मणजीकी विकारवशतासे निकले हुए पूर्व शब्दोंको उन्हीं-(लक्ष्मणजी-) के मत्थे मढ़ना था। इसलिये उन्होंने यह सब नाटक किया। भरतजीके सम्बन्धकी उनकी कटूक्तियोंकी सचाई या झूठापन आजमानेके लिये उन्होंने लक्ष्मणजीको वह समय दिया। अन्तमें जिस समय वे पश्चात्तापसे हड़बड़ाकर श्रीरामजीके सामने ***'कहत सप्रेम नाइ महि माथा'*** गिर पड़े, और अत्यन्त दीनतासे प्रार्थना करने लगे कि ***'भरत प्रनाम करत रघुनाथा'*** उस समय ***'उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनुतीरा॥'*** यानी प्रेमसे बिलकुल ही अधीर हो जानेके कारण, कहीं वस्त्र, कहीं धनुष और कहीं बाण छोड़ते-छोड़ते रामजी बड़े ही सम्भ्रमसे पहुँच और भरतजीको उठाकर मिले। स्वामीजीका भावनिरीक्षण और शिक्षाकी पद्धति जो अवर्णनीय कहलाती है उसीका यह वर्णन एक महत्त्वपूर्ण और माननीय उदाहरण है।

शिला—'प्रभु अन्तर्यामी हैं, पहले क्यों न उठे? क्योंकि पहले लक्ष्मणजीने बहुत क्रोध किया है। यदि इनके कहे बिना मिलें तो परस्पर विरोध लगेगा क्योंकि रामजीके ही लिये तो उन्होंने भरतजीके प्रति क्रोधयुक्त वचन कहे हैं। अतएव उनसे कहलाकर तब मिले।

गौड़जी—यह समझना कि भरतजी देरतक दण्डकी नाईं पड़े रहे, बड़ी भूल है। लक्ष्मणजी सरकारकी

दृष्टि रोके सामने खड़े कुछ कह रहे हैं। तिलकी ओट पहाड़ छिप जाता है। भरतजीका आकार दण्डवत् पड़ जाना दीख नहीं सकता था। वह साष्टांग पड़ते हुए *'पाहि'* बोले और *'गोसाईं'* कहते साष्टांगकी क्रिया पूर्ण हुई। मनसा, वचसा, कर्मणा दण्डवत् की जाती है। 'पाहि' सुनते ही लक्ष्मणजीके मनमें वह सब विचार उदित हुए। वह लकुटकी नाईं गिरे ही थे कि लक्ष्मणजीने भी दण्डवत् करते ही कहा 'नाथ! भरतजी प्रणाम कर रहे हैं। यह कहना 'गोसाईं' शब्दके बाद ही हुआ। श्रीरघुनाथजीने 'पाहि नाथ' सुना तभी प्रेमसे अधीर हो उठे। इतनेमें लक्ष्मणजीके झुकनेसे भरतजीका साष्टांग देख पड़ा। *'उठे राम सुनि प्रेम अधीरा।'* 'सुनि', क्या सुनकर? *'पाहि' 'गोसाईं'* सुनकर। लक्ष्मणजीकी बात तो उठते हुए सुनी। सुकवि लक्ष्मणजीके मनकी बात वर्णन करते हुए स्वयं सशंक है कि कहीं कोई भगवान्‌के उठनेमें देर न समझ बैठे; इसीलिये सुनते ही भगवान्‌को अधीर हो उठना बताते हैं। धनुसायक फेरते थे सो फेंकते हुए उठे। कहीं कुछ गिरा, कहीं कुछ। श्रीरघुनाथजी अन्तर्यामी हैं। सब जानते हैं। परंतु यहाँ तो नरलीला है। अल्पज्ञताका पुरुषोत्तमताके साथ कितना अच्छा अभिनय है। देर समझनेकी भूलके साथ ही अनेक निरर्थक कल्पनाएँ उठती हैं। कवि तो 'मनकी गति' कहनेमें देर लगाता है। परंतु वह इसे कबूल भी कर लेता है। यह ध्वनित है कि 'मनकी गति' थी अर्थात् अत्यन्त जवीयस अत्यन्त वेगवान्‌की गति कहता है। लक्ष्मणजीने सोचते ही माथा नवाकर कहा। फिर लक्ष्मणजी जैसे जल्दबाजके सोचनेमें भी देर लगती है! गजकी पुकारपर अधीर हो दौड़नेवाले भगवान् भरतके 'पाहि' पर किसीका मुँह ताकते रहेंगे?

प० प० प्र० स्वामीका भी यही मत है—*'करत प्रनाम भरत जिय जाने'* और *'भरत प्रनाम करत रघुनाथा'* से सिद्ध होता है कि वे प्रणाम करते ही थे इतनेमें ही लक्ष्मणजीने कहा। देरतक पड़े रहना और श्रीरघुनाथजीकी निष्ठुरता आदि कुकल्पनाएँ ही ठहरती हैं। प्रणामकी क्रिया पूरी नहीं हो पायी इतनेमें ही लक्ष्मणजीने कहा।

वि० त्रि०—सरकार अब लक्ष्मणजीसे भरतलालके विषयमें प्रश्न कर रहे हैं कि तुमने तो पेड़पर चढ़कर देखा है, भरतजी कितनी दूरपर हैं, इत्यादि। लक्ष्मणजी अनुरागसे उत्तर दे रहे हैं कि इसी बीचमें *'पाहि नाथ, पाहि गोसाईं'* शब्द हुआ, सब लोग साकांक्ष हुए कि कौन बोल रहा है। सघन वन ओट होनेसे किसीको दिखायी नहीं पड़ रहा है, लक्ष्मणजीने स्वरसे पहचान लिया कि भरतजी प्रणाम करते हैं, उस समय लक्ष्मणजीके मनकी गति कहनेमें कविने तीन अर्धालियाँ लिख डालीं, पर यह सब मिनटोंमें (सेकेण्डोंमें) हुआ। लक्ष्मणजीने तुरंत प्रणाम करके कहा कि भरतलाल प्रणाम कर रहे हैं। यहाँ लक्ष्मणजीके प्रणाम करनेका भाव ही यह है कि जो बात कह रहे थे उसे वहीं समाप्त किया, कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं, भरतलाल आ गये, प्रणाम कर रहे हैं।

'चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू'

पु० रा० कु०—खेलाड़ी खींचता है जिसमें डोर न टूटे, वैसे ही ये भरतके स्नेहको सँभालते हैं कि वह भी न टूटे और स्वामीकी सेवा भी रहे। दोनोंको रखनेके लिये *'कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥'*

गौड़जी—स्थिति यह है कि सरकारका दरबार है जिसमें ठीक प्रभुके सामने लक्ष्मणजी खड़े किसी पूछी बातका उत्तर अदबके साथ निवेदन कर रहे हैं। ठीक इसी क्षण भरतजी दण्डवत् करते हैं। सरकारका सामना लक्ष्मणजीके कारण रुका हुआ है। लक्ष्मणजीकी बात सरकार सुन रहे हैं। लक्ष्मणजी अदबके मारे न तो पीठ फेरकर देख सकते हैं, न बिना उत्तर पूरा किये हुए बीचमें और कुछ कर सकते हैं। न मिल सकते हैं न उपेक्षा ही कर सकते। *'पाहि नाथ' 'पाहि गोसाईं'* शब्द सुनकर समझ जाते हैं कि भरतजी प्रणाम कर रहे हैं। अब सरकारकी दृष्टिके सामने रुकावट होकर खड़े रहना, भगवत् और भागवतके बीचका व्यवधान होना यह स्वयं परमाचार्य रामानुजसे कैसे सहन होगा? पूछी बातका उत्तर पूरा करते-करते झट खतम कर देना चढ़ी चंगको खींच लेना है। सप्रेम धरतीसे माथा छुआकर बात झट खतम

कर देनेकी बेअदबीके लिये और सरकारी दृष्टिमें बाधक होनेके लिये क्षमा भी माँग लेते हैं और साथ ही निवेदन भी कर लेते हैं कि नाथ! भरतजी प्रणाम कर रहे हैं। इनके झुकते ही सरकार भरतजीको पड़ा हुआ भी देखते हैं। ***'पाहि'*** सुनकर तो अधीर होकर उठ ही रहे हैं।

श्रीनंगे परमहंसजी—यहाँ लक्ष्मणजीको चंगके खिलाड़ीकी समता देकर सूचित किया कि लक्ष्मणजीका मन चंग है, हृदय आकाश है। भ्रातृस्नेह पवन है, रामसेवा डोर है। पतंग उड़ानेवालेके हाथमें डोर जरा-सी ढीली हुई नहीं कि पवन चंगको आकाशमें ऊपरकी ओर खींच ले जाता है, वैसे ही लक्ष्मणजी डोररूप सेवासे जरा ढीला पड़े तो पवनरूप भ्रातृस्नेहने पतंगरूप मनको आकाशरूपी अन्त:करणमें चढ़ाया और दूर उड़ा ले गया। जब खेलाड़ी देखता है कि चंगको पवन आकाशमें दूर चढ़ा ले गया है तब उसको शीघ्र उतार लेता है, कारण कि चंग या डोरीके टूट जानेका भय है। अत: चंगको डोरसे खींच लेता है। खींचते समय पवन चंगको रोकता है इसलिये जरा-सा रुकना पड़ता है और विशेष डोरीसे खींचना होता है। वह खेलाड़ी चंगको खींचकर पूर्व स्थानपर रख देता है। उसी तरह श्रीलक्ष्मणजीने जब देखा कि पवनरूप भ्रातृस्नेह चंगरूप मनको आकाशरूप अन्त:करणमें दूर ले गया, तब उन्होंने चंगरूप मनको खींचना शुरू किया पर पवनरूप भ्रातृस्नेह चंगरूप मनको रोक देता था, इसलिये जरा-सा रुक-रुकके मनको खींचकर सेवा-स्थानपर रखके शीघ्र जाकर श्रीरामजीको प्रणामकर सूचना देते हैं कि श्रीभरतलाल प्रणाम कर रहे हैं। उस समय लक्ष्मणजी खड़े हुए पहरा दे रहे थे।

वै०—श्रीलक्ष्मणजी तो सेवामें पूर्वसे ही खड़े हैं और श्रीभरतजी भी प्रणामरूपी स्वामिसेवामें तत्पर हैं। इस समय उनसे मिलने जानेसे अपनी और उनकी दोनोंकी सेवा भंग होती है और हाल कहने जायँ तो बन्धुस्नेह नीरस होता है, अत: सेवापर भार रखकर खड़े ही रह गये। यह कैसा मनसूबा खेल गये उसकी उत्प्रेक्षा करते। यदि कोई व्यक्ति पतंग उड़ाते हुए उसे अधिक बढ़ा दे और उसी समय किसी दूसरेने पतंग उड़ाई और इसकी बढ़ी हुई पतंगके पेटेमें पेंच डाल दी तो इसकी पतंग सहजहीमें कट जायगी। अत: चतुर खेलाड़ी दूसरेको पतंग उड़ाते देख अपनी बढ़ी-चढ़ी पतंगको खींचकर पेंच लड़ाने योग्य मौताज-(स्थान-) पर रखता है। वैसे ही यहाँ लक्ष्मणजीकी सेवारूप चंग चढ़ी हुई है। भरतजीको प्रणाम करते जानकर अपनी सेवाको खींचकर उन्होंने मौताजपर रखा, अर्थात् सेवा-स्थलपर खड़े ही रहे। इससे बन्धु-स्नेह भी नीरस न हुआ, कारण कि जब भरतजी स्वामीको प्रणाम कर रहे हैं तब बिना स्वामीकी उनसे भेंट हुए बीचमें इनको मिलनेका अधिकार ही कहाँ है?

कोई-कोई कहते हैं कि 'यहाँ दो पतंग हैं—बन्धु-स्नेह और साहिब-सेवा। एक जो बहुत चढ़ी थी उसको ढील देकर, सह देकर काटा, जिसमें दूसरी उखड़ न जाय। सह देना चुप रहकर सावधान होना है। सावधान होनेपर तब बोले'। किसीने इस उत्प्रेक्षाको यों निबाहा है कि जब पतंग बहुत ऊपर चढ़ जाती है तो उसको एक बारगी खींचनेमें डोरेके टूटनेका भय बना रहता है। पतंगबाज सावधानीसे उसे उतारते हैं, बार-बार ढील देकर सँभालकर खींचना पड़ता है। वैसे ही यहाँ लक्ष्मणजी अपने मनको सँभालकर धीर-धीरे क्रमश: भरतकी ओरसे खींचकर अपने काबूमें कर लाये। जब सावधान हुए, तब बोले। यहाँ लक्ष्मणजी खेलाड़ी हैं, मन पतंग है, भरतजीकी ओर स्नेहकी अधिकता हो जाना, जाकर मिलनेको मन करना, पतंगका आकाशमें बहुत चढ़ जाना है, उधरसे मनको हटाकर सेवापर आरूढ़ होना पतंगका खींचकर काबूमें कर लाना वा सँभालना है।

कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥ ७॥
उठे रामु सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥ ८॥

दो०—बरबस लिए उठाइ उर लाये कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥ २४०॥

शब्दार्थ—**बरबस** (बलवश)=बलपूर्वक। **अपान**=अपनपौ, सुध, होशहवास, यथा—*'जनक समान अपान बिसारे'।*

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी पृथ्वीपर मस्तक नवाकर प्रेमसहित कहते हैं—हे रघुकुलके नाथ! भरतजी पृथ्वीमें माथा नवाये हुए प्रणाम कर रहे हैं॥ ७॥ सुनकर श्रीरामजी प्रेमसे अधीर होकर उठे, कहीं वस्त्र गिरा, कहीं तरकश, कहीं धनुष और कहीं बाण*॥ ८॥ उनको बलपूर्वक उठाकर दयासागर प्रभुने हृदयसे लगा लिया। भरत-राममिलाप देखकर सभीको अपनी सुध भूल गयी॥ २४०॥

नोट—१ *'कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा'*—बिहारी सतसईके निम्नलिखित दोहेसे मिलान कीजिये—*'कहा लड़ेते दृग करे पड़े लाल बेहाल। कहुँ मुरली कहुँ पीतपट कहूँ मुकुट बनमाल॥'* विनय० पद २०६ भी देखिये—*'नाहिंन और कोउ सरन लायक दूजो श्रीरघुपति सम बिपति निवारन।······सुमिरत सुलभ, दास दुख सुनि, हरि चलत तुरत, पटपीत सँभारन। साखि पुरान निगम आगम सब जानत द्रुपदसुता अरु बारन॥'* और गी० पद ६९ भी देखिये। वहाँ भी *'उठि धाए अतिहि अधीर'* और *'लिए उठाइ उर लाइ कृपानिधि बिरहजनित हरि पीर'* शब्द हैं। *'कृपानिधान'* का भाव वहाँ खोला है।

नोट—२ *'बरबस लिए उठाइ······'* इति। (क) अ० रा० में भी कहा है कि **'रामस्तमाकृष्य सुदीर्घबाहुर्दोर्भ्यां परिष्वज्य सिषिञ्च नेत्रजैः। जलैरथांकोपरि संन्यवेशयत् पुनः पुनः संपरिषस्वजे विभुः॥'** (२। ९। ७) आजानुबाहु श्रीरामचन्द्रजीने अपनी दोनों बाहुओंसे उन्हें गोदमें बैठाकर अपने आँसुओंसे सींचते हुए बारंबार हृदयसे लगाया। (ख) *'बिसरा सबहि अपान'* इति। वहाँ मुनिसमाज मुख्य था, साथ ही और भी वनवासी लोग वहाँ थे, सबको देहसुध भूल गयी, सबके आँसू निकल आये, एकटक देखने लगे—**'वनौकसस्तेऽभिसमीक्ष्य सर्वे त्वश्रूण्यमुञ्चन्प्रविहाय हर्षम्।'** (वाल्मी० २। ९९। ४२), (गी० २। ७०) में जो दशा वनवासियों और मुनियोंकी उस समय हुई जब वे श्रीरघुनाथजीसे लौटनेकी प्रार्थना करनेको खड़े हुए थे, वह भी कुछ ऐसी ही है—*'(हृदय सोच)जलभरे बिलोचन नेह देह भइ मोरि। वनवासी पुरलोग महामुनि किये हैं काठकेसे कोरि॥'*

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबि कुल अगम करम मन बानी॥ १॥
परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥ २॥
कहहु सुपेम प्रगट को करई। केहि छायाँ कबिमति अनुसरई॥ ३॥
कबिहिं अरथ आखर बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा॥ ४॥
अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥ ५॥
सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँती। बाजु सुराग कि गाँडर ताँती॥ ६॥

शब्दार्थ—**सुपेम**=अतिशय प्रेम। 'गाँडर' (सं० गंडाली)। १—मूँजकी तरहकी एक घास जिसकी पत्तियाँ पतली और हाथ सवा हाथ लम्बी होती हैं। यह तराई, तालाबों, झीलों आदिमें प्रायः बहुत होती है। कुआरमें इससे सींकें निकलती हैं। इसकी जड़ खस (सं० उशीर) है। २—एक प्रकारकी दूब जिसमें बहुत गाँठें होती हैं और जो जमीनपर दूरतक फैलती है····। ३—'गाडर' (सं० गड्डुरी)=भेंड़, यथा—*'स्वामी होनो सहज है दुर्लभ होनो दास। गाडर लाये ऊन को लागी चरन कपास॥'*—(तुलसी) यहाँ पाठ 'गाँडर' है (वि० त्रि० यह अर्थ लेते हैं)। (श० सा०)। ताँत=भेड़ आदिके चमड़े-नस आदिकी बटी हुई डोरी=सारंग आदिका तार, यथा—*'सेइ साधु गुरु मुनि पुरान श्रुति बूझ्यो राग बाजी ताँति।'*

अर्थ—श्रीराम-भरतके सम्मिलनकी प्रीति कैसे बखानी जाय? वह तो कविकुल-(कविसमुदाय-) के

* 'पट वेद है, निषंग कर्म, धनुष काल, तीर लवनिमेषादि। भक्तके लिये चारोंको छोड़ दिया'—खर्रा।

लिये कर्म-मन-वचन-(तीनों प्रकार-) से अगम्य है॥ १॥ दोनों भाई मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार-(चतुष्टय अन्त:करण-) को भुलाकर परम प्रेमसे पूर्ण हैं॥ २॥ कहिये उस अतिशय प्रेमको कौन प्रकट करे? कविकी बुद्धि किस छायाका अनुसरण करे?॥ ३॥ कविको तो अर्थ और अक्षरका ही सच्चा बल है। नट तालकी गतिके ही अनुसार नाचता है॥ ४॥ भरतजी और रामजीका प्रेम अगम है, जहाँ ब्रह्मा-विष्णु-महेशका भी मन नहीं जा सकता*॥ ५॥ उस प्रेमको मैं दुर्बुद्धि किस प्रकार कहूँ? क्या गाँडरकी ताँतसे सुन्दर राग बज सकता है?॥ ६॥

नोट—१ ***'किमि जाइ बखानी'*** क्योंकि किसीको उस समय सुध-बुध ही न रह गयी। प्रेम ही परिपूर्ण समा गया, इससे वहाँ दूसरी वस्तुकी समायी ही न रह गयी। मन आदि अपने-अपने धर्म भूल गये। मन संकल्प-विकल्प, बुद्धि सत्-असत्-विचार, चित्त अनुसंधान (कि कभी ऐसा किया है सुध है) और अहंकार अहमिति भूल गये।

पु० रा० कु०—शंका—भरत इन-(मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार-) को भूल जायँ पर श्रीरामजी परब्रह्म हैं, वे कैसे भूल सकते हैं? समाधान—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'**। जैसे भक्त इनसे मिले उसी रीतिसे भगवान् भक्तसे मिलते हैं। भक्त-शिरोमणि अन्त:करण-चतुष्टयको भुलाकर मिले, अत: उनके भावानुकूल प्रभु भी मिले।

वै०, रा० प्र०—अन्त:करण-चतुष्टयसे परे स्फुरणमात्र (आत्माकी चेतनतामात्र) शेष रह गया जिससे सबमें चेतनता और प्रकाश होता है। दोनोंके शुद्ध आत्मतत्त्व समुद्रवत् मिल गये।

नोट—२ ***'केहि छायाँ कबिमति अनुसरई'*** इति। कहने-सुननेके चार मार्ग हैं—मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार। जब भोगनेवालोंको इन चारोंकी विस्मृति हो गयी तब कविकी मति किस राहसे प्रवेश करे। अथवा, जिसको सुख प्राप्त हो वह जब कुछ कहे तब कवि उपमान-उपमेय, उक्ति-युक्तिद्वारा रचना करे; पर जब मुखसे वचन ही न निकले तब किसीकी बुद्धि क्योंकर प्रवेश करे? अथवा, प्रेमका अन्वय छायाके साथ कर लें तो अर्थ होगा—किस कविकी ऐसी मति है जो उसके प्रेमकी छायामें अनुसरण करे। (रा० प्र०)

नोट—३ ***'कबिहिं अरथ आखर बलु साँचा।……'*** इति। (क) यहाँ लक्षणामूलक वाच्यविशेष व्यंग है। भाव कि अक्षरोंमें इतना अर्थबल नहीं है कि उस प्रेमको यथातथ्य प्रकट कर सकें (वीर)। (ख) ताल देनेवाला जैसी ताल देगा वैसा ही नट नाचेगा, वैसे ही जो शब्द कविको मिलेंगे उसीको लेकर वह कोई बात कह सकेगा, यदि उस दशाके वर्णनके शब्द ही न मिलें तो कवि क्या करे? (दीनजी) (ग) भाव यह कि कवि अपनी विद्यामें पक्का है इसमें कसर नहीं और नट नाचमें पक्का है, पर यदि एक अक्षर अर्थका बल और दूसरा तालकी गतिका बल न पावे तो वह क्या कर सके, उसका क्या कसूर? (पु० रा० कु०)

नोट—४ ***'अगम सनेह भरत रघुबर को।……'*** इति। भाव कि—(क) त्रिदेवके मनकी गुजर वहाँ नहीं, इससे इन दोनोंको एवं उनकी प्रीतिको त्रिगुणातीत जनाया। त्रिदेवका मन अपने-अपने गुण (रज, सत्त्व, तम) तक ही जा सकता है (पु० रा० कु०)। (ख) विधि, हरि, हर और मन (चन्द्र) ये ही चारों अन्त:करणके देवता हैं। जब इनका ही मन वहाँ नहीं पहुँचता तब दूसरेकी पहुँच कहाँ, जो कह सके (पु० रा० कु०)। आशय यह है कि जिनके ये अधिष्ठातृ देवता हैं (बुद्धिके अधिष्ठातृ देवता विधि हैं, चित्तके हरि और अहंकारके हर हैं) जब उन्हींको पता नहीं है तब इनके मनकी पहुँच भरतजीके स्नेहतक कैसे हो सकती? (वि० त्रि०) (ग) ***'बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥'***

---

* बाबा हरिदासजी और भी अर्थ करते हैं—'भरतका स्नेह अगम है, जहाँ रघुबरका भी मन नहीं जा सकता, बिधि-हरि-हर भला कौन हैं, किस गिनतीमें हैं'। पर यहाँ प्रसंग 'रघुबर' और 'बिधि-हरि-हर' का नहीं है, इन दोनोंके मिलानका अभिप्राय नहीं है।

तब साधुशिरोमणि भरत और उनके स्वामी रामजीके स्नेहतक कैसे पहुँच सके। (रा० प्र०) गौड़जीकी टिप्पणी आगे है।

पां०—यहाँ सन्देह करनेका काम नहीं कि 'हरि' और 'राम' एक हैं; भेद किसीमें नहीं है। पर इस उपासनाग्रन्थमें रघुनाथजीका अतिशय परत्वयोग कहा गया है—***'विष्णु कोटि सम पालन करता', 'उपजहिं जासु अंस ते नाना।…'*** इत्यादि।

'बाजु सुराग कि गाँडर ताँती'

पु० रा० कु०—कवि अपनी मतिको मूँजकी डोरीसे उपमा देते हैं, जो राग निकलनेके पूर्व ही टूट जाय। भाव यह कि बढ़िया तार या ताँत लगे तो सुन्दर राग भी निकले, घासकी ताँतसे कहीं 'सुन्दर राग' निकल नहीं सकता। वैसे ही मुझसे वर्णन नहीं हो सकता।

पाँड़ेजी—'गाँडर'='गड़रियेकी ताँत जिससे ऊन धुनी जाती है'।

गौड़जी—मिलनेमें प्रीतिका गाम्भीर्य कितना था, प्रकार कैसा था कैसे कहा जाय। कर्मणा-वाचा-मनसा सभी तरहसे तो कविके लिये अगम है। प्रेमकी परमावधिसे दोनों भाई ऐसे परिपूर्ण हैं कि ***'मन बुधि चित अहमिति'*** चारों अन्त:करणसे परे, अत्यन्त दूर हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार बिसर गये हैं, और ऐसा तो होना ही था। '**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान्॥**' (श्रुति) फिर उस प्रेमको कोई शब्दोंमें कैसे प्रकट करे; क्योंकि मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तके ही विषय तो शब्दमें प्रकट किये जाते हैं। शब्दमें जो त्रिधा शक्ति है वह तो अन्त:करणके अनुभवकी छायाके अनुसार है। जब अन्त:करणको अनुभव ही नहीं तो किसकी छायाके बलपर कविकी मति वर्णन करनेका यत्न करे। कविके लिये अर्थ और शब्द इनके बलका ही साँचा काम देता है, परंतु उस प्रेमका तो चित्र या साँचा शब्द और उसके अर्थकी सामग्रीसे बन ही नहीं सकता। ताल देनेवाले मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तो यहाँ चुप हैं, उन्हें ताल देना आता ही नहीं, फिर शब्दार्थ-बलरूपी तालके अभावमें कविरूपी नट अपनी गति किस ढंगसे बाँधे, वर्णनरूपी नाच किस तालके अनुसार करे। साँचा ही नदारद तो कल्पनाकी मूर्ति किस तरह ढाली जाय। यहाँ राम और भरतका स्नेह तो ऐसा अगम है कि विधि-हरि-हरके मनका भी वहाँतक प्रवेश नहीं है। उस स्नेहका मेरे-जैसे दुर्बुद्धिका कहीं वर्णन करनेका साहस हो सकता है? कहीं गंडाली दूबकी ताँतसे कोई अच्छे रागके निकालनेकी भी अभिलाषा कर सकता है?

यहाँ गाँडर एक प्रकारकी घासके ही अर्थमें प्रयुक्त है। भेड़की ताँत तो बजानेके काममें आती है; परंतु घासके रेशेसे वह काम नहीं ले सकते यद्यपि बटकर तन्तु या ताँत बना सकते हैं। यहाँ कविकी मति गंडाली दूब है जिसमें रागके अच्छे निकलनेकी कोई सम्भावना ही नहीं है। बड़ी कोशिश करनेपर भ्रष्ट राग चाहे निकल भी जाय। सुरागकी तो सम्भावना ही नहीं है। गाँडर और गाडरके भिन्नार्थक परंतु समान रूपमें यहाँ भी वही सौन्दर्य है जो 'खाँड' और 'खाँडा' शब्द-युगलमें [***'अयमय खाँड न ऊखमय'*** में] मौजूद है। कविकी मति कुछ भेड़ आदिकी (गाडरकी) ताँत नहीं है जिससे कि सुरागकी भी आशा की जाती है, यहाँ तो गंडाली दूब (गाँडरकी) ताँत है, जिससे सुराग भी नहीं बज सकता। प्रसिद्ध है कि बेसुरा अच्छा पर बेताला नहीं अच्छा। सो यहाँ तो ताल नदारद है, कविकी वाणी (शारद दारु नारि) तो नाचनेसे रहीं। फिर यह कहो कि अच्छा ताल न सही, नाच न सही, तालसमेत गाना न सही, बेतालसमेत ही अच्छे रागमें कहो; तो यहाँ तो मैं कुमति ठहरा, यहाँ तो गाडर (भेड़ आदिकी) ताँत नहीं, बल्कि गाँडर (गंडाली दूबकी) ताँत है, यह भी कभी अच्छे राग बजा सकी है?

वि० त्रि०—***'कहहु सुपेम……ताँती'*** इति। छाया यदि देख लें तो कवि उस पुरुषका वर्णन कर डालें, कविमें इतना पुरुषार्थ होता है, पर यहाँ तो प्रेम-समाधिमें चारों अन्त:करण ही विस्मृत हैं, और ये ही प्रेम प्रकट करनेवाले हैं, इनमें उस प्रेमकी छाया ही नहीं पड़ रही है, अत: उस प्रेमका वर्णन कविके बूतेकी बात ही नहीं है। '**तालः कालक्रियामानम्**' कालकी क्रियाका नाम है ताल। सो समाधिमें कालकी

क्रिया नहीं होती और नाचनेवालेको उसीका अनुसरण करना ठहरा; इसी भाँति प्रेम-समाधिमें अन्तःकरणकी क्रिया ही रुकी हुई है, वह अवस्था शब्द और अर्थकी पहुँचके बाहर है।

भरतके स्नेहतक विधि-हरि-हरके मनकी पहुँच नहीं, जब ऐसे सुमति महानुभावोंकी यह दशा है तो मैं तो कुमति ठहरा मुझसे कैसे कहते बनेगा। कोई कुराग होता तो भेंड़के ताँतसे बन जाता। सुराग तो बूढ़ी भैंसके आँतकी जो ताँत होती है उससे बनता है। भेंड़की आँत बहुत छोटी होती है, और लचीली नहीं होती अतः सुराग बननेके सर्वथा अयोग्य है। गाँडर भेंड़को कहते हैं इसीसे भेंड़ पालनेवाले गँड़ेरिया कहलाते हैं। आज भी रीवाँ आदि देशोंमें भेंड़को गाँडर कहते हैं।

मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की। सुरगन सभय धकधकी धरकी॥ ७॥
समुझाये सुरगुरु जड़ जागे। बरषि प्रसून प्रसंसन लागे॥ ८॥

दो०—मिलि सपेम रिपुसूदनहि केवटु भेंटेउ राम।
भूरि भायँ भेंटे भरत लछिमन करत प्रनाम॥ २४१॥

शब्दार्थ—'**धकधकी**'—गले और छातीके बीचका गड्ढा जिसमें स्पन्दन (धड़कन) मालूम होती है; धुकधुकी; कलेजा, दिल। '**धरकना**' (धड़कना)=धकधक करना। भय, उद्वेग आदिके कारण हृदयका जोर-जोरसे जल्दी-जल्दी कूदना। धुकधुकी धड़कनी=अकस्मात् आशंका या भय होना। '**जागना**'=सजग वा सावधान होना, मोह छूटना, सचेत होना। निद्राका भंग होना। आँखें खुलना (मुहावरा)। '**भाय**'=भाव, प्रेम।=भाँति, ढंग, यथा—***'लखि पिय बिनती रिस भरी चितवै चंचल भाय। तब खंजनसे दृगनमें लाली अति छबि छाय॥'*** (मतिराम)

अर्थ—श्रीभरत-रघुवर-मिलाप देखकर देवगण भयभीत हो गये, उनके कलेजे धड़कने लगे॥ ७॥ देवगुरु बृहस्पतिजीके समझानेपर वे मूर्ख चेते और फूल बरसाकर प्रशंसा करने लगे॥ ८॥ प्रेमपूर्वक शत्रुघ्नजीसे भेंटकर श्रीरामचन्द्रजी केवटसे भेंटे (गले लगाकर मिले)। लक्ष्मणजीके प्रणाम करते ही भरतजी बहुत प्रेमसे बहुत भाँति उनसे गले लगकर मिले॥ २४१॥

नोट—१ (क) ***'भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान'*** (२४०) पर मिलाप कहकर बीचमें छः अर्धालियोंमें प्रीतिका अकथनीय अनिर्वचनीय होना कहते रहे, अब फिर वहींसे प्रसंग उठाते हैं। वहाँ ***'भरत राम की मिलनि लखि'*** कहा और यहाँ ***'मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की।'*** (ख) अभीतक सब सुध-बुध भूले रहे जब होश आया तब फिर अपने पुराने स्वभावपर आ गये। बृहस्पतिने पूर्व समझाया था उससे अबतक सँभले रहे। जब देखा कि रामजी स्वयं उनके प्रेममें विदेह हो गये तब ढाढस जाता रहा, कलेजा काँप उठा कि ये अवश्य उनको फेर ले जायँगे।

नोट—२ ***'जड़ जागे'***—जड़ और जागेका कैसा उत्तम संयोग है। जड़ थे, (जड़से) चेतन हो गये। जागनेसे सोना पाया जाता है, सोते समय मनुष्य जड़वत् हो जाता है ही, जब जीव अपने कर्तव्यको भूल जाता है तो वही उसका सोना है, उसको सावधान करनेमें पूज्यकवि प्रायः उसे जड़ कहते हैं और उसके साथ 'जागना' क्रियाका प्रयोग करते हैं—***'जरठाइ दसा रबिकाल उयेउ अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे।'*** देवता मोहरूपी रातमें सो रहे थे, यथा—***'मोह निसा सब सोवनिहारा', 'महामोह निसि सूतत जागू।'*** गुरुके समझानेसे मोहरात्रि दूर हो गयी, ज्ञान-भानुका उदय हुआ, वे चैतन्य हुए—(शिला)।

भेंटेउ लषन ललकि लघु भाई। बहुरि निषादु लीन्ह उर लाई॥ १॥
पुनि मुनिगन दुहु भाइन्ह बंदे। अभिमत आसिष पाइ अनंदे॥ २॥
सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सियपदपदुमपरागा॥ ३॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए। सिर कर कमल परसि बैठाए॥ ४॥
सीयँ असीस दीन्हि मन माहीं। मगन सनेह देह सुधि नाहीं॥ ५॥

शब्दार्थ—'**ललकि**' (सं० ललन=लालसा करना)=ललककर, प्रबल अभिलाषासे, उत्साह या उमंगसे, चाहकी उमंगसे भरकर। '**अनंदे**'=आनन्दित वा प्रसन्न हुए।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी छोटे भाईसे ललककर मिले, फिर निषादको हृदयसे लगा लिया॥ १॥ फिर दोनों भाइयों-(भरत-शत्रुघ्न-) ने मुनिवृन्दको प्रणाम किया, मनोवांछित आशीर्वाद पाकर आनन्दित हुए॥ २॥ अनुज शत्रुघ्नसहित भरतजी प्रेमसे उमँगकर श्रीसीताजीके चरणकमलरजको सिरपर धारणकर बारंबार प्रणाम करते हैं और वे उनको उठाती हैं। श्रीसीताजीने उन्हें उठाकर कर-कमलसे सिरको स्पर्श करके (अर्थात् सिरपर हाथ फेरकर) उनको बिठाया॥ ३-४॥ श्रीसीताजीने मन-ही-मन आशीर्वाद दिया। वे प्रेममें मग्न हैं, उन्हें देहकी सुध नहीं है॥ ५॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—***'ललकि लघु भाई।'*** यहाँ यह अपनी ओरसे लगा लेना चाहिये कि शत्रुघ्नजीने लक्ष्मणजीको प्रणाम किया और उन्होंने इन्हें तुरंत उठाकर लालसापूर्वक गलेसे लगा लिया। हमजिन्स जैसे हमजिन्सको देखकर मिले। ललक यह कि हम भगवत्-सेवामें हैं और हमारा भाई भागवत-सेवामें है। (नोट—'निषाद' पद देकर उसकी जाति और भाग्य दिखाया। ***बहुरि***=तत्पश्चात्। अथवा इससे यह भी जनाया कि शृंगवेरपुरमें प्रथम हृदयसे लगाया था अब पुनः हृदयसे लगाया)।

टिप्पणी—२ (क) ***'अभिमत आसिष'*** यथा—***'जन्म जन्म रति रामपद यह बरदान न आन।'*** (२०४) ***'सीयराम पद सहज सनेहू।'*** (१९७। ८) यही उनका मनोरथ है जो उन्होंने प्रयागराज त्रिवेणी और सुरसरिसे माँगा था। (ख) ***'सिर कर कमल परसि'***—सिरपर हाथ फेरना प्यार और बाधाशान्तिका आशीर्वाद प्रकट करता है। रामजी विह्वल हो गये थे—***'कहुँ पट कहुँ निषंग……'।*** ये विह्वल नहीं हुईं इसीसे आशीर्वाद देती हैं, पर मनहीमें, और मन स्नेहमें मग्न हो गया। यहाँ भी अनुराग दोनों तरफ है। दोनों भाइयोंने ***'उमगि अनुरागा……करत प्रनाम'*** वैसे ही श्रीसीताजी ***'मगन सनेह'*** होकर ***'सिर कर कमल परसि'*** बिठाती हैं और प्रेमभरा मन आशीर्वाद दे रहा है। देखिये वाल्मीकीय आदिकी 'सीता' और मानसकल्पकी 'सीता' में कैसा अन्तर है!

नोट—ऐसा जान पड़ता है कि मुनिमण्डली भी श्रीरामजीके साथ-ही-साथ कुछ आगे बढ़ आयी थी, नहीं तो श्रीराम-लक्ष्मणजीके पश्चात् सीताजीको प्रणाम करते।

सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता॥ ६॥
कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूछा॥ ७॥
तेहि अवसर केवटु धीरजु धरि। जोरि पानि बिनवत प्रनामु करि॥ ८॥
दो०—नाथ साथ मुनिनाथ कें मातु सकल पुर लोग।
सेवक सेनप सचिव सब आए बिकल बियोग॥ २४२॥

शब्दार्थ—'**अपडर**'=आशंका, कल्पित या झूठा भय, यथा—***'अपडर डरेउँ न सोच समूले', 'अपभय सकल महीप डेराने।', 'समुझि सहम मोहि अपडर अपने। सो सुधि राम कीन्हि नहिं सपने॥'*** 'अप' उपसर्ग जिस शब्दके पहले आता है उसके अर्थमें निम्नलिखित विशेषता उत्पन्न करता है—निषेध, अपकृष्ट, विकृति, विशेषता (श० सा०)। '**छूछा**'=खाली—यह शब्द प्रायः छोटी वस्तुओंके साथ आता है।

अर्थ—सब तरहसे श्रीसीताजीको अपने ऊपर प्रसन्न देखकर वे शोचरहित हो गये और हृदयकी आशंका जाती रही॥ ६॥ उस समय न (तो) कोई कुछ कहता है और न कोई उनकी (क्षेम-कुशल आदि वार्ता) पूछता है। मन प्रेमसे परिपूर्ण है और अपनी गति-(चाल, चंचलता, संकल्प, विकल्प-) से खाली हो गया है॥ ७॥ उस समय केवट धीरज धरकर हाथ जोड़कर प्रणाम करके विनती करने लगा॥ ८॥ हे नाथ! मुनिराज वसिष्ठजीके साथ सब माताएँ, पुरवासी, सेवक, सेनापति, मन्त्री सब-के-सब आपके वियोगसे व्याकुल होकर आये हैं॥ २४२॥

नोट—१ ***'भे निसोच उर अपडर बीता'*** इति। (क) जो अपनेसे ही डरे उसके डरको 'अपडर' कहते हैं (पु० रा० कु०)। (ख) श्रीरघुनाथजीको प्रसन्न देखकर डर न गया और यहाँ गया, यह

क्यों? उत्तर—श्रीजानकीजी सब भागवतोंके लिये आचार्यारूपा हैं और केवल आचार्यकी कृपा ही कल्याणका मूल कारण है। वनवासमें भाइयोंकी अपेक्षा इनको बहुत क्लेश हुए होंगे। यह भय रहा होगा (रा० प्र०)। अथवा, मैं ही उनके पति तथा उनके वनवासका कारण हूँ, मेरे ही कारण उन्होंने पतिके साथ वनका कष्ट झेलना स्वीकार किया और दु:ख सह रही हैं, इत्यादि समझकर वे मुझसे अप्रसन्न होंगी, यह आशंका थी।

नोट—२ *'तेहि अवसर केवटु धीरजु धरि……'* इति।—इस प्रसंगमें आदि, मध्य, अन्त तीनोंमें 'केवट' पद कविने अपने वाक्योंमें दिया है। डूबतेको केवट बचाता है। आदिमें प्रभुकी वेदिका आदिका दर्शन 'केवट' ने कराया, यथा—*'तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई॥'*; फिर मध्यमें *'मिलि सपेम रिपुसूदनहि केवटु भेंटेउ राम'* और यहाँ अन्तमें *'तेहि अवसर केवटु धीरजु धरि।'* श्रीरामजीसे मिलनेमें भी—'केवट' से मिलना कहा अर्थात् श्रीरामजीको यही सावधान करेगा। ये तीनों शब्द पूज्य कविके हैं। यह पद आदिमें ही देकर इस भावका सूक्ष्म बीज वहीं बो दिया था। केवट अधीर हो जाय तो नाव डूब ही जाय, उसका धैर्य धारण करना अत्यावश्यक है। डूबतेको बचानेवाला, डूबेको निकालनेवाला केवट ही हो सकता है, यदि धीर हो। अतएव जहाँ सब मग्न हैं वहाँ इसीका धीरज धरकर बोलना कहा। श्रीजनकमहाराजकी सभा भी जब स्नेहमें डूबी तब वहाँपर नदीका ही रूपक दिया है, यथा—*'सुर सिद्ध तापस जोगिजन मुनि देखि दसा बिदेह की। तुलसी न समरथ कोउ जो तरि सकइ सरित सनेह की॥'* (२७६), तब *'धीरज धरिअ नरेस कहेउ बसिष्ठ बिदेह सन'*। यहाँके 'केवट' पदसे भी वैसा ही रूपक समझना चाहिये। यहाँ चारों भाई स्नेहनदीमें डूब रहे हैं, उनको सहारा देकर नदीके पार करना यह काम 'केवट' का है। इतना ही नहीं, सब अवधवासी शोकसिन्धुमें डूबे हैं, उनके शोकको भी दूर करनेका उपाय कर रहा है, इससे भी केवट ही बड़ा उपयुक्त शब्द है।

नोट—३ *'नाथ साथ मुनिनाथ कें……'* इति। सब लोग तो भरतजीके साथ आये हैं पर यहाँ मुनिनाथके साथ आना कह रहे हैं—यह केवटकी चतुरता है, राजा ही तो ठहरा। ऐसा कहनेसे मुनिका नाम सुनते ही प्रभु उस प्रेमसागरसे तुरंत निकल आवेंगे, भरतके प्रेमसे निकलकर माता-परिजन-पुरजन सबको ले आनेके लिये सावधान होंगे, सबके दु:ख दूर करेंगे (पां०)। पुन: वसिष्ठजी इस समय दशरथजीके स्थानपर हैं, अत: यह कहना उचित ही है कि उनके साथ आये हैं। उनके रहते राजकुमारके साथ आना कहना अनुचित था। दूसरे इस समय भरतजी श्रीरामजीके पास चले आये हैं और वे लोग इस समय वसिष्ठजीके साथ हैं ही (पु० रा० कु०)। देखिये गुरु, परिजन, सभी इसे लक्ष्मण-समान मानते आये; यह भी रामजीसे सबको मिलानेमें लक्ष्मणजीका काम कर रहा है।

वि० त्रि०—*'तेहि अवसर……करि'* इति। बड़ी सावधानी रखी गयी है कि चक्रवर्तीजीके देहावसानका समाचार रघुनाथजीको वसिष्ठजीकी अनुपस्थितिमें न लगने पावे। नहीं तो उन्हें सँभालेगा कौन! जब वे सुनेंगे कि मेरे विरहमें चक्रवर्तीजीने प्राण दिया उस समय उन्हें सँभालनेके लिये गुरुजीकी आवश्यकता है और सावधान होते ही कुशल-मंगल पूछनेका अवसर आवेगा। तब क्या कहा जायगा? अत: निषादराज गुरुजीके साथ माताओंके आगमनका समाचार पूरी तरह स्वस्थ होनेके पहले ही निवेदन करता है।

सीलसिंधु सुनि गुर आगवनू। सिय समीप राखे रिपुदवनू॥ १॥
चले सबेग रामु तेहि काला। धीर धरमधुर दीनदयाला॥ २॥
गुरहि देखि सानुज अनुरागे। दंड प्रनाम करन प्रभु लागे॥ ३॥
मुनिबर धाइ लिए उर लाई। प्रेम उमगि भेंटे दोउ भाई॥ ४॥
प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥ ५॥

अर्थ—शीलसमुद्र श्रीरामजीने गुरुका आगमन सुनकर शत्रुघ्नजीको सीताजीके पास रखा॥ १॥ उस समय

धीर, धर्म-धुरन्धर, दीनदयाल रामचन्द्रजी तीव्र गतिसे चल पड़े॥ २॥ गुरुजी को देखकर भाई लक्ष्मणसहित प्रभु श्रीरामजी अनुरागसे भर गये और प्रेमपूर्वक साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम करने लगे॥ ३॥ मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीने दौड़कर उन्हें हृदयसे लगा लिया और प्रेमसे उमगकर दोनों भाइयोंको भेंटा॥ ४॥ प्रेमसे पुलकित होकर केवटने अपना नाम कहकर दूरसे ही दण्डवत् (साष्टांग पड़कर) प्रणाम किया॥ ५॥

नोट—१ ***'सीलसिंधु सुनि''''''चले सबेग''''''धीर धरमधुर'''''' '*** इति। (क) शीलसिन्धु तो हैं ही उसपर भी अब गुरु-आगमन सुना, तब तुरत न लेने जाते यह कैसे हो सकता। अतः ***'चले सबेग'।*** (पु० रा० कु०) (ख) ***'राखे रिपुदवनू'— 'रिपुदवनू'*** हैं अर्थात् शत्रुके नाशक हैं, इससे श्रीसीताजीकी रक्षामें उनको रखा। लक्ष्मणजी अपनी ही तरह सबसे मिलनेको आतुर होंगे और माता-पुरजन आदि सब उनको देखनेको आतुर होंगे; अतः उनको साथ ले जाना जरूरी था। भरतजी बड़े हैं। उनको यहाँ छोड़कर शत्रुघ्नजीको साथ ले जाना अनुचित है। दूसरे भरतको साथ देखकर सबको इनपर रामजीकी अनुकूलता और प्रेम प्रकट हो जायगा।—***'आपन जानि न त्यागिहैं मोहि रघुबीर भरोस'*** का चरितार्थ हो जायगा। कोई महानुभाव ऐसा कहते हैं कि यदि भरतजीको श्रीसीताजीके पास छोड़ते तो पुरजनोंको संदेह होता कि श्रीभरतजीको त्याग तो नहीं दिया।

नोट—२ ***'धीर धरमधुर दीनदयाला'*** इति। वे गुरु हैं तो ये भी धर्म-धुरन्धर हैं, अपने धर्मपर आरूढ़ हैं। भरतके लिये उनके प्रेमसे यह भी प्रेमसे अधीर होकर उठे थे—***'कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा।'*** और गुरुके आगमनमें मर्यादा रखी। भरतके प्रेममें अधीर हो गये थे, अब सावधान हुए, अतः ***'धीर'*** विशेषण दिया। परिजन-प्रजा सभी ***'आए बिकल बियोग',*** उनकी व्याकुलतापर दृष्टि है, सबपर कृपा करने चले, क्योंकि 'दीनदयाल' हैं! (पु० रा० कु०) (ग) शील हृदयकी वह स्थायी स्थिति है जो सदाचारकी प्रेरणा आप-से-आप करती है। कर्तव्य और शीलका वही आचरण सच्चा है जो आनन्दपूर्वक हर्षपुलकके साथ हो। यह सब इस प्रसंगमें देख लीजिये।—***'चले सबेग',*** पुनः, ***'गुरहि देखि सानुज अनुरागे'''''' ।'***

'गुरहि देखि सानुज अनुरागे।''''''लाई' इति। गुरुजनोंके दर्शनोंके तथा प्रणाम आदिमें हर्ष-पुलक आदि होना ही चाहिये। यथा—***''''''''परत गुर पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन ते जग जीवत जाय।'*** (दो० ४२) इन्होंने अपना कर्तव्य और शील-सदाचार पालन किया तो उधर भी तो गुरु 'मुनिश्रेष्ठ' ही हैं उनपर इनका प्रभाव क्यों न पड़े, वे दौड़कर गले लगा लेते हैं। ***'धाइ'*** से जनाया कि कुछ दूर थे। (पु० रा० कु०)

नोट—३ ***'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू।''''' '*** इति। केवट तो इनके साथ ही आया था फिर इनको प्रणाम क्यों किया। वह तो अभी कुछ ही देर हुई भरतजीके साथ गया था और साथ ही लौटा? भरतका प्रणाम करना नहीं पाया जाता इसने क्यों प्रणाम किया? ऐसी शंका लोगोंने की है पर इसका समाधान तो पूज्य कविने शंका उठनेके पूर्व ही कर दिया—***'प्रेम पुलकि।'*** श्रीराम-लक्ष्मणजीके प्रेमको देखकर वह भी प्रेमसे प्रफुल्लित हो गया और भूल गया कि मैं तो भरतजीके साथ आया हूँ। यह भी भूल गया कि मुनि तो नाम जानते ही हैं, पहले ही दर्शनमें नाम बता चुका हूँ। प्रेममें वह सब बातें भूल गया मानो आज ही प्रथम भेंट कर रहा है। दूसरे इस समय हमारे स्वामी ही जब प्रणाम कर रहे हैं तो यह कैसे योग्य है कि हम न प्रणाम करें। तीसरे छोटा बड़ेके पास जब जाय तब प्रणाम करे। इससे बढ़कर सदाचार क्या होगा? वह जातिको विचारकर दूरसे ही प्रणाम करता है पर ऋषि उसके प्रेमको देखकर नेम भूल जाते हैं और अपने हृदयकी उच्चताका परिचय देते हैं।

केवट जाति, क्षत्रिय पुरुष और वेश्या स्त्रीसे उत्पन्न, वर्णसंकर जाति है। यहाँ 'केवट' शब्द जातिकी हीनताका सूचक है। इसीसे ***'कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामू।'*** पुनः, कवि यह भी जनाते हैं कि यही भरतकी स्नेह-सरितासे पार करके रामजीको आप सबसे मिलाने लाया है। डूबनेसे निकाला, अतः वह सबको परमप्रिय हो जायगा।

रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत* सनेह समेटा॥ ६॥
रघुपति भगति सुमंगल मूला। नभ सराहि सुर बरिसहिं फूला॥ ७॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥ ८॥

दो०—जेहि लखि लखनहुँ तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ॥ २४३॥

शब्दार्थ—'**बरबस**'=हठात्, जबरदस्ती (दोनों हाथसे पकड़कर उठाकर), जोरावरीसे 'लुठना' (सं० लुठन)=भूमिपर पड़ा लोटना।

अर्थ—ऋषि वसिष्ठजी रामसखाको जबरदस्ती गले लगाकर मिले। मानो जमीनपर लोटते पड़े हुए प्रेमको समेट (बटोर, एकत्रकर) लिया हो॥ ६॥ रघुपतिभक्ति सुन्दर मंगलोंकी जड़ है, देवता (इस प्रकार) सराहना कर-करके आकाशसे फूल बरसाते हैं॥ ७॥ इसकी तरह निपट नीच कोई नहीं और वसिष्ठके समान संसारमें बड़ा कौन है?॥ ८॥ जिसे देखकर लक्ष्मणजीसे भी अधिक उससे आनन्दित होकर मुनिराज मिले यह श्रीसीतापति रामचन्द्रजीके भजनका प्रत्यक्ष प्रताप और प्रभाव है॥ २४३॥

'रामसखा रिषि बरबस भेंटा..........'

गंगातटपर शृंगवेरपुरमें केवट और मुनिका मिलाप नहीं लिखा। इसका कारण है—एक तो भरतमें उसका दुर्भाव, उसकी कुबुद्धि थी, वह परीक्षा लेने गया था। दूसरे वहाँ वसिष्ठजी रथपर थे। निषादके लिये गुरु और मुनीश्वरका रथसे उतरना लोकवेदरीतिसे नहीं बन पड़ता। वे रामहीके वास्ते रथसे नहीं उतर सकते, ऐसा उनका दर्जा है। वे कुलगुरु हैं, तब निषादके लिये कैसे उतरते? जो कहो कि भरत उतरकर क्यों मिले? तो इनका उतरकर मिलना उचित ही है, न मिलना अनुचित था। यह बड़े भाईका सखा है, सखाका दर्जा बराबरीका है। सखा वह है जो सुख-दु:खमें नायकके समान सुख-दु:खको प्राप्त हो। रामजीके लिये भरतका रथसे उतरना लोकवेद-अनुकूल और शिष्टाचार है, यह श्रीरामजीके बराबरका है, अत: इसके लिये उतरे। प्रसंगसे भी यही बात पुष्ट और सिद्ध है—***'रामसखा सुनि स्यंदनु त्यागा।'*** और वसिष्ठजीने ***'जानि रामप्रिय दीन्हि असीसा।'***

यहाँ वसिष्ठजी रथपर नहीं हैं, पैदल हैं और डेरेपर हैं। वसिष्ठजीको रामजीने प्रणाम किया, तब उन्होंने इन्हें उठाकर छातीसे लगा लिया। वह रामसखा है, रामजीने प्रणाम किया, उसने भी प्रणाम किया। श्रीरामके प्रणाम करनेपर उनको दौड़कर गले लगाया, रामसखाने प्रणाम किया तो उसको भी वैसा ही जानकर, रामसखा जानकर, गले लगाया। इनके लिये 'धाये' तो सखाके लिये ***'बरबस भेंटा'*** पद है। (पु० रा० कु०) (पां०—ऋषि प्रेममें नेमको भूलकर बरबस भेंटने लगे)।

वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि पशु-पक्षीतक मुँह देखकर हृदयका भाव समझ लेते हैं, तब श्रीवसिष्ठजीसे (जो वेदमन्त्रद्रष्टा ऋषि, विवेकसागर और सर्वज्ञ हैं) निषादाधिपति गुहका आन्तरिक भाव कैसे छिप सकता है। गुहका भाव तो उसके ऊपरी व्यवहारहीसे झलक पड़ता है। शृंगवेरपुरमें वह परीक्षार्थ गया था, इसलिये उसने वहाँ व्यावहारिक मर्यादापालनार्थ ही ***'देखि दूरि तें कहि निज नामा। कीन्ह मुनीसहि दंड प्रनामा॥'*** दूरसे दण्ड-प्रणाम करनेसे धर्मकी रक्षा तो हुई, किंतु भीतरसे जो प्रेमका अभाव था उसीसे बाहर शरीरमें पुलकावली नहीं हुई और इसी कारण रविकुलगुरुने रामप्रिय जानते हुए भी व्यावहारिक मर्यादाको सुरक्षित रखनेके लिये आशीर्वादमात्र दिया। प्रेमकी पुलकावली न थी इसीसे हृदयसे न लगाया था और, चित्रकूटमें तो प्रणाम करते समय प्रेम उसके रोम-रोममें भरा था—***'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि ते दंड***

* 'लुटत'—रा० प्र०।

प्रनामू॥' शृंगवेरपुर और चित्रकूटके केवटराजके प्रणाममें ***'प्रेम पुलक'*** के अतिरिक्त अन्य कोई भी विभेद नहीं था; परंतु वह ***'प्रेम पुलक'*** इतनी बड़ी विशेषतासम्पन्न था कि ***'रामसखा रिषि बरबस भेंटा······।'***

'बरबस' का पूर्वार्द्धसे सम्बन्ध है। केवटने दूरसे दण्डवत् की है—***'कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामा।'*** वह तो अपने कुल, जाति, करनी आदिकी न्यूनताके विचारसे दूरसे ही दण्डवत् कर रहा है, ये उठानेको करते हैं, वह हटता है कि मैं इनके छूनेके योग्य नहीं, वह लज्जित है कि कहाँ मैं और कहाँ ऋषि*। आखिर उन्हें जोर लगाना ही पड़ता है, वह अपनेको नीच भले ही माने, पर है तो रामसखा, उसे कैसे जमीनपरसे न उठायें? अतः ***'बरबस'*** कहा—(शिला—बरबससे जनाया कि उसको अपना नीचत्व विचारकर रुचि नहीं है कि वे मुझे छुएँ)।—विशेष १९३ (५—८) देखिये। इसीकी उत्प्रेक्षा करते हैं कि ऐसा जान पड़ता है मानो केवट नहीं है साक्षात् स्नेह ही है जो जमीनपर लोट रहा है। स्नेह चिकनाईको भी कहते हैं और वह होता ही है स्निग्ध; चिकनी वस्तु हाथमें जल्दी नहीं आती, हाथसे निकल जाती है, वैसे ही केवट हाथमें नहीं आता। समेटनेसे उसका संकुचित होना भी जनाया। इसीसे समेटना कहा, अर्थात् दोनों हाथ लगाकर उठा लिया। ***'लुठत'*** से जनाया कि वह बराबर हटाता गया। दण्डवत्का नियम यही है कि आशीर्वाद मिले, या कुछ इशारा उठानेका मिले तब उठना चाहिये। शृंगवेरपुरमें तुरत आशीर्वाद मिला था, यहाँ अभी आशीर्वाद नहीं मिला।

कुछ लोगोंका मत है कि शृंगवेरपुरमें भरतजीके मिलनेपर देवताओंने जो वचन उस समय कहे थे ***'यहि तौ राम लाइ उर लीन्हा॥ कुल समेत जग पावन कीन्हा॥ करमनास जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धरई॥'*** (१९४। ६-७), एक प्रकारसे वसिष्ठजीने उन वचनोंको अपने ऊपर कटाक्ष समझकर पश्चात्ताप किया। अतः उस अवसरपर चूके हुए उन्होंने यह अवसर उस खामीकी पूर्तिके लिये गनीमत समझा।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी ***'महि लुठत सनेह समेटा'*** का भाव यह कहते हैं मुनिजीने उसे भलीभाँति दण्डवत् भी नहीं करने दिया। जैसे कोई घी या तेलको जमीनपर फैलने न दे और समेट ले, इसी भाँति मुनिजीने उठाकर गले लगाया। भाव यह कि जो रामजीका ऐसा प्रेमी है उसे जमीनपर गिरने नहीं देना चाहिये।

नोट—१ ***'जेहि लखि लषनहुँ तें अधिक······'*** इति। जबतक श्रीरामजीसे भेंट न हुई तबतक सब लक्ष्मणके समान मानते रहे। यथा—***'जानि लषन सम देहिं असीसा।'*** (माताएँ), ***'निरखि निषाद नगर नर नारी। भए सुखी जनु लषनु निहारी॥'*** (पुरवासी), ***'जानि रामप्रिय दीन्हि असीसा।'*** (वसिष्ठजी) ***'रामप्रिय'*** से लक्ष्मणसमान प्रिय अर्थका ग्रहण होगा, क्योंकि वहाँ सबने लक्ष्मणसमान ही माना है। अब जब लक्ष्मणजीसे भेंट हुई और रामजीसे भी, तब इसको सखा जानकर रामके बराबरका माना, श्रीलक्ष्मणजीसे अधिक माना। अतः 'अधिक आनन्द' कहा।

नोट—२ ***'सो सीतापति भजन को प्रगट······'*** इति।—***'सीतापति'*** का भाव कि जो 'उद्भव-स्थिति-संहारकारिणी, क्लेशहारिणी, सर्वश्रेयस्करी' हैं और ***'लोकप होहिं बिलोकत जाके'*** अतएव ***'जाकी कृपा कटाक्ष सुर चाहत चितवन सोइ'*** उन श्रीसीताजीके ये स्वामी हैं, तो इनका जो भजन करेगा उसका सर्वथा मंगल, कल्याण क्यों न होगा? उसका इतना बड़ा मान्य क्यों न होगा? प्रताप यह कि वसिष्ठजी बरबस भेंटे और प्रभाव कि वह पवित्र हो गया। (पु० रा० कु०) स्मरण रहे कि 'सीतापति' 'सीतानाथ'

---

* समाज चाहे किसी ढंगका हो, उसमें छोटे काम करनेवाले तथा अपनी स्थितिके अनुसार अल्प विद्या, बुद्धि, शील और शक्ति रखनेवाले कुछ-न-कुछ रहेंगे ही। ऊँची स्थितिवालोंके लिये जिस प्रकार इन छोटी स्थितिके लोगोंकी रक्षा और सहायता करना तथा उनके साथ कोमल व्यवहार करना आवश्यक है, उसी प्रकार इन छोटी स्थितिवालोंके लिये बड़ी स्थितिवालोंके प्रति आदर और सम्मान प्रदर्शित करना भी आवश्यक है। नीची श्रेणीके लोग यदि अहंकारसे उन्मत्त होकर ऊँची श्रेणीके लोगोंका अपमान करनेपर उद्यत हों, तो व्यावहारिक दृष्टिसे उच्चता किसी कामकी न रह जाय। विद्या, बुद्धि, बल, पराक्रम, शील और वैभव यदि अकारण अपमानसे कुछ अधिक रक्षा न कर सकें तो उनका सामाजिक मूल्य कुछ नहीं—(पं० रामचन्द्र शुक्लजी, ना० प्र०)।

आदि शब्दोंका प्रयोग प्राय: वहीं होता है जहाँ श्रीरघुनाथजीका अधिक महत्त्व, परत्व, प्रभाव, प्रताप आदि दिखाने होते हैं। उदाहरण—*'साहिब सीतानाथ सों सेवक तुलसीदास।'* (१। २८), *'सीतापति से साहिबहि कैसे दीजै पीठि।'* (दो० ४९) *'कृपिन देइ पाइय परो बिनु साधे सिधि होइ। सीतापति सनमुख समुझि जो कीजै सुभ सोइ॥'* (दो० १७१) *'सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु सय सरिस सुहाई॥'* (२६६।१) इत्यादि; तथा यहाँ *'सो सीतापति भजन को······।'*

नोट—३ *'भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ'* इति। भाव कि यह श्रीसीतापतिके भजनका ही प्रभाव है, उसीका प्रताप है कि रघुकुलगुरु वसिष्ठ ऐसे बड़े ब्रह्मर्षि उसे रामसमान परमपवित्र मानकर मिले। श्रीमद्भागवत स्कन्ध ७ अ० ९ में प्रह्लादजी (नृसिंहजीकी स्तुतिमें) कहते हैं—'**ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः सत्त्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः। नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः॥ मन्ये धनाभिजनरूपतपः श्रुतौजस्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः। नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय॥ विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्। मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥ ८—१०॥**'

अर्थात् ब्रह्मा आदि देववृन्द मुनि सिद्ध आदि जिनकी बुद्धि सत्त्वमयी है वे भी जिनकी स्तुति न कर सके, वे मुझ ऐसे उग्रजातिवालेकी स्तुतिसे कैसे रीझ सकते हैं? पर मेरा विश्वास है कि धन, उत्तम कुल, रूप, तप, पाण्डित्य, तेजका प्रभाव, बल-पौरुष, बुद्धिमत्ता, योग आदि परपुरुषके आराधनाके योग्य सामग्री नहीं हैं—वे भगवान् तो सर्वगुणहीन गजराजपर भक्तिसे ही रीझे थे। सर्वगुणसम्पन्न ब्राह्मण भी यदि भगवच्चरणारविन्दसे विमुख हो तो उससे मैं उस श्वपचको श्रेष्ठ समझता हूँ जिसका मन-वचन-कर्म-प्राण एवं सर्वस्व ही भगवान्‌को समर्पित है। क्योंकि वह चाण्डाल कुलभरको पवित्र कर देता है और वह बहुमानशाली यह नहीं कर सकता। प्रभु अपने ही लाभसे पूर्ण एवं करुणानिधान हैं। वे अज्ञ पुरुषोंसे अपनी पूजाकी कामना नहीं रखते······॥ ११॥

र० ब०—१ यहाँ गोस्वामीजीने केवटका वर्णन विशेषतया द्योतित किया केवल भक्तिके माहात्म्यबृद्ध्यर्थ।

२—इस प्रसंगभरमें (दोहा २३६ से लेकर आगेतक और अन्यत्र भी चित्रकूट प्रसंगमें) श्रीसीताजीका नाम प्रधानतया निर्दिष्ट है। इसका कारण ही है कि—यह चित्रकूट-वर्णन-प्रसंग किंच देवीभागवतमें लिखा है कि चित्रकूटमें सीताजी वास करती हैं, यथा—'**गायत्री वेदवदने पार्वती शिवसन्निधौ। चित्रकूटे तथा सीता विन्ध्ये विन्ध्याधिवासिनी॥**' इसी बातको विशेषतया प्रकट करने लिये गोस्वामीजीने चित्रकूटमें प्रधानतासे सीताजीका वर्णन किया है।

आरत लोग राम सबु जाना। करुनाकर सुजान भगवाना॥ १॥
जो जेहि भायँ रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी॥ २॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्हि दूरि दुखु दारुन दाहू॥ ३॥
यहि बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—'**भाय**'=भावना, भाव, मनमें किसी प्रकारका चिन्तन करना, विचार। **रुख**=रुचि, इच्छा **छाहीं**=प्रतिबिम्ब, पदार्थोंका आकार जो शीशे, जल आदिमें दिखायी पड़ता है।

अर्थ—करुणाकी खानि, सुजान, भगवान् रामजीने सब लोगोंको दु:खी जाना॥ १॥ जो-जो जिस-जिस भावसे मिलनेका अभिलाषी था, उस-उसकी उसी-उसी प्रकार रुचि रखी॥ २॥ भाईसहित पलभरमें सब किसीसे मिलकर दु:ख और दु:खजनित कठिन जलनको मिटा दिया॥ ३॥ श्रीरामजीकी यह कोई बड़ी बात नहीं है। जैसे करोड़ों (जलसे भरे हुए) घड़ोंमें एक ही सूर्यका प्रतिबिम्ब (देख पड़ता है)॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'आरत लोग राम सबु जाना।······'* इति। 'राम' हैं, सबमें रमण करते हैं, अत: 'जाना'। ये करुणाकर हैं और वे सब आर्त हैं, दु:ख देखकर दया आयी, यथा—*'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि*

पाइअहि पीर पराई।' (८५।२) दया हो, पर शरणागतके जीकी न जाने तो भी क्या करेगा, यथार्थ उपाय नहीं कर सकेगा; अतः ***'सुजान'*** कहा। पुनः, दया भी हो और दुःख और भाव एवं अभिलाषाको जाने भी, पर सामर्थ्य न हो तो भी सब व्यर्थ ही है; अतः कहा कि ये 'भगवान्' हैं, षडैश्वर्ययुक्त हैं, 'कर्तुमकर्तुम्' को भी समर्थ हैं, इसीसे दुःख जाना, दया की, उनकी अभिलाषाएँ और भावनाएँ जानीं और उनको पूरी कीं। और तुरत ही क्षणमात्रमें।

२—***'जेहि भायँ रहा अभिलाषी'*** अर्थात् शिष्यभाव, यजमानभाव, पुत्रभाव, भ्रातृभाव, सखाभाव, राजाभाव, इत्यादि ***'जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥'*** (१।२४१) सबकी रुचि पूर्ण हुई [जिसकी जिस भावमें अभिलाषा रही उसकी उसी प्रकार रुचि पूरी की, दूसरा रूप नहीं धरा। क्योंकि विशेष उदासी (वेशमें) हैं। जब १४ वर्ष बीत जायँगे तब श्रीअवधमें अमितरूप प्रकट करना कहेंगे। यहाँ छायामात्र सबकी दृष्टिमें रूपका ही बोध हुआ। इसीसे ***'घट कोटि एक रबि छाहीं'*** का उदाहरण दिया। (शीला)

टिप्पणी—३ (क) ***'येहि बड़ि बात राम कै नाहीं'*** इति। भाव कि ये राम हैं, रमणशील हैं, सबमें रमण कर रहे हैं। अतएव पलभरमें सबसे मिल लिये तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। (ख) ***'जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं'*** इति। भाव कि जैसे जलसे भरे हुए करोड़ों घड़ोंमें एक ही सूर्यका प्रतिबिम्ब रहता है वैसे ही एक 'श्रीरामजी ही समस्त प्राणियोंके भीतर स्थित हैं। जो जहाँ है वहीं उसको वे देख पड़े। यथा—'**यथानेकेषु कुम्भेषु रविरेकोऽपि दृश्यते', एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥** (१२) **घटवद्विविधाकारम्**......॥' (१४)॥ (ब्रह्मबिन्दूपनिषद्) अर्थात् जैसे अनेकों घड़ोंमें एक ही सूर्य दिखायी पड़ता है। सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तर्यामी आत्मा प्रत्येक प्राणीके भीतर स्थित है। पृथक्-पृथक् जलमें प्रतिबिम्बित होनेवाले चन्द्रमाकी भाँति वही एक और अनेक रूपोंमें दृष्टिगोचर होता है। जीवोंका यह शरीर घटके ही सदृश है। जैसा वेद कहते हैं '**नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये**', वही बात यहाँ कही है। यहाँ श्रीरामजी रवि हैं और जीवोंके भाव घट हैं। अनेक रूप सूर्यकी 'छाहीं' हैं।

वि० त्रि०—कोटि घटसे सूर्यका मिलना प्रतिबिम्बद्वारा होता है। प्रतिबिम्ब सूर्यका ही रूप है। दूसरेके लिये यह क्रिया असाध्य है, पर रामजीके लिये यह बड़ी बात नहीं है, एक कौतुक है, यथा—***'प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपालु खरारी॥ अमित रूप प्रगटे तेहि काला। यथा योग मिलि सबहिं कृपाला॥'*** यहाँ आर्त लोगोंसे मिलना है, इसलिये 'कौतुक' शब्द नहीं कहा गया, पर बात वही है। अमित रूप जो अपना प्रकट किया, वह सब प्रतिबिम्ब ही था, प्रकट करनेवाला मुख्य रूप अलग ही था।

नोट—इस प्रसंगका मिलान उत्तरकाण्डमें रावणवधपर अयोध्या लौटकर आनेके प्रसंगसे कीजिये यथा—***'प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥ अमित रूप प्रकटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥ कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नर नारि बिसोकी॥ छन महँ सबहि मिले भगवाना। उमा मरमु यह काहु न जाना॥ एहि बिधि सबहि सुखी करि रामा।'*** (७।६।४—८)

जैसे वहाँ ***'प्रेमातुर' 'निहारी'*** वैसे ही यहाँ ***'आरत' 'जाना'***। वहाँ ***'जथा जोग मिले'*** यहाँ, ***'जो जेहि भाय रहा......तेहि तेहि कै तसि।'*** वहाँ ***'छन महँ सबहि मिले',*** यहाँ भी ***'मिलि पल महुँ सब काहू।'*** जैसे वहाँ ***'अमित रूप प्रगटे तेहि काला। उमा मरम यह काहु न जाना॥'*** वैसे ही यहाँ ***'येहि बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाँहीं॥'***वहाँ ***'किये सकल नर नारि बिसोकी'*** यहाँ ***'कीन्हि दूर दुखु दारुन दाहू।'*** वहाँ ***'कृपालु खरारी भगवान',*** यहाँ ***'करुनाकर सुजान भगवाना।'***

दोनोंके मिलानसे भी पता चला कि आतुर या आर्त देखकर कृपा की; अमित रूपसे प्रकट हो गये, सबके दुःख दूर किये। इन सबके साथ 'कृपा' पद है। पलभरमें मिले किसीको भेद न मालूम हुआ इस सम्बन्धमें 'भगवान' विशेषण आया है। वहाँ 'कौतुक' शब्द है इससे वहाँ 'खरारी' भी कहा, क्योंकि खरके वधमें कौतुक किया था, यथा—***'सुर मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक करेउ।'*** (आ० २०)

यहाँ 'कौतुक' शब्द नहीं है, इसीसे 'खरारी' नहीं कहा। यहाँ उसकी जगह 'सुजान' कहा, सबके प्रेमको पहचानते हैं—*'जानत प्रीति रीति रघुराई।'* यहाँ प्रीतिकी पहचान है भी—*'जो जेहि भाय रहा अभिलाषी।'* रूप वैसा ही और भाव अनेक धारण किये। खर-वधमें एक-सा रूप और भाव था—*'देखहिं परस्पर राम।'* (आ० २०) अर्थात् धनुर्धारी शत्रुरूप राम ही सबको देख पड़े।

मिलि केवटहि उमगि अनुरागा। पुरजन सकल सराहहिं भागा॥ ५॥
देखीं राम दुखित महतारीं। जनु सुबेलि अवली हिम मारीं॥ ६॥
प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥ ७॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥ ८॥

दो०—भेंटी रघुबर मातु सब करि प्रबोधु परितोषु।
अंबु ईस आधीन जगु काहु न देइअ दोषु॥ २४४॥

शब्दार्थ—**भेई**-भँवना, भेना=भिगोना, तर करना, सराबोर करना, यथा—*'लुचई पोइ पोइ घी भेईं। पाछे चहनि खाँड सों जेईं'*— (जायसी), *'सिरका भेइ काढ़ि जनु आने। कमल जो भये रहहिं बिकसाने।'* **प्रबोध**=आश्वासन, सान्त्वना; पूर्ण बोध, दिलासा तसल्ली, ढाढ़स।

अर्थ—अनुरागसे उमड़कर केवटसे मिलकर सब पुरवासी भाग्यकी सराहना करते हैं॥ ५॥ रामजीने दुःखी माताओंको देखा। (वे ऐसी दीखती हैं) मानो पाला मारी हुई सुन्दर लताओंकी पंक्ति हों!॥ ६॥ श्रीरामजी सबसे प्रथम कैकेयीसे मिले, अपने सरल स्वभाव और स्वाभाविक भक्तिसे उसकी बुद्धिको सराबोर कर दी (वा भक्तिसे भीगी हुई बुद्धिसे उससे मिले)॥ ७॥ पैरों पड़कर फिर काल, कर्म, विधिके सिर दोष रखकर (अर्थात् आपका कुछ दोष नहीं, ऐसा होना ही था) उनको अच्छी प्रकार ढाढ़स दिया॥ ८॥ श्रीरघुनाथजी सब माताओंसे मिले, सबको समझाकर सन्तुष्ट किया कि हे माता, संसार ईश्वरके अधीन है, किसीको दोष न देना चाहिये॥ २४४॥

नोट—१ *'मिलि केवटहि उमगि अनुरागा।'* इति। सब पुरजन उसके भाग्यको सराहते हैं। (पु० रा० कु०) ऐसा ही शृंगवेरपुरमें हुआ, यथा—*'कहहिं लहेउ एहि जीवन लाहू। भेंटेउ रामभद्र भरि बाहू॥ सुनि निषाद निज भाग बड़ाई।'* (१९६। ७-८) [पर वहाँ *'निरखि निषाद नगर नरनारी। भये सुखी जनु लषनु निहारी॥'* वहाँ पुरवासियोंने इससे भेंट न की थी और यहाँ तो गुरु वसिष्ठने सबके लिये राह खोल दी। इस समय उससे मिलकर यदि वे अपने भाग्यको बड़ा मानें तो बड़ी बात नहीं। उससे मिलकर उसका भाग्य सराहना कुछ अधिक प्रशंसा उसकी नहीं है।] (ख) ऐसा भी कुछ लोगोंका मत है कि यह मिलना रामजीका है, केवट नहीं मिला, रामजी उससे स्वयं उसका मान बढ़ानेके लिये मिले। इससे सब जानेंगे कि वह रामको कैसा प्रिय है।

नोट—२ *'देखीं राम दुखित महतारीं।……'* इति। (क) भरतजी जब अयोध्यामें आकर माता कौसल्याके पास गये थे तब उन्होंने उनको इस दशामें देखा था—*'मलिन बसन बिबरन बिकल कृस सरीर दुख भार। कनक कलप बर बेलि बन मानहुँ हनी तुषार॥'* (१६३) यहाँ *'मारीं'* बहुवचन क्रियासे सभी माताओंकी वैसी ही दशा जनायी। *'अवली'* भी यही सूचित करता है। सब माताएँ साथ रही होंगी। इसीसे *'अवली'* शब्द दिया। चित्रकूटके लिये प्रस्थान करनेके लिये जब श्रीभरतजी माता कौसल्याके पास गये तब भी वहीं अन्य माताओंको उनके पास देखा था, यह *'राममातु पहिं भरतु सिधारे। आरत जननी जानि सब भरत सनेह सुजान॥……'* (१८६) से अनुमानित होता है। (ख) यहाँ उपर्युक्त प्रमाणानुसार *'सुबेलि'*=कल्प बर बेलि, सुन्दर कल्पलता। पं० रामकुमारजीका मत है कि *'सुबेलि अवली'* से पानकी लता ले सकते हैं जो बड़ी कोमल होती है और जिसकी बड़ी हिफाजत (रक्षा) करनी पड़ती है। (ग) *'हिम मारीं'* में वही भाव है जो *'हनी तुषार'* में है दोहा १६३ देखिये।

नोट—३ ***'प्रथम राम······खोरी'*** इति। यद्यपि सब माताएँ दुःखित थीं, पर सब दुःखोंका कारण अपनेको जानकर कैकेयीजी अधिक दुःखित थीं, अतः पहले सरकार उन्हींसे मिले। सरकारमें किसी प्रकारका विकार नहीं है। सरल स्वभाव मातृभक्तिके भावसे आर्द्र हो रहा था। कैकेयी रोने लगीं, तो सरकारने काल-कर्म-विधिके ऊपर दोष रखकर उसे समझाया ***'जननी जनि होय दुखी जियमें करनी बिधिकी कछु जात न जानी। सब नाचत कर्मकी डोरी बँधे जग कोउ नहीं अपने बस प्रानी॥ मति हू तस होत समय जस होत, बृथा मनमें नर मानत ग्लानी। सपनो सो सबै अपनो न कछू जिय जानि कै हानि न मानत ज्ञानी॥'*** माताएँ जब उन्हें दोष देने लगीं तो उन्हें भी समझाया कि ***'अंब ईस आधीन जग काहु न देइअ दोष।'*** (वि० त्रि०)

टिप्पणी—१-पु० रा० कु०—***'सरल सुभायँ भगति मति भेई'*** इति।—सरल=सौम्य। ***'भगति मति'***=मातृसम्बन्धी भक्ति अर्थात् इस भावसे कि हम पुत्र हैं, यह माता है। भाव कि रामजी सरल स्वभाव हैं और मातृभक्तिरसमें उनकी मति भीगी हुई है। (पु० रा० कु०) श्रीरामजी जन्मसे ही कैकेयीको सरल स्वभावसे माता मानते थे यह बात कौसल्याजीने स्वयं कही है। यथा—***'तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी काय मन बानी हू न जानी कै मतेई है।'*** (क० २। ३) वैसे ही उसी सरल भाव-भक्तिसे मिले।

टिप्पणी—२ ***'काल करम बिधि सिर धरि खोरी।'*** तीनका दोष कहा। ज्योतिषी काल कहते हैं, मीमांसक उसे कर्म कहते हैं और '**पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।**' इससे तीन नाम दिये। पुनः, कालका फेर कि तिलककी तैयारी की और कैकेयीसे मिलने गये, सोचे न, वचनबद्ध हो गये। कर्म यह कि कबका वर पड़ा था, इसी समय दासीको समझानेको था? इसी समय माँगना और देना था। वा अन्धशाप कर्मवश यह हुआ।* (ख) कुछ लोग यह ध्वनि निकालते हैं कि 'अपने सिर दोष ले लिया' अर्थात् हमारी ही इच्छा थी।

टिप्पणी—३ ***'भेंटी रघुबर मातु सब·····'*** इति। 'काल करम' को दीपदेहली न्यायसे यहाँ भी लगा लें तो इनको इस प्रकारसे समझाना हुआ और फिर अन्तमें मुख्य सिद्धात कहा कि—सारा जगत् ईशके अधीन है जो नियन्ता है वही सब करता है, कर्म आदि भी कहनेको हैं। यथा—***'माया जीव कालके करमके स्वभावके करैया राम वेद कहें साँची मन गुनिये।'*** (बाहुक) [रा० प्र०—ध्वनि यह है कि हमको ऐसा करना ही था।]

'ईस आधीन जगु' इति। यहाँ 'ईश'=ईश्वर, परमात्मा, सबका नियामक। सब जगत् ईश्वरके अधीन है। किस तरह अधीन है यह गीतामें भगवान्ने स्वयं कहा है—'**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥**' (१८। ६१) ईश्वर समस्त प्राणियोंके हृदयदेशमें अर्थात् सम्पूर्ण प्रवृत्ति-निवृत्तियोंके मूलमें ज्ञानके उत्पत्तिस्थानमें रहता है। यन्त्रपर आरूढ़ हुए सब प्राणियोंको मायासे घुमाता रहता है अर्थात् अपने ही द्वारा बनाये हुए शरीर-इन्द्रिय आदिके रूपमें स्थित प्रकृतिरूप यन्त्रपर आरूढ़ हुए समस्त प्राणियोंको अपनी सत्त्वादि गुणमयी मायासे गुणोंके अनुसार चलाता रहता है।

यही बात गीता (१५। १५) '**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।**' तथा '**मत्तः सर्वं प्रवर्तते।**' (गीता १०। ८) में कही है। अर्थात् मैं ही सबके हृदयमें प्रविष्ट हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (ज्ञानकी निवृत्ति) होता है। सब मुझसे ही प्रवृत्त किये जाते हैं। '**अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।**' (तै० आ० ३। ११)। '**य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमयति।**' (बृह० उ० ३। ७। २२)' आदि श्रुतियाँ भी प्रमाण हैं।

गुरतियपद बंदे दुहुँ भाईं। सहित बिप्रतिय जे सँग आईं॥ १॥
गंग गौरि सम सब सनमानीं। देहिं असीस मुदित मृदु बानीं॥ २॥

---

* पां०—दूसरा अर्थ यह है कि 'परमबोधकर' अर्थात् अपना स्वरूप दिखाकर। कालकर्म बिधि (=काल पाकर जो कर्मका विधान हो गया उसका) दोष अपने सिर लिया। 'अंब ईस'=गौरीशंकर।

गहि पद लगे सुमित्रा अंका। जनु भेंटी संपति अति रंका॥ ३॥
पुनि जननी चरननि दोउ भ्राता। परे पेम ब्याकुल सब गाता॥ ४॥
अति अनुराग अंब उर लाए। नयन सनेह सलिल अन्हवाए॥ ५॥

शब्दार्थ—**गौरी**=गौरी, पार्वती, तुलसी—***'गंगा गौरी शालिग्राम।'***

अर्थ—दोनों भाइयोंने ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ जो साथ आयी थीं उनके सहित गुरुपत्नीके चरणोंको प्रणाम किया॥ १॥ सबका गंगा-गौरी समान सम्मान किया। सब प्रसन्न होकर कोमल वाणीसे आशीर्वाद दे रही हैं। (सुमित्राजीके) चरण पकड़कर पैर लगकर अर्थात् प्रणाम करके दोनों सुमित्राजीकी गोदसे जा लगे, मानो अत्यन्त दरिद्रको सम्पत्तिसे भेंट हो गयी। (वा, सम्पत्तिको ही भेंटा हो)॥ २-३॥ फिर दोनों भाई माता कौसल्याके चरणोंमें पड़े, सब अंग प्रेमसे व्याकुल हो गये हैं॥ ४॥ बड़े ही अनुरागसे माताने हृदयसे लगा लिया और नेत्रोंके प्रेमजल ले उन्हें नहला दिया॥ ५॥

वि० त्रि०—***'गंग गौरि······मृदु बानीं'*** इति। ब्रह्मकुल शंकररूप है, यथा—**'मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघनध्वान्तापहं तापहम्। मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ स्वःसम्भवं शंकरं वन्दे ब्रह्मकुलं कलंकशमनं श्रीरामभूपप्रियम्॥'** शंकर भगवान्‌की दो शक्तियाँ हैं, उमा और गंगा, यथा—**'यस्याङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके'**, अतः गुरुतिय और विप्रतियका सम्मान गंगा और गौरीकी भाँति सरकारने किया।

प० प० प्र०—जो विधवा हैं वे गंगाके समान हैं। महाराष्ट्रमें उनको 'गंगा भागीरथी' ही लिखते हैं (जैसे पुरुषोंको श्रीयुत, महाशय आदि) और सौभाग्यवती स्त्रियोंको गौरी-सम सम्मान किया।

वीर—विप्रतिय उपमेय, गंगा गौरि उपमान, समवाचक और जानना धर्म 'पूर्णोपमा अलंकार' है।

नोट—१ ***'गहि पद लगे सुमित्रा अंका······'*** इति। सुमित्राजीकी गोदमें ऐसे जा चिपटे मानो अति दरिद्रको सम्पत्ति मिल गयी हो। जैसे वह उस सम्पत्तिको चिपटे वैसे ये चिपटे। श्रीसुमित्राजी परम भक्ता हैं, अतः उनसे मिलनेमें ऐसा आनन्द हुआ ही चाहे। इसी तरह गुप्त तापससे मिलनेपर ***'राम सप्रेम पुलक उर लावा। परम रंक जनु पारस पावा॥'*** (१११। १) कहा है। यहाँ श्रीराम-लक्ष्मणजी 'अति रंक' हैं और श्रीसुमित्राजी 'सम्पत्ति' हैं। बैजनाथजीका मत है कि सुमित्राजीने दोनोंको हृदयसे लगा लिया। उन्हींकी प्रसन्नता उत्प्रेक्षाका विषय है। अर्थात् सुमित्राजी अति रंक हैं और दोनों भाई सम्पत्ति हैं। पर मेरी समझमें श्रीसुमित्राजी सम्पत्ति हैं। ***'लगे'*** का कर्ता ***'रामलक्ष्मण दोउ भाई'*** है। सुमित्राका अंक (गोद) सम्पत्ति है। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

नोट—२ ***'पुनि जननी चरननि······'*** इति। यहाँ 'जननी' का अर्थ माता है। माता कौसल्याके चरणोंमें पड़ गये। माता कौसल्या बहुत दुःखी और व्याकुल हैं। यथा—***'मलिन बसन बिबरन बिकल कृस सरीर दुखभार।'*** (१६३) अतः दोनों भाई भी ***'परे प्रेम ब्याकुल सब गाता।'*** **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** यहाँ भी चरितार्थ हुआ। वात्सल्य उमड़ आया, माताने तुरत उठाकर छातीसे लगा लिया, प्रेमाश्रुकी धारा बह चली। यहाँ माताने हृदयसे लगाया और श्रीसुमित्राजीके अंकमें स्वयं जा लगे थे।

नोट—३ सबसे पीछे प्रभु श्रीसुमित्राजी और कौसल्याजीसे मिले। कारण यह कि इन्हें अलौकिक ज्ञान है। पीछे मिलनेसे इनको कष्ट न होगा और अन्य सब माताएँ पुत्र और पति दोनोंसे हीन हैं उनको बहुत कष्ट है, उनसे पहले मिलनेसे उनको बड़ा सन्तोष होगा कि ये हमारे ही पुत्र हैं, कौसल्या मातासे भी हमें अधिक मानते हैं। दूसरे, शास्त्राज्ञानुसार विमाताका गौरव अपनी मातासे बहुत अधिक है, यह पूर्व दिखा आये हैं।

नोट—४ पु० रा० कु०, रा० प्र०—आवरण देवताओंका पूजन करके प्रधानका पूजन होता है।—विशेष २५२ (७) में देखिये।

तेहि अवसर कर हरष बिषादू। किमि कबि कहइ मूक जिमि स्वादू॥ ६॥
मिलि जननिहि सानुज रघुराऊ। गुर सन कहेउ कि धारिअ पाऊ॥ ७॥
पुरजन पाइ मुनीस नियोगू। जल थल तकि तकि उतरेउ लोगू॥ ८॥

दो०—महिसुर मंत्री मातु गुर गनें लोग लिए साथ।
पावन आश्रम गवनु किय भरत लषन रघुनाथ॥ २४५॥

शब्दार्थ—**धारिअ पाऊ**=पदार्पण कीजिये, पधारिये, चलिये। **धारना**=धरना, रखना, यथा—***'धन्य भूमि बन पंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाँव तुम्ह धारा॥'*** 'पाँव धरना मुहावरा है—'किसी स्थानपर जाना'। **उतरे**=डेरा डाला। **गने**=गिनेगिनाये, इने-गिने, गिनतीके अर्थात् बहुत थोड़े—(यह मुहावरा है)। वा, चुने हुए कुछ लोग। **थल**=ठहरने टिकनेका स्थान, यथा—***'चले थलहि सिय देखी आईं।'*** (२८६। ३) ***'बेगि पाउ धारिअ थलहि।'*** (२८४) **नियोग**=आदेश, आज्ञा।

अर्थ—उस समयका हर्ष और शोक कवि कैसे कहे जैसे गूँगा वस्तुका स्वाद कैसे बतावे?॥ ६॥ श्रीरघुनाथजीने भाईसहित मातासे मिलकर गुरुसे कहा कि आश्रमपर चलिए॥ ७॥ गुरुकी आज्ञा पाकर पुरवासियोंने जल-थलका सुपास देख-देखकर डेरा डाला॥ ८॥ ब्राह्मण, मन्त्री, माता, गुरु आदि गिने-गिनाये लोगोंको साथ लिये हुए श्रीभरत-लक्ष्मण-रघुनाथजी पवित्र आश्रमको चले॥ २४५॥

नोट—१ ***'हरष बिषादू'***— मिलनेका हर्ष और उदासीवेष, रामवियोगका भय, इनके प्रेममें राजाकी मृत्यु इत्यादिके स्मरणसे विषाद। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीने भोगोंका त्याग कर दिया है यह देखकर माताएँ दु:खी हुईं—**तं भोगैः सम्परित्यक्तं रामं सम्प्रेक्ष्य मातरः। आर्त्ता मुमुचुरश्रूणि सस्वरं शोककर्शिताः॥'** (२। १०४। १७) दोनों भावोंका एक साथ उदय होना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है।

नोट—२ ***'मूक जिमि स्वादू'***—जैसे गूँगा उत्तम-उत्तम पदार्थ खाये, पर स्वाद नहीं बता सकता, चाहता है कि बतावे पर बोल नहीं सकता, स्वाद जानता है पर कह नहीं सकता। पुन: भाव कि जैसे गूँगेका स्वाद दूसरा क्या जाने और वह गूँगा है, अनुभव करता है पर बता ही नहीं सकता तब कोई कैसे कहे? हर्ष-शोक ऐसा है कि वे अवाक् हो गयी हैं, दूसरा उसका अन्दाजा कर नहीं सकता, जैसा वे अनुभव कर रही हैं, वह उन्हींका हृदय जानता है, कवि उसका अनुभव भी नहीं कर सकता। मिलान कीजिये=***'नैनहिं ढरहिं मोति औ मूँगा। जस गुर खाय रहा ह्वै गूँगा॥'***— (जायसी), ***'ज्यों गूँगा गुर खाइ कै स्वाद न सकइ बखान।'*** गूँगेका गुड़, गूँगेका स्वाद—ये मुहावरे हैं। इनका अर्थ है—'ऐसी बात जिसका अनुभव हो पर वर्णन न हो सके; ऐसी बात जो कहते न बने'। यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है।

पु० रा० कु०—***'जल थल तकि तकि'***— जगह तजबीजकर जलका सुपास देखकर। अपने-अपने योग्य स्थानोंमें सब ठहरें। अर्थात् ***'उत्तम मध्यम नीच लघु निज निज थल अनुहार'*** ठहरें। इसमें कोई विषमता नहीं क्योंकि श्रीरामजी सबसे उसकी-उसकी रुचि अनुकूल मिल चुके, अब अधिकारके अनुसार ठहरेंगे। आश्रमपर सब भीड़ समा नहीं सकती, दूसरे वहाँ मुनिसमाज भी है, उन सबको कष्ट होगा।

सीय आइ मुनिबर पग लागी। उचित असीस लही मन माँगी॥ १॥
गुरपतिनिहि मुनितियन्ह समेता। मिली पेमु कहि जाइ न जेता॥ २॥
बंदि बंदि पग सिय सबही के। आसिर बचन लहे प्रिय जी के॥ ३॥
सासु सकल जब सीय निहारीं। मूँदे नयन सहमि सुकुमारीं॥ ४॥
परी बधिक बस मनहु मराली। काह कीन्ह करतार कुचाली॥ ५॥
तिन्ह सिय निरखि निपट दुख पावा। सो सब सहिअ जो दैउ सहावा॥ ६॥

शब्दार्थ—**जेता**=जितना। **आसिर बचन**=आशीर्वचन, आशीर्वाद, आशिष। सहावना वा **सहाना**=बरदास्त कराना, देना, सहन करना, भोग करना। **सहना**=(फल) भोगना, झेलना, अपने सिरपर लेना, उठाना।

अर्थ—श्रीसीताजी आकर मुनिवर वसिष्ठजीके चरणोंमें लगीं (पद स्पर्श किये, पयलगी की, पैर छूकर प्रणाम किया) और मन-माँगी उचित आशिष पायी॥ १॥ मुनियोंकी स्त्रियोंसहित गुरुपत्नी श्रीअरुन्धतीजीसे प्रेमपूर्वक मिलीं, जितना प्रेम है, वह कहा नहीं जाता॥ २॥ सभीके चरणोंकी (पृथक्-पृथक्) वन्दना कर-करके जीको प्यारे लगनेवाले आशीर्वाद पाये॥ ३॥ जब श्रीसीताजीने सब सासुओंको देखा तो सहमकर उस सुकुमारीने नेत्र बंद कर लिये (दशा देखी न गयी)॥ ४॥ (ऐसी सहमी देख पड़ती हैं) मानो हंसिनी व्याधा-(बहेलिये-) के वशमें पड़ गयी हो अथवा, (उनको ऐसा प्रतीत हुआ) मानो हंसिनियाँ ब्याधाके वशमें पड़ गयी हों। (वे सोचती हैं कि) विधाताने (यह) क्या कुचाल की है?॥ ५॥ उन्होंने भी सीताजीको देखकर अत्यन्त दु:ख पाया (और सोचने लगीं कि) जो कुछ दैव सहावे, वह सब सहना ही पड़ता है॥ ६॥

नोट—१ (क) ***'मन माँगी'*** मुहावरा है अर्थात् जिसकी मनमें चाह थी, जो चाहती थीं, मनको रुचिकर या प्रिय। (ख) ***'उचित असीस लही……'*** इति। भाव कि गुरुने उचित आशीर्वाद दिया, वही ये चाहती भी थीं, यथा—***'पति प्रिय होहू'*** सावित्री हो, कल्याणी हो, इत्यादि। पतिव्रता अहिवात और पतिका प्रियत्व चाहती ही हैं। यह भी दिखाया, कि मनमें उचित ही बातकी चाह होती है, अनुचितकी नहीं। बाबा हरिदासजी कहते हैं कि तपस्वी वेषमें उचित आशिष यह है कि तुम्हारी रामसेवा और तपस्या सुफल हों। किसीका मत है कि—***'प्राननाथ देवरसहित कुसल कोसला आइ। पूजिहि सब मन कामना सुजस रहिहिं जग छाइ॥'*** (१०२)। यही जो गंगाजीसे माँगा और उन्होंने दिया था वही यहाँ भी मिला इत्यादि। गोस्वामीजीने किसी एक आशीर्वादका नाम न देकर ***'उचित'*** और ***'मन माँगी'*** पद देकर सबके मतका निर्वाह कर दिया, यह कविका कौशल है।

नोट—२ ***'मूँदे नयन सहमि सुकुमारीं'*** इति। सुकुमारी अर्थात् बड़ी कोमल हैं। अत: डर गयीं, देखा न गया। कैसी सहमकर दीख रही हैं यही उत्प्रेक्षाका विषय है—(पं०, वि० टी०)। बैजनाथजी ***'परी बधिक बस……'*** को सासुओंकी सौभाग्यहीन दशाकी उत्प्रेक्षा मानते हैं, वे लिखते हैं कि 'व्याधा और विधवपन परस्पर उपमेय-उपमान हैं' पर यहाँ अन्तिम वचनमें सीताजीकी दशा कहकर उत्प्रेक्षा की गयी है, दूसरे ***'परी'*** और ***'मराली'*** एकवचन हैं और सीताजीकी सुकुमारताके विचारसे इनको 'हंसकुमारी, मराली, हंसगवनि' पूर्व भी कहा है। यथा—***'डाबर जोगु कि हंसकुमारी।'*** (६०। ५), ***'हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू।'*** (६३। ५), ***'मानस सुधा सलिल प्रतिपाली। जिअइ कि लवन पयोधि मराली॥'*** (६३। ६)—उसीके अनुकूल यहाँ भी ***'मराली'*** और ***'सुकुमारी'*** पद दिये गये हैं। (प्र० सं०)

श्रीबैजनाथजीके मतसे वीरकविजी, श्रीपोद्दारजी और श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी भी सहमत हैं। त्रिपाठीजी इस मतकी पुष्टिमें कहते हैं कि 'वैधव्यके चिह्न ऐसे स्पष्ट होते हैं कि देखते ही पता लग जाता है, पर यहाँ बड़ी सावधानीसे वह चिह्न रानियोंने छिपा रखा है, जिसमें राम-लक्ष्मण-जानकीजीको देखते ही चक्रवर्तीजीके देहावसानका पता न चले, उस समाचारको रामजी गुरुजीके ही मुखसे सुनें। अत: न तो रामजीको माताओंके और न सीताजीको सासुओंके वैधव्यका पता महारानियोंसे मिलनेके समय चला, नहीं तो वहीं रोना-गाना आरम्भ हो जाता। इसके बाद गुरुजीने सबको बैठनेको कहा, जगत्‌की गतिका मायिक होना निरूपण करके तब नृपका सुरपुर गमन सुनाया, तब रामजी भी व्याकुल हुए और ***'कुलिस कठोर सुनत कटु बानी। बिलपत लषन सीय सब रानी॥'*** सीताजी भी विलाप करने लगीं। इससे स्पष्ट है कि इसके पहले चक्रवर्तीजीके देहावसानका पता न लक्ष्मणजीको था और न राम-जानकीको था।

सीताजीने स्वप्न देखा था कि सास लोगोंके स्वरूपमें बड़ा अन्तर पड़ गया है, यहाँ उसीको स्पष्ट करते हैं कि जैसे मरालीके स्वरूपमें बड़ा भारी अन्तर बधिकके वशमें पड़नेसे हो जाता है, वे अत्यन्त

दीन-दुःखी मालूम होती हैं वैसी ही सास लोग मालूम हुईं, सीताजीसे देखा न गया। 'मरालियाँ' का प्रयोग मानसमें नहीं देखा जाता, अतः मराली शब्दका बहुवचनमें भी प्रयोग हो सकता है।'

नोट—३ *'तिन्ह सिय निरखि निपट दुख पावा।'* इति। वाल्मी० २। १०४ में कौसल्याजीने कहा है कि 'विदेहराजकी कन्या, राजा दशरथकी पतोहू, रामचन्द्रकी स्त्री सीता इस निर्जन वनमें क्यों कष्ट उठा रही हैं। घामसे सूखे हुए कमलके समान और मसले हुए रक्त कमलके समान तुम्हारा यह मुख देखकर दुःखरूपी अरणीसे उत्पन्न यह शोक जो मेरे मनमें वर्तमान है, मुझे जला रहा है। जिस प्रकार अग्नि अपने आश्रयको जिससे उत्पन्न होती है उसीको जला देती है।—'**वैदेहराजन्यसुता स्नुषा दशरथस्य च। रामपत्नी कथं दुःखं सम्प्राप्ता विजने वने॥** (२४) **पद्ममातपसंतप्तं परिक्लिष्टमिवोत्पलम्। कांचनं रजसा ध्वस्तं क्लिष्टं चन्द्रमिवाम्बुदैः॥** (२५) **मुखं ते प्रेक्ष्य मां शोको दहत्यग्निरिवाश्रयम्। भृशं मनसि वैदेहि व्यसनारणिसम्भवः॥**' (२६)—यह सब भाव इस चरणसे जना दिये हैं।

नोट—४ *'सो सब सहिअ जो दैउ सहावा'* अर्थात् सब दैवाधीन है। अभी-अभी श्रीरामजी सबको यही समझा भी आये हैं—*'काल करम बिधि सिर धरि खोरी', 'अंब ईस आधीन जग काहु न देइय दोष'* इसीसे कैकेयीजीको दोष न देकर भाग्य वा विधाताको ही दोष देती हैं। वे ही इसे वनमें लाये। नहीं तो यह क्या इस योग्य थी? यहाँ 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग' है।

जनकसुता तब उर धरि धीरा। नील नलिन लोयन भरि नीरा॥ ७॥
मिली सकल सासुन्ह सिय जाई। तेहि अवसर करुना महि छाई॥ ८॥
दो०—लागि लागि पग सबनि सिय भेंटति अति अनुराग।
हृदय असीसहिं प्रेमबस रहिअहु भरी सोहाग॥ २४६॥

शब्दार्थ—**भरी सोहाग**—सौभाग्यवती स्त्रियाँ माँगमें सिन्दूर लगाती हैं और इसे सौभाग्यका चिह्न समझती हैं, जिसकी माँग सिन्दूरसे भरी नहीं होती वह सुहागहीन समझी जाती है। इसीसे 'सुहागसे भरी-पूरी, सुहाग भरा रहे' इत्यादि मुहावरे हुए। अर्थात् सौभाग्यवती रहो, पतिसुख तुमको अखण्ड रहे, सधवा बनी रहो। **'सुहाग भरना'**=माँग भरना। **सुहाग**=अहिवात, सौभाग्य, स्त्रीकी सधवा रहनेकी अवस्था।

अर्थ—तब जनकसुता सीताजी हृदयमें धीरज धरकर और नील कमलके समान नेत्रोंमें जल भरकर सब सासुओंसे जाकर मिलीं। उस समय पृथ्वीपर करुणा छा गयी॥ ७-८॥ सबके पैरों लग-लगकर सीताजी बड़े ही अनुरागसे सबसे मिल रही हैं। सब प्रेमवश हैं, हृदयमें आशीर्वाद दे रही हैं कि सोहागसे भरीपूरी रहोगी अर्थात् सदा सौभाग्यवती रहो, अहिवात अचल हो॥ २४६॥

नोट—(क) *'जनकसुता'* अर्थात् *'ज्ञान निधान सुजान सुचि धरम धीर नरपाल', 'धुरधीर जनक से। ज्ञान अनल मन कसे कनक से'* ऐसे जनक महाराजकी पुत्री हैं, फिर ये क्यों न धैर्य धारण करें? (ख) जानकीजीके हृदयमें करुण रस प्रधान है और इसका रंग साहित्यमें कबूतरका-सा नीला-धुमैला कहा गया है इसीसे नेत्रोंको नीले कमलकी उपमा दी गयी। (वीरकवि) यहाँ 'वाचकधर्मलुप्तोपमा अलंकार' है।

२—*'करुना महि छाई'* इति। (क) सात सौ सासुएँ और सीताजी सब एक साथ रोने लगीं। आश्रमपर मैदानमें सब हैं। रोनेका शब्द दूरतक फैल गया। (ख)—अवधमें जब लोगोंको वनवासकी खबर मिली थी तब कहा था—*'मुख सुखाहिं लोचन स्त्रवहिं सोक न हृदय समाइ। मनहु करुनरस कटकई उतरी अवध बजाइ॥'* (४६) देखिये। फिर भरतजीके केकयदेशसे लौटनेपर कौसल्याजीके महलमें *'कौसल्याके वचन सुनि भरत सहित रनिवासु। ब्याकुल बिलपत राजगृह मानहुँ सोक नेवासु॥'* (१६६) ऐसा कहा था और यहाँ *'करुना महि छाई'* तीनोंका मिलान कीजिये।' 'करुणा' का भाव दोहा ४६ में देखिये। वही भाव यहाँ है।

३—*'लागि लागि पग सबनि……'* इति। (क) इससे जनाया कि समस्त सासुओंको अलग-अलग प्रणाम किया। *'लागि लागि पग'* —यह रीति है। स्त्रियाँ अंचल हाथमें लेकर चरण छूती हैं वही यहाँ *'लागि*

पग' से सूचित किया। गी० १। १०८ में सात-सौ माताओं 'पालागन' करना कहा है। यथा—***'पाँलागनि दुलहियन सिखावति सरिस सासु सत साता। देहिं असीस ते बरिस कोटि लगि अचल होउ अहिवाता॥'*** (ख) ***'हृदय असीसहिं प्रेमबस'*** इति। करुणा और प्रेम दोनोंके वश होनेसे इस समय हृदय भर आया है, कण्ठ अवरुद्ध हो गया है, इसीसे हृदयमें आशीर्वाद दे रही हैं।

बिकल सनेह सीय सब रानीं। बैठन सबहि कहेउ गुर ग्यानी॥ १॥
कहि जग गति मायिक मुनिनाथा। कहे कछुक परमारथ गाथा॥ २॥
नृप कर सुरपुर गवनु सुनावा। सुनि रघुनाथ दुसह दुखु पावा॥ ३॥
मरन हेतु निज नेहु बिचारी। भे अति बिकल धीर धुर धारी॥ ४॥
कुलिस कठोर सुनत कटु बानी। बिलपत लषन सीय सब रानी॥ ५॥
सोक बिकल अति सकल समाजू। मानहु राजु अकाजेउ आजू॥ ६॥

शब्दार्थ—**गति**=चाल, व्यवहार। ***'धीर धुर धारी'***—धीर शुद्ध शब्दका अर्थ धैर्यवान् है पर प्रान्तिक प्रयोग इसका केवल पद्यमें 'धैर्य' अर्थमें भी होता है, वही अर्थ यहाँ है। धैर्यरूपी धुरे या बोझेको धारण करनेवाले। **राजु**=राजा। **अकाजना**=जाते रहना, मरना, गत होना।

अर्थ—श्रीसीताजी और सब रानियाँ स्नेहके कारण व्याकुल हैं। ज्ञानी गुरुने सबको बैठनेको कहा॥ १॥ जगकी गतिको मायिक कहकर* मुनिराजने कुछ परमार्थकी कथाएँ कहीं॥ २॥ राजाकी स्वर्गयात्रा सुनायी, जिसे सुनकर रघुनाथजीने दुसह दुःख पाया॥ ३॥ मरनेका कारण अपना स्नेह विचारकर धीरधुरंधर श्रीरामजी अत्यन्त व्याकुल हो गये॥ ४॥ वज्रके-से कठोर और कड़ुवे वचन सुनकर लक्ष्मणजी, सीताजी और सब रानियाँ विलाप करने लगीं॥ ५॥ सारा समाज शोकसे अत्यन्त व्याकुल है। मानो राजा आज ही मरे हैं॥ ६॥

नोट—१ ***'गुर ग्यानी'*** का भाव कि ये ज्ञानी हैं इससे ये सावधान हैं और सबको ज्ञानका उपदेश करके सावधान करेंगे, सबका शोक दूर करेंगे, इससे प्रथम ही 'ज्ञानी' विशेषण दिया। यथा पूर्व—***'सोक निवारेउ सबहि कर निज बिज्ञान प्रकास॥'*** (१५६) तथा यहाँ अपने विज्ञान-प्रकाशसे शोक हरेंगे।

नोट—२ ***'कहि जग गति मायिक मुनिनाथा।······'*** इति। पहले जगत्के व्यवहार, चाल आदिको मायाकृत बताया अर्थात् यह सब अनित्य है, नश्वर है, स्थिर नहीं रहता क्योंकि असत्य है। इत्यादि। यथा—**'एकवृक्षसमारूढा नानावर्णा विहंगमाः। प्रभाते दिक्षु दशसु यान्ति का परिदेवना॥'** इति चाणक्यनीतिदर्पण। अर्थात् एक वृक्षपर अनेक पक्षी आकर बैठते हैं, सबेरे दशों दिशाओंमें चल देते हैं तो इसमें एकको दूसरेका सोच क्यों?-(वि० टी०) हर्ष-शोक आदि सबका मूल मोह है। यथा—***'जनम मरन जहँ लगि जगजालू। संपति बिपति करम अरु कालू॥ धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरग नरक जहँ लगि ब्यवहारू······मोहमूल परमारथ नाहीं।'*** (९२। ४—८) देखिये इनको मनमें न व्याप्त होने दे, कमलवत् जलमें रहते उससे निर्लेप रहे। फिर परमार्थ कहा—***'कहि परमारथ बचन सुदेसे।'*** (१६९। ८) एवं दोहा १५६ व ९१-९२ देखिये। पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'जगत्की गतिको मायिक कहा, इसका आशय यह है कि अवधराज्यके मनोरथका आनन्द जाता रहा और विपत्ति उत्पन्न हुई—सो यह सब एक झूठी माया है। यह कहकर फिर कुछ परमार्थकी कथा कही जिससे सूचित किया कि राजा दशरथने धर्मपक्षमें शरीरका त्याग किया और आपने उनकी आज्ञा मानकर वनमें आना अंगीकार किया; यही परमार्थ झूठे जगत्में सत्य है।'

☞ महाभारतमें अनेक स्थानोंपर जगत्की गति, शोक और अनिष्टके कारण और उनके निवारणके उपायोंके उपदेश आये हैं। वे सभी प्राणियोंके मनन करने और स्मरण रखने योग्य हैं। वे सब ***'कहि जग मायिक गति'*** तथा ***'मुनिबर बहुरि राम समुझाए।'*** (२४७। ७)। की व्याख्या ही हैं। उनमेंसे कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

* 'मायापूर्ण संसारकी चाल'—(दीनजी)—'मायासे की हुई संसारकी गतिको मिथ्या कहकर'—(वीर)।

शोक आनेपर विचार करे कि ओह! संसार कैसा दुःखमय है? ऐसी दृष्टि रखनेसे मनुष्य मोहमें नहीं फँसता—कि यह शरीर, यह पृथ्वी अपनी नहीं है। 'जैसी मेरी है वैसी ही दूसरोंकी भी है। यह राज्य-लक्ष्मी इत्यादि न मेरी है, न तुम्हारी, न दूसरेकी। यह किसीके पास स्थिर नहीं रहती। जिस प्रकार समुद्रमें दो लकड़ियाँ मिलती हैं, रेलगाड़ी, नाव या जहाजमें अनेक देशोंके लोग मिलते हैं, वृक्षपर रातको अनेक पक्षी बसेरा लेते हैं ⋯ फिर अलग-अलग हो जाते हैं वैसे ही इस लोकमें प्राणियोंका समागम होता है तथा उसी तरह यह पुत्र, पौत्र, जाति, बन्धु और सम्बन्धियोंकी कल्पना हो जाती है। अतः उनसे विशेष स्नेह नहीं करना चाहिये, एक दिन उनसे विछोह होना निश्चित है।

हमारा यह पुत्र, यह स्त्री, यह पिता इत्यादि किस अज्ञात स्थानसे आये थे और अब किस अज्ञात स्थानको चले गये? न हम उनको जानते थे, न वे हमें। तब हम उसके कौन हैं जो शोक कर रहे हैं। हमने अज्ञानवश इनमें अपनापन मान लिया था इसीसे दुःख हुआ। रेल आदिके साथियोंमें अपनपौ न था, इससे उनके विछोहमें शोक न हुआ।

तुम्हारे दुःख माननेसे तो दुःखोंकी और भय माननेसे भयोंकी वृद्धि ही होगी। किसी प्राणीको सदा सुख या दुःखकी ही प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य स्नेहकी अनेक प्रकारकी फाँसियोंमें बँधे हुए हैं और जलमें बालूका पुल बनानेवालोंके समान अपने कार्योंमें असफल होनेसे दुःख पाते रहते हैं। जिस प्रकार बूढ़ा हाथी दलदलमें फँसकर प्राण खो बैठता है, उसी प्रकार सब लोग पुत्र, स्त्री और कुटुम्बकी आसक्तिमें फँसकर शोकसमूहमें डूबे रहते हैं, उनके लिये जन्मभर पाप कमाते हैं जिसका फल उन्हें अकेले भोगना पड़ता है। वे भूल जाते हैं कि सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि सब कुछ दैवाधीन है, प्रारब्धानुसार ही मिलेगा। मनुष्य हितैषियोंसे युक्त हो या न हो, वह शत्रुओंसे घिरा हो या मित्रोंसे तथा बुद्धिमान् हो अथवा बुद्धिहीन—दैवकी अनुकूलता होनेपर ही सुख पा सकता है। अन्यथा न तो हितैषी सुख देनेमें समर्थ है और न शत्रु दुःख देनेमें। न बुद्धि धन दे सकती है और न धन सुख पहुँचा सकता है। वास्तवमें संसारकी गति कोई बुद्धिमान् ही समझ सकता है, दूसरा नहीं। ⋯ अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि सुख या दुःख, प्रिय या अप्रिय जो-जो प्राप्त होता जाय उसका उत्साहके साथ सामना करे, कभी हिम्मत न हारे। शोकके हजारों स्थान हैं और भयके सैकड़ों अवसर हैं, किंतु वे दिन-दिन मूर्खोंपर ही प्रभाव डालते हैं, बुद्धिमानोंपर नहीं।

जो पुरुष उत्पत्ति और विनाशके तत्त्वको जानता है उसे शोक नहीं होता। मनुष्य बुद्धिमान् हो, मूर्ख हो अथवा शूरवीर हो—अपने पूर्व जन्ममें उसने जैसा भी शुभ या अशुभ कर्म किया होता है उसका उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। इस प्रकार जीवोंको बारी-बारीसे प्रिय-अप्रिय और सुख-दुःखकी प्राप्ति होती ही रहती है। ऐसे विचारका आश्रय लेकर कामनाओंके त्यागरूपी गुणसे युक्त होनेसे मनुष्य सुखसे रहता है। अतः सब प्रकारके भोगोंमें दोषदृष्टि करे और उन्हें स्वेच्छासे त्याग दे।

मनुष्य जब किसी पदार्थमें ममत्व कर बैठता है तो वही उसके दुःखका कारण बन जाता है। वह विषयोंमेंसे जिस-जिसकी आसक्तिको त्यागता जाता है, उसी-उसीसे सुखकी वृद्धि होती जाती है। किंतु जो पुरुष विषयोंके पीछे पड़ा रहता है, वह तो उन्हींके साथ नष्ट हो जाता है। लोकमें जितना भी विषयसुख है और जो कुछ दिव्य स्वर्गीय आनन्द है, वह सब तृष्णा-क्षयके सुखकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते।—(शान्तिपर्व। सेनजित्को ब्राह्मणका उपदेश) पिंगलाने अपने शोकग्रस्त होनेका कारण यह बताया है कि 'हमारे सच्चे प्रियतम सदा स्वस्थ रहनेवाले हैं। वे सदा हमारे साथ हैं, वे ही हमारे सच्चे माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, पति, सुहृद्-सखा इत्यादि हैं। उनको भुलाकर नश्वर प्राकृतिक जड़ पदार्थोंको मैंने अपना मान लिया, विषयोंसे सुखकी आशा की; इसीसे शोकग्रस्त हुई।' जो मारे गये वे तो अब किसी भी कर्म-यज्ञादिसे मिल नहीं सकते और न कोई ऐसा पुरुष ही है जो उन्हें लाकर दे दे। बुद्धि या शास्त्राध्ययनके द्वारा असमयमें ही किसी विशेष वस्तुको पा लेना मनुष्यके वशकी बात नहीं है। कभी-कभी तो मूर्ख मनुष्यको भी उत्तम वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है। वास्तवमें कार्यकी सिद्धिमें कालहीकी प्रधानता

है। शिल्पमन्त्र और ओषधियाँ भी दुर्भाग्यके समय काम नहीं देतीं। समयकी अनुकूलता होनेपर जब सौभाग्यका उदय होता है तो वे ही सफलता और बृद्धिकी निमित्त बन जाती हैं। समय आनेपर ही मेघ जल बरसाते हैं। बिना समयके वृक्षोंमें फल नहीं लगते तथा जबतक अनुकूल समय नहीं आता तबतक पक्षी, सर्प, मृग, हाथी और हरिणियोंमें कामोन्माद नहीं आता, स्त्रियाँ गर्भ धारण नहीं करतीं; जाड़ा, गर्मी और वर्षा-ऋतुएँ नहीं आतीं। किसीका जन्म या मरण नहीं होता, बालक बोलना आरम्भ नहीं करता, मनुष्यपर यौवन नहीं आता और बोया हुआ बीज अंकुरित नहीं होता।

'संसारमें तो केवल दु:ख ही है सुख है ही नहीं, इसलिये लोगोंको दु:खकी ही उपलब्धि होती है। यहाँ सुखके पीछे दु:ख और दु:खके पीछे सुख लगा ही रहता है। सुखका अन्त तो दु:खहीमें होता है। कभी-कभी दु:खसे भी सुखकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये जिसे नित्य-सुखकी इच्छा हो वह सुख-दु:ख दोनोंको ही त्याग दे। सुख या दु:ख जो कुछ भी प्राप्त हो उसे हृदयमें अवसाद न लाकर प्रसन्नतासे सहन करे। भाई! अपने स्त्री और पुत्रोंके प्रति अनुकूल आचरणमें थोड़ी-सी भी कमी कर दो, फिर तुम्हें मालूम हो जायगा कि कौन किस हेतुसे किसका किस प्रकार सम्बन्धी है।'—ये महामति राजा सेनजित्के वाक्य हैं।

इस जीवका न तो कभी कोई सम्बन्धी हुआ है न होगा ही। संसारमें हमारे हजारों माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि हुए पर वास्तवमें वे किसके हुए और हम अपनेको किसका कहें?

रास्तेमें चलते हुए बटोहियोंके समान ही हमारा स्त्री, बन्धु और सुहृद्‌गणसे समागम हो जाता है। अत: विवेकी पुरुषको अपने मनमें यही विचार करना चाहिये कि—'मैं कहाँ हूँ? कहाँ जाऊँगा? कौन हूँ, यहाँ किस कारणसे आया हूँ और किसलिये किसका शोक करूँ? यह संसार अनित्य है और चक्रके समान घूमता रहता है। इसमें माता-पिता, भाई और मित्रोंका समागम रास्तेमें मिले हुए बटोहियोंके समान है। ☞ जन्म लेनेवाले सभी जीवोंके दिन, रात, मास, वर्ष, पक्ष एक बार बीतकर फिर नहीं लौटते। मृत्युका यह लम्बा रास्ता सभी जीवोंको तय करना पड़ता है। अत: ऐसा कोई भी मरणधर्मा मनुष्य नहीं है जिसे कालके वशीभूत होकर इसमेंसे निकलना न पड़े। इस मार्गमें स्त्री आदिके साथ जो समागम होता है वह राहगीरोंके समान कुछ क्षणोंका है। इनमें किसीके साथ मनुष्यका नित्य सहवास नहीं हो सकता। जब अपने शरीरके साथ ही इसका बहुत दिनोंतक सम्बन्ध नहीं रहता तो दूसरे सम्बन्धियोंके साथ तो रह ही कैसे सकता है? आज तुम्हारे बाप-दादे कहाँ गये? अब न तुम उन्हें देखते हो न वे तुम्हें।—अश्मा मुनिने जनकसे यह कहा था।'—(व्यास-युधिष्ठिर-संवाद। शान्तिपर्व)

मृत्यु इस लोकको अत्यन्त ताड़ित कर रही है, जरावस्थाने इसे चारों ओरसे घेर रखा है और अमोघ दिन-रात्रियाँ इसमें नित्य ही आती और चली जाती हैं। मृत्यु मेरे कहनेसे क्षणभर भी नहीं रुकेगी, प्रत्येक दिन व्यर्थ बीता जा रहा है। ऐसी स्थितिमें छिछले जलमें रहनेवाली मछलीके समान कौन बुद्धिमान् सुख मानेगा? कामनाओंकी पूर्तिकी राह मौत नहीं देखेगी।

जो मनुष्य मोहमें डूबा रहता है वही स्त्री-पुत्रके खटपटमें लगा रहता है और कार्य-अकार्य कुछ भी करके उनका पोषण करता है। स्त्री-पुत्रोंमें आसक्ति रखना तो जीवको बाँधनेवाली रस्सीके समान है। सत्यके बिना कोई भी मृत्युकी सेना (जरा, व्याधि आदि)-का सामना नहीं कर सकता। अत: असत्यको त्याग देना चाहिये; क्योंकि अमृतत्व सत्यहीमें है। अमृत और मृत्यु ये दोनों ही इस शरीरमें विराजमान हैं। मोहसे मृत्यु होती है और सत्यसे अमरत्व प्राप्त होता है।

पुरुष स्वयं कर्ता होता तो उसे दूसरा कोई उत्पन्न करनेवाला न होता। ईश्वरके सिवा दूसरा कोई कर्ता नहीं। सब तरहके भाव और अभाव स्वभावसे ही आते-जाते रहते हैं, उनके लिये पुरुषका कोई प्रयत्न नहीं होता और प्रयत्नके अभावमें पुरुष कर्ता नहीं हो सकता, फिर भी उसे कर्तापनका अभिमान हो जाता है। यदि पुरुष ही कर्ता होता तो वह अपने कल्याणके लिये जो कुछ भी करता वह सब अवश्य सिद्ध हो जाता, उसे अपने प्रयत्नमें कभी हार नहीं खानी पड़ती। (प्रह्लाद-इन्द्र-संवाद)

शोक करनेसे शरीरको कष्ट होता है और शत्रु प्रसन्न होते हैं। तब शोक क्यों किया जाय? शोकसे दु:ख दूर करनेमें कोई सहायता भी नहीं पहुँचती। संताप करनेसे रूप, कान्ति, आयु और धर्म सबका नाश ही होता है। (नमुचि-इन्द्र-संवाद)।

जगत्‌का शासक एक ही है, दूसरा नहीं। पुरुषको जो वस्तु जिस प्रकार मिलनेवाली होती है वह उसी प्रकार मिल ही जाती है। जिस वस्तुकी जैसी होनहार होती है वह वैसी होती ही है। विधाता जीवको जिस-जिस गर्भमें डालता है, वहीं उसे रहना पड़ता है, वह अपनी इच्छाके अनुसार कहीं नहीं रह सकता। जो वस्तु नहीं मिलनेवाली होती उसे कोई मन्त्र, बल, पराक्रम, बुद्धि, पुरुषार्थ, शील, सदाचार और धन-सम्पत्तिसे नहीं पा सकता, फिर उसके लिये शोक क्यों किया जाय? जिनके प्रारब्धमें जितने सुख और दु:खका भोग बदा है उतना ही वह पाता है; जहाँ जानेका प्रारब्ध है वहीं जाता है तथा जो कुछ उसे पाना है उसीको प्राप्त करता है। शोकमें इतनी शक्ति नहीं है कि वह वस्तुको नष्ट होनेसे बचा ले। मनुष्य यदि बहुत बड़ी सम्पत्ति छोड़ न सके तो कम-से-कम उसकी ममताका तो त्याग कर दे। 'यह चीज मेरी नहीं है' यह समझकर अपना कल्याण तो करे। जो वस्तु भविष्यमें मिलनेवाली हो उसे यही मान ले कि 'वह मेरी नहीं है' तथा जो मिलकर नष्ट हो गयी हो उसमें यह भाव रखे कि 'वह मेरी न थी'। प्रारब्ध ही सबसे प्रबल है, वही देता है और वही छीन लेता है।

इस संसारमें हमारे हजारों माँ-बाप और सैकड़ों स्त्री-पुत्रादि हो चुके और आगे भी होंगे। परंतु वास्तवमें किसके वे और किसके हम? मैं तो अकेला ही हूँ, मेरा कोई नहीं और न मैं किसीका हूँ। ऐसा कोई नहीं दिखायी देता जिसका मैं होऊँ या जो मेरा हो। तुम्हें अपने अतीत माता-पितादिसे अब कोई प्रयोजन नहीं और न उन्हें तुमसे कोई प्रयोजन है। वे अपने-अपने कर्मानुसार उत्पन्न हुए थे, तुम भी अपने कर्मोंके अनुसार उत्पन्न हुए हो और अब जैसा कर्म करोगे वैसी ही गति प्राप्त करोगे। इस लोकमें धनीके स्वजन तो स्वजन बने रहते हैं, किंतु दरिद्रोंके स्वजन तो उन्हें जीवित रहनेपर भी छोड़ देते हैं। मनुष्य स्त्री-पुत्रादिके लिये पाप बटोरता है और उसके कारण ही इस लोक और परलोकमें दु:ख भोगता है।—(व्यासजी शुकप्रति)

पुरुषको लाभ-हानि, सुख-दु:ख, जन्म-मरण और बन्धन-मोक्ष ये सब कालसे ही प्राप्त होते हैं। जो कालके प्रभावको जानता है वह उससे कष्ट पाकर भी शोक नहीं करता। अज्ञानी जन देहसे अपना सम्बन्ध मानते हैं; इसलिये देहका वियोग होनेपर उन्हींको दु:ख होता है, किंतु बोधवानोंका निश्चय आत्माकी असंगताके विषयमें निश्चल होता है, इसलिये उन्हें इसे कुछ भी खेद नहीं होता। यह जीव वास्तवमें कभी किसीका कुछ भी नहीं है। यह तो नित्य और अकेला ही है। सुख-दु:खका कारण देह ही है। जब कभी इसे तत्त्वज्ञान हो जाता है तब यह शरीर-सम्बन्धसे छूटकर परम गति प्राप्त कर लेता है। देह पुण्य-पापमय है। कर्मोंके क्षयके साथ इसका भी क्षय होता रहता है। इस प्रकार शरीरका क्षय हो जानेपर जीव मुक्त हो जाता है। पुण्य-पापके क्षयके लिये आत्मज्ञान ही साधन है। (देवल-नारद-संवाद शा० प०)

नोट—३ ***'कहे कछुक परमारथ।'*** कुछ ही कहा; क्योंकि जगत्‌की मायिक गति कहनेमें ही बहुत परमार्थ भी आ जाता है, उससे बहुत कुछ शान्ति आ ही गयी थी, अधिक समझानेकी आवश्यकता न थी।

पु० रा० कु०—***'नृप कर सुरपुर गवन सुनावा।'''''' '*** इति। (क) मुनि 'ज्ञानी' हैं, समझदार हैं; उन्होंने प्रथम परमार्थका बोध कराके, ज्ञानकी भूमिका बाँधकर सबको दृढ़ करके तब पिताका मरण कहा। ***'सुरपुर गवन'*** का भाव कि अभीतक थोड़े सुखमें थे, अब बड़े सुखको प्राप्त हैं। (ख) परमार्थका स्वरूप दिखाकर तब मरण कहा, यह बड़ोंकी रीति दिखायी। सुमन्त्रजीने भी प्रथम परमार्थ कहकर तब रामसन्देश राजाको सुनाया था जिसमें अधिक कष्ट न हो। (ग) ***'सुनि रघुनाथ दुसह दुख पावा।'*** इति। असह्य दु:ख हुआ; क्योंकि जिनको सुखी रखनेके लिये उन्होंने सबका निहोरा लिया, सबसे विनती की [यथा—***'भवन भरत रिपुसूदन नाहीं। राउ बृद्ध मम दुख मन माहीं॥'*** (लक्ष्मणसे), ***'बारहिं बार जोरि जुग पानी। कहत राम***

सब सन मृदु बानी॥ सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जेहि ते रह नरनाह सुखारी॥' (पुरजनोंसे), *'सब बिधि सोइ कर्तव्य तुम्हारे। दुख न पाव नृप सोच हमारे॥'* (सुमन्त्रसे), *'तुलसी करेहु सोइ जतन जेहि कुसली रहहिं कोसलधनी॥'*, *'गुरसन कहब संदेस बार बार पद पदुम गहि। करब सोइ उपदेश जेहि न सोच मोहि अवधपति॥'* (१५१), *'पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनायेहु बिनती मोरी॥ सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जातें रह नरनाह सुखारी॥'*......*'तात भाँति तेहि राखब राऊ। सोच मोर जेहि करहिं न काऊ॥'* (सुमन्त्रजीने यह संदेशा कहा है)], जिनका शोक दूर करनेपर उद्यत रहे, उनका ही मरण हुआ और अपने ही वियोगके कारण। इस मृत्युके कारण हम ही हुए, हमारे प्रेमके कारण वे वियोग न सह सके, यह समझकर *'अति बिकल'* हुए। मरण सुननेपर 'दुसह दुःख' हुआ और कारण समझनेपर 'अति' व्याकुल होकर अधीर हो गये। धीर व्याकुल नहीं होते, ये धीर-धुरन्धर हैं तो भी व्याकुल हुए। इससे पिताके मरणका अत्यन्त भारी शोक जनाया। (ङ)—*'कुलिस कठोर सुनत कटु बानी। ......'* इति। अर्थात् हृदय विदीर्ण करनेके लिये वज्रसे भी कठोर और सुननेमें कटु। सब घर एक साथ रो उठा; इसीसे कहा कि मानो आज ही मरे। मरनेपर सब एक साथ रोते ही हैं।

नोट—४ *'सुनि रघुनाथ दुसह दुख पावा', 'कुलिस कठोर सुनत कटु बानी', 'भे अति बिकल'*— इन शब्दोंसे (वाल्मी० २। १०३) के '**तां श्रुत्वा करुणां वाचं पितुर्मरणसंहिताम्। राघवो भरतेनोक्तां बभूव गतचेतनः॥ १॥ तं तु वज्रमिवोत्सृष्टमाहवे दानवारिणा। वाग्वज्रं भरतेनोक्तममनोज्ञं परंतपः॥ २॥ प्रगृह्य रामो बाहू वै पुष्पितांग इव द्रुमः। वने परशुना कृत्तस्तथा भुवि पपात ह॥ ३॥ तथा हि पतितं रामं जगत्यां जगतीपतिम्। कुलघातपरिश्रान्तं प्रसुप्तमिव कुञ्जरम्॥ ४॥**......' इन श्लोकोंका भाव प्रकट किया है। अर्थात् शोकमय संवाद सुनकर वे बेहोश हो गये, अप्रिय वचन वज्र-से लगे। उन्होंने दोनों हाथ सिरपर रख लिये और परशुसे काटे हुए वृक्षके समान वे पृथ्वीपर गिर पड़े। कुलके नाशसे थके हुए प्रसुप्त हाथीके समान मालूम होते थे। तीनों भाई और सीताजी जलके छींटे देने लगे। होशमें आनेपर वे बहुत ही दयनीय विलाप करने लगे।......सुमन्त्रके समझानेपर उन्होंने पिण्डदान दिया।

मुनिबर बहुरि राम समुझाए। सहित समाज सुसरित नहाए॥ ७॥
ब्रतु निरंबु तेहि दिन प्रभु कीन्हा। मुनिहुँ कहे जलु काहु न लीन्हा ८॥
दो०—भोरु भये रघुनंदनहि जो मुनि आयेसु दीन्ह।
श्रद्धा भगति समेत प्रभु सो सबु सादर कीन्ह॥ २४७॥

शब्दार्थ—'**भगति**' (भक्ति)=प्रेम, विश्वास।

अर्थ—तब मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीने श्रीरामजीको समझाया। तब श्रीरामजीने समाजसहित श्रेष्ठ मन्दाकिनी नदीमें स्नान किया॥ ७॥ उस दिन प्रभुने निर्जल-व्रत किया। मुनिके भी कहनेपर किसीने भी जल न ग्रहण किया*॥ ८॥ सबेरा होनेपर रघुनाथजीको मुनिने जो आज्ञा दी, वह सब प्रभुने श्रद्धा और भक्तिसहित आदरपूर्वक किया॥ २४७॥

---

* दूसरा अर्थ—मुनिने भी कहा, इससे जल किसीने न ग्रहण किया'। अर्थात् जब रामजीने निर्जल-व्रत किया तब मुनिने औरोंसे भी कहा कि यही उचित है, सबको निर्जल-व्रत करना चाहिये; अतएव किसीने भी जलतक ग्रहण न किया।

पं० रामकुमारजीने दोनों प्रकार अर्थ किया है। रा० प्र० कार यह भाव लिखते हैं कि मुनिने कहा कि उपवास तो रघुनाथजीको कर्तव्य है, तुम्हारे लिये जरूरी नहीं, तुम व्रत न करो तो भी यह समझकर कि हमारे स्वामी निर्जल रहें, हम जलपान करें—यह अयोग्य है, किसीने जलतक न पिया। पंजाबीजीने भी इसी अर्थको प्रधानता दी है। वीरकविजीने इस अर्थपर आक्षेप किया है। वे लिखते हैं कि 'रामजी निर्जल-व्रत करें और ज्ञानी गुरु ऐसे गये-बीते ठहरे कि अयोध्यावासियोंको जलपानका उपदेश दें और पुरजन गुरुके आदेशका तिरस्कार कर निर्जल-व्रत करें। जिन गुरुजीकी आज्ञा रामचन्द्रजी नहीं टाल सकते, उनकी बात पुरवासी न मानें! कैसा गुरुसम्मानका भावपूर्ण अर्थ है।'

वि० त्रि०—'***मुनिबर बहुरि……नहाये***' इति। गुरुजीने पहले ही समझा-बुझाकर, शोक-समाचार कहनेके लिये तैयार करके तब चक्रवर्तीजीका सुरपुरगमन सुनाया; फिर भी सरकार अत्यन्त विकल हो गये। पुत्रका तो जन्म ही पिताके मरण-दर्शनके लिये होता है, इतनी विकलताका कारण अपने विरहमें प्राणत्याग था। इसी बातसे सब कोई डरते थे कि गुरुजीकी अनुपस्थितिमें रामजीको सँभालेगा कौन? सो गुरुजीने सँभाल लिया, फिरसे रामजीको समझाया।

नोट—१ शीला—फिर '*राम*' को समझाया। भाव कि लोक-वेद-रीतिसे नहीं समझाया, किंतु रामस्वरूपहीमें उनको समझाया कि आप सब जीवोंमें रम रहे हैं, आपकी चैतन्यतासे सब जग चैतन्य है, आपके अचेत होनेसे सारा जगत् अचेत हो जायगा। आप संसारवृक्षकी जड़ हैं, यथा—'**अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने**'। जड़के सूखनेसे वृक्ष नष्ट हो जाता है। आपका अवतार जगमंगलहेतु है, आपकी व्याकुलतासे जगत्का अमंगल है।'

नोट—२ पं०—'***बहुरि***' का भाव कि एक बार तो सीतासहित रानियोंको समझाया था, अब इनको समझाया कि आपके अधीर होनेसे सब अधीर हो रहे हैं।

शोक-निवारणके लिये उपदेश

स्त्रीपर्वमें विदुरजी धृतराष्ट्र महाराजको समझाते हैं।

१ संसारमें सब जीवोंकी अन्तमें यही तो गति होनी है। जितने संचय हैं उनका पर्यवसान क्षयमें ही होगा। सारी भौतिक उन्नतियोंका अन्त तो पतनमें ही होना है। सारे संयोग वियोगमें ही समाप्त होनेवाले हैं। इसी प्रकार जीवनका अन्त भी मरणमें ही होना है। मृत्यु आनेपर तो कोई नहीं जी सकता। जितने प्राणी हैं वे आरम्भमें नहीं थे और अन्तमें भी नहीं रहेंगे, केवल बीचमें दिखायी देते हैं। जन्मसे पूर्व ये सब अदृश्य थे और सब फिर अदृश्य हो गये हैं। न तो वे आपके थे, न आप उनके हैं। फिर शोक करनेका क्या कारण है?

२ संसारमें बारंबार जन्म लेकर आप हजारों माता-पिता और स्त्री-पुत्रादिका संग कर चुके हैं। परंतु वास्तवमें किसके वे हुए और किसके आप?

३ कालका न तो कोई प्रिय है, न अप्रिय और न किसीके प्रति उसका उदासीन भाव ही है। वह तो सभीको मृत्युकी ओर खींचकर ले जाता है। काल ही प्राणियोंको बूढ़ा करता है और काल ही उन्हें नष्ट कर देता है। जब सब जीव सो जाते हैं तब भी काल जागता रहता है। निःसन्देह कालसे पार पाना बड़ा ही कठिन है।

४ यौवन, रूप, जीवन, धनका संग्रह, आरोग्य और प्रिय जनोंका सहवास—ये सभी अनित्य हैं। बुद्धिमान्को इनमें फँसना नहीं चाहिये।

५ शोक करनेसे मनुष्य न तो मरनेवालेके साथ जा सकता है और न मर ही सकता है। इस प्रकार जब लोककी यही स्वाभाविक स्थिति है तब शोक किसलिये?

६ मनुष्यको चाहिये कि मानसिक दुःखको विचारसे और शारीरिक कष्टको ओषधियोंसे दूर करे। इसे ही विज्ञानका बल कहते हैं।

७ मनुष्यका पूर्व कृतकर्म उसके सोनेपर सो जाता है, उठनेपर उठ बैठता है और दौड़नेपर भी साथ लगा रहता है। वह जिस-जिस अवस्थामें जैसा-जैसा भी शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसी-उसी अवस्थामें उसका फल भी पा लेता है। मनुष्य आप ही अपना बन्धु है, आप ही अपना शत्रु है और आप ही अपने पाप-पुण्यका साक्षी है। वह शुभकर्मसे सुख पाता है और पापसे दुःख भोगता है। इस प्रकार सदा किये हुए कर्मका ही फल मिलता है, बिना कियेका नहीं।

श्रीप्रज्ञानानन्दजी रा० प्र० कारसे सहमत होते हुए कहते हैं कि 'यहाँ मुनिकी आज्ञाका भंग हुआ ऐसा मानना आवश्यक नहीं। मुनिने धर्मविचार कहा, पर लोगोंने परम धर्मका पालन किया।' यहाँ 'कहे' शब्द आज्ञावाचक नहीं है, उन्होंने शास्त्रका एक मत बता दिया कि इसमें हर्ज नहीं है।

नारद-शुक-संवादमें निम्न उपदेश मिलते हैं

१ शोकके हजारों और भयके सैकड़ों स्थान हैं। वे प्रतिदिन मूढ़ पुरुषोंपर ही अपना प्रभाव डालते हैं। यदि बुद्धि अपने वशमें रहे तो शोक सदाके लिये नाश हो जाय।

२ जो वस्तु भूतकालके गर्भमें छिप गयी उसके गुणोंका स्मरण नहीं करना चाहिये। क्योंकि आदरपूर्वक गुण-चिन्तनसे उसकी आसक्ति नहीं छूटती।

३ जहाँ चित्तकी आसक्ति बढ़ने लगे उस वस्तुको अनिष्टकारी समझकर उसमें दोषदृष्टि कर लेनी चाहिये। इससे शीघ्र वैराग्य हो जायगा।

४ बीती बातका शोक करना उसके अभावका दुःखमात्र उठाना है, उससे अभाव दूर नहीं होता।

५ गत वस्तुका शोक करना एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त करना है। इस प्रकार शोककर्ताको दो अनर्थ भोगने पड़ते हैं।

६ जो संसारकी गतिको विचारता रहता है या जो सबको सम्यक् दृष्टिसे देखता है उसके आँसू नहीं बहते।

७ शारीरिक या मानसिक दुःख आ पड़नेपर यदि उपाय न चले तो चिन्ता न करे। दुःख दूर करनेकी सबसे उत्तम दवा है—'चिन्ता न करना'।

८ रूप, यौवन, जीवन, धनसंग्रह, आरोग्य और प्रियजनोंका सहवास ये सब अनित्य हैं। अतः इनमें आसक्त न हो।

९ जो सुख और दुःख दोनोंकी चिन्ता छोड़ देता है वह अक्षय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

१० संग्रहका अन्त विनाश है, ऊपर चढ़नेका अन्त है नीचे गिरना, संयोगका अन्त है वियोग और जीवनका अन्त है मरण। तृष्णाका अन्त नहीं, संतोष ही परम सुख है। अतः संतोष ही परम धन है।

११ जब अपना शरीर ही अनित्य है तब और कौन वस्तु नित्य समझी जाय।

१२ जो मनुष्य मनसे परे परमात्माका ही सब प्राणियोंके भीतर मनसे चिन्तन करते हैं, वे संसारयात्राको समाप्त करके परमपदको प्राप्तकर शोकरहित हो जाते हैं।

१३ जैसे जंगलमें नयी-नयी घासकी खोजमें चरते-फिरते हुए पशुको सहसा व्याघ्र आकर दबोच लेता है वैसे ही कामनाओंकी खोजमें लगे हुए अतृप्त मनुष्यको मौत उठा ले जाती है। इसलिये सबको दुःखसे छूटनेका उपाय सोचना चाहिये।

१४ सबको उपभोगकालमें ही शब्दादि विषयोंमें चिन्तित सुखका अनुभव होता है, उसके बाद उनमें कुछ नहीं रहता। संयोगके पहले कोई दुःख किसीको नहीं होता। जब संयोगके बाद वियोग होता है तभी सबको दुःख होता है। अतएव अपने स्वरूपमें स्थित रहे, कभी शोक न करे।

१५ धैर्यके द्वारा शिश्न और उदरकी, नेत्रद्वारा हाथ-पैरकी, मनद्वारा आँख-कानकी तथा सद्विद्याद्वारा मन और वाणीकी रक्षा करता रहे।

१६ अध्यात्मविद्यामें परायण निष्काम और लोभहीन होकर जो एकाकी विचरता रहता है, वही सुखी और विद्वान् है।—(नारद-शुक-संवाद)

नोट—१ *'श्रद्धा भगति समेत प्रभु······'* इति।—धर्म बिना श्रद्धाके निष्फल है, श्रद्धाके बिना भक्ति-प्रीति-प्रतीति नहीं होती। ये हों तो जो कार्य किया जायगा वह सादर किया जायगा। धर्ममें इन तीनोंकी आवश्यकता है, यथा—*'भूपधरम जे बेद बखानें। सकल करै सादर सुख मानें॥'* (१। १५५। ५) *'भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें॥'* (१। १८९), *'श्रद्धा बिना धरम नहिं होई। बिनु महि गंध की पावइ कोई॥'* (७। ९०) श्रद्धा गुरु और श्रुतिवाक्यपर प्रथम हो, तब उनमें प्रेम या विश्वास होता है कि इनसे मनोवांछित सिद्ध होगा, संदेह नहीं। ये दोनों होनेपर कार्यमें मन पूरा लगता है।

पु० रा० कु०—*'प्रभु सो कीन्ह'*। प्रभु हैं, समर्थ हैं, न करें तो इनको दोष नहीं और न इनको शुद्धताकी जरूरत, ये तो स्वयं शुद्ध हैं। पर लोकसंग्रहार्थ करते हैं, इसीसे 'रघुनन्दन' कहा। रघुकुलके आनन्द देनेवाले हैं, यह कुल धर्मात्मा है, गुरुभक्त है।

[भाव यह कि यद्यपि मैं जगत्‌का उपकार करनेके लिये स्वच्छन्दरूपसे ही मनुष्यरूपमें प्रकट हुआ हूँ तथापि मैं श्रेष्ठ धर्मात्मा रघुकुलमें अवतीर्ण होकर यदि कुलोचित कर्मोंका सजग रहकर आचरण न करूँ तो अल्पज्ञ तथा सभी श्रेष्ठ पुरुष जो मेरे आचारको आदर्श मानकर धर्मका निश्चय करनेवाले हैं, सब प्रकारसे यही धर्म है ऐसा मानकर अनुसरण करनेवाले हैं, वे (मेरी देखा-देखी) अपने कर्तव्यका अनुष्ठान न करनेके कारण कर्मत्यागजनित पापसे नरकगामी हो जायँगे। इस प्रकार मैं ही सारी प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँगा। यही भाव गीताके—'**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ (३। २१), 'यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥** (३। २३), '**उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४॥** इन श्लोकोंमें है। ऐसा जानकर श्रीरघुनाथजीने पितृकर्म किये।]

पं०—धर्मशास्त्रकी आज्ञा है कि जिस दिन पिता मरे या जिस दिन पिताकी मृत्यु पुत्र सुने उस दिन निराहार व्रत करे। यदि बड़ा पुत्र विदेशमें हो तो दशगात्रादि विधि लघु पुत्र करे, पर सपिण्डीकर्म ज्येष्ठ पुत्रको ही करना चाहिये।

करि पितु क्रिया बेद जसि बरनी। भे पुनीत पातक तम तरनी॥ १॥
जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमंगल मूला॥ २॥
सुद्ध सो भयेउ साधु संमत अस। तीरथ आवाहन सुरसरि जस॥ ३॥

शब्दार्थ—**आवाहन**=मन्त्रद्वारा किसी देवताको अपने निकट बुलानेका कार्य, आह्वान।

अर्थ—वेदोंमें जैसा कहा गया है उस रीतिसे पिताकी क्रिया करके, पापरूपी अन्धकार-(को नष्ट करने) के लिये सूर्यरूप रामचन्द्रजी पवित्र हुए॥ १॥ जिनका नाम पापरूपी रूईके (शीघ्र जला डालनेके) लिये अग्नि है, जिनका स्मरणमात्र सुन्दर मंगलोंका मूल है, वे श्रीरामजी शुद्ध हुए। साधुओंका सम्मत है कि उनका शुद्ध होना ऐसा है जैसा सुरसरिमें तीर्थोंका आवाहन वा वे वैसे ही शुद्ध हुए जैसे तीर्थोंके आवाहनसे गंगा॥ २-३॥

पु० रा० कु०—१ (क) *'भे पुनीत पातक तम तरनी।'* इति। प्रभुने शुद्ध होनेकी सब क्रियाएँ कीं; तो क्या वे अशुद्ध हो गये थे जो अब उससे शुद्ध हुए? उसीपर ये तीन अर्धालियाँ हैं। वे तो सूर्यरूप हैं। जहाँ सूर्य वहाँ अन्धकार कहाँ? *'तहँ कि तिमिर जहँ भानु प्रकासू'*। इनके तो दर्शनसे पाप नाश होता और लोग पवित्र होते हैं। जो पापनाशक है उसको पाप लगना कैसा? उनका नाममात्र लेनेसे पापसमूह सद्यः भस्म हो जाते हैं, जैसे जरा-सी अग्नि रूईके पर्वतको जला डाले, देर न लगे। (ख)—यहाँ दो बातें कहीं *'पातक तम तरनी'* और *'जासु नाम पावक……सुमंगलमूला'* अर्थात् आप सूर्य हैं, आपका नाम अग्नि है। भाव कि आपका रूप वा दर्शन और आपका नाम दोनों ही पापनाशक हैं। यथा—*'तीरथ अमित कोटि सत पावन। नाम अखिल अघपूग नसावन॥'* (७। ९२। २)

श्रीनंगेपरमहंसजी—यहाँ ग्रन्थकारने श्रीरामजीके पुनीत होनेमें सूर्य और अन्धकारका उदाहरण देकर श्रीरामजीका ऐश्वर्य सूचित किया है। *'जथा तम तरनी'* जैसे अन्धकारसे सूर्य पुनीत हो। भाव कि जैसे सूर्यमें अन्धकारका लगना असम्भव है; क्योंकि सूर्य तमारि हैं, तमके अरि हैं; वैसे ही सूर्यरूप श्रीरामजीमें अन्धकाररूप पातक कैसे लग सकता है? कदापि नहीं लग सकता। कर्म करके पातकसे पुनीत होना, यह तो श्रीरामजीकी नरलीला है; क्योंकि वे मर्यादापुरुषोत्तम हैं? वे कर्म करके केवल लोकमर्यादा रखते हैं।

'तीरथ आवाहन सुरसरि जस'

पु० रा० कु०—२ *'सुद्ध सो भयेउ'* अर्थात् जो ऐसा समर्थ है, जिसका नाम ऐसा समर्थ है, वह शुद्ध हुआ! इस प्रसंगमें साधुसम्मत ऐसा है कि सर्वतीर्थमयी गंगामें जैसे स्नानके समय अन्य सब तीर्थोंका

आवाहन करनेकी रीति है; पर उससे कुछ गंगाजी पवित्र नहीं हो जातीं और न उनके पवित्र करनेके लिये आवाहन किया जाता है, वैसे ही कर्म अवश्य करने चाहिये; कुछ अपनेको पवित्र करनेको नहीं, पर इसलिये कि वैसी वेदरीति है। यहाँ राम गंगा, क्रियासे शुद्धि, तीर्थ-आवाहनसे शुद्धि, क्रिया-तीर्थ। खुलासा यह कि गंगामें तीर्थ-आवाहन कैसा? परन्तु करते हैं; वैसे ही शुद्धरूप राममें कर्मद्वारा शुद्धता कैसी? परंतु कहते हैं कि शुद्ध हुए।

पाँड़ेजी—उनका शुद्ध होना ऐसा है जैसा सुरसरिमें तीर्थ-आवाहन। भाव यह कि तीर्थ आकर गंगामें पवित्र हो जाते हैं, कुछ गंगाजी उनसे पवित्र नहीं होतीं; इसी प्रकार कर्म करनेसे वे कर्म शुद्ध हो गये, कुछ रामजी उनसे शुद्ध नहीं हुए, वे तो स्वयं शुद्ध हैं और दूसरोंको शुद्ध करनेवाले हैं।

श्रीनंगे परमहंसजी—जैसे तालाबादिमें स्नान करते समय प्रथम हाथमें जल लेकर तीर्थोंका आवाहन किया जाता है। जब तीर्थ आकर उस जलको पवित्र करते हैं अर्थात् जब वह जल तीर्थरूप हो जाता है, तब उसमें स्नान होता है। वैसे ही यदि कोई गंगाजीमें स्नान करते समय तीर्थोंके आवाहनद्वारा गंगाजलको तीर्थरूप करके स्नान करे तो उसका परिणाम क्या होगा कि उलटे सब तीर्थ ही गंगाजीमें आकर पवित्र होंगे, किंतु गंगाजीको क्या पवित्र करेंगे; क्योंकि गंगाजी तो स्वयं 'सर्वतीर्थमयी' हैं; इसी तरह कर्म भी श्रीरामजीके करनेसे स्वयं शुद्ध हुआ है जैसे सब तीर्थ गंगाजीमें आकर स्वयं पवित्र होते हैं।

यहाँतक ग्रन्थकारने श्रीरामजीका कर्म करके शुद्ध होनेमें तीन उदाहरण दिये हैं—(१) सूर्य और अन्धकारका। जैसे सूर्यमें अन्धकार नहीं लग सकता वैसे ही श्रीराममें सूतक नहीं लग सकता। (२) पावक-रूईका भाव कि यदि रूईरूप पातक लगा भी हो तो अग्निरूप राम उसे स्वयं नष्ट करनेको समर्थ हैं। (३) गंगाजी और समर्थका इसके भाव ऊपर आ चुके।

पं०—पिताकी क्रिया करके शुद्ध हुए। इसे यहाँ कैमुतिकन्यायसे कहते हैं।

नोट—वाल्मीकीय और अ० रा० से यहाँके क्रममें बहुत अन्तर है। वाल्मीकीय रामायणमें माता आदि सबको छः कोशमें ठहराकर श्रीभरतजी श्रीरामजीके दर्शनके लिये भाईसहित चले। आश्रमका धुँआ देखकर उन्होंने गुरुके पास माताओंको लेकर शीघ्र आनेके लिये सँदेसा भेजा और स्वयं श्रीरामदर्शनके लिये दौड़कर आगे बढ़े। शत्रुघ्नजी साथ ही चले और सुमन्त्र भी। दौड़कर वे रोते-रोते पृथ्वीपर गिर पड़े। श्रीरामजीने दोनोंका आलिंगन कर सुमन्त्रजीसे मिले। भरतजीको गोदमें बिठाकर उनसे बहुत प्रश्न किये, जो सर्ग १०० में हैं और जिनमें राजाओं तथा मन्त्रियोंके उचित समस्त कर्तव्योंका वर्णन भरा हुआ है। भरतजीका उत्तर सर्ग १०१ में है जिसमें राज्य ग्रहण करनेकी प्रार्थना है और श्रीरामजीका प्रत्युत्तर है। श्रीभरतजीने अभिषेककी प्रार्थना करते हुए राजाकी मृत्यु कही। अत्यन्त विलापका शोर वहाँतक पहुँचा जहाँ सब ठहरे थे। वे सब वहाँसे दौड़े। इधर श्रीरामजीने पिण्डदान दिया। सब लोग वहाँ पहुँचे, श्रीरामजी सबसे यथायोग्य मिले। तब रानियोंको लेकर श्रीवसिष्ठजी पहुँचे। माताएँ प्रथम मिलीं। तब वसिष्ठजीको देखकर श्रीरामजीने प्रणाम किया। मानसका क्रम इससे सर्वथा विलक्षण है। पहले भरत, शत्रुघ्न और गुह मिले। गुहसे गुरु-आगमन सुनकर श्रीरामजी उनसे मिलते हैं, तब पुरजनों, कैकेयी आदि माताओंसे। आश्रमपर बैठकर गुरुजी जगकी गति कहकर राजाका स्वर्गारोहण कहते हैं……इत्यादि।

सुद्ध भएँ दुइ बासर बीते। बोले गुर सन राम पिरीते॥ ४॥
नाथ लोग सब निपट दुखारी। कंद मूल फल अंबु अहारी॥ ५॥
सानुज भरतु सचिव सब माता। देखि मोहि पल जिमि जुग जाता॥ ६॥
सब समेत पुर धारिअ पाऊ। आपु इहाँ अमरावति राऊ॥ ७॥
बहुत कहेउँ सब कियेउँ ढिठाई। उचित होइ तस करिअ गोसाँई॥ ८॥

अर्थ—शुद्ध हुए जब दो दिन बीत गये तब प्यारे श्रीरामचन्द्रजी गुरुजीसे प्रीतिपूर्वक बोले॥ ४॥

हे नाथ! सब लोग कन्द-मूल-फल और जलका ही आहार करनेके कारण सर्वथा दुःख पा रहे हैं॥ ५॥ भाईसहित भरतको, मन्त्रियों और सब माताओंको देखकर मुझे एक-एक पल युगका-सा जा रहा है॥ ६॥ अतएव सबोंके समेत आप अवधपुरीको पधारें। आप यहाँ हैं और राजा इन्द्रपुरीमें हैं (अर्थात् अवध राजधानी सूनी पड़ी है, शत्रु आदिका भय है)॥ ७॥ मैंने बहुत कहा, यह सब ढिठाई की। हे गुसाईं! जैसा उचित हो वैसा आप करें॥ ८॥

'सुद्ध भएँ दुइ बासर बीते' इति।—

रा० प०—यद्यपि जिस दिन पिताका मरण सुने, उसी दिनसे दस दिनतक सूतक मानना धर्म है तथापि पिताकी योग्यता जितनी अधिक हो उतने ही सूतकके दिन न्यून हो जाते हैं; इसीसे संन्यासीका सूतक होता ही नहीं, वह शुचि ही माना जाता है। ब्राह्मणमें १० दिन, शूद्रोंमें एक मास इत्यादि सूतक मानते हैं।

नोट—१ ***'सुद्ध भएँ दुइ बासर बीते'***— शुद्ध होनेपर दो दिन बीत गये तब। इस उल्लेखसे सबके मतकी रक्षा की। जिसका जो मत है वैसा माल ले। १० दिनके पश्चात् दो दिन और, अथवा जिस दिन सब क्रिया की उसीसे दो दिन और बीतनेपर तीसरे दिन। बैजनाथजी लिखते हैं कि वैशाख शु० १४ को शुद्ध हुए। पूर्णिमा-प्रतिपदाके पश्चात् द्वितीयाकी यह बात है। वै० शु० १३ को निर्जल रहे। (ख) ***'पिरीते'*** के दोनों अर्थ हैं—प्यारे और प्रीतिपूर्वक।

नोट—२ ***'कंद मूल फल अंबु अहारी'*** इति। अर्थात् यहाँ यही आहार है। पूर्व कहा था कि ***'पय अहार फल असन एक निसि भोजन एक लोग।'*** भाव यह कि ये मुनि नहीं हैं और भोजन मिल रहा है मुनियोंका; इससे ये सब लोग दुःखी हैं। मुनियोंका दुःखी होना नहीं कहा। 'सब लोग' कहा और इसमें वे भी आ जाते हैं। (पु० रा० कु०)

नोट—३ ***'सब समेत पुर धारिअ पाऊ'*** इति। निषादने कहा था, ***'नाथ साथ मुनिनाथ के……';*** अतएव उनसे ही कहते हैं कि ***'सब समेत'*** पुरको पधारिये। पुनः, पिताके न रहनेपर अब ये ही उनकी जगह हैं। गुरु हैं, अब ये ही सबके रक्षक हैं—***'गुरु प्रभाउ पालिहि सबहिं।'*** (३०५) पुनः, ***'सब समेत'*** का भाव कि सत्यसंकल्पव्रत न छुड़ाइये, विशेष उदासीनकी आज्ञा है, सबके साथ रहनेकी नहीं, अतः सबको लेकर जाइये। ***'आपु इहाँ अमरावति राऊ'*** में व्यंगसे जनाया कि पुरीमें कोई रक्षक नहीं, न राजा, न राजगुरु; वह अनाथ पड़ी है, सूनी छोड़ना कब उचित है? (पु० रा० कु०)

नोट—४ ***'बहुत कहेउँ सब कियेउँ ढिठाई।……'*** इति। इतना कहकर निकल गये, चुप हो रहे कि बड़ोंसे इतनी धृष्टता न करनी चाहिये थी, बड़ी धृष्टता हुई जो इतना कहा, जो उचित समझिये वही कीजिये, अब और ढिठाई करना महा अयोग्य है। ***'गोसाँई'*** अर्थात् मैं आपके अधीन हूँ। आप स्वामी, मैं सेवक और ***'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।'***

दो०—धर्मसेतु करुनायतन कस न कहहु अस राम।
लोग दुखित दिन दुइ दरस देखि लहहि* बिश्राम॥ २४८॥

रामबचन सुनि सभय समाजू। जनु जलनिधि महुँ बिकल जहाजू॥ १॥
सुनि गुर गिरा सुमंगलमूला। भयेउ मनहु मारुत अनुकूला॥ २॥

अर्थ—राम! तुम धर्मके सेतु और करुणाधाम हो। भला, तुम ऐसा क्यों न कहो? अर्थात् ऐसा कहना तुम्हारे लिये योग्य है। पर लोग दुःखित हैं, दो दिन आपका दर्शन करके विश्राम पा रहे हैं और

* राजापुरमें 'लहहुँ' पाठ है। भा० दा० में 'लहहिं'। गौड़जीका सम्मत है कि शुद्ध पाठ 'लहहिं' है, 'लहहु' लेख प्रमाद है।

पावेंगे॥ २४८॥ श्रीरामजीका वचन सुनकर समाज भयभीत हो गया, मानो समुद्रमें जहाज (डूबनेके भयसे) व्याकुल हो॥ १॥ पर गुरुके सुन्दर मंगलमूल-वचन सुनकर मानो पवन अनुकूल हो गया॥ २॥

नोट—१ ***'धर्मसेतु करुनायतन कस न कहहु अस……'*** इति।—***'धर्मसेतु'***=धर्मके पुल। पुल बँधनेसे सब उसके आधारपर पार होते हैं, वैसे ही आप धर्मके सेतु हैं, सब धर्मोंके आधारभूत आप हैं, आपके ही आश्रयसे लोग चलते हैं और धर्मपर चलेंगे। हमको मानते हो, हमारा संकोच करते हो, वनवास-दु:ख उठाते हो; पर यहाँ भी पिताकी आज्ञा और गुरु-शिष्यसम्बन्धकी मर्यादा पालते जाते हो। लोगोंके दु:खको समझते हो और उनके दु:खसे दु:खी होते हो, क्योंकि करुणायतन हो।

नोट—२ ***'लोग दुखित दिन दुइ दरस देखि लहहुँ बिश्राम'*** इति। इसका अर्थ वीरकविजीने यह किया है कि 'लोग दु:खी हैं, पर दो दिनसे आपके रूपको देखकर मैं चैन पा रहा हूँ'; पर पं० रामकुमारजी और पंजाबीजी आदिका मत यह नहीं है। आगे विरोध पड़ता है। दूसरे यहाँ लोगोंके दु:ख और विश्रामका प्रसंग है, अपना नहीं। ***'लहहुँ'*** का अर्थ है यहाँ ***'लहहिं, लहैं'।*** पूर्व इसके उदाहरण दिये गये हैं। भाव यह है कि आप इनको यहाँ दु:खी मानते हैं और अयोध्या जानेमें इनको सुखी समझते हैं, पर इनको वहाँ विश्राम कहाँ? इनको तो आपके दर्शनसे ही विश्राम (सुख) है। वह दर्शन यहीं है। यहाँ रहनेसे सुख पावेंगे, वहाँ जानेसे दु:ख, यथा—***'पुरजन परिजन प्रजा गोसाईं। सब सुचि सरस सनेह सगाईं॥ राउर बदि भल भव दुख दाहू। प्रभु बिनु बादि परमपद लाहू॥'*** (३१३) अत:, ये दो (कुछ) दिन यहाँ रहकर विश्राम करें। यही बात सुनकर समाज प्रसन्न हुआ, नहीं तो रामजीके वचन सुनकर तो सब निराश हो गये थे।

पु० रा० कु०—***'रामबचन सुनि सभय समाजू……'*** इति। सभय होनेका हेतु यह है कि सबके मनमें अभिलाषा है कि ***'राजा राम जानकी रानी। आनँद अवधि अवध रजधानी॥ सुबस बसउ फिरि सहित समाजा। भरतहि राम करहु जुबराजा॥ गुरु समाज भाइन्ह सहित रामराज पुर होउ। अछत राम राजा अवध मरिय माँग सब कोउ॥'*** (२७३) इसके प्रतिकूल रामजीके वचन हैं कि सबको लेकर लौट जाइये। कैसे सभीत हुए उसकी उत्प्रेक्षा डूबते हुए जहाजसे करते हैं। जहाज डगमग हो रहा हो, डूबनेको हो तब उसके मुसाफिर (पथिकसमाज) जैसे भयभीत हों वही व्याकुल दशा इनकी हुई। पर जब गुरुके वचन सुने कि दो दिन दर्शन पाकर विश्राम पावें तब वे इन सुमंगलमूल (सुख उत्पन्न करनेवाले) वचनोंको सुनकर ऐसे सुखी हुए, मानो डूबते हुए जहाजको अनुकूल वायु मिली और वह बचकर निकल आया, आशा हुई कि पार लगेगा, आनन्द होगा। वा, अनुकूल पवन यह कि जिधर जहाजको लगना चाहिये उसी ओरको पवन चला।

नोट—३ यहाँ समाज जहाज, रामवचन जहाज डुबानेवाली प्रतिकूल वायु, गुरुवचन पवन, सुमंगल मूल अनुकूल, समुद्र वियोग—परस्पर उपमेय-उपमान हैं।

वि० त्रि०—श्रीरामजीके वचनको सुनकर सब लोग ऐसे भयभीत हो गये जैसे प्रतिकूल हवा चलनेसे जहाजके डाँवा-डोल होनेपर पथिक विकल होते हैं। भाव यह कि सबने देखा कि ये तो कुछ कहने-सुननेका अवसर ही नहीं देना चाहते। शुद्ध होनेके बाद भी दो दिन तो एकादशाह और द्वादशाहके कृत्यमें ही बीत जाता है, सो कृत्य समाप्त होते ही ये सबको जानेके लिये कह रहे हैं, अब तो लौटनेकी कोई आशा ही नहीं रह गयी, पर गुरुजीके उत्तरने हवा पलट दी, दो दिनका समय कहने-सुननेके लिये मिल गया।

दीनजी—पहले जहाज मस्तूलमें बादबान चढ़ाकर हवाके सहारे चलाये जाते थे।

पावन पय तिहुँ काल नहाहीं। जो बिलोकि अघ ओघ नसाहीं॥ ३॥
मंगलमूरति लोचन भरि भरि। निरखहिं हरषि दंडवत करि करि॥ ४॥
रामसैल बन देखन जाहीं। जहँ सुख सकल सकल दुख नाहीं॥ ५॥
झरना झरहिं सुधा सम बारी। त्रिबिध ताप हर त्रिबिध बयारी॥ ६॥
बिटप बेलि तृन अगनित जाती। फल प्रसून पल्लव बहु भाँती॥ ७॥

सुंदर सिला सुखद तरु छाहीं। जाइ बरनि बन छबि केहि पाहीं॥ ८॥

अर्थ—सब लोग पवित्र पयस्विनी एवं पयस्विनी-मन्दाकिनीके पवित्र जलमें त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न और सायं) स्नान करते हैं, जिसके दर्शनसे ही पातकसमूह नष्ट हो जाते हैं॥ ३॥ मंगलमूर्ति श्रीरामचन्द्रजीको हर्षपूर्वक दण्डवत् कर-करके नेत्र भर-भरके देखते हैं॥ ४॥ श्रीरामचन्द्रजीके पर्वत (चित्रकूट-कामदगिरि आदि) और वनको देखने जाते हैं, जहाँ सभी सुख हैं और सम्पूर्ण दुःख नहीं हैं॥ ५॥ झरने अमृत-समान जल गिराते हैं, तीनों प्रकारकी हवा तीनों तापोंको हर लेती है॥ ६॥ वृक्ष, लताएँ और तृण असंख्यों जातिके हैं, फल-फूल-पत्ते बहुत प्रकारके हैं॥ ७॥ सुन्दर शिलाएँ (चट्टानें पड़ी हैं), पेड़ोंकी छाया सुख देनेवाली है—वनकी छबि किससे वर्णन की जा सकती है? अर्थात् किसीसे नहीं॥ ८॥

नोट—१ चित्रकूटमें अवधवासियोंकी दिनचर्या क्या है, यह कहते हैं। नोट—२ *'भरि भरि', 'करि करि'* बहुवचन है, बहुत लोग हैं, सब अपनी-अपनी दण्डवत् करते हैं और सब नेत्र भर-भर अच्छी तरह दर्शन किया करते हैं। पुनः, सब बारम्बार दण्डवत् करते और देखते हैं। दर्शन और दण्डवत्‌में हर्ष आवश्यक है। हर्ष प्रसन्नता और पुलकांगका वाचक है, इससे दण्डवत् करनेवालेकी श्रद्धा-भक्ति सूचित होती है।

नोट—३ *'त्रिबिध'* शीतल, मन्द और सुगन्धित वायु चलती है। *'झरना झरहिं'* इस योगसे पानी शीतल है, शैल और वनकी आड़से आती है, इससे मन्द और फूलों-पत्तोंके योगसे सुगन्धित है, यह दिखानेके लिये प्रथम शैल-वन-झरना-फूल-सब एकत्र कहे तब वायुका चलना कहा। (पु० रा० कु०)

☞ पूर्वके *'जब तें आइ रहे रघुनायकु। तब तें भयउ बनु मंगल दायकु॥ फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना। मंजु बलित बर बेलि बिताना॥ सुरतरु सरिस सुभाय सुहाए।......त्रिबिध बयारि बहइ सुखदेनी।'* (१३७। ५—८) से मिलान कीजिये।

नोट—४ *'बिटप बेलि तृन.........'*—यथासंख्यालंकारसे वृक्षमें फल, बेलोंमें फूल, तृणमें पत्ते। अथवा, सबमें सब जैसा उपर्युक्त उद्धरण तथा आगेके *'बेलि बिटप सब सफल सफूला।.......जाइ न बरनि मनोहरताई।'* (२७९। ३—५) से सिद्ध होता है। इसी प्रकार लंकामें पहुँचनेपर *'सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥'* (६। ५। ५) वैसे ही यहाँ भी हुआ। यह सब श्रीरामजीका प्रताप और प्रसाद है। यथा—*'कामद भे गिरि राम प्रसादा।'* (२७९। १) ☞ यहाँ सब सुपास दिखाया। शिला बैठनेको, पेड़ोंकी छाया सुख और विश्रामके लिये, फल खानेको, फूल सूँघनेको, पत्ते दोनोंके लिये, जल पीनेको नेत्रोंको सुख देनेवाली हरियाली घास आदि। *'जान न बरनि......'*, यथा पूर्व कहा था—*'कहि न सकहिं सुषमा जस कानन।'* (१३९। ६)

दो०—सरनि सरोरुह जल बिहग कूजत गुंजत भृंग।
बैर बिगत बिहरत बिपिन मृग बिहंग बहु रंग॥ २४९॥

कोल किरात भिल्ल बनबासी। मधु सुचि सुन्दर स्वादु सुधा सी॥ १॥
भरि भरि परनपुटी रचि रूरीं। कंद मूल फल अंकुर जूरीं॥ २॥
सबहिं देहिं करि बिनय प्रनामा। कहि कहि स्वादु भेद गुन नामा॥ ३॥

शब्दार्थ—**'अंकुर'**=अँखुए।=फलोंके कठोर बीजोंके भीतरकी गूदी, जैसे गरी-बादाम-पिस्ता-अखरोट आदिकी भींगी। (दीनजी) **'जूरीं'**=आँटियाँ, गट्ठे—(दीनजी)=सूरन आदिके नये कल्ले जो बँधे निकलते हैं=घास-पत्तों या टहनियोंका एकमें बँधा हुआ छोटा पूला, जुट्टी। पाँड़ेजी कहते हैं कि जूरी वह है जिसका अँखुआ खाये होता है, जैसे सूरन आदि। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी कहते हैं कि जब अंकुर कुछ अधिक बड़ा हो जाता है, उसमें पत्ते निकल आते हैं, पर फूटकर पृथक्-पृथक् नहीं हो पाते, उस समय जूरी कहलाते हैं। सूरनकी जूरी उत्तर प्रान्तमें प्रसिद्ध है और खानेके काममें आती है। **'बिगत'**=विरहित, त्यागकर।

अर्थ—तालाबोंमें कमल विकसित हो रहे हैं, जलपक्षी कूजते (मधुर बोली बोलते) हैं, भौंरे गुंजार कर रहे हैं, बहुरंगके—रंग-विरंगके पक्षी-पशु वनमें वैररहित होकर विहार कर रहे हैं॥ २४९॥ मीठे, पवित्र, सुन्दर, अमृत-से स्वादवाले कन्द-मूल, फल, अंकुर और जूरीको, सुन्दर दोने बनाकर, उनमें भर-भरकर अथवा, शुचि सुन्दर अमृतका स्वादवाला मधु पत्तोंके सुन्दर बनाये हुए दोनोंमें भर-भरकर और कन्द-मूल-फल-अंकुरकी अँटिया बनाकर, कोल-किरात-भील आदि वनवासी लोग विनय और (वा, विनययुक्त) प्रणाम करके और उनके पृथक्-पृथक् स्वाद, भेद, गुण और नाम कहकर सबको देते हैं॥ १—३॥

नोट—१ *'जलबिहग कूजत……बहुरंग'* इति (क) पूर्व जो *'गुंज मंजुतर मधुकर श्रेनी।'……नीलकंठ कलकंठ सुक चातक चक्क चकोर। भाँति-भाँति बोलहिं बिहग श्रवन सुखद चितचोर ॥१३७॥ करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥ फिरत अहेर राम छबि देखी। होहिं मुदित मृग बृंद बिसेषी॥'* कह आये हैं। वह इस दोहेकी व्याख्या ही समझिये। वहाँ पक्षियों-पशुओंके नाम दिये हैं; यहाँ 'बहुरंग' से उन सबोंको जना दिया। 'बिहरत' से अन्तिम दो चरणोंका भाव भी सूचित कर दिया है। (ख) *'बैर बिगत बिहरत'*— यहाँ त्रिदेवतकका छल छूट गया तब इनके वैरका छूटना क्या? यथा विनय०—*'जहँ जनमे जगजनक जगतपति बिधि हरि हर परिहरि प्रपंच छल। सकृत प्रबेस करत जेहि आश्रम बिगत बिषाद भए पारथ नल॥'*— (२४)

नोट—२ *'मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधा सी'* इति। मीठे हैं। बाजे फल पवित्र नहीं माने जाते, जैसे गाजर, सूरन, कैथा। पर ये पवित्र हैं, देवकार्यमें लाये जा सकते हैं, वैष्णव और मुनि आदि सभी खा सकते हैं। सुन्दर देखनेमें, अमृतसम स्वादमें। अथवा, मधु=शहद।

नोट—३ (क) *'फल अंकुर जूरीं'* इति। रा० प्र० का मत है कि जैसे चना, यव आदिसे अंकुर निकलते हैं वैसे फलोंके अंकुर। वन्यपदार्थकी जूरी अर्थात् अँटिया। भाव कि कंद-मूल-फलकी अँटिया बाँधकर और अंकुरको दोनोंमें भर-भरकर विनययुक्त प्रणाम करके देते हैं।

नं० प०—*'मधु सुचि सुंदर……'* इति। मधु=शहद। यह मधु पवित्र और देखनेमें सुन्दर है, खानेमें अमृत-समान स्वादवाला है (पुटी=दोनैया; छोटा दोना। मधु आज भी कोल-किरात भीलोंके यहाँ मिलता है। वे लोग जंगलोंमेंसे मधुमक्खियोंसे छीनकर घर लाते हैं, स्वयं खाते हैं और बेचते भी हैं। इसलिये मधु जो इनके घरमें था अवधवासियोंको अतिथि जानकर ले आये। यदि कहिये कि 'श्रीरामजीके लिये क्यों नहीं लाये?' तो इसका कारण है कि श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी तपस्वी-वेषमें थे, इसलिये उनके लिये रसकी चीज नहीं लाये। मधु रसमें गिना जाता है। अन्य टीकाकारोंने 'मधु' का अर्थ 'मीठा' किया है; पर इस अर्थमें दो विरोध उपस्थित होते हैं। एक तो यह कि *'स्वादु सुधा सी'* में 'मीठी' अर्थ आ जाता है। अतः मधुका अर्थ मीठा करनेसे पुनरुक्ति होती है। दूसरे, मानसमें 'मधुर' शब्द 'मीठा' के लिये आया है। जैसे *'तात मधुर फल खाहु', 'सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी'* इत्यादि। यहाँ शुचि, सुन्दर, स्वादु, सुधा-सी ये सब 'मधु' के विशेषण हैं, कन्द-मूलके विशेषण नहीं हैं। जब श्रीरामचन्द्रजीके आनेपर कन्द-मूल-फल लाये थे तब भी कोई विशेषण न दिये थे, यथा—*'कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटन सोना॥'* (१३५। २) वैसे ही यहाँ भी कन्दादिके लिये कोई विशेषण नहीं दिये। *'भरि भरि परनपुटी रचि रूरीं'* यह चरण *'मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधा-सी'* के साथ है। 'मधु' को दोनामें भरकर लाये। पुटी और जूरी दोनोंको कन्द-मूल-फल अंकुरके साथ लेकर मानस-पीयूषमें यह अर्थ किया है कि 'कन्द-मूल, फल, अंकुरके अँटियोंको सुन्दर दोने बनाकर उनमें भर-भरकर', जिसका मतलब यह हुआ कि प्रथम कन्दादिकी अँटिया बनायी गयीं तब दोनोंमें भर-भर रखा गया। तो प्रश्न होता है कि कन्दादि दोनामें खुले नहीं रखे जा सकते थे कि जो अँटिया बनाकर रखे गये? इसलिये 'मधु' को 'पुटी' के साथ और 'जूरी' को कन्दादिके साथ लेकर अर्थ करनेसे ही विरोध मिटेगा। श्रीरामजीके लिये कन्दादि दोनामें लाये; क्योंकि वे तीन ही मूर्ति थे और भरतजीके साथ सब अवधवासी हैं, इसलिये अँटिया

बाँध-बाँधकर लाये। जब बहुत-सी चीजें एक साथ बाँधी जाती हैं तो उसको 'बोझा' कहते हैं। 'बोझे' का तीसरा या चौथा हिस्सा 'जूरी' या अँटिया कहलाता है। (नं० प०)

(नोट)—यही अर्थ मानसांक और सि० ति० ने ग्रहण किया है। श्रीत्रिपाठीजी, पाँड़ेजी और श० सा० ने 'जूरी' का जो अर्थ दिया है उसमें 'पुटी' और 'जूरी' के एक साथ लेनेमें जो अड़चन बतायी गयी है वह नहीं रहती है।

नोट—४ ***'कहि कहि स्वादु भेद गुन नामा'*** इति। स्वाद खट्टा, मीठा, कड़ुवा, खटमिट्ठा आदि; भेद कि कौन खट्टा, कौन कहाँका इत्यादि एवं जातिका भेद कि यह कन्द है, यह मूल है……; गुण पित्त, वात या कफनाशक आदि; नाम तेंदू, पियार (छिलकासहित चिरौंजी), कटार आदि। (रा० प्र०)

श्री प्र० स्वामीजी कहते हैं कि स्वाद, भेद, गुण और नाम बतानेका कारण यह है कि ये सब वन्य फल-मूलादि हैं, नगरके लोग इनसे परिचित नहीं होंगे। पुनः भाव कि गुण और स्वादादि सुनकर ग्रहण करनेकी रुचि उत्पन्न कर रहे हैं। ग्रहण करनेसे सेवा सफल होगी, हम बड़भागी होंगे। ये भाव आगे वे स्पष्ट कह रहे हैं।

नोट—५ ***'रामसैल बन देखन जाहीं'*** से ***'बिगत बैर बिहरत……'*** २४९ (५) से २४९ तक वन और शैलकी शोभा कही। २५० (१) से ***'कोल किरात……'*** का प्रेम और सेवा वर्णन करते हैं। छंद २५१ तक यही प्रसंग है।

देहिं लोग बहु मोल न लेहीं। फेरत राम दोहाई देहीं॥ ४॥
कहहिं सनेह मगन मृदु बानी। मानत साधु पेम पहिचानी॥ ५॥
तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा। पावा दरसनु राम प्रसादा॥ ६॥
हमहिं अगम अति दरसु तुम्हारा। जसु मरु धरनि देवधुनिधारा॥ ७॥
राम कृपाल निषाद नेवाजा। परिजन प्रजउ चहिअ जस राजा॥ ८॥

दो०—येह जियँ जानि सँकोचु तजि करिअ छोहु लखि नेहु।
हमहिं कृतारथ करन लगि फल तृनु अंकुर लेहु॥ २५०॥

शब्दार्थ—'**मानत**'=ग्रहण करते हैं, अंगीकार करते हैं, लेते हैं—***'मानौं एक भगति कर नाता'।***— देखिये २६५ (७) भी ***'मानत राम सुसेवक सेवा।'*** '**नेवाजा**'— निवाजिश, निवाखतन फारसी शब्द है, उससे निवाजना हिंदी क्रिया बना ली गयी है। निवाजना=अनुग्रह या कृपा करना, यथा—***'नाम गरीब अनेक निवाजे', 'कायर कूर कपूतन की हद तेउ गरीब निवाज निवाजे'।*** 'दुहाई देना'—संकट या आपत्ति आनेपर रक्षाके लिये पुकारना, अपने बचावके लिये किसीका नाम लेकर चिल्लाना।

अर्थ—श्रीअवधके लोग फल आदिका बहुत दाम देते हैं (पर) वे नहीं लेते और लौटानेमें श्रीरामजीकी दुहाई देते हैं॥ ४॥ प्रेममें डूबे हुए वे कोमल वाणीसे कहते हैं कि साधु प्रेम पहचानकर मानते हैं वा, सज्जनलोग तो एक प्रेमकी ही पहचान (चिन्हारी)-को मानते हैं (अर्थात् गुण, जाति आदिसे नहीं मानते हम तो प्रेमके मारे आपको देते हैं तब तो आपको लौटाना उचित नहीं)॥ ५॥ आप धर्मात्मा हैं, हम नीच (हैं; उसपर भी) निषाद (हिंसक जाति) हैं। श्रीरामजीकी प्रसन्नता एवं कृपासे ही आपका दर्शन पाया॥ ६॥ हमको आपलोगोंका दर्शन बड़ा दुर्लभ है, जैसे मारवाड़ देशको गंगाजीकी धारा (दुर्लभ)॥ ७॥ कृपालु श्रीरामजीने निषादपर कृपा की, जैसा राजा है वैसा ही उसके परिजन और प्रजाको भी होना ही चाहिये (अर्थात् आपको भी हम सबपर कृपा करनी चाहिये)॥ ८॥ ऐसा हृदयमें जानकर संकोचको छोड़कर हमारा प्रेम देखकर कृपा कीजिये और हमको कृतार्थ करनेके लिये फल-तृण-अंकुर लीजिये॥ २५०॥

नोट—१ ***'राम दोहाई देहीं'*** अर्थात् आप बड़ी अनीति करते हैं, श्रीरामजीकी दुहाई है, वे हमारी रक्षा करें एवं आपको श्रीरामजीकी शपथ है ऐसा न कीजिये। दोनों भाव 'दोहाई' में हैं।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—***'मानत साधु पेम पहिचानी'*** इति। सज्जन प्रेम पहचानकर मानते हैं,

हममें प्रेम हो तो लीजिये।—*'सुर साधु चाहत भाउ सिंधु कि तोष जल अंजलि दिए।'* (१। ३२६) **'अपांनिधिं वारिभिरर्चयन्ति दीपेन सूर्यं परिबोधयन्ति। ताभ्यां तयोः किं परिपूर्णतास्ति भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः॥'**

टिप्पणी—२ *'हम नीच निषादा। पावा दर्शन……'*। भाव कि हम हैं तो बड़े नीच हिंसक लोग; पर आपके दर्शनसे हम भी सुकृती हो गये। *'राम प्रसादा'*, यथा—*'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता'*, *'जब द्रवैं दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये।'* (वि० १३६)

टिप्पणी—३ *'जसु मरुभूमि देवधुनिधारा'* अर्थात् जहाँ एक जलाशय नहीं, साधारण जल भी दुर्लभ, वहाँ नदी और वह भी देवनदीकी धारा ही पहुँच जाय जो पीनेमें सुखद और अन्तमें सद्‌गति देनेवाली है तो उनके पुण्योदयका क्या कहना, उनको तो दर्शन भी दुर्लभ था। वैसे ही हमको एक भी साधु सुकृतीका दर्शन दुर्लभ था, यहाँ सब अवधवासियोंका घर बैठे दर्शन हो यह 'रामप्रसाद' से।

टिप्पणी—४ *'राम कृपालु निषाद नेवाजा। परिजन प्रजउ……'* इति। दूसरा अर्थ यह है कि रामजीने निषादराजको नेवाजा, राम राजा हैं। आप परिजन और प्रजा हैं और हम निषादकी प्रजा हैं, अतएव आप हमपर कृपा करें। (रा० प्र०)

तुम्ह प्रिय पाहुने बन पगु धारे। सेवा जोगु न भाग हमारे॥ १॥
देब काह हम तुम्हहि गोसाँई। ईंधनु पात किरात मिताँई॥ २॥
एह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥ ३॥
हम जड़ जीव जीवगन घाती। कुटिल* कुचाली कुमति कुजाती॥ ४॥

शब्दार्थ—**पाहुन** (सं० प्राघूर्ण)=मेहमान, अतिथि। (**ईंधन**=जलानेकी लकड़ी। **पात**=पत्ते, पत्तल। **बासन**=बर्तन, पात्र। **घाती**=घातक, हिंसक, मारनेवाले।

अर्थ—आपसे प्यारे मेहमान वनमें पधारे (आये), आपकी सेवाके योग्य हमारे भाग्य ही नहीं हैं॥ १॥ हे गुसाईं! हम आपको क्या देंगे? (अर्थात् कुछ भी देने योग्य नहीं हैं, न दे सकते हैं)। किरातोंकी मित्रता (तो बस) ईंधन और पत्तेकी है अर्थात् इनसे मित्रता हुई तो इनसे यही भर मिल सकता है॥ २॥ हमारी अत्यन्त बड़ी सेवा यह है कि वस्त्र और बर्तन चुरा न लें॥ ३॥ हम जड़ जीव हैं, जीवोंकी हिंसा करनेवाले हैं, कुटिल, कुचाली, दुर्बुद्धि और कुजाति हैं॥ ४॥

पं०—*'तुम्ह प्रिय पाहुने बन पगु धारे।'* भाव यह कि जिसके घर कोई अतिथि आवे उसको अतिथिकी सेवा-सत्कार अवश्य करना चाहिये। पर हमारा दुर्भाग्य है कि आपकी सेवा योग्य नहीं। जो कुछ है वही अर्पण करते हैं। दूसरे हमको और सेवाका अधिकार भी नहीं, ईंधन-पत्ते छोड़ हमारी छुई वस्तु आप ले नहीं सकते।

पु० रा० कु०—(क) *'सेवा जोग न भाग'* अर्थात् न अधिकार ही है और न आपकी सेवाके योग्य हमारे पास विभूति है। सेवा की भरद्वाजने। (ख) *'जीवगन घाती'* अर्थात् एक प्राणकी हिंसा बड़ा पाप है और हम निरे जीवोंको नित्यप्रति मारते हैं तब हमारी अधमताका ठिकाना क्या?—*'हिंसापर अति प्रीति तिन्हके पापहि कवनि मिति।'* (१। १८३) माण्डव्य ऋषिने लड़कपनमें अबोध अवस्थामें एक कीड़ेको मारा था उसका फल हुआ कि छुरीसे मारे गये, हमारी न जाने क्या गति हो। स्वभावसे कुटिल, चाल कुत्सित। जैसी जाति वैसी बुद्धि, दुर्बद्धिसे कुचाल कर्म व्यवहार, उससे स्वभाव भी वैसा ही कुटिल हो गया। हिंसा करते-करते जड़वत् निर्दयी कठोर हृदय हो गये।

वै०—*'जड़'*, यथा—'**इष्टं वानिष्टं वा सुखदुःखे वा न चेह यो मोहाद् विन्दति परवशगः स भवेदिह जडसंज्ञकः।**' अर्थात् जिसे मोहके वश हानि-लाभ, सुख-दुःखका विचार नहीं रह जाता वह जड़ है।

* कुटिक—(ल० सीताराम)।—यह अशुद्ध छपा जान पड़ता है।

पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं॥ ५॥
सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ। येह रघुनंदन दरस प्रभाऊ॥ ६॥
जब तें प्रभु पद पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥ ७॥
बचन सुनत पुरजन अनुरागे। तिन्ह के भाग सराहन लागे॥ ८॥

अर्थ—पाप करते ही हमारे दिन-रात बीतते हैं (तो भी) न कमरमें कपड़ा है और न पेट ही भरता है॥ ५॥ स्वप्नमें भी कभी धर्मबुद्धि कैसी? (जो आपको विनय-प्रणाम करते हैं, फल-फूल लाये, आपकी चोरी या हिंसा न की, इत्यादि धर्मबुद्धि हुई, अधर्म छूटा) यह सब श्रीरघुनाथजीके दर्शनका प्रभाव है॥ ६॥ जबसे प्रभुके पदकमल देखे तबसे हमारे दु:सह दु:ख-दोष दूर हुए॥ ७॥ किरातोंके प्रेमपूर्ण वचन सुनकर पुरजन प्रेममें भर गये और उनके भाग्यकी बड़ाई करने लगे (धन्य हैं इनके भाग्य, चार दिनमें इनको इतना प्रेम हो गया, हम राजकुमार ही समझते रहे, हममें यह प्रेम नहीं)॥ ८॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० ***'नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं।'*** दिन-रात हिंसा करते हैं तो बहुत कुछ कमाकर धर लिया हो सो भी नहीं, इतना पाप करनेपर भी कमरमें भी लपेटनेभरका वस्त्र नहीं और पेटभर भोजन नहीं मिलता। (नोट—अबतक भीलोंकी यह दशा है। जबसे फौज आदिमें भरती हुई तबसे अब वस्त्र पहनने लगे, नहीं तो नंगे रहते थे, बहुत हुआ तो घास आदिसे गुप्तांगभर ढक लेते थे)।

टिप्पणी—२ ***'मिटे दुसह दुख दोष हमारे।'*** अर्थात् स्वभाव छूट गया, सरलता आ गयी। वा, जीवघात-दोष और पेट न भरनेका दु:ख दूर हुए। कंगालको दु:ख होता ही है। इससे बढ़कर दु:ख नहीं—***'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।'*** (७। १२१। १३)। वह दरिद्रता मिट गयी। (पां० रा० प्र०) कारण-कार्य दोनों मिटे। पाप कारण और दु:ख कार्य्य है, यथा—***'करहिं पाप पावहिं दुख'''''' ।*** ७। १००।'

छं०—लागे सराहन भाग सब अनुराग बचन सुनावहीं।
बोलनि मिलनि सिय-राम-चरन सनेहु लखि सुखु पावहीं॥
नर नारि निदरहिं नेहु निज सुनि कोल भिल्लनि की गिरा।
तुलसी कृपा रघुबंसमनि की लोह लै लोका* तिरा॥

सो०—बिहरहिं बन चहुँ ओर प्रतिदिन प्रमुदित लोग सब।
जल ज्यों दादुर मोर भये पीन पावस प्रथम॥ २५१॥

शब्दार्थ—'**लोका**' (लावुक)=तूँबी, कद्दू; यथा—***'भइ मूजीलौका परबती रौंता कीन्ह काटि कैरती।'*** (जायसी) गी० प्रे० ने इसका अर्थ 'नौका' किया है। '**तिरा**' (सं० तरण)=तैरना, तरना, पानीपर ठहरना वा उतराना, पार होना। '**पावस**' (प्रावृष) वर्षाकाल।

अर्थ—सब लोग किरातोंके भाग्यकी सराहना करने लगे और प्रेमके वचन सुना रहे हैं। उनकी बोलचाल और मिलनसारी और श्रीसीतारामचरणानुराग देखकर सुख पा रहे हैं। कोल-भीलोंकी वाणी सुनकर स्त्री-पुरुष (सभी) अपने प्रेमका निरादर करते हैं। (निन्दित, धिक्, तुच्छ मानते हैं)। तुलसीदासजी कहते हैं कि यह रघुकुलशिरोमणि रामचन्द्रजीकी कृपा है कि लोहा तोंबेको लादकर तैर रहा है। सब लोग परम

* 'लोका' राजापुर। 'नौका'—आधुनिक प्रतियोंमें। श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'लोका' पाठ दूषित है; क्योंकि यहाँ श्रीरामजीके प्रेमका प्रसंग है। लोहेको लेकर जलसे पार जानेका काम 'नौका' का है न कि तुंबाका। नौका स्वयं पार जाती है तथा औरोंको पार करती है, वैसे ही श्रीरामजीके प्रेमी स्वयं तरते और दूसरोंको तारते हैं। इसी तरह अवधवासी स्वयं पार जायँगे और उन्हींके प्रेमसे दूसरे भी पार जायँगे—ऐसे अवधवासियोंको 'तुंबा' की समता करनी कितने भारी अपचारकी बात है। ऐसा करना ग्रन्थकारकी कीर्तिमें दोष लगाना है।

आनन्दित होकर वनमें चारों ओर घूमते हैं और बड़े ही आनन्दित हैं, जैसे वर्षा-ऋतुकी पहली ही वर्षा-के जलसे मेंढक और मोर मोटे हो जाते हैं (आनन्दसे फूल उठते हैं और विचरते हैं)॥ २५१॥

नोट—१ *'बोलनि मिलनि……'* इति। बोल-चालका ढंग, यथा—*'कहहिं सनेह मगन मृदु बानी। मानत साधु प्रेम पहिचानी……', 'हमहि कृतारथ करन लगि फल तृन अंकुर लेहु'*। (दोहा २५० से २५१) (६) तक। मिलनसारी, यथा—*'मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधा सी।……फेरत राम दोहाई देहीं।'* (२५०। १—४) सियरामचरण-स्नेह, यथा—*'येहु रघुनंदन दरस प्रभाऊ॥ जब तें प्रभुपद पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥'* वस्तुतः ये तीनों प्रसंगभरमें हैं।

नोट—२ *'नर नारि निदरहिं नेहु निज……'* इति।—जैसे निषादोंने अपनी निन्दा और इनकी बड़ाई की वैसे ही ये उनकी बड़ाई और अपनी निन्दा करते हैं। हममें प्रेम होता तो क्या हमको छोड़कर यहाँ तुमलोगोंमें आकर रहते, तुम्हारा प्रेम बढ़ा-चढ़ा है, बड़े सुकृती हो, तुम्हारे दर्शनसे हमलोग कृतार्थ हुए। पंजाबीजी लिखते हैं कि अपनेको न्यून मानते हैं कि हम वर्ण, कर्म, धर्म आदिसे उत्तम हैं तो भी हम श्रीरामजीको राजकुमार ही मानते रहे और ये सब भाँति नीच थे सो इनको थोड़े ही दिनोंमें इतना प्रेम हो गया कि इनके वचन सुनकर हमको प्रभुमें विशेष प्रेम-प्रतीति हुई।

* 'लोह लै लोका तिरा' *

वै०, रा० प्र०, पु० रा० कु०—जो अवधवासी कृतार्थरूप हैं, जिनके दर्शनसे अन्य जीव तर जाते हैं, वे कोल-भीलोंके प्रेमको देखकर अपनेको कृतार्थ मानकर उनके भाग्यकी प्रशंसा, उनके प्रेमकी प्रशंसा करते हैं, उनके प्रेमको देखकर सुख पा रहे हैं, अर्थात् दुष्टात्मा हिंसक निषादोंके प्रेमको देखकर अवधवासियोंमें प्रेम बढ़ा; यद्यपि होना चाहिये था कि इनके प्रेमको देखकर निषादोंमें प्रेम बढ़ता, ऐसा न होकर यहाँ उलटा ही हुआ। इसीका दृष्टान्त असंगति अलंकारद्वारा देते हैं। उससे दिखाते हैं कि प्रभुकी कृपाका क्या प्रभाव है, क्या महत्त्व है, इसे मनमें विचारकर समझिये। [कृपा-प्रताप आदिका प्रभाव मानसमें अन्यत्र भी कहा है। जैसे—*'ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं जा पर तुम्ह अनुकूल। तव प्रताप बडवानलहि जारि सकइ खलु तूल॥'* (सु० ३३), *'प्रभु प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल।'* (५। १६) *'बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भये उपल बोहित सम तेई॥ महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी॥ श्रीरघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान। ते मतिमंद जे राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन॥'* (लं० ३) *'जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करै चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य॥'* (उ० ११९) *'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहिं मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय रामहिं भजहिं प्रबीन॥'* (उ० १२२) इत्यादि]

लोहा डूब जानेवाली वस्तु है, यही नहीं, वह स्वयं डूबे दूसरेको भी डुबा दे। 'लोका' (बड़े-बड़े लौके) जिनके कमण्डलु बनते हैं और जिनको तूँबी, तितलौकी भी कहते हैं। लोग तैरना सीखते समय इनको कमरमें और पेटमें बाँध लेते हैं जिसमें डूबें नहीं। यह न स्वयं डूबे और न दूसरोंको डूबने दे, बराबर उतराता ही रहता है। लौकेमें लोहेको रख दें तो भी वह तैरता ही रहे, उनका बेड़ा मनों लोहा लादकर नदी पार कर देता है, यह होना ही चाहिये और होता ही है। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं, न लोहेकी विशेषता है जो सराही जावे। पर यहाँ तो लौकाको अपने ऊपर लेकर तैर रहा है, यह असम्भव कार्य हो रहा है—यह रामजीकी कृपा है।

यहाँ अवधवासी (स्वयं कृतार्थरूप) लौका हैं और कोल-भील लोहा हैं। अपने प्रेमको धिक्कार देना, उनके प्रेमकी प्रशंसा करना और अपनेको कृतार्थ मानना लोहाका लौकाको लेकर उतराना है।

किसी-किसीका मत है कि यहाँ 'रामकृपा लौका है, जो स्वयं तारन-तरन है और लोहासम कोल-भील हैं जो उस कृपासे प्रेमी और शुद्ध स्वभावके हो गये।' पर छन्दसे रामकृपाका लौका होना नहीं पाया जाता, वह लौका और लोहा दोनोंसे पृथक् पदार्थ है, जिसके प्रभावको लौका और लोहके दृष्टान्तद्वारा दिखा रहे हैं।

पुनः, आधुनिक टीकाकारोंने लौकाका अर्थ नाव करके यह अर्थ किया है कि लोहा (नावमें लगा हुआ) नावको लेकर तैरता है, पर कविका यह अभिप्राय नहीं है और न इसमें कुछ लोहेकी विशेषता है।

श्रीनंगे परमहंसजीने 'नौका' पाठ रखा है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'लोह लै लौका तिरा'* इति। *'लोह लै'* का अर्थ है 'लड़ाई करके', यथा—*'सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥'* आजकलके बोलचालमें भी लोहा लेना लड़ाई करनेको कहते हैं। लड़ाई करके जहाजका पार पाना कठिन हो जाता है, लौकाका क्या पार पावेगा? सो रघुवंशमणिकी कृपाका ऐसा प्रभाव है कि अवधवासी ऐसे पण्डित लोगोंसे लड़ाई करके अर्थात् वादविवाद करके लौका स्थानीय वनवासी किरात पार पा गये, उन्हें उनका दिया हुआ कन्द-मूल-फल स्वीकृत करना पड़ा।

नोट—३ *'जल ज्यों दादुर मोर भये पीन पावस प्रथम'* इति। वर्षाका प्रथम जल पाते ही गर्मीसे झुलसे हुए मेंढक मोटे हो जाते हैं, इधर-उधर खूब फुदकते फिरते हैं, मग्न हो टर्र-टर्रकी ध्वनि लगाते हैं और मोरके पक्ष होते हैं वह भी मुटा जाता है और मारे आनन्दके नाचने लगता है, वैसे ही रामविरहरूपी ग्रीष्मकी तपनसे तपे हुए अवधवासी लोग घनश्यामराम-रूपके दर्शन-जलको पाकर प्रफुल्लित हो गये और वनमें आनन्दपूर्वक विहार करते हैं—उदाहरण तो इतने ही मात्रके लिये है। पर इसमें उपमासे यह भी भाव निकलता है कि जैसे वर्षाके अन्तमें फिर सुख नहीं रह जाता, वैसे ही इनका भी यह सुख बहुत दिनका नहीं है। आगे फिर दर्शन स्थिर नहीं रहेगा; वियोग होगा। यहाँ उदाहरण अलंकार है। यह 'प्रथम' पदका भाव है—(पं०, पु० रा० कु०)।

पुरजन* नारि मगन अति प्रीती। बासर जाहिं पलक सम बीती॥ १॥
सीय सासु प्रति बेषु बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई॥ २॥
लखा न मरमु राम बिनु काहूँ। माया सब सिय माया माहूँ॥ ३॥
सीय सासु सेवा बस कीन्हीं। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्हीं॥ ४॥

अर्थ—श्रीअवधपुरवासी पुरुष और स्त्री सभी बड़े प्रेममें मग्न हैं। (अत्यन्त प्रेमके कारण) दिन पलक-समान बीत जाते हैं॥ १॥ प्रत्येक सासुके लिये श्रीसीताजी एक-एक वेष (वा, प्रतिवेषु, इस प्रकार ७०० सासुओंके लिये ७०० रूप हुए) बनाकर उन सबकी आदरपूर्वक एक-सी सेवा करती हैं॥ २॥ श्रीरामजीके सिवा और कोई यह मर्म न (जान) पाया। (क्योंकि) सारी माया श्रीसीताजीकी मायामें (उसके ही अन्तर्गत) है॥ ३॥ श्रीसीताजीने सासुओंको सेवासे वशमें कर लिया और उन्होंने सुख पाकर शिक्षा और आशीर्वाद दिया॥ ४॥

नोट—पुरवासियोंके वन-शैल आदिमें विचरणका प्रसंग जो दोहा २४९ (५) *'राम सैल बन देखन जाहीं'* से उठा था, वह दोहा २५१ *'बिहरहिं बन चहुँ ओर……'* पर समाप्त हुआ। अब इस दोहेमें सीताजीद्वारा सासुओंकी सेवा कहते हैं।

नोट—१ *'बासर जाहिं पलक सम बीती'* सुखके दिन इसी तरह बीत जाते हैं। इसीसे *'मगन अति प्रीती'* कहकर तब यह कहा। यथा—*'गये बीति कछु दिन येहि भाँती। प्रमुदित पुरजन सकल बराती॥'* (१। ३१२। ४) *'कछुक दिवस बीते यहि भाँती। जात न जानिअ दिन अरु राती॥'* (१। १९७। १)। *'बहुत दिवस बीते एहि भाँती। जनु सनेह रजु बँधे…… ॥'*

२—*'सादर करइ सरिस सेवकाई'* इति। 'सरिस' का अर्थ है, सदृश, समान, तुल्य। भाव यह है कि जैसी सेवा बहूको सासुकी करनी चाहिये, सासुके योग्य, वैसी ही करती हैं। पुनः, सब सासुओंकी

* राजापुर और पं० रा० गु० द्वि०, रा० प्र० का यही पाठ है। यहाँ, 'जन'=पुरुष, नर। पाठान्तर 'पुरनर' है।

सेवा एक समान, एक-सी करती हैं, किसीकी बहुत, किसीकी कम ऐसा नहीं। देखिये दोहावलीमें कहा है—*'सासु ससुर गुरु मातु पितु प्रभु भयो चहै सब कोइ। होनो दूजी ओरको सुजन सराहिय सोइ॥'* (३९१) ये सबकी बहू बनकर सबकी सेवा कर रही हैं, इसीसे सब वशमें हुईं, सब सुखी हुईं, सबने पति-प्रेम और सौभाग्यवती होनेका आशीर्वाद दिया। पाँड़ेजीने भी 'सरिस' का यही अर्थ किया है।

३ *'माया सब सियमाया माहू'।*—(क) जितनी भी संसारमें मायाएँ हैं—देव-देवीमाया, दैत्यमाया, निशाचरीमाया, त्रिदेवमाया इत्यादि—वह सब इन्हींकी मायाके अन्तर्गत हैं। नौ कोटि दुर्गा, अनन्तकोटि देवियाँ सब मायामय हैं। वे सब इन्हींके अंशसे हैं, सबकी मूल ये ही हैं। (पु० रा० कु०) (ख)—प्रत्येक सासु यही समझती रही कि बस हमारी ही सेवामें लगी हुई हैं, दूसरी सासुके पास नहीं गयीं। किसीको यह भेद न मालूम हुआ कि प्रत्येककी सेवामें एक-एक रूपसे हैं। क्यों न जान पाया, उसका कारण कि सब माया इनकी मायाके भीतर हैं। अर्थात् संसारके जितने प्राणी हैं वे सब इनकी मायाके रचे हुए हैं, ये आदिशक्ति हैं, ब्रह्मादिक सब इन्हींकी मायासे उत्पन्न हुए, यथा—*'आदिशक्ति जेहि जग उपजाया।', 'जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी।'* (१। १४८। ३)। जिस बातको ये प्रकट न करना चाहें उसे मायारचित प्राणी कब जान सकते हैं। मायाके भीतर पड़ा हुआ जीव कदापि नहीं जान सकता। प्रभु मायासे परे हैं। पुनः, ऐश्वर्यदेशमें श्रीसीतारामजी अभिन्न हैं—*'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत (वा, देखियत) भिन्न न भिन्न।'* यदि *'राम बिनु'* न कहते तो लोग समझते कि इन्होंने भी न जाना। अभिन्नता एवं ब्रह्मत्वमें संदेह होता। उस भ्रमके निवारणार्थ यह कहा। नहीं तो उनका जानना कहनेकी आवश्यकता न थी।

वि० त्रि०—भगवती जनकनन्दिनी साक्षात् सरकारकी माया हैं, यथा—*'आदि सकति जेहि जग उपजाया। सो अवतरिहि मोर यह माया॥'* तथा—*'सुनु खग प्रबल रामकी माया। जो ज्ञानिहु कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह बस करई॥'* अतः सीताजी महामाया हैं। इनके भेदको कौन जान सके, जिसकी माया है, वही जाने। अतः सीताजी उतने वेषोंमें सासुओंकी सेवा कर रही हैं, इस मर्मको सिवा सरकारके और किसीने नहीं लखा। महामायाके अन्तर्गत ही सब मायाएँ हैं; इसलिये *'माया सब सिय माया माहू'* कहा।

प० प० प्र०—जनकपुरमें बारातके आगमनपर तथा अरण्यमें अग्निमें गुप्त होनेके समय भी कहा है कि *'सिय महिमा रघुनायक जानी। हरषे हृदय हेतु पहिचानी॥ बिभव भेद कछु कोउ न जाना। सकल जनक कर करहिं बखाना॥'* (१। ३०७। ३, २) *'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता॥ लछिमनहू यह मरम न जाना।'* (२। २४। ४-५) वैसे ही यहाँ भी समस्त अनेक रूप प्रतिबिम्बरूप थे।

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥ ५॥
अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई॥ ६॥
लोकहुँ बेद बिदित कबि कहहीं। राम बिमुख थलु नरक न लहहीं॥ ७॥

शब्दार्थ—'**बीचु**'=अवकाश, रास्ता, दरार, विवर। '**जाचति**'=प्रार्थना करती है, प्राप्त करनेके लिये विनय करती है, माँगती है।

अर्थ—श्रीसीतासहित दोनों भाइयोंको सरलस्वभाव (निष्कपट व्यवहार) देखकर कुटिल रानी कैकेयी भरपूर पछताई॥ ५॥ कैकेयी पृथ्वी और यमराजसे याचना करती है, पर न तो पृथ्वी रास्ता देती है और न विधाता वा भाग्य मौत देता है॥ ६॥ वेद और लोकमें भी प्रसिद्ध है और कवि लोग कहते हैं कि रामविमुखको नरकमें भी स्थान नहीं मिलता॥ ७॥

पु० रा० कु०—*'लखि सिय सहित सरल दोउ भाई।……'* इति। कैकेयीने देख लिया कि जैसा मन्थराके कहनेमें आकर मैंने इन तीनोंको बुरा-भला कहा था और दोनों भाइयोंको कुटिल समझी थी वह सब झूठ निकला—वे तो सौम्य निष्कपट स्वभाव हैं, वनवास मैंने ही दिया, पर ये मुझसे रंज न मानकर मुझे अपनी माताओंसे अधिक अब भी मानते हैं। अतएव वह अघाकर पछतायी। यहाँ श्रीदशरथजी महाराजके

वचनका चरितार्थ है—यथा वहाँ *'फिरि पछितैहसि अंत अभागी। मारसि गाइ नहारू लागी॥'* (३६। ८)। तथा यहाँ *'कुटिल रानि पछितानि अघाई।'*

* 'अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीचु बिधि……' *

यहाँ प्रथम चरणमें पृथ्वीसे और यमराजसे याचना करना लिखते हैं और दूसरे चरणका साधारणतया यह अर्थ होता है कि पृथ्वी बीच नहीं देती और विधि (विधाता) मृत्यु नहीं देते। क्या माँगा, यह प्रथम चरणमें नहीं दिया है। दूसरे चरणसे उसका बोध कर लिया जाता है कि महिसे 'बीच' माँगा, वह बीच नहीं देती, यमसे मृत्यु माँगी पर विधाता मृत्यु नहीं देते। माँगा यमसे और देते नहीं 'विधि' यह कैसा? इसका कारण है कि पूर्व कह चुके हैं—*'हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस बिधि हाथ।'* मृत्यु यमराजके हाथ नहीं है। वे तो केवल समयपर पापीको ले जाते हैं, मृत्यु देना न देना, दूसरेके हाथ है। इसीसे पहलेमें यम, दूसरेमें विधि शब्द दिये। इसी असमंजससे 'विधि' का अर्थ 'विधाता' न लेकर 'विधान' अर्थ लेकर भी लोग इस चरणका अर्थ यों करते हैं—'पृथ्वी बीच नहीं देती और मृत्यु 'विधि' (अर्थात् मरणकी व्यवस्था, मरणका विधान) नहीं देती।' मृत्युका अर्थ कोशमें यमराज भी दिया हुआ है। इसी तरह पाँड़ेजीने 'विधि' का अर्थ *'हानि लाभ जीवन……बिधि हाथ'* में किया है और उसीको कतिपय टीकाकारोंने लिया है।

इसी असंगतिके भयसे और प्रकारसे भी अर्थ किये गये हैं—(क) कैकेयी विनती करती है कि 'हे पृथ्वी! बीच क्यों नहीं देती हो? हे यमराज! मुझे मरणका विधान क्यों नहीं देते?' (ख)—(जब वे नहीं देते तब विधिसे कहती हैं) हे विधि! पृथ्वी हमें बीच और यमराज मृत्यु नहीं देते। (ग)—बैजनाथजी एवं रा० प० कार *'अब निज महि'* पाठ लेकर अर्थ करते हैं—'अब कैकेयी अपने अन्तर (हृदयमें) याचना करती है कि भूमि फट जा, मैं समा जाऊँ। वा, विधाता मुझको मृत्यु दे। पर न धरती बीच दे, न विधाता मृत्यु दे'। और दो-एक टीकाकारोंने पाठ बदलकर, 'अब जिय महँ' पाठ रखा है।

गौड़जी—कैकेयी पृथ्वीसे माँगती है कि आप 'अवनी' हैं। रक्षा करनेवाली हैं। मैं अब मुँह दिखाने लायक न रह गयी, मुझे अपनी गोदमें लेकर मेरी रक्षा करो। यमसे कहती है कि 'कर्मोंपर आपका पूरा अधिकार है, आप भाग्यके अनुसार चलानेवाले हैं। किसी ढंगसे मुझे मृत्यु दीजिये।' परंतु पृथ्वी न तो बीच देती है और न भाग्य मृत्यु देता है। विधि, दैव, भाग्य पर्याय हैं। यहाँ भाग्यके अर्थमें 'विधि' शब्द आया है। ब्रह्माके अर्थमें नहीं।

नोट—१ पृथ्वीसे माँगा कि तुम फट जाओ, मैं समा जाऊँ। यमराजसे कहा कि मृत्यु दे दो। जिससे मेरा मुख कोई न देखे। यह पश्चात्तापकी परिपूर्णता वा पराकाष्ठा दिखायी। प्रथम पृथ्वीसे माँगा, क्योंकि इससे मनकी अभिलाषा ठीक-ठीक पूर्ण हो जाती, फट जानेपर तुरंत समा जानेसे एकदम सबके नेत्रोंसे ओझल हो जायँगी। और प्रकार मृत्यु होनेसे कुछ देर शव लोगोंके सामने रहेगी। पर जब पृथ्वीने न दिया तब यमराजसे याचना की यही (अर्थात् मृत्यु ही) सही।

पं० रा० चं० शुक्ल—सब माताओंसे पहले प्रेमपूर्वक राम कैकेयीसे मिले। क्यों? क्या उसे चिढ़ानेके लिये? कदापि नहीं। कैकेयीसे प्रेमपूर्वक मिलनेकी अधिक आवश्यकता थी। अपना महत्त्व या सहिष्णुता दिखानेके लिये नहीं; उसके परितोषके लिये। अपनी करनीपर कैकेयीको जो ग्लानि थी, वह रामहीके दूर किये दूर हो सकती थी और किसीके किये नहीं। उन्होंने माताओंसे मिलते समय स्पष्ट कहा था कि *'अंब ईस आधीन जग काहु न देइय दोषु।'* कैकेयीको ग्लानि थी या नहीं, इस प्रकारके संदेहका स्थान गोस्वामीजीने नहीं रखा। स्वभावगत भी होती तो भी रामकी सरलता और सुशीलता उसे कोमल करनेमें समर्थ थी—*'लखि सियसहित सरल दोउ भाई……।'* ☞ जिस समाजके शीलसंदर्भकी मनोहारिणी छटाको देख वनके कोल-किरात मुग्ध होकर सात्त्विकवृत्तिमें लीन हो गये, उसका प्रभाव उसी समाजमें रहनेवाली कैकेयीपर

कैसे न पड़ता?—*'भये सब साधु किरात किरातिनि राम दरस मिटि गइ कलुषाई॥'* (गी० २। ४६) (वैसे ही कुटिल पापिनी किरातिनीरूप कैकेयीको श्रीरामकी सरलता और शीलने सात्त्विक बना दिया, जिससे उसके हृदयमें अपनी करनीपर अत्यन्त ग्लानि हो रही है।)

नोट—२ *'राम बिमुख थलु नरक न लहहीं'* इति। (क) पृथ्वीका फट जाना और मृत्युकी प्राप्ति यही कैकेयीने माँगी थी। वही यहाँ 'नरक' के स्थानपर समझिये। कैकेयीको रामविमुख कैसे कहा? जैसे उसे 'किरातिनि', 'पापिनि' इत्यादि कहते आये हैं, वैसे ही यहाँ 'रामविमुख' कहा—*'बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही'* और *'एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ'* इत्यादि, तथा यहाँ *'रामबिमुख......।'* (रा० प्र०) भाव यह है कि पृथ्वीका फटना और मृत्युके मिलनेकी कौन कहे, यदि रामविमुख नरकमें भी छिपनेकी जगह कबूल करे तो नरक भी तो उसे ठौर न देंगे। ऐसेसे वे भी घृणा करेंगे, वे भी न चाहेंगे कि ऐसा पापी हमारे यहाँ आवे। यथा—*'अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहु नाक सकोरी॥'* (१। २९। १)। [*'राखि को सकइ राम कर द्रोही।.......सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥'* (३। २। ५—८) का भाव यहाँ भी है। (प० प० प्र०)] इससे 'रामविमुख' की अधमताकी पराकाष्ठा जनायी।

यहु संसउ सब के मन माहीं। राम गँवनु बिधि अवध कि नाहीं॥ ८॥

दो०—निसि न नीद नहि भूख दिन भरतु बिकल सुचि[1] सोच।
नीच कीच बिच मगन जस मीनहि सलिल सँकोच॥ २५२॥

शब्दार्थ—**नीच**=नीचेके, तलके—(दीनजी)। **संकोच**=कमी; खिंचाव, भय। संकीर्णता, तंगी।

अर्थ—सबके मनमें यही संदेह है कि हे विधाता, रामचन्द्रजीका गमन अवधको होगा कि नहीं?॥ ८॥ श्रीभरतजीको न (तो) रातमें नींद ही पड़ती है न दिनमें भूख लगती है वे शुद्ध पवित्र सोचसे ऐसे विकल हैं। जैसे नीच कीचड़के बीचमें[2] डूबी पड़ी हुई मछलीको जलके संकोचसे व्याकुलता हो॥ २५२॥

नोट—१ *'यहु संसउ सब के मन माहीं......'* इति। पितृकर्मके दो दिनके पश्चात् श्रीरामजीने गुरुसे प्रार्थना की थी कि *'सब समेत पुर धारिय पाऊ।'* उसका उत्तर लिखकर वह प्रसंग *'रामबचन सुनि सभय समाजू। जनु जलनिधि महँ बिकल जहाजू॥ सुनि गुर गिरा सुमंगल मूला। भयउ मनहुँ मारुत अनुकूला॥'* (२४९। २) पर छोड़ा था। बीचमें अवधवासियोंकी दिनचर्या कही जो प्रसंग *'रामबिमुख थल नरक न लहहीं।'* (२५२। ७) पर समाप्त हुआ। अब कुछ दिन वा दो दिन भी बीत गये तब फिर पूर्वसे प्रसंग उठाते हैं। वहाँ *'सब समेत पुर धारिय पाऊ'* और *'सभय समाजू'* कहा था। उसी सम्बन्धसे यहाँ *'यहु संसउ सब के मन माहीं'* कहा। वहाँ श्रीरामने जो *'पुर धारिय पाऊ'* कहा है उसीसे यहाँ *'राम गवनु बिधि अवध कि नाहीं'* यह सन्देह है। जब सबको लौटा ले जानेको कहा है तो क्यों जाने लगे? दूसरे मुनिने भी उनसे न कहा कि लौटाकर ले चलनेको आये हैं, यही कहा कि दो दिन दर्शन कर लें। जिस *'आवहिं बहुरि राम रजधानी'* के लिये यहाँ सब भरतजीके साथ आये

१-राजापुर और काशिराज (रा० प्र०) का यही पाठ है। पाठान्तर 'सुठि' है।

२-अर्थान्तर—१ 'तलेके कीचके बीच पड़ जानेसे मछली जलकी कमीसे व्याकुल होती है।' (दीनजी)।

२ 'जैसे नीच जल कीचड़के बीच मग्न होता है और पानीके संकोच (सूखने या घटने) से मछलीका दु:ख बढ़ता जाता है।' ज्यों-ज्यों समय बीतता है त्यों-त्यों भरतजीके हृदयमें व्याकुलता बढ़ रही है। इस सामान्य बातकी विशेषसे समता दिखानी कि जैसे नीच जल कीचड़में मिलता जाता है, उसे मछलीके जीने-मरनेकी परवाह नहीं; परंतु जलके घटनेसे मछलीकी व्याकुलता बढ़ती जाती है! जलको 'नीच' कहा क्योंकि वह अपने प्रेमीके दु:ख की परवाह नहीं करता। उसी तरह समय बीतता जाता है, उसे भरतकी व्याकुलताकी चिन्ता नहीं, चित्रकूटमें अल्पकाल रहनेका समय और जल, भरतजी और मछली, रामचन्द्रजीके लौटनेका असमंजस और कीचड़, समयका बीतना और जलका सूखना परस्पर उपमेय-उपमान हैं। (वीरकवि)

थे, उसकी चर्चा भी करनेमें गुरुको संकोच हुआ, यह देखकर सब श्रीरामजीके लौटनेमें सन्देह कर रहे हैं। एक अर्धालीमें सबका संशय कहकर आगे केवल भरतका सोच विस्तारसे कह रहे हैं।

नोट—२ *'सुचि सोच।'* भरतका सोच पवित्र है, शुद्ध है, इसीसे भूख और नींद कुछ नहीं—(रा० प्र०)। अशुचि सोचमें भी यह दशा (भूख न बासर नींद न राती) हो सकती है। अशुचि सोच चिन्ता वह है जो अशौचमें, अथवा किसी व्याधि आदिसे उत्पन्न होती है। श्रीभरतजीके सोचको 'सुचि' कहा, क्योंकि वह रामवियोगमय-जनित है, '**अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्**' सरीखा नहीं है। रामस्नेहके अतिरिक्त अन्य किसीके स्नेहसे उत्पन्न चिन्ता अपवित्र चिन्ता है—यह सिद्धान्त यहाँ जनाया। (प० प० प्र०)

'नीच कीच बिच मगन जस मीनहि सलिल सँकोच'

पं०, रा० प्र०—मछलीको संकोच कि इस कीचड़के सूखनेपर क्या करूँगी, वैसे ही भरतजी विचार करते हैं कि दो दिन और बीते कि जानेकी आज्ञा ही होगी तब क्या करूँगा।

श्रीनंगे परमहंसजी—भरतजी अति सोचमें विकल हैं जैसे मीन जलकी कमी होनेसे जलके नीचे जो कीचड़ है उस कीचड़में डूबी रहे। दु:ख सहकर उस कीचड़में प्राणकी रक्षा तो हो जायगी, क्योंकि कीचड़में भी उस जलका अंश (अवलम्ब) है। पर उस मीनको यह सोच है कि यदि कीचड़ सूख जायगा, जल पुन: नहीं मिला तो प्राणकी रक्षा कैसे होगी, क्योंकि उसके सुखपूर्वक जीवनका आधार जल ही है। इसी सोचमें जैसे मीन कीचड़में पड़ी रहे वैसे ही भरतजी मीनरूप हैं, श्रीरामजी जलरूप हैं, उनसे जो संयोग है उसकी कमी देख रहे हैं, अर्थात् देखते हैं कि चार-छ: दिन और श्रीरामजीका हमसे संयोग है। अब हमारा जीवन (कीचड़रूप इसके नीचे) १४ वर्षकी जो अवधि है उसीसे होगा दु:खसहित, क्योंकि अवधिमें भी संयोगका अंश है जैसे कीचड़में जलका अंश है। परन्तु इस सोचमें विकल हैं कि कीचड़रूप अवधिके बीतनेपर श्रीरामजीका पुन: संयोग होगा कि नहीं। इसी सोचमें भरतजी अति विकल हैं। *'बीते अवधि रहे जो प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥'* तथा श्रीरामजीका वचन कि *'बीते अवधि जाउँ जो जियत न पावों बीर।'* इसके प्रमाण हैं।

नोट—३ स्वामी प्रज्ञानानन्दजीने प्राय: यही मत ग्रहण किया है किंतु इसमें जो शंका हो सकती है कि 'अभीसे यह मानना कि उनको चिन्ता हो रही है कि अवधिकी समाप्तिपर संयोग होगा कि नहीं कब्ल अजवक्त (समयके पूर्व ही) होनेसे क्या मान्य है' वह उनके इस अंशको छोड़ देनेसे नहीं रह जाती। वे लिखते हैं कि 'जैसे-जैसे जलका संकोच होता है वैसे-ही-वैसे मीनका सोच बढ़ता जाता है कि जलके सूख जानेपर नीच कीचड़में मग्न होकर रहना पड़ेगा और जबतक उसमें आर्द्रता होगी तबतक प्राण भी न जायँगे। श्रीभरतजी राज्यको शोक-समाज कीचड़ ही समझते हैं। जैसे *'जल संकोच बिकल भइँ मीना'* वैसे ही यहाँ समयका बीतना जलका संकोच है। 'चौदह वर्षकी अवधि' रूपी समय कीचड़की आर्द्रता है। यदि श्रीरामजी न लौटे और राज्य करनेको कहा तो आज्ञाका पालन करना ही होगा तथा राज्यरूपी नीच कीचड़में सदा व्याकुल होकर रहना पड़ेगा। यही चिन्ता है। इससे मरण हो जाता तो अच्छा था पर वह तो विधाताके हाथमें है। माँगनेपर मृत्यु नहीं मिलती। धूलके समान कोई नीच नहीं है और धूल ही जलके संकोचसे कीचड़ बनती है। अत: *'नीच कीच'* कहा—*'कीचहि मिलइ नीच जल संगा।'*

शीला—कीच दो प्रकारकी होती है। एक सुन्दर है जिसे मछली खाती है और उसमें सुखी रहती है और दूसरी वह है जिसे वह नहीं खाती वही *'नीच कीच'* है। यहाँ माताका करतब और अपयश 'नीच कीच' है। अपयश तो सभी जीवोंके लिये निन्द्य है, पर यह अपयश रामजीके सम्बन्धसे अति निन्द्य है; इसीसे यह 'नीच कीच' है। भरतजी मीन और रामजीका अवधको लौटना जल है।

पाँ०—'नीच कीच'=थोड़ी कीच। जैसे मीनको जल थोड़ा वैसे ही इनका चित्रकूटका रहना थोड़ा।

उसे बगुला आदिका भय, इन्हें रघुनाथजीकी आज्ञाका भय। उसका जीवन बिना जलके नहीं, वैसे ही इनका जीवन रामसंयोग बिना कहाँ? (बैजनाथजी भी यही भाव लिखते हैं। भेद इतना है कि वे 'नीच' का अर्थ 'मैली' करते हैं)। सोचका स्वरूप जो यहाँ कहा उसीको आगे प्रकट करते हैं।

वीरकविके विचार पादटिप्पणी पृष्ट ९७२ में देखिये।

कीन्हि मातु मिस काल कुचाली। ईति भीति जस पाकत साली॥ १॥
केहि बिधि होइ राम अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाउ न एकू॥ २॥
अवधि फिरहिं गुर आयेसु मानी। मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी॥ ३॥
मातु कहेहु बहुरहिं रघुराऊ। रामजननि हठ करबि कि काऊ॥ ४॥
मोहि अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमउ बाम बिधाता॥ ५॥
जौं हठ करउँ त निपट कुकरमू। हरगिरि तें गुरु सेवक धरमू॥ ६॥

शब्दार्थ—अवकलना (सं० अवकलन= ज्ञात होना)=समझ पड़ना, ज्ञान होना, देख पड़ना। **पुनि**=फिर, पर। **केतिक**=कितनी।

अर्थ—माताके बहाने कालने कुचाल की जैसे धानके पकते ही ईतिका भय आ उपस्थित हो॥ १॥ श्रीरामजीका राज्यतिलक किस प्रकार हो? मुझे तो एक भी उपाय नहीं सूझता॥ २॥ गुरुजीकी आज्ञा मानकर अवश्य लौटेंगे, पर मुनि श्रीरामजीकी रुचि जानकर ही कहेंगे रुचिके प्रतिकूल न कहेंगे॥ ३॥ माता कौसल्याके कहनेसे भी श्रीरामजी लौट सकते हैं; पर रामको उत्पन्न करनेवाली माता क्या कभी हठ करेगी? (अर्थात् कदापि नहीं)॥ ४॥ मुझ सेवककी तो बात कितनी? उसमें भी कुसमय (समयका फेर) है, विधाता उलटे हैं॥ ५॥ यदि मैं हठ करूँ तो यह सरासर कुकर्म है क्योंकि शिवजी एवं शिवजीके पर्वत कैलाससे भी सेवकका धर्म भारी है।

रा० प्र०—*'कीन्हि मातु मिस काल कुचाली।'''''''* इति। (क) भाव यह कि केवल माताकी कुचाल होती तो लोग सँभाल लेते। पर, यह कुचाल कालकी है, यह कैसे सँभल सके? क्योंकि ***'काल सदा दुरतिक्रम भारी'*** है, वह ईश्वरका रुख देखकर काम करता है—***'काल बिलोकत ईसरुख',*** वह भगवान्‌का भ्रू-विलास ही है—***'भृकुटि बिलास भयंकर काला।'*** (६। १५। २) इसीसे वह तो आजतक दुःख दे रहा है। (ख) ***'ईति भीति जस पाकत साली'*** इति। यहाँ गुरु, पिता और प्रजा सब किसान हैं, रामराज्य जड़हन धान है जिसको अनेक सुकृतरूपी मेहनतसे तैयार किया। जब पूरा पकनेको एक दिन रह गया तब, कैकेयीको कुमतिरूपी ईतिकी बाधा इसे हुई। ईतियोंमेंसे एक मूसोंकी बाधा भी है वही बाधा यहाँ उपस्थित हो गयी, उसने बालियोंको काट डाला। अब रामतिलक कैसे हो? भाव कि ठूँठमें बालियाँ फिर होती नहीं वैसे ही तिलकका होना सम्भव नहीं।—(पाँड़ेजी—कैकेयीकी जिह्वा तोता है जिसने बालियाँ काट डालीं)।

२—धानके पकते ही 'ईति, की बाधा हुई। रामराज्याभिषेक होनेकी पूर्ण तैयारी धानका पकना है। कल फसल कटेगी, आज ईतिकी बाधा हो गयी। वैसे ही सबेरे तिलक होता एक दिन पहले संध्यामें कालने कुचाल की। धान सब भ्रष्ट किया। यहाँ राज्याभिषेक भंग हुआ। ईति छः हैं वैसे ही यहाँ देवता, सरस्वती, मन्थरा, कैकेयी और दो वरदान (भरतराज्य एवं रामवनवास)।

३—'पाकत' का भाव कि जिसमें सब नष्ट हो जाय फिर किसी यत्नसे धान न हो। क्योंकि यदि अभी जम ही रहा होता तो फिर उलटकर बो लिया जाता, या सूखता भी होता तो सींचकर पानी देकर यत्न हो जाता। पर पकनेपर सब नष्ट होनेसे कुछ नहीं हो सकता।

नोट—१ *'अवसि फिरहिं गुरु आयसु मानी।'''''''* 'इति। (क) अर्थात् पिताके वचन मानकर वन आये। और ये रामके गुरु फिर पिताके भी गुरु हैं इससे गुरुकी आज्ञासे लौटनेमें सन्देह नहीं। श्रीरामजीने कहा ही है—*'प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथें मानि करौं सिख सोई॥'* (२५८। ४), *'राउर राय रजायसु होई।' 'राउरि सपथ सही सिर सोई॥ '* (२९६। ८) पर *'मुनि पुनि कहब'''''''*'। क्या मुनि कहेंगे? हाँ; कहेंगे पर 'रामजीकी रुचि जानकर' कहेंगे, उनका रुख लौटनेका न होगा तो न कहेंगे। गुरुजीने आगे कहा ही है—*'राखें राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ। समुझि सयाने करहु अब सब मिलि संमत सोइ॥'* (२५४) (पु० रा० कु०) (ख) 'रुचि जानकर कहेंगे' यह सन्देह क्यों है? क्योंकि पहले जब रामजीने उनसे सब समेत लौटनेको कहा तब उत्तरमें उन्होंने रामजीके ही मनकी बात कही—*'लोग दुखित दिन दुइ दरस देखि लहहिं बिश्राम'*— दो दिन विश्राम लेनेको कहा, लौट चलनेको न कहा, यह रामके मनकी हुई। (ग) 'पुनि' का अर्थ 'फिर' है। यह अर्थ लेनेसे दुबारा कहना पाया जाता है, एक बार पहले कह चुके हैं। बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि एक बार राज्याभिषेकके समय कहा था—*'राम करहु सब संजम आजू'*। यह बात निष्फल गयी; इससे दूसरी बार कहेंगे तो पहले रुचि जान लेंगे तब कहेंगे, नहीं तो नहीं। वा, प्रथम कह चुके हैं कि दो दिन विश्राम ले लें तो क्या अब दूसरी बार लौटनेको कहेंगे? कहेंगे तो रामरुचि लखकर। यदि 'पुनि' का अर्थ 'पर' कर लें तो कोई झगड़ा नहीं रहता, परन्तु कविने ऐसा प्रयोग और कहाँ किया है यह नहीं कहा जा सकता। 'पुनि' का अर्थ 'तब' उस हालतमें होता है पर यह अर्थ लेनेसे अर्थ करनेमें 'परन्तु' अपनी ओरसे बढ़ाना होगा—'परंतु मुनि उस हालतमें रामरुचि जानकर कहेंगे। वा, 'मुनि रामरुचि जानकर तब कहेंगे'। या, मनमें प्रश्न और उत्तर मानकर अर्थ कर लें—तो फिर (=तब) क्या मुनि कहेंगे? (उत्तर—)'रुचि जानकर कहेंगे।' 'पुनि' शब्द जनाता है कि एक विचारको काटनेवाला दूसरा विचार उत्पन्न हुआ। पूर्व कई बार यह लिखा जा चुका है कि पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'मैं पुनि' 'तुम पुनि' आदि गहोरावासियों बुन्देलखण्डियोंकी बोली है। इसमें 'पुनि' का पृथक् कोई अर्थ नहीं है। वैसे ही यहाँ 'मुनि पुनि'=मुनि। पं० वि० न० त्रिपाठीजीका यही मत है कि यहाँ पुनि शब्दका कोई पृथक् अर्थ नहीं है, ऐसा बोलनेका मुहावरा है—*'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।' 'मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी। बेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी॥' 'तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥'* आज भी कहते हैं कि *'मैं पुनि अस कीन्ह्यौं'*। यदि कुछ अर्थ करना ही हो तो 'तो' अर्थ कर सकते हैं कि मुनिजी तो रामजीका रुख देखकर कहेंगे।

नोट—२ *'रामजननि हठ करबि कि काऊ'*। गुरुजी तो श्रीरामरुख देखकर कहेंगे, इससे वह उपाय गया। दूसरा उपाय है कि माता कहे। माताका गौरव पितासे दसगुणा अधिक है। हठ करें तो लौट सकते हैं। पर वे हठ न करेंगी क्योंकि वे 'रामजननि' हैं। जिन्होंने अपने कोखसे ऐसे धर्मात्मा-सत्यसंध पुत्रको उत्पन्न किया वे धर्म कब छोड़नेकी—*'पितु आयसु सब धरमक टीका'* उस धर्मको क्यों तुड़वायेंगी, पतिकी सत्यता और पुत्रके धर्मपर क्यों बट्टा लगायेंगी? माताने पूर्व कहा भी है कि *'यह बिचारि नहिं करउँ हठ'''''''॥'* (प्र० सं०)। पुनः वे प्रथम ही अपना सम्मत इन वचनोंसे दे चुकी हैं कि *'जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥ जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥'* वे सत्यप्रतिज्ञ रामकी माता हैं, वे अपनी ही दी हुई इस सम्मतिरूपी आज्ञाका भंग कैसे करेंगी? और जब श्रीरामजी कहेंगे कि जैसे 'पितुर्दशगुणा माता है वैसे ही 'मातुः शतगुणा सापत्नमाता' है, तब वे क्यों कहेंगी? पुनः *'राम जननि हठ करबि कि काऊ'* का भाव कि वे भरतजननी नहीं हैं, रामजननी हैं। भरतजननीने हठ किया, पर रामजननी कभी हठ न करेंगी (प० प० प्र०)। यह दूसरा उपाय सूझा; उसका भी खण्डन हो गया। अब तीसरा उपाय सोचते हैं कि अच्छा हम ही कहें तो उसमें भी अनेक कठिनाइयाँ देख पड़ती हैं। एक तो मैं सेवक, दूसरे समय फिरा हुआ, तीसरे विधाता प्रतिकूल। सेवककी एक तो बात ही कितनी? उसकी कदर ही क्या? दूसरे वह हठ कर नहीं सकता, हठ करे तो सेवकधर्मसे च्युत हो जाय। करे भी तो समय फिरनेसे एवं दैवके प्रतिकूल होनेसे श्रम निष्फल होगा, एक कठिनाई होती तो कुछ करते भी, यहाँ तीन-तीन हैं।

पं०—'सेवककी रुचि प्रभु रखते हैं, यथा—*'राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥'*

(२१९। ७) अत: तुम ही कहो', यदि ऐसा कोई कहे तो उसका उत्तर है कि यह ठीक है, पर काल और विधाता हमारे दोनों प्रतिकूल हैं इससे सफलता न होगी।

नोट—३ *'जौं हठ करउँ……हरगिरि तें गुरु सेवक धरमू'* इति। भाव कि कैलाश उठा लेना सहज है, पर सेवाधर्मका भार उठाना कठिन है। सेवकका धर्म है स्वामीकी आज्ञा मानना और स्वामीका धर्म है आज्ञा देना। इसके विपरीत स्वयं हठ करना स्वामीको आज्ञा देना है जो सेवाधर्मके प्रतिकूल है। इससे सेवकका *'धर्म जाइ सिर पातक भारी'* और *'जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥'* (२६८। ३। ७) कैलाशको रावणने उठा लिया था, यथा—*'जेहि कौतुक सिव सैल उठावा।'* (१। २९२) पर वह रावण भी सेवाधर्मका भार उठानेमें हिचकिचा गया, यथा—*'होइहि भजन न तामस देहा।'* (३। २३। ५) और उसने शत्रुताद्वारा ही मुक्ति चाही। *'मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा।'* (३। २३। ५) इससे जान पड़ा कि रावणने दोनोंकी गुरुताको तोला था।

वै०, पां०—दूसरा अर्थ श्लेषद्वारा यह होता है—'शिवजी और पर्वत (विन्ध्याचल) से सेवकधर्मकी गुरुता प्रकट है। शिवजीने सेवाधर्म ऐसा निबाहा कि *'बिनु अघ तजी सती अस नारी'* और विन्ध्याचलने सेवाधर्म जाना कि गुरु अगस्त्यजीको प्रणाम किया और उनकी आज्ञासे अबतक वैसा ही लेटा रह गया।'

पु० रा० कु०—वाल्मीकिजी लिखते हैं कि भरतजीने अनशनव्रत धारण किया तब श्रीरामजीने कहा कि तुम अधर्मी हो। यह बात गोस्वामीजीको नहीं भायी, इसीसे उन्होंने उनका अनुसरण नहीं किया। स्वामीसे सेवक हठ करे, अनशन व्रत ले, यह निपट कुकर्म है। कैलाशका दृष्टान्त दिया क्योंकि वह स्वच्छ है। *'आज्ञा सिरपर नाथ तुम्हारी'* इस परमधर्मपर आरूढ़ भगवान् शंकरजीका निवास-स्थान है; वैसे ही सेवाधर्म परम स्वच्छ है। दूसरे, पर्वतसे भारी दिखानेके लिये भी इसीका दृष्टान्त उपयुक्त मिलता था, क्योंकि इसको रावणने उठा लिया था। पर सेवाधर्मका भार उठाना सहज नहीं।' (नोट—देखिये पूज्य कविकी लोकशिक्षात्मक दृष्टि। पूज्य कविने वाल्मीकिजीके इस प्रसंगको कैसा मनोहर बनाकर रखा है। यह साहित्यिक दृष्टिसे। और वैसे तो मानस-कल्पके भरत और उनका चरित ऐसा ही है जैसा लिखा गया)।

एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहि रैनि बिहानी॥ ७॥
प्रात नहाइ प्रभुहि सिर नाई। बैठत पठये रिषय बोलाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**ठहरानी**=स्थिर हुई, टिकी, निश्चित हुई। **बिहानी**=बीत गयी।

अर्थ—एक भी युक्ति मनमें न ठहरी। भरतजीको सोचते-ही-सोचते रात बीत गयी॥ ७॥ सबेरे स्नान करके प्रभुको मस्तक नवाकर बैठते ही ऋषि वसिष्ठजीने बुला भेजा॥ ८॥

नोट—*'एकउ जुगुति न मन ठहरानी।……'* इति। तीन युक्तियाँ वर्णन करके फिर यह कहकर जनाया कि और भी बहुत-से उपाय सोचे, ये तीन मुख्य थे। पर कोई भी परीक्षाकी कसौटीमें पूरा न उतरा। 'तीन' बहुवचन भी है, अत: तीनसे ही बहुत-से सूचित कर दिये। *'भरतहि रैनि बिहानी'* में पूर्वकथित *'निसि न नींद……भरत बिकल सुचि सोच'* चरितार्थ हुआ। *'कीन्हि मातु मिस काल कुचाली'* से यहाँतक *'सुचि सोच'* की व्याख्या हुई। *'प्रात नहाइ प्रभुहि सिर नाई। बैठत'* यह भरतजीकी दिनचर्या बतायी। गुरुजी प्रात:चर्या जानते थे, अत: वहाँसे बुलवाया।

'भरत गये जहँ प्रभु सुखरासी'—प्रकरण समाप्त हुआ।

'पुनि रघुपति बहु बिधि समुझाए'—प्रकरण

(चित्रकूटमें वसिष्ठ-भरत-गोष्ठी)

दो०—गुरपदकमल प्रनामु करि बैठे आयसु पाइ।
बिप्र महाजन सचिव सब जुरे सभासद आइ॥ २५३॥

बोले मुनिबरु समय समाना। सुनहु सभासद भरत सुजाना॥ १॥
धरम धुरीन भानुकुल भानू। राजा रामु स्वबस भगवानू॥ २॥
सत्यसंध पालक श्रुति सेतू। राम जनम जग मंगल हेतू॥ ३॥
गुर पितु मातु बचन अनुसारी। खल दलु दलन देव हितकारी॥ ४॥
नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥ ५॥

अर्थ—श्रीभरतजी श्रीगुरुचरण-कमलोंको प्रणाम करके आज्ञा पाकर बैठे। (उसी समय) ब्राह्मण, महाजन (रईस, सेठ-साहूकार), मन्त्री, आदि सभी सभासद् आकर एकत्र हुए॥ २५३॥ समयके अनुसार मुनिश्रेष्ठ (गुरुजी) बोले—हे सुजान भरत और सभासदो! सुनिये॥ १॥ श्रीरामचन्द्रजी धर्मधुरीण, सूर्यकुलके सूर्य, राजा, स्वतन्त्र और भगवान् हैं॥ २॥ सत्यप्रतिज्ञ हैं, वेदरूपी पुल वा वेदमर्यादाके रक्षक हैं। श्रीरामजीका अवतार जगत्के मंगलके लिये हुआ है॥ ३॥ वे गुरु, पिता और माताके वचनोंपर चलनेवाले हैं, दुष्ट दलके नाशक और देवताओंके हितकारी हैं॥ ४॥ नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ, इन्हें रामके समान कोई और यथार्थ (जैसा चाहिये ठीक-ठीक वैसा) नहीं जानता॥ ५॥

नोट—१ काश्यप-संहितामें अक्षरश: यही कहा है। (ऐसा हमने प्र० सं० में लिखा था और छ: श्लोक भी दिये थे, पर वह संहिता हमें देखनेको नहीं मिली। इसलिये निश्चित न होनेसे वे श्लोक नहीं दिये गये।)

नोट—२ *'जुरे सभासद आइ'* से जनाया कि सबको गुरुजीने बुला भेजा था; और यह कि गुरुजीका डेरा श्रीरामजीकी कुटीके पास ही था कि भरतजी आज्ञा पाते ही वहाँ पहुँच गये और सब लोग पीछे पहुँचे। यहाँ सब विशेषण साभिप्राय हैं। गुरुजीके वचन बड़े गम्भीर हैं। इसीसे हमने आगे सबके कुछ-कुछ भाव दिखलाये हैं। जिसमें समझनेमें उलझन न पड़े।

नोट—३ *'बोले मुनिबर समय समाना।'* इति।—समयानुसार, जैसा कुछ ऐसे समयमें कहना उचित है। श्रीरामजी माता-पिताके वचनका पालन करने एवं देवताओंके हितके लिये वनमें आये हैं और भरतजी लौटाने आये हैं। दोनों पक्षोंको सँभाले हुए वचन कहे। [१—उत्साहका समय नहीं है, अत: अल्प सम्मान और थोड़े ही वचनोंमें—(पं०, रा० प्र०)। २—व्यवहारानुसार—(वै०, पां०)]

नोट—४ *'सुनहु सभासद भरत सुजाना'*। (क)—प्रथम सभासदोंको सम्बोधन किया; क्योंकि इनमें महर्षि वामदेव, जाबालि आदि भी हैं। (पं०, वै० रा० प्र०)। पुन:, (ख) भरतजीको सुजान विशेषण दिया; क्योंकि जो कुछ कहना है उसको यथार्थ ये ही जान और समझ सकते हैं। पुन:, प्रपत्तिका स्वरूप जाननेमें ये एक ही हैं—(रा० प्र०) वा, 'सुजान' अन्तमें देकर सबके साथ कह सकते हैं और पाँड़ेजीने भी ऐसा ही माना है।

शीला—माता-पिताके वचन तो मानकर आये ही हैं। *'गुरु बचन अनुसारी'* कैसे कहा? इस कथनसे जनाया कि हमारा भी उसमें सम्मत है; हम भी उस आज्ञाके विरोधी नहीं। ब्रह्माके पुत्र हैं, अत: जो ब्रह्मा, सरस्वती और देवता चाहते हैं वही अपना मत जनाया। (आगे भी गुरुजीकी आज्ञाको प्रभुने शिरोधार्य किया ही है—*'तापर मोहि गुरु आयसु दीन्हा।'*

विशेषणोंके भाव

धर्मधुरीण—१ धर्म रथ है। श्रीरामजी उसकी धुरीको धारण किये हैं। सारा जगत् उसपर सवार है। ये धुरा छोड़ दें तो धर्म गिर जाय, जगत्में धर्मपर कोई आरूढ़ न होगा; इससे उसे न छोड़ेंगे—(शिला)। यथा—'**यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ उत्सीदेयुरिमे लोका**......।' (गीता ३। २३। २४) (दोहा २४७ में देखिये) २—अधर्मका बोझ कैसे धरेंगे—(पाँ०)। धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ हैं, धर्मरूपी बोझके सँभालनेवाले हैं। वे पिताकी आज्ञा-पालनरूपी परम धर्मपर आरूढ़ हैं, माता कैकेयीको भी वचन दिया है, उनसे कह चुके हैं—*'सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥*......*जौं*

न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़समाजा॥' (४१। ७। ४२। २) निज माताने भी आज्ञा दी और कहा है कि ***'तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका॥'*** (५५। ८) ***'जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ।'*** (५७। ४) तब वे माता-पिताके आज्ञा-पालनरूपी परम धर्मका त्याग क्यों करेंगे? ३—एक धर्मका भार सिरपर लदा ही है। दूसरा भार गुरु वा माताकी आज्ञा-पालनका कैसे लादा जाय? जबतक पिता पुत्र-धर्मसे उऋण न हो लें तबतक दूसरा भार डालना क्या उचित होगा? ☞ पूर्व भी यह विशेषण आया है, यथा—***'धीर धरमधुर दीन दयाला।'*** (२४३। २) इत्यादि। ***'धर्म धुरीन'*** विशेषण सर्वप्रथम देकर सूचित किया कि अन्य समस्त गुणोंकी प्राप्ति धर्मके ही आश्रित है। धर्म सबका मूल है। (प० प० प्र०)

भानुकुलभानु—१—सूर्यकुल अति निर्मल है जैसे सूर्य; उसके भी ये सूर्यवत् प्रकाशक हैं। इस कुलमें सदा सत्यधर्मकी रक्षा की गयी—***'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥'*** (२८। ४)। ये सत्यको छोड़कर कब कुलमें दाग लगायेंगे? २—सूर्यसे कोई कहे कि हमारे घरसे न निकलो, हमारे यहाँ प्रकाश करो, अन्यत्र न जाओ तो क्या सूर्य रोकनेसे रुकेंगे? वैसे ही ये तो जगत्‌को प्रकाशित करने चले हैं, कब रुक सकते हैं। ३—इस कुलके सब राजा सूर्यवत् हुए, जगत्‌भरमें धर्मके उजागर करनेवाले हुए और ये तो उस कुलके भी प्रकाशक हैं, ये उनके भी सूर्य हैं, उनसे कोटि गुणा यश विस्तार करेंगे—(शिला)। ४-भानु=प्रकाशमय, प्रकाशमान। **'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'**। उस (धर्म) को प्रकाशमें लानेवाला जो कुछ है वह धर्मधुरीण भानुकुल है और ये उसके भी प्रकाशक हैं। (प० प० प्र०)

राजा—१— किसीके कहनेमें नहीं—***'भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय।'*** (३। ३७। ८) अपनी बात रखेंगे, किसीके कहनेसे कुछ-का-कुछ कदापि न करेंगे। २—ये स्वयं सिद्ध राजा हैं, इन्हें कोई राजा क्या बनावेगा? ३—दुष्टोंको दण्ड देना राजाका काम है, अतः रावण आदिको अवश्य दण्ड देने जायँगे। (शिला)। ४ 'राजा' का अर्थ है जिससे प्रजाका रंजन हो। सारी प्रजाका जो भरण-पोषण, रक्षा, मनोरंजन करे वही यथार्थ राजा है। ये सब गुण इनमें हैं।

राम—१— ये सबमें रमण करते और सब इनमें रमते हैं। सबके उरप्रेरक ये ही हैं। जैसा चाहेंगे वैसी ही प्रेरणा करके करा लेंगे। २—सबके मनकी जानते हैं, उनसे कहना ही क्या? उचित होगा सो वे स्वयं कर देंगे। ३—***'जो आनन्दसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥'*** (१। १९७। ५-६)। श्रीरामजी ऐसे हैं। अतः उनके लिये जो दुःख तुम मान रहे हो कि ***'बिनु पग पनही। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥ अजिन बसन……बरषा बात।'*** (२९७) ***एहि दुख दाह दहइ दिन छाती॥'*** वैसा माननेका कोई कारण नहीं है। उनको दुःख और क्लेश कहाँ? अतः यह शोक छोड़ देना चाहिये। (प० प० प्र०)

स्ववस—१—अपने ही वशमें हैं; दूसरेके नहीं—***'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहिं करहु तुम्ह सोई॥……'*** ***'बिसमय हरष न कछु हिय धरहू'*** (१। १३७), ***'निजतंत्र नित रघुकुलमनी।'*** (१। ५१), ***'स्वबस अनंत एक अबिकारी।'*** उनपर कोई दबाव डाल नहीं सकता, न वे दबावमें आ सकते हैं। २—सम्बन्धी मानकर फिरनेको न कहो।—(शिला)

भगवान्—१—**'पोषणं भरणाधारं शरण्यं सर्वव्यापकम्। कारुण्यं षड्भिः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्॥', 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥'** षडैश्वर्यशाली हैं, सबके गुरु हैं, इनपर गुरु या किसीका अधिकार नहीं चल सकता। २-सारा ब्रह्माण्ड इनका ऐश्वर्य है, सबका सँभार किया ही चाहें। ३—समर्थ हैं, तुम्हारा स्नेह भी निबाहेंगे और अपनी स्वतन्त्रता भी—(शिला)। ४ वि० पु० में भगवत् और भगवान् शब्दोंकी विस्तृत व्याख्या है। अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, अज, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप हस्तपादादिरहित, विभु, व्यापक, नित्य,

जिनसे सर्वभूतोंकी उत्पत्ति हुई, स्वयं अकारण, व्याप्यमें जो व्याप्त है, जिनका बुद्धिमान् लोग ध्यान करते हैं, मुमुक्षुका ध्येय यह ब्रह्मका स्वरूप '*भगवत्*' शब्दसे वाक्य है। संसारका उपादान कारण, निमित्त कारण तथा उत्पत्ति-स्थिति और लयका करनेवाला, अन्तर्यामी, सम्यक् ऐश्वर्य, सम्यक् वीर्य, सम्यक् यश, सम्यक् श्री, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् वैराग्य इन छहों ऐश्वर्योंसे सम्पन्न; जीवोंकी उत्पत्ति, नाश, आगमन, गमन, विद्या और अविद्याका ज्ञाता; शरणागतको शरण देनेवाला और करुणापूर्ण; त्याज्य मायिक गुण-दोषोंके विरोधी, कल्याण गुणोंसे युक्त तथा समस्त पूज्योंसे भी पूज्यतम इत्यादि होनेसे श्रीरामजीको '*भगवान्*' कहा। विशेष। १। १३। ४ में देखिये।

सत्यसंध— सत्यप्रतिज्ञ हैं। '**रामो द्विर्नाभिभाषते**' ऐसा कैकेयीसे कहा था। उनका संकल्प झूठ नहीं हो सकता। ***'सत्यसंध प्रभु सुर हितकारी।'*** (२२०। १) (देवगुरुवाक्य), ***'सत्यसंध दृढ़ ब्रत रघुराई।'*** (८२। १)। देखिये। जो धर्मधुरीण है उसे सत्यप्रतिज्ञ होना चाहिये, क्योंकि ***'धर्म न दूसर सत्य समाना।'*** (९५। ५) यह स्वयं श्रीरामजीने सुमन्त्रजीसे कहा है। तब सत्यसे कोई उन्हें कब हटा सकता है और हटायेगा क्यों?

श्रुतिसेतु पालक—वेदमर्यादाको स्वयं पालते और अधर्मियोंसे उसकी रक्षा करते हैं। अतः वे रावण आदिका वध करके इसकी रक्षा करेंगे ही। कच्छप, मच्छ, वराह, नृसिंह आदि अनेक रूप धरकर रक्षा करते चले आये हैं। श्रीशिवजी और वाल्मीकिजी आदिने भी कहा है—***'असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।'*** (१। १२१) ***'श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह।'*** (१२६ छंद) ***'रघुकुलकेतु सेतु श्रुतिरक्षक।'*** (७। ३५। ८) इत्यादि। श्रुतिसेतुपालकका कर्तव्य ही है असुरों, खलोंको दण्ड देना; बिना इसके रक्षा हो ही नहीं सकती तभी तो इसके साथ कहा है ***'असुर मारि……।'*** (१। १२१), ***'सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी।'*** (१२६ छंद), ***'जौं नहिं दंड करउँ खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥'*** (७। १०७) तब यह कौन कहेगा कि वेदोंकी रक्षा न करो।

'जनम जग मंगल हेतू'—१ अवतार जगत्भरके मंगलके लिये है, कुछ अवधके ही लिये नहीं। वनवाससे ब्रह्माण्डभरका मंगल होना है। सुर-मुनि, वनवासी, सुकृति सभीका मंगल करना है तब घरमें ही कैसे रह सकते हैं? कौन कह सकता है कि जगत्का अमंगल दूर करो, घरमें ही मंगल दो, २—स्वार्थी बनो जगत्में तुम भी हो, जगत्के मंगलसे तुम्हारा भी मंगल होगा—(शिला)। ३—यह वचन श्लिष्ट है। राम जग-जन्म हेतु हैं और जगमंगल हेतु भी हैं। राम जगके जन्मका कारण हैं, यथा—'**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते इति श्रुतिः**', '**जन्माद्यस्य यतः**' (ब्रह्मसूत्र), '**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्**' (स्मृति, भ० गीता), ***'जग कारन तारन भव'*** (कि०) जगमंगल हेतु हैं, यथा—***'मंगलमूल राम*** (सुत-जासू)।, (२। ५), ***'जगमंगल सुखदारा।'*** (९४। २) (प० प० प्र०)

'गुरु पितु-मातु-बचन अनुसारी'—माधुर्यमें गुरु-पिता-माताकी मर्यादा भी रखते हैं, जो वे कहते हैं वही रामजी करते हैं। देवमुनिकी रक्षा, धरणिके भारके हरणका संकल्प पूर्व ही कर चुके, तब भी इनके वचनोंका भी पालन साथ-ही-साथ करते हैं। देखनेमें पिताके वचनसे वनमें आये, पर ऐश्वर्यमें '*खल दल दलन देवहितकारी*' हैं, इससे वनको आये। ३—तीनोंकी आज्ञाका अनुसरण करनेवाले हैं; दोकी आज्ञा पालन कर रहे हैं तब उसके विपरीत आज्ञा दें तो एकको भंग करना होगा; यह उनके धर्मके प्रतिकूल पड़ेगा।

खल दल दलन देवहितकारी— २२० (१) देखिये। ***'असुर मारि थापहिं सुरन्ह पालहिं निज श्रुतिसेतु'*** यह उनका ऐश्वर्य माधुर्य है। बिना दुष्टोंके नाशके देवताओंका हित हो नहीं सकता और वह बिना वनवासके सम्भव नहीं। तब वनसे लौटनेको कैसे कहा जाय?

'नीति प्रीति……कोउ न राम सम जान जथारथ'—१ भाव यह कि जब ये धर्मनीति, राजनीति, प्रीति, परमार्थ, स्वार्थ सभीमें परिपूर्ण हैं तब उनको कोई नीति क्या सिखावे, वे स्वयं समझते हैं, ब्रह्माण्डमें कोई

वैसा समझनेवाला नहीं है। अतएव वे जो कुछ करेंगे, अच्छा ही करेंगे, कहनेका कुछ प्रयोजन नहीं। नीति रावणको सिखायी, बालि निरुत्तर हो गया और फिर राजा होनेपर इनकी नीति देख लीजिये। नीतिका प्रभाव कि ***'राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥'*** प्रीतिके गुह, सबरी, सुग्रीव, गृद्ध आदि उदाहरण हैं—***'जानत प्रीति रीति रघुराई'***— (विनय १६४) परमार्थ पुरवासियोंके उपदेशमें देख लीजिये। स्वार्थ लोकव्यवहार ऐसा कि सबको ये प्राणसे अधिक प्रिय हैं, सब ऐसे अधीन हो गये हैं। दूसरा यथार्थ नहीं जानता। ये यथार्थ जानते हैं और सब अधूरा जानते हैं। (प्र० सं०) प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि धर्मका सबसे पहले उल्लेख करके अब यहाँ 'नीति प्रीति……' में नीतिको अग्र स्थान देकर जनाते हैं कि वे धर्मानुकूल नीतिका पालन मुख्य समझते हैं और प्रीतिको गौण। प्रीतिसे परमार्थकी, ज्ञान-मोक्षकी कीमत कम है और स्वार्थका विचार तो सबके अन्तमें करेंगे, भले ही वह स्वार्थ अपना (हमलोगोंका) हो या शत्रुका। श्रीरामजीमें तो स्वार्थ है ही नहीं। वे तो ***'स्वारथ रहित सखा सबही के'*** तथा ***'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'*** हैं (प० प० प्र०) २ ***'कोउ न राम सम जान जथारथ'*** का भाव यह है कि नीति-प्रीति परमार्थ और स्वार्थके सामंजस्य बिठानेमें ही सारी पण्डिताई है। नीति-प्रीति परमार्थ-स्वार्थसे सभी लोग थोड़ा-बहुत परिचित हैं। गुरुजी कहते हैं कि मुझे भी कुछ परिचय है ही, पर यथार्थ ज्ञान इनका रामचन्द्रजीको ही है, मुझे भी नहीं है, मैं रामजीका रुख देखकर ही कुछ करता हूँ, और तुम लोगोंको भी सलाह देता हूँ कि ***'राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होई।'*** यहाँपर वसिष्ठजीने रामजीके रुखको देखकर काम करनेका माहात्म्य कहा और बतला दिया कि उसीसे सबका हित होगा। ***'मुनि पुनि कहब राम रुख जानी'*** का उत्तर भी हो गया (वि० त्रि०)।

बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥ ६॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥ ७॥
करि बिचार जिय देखहु नीकें। राम रजाइ सीस सबही कें॥ ८॥

दो०—राखें राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।
समुझि सयाने करहु अब सब मिलि संमत सोइ॥ २५४॥

शब्दार्थ—**प्रभुताई**=प्रभुत्व, प्रभुता या ऐश्वर्यवाले।

अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, चन्द्र, सूर्य आदि दिक्पाल, माया, जीव, सभी कर्म और सभी काल॥ ६॥ सर्पराज शेषजी, पृथ्वीके पालन करनेवाले राजा, इत्यादि जहाँतक प्रभुता है, योग और (योगकी) सिद्धियाँ जो वेदशास्त्रोंने वर्णन की है॥ ७॥ इन सबको मनमें खूब विचार कर देखिये (तो जान पड़ेगा कि) श्रीरामजीकी आज्ञा सभीके सिरपर है (सभी शिरोधार्य करते हैं, मानते हैं)॥ ८॥ एतावता श्रीरामजीकी आज्ञा और रुख रखते हुए (वा, रखनेमें) हम सबका भला (भी) हो (वा, होगा), आप सब समझदार और चतुर लोग इसे समझकर मिलकर वही राय ठीक कीजिये॥ २५४॥

नोट—१ भरतजीका मनोरथ लौटानेका है इससे प्रथम श्रीरामजीके गुण कह सुनाये कि ऐसे सद्गुण-युक्तका धर्म कौन तोड़ना चाहेगा और वे स्वयं कब धर्मका त्याग करेंगे। ऊपर अर्धाली ५ तक माधुर्य-ऐश्वर्यमिश्रित वचन कहे। अब रघुनाथजीका केवल ऐश्वर्य-स्वरूप दिखाकर सूचित करते हैं कि जब सब इनके आज्ञाकारी हैं तो हमारा भी कर्तव्य यही है कि उन्हींकी रुचिका पालन करें। उनकी मर्जीके खिलाफ लौट चलनेका हठ करना अपने धर्मसे गिरना है। यह वसिष्ठजीके मतका सार है, निचोड़ है।

'बिधि हरि हर' उत्पत्ति-पालन-संहारकर्ता, त्रिगुणात्मक जगत्‌के आधार। सूर्यचन्द्र जगके पालनेवाले—***'जगहित हेतु बिमल बिधुपूषन।',*** दस लोकपाल जो दसों दिशाओंकी रक्षा करते हैं—इन्द्र, कुबेर आदि। विद्या एवं अविद्या माया जिसके वशमें ब्रह्मादिक सभी जगत् और जीव हैं जिससे सब डरते हैं। यथा—***'देखी माया सब बिधि***

गाढ़ी।……*देखा जीव नचावै जाही॥'* (१। २०२) **'यन्मायावशवर्तिविश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा**…**'**, इत्यादि। कर्म जिसकी डोरीमें सब बँधे हैं,* यथा—*'तैं निज कर्म डोरि दृढ़ कीन्हा'*— (विनय)। जीव तीन प्रकारसे—*'बिषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥'* 'सम्पूर्ण काल'—पल-विपल-दण्ड-घड़ी-प्रहर-दिन-मास-वर्ष-युग आदि। यथा—*'लव निमेष परमानु जुग बरष कलप सर चंड। भजसि न मन तेहि रामको काल जासु कोदंड॥'* (लं० मं०) पुनः, भूत, भविष्य, वर्तमान।

नोट—२ *'अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई।*……*'* इति। अहिप=सर्पराज=शेषजी। महिप=पृथ्वीके राजा, पृथ्वीपति। *'जहँ लगि प्रभुताई'* अर्थात् सप्तद्वीपों, नवों खण्डोंमें तथा स्वर्गादिमें जहाँ कहीं भी जो प्रभुत्ववाले देखे-सुने जाते हैं। *'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला'* से स्वर्गवासी, अहिपसे पातालके समस्त प्रभु और महिपसे पृथ्वीके समस्त प्रभुत्ववालोंको सूचित कर दिया। योग और सिद्धिकी व्याख्या बालकाण्डमें कई बार हो चुकी है।

नोट—३ *'करि बिचार जिय*……*।'* भाव कि भली प्रकार विचार करनेसे ही देख पड़ेगा अन्यथा नहीं। विचार करनेसे क्या देख पड़ेगा यह दूसरे चरणमें कहते हैं—*'रामरजाइ*……*'* श्रीसीतारामजीकी आज्ञा सबके सिरपर है, सब इनकी आज्ञाके अनुकूल ही चलते हैं। मिलान कीजिये—*'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'* *'छोटे बड़े खोटे खरे मोटेऊ दूबरे, राम रावरे निबाहे सबही की निबहति। होती जो आपने बस रहती एक ही रस दुनी न हरष सोक साँसति सहति। चाहतो जो जोई जोई लहतो सो सोई सोई केहू भाँति काहू की न लालसा रहति। करम काल सुभाउ गुन दोष जीव जग माया तें सो सभय भौंह चकित चहति। ईसनि दिगीसनि जोगीसनि मुनीसनिहू। छोड़ति छोड़ाये तें गहाये तें गहति॥'* (वि० २४६), *'माया जीव कालके करमके स्वभाव करैया राम बेद कहें साँची मन गुनिये।'* (बाहुक), *'काल बिलोकत ईस रुख भानु काल अनुहारि। रबिहि राहु राजहि प्रजा बुध ब्यवहरहिं बिचारि॥'* (दो० ५०४) ऐसे-ऐसे ईश्वर रामाज्ञापर चलें तो हमारा क्या कर्तव्य होना चाहिये—यह समझ लो।

नोट—४ *'राखें राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ। समुझि सयाने*……*'* इति। (क) यहाँ वसिष्ठजीने अपना सिद्धान्त कह भी दिया और अलग भी हैं; सबका सम्मत ले रहे हैं। अपना मत कहा कि 'रामरुचि' (रामकी मर्जी) भी रहे और हमारा हित भी जिसमें हो ऐसी सलाह बताओ। पर समझकर कहना। जो हमने कहा है उसे खूब विचार लो। (ख) पां० रा० प्र०, वै—भाव कि उनको आज्ञा न देना पड़े, प्रथम ही हम सब उनके रुखके अनुकूल होकर चलें। *'समुझि'* का भाव कि हमारा सिद्धान्त अच्छा न हो तो और सिद्धान्त विचारो। (ग)—भरतजीने जो सोचा था कि *'मुनि पुनि कहब रामरुचि जानी'* वही बात ठीक निकली, भरतजीका विचार ठीक हुआ। दूसरे जो उन्होंने सोचा था कि *'अवसि फिरहिं गुरु आयसु मानी'* उसका भी उन्हें उत्तर मिल गया कि गुरुजी लौटनेको न कहेंगे। यह अनुमान भी ठीक निकला।

सब कहुँ सुखद राम अभिषेकू। मंगल मोद मूल मग एकू॥ १॥
केहि बिधि अवध चलहिं रघुराऊ। कहहु समुझि सोइ करिअ उपाऊ॥ २॥
सब सादर सुनि मुनिबर बानी। नय परमारथ स्वारथ सानी॥ ३॥
उतरु न आव लोग भए भोरे। तब सिरु नाइ भरत कर जोरे॥ ४॥

शब्दार्थ—**भोरे**=चकित, स्तम्भित, हक्का-बक्का-सा।

अर्थ—श्रीरामजीका राज्यतिलक सबको सुखदायी है, मंगल-मोदकी जड़ वही एक और प्रधान मार्ग

* कुलिकर्म यथा अर्थपञ्चके—'उपायाः कथिताः कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्तयः। सदाचार्याभिमानश्चेदित्येवं पञ्चधा मता। तत्र कर्म परिज्ञेयं वर्णाश्रमानुरूपतः। नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिधा कर्म फलार्थिनाम्। यज्ञो दानं तपो होमं व्रतं स्वाध्यायसंयमः। संध्योपास्तिर्जपः स्नानं पुण्यं देशाटनालयम्। चान्द्रायणाद्युपवासं चातुर्मास्यादिकानि च॥' (वै०)

है*॥ १॥ किस प्रकारसे श्रीरघुनाथजी अवध लौट चलें वही समझकर कहिये, वही उपाय किया जाय॥ २॥ सबने मुनिश्रेष्ठकी नीति, परमार्थ और स्वार्थमें सनी हुई उत्तम वाणी आदरपूर्वक सुनी॥ ३॥ किसीको कुछ उत्तर नहीं आता (उत्तर देते नहीं बन पड़ता, नहीं सूझता), सब स्तम्भित हो गये हैं। तब (सबकी यह दशा देखकर) भरतजी माथा नवाकर हाथ जोड़कर बोले॥ ४॥

नोट—१ अपना सिद्धान्त कह दिया फिर यह देखकर कि यह मत उनको नहीं भाया वे सबके संतोषके लिये यह कह रहे हैं। (पं०) ***'सब कहँ'*** अर्थात् हमको भी सुखद है, यह न समझो कि हम नहीं चाहते।

नोट—२ ***'केहि बिधि अवध चलहिं रघुराऊ।'*** श्रीरामजीका रुख लौटनेका न देखा इससे अब 'विधि' ढूँढ़नेको कहते हैं। इससे सबको यह भी जना दिया कि उनकी रुचि क्या है? और जब रुचि नहीं है तब हम तो फिरनेको कहेंगे नहीं। तुम्हीं लोग युक्ति बताओ उसीका उपाय किया जाय। यहाँ भी ***'कहहु समुझि'*** कहकर सावधान कर रहे हैं। जैसे भरतजीने विचार किया था कि ***'केहि बिधि होइ राम अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाय न एकू॥';*** वैसे ही गुरुदेव भी अपना विचार प्रकट करते हैं कि ***'केहि बिधि अवध चलहिं रघुराऊ। कहहु समुझि······'*** अर्थात् मेरे विचारमें कोई विधि ऐसी नहीं है। ***'रघुराऊ'*** अर्थात् अभिषिक्त होकर चलें।

वि० त्रि०—गुरुजी कहते हैं कि सभी रामजीका अभिषेक चाहते हैं, यहाँतक कि रानी कैकेयी भी अब चाहती हैं, अत: रामाभिषेक सबका लक्ष्य है और इसीमें कल्याण है और स्वयं रामजीको भी इसमें कोई विशेष आपत्ति न होगी, क्योंकि यह निश्चय है कि भरतजी राज्य नहीं लेवेंगे, और महाराजकी कोई निषेधात्मक आज्ञा नहीं है कि रामजी कभी राज्य न करें, अत: उन्हें अभिषेकके लिये राजी किया जा सकता है। अब प्रश्न है कि रामजी किस विधिसे अवध चलें जिसमें धर्ममें बाधा न हो, क्योंकि चौदह वर्ष वनवासके लिये पिताकी आज्ञा है, इसका क्या उपाय है, इसे आपलोग विचारिये। रामजीका रुख किसी भाँति पिताकी आज्ञाके उल्लंघन करनेका नहीं है।

नोट—३ ***'नय परमारथ स्वारथ सानी'*** इति। (क) रा० प्र०—***'धर्मधुरीन भानुकुलभानू।'*** २५४ (२) से ***'कोउ न राम सम जान जथारथ'*** (२५४। ५) तक नीति; ***'बिधि हरि हर·······'*** (२५४। ६) से ***'हम सब कर हित होइ।'*** (२५४)। तक परमार्थ। और ***'हम सब कर हित होइ। समुझि सयाने करहु·······'*** से ***'कहहु समुझि सोइ करिय उपाऊ'*** (२५५। २) तक स्वार्थ है।

(५)—मुनिका भाषण। ***'बोले मुनिबर समय समाना। सुनहु'*** (२५४। १) उपक्रम और ***'सब सादर सुनि मुनिबर बानी।·······'*** (२५५। ३) उपसंहार है।

भानुबंस भए भूप घनेरे। अधिक एक तें एक बड़ेरे॥ ५॥
जनम हेतु सब कहँ पितु माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता॥ ६॥
दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जगु जाना॥ ७॥
सोइ गोसाँइ बिधि गति जेंहि छेकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी॥ ८॥

दो०—बूझिअ मोहि उपाउ अब सो सब मोर अभागु।
सुनि सनेहमय बचन गुर उर उमगा अनुरागु॥ २५५॥

शब्दार्थ—**बड़ेरे**=बहुत बड़े।=बड़े। **सजइ**—सजाना=उचित स्थानमें रखना कि सुन्दर जान पड़े, रचना, सजकर-सँवारकर रखना, सुशोभित करना। छेंकना (सं०) **छद**=ढाकना+करण=आच्छादित करना, रोकना, गतिका अवरोध करना, लकीर देकर काट देना, मिटा देना। **टेक**=दृढ़ संकल्प, हठ, अड़, जिद। **टेकना**=हठ करना, ठानना।

---

* दूसरे गुप्तार्थ यह कहते हैं कि 'तिलकका सरजाम आया है तो मगमें एक यह मंगलमोदमूल बात तो हो जाय क्योंकि सबको रामतिलक सुखदायी है। वनमें तिलक ही हो जाय।'

अर्थ—सूर्यवंशमें बहुत-से राजा, एक-से-एक अधिक बढ़कर और बड़े हुए॥ ५॥ सबके जन्मके कारण (जन्म देनेवाले) पिता-माता होते हैं और शुभ-अशुभ कर्मोंके (फल) विधाता देते हैं॥ ६॥ दुःखको दल (नष्ट) करके (उनकी जगहपर) समस्त कल्याणोंको सज देती है—ऐसी आशिष आपकी है, इसे जगत् जानता है (कुछ मैं ही नहीं कहता)॥ ७॥ हे स्वामिन्! आप वही हैं कि जिन्होंने ब्रह्माकी गति रोक दी, जो हठ आपने ठानी उसे कौन टाल सकता है?॥ ८॥ अब आप मुझसे उपाय पूछते हैं! यह सब मेरा अभाग्य है। प्रेमपूर्ण वचन सुनकर गुरुजीके हृदयमें अनुराग उमड़ आया॥ २५५॥

नोट—१ ***'भानुबंस भए भूप घनेरे। अधिक एक तें एक……'*** इति।—भाव यह कि इस कुलमें एक-से-एक बढ़कर राजा हुए। यह बात इस कुलमें बराबर निबहती चली आयी, इसका क्या कारण है? कारण सोचनेपर विदित होता है कि माता-पिता तो केवल जन्म दे देते हैं, वे भाग्य नहीं बना सकते; सबको बड़ा नहीं बना सकते। तब यह अनुमान हुआ कि विधाता सबको बड़ाई देते गये, पर विधाताको यह अधिकार नहीं; वे तो जैसे मनुष्यके कर्म होते हैं उसीके अनुसार फल देते हैं। तब सब बड़े हो नहीं सकते। अशुभ कर्मका फल अशुभ होता है। उन्होंने अशुभका फल अशुभ ही ललाटमें अवश्य लिखा होगा, विधि होकर वे अविधि नहीं कर सकते, नियम नहीं तोड़ सकते। तब सबका सदैव कल्याणमय जीवन सम्भव नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि रघुकुलके राजाओंको अशुभकर्मका फल ब्रह्माने जब-जब दिया तब-तब आप अपने आशीर्वादसे उनके दुःख नष्ट करके उनका कल्याण करते आये—(वै०, पां०)।

नोट—२ ***'अस असीस राउरि……'*** में व्यंगसे यह जनाया कि वह असीस अब कहाँ गयी? वही हमको देकर रघुकुलका कल्याण कीजिये। अवध दरबारमें आशिष माँगा था यथा—***'आयसु आसिष देहु सुबानी।……आवहिं बहुरि राम रजधानी।'*** (१८३। ७-८)।, पर वहाँ आशीर्वाद नहीं दिया गया।

नोट—३ ***'सोइ गोसाँइ बिधिगति जेहि छेंकी……'***।—बारम्बार अशुभ संस्कारोंको मिटाकर मंगल सज दिया, यह विधाताकी गतिका बारम्बार रोकना और ललाटकी रेखाका मिटाना है। और भी गति छेंकनेके उदाहरण ये हैं—

१—भा० स्क० ९ अ० १—वैवस्वत मनुके पुत्र न था। वसिष्ठजीने राजासे मित्रावरुण देवका यज्ञ कराया। मनुकी स्त्री श्रद्धा जिसने यज्ञकी दीक्षा ली थी उसने होताके पास जाकर कन्याके लिये प्रार्थना की। उसने आहुति छोड़ते समय एकाग्रचित हो कन्याका संकल्पकर आहुति छोड़ी। होताके इस व्यतिक्रमसे इला नामकी एक कन्या पैदा हुई। मनुजी प्रसन्न न हुए। गुरुसे पूछा कि यह विपरीत फल कैसे हुआ। उन्होंने ध्यान धरके देखा तो सब हाल जान गये। राजासे सब कहकर वे बोले कि हम अपने ब्रह्मतेजसे आपकी कामना पूर्ण करेंगे। यह संकल्पकर उन्होंने आदि पुरुष भगवान्‌की स्तुतिकर उनको संतुष्ट किया और इच्छानुसार वर पाया; अब इला कन्या राजकुमार सुद्युम्न हो गयी। एक बार शिकार करते हुए ससमाज सुद्युम्न सुमेरु पर्वतकी तलहटीके एक गिरिजाशंकर विहारवनमें पहुँचा, वहाँ प्रवेश करते ही—(शिवजीके पूर्व शापवश कि जो इस वनमें आयेगा, स्त्री हो जायगा)—सब स्त्री हो गये। पास ही एक वनमें चन्द्रमाका पुत्र बुध तप कर रहा था। वह सुद्युम्नको देख मोहित हो गया और यह भी उसपर, दोनों साथ रहने लगे। एक समय उसने वसिष्ठजीका स्मरण किया, वे आये और राजकुमारकी यह दशा देख उन्हें दया आ गयी। उन्होंने भगवान् शिवकी स्तुतिकर उनको प्रसन्न किया। शिवजीने वर दिया कि एक मास स्त्री रहे और एक मास पुरुष होकर राजकाज करें।

२—दशरथजीके पुत्र नहीं हुए। उनको आशीर्वाद दिया। साठ हजार वर्षकी अवस्थामें पुत्र हुए।

३—वसिष्ठजी पुरोहित नहीं होते थे। ब्रह्माने समझाया कि त्रेतामें परब्रह्म परमात्मा इस कुलमें अवतीर्ण होंगे तब उन्होंने स्वीकार किया। युगका क्रम था सत्ययुग, द्वापर, त्रेता। पर इन्होंने देखा कि सत्ययुगके बाद द्वापर बीते तब कहीं त्रेता आवेगा। इतने समयतक राह देखना सहन न कर सके और अपने प्रभावसे ब्रह्माकृत युगोंका क्रम पलट दिया। त्रेताको प्रथम और द्वापरको उसके पीछे कर दिया। (प्रमाण हमको नहीं मिला)।

४—विश्वामित्रजीको श्रुतियोंतकने महर्षि कहा, पर ये अपनी टेकपर रहे। ब्रह्माने भी उनको ब्रह्मर्षि कहा तब भी विश्वामित्रने अपनेको ब्रह्मर्षि न माना; यही कहा कि जब वसिष्ठ कह दें तब हम जानें कि हम ब्रह्मर्षि हो गये अर्थात् ब्रह्माकी लिपिसे भी आपकी बातको उन्होंने अधिक माना। ब्रह्माके कहनेपर

भी, जबतक विश्वामित्रको अहंकार रहा इन्होंने उनको ब्रह्मर्षि न कहा। और पीछे इन्होंने कहा—इसमें भी मतभेद है। कहीं-कहीं ऐसा लिखते हैं कि इनका रूप धारण करके ब्रह्माने दूसरेसे कहला दिया।

५ मा० म०—महाराज दिलीप और सुदक्षिणाके विवाहमें लोगोंने गठबन्धन दृढ़तासे किया। वसिष्ठजीके पूछनेपर कहा गया कि गाँठ खुलते ही विधिने इनकी मृत्यु लिखी है। यह सुनकर आपने मृत्यु-योग मिटा दिया।

६ वे० भू० पं० रामकुमारदासजी—उपर्युक्त कल्पनाएँ यहाँ इसलिये ठीक नहीं हैं कि इसके ऊपरकी चौपाइयोंमें श्रीभरतजीका कहना ही पूर्वजोंमात्रके सम्बन्धमें है—*'भानु बंस भे भूप घनेरे'* से *'असि असीस राउरि जग जाना'* तक। भरतजी कहते हैं कि आपके आशीर्वादके इस (दु:खनाशक कल्याणोत्पादक) प्रभावको समस्त जगत् जानता है। भाव यह कि मैं चापलूसीके रूपमें अर्थवादोक्ति नहीं कर रहा हूँ।

युग परिवर्तनकी कल्पना सर्वथा मिथ्या है; क्योंकि जहाँ कहीं युगोंका वर्णन है वहाँ सर्वत्र कृतयुगके बाद ही त्रेता और त्रेताके बाद द्वापरका उल्लेख है। कल्पादिमें ही व्यवस्था इसी तरहसे की जाकर युगोंकी आयु निर्धारित कर दी गयी। सन्ध्यांश लेकर कृतयुगकी आयु मानव-वर्षोंसे सत्रह लाख अट्ठाईस सहस्र वर्ष, त्रेताकी आयु १२ लाख ९६ सहस्र वर्ष, द्वापरकी ८ लाख ६४ सहस्र और कलिकी ४ लाख ३२ सहस्र वर्ष है। इस आयु एवं क्रमकी व्यवस्थाका परिवर्तन किसीने बीचमें नहीं किया। कुछ लोग अपने अज्ञानके कारण द्वापर-शब्दसे दूसरा युग और त्रेतासे तीसरा युग मानकर परिवर्तनकी अनर्गल कल्पना कर बैठे हैं। वास्तवमें जिस युगमें धर्मके सभी चरणोंकी प्रधानता रहती है अर्थात् धर्मके सभी अंगोंका कड़ाईसे पालन किया जाता है उसका नाम 'कृत' किंवा 'सत्य' युग है, जिस युगमें धर्मका एक चतुर्थांश (१ चरण) तप शिथिल हो जाता है उसका नाम त्रेता है अर्थात् वह धर्मके तीन चरणोंवाला युग है, इसी तरह जिस युगमें धर्मके दो चतुर्थांश (दो चरण) तप और यज्ञका ह्रास होकर केवल दो ही चरण पालित होते हैं उसे 'द्वापर' अर्थात् धर्मके दो चरणोंवाला युग कहा जाता है, और जब धर्मके सभी अंग (चरण) नष्टप्राय हो जाते हैं, केवल 'कलि' अर्थात् पाप या कलह ही जिसका प्रधान धर्म बन जाता है उसे 'कलि' अर्थात् पाप या कलहका युग कहा जाता है। यथा—*'कलि केवल मलमूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥', 'कलिमल ग्रसे धर्म सब······।' 'कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा।'* अत: वसिष्ठजीको युग परिवर्तनकारी बतलाना शास्त्रपुराणानभिज्ञताका परिचायक है। विश्वामित्रजीका ब्रह्मर्षित्व तो विश्वामित्रजीके तप तथा अस्त्र-त्याग आदिसे हुआ, वसिष्ठजीके आशीर्वाद एवं तप:प्रभावसे नहीं और विश्वामित्र भानुवंशी भी नहीं हैं। दशरथजीके पुत्रावरोधमुक्तत्वके कारणमें वसिष्ठजीके आशीर्वादकी कोई बात नहीं आती, अपितु शृंगी ऋषिका यज्ञ-कार्य-निमित्त बनकर अग्निके प्रादुर्भावपूर्वक चरु (हवि) का वितरण कराया।

हाँ, सुद्युम्न मनु वंशमें थे। इनके दोनों बारका (स्त्रीत्व एवं पुंस्त्व) परिवर्तन वसिष्ठजीके आशीर्वाद एवं तप:प्रभावसे ही हुआ था। 'कृतवास रामायणके अनुसार पुरुष-संयोगके बिना ही उत्पन्न होनेके कारण महाराज भगीरथके शरीरमें अस्थि नहीं थी, वह वसिष्ठजीके आशीर्वादसे हो गयी। (मानस-मयंकानुसार दिलीपपुत्र 'रघु' का मृत्युयोग वसिष्ठजीके आशीर्वादसे मिट गया, जिसका स्पष्टीकरण महात्माओंने इस तरह बताया है कि 'रघु' की जन्मपत्रीमें ऐसा विधिकृत योग पड़ा था कि विवाहकालमें सातवीं भाँवरी पूर्ण होते ही 'रघु' का सिर फट जायगा, इसी डरसे महाराज दिलीपजी 'रघु' का विवाह नहीं होने देते थे। जब वसिष्ठजीकी आज्ञासे दिलीपने रघुके विवाहकी अनुमति दी और वैवाहिक अन्य कृत्य हो जानेके पश्चात् जब भाँवरी पड़ने लगी, उस समय जब आगे-आगे वर और पीछे-पीछे दुलहिन घूमती हुई चार परिक्रमा कर चुके तब वसिष्ठजीने (भाँवरी) परिक्रमा रोककर अपना (गुरु) पूजन कराया। पूजनान्तमें जब रघुने प्रणाम किया तो वसिष्ठजीने आशीर्वाद दिया कि 'चिरंजीव' हो। तत्पश्चात् उन्होंने अवशिष्ट भाँवरोंको फेर (उलट) दिया (अर्थात् अबकी बार आगे-आगे दुलहिन और पीछे-पीछे दूलह (रघु) होकर एक, दो, तीन कहकर भाँवरी फेरने लगे; पाँच, छ:, सात गिना ही नहीं)। इस तरह वहाँ श्रीवसिष्ठजीने विधिगतिको छेंक (रोक) दिया, केवल अपने आशीर्वादमात्रसे। कहा जाता है कि तभीसे रघुकुलमें भाँवरी फेर देने (पलट देने) की कुल-रीति बन गयी कि चार बार वर आगे रहे और पश्चात् तीन बार कन्या आगे रहे, इसका संकेत मानसमें इस तरह है कि प्रथम तो कहा

कि—*'कुँवर कुँअरि कल भाँवरि देहीं'* फिर उसके पश्चात् कहा कि *'सीय राम सुंदर प्रतिछाहीं'*। ऐसा क्यों हुआ तो इसका कारण आगे चलकर बतलाया कि, *'प्रमुदित मुनिन्ह भाँवरी फेरी। प्रीति सहित सब रीति निबेरी॥'* इसी तरहकी या इन उपर्युक्त घटनाओंसे विलक्षण घनी घटनाएँ संघटित हो सकती हैं। श्रीभरतजी तो ('घनेरे') भूपोंका हवाला देते हैं—वास्तवमें भरतजीके इन उद्धरणोंका लक्ष्य यह है कि गुरुदेव महर्षि श्रीवसिष्ठजीके उस अमोघ आशीर्वादका प्रयोग मेरे लिये भी इस समय होना चाहिये।

'सोइ गोसाईं' में व्यंग यह है कि आप वही हैं, भानुवंश वही है और मैं भी उसीमें हूँ; फिर अब क्यों नहीं वैसा ही करते हैं?

नोट—४ *'बूझिय मोहि उपाउ अब……'*। भाव कि—(क) पूर्व कभी किसी अमंगल दुःख मिटानेका उपाय न पूछा था, आशीर्वाद देकर कल्याण सज दिया था। जब हमारी बारी आयी तब आप उपाय पूछते हैं? इसमें आपका दोष नहीं, आप तो वैसे ही सिद्ध अब भी हैं पर हमारा अभाग्य है कि आप उपाय पूछते हैं, आशिष देकर दुःख मिटा नहीं देते। कन्यासे पुत्र किया तब वनसे अवध ले जाना तो सहज ही बात है। (ख) यह मुनिके *'कहहु समुझि सोइ करिय उपाऊ'* का उत्तर है।

तात बात फुरि राम कृपाहीं। राम बिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं॥ १॥
सकुचउँ तात कहत एक बाता। (अरध तजहिं बुध सरबस जाता॥ २॥
तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लषन सीय रघुराई॥ ३॥
सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता)। भे प्रमोद परिपूरन गाता॥ ४॥
मन प्रसन्न तन तेजु बिराजा। जनु जिय राउ रामु भए राजा॥ ५॥
बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी। सम दुख सुख सब रोवहिं रानी॥ ६॥

शब्दार्थ—'**बिमुख**'=विरुद्ध, प्रतिकूल, खिलाऊ, अप्रसन्नतासे। '**फेरिअहिं**'=लौटा दें या लौटा दो=फेरिये, लौटा दिया जाय।

अर्थ—हे तात! बात सत्य है, पर यह रामकृपासे ही (हुआ)। श्रीरामजीसे विमुख होकर स्वप्नमें भी सिद्धि नहीं हो सकती॥ १॥ हे तात! एक बात कहते हुए सकुचाता हूँ—बुद्धिमान् लोग सर्वस्व जाता देख आधा छोड़ देते हैं॥ २॥ तुम दोनों भाई वनको जाओ, श्रीसीता-राम-लक्ष्मणको लौटा दिया जाय॥ ३॥ यह सुन्दर श्रेष्ठ वचन सुनकर दोनों भाई हर्षित हुए, सर्वांग सारा शरीर अत्यन्त आनन्दसे परिपूर्ण भर गया॥ ४॥ मन (ऐसा) प्रसन्न हो गया, शरीरमें तेज विराजमान हो गया, मानो राजा जी उठे और रामचन्द्रजी राजा हो गये॥ ५॥ लोगोंको लाभ बहुत और हानि कम जान पड़ी। सब रानियाँ दुःख-सुख समान ही समझकर रो रही हैं*॥ ६॥

☞ कोष्ठकमें दिया हुआ अंश राजापुरकी पोथीमें नहीं है।

नोट—१ (क) *'रामबिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं।'* भाव कि रामजीकी मर्जी जिसमें न हो, जिस कार्यको वे करना नहीं चाहते वह कार्य यदि मुनि करना चाहें तो उसमें कदापि सफलता नहीं हो सकती, उसमें उनकी कृपाकी सहायता नहीं मिलती। (ख)—इससे जनाया कि इस समय श्रीरामजीकी इच्छा वनवासकी है, हम उसके विरुद्ध चाहें तो हमें कार्यमें सिद्धि नहीं हो सकती। दूसरे सब कार्योंकी सिद्धिमें रामकृपा ही साध्य और प्रधान ठहराया। मिलान कीजिये—*'श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं।'……'फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥ तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥ अंधकार बरु रबिहि नसावइ। रामबिमुख न जीव सुख पावइ॥ हिमतें अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥'* (उ० १२२। १४। १९)।

---

* दीनजी अर्थ करते हैं कि—'(तब वसिष्ठजीने कहा यह सब तो ठीक है कि) लोगोंको बड़ा लाभ होगा और हानि कम होगी पर रानियोंको सुख और दुःख दोनों बराबर ही होगा, वे रोवेंगी।

२—*'अरध तजहिं बुध सरबस जाता'*— यह लोकोक्ति है*। साधारण व्यवहारमें यह नित्य देख लीजिये। न्यायालय (कचहरियों) में नित्य ही देखनेमें आता है। जब लोग देखते हैं कि सभी हाथसे जाता देख पड़ता है पर आधा परधा छोड़ देनेसे बाकी तो मिल ही जायगा तब वे इस लोकोक्तिपर चलकर आधा ही बचा लेते हैं। मुनिने तो यह लोकोक्ति कही। सर्वस्व और अर्द्धत्यागसे उनका क्या अभिप्राय है यह वे स्वयं कहते हैं—*'तुम कानन गवनहु'।* इससे यह न समझना चाहिये कि वे तीन सर्वस्व हैं और ये दो आधे हैं। भाव यह है कि पिताका वचन रखना ही चाहिये और देवहित भी होना चाहिये। इससे कुछ त्याग अवश्यमेव होगा। महानुभावोंने अर्द्ध और सर्वस्वके अनेक भाव कहे हैं। कुछ यहाँ दिये जाते हैं। गौड़जीने उन सबपर आलोचना की है वह भी यहाँ दी जाती है—

वै०—सर्वस्व चारों भाई हैं। भरतजी भोग, ऐश्वर्य, सर्व त्यागकर मनाने आये हैं तो उनके न लौटनेसे ये कब लौटेंगे और इनके जानेसे शत्रुघ्नजी भी साथ जायँगे। इस प्रकार चारों हाथसे जाते हैं। यदि राम-लक्ष्मणके बदलेमें वे दोनों जायँ तो दो ही फिर भी घर रहेंगे।

शिला—शंका-दो वनको जायँ, तीन लौटें तो आधा कैसे हुआ? समाधान—भरतजी चाहते हैं कि रामसेवा भी मिले और कलंक-अपयश भी दूर हो दोनों लाभ चाहते हैं। उसीको लक्ष्य करके गुरुजी कहते हैं कि दोनों नहीं मिल सकते; एक लो, एकका त्याग करो। यश लो, सेवा छोड़ो।

रा० प्र०—(क)—अर्द्ध त्याग किस रीतिसे? दो गये तीन मिले और भी लाभ है, आधेकी कहावत है। वा, (ख) राम-राज्याधिकारी हैं, अत: सर्वस्व हैं और भरतजी सेवा-अधिकारी हैं, अत: अर्ध हैं—***'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई'।*** वा (ग) रामजी (हविष्यके) आधे भागसे हुए और भरतजी चौथाईसे। अत: राम सर्वस्व और ये आधे हैं। लक्ष्मण और सीताजीको तो वनवास नहीं दिया गया, वे अपने मनसे साथ हुए।

पु० रा० कु०—श्रीसीताराम एक उनके बदले तुम जाओ, लक्ष्मणके बदले शत्रुघ्न।

पु० रा० कु०—'राम फिरें तुम जाओ' यह मुनिने भरतजीकी परीक्षा ली। भागवतकी परीक्षा ली, इसीसे हार मानना पड़ा, पहले भी और अब भी—*'मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी।'*

गौड़जी—यह लोकोक्ति है कि सब जाता हो तो लोग अर्द्ध या अंशपर ही संतोष कर लेते हैं। यहाँ ठीक आधा अभिप्रेत भी नहीं है। भाव यह है कि मेरे लिये और अवधवासियोंके लिये सीताराम ही सर्वस्व हैं। वह तुम्हारे बदले लौटें तो तुम्हारा त्याग हमारे सर्वस्वकी हानि नहीं होगी। उनके लौटनेसे लक्ष्मणजी जरूर लौटेंगे और तुम्हारे साथ शत्रुघ्नजी जरूर जायँगे। इसीलिये सीधा प्रस्ताव तीनके लौटने और दोके जानेका हुआ! वसिष्ठजी इस समय कोई निकासी न देखकर यह भद्दा-सा प्रस्ताव करते हैं। इसमें भरतजीकी परीक्षाकी कोई बात नहीं है; क्योंकि वह तो भरतजीकी भायप भक्तिसे स्वयं हैरान हैं, परीक्षा क्या लेंगे! उनके प्रस्तावमें भद्दापन यह है कि उससे न राजाकी बात रहती है न वरदान रहता है, न देवताओंका कोई काम सधता है। फिर भरत वन क्यों जायँ, क्या उन्हें राम-राज्य खलेगा? राजासे कैकेयीने जो वर पाये उससे बिलकुल विपरीत यह प्रस्ताव होता है। धर्मनीतिके जाननेवाले वसिष्ठ यदि घबरा न गये होते तो यह प्रस्ताव ही न करते। यहाँ तो *'मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी।' 'पावा नाउ न बोहित बेरा'॥* ही चरितार्थ होता है।

नोट—'रघुराई' शब्द देकर जनाया कि वसिष्ठजी श्रीरामजीको अब भी 'रघुराज' ही मानते हैं (प० प० प्र०)।

पु० रा० कु०—१ *'जनु जिय राउ राम भए राजा'* इति। सुमित्राजीने लक्ष्मणजीसे कहा था कि *'उपदेसु एहु जेहि तात तुम्हरे रामसिय सुख पावहीं। पितु मातु प्रिय परिवारु पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं॥'* (७५)' **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** पुत्र पिताकी आत्मा है। श्रीराम-लक्ष्मणके फिरनेसे पिताका सुख मिला मानो वे ही जी उठे उनका दु:ख भूल गया। श्रीभरतजीको दो दु:ख थे—पितु-मरण और राम-वनवास। दोनों मिट गये। इसीसे वही दो बातें यहाँ कहीं।

---

* यथा शुक्रनीतौ—'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः। अर्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुस्तरः॥' अर्थात् पण्डित जब सर्वस्वका नाश होता देखते हैं तब आधा छोड़ देते हैं और आधेसे काम चलाते हैं क्योंकि सर्वका नाश असह्य हो जाता है। लोकोक्ति है 'सर्वस देखिये जात आधा देइये बाँट'। (शुक्रनीतिमें नहीं मिला)

२ *'अधिक लाभ लोगन्ह......'* इति। लोगोंको बहुत लाभ जान पड़ा, क्योंकि राम बड़े हैं, दूसरे वे जितना सुख उनसे मानते हैं उतना किसीसे नहीं, यथा—*'चारिउ रूप सील गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥'* भरतजीसे राम और शत्रुघ्नजीसे लक्ष्मण बड़े, और सीताजी भी। अतः अधिक माताएँ सब पुत्रोंको समान मानती हैं; उनके लिये जैसे राम-लक्ष्मण वैसे भरत-शत्रुघ्न, उनको न लाभ हुआ, हानि ज्यों-की-त्यों बनी रही। वे सोचती हैं कि हमारा दुःख तो बना ही रहेगा, दोका रोना अब, वैसे तब।

राजापुरकी पोथी

पं० श्रीविजयानन्द त्रिपाठी (काशीजी)—श्री १०८ गोस्वामीजी श्रीरामचरितमानसमें *'जहाँ प्रेम तहँ नेम नहिं'* का अनुसरण करते हुए-से मालूम होते हैं। सातो काण्डोंमें कोई भी नियम निबहने नहीं दिया। छः काण्डोंमें श्लोकसे मंगलाचरण करते हुए भी लंकामें *'लव निमेष परिमान युग'* इत्यादि दोहेसे मंगलाचरण कर दिया। केवल अयोध्याकाण्डमें प्रायेण नियम निबहा है, परन्तु उसमें भी कई जगहोंपर ७ अर्धालियाँ हैं, २५ दोहेपर बराबर छन्द आया है, परंतु एक स्थलपर २६ दोहेपर छन्द दिया है, अतएव किसी विशेषस्थलमें ६ अर्धाली भी आश्चर्यजनक नहीं है।

राजापुरके प्रतिको मैं प्राचीनतम प्रतिष्ठित प्रति मानता हूँ। मैं जहाँतक समझता हूँ श्रीगोस्वामीजीने कोई प्रति स्वयं लिखी ही नहीं। महाभारतके लेखक गणेशजीकी भाँति श्रीरामचरितमानसके भी कोई गणेश स्थानीय अवश्य थे, नहीं तो ४०० वर्ष कुछ बहुत समय नहीं होता कहींपर कोई खण्ड उस महापुरुषके हाथका लिखा अवश्य उपलब्ध होता। प्राचीन महाकवि व्यास, वाल्मीकि आदिने अपनी रचना कहीं लिखी नहीं। उनसे सुनकर लोगोंने लिपिबद्ध कर लिया। श्रीगोस्वामीजीने भी इसी प्रथाका अनुसरण किया। जबसे गुरुमुखसे सुना तभीसे भीतर-ही-भीतर मन्थन हो रहा था, वृद्धावस्थामें *'सुखद शीत रुचि चारु चिराना'* हुआ। फिर *'भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही। चली सुभग कबिता सरिता सो॥ राम बिमल यश जल भरिता सो॥'* किसकी सामर्थ्य कि उस समय लिख सके? इसीलिये श्रीगोस्वामीजी श्रीरामनवमीपर 'कथाका आरम्भ' 'चरितका प्रकाश' करना लिखते हैं। यथा—*'बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा', 'अवधपुरी यह चरित प्रकासा।'* इत्यादि। अपि च यह रचना समाधि-अवस्थामें हुई, जाग्रत्‌में नहीं। इसीलिये श्रीगोस्वामीजी 'लिट्' का प्रयोग करते हैं। यथा—'**भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासः**' और '**परोक्षे लिट्**' प्रत्यक्षमें लिट्‌का प्रयोग नहीं होता। सो समाधि-अवस्थामें लिखा जाना सम्भव नहीं। अतएव हमलोगोंको उनके लिखे हुए ग्रन्थका ध्यान छोड़ देना चाहिये। अयोध्यापुरीका बालकाण्ड, राजापुरका अयोध्याकाण्ड और काशिराजकी प्रति तथा सं० १७२१ की प्रतिके शेष काण्ड प्राचीनतम तथा प्रतिष्ठित हैं। उनसे भी पाठ-शोधनमें बड़ी सावधानताकी आवश्यकता है।

मैं अब भी कहता हूँ कि *'अरध तजहिं बुध सरबस जाता'* आदिकी आवश्यकता नहीं है। ऐसी धारणा प्रसंगपर ध्यान देनेसे होती है। बल्कि इनका सामंजस्य नहीं बैठता। सर्वस्व क्या है? अर्ध क्या है? जो अर्ध बतलाया जाता सो वस्तुतः अर्ध होता है कि नहीं? लखन-सीय-रघुराईके लौटनेमें दोनों भाइयोंके वन जानेकी कारणता कैसे हुई? इन प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर नहीं मिलता। *'तुम कानन गवनहु दुहु भाई'* ऐसा गुरुका आदेश सुनकर भी उनसे *'कीजिय प्रवान'* कहकर प्रमाण माँगना और वनको न चला जाना, और गुरुजीके *'सकुचहुँ तात कहत इक बाता'* कहकर एकदम न ठहरना, और बेधड़क उस बातको कह डालना अस्वाभाविक मालूम होता है।

यह बात अवश्य है कि अयोध्याकाण्डमें पदे-पदे गुप्त भाव भरे हुए हैं और कठिनतासे हाथ आते हैं। इस काण्डमें आदेशसे काम नहीं लिया जाता, रुखसे काम लिया जाता है। भरतजीको सोचते-सोचते रात बीत गयी, कोई युक्ति सरकारके लौटनेकी स्थिर न कर सके। कौन भरतजी? जिनकी महिमा-सिन्धुके किनारे *'मुनि मति तीर ठाढ़ि अबला सी।'* उनके मनमें यह धर्मसम्मत युक्ति भी आयी कि 'पिताने सरकारको १४ वर्षके लिये वन दिया, मुझे राज्य दिया। सो सरकार मंजूर करके बन आये पर मुझे मंजूर नहीं है, इसलिये दोनों भाई अपना-अपना हिस्सा अदल-बदल कर लें, इस भाँति सरकारके धर्ममें पीड़ा न होगी। केवल यही एक युक्ति है, जिसे धर्मसम्मत कह सकते हैं। पर यह प्रमाण न होने पावेगी, सरकार मुझे भी पिताकी आज्ञासे हटने न देवेंगे।' इसलिये यह युक्ति भी नहीं ठहर सकी।

यहाँ सभामें मुनिजी सरकारके लौटनेका उपाय पूछने लगे, भरतजीने खिजलाकर कहा कि ***'बूझिय मोहि उपाउ अब सो सब मोर अभाग।'*** इसपर गुरुजीने उसी एकमात्र उपायको कहना चाहा, परंतु उस उपायका कहनेवाला भी कैकेयीकी भाँति निन्द्य समझा जावेगा, अतएव इतना ही कहकर ठहर गये कि ***'सकुचौं तात कहत इक बाता'।।***

मुनिजीके मुखसे यह बात निकलते ही समझनेवाले लोग समझ गये कि वह कौन-सी बात है। भरतजी प्रसन्न हो उठे कि इस बातपर यदि मुनिजी स्थिर हो जायँ तो सरकारको भी मानना पड़ेगा, रह गयी यह बात कि मुझे निष्कारण वन भेजनेकी बात कहनेमें मुनिजीको संकोच है, सो यह वन जाना मुझे परम इष्ट है, अतएव मुनिजीके संकोच मिटाने, और उनसे आज्ञा प्राप्त करनेके लिये कहते हैं कि ***'कानन करहुँ जनम भर बासू। एहि ते अधिक न मोर सुपासू।।'''''''नाथ निज कीजिय बचन प्रवान'*** इत्यादि।

यह बात अवश्य है कि इस प्रकार अर्थ करनेमें दोनों भाइयोंके हिस्से अदल-बदलवाली बातकी कल्पना करनी पड़ेगी। परंतु भरतके वन भेजनेमें ऐसी कल्पना बिना किये अर्थ बैठ ही नहीं सकता, चाहे कोई भी अर्थ किया जाय।

पच्चीकारोंने सच्ची-पच्ची करनेके लिये अर्धालीके दो पदोंके बीचमें पच्ची किया है। यदि लेखकके भ्रमसे अर्धाली छूटी होती तो पूरी-की-पूरी छूटती।

इसी भाँति और स्थानोंमें भी अर्थ हो जाता है। शीघ्रताके कारण अति संक्षेपमें लिखा।*

२—मा० सं०—इसकी और श्रावणकुंज श्रीअयोध्याजीके बालकाण्डवाली प्रतिकी लेखशैलीके देखनेसे मेरा यह पुष्ट अनुमान—अनुमान ही नहीं वरं पूर्ण विश्वास—है कि राजापुरकी पोथी संवत् १६६१ से भी पहलेकी लिखी हुई है। गोस्वामीजीके हाथकी दोनों ही नहीं हैं, पर उनकी पोथीकी प्रतिलिपि होनेकी सम्भावनाका पूर्ण अवकाश है। कोई कारण इसमें सन्देह करनेका जान भी नहीं पड़ता। यदि जनताको धोखा देने और पुजानेके लिये ही पोथी रखी गयी थी तो एक ही काण्ड क्यों रखा गया और भी क्यों न बनाकर रखे गये। जैसा प्राय: लोगोंका विश्वास है गोस्वामीजीकी दी हुई होनेसे लोग उसे उनकी हस्तलिखित कहने लगे हों, यह हो सकता है।

गोस्वामीजीके समयकी और कोई पोथी नहीं सुनी गयी है। एक मलीहाबाद जिला लखनऊमें कही जाती है; परंतु जहाँतक मुझको मालूम हुआ है वह शुद्ध नहीं है। क्योंकि साकेतवासी महात्मा श्रीरामप्रसादशरणजी रामायणीने वहाँ जाकर उसे देखा था और उसकी पूजा की थी। वे कहते थे कि उसमें गंगावतरणकी प्रक्षिप्त कथा है। गोस्वामीजीकी साकेतयात्राके बहुत पीछे अन्य पोथियाँ लिखी गयीं, पर कहाँसे, यह निश्चय नहीं।

महात्मा श्रीवेणीमाधवदासजीकृत मूल गोस्वामी-चरितके देखनेसे यह जाना जाता है कि गोस्वामीजीकी हस्तलिखित मूल प्रति जिसपर **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** रूपसे भगवान् विश्वनाथकी प्रसिद्ध सही थी वह श्रीटोडरमलजीके घर रखी थी—***'जाय धरे टोडर सदन पोथी यतन कराय।'***

श्रीअयोध्याके महात्मा श्रीबालकराम विनायकजीने मूल गोस्वामी-चरितके अनुवादमें उपर्युक्त अवतरणपर एक पादटिप्पणी दी है। वह इस प्रकार है—

श्रीयुत टोडरमलजी रईस बनारसके घर वह अमूल्य पुस्तक चाँदीकी मंजूषामें रखी गयी थी और उसकी पूजा नित्य हुआ करती थी। उसके बारेमें गुसाईंजीने यह कह रखा था कि जिस दिन वह पुस्तक तुम्हारे घरसे निकलकर दूसरेके घर जायगी उसी दिन वह इस लोकसे लुप्त हो जायगी। ऐसा हुआ भी। कई पीढ़ियोंके पीछे उस परिवारके नायक अनन्तमलजी हुए। उनकी एक परम प्यारी कन्या थी। उस पुस्तकमें उसका अविचल प्रेम था, क्योंकि बालपनसे वह नित्य उसकी पूजा किया करती थी। जब उसका विवाह हुआ और वह विदा होकर ससुराल जाने लगी तब चुपकेसे उसने उसे अपनी डोलीमें रख लिया।

---

* लाला सीतारामका भी एक लेख पं० रामनरेश त्रिपाठीजीके उत्तरमें माधुरीमें निकला था पर वह मुझे इस समय उपलब्ध नहीं हुआ इससे उसे यहाँ नहीं दे सका हूँ।—(सम्पादक)

रास्तेभर तो वह पुस्तक विद्यमान थी पर जब वह पतिके गृहमें उतरी तब वह लुप्त हो गयी। उसके वियोगमें उस कन्याने अपना शरीर ही त्याग दिया।'

अस्तु। अब, हम इस प्रामाणिक आधारसे इस निश्चयपर पहुँचते हैं कि गोस्वामीजीकी हस्तलिखित वही एकमात्र प्रति थी जो आगे चलकर किसी समय लुप्त हो गयी, वह अब नहीं है। तब उनकी मूल प्रतिकी किसीमें सम्भावनाका अवकाश नहीं रहा। जो हैं सो सब प्रतिलिपियाँ ही हैं। अतः राजापुरकी भी प्रतिलिपि ही है; पर सबसे प्राचीन और गोस्वामीजीके समयकी ही है उनकी मूल प्रतिसे ही नकल की हुई है।

जहाँ पण्डितोंकी समझमें कोई शब्द न आया वहाँ उसका सुधार नवीन पाठद्वारा कर दिया गया है। बहुतसे पाठान्तरोंका कारण तो यही जान पड़ता है—यह बात आजकलके अनेक संस्करणोंके देखनेसे भी निस्संदेह सिद्ध है। पं० रामेश्वरभट्ट, सूर्यदीन शुक्ल आदिकी छपी प्रतियोंको देख लीजिये। गोस्वामीजीका अथवा प्राचीन प्रतिलिपियोंका पाठ क्या है इससे सरोकार नहीं; हमारे समझमें क्या ठीक है वही पाठ गोस्वामीजीका है—यह आजकलकी प्रथा है।

इस काण्डमें प्रायः आठ-आठ चौपाइयाँ सर्वत्र हैं पर कहीं-कहीं सात भी हैं और कुछ राजापुरवालीमें ही नहीं अन्य भी सभी प्राचीन प्रतियोंमें कम-से-कम एक या दो जगह नियमका भंग होना पाया जाता है। इसका कारण कविकी इच्छामात्र है। दो स्थलोंमें जहाँ राजापुरकी पोथीमें ७ चौपाइयाँ हैं अन्य कई प्रतियोंमें ८ हैं। इसका कारण मेरी समझमें यह भी हो सकता है कि कविने पहले वैसा ही लिखा हो, पीछे बढ़ा दिया हो। पर उनके बिना भी अर्थमें अड़चन नहीं पड़ती। यह भी हो सकता है कि औरोंने ही आठका क्रम रखनेके लिये बढ़ा दी हों।

यहाँ केवल ६ चौपाइयाँ हैं और इन्हींपर यहाँ विचार करना है—

'सकुचौं तात कहत एक बाता । अरध तजहिं बुध सरबस जाता॥
तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई । फेरिय लखन सीय रघुराई॥
सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता । भे प्रमोद परिपूरन गाता'॥

राजापुरकी प्रतिमें ***'सकुचौं तात कहत एक बाता।'*** के बाद ही ***'भे प्रमोद परिपूरन गाता'*** है। यह बहुत-ही खटकनेकी बात है। क्योंकि इससे प्रसंगका भंग होता है और उक्ति अपूर्ण रहती है। महर्षि वसिष्ठने ***'सकुचौं तात'*** कहते हुए सभी ही बात उठायी है। यह तो उद्देश्य हुआ। इसके बाद इसका विधेय होना ही चाहिये। बिना उसके प्रसंग बनता नहीं और प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। यह सब कुछ न होकर एकाएक ***'भे प्रमोद परिपूरन गाता'*** कहकर मध्यम पुरुषपर उसका प्रभाव दिखाना बिलकुल अनर्गल बात है। गोस्वामीजी-जैसे कविचूड़ामणिसे ऐसा कैसे हो सकता है। और विशेषकर ऐसी अवस्थामें जब कि अन्य सभी प्रतियोंकी उपर्युक्त छहों चरणोंसे एकवाक्यता है तब राजापुरकी प्रतिका ऐसा विकलांग और विशृंखल पाठ कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है। अतः हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं और कोई भी विचारशील विद्वान् सहज ही इस विचार-विन्दुपर पहुँचेगा कि राजापुरकी प्रति गोस्वामीजीकी हस्तलिपि नहीं है। वह किसी प्रतिसे उतारी ही गयी है। और लेखककी असवधानतासे ***'सकुचौं तात……'*** के उत्तर और ***'भे प्रमोद*** इति' के पूर्वके चार चरण छूट गये हैं अर्थात् नकल करनेसे रह गये हैं। लेखकसे यहाँ चार चरणोंका छूट जाना और ***'सकुचउँ तात कहत एक बाता'*** के पश्चात् ***'भे प्रमोद परिपूरन गाता'*** लिख जाना बहुत सम्भव है। नित्य ही इस बातका प्रमाण यन्त्रालयों (प्रेसों) में देख लीजिये।

उनके नीचेके चरणोंके पाठसे यह बात और भी विशद रूपसे स्पष्ट हो जाती है।

'बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी । सम दुख सुख सब रोवहिं रानी॥
कहहिं भरत मुनि कहा सो कीन्हें । भल जग जीवन अभिमत दीन्हें॥
कानन करौं जनम भरि बासू । यहि ते अधिक न मोर सुपासू'॥

'बहुत लाभ', लघु हानी', 'सम दुख सुख', 'मुनि कहा सो कीन्हें', 'कानन करउँ जनम भरि बासू'— ये पद राजापुरवाली प्रतिके उन चरणोंके प्रतिलिपिमें छूटनेके सच्चे साक्षी हैं; वे रंचक भी संदेह नहीं रहने देते। वे यह पुकारकर कहते हैं कि मुनिराजने, जो कुछ वे कहने लगे थे, वह कहा और उसे

भरतजीने, माताओंने और अन्य लोगोंने सुना और उसके फल-अफलका पूरा-पूरा अनुभव करते हुए उसका उत्तर किया। हमारे विचारोंसे ब्रह्मचारी विन्दुजी भी सहमत हैं।

इस सम्बन्धमें हम पं० रामनरेश त्रिपाठीका मत अपने कथनपर प्रकाश डालनेकी इच्छासे उद्धृत करना उचित समझते हैं।

पं० रामनरेश त्रिपाठीजी—राजापुरवाली प्रतिमें छः चौपाइयोंके बाद दोहा है और सभीकी प्रतिमें आठके बाद। तुलसीदासने अयोध्याकाण्डमें प्रायः आठ चौपाइयोंके बाद एक दोहा रखनेका नियम किया है; पर राजापुरकी प्रतिमें उपर्युक्त स्थानपर यह क्रम नहीं रहा। यह तो बाहरी परीक्षा हुई। अब भावार्थपर आइये। राजापुरकी प्रतिमें चार चरणोंकी कमीसे कथाका प्रसंग बीचमें टूट जाता है। ***'सकुचौं तात कहत एक बाता'*** के बाद ही, बिना बात सुने ही कैसे ***'भे प्रमोद परिपूरन गाता'***। इसमें चार चरणोंका छूट जाना नकल करनेवालेकी गलती जान पड़ती है। यह गलती ***'बाता'*** और ***'गाता'*** का अनुप्रास मिल जानेसे हुई जान पड़ती है।

इसी प्रकार दोहा २७८ के आगे देखिये।······दोनों (राजापुर और सभाकी) प्रतिके पाठोंको मिलाइये, तो राजापुरकी प्रतिमें सात ही चौपाइयाँ हैं और सभाकी प्रतिमें आठ। एक अन्तर तो यह है। दूसरे ***'जाइ न बरनि मनोहरताई'*** के आगे ***'रामजनक मुनि आयसु पाई'*** मेल नहीं खाता और वर्णन अपूर्ण रह जाता है। सभावाली प्रतिके दो चरणोंसे वर्णन भी पूर्ण हो जाता है और चौपाइयाँ भी आठ हो जाती हैं। यहाँ भी नकल करनेवालेको ***'मनोहरताई'*** और ***'पाई'*** के तुक मिल जानेपर धोखा हुआ है। नकल करते समय वह एकसे तुकवाले दो चरण छोड़ गया।

इन दोनों प्रमाणोंसे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि राजापुरवाली प्रति तुलसीदासके हाथकी लिखी नहीं, बल्कि किसी और प्रतिकी नकल है, जिसका अभीतक पता नहीं चला। पहले तो तुलसीदाससे यह भूल होती ही नहीं। पर यदि यह मान लें कि भूल हो ही गयी तो बादको वे उसे सुधारे बिना न रहते।······ (माधुरी, श्रावण, ३०२ तु० सं० से उद्धृत)।

कहहिं भरतु मुनि कहा सो कीन्हे। फलु जग जीवन्ह अभिमत दीन्हे॥ ७॥
कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू॥ ८॥
दो०—अंतरजामी रामु सिय तुम्ह सरबग्य सुजान।
जौं फुर कहहु* त नाथ निज कीजिअ बचनु प्रवान॥ २५६॥

शब्दार्थ—**सुपासू**=सुख, आराम।=आनन्ददायक बात। **निज**=अपना।=अवश्य, ठीक, सही, वास्तविक, यथार्थ, सच्चा—(पां०)।

---

* यही पाठ राजापुर, काशिराज, भा० दा० इत्यादिमें है। वीरकविजीने 'कहहुँ' पाठ दिया है और लिखते हैं कि ना० प्र० सभाकी प्रतिमें 'कहहु' पाठ है। टीकाकारने इसका अर्थ किया कि—'जो आप सच कह रहे हैं······' इन वाक्योंसे ध्वनि निकल रही है कि योगिराज वसिष्ठजी झूठ भी बोला करते थे। भक्तशिरोमणि भरतजी गुरुके प्रति ऐसे कर्णकटु शब्द कैसे कह सकते हैं। इस अर्थसे वसिष्ठजी और भरतजीकी मर्यादाकी बड़ी अवहेलना की गयी है। पाठ पं० रा० गु० द्वि० की हस्तलिखित प्रतिका यही है, यही वंदन पाठकजीने दिया है। इससे वही पाठ रखना उचित समझा गया है। कोई अड़चन मिटानेके लिये पाठ बदलना मानस-पीयूषको अभिप्रेत नहीं। हो सकता है कि ऐसा कहकर भरतजी मुनिको जोश दिलाना चाहते हैं, जिसमें वे अवश्य हठ करके रामजीको लौटा दें; क्योंकि वे मनमें खूब समझ चुके हैं कि 'मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी', अपनेसे वे कदापि लौटनेको न कहेंगे। उनका अभिप्राय है कि यह बात ऐसी उत्तम है कि हमें विश्वास नहीं होता कि यथार्थ ही आपकी यही मनशा है; हमारा मन टटोलनेके लिये ही तो आप ऐसा नहीं कह रहे हैं। 'कहहु' का अर्थ 'कहउँ' भी गोस्वामीजीकी व्याकरणके अनुसार हो सकता है। ऐसा प्रयोग और भी कई स्थलोंपर हुआ है। शंकाको दूर करनेके लिये वही अर्थ यहाँ इसी पाठसे कर सकते हैं और दोहेके पूर्वार्द्धसे यह अर्थ संगत भी है। बाबा हरिहरप्रसादने इसी पाठसे यही अर्थ किया है और विनायकी टीकाकार एवं दीनजीने मुनिको ही कारण माना है। मेरी तुच्छ बुद्धिमें तो दोनोंका समावेश यहाँ करनेको ऐसा 'पद' दिया गया जिसके दोनों अर्थ हो सकें। गुरुने प्रथम दरबार (अवध) में भी तो जो कहा था वह कुछ लोगोंके मतसे परीक्षा ही थी।

अर्थ—श्रीभरतजी कहते हैं कि मुनिने जो कहा उसके करनेसे संसारभरके जीवोंको मनोवांछित देनेका फल होगा*॥ ७॥ (१४ वर्षकी क्या बात) मैं जन्मभर वनवास करूँगा, इससे बढ़कर मेरे लिये कोई आनन्द नहीं है॥ ८॥ श्रीसीतारामजी अन्तर्यामी हैं और आप सर्वज्ञ और सुजान हैं। यदि मैं एवं आप सत्य ही ऐसा कह रहे हैं तो 'हे नाथ! अपने वचनको प्रमाण (सत्य) कीजिये (टलने न पावे, तब मैं जानूँ कि आपने मनसे यह कहा है)॥ २५६॥

गौड़जी—*'कहहिं भरत मुनि······'* इति। यहाँ मुनि सम्बोधन नहीं है। यहाँ भरतजी प्रसन्न होकर सभासे कहते हैं कि मुनिजीने जो कहा है उसके करनेसे वह फल होगा जो जगत्के जीवोंका मनोवांछित पूरा करनेसे होता है।

गौड़जी—*'कानन करउँ'* इति। फिर भरतजी मुनिकी ओर सम्बोधन करके कहते हैं कि 'भगवन्! मैं सारे जीवन वनवास करूँ। इससे बढ़कर मेरे लिये और सुभीता ही नहीं है, इस बातको आप सर्वज्ञ और सीताराम अन्तर्यामी खूब जानते हैं। जो आप सचमुच ऐसा कहते हैं तो इसे पक्का कर ही दीजिये।'

भरतजी गुरुको *'मुनि'* कहकर कदापि सम्बोधन न करेंगे क्योंकि शिष्य हैं। ऊपर दिये हुए अर्थके सिवा पूर्व अर्द्धालीका *'रानी'* शब्द अधिक उपयुक्ततासे *'कहहिं'* का कर्तापद हो सकता है। अन्वय यों होगा, 'रानी, कहहिं, मुनि कहा, सो भरत कीन्हे, जग जीवन्ह (कहँ तौ) अभिमत फल दीन्हे', (यद्यपि हमें समान दु:ख-सुख है।)

☞ यहाँ पाठ *'जीवन्ह'* है न कि जीवन। *'जीवन्ह'* का अर्थ 'जीनेका' नहीं है। जहाँ ऐसा अर्थ होता है वहाँ 'जीवन' का ही प्रयोग होगा। *'जीवन्ह'* बहुवचन है।

नोट—*'अंतरजामी राम सिय तुम्ह सरबग्य सुजान······'* इति। *'तुम्ह सर्वज्ञ कहउँ सति भाऊ। उर अंतरजामी रघुराऊ॥'* दोहा २११ (३) देखिये। हमारे निष्कपट सत्य भावको जानते हैं, बनाकर झूठ बात आपसे कब कह सकता हूँ। अतएव आप अपना वचन सत्य कीजिये।—विशेष पाद-टिप्पणीमें देखिये।

वि० त्रि०—*'कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू॥'* यह भाव मेरा सत्य है श्रीरामजानकी अन्तर्यामी हैं और आप सर्वज्ञ हैं, आपलोगोंसे हृदयकी बात छिप नहीं सकती। जिस बातके माननेमें मैं अपना भला समझता हूँ, उसके लिये आपको संकोच क्यों है। यदि आप मेरे वचनको सत्य समझते हों तो आप अपने वचनको प्रमाण कीजिये, अर्थात् रामजीको लौटाइये और मुझे वन भेजिये, संकोच न कीजिये।

प० प० प्र०—*'जौं फुर कहहु त'* यह भरतजीका वाक्य और *'अरध तजहिं बुध······'* वसिष्ठवाक्य दोनों ही आर्तके वचन हैं; यह वसिष्ठजीके *'आरत कहहिं बिचारि न काऊ।'* (२५८। १) इन वचनोंसे स्पष्ट है। कम-से-कम वसिष्ठजी तो आर्त हैं ही। अत: असत्य भाषणका दोष नहीं। परीक्षा लेनेमें भी असत्य दोष नहीं। सप्तर्षियोंने श्रीपार्वतीजीकी परीक्षाके लिये जो कुछ नारदजीकी निन्दा-सी की है, क्या वह सत्य है? भरतजी भी परीक्षा ही कर रहे हैं कि गुरुजी सत्य कहते हैं या परीक्षा लेते हैं।

भरत बचन सुनि देखि सनेहू। सभा सहित मुनि भये बिदेहू॥ १॥
भरत महामहिमा जलरासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबलासी॥ २॥
गा चह पार जतनु हिय हेरा। पावति नाव न बोहितु बेरा॥ ३॥
औरु करिहि को भरत बड़ाई। सरसीं सीपि कि सिंधु समाई॥ ४॥

---

* अर्थान्तर—१-'भरतजी कहते हैं जो हमने कहा सो आपने किया अर्थात् मैंने कहा था कि आप रघुवंशियोंके दु:ख दलते हैं सो आपने हमारे दु:खको दलकर कल्याणको साजा और वांछित फल दिया।' (पाँड़ेजी) २-जैसा आपने कहा वैसा मुझसे बन पड़े तो जीनेका वांछित लाभ किया'। (पं०) ३-'भरतजीने मुनिसे कहा कि आपने जो कहा है सो मैंने किया। संसारमें जीवनका फल और अभिमतका फल आपने दिया है।

शब्दार्थ—**बिदेहू**=देहसुध न रहनेका भाव। **भये बिदेहू**=देह-सुध भूल गये। **जलरासी**=जलकी राशि (भंडार); समुद्र। बोहितु (वोहित्थ)=बड़ी नाव, जहाज। **बेरा** (बेड़ा)—बड़े-बड़े लट्ठों, लकड़ियों या तख्तों आदिको बाँधकर बनाया हुआ ढाँचा जिसपर बाँसका टट्टर बिछा देते हैं और जिसपर बैठकर नदी आदि पार करते हैं। **औरु**=अधिक, दूसरी। **सरसीं** (सं०)=छोटा तालाब, तलैया।

अर्थ—श्रीभरतजीके वचन सुनकर उनका प्रेम देखकर सभासहित मुनिजी विदेह हो गये॥ १॥ श्रीभरतजीकी महान् महिमा समुद्र है, मुनिकी बुद्धि उसके तटपर अबला (स्त्री) के समान खड़ी है॥ २॥ पार जाना चाहती है, हृदयमें बहुतसे उपाय ढूँढ़े, पर न नाव ही पाती है, न जहाज और न बेड़ा ही॥ ३॥ भरतजीकी और बड़ाई और कौन करेगा? अर्थात् कोई नहीं कर सकता। क्या तलैयाकी सीपीमें समुद्र समा सकता है? (कदापि नहीं)॥ ४॥

नोट—१ मुनिको यह आशा न थी कि भरत १४ वर्षका वनवास स्वीकार करेंगे, इसीसे उन्होंने सकुचते हुए *'अरध तजहिं बुध······'* कहा था। कैसी कठिन परीक्षा अपने समझमें ली, कैसी कठिन समस्या दी; पर अक्ल (बुद्धि) चकरा गयी, जब सुना कि १४ वर्ष क्या, मैं जन्मभर वनमें रहूँगा, मेरे स्वामीको तो सुखसे रहनेको मिलेगा; इससे बढ़कर सुख सेवकको क्या हो सकता है और उसपर भी यह हठ देखा कि यदि आप सत्य ही ऐसा कहते हैं तो अवश्य उनको लौटाइये, मैं जाता हूँ। ऐसा प्रेम देख देहाध्यास जाता रहा। हार माननी ही पड़ी। कुछ भी न बन पड़ी। महिमाकी थाह न मिली।

नोट—२ पहले केवल स्नेहमय वचन सुने थे, यथा—*'सुनि सनेहमय बचन गुर'* तब *'उर उमगा अनुराग'* उस उमड़में कह गये कि तुम जाओ वे लौटें। इसके उत्तरमें वचन सुने और अनुराग भी देखा; एक बात बढ़ी—*'भरत बचन सुनि देखि सनेहू'*। इसीसे अबकी विदेह ही हो गये। पहली बार उत्तरका साहस किया, अबकी साहस भी जाता रहा। प्रेमकी उमंगमें एक बार भूले, अब उत्तर क्या दें? भरतजीसे यह कहकर अपनी भूल मनमें मान रहे हैं कि ऐसा कहना न था। इस बातकी पुष्टता आगे होती है—*'भरत सनेहु बिचार न राखा'*।

नोट—३ *'भरत महामहिमा जलरासी।······'* इति।—महामहिमा अर्थात् अगाध रामप्रेम समुद्र है। मुनिकी बुद्धि अबला है, मति स्त्रीलिंग अत: उसे अबला कहा; पुन: *'अबला'* अर्थात् बलहीन है; इसे अपना पौरुष कुछ नहीं; पुरुष हो तो कुछ तैरनेका ही साहस करे। महिमाकी थाह लेना समुद्रके पार होना है। पार होनेके तीन उपाय—सबसे उत्तम जहाज, वह न हो तो मध्यम उपाय नाव और निकृष्ट या उनसे उतरकर तीसरा उपाय बेड़ा, इनमेंसे कोई नहीं मिलते। भाव यह कि बुद्धिका उस महामहिमामें प्रवेश करना भी अगम है। जैसे स्त्री पार जानेको समुद्रके किनारे आवे और छोटा-बड़ा कोई भी उपाय—जहाज, नाव या बेड़ा—न देखकर हैरान खड़ी रह जाय कि क्या करूँ वैसे ही मुनिकी बुद्धि भरत-महामहिमाके पार जाना चाहती है पर कुछ आश्रय न मिलनेसे दंग रह गयी। इसी तरह हनुमान्‌जी जब द्रोणाचल लिये हुए अयोध्यामें आये और भरतजीसे कहा कि यदि मैं रात्रिहीमें लंकामें न पहुँच गया तो लक्ष्मणजी जीवित न रहेंगे, तब भरतजीने उनसे कहा कि *'कुधर सहित चढ़ौ बिसिष बेगि पठवों'* तब *'सुनि हरि हिय गरब गूढ़ उपयो है'* कि *'मोरे भार चलिहि किमि बाना'* और वे उसपर प्रथम चढ़ ही तो गये पर तुरन्त बाणसे उतर पड़े। उस समय कविने उनकी भी ऐसी ही दशा कही है—*'तीर तें उतरि जस कह्यो चहे, गुनगननि जयो है। धनि भरत! धनि भरत! करत भयो मगन मौन रह्यो मन अनुराग रयो है। यह जलनिधि खन्यो मथ्यो लंघ्यो बाँध्यो अँचयो है। तुलसिदास रघुबीरबंधु महिमा को सिंधु तरि को कवि पार गयो है।'* (गी० ६। ११)। वहाँ भी श्रीभरत-महिमासिन्धुके पार जानेमें श्रीहनुमान्‌जीने हार मानी, भरतजीके गुणगणोंकी जीत हुई, वे कुछ कह न सके, अनुरागमें मग्न हो गये जैसे यहाँ गुरुजी हो गये। जहाज-नाव-बेड़ा क्या है इसपर महानुभावोंके मत ये हैं—

१ मयंक—संत जहाज, अनुभव नाव, वेद बेड़ा। संत, वेद और अनुभव गम्य नहीं हैं; किसीने उनकी महिमा कही हो तो उसके आश्रय पार पाते; पर कोई महिमा जाननेवाला या कह सकनेवाला न देखा।

२ पं०, रा० प्र०—(क) मन, वचन, तन (कर्म) जहाज, नाव और बेड़ा हैं, तीनोंमेंसे कोई यहाँ काम नहीं देते, यही जहाज आदिका न मिलना है। मन विचार नहीं सकता, वाणी कह नहीं सकती, तनसे कोई यत्न नहीं बन पड़ता। वा (ख)—कर्म, ज्ञान, उपासना बेड़ा, नाव, जहाज हैं। इनके द्वारा भी भरत-महामहिमाका पता नहीं लगा सकते। (इसीका विस्तार श्रीनंगे परमहंसजीने इस प्रकार किया है—'नाव ज्ञानकाण्ड है। ज्ञानरूपी नावपर चढ़कर संसारसे पार हुआ जाता है। बेड़ा कर्मकाण्ड है। कर्म करके लोग संसारसे पार हो जाते हैं, यथा—***'त्रेता बिबिध यज्ञ नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं॥'*** उपासना सेतु है, यथा—***'नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं।'*** ये तीनों भरतजीकी प्रेमाभक्तिरूप जलराशिमें नहीं हैं। अर्थात् जब भरतजीकी महिमा त्रिकाण्डमें होती तब तो वसिष्ठजीकी बुद्धि भरतजीकी प्रशंसा कर सकती। प्रशंसा करना ही जलराशिके पार जाना है। उपासना सेवाभक्तिको कहते हैं। प्रेमाभक्ति सेवा-भक्तिसे पृथक् और श्रेष्ठ है क्योंकि भरतजी जन्मभर वनमें रहकर श्रीरामजीकी कोई सेवा नहीं कर पाते सिवाय प्रेमके कि हमारे वन जानेसे श्रीरामजी सुखसे श्रीअवधमें राज्य करें, हमको जो कष्ट वनवासमें होंगे वे श्रीरामजीके सुख पानेसे हमको सुखरूप हैं अतः भरतकी प्रेमाभक्ति जलराशि है।' (वे ***'बोहितु'*** का अर्थ 'सेतु' करते हैं।')

३ पां०—यथार्थ महिमा कह सकना जहाज पाना है, कुछ दूर ही चल सकें, कुछ प्रशंसा कर सकना नाव पाना है, समुद्रमें प्रवेश ही कर सकें, किंचित्मात्र ही महामहिमाको कह सकें यह बेड़ा पाना है। पर उनकी मति उसमें प्रवेश भी करनेको आधार नहीं पाती तो और किसीकी मति कैसे प्रवेश कर सके?

४ बैजनाथजीका मत है कि 'मुनिने लौटानेको कहा है। इसका पूरा निर्वाह हो अर्थात् तीनोंका लौटाना जहाज है, पर वह नहीं मिला। तीनों भाई जावें श्रीराम-जानकीजी लौटें यह नावका मिलना है और भरत जायँ, लक्ष्मण और शत्रुघ्न रह जायँ यह बेड़ा है। पर रामरुख नहीं है इससे कोई यत्न वचनके निर्वाहका न मिला'। परंतु समझमें नहीं आता कि मुनिके वचनका निर्वाह भरत-महामहिमाके पार होनेसे क्या सम्बन्ध रखता है?

५ गौड़जी—भरतजीको यश-अपयशका खयाल नहीं है। उन्हें सबसे अधिक कष्टदायक यही बात है कि उनके लिये श्रीसीतारामजी वनवास कर रहे हैं। मुनिका प्रस्ताव अनायास ही थोड़ेसे उनके वनवासके बदले जीवनभर वनवास करके प्रायश्चित्तका अवसर देता है। भरतजीके इस विचारके महत्त्वको मुनि समझ न सके थे। एकाएकी यह भोंडा प्रस्ताव कर बैठे, भरतजीके उत्तरपर वह चकरा उठे। यदि भरतजीकी महिमा समझे होते तो ऐसा प्रस्ताव न कर बैठते। उनको अब जान पड़ा कि भरतजीकी महिमा अपार है। मेरी मति उसमें प्रवेश भी नहीं कर सकती।

वि० त्रि०—यहाँ महिमारूपी समुद्रके पार जानेका अर्थ है भरतजीकी महिमाका ठीक-ठीक वर्णन कर देना, यथा—***'औरु करै को भरत बड़ाई। सरसीं सीप कि सिंधु समाई॥'*** जब गुरुजी ही महिमा (बड़ाई) नहीं कर सके तो दूसरा कौन बड़ाई कर सकता है। भरतजीके चमत्कृत गुणको देखकर गुरुजीने वर्णन करनेके लिये बहुत यत्न किया, पर कोई साधन ही हाथ न लगा, न कोई विद्या ही ऐसी मिली जिसके द्वारा पूरी महिमा प्रकट की जा सके, न वेदका मन्त्र ही कोई ऐसा है, जिससे काम चल जाय, न वागिन्द्रिय काम करती है। यहाँ विद्या ही नाव है, यथा—***'केवट बुध बिद्या बड़ि नावा।'*** वेद ही बोहित हैं, यथा—***'बंदौं चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस',*** और शरीर ही बेड़ा है, यथा—***'नर तन भव सागर कहँ बेरो।'***

भरत-वसिष्ठ-संवाद

मा० हं०—इस प्रसंगको भरत-रामकी आगामी सलाहका पूर्वरंग समझना चाहिये। इसमें वसिष्ठजी भरतजीके रामप्रेमको कसौटीपर चढ़ा रहे हैं। वसिष्ठ-भरत-संवादमें (यानी अयोध्याके दरबारमें) वसिष्ठजीने अपनी राजनीतिज्ञता पूर्णरूपसे दिखलायी थी। यहाँपर वे पारमार्थिक नीतिज्ञ बने हुए दिखायी देते हैं। परंतु पहलेके ही समान यहाँ भी अन्तमें उन्हें भरतजीके सामने हार मानकर झुक जाना पड़ा। परंतु देखनेयोग्य बात

यह है कि उन्हें अपनी हारसे जैसा आनन्द हुआ वैसा, यदि वे स्वयं जीत भी जाते तो कदापि न होता। यही नहीं, उन्हें उलटे और खेद होता है। ईश्वर गुरुत्व दे तो वसिष्ठजीके सदृश ही दे। क्योंकि देखिये, भरतजीके रामप्रेमकी कसौटी लगाना चाहनेवाले वसिष्ठजी तुरंत ही महानन्दसे बड़ी प्रेमोत्कण्ठाके साथ रामजीके आगे भरतजीके स्वयं वकील बन गये हैं। इसकी अपेक्षा गुरुत्वको असली शोभा देनेवाला जो खुला दिल और औदार्य उनकी पराकाष्ठा इससे अब बढ़के क्या हो सकेगी? हमारी प्रशंसाकी सत्यता जिन्हें देखना हो वे उसे *'कह मुनि राम सत्य तुम भाषा। भरत सनेह बिचार न राखा॥.......'* (२५८। ६—८) की वसिष्ठशिष्टाईमें खूब कसकर देख लें।

प० प० प्र०—'एक साहित्यसमालोचक *'मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी'* में 'आचारविरुद्धता' दोष देखते हैं। वे कहते हैं कि 'शिष्यके समक्ष गुरुका इतना गिरना भारतके आदर्शसे अनमिल है' (मानसमणि ११।८ पृष्ठ २०६)। पर वे ध्यानमें नहीं रखते कि यह केवल नीतिशिक्षक ग्रन्थ नहीं है, किंतु जीवको रामसम्मुख करना, उसमें वैराग्यका बीज बोना इस काण्डका हेतु (उद्देश्य) है। और '**शिष्यादिच्छेत्पराजयम्**' यह है भरतका गुरुशिष्यसम्बन्धका आदर्श। कृष्ण-अर्जुन, भीष्म-परशुराम-युद्धादि प्रसंग भी भारतीय महाकाव्योंमें ही वर्णित हैं। वसिष्ठजीकी भावना भी नहीं हुई कि शिष्यने हमको गिराया। प्रत्युत इस पराजयसे तो गुरुमहाराज परम प्रसन्न ही हो गये कि ऐसा परम विरागी, परम प्रेमकी साक्षात् मूर्ति शिष्य हमको मिला। सद्गुरुका खुला दिल और औदार्य आदि अलौकिक गुरुगुणोंकी, भरतके आदर्श गुरुके कोमल अक्रोधी स्वभावकी पराकाष्ठा जगत्में इससे बढ़कर कहाँ देखनेको मिलेगी। अत: न तो यहाँ काव्यदोष है, न आचारविरुद्ध तथा न इसमें गुरुका गिरना बताया गया है। यहाँ तो भारतीय गुरुका परमोच्च आदर्श दिखाया गया है।

आलोचकके मनके सामने जो आदर्श है वह केवल धर्मनीति और आचारका ही देख पड़ता है। धर्मनीति आचार जप-तप आदि समस्त साधनोंका फल हरिभक्ति है—*'सब कर फल हरि भगति भवानी', 'सब साधन कर यह फल सुंदर। तव पदपंकज प्रीति निरंतर॥'* (यह वाक्य तो इन्हीं गुरुमहाराजका है), *'सब कर फल हरि भक्ति सुहाई।'* भगवान् शंकर, गुरु वसिष्ठ और चिरजीवी भुशुण्डिजीके इन वाक्योंमें भारतीय आदर्श सिद्धान्त है। *'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना॥'*, '**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' यह है भारतीय आचार-विचार-उच्चारका आदर्श।

'मानसका रहस्य केवल पाण्डित्यसे हाथ न लगेगा। इसके लिये तो आदेश है कि *'ग्रान नयन निरखत मन माना', 'जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन्ह कर साथ। तिन्ह कहँ मानस अगम अति जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ॥'* मानसके अधिकारी कौन हैं यह ७। १२८। ६—८ में देखिये। और वसिष्ठजीके वचन जो २५८ (६—८) में है उन्हें पढ़कर विचार कीजिये कि गुरुमर्यादाको कविकुलदिवाकरने गर्दमें मिलाया कि स्वर्गतक चढ़ाया है। श्रीरामजी तो भरतजीको धर्मधुरन्धर ही जानते हैं।'

* आज सभा आरम्भ करनेका कारण *

गौड़जी—भरतजीके सोचका हाल गुरुजी खूब जानते हैं। यहाँ सबसे बड़े वही हैं, सबसे भारी जिम्मेदारी उन्हींपर है। श्रीरघुनाथजीसे एक प्रकारसे कुछ दिनों ठहरनेकी आज्ञा ले चुके हैं। परंतु ठहरनेका प्रयोजन केवल दर्शन-सुख ही तो नहीं है। अभिषेक करनेका इरादा करके तो आये हैं। वह बात कैसे छेड़ी जाय? देखते हैं कि भरतजी भी नहीं छेड़ रहे हैं। यद्यपि भरत रात-रात सोचते हैं कुछ समझमें नहीं आता, सबेरे जाकर सरकारकी सेवामें जा बैठा करते हैं। आज रातमें भरतजी उधर सोचते रहे, इधर सलाह करनेके लिये मुनिने सभाका आयोजन किया। सबेरे उनके बैठते ही बुलवा भेजा। सभा तो कोई बड़ा ही बुला सकता था। अवधमें भी गुरुजीने ही सभा बुलायी थी। यहाँ भी वही बुलाते हैं। इसी सभामें मुख्य काम शुरू किया गया।

चित्रकूटमें वसिष्ठ-भरत-गोष्ठी समाप्त हुई।

''चित्रकूट-प्रथम-दरबार''

भरतु मुनिहिं मन भीतर भाए। सहित समाज राम पहिं आए॥ ५॥
प्रभु प्रनामु करि दीन्ह सुआसनु। बैठे सब सुनि मुनि अनुसासनु॥ ६॥
बोले मुनिबरु बचन बिचारी। देस काल अवसर अनुहारी॥ ७॥

अर्थ—मुनिको भरतजी मनमें अच्छे लगे और वे समाजसहित श्रीरामजीके पास आये॥ ५॥ प्रभुने प्रणाम करके उत्तम आसन दिया। सब लोग मुनिकी आज्ञा सुनकर बैठ गये॥ ६॥ मुनिश्रेष्ठ देश, काल और मौकेके अनुसार विचारकर बोले॥ ७॥

नोट—१ गुरु-भरत-गोष्ठी *'गुरुपदकमल……'* दोहा २५३ से २५७ (५) तक है। *'……जुरे सभासद आइ'* उपक्रम है, *'सभासहित मुनि भयउ बिदेहू'* वा *'सहित समाज राम पहिं आए'* उपसंहार है।

नोट—२ *'मन भीतर भाए'* अर्थात् कसौटीपर बेदाग पाया—(वै०)। श्रीरामविषयक प्रेमाभक्ति इनमें अपार पायी जो अनिर्वचनीय और अकथनीय है। जो समाज गोष्ठीमें था वही सब यहाँ साथ आया। *'बिचारी'* क्योंकि भरतजीके प्रेमसे उमड़कर पूर्व बिना सोचे-विचारे कह डाला था इसीसे अब सावधान होकर बोले जिसमें पछताना न पड़े।

नोट—३ *'देस काल अवसर अनुहारी'* इति। भाव कि (क) वनवासमें हैं, घरसे देवताओंके हितके लिये निकल चुके हैं, निशाचरोंके देशके पास पहुँच गये। युवावस्था है, रावणके वधका समय भी आ गया है। अवसर भी देवहितके अनुकूल है, पिता-वचनके मिष वनवास हो चुका है। यह सब विचारकर=(शीला)। और उधर *'राम रजाइ सीस सबही कें',* फिर भरतको वचन दिये हैं, कई दिन यहाँ हो गये श्रीरामजीको यहाँ सबके ठहरनेसे दुःख हो रहा है, दो दिनके लिये कहा था वह भी बीत गये, या लौट चलें या लौटा दें तो बातोंपर सारा खेल है। उन्हींपर छोड़नेका अवसर है वे ही इसे शीघ्र निबटा देंगे। अथवा, (ख)—देश चित्रकूट, काल दूसरे स्नानका समय न आने पावे सब कार्य हो जाय, इससे सूक्ष्म रीतिसे, अर्थ अमित अति आखर थोरेमें, बोले। पुनः आपत्काल है उसके अनुसार—(रा० प्र०)। अथवा, (ग) देश मुनीश्वरोंका है, उसमें अपना और रघुनाथजीका अधिकार विचारा; आपदाकाल है उसमें सब लोगोंकी प्रसन्नता बिचारी, अवसर अर्थात् समय कि मध्याह्न न होने पावे (पं०)। अथवा, (घ) देश वनवासमें समय उदासीन, अवसर जैसा गोष्ठीमें करार पाया था उसके अनुकूल। (वै०)

सुनहु राम सरबग्य सुजाना। धरम नीति गुन ग्यान निधाना॥ ८॥

दो०—सब के उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन जननी भरत हित होइ सो कहिअ उपाउ॥ २५७॥

आरत कहहिं बिचारि न काऊ। सूझ जुआरिहि आपुन दाऊ॥ १॥

शब्दार्थ—**अंतर**=भीतर। **जुआ**=वह खेल जिसमें रुपये-पैसे आदिकी बाजी लगायी जाती है और हारनेवाला जीतनेवालेको वह रुपया-पैसा आदि देता है। **जुआरी**=जुआ खेलनेवाला। **दाऊ**=दाँव, खेलमें प्रत्येक खिलाड़ीके खेलनेका समय जो एक-दूसरेके पीछे क्रमसे आता है, खेलनेकी बारी; **चाल**=पाँसा, कौड़ी आदिका इस तरह पड़ना जिससे जीत हो, जीतका पाँसा या कौड़ी।

अर्थ—हे राम! सुनिये। आप सर्वज्ञ हैं; सुजान हैं; धर्म, नीति, गुण और ज्ञानके खजाना हैं॥ ८॥ आप सबके हृदयमें बसते हैं, सबके भाव और कुभावको जानते हैं। पुरवासियों, माताओं और भरतका जिसमें हित हो वह उपाय बताइये॥ २५७॥ दुःखी लोग कभी विचारकर नहीं कहते हैं। जुआरीको अपना ही दाँव सूझता है॥ १॥

नोट—१ सब विशेषण साभिप्राय हैं। 'सर्वज्ञ' हैं—अतः आप देवता, दैत्य, वनवासियों, भक्तों, ऋषियों

आदिकी और हम सबकी जानते हैं। *'सुजान'* अर्थात् ज्ञानवान् चतुर, पण्डित हैं और जीकी जाननेवाले हैं। यथा—*'देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की॥'* (३०४।४) *'जान सिरोमनि कोसलराऊ॥'* (१।२८)। जो मैं कहता हूँ उसको आप ही समझ सकते हैं। और सबकी भक्ति, गति भी पहचानते हैं—*'सुनि सनमानहिं सबहि सुबानी। भनिति भगति नति गति पहिचानी॥'* (१।२८।९) *'यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ। जान सिरोमनि कोसलराऊ॥'* (१०)। देखिये। अत: हमलोगोंका निश्चय भी जानते हैं। *'धर्म नीति'*— पितृधर्म, मातृधर्म, पुत्रधर्म, सत्यधर्म, भ्रातृधर्म, स्वामी-सेवक-धर्म इत्यादि सभी धर्म आपमें हैं, सबके अधिष्ठान आप हैं, जिसमें सबका धर्म रहे, आपका भी धर्म रहे, वही बताइये। पुन:, राजनीति भी आपसे बढ़कर कहीं कोई जाननेवाला नहीं—*'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥'* आप जानते हैं कि *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई'* और यह भी कि *'रिपु रिन रंच न राखब काऊ'*। अत: आपको ही राज्याभिषेक कराना चाहिये, यही भरतकी रुचि भी है, इसीलिये वे आये हैं और उधर देवताके शत्रुओंको भी निश्शेष करना भी आवश्यक है। दोनों बातोंका निर्वाह जिसमें हो वह कीजिये। *'गुन निधान'*— भाव कि आप शील, करुणा, दया, भक्तवत्सलता, धैर्य, वीरता आदि गुणोंके समुद्र हैं; भरतपर करुणा है और उधर देवता भी आर्त हैं उनपर भी कृपा करना है। 'ज्ञाननिधान' हैं अर्थात् आपको त्रिकालका ज्ञान है, वेद-शास्त्र आदि सबका ज्ञान है। पुन: सुख-दु:ख, हर्ष-शोक इत्यादि आपको नहीं होते; मोह-ममता नहीं, समान दृष्टि सबपर है। अतएव आप हम सबको अपने कर्तव्यका शुद्ध ज्ञान दे सकते हैं, आपको किसी दूसरेकी सलाहकी आवश्यकता नहीं। जिसमें सबको प्रबोध हो, संतोष हो, सबका हित हो वह आप ही कह सकते हैं।

नोट—२ *'उर अंतर बसहु',* अत: सबके हृदयमें जो-जो भाव है वह आप जानते और देखते हैं। इन सबका भाव यही है कि आप लौट चलें, वनवासमें सबका कुभाव है। गी० २। ७। व। १७४। मेंके भरतजीके वचनसे मिलान कीजिये—*'ए सेवक संतत अनन्य अति ज्यों चातकहि एक गति घनकी। यह बिचारि गवनहु पुनीत पुर हरहु दुसह आरति परिजन की।', 'जो मेरे तजि चरन आन गति……तौ परिहरहु दयालु दीनहित प्रभु अभिअंतर साखी।'*

वि० त्रि०—*'सबके उर……'* इति। चक्रवर्तीजी अवधका राज्य भरतजीको और वनका राज्य श्रीरामजीको दे गये हैं। दोनों भाई अपने-अपने हिस्सोंकी अदला-बदली कर लें, भरतजी १४ वर्षके लिये वन चले जायँ और श्रीरामजी अयोध्या लौट जायँ (यह प्रस्ताव मुनिका है)। भाव यह है कि मैंने जो उपाय सोचा वह ठीक नहीं पड़ा। भरतलालको तो बहुत पसन्द है, वह स्वयं मुझे उसके कहनेमें संकोच हुआ, पुरजनको भी उससे कुछ हानि तो है ही, माता लोगोंके दु:ख-सुखमें भी कोई अन्तर नहीं पड़ा। गुरुजी कहते हैं कि मेरी सर्वज्ञता सापेक्ष है, तुम्हारी सर्वज्ञता निरपेक्ष है; क्योंकि सबके हृदयमें बसते हो, अत: ऐसे उपायके बतलानेमें तुम ही समर्थ हो जिसमें पुरजन, माताओं और भरत (सब) का हित हो।

पु० रा० कु०—भाव कि आपने इनका दु:ख जाना तभी तो हमसे कहा था कि *'सानुज भरत सचिव सब माता। देखि मोहि पल जिमि जग जाता॥'* पर आपने इनके हितका, इनके दु:ख-निवारणका कोई उपाय नहीं किया, न बताया और मैं कह चुका हूँ कि ये तो दर्शन पाकर ही विश्राम मानते हैं। अतएव आप सबके हितका उपाय कहें। पुन: यह भी जनाया कि आप चाहे जहाँ जायँ हर्ज नहीं पर हितका उपाय बताइये। वही चरणपादुका हितार्थ आगे देंगे। पुरजनमें ऋषि-मुनि-साधु-ब्राह्मण सभी हैं इसीसे प्रथम उनको कहा—(रा० प्र०)। पुन:, राजाको प्रजा प्राण समान प्रिय है, यथा—*'जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना'* और रामजीने तो कहा है कि *'अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी'* अतएव प्रथम अति प्रिय पुरजनको कहा। पुन:, प्रजा पुत्र-सम होती है। और उसके पीछे माता और भाई। उसी क्रमसे कहा। [*'सो कहिय उपाउ'*— अर्थात् मैं आज्ञा नहीं देता, क्योंकि मैं आर्त हूँ। (वै०)]

नोट—३ *'आरत कहहिं बिचारि न काऊ……'* इति। (क) यदि प्रभु कहें कि आप ही सब कहें

(जैसा आगे कहा ही है) उसीपर कहते हैं कि हम सब आर्त हैं, दुःखमें विचारशक्ति नहीं रह जाती, दुखिया तो वही कहता है जिसमें उसे सुख दीखता है चाहे हो नहीं, उनकी बातका ठिकाना नहीं, प्रमाण नहीं, वे अपनी हानि-लाभ नहीं समझ सकते, यथा—*'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिए बोलहिं न बिचारी॥' 'लोकरीति देखी सुनी ब्याकुल नरनारी। अति बरषे अनबरषेउ देहिं दैवहिं गारी॥'* (विनय० ३४) इस बातको दृष्टान्त अलंकारद्वारा दिखाते हैं कि आर्तको अपना ही स्वार्थ सूझता है (दूसरेके हितकी हानि हो, दूसरेका धर्म जाय या रहे, उससे सरोकार नहीं, यह भी ध्वनि है) जैसे जुआमें जब-जब पाँसा या कौड़ी फेंकी जाती है तब-तब प्रत्येक जुआरी यह बोल उठता है कि मेरा पाँसा पड़ा, मेरी कौड़ी आयी, मेरा दाँव आया। कभी मेरा दाँव छोड़ दूसरेका दाँव उसे सूझता ही नहीं। सारांश यह कि सब यही कहेंगे कि आप लौट चलें। बस, इसीमें सबका हित है और जिसमें हमें हित दीखता है उसे छोड़ और किसीका हित या धर्म हमें कदापि नहीं सूझ सकता।

वै०—जुआरीको अपना ही दाँव सूझता है पर होता ठीक वही है जो पाँसा कहे। पाँसारूप आप हैं, हम सब जुआरी हैं।

पु० रा० कु०—२ (क) *'पुरजन जननी भरत हित होइ'* से पाया गया कि 'ये तीनों हित हैं प्रभुके विषे अनहित है, इसीसे कहा कि *'आरत कहहिं……।' 'आपनु दाँऊ'* अर्थात् है तो आपका ही दाँव; क्योंकि पिताने वनवास दिया है, आपका वही धर्म है, पर हम सबको अपनी ही सूझती है कि *'केहि बिधि होइ राम अभिषेकू', 'राजा राम अवध रजधानी', 'बहुरहिं लषन सीय रघुराई।'*

(ख) जुआ ऐसा ही हुआ कि आपका दाँव पड़ा। रानी-राजामें जुआ हुआ, रानी जीती। आप जो चाहते ये वही हुआ—भरतको राज्य, आपको वनवास। पाँसा आपका पड़ा पर जुआरी अपनी ही चिल्लाता है।

सुनि मुनि बचन कहत रघुराऊ। नाथ तुम्हारेंहि हाथ उपाऊ॥ २॥
सब कर हित रुख राउरि राखें। आयेसु किए मुदित फुर भाषें॥ ३॥
प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथे मानि करउँ सिख सोई॥ ४॥
पुनि जेहि कहँ जस कहब गोसाईं। सो सब भाँति घटिहि सेवकाईं॥ ५॥

शब्दार्थ—'**माथे मानना**'=स्वीकृत करके उसके अनुसार करना। शिरोधार्य करना। '**घटिहि**= में उपस्थित होगा, करेगा, लगेगा। '**फुर भाषें**'=यह कहनेसे कि आप ठीक कहते हैं मुझे शिरोधार्य है। अर्थात् उसे मान लेनेमें अथवा, सच बोलनेमें।

अर्थ—मुनिका वचन सुनकर श्रीरघुनाथजी कहते हैं 'हे नाथ!' उपाय आपके ही हाथ है॥ २॥ आपका रुख रखनेमें आपकी आज्ञा (पालन) करनेमें और प्रसन्न मनसे जो नीति आप बतावें उसे सत्य कहकर मान लेनेमें सबका हित है*॥ ३॥ पहले जो आज्ञा मुझको हो, उस शिक्षाको मैं माथेपर धारण करके करूँ॥ ४॥ फिर, हे गोसाईं। आप जिसको जैसा कहेंगे वह सब तरह सेवामें लगेगा॥ ५॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—मुनिने कहा था कि *'पुरजन जननी भरत हित होइ', 'सो कहिय', उपाउ'*। उसपर श्रीरघुनाथजीका उत्तर है—*'सब कर हित रुख राउरि राखे', 'आयसु किए', 'नाथ तुम्हारेंहि हाथ उपाऊ।'* पुनः जनाया कि आपकी रुचि रखनेमें हित है, और आपका आयसु मानकर करनेमें आनन्द है।

टिप्पणी—२ मुनिने आदिमें 'सर्वज्ञ' और 'सुजान' विशेषण दिया और अन्तमें *'सबके उर अंतर बसहु'* कहा। विशेषणोंका संपुट यही है कि हृदयकी जानते हो। उसीके अनुसार प्रभुने उत्तर भी दिया कि *'रुख राउरि राखे'* अर्थात् जो आप सिद्धान्त स्थापित कर चुके हैं कि *'राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित*

* अर्थान्तर 'आज्ञा पालन करने और आपके आगे सत्य कहनेसे सबका हित है'; 'आपकी आज्ञा पालन करनेसे और प्रसन्न होकर सत्य कहनेसे ही सबका हित है'—(दीनजी)। 'आयसु किये मुदित'=प्रसन्न होकर आज्ञा कीजिये—(वीर)। 'मैं सच कहता हूँ प्रसन्न मनसे आज्ञा करिये'—(नं० प०)।

होइ', 'राम रजाइ सीस सबही के' उसीमें सबका हित है। और हमारी क्या रुचि है वह भी आप जानते हैं, उसे आपने कह भी दिया है—***'सत्यसंध पालक श्रुतिसेतू। रामजनम जगमंगल हेतू॥'*** बस, वही आज्ञा सबको हो। इस तरह ***'सर्वज्ञ सुजान' 'उर अंतर बसहु'*** विशेषण चरितार्थ हुए।

टिप्पणी—३ प्रथम अपने लिये आज्ञा माँगी, यह शिष्टाचार है। पुनः, जब मैं उसपर तत्पर हो जाऊँगा तब दूसरे किंचित् संकोच न करेंगे। क्योंकि ***'गुरोराज्ञा गरीयसी।'***

मा० म०—वसिष्ठजीने पाँच वचन कहे—१ ***'तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई।'*** और शेष चार रामजीसे, यथा—२ ***'सबके उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।'*** ३ ***'पुरजन जननी भरत हित, होइ सो कहिय उपाउ॥'*** ४ ***'आरत कहहि बिचारि न काऊ।'*** ५ ***'सूझ जुआरिहि आपुन दाऊ॥'*** श्रीरामचन्द्रने भी क्रमसे उत्तरमें वचन कहे हैं, यथा—२ ***'नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ।'*** ३ ***सबकर हित रुख राउर राखे।'*** ४ ***प्रथम जो आयसु मोकहँ होई। माथे मानि करउँ सिख सोई॥'*** ५ ***'आयसु किये मुदित फुर भाषे।'***

कह मुनि राम सत्य तुम्ह भाषा। भरत सनेहु बिचारु न राखा॥ ६॥
तेहि तें कहउँ बहोरि बहोरी। भरत भगति बस भइ मति भोरी॥ ७॥
मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी॥ ८॥

दो०—भरत बिनय सादर सुनिअ करिअ बिचारु बहोरि।
करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥ २५८॥

शब्दार्थ—राखना, रखना=रक्षा करना, बिगड़ने या नष्ट न होने देना, निर्वाह या पालन करना। **निचोरि**=निचोड़कर, सारांश निकालकर, सिद्धान्त निकालकर।

अर्थ—मुनि बोले, हे राम! आपने सत्य कहा, पर भरतके प्रेमने विचारको नहीं रहने दिया (नष्ट कर दिया)॥ ६॥ इसीसे मैं बारंबार कहता हूँ कि मेरी बुद्धि भरतप्रेमके वश हो गयी है॥ ७॥ मेरी समझमें तो भरतकी रुचि रखकर जो कुछ कीजियेगा वह सब शुभ ही होगा, शिवजी इसके साक्षी हैं॥ ८॥ भरतजीकी विनय आदरपूर्वक सुनिये, फिर उसपर विचार कीजिये और फिर साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेदोंका सिद्धान्त निकालकर वही कीजिये॥ २५८॥

नोट—१ श्रीरामजीने कहा था कि ***'आयसु किए मुदित फुर भाषें'*** उसके उत्तरमें मुनि कहते हैं ***'सत्य तुम्ह भाषा।'***

नोट—२ ***'भरत सनेह बिचारु न राखा'*** = उनके प्रेममें सब विचार जाता रहा। भाव कि हमारे विचार अब भरतके प्रेमके वश उन्हींकी रुचिके अनुकूल होंगे। स्वतन्त्रता नहीं रह गयी जिससे विचार शुद्ध होते। हम दूसरा विचार कर ही नहीं सकते, केवल भरतके प्रेमका विचार रह गया है।

नोट—३ ***'भरत रुचि राखी'—*** भरत परम भागवत हैं, आपके सेवक हैं और आप सदा सेवककी रुचि रखते आये हैं, यथा—***'राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥'*** (२१९। ७)। अतएव अवश्य कल्याण होगा।

नोट—४ ***'सो सुभ सिव साखी'—*** शिव कल्याणकर्ता हैं इसीसे उनकी साक्षी देते हैं कि अवश्य कल्याण होगा। यदि झूठ निकले तो वे हमको दण्ड देंगे, हमारा अकल्याण होगा।

नोट—५ ***'भरत विनय सादर सुनिय……'*** इति। भाव कि हम यह आज्ञा नहीं देते कि भरतजीकी रुचि अवश्य रखिये, क्योंकि मैं कह चुका हूँ कि मैं कोई बात सिद्धान्तकी परतन्त्र होनेके कारण कह नहीं सकता। आप सुनें, विचार करें, और यदि वह साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेदमतके प्रतिकूल न हो तब उसे कीजिये। [दूसरा अर्थ यह निकलता है कि इनकी विनय सादर सुननेपर क्या फिर आप विचार कर सकेंगे। यह भाव अगली चौपाईसे सिद्ध होता है। (पां०)]

वि० त्रि०—***'भरत बिनय सादर……निचोरि।'*** इति। भाव यह कि गुरु समझकर मेरे ऊपर जो निर्णयका

भार रखा है वह ठीक नहीं। मेरी बुद्धि इस समय स्वतन्त्र नहीं है, वह तो भरतकी भक्तिके परतन्त्र-सी हो गयी है। मैं तो वही कहूँगा जो भरतलाल चाहते हैं, परंतु उसे मैं कहना नहीं चाहता, मेरे कहनेसे तुम्हें विचारके लिये स्थान न रह जायगा। अतः मैं यही कहता हूँ कि भरतके विनयको आदरके साथ सुनिये। मेरा इतना ही कहना है कि भरतकी रुचिपर आघात न पहुँचे। तब स्वयं विचार करिये; और साधुमत, लोकमत, राजनीति और शास्त्रमतका सामंजस्य बिठाकर, जो तत्त्व निकले तदनुकूल आचरण कीजिये।

प्रार्थीके विनयपर विचार करनेके समय पाँच बातोंपर विचारकर्ताको ध्यान देना चाहिये—(१) प्रार्थीकी रुचि (२) साधुमत (३) लोकमत (४) राजनीति और (५) वेदादि शास्त्रमत।

श्रीरामचन्द्रको पिताकी आज्ञापर विचार करनेकी स्थितिपर ला देना वसिष्ठजीका ही काम था, नहीं तो रामजी पिताकी आज्ञा-पालनमें विचारको स्थान देना ही नहीं चाहते थे।

☞ पं० रा० चं० दूबे—इन शब्दोंके द्वारा एकतन्त्र शासनकी निरंकुशताका लोप हो जाता है और सुराज्यके साथ स्वराज्यकी भी झलक दिखायी देती है (ना० प्र०)।

गौड़जी—यहाँ भरतजीके ऊपर अपनी इच्छा प्रकट करनेका भार वसिष्ठजीने रख दिया। प्रस्ताव स्वयं उन्हींका था, परंतु उसके भोंड़ेपनके कारण उनसे स्वयं नहीं कहते बनता। इधर भरतजी तो आर्त हैं वह किसी प्रस्तावमें हिचकिचा नहीं सकते।

प्रोफे० रामचन्द्र शुक्ल—गोस्वामीजी व्यक्तिवादके विरोधी और लोकवाद (Socialism) के समर्थक-से लगते हैं। साधुमतका अनुसरण व्यक्तिगत साधन है, लोकमत लोकशासनके लिये है। इन दोनोंका सामंजस्य गोस्वामीजीकी धर्म-भावनाके भीतर है। यही कारण है कि वसिष्ठजी भरतजीकी ओरसे प्रस्ताव करते हुए कहते हैं—*'भरत बिनय सादर सुनिय करिय बिचार बहोरि। करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥'*

गुर अनुरागु भरत पर देखी। राम हृदयँ आनंदु बिसेषी॥ १॥
भरतहि धरम धुरंधर जानी। निज सेवक तन मानस बानी॥ २॥
बोले गुर आयसु अनुकूला। बचन मंजु मृदु मंगल मूला॥ ३॥

अर्थ—भरतपर श्रीगुरुजीका प्रेम देखकर श्रीरामचन्द्रजीके हृदयमें विशेष आनन्द हुआ॥ १॥ भरतजीको धर्मधुरन्धर और तन, मन, वचनसे अपना सेवक जानकर वे गुरुकी आज्ञाके अनुकूल सुन्दर, कोमल और मंगलके मूल वचन बोले॥ २-३॥

नोट—१ *'राम हृदय आनंदु बिसेषी'*। (क)—भाव कि पिताका वचन-पालनसे आनन्द पहलेसे ही था, अब भरतपर गुरुका अनुराग देखकर विशेष हुआ। (पु० रा० कु०)। पुनः, (ख) यह तो पूर्व भी जानते थे कि *'भरत कहे महँ साधु सयाने'* अर्थात् मन, वचन, कर्मसे आज्ञामें हैं और साधु एवं सयाने हैं। अब गुरुका प्रेम भी उनपर देखा, इससे 'विशेष' आनन्द हुआ। (ग) अथवा, विशेष आनन्द इससे हुआ कि यदि वसिष्ठजी न्याय अपने हाथ रखते तो श्रीरामजीका अख्तियार न रह जाता और भरत तो अपने अधीन हैं (पां०)। पुनः भाव कि भरतजीका गुरु-चरणोंमें अनुराग देखकर आनन्द हुआ और गुरुका ही अनुराग उनपर देख विशेष आनन्द हुआ।

नोट—२ *'भरतहि धरम धुरंधर जानी।……'* इति। (क) श्रीभरतजीके धर्म और प्रेम आदि (प्रारम्भ) हीसे कवि कहते आये हैं, यथा—(१) *'बंदउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥'* नेमव्रत धर्म है। *'रामचरन-पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥'* यह प्रेम है। पुनः, (२) *'जो न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥'* यह धर्म है, *'होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥'* यह प्रेम है। तथा यहाँ (३) *'भरतहिं धरम धुरंधर जानी। निज सेवक तन मानस बानी॥'*

(ख)—धर्म-धुरन्धर हैं, अतः हमारा धर्म न छुड़ावेंगे। *'निज सेवक'* हैं, हमसे हठ न करेंगे, हमारी आज्ञाहीमें रहेंगे। तन, वचन, मन तीनों भरतजीके चरितमें आदिसे अन्ततक प्रत्यक्ष ही हैं। तनसे

पैदल नंगे पैर चले, वचनसे *'सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरम कठोरा॥'* कहा और मनसे *'मोहि अनुचर कर केतिक बाता।'''''''जौं हठ करउँ त निपट कुकरमू। हरगिरि तें गुरु सेवक धरमू॥'* ऐसा विचार करते हैं। दोनों दरबारोंमें इनका चरितार्थ है।

नोट—३ *'बोले गुर आयसु अनुकूला।''''''' '* इति। (क) प्रथम बार जब मुनिने कहा था कि—*'हित होइ सो कहिय उपाउ'* तब *'सुनि मुनि बचन कहत रघुराऊ'*। अर्थात् यहाँ गुरुकी अभिलाषाके अनुकूल नहीं बोले थे, इससे *'कहत रघुराऊ'* इतनामात्र कहा था। और यहाँ गुरुकी आज्ञाके अनुकूल बोल रहे हैं इससे यहाँ वचनको तीन विशेषण भी दे रहे हैं—मंजु, मृदु और मंगलमूल। आज्ञाके अनुकूल हैं, अतएव मंजु हैं; कानोंके लिये कोमल हैं, कटु नहीं; और मंगलदायक हैं इससे भी सुन्दर हैं।

नाथ सपथ पितु चरन दोहाई। भएउ न भुअन भरत सम भाई॥ ४॥
जे गुर पद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी॥ ५॥
राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥ ६॥
लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बड़ाई॥ ७॥
भरत कहहिं सोइ किएँ भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥ ८॥

शब्दार्थ—'**अरगाना**' = मौन होना, चुप साधना, सन्नाटा खींचना—*झुकी रानि अब रहु अरगानी', 'बूझे ते तोहि ज्वाब न आवै कहाँ रही अरगाई'*— (सूर)। (यह बुन्देलखण्डकी बोली है पु० रा० कु०)

अर्थ—हे नाथ! आपकी शपथ और पिताके चरणोंकी सौगन्ध (खाकर कहता हूँ) भुवनभरमें भरत-सा भाई नहीं हुआ॥ ४॥ जो गुरु-चरण-कमलके अनुरागी हैं वे लोकमें भी और वेदमें भी बड़े भाग्यवान् (माने गये) हैं॥ ५॥ (फिर) जिसपर आपका ऐसा अनुराग है उन भरतके भाग्यको कौन कह सकता है? (कोई नहीं)॥ ६॥ छोटा भाई जानकर भरतके मुँहपर (सम्मुख) भरतकी बड़ाई करते बुद्धि सकुचाती है॥ ७॥ जो कुछ भरत कहें वही करनेमें भलाई है—ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी चुप हो गये॥ ८॥

नोट—१ *'नाथ सपथ पितुचरन दोहाई।''''''' '* इति। (क)—गुरुके सारे शरीरकी शपथ खायी और पिताके एक अंग चरणकी। इस भेदसे पितामें विशेष भक्ति दिखायी। (पु० रा० कु०)। (ख)—यह भरतके भाषणके लिये एक प्रकारकी भूमिका तैयार कर रहे हैं, इससे भरतजीको उनकी रुचि भी मालूम हो जायगी, तब वे इसके प्रतिकूल विचार ही नहीं प्रकट करेंगे। इसीसे यहाँ कुछ उनकी प्रशंसा भी किये देते हैं। यद्यपि आगे यह भी कहते जाते हैं कि प्रशंसा करनेमें संकोच होता है। यह एक तरहसे भरतजीको अपनाना है। पुन:] (ग)—पिताकी कसमसे जनाया कि ऐसे सत्यप्रतिज्ञ पिताके वचनोंको असत्य करना उचित नहीं। गुरु-शपथसे जनाया कि उनकी आज्ञाका पालन और उनकी रुचिको रखना हमारा धर्म है, हम उसीपर चलते हैं, तुम भी चलो, अवश्य कल्याण होगा। ये शपथें आदिमें देकर इन्हें अपने पूरे वाक्यके साथ जनाया। गुरुपदप्रेमी होगा वह उनकी रुचि रखेगा।

वि० त्रि०—*'राउर जापर अस''''''' भागू'* इति। जिसका गुरुचरणोंमें अनुराग हो वही बड़भागी है और यहाँ तो गुरुजीका ही बड़ा भारी अनुराग भरतजीपर है, कह दिया कि *'मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिय सो सुभ सिव साखी॥'* भरतलालका अनुराग गुरुचरणोंमें है, इसे देखकर रामजीको आनन्द हुआ, पर जब गुरुजीका अतीव अनुराग भरतजीपर देखा, तब रामजीको विशेष आनन्द हुआ, अत: कह रहे हैं कि *'को कहि सकै भरत कर भागू।'*

टिप्पणी—१ *'लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई''''''' '* यथा—*'भरत महामहिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी॥'* भरतका भाग्य कोई नहीं कह सकता, आप उसे कहना चाहते हैं, पर वे छोटे हैं; छोटेके सामने उसकी बड़ाई करना अनुचित है; इससे बुद्धि सकुचाती है। पीठ पीछे इनकी बड़ाई करते रहते हैं, जैसा निषादराज, भरद्वाज मुनि और हनुमान्‌जीने स्वयं भरतजीसे कहा है।

टिप्पणी—२ *'भरत कहहिं सोइ किए भलाई।·······'* इति। (क) अर्थात् जो गुरुजीने कहा है कि *'मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिय सो सुभ सिव साखी॥'* उसीको यहाँ सफल किया।

नोट—२ वसिष्ठजीने श्रीरामजीको सर्वज्ञ, सुजान, अन्तर्यामी ***(सबके उर अंतर बसहु·······)*** विशेषण दिये थे। वे सब यहाँ भी चरितार्थ हुए। श्रीरामजी जानते हैं कि भरतजीने उनसे कहा है कि आप वे ही हैं *'बिधि गति जेहि छेंकी'* और गुरुजीने उनसे कहा है कि *'तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहि लषन सीय रघुराई॥',* पर असमंजसमें हैं कि ऐसी आज्ञा कैसे दें। ऐसा नहीं करा देनेसे बात असत्य होती है और ऐसा कहें तो कैसे? देवकार्य कैसे होगा? श्रीरामजीने उनके दोनों असमंजस मिटा दिये। *'प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथें मानि करउँ सिख सोई॥'* और यहाँ *'भरत कहहिं सोइ किए भलाई'* इन वाक्योंसे गुरुके प्रभाव वचनोंकी पूरी रक्षा की। गुरुके वचनको असत्य नहीं होने दिया। अब भरतके सिरपर भार आ गया, वे चाहे वही माँग लें जो गुरुजीने करा देनेको कहा था चाहे और कुछ। आगे दोहा २५९ और २६० (४) की टिप्पणी भी देखिये।

प० प० प्र०—श्रीभरतजीकी धर्मधुरन्धरतापर श्रीरामजीका कैसा अटल अगाध विश्वास है और श्रीगुरुजीकी आज्ञापालनमें कितनी श्रद्धा और तत्परता है यह *'भरत कहहिं सोइ किये भलाई'* इस वाक्यमें झलक रहा है। यह वाक्य नीति-निपुणताका भी एक सुन्दर नमूना है। अपने मुखसे कुछ भी न कहा कि भरतेच्छानुसार मैं लौटूँगा या नहीं, किंतु यह सब उन्हींकी इच्छापर छोड़ दिया यह सेवककी रुचि-पूर्ण करनेका तथा भ्रातृप्रेमका कितना उच्च आदर्श हमारे सामने खड़ा कर दिया गया है।

दो०—तब मुनि बोले भरत सन सब सँकोचु तजि तात।
कृपासिंधु प्रिय बंधु सन कहहु हृदयँ कै बात॥ २५९॥

सुनि मुनि बचन रामरुख पाई। गुरु साहिब अनुकूल अघाई॥ १॥
लखि अपने सिर सब छरुभारू। कहि न सकहिं कछु करहिं बिचारू॥ २॥
पुलकि सरीर सभाँ भए ठाढ़े। नीरज नयन नेहजल बाढ़े॥ ३॥

शब्दार्थ—**छरुभारु**=प्रबन्ध या कार्यका बोझा: कार्यभार, यथा—*'देस कोस पुरजन परिवारू। गुरु पद रजहिं लाग छरभारू॥' 'यह छरुभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।'*

अर्थ—तब मुनि भरतजीसे बोले—हे तात! सब संकोच त्यागकर, दयासागर प्यारे भाईसे हृदयकी बातको कहो॥ २५९॥ मुनिके वचन सुनकर, श्रीरामजीका रुख पाकर, गुरु और स्वामीको परिपूर्ण अनुकूल वा, गुरु और स्वामीकी अनुकूलतासे परिपूर्ण तृप्त होकर और सब छरभार अपने सिर देखकर भरतजी कुछ कह नहीं सकते, विचार कर रहे हैं॥ १-२॥ शरीरसे पुलकित होकर सभामें खड़े हो गये, कमलसमान नेत्रोंमें प्रेमजलकी बाढ़ आ गयी॥ ३॥

पु० रा० कु०—१ *'तब मुनि बोले भरत सन·······'* इति। (क) पूर्व गोष्ठीमें जब भरतजीने कहा था कि *'जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिय बचन प्रवान॥'* (२५६) तब मुनि निरुत्तर-से होकर मौन रह गये, कुछ न बोले थे, कविने उस समय यही कहा है कि *'भरत मुनिहि मन भीतर भाए।'* वहाँ बोलते ही तो क्या? यहाँ जब सब तरहसे अपनी बात सत्य ठहरानेका बन्दोबस्त कर लिया, बन्धान बाँध लिया, और श्रीरामजीको प्रसन्न करके उनके मुखसे यह कहला लिया कि *'भरत कहहिं सोइ किए भलाई'* तब बोले। भाव कि लो जो हमने कहा सो पूरा कर दिया, अब तुम्हारे हाथमें कर दिया जो चाहो करा लो। श्रीरामजीने वचन दे दिया, टलेंगे नहीं। कर दिखानेके पहले कोरा कथन अनुचित है यह यहाँ दिखाया, यथा—*'देवि बिनु करतूति कहिबो जानिहैं लघु लोइ। कहौंगो मुखकी समर सरि कालि कारिख धोइ॥'* (गी० ५। ५)

नोट—(क) *'तब मुनि बोले·······बात'* इति। (क) भाव यह कि भरतलालने कहा था कि *'सोइ गोसाइँ जेहि बिधि गति छेंकी। सकै को टारि टेक जो टेकी॥'* इत्यादि, सो विधिगति रुक गयी। सरकार 'जो कुछ

कहो' सो करनेको तैयार हैं, इस समय जो कराना चाहो इनसे करा लो। अपना स्वाभाविक संकोच छोड़कर कृपासिंधु प्रिय भाईसे हृदयकी बात कह डालो। इस समय यदि कहनेमें कसर किया तो फिर उसकी पूर्ति होना कठिन है। (वि० त्रि०)। (ख) *'सब सँकोचु'*—माताकी करनीका संकोच; माताके मतमें माने जानेका संकोच, यथा—*'मातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर।'* (२३३) बड़ेके सामने बोलनेका संकोच, यथा—*'महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कहे न बैन।'* (२६०) सेवक होकर स्वामीके सामने धृष्टताका संकोच, यथा—*'मोहि अनुचर कर केतिक बाता।''''''जौं हठ करउँ त निपट कुकरमू।'* (२५३। ५-६)। विधिकी वामताका, यथा—*'तेहि महँ कुसमय बाम बिधाता।'* (२५३। ५), सेवक-स्वामि-धर्मका संकोच इत्यादि 'सब' संकोच हैं जिनका त्याग करनेको कहते हैं। (ग) *'कृपासिंधु प्रिय बंधु सन कहहु''''''* 'इति। संकोच न करो क्योंकि कृपासिन्धु हैं, तुमपर समुद्रवत् कृपा कर रहे हैं, अपनी प्रतिज्ञा भी तुम्हारे लिये छोड़ दी है। कृपालुसे खोलकर जीकी प्रकट करना चाहिये। फिर ये तो भाई हैं और उसमें भी प्रिय भ्राता, इनसे क्या संकोच?

नोट—२ *'गुरु साहिब अनुकूल अघाई।'* पहले डरते थे कि वे दोनों रुष्ट न हों—*'लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही।'* अब दोनोंको परिपूर्ण प्रसन्न देख लिया।

नोट—३ *'कहि न सकहिं कछु करहिं बिचारू।'* गुरुने प्रतिज्ञा भंग करानेका भार हमारे ही सिर छोड़ा, प्रभु प्रतिज्ञा छोड़नेको तैयार हो गये। हमारे लिये प्रतिज्ञा छोड़ी तो हमारा कर्तव्य क्या है! क्या प्रतिज्ञा भंग करा दें? या कुछ और ही कर्तव्य है? शीघ्रता करना योग्य नहीं—*'सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥'* अत: विचार करते हैं। मिलान कीजिये—*'भरत भये ठाढे कर जोरि। ह्वै न सकत सामुहें सकुच बस समुझि मातुकृत खोरि'॥ १॥ 'फिरिहैं किधौं फिरन कहिहैं प्रभु कलपि कुटिलता मोरि। हृदय सोच जल भरे बिलोचन देह नेह भइ भोरि॥ २॥ बनवासी पुरलोग महामुनि किय काठ के से कोरि। दै दै श्रवन सुनिबेको जहँ तहँ रहे प्रेम मन बोरि॥ ३॥ तुलसी रामसुभाउ सुमिरि उर धरि धीरजहि बहोरि। बोले बचन बिनीत उचित हित करुनारसहिं निचोरि॥ ४॥'* (गी० २। ७०)।

नोट—४ खड़े होकर बोलना यह सभाका शिष्टाचार है। अपने ऊपर असीम कृपा देखी, इसीसे प्रेमाश्रुकी धारा बह चली।

मा० हं०—*'वसिष्ठशिवताई।'* अपना योगवासिष्ठ सुनाकर रामजीको अविकारी और अक्रिय ब्रह्म बनानेवाले वसिष्ठजी गोसाईंजीकी दीक्षामें आ पड़नेके कारण रामजीको कैसे सविकारी और सक्रिय पुरुषोत्तम बना रहे हैं, और अपने तत्त्वज्ञानकी शुष्कताको किस प्रकार आर्द्र कर रहे हैं, यह यहाँपर प्रत्यक्ष दिखायी देता है। हमारा यह कथन *'सुनि आचरज करइ जनि कोई'* क्योंकि *'सतसंगति महिमा नहिं गोई।'* वसिष्ठजीकी वकालतका रामजीपर जो परिणाम हुआ वह उनके इस एक ही वाक्यमें पूर्णतासे दिखायी देता है—*'भरत कहहिं सोइ किये भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥'*

भरत-भाषण

कहब मोर मुनिनाथ निबाहा। एहि तें अधिक कहौं मैं काहा॥ ४॥
मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥ ५॥
मो पर कृपा सनेहु बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥ ६॥
सिसुपनु तें परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥ ७॥
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥ ८॥

शब्दार्थ—**निबाहा**=पूरा कर दिया, पालन किया। **खुनिस** (खिन्न मनस्)=क्रोध, रिस, गुस्सा, रूखापन—*'इश्क मुश्क खाँसी खुनस खैर खून मदपान। चतुर छिपावत हैं सही आप परत हैं जान॥'* **भंग करना**=तोड़ना, उदास करना, दुखाना। **जोहना**=(सं० जुषन=सेवन), ताकना, पता लगाना, भलीभाँति देखना।

अर्थ—मेरा कहना तो मुनिराजने ही पूरा कर दिया। (अर्थात् जो कुछ मैं कह सकता वह सब उन्होंने

कह ही दिया), इससे अधिक और मैं क्या कहूँ?॥ ४॥ अपने नाथका स्वभाव मैं जानता हूँ। वे अपराधीपर भी कभी क्रोध नहीं करते॥ ५॥ मुझपर तो वे बहुत ही कृपा और प्रेम रखते हैं। मैंने खेलतेमें भी (लड़कपनमें) कभी क्रोध नहीं देखा॥ ६॥ बचपनसे मैंने साथ नहीं छोड़ा, प्रभुने कभी भी मेरा मन नहीं तोड़ा॥ ७॥ मैंने प्रभुकी कृपाकी रीति मनमें (खूब विचार) देखी है, हारनेपर भी खेलमें (वा, हारा हुआ खेल भी) मुझे जिता देते रहे हैं॥ ८॥

नोट—१ ***'कहब मोर'*** अर्थात् ***'पुरजन जननी भरत हित होइ सो कहिय उपाउ'*** इसमें सब कुछ आ गया, यही मैं कहता—(पां०)। ***'मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिय सो सुभ सिव साखी॥'*** इस वचनमें उस वचनकी पूरी बात आ गयी, जो उन्होंने वसिष्ठजीसे कही थी कि पूरी कीजिये। भरतजी उसे कहें; उसको स्वीकार करनेका भार श्रीरामजीपर उन्होंने डाल ही दिया है। अब भरत उसे कहें या न कहें, उसको अपनी ओरसे छोड़ दें तो गुरुके वचनकी सत्यतामें बट्टा नहीं लगेगा।

नोट—२ ***'मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ……'*** इति।—***'निज नाथ'*** = अपने स्वामीका। अपराधीपर भी कभी क्रोध नहीं किया, भाव कि और स्वामी अपराधीपर क्रोध किया करते हैं, यथा—***'सुनु खग बहुत अवज्ञा किये। उपज क्रोध ज्ञानिहु के हिये॥' 'साहिब होत सरोष सेवकको अपराध सुनि। अपने देखे दोष सपनेहु राम न उर धरे॥*** दो० ४७।' तो मुझपर भी क्यों क्रोध करने लगे। क्रोध करना तो दूर रहा, बराबर मुझपर बहुत कृपा और प्रेम रखते आये हैं।

नोट—३ ***'खेलत खुनिस न कबहूँ देखी'*** इति। विशेष कृपा और स्नेहके प्रमाणमें बालपनके खेलका उदाहरण देते हैं। कारण यह कि खेलमें क्रोध अवश्य आ जाता है, भाई-भाई, मित्र-मित्र खेलमें लड़ बैठते हैं, नहीं तो नाक-भौं अवश्य ही सिकोड़ते हैं, खेल खुनसकी जड़ है। जब लड़कपनमें भी क्रोध न किया तो अब तो बड़े हो गये, अब कहाँसे क्रोध आ सकता है। खेलमें जब कोई कहता कि भरतजी जीते तो वे बखसीस लुटाते यह विशेष कृपा है, यथा—***'एक कहत भइ हार राम जू की एक कहत भैया भरत जये। प्रभु बकसत गज बाजि बसन मनि जय धुनि गगन निसान हये॥*** गी० १। ४३।' इसकी जोड़में पूर्व लक्ष्मणजीके वचन हैं—***'समर सरोष राममुख पेखी……।'*** अर्थात् कभी सरोष नहीं देखा आज देखेंगे। (पु० रा० कु०)। मिलान कीजिये। ***'सुनि सीतापति सील सुभाउ। मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहरि खाउ॥ १॥ सिसुपन ते पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ। कहत राम बिधुवदन रिसौहैं सपनेहु लखेउ न काउ॥ २॥ खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ। जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ ॥ ३॥ सिला साप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ। दई सुगति सो न हेरि हरष हिय चरन छुयेको पछिताउ॥ ४॥ भवधनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गये ताउ। छमि अपराध छमाइ पाँय परि इतौ न अनत समाउ॥ ५॥ कहेउ राज बन दियो नारिबस गरि गलानि गये राउ। ता कुमातु को मन जुगवत ज्यों निज तनु मर्म कुघाउ॥ ६॥ कपि सेवा बस भए कनौड़े कहेउ पवनसुत आउ। देबेको न कछू रिनियाँ हौं धनिक तू पत्र लिखाउ॥ ७॥ अपनाये सुग्रीव बिभीषन तिन्ह न तज्यो छल छाउ। भरत सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ॥ ८॥ निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ। सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिर गाउ॥ ९॥ समुझि समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसिदास अनयास रामपद पइहै प्रेम पसाउ'॥ १०॥*** (वि० १००) इस पदमें इस शील स्वभावका सुन्दर वर्णन है।

नोट—४ ***'सिसुपनु तें परिहरेउँ न संगू……'*** इति (क) भाव कि बहुत साथ रहना अनादरका कारण हो जाता है। पर मेरे इतना बराबर साथ रहनेपर कभी मन भंग न किया, अर्थात् कभी अनादर न किया। (पु० रा० कु०)। (ख) जब श्रीरामजी विश्वामित्रजीके साथ गये तब तो साथमें भरतजी नहीं गये और विवाहके पश्चात् भी श्रीभरतजी अपने मामाके साथ चले गये। वर्षों साथ नहीं रहे। तब ***'सिसुपनु तें परिहरेउँ न संगू'*** तो असत्य है? इस शंकाका समाधान यह है कि प्रथम बार तो भरतजीने साथ नहीं छोड़ा,

श्रीरामजी ही उनको छोड़कर चले गये, क्योंकि मुनिने श्रीरामलक्ष्मणको ही माँगा था। हाँ? दूसरी बार श्रीभरतजी अवश्य माता-पिताकी आज्ञासे इन्हें छोड़कर गये, यह भूल हो गयी। तभी तो 'विधि' को मौका मिल गया और वह ***'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीचु जननी मिस पारा॥'*** उस एक बार संग छोड़नेका कितना बड़ा दण्ड उनको मिला! (प० प० प्र०) ☞ इससे उपदेश दे रहे हैं कि देखो एक बारके संग छोड़नेका क्या फल दिया गया और जो आजन्म उनका संग छोड़कर माता, पिता, पुत्र, नाना, दादा, धन-सम्पत्ति आदि नश्वर विषयोंमें मग्न रहते हैं उनको कितना दुःख दण्ड भोगना पड़ेगा।

नोट—५ ***'हारेहु खेल जितावहिं'*** का भाव कि मैं अपनी माताकी करनीसे हारा हुआ हूँ अब भी मुझे जिताइये। (मा० म०, पां० वै०)। यहाँतक स्वामीकी रीति कही, आगे अपनी रीति कहते हैं।

मा० हं०—भरतजीका भाषण॥ १॥ किसी भी दृष्टिसे देखिये भरतजीके इस भाषणमें सभी बातें बिलकुल ही सामान्य हैं। परंतु केवल प्रेमके कारण उनमें अतिरिक्त जटिलता आयी है। इस भाषणकी यही भारी विशेषता है। २—जटिलता कहनेका कारण भरतजीके भाषणपर रामजीका उत्तर है। उसमें रामजीने भरतजीकी प्रशंसा केवल पराकाष्ठाको पहुँचा दी है। वहाँ संशय होता है कि भरतजीके भाषणमें दुर्ज्ञेय ऐसी गहनता वा असाधारणता न होते भी रामजीको भरतजीकी ***'भाट जिमि बरनी'*** ऐसे प्रकारकी प्रशंसा करनेका क्या प्रयोजन था? हमारे मतसे भरतजीके भाषणका गहन भाग उनकी कृतज्ञताकी भावनाका है! बिलकुल क्षुद्र कारणोंमें भी भव्य भाव देखना और हार्दिक कृतज्ञता मनाना यही उनके कृतज्ञताका सत्य स्वरूप है। ३—भरत और राम दोनोंके भी भाषण प्रत्यक्ष पढ़े बिना हमारे उक्त विचारोंकी यथार्थता ध्यानमें जँचेगी। पाठकोंको इन दोनों भाषणोंको पढ़नेकी सूचना हम खास तौरसे देते हैं, इसका कारण यह है कि ये भाषण अयोध्याकाण्डके आगामी भागकी नींव हैं। इन भाषणोंमें रामजी और भरतजीके परस्पर व्यवहारोंका अन्योन्य कृतज्ञतारूप जो मुख्य तत्त्व है वह समझ जानेपर उनके आगामी सम्पूर्ण व्यवहारोंके समझनेमें कठिनाई न पड़ेगी।

दो०—महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कही[१] न बयन।
दरसन तृपित न आजु लगि पेम पिआसे नयन॥ २६०॥

बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीचु जननी मिस पारा॥ १॥
यहउ कहत मोहिं आजु न सोभा। अपनी समुझि साधु सुचि को भा॥ २॥
मातु मंदि मइँ साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥ ३॥
फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि संबुक काली[२]॥ ४॥

शब्दार्थ—**सनमुख** (सम्मुख)=आगे, समक्ष, सामने। **मंदि**=दुष्ट, कुबुद्धि, दुरी, नीच। **सुचाली**=उत्तम आचरणवाला, सदाचारी। **बीच**=भेद, फरक, परिवर्तन, औरका, और, पार्थक्य। **बीच पारा**=परिवर्तन कर दिया, तफरका डाल दिया, औरका और कर दिया, विभेद कर दिया। कोदव (कोदो) एक प्रकारका निषिद्ध शास्त्रवर्जित अन्न है जो प्रायः सारे भारतमें होता है। इसके लिये बढ़िया खेत वा परिश्रमकी जरूरत नहीं। इसके फलियोंके भीतर गोल चावल साबूदानाके बराबर होता है। यह प्रथम वर्षामें बोया और भादोंमें काटा जाता है। **संबुक** (शंबुक)=घोंघा, सीपी। **प्रसवना**=उत्पन्न या पैदा करना। **आनना**=लाना। **बाली**=बाल, जौ, गेहूँ, जुआर आदिके पौधोंका वह ऊपरी भाग या सींका जिसमें अन्नके दाने लगते हैं।

अर्थ—मैंने भी प्रेम और संकोचवश सामने बात नहीं की। प्रेमप्यासे नेत्र आजतक दर्शनसे तृप्त (संतुष्ट) नहीं हुए॥ २६०॥ परन्तु विधाता मेरा दुलार न सह सका (उसे अच्छा न लगा, वह देख न सका, ईर्ष्यावश

१-कहें।
२-आधुनिक प्रतियोंमें कहीं २ 'ताली' पाठ है।

हो गया)। उसने नीच माताके बहानेसे बीच डाल दिया॥ १॥ यह भी कहते आज मुझे नहीं सोहता—शोभा देता। (क्योंकि) अपनी समझसे कौन साधु और पवित्र हुआ? (कोई नहीं हुआ)॥ २॥ 'माता नीच और मैं सदाचारी साधु, ऐसा हृदयमें लाते ही कुचाली-(दुराचारी-) की कोटि-(दर्जा, श्रेणी, वर्ग-) में ले आता है (वा, हृदयमें लाना करोड़ों कुचालके बराबर है)॥ ३॥ क्या कोदोंकी बालीमें उत्तम धान फल सकता है? क्या काली घोंघीमें मोती पैदा हो सकता है?॥ ४॥

नोट—१ ***'महूँ सनेह सकोच बस सनमुख·······'*** इति।—भाव यह कि प्रेमकी उमंगमें मन करता था कि कुछ कहूँ, पूछूँ, पर संकोचवश कभी सिर उठाकर कोई बात भी न की, यथा—***'नाथ भरत कछु पूछन चहहीं। प्रश्न करत मन सकुचत अहहीं॥'*** (७। ३६)। भाव कि जब आज तक ऐसा अवसर कभी न आया कि सम्मुख बात करता तब आज कैसे करूँ? गीतावलीमें भी कहा है कि ***'छोटेहुँ तें छोह करि आए मैं सामुहैं न हेरो। एकहि बार आजु बिधि मेरो सील सनेह निबेरो॥'*** (२। ७३)। अबतक कभी सामने न बोला था पर आज वह शील-स्नेह विधिवश न रह गया, आज बोलना पड़ा। यदि कहा जाय कि फिर आये ही क्यों, तो उसपर कहते हैं कि ***'दरसन·······।'*** सकुचके मारे कभी नेत्र भरकर दर्शन भी न हुए, इसीसे अबतक दर्शनसे तृप्ति न हुई, नेत्र प्यासे ही बने हैं। वा संकोचवश कभी सम्मुख बात न की, केवल दर्शन मात्र करता रहा; परंतु प्रेमके कारण नेत्र कभी दर्शनसे आजतक तृप्त न हुए, प्रेमकी प्यास उनकी बुझी नहीं है, यह जी चाहता है कि देखता रहूँ। आशय यह कि इसीलिये यहाँ दौड़ा आया कि दर्शन लाभ तो होता रहे। (प्र० सं०)। पुनः भाव कि प्रेमका व्यवहार इस भाँति चलता था कि सरकार मुझे हारा हुआ खेल जिता देते थे, मैं संकुचित हो जाता था, स्नेहसे सम्मुख बात न की, जो बिना कहे ही हारे खेलको जिता रहा है, उससे कहें तो कहें क्या? सो आज मैं बाजी हार रहा हूँ, सरकार मुझे जिता दें। प्रेम पियासे नयन आजतक दर्शनसे तृप्त नहीं हुए हैं, सो दर्शन मुझे दुर्लभ न हो पाये। (वि० त्रि०)।

नोट—२ ***'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा·······'*** इति। (क) आपकी मुझपर कृपा और प्रीति देखकर दैवसे न सहा गया। बिधि=विधाता, दैव, कर्म। (ख) ***'नीच बीच जननी मिस पारा'*** इति। यहाँ 'नीच' को यदि 'विधि' का विशेषण लें तो इस भावसे कि ***'बिघन मनावहिं देव कुचाली',*** पुनः,***'ऊँच निवासु नीच करतूती।'*** (१२। ६)।' यह नीचता है कि हमारे न होनेपर मौका पाकर माताके बहानेसे उस दुलारमें भेद डाल दिया। यदि इसे 'बीच' का विशेषण मानें इस हिचकसे कि श्रीभरतजी-सरीखे साधुके मुखसे विधाताको ऐसा कहलाना उचित नहीं, तो भाव यह होगा कि राजविरोधद्वारा, कुलरीति वेदरीतिके विरुद्ध छोटेके लिये राज्यद्वारा बीच डाला है। यह ***'नीच बीच'*** है, क्योंकि इससे छोटेको बड़ा पद देकर स्वामीको नीचा पद दिया और कुलको भी कलंकित किया—(वै०, पं०)। वा, ***'नीच बीच'*** =अन्तःकरणसे बीच—(पां०) और, यदि इसे माताका विशेषण मानें तो उनकी कुटिल कठोर करनीके सम्बन्धसे।

नोट—३ ***'यहउ कहत मोहिं आजु न सोभा·······।'*** इति। अर्थात् माताको दोष देना और अपनेको निर्दोष ठहराना, हम तो पवित्र थे माताके द्वारा बीच पड़ा, यह मेरा कहना यथार्थ नहीं समझा जा सकता। अपने मुँह साधु, शुचि बन बैठनेसे थोड़े ही कोई साधु और शुचि हो सकता है? जिसे दूसरे और वह भी सज्जन लोग साधु कहें वही साधु माना जा सकता है। जो कोई कहे कि तुम्हें तो सभी साधु कहते हैं तो उसका उत्तर है कि यह नहीं हो सकता; क्योंकि ***'मातु मंदि मैं साधु सुचाली।·······'*** अर्थात् जिसकी माता नीच होगी उसका पुत्र उससे भी अधिक नीच होगा, माता कुचाली हो और पुत्र सदाचारी, यह कब सम्भव है? इसीको वक्रोक्तिद्वारा दृष्टान्त देकर सिद्ध करते हैं।

नोट—४ ***'फरइ कि कोदव बालि सुसाली।·······'*** इति। (क) भाव कि बुरी वस्तुसे भली वस्तु हो नहीं सकती, तब हम कैसे 'सुचाली, साधु, शुचि' हो सकते हैं। कोदवँ कदन्न है, वैष्णवोंमें वर्जित माना गया है और सुशालि देवान्न है, देवपूजनमें काम आता है, पवित्र है। यहाँ तक माताके सम्बन्धसे अपनेको दूषित कहा। आगे केवल अपनेको दोष देते हैं और विधाता, माता आदिको निर्दोष करार देते हैं।

(ख) जहाँ काई या सिवार बहुत होता है वहाँ पुरानी सीप काली पड़ जाती है। यह महाकाली सीप वहीं रहती है जहाँ बगुलेको सुख होता है। तात्पर्य कि मैं कैकेयीरूपी काली सीपीसे उत्पन्न हुआ, कपटकी खानि हूँ और बकरूपी अवगुणका वासस्थान हूँ। कोई-कोई 'काली' को 'मुकता' का विशेषण मानते हैं। काला मोती वह है, जिसे कागामोती कहते हैं। (मा० म०)।

प० प० प्र०—*'फरइ कि कोदव……'* यह दृष्टान्त शुचिताके लिये है। *'अपनी समुझि साधु सुचि को भा'* में साधुता और शुचिताका उल्लेख किया गया। इससे सूचित किया कि कैकेयी अशुचि नहीं है। कोदव अपवित्र है पर बाली पवित्र है। *'मुकता प्रसव कि संबुक काली'* में साधुताकी उत्पत्तिका सिद्धान्त कहा। मुक्ताकी उत्पत्ति मुक्ताशुक्तिसे ही होती है, वैसे ही साधु पुरुष साधु माता-पितासे ही जन्म ले सकते हैं। इससे जनाया कि कैकेयी कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी नहीं है किंतु साध्वी है।

श्रीनंगेपरमहंसजी—भाव कि जब माता कोदवकी बालीरूप है तब मैं भी कोदवका फलरूप हूँ; क्योंकि कोदवकी बालीमें धान नहीं फलता है। पुनः, माता काली सीपीरूप है। काली सीपीमें मोती नहीं होता किन्तु जोंक उत्पन्न होती है, जिसकी चाल वक्र होती है। वैसे ही काली सीपीरूपी मातासे उत्पन्न मैं जोंक-सदृश वक्र गति चलनेवाला ही हूँगा, साधु सुचाली नहीं हो सकता। भाव यह कि श्वेत सीपी रूप तो कौसल्या माता हैं जिनसे मोती सदृश श्रीरघुनाथजी उत्पन्न हुए।

'मातु मंदि मइँ साधु सुचाली' में 'प्रथम बिषम' और *'फरइ कि कोदव……काली'* में 'वक्रोक्ति' अलंकार है।

सपनेहुँ दोस क लेसु न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू॥ ५॥
बिनु समझें निज अघ परिपाकू। जारिउँ जायँ जननि कहि काकू॥ ६॥
हृदयँ हेरि हारउँ[1] सब ओराँ। एकहि भाँति भलेंहि भल मोराँ॥ ७॥
गुर गोसाँइ साहिब सियरामू। लागत मोहि नीक परिनामू॥ ८॥

दो०—साधु सभा गुर प्रभु निकट कहउँ सुथल सतिभाउ।
प्रेम प्रपंचु कि झूठ फुर जानहि मुनि रघुराउ॥ २६१॥

शब्दार्थ—**क लेसु**=का लेश। **लेश**=संसर्ग, सम्बन्ध, लगाव, यथा—*'जो कोउ कोप भरै मुख बैना। सनमुख हतै गिरा सर पैना। तुलसी तऊ लेस रिस नाहीं। सो सीतल कहिये जग माहीं॥'* —(वै० सं०)। **अवगाह**= अथाह, अगाध, यथा—*'खल अघ अगुन साधु गुनगाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥'* (ब०)। **काकु**= व्यंग्य, तनज, ताना, छिपी हुई चुटीली बात, यथा—*'रामबिरह दसरथ दुखित कहत केकयी काकु। कुसमय जाय उपाय सब केवल कर्म बिपाक॥'* **'काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकमित्यादिभिर्ध्वनेः'** (अमरकोश १। ६। १२।)। अर्थात् शोक-भय आदिसे जो शब्दका विकार होता है, उसको **'काकु'** कहते हैं। धिक्कारके वचन, टेढ़े भाववाले वचन—(रा० प०)। **परिपाक**=कर्मफल, परिणाम, फल, पूर्णता। **जारिउँ**—जारना=जलाना, कुढ़ाना, मनमें संताप उत्पन्न करना, दुःख देना। **भलेंहि**=भले ही, ऐसा हुआ करे, इसमें हानि नहीं है, अच्छा ही है—इस प्रयोगसे कुछ उपेक्षा या संतोषका भाव प्रकट होता है। पूर्ण रूपसे। **भल**=भला, भलाई, कल्याण। गोसाईं=इन्द्रियोंके स्वामी प्रेरक, संचालक, अर्थकर्मके प्रेरक—(दीनजी)। **भाऊ**=भावना, स्वभाव, वृत्ति, विचार। **सतिभाऊ**=सद्भावसे, सत्य।

अर्थ—स्वप्नमें भी दोषका लेश (मात्र) किसीको नहीं[2] है। मेरा अभाग्य-समुद्र अथाह है॥ ५॥ अपने पापोंका फल बिना समझे हुए मैंने व्यर्थ माताको व्यंग वचन कहकर जलाया॥ ६॥ अपने हृदयमें सब

१-पाठान्तर—'हारेउँ—रा० प्र०, गी० प्रे०। हारउँ—ला० सीताराम।

२-प्रसंगसे यही अर्थ उत्तम प्रतीत होता है। क-का, जैसे धंधक, देवक आदि। और तरह ये अर्थ होते

ओर खोजकर मैं सब तरफसे हार गया। एक ही प्रकार भले ही मेरा भली प्रकार भला होना देख पड़ता है॥ ७॥ गुरुजी गोसाँई (समर्थ, श्रेष्ठ, ईश्वर) हैं और श्रीसीता-रामजी स्वामी हैं[1] इससे मुझे परिणाम (अन्त, फल, अंजाम) अच्छा लगता है॥ ८॥ साधुओंके समाजमें, गुरुदेव और प्रभुके समीप, उत्तम श्रेष्ठ भूमि चित्रकूट श्रीरामतीर्थमें सद्भावसे[2] कहता हूँ। यह प्रेम है या कपट-छल, झूठ है या सत्य, इसे मुनि श्रीवसिष्ठजी और रघुराज श्रीरामजी जानते हैं॥ २६१॥

नोट—१ ***'मोर अभाग उदधि अवगाहू'***, यथा—***'मैं धिग धिग अघ उदधि अभागी। सब उत्पात भयउ जेहि लागी॥ कुलकलंक करि सृजेउ बिधाता। साँइदोह मोहि कीन्ह कुमाता॥'*** २०१। ५

नोट—२ ***'बिनु समुझें निज अघ परिपाकू……'*** इति। भाव कि माताको बुरा-भला कहा था तब यह न समझा कि यह सब मेरे पापकर्मोंका फल है, उनके भोगका यही समय है, अब समझा तब पछताया कि व्यर्थ ही उनको ऐसा कहा। १६१ (६) ***'पापिनि सबहि भाँति कुल नासा'*** से ***'रामबिरोधी हृदय……।'*** १६२।' तक 'काकु' वचन है। वाल्मीकिजी लिखते हैं—**'इत्येवमुक्त्वा भरतो महात्मा प्रियेतरैर्वाक्यगणैस्तुदंस्ताम्।'** (२। ७३। २८) कि महात्मा भरतने अप्रिय वचनोंसे कैकेयीको दुःखित करते हुए ये बातें कहीं। पुनः, यथा—वाल्मीकीये—**'यत्प्रधानासि तत्पापं मयि पित्रा विना कृते। भ्रातृभ्यां च परित्यक्ते सर्वलोकस्य चाप्रिये॥'** (२। ७४। ११) अर्थात् जो पाप तुममें अधिक है उसका फल, 'पितासे रहित' भाइयोंसे त्यक्त और सबके अप्रिय', मुझे भोगना पड़ता है।

नोट—३ ***'हृदयँ हेरि हारउँ सब ओराँ।……'*** पहले जो कहा कि ***'मोर अभाग उदधि अवगाहू'*** उसी अभाग्यरूपी दुःख-समुद्रसे पार होनेके लिये चारों उपाय ढूँढ़ डाला, कोई न मिला, बस एक उपाय मनमें निश्चित हुआ। वह यह है कि गुरु गोसाँई हैं और श्रीसीतारामजी स्वामी हैं, इससे परिणाम अच्छा ही होगा। (पं०) गोसाईं हैं, ईश्वर ही हैं, विधाताके लिखे अंकोंको मिटानेवाले हैं।

नोट—४ ***'साधु सभा गुर प्रभु……'*** इति। भाव कि इन चारोंके समीप असत्य बोलना महापाप है; उसपर भी मुनि और रघुनाथजी सर्वज्ञ और अन्तर्यामी हैं, और चित्रकूट थल है, जहाँ विधि-हरिहरका प्रपंच तो प्रकट ही हो गया तब यहाँ और कौन प्रपंच चला सकता है।

भूपति मरन पेम पनु राखी। जननी कुमति जगतु सबु साखी॥ १॥
देखि न जाहिं बिकल महतारीं। जरहिं दुसह जर पुर नर नारीं॥ २॥
महीं सकल अनरथ कर मूला। सो सुनि समुझि सहिउँ सब सूला॥ ३॥
सुनि बन गवनु कीन्ह रघुनाथा। करि मुनिबेष लषन सिय साथा॥ ४॥
बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाएँ। संकरु साखि रहेउँ एहि घाएँ॥ ५॥

शब्दार्थ—**राखी**=रखनेसे, रक्षाके लिये, निर्वाह वा निबाहनेके लिये। **जर**=ज्वर, बुखार। महीं=मैं ही। **दुसह जर**=कठिन ज्वर, जैसे विषमज्वर, कालज्वर, जीर्णज्वर आदि।=कठिन संताप। **रहेउँ**=जीता रह गया।

हैं—'स्वप्नमें भी दूसरेके दोषसे किसीको क्लेश नहीं होता'—(वीर)। वा, 'इस क्लेशमें स्वप्नमें भी किसीका दोष नहीं'—(रा० प्र०, पां०, वै०)। वा, 'स्वप्नमें भी न किसीका दोष है और न किसीको क्लेश।' २ कोई कहते हैं कि याज्ञवल्क्यरामायणमें कहा है—'न मन्थराया न च मातुरस्य दोषो न राज्ञो न च राघवस्य। मत्पापमेवात्र निदानभूतं वनप्रवेशे रघुनन्दनस्य॥' हमें यह रामायण देखनेको नहीं मिली।

१-दूसरा अर्थ—'गुरु, गोसाईं, साहिब सब कुछ सीताराम हैं'—(रा० प्र०)। परंतु आगे 'जानहिं मुनि रघुराउ' पद दिया है और पूर्व भी भरतजी गुरुजीसे कह चुके हैं—'सोइ गोसाँइ जेहि बिधि गति छेंकी' इससे ऊपर दिया हुआ ही अर्थ संगत प्रतीत होता है।

२-सतिभाउ, यथा—'महाराज रघुनाथ प्रभाऊ। करउँ सकल कारज सतिभाऊ', 'बिहँसी घन सुनिकै सतिभाऊ। हौं रामा तू रावन राऊ', 'कहउँ सखी आपन सतभाऊ। हौं जो कहत जस रावन राऊ'—(जायसी)।

सब शूल—शूल ८ प्रकारके हैं—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, आमज, वातश्लैष्मिक पित्तश्लैष्मिक और वातपैत्तिक। वायुके प्रकोपसे पेट या उसके आस-पास बड़ी वेदना या पीड़ा होती है उसे शूल कहते हैं। मुहावरेमें 'पीड़ा' अर्थ है।

अर्थ—'प्रेमपन' के निर्वाहके लिये राजाका मरण और माताकी कुमति-(दोनों-) का सारा संसार साक्षी है॥ १॥ समस्त माताएँ व्याकुल हैं, देखी नहीं जातीं। अवधके (सभी) स्त्री-पुरुष कठिन श्रीरामवियोग ज्वरसे जल रहे हैं॥ २॥ इन सारे अनर्थोंकी जड़ मैं ही हूँ। यह सुनकर और समझकर मैंने सब दुःख सहे॥ ३॥ श्रीरघुनाथजी मुनिवेष बनाकर लक्ष्मण और सीताजीको साथ लेकर बिना पदत्राणके पैदल ही, वनको गये, शंकरजी साक्षी हैं कि यह सुनकर ऐसे घावसे भी मैं जीता रह गया॥ ४-५॥

नोट—'***भूपति मरन पेम पनु राखी।*******' इति। (क)—'प्रेमपण' के दोनों अर्थ हो सकते हैं। प्रेमका पण, यथा—'***सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेमपनु मोर निबाहा॥***' (१५५। ६) वही शब्द यहाँ आये हैं। पुनश्च यथा—'***ऐसे सुतके बिरह अवधि लौं जौं राखौं यह प्रान। तौ मिटि जाइ प्रीति की परमिति अजस सुनौं निज कान॥***' (गी० २। ५१) '***हृदय समुझि सनेह सादर प्रेम पावन मीन। करी तुलसीदास दसरथ प्रीति परमिति पीन॥***' (गी० २। ५८) अथवा, प्रेम (पण) और सत्यपण। सत्यसे रामवियोग और रामप्रेमसे वियोगमें मरण। (ख)—'***सब साखी***' अर्थात् मैं बनाकर अपनी ओरसे नहीं कहता, त्रिलोकी जानता है।

पु० रा० कु०—१ '***महीं सकल अनरथ कर मूला*******' इति। 'सकल' जो यहाँ गिनाये—(१) '***भूपतिमरण।***' (२) '***जननीकुमति।***' (३) '***बिकल महतारी***' और (४) '***जरहिं दुसह जर पुर नर नारी।***' इन सब अनर्थोंका कारण मैं हूँ। रामवियोगका कारण मैं हूँ, उसीसे पिताकी मृत्यु हुई। मैं यहाँ न था इससे मातामें कुमति उपजी। वह कुमति मेरे राज्यसुखके लिये थी, अतः उसका भी मूल मैं ही हूँ। शेष दो भी इन्हींसे हुए।

नोट—२ '***सो सुनि समुझि सहिउँ सब सूला।***' मातासे सुना तथा औरोंसे भी सुना, मनमें समझा, यथा—'***हेतु अपनपउ जानि जिय थकित रहे धरि मौन।***' (१६०) जब मनमें अपनेको ही सबका मूल समझा तब कहता किससे? दोष देता किसे? यथा—'***दुचित कतहुँ परितोष न लहहीं। एक एक सन मरम न कहहीं॥***' तथा मैंने सब शूल सहे। अर्थात् मनमें बड़ी व्यथा है पर किसीसे कह नहीं सकता, अपनी करनीका फल अपने ही भोगनेसे कटेगा। यहाँ चार अनर्थ हुए उन्हींसे शूल उत्पन्न हुए।

नोट—३ '***संकरु साखि रहेउँ एहि घाएँ*******' इति। अर्थात् शूल तो चारहीसे हो गये थे, उसपर भी जब यह मालूम हुआ कि इस वेषसे गये तब जो घाव हुआ, जैसी असह्य चोट हृदयको लगी, उसके शंकरजी साक्षी हैं, प्राणघातक पीड़ा हुई; पर प्राण बने ही रहे क्योंकि अभी भोग शेष हैं। शंकरजीकी साक्षी दी; क्योंकि कल्याणके लिये इन्हींको मनाया करते थे। यदि झूठ हो तो अकल्याण करेंगे। पुनः, इनके तीन नेत्र हैं—सूर्य, चन्द्र और अग्नि। सूर्य लोकोंके प्रकाशक और यमपुरीके साक्षी हैं, अग्नि भी साक्षीका काम करते हैं; क्योंकि सबके भीतर हैं और अग्निनेत्रसे कामदेवतकको भस्म कर दिया था, दण्ड देनेमें ऐसे समर्थ हैं।

बहुरि निहारि निषाद सनेहू। कुलिस कठिन उर भएउ न बेहू॥ ६॥
अब सबु आँखिन्ह देखेउँ आई। जिअत जीव जड़ सबइ सहाई॥ ७॥
जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछीं। तजहिं बिषम बिषु तामस* तीछीं॥ ८॥

दो०—तेइ रघुनंदनु लषनु सिय अनहित लागे जाहि।
तासु तनय तजि दुसह दुख दैउ सहावइ काहि॥ २६२॥

* राजापुर, रा० गु० द्वि० आदिमें यही है। 'तापसतीछी, ताप सतीछी'—(रा० प०, भा० द०)

शब्दार्थ—**बेहू**=(सं० वेध) छेद, सूराख, छिद्र। **तामस**=तमोगुणयुक्त=क्रोध, गुस्सा=तमोगुण प्रकृतिवाले। **तीछी** (तिक्ष)=तीक्ष्ण, भीषण, तेज, प्रचण्ड, उग्र। अनहित शत्रु, बुराई चाहनेवाला।

अर्थ—फिर निषादका प्रेम देखनेपर भी वज्रसे भी कठोर हृदयमें छेद न हुआ। अर्थात् वह फट न गया॥ ६॥ अब यहाँ आकर सब आँखोंसे देखा। यह जड़ जीव जीते-जी सभी सहावेगा॥ ७॥ जिनको देखकर रास्तेकी तीक्ष्ण तामसी साँपिनें और बीछियाँ अपना कठिन विष एवं तीक्ष्ण तामसी प्रकृति त्याग देते हैं॥ ८॥ वे ही रघुनन्दन, लक्ष्मण, सीता जिसे शत्रु जान पड़े, उसके पुत्रको छोड़, दैव दुःसह दुःख और किसे सहावेगा?॥ २६२॥

नोट—१ ***'बहुरि निहारि निषाद सनेहू।'''''''*** 'इति। (क) एक तो वह हिंसा करनेवाला, अधम जाति इत्यादि, उसमें इतना प्रेम; और हम भाई होकर भी हमारी ऐसी दशा; दूसरे उसका ऐसा प्रेम कि आपके लिये प्राण देनेको तैयार हो गया था। ऐसा जान पड़ता है कि जब निषादराजने सबको इशारा दिया कि भरत शत्रु नहीं हैं, मित्र हैं, तभी उन्होंने जान लिया था कि ये सब लड़नेकी तैयारी कर चुके थे। उसी प्रेमका यहाँ इशारा है। (पां०, वै०, रा० प्र०) ऐसे जड़ जीवोंका श्रीरामपर यह प्रेम और उनसे हमारा माताद्वारा विरोध! यह विचार कर व्यथा बढ़ गयी।

(ख) उत्तरोत्तर अधिक व्यथा दिखाते जा रहे हैं। पहले अनर्थको सुन-समझकर ***'सब शूल सहे'*** फिर जब माता कौसल्याजीसे मुनिवेष आदि सुना—***'पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर'''''''*** ' (१६५)—तब ***'रहेउँ एहि घाएँ।'*** फिर निषादका प्रेम देखकर और अधिक वेदना हुई—***'कुलिस कठोर उर भयउ न बेहू।'***

नोट—२ ***'जिअत जीव जड़ सबइ सहाई।'*** भाव कि (क) जब वनवास सुना तभी मृत्यु होनी चाहिये थी। तब न हुई, अब आँखों देख लिया तो भी प्राण न निकले, शरीर बना ही है, सब सहकर भी जीता हूँ। (ख) जीते-जी ही यह जीव सब सहा रहा है। अर्थात् अबतक सुनते थे कि मरनेपर यमयातना आदि सहनी पड़ती हैं, पर हमें जीते ही सब क्लेश सहने पड़े। (ग) अब भी न मरा इससे जान पड़ता है कि अभी और सहना पड़ेगा। (घ)—इसीसे जीवको जड़ कहा, चेतन होता तो न सह सकता, शरीरसे निकल जाता। (पं०, पां०, वै०, रा० प्र०) (ङ) हम इस लायक न थे कि यह क्लेश सह लेते और न आगे सह सकेंगे—(पु० रा० कु०)

वि० त्रि०—गुरुजीने कहा था कि ***'पुरजन जननी भरत हित होइ सो कहिय उपाउ।'*** (२५७) उसी बातको भरतजी कहते हैं। ***'देखि न जाहिं बिकल महतारीं। जरहिं दुसह जर पुर नर नारीं॥ महीं सकल अनरथ कर मूला। सो सुनि समुझि सहिउँ सब सूला॥'*** भरतजी कहते हैं कि यहाँतक तो मैं सह गया, पर ***'सुनि बन गवन कीन्ह रघुनाथा। करि मुनि बेष लखन सिय साथा॥ बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाएँ।'***— यह दुःख असह्य हुआ। आज सब आँखों देख रहा हूँ। यह दुःख सर्वथा दुःसह है। मैं मर क्यों नहीं जाता, मैं जीता क्यों हूँ?

नोट—३ ***'जिन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछीं।'''''''*** 'इति। यहाँ कैकेयीके स्वभावके लिये उपमा दे रहे हैं इसीसे सर्पिणी और बीछी दोनों स्त्रीलिंगके ही उदाहरण दिये हैं। पुनः, सर्प और बिच्छूसे नागिन और बीछी अधिक विषैली और तामसी होती हैं इससे भी। ऐसे जीव भी अपना स्वभाव छोड़ देते हैं तब कैकेयी तो सदा साथ रही, मनुष्य है, उसको अपनी कुटिल बुद्धि अवश्य त्याग देनी थी, पर वह इनसे भी बुरी निकली। ***'तामस तीछी'*** अर्थात् दौड़कर खेदकर काटने, डंक मारनेवाली। वे भी रामको आते देख प्रेम करने लगते हैं और यह प्रेम करती थी सो उनको शत्रु समझने लगी। (पु० रा० कु०)

नोट—४ ***'सहावइ काहि'*** अर्थात् ऐसा दुःख सहनेका पात्र कहीं संसारमें और कोई दैवको मिला ही नहीं; और हो भी नहीं सकती क्योंकि ऐसी माता किसीकी भी न होगी जिसे राम अप्रिय लगते हों। मनुष्योंमें कौन कहे जड़ जीवोंमें ऐसा कोई नहीं। ***'सहावइ'*** से जनाया कि सहा नहीं जाता, जबरदस्ती सहाया जा रहा है।

वि० त्रि०—बेटेके दु:खसे माताको जो दु:ख होता है, वैसा अपने दु:खसे नहीं होता। अत: माताको घोर दण्ड देनेका उपाय बेटेको दु:ख देना है। भरतजी कहते हैं कि मेरी माता साँपिन और बीछीसे भी अधिक तामस तीछी हैं, उन्होंने (साँपिन बीछीने) तो रघुनन्दन, लक्ष्मण और जानकीजीको देखकर, उन्हें हित समझा, और मेरी माताने अनहित समझा। अत: उसे दण्ड देनेके लिये विधाता मुझे इतना दु:ख सहा रहे हैं, यही कारण मेरे प्राणके न जानेका है। नहीं तो वह ऐसे दु:खमें कभी न रहता।

नोट—५ इस प्रकरणभरमें भरतजीकी ग्लानि दिखायी है कि हमको जीवित न रहना था। गुरुने आज्ञा दी थी कि *'कृपासिंधु प्रिय बंधु सन कहहु हृदय कै बात।'* (२५९) भरतजीने यहाँतक अपने हृदयकी बात कही। ***'कहब मोर मुनिनाथ निबाहा। एहि तें अधिक कहौं मैं काहा॥'*** (२६०। ४) से २६२ तक, अपने हृदयका दु:ख निवेदन करके अपने क्लेशकी शान्ति चाहते हैं।

सुनि अति बिकल भरत बर बानी। आरति प्रीति बिनय नय सानी॥ १॥
सोक मगन सब सभा खभारू। मनहुँ कमलबन परेउ तुसारू॥ २॥
कहि अनेक बिधि कथा पुरानी। भरत प्रबोधु कीन्ह मुनि ग्यानी॥ ३॥
बोले उचित बचन रघुनंदू। दिनकर कुल कैरव बन चंदू॥ ४॥

शब्दार्थ—**खभार**=चिन्ता, व्याकुलता, घबड़ाहट।

अर्थ—दु:ख, प्रेम, विनय (विशेष नम्रता, दीनता, विनती) और नीतिमें सानी हुई (अर्थात् इनसे परिपूर्ण) और अत्यन्त व्याकुल-विह्वल श्रीभरतजीकी श्रेष्ठ वाणी सुनकर सब लोग शोकमें मग्न हो गये, सभामें खलबली पड़ गयी, मानो कमलके वनपर पाला पड़ा॥ १-२॥ तब ज्ञानी मुनि वसिष्ठजीने अनेक प्रकारकी पौराणिक एवं पुरानी कथाएँ कहकर भरतको समझाया॥ ३॥ तदनन्तर सूर्यकुलरूपी कुईंके वनके विकसित करनेवाले चन्द्र रघुनन्दन श्रीरामजी उचित वचन बोले॥ ४॥

नोट—१ *'आरति प्रीति बिनय नय सानी।'* वाणीमें चारों मिश्रित हैं। पंजाबीजी, बैजनाथजी आदिने पृथक् भी किये हैं।

टीकाकार — आरति — प्रीति — विनय — नय

पं० रा० कु० ***'देखि न जाहिं बिकल महतारीं भूपति मरन पेम पनु राखी गुरगोसाइँ साहिब 'फरइ कि कोदव****......* ***जरहि दुसह जर पुर नर नारीं बहुरि निहारि निषाद सनेहू****.......****परिनामू।'*** यह ***मुकुता प्रसव****.......'*

हितके लिये विनय है

पाँड़ेजी ***महीं सकल अनरथकर मूला। महूँ सनेह सकोचबस****.......* ,, , सम्पूर्ण

सो सुनि समुझि सहिउँ सब सूला भाषण नीति है।

पंजाबीजी ***'बिधि न सकेउ सहि'*** से ***'मोर 'बिनु समुझे निज अघ'*** से ***'भूपति मरन' बहुरि निहारि निषाद'*** *से* ***अभाग उदधि अवगाहू'*** तक ***'जानहिं मुनि रघुराउ'*** तक से ***'संकर साखि*** ***'दैउ सहावइ***

.......' तक ***काहि'*** तक

अज्ञात ***'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा' हृदय हेरि हारेउँ'*** से ***'भूपति मरन पेम****.......'* सम्पूर्ण भाषण

(रा० प्र० से) से ***'जारिउँ जाइ जननि कहि****.......'* तक। ***'जानहिं मुनि रघुराउ'*** तक से ***'संकर साखि****.......'* तक

वै० ***'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा', महूँ सनेह सकोच बस*** ***गुरगुसाइँ साहिब दैव सहावइ काहि***

'बिनु समुझे निज अघ परिपाकू' ***सिय रामू***

नोट—२ ***'मनहुँ कमलबन परेउ तुसारू।'*** (क) पाला पड़नेसे कमलका सिर नीचे लटक पड़ता है; वही दशा सब सभाकी हुई। (पाँ०) सभामें बहुत लोग हैं अत: वनकी उपमा दी। पाला पड़नेसे कमल जड़से फुनगीतक झुलस जाता है। सब कमलवत् प्रफुल्लित थे। (यह समझकर कि अब तो भरतजी लौटनेको कहेंगे, दूसरी बात ही न होगी) सो शोकमें डूब गये। पुन:, शोकमें मग्न होनेका कारण कि कदाचित् ऐसी व्याकुलतामें भरतजी प्राण न छोड़ दें। (पु० रा० कु०)

नोट—३ *'कहि अनेक बिधि कथा पुरानी""""ग्यानी'* इति। (क) प्राचीन कथाएँ उन लोगोंकी कहीं, जिन्होंने विपत्तिमें धैर्य धारण किया तो उनकी विपत्ति मिट गयी। जैसे नल, हरिश्चन्द्र आदिकी। प्रबोध किया अतएव 'ज्ञानी' विशेषण दिया, अर्थात् आत्मवित् हैं, हर्ष-शोकरहित हैं; इसीसे पूर्ण बोध कर दिया। अथवा, (ख) ज्ञानीका भाव यह कि ज्ञानकी कथाएँ कहकर प्रबोध किया। ज्ञानसे शोकका नाश होता है, यथा—*'होत बिरह बारिधि मगन चढ़े बिबेक जहाज।'* (२२०) अतः 'ज्ञानी' विशेषण दिया। (पु० रा० कु०)

☞ स्मरण रहे कि समझानेमें प्रायः ज्ञानी विशेषण दिया गया है, यथा—*'एहि बिधि बिलपत रैनि बिहानी॥ आए सकल महामुनि ज्ञानी। तब बसिष्ठ मुनि समय सम कहि अनेक इतिहास। सोक निवारेउ सबहि कर निज बिज्ञान प्रकास॥' (१५६), 'बैठन सबहिं कहेउ गुरु ज्ञानी। कहि जग गति मायिक मुनिनाथा॥ कहे कछुक परमारथ गाथा।""""मुनिबर बहुरि राम समुझाए।'* (२४६) इत्यादि।

वि० त्रि०—*'कहि अनेक बिधि""""ग्यानी'* इति। सब सभा शोकमग्न हो गयी, भरतको कौन समझावे। ज्ञानी मुनि वसिष्ठजी तब समझाने लगे—*'पूत प्रहलाद को न लाग्यौ पाप लेश पितु, पार करिबे को तासु भक्ति भई नैया सी। त्यौंहि पृथुराज को न लाग्यौ वेनु कृत पाप, प्रबल प्रताप पहुमी हू भई गैया सी। भगति बखानौं भूरि भायप बखानौं, तेरी बिरति बखानौं एक बात नहीं मैया सी। दुखित न होउ देखि दोष जननी को तुम, कीरति तुम्हारी जग जागत जुन्हैया सी॥'* (१)*'बिना पुण्य सुख होत नहिं, दुख न होत बिनु पाप। काहूहि दोष न दीजिये, समुझि मनहि मन आप॥ राम सच्चिदानन्दघन, तहाँ नहीं दुख लेस। ताते बहुत न कीजिए, हिय महँ व्यर्थ कलेस॥'*

नोट—४ यहाँ शोकमग्न तो सब हैं और समझाया केवल भरतजीको? क्योंकि सबसे अधिक व्याकुल ये ही हैं, इनकी दशा अकथनीय है। इस कारण श्रोताओंमें प्रधान इन्हींको रखा, इन्हींको सम्बोधन करके प्रबोध करना प्रारम्भ किया और सुनते तो सभी थे; प्रबोध भी सबको हुआ—(पं०)।

नोट—५ *'बोले उचित बचन रघुनंदू"""" '* इति। (क) भरतजीकी ग्लानि समझकर उसके मिटानेके लिये उसके योग्य वचन कहकर समझाया। सूर्यकुलपर कुईंके वनका आरोप किया, कुईंको चन्द्रमा विकसित कर देता है। अतः श्रीरामजीको चन्द्रमा कहा। आदिमें *'दिनकर कुल कैरवबन चंदू'* विशेषण देकर जना दिया कि यह भाषण इनका रघुकुलमात्रको प्रफुल्लित कर देगा और हुआ भी ऐसा। यहाँ उपक्रममें *'बोले उचित बचन रघुनंदू।"""" '* और उपसंहारमें *'सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाज।'* (२६४) समाजभर शोकमें मग्न है, सभी सुखी हो गये। (ख) यहाँ दिनकरकुलसे और रघुनाथजीसे पृथक्ता दिखायी। भाव यह कि रघुनाथजी वनमें रहेंगे और दिनकरकुलवाले अवधमें रहेंगे। चौपाईमें भी पृथक्ता दिखायी—'रघुनन्दू' एक चरणमें और दिनकरकुल दूसरेमें रखा। (पु० रा० कु०)

तात जाँय जिय करहु गलानी। ईस अधीन जीव गति जानी॥ ५॥
तीनि काल त्रिभुअन मत मोरें। पुन्यसिलोक तात तर तोरें॥ ६॥
उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोक परलोकु नसाई॥ ७॥
दोसु देहिं जननिहिं जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥ ८॥

दो०—मिटिहहि पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नाम तुम्हार॥ २६३॥

शब्दार्थ—**पुन्यसिलोक**=जिसका सुन्दर चरित्र या यश हो। पवित्र चरित्र या आचरणवाला, पुण्यात्मा, जिसका जीवन-वृत्तान्त पवित्र और शिक्षादायक हो। '**सिलोक**' (श्लोक)=कीर्ति, यश। **तर**=तले, नीचे। **अधीन**=वशमें, अधिकारमें।

अर्थ—हे तात! जीवकी गति (चाल) ईश्वरके[१] अधीन जानो। तुम व्यर्थ ही अपने हृदयमें ग्लानि करते हो॥ ५॥ मेरे मत-(विचार-) से तो तीनों कालों और तीनों लोकोंके पुण्यात्मा[२] तुम्हारे नीचे हैं। अर्थात् तुम्हारा-सा पवित्र-चरित्रवाला न हुआ, न है, न होगा॥ ६॥ हृदयमें भी तुमपर कुटिलता लाते ही (आरोपण करते ही बना-बनाया) लोक बिगड़ जाता है और (आगे) परलोकका सत्यानाश होता है॥ ७॥ जो माताको दोष देते हैं वे जड़ हैं, उन्होंने गुरु और साधुसमाजका सेवन नहीं किया॥ ८॥ तुम्हारा नाम स्मरण करते ही समस्त पाप, प्रपंच (मायाजाल, संसार) और सम्पूर्ण अमंगल-समूह मिट जायँगे, लोकमें सुयश और परलोकमें सुख प्राप्त होगा॥ २६३॥

नोट—१ *'ईस अधीन जीव गति जानी।'* पु० रा० कु०—*'देखि न जाहिं बिकल महतारीं। जरहिं बिषम जर पुर नर नारीं॥'* का उत्तर है। इनके लिये शोक करना व्यर्थ है क्योंकि दैवाधीन हैं, कर्मानुसार दुःख सहा ही चाहें। भाव कि कर्मफल-भोगोंके अतिरिक्त दैवका ज्ञान नहीं होता। सुख, दुःख, भय, क्रोध, लाभ, हानि, उत्पत्ति, विनाश तथा इस प्रकारके और भी अज्ञातहेतुक जो कुछ होते हैं वे दैवके कार्य हैं।— **'सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ। यस्य किंचित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्॥'** (वाल्मी० २। २२। २२) मनुष्य असमर्थ है, भाग्य ही उसे इधरसे उधर खींचा करता है, यह सब अपनी इच्छाकी बात नहीं है। यथा— **'नात्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरः। इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति॥'** (वाल्मी० २। १०५। १५)

नोट—२ *'जाइ लोक परलोकु नसाई'* इति। *'जाइ नसाई'* =*'नसाय जाइ'* =नाश वा नष्ट हो जाता है। दोनों मिलकर एक शब्द होते हैं। दूसरे, दो क्रियाएँ भी इनको पृथक्-पृथक् मान सकते हैं—'जाइ' और 'नसाई'। 'व्यर्थ जाता है, बिगड़ जाता है' और 'नष्ट हो जायगा या नष्ट हो जाता है। दोनों तरहका प्रयोग ग्रन्थमें हुआ है। लोकसुयश जाता रहता है और (मरनेपर) परलोकमें सुख न प्राप्त होगा। कुछ लोग 'जाइ' (=व्यर्थ) को प्रथमचरणके साथ लेकर अर्थ करते हैं—*'जो कोई व्यर्थ तुमपर कुटिलता……।'* (ख) *'उर आनत'* अर्थात् यह फल हृदयमें लानेका है और जो कहेंगे उनकी गति कौन जाने! (रा० प्र०)

नोट—३ *'दोसु देहिं जननिहिं जड़ तेई।……'* इति।—यह भरतजीके *'फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकुता प्रसव कि संबुक काली॥'* इन वचनोंका उत्तर है। गुरु-साधु-सत्संगसे शीलकी प्राप्ति होती है, उससे बोध होता है कि जीवका कोई दोष नहीं, वह तो पराधीन है। पुनः साधुसेवनसे दूसरेके अवगुणमें भी गुण ही देख पड़ता है, यथा—*'अवगुन तजि सब के गुन गहहीं।'* (१३१। १) जैसे श्रीरामजी कैकेयीको बड़ी परोपकारिणी मानते हैं कि इतना बड़ा कलंक अपने माथेपर लेकर त्रैलोक्यका उसने भला किया—यह गुरुसाधुसभासेवनका फल प्रत्यक्ष दिखाते हैं। (रा० प्र०) (ख) कैकेयीका दोष सब कहते आये। भरत, वसिष्ठ, पुरवासी आदि किसीने भी छोड़ा नहीं, परंतु रामद्वारा उसकी निर्दोषिता ग्रन्थकारने यहाँ गाकर, उससे श्रीरामचन्द्रजीकी सर्वोपरि जानकारी सूचित की; यथा—*'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥'*

नोट—४ *'मिटिहहि पाप प्रपंच सब……'* इति। ऊपर दो अर्धालियोंमेंसे एकमें भरतजीको और दूसरेमें कैकेयीको निर्दोष करार दिया। पर भरतजीपर भी बहुतोंने कुटिलताका आरोप किया था और कैकेयीको तो किसीने न छोड़ा था, और यहाँ प्रभुने कहा है कि इसका फल *'लोक जाइ परलोक नसाई'* *'जड़ तेई……'* है। इससे सबके हृदय अवश्य शंकित हुए होंगे; इस विचारसे एवं भरतजीकी निर्दोषता और भी निस्सन्देह स्थापित करनेके लिये कहते हैं कि *'मिटिहहिं……'* यह मानो सबके उद्धारके लिये प्रायश्चित्त मन्त्रका उपदेश है। जो तुम्हारा नाम स्मरण करेंगे उनके सब पाप-प्रपंच आदि मिट जायँगे, इस कथनका भाव यह है जिसके नामका यह फल है, वह स्वयं कब पापात्मा हो सकता है। यह *'बिनु समुझे निज अघ परिपाकू। मोर अभाग उदधि अवगाहू॥'* इत्यादिका उत्तर है। और *'मिटिहहि'* से यह आशीर्वादरूप प्रसाद भरतजीको दिया गया।

१-भरतजी तो आपको ही ईश मानते हैं। अतः उनको इससे यह समझाया कि यह हमारी ही इच्छा थी।

२-यथा—पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः। पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः॥' (अज्ञात)

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥ १॥
तात कुतरक करहु जनि जाएँ। बैर पेम नहिं दुरइ दुराएँ॥ २॥
मुनिगन निकट बिहग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं॥ ३॥
हित अनहित पसु पच्छिउ जाना। मानुष तनु गुन ग्यान निधाना॥ ४॥

शब्दार्थ—**बाधक**=बाधा डालनेवाले, दु:खदायी, हानि पहुँचानेवाले। **बधिक**=वध करनेवाले, प्राण लेनेवाला, बहेलिया, व्याधा।

अर्थ—हे भरत! मैं स्वभावसे ही सत्य कहता हूँ, शिवजी साक्षी हैं कि यह पृथ्वी तुम्हारे ही रखनेसे रह सकती है॥ १॥ हे तात! व्यर्थ कुतर्क (बुरी तर्कनाएँ) मत करो। वैर और प्रेम छिपाये नहीं छिपते*॥ २॥ मुनियोंके पास पक्षी और पशु जाते हैं, बाधा करनेवालों और मारनेवालोंको देखकर ही भाग जाते हैं॥ ३॥ पशु-पक्षी भी मित्र और शत्रुको पहचानते हैं फिर मनुष्य-शरीर तो गुण और ज्ञानका खजाना ही है॥ ४॥

नोट—१ ***'कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी।……'*** इति। जैसे गुरुजीने कहा था कि ***'जो कीजिय सो सुभ सिव साखी'*** (२५८), और भरतजीने कि ***'संकरु साखि रहेउँ एहि घायें',*** वैसे ही यहाँ रघुनाथजी कहते हैं—***'कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी।'*** तीनोंने सत्यताको प्रमाणित करनेके लिये शंकरजीकी ही शपथ की है।

पं० वि० त्रिपाठी—सरकार कहते हैं कि यदि तुम ऐसा बरताव न करते तो स्वार्थसे अन्धी होकर सारी दुनिया नष्ट हो जाती। संसारके सामने बड़ा भयंकर आदर्श खड़ा हो जाता। **'राज्ञि धर्मिणि धर्मज्ञाः पापे पापाः समे समाः। राजानमनुवर्त्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा॥'** राजाके धर्मज्ञ होनेसे प्रजा भी धर्मात्मा होती है, राजाके पापी होनेसे प्रजा पापी हो जाती है, प्रजा राजाके ही रास्तेपर चलती है, जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा हो जाती है। लोग समझने लगते कि अर्थ ही सब कुछ है, धर्म कुछ नहीं है, पर धर्मसे ही प्रजाका कल्याण होता है। अधर्मसे निश्चय विनाश होता है। अत: धर्म और प्रेमका आदर्श खड़ा करके तुमने संसारकी रक्षा कर ली।

नोट—२ ***'भरत भूमि रह राउरि राखी'*** इति। (क) श्रीरघुनाथजी इन शब्दोंसे उनको यह जना रहे हैं कि पृथ्वीकी रक्षा तुम्हारे ही हाथ है; क्योंकि हम वचन दे चुके हैं कि तुम जो कहो मैं वही करूँगा। यदि मैं वनको न गया तो पृथ्वीका भार न उतरेगा। दूसरा अर्थ यह है कि बिना तुम्हारे पृथ्वी रह नहीं सकती, क्योंकि तुम उसके भरण-पोषण करनेवाले हो, यथा—***'बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥'*** (१। १९७। ७), (पाँ०)

पु० रा० कु०—भरतजीने अवधदरबारमें कहा था कि ***'मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं॥'*** (१७९। २) यहाँ रघुनाथजी उसका निषेध करते हैं—(स्मरण रहे कि भरतजी अन्तर्यामी विशेषण प्रभुको देते आये हैं)—कि वह बात नहीं है, पृथ्वी तुम्हारे ही रखनेसे रह सकती है, यह सत्य कहता हूँ। भाव कि राजाका वचन तुम्हारे ही रखनेसे रह सकता है; देव, ऋषि, मुनि आदिका क्लेश तुम्हारे ही छुड़ाये छूटेगा। भाव कि तुम्हारे ही धर्मसे पृथ्वी थँमी है। राजा धर्मात्मा होना चाहिये—***'चाहिय धरमशील नरनाहू'*** और तुम 'धर्मधुरन्धर' हो। ☞ स्मरण रहे कि प्रभुने जो भरतजीके लिये अपनी प्रतिज्ञा छोड़ी वह यही जानकर कि ये धर्मधुरन्धर हैं, यथा—***'भरतहि धरमधुरंधर जानी। निज सेवक तन मानस बानी॥'*** उन्हीं विचारोंको लिये हुए ये वचन प्रभु कह रहे हैं।

---

* यथा—'विमलं कलुषीभवच्च चेतो निगदत्येव हितैषिणं रिपुश्च'—(र० ब०)। बिहारीजीके दोहे देखिये, यथा—'रस कैसे रुख शशिमुखी हँसि हँसि बोलत बैन। मूढ़ मान मन क्यों दुरै भये बूढ़ रँग नैन॥' (बैर)। 'कोटि जतन कीजे तऊ नागरि नेह दुरै न। कहे देत चित चीकनी नई रुखाई नैन'—(प्रेम)—(वि० टी०)।

नोट—३ *'बैर पेम नहिं दुरइ दुराएँ'*— निषादराजने भी कहा है—*'बैर प्रीति नहिं दुरइ दुराए।'* (१९३। १)।

नोट—४ *'मुनिगन निकट बिहग मृग जाहीं।.......मानुष तनु.......'* इति। (क) जो कहा कि *'बैर पेम नहिं दुरइ दुराएँ'* उसको कैमुतिकन्यायसे सिद्ध कर रहे हैं। इस तरह कि पशु-पक्षियोंमें ज्ञान नहीं होता, पर वे भी पहचान लेते हैं कि कौन शत्रु है, कौन हित। हित जानकर पास जाते हैं। शत्रु-(व्याधा आदि-) को दूरसे देखकर भागते हैं और मनुष्य-देह (योनि) तो गुणज्ञानकी खानि है, मनुष्य गुणज्ञानका खजाना है फिर वैर और प्रेम इससे कब छिप सकता है। भरतजीने जो कहा था कि *'प्रेम प्रपंच कि झूठ फुर जानहिं मुनि रघुराउ',* उसका यह उत्तर है। उन्होंने कहा—*'जानहिं मुनि रघुराउ'* उसीकी जोड़में यह वचन आगे है कि *'तात तुम्हहि मइँ जानउँ नीकें।—'निज हित अनहित पसु पहिचाना।'* (१९। ३) देखिये। (ख) भाव यह कि पशु-पक्षीसे भी हम गये-गुजरे नहीं हैं, प्रेम न होता तो हम भी क्यों यहाँ बने रहते, तुम्हारा आगमन सुनकर कहीं और चले न जाते (पु० रा० कु०)।

श्रीनंगे परमहंसजी—श्रीचित्रकूटमें जब भरतजीने श्रीरामजीसे अपनी सफाई ग्लानिसहित दी तब श्रीरामजीने भी श्रीजानकीजीसहित अपनी सफाई दी और कहा, *'तात कुतरक.......निधाना।'* यहाँ अपनी और श्रीजानकीजी दोनोंकी सफाई देते हैं, इससे विहंग और मृग दो उदाहरण दिये। पक्षीकी उपमा श्रीसीताजीके लिये है और मृगकी श्रीरामजीके लिये। केवल एक उदाहरण मृगका देनेसे अकेले श्रीरामजीको जाननेका बोध हो जाता, इसलिये दो उदाहरण देकर जनाया कि श्रीजानकीजी भी यह जानती हैं कि आप (भरत) हमलोगोंके हित हैं।

नोट—५ *'मानुष तनु गुन ग्यान निधाना'*— भाव कि हम तो मनुष्य हैं, हम तुमको क्यों न पहचानें। हम तुमको भलीभाँति पहचानते हैं। तुमको हमारे सामने न तो सफाई देनेकी जरूरत है न ग्लानि करनेकी ही।

तात तुम्हहि मइँ जानउँ नीकें। करउँ काह असमंजस जी कें॥ ५॥
राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पनु लागी॥ ६॥
तासु बचन मेंटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥ ७॥
ता पर गुर मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा॥ ८॥

दो०—मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥ २६४॥

अर्थ—हे तात! मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ। क्या करूँ, जीमें बड़ा असमंजस हो रहा है॥ ५॥ राजाने मुझे त्यागकर सत्यको रखा और प्रेमपनके रखनेके लिये शरीर छोड़ दिया॥ ६॥ उनका वचन मिटाते मनमें सोच होता है, उससे भी बढ़कर तुम्हारा संकोच (मुलाहजा) है॥ ७॥ उसपर भी गुरुने मुझे आज्ञा दी है, अत: अवश्य ही वही करना चाहता हूँ जो तुम कहो॥ ८॥ मन प्रसन्न करके, संकोच छोड़कर कहो, मैं आज वही करूँ। सत्यप्रतिज्ञ रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीके वचन सुनकर समाज सुखी हुआ॥ २६४॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०— *'तात तुम्हहि मइँ जानउँ नीकें'* इति। भरतजीके *'जानहिं रघुराउ'* का उत्तर है—*'मइँ जानउँ नीकें',* अर्थात् भलीभाँति जानता हूँ। क्या जानते हैं यह पूर्व लक्ष्मणजीसे कहा है—*'सुनहु लषन भल भरत सरीसा।.......'* (२३१। ८) से *'निज जस जगत कीन्ह उँजियारी।'* (२३२। ७) तक। इसीपर देवताओंने कहा कि *'कबिकुल अगम भरत गुन गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा।'* (२३३। २)

टिप्पणी—२ *'करउँ काह असमंजस जी कें'* इति। अर्थात् तुम्हारे प्रेमको मैं खूब जानता हूँ, इसीसे मैं बड़ी दुविधामें पड़ रहा हूँ कि क्या करूँ। असमंजसका स्वरूप तीन अर्धालियोंमें है। मैं उनको प्राणप्रिय था तो भी मेरा त्याग स्वीकार किया, सत्यका त्याग न किया, कैकेयीसे न कहा कि हम यह वर न देंगे, वचन दे दिया तो क्या? पिताको वचन हमसे अधिक प्रिय था। फिर हमारे प्रेमका भी निर्वाह किया

कि राम हमको प्राणप्रिय हैं, इनका त्याग करके प्राण रखें तो यह भी अनुचित है, ऐसा समझ प्राणोंसे भी अधिक हमारे प्रेमको मानकर प्राणोंका त्याग किया। ऐसे पिताके वचन मिटानेमें शोक और संकोच होता है [संकोचके भाव गीतावलीमें कविने खूब दिये हैं—*'ताते बिचारौ धौं हौं क्यों आवों। तुम सुचि सुहृद सुजान सकल बिधि बहुत कहा कहि कहि समुझाओं॥ निज कर खाल खैंचि या तनकी जो पितु पग पानहीं करावों। होहुँ न उरिन पिता दसरथसे कैसे ताके बचन मेटि पति पावों॥ तुलसिदास जाको सुजस तिहुँ पुर क्यों तेहि कुलहि कालिमा लावों। प्रभु रुख निरखि निरास भरत भये जान्यो है सबहिं भाँति बिधि बावों॥'* (२)] और दूसरी ओर तुम्हें देखकर तुम्हारा संकोच हो रहा है कि तुम्हारे प्रेमको कैसे तोड़ूँ, तुम्हारा कहना क्योंकर न करूँ। [अधिक संकोच क्यों? यह प्रश्न उठाकर उसका समाधान कई प्रकार लोगोंने किया है, (क) पिता परोक्ष हैं और भ्राता सम्मुख है। पर उत्तम पुरुषोंको परोक्ष और सम्मुखका विचार न करके धर्मका ही विचार रखना चाहिये अतः दूसरा समाधान यह है कि (ख)—पिताने पूर्णावस्था पाकर बुढ़ापेमें पुत्रप्रेममें प्राण दे दिये और भरतजीने युवावस्थामें भ्रातृप्रेमसे राज्य और भूषण आदिका भी त्याग किया। इसमें शंका होती है कि प्राण-त्यागसे राज्यत्याग कैसे अधिक हुआ? यह देखनेमें आता है कि कितने ही राज्य आदिके लिये प्राण दे देते हैं पर राज्य क्या थोड़ा-सा धन भी देनेको स्वीकार नहीं करते। जैसा बलिने कहा है—'**सुलभा युधि विप्रर्षे ह्यनिवृत्तास्तनुत्यजः। न तथा तीर्थ आयाते श्रद्धया ये धनत्यजः॥** (भा० ८। २०। ९)।' अर्थात् प्रतियोद्धाकी प्रार्थनाके अनुसार युद्धमें देहत्याग करनेवाले वीर पुरुष सुलभ हैं; किंतु सत्पात्रके उपस्थित होनेपर भी उसको श्रद्धापूर्वक उसका माँगा हुआ धन देनेवाले दानवीर पुरुष बहुत दुर्लभ हैं। (ग)—राजाने लोक-धर्म और लोक-लज्जाको प्रधान करके श्रीरघुनाथजीका त्याग किया और भरतजीने भ्राता आदिको छोड़ा (माता, पिता, गुरु, मन्त्री आदिके वचनोंका त्याग किया) लोकधर्मका त्यागकर रामजीके प्रेमको प्रधान रखा। उन्होंने साधारण धर्म रखा और भरतने अनन्य भागवत परमधर्म रख सबको तिलांजलि दी—'**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**'— (गीता)।* (घ)—राजाने मरनेपर राज्य त्याग किया (जीतेमें भी युवराज्य ही देते थे); भरतजीने प्राप्त होनेपर भी त्याग कर दिया। (रा० प्र०)]

वेदान्तभूषणजी—कोई-कोई *'राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी।'* और *'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥'* इन वाक्योंको लेकर कहते हैं कि 'राजाका प्रेम वचन-पालनपर ही जान पड़ता है, रामपर नहीं। यदि श्रीरामपर सत्य-प्रेम होता तो वे उनको वन न जाने देते।'

अनन्तकालसे शपथको बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है यदि कोई किसी कार्यके लिये किसी देवी-देवताकी शपथ खाये और फिर उस कार्यको पूरा न करे तो देवी-देवता उसका अनिष्ट करते हैं। इसी तरह यदि कोई अपनी या अपने किसी प्रियकी शपथ करके फिर वचनको पूरा न करे तो उस शपथ करनेवाले या उस प्रियके (जिसकी शपथ की गयी है) धर्म, तेज, आयु और बल आदिकी क्षीणता होती है। इसीसे कहा है *'साँचेहु सपथ अघाइ अकाजू'* इस शपथके तथ्यको मन्थरा खूब जानती थी। उसे निश्चय था कि राजाको रामप्रेमके आगे प्राण भी तुच्छ हैं। इसीसे उसने कैकेयीको समझाया था कि *'भूपति रामसपथ जब करई। तब मागेहु जेहि बचन न टरई॥'* इसमें आशय यह था कि राम-शपथ करनेके पश्चात् यदि राजा वचनसे टलते हैं तो प्राणप्रिय पुत्रकी आयु, तेज, धर्म, बल आदिकी क्षीणता होगी, जिसे राजा कभी सहन नहीं कर सकते। वे तो सदा वही करते थे जिससे 'राम' का मंगल—कल्याण हो, यथा—*'बिप्र साधु सुर पूजत राजा। करत राम हित मंगल काजा॥'*

उन्होंने *'भामिनि रामसपथ सत मोही'* कहकर *'बिहँसि माँगु मन भावति बाता'* कहा था। इस रामशपथके कारण ही राजाने एक बार भी स्पष्ट शब्दोंमें न कहा कि श्रीरामचन्द्रजी वनको न जायँ, यद्यपि अन्य बहुत-से उपाय किये कि श्रीरामजी रह जायँ। शापथिक बातके अन्यथा होनेसे श्रीरामजीका अनिष्ट होता, इसीसे

---

* वै०—पुनः यथा—'लौकिका वैदिका धर्मा उक्ता ये गृहवासिनाम्। त्यागस्तेषां तु पातित्यं सिद्धौ कामविरोधिता॥'—(शिवसंहिता), 'अन्ये विहाय सकलं सदसच्च कार्यं श्रीरामपंकजपदं सततं स्मरन्ति'—(महारामायणे)।

राजाने श्रीरामजीको वन जानेसे नहीं रोका। श्रीरामजीमें उनका सत्य प्रेम था इसीसे वे उनको वन जानेसे न रोक सके। राजाकी तो बात ही क्या, कोई भी अपने प्रेमपात्रका किंचिन्मात्र अनिष्ट नहीं चाहता; तब राजा अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय पुत्रका अनिष्ट कैसे चाहते!!

टिप्पणी—३ पु० रा० कु०— ***'मनु प्रसन्न करि'''''''*** 'इति। तुम्हारा संकोच अधिक है। तुम्हारा समाधान भी कर देता। पर गुरुजीने आज्ञा दी है, इससे तुम्हारी बातको हम टाल नहीं सकेंगे, जो कहोगे उसमें यदि हम कुछ आनाकानी करें, आगा-पीछा सोचें तो गुरुकी अवज्ञा हो जायगी। इससे हम तुम्हारा कहना अवश्य करेंगे। तुम निस्सन्देह होकर कहो।

टिप्पणी—४ (क) ***'मनु प्रसन्न करि'*** अर्थात् माताकी करनीके कारण मनमें जो ग्लानि हो रही है उसको दूर कर दो; क्योंकि वह निर्दोष है। ग्लानि दूर होनेसे मन प्रसन्न हो जायगा। दूसरे, जो तुम कहो वही मैं करनेको तैयार हूँ अतः प्रसन्न होना चाहिये। (ख) ***'सकुच तजि'*** इति। संकोच यह कि हम छोटे होकर बड़ेको कैसे आज्ञा दें। भरतजीने कहा था कि ***'महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कहे न बैन';*** इन्हीं वचनोंको लक्ष्य करते हुए यहाँ प्रभु कहते हैं कि ***'सकुच तजि कहहु।'*** 'आजु' अर्थात् अवधि बीतनेपर नहीं, न कुछ दिन पीछे, तुरंत ही करूँगा। यह भी विश्वास दिलानेके लिये है। इसी प्रकार दशरथजी महाराजने कैकेयीसे कहा था—***'मागु माथ अबहीं देउँ तोही।'*** (३४।७)।

टिप्पणी—५ ***'सत्यसंध रघुबर बचन'''''''*** 'इति। '**रामो द्विर्नाभिभाषते**', राम दो वचन नहीं कहते। जो कहें वही करें, उसे कभी नहीं पलटते। इसीसे सब समाज प्रसन्न हुआ कि भरत तो लौटाने आये ही हैं, अब रामजी अवश्य अवध चलेंगे। यह बात समझकर इन्द्र आदि देवता डरे।

नोट—धनंजयसंहितामें भी ऐसा ही कहा है—(रा० ब०)

श्रीरघुनाथजीका प्रथम दरबार भाषण समाप्त हुआ।

'श्रीरामचरितमानसके दशरथजी महाराज'

मा० हं०—सभी कवियोंने चक्रवर्त्ती महाराजको कभी अधिक प्रमाणसे स्त्री-लम्पट कहा है। इतना ही नहीं वरन् इस एक स्त्री-लम्पटताके कारण इस पात्रका विपर्यास किया जाता है जो सर्वथा अनुचित है। क्योंकि कैकेयीकी वरयाचना उनके कानपर पड़ते ही स्त्री-लम्पटताका उनमें नाम-निशानतक न रहा और बादमें उन्हें उसका स्पर्शतक नहीं हुआ।

स्त्री-लम्पटतासे मुक्त होनेपर 'सत्य-प्रेम' और 'पुत्र-प्रेम' इन दो विचारोंका जो प्रीतिषडाष्टक है वही गोसाईंजीके दशरथजी हैं—

पदार्थमें जिस गुणका सर्वातिरिक्त उत्कर्ष होता है वही उसकी विशेषता समझी जाती है। यह विशेषता बहुधा प्रमुखतासे एक ही गुणकी हुआ करती है। उसमें और दूसरे गुणोंकी जो उच्चता दिखायी देती है वह तत्त्वतः पूर्वोक्त विशेषताकी ही आनुषंगिक होती है।

अध्यात्म अथवा वाल्मीकिरामायणमें दशरथजीके सत्य-प्रेमकी अपेक्षा पुत्र-प्रेम ही विशेष प्रबल दिखलायी देता है। इस कारण उनके दशरथजीकी विशेषता पुत्र-प्रेम ही कही जायगी। स्वामीजीके दशरथजीका चरित्र बिलकुल ही भिन्न है। उन्होंने उन्हें इस प्रकार चित्रित किया है—***'बंदउँ अवध भुआल सत्यप्रेम जेहि राम पद। बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥'*** इसमें हमें स्वामीजीका यह अर्थ दीखता है—'सत्य और रामपनमें (समान) प्रेम होनेके कारण रामवियोग होते ही''''''।' स्वामीजीके इस चित्रणमें सत्य-प्रेम और पुत्र-प्रेम दोनों उत्कर्ष दशरथजीके देहावसानके लिये समानतासे कारणीभूत हुए ऐसा गोसाँईजीका आशय स्पष्टतासे दिखायी देता है। अतएव उनके दशरथजीमें 'सत्य-प्रेम' और 'पुत्र-प्रेम' की दो विशेषताएँ मानना अपरिहार्य होता है। इन दो विशेषताओंके कारण उनके दशरथजीको कल्पनातीत महत्त्व प्राप्त होकर उनका चरित्र आदर्शभूत हुआ है। इस मतकी सत्यताका निदर्शन यहींसे प्रारम्भ होता है।

अध्यात्ममें दशरथजीकी पश्चात्तापकी यह उक्ति है कि वे रामजीसे कहते हैं कि हमें कैदकर तुम

राज्य करो, तुम्हें पितृ-आज्ञा-भंगका पाप न होगा और हम असत्यभाषणके पापसे भी बच जायँगे और लगभग वाल्मीकिजीके दशरथजी भी इन दशरथजीकी ही एक दूसरी प्रति हैं (अध्यात्म० सर्ग ३, श्लो० ६९; वाल्मी० सर्ग ३४, श्लो० २६)। इन दोनों दशरथोंका सूक्ष्म निरीक्षण करनेपर दीख पड़ेगा कि उनका सत्यप्रेम, पुत्रप्रेमके सामने बिलकुल ही लज्जित हो गया; अतएव उनकी धर्मनिष्ठा धूर्ततासे कलंकित हो गयी। गोस्वामीजीको ऐसे विरूप दशरथजी नहीं भाये और इसीसे उनको वे (दशरथ) असह्य हुए। लोकशिक्षाकी दृष्टिसे उनको *'प्रान जाइ बरु बचन न जाई'* ऐसे दशरथजीकी आवश्यकता थी। इसलिये उन दोनों दशरथोंमेंका पश्चात्तापसे पूर्ण भरा हुआ केवल हृदय ही लेकर, उसे उन्होंने असामान्य और लोकमान्य स्वरूपमें ला रखा। उनके वे दशरथजी ये हैं—

'सुनि सनेह बस उठि नरनाहा। बैठारे रघुपति गहि बाँहा॥'

'सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं' .... 'बहुत उपाय किए छल त्यागी॥'

अब कोई भी देख लेवे कि इन तीनों दशरथोंमेंसे गोस्वामीजीके दशरथजीमें मनलज्जा, जनलज्जा, सत्यप्रियता, पिता-पुत्रकी मर्यादा, राम-सम्बन्धी आदर और प्रेम, कैकेयीके चिढ़ जानेका भय आदिके भाव कैसे मनोहर और मार्मिक रीतिसे दिखलाये गये हैं। लोकशिक्षाका तत्त्व यहाँ ओत-प्रोत भरा हुआ एकदम नजरमें आ जाता है। निरीक्षण और वर्णनकी गोसाईंजीकी यही खूबी है।

शील-निरूपण-चरित्र-चित्रण (आत्मपक्ष और लोकपक्षका समन्वय)

पं० रामचन्द्र शुक्ल—'सत्य और प्रेमके विरोधमें दोनोंकी एक साथ रक्षा करनेवाले यशस्वी महाराज दशरथ हैं। ये रामको वनवास देनेमें सत्यकी रक्षा और प्रतिज्ञाका पालन हृदयपर पत्थर रखकर उमड़ते हुए स्नेह और वात्सल्यभावको दबाकर—करते हुए पाये जाते हैं। इसके उपरान्त हम उन्हें स्नेहके निर्वाहमें तत्पर और प्रेमकी पराकाष्ठाको पहुँचे हुए पाते हैं। सत्यकी रक्षा उन्होंने प्रिय पुत्रको वनवास देकर और स्नेहकी रक्षा प्राण देकर की। यही उनके चरित्रकी विशेषता है—यही उनके जीवनका महत्त्व है। नियम और शील धर्मके दो अंग हैं। नियमका सम्बन्ध विवेकसे है और शीलका हृदयसे। सत्य बोलना, प्रतिज्ञाका पालन करना नियमके अन्तर्गत हैं। दया, क्षमा, वात्सल्य, कृतज्ञता आदि शीलके अन्तर्गत हैं। नियमके लिये आचरण ही देखा जाता है, हृदयका भाव नहीं देखा जाता। पर शीलके लिये सात्त्विक हृदय चाहिये। कभी-कभी ऐसी विकट स्थिति आ पड़ती है कि एकको राह देनेसे दूसरेका उल्लंघन अनिवार्य हो जाता है। एक निरपराधको फाँसी हुआ चाहती है। हम देख रहे हैं कि थोड़ा-सा झूठ बोलनेसे उसकी रक्षा हो सकती है। अत: एक ओर तो दया हमें झूठ बोलनेकी प्रेरणा कर रही है, दूसरी ओर नियम हमें ऐसा करनेसे रोक रहा है। इतने भारी शीलसाधनके सामने तो हमें अवश्य नियम शिथिल कर देना पड़ता है।

दशरथजीके सामने दोनों पक्ष प्राय: समान थे—एक ओर तो सत्यकी रक्षा; दूसरी ओर प्राणसे भी अधिक प्रिय पुत्रका स्नेह। पर पुत्र-वियोगका दु:ख दशरथजीके ही ऊपर पड़नेवाला था। (कौसल्याके दु:खको भी परिजनका दु:ख समझकर दशरथका ही दु:ख समझिये।) इससे अपने ऊपर पड़नेवाले दु:खके डरसे सत्यका त्याग उनसे न करते बना। उन्होंने सत्यकी रक्षा की, फिर अपने ऊपर पड़नेवाले दु:खकी परमावस्थाको पहुँचकर स्नेहकी भी रक्षा की। इस प्रकार सत्य और स्नेह, नियम और शील दोनोंकी रक्षा हो गयी। रामचन्द्रजी भरतजीको समझाते हुए इस विषयको स्पष्ट करके कहते हैं—

'राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेमपनु लागी॥'

शील और नियम, आत्मपक्ष और लोकपक्षके समन्वयद्वारा धर्मकी यही सर्वतोमुख रक्षा रामायणका गूढ़ रहस्य है। वह धर्मके किसी अंगको नोचकर दिखानेवाला ग्रन्थ नहीं है। यह देखकर बारम्बार प्रसन्नता होती है कि आर्यधर्मका यह सार सम्पुट हिंदी कवियोंमेंसे एक ऐसे महात्माके हाथमें पड़ा जिसमें उसके उद्घाटनकी सामर्थ्य थी। देखिये, किस प्रकार उन्होंने रामके मुखसे उपर्युक्त विवेचनका सार चौपायीके दो चरणोंमें ही कहला दिया (ना० प्र०)।

गौड़जी—मानसमें राजा दशरथका सच्चा चित्र खींचा गया है। उनका चरित जैसा इसमें ध्वनित है उसका प्रमाण 'रामलला नहछू' और 'गीतावली' से मिलता है। सात सौ रानियोंका होना स्त्रैण होना सिद्ध करता ही है। परंतु इस स्त्रैण होनेके साथ ही 'पुत्र-कामना ही प्रधानतया कैकेयीसे विवाहका कारण है। उन्हें कैकेयीके राजी न होनेकी शंका पहलेसे जरूर थी और वह अन्तिम रात्रिमें कैकेयीको प्रसन्न करके शुभ संवाद सुनाने ही गये थे। दृश्यका पूर्वरंग तो *'काम प्रताप बड़ाई'* ही है। हाँ, वर माँगते ही स्त्रैणता लुप्त हो गयी। यह भी स्वाभाविक ही है। कितना ही कामी क्यों न हो, ऐसे भयानक परिणामको सोचकर भय, करुणा आदि भावोंकी प्रबलता अवश्य होगी। *'कवने अवसर का भयउ'* इसका उनके मन और शरीरपर वह गहरा धक्का लगा कि उनका बूढ़ा शरीर नितान्त अशक्य हो गया। वह जो गिरे, तो उठे नहीं। समर्थ होते तो स्वयं साथ चले जाते।

'सत्य' तो स्वयं भगवान् ही हैं। 'सत्या' सीताजीका नाम है। उन्हींको सगुणरूपमें पानेके लिये मनु-शतरूपाके रूपमें दशरथ-कौसल्याने तप किया था। परंतु दशरथने माँगा था *'सुतविषयक तव पद रति होऊ।'* सत्यमें सुत-विषयक रति विलक्षण रीतिसे रामायणमें दिखायी गयी है। सत्य प्रतिज्ञाके लिये मूर्तिमान् सत्यका त्याग असम्भव था। मूर्तिमान् सत्यमें अगाध प्रेम था। सत्य और प्रेम दोनोंकी यह पराकाष्ठा थी। इसीलिये उन्होंने रामको प्रत्यक्ष त्यागकर 'सत्य प्रतिज्ञा' की रक्षा की और शरीर एवं वैकुण्ठ-सुख त्यागकर सूक्ष्म देहसे भगवान्के साथ रहकर 'सत्य-प्रेम' की रक्षा की। निरन्तर साथ रहनेके लिये ही उन्होंने शरीर त्याग किया।

सुरगन सहित सभय सुरराजू। सोचहिं चाहत होन अकाजू॥ १॥
बनत उपाउ करत कछु नाहीं। राम सरन सब गे मन माहीं॥ २॥
बहुरि बिचारि परस्पर कहहीं। रघुपति भगत भगति बस अहहीं॥ ३॥
सुधि करि अंबरीष दुरबासा। भे सुर सुरपति निपट निरासा॥ ४॥
सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किए प्रगट प्रहलादा॥ ५॥

शब्दार्थ—**अहहीं**=हैं, रहते हैं। **अकाज**=कार्यकी हानि, अनर्थ। **नरहरि**=नृसिंहजी।

अर्थ—देववृन्दसहित देवराज इन्द्र भयभीत होकर सोच रहे हैं कि अब अनर्थ होना ही (काम बिगड़ना ही) चाहता है॥ १॥ कुछ उपाय करते नहीं बन पड़ता। मन-ही-मन सब श्रीरामजीकी शरण गये॥ २॥ पुनः विचारकर वे आपसमें कह रहे हैं कि रघुनाथजी तो भक्तकी भक्ति-(प्रेम-) के वश हैं॥ ३॥ अम्बरीष और दुर्वासाकी कथा याद करके देवता और इन्द्र बिलकुल निराश हो गये॥ ४॥ देवताओंने बहुत समयतक दुःख झेला, (तब भी) प्रह्लादहीने नृसिंहभगवान्को प्रकट किया था॥ ५॥

☞ विपत्ति, विषाद, भय और शोचके लिये (भरत चित्रकूट-प्रस्थानके समयसे या इस पूर्ण सोपानभरमें) दो ही स्थान बाँटे पड़े हैं—एक देवलोक, दूसरा अवध। ये कभी देवताओंमें जा पहुँचते हैं और वहाँसे हटे तो अवधवासियोंपर आ जाते हैं। अवधवासी सन्देहमें थे कि न जाने लौटेंगे या नहीं तब देववृन्द प्रसन्न थे, जब श्रीरामजीने भरतजीपर छोड़ दिया तब अवधवासी खुश हुए, इनको प्रसन्न देख देवता घबड़ाये (पां०, बै०)।

नोट—१ *'सुरगन सहित सभय सुरराजू.......'* इति। (क) देववृन्द गौण हैं, इन्द्र मुख्य है; क्योंकि मेघनाद इन्द्रको बाँध ले गया था, यह देवताओंका राजा है, इसका विशेष मानमर्दन रावणद्वारा हो रहा है। रावणके भयसे भागा-भागा फिरता है। 'अकाज' यही कि भरत लौटनेको कहेंगे और ये लौटेंगे। (ख) सम्मुख जाकर विनती करें तो श्रीरामजीका भय, क्योंकि *'गये जान सब कोइ',* ऐश्वर्य खुल जानेसे ब्रह्माका वचन असत्य हो जायगा। दूसरे, भरतसे भय है क्योंकि उनका मनोरथ भंग करनेमें भागवतापराध होगा और तीसरे रावणका भय (पं०)। (ग) 'सोचहिं' अर्थात् उपाय सोचते हैं। एक उपाय माया डालनेका भी है पर वह भी नहीं निश्चय कर पाते, क्योंकि गुरु प्रथम ही सुझा चुके हैं कि *'मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया॥'*

नोट—२ ***'राम सरन सब गे मन माहीं·······'*** इति। कोई उपाय न बन पड़ा। तब हार मानकर सोचे कि रामको वश करें, श्रीरामजीके ही शरण गये कि आप ही रक्षा करें। ***'मन माहीं'***— क्योंकि सम्मुख जाकर या वाणीद्वारा प्रकट करें तो अवधवासियोंका विरोध उनके ही सामने कैसे करें, दूसरे उपर्युक्त भय है। इसपर पुनः विचार किया तो सोचे कि हम इनकी शरण हुए, भरतजी भी इन्हींकी शरण हैं और भक्तशिरोमणि हैं, हममें भक्ति नहीं, हम स्वार्थके लिये भक्त हैं और वे निष्काम भक्त हैं। श्रीरघुनाथजी निष्काम भक्तोंके भक्तिके अधीन हैं और जो कोई सकाम भक्ति करे उसको तो उसकी कामना पूर्ण करके उससे उऋण हो जाते हैं। इनकी शरण जानेसे कुछ न होगा; क्योंकि इन्होंने दुर्वासासे स्पष्ट ही कह दिया है कि हम कुछ नहीं कर सकते,* तुम भक्तराजके पास ही जाओ, उन्हींसे तुम्हारा कल्याण होगा; शरणसे कुछ न होगा और माया भी कर नहीं सकते, तब अन्तिम भी उपाय गया। अतएव रामजीकी ओरसे बिलकुल निराश हो गये।

पुनः, ***'भगत भगति बस अहहीं'*** इसका एक उदाहरण प्रथम विचारमें आया। निराश-दशामें और भी सोचते हैं कि देखो हम सबको कितने वर्षोंतक हिरण्यकशिपु दुःख देता रहा; पर भगवान्ने कृपा न की और जब उनके भक्त प्रह्लादको उसने सताया तब वे तुरंत प्रकट हो गये और तुरंत उसका वध किया। वे भक्तोंके ऐसे वश हैं, वे ही जो चाहें करा सकते हैं।

पु० रा० कु०—देवताओंने प्रथम बार वृहस्पतिजीसे कहा था कि ***'बनी बात बेगरन चहति करिय जतन छल सोधि।'*** (२१७) उसपर गुरुने समझाया था कि —***'मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया॥·······यह महिमा जानहिं दुरबासा।'*** उसी क्रमसे यहाँ कहा है—***'सोचहिं चाहत होन अकाजू।'*** वहाँ छल करना चाहा था। पर गुरुने मना किया। उसीकी जोड़में यहाँ कहा कि ***'बनत उपाउ करत कछु नाहीं'*** अर्थात् छल भी नहीं करते बनता। गुरुने दुर्वासाका दृष्टान्त दिया था, उसीको यहाँ स्मरण करना कहा— ***'सुधि करि अंबरीष दुरबासा। भे सुर सुरपति निपट निरासा॥'*** यहाँतक गुरुके पूर्वोपदेशको विचारा; फिर जो गुरुने कहा था उसके अनुकूल दूसरी बात अपने मनसे विचारकर कही—***'सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि प्रगट किये प्रहलादा॥'*** यह उत्तम बुद्धिकी रीति है। हिरण्यकश्यपसे बहुत सताये जानेपर देवता भगवान्‌की शरण गये। उनकी प्रार्थना सुनकर भगवान्ने यही कहा था कि तुम्हारा सर्वथा कल्याण होगा, उस दैत्यके अत्याचारकी शान्तिका उपाय करूँगा, किंतु तुम समयकी प्रतीक्षा करो, यद्यपि वह अपनेको अमर माने हुए है तथापि जब वह अपने प्रिय पुत्र निर्वैर प्रशान्त महात्माको दुःख देगा तब तुरत उसका विनाश होगा। **'मा भैष्ट विबुधश्रेष्ठाः सर्वेषां भद्रमस्तु वः। मद्दर्शनं हि भूतानां सर्वश्रेयोपपत्तये॥ ज्ञातमेतस्य दौरात्म्यं दैतेयापसदस्य च। तस्य शान्तिं करिष्यामि कालं तावत्प्रतीक्षत॥ यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु। धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति॥ निर्वैराय प्रशान्ताय स्वसुताय महात्मने। प्रह्लादाय यदा द्रुह्येद्धनिष्येऽपि वरोर्जितम्॥'** (भा० स्क० ७ अ० ४। २५—२८) इस उदाहरणसे परस्पर एक-दूसरेको समझाते हैं कि हमलोगोंकी प्रार्थनापर भी तुरत दुःख दूर करना अंगीकार न किया था पर प्रह्लादके लिये तुरत खम्भसे निकल पड़े। अतः यह निश्चय किया कि भरतके आगे हमारी कुछ सुनवायी न होगी।

लगि लगि कान कहहिं धुनि माथा। अब सुरकाज भरत के हाथा॥ ६॥

---

* 'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥ नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥ ये दारागारपुत्राप्तान्प्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥ मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः। वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥ साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥ (भा० ९। ४। ६३—६६, ६८)। इसका अर्थ सरल है और पूर्व प्रियादासजीके कवित्तमें आ गया है। २१८ (७) देखिये।

आन उपाउ न देखिअ देवा। मानत रामु सुसेवक सेवा॥ ७॥
हिय सपेम सुमिरहु सब भरतहि। निज गुन सील राम बस करतहि॥ ८॥
दो०—सुनि सुर मत सुरगुर कहेउ भल तुम्हार बड़ भागु।
सकल सुमंगल मूल जग भरत चरन अनुरागु॥ २६५॥

शब्दार्थ—**लगि लगि कान**=कानसे लगकर। कान लगना मुहावरा है=चुपके-चुपके बात कहना, कनफूसी करना। **देखिअ**=दिखायी पड़ना। मानना=मंजूर या स्वीकृत करना, आदर करना, ध्यानमें लाना, खयाल करना, स्वीकृत करके अनुकूल कार्य करना, यथा—***'सेवक सेवकाई जानि जानकीस मानै कानि सानकूल सूल पानि****······* ***'*** (बाहुक)। **करतहि**=करनेवाले।

अर्थ—देवतालोग माथा पीटकर कानोंसे लग-लगकर (वे परस्पर) कहते हैं कि अब देवताओंका काम श्रीभरतजीके हाथ है॥ ६॥ हे देवताओ! दूसरा उपाय नहीं दिखायी देता। श्रीरामजी अपने सेवककी सेवाका खयाल करते हैं।* अर्थात् भक्तकी सेवा जो कोई करे तो उसपर प्रसन्न होते हैं, उस सेवाका मान करते हैं॥ ७॥ एतावता अपने गुण और शील स्वभावसे रामचन्द्रजीको अपने वशमें कर लेनेवाले भरतजीका ही स्मरण सब कोई (अपने-अपने) हृदयमें प्रेमपूर्वक करो॥ ८॥ देवताओंका सम्मत सुनकर देवगुरु बृहस्पतिजीने कहा—अच्छा किया तुम्हारे बड़े भाग्य हैं। श्रीभरतजीके चरणोंका प्रेम संसारमें सम्पूर्ण उत्तम मंगलोंका मूल है॥ २६५॥

नोट—१ ***'लगि लगि कान कहहिं धुनि माथा।****·······* ***'*** इति।—भक्तके वश हैं; इसे दो उदाहरणोंसे दृढ़ निश्चय कर लिया कि श्रीरामजी हमारे लिये अपनेसे कुछ नहीं कर सकते, भरतजी ही कृपा करें तब वे मानेंगे, अन्यथा नहीं। माथा पीटकर अपना अभाग्य जनाते हैं। (पु० रा० कु०) पुनः माथा क्या पीटते हैं मानो अभाग्यकी रेखाएँ मिटानेका यत्न करते हैं। (रा० प्र०) कानसे लगकर बात करते हैं; क्योंकि स्वार्थकी बात है, विघ्नका भय है। (पु० रा० कु०) अथवा, शत्रुवर्गका कोई सुनकर भरतजीको हमारी कुचाल बता न दे, या रावणको यह खबर न दे दे कि भरत रामको लौटाये लिये जाते थे, देवता ही उनको इधर फेर लाये जिसे सुनकर वह और भी कष्ट देगा। (पं०, रा० प्र०)

वि० त्रि०—कानमें कहते हैं, जिसमें गुरुजी न सुन लें, क्योंकि उन्हींकी समझकर सब आक्षेप करते हैं कि भरत-रामका मिलन देखकर ही हमारा कलेजा धड़का कि जिसपर इतना प्रेम है, उसका अनुरोध क्यों नहीं मानेंगे? तब गुरुजी लगे समझाने कि तुमलोगोंका काम रामजीके हाथमें है, भरत तो आज्ञाकारी हैं, जो रामजी कहेंगे वही करेंगे। पर बात उलटी हुई। रामजीने कह दिया कि ***'भरत कहहिं सोइ किये भलाई'*** सो अब देखिये देवताओंका काम भरतजीके हाथ आ गया है। वे रामजीको बिना लिवा गये कैसे मानेंगे।

कानमें कही जानेवाली बात इतनी ही थी। इसके बाद 'देवा' सम्बोधनसे स्पष्ट है कि अपने मनोगत भावका प्रकाश कर रहे हैं।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—(क) किस बातका भय है जो कानोंसे लग-लगकर माथा पीट-पीटकर कहते हैं? (उत्तर)—पहले ***'राम सरन सब गे मन माहीं'*** अब भरतकी शरण होना चाहते हैं और कहते हैं कि ***'अब सुरकाज भरत के हाथा'*** अर्थात् अब काज रामके हाथ नहीं है, ऐसा कहते हुए रामजीके उदास

---

* 'सुसेवककी सेवाको ही मानते हैं अर्थात् दूसरेकी बात सुनते ही नहीं' ऐसा अर्थ कुछ लोगोंने किया है। पर यहाँ प्रसंगानुकूल पूर्वापर विचार करनेसे यह अर्थ विशेष संगत नहीं जान पड़ता। आगे गुरु बृहस्पतिजीके वचनोंसे यह बात स्पष्ट सिद्ध है—'सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु······।' और पूर्व भी कहा है 'मानत सुख सेवक सेवकाई'—२१९ (२)। वही भाव, अर्थ और शब्द यहाँ भी हैं। पाँड़ेजीने अर्थ किया है कि 'सेवककी सेवा करनेसे राम अपनी सेवा मान लेते हैं।' यह प्रसंगानुकूल है।

होनेकी आशंका मनमें करते हैं। (ख)—*'आन उपाउ न देखिअ देवा'* अर्थात् रामशरण ही उपायोंकी हद है, जब उनकी शरण लेनेसे भी कार्य सिद्ध होता नहीं देख पड़ता तब और क्या उपाय हो सकता है?

टिप्पणी—२ *'हिय सपेम सुमिरहु सब भरतहि।'''''''* इति। यह निर्णय किया कि भरतजीसे ही काम हमारा होगा, दूसरा और कोई उपाय नहीं; अतएव सब उन्हींका स्मरण करो। *'बस करतहिं'* से जनाया कि सहज ही उनके वश हैं, उन्हें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। 'सप्रेम' स्मरण करो जिसमें शीघ्र प्रसन्न हों। *'सुमिरहु'* अर्थात् जैसे मन्त्रका जप होता है।

नोट—२ *'सकल सुमंगल मूल जग भरत चरन अनुरागु'* इति। भाव कि ये जगत्‌के भरण-पोषण करनेवाले हैं, अतः अवश्य मंगल होगा (पं०)।

सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु सय सरिस सुहाई॥ १॥
भरत भगति तुम्हरें मन आई। तजहु सोचु बिधि बात बनाई॥ २॥
देखु देवपति भरत प्रभाऊ। सहज सुभायँ बिबस रघुराऊ॥ ३॥
मन थिर करहु देव डरु नाहीं। भरतहिं जानि राम परिछाहीं॥ ४॥
सुनि सुरगुर सुर संमत सोचू। अंतरजामी प्रभुहि सकोचू॥ ५॥

शब्दार्थ—**सय** (शत)=सौ। 'भक्ति आई'=भक्तिभाव उत्पन्न हुआ। बात बनाना मुहावरा है। बात सँवारना, काम बनाना, कार्य या प्रयोजन सिद्ध कर देना, संयोग या परिस्थितिको अनुकूल कर देना, यथा—*'मोरि बात सब बिधिहि बनाई। प्रजा पाँच कत करहु सहाई।'* (१८०। ८) 'विवश' ☞ 'वि' उपसर्ग शब्दोंके पहले लगकर कई प्रकारके अर्थ देता है। १—विशेष; जैसे, विवश, विकराल, विहीन। २—वैरूप्य, जैसे विविध। ३—निषेध या वैपरीत्य; जैसे विक्रय, विपक्षी, विकच्छ। ४—दो; जैसे, विलोचन। थिर=स्थिर, शान्त।

अर्थ—श्रीसीतापतिके सेवककी सेवा सैकड़ों उत्तम कामधेनुओंके समान सुन्दर है॥ १॥ तुम्हारे मनमें भरतजीकी भक्ति आयी है तो अब सोच छोड़ दो, विधाताने बात बना दी स्थिति तुम्हारे अनुकूल कर दी॥ २॥ हे देवपति! देखो भरतके प्रभावको! उनके सहज स्वभावसे रघुराज श्रीरामजी उनके पूर्ण वशमें हैं॥ ३॥ हे देवताओ! भरतजीको श्रीरामचन्द्रजीकी परछाईं (प्रतिबिम्ब, प्रतिरूप) जानकर मनको शान्त करो, डरकी बात नहीं है॥ ४॥ देवगुरु और देवताओंका सम्मत (राय, सलाह) सुनकर* अन्तर्यामी प्रभुको सोच और संकोच हुआ॥ ५॥

टिप्पणी —१ पु० रा० कु०— *'सीतापति सेवक सेवकाई।'''''''* इति। दोहा २४३ देखिये। भाव यह कि भरतकी क्या, कोई भी उनका सेवक हो, उसकी सेवा सैकड़ों सुन्दर कामधेनुओंके सदृश सुन्दर है। देवताओंकी कामधेनु सुन्दर नहीं है; क्योंकि वह केवल अर्थ, धर्म, काम तीन ही फल दे सकती है और भक्तोंकी सेवासे चारों फलोंकी प्राप्ति है। यह भक्ति भी देती है। वह अनित्य फल देती है और यह नाशरहित फल देती है—(रा० प्र०)।

टिप्पणी—२ *'देखु देवपति भरत प्रभाऊ'* इति। पहली बार भरतजीमें इनकी कुबुद्धि होनेसे इनको अन्धा जाना था, यथा—*'सहसनयन बिनु लोचन जाने।'* (२१८। १) अब भरतजीमें इनकी सुबुद्धि देख इनको आँखोंवाला जाना, अतः कहा कि 'देखु''''''।

टिप्पणी—३ *'सहज सुभायँ बिबस रघुराऊ '* अर्थात् इनके सहज स्वभावसे ही वश हैं, कुछ उन्हें वश करनेके लिये यत्न नहीं करना पड़ा। मनु आदिको सहस्रों वर्ष कठिन तपस्या करनी पड़ी थी तब वश हुए थे।

टिप्पणी—४ *'भरतहिं जानि राम परिछाहीं'''''''* इति। मनुष्यकी परिछाहीं उसके देहके अधीन है। जैसा

---

* १—कुछ लोग अर्थ करते हैं—'सुरगुर और देवताओंका सोच और सम्मत सुनकर।' २—'सुरगन सहित सभय सुरराजू' से लेकर 'निज गुन सील राम बस करतहिं' तक देवताओंका सोच है और 'सुनि सुरमत सुरगुरु कहेउ' से यहाँतक गुरु सम्मत।

वह करे, वैसा ही परिछाहीं करेंगी। वैसे ही भरत रामजीके अधीन हैं। यथा—*'जिमि पुरुषहिं अनुसर परिछाहीं।'* (१४१।६) प्रतिबिम्ब बिम्बसे भिन्न और कुछ नहीं कर सकता। १४१ (६) देखिये।

प० प० प्र०—'परिछाहीं' देहके अधीन रहती है। और श्रीरामजी तो भरतजीके सहज स्वभावके विवश हैं। अत: यह अर्थ करना उचित होगा कि 'रामजी भरतजीकी परिछाहींके समान हैं।' भागवतका वचन भी देखिये—'**अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।**' भरतजीको रामजीकी परिछाहीं समझनेसे भगवान्‌की भक्तपराधीनता कहाँ रही, भक्त ही भगवत्पराधीन ठहरेगा?

टिप्पणी—५ पु० रा० कु०—*'अंतरजामी प्रभुहि सकोचू।'* (क) अन्तर्यामी हैं, इससे हृदयका सम्मत सुन और जान लिया, वे कान लग-लगकर कहते थे तो भी सुन लिया, अत: संकोच है। (ख) संकोच कि भरतके कहनेपर लौटें तो देवताओंका मन टूटता है और देवताओंके मनकी करें तो भरतका मन टूटता है, दोनोंका काम कैसे बने?

वि० त्रि०—देवताओंके सोचसे अन्तर्यामी प्रभुको संकोच हुआ यद्यपि यह बातचीत आकाशमें हो रही थी, पर सरकार सुन रहे थे, इसीलिये गोसाईंजीने अन्तर्यामी विशेषण दिया। इसके पहले जब देवता लोगोंने चित्रकूटमें आकर दु:सह दु:ख सुनाया, यथा—*'करि बिनती दुख दुसह सुनाए। हरषित निज निज सदन सिधाए॥'* तब सरकारने भरोसा दिया कि अब मैं वनमें आ गया, यज्ञादिकमें बाधा नहीं होने पावेगी, यज्ञभाग आपलोगोंको मिलना आरम्भ हो जायगा, सो आजकी मेरी प्रतिज्ञा सुनकर विचारे कि ये डर गये हैं। इसी बातका सरकारको संकोच हुआ।

निज सिर भारु भरत जियँ जाना। करत कोटि बिधि उर अनुमाना॥ ६॥
करि बिचारु मन दीन्ही ठीका। राम रजायस आपन नीका॥ ७॥
निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा॥ ८॥

दो०—कीन्ह अनुग्रह अमित अति सब बिधि सीतानाथ।
करि प्रनामु बोले भरतु जोरि जलज जुग हाथ॥ २६६॥

शब्दार्थ—**भारु**=बोझ, दारमदार, उत्तरदायित्व। **अनुमान**=विचार। ***दीन्हीं ठीका***—ठीक देना मुहावरा है। =मनमें पक्का करना, दृढ़ निश्चय करना, यथा—*'नीके ठीक दई तुलसी अवलंब बड़ी उर आखर दूकी॥'* (क०) इस मुहावरेमें ठीक शब्द आगे बात-शब्द लुप्त मानकर उसका प्रयोग स्त्रीलिंगमें होता है। **छोह**=ममत्व लिये हुए अनुग्रह या कृपा।

अर्थ— श्रीभरतजीने अपने मनमें सारा भार अपने ही सिर देखा। करोड़ों प्रकारके विचार मनमें करते हैं॥ ६॥ भलीभाँति विचार करके उन्होंने मनमें यह दृढ़ निश्चय किया कि श्रीरामजीकी आज्ञामें ही अपना सर्वविध कल्याण है॥ ७॥ (प्रभुने) अपना प्रण छोड़कर मेरा प्रण रखा, यह कुछ थोड़ा छोह और प्रेम नहीं किया है। अर्थात् बहुत प्रेम और कृपा की॥ ८॥ श्रीसीतानाथ रामजीने सब प्रकारसे अत्यन्त कृपा की है जो अपरिमित है जिसका अंदाजा ही नहीं हो सकता। इसके बाद दोनों करकमलोंको जोड़कर और प्रणाम करके श्रीभरतजी बोले॥ २६६॥

नोट—१ *'सुरगन सहित सभय सुरराजू'* (२६५। १) से *'भरतहि जानि राम परिछाहीं'* (२६। ५) तक देवताओंका भय और सम्मत कहा। *'सुनि सुरगुर सुर संमत सोचू'* उपसंहार है। दरबारका प्रसंग *'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु……'* इस दोहेपर छोड़ा था; अब वही प्रसंग यहाँ मिलाते हैं।

नोट—२ *'निज सिर भारु भरत जिय जाना।………'* इति। (क) हमारे ही सिर सबका भार है, *'भूमि रह राउरि राखी'* यह पृथ्वीकी रक्षाका भार, *'करउँ काह असमंजस जी के'* यह प्रभुके असमंजसकी निवृत्तिका भार, *'राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी……तासु बचन मेटत मन सोचू'* यह पिताके धर्मकी रक्षाका भार, *'तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू'* यह सेवकके द्वारा स्वामीके संकोचनिवृत्तिका भार, *'तापर गुरु मोहि*

आयसु दीन्हा' यह गुरु-आज्ञाकी अवज्ञाकी निवृत्तिका भार और ***'सत्यसंध रघुबर'*** यह उनकी सत्यप्रतिज्ञाकी रक्षाका भार एवं अवधपुरवासी, परिजन, प्रजा सबको सुख पहुँचाने और सबके दुःखकी निवृत्तिका भार—गुरुने रामजीपर छोड़ा कि आप भरतजीकी सुनकर, फिर विचारकर उनकी रुचि रखकर जो उचित हो वह कीजिये; श्रीरामजीने भरतपर छोड़ा, यथा—***'भरत कहहिं सोइ किये भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥'*** और पुनः यह कहा—***'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आजु',*** अर्थात् तुम ही जो कहो वही करूँ। क्या होना चाहिये? श्रीरामजीसे लौटनेको कहें, या उनके बदले अपने लिये वन जानेको कहें जैसा गुरुजीसे सम्मत करके यहाँ आये थे, पिताकी आज्ञा मिटावें या रखें, इत्यादि, जो कुछ प्रभुने अपने भाषणमें कहा है सबके उत्तर और सँभालका भार अपने ही सिर देखा। मुझको ही कहना होगा दूसरेको नहीं, चाहे जो कुछ कहूँ—यही अपने सिर भारका अभिप्राय है। (ख) ***'करत कोटि बिधि मन अनुमाना'*** इति। अभीतक केवल स्वार्थ सोचकर आये थे, अब अपने ऊपर सबकी जिम्मेदारी आ गयी। पूर्व जितनी बातें लिखी गयी हैं उन सबपर ध्यान रखना बहुत जरूरी देख पड़ा। अतः अनेक प्रकारसे बुद्धिसे विचार कर रहे हैं कि क्या करनेको कहा जाय। सब पक्षोंको विचारकर यह मनमें निश्चय किया कि ***'राम रजायसु आपन नीका।'*** अर्थात् उन्हींपर छोड़ना, उनकी ही आज्ञा लेना, जो वे कहें वही करना, उनको आज्ञा न देना, यही सर्वोत्तम है, इसीमें सबका श्रेय है। 'रजायस' से जनाया कि वे राजा हैं तब आज्ञा उनकी ही होनी चाहिये।—[☞स्मरण रहे कि यहाँ भरतजीने भी वही सिद्धान्त निश्चय किया जो श्रीवसिष्ठजीने प्रथम ही (भरत-वसिष्ठ-गोष्ठीमें) अपना और सबका सिद्धान्त कहा था—***'करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥ राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।'*** (२५४) विचार करनेपर वही इन्होंने भी निश्चय किया। यह सबको गाँठ बाँध लेना चाहिये।]

नोट—३ ***'निज पन तजि राखेउ पन मोरा……'*** इति। यह वही विचारका सिलसिला चला जा रहा है। अपनी प्रतिज्ञा—जो देवताओंसे, कैकेयीसे, पितासे, माता कौसल्यासे, परिजन, पुरजन, निषाद आदिसे कहते आये हैं कि १४ वर्ष वनवास करके तब लौटूँगा, इत्यादि—को छोड़ा—***'कहहु करउँ सोइ'*** मैं लौटाने आया था, वह भी कहूँ तो करनेको तैयार हैं—बस यह कृपा और प्रेमकी हद है। तो अब उचित है कि मैं अपना प्रण उनके लिये छोड़ दूँ। उद्भव-स्थिति-संहारकारिणी-सर्वश्रेयस्करी ऐसी सीताजीके स्वामी होकर भी इतनी अतिशय कृपा की; अतएव यही उत्तम है कि उन्हींकी आज्ञा पालूँ। ***'सब बिधि'*** यह कि हमको निर्दोष करार दिया, त्रैलोक्यमें हमको यश दिया, हमारा दुलार रखा इत्यादि। यहाँतक मनमें विचार किया। अब आप प्रभुसे कहते हैं।

भरत-भाषण

कहउँ कहावउँ का अब स्वामी। कृपा अंबुनिधि अंतरजामी॥ १॥
गुर प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मन कलपित सूला॥ २॥
अपडर डरेउँ न सोच समूलें। रबिहि न दोसु देव दिसि भूलें॥ ३॥
मोर अभागु मातु कुटिलाई। बिधि गति बिषम काल कठिनाई॥ ४॥
पाउ रोपि सब मिलि मोहि घाला। प्रनतपाल पन आपन पाला॥ ५॥

शब्दार्थ—**अंबुनिधि**=जलका खजाना वा अधिष्ठान=समुद्र। **समूलें**=समूल—जिसमें कुछ मूल कारण या हेतु हो; कारणसहित। **रोपि**=जमाकर, दृढ़ताके साथ रखकर जिसमें टाले न टले। **पाँव रोपना**=प्रण या प्रतिज्ञा करना, अड़ जाना। **घालना**=बिगाड़ना, नाश करना, नष्ट करना। यथा—***'चित्रकेतु कर घर उन्ह घाला।'*** **विषम**=जो एक-सी न हो, जिसकी मीमांसा सहजमें न हो सके, कठिन, विकट।

अर्थ—हे स्वामी! हे कृपासिन्धु! हे अन्तर्यामी! अब मैं क्या कहूँ और क्या कहलवाऊँ॥ १॥ गुरुजीको

प्रसन्न और स्वामीको अनुकूल (अपने पक्षमें, अपने मुआफिक) देखकर मेरे मलिन मनकी गढ़ी हुई शूल (अर्थात् जो यथार्थ न थी, मनने व्यर्थ ही रच ली थी,) मिट गयी॥ २॥ मैं अपने झूठे ही डरसे डर गया था, सोचकी जड़ ही न थी। हे देव! दिशा भूल जायँ तो सूर्यका दोष नहीं अर्थात् भूला मैं था, यह मेरा भ्रम था, आपका दोष इसमें कदापि नहीं है॥ ३॥ मेरा अभाग्य, माताकी कुटिलता, विधाताकी विकट चाल और कालकी कठिनता॥ ४॥ इन सबोंने मिलकर प्रतिज्ञा करके मुझे नष्ट कर डाला था, पर शरणागतके रक्षक आपने अपनी प्रतिज्ञाका पालन किया (अर्थात् ***'मम पन सरनागत भयहारी'*** इस प्रणको आपने पूरा कर दिखाया, मेरे भयको हर लिया)॥ ५॥

नोट—१ 'स्वामी, अन्तर्यामी, कृपा-अम्बुनिधि' से क्या कहना और कहलवाना। आप स्वामी हैं, आपकी ही आज्ञा पालन करना सेवकका धर्म है, सेवकका कुछ कहना उचित नहीं, न कहलाना उचित है, जो वे स्वतः कहें वही सेवकका कर्तव्य है। पुनः, 'हे स्वामी!' यह बोलनेकी रीति है। अन्तर्यामी हृदयकी जानता है उससे कहनेकी आवश्यकता नहीं। कृपासिन्धु कृपा करेंगे ही, उनसे कुछ कहनेका प्रयोजन नहीं, जिसमें हमारा हित होगा वे वही करेंगे।

नोट—२ ***'गुर प्रसन्न साहिब अनुकूला।''''''''*** इति। शूल मिटी। कौन शूल? यह प्रथम ही भाषणमें गिना आये हैं, यथा—***'भूपति मरन पेम पनु राखी।''''''''सो सुनि समुझि सहिउँ सब सूला।''' जियत जीव जड़ सबइ सहाई।'*** (२६२। १—७) वहाँ शूलकी निवृत्ति चाही थी, यहाँ उसकी निवृत्ति दिखायी। (पु० रा० कु०)

नोट—३ ***'अपडर डरेउँ न सोच समूलें।''''''''*** इति। मूल यहाँ प्रभु हैं। उनकी ओरसे डरनेकी बात न थी। अपने ही डरसे मैं डरा। सोचा था कि ***'रामलखनसिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥', 'मातु मते महुँ मानि मोहिं जो कछु करहिं सो थोर।'''''''' ।'*** (२३३) सूर्य तो सदा पूर्वहीमें उदय होता है किसीको दिशाका भ्रम हो जाय और वह कहे कि पश्चिममें उदय हुए तो उसमें सूर्यका दोष क्या? दोष उसकी ही समझके भ्रमका है, यथा—***'जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयेउ दिनेसा॥'*** (उ० ७३) भाव यह कि आप तो सदा कृपा ही करते हैं, हमारे ही चित्तमें यह विकार उत्पन्न हो गया था कि आप अप्रसन्न होंगे, हमारा त्याग अवश्य करेंगे।

नोट—४ ***'मोर अभागु मातु कुटिलाई।''''''''*** इति। (क) 'अभाग्यका उदय हुआ* इससे आपका वियोग हुआ जिससे हमको शूल हुआ इत्यादि। माताकी कुटिलता कि हठकर वनवास दिया। विधिगति यह कि हमारे अशुभ कर्मोंका उदय हुआ और कालकी कठिनाई कि जैसे विशाखापर केतुका उदय होता तब अयोध्यामें उत्पात होता।' (वै०)

(ख) ये चारों बातें पूर्व भाषणमें भरतजीने कही हैं। क्रमसे यथा—***'सपनेहु दोस कलेसु न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू॥ बिनु समुझे निज अघ परिपाकू', 'जननी कुमति जगत सब साखी', 'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा',*** और ***'कीन्ह मातु मिस काल कुचाली।'***

* भरतजीका दूसरा भाषण *

मा० हं०—भरतजीका जो मुख्य भाव उनके इस भाषणमें प्रतिबिम्बित है वह यह है—***'निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहिं थोरा॥ कीन्ह अनुग्रह अमित अति सब बिधि सीतानाथ।'*** भरतजीको कहीं भी देखिये उनकी विशेषता जो हार्दिक कृतज्ञता है वह उनकी छायाके सदृश उनके साथ-ही-साथ दिखायी देगी। उनके सभी व्यवहार मृदु और मनोहर होनेका कारण उनकी केवल यह विशेषता ही है और इसी एक विशेषताके बलसे वे रामजीके कथनानुसार, त्रैलोक्यविजयी, त्रैलोक्यपावन, त्रैलोक्यगुरु हुए हैं।

उपर्युक्त सूचनाको स्मरण रखते हुए अब भरतजीका भाषण पढ़िये और तत्काल ही देखिये कि भरतजीके प्रेमका पूर कैसा चढ़ा-बढ़ा फैलता जाता है।

---

* 'पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्। धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः॥' (भर्तृहरिशतक) अर्थ स्पष्ट है कि भाग्यको मिटानेमें कोई समर्थ नहीं।

२—गोस्वामीजीके रामजी और भरतजीके सदृश समानशीलवाली जोड़ी हमने अन्य रामायणोंमें ढूँढ़नेका प्रयत्न किया, परंतु हर जगह निराशा ही होती गयी। अन्तमें हमें यही प्रांजलतासे कहना पड़ता है कि गोसाईंजीकी इस राम-भरतजोड़ीके कारण ही इस रामायणका अयोध्याकाण्ड विशेषतासे बोधक हुआ है। और रामायणोंने तो हमारी निराशा ही की, परंतु केवल एक भागवतने हमारी आशा पूर्ण की। उसने श्रीकृष्ण और भीष्मदेवकी जोड़ी हमें दिखला दी। यहाँ भरतजीने जैसे *'निज पन तजि राखेउ पन मोरा'* कहा है उसी प्रकार वहाँ पितामह भीष्मदेवजीने भी **'स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः'** कहा है।......तुलनाकी दृष्टिसे हमें यही दिखाता है कि श्रीमद्भागवतमें जैसा दशमस्कन्ध वैसा तुलसीरामायणमें यह अयोध्याकाण्ड हुआ है।

येह नइ रीति न राउरि होई। लोकहुँ बेद बिदित नहिं गोई॥ ६॥
जगु अनभल भल एक गोसाईं। कहिअ होइ भल कासु भलाईं॥ ७॥
देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥ ८॥

दो०—जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच।
मागत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच॥ २६७॥

अर्थ—यह कुछ आपकी नयी रीति नहीं है (अर्थात् पुरानी है, सदासे चली आती है) लोक और वेद (दोनों) में प्रकट है, छिपी नहीं है॥ ६॥ संसार बुरा और अहित है। एक स्वामी (आप) ही भले (हित) हैं[1] (तब) कहिये किसकी भलाईसे भला हो सकता है॥ ७॥ हे देव! कल्पवृक्षके सदृश आपका स्वभाव सबको सम्मुख है, किसीको भी कभी विमुख (प्रतिकूल) नहीं[2]॥ ८॥ कल्पवृक्षको पहचानकर उसके पास जाय (तो) उसकी ही छाया सब सोचका नाश करनेवाली है। सारा संसार राजा, रंक, भले, बुरे सभी माँगते ही उससे मनोरथ पाते हैं॥ २६७॥

नोट—१ *'जगु अनभल भल एक गोसाईं।.......'* इति। (क) भाव कि जगत् तो अनभलरूप है, भलाई कहाँसे करे। और एक आप ही भले हैं तो आप अनभल कहाँसे करेंगे; अतएव निश्चय है कि आपकी ही भलाईसे भला होता है। (रा० प्र०) (ख) *'कहिअ होइ.......'* अर्थात् ऐसा कौन है जो एक अपनी भलाईसे अनभले जगत्की भलाई करे? भाव कि ऐसे एक आप ही हैं जिससे जगत्की भलाई हो सके। (पां०) (ग) प्रथम भरतजीने कहा कि *'मोर अभाग मातु कुटिलाई। बिधि गति बिषम काल कठिनाई॥'* इन सबोंने प्रतिज्ञा करके मुझे मारना चाहा था; इनसे आपने रक्षा की, यह आपकी नयी रीति नहीं है, लोकवेदमें विदित है, उसी वचनको पुष्ट कर रहे हैं कि *'जगु अनभल भल एक गोसाईं।.......'* अर्थात् जिसका सारा संसार वैरी हो जाय, उसके मित्र आप हों, तब कहिये किसकी भलाईसे भला हो सकता

१-क—पंजाबीजी अर्थ करते हैं—'संसार शत्रु है। एक आप हितू हों उसका बुरा कौन कर सकता है। कहिये तो सबका भला किसकी भलाईसे हो सकता है।' यही बैजनाथजी और वीरकविजीने अर्थ लिया है।

ख—एक खर्रेमें यह अर्थ और भाव दिया है—'जगत्का भला या अनभला एक आपसे ही है। आपकी भलाईसे भला होता है, आपके अनभल होनेसे बुरा होता है। हे गोसाईं! कहिये किसकी भलाईसे भला हो सकता है?' अथवा, प्रश्न है कि 'कहिये जगत्के भलेसे भला है; या आपके भलेसे भला है?'

ग—'सारा जगत् बुरा (करनेवाला) हो; किन्तु हे स्वामी! केवल एक आप ही भले हों, तो फिर कहिये.....'—(मानसांक)

घ—'यह जग अनभल है; परंतु एक उसके मालिकके भला होनेसे उसकी भलाई है।' (नं० प०)

२-दूसरा अर्थ—आपका स्वभाव कल्पवृक्षके समान है, किसीको भी कभी न सम्मुख ही है न विमुख। अर्थात् कोई शत्रु-मित्र नहीं, सब उसको समान हैं वैसे ही आपकी सबपर समान दृष्टि है। आप एकरस हैं। (पं० रा० कु०)

है अर्थात् जग अनभला है, वहाँसे तो भलाई होगी नहीं; आप भले हैं अत: आपसे ही भलाई होगी। (पं० रा० कु०) पुन: भाव यह कि अभाग्य आदि चारहीकी कौन कहे यदि सारा जगत् शत्रु हो जाय और आप ही एक हितू रहें तो आपकी भलाईसे ही भला होगा, यथा—**'*रावरी भलाई सबही की भली भई।...... बिगरी बनावे कृपानिधि की कृपा नई॥*'** (वि० २५२) जगत्‌की अनभलाईसे अनभला नहीं होनेका। (पं० रा० कु०) (ङ) संसार अनित्य है, दु:खमय है, अत: बुरा है। एकमात्र आप (राम ब्रह्म) भले हैं, इसमें यदि भलाई दिखायी पड़े तो वह भलाई आपकी है। इसीलिये भगवद्गीतामें कहा गया है कि '**अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्**', लोक अनित्य है, दु:खमय है, इसे पाकर मुझे भजो। इसका भाव ही यह है कि भलाई भगवान्‌से ही प्राप्त होगी। बालूसे तेल कैसे निकलेगा? संसार दु:खमय, इससे सुख होगा कैसे? अत: आगे चलकर सरकारको कल्पवृक्षसे उपमित करेंगे। (वि० त्रि०)

नोट—२ '***देउ देवतरु सरिस सुभाऊ।......***' इति। (क) सबको सम्मुख हो, विमुख किसीको नहीं।* यथा—'***तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु को सो ज्यों दरपनमुख कांति॥***' (वि० २३३) (पां०, पु० रा० कु०) (ख) जैसा फल शत्रुको वैसा ही मित्रको, उसकी छायामें जाय भर। वैसे ही आप हित-अहितका विचार नहीं करते—'***कोटि बिप्र बध लागहि जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥***' (५।४४।१-२) '***बैरिउ राम बड़ाई करहीं।***' (२००।७) '***अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।***' (१८३।६) निशाचरोंको भी सद्‌गति देते हैं, यथा—'***उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥ देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥***' (६।४४।४-५)

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि इसमें वही भाव है जो '***समदरसी मोहि कह सब कोऊ***', '***तुम्ह समरूप ब्रह्म अबिनासी। सदा एक रस सहज उदासी॥***' (६।१०९) इन वाक्योंमें है। '***राउ रंक भल पोच***' से भी यही भाव सिद्ध होता है कि भगवान् किसीको सम्मुख या विमुख नहीं हैं। जो उनके सम्मुख होगा उसको सम्मुख (अनुकूल) हैं, विमुखके लिये विमुख हैं। यथा—'***तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥***' कल्पवृक्षके तले जाकर यदि कोई यह संकल्प करे कि मुझको पिशाच लग जाय तो उसको वह भी होगा। जैसा भाव वैसा देव।

नोट—३ '***पहिचानि तरु***' का भाव कि जबतक उसका स्वरूप जानेगा नहीं तबतक विश्वास ही न होगा और न पास जायगा। यथा—'***जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥***' जानेगा तब जायगा, जाते ही शोक दूर होगा। देखिये, विभीषणजी कहते हैं—'***श्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर। त्राहि....... ॥***' (५।४५) अर्थात् पहले हनुमान्‌जीसे सुना कि आप ऐसे हैं, उनका प्रभाव देख आपपर विश्वास हुआ, तब आया हूँ।

लखि सब बिधि गुर स्वामि सनेहू। मिटेउ छोभु नहिं मन संदेहू॥ १॥
अब करुनाकर कीजिअ सोई। जन हित प्रभु चित छोभु न होई॥ २॥
जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥ ३॥
सेवक हित साहिब सेवकाई। करइ सकल सुख लोभ बिहाई॥ ४॥

---

* सत्योपाख्यानमें कहा है 'येषां तु तादृशी बुद्धिः फलदाता तथैव सा। नहि विषमता तस्य कल्पवृक्षोपमो हरिः॥' अर्थात् जिसकी जैसी बुद्धि है वैसा ही उसको फल देनेवाले हैं, उनमें विषमता नहीं है, हरि कल्पवृक्षके समान हैं।

'कौशल्यालसदालवालजनितः सीतालतालिङ्गितः सिक्तः पंक्तिरथेन सोदरमहाशाखाभिरत्युन्नतः। रक्षस्तीक्ष्णनिदाघपाटनपटुः छायाश्रितानन्दकृद्विद्वद्वाञ्छितसत्फलानि फलतु श्रीरामकल्पद्रुमः॥' इति हनुमन्नाटके टीकायाम्। (वंदनपाठकजी) अर्थात् श्रीकौसल्यारूपी थाल्हामें प्रकट हुए जो श्रीसीतारूपी लतासे परिवेष्टित हैं, श्रीदशरथजीने जिसे सींचा, श्रीभरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नजी जिसके बहुत बड़े स्कन्ध (मोटी-मोटी शाखाएँ) हैं, राक्षसरूपी, घोर घामका सर्वथा नाश करके आश्रितोंको आनन्द देनेवाले श्रीरामरूप कल्पवृक्ष विद्वानोंकी सत्कामनापूर्तिरूप उत्तम फलोंको सदैव फलते रहते हैं।

शब्दार्थ—संकोचना=संकुचित करना, संकोचमें डालना।

अर्थ—सब प्रकारसे गुरु और स्वामीका स्नेह (अपने ऊपर) देखकर मनका क्षोभ (ग्लानि, व्याकुलता, चंचलता, उद्वेग) मिट गया। मनमें संदेह नहीं रह गया॥ १॥ हे करुणाकी खानि! अब वही कीजिये, जिससे (दासका भला हो और) दासके लिये प्रभुके चित्तमें क्षोभ न हो॥ २॥ जो सेवक स्वामीको संकोचमें डालकर अपना भला चाहे उसकी बुद्धि नीच है॥ ३॥ सेवकका हित तो यही है कि सम्पूर्ण सुखों और लोभोंको छोड़कर स्वामीकी सेवा करे॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'लखि सब बिधि गुर स्वामि सनेहू।'***— गुरुका स्नेह ***'कृपासिंधु प्रिय बंधु सन कहहु हृदय कै बात'*** इन वचनोंसे प्रकट है और प्रभुका स्नेह ***'निज पन तजि राखेउ पन मोरा'*** इनसे।

टिप्पणी—२ ***'जन हित प्रभु चित छोभु न होई।'*** भाव कि मेरे मनका क्षोभ दूर हो गया, ग्लानि जाती रही, प्रभुके विषयमें संदेह कि मुझपर स्नेह है या जाता रहा, वह सब निवृत्त हो गया। मेरे मनमें क्षोभ नहीं रह गया तो अब आपके मनमें क्षोभ न आने पावे वही करना उचित है, क्योंकि हमारा क्षोभ मिटाकर आपका हृदय क्षुब्ध हो जाय तो बात क्या बनी? संदेह ऊपर भी दिखा आये हैं कि नाम सुनकर चल न दें, इत्यादि। क्यों चाहते हैं कि क्षोभ न हो उसे आगे कहते हैं—***'जौं……'।*** [यहाँ 'जन' के दो अर्थ हैं। 'मुझे दासका' और 'अवधवासी जो आपके जन हैं उनका।']

☞***'जो सेवकु साहिबहि सँकोची……'***—यहाँ सेवकका धर्म कहा गया। आजकल ऐसे कितने सेवक देखने-सुननेमें आते हैं?

रामेश्वरसंहितामें कहा है—'**सर्वथा श्रीगुरोः स्नेहं विलोक्य स्वामिनस्तथा। नष्टा ग्लानिर्न संदेहः करुणाकर सांप्रतम्॥ कर्तव्यं भवता येन ममाभीष्टं भवेत्प्रभोः। चित्ते चिन्ता प्राणहरा नैव स्यात्कोसलेश्वर॥**' इसमें कहा है कि जिसमें मेरा अभीष्ट सिद्ध हो और आपको चिन्ता न हो वह कीजिये। प्रभुने ऐसा ही किया भी, पाँवरी दी, इसमें अभीष्ट सिद्ध हुआ और चिन्ता भी न रही, संकोच और असमंजस मिट गया। (र० ब०)। परंतु 'जिनके लिये' इस अर्थसे भरतके त्यागमें विशेषता आ जाती है। अतः दोनों ही अर्थ किये गये। पाण्डेजी आदिने 'लिये' अर्थ किया है। (र० ब०) (यह संहिता मुझे नहीं मिली। श्लोक उसमें है या नहीं कहा नहीं जा सकता।)

टिप्पणी—३ ***'सेवक हित……'*** इति। [(क) ऊपर यह कहकर कि ***'जन हित प्रभु चित छोभु न होई'*** अब बताते हैं कि जनका हित किस प्रकार हो सकता है। इससे यह भी जनाया कि दासको योग्य सेवा मिलनी चाहिये। ***'सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पार पावउँ जेहि सेई॥'*** का बीज यहाँ बो दिया गया। (प० प० प्र०)] (ख) ***'करइ सकल सुख लोभ बिहाई'*** अर्थात् शरीरका सुख और मनसे लोभ त्याग दे। तन-मनसे लगे और ***'निज हित चहइ'*** में ***'चहइ'*** से वचन भी जना दिया। भाव कि अपना हित चाहना अर्थात् माँगना, यह वचनका दोष है ऐसी माँग भी छोड़ दे। यह भी 'लोभ' में ही आ गया। मनसे और वचनसे लोभका त्याग करे। मन-कर्म-वचन तीनोंसे सेवा करे। लोभ, यथा—***'स्वारथ छल फल चारि बिहाई।'***

स्वारथ नाथ फिरें सबही का। किएँ रजाइ कोटि बिधि नीका॥ ५॥
येह स्वारथ परमारथ सारू। सकल सुकृत फल सुगति सिंगारू॥ ६॥
देव एक बिनती सुनि मोरी। उचित होइ तस करब बहोरी॥ ७॥
तिलक समाजु साजि सबु आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना॥ ८॥

शब्दार्थ—**सार**=निचोड़, खुलासा, प्रधान तत्त्व। **सिंगारू**=शृंगार, जिससे किसी चीजकी शोभा बढ़ती है। **सुफल**=सफल, सार्थक, प्रयोजनकी सिद्धि, जो व्यर्थ न जाय। **मनु माना**=मन कबूल करे, मन स्वीकार करे, मनको अच्छा लगे, पसंद आवे, रुचे या भावे। प्रथम ***'उचित होइ'*** और यहाँ ***'मनु माना'*** देकर एक-सा अर्थ जनाया।

अर्थ—हे नाथ! आपके लौटनेमें सभीका स्वार्थ है और आपकी आज्ञा-पालन करनेमें करोड़ों प्रकार भला है॥ ५॥ यही स्वार्थ और परमार्थका सार है, समस्त पुण्योंका फल और सम्पूर्ण शुभ गतियोंका शृंगार है (अर्थात् इसके बिना उनकी शोभा नहीं)॥ ६॥ हे देव! मेरी एक विनती सुनकर, फिर जैसा उचित हो वैसा कीजिये॥ ७॥ राजतिलककी सब सामग्री सजाकर लाया हूँ। हे प्रभो! यदि आपके मनको अच्छा लगे तो उसे सुफल कीजिये। अर्थात् उचित समझिये तो राज्यतिलक कराइये जिसमें इसे यहाँ ले आनेका परिश्रम सफल हो, ये सामग्री सफल हों और सबके मनोरथ सफल हों॥ ८॥

नोट—१ *'स्वारथ नाथ फिरें सबही का।'''''''* 'इति। (क) *'नाथ'* सम्बोधन देकर जनाया कि सारी अयोध्या अनाथ हो गयी है। आपके लौटनेसे सब सनाथ हो जायँगे। वाल्मी० २। १०१ में जो भरतजीने कहा है कि आप आज ही अपना अभिषेक करायें। सारी प्रजा और सब विधवा माताएँ यहाँ आयी हैं। आप राज्याभिषेक कराके उनका तथा सब मित्रोंके मनोरथ पूर्ण करें। आपको स्वामी पाकर राज्यकी भूमि अविधवा हो जिस प्रकार चन्द्रमाको पाकर शरद्-ऋतुकी रात्रि।—**'भवत्यविधवा भूमिः समग्रा पतिना त्वया। शशिना विमलेनेव शारदी रजनी यथा॥'** (११), यह सब भाव 'नाथ' शब्दसे जना दिया है। (ख) 'सब' अर्थात् माता, मन्त्री, परिजन, पुरजन आदि सभी अवधवासियोंका फिरनेमें स्वार्थ है, यही उनका मनोरथ है, लौटनेसे उनका स्वार्थ सिद्ध होगा। *'कोटि बिधि नीका'* अर्थात् स्वार्थ-साधन एक विधि 'नीक' है और आज्ञापालन करोड़-विधि 'नीक' है। पहलेमें एक गुण 'स्वार्थ' है और दूसरेमें कोटि गुण हैं, क्योंकि यह परमार्थ है। (पु० रा० कु०) यद्यपि भरतजीका यह आशय नहीं है, पर वचनोंसे निकलता है कि फिरनेमें अयोध्यावासियोंका ही स्वार्थ है और न फिरनेमें देव, ऋषि और निशाचर आदि 'अनेक मनुष्योंका' अर्थ सिद्ध होगा, अतः *'कोटि बिधि नीका'* है। (रा० प्र०)

नोट—२ *'येह स्वारथ परमारथ सारू'''''''* 'इति।—अर्थात् आज्ञा स्वार्थ और परमार्थ दोनोंका सार है, समस्त धर्मोंका फलस्वरूप है और मोक्ष आदि जितनी शुभ गतियाँ हैं उन सबका शृंगार है। मिलान कीजिये—*'भगति सुतिय कल करन बिभूषन।'* (१। २०। ६) *'संत सुमति तिय सुभग सिंगारू* (१। ३२। १) से; जो नाम और चरितके सम्बन्धमें कहा गया है। मुक्ति आदि जितनी भी सुगतियाँ हैं वे सब विधवा-सरीखी हैं यदि उनमें आज्ञापालन-धर्म नहीं रहा। किसीका मत है कि यहाँ आज्ञाको कर्म, ज्ञान और उपासना तीनोंका शृंगार सूचित किया है—*'सकल सुकृत फल'* यह कर्मका, 'परमारथ सार' यह ज्ञानका और 'सुगति' यह भक्तिका शृंगार है। तीनोंकी शोभा इससे है।

नोट—३ *'देव एक बिनती सुनि मोरी'* अर्थात् मेरी विनयमात्र है, करनेके लिये नहीं कहता हूँ केवल सुननेको कहता हूँ। जैसा उचित हो वैसा इसके लिये आज्ञा दीजिये, वा कीजिये। जो भरतने कहा था उसीको चरितार्थ भी करते जाते हैं। कैसे सफल करें यह आगे पुनः कहते हैं।

वि० त्रि०—भरतजी पदे-पदे गुरुजीके इंगितके अनुकूल चल रहे हैं। गुरुजीने कहा था कि *'कृपासिंधु प्रियबंधु सन कहहु हृदय कै बात'* सो इन्होंने सब हृदयकी बात कह सुनायी। सब सुननेपर जब सरकारने कहा कि *'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आज।'* तब भरतजीको गुरुजीकी बात याद आयी कि *'राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।'* अतः कवि कहते हैं कि *'करि बिचार मन दीन्हीं ठीका। राम रजायसु आपन नीका॥'* अतः भरतजी 'ऐसा कीजिये' यह नहीं कहते। जो गुरुजीने रामजीको करनेको कहा था, वही कहते हैं। गुरुजीने कहा था कि *'भरत बिनय सादर सुनिअ करिअ बिचारु बहोरि। करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥',* सो भरतजी ठीक वैसा ही कर रहे हैं कि *'देव एक बिनती सुनि मोरी। उचित होइ तस करब बहोरी॥'* मेरी विनती सुन लीजिये, वैसा ही करनेको मैं नहीं कहता, करिये वही जो उचित हो।

दो०—सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलउँ मैं साथ॥ २६८॥

नतरु जाहिं बन तीनिउँ भाई। बहुरिअ सीय सहित रघुराई॥ १॥
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुनासागर कीजिअ सोई॥ २॥

अर्थ—भाई शत्रुघ्नसहित मुझे वनमें भेजिये, सबको सनाथ कीजिये। नहीं तो, हे नाथ! दोनों भाइयोंको लौटा दीजिये, मैं साथ चलूँ॥ २६८॥ नहीं तो (यह भी स्वीकार न हो तो) हम तीनों भाई वनको जायँ और हे रघुराई! आप श्रीसीताजीके सहित लौटें॥ १॥ जिस प्रकार प्रभुका मन प्रसन्न रहे, हे करुणासागर! वही कीजिये॥ २॥

नोट—श्रीभरतजीने प्रथम तिलक-सामग्रीके सफलार्थ निवेदन किया। पर तिलक स्वीकार करनेमें पिताके वचन (वनकी आज्ञा) का उल्लंघन होता है, उसके निर्वाहके लिये तीन उपाय एकके बाद एक कहते हैं—(१) शत्रुघ्नसहित मुझे वनकी आज्ञा दीजिये और आप अवधका राज्य ग्रहण करके माता, परिजन, पुरजन आदि सबको सनाथ कीजिये। '**सनाथ**' से जनाया कि वे सब अनाथ हो गये हैं; यथा—'***जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ। करि अनाथ जन परिजन गाऊँ॥***' (५७। ४) यह न स्वीकार हो तो (२) लक्ष्मण और शत्रुघ्नको लौटा दीजिये, मैं सेवाके लिये साथ चलूँ। यह भी न मंजूर हो तो (३) आप और सीताजी लौटें, हम तीनों भाई आपके बदले वनको जायँ। श्रीरामजीको शायद दोका वनवास ठीक न जँचे क्योंकि घरसे तीन वनको आये हैं; इसीसे यह तीसरा (alternative) प्रस्ताव रखा कि तीनके बदले इस प्रकार तीन वनमें रहेंगे।

आज्ञा तो श्रीरामजीकी है तब भरतजी अपने ऊपर वह आज्ञा ले लेनेसे पिताकी आज्ञाका पालन कैसे कहते हैं? वसिष्ठजीने प्रथम स्वयं कहा था कि '***तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लषन सीय रघुराई॥***' (२५६। ३) यदि प्रतिनिधिरूपमें एक पुत्रके बदले दूसरे पुत्रके आज्ञापालनसे पिताकी आज्ञाका पालन न होता तो वे ऐसा कदापि न कहते। उसी प्रमाणसे भरतजी ऐसा कह रहे हैं। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि शृंगवेरपुरमें ऐसे ही वचन भरतने (सीयसाथरी आदि देखकर) सब माताओंसे कहे थे—'**अद्यप्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा। फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन्॥ तस्याहमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने। तत्प्रतिश्रुतिमार्यस्य नैव मिथ्या भविष्यति॥ वसन्तं भ्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुवत्स्यति। लक्ष्मणेन सहायोध्यामार्यो मे पालयिष्यति॥ प्रसाद्यमानः शिरसा मया स्वयं बहुप्रकारं यदि न प्रपत्स्यते। ततोऽनुवत्स्यामि चिराय राघवं वनेचरं नार्हति मामुपेक्षितुम्॥**' (सर्ग ८८। २६—२८, ३०) अर्थात् आजसे मैं भी पृथ्वीपर तृण बिछाकर सोया करूँगा, फल-मूलका आहार करूँगा, जटा-वल्कलवस्त्र धारण करूँगा। उनके बदले मैं अवधिभर सुख मानकर वनमें रहूँगा, इस प्रकार वनवासकी प्रतिज्ञा भी झूठी न पड़ेगी। शत्रुघ्न भी मेरे साथ वनमें रहेंगे और लक्ष्मणसहित श्रीरामजी अयोध्याकी रक्षा करेंगे।······यदि मेरी प्रार्थना न स्वीकार करेंगे तो मैं उनके साथ ही वनमें रहूँगा, मुझे वे अवश्य अपने सेवकोंमें स्थान देंगे।

वि० त्रि०—'***नतरु जाहिं······रघुराई***' इति। विनती करनेमें चार विकल्प भरतलालने सामने रखे। (१) प्रधान प्रार्थना तो यह थी कि सरकार अभिषेक स्वीकार करें; क्योंकि कैकेयीने भरतजीको राज्य और उसीके निर्विघ्नार्थ रामजीको वन माँगा था, पर जब भरतजीने राज्य स्वीकार नहीं किया तो स्वभावतः गद्दी रामजीकी हो गयी। अब विघ्नका कोई प्रश्न ही नहीं रह गया, अतः वनवासका बन्धन भी जाता रहा। मुनिजीका भी यही मत था, यथा—'***बनहि देब मुनि रामहि राजू***' तथा '***देव देव अभिषेक हित गुर अनुसासन पाइ। आनेउँ सब तीरथ सलिल तेहि कहँ काह रजाइ॥***'

यदि यह बात रामजीके मनमें न बैठे तो दूसरा विकल्प भरतजी यह सामने रखते हैं कि हम दोनों भाई अपने-अपने हिस्सेका अदला-बदला कर लें। भरतजीको चक्रवर्तीजीने अवधका राज्य दिया था, और रामजीको वनका राज्य दिया था, यथा—'***पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥***' अतः मैं शत्रुघ्नके साथ वन जाऊँ और सरकार अयोध्या लौट जायँ। इस भाँति अदला-बदला हो जाय।

यदि यह विकल्प भी अस्वीकार हो तो मैं साथ चलूँ, लक्ष्मण-शत्रुघ्न घर लौट जायँ। मुझ अभागेकी बड़भागियोंमें गणना हो।

यदि सरकार यह समझते हों कि वनकी व्यवस्था मेरे बिना न सुधरेगी, यथा—*'जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू।'* तो हम तीनों भाई मिलकर सुधार लेवेंगे, सरकार सीताजीके साथ घर लौट जायँ। (आधे हविसे रामजीकी उत्पत्ति और आधेसे तीनों भाइयोंकी है, यथा—*'अर्ध भाग कौसल्यहि दीन्हा।'* इत्यादि)।

'जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई।''''''''' इति।—यह अन्तिम सिद्धान्त कहा—यह पाँचवीं बात है और पूर्व चारोंके साथ भी इसे ले सकते हैं अर्थात् इनमेंसे कोई भी जो अच्छा लगे वह कीजिये अथवा इनके अतिरिक्त जिससे मन प्रसन्न रहे वह कीजिये। यह जरूरी नहीं कि इन्हें आप करें। पूर्व जो कहा था *'उचित होइ जस'* वह सबके साथ है।

देव* दीन्ह सबु मोहि अभारू। मोरें नीति न धरम बिचारू॥ ३॥
कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू। रहत न आरत कें चित चेतू॥ ४॥
उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवकु लखि लाज लजाई॥ ५॥
अस मैं अवगुन उदधि अगाधू। स्वामि सनेह सराहत साधू॥ ६॥

शब्दार्थ—**मोहि**=मुझहीपर, मुझको। अभार=सं० आभार=बोझा, गृहस्थीका बोझ, गृह-प्रबन्धके देखभालकी जिम्मेदारी, यथा—*'चलत देत आभार सुनि वही प्रोसिनि नाह। लसी तमासेके दृगन हाँसी आँसुनि माँह'*—(बिहारी)। ☞ 'अ' उपसर्ग प्रायः निषेध सूचक है। इसका प्रयोग इन अर्थोंमें संस्कृत वैयाकरणोंने माना है। १—सादृश्य; जैसे, अब्राह्मण=ब्राह्मणके आचरणवाला अन्य वर्णका मनुष्य। २—अभाव; जैसे, अफल=फलरहित। ३—अन्यत्व; जैसे, अघट=घटसे भिन्न पट आदि। ४—अल्पता; जैसे, अनुदरी कन्या=कृशोदरी कन्या। ५—अप्राशस्त्य; जैसे, अधन=बुरा धन। ६—विरोध; जैसे, अधर्म=धर्मके विरुद्ध आचरण। इस प्रकार वीरकविजीने अभारका अर्थ कुमार किया है। जो तुम कहो वही करूँ, यह कुबोझ है। पर बाबा हरिहरप्रसादजी आदिने इसे 'आभार' का अपभ्रंश (छन्द बैठानेके लिये) मानकर ऊपर दिया हुआ अर्थ किया है। इसी प्रकार 'आशंका' का 'अशंका' प्रयुक्त हुआ है—*'तदपि असंका कीन्हिहु सोई।'* बाबू श्यामसुन्दरदासजीने *'दीन्हि सब मोहि सिर भारू'* पाठ दिया है, कहाँका है, नहीं मालूम। पु० रा० कु० का मत है कि भाषामें दीर्घका ह्रस्व कभी-कभी करके शब्द बना लिये जाते हैं जैसे आशंकासे अशंका, आश्चर्यसे अश्चर्य और अचरज, आहारसे अहार; आकाशसे अकाश इत्यादि वैसे ही यहाँ आभारसे अभार।

प० प० प्र० स्वामीका मत है कि 'आ' ('अ') का अर्थ 'सीमा' वा 'अति' है। यथा—'**आङीवदर्थेऽभिव्याप्तौ सीमार्थ धातुयोगजे इत्यमरः।**' इस तरह अभारु=अति भार, भारकी परम सीमा। 'चेतू' सावधानता, ज्ञान, बोध, चेतनाशक्ति।

अर्थ—हे देव ! आपने सारा भार (सब जिम्मेदारी) मुझपर ही डाल दिया परन्तु मुझमें न तो नीतिका विचार (ज्ञान) है और न धर्मका ही॥ ३॥ सब बातें अपने स्वार्थके लिये कह रहा हूँ। आर्तके चित्तमें चेत नहीं रह जाता (वह नहीं विचार सकता कि क्या कहना चाहिये)॥ ४॥ जो स्वामीकी आज्ञा सुनकर उत्तर दे ऐसे सेवकको देखकर लज्जा भी लज्जित (झिझकती, शर्मिन्दा) हो जाती है अर्थात् वह निपट निर्लज्ज है॥ ५॥ मैं अवगुणोंका ऐसा अगाध (गहरा, अथाह) समुद्र हूँ पर स्वामी (मुझपर प्रेम होनेसे) प्रेमसे साधु कहकर सराहते हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—*'देव दीन्ह सब मोहि अभारू।''''''''* इति। [(क) *'देव'* शब्दसे वाल्मी० २।१०६ के '**अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसंगरः। सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चापि राघव॥**' (६)

* 'देवं'—(ला० सीताराम)।

का भाव जना दिया। अर्थात् आप दिव्य हैं, देवसमान हैं, सत्त्वगुणयुक्त महात्मा सत्यप्रतिज्ञ सर्वज्ञ सर्वनियन्ता और बुद्धिमान् हैं।] यहाँ आभार शब्दका अभार हो गया। आभार=बड़ा बोझा। 'आभारू' न कहकर यहाँ अभारू कहनेमें भी अभिप्राय है। भाव यह कि दिया तो आपने बड़ा भारी भार मेरे सिरपर, पर उसे छोटा समझकर मेरे सिरपर धरा है; मेरे लिये यह भार ही बहुत भारी है पर आपको छोटा जान पड़ता है। ***'कहो सो करें'*** यही भार है। [(ख) ***'मोरें नीति न·······'*** इति। 'मुझको नीति और धर्मका विचार' नहीं है अर्थात् तब मैं कैसे यह भार उठा सकता हूँ। यदि कहें कि नीति और धर्मका विचार नहीं है तो यह सब नीति और धर्म कैसे कही कि ***'पठइय मोहि बन'*** इत्यादि, उसपर कहते हैं कि ***'रहत न आरत कें चित चेतू'*** इसीसे ***'कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू।'*** (रा० प्र०)।]

श्रीप्रज्ञानानन्दजीका मत है कि इन शब्दोंमें भाव वही है जो (लक्ष्मणजीके) ***'धरम नीति उपदेसिय ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥ मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला। मंदर मेरु कि लेहिं मराला॥'*** (७२।७,३) इन वचनोंके साथ श्रीरामजीके ***'भरत हंस रबिबंस तड़ागा'*** इन वचनोंको लेनेसे होता है। भाव यह कि ऐसे मरालके सिरपर 'आभार' रखना ठीक नहीं, वह उस बोझको कैसे उठा सकेगा।

टिप्पणी—२ ***'उतरु देइ सुनि·······'*** इति। (क) आज्ञामें उज्र करना, वा बहाना निकालना भी उत्तर देना है। प्रभुने आज्ञा दी कि ***'कहहु करउँ सोइ आज'*** उसपर भी मैं उत्तर देता हूँ कि ***'दीन्ह सब मोहि अभारू। मोरे नीति·······'*** इत्यादि। उत्तर देनेवाला सेवक हूँ; अतः ***'अवगुन उदधि अगाधू'*** हूँ। (ख)—यदि आज्ञासे वह आज्ञा लें जो संदेह रूपमें प्रभुने सुमन्त्रद्वारा दी थी, यथा—***'नीति न तजिय राजपदु पाए। पालेहु प्रजहि करम मन बानी।'*** (१५२।३-४) तो उसपर यह उज्र करना कि ***'मोरे नीति न धरम बिचारू',*** यही उत्तर देना है। पर यह इस दरबार-प्रसंगसे बहुत दूर पड़ता है।

* 'स्वामि सनेह सराहत साधू'*

इसके कई प्रकारसे अर्थ लोगोंने किये हैं। १—स्वामी स्नेहसे सराहते हैं कि 'साधु हैं।' (रा० प्र०) २—स्वामी मेरे प्रेमकी बड़ाई सत्य है, ऐसा कहकर करते हैं—(पां०) ३—'आपके प्रेमकी सराहना तो साधु लोग करते हैं अर्थात् मैं तो आपकी अवज्ञा करता हूँ, इसलिये बुरा हूँ, आप सब प्रकार भले हैं।' ४—साधु अगाध स्वामिप्रेम मानकर सराहते हैं। ५—स्वामी और साधु स्नेहकी प्रशंसा करते हैं। 'साधु' के अर्थ हैं—'सज्जन, सन्त, अच्छा, उत्तम, भला, सच्चा, प्रशंसनीय। ६—'स्वामि-स्नेहसे मुझको साधु सराहते हैं।' अथवा, मुझपर स्वामीका (आपका) स्नेह है इसीसे आप मुझको साधु कहकर सराहते हैं। पु० रा० कु० ७—हे स्वामिन्! आपका स्नेह ही साधु कहकर मेरी सराहना करता है। (प० प० प्र०)

(नोट—इस कथनसे प्रभुकी असीम अतिशय कृपा और प्रेम अपने ऊपर व्यंजित कर रहे हैं।)

☞ स्मरण रहे कि वसिष्ठजीने भी यही कहकर कि ***'आरत कहहिं बिचार न काऊ'*** सब भार 'रामरजाइ' पर डाला, भरतजीने भी वही किया। हमको उपदेश है कि आपत्तिमें प्रभुका ही आश्रय लें, उन्हींकी इच्छाको प्रधान मानें; यह कदापि न कहना चाहिये कि ऐसा कर दीजिये।

अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा॥ ७॥
प्रभुपद सपथ कहउँ सतिभाऊ। जग मंगल हित एक उपाऊ॥ ८॥

दो०—प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥ २६९॥

शब्दार्थ—**अनट** (सं० अनृत=अत्याचार)=उपद्रव, अनीति, अन्याय, यथा—***'सहि कुबोल साँसति सकल अँगइ अनट अपमान। तुलसी धरम न परिहरिय कहि करि गये सुजान॥'*** (दो० ४४६), ***'खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ'*** (विनय १००)। ***'अवरेब'*** (सं० अव= विरुद्ध+रेव=गति)= पेच, उलझन,

कठिनाई, बिगाड़, वक्रगति। यथा—*'रामकृपा अवरेब सुधारी। बिबुध धारि भइ गुनद गोहारी॥'* (३१७।३), *'रिषि नृप सीस ठगौरी सी डारी। कुलगुरु सचिव निपुन नेबनि अवरेब न समुझि सुधारी॥'* (गी० १।९८)

अर्थ—हे कृपालु! अब तो मुझे वही मत भाता है (अच्छा लगता है) जिससे स्वामीके मनमें संकोच न प्राप्त हो॥ ७॥ प्रभुके चरणोंकी कसम! मैं सत्यभावसे कहता हूँ कि जगत्‌मात्रके मंगलकल्याण भलाईका एक यही उपाय है॥ ८॥ प्रसन्न मनसे और संकोच छोड़कर प्रभु जिसे जो आज्ञा दें उसे ही सब लोग सिरपर धर-धरके करेंगे और सब उपद्रव और अड़चनें-उलझनें मिट जायँगी॥ २६८॥

नोट—१ *'सकुच स्वामि मन जाइ न पावा'*—यह वही है जो पूर्व अभी-अभी कह आये हैं कि *'जनहित प्रभु चित छोभु न होई'* इसीको यहाँ दुहराया है और आगे तेहरायेंगे, यथा—*'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि·······।'* तीन बार कहकर सत्य प्रतिज्ञा भी सूचित की जाती है। वैसे ही यहाँ तीन बार संकोच छोड़कर आज्ञा देनेके लिये विनय की है।

नोट—२ *'अनट अवरेब'*—अन्याय अनीति जो हुई कि बड़ेके रहते छोटेके लिये राज्य माँगा गया, फिर उसमें और अड़चनें पड़ीं कि वचन पालन करनेकी प्रतिज्ञाएँ की गयीं।

☞ यहाँतक इस भाषणमें भरतजीने चार पक्ष लिये। एक कि आप राज्याभिषेक कराकर राजा बनें, अवध लौट जायँ। दूसरा कि मैं और शत्रुघ्न, वा मैं लक्ष्मण शत्रुघ्न, वा, मैं और आप वनको जायँ। तीसरा कि जिस प्रकार मन आपका प्रसन्न हो वह करें, और चौथा यहाँ कहा कि *'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि·······।'* यह सर्वोपरि सिद्धान्त कहा। किसी बातका संकोच न कीजिये, मनमें कोई भी चिन्ता या सोच न कीजिये, केवल आज्ञा दीजिये, जो इच्छा हो, वही आज्ञा हम सब मानेंगे, उसमें प्रसन्नता मानेंगे और उसमें अपना मंगल-कल्याण मानेंगे।-अहा! कैसा जबरदस्त त्याग है! कैसा सर्वोच्च आत्मसमर्पण है!

नोट—३ यह प्रथम दरबार समाप्त हुआ पर इसमें एक बात भी निश्चय न हुई। श्रीरामचन्द्रजीने भरतजीसे कहा कि *'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आजु'* और भरतजीने उनपर यही कहते हुए छोड़ा कि *'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब·······।'* इन्होंने उनपर और उन्होंने इनपर छोड़ा। यहाँ दोनोंकी वाणीका एक स्वरूप है और सेवक-सेव्य-भाव पृथक् है।

नोट—४ स्वामी और सेवक भावका आदर्श यहाँ देख लीजिये।

प० प० प्र०—इस संवादमें शुद्ध मानवी मनका स्वभाव अति मार्मिक रीतिसे चित्रित किया गया है। भगवान् अपनेको भक्तपराधीन बता रहे हैं। भक्त अपनेको भगवदधीन जनाता है। गुरु भी भक्त-प्रेमाधीन होकर भक्तकी वकालत करते हुए भी सब भार रामेच्छापर ही छोड़ देते हैं। सुरपुरवासियों और अवधवासियोंके चित्तमें सुख-दुःखके कल्लोल पल-पलमें उठते और बदलते हैं। धर्मका त्याग करनेको कोई भी दूसरेको कहनेका साहस नहीं करता। राम-भक्तियुक्त वसिष्ठजी, भरतजी, माताएँ, प्रजा सभी अपने स्वार्थकी पूर्ति तो चाहते हैं पर साथ ही आज्ञापालन-धर्मको इससे एवं सबसे बड़ा परम स्वार्थयुक्त परमार्थ भी समझते हैं। यह है परमोच्च, भारतीय व्यवहारका आदर्श!! श्रीभरतजीने जो अनेक विकल्प रखे हैं इनमें धर्मनीतिकी निपुणता और सेवकधर्म दोनोंका समन्वय अत्यन्त कोमल प्रेम परिप्लुत हृदयसे किया गया है।

नोट—भरतभाषणका उपक्रम है *'करि प्रनाम बोले भरत।'* (२६६) और उपसंहार है *'भरत बचन सुचि।'* (२७०।१)

भरत बचन सुचि सुनि सुर हरषे। साधु सराहि सुमन बहु* बरषे॥ १॥
असमंजस बस अवधनिवासी। प्रमुदित मन तापस बनवासी॥ २॥
चुपहिं रहे रघुनाथ सँकोची। प्रभु गति देखि सभा सब सोची॥ ३॥

अर्थ—भरतजीके पवित्र वचन सुनकर देवता प्रसन्न हुए। 'साधु साधु', धन्य हो! धन्य हो! इस प्रकार

* 'सुर'—रा०प्र०।

(वा, साधुताकी) प्रशंसा करके उन्होंने बहुत फूल बरसाये १॥ अवधवासी दुविधामें पड़ गये (कि लौटेंगे या नहीं), तपस्वी और वनवासी मनमें बहुत प्रसन्न हुए॥ २॥ परंतु संकोची स्वभाव श्रीरघुनाथजी संकोच वश होकर चुप ही रह गये (कि क्या कहें)। प्रभुकी यह दशा देखकर सब सभा सोचमें पड़ गयी॥ ३॥

टिप्पणी—१ ***'भरत बचन सुचि सुनि सुर हरषे।''''''''*** 'इति। (क) भरतजीके वचनोंमें स्वार्थका सर्वथा पूर्णतया त्याग है, निष्कामता है और सेवकधर्मका सच्चा आदर्श है एवं स्वार्थ-परमार्थका सार है; इसीसे उनको 'शुचि' विशेषण दिया। अन्तिम वचनोंमें लेशमात्र अपवित्रता नहीं, प्रथम दो पक्ष जो उन्होंने लिये उनमें स्वार्थकी पूरी झलक है, तीसरेमें प्रसन्नता हो वह कीजिये यह कहा गया पर वहाँ संकोच फिर भी मनमें रहता और इससे तो संकोच भी हटा दिया गया।

(ख) देवता खिन्नचित्त हो गये थे, यथा—***'सुरगन सहित सभय सुरराजू।'*** (२६५। १) अब अपने अनुकूल वचन सुनकर हर्षित हुए। विपत्ति अब इस स्थानसे उठकर फिर अवधवासियोंपर पहुँची—***'असमंजस बस अवधनिवासी।'*** देवताओंने 'बहुत' फूल बरसाये क्योंकि स्वार्थकी सिद्धि हुई। फूल बरसाकर वे अपने हर्षको प्रकट कर रहे हैं। पुनः, भरतजीकी शरण गये थे, कार्य सिद्ध हुआ, अतः बहुत फूल बरसाकर पूजा-सेवा जना रहे हैं, यथा—***'बरषहि सुमन जनावहिं सेवा।'*** ***'साधु सराहि'*** अर्थात् 'साधु साधु', जो तुमने कहा वह सत्य है, सत्य है। शाबाश! ऐसा क्यों न कहो! तुम पूरे साधु हो, जो पराये कार्यको साधे वही साधु है, तुमने स्वार्थका त्याग करके हम सबोंका स्वार्थ साधा, यही सत्पुरुषोंका धर्म है। पुनः 'साधु सराहि',—***'भरत धन्य कहि धन्य कहि नभ सुर बरषहिं फूल।'***

(ग)—सुरगुरुके ***'तजहु सोच बिधि बात बनाई'*** इन वचनोंकी यहाँ सफलता दिखायी। अभीतक भरतजी बराबर लौटानेको ही चाहते रहे थे। [सर्वत्र भरतजीका भाव यही दर्शित होता रहा कि रामजी लौटें, यथा—(१) ***'तुम पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥ जेहि सुनि बिनय मोहि जन जानी। आवहिं बहुरि राम रजधानी॥'*** (२) ***'मिटइ कुरोग राम फिरि आए। बसइ अवध नहिं आन उपाए॥'*** (३) ***'सुनि बनगमन कीन्ह रघुनाथा। करि मुनि बेष लषन सिय साथा॥ बिनु पानहीं पयादेहि पाये। संकर साखि रहेउँ एहि घाये॥'*** (इससे जनाया कि आपका वनमें रहना हमको अप्रिय है; अतएव अवश्य लौटावेंगे)। पुनः भरतजीके मनका विचार यथा—(४) ***'अवसि फिरहिं गुरु आयसु मानी। मुनि पुनि कहब रामरुचि जानी॥ मातु कहे बहुरहिं रघुराऊ। राम जननि हठ करबि कि काऊ॥'***] इससे देवता दुःखित रहे, अब सुखी हुए जब उन्होंने कहा कि ***'किये रजाइ कोटि बिधि नीका'*** ***'अब कृपालु मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा॥'*** और ***'मन प्रसन्न करि''''''।'*** (पु० रा० कु०), और रामजीकी इच्छा वनमें रहनेकी है ही, यथा—***'नवगयंद रघुबीर मन राज अलान समान। छूट जानि बनगवन सुनि उर अनंदु अधिकान।'*** (५१)

टिप्पणी—२ ***'प्रमुदित मन तापस बनवासी'*** इति।—वनमें रहनेवाले तपस्वी प्रसन्न हुए क्योंकि प्रभुके वनवाससे वे निर्भय तप कर सकते थे और कोल-किरातादि हर्षित हुए कि दर्शनका विक्षेप होनेवाला था सो मिट गया।

टिप्पणी—३ ***'चुपहिं रहे रघुनाथ सँकोची।''''''''*** ' इति। प्रभुको मौन देख ***'सभा सब'*** अर्थात् अवध-समाज, मुनि-समाज और देव-समाज सभी सोचमें पड़ गये कि क्यों नहीं बोलते। क्या संकोच है? उत्तर—(क) पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि यद्यपि भरतलालने कहा कि ***'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब। सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥'*** तथापि इस प्रकारकी आज्ञा देना तो, दूसरे शब्दोंमें राजा होना स्वीकार करना है क्योंकि राजाकी ही आज्ञा सबपर चलती है। श्रीरामजी संकोचसे भरतलालको ऐसा उत्तर नहीं देना चाहते, अतः चुप ही रह गये। प्रभुको संकोचमें देखकर सारी सभा सोचमें पड़ गयी कि ये संकोचसे चुप हैं, मालूम होता है कि इन्हें अपने कार्यक्रममें किसी प्रकारका कुछ भी परिवर्तन इष्ट नहीं है। (ख) पं० रामकुमारजीका मत है कि संकोच एक तो यह कि ***'इत पितु बच उत बंधु सँकोचू।'*** दूसरे जो भरतने कहा कि हम वनको जायँ,

इसमें संकोच कि हम बड़े होकर घर रहें। ये लड़के वनमें कष्ट झेलें। (ग) मयंककार कहते हैं कि ***'नतरु जाहिं बन तीनिउ भाई'*** इसे सुनकर बुद्धि और विवेक कुछ काम न कर सके, अतएव प्रभु चुप हो रहे। कबतक चुप रहते और न जाने क्या होता अर्थात् न जाने क्या उत्तर देते, वे सोचमें मग्न थे कि इतनेमें जनक-दूत आ गये और उनके आनेसे और ही प्रसंग चला, यह प्रसंग जाता रहा मानो सोच-सिन्धुका आधार ये दूत जहाजरूपसे हुए। (घ) पंजाबीजी चुप रहनेके ये भाव लिखते हैं—(१) गम्भीर स्वभाव (२) इन वचनोंमें अपने मनोरथकी सिद्धि देखकर भीतरसे संतुष्ट हुए, शीघ्र कुछ न कहा क्योंकि सभाको दु:ख होता। (३) अन्तर्यामी हैं, जानते हैं कि राजा जनक भी आ रहे हैं, यदि अभी कहकर इनको बिदा कर दें तो उचित न होगा, सबका दरबार एक साथ हो जाय, वे भी जो कहना चाहें कह लें तब उनके और गुरुजी दोनोंके सिर भरतजीकी रक्षाका भार भी सौंपकर सबको एक साथ लौटावें।

पं० रामचन्द्र शुक्ल—इस पुण्य समाजके प्रभावसे चित्रकूटकी रमणीयतामें पवित्रता भी मिल गयी। उस समाजके भीतर नीति, स्नेह, शील, विनय, त्याग आदिके संघर्षसे जो धर्म-ज्योति फूटी, उससे आस-पासका सारा प्रदेश जगमगा उठा, उसकी मधुर स्मृतिसे आज भी वनस्थली परम पवित्र है। चित्रकूटकी उस सभाकी कार्यवाई क्या थी, धर्मके एक-एक अंगकी पूर्ण और मनोहर अभिव्यक्ति थी। रामचरितमानसमें वह सभा एक आध्यात्मिक घटना है। धर्मके इतने स्वरूपोंकी एक साथ योजना हृदयकी इतनी उदात्त वृत्तियोंकी एक साथ उद्भावना तुलसीके ही विशाल मानसमें सम्भव थी। यह सम्भावना उस समाजके भीतर बहुत-से भिन्न-भिन्न वर्गोंके समावेशद्वारा संघटित की गयी है। राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, माता और पुत्री, पिता और पुत्री, श्वशुर और जामातृ; सास और बहू, क्षत्रिय और ब्राह्मण, ब्राह्मण और शूद्र, सभ्य और असभ्यके परस्पर व्यवहारोंका उपस्थित प्रसंगके धर्म गाम्भीर्य और भावोत्कर्षके कारण अत्यन्त मनोहररूप प्रस्फुटित हुआ। धर्मके उस स्वरूपको देखकर सब मोहित हो गये। क्या नागरिक क्या ग्रामीण और क्या जंगली, भारतीय शिष्टता और सभ्यताका चित्र यदि देखना हो तो इस राज-समाजमें देखिये। कैसी परिष्कृत भाषामें कैसी प्रवचन पटुताके साथ प्रस्ताव उपस्थित होते हैं, किस गम्भीरता और शिष्टताके साथ बातका उत्तर दिया जाता है, छोटे-बड़ेकी मर्यादाका किस सरसताके साथ पालन होता है। सबकी इच्छा है कि राम अयोध्याको लौटें पर उनके स्थानपर भरत वनको जायँ, यह इच्छा भरतको छोड़ शायद ही और किसीके मनमें हो। अपनी प्रबल इच्छाओंको लिये हुए लोग सभामें बैठते हैं पर वहाँ बैठते ही धर्मके स्थिर और गम्भीर स्वरूपके सामने उनकी व्यक्तिगत इच्छाओंका कहीं पता नहीं रह जाता, राजाके सत्य-पालनसे जो गौरव राजा और प्रजा दोनोंको प्राप्त होता दिखायी दे रहा है उसे खण्डित देखना वे नहीं चाहते। जनक, वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि धर्मतत्त्वके पारदर्शी जो कुछ निश्चय कर दें उसे वे कलेजेपर पत्थर रखकर माननेको तैयार हो जाते हैं। इस प्रसंगमें परिवार और समाजकी ऊँची-नीची श्रेणियोंके बीच कितने सम्बन्धियोंका उत्कर्ष दिखायी पड़ता है। देखिये—(१) राजा और प्रजाका सम्बन्ध लीजिये। अयोध्याकी सारी प्रजा अपना सब काम-धंधा छोड़ भरतके पीछे रामके प्रेममें उन्हींके समान मग्न चली जा रही है और चित्रकूटमें रामके दर्शनसे आह्लादित होकर चाहती है कि १४ वर्ष यहीं काट दें। (२) भरतका अपने बड़े भाईके प्रति जो अलौकिक स्नेह और भक्तिभाव यहाँसे वहाँतक झलकता है, वह तो सबका आधार ही है। (३) ऋषि या आचार्योंके सम्मुख प्रगल्भता प्रकट होनेके भयसे भरत और राम अपना मत प्रकट करते सकुचाते हैं। (४) राम सब माताओंसे जिस प्रकार प्रेमभावसे मिले, वह उनकी शिष्टताका ही सूचक नहीं है, उनके अन्त:करणकी कोमलता और शुद्धता भी प्रकट करता है। (५) विवाहिता कन्याको पतिकी अनुगामिनी देख जनक जो यह हर्ष प्रकट करते हैं—

'पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥', वह धर्म-भावपर मुग्ध होकर ही। (६) भरत और राम दोनों जनकको पिताके स्थानपर कहकर सब भार उन्हींपर छोड़ते हैं। (७) सीताजी अपने पिताके डेरेपर जाकर माताके पास बैठी हैं। इतनेमें रात हो जाती है और वे असमंजसमें पड़ती हैं—***'कहत न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥'*** पति तपस्वीके वेषमें भूशय्यापर रात काटें और पत्नी उनसे अलग राजसी ठाट-बाटके बीच रहे, यही असमंजसकी बात है। (८) जबसे कौसल्या आदि आयी हैं, तबसे सीता बराबर उनकी सेवामें लगी रहती हैं। (९) ब्राह्मणवर्गके प्रति राजवर्गके आदर और सम्मानका जैसा मनोहर स्वरूप दिखायी पड़ता है, वैसे ही ब्राह्मणवर्गमें राज्य और लोकके हित-साधनकी तत्परता झलक रही है। (१०) केवटके दूरसे ऋषिको प्रणाम करने और ऋषिके उसे आलिंगन करनेमें उभय पक्षका व्यवहार-सौष्ठव प्रकाशित हो रहा है। (११) अन्य कोल-किरातोंके प्रति सबका कैसा मृदुल और सुशील व्यवहार है। (ना० प्र० ग्रन्थावलीसे)

प्रथम-दरबार-भाषण समाप्त हुआ

श्रीजनक-दूत-आगमन

जनक दूत तेहि अवसर आए। मुनि बसिष्ठ सुनि बेगि बोलाए॥ ४॥
करि प्रनाम तिन्ह रामु निहारे। बेषु देखि भए निपट दुखारे॥ ५॥
दूतन्ह मुनिबर बूझी बाता। कहहु बिदेह भूप कुसलाता॥ ६॥
सुनि सकुचाइ नाइ महि माथा। बोले चरबर जोरें हाथा॥ ७॥
बूझब राउर सादर साँई। कुसल हेतु सो भएउ गोसाँई॥ ८॥

शब्दार्थ—'**चर**'=राजाकी ओरसे नियुक्त किया हुआ मनुष्य जिसका काम प्रकाश या गुप्त रूपसे अपने अथवा पराये राज्योंकी भीतरी दशाका पता लगाना हो; गूढ़ पुरुष; दूत।

अर्थ—उसी समय श्रीजनक महाराजके दूत आये। श्रीवसिष्ठ मुनिने सुनकर उनको तुरन्त (वहाँ) बुला लिया॥ ४॥ उन्होंने प्रणाम करके श्रीरामजीको देखा तो उनका मुनिवेष देखकर वे अत्यन्त दुःखी हुए॥ ५॥ मुनिश्रेष्ठने दूतोंसे बात पूछी (कि) विदेहराजका कुशल (समाचार) कहो॥ ६॥ (कुशल-प्रश्न) सुनकर, सकुचाकर, पृथ्वीपर माथा नवाकर हाथ जोड़े हुए वे श्रेष्ठ दूत बोले—स्वामिन्! आपका सादर पूछना ही, हे गोसाँई! कुशलका कारण हो गया॥ ७-८॥

नोट—१ (क) *'जनक दूत'* इति। यहाँ विदेह शब्द नहीं दिया क्योंकि जो विदेह होगा वह दूत कैसे भेजेगा और विदेहके दूत इतनी दूर जाते क्योंकर, वे तो ब्रह्मानन्दमें ही मग्न रह जाते। इससे यह भी प्रारम्भमें ही जना दिया कि जनकमहाराज भी वनवास सुनकर दुःखी हुए हैं। (प० प० प्र०) ऐसे-ऐसे अवसरोंपर प्रायः 'जनक' या नृप आदि शब्दोंका ही प्रयोग हुआ। यथा—*'जनक कीन्ह कौसिकहि प्रनामा।…… मुदित राउ कहि भलेहि कृपाला॥' 'पठए दूत बोलि तेहि काला।'* (१। २८६, २८७) *'राजा सबु रनिवास बोलाई। जनकपत्रिका बाँचि सुनाई॥'* (१। २९५) इत्यादि। (ख) *'तेहि अवसर'* अर्थात् जिस समय सब शोचमें पड़े थे और रघुनाथजी संकोचवश चुप थे, कुछ बोलते नहीं थे। (ग) *'मुनि बसिष्ठ…… बोलाए'* इति। यहाँ वसिष्ठजी पिताके स्थानपर हैं, इससे उन्होंने बुलाया। विवाहके समय जब दूत आये थे तब राजाने बुलाया था, क्योंकि वे मौजूद थे। (घ) *'बेगि बोलाए'* इति। इससे अपना प्रेम और उनका सम्मान जनाया। दूसरे, सभाके उत्थानका समय जानकर शीघ्र बुलाया जिसमें सब जनक महाराजके आगमनका समाचार सुन लें। (पं०) तीसरे, जितनी जल्दी वे आयँगे उतनी ही जल्दी सबका सोच-संकोच दूर हो जायगा, लोगोंका चित्त उधर लग जायगा और वे शीघ्र न बुलाये जाते तो सम्भव था कि रघुनाथजी भरतजीको उत्तर भी दे देते। तब फिर सबको अवध लौटनेकी तैयारी करनी पड़ती, सबको शोक होता। उनके शीघ्र

आ जानेसे सभा इसी समय समाप्त होगी, कुछ दिन सबको और रामदर्शनका सौभाग्य प्राप्त रहेगा। अत: *'बेगि बोलाए।'*

नोट—२ *'करि प्रनाम तिन्ह रामु निहारे''''''' ।'* गुरुजीने बुला भेजा था अत: प्रथम उनको प्रणाम करना उचित था। अत: उनको प्रणाम करके तब श्रीरामजीकी ओर निहार कर देखा। भाव कि व्यवस्था तो सुन चुके थे, अब उनको देखा। दूसरे वह मूर्ति ही ऐसी है कि एक बार देखा या सुना हो तो देखनेकी लालसा ही रहती है। वेष देखकर निपट दु:खी हुए, क्योंकि ब्याहके बाद आज ही प्रथम देखा, कहाँ तो वह दूलह रूप *'ब्याह साज सब साजें'* का दर्शन और कहाँ उन्हीं आँखों आज तपस्वी वेष वल्कल वस्त्र आदि धारण किये देखा।

नोट—३ *'सुनि सकुचाइ नाइ महि माथा।'''''''* 'इति। दूत क्यों सकुचा गये? (उत्तर)—(क) अवधमें ऐसा अनर्थ हुआ, हम कैसे कहें कि विदेहका कल्याण है, वे सकुशल हैं—(रा० प्र०)। (ख) उत्साहका समय हो तो कुशल कहें, यह समय तो कुशलका नहीं, यह समझ सिर नीचे कर लिया। (पु० रा० कु०) (ग) दूत मुनिके कुशल-प्रश्नको व्यंग्य समझकर सकुचे। व्यंग यह कि जिस विपत्तिमें संसार विकल हो गया उसमें वे क्यों विकल होने लगे, देही होते तो वे भी समधियानेके इस घोर अनर्थ और आपत्तिको सुनकर व्याकुल हो तुरत दौड़े आते, 'विदेही' हैं देहाध्यासरहित हैं, उनपर इसका क्या प्रभाव पड़ सकता? अतएव वे तो अवश्य ही कुशल होंगे। पुन: 'विदेह' का भाव कि उनकी सारी प्रजा ही विदेही है; विदेहीका किसीपर ममत्व कैसा? इसीसे ऐसे अनर्थमें कोई भी मनुष्य न आया। (पाँड़ेजी, वै०) इसी भावको दीनजीके शब्दोंमें सुनिये—गुरुने पूछा कि विदेहकी कुशल कहो अर्थात् वे मजेमें हैं न? अवधमें इतना बड़ा कठोरताका बीभत्स ताण्डव नृत्य हो गया, उन्हें खबर क्यों हुई होगी? गूढ़ व्यंग कि वे सत्य ही विदेह हैं, संसारकी उन्हें खबर ही नहीं; इसीसे जामाताकी भी खबर न ली। 'विदेह' शब्दमें **'विवक्षितवाच्य संलक्ष्यक्रम व्यंग्य'** है। (घ)—नृपमृत्यु, रामवनवास और अवध शोकका घर, ऐसेमें विदेहका कुशल कैसे कहें और यदि मुनिसे कहें कि आपका प्रश्न ही अनुचित है तो ढिठाई है और यदि चुप रहें तो गुरुकी अवज्ञा होगी अत: संकोचवश हो गये। (पं०)। (ङ) प्रश्नमें व्यंग्य समझ गये अत: 'वर' विशेषण दिया अर्थात् बड़े चतुर हैं, बुद्धिमान् हैं।

वि० त्रि०—*'दूतन्ह''''''''जोरें हाथा।'* दूतोंके आते ही मुनिजीने विदेहराजकी कुशल पूछी। इतने दिनोंतक जनकपुरसे ऐसी अनर्थकारी घटना होनेपर भी किसीका न आना और आज ढूँढ़ते हुए दूतोंका चित्रकूट आना समझकर मुनिजीको जनकजीके विषयमें शंका हो गयी, इसलिये उन्हें जल्दीसे बुलवाया, और आते ही विदेहराजकी कुशल पूछी। भाव यह कि मुनिजी भलीभाँति जानते हैं कि जनकजीके विदेहत्वका कारण रामप्रेम है। चक्रवर्तीजीका प्रेम प्रकट था इनका गूढ़ था। दूतके आनेसे मुनिजीको उनकी कुशलमें संदेह हो उठा कि कहीं 'सम समधी' ने अपना समत्व अन्ततक तो नहीं निबाहा।

दूत बड़ा बुद्धिमान् था, प्रश्न सुनते ही सब आशय समझकर संकुचित हो गया। कैसे कहे कि सब कुशल है। अत: वह विदेहत्वको राजाके प्राण बचनेका कारण बतलाने लगा। यदि विदेह न होते तो उनकी भी चक्रवर्तीजीकी-सी गति होती।

नोट—४ *'बूझब राउर सादर साँई।'''''''* 'इति। आदरपूर्वक पूछना ही कुशलका कारण हुआ। अर्थात् कुशल न थी, उनकी विदेह दशा जाती रही थी, वे ऐसे व्याकुल हो गये कि उनका कुशल नहीं जान पड़ता था। पर आपने जो 'विदेह' सम्बोधन करके उनका 'कुशल' पूछा है तो अब वे अपनी पूर्व विदेह दशाको अवश्य प्राप्त हो जायँगे, उनका शोक अब दूर हो जायगा और वे जीवित (कुशल) बच जायँगे। आपके ये दोनों शब्द ही उनके लिये आशीर्वाद रूप हैं। यहाँ 'प्रथम चित्रोत्तर अलंकार' है।

दो०—नाहिं त कोसलनाथ कें साथ कुसल गइ नाथ।
मिथिला अवध बिसेष तें जगु सबु भयउ अनाथ॥ २७०॥

कोसलपति गति सुनि जनकौरा। भे सब लोक सोक बस बौरा॥ १॥
जेहिं देखे तेहि समय बिदेहू। नामु सत्य अस लागि न केहू॥ २॥

शब्दार्थ—**जनकौरा**=[जनक+औरा (प्रत्यय)] जनकका स्थान या नगर, यथा=*'बाजहिं ढोल निसान सगुन सुभ पाइन्हि। सिय नैहर जनकौर नगर नियराइन्हि॥'* (जानकी मंगल ७४) राजा जनकके वंशज या सम्बन्धी। **लोक**=लोग। **बौरा**=बावला, पागल।

अर्थ—नहीं तो, हे नाथ! कुशल तो कौशलदेशके स्वामी[1] (श्रीदशरथ महाराज) के साथ ही चली गयी, सारा जगत् ही अनाथ हो गया, जनकपुर और अवध तो विशेषरूपसे अनाथ हो गये॥ २७०॥ जनक महाराजके सम्बन्धी एवं जनकपुरवासी सभी लोग कोशलराजकी गति (मृत्यु) सुनकर शोकवश बावले हो गये। (अर्थात् सबका ज्ञान जाता रहा॥ १॥ उस समय जिनने विदेहजीको देखा उनमेंसे किसीको ऐसा न लगा कि 'विदेह' नाम सत्य है। अर्थात् सबने यही जाना कि ये झूठे ही विदेह कहलाते हैं, विदेह हैं नहीं, सत्य ही विदेह होते तो शोकातुर कदापि न होते, उनपर राजाकी मृत्यु और रामवनवास आदिका प्रभाव ही न पड़ता॥ २॥[2]

नोट—१ *'नाहिं त कोसलनाथ कें साथ कुसल गइ·······'* इति। (क) 'कोसलनाथ' में गूढ़ भाव यह भी है कि कुशलके नाथ ही न रहे तब कुशल कैसी? यदि आज हमारे राजा 'विदेह' न होते तो शोकसे आज संसारमें कुशलका अभाव ही हो जाता। (दीनजी) (ख) कुशल तो कोशलेश दशरथजीके साथ इस लोकको छोड़कर सुरलोकको चली गयी, तब किसीकी कुशल कैसे हो सकती है? भाव कि अब तो कुशलको इन्द्र आदि देवताओंके लिये दशरथजी साथ लेकर गये हैं, उन्हींकी कुशल होगी, संसारमें किसीकी कुशल नहीं; क्योंकि 'कुशल' पदार्थ ही यहाँसे चला गया जिससे सबकी कुशल होती। (ग) दशरथ-मरणसे साधारणतया तो संसार भर अनाथ हो गया पर मिथिला और अवध तो विशेषरूपसे अनाथ हो गये। जनकपुरके दूत हैं इसीसे चतुराईसे 'मिथिला' को प्रथम कहा अर्थात् पहले मिथिला ही अनाथ हुई, अवधसे अधिक शोक मिथिलामें छा रहा है, यहाँसे वहाँ किसी प्रकार शोक कम नहीं है।

नोट—२ *'जेहिं देखे तेहि समय बिदेहू। नामु सत्य·······'* इति। विदेहीको दुःख कैसा? दुःख तो देहीको होता है न कि विदेहीको—यह व्यंगार्थ वाच्यार्थके साथ ही प्रकट हो रहा है। *'नामु सत्य अस लागि न केहू'* के भाव अर्थमें आ गये हैं। गुरुजीके कहे हुए व्यंगपूर्ण 'विदेह' शब्दका उत्तर दूतोंने कैसी मनोहर युक्तिके साथ दिया है। (वीर)

पं०, रा० प्र०—(दूसरा अर्थ) 'विदेह नाम सत्य है ऐसा किसे न लगा' अर्थात् अभीतक तो सुनते ही थे कि विदेह हैं पर परीक्षा आज ही हुई। शोकके मारे वे देहाध्यासरहित हो गये, देहसुध जाती रही तब सबने जान लिया कि सचमुच ये विदेह हैं, यथा नाम तथा गुण।

पु० रा० कु०—तीसरा अर्थ यह होता है—'विदेह तो विदेह ही हैं; पर उस समय तो जिसीको देखिये वही विदेह हो गया। 'विदेह' नाम छोड़ और कोई (जो-जो जिसके नाम थे वे) नाम सत्य न लगे, सत्य यही नाम लगा।'

रानि कुचालि सुनत नरपालहि। सूझ न कछु जस मनि बिनु ब्यालहि॥ ३॥
भरत राज रघुबर बन बासू। भा मिथिलेसहि हृदय हराँसू॥ ४॥
नृप बूझे बुध सचिव समाजू। कहहु बिचारि उचित का आजू॥ ५॥

१-सरयू वा घाघराके दोनों तटोंपरका देश कोशल कहलाता था। उत्तर तटवाला उत्तर कोशल और दक्षिणवाला दक्षिण कोशल कहलाता है। इसके कोई ४ खण्ड और कोई ७ खण्ड कहते हैं। अयोध्या इसकी राजधानी है।

२-अर्थान्तर—जिसको देखिये उसे उस समय विदेह देखिये। जैसा विदेह नाम सबको सच्चा लगा, वैसा किसीको कभी नहीं लगा। (नं० प०) पं० रामकुमारजीने यह अर्थ किया है।

समुझि अवध असमंजस दोऊ। चलिअ कि रहिअ न कह कछु कोऊ॥ ६॥

शब्दार्थ—**हरास** (ह्रास)=दुःख, भयसहित चिन्ता और व्याकुलता।

अर्थ—रानीकी कुचाल सुनते ही, राजाको कुछ न सूझ पड़ा (वे ऐसे व्याकुल हो गये) जैसे मणि बिना सर्पको कुछ नहीं सूझता॥ ३॥ भरतको राज्य और रघुवर श्रीरामचन्द्रजीको वनवास! यह सुनकर जनक महाराजके हृदयमें क्लेश हुआ॥ ४॥ राजाने पंडितों और मन्त्रियोंकी समाजसे पूछा कि विचारकर कहिये, आज क्या उचित कर्तव्य है॥ ५॥ अवधमें दोनों असमंजस समझकर वा अवधकी दशा समझ दोनों प्रकारसे असमंजस (कठिनाई, अड़चन, आगा-पीछा) देख, चलिये वा रहिये अर्थात् न जाइये, कोई कुछ भी नहीं कहता॥ ६॥

नोट—१ ***'सूझ न कछु जस मनि बिनु ब्यालहि'*** इति। (क) सर्पकी मणि खो जाती है तो वह व्याकुल हो छटपटाता है, उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता। वैसे ही राजाको कुछ न सूझ पड़ा कि क्या करना चाहिये; पुनः, (ख)—'मणिफणिका दृष्टान्त देकर सूचित किया कि 'राजाका हृदय अनर्थ करनेवालोंपर अति रोषसे भर गया।' जैसे सर्पकी मणि खो जाय तो वह बड़ा कुपित हो जाता है, मनुष्यको पा जाय तो प्राण ही ले ले। (पां०)

नोट—२ ***'भरत राज रघुबर बन बासू।''''''हराँसू'*** इति। यह अनीति सुनी, इससे दुःख हुआ। छोटी रानीका पुत्र और वह भी छोटा पुत्र—उसको राज्य हो, यह वंशके लिये कलंक है। और, बड़ी रानीका पुत्र, वह भी सब पुत्रोंमें ज्येष्ठ अतएव राज्याधिकारी है वह वनको भेजा गया, यह लोक-वेद आदि सब भाँतिसे महादोष है—ऐसा समझकर दुःख हुआ।

नोट—३ ***'समुझि असमंजस दोऊ।'''''*** इति।—असमंजस दोनों प्रकारसे यह कि राजाका मरण सुनकर वहाँ न जायँ तो अनुचित और वहाँ जायँ तो कैकेयी और भरतके पक्षमें समझे जावेंगे, अवधवासियों एवं कौसल्या, सुमित्रा आदिके विरोधी बनेंगे। और, यदि जाकर भरत और कैकेयीको समझावें और वे न मानें तो जाना भी व्यर्थ हो और उनसे विरोध हो। दूसरे हमारे घर भाई-भाईमें फूटका डर है। भाई कुशध्वज यह न समझें कि भरत उनके दामाद हैं और राम हमारे, इसीसे हम भरतके राज्यमें विरोध करते हैं। दोनों ही दामाद हैं, किसकी-सी करें, कुछ भी बन नहीं पड़ता।

नृपहिं धीर धरि हृदय बिचारी। पठए अवध चतुर चर चारी॥ ७॥
बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ। आएहु बेगि न होइ लखाऊ॥ ८॥

दो०—गए अवध चर भरत गति बूझि देखि करतूति।
चले चित्रकूटहि भरत चार चले तिरहूति॥ २७१॥

शब्दार्थ—'**नृपहिं**'=राजाने ही। '**सतिभाउ** '=यहाँ 'कुभाऊ' के साथ देकर उलटा अर्थ जनाया अर्थात् सद्भाव, शुभचिन्ताकी वृत्ति, प्रेम और हितका भाव, मेलजोल, अच्छी नीयत। '**लखाऊ**'=लक्ष्य, पता, पहचान, चिह्न, ताड़ने या भाँपनेका भाव, यथा—***'और एक तोहिं कहौं लखाऊ। मैं एहि बेष न आउब काऊ॥'*** (१।१६९) **बूझि**=अपनी बुद्धिसे समझकर जानकर। **चर, चार**=गुप्त दूत, जासूस।

अर्थ—तब राजाने ही धीरज धरकर हृदयमें विचारकर चार चतुर गुप्तचर अवध भेजे (और उनसे कहा कि)॥ ७॥ भरतजीके सद्भाव या दुर्भावका पता लगाकर तुमलोग शीघ्र लौटना, किसीको तुम्हारा पता न लगे॥ ८॥ दूत अवधको गये। भरतजीकी दशा समझकर और उनकी करनी (सद्व्यवहार) देख, जैसे ही भरतजी चित्रकूटको चले गुप्तचर तिरहुतको चल दिये॥ २७१॥

नोट—***'पठए अवध चतुर चर चारी'*** एवं ***'चार चले'***—यहाँ 'चर' और 'चार' शब्द दूतोंके लिये देकर यह भी जनाया कि ये चलनेमें भी बहुत तेज हैं और ***'आएहु बेगि'*** कहा भी है। पुनः 'चार' संख्या भी बताता है। अर्थात् वे चारों गुप्तचर लौटे।

टिप्पणी—१ *'बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ।'''''* इति। यहाँ भाव-कुभाव जाननेका कारण है, उसकी जरूरत है; क्योंकि वे सुशील-सदाचारी आदि रहे हैं, जब अवधमें अनर्थ हुआ तब वे ननिहालमें थे। अब आये हैं, तो देखना है कि उनमें वही सदाचार बना है या वे माताके कहनेमें आकर भाईपना और रघुकुलनीतिको तिलांजलि दे बैठे हैं। (ख)—गति अर्थात् मनका व्यवहार पूछकर लोगोंसे सुन-समझकर कि कैकेयीको झिड़का, कौसल्यासे शपथ खायीं और सभामें कैसे विह्वल हुए और गुरु, मन्त्री, किसीके कहनेसे भी राज्य ग्रहण न किया। 'करतूत' कि ऐसा राज्य त्यागकर प्रभुको मनानेको जा रहे हैं।

रा० प्र०—चार दूत भेजे। जिसमें विचारमें कसर न रहे। एकसे चारका विचार अधिक निश्चयात्मक होगा। सन्देह न रह जायगा।

वि० त्रि०—भाव यह कि विदेहराजने समझा कि यह सब काण्ड भरतजीकी अनुपस्थितिमें हुआ है, बहुत सम्भव है कि रानीके कुचालमें भरतका हाथ बिलकुल न हो, अतः भरतजीके भाव-कुभावको प्रस्थानके पहले जान लेना आवश्यक है। अतः महाराज तो अवध नहीं गये, पर उनकी आँखें वहीं लगी हुई थीं। '**चारैः पश्यन्ति राजानः।**' चार गुप्तचर अयोध्यामें छूटे हुए थे, वे रत्ती-रत्तीका पता ले रहे थे। उन्होंने भरतजीका भाव समझ लिया, उनकी करतूत आँखों देख ली। तबतक अवधमें ठहरे रहे जबतक भरतजीका प्रस्थान चित्रकूटको नहीं हुआ। अतः यद्यपि देखनेमें तो विदेहराजकी ओरसे भारी उपेक्षा थी, पर वस्तुतः बड़ी सावधानी थी।

दूतन्ह आइ भरत कइ करनी। जनक समाज जथामति बरनी॥ १॥
सुनि गुर परिजन सचिव महीपति। भे सब सोच सनेह बिकल अति॥ २॥
धरि धीरजु करि भरत बड़ाई। लिये सुभट साहनी बोलाई॥ ३॥
घर पुर देस राखि रखवारे। हय गय रथ बहु जान सँवारे॥ ४॥

शब्दार्थ—**जथा**=जैसी, जिस प्रकारकी। **जथामति**=जैसी बुद्धि है वैसी, समझके मुताबिक। '**साहनी**' (सं० सेनानी)=सेना=साथी, संगी, यथा—*'धरहु भार निज शीश बैठारहु किन साहनी। हमहिं न ओछि महीश मैं खेलब नृप सदसि मह'*—(सबल)।=पारिषद, सभासद्, आनुयायिवर्ग। विशेष देखिये *'भरत सकल साहनी बोलाई।'* (१।२९८।३)=हाथी-घोड़े आदिके दारोगा या जमादार—यहाँ भी यही अर्थ है।

अर्थ—दूतोंने आकर श्रीजनकजीके समाजमें श्रीभरतजीकी करनीका अपनी बुद्धिके अनुसार वर्णन किया॥ १॥ गुरु, कुटुम्बी, मन्त्री और राजा सभी उसे सुनकर शोच और स्नेहसे अत्यन्त व्याकुल हो गये॥ २॥ फिर श्रीजनकजी धैर्य धारण करके श्रीभरतजीकी प्रशंसा करके अच्छे-अच्छे योद्धाओं और साहनियोंको बुलाकर, घर, नगर और देश (मिथिलाप्रान्त) में रक्षकोंको रखकर, घोड़े, हाथी और रथ आदि बहुत-सी सवारियाँ सजवायीं॥ ३-४॥

नोट—१ *'जथामति बरनी'* अर्थात् वह अकथनीय है, इससे जो कुछ वर्णन करते बना कहा। *'जनक समाज'* के 'जनक' पदसे यह भी जनाते हैं कि इस समाजमें 'जनक' पदवीवाले अर्थात् निमिवंशी परिवार बहुत था।

नोट—२ *'भे सब सोच सनेह बिकल अति'* इति। (क) गुरु शतानन्दजी। सोच नृपकी मृत्यु और राम-वनवासका, स्नेह भरतके इस सद्भावपर। (पु० रा० कु०) (ख) पहले कैकेयीकी करनीका सोच था, अब सोचे कि प्रयोजन किसीका सिद्ध न हुआ, व्यर्थ ही सब उपद्रव हुआ, हाथ किसीके कुछ न लगा। (वै०)

नोट—३ *'लिये सुभट साहनी बोलाई।'* योद्धाओं (सेनापतियों) को महल, पुर आदिकी रक्षा करनेके लिये और दारोगाओंको हाथी, घोड़े आदि सजानेके लिये।

दुघरी साधि चले ततकाला। किए बिश्रामु न मग महिपाला॥ ५॥
भोरहिं आजु नहाइ प्रयागा। चले जमुन उतरन सबु लागा॥ ६॥

खबरि लेन हम पठए नाथा। तिन्ह कहि अस महि नाएउ माथा॥ ७॥
साथ किरात छ सातक दीन्हे। मुनिबर तुरत बिदा चर कीन्हे॥ ८॥

शब्दार्थ—**दुघरी**=दुघड़िया मुहूर्त; दो-दो घड़ियोंके अनुसार निकाला हुआ मुहूर्त। यह मुहूर्त होराके अनुसार निकाला जाता है। रात-दिनकी ६० घड़ियोंको दो-दो घड़ियोंमें विभक्त करते हैं और फिर राशिके अनुसार शुभाशुभ समयका विचार करते हैं। इसमें दिनका विचार नहीं किया जाता, सब दिन सब ओरकी यात्राका विधान होता है। इस प्रकारका मुहूर्त उस समय देखा जाता है जब यात्रा किसी प्रकार दूसरे दिनपर टाली नहीं जा सकती। वि० टी० कार लिखते हैं कि रुद्रयामलतन्त्रग्रन्थमें यह मुहूर्त शिव-पार्वती-संवादरूपमें कहा गया है। इसका उल्लेख अथर्ववेद, महाभारत, पाणिनीय व्याकरण आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया जाता है। दुघड़ियामें माघ-फाल्गुन माससे गणना प्रारम्भ की गयी है इससे इसका प्रचार वैदिक कालसे होना प्रतीत होता है। इसमें कुल १६ मुहूर्त होते हैं, मुहूर्तका मान ४८ मिनटका होता है। साधारणतया १६ मुहूर्तोंका फल उन नामानुसार है, उनमें उसी प्रकारके कार्य करनेसे लोग सिद्धिको प्राप्त होते हैं। जैसे रुद्र मुहूर्तमें रौद्रकार्य, मैत्रमें स्नान-दान आदि, रावणमें वैर-साधन, विभीषणमें शुभ कार्य, भार्गवमें स्त्रीसेवन, सावित्रीमें सुविद्यापठन इत्यादि। **हम**=हमको। **तत्काल**=उसी समय, तुरंत, फौरन। **छ सातक**=कोई (लगभग) छः-सात।

अर्थ—द्विघटिका मुहूर्त शोधकर (विचरवाकर) राजा तुरंत चल दिये, रास्तेमें विश्राम भी न किया॥ ५॥ आज सबेरे ही प्रयाग-स्नान करके चले, सब लोग यमुना पार होने लगे॥ ६॥ (तब) हे नाथ! हमें स्वामीने खबर लेनेको भेजा। उन्होंने (दूतोंने) ऐसा कहकर पृथ्वीपर माथा नवाया अर्थात् प्रणाम किया॥ ७॥ मुनिश्रेष्ठने तुरत कोई छः-सात किरात साथ देकर दूतोंको तुरत विदा किया॥ ८॥

नोट—१ ***'दुघरी साधि चले ततकाला।'''''' '*** इति। (क) वैशाख शु० १४ गुरुवारको दूत श्रीअयोध्याजीसे लौट आये। उस दिन स्वाती नक्षत्र था, यात्राका कोई योग न था; अतएव शिवमतसे द्विघटिका शोधकर चले। (वै०) (ख) 'महिपाल' हैं, अतः पृथ्वीकी रक्षाका इतना खयाल रखते हैं कि मुकामतक न किया। पुनः, भाव यह कि ऐसे बड़े राजा होकर भी विश्राम न किया, प्रेममें दौड़े चले ही आये।

नोट—२ ***'भोरहिं आजु नहाइ प्रयागा।'''''' '*** इति।—पंजाबीजी कहते हैं कि इससे जनाया कि प्रयागमें रातको रहे थे और कहीं नहीं ठहरे थे। पर इससे जरूरी नहीं कि वहाँ ठहरना मान ही लिया जाय। वहाँ स्नान करना कहते हैं, रात चाहे मार्गमें बीती हो।

नोट—३ ***'तिन्ह कहि अस महि नाएउ माथा'*** इति। बड़ोंके सामने बात करनेमें आदि और अन्तमें प्रणाम करना शिष्टाचार है। अब प्रणाम करके जनाया कि जो कुछ कहना था वह कह चुके, अब चलनेकी आज्ञा हो।

नोट—४ ***'छ सातक'*** दिये जिसमें जनकसमाजको आरामसे ला सकें। पुनः, आदर सम्मानार्थ इतने दिये नहीं तो चाहे एक-दो ही देते। खर्रेमें एक भाव यह भी दिया है कि छ+सात=१३ किरात दिये, क्योंकि 'तेरहु+त' नाथको लाना है—पर यह केवल पाण्डित्य है।

नोट—५ दूतोंका उत्तर यहाँ समाप्त हुआ। ***'सुनि सकुचाइ नाइ महि माथा। बोले'''''''' '*** (२७०। ७) उपक्रम और ***'तिन्ह कहि अस महि नायउ माथा।'*** (२७२। ७)। उपसंहार है। दूतोंका प्रसंग ***'जनकदूत तेहि अवसर आए''''''बोलाए।'*** (२७०। ४) से ***'मुनिबर तुरत बिदा चर कीन्हे।'*** (२७२। ८) तक है। पूर्व सभाका प्रसंग ***'चुपहि रहे रघुनाथ सँकोची।'''''''' '*** (२७०। ३) पर छूटा था, उसी प्रसंगको मिलाकर यहाँ सभाकी समाप्ति कहते हैं—***'रघुनंदनहिं सकोच बड़ सोच बिबस सुरराज।'*** (२७२) ☞ चित्रकूट प्रथम दरबार समाप्त हुआ।

दो०—सुनत जनक आगवनु सबु हरषेउ अवधसमाजु।
रघुनंदनहि सकोच बड़ सोच बिबस सुरराजु॥ २७२॥

गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषनु देई॥ १॥
अस मन आनि मुदित नर नारी। भयेउ बहोरि रहब दिन चारी॥ २॥
एहि प्रकार गत बासर सोऊ। प्रात नहान लाग सबु कोऊ॥ ३॥

शब्दार्थ—'**गरइ**'=गली जाती है, शरीर क्षीण होता है, संकुचित और लज्जित हो रही है।

अर्थ—श्रीजनकमहाराजका आगमन सुनकर सब अवधसमाज प्रसन्न हुआ। रघुनन्दन श्रीरामजीको बड़ा संकोच हुआ और इन्द्र तो बड़े ही शोचमें पड़ गये॥ २७२॥ कुटिला कैकेयी ग्लानिसे गली जाती है। किससे कहे और किसे दोष देवे? (अर्थात् अपना ही सब कर्तव्य है तो रोवे किससे; कोई उसकी तरफ नहीं, सभीसे उसने शत्रुता कर ली तब कहे भी तो किससे, कौन उसके दर्दको सुनेगा)॥ १॥ स्त्री-पुरुष मनमें ऐसा विचारकर प्रसन्न हो रहे हैं कि फिर चार (कुछ) दिन रहना हुआ (नहीं तो आज ही श्रीरामजीने सबको बिदा कर दिया होता)॥ २॥ इस प्रकार वह भी दिन बीत गया। दूसरे दिन सबेरे सब कोई स्नान करने लगे॥ ३॥

नोट—१ ***'हरषेउ अवधसमाजु। रघुनंदनहिं सकोच·····'*** इति। (क) अवधसमाजको हर्ष यह समझकर हुआ कि अब जनकमहाराज अवश्य लौटा ले जावेंगे, नहीं भी लौटे तो कम-से-कम चार-छः दिन तो और रहनेको अवश्य ही मिला, यही बात कवि कहते हैं—***'भयेउ बहोरि रहब दिन चारी।'*** श्रीरघुनाथजीको संकोच कि श्वशुर पिताके समान हैं, ये लौटनेको कहेंगे तब कैसे बनेगी। संकोच तो भरतके ही आनेपर हुआ था अब ये भी आ गये, इससे अधिक हो गया; अतएव ***'बड़ सकोच'*** कहा। इन्द्र सोचमें डूब ही गया कि ***'एक न शुद दो शुद'***, अभी तो एक भरतको ही झखते थे अब तो एक और आ गये जिनकी आज्ञा श्रीरामजी टाल नहीं सकते। (ख) ***'हरषेउ अवधसमाजु'*** की व्याख्या आगे है।

नोट—२ ***'गरइ गलानि कुटिल कैकेई।' 'कुटिल'*** से जनाया कि अपनी कुटिलतापर पछता रही है कि हमने बुरा किया, हमसे बड़ी भारी चूक हुई, अब मैं समधिनियों आदिको कैसे मुँह दिखाऊँगी।

टिप्पणी १—पु० रा० कु०— शरीर क्षीण होता है मानो पाप छूटता जाता है। अन्तःकरणमें अपनी चूकका पश्चात्ताप होनेसे पाप क्षीण हो जाता है। ***'काहि कहइ·····'*** अर्थात् सोचती है कि महत्सभामें क्या जवाब दूँगी। मंथरा जातिकी चेरी; उसको क्या दोष दूँ, कोई बड़ा आदमी होता तो उसकी आड़ भी ले सकती कि उनके कहनेसे मैंने ऐसा किया, इसका नाम लें तो लोग और भी हँसेंगे। और ***'काहि कहइ·····'*** से ग्लानिकी अधिकता दिखायी। पृथ्वीसे बीच माँगा, यमसे मृत्यु; सो भी न मिली, तब अब किससे कहे। इस तरह लाचारी वा विवशता दिखायी।

टिप्पणी २— ***'एहि प्रकार गत बासर सोऊ'*** अर्थात् इस तरह मनोराज करते-करते दिन-रात बीत गयी। 'बासर' से २४ घंटेकी दिन-रातसे तात्पर्य है।

करि मज्जनु पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ ४॥
रमारमनपद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥ ५॥
राजा रामु जानकी रानी। आनँद अवधि अवध रजधानी॥ ६॥
सुबस बसउ फिरि सहित समाजा। भरतहि रामु करहु जुबराजा॥ ७॥

शब्दार्थ—'**अंचल**'—साड़ीका वह छोर या भाग जो सिरपरसे होता हुआ छातीपर फैला रहता है, छोर, पल्ला।

अर्थ— स्नान करके सब स्त्री-पुरुष गणेशजी, गौरीजी (देवी), त्रिपुरके शत्रु महादेवजी और सूर्यकी पूजा करते हैं॥ ४॥ फिर लक्ष्मीपति विष्णुभगवान्‌के चरणोंकी वन्दना करके पुरुष हाथ जोड़कर और (स्त्रियाँ) आँचल पसारकर विनती करती हैं कि॥ ५॥ श्रीराम राजा हों, श्रीजानकीजी रानी हों, आनन्दकी सीमा ऐसी,

अवधराजधानी फिरसे समाजसहित सुखपूर्वक स्वतन्त्ररूपसे बसे और श्रीरामचन्द्रजी श्रीभरतजीको युवराज बनावें॥ ६-७॥

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ *'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप······'* इति। (क) अवधवासी पंचदेवके उपासक हैं। जो जिसका उपासक है उसीकी पूजा करता है। गाणपत्य, शाक्त, शैव और सौर्य अपने-अपने इष्टसे प्रार्थना करते हैं। अथवा, (ख) पूजनका क्रम बताया कि किस क्रमसे पूजते हैं। पंचदेवकी उपासना करके तब रामभक्ति माँगते हैं, फलके विषयमें सबकी अनन्यता है। सबसे विनय करके यह माँगना कि *'बसहु रामसिय मानस मोरे', 'देहि मा मोहि पन प्रेम यह नेम निज नाम घनश्याम तुलसी पपीहा', 'रघुपतिपद परम प्रेम तुलसी चहै अचल नेम देहु ह्वै प्रसन्न पाहि प्रनतपालिका', देहि कामारि श्रीराम पदपंकजे भक्ति भवहरनि गतभेद माया', 'गिरिजामनमानस मराल कासी समसान निवासी। तुलसिदास हरिचरन कमल वर देहु भक्ति अविनासी', 'देहु कामरिपु रामचरनरति तुलसिदास कहुँ कृपानिधान'* और *'तुलसी रामभक्ति बर मागै'*—जैसा कि विनयपत्रिकामें गोस्वामीजीने माँगा है—अनन्यता ही है। यह उपासना पंचदेवोंकी नहीं हुई किन्तु अपने इष्टकी हुई। (ग) ये देवता सब श्रीरामजीके अनन्य उपासक हैं, इस सम्बन्धसे इनका पूजन करके उनसे रामप्रेम माँगते हैं। बालकाण्डके मंगलाचरणमें इसपर बहुत कुछ भाव कहे जा चुके हैं।

टिप्पणी—२ *'आनँद अवधि अवध रजधानी'* इति। *'आजु सकल सुकृतफल पाइहौं। सुखकी सींव अवधि आनंद की अवध बिलोकिहौं पाइहौं।'* (गी० १। ४८) विश्वामित्रजीके इस वाक्यसे मिलान कीजिये।

टिप्पणी—३ *'सुबस बसउ फिरि सहित समाजा।······'* इति। (क) राजाके सात प्रधान अंग हैं। इसके अतिरिक्त और भी अंग हैं, सहित समाजसे उन्हीं अंगोंसे तात्पर्य है। *'सुबस बसउ',* यथा—*'सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई।'* (३६। ३) देखिये। श्रीदशरथजीने जो भविष्य कहा था कि *'सुबस बसिहि फिरि'* वही ये सब भी माँग रहे हैं। *'फिरि'* का भाव कि इस समय अवध उजाड़ हो गया है और अनाथ है; यथा—*'अवध उजारि कीन्हि कैकेई। दीन्हिसि अचल बिपति कै नेई॥'* (२९। ८)' *'अवध सुहाई'*—भाव कि इस समय वह भयावन है, यथा— *'लागति अवध भयावनि भारी।'* (८३। ५) वह सुहावनी होकर बसे। (ख) *'भरतहिं रामु करहु जुबराजा'* इति। भाव कि राजाके साथ ही युवराज भी बना लें जैसे *'राज दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ जुबराज।'* पीछे युवराज बनानेमें उलझनका भय भी रहता जैसे अबकी अनर्थ खड़ा हो गया, दूसरे जब लड़के होंगे तब इनको राज्य क्यों मिलने लगा। इससे भरतपर प्रेम और कृतज्ञता दिखाते हैं।

नोट— रा० प्र० का मत है कि 'करहिं' की जगह 'करहु' प्रेमकी विह्वलताके कारण लिखा गया; इसी तरह लक्ष्मणवाक्यमें *'सोवहु समर सेज दोउ भाई'* कहा है। विशेष २३० (४) में देखिये।

एहि सुख सुधा सींचि सब काहू। देव देहु जग जीवन लाहू॥ ८॥
दो०—गुर समाज भाइन्ह सहित रामराजु पुर होउ।
अछत राम राजा अवध मरिअ माँग सबु कोउ॥ २७३॥

शब्दार्थ—**सुधा**=अमृत=जल, यथा—*'मुए करइ का सुधा तड़ागा।'*

अर्थ— हे देव! इस सुखरूपी अमृत-जलसे सबको सींचकर संसारमें जन्म लेनेका लाभ दीजिये॥ ८॥ गुरु, समाज और भाइयोंसहित श्रीरामजीका राज्य अवधपुरीमें हो और श्रीरामजीके राजा रहते श्रीअयोध्याजीमें ही हमारी मृत्यु हो—सब कोई यही (वरदान) माँगते हैं॥ २७३॥

नोट—*'एहि सुख सुधा सींचि······'* इति। (क) पंचदेवोंसे प्रार्थना करते हैं कि हम सब लोग विरहतापसे अभीतक संतप्त रहे, अब इस सुखसुधाजलसे सबको तर करके शीतल कर दीजिये। (ख) *'देहु जग जीवन लाहू'*—भाव कि संसारमें जन्म पानेका लाभ यही है। मिलान कीजिये—*'सियराम सुरूपु अगाध अनूप बिलोचन मीनन को जलु है। श्रुति रामकथा मुख राम को नाम हिये पुनि रामहिं को थलु है। मति रामहि सों गति रामहिं सों रति राम सों रामहि को बलु है। सबकी न कहै तुलसी के मते एतनो जग जीवनुको फलु है॥'*

(क० उ० ३७) *'राम सनेही रामगति रामचरन रति जाहि। तुलसी फल जग जनम को दियो बिधाता ताहि॥'* (दो० ५८) (ग) राज्याभिषेक-प्रसंगके पूर्व भी पुरवासी आदि श्रीरामजीके बलवान्, दीर्घजीवी, नीरोग आदिकी कामना करते रहे हैं। स्त्रियाँ प्रातः और सायंकाल शुद्ध और स्वस्थ होकर मनस्वी श्रीरामचन्द्रजीके कल्याणके लिये देवताओंको नमस्कार करती रही हैं। यथा—'**आशंसते जनः सर्वो राष्ट्रे पुरवरे तथा।**''''''**स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः। सर्वा देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे मनस्विनः।**' (वाल्मी० २। २। ५१-५२) वैसे ही इस समय भी सब देवताओंसे इस मंगलकी याचना करते हैं। (ध) *'गुर समाज'* के दो प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं—एक गुरु और राजसमाज राजाके शेष छः प्रधान अंग सम्पूर्ण, दूसरे गुरुजनोंका समाज अर्थात् गुरु-माता आदि।

मा० हं०—गोस्वामीजी स्वधर्मके लिये सुदेश और सुराज्यके समर्थक थे। परंतु वे इतनेमें ही संतुष्ट न थे। वे कहते हैं कि सुदेशमेंका सुराज्य भी सुतन्त्र चाहिये। इसे उन्होंने इस प्रकार दर्शाया है—*'राजा राम जानकी रानी। आनँद अवधि अवध रजधानी॥', 'सुबस बसउ फिरि सहित समाजा।'* इसका सारांश है— (अयोध्याकी प्रजा कहती है) आनन्दकी सीमा अयोध्या ही राजधानी रहे और हम सब प्रजाओंसहित राजा राम और रानी जानकीजी वहाँ सुतन्त्र रहें।

गोसाईंजीकी इस भावनाकी उत्कटता कैसी आश्चर्यजनक है वह *'एहि सुख सुधा सींचि सब काहू।'''''''* इत्यादिसे स्पष्ट है।

इस वर्णनसे दो बातें बड़ी ही महत्त्वकी निकलती हैं। १—स्वतन्त्रताके लिये ईश्वरोपासन यही गोसाईंजीके मतसे नित्य कर्मका हेतु दिखायी देता है। २— स्वतन्त्रतामें अर्थात् सुदेशोंके सुराज्यमें मरना ही उनके मतसे जीनेका सच्चा लाभ है। इस लाभसे विरहित केवल मोक्षाधिकारकी प्राप्ति भी उन्हें अभीष्ट नहीं मालूम होती।

वहाँतक गोसाईंजीने स्वधर्मके लिये सुदेश, स्वराज्य और सुतन्त्रताकी त्रयी लोकशिक्षाकी दृष्टिसे आवश्यकता बतलायी है। अन्तमें उन्होंने एक अपूर्व बात निर्दिष्ट की है जो यह है—*'जौं अनीति कछु भाषउँ भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥'* हम जिसे अपूर्व बात कहते हैं वह स्वामीजीका राजवर्जन है। राजा अनीति सिखलानेवाला हुआ तो प्रजाको क्या हक है, यह उन्होंने इसमें बतलाया है। इस प्रकारसे हमें स्वामीजी स्वधर्मके लिये अपने समाजशिक्षा शास्त्रकी जो चतुःसुत्री दे गये हैं वह यह है— सुदेश, सुराज्य, स्वतन्त्रता और राजवर्जन।

सुनि सनेहमय पुरजन बानी। निंदहिं जोग बिरति मुनि ग्यानी॥ १॥
एहि बिधि नित्य करम करि पुरजन। रामहिं करहिं प्रनाम पुलकि तन॥ २॥
ऊँच नीच मध्यम नर नारी। लहहि दरसु निज निज अनुहारी॥ ३॥
सावधान सबहीं सनमानहिं। सकल सराहत कृपानिधानहिं॥ ४॥
लरिकाइहि तें रघुबर बानी। पालत नीति प्रीति पहिचानी॥ ५॥

शब्दार्थ—**अनुहारी**=योग्य, उपयुक्त, अनुकूल, मुताबिक, यथा—*'बर अनुहारि बरात न भाई', 'सुकबि कुकबि निज मति अनुहारी। उत्तम मध्यम नीच लघु निज-निज थल अनुहारि॥'* **बानी**=वाणी=बानि, स्वभाव, टेक।

अर्थ—अवधवासियोंकी प्रेमपूर्ण वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि अपने वैराग्य और योगकी निन्दा करते हैं॥ १॥ इस प्रकार अवधवासी अपना नित्य कर्म करके श्रीरामचन्द्रजीको पुलकित-शरीर होकर प्रणाम करते हैं॥ २॥ ऊँच, नीच और मध्यम सभी श्रेणियोंके स्त्री-पुरुष अपने-अपने अधिकार और भावके अनुसार प्रभुका दर्शन पाते हैं॥ ३॥ प्रभु सावधान होकर सबका सम्मान करते हैं, सभी कृपानिधान रामचन्द्रजीकी सराहना करते हैं॥ ४॥ लड़कपनसे ही रघुवरकी यह टेव है कि वे प्रेम पहचानकर नीतिका पालन करते हैं॥ ५॥

नोट १—*'निंदहिं जोग बिरति मुनि ग्यानी''''''* ' इति। (क) अर्थात् अपने ज्ञान-वैराग्यकी निन्दा करते हैं, ऐसे हमारे ज्ञान और वैराग्य अष्टांगयोगको धिक्कार है कि हममें प्रेमका लेश नहीं और इन अवधवासियोंमें इतना प्रेम! योग-वैराग्यसे हरि मिलते हैं पर प्रेमसे वे शीघ्र प्रसन्न होते हैं—*'उमा जोग जप ज्ञान तप*

नाना ब्रत अरु नेम। राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निःकेवल प्रेम॥' (६। ११६) *'जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥'* पुनः, (ख) भाव कि योग-वैराग्यमें हमें भगवान् नहीं मिलते और ये लोग भगवान्के लिये देवताओंसे प्रार्थना करते हैं। (दीनजी)

वि० त्रि०—भाव यह है कि जैसा सुन्दर योग और वैराग्यका परिपाक प्रेममें बिना जाने हो जाता है, वैसा परिपाक जान-बूझकर स्वातन्त्र्येण करनेसे नहीं होता जैसी आनन्दमयी ध्यान-धारणा इन लोगोंकी हो रही है, वैसी क्या योगियोंकी होती है? *'अछत राम राजा अवध मरिअ माँग सब कोउ'* क्या यह राग वैराग्यसे करोड़ों गुणा बढ़कर नहीं है?

नोट—२ *'एहि बिधि नित्य करम करि पुरजन।'''''' '* इति। (क) यह पुरवासियोंका नित्यका कर्म दिखाया। *'करि मज्जन पूजहिं नरनारी।'* (२७३। ४) से २७४ (३) तक। (ख) *'पुलकि तन'* श्रीरामजीके स्मरण आदिमें पुलकित होना आवश्यक है। यह पूर्व कई बार लिखा जा चुका है। यथा—*'रामहिं सुमिरत'''''' ।'* (दोहावली ४२) (ग) *'लहहि दरसु निज निज अनुहारी।'* अर्थात् जिसका जैसा अधिकार है। ऊँच, नीच, मध्यम अर्थात् ब्राह्मण, शूद्र और क्षत्रिय, वैश्य। अथवा, जो महाराज दशरथके सम्बन्धमें हैं वे ऊँच, जिनको रघुनाथजी पुत्रकोटिमें मानते हैं वे नीच और जिनको भ्रातृ-सम्बन्धमें मानते हैं वे मध्य हैं। ये सब अपने-अपने अनुसार दर्शन पाते हैं। अर्थात् बड़े बालक मानकर दर्शन करते हैं, मध्य सखा मानकर और नीच स्वामी या पिता मानकर। (रा० प्र०)

नोट—३ *'सावधान सबहीं सनमानहिं।'''''' '* यथा— *'बड़ी साहिबीमें नाथ बड़े सावधान हो।'* (क० ७। १२६) यथार्थ सम्मान करनेमें 'कृपानिधान' विशेषण दिया। अर्थात् ये कृपाके सागर या खजाना हैं, अपनी कृपासे सबका आदर करते हैं।

पु० रा० कु०— (अर्थ) नीति और प्रीतिको पहचानकर पालते हैं अर्थात् जिसमें जैसी नीति है उसके साथ उस नीतिका पालन करते हैं और जिसकी जैसी प्रीति है उसके प्रेमका पालन करते हैं। वा, नीति, प्रीति, पहचान तीनोंको पालते हैं, कोई बिगड़ने नहीं पाते।

प० प० प्र०— *'पालत नीति प्रीति पहिचानी'* इति। इसका सम्बन्ध *'सावधान सबहीं सनमानहिं'* से है। बालकाण्डमें जो कहा है कि *'गनी गरीब ग्रामनर नागर। पंडित मूढ़ मलीन उजागर॥ सुकबि कुकबि निज मति अनुहारी। नृपहि सराहत सब नर नारी॥ साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस अंश भव परम कृपाला॥ सुनि सनमानहिं सबहि सुबानी। भनिति भगति नति गति पहिचानी॥ यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ। जान सिरोमनि कोसलराऊ॥ रीझत राम सनेह निसोते।'* (१। २८। ६—११) वही सब *'सावधान सनमानहिं'* से कहा है। यहाँ भी *'पालत नीति प्रीति पहिचानी'* इत्यादि कहा है।

सील सकोच सिंधु रघुराऊ। सुमुख सुलोचन सरल सुभाऊ॥ ६॥
कहत राम गुनगन अनुरागे। सब निज भाग सराहन लागे॥ ७॥
हम सम पुन्यपुंज जग थोरे। जिन्हहिं रामु जानत करि मोरे॥ ८॥

दो०—प्रेम मगन तेहि समय सब सुनि आवत मिथिलेसु।
सहित सभा संभ्रम उठेउ रबिकुल कमल दिनेसु॥ २७४॥

शब्दार्थ—**सुमुख**=सुन्दर प्रसन्न वदन, मिष्टभाषी। **सुलोचन**=कृपा भरे हुए सुन्दर नेत्र। **संभ्रम**=उतावली, उत्कण्ठा और उत्साहसे, आदर और पूज्य भावसे—*'सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी॥'* (१। १९३। १) '**समौ संवेगसंभ्रमावित्यमरः।**'

अर्थ— श्रीरघुनाथजी शील और संकोचके समुद्र हैं। सुन्दर प्रसन्नमुख एवं मधुरभाषी, सुन्दर नेत्रवाले (शील-कृपारूपी जल भरे हुए) और सरल स्वभाव हैं। (फिर ऐसा क्यों न करें)॥ ६॥ श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंको कहते-कहते सब प्रेममें भर गये और सभी अपने भाग्यकी बड़ाई करने लगे॥ ७॥ हमारे समान

पुण्य-समूहवाले जगत्‌में बहुत कम होंगे कि जिन्हें श्रीरामजी अपना (ये मेरे हैं ऐसा) करके जानते हैं॥ ८॥ उस समय सब लोग प्रेममें मग्न हैं, इतनेमें ही श्रीजनक महाराजको आते हुए सुनकर सूर्यकुलरूपी कमलके सूर्य श्रीरामचन्द्रजी सभासहित आदरपूर्वक उत्साहित हो शीघ्रतासे उठ गये॥ २७४॥

नोट—१ (क) *'सील सकोच सिंधु।'* अर्थात् सबका शील-संकोच यथातथ्य रखते हैं। यथा—*'सीलसिंधु सुंदर सब लायक समरथ सदगुनखानि हौ। पाल्यो है पालत पालहुगे प्रीति रीति पहिचानिहौ॥ २॥ बेद पुरान कहत जग जानत दीनदयाल दिनदानि हौ॥'* (वि० २२३) (ख) *'सुमुख'* में कई भाव हैं।—(१) प्रसन्न वदन है, कभी अपने दुःख-सुख या किसीके अपराधसे मुखकी प्रसन्नता नहीं मिटने पाती, यथा **'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।'** *'अपराधिहु पर कोह न काऊ।'* (२) मधुर मृदु वाणी, और (३) मनहरण सौन्दर्य। *'सुलोचन'*—नेत्रोंमें शील होना उनकी सुन्दरता है। कृपादृष्टिसे सबको देखना जनाया। एवं यह कि नेत्रकी चेष्टा भी कभी नहीं बिगड़ती। *'सरल सुभाऊ'* भी है अर्थात् मुख, नेत्र आदि सुन्दर भी हों पर स्वभाव बुरा हो तो वह सौन्दर्य भी किसी कामका नहीं होता। इनका स्वभाव सौम्य, कोमल और निष्कपट है।

☞ नोट—२ *'कहत राम गुनगन अनुरागे।…'* इससे जनाया कि प्रेम चाहते हो तो प्रभुके गुणोंका गान करो। श्रीरामगुणके गान, स्मरण और श्रवणसे अनुराग उत्पन्न होता है। यथा—*'तब हनुमंत कही सब रामकथा निज नाम। सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम॥'*— (सु० ६), *'सुनि सब राम कथा खगनाहा। कहत बचन मन परम उछाहा॥…भयउ रामपद नेह तव प्रसाद बायस तिलक।'* (७। ६८), *'हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥'* (१। १११। ७) *'समुझि-समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ।'* (वि० १००)

नोट—३ *'हम सम पुन्यपुंज जग थोरे।'* इति। (क) भाव कि ऐसे बहुत कम सुकृती होंगे, एवं जब हमारे समान कम मिलेंगे तब अधिककी तो चर्चा ही क्या? हमको राम अपना मानते हैं, यथा— *'अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।'* (७।४।७) *'ममता जिन्हपर प्रभुहि न थोरी।'* (१।१६।२) यह बात औरोंमें मिलनी कठिन है। दोहावलीमें कहा है—*'सबै कहावत रामके सबहि रामकी आस। राम कहैं जेहि आपनो तेहि भजु तुलसीदास॥'* (दो० १४१) (प्र० सं०) पुनः भाव कि *'पुन्यपुंज मग निकट निवासी। तिन्हहि सराहहिं सुरपुर बासी॥ जे भरि नयन बिलोकहिं रामहिं। सीता लषन सहित घनश्यामहिं॥'* जिस रास्तेसे सरकार गये उसके निकट निवास करनेवाले ऐसे पुण्यपुंज हैं कि उन्हें सुरपुरवासी सराहते हैं, ये तो रामजीकी प्रजा हैं, रामजीसे सम्मान पाते हैं। यथा—*'सावधान सबही सनमानहिं'*, तथा—*'ममता जिन्हपर प्रभुहि न थोरी।'* अतः उनके महान् पुण्यपुंज होनेमें सन्देह ही क्या है? अपनेको पुण्यपुंज कहकर प्रजावर्ग सरकारकी प्रशंसा करते हैं। (वि० त्रि०)

नोट—४ *'संभ्रम उठेउ रबिकुल कमल दिनेसु'*—सुष्ठुकुलवाला दूसरेका भी आदर करता है, ये रविकुलकमलके भी विकसित करनेवाले और जगत्‌को भी प्रकाशसे सुख देनेवाले हैं अतः ये क्यों न आगे जाकर उनको लावें। (पु० रा० कु०)

नोट—५ इस दोहेसे मिलता हुआ श्लोक पुलस्त्यसंहितामें यह कहा जाता है—**'जनकागमनं श्रुत्वा ससभ्यो रघुनन्दनः। उत्थितः सम्भ्रमात्सूर्यवंशपद्मप्रभाकरः॥'** (र० ब०) (हमारे पास यह ग्रन्थ नहीं है।)

'जनकजीका चित्रकूट-प्रवेश'

मा० हं०—जनकजीका चित्रकूट-प्रवेश अध्यात्म और वाल्मीकिरामायणोंमें नहीं है। उसके न रहनेके कारण व्यवहार बहुत ही शून्य दीख पड़ता है। इस शून्यताकी गोसाईंजीको बड़ी क्षति मालूम हुई, अतएव उन्होंने उसकी पूर्ति कर दी।* ……इस जनक-प्रवेशके द्वारा अयोध्याकाण्डमें अन्तका भाग बहुत ही पठनीय

* साहित्यिक दृष्टिसे ऐसा कह सकते हैं पर यह प्रसंग किसी-न-किसी ग्रन्थमें अवश्य ऐसा मिलेगा। वह गोस्वामीजीकी गढ़न्त नहीं है। जैसे अन्य बहुत-से प्रसंग मिले हैं वैसे ही पौराणिक लोग इसे भी ढूँढ़ें।

और मननीय है। इसका कारण स्वामीजीके जनकजी *'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञाना'* अर्थात् भागवतके **'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्'**— इस तत्त्वके समर्थक हैं। यदि वे वैसे न होते तो चित्रकूट-शिखरका दर्शन होते ही *'करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं'* ऐसी चेष्टा उनकी देह कभी न दिखा सकती। २-जनकप्रवेशके पहले स्थल, लोक आदिका जो वर्णन है, वह इस प्रवेशकी मनोहरता बढ़ानेको सत्यमें बहुत ही सहायक हुआ है; परंतु उस वर्णनमें जो स्वामीजीका अन्तःकरण प्रतिबिम्बित हुआ है वही असलमें देखने योग्य है।

स्वामीजीने जनकजी और देवी सुनयनाका प्रवेश लिखकर चित्रकूटके जनकप्रवेशमें मानो प्राण ही भर दिया। उसमेंकी सीतादेवीके प्रशंसासे पाठकोंका आत्मा एकाएक विकसित होकर फिर भरतजीके प्रशंसासे एकदम प्रशान्त हो जाता है। इस प्रवेशके पढ़नेसे सहज ही कल्पना होती है कि यदि जनकजी राम-दर्शनसे विमुख रहते तो हमारे पाठकोंको बड़ी ही हानि पहुँचती। क्योंकि पाठकोंके लिये भरतजीके पारमार्थिक तत्त्वोंका निदर्शन करानेवाला और रामजीकी तुलना भरतजीसे करके प्रत्येकको विशेषता दिखानेवाला और भरतजीकी स्वतन्त्र योग्यता बतलानेवाला अधिकारसम्पन्न शिक्षक जनकजीके अतिरिक्त कोई भी चित्रकूटकी रंगभूमिपर उस समय उपस्थित नहीं था।

स्वामीजीके जनकजीके हम सब अत्यन्त ऋणी हैं इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इस विषयमें यदि हम स्वामीजीको ही परम कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद देवेंगे तो भी उनके जनकजी हमको अनृणी कर देवेंगे ऐसी आशा है। इसका कारण यही है कि जबसे जनकजी स्वामीजीकी दीक्षामें शरीक हो गये तबसे वे दोनोंसे अभिन्न भाव रहते हुए दिखाते हैं।

भाइ सचिव गुर पुरजन साथा। आगें गवनु कीन्ह रघुनाथा॥ १॥
गिरिबरु दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनामु रथ त्यागेउ तबहीं॥ २॥
रामदरसु लालसा उछाहू। पथश्रम लेसु कलेसु न काहू॥ ३॥
मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥ ४॥
आवत जनकु चले एहि भाँती। सहित समाज प्रेम मति माँती॥ ५॥

शब्दार्थ—**केहि**=किसको।

अर्थ—भाई, मन्त्री, गुरु और पुरवासियोंको साथ लिये रघुनाथजी आगे चले॥ १॥ ज्यों-ही जनकराजने गिरिश्रेष्ठ कामतानाथका दर्शन पाया त्यों-ही उन्होंने प्रणाम करके रथ त्याग दिया और उतरकर पैदल चलने लगे॥ २॥ श्रीरामदर्शनकी लालसा और उत्साहके कारण मार्गका थकावट-सम्बन्धी क्लेश किसीको लेशमात्र जरा भी नहीं है॥ ३॥ मन तो वहाँ है जहाँ रघुबर-वैदेही श्रीसीतारामजी हैं। बिना मनके* शरीरके

* चित्तमेव हि संसारं तत्प्रयत्नेन शोधयेत्। यच्चित्तस्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्सनातनम्॥ १॥ चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्। प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते॥ २॥ समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे। यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात्॥ ३॥ मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च। अशुद्धं कामसम्पर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम्॥ ४॥ लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम्। यदायात्यात्मनीभावं तदा तत्परमं पदम्॥ ५॥ तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावत्क्षयं गतम्। एतज्ज्ञानञ्च मोक्षञ्च शेषोऽन्ये ग्रन्थविस्तराः॥ ६॥' (इति मैत्रायणीये)। पुनश्च—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्॥ १॥ समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणे न गृह्यते॥ २॥' इति श्रुतिः। (वन्दन पाठकजी)

अर्थात् चित्त ही संसार (जन्म-मरणका कारण) है अतः प्रयत्नपूर्वक उसीका संशोधन करना चाहिये। यह सनातन नियम है कि जैसा चित्त होता है चेतन तन्मय हो जाता है॥ १॥ चित्तके निर्मल होनेसे शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब निर्मल चित्तवाला अक्षय सुखका भोक्ता हो जाता है॥ २॥ प्राणियोंका चित्त जैसा विषयोंमें

दु:ख-सुखकी खबर किसको हो (अर्थात् सुख-दु:खका अनुभव मनद्वारा होता है। जब मन दूसरी जगह आसक्त है तब थकावटके कष्टका अनुभव हो नहीं सकता)॥ ४॥ श्रीजनकमहाराज समाजसहित इस प्रकार चले आ रहे हैं, समाजसहित उनकी बुद्धि प्रेममें मतवाली (बेसुध) हो रही है॥ ५॥

नोट—१ श्रीभरतजीकी यात्रामें रामशैल-दर्शनके समयसे मिलाप-समय तक जो प्रेम वर्णन करके दिखाया है वही यहाँ जनकजीमें दिखा रहे हैं पर एक बार विस्तृत रूपसे लिख चुके हैं; इससे यहाँ न दुहराकर केवल उसकी छाया मात्र दिखाये देते हैं जिससे पाठक वही सब यहाँ भी समझ लें। आगे दिये हुए मिलानसे यहाँके भाव पूर्णरीतिसे समझमें आ जायँगे।

नोट—२ ***'आगें गवनु कीन्ह।'*** अर्थात् अगवानीके लिये चले। अगवानी करना उचित ही है, क्योंकि वे पिताके तुल्य हैं, ***'जनकपति'***—निमिवंशी सभी जनक कहलाते हैं; क्योंकि इनके पूर्वज पितासे ही उत्पन्न हुए थे, मातासे नहीं। कथा बा० २१४ में देखिये। वह कुल ही जनक कहलाता है, जैसे 'रघुपति'=रघुकुलके स्वामी, वैसे ही 'जनक-पति'=जनककुलके स्वामी।

श्रीजनकजी		**श्रीभरतजी**
		रामसखा तेहि समय देखावा। *सैलसिरोमनि सहज सुहावा॥*
गिरिवरु दीख जनकपति जबहीं। *करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं॥*	१	*'जासु समीप सरित पय तीरा।* *सीय समीप बसत दोउ बीरा॥* *देखि करहिं सब दंड प्रनामा।* *कहि जय जानकिजीवन रामा॥'* (२। २२५)
रामदरस लालसा उछाहू। *पथश्रम लेस कलेस न काहू॥*	२	*'भरतहि सहित समाज उछाहू।'* (२२५। २)
मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। *बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥*	३	*'मिलिहहिं राम मिटिहि दुखदाहू॥* (२२५। २)
आवत जनक चले एहि भाँती। *सहित समाज प्रेम मति माँती॥*	४	*'जाहिं सनेह सुरा सब छाँके।* *सिथिल अंग मग पग डगि डोलहिं॥* *बिह्वल बचन प्रेमबस बोलहिं॥'* (२२५। ३-४)
'सुनि आवत मिथिलेस'''' सहित सभा। *संभ्रम उठेउ रघुकुल कमल दिनेस।*	५	*'उठे राम सुनि प्रेम अधीरा।* *कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥'* (२४०। ८)

आसक्त हो जाता है वैसा यदि परमात्मामें आसक्त हो जाय तो फिर कौन ऐसा है जो कि मायाबन्धनसे न छूट जाय॥ ३॥ अशुद्ध और शुद्ध भेदसे मन दो प्रकारका होता है, कामसम्पर्कवाला मन अशुद्ध और कामवासनारहित मन शुद्ध कहा जाता है॥ ४॥ मनको लय-विक्षेपरहित करनेसे उसमें जब निश्चलता आ जाती है तब परमात्मामें दृढ़ भावना होती है और तब उससे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है॥ ५॥ जबतक मनका सारा संकल्प-विकल्प क्षय न हो जाय तबतक उसे हृदयमें यत्नपूर्वक रौंदनेकी चेष्टा करते रहना चाहिये, यही ज्ञान एवं मोक्षोपाय है। शेष बातें (मन:निरोधके यत्न आदि) अन्य ग्रन्थोंमें विस्तारसे वर्णित है॥ ६॥

मनुष्योंके बन्धन एवं मुक्तिका कारण मन ही है, मनके विषयासक्त होनेसे जीवका बन्धन और विषयविरक्त होनेसे मोक्ष होता है॥ १॥ समाधिद्वारा जिसके चित्तका मल निकल गया है, उसको परमात्मामें लगनेपर जो सुख प्राप्त होता है वह वाणीद्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, उस सुखको तो अन्त:करण ही वहन कर सकता है।

आए निकट देखि अनुरागे। सादर मिलन परसपर लागे॥ ६॥
लगे जनक मुनिजन पद बंदन। रिषिन्ह प्रनामु कीन्ह रघुनंदन॥ ७॥
भाइन्ह सहित रामु मिलि राजहि। चले लेवाइ समेत समाजहि॥ ८॥

दो०—आश्रम सागर सांतरस पूरन पावन पाथु।
सेन मनहुँ करुनासरित लिएँ जाहिं रघुनाथु॥ २७५॥

अर्थ—पास आये (तब सब परस्पर एक-दूसरेको) देखकर अनुरागसे भर गये और आदरपूर्वक आपसमें मिलने लगे॥ ६॥ श्रीजनकमहाराज मुनियोंके चरणोंकी वन्दना करने लगे और भाइयोंसहित रघुनन्दन श्रीरामजीने ऋषियोंको प्रणाम किया। भाइयोंसहित रामचन्द्रजी राजासे मिलकर उनको समाजसहित आश्रमको लिवा ले चले॥ ७-८॥ श्रीरामचन्द्रजीका आश्रम समुद्र है जो शान्तरसरूपी पवित्र जलसे पूर्ण भरा हुआ है। महाराज जनककी सेना (समाज) मानो करुणा नदी है, उसे रघुनाथजी (आश्रमसागरसे संगम कराने)-के लिये जाते हैं॥ २७५॥

नोट—***'रिषिन्ह प्रनामु कीन्ह रघुनंदन।'*** इति। प्रणाम करनेमें ***'रघुनंदन'*** नाम दिया। रघुकुलकी मर्यादा रखकर उसका आनन्द बढ़ाते हैं। रघुकुलमें जन्म है, अतः शतानन्द आदि ऋषियोंको प्रथम प्रणाम करना योग्य ही है।

प० प० प्र०—***'भाइन्ह सहित रामु मिलि राजहि।'*** इति। बालकाण्डमें श्रीरामजीका ***'पितु कौसिक बसिष्ठ सम'*** जानकर श्रीजनकजीका सम्मान करना और उनका भरतादिसे मिलकर आशीर्वाद देना पाया जाता है। पर यहाँ राजाका इनसे मिलना और आशीर्वाद देना नहीं लिखा गया है। यह क्यों? उत्तर यह है कि यहाँ राजा और उनका समाज ***'प्रेम मति माती'*** होकर चले आ रहे हैं, अतः वे कर्तव्याकर्तव्य भूल गये। श्रीरामजीने भाइयोंसहित प्रणाम किया, पर विदेहस्थितिमें होनेसे वे आशीर्वाद न दे पाये।

'आश्रम सागर सांतरस....रघुनाथु' इति।

१—शान्तरस—यह काव्यके नव रसोंमेंसे एक रस है जिसका स्थायीभाव निर्वेद (कामादि वेगोंका शमन) है। २—'इस रसमें संसारकी अनित्यता, दुःखपूर्णता, असारता आदिका ज्ञान अथवा परमात्माका स्वरूप आलम्बन होता है; तपोवन, ऋषि, आश्रम, रमणीय तीर्थादि, साधुओंका सत्संग आदि उद्दीपन; रोमांच आदि अनुभव तथा निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, दया आदि संचारीभाव होते हैं। 'शान्त' को रस कहनेमें यह बाधा उपस्थित की जाती है कि यदि सभी मनोविकारोंका शमन ही शान्त है, तो विभाव, अनुभाव और संचारीद्वारा उसकी निष्पत्ति कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि शान्त दशामें जो सुखादिका अभाव कहा गया है, वह विषयजन्य सुखका है। योगियोंको एक अलौकिक प्रकारका आनन्द होता है जिसमें संचारी आदि भावोंकी स्थिति हो सकती है। नाटकमें आठ ही रस माने जाते हैं, शान्त रस नहीं माना जाता। कारण यह कि नाटकमें अभिनय-क्रिया ही मुख्य है; अतः उसमें शान्तका समावेश (जिसमें क्रिया, मनोविकार आदिकी शान्ति कही जाती है) नहीं हो सकता।'—(शब्दसागर)

यहाँ समअभेद सांगोपांगरूपकद्वारा उत्प्रेक्षा की गयी है। आश्रम साधुओं, तपस्वियों, ऋषियों, मुनियोंकी कुटीको कहते हैं। यहाँ प्रभु उदासी, तपस्वी-वेषमें हैं ही। शान्तरसरूपी जलसे पूर्ण कहा; क्योंकि यहाँ उन्हींका निवास है जिनको सारे संसारसे निर्वेद उपजा है, जिनमें क्रोध आदि मनोविकारोंका लेश नहीं, जिनका समय परमार्थचिन्तन भगवत्कथा-वार्ता सत्संगमें ही जाता है, प्रपंचमें नहीं। यथा— ***'जहाँ बैठि मुनिगन सहित नित सियराम सुजान। सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान॥'*** (२३७) नारायणसंहितामें **'रामः प्रणम्य जनकं मुनीन् सर्वान् प्रणम्य च। निजाश्रमोदधिं शान्तरसनीरप्रपूरितम्॥ करुणासरितं सेनां गृहीत्वा याति राघवः।'** यह श्लोक कहा जाता है (र० ब० की टीकामें यह श्लोक है, हमें यह ग्रन्थ नहीं मिला)।

देखिये गोस्वामीजीके दोहेमें 'पावनपाथ' कैसा उत्तम है। ले जानेका कारण यह है कि इस नदीको शान्ति मिले, इसकी करुणा मिटे।

सेनाको करुणा नदी कहा, क्योंकि वह शोकसे परिपूर्ण है। यहाँ कोई खास नदीका नाम नहीं दिया है। पर 'रघुनाथ' पदसे गंगाका अध्याहार किया जा सकता है। ऐसा करनेसे उसमें विचित्रता आ जाती है; क्योंकि भगीरथराजा गंगाको साथ लाये। आगे-आगे आप पीछे-पीछे गंगाजी, वैसे ही यहाँ रघुनाथजी आगे-आगे हैं और सारा समाज साथ ही पीछे-पीछे चल रहा है। भगीरथजी गंगाजीको सागरमें ले गये जहाँ सगरके ६० हजार पुत्र भस्म हुए पड़े थे और श्रीरामजी इनको तपस्वियोंसे सुशोभित उदासीन शान्त आश्रमको लिये जा रहे हैं। भगीरथजी भी 'रघुनाथ' (=रघुवंशीराजा) थे और ये भी रघुकुलके नाथ हैं।

यहाँपर सुचतुरकविचूड़ामणि गोस्वामीजीका 'सागर' शब्दका दोहेमें प्रयोग करना भी अभिप्राय-गर्भित और चमत्कृत है। सागर श्रीरघुनाथजीके पूर्व पुरुषोंहीका निर्माण किया हुआ है और वहीं भगीरथजी गंगाको ले गये थे।

बोरति ग्यान बिराग करारें। बचन ससोक मिलत नद नारें॥ १॥
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट तरुबर कर भंगा॥ २॥
बिषम बिषाद तोरावति धारा। भय भ्रम भवँर अवर्त अपारा॥ ३॥
केवट बुध बिद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ अैक[1] नहिं आवा॥ ४॥
बनचर कोल किरात बिचारे। थके बिलोकि पथिक हियँ हारे॥ ५॥
आश्रम उदधि मिली जब जाई। मनहु उठेउ अंबुधि अकुलाई॥ ६॥

शब्दार्थ—**तोरावति** (सं० त्वरावती)=वेगवती, तेज। **अवर्त्त** (आवर्त्त=बार-बार आना)=घुमाव, चक्कर। थोड़ी दूरमें जो जल घूमता है जिसके बीचमें गढ़ा होता है वह भँवर और आवर्त्त वह है जिसका कई बीघोंतक घुमाव होता है। **अैक**=अटकल, अन्दाज। दीनजी कहते हैं कि कहाँ कितना पानी है, किधरसे नाव ले जाना चाहिये, इस प्रकारके अन्दाज लगानेको केवटलोग 'अइकना' कहते हैं। वही शब्द गोस्वामीजीने यहाँ प्रयुक्त कर दिया है।

अर्थ—यह करुणा नदी ज्ञान-वैराग्यरूपी किनारोंको डुबाती जाती है, शोकभरे वचन नद और नाले हैं जो इसमें मिलते जाते हैं॥ १॥ शोच और लम्बी ऊर्ध्व श्वासें वायु और लहरें हैं[2] जो धैर्यरूपी तटके बड़े-बड़े वृक्षोंको गिराती जाती हैं॥ २॥ भयानक विषाद ही उस नदीकी वेगवती धारा है। भय और भ्रम अगणित भँवर और उसके चक्कर (वा भँवरके अनेक चक्कर) हैं॥ ३॥ पंडित लोग इसके मल्लाह हैं। उनकी बड़ी विद्या ही बड़ी नाव है। परन्तु वे खे नहीं सकते हैं; क्योंकि इस नदीका अटकल नहीं मिल रहा है॥ ४॥ वनके विचरनेवाले बेचारे कोल-किरात पथिक हैं। वे इसे देखकर हृदयमें हारकर थक रहे (स्तब्ध हो गये)॥ ५॥ जब यह करुणानदी आश्रमसमुद्रमें जा मिली, तब समुद्र मानो क्षुब्ध (आकुल) हो उठा। अर्थात् सम्भ्रम-समादर-समवेदना आदि मनोविकारोंके उदयोत्कर्षसे वहाँ बड़ा कोलाहल हुआ॥ ६॥

नोट—१ कोपभवनमें कैकेयीके कुपित होकर उठ खड़ी होनेपर रोषनदीका रूपक दिया गया था। (३४। १—४) देखिये। वैसे ही यहाँ करुणानदीका रूपक है। पर वहाँ नदी, नदीका जल, उत्पत्तिस्थान, किनारे, धारा, भँवर, तटके वृक्ष, सागरमें मिलना ये अंग कहकर रूपककी समाप्ति की थी। यहाँ इन अंगोंको कहा और कुछ अधिक भी—नाव, केवट, पथिक (यात्री)। इसका कारण यह है कि वहाँ तो समुद्रमें डुबाना ही था—*'चली बिपति बारिधि अनुकूला।'* विपत्तिमें पड़कर उससे फिर निकलना, न हुआ। और, यहाँ यह

१-'अैक'— (राजापुर) पाठान्तर—'ऐक'।

२-वा, सोचमें जो लंबी साँस लोग भरते हैं, वे वायुके झँकोरेसे उठनेवाली लहरें हैं।

नदी शान्तरसमें जाकर मिलेगी, वहाँ इस करुणाकी शान्ति होगी; उसीके उपाय नाव केवट आदि भी कहे गये।

नोट—२ नदी बाढ़से तटोंको डुबा देती है। उसमें अन्य नदियाँ और नाले आकर मिलते हैं जिससे उसकी धारा और तीव्र हो जाती है, तीव्रधारा (और उसमें यदि हवा तेज हुई तब तो नदी) बहुत काट करने लगती है, तटके वृक्षोंको जड़से उखाड़कर बहा ले जाती है। नदीमें बाढ़ आनेपर भँवर और उसके चक्कर बहुत पड़ते हैं जिनमें मनुष्य, नाव आदि पड़ जायँ तो बच नहीं सकतीं। ऐसी बढ़ी हुई भयंकर नदीमें केवटका साहस भी नहीं होता कि नावको खेकर मुसाफिरोंको पार ले जाय। यही सब यहाँ क्रमसे दिखाये हैं। समाजमें करुणा इतनी बढ़ी कि ज्ञान और वैराग्य उसमें डूब गये, ज्ञानी-वैरागी भी करुणासे पूर्ण हो गये, करुणा-ही-करुणा दिखायी देती है। ज्ञान-वैराग्यका नाम-निशान नहीं रहा। शोकके वचन (राजाके गुण-रूप आदियुक्त) सुनते हैं और मुखसे निकलते हैं इससे इष्टहानिका दु:ख और बढ़ता जाता है; जैसे नदी-नाले मिलनेसे नदीका वेग बढ़ता है। शोकातुर होकर लम्बी ऊर्ध्व साँसें (आहें) लोग भरते हैं (जैसे नदीमें पवनके झकोरेसे लहरें ऊपरको उठती हैं) जिससे ज्ञान-वैराग्यसे जिनके मन दृढ़—धीर हो गये हैं, उन ज्ञानी-वैरागी लोगोंका भी धीरज छूट जाता हैं, वे भी शोकपूर्ण हो जाते हैं। कठिन दु:ख बढ़ता जाता है। लोगोंके जीमें अनेक प्रकारका भय और भ्रम हैं जैसे बढ़ी नदीमें अनेक भँवर और घुमाव (चक्कर) पड़ते हैं—(वै०, पां०, रा० प्र०— 'राज्यके नष्ट होनेका भय, रामजी लौटेंगे या नहीं यह भ्रम।' पु० रा० कु०— चित्त ठिकाने न रहना भ्रम है)। क्या होगा, कोई नहीं जानता। किसीका चित्त ठिकाने नहीं है। सभी शोचमें डूबे जा रहे हैं, उससे बचनेका उपाय नहीं देख पड़ता।

नोट—३ ***'बोरति ग्यान बिराग करारें।……'*** इति। (क) विदेहसमाज ज्ञानतट है क्योंकि वे ज्ञानिशिरोमणि है और भरतसमाज वैराग्यतट है, क्योंकि भारद्वाजका ऐश्वर्य भी इन्हें नहीं डिगा सका। (पु० रा० कु०) (ख) पं० वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि समुद्रमें बहुत-सी नदियाँ अनेक दिशाओंसे आकर मिलती हैं। यहाँ रामजीके आश्रमकी उपमा शान्तरसके समुद्रसे दी गयी है; उसमें भी कुछ शान्तरसकी नदियोंका आकर मिलना मानना ही होगा। जिन रास्तोंसे ऋषि-मुनिगण आकर सरकारका दर्शन करते थे, उन्हें शान्तरसकी नदियोंसे उपमित किया जा सकता है। उन्हीं रास्तोंमेंसे एक वह भी है जिससे रघुनाथजी महाराज जनकको लिवाये जा रहे हैं, आज उस रास्तेसे शोकयुक्त समाज जा रहा है, अत: वह शान्तरसकी नदी उस अत्यन्त भारी करुणा-रसकी नदीसे, जिसे रघुनाथजी लिये जाते हैं, ऐसी दब गयी कि उसके ज्ञान-वैराग्यके करारे भी डूब गये। ज्ञान-विरागरूप करारा शान्तरसके नदीका ही माना जा सकता है करुणा-सरितका नहीं माना जा सकता। (ग) नद अर्थात् भारी नदी जैसे महानद और नाले छोटे। यहाँ अवधवासियोंका शोक जो प्रभुके संयोगसे कुछ कम हो गया है नाला है और मिथिला-समाजका शोक जो अधिक है वह नद है। (पु० रा० कु०)

मा० म०— जब करुणानदी चली तब छोटी थी, पर बीचमें नदी-नालोंके संगमसे बढ़ गयी। तात्पर्य यह कि दुष्ट करुणा-शोकपूरित वचन, शोचपूरित ऊर्ध्वश्वास, विषम विषाद, भय और भ्रम इत्यादि अपने समाजसे युक्त आश्रमको चला।

नोट ४—***'केवट बुध बिद्या……'*** इति। करुणानदीसे पार करनेवाले बड़े-बड़े विद्वान् चौदहों विद्याओंमें निपुण यहाँ मौजूद हैं, पर उनकी विद्यारूपी नाव यहाँ इस विषम विषादमें कुछ काम नहीं दे रही है। उनकी भी बुद्धि चकरा रही है। अटकल नहीं मिलता, कैसे इनको धीरज दें। नाव वशमें नहीं आती। बाढ़ आनेपर केवट लंगर डाल देते हैं और मुसाफिरोंसे कह देते हैं कि नाव वशमें नहीं आती, अंदाज नहीं मिलता, इससे अभी न खेवेंगे। वे विचारे हार मानकर बैठ जाते हैं। यहाँ कोल-किरात तटपरके मुसाफिर हैं, पार जाना चाहते हैं, पर वे विस्मित होकर बैठ गये कि इस शोकके पार होना सम्भव नहीं। जब बड़े-बड़े धीर विद्यावान् ही हार गये तब हमारा वश क्या? यहाँ कोल-

किरात खड़े हुए दोनों सभाओंकी दशा एकटक हो देख रहे हैं, ठहरे हुए हैं, इसीसे ऐसा जान पड़ता है कि वे पथिक हैं।

नोट—५ ***आश्रम उदधि मिली जब जाई*****……'** इति। (क) जहाँ नदियाँ समुद्रसे मिलती हैं वहाँ बड़ा कोलाहल होता है। वहाँ समुद्र भी कुछ दूरतक क्षुब्ध हो जाता है। नदी समुद्रके भीतर वेगमें दूरतक चली जाती है। यहाँ समाज जैसे ही आश्रमपर पहुँचा वहाँ जो रनवास आदि था वह सम्बन्धियोंको देख शोकाकुल हो उच्च स्वरसे रोने लगा। इधर इस समाजमें शोर—आर्तस्वर था ही, इसने शान्तरसपूर्ण समुद्रकी लहरको भी रोक दिया। (ख) ***'उठेउ अकुलाई'*** से जनाते हैं कि वहाँ जो लोग ऋषि और रनवास आदि थे वे उठ खड़े हुए मानो वे भी अकुला उठे, उनकी भी शान्ति जाती रही, वे भी करुणासे भर गये।

सोकबिकल दोउ राजसमाजा। रहा न ग्यानु न धीरजु लाजा॥ ७॥
भूप रूप गुन सील सराही। रोवहिं सोकसिंधु अवगाही॥ ८॥
छं०—अवगाहि सोकसमुद्र सोचहिं नारि नर ब्याकुल महा।
दै दोष सकल सरोष बोलहिं बाम बिधि कीन्हो कहा॥
सुर सिद्ध तापस जोगिजन मुनि देखि दसा बिदेह की।
तुलसी न समरथु कोउ जो तरि सकै सरित सनेह की॥
सो०—किए अमित उपदेस जहँ तहँ लोगन्ह मुनिबरन्ह।
धीरजु धरिअ नरेस कहेउ बसिष्ठ बिदेह सन॥ २७६॥

अर्थ—दोनों राजसमाज शोकसे व्याकुल हो गये। किसीको न ज्ञान ही रह गया न धीरज और न लज्जा ही रह गयी॥ ७॥ दशरथमहाराजके रूप, गुण और शीलकी सराहना करके सब रो रहे हैं और शोक-समुद्रमें डूब रहे हैं॥ ८॥ स्त्री-पुरुष सभी शोक-समुद्रमें डूबे हुए सोच रहे हैं, निपट व्याकुल हैं। सभी वाम विधाताको दोष दे-देकर क्रोधसहित बोल रहे हैं कि इस टेढ़े विधाताने यह क्या किया (क्या गजब ढाया है)। तुलसीदासजी कहते हैं कि देवता, सिद्ध, तपस्वी, योगी और मुनिलोग विदेहराजकी दशा देखकर कोई भी समर्थ नहीं हैं जो प्रेमरूपी नदीको पार कर सकें।* श्रेष्ठ मुनियोंने जहाँ-तहाँ लोगोंको अगणित उपदेश दिये और वसिष्ठजीने विदेहजीसे कहा कि हे राजन्! धैर्य धारण कीजिये॥ २७६॥

नोट—१ ***'रहा न ग्यानु न धीरजु लाजा*****……'** इति। (क) श्रीजनकमहाराज आदिका ज्ञान, अपर उत्तम धीरपुरुषोंका धैर्य और स्त्रियोंकी लज्जा कि समधी लोग सामने हैं— (वै०) वा, (ख)—बड़े-छोटेका ज्ञान, रोनेसे चुप नहीं होते अर्थात् अत्यन्त रुदनसे धीरज न रह गया, वस्त्र आदिका सँभार न होनेसे लज्जा न रही— (पं०)। शोक-समाजमें ज्ञान प्रायः नष्ट हो ही जाता है। यथा— ***'चढ़े बधूरे चंग ज्यों ज्ञान ज्यों सोक समाज।'*** (दो० ५१३)

नोट—२ (क)—***'भूप रूप गुन सील सराही।*****……'** इति। ***'सोक बिकल सब रोवहिं रानी। रूप सील बल तेज बखानी॥'*** (१५६। ३) देखिये। करुणारसका आलम्बन यहाँ नृप-मृत्यु आदि हैं, उनके गुण कथन-श्रवण आदिसे उसका उद्दीपन होता ही है। वैसे ही यहाँ रूप, गुण आदिकी प्रशंसासे शोक बढ़ता जा रहा है। रावणवधपर मंदोदरी आदिका और बालिके वधपर ताराका विलाप इससे मिलान कर सकते हैं। यथा—***'छूटे कच नहिं बपुष सँभारा॥ उर ताड़ना करहिं बिधि नाना। रोवत करहिं प्रताप बखाना॥ तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेजहीन पावक ससि तरनी॥ सेष कमठ सहि सकहिं न भारा। सो तनु भूमि परेउ भरि छारा॥ बरुन कुबेर सुरेस समीरा। रन सनमुख धर काहु न धीरा॥****……* ***जगत बिदित***

* पं० रामकुमारजी आदिके अर्थ नोट ३ में दिये गये हैं। उपर्युक्त अर्थ नं० प० और मानसांकने दिये हैं।

तुम्हारि प्रभुताई।' (६। १०३। ३—९) *'नाना बिधि बिलाप कर तारा। छूटे केस न देह सँभारा॥'* (४। ११। २)

(ख)—*'सोकसिंधु अवगाही।'* भाव कि जैसे-जैसे शोक करते जाते हैं वैसे-ही-वैसे और भी शोकमें डूबते जाते हैं। स्वजनोंको देखकर दबा हुआ शोक भी उमड़ आता है, यथा कुमारसम्भव—**'स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते।'** वैसे ही जनकपुरवासियोंको देखकर यहाँ भी शोक उमड़ आया। *'सोकसिंधु अवगाही'* कहकर दिखाया कि शान्तरस जलसे भरा हुआ आश्रम-सागर कुछ दूर एवं देरतक 'शोक-सागर' हो गया। 'रोवहिं' यही शोक-सागरमें डुबकी लगाना है।

नोट—३ *'तुलसी न समरथु कोउ जो तरि सकै……'* इति। यह कविकी उक्ति है कि सब सुर-सिद्ध आदि देखनेवाले विदेहजीकी दशा देखकर यही विचार कर रहे हैं, या मनमें कह रहे हैं कि जब ऐसे योगिराज विदेहकी यह दशा प्रेममें हो गयी तो प्रेमनदीको पार करनेवाला संसारमें दूसरा कोई नहीं देख पड़ता। अर्थात् तो अब और कोई ऐसा नहीं है जो स्नेहरूपी नदीके पार जा सके। (वै०, पु० रा० कु०) पंजाबीजी लिखते हैं कि 'कैमुतिकन्यायसे कहते हैं कि जब प्रेमसे विदेहकी ऐसी दशा देखी तब उस समय मुनि-तपस्वी आदि भी उस शोक-सरिताके तरनेमें असमर्थ हुए। और रा० प्र०—कार आदि टीकाकारोंने यह अर्थ किया है—'सुर आदि विदेहकी दशा देखकर गोसाईंजी कहते हैं कि कोई समर्थ नहीं जो स्नेहरूपी नदीको तर सके, अर्थात् देखनेवाले स्नेहमें डूब गये। सामान्य मुनियों आदिकी व्याकुलता कहकर आगे विशेष मुनियोंद्वारा उपदेश करना कहते हैं।'

वि० त्रि० *'तुलसी न समरथु कोउ जो तरि सकै सरित सनेह की'*—भाव यह कि यदि स्नेह-नदीके पार हो गये होते तो शोक-समुद्रमें न जा पड़ते। इससे यही मालूम होता है कि विदेहराज भी स्नेह-नदीको पार न कर सके, इतना ही हुआ कि इन्होंने स्नेहको रामजीमें लगा दिया, यथा *'की करु ममता रामपर की ममता परहेलु।'* राममें ममता (स्नेह) करनेसे शोक-समुद्र-निमज्जनकी भी महामहिमा है, वह गंगासागरका अवगाहन हो जाता है। *'यह सियराम सनेह बड़ाई।'*

नोट—४ *'किए अमित उपदेस……'* इति। (क) समाजके लोगोंको बहुत-से श्रेष्ठ मुनियोंने उपदेश किया और वसिष्ठजीने विदेहजीको समझाया। यहाँ कविके शब्दोंकी चतुरता देखिये। अधिकार-अनुसार उपदेश भी देनेवाले हैं। सबको समझानेमें 'उपदेश' शब्द दिया और विदेहको उपदेश नहीं; किंतु उनसे 'कहेउ'। पुनः मुनिश्रेष्ठ इनको समझानेके अधिकारी नहीं हैं; इनको समझानेका अधिकार वसिष्ठ और विश्वामित्रजीको ही है। (ख) *'कहेउ'* इति। वसिष्ठजीने कहा कि आप धैर्य न धारण करेंगे तो और लोग कैसे धीरज धरेंगे; आपको मोह कहाँ, आप तो दिखाते हैं कि रामप्रेम कैसा होना चाहिये। जो हो गया वह अमिट है, अब सोच करनेसे क्या लाभ हो सकता है? गत बातका सोच बुद्धिमान् नहीं करते। सारा ब्रह्माण्ड ही नाशवान् है तब किसी व्यक्तिका सोच क्या करना*। (शीला) (ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'धीरज दिया अर्थात् सब बड़े प्रवाहमें डूबते थे। जब बाढ़ उतरी तब मुनिरूपी केवटोंने विद्यारूप नावपर चढ़ा लिया।' परंतु इसमें संदेह होता है कि अब तो नदी समुद्रमें मिल गयी अब पूर्वरूपक कहाँ रहा?

जासु ग्यानु रबि भवनिसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥ १॥
तेहि कि मोह ममता निअराई। यह सियराम सनेह बड़ाई॥ २॥
बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥ ३॥
राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू॥ ४॥
सोह न रामपेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥ ५॥

---

* द्रोणपर्व-(अध्याय ५५—८० तक-) में राजा सृंजयके पुत्रशोकसे पीड़ित होनेपर नारदजीने बहुत-से उपाख्यान

शब्दार्थ—**सरस**=भीगा हुआ, हरा-भरा, सुशोभित, अधिक बढ़ा हुआ।

अर्थ— जिनके ज्ञानरूपी सूर्यसे भवरूपी रात्रि मिट जाती है, और जिनके वचनरूपी किरणोंसे मुनिरूपी कमल खिल उठते हैं, क्या मोह-ममता उनके पास जा सकती है? (कदापि नहीं) यह श्रीसीतारामजीके प्रेमकी बड़ाई है॥ १-२॥ विषयी, साधक, सिद्ध तीन प्रकारके सयाने* जीव जगत्‌में वेदोंने कहे हैं॥ ३॥ जिसका मन रामप्रेमरसमें भीगा हुआ है साधुसमाजमें उसीका बड़ा आदर है॥ ४॥ बिना रामप्रेमके ज्ञानकी शोभा नहीं है जैसे बिना मल्लाहके नावकी शोभा नहीं॥ ५॥

नोट—१ ***'तेहि कि मोह ममता निअराई·······'*** इति। —इनका ज्ञान सूर्यवत् सदा दूसरोंको प्रकाशित करनेवाला है, इनके पास मोह-ममतारूपी भवरात्रि आ नहीं सकती—***'तहँ कि तिमिर जहँ भानु प्रकासा।'*** इनके उपदेशसे बड़े-बड़े मुनियोंमें ज्ञानका विकास होता है; फिर भला इन्हें मोह-ममता कब हो सकती है। इनकी भवरात्रि नाश हो गयी है, ये तो जीवन्मुक्त हैं। इन्हें मोह (अहंबुद्धि) और ममत्व (सम्बन्धियोंमें) नहीं है। अर्थात् ये हमारे सम्बन्धी थे, इनकी मृत्यु हो गयी, ये हमारे दामाद हैं, वनवास कर रहे हैं, यह जो अहं-ममबुद्धि इनमें है यह अज्ञानकृत नहीं है। ब्रह्ममें कोई भी भाव या सम्बन्ध (दास्य, वात्सल्य, सख्य आदि) रखना उपासनाका अंग है, उस भावसे मोह-ममत्व होना या श्रीसीतारामजीके स्नेहकी महिमा है, यह उपासनाकी बड़ाई है। प्रभुका स्नेह अप्राकृत है। वह प्राकृत सांसारिक स्नेह नहीं है। लौकिक स्नेहमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह ऐसे ज्ञानियोंके ज्ञानको डुबा दे, यह श्रीसीतारामोपासनावाले प्रेमहीमें सामर्थ्य है। जो लौकिक मोह-ममत्वके पार हो चुके हैं, उनपर भी श्रीसीतारामजीका प्रेम अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहता। प्रभुमें उनका ऐसा उच्च अलौकिक स्नेह है कि उसके आगे ज्ञान जाता रहा। प्रभुकी उपासनामें अहं-ममकी शोभा है, यथा— ***'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'*** (३। ११। २१)। इनका प्रेम जनकपुरमें प्रभुको देखकर उमड़ आया था, उससे मिलान कीजिये। ***'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥'*** आगे राम-स्नेहकी महिमा लिखते हैं।

नोट—२ ***'बिषई साधक सिद्ध सयाने··'*** इति। विषई=शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध विषयोंमें लिप्त। साधक=मुमुक्षु जो मुक्तिके साधनमें लगे हैं, साधन-चतुष्टयसम्पन्न। सिद्ध=जीवन्मुक्त। संसारमें ये तीन प्रकारके जीव हैं।

नोट—३ (क) ***'राम सनेह सरस मन जासू··'*** अर्थात् तीनोंमेंसे कोई भी हो, चाहे विषयी ही क्यों न हो, वह भी रामप्रेमयुक्त हो तो उसका ही आदर साधुसमाजमें होता है और जीवन्मुक्तजीवमें भी रामप्रेम न हो तो वह कामका नहीं, उसकी मुक्ति होगी; पर साधुसमाजमें उसका आदर नहीं। यही रामप्रेमका महत्त्व है। तभी तो देखिये कि सनकादिक ***'जीवन्मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।'*** (७। ४२) सदा ब्रह्मानन्दमें लवलीन रहनेवाले होकर भी श्रीरामकथा सुननेके लिये श्रीअगस्त्यजीके पास जाते थे। और श्रीरामजीसे प्रेमभक्तिकी याचना किया करते थे। (ख) —***'बड़ आदर'*** का भाव कि साधुसभामें आदर सबका ही होता है, यथा— ***'सबहिं मानप्रद आपु अमानी।'*** (७। ३८। ४); पर रामप्रेमीका विशेष आदर होता है।

नोट—४ ***'सोह न रामपेम बिनु ग्यानू····'*** इति।— ***'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥'*** (७।४५।३) जैसे बिना मल्लाहके नाव। नाव और मल्लाह दोनों हों तब पार उतरे और उतारे। बिना मल्लाहके नाव बहकर डूबे या टूटे, उसका ठिकाना नहीं; वैसे ही बिना प्रेमका ज्ञान बहाकर डुबा ही देनेवाला होगा और स्वयं डूब जाता है। यथा—***'तबहिं दीप बिज्ञान बुझाई।'*** (७। ११८। १३)।

उन्हें सुनाये—राजा मरुत, सुहोत्र, अंग, शिविजी, भगीरथजी, दिलीप, मान्धाता, ययाति, अम्बरीष, शशबिन्दु, गय, रन्तिदेव, भरत (दुष्यन्तके पुत्र), पृथु, परशुराम (२१ बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया) इत्यादि कि जब इन्हें भी मृत्युने आ घेरा तब तुम और तुम्हारा पुत्र तो उनके पासंग भी न थे तब क्यों शोक करते हो। २४७ (२), (८) में शोकनिवारणके उपदेश देखिये।

* वा, सयानेको सिद्धका विशेषण मान लें— (वै, रा० प्र०)।

मुनि बहु बिधि बिदेह समुझाए। रामघाट सब लोग नहाए॥ ६॥
सकल सोक संकुल नर नारी। सो बासरु बीतेउ बिनु बारी॥ ७॥
पसु खग मृगन्ह न कीन्ह अहारू। प्रिय परिजन कर कौन बिचारू॥ ८॥
दो०—दोउ समाज निमिराजु रघुराजु नहानें प्रात।
बैठे सब बट बिटप तर मन मलीन कृस गात॥ २७७॥

शब्दार्थ—**संकुल**=परिपूर्ण, भरा हुआ। विचार=खयाल, अनुमान।

अर्थ—मुनि वसिष्ठजीने बहुत तरहसे विदेहजीको समझाया। (तब) सब लोगोंने रामघाटपर स्नान किया॥ ६॥ सब स्त्री-पुरुष शोकसे पूर्ण थे। वह दिन सबको निर्जल बीता (अर्थात् उस दिन किसीने जलतक न पिया, भोजनकी कौन कहे)॥ ७॥ पशु-पक्षी, हरिणोंतकने भोजन नहीं किया तब प्यारे कुटुम्बियों-का क्या विचार किया जाय!॥ ८॥ राजा निमिके वंशज जनकमहाराज और रघुकुलराज श्रीरामजी तथा दोनों राजसमाजोंने प्रात:काल स्नान किया और सब वटवृक्षके नीचे (जाकर) बैठे, सबके मन उदास और शरीर दुबले हो गये हैं॥ २७७॥

नोट—१ (क) वसिष्ठजीका विदेहजीसे धैर्य धारण करना कहकर कवि पाठकोंके सम्भव संदेहकी निवृत्ति करने लगे थे। *'जासु ज्ञान रबि भवनिसि नासा'* से *'करनधार बिनु जिमि जलजानू।'* (२७७। १—५) तक संदेह-निवृत्ति है। अब पूर्वसे प्रसंग मिलाते हैं। *'धीरज धरिय नरेस कहेउ बसिष्ठ बिदेह सन।'* (२७६) और यहाँ *'मुनि बहु बिधि बिदेह समुझाए।'* मुनि वही वसिष्ठजी हैं। (ख) *'बहु बिधि समुझाए'*— बहु विधि समझाना दोहा १५६, २७६ में देखिये। वि० त्रि० जी समझाना इस प्रकार कहते हैं—*'जनम होत नृप मरन हित, मरन जनम हित होय। चला-चली चहुँदिसि लखिय थिर कतहूँ नहि कोय॥ थिर मानै गन्धर्वपुर, दामिनि शरद पयोद। सो थिर मानि शरीरको करै बिनोद प्रमोद॥ गिरिहु गिरत तारा खसत सूख जाति जलराशि। ध्रुवहु अध्रुव जग होत है कोउ न कर विश्वास॥ शशक शृंग वन्ध्या तनय मृगजल सम जग जानि। दुखसुख सम करि जानिये किये शोक हित हानि॥ तुमसे ज्ञान निधान कहँ उचित न कहत विषाद। जानत हौ यहि जगत को तीन कालमें बाध॥ सत्यसंध दशरथ नृपति, धर्म निरत जग जान। तीन काल तिहुँ भुवनमें नहिं कोउ तासु समान॥ शोचनीय सो होय नहिं मन महँ करहु बिचार। करि विवेक धीरज धरहु ज्ञानिन्हके सरदार॥'* (ग) 'रामघाट'=वह घाट जहाँ श्रीरामजी स्नान किया करते थे।

नोट २— *'न कीन्ह अहारू""।'* अर्थात् चारा उनके पास है पर उन्होंने नहीं खाया। *'कौन बिचारू'* अर्थात् पशु-पक्षियोंने चारा रहते हुए भी न खाया ऐसे शोकमें मग्न हो गये थे; तब ये तो मनुष्य और श्रीरामजीके प्रिय परिजन हैं इनके सम्बन्धमें विचार करना या कहना ही क्या? इतनेसे ही पाठक समझ सकते हैं।

पूर्व जब अवधसमाज आया था और श्रीदशरथजीका स्वर्गवास सुनाया गया तब कहा है कि *'सोक बिकल अति सकल समाजू।""मुनिबर बहुरि राम समुझाए। सहित समाज सुसरित नहाए॥ ब्रत निरंबु तेहि दिन प्रभु कीन्हा। मुनिहु कहे जल काहु न लीन्हा॥'* उससे मिलान करनेसे स्पष्ट है कि इस समय पूर्वसे अधिक शोक-निमग्नता है। उस समय इतना उपदेश न करना पड़ा था और इस समय तो *'किये अमित उपदेस'* और बार-बार। उस समय *'ब्रतु निरंबु'* के पश्चात् फिर सब स्वस्थ हो गये थे और इस बार तो दूसरे दिन प्रात:-स्नानके बाद भी शोक बना ही रहा—*'बैठे सब बट बिटप तर मन मलीन कृस गात'* और फिर भी बहुत उपदेश करना पड़ा है। उस बार खग-मृगादिका निराहार रहना नहीं कहा गया था, इस बार पशु-पक्षी आदि भी शोकमग्न हैं। उस समय पिताका स्वर्गवास प्रथम-प्रथम सुनाया था अत: श्रीराम-लक्ष्मणजीका भी विलाप कहा था। इस समय श्रीरामजी शान्त हैं।

नोट—३ (क) *'दोउ समाज निमिराजु रघुराजु नहानें प्रात'* इति। इसमें यतिभंग दोष प्रत्यक्ष है। प्र०

स्वामीजी लिखते हैं कि इसमें 'रघुराज' शब्दमेंसे 'रघु' को प्रथम चरणमें लेना पड़ता है और 'राज' को दूसरेमें, यह काव्य-दोष-सा प्रतीत होता है। इस दोषसे कवि यह जना रहे हैं कि दोनों समाजोंको स्नान करनेका समय हो जानेसे ही स्नान करने जाना पड़ा पर समाजमें ***'सकल सोक संकुल नर नारी'*** अब भी हैं। मानस नाट्य महाकाव्य है, अतः इसमें यतिभंग, छन्दोभंग आदि दोषोंद्वारा जान-बूझकर भाव प्रदर्शित किये गये हैं। पं० रामकुमारजीने एक खर्रेमें लिखा है कि 'रघु' और 'राज' को पृथक् करके जनाया है कि श्रीरामजी अभी राज्यसे पृथक् हो जायँगे, इन दोनोंका संयोग न रहेगा, वियोग शीघ्र हो जायगा। (ख) ***'मन मलीन कृस गात'*** इति। भाव कि यद्यपि स्नानसे शरीरको निर्मल किया है तथापि मन मलिन (उदास) ही है। शोक भी एक मल है। इसको धोनेका प्रयत्न ***'हंसबंस गुर जनक पुरोधा'*** करेंगे पर कृशगात अधिक ही कृश होंगे। (प० प० प्र०)।

जे महिसुर दसरथपुर बासी। जे मिथिलापति नगर निवासी॥ १॥
हंसबंस गुर जनक पुरोधा। जिन्ह जग मगु परमारथु सोधा॥ २॥
लगे कहन उपदेस अनेका। सहित धरम नय बिरति बिबेका॥ ३॥
कौसिक कहि कहि कथा पुरानी। समुझाई सब सभा सुबानी॥ ४॥
तब रघुनाथ कौसिकहि कहेऊ। नाथ कालि जल बिनु सबु रहेऊ॥ ५॥

अर्थ—जो ब्राह्मण श्रीदशरथजीके नगर श्रीअयोध्याजीके और जो मिथिलाके राजा जनक (शीरध्वज-महाराज)-के नगरके रहनेवाले थे, सूर्यवंशके गुरु श्रीवसिष्ठजी और श्रीजनकमहाराजके पुरोहित श्रीशतानन्दजी जिन्होंने जगत्में परमार्थका मार्ग खोजा था (अर्थात् परमार्थतत्त्वमें निपुण थे) वे सब धर्म, नीति, वैराग्य और ज्ञानयुक्त अनेक उपदेश देने लगे॥ १—३॥ विश्वामित्रजीने पुरानी कथाएँ कह-कहकर सब सभाको सुन्दर वाणीसे समझाया॥ ४॥ तब श्रीरघुनाथजीने श्रीविश्वामित्रजीसे कहा—हे नाथ! कल सब बिना जलके रहे हैं॥ ५॥

प० प० प्र०—***'जे महिसुर''''*** इति। यहाँ दशरथपुरवासी ब्राह्मणोंको प्राधान्य दिया है। कारण कि मिथिलापुरवासी अधिक शोक-संकुल होनेसे उपदेश करनेमें इतने तत्पर नहीं हैं जितने 'दशरथपुरवासी' हैं। यह दूतोंके वचनके अनुकूल है कि शोकसे सभी विदेह हो गये।

नोट—१ ***'जिन्ह जग मगु परमारथु सोधा'*** इति। (क) पु० रा० कु०—जगत्में रहते हुए, स्त्री-बच्चोंसहित लोकका मार्ग लोकव्यवहार अच्छी तरह जानते और चलाते हुए, परमार्थसाधन कर इन्होंने भगवत्-प्राप्ति कर ली है। अर्थात् दोनों मार्गोंको (लोक-परलोक दोनोंके तत्त्वोंको) अच्छी तरह जानते हैं।

☞ यह उपदेश है कि लोकव्यवहार करते हुए भी मनुष्य प्रभुकी प्राप्ति कर सकता है। लोकसंग्रहार्थ दोनोंकी आवश्यकता है। जैसे वसिष्ठजी और शतानन्दजीने जगत्के मार्गसे उसके व्यवहारसे परमार्थको जाना (रा० प्र०)। देखो ये सूर्यवंश अथवा निमिवंशके पुरोहित और मन्त्री भी बने रहे और परमार्थ भी उज्ज्वल रहा। कोई दोनों साधे तो कुछ भी बेमौका नहीं है। अथवा, जगमग और परमार्थमग दोनोंको शोधा और पता लगाया, पता लगाकर दूसरोंके लिये राह बतायी। इनकी रहनी देखकर उसपर चले तो लोक और परलोक दोनों बन जायँ। दोहावलीमें कहा है— ***'जथालाभ संतोष सुख रघुबर चरन सनेह। तुलसी जो मन बूँद (खूँद ?) सम कानन बसहु कि गेह॥'*** (दो० ६२)

नोट—२ ***'सहित धरम नय बिरति बिबेका'*** इति। (१) पु० रा० कु०— (क) अर्थात् धर्मशास्त्र, राजनीति, वैराग्यशास्त्र जैसे पातंजल आदिका और सांख्यशास्त्र चारोंके वाक्य लेकर उपदेश किये (ख)—पुनः धर्म और नीति ये जगत्के मार्गके अनुसार उपदेश हैं और वैराग्य तथा ज्ञान परमार्थमार्गके उपदेश हैं। अर्थात् प्रथम जो कहा था कि ***'जग मगु परमारथु सोधा'*** उसको यहाँ चरितार्थ किया। दोनोंमें वे निपुण हैं; अतः दोनों प्रकारसे उपदेश किया (पु० रा० कु०)। अथवा, लोगोंके अधिकारानुसार इसने उपदेश किया। किसीको धर्म, किसीको नीति इत्यादिके उपदेश दिये।

नोट—३ ***'कौसिक कहि कहि कथा पुरानी'''''*** इति। (क)—विश्वामित्रजीका नाम यहाँ स्पष्ट किया गया। अभीतक इनका आगमन नहीं कहा गया था। यहाँ प्रथम-प्रथम कहकर जनाया कि ये जनकजीके साथ आये हैं। ये कालीन ऋषि हैं और इनको प्राचीन कथाओंका बहुत ज्ञान है, जहाँ देखिये ये प्राचीन कथाएँ ही कहते हैं—यह बात विश्वामित्र-यज्ञ-रक्षासे सीय-स्वयंवरतक बराबर देखनेमें आयी है। यथा—***'कहत कथा इतिहास पुरानी।'*** (१। २२६), ***'लगे कहन कछु कथा पुरानी।'*** (१। २३७) इत्यादि तथा यहाँ ***'कहि कहि कथा पुरानी।'*** यहाँ कथा कहकर समझानेका प्रसंग आनेको था ही, इसीसे पूर्व आगमन न कहा। ☞ पूर्व कहा जा चुका है कि पूज्य कविकी यह शैली है कि जिस बातको कहीं विस्तृत रूपसे कहना है उसको वहीं एक स्थानपर कह देते हैं, बारम्बार दोहराते नहीं। इस ग्रन्थमें ऐसे प्रसंग बहुत हैं जहाँ एक ही जगह कहकर आगे-पीछेका भी बोध कर दिया है। वाल्मीकिजीने बहुत दोहराया है, यहाँ वह बात नहीं है। (ख)—***'समुझाई सब सभा सुबानी।'*** इनका सभीको समझाना कहा, यह क्यों? कारण कि ये किसीके वर्गके नहीं, न भरतके वर्गमें न जनकके वर्गमें। वसिष्ठजी और शतानन्दजीने अपने-अपने समाजको उपदेश दिया। विश्वामित्रजीने दोनोंको (पु०रा०कु०)। पुनः, यह भी हो सकता है कि मिथिला-अवध दोनों इनके ऋणी हैं, दोनोंको ये प्रिय हैं; क्योंकि इनकी कृपासे 'सिया' जीका स्वयंवर पूरा हुआ और अवधेशके चारों पुत्र ब्याहे गये। दूसरे, कथाएँ सबको प्यारी लगती ही हैं, इससे सब सुनते हैं, सबको ये समझाते हैं। (ग) ***'सुबानी'*** का भाव कि पुराणोंकी कथाओंको सुन्दर मधुर वाणीमें अत्यन्त प्रिय बनाकर कहा, जिसमें सबको रुचिकर हों। कथाओंसे दिखाया कि यशस्वी सदा जीवित हैं उनका सोच व्यर्थ है। इत्यादि। (शीला)। (घ) वि० त्रि० जी कौशिकजीका समझाना इस प्रकार कहते हैं—***'आया है सो जायगा सुनो सभासद वृन्द। यहाँ सोक करता नहीं कोई भी स्वच्छन्द॥ वे ही धन्य जो धर्मके लिये उठाते कष्ट। उनका जीना व्यर्थ जो धर्मपन्थ से भ्रष्ट॥ सत्य न छोड़ा भूपने दिया देहको छोड़। दुनियामें हो गया इक नृप दशरथ बेजोड़॥ तौल तराजू पर दिये काट काट निज मांस। गुरुता बढ़ी कपोतकी शिबि नहिं हुए उदास॥ गये काटते अंततक काँप उठा संसार। कठिन परीक्षा धर्मकी धन्य जो पावै पार॥ राज गया रानी बिकी बिके डोमके हाथ। हरिश्चन्द्र फिर भी नहीं तजे धर्मका साथ॥ बामनने बलिको ठगा बलिने तजा न धर्म। नाप दिया निज देहको कठिन धर्मका मर्म॥ बढ़ी बिरह ज्वाला बड़ी जलभुन गया शरीर। सत्य न दशरथ तज सके ऐसे थे मतिधीर॥ ऐसे राजाकी प्रजा हो करके तुम लोग। शोक तजो धीरज धरो नश्वर सुख दुख भोग॥'***

'तब रघुनाथ कौसिकहि कहेऊ।' (क) कौशिकसे कहा क्योंकि इनका दोनोंपर दबाव है, दूसरे ये दोनोंमेंसे किसीके वर्गके नहीं हैं। देखिये जब जनकमहाराज चक्रवर्तीजीको बिदा नहीं करते थे तब इन्हींने जाकर समझाया था। इससे भी श्रीरामजीका शान्त रहना प्रकट है। और सब शोकमें डूबे थे पर ये सावधान थे। (ख) ***'नाथ कालि जल बिनु सबु रहेऊ'***—अर्थात् किसीने कल और आज इस समयतक कुछ आहारकी कौन कहे जलतक नहीं ग्रहण किया। शोकसे सब ऐसे ही कृश हैं, आहार बिना और कष्ट होगा, आप सबको आज्ञा दें कि भोजन करें, आपकी आज्ञा सब मानेंगे।

मुनि कह उचित कहत रघुराई। गयेउ बीति दिन पहर अढ़ाई॥ ६॥
रिषि रुख लखि कह तेरहुतिराजू। इहाँ उचित नहिं असन अनाजू॥ ७॥
कहा भूप भल सबहिं सुहाना। पाइ रजायसु चले नहाना॥ ८॥

दो०—तेहि अवसर फल फूल दल मूल अनेक प्रकार।
लेइ आये बनचर बिपुल भरि भरि काँवरि भार॥ २७८॥

शब्दार्थ—**अढ़ाई**=दो और आधा, $2\frac{1}{2}$। भारि=बोझ भर, **'भारः स्याद्विंशतितुला' इत्यमरः**—(वन्दन पाठकजी)। **बनचर**=वन-(जंगल-) में रहनेवाले मनुष्य, वनवासी, जंगली आदमी, कोल-किरात। **दल**=पौधोंके पत्ते जो खाये जाते हैं।

अर्थ—श्रीविश्वामित्रजी बोले कि श्रीरामजी ठीक कह रहे हैं, ढाई प्रहर दिन (आज भी) बीत गया॥ ६॥ ऋषिका रुख देखकर तिरहुतराज श्रीजनक महाराजने कहा कि यहाँ अन्न-भोजन करना उचित नहीं॥ ७॥ राजाने अच्छी बात कही, सबको भायी। आज्ञा पाकर सब नहाने चले॥ ८॥ उसी समय अनेक प्रकारके बहुत-से फल-फूलदल और मूल बहुत-सी बहँगियों और बोझोंमें* भर-भरकर लादकर वनवासी कोल-भील आदि ले आये॥ २७८॥

पु०रा०कु०—(१) *'रिषि रुख लखि कह तेरहुति राजू।'* इससे जनाया कि विश्वामित्रजीकी यही राय थी, उसको लक्ष्य करके ऐसा कहा। (२) *'तेहि अवसर'* अर्थात् श्रीरामजीकी इच्छासे।

नोट— *'इहाँ उचित नहिं असन अनाजू'* इति। १—भाव कि श्रीरामजी फलाहार करें और सब लोग अन्न खायें, यह उचित नहीं। (वै०)। २—अवधवासी भी नेम-व्रतसे हैं। ३—'अन्नका सामान करनेमें और रसोई तैयार होनेमें समय लगेगा, हम सब दर्शनोंको आये और दिन रसोईमें ही बीत जाय, यह उचित नहीं। अथवा, कोलभीलोंकी सेवा भी सुफल करना है— (पं०)।

कामद भे गिरि राम प्रसादा। अवलोकत अपहरत बिषादा॥ १॥
सर सरिता बन भूमि बिभागा। जनु उमगत आनँद अनुरागा॥ २॥
बेलि बिटप सब सफल सफूला। बोलत खग मृग अलि अनुकूला॥ ३॥
तेहि अवसर बन अधिक उछाहू। त्रिबिध समीर सुखद सब काहू॥ ४॥

शब्दार्थ—**प्रसादा**=कृपा या प्रसन्नता। **अपहरत**=निश्चय ही एवं पूर्णरूपसे हरण करता है। 'अप' उपसर्ग यहाँ विशेष, निश्चय, पूर्णरूपका अर्थ देता है। **अनुकूला**=मनको प्रसन्न करनेवाली, सुखदायक।

अर्थ—श्रीरामजीकी प्रसन्नता-(कृपा-)से (यहाँके सब) पर्वत मनोवांछित देनेवाले हो गये। दर्शन-मात्रसे निश्चय ही दु:खको हर लेते हैं॥ १॥ तालाब, नदी, वन आदि पृथ्वीके अनेक भागोंमें मानो आनन्द और अनुराग उमड़ रहा है॥ २॥ बेलें और वृक्ष सभी फल और फूलसे युक्त हैं। पक्षी, पशु और भौंरे अनुकूल बोली बोल रहे हैं॥ ३॥ उस समय वनमें बहुत आनन्द था, सबको सुख देनेवाली तीन प्रकारकी हवा चल रही थी॥ ४॥

नोट—१ *'कामद भे गिरि राम प्रसादा।····'* इति। समाजभरके लिये कन्द-मूल-फल कहाँसे आ गया? उसका यह उत्तर है। श्रीरामजीकी कृपासे यहाँके पर्वत कामतरुकी तरह सभी कामनाओंके पूर्ण करनेवाले बन गये हैं, फल-मूलकी ही आप क्या कहते हैं? देखिये लंकामें प्रभुके पहुँचते ही ऋतु-अनऋतुका विचार छोड़ सब वृक्ष फलसम्पन्न हो गये—*'सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥'* (लं० ५। ५)। यह सब रामप्रसाद रामकृपाका फल है। यथा—*'बिनु ही रितु तरुवर फरत सिला द्रवति जल जोर। राम लषन सिय करि कृपा जब चितवत जेहि ओर॥'* (दो० १७३)।

यहाँ *'राम'* पद दिया अर्थात् ये सबके आत्मा हैं इससे यह होना बड़ी बात नहीं। ऐसे प्रसंगोंमें प्राय: *'राम'* नामका प्रयोग किया गया है।

नोट—२ *'सर सरिता बन भूमि बिभागा।····'* इति। (क) *'विभागा'* के दो प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं। एक पृथ्वीके ये सब एवं अन्य भाग भी पृथक्-पृथक्', दूसरे, 'सर, सरित, वन और पृथ्वीके भाग नाला, नदी या पहाड़ोंके बीच-बीचमें जो विलग-विलग भूमिका है'— (वै०)। अथवा, वनभूमिके सर, सरिता आदि विभाग—यह भाव १३६ (५) और उसकी व्याख्यासे निकलता है। पर यहाँ 'भूमिके सब भाग' यही ठीक है क्योंकि अन्तमें कहते हैं कि *'जनु महि करत जनकु पहुनाई॥'* (ख) जबसे रामजी चित्रकूट आये *'तब ते भएउ बन मंगलदायक।'* वनमें वृक्ष, सर, सरिता, पर्वत, पक्षी, पशु आदि

* ऐसा भी अर्थ लोग करते हैं कि काँवरोंका पूरा बोझ लादकर लाये। पंजाबीजी काँवर भरभर कंधेपर और भार सिरपर लाद-लादकर लाना लिखते हैं।

सबको पृथक्-पृथक् कहकर सबकी शोभा कही, फिर अन्तमें उपसंहारमें कहा है कि *'सो बन सैल सुभाय सुहावन।'* [१३७ (५)—१३९(३)] मंगलदायक तो था ही अब अधिक हो गया, आनन्द और अनुराग मानो उसमेंसे उमड़ता चला आता है।

नोट—३ *'बेलि बिटप सब सफल सफूला।'''' '* इति। इसमें तीनों भाव हैं। बेलें पुष्पयुक्त, वृक्ष फलयुक्त। वा, जिनमें केवल फूल लगता है, वे फूले हैं जिनमें केवल फल लगता है वे फलसे लदे हैं और जिनमें फूल और फल दोनों होते हैं वे दोनोंसे युक्त हैं। वा, सभी फल-फूल-सम्पन्न हैं, यह आश्चर्य श्रीसीताराम-कृपासे हो रहा है। बा० २१२ *'फूलत फलत सुपल्लवत''' '* भी देखिये।

वि० त्रि०—*'तेहि अवसर बन अधिक उछाहू।'* इति। रामशैलके विषयमें कहकर, अब रामवनके विषयमें कहते हैं। उस वनमें सदा ही उछाह बना रहता था। भरतजी आये तो उन्होंने देखा *'अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा॥'* इस समय तो रामजीके प्रसादसे शैल कामद हो गया तो वनमें भी उछाह बढ़ गया।

जाइ न बरनि मनोहरताई। [जनु महि करत जनक पहुनाई॥ ५॥
तब सब लोग नहाइ नहाई।][1] रामु जनक मुनि आयसु पाई॥ ६॥
देखि देखि तरुवर अनुरागे। जहँ तहँ पुरजन उतरन लागे॥ ७॥
दल फल मूल कंद बिधि नाना। पावन सुंदर सुधा समाना॥ ८॥

दो०—सादर सब कहँ रामगुर पठए भरि भरि भार।
पूजि पितर सुर अतिथि गुर लगे करन फलहार॥ २७९॥

अर्थ—वनकी सुन्दरता—रमणीयता कही नहीं जा सकती, मानो पृथ्वी राजा जनककी मेहमानी (आतिथ्य-सत्कार) कर रही है॥ ५॥ तब सब लोग नहा-नहाकर श्रीरामचन्द्रजी, श्रीजनक महाराज और मुनिकी आज्ञा पाकर, सुन्दर वृक्षोंको देख-देखकर प्रेममें भरकर पुरवासी जहाँ-तहाँ उतरने लगे॥ ६-७॥ रामगुरु श्रीवसिष्ठजीने अनेक प्रकारके पवित्र, सुन्दर और अमृत-समान स्वादवाले[2] दल, फल, मूल और कन्द भार भर-भरकर सबको आदरपूर्वक भेजे। वे पितर, देवता, अतिथि और गुरुकी पूजा करके फलाहार करने लगे॥ ८-२७९॥

'जनु महि करत जनक पहुनाई'

'यहाँ प्रसंग करुणारसका था, उसमें शृंगारका वर्णन रसाभास है। त्रिविध समीर, पक्षी और भँवरके शब्द आदि वनकी शोभा शृंगारके उद्दीपन विभावका वर्णनप्रसंग समयसे विरुद्ध है।', यह शंका उठाकर पाँड़ेजी कहते हैं कि इसी विचारसे गोसाईंजीने 'पृथ्वीका शृंगार वर्णन किया। क्योंकि वह जड़ है उसको अवसर-कुअवसरका ज्ञान नही।' बैजनाथजी कहते हैं कि इसका कारण यह है कि मिथिलावासी शृंगारके अधिकारी हैं, वियोगमात्र करुणा रही, श्रीरघुनाथ-संयोग पाकर शृंगार जाग उठा, करुणा शान्त हुई।

पं०—जनकजी श्रीरामजीके श्वशुर हैं। उनका कोई पदार्थ वे लेंगे नहीं और यहाँ ये अतिथि हैं, राजा हैं, इनका सत्कार होना भी आवश्यक है, यह सोचकर पृथ्वी स्वयं पहुनाई करने लगी। पृथ्वी पहुनाई

१-कोष्ठकमें दिये हुए दोनों चरण राजापुरकी पोथीमें नहीं हैं और काशिराजकी रामायण-परिचर्यामें भी नहीं हैं। इनके न रहनेसे कोई विशेष हानि नहीं जान पड़ती, प्रसंगमें कोई त्रुटि नहीं पड़ती। पर ये अन्य सब प्रतियोंमें और उत्प्रेक्षासे रसाभासका समाधान भी हो जाता है। हो सकता है कि ये दो चरण लेखकसे छूट गये हों या पीछे बढ़ाये गये हों। दोहा २५०(२) देखिये।

२-इनके भाव २५०(१) में देखिये।

करती है जिसमें ये लौटनेको न कहें। वह मानो कह रही है कि इनको दुःख न होगा, मैं सदा इनकी इसी प्रकार सेवा करूँगी। इन्हें हमारा भार उतारने जाने दीजिये।

मा० म०—जानकीजी धरणिजा हैं। उनके सम्बन्धसे ये पृथ्वीके पति हैं, यथा— *'देखे सुने भूपति अनेक झूठे झूठे नाम साँचे तिरहुतनाथ साखि देति मही है।'* (गी० १। ८५)। पत्नीकी सेवा पति अंगीकार करता है। अतएव पृथ्वीने उनका धर्म रख लिया। (मयंक)

पु०रा०कु०—पति जानकर पहुनाईके सब पदार्थ एकत्र कर दिये हैं। वृक्षोंपर वेलें छायी हैं वे ही तम्बू-शामियाने हैं, फल-फूल भोजनके लिये हैं, पशु-पक्षी तायफा हैं, भँवर गायक, मोर नट इत्यादि सब सरंजाम जैसा राजाकी पहुनाईमें चाहिये सब एकत्र कर दिया है।

नोट—१ *'देखि देखि तरुवर अनुरागे।'*''' 'इति। एक दिन बीत गया, अबतक डेरा भी नहीं डाला था। कारण कि कल तो शोकमें सब ऐसे निमग्न थे कि किसीने जल भी न ग्रहण किया था, जो जहाँ था वहीं ज्यों-का-त्यों रह गया था, शोकहीमें रात बीत गयी। वनमें अनुराग और आनन्द उमग रहा है, अतः वृक्षोंको देखकर अनुरक्त होते हैं, जो वृक्ष जिसको अच्छा लगा उसीके नीचे वह रह गया। *'तरु'* को *'वर'* विशेषण देकर जनाया कि इनमें विशाल छाया है। ग्रीष्मके दिन हैं, घामकी तपन और लू जहाँ न लगे ऐसे श्रेष्ठ सुन्दर विशाल सघन सफल वृक्ष हैं।

नोट— २ *'सादर सब कहँ रामगुर पठए'*''''' 'इति। रामगुरु वसिष्ठ-विश्वामित्र दोनों हैं। यहाँ दोनोंसे ही तात्पर्य है। इसीसे कोई और नाम न दिया। कुछ लोगोंका मत है कि यहाँ रामगुरु विश्वामित्र हैं।

नोट—३ *'पूजि पितर सुर अतिथि गुर'*''' ' यह भोजनकी विधि लिखी। पितर, देवता (बलिवैश्वदेव.....), अतिथिका भाग निकालकर और गुरुको देकर तब भोजन करते हैं।

एहि बिधि बासर बीते चारी। राम निरखि नर नारि सुखारी॥ १॥
दुहुँ समाज असि रुचि मन माहीं। बिनु सियराम फिरब भल नाहीं॥ २॥
सीताराम संग बनवासू। कोटि अमरपुर सरिस सुपासू॥ ३॥
परिहरि लषन राम बैदेही। जेहि घरु भाव बाम बिधि तेही॥ ४॥
दाहिन दइउ होइ जब सबहीं। राम समीप बसिअ बन तबहीं॥ ५॥
मंदाकिनि मज्जन तिहुँ काला। रामदरसु मुद मंगल माला॥ ६॥
अटनु रामगिरि बन तापस थल। असनु अमिअ सम कंद मूल फल॥ ७॥
सुख समेत संबत दुइ साता। पल सम होंहि न जनिअहिं जाता॥ ८॥

दो०—एहि सुख जोग न लोग सब कहहिं कहाँ अस भागु।
सहज सुभायँ समाज दुहुँ रामचरन अनुरागु॥ २८०॥

एहि बिधि सकल मनोरथ करहीं। बचन सप्रेम सुनत मन हरहीं॥ १॥

शब्दार्थ—**माला**=पंक्ति, अवली, समूह, झुण्ड=*'मृगमाला फिरि दाहिन आई'* (बा०) **संबत**=वर्ष, साल। **सहज**=प्राकृतिक, साधारण, स्वाभाविक, कुदरती, बनावटी या शिक्षा पानेसे नहीं, जन्मके साथ उत्पन्न होनेवाला।

अर्थ—इस प्रकार चार दिन बीत गये। श्रीरामचन्द्रजीको देखकर स्त्री-पुरुष (सब) सुखी हैं॥ १॥ दोनों समाजोंके मनमें ऐसी इच्छा है कि बिना श्रीसीतारामजीके लौटना अच्छा नहीं (अर्थात् साथ लेकर ही लौटें अन्यथा नहीं)॥ २॥ श्रीसीतारामजीके साथ वनका वास करोड़ों देवलोकों (के निवास) के समान सुखदायक है॥ ३॥ श्रीलक्ष्मण-राम-वैदेहीजीको छोड़कर जिसे घर अच्छा लगे उसे विधाता उलटे हैं (जानो)॥ ४॥ जब दैव सबको दाहिना हो तभी श्रीरामजीके पास वनमें निवास हो॥ ५॥ मन्दाकिनीमें

त्रिकाल स्नान और आनन्द-मंगलोंका समूह रामदर्शन, श्रीरामजीके पर्वतों, वनों तथा तपस्वियोंके स्थानोंमें घूमते, अमृत-समान कन्द-मूल-फलका भोजनकर १४ वर्ष सुखपूर्वक पल-समान हो (बीत) जायँगे, जाते जान न पड़ेंगे॥ ६—८॥ सब लोग कह रहे हैं कि हम सब इस सुखके योग्य नहीं हैं, हमारे ऐसे भाग्य कहाँ? दोनों (अवध-मिथिला) समाजोंका श्रीरामजीके चरणोंमें सहज स्वभावसे प्रेम है॥ २८०॥ इस प्रकार सभी लोग मनोरथ कर रहे हैं। प्रेमभरे वचन सुनकर ही मन हर जाता है॥ १॥

नोट—१ ***'एहि बिधि'***—जैसा ऊपर कह आये कि प्रात:काल स्नान आदि करके आश्रमपर बैठते हैं, दूसरे स्नानके बाद सबका भाग निकालकर भोजन करते हैं। (प्र०सं०)। दिन बीतनेकी विधि कहते हैं कि लोग फलाहार करते हैं और रामजीका दर्शन करते हैं। रामजीके दर्शनकी यह महिमा है कि उनके सामने कोई सुख जँचता नहीं, यथा—***'सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। रामचंद्र मुख चंद्र निहारी॥'*** इस भाँति चार दिन बीत गये। पहले ही अवधवासियोंने विदेहराजका आगमन सुनकर हिसाब लगाया था कि चार दिन तो और रहना हुआ, यथा—***'अस मन आनि मुदित नर नारी। भयउ बहोरि रहब दिन चारी॥'*** रामजीका रुख देखकर सबको निराशा हो गयी थी, सम्भावना हो रही थी कि उसी दिन अयोध्या लौट जानेको कहें। जनकजीका आगमन सुनकर हिसाब लगाया कि आज तो जनकजी आते नहीं, तीर्थमें आ रहे हैं, आनेपर तीन रात्रि निवास अवश्य करेंगे, अत: चार दिन और रहनेका अवसर मिल गया। वे चार दिन भी सुखसे बीत गये। (वि० त्रि०)।

नोट—२ ***'कोटि अमरपुर'*** क्योंकि वहाँ गंगा यहाँ मन्दाकिनी जिसकी वह भी ईर्ष्या करती है, वहाँ कल्पवृक्ष यहाँ सारे पर्वत, वन कामद, वे श्रीरामके लिये तरसते हैं, हमारे साथ श्रीरामजी हैं, वहाँ नन्दनवनमें विहार यहाँ राम-गिरि-वन आदिमें विहार, वहाँ अमृत, यहाँ ***'असनु अमिय सम कंद मूल फल'*** इत्यादि। इन्द्र आदिको भय रहता है और यहाँ ***'रामदरसु मुद मंगल माला'*** है।

नोट—३ ***'दुइ साता'***=दो सात=७/७=१४। अल्पवाचक ***'दुइ'*** शब्द प्रथम देकर जनाया कि १४ वर्ष हैं ही कितने, थोड़े ही तो हैं। कोई वस्तु कैसी ही भारी हो उसके कई भाग हो जानेसे वह बहुत नहीं जान पड़ती, थोड़ी जान पड़ती है और उसीको एकत्र कर दो तो बहुत बड़ी या भारी जान पड़े।

नोट—४ ***'पल सम होंहि न जनिअहिं जाता।'*** सुखके दिन इसी तरह बीत जाते हैं, यथा—***'प्रेममगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।'*** (१।२००) ***'ब्रह्मानंद मगन कपि सबके प्रभु पद प्रीति। जात न जाने दिवस तिन्ह गए मास षट बीति॥'*** (७।१५)। इत्यादि।

नोट—५ ***'राम निरखि नर नारि सुखारी'*** कहकर ***'सुख समेत संबत·····'*** तक उनका अनुराग, उनका सुख, उनका मनोरथ कहा। आगे ***'एहि सुख जोग·····अस भाग'*** से भावी वियोग कहा।

नोट—६ ***'एहि बिधि सकल·····'*** इति। जैसा ऊपर ***'दुहूँ समाज अस रुचि·····'*** (२८०। २) से ***'कहाँ अस भागु॥'*** (२८०) तक कह आये। ***'बचन सप्रेम·····'*** श्रीरामानुराग ऐसा ही पदार्थ है। यह अनुराग मनको हर लेता है।

श्रीअवध-मिथिला-राजमहिला-सम्मेलन

सीयमातु तेहि समयँ पठाईं। दासी देखि सुअवसर आईं॥ २॥
सावकासु सुनि सब सियसासू। आयेउ जनकराज-रनिवासू॥ ३॥
कौसल्याँ सादर सनमानी। आसन दिये समय सम आनी॥ ४॥
सीलु सनेह सकल* दुहुँ ओरा। द्रवहिं देखि सुनि कुलिस कठोरा॥ ५॥

* यही पाठ राजापुर, रा० प०, पं० रा० गु० द्विवेदी, वन्दन पाठकजी तथा पंजाबीजीका है। पर पाठकजीकी प्रतिमें हाशियेपर 'सरिस' भी है। भागवतदासजीने 'सरस' पाठ दिया है। 'सरस' से अर्थ होगा कि खूब बढ़ा हुआ है।

शब्दार्थ—**सावकासु**=अवकाश, छुट्टी, खाली,मौका=फुर्सतसे, सुभीते हो।

अर्थ—उसी समय श्रीसीताजीकी माता श्रीसुनयनाजीकी भेजी हुई दासियाँ (अवध-रनवाससे मिलनेका) अच्छा मौका देखकर आयीं॥ २॥ श्रीसीताजीकी सब सासुओंको खाली सुनकर जनकराजका रनवास आया॥ ३॥ श्रीकौसल्याजीने सबका आदर-सम्मान किया और समयानुकूल आसन लाकर दिये॥ ४॥ दोनों तरफ सबके सम्पूर्ण प्रकारसे शील और प्रेमको देखकर कठोर वज्र भी देख-सुनकर पिघल जाते हैं॥ ५॥

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ ***'पठाईं'*** कि देख आवें सब भोजन कर चुकीं, खाली हैं, किसी काममें तो नहीं लगी हैं। ***'सुअवसरु'*** ताकनेसे काम बनता है, यथा—***'समरथ कोउ न राम सो तीय हरन अपराधु। समयहिं साधे काज सब समय सराहहिं साधु॥'*** (दो० ४४८)।

टिप्पणी—२ ***'आयेउ जनकराज-रनिवासू'*** इति। श्रीजनकमहाराज दो भाई हैं। कुशध्वजजी सहोदर भ्राता हैं। इन दोनोंकी रानियाँ आयीं और श्रीजनकजीके आठ विमातृ भ्राता हैं उनकी रानियाँ आयीं। श्रीसुनयनाजी जनकपाटमहिषी हैं। सौतेले भाइयोंकी रानियोंके नाम चन्द्रकान्ति, विदग्धा, शुभदा, सिद्धा, मोहिनी, शोभनांगी, विलक्षा और विनीता इत्यादि हैं। इत्यादि सब जनक रनिवास है। (वै०)।

टिप्पणी—३ ***'आसन दिये समय सम आनी'*** अर्थात् शोकका समय है और वनमें हैं, पुनः सभी नेम-व्रत धारण किये हुए हैं, इससे चाहे कुशासन ही हो और गर्मीके दिन हैं इत्यादि। इससे साधारण शीतल आसन दिया जो वहाँ मौजूद था। स्वयं लाकर दिया यह सम्मान है। आइये बैठिये, यहाँतक आनेमें बहुत कष्ट हुआ होगा इत्यादि शिष्टाचार भी सम्मान है। [बैजनाथजीका मत है कि साधारण आसन चाँदना, कालीन, गलीचा आदि बैठनेको दिया। बाबा हरिहरप्रसादजी मृत्युके कारण काले या हरे रंगका आसन देना कहते हैं। प० प० प्र० स्वामीका मत है कि काले या हरे रंगका आसन दिया ऐसा समझनेकी आवश्यकता नहीं है। भरतजी ***'बनहिं देब मुनि रामहि राजू'*** इस विचारसे यहाँ आये थे; अतः सिंहासन तथा अन्य 'वर आसन' अवश्य साथमें लाये होगें। पर जबतक श्रीरामजी कुशासनपर बैठते हैं तबतक रामभक्त, रामप्रेमी उत्तम आसनपर बैठना कब स्वीकार करने लगे। जैसे ***'इहाँ उचित नहिं असन अनाजू'*** वैसे ही यहाँ दूसरा आसन वे कब उचित समझेंगे। यदि आज श्रीरामजी अभिषेक करा लेते तो सबको रत्नसिंहासन ही बैठनेको दिये जाते। आगे भी जब श्रीजनकमहाराज भरतजीके पास जाते हैं तब भी कहा है— ***'भरत आइ आगे भइ लीन्हें। अवसर सरिस सुआसन दीन्हें॥'*** इसमें भी वही भाव है। इस भावकी पुष्टि ***'सील सनेह सकल दुहुँ ओरा'*** से भी होती है।

टिप्पणी—४ ***'देखि सुनि'*** अर्थात् शील-स्नेहसे जो आचरण हो रहे हैं उनको देखकर और उनमें पगे हुए वचन सुनकर कठोर वज्र भी पिघल जाते हैं, साधारण कठोर हृदयोंकी बात ही क्या! स्नेहका स्वरूप ऐसा ही है, यथा—***'जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमगत पेम मनहुँ चहुँ पासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन पेम न जाइ बखाना॥......'*** (२२०। ६-७) विशेषभाव २२०। ६ में देखिये।

पुलक सिथिल तनु बारि बिलोचन। महि नख लिखन लगीं सब सोचन॥ ६॥
सब सियराम प्रीति कि सी* मूरति। जनु करुना बहु बेष बिसूरति॥ ७॥
सीयमातु कह बिधि बुधि बाँकी। जो पयफेनु फोर पबि टाँकी॥ ८॥

दो०—सुनिअँ सुधा देखिअहिं गरल सब करतूति कराल।
जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल॥ २८१॥

शब्दार्थ—'**बिसूरति**' (सं० विसूरण)=दुःख, शोक या चिन्ता करती हैं। '**बाँकी**'=विचित्र, टेढ़ी, तीक्ष्ण। **फोर**-फोरना (फोड़ना)=तोड़ना, टुकड़े करना। **टाँकी**=छेनी। सकृत=एक।

* सि—गी०प्रे०। सीं—ला० सीताराम। सी—को० रा० प्रे० नं०प०।

अर्थ—शरीर पुलकित और शिथिल है, नेत्रोंमें जल भरा है। सब अपने (पैरके) नाखूनसे पृथ्वीपर लिखने और सोचने लगीं॥ ६॥ सब श्रीसीतारामजीके प्रेमकी मूर्ति-सी हैं। मानो करुणा ही बहुत-से वेष धरकर शोक और चिन्ता कर रही॥ ७॥ श्रीसीताजीकी माताने कहा कि विधाताकी बुद्धि बड़ी बाँकी है, जो दूधके फेनेको वज्रकी टाँकीसे फोड़ती है॥ ८॥ अमृत सुननेमें आता है और विष प्रत्यक्ष दिखायी पड़ता है। उसकी सब करनी भयंकर और कठोर है। जहाँ-तहाँ कौवे, उल्लू, बगुले ही दिखायी देते हैं, हंस तो एक मानसरोवरमें ही हैं॥ २८१॥

नोट—१ ***'महि नख लिखन लगीं सब सोचन……'*** इति। ☞ यह शोचकी एक मुद्रा है। स्त्रियाँ प्रायः शोचमें मग्न हो पद-नखसे पृथ्वीपर रेखाएँ बनाती हैं, पृथ्वीको कुरोदती हैं। ५८ (५) ***'चारु चरन नख लेखति धरनी'*** देखिये।

नोट—२ (क) ***'जनु करुना बहु बेष बिसूरति'***— ७०० रानियाँ दशरथजीकी हैं और जनक-रनवास ये सब-की-सब सोचमें मग्न नखोंसे जमीन कुरोदती हैं, उनका इसी तरह बैठे सोच करना उत्प्रेक्षाका विषय है। सबकी चेष्टाएँ ऐसी हैं मानो 'करुणा मूर्तिमान्' इतने शरीर धारण किये बैठी है।

पु० रा० कु० १— एक तो करुणा, दूसरे शरीर धारण किये है, तीसरे वह भी सोच करती है; यह कहकर करुणरसका अतिशय आधिक्य दिखाया है। अतिशय प्रेम है इससे प्रेमकी मूर्ति कहा और अतिशय करुणा कर रही हैं इससे करुणाकी मूर्ति कहा।

'सीयमातु कह बिधिबुधि बाँकी।…'

पु० रा० कु० २— यहाँ पहले श्रीसुनयनाजीका बोलना कहकर जनाया कि उनकी बुद्धि बड़ी पैनी है। दूसरे श्रीकौसल्यादि दुःखसे बहुत विह्वल हैं इससे उनका बोलना प्रथम न कहा यद्यपि दुःखी ये भी हैं पर उतनी नहीं। [***'कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा'*** सब सुमगुम हैं, इस दशामें श्रीसुनयनाजीने मार्ग निकाला, इन्हींने बोलना प्रारम्भ किया। इससे यह तर्क निकालना कि ये उतनी विकल नहीं हैं पूर्व संदर्भके विरुद्ध है। दोहा २७०, २७७ देखिये (प० प० प्र०)।]

पां०— यहाँ अन्योक्ति अलंकारद्वारा श्रीसुनयनाजी विधिके बहानेसे कैकेयीका करतब वर्णन करती हैं। यहाँ दशरथ-कौसल्या-रघुनाथका संयोग पयफेन है, कैकेयी वज्रकी टाँकी है, मन्थरा हथौड़ी है, ठोकनेवाली सरस्वती हैं— इन तीनोंने मिलकर उस संयोगरूपी पयफेनको तोड़कर अलग-अलग कर दिया। अर्थात् ये सब एकत्र थे; वज्र टाँकीसे फोड़ा; कैकेयीद्वारा वर मँगवाकर सबको तितर-बितर कर दिया। राजा स्वर्गवासी हुए, श्रीरामजी चित्रकूट वा वनवासी हुए और कौसल्याजी अवधमें रह गयीं। वज्रकी छेनी अकेले कुछ नहीं कर सकती, उसके लिये और तीनका योग होना चाहिये—हथौड़ी, निहाई और ठोकनेवाला। वैसे ही यहाँ कैकेयी कुछ न कर सकती—मन्थरा, अवधवासी और सरस्वतीके योगसे वह इस कार्यमें समर्थ हुई। मन्थरा हथौड़ी है, अवधवासी निहाई हैं और सरस्वती ठोकनेवाली हैं। (रा० प्र०)।

रा० प्र०— कोई-कोई कहते हैं कि यहाँ श्रीराम, महाराज दशरथ और कौसल्याजी पयफेन हैं, श्रीअयोध्याका ऐश्वर्य पय है, अवधनगर पात्र है। श्रीराम-दशरथ-कौसल्याजी पयफेनवत् एकत्र थे। वे पबिटाँकीसे फोड़े गये जिससे तीनों तीन ठौर (तितर-बितर) हो गये। (यह पाँड़ेजीका भाव है। विशेष पा०में देखिये)।

पु० रा० कु० ३— (१) बुद्धि बड़ी टेढ़ी या तीक्ष्ण है कि दूधके फेनसे वज्रमें टाँकी देकर फोड़ती है। आशय यह कि कैकेयीका स्वभाव पयफेनसम है, रामको वनवास देना वज्रमें टाँकी लगाना है। दूधका फेन दे-देकर वज्रके पर्त उतारे जाते हैं, दूधकी लकीर खींचनेसे वह साबित उतरता है। उसीसे इसका दृष्टान्त दिया। अथवा, (२) पयफेनको वज्रकी छेनीसे फोड़ता है अर्थात् राम कोमल पयफेन-सरीखे हैं। उनको वन देना वज्र-टाँकीसे फोड़ना है।

मा० म०—पुनः विधिके इशारेसे जलके फेनसे नमुचि नामक दैत्यको इन्द्रने मारकर दो टुकड़े कर

दिये थे; यथा—*'अजर अमर कुलिसहुँ नाहिंन बध सो पुनि फेन मर्‌यो।'* (वि०२३९)। इसी तरह फेनसम राम वज्रसमान रावणादिको मारेंगे यह विधिकर्तव्य है। वा, कैकेयी-दशरथका प्रेम वज्रवत् था। उसको मन्थरा दासीके द्वारा फेर दिया, अतः टेढ़ी बुद्धि है इत्यादि।

अ० दी० च०—ब्रह्माकी बुद्धि टेढ़ी है जिसने पयफेनको फोड़कर वज्रपर उसका टाँका दिया है। यहाँ श्रीरामजी पयफेनवत् कोमल हैं। उन्हें १४ वर्षका वनवास तीव्र वज्रवत् कठोर दिया अर्थात् श्रीरामचन्द्ररूपी पयफेनको फोड़कर वनवासरूपी टाँका रावणरूपी वज्रपर दिया। तात्पर्य कि परम कोमल श्रीरामचन्द्रजीसे वनवासके बहाने वज्रवत् रावणका नाश कराना चाहता है, यह माधुर्य है। अथवा क्षीरफेनवत् कोमल बलहीन रावणके लिये वज्रवत् कठोर महाबलशाली श्रीरामचन्द्रजीको परिश्रम दिया; यह ऐश्वर्य है। उसने यह नहीं विचारा कि पयफेन फूटनेपर नहीं बनता।

मा० म०—(१) कैकेयीकी बुद्धि पयफेन है। मन्थराकी बुद्धि टाँका है और अवधेशजी पवि हैं। अर्थात् कोमल स्वभाववाली कैकेयीके चित्तको फोड़कर उसमें मन्थराकी कही हुई वाणीको कहलाकर राजाको पीड़ित कर दिया। अथवा, (२) मन्थराकी बुद्धिरूपी फेनको फोड़कर कैकेयीरूपी टाँकी राजारूपी वज्रपर लगायी। अर्थात् मन्थराके चित्तको भेदन किया जिसने कैकेयीको बहकाया और राजा कैकेयीकी बातोंसे दुःखी हो गये। अथवा, (३) कैकेयीकी कपट चतुराईरूपी फेनको फोड़कर वरदानरूपी टाँकीसे राजाको दुःखित किया। (अ०दी०च०)।

वै०—परम कोमल श्रीरामजीको वनवास देना और शुद्ध धर्मात्मा रामसनेही श्रीदशरथको उत्सव-समय पुत्रवियोगसे प्राण त्याग कराना पयफेनको वज्रकी टाँकीसे फोड़ना है।

पं०—दैवगति अत्यन्त अद्‌भुत है कि दूधके फेनको फोड़कर वज्रकी टाँकीसे जोड़ती है। अथवा, विधिमति क्षीरफेन है जो वज्रकी टाँकीको फोड़ देती है। भाव यह कि राजाकी अत्यन्त दृढ़ मतिको ब्रह्माने नारीके वचनसे फोड़ दिया। अथवा, पयफेन (रूप रामजीको) वज्रकी टाँकीरूप वनवाससे कष्ट दिया।

श्रीपोद्दारजी—दूधके फेन-जैसी कोमल वस्तुको वज्रकी टाँकीसे फोड़ रहा है। अर्थात् जो अत्यन्त कोमल और निर्दोष हैं उनपर विपत्ति-पर-विपत्ति ढहा रहा है। (मानसांक)।

वि० त्रि०—*'सीयमातु कह''''मराल।'* इति। चक्रवर्तीजीके देहावसानके बाद सुनयनाजी पुछार (मातमपुरसी)के लिये आयी हैं। अतः वार्ता आरम्भ उन्हींको करना चाहिये। वार्तारम्भ वहाँ सिवा कैकेयी महारानीपर आक्षेपके और किसी तरह हो नहीं सकता। महारानी कैकेयी समधिन हैं और वहाँ बैठी हुई हैं, अतः बड़ी बुद्धिमानीसे सुनयनाजीने ब्रह्मदेवकी बुद्धिकी कठोरतापर आक्षेप करते हुए सब कुछ कह डाला। वे कहती हैं कि ब्रह्मदेवकी बुद्धि ऐसी टेढ़ी है कि दूधके फेनको वज्रकी टाँकीसे फोड़ा। यहाँ अँटकलसे काम लेनेसे निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं हो सकती। यहाँ उपमा-ही-उपमा है, उपमेयका कहीं पता नहीं है, अतः देखना पड़ेगा कि अन्य स्थानोंमें इन उपमाओंके उपमेयरूपसे कविने किसे माना है।

राजकी उपमा दूधसे दी गयी है, यथा—*'भामिनि भयउ दूध कै माखी।'* जब राजपद दूध हुआ, तब युवराजपदको उसका फेन मानना ठीक है। सो दूधका फेन तो मुखके फूँकसे फूट जाता है। भाव यह कि रामजीका युवराज होना तो कैकेयी महारानीके केवल मुखसे कह देनेसे भंग हो सकता था, उसके लिये वज्रकी टाँकी रामजीके वनकी कौन आवश्यकता थी, पर ब्रह्माको ऐसा ही मंजूर था, अतः वैसा ही किया। दूधके फेनको वज्रकी टाँकीसे फोड़ा। फल यह हुआ कि दूध तो नष्ट ही हो गया। दूध (राज्य) का आधारभूत कटोरा भी हाथसे गया अर्थात् चक्रवर्तीजीका देहावसान हो गया। यथा—*'भयेउ कोलाहल नगर अति सुनि नृप राउर सोर। बिपुल बिहग निसि परेउ जनु मानहु कुलिस कठोर॥'*

दूसरी बात भी उसी भाषामें कह रही हैं कि सुना गया अमृत, देखनेमें आया विष। यहाँ अमृत रामका राज्य है, यथा—*'एहि सुख सुधा सींचि सब काहू। देव देहु जग जीवन लाहू॥'* विष रामजीका विरह है, यथा—*'लोग बियोग बिषम बिष दागे।'* काक छली मलीन और अविश्वासी लोग हैं, यथा—

'छली मलीन कतहुँ न प्रतीती।' उलूक संत निन्दक हैं, और बक दगाबाज हैं, इन्हींकी संसारमें बहुतायत है। भावार्थ यह कि ऐसे ही किसीके बहकावेमें कैकेयी महारानी आ गयीं। वे ही निकट थे; हंस तो बड़ी दूर मानसरोवरमें केवल होते हैं। अर्थात् भरतजी उस समय कैकय देशमें थे। इसीसे यह दुर्घटना हुई।

'सुनिअ सुधा देखिअ गरल सब करतूति कराल'

पूर्व कहा था कि बुद्धि बाँकी है और अब करनीको कठोर कहती हैं।

पाँड़ेजी—१ (क) विधाताकी करनी कराल है कि उसने रामचन्द्रको वनवास दिया। सीधे-सीधे ऐसा न कहकर उसको यों कहती हैं—सुनती थी कि कैकेयीके किसी अंग (होठों) में अमृत है पर निकलनेपर जब देखा गया तो विष निकला—[राजा इसे देखकर (अमृत पानकर) जीते थे, यथा—*'मन तव आनन चंद चकोरू';* ऐसा सुना था पर चन्द्र और अमृतकी जगह वहाँ सर्प और विष देख पड़ा—*'सरोष भुअंगभामिनि विषम भाँति निहारई। दोउ बासना रसना दसन बर मरम ठाहरु देखई'*—उसने मार ही डाला—पुनः, (ख) दूसरा अर्थ यह कि सुना था अमृत अर्थात् रामराज्याभिषेक और देखनेमें आया विष वनवास। यथा—*'का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा॥'* (४८। १) पुनः, (ग) कैकेयी और रामजीमें बड़ा प्रेमरूपी अमृत सुना था पर महाविरोधरूपी गरल प्रकट देखनेमें आया।

'सब करतूति कराल'—भाव कि चाहिये तो यह था कि अमृत सबको देखने और बरतनेको मिलता और विष कहीं ऐसे दुर्घट स्थानमें रहता कि लोग वहाँतक पहुँच ही न पाते, सुनते रहते कि विष कोई वस्तु है। ऐसा न करके उसने अमृतको दुर्गम स्थानमें रखा और विषको सर्वत्र सुलभ रखा जिसमें लोग विशेष मरें, अतः करतूतको 'कराल' कहा। विशेष भाव टिप्पणियोंमें हैं।

२— *'जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल'* इति।—काक, उलूक, बक इन तीनों पक्षियोंके गुण कैकेयीमें आरोपण करके कहती हैं। किसीकी प्रतीति न मानना और कठोर बोलना कौवेका गुण है। यह गुण कैकेयीमें प्रत्यक्ष है। उल्लू अँधेरेमें प्रसन्न रहता है, कैकेयी राजाको मारकर अँधेरे अवधमें प्रसन्न हुई। रघुनाथजीमें अपना प्रेम दिखा सबको विश्वासमें रखा, पीछे अनर्थ किया, यह बगुलाका गुण है। मरालरूप लक्ष्मण-भरत हैं। उदाहरण—*'काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥';* वैसे ही इसको किसीके कहने-समझानेपर विश्वास न आया, नीच मन्थराके साथ यह भी मलीन हो गयी—*'रहै न नीच मते चतुराई।'* पुनः, *'अथयेउ आजु भानुकुल भानू'* इत्यादि अनर्थ होनेपर भी वह खुश रही, भरतजीको समझाती थी कि शोक न करो, यह उलूककी करनी कि भानुके अस्त होनेपर भी वह सुखी होता है। पुनः, राजाका जीवन प्रभुके दर्शनके अधीन था—*'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि······'* यह जानकर भी उसने बगुलारूप हो जलमेंसे मछलीरूप राजाको खा लिया।

शीला—(१) रामराज्य सुधा है, अमर करके सबको निजधाम ले जानेवाला है, यह सुननेमें आया हुआ वनवास विष यह प्रत्यक्ष देखा जिसने राजाको मार डाला। अवधवासी इससे न मरे कि उन्हें भरतने मन्त्र-ओषधिसे जीवित रख लिया—*'मंत्र सबीज सुनत जनु जागे',* नहीं तो ये भी मृतप्राय थे।

(२) रामवनगमनमें देवता काकरूप हैं—*'काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥'* देवता क्यों उनको वन ले गये, इसका कारण उलूकरूप निशाचर हैं—*'सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तमपर नेहा॥'* पर निशाचर तो एक वर्षमें ही सब मरेंगे; १३ वर्ष और क्यों वनवास कराया, इसका कारण बकरूप किरात हैं। उनके निर्धारहेतु वनवास इतने दिनका हुआ—किरात साधुरूप हो गये—*'भए सब साधु किरात किरातिनि रामदरस मिटि गइ कलुषाई',* शबरी आदिको गति दी इत्यादि। भरतजी मराल हैं यथा—*'भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुनदोष बिभागा॥'*

रा० प्र०—अमृत सुननेमात्रको है और विष देखनेमें आता है अर्थात् सुखदायी पदार्थ सुनने ही भरको था और जो दुःखदायी है वह देखनेमें आया। राज्य श्रवणमात्र हुआ, वन प्रत्यक्ष देख पड़ा। विधिकी सब

करनी भयावनी है। इसी प्रकार काक-उलूक-बक सभी ओर देख पड़ते हैं और हंस एक मानसरोवरमें ही हैं। 'शोक, मोह और व्याकुलतारूप काक-उलूक-बक सब ओर हैं। मानसरोवरमें अर्थात् रघुनाथजीके निकट हंसरूप श्रीजानकी-लक्ष्मण ही हैं।'

पु० रा० कु० ४—कैकेयी-मन्थरा काक-उलूक-बकवत् हैं। ऐसे आचरणवाले बहुत देखनेमें आते हैं, पर श्रीजानकी-लक्ष्मणजी-सरीखे हंस कहीं ही देखनेमें आते हैं। वा, भरत-से हंस कहीं ही देख पड़ते हैं। [कोई ऐसा भी कहते हैं कि देवता काकवत् हैं, मंथरा-कैकेयी उलूकवत् हैं इसीसे *'सुनत तिलक भा उर दाहू'* और सरस्वती बकवत् है, ऊपरसे राममें कैसा प्रेम कि *'एकटक रही राम अनुरागी'* और भीतरकी मलिन निकली। ('तीनों पक्षियोंके ही दृष्टान्त दिये' क्योंकि ये पक्षपाती हैं)। पं० विजयानंद त्रिपाठीजीके टिप्पण ऊपर आ चुके हैं।]

नं० प०—*'जहँ तहँ काक……'* इति। जहाँ-तहाँ काक-उलूक-बक रहते हैं। मराल तो केवल एक मानसरहीमें सुखसे रहता है सो उस मरालको जहाँ-तहाँ कर दिया कि आज यहाँ है, कल वहाँ है। भाव यह कि श्रीरामजी मरालकी तरह मानसर जो श्रीअवध है उसीमें सुखसे रहनेवाले हैं, उनको आज इस वनमें कल उस वनमें कर दिया। ऐसी कठोर करतूति ब्रह्माकी है। काक-उलूक-बकको जहाँ-तहाँ, अर्थात् आज यहाँ हैं, कल वहाँ हैं, जहाँ भी उन्हें कर दीजिये वहीं सुखी रहेंगे। पर मराल एक मानसरहीमें सुखी रहेगा।

वीरकवि—यहाँ श्रीसुनयनाजीको कहना तो यह है कि कैकेयीके हृदय-मानसमें छल, पाखण्ड, द्वेष आदि कौए उल्लू भरे हैं, एक भरत ही हंसरूप प्रकट हुए हैं। पर उसे न कहकर ब्रह्माकी करतूत वर्णनकर प्रतिबिम्ब मात्र कहना 'ललित अलंकार' है। पुनः कहना तो है कार्यरूप रामचन्द्रजीका राजोत्सव भंग और वनवास, उसे न कहकर कारणरूप ब्रह्माकी वामता कहना जिससे असली बात प्रकट हो जाय 'अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार' है।

नोट—३ जगन्नाथमिश्ररचित सभातरंग ५। ११ में मिलता-जुलता श्लोक यह है—'**अमृतं श्रूयते स्वर्गे विषमत्र प्रदृश्यते। यत्र यत्र भेकाः केका हंसाः सरसि मानसे॥**'

सुनि ससोच कह देवि सुमित्रा। बिधि गति बड़ि बिपरीत बिचित्रा॥ १॥
जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बालकेलि सम बिधि मति भोरी॥ २॥
कौसल्या कह दोसु न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू॥ ३॥
कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥ ४॥
ईस रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय बिषहु अमी के॥ ५॥
देबि मोह बस सोचिअ बादी। बिधि प्रपंचु अस अचल अनादी॥ ६॥

अर्थ—यह सुनकर देवी सुमित्राजी शोकसे कहती हैं कि विधाताकी चाल बड़ी ही विपरीत और विचित्र है॥ १॥ जो उत्पन्न करके पालता है और फिर नष्ट कर डालता है। लड़कोंके खेलके समान विधाताकी बुद्धि भोली है॥ २॥ (इसपर) श्रीकौसल्याजी कहती हैं कि दोष किसीका नहीं। कर्मके विवश दुःख-सुख, हानि-लाभ होते हैं॥ ३॥ कठिन कर्म-गतिको विधाता ही जानते हैं जो सबको शुभ और अशुभ सभी फलोंका देनेवाला है॥ ४॥ ईश्वरकी आज्ञा सबके सिरपर है। उत्पत्ति, स्थिति (पालन), संहार, विष और अमृतके भी (सिरपर है)॥ ५॥ हे देवि! आप मोहवश व्यर्थ सोच करती हैं, विधाताका मायाजाल ऐसा ही अचल और अनादि है अर्थात् अनादिकालसे ऐसा ही एकरस अटल चला आता है॥ ६॥

नोट—१ (क) *'सुनि ससोच कह देबि सुमित्रा।'* इति। सुनयनाजीने कैकेयीकी करनीको ब्रह्माके बहानेसे व्यंगपूर्वक कहा। उसको सुन-सोचकर सुमित्राजीने उस दोषको ब्रह्माके ऊपर रख दिया और कौसल्याजीने सबको निर्दोष कहकर अपने कर्मोंको प्रधान रखा। (पां०)। (ख) *'बिधि गति बड़ि बिपरीत बिचित्रा'* इति। भाव कि अमृतको चाहिये कि घर-घर मिलता जिससे सब सुखी रहते, सो सुननेमें ही आता है,

देखनेमें नहीं। विष चाहिये था कि छिपा रहता क्योंकि मृत्युकारी है सो सब जगह है, धतूरा, संखिया कुचला, भेलावाँ आदि विषैली वस्तुएँ, विषैले सर्पादि सर्वत्र हैं। इसीसे घर-घर दुःख, शोक, मृत्यु आदि देख पड़ते हैं (पु० रा० कु०)। अ० दी० कारका मत है कि राज्य मिल रहा था सो वनवास दे दिया यह विपरीत बात हुई और उसमें विचित्रता यह है कि अवधवासियोंको वनमें दुःखके बहाने श्रीरामदर्शनका सुख प्राप्त हो रहा है। (अ० दी० च०)।

नोट—२ *'जो सृजि पालइ······'* इति। बड़ी विपरीत और विचित्र कहकर उसका उदाहरण देती हैं। जिसको जो पैदा करता है, पालन करता है उसको मारता नहीं, विषका पौधा लगाकर उसे उखाड़ते नहीं। पर विधाता जिसको पैदा करता है उसीको मार भी डालता है—यही विपरीतता और विचित्रता है। अज्ञानी बालकोंकी-सी बुद्धि है जैसे लड़के बाल-क्रीड़ामें घरौंदा बनाते, बिगाड़ते हैं वैसे ही कार्य विधाताके हैं। स्वयं बनाकर बिगाड़नेमें किंचित् दुःख उसको नहीं होता, उसकी यह बालकेलि है।

प० प० प्र० स्वामीका मत है कि ''यहाँ, विधि=ईश्वर। क्योंकि ब्रह्मा केवल सृजन करते हैं और यहाँ उद्भव, स्थिति, संहार तीनों कार्य विधिके कहे हैं। अतः सुमित्राजी श्रीसुनयनाजीके वचनोंका तत्त्वतः खण्डन करके *'ईश्वरेच्छा बलीयसी'* यह सिद्धान्त बताती हैं क्योंकि वे जानती हैं कि श्रीराम ही ईश्वर हैं, अतः उन्होंने कैकेयीको निर्दोष सिद्ध किया। '**विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं विषमीश्वरेच्छया।**' इससे *'सुनिअ सुधा······कराल'* का भी निराकरण हो गया।'' बालकेलि=बच्चोंका खेल। खेलमें हार-जीत, कलह, रोना-पीटना आदि सब कुछ होता है। पर खेलके पूर्वापर कालोंमें बच्चे खेलका सम्बन्ध भूल जाते हैं। खेलकी रचना करनेमें आनन्द मानते हैं और खेलके समेटनेमें भी। इसी प्रकार ईश्वर भी उदासीन रहकर उत्पत्ति, स्थिति, संहार करता है। उनमें वैषम्य, नैर्घृण्य नहीं है। (प० प० प्र०)

पु० रा० कु०—१ (क) श्रीसुमित्राजी भी श्रीसुनयनाजीके अनुकूल ही बोलीं। उन्होंने विधिको दोष दिया—*'बिधि बुधि बाँकी', 'करतूति कराल कठोर';* वैसे ही इन्होंने कहा—*'बिधिगति बड़ि बिपरीत बिचित्रा', 'बालकेलि सम बिधिमति भोरी।'* अर्थात् उनकी बातका इन्होंने समर्थन किया। क्योंकि सुमित्रा हैं, सुष्ठुमित्रा हैं, इन्होंने उनके मनकी कही। अथवा, इन्होंने *'ससोच'* कहा, शोकके वश विधिको दोष दिया; इसीसे कौसल्याजीने सबको निर्दोष किया। ये सबमें पण्डिता हैं और राममाता हैं। जैसे श्रीरामने सबको निर्दोष किया, वैसे ही इन्होंने किया। (ख) वे कहती हैं कि विधिका दोष नहीं, वह तो केवल कर्मका फल देते हैं, किसीको सुख-दुःख नहीं देते, न किसीको भला या बुरा बनाते हैं, यह सब कर्मफल हैं—*'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥'* (२१९। ४) जो जैसा करता है उसकी 'चाकरी' देख उसको वैसा ही फल (मजूरी) दे देते हैं। इतना ही उनका काम है। उनको किसीसे न राग है, न द्वेष। *'करम बिबस सब होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥'* (१५०। ६) का जो भाव है वही यहाँ *'करम बिबस दुख सुख······'* का भाव है। इस प्रकार इन्होंने कर्मको ही प्रधान ठहराया—कर्मविपाक सिद्धान्तको दृढ किया। (ग) इसीको आगे पुष्ट करती जाती हैं कर्मकी गति बहुत कठिन है, यथा—'**गहना कर्मणो गतिः।**' (गीता ४। १७) उसको सब समझ नहीं सकते [यही बात भागवतमें जनक महाराजसे नवयोगेश्वरोंने कही है और वाल्मीकीयमें रामजीने बालिसे कही है—(खर्रा)] विधि ही जानते हैं। जीव नहीं जान सकता। इसीसे वे गतिको जानकर शुभ कर्मोंका शुभ और अशुभ कर्मोंका अशुभ फल देते हैं। अपनी तरफसे न किसीको शुभ बनाते न अशुभ। यथा—*'जीव करम बस सुख दुख भागी॥'* (१२। ४), *'सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥'* (७७। ७) इसीको और पुष्ट करती हैं—*'ईस रजाइ सीस सबही के।'* सब ईश्वरकी आज्ञाका पालन कर रहे हैं। ब्रह्मादि जो कर्मफल देते हैं वह भी ईश्वरकी आज्ञासे, उनको इसीका अधिकार दिया गया है कि कर्म देखकर उसके अनुकूल प्रारब्ध शरीर बना दें। एक विधि ही नहीं सभी आज्ञा पालन कर रहे हैं यही बात वसिष्ठजीने भरत-वसिष्ठगोष्ठीमें कही थी—किंतु *'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव

करम कुलि काला॥ अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥ करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥' (२५४। ६—८) वहाँ कवि विस्तृतरूपसे कह आये हैं इससे यहाँ संक्षेपमें कहते हैं। सारांश यह कि ईश्वरकी इच्छा प्रबल है, किसीका दोष नहीं।

वि०त्रि०—कौसल्याजी कहती हैं कि इसमें किसीका दोष नहीं। *'उमा दारु योषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं॥'* मनुष्यका दोष तो कहा नहीं जा सकता। ब्रह्माका स्वातन्त्र्य भी सापेक्ष है, ये शुभ-अशुभ कर्मके अनुसार ही फल देते हैं। निरपेक्ष स्वातन्त्र्य तो ईश्वरमें है; उनकी आज्ञा हटायी नहीं जा सकती। यथा— *'प्रभु अग्या अपेल श्रुति गाई।'* अतः उसके सामने सिर झुकाना ही ठीक है। *'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि। चित खगेस रघुनाथ कर समुझि परै कहु काहि॥'*

पु० रा० कु०—२ *'उतपति थिति लय बिषहु अमी के'* अर्थात् ये भी आज्ञानुसार होते हैं। आज्ञाके बिना उत्पत्ति आदिका समय हो भी तो वह हो नहीं सकता और आज्ञा हो तो बिना समय ही यह सब हो सकते हैं—जैसे मार्कण्डेयके लिये बिना समय ही प्रलय हो गया। श्रीधरजी अपनी टीकामें लिखते हैं कि यह प्रलय सत्य है, झूठ नहीं और गोस्वामीजीने विनयमें भी यही कहा है, यथा—*'मार्कण्डेय मुनिवर्यहित कौतुकी बिनहि कल्पांत प्रभु प्रलयकारी'*— (पद ६०)। विषका काम मारना और अमृतका जिलाना है पर बिना ईश्वरकी आज्ञाके वे भी कुछ नहीं कर सकते। देवता अमर हैं फिर भी उनका नाश होता है। प्रह्लाद, शिव, मीराबाई आदि विष पीकर भी न मरे।

टिप्पणी— ३ *'देबि मोह बस सोचिअ बादी।……'* इति। (क) विधिको निर्दोष करनेके लिये इतना कहकर अब उसका खुलासा कहती हैं कि यह तो अनादि कालसे ऐसा ही होता आया है और होता जायगा, अवश्यम्भावीके लिये शोक नहीं करना चाहिये—**'तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि'** (गीता २। २७)। अतः उसका शोच करना व्यर्थ है। *'देवि'*—उत्तम स्त्रियोंके लिये यह सम्बोधन देते हैं। पुनः, भाव कि आप दिव्य हैं, आपका ज्ञान दिव्य है, आपको सोच करना व्यर्थ है। (ख) *'बिधि प्रपंचु अस अचल अनादी'* अर्थात् तीनों कालोंमें ऐसा ही है—*'अस'* (है) यह वर्तमान *'अचल'* है आगे भी टल नहीं सकता यह भविष्य और अनादि है अर्थात् भूतकालमें कबसे चला आता है कोई जानता ही नहीं। काक, उलूक, बक और विष भी अनादि कालसे चले आते हैं और हंस तथा अमृत भी—सब प्रकारकी सृष्टि अनादि कालसे है और रहेगी। कोई नयी बात हो तो सोच करते; सो यहाँ कोई नयी बात है नहीं, रोजकी वही बात है, सबपर ऐसी ही बीतती आयी है।

टिप्पणी—४ यहाँ श्रीकौसल्याजीका शील भी दिखाया। श्रीसुनयनाजीने दोष दिया तब वे न बोलीं; क्योंकि वे अतिथि हैं, पूज्य हैं घर आयी हैं, और बराबरकी हैं। सुमित्राजी छोटी हैं। जब उन्होंने कहा तब उनकी आड़से इनने कहा।

र०ब०—प्रपंच अचल अनादि है। यह बहुत ठीक ही है। संसारका लय हो जाता है पर प्रपंचका लय नहीं होता, उत्पत्ति-पालन-संहार यह कभी बन्द नहीं होता। **'संसारस्य लयो ह्युक्तो न प्रपञ्चस्य कर्हिचत्।'**

भूपति जिअब मरब उर आनी। सोचिअ सखि लखि निज हित हानी॥ ७॥
सीयमातु कह सत्य सुबानी। सुकृती अवधि अवधपति रानी॥ ८॥

दो०—लखनु रामु सिय जाहु बन भल परिनाम न पोचु।
गहबरि हिय कह कौसिला मोहि भरत कर सोचु॥ २८२॥

ईस प्रसाद असीस तुम्हारी। सुत सुतबधूँ देवसरि बारी॥ १॥
राम सपथ मैं कीन्ह न काऊ। सो करि कहौं सखी सति भाऊ॥ २॥

अर्थ—राजाका जीना-मरना हृदयमें लाकर जो सोच करती हैं, वह हे सखि! अपने हितकी हानि

(वा, हित और हानिको) देखकर है॥ ७॥ श्रीसीताजीकी माताने (सत्य सुन्दर वाणीसे) कहा कि आपकी सुन्दर वाणी सत्य है, आप पुण्यात्माओंकी सीमा अवधके राजा दशरथजीकी रानी ही हैं (ऐसा कहना आपके योग्य ही है)॥ ८॥ श्रीलक्ष्मण, राम और सीता वनको जावें, इसका फल (अन्त) अच्छा है बुरा नहीं, (पर), दु:खित और गद्‌गद हृदयसे कौसल्याजी कहती हैं कि मुझे भरतकी चिन्ता है (कि रामके पीछे वियोगमें न जाने भरत कैसे जीते रह सकेंगे)॥ २८२॥ ईश्वरकी कृपा और आपके आशीर्वादसे (मुझे) पुत्र और बहू दोनों गंगाजल (के समान पवित्र प्राप्त हुए) हैं॥ १॥ मैंने कभी रामकी शपथ नहीं की। हे सखी! आज वह भी करके सद्भावसे कहती हूँ॥ २॥

टिप्पणी १—पु० रा० कु०—पूर्व सिलसिलेमें कहती जाती हैं। लोग सोच क्यों किया करते हैं? ***'सोचिअ सखि लखि निज हित हानी'*** अर्थात् मृत्यु आदि सोचने योग्य नहीं, यह सोच वृथा है, अज्ञानजनित है, जो शोक किया जाता है वह वस्तुत: उस प्राणीके लिये नहीं किंतु अपने स्वार्थकी हानिके विचारसे। जहाँ स्वार्थकी हानि नहीं वहाँ कोई शोक नहीं करता, यह नित्य ही देखनेमें आता है।

टिप्पणी २—***'सीयमातु कह सत्य सुबानी।***…***'*** इति।—आप स्वयं सुकृती पुरुषोंकी सीमा हैं और सुकृती-अवधि दशरथजीकी रानी हैं फिर ऐसी धर्म-युक्त बातें क्यों न कहें। कौसल्याजीने कहा था कि दोष किसीको लगाना उचित नहीं, यह धर्मकी बात है, इसीसे ***'सुकृती अवधि***…***'*** कहा।

टिप्पणी—३ ***'भल परिनाम न पोचु'*** अर्थात् पिताकी आज्ञाका पालन सर्व धर्मोंमें शिरोमणि है, यथा— ***'पितु आयसु सब धरमक टीका'*** (५५। ८)। पुन:, तीर्थ, ऋषि आदिका दर्शन होगा, देवताओंका भला, पृथ्वीका उद्धार और चक्रवर्ती राज्य निष्कण्टक होगा, तीनों लोकोंका आधिपत्य होगा इत्यादि। धर्म, सुयश, अकण्टक राज्यकी प्राप्ति होगी। श्रीरामजी धर्मपर आरूढ़ हैं। अत: इसका फल अच्छा ही होगा। अन्तमें सुख-ही-सुख है। धर्मसे सुख होता है। यथा—***'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता'*** (७। १०२)। धर्मका परिणाम बुरा नहीं होता।

वि० त्रि०—***'गहबरि हिय कह***……***भरत कर सोचु'*** इति। कौसल्याजी कहती हैं कि लक्ष्मण, राम और सीताके वन जानेका मुझे सोच नहीं है, क्योंकि इसका परिणाम अच्छा है (यथा—***'तात प्रेम सब जनि कदराहू। समुझि हृदय परिनाम उछाहू॥')*** मुझे भरतका सोच है, जैसे इसके पिता कहते थे कि ***'सो सुत बिछुरत गयउ न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना॥'*** वैसे ही यह लड़का कहता है ***'कोटि कुलिस हिय भयउ न बेहू। जिअत दैव जड़ सबुइ सहाई'*** इत्यादि। मुझे डर लगता है कि कहीं यह अपने बापकी भाँति धोखा न दे जाय। आगे चलकर इसीका स्पष्टीकरण करती हुई कौसल्याजी कहती हैं ***'गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहे नीक मोहि लागत नाहीं॥'***

टिप्पणी ४—पु० रा० कु०—***'ईस प्रसाद***……***देवसरि बारी'*** इति। अर्थात् वे स्वयं पावन और संसारको पावन करनेवाले हैं। जहाँ-जहाँ ये जायँगे वे सब पवित्र होंगे। गंगा तीनों लोकोंको पवित्र करती हैं, ये सब लोकोंको पवित्र करनेवाले हैं। 'ईशप्रसाद', यथा—***'इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन समान फल लाधे॥' 'असीस तुम्हारी'***—आपकी कृपासे—आशीर्वादसे यह बड़ोंके बोलचालकी रीति है, शिष्टाचार है। ईश=ईश्वर।=शिवजी। [यहाँ उपमान गंगाजलका पवित्रतारूपी गुण, उपमेय पुत्र-पुत्रवधूमें स्थापन करना 'द्वितीय निदर्शना अलंकार' है (वीर)।]

टिप्पणी—५ ***'राम सपथ मैं कीन्ह न काऊ।***……***'***—स्त्रियाँ प्राय: माता-पिता, भाई आदिकी कसम खाती हैं और पुत्रका शपथ ऐसा ही कोई संकट आ पड़े तो करें नहीं तो कदापि नहीं करतीं (स्मरण रहे कि न्यायालयमें भी किसी मनुष्यको पुत्रकी कसम नहीं दिलायी जा सकती)। पूर्व श्रीसीतारामजीको गंगाजलसे उपमा देकर फिर ***'रामसपथ मैं कीन्ह न काऊ'*** कहनेका भाव यह है कि गंगाजलकी शपथ कोई सहसा नहीं करता तो श्रीरामकी शपथ मैं कैसे कर सकती हूँ। पर जो आगे कहती हूँ वह सद्भावसे कहती हूँ, जो कहती हूँ वह यथार्थ है। कुछ अपनी श्रेष्ठता जनानेके लिये नहीं कहती। पुन:, सौगन्ध खाकर सद्भावसे कहनेका भाव कि यदि मैं झूठ कहती होऊँ तो मेरे सब सुकृत नष्ट हो जायँ, जो राम मुझे बड़े

सुकृतोंसे मिले हैं वे मेरे काम न आवें। (नोट—आगे भरतजीकी बड़ाई करती हैं और यह भी कहती हैं कि भरत वनको जायँ। प्रशंसा करनेसे लोग बड़ाई करेंगे कि राममाता बड़ी सुशीला, सहृदया हैं और वन भेजना सुनकर यह न समझें कि बड़ी चतुर हैं, कैसी चतुराईसे कैकेयीसे बदला दे रही हैं; उसके पुत्रको वन भेजती हैं। इन सन्देहोंके निवृत्यर्थ अपने प्राणप्रिय पुत्रकी शपथ करती हैं।)

भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥ ३॥
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाँहिं उलीचे॥ ४॥
जानउँ सदा भरत कुलदीपा। बारबार मोहि कहेउ महीपा॥ ५॥
कसें कनकु मनि पारिखि पाएँ। पुरुष परिखिअहिं समय सुभाएँ॥ ६॥
अनुचित आजु कहब अस मोरा। सोक सनेह सयानप थोरा॥ ७॥
सुनि सुरसरि सम पावनि बानी। भईं सनेह बिकल सब रानी॥ ८॥

शब्दार्थ—**हीचे**=हिचकिचाती है, अशक्त है [हिच खाना मुहावरा है—दीनजी]। **पारिखि**=जौहरी, परख या जाँच करनेवाला। **परिखिअहि**=परीक्षा (बुरे-भलेकी जाँच) होती है, परखा जाता है।

अर्थ—श्रीभरतजीका शील, गुण, विनम्रस्वभाव, बड़ाई (बड़प्पन, महिमा) भाईपन, भक्ति, विश्वास और अच्छाई कहते सरस्वतीकी भी बुद्धि असमर्थ हो जाती है। क्या सीपसे समुद्र उलीचा जा सकता है? अर्थात् जैसे यह असम्भव है वैसे ही सरस्वतीका वर्णन कर पाना असम्भव है, फिर और किसीकी क्या शक्ति!॥ ३-४॥ मैं सदासे भरतको कुलका दीपक जानती हूँ (एवं जानता हूँ और तुम भी जान लो), मुझसे बारंबार राजाने ऐसा कहा था॥ ५॥ सोना (कसौटीपर) कसे जानेपर और मणि जौहरीके हाथ पड़ने वा, परीक्षा होनेपर (पहचाना जाता है कि असली है या नहीं) वैसे ही पुरुषकी परीक्षा समय पड़नेपर उसके स्वभावसे स्वाभाविक ही हो जाती है॥ ६॥ परन्तु मेरा आज ऐसा कहना भी अनुचित है, शोक और स्नेहमें चतुरता कम हो जाती है॥ ७॥ गंगाजीके समान पवित्र वाणी सुनकर सब रानियाँ स्नेहसे व्याकुल (प्रेमविह्वल) हो गयीं॥ ८॥

नोट—१ ***'सागर सीप कि जाँहिं उलीचे'*** इति। यहाँ श्रीभरतजीमें सात उत्तम लक्षण—शील, विशेष नम्रता, बड़ाई, भायप, भक्ति, भरोसा और भलाई आदि गुण—गिनाकर कहती हैं कि शारदा भी कह नहीं सकतीं—इतने अनन्त सद्‌गुण उनमें हैं, तब मैं क्या कह सकती हूँ, उन्हें समुद्र समझो। बड़े-बड़े सात समुद्र हैं, सात गुण कहकर जनाया कि इन्हें सातों अपार समुद्र समझो। जैसे उनका अन्त नहीं वैसे ही भरतजीके गुण अनन्त हैं, उनकी थाह नहीं। समुद्रमें अगणित और बड़े-बड़े सीप होते हैं, उन सीपोंसे भी कोई चाहे (वा, वह सीप ही चाहे) तो क्या समुद्रका जल उसमें भर-भरकर बाहर फेंककर उसको खाली कर सकते हैं? कदापि नहीं। वैसे ही सरस्वती भरतके गुणोंको कहकर पार नहीं पा सकतीं; तब मैं या और कोई क्या कह सकें, अतः इतना ही कहकर छोड़ देती हूँ। [***'भरत सीलगुन······उलीचे'*** में 'सम्बन्धातिशयोक्ति', 'वक्रोक्ति', और 'दृष्टान्त' अलंकार हैं। (वीर)]

नोट—२ ***'जानउँ सदा भरत कुलदीपा······'*** इति। ***'जानउँ'*** के यहाँ तीन प्रकारके अर्थ हो सकते हैं और तीनों सुसंगत हैं। मैं जानती हूँ, मैं जानता हूँ और तुम जान लो। तीसरे अर्थमें शंका नहीं क्योंकि प्राचीन लिपियोंमें अनुस्वार बहुत स्थलोंमें बोला और लिखा जाता है जहाँ आजकल बोली और साहित्यमें अनुस्वार नहीं रहता है। इसके उदाहरण अनेक आये हैं। (ख) पु० रा० कु०—राजा हमसे बार-बार कहते रहे कि हम भरतको कुलदीपक सदा जानते हैं। बार-बार कहनेका आशय यह कि तब हमको ऐसा विश्वास नहीं आता था, अब हमने जाना कि राजा यथार्थ ही कहते थे।

नोट—३—***'कसें कनकु मनि पारिखि पाएँ······।'*** इति। (क) भाव कि प्रथम तो राजासे सुना था कि भरत कुलके चिराग हैं, उजागर करनेवाले, कीर्ति बढ़ानेवाले हैं और अब आपत्ति पड़ जानेपर इस बातकी

सत्यता आँखोंसे देख ली कि कुलमर्यादाकी रक्षा इन्होंने की दूसरेसे कदापि न हो सकती। (ख) पु० रा० कु०—सोनेकी परख कसौटीपर कसनेसे होती है; मणिकी परख उसे धोकर पिलानेपर होती है विष उतर जाय तो जानो कि सर्पका मोती है, सच्चा मोती—(अथवा, पारिखीके पानेपर होती है)। और समय पड़ जानेपर पुरुषके स्वभावकी परीक्षा होती है। यथा—'**यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनतापताडनैः। तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा॥**' (सुभाषित रत्नाकर मिश्र प्रकरण श्लोक २६) अर्थात् सोनेकी परीक्षा चार प्रकारसे होती है—निघर्षण (कसौटीपर घिसनेसे) से, छेदनेसे, तपानेसे और ताड़न (पीटने) से; इसी तरह पुरुषकी परीक्षा त्याग, शील, गुण और कर्मसे होती है। पुनश्च यथा—'***और भूप परखि सुलाखि तौलि ताइ लेत।***' (क० ७।२४) सो समय ऐसा पाकर हमने भरतका स्वभाव परख लिया है। इससे राजाकी बातपर पूर्ण विश्वास हो गया। (ग) '***पुरुष परखिअहिं समय सुभाएँ***' समय पड़नेपर पुरुषकी परीक्षा होती है। भाव कि जब सुसमय और कुसमय दोनोंमें स्वभाव एकरस सुन्दर बना रहे तब जानना चाहिये कि वह पुरुष उत्तम है। भरतजीका स्वभाव ऐसे समयमें भी सावधान बना है, अतः उनके समान उत्तम कौन है। ***(कै)*** इन्होंने सुभायेका अर्थ स्वभाव किया है। उपमेय उपमान दोनोंका एक ही धर्म 'परीक्षा होना' कथन 'दीपक' अलंकार है।

नोट ४—'***अनुचित आजु कहब अस मोरा***' इति। शीला—कौसल्याजी बहुत बड़ायी करती हुई कहती हैं कि राजाने बार-बार कहा कि भरत कुलदीपक हैं, सोना कसनेपर, मणि परखे जानेपर जान पड़ता है वैसे ही पुरुष समय पड़नेपर सहजमें ही जान पड़ता है—यह कहकर वे सकुच गयीं कि आज ऐसा कहना अनुचित है, पर शोक और स्नेहमें सयानपन थोड़ा हो जाता है इससे कह गयीं, नहीं तो यह समय ऐसा है कि गुरु, माता, पिता और रामका दिया हुआ राज्य त्यागकर आज वे मनाने आये हैं, मैं बड़ाई करके उनका राज्य रोकती हूँ अर्थात् कहती हूँ कि वे तुमसे राज्य करनेको कहेंगे पर तुम न लेना; राज्य त्यागहीकी सब बड़ाई करते हैं और हम भी बड़ाई करती हैं कि कुलदीपक हैं—उनके वचनोंसे यह भाव सूचित होता है, अतएव वे सकुचा गयीं।

दीनजी—मेरा ऐसा कहना आज अनुचित और अचतुरता है।

पु० रा० कु०—जिन भरतके गुणोंका वर्णन शारदा करती सकुचे उनके लिये यह कहना कि हमने उनकी परीक्षा ली, यह कहना उचित नहीं; क्योंकि इस समय राजाके शोक और भरतके स्नेहसे सयानपन बहुत कम रह गया है।

रा० प्र०— भाव कि शोक और स्नेह न होते तो यथार्थ बड़ाई कर सकती, कहना आज अनुचित है क्योंकि जैसा है वैसा कहा नहीं जा सकता।

वै०—महाराजका मरण हुआ और रघुनन्दनको वन। फिर भरतजी भी राज्य त्यागकर यहाँ आये। ऐसे दुःखके समय आज मेरा भरतजीकी बड़ाई करना अनुचित है, क्योंकि शोक और दुःखके समय तथा स्नेहमें थोड़ा ही सयानपन अच्छा होता है, बड़ा सयानपन दूषण है।

नोट—५ प्रसंगसे बाबा हरिदासजी (शीला) का दिया हुआ भाव सुसंगत जान पड़ता है।

नोट—६ '***सुनि सुरसरि सम पावनि बानी******……।***' इति। श्रीकौसल्याजीने सुत और सुतवधूको '***देवसरि बारी***' के समान कहा और अब कवि कौसल्याजीकी वाणीको गंगासम कहते हैं। '***कौसल्या कह दोष न काहू***' इस वाक्यसे कौसल्याजीने कैकेयी, मन्थरा, देवता, सरस्वती और विधि आदि सभीको निर्दोष और निष्पाप बना दिया जैसे गंगा अनेक पापियोंको निष्पाप बना देती है। पुनः, अपने पुत्र श्रीरामजीकी शपथ करके वे सौत-पुत्र भरतकी बड़ाई करती हैं, इसकी परवा नहीं कि लोग इसे कुटिलता न समझ लें। अपने पुत्र-पतोहूकी चिन्ता नही करतीं, बारबार भरतका शोच करती हैं। यह सब वाणीकी सुरसरिके समान पावनता है। भरतका शोच है, यह सुनकर भरतके स्नेहसे दोनों रनिवास व्याकुल हो गये। सबको भरतका सोच हो गया। (पु० रा० कु०) यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है।

दो०—कौसल्या कह धीर धरि सुनहु देबि मिथिलेसि।
को बिबेक निधि बल्लभहि तुम्हहि सकइ उपदेसि॥ २८३॥

रानि राय सन अवसरु पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई॥ १॥
रखिअहिं लखनु भरतु गवनहिं बन। जौं येह मत मानइ महीप मन॥ २॥
तौ भल जतनु करब सुबिचारी। मोरें सोचु भरत कर भारी॥ ३॥
गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥ ४॥

अर्थ—श्रीकौसल्याजी धीरज धरकर कहती हैं—हे मिथिलेश्वरी देवी! सुनिये, विवेक-सागर राजा जनककी प्यारी आपको कौन उपदेश दे सकता है?॥ २८३॥ हे रानी! मौका पाकर आप राजासे अपनी ओरसे समझाकर कहियेगा (कि)॥ १॥ लक्ष्मणको (घर) रख लिया जाय और भरत वनको जायँ। जो यह सलाह राजाके मनमें ठीक जँचे॥ २॥ तो भली प्रकार खूब विचार करके पूरा यत्न करें। मुझे भरतका भारी सोच है (कि राजाकी तरह ये भी प्राण न छोड़ दें)॥ ३॥ भरतके मनमें गूढ़ प्रेम है, उनके घर रहनेमें मुझे भला नहीं लगता (वे घर रहें इसमें मुझे भलाई नहीं जान पड़ती)॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'कौसल्या कह धीर धरि······'* इति। (क) ये कौसल्या हैं अर्थात् पंडिता हैं, इसीसे सबको व्याकुल देख इन्होंने धैर्य धारण किया। (ख) *'देबि मिथिलेसि'*—आप दिव्य ज्ञानवाली हैं। श्रीजनकजी ज्ञानके खजाना हैं, आप उनकी प्रिया हैं, प्रिय पत्नी हैं अतएव आप भी अवश्य पंडिता होंगी, नहीं तो विवेकनिधिको प्रिय न होतीं। स्वयं विवेकी हैं, इससे आपको उपदेश करना ही अनुचित है।

टिप्पणी—२ *'अपनी भाँति'*—आपको सिखाना क्या? आप तो स्वयं बुद्धिमत्ता हैं, यह कहकर अब कहती हैं कि *'अपनी भाँति कहब समुझाई'* अर्थात् जैसी आप बुद्धिमती हैं वैसे ही अपनी बुद्धिमत्तासे समझाइयेगा। पुनः भाव कि हमारे सम्मतमें अपना भी सम्मत कहियेगा, उसका समर्थन भी अपनी ओरसे कीजियेगा। अथवा, अपनी ही ओरसे कहना हमारी तरफसे नहीं। [भाव यह है कि इस भाँति समझाकर कहना मानो आप अपनी ओरसे कह रहीं हैं, आपके कहनेपर महाराज अपने विवेकसे काम लेवेंगे। उचित समझेंगे कहेंगे, नहीं समझेंगे नहीं कहेंगे, और मेरी ओरसे यदि आप कहेंगी तो सम्भव है कि मेरा मान रखनेके लिये महाराज अपने विचारको स्थान न दें। मेरा कहना एक सुझावमात्र है। (वि० त्रि०) श्रीसुनयनाजीने अपनी ओरसे कहा, यह बात उनके *'कही समय सिर भरतगति रानि सुबानि सयानि'* इन वचनोंसे पायी जाती है।]

टिप्पणी—३ *'रखिअहिं लषनु भरतु गवनहिं बन······।'* इति। (क) लक्ष्मणजीको रोक लेनेको इससे कहा कि लक्ष्मणजीको केवल एक—*'रामवियोग'* का दुःख होगा और भरतको दो दुःख हैं, एक तो अपयशका, दूसरे वियोगका। इनके दो दुःख मिटेंगे और लक्ष्मणको एक ही दुःख होगा। (ख) *'जौं येह मत मानइ महीप मन'* इति। संदिग्ध वचन कहकर जनाया कि मैं हठ नहीं करती, ठीक जँचे तो उसका उपाय किया जाय, नहीं तो नहीं। यह वाक्य दीपदेहलीन्यायसे दोनों तरफ है।

टिप्पणी—४ *'गूढ़ सनेह भरत मन माहीं······।'* भााव कि लक्ष्मणजीका प्रेम प्रकट है कि सबका स्नेह तृणावत् तोड़कर साथ हो लिये, यथा—*'देह गेह सब सन तृन तोरे', 'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू',* इत्यादि वचनोंसे प्रत्यक्ष है। और, भरत सब व्यवहार और धर्मोंको लिये हुए रामप्रेम निबाह रहे हैं, जैसा *'घर पुर देस राखि रखवारे', 'करइ स्वामि हित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥'* और *'संपति सब रघुपति कै आही। जौं······'* इत्यादि वचनोंसे प्रकट है। इन्हीं वचनोंसे उनके स्नेहमें लोगोंको संदेह होता था; वसिष्ठजी, निषादराज, लक्ष्मणजी, पुरवासी, देवता आदि कोई भी उनके गुप्त प्रेमको न समझ सके, इन सबोंको भी संदेह हुआ तब औरोंकी क्या कही जाय?—ऐसा गूढ़ है।

लखि सुभाउ सुनि सरल सुबानी। सब भइँ मगन करुनरस रानी[१]॥ ५॥
नभ प्रसून झरि धन्य धन्य धुनि। सिथिल सनेह सिद्ध जोगी मुनि॥ ६॥
सबु रनिवासु बिथकि लखि रहेऊ। तब धरि धीर सुमित्राँ कहेऊ॥ ७॥
देबि दंड जुग जामिनि बीती। राममातु सुनि उठी सप्रीती॥ ८॥
दो०—बेगि पाउ धारिअ थलहि कह सनेह सति भायँ।
हमरें तव[२] अब ईस गति कै मिथिलेस सहायँ॥ २८४॥

शब्दार्थ—'थल'=स्थान, डेरा। **'गति'**=प्रयत्नकी सीमा, अन्तिम उपाय, सहारा, अवलम्ब, यथा—***'तुम्हहि छाँड़ि गति दूसरि नाहीं।'***

अर्थ—श्रीकौसल्याजीका स्वभाव देखकर और उनकी सीधी-सादी निष्कपट सुन्दर वाणी सुनकर सब रानियाँ करुणरसमें मग्न (डूब) हो गयीं॥ ५॥ आकाशसे पुष्पोंकी वृष्टिकी झड़ी लग गयी और 'धन्य! धन्य!' की ध्वनि हो रही है। सिद्ध, योगी और मुनि स्नेहसे शिथिल हो गये॥ ६॥ सारा रनिवास देखकर स्तब्ध होकर रह गया। तब श्रीसुमित्राजीने धीरज धरकर कहा॥ ७॥ हे देवि! दो घड़ी रात बीत गयी। यह सुनकर श्रीरामजीकी माता प्रेमपूर्वक उठीं॥ ८॥ और प्रेमपूर्वक सद्भावसे कहने लगीं—आप शीघ्र डेरेको पधारिये। हमारे तो अब ईश्वर ही सहारा हैं या मिथिलेशजी ही सहायक हैं॥ २८४॥

नोट—१ ***'लखि सुभाउ सुनि सरल सुबानी।'......*** इति। जैसे पूर्व कहा था ***'सुनि सुरसरि सम पावनि बानी। भईं सनेह बिकल सब रानी॥'*** (२८३। ८) वैसे ही यहाँ कहा। यहाँ ***'सरल सुबानी'*** से सुरसरि सम पावनी जनाया। सरल अर्थात् निष्कपट, निश्छल। ***'सनेह बिकल'*** अर्थात् सब 'करुणरसमें मग्न' हो गयीं। इस तरह पूरा प्रसंग करुणरसपूर्ण जनाया।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—***'जनु करुना बहु बेष बिसूरति।'*** (२८१। ७) उपक्रम है और ***'सब भइँ मगन करुनरस रानी'*** उपसंहार। सब रानियोंके विकल होनेका कारण यह है कि वाणी करुणारसपूर्ण थी, उसे सुनकर सब करुणारसमें मग्न हो गयीं।—***'मुख सुखाहिं लोचन स्त्रवहिं सोक न हृदय समाइ। मनहुँ करुनरस कटकई उतरी अवध बजाइ॥'*** (४६) देखिये। वही दशा यहाँ जानिये। पुनः, बा० ३३७ ***'मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर करुना बिरह निवास'*** देखिये।

टिप्पणी—२ (क) ***'नभ प्रसून झरि धन्य धन्य धुनि.....'*** इति। देवता स्वार्थी हैं ही, यथा—***'आये देव सदा स्वारथी। बचन कहहिं जनु परमारथी॥'*** (६। १०९। २) कौसल्याजीके वचनोंमें उन्होंने अपने स्वार्थकी सिद्धि देखी। वे इनके हृदयका पता पा गये कि इनका सम्मत रघुनाथजीके लौटनेका नहीं है, वरन् उनका वन जाना इनको अंगीकार है, उसमें ये प्रसन्न हैं—***'भल परिनाम न पोच'***— (पां०)। (ख) ***'सिद्ध जोगी मुनि.....'*** ये लोग अपने-अपने अधिकारमें मग्न हैं। ये स्नेही नहीं होते; परंतु रानीकी स्नेहमय वाणी सुनकर वे भी शिथिल हो गये। [ये माताका सरल प्रेम, उनकी धर्ममें ऐसी पक्की निष्ठा देखकर मग्न हुए कि वे रामवियोग-जनित पीड़ा सहनेको तैयार हैं, पर अपने मुखसे यह नहीं कहतीं कि राम घर रख लिये जायँ। (रा० प्र०) यहाँ 'प्रथम उल्लास अलंकार' है। यह भाव कि 'लक्ष्मणजीके घर रखनेके विचारसे शिथिल हुए यह समझकर कि शूर्पणखाके नाक-कान कौन काटेगा, भरतजीसे तो यह होगा नहीं, तब रावण क्यों सीताहरण करेगा और मेघनादवध कैसे होगा' प्रसंगानुकूल नहीं है। यहाँ शिथिलता स्नेहसे है न कि शोकसे। (मा० सं०)]

टिप्पणी—३ ***'सबु रनिवासु बिथकि लखि रहेऊ.....'*** इति।—सब रनवास कौसल्याजीको देखकर विशेष

१-'सानी'— रा० प्र०, पु० रा० कु०, भा० दा०।
२-'तौ'— भा० दा०, गी० प्रे०।

स्तब्ध या शिथिल हो गया, न कोई हिलता-डोलता है, न बोलता है। उस दशामें सुमित्राजीने धीरज धारण किया। ये सुष्ठु मित्रा हैं, सबकी मित्रा हैं, सबको चैतन्य करने एवं सबके धर्मकी रक्षाके लिये ये बोलीं कि दो दण्ड रात जा चुकी, पति-सेवामें संध्यासे ही तत्पर रहना उचित है। पुनः भाव कि बहुत देरसे बैठे-बैठे थक गयी होंगी, तीन दण्ड दिन और दो दण्ड रातके बीते। (रा० प्र०) अथवा, रात अँधेरी है और बहुत बीत गयी (पं०)।

टिप्पणी—४ *'हमरें तव अब ईस गति कै मिथिलेस सहायँ'* इति। अर्थात् इन्हें छोड़ तीसरा उपाय या अवलम्ब नहीं। यहाँ 'विकल्प अलंकार' है। यहाँ ईसका अर्थ शिवजी है, जैसा सुनयनाजीके वचनोंसे जान पड़ता है— *'सदा सहाय महेस भवानी।'* रामजीके *'मुनि मिथिलेस राखि सब लीन्हा'* से मिलान कीजिये।

लखि सनेह सुनि बचन बिनीता। जनकप्रिया गह पाय पुनीता॥ १॥
देबि उचित असि बिनय तुम्हारी। दशरथघरिनि राममहतारी॥ २॥
प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूम गिरि सिर तिनु धरहीं॥ ३॥
सेवक राउ करम मन बानी। सदा सहाय महेसु भवानी॥ ४॥
रउरे अंग जोगु जग को है। दीप सहाय कि दिनकर सोहै॥ ५॥

शब्दार्थ—गहना=पकड़ना, लगना, स्पर्श करना। **घरिनि**=घरवाली, स्त्री। **प्रभु**=समर्थ, स्वामी, ऐश्वर्यमान, बड़े लोग। अंग=सहायक। यह अर्थ प्रश्न और उत्तर दोनोंसे स्पष्ट है। *'रउरे अंग जोगु जग को है?'* कहकर *'दीप सहाय कि'* कहकर स्पष्ट कर दिया कि **अंग**=सहाय।

अर्थ—श्रीकौसल्याजीके प्रेमको देखकर और उनके विनम्र वचनोंको सुनकर श्रीजनकजीकी प्रिय पत्नीने उनके पवित्र चरण पकड़ लिये और कहा॥ १॥ हे देवि! आपकी ऐसी विनय (विशेष नम्रता और विनती) उचित ही है (क्योंकि) आप दशरथजीकी स्त्री और रामजीकी माता हैं॥ २॥ समर्थ (बड़े लोग) अपने नीच जनोंका भी आदर करते हैं। (देखिये) अग्नि धुएँको और पर्वत तृणको सिरपर धारण करते हैं॥ ३॥ हमारे राजा तो मन-कर्म-वचनसे आपके सेवक हैं और सदा सहायक तो महादेव-पार्वतीजी ही हैं॥ ४॥ आपका सहायक होनेके योग्य संसारमें कौन है? क्या दीपक सूर्यका सहायक बनकर शोभा पा सकता है? (वा, दीपककी सहायतासे सूर्यकी शोभा है?)॥ ५॥

नोट—१ *'जनकप्रिया गह पाय पुनीता'* इति। भाव कि कौसल्याजीका दर्जा बड़ा है। वे एक तो दामादकी माता हैं, दूसरे चक्रवर्ती महाराजकी पटरानी हैं। ऐसी होकर ऐसी विनती करें, यह उचित नहीं। चरण पकड़कर जनाया कि हम सब तो आपके दास-दासी हैं, भला कहीं सहायक हो सकते हैं, आपने हमें बहुत आदर दिया। (पं०) पुनः, यह चरण परमपवित्र हैं, इससे उनका स्पर्श किया।

नोट—२ *'दसरथघरिनि राममहतारी।'* (क) दशरथमहाराजके प्रेमसे हद है, उनकी रानी हैं, तब ऐसा स्नेह क्यों न हो और 'राममहतारी' हैं तब ऐसे विनम्र वचन क्यों न बोलें; वे तो कैकेयीके कुटिल वचनपर भी कैसे सुशील और विनम्र वचन ही बोलते रहे। *'निधरक बैठि कहइ कटु बानी। सुनत कठिनता अति अकुलानी॥……'* (४१। १—४) ऐसे वचनोंके उत्तरमें भी वे क्या कहते हैं—*'सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी।……'* (४१। ७-८) ऐसे *'मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषन'* वचन बोले। पुनः (ख)—स्त्रीकी श्रेष्ठता तीन प्रकारसे मानी गयी है, वह तीनों आपमें हैं—'स्वयं देवी अर्थात् दिव्य हैं, पति ऐसा श्रेष्ठ, पुत्र भी श्रेष्ठ। *'महिमा अवधि राम'* की माता हैं, तब आपकी बड़ाई कौन कर सकता है और *'दशरथ गुनगन बरनि न जाहीं। अधिकु कहा जेहि सम कोउ नाहीं॥'* (२०९। ८) ऐसे महाराज दशरथजीकी स्त्री हैं तब आपमें ऐसे गुण हों तो योग्य ही है—(पु० रा० कु०)। (ग) भाव कि योग्य महानुभावोंके सम्बन्धी भी योग्य ही होते हैं; फिर माता और पत्नीमें तो योग्यताका विशेषांश आ जाता है। (दीनजी) यहाँ दूसरा सम-अलंकार है।

नोट—३—*'प्रभु अपने नीचहु आदरहीं।…… '* इति। (क) यहाँ श्रीसुनयनाजीका आशय यह है कि आपका हमसे इस प्रकार विनम्र वचन कहना ऐसा ही है जैसे स्वामी सेवकको आदर-मान देनेके लिये उससे विनीत वचन कहे, यथा—*'प्रभु सक तिभुअन मारि जिआई। केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई॥'* (लं० ११३) इसी तरह प्रभुके वचन सुनकर वानरोंने कहा था—*'प्रभु जोइ कहहु तुम्हहि सब सोहा……तुम्ह त्रयलोक ईस रघुनाथा॥ सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं। मसक कहूँ खगपति हित करहीं॥'* (लं० ११७) (ख) बड़े लोग अपने लघु लोगोंका आदर करते हैं, यह उपमेय वाक्य हैं और *'अगिनि धूम गिरि सिर तृन धरहीं'* उपमान वाक्य है। आग जलती है तो धुआँ सदा उसके ऊपर ही रहता है, पर्वतके ऊपर भी तिनका (घास आदि) रहता है—अग्नि और पर्वत समर्थ हैं, बड़े हैं, वे तुच्छ धुएँ और तृणको सिरपर धरते हैं, क्यों? इससे कि वे अपने हैं, अपनेसे छोटे हैं। यहाँ अग्नि और पर्वतवत् आप हैं, राजा जनक और मैं लघु धूम और तृणवत् हैं। धुएँ और तृणसे अग्नि और पर्वतको लाभ नहीं, फिर भी ये उनका आदर करते हैं। यहाँ 'दृष्टान्त अलंकार' है।

नोट—४—*'सेवक राउ……सहाय महेसु भवानी।…… '* इति। भाव कि सेवक सेवा करता है, बराबरवाले या बड़े सहायता करते हैं। राजा आपके सहायक नहीं, वे तो मन-कर्म-वचनसे सेवक हैं, यथा—*'संबंध राजन रावरे हम बड़े अब सब बिधि भए। येहि राज साज समेत सेवक जानिबे बिनु गथ लए॥'* (१। ३२६) हाँ, महेश-भवानी अवश्य सदा सहायता करते आये और अब भी वे ही सहाय होंगे। 'महेश' महान् ईश हैं, सबके स्वामी हैं, समर्थ हैं। उनका सहायक होना ठीक ही है।

पु० रा० कु०—*'रउरे अंग जोगु जग को है।…… '* इति। (क) यह *'कै मिथिलेस सहाय'* का उत्तर है। अर्थ तो स्पष्ट है पर इसमें हास्यरसका अर्थ भी झलक रहा है कि 'आपके अंगके योग्य कौन पुरुष है? क्या समधी जनक आपके योग्य हैं?' यद्यपि यहाँ यह आशय नहीं है। यह तो बड़े करुणाका समय है हास्यका नहीं। अवधकी महारानी अपनी असहायावस्था प्रकट कर रही हैं। इसपर श्रीसुनयनाजी विनय-प्रदर्शन करते हुए कहती हैं कि आपकी सहायताकी योग्यता संसारमें किसे है, महाराज तो आज्ञाकारी सेवक हैं। *'जग को है'* अर्थात् राजाकी क्या चली, देव, दनुज, मुनि, मनुष्य संसारभरमें कोई नहीं। यह कुल तो 'जगत्की रक्षा करता है। यथा—*'नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषें। लोकप करहिं प्रीति रुख राखें॥'* (२। २। ३) *'सुरपति बसइ बाँह बल जाकें। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें॥'* (२५। २) (यह तो दशरथजीके समयकी बात है। देवासुर-संग्राममें इन्होंने देवताओंकी सहायता की थी—यह कथा वरदान-प्रसंगमें लिखी गयी है। इसी तरह पूर्व भी राजाओंने रक्षा की है। इसकी सहायता कौन कर सकता है। (ख) दीपक घरभरको ही प्रकाशित कर सकता है और सूर्य ब्रह्माण्डभरका प्रकाशक है। दीपक अपने प्रकाशसे सूर्यकी सहायता करना चाहे तो क्या वह शोभा पावे? कदापि नहीं।) राजा दीपकके समान हैं और आप सूर्य। ('सहाय' का नाम लें तो वे वैसे ही छविहीन देख पड़ेंगे जैसे दिनमें चिराग।)

रामु जाइ बनु करि सुरकाजू। अचल अवधपुर करिहहिं राजू॥ ६॥
अमर नाग नर राम बाहु बल। सुख बसिहहिं अपने अपने थल॥ ७॥
एह सब जागबलिक कहि राखा। देवि न होइ मुधा मुनिभाषा॥ ८॥

दो०—अस कहि पग परि पेम अति सिय हित बिनय सुनाइ।
सिय समेत सियमातु तब चली सुआयसु पाइ॥ २८५॥

शब्दार्थ—'**मुधा**' (सं०)= व्यर्थ, झूठ, निष्फल, यथा—*'तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू॥'*—(लं०); *'मुधा भेद जद्यपि कृत माया'*—(उ०)। **भाषा**=वाणी; कहा हुआ।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी वनमें जाकर देवकार्य करके अवधपुरीमें अटल (क्योंकि कोई विघ्नकर्ता रह ही न जायगा) राज्य करेंगे॥ ६॥ देवता, नागदेव (पातालवासी), मनुष्य (पृथ्वीपर रहनेवाले) सब श्रीरामचन्द्रजीकी

भुजाओंके सहारे अपने-अपने स्थानों (लोकों एवं घरों) में सुखपूर्वक बसेंगे॥ ७॥—यह सब याज्ञवल्क्यमुनिने पहलेसे ही कह रखा है। हे देवि! मुनिकी वाणी व्यर्थ नहीं हो सकती॥ ८॥ ऐसा कहकर बड़े प्रेमसे पैरों पड़कर और श्रीसीताजीके लिये बड़े प्रेमसे विनती करके (कि इसको साथ कर दीजिये, सब देख लें) तब सुन्दर आज्ञा पाकर सीताजीकी माता सीतासहित अपने डेरेको चलीं॥ २८५॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ *'रामु जाइ बनु······भाषा',* ये वचन दशरथनिवासके परितोषके निमित्त कहती हैं। ***'लखन रामसिय जाहु बन भल परिनामु न पोच······भरत कर सोच'*** इत्यादि वचनोंके सम्बन्धमें अब कह रही हैं। ***'हमरे तौ अब ईस गति कै मिथिलेस सहाय।'*** (२८४) इन अन्तिम वचनोंका उत्तर श्रीसुनयनाजीने प्रथम दिया, क्योंकि ऐसा न करतीं तो समझा जाता कि वे अपनेको बड़ा मानती हैं, इसीसे पहले उनका खण्डन करके तब और बातोंके विषयमें कहती हैं।

टिप्पणी—२ (क) ***'अमर नाग नर···सुख बसिहहिं अपने अपने थल'*** इति। भाव कि ये कोई अपने घर रहने नहीं पाते। यथा—***'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥······किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहि लागा॥···आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता।'*** (बा० १८३), ***'नाग नर किन्नर बिरंचि हरि हर हेरि पुलक सरीर हिये हेतु हरषतु हैं॥ आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सबै तुलसी निहाल कै कै दिए सरषतु हैं।'*** (क० ६। ५८) ***'दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्ह के जस अमर नाग नर सुमुखि सना हैं।'*** (गी० ७। १३) अमरनागनरसे तीनों लोकोंके रहनेवाले सूचित किये। (ख)—***'यह सब जागबलिक कहि राखा'*** अर्थात् यह भविष्य याज्ञवल्क्यजीने वर्षों हो गये तभी हमलोगोंसे कहा था। ये मुनि जनक महाराजके गुरु हैं, यथा—***'जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही हैं।'*** (गीता० १। ८७) याज्ञवल्क्यजी रामचरित भली प्रकार जानते थे। राजा जनकके यहाँ रामचरित उन्होंने बहुत बार कहा होगा; इसीसे घरभर इस प्रसंगको जानता है। अध्यात्ममें सीताजीके वचन रामजीसे हैं कि मैंने तो यही सुना है कि जब-जब राम वनको गये सीता भी साथ गयीं; फिर आप मुझे ले जानेमें क्यों हिचकिचाते हैं, यथा—'**रामायणानि बहुशः श्रुतानि बहुभिर्द्विजैः॥ सीतां विना वनं रामो गतः किं कुत्रचिद्वद। अतस्त्वया गमिष्यामि सर्वथा त्वत्सहायिनी॥**' (२। ४। ७७-७८)

नोट—१ याज्ञवल्क्यजी वैशम्पायनके शिष्य थे। गुरुके अप्रसन्न हो जानेपर उनसे पढ़ी हुई सारी विद्याएँ उन्होंने उगल दीं, जिसे गुरुके अन्य शिष्योंने तीतर बनकर चुग लिया। इसीसे उनकी शाखाओंका नाम तैत्तिरीय हुआ। गुरुका आश्रम छोड़ इन्होंने सूर्यको अपनी तपस्यासे प्रसन्नकर उनके प्रसादसे ये शुक्ल यजुर्वेद या वाजसनेयी संहिताके आचार्य हुए। इनका वाजसनेय भी एक नाम है। २—ये ही या दूसरे कोई इसी नामके ऋषि जनक महाराजके गुरु भी थे। इन्हींको गोस्वामीजीने ***'जोगी जागबलिक'*** गीतावलीमें कहा है। मैत्रेयी और गार्गी इन्हींकी स्त्रियाँ थीं। इनकी स्मृतिका आज भी बड़ा मान है। दायभाग बंगालप्रान्तमें आज भी कानून माना जाता है। ३—याज्ञवल्क्यजीने काकभुशुण्डिजीसे रामचरितमानस प्राप्त किया था, जो उन्होंने भरद्वाजजीसे कहा था। (प्र० सं०) ☞इनकी विस्तृत कथा इस संस्करणके बालकाण्ड ४५ (४) (८) में दी जा चुकी है।

* राजमहिलासम्मेलन *

मा० हं०—स्त्रीसम्मेलनका नाटकीय नमूना कविने इस वर्णनद्वारा दिखलाया है। परंतु काव्यकी दृष्टिसे उसकी योग्यता बहुत भारी है। इस सम्मेलनका यहाँपर प्रबन्ध न किया होता तो यहाँतक कहनेका अवसर आ जाता कि राजमहिलाओंने चित्रकूटतक जानेका व्यर्थ कष्ट क्यों उठाया? इस वर्णनको पढ़ते ही ध्यानमें आ जावेगा कि लोक-शिक्षा, लोकनिरीक्षण और कविकलाकी दृष्टिसे इस बैठकका बड़ा भारी महत्त्व है। हम समझते हैं कि उसके महत्त्वके उद्घाटनकी आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि उसे पढ़ते समय ही प्रत्येक पात्रके भाव और स्वभाव एकदम नजरमें आ जाते हैं। वही उस वर्णनकी एक बड़ी विलक्षणता है।

नोट—२ यह अवध-मिथिला-राज-महिलाओंका सम्मेलन-प्रसंग यहाँ समाप्त हुआ। ***'आयेउ जनकराज रनिवासू।'*** (२८१। ३) उपक्रम है और ***'सियसमेत सियमातु तब चली सुआयसु पाइ॥'*** (२८५) उपसंहार है। यह सम्मेलन पाँच दोहोंमें है।

चित्रकूट-अवध-मिथिला-महिला-सम्मेलन-प्रसंग समाप्त हुआ।

'श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी और नारिजाति'

पं० रामचन्द्र दूबे (ना० प्र० की निबन्धावलीसे)—'श्रीयुत मिश्रबन्धुओंने अपने 'हिन्दी नवरत्न' में गोसाईंजी-की बड़ी लथाड़ की है। १—गोसाईंजीकी माताका उनकी शैशवावस्थामें ही देहान्त हो गया था। २—स्त्रीका प्रसंग भी चिरकाल नहीं रहा। ३—गृहत्यागी होनेसे उनको उच्चश्रेणीकी महिलाओंके प्रसंगका अवसर न मिलनेसे वह स्त्रीचरित्रकी जाँच ठीक-ठीक न कर सके। और, ४—नीच श्रेणीकी स्त्रियोंको देखकर ही स्त्रीनिन्दापर कमर कस ली—क्या इतना कह देना सच्चे महाकविकी जाँच हो गयी?

जो बातें कविपर बीती हों, क्या कवि उन्हींका अनुभव कर सकता है? कवि सृष्टिके सम्पूर्ण व्यापारोंका अनुभव करता है। वह लोकदर्शी होता है—एक साधारण कहावत है ***'जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि।'*** गुसाईंजीकी दृष्टि कैसी पैनी थी, इसके विषयमें स्वयं मिश्रबन्धु एक स्थानपर लिखते हैं—'जिस प्रकार गोस्वामीजीने कलिधर्मके विषयमें भविष्यवाणी-सी की है, उसी प्रकार भारतेन्दुजीने किया है। इन वर्णनोंसे इन कविरत्नोंकी पैनी दृष्टि तथा संसार-चक्रकी गति परखनेकी शक्ति प्रकट होती है।'

केवल अनुमानकी भीतपर यह इमारत खड़ी की जाती है, पर वह दृढ़ नहीं है कि 'शैशवावस्थामें ही मातृवियोग हो गया था।' यदि ऐसा ही होता तो गुसाईंजी यह कैसे लिखते कि—***'तुलसिदास हित हिय हुलसी सी?'*** क्या शिशुको मातृप्रेमकी इतनी स्मृति रह सकती है?

(२) गृहत्यागी होनेसे उच्चश्रेणीकी महिलाओंका प्रसंग नहीं मिला। आज धार्मिक भाव (गोसाईंजीके) उस समयकी अपेक्षा बहुत कम है। फिर भी साधुमहात्माओंके लिये आज भी राजप्रासादोंके अन्तःपुरके द्वार खुले रहते हैं। साधुवेषधारी महात्माओंमें कपटी और दुष्ट प्रकृतिके व्यक्ति आजकी अपेक्षा उस समय कम थे। उस समयके आसपास ही अनेक सच्चे सन्तोंका प्रादुर्भाव हुआ था, जिन्होंने किसी-न-किसी रूपमें भक्तिमार्गको ही पुष्ट कर उसकी पतितपावनी धारासे देशको एक छोरसे दूसरे छोरतक प्लावित कर दिया था। श्रीमीराबाईजी और श्रीसूरदासजीने उसी समयको पवित्र किया था। अतएव यह समझमें नहीं आता कि हमारी उच्च कुलकी ललनाएँ गुसाईंजी-सरीखे महात्माके दर्शनसे वंचित रहीं……। अगर यही माना जाय कि कवि अपने व्यक्तिगत अनुभवसे ही चित्रणमें सफल हो सकता है; तो यह भी मानना पड़ेगा कि जिस कविने सीता, कौसल्या, सुमित्रा आदिका मनोहर एवं आदर्श चरित्र-चित्रण किया है, उसका ऐसी स्त्रियोंका अनुभव बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उसको यदि केवल नीचकुलकी स्त्रियोंसे ही मिलने-जुलनेका अवसर मिला होता तो वह केवल मन्थरा और शूर्पणखाके ही मलिन चित्र खींच सकता था; न कि सीता, कौसल्या आदि श्रेष्ठ रमणीरत्नोंके। पर रामचरितमानसमें हमको दोनों कोटिकी स्त्रियोंके दर्शन होते हैं। अतएव यह मानना पड़ता है कि महाकविने दोनों प्रकारकी स्त्रियोंको देखा था; और स्त्रीजातिकी उन्होंने जो निन्दा की है, वह राग-द्वेषसे नहीं, किसी अनभिज्ञतासे नहीं, किसी अनुभवकी कमीसे नहीं, वरन् किसी विशेष इष्ट-सिद्धिके लिये। जबतक हम ऐसा न मानें, हम इस निन्दाका उन पवित्र निर्मल चरित्रोंके साथ समाधान नहीं कर सकते। पाश्चात्य कविपुंगवोंने (शैक्सपियर, गोल्डस्मिथ, सोफोक्लीज इत्यादि) स्त्री-जातिकी जैसी घोर निन्दा की है उसको देखकर आश्चर्यके साथ कहा जायगा कि वे नारीविद्रोही क्यों नहीं कहे गये और बेचारे गोसाईंजीपर ही वह दोषारोप किया जाय?

अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि कवि-दृष्टिसे गुसाईंजीने नारीचरित्रका चित्रण किस खूबीसे किया है। उनकी दृष्टिमें स्त्रीका कितना उच्च स्थान है।

कविने रामायणकी रचना करके ही यह दरसा दिया है कि उसकी दृष्टिमें स्त्रीका पद कितना ऊँचा है। एक स्त्रीके अपमानके बदलेमें हजारों योद्धा अपनी जीवनलीला समाप्त करते हैं। उसीके प्रतिकारमें सीताहरण होता है। फिर उनकी रक्षा, उनकी मान-मर्यादाको पददलित करनेके प्रयत्नको विफल करनेके लिये लंकामें रक्तकी नदी बहती है।

सुनसान स्थान है। एक अकेली अबला पर्णकुटीमें बैठी है। रावण-सा प्रतापी सम्राट् उसके रूपलावण्यकी कथापर मुग्ध हो उसको उड़ाने तथा अपनी भगिनीके अपमानका बदला लेने आता है। पर उसे इतना साहस नहीं होता कि सम्मुख जाकर प्रेमभिक्षाकी याचना करे। अतः यतिका वेष करके जाता है।—*'करि अनेक बिधि छल चतुराई। माँगेउ भीख दसानन जाई॥'* (क्षेपक) पर जब इस प्रकार सफलमनोरथ न हुआ तब अपना असली रूप दिखलाता है। पर उत्तर क्या मिलता है?—*'जिमि हरिबधुहिं छुद्र सस चाहा। भयेसि काल बस……।'* इसका प्रभाव कामान्धपर क्या पड़ता है—*'सुनत बचन दससीस लजाना। मन महुँ चरन बंदि सुख माना॥'* पर प्रतिकार-मिश्रित कामकी ज्वाला हृदयमें दहक रही है, जिसमें पड़कर यह विचार भस्म हो जाता है और वह श्रीसीताजीको बलात् ले जाता है।…उनके क्रन्दनका शब्द जटायुके कर्णकुहरमें पड़ता है।……'

पं० रामचन्द्र शुक्ल—गोस्वामीजी कट्टर मर्यादावादी थे, कार्यक्षेत्रोंके प्राचीन विभागके पूरे समर्थक थे। स्त्रियोंकी घरसे बाहर निकलनेवाली स्वतन्त्रताको वे बुरी समझते थे। पर यह भी समझ रखना चाहिये कि *'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी।'* कहते समय उनका ध्यान ऐसी ही स्त्रियोंपर था जैसी कि साधारणतः पायी जाती हैं, गार्गी और मैत्रेयीकी ओर नहीं। हाँ, भक्तिका अधिकार जैसा सबको है वैसा ही इनको। भक्तिमार्गमें उत्साहित करनेमें वे किसी बातकी रियायत नहीं रखते थे। स्त्रियोंके लिये साधारण उपदेश उनका वही समझना चाहिये जो ऋषिवधूने *'सरल मृदु बानीसे'* सीताजीको दिया है।…उनपर स्त्रीनिन्दाका पाप लगाया जाता है। उन्होंने सब रूपोंमें स्त्रियोंकी निन्दा नहीं की है। केवल प्रमदा या कामिनीके रूपमें दाम्पत्यरतिके आलम्बनके रूपमें की है—माता, पुत्री, भगिनी आदिके रूपमें नहीं। इससे सिद्ध है कि स्त्रीजातिके प्रति उन्हें कोई द्वेष न था। अतः उक्त रूपमें स्त्रियोंकी जो निन्दा उन्होंने की है, वह अधिकतर वैराग्यको दृढ़ करनेके लिये; और कुछ लोककी आसक्तिको कम करनेके लिये। उन्होंने प्रत्येक श्रेणीके मनुष्योंके लिये कुछ-न-कुछ कहा है। उनकी कुछ बातें तो विरक्त साधुओंके लिये हैं, कुछ गृहस्थोंके लिये, कुछ विद्वानों और पण्डितोंके लिये।……सिद्धान्त और अर्थवादमें भेद न समझनेके कारण यह पाप गोस्वामीजीपर लगाया जाता है। *'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥'*—इससे कुछ लोग बहुत चिढ़ते हैं। चिढ़नेका कारण है 'ताड़न' शब्द जो ढोल शब्दके योगमें आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न करनेके लिये लाया गया है। 'स्त्रीका समावेश भी सुरुचि विरुद्ध लगता है पर वैरागी समझकर उनकी बातको बुरा न मानना चाहिये।'

☞ इस विषयमें पूर्व और आगे अरण्य तथा सुन्दरकाण्डोंमें भी लेख आये हैं। पाठक वहाँ देख लें।

* श्रीभरतविषयक श्रीजनक-सुनयना-संवाद *

प्रिय परिजनहि मिली बैदेही। जो जेहि जोगु भाँति तेहि तेही॥ १॥
तापस बेष जानकी देखी। भा सबु बिकल बिषाद बिसेषी॥ २॥
जनक रामगुर आयसु पाई। चले थलहि सिय देखी आई॥ ३॥
लीन्हि लाइ उर जनक जानकी। पाहुनि पावन पेम प्रान की॥ ४॥

अर्थ—वैदेही श्रीसीताजी अपने प्रिय कुटुम्बियोंसे जो जिस योग्य था उसी प्रकार उस-उससे मिलीं॥ १॥ श्रीजानकीजीका तपस्वी वेश देखकर दुःखसे सब बहुत व्याकुल हो गये॥ २॥ श्रीरामजीके गुरु वसिष्ठजीकी आज्ञा पाकर श्रीजनक महाराज डेरेको चले। आकर उन्होंने श्रीसीताजीको देखा॥ ३॥ श्रीजनकजीने अपने पवित्र प्रेम और प्राणकी पवित्र पाहुनी जानकीजीको हृदयसे लगा लिया॥ ४॥

नोट—१ *'जो जेहि जोगु भाँति तेहि तेही'* अर्थात् किसीसे गले लगकर मिलीं, बड़ोंके चरण स्पर्श किये,

छोटोंके सिरपर हाथ रखा, उनको प्यार किया, किसीसे मधुर वाणीसे कुशल-प्रश्न ही किया, इत्यादि। *'वैदेही'* पदसे '**विदेहकुलसमुद्भवः**' विदेहराजकी कन्या और उनकी इस समयकी दशा भी जनायी। प्रेममें 'विदेह' हो रही हैं। 'विसेषी' का भाव कि दुःख तो पूर्व ही वनवास सुनकर हुआ था, अब आँखोंसे वह वेष देखा अतः विशेष दुःख हो गया। यथा—*'मुनि गुरु परिजन सचिव महीपति। भे सब सोच सनेह बिकल अति॥'* (२७२। २)।

श्रीप्रज्ञानानन्दजीका मत है कि यहाँ वैदेही शब्द देकर जनाया कि प्रिय परिजनोंसे मिलते समय श्रीजानकीजी प्रेम-विवश नहीं हुईं, यह विदेहराजकी कन्याके योग्य ही था। आगे जब माता-पिताके स्नेहवश होकर अपनेको *'न सकी सँभारि'* तब वैदेही शब्द न देकर 'सिय' शब्द दिया है, जो माता-पिताके दुलारका सूचक है।

'लीन्हि लाइ उर······पेम प्रान की' इति

पु० रा० कु०—पाहुनी हैं, पवित्र प्रेमद्वारा पूज्य हैं और प्राणोंद्वारा अतिथि हैं।

रा० प्र०—अर्थात् जिसके कारण प्राणोंमें प्रेम है।

वै०—ऐसा प्रेम उमगा कि रहा न गया, अतएव जानकीजीको हृदयसे लगा लिया। जानकीजी पावन प्रेमसे ही प्राणोंकी पाहुनी हैं। अर्थात् पूर्वजन्ममें प्राण वारण करके शुद्ध प्रेमसे बहुत काल आराधन करनेपर प्राप्त हुई थीं, इसीसे *'पावन प्रेम प्राणकी पाहुनी'* कहा।

पाँ०—केवल प्रेमके (प्रेमरूपी) प्राणकी पाहुनी।

गौड़जी— 'रामगुणग्राम' को *'अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के'* कहा। प्रियतम अतिथिको *'महेस निज मानस राखा।'* प्रियतमके लिये हृदयमें ही स्थान है। यहाँ तो प्राण और प्रेम दोनोंकी पाहुनी हैं। अपने पाहुनको अपने घरमें ठहराना और सादर सत्कार-पूजा करना कर्तव्य है। प्राण और प्रेम दोनोंका घर हृदय है। इसीलिये दोनोंकी पाहुनी की। जानकीजीको हृदयसे लगा लेते हैं। *'पाहुनि'* इसीलिये कि दोनोंने बड़ी तपस्या करके जगज्जननीको इस शरीरमें कुछ ही कालके लिये अपने यहाँ ठहराया। विवाहके पहलेतक ही तो यह पहुनाई रही। उसी पहुनाईका स्मरण करके *'लीन्हि लाइ उर जनक जानकी।'*

वि० त्रि०—*'लीन्हि लाइ उर······प्रान की'* इति। जानकीजीकी बिदाईके समय भी कविने *'लीन्हि राय उर लाइ जानकी'* यही पद दिया था, पर उसके साथ कहा था कि *'मिटी महा मरजाद ज्ञान की'* परंतु यहाँ कहते हैं *'पाहुनि पावन प्रेम प्रान की।'* बात भी ऐसी ही है। विवाहके बाद लड़कियाँ वस्तुतः पाहुन (अतिथि) हो जाती हैं। उनका पिताके घर अतिथिकी भाँति सत्कार होने लगता है, उनको बिदाई दी जाती है। एवं श्रीजानकीजी भी पहुनी हैं, पर इस समय तपस्विनी हैं, इनका राजकुमारी-सा न तो सत्कार किया जा सकता है, न बिदाई दी जा सकती है। इनका सत्कार तो निर्मल प्रेम और प्राणसे करना होगा, यथा—*'राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई।'* प्रेम और प्राणके व्यक्त होनेका स्थान हृदय है, उसीसे लगा लिया अर्थात् हृदयमें स्थान दिया।

उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू। भयेउ भूप मनु मनहु पयागू॥ ५॥
सिय सनेह बटु बाढ़त जोहा। ता पर राम पेम सिसु सोहा॥ ६॥
चिरजीवी मुनि ग्यानु बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु॥ ७॥
मोह मगन मति* नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की॥ ८॥

शब्दार्थ—**ता**=उस। **चिरजीवी**=सब दिन जीनेवाला, दीर्घजीवी, अमर, मार्कण्डेय ऋषि। चिर=दीर्घकालवर्त्ती, बहुत दिनों। सात महात्मा चिरजीवी कहे गये हैं—'**अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः। मार्कण्डेयो जैमिनिश्च सप्तैते चिरजीविनः॥**' इति प्रस्तावचिन्तामणिः। पर यहाँ द्वादशस्कन्ध भागवत और महाभारतके मतसे मार्कण्डेयजी ही अभिप्रेत हैं— (वंदनपाठक)। श्रीभुशुण्डीजी, श्रीलोमशजी तथा कृपाचार्यजी भी चिरजीवी हैं।

अर्थ—उनके हृदयमें प्रेम-समुद्र उमड़ पड़ा। राजाका मन ही मानो प्रयाग हो गया है॥ ५॥ सिय-प्रेमरूपी अक्षयवटको बढ़ते हुए उन्होंने देखा। उस (सियप्रेमवट) पर रामप्रेमरूपी बालक शोभित हो रहा है॥ ६॥

* अति—(ला० सीताराम)।

श्रीजनकजीका ज्ञानरूपी मार्कण्डेय ऋषि, मानो व्याकुल होकर डूबते-डूबते (उस रामप्रेम) बालकका सहारा पा गये॥ ७॥ (कवि कहते हैं कि) विदेह महाराजकी बुद्धि मोहमें नहीं डूबी है (किंतु) यह सियरघुवर-प्रेमका महत्त्व है।

श्रीमार्कण्डेय मुनि

भा० स्क० १२ अ० ८—१० में मार्कण्डेयजीकी कथा है। ये मृकण्डु ऋषिके पुत्र हैं। यज्ञोपवीत हो जानेपर गुरुकुलमें रहकर धर्मपूर्वक चारों वेदोंको पढ़ तप-स्वाध्यायमें तत्पर हो इन्होंने आजीवन ब्रह्मचारी बननेका व्रत पालन किया और अमितकालतक भगवदाराधना करके मृत्युको जीत लिया। इन्द्रने डरकर सातवें मन्वन्तरमें तपमें विघ्न डालनेका उपाय किया पर कुछ न कर सका। नर-नारायण प्रसन्न हो प्रकट हुए। ऋषिने स्तुति की। उन्होंने वर माँगनेको कहा। तब ऋषिने कहा कि आपके दर्शनसे बढ़कर क्या है, जो मैं माँगूँ तथापि मैं आपकी उस अद्‌भुत मायाको देखना चाहता हूँ, जिससे मोहित होकर सारे ब्रह्माण्ड सत्य पदार्थमें भी भेदभावना करते हैं। तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

एक दिन संध्या-समय पुष्पभद्राके तटपर बैठे ऋषि भगवदुपासना कर रहे थे। उसी समय अकस्मात् बड़े वेगसे आँधी और जलकी घोर वर्षा चारों ओरसे हुई। चारों समुद्रोंने उमड़कर सारे पृथ्वी-मण्डलको डुबा दिया, आकाश, स्वर्ग आदि सब डूब गये—केवल महामुनि ही बचे। ज्ञानी होनेपर भी मुनि व्याकुल और भयभीत हो गये। अंधे-सरीखे इधर-उधर बहते। प्रचण्ड लहरों और वायुके थपेड़ोंसे व्याकुल कभी नीचे डूबते, कभी ऊपर उतराते, अमितकालतक गोते खाते रहे।....एक समय उन्होंने एक छोटा टापू देखा जिसपर एक छोटा-सा फूला-फला नवपल्लवसंयुक्त वटवृक्ष था। इसके ईशान कोणकी शाखापर पत्रपुटपर एक परम मनोहर श्यामवर्ण बालकको देखा कि सुन्दर अंगुलियुक्त दोनों हाथोंसे अपने चरणकमलांगुष्ठको मुँहमें डाले पी रहा है। मुनिको विस्मय और परम आनन्द इसे देखकर प्राप्त हुआ और उनकी सारी थकावट और पीड़ा मिट गयी। उनका हृदयकमल और नेत्र प्रफुल्लित हो गये। 'तुम कौन हो' यह पूछनेके विचारसे वे निकट गये। निकट जाते ही वे बालककी श्वासाके साथ उदरमें चले गये तो वहाँ ब्रह्माण्डको पूर्ववत् ज्यों-का-त्यों उदरमें देखा, मोहित होकर कुछ निश्चय न कर सके कि वास्तवमें यह क्या है....सब देख चुकनेपर श्वासाद्वारा निकलकर फिर उसी प्रलयसागरमें गिर पड़े और वटवृक्षपर लेटे हुए मुसकान और तिरछी चितवनसे अपनी ओर देखते हुए बालमुकुन्दको अपने हृदयमें बिठा संतुष्ट हुए और पास जाने लगे त्यों ही भगवान् अन्तर्धान हो गये और सब प्रलयदृश्य क्षणभरमें गायब हो गया।

शौनकजी कहते हैं कि मायाके तत्त्ववेत्ताओंका कथन है कि माया शिशुरूप हरिके उदरमें श्वासाके साथ सात बार भीतर-बाहर होकर केवल मार्कण्डेय ऋषिने ही एक ही समयमें सात कल्प देखे और तत्त्वके न जाननेवाले कहते हैं कि सात कल्पोंमें पूर्वोक्त प्रकारसे हरिकी अनादिकालव्यापिनी माया देखी।

महाभारत, वनपर्व अ० १८८—१९० में भी यह कथा है। पर यों है कि 'बड़ी शाखापर एक पर्यंकपर एक बालक (बालमुकुन्दभगवान्) लेटे थे। उन्होंने मुझसे कहा कि मेरे मुखमें प्रवेश कर जाओ। मुँह फैलाते ही मैं विवश मुँहमें चला गया। १०० वर्षपर निकला तो बालकको वैसे ही देखा। मैंने प्रणाम करके मायाके जाननेकी इच्छा प्रकट की। भगवान् बालमुकुन्दने कहा कि इस लोकमें जो कुछ पदार्थ तुमने देखे वे सब मेरे ही रूप हैं। पितामह मेरे शरीरके अर्द्धभाग हैं। मैं नारायण हूँ और १०० युगोंतक ब्रह्मारूपसे सब प्राणियोंको मोहित करके शयन करता हूँ। जबतक ब्रह्मा नहीं जागते तबतक मैं पुरातन पुरुष होकर भी, इसी बालरूपसे यहाँ (वटवृक्षपर) रहता हूँ और सब चराचर जगत् मेरे उदरमें तबतक लीन रहता है, जबतक ब्रह्मा योगनिद्रासे नहीं उठते तबतक तुम यहीं सुखपूर्वक रहो। मेरा सत्ययुगमें श्वेतवर्ण, त्रेतामें पीत, द्वापरमें रक्त और कलियुगमें कृष्णवर्ण है।

रूपक

दीनजी—१(क) यहाँ रूपकका बड़ा ही समुचित प्रयोग हुआ है, कोई अन्य रूपक यहाँ जनकजीकी मानसिक परिस्थितिका दिग्दर्शन भी न करा सकता। (ख) तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रलयका दृश्य देखनेकी इच्छा होनेपर मार्कण्डेयजी समुद्रमें तैरते-तैरते अक्षयवटके एक पत्तेपर सोये हुए भगवान्‌के बालकरूपका अवलम्ब पाकर स्थिरचित्त हुए थे, उसी प्रकार जनकजीके हृदयमें जो सीताप्रेमका उद्वेग हुआ तो वे उसमें

डूबने-उतराने लगे। उनका ज्ञान मोहमें परिणत होनेको था कि रामके ऐश्वर्यरूपका ध्यान आया और तब सीता और रामको अनादिशक्ति और ईश्वर समझकर (बेटी-दामादका भाव छूट गया) तब उन्हें सान्त्वना मिली।

दीनजी—२—चिरजीवी मार्कण्डेय ऋषिने भगवान्‌से प्रार्थना की थी कि मुझे अपनी माया दिखाइये। अतएव उन्होंने बिना समय ही प्रलय कर दिखाया। उसमें उन्होंने देखा कि प्रलयका समुद्र उमड़ता चला आता है, सारी पृथ्वी जलमय हो गयी। मुनि बहुत काल समुद्रमें भटकते रहे, विश्रामके लिये स्थान न मिला। जब डूबने लगे तब एक विशाल वटवृक्ष उन्हें जलमें देख पड़ा, जिसकी एक बड़ी शाखापर एक परम सुन्दर शिशु पर्यंकपर लेटा हुआ था। वे उसपर चढ़ गये। प्रयाग डूब जाता है, पर क्षेत्र बना रहता है और वट बढ़ता है। वैसे ही यहाँ राजाका मन अनुराग-समुद्रजलसे छा गया पर प्रेममें डूबनेपर भी अचल बना है। उस क्षेत्रमें जानकीका प्रेम अक्षयवट बढ़ता जाता है......जैसे मार्कण्डेय बहते बच गये वैसे ही इनका ज्ञान भी बच गया। उसीका सांगोपांग रूपक यहाँ लेकर जनकजीके हृदयमें सीताप्रति प्रेमकी उमग और उनके ज्ञानकी विह्वलताकी उत्प्रेक्षा की गयी है।

श्रीपंजाबीजी—जब राजाने पुत्रीभावसे श्रीजानकीजीको हृदयसे लगाया तब राजाके हृदयमें अनुराग (अर्थात् मोह) सिन्धुवत् उमड़ा। तब राजाने ज्ञानरूपी चिरजीवी मुनिको व्याकुल देखा। इसपर उत्प्रेक्षा करते हैं, कारण कि श्रीजनकमहाराजके ज्ञानको वास्तवमें व्याकुल कहते नहीं बनता। उस प्रेमको देखकर राजा जनकने विचार किया कि मुझे कुटुम्बका मोह क्यों हुआ तब राजाका मन मानो प्रयाग हुआ। अर्थात् अपनी पवित्रतामें दृढ़ हुआ। तब उसमें सिय-सनेह-वटको बढ़ता देखा और उसपर रामप्रेम बालकको देखा। भाव यह कि मैंने स्वभावसे स्नेह नहीं किया। श्रीसीताजीमें श्रीरामजीका प्रेम अधिक जानकर मेरी प्रीति बढ़ी है। तब राजाको पूर्ण सन्तोष हुआ कि सन्त-भगवन्त एक रूप हैं, इनमें प्रेम करना ज्ञानका बाधक नहीं प्रत्युत वर्धक है। यही आगे कहते हैं।

रा० प०—मन प्रयाग है। कर्म, उपासना, ज्ञान उसमें त्रिवेणी है।

रा० प० प०—भाव कि मिथिलेशजीके मनकी वृत्ति प्रेमके कारण त्रिगुणात्मिका हो गयी।

रा० प्र०—उरमें अनुरागरूपी समुद्र उमगा। भाव कि श्रीजानकीजीका तपस्विनीरूप देखनेसे महाराजका स्वर्ग-गमन और श्रीकौसल्याजी आदिका दु:ख इत्यादि सब स्मरण हो आया। उनका मन मानो प्रयाग हो गया। श्रीजानकीजीका स्नेहरूपी वट बढ़ते देखा। भाव कि अनुराग-समुद्रमें श्रीजानकीजीका स्नेह डूबा नहीं; जलके ऊपर ही बना रहा। उसपर श्रीरामप्रेमरूपी बालक शोभित है। अर्थात् सियसनेहसे कुछ अधिक श्रीरामप्रेम था। अथवा, श्रीजानकीजीके सम्बन्धके आश्रयसे श्रीरघुनाथमें प्रेम है, इससे स्नेहवटको ऊपर कहा।

‘चिरजीवी अवलंबनु’—भाव कि ज्ञानके ठहरनेका स्थान श्रीराघव हैं, वहाँ जाकर और श्रीजानकीजीरूपी आश्रयको पाकर ठहर गया। अर्थात् मोह-समुद्रमें डूबनेसे बच गया।

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ सियसनेह (=सीताजीमें अपना प्रेम) वटको अपने मनमें बढ़ते देखा, इसीसे भूपके मनको प्रयाग कहा। जैसे यह प्रलयप्रसंग मार्कण्डेय मुनिका प्रयागमें ही हुआ, वैसे ही सीताजीके प्रति इनके अनुरागकी बाढ़ इनके मनमें ही हुई। अक्षयवट प्रलयमें भी नष्ट नहीं होता। ज्यों-ज्यों जल बढ़ता है त्यों-त्यों यह वट बढ़ता जाता है। सदा जलके ऊपर ही रहता है। श्रीसीताजीके प्रति प्रेम वट है, रामप्रेम बालमुकुन्दभगवान् और जनकका ज्ञान मार्कण्डेय मुनि हैं। ज्ञानको मार्कण्डेय मुनि कहा क्योंकि जैसे उनका नाश नहीं वैसे ही इनके ज्ञानका नाश नहीं।

टिप्पणी—२—(क) वहाँ प्रयागमें सब चरित्र हुआ, यहाँ भूपके मनमें। अत: मनकी प्रयागसे उत्प्रेक्षा की। (ख)—सीताजीके प्रति प्रेम बढ़ा और उनके साथ राममें भी प्रेम हो आया, यही अक्षयवटपर शिशुका सोहना है। [राजाका जो श्रीरामविषयक प्रेम है वही उनके बढ़ते हुए सियस्नेहरूपी वटपर बालरूप होकर शोभित हुआ। (नं० प०)] (ग)—प्रेममें ज्ञानकी मर्यादा नहीं रह जाती, यही ज्ञानका डूबना है। (घ)—रामप्रेममें ज्ञानीकी बड़ाई होती है, यही अवलम्ब पाना है अर्थात् यदि राममें प्रेम न हुआ तो ज्ञान डूबा। प्रमाण, यथा—***‘जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहाँ न राम प्रेम परधानू॥’*** [जनकजीके ज्ञानने श्रीरामप्रेमका अवलम्ब

लिया। (नं० प०)] और यही बात आगे कहते हैं *'मोह मगन नहिं मति बिदेह की…… ।'* यह सीतारामके स्नेहकी महिमा है कि जो उसने ज्ञानको डुबा दिया। अर्थात् भूपके हृदयमें ज्ञानसे प्रबल रामका स्नेह है।

श्रीबैजनाथजी—यहाँ शंका होती है कि 'जब सियस्नेह-वटपर चढ़कर ज्ञान डूबते हुए बचा तब पूर्व अनुराग किसका है जो समुद्रवत् उमगा था जिसमें ज्ञान डूबने लगा था?' समाधान यह है कि भगवत्-प्रीतिमें मन और नेत्र रँगे रहनेको अनुराग कहते हैं। वही प्रेम स्त्री-पुत्र आदि लोक-सम्बन्धियोंमें होनेसे मोह कहलाता है। पहले देखते ही जो अनुराग हृदयमें उमड़ा वह केवल पुत्रीभावसे था, इससे उसकी मोह ही संज्ञा हुई, पर यद्यपि वे पुत्री हैं तथापि हैं तो ईश्वरी, इससे यह मोहसंज्ञक नहीं है, यही विचारकर कविने उसका जनकके हृदयमें उमगना कहा—पुत्रीप्रेममें ज्ञान डूबने लगा उसी समय मनमें ईश्वरभाव आ गया। यही मनरूपी प्रयागमें ज्ञान-चिरजीवी मुनिका पहुँचकर सियसनेह-वटका देखना है। जब ईश्वरभावका प्रेम हो गया तब ज्ञानरूपी मुनि अभय हुए, यही वटपर जाना है। अब जो किंचित् पुत्रीभावका मोह जल है वह नीचे ही रह गया। पर फिर भी भय था कि कहीं वृक्ष डूब न जाय तब वटपर देखा कि एक शिशु पड़ा है, उसे पाकर मुनिको विश्वास हुआ कि हम अब न डूबेंगे। वैसे ही ज्ञानरूपी मुनि रामप्रेमका सहारा पाकर निर्भय हो गये, राममें परब्रह्मभाव आते ही इनका मोह दूर हो गया।

वि० त्रि०—प्रलयकालमें सम्पूर्ण विश्व जलमय हो जाता है। केवल अक्षयवट बचा रहता है। वह प्रलयके जलके साथ-ही-साथ बढ़ता जाता है और प्रयागकी स्थितिका पता देता है, उसीके एक पत्रपर बालमुकुन्द विराजमान रहते हैं। उसी प्रलयके जलमें मार्कण्डेय मुनि विकल थे, बालमुकुन्दके चरणोंका आश्रय पाकर ही उन्होंने विश्राम पाया। इसी भाँति जनकजीके हृदयमें बेटीके प्रेमका मानो समुद्र उमड़ पड़ा, उसीमें महाराजकी बुद्धि मग्न हो गयी। परंतु सीताजीमें बेटीके अतिरिक्त उपास्य देवतावाला प्रेम भी था (सीता-मन्त्रके जनकजी ही ऋषि हैं) वह प्रेम नहीं डूबा, वहीं जनकजीके मनकी स्थितिका पता देता था। जनकजीका ज्ञान ही मानो मार्कण्डेय मुनि हो गया। वह नहीं डूबा, ऊपर-ऊपर तैरता था, पर तरंगोंके थपेड़े तथा श्रमसे विकल-सा हो गया था, पर सीताजीके स्नेहके आधारपर जो रामजीका प्रेम था, उसीके आश्रयसे जनकजीके ज्ञानकी रक्षा हुई अर्थात् जनकजीका ज्ञान सोपास्ति था, अतः बेटीके प्रेमके समुद्रके उमड़नेपर भी नहीं डूबा, यदि निरुपास्ति ज्ञान होता तो निश्चय डूब जाता, यथा—*'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भयहरनि भगति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥'*

गौड़जी—जनकजी-जैसे परम ज्ञानी भी कुछ क्षणोंके लिये प्रेम-विह्वल हो गये। उसीका इस अद्भुत रूपकमें वर्णन है। हृदयमें प्रेम और प्राणकी पाहुनी किशोरीजीके आनेसे शारीरिक सम्बन्धका, पिता-पुत्रीका अनुराग उमड़ पड़ा। यह तो नहीं होना चाहिये था, क्योंकि राजा जनक तो आत्मदर्शी हैं, सांसारिक सम्बन्धके मिथ्यात्वको कभी भूल नहीं सकते। परंतु सीताजीका स्नेह आदिशक्तिकी वात्सल्यरसवाली भक्ति है, वही भक्ति है जो कौसल्याजीकी रामजीके प्रति है। यही इस सांसारिक अनुरागरूपी उमड़े हुए समुद्रमें 'अक्षय' वट है। यह समुद्र तो मायाका खेल है। परंतु उसमें सियस्नेह वटवृक्ष 'अक्षय' वट है, मायारचित नहीं है। इस ऐहिक सम्बन्धवाले अनुरागके बीच वह बढ़ते हुए सिय-सनेहको देखते हैं। परंतु सिय-सनेहकी विशालताके भीतर किसी सूक्ष्म स्थलमें, वटपत्रपर 'सोता हुआ', रामप्रेमरूपी शिशु भी शोभा दे रहा है। सीताजीकी भक्ति अपने रत्नकोशमें छिपाये हुए 'रामभक्ति' रखती है। इस सांसारिक अनुरागकी बाढ़को देख पहले तो जाग्रत् ज्ञान विकल हो गया। जब पहले-पहल रामजीके दर्शन हुए तब भी *'बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा॥'* देखनेकी दशामें अनुरागका भाव इन्द्रियसम्बन्धसे है। और दशामें जनकजीको इन्द्रियोंके सम्बन्धसे अनुराग वा राग होता ही नहीं। 'यहाँ क्यों हुआ? ब्रह्मसुखका त्याग बरबस क्यों हुआ?' धीरज धरकर जनकजीका जाग्रत् ज्ञान कौशिकसे समाधान चाहता है। यहाँ तो समाधान करनेवाला कोई नहीं है। इस अनुरागकी बाढ़में ज्ञान डूबना चाहता है। उसे भ्रम होता है कि हम इस सांसारिक अनुराग-समुद्रमें कहाँ फँस गये। इतनेमें एकाएकी सीताजीकी अक्षय भक्ति बढ़ती हुई देख पड़ती

है तो भी समाधान नहीं होता। फिर जब इसी भक्तिकी बाढ़में छिपा रामप्रेम, ब्रह्मसे एकत्व, देख पड़ता है, तब ज्ञानको अवलम्बन मिलता है। वह समझ जाता है कि दैहिक अनुरागका अम्बुधि यद्यपि मायाका विस्तार है तथापि इसमें सीतारामकी भक्तिकी ही प्रधानता है। इससे ज्ञानमुनिका समाधान हो जाता है। ***'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू'*** इस बातका निश्चय विवेक निधि राजा जनकके चरितसे हो जाता है। गीतामें ज्ञानकी परिभाषामें '**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी**' आवश्यक है। भक्ति बिना ज्ञान अपूर्ण रहता है। सच्चरित्र भी ज्ञानका आवश्यक अंग है। राजा जनक पूरे ज्ञानी इसीलिये हैं कि उनमें अनन्य-योगसे भगवान्‌की अव्यभिचारिणी भक्ति है। संसारसे वह ***'पद्मपत्र जिमि जल'*** का सम्बन्ध रखते हैं। तो क्या इस घड़ी 'विदेहकी मति मोहमें' डूब गयी? नहीं, कदापि नहीं, सीता और रामके प्रेमकी महिमा तो वस्तुत: अपार है, उसमें डूबी। सांसारिक मोहकी अपारता तो झूठी है।

श्रीपोद्दारजी—उस (वात्सल्य-प्रेम) समुद्रके अंदर उन्होंने (आदिशक्ति) सीताजीके (अलौकिक) स्नेहरूपी अक्षयवटको बढ़ते हुए देखा।

टिप्पणी—३—***'मोह मगन मति नहिं बिदेह की।……'*** इति। अर्थात् उनका ज्ञान मोहद्वारा विकल नहीं हुआ है। मोह तो देहमें अहं-ममबुद्धिका होना है कि राजा तो 'विदेह' हैं, तब उनको मोह कैसा? यह श्रीसीता-रामस्नेहकी महिमा है कि ऐसे ज्ञानियोंका भी ज्ञान विकल हो गया, डूबने लगा। रामप्रेमसे ज्ञानका व्याकुल होना शोभा है,[१] यही बात पूर्व भी लिख आये हैं कि ***'जासु ज्ञानरबि भवनिसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥'*** से ***'करनधार बिनु जिमि जलजानू'*** तक २७७ (१—५) इसी प्रकार जानकीजीकी बिदाईके समय दशा कही थी—***'बंधु समेत जनक तब आये। प्रेम उमगि लोचन जल छाये। सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी॥ लीन्हि राय उर लाइ जानकी। मिटी महामरजाद ग्यानकी॥ समुझावत सब सचिव सयाने। कीन्हि बिचारु अनवसर जाने॥'***

पं०—भाव यह है कि और प्रेम मनमें मोह उत्पन्न करते हैं और श्रीरामजीमें प्रेम होनेसे तो मोह मिटता है। उसपर भी ये तो विदेह हैं।

दो०—सिय पितु मातु सनेह बस बिकल न सकी सँभारि।
धरनिसुता धीरज धरेउ समउ सुधरमु बिचारि॥ २८६॥

तापस बेष जनक सिय देखी। भयउ पेमु परितोषु बिसेषी॥ १॥
पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ॥ २॥
जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवनु कीन्ह बिधि अंड करोरी॥ ३॥
गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे। यहि किये साधु समाज घनेरे॥ ४॥

शब्दार्थ—**जिति**=जीतकर। **बिधि अंड**=ब्रह्माण्ड। **करोरी**=करोड़ों। **थल**=स्थान। **बड़ेरे**=बड़े।

अर्थ—माता-पिताके प्रेमके वश व्याकुल होनेसे श्रीसीताजी अपनेको न सँभाल सकीं। पृथ्वीकी पुत्री सीताजीने समय और अपना धर्म विचारकर धैर्य धारण किया॥ २८६॥ तपस्वी वेषमें श्रीसीताजीको देखकर श्रीजनकजीको अधिक प्रेम और संतोष हुआ॥ १॥ (वे बोले) बेटी! तूने दोनों कुलोंको (निमिकुल, रघुकुल, पिता और पतिके कुल) पवित्र किया, उज्ज्वल सुन्दर यश (जगत्‌में छा गया उसे)[२] सब लोग कह रहे हैं॥ २॥ तेरी कीर्तिनदीने गंगाको भी जीतकर करोड़ों ब्रह्माण्डोंमें गमन किया॥ ३॥ पृथ्वीपर

१-'रूप सील सिंधु गुनसिंधु बंधु दीननको दयानिधि जानमनि बीरबाहु बोलको। श्राद्ध कियो गीधको सराहे फल सबरीके सिलासाप समन निबाह्यो नेह कोल को॥ तुलसी उछाह होत रामको सुभाउ सुनि को न बलि जाइ न बिकाइ बिनु मोल को। ऐसेहु सुसाहिब सों जाको अनुराग न सो बड़ोई अभागी भाग भागी लोभ लोल को॥' (क०)

२-अर्थान्तर—तेरे निर्मल यशसे सारा जगत् उज्ज्वल हो रहा है। (गी० प्रे०)

गंगाने तीन ही स्थान बड़े बनाये हैं और (तेरी) इस-(कीर्तिनदी-) ने तो अगणित साधुसमाजरूपी स्थान बड़े (बनाये) हैं॥ ४॥

नोट—१ (क) *'सिय पितु मातु सनेह बस'* इति। सीताजीके स्नेहसे माता-पिता व्याकुल हुए इसीसे सीताजी उनके स्नेहसे व्याकुल हुईं, क्योंकि श्रीमुखवचन है कि—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** इति गीतायाम्। (पु० रा० कु०) धीर, संत, मुनि, सत्पुरुष दूसरोंका दु:ख देखकर विकल होते ही हैं। यथा—*'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर।'* (७। ३८। १) (प० प० प्र०)

(ख) *'धरनिसुता'—'धरि धीरजु उर अवनिकुमारी।'* (६४। ४) देखिये। *'समउ सुधरम बिचारि'*—समय विपत्तिका और पतिके साथ वनवासका है। 'सुधर्म' कि (१) श्रीरामजी परमधर्मपर आरूढ़ हैं, मैं उनके साथ वानप्रस्थ और पातिव्रत्य धर्मका पालन कर रही हूँ। धर्ममें विकल होना धर्मसे च्युत होना है। व्याकुल होनेसे हमारे धर्मपर बट्टा लगेगा। (२) हम तपस्विनीवेषमें हैं। माता-पिता हमको व्याकुल देखकर दु:खी समझेंगे और अपने संग ले जानेको कहेंगे तब मैं कैसे कहूँगी कि पतिके संग जाऊँगी और वन न जाऊँ तो पातिव्रत्यधर्म जाता है। अतएव आज मुझे व्याकुल होना उचित नहीं। (शीला) (३) श्रीसीताजीने विचारा कि आपत्काल है इसमें धीरज और धर्मकी परीक्षा होती है, यथा—*'धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥'* उत्तम मनुष्योंको धैर्य करना चाहिये। वा पृथ्वीका भार उतारनेका समय आ गया, मैं धीरज न रखूँगी तो बना-बनाया काम बिगड़ जायगा और मेरी माताका कष्ट न दूर होगा। (पं०)

नोट—२ *'तापस बेष······पेमु परितोषु बिसेषी'* इति। तपस्वीवेष देखकर और सब व्याकुल हुए, सबको विशेष विषाद हुआ, यथा—*'तापस बेष जानकी देखी। भा सबु बिकल बिषाद बिसेषी॥'* (२८६। २) और होना ही चाहिये क्योंकि जो *'पलँगपीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा॥'* वह सीता आज इस वेषसे वन-वन फिरती हैं पर इनको पातिव्रत्यधर्म समझकर बहुत प्रेम और संतोष हुआ। अपनी पुत्री है, वह ऐसी धर्मपर आरूढ़ है, इस वात्सल्यभावसे प्रेम पहलेसे भी अधिक हुआ। और आगे भी इसकी व्याख्या है।

नोट—३—(क)*'कुल दोऊ'*= नैहर और ससुराल। यहाँ 'कुल' शब्द बड़ा उत्तम है। 'कूल' नदीके किनारेको कहते हैं और आगे कीर्तिनदीका रूपक बाँधा गया है। (ख)*'जगु कह सबु कोऊ'* अर्थात् अपनी पुत्रीके विचारसे मैं यह नहीं कह रहा हूँ। वरन् यह सत्य है, सारा जगत् तुम्हारी प्रशंसा कर रहा है। यथा—**'कृतकृत्या महाभागा वैदेही जनकात्मजा। भर्तारं सागरान्तायाः पृथिव्या यानुगच्छति॥'** (वाल्मी० २। ९८। ११) **'कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम्। न जहाति रता धर्मे मेरुमर्कप्रभा यथा॥'** (वाल्मी० २। ४०। २४) 'अर्थात् वैदेही कृतकृत्य है, समस्त पृथ्वीके स्वामी अपने पतिके साथ जा रही है। वह धर्मरता छायाकी तरह पतिके साथको नहीं छोड़ती जैसे सूर्य प्रभा सुमेरुको नहीं छोड़ती। आगे इनकी सुकीर्तिको अधिक अभेद रूपकालंकारद्वारा गंगासे अधिक पावन और उत्तम दिखाते हैं।

(ग) *'बिधि अंड······'* ब्रह्माण्ड। पं० और रा० प्र० ने 'विधि' का अर्थ 'बेधकर' किया है और *'अंड'*= ब्रह्माण्ड। गंगाने एक ही ब्रह्माण्डको बेधा और तीन ही लोकोंमें थोड़ेसे स्थलमें हैं और तुम्हारी कीर्तिनदीने करोड़ों ब्रह्माण्डोंका बेधन करके सर्वत्र अपना उज्ज्वल यश फैला दिया। भाव कि गंगाकी गति तीन ही लोक और एक ब्रह्माण्डतक है और यह कीर्ति असंख्यों ब्रह्माण्डोंमें है।

नोट—४ *'गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे।······'* इति। '**हरिद्वारे प्रयागे च गंगासागरसंगमे। सर्वत्र दुर्लभा गंगा त्रयस्थाने विशेषतः॥**' गंगाने इन तीन स्थलोंको बड़ाई दी। इन्हीं तीन स्थलोंमें उसका बड़ा माहात्म्य माना गया है। और तुम्हारी उज्ज्वल कीर्ति नदीका माहात्म्य साधुसमाजमें है और साधुसमाज अगणित हैं, सभी साधुसमाज तुम्हारे इस सुयशसे बड़े हुए और होंगे। भाव कि जो-जो साधु तुम्हारी कीर्ति गायेंगे वे-वे बड़ाई पावेंगे। (पु० रा० कु०) यहाँ *'किए'* पदको तीनों कालमें लगाना चाहिये। (पं०)

वि० त्रि०—गंगाजीने तीन स्थान—हरद्वार, प्रयाग और गंगासागर ऐसे पुनीत बनाये कि उनके सेवनसे लोग संसारसागर तर जाते हैं पर सीताजीकी कीर्ति सरिताने न जाने कितने जंगम प्रयागराज (साधु-समाज) बनाये, जिनके सेवनसे मनुष्यको चारों फल सुलभ हो जाते हैं, यथा—*'मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथ राजू॥'*

पितु कह सत्य सनेह सुबानी। सीय सकुचि महुँ[1] मनहुँ समानी॥ ५॥
पुनि पितु मातु लीन्हि उर लाई। सिख आसिष हित दीन्हि सुहाई॥ ६॥
कहत न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥ ७॥
लखि रुख रानि जनायेउ राऊ। हृदयँ सराहत सील सुभाऊ॥ ८॥

दो०—बार बार मिलि[2] भेंट सिय बिदा कीन्हि सनमानि।
कही समय सिर भरत गति रानि सुबानि सयानि॥ २८७॥

शब्दार्थ—**समाना**=प्रविष्ट होना; घुस जाना। **समय सिर**=ठीक समय पाकर (यह अवधी मुहावरा है—दीनजी)।=सुअवसर पाकर, मौकेसे। **सुबानि**=सुन्दर स्वभाववाली, सुस्वभाव—(दीनजी)

अर्थ—पिताने तो स्नेहसे सत्य-सत्य सुन्दर वाणी कही। (पर) श्रीसीताजी (ऐसी देख पड़ती हैं) मानो संकोचमें समा गयी हैं॥ ५॥ माता-पिताने उन्हें फिर हृदयसे लगा लिया और सीताजीको सुन्दर हितकारी शिक्षा और आशीर्वाद दिये॥ ६॥ श्रीसीताजी मारे संकोचके कहती नहीं हैं पर मनमें सकुचा रही हैं कि रातमें यहाँ रहना अच्छा नहीं॥ ७॥ सीताजीका रुख देखकर (चेष्टासे उनकी रुचि जानकर) रानीने राजासे इस बातको जनाया। दोनों हृदयमें उनके शील-स्वभावकी सराहना करते हैं॥ ८॥ बार-बार सीताजीसे मिल-भेंटकर राजा-रानीने सम्मानपूर्वक उनको विदा किया। (तब) ठीक समय पाकर चतुर रानीने सुन्दर वाणीसे भरतजीकी दशा कही। उनका व्यवहार कहा॥ २८७॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ *'पितु कह सत्य सनेह सुबानी······।'* इति। (क) पिताने स्नेहसे सत्य सुन्दर वाणी कही पर सीताजी अत्यन्त सकुचा गयीं। भाव यह कि अपनी संतानकी प्रशंसा न करनी चाहिये, न उनके सम्मुख और न परोक्ष ही। यह नीति है। पर, जनकजीने स्नेहके मारे प्रशंसा कर दी, कीर्तिसे इतना प्रमोद हुआ कि वे नीति भूल गये, बात बिना कहे रहा ही न गया। पर सीताजी अत्यन्त संकोचमें डूब गयीं—*'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं'* यह उत्तम पुरुषोंका लक्षण है। सत्य है, तब भी सुनकर संकोच होता है, लज्जा लगती है। (ख) 'संकोचमें समा गयीं' इसके भावके लिये *'चहत सकुच गृह जनु भजि पैठे।'* (२०६। ६) से मिलान कीजिये। अर्थात् सकुचरूपी घरमें जा घुसीं। वैसा ही रूपक यहाँ है। वही सब भाव यहाँ है।

टिप्पणी—२—*'पुनि पितु मातु लीन्हि उर लाई।······'* (क) उनका संकोच दूर करनेके लिये एवं इससे भी कि संकोच-गुण देख प्रेम और अधिक बढ़ गया, माता-पिता दोनोंने फिर हृदयसे लगाया। (ख)—*'सिख आसिष हित दीन्हि सुहाई'= हित सिष और सुहाई आसिष दीन्ह।*

टिप्पणी ३—*'सकुचि मन माहीं'* इति। संकोच यह कि हम सब सुखोंका तिरस्कार करके पतिके साथ आयीं। यथा—*'मातु पिता भगिनी सुत भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥ सासु ससुर गुर सुजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥ जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥ तन धन धाम*

१-यही पाठ राजापुर, काशिराज आदिकी प्रतियोंमें है। पर 'सकुचि' के कारण लोगोंने 'महुँ' का 'महि' अथवा 'सकुचि' का 'सकुच' पाठ कर दिया है। पर इस तरहका प्रयोग और भी हुआ है, विशेषके स्थानोंमें बिसेषि कई स्थलोंमें है। 'अवधि' के स्थानमें 'अवध' एक ठौर आया है। वन्दन पाठकजी 'महि माहुँ' पाठ देते हैं।

२-भेंटि'—रा० प्र०, गी० प्रे०।

धरनि पुर राजू। पतिबिहीन सब सोक समाजू॥ भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥ प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥' (६५। १—६) *'पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृपमनि मुकुट मिलत पदपीठा॥ सुखनिधान अस पितु गृह मोरें। पिय बिहीन मन भाव न भोरें॥ ससुर चक्कवइ कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥ आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अर्धसिंघासन आसन देई॥ ससुर एकादृस अवध निवासू। प्रिय परिवारु मातु मम सासू॥ बिनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि केउ सपनेहु सुखद न लागा॥'* (९८। १—६) अब हम उसी सुखको ग्रहण करें यह उचित नहीं। कहाँ तो मैंने कहा था कि *'मो कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं'* और कहाँ मैं उनका साथ छोड़कर यहाँ रातमें सुखसे रहूँ। पति अकेले सबको छोड़ आश्रममें रहें और मैं परिजनोंमें रहूँ। दूसरे वानप्रस्थ धर्म भंग हो जायगा।

टिप्पणी—४ *'लखि रुख रानि जनायेउ राऊ····।'* इति। स्त्रियोंकी चेष्टा स्त्रियाँ सहज ही जान लेती हैं—**'भुजंग एव जानीते भुजंगचरणे सखे'** (अज्ञात) **'अहिरेव ह्यहेः पादान् विजानाति न संशयः॥'** (वाल्मी० ५। ४२। ९) अर्थात् सर्प ही सर्पके पैरोंको जानता है। (यह श्रीजानकीजीने राक्षसियोंसे कहा है)[रुख कैसे लखा? उत्तर श्रीजानकीजीने ध्रुवकर्तरिकी ओर बार-बार देखा (अर्थात् दो तारे ध्रुवकी सदा परिक्रमा किया करते हैं, उनसे रात्रि जानी जाती है कि कितनी बीती) इससे समझ गयीं। वा, पूछा कि रात कितनी गयी। (पं०, रा० प्र०) अथवा, आसन आदि ग्रहण न किये इससे जाना। (वै०) *'सील सुभाऊ'* अर्थात् सद्वृत्ति और लज्जावन्त स्वभाव (पं०)। मनकी बात बिना कुछ कहे या संकेतके समझ लेना और राजाके चेत करना कि उन्हें जानेकी आज्ञा प्रदान करें 'विहित अलंकार' है। (वीर)]

टिप्पणी—५ *'सनमानि'* अर्थात् प्यार करके, आदमी साथमें करके आश्रमपर पहुँचा दिया। जब लड़की नैहर आती है तो उसको बहुत कुछ वस्तु देकर विदा किया जाता है, पर यहाँ सीताजी सबका त्याग किये हुए हैं इससे उनको कोई वस्तु दे नहीं सकते, इसीसे केवल *'सनमानि'* पद दिया।

टिप्पणी ६—*'कही समय सिर भरत गति रानि सुबानि सयानि'* इति।—मौकेसे बात कही जाती है तो सुननेवालेको प्रिय लगती है और सुफल होती है, यथा—*'तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥····मोर बचन सबके मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥* (१। १८५) अतः*'समय सिर'* अर्थात् सुन्दर अवसर पाकर कहा। बात सुन्दर वाणीसे और चतुरतापूर्वक कहनी चाहिये इससे यहाँ तीनों विशेषण दिये। कौसल्याजीने सुनयनाजीसे कहा था कि *'रानि राय सन अवसरु पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई॥'* यहाँ उसीको चरितार्थ किया है। 'अवसरु पाई' ही यहाँ 'समय सिर' है। 'सयानी' हैं, इससे सुअवसर देखकर कि एकान्त है, राजा प्रेममें मग्न हैं, इस समय भरत-प्रेमकी चर्चाका प्रभाव पड़ेगा। गतिका अर्थ आगे खोलते हैं, यथा—*'सुनि भूपाल भरत व्यवहारू।'* र० प्र० और वै० ने 'सिर' का अर्थ 'समान' किया है।

सुनि भूपाल भरत व्यवहारू। सोन सुगंध सुधा ससि सारू॥ १॥
मूँदे सजल नयन पुलके तन। सुजसु सराहन लगे मुदित मन॥ २॥
सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि। भरत कथा भव बंध बिमोचनि॥ ३॥
धरम राजनय ब्रह्म बिचारू। इहाँ जथा मति मोर प्रचारू॥ ४॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहइ काह छलि छुअति न छाँही॥ ५॥

अर्थ—सोनेमें सुगन्ध और अमृतमें चन्द्रमाके साररूप अमृतके समान भरतका व्यवहार सुनकर राजाने अपने अश्रुपूर्ण नेत्रोंको बंद कर लिया, उनका सारा (सर्वांग) शरीर पुलकित हो गया और वे मनमें आनन्दित होकर उनके सुन्दर यशकी बड़ाई करने लगे॥ १-२॥ हे सुमुखि! हे सुनयनी! सावधान (दत्तचित्त, मन, बुद्धि, चित्तसे एकाग्र) होकर सुनो। भरतजीकी कथा संसार-बन्धन—आवागमनसे छुड़ानेवाली है॥ ३॥ धर्मनीति, रजनीति और ब्रह्मविचार (वेदान्त) इनमें मेरी बुद्धिके अनुसार मेरा प्रवेश है, मेरी गति है। अर्थात् इन

विषयोंपर मैं बहुत कुछ कह सकता हूँ॥ ४॥ परंतु वही मेरी बुद्धि भरतकी महिमाको कहेगी तो क्या? वह तो उस महिमाकी छाँहतक छल करके भी नहीं छू पाती॥ ५॥

'सोन सुगंध सुधा ससि सारू' इति

पु० रा० कु०—व्यवहार (अर्थात् सुयश) सुधाका सार है और शशिका सार है अर्थात् मीठा और उज्ज्वल है। वा, शशिका सार जो अमृत है (उसके समान है)।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—भरतजीके व्यवहारको सोना कहा। सोना ऐसा जिसमें सुगन्ध भी हो। संसारकी कल्पना यहाँतक पहुँची। गोस्वामीजी और आगे बढ़े। उन्होंने उसमें अमृतसे स्वादकी भी कल्पना की। ऐसा सोना उन्हें भरतलालका व्यवहार दिखायी पड़ा। अब देखना यह है कि भरतका कौन-सा व्यवहार सोना है। उसमें सुगन्ध क्या है, और अमृतत्व क्या है। सोना, यथा—***'कनकहि बान चढ़ै जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे॥'*** सुगन्ध यथा—***'भायप भलि चहुँ बंधु की जल माधुरी सुबास।'*** सुधाकर सार, यथा—***'जन रंजन भंजन भव भारू। रामसनेह सुधाकर सारू॥'***

प० प० प्र०—'सोन, सुगन्ध, सुधा और ससिसार' क्या है यह मानसकी श्रीभरत-सम्बन्धित चौपाइयोंमेंसे ही निकालना चाहिये। ***'कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे॥*** (२०५। ५) यह भरत-वाक्य है। इससे सिद्ध हुआ कि 'प्रियतम पदनेम' ही सुवर्ण है। ***'भायप भलि चहुँ बंधु की जल माधुरी सुबास।'*** (१। ४२) यह मानस मुखबन्दमें कहा गया है। इसके अनुसार 'भायप' सुगन्ध है। अतः 'प्रियतमपदनेम' में भाईपनेका संरक्षण सोनेमें सुगन्ध है। ***'पूरन राम सुप्रेम पियूषा।'''''कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू॥'*** (२०९। ५-६) यह भरद्वाजवाक्य है। इससे सिद्ध हुआ कि ***'रामसुप्रेम'*** ही सुधा है। और, ***'परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥'''''*** 'ही ***'रामसनेह सुधाकर सारू। सिय राम प्रेम पियूष पूरन''''' '*** है (३२६। ५—८)। श्रीभरतजीका आचरण चन्द्रमाका सार है।

सियरामप्रेम अर्थात् श्रीयुगल सरकारोंके प्रेमसहित परम पुनीत आचरण सुधामें शशिसार है। ऐसा आचरण परम दुर्लभ है। पूर्व भी कहा है—***'भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूषन हरनू॥'*** (२२३। १) इसमें केवल नेम-निर्वाहका उल्लेख नहीं है। सार इस प्रकार कहा जा सकता है—***'सोना प्रियतम पद युग नेमू। जहाँ गंग शुचि भायप क्षेमू॥ सुधा प्रेम सियरामचरण को। इन्दुसार आचार भरत को।'***

बाबा हरिदासजी— 'ये सब 'व्यवहार' के विशेषण हैं। 'सोनेमें सुगन्ध' यह मुहावरा है अर्थात् परमोत्कृष्ट, परमोत्तम, सबसे बढ़िया। सोना स्वयं ही उत्तम पदार्थ है। यदि उसमें सुगन्ध भी हो जाय तो इससे बढ़कर क्या? वह तो उत्तमसे भी उत्तम, सर्वोत्तम हो। पुनः, समुद्रसे निकला हुआ अमृत अच्छा पदार्थ है। अमृत जो नागलोकमें है वह भी उत्तम अमृत है पर जो अमृत चन्द्रमामें है वह उत्तमसे भी उत्तम है।' बाबा हरिदासजी इतना लिखकर फिर यह लिखते हैं कि वैसे ही भरतजी विष्णुके अवतार जगके पालक हैं। वे माता-पिता आदि सबका दिया हुआ राज्य करते, प्रजाका पालन करते तो सोनेके समान उत्तम था। यथा—***'अवसि नरेस बचन फुर करहू।''''' तुम्ह कहुँ सुकृत सुजसु नहिं दोसू॥ बेद बिदित संमत सब ही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥'*** (१७५। १—३) ***'करतेहु राजु त तुम्हहि न दोषू। रामहि होत सुनत संतोषू॥'*** (२०७। ८) उसमें अब पाँवरीको राजा बनाकर आज्ञा ले-लेकर वही राज्य पालन करेंगे, यह सोनेमें सुगन्धवत् है। यथा—***'अब अति कीन्हेउ भरत भल तुम्हहि उचित मत एहु। सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु॥'*** (२०७) सुगंध और यशकी एकता है, यथा—***'तात तुम्हार बिमल जसु गाई। पाइहि लोकहु बेद बड़ाई॥'*** (२०७। २)—यह सुगंध है। भरतजीमें जो यावत् धर्म हैं वे सब सुधारूप हैं, उसमें फिर रामभक्ति, यह सर्वोत्तम चन्द्र-अमिय है, यथा—***'नव बिधु बिमल तात जस तोरा। रामभगति अब अमिअ अघाहू। कीन्हेउ सुलभ सुधा बसुधाहू॥'*** (२०९। १। ६) (शीला)। ***'सुधा ससि सारू'*** कहा, क्योंकि

वह अमृत सदा अमर बनाये नहीं रखता और इनका आचरण श्रीरामस्नेह 'सुधाकरसारू' है जो सदाके लिये भवबन्धनसे मोक्ष देता है।

श्रीबैजनाथजी—भरतजीके व्यवहारमय रानीके वचन सुनकर श्रीजनकमहाराज श्रीभरतजीके व्यवहारको विचार करने लगे। व्यवहार कैसा है? जैसे सोना और वह भी सुगन्धित। सुगन्धित सोनाका भाव कि भरतजी एक तो शुद्ध उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए। यथा—***'हंसबंस दसरथ जनक राम लषनसे भाइ।'*** यह उत्तमता स्वर्ण है, उसपर ***'गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उजियारी॥'*** यह और भी उत्तम है। यह सोनेमें सुगन्ध है। यह माधुर्य देश कहा। दूसरी उपमा ऐश्वर्य देशकी है।— (इन्होंने शशिचारू पाठ दिया है इसलिये उसे असंगत जानकर यहाँ नहीं दिया)।

पाँ०—सोनेके समान अर्थात् ज्यों-ज्यों कसा जाता है, त्यों-त्यों विशेष शोभित होता है। पुनः, सुगन्धके तुल्य है अर्थात् जो उसे स्पर्श करता है वह सुगन्धित हो जाता है—(जैसे उनके साथी उनका प्रेम देखकर प्रेममें डूब जाते थे।)

पुनः, सुधाके तुल्य है, जो उसे पान करता है वह अमर हो जाता है, यथा—***'कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू'*** और शशिका सार है अर्थात् द्विजचन्द्रमाके सदृश है, प्रतिदिन बढ़ता है।

प०—व्यवहार जो सुना है वह जाम्बूनदके कंचनकी सुगन्ध है, अमृत और चन्द्रमाका सार है। जातिसे परम रुचिर होनेसे कनक-समान है और भक्तिपूर्वक होनेसे व्यवहारको परम सुगन्धित सुधाका सार कहा। अमृत मृतकको जीवित करता है और भरतका व्यवहार देखकर मृतक मन जीवित होते हैं। चन्द्रमा ओषधियोंको रस देता है वैसे ही भरतके प्रभावसे जिज्ञासुओंकी वृत्तिमें भक्ति आती है।

खर्रा—(१) सोना है अर्थात् भक्तोंके लिये धन है, सुगन्ध अर्थात् वासना लेने (पानेकी इच्छा करने) योग्य है। सुधा है भवरुजशान्त्यर्थ है और अमर भी करता है, शशिरूपसे तापहर्ता होकर भक्त कुमुदचकोरको सुखदाता है और सार अर्थात् कस्तूरी है; भक्त इसे मस्तकपर तिलकरूपसे धारण करेंगे। (२) सोनेमें सुगन्ध है, मधुरतामें सुधासार है और स्वच्छतामें शशिका सार है।

रा० प्र०—व्यवहार एक तो सोना उसपर भी सुगन्धयुक्त है। सुधारूप है अर्थात् स्वादिष्ट और जिलानेवाला है। ***'ससिसारू'*** अर्थात् उज्ज्वल है। भाव कि सुनने और विचारनेमें सुखदायक है।

श्रीनंगे परमहंसजी ***'सोन सुगंध सुधा ससि सारू'*** का अर्थ करते हैं कि 'अरुण पुष्पका सुगन्ध और चन्द्रमाका सार अमृतकी भाँति है।' और लिखते हैं कि 'जैसे अरुण पुष्पका सुगन्ध और सौन्दर्य जीवमात्रको प्रसन्न कर देता है, उसी प्रकार श्रीभरतजीका व्यवहार नीति और प्रीतियुक्त होनेसे चित्तको प्रसन्न करनेवाला है और जैसे शशिका सार अमृत अपने अमरत्वगुण और स्वादसे चित्तको प्रसन्न करता है वैसे ही श्रीरामजीकी प्रेमभक्ति जो श्रीभरतजीमें है वह अमृतकी भाँति अमर और स्वादप्रद होनेसे चित्तको प्रसन्न करती है अर्थात् परमपदको पहुँचानेवाली है। यथा—***'राम भगति अब अमिय अघाहू।'*** सारांश यह कि श्रीभरतजीके व्यवहारसे परलोकहित (मोक्षकी प्राप्ति) चरितार्थ है, इसी भावके सूचक दो उपमाएँ ***'सोन सुगंध'*** और ***'सुधा ससि सारू'*** की दी गयी हैं। 'सोनामें सुगन्ध' अर्थ करनेसे भाव-विरोध हो जाता है, क्योंकि भरतजीका व्यवहार यथार्थ है और सोनेमें सुगन्ध कल्पनामात्र की जाती है। अतः जैसे भरतजीका व्यवहार यथार्थ है वैसे ही उपमाका अर्थ यथार्थ होना चाहिये।' 'सोना' का अर्थ अरुण है, यथा—***'नींदउ बदन सोह सुठि लोना। मनहुँ साँझ सरसीरुह सोना॥'*** ***'सुभग सोन सरसीरुह लोचन।'*** अतः यहाँ 'सोना' का अर्थ स्वर्ण नहीं हो सकता।

नोट—१ यहाँ व्यतिरेकालंकारसे पुष्ट निदर्शनालंकारका बड़ा ही अच्छा निर्वाह किया गया है। ऐसे मौकेपर निदर्शनालंकारका ही प्रयोग समुचित समझा जा सकता है। सोना उपमान है। उसमें सुगन्ध नहीं होती। भरतव्यवहार उपमेय है। उसमें यह उत्कृष्टता दिखायी कि वह ऐसा है जैसे सुगन्धमय सोना। पुनः, जैसे चन्द्रमाको निचोड़कर उसका साररूप अमृत ले लिया जाय, उसके एक भी दुर्गुण इसमें न आने पावें। जैसे भरद्वाजजीने भी कहा है—***'कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा'*** इत्यादि—(२०९। १—६) देखिये।

सोनेमें सुगन्धका भाव टिप्पणियोंमें दिया है। भरतका सद्व्यवहार और सोनेमें सुगन्ध, दोनों वाक्योंमें अर्थमें विभिन्नता रहते हुए भी समताका भाव ऐसा आरोप किया गया कि दोनों एक-से जान पड़ते हैं। अतएव 'निदर्शनालंकार' है। (दीनजी, वीर)

टिप्पणी—१ (क) ***'मूँदे सजल नयन'***—अर्थात् ध्यानावस्थित हो गये। शिवजीसे जब पार्वतीजीने प्रश्न किये थे तब उनकी भी यही दशा हुई थी, यथा—***'हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥ श्रीरघुनाथ रूप उर आवा। परमानन्द अमित सुख पावा॥ मगन ध्यानरस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपतिचरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह॥'*** (बा०१११)। वैसे ही यहाँ भक्तशिरोमणि भरतजीका व्यवहार सुनकर इनके नेत्रोंमें जल भर आया। शरीर रोमांचित हुआ। नेत्र बंद करके वे ध्यानमें मग्न हो गये। फिर सावधान होकर भरतयशकी सराहना करने लगे। शिवजी ***'हरषित बरनै लीन्ह'*** वैसे ही ये ***'सराहन लगे मुदित मन।'*** शिवजीने कहा कि ***'सावधान सुनु सुमति भवानी'*** और यहाँ राजाने कहा कि ***'सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि।'*** (ख) 'सावधान' होकर सुननेको कहा, क्योंकि गूढ है, शीघ्र समझमें नहीं आता। 'सुमुखि' क्योंकि भक्तशिरोमणिका यश कहा है और 'सुलोचनि' नेत्रोंसे उनका कुछ व्यवहार देखा भी है। पुनः, 'सुलोचनि' अर्थात् दिव्य दृष्टिवाली हो, जो मैं कहता हूँ उसे विचारो।

टिप्पणी—२ ***'भव बंध बिमोचनि'*** यथा—***'भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं। सीयरामपद पेमु अवसि होइ भवरस बिरति॥'*** (३२६)। 'कथा' पदसे जनाया कि प्रबन्धसहित कथा यत्र-तत्र इतस्ततः नहीं। कथा भवबन्धन छुड़ाती है, यह माहात्म्य प्रथम कहा। माहात्म्य सुनकर प्रतीति होती है, उससे प्रीति होती है तब चित्त लगाकर लोग सुनते हैं। कथा सुननेसे वैराग्य होगा, क्योंकि इनका चरित्र वैराग्यपूर्ण है और श्रीसीतारामपदारविन्दमें अनुराग होगा, उससे भव छूटेगा।

टिप्पणी—३ यहाँ भरतजीके प्रेममें राजाको मन-कर्म-वचन तीनोंसे मग्न दिखाया।

टिप्पणी—४ ***'इहाँ जथा मति मोर प्रचारू'!*** यह उत्तम लोगों और वक्ताओंके कहनेकी रीति है, यथा—***'कहौं सुमति अनुहारि अब।'*** (१।४७) (याज्ञवल्क्यजी); ***'तदपि यथा श्रुत जसि मति मोरी। कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी॥'*** (१।१४४।५) (श्रीशंकरजी), ***'नाथ जथामति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ'*** (७।१२३) (श्रीभुशुण्डिजी), ***'रघुपति कृपा जथा मति गावा'*** (७। १३०। ४) (श्रीमद्गोस्वामीजी)। यह विनीत भावका सूचक है। कोई-कोई 'यथा' का अर्थ 'यथातथ्य' जैसा चाहिये वैसा करते हैं; अर्थात् इनमें मेरी बुद्धि पूर्णतया प्रवेश कर चुकी है पर वही बुद्धि जो धर्म, राजनीति और वेदान्तके गूढ़ तत्त्वोंमें भटकती नहीं अर्थात् उनमें कहीं सन्देह नहीं है। वह भी यहाँ बिलकुल असमर्थ है।

टिप्पणी—५ ***'छलि छुअति न छाँही।'*** 'महिमा ही' में 'ही' निश्चयका अर्थ भी देता है। अर्थात् महिमाको निश्चय करके क्या कहेगी वह तो छलसे भी छायातकको नहीं पा सकती। हनुमान्‌जीकी छायाको सिंहिकाने छल करके पकड़ा था और मेरी बुद्धि भरतमहिमाकी छाया छूनेतक नहीं पाती, छाया पकड़ना ही दूर है फिर महिमाका जानना तो असम्भव है। 'छलसे छूना' यह है कि बनाकर भी कुछ कहा चाहें तो नहीं कह सकते। इसी प्रकार वसिष्ठजीकी मति असमर्थ थी, यथा—***'भरत महा महिमा जलरासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी॥ गा चह पार जतनु हिय हेरा।''''''*** (२५७। २—४)।' हनुमान्‌जीकी भी यही दशा हुई। (२५७। २—४) में देखिये।

पं० वि० त्रिपाठीजी—किसी बातको कहना और उसे सीमित करना एक बात है। भरतकी महिमा ऐसी अपार है कि उसके विषयमें कुछ कहा नहीं जा सकता, यथा—***भरत महामहिमा जलरासी। मुनि मति तीर ठाढ़ि अबलासी॥'*** इत्यादि। दूसरी बात यह है कि वाणीकी गति वहीं है, जहाँ कुछ मायाका

सम्पर्क हो। भरतकी महिमामें माया-(छल-) का सम्पर्क ही नहीं है। अतः उसे कोई कैसे कहे? मायाके सम्पर्कके दूर करनेतक ही ब्रह्मविचार है, आगे विचारकी भी गति नहीं है। अतः भरतकी महिमा सर्वथा अकथनीय है।

बिधि गनपति अहिपति सिव सारद। कबि कोबिद बुध बुद्धि बिसारद॥ ६॥
भरत चरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥ ७॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू। सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू॥ ८॥
दो०—निरवधि गुन निरुपम पुरुषु भरतु भरत सम जानि।
कहिअ सुमेरु कि सेर सम कबिकुल मति सकुचानि॥ २८८॥

शब्दार्थ—**बिसारद**=दक्ष, निपुण, बहुत कुशल, विचक्षण। **रुचि**=कान्ति, उज्ज्वल, यथा—*'रचि रुचि जीन'*, *'सुरुचि सुबास सरस अनुरागा'*। =स्वाद, यथा—*'तब तब कहि सबरी के फलन की रुचि माधुरी न पायी'*—(विनय०) '**निरवधि**'=निः अवधि=जिसकी सीमा नहीं, असंख्य।

अर्थ—ब्रह्मा, गणेश, शेष, शंकर, शारदा, कवि, कोविद, पण्डित और भी जो बुद्धिमें निपुण लोग हैं सब किसीको श्रीभरतजीका चरित, कीर्ति, करनी, धर्म, शील, गुण और निर्मल ऐश्वर्य समझने और सुननेमें सुख देनेवाला है, पवित्रतामें गंगाका और स्वाद एवं स्वच्छतामें अमृतका भी तिरस्कार करनेवाला है, अर्थात् अतिशय पवित्र और स्वच्छ एवं रुचिकर है॥ ६—८॥ उनके गुणोंकी सीमा नहीं। वे उपमारहित पुरुष हैं। श्रीभरतको श्रीभरतके ही समान जानो। क्या सुमेरुपर्वतको सेरके समान (बराबर) कह सकते हैं (यह सोचकर) कविसमाजकी बुद्धि सकुचा गयी॥ २८८॥

नोट—१ विधि सृष्टिके रचयिता हैं। इनसे अधिक बुद्धिमान् कौन हो सकता है। जिन वेदोंके सम्बन्धमें बड़े-बड़े विद्वान् मोहित रहते हैं उनका संचार प्रथम-प्रथम इन्हींके हृदयमें हुआ। यथा—'**तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।**' (भा० १। १। १) ये सबकी गति जानते हैं। गणेशजी ऐसे समर्थ हैं कि व्यासजीके लेखक बने और *'बिद्याबारिधि बुद्धि बिधाता'* हैं। शेषजी अपनी दो हजार जिह्वाओंसे अहर्निश प्रभुका यश गाते रहते हैं। शिवजी जैसे कुछ समर्थ हैं सभी जानते हैं कि शाबरमंत्रजालको ही कैसा प्रभाव दे दिया, दिन-रात रामनाम सादर जपते हैं, राममय हैं। सरस्वती वक्ताओंमें सबसे शिरोमणि हैं। कवि जैसे उशना कवि जो भगवान्के रूप हैं, एवं वाल्मीकि—शुक्राचार्य आदि। कोविद, बृहस्पति, शौनक आदि। 'बुध' पण्डित लोग। बुद्धिविशारद अर्थात् और भी जो बुद्धिविचक्षण हों।

नोट—२—संतवन्दनामें कहा था कि *'बिधिहरिहर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥'* (१। ३। ११) ये सभी उत्तम वक्ता माने गये हैं। सन्तोंकी महिमा कहनेमें छः को असमर्थ कहा था और यहाँ भरतमहिमामें नौको। नव अंककी सीमा है। नौ नाम देकर जनाया कि जहाँतक भी कोई वक्ता पाये जावें उनमेंसे कोई भी नहीं कह सकता। पुनः, ये सब मिलकर भी नहीं कह सकते। पुनः, इन्हें कहकर त्रैलोक्यके वक्ताओंको असमर्थ ठहराया। पुनः, विधि और शिव ईश्वर ही हैं, और गणेश, शेष, शारदा सुकवि हैं; यथा—*'बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेष गनेसु गिरा गमु नाहीं॥'* (३२५। ८)। इनको एक चरणमें कहकर तब उनसे कम बुद्धिवालोंको दूसरे चरणमें कहा।

नोट—३—यहाँ 'हरि' को नहीं कहा, यद्यपि सन्तमहिमा कहनेमें 'हरि' को भी कहा था। कारण कि 'हरि' 'भगवान् रामचन्द्रजीके ही सात्त्विक रूप हैं, उनसे अभेद भी हैं, वे भी रामलीला करते हैं, रामरूप धारण करते हैं। और आगे रामके ही बारेमें कहेंगे कि वे भी नहीं कह सकते, यथा— *'जानहिं रामु न सकहिं बखानी।'* राम नहीं कह सकते इसीमें हरिका असमर्थ होना भी आ गया। अतएव इनका नाम न दिया।

पु० रा० कु०— (क) अथवा, विधि, गणपति, शेष, शिव और शारद ये ही ***'कवि कोबिद बुध बुद्धि बिसारद'*** हैं। ये पाँच और भरतजीके भी ५ गुण—चरित, कीर्ति, करतूत, धर्म और शीलगुण। ये पाँचों विमल विभूतियाँ हैं। (ख) वे पाँचों इन गुणोंमें मग्न होकर क्रमसे श्रवण-मनन करते हैं। चरित यह कि कुल-परम्पराको निर्मल रखा यह समझकर ब्रह्मा सुख पाते हैं। धर्ममें निष्ठा इस कीर्तिको गणेश सुनते-समझते हैं, इन्होंने इतने धर्मप्रतिपादक पुराण लिखे हैं। शेष ब्रह्माण्ड सिरपर धारण किये हैं, वे करतूत सुनते-समझते हैं, क्योंकि ये ***'सकल धरम धुर धरनि'*** को धारण किये हैं। ***'सकल धरम धरनी धर सेसू'***। शिवजी भागवत-धर्मको समझते हैं। सरस्वती शीलगुणको विचारती हैं कि मन्थरा दुष्टाको भी पिटते रोका।

रा० प्र० कार—'चरित, कीर्ति, करतूत, धर्म, शीलगुण और उसका निर्मल ऐश्वर्य' पाँच गिनते हैं।

नोट—पर मेरी समझमें तो सातकी गिनती ही सर्वत्र हुई है।

पं०—'काव्यमें आरोहण रीति प्रशस्त है पर यहाँ अवरोहण है। यहाँ ***'कबि कोबिद बुध बुद्धि बिसारद'*** पूर्वार्धचरणके विशेषण हैं; अर्थात् विधि, गणेश आदि जो कवियों, कोविदों, देवताओं और बुद्धिमानोंमें चतुर हैं। विमलविभूति=आत्मविद्या।'

नोट—४ ***'भरत चरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥'*** इति। यहाँ सात गुण कहकर इन्हें सप्तसमुद्रवत् अपार जनाया। पूर्व कौसल्याजीने भी सात ही कहे थे—***'भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥ कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥'*** (२८३। ३-४) और आगे कविने भी सात ही गिनाये हैं—***'भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥'*** (३२५। ७) तीनों जगह भरतजीके गुणोंको अथाह और अपार ही दिखानेके लिये ही सात-ही-सात गुण गिनाये हैं, यथा—***'कहिअ सुमेरु कि सेर सम,' 'भरत अमित महिमा·····' 'जानहि राम न सकहिं बखानी', 'सागर सीप कि जाहिं उलीचे'*** और ***'बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥'*** (३२५। ८)

श्रीजनकजी—***'भरत चरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥'***

श्रीगुसाईंजी—***'भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥'***

श्रीकौसल्याजी—***'भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥'***

नामोंमें कुछ-कुछ भेद देख पड़ता है। मेरी समझमें यह भेद भी साभिप्राय है, सप्रयोजन है। श्रीकौसल्याजीके सामने उनका शील, उनकी विनम्रता, उनका निर्मल हृदय, भाईपना, भाईमें उनकी भक्ति और उनका दृढ़ विश्वास आदि हैं। शील मुख्य है, इसीसे उन्होंने उसको आदिमें देकर उसीके साथ और भी गुण कहे। श्रीभरतजीके अवध लौटनेपर उनकी रहनी-सहनी और समझपर कवि मुग्ध हैं और वहाँ यही दोनों प्रधान हैं ही—समझ कैसी कि चरणपादुकाको ही राजा बनाया और रामको वनमें तपस्वी-वेषमें समझ आप भी वैसे ही वेषसे रहे। उन्होंने गुरुसे जाकर प्रार्थना की कि ***'आयसु होइ त 'रहउँ' सनेमा'*** और मुनिने उत्तर दिया कि ***'समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई॥'*** (३२३। ८) उसीके अनुसार कविने ***'रहनि'*** और ***'समुझनि'*** को प्रथम कहकर तब शेष सम्बन्धी गुण कहे। यहाँ श्रीजनकजी उनके चरित्रमात्रपर मुग्ध हैं। जब उन्होंने गुप्तचरोंको भेजा तब कहा, ***'बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ। आयहु बेगि न होइ लखाऊ॥'*** (२७१। ९), सद्भावका अर्थ सदाचार है ही और आचरण और चरित पर्याय हैं। यहाँ भी उन्होंने रानीसे कहा—***'सावधान सुनु·····।' भरत कथा भवबंध बिमोचनि'***। अर्थात् उनके सम्पूर्ण चरित्रने इनके मनको हरण कर लिया है, इससे 'चरित' को आदिमें कहकर चरितसम्बन्धी सब गुण कहे। प्रिय पाठक तीनोंका मिलान करें तो तीनोंका समन्वय कर लेंगे।

नोट—५—***'समुझत सुनत सुखद सब काहू।···'*** अर्थात् सब सुना करते हैं और मनन करते हैं क्योंकि ***'सियराम प्रेम पियूष पूरन'*** है, ***'रामभगतिरस सिद्धिहित भा यह समय गनेसु'*** और सुनकर सुख पाते हैं। ऐसा रुचिकर है और पावन है। सुन-समझकर सुख पाते हैं, यह कहकर दूसरे चरणमें उसका कारण

कहा; अपनेको परमपवित्र बनानेके लिये उसे सुनकर मनन किया करते हैं और अमृतसे भी अधिक रुचिकर है। इसीसे निरन्तर *'करहिं श्रवणपुट पान'*।

नोट ६—*'सुचि सुरसरि निदर सुधाहू'*''''' इति। —ऐसा ही कविने स्वयं कहा है—*'परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुदमंगल करनू॥'* पेट भरा भी हो तब भी रुचिकर पदार्थ पाकर पेट जगह कर लेता है और अमृत मिल जाय तो कहना ही क्या? वह तो स्वादिष्ट और गुणद होनेसे रुचिकर है पर उसे पीकर फिर रुचि रह नहीं जाती और इनके चरितमें ऐसा स्वाद है कि इससे मन कभी अघाता नहीं।

प० प० प्र०—श्रीभरतजीका आचरण परम पुनीत है। यथा—*'परम पुनीत भरत आचरनू'*। वैसे ही सुरसरि भी परम पुनीत हैं। यथा—*'जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।'* (१। २११) श्रीभरतजीका आचरण *'मधुर मंजु मुदमंगल करनू'* है। वैसे ही सुरसरिता भी *'गंग सकल मुदमंगल मूला'* हैं, *'सुधा सलिल भरित।'* (वि०), (सुधासे मधुर), *'सोहत ससि धवल धार'* (धवलमें 'मंजु' का भाव है)। इस मिलानसे भरत-चरितकी और गंगाजीकी पवित्रता समान देख पड़ती है, तब शशिसारको सुरसरिसे अधिक कैसे कहा? समाधान यह है कि रात्रिके चार पहरोंमेंसे बीचके दो पहरोंमें गंगास्नान करना वर्ज्य है पर भरतचरितकी कीर्ति *'निसि दिन सुखद सदा सब काहू'* है। यह सर्वकालमें अपनी पवित्रतासे पवित्र करके सुख देती है।

'रुचि निदर सुधाहू' इति। सुधामें स्वाद है और तोष है पर शशिसार नहीं है और भरतचरित आदिमें सुधा और शशिसार दोनों हैं। पुनः, सुधापानसे सापेक्षतासे अमरत्वकी प्राप्ति होती है। पर भरतचरितसे *'सीयराम पद प्रेम अवसि होइ भव रस बिरति'* जो स्वर्गीय सुधासे कदापि नहीं मिलेगा। अतः सुधासे भी श्रेष्ठ कहा। [उपमान गंगा और अमृतसे उपमेयमें अधिक गुण कहना 'व्यतिरेक अलंकार' है। (वीर)]

नोट—७ *'निरवधि गुन निरुपम पुरुषु भरतु भरत सम जानि'* इति।—जो निरवधि है जिसकी सीमा ही नहीं उसकी सीमा कहाँसे पा सकते हैं, जो निरुपम है जिसकी उपमा ही नहीं उसकी उपमा कहाँसे दी जा सके? अतः भरतकी उपमा भरत ही हैं यह निश्चय किया। यह 'अनन्वय अलंकार' है। सुमेरु पर्वत कई लक्षयोजनका लम्बा-चौड़ा है उसकी उपमा कोई दे कि वह सेरके समान है तो कौन भला कहेगा, सभी उसकी बुद्धिपर हँसेंगे। वैसे ही श्रीभरतजीकी कोई दूसरी उपमा दे तो वह वैसी ही तुच्छ होती है जैसी सुमेरुके सामने सेर महान् तुच्छ और उपमा देनेवालेकी हँसी होगी।

इसी प्रकार श्रीरामकी उपमा श्रीराम हैं यह भुशुण्डि आदिने कहा है। दोनोंके मिलानका नकशा दिया जाता है। इससे भाव और भी स्पष्ट हो जाते हैं।

श्रीभरतजी	श्रीरामजी
रुचि निदर सुधाहू	*श्रवण पुट पान करि नहिं अघात मति धीर*
सुचि सुरसरि निदर	*तीरथ अमित कोटि सत पावन*
निरवधि गुन निरुपम पुरुष	*निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा॥*
भरतु भरत सम जानि	*निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहैं॥* (उ० ९२)
कहिय सुमेरु कि सेर सम	*जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अतिलघुता लहै*
भरत अमित महिमा सुनु रानी।	*राम अमित गुन सागर थाह कि पावइ कोइ*
जानहिं राम न सकहिं बखानी॥	
सागर सीप कि जाहिं उलीचे।	

'कवि कुलमति' से जनाया कि जिनको ऊपर गिना आये वे सब सकुचते हैं। क्योंकि यदि कुछ कहें तो हँसी होगी। यहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है।

अगम सबहि बरनत बर बरनी। जिमि जलहीन मीन गमु धरनी॥ १॥
भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहिं बखानी॥ २॥

बरनि सप्रेम भरत अनुभाऊ। तिय जिय की रुचि लखि कह राऊ॥ ३॥
बहुरहिं* लषनु भरतु बन जाहीं। सब कर भल सब के मन माहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—**बर बरनी**=श्रेष्ठ वर्णवाली, परम सुन्दरी। **अनुभाऊ**=अनुभाव, प्रभाव, महिमा, उत्तम भाव। **अनुभावः प्रभावे च सतां च मतिनिश्चय इत्यमरः। अस्यार्थः सतां मतेर्ज्ञानस्य निश्चये यथा महानुभावः।**

अर्थ—हे श्रेष्ठ वर्णवाली! सभीके लिये भरतमहिमाका वर्णन करना वैसा ही अगम है, जैसा जलरहित पृथ्वीपर मछलीका चलना॥ १॥ हे रानी! सुनो, भरतजीकी अमित महिमाको मात्र श्रीरामजी ही जानते हैं पर वे भी वर्णन नहीं कर सकते॥ २॥ प्रेमपूर्वक भरतकी महिमा कहकर और पत्नीके मनकी रुचि समझकर राजा बोले—॥ ३॥ लक्ष्मणजी लौटें और भरत वनको जायँ, इसमें सबका भला है और यही सबके मनमें है॥ ४॥

नोट—१ *'अगम सबहि बरनत बर बरनी।……'* इति। (क) पूर्व कहा था कि उपमा देनेमें उनकी बुद्धि संकुचित होती है और यहाँ कहते हैं कि महिमा तो वर्णन ही नहीं कर सकते, उसका वर्णन कैसा दुर्गम है जैसा मछलीका सूखी जमीनपर चलना। (पु० रा० कु०) (ख) मछली जलके आधारपर चल सकती है, वैसे ही कवि विषयरसयुक्त गुणोंको कह सकते हैं। पर भरतजीमें विषयसे निरस दिव्य गुण हैं इसीसे कवियोंकी वहाँतक पहुँच नहीं। (वै०) (ग) मछली जलहीन धरणीमें चले तो दो-चार हाथ उछलकर चल सके तो उससे क्या पृथ्वीका ओर-छोर मिल सकता है? वैसे ही कविलोग कुछ कहें भी तो क्या उसका पार पा सकते हैं? (खर्रा) पर, यहाँ सर्वथा, अगम्य होनेसे प्रयोजन है, उतना ही अंश उपमाका अभिप्रेत है। यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है।

☞ *'बर बरनी'* पद इस ग्रन्थमें दो ही स्थलोंपर आया है। एक यहाँ, दूसरे मगवासिनियोंके प्रश्नपर कि *'सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे'*; पर श्रीजानकीजीके संकोचवश होनेपर यथा—*'दुहुँ सँकोच सकुचति बर बरनी।'* (११७। ३) इसका अर्थ वहीं देखिये। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि वहाँ श्रीजानकीजीको और यहाँ उनकी माताको ही यह विशेषण दिया गया है। इससे इसमें कुछ कारण विशेष अवश्य है। पाठक इसपर विचार करें। हो सकता है कि जैसे वहाँ पतिको जैसे इशारेसे सीताजीने बताया था वैसे ही यहाँ सकुचती हुई इन्होंने कौशल्याजीके मतका लक्ष्य कराया, मुखसे उसे न कहा और जनकजी समझ भी गये—इस कारण दोनों जगह 'बर बरनी' विशेषण दिया। 'बर बरनी' का अर्थ श्रेष्ठ वर्णन करनेवाली भी हो सकता है।

नोट—२ *'जानहिं रामु न सकहिं बखानी'* इति। भाव कि वे अन्तर्यामी हैं, सर्वज्ञ हैं, इससे सब जानते हैं। श्रीरामजीने स्वयं कहा है कि *'तात तुम्हहिं मैं जानउँ नीके। करउँ काह असमंजस जीके॥'* (२६४। ५) यहाँ 'वाच्यसिद्धांगगुणीभूत व्यंग' है। जानते हैं पर 'अमित' होनेके कारण कह नहीं सकते। यहाँ महिमाकी अनन्तता अभिप्रेत है। राम जो सबमें रमण कर रहे हैं जब वे ही नहीं कह सकते तब इनसे समर्थ तो और कोई है ही नहीं जो कहे।

टीकाकारोंने इसके अनेक भाव दिये हैं। पाठक स्वयं विचार लें। १—उनकी महिमाको अपनी महिमा जानते हैं या अपनी महिमाके तुल्य जानते हैं। अपनी महिमा अपने मुखसे नहीं कह सकते इसीसे उसे भी नहीं कह सकते। २—भरत छोटे हैं, अतः उनकी प्रशंसा करना ठीक नहीं, बराबरका या बड़ा हो तो कहते, यथा—*'लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बड़ाई॥'* (२५९। ३)—वर्णन करते-करते प्रेममें मग्न हो जाते हैं, यथा—*'कहत भरत गुन सील सुभाऊ। प्रेम पयोधि मगन रघुराऊ॥'* (२३२); इससे कह नहीं पाते।

---

* 'बरनहि—(ला० सीताराम)। यह अशुद्ध जान पड़ता है। श्री वि० त्रि० जीका मत है कि 'बरनहि' पाठका अन्वय इस प्रकार करना चाहिये—'लषनु बर नहि भरत बन जाहिं……'=लक्ष्मणका जाना अच्छा नहीं, भरत वन जायँ इसीमें सबका हित है और यही बात सबके मनमें है।'

नोट—३ ***'बरनि सप्रेम'***— भक्त-भगवन्तका यश प्रेमसे कहना ही चाहिये। ***'रुचि लखि'***— क्या रुचि देखी, यह आगे स्पष्ट है—***'बहुरहिं लषन भरतु बन जाहीं। ......'*** जान पड़ता है कि रानीने भरतगति कहकर अपनी रुचि इशारेसे यहीं जनायी थी। ***'तिय रुचि लखि'*** से जनाया कि कौसल्याजीकी तरफसे उन्होंने नहीं कहा। यहाँ कौसल्याजीके वचनोंको चरितार्थ और ***'अपनी भाँति'*** का अर्थ स्पष्ट किया है। कौसल्याजीने कहा था—***'अपनी भाँति कहब समुझाई। रखिअहिं लषन भरत गवनहि बन।'*** (२८४) उसीपर श्रीजनकजी अपना विचार प्रकट कर रहे हैं। क्योंकि कौसल्याजीने कहा था कि ***'जौं यह मत मानइ महीप मन'***। जान पड़ता है कि वैसा ही श्रीसुनयनाजीने भी कहा था।

देबि परंतु भरतु रघुबर की। प्रीति[1] प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥ ५॥
भरतु अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सीम[2] समता की॥ ६॥
परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥ ७॥
साधन सिद्धि रामपग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥ ८॥

दो०—भोरेहु भरत न पेलिहहिं मनसहुँ राम रजाइ।
करिअ न सोचु सनेह बस कहेउ भूप बिलखाइ॥ २८९॥

राम भरत गुन गनत सप्रीती। निसि दंपतिहि पलक सम बीती॥ १॥

शब्दार्थ—'देवी' सम्बोधन है। देवी=वह रानी जिसका राजाके साथ अभिषेक हुआ हो, पटरानी, यथा—'**देवी कृताभिषेकायामितरासु च भट्टिनी**' इत्यमरे।=दिव्यगुणवाली, सुशीला और सदाचारिणी स्त्री।—यह शब्द आदरसूचक है। तरकना=तर्क करना, अनुमान करना, बुद्धिसे सोच-विचार करना—***'तरकि न सकहिं बुद्धि अनुमानी।'*** हेतुपूर्ण युक्तिद्वारा विवेचना करना। पेलना=टालना, अवज्ञा करना, यथा—***'आयेहु तात बचन मम पेली'***। (आ०) ***'प्रभु पितु बचन मोहबस पेली'***। **मनसहुँ**= मनसे भी, यथा—***'प्रभु मनसहिं लैलीन मन चलत बाजि छबि पाव.... '*** (बा०), ***'जिमि परद्रोह निरत मनसा के'***— (लं०)।

अर्थ—परंतु हे देवि! श्रीभरत-रघुवरकी पारस्परिक प्रीति और प्रतीतिका तर्कद्वारा अनुमान नहीं किया जा सकता॥ ५॥ यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी समताकी सीमा हैं तथापि भरतजी स्नेह और ममताकी सीमा हैं॥ ६॥ सारे परमार्थ, सारे स्वार्थ और सारे सुखोंको (की ओर) भरतजीने स्वप्नमें भी (जाग्रत्‌की तो बात ही क्या और कर्म-वचनमें परिणत होनेकी कौन कहे उन्होंने कभी) मनसे भी न देखा॥ ७॥ श्रीरामचरणानुराग ही साधन है और यही सिद्धि, बस मुझे तो श्रीभरतजीका यही सिद्धान्त समझ पड़ता है॥ ८॥ राजाने विलखकर, प्रेमार्द्र होकर रानीसे कहा कि भरतजी भूलकर भी श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञाको मनसे भी न टालेंगे (वचन और कर्मसे टालना तो सर्वथा असम्भव है), आप स्नेहके वश होकर चिन्ता न करें॥ २८९॥ श्रीरामचन्द्रजी और श्रीभरतजीके गुणोंको प्रेमपूर्वक कहते और विचार करते हुए स्त्री-पुरुष राजा-रानी दोनोंको रात्रि पलक-समान बीत गयी॥ १॥

''देबि परंतु भरतु रघुबर की। प्रीति......'' इति

पु० रा० कु०—भाव कि जो सब चाह रहे हैं कि श्रीभरतजी वनको साथ जायँ और लक्ष्मणजी लौटें, यह विचार तो तब प्रकट किया जा सकता है जब श्रीराम और श्रीभरतके विश्वास और प्रेमका पता चले, उसका अटकल मिले। बिना इस अटकलके पाये लक्ष्मणजीको लौटानेको भी नहीं कहा जा सकता। ***'प्रीति प्रतीति'*** परस्पर एक-दूसरेमें। [परस्पर प्रेम दोनोंका प्रकट ही है, श्रीभरतका पूर्ण चरित इस रंगमें रँगा हुआ है और श्रीरामका भी प्रेम उनपर कम नहीं। भरतके लिये ही उन्होंने राज्यका त्याग किया—***'राम हृदय अस बिसमउ भयऊ.... ।'*** (१०। ४—८) ***'रामहिं बंधुसोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदउ***

१-प्रीत।
२-सीय— (ला० सीताराम)।

जेहि भाँती॥' (७। ८) ***'कहत भरत गुन सील सुभाऊ। पेम पयोधि मगन रघुराऊ॥'*** (२३२।८) से (२३२) तक, ***'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आजु।'*** (२६४) इत्यादि प्रेमके प्रमाण हैं। औरोंने भी परस्पर प्रीतिको देखा है। यथा—***'कहति राम प्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन काय।'*** (१६८) ***'राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥'*** (श्रीकौसल्यावाक्य), ***'राम प्रेममूरति तनु आही।'*** (१८४।४) (अवधसभा), ***'तुलसी न तुम्ह सों राम प्रीतम कहतु हौं सौहें किए।' 'राम तुम्हहिं प्रिय तुम्ह प्रिय रामहिं। यह निरजोसु…।'*** (२०१। ८) (श्रीनिषादराजवाक्य), तथा ***'सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। पेम पात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं। तुम्ह पर अस सनेह रघुबर कें। सुख जीवन जग जस जड़ नर कें॥ तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥'*** (२०८। ३—८) (श्रीभरद्वाजवाक्य) प्रतीति भी दोनोंकी देख लीजिये—***'आपन जानि न त्यागिहहिं मोहिं रघुबीर भरोस।'*** (१८३) और ***'भरत कहे महुँ साधु सयाने।'*** (२२७। ५) इत्यादि। भरतको विश्वास है कि ***'जग मंगल हित एक उपाऊ।'*** प्रभु प्रसन्न होकर जो आज्ञा देंगे उससे ***'सब मिटिहि अनट अवरेब।'*** (२६९) और प्रभुको भी विश्वास है कि ***'भरत कहहिं सोइ किये भलाई।'*** (२५९। ८) और आगे 'दरबारे आम' तो प्रतीतिका पूर्ण स्वरूप ही है। ***'मोहिं सब भाँति भरोस तुम्हारा।'*** (३०५। ४)

पाँ०, र० प्र०—यहाँ भरतकी प्रीति और रघुवरका विश्वास समझना चाहिये। भाव यह कि क्लेशके भयसे राघव भरतको साथ चलनेको न कहेंगे और भरतजी बिना आज्ञाके वनको न जायँगे क्योंकि आज्ञामें उनको विश्वास है।

पं०—भाव कि भरतने रघुवरको अपने स्नेह और ममत्वसे वश कर लिया है।

प० प० प्र०—यथा—***'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती। प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।' 'तात तुम्हहिं मैं जानउँ नीके'…… 'तेहि ते अधिक तुम्हार सँकोचू।'***

'जाइ नहिं तरकी' अर्थात् विचारमें नहीं आती, विचारमें आवे तो कुछ कहा भी जाय, उनकी थाह ही नहीं मिलती तब कहा कैसे जाय?

''भरतु अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु……''

१—पण्डित रामकुमारजी इसका अन्वय यह करते हैं—'यद्यपि राम समताकी सीमा हैं तथापि भरतके स्नेहसे (वा, स्नेह और) ममताकी भी अवधि हैं'। तात्पर्य यह कि समताकी सीमा होकर भी वे उस सीमाको तोड़ ममताकी अवधि बन गये हैं। भरतके प्रेमसे उनका उनपर हद दर्जेका ममत्व और प्रेम है। ममत्व-(और प्रेम-) की सीमा यह कि अपनी प्रतिज्ञा उनके लिये छोड़ दी—***'कहहु करउँ सोइ आजु।'*** इस अर्धालीमें भरतके स्नेहसे रामजीकी प्रीति भरतमें कही और आगे भरतकी प्रीति राममें कैसी है यह कहते हैं—***'परमारथ स्वारथ सुख सारे…।'***

रघुवरकी प्रीति-प्रतीतिका अनुमान नहीं किया जा सकता, उसीके सिलसिलेमें ये और अगली चौपाइयाँ हैं, उन्हींकी यहाँ व्याख्या है। इस अर्धालीमें श्रीरामका प्रेम और विश्वास भरतपर दिखाया और आगे दोहेतक श्रीरामपर भरतजीका प्रेम और विश्वास दिखाते हैं कि किस हद दर्जेका है। समताका प्रमाण यथा—***'सब पर मोहि बराबरि दाया', 'समदरसी मोहि कह सब कोऊ।'***

२—अन्य टीकाकारोंने यह अर्थ किया है—'यद्यपि राम समताकी सीमा हैं तथापि भरत स्नेह और ममताकी सीमा हैं अर्थात् भरतजीका प्रेम और ममत्व श्रीरामजीमें कम नहीं। बैजनाथजी आदिने यही अर्थ किया है। पर साथ ही यह भी लिख दिया है कि स्नेह और ममता रघुनन्दनमें भी है।

गौड़जी—चौपाईका शब्द-विन्यास पण्डितवर रामकुमारजीके अन्वयका पोषक नहीं है। स्पष्ट अन्वयार्थ यह होता है—

'परन्तु, हे देवि! भरत और रघुवरकी पारस्परिक प्रीति और प्रतीति तर्कणामें आ नहीं सकती। यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी समताकी सीमा हैं, तथापि भरतजी भी तो स्नेह और ममताकी सीमा हैं।' ध्वनितार्थ यह है कि प्रभुका समताकी सीमा होनेका अभिप्राय है। **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** जो जैसे

मुझे भजता है उसे वैसे ही मैं भी भजता हूँ।' यही वास्तविक समता है, समभाव है। परन्तु भरत तो (श्रीरघुनाथजीसे) स्नेह और ममताकी अवधि हैं। इसीलिये प्रभुमें अवश्य ही उतनी ही आत्यन्तिक, स्नेह और ममता उनके प्रति होनी ही चाहिये। वह है ही। प्रतीति और प्रीति दोनों ओर आत्यन्तिक हैं। आगे चलकर भरतके ही स्वभावका वर्णन इस तर्क-शैलीके पोषणमें करते हैं। भरतजी स्वार्थ, परमार्थ और सुख आदिकी ओर तो सपनेमें भी ध्यान नहीं देते। उनका साधन-सिद्धि सब कुछ रामके चरणोंमें प्रीति है। ऐसी अव्यभिचारिणी भक्ति रखते हुए वह श्रीरामजीकी आज्ञाका उल्लंघन तो मनमें भी नहीं कर सकते। श्रीरामजीको भी इसी बातकी पूरी प्रतीति है। स्नेहकी हद है कि अपना व्रत भी भरतके हाथमें छोड़ देते हैं। *'भरत कहहिं सोइ किये भलाई।'* यही भाव भरतजीका भी है। ध्वनितार्थ इतना स्पष्ट है कि अन्वयकी खींचातानीकी आवश्यकता नहीं है।

प० प० प्र०— स्नेह भगवान् जानकर और ममत्व भ्रातृताजनित।

नोट—*'रामु सीम समता की'* इति। *'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।'''''' तदपि करहिं सम बिषम बिहारा॥'* (२१९। ३—५) देखिये। गीतामें भी कहा है—**'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥'** (९। २९) भाव कि जो देव, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावरोंके रूपमें स्थित हो रहे हैं तथा जाति, आकार, स्वभाव और ज्ञानके तारतम्यसे अत्यन्त श्रेष्ठ और निकृष्ट रूपमें विद्यमान हैं, ऐसे सभी प्राणियोंके प्रति उन्हें समाश्रय देनेके लिये मेरा समभाव है। 'यह प्राणी जाति, आकार, स्वभाव और अज्ञानादिके कारण निकृष्ट है' इस भावसे कोई भी अपनी शरण प्रदान करनेके लिये मेरा द्वेषपात्र नहीं है अर्थात् उद्वेगका पात्र समझकर त्यागने योग्य नहीं है। तथा शरणागतिकी अधिकताके सिवा, अमुक प्राणी जाति आदिसे अत्यन्त श्रेष्ठ है, इस भावको लेकर अपना समाश्रय देनेके लिये मेरा कोई प्रिय नहीं है, इस भावसे मेरा कोई ग्रहण करने योग्य नहीं है। बल्कि मुझमें अत्यन्त प्रेम होनेके कारण मेरे भजनके बिना जीवन धारण न कर सकनेसे जो केवल मेरे भजनको ही अपना एकमात्र प्रयोजन समझनेवाले भक्त मुझे भजते हैं, वे मेरे समान गुणसम्पन्न होकर मुझमें ही बर्तते हैं और मैं भी, मेरे श्रेष्ठ भक्तोंके साथ जैसा बर्ताव होना चाहिये, उसी प्रकार उनके साथ बर्तता हूँ। (श्रीरामानुजभाष्य)

श्रीनंगे परमहंसजी—'श्रीभरतजी वनको जायँ, लक्ष्मणजी न जायँ' इसके उत्तरमें श्रीजनकजी कहते हैं कि भरतजी स्वयं ही श्रीरामजीके ऊपर स्नेह और ममता करनेकी सीमा हैं। यद्यपि श्रीरामजी स्नेह और ममता नहीं चाहते हैं, क्योंकि वे तो समताकी सीमा हैं। अर्थात् उनका न कोई शत्रु है न मित्र। जब श्रीरामजी समताकी सीमा हैं और भरतजी स्नेह और ममताकी सीमा हैं तब दोनों भाइयोंके बीचमें कोई क्या सम्मति देगा। अर्थात् श्रीरामजी तो साधारण मनुष्यका भाव रखते हैं और भरतजी श्रीरामजीमें प्रेम करनेकी सीमा हैं तो भरतजीके लिये श्रीरामजीसे क्या कहना-सुनना है? इसलिये दोनों भाइयोंके बीचमें किसीको कुछ कहनेका प्रयोजन नहीं है।

नोट—१ *'परमारथ स्वारथ सुख सारे।'''''* ' इति। यथा—*'नाहिन डरु बिगरहि परलोकू', 'नहिं दुख जियँ जग जानहि पोचू।'* (२११। ५-४) 'परमार्थ'= परलोक साधन, मोक्ष आदि। 'स्वार्थ'—इस लोकके सुख। इसका अर्थ यह भी किया जा सकता है—परमार्थ और स्वार्थके सारे सुख।

नोट—२ *'साधन सिद्धि रामपग नेहू'* इति। साधन-सिद्धिका भी अर्थ लोगोंने 'साधनकी सिद्धि' किया है पर 'साधन और सिद्धि' यही अर्थ उत्तम है। रामभक्तोंके लिये भक्ति ही साधन है और भक्ति ही सिद्धि; *'सोइ फल सिधि सब साधन फूला'*। भक्ति करके वे (भक्त) भक्ति ही चाहते हैं, चरणोंमें प्रेम करते हैं और यह चाहते हैं कि सदा आपके प्रेमकी प्यास रहे, यथा—*'सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भक्ति निज देहीं॥' 'अस बिचारि हरिभगत सयाने। मुकुति निरादर भगति लुभाने॥' 'परहु नरक फल चारि सिसु मीच डाकिनी लाउ। तुलसी राम सनेह को जो फल सो जरि जाउ॥'* (दो० ९२)

ज्ञान और कर्मकाण्डमें साधन और सिद्धि पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं। अष्टांगयोग, साधनचतुष्टय, दान-पुण्य

आदि साधन करके लोग मोक्ष या स्वर्ग आदिकी प्राप्ति करते हैं। पर यहाँ वह बात नहीं। यहाँ तो *'जेहि जोनि जनमउँ कर्मबस तहँ रामपद अनुरागऊँ', 'जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन।'* (२०४), *'जेहि जेहि जोनि करमबस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देहु यह हमहीं॥ सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नाथ यह ओर निबाहू॥'* (२४। ५-६) *'ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेदभगति बर लयऊ॥'* (आ० ९) *'खेलिबेको खग मृग तरु किंकर ह्वै राम रावरो रहिहौं। एहि नाते नरकहु सचु पैहौं या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं'* (विनय०)।

नोट—३ *'मोहि लखि परत'* का भाव कि मतका जानना बहुत दूर है। मुझे कुछ-कुछ ऐसा जान पड़ता है। (पु० रा० कु०)

नोट—४ *'करिअ न सोचु सनेह बस··· बिलखाइ'* इति। (क) भाव यह कि वे वही करेंगे जो श्रीरामजीकी आज्ञा होगी, अपनी ओरसे वे कुछ न करेंगे—यह 'रामरजाइ' का भाव है। और रामाज्ञाको कदापि न टालेंगे। जब उनका यह सिद्धान्त है, यथा—*'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवकु लखि लाज लजाई॥'* (२६९।५) *'जो सेवक साहिबहि सकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥'* (२६८। ३), *'अग्या सम न सुसाहिब सेवा॥'* (३०१। ४) तब यह चिन्ता ही व्यर्थ है। (ख) 'सोच' इति। क्या सोच? वही जो श्रीकौसल्याजीका सोच था—*'मोरे सोच भरत कर भारी', 'रहे नीक मोहि लागत नाहीं',* कि न जानें कहीं वे प्राण न त्याग दें। यही सोच श्रीसुनयनाजीने चतुरतापूर्वक अपना सोच सूचित करके कहा था— ऐसा जान पड़ता है। यह 'सयानी' विशेषणकी सार्थकता है। भाव कि यदि यह डर होता कि आज्ञा न मानेंगे तो सोच करनेकी बात थी और तब यत्न भी करना जरूरी होता। पर वे आज्ञा मानेंगे, प्राण न छोड़ेंगे। (ग) *'बिलखाइ'* का अर्थ प्राय: टीकाकारोंने 'रोकर', 'दु:खसे' यही किया है। पर यहाँ दीनजीका मत है कि ऐसा अर्थ, अर्थ नहीं किन्तु अनर्थ करना है। राजा जनकका वहाँ रोना या विकल होना सम्भव नहीं। किंतु यहाँ इसमें यह दर्शित कर रहे हैं कि इनका ज्ञान कैसा प्रबल है? बात सब भी सुनयनाजी जानती हैं, याज्ञवल्क्यजीसे सुन चुकी हैं, फिर भी वे मोहमें पड़ जाती हैं और भरतको वन भेजने और लक्ष्मणजीको लौटानेकी चाह प्रकट करती हैं, पर ये दृढ़ हैं, इनको पूर्ण विश्वास है कि चरित सब वही होगा। अत: वे खूब समझाकर रानीसे कहते हैं कि डरो मत, वे वनको न जायँगे, न अपने मनकी करेंगे, उन्हींकी आज्ञा मानेंगे और वही करेंगे। सनन्दनसंहितामें यह श्लोक कहा जाता है—**'भरतस्य प्रशंसां च कृतवान् मिथिलापतिः। रामाज्ञापालकश्चिन्तां भरतो देवि मा कुरु॥'** अर्थात् भरतकी प्रशंसा करके राजाने कहा कि वे रामकी आज्ञा पालेंगे, तुम क्यों चिन्ता करती हो। यह दृढ़ता और ढाढ़सके वचन हैं।

☞अभी श्रीजानकीजीके आगमनके अवसरपर उनको तपस्विनी वेषमें देखकर सपत्नीक श्रीजनकराज करुणार्द्र हो गये थे। उनके उस करुणा-स्नेहकी आलोचना करते हुए कवि कहते हैं—*'मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की॥'* उस करुण स्नेह अथवा करुण-वात्सल्यका उनके ज्ञानोज्ज्वल चित्तपर पूरा प्रभाव पड़ा हुआ है। श्रीजनकनन्दिनीके लौट जानेके बाद तुरंत ही अम्बा सुनयनाने भरतकुमारका प्रसंग छेड़ दिया। उसपर सप्रेम विचार करते हुए *'भरत रघुबरकी प्रीति प्रतीति'* का उस करुण-स्नेह-संस्कारसे भरे हुए मानससे एकान्त अनुभव करने लगे। यह सर्वथा सिद्ध है कि उनकी ब्रह्म-विवेकिनी-बुद्धिपर स्नेहका पूरा प्रभाव पड़ा हुआ है। उनकी विचारशक्ति प्रेमासक्त हो रही है। अस्तु। उसके फलस्वरूप उन्होंने यह कहा। अत: यहाँ 'बिलखाइ' का 'विह्वल होकर' ही अर्थ स्वाभाविक और संगत है। 'विशेष लखकर' अर्थ अवश्य ही क्लिष्ट प्रतीत होता है।

पं०—श्रीरामजीके वियोगका विचार मनमें आनेसे दु:ख हुआ। अथवा, यह जानकर दु:ख हुआ कि व्यवहार ऐसा ही है, यह जीवों और ईश्वरोंपर अपना प्राबल्य दिखाता ही रहता है, इसीसे तो सनकादिकने इसका त्याग किया है।

वै०—विलख (रोकर) कहनेका भाव कि हमारा कुछ भी अख्तियार (अधिकार) या वश नहीं है।

रा० प्र०—भाव कि शोच करनेसे शोच ही भर हाथ लगेगा। बिलखानेका भाव स्वयं ही वे आगे कहेंगे—*'आए इहाँ कीन्ह भल नाहीं।'''''हम अब बन ते बनहि पठाई॥ प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई।'* यह भविष्य सोचकर दुःखी हुए।

पु० रा० कु०—*'राम भरत गुन गनत सप्रीती। निसि'''''* ' इति। (क) भगवत्-भागवत गुणगान ऐसा ही है उसमें समय सुखपूर्वक बीत जाता है, जान नहीं पड़ता—*'पल सम होहिं न जनिअहि जाता।'* (२८०। ८) *'एहि प्रकार गत बासर सोऊ।'* (२७३। ३) (ख) गुप्त रीतिसे यह भी जनाया कि भगवत्-गुणगानसे भवरजनी पलमात्रमें बीत जाती है। (ग) यहाँ 'दंपति' सामान्य पद देनेका भाव कि स्त्री-पुरुषका साथ होनेसे वही रात भगवत्-भागवत-यशमें बीतना कठिन होता है। ☞ यह उपदेश है कि इनके यशमें प्रेम करो तो कामादिक विषय-वासनाएँ भी नष्ट हो जायँ। (घ) श्रीसुनयना-जनक-संवाद यहाँ समाप्त हुआ। *'कही समय सिर भरत गति रानि सुबानि सयानि।'* (२८७) *'सुनि भूपाल।'* उपक्रम है और *'राम भरत गुन'''''* ' उपसंहार।

श्रीभरतसम्बन्धी श्रीजनक-सुनयना-संवाद समाप्त।

चित्रकूट द्वितीय दरबार (की भूमिका)

श्रीराम-वसिष्ठ-संवाद

राज समाज प्रात जुग जागे। न्हाइ न्हाइ सुर पूजन लागे॥ २॥
गे नहाइ गुर पहिं रघुराई। बंदि चरन बोले रुख पाई॥ ३॥
नाथ भरतु पुरजन महतारीं। सोक बिकल बनबास दुखारीं॥ ४॥
सहित समाज राउ मिथिलेसू। बहुत दिवस भये सहत कलेसू॥ ५॥
उचित होइ सोइ कीजिअ नाथा। हित सब हीं कर रौरें हाथा॥ ६॥

अर्थ—दोनों राजसमाज प्रातःकाल जगे और नहा-नहाकर देवताओंकी पूजा करने लगे॥ २॥ श्रीरघुनाथजी स्नान करके गुरु वसिष्ठजीके पास गये और चरणोंकी वंदना करके उनका रुख पाकर बोले॥ ३॥ हे नाथ! भरत, अवधपुरवासी और माताएँ सब शोकसे व्याकुल और वनवाससे दुःखी हैं॥ ४॥ मिथिलापति राजाजनकको भी समाजसहित क्लेश सहते हुए बहुत दिन हो गये॥ ५॥ हे नाथ! सभाकी भलाई आपके हाथ है, अतः जो उचित हो वही कीजिये॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'न्हाइ न्हाइ सुर पूजन लागे।'* पुरवासियोंका नित्य-नियम जो पूर्व २७३ (३) से *'प्रेम मगन।'* (२७४) तक विस्तारसे कहा था वही यहाँ संक्षेपमें जना दिया। (ख) *'गे नहाइ'*—श्रीरामजी भी नित्य-प्रातःकृत्य करके गये। कहीं जाय तो नित्य-कर्मसे छुट्टी पाकर, न जाने फिर कैसा मौका पड़े। (ग) *'रुख पाई'*—प्रातःकाल ही गये इससे समझ गये कि कुछ कहना है, अतः तुरंत मुनिने पूछा।

टिप्पणी—२ *'नाथ भरतु पुरजन महतारीं। सोक'''''* ' इति। शोक नृपमरणका और वनमें कभी रहे नहीं अतएव दुःख हो रहा है। यह भी जनाया कि मुझे तो वनमें रहना ही है इससे मुझे दुःख नहीं। दूसरेके दुःखसे दुःखी हैं क्योंकि *'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराईं॥'* (८५। २) राजाको भी क्लेश सहते बहुत दिन हो गये। इन वचनोंमें गुप्त भाव यह है कि हमलोग तो लौटेंगे नहीं, तब आप सब व्यर्थ क्यों कष्ट उठाते हैं। भूमिशयन, फलाहार, खुलेमें वृक्षोंतले रहना इत्यादि क्लेश है।

टिप्पणी—३ *'उचित होइ'''हित सब हीं कर रौरें हाथा'* इति। अर्थात् भरत राज्य करें, माताएँ महलमें रहें, पुरजन घरोंमें रहें, प्रजाका पालन और पुरकी रक्षा हो यह रघुकुलका हित; राजा जनक पिता-सम हैं, मैं उनसे नहीं कह सकता कि जायँ और न कहनेसे लौटेंगे नहीं, जिससे वनके कष्ट बने रहेंगे, आपके कहनेसे उनका कष्ट भी दूर होगा। मेरा पिता-पुत्र-धर्म भी आपके हाथ है। देवता, मुनि, वनवासी, प्रेमी और निशाचर आदिका हित भी आपके हाथ है, इति *'सबही कर हित'*।

वि० त्रि०—*'उचित होइ''''सुभाऊ'* इति। जो बात सरकारने पहले कही थी *'नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ। सब कर हित रुख राउरि राखे। आयसु किए मुदित फुर भाखे॥'* (२५८। २-३) वह बात मुनिजीको पसन्द न आयी थी, वे कहने लगे कि तुमने सत्य कहा, पर भरतके स्नेहके विचारको स्थान नहीं दिया। अब जनकजीके आनेसे परिस्थिति बदल गयी। अत: वही बात गुरुजीसे फिर कहनी पड़ी, इसलिये सरकार बहुत संकुचित हुए, पर मुनिजीको सरकारका शील-स्वभाव देखकर पुलक हो गया।

अस कहि अति सकुचे रघुराऊ। मुनि पुलके लखि सीलु सुभाऊ॥ ७॥
तुम्ह बिनु राम सकल सुखसाजा। नरक सरिस दुहुँ राजसमाजा॥ ८॥

दो०—प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।
तुम्ह तजि तात सोहात गृह जिन्हहि तिन्हहि बिधि बाम॥ २९०॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीरघुनाथजी अत्यन्त सकुचे। उनका शील-स्वभाव देखकर मुनि पुलकित हुए (प्रेम और आनन्दसे शरीर रोमांचित हो गया और वे बोले)॥ ७॥ हे राम! तुम्हारे बिना घरबार आदि सम्पूर्ण सुखका सामान दोनों राज-समाजोंको नरकके समान है॥ ८॥ हे राम! तुम प्राणिमात्रके प्राणोंके भी प्राण हो, जीवके भी जीव और सुखके भी सुख हो। हे तात! तुमको छोड़कर जिन्हें घर भाता है उन्हें विधाता बाम है (उनपर विधाताको रूठे जानो)॥ २९०॥

नोट—१ *'अस कहि अति सकुचे रघुराऊ।''* इति। (क) 'सकुच' बड़ेसे बात कहनेमें कि जो एक प्रकार आज्ञा-सी जान पड़ती है और जिसमें दृढ़ हठ और धृष्टता दर्शित होती है कि हम तो कदापि न लौटेंगे, आप सबको ले जाइये। यथा—*'बहुत कहेउँ सब कियउँ ढिठाई। उचित होइ तस करिय गोसाँई॥'* (२४८। ८) (ख) *'सीलु सुभाऊ'* यह कि भरत आदि सब स्नेही हैं यह न कहा कि जायँ, वियोगका शब्द सबको दु:खदायक होगा इससे केवल यही कहा कि कष्ट सहते हैं। हम मारे प्रेमके उनसे जानेको नहीं कह सकते, उनको दु:ख होगा। आपके कहनेसे दु:ख न मानेंगे। *'सील सनेह छाँड़ि नहिं जाई। असमंजस बस भे रघुराई॥'* (८५। ५)

नोट—२ *'तुम्ह बिनु राम सकल सुखसाजा।''''* इति। यह श्रीरामजीके *'बहुत दिवस भये सहत कलेसू'* और *'बनवास दुखारीं'* का उत्तर है। *'नरक सरिस'* अर्थात् अत्यन्त दु:खदायक है। नरकमें प्राणीको बहुत दण्ड दिया जाता है। मिलान कीजिये—*'तन धन धाम धरनि पुरराजू। पति बिहीन सब सोकसमाजू॥ भोग रोग सम भूषन भारू। जमजातना सरिस संसारू॥ प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥'* (६५। ४—६), *'दुहुँ समाज असि रुचि मन माहीं। बिनु सिय राम फिरब भल नाहीं॥ सीताराम संग बनबासू। कोटि अमरपुर सरिस सुपासू॥ परिहरि लषन राम बैदेही। जेहि घर भाव बाम बिधि तेही॥'* (२८०। २—४) यही सब भाव यहाँ समझिये।

नोट—३ *'प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम''''* इति। *'पूत परमप्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जीके॥'* (५६। ७), *'रामु प्रानप्रिय जीवन जी के।'* (७४। ६) और *'आनँदहू के आनँद दाता।'* (बा० २१७। २) देखिये। वही सब भाव यहाँ हैं। जैसे प्राण बिना शरीर मृतक वैसे ही तुम्हारे बिना प्राण मृतक है। जैसे बिना जीवके प्राण असमर्थ वैसे ही आपके बिना जीव असमर्थ। सुखके सुख हैं, क्योंकि आपके आनन्दके कणमात्रसे संसारमें सुख है, यथा—*'जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक्य सुपासी॥'* भाव कि प्राण सबको प्रिय है पर आप उससे भी अति प्रिय हैं। आपके बिना प्राण कोई रखना नहीं चाहता। *'राम प्रानहुँ ते प्रान तुम्हारे।'* (१६९। १) से मिलान कीजिये। आप सबके प्रकाशक हैं,यथा—*'बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥'* (१। ११७)

वै०—भाव कि जो देहबुद्धि किये हैं वे आपको स्वामी मानकर प्राणोंके प्राण जानकर सेवकभावसे

नवधा भक्ति करते हैं। जो अपनेमें जीवबुद्धि रखते हैं वे अपनेको आपका अंश मान प्रेमाभक्ति करते हैं, आपके रूपसिन्धुमें अपने मनको मीन बनाये हुए हैं और जो आत्मदृष्टिवाले हैं वे ब्रह्मानन्द सुखमें मग्न रहते हैं। आपको परब्रह्म जान पराभक्ति करते हैं, चित्तकी वृत्तिको आपमें लय किये रहते हैं।

नोट—४ *'तुम्ह तजि तात सोहात गृह·····'* इसके जोड़की चौपाई यह है—*'दाहिन दैउ होइ जब सबहीं। राम समीप बसिय बन तबहीं॥'* (२८०। ५) यहाँ *'तुम्ह तजि तात'* और वहाँ *'राम समीप'* यहाँ *'सोहात गृह'* वहाँ *'बसिय बन तबहीं'*, यहाँ *'बिधि बाम'* वहाँ *'दाहिन दैउ होइ जब।'*

सो सुखु करम धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम-पद-पंकज भाऊ॥ १॥
जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥ २॥
तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह ते हीं। तुम्ह जानहुँ जियँ जो जेहि केहीं॥ ३॥
राउर आयसु सिर सबही कें। बिदित कृपालहिं गति सब नीके॥ ४॥
आपु आश्रमहिं धारिअँ पाऊ। भयेउ सनेह सिथिल मुनिराऊ॥ ५॥

शब्दार्थ—**परधान**=प्रधान। जेहि केहि=जिस किसीके=जिसके निश्चय ही। **गति**=अवस्था, हालत, यथा—*'भइ गति साँप छछुंदरि केरी।'* =दौड़, विधान, लीला।

अर्थ—वह सुख, कर्म और धर्म जल जाय (अर्थात् सब व्यर्थ हैं) जिसमें राम-चरणकमलमें प्रेम नहीं है॥ १॥ वह योग कुयोग है और वह ज्ञान अज्ञान है जिसमें रामप्रेम प्रधान न हो॥ २॥ सब तुम्हारे बिना ही दुःखी हैं और तुमसे ही सुखी हैं। जिस किसीके जीमें जो है वह तुम जानते हो॥ ३॥ आपकी आज्ञा सभीके सिरपर है (सबको मान्य है, सब शिरोधार्य करते हैं)। हे कृपालु! आपको सबकी अवस्था भली प्रकार मालूम है॥ ४॥ आप आश्रमको पधारें—(यह कहकर) मुनिराज स्नेहसे शिथिल हो गये (फिर कुछ बोल न सके)॥ ५॥

नोट—१ *'सो सुखु करम धरमु·····'* इति। भाव कि बिना श्रीरामप्रेमके ये सब व्यर्थ हैं। यथा—*'जो अनुराग न राम सनेही सों। तौ लह्यो लाहु कहा नर देही सों॥ जो तनु धरि परिहरि सब सुख भए सुमति राम अनुरागी। सो तनु पाइ अघाइ किए अब अवगुन उदधि अभागी॥ ज्ञान बिराग जोग जप तप मख जग मुद मग नहिं थोरे। राम प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृगजल जलधिहिलोरे॥'* (विनय० १९४), *'भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना सब ब्यंजन जैसे। भजन हीन सुख कवने काजा॥'* (७। ८४। ५-६) पुनः, यथा—**'धिग्जन्मनस्त्रिवृद्विद्यां धिग्व्रतं धिग्बहुज्ञताम्। धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे॥'** (भागवत १०। २३। ३९)

नोट—२ रावण, हिरण्यकशिपु आदिका सुख गया, धृतराष्ट्रका कर्म गया और राजा नृगका धर्म गया। वे गिरगिट हुए—(पु० रा० कु०)।

नोट—३ (क) *'तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह तेहीं·····'*, यथा—*'एहि सुख नरकहु सचु पैहौं या बिनु परम पदहु दुख दहिहौं।'* (विनय०)(ख) *'तुम्ह जानहुँ जियँ जो जेहि केहीं'*—अर्थात् आप अन्तर्यामी हैं। सब और सबके हृदयकी जानते ही हैं कि सब आपके नित्य दर्शन और साथमें ही सुख मानते हैं, आपके बिना सब दुःखी रहते हैं। मैं कुछ बनाकर नहीं कहता हूँ। यहाँतक *'बनबास दुखारी'* और *'सहत कलेसू'* का उत्तर है।

नोट—४ पाँड़ेजीका मत है कि *'सो सुखु करम धरमु'* यह भरतसमाजके लिये कहा गया और *'जोगु कुजोगु·····'* यह जनकसमाजके लिये, क्योंकि यह समाज योगियों, ज्ञानियोंका है। *'तुम्ह बिनु दुखी·····'* का भाव यह कि जो तुम्हारे बिना दुःखी रहते हैं वे तुम्हींको पाकर सुखी होते हैं, अन्य किसी प्रकारसे सुख नहीं मानते।

नोट—५ *'राउर आयसु सिर सबही कें·····'* इति। (क) सब किसमें सुख मानते हैं यह कहा। इससे

यह लक्षित होता है कि वे लौटेंगे नहीं। अतएव कहते हैं कि यह हमारा आशय नहीं है। इतनेपर भी सब आपकी ही आज्ञा शिरोधार्य करेंगे, साथ रहनेका हठ कोई न करेगा। ***'सबकी गति'*** —वही जो ऊपर कहा है ***'तुम्ह बिनु राम सकल सुखसाजा।·····'*** इत्यादि। उसीके कारण वे चाहते हैं कि आप लौटें। आप कृपालु हैं, उनके कष्टको दया करके दूर करें। (ख) श्रीरामजीके ***'हित सबही कर रौरें हाथा',*** इन वचनोंका यह उत्तर है अर्थात् हमारे हाथ नहीं है, आपके हाथ है आपकी आज्ञापर, सबका हित निर्भर है। (प्र० सं०)

☞ रघुनाथजीके कहनेका यह भाव था कि अब जनकराज आ गये हैं अब भरतकी बात नहीं है। भरत तो छोटे थे। अब आप आज्ञा दीजिये क्योंकि आप जनकजीसे भी बड़े हैं। इसपर वसिष्ठजी कहते हैं कि आपकी आज्ञा सबके ऊपर है, मैं भी उसे ऐसा ही मानता हूँ, अब मैंने रुख समझ लिया, जो आप चाहते हैं सब ठीक हो जायगा। अब आप आश्रमको जायँ। (वि० त्रि०)

नोट—६ ***'आपु आश्रमहिं धारिअ पाऊ·····'*** इति। (क)—इतना ही कह पाये। आगे इतना और कहते हैं कि मैं इसका उपाय करता हूँ; पर प्रेम उमड़ आया इससे न कह सके। शीलस्वभाव और माधुर्यमें आज्ञा आदिका ध्यान आ गया। इससे प्रेमसे शिथिल हो गये। टीकाकारोंका मत है कि वियोगके विचारसे शिथिल हो गये। मेरी समझमें यहाँ 'शील-स्वभाव' प्रधान कारण है, इसका प्रभाव ऐसा पड़ा कि जनकजीसे जाकर इन्होंने प्रथम उसीकी प्रशंसा की। (ख) ***'मुनि पुलके लखि सील सुभाऊ'*** उपक्रम है और ***'भयेउ सनेह सिथिल मुनिराऊ'*** उपसंहार।

'वसिष्ठ-जनक-गोष्ठी'

करि प्रनामु तब रामु सिधाये। [रिषि धरि धीर जनक पहिं आये॥ ६॥
रामबचन गुरु नृपहिं सुनाये]*। सील सनेह सुभाय सुहाये॥ ७॥
महाराज अब कीजिअ सोई। सब कर धरम सहित हित होई॥ ८॥

दो०—ज्ञाननिधान सुजान सुचि धरम धीर नरपाल।
तुम्ह बिनु असमंजस समन को समरथ एहि काल॥ २९१॥

अर्थ—तब श्रीरामचन्द्रजी प्रणाम करके चल दिये। ऋषि वसिष्ठजी धीरज धरकर जनकजीके पास आये॥ ६॥ गुरुजीने श्रीरामचन्द्रजीके शील और स्नेहयुक्त सहज ही सुन्दर वचन राजाको सुनाये और कहा॥ ७॥ हे महाराज! अब वही कीजिये, जिसमें सबका धर्मसहित भला हो। अर्थात् सबका धर्म भी बना रहे और सबको भला भी लगे॥ ८॥ राजन्! आप ऐसे ज्ञान-समुद्र, सुजान, पवित्र धर्मवाले, धैर्यवान् और मनुष्योंके पालन करनेवालेके सिवा इस समय और कौन दुविधाके मिटानेको समर्थ है? (कोई भी नहीं)॥ २९१॥

नोट—१ (क) ***'रिषि धरि धीर।'*** पूर्व शिथिल होना कहा था, यथा—***'भयेउ सनेह सिथिल मुनिराऊ';*** अत: धीरज धरना कहकर तब जाना कहा। (ख) ***'सील सनेह सुभाय सुहाये'।*** श्रीरामजीके शीलस्वभावका कैसा प्रभाव मुनिपर पड़ा है यह यहाँ प्रकट है। उनके चित्तको उसने इतना आकर्षित कर लिया है कि उनसे रहा न गया, आकर राजासे कहा। जैसे सुमन्तजीसे न रहा गया और उन्होंने आकर राजासे कहा था—***'लषन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोहि निहोरा॥'*** १५२ (७) देखिये।

नोट—२ ***'धरम सहित हित'*** अर्थात् श्रीराम-भरत-प्रजा सबका धर्म भी बना रहे और सबका भला भी हो। धर्मरहित हित न चाहिये। यदि किसीका भी धर्म नष्ट होकर दूसरेका हित हुआ तो वह हित, हित

* कोष्ठकान्तर्गत दो चरण राजापुरकी प्रतिमें नहीं हैं।

नहीं है। पंजाबीजी कहते हैं कि गुरुजीके कहनेका भाव यह है कि श्रीरामचन्द्रजी और भरतजीको पिताकी आज्ञा-पालन धर्म है, प्रजाको श्रीरामजीका आज्ञा मानना धर्म है। रावणवधसे जगत्का धर्म और हित है और श्रीरामजीके हाथोंसे मरणमें रावणका धर्म और हित है। जिसमें यह सब बने वह कीजिये।

* 'ज्ञाननिधान सुजान सुचि धरम धीर नरपाल.....।'*

पु० रा० कु०—प्रथम कहा *'सब कर धरम सहित हित होई।'* अब उसी कार्यसे सम्बन्धित विशेषण देते हैं। *'धर्मसहित हित हो'* ऐसा करनेमें ज्ञान आदि चाहिये सो आप ज्ञाननिधान हैं, चतुर हैं, नीतिमें निपुण हैं। पवित्र भगवत्, भागवत, धर्मका जाननेवाला ही सबके धर्मका खयाल रख सकता है सो आप शुचि धर्मवाले हैं। आर्त या द्विचित्तका विचार ठीक नहीं हो सकता, वह विचार कर ही नहीं सकता, आप 'धीर' हैं और मैं तो स्नेहसे शिथिल हूँ; इससे आपका विचार उत्तम होगा। आप ऐसे धीर हैं कि जानकी-विवाहमें कितने विघ्न उपस्थित हुए तो भी आपने अपना धर्म, अपनी प्रतिज्ञा, अपना धैर्य न छोड़ा। नृपाल हैं, प्रजापालनका भी यहाँ प्रश्न है, प्रजाका दु:ख दूर हो; यह वही राजा सोच सकता है जो प्रजाका पालक हो। आप सर्वगुणसम्पन्न हैं। अतएव आप ही इस गुत्थीको सुलझा सकते हैं, दूसरा नहीं।

'तुम्ह बिनु को समरथ' से यह भी जना दिया कि हमने उपाय किया था पर उससे न मिटा। क्या उपाय किया था? यह कि *'तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहि सीय लखन रघुराई॥'* इस सिद्धान्तमें हमने सबका हित पाया, सबके धर्मकी रक्षा देखी और यही बात भरतजीने श्रीरामजीसे कही भी। परंतु श्रीरामजीने उसको प्रमाणित न किया। अतएव अब कोई और उपाय सोचिये जिसमें सबका हित हो और सबका धर्म रहे।

सुनि मुनि बचन जनक अनुरागे। लखि गति ग्यानु बिरागु बिरागे॥ १॥
सिथिल सनेह गुनत मन माहीं। आए इहाँ कीन्ह भल नाहीं॥ २॥
रामहिं राय कहेउ बन जाना। कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रवाना॥ ३॥
हम अब बन ते बनहिं पठाई। प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई*॥ ४॥
तापस मुनि महिसुर सुनि देखी। भये प्रेम बस बिकल बिसेषी॥ ५॥
समउ समुझि धरि धीरजु राजा। चले भरत पहिं सहित समाजा॥ ६॥

अर्थ—मुनिके वचन सुनकर राजा जनक (सांसारिक सम्बन्धसे) प्रेममें मग्न हो गये। उनकी दशा देखकर ज्ञान और वैराग्यको भी वैराग्य हो गया (अर्थात् उनका ज्ञान और वैराग्य जाता रहा)॥ १॥ वे प्रेमसे शिथिल हैं, तथा मनमें विचार कर रहे हैं कि यहाँ मैं आया यह अच्छा नहीं किया (अर्थात् बुरा किया)॥ २॥ राजा-(दशरथ-) ने श्रीरामजीको वन जानेको कहा और स्वयं अपने प्रियके प्रेमको सत्य कर दिया॥ ३॥ परन्तु हम अब वनसे वनको भेजकर ज्ञानकी बड़ाईसहित बड़े आनन्दसे लौटेंगे (अर्थात् लोग कहेंगे और हमें भी अपने विवेककी बड़ाईका अभिमान होगा कि हम-सा कोई विवेकी नहीं, कि किंचित् मोह-ममता नहीं)॥ ४॥ तपस्वी, मुनि एवं ब्राह्मण यह सब सुन और देखकर प्रेमवश बहुत व्याकुल हुए॥ ५॥ समयको समझ (विचार) कर धीरज धरकर राजा समाजसहित भरतजीके पास चले॥ ६॥

नोट—१ *'लखि गति ग्यानु बिरागु बिरागे'* इति। राजा जब ब्रह्म रामके भावको छोड़ सांसारिक भावसे देखते हुए, अपने जामाताके शील-स्नेह और सद्भावमें अनुरक्त हो गये तो यह गति देखकर ज्ञान-वैराग्यको विरक्ति हो गयी। अर्थात् केवल जामाता रामके भावमें ऐसे डूबे कि ज्ञान-वैराग्यका विचार न रहा।

गौड़जी—श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें सांसारिक सम्बन्धसे भी जब-जब जनकजी प्रेम-विह्वल होते हैं तब

---

* बड़ाई—भा० दा०। कुछ लोगोंका मत है कि 'बड़ाई' में श्लेषद्वारा दूसरा अर्थ 'खोकर, गँवाकर, बुझाकर' भी निकलता है।

ज्ञान-वैराग्य बराबर जवाब दे जाते हैं। कारण यह है कि यद्यपि भगवान् सगुणरूप धारण किये हुए हैं तथापि जनकजीकी जैसी उपासना है, उसके अनुसार प्रेम-विह्वल जब-जब होते हैं तब-तब वह सर्वातीत ब्रह्मानन्द मिलता है, जो ज्ञान-वैराग्य आदि सबसे परे है। इसीलिये ये दोनों ऐसी दशामें बहुत दूर छूट जाते हैं। राममें ही रह जाते हैं।

वि० त्रि०—रामानुरागका दर्जा ज्ञान-विरागसे बढ़ा हुआ है। जनकजीका अनुराग देखकर, ज्ञान-विरागको भी विराग हो गया कि अब हम यहाँ नहीं रहेंगे, अब अनुराग ही यहाँ रहे, क्योंकि काम आ पड़नेपर जनकजी अनुरागका ही सम्मान करते हैं। वे हृदयसे अनुरागी हैं, यथा—***'जाहि राम पद गूढ़ सनेहू।'***

नोट—२ ***'प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई'*** इति। राजा अपने ज्ञानको धिक्कार रहे हैं। सोचते हैं कि चक्रवर्ती महाराजने तो प्रेमको सत्य कर दिखाया कि बिछुड़ते ही प्राण दे दिये और हम इनको वनसे और भी वनमें ही भेजने आये हैं। मैं न साथ जाऊँगा न प्राण ही छोड़ूगा। यह किसी प्रेमीसे तो हो नहीं सकता, ज्ञानी, योगी ही जिसमें प्रेम छू नहीं गया, वही कठोर-हृदय प्राणी ऐसा कर सकता है। लोक यही कहेगा कि इनमें क्या आश्चर्य है जो ये वन भेजनेको ही आये। आखिर हैं तो पूर्ण विवेकी न! इनको शोक वा ग्लानि क्यों होने लगी? ऐसी ही जनकपुरवासियोंने बारातकी बिदाईके समय उनके प्रति कहा ही था, यथा—***'कोउ कह चलन चहतहहिं आजू। कीन्ह बिदेह बिदा कर साजू॥'*** (१।३३५)

पु० रा० कु०—वनसे वनको भेजना कहकर जनाया कि श्रीरामजी लौटेंगे नहीं। वे पिताका वचन पूरा करेंगे। अतः, यहाँ आकर चाहिये था कि हमारा भी शरीर छूट जाय पर ऐसा होगा नहीं वरन् उलटे हम प्रमुदित होकर जनकपुर लौटेंगे, यह हमारे विवेककी बड़ाई है! कहनेको होगा कि दशरथजीने प्रेम निबाहा और जनकने ज्ञान निबाहा। यह व्यंग है। भाव यह कि ऐसे विवेकको धिक्कार है। संयोग-वियोग आदि मोहमूलक हैं यह जानना विवेक है।

नोट—३ ***'तापस मुनि महिसुर सुनि देखी'*** इति। ***'सिथिल सनेह गुनत मन माहीं'*** प्रथम कहा और आगे कहते हैं कि ***'तापस मुनि महिसुर सुनि देखी'***। बीचमें कहीं बोलना या कहना पाया नहीं जाता। ***'सुनि'*** से पूर्व कहनेका अध्याहार करना पड़ेगा। पर कहाँपर? पं० रामकुमारजी कहते हैं कि प्रथम मनमें विचार करने लगे कि क्या होना चाहिये। सोचते-सोचते यही निश्चय किया कि श्रीरामजी पिताकी आज्ञा पाल रहे हैं, परम धर्मपर आरूढ़ हैं। इस धर्मसे उनको हटाना सर्वथा अनुचित है, इत्यादि विचारसे निर्णय करनेपर उनके मुखसे यह शब्द निकले कि ***'आए इहाँ·····'*** इत्यादि।

मेरी समझमें यह बात मनमें ही सोची कि 'आकर अच्छा न किया'। ***'सिथिल सनेह'*** कहकर मनमें गुनना कहा है। उसी दशामें विह्वल होकर यह कहना भी हो सकता है कि ***'रामहिं राय कहेउ बन जाना·····'*** इत्यादि (आगे ***'समउ समुझि धरि धीरज राजा'*** यह कहते हैं इससे विह्वल दशामें संदेह नहीं। मयंककारका भी यही मत है कि राजाने ***'रामहिं राय कहेउ·····'*** ये वचन कहकर मानो प्रेमका संदूक खोल दिया।

यदि श्रीजनकजीका बोलना न निश्चय करें तो ***'सुनि'*** से वसिष्ठजीके वचनोंका सुनना लेंगे और देखना राजाकी स्नेह-शिथिल दशाका।

नोट—४ ***'भए प्रेम बस बिकल बिसेषी'*** इति। व्याकुलता यह समझकर हुई कि ऐसे बड़े ज्ञानेश्वर योगेश्वर भी प्रेमके बिना अपने जीवनको व्यर्थ समझ रहे हैं।

नोट—५ ***'समउ समुझि धरि धीरज।·····'*** इति। (क) यह धर्मसंकटका समय है, यदि धीरज नहीं रखते तो इससे उबरना असम्भव होगा, अब कहे बिना बनता नहीं। (ख) भरतजीके पास जानेका भाव यह है कि उन्होंने मनमें विचारा कि भरत पितृदत्तराज्य करते और राम वनवास करते तो असामंजस्य मिट जाता; पर इन्होंने राज्य न ग्रहण किया। और कोई उपाय समझ नहीं पड़ता। भरतके ही पास चलें वे ही इस अवरेवको मिटायेंगे। (ग) पं०—'समय समझकर' यह कि यह शोकका समय नहीं है। हमें

देख सब अधीर हो जायँगे, वा, यह कि यहाँ बहुत काल रहना उचित नहीं, भरतको आगे कार्य करना है और रामको भी; अतः भरतसे सलाह करना आवश्यक है, इससे उनके पास चलें। वा, अपने और भरतके अवकाशका समय जानकर। (पं०)

भरत-जनक-गोष्ठी

भरत आइ आगें भइ लीन्हे। अवसर सरिस सुआसन दीन्हे॥ ७॥
तात भरत कह तेरहुतिराऊ। तुम्हहिं बिदित रघुबीर सुभाऊ॥ ८॥
दो०—राम सत्यब्रत धरमरत सब कर सीलु सनेहु।
संकट सहत सकोच बस कहिअ जो आयसु देहु॥ २९२॥

शब्दार्थ—'**आगें भइ लीन्हे**'=आगे होकर लिया, अगवानी की, स्वागत किया। यथा—'***आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसन देई॥***' (९८। ४) '**आयसु**'=अनुमति।

अर्थ—श्रीभरतजीने आकर आगेसे उनको लिया अर्थात् उनका स्वागत किया। समयके अनुकूल जैसा कुछ आपत्तिमें, शोकमें और वनमें हो सकता था उनको उत्तम आसन दिये॥ ७॥ तिरहुतराज कहते हैं—हे तात भरत! तुमको रघुवीर श्रीरामजीका स्वभाव तो मालूम ही है॥ ८॥ श्रीरामचन्द्रजी सत्यप्रतिज्ञ और धर्मपरायण हैं, सबके शील और स्नेहका निर्वाह करते हैं। सबके संकोचके वश वे कष्ट सह रहे हैं। अब तुम जो '***आयसु***' दो वह उनसे कहा जाय॥ २९२॥

नोट—१ '***भरत आइ*****' इति। (क) बड़ोंको आगे जाकर लेना यह सनातन शिष्टाचार है। यथा—'***भाइ सचिव गुर पुरजन साथा। आगे गवनु कीन्ह रघुनाथा॥***' (२७५। १) (श्रीजनकजीकी अगवानीके लिये), विश्वामित्रजीके आगमनपर राजा दशरथ और राजा जनक आगे आकर मिले। रघुनाथजीका आगमन सुनकर निषादराज '***मिलन चलेउ हिय हरष अपारा***' इत्यादि। (ख) '***अवसर सरिस सुआसन***—' इति। '***आसन दिये समय सम आनी।***' (२८१। ४) देखिये।

* राम सत्यब्रत धरमरत सब कर सीलु सनेहु *

इन सब विशेषणोंके भाव पूर्व आ चुके हैं। पहले कहा कि तुम रघुवीरका स्वभाव जानते हो। यथा—'***मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ।***' (२६०। ५) क्या स्वभाव जानते हैं यह दोहेमें कहा। '***संकट सहत सकोच बस***' अर्थात् न यह कह सकें कि जाओ और न दूसरोंका क्लेश देख सकें। संकट यह कि '***सानुज भरत सचिव सब माता। देखि मोहि पल जिमि जुग जाता॥***' (२४८। ६) दूसरे पिताकी आज्ञा '***विशेष उदासी***' रहनेकी है; इससे सबके साथ रहनेमें संकोच है। तात्पर्य यह कि संकोच छोड़ यदि आज्ञा दे दें कि जाओ, हम न लौटेंगे, तो शील और स्नेहमें त्रुटि आती है। शील-स्नेह भी बना रहे और ये चले जायँ कहना न पड़े; दोनोंका निर्वाह कठिन है, अतः संकट सहते हैं।

इन शब्दोंमें ध्वनि यह है कि यह संकट तुम ही मिटा सकते हो। उनको एकान्त वनवास करने दो और तुम सब लोग लौट जाओ। यह सिद्धान्त जनक महाराजका है, यथा—'***अब हम बन ते बनहि पठाई।*****' '***आयसु***' का अर्थ आज्ञा है। पर आज्ञा शब्दमें सन्देह होता है कि आज्ञा तो बड़ा देता है न कि छोटा। 'स्वाभिप्राय' अर्थ यहाँ लेनेसे शंका नहीं रहती।

गौड़जी—'***आयसु***' शब्द संस्कृतके 'आदेश' का प्राकृत रूप है। और स्थलोंमें आज्ञाके अर्थमें आया है जो आदेशका मुख्यार्थ है। परंतु आदेशके और कई अर्थ हैं, जैसे अनुमति, सलाह, हिदायत, इवज, घटना और परिणाम। यहाँ अनुमति या हिदायत ही इष्टार्थ है, आज्ञा नहीं। परंतु भरतकी महामहिमासे प्रभावान्वित हो जनक '***आयसु***' शब्दका प्रयोग करके सम्मानार्थक वचन भी कहते हैं।

सुनि तन पुलकि नयन भरि बारी। बोले भरतु धीर धरि भारी॥ १॥
प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुलगुरु सम हित माय न बापू॥ २॥
कौसिकादि मुनि सचिव समाजू। ग्यान अंबुनिधि आपुनु आजू॥ ३॥
सिसु सेवकु आयसु अनुगामी। जानि मोहि सिख देइअ स्वामी॥ ४॥
एहि समाज थल बूझब राउर। मौन मलिन मैं बोलब बाउर॥ ५॥
छोटे बदन कहौं बड़ि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता॥ ६॥

अर्थ—यह सुनकर शरीरसे पुलकित होकर और नेत्रोंमें जल भरे हुए भरतजी भारी धीरज धरकर बोले॥ १॥ हे प्रभो! आप समर्थ हैं और पूज्य पिताके समान हमारे प्रिय और पूज्य हैं। और कुलगुरु वसिष्ठजीके समान हितकारी माता-पिता भी नहीं हैं*॥ २॥ विश्वामित्र आदि मुनियों और मन्त्रियोंका यह समाज है, उसमें भी आज ज्ञानके समुद्र आप भी मौजूद हैं॥ ३॥ शिशु, सेवक और आज्ञापर चलनेवाला जानकर हे स्वामिन्! मुझे शिक्षा दीजिये॥ ४॥ (कहाँ तो पूज्य गुरुओं और ज्ञानियोंका) यह समाज और (चित्रकूट पुण्य) स्थल और आपका मुझसे पूछना और (कहाँ) मैं मौन (अर्थात् मेरा मौन ही रहना उचित है) मलिन और मेरा पागलोंका-सा बोलना॥ ५॥ छोटे मुँह बड़ी बात कहता हूँ। हे तात! विधाताको रूठा जानकर क्षमा कीजियेगा॥ ६॥

नोट—१ *'सुनि तन पुलकि·····'* इति। श्रीजनकजीके वचनोंमें यह भाव स्पष्ट झलकता है कि श्रीरामजी

* यहाँ 'प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू' राजा जनकके लिये कहा और फिर आगे 'ग्यान अंबुनिधि आपुनु आजू' भी उन्हींके लिये कहा है। इसमें कुछ लोगोंने पुनरुक्तिके भयसे प्रभुसे रामजीका अर्थ लिया है। बैजनाथजीने 'प्रभु प्रिय····' यह पूरी अर्धाली जनकजीमें ही लगायी है। और कुछने 'प्रभु' से रामजीका और 'आपू' से जनकजीका अर्थ लिया है।

रा० प्र० कार लिखते हैं कि यहाँ पुनरुक्ति नहीं है। भरतजीने प्रथम जनकजीको सम्बोधन किया और उनके पीछे वसिष्ठजीको, इससे वसिष्ठजीकी अधिक बड़ाई करके इस कमीको उन्होंने पूरी की। राजाको पितासम कहा पर प्रथम कहा, वसिष्ठजीको माता-पिता दोनोंसे बड़ा कहा। पुनः, प्रथम राजाको गुरुसे यहाँ कम दिखाया, उसी कमीकी पूर्ति करनेके लिये उन्होंने उनको यहाँ 'ग्यान अंबुनिधि' बड़ा विशेषण देकर पुनः कहा। यह अर्थ करनेमें कि 'आप ही रघुनाथजी हमारे प्रिय पूज्य पिताके समान हैं, यह दोष आता है कि आगे गुरुको जो विशेषण दिये उनसे प्रभुमें न्यूनता आती है। इससे यह अर्थ खींच-खाँच है।

☞ इस समाजमें वसिष्ठजी, जनकजी, विश्वामित्रजी आदि उपस्थित हैं, श्रीरामजी यहाँ नहीं हैं। यहाँ इसी समाजको सम्बोधन करते हुए श्रीभरतजी कहते हैं 'जानि मोहि सिख देइअ स्वामी'। तीन अर्धालियोंकी क्रिया यहाँ दी गयी है। 'सिख दीजिये' यह उसीसे कहा जायगा जो सामने होगा न कि परोक्ष। प्रथम 'प्रभु' पद दिया, वैसे ही अन्तमें 'स्वामी' पद दिया है। दोनों सम्बोधन हैं और साथ ही उनका समर्थ और अपना असमर्थ होना, एवं उनका आज्ञाकर्ता और अपना अनुगामी होना जनाया है। जनकजी ही इस समाजके अगुआ हैं। उन्होंने भरतजीको सम्बोधन किया था। इसीसे उन्हींको प्रथम सम्बोधन करना आवश्यक है, यही शिष्टाचार है। इसीसे उनको प्रथम कहा। इसमें किसीकी न्यूनता नहीं। अपनेको शिशु कहेंगे इससे राजामें और गुरुमें पिता और माताका भाव प्रथम कहा। यह स्मरण रहे कि यहाँ अवधमें मन्त्रियोंका समाज नहीं है। जनकजीकी सभामें वसिष्ठजी ही गये थे—'रिषि धरि धीर जनक पहिं आए'। और जनकजी अपने समाजको लिये हुए भरतजीके पास आये हैं। अवधसमाजका यहाँ काम भी न था, वे तो कुछ उपाय सोच ही न सके। यह नया समाज है और इसमें नीतिज्ञ राजा भी मौजूद हैं। अतएव, मेरी समझमें राजाको सम्बोधन करके और गुरुकी प्रशंसा करके तब उन्होंने जनकजीसे कहा कि आज जो यह समाज जुटा है वह सब ज्ञानियोंका समाज है और आप ज्ञानिशिरोमणि हैं, इससे बढ़कर क्या है?—आप सब विचारकर आज्ञा दें वही मैं करूँ। ज्ञानिसमाजके साथ ज्ञानि-अम्बुनिधि कहा और कुलगुरुके साथ पितासम कहा। पहले नातेसे शिशु, दूसरे नातेसे सेवक कहा।

सत्यसन्ध धर्मधुरन्धर हैं, उनको संकोचमें डालना उचित नहीं, उन्हें धर्मका पालन करने दो। तुम्हारे शील, स्नेह और संकोचके कारण ही वे कष्ट सह रहे हैं। श्रीभरतजी प्रभुका अपने ऊपर प्रेम देख चुके ही थे—*'पिता बचन मेटत मन सोचू। तेहि ते अधिक तुम्हार सँकोचू॥'* अब वही राजाके मुखसे भी सुना, इससे प्रेम उमड़ आया। पूर्व भी जब रघुनाथजीके कहनेपर कि *'भरत कहहिं सोइ किए भलाई'* गुरुने उनसे कहा कि अब अपने मनकी प्रभुसे कह लो, जो कहोगे वही वे करनेको तैयार हैं तब *'लखि अपने सिर सब छरुभारू। कहि न सकहिं कछु करहिं बिचारू॥ पुलक सरीर सभा भए ठाढ़े। नीरज नयन नेह जल बाढ़े॥'* (२६०। २-३) वे सब भाव यहाँ भी हैं। और, उनके साथ ही अब वियोग भी निकट देख पड़ा, इससे यहाँ अधिक शिथिल हो गये। इसीसे 'भारी धीरज' धरना पड़ा।

* 'प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू।……'*

भाव यह कि पिता, माता, गुरु जो आज्ञा बालकको दें वही उसका कर्तव्य है। माता-पिता-गुरुको बालक आज्ञा नहीं देता। यह राजाके *'कहिय जो आयसु देहु'* का उत्तर है। यहाँ पिताके स्थानपर आप हैं, आप श्वशुर हैं, पूज्य और प्रिय हैं। गुरु वसिष्ठजी, माता और पिता दोनोंसे बढ़कर हितकर हैं और कुलगुरु भी हैं, कुलभरका हित बराबर करते आये हैं, यथा—*'दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जग जाना॥'* (२५५। ७) गुरु, पिता और माता तीनोंके विद्यमान होते हुए मुझसे *'आयसु देहु'* यह कहना सर्वथा अनुचित है।

इससे यह भी जनाया कि आप दोनों जो आज्ञा श्रीरामजीको देंगे, उसे वे भी न टालेंगे। रहा, आप आज्ञा नहीं देना चाहते और संकोच मिटानेका उपाय पूछते हैं तो कौशिक आदि मुनीश्वर इस समाजमें आज आ पधारे हैं,(कौशिकजी राजा भी थे और अपने तपोबलसे ब्रह्मर्षि एवं दूसरे विधाता हैं, इत्यादि। इसीसे इनको इस समाजमें आदि स्थान दिया); और, आप भी उपस्थित हैं जो ज्ञानके समुद्र ही हैं। *'आजू'* का भाव कि पूर्व समाजमें आप और कौशिकजी न थे, हमारे भाग्यसे इस असमंजसको दूर करनेके लिये ही आप सबका आगमन हुआ है। अपने कुलगुरुने तो भार मेरे ही सिर डाल दिया। मैं क्या कहता? मुझमें नीति और विचार नहीं। अब आप सब मुझे शिक्षा दें, वही मैं करूँ। मैं शिशु हूँ अर्थात् बालकके समान अबोध, अज्ञानी और असमर्थ हूँ। बच्चा माता-पिताके ही सहारे रहता है, यथा—*'सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥'* (४। ३) पुनः 'सेवक हूँ' अर्थात् सेवक वही है, जो सेवा करे, यथा—*'सेवक सोइ जो करइ सेवकाई'* और आज्ञापालनसे बढ़कर सेवा नहीं, यथा—*'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा'* दोनों प्रकारसे मैं आप सबकी आज्ञा और शिक्षाका ही अधिकारी हूँ, आज्ञा देनेका नहीं; अतएव मुझे जैसा सिखाइये वैसा करूँ।

नोट—२ *'सिसु सेवकु'* का भाव कि प्रौढ़ सेवक अपनेसे भी कह और कर सकता है, पर बालक सेवक वही कर सकता है जो स्वामी उससे कहे, अपनेसे वह कुछ कह या कर नहीं सकता। (पां०) अथवा, 'इस भाँति व्यतिरेक कर लें कि आप मुझे शिशु जानकर, गुरु और कौशिकादि सेवक जानकर और सुमन्त आदि मन्त्री आज्ञानुसारी जानकर सिखावन देवें।' (पं०)

'एहि समाज थल बूझब राउर। मौन मलिन……'

पां०—भाव कि यह समाज बड़ा, यह पुण्यस्थल बड़ा और आपका पूछना बड़ा—ये तीनों बातें उत्तम और मैं मौन (गूँगा), मनका मलिन और बावली बातें बोलनेवाला ये तीनों बातें बुरी।

वै०—भाव कि ऐसे समाजमें सुजानोंके बोलनेका काम है और मैं बावला हूँ, इससे मेरी बुद्धि मन्द है; समाजमें बोलने योग्य नहीं, पुण्यस्थलमें निर्मल मन चाहिये और मेरा मन शोकसे पीड़ित है, इससे मलिन है।

रा० प्र० ने भी यही लिखते हुए यह भाव लिखा है कि इससे मौन रहें यही अच्छा है, क्योंकि बोलूँगा तो निष्काम ही बोलूँगा। दीनजी, वीर कवि आदिने भी यही अर्थ किया है।

पुनः, भाव यह कि यदि मैं मौन रहूँ तो सब कहेंगे कि मन मलिन है और बोलूँ तो बावला कहेंगे।

गौड़जी—*'एहि समाज, एहि थल, एहि राउर बूझब'* (अरु) मैं मौन, मैं मलिन, मैं बोलब बाउर' इस प्रकार इस अर्द्धालीका अन्वय स्पष्ट है। ☞ क्रमालंकारसे भाव यह है कि कहाँ ऐसे ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध गुरुजनोंका समाज और कहाँ मैं जिसको ऐसे समाजमें मौन ही रहना उचित है! कहाँ यह पुण्य भूमि चित्रकूट और कहाँ मैं मलिन पातकी! और, कहाँ आप-जैसे ज्ञानाम्बुनिधिका पूछना और कहाँ उसके उत्तरमें मेरी बावली बातें! **अन्तरं महदन्तरम्!! 'सभायां वा प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समंजसम्।'** यह नीति है कि सभामें समंजस ही कहे। सो ऐसी-वैसी सभा नहीं। इस पवित्र भूमिमें ऐसे ज्ञानियोंकी सभामें आप-जैसे ज्ञानिशिरोमणि पूछें तो मैं मलिनमति मौन रहूँ तो न बने और बोलूँ तो पागलोंका प्रलाप करूँ। आप पूछें और मैं न बोलूँ तो मनकी मलिनता प्रकट ही है और बोलूँ तो ठिकानेकी कहनेकी योग्यता नहीं। अब लाचार हूँ, छोटे मुँह बड़ी बात कहनी ही पड़ती है। मेरे खोटे भाग्यपर करुणा करके आप क्षमा कीजियेगा।

यह भरत भारती है, *'अरथ अमित अति आखर थोरे'* का उदाहरण है। ध्वनिसे विस्तृत भावोंकी द्योतक है।

वि० त्रि०—मानसमें छोटे-बड़ेका बर्ताव जो दिखाया गया है वह संसारके लिये आदर्श है। भरतजी समाजके सहित रामजीको मनाने आये हैं, पर मौन हैं, क्योंकि वसिष्ठजी साथ हैं, जैसा उचित होगा करेंगे। भरतजीके आ जानेपर लक्ष्मणजी मौन हैं, इतनी कथा हो गयी मानो वे हैं ही नहीं। शत्रुघ्नजीको बोलनेका अवसर ही नहीं मिला, क्योंकि वे सबसे छोटे थे। जब वसिष्ठजीने आज्ञा दी कि *'कृपासिंधु प्रिय बंधु सन कहहु हृदय की बात',* तब बोले। जनकजीके आ जानेपर फिर मौन हैं कि पितास्थानीय जनकजी आ गये। जो उचित होगा कहेंगे, मुझे कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं। यही बात भरतजी कह रहे हैं कि आपलोग मुझसे पूछते हैं पर मैं मौन हूँ, क्योंकि आपलोग जो कह देवेंगे मुझे मंजूर है, मैं दु:खी हूँ, मलिन हूँ और आर्त विचारके नहीं बोलता, अत: ऐसी अवस्थामें मेरे मुखसे सम्भव है कि कोई धृष्टताकी बात निकल पड़े। भाव यह कि 'आपलोग सेवाधर्मका कोई विचार नहीं कर रहे हैं, मुझे आयसु (आदेश) देनेको कह रहे हैं। आपलोग बड़े हैं, आपका आदेश स्वयं सरकारपर चल सकता है।' इसी प्रकारकी धृष्टताकी बातें (पूछनेपर) मेरे मुखसे निकलेंगी।

नोट—३ *'छोटे बदन कहौं बड़ि बाता'''''।'* इति। 'छोटे मुँह बड़ी बात', यह मुहावरा है—जिस बातकी योग्यता न हो उसपर कहना। बड़ोंके सामने छोटेका बोलनेका साहस करना यह यहाँ छोटी मुँह बड़ी बात कहना है अर्थात् मैं इस योग्य नहीं। मुझ बालक और सेवकका पिता और स्वामीसे ऐसे विषयपर बोलना बड़ी धृष्टता है, पर बोलना पड़ता है अत: क्षमाप्रार्थी हूँ।

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा धरमु कठिन जगु जाना॥ ७॥
स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू। बैर अंध प्रेमहि न प्रबोधू॥ ८॥

दो०—राखि राम रुख धरमु ब्रतु पराधीन मोहि जानि।
सब कें संमत सर्बहित करिअ पेमु पहिचानि॥ २९३॥

शब्दार्थ—बैर=शत्रुता। बहिरा [बहर=बहिर=वधिर]।

अर्थ—वेद, शास्त्र और पुराणोंमें प्रसिद्ध है और संसारभर जानता है कि सेवाधर्म कठिन है॥ ७॥ स्वामिधर्मसे स्वार्थका विरोध है और प्रेम अन्धा तथा बहिरा है, उसे समझमें आता नहीं। अथवा वैर अन्धा है और प्रेम समझता नहीं॥ ८॥ श्रीरामजीका रुख, धर्म और व्रत रखते हुए तथा मुझे पराधीन जानकर, सबका प्रेम पहचानकर सबकी सम्मतिसे जो सबके लिये हितकारी बात निश्चय हो वह कीजिये॥ २९३॥

* बैर अंध प्रेमहि न प्रबोधू *

पु० रा० कु०—वैर अन्धा होता है और प्रेमको (वा, प्रेमान्धको) ज्ञान नहीं होता। वैर करनेवाला अपने वैरीमें गुण नहीं देखता और प्रेमीको अपने प्यारेमें अवगुण नहीं दीखते। अर्थात् वैर और प्रेम दोनोंको विचारसे विरोध है।

दीनजी—स्वामिधर्म और स्वार्थसे विरोध है, अर्थात् ये दोनों साधन साथ-साथ नहीं चलते। वैर तो अन्धा होता है और प्रेमको कुछ ज्ञान नहीं रहता, अर्थात् वैर और प्रेम दोनों मनुष्यको हतबुद्धि बना देते हैं; अतः चाहे आप मुझे रामका विरोधी समझिये चाहे प्रेमी, दोनों दशाओंमें मेरा कथन ठीक न होगा, अतः मुझसे कुछ न कहलाइये, वरन्। (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजीने यही अर्थ ग्रहण किया है। स्वामिधर्म अर्थात् स्वामीके प्रति कर्तव्य-पालन, निःस्वार्थ भावसे स्वामीकी सेवा करना।)

वै०—कहाँ तो स्वामिधर्म निर्वासिक और कहाँ स्वार्थ सवासिक, यह परस्पर विरोध है। वैरसे जो जीव अन्धे हैं, वे सिवाय मार डालनेके और कुछ नहीं जानते, उनमें परस्पर प्रीतिका ज्ञान नहीं हो सकता अर्थात् स्वार्थ सेवक-धर्मको नष्ट करता है। (वीरकविने इसी भावको ग्रहण किया है। यहाँ दृष्टान्त अलंकार है।)

पां०—स्वामिधर्म और स्वार्थसे विरोध है, जैसे वैरसे जिनकी बुद्धि अन्धी हो गयी है उनसे और प्रेमके ज्ञानसे विरोध है, जैसे मूशा-बिल्ली आदिका।

रा० प्र०—वैरसे अन्धेको और अनन्य भक्त प्रेमीको चेत नहीं रहता। भाव कि जैसे स्वार्थीको स्वार्थ छोड़ और किसी बातका चेत नहीं रहता वैसे ही स्वामिधर्मपरायण अनन्य भक्तको अपना धर्म छोड़ स्वार्थका चेत नहीं रहता।

पं०—'स्वामिधर्म भी कठिन है क्योंकि स्वार्थका विरोधी है। आशय यह कि राज्य ग्रहण करनेसे सेवारूपी स्वार्थ नष्ट होता है, क्योंकि उसमें स्वामीसे वैर उत्पन्न होता है। जो कहो कि वैर उत्पन्न होने लगे तब पुनः स्नेह कर लेना, उसपर कहते हैं कि जब मनुष्य वैरसे अन्धा हो जाता है तब उसपर प्रेमका प्रबोध नहीं होता।········ ***'प्रेम पहिचानि'*** का भाव यह कि जिससे रघुनाथजीके साथ प्रीति बनी रहे।'

वि० त्रि०—***'स्वामि धर्म····प्रबोधू'*** इति। भाव यह कि यहाँपर स्वामीके धर्मसे और मेरे स्वार्थसे विरोध पड़ गया। स्वामीका धर्म उन्हें वन जानेके लिये विवश किये हुए है और मेरा स्वार्थ उनके घर लौटनेमें है, अतः दोनोंका विरोध स्पष्ट है। और वैर अन्धा होता है। वैरी वैरीके गुणको नहीं देखते। सो न तो स्वामीका धर्म मेरे स्वार्थको देखता है और न मेरा स्वार्थ स्वामीके धर्मको देखता है। चाहिये तो यही कि ऐसे अवसरपर सेवक अपने स्वार्थका परित्याग करे, पर यहाँ स्वार्थ तो शुद्ध प्रेम है, और प्रेमको प्रबोध नहीं होता, अर्थात् मन किसी भाँति नहीं मानता।

श्रीनंगे परमहंसजी—'सेवा-धर्ममें यदि सेवकको स्वार्थ आ गया तो स्वामिधर्ममें विरोध हो गया। स्वामीका धर्म क्या है? सेवककी रक्षा करना। उस रक्षाधर्ममें विरोध हो गया अर्थात् स्वामीने सेवककी रक्षा करना छोड़ दिया, यही स्वामिधर्म और स्वार्थसे विरोध है। इसी स्वामिधर्मके विरोधमें भरतलालने अन्धेका उदाहरण दिया है कि अन्धेने जब अपने स्वामीसे स्वार्थ किया तब स्वामीसे वैर हो गया और जब वैर हुआ तब प्रेम जाता रहा; फिर स्वामीने अपने रक्षाधर्मको छोड़ दिया तब अन्धेको हर एक बातमें कष्ट होने लगा। यहाँ स्वामिधर्म और स्वार्थमें विरोध पड़ गया।

'अन्धेका स्वामी कौन है? उसका स्वामी वही है जो उसको भोजन बनाकर देता था। वस्त्र-जल आदि देना और मल-मूत्र कराना यह सब शरीरकी रक्षा करता था। अन्धेको जब स्वार्थ हो गया तब स्वामी अपना धर्म छोड़ देगा तब जो उस अन्धेपर शारीरिक दुःख गुजरेगा वह विदित है। अतः भाव कि जैसे अन्धा पराधीन है, स्वार्थ करनेसे दुःख उठाता है, वैसे ही हम भी पराधीन हैं, स्वार्थ करनेसे हानि होगी।'

'किसीने अर्थ किया है कि 'वैर अन्धा होता है'। उन्होंने 'अन्ध' का अर्थ वास्तविक अन्धा नहीं किया है। जब मूल पाठमें 'बैर' शब्द अलग है, 'अन्ध' शब्द अलग है और 'प्रेम' शब्द भी अलग है, तब इन शब्दोंका अर्थ भी वास्तविक होना चाहिये, क्योंकि स्वामिधर्म व स्वार्थमें जो विरोध है वह वास्तविक है। अत: उदाहरणमें जो रूपक दिखाना होगा वह वास्तविक रूपक दिखाना होगा। इसलिये वैरको अन्धा बनाकर अर्थ करना अनर्थ है और पूर्व अर्थ ही यथार्थ है।'

* 'राखि रामरुख धर्मव्रत पराधीन मोहि जानि'*

'पराधीन मोहि जानि' से जनाया कि जो स्वतन्त्र होता है वही कुछ कर सकता है। मैं पराधीन हूँ, अतएव मैं कदापि कुछ नहीं कह सकता। जो सबका सम्मत हो और मुझे आज्ञा हो वह मैं करूँगा। जनकजीने जो कहा था कि ***'राम सत्यब्रत धरम रत सब कर सील सनेह। संकट सहत सँकोचबस कहिय····'***, उसका यह उत्तर है। वे सत्यव्रत हैं, उनका व्रत न टूटे। धर्मरत हैं, पितृ-आज्ञारूपी धर्म भी रहे, सबपर उनका शील और स्नेह है वह भी ज्यों-का-त्यों बना रहे, साथ ही सबका प्रेम जो उनपर है उसका भी विचार कर लीजिये, उनका प्रेम भी बना रहे, और जो आपने कहा कि संकोचवश संकट सहते हैं उसके लिये यहाँ कहते हैं—***'राखि रामरुख'*** अर्थात् उनकी जैसी रुचि हो वैसा ही किया जाय, जिससे उनके मनमें संकोच न हो। यह बात प्रथम दरबारमें भरतजी कह भी चुके हैं—***'अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा॥'*** जो राजाने कहा कि ***'कहिय जो आयसु देहु'*** उसके उत्तरमें यहाँ ***'पराधीन मोहि जानि। सबके संमत सर्बहित करिय'*** ये वचन हैं। 'सर्वहित' में परिजन और अपना भी हित सूचित किया।

पु० रा० कु०—(क) रामरुखको सर्वप्रधान रखा, इसीसे उसे प्रथम कहा। 'पराधीन' का भाव कि स्वामीका जैसा रुख होगा वैसा ही मैं करूँगा। क्योंकि ***'आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा धरम कठिन जग जाना॥ स्वामिधरम स्वारथहि बिरोधू।'*** ऐसा सेवकका धर्म है। (ख)—पहले सेवाधर्म कहकर तब दिखाया कि यहाँ जितनी बातें हैं उन सबोंमें परस्पर विरोध है। राम-रुख-धर्म-व्रत रखना सेवा-धर्म है, सर्वहित और सर्वप्रेम रखना यह स्वार्थ है। दोनों परस्पर विरोधी हैं। इसका निर्धारण कठिन है। (ग) भरतभाषणमें प्रथम सबकी बड़ाई है फिर अपने धर्मका सँभार है। (घ) भरतजीने रामजीकी आज्ञाको प्रधान रखा, यही दरबारमें कहा है और आगे भी कहेंगे—***'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावइ देवा॥'*** इसीमें सब बात बनी—रामरुख रहा, धर्म रहा, व्रत रहा, भरतकी पराधीनता रही अर्थात् सेवक-धर्म रहा, यथा—***'भरतहि भयउ परम संतोषू'***, सबका सम्मत रहा, क्योंकि रामाज्ञापालन ही सर्वसम्मत है और सबका हित हुआ, यथा—***'राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।'*** और सबका प्रेम रहा।

दीनजी—(१) आशय यह है कि मैं अपनेको दोषी समझता हूँ और श्रीरामजी ***'स्वामि सनेह सराहत साधू'*** अर्थात् अपना प्रेमी समझते हैं। यदि मेरी बात सत्य है तो भी मैं हतविवेक प्रमाणित होता हूँ ***(बैर अंध प्रेमहिं न प्रबोधू)***, अत: मेरा कथन ठीक न होगा, आपलोग जो उचित समझिये सो कीजिये।

(२) भरतजीके इन वचनोंका तात्पर्य बड़ा गूढ़ है। जिस प्रकार चाहिये और जितने चाहिये व्यंग निकालते चले जाइये। सब ठीक उतरेंगे। अत: गोसाईंजी इन वचनोंको आगे ***'अति अद्भुत बानी'*** कहते हैं।

पाँड़ेजी—अर्थ यह है कि रामके धर्म-व्रतका रुख रखकर मुझे पराधीन जानकर सर्वसम्मत और सर्वहित प्रेमसे पहचानकर कीजिये। भाव यह कि रामजीका धर्म रखना सर्वसम्मत है और रामव्रत रखनेमें सर्वहित है,आप यही निश्चय कीजिये। यह बात प्रेमसे पहचानी जा सकती है, अत: प्रेमसे पहचानकर करनेको कहा।

रा० प्र०—ये वचन परस्परविरोधी हैं, इनका निर्वाह कठिन है कि रामजीका पितु-आज्ञापालनरूपी धर्म रहे और प्रजाकी रुचि भी रहे (यह व्रत)। रामजी दोनोंको निबाहेंगे—शरीरसे धर्म और पादुका देकर व्रत।

गौड़जी—सेवाधर्म कठिन है। सभी जानते हैं। कैलाससे भी अधिक भारी है। स्वामीका धर्म स्वार्थका

विरोध है। स्वामीका धर्म है पिताकी आज्ञाका पालन और सत्यका व्रत तथा उससे स्व अर्थात् मेरे अर्थका सेवाधर्मका विरोध है, क्योंकि मैं चाहता हूँ कि प्रभु राज्य करें और मैं सेवा करूँ, मेरे होते प्रभुको वनवासका कष्ट हो यह मैं सह नहीं सकता। इस मेरे स्वार्थके साथ स्वामिधर्मका विरोध है। इसपर यह कहा जा सकता है कि सेवकको उचित है कि स्वामीके धर्मके आगे अपने स्वार्थको झुका दे, अपने स्वार्थका त्याग करे। स्वामिधर्मकी रक्षाके लिये सेवक धर्म छोड़ दे, तो यह कैसे हो सकता है? न स्वामी अपना छोड़े न सेवक अपना, क्योंकि वैर अंधा होता है, अपना ही स्वार्थ देखता है। और जो यह कहिये कि स्वामिधर्मको सेवाधर्मसे इस प्रसंगमें विरोध भले ही हो, पर सेवाधर्मकी नींव तो प्रेमपर है, तो प्रेमको समझ-बूझ इतनी नहीं है कि वह सेवाधर्मका त्याग करे। प्रेम तो अंधा है। वह पर (स्वामीका) अर्थ नहीं देखता, बहिरा है, वह किसीकी सुनता नहीं, एतावता उसे किसी तरहसे प्रबोध नहीं होता। इसलिये मुझसे न पूछिये। मैं तो यह सब जानते हुए भी किंकर्तव्यविमूढ़ हूँ। मैं तो पर (रामजी—स्वामी) के अधीन हूँ। वह जो चाहें करें। मेरी यही स्थिति समझिये। जिसमें रामजीकी इच्छा पूरी हो, वही उपाय कीजिये। परंतु साथ ही स्वामिधर्म और व्रत भी रहे। मैं स्वामीके धर्म-व्रतको हानि नहीं पहुँचाना चाहता। मैं तो सेवक हूँ, स्वामीकी बात रखना मेरा धर्म है। सबकी सम्मति भी होनी चाहिये क्योंकि स्वामी सबके हैं। स्वार्थ भी सबका है। प्रेम भी सबको है। सबका हित जिसमें हो और किसीके प्रेमकी अवहेलना भी न हो, वही उपाय कीजिये। भाव यह कि 'रामरुख' सर्वोपरि है। उनकी आज्ञा तो मैं, दास ठहरा, करूँगा ही ***(आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा)*** पर सभी उनके प्रेममें लीन हैं, सबका हित और सबकी सम्मति उन्हींकी आज्ञापालनमें होगी। इसलिये यह संकेत किया कि उन्हींकी आज्ञा लेनी चाहिये।

भरत बचन सुनि देखि सुभाऊ। सहित समाज सराहत राऊ॥ १॥
सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे॥ २॥
ज्यों मुखु मुकुर मुकुरु निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी॥ ३॥
भूप भरतु मुनि साधु* समाजू। गे जहँ बिबुध कुमुद द्विजराजू॥ ४॥

अर्थ—श्रीभरतजीके वचन सुनकर और उनका स्वभाव देखकर समाजसहित राजा जनक उनकी प्रशंसा कर रहे हैं॥ १॥ भरतजीकी वाणी सुगम है और अगम भी, कोमल भी है और कठोर भी है, सुन्दर भी है। उसमें अक्षर तो बहुत कम हैं पर अर्थ अत्यन्त अमित हैं॥ २॥ पुनः, जैसे मुँह दर्पणमें (देख पड़ता) है और दर्पण अपने हाथमें है पर वह मुँह (का प्रतिबिम्ब) पकड़ा नहीं जा सकता ऐसी ही यह वाणी अद्भुत है॥ ३॥ राजा, भरत, मुनि (वसिष्ठ, कौशिक आदि) समाजसहित वहाँ गये जहाँ देवतारूपी कुईंके (लिये) चन्द्र श्रीरामजी थे॥ ४॥

शिला—कहनेमें सुगम, सुननेमें मृदु, समझनेमें अगम हैं। उसमें पदार्थ मंजु अर्थात् विशद है। औरोंसे कहनेमें कठोर हैं।

वै०—स्वामीका रुख रखना सबको सुलभ है अतः ***'राखि रामरुख'*** सुगम है। सबका सम्मत हो यह अगम है क्योंकि पुरवासी चाहेंगे कि लौट चलें और ऋषि आदि चाहेंगे कि वनको जायँ। वचनोंमें मृदुता यह है कि 'रामजीका धर्म' भी रहे, धर्म रखनेसे दया, उदारता आदिसे सबका पालन होगा, यही कोमलता है। 'सर्वहित' यह मंजुलता है, यह सभी चाहते हैं, सभीको सुहावना लगता है कि हमारा हित हो। मंजु=उज्ज्वल जो सबको अच्छा लगे और वचनोंमें कठोरता यह है कि श्रीरामजीका सत्यव्रत रहे: क्योंकि इनसे वनमें रहना ही निश्चय होता है जो पुरजनोंको दुःखद है। अक्षर थोड़े और अर्थ बहुत ***'प्रेम पहिचानि'*** में हैं। इसके भाव अगली चौपाईमें कहेंगे।

---

* सहित—रा० प०, गी० प्रे०। साधु—ना० प्र०, भा० दा०, रा० बा० दा०।

'सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे।.........'

पाँ०—सुगम अगम, मृदु कठोर,श्रीभरतजीकी वाणीके विशेषण हैं और मंजुका अन्वय चारोंके साथ है। इन चारोंमेंसे दो-दोका साथ है—सुगम और मृदुका साथ तथा अगम और कठोरका साथ है। *'राम रुख राखि'* और *'पराधीन मोहि जानि'* यह मंजु, सुगम और मृदु हैं और श्रीरामजीका धर्मव्रत रखना यह सुन्दर, अगम और कठोर है। पिताकी आज्ञाका पालन करें तो धर्म रहे, क्योंकि *'पितु आयसु सब धरमक टीका'* और अवधवासियोंकी रुचि रखना व्रत है, यथा—*'राम सदा सेवक रुचि राखी'।* दोनों परस्परविरोधी हैं। इनका निर्वाह कठिन है; इसीसे ये वचन अगम-कठोर हैं।

टिप्पणी—(१)पु० रा० कु० सुननेमें सुगम, समझनेमें अर्थात् विचार करनेपर अगम, कहनेमें मृदु और करनेमें कठोर हैं। मंजुका अन्वय सबमें है, यह सब पदोंका सम्बन्धी है, किसीकी जोड़में नहीं है। यथा—*'सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषनसहित'* में सखर-सुकोमलका सम्बन्ध है और दोषरहित-दूषनसहितका सम्बन्ध है, पर मंजु किसीका सम्बन्धी नहीं तथा यहाँ भी जानिये।

टिप्पणी—(२) *'राखि राम रुख'* सुगम, *'राखि धर्म व्रत'* अगम, *'मोहि पराधीन जानि'* मृदु, *'सबके संमत'* मंजु और *'सर्वहित'* कठोर है। [सुगम-अगम तो पाँड़ेजीकी टिप्पणीसे स्पष्ट हैं। 'पराधीन हूँ' ये बड़े विनम्र वचन हैं अतः मृदु हैं। सर्वसम्मत मंजु है क्योंकि सब वही सम्मति देंगे जिसमें उनका हित होगा जो वे अच्छी समझेंगे। 'सर्वहित' कठिन है, क्योंकि जिससे एकका हित हो वही दूसरेके लिये अहित हो सकता है, सबका हित कठिन। पुरवासियोंका हित हो तो देव, मुनि आदिका अहित है।]

टिप्पणी—(३) यहाँ यह दिखाते हैं कि उत्तम वाणीमें क्या-क्या बातें चाहिये। प्रबन्ध बाँधनेमें सुगम हो; भावकी गम्भीरतामें अगम हो; कानोंके लिये मृदु हो; मंजु हो, अर्थात् रोचक और सर्वशास्त्रोंसे निर्दूषित हो और समझनेमें कठोर हो, सिद्धान्त जल्द न समझ पड़े। साथ ही अक्षर अत्यन्त थोड़े और अर्थ अमित हों। ये सब बातें जिसमें हों वही प्रबन्ध है।

वै०—(१) *'राखि राम रुख.....'* यह दोहा मुकुर है और जो पूर्व कहा कि *'सब तें सेवक धरमु कठोरा'* *'स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू'* यह वचन मुख है। जो दोहेमें कहा कि *'पराधीन मोहि जानि'* यह सेवक-धर्मका प्रतिबिम्ब देख पड़ता है। पर इसका आशय नहीं मिलता कि क्या करनेको कहते हैं। (२) आशय यह है कि मैं अपना स्वार्थ नहीं चाहता जो स्वामीकी आज्ञा होगी वही करूँगा। 'जानि' अर्थात् यह सिद्धान्त जान लीजिये। भाव कि जैसे मैं सेवक हूँ ऐसे ही सब सेवक हैं, सबको प्रभुकी आज्ञा प्रसन्न मनसे पालन करना चाहिये। इस प्रकार रामरुख रखनेसे सबका सम्मत मिलेगा। (३) रामजीका धर्म सत्यव्रत रखकर प्रेम पहचानकर सबका हित कीजिये। *'प्रेम पहिचानि'* में अमित अर्थ हैं—छोटे-बड़े सभीका रामपर प्रेम है उसे जानकर रघुनाथजी उसको प्रेमपूर्वक धीरज देकर जो आज्ञा देंगे वह उसे हर्षपूर्वक करेगा। इस प्रकार दोनों समाज लौट जायँगे किसीका प्रेम भंग न होगा, वरन् आज्ञापालनसे सबका हित होगा और रामजीका धर्मव्रत भी रहेगा।

दीनजी—*'सुगम अगम'* में मैं बैजनाथजीसे सहमत हूँ। 'सर्वहित' मृदु है क्योंकि हित चाहना उत्तम वृत्ति है। *'पराधीन मोहि जानि'* यह मंजु है और *'प्रेम पहिचानि'* यह कठोर है। भाव यह कि आप विदेह हैं, मेरा और रामका परस्पर प्रेम आप कैसे जान सकते हैं, प्रेममार्ग आपकी समझसे बाहर है।

नोट—अधिक टीकाकारोंने दोहे ही भरमें ये सब विशेषण घटाये हैं। पंजाबीजी आदिने श्रीभरतजीकी समग्र वाणीमें ये विशेषण यों घटाये हैं—

सुगम—*'प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुलगुरु सम हित माय न बापू॥'*

अगम—*'कौसिकादि मुनि सचिव समाजू। ग्यान अंबुनिधि आपुनु आजू॥'*

मृदु—*'सिसु सेवक आयसु अनुगामी.....।'*

मंजु—*'मौन मलिन मैं बोलब बाउर।'* इसमें अर्थकी सरलता और लालित्यता भरी है, इसीमें कार्पण्य भी है।

कठोर—*'सेवाधरम कठिन जग जाना'* यह कठिन है।

'अर्थ अमित आखर अति थोरे'—'बैर अंध प्रेमहि न प्रबोधू' और *'राखि रामरुख धरम ब्रत पराधीन मोहि जानि। सबके संमत सर्बहित करिय प्रेम पहिचानि'* इनमें असंख्य अर्थ भरे हैं। अक्षर बहुत थोड़े हैं।

पंजाबीजी लिखते हैं कि *'प्रभु……प्रिय'* सुगम हैं, क्योंकि इनमें गुरु और श्वशुरका मान है। इनका मान सब रखते हैं। *'कौसिकादि……'* दो चरण अगम हैं, क्योंकि मुनियोंका मान रखना और ज्ञानका माहात्म्य लखना लोगोंको कठिन है। *'सिसु सेवक……'* दो चरणोंके वर्ण मृदु और अर्थ भी, एवं आयसुमें भी। *'एहि समाज थल……'* चार चरण मनोहर हैं। सुन्दरता यह है कि इनमें अपनी अत्यन्त नम्रता कही है। *'आगम निगम……'* ये दो पद कठिन हैं, क्योंकि सेवा करनेमें अति कष्ट है। *'स्वामि धरम…'* से दोहेतक अल्प अक्षर हैं पर अर्थकी थाह नहीं, अति विस्तृत है, जहाँतक जिसकी बुद्धि पहुँच सके वहाँतक विस्तार कर सकता है।

रा० प्र०—*'गहि न जाइ अस अद्भुत बानी'* इति। यहाँ वचन मुकुर और अर्थ मुँहका प्रतिबिम्ब है। भाव कि 'जो शब्द कहे वे सब स्पष्ट हैं और अर्थ भी भलीभाँति समझा जाता है पर व्यवस्था नहीं हो सकती। 'दर्पण देखनेवाला अपना मुख पकड़े तो दर्पणमें मुख पकड़में आता है', देवस्वामीजीके इस भावका आशय यह है कि यदि भरतजी प्रसन्न हो जायँ, उनकी कृपा हो तो वाणी पकड़में आ जावे।' 'उसका आशय समझमें आ जाय।'

वि० त्रि०—*'ज्यों मुख मुकुर……बानी'* इति। ऊपर कह आये हैं *'अर्थ अमित अति आखर थोरे।'* उसीकी उपमा देकर स्पष्ट करते हैं। छोटा-सा दर्पण है, वह हाथमें आ जाता है, उसी भाँति थोड़ी-सी बात कही जिसके अर्थ-ग्रहणमें कोई कठिनता न थी। जिस भाँति उस छोटे-से दर्पणके द्वारा मुख रंग-रूपके सहित प्रतिबिम्बित होता है, उसी भाँति उस थोड़ी-सी बातमें भावार्थ भरा था, और स्पष्ट प्रतिभात होता था। पर जिस भाँति प्रतिबिम्बित मुख पकड़में नहीं आता, उसी भाँति उस भावार्थका उत्तर किसीको नहीं सूझा, तब सब लोग श्रीरामजीके पास गये।

श्रीनंगे परमहंसजी—'श्रीभरतजीका वचन है कि *'श्रीरामजीका रुख राखि'* । 'रुख' दो अक्षरका शब्द है पर उसका अर्थ बहुत है। बहुत कहते हैं विस्तारको अर्थात् हर एक बातोंमें रुख रखना। पुनः वचन है *'श्रीरामजीका धर्म राखि।'* 'धर्म' में भी तीन ही अक्षर हैं पर धर्मको रखनेमें अर्थ विस्तारसे होगा। इसी तरह *'ब्रत राखि'* आदि बहुत-से वचन हैं जिनमें अक्षर थोड़े हैं और अर्थ अमित हैं। परंतु कोई-कोई महात्मा एक शब्द या एक चौपाईका अर्थ कई प्रकार करते हैं और इन्हीं भरतजीके वचनोंका उदाहरण देते हैं कि *'अर्थ अमित अति आखर थोरा'* तो अमितका अर्थ विस्तार होगा न कि कई प्रकारका होगा, बल्कि एक शब्दका अर्थ एक स्थलपर एक ही होगा, कई प्रकारका अर्थ हो ही नहीं सकता। यदि कोई एक स्थलपर एक शब्दका अर्थ कई प्रकारका करेगा तो वह गँवारके सदृश कहा जायगा; क्योंकि विद्वान् एक शब्दका एक ही अर्थ करेगा। यदि दो अर्थ किया होगा तो सन्देहमें किया होगा। उसको निश्चय नहीं था नहीं तो निश्चयमें एक ही अर्थ होता।……दो अर्थ करनेवाला सन्देहमें है और कई अर्थ करनेवालेको तो कुछ बोध ही नहीं है। अतः श्रीभरतजीके वचनोंका अर्थ एक प्रकारका अमित है। कई प्रकारका अर्थ करना अयोग्य है।

दीनजी—वे ठीक कहते हैं पर उसका पालन अति कठिन है।

नोट—*'गे जहँ बिबुध कुमुद द्विजराजू'* —ये शब्द आगे दरबारेआमके 'बीज' रूप हैं। दरबारमें क्या निर्णय होगा यह कविने आदिमें ही 'सूत्र' या 'बीज' रूपसे जना दिया। यह पूज्य कविकी शैली है। उनकी इस चतुराईको ठौर-ठौरपर इस तिलकमें दिखलाया गया है—चन्द्रमा ब्रह्माण्डभरमें विचरता है, यद्यपि

जन्म उसका सिन्धुमें है, वह कुईंको खिलाता है। वैसे ही प्रभु देवताओंको (जो सोचमें पड़े हैं) विकसित करेंगे, उनके लिये वनको जाना आज निश्चय करेंगे। *'बिबुध'* शब्द यहाँ आदिमें दिया है, आगे देवताओंके सोच प्रसंग २९५ (१—८) में यही शब्द दिया गया है। यथा—*'पालु बिबुध कुल करि छल छाया', 'बिबुध बिनय सुनि देवि सयानी।', 'बिबुध बिकल निसि मानहुँ कोका।'* इन्द्रने सरस्वतीसे प्रार्थना की कि बिबुधकुलका पालन करे पर वह समर्थ न हुई, तब वे व्याकुल हुए। श्रीरामचन्द्रजी उनके सोच और संकट दोनोंको हरण कर उनको सुख देंगे, वे प्रफुल्लित होंगे, यथा—*'गावत गुन सुर मुनि बर बानी।'*

सुनि सुधि सोच बिकल सब लोगा। मनहुँ मीनगन नव जल जोगा॥ ५॥
देव प्रथम कुलगुर गति देखी। निरखि बिदेह सनेह बिसेषी॥ ६॥
रामभगति मय भरतु निहारे। सुर स्वारथी हहरि हिय हारे॥ ७॥
सब कोउ रामपेममय पेखा। भये अलेख सोच बस लेखा॥ ८॥

दो०—रामु सनेह सकोच बस कह ससोच सुरराजु।
रचहु प्रपंचहि पंच मिलि नाहिं त भयेउ अकाजु॥ २९४॥

शब्दार्थ—**जोग**=संयोगसे, मिलनेसे। **नव जल जोगा**=माँजासे। अलेख=जिसका लेखा या हिसाब न हो सके, बे-अन्दाज, बहुत अधिक। **लेखा**=देवता, यथा—*'चढ़े बिमानन लेख अलेखन बर्षहिं मुदित प्रसून'*—(रघुराज) **'आदितेया दिविषदो लेखा अदितिनन्दनाः, इत्यमरः।** **पंच**=सर्वसाधारण, सब लोग, यथा—*'पंच कहें सिव सती बिबाही'।* =पाँच या अधिक प्रधान लोगोंका समाज।

अर्थ—यह खबर पाकर सब लोग सोचसे व्याकुल हैं, मानो मछलियाँ नये (प्रथम वर्षाके) जलके संयोगसे छटपटा रही हैं॥ ५॥ देवताओंने पहले कुलगुरु श्रीवसिष्ठजीकी दशा देखी (फिर) विदेह राजाके विशेष स्नेहको देखा॥ ६॥ श्रीभरतजीको देखा कि वे तो रामभक्तिमय हैं (वे रामभक्तिरसलीन हैं, उनमें रामभक्ति भीतर-बाहर परिपूर्ण है)। (यह देख) स्वार्थी देवता घबड़ाकर हाय करके हृदयसे हार गये (अर्थात् अब हम निपट बेबस हैं, हमारा किया कुछ नहीं हो सकता, ये लोग अवश्य श्रीरामजीको लौटा ले जायँगे)॥ ७॥ समाजके सभी लोगोंको रामप्रेममय देखा तो देवता बेहद सोचके वश हो गये॥ ८॥ देवराज इन्द्र सोचयुक्त (चिन्तातुर) होकर कहने लगे कि श्रीरामजी स्नेह और संकोचके वश हैं; अतः सब पंचलोग मिलकर माया रचो, नहीं तो काम बिगड़ता है॥ २९४॥

नोट—यहाँ श्रीवसिष्ठजी, विदेहजी और सब समाजके लिये क्रमसे पृथक्-पृथक् 'देखी, निरखि, निहारे और पेखा' क्रियाएँ दी गयी हैं। ये सब पर्यायवाची शब्द हैं पर तो भी इनमें सूक्ष्म विचार करनेसे कुछ भेद भी देख पड़ेगा। प्रिय पाठक विचार करें।

टिप्पणी—१ *'सुनि सुधि सोच बिकल सब लोगा।.....'* इति। जब समाज चला तब सबको खबर मिली कि *'राखि रामरुख धरमब्रत'* यह सबका सम्मत निश्चय हुआ है। अतएव वे व्याकुल हुए क्योंकि रामरुख तो वनवास और पितु-आज्ञापालनका ही है। वियोग निश्चय हो गया। *'मनहुँ मीनगन नवजल जोगा'* का भाव *'माँजा मनहुँ मीन कहुँ ब्यापा'*—१५३ (६) देखिये।

टिप्पणी—२ कुलगुरुगति, यथा—*'भये सनेह सिथिल मुनिराऊ'।* 'विदेह सनेह', यथा—*'सुनि मुनिबचन जनक अनुरागे। लखि गति ज्ञान बिराग बिरागे॥'* से *'तापस मुनि महिसुर गति देखी। भये प्रेमबस बिकल बिसेषी॥'* तक (२९२। १—५) भरत तो *'राम प्रेम मूरति तनु आहीं।'* (१८४। ४) *'तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥'* (२०८। ८) 'रामभक्तिमय' का भाव भी वही है जो इन चौपाइयोंका है। *'सब कोउ रामपेममय'* यथा—*'सहज सुभाय समाज दुहु रामचरन अनुरागु।'* (२८०) *'जाहिं सनेह सुरा सब छाके।'* (२२५। ३)

टिप्पणी—३ *'सुर स्वारथी हहरि हिय हारे'* इति। घबड़ा उठे, हृदयसे हार गये; क्योंकि एक ही प्रेमीका संकोच बहुत होता है और यहाँ तो तीन परिपूर्ण स्नेही हैं, फिर इनके संकोचसे क्यों न लौटेंगे। ये सब तो रामरुख रखनेका ही सम्मत करके गये हैं, पर देवता स्वार्थमें अन्धे हो रहे हैं, उन्हें यह नहीं सूझता; वे तो यही समझते हैं कि लौटाने जा रहे हैं। दूसरे भरतवाणी ही ऐसी है कि उसे न समझ सके होंगे।

टिप्पणी—४ *'भये अलेख सोच बस लेखा'* इति। पहले तीनपर ही दृष्टि थी, अब देखा कि समाजभर रामप्रेममय है, इससे उनके सोचका लेखा न रह गया। इनको लेखासे भी अधिक सोच हो गया, लेखा होकर भी अलेख सोचवश हुए, इसमें 'पदार्थावृत्ति दीपक अलंकार' है। प्रेमगुणसे इनको सोच होना 'तीसरा उल्लास' है।

टिप्पणी—५ *'रामु सनेह सकोच·····'* इति। इसके जोड़का दोहा *'राम सकोची प्रेमबस भरत सुपेम पयोधि। बनी बात बिगरन चहति करिय जतन छल सोधि॥'* (२१७) है। वही भाव यहाँ भी है। भाव कि श्रीरामजी स्नेहके वश हैं और यहाँ सभी स्नेही हैं, तब हमारा काम बिगड़ा ही जानो। बृहस्पतिजीके समझानेपर भी इन्हें ढाढ़स न हुआ, बार-बार सोचवश हो जाते हैं, यह जीवका धर्म ही है, यथा—*'हरष बिषाद ज्ञान अग्याना। जीव धरम अहमिति अभिमाना॥'* (बा० ११६।७) पुनः, स्वार्थवश बुद्धि जड़ हो गयी है, इससे सोचवश हैं।

सुरन्ह सुमिरि सारदा सराहीं। देबि देव सरनागत पाहीं॥ १॥
फेरि भरत मति करि निज माया। पालु बिबुधकुल करि छल छाया॥ २॥
बिबुध बिनय सुनि देबि सयानी। बोली सुर स्वारथ जड़ जानी॥ ३॥
मो सन कहहु भरतमति फेरू। लोचन सहस न सूझ सुमेरू॥ ४॥

अर्थ—देवताओंने सरस्वतीका स्मरण (आवाहन) करके उसकी प्रशंसा की। (और स्तुति करके कहा) हे देवी! देवता आपकी शरणमें प्राप्त हैं, रक्षा कीजिये॥ १॥ अपनी माया रचकर भरतकी बुद्धिको फेरकर छलरूपी छाया करके देवकुलका पालन कीजिये॥ २॥ देवताओंकी प्रार्थना सुनकर और उन्हें स्वार्थके वश होनेसे जड़ समझकर चतुर देवी सरस्वती (इन्द्रको सम्बोधन करके) बोली—॥ ३॥ मुझसे कहते हो कि भरतकी बुद्धि पलट दो, हजार नेत्रोंसे भी तुमको सुमेरु नहीं सूझ पड़ता॥ ४॥

वि० त्रि०—*'सुरन्ह सुमिरि·····पाहीं'* इति। सुरराजने कहा कि पंच मिलकर प्रपंच करो, पर देवता लोग सरस्वतीका आवाहन करके स्तुति करने लगे। समझा कि हम लोगोंका रचा प्रपंच भरतपर काम न करेगा। शारदा देवीने भरतकी माँकी बुद्धि फेर दी, वही भरतकी बुद्धि फेरनेमें समर्थ है। भरतलालको राज्यकी कामना हो जाय, फिर तो सब काम बना-बनाया ही है। अतः शरणागत हो रहे हैं, जिसमें देवी उनकी विनयको अस्वीकार न करे।

नोट—१ *'पालु बिबुधकुल करि छल छाया'* इति। जैसे घामकी तपनसे बचनेके लिये छाताकी छाया करते हैं वैसे श्रीरामजीका लौटना ग्रीष्मकी तपन है, उससे बचनेके लिये छलरूपी छत्रकी छाया चाहते हैं।

नोट—२ *'बिबुध बिनय सुनि देबि सयानी।·····'* इति। (क) सरस्वती देवताओंके भुलावेमें नहीं आयी और चतुरोंकी-सी बात कही, अतः 'देवी और सयानी' कहा। देवी=देवता, ब्रह्माकी स्त्री और दिव्यज्ञानवाली है। विनयके साथ बिबुध अर्थात् विशेष बुद्धिसूचक बड़ा नाम दिया; क्योंकि आवाहन किया, कैसी प्रशंसा-स्तुति की कि 'शरणागत' हैं, पाहि-पाहि!' काम निकालनेके लिये बड़ी बुद्धिमानीकी विनय की। और 'जड़' के साथ 'सुर' छोटा शब्द दिया। (ख) *'जड़ जानी'* अर्थात् कहनेको तो बिबुध हैं पर वस्तुतः स्वार्थवश विगतबुद्धि हैं, जड़-सरीखे हो रहे हैं, बृहस्पतिजी दो बार समझा चुके तब भी इन्हें हानि-लाभका यथार्थ बोध नहीं हुआ—*'समुझाये सुरगुरु जड़ जागे'*— (२४१।८) देखिये। पुनः, *'स्वारथ बिबस बिकल तुम्ह होहू'* इत्यादि २२० (२) देखिये। जड़ हो गये इसीसे भरतजीकी वाणीको न समझे।

प० प० प्र०—यह उपदेश है कि जीव स्वार्थवश होनेसे जड़ (मन्दबुद्धि) हो जाते हैं, उनकी विवेक-विचार-शक्तिका विनाश हो जाता है। सयाने देवता ऐसे स्वार्थी मन्दबुद्धि लोगोंकी आर्तिपूर्ण विनय भी नहीं सुनते।

नोट—३ *'लोचन सहस न सूझ सुमेरू'* इति। यहाँ परम प्रेममय श्रीभरतजी सुमेरु हैं, यथा—*'कहिअ सुमेरु कि सेर सम कबिकुल मति सकुचानि।'* (२८८) *'.....भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहि.....'* इत्यादि। [भरतजीकी मति सुमेरु पर्वतकी तरह भारी है। यथा—*'सोक कनक लोचन मति छोनी। हरी बिमल गुन गन जग जोनी॥ भरत बिबेक बराह बिसाला। अनायास उघरी तेहि काला॥'*—(नं० प०)] भाव कि जिसके एक भी आँख हो वह सुमेरुको देख सकता है, और तुम्हारे हजार नेत्र हैं तब भी नहीं देख सकते, यह आश्चर्य है। भरतके प्रेम, बुद्धि एवं महिमा आदिकी थाह वसिष्ठ, जनक, विधि, हरि, हर आदि तो पा ही न सके, प्रत्युत उनके प्रेमको देख स्वयं प्रेममें मग्न हो जाते हैं, यह तुमको नहीं देख पड़ता। उनकी मति कोई फेर सकेगा? पंजाबीजी लिखते हैं कि सरस्वती बुद्धिमती हैं, इनको स्वार्थपरायण व जड़ और बुद्धिहीन जानकर ये अपमानके वचन उसने कहे।

प० प० प्र०—*'लोचन सहस.....'* इति। *'बचन सुनत सुरगुरु मुसकाने। सहस नयन बिनु लोचन जाने॥'* (२१८। १) मिलान कीजिये। देखिये, देवगुरुने ये वचन सहस्राक्षसे कहे नहीं, अपने मनमें उसको ऐसा समझा पर शारदा तो स्पष्टवक्त्री ठहरीं, इन्होंने साफ-साफ कह दिया। सुरगुरु अपने शिष्य देवराजको उसके मुखपर *'सहस नयन बिनु'* (अंधा) कहनेमें सकुचे, पर ये (सरस्वती) उनका संकोच क्यों करने लगीं। ज्ञानी भगवत्प्रेमी संकोची होते ही हैं।

वि० टी०—सुमेरु उस गुरियाको भी कहते हैं, जो मालाके मध्य भागमें सबसे बड़ा या पृथक् होता है। इस हेतु 'सुमेरु' का अर्थ 'प्रधान वा मुखिया' होता है। '**न सूझ**'=जिन्हें सूझे नहीं किम्वा अंधे। '**न सूझ सुमेरू**'=अँधोंका मुखिया'

भागवतमें लिखा है कि सुमेरु पर्वतोंका राजा है, जम्बूद्वीपके इलावृत्त खण्डमें यह स्थित है। इसका शिरोभाग १२८ हजार कोस, मूलदेश ६४००० और मध्य ४००० कोसका है। इसके चारों ओर मंदर, मेरुपर्वत, सुपार्श्व और कुमुद नामक चार आश्रित पर्वत हैं। इनके श्रृंगोंपर २१ स्वर्ग हैं।

बिधि हरि हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी॥ ५॥
सो मति मोहि कहत करु भोरी। चंदिनि कर कि चंडकर* चोरी॥ ६॥
भरत हृदय सियराम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू॥ ७॥
अस कहि सारद गइ बिधिलोका। बिबुध बिकल निसि मानहु कोका॥ ८॥

दो०—सुर स्वारथी मलीन मन कीन्ह कुमंत्र कुठाटु।
रचि प्रपंच माया प्रबल भय भ्रम अरति उचाटु॥ २९५॥

करि कुचाल सोचत सुरराजू। भरतु हाथ सबु काजु अकाजू॥ १॥

---

* यह पाठ राजापुर, भा० दा०, रा० प्र०, रा० गु० द्वि० आदिका है। 'चंदकर'(=चन्द्रमाकी) पाठ ना० प्र० ने दिया है। बैजनाथजी 'चंद कि चोरी' पाठ देकर भाव लिखते हैं कि 'भरतभारती' मेरा अमल शुद्ध रूप है, उसे मैं कैसे बिगाड़ सकती हूँ। 'चंडकर' पाठ उत्तम है; क्योंकि अर्थ ही उसका प्रचण्ड किरणवाला है। दूसरे चन्द्रमा और सूर्य पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं, वैसे ही सरस्वती और भरतमति पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। चन्द्रमा और उसकी चाँदनी पृथक् नहीं है।

प० प० प्र०—स्वामीजी 'चन्दकर' पाठके पक्षमें हैं, वे कहते हैं कि पृथक्-पृथक्में ही एक-दूसरेको चुरा सकता है। चन्द्र और चाँदनी तत्त्वत: अभिन्न होनेसे एक-दूसरेकी चोरी करनेमें असमर्थ हैं। भरतजीकी मति रामभक्तिमयी

शब्दार्थ—**अरति**=अलग्न, चित्तका न लगना, यह एक प्रकारका मोहनीय कर्म मोहनप्रयोग भी है। जैन-शास्त्रानुसार इस कर्मके उदयसे मन किसी काममें नहीं लगता। उचाट (उच्चाट)=मनका न लगना, उदासीनता, अनमनापन।

अर्थ—ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी माया बड़ी विशाल है, परन्तु वह भी श्रीभरतजीकी बुद्धिकी ओर ताक नहीं सकती॥ ५॥ उसी बुद्धिको तुम मुझसे कहते हो कि भोली कर दो। क्या चाँदनी सूर्यको चुरा सकती है?॥ ६॥ श्रीभरतजीके हृदयमें श्रीसीतारामजीका निवास है। जहाँ सूर्यका प्रकाश है, क्या वहाँ अन्धकार हो सकता है॥ ७॥ ऐसा कहकर सरस्वतीजी ब्रह्मलोकको गयीं। देवता ऐसे व्याकुल हुए मानो रात्रिमें चकवा व्याकुल हो रहा है॥ ८॥ स्वार्थी और मनके मैले देवताओंने कुमन्त्र (बुरी सलाह, कुसम्मति) का बुरा ठाट रचा (प्रबन्ध किया)। प्रबल मायाजाल रचकर भय, भ्रम, अरति और उच्चाटन फैलाया॥ २९५॥ इस प्रकार कुचाल करके देवराज इन्द्र सोचता है कि काज-अकाज (हमारे कामका बनना वा बिगड़ना) श्रीभरतजीके हाथ है (वे ही चाहें तो बने)॥ १॥

नोट—१ ***'बिधि हरि हर माया बड़ि भारी·····'***। यह कहकर जनाया कि इनमेंसे प्रत्येककी माया बड़ी प्रबल है, ये अपनी मायासे संसारको नचाया करते हैं। यथा—***'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥'*** (१२७। १) उसपर भी तीनोंकी माया मिलकर एक होकर भी भरतजीकी बुद्धिकी ओर दृष्टि नहीं डाल सकती। अर्थात् उनकी बुद्धिके तेजके सामने आँख तो कर ही नहीं सकती, नजर ठहर ही नहीं सकती, देखना और भोरी करना तो दूर है। तब मेरी माया और वह भी अकेली क्या कर सकती है? कुछ भी नहीं। यथा—***'कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥'*** मिलान कीजिये—***'भगतिहि सानुकूल रघुराया। तातें तेहि डरपति अति माया॥ रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। कर न सकइ कछु निज प्रभुताई॥'*** (७। ११६। ५—७) भाव कि भगवान् रामकी माया भी भक्तिमय भक्तोंके पास जाते डरती है, वह भी प्रभुकी इच्छा बिना पास नहीं जा सकती। तब त्रिदेवादिकी तुच्छ माया वहाँतक कब पहुँच सकती है। ***'बड़ि भारी'*** कहकर अपनी माया उनसे बहुत लघु जनायी। यहाँ 'व्यंगार्थद्वारा काव्यार्थापत्ति अलंकार' है।

वै०, रा० प्र०—विधिहरिहर त्रिगुणमयी हैं। उनकी माया त्रिगुणात्मक है और भरतमति गुणातीत है। त्रिगुणात्मिका माया उनको नहीं व्याप सकती।

प० प० प्र०—भरतमतिको फेरना है। पर फेरनेके पूर्व उनकी 'सन्मति' को हरना चाहिये। यह कार्य हरकी

है। रामभक्ति रामजी ही हैं—'रसो वै सः' (श्रुतिः)। राम और रामभक्तिमय मति अभेद होनेसे जो रामजीकी चोरी कर सकेगा वही भरतमतिको फिरा सकेगा। पर यह असम्भव है।

कोदोरामजीका पाठ 'चन्द' है। श्रीनंगे परमहंसजी उस पाठसे यह भाव कहते हैं कि 'चन्द्रमाका प्रकाश चाँदनीसे विशेष है, तो विशेषकी चोरी सामान्य कैसे कर सकता है? जब चोरी करने जायगा तो सामान्य होनेसे विशेषमें लय हो जायगा।'

श्रीनंगे परमहंसजी—उपर्युक्त चौपाइयोंका यह भाव लिखकर कि 'सुमेरु पर्वतकी उपमा देकर भरतके मतिकी गुरुता दिखायी। फिर चन्द्रमाकी उपमा देकर शारदाने रात्रि सूचित की अर्थात् मैं रात्रिमें भी भरतकी मति फेरने नहीं जाऊँगी, क्योंकि मेरी मति चाँदनीके समान है और भरतकी मति चन्द्रमासदृश है, भरतकी मतिमें मेरी माया लय हो जायगी, जैसे चन्द्रमें चाँदनी। कारण-कार्य होनेसे चाँदनी और चन्द्रमा दो बातें हैं। पुनः सूर्यकी उपमा देकर सूचित किया कि दिनमें भी भरतकी मति फेरने मैं नहीं जाऊँगी; क्योंकि मेरी माया अन्धकाररूप है और भरतमति सूर्यरूप है, मेरी मायाको नष्ट कर देगी।'—लिखते हैं कि 'चन्द' पाठ उत्तम है; क्योंकि रात्रिके विशेषणमें चाँदनी और चन्द्रमा हैं और दिनके विशेषणमें सूर्य और तम हैं। चोरी प्रायः रात्रिमें होती है अतः चन्द्रमाके लिये चोरी शब्द लाया गया। चण्डकर पाठसे पुनरुक्ति दोष होगा। एक ही प्रसंगमें सूर्यकी उपमा दो जगह आ जायगी। दूसरे 'कर' शब्दको दो बार दो अर्थोंमें लेना पड़ेगा।

तामसी मायाका है। पर भरतजीमें तमोगुणका नाम भी नहीं है। जबतक सन्मतिका विनाश न होगा तबतक रजोगुणी मतिके निर्माणका कार्य विधिकी रजोगुणी माया भी नहीं कर सकती। जब उत्पत्ति ही नहीं तब पालन-स्थिति करनेका कार्य हरिकी सात्त्विकी माया भी कब कर सकेगी?

नोट—२ ***'चंदिनि करि कि चंडकर चोरी'*** इति। चन्द्रमामें सूर्यसे प्रकाश आता है, चन्द्रमा चाहे कि सूर्यको चुरा ले तो क्या वह चुरा सकता है, कदापि नहीं। चन्द्रमा सूर्यको ढक नहीं सकता, तब चाँदनी क्या सूर्यको चुरा सकेगी? सरस्वती अपनी मायाको चाँदनीवत् बताती है, विधिहरिहर-माया चन्द्रवत् है, भरतकी मति सूर्य है, मतिका भोरी करना चन्द्रिकाका सूर्यकी चोरी करना त्रिकालमें असम्भव है। वैसे ही मेरे लिये भरत-मतिको भोरी करना असम्भव। चाँदनी असमर्थ वैसे ही मैं असमर्थ। यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

टिप्पणी—१ ***'तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू'*** इति। अर्थात् हमारा छल-कपट अन्धकाररूप है और भरतहृदयमें श्रीसीतारामरूपी तरुणावस्थाके सूर्यका निवास है। सूर्यके समीप अन्धकारका नाश होता है, वैसे ही भरतजीके समीप हमारी माया आप ही नाशको प्राप्त हो जाती है। पुनः, भाव कि ***'उपजहि जासु अंस ते नाना। संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना॥' 'जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी'॥*** ऐसी श्रीसीताजीका जिनकी मायाके अन्तर्गत सब माया है, यथा—***'माया सब सियमाया माहूँ',*** और ऐसे श्रीरामजीका कि जो मायापति हैं, यथा—***'मायापति सेवक सन माया'*** इन युगल सरकारोंका निवास जहाँ है वहाँ विधिहरिहर आदिका तो गम नहीं तब हमारी माया वहाँ कैसे पहुँच सकती है? श्रीरामजी धनुर्धर हैं, वे अवश्य सबका नाश कर देंगे।

दीनजी—अर्थात् मेरी माया वहाँ किसी प्रकार चल नहीं सकती; क्योंकि जिनके हृदयमें राम बसते हैं उनके विचार एकरस बने रहते हैं, बदलते नहीं।

रा० प्र०—राम ज्ञानरूप हैं, माया अज्ञानरूप है। जहाँ ज्ञान है वहाँ अज्ञान नहीं जा सकता।

टिप्पणी—२ ***'अस कहि सारद गइ बिधि लोका·····'*** इति। (क) अर्थात् उनको जवाब दे गयी कि हमसे तुम्हारा काम नहीं हो सकता। विधिलोकको गयी, जहाँ उसका निवास-स्थान है। यथा—***'भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई॥'*** (१। ११। ४) देखिये। (ख) ***'बिबुध बिकल·····'*** चकवा-चकईका दिनमें संयोग और रातमें वियोग रहता है। वियोगसे वह विकल होता है। सरस्वतीके जवाबसे वे हताश हो गये हैं; जानते हैं कि अब श्रीरामजी अवश्य लौट जायँगे, यहाँतक हमारा साथ दिया अब उनसे वियोग होगा। उनके लौटनेसे वे अपनी श्री, अपने लोक, अपनी उर्वशी आदि अप्सराओंसे सदाके लिये वियोगी रहेंगे, इस विचारसे इन्द्रादि व्याकुल हैं। इन्द्र कामासक्त है ही।

टिप्पणी—३ ***'सुर स्वारथी मलीन मन कीन्ह कुमंत्र कुठाटु·····'*** इति। भय बाघ-सिंह आदिका, भ्रम कि कहाँ हैं, कहाँ अयोध्या, कहाँ हम आ गये। भ्रम=मिथ्या बुद्धि, भ्रान्ति। यथा—**'भ्रान्तिर्मिथ्या मतिभ्रमः'** (इत्यमरः)। कुछ-का-कुछ समझना भ्रम है, यथा—***'बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्याबादी। निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं·····॥'*** इत्यादिमें भ्रमका स्वरूप पूर्णरूपेण दिखाया है। अरति—लड़के-बालोंमें चित्त गया, उनकी सुध आनेसे दुःख हुआ, यहाँसे प्रीति हटी। उच्चाट कि अब रामसे कौन काम, अब तो वे वनवास ही करेंगे, हमें जानेको होगा ही तो अतिशीघ्रम् अतिशुभम्। उच्चाटका स्वरूप आगे दोहा ३०२ में पूर्णरूपेण कहा गया है। भ्रम, भय, अरति—ये सब उच्चाटके अंग हैं, मुख्य उच्चाट ही है, यथा—***'प्रथम कुमत करि कपटु सँकेला। सो उचाट सबके सिर मेला॥'*** (३०२। ३) 'मलीन मन' कहा क्योंकि सरस्वतीका उपदेश मनमें न आया।

बैजनाथजी—उच्चाटन-विद्वेषण-मोहनादि मन्त्र-विधिसे कुठाट रचा। अर्थात् मोहनमन्त्रसे गुग्गुल, घृत पान, सुपारी, शक्कर आदिसे हवनकर उसकी राख यहाँ डालनेसे सबको भ्रम हुआ, जिससे सत्यपदार्थके त्याग और मिथ्या धनधामादिमें मति गयी। विद्वेषण-मन्त्रसे काक-उलूकके परसे तर्पण; वा सिंह या हाथीके

बालसे हवन कर राख डालनेसे 'अरति' हुई, प्रीति न रह गयी। पुनः उच्चाटन-मन्त्रविधिसे अर्क-पलाश-काठमें मशान-क्षार-राई-हवन करके डालनेसे सबके मनमें उच्चाट हो गया।

नोट—३ ***'करि कुचाल सोचत सुरराजू…'*** इति। अर्थात् सरस्वतीके वचनका स्मरण हो आया कि भरतपर किसीकी माया नहीं लग सकती, अतएव कुचालका ठाट कर चुकनेपर सोच हुआ कि औरोंपर माया डालनेसे व्यर्थ ही हुआ, कामका बनाना-बिगाड़ना तो भरतजीके ही अधिकारमें है।

ऐसा जान पड़ता है कि अभी माया-जाल रचकर ठीक कर लिया है, पर यह सोचकर कि मुख्य भरत हैं उनपर माया चलेगी नहीं इससे औरोंपर क्या डालें, उन्होंने अभी वह माया डाली नहीं—यह बात ***'प्रथम कुमत करि कपट सकेला।'*** (३०२। ३) से सिद्ध होती है।

पं० इन्द्रको चिन्ता हुई। क्योंकि (१) जो दूसरेका बुरा मनसे चिन्तन करता है उसे भी मानसी व्यथा होती है। वा, (२) इसकी मायासे और सब मोहित हुए पर भरतादिक विमल रहे। इसीसे चिन्ता हुई; क्योंकि रघुनाथजी जिनके वश हैं, जिनका कहा मानेंगे वे तो सावधान ही हैं; तब मेरा यत्न सब व्यर्थ ही हुआ वा, (३) जो किसीके साथ शत्रुता करे और शत्रु-घातसे बच रहे तो घातकको प्रतिघातकी शंका होती है, वैसे ही मघवाको भय हुआ कि मेरी कुचालसे ये बच रहे, न जाने अब क्या करें, अब तो सब इनके ही अधीन है।

भरत-जनक-संवाद समाप्त हुआ।

दरबार-आम

जामदारजी—इस दरबारमें प्रथम भरतजीका और बादमें रामजीका भाषण मुख्य है। ये दोनों भाषण सारी रामायणमें सर्वोच्चकोटिके हुए हैं। रामजीद्वारा इतना लम्बा-चौड़ा और खुले दिलका भाषण सारी रामायणमें वह एक ही है। ये दोनों भाषण दीखनेमें बिलकुल स्वतन्त्रसे मालूम होते हैं; परंतु विचार करनेसे ऐसा विदित होता है कि इन दोनोंमें सामान्य विशेषता एक ही है। यह सामान्य विशेषता परस्पर कृतज्ञता है। ये भाषण इतने उत्कृष्ट हैं कि इनका तारतम्य भाव देखनेवाला स्वयं ही भ्रमीभूत होता है। हम इतना ही कह सकेंगे कि भरतजीका भाषण सेवाधर्मका एक अप्रतिम नमूना है और रामजीका भाषण स्वामी-धर्मका अनुपम उदाहरण है। दोनों भाषणोंमें सामान्य विशेषता एक ही होनेसे प्रेम-प्रवाह दोनोंमें भी एक समान ही नजर आता है, और लोकशिक्षाकी दृष्टिसे दोनोंकी योग्यता भी बिलकुल समान है। स्वामी-सेवकके हृदयोंका जिसमें एकीकरण हुआ है। ऐसे आदर्श भूत-प्रसंग गोसाईंजीकी रामायणमें विशेषतः अयोध्याकाण्ड और सुन्दरकाण्डमें ही दीख पड़ेंगे। परंतु ऐसे दृढ़ एकीकरणका प्रसंग, हमारे मतसे यही है। इसी कारणसे तो रामजीने इस प्रसंगपर ***'सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिब होइ'*** ऐसी मुहर लगा दी है। इन दो भाषणोंकी योग्यता गुसाईंजीके ही शब्दोंमें देखिये। भरतजी—***'भरत सुभाउ न सुगम निगमहू'*** रामजी—***'सिथिल समाज सनेह समाधी'।***

चित्रकूटका दूसरा दरबार

गये जनकु रघुनाथ समीपा। सनमाने सब रबिकुल दीपा॥ २॥
समय समाज धरम अबिरोधा। बोले तब रघुबंस पुरोधा॥ ३॥
जनक भरत संबादु सुनाई। भरत कहाउति कही सुहाई॥ ४॥
तात राम जस आयसु देहू। सो सबु करइ मोर मत एहू॥ ५॥
सुनि रघुनाथ जोरि जुग पानी। बोले सत्य सरल मृदु बानी॥ ६॥

शब्दार्थ—**अबिरोधा**=विरोधरहित, अनुकूल, विहित। '**पुरोधा**' (सं० पुरोध, पुरोधस्)=पुरोहित। वह प्रधान

याजक जो राजा या और किसी यजमानके यहाँ अगुआ बनकर यज्ञादि श्रौतकर्म, गृहकर्म और संस्कार तथा शान्ति आदि अनुष्ठान करे-कराये। वैदिककालमें पुरोहितका बड़ा अधिकार था, वह मन्त्रियोंमें भी गिना जाता था। '**कहाउति**'=कहावत, कहतूत, कही हुई बात।

अर्थ—श्रीजनक महाराज श्रीरघुनाथजीके पास गये, सूर्यकुलके दीपक श्रीरघुनाथजीने सबका सम्मान किया॥ २॥ तब रघुकुलके पुरोहित श्रीवसिष्ठजी समय, समाज और धर्मके अनुकूल बोले॥ ३॥ उन्होंने सर्वप्रथम श्रीजनकजी और श्रीभरतका संवाद सुनाया। तदनन्तर भरतजीकी सुन्दर कही हुई बात सुनायी॥ ४॥ (फिर कहा) हे तात! (प्यारे) राम! मेरी सम्मति तो यह है कि जैसी तुम आज्ञा दो वैसा ही सब करें॥ ५॥ सुनकर रघुनाथजी दोनों हाथ जोड़कर सत्य, सरल और कोमल वाणी बोले॥ ६॥

नोट—१ ***'गये जनकु रघुनाथ समीपा'*** इति। ***'गये'*** बहुवचन सम्मानार्थ दिया गया है। पुनः, इससे सूचित किया गया कि जनक महाराज अकेले नहीं गये, सब समाजसहित (जो पूर्व कह आये) गये, आगेका 'सब' शब्द भी 'जनक आदि' का वाचक है। पुनः 'गये' शब्द यहाँ देकर पूर्व प्रसंगसे मिलाया जो २९४ (४) पर छोड़ा था। पूर्व प्रसंग ***'भूप भरत मुनि सहित समाजू। गे जहँ बिबुधकुमुद द्विजराजू॥'*** पर छोड़ा था, बीचमें सब लोगों और देवताओंका सोच वर्णन किया। अब फिर वहींसे प्रसंग उठाया। वहाँ ***'गे जहँ बिबुध·····'*** और यहाँ ***'गये रघुनाथ समीपा';*** वहाँ ***'भूप भरत मुनि सहित समाजू'*** यहाँ 'जनकु'। 'भूप' प्रधान हैं वे ही सबको ले चले, इससे वहाँ आदिमें इनको कहा और यहाँ आदिका 'जनकु' शब्द देकर इनके आगे ***'भरत मुनि·····'*** आदि भी साथ सूचित कर दिया।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० यहाँ चलनेमें श्रीजनकजी प्रधान हैं। रामजी मुनिके पास गये, मुनि जनकजीके पास, जनक समाज और गुरुसहित भरतजीके पास आये। यहाँसे बराबर वे ही प्रधान हैं, गुरु नहीं। उन्होंने आकर भरतजीसे पूछा कि ***'कहिअ जो आयसु देहु'।*** पर जब भरतजीने अपनी पराधीनता दिखायी और उन्हीं सबपर छोड़ा तब वे ही सबको लेकर यहाँ आये।

टिप्पणी—२ ***'सनमाने सब रबिकुल दीपा'*** इति। (क) यहाँ सम्मानमें ***'रबिकुल दीपा'*** विशेषण दिया और पूर्व जब भरतजीके यहाँसे चले तब ***'बिबुधकुमुद द्विजराजू'*** कहा था। देवताओंके लिये चन्द्ररूप और रघुकुलके लिये दीपरूप कहकर जनाया कि देवताओंकी तरफ अधिक प्रकाश कर रहे हैं, उनकी रक्षामें उद्यत हैं; चलकर उनको पालेंगे, प्रकाशसे उनको प्रफुल्लित करेंगे। (ख) कौसल्याजीने श्रीसुनयनाजीसे कहा था कि राजा कहा करते थे कि ***'जानहु सदा भरत कुल दीपा'।*** यहाँ कविने श्रीरामजीको वही विशेषण देकर यह जनाया कि भरत और राम दोनों एक हैं, एक-से हैं। भरतजी रामजीके बदले १४ वर्ष राज्यका कार-बार करेंगे। (ग) 'सम्मान' यह कि आगे जाकर लिवा लाये, समयानुकूल हाथसे आसन ला-लाकर दिये और बैठनेकी प्रार्थना की। (घ) जनकजीका सम्मान रामजीको करना पड़ा; क्योंकि यहाँ वे ही सबसे बड़े हैं; उनके सम्मानके योग्य दशरथजी ही थे, वे होते तो वे ही करते, अब उनकी जगह रघुकुलदीपक रामजी ही हैं।

टिप्पणी—३ ***'सभय समाज धरम अबिरोधा·····'*** इति। (क) समयसे विरोध न पड़े, सब समाजका सम्मत हो, पिताके वचनसे भी विरोध न पड़े, ऐसे वचन कहे। [शोक आदिका समय है, उसके अनुसार अल्प वचन, बुद्धिमानोंके समाजके अनुसार विचारकर वचन बोले। (पं०)]

टिप्पणी—४ यहाँ आनेमें जनकजी प्रधान थे, पर बोलनेमें वसिष्ठजी प्रधान हुए। कारण यह कि दोनों बार रामजीने गुरुजीहीसे कहा कि सबको कष्ट है·····। इस बार भी गुरुजीसे ही कहा, तब उन्होंने यह कहा था कि ***'आपु आश्रमहि धारिय पाऊ'*** अर्थात् आप चलिये मैं सब ठीक करके आश्रमपर आता हूँ। अतएव उन वचनोंके अनुसार गुरुका ही बोलना यहाँ उचित था, दूसरेका नहीं। दूसरे वे ही सबमें यहाँ श्रेष्ठ हैं, बड़े हैं।

टिप्पणी—५ ***'जनक-भरत संबादु सुनाई।·····'*** इति। जनकजीने संवाद भरतजीसे प्रारम्भ किया, अतः

'जनक' को प्रथम रखा। *'तात भरत कह तेरहुतिराऊ।'* (२९२। ८) से *'राखि रामरुख'''' ॥ २९३॥* तक जो कुछ कहा गया वह सब कहा। *'कहाउति'* को *'सुहाई'* विशेषण दिया; क्योंकि वही सबकी कुंजी है, सेवक-स्वामि-धर्मका उसमें निरूपण है और वे *'सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे॥'* इन विषयोंसे युक्त हैं।

टिप्पणी—६ *'तात राम जस आयसु देहू'''' '* ये वचन जनकजी, भरतजी और गुरु तीनोंके सिद्धान्त हैं। सबके कथनका यही सार समझकर गुरुने ऐसा कहा। (ख) गुरुके 'आयसु देहू' के साथ 'राम' शब्द है अर्थात् गुरुने ऐश्वर्यदेशमें उनसे आज्ञा देनेको कहा और रामजीने माधुर्यदेशमें उत्तर दिया, इससे 'रघुनाथ' पद दिया।

वि० त्रि०—*'तात राम''''एहू।'* इति। जिन वसिष्ठजीने रामजीसे कहा था कि *'भरत सनेह बिचार न राखा'* वही कह रहे हैं कि 'रामजी! जैसा तुम्हारा आदेश हो वैसा ही सब करें।' प्रश्न उठता है कि क्या वसिष्ठजीने भरतके स्नेहका विचार किया? निविष्ट चित्तसे विचार करनेपर मालूम होता है कि गुरुजी भरतजीकी ही वकालत कर रहे हैं। 'रामजी आज्ञा दें और उसीके अनुसार सब लोग कार्य करें' इस बातका अर्थ ही रामजीसे राज्य स्वीकार कराना है। जिसकी आज्ञा सबके ऊपर चले वही राजा है। रामजी पिताका वचन पालन करते हुए वनमें ही रहें पर हुकुम उनका चले। ऐसी परिस्थितिमें इतना ही हो सकता है। उसीके लिये गुरुजी अपनी राय दे रहे हैं।

बिद्यमान आपुनि मिथिलेसू। मोर कहब सब भाँति भदेसू॥ ७॥
राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई॥ ८॥

दो०—रामसपथ सुनि मुनि जनकु सकुचे सभा समेत।
सकल बिलोकत भरत मुखु बनइ न ऊतरु देत॥ २९६॥

शब्दार्थ—'**बिद्यमान**'=उपस्थित, विराजमान, वर्तमान वा मौजूद रहते हुए; यथा—*'बिद्यमान रघुकुलमनि जानी।'* (१। २५३। २) '**भदेसू**'=भद्दा, यथा—*'भनित भदेसु बस्तु भलि बरनी'।* '**सही**'=प्रामाणिक, ठीक, यथार्थ।=मान्य, तसलीम।= सत्य ही, सचमुच।—यहाँ तीनों अर्थ लगते हैं। '**सिर सोई**'=वह सिरपर है, शिरोधार्य है, हमारे मस्तकपर है, मेरे लिये मान्य और पूज्य है, स्वीकार है। '**बिलोकत भरत मुखु**'=भरतके मुखकी ओर देख रहे हैं। 'मुँह देखना' मुहावरा है=विवश होकर आशाकी पूर्णताके विचारसे देखना।

अर्थ—आपके और मिथिलेशजीके उपस्थित रहते हुए मेरा कहना (आज्ञा देना) सब प्रकारसे अनुचित है॥ ७॥ आपकी और राजाकी जो आज्ञा होगी—मैं आपकी शपथ करके कहता हूँ वह सत्य ही सबको शिरोधार्य होगी॥ ८॥ श्रीरामजीकी शपथ सुनकर सभासमेत मुनि और जनकजी सकुचा गये। उत्तर देते नहीं बनता, सभी भरतजीका मुँह ताक रहे हैं॥ २९६॥

टिप्पणी—१ *'सब भाँति भदेसू'*—छोटा बड़ेको आज्ञा दे यह अयोग्य है। *'सब भाँति'* से यहाँ वह सब भाव गृहीत हैं जो भरतजीने कहे हैं, यथा—*'प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुलगुरु सम हित माय न बापू॥''''' '* (२९३। २—५)

टिप्पणी—२ *'राउर राय रजायसु होई'''' '* इति। (क)—गुरुने कहा था *'तात राम जस आयसु देहू'* उसका उत्तर है कि मेरा कुछ भी कहना सब भाँति भद्दापन है। तात्पर्य यह कि जब मैं (जिसे आप आज्ञा देनेको कहते हैं) आपकी आज्ञा न माननेवाला होऊँ तब आपका कहना उचित होता। पर जब आपकी आज्ञा माननेको मैं भी तैयार हूँ तब मेरा आयसु देना सर्वथा अनुचित है। (ख) जो आपकी और राजाकी आज्ञा हो वह मैं आदरपूर्वक करूँगा। (ग) यहाँ गुरु और राजा दोनोंको कहा। दोनोंपर धर्म-अधर्मका भार छोड़ दिया। 'राय' शब्द यहाँ दिया ('मिथिलेश' आदि नहीं, जैसा अन्य स्थलोंमें प्रयुक्त किया है) जिसमें पिताका भी ग्रहण हो जाय। भाव यह कि आप पितासे भी श्रेष्ठ हैं—*'कुलगुर सम हित माय न बापू'* और

राजा पितासम हैं और मैं भी पिताके ही वाक्यपर आरूढ़ हूँ; चाहे उसे रखिये, चाहे छुड़ाइये। (घ) *'राउरि सपथ सही सिर सोई'* की जोड़का चरण *'माथे मानि करउँ सिख सोई।'* (२५८। ४) है।

टिप्पणी—३ *'राम सपथ सुनि""सकुचे सभा समेत'* इति। 'सकुच' इससे कि जिस धर्मपर आरूढ़ हैं उसे कैसे छुड़ावें और न छुड़ावें, लौटनेको न कहें, तो लोग कहेंगे कि यहाँ आये ही किसलिये थे। श्रीरामजीके बोलनेपर सबकी सरस्वती बंद हो गयी, सब भरतका मुँह ताक रहे हैं, जवाब नहीं सूझता, यह सोच रहे हैं कि भरतजी ही इसका उत्तर दें।

वि० त्रि०—*'राम सपथ""सभा समेत'* इति। यहाँ धर्मकी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनेके लिये कोई तैयार नहीं है। रामजी शपथ लेकर कहते हैं कि गुरुजी और जनकजी जो आज्ञा दें मैं करनेको तैयार हूँ, यदि कहें कि तुम लौट चलो तो मैं परमधर्म गुरु-आज्ञाका पालन करूँगा। यथा—*'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥'* पर गुरुजी या जनकजी कोई भी यह कहनेको तैयार नहीं कि 'तुम घर लौट चलो'। गुरु होकर शिष्यको धर्मसे विचलित होनेको कैसे कहें? अतः सभासमेत गुरुजी और जनकजी संकुचित हो गये कि जब यही गति है तो लौट चलनेका प्रश्न क्यों उठाया गया।

प० प० प्र०—*'सकल बिलोकत भरतमुख'* इति। मिलान कीजिये—*'मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा। राम बिभीषन तन तब देखा।'* (६। १०१। २) दोनों जगह स्वामी ही सेवकका मुख ताकते हैं पर दोनोंके हेतु अलग-अलग हैं। श्रीरामजी तो सर्वज्ञ होकर भी नरनाट्य कर रहे हैं और *'संतत दासन्ह देहु बड़ाई'* महर्षि अगस्त्यके इन वचनोंको चरितार्थ करते हैं। और, यहाँ तो गुरु वसिष्ठजी, श्रीजनकजी आदि किंकर्तव्यविमूढ़ बन गये हैं, प्रत्येक बड़ा व्यक्ति अपने सिरका भार दूसरेके सिरपर रखनेका प्रयत्न कर रहा है। पूर्व भी ऐसा ही हुआ था तब श्रीभरतजीने कहा है कि, *'देव दीन्ह सब मोहिं अभारू। मोरे नीति न धरम बिचारू॥'*—(२६९। ३) देखिये।

मा० म०—सकुचकर सबका आह्लाद जाता रहा, कोई न बोला। क्योंकि बोलनेसे ये सातों बातें नष्ट होती हैं अर्थात् फिर जानेको कहें तो (१) वन भेजना (कैकेयीका वर), २ अनुराग (सबकी प्रीति), ३ भरतके हृदयकी बात (वनयात्रा), ४ राजा दशरथकी आज्ञा, ५ वेदमत (भगवान् अवतीर्ण होकर भू-भार उतारेंगे), ६ श्रीरामजीका संकल्प (भूभारहरणार्थ) और ७ पृथ्वी और देवताओंकी चाह—ये सब नष्ट हो जायँगे।

सभा सकुच बस भरत निहारी। रामबंधु धरि धीरजु भारी॥ १॥
कुसमउ देखि सनेहु सँभारा। बढ़त बिंधि जिमि घटज निवारा॥ २॥
सोक कनकलोचन मति छोनी। हरी बिमल गुनगन जग जोनी॥ ३॥
भरतबिबेक बराह बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला॥ ४॥

शब्दार्थ—'निवारना'=निवारण करना, रोकना, मना करना, यथा—*'सैनहिं लखनहिं राम निवारे'*। **'घटज'**=घटसे जायमान या उत्पन्न, कुम्भज ऋषि अगस्त्यजी। बिंधि=विन्ध्याचल। पुराणानुसार यह सात कुलपर्वतोंमें है। इसकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ हैं। आर्यावर्तके दक्षिण सीमापर यह पर्वत है। पूर्व और पश्चिमीघाट इसीकी शाखाएँ हैं। विशेष १३८ (८) में देखिये। **'कनकलोचन'**—हिरण्याक्षके शब्दोंको बदलकर यह नाम गढ़ा गया है। हिरण्य=स्वर्ण=कनक; अक्षि=लोचन। इसीका हाटकलोचन भी नाम गढ़ा है। इसी तरह बहुत-से नाम कविने गढ़े हैं। जैसे—सुग्रीवका सुकण्ठ, कुम्भकर्णका घटकरन, मेघनादका वारिनाद, कुम्भजका घटज इत्यादि। **जोनी**=उत्पन्न करनेवाला, योनि, उत्पादक कारण, उत्पत्तिस्थान। 'उधारना'=उद्धार करना, मुक्त करना, छुटकारा देना। यथा—*'छीरसमुद्र मध्य तें यों कहि दीरघ बचन उचारा हो। उधरौं धरनि असुरकुल मारौं धरि नरतन अवतारा हो'*— (सूर)। **'जग जोनी'**=जगत्के रचयिता, ब्रह्माजी।

अर्थ—सभाको संकोचके वश देखकर रामबन्धु श्रीभरतजीने बड़ा धैर्य धारण किया॥ १॥ कुसमय समझकर (अपने बढ़ते हुए) प्रेमको सँभाला, जैसे बढ़ते हुए विन्ध्याचलको अगस्त्यजीने रोका॥ २॥ शोकरूपी हिरण्याक्षने

(सभाकी) बुद्धिरूपिणी पृथ्वीको हर लिया, उसी समय निर्मल गुणसमूहवाले भरतरूपी ब्रह्मासे विवेकरूपी विशाल वराह (भगवान्) ने प्रकट होकर बिना परिश्रमके उसका उद्धार किया। अर्थात् शोकके कारण सभाकी बुद्धि कुछ कामकी न रह गयी थी, भरतजीके विवेकमय वचनोंद्वारा वह शोक नष्ट हुआ और उनकी बुद्धि फिर ज्यों-की-त्यों पूर्व-अवस्थापर आ गयी॥ ३-४॥

टिप्पणी—१ ***'सभा सकुच बस·····'*** इति। (क) ऊपर दोहेमें कहा था—***'सकुचे सभा समेत, सकल बिलोकत·····'*** उसीकी जोड़में ***'सभा सकुच·····'*** कहा। (ख) 'धीरज' धारण करनेके सम्बन्धसे 'रामबंधु' कहा। श्रीरामजी धीरधुरन्धर हैं, ये उनके भाई हैं, अतः ये भी परम धैर्यवान् हैं। भाईका गुण भाईमें होना योग्य ही है। पुनः, राम बन्धु हैं इसीसे इनकी सरस्वती खुली है, जिसका जैसा अधिकार है वैसा ही उसका सामर्थ्य है (कारणके समान कार्यका होना 'द्वितीय सम' अलंकार है)। (ग) स्नेह और शोकसे भरतजी अधीर चले आ रहे हैं, इसीसे श्रीजनकभरतगोष्ठीमें भी ***'बोले भरत धीर धरि भारी'*** और यहाँ भी धीरज धरना कहा।

टिप्पणी—२ ***'कुसमउ देखि सनेहु सँभारा। बढ़त बिंधि·····'*** इति। विन्ध्याचल सूर्यकी गति रोकनेके लिये बेहद बढ़ता गया। देवता आदि सभी भयभीत हो गये थे। तब अगस्त्यजीने उसकी गति रोकी थी—पूरी कथा ***'बिंधि मुदित मन सुखु न समाई।'*** (१३८। ८) में देखिये। यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है। भरतजीका स्नेह विन्ध्याचल है, भरतजीका उसको दबाना अगस्त्यजीका विन्ध्याचलकी बाढ़को रोकना है। भरत और अगस्त्य उपमेय-उपमान हैं।

वै०—विन्ध्याचलने सूर्यकी गति रोकी, अगस्त्यजीने उसको रोका। वैसे ही भरतजीने अपने बढ़े हुए सर्वांग-परिपूर्ण प्रेमको रामप्रतापरूपी सूर्यका अवरोधक जानकर, उसे अन्तःकरणमें गुप्त कर लिया।—(रामप्रतापका अवरोधक कहनेका तात्पर्य यह जान पड़ता है कि स्नेहकी विह्वलतामें प्रतापका वर्णन नहीं किया जा सकता।)

खर्रा—जैसे विन्ध्याचलने बढ़कर सूर्य आदि सबको दबा लिया, किसीको राह न मिलती थी वैसे ही भरतजीके स्नेहने सबको दबा लिया, पर भरतजीने उसको सँभाला। भरत अगस्त्य, स्नेह विन्ध्याचल और रामजीकी आज्ञा सूर्य। स्नेहके सँभालनेसे आज्ञा प्रकट होगी, रामजीके आज्ञा देनेकी राह खुलेगी।

नोट—१ ***'सोक कनकलोचन मति छोनी'*** इति। बा० १२२ (७) ***'धरि बराह बपु एक निपाता'*** में यह कथा सविस्तार दी गयी है। हिरण्याक्ष पृथ्वीका हरण करके उसे रसातलमें ले गया। जिससे सृष्टिकी उत्पत्तिका सब कार्य बन्द हो गया था। ब्रह्माजी चिन्तित हो ध्यानमें मग्न हुए, उसी समय उनकी नासिकासे वराहभगवान् प्रकट हुए, जिन्होंने हिरण्याक्षको मारकर पृथ्वीका उद्धार किया। उसीका यहाँ रूपक बाँधा गया है।

शोक ही बुद्धिको हर लेता है, यथा—***'सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ग्यान न धीरज लाजा॥'*** (२७६। ७) अतः शोकपर हिरण्याक्षका आरोप किया गया और बुद्धिपर पृथ्वीका। भरतविवेकपर विशाल वराहभगवान्का आरोप हुआ। वराहभगवान्ने बिना श्रम पृथ्वीका उद्धार किया, वैसे ही भरतविवेकने सबका शोक दूरकर सबकी बुद्धिको स्थिर कर दिया।

नोट—२ ***'बिमल गुनगन जग जोनी'*** इति। श्रीसन्तसिंह, पंजाबीजी, श्रीनंगे परमहंसजी, पं० विजयानन्दजी त्रिपाठीजी तथा श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजी इसे ***'छोनी'*** का विशेषण मानते हैं। भाव कि जिस भाँति जगत्की योनि (उत्पन्न करनेवाली) पृथ्वी है (पृथ्वीसे ही सारे जगत्की उत्पत्ति है, संसारके अनेक पदार्थोंकी उत्पत्ति पृथ्वीसे होती है) उसी भाँति विमल गुणगणरूपी जगकी योनि बुद्धिरूपिणी पृथ्वीको शोकरूपी हिरण्याक्षने हर लिया।

श्रीपाँड़ेजीने 'विमल गुणगणयुक्त मतिरूपी छोनीको शोकरूपी हिरण्याक्षने हर लिया। तब जगयोनि अर्थात् ब्रह्मारूपी भरतसे विवेकरूपी विशाल वराहने प्रकट होकर·····' ऐसा अर्थ किया है।

वीरकविजीने 'विमल गुणगण' का 'जगजोनी' से रूपक अर्थात् ब्रह्मासे रूपक माना है। वे लिखते हैं कि 'शोकपर हिरण्याक्षका आरोप, मतिपर पृथ्वीका, निर्मल गुणोंपर ब्रह्माका, भरतजीके ज्ञानपर वराहका

आरोपण किया गया है। एक भी रूपककी न्यूनता होनेसे इस पौराणिक इतिहासका पूरा रूपक सिद्ध न होता। यहाँ 'परंपरितरूपक अलंकार' है। पौराणिक कथाका सांगरूपक यहाँ बाँधा गया है।'

मयंककारने सांगरूपकमें समुद्रका रूपक भी दिया है। 'शपथ सिन्धु है, सोच उसका जल है। शोकरूपी हिरण्याक्षने शपथरूपी सिंधुके सोच-जलमें बुद्धिको डुबा दिया था। भरतके विवेकने प्रकट होकर उसे बचाया।'

नारदरामायणमें इस रूपकसे मिलता हुआ श्लोक यह कहा जाता है—'**शोकः सुवर्णनयनः पृथ्वीं बुद्धिं जहार ह। भरतो गुणवान् ब्रह्मा तस्माद्विज्ञानशूकरः॥ आविर्भूय हिरण्याक्षं शोकरूपं निहत्य च। उद्दधाराश्रमेणैव बुद्धिरूपां वसुन्धराम्॥**' र० ब० ने यह श्लोक दिया है। यदि यह श्लोक उसमें हो तो इस प्रमाणसे 'विमल गुणगण' ब्रह्माके विशेषण हुए न कि 'छोनी' के।

पु० रा० कु०—'अनायास' और 'तत्काल' का भाव यह कि वहाँ दस हजार वर्षतक भारी युद्ध होनेपर उद्धार हुआ। और यहाँ कुछ भी श्रम न हुआ। वराहसे हिरण्याक्षका विनाश है तथा विवेकसे शोकका, यथा—***'सोक निबारेउ सबहि कर निज बिग्यान प्रकास'।*** 'उधरी' अर्थात् शोकसे छूटी, मति विवेकयुक्त हुई।

नोट—शोक किसका और बुद्धि किसकी? इसपर मतभेद है।

पंजाबीजीने श्रीभरतजीकी बुद्धिको क्षोणी माना है। वे इस चौपाईका भाव यह लिखते हैं कि 'बुद्धि वचन-रचनाको सावधान हुई'। पाँड़ेजी तथा रा० प्र० ने इसको स्पष्ट नहीं किया है। बैजनाथजीने श्रीभरतजीकी मतिको पृथ्वी माना है। वे लिखते हैं कि—त्याग, वैराग्य, धैर्य, शान्ति, सन्तोष, क्षमा, दया, उदारतादि विमल गुणगणमय भरतजीकी मतिरूपिणी पृथ्वीको शोक (अयश तथा वियोगजनित दु:ख) रूपी हिरण्याक्षने हर लिया था। उसके उद्धारके लिये जगयोनि (जगको उत्पन्न करनेवाले ब्रह्मा) रूपी भरत (जो जगत्का भरण-पोषण करनेवाले हैं) के विवेकरूपी वराहने प्रकट होकर शोकहिरण्याक्षका नाशकर बुद्धिरूपी पृथ्वीका उद्धार किया।

पं० श्रीकान्तशरणजीने बैजनाथजीके भावको इस प्रकार लिखा है कि भूमिकी तरह इनकी बुद्धि बड़ी उपजाऊँ है; पर सहसा उठे हुए शोकने उसे क्षणभरके लिये विक्षिप्त कर दिया, जैसे हिरण्याक्षके पाप-प्रभावसे पृथ्वीकी उपज मारी गयी। पर इन्होंने विवेकद्वारा उक्त शोकका निवारण किया और धैर्य धारण करनेपर उनकी बुद्धिमें निर्मल गुणगण फिर आ गये। तब उस भरत-भारतीकी आगे प्रशंसा की गयी है।

पु० रा० कु०—का मत है कि भरतकी मति नहीं हरी गयी। उनकी बुद्धि तो ऐसी है कि ***'मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी'।*** गुरु दंग रह गये। जनकजी ऐसे विज्ञानी जिसकी छाँहतक छू नहीं सकते—***'सो मति मोरि भरत महिमा ही। कहइ काह छल छुअत न छाहीं॥'*** और जिसे देख ***'कहत सारदउ कर मति हीचे'*** एवं जहाँ विधिहरिहर आदिकी मायाका भी गुजर नहीं। तब इसको कौन हरण कर सकता है? इसीसे भरत-भारतीको मंजु मराली आगे कहा है। अत: यहाँ सब समाजकी मतिका शोकसे हरण होना ही ठीक है।

बाबा हरीदास, वीरकवि, लाला भगवानदीनजी, वि० त्रि०, पोद्दारजी, नं० प०, प० प० प्र० का भी यही मत है।

बाबा हरीदासजी और मानसी वन्दनपाठकजी कहते हैं कि यहाँ सब रूपक अरूपका ही बाँधा गया है। शोक अरूप, मति अरूप भरतजीके निर्मल गुणगण ही ब्रह्मा हैं। क्योंकि गुणगण भी अरूप हैं, और विवेक भी अरूप है।

नोट—पहले अपने स्नेहको रोकना कहा। फिर दो अर्धालियोंमें दूसरोंके शोकको नष्ट करके उनकी बुद्धिको स्थिर करना कहा।

करि प्रनामु सब कहँ कर जोरे। राम राउ गुर साधु निहोरे॥ ५॥
छमब आजु अति अनुचित मोरा। कहउँ बदन मृदु बचन कठोरा॥ ६॥
हियँ सुमिरी सारदा सुहाई। मानस तें मुख पंकज आई॥ ७॥

बिमल बिबेक धरम नय साली। भरत भारती मंजु मराली॥ ८॥

दो०—निरखि बिबेक बिलोचनन्हि सिथिल सनेह समाजु।
करि प्रनामु बोले भरतु सुमिरि सीय रघुराजु॥ २९७॥

शब्दार्थ—**निहोरे**=विनती की। **साली** (शालि)=परिपूर्ण, युक्त, वाली, समन्वित। जैसे सम्पत्तिशाली=धनवान्, सम्पत्तिवाला। **भारती** (सं०)=वाणी, सरस्वती, यथा—*'मति भारति पंगु भई जो निहारि बिचारि फिरी उपमा न पबै'*।

अर्थ—(उन्होंने) प्रणाम करके सबके हाथ जोड़े, और श्रीरामचन्द्रजी, राजा, गुरुजी और साधुसमाजसे विनय की॥ ५॥ श्रीभरतने कहा कि आज मेरे इस अत्यन्त अनुचित व्यवहारको क्षमा कीजियेगा, कोमल मुखसे कठोर वचन कह रहा हूँ॥ ६॥ फिर भरतने हृदयमें सुन्दरी सरस्वतीका स्मरण किया, वह सुन्दर मानससे मुखारविन्दपर आ गयी॥ ७॥ निर्मल ज्ञान, धर्म और नीतिसे परिपूर्ण भरतकी सुन्दर वाणी हंसिनी है॥ ८॥ विवेकरूपी नेत्रोंसे समाजको प्रेमसे शिथिल देख, सबको प्रणाम कर श्रीभरतजी श्रीसीताजी और श्रीरघुनाथजीका स्मरण करके बोले॥ २९७॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० *'करि प्रनामु सब कहँ कर जोरे।·····'* इति। (क) यह बड़ोंकी सभामें बोलनेकी रीति है। क्या निहोरा किया यह आगे लिखते हैं—*'छमब आजु·····'*। (ख) *'छमब आजु अति अनुचित मोरा।·····'* इसके जोड़की अर्धाली पूर्व ही गोष्ठीमें कही है—*'छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता॥'* दोनोंका मिलान कीजिये। *'बदन मृदु'* से जनाया कि मैं बालक हूँ, बालकका मुख कोमल होता ही है। बड़ोंसे जहाँ जवाब न बन पड़ा वहाँ लड़केका बोलना महान् अयोग्य है इसीसे क्षमा चाहते हैं।

टिप्पणी—२ *'हियँ सुमिरी सारदा सुहाई।·····'* इति। भरतजीकी शारदा सुहायी अर्थात् दिव्य है। त्रिदेवद्वारा भी यह शारदा वन्दित है। यह भरतजीके हृदयसरसे उत्पन्न हुई है। यह वह शारदा नहीं है जो विधिलोकसे आती है, वह तो भरतकी मतिका पता भी नहीं पाती, यथा—*'कहत सारदउ कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥'* भरतकी मतिकी ओर विधिहरिहरकी विशाल माया दृष्टि भी नहीं डाल सकती। तब वह सरस्वती इनकी मतिको क्या जाने? भरत राम ही हैं, 'भरत राम ही की अनुहारी' हैं, वा उनका प्रतिबिम्ब हैं। (पं०—भगवद्यश कथन करेगी अतः सुहाई कहा।)

बै०—*'सारदा सुहाई'* अर्थात् सुन्दर अमल और रामतत्त्वनिरूपिणी परावाणी जिसका नाभिकमलमें स्थान है मानससे मुख-पंकजपर आयी अर्थात् परावाणीने वैखरीको आकर प्रकाशित किया। तात्पर्य यह कि जो मनमें पूर्व निश्चय कर चुके हैं, यथा—*'करि बिचार मन दीन्ही ठीका। राम रजायसु आपुनु नीका॥'* वही प्रकट करनेका अनुसंधान किया। [बैजनाथजीका भाव सुसंगत है पर उन्होंने नाभिकमलको मानस समझनेका आधार नहीं दिया। यह आधार मानसमें ही है। यथा—*'सायक एक नाभि सर सोखा।'* (६। १०३। १) स्वामीसमर्थ रामदासजीने 'दासबोध' में नाभिस्थानी परावाचा' कहा है। परावाचा गुणतीत है। अतः *'सारदा सुहाई'* कहा। ब्रह्मलोककी शारदा *'बिमल बिबेक धर्म नयसाली'* नहीं है, वह तो अधर्म और अनीति भी कर सकती है। और उसने किया भी है जिसका फल श्रीसीतारामवनवास, कैकेयीकी अकीर्ति और दशरथ-मृत्यु इत्यादि है। (प० प० प्र०)]

नोट—१ भरत-भारतीका रूपक सुन्दर राजहंसिनीसे बाँध रहे हैं। हंस मानसरोवरमें रहते हैं, कमलपर आकर बैठते हैं। इसीसे भरतजीके हृदयको मानस और मुखकी कमलसे उपमा दी। सरस्वती पद्मासना हैं क्योंकि ब्रह्माका नाम पद्मासन भी है। पद्मासना होनेसे मुखकी कमलसे उपमा देना यथार्थ ही है। हंस मोती चुगता है, यथा—*'जस तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु। मुकुताहल गुनगन चुनइ·····॥'* (१२८) भरत-भारती-मराली ज्ञान-धर्म-नय विमल गुण-गणरूपी मुक्तामणियोंको चुगनेवाली है।

नोट—२ *'बिमल बिबेक धरम नय साली।.....'* इति। मराली कहनेका एक कारण ऊपर दिया; दूसरा यह कि यह क्षीर-नीर-विवरणका समय है। भरतकी वाणी अपने विवेकसे क्षीर-नीरको पृथक् करेगी— *'छीर नीर बिबरन गति हंसी';* वह गुणदोषका, सारासारका निर्णय करेगी, जो काम मुनि और जनकजी न कर सके थे वह करेगी (मा० म०, शिला)। वा, केवल रामतत्त्व ग्रहण करेगी इससे मराली कहा—(बै०)।

स्मरण रहे कि पूर्व भरतजीको हंसकी उपमा दे चुके हैं, यथा—*'भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥'* और यहाँ उनकी भारतीको विवेक धर्म नयशाली हंसिनीकी उपमा दी है।* (ख) *'बिमल'* पदसे जनाया कि ज्ञान, धर्म और नय समल भी होते हैं पर यह भारती विशुद्ध ज्ञान आदिसे सम्पन्न है। जो वचन निकलेंगे वे इनसे परिपूर्ण होंगे, स्वार्थरहित परमार्थ देश तथा धर्म और नीतियुक्त होंगे। इनसे धर्म और नीति दोनोंका निर्वाह होगा। सबके धर्मकी रक्षा और सबका हित होगा।

नोट—३ *'निरखि बिबेक बिलोचनन्हि.....'* इति। (क) सब स्नेहसे शिथिल हैं। स्नेह बाहरी नेत्रोंसे नहीं देखा जा सकता क्योंकि मानसिक है, इसीलिये 'विवेक-नेत्र' से देखना कहा। (पं०, रा० प्र०) (ख) विवेकनेत्रसे देखा अर्थात् माधुर्यरहित केवल ऐश्वर्यपर दृष्टि रखते हुए देखा। जनक आदिकी दृष्टि माधुर्यपर है इसीसे वे प्रेमसे विह्वल हैं यह विचारकर ऐश्वर्यपर दृष्टि रखी। (बै०) (ग) यहाँ 'विवेक' से 'विमल विवेक' अभिप्रेत है विवेकको नेत्र कहा ही है, यथा—*'तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन।'* और, विमल विवेक=निर्मल ज्ञान। निर्मल ज्ञान होनेपर ही मनुष्य रामभक्तिमय होता है। यथा—*'बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥'* श्रीभरतजी श्रीरामभक्तिमय हैं ही। (प० प० प्र०)

नोट—४ *'सुमिरि सीय रघुराज'*— यह भरतजीका मंगलाचरण है। (पु० रा० कु०) 'रघुराज' शब्द देकर जनाया कि वे ऐसे ही वचन कहेंगे जिनसे श्रीरामजी ही रघुराज होंगे। (प० प० प्र०)

प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी। पूज्य परम हित अंतरजामी॥ १॥
सरल सुसाहिबु सीलनिधानू। प्रनतपाल सर्बग्य सुजानू॥ २॥
समरथ सरनागत हितकारी। गुनगाहक अवगुन-अघ-हारी॥ ३॥
स्वामि गोसाँइहि सरिस गोसाँई। मोहि समान मैं साइँ दोहाई॥ ४॥

शब्दार्थ—**गाहक**=ग्रहण करनेवाले, चाहनेवाला, इच्छुक। यह शब्द 'ग्राहक' का अपभ्रंश है। अथवा, अवगाहन (या गाहन) से बना हुआ ले सकते हैं—*'कह कपि तव गुनगाहकताई। सत्य पवनसुत मोहिं सुनाई',*—(लं०)। शील तथा—**हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि। महतोऽच्छिद्रसंश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः**' (भगवद्गुणदर्पण। बै०)

अर्थ—हे प्रभु! आप मेरे पिता, माता, सुहृद् (मित्र), गुरु, स्वामी, पूज्य, परम हितैषी और हृदयकी जाननेवाले हैं॥ १॥ सरल, सुसाहिब, शीलके समुद्र, शरणागतपालक, सर्वज्ञ, सुजान॥ २॥ समर्थ, शरणागतका हित करनेवाले, गुणोंको ग्रहण करनेवाले, अवगुणों और पापोंके हरनेवाले हैं॥ ३॥ हे स्वामी! (उत्तमतामें) गोसाईं (अर्थात् आप) के समान गोसाईं (आप) ही हैं और स्वामीकी दोहाई (कसम) (अधमता और स्वामिद्रोहतामें) मेरे समान मैं ही हूँ॥ ४॥

नोट—१ *'प्रभु पितु मातु.....'* इति। यहाँ तीन अर्धालियोंमें बीस विशेषण दिये हैं। इनके भाव क्रमशः लिखे जाते हैं। (क) 'प्रभु' सम्बोधन है पर सामर्थ्यवाचक भी है। भाव कि आप जो चाहें उसे कर सकते हैं, असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं, अघटित घटनाको भी घटित कर सकते हैं—'**अघटितघटना-पटीयान्।**' इससे जनाया कि आप पिताके, गुरु वसिष्ठजीके तथा श्रीजनक महाराज तीनोंके वचनोंका

* मयंककार लिखते हैं कि शाली स्थान या घरको कहते हैं। यहाँ भारती स्त्रीलिंग है इसीसे शाली और मराली स्त्रीलिंग शब्द दिये गये। पाँड़ेजी शालीका अर्थ सुशोभित करते हैं। बैजनाथजीने शालीका अर्थ मन्दिर लिखा है।

एक साथ पालन कर सकते हैं। *'पितु मातु'*—भाव कि भरण-पोषण, रक्षण और धारण करनेमें माता-पितारूप हैं। पिता-माताके समान हमारा दुलार भी रखनेवाले हैं। *'सुहृद'*—अर्थात् मित्र हैं, मित्रके समान प्रतीतिवाले हैं, यथा—*'सुतकी प्रीति प्रतीति मीत की।'* (विनय०) अपना करके मानते हैं एवं उपकारी हैं। *'गुर'*—अर्थात् शिक्षा या उपदेश करनेमें गुरुरूप हैं। आप जगद्गुरु हैं, यथा—'**जगद्गुरुं च शाश्वतं।**' (३। ४) वेद आदि सब आपके ही वाक्य हैं। *'स्वामी'* अर्थात् सबके मालिक हैं, सबके नियन्ता हैं। यथा—*'सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी॥'* (१।११९) *'पूज्य'*—अर्थात् देवादि सभीसे वन्दनीय और सबके इष्ट हैं। यथा—*'सिव अज पूज्य चरन रघुराई।'* (७।१२४) *'बिधि हरिहर बंदित पद-रेनू।'* (१।१४६।१) *'परम हित'*—अर्थात् स्वार्थरहित सबका हित करनेवाले हैं, लोक और परलोक दोनोंके बनानेवाले हैं। मिलान कीजिये—*'स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहु प्रभु परमारथ नाहीं॥' हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'* (७।४७) *'अन्तरजामी'*—अर्थात् सबके हृदयके भाव-कुभाव, सबकी लालसाएँ इत्यादि सब कुछ जानते हैं। (ख) *'सरल'*—अर्थात् इतने बड़े होकर भी सबको सुलभ हैं। ऐसे सुलभ कि केवटसे उठकर मिले, यथा—*'ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहू भेंटेउ केवट उठि॥'* (वि० १३५) फिर कैसे सुलभ कि श्वानकी भी सुनी। श्वान और संन्यासीका न्याय किया। *'सुसाहिबु'*—भाव कि प्राकृत स्वामी सेवकका अपराध सुनकर ही उसपर रुष्ट हो जाते हैं—*'साहिब होत सरोष सेवकको अपराध सुनि। अपने देखे दोष राम न सपनेहु उर धरेउ।'* आप सेवकका अपराध देखकर भी ध्यान नहीं देते। *'सीलनिधान'*—अर्थात् सौशील्यगुणसे पूर्ण। कैसा भी कोई हीन दीन मलिन शरणमें आ जाय तो उसको मान और बड़ाई देते हैं। *'प्रनतपाल'*—प्रणाम मात्र करनेवालेका पालन करनेवाले हैं। यथा—*'कहेसि पुकारि प्रनत हित पाही।', 'प्रनत कुटुम्ब पाल रघुराई।' कूर कुटिल खल कुमति कलंकी।""सकृत प्रनाम किए अपनाए।', 'नमित पद रावनानुज नेवाजा'* (वि० ४३), *'अधम आरत दीन पतित पातकपीन सकृत नत मात्र कहि 'पाहि' पाता।'* (वि० ४४) *'सर्बग्य'*—सब कुछ सदा सब कालमें जाननेवाले। [वा, विश्वभरके नाम, रूप, गुण और ज्ञानको स्वाभाविक जाननेवाले यथा—'**स्वस्वाश्रयस्वहेतूनां स्वातन्त्रे सा प्रकाशकम्। ज्ञानं तदव्यवहारादि विभाजकतया स्थितम्॥**' (बै०)] *'सुजान'*—अर्थात् चातुर्यगुणपूर्ण हैं, सब विद्या, सबकी भाषा एवं बोली आदि जानते हैं; सबकी वाणी, सबकी भक्ति, प्रीति, गति आदि जानते हैं अतः सबका उचित सम्मान करते हैं। यथा—*'सुनि सनमानहिं सबहि सुबानी। भनिति भगति नति गति पहिचानी॥ यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ। जान सिरोमनि कोसलराऊ॥'* (१। २८) पुनः 'सुजान' स्वभावके ज्ञाता और 'सर्वज्ञ' से स्वरूपके ज्ञाता जनाये। (ग) *'समर्थ'*—उपर्युक्त सब गुण हों पर सामर्थ्य न हो तो ये सब गुण व्यर्थ हैं, अतः कहा कि 'समर्थ हैं' तिनकेको पर्वत और पर्वतको तृण बना देनेतकको समर्थ हैं। यथा—**कर्तुं विकर्तुं जगदन्यथा च कर्तुं हि सामर्थ्यविशेषरूपा। शक्तिस्तु यस्यास्ति स सर्वशक्तिप्राणाधिकाया बहुकेलिरण्यः॥**' (बै०), *'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करहीं', 'जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य॥'* (७। ११९), *'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।'* (७।१२२)

☞ स्वामी, सुशील, सुजान और समर्थपर मिलान कीजिये—*'तेरे बेसाहें बेसाहत औरनि, और बेसाहि कै बेचनिहारे। ब्योम रसातल भूमि भरे नृप कूर कुसाहिब सेंतिहुँ खारे॥ तुलसी तेहि सेवत कौन मरै, रज तें लघु को करै मेरु तें भारे। स्वामि सुसील समत्थ सुजान, सो तो सों तुही दसरत्थ दुलारे।'* (क० उ० १२)

(घ) *'सरनागत हितकारी'*—शरणमें आये हुएका भला करते हैं यथा—*'सरन सुखद रघुबीर'* (सुं०) सुग्रीव, विभीषणादिका भला किया। *'गुनगाहक'*—अर्थात् गुणको ही लेते हैं, अवगुणपर दृष्टि नहीं डालते। यथा—*'बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर।' 'अवगुन अघहारी'*—अघ और अवगुणोंका नाश करनेवाले। यथा—*'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥'* (५। ४४। २) *'गुन गहि अघ औगुन हरै ऐसो करुनासिंधु।'* (वि० १०७)

नोट—२ भाषणका प्रारम्भ *'प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी।.....'* से करके प्रारम्भमें ही भाषणका पूरा भाव सूचित कर दिया है कि मैं आपका आज्ञाकारी हूँ, कुछ कहूँगा नहीं, जो आदेश आप देंगे उसे किंचित् भी विचार न करके शिरोधार्य करूँगा। यही शिवजीका सिद्धान्त है, यथा—*'मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिय सुभ जानी॥ सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥'* (१। ७७) और आपका भी यही आदेश है। यथा—*'सहज सुहृद गुर स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि। सो पछताइ अघाइ उर अवसि होइ हित हानि॥'* (६३) और मैं भी यह जानता हूँ कि *'गुर पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥ उचित कि अनुचित कियें बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥'* (१७७। ३-४) मेरे प्रभु, माता, पिता, गुरु, सुहृद् और स्वामी सब आप ही हैं, दूसरा नहीं। अतः जो आज्ञा दें वह मैं करूँ। नृ० पु० रामायण खण्डमें भी यही भाव है—**'यथा पिता तथा त्वं तु नात्र कार्या विचारणा। त्वदादेशो मया कार्यो देहि (त्वं पादुके मम)॥'** (२। १६२)

नोट—३ *'साइँ दोहाई'* का अर्थ साईंका द्रोही भी किया जाता है। पांडेजी, दीनजी, वीरजीने यही और पु० रा० कु० ने दोनों अर्थ लिये हैं। पहले चरणमें गोसाईंके सदृश गोसाईं कहा वैसे ही यहाँ मेरे समान मैं कहा। सत्यताके लिये शपथ करके कहते हैं अथवा यों अर्थ कर लें 'गोसाईं सरीखे स्वामी गोसाईं ही हैं और मेरे समान स्वामिद्रोही मैं ही हूँ।' तो 'द्रोही' अर्थ भी घट जाता है।

बैजनाथ, रा० प्र०, आदिने 'सौगन्द' 'शपथ' अर्थ किया है। और वीरकविजी कहते हैं कि यहाँ सौगन्दका प्रयोजन नहीं। केवल अनन्वय अलंकार है। मेरी समझमें *'साइँ दोहाई'* के दोनों ही अर्थ यहाँ ले लिये जावें तो अति उत्तम है। पं० रामकुमारजीने दोनों ही अर्थ लिये हैं। इसी प्रकार आगे कसम खायी है, यथा—*'सो गुसाँइ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी॥'* (२९९) और विनयमें भी कहा है—*'बड़ो साईं द्रोही.....नाथकी सपथ किये कहत करोरि हौं।'* (वि० २५८)

पु० रा० कु०—(१) यहाँ बीस विशेषण देकर तब कहा कि *'स्वामि गोसाँइहि सरिस गोसाईं।'* भाव यह कि ये सब विशेषण उपमारहित हैं। इनके लिये कोई दूसरी उपमा नहीं है। इन सबमें आपके समान आप ही हैं। पुनः, भाव यह कि बीसों बिस्वा गुणनिधान आपके समान आप ही हैं और स्वामिद्रोहतामें मेरे समान मैं ही हूँ। इसका आशय यह है कि मेरे इस एक अवगुणकी तुलनामें आपके बीसों गुण तुलकर नहीं बराबर हो सकते, मेरा पल्ला भारी ही रहेगा, यथा—*'स्वामी की सेवकहितता सब कछु निज साइँ दोहाई। मैं मति तुला तौलि देखी भई मेरिहि दिसि गरुआई॥'* (वि० १७१) *'बड़ो साईं द्रोही न बराबरी मेरी को कोउ नाथ की सपथ किये कहत करोरि हौं।'* (वि० २५८) आगे स्वामिद्रोहता दिखाते हैं।

बै०—*'प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी। पूज्य परमहित अंतरजामी॥'* इन विशेषणोंसे प्रभुमें अपना अनन्य भाव दिखाया।[1] आगे प्रभुके गुण कहते हैं। सरलसे सौलभ्य, सुसाहिबसे क्षमा या कृतज्ञता, शीलनिधानसे सौशील्य, प्रणतपालसे उदारता (पात्र-कुपात्र कोई शरण आवे उसकी रक्षा करना), सुजानसे चातुर्य (सब विद्याओं, सबकी भाषा, सबके धर्म आदि जानना), समर्थसे सर्वशक्तिमान् और शरणागत हितकारी आदिसे वात्सल्य[2] गुणसे परिपूर्ण जनाया।

प्रभु पितु बचन मोहबस पेली। आयेउँ इहाँ समाजु सकेली॥ ५॥
जग भल पोच ऊँच अरु नीचू। अमिअँ अमरपद माहुरु मीचू॥ ६॥
राम रजाइ मेंट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥ ७॥
सो मैं सब बिधि कीन्ह ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥ ८॥

१-'या प्रीतिः सर्वभावेषु प्राणिनामनपायिनी। रामे सीतापतावेव निधिवन्निहिता मुने' (शिवसंहिता)—(वै०)।
२-'आश्रितो दोषभोक्तृत्वं वात्सल्यमिति केचन'। 'दोषादर्शी गुणग्राही भावग्राही च राघवः'—(वै०)।

दो०—कृपा भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर।
दूषन भे भूषन सरिस सुजसु चारु चहुँ ओर॥ २९८॥

शब्दार्थ—सकेलना=एकत्र, इकट्ठा वा जमा करना, समेटना, बटोरना। मेटना=मिटाना, रेखा, चिह्न, दाग, निशान आदिको न रहने देना, उल्लंघन करना, न मानना।

अर्थ—प्रभु (आप) के और पिताके वचनको मोहवश उल्लंघन करके समाजको बटोरकर यहाँ आया॥ ५॥ संसारमें भले, बुरे, ऊँचे और नीचे, अमृत और अमरत्व, विष और मृत्यु (इत्यादि) किसीको भी कहीं नहीं देखा न सुना कि जो श्रीरामजीकी आज्ञाको मनसे ही टाल दे (कर्म वचन तो बहुत दूर रहे)॥ ६-७॥ सो मैंने सब प्रकारसे वही ढिठाई की। पर प्रभुने उस धृष्टताको स्नेह और सेवा मान ली॥ ८॥ हे नाथ! आपने अपनी कृपा और भलाईसे मेरा भला किया। जिससे मेरे दोष भूषणके समान हो गये और चारों ओर सुन्दर सुयश फैल गया॥ २९८॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—*'प्रभु पितु बचन.....'* इति। प्रभुके वचन वे हैं जो उन्होंने सुमन्त द्वारा संदेशरूपसे भरतजीके लिये कहे थे और जो उन्होंने राजासे कहे थे—***'कहब संदेसु भरत के आए। नीति न तजिअ राजपदु पाए॥ पालेहु प्रजहिं करम मन बानी।'*** (१५२। ३-४) ***'पितु बचन'*** तो प्रथम मातासे ही सुना कि वर माँगनेपर उन्होंने वर दिया और कहा था कि ***'सुदिन सोधि सबु साजु सजाई। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई॥'*** (३१। ८) ***'प्रिया हास रिस परिहरहि माँगु बिचारि बिबेकु। जेहि देखौं अब नयन भरि भरत राज अभिषेकु॥'*** (३२) प्रभुका संदेश वसिष्ठजीने सुनाया होगा। ***'सुनि सुख लहब राम बैदेही।'*** (१७५। ५) वसिष्ठजीके इन वचनोंसे भी यह आशय ध्वनित होता है। सम्भव है कि कैकेयीने भी सुनाया हो। (ख) ***'मोह बस पेली'***—न पिताका वचन माना और न आपका। यह सब मोहवश किया। (ग) ***'आयउँ इहाँ समाज सकेली'***—आपका धर्म छुड़ानेके लिये यहाँ आया। सब समाजको साथ लाया जिसमें गुरु, माता आदि गुरुजनोंका आपपर दबाव पड़े और आप लौट चलें। (घ) इस तरह जनाया कि अपना सेवक-स्वामिधर्म भंग किया और पुत्रधर्म। पिताकी आज्ञा न माननेसे पुत्रधर्म गया, स्वामिवचन न माननेसे सेवकधर्म गया। मोहग्रस्त लोग ही ऐसा करते हैं! और अब स्वामीका धर्म भंग कराने आया।

नोट—***'जग भल पोच.....कोउ नाहीं'*** इति। मिलान कीजिये वसिष्ठवाक्यसे ***'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला.....राम रजाइ सीस सब ही के।'*** (२५४। ६—८) एवं बा० ६ (६) ***'दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिय सुजीवनु माहुर मीचू'*** से। इसके अनुसार 'अमृत, विष और अमरत्व, मृत्यु' ऐसा अर्थ किया गया है। दूसरी प्रकार भी लोगोंने यों अर्थ किया है—'अमरत्व देनेवाले अमृत और मृत्युकारक विष'। वा, 'अमरत्व प्रदान करनेमें अमृतको और मृत्यु करानेमें विषको'। वीरकविजी लिखते हैं कि अमियको अमरपद और माहुरको मीचु इसमें पद और अर्थ दोनोंकी आवृत्ति होनेसे 'पदार्थावृत्ति दीपक अलंकार' है। अमृत बिना आपकी इच्छाके जिला नहीं सकता और न विष मार सकता है, यह बात लंकाकाण्ड और बालकाण्डमें दिखायी है कि वृष्टि निशाचरोंपर भी हुई पर वे न जिये और कालकूट पीकर शिवजी अमर हुए।

टिप्पणी—२ ***'मोहि समान मैं साइँ दोहाई'*** जो पूर्व कहा था उसकी व्याख्या ***'सो मैं सब बिधि कीन्ह ढिठाई'*** तक है। अर्थात् यहाँतक अपने दोष गिनाये, स्वामिद्रोहिता दिखायी। ***'मोहि समान.....'*** वाला सूत्र यहाँ पूरा किया। आगे, जो बीस गुण कहकर ***'स्वामि गोसाँइहिं सरिस गोसाईं'*** कहा था उसका स्वरूप दिखाते हैं कि ***'प्रभु मानी सनेह सेवकाई',*** मेरे आज्ञाभंग-दोषको आपने सेवा और स्नेह माना अर्थात् दूषणको भूषण कर दिया। यही बात आगे दोहेमें कहते हैं।

टिप्पणी—३ ***'कृपा भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर.....'*** इति। श्रीरामकृपा-भलाईसे ही सबका भला होता है। इसपर विनयका यह पद है—***'राम भलाई आपनी भल कियो न काको। जुग जुग जानकिनाथको जग जागत साको॥ १॥ ब्रह्मादिक बिनती करी कहि दुख बसुधा को। रबिकुल-कैरवचंद भो आनंद सुधा***

को॥ २॥ कौसिक गरत तुषार ज्यों तकि तेज तिया को। प्रभु अनहित हित को दियो फल कोप कृपा को॥ ३॥ हर्‌यो पाप आपु जाइकै संताप सिला को। सोच मगन काढ्यो सही साहिब मिथिला को॥ ४॥ रोषरासि भृगुपति धनी अहमिति ममता को। चितवत भाजन कर लियो उपसम समता को॥ ५॥ मुदित मानि आयसु चले बन मातु पिता को। धर्मधुरंधर धीरधुर गुनसील जिता को॥ ६॥ गुह गरीब गत ज्ञातिहुँ जेहि जिव न भखा को। पायो पावन प्रेम ते सनमान सखा को॥ ७॥ सदगति सबरी गीधकी सादर करता को। सोचसींव सुग्रीवके संकट हरता को॥ ८॥ राखि बिभीषन को सकै अस काल गहा को। आज बिराजत राज है दसकंठ जहाँ को॥ ९॥ बालिस बासी अवधके बूझिये न खाको। सो पाँवर पहुँचो तहाँ जहँ मुनि मन थाको॥ १०॥''''''—(वि० १५२) सुयश यह कि भरतजी बड़े प्रेमी हैं, साधु हैं, श्रीरामजीके लिये राज्यतकको त्याग दिया, इत्यादि।

राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई॥ १॥
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥ २॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए॥ ३॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥ ४॥
को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समाज[1] साज सबु साजी॥ ५॥
निज करतूति न समुझिअ सपने। सेवक सकुच सोचु उर अपने॥ ६॥
सो गोसाँइ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहौं पन रोपी॥ ७॥

शब्दार्थ—**बानि**=बान, स्वभाव, टेव। **निसील**=निश्शील, शीलरहित, बेमुरव्वत, बदमिजाज, बुरे स्वभाववाला। **निरीस**=जिसका ईश या स्वामी न हो, अनाथ। दूसरा अर्थ इसका यह भी है—जिसकी समझमें ईश्वर न हो, अनीश्वरवादी, नास्तिक। **निसंकी**=निश्शंक, निडर, बुरे काम करनेमें किसीकी शंका, भय या संकोच न करनेवाला। **सामुहें**=सामने, सम्मुख, शरण। **कोपी**=कोई, कोई भी—*'बिमुख राम त्राता नहिं कोपी।'* **किहें**= करनेपर। **रोपना**=दृढ़ताके साथ करना। **पन रोपी**=दृढ़ प्रतिज्ञा करके दृढ़तापूर्वक निश्चय करानेकी यह एक मुद्रा है, यथा—*'सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई।'* बातकी सत्यता निश्चय करानेके लिये हाथ उठाकर प्रतिज्ञा की जाती है। यह एक प्रकारसे शपथ करनेकी क्रिया है।

अर्थ—आपकी सुन्दर रीति, सुन्दर बानि और बड़ाई संसारमें प्रसिद्ध है, जो वेद-शास्त्रोंने गायी है॥ १॥ जो क्रूर, कुटिल, खल, दुर्बुद्धि, कलंकी, नीच, निश्शील, निरीश्वरवादी एवं अनाथ और निश्शंक हैं॥ २॥ ऐसोंको भी शरणमें और सम्मुख आया हुआ सुनकर एक ही बार प्रणाम करनेपर अपना लिया॥ ३॥ (शरणागतके) दोषोंको देखकर भी कभी आप हृदयमें न लाये और उसके गुणोंको सुनकर ही सज्जनोंके समाजमें उनका बखान किया (प्रशंसा करते हुए गुण वर्णन किये)[2]॥ ४॥ ऐसा और कौन स्वामी सेवकपर कृपा करनेवाला है जो आप ही (सेवकका) सब साज-समाज सज दे॥ ५॥ अपनी करनी (कर्तृत्व, उपकार जो उसपर किये हैं) को स्वप्नमें भी नहीं समझे (स्मरण करे) प्रत्युत सेवकका संकोच और सोच अपने हृदयमें बराबर बनाये रहे अर्थात् बराबर इसका सोच रहता हो कि सेवकको कोई संकोच या चिन्ता न होने पावे॥ ६॥ ऐसा स्वामी (आपके सिवा) कोई दूसरा नहीं है (यह मैं) हाथ उठाकर प्रतिज्ञा करके सत्य कह रहा हूँ॥ ७॥

१-समाज—राजापुर। समान—को० रा०। 'समान' पाठका अर्थ होगा—'सेवकका सब साज अपने समान सज दे'।

२-'रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिये की॥ जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी॥ ते भरतहि भेंटत सनमाने। राजसभाँ रघुबीर बखाने॥'-(बा० २९)

पु० रा० कु०—*'राउरि रीति सुबानि बड़ाई।·······'* इति।—अपनी भलाईसे दूसरेका भला करना यह जो आपकी रीति है, सुन्दर प्रकृति (स्वभाव, टेव) और बड़ाई है यह जगत्‌में विदित है। श्रुति, स्मृति और शास्त्रोंमें कही गयी है, कुछ मैं ही नहीं कहता और इससे कुछ मेरी ही भलाई नहीं हुई वरंच सब कहते हैं, सभीकी भलाई आपकी कृपा और भलाईसे हुई है। इसीको आगे विस्तारसे स्पष्ट करते हैं—*'क्रूर कुटिल·······'*। रीति वह है जो बहुत कालसे न जाने कबसे, बरती जा रही हो। 'बानि' स्वभाव है जो स्वतः होता ही है और बड़ाई बड़प्पन है; छोटोंकी, दासोंकी रक्षा, आदर आदि गुण हैं।

नोट—१ *'रीति सुबानि बड़ाई'* के उदाहरण ये हैं—(१) *'जानत प्रीति रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई॥'* (१६४) *'एहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।'* (वि० १६५) *'ऐसी कौन प्रभुकी रीति। बिरुद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति॥'* (वि० २१४) (२) *'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥'* (३। १०। ८) *'सरल प्रकृति आपु जानिये करुनानिधान की। निज गुन अरिकृत अनहितौ दास दोष सुरति चित रहति न दिये दान की॥ बानि बिसमरन सील है मानद अमान की।'* (वि० ४२) *'तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुखपर केहि बिधि करउँ बड़ाई॥·······सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥ सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीति'* (उ० १६) *'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥ जौ नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहिं साधु समाना॥·······।'* (५। ४८) *'मम पन सरनागत भयहारी।'* (५। ४३) *'श्रीरघुबीर की यह बानि। नीचहूँ सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि॥ १॥ परम अधम निषाद पाँवर कौन ताकी कानि। लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेमको पहिचानि॥ २॥ गीध कौन दयालु जो बिधि रच्यो हिंसा सानि। जनक ज्यों रघुनाथ ताकहँ दियो जल निज पानि॥ ३॥ प्रकृति मलिन कुजाति सबरी सकल अवगुन खानि। खात ताके दिये फल अति रुचि बखानि बखानि॥ ४॥ रजनिचर अरु रिपु बिभीषन सरन आयो जानि। भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत देह दसा भुलानि॥ ५॥ कौन सुभग सुसील बानर जिन्हहिं सुमिरत हानि। किए ते सब सखा पूजे भवन अपने आनि॥ ६॥ राम सहज कृपालु कोमल दीन हित दिन दानि। भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि॥'* (वि० २१५) तथा (३) *'रघुबर रावरि इहै बड़ाई। निदरि गनी आदर गरीब पर करत कृपा अधिकाई॥'* (१६५)

नोट—२ *'क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी।·······'* इति। क्रूर=भयंकर स्वभावके यथा—*'फोरहिं सिल लोढ़ा सदन लागे अढ़ुक पहार। कायर क्रूर कपूत कलि घरघर सहस उहार॥'* —कुटिल=मन-कर्म-वचनसे टेढ़े। खल=पर अपकार करनेवाले, यथा—*'खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥·······'* (उ० १२१) कुमति=दुर्बुद्धि जिनको हानि-लाभका विचार नहीं। 'कलंकी' (अयशी) पापी क्योंकि *'बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।'* नीच=वर्णाधम; वा जो सज्जनका साथ पाकर भी कमीनापन नहीं छोड़ता। यथा—*'नीच गुड़ी ज्यों जानिबो सुनि लखि तुलसीदास। ढील दिये गिरि परत महि खैंचत चढ़त अकास॥'*—(दो० ४०१)। निसील=किसीका मुलाहजा मुरव्वत या खयाल न रखनेवाले, जिसकी आँखोंमें पानी न हो। 'निरीश'=नास्तिक। 'निसंकी'=बड़े-बूढ़े किसीका डर न रखनेवाले।

नोट—३ (क) यहाँ नौको गिनाकर ऐसे ही असंख्य मनुष्य सूचित किये। नौ अंककी सीमा है। ऐसोंको भी सम्मुख आते ही अपना लेते हैं। (ख) *'सुनि'* अर्थात् किसीने कह भर दिया कि शरण आया है तो भी अपना लिया। नं० प० जी 'सुनि' से 'प्रभुके गुणोंको सुनकर शरणमें आये' ऐसा अर्थ करते हैं। मूलमें 'गुण' शब्द यहाँ नहीं है (ग) *'सकृत प्रनाम किहें अपनाए',* यथा—'**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥**' (वाल्मी० विभीषणशरणागति)। विशेष उदाहरण *'प्रनतपाल।'* (२१८। २) में देखिये।

टिप्पणी—पु० रा० कु०—*'देखि दोष कबहुँ न उर आने।·······'* (क) देखी हुई बात प्रामाणिक होती है, उसमें संदेह नहीं होता और सुनी हुई बात अप्रामाणिक है, वह झूठ भी हो सकती है; पर आप

ऐसे गुणग्राहक और सुसाहिब हैं कि सुने हुए झूठे गुणोंको भी सत्य मानकर आदर देते हैं, और आँखोंसे दोषको देखकर भी उसपर किंचित् ध्यान नहीं देते, मानो वे दोष हैं ही नहीं। (१।२९।५) *'रहति न प्रभु चित चूक किये की।'* इत्यादि देखिये। यथा—*'साहिब होत सरोष सेवक को अपराध सुनि। अपने देखे दोष सपनेहु राम न उर धरे॥'*—(दो० ४७) **'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥'** (गीता) (ख) सुने हुएकी भी साधुसमाजमें प्रशंसा करते हैं। बा० २९ (८) देखिये। पुनः, यथा—*'सुनि सेवा सहि को करै परिहरै को दूषन देखि। केहि दिवान दिन दीन को आदर अनुराग बिसेषि॥'* (विनय० १९१)*

टिप्पणी—२ *'आपु समाज साज सबु साजी'*—आप ही सब साज-समाज सजकर सेवकको निवाजते हैं। तात्पर्य यह कि आप ही अपने प्रसन्न होनेलायक गुण दासको दे देते हैं और आप ही उन गुणोंपर प्रसन्न हो जाते हैं। ऐसा स्वामी दूसरा कौन है? यही बात आगे पशु, शुक और नट, पाठकके दृष्टान्त देकर पुष्ट करते हैं—*'पसु नाचत'*से *'यों सुधारि सनमानि जन किए साधु सिरमोर'*तक। यदि *'आपु समान'* पाठ हो तो अर्थ होगा—'अपने समान सब साज सजकर'। भाव यह कि अन्य स्वामी अपने समान सेवकका साज देख जलते हैं जैसा आजकल सर्वत्र देख पड़ता है पर आप स्वयं सेवकको अपने समान सजा देते हैं।—(जनकपुरके वर्णनमें बा० २१४ (३) में लिखा जा चुका है)। और कौन कहे सब वानरों, निशाचरोंको मनोहर मनुष्यरूप धारण करा दिया, यथा—*'हनुमदादि सब बानर बीरा। धरे मनोहर मनुज सरीरा॥'*

टिप्पणी—३ *'निज करतूति न समुझिअ सपने।'.......'*इति। *'निज करतूति'* अर्थात् सेवकपर जो आपने उपकार किये और करते हैं उनको बिलकुल मन-कर्म-वचनसे भूल जाते हैं। 'सपने' अर्थात् जाग्रत्‌का तो बात बहुत ही दूर स्वप्नमें भी कभी उनका खयाल नहीं आने देते। 'न समुझिय' अर्थात् कितना ही कुछ उपकार करें पर कभी यह नहीं समझते कि हमने इसके साथ कुछ भी उपकार किया है, सेवकका संकोच देखकर उलटे अपने हृदयमें सकुचते हैं कि हमने इसको कुछ न दिया, हमसे कुछ न बन पड़ा। सेवक लज्जित होता है कि हमने कुछ सेवा नहीं की और प्रभु इतनी असीम कृपा कर रहे हैं और प्रभुको यह सोच कि इसने बहुत सेवा की, हमने कुछ न दिया। जैसे विभीषणको लंकाका राज्य दिया पर मनमें सोच रहा कि कुछ न दिया, यथा—*'जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिये दस माथ। सोइ संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥'* (सु० ४९); पुनः, यथा—*'केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥'*—करोड़ों पीढ़ियोंसमेत उसको तार दिया फिर भी समझते हैं कि कुछ न दिया।

टिप्पणी—४ *'सेवक सकुच सोच उर अपने'* का दूसरा अर्थ यह है कि सेवकके लिये अपने हृदयमें संकोच और सोच करते हैं। देनेमें संकोच कि यह कुछ नहीं है, सेवा अनुकूल नहीं है, कैसे दें, उसी कारण सोच रहता है कि कुछ न दिया, ऋणिया बने रहते हैं। लक्ष्मणजीको शक्ति लगी उसका इतना सोच नहीं जितना विभीषणके कार्यका था, यथा—*'ऐसे समय समर संकट हौं तज्यो लषन सो भ्राता। गिरि कानन जैहैं साखामृग हौं पुनि अनुज सँघाती। ह्वैहै कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती॥'* (गी० ६।७) पुनः, यथा—*'लंका जरी जोहे जिय सोच सो बिभीषन को। कहौं ऐसे साहेब की सेवा न खटाइ को॥'* (क० उ० २२) श्रीनंगे परमहंसजीने *'सकुच सोच'* का अर्थ 'संकोचका सोच' किया है।

टिप्पणी—५ *'सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी।'.......'* इति। शपथ करके, ईश्वरकी साक्षी देकर, प्रण करके कहते हैं। मिलान कीजिये—**'को वा दयालुः स्मृतकामधेनुरन्यो जगत्यां रघुनायकादहो। स्मृतो मया नित्यमनन्यभाजा ज्ञात्वा स्मृतिं मे स्वयमेव यातः॥'** (अ० रा० ३।२।८) श्रीशरभंगजी मन-ही-मन कह रहे हैं—अहो! इस संसारमें श्रीरघुनाथजीको छोड़कर स्मरण करनेपर कामनाओंको पूर्ण करनेवाला और

* 'सिला स्राप पाप गुह गीध को मिलाप सबरी के पास आप चलि गये हौ सो सुनी मैं। सेवक सराहे कपिनायक बिभीषन भरत-सभा सादर सनेह सुरधुनी मैं॥ १॥ आलसी अभागी अघी आरत अनाथपाल साहेब समत्थ एक नीके मन गुनी मैं। दोष दुख दारिद दलैया दीनबंधु राम! तुलसी न दूसरो दयानिधान दुनी मैं॥' (क० उ० २१)

कौन दयालु है? मैं उनका नित्य अनन्य भावसे स्मरण करता था। अतः मेरे स्मरणको जानकर वे स्वयं ही चले आये।

पसु नाचत सुक पाठ प्रबीना। गुन गति नट पाठक आधीना॥ ८॥

दो०—यों सुधारि सनमानि जन किये साधु सिरमोर।
को कृपाल बिनु पालिहै बिरिदावलि बरजोर॥ २९९॥

शब्दार्थ—'**नट**'— एक नीच जाति जो प्रायः गा-बजाकर, बन्दर, बकरी, रीछ आदिको नचाकर, और भी खेल-तमाशे आदि दिखलाकर निर्वाह करते हैं। यहाँ बन्दर, बकरी आदिका नचानेवाला अभिप्रेत है '**पाठक**'=पाठ देनेवाला, पढ़ाने या सिखानेवाला। '**गुन**' अर्थात् पाठप्रवीणता। '**सिरमोर**' (सिरमौर)=शिरोमणि, प्रधान, श्रेष्ठ। '**बिरिदावलि**'=विरुदावली; किसीके गुण-प्रताप-पराक्रम आदिका सविस्तार कथन, यश-वर्णन, प्रशंसा। पर यहाँपर 'बाना' 'यश वा गुणोंकी पंक्ति'। '**पालिहै**'=पालन करेगा। अनुकूल आचरणद्वारा किसी बातकी रक्षा या निर्वाह करना उसका 'पालना' कहा जाता है। रक्षा करना। '**बरजोर**'=प्रबल, जबरदस्त, बलपूर्वक, बहुत जोरसे।

अर्थ—पशु नाचते हैं, तोते पाठ (जो उनको पढ़ाया जाता है) में प्रवीण हो जाते हैं पर (तोतेकी पाठप्रवीणता) गुण और (पशुकी नाचनेकी) गति पढ़ानेवाले और नचानेवालेके अधीन है (अर्थात् नाच और पाठप्रवीणतामें पशु या तोते कुछ बड़ाई पानेके अधिकारी नहीं, प्रशंसा योग्य तो नट और पाठक ही हैं जिन्होंने उन्हें ऐसा बना दिया)॥ ८॥ इसी तरह आपने अपने सेवकको सुधारकर और सम्मान करके साधुशिरोमणि बना दिया। कृपा करनेमें समर्थ आपके सिवा और कौन अपनी प्रबल विरुदावलीको हठ करके पालन करेगा? अर्थात् कोई नहीं॥ २९९॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० *पसु नाचत"""। गुन गति नट पाठक आधीना॥'* इति। बन्दर, बकरी, भालु आदिको जैसा नट सिखाते हैं वैसा ही वे नाचते हैं और तोतेको जैसा पढ़ानेवाला पढ़ाता है वैसा वह पढ़ता और कहता है। पशु-पक्षीमें अपनी योग्यता नहीं कि वे स्वयं नाच नाचें या पढ़ लें। वैसे ही सेवकमें अपना कोई गुण नहीं कि आपको रिझा ले। आप ही अपनी रीझका साज-समाज सजकर उसपर प्रसन्न होते हैं जैसा ऊपर कह आये हैं। इसमें प्रशंसा आपकी ही है न कि सेवककी मिलान कीजिये—*'आपु हौं आपुको नीके कै जानत रावरो राम भरायो गढ़ायो। कीर ज्यों नाम रटै तुलसी सो कहै जग जानकीनाथ पढ़ायो॥ सोई है खेद जो बेद कहै न घटे जन जो रघुबीर बढ़ायो। हौं तो सदा खरको असवार तिहारोइ नाम गयंद चढ़ायो॥'* (क० ७। ६०) *'नट मरकट इव सबहि नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥'* (४। ७)

पां०, रा० प्र०—वीरकविजी, 'गुणोंकी गति नचाने और पढ़ानेवालेके अधीन है' ऐसा अर्थ करते हैं। अर्थात् वैसे ही मेरी भलाईका गुण आपके अधीन है। दीनजी लिखते हैं कि—*'नट पाठक आधीना'* अर्थात् नट डोरीको जैसे-जैसे घुमावेगा पशु उसी प्रकार नाचेगा तथा तोतेको पढ़ानेवाला जो कुछ सिखावेगा वह वही पढ़ेगा। परन्तु प्रशंसा होती है पशु और सुग्गेकी, इसी प्रकार सेवकोंके सारे यश और विभवका कारण हैं तो वास्तवमें आप, पर प्रशंसा होती है दासोंकी।

टिप्पणी—२ *'यों सुधारि सनमानि जन"""'* इति। 'यों' अर्थात् जैसे नट पशुको और पाठक तोतेको सुधारकर उनके गुणोंकी प्रशंसा करके सब लोगोंमें उनका यश बढ़ाते हैं वैसे ही। 'यों' से इस दोहेका सम्बन्ध पूर्व अर्धालीसे मिलाया। वह उपमेयवाक्य है और दोहेका पूर्वार्द्ध *'यों सुधारि सनमानि जन किये साधु सिरमोर'* उपमान वाक्य है।

टिप्पणी—३ *'को कृपालु बिनु पालिहै बिरिदावलि बरजोर,'* यथा—*'कौन देव बरियाइ' बिरद हित हठि हठि अधम उधारे। खग मृग व्याध पषान बिटप जड़ जवन कवन सुर तारे। देव दनुज मुनि नाग मनुज सब*

माया बिबस बिचारे।''''''' ' (विनय० १०१)। 'बरजोर' के दोनों भाव यहाँ हैं, यह 'पालिहै' और 'बिरिदावलि' दोनोंके साथ है। *'बरजोर बिरिदावली बरजोर पालिहै'* अर्थात् जबरदस्त यशकी पंक्तिको बरियाई पालन करेगा।

टिप्पणी—४ यहाँतक साधारणतया सबपर भलाई करना कहा, आगे अपने ऊपर भलाई करना कहते हैं। ऊपर जो गुण कहे उनसे अपना सम्बन्ध मिलाते हैं।

पां०, वै०—यहाँतक रघुनाथजीको रघुनाथजीके समान कहा, उन्हींके गुण कहे। आगे अपने अवगुण कहते हैं।

☞ यहाँतक प्रभुके यशमें वस्तुतः दो विशेष गुण दिखाये हैं। एक तो यह कि कैसा भी कोई दुराचारी शरणमें आया तो एक बारके प्रणाममात्रसे उसको अपना लेते हैं और दोष देखकर भी उसपर ध्यान नहीं देते वरन् सुने हुए गुणोंकी प्रशंसा साधु-समाजमें करते हैं। दूसरा यह कि अपना उपकार भूल जाते हैं, सेवककी सेवापर उसके योग्य उसको कुछ न देनेका संकोच और सोच बना रहता है, उसके कृतज्ञ रहते हैं।

सोक सनेह कि बाल सुभाएँ। आयेउँ लाइ रजायसु बाएँ॥ १॥
तबहुँ कृपाल हेरि निज ओरा। सबहि भाँति भल मानेउ मोरा॥ २॥
देखेउँ पाय सुमंगल मूला। जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला॥ ३॥
बड़े समाज बिलोकेउँ भागू। बड़ी चूक साहिब अनुरागू॥ ४॥
कृपा अनुग्रहु अंगु अघाई। कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई॥ ५॥
राखा मोर दुलार गोसाईं। अपने सील सुभाय भलाईं॥ ६॥

शब्दार्थ—**बाएँ लाइ**=बाँया देकर। बाँया देना मुहावरा है—जान-बूझकर टाल जाना या त्याग करना, अनुकूल न करना, प्रतिकूल या विरुद्ध करना, (बातका) न मानना। **अनुग्रहु**=दुःख दूर करनेकी इच्छा, अपना बनाना, अंगीकारत्व—(वै०)। 'कृपा', यथा भगवद्‌गुणदर्पणे—'**स्वसामर्थ्यानुसंधानाधीनाकालुष्यनाशनः। हार्द्दोभाव विशेषो यः कृपा सा जागदीश्वरी॥**'—(वै०) **अंगु अघाई**=सर्वांगपूर्ण।

अर्थ—अपने शोकसे या स्नेहसे या बालस्वभाव (लड़कपन) से आज्ञाको बायाँ देकर (न मानकर) यहाँ आया॥ १॥ तब भी, हे कृपालु! आपने अपनी ओर देखकर सभी प्रकारसे मेरा भलप्पन ही माना॥ २॥ मैंने सुन्दर मंगलोंके मूल आपके चरणोंका दर्शन किया। स्वामीको अपने ऊपर स्वाभाविक ही अनुकूल जान लिया (पाया)॥ ३॥ बड़े समाजमें अपना भाग्य देखा कि इतनी बड़ी चूक होनेपर भी स्वामीका मुझपर कैसा अनुराग है॥ ४॥ हे कृपानिधान! मुझपर आपने सर्वांगपूर्ण कृपा और अनुग्रह अघाकर सब अधिकताके साथ किये हैं॥ ५॥ हे गोसाईं! आपने अपने शील, स्वभाव और भलाईसे मेरा दुलार (लाड़-प्यार) रखा॥ ६॥

नोट—१ *'सोक सनेह कि बाल सुभाएँ'*, यथा—*'एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सिय राम'''''''* ' से *'एकहि आँक इहहि मनमाहीं। प्रात काल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥'* (१८३। २) तक। *'एहि दुख दाह दहइ दिन छाती।'''''''* ' (२१२। १) यह शोक है जिससे दौड़े आये। *'तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥ जेहि सुनि बिनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि रामु रजधानी॥'* (१८३। ७-८) *'कहेउ लेहु सब तिलक समाजू। बनहिं देब मुनि रामहि राजू॥'* (१८७। ३) इत्यादि स्नेह है जिससे मनाने आये। गुरु, पिता-माता, मन्त्री किसीकी तथा प्रभुका संदेश न माना, अपनी हठ की—*'एकहि आँक इहइ मन माँहीं।'''''''* ' यह 'बाल सुभाएँ' है क्योंकि बालक हठ करता है। (ख) *'लाइ रजायसु बाएँ'* इति। *'प्रभु पितु बचन मोह बस पेली। आयेउ इहाँ समाज सकेली॥'* (२९८। ५) देखिये। 'रजायसु' शब्दसे सूचित करते हैं कि आप ही श्रीअवधके राजा हैं, फिर भी मैंने आज्ञा न मानी। यह अपराध किया जिससे दण्डके योग्य था। (ग) *'हेरि निज ओरा'*— अर्थात् आप जनके अपराधको नहीं देखते, अपनी कृपा आदि गुणोंकी ओर देखकर ही जनका भला करते हैं।—*'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती। राम*

सुस्वामि कुसेवक मोसो। निज दिसि देखि दया निधि पोसो॥' (१। २८। ३-४) मिलान कीजिये—***'जो पै जिय धरिहौ अवगुन जन के। तौ क्यों कटत सुकृत नख तें मो पै बिपुल बृन्द अघ बन के।'*** (वि० ९६) ***'जो पै हरि जन के अवगुन गहते।'''''''जो सुतहित लिये नाम अजामिलके अघ अमित न दहते। तौ जमभट साँसति हर हमसे वृषभ खोजि खोजि नहते। जौ जग बिदित पतित पावन अति बाँकुर बिरद न बहते। तौ बहु कल्प कुटिल तुलसी से सपनेहु सुगति न लहते।'*** (वि० ९७)

'सोक सनेह''''''' ' इति। वाल्मी० २। ९७ में श्रीरामजीने लक्ष्मणजीसे कहा है कि स्नेह-परवश तथा शोकसे व्याकुल होकर ये भरत मुझे देखनेके लिये आये हैं, इनके आनेका और कोई प्रयोजन नहीं है। यथा— **'स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः। द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथागतः॥'** (११)

टिप्पणी—पु० रा० कु० १—***'सबहि भाँति भल मानेउ मोरा'*** का स्वरूप, यथा—***'तीनि काल तिभुअन मत मोरे। पुन्यसिलोक तात तर तोरे॥ उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोकु परलोकु नसाई॥'''''''मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार।'*** (२६३) इत्यादि।

टिप्पणी—२ ***'देखेउ पाय सुमंगल मूला।'''''''*** ' इति।—जो भरतजीने अवध-दरबारमें कहा था कि ***'देखे बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ।'*** (१८२) उसके सम्बन्धमें ***'देखेउँ पाय सुमंगल मूला'*** कहा। और जो चित्रकूटके निकट पहुँचनेपर समझे थे, संदेह करते थे कि ***'राम लषन सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥'*** (२३३। ८) उसके सम्बन्धमें यहाँ कहा कि ***'जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला'***। [यहाँ चित्रकूट आनेका फल कहा। (पा०)]

टिप्पणी—३ ***'बड़े समाज बिलोकेउँ भागू''''''' ।'*** इति। यह श्रीवसिष्ठजी, श्रीविश्वामित्रजी और श्रीजनकजी आदिका समाज है, अतः 'बड़ा' कहा। 'बड़ी चूक' अर्थात् आज्ञाका उल्लंघन। इतना बड़ा अपराध किया उसपर भी स्वामीका मुझपर ऐसा अनुराग है और श्रीवसिष्ठादि सभी बड़े-बड़े महानुभावोंके बीचमें तथा समाजभर प्रशंसा कर रहा है यही बड़ा भाग्य है।

शीला—***'बड़े समाज बिलोकेउँ भागू''''''' ।'*** का भाव यह कि ऐसे समाजमें मेरा भाग्य दब जाना चाहिये, सो न दबा। चूक बड़ी है उसपर स्वामीका बड़ा अनुराग है इससे मेरा भाग्य सर्वोपरि है।

टिप्पणी—४ ***'कृपा अनुग्रह अंगु अघाई।'*** इति। (क) 'कृपा अनुग्रहके अंग अच्छी तरहसे कृपानिधिने सब अधिकतासे किये हैं अर्थात् कृपा अनुग्रहमें कुछ कसर बाकी नहीं रही'। वा, (ख) सर्वांग कृपा अनुग्रहसे अघा गया, सन्तुष्ट हो गया। हे कृपानिधि! आपने सब अधिक किया अर्थात् जितनेके लायक मैं न था उतना आपने मेरे ऊपर अनुग्रह किया। [रा० प्र० कार और पंजाबीजी 'अंग' का अर्थ 'सहायता' लेकर इस अर्धालीका यह भी अर्थ करते हैं—'कृपा, अनुग्रह और सहायता सबको कृपानिधिने अधिकाईसे अघाकर किया।' बैजनाथजी कहते हैं कि कृपासे अपराध नाश करके स्नेही बनाया और अनुग्रहसे अंगीकार किया। वीरकविजीने पुनरुक्तिके भयसे यों अर्थ किया है—'हे कृपानिधि! आपने सब तरहसे बड़ी कृपा की, इस अनुग्रहसे मेरा अंग परिपूर्ण हो गया।']

टिप्पणी—५ ***'राखा मोर दुलार गुसाईं।'''''''भलाईं'*** इति।—अर्थात् आपने दुलार न रखा होता तो विधिने तो हमारा दुलार नष्ट ही कर डाला होता, यथा—***'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीचु जननी मिस पारा॥'*** (२६१। १) (ख) ***'अपने सील सुभायँ भलाईं'*** अर्थात् आपने अपनी ओरसे रक्षा की, मुझमें कोई गुण नहीं थे जिसे देखकर आप रक्षा करते? भलाई=भलमंसाहत। यथा—***'मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई। हौं तो साँइ द्रोही पै सेवक हित साँई।'''''''पाथ माथे चढ़ै तृन तुलसी जो नीचो। बोरत न बारि ताहि जानि आपु सींचो'***—(विनय० ७२) किसीका मत यह है कि भरतजीने जो अपने लिये कहा कि ***'सोक सनेह कि बाल सुभाएँ'*** उसीके अनुसार यहाँ प्रभुमें तीन गुण ***'सील सुभायँ भलाईं'*** कहे। शोकसे आया तो आपने शीलसे दुलार किया, बाल स्वभाव है अतः अपनी भलाईसे दुलार किया और स्नेहसे आया तो आपने अपने स्वभावसे दुलार किया।

नाथ निपट मइ कीन्हि ढिठाई। स्वामिसमाज सकोच बिहाई॥ ७॥
अबिनय बिनय जथारुचि बानी। छमिहि देउ अति आरति जानी॥ ८॥
दो०—सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि।
आयसु देइअ देव अब सबइ सुधारी मोरि॥ ३००॥

शब्दार्थ—**अबिनय**=विनयका अभाव, ढिठाई, उद्दण्डता।

अर्थ—हे नाथ! मैंने स्वामी और समाजका संकोच छोड़कर सर्वथा ढिठाई की है॥ ७॥ हे देव! मेरे अत्यन्त दु:खको जानकर मेरी इस अविनय या विनयकी रुचि अनुकूल वाणीको क्षमा कीजियेगा॥ ८॥ सुहृद्, सुजान और सुसाहिबसे बहुत कहना बड़ा दोष है। हे देव! अब मुझे आज्ञा दीजिये, वही मेरा सब सुधारेगी। अर्थात् आज्ञा छोड़ और किसी तरह मेरी बिगड़ी नहीं सुधर सकती, इससे अब शीघ्र आज्ञा दीजिये॥ ३००॥

टिप्पणी—१ ***'निपट ढिठाई'***—बड़ोंके समाजमें बोलना ढिठाई है और यहाँ सबके बीचमें स्वामीका भी संकोच न किया, उनके सम्मुख ढिठाई की, अत: 'निपट ढिठाई' है।

टिप्पणी—२ ***'अबिनय बिनय जथारुचि बानी'*** इति।—यह मेरी वाणी अनीति है वा नीतिकी, नम्रतारहित है वा विनीत है, कुप्रार्थना है या प्रार्थना—जो कुछ भी हो यह रुचिके अनुसार कही गयी है। इसे क्षमा करेंगे क्योंकि मैं आर्त हूँ और आर्तके चित्तमें चेत नहीं रहता, जो मनमें आया वही कह डालता है, विचारकी शक्ति उसमें नहीं रह जाती। यथा—***'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहि न बिचारी॥'*** (वि० ३४) सुहृद् सदा हित ही करेगा, वह अहित कदापि करेगा ही नहीं। ***'सुजान'*** चतुर जो मनकी जानता है, सब विद्याओंमें चतुर है, वह जो कुछ करेगा वह वेद-शास्त्रादिका सार होगा और धर्मनीतिमय एवं विवेकमय होगा और ***'सुसाहिब'*** अपने सेवकका सदा पालन ही करता है, कैसा ही अपराध क्यों न हो जाय; तब जिसमें ये तीनों बातें हैं उससे कहना कि ऐसा करो यह बड़े दोषकी बात है। ***'बड़ि खोरि'*** से जनाया कि थोड़ा भी कहना दोष है और बहुत कहना बड़ा दोष है। यह सिद्धांत भरतजीका है। आगे भी यही कहेंगे ***'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावइ देवा॥'***

वि० त्रि०—***'सुहृद सुजान·······मोरि'*** इति। सुहृद् सुजान सुस्वामीसे तो कुछ कहना ही नहीं चाहिये, सेवकका हित तो स्वामीकी सेवकाई, सब प्रकारके सुखका लोभ छोड़कर करनेमें है। उससे थोड़ा भी कहना दोष है और बहुत कहना तो बड़ा भारी दोष है। जो निर्दय हो उसे पसीजनेके लिये अधिक विनयकी आवश्यकता होती है, या जो बेसमझ हो उसे समझानेके लिये अधिक कहना पड़ता है, पर जो सुहृद् हो, सुजान हो, उससे बहुत कहना मानो उसपर दयाहीन और बेसमझ होनेका दोषारोपण करना है, उसे कुस्वामी कहना है, इसलिये मैं बहुत नहीं कहता, बड़ोंको आप आदेश मत दीजिये, मुझे आदेश दीजिये। इतनेसे ही मेरी सब सुधर जायगी। भाव वही है जो गुरुजीने कहा था। मुझे यदि आज्ञा दीजियेगा और उसके अनुसार मैं चलूँगा तो राजा आप रहे, मैं सेवक रहा। मेरा सेवक-धर्म अक्षुण्ण रह जायगा।

प्रभु पद पदुम पराग दोहाई। सत्य सुकृत सुख सीव सुहाई॥ १॥
सो करि कहौं हिये अपने की। रुचि जागत सोवत सपने की॥ २॥
सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥ ३॥
अग्याँ सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावइ देवा॥ ४॥
अस कहि प्रेमबिबस भए भारी। पुलक सरीर बिलोचन बारी॥ ५॥
प्रभु पद कमल गहे अकुलाई। समउ सनेहु न सो कहि जाई॥ ६॥
कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी॥ ७॥

शब्दार्थ—**प्रसादु**=जो पदार्थ देवता, महात्मा या गुरुजन प्रसन्नतापूर्वक प्रसन्न होकर देते हैं।

अर्थ—प्रभुके चरण-कमलरजकी, जो सुन्दर सत्य, सुकृत और सुखकी सुन्दर सीमा है, उसकी शपथ करके अपने हृदयकी जागते, सोते और स्वप्नकी रुचिको कहता हूँ॥ १-२॥ स्वाभाविक स्नेहसे, स्वार्थ, छल और चारों फलोंकी आशा छोड़कर स्वामीकी सेवा करने तथा* आज्ञा (पालन) के समान सुसाहिबकी दूसरी सेवा नहीं है—हे देव! वही प्रसाद सेवकको मिले॥ ३-४॥ ऐसा कहकर (भरतजी) प्रेमके अतिशय वश हो गये, उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रोंमें जल भर आया॥ ५॥ अकुलाकर उन्होंने प्रभुके चरण-कमल पकड़ लिये। वह समय और उस समयका प्रेम कहा नहीं जा सकता॥ ६॥ दयासागर श्रीरघुनाथजीने सुन्दर वाणीसे उसका सम्मान करके हाथ पकड़कर उनको अपने पास बिठाया॥ ७॥

नोट—१ ***'प्रभु पद पदुम पराग दोहाई। सत्य सुकृत·······'*** इति। यहाँ ***'सत्य सुकृत·······'*** को कोई 'पराग' का और कोई 'दोहाई' का विशेषण मानते हैं। पं० रामकुमारजी, रा० प्र०, बैजनाथजी, पाँड़ेजी आदि इसे रजका विशेषण मानते हैं और पंजाबीजी और दीनजी 'दोहाई' का।

पं०—चरणारविन्दोंकी जो शपथ है वह सत्य, पुण्यों और सुखकी भी सीमा है। भाव कि झूठी शपथ करनेवालेके सत्य, सुकृत और सुख सभी नष्ट हो जाते हैं।

पु० रा० कु०, रा० प्र०—पदपद्मपराग सत्य आदिकी सीमा है, सत्य, सुकृत और सुख यहींतक हैं, इनसे बस है। (नोट—***'सुहाई'*** सत्य आदि और ***'सीव'*** दोनोंका विशेषण है। सत्य आदि असुहावन भी होते हैं, यह पूर्व कई ठौर दिखाया जा चुका है)।

वै०—रज कैसी है। इससे अहल्याको सत्य अर्थात् पतिसंयोग प्राप्त हुआ, निषादको सुकृत और दण्डकारण्यको सुख मिला।

नोट—२ ***'रुचि जागत सोवत सपने की'*** इति। तुरीयावस्थामें प्रभुकी प्राप्ति स्वाभाविक ही है, अन्य तीन जाग्रत्, सुषुप्ति और स्वप्नमें विक्षेप भी हो जाता है, अतएव इन्हीं तीनको कहा। (वै०) यहाँ सन्देह यह होता है कि रुचि तो जाग्रत्में होती है, सपनेमेंके रुचिको भी रुचि माना जा सकता है, पर गाढ़निद्रामें तो कोई रुचि नहीं होती, उस अवस्थामें रुचिका होना कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यही है कि कभी जाग्रत्में भी रुचि नहीं रहती, इसका अर्थ यह है कि रुचि है ही नहीं, रुचि है, पर उदारावस्थामें नहीं है सुषुप्तामें है, कारण पाकर जाग जायगी। इसीलिये रुचिकी भी चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। सो गाढ़ निद्रामें भी रुचि सुषुप्तावस्थामें रहती है। (वि० त्रि०)

नोट—***'सहज सनेह स्वामि सेवकाई।'*** इति। यह तीनों अवस्थाओंकी अपनी रुचि कही। पु० रा० कु० जी एवं रा० प्र० चारों पदार्थोंकी इच्छाको ही स्वार्थ और छल मानते हैं। इनकी चाह ही सेवामें छल है। अर्थ—चारों फलोंका स्वार्थरूपी छल।' मिलान कीजिये:—***'स्वारथ परमारथ रहित सीताराम सनेहु। तुलसी सो फल चारि को फल हमार मत एहु॥ परहु नरक फल चारि मिसु मीचु डाकिनी खाउ। तुलसी रामसनेह को जो फल सो जरि जाउ॥'*** (दो० ६०, ९२)

'भानु पीठि सेइअ उर आगी। स्वामिहि सर्बभाव छल त्यागी॥' (कि० २३। ४)

प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थोंमेंसे जो अर्थ और काम धर्मानुकूल हैं वे भगवान्‌की ही विभूति हैं। यथा—'**धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ**' (गीता) अतः धर्मविरुद्ध अर्थ और काम ही स्वार्थ हुआ। धर्मानुकूल अर्थ और काम मोक्षके परम्परागत साधन हैं। भगवान्‌का सेवक होकर अन्य देवी-देवता-मनुष्य आदिका भरोसा करना 'छल' है। स्वार्थ, परमार्थ और छल इन सबोंका त्याग करके सहज-स्नेहसे सेवा करना दास्यभक्तिका लक्षण है, यह यहाँ बताया गया।'

नोट—४ ***'सो प्रसाद जन पावइ देवा'।*** देवता प्रसन्न होकर प्रसाद देते हैं, वर देते हैं। आप प्रसन्न हैं; मैं यही वर माँगता हूँ, 'आज्ञा' रूपी प्रसादकी ही मुझे चाह है।

---

* अर्थान्तर—स्वार्थ, छल और चारों फलोंको छोड़कर सहज स्नेह करना ही स्वामीकी सेवा है।

नोट—५ *'अस कहि प्रेम बिबस भए भारी।'* प्रेमके विशेष वश होनेसे यही दशा हो जाती है, पूर्व भी अनेक स्थलोंमें दिखा आये हैं। मिलान कीजिये हनुमान्‌जी, लक्ष्मणजी आदिकी दशा—*'चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥'* (सु० ३२) *'बार बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेममगन तेहि उठब न भावा॥ प्रभु कर पंकज कपि के सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥'; 'कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥'* (७०। २)……'।

नोट—६ *'बैठाए समीप गहि पानी'* इति। ☞ यह भाग्य इनके अतिरिक्त श्रीरामचरितमानसमें केवल हनुमान्‌जीको प्राप्त हुआ, अन्य किसीको नहीं। यथा—*'कर गहि परम निकट बैठावा।'* इन दोनोंमें भी निकट और परम निकटका भेद है ही (प० प० प्र०)।

पं०, रा० प्र०—वियोगकी घड़ी सोचकर व्याकुल हुए। चरण गहे कि ये हमसे कभी न छूटें। बाँह पकड़कर समीप बैठाकर जनाया कि तुम निश्चिन्त रहो, हम तुम्हारा त्याग कभी नहीं करेंगे, तुम मुझे सदा अपने समीप समझो।

भरत-भाषण समाप्त हुआ।

भरत बिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेहँ सभा रघुराऊ॥ ८॥

छं०—रघुराउ सिथिल सनेहु साधुसमाज मुनि मिथिलाधनी।
मन महुँ सराहत भरत भायप भगति की महिमा घनी॥
भरतहि प्रसंसत बिबुध बरषत सुमन मानस मलिन से।
तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिनसे॥

सो०—देखि दुखारी दीन दुहुँ समाज नर नारि सब।
मघवा महा मलीन मुए मारि मंगल चहत॥ ३०१॥

शब्दार्थ—'**धनी**'=स्वामी, राजा, यथा—*'राजधनी जो जेठ सुत आही'*। **घनी**=बहुत बड़ी। '**मघवा**' (सं० मघवन्)=इन्द्र।

अर्थ—श्रीभरतजीकी विनय सुनकर और स्वभाव देखकर सभा और रघुनाथजी स्नेहसे शिथिल हैं॥ ८॥ श्रीरघुनाथजी, साधुसमाज, वसिष्ठमुनि और मिथिलापति जनकजी स्नेहसे शिथिल हैं। सब मन-ही-मन भरतजीके भाईपन और भक्तिकी अतिशय महिमाकी बड़ी सराहना कर रहे हैं। देवता अपने मलिन मनसे भरतजीकी बड़ी प्रशंसा कर रहे हैं और फूल बरसा रहे हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि सब लोग (सभामें भरतका निर्णय) सुनकर ऐसे संकुचित हो गये जैसे रात्रिके आगमनसे कमल। दोनों समाजों और सभी स्त्री-पुरुषोंको दु:खी और दीन देखकर महामलिन इन्द्र मरे हुएको मारकर अपना मंगल-कल्याण चाहता है॥ ३०१॥

नोट—*'भरतहि प्रसंसत बिबुध बरषत सुमन मानस मलिन से'* इति। (क) मलिन मनसे प्रशंसा करते और फूल बरसाते हैं। क्योंकि श्रीभरतजीकी तरफसे तो निस्संदेह हुए पर अभी श्रीरामजीकी तरफसे सन्देह बना है कि इनके प्रेमके वश न जाने क्या आज्ञा दें। (पु० रा० कु०) (ख) *'मलिन'* क्योंकि शंका है कि भरतजीने केवल आज्ञा माँगी है, यह नहीं कहा कि हम लौटनेको तैयार हैं। पूर्व दरबारमें भी संदिग्ध वचन कहे थे, निश्चय नहीं। आज्ञा माँगनेके कारण प्रशंसा है। (खर्रा) (ग) भरतने प्रेमातुर हो चरण पकड़े और रामजीने उन्हें हाथ पकड़कर समीप बिठाया इसीसे हृदय शंकित हो गया है—(पं०) (घ) भाव यह कि किसी प्रकार भरतजी शीघ्र अवधको लौट जायँ—(रा० प्र०)। अथवा, भरतजीका रुख श्रीरामजीको लौटानेका नहीं है इससे अपने स्वार्थकी सिद्धि जानकर फूल बरसाये, पर इससे अवध-मिथिला-वासियोंको अत्यन्त दु:ख होगा, इसकी उनको परवा नहीं है और न किंचित् चिन्ता है, अत: *'मलिन मन'* कहा और आगे इन्द्रको महामलिन कहा है।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—*'सब लोग सकुचे निसागम नलिन से'* इति। (क) जैसे पूर्व दरबारमें *'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब। सो सिर धरि धरि करिहिं सब मिटिहि अनट अवरेब॥'* (२६९) भरतजीके ऐसा कहनेपर *'भरत बचन सुचि सुनि सुर हरषे। साधु सराहि सुमन सुर बरषे॥ असमंजस सुनि अवधनिवासी। प्रमुदित मन तापस बनवासी॥'* वैसे ही यहाँ अवधमिथिलावासी असमंजसवश सकुचे।

(ख) रातके आनेसे कमल संकुचित हो जाते हैं। यहाँ वियोगरूपी रातका आगमन होगा। अभी स्नेहसे शिथिल हैं और आगे वियोगरूपी आज्ञाकी ही आशा है। कारण कि श्रीभरतजीने श्रीरामजीपर छोड़ा है और वे *'पितु आयसु'* रूपी परमधर्मपर आरूढ़ हैं, सत्यसंध हैं, सत्यव्रत हैं, अतः वे लौटेंगे नहीं, श्रीभरतजीको ही लौटायेंगे। अतः *'निसागम'* की उपमा दी। प्रथम दरबारमें भरतजीकी शोकमय वाणी सुनी थी तब कमलवनपर तुषार पड़नेकी उत्प्रेक्षा की थी, यथा—*'सोक मगन सब सभा खँभारू। मनहुँ कमलबन परेऊ तुषारू॥'* (ग) सब लोग व्याकुल हो गये क्योंकि भरतजीने लौटनेको न कहकर उन्हींकी रुचिपर छोड़ दिया। अभी श्रीरामजीकी तरफसे निश्चय नहीं हुआ है कि सब लौट जायँ इसीसे *'निसागम'* कहा, अभी रातका आगमन है, वह अभी आ नहीं गयी।

टिप्पणी—२ *'मघवा महा मलीन मुए मारि मंगल चहत'* इति। मघवा है, धनसे सम्पन्न है। मरेको मारकर कल्याण चाहना महान् अधमता है। यहाँ सब लोग आगामी वियोग और स्नेहसे शिथिल एवं व्याकुल हो सूख गये हैं, दुःखी और दीन हैं। उनपर उच्चाटन आदिका प्रयोगकर और भी दुःखी कर रहा है। अतः महामलिन कहा। कविने यहाँ *'मघवा'* अनादरसूचक नाम दिया, आगे श्रीरामजीके वचनोंमें यही नाम आयेगा। प० प० प्र० स्वामीका मत है कि यह अनादरका नाम नहीं है। 'मघवन्'—'मह पूजायाम्'। अमरव्याख्या सुधा देखिये *'मघवा महा मलीन'* में *'ऊँच निवास नीच करतूती'* का भाव है।

कपट कुचालि सीव सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू॥ १॥
काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥ २॥
प्रथम कुमत करि कपटु सँकेला। सो उचाट सब के सिर मेला॥ ३॥
सुर माया सब लोग बिमोहे। रामप्रेम अतिसय न बिछोहे॥ ४॥
भय उचाट बस मन थिर नाहीं। छन बन रुचि छन सदन सुहाहीं॥ ५॥

शब्दार्थ—'**पाकरिपु**'=पाक दैत्यके शत्रु, इन्द्र। 'मेलना'=डालना, यथा—*'सिय जयमाल राम उर मेली'* 'बिछोहना'=बिलग होना, वियोग होना।

अर्थ—देवराज इन्द्र कपट और कुचालकी सीमा है। उसे पराया काम बिगाड़ना, बिगड़ना और अपना कार्य (साधना-सधना) प्रिय है॥ १॥ पाक दैत्यके शत्रु इन्द्रकी रीति कौएके समान है, छली और मलिन (मनका मैला) है। किसीपर भी इसका विश्वास नहीं॥ २॥ पहले कुमन्त्र करके कपट एकत्र किया, वह उच्चाट सबके सिर डाल दिया*॥ ३॥ देवमायासे सब लोग विशेष मोहित हो गये परंतु श्रीरामजीके अतिशय प्रेमसे उनका अधिक बिछोह न हुआ॥ ४॥ उच्चाटन और भयके वश मन स्थिर नहीं है। क्षणमें वनकी इच्छा होती है और क्षणमें घर अच्छा लगने लगता है॥ ५॥

नोट—१ *'काक समान पाकरिपु रीती।……'* इति। (क) इन्द्रको पूज्य कविने यहाँ इतने कड़े निन्दित विशेषण दिये। सात विशेषण दिये हैं—कपटसींव, कुचालिसींव, पर अकाजप्रिय, अपना काज प्रिय, छली, मलिन और अविश्वासी। सात क्रूर विशेषण देकर उसे कपट आदि महान् निकृष्ट अवगुणोंका समुद्र सूचित किया। *'सींव'* का भाव कि इससे बढ़कर कपटी-कुचाली कोई दूसरा नहीं। (ख) *'पाकरिपु रीती'* का भाव कि पाक दैत्यके साथ इन दुर्गुणोंका प्रयोग किया था। उसका यह आचरण नया नहीं, बहुत प्राचीन है।

* उस कपटने उच्चाट सबके सिरपर रख दिया। (नं० प०)

ऐसा व्यवहार करते-करते यह उसका स्वभाव-सा हो गया है। (ग) इन्द्रको ऐसा दुष्ट कहनेका कारण यह है कि वह संतों, ऋषियों और रामभक्तोंके साथ भी छल-कपट करता है। जिनकी भक्ति और प्रेमसे सब उनमें प्रेम करते हैं, जिनके प्रेमको देख ऋषितक अपने योग-जप-तप आदिकी निन्दा करते हैं, उन लोगोंके साथ भी यह छल कर रहा है। स्वयं स्वार्थपरायण है, छली आदि है, इसीसे सबको वैसा ही समझता है।

नोट—२ *'प्रथम कुमत करि कपटु सँकेला। सो उचाट·······'* इससे स्पष्ट है कि उस समय उच्चाटनका सब साज था पर लोगोंपर उसका प्रयोग न किया था। यथा—*'रचि प्रपंच माया प्रबल भय भ्रम अरति उचाट।'* (२९५) वह प्रयोग अब किया। दोहा ३०१ में जो *'मुएका मारना'* कहा था वह यहाँ स्पष्ट किया। कपट-प्रयोग ही 'मारना' है।

नोट—३ *'राम प्रेम अतिसय न बिछोहे।'*—देवमायासे मोहित भी हो गये और इधर रामप्रेम अतिशय है इससे उस प्रेमसे अतिशय बिछोह भी नहीं हुआ, रामप्रेम भी बना ही रहा। इसीसे दुचित्ते हैं। यही बात आगे स्पष्ट करते हैं।[1]

दुबिध मनोगति प्रजा दुखारी। सरित सिंधु संगम जनु बारी॥ ६॥
दुचित कतहुँ परितोषु न लहहीं। एक एक सन मरम न कहहीं॥ ७॥
लखि हिय हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुबानू॥ ८॥

दो०—भरतु जनकु मुनिजन सचिव साधु सचेत बिहाइ।
लागि देवमाया सबहि जथा जोगु जनु पाइ॥ ३०२॥

शब्दार्थ—'**दुबिध**'=दो प्रकारकी—(पु० रा० कु०), दुविधामें पड़ी हुई। '**मनोगति**'=मनकी गति वा चाल, मनोवृत्ति। '**दुचित**'=जिसका चित्त एक बातपर स्थिर न हो, कभी एक बातकी ओर प्रवृत्त हो कभी दूसरीकी ओर, दुचित्ता, अस्थिरचित्त; संदेहमें पड़ा हुआ। '**जुबानू**'=जवान, युवक, युवा अवस्थावाला। '**सचेत**'=सज्ञान, विवेकयुक्त प्राणी, सावधान, सचेतन।

अर्थ—मनकी गति दुविधामय होनेसे प्रजा दु:खी है मानो नदी और समुद्रके संगमका जल है (जो सदा चंचल वा डावाँडोल रहता है, स्थिर कभी नहीं रहता, कभी इधर आता, कभी उधर जाता। वैसे ही मन कभी वन छोड़ घरको और कभी रघुनाथजीके साथ वनमें रहनेको चाहता है)॥ ६॥ अस्थिरचित्त होनेसे कहीं भी संतोष नहीं पाते। एक-दूसरेसे अपना मर्म नहीं कहते॥ ७॥ यह दशा देखकर दयासागर रघुनाथजी हृदयमें हँसकर कह रहे हैं कि कुत्ता, इन्द्र और जवान समान (प्रकृति, वृत्ति, धर्म वा स्वभाववाले) हैं॥ ८॥ श्रीभरतजी, श्रीजनकजी, मुनिलोग, मन्त्री, सज्जन और सज्ञान सावधान लोगोंको छोड़कर और सभीको, जिस योग्य जिस मनुष्यको पाया वैसी ही उसपर देवमाया लगी। अर्थात् जिसमें जैसी न्यूनाधिक्य चेतनता थी वैसा ही न्यूनाधिक्य प्रभाव उसपर पड़ा॥ ३०२॥

टिप्पणी—१ *'दुबिध मनोगति प्रजा दुखारी।·······'* इति। (क) सहित सिंधु संगमपर नदीके वेगसे उसका जल समुद्रमें जाता है और समुद्रके वेगसे उसका जल नदीमें जाता है, ठेलम-ठेला रहती है। वैसी गति सबके मनकी हो रही है मन और वारि, वनरुचि, घररुचि और सिंधुसरित परस्पर उपमेय उपमान हैं[2]।

१-पां०—'अतिशय रामके प्रेमी प्रजा जो बिछोह नहीं चाहते सुरमायाके वश हो मोहित हो गये।'

वै०—अर्थात् किंचित् ही बिछोहको प्राप्त हुए। जिनमें दृढ़ प्रेम था उनमें माया नहीं व्यापी और जिनका मन लोकव्यवहारोंमें रहा उनमें व्याप गयी।

प० प० प्र०—'जिनमें रामप्रेम अतिशय है वे न बिछोहे' तथा 'जिनमें राम-प्रेम साधारण है वे अतिशय बिछोहे', ये दोनों अर्थ समीचीन हैं।

२-पां०—सबका मन समुद्र है और सुरमाया नदी है।

कभी वनकी रुचि घरकी रुचिको दबा लेती है और कभी घरकी रुचि वनकी रुचिको। उधरका मारा इधर, इधरका मारा उधर जाता है। शान्त नहीं होता। [सरित-सिन्धु-संगममें जलकी द्विविध गति हो जाती है, एक स्वाभाविक गति, दूसरी उलटी गति। जब समुद्र दाब देता है, समुद्रका जल कोसोंतक नदीमें घुस आता है, उस समय नदीकी उलटी गति हो जाती है। इसी भाँति देवताओंके मायाके बलसे कभी अवधवासियोंके मनकी गति उलटी हो जाती है, तब घर अच्छा लगने लगता है, और जब गति स्वभावपर आ जाती है, तब वन अच्छा लगता है। (वि० त्रि०)। पाँड़ेजीका मत है कि सबका मन समुद्र है और सुरमाया नदी है।]

टिप्पणी—२ ***'एक एक सन मरम न कहहीं'*** इति। कह डालें तो संतोष हो जाय, यथा—***'कहेहूँ तें कछु दुख घटि होई'***। नहीं कहते क्योंकि लज्जा लगता है कि दूसरा क्या कहेगा! हँसेगा कि अरे! श्रीरामजीको छोड़ घरकी चाह है, तुमको धिक्कार है।

टिप्पणी—३ ***'लखि हिय हँसि कह कृपानिधानू।'''''''*** इति। 'कृपानिधान' हैं, जानते हैं कि सब हमारे प्रेममें पगे हैं और यह कुत्ता-सरीखा बिना कारण भोंकता-गुर्राता काटनेको दौड़ता है; समझता है कि श्रीरामचन्द्रजीको छीन न ले जायँ। उनके दुविध मनोगतिको देखकर उनपर दया आयी, इसीसे हास्यरससे इन्द्रको ऐसा कह डाला। भाव यह कि पाणिनिने बहुत खूब किया जो इन तीनोंको एक सूत्रमें गुह दिया, सत्य ही इनका स्वरूप एक-सा है ***'सरिस स्वान'***, यथा—***'सूख हाड़ लै भाग सठ स्वान निरखि मृगराज। छीनि लेइ जनि जान जड़ तिमि सुरपतिहि न लाज॥'*** (१। १२५) देखिये। इन्द्रको लज्जा नहीं, उसे सदा शंका ही बनी रहती है। जवान मनुष्य कामी होता है और ***'जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहि डेराहीं॥'*** (१।१२४।८) ये तीनों स्वार्थी व्यवहारमें समान हैं। **'यौवनं धनसंपत्तिर्मूर्खत्वमतिलोभता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥'** इस सुभाषितके अनुसार सुरराजके पास यौवन, धनसंपत्ति और अति लोभता—ये तीनों हैं ही तब वह कितना अनर्थकारक होगा यह कहना कठिन है। (प० प० प्र०)

वै०—सरिसका भाव कि कुत्ता निर्हेतु जीवोंका घात करनेवाला है, जवान मदान्ध होता है वैसे ही मघवान शंकारहित है।

* 'सरिस स्वान मघवान जुबानू' *

वंदनपाठकजी, वि० टी०—पाणिनीके व्याकरणके **'श्वयुवमघोनामतद्धिते'** का भाव यह कि तीनोंकी बनावट (प्रकृति, रूप) एक-सी होनेसे ये एक सूत्रमें रखे गये। इसी आशयको किसी कविने हास्यरसकी रीतिपर यों कहा है—

'काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे नार्यो निग्रथ्नन्ति च चित्रमेतत्।
स शास्त्रकृत् पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह॥

अर्थात् स्त्रियाँ काँच, मणि और सुवर्णके गुरियोंको एक ही सूत्रमें गुह देती हैं तो कुछ आश्चर्यकी बात नहीं क्योंकि देखनेमें आता है कि शास्त्र जाननेवाले बड़े वैयाकरणी पाणिनिने भी श्वान्, युवान् और मघवान्को एक ही सूत्रमें लिखा है।* भाव यह कि स्वल्प मूल्यका काँच, मूल्यवान् मणि और बहुमूल्यका सुवर्ण तीनों एक ही सूत्रमें पिरोनेसे समान समझे गये। इसी प्रकार क्रमानुसार काँचतुल्य श्वान्, मणितुल्य युवान् और सुवर्णतुल्य इन्द्र भी समान समझे गये। इससे स्पष्ट है कि तुलसीदासजीने संस्कृत व्याकरणका अध्ययन किया था। इसी हेतु हास्यकी रीतिपर इन्द्रको श्वान्के तुल्य कहनेमें पूर्ण बुद्धिका चमत्कार दर्शाया।

---

* वन्दन पाठकजीके श्लोकमें कुछ भेद है, उन्होंने यह दिया है—'काचं मणिं कांचनमेकसूत्रे ग्रथ्नन्ति बाला किमु तत्र चाद्भुतम्। अशेषिवित् पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह॥' अन्यच्च कारिकायाम्॥

कृपासिंधु लखि लोग दुखारे। निज सनेह सुरपति छल भारे॥ १॥
सभा राउ गुरु महिसुर मंत्री। भरत भगति सब कै मति जंत्री॥ २॥
रामहिं चितवत चित्र लिखे से। सकुचत बोलत बचन सिखे से॥ ३॥
भरत प्रीति नति विनय बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई॥ ४॥

शब्दार्थ—**जंत्री**—यन्त्र=ताला। जन्त्री=ताला लगा दिया, बाँध दिया, बंद कर दिया, यथा—*'लोचन निज पद जंत्रित प्रान जाहिं केहि बाट'*—(सुं०) **सिखे से**=सिखाये-पढ़ाये हुए, स्वाभाविक नहीं। **नति**=नम्रता। **लिखे से**= *'चित्र लिखित कपि देखि डेराती।'* (६०।४) देखिये।

अर्थ—दयासागर श्रीरामजीने लोगोंको अपने स्नेह और देवराजके भारी छलसे दु:खी देखा॥ १॥ सभा, राजा, गुरु, ब्राह्मणों और मन्त्रियों सभीकी बुद्धिपर श्रीभरतजीकी भक्तिने ताला लगा दिया है (अर्थात् किसीकी बुद्धि कुछ काम नहीं देती कि क्या कहा या किया जायगा)॥ २॥ सब लोग लिखे हुए चित्र (तसवीरकी तरह एकटक बिना पलक मारे) के समान श्रीरामजीको देख रहे हैं और वचन सिखाये हुएके समान बोलते हुए सकुचा रहे हैं॥ ३॥ श्रीभरतजीकी प्रीति, नम्रता, विनय और बड़ाई सुननेमें सुखदायक है पर वर्णन करनेमें कठिनता है॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'कृपासिन्धु लखि……'*—कृपाके समुद्र हैं। सबपर कृपा है। इसीसे दया आयी।

टिप्पणी—२ *'भरत भगति सब कै मति जंत्री'* इति। सामान्य लोग देवमायासे मोहित हुए और जो विशेष हैं उनकी मतिको भरतकी भक्तिने बंद कर दिया, उनकी बुद्धिपर ताला-सा लगा दिया अर्थात् सबकी मति बँध गयी, सब भरतकी भक्तिको मनसे सराहते हैं, वचन बोलनेमें सकुचते हैं, कोई बोल नहीं सकते। जैसे इस दरबारके प्रारम्भमें श्रीरामजीके *'राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई॥'* इन वचनोंको सुनकर सब भरतका मुख देखने लगे थे, यथा—*'राम सपथ सुनि मुनि जनक सकुचे सभा समेत। सकल बिलोकत भरतमुख बनइ न ऊतरु देत॥'* (२९६) इत्यादि। वैसे ही श्रीभरतजीके वचन सुनकर यहाँ सब मौन हैं और *'रामहि चितवत चित्र लिखे से। सकुचत बोलत बचन सिखे से॥'*

नोट—१ *'चित्र लिखे से'*,—*'राम बिलोके लोग सब चित्र लिखे से देखि।'* (१।२६०) देखिये। श्रीरामजीपर सबकी एकटक दृष्टि है कि देखें वे क्या आज्ञा देते हैं।

नोट—२ *'सकुचत बोलत बचन सिखे से'* इति। (क) पं०—संकुचित होकर लज्जितसे वचन बोलते हैं। लज्जित होकर बोलनेका भाव कि हम लोग क्या सोचते थे कि श्रीरामजीको लौटा लावेंगे या साथ ही वनको जावेंगे सो एक भी न हुआ। (ख) दीनजी—संकुचित होते हैं और सिखाये हुएके समान वचन बोलते हैं अर्थात् ऐसी बातें बोलते हैं मानो उन्हें रटकर आये हैं। (ग) वै०—प्रतिमा-सरीखे देख रहे हैं और देवमायावश मनकी उच्चाटनगतिको विचारकर बोलते सकुचते हैं और बोलते हैं तो सिखे—ऐसे वचन बोलते हैं अर्थात् मनमें घरकी लगी है; मुखसे साथ रहनेकी कहते, सो बनता नहीं।

गौड़जी—जो लोग देवमायासे बचे थे और सचेत थे वह भरतजीकी वक्तृता सुनकर अवाक् हो गये, कहनेके लायक कोई बात रह नहीं गयी, भरतजीने कुछ छोड़ा नहीं। भरतकी भक्तिने सबकी अकलपर ताला लगा दिया। अब किसीकी मति खुलती नहीं। प्रभुका मुँह एकटक देख रहे हैं। कुछ कह नहीं सकते। भरतने जो कुछ कहा उससे अधिक उचित कोई कह नहीं सकता। अगर वही बात दोहरायी जाय तो सीखी-पढ़ी-सी बात लगे। इसीलिये कुछ कहते सकुचते हैं।

टिप्पणी—*'भरत प्रीति नति बिनय बड़ाई।……'* इति। प्रीति तो आद्योपान्त स्पष्ट है, नम्रता कैसी कि श्रीरामजी पयादेपाँव गये हमको सिरके बल चलना उचित है। विनती और बड़ाई प्रयागमें देख लीजिये कि निजधर्म त्यागकर तीर्थराजसे रामप्रेमकी याचना की, प्रयागमें धन्य-धन्यकी ध्वनि छा गयी यह बड़ाई है। ये चारों बातें पूर्ण भरतचरित्रमें भरी पड़ी हैं। इनको सुनकर सुख होता है पर कहना कठिन है।

जासु बिलोकि भगति लवलेसू। प्रेम मगन मुनिगन मिथिलेसू॥ ५॥
महिमा तासु कहइ किमि तुलसी। भगति सुभाय सुमति हिय हुलसी॥ ६॥
आपु छोटि महिमा बड़ि जानी। कबिकुल कानि मानि सकुचानी॥ ७॥
कहि न सकति गुन रुचि अधिकाई। मति गति बाल बचन की नाईं॥ ८॥

शब्दार्थ—'**हुलसना**'—स्फुरित, उत्पन्न और आनन्दित एवं उत्साहित होना। **कबिकुल**=कविसमाज, कविपरम्परा। **कानि**=मर्यादा।

अर्थ—जिसकी कणमात्र भक्तिको देखकर मुनिगण और मिथिलापति राजा जनकजी प्रेममें मग्न हो गये हैं उसकी महिमा तुलसी क्योंकर कहे? भक्तिके स्वभावसे एवं उनकी स्वाभाविक भक्तिसे (मेरे) हृदयमें सुमति हुलस रही है॥ ५-६॥ (परंतु) अपनेको छोटी और महिमाको बड़ी जानकर कविसमाजकी मर्यादाको समझकर सकुच गयी॥ ७॥ रुचि बहुत है पर गुणोंको कह नहीं सकती। बुद्धिकी गति बालवचनकी तरह हो रही है (अर्थात् जैसे बालक कुछ कहना चाहता है पर वचनोंद्वारा मनकी बात कह नहीं सकता)॥ ८॥

नोट—१ '***भगति सुभाय सुमति हिय हुलसी।*......' इति। (क) शिला—भक्तिका यह स्वभाव है कि भक्तसे रहा नहीं जाता, वे कुछ-न-कुछ रामयश कहा करते ही हैं, उनसे चुप नहीं रहा जाता। यथा—'***कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोर निरत संसारा॥ जेहिं मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥ समुझत अमित राम प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई॥ सारद सेस महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥ १२॥ सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥ तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा॥***' उसीके भक्तिके प्रभावसे स्वाभाविक ही हमारे हृदयमें सुन्दर बुद्धिका प्रकाश हुआ और उसे उत्साह हुआ कि कुछ कहे। (शीला) (ख) जैसे पूर्व श्रीरामचरितमानस प्रारम्भ करनेके समय '***संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥***' (१। ३६। १) वैसे ही यहाँ '***भगति सुभाय सुमति हिय हुलसी***'। पर वहाँ 'रामचरितमानस' के कवि हुए रामचरित कहा और यहाँ भरत-महिमा नहीं कह सकते।

पंडितजीके दो खर्रोंमें 'प्रभाव' पाठ है। उसका अर्थ यह किया है कि 'भक्तिके प्रभावसे मेरे हृदयमें सुमति उल्लसित हुई अर्थात् भक्तिके प्रभावसे ही मैंने कहनेका साहस किया, कुछ अपनी 'जानपनी' के प्रभावसे नहीं। '***भक्ति भावसे हुलसी और कविकुल कानिसे सकुची।***'

पं०—'***कहै किमि***' कैसे कहे। जो कहो कि नहीं कह सकते तो चुप रहो उसपर कहते हैं—'***भगति सुभाय*......'।

पु० रा० कु०—'***मति गति बाल बचन की नाईं***'—बालकको बड़ी प्रबल इच्छा होती है कि वह अपनी रुचि कहे पर बोला नहीं जाता, कहना कुछ चाहता है निकलता कुछ और है जो सुननेवालेको समझ ही नहीं पड़ता।

वै०—भक्तिका यह प्रभाव है कि ऊँच-नीच किसीके हृदयमें आवे तो उसकी बुद्धिको निर्मल कर देती है उसीके स्वभावसे मेरी भी बुद्धि कहनेको आनन्दसे उमँगी। पर कविकुलकी मर्यादा समझकर सकुच गयी। मर्यादा यह कि जिसे विधि-हरि-हर-शेष-गणेश-शारदा आदि न कह सके उसका कहना हमको उचित नहीं। [प्रभाव पाठ पां० और वै० ने दिया है। पर 'सुभाय' (स्वभाव) पाठसे भी ये भाव कहे जा सकते हैं।]

दो०—भरत बिमल जसु बिमल बिधु सुमति चकोरकुमारि।
उदित बिमल जन हृदय नभ एकटक रही निहारि॥ ३०३॥

अर्थ—श्रीभरतजीका निर्मल यश निर्मल चन्द्रमा है, (कविकी) सुमति चकोरकुमारी है जो निर्मल जनोंके निर्मल हृदयरूपी आकाशमें उस यश-चन्द्रको उदित देखकर एकटक देखती रह गयी॥ ३०३॥

नोट—१ श्रीभरतजीका निर्मल यश, निर्मल चन्द्र है, अन्य भक्तोंका यश तारागण हैं। सुमति चकोरकुमारी और विमल जनहृदय निर्मल आकाश है। *'मति'* को यहाँ सुमति कहा, क्योंकि भक्त-शिरोमणिके निर्मल यशका चिन्तन, अवलोकन कर रही है और पूर्व कहनेको लालायित भी हुई थी। जब कह सकनेमें असमर्थ हुई तब केवल *'मति'* शब्द दिया था, यथा—*'भगति सुभाय सुमति हिय हुलसी'* और *'मतिगति बालबचन की नाईं।'* २ (क) पूर्व *'मतिगति'* को *'बालबचन'* सम कहा। यहाँ उसी विचारसे 'चकोरकुमारी' से उपमा दी। कन्या और भी अधिक असमर्थ और सुकुमारी होती है वह अधिक शिथिल भी होती है। सुमति स्त्रीलिंगके लिये स्त्रीलिंगकी उपमा भी उचित है। (ख) पंजाबीजी लिखते हैं कि जैसे चकोरी चन्द्रमाका पार नहीं पा सकती, एकटक दर्शन करके ही प्रसन्न होती है, वैसी ही मेरी बुद्धि भरतयशका पार नहीं पा सकती, मनमें उसका दर्शन करके ही प्रसन्न हो रही है। (ग) ग्रन्थमें चकोरीके चन्द्रमाको देखनेका प्रायः जहाँ-जहाँ उल्लेख हुआ है वहाँ-वहाँ ये बातें दिखायी हैं—शरीरका शिथिल होना, एकटक देखते रहना और सुख पाना, यथा—*'थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहू परिहरीं निमेषें॥ अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥'* (१। २३२। ५-६) *'सियमुख ससि भये नयन चकोरा॥ भये बिलोचन चारु अचंचल।''''''देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा॥'* (१। २३०। ३—५) वैसे ही यहाँ भी बुद्धिका स्तब्ध होकर एकटक हृदयनेत्रोंसे उस यशका दिव्य दर्शन करते रहनेका आशय है। अधिक लुब्ध हो गयी है, मोहित हो गयी है, कुछ कह नहीं सकती, मन, बुद्धि, चित्त सब उसीमें लगे हैं और वह आनन्दमें मग्न हो रही है।

(घ) यश निर्मल है इससे जन, हृदय और नभ तीनोंको निर्मल कहा।

वै०—'चन्द्रमामें १६ कलाएँ हैं, वैसे ही इस यशचन्द्रमें सौलभ्य, गाम्भीर्य, क्षमा, दया, करुणा, सौशील्य, उदारता, सौहार्द, चातुर्य, प्रीति, कृतज्ञता, ज्ञान, नीति, अनुराग, सन्तोष और शान्ति आदि गुण हैं। बुद्धि उस यशमें आसक्त है।'

भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ। लघु मति चापलता कबि छमहूँ॥ १॥
कहत सुनत सतिभाउ भरत को। सीयराम पद होइ न रत को॥ २॥
सुमिरत भरतहिं प्रेम राम को। जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को॥ ३॥

शब्दार्थ—**चापलता**=चंचलता, ढिठाई। **बाम**=विमुख, खोटी, भाग्यहीन।

अर्थ—श्रीभरतजीके स्वभावका वर्णन वेदोंको भी सुगम (आसान, सहल बात) नहीं है, मेरी तुच्छ बुद्धिकी चंचलताको कवि क्षमा करें॥ १॥ श्रीभरतजीके सद्भावको कहते-सुनते श्रीसीतारामजीके चरणोंमें कौन अनुरक्त न होगा? (अर्थात् जो कोई भी कथन या श्रवण करेगा उसको अनुराग हो जायगा)॥ २॥ श्रीभरतजीका स्मरण करनेसे जिसको श्रीरामप्रेम सुलभ न हुआ, उसके समान भाग्यहीन कौन होगा?॥ ३॥

☞ यह भरतके सद्भावके वक्ताओं और श्रोताओंको आशीर्वाद है।

नोट—*'छमहूँ'*—क्षमाकी प्रार्थना क्यों करते हैं, न कहते। उसीपर कहते हैं कि *'कहत सुनत'''।'* अर्थात् मैं इससे कहता हूँ कि इसके कहने-सुननेसे मुझमें अवश्य रामप्रेम जागेगा। (वै०) ऐसा हुआ भी, यह स्वयं कहा है, यथा—*'सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।''''''दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को। कलिकाल तुलसीसे सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥'* (३२६)

देखि दयाल दसा सब ही की। राम सुजान जानि जन जी की॥ ४॥
धरम धुरीन धीर नय नागर। सत्य सनेह सील सुख सागर॥ ५॥

देसु कालु लखि समउ समाजू। नीति प्रीति पालक रघुराजू॥ ६॥
बोले बचन बानि सरबसु से। हित परिनाम सुनत ससिरसु से॥ ७॥

शब्दार्थ—**सरबसु**=सर्वस्व, जो कुछ अपना हो वह सब, किसीकी सारी सम्पत्ति, सब कुछ वाणीके सर्वस्व अर्थात् सरस्वतीकी सब कुछ पूँजी यही है इससे अन्य कुछ नहीं।

अर्थ—कृपालु और सुजान श्रीरामजीने सभीकी दशा देख और अपने भक्तके हृदयकी जानकर॥ ४॥ धर्मधुरन्धर धीर, नीतिमें चतुर (दक्ष, निपुण), सत्य, स्नेह, शील और सुखके समुद्र॥ ५॥ नीति और प्रीतिके पालनेवाले रघुनाथजी देश, काल, समय और समाजको समझकर (उसके अनुसार)॥ ६॥ वचन बोले जो वाणीके सर्वस्वके समान थे, अन्तमें हितकारी और सुननेमें अमृत-सरीखे थे॥ ७॥

नोट—१ भरतभाषण-प्रसंग और उसका प्रभाव ***'तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन से।'*** (३०१) पर समाप्त कर फिर इन्द्रकी कुचाल एक दोहेमें कही—***'देखि दुखारी दीन'*******'** से ***'लागि देवमाया सबहि'*******'** तक। फिर ***'कृपासिंधु, लखि लोग दुखारे। निज सनेह सुरपति छल भारे॥'*** कहकर छोड़ा हुआ प्रसंग उठाया किंतु फिर भरतकी भक्तिकी महिमासे मुग्ध हो उसका स्वरूप कहने लगे। ***'सुमिरत भरतहिं प्रेम राम को। जेहि न सुलभ तेहि सरिस बामको॥'*** अर्धाली ३ तक यह कहकर अब उसी जगहसे फिर उठाते हैं। ऊपर जो ***'कृपासिंधु लखि लोग दुखारे'*** कहा था। यहाँ उसीको ***'देखि दयाल दसा सबही की'*** से फिर उठाते हैं।

टिप्पणी—१ ***'राम सुजान जानि जन जी की॥'*******'** इति। (क) सुजान हैं अतः अपने सेवकके मनकी जानते हैं। जाननेमें सुजान विशेषण दिया। (ख) ***'धरम धुरीन'*******'**—बोलनेमें प्रथम 'धर्मधुरीण' विशेषण देकर जनाया कि इस भाषणमें परमधर्म (पितावचनपालन) को ही निबाहनेका निश्चय करेंगे, और प्रथम इसी धर्मका निर्वाह भाषणमें भी कहेंगे, यथा—***'मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥ सो तुम्ह करहु करावहु मोहू।'*** (३०६। २) धर्मधुरीण आदि सात विशेषण देकर 'सागर' पद अन्तमें लिखकर इनको सप्तप्रधान-समुद्रवत् अपार और अगाध जनाया। धर्मधुरीण आदिके भाव पूर्व बहुत ठौर आ चुके हैं वही यहाँ ग्रहण कर लें। सूक्ष्मतः भाव यह कि पितावचन रखेंगे, संकट सहनेमें धीर हैं, नीतिकी भी रक्षा करेंगे, अपना वचन भी सत्य करेंगे, सबका प्रेम और शील भी न टूटेगा और आनन्दसिन्धु हैं, अतः स्वयं भी इस आज्ञाको देकर विशेष सुखी ही रहेंगे, वियोगमें भी दुःख न मानेंगे। (२५४। २—७) और २९२ इत्यादि देखिये। (ग) ***'देसु कालु'*** आदिके भाव पूर्व आ चुके हैं।

टिप्पणी—२ ***'बोले बचन बानि सरबसु से।'*******'** इति। वाणीका सर्वस्व धन यही है अब इससे अधिक वाणी नहीं है। सरस्वतीका सर्वस्व सिद्धान्त इसमें आ गया। सुननेमें चन्द्रमाके सार अमृतके समान मधुर, पालक और आह्लादकारक हैं और परिणाममें हितकर हैं। ये दोनों गुण इनकी वाणीमें हैं। जिस वाणीमें परिणाममें हित होता है वह प्रायः सुननेमें कठोर होती है, यथा—***'बचन परमहित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे॥'*** (६। ९। ९) **'सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः। अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥'** (वाल्मी० ३। ३७। २) (रावणसे मारीचने कहा है कि अप्रिय पर हितकारी वचन बोलने तथा सुननेवाले लोग दुर्लभ हैं) और, जो वचन सुननेमें मधुर होते हैं वे परिणाममें प्रायः दुःखद होते हैं, यथा—***'सुनत नीक आगे दुख पावा। सचिवन्ह अस मत प्रभुहि सुनावा॥'*** (६। ९। ४) [सर्वस्व अर्थात् शृंगार है। (दीनजी)]

श्रीरामजीका भाषण

तात भरत तुम्ह धरमधुरीना। लोक बेद बिद प्रेम प्रबीना॥ ८॥

दो०—करम बचन मानस बिमल तुम्ह समान तुम्ह तात।
गुर समाज लघु बंधु गुन कुसमय किमि कहि जात॥ ३०४॥

शब्दार्थ—**बिद**=जाननेवाला, ज्ञाता, पण्डित।

अर्थ—हे तात भरत! तुम धर्मधुरन्धर हो, लोक और वेद (दोनों) के ज्ञाता और प्रेममें प्रवीण हो॥ ८॥ हे तात! कर्म, वचन और मनसे निर्मल तुम्हारे समान तुम्हीं हो। बड़ोंके समाजमें और ऐसे कुसमयमें छोटे भाईके गुण कैसे कहे जा सकते हैं?॥ ३०४॥

पु० रा० कु०—समझदार और सत्पुरुषोंकी रीति है कि जिसका जैसा अधिकार होता है वैसी ही उसकी बड़ाई करके वचन बोलते हैं। इसी तरह श्रीभरतजीकी प्रशंसा करते हुए प्रभुने भाषण प्रारम्भ किया।

नोट—१ भरतजीने अपने भाषणमें प्रभुकी बड़ाई और अपनी बुराई, प्रभुके गुण और अपने दोष कहकर आज्ञा माँगी। भाषणभरका सार यही है जो उन्होंने ***'स्वामि गोसाँइहि सरिस गोसाँई। मोहि समान मैं साँइ दोहाई॥' 'सोक सनेह कि बाल सुभाये।……'*** इत्यादि कहा है, उसीपर श्रीरामजीने पहले उनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि तुममें अवगुण कहाँ, तुम तो मन-कर्म-वचन तीनोंसे निर्मल हो, तुम्हारे समान विशुद्ध मन-कर्म-वचनवाला दूसरा है ही नहीं। श्रीभरतजीके ***'स्वामि गोसाँइहि सरिस गोसाँई'*** आदिकी जोड़में ***'तुम्ह समान तुम्ह तात'*** ये वचन हैं। धर्मधुरीण आदिके भाव पूर्व आ चुके हैं।

नोट—२ ***'गुर समाज लघु बंधु गुन कुसमय……'*** इति। पं०—भाव कि एक तो गुरुजनोंका समाज है। इसमें अधिक बोलना अनुचित, उसपर भी छोटे भाईका गुण (जो पुत्रके समान होता है) सारे समाजमें भाईके मुखपर कहना यह तो नीतिविरुद्ध भी है और फिर यह दु:खका समय है, इसमें यथार्थ कोई कह भी नहीं सकता। मिलान कीजिये—***'लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बड़ाई॥'*** (२५९। ७) ***'अनुचित आजु कहब अस मोरा। सोक सनेह सयानप थोरा॥'*** (२८३। ७)

जानहु तात तरनिकुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती॥ १॥
समउ समाजु लाज गुरजन की। उदासीन हित अनहित मन की॥ २॥
तुम्हहि बिदित सबही कर करमू। आपन मोर परम हित धरमू॥ ३॥
मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा। तदपि कहउँ अवसर अनुसारा॥ ४॥

अर्थ—हे तात! तुम सूर्यकुलकी रीति, सत्यप्रतिज्ञ पिताकी कीर्ति और प्रीति एवं रघुकुल-कीर्तिमें उनकी प्रीतिको जानते हो॥ १॥ समय, समाज, गुरुजनोंकी लज्जा, उदासीन, मित्र और शत्रुके मनकी, सभीका कर्तव्य और अपना एवं मेरा परमहित और परम धर्म तुमको मालूम है॥ २-३॥ मुझे सब प्रकार तुम्हारा भरोसा है तो भी समयके अनुसार (कुछ) कहता हूँ। अर्थात् तुम्हें समझाने या तुमसे कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं थी॥ ४॥

नोट—***'तरनिकुल रीती'***, यथा—***'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचनु न जाई॥'*** (२८। ४) ***'सत्यसंध पितु कीरति प्रीती'***, यथा—***'राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी॥'*** (२६४। ६) ***'सब प्रकार भूपति बड़ भागी।……तजे रामु जेहि बचनहि लागी॥ तनु परिहरेउ राम बिरहागी॥ नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना। करहु तात पितु बचन प्रवाना॥'*** (१७४। १—४) इत्यादि जो वसिष्ठजीने अवध-दरबारमें कहा था वही भाव यहाँ है। इसका सारांश यही है कि पिताके वचनोंका पालन करो, यही आगे स्पष्ट कहेंगे। तुम भी कुलकी कीर्तिमें प्रीति करो। 'पितुकीर्ति, यथा—***'जिअन मरन फलु दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जस छावा॥ जियत राम बिधुबदन निहारा। रामबिरह करि मरन सँवारा॥'*** (१५६। १-२)

* समउ समाज लाज गुरजन की।……' इति। *

गौड़जी—यहाँ माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों भावोंसे भरतजीको समझाया गया है। व्यंग्यसे दोनों पक्षोंके अर्थ बहुत विशद रीतिसे निकलते हैं।

माधुर्यपक्षसे यह बताया है कि भरतजी! तुमको यह अच्छी तरह मालूम है कि सूर्य-वंशजकी क्या रीति है। प्राण देते हैं पर वचन नहीं पलटते। यह वंश सत्यसंध है। हम लोगोंके पिता भी सत्यसंध थे। इस कुलमें पुत्र पिताकी कीर्तिमें प्रीति रखता है। उसकी सत्यसंधाताकी रक्षा करता है। हम लोगोंके पिता सत्यसंध थे, कीर्तिमान् थे और उन्होंने प्रेमपणका भी निर्वाह किया है। हमें भी उनकी कीर्तिकी रक्षा करनी चाहिये। तुम यह भी जानते हो कि हमारे, तुम्हारे और सबके लिये कैसा कठिन समय उपस्थित है? राजाके बिना राज्य रक्षाहीन हो रहा है। तुम समाजका हाल भी जानते हो। जब दण्डनीति नहीं रहती, तब समाज उच्छृंखल हो जाता है। यहाँ हम, तुम और दो राज्योंकी बागडोर हाथमें रखनेवाले सभी मौजूद हैं। इनके अपने राजमें उपस्थित न रहनेसे समाजका अकल्याण है, हमें अपने पूर्वजोंकी लाज रखनी चाहिये। अपनी कुप्रबन्धतासे राजको बिगाड़ना नहीं चाहिये। यहाँ जो गुरुजन मौजूद हैं वह लोग भी हमारा-तुम्हारा मुँह देखते हैं। उनकी भी लाज रखनी जरूरी है। तुम यह जानते हो कि जो लोग तटस्थ हैं उनकी प्रवृत्ति हमारी प्रजाकी ओर क्या है, वह बने चाहे बिगड़े, उन्हें परवाह नहीं। जो हमारे हित हैं वे प्रायः यहाँ मौजूद हैं। उनके यहाँ रहते प्रजाकी रक्षा नहीं हो सकती। तुम यह भी जानते हो कि शत्रु लोग सदा अवसर ढूँढ़ते रहते हैं और हमारे कुप्रबन्धसे लाभ उठा सकते हैं। तुमको सबके कर्तव्य मालूम हैं। मेरा कर्तव्य वनवास और तुम्हारा कर्तव्य राज्य है। दोनोंका कर्तव्य पिताकी आज्ञाका पालन है। इसीमें हमारा-तुम्हारा परम हित और परम धर्म है। मुझे तो सब तरहसे तुम्हारा भरोसा है कि तुम सब कुछ जानते ही हो तो भी इस अवसरपर मैं कर्तव्य समझकर कुछ कहता हूँ।

ऐश्वर्य-पक्षमें इन्हीं चारों अर्द्धालियोंका अर्थ इस प्रकार होगा—

'हे तात! तुम अपने कुलकी रीति जानते हो। जिस कुलमें हम-तुम अवतरे हैं उसकी रीति तारनेवाली है। मँझदारमें डुबानेवाली नहीं है। इस कुलकी रीति यही है कि पिताकी कीर्तिमें पुत्रोंकी प्रीति हो। पिता सत्यसंध थे। हमलोगोंको भी सत्यसंध होना जरूरी है। देखो तो हम-तुम देवताओंको वचन देकर अवतरे हैं। उनसे हमने जो कुछ निश्चय (समय) कर रखा है, हमने उन्हें जो अवधि (समय) दे रखी है, जो उन्हें आदेश (समय) दिया गया है और जो उन्हें व्रत (समय) बताये गये हैं, जो उन्हें लक्षण (समय) समझाये गये हैं और जिस प्रकार उनको सांसारिक अभिनयमें दुःखोंका अन्त (समय) बतलाया गया है वह सब तुम जानते हो। वह समाज जो जगह-जगहपर वनचारीरूप धारण करके प्रतिज्ञातसंघ (समय-समाज) बनाये हुए हमारी बाट जोह रहा है उसे भी तुम खूब जानते हो। ऋषि, मुनि और भक्तलोग जो कष्ट उठा रहे हैं और जो दुष्टोंद्वारा अप्रतिष्ठित, अपमानित और अनादृत हो रहे हैं उन सबकी लाज भी रखनी है। यह भी तुम खूब जानते हो कि शत्रु, मित्र, उदासीन सबका उद्धार करना है। राक्षसादि जो हमारे शत्रु हैं, देवतादि जो हमारे मित्र हैं और इन दोनोंके परस्पर झगड़ोंसे बीचमें पिसनेवाले हमारे ऐसे भक्त जो निश्चेष्ट हैं जो बेचारे चुपचाप दुःख उठाते हैं, खनिज, उद्भिज्ज, अण्डज और पिण्डज सब प्रकारके हमारे तटस्थ भक्त, सबके मनकी बात तुमको खूब मालूम है। तुम्हें सबका कर्तव्य मालूम है कि किसे-किसे क्या-क्या करना है? और तुम यह भी जानते हो कि तुम्हारा परम हित और परम धर्म किसी-न-किसी तरह राज्य सँभालनेमें है और मेरा परम हित और परम धर्म भलोंकी रक्षा, बुरोंका संहार, देवताओंके संगठनमें उचित आदेश देना और रावणादिका वध करना है। हमारा-तुम्हारा परम धर्म इसीमें है जिसे तुम खूब जानते हो। तुम्हारी इस जानकारीका मुझे बड़ा भरोसा है। यह अवसर ऐसा नहीं है कि सारी बातें मैं तुमसे खोलकर कहूँ। इसीलिये तुम्हारी जानकारीपर भरोसा करके अवसरानुकूल कुछ कहता हूँ;।

पु० रा० कु०—***'आपन मोर परम हित धरमू।'''''''*** अर्थात् पिताके वचनका पालन दोनोंका परम धर्म है और इसीमें दोनोंका परम हित है; अतः हम-तुम दोनों उसका पालन करें। ***'आपन मोर'*** दीपदेहली

है। *'सबही कर करमू'* से अपना और भरत दोनोंका भी कर्तव्य सूचित कर दिया। देवताओंका कष्ट-निवारण, पृथ्वीका भार-उद्धरण कर्तव्य है।

नोट—*'अवसर अनुसारा'*—सब चाहते हैं और तुम भी चाहते हो कि मैं कहूँ, अतः कहता हूँ।

शिला—'युवाका समय है, समर युवामें ही बन पड़ता है। समाज देवताओंका है, सब राह जोह रहे हैं, यथा—*'गिरि कानन जहँ तहँ भरपूरी। रहे निज निज अनीक रचि रूरी॥ हरि मारग चितवहिं रन धीरा॥'* घर लौटनेसे समाज गड़बड़ हो जायगा। गुरुजन जो आजतक कुलमें हो गये उनका लाज, क्योंकि कोई झूठ नहीं बोला, हमने ब्रह्माको भार उतारनेका वचन दिया है। पुनः लोकमें तीन भाव शत्रु-मित्र-मध्यस्थ होते हैं। तामसी जीव वैरभाव रखकर तरते हैं, उदासीन जड़-जीव-वैर और प्रीतिमें असमर्थ हैं केवल ईश्वर-कृपासे तरते हैं और रजोगुणी मनुष्योंमें राम प्रकट ही हुए हैं सो तुम विष्णुरूप हो जानते ही हो।

तात तात बिनु बात हमारी। केवल कुलगुरु* कृपा सँभारी॥ ५॥
नतरु प्रजा परिजन परिवारू। हमहिं सहित सबु होत खुआरू॥ ६॥
जौं बिनु अवसर अथव दिनेसू। जग केहि कहहु न होइ कलेसू॥ ७॥
तस उत्पातु तात बिधि कीन्हा। मुनि मिथिलेस राखि सबु लीन्हा॥ ८॥

शब्दार्थ—**खुआरू** (ख्वार फारसी शब्द है=जलील, खराब, अप्रतिष्ठित)=दुर्दशाग्रस्त, बरबाद, नष्ट। **तात**=प्रिय; पिता। **अथव**=अस्त होना।

अर्थ—हे तात! पिताके बिना हमारी बात केवल कुलगुरु वसिष्ठजीकी कृपाने सँभाल ली॥ ५॥ नहीं तो हमारे समेत प्रजा, कुटुम्बी, परिजन और परिवार सभीकी दुर्दशा होती॥ ६॥ यदि बिना समयके सूर्य अस्त हो जायँ तो संसारमें कहिये, किसको क्लेश न होगा?॥ ७॥ हे तात! उसी प्रकारका उपद्रव विधाताने किया पर मुनि और मिथिलेश राजा जनकजीने सबको रख लिया। (सबकी रक्षा की, सब कुछ बचा लिया)॥ ८॥

नोट—१ *'केवल कुलगुरु कृपा सँभारी......'* इति।—यह बात वाल्मीकीयसे स्पष्ट है। सब ऋषि और मन्त्री आदि राज्यहीन देश देखकर घबड़ा गये थे, सोचते थे कि कोई तुरंत राजा बना दिया जाय, नहीं तो इस देशमें रहना अनुचित है तब गुरु वसिष्ठने ही सबको समझाया और भरतजीको बुलवा भेजा—(वाल्मी० सर्ग ६७-६८)। भागवतमें भी यही कहा है कि राजाहीन राज्यमें प्रजा स्वेच्छाचारिणी और निरंकुश होकर पशुवत् आचरण करने लगती है; चोर आदि उपद्रव करते हैं......। यथा—'**गोप्तर्यसति वै नृणां पश्यन्तः पशुसाम्यताम्।**' ......**वीक्ष्योत्थितां महोत्पातानाहुर्लोकभयंकरान्। अप्यभद्रमनाथाया दस्युभ्यो न भवेद् भुवः॥ एवं मृशन्त ऋषयो धावतां सर्वतोदिशम्। पांसुः समुत्थितो भूरिश्चोराणामभिलुम्पताम्॥ तदुपद्रवमाज्ञाय लोकस्य वसु लुम्पताम्। भर्तर्युपरते तस्मिन्नन्योन्यं च जिघांसताम्॥ चोरप्रायं जनपदं हीनसत्त्वमराजकम्। लोकान्नावारयञ्छक्ता अपि तद्दोषदर्शिनः॥ ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः। स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात्पयो यथा॥** —(भा० ४ अ० १४। १, ३७—४१) अर्थात् राजाके अभावमें मनुष्योंको पशुओंके समान हुआ देख तथा लोगोंको भयभीत करनेवाले महान् उत्पात होते देख वे कहने लगे कि कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि अनाथ हो जानेसे पृथ्वीको दस्युओंके हाथसे पीड़ित होना पड़ा हो। मुनिगण ऐसा विचार कर ही रहे थे कि उन्होंने लोगोंका धन लूटकर इधर-उधर भागनेवाले चोरोंके कारण उठी हुई बड़ी भारी धूलि देखी। राजाके न रहनेपर लोगोंका धन लूटनेवाले और एक-दूसरेको मारनेकी इच्छावाले लुटेरोंका उपद्रव जानकर और यह सोचकर कि समदर्शी और शान्तस्वभाव ब्राह्मण भी यदि दीनोंकी उपेक्षा करे तो उसका ब्रह्मतेज नष्ट हो जाता है, उन्होंने अराजकता मिटानेका उपाय किया।

* गुरकुल (राजापुर)। कुलगुर (भा० दा०) गुरकुलका अर्थ गुरुवंश, कुलगुरु किया जाता है।

नोट—२ *'नतरु प्रजा परिजन……'* इति। (क) 'परिवार' और 'परिजन' दोनों पर्याय हैं। यहाँ दोनोंका प्रयोग एक साथ हुआ है। इससे एक (परिजन) से 'आश्रित सेवक' और दूसरे (परिवार) से 'एक ही कुलमें उत्पन्न और परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध रखनेवाले मनुष्योंका समुदाय' का अर्थ लेना चाहिये, प्राचीन पाठ यही है पर एक ही अर्थ होनेसे जहाँ-तहाँ लोगोंने *'पुरजन'* पाठ कर दिया है। (ख) *'हमहिं सहित सब होत खुआरू'* इति। *'हमहिं'* अर्थात् मैं और तुम हम सब भाइयोंसहित। प्रथम अपने सबोंको कहा क्योंकि राजकुमार हैं, राज्यके रक्षाके अधिकारी हैं, राज्यकी रक्षा राजा होकर न करेंगे तो हमको नरक होगा, हम लोगोंका नाश होगा। यही बात पूर्व लक्ष्मणजीसे कही थी। यथा—*'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥'* (७१। ६) सब अर्थात् प्रजा, परिजन और परिवार ये सब भी नष्ट हो जायँगे, क्योंकि राजाके न रहनसे राष्ट्र अनाथ हो जाता है, पिताके अधीन पुत्र नहीं रह जाते, धनी लोग द्वार खोलकर सो नहीं सकते, वे सुरक्षित नहीं रहते, व्यापारी माल लेकर बाहर जा नहीं सकते, कोई भी प्रजा सुरक्षित नहीं रहती, जिनको पूर्व राजदण्ड दिया जाता था वे शंकारहित होकर प्रभावशाली हो जाते हैं, किसी भी मनुष्यका कुछ भी अपना नहीं होता। सेना भी शत्रुओंका सामना नहीं कर सकती, वह स्वयं ही लूट-मार करने लगती है—यही सबका 'ख्वार' होना है। राजहीन राष्ट्र वैसा ही अशोभित होता है जैसे बिना जलकी नदियाँ, बिना गोपालके गौ, इत्यादि।—**'यथा ह्यनुदका नद्यो यथा वाप्यतृणं वनम्। अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम्॥'** (वाल्मी० २। ६७। २९) परिवारपर भी भारी दुःख पड़ेगा। यही सब बातें लक्ष्मणजीसे कही हैं। यथा—*'मैं बन जाउँ तुम्हहिं लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा॥ गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥ रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहिं बड़ दोषू॥'* (७१। ३—५)

नोट—३ *'जौं बिनु अवसर अथव दिनेसू……'* इति। इससे जनाया कि अभी पिता मरने योग्य नहीं थे, अभी तो तीन अवस्थाएँ बाल, कुमार, युवा ही बीती थीं, चौथापन वृद्धावस्था तो अब आ रहा था—*'श्रवन समीप भये सित केसा।'* (२। २। ७) यही सूर्यका बिना अवसर अस्त होना है। अथवा, राजाका मरण ऐसे समय होना कि जब कोई पुत्र अवधमें न था, *'बिनु अवसर'* अस्त होना है। (पं०) यहाँ 'ललित अलंकार' है। जैसे सूर्य बिना समय अस्त हो तो सबको संकट हो वैसे ही इनके अनवसर मृत्युसे राज्यभरपर संकट पड़ गया था (पर श्रीगुरुजीने रक्षा की)।

नोट—४ *'तस उत्पातु तात बिधि कीन्हा……'* इति। वैसा ही उत्पात अर्थात् *'बिनु अवसर अथव दिनेसू'* का-सा। पूर्व केवल गुरुको कहा और अब मुनि मिथिलेश दोनोंको कहा। यहाँ मिथिलेशको मुनिके साहचर्यसे बड़ाई हेतु कहा, यथा—*'मोहि कृतकृत्य कीन्हि दुहुँ भाई'* में रामजीके साहचर्यसे लक्ष्मणजीको बड़ाई दी थी—(पु० रा० कु०)। पुनः, पिताकी मृत्युपर केवल गुरु ही उपस्थित थे इसीसे *'तात बिनु……'* कहकर प्रथम गुरुकी प्रशंसा की कि उन्होंने रक्षा की और श्रीजनकजी पीछे आये इससे यहाँ दोनोंको साथ कहा।

दो०—राजकाज सब लाज पति धरम धरनि धन धाम।
गुरु प्रभाउ पालिहि सबहि भल होइहि परिनाम॥ ३०५॥

सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुर प्रसाद रखवारा॥ १॥
मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनी धर सेसू॥ २॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनि कुल पालक होहू॥ ३॥

शब्दार्थ—**पति**=प्रतिष्ठा, मर्यादा, साख। **प्रसाद**=प्रसन्नता, कृपा। निदेश (सं०)=आज्ञा।

अर्थ—राज्यका सब काम, लज्जा, प्रतिष्ठा, धर्म, धरणि, धन, धाम (घर) सबका पालन गुरु-प्रभाव ही भलीभाँति करेगा और परिणाम भला होगा। अर्थात् तुम इस भारसे घबड़ाओ मत॥ ३०५॥ समाजसहित तुम्हारा और हमारा, घर और वनमें गुरुकी प्रसन्नता अनुग्रह रक्षक है॥ १॥ माता-पिता, गुरु और स्वामीका

आयसु सम्पूर्ण धर्मरूपी पृथ्वीको धारण करनेको शेषनाग (के समान) है॥ २॥ वही तुम करो और मुझसे कराओ। हे तात! सूर्यकुलके रक्षक बनो॥ ३॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० *'राजकाज सब……'* इति (क) 'राजकाजका सँभाल करना राजाओंका धर्म है। अतएव सब राज्य-अंग गुरु—प्रभावके अधीन किये। राज-काज सब, लाज, पति, धर्म, धरणि, धन, धाम—ये सब राज्यके अंग हैं। (ख) *'गुर प्रभाउ'* और आगे *'गुरुप्रसाद'* को पालक और रक्षक कहा। भाव यह कि गुरुको भी कष्ट नहीं होगा और न गुरुको कुछ करनेकी ही आवश्यकता होगी; उनका प्रभाव, उनका अनुग्रह वा प्रसन्नता ही स्वयं सब कार्य सँभाल लेगी। मिलान कीजिये—*'भव भय भंजन नाम प्रतापू'* (१। २४। ६) और *'फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम प्रसाद सोच नहिं सपनें॥'* (१। २५। ८) ऐसा कहकर जनाया कि हमारे बिना राज-काज आदिमें कोई रुकावट न होगी।

टिप्पणी—२ *'सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन……'* यहाँ यथासंख्यालंकारसे अन्वय यह होगा—'सहित समाज तुम्हार रक्षक घरपर और हमारा सीताका, लक्ष्मणका और मेरा रक्षक वनमें' तुम्हारा और हमारा दोनों बहुवचन शब्द हैं। 'तुम्हारा' से अवधवासियोंसहित श्रीभरतका और 'हमारा' से श्रीसीतालक्ष्मणसहित अपना रक्षक कहा। *'गुरुप्रसाद रखवारा'* अर्थात् गुरुजीकी प्रसन्नता कृपासे प्रजासहित तुम श्रीअवधमें और हम तीनों वनमें सकुशल रहेंगे। विशेष ऊपर *'गुर प्रभाउ'* में देखिये।

टिप्पणी—३ *'मातु पिता गुर स्वामि निदेसू……'* इति। इन वचनोंसे अपनी (स्वामि) आज्ञा भी जना दी कि यही है जो माता-पिता और गुरुकी थी। *'सकल धरम धरनीधर सेसू'* का भाव यह कि जिसने इनकी आज्ञाका पालन किया वह सम्पूर्ण धर्म कर चुका। [जैसे शेषजीने एक पृथ्वीको धारण किया तो सब कुछ धारण कर चुके क्योंकि सब कुछ पृथ्वीमें है। (नं० प०) पुनः भाव कि इनकी आज्ञा माननेसे अपने धर्मका निर्वाह स्वयं हो जाता है, उसमें अड़चन पड़ती ही नहीं, क्योंकि उनकी आज्ञा ही उस धर्मको दृष्टिकोणमें रखकर होती है। (दीनजी)]

टिप्पणी—४ *'तरनि कुल पालक होहू'* इति। *'जानहु तात तरनिकुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती॥'* (३०५। १) देखिये। अर्थात् जिस कुलकी यह रीति है कि वचन न व्यर्थ हों चाहे प्राण चले जायँ, ऐसे कुलके पालक हो। सारांश यह कि सत्यधर्मकी रक्षा करो।

साधक[1] एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी॥ ४॥
सो बिचारि[2] सहि संकटु भारी। करहु प्रजा परिवारु सुखारी॥ ५॥
बाँटी बिपति सबहि मोहिं भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई॥ ६॥
जानि तुम्हहिं मृदु कहउँ कठोरा। कुसमयँ तात न अनुचित मोरा॥ ७॥
होहिं कुठायँ सुबंधु सहायें। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घायें॥ ८॥

शब्दार्थ—**ओड़िअहिं**, यथा-*'एक कुसल अति ओड़न खाँड़े'*। ओड़ना=वार रोकना, ढालका काम देना, आड़ करना, ऊपर लेना, यथा—*'दूसरि ब्रह्मकी शक्ति अमोघ चलावत ही हाय हाय भई है। राख्यो भले शरणागत लक्ष्मण फूलिके फूल सी ओड़ लई है।'*—(केशव)।=फैलाना पसारना।—*'लेहु मातु मुद्रिका निसानी दई प्रीति कर नाथ। सावधान होइ सोक निवारहु ओड़हु दक्षिण हाथ॥'*—(सूर)।

अर्थ—साधकके लिये सम्पूर्ण सिद्धियोंकी देनेवाली कीर्ति, सद्गति और ऐश्वर्यमय त्रिवेणी यह एक ही है। (दूसरी इसके समान नहीं)॥ ४॥ इसे विचारकर भारी कष्ट सहकर प्रजा और परिवारको

१-राजापुर और काशीका यही पाठ है। पाठान्तर 'साधन' है। 'साधन' का अर्थ होगा कि एक साधन सब सिद्धियोंकी देनेवाली और……त्रिवेणी है। पाठक अब स्वयं देख लें कि कौन पाठ उत्तम है।

२-'विचार'-(ला० सीताराम)।

सुखी करो॥ ५॥ हे भाई! विपत्ति सबको और मुझको 'बाँटी' (हिस्सेमें डाली) गयी है (अर्थात् हम सबपर विपत्ति पड़ी है पर) तुमको अवधिभर बड़ी कठिनता है (हमें सबसे अधिक दुःख है)॥ ६॥ तुमको कोमल जानकर कठोर बात (वियोगकी) कह रहा हूँ। हे तात! कुसमय कहलाता है इससे मेरा कहना अनुचित नहीं है। (भाव यह कि बिना ऐसा कहे अब नहीं बनता इससे कहना पड़ा नहीं तो न कहता)॥ ७॥ कुठौरमें (आपत्ति, बुरा मौका वा गाढ़ पड़ जानेपर) श्रेष्ठ भाई ही सहाय होते हैं। वज्रकी चोट (वार) हाथ ही अपने ऊपर लेता है वा पसारा जाता है॥ ८॥

* 'साधक एक सकल सिधि देनी।……'*

१ गौड़जी—माता-पिताकी आज्ञा पालनेसे कीर्तिरक्षा, गुरुकी आज्ञा-पालनसे सद्गति और स्वामीकी (मेरी) आज्ञा-पालनसे (मेरी दिव्य देहके साथ रहनेकी) भूति (अलौकिक शक्ति) प्राप्त होगी।

२ (क) ***'मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू'*** उपमेय है, और त्रिवेणी उपमान है, त्रिवेणी, गंगा, यमुना, सरस्वती तीन मिलकर बनी है और यह त्रिवेणी कीर्ति, सद्गति और विभूतिमय है। अर्थात् आज्ञा-पालनसे कीर्ति, ऐश्वर्य (लोकसुख) और सद्गति (परलोकसुख) तीनों सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। (ख) माता-पिताकी आज्ञा गंगा, गुरु आज्ञा यमुना और स्वामी (अपनी) आज्ञा सरस्वती। जैसे वहाँ सरस्वती गुप्त वैसे ही यहाँ 'स्वामि' में रामाज्ञा गुप्त। (पु० रा० कु०) (ग) रा० प्र० का मत है कि महाराजकी आज्ञा सुरसरि विशिष्ट है, मिथिलेशकी यमुना है। (पर ऊपरके ***'मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू'*** इस चरणसे फिर सम्बन्ध नहीं रह जाता)। (घ) बैजनाथजीका मत है कि 'कीर्ति सुरसरि है, भूति यमुना है और सुगति गुप्त सरस्वती है। गुरु-आज्ञा-पालनसे कीर्ति, माता-पिताकी आज्ञासे विभूति और प्रभुकी आज्ञासे सुगति।'

पु० रा० कु०—***'सो बिचारि सहि संकटु भारी।……'*** इति।—***'संकट भारी'*** क्योंकि वियोगमें बड़ा दुःख होगा इन चौपाइयोंमें भरतजीको धर्मका उपदेश करते चले आ रहे हैं। स्वयं संकट सहकर पराया हित करना यह धर्म है, यथा—***'परहित सरिस धर्म नहिं भाई', 'संत सहहिं दुख परहित लागी'।*** तुमको क्लेश होगा पर प्रजा-परिवार सब सुखी होंगे, अतएव इसे करना चाहिये। ***'सो बिचारि'*** अर्थात् यह समझकर कि प्रजा-पालनकी आज्ञा-पालन करनेसे कीर्ति, सद्गति, ऐश्वर्य और सभी सिद्धियाँ प्राप्त होंगी। ***'करहु प्रजा परिवार सुखारी'*** से जनाया कि तुम घर लौट जाओ, वहाँ रहकर सबको सुख दो।

नोट—१ ***'बाँटी बिपति सबहि मोहिं भाई।……'*** इति। इसके कई प्रकारसे अर्थ लोगोंने किये हैं।

वै०—विपत्ति एक हमको ही चाहिये थी, सो प्रजा, परिवार, पुरजन सभीने मिलकर बाँट ली, उनमें तुम मुखिया हो, इसलिये तुमको कठिनाई होगी क्योंकि बालक हो। (वै० का पाठ है—***'बाँटि बिपति सब ही मिलि भाई।')***

रा० प्र०—हे भाई। हमने विपत्ति सबको बाँटी अर्थात् विपत्ति पड़नेसे हमको दुःखी होना चाहिये था सो हम दुःखी न हुए और हमारे वियोगमें सब दुःखी हुए। इससे अपनी विपत्ति औरोंको बाँटी पर तुमको १४ वर्ष बड़ी कठिनाई है। इस वाक्यसे भरतजीका अपनेमें और सबसे अधिक प्रेम जनाया। अथवा, एक तो वियोगजनित दुःखका भार दूसरे राजकाजका अतः अति कठिनाई कहा।

वीरकवि—आपने मुझसे सभी विपत्ति बाँट ली, अवधिपर्यन्त आपको बड़ी कठिनाई है।

दीनजी—यद्यपि तुम्हें इससे १४ वर्ष बड़ी कठिनाई रहेगी तो भी, हे भाई! उचित यही है कि सबको और मुझको यह बाँट दो।

पु० रा० कु०—हे भाई! विपत्ति सबको और मुझको बाँटी है अर्थात् सबपर पड़ी है, परंतु तुमको अवधिभर बड़ी कठिनाई है अर्थात् तुमको सबसे अधिक विपत्ति है।

गौड़जी—(यों तो) सभीने विपत्ति बाँट ली है। सभी दुःख उठावेंगे। सभी वियोग-दुःखसे दुःखी रहेंगे। (तदपि) हे भाई! मुझे और तुम्हें परस्पर वियोग-दुःखकी बड़ी कठिनाई उठानी है। अन्वय इस प्रकार है—'सबही (ने) विपति बाँटी, (किंतु हे) भाई, ***'मोहिं तुमहिं भरि अवधि अति कठिनाई***

(अहइ)।' साथ ही गुप्त भाव यह है कि नगरसे बाहर हम-तुम दोनों साथ रहकर अवधि काटेंगे। तुम कष्ट उठाकर रहोगे तो मेरा वियोग नहीं होगा।

वि० त्रि०—सरकार भरतजीसे कहते हैं कि मैं तुम्हें राज करनेको नहीं कहता, विपत्ति बाँटनेको कहता हूँ। सब लोगोंने विपत्ति बाँटी है, मेरे दुःखसे दुःखी हुए हैं। तुम भी दुःख सहो। तुम तो भाई हो। तुम्हारा प्रेम सबसे अधिक है, अतः तुम्हें कठिनाई अधिक है। अथवा अपनी इच्छाके प्रतिकूल कार्य करनेके लिये बाध्य किये जाते हो, इसलिये बड़ी कठिनाई है। 'अवधि भर' कहनेका भाव यह कि चौदह वर्ष बाद आकर मैं राज्य सँभाल लूँगा, इस समय तुम्हें राज्य सँभालना ही होगा।

नं० प०—श्रीरामजीने श्रीभरतजीसे कहा कि भारी संकट सहकर प्रजा और परिवारको सुखी करो, यह नहीं बताया कि कबतक ऐसा करें। वह अभी कहते हैं—***'बाँटी बिपति सबहि मोहि भाई।'*** अर्थात् यह करनेकी विपत्ति तो हमारे हिस्सेमें सबोंने बाँटी है, भारी कठिनाई तो हमारे ही बाँटमें है, तुम्हें तो भारी कठिनाई केवल १४ वर्षभर है। श्रीरामजीने राज्य करनेको विपत्ति कहा है, यथा—***'नव गयंद रघुबीर मन राजु अलान समान। छूट जान बन गवन सुनि उर अनंद अधिकान॥'*** इसीसे वे कहते हैं कि भारी कठिनाई तो मेरे ही हिस्सेमें पड़ी है।

नोट—२ ***'जानि तुम्हहिं मृदु कहउँ कठोरा।……'*** इति। (क) ***'मृदु'*** का भाव कि जानता हूँ कि तुम वियोग-दुःखसे दुःखी हो, हमारा वियोग सहने योग्य नहीं हो। (ख) ***'कहउँ कठोरा'***— भाव कि इतने कोमल जानकर दुःख सहने और राज्यका भार उठानेको कहते हैं, इसीसे उसे 'कठोर' कहा। (ग) कठोर बात कहना अनुचित है, उसीपर कहते हैं—***'कुसमय तात……'***। अर्थात् ऐसा कुसमय ही आ पड़ा है कि ऐसा कहना पड़ा, नहीं तो न कहता। कुसमय क्या है? आपत्-काल है। पिता स्वर्गको चले गये, मुझे वनवासकी आज्ञा दे गये और तुम राज्य करनेको कहते हो, दोनों बातोंका एक साथ निर्वाह कैसे हो सकता है? ऐसे कुअवसरमें एकमात्र यही कठोर उपाय हो सकता है कि तुम अवधिभर कष्ट सहकर प्रजाका पालन करो।

नोट—३ ***'होहिं कुठायँ सुबंधु……'*** इति। ***'कुसमय तात न अनुचित मोरा'*** कहकर उसीको नीतिद्वारा पुष्ट करते हैं। 'कुठौरमें श्रेष्ठ भाई ही सहायक होते हैं' यह उपमेयवाक्य है, ***'ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घायें'*** उपमान-वाक्य है। दोनोंमें बिना वाचकपदके बिम्ब-प्रतिबिम्बका भाव झलकना दृष्टान्त अलंकार है।

नोट—४ ***'ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घायें'*** इति। असनि=वज्र। घाये=घात, चोट, वार। यहाँ सुबन्धु हाथ है, कुठायँ असनिका वार है, और सहाय होना ओड़ना है। यह साधारण रीति है, स्वभाव है कि कोई वार करता हो तो उसको बचानेके लिये हाथ ही प्रथम उठता है। चाहे वह कुछ कर न सके, घायल ही हो जाय, वैसे ही गाढ़में उत्तम भाई ही काम आते हैं, बाहरवाले कोई साथ नहीं देते।

दो०—सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि सुकबि सराहहि सोइ॥ ३०६॥

अर्थ—सेवक हाथ, पैर और नेत्रके समान और स्वामी मुखके समान होना चाहिये। तुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसी सेवक-स्वामीकी प्रीतिकी रीतिको सुनकर सुकवि इस रीतिकी सराहना करते हैं॥ ३०६॥

गौड़जी—इस रूपकसे यह भी ध्वनित है कि जैसे मुख करसे कभी अलग नहीं हो सकता उसी तरह हम-तुम कभी अलग नहीं हो सकते। हमारा-तुम्हारा साथ निश्चित है।

दीनजी—भाव यह कि जिस प्रकार मुख सब योग्य पदार्थ स्वयं खा जाता है पर जिस अंगके लिये जो चीज दरकार होती है उसीके अनुसार उस अंगको उसका रस देता है, तथा हाथ, पैर और आँख भी ऐसे अंग हैं कि कोई विपत्ति आनेपर पहले ये ही सहायक होते हैं, ठीक इसी प्रकार सेवक और स्वामी भी होने चाहिये तभी सब लोग उनकी प्रशंसा करेंगे और सब कार्य ठीक होगा। हे भरत! तुम राजा होकर इसी नीतिको बर्तना।

वै०, रा०, प्र०—नेत्र देखते हैं कि यह वस्तु संग्रह योग्य है तब पैर चलकर वहाँतक पहुँचाते हैं। हाथ उस पदार्थको लाकर खाने योग्य बनाकर मुखको देता है। मुख खाता है, पर स्वादमात्र लेकर उस पदार्थको सर्वांग योग्य बनाकर हाथ-पैर-नेत्र आदि सभी अंगोंको रसरूपसे यथायोग्य बाँटकर उन्हें पुष्ट करता है, स्वयं ही नहीं रख लेता।

पु० रा० कु०—यहाँ दिखाते हैं कि राजा और प्रजाका परस्पर कैसा सम्बन्ध और बर्ताव होना चाहिये। सेवकके बिना स्वामीका काम नहीं चल सकता। हाथ-पैर-नेत्र न हों तो मुखमें खाना कैसे पहुँचे और मुख न हो तो हाथ आदिमें रस कैसे पहुँचे। सेवकसे सेवा ले और उसे उनके ही पालन-पोषणमें लगा दे। प्रजासे कर ले और स्वयं न गड़प ले, उसे प्रजाके काममें लगा दे। कर-पद-नेत्र मुखसे कपट नहीं रखते और न मुख इनसे, यह प्रीतिकी रीति है। परस्पर ऐसा ही प्रीतिका व्यवहार सेवक और स्वामीमें होना चाहिये। एक-दूसरेमें कपट व्यवहार न रहना चाहिये।

सभा सकल सुनि रघुबर बानी। प्रेम पयोधि अमिअ जनु सानी॥ १॥
सिथिल समाज सनेह समाधी। देखि दसा चुप सारद साधी॥ २॥
भरतहि भयेउ परम संतोषू। सनमुख स्वामि बिमुख दुखु दोषू॥ ३॥
(मुख प्रसन्न मन मिटा विषादू। भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू)॥ ४॥

शब्दार्थ—**बिमुख**=मुख मोड़े या फेरे हुए, पीठ दिये हुए। **सनमुख**=अनुकूल।

अर्थ—प्रेम-समुद्रके (मन्थनसे निकले हुए) अमृतमें मानो सनी हुई हो ऐसी रघुवरवाणीको सुनकर सारा समाज शिथिल हो गया, सब समाजको प्रेमकी समाधि लग गयी। दशा देखकर सरस्वतीने चुप साध ली अर्थात् मौन हो गयी॥ १-२॥ श्रीभरतजीको परम संतोष हुआ, स्वामीके सम्मुख होनेसे दुःख-दोष दूर हुए॥ ३॥ मुख प्रसन्न हो गया, मनका दुःख मिट गया, मानो गूँगेपर सरस्वतीकी प्रसन्नता हो गयी। (अर्थात् जैसे गूँगा जो बोल ही नहीं सकता उसपर सरस्वतीजीकी कृपा हो जाय तो वह शास्त्रों आदिका वक्ता हो जाता है उस कृपासे गूँगेकी वाणी खुल जानेसे जैसा आनन्द होता है वैसा अतीव आनन्द भरतजीको हुआ।)॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'प्रेम पयोधि अमिअ जनु सानी'*** इति। प्राकृत अमृत क्षीरसागरसे निकला है और जिस अमृतमें यह वाणी सनी है वह प्रेमरूपी क्षीरसागरका अमृत है अतः यह परमोत्कृष्ट है। परमोत्कृष्ट प्रेमामृतमें सनी है अतः उस वाणीको श्रवणपुटद्वारा पान करते हैं। सब प्रेममें समाधिस्थ हो गये, अर्थात् जड़वत् हो गये। तन, मन, वचनसे शिथिल हो गये। सबकी यह चेष्टारहित जड़वत् दशा देख शारदा मौन हो गयी।

टिप्पणी—२ ***'चुप सारद साधी'*** अर्थात् सबकी वाणी बंद हो गयी, किसीके मुखसे वाक्य नहीं निकलता। सब सोचते हैं कि देखें अब श्रीरामजीकी आज्ञा सुनकर श्रीभरतजी क्या कहते हैं, बिना भरतजीके बोले किसीको बोलनेका अवसर भी नहीं है; अतः सब चुप रहे।

टिप्पणी—३ ***'भरतहि भयेउ परम संतोषू……'*** इति। (क) श्रीभरतजीको परम प्रसन्नता हुई; क्योंकि स्वामी अनुकूल हैं। स्वामीकी अनुकूलतासे सब दुःख-दोष दूर हो जाते हैं। (ख) ***'सनमुख स्वामि'*** से जनाया कि ये अपनेको स्वामि-विमुख मानते थे और स्वामीको अपने प्रतिकूल होनेका सन्देह करते थे। यथा—***'हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई॥'*** (१७८। १), ***'राम लषन सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहि तजि ठाऊँ॥ मातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर।'*** (२३३) (ग) ***'बिमुख दुखु दोषू'***—भाव कि इसके पूर्व उनको बहुत दुःख था और वे अपनेको बहुत दोषी समझते थे। दुःखका प्रमाण। यथा—***'एहि दुख दाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती॥'*** (२१२। १) ***'एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सिय राम दुखारी॥'*** (१८२। ६) दोष, यथा—***'महीं सकल अनरथ कर मूला।'*** (२६२। ३), ***'अस मैं अवगुन उदधि अगाधू', बिनु समुझे निज अघ परिपाकू। जारिउँ जाय जननि कहि काकू॥'*** (२६१। ६) ***'सो सब मोर पाप परिनामू।'*** पापसे दुःख होता है, यथा—***'करहिं पाप पावहिं***

'दुख भय रुज सोक बियोग।' कारण और कार्य दोनों ही नष्ट हुए। मिलान करें—***'गुर प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मन कलपित सूला॥'*** (२६७। २) और ***'धिग मोहि भयउँ बेनु बन आगी। दुसह दाह दुख दूषन भागी॥'*** (१६४। ८) से।

गौड़जी—भरतकी भक्तिसे पहले मति यन्त्रित हो गयी थी, और सिखेसे वचन बोलते-सकुचते थे। अब प्रेमामृत-सिन्धुमें मग्न हो गये। स्नेहकी समाधि लग गयी। लोग उस दशामें पहुँच गये, ***'मन समेत जहँ जाइ न बानी',*** इसीलिये शारदाने चुप साधी। भरतके मनमें तो माताकी करनीसे भारी विषाद था।—***'सनमुख होइ न सकत मन मोरा।'*** भगवान्के गुप्त भावोंको भी हृदयंगम करके अब परम संतोष हुआ, स्वामीको अनुकूल पाया, दु:खदोषको विमुख पाया, विषाद मिट गया, मुखपर प्रसन्नता झलकने लगी। हिम्मत हो गयी। गूँगेको वाणी मिल गयी। हड़कम्प मिट गया। इसीसे और सब चुप हैं। परंतु भरतजी कहने लगे—

☞ ***'मुख प्रसन्न मन मिटा विषादू……'*** इति। यह अर्धाली राजापुरकी पोथीमें यहाँपर नहीं है वरन् ३०८ (९) में है। पर अन्य सब पोथियोंमें यहीं है। इसके न रहनेसे भी कोई विशेष हानि अर्थमें नहीं होती। सम्भव है कि पहले ३०८ (९) में रखा हो, पीछे इसे यहाँ रख दिया हो। रा० प्र० में भी यह अर्धाली यहीं है।

गौड़जी—***'मुख प्रसन्न……प्रसादू'*** इस अर्धालीके लिये उपयुक्त स्थल यही है, ३०८ (९) में बिलकुल अप्रासंगिक है। भरतजी वहाँ बोले भी नहीं। राजापुरवाली पोथीके अप्रामाण्य सिद्ध करनेमें ऐसी असंगति सहायक है।

खर्रा—अर्थात् शारदा मौन थी, अब भरतकी वाणी खुली। पूर्व मगवासिनीके वचनोंमें आया है कि ***'नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा। सखि संदेह होइ यहि भेदा॥'*** (२२२। ४) उसीकी जोड़में यहाँ कहा कि ***'मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू।'*** दोनों बातें अब दूर हुईं।

नोट—***'भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू'*** का भाव ***'मूक बदन जनु सारद छाई।'*** (१। ३५०। ८) में देखिये।

कीन्ह सप्रेम प्रनामु बहोरी। बोले पानि पंकरुह जोरी॥ ५॥
नाथ भयेउ सुखु साथ गये को। लहेउँ लाहु जग जनमु भये को॥ ६॥
अब कृपाल जस आयसु होई। करउँ सीस धरि सादर सोई॥ ७॥
सो अवलंब देउ[1] मोहि देई। अवधि पारु पावउँ[2] जेहि सेई॥ ८॥

अर्थ—श्रीभरतजीने फिर प्रेमपूर्वक प्रणाम किया और करकमल जोड़कर बोले॥ ५॥ हे नाथ! मुझे आपके साथ जानेका सुख प्राप्त हो गया, संसारमें जन्म होनेका फल भी मैंने पा लिया॥ ६॥ हे कृपालु! अब जैसी आज्ञा हो, वही मैं सिरपर धरकर आदरपूर्वक करूँ॥ ७॥ (पर) हे देव! मुझे वह अवलम्ब दीजिये जिसका सेवन करके अवधिका पार पाऊँ॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'कीन्ह सप्रेम प्रनामु बहोरी……'।*** इति।—बोलनेके पूर्व प्रणाम करना हाथ जोड़ना रीति है, प्रसन्नताके कारण 'सप्रेम' शब्द भी दिया। अथवा सप्रेम प्रणामसे और हाथ जोड़कर कृतकृत्यता लक्षित की। (पं०)

टिप्पणी—२ ***'नाथ भयेउ सुखु साथ गये को……'।*** इति। पूर्व प्रथम दरबारमें साथ जानेका प्रस्ताव किया था, यथा—***'नतरु फेरिअहि बंधु दोउ नाथ चलउँ मैं साथ।……'*** (२६८)। उसीपर अब कहते हैं कि मुझे वही सुख हुआ जो उस मेरी प्रार्थनाके स्वीकार होनेसे मुझे होता, ऐसा सुख है मानो मैं साथ ही चल रहा हूँ। पूर्व अपने जन्मको व्यर्थ माना था यथा—***'जीवन लाहु लषन भल पावा। सब तजि राम चरन मन लावा॥ मोर जनम रघुबर बन लागी॥'*** (१८२। ७-८) ***'बादि मोर सब बिनु रघुराई।'*** (१७८। ६) देखिये। ***'कुल कलंक जेहि जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रिय जन द्रोही॥……'*** (१६४। ५) उसीपर अब कहते हैं कि ***'लहेउँ लाहु जग जनम भये को।'***

१-देव गी० प्रे०। २-पावौं गी० प्रे०।

टिप्पणी—३ *'अब कृपाल जस आयसु होई।'……* इति। पूर्व रघुनाथजीने पिता-माता आदिकी आज्ञाका माहात्म्य कहा और उन्हींकी आज्ञा पालनेको कहा, अपनी तरफसे कुछ आज्ञा नहीं दी। अतएव यहाँ श्रीरामजीकी ओरसे आज्ञा मानते हैं। [पुनः, ***'करउँ सीस धरि सादर सोई'*** का भाव कि जिस समय आप मुझे जानेको कहेंगे मैं तुरत चला जाऊँगा। यदि कहा जाय कि आज्ञा तो दे ही चुके, अब बार-बार क्या पूछना, उसपर तीन बातें कह रहे हैं कि जानेको तो मैं तैयार हूँ, पर (१) ऐसा अवलम्ब दीजिये जिससे १४ वर्षतक वियोगके कष्ट-समुद्रसे पार उतरूँ। (२) तिलक-सामग्रीके प्रति क्या आज्ञा है? (३) चित्रकूट तीर्थ दर्शनकी चाह है। (पं०)]

वि० त्रि०—अब जैसी आज्ञा हो उसे प्रसन्नतासे करूँगा। यदि अभी आज्ञा हो तो अभी चला जाऊँ, और राज्य सँभालूँ। भरतलालने कहा तो, फिर भी राजा होकर वे राज्य नहीं करना चाहते, किसी परिस्थितिमें भी अनाथ (स्वतन्त्र) रहना स्वीकार नहीं है। अतः सरकारके प्रतिनिधि रूपसे कोई अवलम्ब सरकारसे पाना चाहते हैं, जिसकी सेवा पूजा सरकारकी अनुपस्थितिमें करते रहें, और उससे आज्ञा माँग-माँगकर सब राजकाज करें।

टिप्पणी—४ 'देउ'=देव। 'देव' का भाव कि आप सत्त्वगुणयुक्त हैं, महात्मा हैं, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और बुद्धिमान् हैं, दिव्य हैं, देवताके समान हैं, हमारे इष्ट हैं। यथा—'**अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसंगरः। सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चापि राघव॥**' (वाल्मी० २। १०६। ६) ***'अवधि पार पावउँ'*** कहकर अवधिको समुद्रवत् जनाया। भाव यह कि अवधिके अन्ततक जीता रह जाऊँ ऐसा कुछ अवलम्ब मिले। यह अवलम्ब आगे मिलेगा—***'भरत मुदित अवलंब लहे तें।'*** (३१६। ८)

दो०—देव देव अभिषेक हित गुर अनुसासनु पाइ।
आनेउँ सब तीरथ सलिलु तेहि कहँ काह रजाइ॥ ३०७॥

एकु मनोरथु बड़ मन माहीं। सभय सकोच जात कहि नाहीं॥ १॥
कहहु तात प्रभु आयेसु पाई। बोले बानि सनेह सुहाई॥ २॥
चित्रकूट सुचि थल तीरथ बन। खग मृग सर सरि निर्झर गिरिगन॥ ३॥
प्रभु पद अंकित अवनि बिसेषी। आयसु होइ त आवउँ देखी॥ ४॥

शब्दार्थ—**अनुशासन**=आज्ञा। **अंकित**=चिह्नित, चिह्न वा निशान पड़े हुए।

अर्थ—हे देव (वा, देवोंके भी देव)! आपके तिलकके लिये गुरुजीकी आज्ञा पाकर मैं सब तीर्थोंका जल लाया हूँ। उसके लिये क्या आज्ञा होती है?॥ ३०७॥ मेरे मनमें एक बड़ा मनोरथ और है, जो भय और संकोचसे कहा नहीं जाता॥ १॥ (प्रभुने कहा कि) हे तात! कहो (क्या मनोरथ है?)। प्रभुकी आज्ञा पाकर वे स्नेहसे सुशोभित सुन्दर वाणी बोले॥ २॥ चित्रकूटके पवित्र स्थल, तीर्थ, वन-पक्षी, पशु, तालाब, नदी, झरने, पर्वतोंके समूह और खासकर प्रभुके चरणचिह्नोंसे विशेषरूपसे अंकित यह पृथ्वी—इन सबोंको, आज्ञा हो तो, देख आऊँ?॥ ३-४॥

नोट—१ (क) ***'देव'*** शब्दसे जनाया कि आप यश, कान्ति और प्रतापके प्रकाशक और समर्थ एवं रक्षक हैं, दिव्य हैं। हमारे इष्ट हैं। (ख) ***'गुर अनुसासनु पाइ'*** यथा—***'कहेउ लेहु सब तिलक समाजू। बनहिं देब मुनि रामहिं राजू॥'***—(१८७। ३) देखिये। पूर्व इतना ही कहा था कि तिलककी सामग्री ले चलो, गुरुजी वहीं वनमें उनका अभिषेक करेंगे। यहाँ स्पष्ट किया कि गुरुकी आज्ञा भी ले ली थी।

नोट २—***'एकु मनोरथु बड़ मन माहीं। सभय……'*** इति।—'बड़' से जनाया कि साधारण होता तो परवा न थी। 'सभय' और 'संकोच' कि आज्ञा मिल गयी है अब कुछ और कहना धृष्टता है, सेवक भावसे भय और संकोच दोनों हैं क्योंकि कह चुके हैं—***'देइ उतरु सुनि स्वामि रजाई। सो सेवकु लखि***

लाज लजाई॥' आप यह न कहें कि सब प्रसंग तो हो चुका अब क्या कहना है, यह भय। और, चार, छः दिन ठहरने-फिरनेको भी मिल चुके,यथा—*'भयउ बहोरि रहब दिन चारी'* तो अब ठहरने और देखनेको कहनेमें संकोच होता है—(खर्रा) श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि रास्ता चलते हुए भरतजीने रामवन और रामशैलकी शोभा देखी है। सब लोग तो वनविहार कर चुके हैं, यथा—*'बिहरहिं बन चहुँ ओर प्रति दिन प्रमुदित लोग सब। जल ज्यों दादुर मोर भये पीन पावस प्रथम।'* परंतु भरतजी सोचमें ही पड़े रहे, यथा—*'निसि न नींद नहि भूख दिन भरत बिकल सुचि सोच।'* अब विषाद मिटा तो रामवनके देखनेके मनोरथको पूर्ण करनेका अवसर आया, और सरकारको इन लोगोंका एक मिनट वनमें ठहरना सह्य नहीं है, यथा—*'सानुज भरत सहित सब माता। देखि मोहि पल जिमि जुग जाता॥'* (२४८।६) और सम्पूर्ण वनयात्रामें पाँच दिन लगेंगे, अतः मनोरथ प्रकट करनेमें भरतजीको भय भी है और संकोच भी है।

प० प० प्र०—मनोरथ तो *'प्रभु पद अंकित चित्रकूट सुचि थल तीरथ बन'* इत्यादि देखनेका ही है फिर भी इसके लिये भी आज्ञा माँगनेमें कितना भय और संकोच है। चारों भाई ऐसे ही संकोची स्वभावके हैं। श्रीलक्ष्मणजी यथा—*'लषन हृदय लालसा बिसेषी। जाइ जनकपुर आइय देखी॥ प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं। प्रकट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं॥'* (१। २१८। २) श्रीभरत-शत्रुघ्नजी,यथा—*'आए भरतु सहित हित भाई॥ पूछत अति सनेह सकुचाई। तात कहाँ ते पाती आई॥'* (१। २९०। ७-८), श्रीरामजी, यथा—*'परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुर अनुसासन पाई॥'* (१।२१८।४), *'कहुँ न राम सम स्वामि सकोची।'* (३१३। २—४) यहाँ भी श्रीभरतजीको प्रभुका भय और मुनियोंका संकोच है। गुरुजीकी उपस्थितिमें देवपूजन, तीर्थयात्रा और मौन इत्यादि सब वर्ज्य हैं, पर *'प्रभु पद अंकित अवनि बिसेषी'* ही विशेष कारण है जिसमें यह मनोरथ प्रादुर्भूत हुआ।

नोट—३ *'प्रभु पद अंकित अवनि बिसेषी……'* इति। रा० प्र०—भाव कि एक विष्णु पदके अंकसे तो गयातीर्थ पूज्य हुआ और यह सकल तीर्थ चरणांकित है तब इसकी अनन्त महिमाको कौन कह सकता है; अतएव देखनेकी आज्ञा हो।

अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू। तात बिगत भय कानन चरहू॥ ५॥
मुनि प्रसाद बनु मंगल दाता। पावन परम सुहावन भ्राता॥ ६॥
रिषिनायकु जहँ आयेसु देहीं। राखेहु तीरथ जलु थल तेहीं॥ ७॥
सुनि प्रभु बचन भरत सुखु पावा। मुनि पद कमल मुदित सिरु नावा॥ ८॥*

शब्दार्थ—'**चरहू**'=फिरो; बिचरो, यथा—*'नर अहार रजनीचर चरहीं।'*

अर्थ—(श्रीरघुनाथजी बोले) अवश्य, श्रीअत्रिजीकी आज्ञा सिरपर धारण करो और निर्भय होकर वनमें बिचरो॥ ५॥ हे भ्राता! मुनिके प्रसादसे वन मंगलका देनेवाला है। परम पवित्र और सुहावना है॥ ६॥ ऋषिराज अत्रिजी जहाँ आज्ञा दें उसी स्थलमें तीर्थोंके जलको रख देना॥ ७॥ प्रभुके वचनोंको सुनकर भरतजीने सुख पाया और मुनि (अत्रिजी) के चरणकमलोंमें आनन्दित होकर मस्तक नवाया॥ ८॥

नोट—१ भरतजीने तीन बातें कहीं उनमेंसे अन्तमें *'एक मनोरथ बड़'* कहा। अतः श्रीरघुनाथजीने प्रथम इसी मनोरथकी पूर्ति की, उसके साथ ही तीर्थजलके लिये भी आज्ञा दी। दो बातोंका उत्तर दिया। तीसरीका अभी कुछ उत्तर नहीं दिया। इस बड़े मनोरथके पूर्ण होनेपर तब पुनः भरतजीकी प्रार्थनापर तीसरेके उत्तरमें अवलम्ब देंगे। यह अन्तमें देंगे, क्योंकि फिर उसके बाद यहाँ ठहरना नहीं होगा, तुरत चल देना होगा।

नोट-२ *'अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू।……'* इति। (क) अत्रिजी यहाँ अधिष्ठाता हैं, इससे उनकी आज्ञाको शिरोधार्य करनेको कहा। ऋषिको भी बड़ाई दी। *'बिगत भय'* का भाव कि वनमें भय होता है पर इनकी आज्ञापर चलनेसे कोई भय न रहेगा। (प्र० सं०) प्र० प० प्र० स्वामीजी कहते हैं

* ला० सीतारामकी प्रतिमें यहाँ नवीं चौपाई यह दी है—'मुखु प्रसन्न मन मिटा बिषादू। भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू॥' मा० पी० में यह अर्धाली ३०७ (४) में दी गयी है, वहीं देखिये।

कि यहाँ वनकी भयानकता उद्दिष्ट नहीं है किन्तु इस भयका लक्ष्य *'सभय सकोच जात कहि नाहीं'* के 'सभय' पर है। भरतजीके समान श्रेष्ठ धनुर्धरके लिये कानन भयकी कल्पना अनुचित है कि जिन्होंने बिना फलके बाणसे शैलसहित हनुमान्‌जीको मूर्छित कर दिया और जिनमें शैलसहित हनुमान्‌जीको बाणपर बिठाकर श्रीरामसन्निकट पहुँचा देनेकी शक्ति थी। *'कानन चरहू'* अर्थात् जहाँ-जहाँ मुनि कहें वहाँ-वहाँ जाओ, मुनिकी प्रसन्नतासे वन मंगलप्रद होगा। जबसे प्रभु यहाँ आकर ठहरे तबसे चित्रकूटको विशेष गौरव प्राप्त हुआ और सारा वन मंगलदायक हो गया। यथा—*'जब तें आइ रहे रघुनायक। तब तें भएउ बन मंगल दायक॥'* (१३७। ५) पर श्रीरामजी इसे अत्रिजीकी महिमा कहते हैं। यह बड़ोंकी रीति है, यह शील है। (ख) रा० प्र०—कार 'परम और सुहावन वन मुनिप्रसादसे मंगलदाता है' ऐसा अर्थ करते हैं।

नोट—३ *'मुनिपद कमल मुदित सिरु नावा'* इति। श्रीरघुनाथजीने आज्ञा दी है कि अत्रिजीकी आज्ञा लेकर जिस प्रकार वे कहें वैसा करो। अतएव भरतजीने इनके समीप आकर इनको प्रणाम किया कि ये आज्ञा दें और कुछ कहा नहीं; क्योंकि मुनि वहीं उपस्थित हैं, उन्होंने रघुनाथजीकी और इनकी बातें सुनी ही हैं। मनोरथकी सफलता हेतु प्रणाम किया। प्रणाममात्रसे अपना मनोरथ जना दिया कि जो आज्ञा हो वह शिरोधार्य है, मेरे सिरपर है, जो कहिये मैं वही करूँ। इसका उत्तर दोहा ३०९ में है—*'अत्रि कहेउ तब भरत सन……।'* बीचमें संवादका माहात्म्य आदि कहा। (पु० रा० कु०)

पं०—प्रणामका भाव कि—१ मनोरथकी सफलता संतकृपासे जानी। अथवा, २—हम धन्य हैं कि प्रभुने आपके चरणोंमें मुझे लगाया। वा, ३—आपको कष्ट होगा पर आप कृपा करके क्षमा करेंगे।

दो०—भरत राम संबाद सुनि सकल सुमंगल मूल।
सुर स्वारथी सराहि कुल बरषत* सुरतरु फूल॥ ३०८॥

धन्य भरत जय राम गोसाँईं। कहत देव हरषत बरिआईं॥ १॥

अर्थ—सम्पूर्ण सुन्दर मंगलोंका मूल श्रीभरत-राम-संवाद सुनकर स्वार्थी देवता (रघु) वंशकी प्रशंसा करके कल्पवृक्षके फूलोंकी वर्षा करते हैं॥ ३०८॥ *'धन्य भरत जय राम गोसाँईं'* ऐसा कहते हैं और जबरन हर्षित होते हैं॥ १॥

नोट—१ 'यहाँ श्रीभरत-राम-संवादकी पूर्ति जनायी। अन्तिम दरबारका भरत-राम-संवाद २९८ (१) *'प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी।……'* पर प्रारम्भ हुआ और *'राखेहु तीरथ जलथल तेही'* (३०८। ७) पर समाप्त हुआ। *'करि प्रनाम बोले भरत……'* उपक्रम है और *'सुनि प्रभु बचन भरत सुख पावा'* उपसंहार है। इस दरबारमें दो-दो बार दोनोंका संवाद हुआ है। पहला संवाद २९८ (१) से प्रारम्भ होकर दोहा ३०६ *'सेवक कर पद नयन……'* पर समाप्त हुआ। बीचमें देवमाया आदिका भी वर्णन है। दूसरा संवाद *'नाथ भयउ सुख साथ गये को।'* (३०७। ६) से *'राखेहु तीरथ जल०……'* (३०८। ७) तक है। *'बोले पानि पंकरुह जोरी'* उपक्रम और *'सुनि प्रभु बचन भरत सुख पावा'* उपसंहार है। संवादका प्रसंग इस दोहेतक आया। क्योंकि श्रीरामजीने *'अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू'* कहा था, उसका प्रसंग भी इसीमें आ गया।

नोट—२ संवाद कहकर उसकी फलश्रुति कहते हैं। वह संवाद कैसा है?—*'सकल सुमंगलमूल'* है, यह इसके श्रवण-पठनका फल है। (पु० रा० कु०)

नोट—३ *'सुर स्वारथी सराहि कुल……'* इति। (क) देवता सदाके स्वार्थी हैं, यहाँ अपना स्वार्थ सिद्ध देखा, क्योंकि श्रीभरतजी आज्ञा मानकर जानेको तैयार हैं। केवल तीर्थ-दर्शन भरके लिये ठहरे हैं। पूर्व लिखा था कि *'बरषत सुमन मानस मलिन से'*—(देखिये छन्द ३०१), और अब लिखते हैं कि *'बरषत*

---

* रा० प० में 'हरषत' पाठ है। उन्होंने 'बरषत' का अध्याहार ऊपरसे करके अर्थ किया है।

सुरतरु फूल' और *'हरषत बरिआईं'*। यहाँ *'मानस मलिन'* नहीं कहा। कारण कि यहाँ भरतजी एवं रामजी दोनोंकी वाणी सुनकर निस्संदेह हो गये। पहले भरतके वचनसे निस्संदेह हुए थे पर श्रीरामजीकी ओरसे सन्देह बना रहा था। (ख) क्या बड़ाई करते हैं? यह कि रघुकुलकी यह परम्परा चली आती है,सभी इसमें परोपकारी होते, ब्राह्मण-गो-देवकी सदासे रक्षा करते आये हैं, सब सत्यसन्ध और धर्म-धुरन्धर हुए हैं। फिर श्रीभरतजी और श्रीरामजी क्यों न वैसे ही हों? भरतजीने कुलपरम्परागत धर्मको निबाहा कि— *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई॥'* उनकी आज्ञामें ही प्रसन्न हैं। (पु० रा० कु०)

नोट—४ *'भरत धन्य जय राम गोसाँईं'* इति। (क) भरत धन्य हैं राम गोसाँई (पृथ्वीके स्वामी) हैं, अतएव पृथ्वीका भार उतारेंगे इनकी जय शत्रुओंपर हो। (पु० रा० कु०) (ख) एकको धन्य दूसरेको जय, इस भेदका भाव कि 'भरत सन्त हैं उनकी परम स्तुति हेतु उन्हें धन्य कहा, और प्रभु असुरोंको मारकर सुरोंका कष्ट दूर करेंगे, इसलिये उनकी जय कही।'

नोट—५ मिलान कीजिये—'**विस्मिताः संगमं प्रेक्ष्य समुपेता महर्षयः॥ अन्तर्हिता मुनिगणाः स्थिताश्च परमर्षयः। तौ भ्रातरौ महाभागौ काकुत्स्थौ प्रशशंसिरे॥ सदार्यौ राजपुत्रौ द्वौ धर्मज्ञौ धर्मविक्रमौ।**' (वाल्मी० २। ११२। १—३) अर्थात् वहाँ आये हुए महर्षिगण दोनों भाइयोंका यह सम्मिलन देखकर विस्मित हुए। अदृश्यरूपमें वर्तमान मुनिगण तथा प्रत्यक्ष वर्तमान परमर्षियोंने ककुत्स्थवंशी उन दोनों भाइयोंकी प्रशंसा की। दोनों ही भाई सदाचार पालन करनेवाले हैं, दोनों धर्मज्ञ हैं और धर्मके प्रवर्तन करनेवाले हैं। यद्यपि वाल्मीकीयका प्रसंग मानससे किंचित् भी नहीं मिलता, तथापि उपर्युक्त वचनोंका भाव *'धन्य भरत जय राम गोसाँईं'* में लिया जा सकता है।

नोट—६ *'हरषत बरिआईं'* अर्थात् हर्षमें भूल जाते हैं, सँभाल नहीं रह जाता यद्यपि रावणका भय है— (पु० रा० कु०)। पां०, और वै० लिखते हैं कि 'हर्षका समय नहीं है पर देवता बरिआई हर्षित होते हैं। करुणाके समय हर्ष नहीं चाहिये पर वे स्वार्थरत हैं। स्वार्थी अपने ही सुखको देखते हैं दूसरेका दुःख-सुख वे नहीं देखते। इसीसे अपना भला जानकर वे बरिआई हर्षित होकर जय-जयकार करते हैं। रा० प्र० 'बरिआई' का अर्थ 'जोरसे' करते हैं।

गौड़जी—जबर्दस्ती हर्षमें पड़ जाते हैं, क्योंकि उनके अन्तरतरमें रावणका भय अब भी बना हुआ है।

मुनि मिथिलेस सभाँ सब काहू। भरत बचन सुनि भयेउ उछाहू॥ २॥
भरत राम गुनग्राम सनेहू। पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू॥ ३॥
सेवक स्वामि सुभाउ सुहावन। नेमु पेमु अति पावन पावन॥ ४॥
मति अनुसार सराहन लागे। सचिव सभासद सब अनुरागे॥ ५॥

अर्थ—मुनि, मिथिलेशजी और सभा सभीको श्रीभरतजीके वचन सुनकर आनन्दोत्साह हुआ॥ २॥ भरतजी और श्रीरामजीके गुण-समूहों और प्रेमकी विदेहराजजी पुलकित होकर प्रशंसा कर रहे हैं॥ ३॥ सेवक और स्वामीके सुन्दर स्वभाव और अत्यन्त पावनको भी पवित्र करनेवाले नेम और प्रेमको मन्त्री और सभासद् सभी प्रेमपूर्वक अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार सराहने लगे॥ ४-५॥

नोट—१ *'मुनि मिथिलेस सभाँ सब काहू······बिदेहू'* इति। (क) भाव कि अभीतक सबकी सरस्वती बन्द थी अब खुली। (पु० रा० कु०) (ख) 'उछाह' एक तो इससे कि चार-छः दिन और रहनेको मिला, दूसरे इससे कि जो कुछ होना था वह निश्चित हो गया। दुविधाकी बात गयी और दोनों भाई प्रसन्न हैं।

नोट—२ *'पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू'* इति। इसी तरह पूर्व भरत-व्यवहार सुनकर *'मूदे सजल नयन पुलके तन। सुजस सराहन लगे मुदित मन॥······भरत चरित कीरति करतूती। धरमसील गुन बिमल बिभूती॥ समुझत सुनत सुखद सब काहू।······साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥ भोरेहुँ भरत न पेलिहहिं मनसहु राम रजाइ।'* (२८९) यह जो पूर्व उन्होंने श्रीसुनयनाजीसे अपना अनुभव कहा था वह

प्रत्यक्ष आँखोंसे देखा। अतः उनका सर्वांग शरीर प्रेमसे पुलकित हो गया, उनसे रहा न गया, वे सबके सामने प्रशंसा करने लगे। उनके प्रशंसा करते ही और भी सब सराहने लगे। सम्भवतः इसीसे प्रथम विदेहराजजीका पुलकित होना और प्रशंसा करना कहा।

नोट—३ ***'सेवक स्वामि सुभाउ सुहावन।***...*'* इति। (क) सेवक श्रीभरतजी, स्वामी श्रीरामजी दोनोंका स्वभाव; अथवा दोनोंके सुन्दर भाव—सेवकका स्वामी प्रति और स्वामीका सेवक प्रति। दोनोंका नेम-प्रेम। पांड़ेजी 'सेवकका नेम स्वामीका प्रेम' ऐसा अर्थ करते हैं अर्थात् स्वामी वनवासमें हैं यह जानकर भरतजीने भी सब सुख त्याग दिये। यह सेवकका नेम और भरतजीका ***'अंडन्ह कमठ की नाईं'*** स्मरण और उनके स्मरणमात्रसे पुलकित हो जाना, यथा—***'मगन होहिं तुम्हरे अनुरागा'*** इत्यादि स्वामीका प्रेम। ***'मति अनुसार'*** कहते हैं, क्योंकि पूर्व कह आये हैं कि कोई कह नहीं सकता, यथा—***'अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को॥ बिधि गनपति अहिपति सिव सारद'*** से ***'अगम सबहि बरनत बर बरनी'*** तक। (२८८। ६-२८९। १)

नोट—४ ***'सराहन लागे। सचिव सभासद सब अनुरागे'*** इति। मिलान कीजिये—'**तमृत्विजो नैगमयूथवल्लभास्तथा विसंज्ञाश्रुकलाश्च मातरः। तथा ब्रुवाणं भरतं प्रतुष्टुवुः**.......।' (वाल्मी० २। १०६। ३५)। '**तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे समं जनो हर्षमवाप दुःखितः॥**' (३४)। अर्थात् ऋत्विक् नगरवासी, मन्त्री, गणके प्रतिनिधि तथा संज्ञाहीन रोती हुई माताओंने इस प्रकार बोलनेवाले भरतकी प्रशंसा की। श्रीरामजीका अद्भुत स्थैर्य देख वह दुःखी जनसमूह प्रसन्न हुआ।

सुनि सुनि राम भरत संबादू। दुहुँ समाज हियँ हरषु बिषादू॥ ६॥
राम मातु दुखु सुखु सम जानी। कहि गुन राम* प्रबोधी रानी॥ ७॥
एक कहहिं रघुबीर बड़ाई। एक सराहत भरत भलाई॥ ८॥

अर्थ—श्रीराम-भरत-संवाद सुन-सुनकर दोनों समाजोंके हृदयोंमें हर्ष और विषाद है॥ ६॥ श्रीरामजीकी माताने दुःख और सुखको समान जानकर श्रीरामके गुण कहकर सब रानियोंको समझाया॥ ७॥ कोई तो रघुवीर श्रीरामजीका बड़प्पन कह रहे हैं और कोई भरतकी निकाई (भलमंसाहत, भलापन) को सराहते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'दुहुँ समाज हियँ हरषु बिषादू'*** इति। दोनों समाज अवध और मिथिलाके। भरतजीको सम्यक् बोध और सुख हुआ। उन्होंने सेवा-धर्म निबाहा और स्वार्थ त्यागकर श्रीरामका धर्म रखा इससे हर्ष और श्रीरामजी न लौटे उनके वियोगका दुःख। पुनः, रामचन्द्रजीकी पितृ-आज्ञा-पालनमें निश्चित बुद्धि, उनका अद्भुत स्थैर्य और उनको प्रतिज्ञापर अटल देख प्रसन्न हुए और अवधको न लौटेंगे यह समझकर दुःख हुआ। यथा—'**न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान्मतिं पितुस्तद्वचने प्रतिष्ठितः॥ तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे समं जनो हर्षमवाप दुःखितः। न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः॥**' (वाल्मी० २। १०६। ३३-३४) हर्ष क्योंकि देवमायावश चित्त घरकी ओर भी जाता था। (वै०, रा० प्र०), अथवा ***'दुहुँ समाज'*** देवताओं और राजाओंका। वा, वनवासियों और राजाओंका। प्रथमको हर्ष दूसरेको विषाद। (पंजाबीजी)

नोट—***'राम मातु दुखु सुखु सम जानी।***...*'* इति। (क) दुःख-सुख दोनों समान हैं अर्थात् दोनों आगमापायी हैं। 'गुनराम'=रामगुण, यथा—***'केवल गुर कुल कृपा सुधारी।'*** (३०५। ५) में 'गुरकुल'='कुलगुरु'। रामगुण यह कहा कि वे धर्मनिष्ठ हैं। धर्म कैसे छोड़ सकते हैं। धीर-वीर हैं, यह मारीच-सुबाहु आदि और परशुराम-गर्व-हरण प्रसंगसे विदित है। अतएव वनमें उनको दुःख या कोई भय नहीं होगा। इत्यादि। रा० प्र० ने भी यही पाठ और अर्थ दिया है।

---

* कुछ प्रतियोंमें 'गुन-दोष' पाठ है पर प्राचीन यही है। 'गुण-दोष' का भाव बैजनाथजी यह लिखते हैं—'भरत-राम दोनों धर्मधुरीण हैं। इसी गुणका यह दोष है कि वियोग दूर न हुआ ऐसा कहकर सबका प्रबोध किया।' किसीका मत है कि कुलका धर्म रहा यह गुण और वियोग दोष है।

पं०—'दोनोंको व्यवहारदृष्टिमें समान जाना इस तरह कि जैसे राम पुत्र वैसे भरत पुत्र। अथवा, कर्मदृष्टिसे संयोग-वियोग अपने कर्मानुसार मानकर समानता की, उपासनाकी दृष्टिसे सुख-दु:ख ईश्वराधीन मानकर तुल्य समझा और ज्ञानदृष्टिसे दु:ख-सुख आदि मिथ्या जान शान्तचित्त हुईं; क्योंकि 'राममाता' हैं। चित्तको स्वस्थ करके कि रघुवीरके वनवासमें पितावचन, देवकार्य, भूमिभारका उद्धार ये गुण हैं, घर लौटनेमें ये गुण नहीं—यही दोष है इस प्रकार राममाताने उन्हें समझाया।—(यह भाव 'गुणदोष' पाठका है। दीनजीका मत है कि दरबारके फैसलेके गुण-दोष कहकर समझाया।)

गौड़जी—गुनराम तो राम-गुनके लिये उसी तरह प्रयुक्त हुआ है जैसे **'हरन भवभय दारुनम्'** में दारुन भव भय उलट गया है परन्तु 'कुलगुरु' की जगह 'गुरुकुल' की कोई आवश्यकता न थी। यह केवल लेखक-प्रमाद था।

दूसरा दरबार समाप्त हुआ।

★ ★ ★

दो०—अत्रि कहेउ तब भरत सन सैल समीप सुकूप।
राखिय तीरथ तोय तहँ पावन अमिअ अनूप॥ ३०९॥

भरत अत्रि अनुसासन पाई। जल भाजन सब दिये चलाई॥ १॥
सानुज आपु अत्रि मुनि साधू। सहित गये जहँ कूप अगाधू॥ २॥
पावन पाथ पुन्य थल राखा। प्रमुदित प्रेम अत्रि अस भाषा॥ ३॥

शब्दार्थ—'**तोय**'=जल। '**दिये चलाई**'=रवाना कर दिये।

अर्थ—तब भरतजीसे अत्रिजीने कहा कि इस पर्वतके समीप सुन्दर कुआँ है उसीमें इस अनुपम, पवित्र और अमृतसरीखे तीर्थजलको रख दीजिये॥ ३०९॥ भरतजीने अत्रिजीकी आज्ञा पाकर तीर्थजलके सब पात्र आगे रवाना कर दिये (भेज दिये)॥ १॥ अत्रि, मुनि और साधुओंके सहित तथा भाई (शत्रुघ्न)-के समेत आप भी वहाँ गये जहाँ वह गहरा कुआँ था॥ २॥ और उस पवित्र जलको उस पुण्यस्थलमें रखा। तब अत्रिजीने बहुत आनन्दित होकर प्रेमसे ऐसा कहा॥ ३॥

नोट—१ पूर्व भरत-अत्रिका प्रसंग *'मुनिपद कमल मुदित सिर नावा।'* (३०८। ८) पर छोड़ा था अब वहींसे फिर उठाते हैं। श्रीभरतजीने प्रणाम किया तब मुनिने आज्ञा दी।

वि० त्रि०—***'अत्रि कहेउ'''''' अनूप'*** इति। भाव कि कूपमें ही तीर्थजल रखनेसे वह अक्षय हो जाता है। अत: इसे कूपमें रखना चाहिये। इसी शैलके सन्निकट सुकूप है, वह स्वयं पावन है। इस तीर्थके जलके रखनेसे और भी पवित्र हो जायगा। यद्यपि रामजीके अभिषेकके काममें नहीं आया, फिर भी जगत्‌का कल्याण करेगा। इसमें निमज्जन करनेवाला मनसा, वाचा, कर्मणा शुद्ध हो जायगा।

पं०—पवित्रता तो तीर्थतोय पदसे ही सूचित हो गयी, उसपर भी 'पावन' विशेषण देकर उसको अत्यन्त पवित्र जनाया। अथवा, इनसे 'निर्मल अमृतसम रस और अनुपम फलवाला' सूचित किया। ***'प्रमुदित प्रेम अत्रि'''''* '** का भाव कि रघुनाथजीके दर्शनसे हम पवित्र हुए और हमारे निकट सर्वतीर्थजलमय यह तीर्थ बनेगा, इससे अगणित लोग कृतार्थ होंगे, यह समझकर अत्यन्त आनन्द और प्रेम हुआ।

तात अनादि सिद्ध थल एहू। लोपेउ काल बिदित नहिं केहू॥ ४॥
तब सेवकन्ह सरस थलु देखा। कीन्ह सुजल हित कूप बिसेषा॥ ५॥
बिधि बस भएउ बिस्व उपकारू। सुगम अगम अति धरम बिचारू॥ ६॥
भरतकूप अब कहिहहिं लोगा। अतिपावन तीरथ जल जोगा॥ ७॥

प्रेम सनेम निमज्जत प्रानी। होइहहिं बिमल करम मन बानी॥ ८॥

दो०—कहत कूपमहिमा सकल गये जहाँ रघुराउ।
अत्रि सुनायेउ रघुबरहि तीरथ पुन्य प्रभाउ॥ ३१०॥

शब्दार्थ—'**सरस**'=सजल, मनोहर, सुन्दर।=श्रेष्ठ—(रा० प्र०)। '**बिसेषा**'=खास।

अर्थ—हे तात! यह अनादि सिद्ध स्थल है। इसे कालने लुप्त कर दिया था (अर्थात् बहुत काल होनेपर लुप्त हो गया था,) इससे किसीको मालूम न था॥ ४॥ तब सेवकों (शिष्यों)-ने इस सजल स्थलको देखा और सुन्दर जलके लिये उन्होंने एक खास बड़ा कुआँ बना लिया॥ ५॥ दैवयोगसे संसारभरका उपकार हुआ। जो धर्मका विचार अत्यन्त अगम था वह सुगम हो गया॥ ६॥ अब इसे लोग भरतकूप कहेंगे। तीर्थजलके सम्बन्धसे यह अत्यन्त पवित्र हो गया (वा, अत्यन्त पवित्र तीर्थजलके योगसे अब इसे लोग भरतकूप कहेंगे)॥ ७॥ इसमें प्रेमसे नियमपूर्वक स्नान करनेसे प्राणी मन-वचन-कर्मसे निर्मल हो जायँगे॥ ८॥ कूपकी महिमा कहते हुए सब लोग वहाँ गये जहाँ रघुनाथजी थे; अत्रिजीने रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीको इस पवित्र तीर्थके पुण्य और प्रभावको सुनाया॥ ३१०॥

नोट—१ ***'अनादि सिद्ध थल एहू'*** अर्थात् यह बहुत प्राचीन स्थल है, कितना प्राचीन है कोई नहीं जानता। 'अनादि' क्योंकि जब-जब रामावतार होता है तब-तब तिलकका जल इसमें रखा जाता है। कोई नहीं जानता कि कबसे है। 'सिद्ध थल' अर्थात् सिद्ध महात्माओंका निवास यहाँ रहा है, यहाँ सिद्धियाँ शीघ्र प्राप्त हो जाती हैं। इस स्थानपर साधकलोग सिद्ध होते आये हैं।

नोट—२ ***'तब सेवकन्ह सरस थलु देखा।......'*** इति। (क) तब अर्थात् जब जलकी अपेक्षा हुई तब इस थलको देखा कि सरस है, यहाँ जल शीघ्र निकलेगा तब सुन्दर जलके लिये नया कुआँ-सा बना लिया था।—प्रसंगानुकूल यही अर्थ है। कुछ लोगोंने यह अर्थ किया है कि 'तब भरतके सेवकोंने सरस थलको देखा और तीर्थजलके रखनेके लिये उसे कूपसरीखा बनाया'। पर, इस अर्थमें पूर्वापर विरोध पड़ता है। मुनि 'सुकूप' अर्थात् सुन्दर कूपका होना कह चुके हैं (३०९ में) तब कूप बनानेकी आवश्यकता अब कहाँ? पुनः, ***'गये जहँ कूप अगाधू'*** भी प्रमाण है कि कूप प्रथमसे ही बना हुआ था। तीर्थजल उसमें रख दिया गया तब अत्रिजी बोले। आगेके वचन अत्रिजीके हैं। (ख) ***'सुजल हित'*** का भाव कि नदीतटपर स्थित बस्तीमें वर्षा और शरद्‌में वर्षाजलके कारण नदीका जल मलिन हो जाता है, पीनेके योग्य नहीं रहता। निर्मल जल न मिलनेसे रोग फैलते हैं अथवा बासी जल पीना पड़ता है। कुएँका जल वर्षामें भी निर्मल रहता है। अतः 'सुजल' निर्मल ताजा जलके लिये बड़ा कुआँ बनाया गया। (प० प० प्र०)

नोट—३ ***'बिधि बस भएउ बिस्व उपकारू।......'*** इति।—दैवयोगसे, प्रारब्धवश ऐसा हो गया, नहीं तो यह किसकी सामर्थ्य थी कि समस्त तीर्थोंका जल लाकर इसमें रखता। 'बिधिबस' इससे कहा कि जल आया था रामराज्याभिषेकके लिये और अनाश्रुत आकर स्थापित यहाँ हुआ।

नोट—४ ***'सुगम अगम अति धरम बिचारू......'*** इति।—रा० प्र०—भाव यह कि 'सब तीर्थ एक ही ठौर मिल जायँ यह विचार अगम था, विधिवश वह सुगम हो गया।' (ख)—सब तीर्थोंमें स्नान होना एवं सर्व तीर्थोंका जल एकत्र करना यह बड़ा भारी धर्म है पर इसका पूर्ण होना; इसका विचार, अतिशय कठिन था वह कठिनता दूर गयी, सहजहीमें लोगोंको यह बड़ा धर्म प्राप्त हो गया। भगवत्-कृपासे कठिन धर्म सुगम हो जाते हैं वैसे ही यह सुगम हो गया।

नोट—५ तीर्थ-स्नानकी विधि है कि उसका नाम जाने, उसका माहात्म्य सुने, तब विधिपूर्वक स्नान करे। इसीसे इसका नाम रखा कि भरतकूप नाम है। फिर उसमें स्नानका फल कहा कि मन, वचन, कर्म तीनों निर्मल हो जाते हैं। स्नानकी विधि यह कि प्रेम और नियमसे स्नान करे। ***'अतिपावन तीरथ जल जोगा'*** से जनाया कि पावन तो पूर्वसे ही था अब 'अतिपावन' हो गया।

कहत धरम इतिहास सप्रीती। भयेउ भोरु निसि सो सुख बीती॥ १॥
नित्य निबाहि भरत दोउ भाई। राम अत्रि गुर आयसु पाई॥ २॥
सहित समाज साज सब सादें। चले राम बन अटन पयादें॥ ३॥
कोमल चरन चलत बिनु पनहीं। भइ मृदु भूमि सकुचि मन मनहीं॥ ४॥

अर्थ—प्रेमपूर्वक धर्मके इतिहास (कथाएँ, प्रसंग) कहते हुए वह रात सुखसे बीत गयी और सबेरा हो गया॥ १॥ भरत-शत्रुघ्न दोनों भाई नित्य प्रात:क्रियासे निवृत्त होकर श्रीरामजी, अत्रिजी एवं गुरुकी आज्ञा पाकर समाजसहित सब सादे साजसे पैदल रामवनमें घूमने (प्रदक्षिणा करने) चल दिये॥ २-३॥ उनके चरण कोमल हैं, बिना जूताके चल रहे हैं। (यह देख) पृथ्वी मन-ही-मन सकुचाकर कोमल हो गयी॥ ४॥

नोट—१ *'भयेउ भोरु निसि सो सुख बीती'* से जनाया कि अब किसीको दु:ख नहीं है।

नोट—२ (क) *'नित्य……'* इति। यहाँ तीर्थाटनकी विधि बताते हैं। सवारीकी कौन कहे, जूती आदि भी न पहनना चाहिये और न ठाट-बाट ही चाहिये। (ख) *'नित्य निबाहि'* से जनाया कि तीर्थयात्रामें नित्य धर्म, कर्म आधे ही करनेको लिखा है पर ये पूरा निबाहते हैं। (पु० रा० कु०)

नोट—३ *'भइ मृदु भूमि सकुचि मन मनहीं'* इति। सकुचनेके अनेक भाव कहे जाते हैं—(क) इन्होंने हमारे साथ बड़ा उपकार किया, नहीं तो रामजीके लौटा ले जानेसे हमारा भार कैसे उतरता। (ख) पहले हमसे न करते बनी, हमसे चूक हुई, ऐसे परम भागवतको हमसे कष्ट पहुँचा, यथा—*'झलका झलकत पायन्ह……'*। अत: सकुची। (ग) सकुचसे कठोरता नहीं रह जाती इसीसे वह कोमल हो गयी। (पु० रा० कु०) (घ) जिसपर प्रभु प्रसन्न होते हैं उसपर सभी प्रसन्न हो जाते हैं। पृथ्वीने सोचा कि भरतजी राज्य करके मेरा पालन करेंगे, दूसरे मेरा भार उतारनेमें सहायक हुए हैं, अतएव उसने इन्हें सुख दिया। (पं०) (ङ) रा० प्र०—सकुची अर्थात् सिकुड़ गयी जिसमें दूरके स्थान पास हो जायँ। [पर सकुचना मनमें ही कहा न कि तनका, यथा—*'सकुचि मन मनहीं'* अत: यह भाव शब्दोंसे संगत नहीं (प० प० प्र०)] सीताजी भूमिजा हैं इस प्रकार भरतजी पृथ्वीके दामादके छोटे भाई हुए। अपने सम्बन्धीका सब उपकार करते हैं; अत: उसने भी उपकार किया कि मृदु हो गयी। आगे बताते हैं कि कैसे मृदु हुई।

(च) पहले पृथ्वी कोमल चरणोंको देखकर क्यों न सकुची थी, इनके पैरोंमें छाले पड़ गये ऐसी कठोर बनी रही? कारण यह कि तब इसको भी मोह था कि लौटाने जा रहे हैं; स्वार्थवश कोमल न हुई थी और अब अपने स्वार्थमें उनकी सहायता देख पश्चात्ताप हुआ।

प० प० प्र०—श्रीभरतजीके लिये पृथ्वीका मृदु होना पूर्व भी कहा गया है। यथा—*'देखि दसा सुर बरसहिं फूला। भइ मृदु महि मगु मंगल मूला॥ किये जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात। तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात।'* (२१६) अतएव यहाँ मन-ही-मन संकोच यह हुआ कि इनके चरणोंके विचारसे जितना कोमल मुझे बनना चाहिये, उतना मुझसे नहीं बन पाता, क्योंकि यह मेरे स्वभावमें नहीं है। इनके लिये कुसुममय मार्ग बना देना अवश्य मेरे हाथकी बात है पर फूल पूजाकी वस्तु होनेसे परम प्रेमी भरतजी उनपर चरण ही क्यों रखने लगे। किसी प्रकार अपनेको विशेष सहायक न हो सकनेका ही संकोच है।

कुस कंटक काँकरी कुराईं। कटुक कठोर कुबस्तु दुराईं॥ ५॥
महि मंजुल मृदु मारग कीन्हे। बहत समीर त्रिबिध सुख लीन्हे॥ ६॥
सुमन बरषि सुर घन करि छाँही। बिटप फूलि फलि तृन मृदुताही॥ ७॥
मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल रामप्रिय जानी॥ ८॥

दो०—सुलभ सिद्धि सब प्राकृतहु राम कहत जमुहात।
राम प्रानप्रिय भरत कह येह न होइ बड़ि बात॥ ३११॥

शब्दार्थ—**कुराईं** (कुराह)=बुरा रास्ता, तंग और नीचा-ऊँचा रास्ता। (श० सा०)।=नदीके किनारेकी मटियार भूमिमें (जो धूपसे फट जाती है) जो गड्ढे हो जाते हैं उन्हें 'कुराईं' कहते हैं—(दीनजी)=कुरवक, कटसरैया (पियावासा) आदि कटीले पौधे—यथा—'**सरैकस्तु झिंडी स्यात्तस्मिन्कुरबकोरुणे**'—(अमर २, ४, ७५)। **कटुक**=कष्टदायक, जो चित्तको न भावे, बुरी लगे=खझुरा आदि जो लगते ही खुजली पैदा कर देते हैं—(वै०)। **मृदुताही**=कोमलतासे। **कुबस्तु**=मैला, हड्डियाँ आदि जो छूने लायक नहीं और देखनेमें भी बुरी लगें। कठोर जैसे पत्थर आदि।

अर्थ—कुश, काँटा (गोखरू, जवासा आदि), कंकड़ियाँ, गड्ढे, कष्टदायक कठोर और बुरी वस्तुओंको छिपा दीं॥ ५॥ पृथ्वी सुन्दर हो गयी और मार्ग सुन्दर और कोमल कर दिये गये, सुखोंको लिये हुए तीनों प्रकारकी शीतल-मन्द-सुगन्ध हवा चल रही है (अर्थात् सबको सुख देनेके लिये सुखको साथ लिये, जिसे जिस प्रकारकी वायुसे सुख मिलता है उसे वैसा ही होकर सुख देती है)॥ ६॥ देवता फूल बरसाकर, बादल छाया करके, वृक्ष फूल-फल द्वारा, तृण कोमलतासे, पशु देखकर और पक्षी सुन्दर वाणी बोलकर—सभी इनको श्रीरामजीके प्यारे जानकर इनकी सेवा करते हैं॥ ७-८॥ जँभाते हुए (निद्रा वा आलस्यवश) भी 'राम' ऐसा कहनेसे साधारण प्राणियोंको भी स्वाभाविक ही सब सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं तब भरतजीके लिये यह (जो कह आये कि *'कुस''''सेवहिं'*) कोई बड़ी (आश्चर्यजनक) बात नहीं है, वे तो रामको प्राणप्रिय हैं॥ ३११॥

'बहत समीर त्रिबिध सुख लीन्हें'। इसके दो अर्थ होते हैं—'हवा अपने साथ सुख लिये हुए चल रही है, अर्थात् शीतल, मन्द, सुगन्धित पवन सबको सुख दे रहा है। दूसरे 'उस हवाके लेनेसे सभीको सुख हो रहा है'। पं० और रा० प्र० लिखते हैं कि *'सुख लीन्हे'*=जितना जो चाहे उतना ही, प्रयोजनभर अधिक नहीं।

टिप्पणी—१ अपने अधिकारयोग्य सब सेवा कर रहे हैं। मृगोंके नेत्र सुन्दर होते हैं, वे उन्हें दिखाकर प्रसन्न करते हैं अर्थात् मृग जब भरतको देखते हैं तब वे उनकी आँखोंको देखकर प्रसन्न होते हैं। कोकिल आदि अपनी सुरीली मधुर बोलीसे उनके चित्तको प्रसन्न करते हैं। वृक्ष फूले-फले होनेसे देखकर सुख होता है।

टिप्पणी—२ ***'सेवहिं सकल रामप्रिय जानी'*** से उपर्युक्त सुखका कारण बताया। तात्पर्य यह कि रामजी सबके आत्मा हैं, उनके प्रिय होनेसे प्राणी सबको प्रिय हो जाता है, यथा—***'जो राम तोहि सुहाते तौ तू सबहि सुहातो'*** (इति विनये) मिलान कीजिये—***'पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नाते।'*** (७४। ७)

टिप्पणी—३ पूर्व कहा था कि ***'अचर सचर चर अचर करत को'***। अचरका सचर होना यहाँ चरितार्थ देखिये। अचर तृण भूमि आदि सब चैतन्यका काम कर रहे हैं।

नोट—***'राम प्रानप्रिय भरत कह'***—इसके दोनों अर्थ यहाँ गृहीत हैं। श्रीरामजीको जो प्राणप्रिय हैं और श्रीरामजी जिनको प्राणप्रिय हैं। यथा—***'राम प्रानहुँ ते प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहुँ ते प्यारे।'*** (१६९। १) (प० प० प्र०)

एहि बिधि भरत फिरत बन माहीं। नेम प्रेमु लखि मुनि सकुचाहीं॥ १॥
पुन्य जलाश्रय भूमि बिभागा। खग मृग तरु तृन गिरि बन बागा॥ २॥
चारु बिचित्र पबित्र बिसेषी। बूझत भरतु दिब्य सब देखी॥ ३॥
सुनि मन मुदित कहत ऋषिराऊ। हेतु नाम गुन पुन्य प्रभाऊ॥ ४॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीभरतजी वनमें फिरते हैं। उनका नेम और प्रेम देखकर मुनि सकुचाते हैं॥ १॥ पवित्र जलके स्थान (नदी, बावली, कुण्ड आदि), पृथ्वीके पृथक्-पृथक् भाग, पक्षी, पशु, वृक्ष, तृण, पर्वत, वन और बाग—सभी बहुत सुन्दर, विचित्र (रंग-बिरंगके और विलक्षण) और विशेष पवित्र हैं। इन सबोंको दिव्य देखकर भरतजी पूछते हैं॥ २-३॥ ऋषिराज अत्रिजी सुनकर प्रसन्न मनसे सबके कारण, नाम, गुण, पुण्य और प्रभावको कहते हैं॥ ४॥

नोट—*'नेम प्रेमु लखि मुनि सकुचाहीं'* इति। मुनि सकुचते हैं अर्थात् लज्जित होते हैं कि हम इसी नेम-प्रेमके लिये घर छोड़ वनमें बसे, फिर भी हमको यह नेम-प्रेम प्राप्त नहीं हुआ। इनका नेम-प्रेम हमसे बेहद बढ़ा-चढ़ा हुआ है, इनके सामने हमारा नेम-प्रेम तुच्छ है, पासंगभर भी नहीं है।—*'मूड़ मुड़ायो व्यर्थ ही भाँड़ भयो तजि गेह'* यह हमारा हाल है।

नोट—२ (क) *'पुन्य जलाश्रय'* अर्थात् वे जलके स्थान जिन्हें देखकर हृदयमें प्रेमकी उमंग उठे और मनमें सात्त्विक भावोंका उदय हो। (ख) *'दिब्य सब देखी'* इति। जिनके हृदय अत्यन्त निर्मल होते हैं, उनके चक्षु भी दिव्य हो जाते हैं। उनको दिव्य विभूतियाँ साक्षात् देख पड़ती हैं जहाँ हमसे मलिन हृदयवालोंको अदिव्यता ही दृष्टिगोचर होती है।

'हेतु नाम गुन पुन्य प्रभाऊ' इति। हेतु=कारण कि यह नाम क्यों पड़ा, ये यहाँ क्योंकर आये, इनकी उत्पत्ति क्योंकर हुई इत्यादि। क्या नाम है; उनका क्या पृथक्-पृथक् गुण है। दिव्य हैं, अत: उनका पुण्य और प्रभाव एवं उनके पुण्यका प्रभाव कहते हैं।

कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा। कतहुँ बिलोकत मन अभिरामा॥ ५॥
कतहुँ बैठि मुनि आयेसु पाई। सुमिरत सीय सहित दोउ भाई॥ ६॥
देखि सुभाउ सनेहु सुसेवा। देहि असीस मुदित बनदेवा॥ ७॥
फिरहिं गये दिनु पहर अढ़ाई। प्रभु-पद-कमल बिलोकहिं आई॥ ८॥

दो०—देखे थल तीरथ सकल भरत पाँच दिन माँझ।
कहत सुनत हरिहर सुजसु गयेउ दिवसु भइ साँझ॥ ३१२॥

शब्दार्थ—'अभिराम'=आनन्द, यथा—*'जग अभिराम राम अभिषेका'*। मन अभिराम=मनको आनन्द देनेवाले (मनोहर दृश्य)।=मनको आनन्द होता है।=आनन्दित मनसे। 'पहर'—तीन घंटे।

अर्थ—श्रीभरतजी मनमें आनन्दित होकर कहीं तो स्नान करते हैं, कहीं प्रणाम और कहीं दर्शन करते हैं॥ ५॥ कहीं मुनिकी आज्ञा पाकर बैठकर सीतासहित दोनों भाइयोंका स्मरण करते हैं॥ ६॥ भरतजीका स्वभाव, प्रेम और सुन्दर सेवा देखकर वनदेवता प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हैं॥ ७॥ अढ़ाई पहर दिन बीतनेपर लौटते हैं और आकर प्रभुके चरणकमलोंका दर्शन करते हैं॥ ८॥ भरतजीने पाँच दिनोंमें सब तीर्थस्नानोंका दर्शन कर लिया। हरिहरसुयश कहते-सुनते दिन बीत गया, संध्या हुई॥ ३१२॥

नोट—१ रा० प्र० आदि टीकाकारोंने लिखा है कि तीर्थोंमें स्नान और देवताओंको प्रणाम करते हैं और पक्षियों, पशुओंको वा वनको देखते हैं। यथा—*'देखत बन सर सैल सुहाये। बाल्मीकि आश्रम प्रभु आये।'''''सरनि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मंजु मधुप रस भूले। खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥'* (१२४। ५—८) पर यह भी हो सकता है कि पुण्यजलाश्रयोंमेंसे भी सबमें स्नान नहीं किया, कहीं स्नान कर लिया, कहीं मार्जन-प्रणाम आदि ही कर लिया। प० प० प्र० स्वामीका मत है कि 'जहाँसे तीर्थका दर्शन हो वहींसे उसको प्रणाम-विधि है। अत: यहाँ भाव यह है कि पुण्यभूमि विभागोंको केवल प्रणाम करते हैं और तीर्थोंमें स्नान करते हैं।' अथवा जहाँ स्नानकी विधि है वहाँ स्नान, जहाँ प्रणाममात्रकी विधि है वहाँ प्रणाममात्र करते हैं और जहाँ केवल बैठकर दर्शन करना विधि है वहाँ बैठकर दर्शन किया करते हैं।

नोट—२ *'मन अभिरामा'* अर्थात् रुचिपूर्वक देखते हैं। यहाँ *'मन अभिरामा'* के तीनों अर्थ गृहीत हैं जो शब्दार्थमें दिये गये हैं। *'बैठि मुनि आयेसु पाई'* अर्थात् श्रमित होनेपर अथवा रुचिरता देखनेके निमित्त आज्ञा पाकर बैठ जाते हैं। *'सुभाउ सनेह सुसेवा'* अर्थात् सबके प्रति सुष्ठु भाव, प्रभुमें प्रेम और ऋषि आदिकी सेवा।

नोट—३ *'फिरहिं गये दिनु पहर अढ़ाई'* इति। दूसरे स्नान और भोजनके समय लौटते हैं। यहाँ पाँचों दिनोंकी नित्यचर्या दिखायी कि अढ़ाई पहरतक तीर्थ-वन आदिमें दर्शन करते विचरते हैं और फिर लौटकर प्रभुका दर्शन करते हैं। इस प्रकार ५ दिनमें सब देख लिया। (पु० रा० कु०)

नोट—४ *'हरिहर सुजसु'* इति। (क) हरिहर अर्थात् भगवत्-भागवत-यश अथवा केवल विष्णु और शिवजीका यश। (ख) खर्रा—भाव यह कि भोजन करके रोज कथा होती थी। मुनिलोग कहते और सब सुनते थे। सब स्थानोंमें जहाँ भगवान् विष्णु हैं वहाँ उनके परम भक्त शिवजी भी हैं अतः दोनोंका सुयश वर्णन करते।

प० प० प्र०—सन्तसमाजमें *'हरिहरकथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी॥'* (१। २। १०) और तीर्थयात्रामें मुख्य हेतु तो सत्संग तथा सन्तदर्शन ही होता है—'**तीर्थे तीर्थे निर्मलं साधुवृन्दम्। वृन्दे वृन्दे तत्त्वचिन्तानुवादः॥ वादे वादे गीयते रामकीर्तिः। कीर्त्तौ कीर्त्तौ भासते चन्द्रचूडः।**' अतः *'कहत सुनत हरिहर सुजसु'* कहकर जनाया कि साधुसमाज जंगम प्रयागमें सत्संग भी करते थे।

वंदनपाठकजी—'**यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्। विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते॥**', '**पापं न कुरुते यस्तु वाङ्मनोभ्यां शरीरतः। यथाशक्त्या च दानेन स तीर्थफलमश्नुते॥**' (सत्योपाख्यान १-२)

नोट—५ कौन-कौन स्थल तीर्थ आदि देखे और किस प्रकार, एवं कौन-कौन साथ थे इत्यादि बृहद्रामायणमें यों कहे गये हैं—

'**एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यं भरतो भ्रातृवत्सलः। मंगलालंकृतवपुः कृतस्वस्त्ययनो द्विजैः॥ वसिष्ठप्रमुखैर्विप्रैः शास्त्रज्ञैश्च समन्वितः। स्निग्धैः कतिपयैरेव राजपुत्रवरैः सह॥ कौशल्यादिस्वमातृभ्यां साकं स्नेहविभूषितैः। ग्रामणीललनालोलहस्तपद्मायनोदितैः॥ आलोकयन् दिगन्तांश्च परिचक्राम जांगलान्। आजगाम हरिक्षेत्रं चित्रकूटं मणिप्रभम्॥ यत्र मन्दाकिनी गंगा त्रिषु लोकेषु विश्रुता। यत्र ब्रह्मर्षयः सर्वे तथा राजर्षयोऽमलाः॥ विराजन्ते द्विजश्रेष्ठ श्रीरामस्मरणोत्सुकाः। स्नात्वा द्युनद्यां विधिवद्दत्त्वा दानं यथाविधि॥ प्रदक्षिणार्थं भरतो ह्याजगाम गिरेरधः। तत्राश्चर्यं तेन दृष्टं तत्सर्वं कथयामि ते॥ जाह्नवीं चैव कालिन्दीं सरयूं चोत्पलैर्वृताम्। सरस्वतीं शतद्रूं च चन्द्रभागां पयस्विनीम्॥ विरजां ताम्रपर्णीं च कावेरीं चैव नर्मदाम्। प्रयागं नैमिषं चैव धर्मारण्यं गयां तथा॥ वाराणसीं श्रीगिरिं च केदारं पुष्करं तथा। मानसं चक्रमसरस्तथैवोत्तममानसम्॥ बाडवं बाडवं चैव तीर्थवृन्दं च सागरम्॥ अग्नितीर्थं महातीर्थमिन्द्रद्युम्नसरस्तथा॥ सरांसि सरितश्चैव पुण्यक्षेत्राणि यानि च। स्वामिनं कार्तिकं पञ्चशालग्रामं हरिं तथा॥ १२॥ एतानि सर्वतीर्थानि नानाश्चर्ययुतानि च। विन्ध्यादिपर्वतश्रेष्ठाः श्रीगिरेः सेवनोत्सुकाः॥ श्रीगिरिः चतुराशीति योजनानां समुच्छ्रितः। सर्वदेवात्मकं दृष्ट्वा गिरेः कृत्वा प्रदक्षिणाम्॥ दत्त्वा दानं द्विजातिभ्यः श्रीरामप्रीतिहेतुकम्।**' इत्यादि।

चित्रकूटका तीसरा दरबार

भोर न्हाइ सबु जुरा समाजू। भरत भूमिसुर तेरहुतिराजू॥ १॥
भल दिनु आजु जानि मन माहीं। रामु कृपाल कहत सकुचाहीं॥ २॥
गुर नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी॥ ३॥
सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची॥ ४॥

शब्दार्थ—'शील' यथा—'**अद्रोहं सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहं च दानं च शीलमेतत्प्रचक्षते**' '**शीलं स्वभावे सद्वृत्ते**' (इति विश्वे), '**शीलं परं भूषणं**' (इति भर्तृहरि)—(वन्दनपाठक)।

अर्थ—(छठे दिन) सबेरे स्नान करके श्रीभरतजी, ब्राह्मण और राजा श्रीजनकजी सब-का-सब (वा, और सब) समाज जुड़ा (एकत्रित हुआ)॥ १॥ आज (प्रस्थानके लिये) उत्तम दिन है यह मनमें जानकर भी दयालु रामचन्द्रजी कहते हुए सकुचते हैं॥ २॥ गुरु, राजा, भरत और सभाकी ओर देखकर फिर रामचन्द्रजी सकुचाकर पृथ्वीकी ओर देखने लगे अर्थात् सिर नीचा कर लिया॥ ३॥ सब सभा उनके शीलकी प्रशंसा करके सोचती है कि रामके समान संकोची स्वामी कहीं नहीं है॥ ४॥

नोट—१ '***सबु समाजू***' से जनाया कि आज कोई छूटा नहीं, समाजके सभी लोग यहाँ हैं। सभी ब्राह्मण, ऋषि, मुनि उपस्थित हैं, अवध, मिथिला दोनों समाज भी हैं।

नोट—२ '***भल दिनु आजु''''।***' ज्येष्ठ कृ० १३ सोमवार है, उत्तर दिशाके प्रस्थानके लिये उत्तम है। भलसे जनाया कि तिथि, वार, नक्षत्र, योग आदि सभी यात्राके लिये अनुकूल हैं। यह जानते हैं पर वियोगकी बात कहते संकोच होता है। संकोचका कारण 'कृपाल' विशेषणसे जनाया। कृपा कारण है, आज जाओ यह कहनेसे सबको दु:ख होगा।

नोट—३ '***गुर नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि''''***' इति। यह शील स्वभाव है, मुखसे संकोचवश न कहा, कहनेसे शील टूटता। पर अपने सुहृद् स्वभावसे उन्होंने यात्राका उपाय भी कर दिया कि इन सबकी ओर देखकर आँखें नीची कर लीं। इस प्रकारका अवलोकन शील और संकोचकी एक मुद्रा है और बड़ोंके संकोचसे आँखें नीची कर लेना, पृथ्वीकी ओर देखना, यह स्वाभाविक ही होता है। वैसा ही यहाँ हुआ। इस प्रकार मुँहसे न भी कहकर बिदाईकी चेष्टा प्रकट कर दी।

वि० त्रि०—यात्राके लिये अच्छा दिन है, यह कहनेमें रामजीको संकोच था, क्योंकि जो आया है, उसीका छुट्टी माँगना शोभा देता है, पर कोई कुछ कह नहीं रहा है। तब रामजीने गुरुजीकी ओर देखा कि शुभ मुहूर्तका ध्यान इन्हें अवश्य होगा, फिर महाराज जनककी ओर देखा जो शुभ मुहूर्त देखकर ही यात्रा करते हैं, अत्यन्त आवश्यकता पड़नेपर दुघड़िया साइत देखते हैं, फिर भरतलालकी ओर देखा कि यात्रा कर चुके अब इन्हें छुट्टी माँगना प्राप्त है, फिर सभाकी ओर देखा कि कदाचित् इन लोगोंमेंसे कोई कुछ कहे, इन लोगोंको रह-रहकर घर याद आ रहा है (यथा—'***छन बन रुचि छन सदन सोहाहीं***') पर जब किसीने कुछ नहीं कहा तब नीचे देखने लगे, संकोचके कारण स्वयं कुछ न कहा।

पं०—भाव कि आपके सामने हमारा कहना अनुचित है। वा, हम कह नहीं सकते, हमको कहनेमें संकोच होता है, पर पृथ्वीपर भार है, उसके हितके लिये सबको लौटना चाहिये। वा, जनाया कि घबड़ाओ नहीं पृथ्वीकी तरह धैर्य धारण करो, हमको अभी यहाँ रहना है तुम लौट जाओ। इत्यादि।

भरत सुजान राम रुख देखी। उठि सप्रेम धरि धीर बिसेषी॥ ५॥
करि दंडवत कहत कर जोरी। राखी नाथ सकल रुचि मोरी॥ ६॥
मोहि लगि सहेउ सबहि संतापू। बहुत भाँति दुखु पावा आपू॥ ७॥
अब गोसाँइ मोहि देउ रजाई। सेवउँ अवध अवधि भरि जाई॥ ८॥

दो०—जेहि उपाय पुनि पाय जनु देखइ दीनदयाल।
सो सिख देइअ अवधि लगि कोसलपाल कृपाल॥ ३१३॥

अर्थ—चतुर श्रीभरतजी श्रीरामजीका रुख देखकर प्रेमपूर्वक उठकर बहुत धैर्य धारणकर दण्डवत् करके हाथ जोड़कर कहने लगे—हे नाथ! आपने मेरी सभी इच्छाएँ रखीं (पूरी कीं)॥ ५-६॥ मेरे कारण सभीने

दुःख सहे और आपने भी बहुत तरहसे दुःख पाया॥ ७॥ हे गोसाईं! अब मुझे आज्ञा दीजिये; मैं जाकर अवधिभर अवधका सेवन करूँ॥ ८॥ हे दीनदयाल! जिस उपायसे आपका यह दास फिर चरणोंको देखे, हे कोसलपाल! हे कृपालु! अवधिभरके लिये मुझे वही शिक्षा दीजिये॥ ३१३॥

नोट—१ *'भरत सुजान राम रुख देखी।'''''* इति। 'सुजान' हैं अतः चेष्टासे जान गये कि उनकी रुचि है कि हम सब लौट जायँ। *'धरि धीर बिसेषी'* क्योंकि वियोगका समय आ गया, वियोगमें प्रेम विशेष बढ़ जाता ही है और प्रेममें फिर धीरज धरना ही पड़ता है—(पु० रा० कु०) २—*'राखी नाथ सकल रुचि मोरी',* यथा—*'निज पन तजि राखेउ पनु मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहिं थोरा॥ कीन्ह अनुग्रह अमित अति सब बिधि सीतानाथ।'* (२६६)। पुनः, साथ जानेकी रुचि थी वह पूरी हुई, यथा—*'नाथ भयउ सुख साथ गए को'*। पुनः *'एक मनोरथ बड़ मन माहीं'''''* सो भी पूरा हुआ। इससे यह भी जनाया कि एक अभिलाषा जो रह गयी है वह भी आप पूरी करेंगे।

नोट—२ *'मोहि लगि सहेउ सबहि संतापू।'''''* अर्थात् अनर्थ और वनका दुःख। *'सबहि'* अर्थात् प्रजा, परिवार, मिथिलेशादि सबने एवं सब तरहका क्लेश, यथा—*'देखि न जाहिं बिकल महतारी। जरहि दुसह जर पुर नर नारी॥' 'महीं सकल अनरथ कर मूला।'* (२६२। २-३), *'नाथ भरत पुरजन महतारी। सोक बिकल बनबास दुखारी॥ सहित समाज राउ मिथिलेसू। बहुत दिवस भये सहत कलेसू॥'* (२९०। ४-५) और *'राम सत्यब्रत धरम रत सब कर सील सनेहु। संकट सहत सकोच बस कहिय जो आयसु देहु॥'* (२९२) इत्यादि *'मोहि लगि'* क्योंकि मैं ही सबके संतापका कारण हुआ।

नोट—३ *'अब गोसाँइ मोहि देउ रजाई।'''''* इति। 'गो' (=पृथ्वी) के स्वामी हैं; पृथ्वीका भार उतारिये। पुनः, अवधके स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ मुझे आज्ञा हो, मैं आपकी राजधानीकी सेवा १४ वर्ष करूँगा, सेवक बनकर, राजा बनकर नहीं। *'अवधि भरि'* अर्थात् १४ वर्ष बीत जानेपर नहीं। इसमें वही ध्वनि है जो रघुनाथजीने विभीषणजीसे कही है—*'बीतें अवधि जाउँ जौं जियत न पावउँ बीर'*। (लं०। ११५) (वाल्मी० २। ११२) के **'चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्॥ फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन। तवागमनमाकाङ्क्षन्वसन्वै नगराद्बहिः॥''' चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम॥ न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्।'** (२३—२६) (अर्थात् चौदह वर्षोंतक मैं जटा और चीर धारण करूँगा, फल-मूल खाकर नगरके बाहर रहूँगा, इस प्रकार आपके आगमनकी प्रतीक्षा करूँगा। चौदह वर्षकी पूर्तिपर पहले ही दिन यदि आपको न देखूँगा तो मैं अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा।) इन वचनोंसे मिलान करनेपर पाठक देखेंगे कि मानसकल्पके भरतमें वाल्मीकीयके भरतसे कितना महदन्तर है! कहाँ वाल्मीकीयके उपर्युक्त रोंगटे खड़े कर देनेवाले वचन जिन्हें सुनकर श्रीरामजीको प्रतिज्ञा करनी पड़ी, यथा—**'तथेति च प्रतिज्ञाय'** और कहाँ मानसके प्रेमभरे कोमल वाक्य *'अब गोसाँइ मोहि देउ रजाई। सेवउँ अवध अवधि भरि जाई॥ जेहि उपाय पुनि पाय जनु देखइ दीन दयाल। सो सिख देइअ'''''*। इन कोमल शब्दोंमें भी वह सारा भाव भरा है पर उनकी कटुता कठोरता नहीं है। गीतावलीमेंके *'तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न ऐहौ। तौ प्रभु चरन सरोज सपथ जीवत परिजनहि न पैहौ॥'* (२। २। ७६) में भी वही भाव है। वाल्मी० और अ० रा० में पादुकाओंके मिलनेपर ये वाक्य कहे गये हैं।

खर्रेमें पं० रामकुमारजी यह अर्थ लिखते हैं—'१४ वर्षतक अवधके प्रति आज्ञा दीजिये कि जिस सेवामें मैं बराबर लगा रहूँ।' भरतजीने तीन प्रार्थनाएँ दरबारके अन्तमें की थीं, उनमेंसे दो पूर्ण हुईं। तीसरेके प्रति कुछ उत्तर न मिला था, अब यहाँ उसीकी प्रार्थना पुनः कर रहे हैं।

पं०—*'जेहि उपाय पुनि पाय जनु'''''* इति। 'कोसलपाल' का भाव कि मुझको देशपालनकी आज्ञा दी है, जब अवलम्ब दीजियेगा तभी मुझसे व्यवहार सधेगा। 'कृपाल' का भाव कि मेरा सुख चाहते हो तो मेरा तन तभी रहेगा जब अवलम्ब मिलेगा। 'दीनदयाल' अर्थात् आपके वियोगमें सभी दीन रहेंगे, आश्रय पाकर उसीसे सब सुखी रह सकेंगे अतः दीजिये।

पुरजन परिजन प्रजा गोसाँई। सब सुचि सरस सनेह सगाई॥ १॥
राउर बदि भल भव दुख दाहू। प्रभु बिनु बादि परम पद लाहू॥ २॥
स्वामि सुजानु जानि सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥ ३॥
प्रनतपालु पालहिं सब काहू। देउ दुहूँ दिसि ओर निबाहू॥ ४॥
अस मोहि सब बिधि भूरि भरोसो। किये बिचारु न सोचु खरो सो॥ ५॥

शब्दार्थ—'**सरस**'=सहृदय, भावुक, रसिक, भावकी उमंगसे भरे हुए, सुशोभित, अधिक बढ़े हुए। '**बदि**'=(सं० वर्त=पलटा) लिये, वास्ते, खातिर, यथा—*'इनकी बदि हम सहत यातना। हरिपार्षद अब आन बात ना॥'*—(रघुराज)। '**खरो सो**'=खर (=तिनका) बराबर भी, थोड़ा-सा भी।

अर्थ—हे गोसाईं! अवधवासी, कुटुम्बी और प्रजा, सभी आपके नेह-नातेमें पवित्र और बढ़े-चढ़े हुए हैं[1]॥ १॥ आपके लिये संसारका दुःख और दाह भी (सहना) उत्तम है और आपके बिना परमपदका लाभ (प्राप्ति) भी व्यर्थ है॥ २॥ हे स्वामी! आप सुजान हैं, सभीके हियकी (दशा) और मुझ दासके हृदयकी रुचि, लालसा और रहनी जानकर॥ ३॥ हे प्रणतपाल प्रभु! आप सभीका पालन करेंगे और हे देव! आप दोनों तरफका ओर-छोर (आदि-अन्त) निर्वाह करेंगे॥ ४॥[2] सब प्रकारसे मुझे ऐसा बहुत बड़ा (दृढ़) भरोसा है और विचार करनेपर तिनकेके बराबर भी सोच नहीं रह जाता॥ ५॥

नोट—१ *'सब सुचि सरस सनेह सगाई·····'* इति। शुचि अर्थात् पवित्र, निश्छल, निष्काम। *'सनेह सगाई'* का अर्थ दो प्रकारसे किया जा सकता है। एक तो प्रेमका सम्बन्ध दूसरे प्रेम और सम्बन्ध। दूसरे अर्थमें सम्बन्धका भाव यह है कि श्रीरामजी हमारे माता, पिता, स्वामी, सखा, पुत्र इत्यादि हैं; हम उनके बालक, सेवक आदि हैं। यथा—*'सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात एहि ओर निबाहू॥', 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥', 'जननि जनक गुर बंधु हमारे। कृपानिधान प्रान तें प्यारे॥ तनु धनु धाम रामहितकारी। सब बिधि तुम्ह प्रनतारतिहारी॥'* (उ० ४७) सनेह और सगाई, यथा—*'जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।'* (६५।३) *'जहँ लगि जगत सनेह सगाई।'* (७२।५)

नोट—२ *'राउर बदि भल भव दुख दाहू·····'* इति। यथा—*'खेलिबे को खग मृग तरु कंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। एहि नातें नरकहु सचु या बिनु परमपदहु दुख दहिहौं॥'* (वि० २३१) *'तुम्ह बिनु राम सकल सुख साजा। नरक सरिस दुहुँ राजसमाजा॥'* (२९०।८)········' *'तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह ते ही।'* (२९१।३) देखिये। यहाँ 'अनुज्ञा' और 'प्रथम विनोक्ति' अलंकार है।

नोट—३ *'स्वामि·····जानि सब ही की।····· ' जन जी की'* इति। पहले दो अर्धालियोंमें पुरजन आदिकी दशा कही। उसीको यहाँ 'सब ही की' पदसे सूचित किया है और *'रुचि लालसा रहनि'* यह अपने मनकी कही (पु० रा० कु०)। रा० प्र० ने *'रुचि लालसा रहनि'* ये सबके साथ माना है। संसारमें अनेक योनियोंमें बारम्बार जन्म लेना, मरना यदि आपके प्रेमके लिये हो तो उत्तम है, सुख-दायक है।

गौड़जी—*'रुचि·····जी की·····सोचु खरो सो'* इति। भाव यह कि मेरी रुचि सेवा करनेकी, लालसा साथ रहनेकी और रहनि स्वामीके अनुकूल वानप्रस्थ दशाकी करनेकी, यह जो जीमें है वह तो स्वामी खूब जानते हैं। सो आप शरणागतपालक हैं, सबका पालन करेंगे। रुचि लालसा रहनि सब पूरी होगी। दोनों दिशिका अन्ततक निर्वाह करेंगे। वनवासकी प्रतिज्ञा भी रहेगी और मेरी रुचि लालसा रहनि भी रहेगी।

१-खर्रा—अवधवासी और सप्तद्वीपवासी प्रजा निःछल प्रेममें सरस हैं और परिजन सगाईमें सरस हैं। अथवा, पुरजन, परिजन, प्रजा तीनों स्नेहमें शुचि हैं और सगाईमें सरस हैं।

२-'स्वामि, सुजान और प्रनतपाल' तीनोंको सम्बोधन मानकर भी अर्थ हो सकता है। रा० प्र०, पं०, पु० रा० कु० ने 'दउ निबाहू' का 'निबाह देते हो' ऐसा अर्थ किया है। 'दुहुँ दिसि'=लोक-परलोक दोनों—(पं०)।

आप देवोंका कार्य भी करेंगे और अयोध्याके बाहर मेरे साथ भी दिव्य शरीरसे रहेंगे। आप राजा और स्वामीकी तरह रहेंगे मैं युवराज और सेवककी तरह रहूँगा। दोनों ओरका निर्वाह होगा। मुझे अब सब समझमें आ गया। सो भारी और बहुत भरोसा हो गया है। मेरा सोच बेकार था।

आरति मोर नाथ कर छोहू। दुहुँ मिलि कीन्ह ढीठु हठि मोहू॥ ६॥
येह बड़ दोष दूरि करि स्वामी। तजि सकोच सिखइअ अनुगामी॥ ७॥
भरत बिनय सुनि सबहि प्रसंसी। खीर नीर बिबरन गति हंसी॥ ८॥

शब्दार्थ—**बिबरन** (विवरण)=विवेचन; स्पष्ट-स्पष्ट रूपसे किसी वस्तुके समझने-समझानेकी क्रिया। बिवरना=एकमें गुथी हुई वस्तुको अलग-अलग करना।

अर्थ—मेरा दुःख और स्वामीकी कृपा दोनोंने मिलकर मुझे जबरदस्ती ढीठ कर दिया है। (अर्थात् ढीठ था नहीं पर इन दोनों कारणोंसे हो गया)॥ ६॥ हे स्वामी! इस बड़े दोषको दूर करके और संकोचको त्यागकर मुझ सेवकको शिक्षा दीजिये॥ ७॥ दूध और जलको अलग-अलग करनेमें हंसिनीकी-सी गतिवाली श्रीभरतजीकी विनय सुनकर सबने ही उसकी प्रशंसा की॥ ८॥

नोट—१ ***'दुहुँ मिलि कीन्ह ढीठु हठि मोहू'*** इति।—कभी सम्मुख बात न की थी, यथा—***'महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कही न बैन॥'*** (२६०) पर आपकी कृपा और मेरे दुःखने सम्मुख बातें करायीं, यथा—***'भरत कहहिं सोइ किये भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥ तब मुनि बोले भरत सन सब सँकोच तजि तात। कृपासिंधु प्रिय बंधु सन करहु हृदय कै बात॥'*** (२५९) ***'छमिहि देउ अति आरति जानी।'*** (३००। ८) सम्मुख बोलना ढिठाई है। इसीको 'बड़ा दोष' कहते हैं। पुनः, स्वामी और सुजानसे बहुत कहना यह भी दोष है और ढीठता, यथा—***'सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि। आयसु देइअ देव अब···· ॥'*** (३००) ***'दूरि करि'*** अर्थात् इसका खयाल न करें और अब आगे यह दोष मुझमें न रहने दें। भाव कि अब अधिक कुछ न कहलाइये, अब शिक्षा दीजिये।

नोट—२ ***'·····स्वामी। तजि सकोच सिखइअ अनुगामी'*** इति। श्रीभरतजी राजनीतिकी शिक्षा चाहते हैं। जिस प्रकार आप बतलायें उस प्रकार मैं राज्यकार्य करूँ, प्रजाका पालन करूँ, मैं तो सेवक मात्र हूँ—***'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई।'*** यह भाव 'स्वामी, अनुगामी' का है। इधर श्रीरामजी संकोची हैं ही और यहाँ तो इस दरबारका प्रारम्भ ही ***'कहुँ न राम सम स्वामि सकोची'*** से हुआ है। संकोचको देखकर ही भरतजी बोलनेको खड़े हुए। अतः ***'तजि सकोच'*** कहा।

नोट—३ ***'खीर नीर बिबरन गति हंसी'*** इति। दरबारेआममें भरत-भाषणके आदिमें श्रीभरतजीकी वाणीकी सुन्दर हंसिनीसे उपमा दी थी, यथा—***'बिमल बिबेक धरम नयसाली। भरत भारती मंजु मराली॥'*** (२९७। ८) उसीका अन्ततक निर्वाह दिखानेके लिये यहाँ भी 'हंसी' कहा। जो भाव वहाँ कहे गये वही यहाँ भी ले लीजिये। श्रीरामजीने भी लक्ष्मणजीको समझाते हुए भरतको हंस कहा है, यथा—***'सगुन खीर अवगुन जल ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥ भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥'*** (२३२। ५-६) दोनोंका मिलान कीजिये। भाव वहाँ स्पष्ट कर दिये हैं। वहाँ भरतको हंस और यहाँ उनकी वाणी और विनयको हंसिनी कहा। भरत हंस, भरत-भारती हंसिनी। जैसे हंसिनी दूध-पानीको अलग कर देती है वैसे ही भरतकी विनयमें दोष, दुःख, स्वार्थ आदिका और प्रभुके गुणोंका विवरण है; विनय विवेकपूर्ण है।

गौड़जी—भाव यह कि भरतके विनयमें भी विवेक है, अपनी ढिठाईको दोषी ठहराते हैं, परंतु वह भी लाचारीके कारण आ गयी। 'मेरी आर्ति और प्रभुका छोह दोनोंने मिलकर बरबस मुझे ढीठ बनाया नहीं तो इतनी ढिठाई कभी हो नहीं सकती थी।' मिलान कीजिये—***'बिनय बिबेक धरम नयसाली। भरत भारती मंजु मराली॥'***

दो०—दीनबंधु सुनि बंधु के बचन दीन छल हीन।
देस काल अवसर सरिस बोले राम प्रबीन॥ ३१४॥

तात तुम्हारि मोरि परिजन की। चिंता गुरहि नृपहि घर बन की॥ १॥
माथे पर गुर मुनि मिथिलेसू। हमहिं तुम्हहिं सपनेहु न कलेसू॥ २॥

अर्थ—दीनजनोंके सहायक परम प्रवीण श्रीरामचन्द्रजी भाईके दीन और छलरहित वचन सुनकर देश, काल और अवसरके अनुकूल बोले॥ ३१४॥ हे तात! तुम्हारी, मेरी और परिवारकी, घरकी और वनकी सारी चिन्ता गुरु वशिष्ठजी और राजा जनकको है॥ १॥ जब हमारे मस्तकपर गुरुदेव मुनि विश्वामित्रजी और मिथिलेश श्रीजनक हैं, तब हमको और तुमको स्वप्नमें भी क्लेश नहीं है॥ २॥

नोट—१ ***'दीनबंधु**……**बचन दीन छलहीन'*** इति। जहाँ दीनता है वहाँ प्रभु दीनबन्धु भी हैं। दीनता देख दयालु होते हैं, यथा—***'एहि दरबार दीनको आदर रीति सदा चलि आई।'*** (वि० १६५) छलहीन हैं क्योंकि प्रभुका वचन है कि ***'मोहि कपट छल छिद्र न भावा।'*** (५। ४४। ५) देश, काल, अवसरके भाव पूर्व आ चुके हैं, यथा—***'देस काल लखि समय समाजू।'*** (३०४। ६) 'प्रवीण' विशेषण दिया क्योंकि इस गुत्थीको सुलझानेमें गुरु, मुनि और राजा आदि कोई समर्थ न हुए थे।

नोट—२ (क) ***'घर बन की'*** यथा—***'सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुर प्रसाद रखवारा॥'*** (३०६। १) (ख) ***'माथे पर गुर**……**'*** अर्थात् ये सरपरस्त हैं, बराबर साथ हैं, रक्षक हैं, सार-सँभार करनेवाले हैं। तब सोच क्या? यथा—***'तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबा के।'*** (विनय०)

पंजाबीजी लिखते हैं कि पूर्व गुरु और राजाका नाम लिया था, विश्वामित्रका नाम नहीं आया और समाजमें वे भी हैं, इनको पास देखकर उनके सम्मानार्थ यहाँ उनका भी नाम लिया। गुरु और मिथिलेशके बीचमें मुनिको कहकर जनाया कि मुनि बीचमें बैठे थे इसीसे उनको छोड़ना इस समय अयोग्य होता।

गुरुजीको स्पष्ट कह दिया अत: मुनिसे वामदेव, जाबालि आदि अभिप्रेत हैं जो राज्यके मन्त्री भी थे। यथा—'**वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिश्च दृढव्रत:। अग्रत: प्रययु: सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिता:॥**' (वाल्मी० २। ११३। २) प० प० प्र० स्वामीजीका भी यही मत है कि यहाँ 'मुनि' से वामदेवजीका ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि अवधके राज्यशासनके विचारमें ये वसिष्ठजीके साथ-साथ अधिकारी थे। यथा—***'बामदेव वसिष्ठ तब आए।'*** (१६९। ७), ***'बोले बामदेउ सब साँची।'*** (१। ३५९। ७) ***'बामदेव रघुकुल गुर ग्यानी।'*** (१। ३६१। १) आगे ***'तुम्ह मुनि मातु सचिव सिख मानी। पालेहु प्रजा पुहुमि रजधानी॥'*** में भी उनका अन्तर्भाव है। विश्वामित्रजी अवधमें रहते भी नहीं।

मोर तुम्हार परम पुरुषारथु। स्वारथु सुजसु धरमु परमारथु॥ ३॥
पितु आयसु पालिहिं दुहुँ भाई। लोक बेद भल भूप भलाई॥ ४॥
गुर पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहु कुमग मग परहिं न खालें॥ ५॥
अस बिचारि सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधि भरि जाई॥ ६॥
देसु कोसु परिजन परिवारू। गुर पद रजहिं लाग छरुभारू॥ ७॥
तुम्ह मुनि मातु सचिव सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी॥ ८॥

शब्दार्थ—पुरुषार्थ=पुरुषका लक्ष्य, कर्तव्य वा उद्योगका विषय। पराक्रम, जवाँमर्दी, पुरुषवत् कर्तव्य। **छरुभारू**=उत्तरदायित्व, जिम्मेदारी, सार-सँभारका भार, यथा—***'यह छरभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं' 'मोर**……**।'*** (विनय०) '**पुहुमी**'=पृथ्वी। **खालें**=गढ़ेमें, नीचे।

अर्थ—मेरा और तुम्हारा तो परम पुरुषार्थ, स्वार्थ, सुयश, धर्म और परमार्थ यही है कि दोनों भाई

पिताकी आज्ञाका पालन करें[१] यह लोक और वेद दोनोंमें भला है और इसीसे राजाकी भी भलीभाँति भलाई है[२]॥ ३-४॥ गुरु, पिता, माता और स्वामीकी आज्ञा पालन करनेसे कुमार्गपर भी चलनेसे पैर खाली नहीं पड़ता (धोखा नहीं होता, चूक नहीं होती, गिरने या मोच खानेका भय नहीं रहता)॥ ५॥ ऐसा विचार कर, सब सोच छोड़कर अवधमें जाकर अवधि भर उसका पालन करो॥ ६॥ देश, कोश, परिजन और परिवार इन सबोंके सार-सँभारका भार तो गुरुजीके चरण-रजपर है॥ ७॥ तुम तो मुनि, माता और मन्त्रियोंकी शिक्षा मानकर उसके अनुसार पृथ्वी, प्रजा और राजधानीका पालनभर करते रहना। अर्थात् रक्षक तो वे ही हैं, तुम निमित्त मात्र बने रहो॥ ८॥

नोट—१ *'मोर····।' 'लोक बेद भल भूप भलाई·····'* इति। (क) पिताकी आज्ञा पालनके बहाने नीतिका उपदेश कर रहे हैं। (ख) *'मोर·····'* श्रीभरतजीके सम्मान-हेतु अपना भी नाम लिया। (पं०) (ग) *'लोक बेद भल भूप·····'*—अर्थात् नहीं तो किसीकी भलाई न थी। हम, तुम और राजा सभी अधर्मी कहलाते। राजाके दोनों वचन रहे इससे उनकी भलीभाँति भलाई है। (पु० रा० कु०) (घ) ये वचन गुरुके उपदेशसे मिलते हैं। गुरुजीके *'करहु सीस धरि भूप रजाई। है तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥ परसुराम पितु अग्या राखी। मारी मातु लोक सब साखी॥ तनय जजातिहि जौबन दयेऊ। पितु अग्या अघ अजस न भयेऊ॥ अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन। ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन॥ १७४॥ अवसि नरेस बचन फुर करहू। पालहु प्रजा सोक परिहरहू॥ सुरपुर नृप पाइहि परितोषू। तुम्ह कहँ सुकृत सुजस नहिं दोषू॥'* इन वचनोंसे यहाँके *'मोर तुम्हार·····खालें'* के भाव स्पष्ट हो जाते हैं। (ङ) वाल्मीकीय सर्ग ११२ में देवताओं और ऋषियोंने यही कहा है—'**ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते पितरं यद्यवेक्षसे॥ सदानृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः। अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः॥**' (५-६) अर्थात् यदि तुम पिताको सुखी रखना चाहते हो तो श्रीरामचन्द्रजीका वचन मानो। हमलोग चाहते हैं कि श्रीराम अपने पितासे सदा अनृण रहें। कैकेयीका ऋण चुकानेसे ही राजाको स्वर्ग मिला है। यही भाव *'भूप भलाई'* का है।

नोट—२ (क) *'चलेहु कुमग·····'*—नोट १ देखिये। (ख) *'गुर पद रजहिं लाग छरुभारू'* इति। 'सिरपर भार' है ऐसा मुहावरा है। पर ये कुलगुरु हैं, परम पूज्य हैं, इससे *'सिर छरुभारू'* न कहकर *'पदरज छरुभारू'* कहा—(पं०) भगवान् और संतों-भक्तोंके चरणों, रज, पनही आदिका ही आश्रय लिया जाता है। दूसरे इससे यह भी जनाया कि उनके पदरजके प्रतापसे ही सबकी रक्षा होगी, उनको भी रक्षाके लिये कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। पुनः, गुरुपदरजका महत्त्व ही ऐसा है—बालकाण्ड गुरुपदरज-वन्दना प्रथम दोहा देखिये। पुनः, यथा—*'जे गुरु चरनरेनु सिर धरहीं। ते जन सकल विभव बस करहीं॥·····सबु पायउँ रज पावनि पूजे॥'* (अ० ३। ५-६)

नोट—३ *'तुम्ह मुनि मातु सचिव·····'* इति। वाल्मीकीयमें, अमात्यों, मित्रों तथा बुद्धिमान् मन्त्रियोंसे परामर्श करके बड़े कार्योंको सम्पादित करनेको कहा है। यथा—'**अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः। सर्वकार्याणि सम्मन्त्र्य महान्त्यपि हि कारय।**' (२। ११२। १७)

दो०—मुखिआ मुखु सो चाहिए खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥ ३१५॥

राज धरम सरबसु एतनोई। जिमि मन माँह मनोरथ गोई॥ १॥

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं (कि श्रीरामजीने कहा कि) मुखिया मुखके समान होना चाहिये कि

१-अर्थान्तर—हमारा तुम्हारा स्वार्थ, सुयश, धर्म और परमार्थ रूप परम पुरुषार्थ दोनों भाइयोंको पिताकी आज्ञा पालेगी; क्योंकि लोक-वेदमें भलीभाँति भूपकी भलाई है, उनकी आज्ञा क्यों न पालेगी।' (रा० प्र०)

२-अर्थान्तर—राजाकी भलाई-(उनके व्रतकी रक्षा-)से ही लोक और वेद दोनोंमें भला है। (मानसांक)

खाने-पीनेको तो एक है; पर समस्त अंगोंको विवेकसहित पालन-पोषण करता है॥ ३१५॥ राजधर्मका सर्वस्व इतना ही है जैसे मनके भीतर मनोरथ छिपा रहता है॥ १॥

नोट—१ *'मुखिया मुखु सो चाहिए खान पान कहुँ एक।·'* इति। (क) मिलान कीजिये *'सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।'* (३०६) वहाँ सेवक और स्वामीका भाव कुछ लिखा गया है। वहाँ *'कर पद नयन'* अंगोंके नाम दिये इसीसे यहाँ नाम न देकर केवल *'सकल अँग'* कहा। वहाँ *'कर पद नयन'* तीनहीको कहा था क्योंकि वहाँ सेवक और स्वामीकी रीति कह रहे थे। कर, पद और नेत्र सेवकका काम करके मुखरूपी स्वामीको लाकर देते हैं। यहाँ मुखको मुखिया कहा, इसीसे शरीरके समस्त अंगोंका पालन-पोषण करना कहा, केवल कर, पद और नेत्रोंका नहीं। सकल अंगमें समस्त कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण (तथा शरीरके भीतर और बाहरके सभी अंग) [जैसे, प्लीहा, यकृत्, मूत्रपिण्ड, रक्ताशय, मांस, मज्जा, शुक्र, रुधिर, ज्ञानतंतु, षट्चक्र, पंचमस्तिष्क इत्यादि—(प० प० प्र०)] इत्यादिका ग्रहण होगा। वहाँ *'मुख सो साहिब होइ'* कहा पर उसका धर्म न कहा था और यहाँ उसका धर्म कहा। दोनोंको एकत्र करनेसे इस उदाहरणका पूर्ण भाव समझमें आ जाता है।

(ख) *'खान पान कहुँ'*—*'खान····'* से विविध विषयोंका सेवन जानना चाहिये। देखिये—**'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।'** (गीता) (प० प० प्र०)।

'सहित बिबेक' का भाव कि जिसके लिये जितने पालन-पोषणकी जरूरत होती है उतना ही उसका पालन-पोषण करता है। नेत्र, हाथ, पैर जो कुछ लाकर मुखको देते हैं अकेला वही सब खा लेता है पर खानेके पश्चात् जिस-जिस अंगको जिस-जिस रसकी जितनी आवश्यकता है जिसमें वह स्वस्थ और पुष्ट रहे उतना-उतना उन्हें देकर सभी अंगोंका पालन करता है। यह नहीं कि जिसको अधिक चाहिये उसको कम दे और जिसको कम चाहिये उसको अधिक दे। ऐसा करनेसे रोग उत्पन्न हो जाता है।

प० प० प्र०—*'सहित बिबेक'* से देश, काल, परिस्थिति, ऋतु, शत्रु, मित्र, उदासीन, सज्जन, दुर्जन इत्यादिका ज्ञानपूर्वक विचारसे व्यवहार सूचित किया। राजनीतिकी दृष्टिसे राजधर्मका जितना विकास और विस्तार गीताके **'युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥'** इस श्लोकका हो सकता है उतना ही इस दोहेका। शुक्राचार्य, चाणक्य और कणिक आदिके राजनीति ग्रन्थोंसे मिलान कर इस दोहेपर लोग राजनीतिका एक बड़ा ग्रन्थ निर्माण कर सकते हैं।

पु० रा० कु०—(क) यहाँ भोक्ता मुख भरत और अंग देश, प्रजा, सैन्य, मन्त्री, मित्र, कोश आदि (राजाके अंग) हैं। भाव यह कि तुम इन सब अंगोंका पालन-पोषण विवेकपूर्वक करते रहना जिसमें वे सब तुम्हारे काम आवें। जिसका जैसा अधिकार है उसीके योग्य उसका पालन करना। मुख देखनेमें सब अकेला खाता है पर वस्तुतः वह सब अंगोंको यथायोग्य बाँट देता है, अपने पास कुछ नहीं रखता। यथा—*'आनन* (**आपन ?**) *छोड़ो साथ जब ता दिन हितू न कोइ।·····।'* (दो० ५३४) (ख) जैसे मुख एक, वैसे ही मुखिया एक ही चाहिये। जैसे एक मनमें अनेक मनोरथ रहते हैं वैसे ही इस दोहेमें सम्पूर्ण राजधर्म हैं।

वि० त्रि०—*'राज धरम····गोई'* इति। मनमें मनोरथ सूक्ष्म रूपसे अवस्थान करता है, जितनी बाह्य क्रियाएँ हैं वे उसीकी स्थूल रूप हैं। इसी भाँति *'मुखिया मुखु सो चाहिए खान पान कहुँ एक। पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥'* समाज एक शरीर है, मुखिया उसका मुख है। सम्पूर्ण शरीर प्रयत्न करके जो कुछ अर्जन करता है, उसे मुखको अर्पण करता है। मुख उसे कूट-पीसकर अर्थात् एकीकरण करके, पाचन यन्त्र मन्त्रिमण्डल आदिके सुपुर्द करता है, वहाँसे वह रस-रक्तादि अर्थात् वेतन-पुरस्कारादिरूपसे यथायोग्य सब अंगोंकी पुष्टि करता है। ध्यान देनेकी बात है कि मुख अपने पास कुछ भी नहीं रखता। दाँत आदिमें यदि कुछ लगा रह जाय तो उसे तृणके सहारे निकालकर अपनी सफाई किया करता है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये वैद्यकके बड़े-बड़े ग्रन्थ बने हुए हैं, जिनमें इस विषयको बड़े विस्तारसे समझाया गया। यह सार सबका इतना ही है कि सब अंगोंका पोषण हो और बड़े विवेकके साथ हो,

जिस रससे नखका पोषण होता है वह आँखके पोषणके लिये न जाय, और जिससे आँखका पोषण होता है, वह नखके पोषणके लिये न जाने पावे। इस विवेकमें तनिक-सी ढिलाई पड़नेसे समाजरूपी शरीरका ही नाश हो जाता है, यहाँ साम्यवाद नहीं चलता।

पं०—*'राज धरम सरबस एतनोई।'* इति। (क) राजधर्मके अनेक भेद ग्रन्थोंमें कहे हैं पर सर्वस्व अर्थात् सिद्धान्त यही है। जैसे मनमें मनोरथ विचारकर रखते हैं वैसे ही सेना और प्रजाकी रक्षा करना। अथवा, (ख) भाव कि राजमन्त्र (मनोरथ) मनमें छिपा रखना। यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है।

पाँ०—*'मुखिया मुखु सो चाहिए'''''* बस इसीमें सम्पूर्ण राजधर्म है जैसे छोटेसे (सूक्ष्म) मनमें मनोरथ बड़े-बड़े छिपे रहते हैं।

शीला—(क) दोहेमें सामान्य धर्म कहकर चौपाईमें विशेष धर्म कहा कि सर्वस्व इतना ही है जैसे मनमें मनोरथ छिपाये रहते हैं। (ख) पुनः, जैसा समय होता है वैसा ही मन हो जाता है। पुनः, वैसे ही राजा समरमें वीररस, नृत्य आदिमें शृंगार और प्रजापालनमें करुणारसमें प्राप्त होता है तब सब जीवोंका स्वार्थ चलता है। यथा—*'बिटप मध्य पुत्रिका सूत्र महँ कंचुकि बिनहिं बनाए। मन महँ तथा लीन नाना तन प्रगटत अवसर पाए॥'* (वि० १२४), *'असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे। सरग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे॥'* (वि० १२४)

गौड़जी—कुछ समालोचक कहते हैं कि 'गुसाईंजीने राजा-महाराजाओंकी सभा नहीं देखी थी। वे विरक्त थे, उन्हें ऐसा कोई प्रसंग भी नहीं मिल सकता था। इसीलिये उन्होंने ऐसा वर्णन किया है जैसा कि साधारण जमींदारकी सभाका होता है।'

समालोचक महोदय ऐसा समझते मालूम होते हैं कि मानो सब देशोंमें और सब कालोंमें राजाओंका दरबार और व्यवहार एक-सा होता है। उनका ऐसा समझना ही बड़ी भारी भूल है। भिन्न-भिन्न देशों और कालोंके छत्रधारियोंके दरबारमें यात्री लोग गये हैं और उन्होंने वर्णन भी छेड़े हैं। यात्रासम्बन्धी साहित्य बहुत प्राचीन तो मिलता नहीं, परंतु जितना कुछ मिलता है उससे यह नहीं कहा जा सकता कि सबके दरबार एक-से होते हैं। देश और कालके भेदसे बड़ा अन्तर पड़ जाता है। तुलसीदासजी यदि किसी राजदरबारके कवि होते तो अधिक-से-अधिक जिन दरबारोंमें उनका प्रवेश होता, उन्हें दरबारोंसे और अपने ही कालके दरबारोंसे कल्पना ग्रहण कर सकते थे। ऐसा भी कोई प्रमाण नहीं मिलता कि उन्हें अपने समयके दरबारोंका अनुभव न था। उन्होंने पचास वर्षकी अवस्थातक खूब देशाटन किया। अपनी कुटियामें तो वे अस्सी वर्षकी अवस्थातक भी बैठे रहते नहीं पाये जाते। यात्रीका अनुभव जितना कुछ कि अपने कालका हो सकता है तुलसीदासजीको अवश्य था। उनकी युवावस्थामें सिकन्दरलोदीके अत्याचार हो चुके थे। पानीपतकी लड़ाई हो चुकी थी। बाबर और हूमायूँ और शेरशाहसूरका राज्य समाप्त हो चुका था। अकबर बादशाहने राज्य किया और उनके सामने शरीर छोड़ा। जहाँगीर बादशाह उन्हींके सामने तख्तपर बैठा। बनारसमें मुसलमानोंके अनेक अत्याचार तुलसीदासजी देख चुके थे। खानखाना अब्दुलरहीमसे मैत्रीका सम्बन्ध था। बादशाहने इन्हें अपने दरबारमें भी बुलाया था परंतु यह भगवान्‌के दरबारके हो चुके थे, शाही दरबारकी परवा न की। इनका परिचय उस समयकी राजनीतिसे अत्यन्त घनिष्ठ था। ऐसे प्रौढ़, वृद्ध, अनुभवशील यात्री कविके लिये कुटियामें बैठे आजकलके वैरागीकी-सी कल्पना करना समालोचनाकी बुद्धिका उपहास है।

उन्होंने राजसभाके वर्णनमें त्रेतायुगकी राजसभाओंका कल्पनाचित्र दिया है। रामायणमें दो प्रकारके राजाओंका वर्णन है और दो प्रकारकी सभाएँ हैं। दैवीसभा रामराज्यकी सभा है। इसमें भयका काम नहीं है। व्यर्थके रोबकी जरूरत नहीं है। रामराज्य आतंकका राज्य नहीं है। सब भूतोंमें, अखिल विश्वमें, उन सब लोगोंको अभय प्राप्त है जो श्रीरामचन्द्रजीकी राजसभामें आते हैं, यह प्रेम और भक्तिका आदर्श राज्य है। इस सभामें भी भरत, वसिष्ठ और जनकके सिवा कोई श्रीरामचन्द्रजीके सामने बोलता नहीं देखा जाता। ये लोग भी बहुत बड़े-बड़े लोग हैं। अनुभवी हैं, तपोधन हैं, चरित्रवान् हैं, बहुश्रुत हैं, गुणवान् हैं और

विद्वान् हैं। क्या जमींदारके दरबारमें ऐसे ही लोग बोलते हैं? क्या ऐसे ही चुने हुए विद्वान् इकट्ठे होते हैं? क्या ऐसी ही सार-गर्भित, *'अरथ-अमित अति आखर थोरे'* व्याख्यान दिये जाते हैं? आजकलके जमींदारोंकी तो क्या बात है, संसारके भारी-भारी राजसंस्थाओंके महाप्रभुओंके सामने भी तो ऐसी वक्तृताएँ नहीं होतीं। अमेरिकाकी काँग्रेसमें और अँग्रेजोंकी पार्लमेंटमें जहाँ एक-दूसरेको बड़ी सभ्य और शिष्ट रीतिसे खुल्लमखुल्ला गालियाँ दी जाती हैं और परस्पर शाइस्तगीके घूसोंका प्रहारतक होता है, क्या इस तरहका पारस्परिक सम्भाषण कभी सुना गया है? रामकी सभा तो आदर्श सभा है। इसमें तो वही बातें दिखायी गयी हैं जिनका अनुकरण सभी अच्छी सभाओंको करना उचित है। त्रेतायुगकी सभाओंका अनुभव कलियुगके तो किसी लेखकको हो नहीं सकता; परन्तु पुरानी रामायणोंमें जो सभाओंके वर्णन हैं और महाभारतमें सभाओंके वर्णन और राजाओंके पारस्परिक व्यवहार जैसे दिये हुए हैं उनका मुकाबला तुलसीदासजीके वर्णनोंसे करना चाहिये और यह देखना चाहिये कि तुलसीदासजीका वर्णन प्राचीन राजसभाओंके आदर्शपर है, अथवा आजकलके जमींदारोंकी सभाओंके नमूनेपर। किसी समालोचकने ऐसा तनिक भी प्रयत्न नहीं किया है यह उन्हीं लोगोंका कर्तव्य है जो यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि मानसकी सभाएँ प्राचीन आर्य संस्कृतिकी राजसभाएँ नहीं हैं बल्कि आजकलकी जमींदारोंकी-सी सभाएँ हैं। मेरे मिलानेसे तो त्रेतायुगकी यह सभाएँ द्वापरके अन्तकी सभाओंसे अधिक सभ्य और राम-राज्योचित हैं।

रामचरितमानसमें आसुरी सभाओंका भी वर्णन है। रावणकी सभाओंमें बहुत-बहुत भारी आतंक है। भयका राज्य है। उसके यहाँ आसुरी नीति चलती है। समालोचकोंको यदि आजकलके-से उद्दण्ड; दमननीतिवाले शासकोंकी सभाका चित्र चाहिये तो रावणकी सभाको देखें। उनके मनमें यदि नवाबोंके दरबारका आदर्श बैठ गया हो तो वह नवाबोंके नवाब रावणकी सभापर विचार करें। उसमें भी रावण जब राजदूतका अपमान करता है, तब राजदूत भी तुर्की-ब-तुर्की जवाब देता है। भगवान् कृष्णका दौत्यकर्म और अपमानवाली घटनाका मुकाबला करना चाहिये।

यहाँ अन्तिम सभामें भगवान् रामचन्द्रने चलती बेर भरतको राजधर्म एक ही सूत्रमें समझाया है। वाल्मीकिजीने यहाँ अनेक प्रश्न कराये हैं वहाँ गोस्वामीजीने सबका निचोड़ एक दोहेमें रख दिया है। यह गोस्वामीजीका अपूर्व अनुपम व्यंजनाकौशल है।

प० प० प्र०—गोस्वामी तुलसीदासजीके समान अन्तर्दर्शी कविको इन चर्मचक्षुओंसे देखनेकी आवश्यकता भी नहीं। वे अपने विवेकविलोचनसे, ज्ञाननयनसे सब कुछ देख सकते हैं। वाल्मीकीयमें जो राजदरबारका, अन्य अनेक स्थलोंका तथा सुग्रीवके मुखसे चारों दिशाओंके देशों-विदेशोंका वर्णन है वह क्या उन्होंने प्रत्यक्ष चर्मचक्षुओंसे देखा था। ऐसे भगवत्कृपांकित संत कवि अति दूर दर्शन-श्रवणादि कर सकते हैं। आज भी संसारमें ऐसे दैवीशक्ति सम्पन्न पुरुष हैं जो बन्द कमरेमें बैठे हुए भी अन्यत्र कहाँ कौन क्या कर रहा है देख लेते हैं। यह तो योगकी एक क्षुद्र सिद्धि है।

पं० रामचन्द्र (तुलसीग्रन्थावलीसे उद्धृत)—गुसाईंजीने महाराज दशरथ तथा रामचन्द्रजीकी सभाका तथा प्रजाजनसे वार्तालापका जो वर्णन किया है उसको देखकर एक समालोचक महाशय लिखते हैं, कि 'गुसाईंजीने राजा-महाराजाओंकी सभा नहीं देखी थी। वे विरक्त थे। अपनी कुटियामें पड़े रहते थे। उनको नहीं मालूम था कि राजाओंकी सभामें किस प्रकार बातचीत और व्यवहार होता है, इसीलिये उन्होंने ऐसा वर्णन किया जैसा कि साधारण जमींदारका होता है।'

····हम यह जरूर कहेंगे कि इन्होंने राजाका जो आदर्श अपने सामने रखा है; उसीको आद्योपान्त निबाहनेके लिये ही ऐसा वर्णन किया है। वे राजाको हौआ नहीं बनाना चाहते थे। राजाका कृत्रिमरूप भारतीय नहीं, विदेशी है। गुसाईंजीने राजा-प्रजामें पिता-पुत्रका सम्बन्ध दिखानेका प्रयत्न किया है। प्रजामें नम्रता है, राजामें सौजन्य है।

एक ओर महत्त्वकी ओर आकर्षित होनेवाली प्रजा है, दूसरी ओर अपने शरीरतकको देखकर

उस महत्त्वकी रक्षा करनेवाला राजा है। जिन गुणोंसे लोक अपना मंगल समझता है उनका पूर्ण विकास राजामें देखकर वह मुग्ध होता है और सदाचारकी ओर उत्तेजित होता है। राजकुल मनुष्यकुल ही है। कवि उसके उन्हीं व्यवहारोंको दिखाकर अपना प्रधान लक्ष्य साधता है, जो मनुष्यके उच्च भावोंके उत्तेजक हैं। रूखे-सूखे रूढ़ व्यवहार या असामयिक हृदयशून्य सम्भाषणसे कविकी अर्थसिद्धि नहीं हो सकती।…

अब यह देखना है कि कविकी दृष्टिमें राजाका कर्तव्य क्या है। वह प्रजाका कर्ता, धर्ता, हर्ता विधाता और स्वामी ही है अथवा सेवक या माँ-बाप भी? गुसाईंजीने राजाके कर्तव्यका वर्णन थोड़ेमें बहुत ही सुन्दर शब्दोंमें कर डाला है—

'मुखिआ मुखु सो चाहिए खान पान कहुँ एक। पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥'

प्रजाके प्रति राजाका क्या कर्तव्य है, वह भी सुनिये—

'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अबसि नरक अधिकारी॥'

केवल प्रजाको सुखी रखनेहीसे राज-कर्तव्यकी इति-श्री नहीं। इतनेपर भी स्वराज्य, सुराज्यका अन्तर रह ही जाता है। गुरु वसिष्ठजी आज्ञा देते हैं—*'करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोर।'* इसके द्वारा एकतन्त्र-शासनकी निरंकुशताका लोप हो जाता है और सुराज्यके साथ स्वराज्यकी भी झलक दिखायी देती है—(पूर्व भी इसपर लिखा जा चुका है)।

☞ यह प्रजा और राजाके सम्बन्धकी राजनीतिका मानो सूत्र ही है। इस एक सूत्रमें सारी राजनीतिकी रूपरेखा बतला दी गयी है।

चित्रकूटमें भरत-राम-मिलाप होनेपर जो प्रश्न उनसे श्रीरामजीने किये उसमें मन्त्रियोंके गुणों और राजाओंके धर्मका सार भी आ जाता है। उन्होंने पूछा—अपने समान विश्वसनीय, शूर, पण्डित, जितेन्द्रिय, कुलीन और अभिप्रायके समझनेवालोंको ही तुमने मन्त्री बनाया है न? राजाओंकी विजयका मूल मन्त्र यही है। अतः शास्त्रवेत्ता और मन्त्र गोप्य रखनेवाले मन्त्रियोंसे राजाकी रक्षा होती है।……तुम्हारा निश्चय किया हुआ मन्त्र लोगोंको कार्यकी सिद्धिके बहुत पहले ही मालूम तो नहीं हो जाता।……बड़े कामोंपर बड़ेको, मध्यमपर मध्यमको और छोटेपर छोटे भृत्यको नियुक्त किया है? सेनापति तुमसे प्रसन्न है, तुममें प्रेम रखता है? सेनाके मुख्य योधा बली हैं? तुम उनका आदर-सत्कार तो करते हो न? सेनाका भोजन और वेतन देनेमें विलम्ब तो नहीं करते हो? समयपर अन्न और वेतन न मिलनेसे सेवक स्वामीसे असन्तुष्ट हो जाते हैं जिससे बड़ा अनर्थ हो जाता है। परिवारके लोग तुम्हारे कार्यके लिये प्राण न्योछावर करनेको तैयार रहते हैं न?……(वाल्मी० सर्ग १००)

गौड़जी—वाल्मीकिरामायणके इन सारे प्रश्नोंका मर्म *'मुखिआ……बिबेक'* इस शरीरके रूपकमें सर्वथा घटित हो जाता है। यह राजधर्मका सूत्र है। गोस्वामीजीका व्यंजना कौशल वाल्मीकि आदिसे कितना बढ़ा हुआ है। कहा भी है, 'राज-धर्म सर्वस्व इतना ही है।' गोस्वामीजी जान-बूझकर यह अद्भुत सूत्र देते हैं।

बंधु प्रबोधु कीन्ह बहु भाँती। बिनु अधार मन तोष न साँती॥ २॥
भरत सीलु गुर सचिव समाजू। सकुच सनेह बिबस रघुराजू॥ ३॥
प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥ ४॥

शब्दार्थ—'**पावरी**'=(पावँड़ी)=पादत्राण, खड़ाऊँ।

अर्थ—श्रीरामजीने श्रीभरतजीको अनेक प्रकारसे प्रबोध किया परन्तु बिना अवलम्बके उनके मनको न सन्तोष ही हुआ और न शान्ति॥ २॥ इधर भरतजीके शील और उधर गुरुजनों, मन्त्रियों और समाजके संकोचसे रघुनाथजी संकोच और स्नेहके विशेष वश हो गये॥ ३॥ अंततोगत्वा प्रभुने कृपा करके खड़ाऊँ दिये। भरतजीने उन्हें आदरपूर्वक सिरपर धर लिया॥ ४॥

नोट—१ ***'बंधु प्रबोधु कीन्ह बहु भाँती'*** इति। भाव कि विनय, प्रेम, नीति, धर्म और वह सब बुद्धि तुममें है जिससे तुम राज्यका तथा पृथ्वीका पालन कर सकते हो, उसपर गुरु और वामदेवादि मुनि, अमात्य, मन्त्री, माता सब तुम्हारी रक्षामें हैं तब तुम्हें किस बातका डर? उनके परामर्शसे सब कार्य करते रहना, पिताको असत्यसे मुक्त करनेके लिये मेरा वनवास करना आवश्यक है। तबतक तुम राज्यको सँभालो, मैं वचन देता हूँ कि चौदह वर्षके पश्चात् मैं राजा बनूँगा। चौदह वर्ष व्यतीत होते कुछ जान न पड़ेंगे। गी० २। ७५ में जो कहा है—***'काहे को मानत हानि हियो हौ। प्रीति नीति गुन सील धर्म कहँ तुम अवलंब दिये हौ॥ तात जात जानिबे न ए दिन करि प्रनाम पितु बानी। ऐहौं बेगि धरहु धीरज उर कठिन काल गति जानी॥ तुलसिदास अनुजहिं प्रबोधि……',*** यह सब ***'बहु भाँति प्रबोध'*** से जना दिया। श्रीत्रिपाठीजी इस प्रकार समझाना कहते हैं—***'तुम्हारे निबाहे निबहेगी सबही की बलि, उर धरि धीर धर्म मारग संवारिये। जामे बिजय आनंद बधाई तिहुँ लोक बजै, बिप्रसुरसाधु महि संकट निवारिये॥ होवै सुर काज महाराजको बचन साँच, तात कुल कीरति पताका फहराइये। बचन तिहारो मानि आइके करौंगो राज, अवधि बिताय तौं लों अवध सँभारिये॥'***

नोट—२ ***'भरत सीलु गुर सचिव……'।*** इति। (क) श्रीभरतजीका स्वभाव और गुरु आदिको देखकर प्रेम-विवश सकुचे; क्योंकि भरत प्रेमशील हैं, ये आधार लिये बिना प्रसन्न नहीं होते और गुरु आदि कहेंगे कि विदा करना है तो आधार दे दें, बारंबार क्यों कहलाते हैं अथवा, वस्त्र आदि दे नहीं सकते; उसके देनेसे मानो इनको भी राज्यत्याग उदासी वेष धारण करनेकी आज्ञा सूचित होगी, अत: सकुचेकी क्या दें। (पं०) (ख) गुरु आदिका संकोच कि इनके सामने कैसे भरतको खड़ाऊँ दें और दूसरी ओर भरतका शील-स्नेह भी प्रबल है। आखिर स्नेहका पल्ला भारी पड़ा, उसके आगे संकोच (नेम, लोक, शिष्टाचार) जाता रहा, इसीसे ***'करि कृपा'*** पद दिया, नहीं तो संकोच न त्याग करते।

नोट—३ ***'प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही'*** इति। खड़ाऊँ कहाँसे आये? प्रभुका तो नंगे पैर होना कहा गया है, यथा—***'बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाये।'*** (२६२। ५) भरतजी तिलकसमाजके साथ इन्हें स्वयं लाये थे ऐसा वाल्मीकीयसे जान पड़ता है यथा—'**अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते। एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यत:॥**' (२१) '**सोऽधिरुह्य नरव्याघ्र: पादुके व्यवमुच्य च। प्रायच्छत्सुमहातेजा भरताय महात्मने॥**' (वाल्मी० २। ११२। २२) अर्थात् श्रीभरतजीने कहा कि स्वर्णसे विभूषित पादुकाओंको आप पैरोंमें पहनें। ये ही सब लोगोंका योगक्षेम करेंगे। पुरुषसिंह रामजीने खड़ाऊँपर चढ़कर उनको उतारकर महात्मा भरतको दे दिया। यही अ० रा० का मत है। वहाँ श्रीभरतजीने कहा है कि 'आप मुझे राज्यशासनके लिये अपनी जगतपूज्य चरणपादुकाएँ दीजिये। जबतक आप न लौटेंगे तबतक मैं उनकी सेवा करूँगा।' ऐसा कहकर उन्होंने उनके चरणोंमें दो दिव्य पादुकाएँ पहना दीं। यथा—'**पादुके देहि राजेन्द्र राज्याय तव पूजिते। तयो: सेवां करोम्येव यावदागमनं तव॥**' (२। ९। ४९) **इत्युक्त्वा पादुके दिव्ये योजयामास पादयो:।**' वही इनकी भक्ति देख श्रीरामजीने इनको दे दीं। श्रीअयोध्याजीको लौटते हुए वाल्मीकीयमें श्रीभरतजीका श्रीभरद्वाजजीके आश्रममें पुन: जाना और उनके पूछनेपर यह कहना लिखा है कि महाप्राज्ञ वसिष्ठजीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा कि 'प्रसन्नतापूर्वक यह स्वर्णमण्डित पादुका आप भरतको दें और महाप्राज्ञ भरत इनकेद्वारा अयोध्यामें योगक्षेम करें।' तब उन्होंने ये पादुकाएँ राज्यके लिये मुझे दीं। यथा—'**एवमुक्तो महाप्राज्ञो वसिष्ठ: प्रत्युवाच ह। एते प्रयच्छ संहृष्ट: पादुके हेमभूषिते॥ अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगक्षेमकरो भव।**' (२। ११३। १२) '**एवमुक्तो वसिष्ठेन राघव: प्राङ्मुख: स्थित:॥ पादुके हेमविकृते मम राज्याय ते ददौ।**' (१३) इससे यह जान पड़ता है कि जब भरतजीने पादुकाएँ सामने रखकर पहननेकी प्रार्थना की और श्रीरामजीने उन्हें पहना तब वसिष्ठजीने ऐसा कहकर वे पादुकाएँ उनको दिला दीं। वसिष्ठजीकी स्वयं आज्ञा होनेसे संकोच भी दूर हो गया। पर मानसके ***'प्रभु करि कृपा'*** शब्द जना रहे हैं कि श्रीरामजीने श्रीभरतजीके प्रेमवश संकोच तोड़कर पादुकाएँ दीं। कल्पभेदसे दोनों भाव हो सकते हैं। गी० २। ७५ में

'प्रभु चरनपीठ निज दीन्हे' कहा है। इससे यह भी हो सकता कि पनही नहीं पहने थे। पर पादुकाएँ साथ थीं वही 'निज पादुका' इस कल्पमें दी हो।

नोट—४ *'सादर भरत सीस धरि लीन्हीं'*। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि चरणपादुकाओंको प्रणाम किया, फिर उन्हें लेकर उनकी प्रदक्षिणा की और उनको हाथीपर पधराया और विदा होनेपर उनको सिरपर धारण करके प्रसन्न होकर रथपर बैठे। यथा—**'स्वपादुके सम्प्रणम्य रामं वचनमब्रवीत्।'** (२३)····। **'स पादुके ते भरतः स्वलंकृते महोज्वले संपरिगृह्य धर्मवित्। प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि॥'** (वाल्मी० २। ११२। २९) **'ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा। आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नसहितस्तदा॥'** (वाल्मी० ११३। १) गोस्वामीजीने अन्तिम बात लिखकर जनाया कि बस अब विदा हो रहे हैं और इसी प्रकार सिरपर रखे हुए अवधको जायँगे, अब भरतको कुछ और कहना नहीं है। वाल्मीकीयमें खड़ाऊँ पानेपर भी भरतजीका बोलना लिखा है। पर यहाँ अवलम्ब पाकर सेवकका भाव पूर्णरूपेण चरितार्थ किया है।

पं०—खड़ाऊँ ही क्यों दिये? क्योंकि सेवक हैं पादुकाके अधिकारी हैं अथवा पादुका देकर लक्षित किया कि ये देखनेमें दो हैं पर वस्तुतः एक हैं वैसे ही हम तुम कथनमात्र दो हैं वस्तुतः एक हैं अथवा, भरत-शत्रुघ्न दो और ये भी दो। इनसे दोनों प्रसन्न रहेंगे (विशेष नोट २ में देखिये)।

चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के॥ ५॥
संपुट भरत सनेह रतन के। आखर जुग जनु जीव जतन के॥ ६॥
कुल कपाट कर कुसल करम के। बिमल नयन सेवा सुधरम के॥ ७॥
भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सियरामु रहे तें॥ ८॥

शब्दार्थ—**'चरनपीठ'** (चरण+पीठ=पीढ़ा, आसन)=खड़ाऊँ। **'जामिक'** (याम=पहर)= पहरुआ, पहरेदार, चौकीदार। **संपुट**=ढक्कनदार पिटारी या डिबिया। डिब्बा। **'कुल'**=वंश। **'कपाट'**=किवाँड़े।

अर्थ— करुणानिधान श्रीरामचन्द्रजीके दोनों खड़ाऊँ मानो प्रजाके प्राणोंके (रक्षाके) लिये दो पहरेदार हैं॥ ५॥ श्रीभरतजीके स्नेहरूपी रत्नके लिये डब्बा (ढक्कन और पेंदा दो फालवाले) हैं। जीवके यत्नके लिये मानो युगल अक्षर हैं॥ ६॥ (रघु-) कुलके रक्षार्थ किंवाड़े हैं। कुशल कर्मके सहायक मानो कुशल हाथ हैं। सेवारूपी सुधर्मके लिये निर्मल नेत्र हैं॥ ७॥ अवलम्बके पानेसे श्रीभरतजी ऐसे आनन्दित हैं जैसे श्रीसीतारामजीके (साथ वा घरपर) रहनेसे सुखी होते॥ ८॥

नोट—१ *'चरनपीठ करुनानिधान'* इति। 'करुनानिधान' कहा, क्योंकि अपने जनोंके दुःखको देखकर हृदयमें दुःखी होकर जनोंके दुःखके निवारणार्थ कृपा करके पादुकाएँ दी हैं। यही करुणाका लक्षण है। यथा— **'परदुःखानुसन्धानाद्विह्वलीभवनं विभोः। कारुण्यात्मगुणस्त्वेष आर्त्तानां भीतिवारकः।'** (वै०)

नोट—२ *'जुग जामिक प्रजा प्रान के'* इति। (क) पहरेदार पदार्थकी रक्षा करते हैं, पादुकाएँ सबके प्राणोंकी रक्षा करेंगी। 'प्रजाप्राण' का अर्थ दो प्रकार किया जाता है—प्रजारूपी प्राणके, प्रजाके प्राणके। भाव यह कि इनके द्वारा अवधवासियोंके प्राणोंकी रक्षा होगी, वे जीते रहेंगे, मरने न पायेंगे। एवं प्रजाकी रक्षा भरण-पोषण योगक्षेम होगा। प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं *'चलत प्रात लखि निरनउ नीके। भरत प्रानप्रिय भे सबही के॥'* इस प्रमाणसे 'प्रजाप्राण' का अर्थ 'भरतजी' भी सुसंगत है। दोनों अर्थ लेना सयुक्तिक है। पुनः, (ख) जिसके ऊपर पहरा होता है वह बाहर नहीं जा सकता, वैसे ही सबके प्राणोंपर ये पहरेदार हैं। उनको वियोगमें निकलने न देंगे, यथा—*'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट॥'* (५। ३०) मिलान कीजिये—*'प्रभु चरन पीठ निज दीन्हें। मनहु सबनि के प्रान पाहरू भरत सीस धरि लीन्हें॥'* (गी० २। ७५) (ग) पहरेदार पगिया बाँधे रहते हैं यहाँ खूँटियाँ पगिया हैं। (रा० प०) (घ) दो पाहरू कहनेका भाव कि एक दिनमें एक रातमें चार-चार पहरका

पहरा देते हैं। (नोट—पर ये अप्राकृत पाहरू हैं, ये दोनों ही निरन्तर दिन-रात साथ ही रहकर पहरा देते हैं।) (ङ) मयंककारका मत है कि यहाँ 'जामिक' का अर्थ संयम है। प्राण-रक्षाके लिये मुख्य संयम अन्न-जल है। अतएव 'जामिक' यहाँ अन्न-जलका बोधक है। ये भरतजीको अन्न-जल-सदृश प्राप्त हुए जिसका अवधवासी सेवन करके अपने प्राणको पुष्ट करते हुए अवधि काटेंगे।

रा० प्र०—रामरणरंगमें पाँवड़ीके भाव यों कहे हैं—*'कंचन मनि रतन जड़ित रामचन्द्र पाँवरी। दाहिन सो राम बाम जनक राय डाँवरी॥ खूटी दुइ वीर प्रजाप्रानकी रखावरी। मिलन समै कुलकपाट जुगलकी लखावरी॥ ऊपरके आधे कर धरमकी बनावरी। एड़िनके जनु विचार लोचन मन भावरी॥ संपुट तर मिलत होत बिन्द जोनि भावरी। आखर जुग देखि बढ़्यो देवनकी चाव री॥'*

नोट—३ *'संपुट भरत सनेह रतन के'* इति। भाव कि श्रीसीतारामजीके चरणोंमें श्रीभरतजीका निर्मल स्नेह था। श्रीरामजीके वनवाससे वियोगके कारण अब उनके स्नेहका आधार न रह गया था। अत: उस स्नेहरूपी रत्नकी रक्षाके लिये सम्पुटरूप पादुका दी। अवधिभर वे इन पादुकाओंमें वही स्नेह स्थिर रखेंगे। डब्बेमें रत्न रहता है वैसे ही भरतजीका स्नेह खड़ाऊँमें रहेगा (पां०, पु० रा० कु०)। जैसे डब्बेमें रखनेसे रत्न स्वच्छ और रक्षित रहता है वैसे ही इनका प्रेम खड़ाऊँके मिलनेसे रक्षित रहेगा। (पां०) जैसे रत्न सम्पुटमें गुप्त रहता है सहसा दिखायी नहीं पड़ता, वैसे ही श्रीभरतजीका श्रीरामप्रेम इनमें गुप्त रहेगा। कौसल्याजीने कहा ही है—*'गूढ़ सनेह भरत मन माहीं।'* अबतक वह स्नेह मनमें गुप्त था, अब चरणपीठमें गुप्त रहेगा। (प० प० प्र०) सम्पुटमें दो भाग होते हैं एक ऊपरका (ढक्कन) दूसरा नीचेका (पेंदा)। दोनों पादुकाओंके तले जोड़नेसे डब्बाका रूप बन जाता है। (रा० प०)

नोट—४ *'आखर जुग जनु जीव जतन के'* इति। जतन=यत्न, उपाय, अभ्यास, यजन, जप। यथा—*'नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥'* (१। २३। ८) जैसे जीवके लिये मोक्षका साधन श्रीरामनामके दो अक्षर 'रा' 'म' हैं वैसे ही श्रीभरतरूपी जीवके ये दोनों चरणपीठ यत्नरूप हैं, 'र', 'म' सदृश हैं। इन्हींसे श्रीभरतजी कृतार्थ हो रहे हैं और होंगे। पं० रामकुमारजीने यत्नका अर्थ रक्षक किया है।

रा० प० कार लिखते हैं कि 'केवल आनन्दके बलसे सब जीव जीते हैं; यही श्रुति कहती है। यदि वह आनन्द न होता तो कौन जी सकता और प्रत्यक्ष भी दिखता है कि दिनभरका थका सुषुप्तिमें आनन्द भोगकर फिर नवीन होकर काम करनेको समर्थ होता है, नहीं तो मर जाय। अतएव 'जीव जतन' का अर्थ 'हर्ष' यह दो अक्षर है। दो खड़ाऊँकी उत्प्रेक्षाकी इसीसे दो स्वरूपोंका वर्णन।' भाव कि दो भाग खड़ाऊँ है वैसे ही दो अक्षर 'हर्ष' में हैं, यही दोनों अक्षर सीताराम-सरीखे जीवके जतन अर्थात् जिलानेवाले हैं। [परंतु अन्य सभी महानुभावोंने 'आखर जुग' से रा, म दो अक्षरोंका ही ग्रहण किया है और भी ऐसा ही उल्लेख है। यथा—*'आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जिय जोऊ॥'* (१। २०। ७) *'ब्रह्म जीव सम राम नाम जुग आखर बिस्व बिकासी।'* (वि० २२) जैसे तलके भाग मिलानेसे सम्पुटका आकार बनता है वैसे ही एकको आड़े खड़ा करनेसे और दूसरेको सम रखनेसे 'र' 'म' की आकृति बन जाती है। (वीर)

नोट—५ *'कुल कपाट कर कुसल करम के'* इति। (क) जैसे किवाँड़ेके दो पट घरकी रक्षा चोर आदिसे करते हैं वैसे ही ये दोनों खड़ाऊँ रघुकुल [एवं प्रजाके विविध कुलों (प० प० प्र०)] के रक्षक हैं। अर्थात् ये न मिलते तो भरत न जीवित रहते, उनका शरीर-त्याग सुनकर राम कैसे बचते। इस क्रमसे सीता, लक्ष्मण, माताएँ, परिवार कोई भी कुलमें न बचता। (रा० प०) (ख) *'कर कुसल करम के'*—कुशल कर्म अर्थात् पुण्यकर्म करनेके लिये दोनों हाथ-सरीखे हैं। भाव यह कि इनसे ही भरतके सब कार्य सधे। (रा० प०) कर्म हाथसे होता है, भरतके सब कर्म खड़ाऊँसे होंगे, यथा—*'मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भाँति।'* (३२५) (पं० रा० कु०)

पं० रामकुमारजी 'कुशल' को 'कर' का विशेषण मानते हैं, जैसे आगे विमल 'नयन' का विशेषण

है। 'कर्म' का विशेषण मानें तो कुशलकर्म वे हैं जिनसे रामभक्तिकी प्राप्ति हो, क्योंकि कहा ही है ***'सो सुख कर्म धर्म जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥'*** (प० प० प्र०) ***'कर कुसल करम के'*** का भाव यह है कि इन पादुकाओंद्वारा कर्मोंका संचय होगा। (ग) ***'बिमल नयन सेवा सुधरम के'*** इति। भाव कि सेवारूपी सुधर्मके निमित्त निर्मल नेत्र हैं। जैसे नेत्र बिना कोई चल नहीं सकता वैसे ही इनके बिना कठिन सेवाधर्म न चल सकता; स्वामी बिना सेवा क्योंकर करते। (रा० प्र०) पुनः भाव कि नेत्रसे देखनेसे सेवा ठीक बनती है वैसे ही श्रीभरतजीके सेवा सुधर्म खड़ाऊँसे बने। इनके द्वारा सेवा और सुधर्म दोनों खूब निबह जायँगे। (पं० रा० कु०, दीनजी)

प० प० प्र०—श्रीरामजीके प्रश्नपर कि ***'कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रक्षा स्वप्रान की॥'*** श्रीहनुमान्‌जीने प्राणरक्षाके तीन उपाय बताये हैं—***'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित प्रान जाहि केहि बाट॥'*** यहाँ प्रजा तथा प्रजाके प्राण श्रीभरतजीकी रक्षाके लिये भी इन्हीं तीनोंका उल्लेख है—जामिक (पाहरू), कपाट, बिमल नयन (लोचन)। इन दोनोंका मिलान करनेसे सुन्दर भाव उत्पन्न होंगे।

श्रीबैजनाथजी—***'कुल कपाट कर कुसल करम के।……'*** इति। सूर्यकुलरूप मन्दिर जिसमें सुकर्मरूप धन संचित है उसके कुशलकर रक्षाके हेतु कपाट हैं। श्रीभरतजीमें सत्य, दया आदि सुकर्म तो स्वाभाविक ही हैं; किंतु ***'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई'*** इस कर्मकी कुशलतामें कैकेयीने विघ्न उपस्थित कर दिया। उस विघ्नको रोकनेके लिये ये खड़ाऊँ कपाटरूप हो गये। अर्थात् सिंहासनपर पधराकर उनको स्वामी मान आज्ञा माँग-माँगकर राज-काज करनेसे श्रीभरतजी सेवक ही बने रहे और राज्यपालनसे पिताका वचन भी सत्य बना रह गया। पुनः, श्रीरघुनाथजीके साथ रहनेसे सेवारूप सुन्दर धर्म हो रहा था। वियोग होनेसे नेत्रहीन-से हो रहे थे। पादुकाएँरूपी विमल नेत्र मिल गये। इन्हींके आधारसे समग्र सेवा-व्यापार चलता रहेगा।

नोट—६ ***'अस सुख जस सियरामु रहे तें'***। भाव कि दाहिना खड़ाऊँ श्रीरामरूप और बायाँ श्रीसीतारूप है। श्रीदशरथजी स्वर्गको गये और श्रीराम वनको, तब भरत घरमें बिना उनके कैसे रह सकते थे, यह आधार पाकर रहे, मानो खड़ाऊँ नहीं हैं, स्वयं श्रीसीतारामजी घरमें रह रहे हैं। (रा० प्र०) यहाँ 'द्वितीय विशेष' अलंकार है।

नोट—७ वाल्मी० २।११५ के '**एतद्राज्यं मम भ्राता दत्तं संन्यासमुत्तमम्। योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते॥**' (१४) '**भरतः शिरसा कृत्वा संन्यासं पादुके ततः। अब्रवीद् दुःखसंतप्तः सर्वं प्रकृतिमण्डलम्॥**' (१५) '**छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ। आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम॥**' (१६) '**सवालव्यजन छत्रं धारयामास स स्वयम्।"ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके। तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा॥**' (२२। २३) इन श्लोकोंसे मिलान कीजिये। तो ***'भरत मुदित अवलंब लहे ते।……'*** तथा ऊपरके चरणोंका भाव स्पष्ट हो जाता है। क्यों ऐसा सुख हुआ? क्योंकि इनका राज्यासनपर अभिषेक करके इनको राजा समझकर इनपर छत्र और चँवर धारण करके इनकी आज्ञासे सेवककी तरह राज्यका कार्य करेंगे। जो चाहते थे वह हो गया। श्लोक १३—१६ का भाव यह है कि 'मुझे यह राज्य न्यासके समान भाईने दिया और राज्य चलानेके लिये 'पादुका' दी है। ये श्रीरामजीके प्रतिनिधि हैं, आप (प्रजागण) इनपर छत्र करें, इनसे ही राज्यमें धर्म स्थापित होगा।—चौ० ५—८ में ये सब भाव आ गये और इनसे कहीं अधिक भाव इनमें भरे हैं।

पं० रा० कु०—***'अस सुख जस……तें'*** कहकर जनाया कि प्रियका पदार्थ प्रियके समान है। पूर्व कहा था कि ***'भयउ नाथ सुख साथ गये को'*** और यहाँ कहते हैं ***'अस सुख जस सिय राम रहे तें,*** इस तरह दो बातें कहकर जनाया कि घरमें साथ रहनेसे जो सुख और वनमें साथ जानेसे जो सुख होता है वह दोनों सुख यहाँ प्राप्त हो गये।

नोट—८ भरतजीने कहा था कि *'एहि कुरोग कर औषधु नाहीं।''मिटइ कुजोगु राम फिरि आए।'* (२१२), इसपर भरद्वाजजीका आशीर्वाद था कि—*'सब दुखु मिटिहि राम पद देखी।'* पुन:, सब अवधवासी भी *'कुरोग बिगोये'* थे और भरत-वचन भी था कि—*'प्रभु प्रसन्न मन''''''मिटिहि अनट अवरेब।'* (२६९) यहाँ सबकी आशाएँ पूर्ण हुईं। इस प्रसंगमें सबके वचन चरितार्थ हुए।

☞ श्रीभरतजीको पाँवरी मिलीं। इससे उन्हें वही सुख हुआ जो श्रीसीतारामजीके लौटनेसे होता, यथा—*'भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय राम रहे तें॥'* उन्होंने 'पाँवड़ी' को रामरूप माना। उनका साथ जाना श्रीसीतारामका साथ लौटना माना। आगे स्पष्ट है कि 'पाँवड़ी' भरतजीसे बोलती थीं, जो कार्य वे करते थे वह इनसे आज्ञा लेकर करते थे। इसी प्रकार सच्चिदानन्द श्रीरामजीके वस्त्र-भूषणादि सब चिदानन्दमय हैं, चेतन हैं। देखिये उनकी मुद्रिकाने श्रीजानकीजीके प्रश्नोंका उत्तर दिया है। यथा—*'बोलि बलि मुंदरी सानुज कुसल कोसल पाल।''''''* (गी० ५।३), *'सदल सलखन हैं कुसल कृपाल कोसलराउ।''''''कियो सीय प्रबोध मुदरी''''''।'* (गी० ५।४) ☞मेरी समझमें मूर्ति, अर्चा-विग्रह, चित्रपट, प्रभुके चरणचिह्न, आयुध आदिके चित्र इत्यादिमें प्रभुका भाव दृढ़ करनेको श्रीभरतजी ही आचार्य हुए। साक्षीगोपाल, श्रीजगन्नाथजी, रणछोरजी, पांडुरंगजी इत्यादिके बोलने, चलने, खाने-पीने आदिकी कथाएँ भक्तमाल आदिमें प्रसिद्ध ही हैं और आज दिन यह सुख सच्चे उपासकोंको प्राप्त हो रहा ही है (विशेष आगे गौड़जीके टिप्पण देखिये)।

पाँवड़ीसे श्रीभरतजीका 'कुरोग' और 'कुजोग' मिटा, वे सुखी हुए और प्रजाका भी 'कुरोग' मिटा, यथा—*'नतरु लषन सियराम बियोगा। हहरि मरत सब लोग कुरोगा॥'* महर्षि भरद्वाजके वचन भी पूरे हुए, सब दु:ख दूर हुआ और अवरेब भी सुधरी, यथा—*'राम कृपा अवरेब सुधारी।'*

गौड़जी—यह भगवान्‌की पादुका थी। सबके देखनेमें तो रत्नजटित सुन्दर खड़ाऊँमात्र थी, परंतु वस्तुत: ये भगवान्‌के दिव्य विग्रहके, सायुज्य-मुक्ति-प्राप्त जीवोंके आश्रय, दो पार्षद थे, जिन्हें भगवान्‌ने भरत, माताएँ, गुरु, सचिव, सेवक, सखा, प्रजाजन सबके तोषार्थ भरतजीको दिया। यह प्रतिष्ठित मूर्तिसे अधिक थी। जिस लीलासे *'छन महँ सबहिं मिले भगवाना'* उसी लीलासे श्रीसीताराम अपने दिव्य शरीरसे भरतजीके साथ थे, और उस तथ्यका भौतिक रूप वह पादुका थी। वह नन्दिग्राममें नगरसे बाहर इसीलिये रहे कि भगवान् अपने दिव्य शरीरसे भी व्रतानुसार नगर-वास नहीं कर सकते थे। सबके देखनेमें पादुकासे आज्ञा माँगते थे; परंतु वस्तुत: भगवान् स्वयं भरतको आज्ञा देते थे। *'''''''मोहि भाई। तुम्हहिं अवधि भरि अति कठिनाई॥'* इसमें यह इशारा था कि हम-तुम बराबर कठिनाईके साथ, तपस्या करके अवधि काटेंगे। मैं तुम्हारे साथ रहूँगा।' मुख और अंगोंसे स्वामी और सेवकका रूपक देकर सूचित किया कि मुख अंगोंसे अलग नहीं हो सकता, अत: मैं तुमसे भी अलग नहीं हो सकता। इसी इशारेपर भरतको संतोष हो गया। तुरंत ही 'अवलम्ब' माँगा। दिव्य शरीरके लिये अवलम्बकी आवश्यकता नहीं है, परंतु स्थूल शरीरको स्थूल अवलम्ब चाहिये। प्रभुने इसीलिये पाँवड़ी दी। 'पाँवड़ी' बननेवाले पार्षदोंसे वियोग तो असम्भव है। उनकी सायुज्य मुक्ति है। इसीलिये भगवान्‌का निरन्तर पाँवड़ीके साथ ही रहना निश्चित था। यह वास्तविक 'अवलंब' था।

इस पादुकाके द्वारा प्रजाको अवधितक जीते रहनेका बीमा हो गया। भरतका स्नेह सुरक्षित हो गया। पुरवासी भक्तोंके परमार्थसाधनके लिये राम-नाम-सरीखा उपाय मिल गया कि उसके ही दर्शन करके परमार्थ साधन करें। रघुकुलकी रक्षा हो गयी। राजकाज सुप्रबन्धसे होता रहना निश्चित हो गया। भरतजीके सेवा-धर्मके निर्वाहका साधन मिल गया। भरतको तो इस बातका परम आह्लाद हुआ कि इस 'अवलम्ब' से वही सुख मिलेगा जो श्रीसीतारामजीके साथ रहनेसे मिलता।

तीसरा दरबार समाप्त हुआ।

बिदाई तथा श्रीअवध-यात्रा

दो०— माँगेउ बिदा प्रनामु करि राम लिए उर लाइ।
लोग उचाटे अमरपति कुटिल कुअवसरु पाइ॥ ३१६॥

सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी। अवधि आस सम* जीवनि जी की॥ १॥
नतरु लषन सिय राम बियोगा। हहरि भरत सबु लोग कुरोगा॥ २॥
रामकृपा अवरेब सुधारी। बिबुध धारि भइ गुनद गोहारी॥ ३॥

शब्दार्थ—**उचाटे**=चंचल कर दिया, उच्चाटन किया। **गुनद**=गुणदायक। **गोहारी**=दुहाई, पुकार, रक्षा या सहायताके लिये चिल्लाना, यथा—*'धाई धारि फिरि कै गोहार हितकारी होत आई मीच मिटत जपत राम नाम के।'*=वह भीड़ जो रक्षाके लिये पुकार सुनकर इकट्ठी हो गयी हो।

अर्थ—श्रीभरतजीने प्रणाम करके विदा माँगी। श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें हृदयसे लगा लिया। कुटिल सुरपति इन्द्रने बुरा अवसर पाकर लोगोंपर उच्चाटन किया॥ ३१६॥ उसकी वह कुचाल सबको हितकर हो गयी। अवधि (१४ वर्षपर पुनः मिलने) की आशाके समान ही वह कुचाल जीवोंको संजीवनी हो गयी॥ १॥ नहीं तो श्रीलक्ष्मण-सीताराम-वियोगरूपी कुरोगसे सभी हाहा करके मर जाते॥ २॥ श्रीरामजीकी कृपाने अवरेब (उलझन, गुत्थी, कठिनता) को सुधार दिया। देवताकी सेना गुणदायक रक्षक बनी॥ ३॥

नोट—१ *'कुटिल कुअवसरु पाइ'*। कुटिल लोग बुरी घात ताकते ही रहते हैं, मौका हाथ लगा कि घात किया। वैसे ही कुटिल इन्द्रने भी मौका पाकर बुरा ताका। सबके मनमें उचाट पैदा कर दिया।

नोट—२ (क) *'सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी'* इति। *'सब कहँ'* से जनाया कि पूर्व उनकी माया सबको न लगी थी, यथा—*'भरत जनक मुनिजन सचिव साधु सचेत बिहाइ। लागि देव माया सबहि जथाजोग जन पाइ॥'* (३०२) पर रामकृपासे वह यहाँ सबको समानरूपसे लगी। सबका मन उचाट हो गया, सबकी यही इच्छा हुई कि अब हमारे यहाँ रहनेसे श्रीरामजीको कष्ट होगा, १४ वर्षकी ही तो बात है, चलो। (शीला) (ख) *'भइ नीकी'*—भाव कि इन्द्रने तो कुटिलता की थी, उचाट किया था, सबका बुरा ताका था पर श्रीरामकृपासे वह कुचाल कुछ हानि न करके सबके लिये हितकर हो गयी। क्या हित हुआ यह आगेके चरणोंमें कहते हैं।

नोट—३ *'अवधि आस सम जीवनि जी की'* इति। पं० रा० प्र०, को० रा०, वै० आदिने 'सम' के बदले 'सब' पाठ दिया है और उसके अनुसार अर्थ किया है—(क) (इन्द्रकी कुचाल सुचाल हो गयी, इससे) अवधिकी आशा सबके जीकी जीवन हो गयी। अर्थात् चौदह वर्षके बाद श्रीरामजी फिर मिलेंगे, हमारे राजा होंगे, इस आशासे सब जीने लगे। (वै०, रा० प्र०, पु० रा० कु०) (ख) 'अवधि भर सब जीवोंके जीवनकी आशा हुई' अर्थात् रामविरह कुछ शान्त हुआ। (पं० रा० कु०)

'सम' पाठ आधुनिक टीकाकारोंमेंसे वीर कविजी और गीताप्रेसने दिया है। मानस-पीयूष प्रथम संस्करणमें दोनों पाठ दिये गये थे और 'सम' को प्रधानता दी थी। हमारी समझमें 'सम' पाठ ही समीचीन है और राजापुरकी पोथीका यही पाठ है भी। इन्द्रकी कुचाल सबको नीकी हुई यह कहकर अब बताते हैं कि वह कैसे 'नीकी' हुई। इस पाठके अर्थ ये किये जाते हैं—(क) 'अवधि पर्यन्त जीवको जीनेकी आशाके समान हो गयी।' कुचालको जीवनकी आशारूपी भली वस्तु कहना 'लेश अलंकार' है। (वीर कवि) (ख) 'सब जीवोंके जीकी आशा समानरूपसे अवधि ही है।' अर्थात् सबके जीको विश्वास हो गया कि १४ वर्षपर पुनः मिलेंगे। इस आशापर सब जीने लगे, यह काम इन्द्रकी कुचालसे बन गया, यदि देवमाया न होती तो वियोगमें अवधिका एक-एक क्षण एक-एक कल्पके समान बीतता और अधीर

* प्राचीन पाठ 'सम' है। 'सब' पाठान्तर है।

होकर सब लोग प्राण दे देते। माताओंके सम्बन्धमें पूर्व कहा है कि *'रहीं रामदरसन अभिलाषीं।'* (१७०। २) जिस भावसे माताओंके जीवनकी रक्षा हुई थी, अब समान रूपसे सबके जीवनकी रक्षा उसी भावसे हो गयी। यह भला कुचालसे हुआ, उसने सबके मनमें उचाट उत्पन्नकर सबके प्राण रख लिये। (प्र० सं०) (ग) अवधिकी आशाके समान ही जीवनके लिये संजीवनी हो गयी। (मानसांक) (ख) अवधिकी आशाके समान जीवोंका जीवन हो गयी।

'जीवनि' पाठ राजापुरका है। आधुनिक पुस्तकोंमें 'जीवन' जहाँ-तहाँ मिलता है। 'जीवनी'=संजीवनी।

नोट—४ *'नतरु लषन सिय रामबियोगा।'......'* इति। श्रीसीता-राम-लक्ष्मण तीनों ही वनके कष्ट सह रहे हैं। तीनोंके कष्टको सोचकर जो सबके मनमें दु:ख है तथा उनका वियोग-विरह यही कुरोग है। यथा— *'राम लषन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥ अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात। बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥'* (२११) *'एहि दुख दाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती॥ एहि कुरोग कर औषधु नाहीं।'* इन्द्रकी कुचालसे सबको उचाट हो जानेसे सबको १४ वर्ष घरमें पुनर्मिलनकी आशासे रहनेकी इच्छा हो गयी, विरह-दु:ख कुछ शान्त हो गया।

नोट—५ *'रामकृपा अवरेब'......'* इति। 'धारि' प्राय: उस सेनाको कहते हैं जो लूट-मार करती है। भाव कि देवताओंने तो हानि पहुँचानेके विचारसे उच्चाटन किया था; पर रामकृपासे उनका उच्चाटन करना हानिकारक न होकर लाभदायक हो गया। नहीं तो वे अवधतक भी न पहुँच सकते। रामकृपासे अरिकृत अहित भी हित हो जाता है। जो लूटने आये वे ही रक्षक बन गये। देवताओंने चार प्रकारकी माया रची थी—भय, भ्रम, अरति और उचाट; वही सेना है। (यहाँ केवल उचाट हुआ कि 'अवधि' बीतनेपर पुन: दर्शन होगा। भय भ्रम अरति नहीं। यही ऊपर *'लोग उचाटे अमरपति'* से भी पुष्ट होता है।) (शीला)।

भेंटत भुज भरि भाइ भरत सो। राम प्रेम रसु कहि न परत सो॥ ४॥
तन मन बचन उमग अनुरागा। धीर धुरंधर धीरजु त्यागा॥ ५॥
बारिज लोचन मोचत बारी। देखि दसा सुर सभा दुखारी॥ ६॥
मुनिगन गुर धुरधीर जनक से। ग्यान अनल मन कसे कनक से॥ ७॥
जे बिरंचि निरलेप उपाए। पदुम पत्र जिमि जग जल जाए॥ ८॥

दो०—तेउ बिलोकि रघुबर भरत प्रीति अनूप अपार।
भए मगन मन तन बचन सहित बिराग बिचार॥ ३१७॥

शब्दार्थ—**निर्लेप**=विषयों आदिसे अलग रहनेवाला। राग-द्वेष आदिसे मुक्त, बेलौस, किसीसे भी कोई सम्बन्ध न रखनेवाला। **उपाए**=उत्पन्न किये, पैदा किये, यथा—*'जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाइ न दूजा।'*

अर्थ—श्रीरामजी भुजा भरकर (दोनों हाथ पूरे फैलाकर) प्रेम-भावपूर्वक भाई भरतसे भेंट रहे हैं। श्रीरामजीका वह प्रेमरस कहते नहीं बनता॥ ४॥ तन-मन-वचनसे अनुराग उमड़ पड़ा, धीरशिरोमणि श्रीरामजीने धैर्य त्याग दिया (अर्थात् अधीर हो रोने लगे)॥ ५॥ वे कमल-समान नेत्रोंसे आँसू गिरा रहे हैं। उनकी यह दशा देखकर देवसमाज दु:खी हुआ॥ ६॥ मुनिसमाज, गुरु वसिष्ठ और श्रीजनकजी-सरीखे श्रेष्ठ धीर, जो अपने मनरूपी सोनेको ज्ञानरूपी अग्निसे कस चुके थे॥ ७॥ जिन्हें ब्रह्माने निर्लिप्त उत्पन्न किया और जो जगत्‌रूपी जलमें कमलपत्रके समान पैदा हुए॥ ८॥ वे भी रघुवर श्रीरामजी और भरतजीके अपार और उपमारहित प्रेमको देखकर वैराग्य और विवेकसहित मन-तन-वचनसे उस प्रेममें डूब गये॥ ३१७॥*

---

* रणबहादुर सिंहकी टीकाके रचयिता ब्राह्मण पण्डितोंने यहाँसे काण्डके अन्ततक मिलानके श्लोक आनन्द-रामायणके कहकर दिये हैं जो सब गढ़े हुए हैं, आ० रा० में नहीं हैं।

टिप्पणी—१ *'राम प्रेम रसु'* इति। (क) यहाँ रामप्रेमको रस कहा, रसमें स्वाद होता है। भाव कि जो स्वाद उसमें मिल रहा है वह तो खाने-पीनेवाला ही जाने, दूसरा क्या जाने? अतः *'कहि न परत'*। प्रथम भेंट भी ऐसी ही दिखायी थी। उससे मिलान कीजिये तो यहाँके सब चौपाइयोंका भाव स्पष्ट हो जाता है।—*'भरत रामकी मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥'* (२४) *'मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबिकुल अगम करम मन बानी॥ परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥ कहहु सुपेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई॥'* इत्यादि। (ख) *'कहि न परत', 'प्रीति अनूप अपार'* और *'भए मगन तन बचन……'* के भाव उद्धृत प्रसंगमें दिये गये हैं। पूर्व विस्तृत वर्णन किया है, इसीसे यहाँ केवल इन्हीं शब्दोंसे वही सब भाव सूचित कर दिया है। *'तन मन बचन उमग अनुरागा'* अर्थात् शरीर पुलकित, मन विह्वल और कण्ठ गद्गद हो गया, वचन शुद्ध नहीं निकलता।

गौड़जी—हृदयके अन्तस्तलसे अनुरागका जो उभाड़ हुआ तो उसका समुद्र तन, मन, वचनसे भी उमड़ पड़ा। उसके उत्ताल तरंगोंके सामने धैर्य कहाँ ठहर सकता था। फिर यहाँ तो धैर्यकी मूर्ति भगवान्के दो विग्रहोंमें प्रेम उमड़ रहा है। उसकी मर्यादाके लिये उन्होंने स्वयं अपनी इच्छासे धैर्यका त्याग किया।

टिप्पणी—२ *'देखि दसा सुरसभा दुखारी'* इति। पूर्व भेंटमें भी देवता दुःखी हुए थे, यथा—*'मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की। सुरगन सभय धकधकी धरकी॥'* (२४१।७) अतः यह भाव भी होता है कि अब भी कहीं प्रेमातुर होकर भरतके साथ न चल दें। दूसरा कारण दुःखी होनेका यह है कि प्रभुको वियोग-जनित दुःख हमारे कारण हुआ, हमारे लिये वे अपने परम प्रिय भाईको छोड़ रहे हैं।

टिप्पणी—३ *'ग्यान अनल मन कसे कनक से'* इति। सोना अग्निमें तपानेसे परखा जाता है। तपानेसे उसमें द्युति भी बहुत आ जाती है और वह शुद्ध भी हो जाता है, यथा—*'कसें कनक मनि पारिखि पाये।'* (२८३।६) *'कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे।'* (२०५।५) देखिये। वैसे ही इन्होंने अपने मनको ज्ञानद्वारा विशुद्ध और खरा कर लिया है। इनका मन किसीके प्रेम-ममत्वमें नहीं डूब सकता और न हर्ष, शोक, मोहको प्राप्त हो सकता है। कठिन अवसरोंपर इसकी शुद्धता परखी जा चुकी है। शोक-मोह आदि विकार इनमें कदापि नहीं व्याप्त हुए।

टिप्पणी—४ *'जे बिरंचि निर्लेप उपाये।……'* इति। (क) कमल जलमें उत्पन्न होता है पर जलसे निर्लिप्त रहता है। वह जलके ऊपर ही रहता है और यदि जल उसके पत्तों या दलोंपर पड़े तो भी उसमें वह विंध नहीं सकता और न ठहर ही सकता है; वैसे ही ये जगत्में पैदा तो हुए पर उससे अनासक्त हैं, उसमें रहते हुए भी उससे अलग हैं, उसके विकार उनमें नहीं आने पाये। (ख) किसी-किसीने 'उपाये' का अर्थ सृष्टि किया है अर्थात् 'जो ब्रह्माकी सृष्टिसे निर्लेप इस जगत्में पैदा हुए।'

टिप्पणी—५ *'ते बिलोकि……प्रीति अनूप अपार।……'* इति। (क) 'अनूप अपार' का भाव कि इस प्रीतिकी उपमा कोई नहीं और यह समुद्रवत् अपार है। कोई इसका पार पाना चाहे तो नहीं पा सकता, थाह लिया चाहे तो उसमें डूब जायगा, पर थाह न मिलेगी। वैसे ही ये सब डूब गये। (ख) *'सहित बिराग बिचार'* का भाव कि डूबनेवाला नाव, जहाज आदिका अवलम्ब मिलनेसे बच जाता है, और यदि वह नाव या जहाज ही डूब जाय, जिसपर वह चढ़ा है तो वह स्वयं कैसे बच सकता है; वैसे ही ये सब वैराग्य और विवेकरूपी नाव-जहाजपर चढ़े थे, वह वैराग्यविवेक ही इस समय प्रेमसमुद्रमें डूब गया तब वे कैसे बच सकते? वे भी प्रेममें मग्न हो गये। [पं०—*'सहित बिराग बिचार'* का भाव यह कि ये नष्ट न हुए पर प्रभुके प्रेमकी प्रबलता हुई, जैसे जल उछलकर पुलको आच्छादित कर लेता है।] (ग) *'मगन तन मन बचन'* का वही भाव है जो *'बिसरे सबहि अपान।'* (२४०) का है। सब विदेह हो गये। इसीको आगे *'मति भोरी'* कहा है। *'सोक सनेह मगन मुनि ज्ञानी।'* (१७१।८) देखिये।

जहाँ जनक गुर गति मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी॥ १॥
बरनत रघुबर भरत बियोगू। सुनि कठोर कबि जानिहि लोगू॥ २॥

सो सकोच रसु अकथ सुबानी। समउ सनेहु सुमिरि सकुचानी॥ ३॥

शब्दार्थ—**भोरी होना**=भूल जाना, धोखेमें आ जाना, कुण्ठित हो जाना। **प्राकृत**=मायिक, संसारी जीवोंकी, साधारण।

अर्थ—जहाँ श्रीजनकमहाराज और गुरु वसिष्ठजीकी बुद्धिकी गति (वा, गति और मति) भोरी हो गयी वहाँ (उसको) प्राकृत प्रीति कहना बड़ा दोष है (अर्थात् मायिक लोगोंकी प्रीतिसे उसकी उपमा देना बड़ा ही पाप है अथवा, उस प्रीतिको प्राकृत प्रीति कहना बड़ा दोष है, यह प्राकृत प्रीति नहीं वरन् अप्राकृत है)। रघुबर (श्रीरामजी) और श्रीभरतका वियोग वर्णन करते सुनकर लोग कविको कठोर-हृदय समझेंगे (अर्थात् यदि इस कविका हृदय वज्रवत् कठोर न होता तो यह तो उनके वियोगको देखकर, उनके प्रेम और शोकको देखकर उसमें स्वयं ही डूब जाता, विह्वल हो जाता, वह इसे कह कब सकता)॥ १-२॥ वह 'सकोचरस' अकथ्य है, उस समयके प्रेमको स्मरणकर सुन्दर वाणी सकुचा गयी॥ ३॥

टिप्पणी—१ ***'प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी'*** अर्थात् इसे प्राकृत प्रीति नहीं कह सकते। प्रथम-भेंटसे मिलान कीजिये—***'अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरिहर को॥ सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँती। बाज सुराग कि गाँडर ताँती॥'*** (२४१। ५-६) जहाँ ब्रह्मादिककी मनकी भी गति नहीं, वह प्राकृत प्रीति कैसे हो सकती है?

टिप्पणी—२ ***'सो सकोच रस अकथ सुबानी''''सकुचानी'*** इति। अर्थात् लोग कहेंगे कि कवि कैसा कठोर था कि उसने ऐसा वियोग वर्णन किया। इसी (कठोर समझा जाने) का भय है। पुनः, यह रस भी अकथ्य है और उस समय और स्नेहका स्मरण भी संकोच उत्पन्न कर देता है—इन सब कारणोंसे सुवाणी सकुचा गयी। इन कारणोंको समझकर वर्णन नहीं किया जाता, नहीं तो कहनेका कुछ साहस किया जाता।

गौड़जी—गोस्वामीजीने इस प्रकरणमें प्रेमको रस कहा है—***'रामप्रेम रस कहि न परत सो।'*** अर्थात् जैसे शृंगार आदि रस हैं वैसे ही प्रेम भी रस है। यहाँ प्रेम 'भक्ति' के अर्थमें आया है। भक्तिरस अन्योन्याश्रित है। भक्त भगवान्को भजता है। भगवान् भक्तको भजते हैं। '**तांस्तथैव भजाम्यहम्**'। ***'मन ऐसा निर्मल हुआ जैसे गंगा नीर। पीछे पीछे हरि फिरै कहत कबीर कबीर॥'***, ***'ऐसे राम बचन के हारे। नित उठि बलिके ठाड़े द्वारे॥'*** यहाँ तो देखनेमें दो देह हैं, वास्तवमें भक्त और भगवान् एक ही हैं, एक जान दो कालिब, यह भक्तिका वह रूप है जो भक्तोंके लिये आदर्श है। यहाँ शृंगार, सख्य, दास्य, वात्सल्य और शान्त, पाँचों भक्ति रसोंकी तन्मयता है, इसीलिये सारा उपस्थित समाज इस प्रेमरसके सागरमें निमग्न हो जाता है।

भेंटि भरतु रघुबर समुझाए। पुनि रिपुदवनु हरषि हिय लाए॥ ४॥
सेवक सचिव भरत रुख पाई। निज निज काज लगे सब जाई॥ ५॥
सुनि दारुन दुखु दुहूँ समाजा। लगे चलन के साजन साजा॥ ६॥
प्रभु पद पदुम बंदि दोउ भाई। चले सीस धरि राम रजाई॥ ७॥
मुनि तापस बनदेव निहोरी। सब सनमानि बहोरि बहोरी॥ ८॥

दो०—लषनहिं भेंटि प्रनामु करि सिर धरि सियपद धूरि।
चले सप्रेम असीस सुनि सकल सुमंगल मूरि॥ ३१८॥

अर्थ—श्रीभरतजीसे भेंट करके श्रीरघुनाथजीने उनको समझाया (धीरज दिया)। फिर शत्रुघ्नजीको हर्ष-पूर्वक हृदयसे लगा लिया॥ ४॥ सेवक और मन्त्री भरतका रुख पाकर सब अपने-अपने काममें जा लगे॥ ५॥ यह सुनकर दोनों समाजोंको कठिन दुःख हुआ। वे चलनेका सामान साजने लगे॥ ६॥ प्रभुके चरणकमलोंको प्रणाम करके दोनों भाई श्रीरामजीकी आज्ञाको सिर धरकर चले॥ ७॥ मुनियों, तपस्वियों और

वनदेवताओं सबका बारंबार सम्मान करके सबसे विनती की॥ ८॥ लक्ष्मणजीको भेंट-प्रणाम करके श्रीसीताजीकी चरणरजको सिरपर चढ़ाकर और उनका सम्पूर्ण सुन्दर मंगलोंका मूल आशीर्वाद सुनकर वे प्रेमसहित चले॥ ३१८॥

नोट—१ *'भेंटि भरत रघुबर समुझाए'* इति। (क) समझाया कि तुम हमारे पास हो और मैं सदा तुम्हारे पास हूँ, इसमें सन्देह नहीं, मन लगा रहे तो पास ही समझना चाहिये। श्रीरामजीका मन सदा भरतमें रहता ही है, यथा—*'रामहि बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती॥'* (शीला) अथवा, फिरसे नीति आदि कहे। (रा० प्र०) (ख)—*'समुझाए'* शब्दको देकर पूज्य कविने वाल्मीकिके मतकी भी रक्षा की है। खड़ाऊँ मिलनेपर भरतजीने फिर श्रीरघुनाथजीसे यह कहा था कि अवधिभर मैं जटाजूट और वल्कल वस्त्र धारण करूँगा और फल-मूल खाकर नगरसे बाहर रहकर आपके आगमनकी प्रतीक्षा करूँगा। यदि अवधि समाप्त होनेपर प्रथम ही दिन आपका दर्शन न हुआ तो मैं अग्निमें प्रवेश करूँगा— (सर्ग ११२ श्लो० २३—२६)। यह सुनकर श्रीरामजीने ऐसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की—**'तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम्'**। इसके अनुसार समझाना यह है कि घबराओ मत, हम अवश्य समाप्तिपर प्रथम ही दिन मिलेंगे। दूसरे, इस व्यापक शब्दको देकर सभीके मतोंका निर्वाह कर दिया है। त्रिपाठीजी समझाना इस प्रकार लिखते हैं—*'मैं पितु बचन प्रमान करि करि पूरन सुरकाज। जबलगि आवत तात तुम पालहु राज समाज॥ अघटित घटना जो घटी सो सुरमाया जानि। सोच करहु जनि ईशवश जीव सदा जिय जानि॥ निज स्वारथ हित सब सहत दुख सुख योग वियोग। जग मंगल हित सहहिं दुख, तात धन्य ते लोग॥'*

नोट—२ *'लखनहिं भेंटि प्रनाम करि सिर धरि……'* इति। ऐसा जान पड़ता है कि प्रथम *'भेंटि'* शब्द दिया है, इसीसे उसके अनुकूल *'लषनहिं'* (अर्थात् लक्ष्मणसे भेंटकर) शब्द दिया। प्रणाम बड़ेको किया जाता है अतः *'प्रनाम'* शब्द देकर लक्ष्मणजीका भरतजीको प्रणाम करना भी जना दिया।

पं० रामकुमारजीने बहुत उत्तम अन्वय यहाँ किया है जिससे कोई अड़चन 'प्रणाम' में नहीं रहती। *'लषनहिं भेंटि'* अर्थात् लक्ष्मणको भेंटकर और *'प्रनाम करि सिर धरि सियपद धूरि'* अर्थात् श्रीसीताजीके चरणोंमें सिर धरकर प्रणाम करके और उनके पदकी धूलि सिरपर धरकर चले। एक खर्रेमें *'लखनहिं भेंटि प्रनाम करि'* ऐसा भी पद लेकर अर्थ करते हुए उन्होंने यह समाधान किया है कि—श्रीवैष्णव (श्रीरामानन्दीय और श्रीरामानुजीय सम्प्रदायवाले) भरतजीसे लक्ष्मणजीको अधिक मानते हैं, तर्पणादिमें लक्ष्मणजीका नाम पहले लेते हैं और भी बहुत कार्यों और प्रसंगोंमें ऐसा ही करते हैं। वाल्मीकिजी लंकासे लौटनेपर भरतजीका उनको प्रणाम करना लिखते हैं और मानसमें भी भरतजी लक्ष्मणजीको परमभाग्यशाली कहते ही हैं—*'अहह धन्य लछिमन बड़भागी'* इन्हीं विचारोंसे यहाँ लक्ष्मणको भेंटकर उनको प्रणाम करना भी लिखा गया। पुनः, 'प्रणाम करि' दोनों ओर लगता है। लक्ष्मणजीको भी और सीताजीको भी प्रणाम किया। छोटे-बड़ेका विचार यदि करें तो *'प्रनाम करि'* 'सियपद' के ही साथ ले सकते हैं।

पंजाबीजी लिखते हैं कि भरतजीके साथ शत्रुघ्नजी भी हैं। यहाँ अर्थमें उनका भी अध्याहार कर लेना चाहिये। भरतजी मिले और शत्रुघ्नजीने प्रणाम किया।

'सुमंगल मूरि' धूरि और असीस दोनोंके साथ है—(पु० रा० कु०)।

सानुज राम नृपहि सिर नाई। कीन्हि बहुत बिधि बिनय बड़ाई॥ १॥
देव दया बस बड़ दुखु पायेउ। सहित समाज काननहि आयेउ॥ २॥
पुर पगु धारिअ देइ असीसा। कीन्ह धीर धरि गवनु महीसा॥ ३॥
मुनि महिदेव साधु सनमाने। बिदा किए हरि हर सम जाने॥ ४॥
सासु समीप गये दोउ भाई। फिरे बंदि पग आसिष पाई॥ ५॥
कौसिक बामदेव जाबाली। पुरजन परिजन सचिव सुचाली॥ ६॥

जथा जोगु करि बिनय प्रनामा। बिदा किये सब सानुज रामा॥ ७॥
नारि पुरुष लघु मध्य बड़ेरे। सब सनमानि कृपानिधि फेरे॥ ८॥

अर्थ—भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामजीने राजाको माथा नवाकर बहुत प्रकारसे उनकी विनती और बड़ाई की॥ १॥ हे देव! दयावश आपने बड़ा दुःख पाया, समाजसहित आप वनमें आये॥ २॥ अब आशीर्वाद देकर नगरको पधारिये। महीपति श्रीजनकजीने धैर्य धारण करके प्रस्थान किया॥ ३॥ तदनंतर प्रभुने मुनियों, ब्राह्मणों और साधुओंको, हरिहरके समान जानकर (आदर-दान-मानसे) सम्मान किया और उनको बिदा किया॥ ४॥ फिर दोनों भाई सास (श्रीसुनयनाजी) के पास गये और चरणोंको प्रणाम करके उनसे आशीर्वाद पाकर लौटे॥ ५॥ विश्वामित्र, वामदेव, जाबालि, शुभ आचरणवाले पुरवासी, परिजन और मन्त्री, सबसे भाईसहित श्रीरामजीने यथायोग्य विनती और प्रणाम करके सबको विदा किया॥ ६-७॥ छोटे, मध्यम और बड़े सभी (श्रेणीके) स्त्री-पुरुषोंका सम्मान करके कृपासागर श्रीरामजीने उनको लौटाया॥ ८॥

नोट—*'सानुज राम नृपहि सिर नाई। कीन्हि बहुत······'* इति। (क) *'सानुज'* में राजाके भाईको भी प्रणाम करना ले सकते हैं। श्रीजनकजी यहाँ वात्सल्यभावसे अनर्थ सुनकर आये थे, इसीसे उस भावके अनुकूल श्रीरामजीने प्रणाम, विनय और प्रशंसा की। बालकाण्डमें श्रीजनकजीने ऐश्वर्यभावसे श्रीरामजीकी बिदा होते समय स्तुति की है; इसीसे वहाँ श्रीजनकजीका *'जोरि पंकरुह पाहि सुहाए'* बोलना कहा है। वहाँ स्तुति सुनकर *'पूरनकामु राम परितोषे'* और *'करि बर बिनय ससुर सनमाने। पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने॥'* (१। ३४२। ७) वहाँकी बिनती उनके भावको लिये हुए माधुर्यमें की गयी। यहाँकी विनय उनके वात्सल्यभावके अनुकूल हुई। विनयका किंचित् स्वरूप आगे कहते हैं—*'देव दया बस······'*। (ख) *'देव'* सम्बोधनका भाव कि आपका ज्ञान दिव्य है, आप वनगमनादिका कारण जानते हैं, यह सब चरित आपको मालूम है, तथापि आप जो यहाँ आये वह हमपर, अवधवासियोंपर, रघुकुलपर दया होनेसे। राजधानी छोड़कर वनमें आये और कष्ट सहे, इत्यादि। (ग) *'पुर पगु धारिअ'*—यहाँसे श्रीजनक महाराज प्रथम श्रीअवधको जायँगे। अतः 'पुर' से श्रीअयोध्यापुरी और श्रीमिथिलापुरी दोनोंका ग्रहण हो सकता है। (घ) *'धीर धरि'* से जनाया कि माधुर्यमें श्रीरामजीकी विनती सुनकर तथा वियोग समझ प्रेमविह्वल हो गये थे अथवा, श्रीरघुवर-भरत-प्रेम-मिलन देखकर *'भए मगन मन तन बचन सहित बिराग बिचार।'* (३१७), अतः धीरज धरना कहा। भाव कि मनको समझाया कि भगवत्-लीला ही ऐसी है, साथ जा नहीं सकते, प्रभुके धर्ममें बाधा होगी, इत्यादि।

नोट—२ *'मुनि महिदेव साधु सनमाने।······'* इति। (क) यहाँ भेंट, प्रणाम तथा बिदाईका क्रम दिखाया है। प्रथम श्रीभरत-शत्रुघ्नजीसे मिलकर उनको बिदा किया तब उन्होंने सेवकों तथा मन्त्रियोंको चलनेकी तैयारीका संकेत किया। फिर श्रीजनक महाराजको बिदा किया। अब 'मुनियों, ब्राह्मणों और साधुओं' की बिदाई कहते हैं। (ख) मुनि यहाँ विश्वामित्र, वामदेव, जाबालि और गुरु वसिष्ठजी नहीं हैं; क्योंकि इनको आगे नाम लेकर कहा है। यथा—*'कौसिक बामदेव जाबाली······'*, *'गुर गुरतिय पद बंदि प्रभु सीता लषन समेत॥'* (३२०) इनके अतिरिक्त जो और मुनि और साधु थे उनका सम्मान यहाँ अभिप्रेत है। जो श्रीअवध-मिथिलासे आये थे या दोनों राजसमाजोंके साथ थे। चित्रकूटका दरबार सुनकर और भी जो आये हों वे भी इनमें आ जाते हैं, क्योंकि उनका भी बिदा करना आवश्यक है। बैजनाथजीका मत है कि यहाँ *'मुनि'* से चित्रकूटके अत्रि आदि मुनि और साधुसे शान्त रसवाले अभिप्रेत हैं। (ग) *'हरि हर सम जाने'*—हरि रघुकुलके इष्टदेव हैं—*'निजकुल इष्टदेव भगवाना।'* (१। २०१। २) हर (श्रीशंकरजी) की पूजा इस कुलमें होती है, यथा—*'इन्ह सम कोउ न सिव अवराधे'*, अतः दोनोंका पूज्य देवताओंके समान सम्मान किया। पंजाबीजीका मत है कि वैष्णवोंको हरि-सम और शैवोंको हर-समान जाना।

गौड़जी—यहाँ *'सुचाली'* विशेषण पुरजन, हरिजन आदि सबके लिये है। इसका तात्पर्य यह नहीं

है कि जो सच्चरित्र थे उन्हींको बिदा किया। भाव यह कि ऋषियोंका तो क्या कहना है, सचिवादि सारी प्रजा सच्चरित्रा है। तभी तो भगवत्-सान्निध्य प्राप्त है। तभी तो भरतके साथ आये।

दो०—भरत मातुपद बंदि प्रभु सुचि सनेह मिलि भेंटि।
बिदा कीन्ह सजि पालकी सकुच सोच सब मेंटि॥ ३१९॥

परिजन मातु पितहि मिलि सीता। फिरी प्रानप्रिय प्रेम पुनीता॥ १॥
करि प्रनामु भेंटी सब सासू। प्रीति कहत कबि हिय न हुलासू॥ २॥
सुनि सिख अभिमत आसिष पाई। रही सीय दुहुँ प्रीति समाई॥ ३॥

अर्थ—श्रीभरतजीकी माता कैकेयीजीको प्रभुने पवित्र स्नेहसे प्रणाम और मिल-भेंटकर और उनका सोच और संकोच सब मिटाकर पालकी सजाकर उनको बिदा किया॥ ३१९॥ परिजन, माता और पितासे मिलकर अपने प्राणप्रिय पतिके* प्रेममें पवित्र सीताजी लौट आयीं॥ १॥ (फिर) प्रणाम करके सब सासुओंसे गले लगकर मिलीं। उनकी प्रीतिके कहनेके लिये कविके हृदयमें हुलास नहीं है॥ २॥ उनकी (पातिव्रत्य-धर्म) शिक्षा सुनकर और मनमाँगा आशीर्वाद पाकर श्रीसीताजी दोनों प्रीतिमें समायी रहीं, अर्थात् देरतक निमग्न रहीं॥ ३॥

पु० रा० कु०—*'भरत मातुपद बंदि प्रभु······सकुच सोच सब मेंटि',* यथा—*'प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभाय भगति मति भेई॥ पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥'* (२४४। ७-८) *'सकुच'* अपनी करनीका, यथा—*'अवनि जमहि जाचत कैकेई।'* (२५२। ६), *'गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषनु देई॥'* (२७३। १) सोच रामविरहका एवं संकोचके कारण जो सोच था कि हमने बुरा किया, हमसे न बन पड़ा, हम कैसे संसारको मुँह दिखावेंगी। 'शुचि स्नेह'=पवित्र निःछल प्रेमसे, दिखावेका नहीं।

नोट—१ *'सकुच सोच सब मेंटि'* में यह भी भाव आ जाता है कि कैकेयीको जो ग्लानि हो रही होगी कि जिसके लिये हमने सब किया वह स्वयं ही हमारे प्रतिकूल हो गया, उस हमारे आत्मजने ही हमारा त्याग किया और बुरा-भला कह डाला, आगे न जाने क्या हो—उसको यह कहकर मिटाया कि हमने भरतको समझा दिया है, वह सब माताओंके साथ एक-सा व्यवहार रखेंगे और शत्रुघ्नजी भी तुम्हारी रक्षा करेंगे। वाल्मीकिमें भरत-शत्रुघ्नको इनके लिये समझाना लिखा है। यथा—'**न चापि जननीं बाल्यात्त्वं विगर्हितुमर्हसि।**' (२। १०१। १७) (अर्थात् लड़कपनके कारण माता कैकेयीकी निन्दा मत करो), '**कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्। न तन्मनसि कर्त्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत्।**' (२। ११२। १९) (कामना वा लोभवश तुम्हारी माँने जो निश्चित किया था उससे मनमें दुःख न मानो। उनके साथ माताका-सा व्यवहार करो), '**मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति॥ मया च सीतया चैवं शप्तोऽसि रघुनन्दन······॥**' (२७-२८) (अर्थात् शत्रुघ्न! तुम माता कैकेयीकी रक्षा करना, उनपर क्रोध न करो।)

पुनः, *'सकुच सोच सब मेंटि'* में अ० रा० के उस प्रसंगका भी समावेश हो जाता है, जिसमें बिदाईके समय श्रीकैकेयीजीने श्रीरामजीसे पश्चात्ताप करते हुए कहा है—मायासे मोहित होकर मुझ कुबुद्धिने आपके राज्याभिषेकमें विघ्न डाल दिया, उस मेरी कुटिलताको आप क्षमा करें—'**कृतं मया दुष्टधिया मायामोहितचेतसा। क्षमस्व मम दौरात्म्यं क्षमासारा हि साधवः।**' (२। ९। ५६) मुझ पापिनीने अपनी दुष्टबुद्धिसे यह पाप कर्म किया—'**पापिष्ठं पापमनसा कर्माचरमरिन्दम।**' (६०) 'मैं आपकी शरण हूँ।' इसपर श्रीरामजीने समझाया है कि मेरी प्रेरणासे ही देवताओंकी कार्यसिद्धिके लिये तुम्हारे मुखसे ये शब्द निकले थे। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है—'**मयैव प्रेरिता वाणी तव वक्त्राद्विनिर्गता।**' (६३) '**देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थमत्र दोषः कुतस्तव।**'

* पं०—प्राणोंसे प्यारा पवित्र पतिका प्रेम है, उसको मुख्य रखकर उनके स्नेहका विचार न किया, लौट आयी।

इसी तरह समझाना यह भी हो सकता है कि देवगण तथा वनवासी तुम्हारे बड़े कृतज्ञ हैं, मुझपर भी यह तुम्हारा बड़ा उपकार हुआ, मेरे मनोरथकी पूर्तिके लिये तुमने इतना बड़ा कलंक अपने सिर लिया। स्मरण करो, मैंने तुमसे पूर्व ही यह वर माँगा था कि मेरे निमित्त तुम लोक-अपयश अंगीकार करो। इसीसे तो तुम मुझे माता कौसल्यासे भी अधिक प्रिय हो। तुम्हें पश्चात्ताप न करना चाहिये।

नोट—२ *'दुहुँ प्रीति'*—माताओं और सासुओं, दोनों ओरकी प्रीतिमें। रामकी प्रीति और उधर सासुओंकी प्रीतिमें समा गयीं। (पु० रा० कु०) माता और सासुके परिवारोंमें सीताका प्रेम समा रहा। (पं०)

रघुपति पटु पालकीं मँगाईं। करि प्रबोधु सब मातु चढ़ाईं॥ ४॥
बार बार हिलिमिलि दुहुँ भाई। सम सनेह जननी पहुँचाई॥ ५॥
साजि बाजि गज बाहन नाना। भरत भूप दल कीन्ह पयाना॥ ६॥
हृदयँ रामु सिय लषन समेता। चले जाहिं सब लोग अचेता॥ ७॥
बसह बाजि गज पसु हियँ हारें। चले जाहिं परबस मन मारें॥ ८॥

शब्दार्थ—**पटु**=सुन्दर, मनोहर, यथा—*'पौढ़ाये पटु पालने सिसु निरखि मगन मन मोद'।* **हिलिमिलि**=भेंट करके (यह मुहावरा है)।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीने सुन्दर (एवं ओहारदार) पालकियाँ मँगायीं और सब माताओंको खूब समझाकर संतोष देकर चढ़ाया॥ ४॥ दोनों भाइयोंने बारम्बार माताओंसे समान प्रेमसे मिल-मिलकर उनको पहुँचाया॥ ५॥ घोड़े, हाथी और अनेक सवारियाँ सजाकर श्रीभरतजी और राजा जनकके दल (समाज, सेना) ने प्रस्थान किया॥ ६॥ सब लोग अचेत (बेसुध) चले जा रहे हैं। उनका हृदय श्रीसीतालक्ष्मणसहित रामजीके पास है॥ ७॥ बैल-घोड़े, हाथी (आदि) पशु हृदयसे हारे (बड़े लाचार और दु:खी) परवश मनमारे (उदास) चले जा रहे हैं॥ ८॥

नोट—*'करि प्रबोधु'*—यह कि आपको दु:खी देखकर श्रीभरतजीको बहुत दु:ख होगा, सारा परिवार और सारी प्रजा दु:खी होगी, अत: आपको धीरज धरना चाहिये। भरतजी सबकी हमसे अधिक सेवा करेंगे और हम अवधि बीतनेपर तुरत आयेंगे, कुछ बहुत दिन थोड़े ही हैं।

मिलान कीजिये—*'जनि सनेह बस डरपसि भोरें। आनँद अंबु अनुग्रह तोरें॥ बरस चारिदस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान। आइ पाइ पुनि देखिहउँ मनु जनि करसि मलान॥'* (५३) *'बन मग मंगल कुसल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे॥ तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुखु पाइहौं।'* (१५१) इत्यादि। *'करि प्रबोध'* से सूचित होता है कि वियोगके कारण माताएँ प्रेमकातर हो गयी थीं, उनका गला भर आया था, वे कुछ बोल न सकीं, यह देखकर प्रभुने उनको बहुत समझाया। यथा—*'लखि सनेह कातरि महतारी। बचन न आव बिकल भइ भारी॥ राम प्रबोध कीन्ह बिधि नाना।'* (६९। १-२), '**तं मातरो बाष्पगृहीतकण्ठ्यो दु:खेन नामन्त्रयितुं हि शेकु:।**' (वाल्मी० २। ११२। ३१) माताओंके मनमें बड़ा दु:ख है कि आयीं तो थीं श्रीरामको लौटाने सो न हुआ तो यहींसे साथ चला जाना था। यह भी न हुआ और न प्राण निकले, वनसे फिर वनको पहुँचाकर लौट रही हैं। यथा—*'हाथ मीजिबो हाथ रह्यो। लगी न संग चित्रकूटहु ते ह्याँ कहा जात बह्यो॥'* ......*'मेरोइ हिय कठोर करिबे कहुँ बिधि कहुँ कुलिस लह्यो।' 'तुलसी बन पहुँचाइ फिरि सुत क्यों कछु परत कह्यो।'* (गीता० २। ८४) अत: समझाना पड़ा। श्रीत्रिपाठीजी समझाना इस प्रकार कहते हैं—*'अवधि मात्र धीरज धरिय अम्ब समुझि बिधि बाम। जेहि पावैं परितोष नृप अधिक बसत सुरधाम॥ तुम्हरे दुखु कीन्हे अधिक पीर भरतहिय होय। रहे सुखी जेहि बिधि भरत सब मिलि कीजै सोय॥ त्यागि मोह ममता सकल शिर धरि ईश रजाय। भजिय ताहि संसार भ्रम जाते जाय नसाय॥'*

'भरत भूप दल......हृदय राम सिय......' इति। अ० रा० में मिलता-जुलता श्लोक यह है—'**भरतस्तु सहामात्यैर्मातृभिर्गुरुणा सह।**' (२। ९। ६९) '**अयोध्यामगमच्छीघ्रं राममेवानुचिन्तयन्।**'

'बसह बाजि गज पसु हियँ हारे।……' इति। जैसी तैयारी आते समय थी, वैसी लौटनेके समय नहीं है, व्यवस्थामें भी ढिलाई है, आगे-आगे बैल चले जाते हैं, घोड़े उनके पीछे, हाथी उनके भी पीछे हैं, उन्हें भी लौटनेकी रुचि नहीं, दूसरेके वशमें हैं, जिधर वे ले जाते हैं, उधर चलना ही पड़ता है। ऐसा कहकर गोस्वामीजी दिखलाते हैं कि इसीसे मनुष्योंकी उदासीका अन्दाजा किया जा सकता है। (वि० त्रि०)

दो०—गुर गुरतिय पद बंदि प्रभु सीता लषन समेत।
फिरे हरष बिसमय सहित आए परननिकेत॥ ३२०॥

बिदा कीन्ह सनमानि निषादू। चलेउ हृदय बड़ बिरह बिषादू॥ १॥
कोल किरात भिल्ल बनचारी। फेरे फिरे जोहारि जोहारी॥ २॥

अर्थ—गुरुदेव श्रीवसिष्ठजी और गुरुपत्नी श्रीअरून्धतीजीके श्रीचरणोंमें प्रणाम करके श्रीसीता-लक्ष्मणसहित प्रभु हर्ष-शोकसहित फिरे और पर्णकुटीपर आये॥ ३२०॥ तदनन्तर निषादको सम्मान करके विदा किया। वह भी चला परन्तु उसके हृदयमें बहुत बड़ा विरह-विषाद था॥ १॥ कोल, किरात, भिल्ल आदि वनवासी लौटानेसे बारंबार प्रणाम कर-करके लौटे॥ २॥

नोट—१ *'फिरे हरष बिसमय सहित'* इति। हर्ष कि पिता-वचन, हमारा पुत्र-पिता-धर्म, हमारी प्रतिज्ञा, वनवास, देवकार्य आदि सबका निर्वाह हुआ और साथ ही *'दिनकर कुल रीति सुहाई'* को भी धक्का न पहुँचा, सब बने रहे। विस्मय वियोगजनित है। हर्ष-विस्मय माधुर्यमें है—*'जस काछिअ तस चाहिअ नाचा।'* (१२७। ८)

प० प० प्र०—इसी काण्डमें कह आये हैं कि श्रीरामजी हर्ष-विषादरहित हैं। यथा—*'बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु रघुबीर प्रभाऊ॥'* (१२। ३), *'बिसमय हरष न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर।'* (१६५), इत्यादि। पर यहाँ *'हरष बिसमय सहित'* होना कहते हैं और अन्यत्र भी कहा है—*'हरषि चले मुनिभय हरन।'* (१। २०८), *'उठे हरषि सुरकाज सँवारन।'* (३। २७। ६) इत्यादि। ☞ इस सम्बन्धमें तीन बातें स्मरण रखने योग्य हैं—(१) भगवान् राम जहाँ किसी भक्तका अनन्य प्रेम देखते हैं अथवा जहाँ किसी भक्तपर परम अनुग्रह करना चाहते हैं वहाँ ही उनका हर्षित (प्रसन्न) होना पाया जाता है। (२) जब सुरकार्य अथवा अवतारका कोई महत्त्व-कार्य करनेको निकलते हैं तब भी उनका हर्षित होना पाया जाता है। पर ऐसे स्थलीमें 'हर्ष' का अर्थ आनन्द न लेकर 'उत्साह' ही लेना समुचित जान पड़ता है। कारण कि जब किसीको कार्यारम्भमें हर्ष होता है तो उसकी सफलतामें और भी विशेष प्रसन्नता होती है। पर श्रीरामजीके इन प्रसंगोंमें कार्य-सफलता होनेपर हर्ष होनेका एक भी प्रमाण नहीं मिलता। (३) श्रीरामजीको किसी व्यक्ति, कुटुम्ब या अपने शरीरके सुख-दुःखादिके लिये हर्ष या विषाद नहीं होता। वे भक्तके दुःखमें दुःखी होते हैं और भक्तके सुखमें सुखी होते हैं। मिलान कीजिये—*'जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत बिरह दुख दुखित सुजाना॥'* (१। ७६। २), *'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसमहु चाहि। चित्त खगेस राम कर समुझि परइ कछु काहि॥'* (७। १९) (*'उठे हरषि सुर काज सँवारन।'* (३। २७। ६) में पूर्व ही विस्तृत लेख आ चुका है। पाठक वहाँ देखें।)—ये ऐश्वर्यभावसे हर्षादिके कारण हैं। यहाँ भायप-भक्तियुक्त श्रीभरतजीको लौटानेमें विषाद हुआ।

नोट—२ *'फेरे-फिरे।'* बैजनाथजीका मत है कि ये कोल-भील अपने राजा निषादराजको पहुँचाने साथ-साथ गये थे तब उन्होंने इन्हें लौटाया। लौटानेसे लौटे। पु० रा० कु० जी आदिका मत है कि जो अवध-मिथिला-समाजकी सेवाके लिये आ जुटे थे उन सबको रघुनाथजीने विदा किया, वे जाना न चाहते थे, लौटानेपर लौटे। *'फेरे'* से जनाया कि जबरदस्ती लौटाये गये, प्रेमके मारे जाते न थे। जोहारि-जोहारी भी यही जनाता है कि गये, फिर लौटकर प्रणाम किया, फिर गये, फिर लौटे। वा, बहुत हैं इससे दो बार कहा।

प्रभु सिय लषन बैठि बट छाहीं। प्रिय परिजन बियोग बिलखाहीं॥ ३॥
भरत सनेह सुभाउ सुबानी। प्रिया अनुज सन कहत बखानी॥ ४॥
प्रीति प्रतीति बचन मन करनी। श्रीमुख राम प्रेम बस बरनी॥ ५॥
तेहि अवसर खग मृग जल मीना। चित्रकूट चर अचर मलीना॥ ६॥
बिबुध बिलोकि दसा रघुबर की। बरषि सुमन कहि गति घर घर की॥ ७॥
प्रभु प्रनामु करि दीन्ह भरोसो। चले मुदित मन डर न खरो सो॥ ८॥

शब्दार्थ—**श्रीमुख**=अपने मुखसे।

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी, श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी बरगदकी छायामें बैठकर प्रिय परिजनोंके वियोगमें विलख (व्याकुल हो) रहे हैं॥ ३॥ श्रीभरतजीके प्रेम, स्वभाव और सुन्दर वाणीको प्रिया श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीसे सुन्दर वाणीसे बखानकर कह रहे हैं॥ ४॥ उनकी मन, वचन, कर्मकी प्रीति और प्रतीति श्रीरामचन्द्रजीने प्रेमवश श्रीमुखसे वर्णन की॥ ५॥ उस समय पक्षी-पशु और जलके भीतर होते हुए भी मीनतक चित्रकूटके समस्त जड़-चेतन सभी जीव मलिन (उदास और दुःखी) हो गये॥ ६॥ रघुनाथजीकी दशा देखकर देवताओंने फूल बरसाकर घर-घरकी (अर्थात् अपने-अपने घरकी) दशा कही॥ ७॥ प्रभुने प्रणाम करके उनको आश्वासन दिया (कि तुम्हारा डर खरासा नहीं है, अर्थात् ठीक-सा नहीं है, भ्रम है)* तब वे मनमें प्रसन्न होकर चले। मनमें जरा-सा भी भय न रह गया॥ ८॥

नोट—१ ***'प्रिय परिजन बियोग बिलखाहीं'*** इति। हर्ष-शोकसहित लौटे थे पर औरोंको भी बिदा करना था इससे सावधान रहे। अब जब स्वस्थ हुए (सबको बिदा करके छुट्टी पायी) तब वियोगने व्याकुल कर दिया, रोने लगे। (पु० रा० कु०) वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि श्रीरामजी माताओंको प्रणामकर रोते-रोते अपनी कुटीमें आये।—**'स चैव मातॄरभिवाद्य सर्वा रुदन्कुटीं स्वां प्रविवेश रामः।'** (२। ११२। ३१)

नोट—२ ***'प्रेम बस बरनी'*** का भाव कि छोटे भाईकी प्रशंसा—उसके गुणोंका वर्णन उचित न था, पर प्रेमके वश होनेसे लौकिक नियम टूट गया और वे वर्णन करने लगे।

गौड़जी—***'जल मीना'*** में भाव यह है कि मछली तो जलके वियोगसे तड़पती है, परंतु यहाँ जलके भीतर होते हुए भी वह उदास है, क्योंकि इस समय वियोगकी उदासी सर्वात्मा ब्रह्ममें हो रही है। जैसे संयोगभक्तिमें चराचर लीन होते हैं वैसे ही विरहाशक्तिमें भी चराचर तन्मय हो जाता है। समुद्रमें जब ज्वार आता है तो बड़ी दूरतक किनारोंको भी दबा देता है।

नोट—३ ***'बरषि सुमन कहि गति घर घर की।'*** भाव कि अपना दुःखड़ा सुनाकर श्रीरामजीका वियोग, दुःख छुड़ाना चाहते हैं। (पु० रा० कु०) हमलोगोंके दुःखको देखिये कि घरमें रहनेको भी नहीं मिलता, मारे-मारे फिरते हैं, हमारे कष्टको कृपा करके अब दूर कीजिये अथवा, दुःख सुनाया कि हम आर्त हैं। आप सोचते होंगे कि हमने आपके सम्बन्धियोंके साथ कुटिलता की, उच्चाटनादि प्रयोग किये; पर हम क्या करें, हमको महा कष्ट है। आर्त होनेसे हमने यह किया। इसे क्षमा करें और अब विलम्ब न कीजिये, हमारा कष्ट निवारण कीजिये। (पं०, रा० प्र०) ***'घर घरकी'*** से यह भी जान पड़ता है कि प्रत्येक देवताने अपने घरका कष्ट कहा।

नोट—४ ***'प्रभु प्रनामु करि दीन्ह भरोसो।⋯'*** इति। श्रीनंगे परमहंसजी इसका अन्वय इस प्रकार करते हैं—***'प्रभु दीन्ह भरोसो तब देवता मुदित मन प्रनाम करि डर न खरो सो चले।'*** उनका मत है कि देवता श्रीरामजीको अपना मालिक जानकर आये हैं। तब प्रणाम तो फरियाद करनेवाला करेगा न कि मालिक।

---

* कोष्ठकान्तर्गत अर्थ भी हमने प्र० सं० में दिया। वह अर्थ हमें अब ठीक नहीं जँचता पर जिन टीकाकारोंने मा०पी० की नकल की है, उन्होंने इसे भी दिया है। अतः हमने उसे ज्यों-का-त्यों रहने दिया है।

दो०—सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर॥ ३२१॥

शब्दार्थ—**परन कुटीर**=पर्णशाला, पत्तोंकी झोपड़ी या कुटिया।

अर्थ—श्रीसीता-लक्ष्मणसहित प्रभु पर्णकुटीमें इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं, मानो भक्ति, वैराग्य और ज्ञान शरीर धारण किये सोह रहे हैं॥ ३२१॥

नोट—'*सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।*……' इति। इसमें कविने तीन व्यक्तियोंकी तीन उपमाएँ दी हैं। इसमें श्रीरघुनाथजीका ज्ञानमूर्ति और लक्ष्मणजीका वैराग्यरूप होना स्वयं सिद्ध है। श्रीसीताजीकी भक्ति-उपमा विचारनेके लिये साहित्यज्ञानकी शरण लेनी पड़ती है। शृंगाररसका स्थायी भाव रति और आलम्बन-विभाव नायिका है। सबसे उत्तम नायिका स्वकीया होती है। इस स्वकीयामें प्रेम ही पतिके अनुरागका कारण है। साहित्यमें पतिव्रताका नाम नहीं आता। कोई-कोई स्वकीयाहीको पतिव्रता मानते हैं। स्वकीयाका भाव रति है, पतिव्रताका भक्ति है, इसीसे पतिव्रताशिरोमणिपर भक्तिकी उपमा घटती है।

गौड़जी—श्रीमद्भागवतमें ज्ञान-वैराग्यको भक्तिका पुत्र बताया है। यथा—'**अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ। ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ॥**' (भा० माहात्म्य अ० १। ४५) अर्थात् उस युवतीने नारदसे कहा कि मेरा नाम भक्ति है। ये दोनों ज्ञान और वैराग्य-नामसे प्रसिद्ध मेरे पुत्र हैं। वह वास्तविक है। यहाँ उपमामात्र है। उपमामें सभी धर्म लेना आवश्यक नहीं है।

शिला—एक ज्ञान भक्तिका पति और एक पुत्र है। जो ज्ञान भक्तिसे प्रथम उत्पन्न हो वह पुरुष और जो भक्तिके पीछे हो (अर्थात् प्रथम भक्ति हो तब ज्ञान उत्पन्न हो) वह ज्ञान पुत्र है। शुकदेव और उद्धवको ज्ञान प्रथम हुआ, भक्ति नारद और गोपियोंके उपदेशसे पीछे हुई और ध्रुव एवं प्रह्लादको भक्ति प्रथम हुई—इस प्रकार दोहेके दृष्टान्त निर्विरोध होते हैं।

प० प० प्र०—श्रवण-कीर्तनादि साधनभक्तिसे ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति अरण्यकाण्ड 'रामगीता' में कही है। भागवतमें उसी साधनभक्तिको ज्ञान-वैराग्यकी माता कहा है। पर यहाँ तो कृपा-साध्य प्रेमाभक्तिका ही वर्णन है। यह ज्ञान वैराग्यके पश्चात् ही प्राप्त होता है। यथा—'*सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरि पद रति रस बेद बखाना॥*' (१। ३७। १४), '*बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर लाई॥*' (७। १२२। ११)

मुनि महिसुर गुर भरत भुआलू। राम बिरह सबु साजु बिहालू॥ १॥
प्रभु गुनग्राम गनत मन माहीं। सब चुपचाप चले मग जाहीं॥ २॥
जमुना उतरि पार सबु भयऊ। सो बासरु बिनु भोजन गयऊ॥ ३॥
उतरि देवसरि दूसर बासू। रामसखाँ सब कीन्ह सुपासू॥ ४॥
सई उतरि गोमती नहाये। चौथें दिवस अवधपुर आये॥ ५॥

अर्थ—मुनि, ब्राह्मण, गुरु वसिष्ठजी, भरत और राजा तथा सभी साजसमाज रामविरहमें विह्वल है॥ १॥ श्रीरामजीके गुणसमूहको मनमें विचारते मनन करते हुए सभी मार्गमें चुपचाप चले जा रहे हैं*॥ २॥ प्रथम दिन यमुना उतरकर सब पार हुए। वह दिन बिना भोजनके बीता॥ ३॥ दूसरा वास गंगा उतरकर (गंगापार शृंगवेरपुरमें) हुआ। रामसखा निषादराजने सब सुपास (सुखका सामान) किया॥ ४॥ तदनन्तर सई पार करके गोमतीमें स्नान किया और चौथे दिन अवधपुर पहुँचे॥ ५॥

नोट—'*जमुना उतरि पार सबु भयऊ*……' इति। 'अवधसे चित्रकूटको जाते समय दो दिनपर यमुनासे चित्रकूट

* दीनजी—'रामविरहमें अस्त-व्यस्तसाजसे रामगुणगान करते हुए…'।

पहुँचे थे और लौटतीमें पहले दिन ही चित्रकूटसे यमुनातक पहुँच गये, यह क्यों?' यह शंका उठाकर उसका उत्तर पंजाबीजी यह लिखते हैं कि पूर्व वियोगसे खिन्न थे और प्रभुके मिलनेमें सन्देह था। अथवा, पहले अपना ही बल था, अब उच्चाटनद्वारा देवमायाका भी बल पा गये, बल द्विगुण हो गया, इससे जितना पूर्व दो दिनमें चलते थे। उतना अब एक ही दिनमें चलते हैं।—(नोट—इससे यह भी सूचित करते हैं कि भरतजी अब सवारीपर हैं, रथपर हैं। यथा—'**ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा। आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नसहितस्तदा॥**' (वाल्मी० ११३। १) अर्थात् सिरपर खड़ाऊँ रखकर श्रीभरतजी प्रसन्न होकर शत्रुघ्नजीके साथ रथपर बैठे। सब लोग सवारीपर हैं इससे शीघ्रतासे पहुँचे। पूर्व श्रीभरतजी और श्रीरामजीके संगी, सखा आदि सब पैदल थे, यथा—'***तेहि पाछें दोउ बंधु पयादें। भूषन बसन बेष सुठि सादें॥ सेवक सुहृद सचिव सुत साथा। सुमिरत लषन सीय रघुनाथा॥***' (२२१। ६-७) इससे दो दिन लगे थे।

'श्रीरामवनगवन महत्तीर्थ' मार्ग

श्रीयुत राय साहेब धर्मविनोद पं० परमेश्वरदत्त मिश्रजीके तीर्थमालाकी ४० वीं मणि 'रामवनगवन महत्तीर्थ' सम्बन्धी अप्रकाशित लेखसे तीर्थयात्राका मार्ग सम्पादक ने लिया है। इसके लिये सम्पादक उनका हृदयसे कृतज्ञ है। लाला सीतारामके अयोध्याकाण्डकी प्रतिमें जो वनयात्रा दी है वह बिलकुल अशुद्ध है। इसीसे यहाँ स्थानोंके लिये सम्पादकने गोस्वामीजीके मानसके प्रमाण भी दिये हैं। राजापुरकी पोथीकी हूबहू यह प्रतिलिपि है, हमें इसमें भी संदेह है।

ईश्वरके पवित्र स्थलोंका ही दूसरा नाम तीर्थ है और यद्यपि ऐसे तीर्थ भारतवर्षमें अनेक हैं और सभीका राजा भी तीर्थराज प्रयाग है तथापि तीर्थांगोंमें श्रीअयोध्याजी मस्तक कहा गया है, क्योंकि उसी श्रीअयोध्याके रघुकुल (आर्यवंश) में साक्षात् ब्रह्म अनादि श्रीभगवान् रामचन्द्रजीने अवतीर्ण होकर पिताकी आज्ञा मान अपने छोटे भ्राता लक्ष्मण और धर्मपत्नी श्रीसीताजीके सहित चौदह वर्षपर्यन्त वनवास किया था और मनुष्योंकी भाँति अनेक चरित्र किये थे। समुद्र पारकर लंकाके प्रबल प्रतापी राजा रावणको भी मार पृथ्वीका भार उतारा था और फिर सकुशल अयोध्याजी लौटे थे। अतः उन्हीं वनों, वनवासके मार्ग और स्थानोंके नामोंकी एकत्रित संज्ञा 'श्रीरामवनगवन महत्तीर्थ' है।

श्रीकनकभवन खास महल श्रीसीतारामजीका है। यहाँसे कोपभवन जहाँ दशरथजी महाराज थे वहाँ सुमन्तजीके साथ रामजी गये। वनवासकी आज्ञा विमातासे सुनकर श्रीकौसल्याभवनको मातासे आज्ञा लेने गये। वहीं सीताजीका साथ हुआ और कौसल्याभवनसे निकलते ही श्रीलक्ष्मणजीका साथ हुआ। तीनों मूर्ति कोपभवन गये और कैकेयीके दिये हुए वल्कल वस्त्र आदि धारणकर पिता-माताको प्रणामकर वहाँसे वसिष्ठजीके आश्रमपर आये (जहाँ अब वसिष्ठकुण्ड है)।

१ यहाँसे रानोपालीकी सड़कसे होते हुए दर्शननगर—(रथीवाँ ग्राम यहाँसे दाहिने छूट जाता है)* पहुँचकर वहाँसे दक्षिणवाली सीधी कच्ची सड़क सात कोस चलनेपर तमसातीर प्रथम महत्तीर्थ मिलता है। चकिया ग्रामके निकट इसका पत्थर गड़ा है। यह स्थान नन्दिग्रामवाले भरतकुण्डके कोसान्तर ही है।—यह प्रथम निवास-स्थान है—'***बालक बृद्ध बिहाइ गृह लगे लोग सब साथ। तमसा तीर निवास किय प्रथम दिवस रघुनाथ॥***' (८४)

२ यहाँसे सुलतानपुर-प्रतापगढ़की सड़कपर चलते हुए गोमती और सई नदियोंको पारकर गंगातटपर शृंगवेरपुर (सिंगौर) है, जहाँ दूसरा निवास हुआ—यह दूसरा महत्तीर्थ है।—'***रामलषन सिय जान चढ़ि संभु चरन सिर नाइ। सचिव चलायेउ तुरत रथ इत उत खोज दुराइ॥***' (८५), '***सीता सचिव सहित दोउ भाई। शृंगबेरपुर पहुँचे जाई॥ उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दंडवत हरष बिसेषी॥***' (८६। १)

---

* रथीवाँ ग्राम नाम पड़ा; क्योंकि रथका खोज छिपानेके लिये यहाँ बहुत-सी लीकें बनी थीं और पता न चलता था कि रथ किधर गया। यहींसे पुरवासी हताश होकर लौटे थे।

तमसातटसे भरतकुण्ड रेलवे स्टेशनसे सवार होकर प्रतापगढ़ २६ कोस पड़ेगा। वहाँसे जेठवारा थानाकी सड़क पकड़े हुए २० कोश जानेपर शृंगवेरपुर मिलता है अर्थात् तमसाके ४६ कोसपर है। सिंगौर घाट तहसील सोराँव जिला इलाहाबादमें है। यहाँ घाट है जहाँ सन्ध्या की गयी थी।

३ शृंगवेरपुरसे गंगापार होकर प्रयागके रास्तेमें एक वृक्षके नीचे तीसरा निवास हुआ—*'तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु नाइ सुरसरिहि माथ। सखा अनुज सिय सहित बन गवनु कीन्ह रघुनाथ॥'* (१०४) *'तेहि दिन भयउ बिटपतर बासू। लषन सखा सब कीन्ह सुपासू॥ प्रात प्रातकृत करि रघुराई। तीरथराज दीख प्रभु जाई॥'*

कोरई घाटसे तीन कोस दक्षिणपर चेरवा ग्राम है। यहाँ श्रीरामजूठा नामका एक तालाब है, जिसे कोइरी मुहघोईताल भी कहते हैं। यहाँ एक श्रीरामजीका मन्दिर भी है। यह तीसरा महत्तीर्थ है।

४ यहाँसे यद्यपि राजापुर होकर चित्रकूटका रास्ता नजदीक है, पर भगवान्‌को श्रीभरद्वाजजीको दर्शन देने प्रयाग जाना था, इससे वे इस रास्ते न गये हों। रामजूठातालसे प्रयाग १० कोस है।—*'तब प्रभु भरद्वाज पहिं आए। करत दंडवत मुनि उर लाए॥'* (१०५) यहाँपर रामघाट है। त्रिवेणी-स्नान है। भरद्वाज-आश्रम है।

५ भरद्वाज-आश्रमके पीछेवाली सड़कसे नैर्ऋत्यकोण दिशासे चौक होकर पश्चिमद्वारसे प्रयागसे बाहर कई रास्ते मिलते हैं। एक तो वहींसे यमुना उतरकर मानिकपुरवाली सड़कसे, दूसरा इसी पारसे राजापुरवाली सड़कसे, तीसरा पगडंडियोंद्वारा। पर इन रास्तोंसे रामजी नहीं गये। शहरसे बाहर सीधे राजरूपपुर जाइये। वहाँसे टेढ़ी-मेढ़ी रास्ता पश्चिम-दक्षिणवालीसे सराय आकिल होते हुए श्रीयमुनाजीका महिलाघाट पारकर तहसील मऊ (जिला बाँदा) में उस पारवाली डिस्ट्रिक्टबोर्डकी सड़क लीजिये, जिसपर मऊ, रामनगर, रायपुरा, वाल्मीकि-आश्रम और कर्वी सबडिविजन प्रसिद्ध स्थल हैं। मऊमें ठहरना हो तो बाबा छीतूदासका धर्मशाला वहाँ है। मऊसे रामनगर आइये। इस ग्रामके बाहर सड़कपर परम पवित्र ताल 'कुवँर दो' (कुमार द्वै) है। अर्थात् जहाँ दोनों राजकुमारोंने प्रयागसे चलकर विश्राम किया था—यह ताल प्रायः १५ बीघाकी परिधिमें लम्बा-चौड़ा है। उत्तरका घाट मोटे पत्थर और पट्टियोंसे बँधा है। पश्चिमकोणपर एक जीर्ण शिवालय है। इसमें कमल और मछलियाँ बहुत हैं। प्रयागसे यह स्थान लगभग २० कोस होगा।—*'जानी श्रमित सीय मन माहीं। घरिक बिलंब कीन्ह बटछाहीं॥'* (११४)

६ 'कुबँर दो' तालसे 'वाल्मीकि-आश्रम छः कोस है। इसके बीचमें घड़ीभर ठहरना हुआ। वहाँसे वाल्मीकिजीके स्थानपर आये। वाल्मीकिजीके यहाँ कुछ देर लगी। वहाँ उनसे स्थान पूछकर, चित्रकूटको चल दिये और चित्रकूटमें ही छठी रातको विश्राम हुआ।—*'तब रघुबीर श्रमित सिय जानी। देखि निकट बट सीतल पानी॥ तहँ बसि कंद मूल फल खाई। प्रात नहाइ चले रघुराई॥ देखत बन सर सैल सुहाए। बालमीकि आश्रम प्रभु आए॥'* (१२४। ३—५) *'......चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ। आइ नहाने सरितबर सिय समेत दोउ भाइ॥'* (१३२)

यहाँ कामदगिरि, कोटितीर्थ, देवांगना, स्फटिकशिला, भरतकूप आदि तीर्थ हैं। अनसूया-आश्रम यहाँसे कोई छः कोस होगा और भरतकूप तीन कोस।

चित्रकूटसे आगेकी यात्रा रेलपर ही रायसाहबने की। नकशेमें स्थान और उनके पासके स्टेशन दिखा दिये हैं। इनसे यात्रा करनेवाले प्रेमियोंको बहुत सुविधा होगी। नकशा खींचनेमें श्रीहरगौरीप्रसादजीके हम कृतज्ञ हैं।*

जनकु रहे पुर बासर चारी। राजकाज सब साज सँभारी॥ ६॥
सौंपि सचिव गुर भरतहि राजू। तेरहुति चले साजि सब साजू॥ ७॥

---

* नोट—जिस पुस्तकसे दूसरा संस्करण तैयार किया गया है, उसमें वह नकशा नहीं है। इससे वह यहाँ नहीं दिया जा सका।

नगर नारि नर गुर सिख मानी। बसे सुखेन रामरजधानी॥ ८॥

दो०—रामदरस लगि लोग सब करत नेम उपबास।
तजि तजि भूषन भोग सुख जिअत अवधि की आस॥ ३२२॥

अर्थ—श्रीजनकजी नगरमें चार दिन रहे। राज्यका सब कार्य और सब साजसामान सँभालकर॥ ६॥ मन्त्री, गुरुजी और श्रीभरतजीको राज्य सौंपकर अपना सब साजसामान ठीक करके तिरहुतको चल दिये॥ ७॥ नगरके स्त्री-पुरुष गुरुजीकी शिक्षा मानकर श्रीरामजीकी राजधानीमें सुखपूर्वक रहने लगे॥ ८॥ श्रीरामदर्शनके लिये सब लोग नियम और उपवास वा उपवासका नियम कर रहे हैं, वे भूषण और भोग सुखको त्याग-त्यागकर अवधिकी आशासे जी रहे हैं॥ ३२२॥

नोट—*'जनकु रहे पुर बासर……'* इति। श्रीरघुनाथजीने जो कहा था कि *'तात तुम्हारि मोरि परिजन की। चिंता गुरहि नृपहि घर बन की॥ माथे पर गुर मुनि मिथिलेसू……।'* (३१५। १-२) राजा जनकके यहाँ चार दिन रहकर राजकार्य सँभालनेसे उनके सम्बन्धके वचन चरितार्थ हुए।

नोट—२ *'सौंपि सचिव गुर भरतहि राजू।……'* इति। राजाने यह रीति बाँधी कि आज्ञा भरत दें, व्यवहार मन्त्री करें और उचित-अनुचितका निवारण गुरुजी करें। (पं०) (ख) *'नगर नारि नर गुर सिख मानी।……'* इति। यहाँ श्रीरामजीके उपर्युक्त गुरुसम्बन्धके वाक्य *'सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुर प्रसाद रखवारा॥'* (३०६। १) *'देसु कोसु परिजन परिवारू। गुर पद रजहिं लाग छरु भारू॥'* (३१५। ७) ये सब वचन चरितार्थ हुए। गुरुजीने ही नगरके निवासियोंको समझाकर बसाया कि देखो अब यह राज्य और राजधानी श्रीरामजीकी है, श्रीरामजीने अपने प्रतिनिधि रूपसे अपनी पादुकाएँ दी हैं और वचन दिया है कि पिताकी आज्ञाका पालन करके चौदह वर्षके व्यतीत होनेपर दूसरे ही दिन यहाँ आ जायँगे और राज्यकाज स्वयं करेंगे। अवधिभर श्रीभरतजी थातीरूपसे इसकी रक्षा करेंगे। अतएव तुम सब लोग सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामजीके वचनका विश्वासकर सुखपूर्वक यहाँ रहो।

नोट—३ *'रामदरस लगि……'* इति। (क) श्रीगुरुजीके इतना समझानेपर पुरवासी सुखपूर्वक बसे तो, पर श्रीरामदर्शनकी प्रतीक्षामें वे नियम और उपवास करते रहे कि जबतक वे वनवासमें कष्ट सह रहे हैं तबतक हम सब भी भूषण-भोगको ग्रहण न करेंगे, नियमपूर्वक रहेंगे, इत्यादि। इससे पुरवासियोंका श्रीरामपर अतिशय प्रेम दिखाया और गुरुके *'तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्हते ही।'* (२९१। ३) इन वचनोंको चरितार्थ किया। (ख) *'करत नेम उपबास।……'* 'अर्थात् किसीने जलका ही नियम किया, किसीने अन्नका त्याग किया, किसीने विशेष पूजा-पाठ-जपादिका नियम किया। किसीने फल और किसीने दूधका ही नियम किया। प्राय: सभी एक ही बार भोजन करते थे।

सचिव सुसेवक भरत प्रबोधे। निज निज काज पाइ सिख ओधे॥ १॥
पुनि सिख दीन्हि बोलि लघु भाई। सौंपी सकल मातु सेवकाई॥ २॥
भूसुर बोलि भरत कर जोरे। करि प्रनाम बर[1] बिनय निहोरे॥ ३॥
ऊँच नीच कारजु भल पोचू। आयसु देब न करब सँकोचू॥ ४॥
परिजन पुरजन प्रजा बोलाए। समाधानु करि सुबस बसाए॥ ५॥

शब्दार्थ—'ओधना' (सं० आबन्धन)=काममें लगना, आबद्ध होना।[2]

१-'बय' पाठ राजापुर और काशीका है। अर्थ रा० प्र० ने यह किया है—'अवस्थासम (के अनुसार) विनय और निहोरा किया'। भा० दा० ने 'बर' पाठ दिया है।

२-रा० प०—'ओधे'=उधियाय लगे अर्थात् आज्ञारूप वायुसे प्रेरित हो सब अपने-अपने काममें उड़ि लगे। (रा० प्र०) २—'ओधे' शब्दसे हर्षरहित होना सूचित किया।—(पु० रा० कु०)

अर्थ—श्रीभरतजीने मन्त्रियों और सुसेवकोंको समझाया। वे सब शिक्षा पाकर अपने-अपने काममें लगे॥ १॥ फिर छोटे भाईको बुलाकर उपदेश किया और सब माताओंकी सेवा उनको सौंपी॥ २॥ ब्राह्मणोंको बुलाकर भरतजीने हाथ जोड़कर प्रणाम करके सुन्दर विनयसे प्रार्थना की (कि)॥ ३॥ ऊँचा-नीचा, भला-बुरा जो भी काम हो उसके लिये आज्ञा दीजियेगा, संकोच न कीजियेगा,॥ ४॥ उसके बाद परिजन, पुरजन और प्रजाको बुलाया और सबका सन्तोष करके सुखपूर्वक स्वतन्त्ररूपसे बसाया॥ ५॥

वि० त्रि०—*'सचिव……ओधे'* इति। समझाया कि ***'जब लगि प्रभु आवत नहीं, तब लगि सब अधिकार। जो जाको जैसो रह्यौ सो सब करै सँभार॥ सम्पति रघुपतिकी सकल, राजपाट धनधाम। योगक्षेम बाढ़ै सदा, समुझि सँभारो काम। दुखी प्रजा रघुपति बिरह, करहु तासु अनुहार॥ करहि सकल सतिभावसे। वेदविहित आचार॥ होय न पावै पाप कहुँ करिय नित्य यह सोध। रहै प्रजा सुख शान्तिसे बढ़े न कतहुँ बिरोध। सेवक धर्म सँभारिये सजग होय सब कोय। परमधर्म सबको यथा स्वामीका हित होय॥'***

नोट—१ ***'ऊँच नीच कारजु भल पोचू……'*** इति। ऊँचा-नीचा, बुरा-भला, यह मुहावरा है। जिसका भाव यह है कि जो कुछ भी काम हो, कैसा भी काम हो उसके कहनेमें संकोच न कीजियेगा, मैं आपका सब कार्य करूँगा। (पु० रा० कु०) [नीचकार्य जैसे नीचोंको दण्ड देना। (पं०)]

नोट—२ ***'समाधान करि सुबस बसाए'***। वाल्मीकिजी (सर्ग ११५।१५-१६ में) लिखते हैं कि 'दुःखसंतप्त भरतजी पादुकारूपी थातीको माथेपर रखकर प्रजाओंसे बोले कि ये चरणपादुकाएँ हमारे गुरु रामचन्द्रजीके प्रतिनिधि हैं, इन्हींसे राज्यमें धर्म स्थित रहेगा। श्रीरामजीसे भी उन्होंने यही कहा था कि ये ही सबका योगक्षेम करेंगे। '**एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः।**' (२।११२।२१) भरतजी यही विश्वास सब प्रजाको दिला रहे हैं और यह भी कि जो कार्य होगा वह सब अवधिभर इन्हींसे निकलेगा। कोई कष्ट किसीको न होगा, ये सब प्रकार रक्षा करेंगे और मैं आज्ञानुसार सेवा करता रहूँगा। १४ वर्षपर प्रभु अवश्य लौटेंगे इसमें संदेह नहीं, वे सबको वचन दे चुके हैं कि वनसे लौटनेपर वे राजा होंगे।—'**अनेन धर्मशीलेन वनात्प्रत्यागतः पुनः। भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः॥**' (सर्ग १११।३१)

अ० रा० में मिलता हुआ श्लोक यह है—'**पौरजानपदान्सर्वानयोध्यायामुदारधीः। स्थापयित्वा यथान्यायं नन्दिग्रामं ययौ स्वयम्॥**' (२।९।७०-७१)

सानुज गे गुर गेहँ बहोरी। करि दंडवत कहत कर जोरी॥ ६॥
आयसु होइ त रहउँ सनेमा। बोले मुनि तन पुलकि सपेमा॥ ७॥
समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई॥ ८॥

दो०—सुनि सिख पाइ असीस बड़ि गनक बोलि दिन साधि।
सिंघासनु प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि॥ ३२३॥

शब्दार्थ—'**गनक**'=ज्योतिषी, यथा—***'गनी जनक के गनकन्ह जोई।'*** **निरुपाधि**=निरुपद्रव-भावसे, निश्छल-भावसे, प्रकटरूपसे, धूमधामसे, सारी प्रजाको शरीक करके।

अर्थ—फिर श्रीभरतजी छोटे भाईसहित गुरुजीके घर गये और दण्डवत् प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले॥ ६॥ आज्ञा हो तो नियमपूर्वक रहूँ। श्रीवसिष्ठ मुनि शरीरसे पुलकित होकर प्रेमपूर्वक बोले॥ ७॥ हे भरत, तुम जो कुछ भी समझोगे, कहोगे या करोगे वही संसारमें धर्मका सार होगा॥ ८॥ श्रीभरतजीने यह सुनकर और शिक्षा तथा बड़ा आशीर्वाद पाकर ज्योतिषियोंको बुलाकर दिन (मुहूर्त) शोधवाकर उन्होंने प्रभुकी चरणपादुकाओंको सिंहासनपर धूमधामसे पधराया॥ ३२३॥

नोट—१ ***'आयसु होइ……'*** इति। मिलान कीजिये—'**नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽत्र वः। तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना॥ २॥ रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महायशाः॥ ३॥ सुभृशं श्लाघनीयं**

च यदुक्तं भरत त्वया॥ ५॥ ""मार्गमार्यं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान्॥ ६॥ (वाल्मी० ११५) अर्थात् गुरुजीसे भरतजीने कहा कि आज्ञा दीजिये मैं नन्दिग्रामको जाता हूँ। वे बोले कि भरत तुम्हारा वचन प्रशंसनीय है। तुम उत्तम मार्गपर जा रहे हो। कौन तुम्हारा अनुमोदन न करेगा? गुरुकी आज्ञा पाकर माताओंकी आज्ञा लेकर सिरपर खड़ाऊँ रखकर नन्दिग्रामको गये। नन्दिग्राम क्यों गये यह भी वहीं बताया है कि वहाँ श्रीरामजीके न रहनेके समस्त दुःखोंका मैं अनुभव करूँगा। राजा स्वर्गगामी हुए और मेरे गुरु वनवास कर रहे हैं। मैं वहीं रहकर उनकी प्रतीक्षा करूँगा, क्योंकि वे यशस्वी श्रीरामचन्द्रजी ही राजा हैं। मानसमें जो उन्होंने कहा है—***'सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरम कठोरा॥'***—उसको चरितार्थ करेंगे।

नोट—२ ***'धर्म सार जग होइहि सोई',*** यथा—'**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥**' इति। (गीता ३। २१) श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं संसार उसको प्रमाण मानकर उसके पीछे चलता है। तुम्हारे उत्तम आचरणोंको देख संसार उसको प्रमाण मानेगा।

नोट—३ ***'सुनि सिख पाइ असीस""'*** इति। (क) यहाँ शिक्षा और आशीर्वाद दोनों कहते हैं। अतः वसिष्ठजीके ***'समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरमसार जग होइहि सोई॥'*** इसमें शिक्षा भी है, आशीर्वाद भी है। वर्तमानके लिये शिक्षा है कि जो बात तुम समझ रहे हो कि राज्य पिता मुझे दे गये हैं, उसे विधिके अर्पण कर दूँ और जो कह रहे हो कि 'नियमके साथ रहूँ', जबतक सरकार भोगको स्वीकार नहीं करते तबतक मैं भी उससे दूर रहूँ और जो तुम करनेवाले हो, सरकारकी पादुकाको सिंहासनारूढ़ करना चाहते हो, यह सब धर्मसार है, यह तो हुई शिक्षा और भविष्यके लिये यही बड़ा भारी आशीर्वाद है कि जो कुछ तुम समझोगे, कहोगे, करोगे वही संसारके लिये धर्मसार होगा। तुम्हारी अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही धर्ममें प्रमाण होगी। यथा—'**सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः-करणप्रवृत्तयः**'। (वि० त्रि०) (ख) ***'गनक बोलि'*** इति। पंजाबीजीका मत है कि मुहूर्तका विचार मर्यादा रखने और ज्योतिषियोंके सम्मानार्थ किया गया, नहीं तो उसकी आवश्यकता न थी। (ग) ***'सिंघासन"" बैठारे'*** इति। ज्येष्ठ शु० १० गुरुवारको सिंहासनपर पधराया। इससे प्रजाको भी सन्तोष हुआ होगा, क्योंकि इसका भाव ही यह है कि आजहीसे श्रीराम ही राजा हैं। (घ) ***'बैठारे'*** इति। फिर भरतजीने पादुकाके सिंहासनारूढ़ करनेके विधानमें वसिष्ठजीको सम्मिलित नहीं किया, यह सोचकर कि स्वयं सरकारको सिंहासनारूढ़ वसिष्ठजी करेंगे। (वि० त्रि०)

नोट—४ ***'निरुपाधि'*** इति। (क) रा० प्र० 'निरुपाधि' को 'पादुका' का विशेषण मानता है। प्रायः अन्य टीकाकारोंने इसे 'बैठारे' के साथ रखा है। (ख) निरुपाधिसे जनाया कि श्रीरामजीके अभिषेकमें उपाधि हुई पर पादुकाओंके अभिषेकमें कोई उपाधि नहीं है (पं० रा० कु०)। (ग) उपाधि धर्म चिन्ताको कहते हैं। यथा—'**उपाधिनां धर्मचिन्ता' इत्यमरः**। भाव यह कि पादुकाओंको सिंहासनपर बिठाकर भरतजी स्वधर्म-हानिकी चिन्तासे रहित हुए, सेवक-धर्ममें बाधा होनेकी चिन्ता मिट गयी।

गौड़जी—***'बैठारे निरुपाधि'*** इति। प्रभुसे पायी हुई पादुका भरतजीने नन्दिग्राममें सिंहासनपर पधरायी और आठों पहर उसकी पूजा-सेवामें रहते थे। श्रीरामजीकी और पादुका जो महलमें थी उसे धूमधामसे प्रजाका खटका मिटानेके लिये शुभ मुहूर्तपर राज्य-सिंहासनपर बिठाकर सादर उसका छत्र-चवँर थामा। दी हुई पादुका नगरमें नहीं ले गये। उसका नगरमें जाना और प्रभुका जाना एक बात थी।

भरत-रहनि-प्रकरण

राममातु गुरपद सिरु नाई। प्रभुपदपीठ रजायसु पाई॥ १॥
नंदिगाँव करि परनकुटीरा। कीन्ह निवासु धरम धुर धीरा॥ २॥

जटाजूट सिर मुनिपट धारी। महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥ ३॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषि धरम सपेमा॥ ४॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तिन तूरी॥ ५॥

शब्दार्थ—**नन्दिगाँव**—श्रीअयोध्याजीसे पाँच कोसपर एक गाँव है, आज भी यह बड़ा रमणीक लगता है। **खनि**=खोदकर। **तिन तूरी**=तिनका तोड़े हुए-से, यथा—*'देह गेह सब सन तृन तोरे।'* (७०। ६) देखिये।

अर्थ—श्रीरामजीकी माता और श्रीगुरुजीके चरणोंमें माथा नवाकर और प्रभुके खड़ाऊँकी आज्ञा पाकर नन्दिग्राममें पर्णकुटी बनाकर धर्मकी धुरी धारण करनेमें धीर भरतजीने निवास किया॥ १-२॥ सिरपर जटाओंका जूड़ा और शरीरमें मुनिवस्त्र धारण किया, पृथ्वीको खोदकर उसमें कुशकी साथरी सजाई॥ ३॥ भोजन, वस्त्र, बरतन, व्रत आदिका नियम करते हैं। ऋषियोंके कठिन धर्मोंका प्रेमपूर्वक आचरण करते हैं॥ ४॥ भूषण, वस्त्र, भोग और सुख-समूहको मन, तन, वचनसे तिनका-सरीखा तोड़कर (उन्होंने) त्याग दिया॥ ५॥

नोट—१ ***'प्रभुपदपीठ रजायसु पाई'*** से भी जनाया कि श्रीरामजीके सब पदार्थ भी सच्चिदानन्दरूप हैं। प्रसंगभरमें गोस्वामीजीने यह बात दिखायी है। आदिमें यहाँ ***'प्रभुपदपीठ रजायसु पाई'*** कहा और अन्तमें ***'माँगि माँगि आयसु करत······'*** कहा। गीतावलीमें 'मुद्रिका' से श्रीसीताजीका बात करना लिखा है। विशेष ३१६ (८) में देखिये।

नोट—२ ***'नंदिगाँव करि परनकुटीरा······।'*** नन्दिग्राम नगरके बाहर है। उसे वनके तुल्य समझकर वहाँ रहे। श्रीरामजी घरमें नहीं, महलमें नहीं, अत: वे भी घर और महल छोड़ एकान्तमें रहे। श्रीराम नगरसे दक्षिणको गये, यह भी दक्षिण ओर गये जिसमें श्रीरामजी आवें तो अगवानी वहींसे करें। श्रीराम पर्णशालामें रहते हैं, अतः इन्होंने भी पर्णकुटी बनायी। यह सब रामोपासकोंके कठिन धर्म हैं; इनका पालन किया; ***'धर्म धुर धीर'*** कहा। काष्ठजिह्वा स्वामी कहते हैं कि 'नन्दी' धर्मका स्वरूप है, धर्म चतुष्पाद है, धर्मकी ध्वजामें वृषका स्वरूप रहता है, इसीसे 'नन्दिग्राम' पसन्द किया। नन्दिग्राममें निवास करनेका कारण मुख्य यह जान पड़ता है कि वे साथ नहीं गये तो जहाँ रामजी प्रथम रात्रि ठहरे थे उसके पास ही अर्थात् वनकी पहली मंजिलमें ही ठहरेंगे। यह भी वनवास ही हुआ; क्योंकि श्रीरामजीका यह निवास भी वनवासका प्रथम दिन गिना गया है। नन्दिग्राम तमसा-तीरके निवास-स्थानसे लगभग कोशभर है।

नोट—३ वाल्मीकीयसे मिलान कीजिये। वे लिखते हैं कि वल्कल और जटा धारण करके मुनिवेष बनाकर भरतजी सैन्य-सहित नन्दिग्राममें रहने लगे। पादुकाओंपर स्वयं छत्र लगाया, व्यजन आदि धारण किया, जैसे रामराज्यपर श्रीरामजीके छत्र, व्यजन, चँवर आदि धारण किया गया। राज्य-शासन-सम्बन्धी कार्योंको वे पादुकासे निवेदन किया करते, पादुकाका अभिषेक करके आप उनके अधीन ही सदा राज्य-कार्य करते थे। जो भी कार्य होता था, जो कुछ उपहार आता यह सब पादुकाओंको प्रथम निवेदन कर देते। यथा—**'स वल्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः। नन्दिग्रामेऽवसद्धीरः ससैन्यो भरतस्तदा॥ सवालव्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयम्। भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां निवेदयन्॥ ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके। तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा॥ तदा हि यत्कार्यमुपैति किंचिदुपायनं चोपहृतं महार्हम्। स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य चकार पश्चाद् भरतो यथावत्॥'** (वाल्मी० ११५। २३, २५—२७)

नोट—४ ***'महि खनि कुस साँथरी सँवारी'*** इति। 'धर्मधुर-धीर' कहा; उसीका निर्वाह आगेतक किया है। ***'सिर भर जाऊँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरम कठोरा॥'*** यह भरतजीका वाक्य है अर्थात् जहाँ स्वामीका चरण पड़े वहाँ सेवकका सिर होना चाहिये, चरणरज जिसमें सिरपर रहे, पैरोंके नीचे न पड़े। उसीका यहाँ निर्वाह दिखाया। श्रीरामजी पलंगपर सोवें तब उनसे नीचे हम सोते, जब वे पृथ्वीपर सोते हैं तब हम उसपर कैसे सोवें? अत: दोनों प्रकारसे जमीन खोदकर रहनेसे धर्म सधेगा।

वंदन पाठकजी—महि खोदनेमें तीन भाव··१—स्वामी-सेवक, यथा—***'कहहु न कहाँ चरन कहँ***

माथा॥' २—अन्न जमनेवाली धरा निकालकर रहे, यहाँतक त्याग है। ३—जीते ही महिमें धँस गये, लोकको मुँह न दिखाया।

रा० प०—इतना खोदा कि कैसे भी खड़े हों या बैठें हमारा सिर रामचरणसे नीचे ही रहे।

नोट—५ (क) ***'कठिन रिषि धरम'*** कहकर जनाया कि ऋषियोंके सभी धर्म कठिन हैं; पर ये राजकुमार होकर ऐसे धर्मका पालन करते हैं जो ऋषियोंके लिये भी कठिन हैं। ***'सपेमा'*** अर्थात् इन धर्मोंका पालन मनमें दु:ख मानकर नहीं वरन् प्रेमसे करते हैं। जिस धर्ममें प्रेम या श्रद्धा न हो वह निष्फल हो जाता है, ***'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।'*** (७। ९०। ४) (ख) ***'मन तन बचन तजे'*** से जनाया कि कुछ लोगोंके दिखानेके लिये या लोकाचार-हेतु नहीं त्याग किया, वरन् रामप्रेमके कारण—(पं०)। ***'तिन तूरी'***— ६९ (६) देखिये।

अवध राजु सुरराजु सिहाई। दसरथ धनु सुनि धनद लजाई॥ ६॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥ ७॥
रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥ ८॥

दो०—राम पेम भाजन भरतु बड़े न येहि करतूति।
चातक हंस सराहिअत टेंक बिबेक बिभूति॥ ३२४॥

शब्दार्थ—'**चंपक**'=चम्पा। मँझोले कदका पेड़ जिसमें हलके पीले रंगके बड़े तीव्र सुगन्धदार फूल होते हैं। यह दो प्रकारका होता है, एक साधारण, दूसरा कटहलिया, जिसके फूलोंमें पके कटहलकी-सी सुगन्ध होती है। यह प्रसिद्ध है कि भौंरे इसके फूलपर नहीं बैठते। '**चंचरीक**'=भौंरा। '**बिलास**'—ऐश्वर्य। '**बमन**'=कै, उलटी, कै किया हुआ पदार्थ। '**बिभूति**'=अलौकिक शक्ति।

अर्थ—देवराज इन्द्र भी जिस अवधराज्यको ललचाते हैं तथा दशरथजीकी सम्पत्तिको सुनकर कुबेर भी लज्जित होते हैं॥ ६॥ उसी नगरमें भी श्रीभरतजी ममत्वरहित होकर बस रहे हैं, जैसे भौंरा चम्पाके बागमें (नित्य ही, अनासक्त होकर रहता है)॥ ७॥ श्रीरामजीके प्रेमी बड़भागी लोग लक्ष्मीके विलासको वमनके समान त्याग देते हैं॥ ८॥ श्रीभरतजी तो स्वयं श्रीरामजीके प्रेमके पात्र हैं। कुछ इस करनीसे वे बड़े नहीं हुए (अर्थात् इसमें उनकी कोई बड़ाई नहीं, कोई आश्चर्यकी बात नहीं, ऐसा उनमें होना स्वाभाविक चाहिये ही)। चातकके टेक और हंसके विवेककी अलौकिक शक्ति क्योंकर सराहनीय है। (अर्थात् नहीं, वह तो उनका स्वभाव ही है। जो दूसरेमें वैसा टेक या विवेक हो तो उसकी अवश्य ही सराहना होगी)॥ ३२४॥*

'चंचरीक जिमि चंपक बागा' 'रमा बिलास''''''''बमन जिमि' इति।

यहाँ दो दृष्टान्त दिये गये। लोग दूसरे दृष्टान्तसे कुछ हक्का-बक्का-से रह जाते हैं। वे सोचते हैं कि 'रमा' भगवान् विष्णुकी शक्ति हैं। उनका नाम यहाँ देकर उनके विलासको वमनसे उपमा दिया जाना उचित नहीं। इसपर कुछ महानुभावोंके भाव नीचे दिये जाते हैं—

१ पु० रा० कु०—जिस सम्पदासे रामका सम्बन्ध है उसका त्याग वमनकी नाईं कहना उचित नहीं जान पड़ता। ***'संपति सब रघुपतिकै आही।'*** (१८६। ३) यह स्वयं भरतजीका वचनामृत है, इसीलिये पूज्य कविने श्रीभरतके त्यागमें 'चंचरीक' और 'चंपकबाग' का दृष्टान्त दिया। अवधराजका ऐश्वर्य परम सुगन्धित चम्पाके बागके समान है। जैसे भौंरा चम्पापर नहीं बैठता, उसके रसको नहीं लेता, वैसे ही अवध ऐसे विभूति-परिपूर्ण-नगरमें रहते हुए भी श्रीभरतजी उससे विमुख रहते हैं। यहाँ कहा ***'बसत भरत बिनु रागा'*** और दूसरा दृष्टान्त अन्य रामानुरागियोंके अन्य सम्पदाके त्यागके सम्बन्धसे दिया गया। अन्य सम्पदा अन्य रामानुरागी वमनकी तरह त्याग देते हैं।

---

*अर्थान्तर—(१) पपीहा और हंसकी प्रशंसा उनके टेक और विवेकसे ही होती है। (दीनजी) (२) टेक, विवेककी महिमासे चातक और हंस भी सराहे जाते हैं। (पं०) (३) टेकसे चातककी और नीर-क्षीर-विवेककी विभूति (शक्ति) से हंसकी भी सराहना होती है। (मानसांक)

२ खर्रा—यहाँ दो दृष्टान्त देकर भीतर-बाहर दोनों प्रकारसे त्याग दिखाया। *'बसत बिनु रागा'* में भीतर (अन्तःकरण) से त्याग जनाया और *'तजत बमन जिमि'* से बाहरसे (बाह्य) त्याग जनाया।

३ शीला—(क) अवधराज सम्पत्तिको उत्तम पदार्थ 'चम्पकबाग' कहा और अपर रमाविलासको अनुत्तम कहा। क्योंकि अवधराज *'संपति सब रघुपति कै आही'*। स्वामीकी सम्पत्तिका भोग करना सेवक-धर्मके विरुद्ध है अतः उसको नहीं भोगते। जब श्रीरामजी इसे भोग करेंगे तब श्रीभरतजी इसे प्रसादरूपसे ग्रहण करेंगे। दास बिना भोग लगाये नहीं पाते। अभी श्रीरामजी कन्द-मूल-फल भोजन करते हैं, अतः श्रीभरतजी भी उसीको ग्रहण किये हुए हैं। (ख)—पुनः, रमाविलासका वमन कहा। क्योंकि जैसे कोई रामानुरागी वैराग्य पाकर रमाविलासका त्यागकर, ईश्वरप्राप्ति-हेतु वनमें वास करें तो अविद्या माया विघ्नके लिये विभूति बढ़ाती है। यथा—*'बिघ्न अनेक करइ तब माया॥ रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥'* (७। ११८) पर बड़भागी रामानुरागी, यह विचारकर कि हम इसे प्रथम ही घरमें भोग करके त्यागकर वनमें आये हैं; भोग नहीं करते और जो करते हैं वे वांताशी कहलाते हैं (कुत्ते ही कै की हुई वस्तुको ग्रहण करते हैं। त्यागकर फिर ग्रहण करनेवाले श्वानसदृश हैं)।

४ पं०—(क) *'बसत बिनु रागा'* से भरतके त्यागकी महिमा दिखाते हैं। वनमें बसकर पदार्थोंका मोह छोड़ना सुगम है, पर सम्पदामें रहकर सम्पदासे अलिप्त होना अगम्य है; सो भरत कर रहे हैं। यदि कहो कि भरतने कैसे निर्वाह किया तो उसपर आगे नीति कहते हैं। (ख)—रामप्रेमीको रामके स्वरूपानन्दके आगे यह विषयानन्द अति तुच्छ है अथवा, लक्ष्मी माता है; माताके भोग पुत्रोंको अति त्याज्य हैं; इसीसे संत इन सुखोंको नहीं भोगते, यथा—*'तुलसी स्त्री रंककी अपनी कहै न कोइ। ठाकुरकी अपनी कहे ताते ख्वारी होइ॥'*

५ प० प० प्र०—विलास शब्दका अर्थ अमरकोशमें स्त्रियोंके हावोंमेंसे एक बताया है—'**श्रीणां विलास-विब्वोकविभ्रली ललितं तथा। हेला लीलेत्यमी हावाः क्रियाः शृंगारभावजाः॥**' (१। ७। ३१) अतः विलास= शृंगारभावकी एक क्रिया। '**विलासोऽङ्गविशेषो यः प्रिया सावासनादिषु तत्र च प्रिया समीपगमने यः स्थानासनगमनविलोकितेषु विकारोऽकस्माच्च क्रोधस्मितचमत्कारमुखविक्लवनं स विलासः।**'—भाव कि लक्ष्मीरूपी स्त्रीके प्राप्तिके प्रयत्न वमनवत् त्याग दिये और शृंगाररसके भोगोंका भी वमनवत् त्याग ही किया। 'विलास' का अर्थ सम्पत्ति या ऐश्वर्य कोषोंमें नहीं है।

['विलास' का अर्थ टीकाकारोंने यह किया है—(१) लक्ष्मीके भोग; विषयानन्द (पं०)। (२) लक्ष्मीसम्बन्धी भोगविलास वा भोग। (वीर, नं० प०) (३) राजश्री आदि लौकिक ऐश्वर्य (वै०)। (४) भोगैश्वर्य। (मानसांक) श० सा० में 'सुखभोग', 'संयोगके समयमें अनेक हावभाव अथवा प्रेमसूचक क्रियाएँ' इत्यादि अर्थ दिये हैं]

६ किसीका मत है कि 'चम्पावृक्ष कामदेवकी गद्दी है और भँवर कामका सेवक है, अतः सेवक स्वामीकी गद्दीपर कैसे विराजे? वैसे ही अवध श्रीरामकी गद्दी है, भरत उसको नहीं भोग करते।' और भी ऐसे अनेक कारण चम्पाके पास भँवरके न जानेके कहते हैं पर वह सब पाण्डित्य है, कल्पनामात्र है। उनसे यहाँ प्रयोजन नहीं, अतः वे भाव यहाँ नहीं दिये जाते।

नोट—ऐश्वर्यको रमाविलास कहा; क्योंकि लक्ष्मीकी कृपाकटाक्षसे सब भोगैश्वर्य होता है, यथा—*'बसइ नगर जेहि लच्छि करि कपट नारि बर बेषु। तेहि पुर कै सोभा कहत·······।'* (१। २८९) लक्ष्मीको चंचल और हरजाई सब कहते हैं, अतः उसके विलासका त्याग किया ही चाहे। पुनः, जैसे बालकाण्डमें कहा कि *'बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिय रमा सम किमि बैदेही॥'* श्रीसीताजीके आगे रमा तुच्छ वैसे ही श्रीसीता-रामानुरागियोंके लिये रमाविलास घृणाकी वस्तु है। कै करनेपर उसकी ओर देखा नहीं जाता, उसका स्मरणमात्र जीको खराब कर देता है, वैसे ही रामानुरागी सज्जन ऐश्वर्यको त्यागकर मनसे अथवा नेत्रोंसे भी उसकी ओर दृष्टि नहीं करते। देखिये ऊपर अर्धाली—*'अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथधनु सुनि धनदु*

लजाई॥' में दो बातें कही गयी हैं एक तो ***'अवधराज',*** दूसरे ***'दसरथधन'*** उसी विचारसे उनके दो दृष्टान्त दिये गये। 'अवधराज' जिसकी इन्द्र ईर्ष्या करें ऐसे 'पुर' में रहकर भी श्रीभरतजीको उसकी चाह नहीं और जिस धनको देख कुबेर ईर्ष्या करें उसकी ओर ये तन-मनसे दृष्टि भी नहीं करते।' 'रमाविलास' दशरथ-धनकी उपमा है। कविका सँभाल देखिये। वे 'रामधन' को 'रमा-विलास' नहीं कह रहे हैं। 'रामधन' का त्याग वमनकी तरह कहना उनको भी नहीं रुचा।

'चातक हंस सराहियत टेक बिबेक बिभूति'

१—इसका अर्थ जो ऊपर दिया गया वह मुं० रोशनलालकी टीकामें है और रा० प्र० ने भी दिया है। काकोक्तिसे अर्थ करनेसे पूर्वार्द्ध संगत हो जाती है, नहीं तो अर्थ ठीक नहीं बैठता।—'उनके प्रेमकी करतूति क्योंकर बड़ी कही जाय, जैसे चातककी टेक और हंसका विवेक क्योंकर सराहिये'— (पाँ०)। रा० प्र० कार कहते हैं कि 'टेकका चातक और विवेकका हंस स्वरूप ही है। सराहा तो वह जाता है जो औरोंकी भली करतूतको करे।'

२ खर्रा—भाव यह है कि भरतजी रामप्रेमपात्र होनेसे ही बड़े हैं और रहेंगे, इस करतूतसे कुछ वे बड़े न होंगे, यह तो उस प्रेमका ही सहज स्वभाव है (नोट—चातककी टेक और हंसका विवेक पूर्व लिखे जा चुके हैं। यहाँ काव्यार्थापत्ति और यथासंख्य अलंकार हैं)।

३ दीनजी—इस कर्तव्यसे भरतका कोई बड़प्पन नहीं है; क्योंकि पपीहा और हंसकी प्रशंसा उनके टेक और विवेकसे ही होती है। अर्थात् यदि चातक स्वातिबुंदकी टेक और हंस क्षीरनीर विवरण न करे तो न तो उनकी सराहना होगी और न वे चातक और हंस कहलायेंगे। इसी प्रकार भरतका ऐसा करना स्वभावसिद्ध है।

४ श्रीबैजनाथजी—बड़भागी रामानुरागी रमाविलासका वमनके समान त्याग करते हैं, यह तो लौकिक रामानुरागियोंकी बात है और श्रीभरतजी तो (श्रीरामजीके) एक अंश हैं और श्रीरामप्रेमके पात्र हैं, उनका ऐश्वर्य-त्याग करना कोई बड़प्पनकी करतूत नहीं है; क्योंकि यह तो उनका साधारण धर्म है। तब प्रशंसा करनेका क्या हेतु है? उत्तर यह है कि यह भी रीति है कि जिसमें जो साधारण भी धर्म होता है उसकी सराहना की जाती है। जैसे चातककी एक स्वातिबुंदकी टेक और हंसकी क्षीर-नीर-विवरण-विवेक-विभूति सराही जाती है वैसे ही साधारण धर्म विषय-वैराग्यकी सराहना भरतजीकी की जाती है।

५ वि० त्रि०—जब रामानुरागी रमाविलासको वमनकी भाँति त्याग देते हैं तो समृद्ध राज्यमें उन भरतजीका चम्पक बागमें चंचरीककी भाँति रहना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, जिनके अनुरागी स्वयं रामचन्द्र हैं तथा—***'जग जप राम राम जप जेही।'*** टेक और विवेकके लिये भी भरत ऐसेकी सराहना नहीं है, इसके लिये तो चातक-हंसकी सराहना करनी चाहिये कि पक्षी होनेपर भी इनमें टेक और विवेककी विभूति पायी जाती है।

देह दिनहु दिन दूबरि होई। घटइ तेजु बल मुख छबि सोई॥ १॥
नित नव रामपेम पनु पीना। बढ़त धरम दलु मन न मलीना॥ २॥
जिमि जलु निघटत सरद प्रकासे। बिलसत बेतस बनज बिकासे॥ ३॥
सम दम संजम नियम उपासा। नखत भरत हियँ बिमल अकासा॥ ४॥
ध्रुव बिस्वासु अवधि राका सी। स्वामि सुरति सुरबीथि बिकासी॥ ५॥
रामपेम-बिधु अचल अदोषा। सहित समाज सोह नित चोखा॥ ६॥

शब्दार्थ—**पीन**=मोटा, पुष्ट। **निघटता**=घटता है। [यह फर्रूखाबादकी बोली है—(दीनजी)]। घट धातुके अर्थ हैं—(१) करना, यत्न करना। (२) संयुक्त करना, मिलाना, जोड़ना, जुटना। (३) हिंसा करना, मार डालना। (४) चमकना। उपसर्गोंके लगानेसे अर्थमें बहुत फेरफार हो जाता है। **निघट**=कम होना।

घटइ=चमकइ, बिकसइ।=चमकता है, बढ़ता है। प्रकाश=विकास। **बेतस**=आकाश।=बेंत। **सुरति**=स्मरण, तैलधारावत्, स्मरण, स्मृति। **सुरबीथी**=नक्षत्रोंका मार्ग। आकाशगंगा—(दीनजी)। बहुत-से तारे मिले हुए आकाशमें दूधिया रास्ता-सा बनाये दीखते हैं वही सुरबीथी है। ध्रुवसे लेकर मूल नक्षत्रतक उत्तर-दक्षिणमें सुरबीथी है। **चोखा**=सुन्दर और पूर्ण।

अर्थ—श्रीभरतजीका शरीर दिन-दिन दुबला होता जाता है, अन्न, घृत आदिसे उत्पन्न होनेवाला मेद अर्थात् तेज घट रहा है और बल एवं मुखकी कान्ति वैसी ही बनी है॥ १॥ रामप्रेमका प्रण नित्य नया और पुष्ट होता है। धर्मका दल नित्य नया बढ़ता गया, मन मलिन नहीं होता अर्थात् स्वच्छ है॥ २॥ जैसे शरद-ऋतुके प्रकाशसे जल घटता है, आकाश वा बेंत शोभित होता है और कमल खिलते हैं॥ ३॥ शम, दम, संयम, नियम, उपवास भरतजीके हृदयरूपी निर्मल आकाशके तारागण या नक्षत्र हैं॥ ४॥ विश्वास ध्रुव नक्षत्र है, अवधि पूर्णिमा है। स्वामीकी सुरति सुरबीथी-सरीखी सुशोभित है॥ ५॥ श्रीरामप्रेमरूपी अचल और दोषरहित चन्द्रमा समाजसहित नित्य पूर्ण और सुन्दर सोह रहा है॥ ६॥

पु० रा० कु०—*'घटइ तेजु बल मुख छबि सोई'* इति। गीतावलीमें भी ऐसा ही है। परंतु यह विरुद्ध है कि तपसे तेज घटे, तपसे तो तेज बढ़ता है। यथा—*'बिनु तप तेज कि कर बिसतारा।'* (७। ९०। ५) और भरतजीका बल हनुमान्‌जी भली प्रकार जानते हैं, यथा—*'चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवउँ तोहि जहँ कृपा निकेता॥'* (६। ५९) तो फिर तेज और बलका घटना कैसे कहा जा सकता है? दूसरा विरोध यह होता है कि आगे *'बिलसत बेतस.......'* यह दृष्टान्त तेज बढ़नेका दिया है तब यहाँ 'घटइ' कैसा?

२—राजापुरकी पोथीमें यही पाठ है। अर्थमें उलझन पड़नेसे ही चाहे विद्वानोंने 'घट न' पाठ कर दिया हो। चाहे पूज्य कविने ही पीछे बदल दिया हो। पर गीतावलीमें यही पाठ होनेसे कविका सोच-समझकर ही यह पाठ देना निश्चित होता है या यहाँ 'घटना' अर्थ नहीं है। घटना क्रियाके और भी प्रयोग आये हैं, यथा—*'सो सब भाँति घटिहि सेवकाई।'* (२५८। ५) *'सब बिधि घटब काज मैं तोरे'* (कि० ७) इसी प्रकार यहाँ भी *'घटइ'* का अर्थ संयुक्त होना अभिप्रेत होगा। ऐसा अर्थ हो सकता है कि 'देह दिन-दिन दुबली होती है, यही घटती है और सब तेज बल एवं मुखकी छबि वही है' पर गीतावलीमें 'घटत' 'तेज' के पहले है, जिससे 'घटइ' तेजकी ही क्रिया सिद्ध होती है। अतः जो शब्दार्थमें 'घट' धातुके अर्थ लिखते हैं उसीके अनुसार यहाँ अर्थ है।*

३ रा० प्र० ने यों अर्थ किया है—'मुखकी छबि वैसी ही है और तेजबल क्या घटता है अर्थात् नहीं। अर्थात् वे काकोक्ति मानकर विपरीत अर्थ निकालते हैं। 'घट न' में तो अर्थ स्पष्ट ही है।

४ श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजी लिखते हैं कि संस्कृतकोषमें 'तेज' का अर्थ (अन्न, घृत आदिसे उत्पन्न होनेवाला) भेद मिलता है। यह अर्थ लेनेसे 'घटइ' के अर्थमें भी किसी प्रकारकी खींचतान नहीं करनी पड़ती।—(यह अर्थ ग्रहणयोग्य है)।

नोट—१ *'बढ़त धरम दलु'* इति। धर्मकी सेना, यथा—*'जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥ जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥ दान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥'* (४। ४९)—ये सब धर्म-दल हैं। (प० प० प्र०) *'मन न मलीना'* से जनाया कि धर्म करनेमें श्रद्धा और उत्साह नित्य नवीन बना रहता है। साथ ही धर्मका यह फल भी है।

नोट—२ *'जिमि जलु निघटत...'* इति। शरद्-ऋतुमें जल घटता है और निर्मल हो जाता है। यथा—*'सरिता सर निर्मल जल सोहा।', 'रस रस सूख सरित सर पानी'* (४। १६। ४-५)। वैसे ही श्रीरामभक्ति प्रकाशसे भरतजीकी देह दुबली होती है पर तेज बढ़ता है। वहाँ आकाश निर्मल और कमल प्रफुल्लित, यहाँ हृदय अमल और मन प्रफुल्लित। (वै०)

* इसपर गौड़जीका टिप्पण देखिये जो पृष्ठ ११५४ में है।

नोट—३ ☞ यहाँ अधिक अभेद सांगरूपक है। ऊपर दिये हुए अर्थके अनुसार यहाँ श्रीभरतहृदयका निर्मल आकाशसे रूपक बाँधा गया है। यहाँ हृदय और शरद्का निर्मल आकाश, शम, दम आदि और नक्षत्र (दोनों सत्ताईस-सत्ताईस), श्रीरामजी और श्रीरामजीके वचनमें अटल विश्वास (कि वे अवधि बीतनेपर अवश्य आयेंगे) और ध्रुव (***अविचल कबहुँ न टलै***), (प्रभुके आगमनकी) अवधि और राका रजनी [जैसे प्रभुके आगमनकी अवधि १४ वर्ष बाद है वैसे ही यहाँ चतुर्दशीके बाद पूर्णिमा है। वै०], स्वामीकी सुरति और सुरबीथी (जैसे आकाशमें ध्रुव नक्षत्रसे लेकर दशात्मक मूल नक्षत्रपर्यन्त शिशुमार चक्र सुरबीथी है वैसे ही श्रीभरतजीके हृदयमें अटल विश्वाससे दशमुख-वधतक जो स्वामीमें सुरति लगी रही वही सुरबीथीका विकास है। जैसे सुरबीथीके चौदह स्थानोंमें अश्विनी आदि दो-दो नक्षत्र हैं, वैसे ही यहाँ चौदह वर्षमें उत्तरायण और दक्षिणायन दो-दो होते हैं। (बै०), जैसे मूल नक्षत्र दशतारात्मक वैसे ही श्रीरामजी दसों दिशाओंमें व्यापक। (रा० प० प०) श्रीरामप्रेम और अचल दोषरहित पूर्णचन्द्र, परस्पर उपमेय-उपमान हैं।

नोट—४ ***'सम दम संजम······'*** इति। '**अहिंसासत्यमस्तेयमसंगो ह्रीरसंचयः। आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाऽभयम्॥ शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्। तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥ एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः।······॥ शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः।**······' (भा० ११। १९। ३३—३६)— श्रीमद्भागवतमें श्रीउद्धवजीके पूछनेपर बताया है कि अहिंसा, सत्यभाषण, मनसे भी परायी वस्तुके हरण करनेका विचार न करना, अनासक्ति, निन्द्य कर्मोंसे लज्जित होना, संग्रह न करना, आस्तिक्य, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और निर्भीकता ये बारह यम हैं। शौच (अन्तःकरण और शरीरकी पवित्रता), जप, तप, होम, श्रद्धा, अतिथि-सत्कार, मेरा पूजन, तीर्थयात्रा, परोपकार, संतोष और आचार्यकी सेवा—ये बारह नियम हैं। बुद्धिकी मुझमें निष्ठा होना शम है और इन्द्रियोंको संयममें रखना, उनको जीतना दम है। इस तरह १२ संयम, १२ नियम शम, दम और उपवास मिलकर २७ हुए और नक्षत्र भी २७ हैं। अतः इन शम-दम आदिको नक्षत्र कहा। (पु० रा० कु०)। योगसूत्रमें पाँच ही नियम और पाँच ही संयम माने हैं और कहीं-कहीं इनकी संख्या दस-दस मानी गयी है—बाल० ३६ (७) ***'सम जम नियम फूल-फल ग्याना'*** में देखिये।

नोट—५ ***'ध्रुव बिस्वासु······'***। (क) ध्रुवको विश्वास कहा, क्योंकि ध्रुव अटल है, अपनी जगहसे नहीं हटता। अन्य तारे घूमा करते हैं पर यह स्थिर रहता है; वैसे ही भरतजीका श्रीरामजीमें विश्वास अटल है। ***'अवधि राका सी'*** के भाव नोट ३ में आ चुके। (ख) ***'स्वामि सुरति······'*** इति। 'सुरति'=सहजावृत्तिसे निरन्तर स्मरण, यथा—***'अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती', 'रसखान गोविंदहिं यो भजिए जस नागरिको चित गागरिमें', 'सुरति सँभारे आठो पहर हुजूर।'*** श्रीरामजी उत्तरसे दक्षिणकी ओर गये और लंकातक बराबर दक्षिण है। इसी प्रकार आकाशमें ध्रुवसे लेकर मूलनक्षत्रतक जो सुरबीथी है वह भी उत्तरसे दक्षिणको गयी है। श्रीभरतकी सुरति श्रीराममें (अयोध्यासे लेकर लंकातक सबके मूल श्रीरामपर्यन्त बराबर) लगातार लगी है; इसीसे 'सुरति' को 'सुरबीथी' कहा।

श्री पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि आकाशमण्डलमें नौ वीथियाँ हैं, जिनमें ग्रहगण विचरण करते हैं। एक-एक वीथीमें तीन नक्षत्र पड़ते हैं। जैसे नागवीथीमें अश्विनी, भरणी और कृत्तिका। इसी भाँति (१) नागवीथी (२) गजवीथी (३) ऐरावतवीथी (४) आर्षभीवीथी (५) गोवीथी (६) जरद्गववीथी (७) अजवीथी (८) मृगवीथी और (९) वैश्वानरी वीथी। इन्हीं सुरवीथियोंकी उपमा ***'स्वामि सुरति'*** से दी गयी है। मालूम होता है कि जिन नौ गुणोंसे गुरुजीने सरकारको याद किया है, उन्हींकी सुरति भरतलाल बराबर किया करते हैं एवं रामप्रेम-विधु स्वामि-सुरतिरूपी वीथियोंमें चक्कर काटा करता है। गुरुजीने कहा था— (१) ***धरम धुरीन*** (२) ***भानुकुलभानू। राजाराम*** (३) ***स्वबस*** (४) ***भगवानू*** (५) ***सत्यसन्ध*** (६) ***पालक श्रुति सेतू*** (७) ***राम जनमु जग मंगलहेतू*** (८) ***'गुर पितु मातु बचन अनुसारी'*** (९) ***'खल दल दलन देव हितकारी।'***

नोट—६ *'रामपेम-बिधु·······'* इति। (क) श्रीरामप्रेम अचल और निर्दोष चन्द्रमा है। अदोषका भाव कई बार आया है—२०९ (१) देखिये। अचल अर्थात् इनका राममें प्रेम एकरस अटल है। आज है कल नहीं, सो बात नहीं, निरन्तर एकरस है। यह नित्य चोखा रहता है, अधिक शोभायमान रहता है और चन्द्रमाकी शोभा पूर्णिमाके पश्चात् जाती रहती है। 'चोखा' कहकर जनाया कि यह निरन्तर पूर्णकला (युक्त) बना रहता है। (गौड़जी) (ख) *'सहित समाज'* इति। रोहिणी, बुध और तारागण चन्द्रमाका समाज है। *'ससि समाज मिलि मनहुँ सुराती॥'* (१।१५।९) देखिये। यहाँ श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी तथा श्रीरामजीके प्रेमी निषादराज आदिके प्रेमसहित श्रीरामप्रेम शोभित है।

गौड़जी—अन्वय—*'देह दिनहिं दिन दूबरि होई। घटइ तेजु घटइ बल (अरु) मुख छबि सोई (रहइ)। नित नव राम प्रेमपनु पीन (होई) बढ़त (है)। धरम दल और मन मलीन न (होई)। जिमि सरद प्रकाशसे जल निघटत (है) (अरु) स-पनज बिकासे वेत बिलसत (है)।'* [वेतस आकाशके लिये नहीं आता। वियत्=आकाश यहाँ आकाश अप्रयोजनीय है।] २—देह दिनोंदिन दुबली होकर घटती जाती है। तेजका विकास होता है। बल और मुखछवि ज्यों-की-त्यों है। रामका प्रेमपन नित्य नया और मोटा होकर बढ़ता जाता है। धर्मका पक्ष और मन मलीन नहीं होता, जैसे शरद्के प्रकाशसे जल घट जाता है और जलके घटनेपर खिले हुए कमलके साथ दुबला जल-बेंत शोभा देता है। भाव यह कि जल भरा था तब जल-बेंत और मृणाल नहीं देख पड़ते थे। तपस्याने शरीरको उसी तरह सुखा दिया जैसे शरद्-ऋतु जलको सुखा देती है। अब मुख तो कमल-सा खिला दीखता है पर शरीर जल-बेंत-सा दुबला है, पर कमलके साथ शोभायमान है।

३—अब एक और रूपक देते हैं। इस रूपकका भाव यह कि भरतजीके हृदयमें शम-दम-संयम-नियम-उपवास, दृढ़ विश्वास कि अवधि बीतनेपर प्रभु आवेंगे, प्रभुका सतत स्मरण और सबसे अधिक प्रकाशित निरन्तर पूर्ण रामप्रेम विराज रहा है।

उपमेय	उपमान
(१) शरीरका सूखना	(१) जलका घटना
(२) (विवक्षित) तपस्याका प्रकाश	(२) शरद्का प्रकाश
(३) तेजका विकास, बल और मुख छबिका बना रहना, प्रेमपन, धर्म दल, मनका उत्कर्ष	(३) कमलोंका खिला रहना, उनके आकारका और रहना, पँखड़ियोंका (दलका) बढ़ना और रंगका चोखा पड़ना।
(४) शरीर दुबला हो घटता है। परंतु तेज बल छबिसे शोभित है।	(४) बेंत जलसे बाहर हो कमलके साथ शोभा दे रहा है।

यहाँ 'बेतस' का अर्थ आकाश करना ठीक नहीं है। एक तो आकाश इसका पर्याय नहीं है, दूसरे यहाँ आकाश अर्थ करनेका प्रयोजन भी नहीं है। आगे आनेवाले रूपकमें जरूर भरतजीके हृदयको आकाश बाँधा है। वहाँ शरद्-ऋतुका भी कोई प्रयोजन नहीं है। यहाँ भरतजीका बाहरी रूप और भीतरी भावोंका उसपर प्रभाव दिखाया है। आगे चलकर आकाशके रूपकमें उनके हृदयकी आन्तरिक दशा दिखायी है। इस तरह भरतजीके भीतरी, बाहरी दोनों रूपोंका वर्णन किया गया है।

भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥ ७॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥ ८॥

अर्थ—श्रीभरतजीकी रहनि, समुझनि, करनी, भक्ति, वैराग्य, निर्मल गुण और ऐश्वर्यको वर्णन करनेमें सभी उत्तम कवि सकुचते हैं क्योंकि शेष, गणेश और सरस्वतीका भी गम्य नहीं अर्थात् उनको ही अगम है, तब औरोंकी चर्चा ही क्या?॥ ७-८॥

नोट—१ *'भरत रहनि समुझनि करतूती,'* इति (क) *'रहनि'* गीतावलीमें विस्तृतरूपसे वर्णित है यथा—*'मोहिं भावति कहि आवति नहिं भरत जू की रहनि। सजल नयन सिथिल बयन प्रभु गुनगन कहनि॥*

असन बसन अयन सयन धरम गरुअ गहनि। दिन दिन प्रेम नेम निरुपधि निरबहनि॥ सीता रघुनाथ लषन बिरह पीरसहनि। तुलसी तजि उभय लोक राम चरन चहनि॥' (२।८१) कुशसाँथरी, भूमि खोदकर गुफा बनाकर रहना इत्यादि रहनि है। (ख) *'समुझनि'* यथा—*'साधन सिद्धि रामपग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥'* (२८९।८) पुनः, प्रभुके स्वरूपका समझना, 'पाँवड़ी' में प्रभुका ही भाव रखना, प्रभुको वनमें समझ स्वयं नगरसे बाहर उसी प्रकार रहना, इत्यादि *'आयसु होइ त रहउँ सनेमा'* यह सब समुझनि है। (ग) *'करतूति'* तो सब आचरण ही है, यथा—*'राम प्रेम भाजन भरत बड़े न एहि करतूति॥'* (३२४) भक्ति, यथा—*'नित नव राम प्रेम पनु पीना।'* इत्यादि। *'बिरति'* यथा—*'तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा' 'मन तन बचन तजे तिन तूरी'* इत्यादि। गुण—शील-विनय आदि गुण हैं, यथा—*'भूसुर बोलि भरत कर जोरे। करि प्रनाम बर बिनय निहोरे॥ ऊँच नीच कारज भल पोचू। आयसु देब न करब सँकोचू॥'* इत्यादि सब गुण हैं। गुण-यश-चरित पर्याय हैं। 'विभूति' यथा—*'राम प्रेम भाजन भरत बड़े न एहि करतूति। चातक हंस सराहियत टेक बिबेक बिभूति॥'* (३२४)

गौड़जी—*'बिमल बिभूती'*—विभूतियाँ अणिमादि सिद्धियाँ हैं। ये विमल नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि यह विश्वसे राग उत्पन्न करनेवाली हैं। श्रीभरतकी विभूतियाँ विमल हैं, वैसी ही हैं जैसी भगवान् शंकरकी, जो भगवद्भक्ति और वैराग्यके गुणोंसे संवलित हैं।

दो०—नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समाति।
मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भाँति॥ ३२५॥

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥ १॥
लषन राम सिय कानन बसहीं। भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥ २॥
दोउ दिसि समुझि कहत सबु लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू॥ ३॥
सुनि ब्रत नेमु साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—'**कसहीं**=कसते हैं, कष्ट देते हैं, तपस्या करते हैं।

अर्थ—(श्रीभरतजी) नित्य प्रति प्रभुकी चरणपादुकाओंका पूजन करते हैं, हृदयमें प्रीति नहीं समाती। पादुकाजीसे आज्ञा माँग-माँगकर बहुत तरहसे राज्यका काम करते हैं॥ ३२५॥ शरीरमें पुलक (रोमांच) है, हृदयमें श्रीसीतारामजी (विराजमान) हैं; जिह्वासे नाम जपते हैं, नेत्रोंमें जल भरा है॥ १॥ श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीतारामजी वनमें बसते हैं और श्रीभरतजी घरमें रहकर शरीरको कष्ट देते हैं॥ २॥ दोनों ओरकी दशा समझकर सब लोग कहते हैं कि श्रीभरतजी सब प्रकार सराहनेयोग्य हैं॥ ३॥ उनके नेम और व्रतको सुनकर साधु सकुचाते हैं और उनकी दशा देखकर मुनीश्वर (बड़े-बड़े श्रेष्ठ मुनि) लज्जित होते हैं॥ ४॥

नोट—१ (क) *'नित पूजत प्रभु पाँवरी……'* से दिखाया कि 'पाँवड़ी' की पूजा वैसे ही करते हैं जैसे भगवान्की करनी चाहिये। पूजा प्रेमसे करनी चाहिये सो यहाँ *'प्रीति न हृदय समाति।'* इससे श्रद्धा और विश्वास सूचित होता है *'नित पूजत'* से स्पष्ट है कि नन्दिग्राममें ही पाँवड़ी पधरायी थीं। (ख) मिलान कीजिये—'…**नन्दिग्रामं ययौ स्वयम्। तत्र सिंहासने नित्यं पादुके स्थाप्य भक्तितः॥ पूजयित्वा यथा रामं गन्धपुष्पाक्षतादिभिः। राजोपचारैरखिलैः प्रत्यहं नियतव्रतः॥**' (अ० रा० २।९।७१-७२) अर्थात् श्रीभरतजी स्वयं तो नन्दिग्रामको चले गये। वहाँ एक सिंहासनपर उन दोनों पादुकाओंको रखकर वे श्रीरामचन्द्रजीके समान ही उनकी नित्य प्रति भक्तिपूर्वक गन्ध, पुष्प और अक्षतादि सम्पूर्ण राजोचित सामग्रीसे पूजा करने लगे।—श्लोकका '**भक्तितः**' ही *'प्रीति न हृदय समाति'* है। शेष श्लोक ७२ *'नित पूजत प्रभु पाँवरी'* का भाव है। पूर्व लिखा जा चुका है कि पादुकाओंको पधराकर वे छत्र, चवँर धारण करते थे—यह भी पूजनका अंग ही है। (ग) *'मागि मागि'* से जनाया कि जैसे प्रभु चिद्रूप वैसे ही उनके वस्त्र, भूषण

आदि सब चिद्रूप होते हैं। यथा—'**भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां निवेदयन्।**' (वाल्मी० २।११५।२२), '**तदा हि यत्कार्यमुपैति किंचिदुपायनं चोपहृतं महार्हम्। स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य चकार पश्चाद्भरतो यथावत्॥**' (२४) अर्थात् श्रीभरतजी राज्यका समस्त शासनसम्बन्धी कार्य पादुकाको निवेदित कर देते थे। जो कोई कार्य उपस्थित होता, जो कुछ भेंट आती वह सब प्रथम पादुकाको निवेदित करते थे, फिर उसका यथोचित प्रबन्ध कर देते थे।

नोट—२ ☞'***पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू*......**' इति। (क) भजन-स्मरणकी रीति दिखाते हैं। नामका जप जिह्वासे हो, मन प्रभुमें लगा हो, प्रेमसे स्मरण हो, बेगार टालना नहीं, प्रेमसे गद्‌गद कण्ठ, पुलकित शरीर और नेत्र अश्रुपूर्ण हों, मनको विषयोंसे विरक्त रखे। यह उपदेश है। (ख) मन, वचन, कर्म तीनोंसे श्रीभरतजीका प्रेम दिखाया। '***नित पूजत***' कर्म है, '***प्रीति न हृदय समाति***' मन और '***मागि मागि आयसु***' वचन है।

नोट—२ '***भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं***' का भाव कि हमारे स्वामी उदासी वेषसे वनमें रहकर कष्ट सह रहे हैं तब हमको यह उचित नहीं कि हम भोग-विलास करें। वनमें रह नहीं सकते क्योंकि स्वामीकी आज्ञा अवधमें रहकर प्रजाके पालन करनेकी है; इससे अवधमें ही रहकर वनके-से कष्ट उठाते हैं, तपस्वियोंकी तरह रहते हैं।

नोट—३ '***दोउ दिसि समुझि***' इति। (क) पु० रा० कु०—'***लषन राम सिय कानन बसहीं***' और '***भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं***' ये ही 'दो दिसि' हैं अर्थात् उधर श्रीसीताराम-लक्ष्मणकी रहनी-करनी और इधर श्रीभरतजीकी रहनी-करनी, इन दोनोंको समझ-विचारकर लोग प्रशंसा करते हैं। सब लोग कहते हैं कि '***सब बिधि भरत सराहन जोगू।***' दोनों ओरकी समझकर भरतकी प्रशंसा करते हैं, रामकी नहीं। क्योंकि वनमें बसकर भोग-विलासका त्याग अधिक प्रशंसाकी बात नहीं है, भोग-विलाससे परिपूर्ण घरमें रहते हुए भी उसका त्याग करना यह बड़ी बात है; अतः कहा कि वे सराहने योग्य हैं। '***सब बिधि***' से जनाया कि श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी भी सराहने योग्य हैं पर भरत 'सब प्रकारसे' प्रशंसनीय हैं और वे सब प्रकारसे नहीं।

(ख) पं०—'***दोउ दिसि***' यह कि राज्यकार्य राजव्यवहार भी सुन्दर रीतिसे करते हैं और तपोवृत्तिसे प्रभुके प्रेमका भी निर्वाह कर रहे हैं अथवा पिताका वचन पाला और भाईका भायप भी निबाहा, भाईके वचनको भी पाला। वा, नीतिमें लोकयश और भक्तिसे परलोक इति दोनों तरह। वा, भरतका प्रेम राममें और रामकी कृपा इनपर दोनों प्रकार ये सराहने योग्य हैं।

(ग) वै०—वहाँ श्रीरामजीके साथ श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी सब प्रकारकी सेवा और सुपासके लिये हैं। यहाँ भरत घरमें सब सुपास होते हुए भी उसे मन, कर्म, वचनसे छोड़े हैं। जैसे सोना अग्निमें तपाकर कसा जाता है वैसे ये तपसे देहको कस रहे हैं। रघुनन्दनजीके और इनके दोनों आचरण विचारकर लोग कहते हैं कि ये सब भाँति सराहने योग्य हैं, क्योंकि ये ऐसे दुर्घट नियम धारण किये हुए हैं जिन्हें सुनकर साधु सकुच जाते हैं (देखने और करनेका भी साहस नहीं) और तपादिसहित प्रेमदशा देख मुनिराज लज्जित होते हैं।

नोट—४ '***साधु सकुचाहीं, मुनिराज लजाहीं।***' साधकोंको व्रत, नेम करना होता है जिससे सिद्धि प्राप्त हो सो वे इन कठिन व्रत नेमोंको देखकर सकुचते हैं कि हमसे ये नहीं बन पड़नेके और मुनीश्वर इनके प्रेम और वैराग्यकी दशा देखकर लज्जित होते हैं कि हमने घर-बार प्रभुके लिये छोड़ा, हमारी प्रभुके प्रेममें ऐसी दशा होनी चाहिये थी सो नहीं है और इनकी घर-बार सँभालते हुए घर रहते हुए यह दशा है, हमारे वैराग्यको धिक्कार है।

मिलान कीजिये—'***अजिन बसन फल असन जटा धरे रहत अवधि चित दीन्हें। प्रभु पद प्रेम नेम ब्रत निरखत मुनिन्ह नमित मुख कीन्हें॥ सिंहासन पर पूजि पादुका बारहिं बारु जोहारे। प्रभु अनुराग माँगि***

आयसु पुरजन सब काज सँवारे॥ तुलसी ज्यों ज्यों घटत तेज तनु त्यों त्यों प्रीति अधिकाई। भए न हैं न होहिंगे कबहूँ भुवन भरत से भाई।' (२।७९) *'राखी भगति भलाई भली भाँति भरत। स्वारथ परमारथ पथी जय जय जग करत॥ जो ब्रत मुनि बरनि कठिन मानस आचरत। सो ब्रत लिये चातक ज्यों सुनत पाप हरत॥…'* (गी० ८०)

परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद-मंगल-करनू॥ ५॥
हरन कठिन कलि कलुष कलेसू। महामोह निसि दलन दिनेसू॥ ६॥
पापपुंज कुंजर मृगराजू। समन सकल संताप समाजू॥ ७॥
जन रंजन भंजन भव भारू। राम सनेह सुधाकर सारू॥ ८॥

अर्थ—श्रीभरतजीका परम पवित्र मधुर (सुननेमें) सुन्दर आचरण सुन्दर आनन्द मंगलोंका करनेवाला है॥ ५॥ कठिन कलिकालके पापों और क्लेशोंका हरनेवाला है। महामोहरूपी रात्रिको नष्ट करनेके लिये सूर्यरूप है॥ ६॥ पापसमूहरूपी हाथीके लिये सिंह है। समस्त संतापोंके समाजका नाश करनेवाला है॥ ७॥ भक्तोंको आनन्द देनेवाला है, भवरूपी भारका भंजन करनेवाला है और श्रीरामप्रेमरूपी चन्द्रमाका सार (अमृत) है॥ ८॥

नोट—१ *'परम पुनीत…'* इति। (क) यहाँ स्वार्थ होना अपावनता है, स्वार्थरहित होना पवित्रता है और परमार्थमय होना परम पवित्रता है। सुननेमें रोचक है, श्रवणसुखद दूषणादि रहित होनेसे 'मधुर' कहा। विचारनेसे कामादि मलरहित है, यही 'मंजुता' उज्ज्वलता है। श्रवणकीर्तनादिसे मुद मंगल करनेवाला है। (वै०) *'मंजु मुद मंगल'—'मंजुल मंगल मोद प्रसूती।'* (१।१।३) देखिये।

नोट—२ *'कलि कलुष कलेसू'* कहा; क्योंकि कलि पापोंकी सीमा है। इससे बढ़कर पाप किसी युगमें नहीं होते। जब कलिके पापोंको दूर करनेको समर्थ है तब और पाप तो प्रतापमात्रसे नष्ट हो जायँगे। पुन: यह ग्रन्थ 'कलिकुटिलजीव निस्तारहित' है, अत: उसीको यहाँ कहा। *'महामोह'*—ईश्वरमें संदेह महामोह है, यथा—*'महामोह उपजा उर तोरे॥'* (७।५९।७) (गरुड़को), *'महामोह निसि सूतत जागू।'* (६।५५।७) (रावणको), इत्यादि। वा, भारी मोह। बैजनाथजी लिखते हैं कि कलिकालजनित संचित और प्रारब्ध कठिन पापरूपी ईंधनके लिये अग्निसमान हैं और क्रियमाण पाप मोहसे होते हैं। उनके लिये *'महामोह निसि दलन दिनेसू'* कहा।

नोट—३ *'पापपुंज कुंजर……।'* इति। (क) पापसमूह हाथीके समान है। उसके लिये श्रीभरताचरण सिंहके समान है। भाव कि भरतजीके आचरणोंके श्रवणरूपी सिंहगर्जनसे पापसमूह भाग जाते हैं और सामने आ गये तो उनका नाश ही हो जाता है। (वै०) *कुंजर मृगराजू* यथा—*'जिमि करि निकर दलइ मृगराजू।'* (२३०।६) देखिये। पापपुंज अर्थात् मन-कर्म-वचन जनित समस्त पाप।—*'जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥'* (१६७।७) देखिये। (ख) *'सकल संताप समाजू।'* ताप तीन प्रकारके हैं। उनकी भी बहुत शाखाएँ हैं अत: *'सकल'* कहा। *'दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा॥'* (७।२१।१) वही सब यहाँ श्रीभरताचरणका भी फल बताया।

नोट—४ *'जन रंजन'* अर्थात् इनके चरितके श्रवणादिसे भक्तोंको आनन्द मिलेगा। *'भारू'*—भवको भार कहा। बारम्बार मरना-पैदा होना यही भार (बोझा) है जो जीवको अपने कर्मवश ढोना पड़ता है। यथा—*'जाको नाम लिये छूटत भव जनम मरन दुख भार।'* (वि० ९८) इसीसे इसे श्रमरूप कहा है, यथा—*'भवश्रम सोषक तोषक तोषा'*—बा० ४३ (४) देखिये।

☞ यहाँ श्रीभरतजीके आचरणका महत्त्व कहा अर्थात् बताया कि इसके कथन-श्रवणसे क्या फल प्राप्त होंगे। *'भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूषन हरनू॥ जो किछु कहब थोर सखि सोई।'* (२२३।१-२) यह पूर्व मगवासिनियोंके मुखसे कविने कहलाया था और यहाँ स्वयं विस्तारपूर्वक

कहते हैं—मुद मंगल होगा, कलिकलुषक्लेश मिटेंगे, महामोह दूर होगा, पाप-तापसमूह नष्ट होंगे, भवभार उतरेगा, आवागमन छूटेगा और रामप्रेमामृतकी प्राप्ति होगी।

नोट—५ ***'राम सनेह सुधाकर सारू'*** इति। पु० रा० कु०—(क) रामस्नेह सुधा है, भरताचरण उसका सार है अर्थात् जैसा रामप्रेम इनके आचरणमें है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। पुनः, (ख) रामस्नेह सुधाकर (चन्द्रमा) है, भरताचरण उसका सार है। भाव यह कि प्रेमरूपी चन्द्रमाके उदय करनेवाले ये ही हैं। इसी अर्थकी पुष्टता आगे छन्दमें है।

(२) ऊपर कहा है ***'रामपेम-बिधु अचल अदोषा"""।'*** (३२५।६) उसके अनुसार इनका चरित सुधाकर सारू अर्थात् अमृतरूप है, जो इसे पान करेंगे वे अमर हो जायँगे, उनको अटल भक्ति प्राप्त होगी। दोनों प्रकारसे अर्थ करनेका सारांश एक ही है कि उनका आचरण रामप्रेममय है। रामप्रेमका सार तत्त्व देखना हो तो श्रीभरतजीका आचरण, इनका चरित देखें, बस यही रामप्रेमका निचोड़ शुद्ध अमृत है।

छंद—सियरामप्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

सो०—भरत चरित करि नेम तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीयरामपद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥ ३२६॥

(इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने विमलविज्ञानवैराग्यसम्पादनो नाम द्वितीयः सोपानः समाप्तः)*

अर्थ—श्रीसीतारामजीके प्रेमामृतसे परिपूर्ण श्रीभरतजीका यदि जन्म न होता तो मुनियोंके मनको अगम यम, नियम, शम, दम आदि कठिन व्रतोंका आचरण कौन करता? (कोई नहीं) दुःख, संताप (जलन), दारिद्र्य, दम्भ और दूषणको अपने सुयशके बहाने कौन हरण करता? (कोई नहीं) और, इस कलिकालमें तुलसी-ऐसे शठोंको कौन हठपूर्वक श्रीरामजीके सम्मुख करता? श्रीतुलसीदासजी कहते हैं आशीर्वाद देते हैं, कि जो कोई श्रीभरतजीके चरित्रको नियमसे आदरपूर्वक सुनेंगे, उनको श्रीसीतारामजीके चरणोंमें प्रेम अवश्य होगा और अवश्य ही संसारके विषयरससे वैराग्य भी होगा॥ ३२६॥

नोट—***'सियरामप्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को'*** इति। (क) खर्रेमें इसका अर्थ पं० रामकुमारजीने यों किया है कि 'श्रीसीताराम प्रेमामृत पूर्ण न होता यदि भरतका जन्म न होता।' ***'होत जनमु न'*** दीपदेहली है, छन्दके सब चरणोंके साथ इसका अन्वय होगा। (ख)—यहाँ भरत पात्र हैं जिसमें प्रेमामृत परिपूर्ण भरा है। (पं०) (ग) श्रीभरद्वाजजीने भरतयशको चन्द्रमा कहकर उसमें रामप्रेमामृतका होना कहा है, यथा—***'नव बिधु बिमल तात जसु तोरा।"""पूरन रामसुपेम-पियूषा॥'*** (२०९।१—५) वैसे ही यहाँ कविने भरतजीको रामप्रेमामृतसे परिपूर्ण कहा। इस तरह जनाया कि श्रीभरतजी स्वयं श्रीरामप्रेमामृतसे परिपूर्ण हैं अतः आपके द्वारा और भी पूर्ण होंगे, सबको आपने प्रेमामृत सुलभ कर दिया। यथा—***'रामभगत अब अमिय अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू॥'*** (२०९।६)

नोट—२ ***'मुनि मन"""बिषम ब्रत आचरत को'***—भाव यह कि मुनिके मनमें जिनका आना कठिन है, अर्थात् उनके मनमें कदापि ऐसे कठिन नियमोंका विचार भी नहीं आ सकता फिर भला शरीरसे उन नियमोंका पालन कौन कर सकता है? वह तो अत्यन्त दुर्गम है। इन्होंने कर दिखाया, अतः इनके अवलम्बसे मुनीश्वर ऐसे नियमोंके पालनका साहस कर सकेंगे।

---

* यह इति प्राचीन ग्रन्थोंमें नहीं है।

नोट—३ *'सुजस मिस अपहरत को'* इति। (क) पं०—भाव कि और राजाओंके यशकथनसे लोगोंको मिथ्यावाद आदिका दोष होता है और भगवद्भक्ति मिश्रित भरतमहिमाके कथन-श्रवणसे सब दोष नष्ट हो जावेंगे। यह सबका उपकार सुयशद्वारा होना कहा। अब कवि अपने ऊपर जो विशेष उपकार हुआ उसे कहते हैं। (ख) *'कलिकाल तुलसीसे……'* इति। श्रीभरतजीने अपने वचनोंमें कहा है कि महापातकी लोगोंका भी उद्धार प्रभुकी शरणमें आनेमात्रसे, एक प्रणाममात्रसे हो जाता है, यथा—*'कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥ तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए॥'* (२९९। २-३) श्रीभरतजीका सुयश कहने-सुननेमें यह वचन भी अवश्य कहने-सुनने-समझनेमें आते हैं। इन्हें सुन या पढ़कर मनुष्यको दृढ़ भरोसा, विश्वास और निश्चय हो जाता है कि एक श्रीरघुनाथजी ही शरण्य हैं, उनको छोड़ किसीकी शरण जाना व्यर्थ है। सबको छोड़कर इन्हींकी शरण लेना चाहिये। उसी भरोसे मैं भी शरण आया और कलिकालके जो भी प्राणी भरत-सुयशको पढ़ें-सुनेंगे वे सभी ही अवश्य (हठात्) प्रभुकी शरण हो जावेंगे।—यही *'हठि सन्मुख'* करनेका भाव है।

(ग) *'कलिकाल'* का भाव कि कलिमें जप, योग, वैराग्य कथनमात्र हैं। इन्हें कोई कर नहीं सकता, प्रभुकी शरण होना यही निबह सकता है। कलिमें प्रपत्तिकी ही प्रधानता दिखायी। इसीको एकमात्र उपाय बताया।

पु० रा० कु०—(क) आधा अयोध्याकाण्ड प्रथम रामचरित है, इससे आदिमें *'बरनउँ रघुबर बिमल जस जो दायक फल चारि'* कहा। उसको चारों फलों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) का देनेवाला लिखा और, आधा अयोध्याकाण्ड पीछेका भरतचरित है, इसलिये अन्तमें लिखा कि *'भरत चरित करि नेम……।'* भरतचरित और प्रेमा-भक्ति और वैराग्यका दाता है। श्रीसीतारामपद-प्रेम और विरति दोनों होंगे और अवश्य होंगे, इसमें संदेह नहीं। (ख) दोनोंकी प्राप्तिका सहज साधन यहाँ बताया कि—नियमपूर्वक और आदरपूर्वक सुनना चाहिये। *'सुनहिं'* में पाठ, कथन और श्रवण सभीका भाव है। *'सादर'* यह कि मन, बुद्धि और चित्त तीनोंको लगा दे, यथा—*'सुनहु तात मति मन चित लाई।'* (३। १५। १) *'सादर'* शब्द कथन, श्रवण, मनन और विचारपूर्वक समझते हुए सुनना जनाता है; यह नहीं कि एक कानसे सुना दूसरेसे निकाल दिया या दूसरेने पूछा कि क्या सुना-समझा तो कुछ न कह सके। यही कारण है कि ग्रन्थभरमें वक्ताओंने अपने श्रोताओंसे बराबर 'सादर सुनने' को कहा है, यथा—*'तात सुनहु सादर मन लाई।'* (१। ४७। ५) (याज्ञवल्क्य), *'सादर सुनु गिरिराजकुमारी।'* (१। ११४) *'सादर तात सुनावहु मोही…… लाग कहै……प्रथमहि अति अनुराग भवानी।'* (उ० ६४) *'तात सुनहु सादर अति प्रीति। मैं संक्षेप कहउँ……'* (उ० १२१ भुशुण्डिजी) *'कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥'* (१। ३५) (गोस्वामीजी) तथा यहाँ *'जो सादर सुनहिं'*। (ग) पुनः, किसीका मत है कि 'नियमसे सुननेको इसी काण्डको कहा गया क्योंकि यह काण्ड नियमबद्ध रचा गया है।

पं०, रा० प्र०—भाव कि भरतका प्रेम सुनकर प्रेम होगा और उनका ऐश्वर्य-त्याग सुनकर वैराग्य होगा। विषयरस रामप्रेमका नाशक है यह समझमें आ जायगा, उससे वैराग्य हो जायगा।

भरतचरित-रामचरित-माहात्म्य-मिलान

परम पुनीत भरत आचरनू	*१ पावन गंगतरंगमाल से*
मधुर मंजु मुद मंगल करनू	*२ 'तिन्ह जहँ मधुर कथा रघुबर की', 'सुकोमल मंजु दोष रहित', 'जग मंगल गुन ग्राम राम के'*
दहन कठिन कलि कलुष कलेसू	*३ 'कलिकलुष बिभंजनि' 'कुपथ कुतर्क कुचालि कलि कपट दंभ पाखंड। 'दहन'*

महामोह निसि दलन दिनेसू	*४ 'हरन मोह तम दिनकर कर से'*
पापपुंज कुंजर मृगराजू	*५ काम कोह कलिमल करिगन। केहरिसावक*
समन सकल संताप समाजू	*६ समन पाप संताप सोक के*
जन रंजन	*७ बुध बिश्राम सकल जनरंजनि*
भंजन भव भारू, भरतकथा भवबंध बिमोचनि (२२८)	*८ भव भंजनि भ्रमभेक भुअंगिनि*
रामसनेह-सुधाकर सारू	*९ सोइ बसुधातल सुधातरंगिनि*
दुख दाह दारिद दंभ दूषन अपहरत	*१० कामद घन दारिद दबारि कें*
सठन्हि हठि रामसनमुख करत	*११ रघुपति भगति प्रेम परमिति सी*
सीयरामपद प्रेम अवसि होइ	*१२ जननि जनक सियराम प्रेम के। 'होइहहिं रामचरन अनुरागी'*
भरतचरित करि नेम तुलसी जो सादर सुनहिं। अवसि होइ	*१३ जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता होइहहिं····।*
	१४ 'मेटत कठिन कुअंक भालके'; होइहहिं।
सकल धरम धुर धरनि धरत को	*१५ बिस्वभार भर अचल छमा सी*
मुनि मन अगम यम नियम सम	
दम बिषम ब्रत आचरत को	*१६ बीज सकल ब्रत धरम नेम के*

नोट—४ जैसे श्रीरामजीका नाम, रूप और चरित तीनों मंगलकारी हैं वैसे ही श्रीभरतजीके नाम आदिको भी मंगलकारी दिखाया गया है।

नाम—*'मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार। लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नाम तुम्हार॥'* (२६३)(श्रीभरतजी)

'जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥' (श्रीरामजी)

रूप—*'सकल सुमंगल मूल जग भरत चरन अनुरागु'*। (२६५) (श्रीभरतजी)

'मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी॥' (१।११२।४) (श्रीरामजी)

चरित—*'परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥'* (३२६।५) (श्रीभरतजी)

'जगमंगल गुनग्राम रामके' (१।३२) *'मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथकी।'* (१।१०)

नोट—५ इस काण्डमें ग्रन्थकारने इति नहीं लगायी अर्थात् जैसे और काण्डोंके अन्तमें 'इति श्रीरामचरितमानसे' और फलश्रुति है वैसे इसमें नहीं है। कुछ लोगोंने यहाँ भी 'इति' लगा दी है। ला० सीतारामकी छपी हुई प्रतिमें भी इति लगी हुई है, यह न जाने क्यों? इतिका न होना भी साभिप्राय है।—(१) वाल्मीकीयमें अयोध्याकाण्डकी इति अत्रि ऋषिसे विदा होनेके पश्चात् है। वैसे ही पूज्यकवि भी इसकी इति अरण्यकाण्डमें उसी प्रसंगपर करेंगे। (२) दूसरे 'इति' न लगाकर भरतचरितको अपार और अपरिमित जनाया इसकी इति नहीं। *'नेति नेति कहि गावहिं बेदा'* जैसा भगवत्-चरितके विषयमें कहा वैसे ही इसकी भी 'इति' नहीं। (३)भरतजीका प्रपत्तिघाट है। कलिकालमें प्रपत्ति मुख्य है। गोस्वामीजीका भी प्रपत्तिघाट है। प्रपत्तिकी इति नहीं।

अयोध्याकाण्डका उपसंहार

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—१ अयोध्याकाण्ड दूसरा सोपान है। इसमेंसे उत्तरार्धकी फलश्रुति छन्द और सोरठामें कही गयी है। श्रीभरतचरितका तथा इस काण्डके श्रीरामचरितका फल कहा कि यम-नियम-शम-दमादि धर्मदलका आचरण करनेकी प्रवृत्ति होगी और इससे वैराग्यकी प्राप्ति होगी।

२ इस काण्डका प्रतिनिधि श्लोक बालकाण्ड मंगलाचरणमें *'भवानी-शंकरौ वन्दे·····।'* (श्लोक २) है।

प्रथम, विश्वास—अटल विश्वासरूपी शिवजी चाहिये, तत्पश्चात् श्रद्धारूपी आदरकी प्राप्ति होनी चाहिये। श्रीरामजी और श्रीभरतजी दोनोंमें परस्पर पूर्ण अटल विश्वास, परम श्रद्धा तथा अपने-अपने धर्मपर भी अटल विश्वास और श्रद्धा है। ***'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई'*** इस श्रद्धा-विश्वास नींवपर ही दोनोंने अपने धर्मकी विशाल, अनुपम, रमणीय, प्रलोभनीय इमारत खड़ी की है। इस धर्माचरणके फलस्वरूप दोनोंमें परम त्याग, परम विराग भी अलौकिक प्रकारका देख पड़ता है।—***'धर्म तें बिरति जोग ते ग्याना।'***

३ इस काण्डके मंगलाचरणके **'यस्याङ्के च विभाति…'** इस श्लोकमें भी शिवजी और भवानीजीका प्रथम उल्लेख करके विश्वास और श्रद्धारूपी शिव-पार्वतीकी वन्दना की है।

४ इस काण्डमें राजधर्म, पतिधर्म, पत्नीधर्म, पुत्रधर्म, मन्त्रीधर्म, भ्रातृधर्म, प्रजाधर्म, सेवकधर्म, स्वामिधर्म, शिष्यधर्म, गुरुधर्म, सपत्नि-माता-पुत्र-धर्म, यजमान-धर्म (अतिथिसत्कार), कर्म, उपासना, ज्ञान, भक्ति, इन्द्रादि देवोंका स्वभाव, जामातृधर्म, श्वशुरधर्म, स्नुषाश्वश्रूधर्म आदिका मधुर, मृदु, सरल, आलंकारिक निर्दोष भाषामें परमोच्च प्रकारका वर्णन करके नित्य व्यवहारके विविध धर्मोंके परमोच्च निर्दोष आदर्श निर्माण किये हैं। मानसके समान निर्दोष काव्यमें निर्दोष चरित्र-चित्रण अन्य किसी भी ग्रन्थमें न मिलेगा।

५ मानवी मानस शास्त्रके विविध अंगोंके उदाहरण ठौर-ठौरपर मिलते हैं।

६ इस काण्डमें करुणारस प्रधान है पर यह भगवत्प्रेम और स्वधर्म निष्ठापर अधिष्ठित है। कैकेयीके चरित्रमें स्वार्थी, राज्यलोभी, मत्सरी इत्यादि प्रकारके व्यक्तिके आदर्शका अध्यारोप करके पश्चात् उनका अपवाद किया है।

७ गुरु शिष्योंके स्वभावकी समानता निषादराज और लक्ष्मणजीके चरित्रोंमें नितान्त स्पृहणीय चित्रित की गयी है।

८ भक्त और भगवान्‌की पूर्ण अभिन्नता श्रीराम-भरत-चरित्रमें भरी हुई है।

९ आध्यात्मिक दृष्टिसे इन चरित्रोंका बीज बालकाण्ड दोहा ३२५ के ***'जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन्ह सहित बिराजहीं'*** में रखा है। उसका उद्घाटन वहाँकी टिप्पणीमें देखिये।

भरतचरित एवं भरतरहनि-प्रकरण समाप्त हुआ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

श्रीभरत-संत-गुरुचरणकमलेभ्यो नमः।

'गीताप्रेस' गोरखपुरकी निजी दूकानें तथा स्टेशन-स्टाल

डाकद्वारा एवं विदेशोंमें पुस्तकें भेजनेकी व्यवस्था केवल गोरखपुरमें है।

इन्दौर-४५२००१	जी० ५, श्रीवर्धन, ४ आर. एन. टी. मार्ग	✆ (०७३१) २५२६५१६, २५११९७७
ऋषिकेश-२४९३०४	गीताभवन, पो० स्वर्गाश्रम	✆ (०१३५) २४३०१२२, २४३२७९२
कटक-७५३००९	भरतिया टावर्स, बादाम बाड़ी	✆ (०६७१) २३३५४८१
कानपुर-२०८००१	२४/५५, बिरहाना रोड	✆ /फैक्स (०५१२) २३५२३५१
कोयम्बटूर-६४१०१८	गीताप्रेस मेंशन, ८/१ एम, रेसकोर्स	✆ (०४२२) ३२०२५२१
कोलकाता-७००००७	गोबिन्दभवन-कार्यालय; १५१, महात्मा गाँधी रोड	✆ (०३३) २२६८६८९४, फैक्स २२६८०२५१
गोरखपुर-२७३००५	गीताप्रेस—पो० गीताप्रेस	✆ (०५५१) २३३४७२१, २३३१२५०
	website:www.gitapress.org / e-mail: booksales@gitapress.org	फैक्स २३३६९९७
जलगाँव-४२५००१	७, भीमसिंह मार्केट, रेलवे स्टेशनके पास	✆ (०२५७) २२२६३९३, फैक्स २२२०३२०
दिल्ली-११०००६	२६०९, नयी सड़क	✆ (०११) २३२६९६७८; फैक्स २३२५९१४०
नागपुर-४४०००२	श्रीजी कृपा कॉम्प्लेक्स, ८५१, न्यू इतवारी रोड	✆ (०७१२) २७३४३५४
पटना-८००००४	अशोकराजपथ, महिला अस्पतालके सामने	✆ (०६१२) २३००३२५
बेंगलोर-५६००२७	१५, फोर्थ इ-क्रास, के० एस० गार्डेन, लालबाग रोड	✆ (०८०) ३२४०८१२४, २२९५५१९०
भीलवाड़ा-३११००१	जी ७, आकार टावर, सी ब्लाक, हर्ष पैलेसके सामने, गान्धीनगर	✆ (०१४८२) २४८३३०
मुम्बई-४००००२	२८२, सामलदास गाँधी मार्ग (प्रिन्सेस स्ट्रीट) मरीन लाईन्स स्टेशनके पास	✆ (०२२) २२०३०७१७
राँची-८३४००१	कार्ट सराय रोड, अपर बाजार, बिड़ला गद्दीके प्रथम तलपर	✆ (०६५१) २२१०६८५
रायपुर-४९२००९	मित्तल कॉम्प्लेक्स, गंजपारा, तेलघानी चौक (छत्तीसगढ़)	✆ (०७७१) ४०३४४३०
वाराणसी-२२१००१	५९/९, नीचीबाग	✆ (०५४२) २४१३५५१
सूरत-३९५००१	२०१६ वैभव एपार्टमेन्ट, भटार रोड	✆ (०२६१) २२३७३६२, २२३८०६५
हरिद्वार-२४९४०१	सब्जीमण्डी, मोतीबाजार	✆ (०१३३४) २२२६५७
हैदराबाद-५०००९५	४१, ४-४-१, दिलशाद प्लाजा, सुल्तान बाजार	✆ (०४०) २४७५८३११, ६६७५८३११

स्टेशन-स्टाल— **दिल्ली** (प्लेटफार्म नं० ५-६); **नयी दिल्ली** (नं० १६); **हजरत निजामुद्दीन** [दिल्ली] (नं० ४-५); **कोटा** [राजस्थान] (नं० १); **बीकानेर** (नं० १); **गोरखपुर** (नं० १); **कानपुर** (नं० १); **लखनऊ** [एन० ई० रेलवे]; **वाराणसी** (नं० ४-५); **मुगलसराय** (नं० ३-४); **हरिद्वार** (नं० १); **पटना** (मुख्य प्रवेशद्वार); **राँची** (नं० १); **धनबाद** (नं० २-३); **मुजफ्फरपुर** (नं० १); **समस्तीपुर** (नं० २); **छपरा** (नं० १); **सीवान** (नं० १); **हावड़ा** (नं० ५ तथा १८ दोनोंपर); **कोलकाता** (नं० १); **सियालदा मेन** (नं० ८); **आसनसोल** (नं० ५); **कटक** (नं० १); **भुवनेश्वर** (नं० १); **अहमदाबाद** (नं० २-३); **राजकोट** (नं० १); **जामनगर** (नं० १); **भरूच** (नं० ४-५); **वडोदरा** (नं० ४-५); **इन्दौर** (नं० ५); **औरंगाबाद** [महाराष्ट्र] (नं० १); **सिकन्दराबाद** [आं० प्र०] (नं० १); **विजयवाड़ा** (नं० ६); **गुवाहाटी** (नं० १); **खड़गपुर** (नं० १-२); **रायपुर** [छत्तीसगढ़] (नं० १); **बेंगलोर** (नं० १); **यशवन्तपुर** (नं० ६); **हुबली** (नं० १-२); **श्री सत्यसाईं प्रशान्ति निलयम्** [दक्षिण-मध्य रेलवे] (नं० १)।